नन्दन व सौमनस वन - (दृष्टि सं० १)

इस वन की पुष्करिणी में इन्द्र सभा की रचना

(ह-पु । ५।३३८-३४०)

महावीर के पच्चीससौवें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में

भगवान महावीर

और

उनका तत्त्व दर्शन

आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज विद्यालंकार
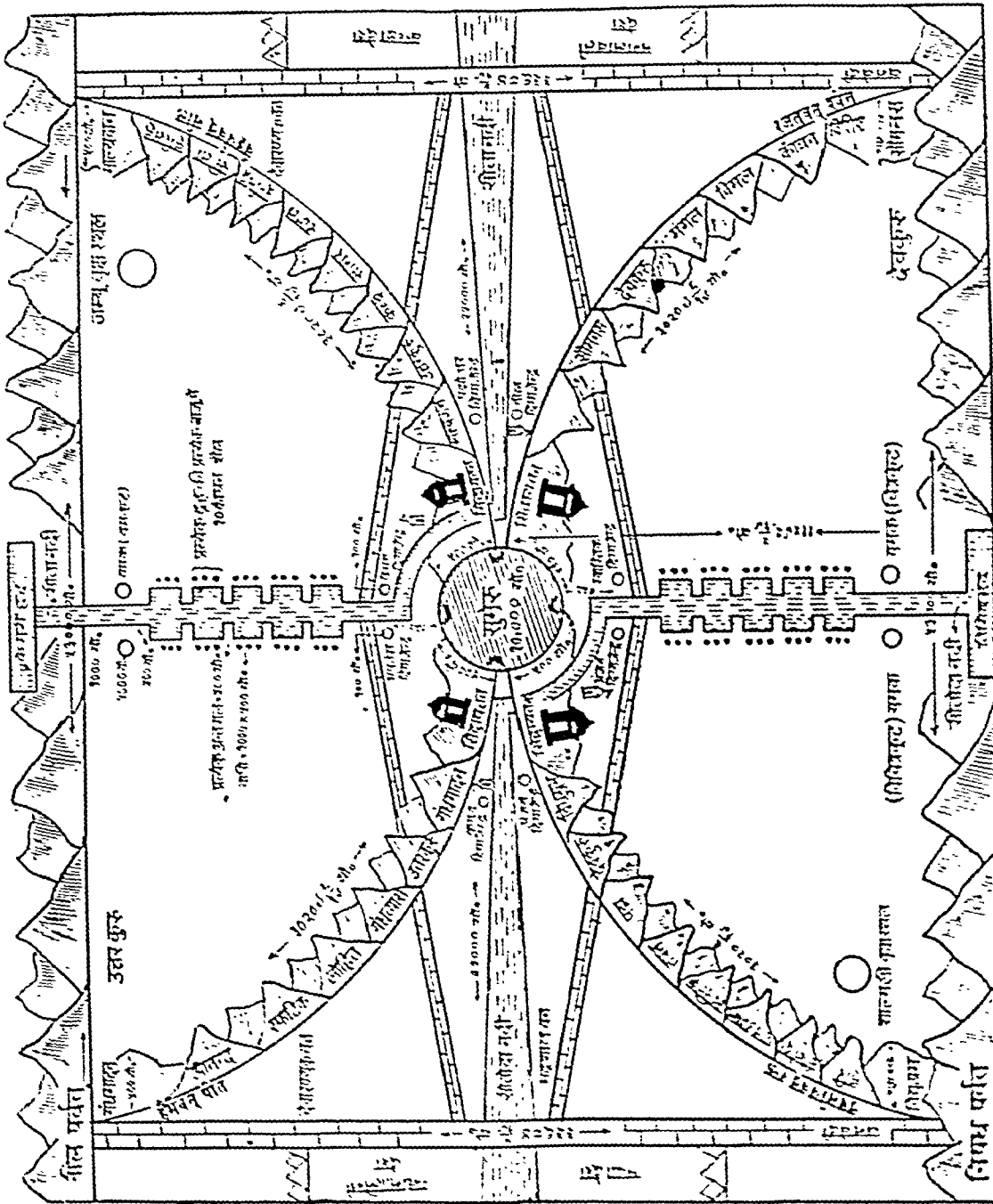
प्रकाशक
श्री जैन साहित्य समिति
कूचा बुलाकी बेगम, ऐस्प्लेनेड रोड
देहली-६

मुद्रक
राजस्थानी प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा
एस० नारायण एण्ड संस (प्रिंटिंग प्रेस)
7117/18 पहाड़ी धीरज, दिल्ली
फोन : 513668

प्रथमावृत्ति
१०००

मूल्य
ढाई सौ रुपये

८. मध्यलोक की वापियों व कुण्डों का विस्तार :—

१. जम्बूद्वीप सम्बन्धी

नाम	लम्वाई	चौड़ाई	गहराई	ति. प. । ४. । गा.	रा. वा. ।३। सू. वा. । पृ. । पं.	ह. पु. ५। गा.	त्रि. स. गा.	ज. प. ।३। गा.
सामान्य नियम—सरोवरों का विस्तार अपनी गहराई से ५० गुना है (ह. पु. ५।५०७) द्रहों की लम्वाई अपने-अपने पर्वतों की ऊंचाई से १० गुनी है, चौड़ाई ५ गुनी और गहराई दसवें भाग है। (त्रि. सा. ।५६८); (ज. प. ।३।७१)								
जम्बूद्वीप की जगती के मूलवाली								
उत्कृष्ट	२०० ध.	१०० .	२० ध.	३३				
मध्यम	१५० ध.	७५ .	१५ ध.	,,				
जघन्य	१०० ध.	५० ध.	१० ध.	,,				
पद्मद्रह	१००० ध.	५०० ध.	१०	१६५८	(त.सू.३।१५-१६)	१२६	दे. पूर्वोक्त सामान्य नियम	दे. पूर्वोक्त सामान्य नियम
महापद्म		पद्म से दुगुना		१७२७		१२९		
तिगिंछ		पद्म से चौगुना		१७६१		,,		
केसरी		तिगिंछवत्		२३२३		,,		
पुण्डरीक		महापद्मवत्		२३४४		,,		
महापुण्डरीक		पद्मवत्		२३५५		,,		
देवकुरु के द्रह		पद्मद्रहवत्		२०९०	१०।१३।१७४।३०	१९५	६५६	६।५
उत्तरकुरु के द्रह		देवकुरुवत्		२११६				
नन्दनवन की वापियाँ	५० यो.	२५ यो.	१० यो.					
सौमनस वन की वापियां								
दृष्टि सं० १.	२५ यो.	२५ यो.	५ यो.	१९४७				
दृष्टि सं० २.		नन्दनवनवत्			१०।१३।१८०।७			
गंगा कुण्ड—		गोलाई का व्यास	गहराई					
दृष्टि सं० १	१० यो.		१० यो.	२१६-२२१				
दृष्टि सं० २	६० यो.		१० यो.	२१८	२२१५।१८७।२५	१४२	५८७	

राजा कनकोज्ज्वल को मुनिराज के धर्मोपदेश से वैराग्य उत्पन्न हो गया।

राजा कनकोज्वल और रानी कनकवती।

ऊपर – विशाखभूति राजा के महल में भी विशाखनंदि का जन्मोत्सव
नीचे – विश्वभूति राजा के महल में विश्वनंदि का जन्मोत्सव

प्रस्तावना

संस्कृत भाषा में सूक्ति है "संता: परार्थतत्परा:" सत्पुरुष सदा प्राणियों का कल्याण किया करते हैं। मराठी में संत तुकाराम की यह सूक्ति है "जगा च कल्याण संता च विभूति" विश्व में प्रेम, तत्वज्ञान और संयम की त्रिपथगा में स्नान कर जीवन को परम विशुद्ध बनाने वाले वर्तमान परमहंस, विश्वगौरव, दिगम्बर, तत्वज्ञानी, ब्रह्मयोगी, बालब्रह्मचारी आचार्यरत्न पूज्य श्री देशभूषणजी महाराज की आध्यात्मिक साधना, सरस्वती की समाराधना और साहित्य सेवा अपना अनुपम स्थान रखती हैं।

तरुण वय में मार (काम) को मार लगाकर निर्दोष शीलपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए इन साधुराज ने हिंदी, मराठी, बंगाली, तामिल, कन्नड़ आदि अनेक भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त करके श्रेष्ठ रचनाओं का तलस्पर्शी परिशीलन और चिंतन किया है। इन लोकोपकारी महात्मा ने भारत की राजधानी दिल्ली के भव्य जीवों के पुण्योदय से कई वर्ष यहां व्यतीत किये। इनके अद्भुत् पवित्र और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण विदेशी व्यक्ति भी इनके सम्पर्क को पाकर अपने जीवन को अहिंसा पूर्ण मधुर प्रतिज्ञाओं द्वारा सहज ही समलंकृत किया करते हैं। आचार्यश्री ने देश के विविध दर्शनों का अहिंसात्मक दृष्टि के साथ अनेकान्त के प्रकाश में परिशीलन किया है। फलत: इनके पुण्य प्रभाव से सभी धर्मों के लोग लाभान्वित होते हैं। हिन्दू धर्म के संतप्रेमी धनकुबेर श्री युगल किशोर जी बिड़ला आचार्यश्री के प्रति जीवन भर अप्रतिम भक्त रहे।

भारत के साधु चेतस्क तथा पुण्य पुरुष प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री आचार्यश्री के जीवन से आकर्षित हो उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा धारण कर उनसे आशीर्वाद चाह रहे थे कि प्रधान मन्त्री से बड़ा पद आप जैसा निष्कलंक शांतिदायी साधु का जीवन व्यतीत करने का क्या मुझे सौभाग्य प्राप्त होगा?

साधुराज श्री देशभूषणजी की वाणी में मधुरता है। उनका जीवन बड़ा सरल और दिव्य है। वे अपने जीवन का एक-एक क्षण आत्मचिंतन, सद्विचार अथवा परमार्थ में लगाते हैं। साधुराज की दृष्टि कवि नवलशाह की रचना वर्द्धमान पुराण भगवान् महावीर के जीवन पर प्रकाश डालनेवाली आप को प्रिय तथा उपयोगी लगी। यह रचना आचार्य श्री को दिगम्बर जैन खंडेलवाल मन्दिर, वैदवाडा, दिल्ली में मिली। महा कवि नवलशाह महाराज छत्रसाल के पौत्र तथा पुत्र सभासिंह के समकालीन थे। कविवर ने संवत् १८२५ अर्थात् १७६८ ई० में विविध छन्दों में इस महाकाव्य का निर्माण किया।

साधुराज के पवित्र हृदय में यह विचार आया कि भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के महोत्सव से सम्बन्धित २५००वें वर्ष के पावन प्रसंग की स्मृति में उन देवाधिदेव, प्रेम की गंगा प्रवाहित करने वाले भगवान् महावीर की पीयूषवर्षिणी जीवनी प्रकाश में आने पर भव्यात्माओं का कल्याण होगा तथा यह साहित्य के रूप में चिरस्मरणीय स्मारक रहेगा।

हिंदी साहित्य की दृष्टि से रचना का अपना एक विशेष आकर्षण है कि इसमें महावीर प्रभु के जीवन सम्बन्धी घटनाओं आदि पर प्रकाश डालने वाले लगभग ४०० अनेक रंगयुक्त चित्र हैं।

महापुरुष की रचना की समालोचना अथवा आचार्यो के श्रेष्ठ श्रम का साधारण मनुष्य क्या मूल्यांकन करेगा? यथार्थ में यह ग्रन्थ शिरसा वन्दनीय और शिरोधार्य होते हैं।

परम संयमी जीवन में संलग्न रहने वाले, सदा व्रत उपवास करने वाले आचार्य रत्न श्री देशभूषणजी महाराज ने अपार श्रम उठाकर इस कल्याणकारी रचना को सानुवाद प्रकाश में लाने की जो कृपा की है उनके प्रति प्रत्येक व्यक्ति और साहित्यकार श्रद्धा से उनके चरणों में सदा प्रणामांजलि अर्पित करेगा।

मातृभाषा कन्नड़ होते हुये भी साधुराज ने राष्ट्रभाषा में विविध ग्रन्थरत्नों का निर्माण संपादन अनुवाद आदि किया है।

युद्ध के उपरान्त बगीचा न देने पर विश्वनंदि और विशाखानंदि
का झगड़ा हो गया। विशाखानंदि भयभीत होकर बगीचे में
कपित्थ के पेड़ की जड़ में छिप गया। विश्वनंदि बड़ा
पराक्रमी था. उसने वृक्ष को ही उखाड़ लिया
और शत्रु को मारने दौड़ा।

हमें विश्वास है कि प्रत्येक सहृदय साधक और सत्पुरुष इस रचना को पढ़कर जीवन का शोधन कर अंधकार से प्रकाश की ओर प्रगति करेगा अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत के शब्दों में "दयावड्ढमाणं जिनं वड्ढमाणं"—दया के द्वारा वर्द्धमान महावीर के जीवन को दृष्टि में रखकर आशा है सुधी जन संतोष समता और शांति का रसास्वादन करेंगे।

भगवं शरणो महावीरो।

(विद्वत् रत्न, धर्मदिवाकर) सुमेरुचन्द दिवाकर,
बी० ए० एल० एल० बी० शास्त्री, न्यायतीर्थ,

दिवाकर सदन,
सिवनी, मध्य प्रदेश
१ सितम्बर १९७३
पर्यूषण महापर्व, दिल्ली

राजगृह नगर और विश्वभूति राजा और उसकी रानी और विश्वनन्द उसका लड़का।

FOREWORD

Bhagavan Mahavira attained Nirvana 2500 years ago. This great event is being celebrated all over the world in 1974-75. Mahavira is the last of the twentyfour Tirthankaras of Jainism. HIS predecessor Parshvanatha is accepted as a historical personality. Mahavira was a senior contemporary of Buddha. That was an age of great intellectual inquiry into the problems of life. In fact, both of them belonged to what is called Sramana Culture of Eastern India.

Mahavira has struck challenging notes in ethics, in metaphysics, in practical life and in religion. As far as we know, he was the first religious teacher to preach the people in their language so that his words are better understood by them to shape their way of living. He was followed by Bdddha, and also by king Asoka, in this respect. Just as gold is the standard to evaluate everything else in the market, including the currency, Ahimsa, reverence for or sanctity of life (in all its forms) is the standard, according to Mahavira, to judge one's behaviour in relation to oneself and also in relation to other beings. Life is the most valuable asset; and one should have the same consideration for the life of others as one has for one's own life. 'Live and let live' has to be our moral motto. Mahavira has laid more stress on this principle than any other teacher He not only preached this but also practised it with extreme rigour.

In metaphysics he pointed out how limited is human understanding as well as human expression, as long as one has not reached omniscience. Truth, or reality, has many facets, and a common man sees or knows only one facet or the other at a time, and to that extent alone he is correct or right. This developed into the doctrine of manifoldness, or Anekantavada. It enables one to understand and appreciate others sympathetically and to cultivate intellectual tolerance.

Mahavira laid great emphasis on Samyama or self-restraint : the passions and mean proclivities should be eliminated, and one's possessive instincts should be kept under control. Thus alone one can live with contentment; otherwise greed and desires are like bottomless depths; they can never be satisfied.

The God, according to Mahavira, is a Spiritual Ideal which every one, by following the path of religion, can aspire to reach. The God here is not the Creator much less the distributor af favours or frowns. The Karma doctrine, according to the philosophy inherited by Mahavira, is an automatically functioning moral Law. Every one earns for his soul Karmic encrustation which is the consequence of his thoughts, words and acts; and there is no escape from the karma without reaping the fruits, good or bad. When all the Karma is exhausted by religious piety and austerities, the individuel soul attains its pristine purity, developing its innate qualities to the fullest extent. That is liberation. These qualities remained crippled under the influence of Karma with which the soul is associated from times immemorial.

These and other principles preached by Mahavira have inspired successors for the last two thousand years and more, and they have worthily enriched Indian heritage in languages and literature (both religious and secular), in art and architecture, and in different institutions and practices, both social and religious. It is but natural, therefore, that Mahavira is remembered even today; and various respectful tributes are being offered to him on the occasion of the celebration of his 2500th Nirvana celebrations.

Many Puranas and Charitas are available in various languages; and they give Mahavira's biography in the traditional manner. Muni Shri Acharya Deshabhushana Maharaj has presented in this volume an unpublished Hindi poem, Vardhamanapurana, of Navalashaha. A rare Ms. of it was found by Maharaj himself in the Digambara Khandelavala Mandira, Vaidvada, Delhi. The most important feature of this Ms. is that it contains coloured illustrations, nearly 350 in number; and they are produced here in original colours. The
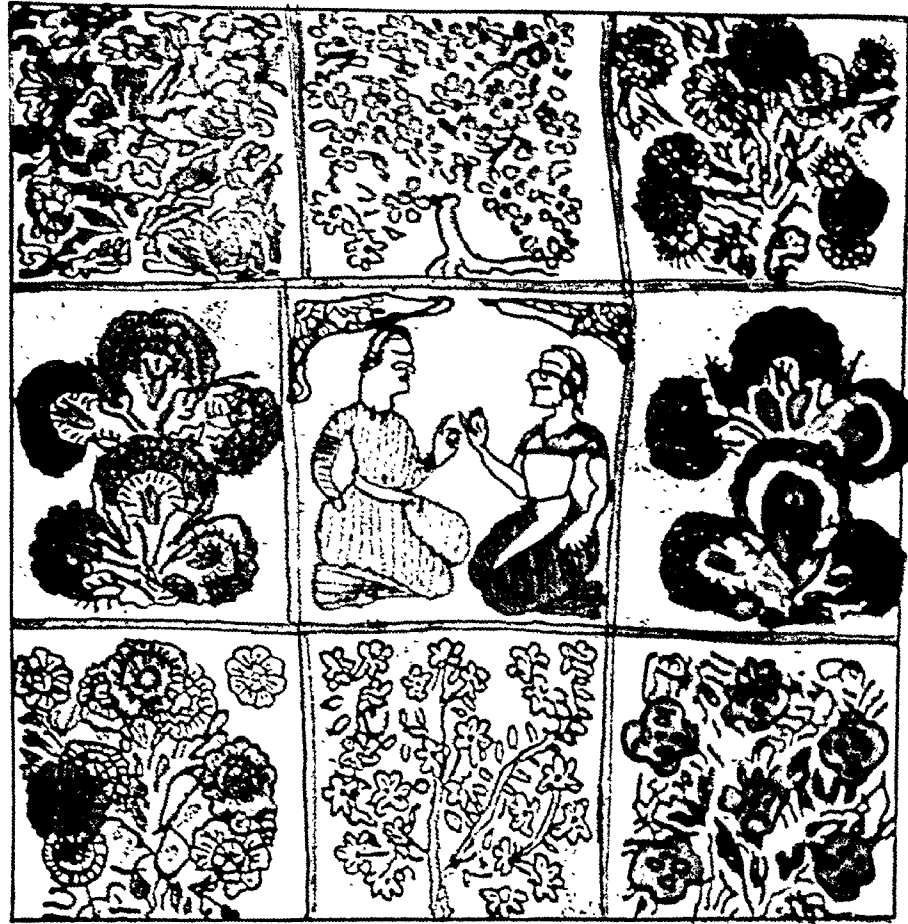
विश्वनंदि अपनी स्त्री सहित विशाखानंदि के बगीचे में क्रीड़ा करते हुये।

text of Navalshaha is accompanied by a gist in modern Hindi which makes this work accessible to a wider public. The contents af this Purana are varied : the author gives the past lives of Mahavira and also deals in details with the five Kalyanakas of the present life. The concluding Adhikaras of the poem give, in details, the answer given by Gautam in reply to the questions of Shrenika Bimbisara, the great Magadhan ruler, who, as we know, was a contemporary of Mahavira and Buddha. The discourses of Gautam cover a wid range of religious, philosophical and didactice instructions.

The author, Navalashaha, has given his biography in details which have their own interest. He was a contemporary of Hindupati, the grandson of Chhatrasala and the son of Sabhasimha. He completed this work in Samvat 1825, *i.e., c.* 1768 A.D. He shows great mastery over the language, style, metres of different varieties and poetic fancies.

In addition to the Vardhamana Purana of Navalashaha, this volume includes a good deal of miscellaneous material which is collected from a wide range of sources, both original and secondary. To begin with the principles of Jainism are given in details. They constitute almost a handbook on Jainism in Hindi. The details about Jaina cosmography, astronomy and cosmogony are elaborately presented. The lives of Tirthankaras, Ganadharas and outstanding teachers are succinctly given. The date of the Nirvana of Mahavira and the location of Pavapuri are discussed. The Digambara asceticism and the biographies of those who have worthily practised it in recent years are noted in details. The specialities of the doctrines preached by Mahavira are duly reviewed.

This is indeed a noteworthy publication brought out on the occasion of the 2500th Nirvana Celebrations; and the credit of this has to go to Acharya Deshbhushana Maharaj. The Acharya Maharaj is a representative of the Nirgrantha asceticism which he has worthily adopted and is practising for his Spiritual benefit and for the benefit of the society at large. His ascetic practices are rigorous. In addition, Acharya Maharaj has an innate aptitude for literary pursuits; and his proficiency in a number of languages of the South as well as of the North is to be highly admired. He has rendered into Hindi some of the Kannada works like the Bharateh Vaibhava of Ratnakara etc, These publications testify to the deep learning and patient work of Acharya Maharaj. As a great saint following the creed of Mahavira, Shri Deshabhushana Maharaj has brought out this significant volume on this occasion. It will be of great benefit to the readers; and it may even serve as a source book in some respects. Acharya Maharaj will be ever remembered for his rescuing Navalashaha's Hindi poem (along with its valuable illustations) from oblivion.

Delhi
Independence Day
August 15, 1973

(A.N. Upadhya)
Professor of Jainology and
Prakrits, University of Mysore,
Mysore.
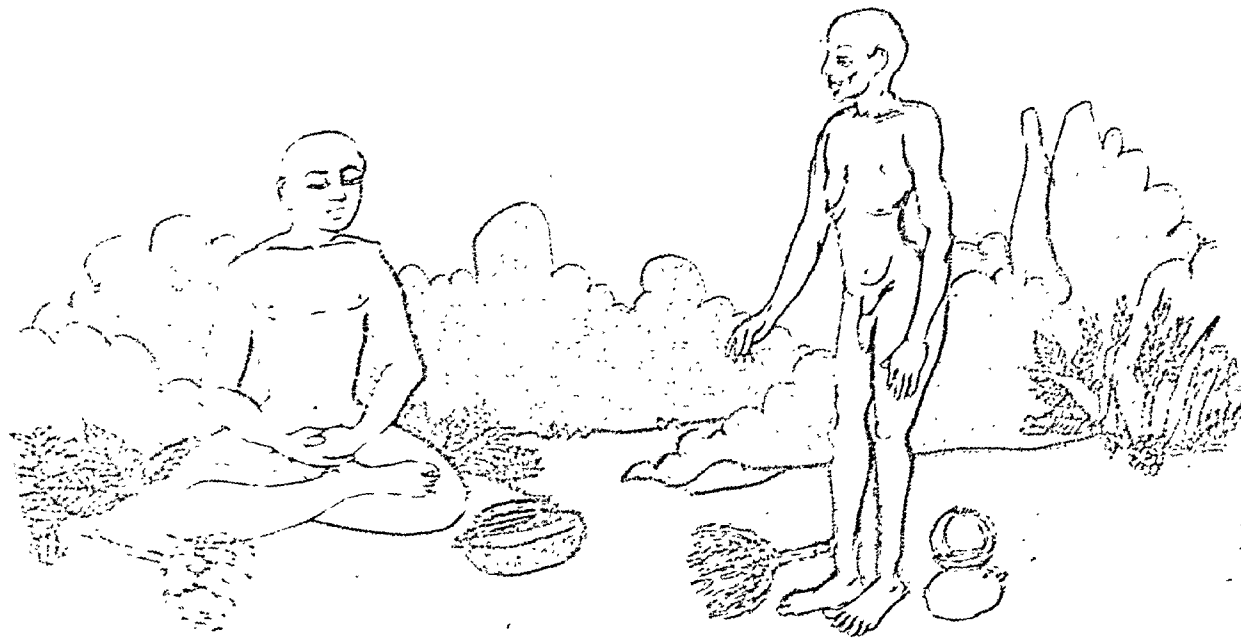
आमुख

इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने का प्रस्ताव जब मेरे सामने आया तो स्वभावतः मुझे संकोच हुआ। किन्तु जब मैंने इस ग्रन्थ का सूक्ष्म अवलोकन् किया तो मुझे बड़ा सन्तोष एवं हर्ष हुआ। हर्ष का कारण यह था कि एक अप्रकाशित जैन रचना प्रकाशित की जा रही है और सन्तोष इसलिये कि वास्तव में यह रचना प्रकाशित करने योग्य थी और जैन हिन्दी काव्य में अपना समुचित स्थान बनाने में भाषा, भाव, छन्द और अलंकार सभी दृष्टियों से समर्थ है। इसका सम्पूर्ण श्रेय आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज को है, जिन्हें अप्रकाशित रचनाओं को प्रकाशित कराने की अत्यधिक रुचि है।

आचार्य श्री जैन मुनियों के कठोर आचार और मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए अपने समय का सदुपयोग संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, कानड़ी, तमिल आदि भाषाओं के अनुपलब्ध और अप्रकाशित ग्रन्थों के अनुसन्धान और उनके अनुवाद के लिये करते रहते हैं। उनकी आन्तरिक इच्छा और प्रयत्न ऐसे सभी ग्रन्थों को प्रकाशित करने का रहता है। उनकी इसी आतुर इच्छा और समर्थ प्रयत्नों के कारण अबतक अनेक ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं। भरतेश वैभव रत्नाकर शतक, अपराजितेश्वर शतक, धर्मामृत आदि कन्नड़ भाषा के अमूल्य ग्रन्थों का रसास्वादन हिन्दी भाषाभाषी जनता भी कर सकी, यह आचार्यश्री की उसी इच्छा और लगन का सुपरिणाम है। इसी प्रकार तमिल, बंगला, गुजराती भाषा के कई ग्रन्थ-रत्नों का हिन्दी में और संस्कृत-प्राकृत के ग्रन्थों का इन भाषाओं में अनुवाद करके आचार्यश्री ने इन भाषाओं पर बड़ा उपकार किया है। मेरी मान्यता है कि विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों का हिन्दी में और हिन्दी रचनाओं का कन्नड़ या अन्य भाषाओं में रूपान्तर करके आचार्यश्री ने भाषा गत दूरी को कम करने और विभिन्न भाषाभाषी लोगों में भावात्मक एकता स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उनके इस योगदान से राष्ट्रीय एकता के पक्ष को बड़ा बल मिला है। इसके लिये समग्र राष्ट्र आचार्यश्री का सदा ऋणी रहेगा।

आचार्यश्री के इस प्रयास का एक और उज्वल पक्ष है। उनके इस अध्यवसाय से भारतीय वाड्.मय समृद्ध होता है और समग्र भारतीय वाड्.मय का मूल्यांकन करते समय जैन साहित्य के महत्व और गौरव को विस्मृत नहीं किया जा सकेगा। इतना ही नहीं; जैन साहित्य को उसके उपयुक्त उच्च स्थान प्राप्त होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'वर्धमान पुराण' उनकी इसी इच्छा और प्रयत्न का परिणाम है और यह जैन साहित्य को समृद्ध बनाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

ग्रन्थ-प्राप्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'वर्धमान पुराण' भी है। इसक रचयिता कविवर नवलशाह हैं। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित था और ग्रन्थ-भण्डारों की शोभा बढ़ा रहा था। आचार्यश्री जब किसी जिनालय में जाते हैं तो वे वहाँ का शास्त्र-भण्डार अवश्य देखते हैं उनकी दृष्टि और रुचि अप्रकाशित ग्रन्थों का पता लगाने की रहती है और यदि कोई अप्रकाशित उपयोगी ग्रन्थ उपलब्ध हो जाता है तो वे उसके संपादन और प्रकाशन में दत्तचित्त होकर जुट जाते हैं।

एक बार आप दिगम्बर जैन खण्डेलवाल मन्दिर वैदवाड़ा दिल्ली में आयोजित एक धार्मिक सभा में प्रवचन के लिये पधारे। प्रवचन समाप्त होने पर आपने वहाँ के शास्त्र-भण्डार का अवलोकन किया। उसमें आपको प्रस्तुत ग्रन्थ की एक अप्रकाशित बहुमूल्य प्रति उपलब्ध हुई। यह प्रति सचित्र थी। आचार्यश्री को इस प्रति की प्राप्ति से अत्यन्त हर्ष हुआ। उन्होंने
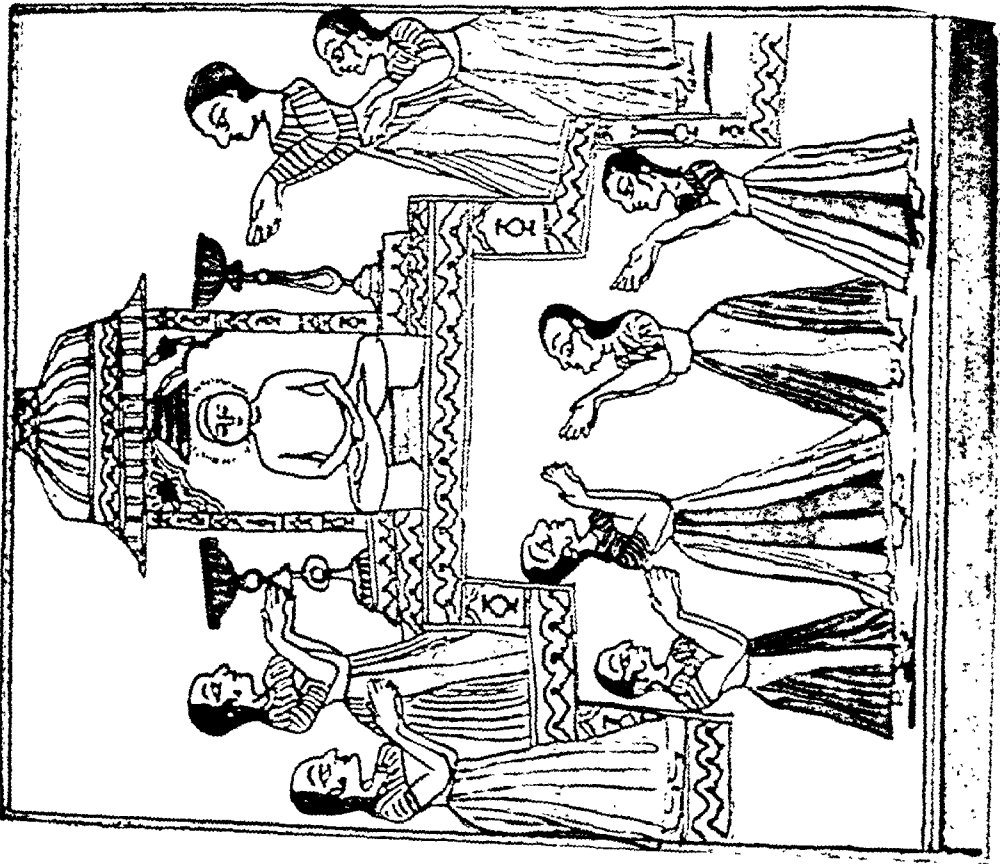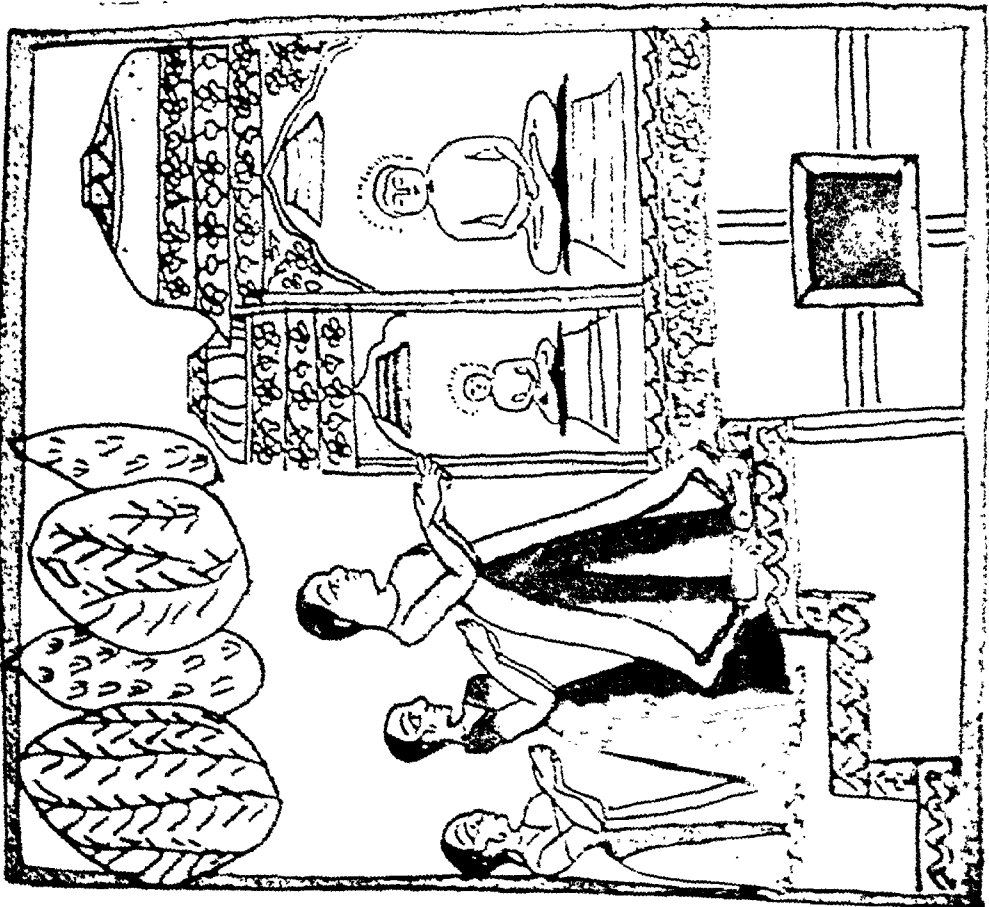
इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराई। उसका संशोधन और संपादन किया तथा उसका अनुवाद किया। चित्र अत्यन्त भावपूर्ण, प्रभावक और प्राचीनकला द्योतक थे। उनकी संख्या ३५० के लगभग थी। इनके चित्र कैमरे द्वारा लेना, उनके ब्लाक तैयार कराना और रंगीन छपाई कराना अत्यन्त श्रमसाध्य, व्ययसाध्य और उपयोगसाध्य काम था। किन्तु प्राचीन कला का उसके मौलिक रूप में संरक्षण करने में ही कला की उपयोगिता है और इसीसे उसका सही मूल्यांकन किया जा सकता है। आधुनिक कला के बहाव में प्राचीन कला की जो उपेक्षा और विडम्बना हो रही है, उससे प्राचीन कला को प्रचार पाने में काफी बाधा पड़ी है। इसलिये भारत की प्राचीन कला का समुचित मूल्यांकन नहीं हो पाया है। जैन कलाकारों ने कला के प्रत्येक क्षेत्र में अपना पूरा सहयोग दिया है। वास्तु, शिल्प, चित्र, भित्ति चित्र, काष्ठ चित्र कला सभी क्षेत्रों में जैन कलाकारों का योगदान परिमाण और सौन्दर्य, संख्या और अभिनवता सभी दृष्टियों से प्रशंसनीय रहा है। किन्तु उसका अपेक्षणीय प्रचार भी नहीं हुआ और प्रचारित का सही मूल्यांकन भी नहीं हुआ है।

आचार्यश्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ के चित्रों को मौलिक रूप में प्रकाशित करके जैनकला की बहुत बड़ी सेवा की है और वे अपनी केवल इस सेवा के कारण ही कलाविदों की श्रद्धा के भाजन बन गये हैं। इन चित्रों को उनके मौलिक रूप में प्रकाशित करने में उनकी मौलिक सूझ-बूझ और कला के प्रति उनकी हार्दिक लगन के ही दर्शन होते हैं।

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'वर्धमान पुराण' है। इसके प्रतिपाद्य विषय का परिचय इसके नाम से ही हो जाता है। इसमें भगवान महावीर के पूर्व भवों और वर्तमान जीवन का परिचय दिया गया है। यह खड़ी बोली का एक सरल काव्य-ग्रन्थ है। इसके रचयिता कवि का नाम कविवर नवलशाह है। इस ग्रन्थ में कुल १६ अधिकार दिये गये हैं। पुराण-परम्परा के अनुसार इसमें मंगलाचरण के अनन्तर वक्ता और श्रोता के लक्षण प्रथम अधिकार में दिये गये हैं।

द्वितीय अधिकार में भगवान महावीर के पूर्व भवों में से एक भवके पुरुरवा भील द्वारा मद्य मांसादिक के परित्याग, फिर सौधर्म स्वर्ग में देव पद की प्राप्ति, तीसरे भव में चक्रवर्ती भरत के पुत्र के रूप में मरीचि की उत्पत्ति और उसके द्वारा मिथ्यामत की प्रवृत्ति, फिर ब्रह्म स्वर्ग में देव पर्याय की प्राप्ति, वहाँ से चयकर जटिल तपस्वी का भव, तत्पश्चात् सौधर्म स्वर्ग की प्राप्ति, फिर अग्निसह नामक परिव्राजक का जन्म, वहाँ से चयकर तृतीय स्वर्ग में देव-पद, वहाँ से भारद्वाज ब्राह्मण, पांचवें स्वर्ग में देव पर्याय, फिर असंख्य वर्षों तक निम्न योनियों में भ्रमण आदि का वर्णन किया है।

तृतीय अधिकार में स्थावर ब्राह्मण, माहेन्द्र स्वर्ग में देव, राजकुमार विश्वनन्दी और उसके द्वारा निदान बन्ध, दसवें स्वर्ग में देव, त्रिपृष्ठ नारायण, सातवें नरक में नारकी इन भवों का वर्णन है।

चतुर्थ अधिकार में सिंह पर्याय और चारण मुनियों द्वारा संबोधन करने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति, फिर सौधर्म स्वर्ग में देव पर्याय, राजकुमार कनकोज्वल, सातवें स्वर्ग में देव जन्म, राजकुमार हरिषेण, दसवें स्वर्ग में देव पर्याय का वर्णन मिलता है।

पाँचवें अधिकार में प्रियमित्र चक्रवर्ती के भव का तथा बारहवें स्वर्ग में देव पद की प्राप्ति का वर्णन है।

छठवें अधिकार में राजा नन्द के भव में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तथा सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र पद की प्राप्ति का वर्णन है।

सप्तम अधिकार में महाराज सिद्धार्थ के महलों में कुबेर द्वारा तीर्थंकर जन्म से पूर्व रत्नों की वर्षा, माता द्वारा सोलह स्वप्नों का दर्शन, महावीर तीर्थंकर का गर्भावतरण महोत्सव का वर्णन है।

आठवें और नौवें अधिकार में भगवान के जन्मकल्याणक महोत्सव का भावपूर्ण सरस वर्णन किया गया है।

दसवें अधिकार में प्रभु के बाल्य-जीवन, यौवन में आकर वैराग्य और दीक्षा, कूल राजा द्वारा भगवान को प्रथम आहार, चन्दना के हाथों से आहार लेने पर चन्दना का कष्ट दूर होना, घोर तप करते हुए विविध प्रकार के उपसर्गों को सहते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति का वर्णन है।
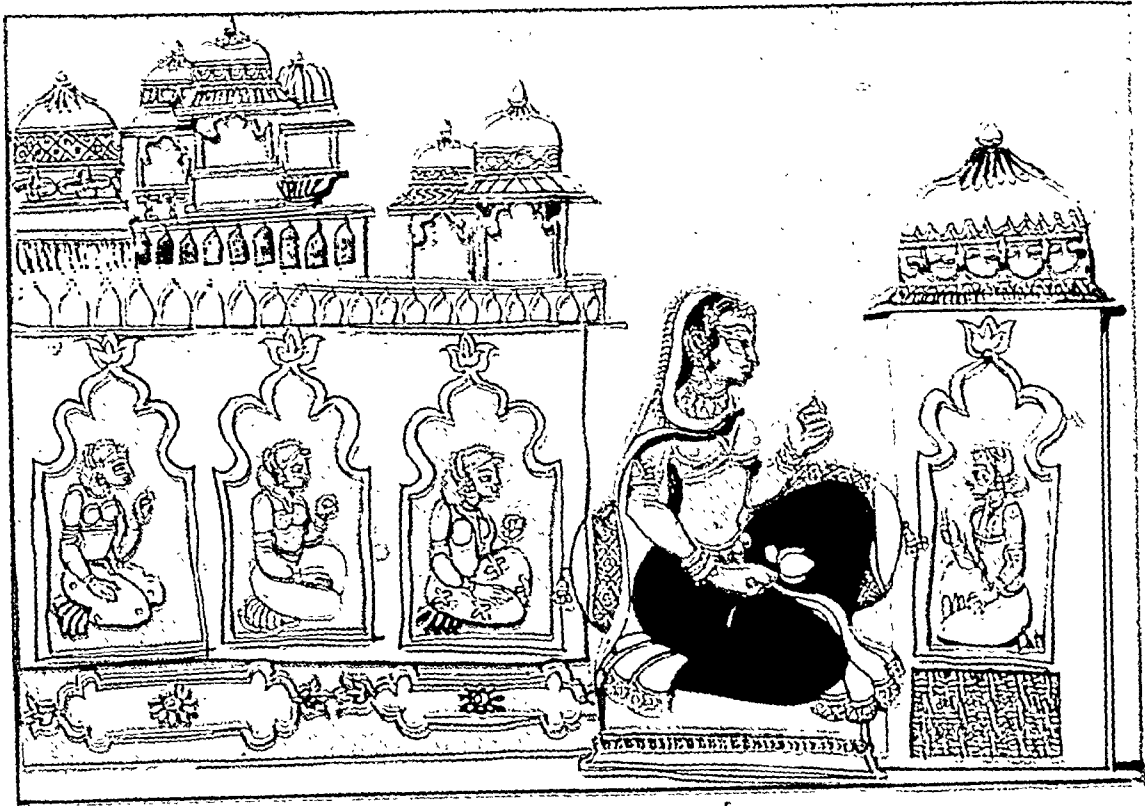
जिनमाता के रूप का वर्णन।

सौधर्म इन्द्र ने कुबेर को कुण्डलपुर नगरी की रचना करने का आदेश दिया।

ग्यारहवें अधिकार में देवों द्वारा भगवान का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाने और कुवेर द्वारा रचित समवसरण का वर्णन है।

वारहवें अधिकार में समवसरण में गौतम इन्द्रभूति का आना और सन्देह की निवृत्ति होने पर भक्तिविगलित हृदय से भगवान की स्तुति का वर्णन है।

तेरहवें से पन्द्रहवें अधिकार तक गौतम गणधर द्वारा प्रश्न करने पर भगवान द्वारा तत्त्व निरूपण वतलाया गया है।

सोलहवें अधिकार में इन्द्र द्वारा प्रार्थना करने पर भगवान का विभिन्न देशों में विहार, गौतम गणधर द्वारा श्रेणिक के पूछने पर उनके तीन पूर्व भवों का वर्णन, अन्त में विहार करते हुए भगवान का पावा में निर्वाण, गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति और उनका धर्म-विहार, धर्म उपदेश आदि का वर्णन करने के वाद कवि ने अन्त में अपना विस्तृत परिचय दिया है।

इस प्रकार महावीर-चरित का वर्णन कवि ने परम्परानुसार किया है। जिस प्रकार जैन पुराणकार चरित्र-वर्णन के माध्यम से जैन धर्म के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के अवसरों का पूरा उपयोग करते रहे हैं, उसी प्रकार कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में उपयोग किया है।

ग्रन्थ में प्रयुक्त विभिन्न छन्द-अलंकार

कवि नवलशाह ने वर्ण्य विषय के अनुकूल विभिन्न छन्दों और अलंकारों का प्रयोग करके छन्द और अलंकारशास्त्रों पर अपने अधिकार और उनके प्रयोग को प्रतिभा का सफल प्रदर्शन किया है। कवि ने कहीं भी अनावश्यक शब्दाडम्बर नहीं दिखाया, वल्कि उनकी कविता का प्रत्येक शब्द सार्थक, उपयोगी और भावगर्भित है।

कवि ने अपने इस काव्य ग्रन्थ में जिन छन्दों का प्रयोग किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—

दोहा, छप्पय, चौपाई, सवैया, अडिल्ल, गीतिका, सोरठा, करखा, पद्धरि, चाल, जोगीरासा, कवित्त, त्रिभंगी, चर्चरी छन्दों की कुल संख्या ३८०६ है।

ग्रन्थ-रचयिता कवि का परिचय

इस ग्रन्थ के रचयिता कवि का नाम नवलशाह है। ये गोलापूर्व जाति में उत्पन्न हुए थे। इनका वेंक चन्देरिया और गोत्र वड़ था। इनके पूर्वज भीषम साहू भेलसी ग्राम में रहते थे। उनके चार पुत्र थे—वहोरन, सहोदर, अहमन और रतनशाह। एक दिन पिता ने पुत्रों के साथ परामर्श किया कि अव कुछ धार्मिक कृत्य करना चाहिये। हमें जो राज-सम्मान और धन प्राप्त है उसका कुछ उपयोग करना चाहिये। तव दीपावली के शुभ मुहूर्त में उन्होंने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन किया, जिसमें दूर-दूर देश से लोग आकर सम्मिलित हुए। उन्होंने जिन विम्व विराजमान की; तोरण-ध्वजा-छत्र आदि से सुशोभित किया; आगत साधर्मी जनों का सत्कार किया और चार संघ को दान दिया। फिर रथ-यात्रा का उत्सव किया। चार संघ ने मिलकर इनका टीका किया और सवने एकमत होकर इन्हें 'सिंघई' पद से विभूपित किया। यह प्रतिष्ठा वि० सं० १६५१ के अगहन मास में हुई थी। उस समय वुन्देलखण्ड में महाराज जुझार का राज्य था।

इनके पूर्वजों ने भेलसी को छोड़कर खटोला गाँव में अपना निवास वनाया। इनके पिता का नाम सिंघई देवाराय और माता का नाम प्रानमती था। सिंघई देवाराय के चार पुत्र थे—नवलशाह, तुलाराम, घासीराम और खुमानसिंह। श्री नवलशाह ने इस ग्रन्थ की रचना महाराज छत्रसाल के पौत्र और सभासिंह के पुत्र हिन्दूपति के राज्य में की। उन्होंने और उनके पुत्र ने मिलकर आचार्य सकलकीर्ति के 'वर्धमान पुराण' के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की है।

ग्रन्थ में १६ अधिकार रखने का कारण वताते हुए कवि ने वड़ी सरस कल्पनाओं का आधार लिया है। तीर्थंकर माता ने सोलह स्वप्न देखे थे; महावीर ने पूर्वभव में सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करके तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध किया था; ऊपर १६ स्वर्ग हैं; चन्द्रमाकी १६ कलाओं के पूर्ण होने पर ही पूर्णमासी होती है; स्त्रियों के १६ ही शृंगार वताये गये हैं; आठ
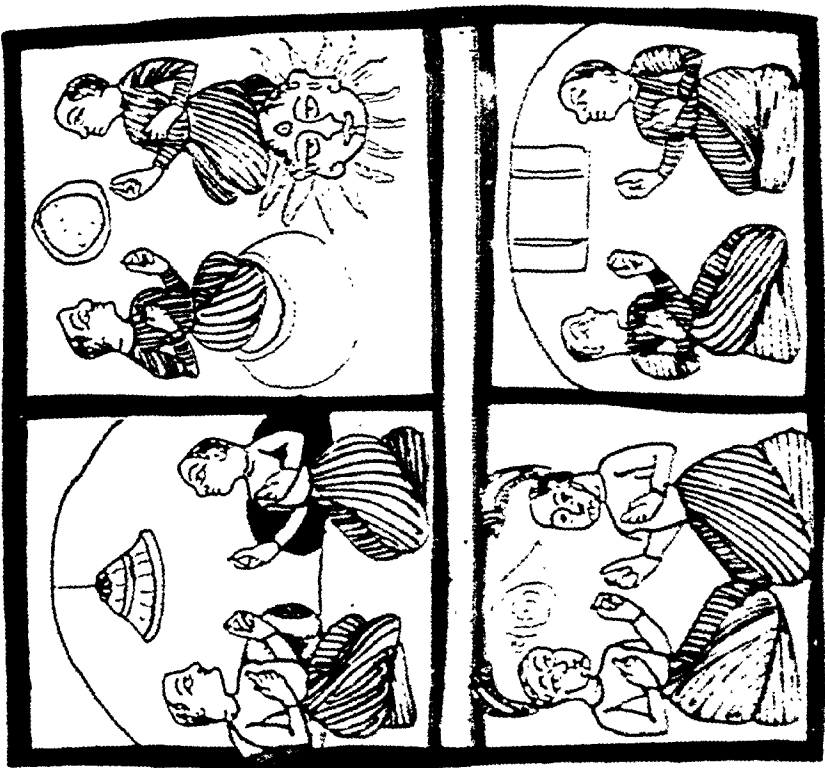
कर्मों का नाश कर आठवीं पृथ्वी (मोक्ष) मिलती है। यह ग्रन्थ भी सोलह माह में ही लिखा गया। इन सब कारणों से ग्रन्थ में १६ अधिकार दिये हैं। वास्तव में कवि को यह कल्पना सुन्दर है।

इस ग्रन्थ की समाप्ति वि० सं० १८२५ में फाल्गुन शुक्ला पूर्णमासी बुधवार को हुई।

ग्रन्थ का संकलित भाग

कविवर नवलशाह कृत 'वर्धमान पुराण' के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में जो सामग्री दी गई है, वह विभिन्न स्थानों से लेकर संकलित की गई है। इस सामग्री में निम्नलिखित जानकारी सम्मिलित है—

जैन धर्म और उसके मुख्य सिद्धान्त, जैन भूगोल, खगोल और अधोलोक का विस्तृत परिचय, कुलकरों और तीर्थंकरों का जीवन इतिहास, भगवान महावीर का काल-निर्णय (पं० जुगलकिशोर मुख्तार, डा० जैकोबी, डा० मुनि नगराज), भगवान महावीर की निर्वाण-भूमि पावापुरी, दैनिक तेज के प्रख्यात संवाददाता श्री धर्मपाल द्वारा लिखित भगवान महावीर का जीवन इंगलिश में, गौतम चरित्र, दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, महावीर-शासन की विशेषतायें, भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध, सिद्ध भूमियां।

ग्रन्थ का नाम और उसके प्रकाशन का उद्देश्य

वर्धमान पुराण और उपर्युक्त संकलित सामग्री को देखते हुए ग्रन्थ का नाम श्री 'भगवान महावीर और उनका तत्व दर्शन' अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित किया गया है। इतनी विपुल सामग्री और विशालकाय ग्रन्थ के प्रकाशन का एकमात्र उद्देश्य यही रहा है कि भगवान महावीर और उनके सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य बातें जिज्ञासु जैन और जैनेतर पाठकों को एक स्थान पर ही उपलब्ध हो जांय। मैं यह कहने की स्थिति में हूँ कि यह ग्रन्थ अपने उद्देश्य में सफल सिद्ध हुआ है।

चित्रों के सम्बन्ध में

प्रस्तुत ग्रन्थ में दिये गये चित्रों के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना उचित प्रतीत होता है 'वर्धमान पुराण' की हस्तलिखित प्रति में लगभग ३५० चित्र भी दिये गये हैं। उन सबकी फोटो लेकर और उनके ब्लाक बनवाकर वे अपने मूल रूप में ही दिये गये हैं। ये सभी चित्र विषय से सम्बन्धित हैं। इन चित्रों का महत्त्व इस दृष्टि से अधिक बढ़ जाता है कि ये मौलिक रूप में दिये गये हैं। इस प्रकार का प्रयत्न अब तक कभी नहीं किया गया। इसलिये यह प्रयत्न सर्वथा अपूर्व और मौलिक कहा जा सकता है। उनकी कला का मूल्यांकन करते समय इस बात को नहीं भुलाया जायगा, ऐसी अपेक्षा और आशा है।

इन चित्रों के अतिरिक्त भी अनेक चित्र दिये गये हैं, जिनकी सूची काफी विस्तृत है। इन चित्रों में जैन भूगोल, खगोल और अधोलोक से सम्बन्धित चित्र अत्यन्त कलापूर्ण हैं और वे नवीन ढंग से तैयार कराये गये हैं। इनके तैयार करने में जिन महानुभावों ने सहयोग दिया और प्रयत्न किया है, वे प्रशंसा और धन्यवाद के पात्र हैं। उनमें मुख्य नाम हैं—श्री पन्नालाल जैन आर्चिटैक्ट, कुमारी इन्दु, कुमारी सन्तोष और श्री अरुणकुमार।

जैन साहित्य समितिः उद्देश्य और परिचय

यह ग्रंथ २३×३६ के अठपेजी आकार में प्रकाशित किया गया है। इसकी कुल पृष्ठ संख्या लगभग १००० है। इसमें आर्ट पेपर पर लगभग ४०० चित्र दिये गये हैं। यह कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य और व्ययसाध्य रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का कुल व्यय अनुमानतः एक लाख रुपये हैं। किन्तु इस व्यय की पूर्ति जैन वाङ्मय के रसिक और आचार्यश्री के भक्त कुछ दानियों के उदार सहयोग से सम्भव हो सकी है।

इसी सन्दर्भ में आचार्यश्री के चरणों में बैठकर समाज के उत्साही सज्जनों और विद्वानों ने काफी विचार-विमर्ष के पश्चात् 'श्री जैन साहित्य समिति' नामक एक साहित्यिक संस्था का निर्माण करने का निर्णय किया और उसकी विधिवत् स्थापना भी कर दी।
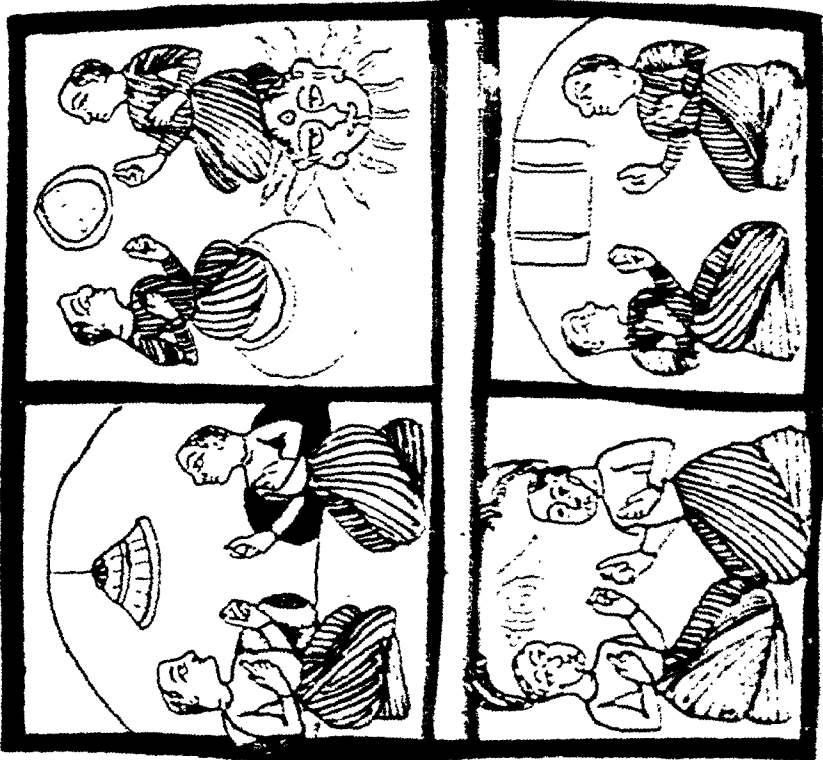
इस संस्था का उद्देश्य संक्षेप में अनुपलब्ध ग्रन्थों की खोज, अप्रकाशित एवं मौलिक रचनाओं का प्रकाशन, जैन संस्कृति के विभिन्न अंगों पर विद्वानों से ग्रन्थ तैयार करवाकर उन्हें प्रकाशित करना, शोध-खोज के नवीन क्षेत्रों का मार्ग प्रशस्त करना और विभिन्न भाषाओं के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कराना है।

प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों के चयन और समुचित सम्पादन के लिए संस्था के अन्तर्गत एक सम्पादक मण्डल रहेगा।

इस संस्था के आगामी प्रकाशन हैं 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' नामक ग्रन्थ के दो भाग। प्रथम भाग में ऐतिहासिक और पौराणिक पृष्ठभूमि में तुलनात्मक दृष्टि से ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत त्रेसठ शलाका पुरुषों का इतिहास; द्वितीय भाग में भगवान महावीर और उनके परवर्ती आचार्यों और जैन राजाओं का प्रामाणिक इतिहास; रहेगा।

उपर्युक्त तीनों ही ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण होंगे और उनसे समग्र जैन इतिहास की प्रामाणिक जानकारी हो सकेगी। जैन समाज में इस प्रकार के इतिहास ग्रन्थ की मांग बहुत समय से रही है। मुझे प्रसन्नता है कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य को इस संस्था ने अपने हाथ में लिया है। ये दोनों भाग प्रेस में दिये जा चुके हैं। मुझे आशा है, भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव से पूर्व ये ग्रन्थ प्रकाशित हो जायेंगे।

इस सम्पूर्ण आयोजन का सम्पूर्ण श्रेय पूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज को है और यह सब उनके आशीर्वाद का शुभ परिणाम है।

आभार-प्रदर्शन

यहाँ मैं उन सभी दानदाताओं का हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में धन या कागज देकर अपना सहयोग प्रदान किया है। (इन दानदाताओं की सूची पृथक से दी जा रही है।) मैं उन सज्जनों का भी आभार स्वीकार करता हूँ, जिन्होने अपना अमूल्य समय और सुझाव देकर अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया। वैद्य प्रेमचन्द्र जी जैन ने इस ग्रंथ के प्रूफ संशोधन और प्रकाशन की व्यवस्था आदि में बड़ा श्रमसाध्य योगदान किया है। श्री भगवानदास जी जैन ने इसकी प्रेस कापी तैयार करने में बड़ा सहयोग प्रदान किया है। मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था दो प्रैसों में की गई थी। लक्ष्मी प्रैस दरीवा कलां और एस० नारायण एण्ड सन्स प्रिंटिंग प्रेस पहाड़ी धीरज इन दोनों प्रेसों के संचालक महानुभावों का भी कृतज्ञ हूँ कि उन्होने स्वयं रुचि लेकर इस ग्रन्थ को सुन्दर और सुरुचिपूर्ण प्रकाशित कराया।

अन्त में मैं समिति के सभी सदस्यों की ओर से आचार्यश्री के चरणों में अपनी श्रद्धा के कुसुम चढ़ाता हुआ उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा
वीर नि० सं० २४९८

बलभद्र जैन
मंत्री जैन साहित्य समिति
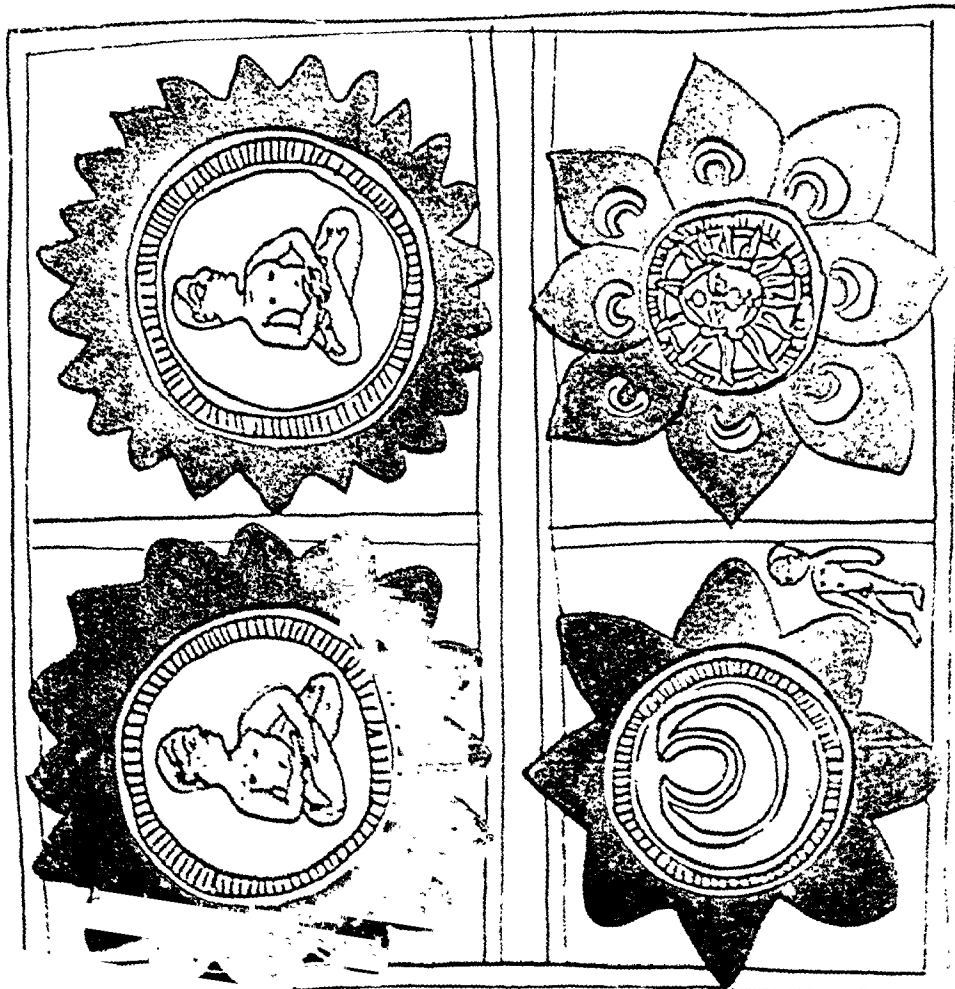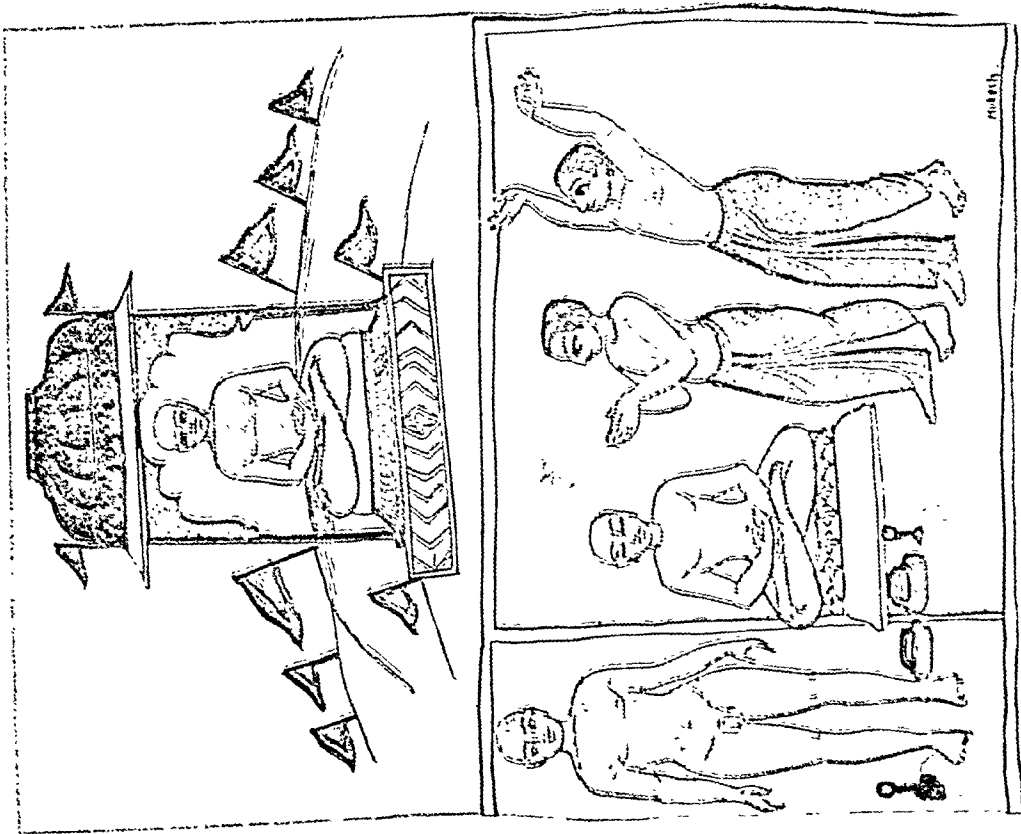
वेदनीय कर्म का चित्र

मोहनीय कर्म का चित्र
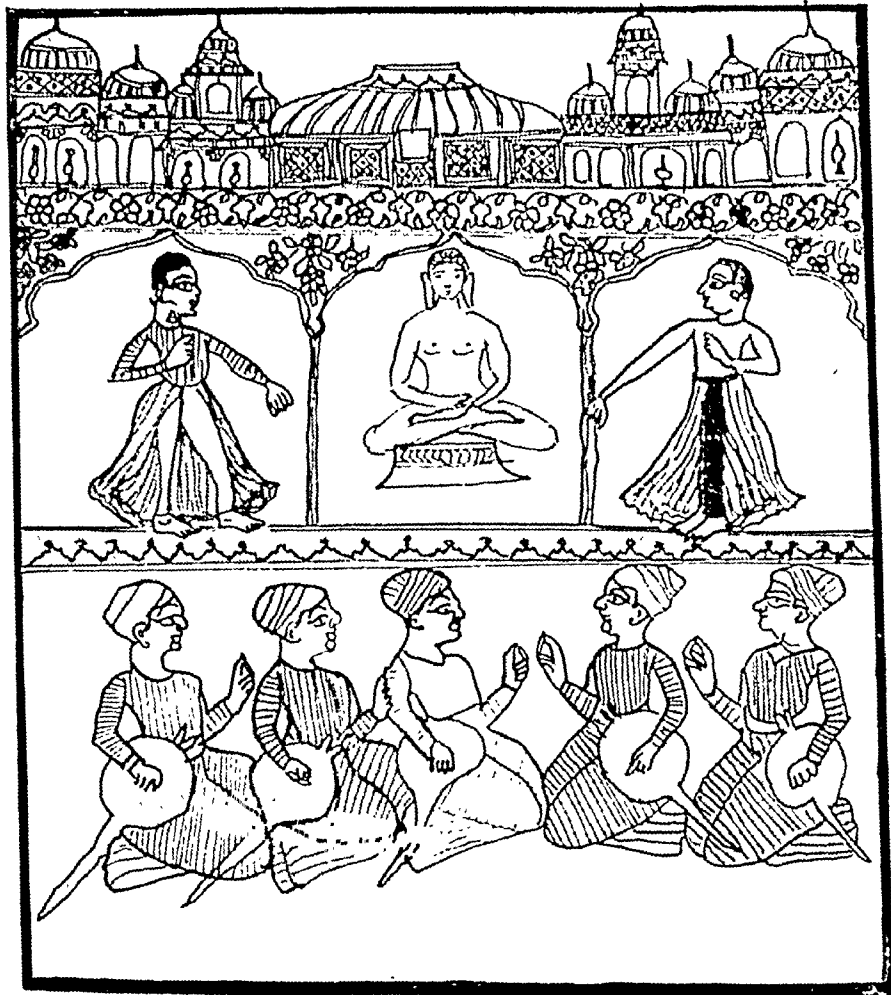
बलभद्र का वैराग्य
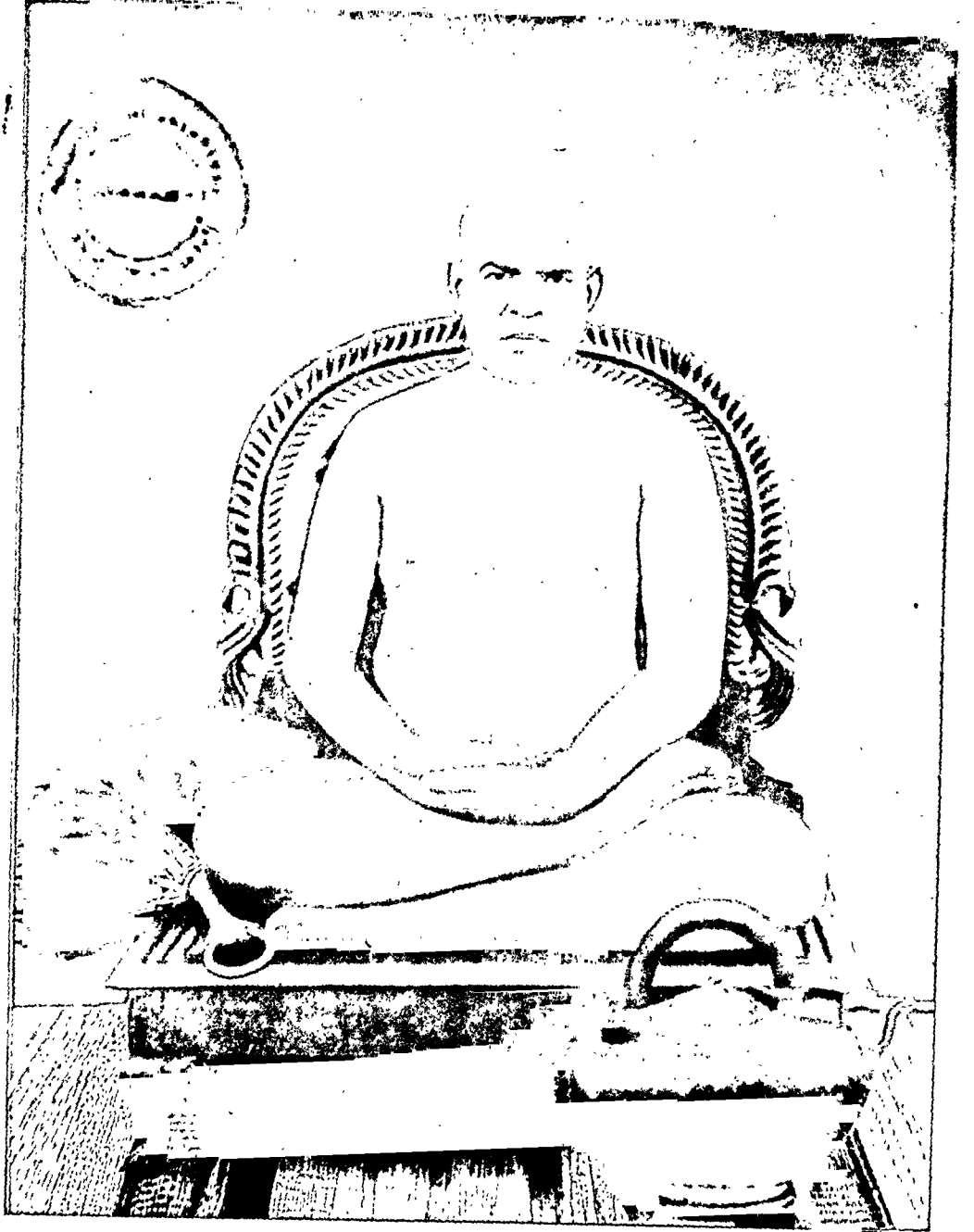
श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज

जन्म संवत् १९६०

मुनि दीक्षा १९८५
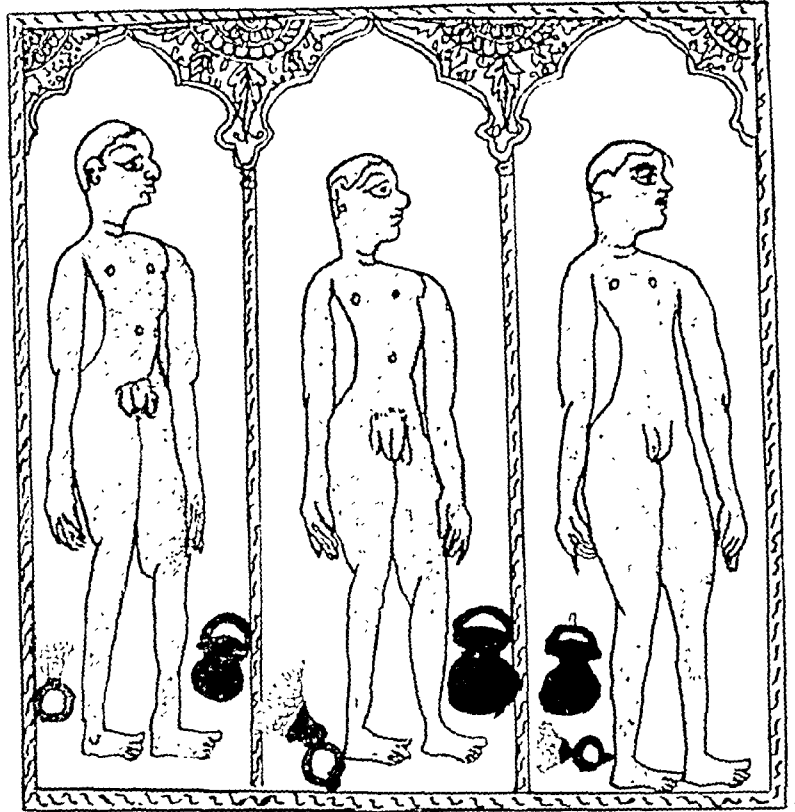
बुद्धि, केवल अवधि और ऋद्धियों के धारक।

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के

आशीर्वचन

यह हमारा सौभाग्य है कि वर्तमान काल में हम सब चरम तीर्थंकर शासनदेव भगवान महावीर के कल्याणकारी शासन-तीर्थ में रह रहे हैं और उनके लोक पावन शासन में रहकर आत्म-कल्याण की राह पर चल रहे हैं। इससे भी अधिक सौभाग्य की बात है कि भगवान महावीर का २५००वां निर्वाण महोत्सव मनाने का हमें सुयोग मिल रहा है। इस महोत्सव के उपलक्ष में भगवान महावीर का जीवन-परिचय और उनका तत्त्वदर्शन समझने का सुअवसर सर्वसाधारण को सुलभ करने की भावना हमारे मन में थी। संयोग ऐसा बन पड़ा कि एक दिन दिल्ली-वैदवाड़ा के दिगम्बर जैन मन्दिर का शास्त्र-भण्डार देखते हुए कविवर नवलशाह कृत 'वर्धमान पुराण' की सचित्र हस्तलिखित प्रति देखने को मिली। उसे देखकर मन में सन्तोष हुआ। कवि की भाषा प्रांजल, सरल और सुबोध है, विषय आगमानुसारी है और उसमें दिये हुए चित्र मुगल काल की कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन चित्रों पर मुगल-कला और राजपूत-शैली का प्रभाव अंकित है। इन चित्रों में तत्कालीन लोक-जीवन का झांकी प्रतिबिम्बित है। हमारी भावना हुई कि युग-प्रतिनिधि और विषय से सम्बन्धित ये चित्र भी इसी रूप में ग्रन्थ में दे दिये जाँय। इनसे विषय को सुस्पष्ट समझने में न केवल सहायता मिलेगी, अपितु इनकी कलागत महत्ता और मूल्य भी आंका जा सकेगा। इसलिये ग्रन्थ के साथ इन चित्रों की भी संयोजना की गई है।

हमारी यह भी भावना हुई कि महावीर केवल एक व्यक्ति नहीं थे। व्यक्ति की एक सीमा होती है, वे असीम थे; उनका व्यक्तित्व असीम था; वह देश, काल, जाति, आदि की क्षुद्र संकीर्णताओं से अतीत विराट् था। उसे समझना हो तो उनके तत्त्व-दर्शन को समझना चाहिए। इसीलिये हमने इस ग्रन्थ में जैनधर्म का परिचय, जैनधर्म में त्रिलोक सम्बन्धी मान्यता, चौदह कुलकरों और चौबीस तीर्थंकरों का परिचय, महावीर का काल-निर्णय, दिगम्बर और दिगम्बर मुनि उपयोगी विषय दे दिये हैं। भूगोल-खगोल आदि से सम्बन्धित चित्र भी दिये हैं, जिससे विषय बिलकुल स्पष्ट हो जाय। यद्यपि इन विषयों और चित्रों के कारण यह ग्रन्थ विशालकाय हो गया है, किन्तु बिना इसके इतने विषय नहीं दिये जा सकते थे। हमें सन्तोष है कि भगवान महावीर और उनके सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रायः सभी विषय इस ग्रन्थ में एक स्थान पर आगये हैं। इसलिये इस ग्रन्थ को बहु-उद्देशीय कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना हम आवश्यक समझते हैं। यह ग्रन्थ दो प्रेसों में मुद्रित हुआ है अर्थात् एक प्रेस में इसके २८७ पृष्ठों का मुद्रण हुआ है तथा दूसरे प्रेस में शेष पृष्ठ मुद्रित हुए हैं। इसीलिये २८७ पृष्ठ के बाद पृष्ठ संख्या १ से प्रारम्भ करनी पड़ी है। पाठकों को इस सम्बन्ध में कोई भ्रम उत्पन्न न हो, इसलिये यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझा गया।

इस वृहत्काय ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन धर्मरसिक श्रावक-श्राविकाओं ने आर्थिक सहकार दिया है, उन्होंने अपनी चंचला लक्ष्मी का उपयोग जिन वाणी की सेवा में धर्म-भावना से ही किया है। उन्हें हमारा हार्दिक आशीर्वाद है।

चित्र तैयार करने में ला० पन्नालाल जी आर्चीटेक्ट, कुमारी इन्दू, कुमारी सन्तोष, आयुष्मान् अरुणकुमार आदि ने सहयोग देकर अपनी कला और प्रतिभा का परिचय दिया है, उन्हें भी हम आशीर्वाद देते हैं।

इसके प्रूफ संशोधन के कार्य में पं० प्रेमचन्द्र जी वैद्य ने अपना समय और शक्ति व्यय की है, तथा एस० नारायण एण्ड सन्स प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री एस० नारायण सिंह शास्त्री ने व्यक्तिगत रुचि लेकर इस ग्रन्थ का इतना सुन्दर और शीघ्र मुद्रण कराया है, भगवानदास जैन ने इस ग्रन्थ की प्रेस कापी तैयार की है। अतः वे भी हमारे आशीर्वाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन, सज्जा और अन्य व्यवस्थाओं में जैन साहित्य समिति के मन्त्री सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित बलभद्र जी और दूसरे सदस्यों ने सक्रिय सहयोग दिया है तथा इस समिति की ओर से जैन वाङ्मय के विभिन्न अंगों पर मौलिक साहित्य

सचमुच प्रारम्भ में मुसलमान आक्रमणकारियों ने हिन्दुस्तान को बेतरह तबाह किया; किन्तु जब उनके यहाँ पर पैर जम गये और वे यहां रहने लगे तो उन्होंने हिन्दुस्तान का होकर रहना ठीक समझा। यहां की प्रजा को संतोषित रखना उन्होंने अपना मुख्य कर्तव्य माना। बाबर ने अपने पुत्र हुमायूँ को यही शिक्षा दी कि "भारत में अनेक मतमतान्तर हैं, इसलिये अपने हृदय धार्मिक पक्षपात से साफ रख और प्रत्येक धर्म की रिवाजों के मुताबिक इन्साफ कर" परिणाम इसका यह हुआ कि हिन्दुओं मुसलमानों में परस्पर विश्वास और प्रेम का बीज पड़ गया। जैनों के विषय में प्रो० डा० हेल्मुथ वॉन ग्लाजेनाप कहते हैं "मुसलमानों और जैनों के मध्य हमेशा वैर भरा सम्बन्ध नहीं था...... (बल्कि) मुसलमानों और जैनों के बीच मित्रता का सम्बन्ध रहा है[1]।" इसी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का ही यह परिणाम था कि दिगम्बर मुनि मुसलमान बादशाहों के राज्य में भी अपने धर्म का पालन कर सके थे।

ईस्वी दसवीं शताब्दि में जब अरब का सौदागर सुलेमान यहां आया तो उसे दिगम्बर साधु बहु-संख्या में मिले थे, यह पहले लिखा जा चुका है। गर्ज यह कि मुसलमानों ने आते ही यहां पर नंगे दरवेशों को देखा। महमूद गजनी (१००१) और महमूद गौरी (११७५) ने अनेक बार भारत पर आक्रमण किये; किन्तु वह यहां ठहरे नहीं। ठहरे तो यहाँ पर 'गुलाम खानदान' के सुल्तान और उन्हीं से भारत पर मुसलमानी बादशाहत की शुरुआत हुई समझना चाहिये। उन्होंने सन् १२०६ से १२९० ई० तक राज्य किया और उनके बाद खिलजी, तुगलक और लोदी वंशों के बादशाहों ने सन् १२९० से १५२६ ई० तक यहाँ पर शासन किया।[2]

मुहम्मद गौरी और दिगम्बर मुनि

इन बादशाहों के जमाने में दिगम्बर मुनिगण निर्बाध धर्म-प्रचार करते रहे थे, यह बात जैन एवं अन्य श्रोतों से स्पष्ट है। गुलाम बादशाहों के पहले ही दिगम्बर मुनि सुल्तान महमूद का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर चुके थे[3]। सुल्तान मुहम्मद गौरी के सम्बन्ध में तो यह कहा जाता है कि उसकी बेगम ने दिगम्बर आचार्य के दर्शन किये थे[4]। इससे स्पष्ट है कि उस समय दिगम्बर मुनि इतने प्रभावशाली थे कि वे विदेशी आक्रमणकारियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ थे।

गुलाम बादशाहत में दिगम्बर मुनि

गुलाम बादशाहत के जमाने में भी दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व मिलता है। मूलसंघ सेनगण में उस समय श्री दुर्लभ सेनाचार्य, श्री धरसेनाचार्य, श्रीषेण, श्री लक्ष्मीसेन, श्रीसोमसेन प्रभृत मुनिपुंगव शोभा को पा रहे थे। श्री दुर्लभसेनाचार्य ने अङ्ग कलिंग, कश्मीर, नैपाल, द्राविड़, गौड़, केरल, तैलंग, उड्र आदि देशों में विहार करके विधर्मी आचार्यों को हतप्रभ किया था[5]। इसी समय में श्री काष्ठासंघ में मुनि श्रेष्ठ विजयचन्द्र तथा मुनि यशःकीर्ति, अभयकीर्ति, महासेन, कुन्दकीर्ति, त्रिभुवन चन्द्र, राम सेन आदि हुये प्रतीत होते हैं[6]! ग्वालियर में श्री अकलंकचन्द्र जी दिगम्बर वेष में सं० १२५७ तक रहे थे।[7]

खिलजी, तुगलक और लोदी बादशाहों के राज्य और दिगम्बर मुनि

खिलजी, तुगलक और लोदी बादशाहों के राज्यकाल में भी अनेक दिगम्बर मुनि हुए थे। काष्ठासंघ में श्री कुमारसेन, प्रतापसेन, महातपस्वी माहवसेन आदि मुनिगण प्रसिद्ध थे। महातपस्वी श्री माहवसेन अथवा महासेन के विषय में कहा जाता है

---

१. DJ., p. 66 and जैव०, पृ० ६८

२. Oxford. pp 109 – 130

३. 'अलकेश्वरपुराद्भरवच्छनगरे राजाधिराज परमेश्वर यवन रायशिरोमणि महम्मदपातशाह सुरत्राणसमस्या पूर्णादखिलदृष्टिनिपातेनाष्टादश वर्षप्रायप्राप्तदेवलोकश्रीश्रुतवीरस्वामिनाम्।" —अर्थात्—' अलकेश्वपुर के भरोचनगर में राजेश्वर स्वामी यवन राजाओं में श्रेष्ठ महम्मद बादशाह के त्राण समस्या की पूर्ति से तथा दृष्ट होने से १८ वर्ष की अवस्था में स्वर्ग गए हुए श्री श्रुतवीर स्वामी हुए।

—जैसिभा०, भा० १ कि २-३ पृ० ३५

४. IA., Vol. XXI p. 361.—"Wife of Muhammad Ghori desired to see the Chief of the Digambaras."

५. जैसिभा०, भा० १ कि० २-३ पृ० ३४

६. Ibid., किरण ४ पृ० १०६

७. वृजैश०, पृ० १०

प्रकाशित करते रहने का जो समवेत संकल्प किया है, उसके लिए हम इन्हें अपना शुभाशीर्वाद देते हैं। हमारी भावना है कि ये अपने संकल्प में सफल हों।

संसार के जीवों का कल्याण वीतराग जिनेन्द्रदेव महावीर भगवान के सत्य सनातन सिद्धान्तों का अनुसरण करने से ही हो सकता है, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। उन महावीर प्रभु को निर्वाण प्राप्त किये ढाई हजार वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। महावीर प्रभु के प्रति इस अवसर के उपयुक्त हमारी श्रद्धाञ्जलि यही है कि हम अन्धकार में भटकती और शान्ति की तलाश में व्याकुल दुनिया को महावीर भगवान के उपदेशों का शीतल प्रकाश देकर अन्धकार को दूर करें और दुनिया के कोटि-कोटि जनों को यह समझने का अवसर सुलभ करें कि उनके दुःख-दैन्य, हिंसा और संघर्षों को दूर करने की क्षमता एकमात्र महावीर के सिद्धान्तों में ही निहित है। इसके अतिरिक्त सुख और शान्ति का अन्य कोई विकल्प नहीं है।

अन्त में भारत की प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी, भारत सरकार के शिक्षा मन्त्री प्रो० नूरुल हसन, उप-शिक्षामन्त्री श्री डी०पी० यादव तथा उनके सहयोगियों को भी हमारा शुभाशीर्वाद है, जो भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव को सफल बनाने और भगवान महावीर के पावन सन्देशों के लोकव्यापी प्रचार में अपना सम्पूर्ण सहयोग दे रहे हैं तथा इस उत्सव को राष्ट्रीय उत्सव का रूप प्रदान करके भगवान महावीर के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे है।

کلمہ بھرتے ہیں سبھی شیخ و برہمن ویر کا

(از گنجینۂ سخن جناب بابو چندو لال صاحب اختر ایڈووکیٹ آنریری سیوہاروی)

دونوں عالم کے لئے تھا وقف تن من ویر کا
جلوۂ عرفاں سے تھا معمور خرمن ویر کا
جس میں الفت تھی وہی تھا وقف تن من ویر کا
دشت کا ہر ایک ذرہ بھی تھا گلشن ویر کا
ایک کنڈل پور نہ تھا دنیا میں مسکن ویر کا

موہ لیتا تھا اسے وہ جس پہ کرتا تھا نظر
اس کی باتوں کا ہوا کرتا تھا ہر دل پہ اثر
خدمت مخلوق میں تھا منہمک آٹھوں پہر
دکھ دو عالم کے لیا کرتا تھا تنہا اپنے سر
الغرض عالم جذب کر لیتا تھا دامن ویر کا

ہو اگر دنیا میں عہد ویر کا جاری چلن
ویر کی تعلیم سے روشن ہوں پھر دل جان و تن
ویر کی تنویر عرفاں سے منور ہو وطن
ویر کے نقش قدم پہ ہم اگر ہوں گامزن
از سر نو کیوں پھلے پھولے نہ گلشن ویر کا

اس نے عالم کو کیا اسرار حق کا رازداں
یاد اس کی ہے دلوں میں نام ہے ورد زباں
اس کے دم سے آج ہے انسان خدا کا ترجماں
دل سے ہے مداح اس کا ایک ایک پیر و جواں
کلمہ بھرتے ہیں سبھی شیخ و برہمن ویر کا

(از نتیجۂ افکار جناب بابو چھیتر بہاری لال صاحب عاجز دہلوی)

ہے کرشمہ سب جہاں میں یہ شری مہاویر کا
ہو گیا دل خوش زمانے میں ہر اک دلگیر کا
نقش ہے دل پہ سکہ ویر کی توقیر کا
آئے تھے دنیا میں یہ کلفت مٹانے کے لئے
کرم کے بندھن سے جیووں کو چھڑانے کیلئے
کیا بیاں ہو ہم سے ان کی شان عالمگیر کا؟
گمرہوں کے واسطے اک رہنما پیدا ہوا
جو زمانے کے بزرگوں سے بہت اچھا ہوا
ہے خلاصہ بس یہی عاجز میری تقریر کا

آسمانوں سے بھی اونچا ہے سنگھاسن ویر کا

(از دلہوا نہ قوم جناب سیٹھ پی سیمن صاحب گو حسن پانی پتی)

آؤ سب کرنے چلیں مندر میں درشن ویر کا
ہے مرادوں سے بھرا سرسبز گلشن ویر کا
مکت ہونے کے لئے سیدھا ہے رستہ کون سا؟
یہ سبق دیتا ہے اک عالم کو جیون ویر کا
گیان اور ویراگ کا چرچا ہے جب تک دہر میں
خشک ہو سکتا نہیں شاداب گلشن ویر کا
گیان اور تپ سے زمانے بھر کو روشن کر دیا
بے بدل ہے کل جہاں میں دھرم درپن ویر کا
ہمسری کوئی کرے کیا لوک اور پرلوک میں؟
آسمانوں سے بھی اونچا ہے سنگھاسن ویر کا
کیوں نہ قائل آپ کے ہوں آج سب مرد و جواں
دھرم دنیا میں ہے اک سچا سناتن ویر کا
مکت ہونے کی تمنا ہے تو چل اس راہ پر
درس دیتا ہے دل گوہر کو سادھن ویر کا

(از شاعر رنگین بیان جناب مولوی محمد اسمٰعیل صاحب مظلوم سہارنپوری)

فی الحقیقت وید کے قابل ہے تن من ویر کا
دل میں اہل دل کے قائم ہے نشیمن ویر کا
کیسی ہی بیتا پڑے تو ہو نہیں سکتا ہر اس
دونوں ہاتھوں سے جو پکڑے بڑھ کے دامن ویر کا
اس کے دل سے ویر کی الفت نکل سکتی نہیں
جس کی آنکھوں نے کیا اک بار درشن ویر کا
جب گیا گلزار میں تو ہو گیا دل باغ باغ
گا تی ہے ملہار ہر گلشن میں سوسن ویر کا
جو مخالف تھے لگائے سب نے ملکر لاکھ زور
بال بیکا کر سکے لیکن نہ دشمن ویر کا
جس کے دل میں پڑ رہا ہے ویر کی الفت کا داغ
ہم سمجھتے ہیں اسے مظلوم دشمن ویر کا؟

कहाँ क्या है

चित्र-सूची

पृष्ठ संख्या

वास, नारायण का रनिवास—वलभद्र का वैराग्य तथा केशलौंच—नरक का वर्णन—मुनिराज का तप और सिंह को उपदेश—जंगल में सिंह हिरण को पकड़ते हुए—मुनिराज का सिंह को उपदेश—समाधिमरण में सिंह—चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के द्वारा सिंह के पूर्व भव का वर्णन—सिंह का जीव सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ—कनक राजा का विवाह—कनकोज्वल का समाधिमरण—कनकोज्वल ने दीक्षा धारण की कनकोज्वल मुनिराज तपश्चरण में लीन—राजा कनकोज्वल रानी के साथ—रानी के साथ वंदना पर—कनकोज्वल उपदेश सुनते हुए-कनकोज्वल स्वर्ग में देव हुआ—लक्ष्मी का अभिषेक राजा कनकोज्वल हरिषेण राजा पूजा करते हुए—राजा वज्रसैन—राजा हरिषेण जिन मंदिर में—हरिषेण का जीव महाशुक्र स्वर्ग में—राजा सुमित्र रानी सुव्रत के साथ—प्रिय मित्रकुमार के चौदह रत्न—नंद राजा ने दीक्षा धारण की—चक्रवर्ती की सेना का वर्णन—प्रभु का समवसरण—प्रियमित्रकुमार की नवनिधि—प्रियमित्र कुमार का जन्म—चक्रवर्ति की नवनिधि त्रिपृष्ठ की सेना—अनित्य भावना—अशरण भावना—संसार भावना—एकत्व भावना—अन्यत्व भावना—अशुचि भावना—आस्रव भावना—संवर भावना—वोधिदुर्लभ भावना—धर्म भावना—निर्जरा भावना—लोक भावना—राजा नंद के मुख का वर्णन—राजानंद की सेना का वर्णन—भगवान की सेवा करते हुए देव देवियां—चक्रवर्ती का वैभव—राजा नंद का वर्णन—राजा सिद्धार्थ का महल—देवियों द्वारा जिन माता की सेवा—जिन माता के रूप का वर्णन—कुवेर द्वारा कुंडलपुर की रचना—सोलह स्वप्न जिन माता के—माता की सेवा करती हुई देवियां—राजा के द्वारा देवों का स्वागत—कुंडलपुर में खुशियां मनाई जा रही हैं—इन्द्र श्री १००८ भगवान महावीर को जन्माभिषेक के लिए ऐरावत हाथी पर ले जाते हुए—रानी सुव्रता के स्वप्नों का फल—श्री भगवान महावीर स्वामी के जन्माभिषेक पर देवों का आगमन—भगवान महावीर ने छह मास का तप धारण किया—इन्द्राणी भगवान महावीर को जन्माभिषेक के लिए ले जाती हुई—अयोध्या के राजा वज्रसेन—पाण्डुक शिला पर इन्द्रों द्वारा भगवान महावीर का जन्माभिषेक—भगवान महावीर स्वामी वाल क्रीड़ा करते हुए—भगवान महावीर स्वामी दीक्षा हेतु देवों द्वारा ले जाये जा रहे हैं—भगवान महावीर ने वाल्यकाल में मदोन्मत्त हाथी को वश में किया-लौकान्तिक देवों द्वारा भगवान महावीर स्वामी की स्तुति—नवग्रह—ज्योतिलोक का वर्णन—देवों द्वारा भगवान महावीर की स्तुति—श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी का दीक्षा कल्याणक—देवों द्वारा भगवान महावीर के वैराग्य की पुष्टि—देवी देवताओं द्वारा भगवान की स्तुति—दरपुर के राजा कूल के द्वारा स्तुति वीर प्रभु का प्रताप—श्री भगवान महावीर का वाल्यकाल—भगवान के समवसरण की ध्वजायें—जन्म के दस अतिशय—ज्ञान के आठ मंगल—अरहंत का समवसरण—समवसरण में इन्द्र इन्द्राणी द्वारा स्तुति, गौतम का मान स्तंभ देखते ही मान गलित होना गौतम शिष्यों के साथ समवसरण की ओर जाते हुए—सप्त भंगी वर्णन—जिन वालक का मेरु पर्वत पर अभिषेक—ज्योतिषियों की संख्या—श्री १००८ भगवान के चिन्ह—अंतरात्मा वहिरात्मा—घातिया कर्मों का महावीर स्वामी द्वारा नाश—पदस्थ ध्यान का वर्णन—पदस्थ ध्यान का निरूपण—पदस्थ ध्यान का निरूपण—अष्ट कर्म का वर्णन—ज्ञानावरण—दर्शनावरण—वेदनीय—मोहनीय—आयु—नाम—गौत्र—अन्तराय—ऋद्धिधारी मुनि का प्रभाव—वुद्धि, केवल, अवधिधारी मुनि—मुनि के दर्शन से कुष्ठ ठीक हो गया। सिद्ध भूमियों के चित्र।
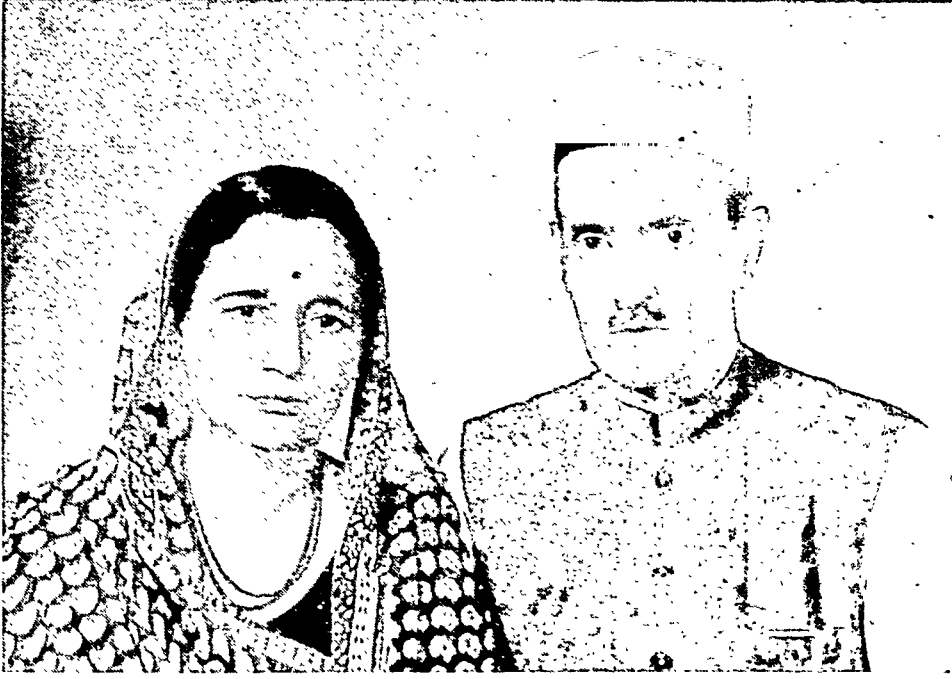
श्रीमती एवं श्री ला० अजित प्रसाद जी जैन जौहरी कटरा खुशालराय दिल्ली
आपने शास्त्र दान में विशेष सहायता प्रदान की है ।

श्रीमती विद्यावती जी धर्म पत्नी ला० वलवन्त सिह जी जैन हांसी वालों की स्मृति में उनके सुपुत्र श्री वृजभूषण जी, नरेन्द्र कुमार जी, सुरेन्द्र कुमार जी, विनोद कुमार जी, प्रमोद कुमार जी ने शास्त्र दान हेतु विशेष सहायता प्रदान की है।

इस ग्रन्थ के विशेष सहायक सज्जनों की सूची

श्री मलजी रामजी नवीन शाहदरा देहली
श्री भूषणजी हांसीवाले
श्री अजीत प्रसाद जी जौहरी, कटरा खुशालराय, देहली

सहयोग दाताओं की सूची

"भगवान् महावीर और उनका तत्वदर्शन" नामक ग्रन्थ के लिए जिन उदार दानी सज्जनों अथवा पंचायतों ने किसी प्रकार की सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ नामावली इस प्रकार है —

श्री शान्तिनगर दिगम्बर जैन समाज देहली.
" कुमुद कुमार जी जैन देहली
" दिगम्बर जैन समाज भूला
" दिगम्बर जैन समाज खतौली
" दिगम्बर जैन समाज कुताना
" निहालचन्द ज्योति प्रसाद जी देहली
" श्रीमती पिश्ता देवी गुड़गांव
" श्री प्रेमचन्द जी गाजियावाद
" गोपाल जी गोयल ठेकेदार गाजियावाद
" वावूराम अजित प्रसाद जी जौहरी, देहली
" हरकचन्द जी सेठी नागौर निवासी आसाम
" मोहनचन्द जीं तंवाखूवाले गाजियावाद
" मदनलाल विनोद कुमार जी
" दिगम्बर जैन समाज रिवाड़ी
" सुमेरचन्द जी मैंदावाले देहली
" छुट्टनलाल जी सुपुत्र श्री मनफूल सिंह जी कागजी देहली
" लक्ष्मीचन्द पवनकुमार जी अमीनगर सराय
" सीताराम जुगल किशोरजी बजाज अमीनगर सराय
श्रीमती शीला देवी धर्मपत्नी श्री महेन्द्र कुमार जी अमीनगर सराय
श्री श्यौराज सिंह धनराज सिंह जी अमीनगर सराय
" मांगीलाल छज्जूमल जी "
" दिगम्बर जैन समाज कबूल नगर देहली
श्री अनूप सिंहजी धर्मार्थ ट्रस्ट देहली

श्री धन्नालाल प्रेमचन्द जी देहली
" निर्मल कुमार जी पहाड़ी धीरज देहली
" उल्फतराय जी नजफगढ़ "
" अमर सिंह महावीर प्रसाद जी भोगल देहली
" श्यामलाल सुन्दरलाल जी रूपनगर "
" रमेशचन्द जी डिप्टीगंज "
" दिगम्बर जैन महिला समाज अमीनगर सराय
" वावूराम ओमप्रकाश जी शाहदरा देहली
" प्रताप सिंह जी संतनगर "
श्रीमती गंगा देवी ध० प० घासीरामजी "
श्री किरणमाला ध० प० सुल्तानचन्द जी "
" लालचन्दजी डिप्टीगंज देहली
" चन्द्रभानजी पलवल
" देवेन्द्र कुमार जयनारायण जी डिप्टीगंज देहली
" जयचन्दरायजी शक्ति नगर देहली
" मनोहरलालजी "
" गिरधरलालजी "
" सुन्दरलालजी ठेकेदार "
" चन्दगीरामजी "
" दिगम्बर जैन समाज मेरठ
" कल्याणमल जी पटोदी
" सुमत प्रसादजी फरुखनगर
" पदमसेनजी कलकत्ता
श्री मती रतनदेवीजी पहाड़ी धीरज देहली
श्री कश्मीरीलालजी ज्वैलर्स देहली
" रामप्रसाद जी पंसारी देहली
" अजित प्रसादजी धर्मपुरा देहली
" मुंशी सुमेरचन्दजी "
" ताराचन्दजी चीनीवाले "

श्री चन्द्रसेन जी जैन देहली
" श्रीपालजी धर्मपुरा "
" सुरेन्द्र कुमार महेश्वरी "
" भंवरीलाल प्रकाश कुमार जी, बाराबंकी
श्री दिगम्बर जैन समाज भविष्या
" चुन्नीलाल जी वकील कूचासेठ

मासिक सहायता देने वाले सज्जन

१००) श्री ऋषभदास जी इंजीनियर देहली
१५०) ,, राजेन्द्र कुमारजी (कम्मोजी) देहली
१००) ,, फूलचन्दजी कागजी देहली
१५०) ,, विमल कुमारजी सिरोही
१५०) ,, निर्मल कुमारजी डिप्टीगंज देहली
१५०) ,, अजितप्रसादजी ठेकेदार देहली
१००) ,, मदनलालजी घंटेवाले देहली (चार माह)
३००) ,, अजित प्रसादजी जौहरी देहली
३००) ,, श्रीचन्दजी देहली

चित्रों के लिये सहायता देनेवाले सज्जनों की सूची

श्रीमती इन्द्रपती जलेबी वाली देहली
श्री अमरचन्द जी देहली
,, रमेशचन्द जी देवनगर देहली
,, सुरेशचन्दजी रोहतक
,, प्रकाशचन्दजी बल्लभगढ़
,, छज्जूमल चन्द्रभानजी पलवल
,, बाबूराम नरेन्द्र कुमारजी पलवल
,, शिखरचन्दजी देहली
,, अरुण कुमारजी सुपुत्र श्री पदमसेनजी देहली
श्रीमती इन्द्रा देवी (फूलचन्दजी) देहली
,, सरला बाई (जयनारायणजी) ,,
श्री महावीर प्रसादजी वैदवाड़ा ,,
,, नन्दकिशोर सुल्तानसिंहजी ,,

श्री परसादी लाल रघुवीरसिंहजी धारूखेड़ा
,, ओमप्रकाश नेमप्रकाशजी खंडाका जयपुर
,, नरेन्द्र कुमारजी जौहरी, देहली
श्रीमती कुंदा देवी और तिलकवती देहली
श्री बाबूलाल भौंसा जयपुर
श्री उम्मेदमलजी शान्तिरोड कानपुर
,, विद्याधरजी काश्मीर
,, सुरेन्द्रकुमार जी जौहरी देहली
,, महेन्द्र कुमार मिट्ठनलालजी गाजियाबाद
,, मदनलाल विनोदकुमारजी देहली
,, तरुण ऐण्ड कंपनी पहाड़ी धीरज देहली

ब्लाकों के लिये सहायता देने वाले सज्जन

श्रीमती इन्द्रपती जलेबीवाले देहली
,, मुंदरी देवी ध० प० श्री चुन्नीलालजी लोहे वाले, कूचासेठ
श्री ब्रजभूषणजी हांसी वाले नावेल्टी
श्रीमती उर्मिला देवी जैन
धर्मपत्नी नरेशचन्द जैन
हैटवाले ६ पूसारोड़ नई दिल्ली
श्रीमती किरण देवी जैन
धर्मपत्नी सुलतान चन्द जैन
१० कोर्ट लाइन सहगल कौलोनी दिल्ली
श्रीमती शान्तीदेवी जैन
धर्मपत्नी मनभावन सिंह जी
निकलसन रोड दिल्ली
श्री अर्हंतप्रसाद जी वकील हांसी

उपर्युक्त सभी दानदाताओं और सहयोगदाताओं को हार्दिक धन्यवाद है।

—मंत्री

☆ मंगलाचरण ☆

श्री वर्द्धमानं भगवज्जिनेन्द्रं,
नमामि सेन्द्रार्चित पादपीठम् ।
यत्पाद सेवारत चित्तवृति
नरोऽस्तबाधं समुपैति मोक्षम् ।।

जैन धर्म का सामान्य स्वरूप

अन्त रहित इस संसार के भ्रमर रुपी जाल में फंसकर भ्रमण करनेवाले जीव कोटि को कर्मपाश से मुक्त कर नित्य पद जो कि सुखमय है उसमें जो पहुंचनेवाले है वही धर्म है। इसी धर्म को भगवान् महावीर स्वामी ने प्राणी मात्र के हित के लिये प्रतिपादन किया है :—

समन्तभद्र आचार्य का वचन :—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।।

मैं उस समीचीन धर्म का निर्देश करता हूं जो कर्मो का विनाशक है और जीवो को संसार के दुःख से निकालकर उत्तम-सुख में धारण कराता है।

व्याख्या— इस वाक्य में जिस धर्म के स्वरूप-कथन की देशयामि पद के द्वारा प्रतिज्ञा की गई है उसके तीन खास विशेषण है—सबसे पहला तथा मुख्य विशेषण है समीचीन दूसरा कर्मनिवर्हण और तीसरा दुख से उत्तम—सुख में धारण। पहला विशेषण निर्देश धर्म की प्रकृति का द्योतक है और शेष दो उसके अनुष्ठान-फल का सामान्यतः (संक्षेप में) निरूपन करने वाले हैं।

कर्म शब्द विशेषण—शून्य प्रयुक्त होने से उसमें द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप से सब प्रकार के अशुभादि कर्मो का समावेश है, जिनमें रागादिक भावकर्म और ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म कहलाते हैं। धर्म को कर्मों का निवर्हण-विनाशक बतलाकर इस विशेषण के द्वारा यह सूचित किया गया है कि वह वस्तुतः कर्मबन्ध का कारण नहीं, प्रत्युत इसके बन्ध से छुड़ाने वाला होता है और जो बन्धन से छुड़ाने वाला होता है। वही दुःख से निकालकर सुख में धारण कराता है, क्योंकि बन्धन में—पराधीनता में—सुख नहीं किन्तु दुःख ही दुःख है। इसी विशेषण की प्रतिष्ठा पर तीसरा विशेषण चरितार्थ होता है और इसी लिये वह कर्मनिवर्हण विशेषण के अनन्तर रक्खा गया जान पड़ता है।

सुख जीवों का सर्वोपरि ध्येय है और उसकी प्राप्ति धर्म से होती है। धर्म सुख का साधन (कारण) है और साधन कभी साध्य (काय) का विरोधी नहीं होता, इसलिए धर्म से वास्तव में कभी दुःख की प्राप्ति नहीं होती, वह तो सदा दुःखों से छुड़ानेवाला ही है। इसी बात को लेकर श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में निम्न वाक्य के द्वारा सुख का आश्वासन देते हुए उन लोगों को धर्म में प्रेरित किया है जो अपने सुख में बाधा पहुंचने के भय को लेकर धर्म से विमुख बने रहते हैं :—

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात्सुखभंगभिया मामूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम्॥२०॥

धर्म करते हुये भी यदि कभी दुःख उपस्थित होता है तो उस का कारण पूर्वकृत कोई पापकर्म का उदय ही समझना चाहिये, न कि धर्म ! धर्म शब्द का व्युत्पत्यर्थ अथवा निरुक्त्यर्थ भी इसी बात का सूचित करता है और उस अर्थ को लेकर ही तीसरे विशेषण की घटना (सृष्टि) की गई है। उसमें सुख का उत्तम विशेषण भी दिया गया है, जिससे प्रकट है कि धर्म से उत्तम सुख की शिवसुख की अथवा यों कहिये कि अबाधित सुख की प्राप्ति तक होती है तब साधारण सुख तो कोई चीज नहीं है—वे तो धर्म से सहज में ही प्राप्त हो जाते हैं। सांसारिक दुःखों के छूटने से सांसारिक उत्तम सुखों का प्राप्त होना उसका आनुषंगिक फल है--धर्म उसमें बाधक नहीं और इस तरह प्रकारान्तर से धर्म संसार के उत्तम सुखों का भी साधक है, जिन्हें ग्रन्थ में अभ्युदय शब्द के द्वारा उल्लेखित किया गया है। इसी से दूसरे आचार्यों ने धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो इत्यादि वाक्यों के द्वारा धर्म का कीर्तन किया है। और स्वयं स्वामी समन्तभद्र ने यह प्रतिपादन किया है कि जो अपने आत्मा को इस (रत्नत्रय) धर्मरूप परिणत करता है उसे तीनों लोकों में "सर्वार्थसिद्धि" स्वयंवरा की तरह वरती है अर्थात् उसके सब प्रयोजन अनायास सिद्ध होते हैं। और इसलिये धर्म करने से सुख में बाधा आती है ऐसा समझना भूल ही होगा।

वास्तव में उत्तम सुख जो परतन्त्रतादि के अभावरूप शिव सुख है और जिसे स्वयं स्वामी समन्तभद्र ने शुद्धसुख बतलाया है उसे प्राप्त करना ही धर्म का मुख्य लक्ष्य है—इन्द्रियसुखों अथवा विषयभोगों को प्राप्त करना धर्मात्मा का ध्येय नहीं होता। इन्द्रियसुख बाधित, विषम, पराश्रित, भंगुर, बन्धहेतु और दुःखमिश्रित आदि दोषों से दूषित है। स्वयं स्वामी समन्तभद्र ने इसी श्लोक में कर्मपरवशे इत्यादि कारिका द्वारा उसे कर्मपरतन्त्र, सान्त (भंगुर), दुःखों से अन्तरित-एकरसरूप न रहनेवाला तथा पापों का बीज बतलाया है। और लिखा है कि धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) ऐसे सुख की आकांक्षा नहीं करता। और इसलिये जो लोग इन्द्रिय-विषयों में आसक्त हैं—फंसे हुये हैं—अथवा सांसारिक सुख को ही सब कुछ समझते हैं वे भ्रान्त चित्त हैं—उन्होंने वस्तुतः अपने को समझा ही नहीं और न उन्हें निराकुलतामय सच्चे स्वाधीन सुख का कभी दर्शन या आभास ही हुआ है।

यहां पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि उक्त तीसरे विशेषण के संघटक वाक्य "संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे" में सत्वान् पद सब प्रकार के विशेषणों से रहित प्रयुक्त हुआ है और इससे यह स्पष्ट है कि धर्म किसी जाति या वर्ग-विशेष के जीवों का ही उद्धार नहीं करता बल्कि ऊंच नीचादि का भेद न कर जो भी जीव—भले ही वह म्लेच्छ, चांडाल, पशु, नारकी, देवादिक कोई भी क्यों न हो—उसको धारण करता है, उसे ही वह दुःख से निकालकर सुख में स्थापित करता है और उस सुख की मात्रा धारण किये हुये धर्म की मात्रा पर अवलम्बित रहती है—जो अपनी योग्यतानुसार जितनी मात्रा में धर्माचरण करेगा वह उतनी ही मात्रा में सुखी बनेगा और इसलिये जो जितना अधिक दुःखित एवं पतित है उसे उतनी ही अधिक धर्म की आवश्यकता है और वह उतना ही अधिक धर्म का आश्रय लेकर उद्धार पाने का अधिकारी है।

वस्तुतः पतित उसे कहते हैं जो स्वरूप से च्युत है- स्वभाव में स्थिर न रहकर इधर उधर भटकता और विभाव-परिणति-रूप परिणमता है—और इसलिये जो जितने अंशों में स्वरूप से च्युत है वह उतने अंशों में ही पतित है। इस तरह सभी संसारी जीव एक प्रकार से पतितों की कोटि में स्थित और उसकी श्रेणियों में विभाजित हैं। धर्म जीवों को उनके स्वरूप में स्थिर करने वाला है, उनकी पतितावस्था को मिटाता हुआ उन्हें ऊंचे उठाता है और इसलिये पतितोद्धारक कहा जाता है। कूप में पड़े हुये प्राणी जिस प्रकार रस्से का सहारा पाकर ऊंचे उठ आते हैं और अपना उद्धार कर लेते हैं उसी प्रकार संसार के दुःखों में डूबे हुये पतित से पतित जीव भी धर्म का आश्रय एवं सहारा पाकर ऊंचे उठ आते हैं और दुःखों से छूट जाते हैं। स्वामी समन्तभद्र तो अतिहीन (नीचातिनीच) को भी लोक में अतिगुरु (अत्युच्च) तक होना बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में स्वरूप से ही सब जीवों का धर्म के ऊपर समान अधिकार है और धर्म का भी किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं है—ग्रंथकार के शब्दों में धर्म जीवमात्र का बन्धु है तथा स्वाश्रय में प्राप्त सभी जीवों के प्रति समभाव से वर्तता है। इसी दृष्टि

को लक्ष्य में रखते हुये ग्रन्थकार महोदय ने स्वयं ही ग्रन्थ में आगे यह प्रतिपादन किया है कि धर्म के प्रसाद से कुत्ता भी ऊंचा उठकर (अगले जन्म में) देवता वन जाता है और ऊंचा उठा हुआ देवता भी पाप को अपनाकर धर्मभ्रष्ट हो जाने से (जन्मान्तर में) कुत्ता वन जाता है। साथ ही यह भी वतलाया है कि धर्म सम्पन्न एक चाण्डाल का पुत्र भी देव है—आराध्य है और स्वभाव से अपवित्र शरीर भी धर्म (रत्नत्रय) के संयोग से पवित्र हो जाता है। अतः अपवित्र शरीर एवं हीन जाति धर्मात्मा तिरस्कार का पात्र नहीं-निर्जुगुप्सा अंग का धारक धर्मात्मा ऐसे धर्मात्मा से घृणा न रखकर उसके गुणों में प्रीति रखता है। और जो जाति आदि किसी मद के वशवर्ती होकर ऐसा नहीं करता, प्रत्युत इसके ऐसे धर्मात्मा का तिरस्कार करता है वह वस्तुतः आत्मीय धर्म का तिरस्कार करता है—फलतः आत्म धर्म से विमुख है, क्योंकि धार्मिक के विना धर्म का कहीं अवस्थान नहीं और इसलिये धार्मिक का तिरस्कार ही धर्म का तिरस्कार है—जो धर्म का तिरस्कार करता है वह किसी तरह भी धर्मात्मा-नहीं कहा जा सकता। ये सव वातें समन्तभद्र स्वममी की धर्म-मर्मज्ञता के साथ-साथ उनकी धर्माधिकार-विषयक उदार भावनाओं की द्योतक हैं और इन सवको दृष्टि-पथ में रखकर ही सत्वान् पद सव प्रकार के विशेषणों से रहित प्रयुक्त हुआ है।

अव रही समीचीन विशेषण की वात, धर्म को प्राचीन या अर्वाचीन आदि न वतलाकर जो समीचीन विशेषण से विभूषित किया है वह वड़ा ही रहस्यपूर्ण है, क्योंकि प्रथम तो जो प्राचीन है वह समीचीन भी हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी तरह जो अर्वाचीन (नवीन) है वह असमीचीन ही हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है। उदाहरण के लिये अनादि-मिथ्यात्व तथा प्रथमोपशम-सम्यक्त्व को लीजिये, अनादि कालीन मिथ्यात्व प्राचीन से प्राचीन होते हुये भी समीचीन (यथावस्थित वस्तुतत्व के श्रद्धानादिरूप में) नहीं है और इसलिये मात्र प्राचीन होने से उस मिथ्याधर्म का समीचीन धर्म के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रत्युत इसके, सम्यक्त्व गुण जव उत्पन्न होता है तव मिथ्वात्व के स्थान पर नवीन ही उत्पन्न होता है, परन्तु नवीन होते हुये भी वह समीचीन है और इसलिये सद्धर्म के रूप में उसका ग्रहण है—उसकी नवीनता उसमें वाधक नहीं होती। नतीजा यह निकला कि कोई भी धर्म चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, यदि समीचीन है तो वह ग्राह्य है अन्यथा ग्राह्य नहीं है। और इसलिये प्राचीन अर्वाचीन से समीचीन का महत्व अधिक है, वह प्रतिपाद्य धर्म का असाधारण विशेषण है, उसकी मौजूदगी में ही अन्य दो विशेषण अपना कार्य भली प्रकार करने में समर्थ हो सकते हैं, अर्थात् धर्म के समीचीन (यथार्थ) होने पर ही उसके द्वारा कर्मों का नाश और जीवात्मा को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में धारण करना वन सकता है—अन्यथा नहीं। इसी से समीचीनता का ग्राहक प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के धर्मों को अपना विपय वनाता है अर्थात् प्राचीनता तथा अर्वाचीनता का मोह छोड़कर उनमें जो भी यथार्थ होता है उसे ही अपनाता है। दूसरे, धर्म के नाम पर लोक में वहुत सी मिथ्या वातें भी प्रचलित हो रही हैं उन सवका विवेक कर यथार्थ धर्मदेशना की सूचना को लिये हुये भी यह विशेषण पद है। इसके सिवाय, प्रत्येक वस्तु की समीचीनता (यथार्थता) उसके अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर अवलम्वित रहती है—दूसरे के द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर नहीं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में से किसी के भी वदल जाने पर वह अपने उस रूप में स्थिर भी नहीं रहती और यदि द्रव्य क्षेत्र काल भाव की प्रक्रिया विपरीत हो जाती है तो वस्तु भी अवस्तु हो जाती है अर्थात् जो ग्राह्य वस्तु है वह त्याज्य और जो त्याज्य है वह ग्राह्य वन जाती है। ऐसी स्थिति में धर्म का जो रूप समीचीन है वह सवके लिये समीचीन ही है और सव अवस्थाओं में समीचीन है ऐसा नहीं कहा जा सकता—वह किसी के लिये और किसी अवस्था में असमीचीन भी हो सकता है। उदाहरण के रूप में एक गृहस्थ तथा मुनि को लीजिये, गृहस्थ के लिये स्वदारसन्तोप, परिग्रहपरिमाण अथवा स्थूलरूप से हिंसादि के त्यागरूप व्रत समीचीन धर्म के रूप में ग्राह्य हैं—जव कि वे मुनि के लिये उस रूप में ग्राह्य नहीं हैं—एक मुनि महाव्रत धारण कर यदि स्वदार गमन करता है, धन-धन्यादि वाह्य परिग्रहों को परिमाण के साथ रखता है और मात्र संकल्पी हिंसा के त्याग का ध्यान रखकर शेष आरम्भी तथा विरोधी हिंसाओं के करने में प्रवृत्त होता है तो वह अपराधी है, क्योंकि गृहस्थोचित समीचीन धर्म उसके लिये समीचीन

नहीं है। एक गृहस्थ के लिये भी स्वदार-सन्तोष व्रत वहीं तक समीचीन है जहाँ तक कि वह ब्रह्मचर्यव्रत नहीं लेता अथवा श्रावक की सातवीं श्रेणी पर नहीं चढ़ता, ब्रह्मचर्य व्रत ले लेने या सातवीं श्रेणी चढ़ जाने पर स्वदारगमन उसके लिये भी वर्जित तथा असमीचीन हो जाता है। ऐसा ही हाल दूसरे धर्मों, नियमों तथा उपनियमों का है। उपनियम प्रायः नियमों की मूलदृष्टि पर से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को सम्यक् योजना के साथ फलित किये जाते हैं, जैसे कि भोज्य पदार्थों के सेवन की काल विषयक मर्यादा जिस तरह सब पदार्थों के लिये एक नहीं होती उसी तरह एक प्रकार या एक जाति के पदार्थों के लिये भी सब समयों सब क्षेत्रों और सब अवस्थाओं की दृष्टि से एक नही होती और न हो सकती है। ग्रीष्म या वर्षा ऋतु में उष्ण प्रदेशस्थित एक पदार्थ यदि तीन दिन में विकारग्रस्त होता है तो वही पदार्थ शीतप्रधान प्रदेश में स्थित होने पर उससे कई गुने अधिक समय तक भी विकार को प्राप्त नहीं होता। उष्ण प्रधान प्रदेशों में भी असावधानी से रखा हुआ पदार्थ जितना जल्दी विकृत होता है उतनी जल्दी सावधानी से शीलादि को बचाकर रक्खा हुआ नहीं होता। जो पदार्थ वायुप्रतिबंधक पात्रों में तथा बर्फ के सम्पर्क में रक्खा जाता है अथवा जिसके साथ में पारे आदि का संयोग होता है उसके विकृत न होने की काल मर्यादा तो और भी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में मर्यादा की समीचीनता-असमीचीनता बहुत कुछ विचारणीय हो जाती है और उसके लिये सर्वथा कोई एक नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। अधिकांश में तो वह सावधान पुरुष के विवेक पर निर्भर रहती है, जो सब परिस्थितियों को ध्यान में रखता और वस्तुविकार सम्बन्धी अपने अनुभव से काम लेता हुआ उसका निर्धार करता है। इन्हीं तथा इन्हीं जैसी दूसरी बातों को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ में धर्म के अंगों तथा उपांगों आदि लक्षणों का निर्देश किया गया है और विशेषणों आदि के द्वारा, जैसे भी सूत्र रूप में बन पड़ा अथवा आवश्यक समझा गया, इस बात को सुझाने का यत्न किया है कि कौन धर्म, जिसके लिये, किस दृष्टि से कैसी परिस्थिति में और किस रूप में ग्राह्य है, यही सब उसकी समीचीनता का द्योतक है जिसे मालूम करने तथा व्यवहार में लाने के लिये बड़ी ही सतर्क दृष्टि रखने की जरूरत है। सद्दृष्टि-विहीन तथा विवेक-विकल कुछ क्रियाकाण्डों के कर लेने मात्र से ही धर्म को समीचीनता नहीं सधती।

एक मात्र धर्म देशना अथवा धर्म शासन को लिये हुये होने से यह ग्रंथ धर्म शास्त्र पद के योग्य हैं। और चूंकि इसमें वर्णित धर्म का अन्तिम लक्ष्य संसारी जीवों को अक्षय-सुख की प्राप्ति कराना है, इसलिये प्रकारान्तर से इसे सुख-शास्त्र भी कह सकते हैं। शायद इसीलिये विक्रम की ११वीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य वादिराजसूरि ने अपने पार्श्वनाथ चरित में स्वामी समन्तभद्र योगीन्द्र का स्तवन करते हुये उनके इस धर्मशास्त्र को अक्षयसुखावहः विशेषण देकर अक्षय-सुख का भण्डार बतलाया है।

कारिका में दिये हुये देशयामि समीचीन धर्म इस प्रतिज्ञा वाक्य पर से ग्रन्थ का असली अथवा मूल नाम समीचीन धर्मशास्त्र जान पड़ता है, जिसका आशय है समीचीन धर्म की देशना (शास्त्र) को लिये हुये ग्रन्थ और इसलिये यही मुख्य नाम इस सभाष्य ग्रन्थ को देना यहाँ उचित समझा गया है, जो कि ग्रन्थ की प्रकृति के भी सर्वथा अनुकूल है। दूसरा रत्नकरण्ड (रत्नों का पिटारा) नाम ग्रन्थ में निर्दिष्ट धर्म का रूप रत्नत्रय होने से उन रत्नों के रक्षणोपायभूत के रूप में है और ग्रन्थ के अन्त की एक कारिका में येन स्वयं वीतकलंकविद्यादृष्टिक्रिया रत्नकरण्डभावं नीतः" इस वाक्य के द्वारा उस रत्नत्रय धर्म के साथ अपने आत्मा को रत्नकरण्ड के भाव में परिणत करने का जो वस्तु-निर्देशात्मक उपदेश दिया गया है उस पर से भी फलित होता है। दोनों में समीचीन धर्म शास्त्र यह नाम प्रतिज्ञा के अधिक अनुरूप स्पष्ट और गौरवपूर्ण प्रतीत होता है। समन्तभद्र के और भी कई ग्रन्थों के दो-दो नाम हैं, जैसे देवागम का दूसरा नाम आप्त मीमांसा, स्तुति-विद्या का दूसरा नाम निजस्तुतिशतक (जिनशतक) और स्वयंम्भू स्तोत्र का दूसरा नाम समन्तभद्र स्तोत्र है और ये सब प्रायः अपने अपने आदि-अन्त के पद्यों की दृष्टि को लिये हुये हैं।

ये ही धर्म दस प्रकार के हैं, ये वस्तु स्वरूप भी है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी है तथा ये भी धर्म अहिंसा रूप है। इन्हीं की प्राप्ति करने के लिये अपनी आत्मा से रागद्वेष की परिणिति छुड़ाकर वीतराग परिणति में जाना होगा। भगवान की

प्रतिमा अर्थात् मूर्ति तीर्थ जप तप आदि क्रिया उसके धर्म रूप होकर आत्म रूप की प्राप्ति के लिये साधन बन जायेंगे। जब तक आत्मा को वीतराग भाव उत्पन्न नहीं होता है तब तक आत्मा में लगे हुए राग द्वेष का नाश नहीं होगा। जब तक राग द्वेष परिणिति आदि में लगे रहेंगे तब तक सद्धर्म की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जब आत्मा में सुख उत्पन्न होता है तब आत्मा को पुण्य बन्ध होना है। जब अशुभ उत्पन्न होता है तो आत्मा में रागद्वेष पैदा करने वाले अशुभ आदि राग उत्पन्न होते हैं। वो ही कोई अशुभ राग पाप बन्ध का कारण होता है जहाँ सच्चा ज्ञान और चारित्र होता है वहीं धर्म होता है। जब तक मूल कर्म का बन्धन है वहां तक आत्मा में पराजय अवस्था माना जाता है। जब पराजय अवस्था कर्म बन्ध से मुक्त होता है तब वह आत्मा स्वतन्त्र कहलाता है। इसलिए आत्मा को अबन्ध होना ही ठीक है। वे ही सच्चा सुख है। ऐसे उत्तम सुख के लिये कारण रूप आत्म स्वभाव रूप ऐसा धर्म ही कारण है।

जैन धर्म—

जैन धर्म का अर्थ जिन्होंने पंचेन्द्रिय विषय को जीत लया है उन्हें जिन कहते हैं उस धर्म को पालन करने वालों को जैन कहते हैं। जिन्होने अरिरज रहस्य यानी कर्म शत्रु को जीत लिया है उनको जिन कहते हैं। उन्होंने प्राप्त किया जो आत्म स्वरूप उसको आत्म धर्म या जैन धम कहते हैं। उन्हीं के कहे हुये मार्ग के अनुसार चलने वाले मानव को जैन कहते हैं। जैन धर्म का अर्थ दूसरे रूप ज्ञानावरणीय आदि कर्म रूपी जाल को नाश किया हुआ चेतन आत्मा को जिन कहते हैं। सम्पूर्ण कर्म रूपी शत्रु को जिन्होंने नाश किया उनको परमात्मा कहते हैं। सर्वज्ञ कहते हैं, शंकर कहते हैं, शिव कहते हैं, ऐसे परिपूर्ण अवस्था में रह कर सच्चे धर्म का निरुपण करने वाला धर्म निश्चय से प्रामाणिक धर्म कहलाता है।

यह जिन धर्म अनेकान्तमयी है अर्थात् जैन धर्म स्याद्वादमयी है जगत के अनेक प्रकार के विकल्पों को पृथक करके तदनन्तर जिस-जिस में जितनी-जितनी शक्ति है इस बात को निर्णय करके समन्वय रूप को देखते हुये सच्चे सार को निचोड़ता है। जैन धर्म के लिए एक दृष्टि होने से दूसरे मुख्य स्याद्वाद की नींव और अहिंसा रूपी स्तम्भ के ऊपर जैन धर्म स्थापित हुआ है। किसी के विचार को अन्याय न होवे और किसी जीव को दुःख न होवे इसी प्रकार जैन धर्म का सार है।

इस धर्म के दो भेद हैं—एक वस्तु स्वभाव धर्म है जैसे अग्नि का स्वभाव जलना, वायु का स्वभाव उड़ना उसी प्रकार जीव का स्वभाव चेतन रूप है। दूसरा आचार चारित्र उसको भी धर्म कहते हैं। स्वभाव रूपी धर्म जड़ और चेतन इन दोनों में अपने अपने स्वभाव में हमेशा रहते हैं। स्वभाव से रहित इस जगत में कोई धर्म नहीं है। अर्थात् ये दोनों अनादि काल से परस्पर संबंधित होते आ रहे हैं। भगवान जिनेन्द्र देव दोनों धर्मो का प्रतिपादन करते आ रहे है। वस्तु स्वभाव के भिन्न भिन्न धर्म को दर्शन कहते हैं। इस लक्षण से सिद्धि उत्पन्न होती है। तथा उसकी प्राप्ति होती है उस सिद्धि को प्राप्त करने के लिये आचरण का रूप धारण करना होता है। उससे प्रत्येक धर्म में अपना ही दर्शन रहता है। दर्शन में आत्मा क्या है? पर लोक क्या है? विषम क्या है? परमात्मा स्वरूप क्या है? आदि आदि प्रश्नों का विचार रहता है। आचरण रूपी धर्म के प्रतिपादन में आत्मा परमात्मा होने के मार्ग को दिखाता है। हमेशा विचार करना आचरण के ऊपर होता है। इसमे दर्शन, धम को रूपित करता है इसलिये धर्म के विवेचन में दर्शन को चारित्र का समालोचन करना होता है। जैन दर्शन वस्तु स्वभाव निरूपण के अन्तर्गत होता है। इससे उसको हम धर्म ऐसा समझते हैं। क्योंकि उस परमात्मा में रहने वाले अन्तर को ज्ञान उत्पन्न होते ही चारित्र का अविलम्बन कर मानो मोक्ष का साधक बन जाता है। उससे जैन धम के माने जिनेन्द्र देव के द्वारा उपदेश किया हुआ ऐसे विचार तथा उपचार जैन धर्म है, पूर्वापर विरोध रहित है, प्रत्यक्ष प्रमाण से देखने से इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं मिलता है। वस्तु स्वरूप को केवल यथार्थ से निरूपण करता है। शंकर रूप जिनेन्द्र के द्वारा उपदेश दिया हुआ सम्पूर्ण जीव को यह हितकारी होता है। सम्पूर्ण मिथ्या मार्ग को जैन धर्म निराकार करता है।

जैन धर्म के अनुसार जगत में प्रत्येक प्राणी अव्यक्त परमात्मा है हर एक आत्मा अपने सहज स्वरूप को जानने के बाद

परमात्मा बन सकता है। परन्तु कर्म के आवरण भूलकर में वन्द होकर ये जीव अपने अनन्त वैभव को संसार सागर में भ्रमण करते आ रहे है। संसार स्वरूप को कर्म का ढक्कन ऐसे जन सिद्धान्त ने निरूपण किया है। इतना कह करके चुपचाप नहीं वैठा है परन्तु संसार वन्धन से मुक्त होने को अपेक्षा करने वाले समस्त जीवों को भगवान जिनेन्द्र की पदवी प्राप्त करने के लिये अनुकरण करने योग्य अध्यात्म मार्ग को भी प्रतिपादन किया है अथवा वता दिया है।

जैन धर्म सृष्टि कर्त्ता को कभी नहीं मानता है प्रत्येक जीव का गिरना उठना अपने-अपने कारण से होता है। ऐसा जैन सिद्धान्त प्रतिपादन करता है। उठने की अपेक्षा करने वाला अपने वल के द्वारा उठ सकता है। इसी प्रकार उनके जन्म और मरण की स्थिति और भय के द्वारा वाध्य रहते हैं अपने कर्म के अनुसार जन्म लेना जीना मरना होता है। जिस समय कर्म के साथ आत्मा का मित्रत्व सम्वन्ध हो जाता है। उससे जगत प्रारम्भ हो जाता है। कर्म के सहवास को आत्मा साक्षी पूर्वक त्याग कर देता है उसी समय वह जगत विलय होता है अर्थात् संसार का नाश हो जाता है। एक वार सम्पूर्ण कर्मो को जीतने से या नाश करने से यही जीव जिनेन्द्र होकर उसके वाद सिद्ध पद को प्राप्त होता है। पुन: ससार में लौट कर नहीं आता है।

जैन धर्म की दृष्टि से देखने से प्रत्येक जीव अपने भव भ्रमण के कार्य में सृष्टि कर्ता होकर वर्तता है। वही जीव कर्तत्व का कर्ता वन कर कर्म से रहित होकर अखण्ड सिद्धात्मा की प्राप्ति करने वाला होता है। जन्म जरा और मरण अर्थात् सृष्टिकर्ता, स्थिति कर्तृत्व और लय कर्तृव्य ये तीन पद रूपी पदवी को अर्थात् इन तीन कर्मों से जव यह पार हो जाता है तव यह जीव निरंजन पद को प्राप्त होता है।

जीव और अजीव इन दोनों की मित्रता से यह जगत और जगत का व्यापार चलता है। ये दोनों मित्र द्रव्य हैं। इन दोनों का सम्वन्ध अलग अलग करना देवों के हाथ में भी नहीं है और इसको कोई भी एक दूसरे से अलग नहीं कर सकता। ये दोनों द्रव्य आकाश में आश्रय को पाकर अनन्त काल से धर्म द्रव्य की सहायता से धर्म करते हुये अधर्म द्रव्य के आश्रय से विश्राम करते हैं ये व्यापार हमेशा परम्परा से चला आ रहा है। जीव और अजीव पर्याय रूप में परिरमण करने वालों में से है ऐसा देखने पर भी तत रूप जगत स्थायी है।

कल्प काल में भी तीर्थंकर अजीव के कारागार से पार होकर जगत के व्यापार के रहस्य को कर्म के साथ अपने द्वारा चलाया हुआ अनेक प्रकार के मायामयी भव्य जीवों को समझाते आ रहे हैं। विश्व जव से है तव से जैन धर्म भी है। जव तक यह विश्व रहेगा तव तक जैन धर्म भी रहेगा। पहले भी तीर्थंकर इसी मर्म को समझाते आ रहे हैं और वर्तमान काल में भी रहने वाले अथवा विदेह क्षेत्र में अभी भी मौजूद हैं भविष्य काल में तीर्थंकर आने वाले हैं। भगवान के अवतार को आवन्तर को जैन धर्म नहीं मानते हैं। संसार में भ्रमण करने वाले चेतन ही हमारे समान कर्म रूपी जाल से पार होकर तीर्थंकर होंगे ऐसे अपने अन्दर स्मरण रखना चाहिये अर्थात् मन में ऐसी भावना रखनी चाहिये। एक-एक चेतन देवत्व होने के रहस्य को जिन धर्म ने सम्पूर्ण जगत् को उपदेश दिया है। जिनको संसार से मुक्त होना है इस धर्म की परीक्षा करके देखना चाहिये सम्पूर्ण जीव संसार से मुक्त हो करके जिनेन्द्र होने की ही कामना करते हैं।

द्रव्य :—

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का स्वभाव में ही सर्व अवस्था में भी जो रहता है उसको गुण कहते हैं। गुणों में जो द्रव्य में ही हमेशा रहते हैं उसको सामान्य गुण कहते हैं। विशेष गुणों को विशिष्ट कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रणतत्व, अगुरु लघुत्व और प्रेसत्व ये छ: द्रव्य सामान्य रूप होकर सर्व द्रव्य में रहते हैं। अर्थात् चेतन जीव के विशिष्ट गुण हैं। विशिष्ट गुण होने के कारण उसके विशेष गुण कहते हैं।

षट्द्रव्य :—

जीव, अजीव दोनों मिलकर जगत की उत्पत्ति करते हैं आत्मा कर्म के साथ मिलकर जीवित रहता है क्या ? अजीव में पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ऐसे ये पाँच है। ये दोनों को जीव के साथ सम्वन्ध करने से छह द्रव्य होते

हैं। उस द्रव्य की उत्पत्ति विनाश पर्याय रूप में देखने में आने पर भी मूल रूप में पवित्र तत्व और अपरिवर्तन रूप है।

जीव द्रव्य*

जैन धर्म में प्रतिपादन किया हुआ जीव और वेदान्त में कहेजानेवाले ब्रह्म ये दोनों एक नहीं हैं। ब्रह्म एक और अद्वितीय है। परन्तु जैन सिद्धान्तकारों ने अपने सिद्धान्त के अनुसार असंख्यात माना है। जीव और सांख्य मत के पुरुष एक नहीं हैं। क्योंकि जीव नित्य शुद्ध और मुक्त नहीं है। जीव के बंधन सत्य हैं। जैन अनुयायियों के जीव और न्याय वैशेषिक के आत्मा ये दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि जैन मत के जीव जड़ नहीं हैं, बल्कि साक्षात् कर्तृत्व है। जैनियों के जीव और बौद्ध मत का क्षणिक विज्ञान ये दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि जीव सद्रूप सत्य और नित्य पदार्थ है।

इस जीव को जैनाचार्यों ने व्यवहार और निश्चय ऐसे दो भेदों से अवलोकन किया है। शुद्ध निश्चय नय से देखने में जीव अविनाशी, निरूपाधि शुद्ध चैतन्य लक्षण (भाव प्राणों से) जीता है और कलंक रहित केवलज्ञानदर्शनोपयोग मय, अमूर्तिक अतीन्द्रिय और शुद्ध बुद्धैक स्वभाव वाला, निष्क्रिय लोक और सम्पूर्ण लोकाकाश को व्यापने की शक्ति को रखनेवाला तथा असंख्यात प्रदेशवाला है। अर्थात् सर्वव्यापक, निर्विकल्प और ब्रह्मानन्द में सर्वदा तैरनेवाला है। संसार रहित नित्यानन्दैक रूप, अनन्त ज्ञानवैभव से युक्त सिद्ध तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। इस प्रकार कर्मरहित जीव के स्वरूप का विवेचन हुआ।

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

यह जीव यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से आदि, मध्य और अन्त से रहित, निज तथा अन्य का प्रकाशक, अविनाशी, उपाधि रहित और शुद्ध चैतन्य लक्षणवाला निश्चय प्राण से जीता है, तथापि अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा अनादि कर्मबंधन के वश अशुद्ध द्रव्य प्राण और भाव प्राण से जीता है। इसलिये जीव है। "उवओगमओ" यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से पूर्ण निर्मल, केवलज्ञान व दर्शन दो उपयोगमय जीव है, तो भी अशुद्ध नय से क्षयोपशमिक ज्ञान और दर्शन से बना हुआ है। इस कारण ज्ञानदर्शनोपयोगमय है। "अमुत्ति" यद्यपि जीव व्यवहार से मूर्तिक कर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाली मूर्तिक से सहित होने के कारण मूर्तिक है, तो भी निश्चय नय से अमूर्तिक, इन्द्रियों के अगोचर, शुद्ध बुद्ध रूप एक स्वभाव का धारक होने से अमूर्तिक है।

"कत्ता" यद्यपि यह जीव निश्चय नय से क्रिया रहित टंकोत्कीर्ण अविचल ज्ञायक एक स्वभाव का धारक है, तथापि व्यवहार नय से मन, वचन, काय के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों से सहित होने के कारण शुभ और अशुभ दोनों कर्मों का करने वाला होने से कर्ता है। "सदेह परिमाणो" यद्यपि यह जीव निश्चय नय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविक शुद्ध प्रदेशों का धारक है, तो भी व्यवहार नय से अनादि कर्मबंधवशात् शरीर कर्म के उदय से उत्पन्न, संकोच तथा विस्तार के आधीन होने से, घट आदि में स्थित दीपक

---

*द्रव्य के लिये अस्तित्व प्राप्ति :—

१—अस्तित्व :—यह द्रव्य का अविनाशी स्वभाव है। इस शक्ति से ही इस द्रव्य को नित्यत्व प्राप्त हो गया है।

२—वस्तुत्व :—यह शक्ति ही द्रव्य के अर्थ क्रिया कारित्व का कारण हुआ है। घट का अर्थ क्रिया जल धारण होता है। इस जल धारण क्रिया को वस्तुत्व कहते हैं।

३—द्रव्यत्व :—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य सर्वदा एक ही समान नहीं रहता और कोई भी एक पर्याय दूसरी पर्याय में बदलती ही रहती है। इस शक्ति को द्रव्यत्व कहते हैं।

४—प्रमेयत्व :—द्रव्य किसी एक ज्ञान का विषय होना है प्रमेयत्व गुण से।

५—अगुरु लघुत्व :—द्रव्य में रहने वाला द्रव्यत्व स्थिर होकर रह जाय तो ऐसी देखने वाली शक्ति को अगुरु लघु कहते हैं। इस प्रकार शक्ति रहने के कारण से ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप होने नहीं देता।

६—प्रदेशत्व :—इस शक्ति से एकेक द्रव्य में सर्वदा एक आकार होकर रहता है।

उपयोग का अर्थ—पदार्थ का ज्ञान कर लेने वाले आत्मा की क्रिया है।

की तरह अपने देह के बराबर है। "भोक्ता" यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से रागादि विकल्प रूप उपाधियों से रहित तथा अपनी आत्मा से उत्पन्न सुख रूपी अमृत का भोगने वाला है, तो भी अशुद्ध नय की अपेक्षा उस प्रकार के सुख अमृत भोजन के अभाव से शुभ कर्म से उत्पन्न सुख और अशुभ कर्म से उत्पन्न दुख का भोगने वाला होने के कारण भोक्ता है। "संसारत्थो" यद्यपि जीव शुद्ध निश्चय नय से संसार रहित और नित्य आनन्द एक स्वभाव का धारक है, फिर भी अशुद्ध नय की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पांच प्रकार के संसार में रहता है, इस कारण संसारत्थो है। "सिद्धो" यद्यपि यह जीव व्यवहार नय से निज आत्मा की प्राप्ति स्वरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है, तो भी निश्चय नय से अनन्त ज्ञान और अनन्त गुण स्वभाव होने से सिद्ध है। "सो" वह इस प्रकार के गुणों से युक्त जीव है।" विस्सोड्ढगई यद्यपि व्यवहार से चार गतियों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय वश ऊंचा, नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है, फिर भी निश्चय नय से केवल ज्ञानादि अनन्त गुणों की प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है, उसमें पहुंचने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। यहाँ पर खंडान्वय की अपेक्षा शब्दों का अर्थ कहा गया है तथा शुद्ध अशुद्ध नयों के विभाग से नय का अर्थ भी कहा है।

सुख (ब्रह्मानन्द) सत्ता, ज्ञान, उपयोग आदि ये भाव प्राण है, इन्द्रिय, बल, आयुष्य स्वासोच्छवास से द्रव्य प्राण है। समस्त पदार्थों को अस्तित्व को ग्रहण करने वाली सत्ता को महा सत्ता कहते हैं।

२—उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम :—ये कर्म की चार अवस्थायें हैं कर्म फल देने में सिद्ध होने को उदय कहते हैं। फल देने वाली जो कर्म सत्तायें हैं, उन कारणों में कुछ कम विना फल दिये हुये ही उपशम होने वाले भाव को उपशम कहते हैं। सम्पूर्ण कर्म नाश होने को क्षय कहते हैं। कुछ नीचे दबकर कुछ भाग कर्मो के उपशम होने को क्षयोपशम कहते हैं।

औदयिकभाव—उदय में आने वाले चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व, छः लेश्या ये २१ भावों को औदयिक कहते हैं।

औपशमिक भाव—कर्म के क्षय होकर उत्पन्न होने वाले भाव को क्षायिक भाव, कहते हैं। क्षायिक दान क्षायिक लाभ, भोगोपभोग. वीर्य, सम्यक्त्व चारित्र ऐसे नौ भावों को क्षायिक भाव कहते हैं।

क्षायिकोपशमिक—क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधिज्ञान मनः पर्ययज्ञान कुमति, कुश्रुति, विभंग ये तीन ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। चक्षु, अचक्षु अवधि दर्शन ये तीन क्षयोपशमिक दान लाभ भोगोपभोग और वीर्य ये पांच लब्धि हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सराग चारित्र संयमासंयम ऐसे १८ प्रकार के क्षायोपशमिक भाव हैं। पारिणामिक भाव—कर्म के उदयादि निमित्त पाने पर भी आत्मा के साथ अनादि काल से रहने वाले जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व ऐसे परिणामी भाव है।

स्थावर जीव—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, ऐसे पांच प्रकार के हैं। मसूर की दाल के समान पृथ्वीकायिक जीव हैं। जल बिन्दु के आकार के समान जलकायिक जीव है। सूई को मिलाकर गठडी में बंधे हुये के समान अग्निकायिक जीव है। ध्वजा के आकार के समान वायुकायिक जीव हैं। वृक्ष, झाड़, बेल, बाँस, घास आदि अनेक आकार को धारण कर जीने वाले वनस्पतिकायिक जीव होते हैं। एकेन्द्रिय जीव और भी अनेक प्रकार के हैं।

२—केवल स्पर्श और रसना इन्द्रिय को प्राप्त हुये शंख अलि शीप मोती आदि अनेक प्रकार के दो इन्द्रिय जीव है।

३—स्पर्शन, रसना और घ्राणेन्द्रिय मात्र को धारण किये हुये चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं।

४—स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियों को धारण करने वाले भ्रमरादि चार इन्द्रिय जीव हैं।

५—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत इन पांच इन्द्रियों को ग्रहण करने वाले मनुष्य, मृग, पशु, पक्षी, देव, नारक आदि ये पांच इन्द्रियों को धारण करने वाले जीव हैं। इनको पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। कुछ इन जीवों के हृदय में अष्ट दलकमलाकार

जीव का लक्षण और उसके भेद

जीव का अर्थ है कि—चेतना लक्षणं जीवः ज्ञान दर्शनादि असाधारण चित्त स्वभाव और उसके जो परिणाम आदि हैं ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ऐसे भाव प्राण से हमेशा जीने वाला और पंचेन्द्रिय मन वचन काय आयु और स्वासोच्छ्वास इस प्रकार द्रव्य प्राणों से जीने वाले जीव हैं।

त्रिकाल विषय जीवनानुभावः जीवः (जीवीति जीवष्यति जीवितपूर्वोवा जीवः)

जीवतीति जीवः त्रिकाल जीवन करने वाले ये जीव हैं। जीव तत्व की सिद्धिको चेतना चैतन्यानुविधायी भाव प्राण और यथाशक्ति दस प्रकार के द्रव्यप्राणों से जीता है। इस प्रकार जीव राशि में सामान्य रूप से दो भेद हैं। एक संसारी और दूसरा मुक्त। संसारी जीव और उसके भेद—

आत्मोचित्त कर्मवयास आत्मनो भावान्रावक्ति संसारः परिणामसमूहः आरम्भ अनेनसहितम् सारंग संचय तत संसारः। संशरणं संसारः।

इस प्रकार संसार शब्द का सामान्य अर्थ अनेक प्रकार का है। स्वतः संचार करने वाले कर्म के कारण से जन्म जरा मरण के आधीन होकर द्रव्य क्षेत्र काल भावभव ऐसे पंच परावर्तनरूप संसार में भ्रमण करने वाले जीव को संसारी जीव कहते हैं।

कर्म और उसके भेद—

पुद्गल द्रव्य अनुक्रम के रूप से सम्पूर्ण लोकाकाश में परिपूर्ण भरा हुआ है। कुछ स्कन्द आहार भाषा—इस प्रकार २३ तरह के वर्ण रूप हैं। कार्माण स्कन्द रूप में रहने वाले इन

कमल के समान एक मांस का पिण्ड या टुकड़ा होता है उसको द्रव्य मन कहते हैं। इस भाव मन को प्राप्त किये हुये जीव के अन्दर ग्रहण और मनन करने की शक्ति होती है। वे शिक्षण आदि को ग्रहण कर सकते हैं। इन जीवों को सैनी पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। द्रव्य मन से रहित जीवों को मनन करने की शक्ति नहीं रहने वाले जावों को असैनी पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं।

६—अनेक प्रकार से परस्पर टकराना टूट कर गिरना आदि बाधाओं के अधीन होकर अनेक दुःखों को सहने वाले स्थूल स्थावर एकेन्द्रिय जीवों को वादर बादर स्थूल कहते हैं। और अग्नि पानी आयुधादि बाधाओं के आधीन न होने वाले छटा सूक्ष्म शरीर वाले जीवों को सूक्ष्म एकेन्द्रिय जोव कहते हैं।

७—१-आहार, २-शरीर, ३-इन्द्रिय, ४-उच्छ्वास निश्वास, ५-भाषा और ६-मन ये छः को पर्याप्ति कहते हैं।

८—२ एकेन्द्रिय, ३ विकलेन्द्रिय, २ पंचेन्द्रिय इन सब सात विभाग को पर्याप्तक और अपर्याप्तकों से गुणा करने से १४ विभाग होते हैं।

शब्द-बंध (ये दोनों परस्पर चिपके हुये हैं) सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व संस्थान (आकार) भेद, अन्धकार, छाया, धूप, चन्द्रमा की चांदनी, ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं। रोग भी पुद्गल है।

TWO ETHERS : Ether, mentioned above, is not matter in the Jaina View. Matter has Various qualities and relations which these two ethers do not possess. It is only the Jain philosophy that believes in these two substances. They are accompanying causes ('hetu') respectively of the motion of moving things and beings and of the stationery state of things and beings that are resting, in the sense of not moving. In each case it is the accompanying cause without which you cannot do.

—J. I. by HERBERT WARREN, Page-13

TIME :—Time is not a collection of indivisible in separable parts, as are the other five substances. Time is called a substance only as a matter of Convenience. It is really the modification (Paryaya) of a substance. It is that modification of a thing or being by which we know the anteriority or posteriority of it, the oldness or newness. And it is a modification which is common to all the other substances (Dravyas). Time is really the duration of the states of substances.

—J. I. by HERBERT WARREN, Page-14

वर्गणाओं को द्रव्य कर्म से ही बाधा और उसके निमित्त मे रागद्वेषादि विकार रूप रहने वाले आत्मा के परिणाम को भाव कर्म में कहते हैं। रागद्वेषादि कषाय परिणाम के निमित्त से जीवों के साथ बद्ध होने वाले कर्माणानुभाव को कर्म से ही कार्माण परिणाम को कर्म रूप होकर आत्म प्रदेश में पानी और दूध के समान एक क्षेत्रावगाह होकर रहने वाले को कर्म वंध कहते हैं। इस कर्म वंध के उदय मे रागद्वेष आदि की उत्पत्ति और रागद्वेष आदि से उत्पन्न कर्म वंध होकर जीव को संसार में परिभ्रमण के कारण होता है उसी का नाम संसार है। इस कर्म वंध से ज्यादा कर्म रूपी जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश को धूलि आदि उड़कर आवरण करता है उसी प्रकार आत्म स्वरूप को आत्मा के स्वभाव मे आच्छादन करना है।

ये कर्म सामान्य रूप से ज्ञानावरणीय, दर्शनावणीय, वेदनीय, योहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय, ऐसे आठ प्रकार के होते हैं।

१—जो आत्मा के ज्ञान गुणों को अच्छादित करता है उसको ज्ञानावरणीय कहते हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण ये चार प्रकार के हैं।

२—जो जीव के ज्ञान दर्शन गुण को प्रकट होने नहीं देता है उसको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। यह चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, इत्यावदि रूप से नो प्रकार का है।

३—जो कर्म के उदय से जीव को आकुलता उत्पन्न करता है अर्थात् जो आत्मा के अव्यावाध गुण को घात करता है उसको वेदनीय कर्म कहते हैं। यह साता और असाता रूप से दो प्रकार का है।

४—जो आत्मा के सम्यक्त और चारित्र रूप को घात करता है उसको मोहनीय कर्म कहते हैं। ये दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय नाम से दो प्रकार का है। दर्शन मोहनीय के मिथ्यात्व, सम्यक्त, यिथ्यात्व, सम्यक्त, प्रकृति ऐसे तीन भेद हैं। चारित्र मोहनीय में अनन्तानुवंधि क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार प्रत्यख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार। संज्वलन ये चार १६ कषाय और पांच, अरति रति भय जुगुप्सा स्त्री वेद पुरुष वेद नपुंसक वेद ऐसे ६ कषाय मिल कर इसके २५ भेद हैं।

५—जो कर्म आत्मा को नरक गति तिर्यंच गति मनुष्यगति और देव गति के शरीर में कुछ समय तक बंधन के रूप में रखता है उसको आयु कर्म कहते हैं। यह नरक आयु, तिर्यंच आयु, देव आयु, मनुष्य आयु ऐसे चार प्रकार के हैं।

६ – नाम कर्म—आत्मा को नाना प्रकार जैसे शरीर प्रवय-वादि रूप को उत्पन्न करने को नाम कर्म कहते हैं इसके ६३ भेद हैं।

गति चार—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव।

जाति पांच—एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इद्रिय और पंचेन्द्रिय।

शरीर पांच—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस और कार्माण।

अंगोपांग तीन—औदारिक, वैक्रियक और आहारक (कुल ४+५+५+३=१७)

निर्माण कर्म—अंगोपांगों की रचना करता है।

बंधन नाम कर्म पांच—औदारिक, वैक्रियक, आहार, तैजस कार्माण ये शरीर प्रमाण को करता है और जुड़ाता है।

संघात कर्म पांच—औदारिक, कार्माण ये शरीर को छिद्र रहित करा देता है।

संस्थान नाम कर्म छः हैं—सम चतुरस्त्र, न्यग्रोध परिमंडल स्वाति, कुब्जक, वामन, हुंडक ये शरीर के आकार ऊंचाई आदि को करते हैं।

संहनन छः—व्रज वृषभ, नाराच, नाराच, अर्ध नाराच, कीलक, असंप्राप्त सृपाटिका ये बंधन कार्यों को करते हैं (ये कुल १७+१+५+५+६+६=४०)

स्पर्श आठ—कठोर, कोमल, हल्का, भारी, ठण्डा, गरम, स्निग्ध, रूक्ष ये आठ हैं।

वर्ण पाँच—काला, नीला, पीला, लाल और हरा।

रस पाँच—खट्टा, मीठा, नमकीन, तिक्त, चरपरा ये पांच हैं।

आनुपूर्वी चार—नरक तिर्यच, मनुष्य देव मिलकर (ये ४०+८+५+६+४=६३)

अगुरु, लघु, उपघात, आतप और उद्योत निहागति,

दो मनोज्ञ, अमनोज्ञ, उच्छ्वासत्रस स्थावर वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक साधारण स्थिर, अस्थिर, शुभ अशुभ, सुभग असुभग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, यशकीर्ति अयशकीर्ति, तीर्थकर

गंध दो—सुगंध और दुर्गंध (कुल ये ६३+३०=९३)

आनुपूर्वी नाम कर्म—मरण के बाद, अगली गति में जाने के पहले अर्थात् मरण के पहले रहा हुआ शरीर के आहार आत्म प्रदेश को रखने वाले कर्म—विहायोगतिनाम कर्म—इस कर्म के उदय से आकाश में चलने की उठने की शक्ति को उत्पन्न करता है।

तीर्थंकर नाम कर्म—यह कर्म जीव कोअरहन्त पदवी को प्राप्त करा देता है।

७—जिस कर्म के उदय से परम्परा से उच्च तथा नीच कुल में जन्म होता है उसको गोत्र कर्म कहते हैं। इस प्रकार नीच गोत्र और उच्च गोत्र नाम के दो भेद हैं।

८—जो कर्म दान लाभ आदि कार्यों में विघ्न करता है उसको अन्तराय कहते हैं। यह दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय उपभोगअन्तराय, इस भेद से पांच प्रकार का है।

इन आठों कर्मों में ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय इन कर्म को घात्ति कर्म कहते हैं। यह कर्म आत्मा के प्रदेशकों को घात करते हैं। शेष कर्म को अघातिया कर्म कहते हैं।

इन आठ कर्मों से बधे हुए जीवों को संसारी जीव कहते हैं। ऐसे संसारी जीव दो प्रकार के हैं एक त्रस और दूसरा स्थावर।

त्रस जीव के भेद—

त्रस नाम कर्म के उदय से जीव को प्राप्त होने वाली पर्याय को त्रस कहते हैं। यह २, ३, ४ और ५ इन्द्रिय जीव हैं इनमें २, ३, ४ इन्द्रिय जीवों को विकलत्रय कहते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में सैनी असैनी ऐसे दो भेद हैं। मन सहित पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्य देव नारकीय और तीर्यंच ये चार भेद हैं। पुनः मनुष्य में आर्य और मलेच्छ ये दो भेद हैं। मन सहित तिर्यंच पंचेन्द्रियों में जल चर थल चर और नभ चर ऐसे तीन भेद हैं। मन रहित तिर्यच पंचेन्द्रियों में भी जलचर, स्थलचर, और नभचर ये तीन भेद हैं। तिर्यंच जीव एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक रहते हैं। अलि, कृमि, शंख इत्यादि दो इन्द्रिय जीवों को स्पर्शन और रसन ये दो इन्द्रिय होते हैं और वचन काय श्वासोच्छ्वास और आयु ऐसे पाँच प्राण होते हैं। खटमल, चींटी, बिच्छू आदितीन इन्द्रिय जीव को एक घ्राण इन्द्रिय ज्यादा होता है। भ्रमर, पतंगा आदि चार इन्द्रिय जीव को चक्षु इन्द्रिय ज्यादा होता है। पानी में रहने वाले सर्प कई जाति के तोते और गोम गिरगिट आदि मन रहित पंचेन्द्रिय जीवको एकज्यादा श्रोतेंद्रिय इन्द्रिय होता है इनको को ९ प्राण होते हैं। देव नारकी मनुष्य पशु आदि का मन सहित पंचेन्द्रिय जीव को एक मन होता है इसलिये उसको १० प्राण होते हैं। इस प्रकार जीव को ६ से १० तक प्राण होते हैं और मति श्रुति अवधि मनः पर्यय केवल कुमति, कुश्रुति, कुअवधि ऐसे आठ ज्ञानोपयोग और चक्षु, अचक्षु, केवल ऐसे दर्शनोपयोग इस प्रकार ज्ञान होते हैं।

१—पंचेन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते है।

२—मतिज्ञान के निमित्त से वस्तु को विशेष रीति से जानने वाले को श्रुत ज्ञान कहते हैं।

ये दोनों ज्ञान सामान्य रूप से कम ज्यादा परिमाण में प्रत्येक जीव में रहते हैं।

३—इन्द्रिय सहायता के बिना आत्मीक शक्ति से मूर्तीक पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को अवधि ज्ञान कहते हैं।

४—इन्द्रिय सहायता के बिना आत्मीक शक्ति से दूसरों के मन में रहने वाले ज्ञान को जानने वाले को मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। ये ज्ञान ऋधिधारी मुनि को ही प्राप्त होता है।

५—लोक और अलोक में रहने वाले अगोचर वस्तु को और भूत भविष्य और वर्तमान काल की वस्तु को हर समय जानने वाले ज्ञान को केवल ज्ञान कहते हैं। इसमें न जानने वाली कोई वस्तु ही नहीं। ये सर्व जीव पर्याप्त और अपार्याप्त है। इसके दो भेद हैं। शक्ति पूर्ण होने को पर्याप्त कहते हैं और अपूर्ण को अपर्याप्त कहते हैं। यह पर्याप्ति आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास ऐसे छः भेद है।

प्रकृनि शरीर पर्याप्ति को अनुकूल होने वाले पुद्गल परमाणु को को ग्रहण करके वह गाढ़ और रस भाग रूप से परिणमन करने योग्य शक्ति को पूर्ण होने को आहार पर्याप्ति कहते हैं। उस पुद्गल पिण्ड से हड्डी रक्त आदि भिन्न-भिन्न रूप मे परिणमन होने के परिणाम हो ऐसे शक्तिपूर्ण करने को शरीर पर्याप्ति कहते हैं। स्पर्शन रसना आदि इन्द्रिय विषय को ग्रहण करने की शक्ति पूर्ण होने को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। स्वोच्छ्वास का निकालने की शक्ति पूर्ण होने को स्वोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। भाषा वर्णनों से आने वाले पुद्गल का वचन रूप मे परिणमन करने की शक्ति को पूर्ण करने वाली शक्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं। मनोवर्गना से उत्पन्न होने वाले श्रुत अनुभूत विषय को स्मरण करने वाली शक्ति को पूण हाने को मन: पर्याप्ति कहते हैं। ये छ: पर्याप्तियों में एकेन्द्रिय जीवों को पहले की चार आहार शरीर इन्द्रिय और स्वासाच्छ्वास ये चार पर्याप्ति रहती हैं। दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय इनको पांच पर्याप्त रहती हैं। और मन रहित पंचेन्द्रिय जीव को छ: पर्याप्ति रहती हैं। पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा से समस्त जीवों में चौदह भेद होते हैं।

ये अपर्याप्ति सम्पूर्ण जीवों में हैं।

जीव समास—

	पर्याप्त/अपर्याप्त	
स्थूल (वादल) एकेन्द्रिय	१ + १	(२)
सूक्ष्म	१ + १	(२)
द्वि त्रि चतु रिन्द्रिय	३ + ३	(६)
मन रहित पंचेन्द्रिय	१ + १	(२)
मन सहित पंचेन्द्रिय	१ + १	(२)
		१४

इन चौदह भेदों को जीव समास कहते हैं।

जन्म के भेद—

सम्पूर्ण जीव जन्माधीन हैं। नवीन शरीर धारण करने को जन्म कहते हैं। ये जन्म संमूर्छन गर्भ और उत्पादन ऐसे तीन प्रकार के होते हैं।

सम्मूर्चन जन्म-समन्ततो मूर्चनम् संमूमूर्चनम्।

माता पिता के वीर्य रक्त सम्बन्ध रहित अपने योग्य क्षेत्र काल और भाव की विशेषता से चारों ओर से पुद्गल वर्गणा को ग्रहण करके शरीर आदि की रचना होने को समूर्चन कहते हैं। यह एक, दो, तीन और चार पंचेन्द्रिय जीवों के जन्म अर्थात् देव नारकी ओर गर्भ जन्म के मनुष्य और तिर्यंच को छोड़कर शेष में सम्मूर्चन जन्म होता हैं।

गर्भ जन्म—शुक्र शोणित वर्ण: गर्भ:

माता पिता के रक्त और रज वीर्य मिलकर होने वाले जन्म को गर्भ जन्म कहते हैं। यह मनुष्य और तिर्यंच जीव के होता है। सम्मूर्छन और गर्भ ये दोनों से उत्पन्न हुये शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं। ये तीन प्रकार के हैं—जरायुज, अण्डज और पोतज।

जरायुज—जालो के समान जीव को घेरा हुआ रहता है उसको जरायुज कहते हैं। इससे उत्पन्न होने वाले जीव को जरायु कहते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य और पशु।

अण्डज—नख के समान सफेद और कठिन रक्त वीर्य से आच्छादित और गोल रहने वाले उसको अण्ड कहते हैं इससे उत्पन्न होने वाले जीव को अण्डज कहते हैं। उदाहरण हंस कबूतर आदि।

पोतज—इसको आवरण नहीं है। सम्पूर्ण ऐसे योनि मे बाहर आते ही हलन चलन चलने फिरने आदि में समर्थ होने वाले जीव को पोतज कहते हैं। उदाहरणार्थ सिंह और व्याघ्र। इस प्रकार गर्भ जन्म तीन प्रकार के होते हैं।

उत्पाद जन्म—**उपेत्या पद्येतस्मिन् नित्ययुक्तपाद**

जन्म के आकार को तैयार होने वाले स्थान को उत्पाद कहते हैं। ये उत्पाद जन्म भवन व्यतंर ज्योतिषि और कल्प अर्थात् देव गति में उत्पन्न होने वाले और नरक गति में नारकीय जीवों के जन्म को उत्पाद कहते हैं। ये जीव वहाँ जा करके अन्तर्मुहूत में अर्थात् ४८ मिनट के अन्दर यौवन अवस्था को प्राप्त होते हैं जैसे मनुष्य सोते हुये जाग्रत होता है उसी प्रकार इनका जन्म होता है उसको उत्पाद जन्म कहते हैं।

स्थावर जीवों के लक्षण—

स्थावर नाम का नाम कर्म है। नाम कर्म के तीन प्रकृति हैं स्थावर नाम कर्म के उदय से इस जीव को प्राप्त होने वाली पर्याय को स्थावर कहते हैं। स्थावर जीव पृथ्वी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक और वनस्पति कायिक इस प्रकार पाँच प्रकार के हैं। इन पांच प्रकार के स्थावर जीवों को नियम से स्पर्शन इन्द्रिय रहती है। इनको एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहते हैं। इन पांच जीवों के शरीर स्थूल और स्थूल रहता है। चने की दाल के समान आकार वाले पृथ्वी कायिक जीव हैं। जल विन्दू के समान आकार वाले जल कायिक जीव हैं। सूई की नोक के समान अग्नि कायिक जीव हैं। ध्वजा के आकार वाले वायु कायिकजीव हैं। वृक्ष लता, घास इत्यादि अनेक प्रकार के वनस्पति कायिक जीव हैं। एकेन्द्रिय जीव भी अनेक प्रकार के हैं। स्पर्शनेन्द्रिय और स्वासोच्छ्वास इस प्रकार हैं मति श्रुत इस प्रकार दो, ज्ञानोपयोग और चक्षु और अचक्षु इस प्रकार दो दर्शनोपयोग ये चार भेद हैं।

इन्द्रिय—जीव के पहचानने आदि के साधन को इन्द्रिय कहते हैं। जीव विषय के ज्ञान होने के लिये इन्द्रिय कहते है यह नियम से स्पर्शन रसना घ्राण चक्ष और श्रोत्र इस प्रकार इसके पांच भेद हैं।

१—स्पर्शन इन्द्रिय—हलका भारी रूक्ष मृदु कठोर ऐसे आठ प्रकार के स्पर्श को स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं।

२—रसना—खट्टा, मीठा, क्षार, कड़ुवा, चरपरा इस प्रकार ये पांच रस को जानता है इसको रसना इन्द्रिय कहते हैं।

३—घ्राण इन्द्रिय—सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो को जानता है।

४—चक्षु—श्वेत, पीत, हरित, लाल, कृष्ण ऐसे पांच वर्ण को जानता है।

५—श्रोत्र—शब्द ज्ञान को जानता है।

मुक्तजीव

जीव के सम्पूर्ण कर्मो का नाश संसार से पूर्णतया मुक्त होना उसको मोक्ष कहते हैं (सर्व कर्मविप्र मोक्ष मोक्षः) आत्मा के जीव से सम्बन्वित ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय समस्त आठ कर्मों के नाश के कारण आत्मा के परिणाम को भाव मोक्ष कहते हैं। ये ही ८ कर्म रूपी परमाणु आत्मा से भिन्न होना उसको द्रव्य मोक्ष कहते हैं। मोक्ष का अर्थ है छूटना। इस शब्द के अर्थात् जन्म जरा मरण रहित और आठ कर्मो के नाश से क्रमशः स्वयमेव अपने निजात्म का प्रादुर्भाव होने वाले निज शुद्धात्मा का जो स्वभाव है समस्त लोक और अलोक में और उनमें रहने वाले सर्व पदार्थ को और उनके त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को युगपद एक ही समय में देखने और जानने की अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख ऐसे अव्याबाधत्व सम्यक्त दोष से रहित अवगाहन सूक्ष्मत्व लोहे के पिण्ड के समान गुरुत्व और रूई के समान लघुत्व रहित और अनन्त वीर्य ये आठ स्वाभाविक गुणों से युक्त सिद्ध भगवान होते हैं। ये जीव मिट्टी के लेप से लिप्त हुआ तुम्बी का फल अगर पानी में डाल दिया जाय तो वह मिट्टी हट जायेगी और तुम्बी का फल ऊपर आ जायेगा। इसी प्रकार यह जीव सम्पूर्ण कर्मो से मुक्त होता है। पहले के शरीर से कुछ कम होकर जैसे एरण्ड का बीज सूखने के वाद धूप में छिलका हट जाता है और बीज ऊपर उछल जाता है इसी प्रकार यह जीव सम्पूर्ण कर्मो का नाश हो जाने से ऊर्ध्व गमन करके जहाँ तक धर्म द्रव्य है वहाँ तक जाकर सिद्ध शिला पर शास्वत विराजमान होना है और पुनः लौटकर संसार में नहीं आता है। यह मुक्तजीव अनुपम, असाधारण, अखण्ड, अनिश्वर और अतीन्द्रिय से स्वाभाविक आत्मोत्थ अनन्त सुख को अनन्त काल तक अनुभव करता है। ये ही मोक्ष का मार्ग है। ये ही मोक्ष अवस्था है ये ही सिद्ध अवस्था कहलाती है, इन्हीं को सिद्ध, बुद्ध, शिव, परमात्मा आदि अनेक प्रकार के नामों से पुकारा जाता है।

अजीव द्रव्य

जीव द्रव्य में रहने वाले ज्ञान दर्शनादि चेतना लक्षण इन्द्रिय द्रव्य प्राण ज्ञान दर्शन आदि उपयोग रूप भाव प्राण इष्ट अनिष्ट रूप कर्म चेतना सुख दुःख रूप कर्म फल चेतना यह कोई भी लक्षण चेतना रहित अजीव पदार्थ में नहीं रहता है इसी को अजीव कहते हैं। अचेतन कहते हैं इस अजीव द्रव्य के पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच भेद है। इसमें

धर्म अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य भिन्न-भिन्न रहते हैं। अखण्ड और निष्क्रिया हलन चलन रहित रहते हैं। सम्पूर्ण लोकाकाश में तिल और तेल के समान व्याप्त रहते हैं। ये नित्य और अवस्थित हैं अनादि काल से इसी तरह रहते हैं। इसका कोई कर्ता धर्ता नहीं है। ये अनादि हैं, लोक में जीव अनन्तानन्त हं, पुद्गल जीव की अपेक्षा से जीव अनन्त गुणी ज्यादा रहते हैं। काल अनुरूप से असंख्यात है जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल से अमूर्तिक हैं। पुद्गल एक ही मूर्तीक है अर्थात् रूपी पदार्थ है, धर्म, अधर्म, काल और जीव ये असंख्यात प्रदेशी हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी है। लोकाकाश असख्यात प्रदेशी है। और पुद्गल असरुयात और अनन्त प्रदेशी है।

पुद्गल

पुद्गल का अर्थ पूरण और गलन होना अर्थात् गलन होना और अलग होना इसको पुद्गल कहते हैं। क्रिया स्वभाव युक्त वस्तु को पुद्गल कहते हैं। पु का अर्थ जीव और गिल का अर्थ शरीर। आहार विपय आदि ग्रहण करने वाले क्रिया के उपयोग होने को पुद्गल कहते हैं।

पुद्गल पर्याय के दो भेद हैं—भापात्मक और अभापात्मक ऐसे शब्द दो तरह का है उनमें भापात्मक शब्द अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक रूप से दो तरह का है। उनमें भी अक्षरात्मक भापा, संस्कृत प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य व म्लेक्ष मनुष्यों के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है। अनक्षरात्मक भापा द्वीन्द्रिय आदि तिर्यच जीवों में तथा सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि में है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैश्रसिक के भेद से दो तरह का है। उनमें "वीणा" आदि के शब्द को तत, ढोल आदि के शब्द को वितत, मंजीरे तथा ताल आदि के शब्द को घन और वसी आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं। इस में कहे हुए क्रम से प्रायोगिक (प्रयोग से पैदा होने वाला) शब्द चार तरह का है, विश्रसा अर्थात् स्वभाव से होने वाला वैश्रसिक शब्द वादल आदि से होता है वह अनेक तरह का है। विशेष-शब्द से रहित निज परमात्मा की भावना से छूटे हुए तथा शब्द आदि मनोज्ञ अमनोज्ञ पंच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव ने जो सुस्वर तथा दुःस्वर नाम कर्म का वंध किया उस कर्म के उदय के अनुसार यद्यपि जीवन में शब्द दिखता है तो भी वह शब्द जीव के संयोग से उत्पन्न होने के निमित्त से व्यवहार नय की अपेक्षा जीव का शब्द कहा जाता है, किन्तु निश्चय नय से तो वह शब्द पुद्गलमयी ही है। अब वंध को कहते हैं—मिट्टी आदि के पिण्ड रूप जो बहुत प्रकार का वंध है वह तो केवल पुद्गल वंध है। जो कर्म ? नो कर्म रूप वंध है वह जीव और पुद्गल के संयोग से होने वाला वंध है। विशेष यह है—कर्म वंध से भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा की भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य वंध है और उसी तरह अशुद्ध निश्चय नय से जो वह रागादिक रूप भाववन्ध कहा जाता है, यह भी शुद्ध निश्चय नय से पुद्गल का ही वन्ध है। वेल आदि की अपेक्षा वेर आदि फलों में सूक्ष्मता है और परमाणु में साक्षात् सूक्ष्मता है (परमाणु की सूक्ष्मता किसी की अपेक्षा से नहीं है)। वेर आदि की अपेक्षा वेल आदि में स्थूलता (बड़ापन). है तीन लोक में व्याप्त महास्कन्ध में सबसे अधिक स्थूलता है। समचतुरस्त्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन और हुंडक ये ६ प्रकार के संस्थान व्यवहार नय से जीव के होते हैं। किन्तु संस्थान शून्य चेतन चमत्कार परिणाम से भिन्न होने के कारण निश्चय नय की अपेक्षा संस्थान पुद्गल का ही होता है जो जीव से भिन्न गोल, त्रिकोन, चौकोर आदि प्रगट अप्रगट अनेक प्रकार के संस्थान है, वे भी पुद्गल के ही हैं। गेहूं आदि के चूर्न रूप से तथा घी, खाण्ड आदि रूप से अनेक प्रकार का "भेद" (खण्ड) जानना चाहिए। दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार है उसको "तम" कहते हैं। पेड़ आदि के आश्रय से होने वाली तथा मनुष्य आदि की परछाई रूप जो है उसे "छाया" जानना चाहिए। चन्द्रमा के विमान में तथा जुगनू आदि तिर्यच जीवों में "उद्योत" होता है। सूर्य के विमान में तथा अन्यत्र भी सूर्यकान्त विशेष मणि आदि पृथ्वीकाय में "आतप" जानना चाहिए। सारांश यह है कि जिस प्रकार शुद्ध निश्चय नय से जीव के निज आतमा की उपलब्धि रूप सिद्ध स्वरूप में स्वभाव व्यंजन पर्याय विद्यमान है फिर भी अनादि कर्मबंध के कारण पुद्गल के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण के स्थानभूत रागद्वेष परिणाम होने पर स्वाभाविक परमानन्दरूप एक स्वस्थ्य भाव से भ्रष्ट हुए जीव के मनुष्य, नारक आदि

विभाव-व्यंजन-पर्याय होते हैं, उसी तरह पुद्गल में निश्चय नय की अपेक्षा शुद्ध परमाणु दशारूप स्वभाव-व्यंजन पर्याय के विद्यमान होते हुए भी "स्निग्ध तथा रूक्षता से बन्ध होता है। इस वचन से राग और द्वेष के स्थानीय बंध योग्य स्निग्ध तथा रूक्ष परिणाम के होने पर पहले बतलाये गये शब्द आदि के सिवाय अन्य भी शास्त्रोक्त सिकुड़ना, दही, दूध आदि विभाव व्यंजन पर्याय जानना चाहिए।

धर्म द्रव्य

गमन में परिणत पुदगल और जीवों को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है—जैसे मछलियों को गमन में जल सहकारी है। गमन न करते हुए (ठहरे हुए) पुदगल व जीवों को धर्म द्रव्य गमन नहीं कराता।

चलते हुए जीव तथा पुदगलों को चलने में सहकारी धर्म द्रव्य होता है। इसका दृष्टान्त यह है कि जैसे मछलियों के गमन में सहायक जल है। परन्तु स्वयं ठहरे हुए जीव पुद्गलों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता। तथैव जैसे सिद्ध भगवान अमूर्त्त हैं, क्रिया रहित हैं तथा किसी को प्रेरणा भी नहीं करते, तो भी मैं सिद्ध के समान अनन्त ज्ञानादि गुणरूप हूं, इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्ध भक्ति के धारक और निश्चय से निर्विकल्पक ध्यान रूप अपने उपादान कारण में परिणत भव्य जीवों को वे सिद्ध भगवान सिद्ध गति में सहकारी कारण होते हैं - ऐसे ही क्रियारहित, अमूर्त्त प्रेरणारहित धर्म द्रव्य भी अपने उपादान कारणों से गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को गमन में सहकारी कारण होता है। जैसे मत्स्य आदि के गमन में जल आदि सहायक कारण होने का लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त है, यह अभिप्राय है।

अधर्म द्रव्य

ठहरे हुए पुदगल तथा जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है। उसमें दृष्टान्त—जैसे छाया पथिकों को ठहरने में सहकारी कारण है। परन्तु स्वयं गमन करते हुए जीव व पुद्गलों को अधम द्रव्य नहीं ठहराता है। सो ऐसे है—यद्यपि निश्चय नय से आत्म अनुभव से उत्पन्न सुखामृत रूप जो परम

योनि*

जीव उत्पन्न होने के आधार भूत पुद्गल स्कन्ध को योनि कहते हैं। यू यति इति योनि—योनि आधार जन्म आधेय योनि के आधार से जीव समूर्छन गर्भ उत्पादन जन्म के सम्बन्ध से शरीर आहारइन्द्रियों के योग्य पुद्गल वर्गणा को ग्रहण करते हैं। इसमें आकार योनि और गुण योनि ऐसे दो भेद हैं। आकार योनि के शंखा वृत कूर्मोंख और वंश पत्र ऐसे तीन उपभेद हैं। शंखावृत योनि में गर्भ धारण नहीं होता है। तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ ऐसे तीर्थकर महापुरुषों का सद्धर्म प्रवर्तक चक्रवर्ती बलभद्र उनके सहोदर आदि का जन्म होता है। अर्थात् दूसरों का जन्म नहीं होता। वंशपत्र योनि में जीव गर्भ जन्म होते हैं।

१—सचित्त, २—शीत, ३—संभरण, ४—अचित्त, ५—उष्ण, ६—निवृत्त, ७—मिश्र अर्थात् सचित्त अचित्त, ८—शीतोष्ण, ९—संवर विवत्त इस प्रकार ये ९ प्रकार हैं। उत्पाद जन्म सम्बन्ध देव नारकी जीवों की योनि जीव रहित अचित होता है। कहीं शीत कही उष्ण इस प्रकार दो प्रकार के होते हैं। गर्भ जन्म सम्बन्ध रखने वाले सचित्त चित्त युक्त रूप मिश्र योनि और सम्पूर्ण जन्म सम्बन्ध रहने वाले सचित्त और अचित्त और मिश्र इस प्रकार गर्भ जन्म और सम्पूर्ण से सम्बन्ध रखने वाले इसी प्रकार तीन प्रकार के होते हैं।

एकेन्द्रिय तेजकायिक के उष्ण योनि देव नारकी और एकेन्द्रिय जीवों को समवृत योनि होती है। विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वि त्रि, चार इन्द्रिय जीवों को खुले रहना है। गर्भ जन्म जीवों की योनि सम्वृत्त निवृत्ति ऐसे दो रूप मिश्र योनि सम्पूर्ण आदि युवपत होना है। इस प्रकार सामान्य रूप से गुण योनि होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भेद को कहते हैं।

नित्य निगोद	७ लाख
पृथ्वी अग्नि तेज वायु	७ लाख प्रत्येक प्रत्येक
	इस प्रकार ये २८ लाख होते हैं
वनस्पति	१० लाख
द्विइन्द्रिय त्रिइन्द्रिय चतुइन्द्रिय	२ लाख प्रत्येक
	६ लाख
देव नारकी तिर्यंच प्रत्येक के	४ लाख
	१२ लाख

स्वास्थ्य है वह निज रूप में स्थिति का कारण है, परन्तु मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनन्तज्ञान आदि गुणों का धारक हूं, शरीर प्रमाण हूं, नित्य हूं, असंख्यात प्रदेशी हूं तथा अमूर्तिक हूं। सिद्ध भक्ति के रूप से पहले सविकल्प अवस्था में सिद्ध भी जैसे भव्य जीवों के लिए बहिरंग सहकारी कारण होते हैं उसी तरह अपने अपने उपादान कारण से अपने आप ठहरते हुए जीव पुद्गलों को अधर्म द्रव्य ठहरने का सहकारी कारण होता है। लोक व्यवहार से जैसे छाया अथवा पृथ्वी ठहरते हुए यात्रियों आदि को ठहरने में सहकारी होती है उसी तरह स्वयं ठहरते हुए जीव पुद्गलों के ठहरने में अधर्म द्रव्य सहकारी होता है। इस प्रकार अधर्म द्रव्य का लक्षण बताया है।

उनको वैक्रियिक शरीर रहता है उज्वल शरीर अलंकार भूपण से सहित गले में पुष्प माला अनविस होते हैं। इस जन्म के जीव को जन्मते ही बहु प्रत्यय अवधि ज्ञान होता है।

आकाश का वर्णन

अकृत्वा प्रसन्नताप मगत्वा खलमृंताम्
अनुत्सृज्य संताम् व्रतमयतक्त स्वल्पर्याति तत्वहु।

आकाशयानन्त: आकाश अनन्तानन्त प्रदेश से एक अखण्ड द्रव्य इस आकाश के अत्यन्त बीच में ३४३ घन यर्जु प्रमाण क्षेत्र प्रवेश का अकृत्रिम नित्य निश्चल स्वयं स्रष्ट स्वभाव से ही निश्चित स्थिति से युक्त अनादि निधन पुरुषाकार लोकाकाश है। जैसे एक मनुष्य दोनों पांव पसार कर दोनों हाथ कमर में फैला कर कटि पर रख कर खड़ा हो जाता है उसी प्रकार यह लोकाकाश का आकार है। वेत्रासन के समान अर्थात् वेंत की कुर्सी के नीचे के भाग के समान अधा लाक है। चक्र के समान वर्तुल आकार मध्य लोक आकार है। मृदंग के समान उर्द्ध लोक का आकार है। इधर १४ यर्जु ऊंचा कर दक्षिण रज्जु पूर्व पश्चिम में नीचे के भाग में ७ रज्जु विस्तार वहाँ से क्रम से कम होते हुये मध्य भाग में एक रज्जु विस्तार है। वहाँ से क्रम से कम होते हुये भ्रम लोकान्त स्वर्ग में पाँच रज्जु विस्तार पुन: वहाँ से कम होते हुये ऊपर के भाग में १ रज्जु विस्तार रहता है। यह घनोदधि घनवात और तनुवात ऐसे विस्तार वाले फिर इन तीन वातों में से स्थित होकर जैसे सीख बाँधते हैं उसी प्रकार चारों ओर से घिरा हुआ है। ये तीन वातवलय हैं, आकाश के आश्रय से स्थिर हैं अर्थात् इन तीन लोक के घनोदधि वातवलय का आघात घनोदधि वातवलय का घनवातवलय का आधार घनवातवलय को तन वातवलय का आधार और तनवातवलय के आकाश आधार, आकाश को आकाश ही स्वयं आधार अर्थात् आधार और आधेय ये दोनों स्वयं आकाश है। इस प्रकार यह अनादि काल से स्वतन्त्र है। ये किसी के आश्रय से नहीं है। इसका कोई भी कर्ता धर्ता नहीं है आकाशस्य समागाह अवगाहन शक्ति लेना आकाश है। यह सम्पूर्ण पदार्थ को स्थान देने के कारण आकाश कहलाता है। इस प्रकार यह परस्पर आश्रित है। प्रत्येक वातवलय २० हजार योजन विस्तार वाले है। तीनों वातवलय ६० हजार योजन विस्तार वाले हैं। घनोदधि वातवलय उड़द के रंग के समान है। घनवातवलय गौ मूत्र के समान है। और तनुवातवलय अति सूक्ष्म वर्ण वाले अभिव्यक्त है इसका वर्णन करना अशक्य है। इस प्रकार एक अनादि है इसका कोई कर्ता धर्ता नहीं है इस प्रकार को जिनेन्द्र भगवान की वाणी है। ये जैन सिद्धान्त के अनुसार परम्परा अनादि काल से वृद्धि और ह्रास को प्राप्त हुये चले आ रहे हैं।

१ लोकाकाश —

लोकयन्ते इन्चन्ते जीवादया पदार्थ: यत्रासौ लोका: तदपरो लोका यत्र पुण्यपाप फल लोकनम् स्वलोक: लोकतीति व लोक:।

इस प्रकार लोक का अनेक प्रकार से विवेचन किया गया है। जीवाजीवा द पदार्थ अपने-अपने पर्याय भेद से युक्त जहाँ देखने में आता है वह लोक है जन्म मरण जरा पुण्य पाप दु:ख सुख का जिसमें जीव को अनुभव होता है उसका नाम लोक है वह अधो मध्य और ऊर्ध्व इस प्रकार तीन प्रकार का है। इस तीन लोक में और उसमें रहने वाले जीवादि पदार्थ को जो अवकाश देने वाले हैं उसको आकाश कहते हैं। इस प्रकार लोकाकाश का वर्णन किया गया है।

इस लोकाकाश के बीच में नीचे से लेकर अन्त तक १४ राजू ऊंचा एक रज्जु चौड़ा चतुपकोण आकृति के एक तृष्णा है। जिन इन्द्रिय आदि सम्पूर्ण जीव यहीं जन्म लेने के कारण इसे त्रसना कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव मात्र दोनों ठिकाने में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस त्रसड़ी में सम्पूर्ण जीव उत्पन्न होकर जन्म मरण सुख दु:ख आदि का अनुभव करते हैं।

इसके मुख्य भेद—इसमें सामान्य रूप से दो द्रव्य हैं। एक जीव और दूसरा अजीव।

स्वपर प्रत्योत्पाद विगमपर्यायीर द्रूयन्ते द्रव्यन्ति वा तानातिवा द्रव्याणि।

सद्द्रव्य लक्षणम् उत्पाद व्यय ध्रौव उत्तम सत्

अथवा अवस्थानतरम् द्रव्यतीति द्रव्यम्।

इसमें अनेक प्रकार के जीव और अजीव मुख्य रूप से पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल इस तरह पाँच प्रकार के हैं।

२ अलोकाकाश —

लोकाकाश की अपेक्षा से आकाश व्याप्त है। लोकाकाश के ऊपर रहने वाले आकाश प्रदेश को अलोकाकाश कहते हैं। इसमें केवल एक आकाश द्रव्य ही है और दूसरा कोई भी नहीं। और ये अनन्त रूप हैं।

काल द्रव्य

द्रव्य परिवर्तन रूप जो है वह व्यवहार रूप काल होता है। यह कैसा है ? परिणाम क्रिया परत्व अपरत्व से जाना जाता है, इसलिये परिणाम आदि लक्ष्य है। अब निश्चय काल को कहते हैं जो वर्तना लक्षण काल है वह परमार्थ (निश्चय) काल है। जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक परिणामादि रूप है सो व्यवहार काल है।

जीव तथा पुद्गल का परिवर्तन—जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है उस पर्याय की जो समय घड़ी (चौबीस मिनट) आदि रूप स्थिति है वह घड़ी घण्टा आदि के रूप में द्रव्य पर्याय रूप व्यवहार काल है। ऐसा ही संस्कृतप्राभृत में भी कहा है कि—"स्थिति जो वह काल संज्ञक है" सारांश यह है कि—द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो समय घड़ी घण्टा आदि रूप स्थिति है वह स्थिति ही व्यवहार काल है। वह पर्याय व्यवहार काल नहीं है क्योंकि पर्याय सम्बन्धिनी स्थिति व्यवहार काल है। इसी कारण जीव और पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से देशान्तर में आने जाने रूप से गाय दुहने रसोई करने आदि हलन चलन रूप क्रिया से, दूर या समीप देश में चलन रूप काल कृत परत्व तथा अपरत्व से (छोटा बड़ापन) यह काल जाना जाता है। इसलिये व्यवहार काल परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व लक्षण वाला कहा जाता है।

अब द्रव्य रूप निश्चय काल का निरूपण करते हैं—

अपने अपने उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुये पदार्थों को जैसे कुम्भकार, के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है अथवा शीत काल में छात्रों को पढ़ने के लिये अग्नि सहकारी है। उसी प्रकार जो परिणमन में सहायक है उसको वर्तना कहते हैं। वह वर्तना ही है लक्षण जिसका सो ऐसा कालाणु द्रव्य रूप निश्चय काल है। इस प्रकार व्यवहार काल तथा निश्चय काल का स्वरूप जानना चाहिये।

समय रूप ही निश्चय काल है। उस समय से भिन्न कालाणु द्रव्य रूप और कोई निश्चय काल नहीं है। क्योंकि वह देखने में नहीं आता। इसका उत्तर यह है "कि समय तो काल का ही पर्याय है। यदि कोई यह पूछे कि समय काल की पर्याय कैसे है ?"

पर्याय "समओ उप्पण्ण पद्धंसी" इस आगम के वाक्य के अनुसार उत्पन्न होती है और नष्ट होती है पर वह पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती। यदि समय को ही काल मान लें तो उस समय रूप पर्याय काल का उपादान कारण भूत द्रव्य भी काल रूप ही होना चाहिये। क्योंकि जैसे ईंधन अग्नि आदि सहकारी कारण से उत्पन्न पके चावल का उपादान कारण चावल ही होता है अथवा कुम्भकार चाक चीवर आदि बहिरंग निमित्त कारण से उत्पन्न जो मिट्टी की घटपर्याय है उसका उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड ही है अथवा नर नारक आदि जो जीव की पर्यायें हैं उनका उपादान कारण जीव है। इसी तरह समय घड़ी आदि काल का भी उपादान कारण काल ही होना चाहिये यह नियम भी इसलिये है कि अपने उपादान कारण के समान ही कार्य होता है ऐसा वचन है। कदाचित् ऐसा हो कि "समय" घड़ी आदि काल पर्यायों का उपादान कारण काल द्रव्य नहीं है, किन्तु समय रूप काल पर्याय की उत्पत्ति के मन्द गति में परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है तथा निमित्त रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में नेत्रों के पलक का गिरना और उठना अर्थात् पलक का गिरना और उठना उपादान कारण है तेज ही

घड़ा रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में घड़ी की सामग्री रूप जल की कटोरी और पुरुष के हाथ आदि का व्यापार उपादान कारण है। दिन रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में सूर्य का बिम्ब उपादान कारण है, सो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस तरह चावल रूप उपादान कारण से उत्पन्न जो चावल पर्याय है उसके अपने उपादान कारण से प्राप्त गुणों के समान ही सफेद काले आदि वर्ण अच्छी या बुरी गन्ध चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श, मीठा आदि रस इत्यादि विशेष गुण दीख पड़ते हैं। वैसे ही पुद्गल परमाणु नेत्र, पलक, बन्द करना और खोलना जल कटोरी पुरुष व्यापार आदि तथा सूर्य का बिम्ब रूप जो उपादान भूत पुद्गल पर्याय है उनसे उत्पन्न हुये समय निमिष घड़ी काल दिन आदि जो पर्याय हैं उनको भी सफेद काला आदि गुण मिलना चाहिये। परन्तु समय घड़ी आदि में उपादान कारणों के कोई गुण नहीं दीख पड़ते। क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है, ऐसा वचन है। अतः यह कहना व्यर्थ है कि जो आदि तथा अन्त से रहित अमूर्त है, नित्य है समय आदि का उपादान कारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है और कालाणु द्रव्य रूप है वह निश्चय काल है और जो आदि तथा अन्त से रहित है, समय, घड़ी, पहर आदि व्यवहार के विकल्पों से युक्त है वह उसी द्रव्य काल का पर्याय रूप व्यवहार काल है। सारांश यह है कि यद्यपि यह जीव काल लब्धि के वश से अनन्त सुख का भोक्ता होता है तो भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारक जो निज परमात्मा रूप के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरण और सम्पूर्ण भाव द्रव्यों की इच्छा को दूर करने रूप लक्षण का धारक तपश्चरण रूप दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तप रूप चार प्रकार की आराधना है वह आराधना ही उस जीव के अनन्त सुख की प्राप्ति में उपादान कारण जानना चाहिये। इससे काल उपादान कारण नहीं है। इसलिये वह काल द्रव्य त्याज्य है।

सप्त तत्व

मुख्य तत्व दो प्रकार है एक जीव दूसरा अजीव—चेतन और अचेतन की पर्याय को विचार करते समय १ आश्रव, २ बंध, ३ संवर, ४ निर्जरा ५ मोक्ष ये पांच तत्व देखने में आते हैं। इससे कुल तत्व सात होते हैं।

आश्रव—पुद्गल द्रव्य का अणु के समूह आत्म प्रदेश को कर्म रूपी होकर बहते हुए आते हैं उसको आस्रव कहते हैं। ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म आत्म प्रदेश की ओर खींचकर आने में निमित्त कारण ऐसे जीव के रागादिक विकल्प परिणामों को भावश्रव कहते हैं।

जीव के रागादि परिणाम को निमित्त पाकर ज्ञानवरणादि कर्म आत्म प्रदेश के खींचकर आने को द्रव्याश्रव कहते हैं। कर्म समूह के स्वरूप को जाने बिना सप्त तत्व का अर्थ ठीक प्रकार से नहीं आता है। इसलिए उन कर्मों की जानकारी कर लेना अत्यावश्यक है।

अष्ट कर्म

कर्म पुदगल के मुख्य आठ विभाग किये गये हैं। एक एक विभाग में अनेक विभाग हैं। जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनी, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

१—ज्ञानावरणीय कर्म

आत्मा के सहज स्वरूप ऐसे ज्ञान के ऊपर बादल के समान बढ़कर उसको अवरण करता है। इसमें मतिज्ञानावरण श्रुतिज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण, मनः पर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण इस प्रकार से पांच भेद हैं। इनमें ज्ञानावरणीय कर्म सब से बलवान होने के कारण आत्मा की जानने की शक्ति को आवरण कर देता है।

२—दर्शनावरणीय कर्म (The perception olstruction)

यह आत्मा के दर्शन गुण को आवरण करता है। इसमें चक्षु दर्शनावरण और अचक्षु दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि। ऐसे नो भेद हैं। अर्थात् निद्रा आना पुनः पुनः निद्रा में उठकर सोना फिर उठना और फिर सोना। निद्रा में नाक मुंह आदि से राल गिरना। स्वप्न में उठकर काम आदि करना। बड़बड़ करना। जगने के बाद उनको क्रम से निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि कहते हैं।

३—वेदनीय (Which regulates the experiences of pleasure and pains)

यह कर्म अव्यावाधगुण को घात करता है। इसमें साता वेदनीय, असाता वेदनीय ऐसे दो भेद हैं। विषय को अनुकूल करने वाले को साता कहते हैं। विषय सुख को अथवा दुःख को उत्पन्न करने को असाता कहते हैं।

४—मोहनीय कर्म

आत्मा के दर्शन और चारित्र गुण को हनन करने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं।

जिससे सम्यग्दर्शन प्रगट करने में अटकता है उसको दर्शन मोहनीय कहते हैं। सम्यक्चारित्र को घात करने वाले को चारित्र मोहनीय कहते हैं।

५—दर्शन मोहनीय—इसमें मिथ्यात्व इसका उदय जब होता है जीव को अयोग्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर देता है। सम्यक्त्व मिथ्यात्व जब उसका उदय होता है तो जीव के परिणाम को उत्पन्न कर देता है। उस समय उसके परिणाम

६- क्रोध मान माया लोभ इनसे आत्मा के सम्यग्दर्शन होने वाले कर्म को अनन्तानुबंधी कर्म कहते हैं।

७—श्रावक के १२ व्रत के पालने में विघन डालना आत्मा के देश चारित्र को नाश करने वाले कषाय को अप्रत्याख्यान कहते हैं।

८—नियम व्रत पालने में विघ्न करने वाले कषाय को प्रत्याख्यान कहते हैं।

९—चारित्र पूर्ण करने में विघ्न डालने वाले कषाय को संज्वलन कहते हैं।

10—Ayuh, the force which determines the duration of the association of the soul with its physical body. Sri C. R, Jain, H.H.D.I., P. XXXIX.

11—Nama, or the Group of forces which organize the body and its limbs.

—Sri C. R. Jain, H.H.D.I. P. XXXIX

२—गति ४,—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव।

जाति पांच—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, वैदिक, अंगोपांग कारमाण कुल ये (४+५+५+३=१७)

निर्माण कर्म अंगोपांगकी रचना करता है। बंधन कर्म पांच प्रकार के हैं—औदारिक वैक्रियिक अंगोपांग की रचना करता है। आहारक तैजस्स कारमाण। ये शरीर कारमाण को जुड़ा देता है।

संघात कर्म—५ औदारिक कारमाण ये शरीर को छिद्र रहित रखते हैं।

संस्थान कर्म ६—समचतुरस्र, न्यग्रोध परिमण्डल स्वाति कुब्जक, वामन हुण्डक ये शरीर के आहार को और ऊंचाई को विभाजित कर देता है।

संहनन ६—वज्र वृषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक, असम्प्राप्ताश्रपाटिका ये हड्डी के बन्धन कार्य को ठीक कर देता है। कुल ये (१७+१+५+५+६+६=४०)

स्पर्श ८—कठोर, कोमल, हल्का, भारी, ठण्डा, गर्म, स्निग्ध रूखा।

वर्ण ५—काला, नीला लाल, पीला, हरा।

षट् रस—खट्टा, मीठा, नमकीन, कड़वा, चरपरा कषायला

चार आनु पूर्व—नरक, तीर्यच, मनुष्य, देव।

ये कुल मिलकर (४०+८+५+६+४=६३)

अगुरुलघु उपघात परघात आतप चार योग गति होती है।

मनोज्ञ अमनोज्ञ उच्छवास त्रस स्थावर बादर सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त प्रत्यय साधर्म स्थिर अस्थिर शुभ अशुभ सुभग असुभग सुस्वर दुस्वर आदेय यश कीर्ति अयशकीर्ति तीर्थंकर दो गन्ध—सुगन्ध दुर्गन्ध ये कुल मिलाकर (६३+३०=९३) यहां हर कर्म के आगे नाम कर्म ऐसा समझ लेना चाहिए। आनुपूर्वी नाम कर्म का अर्थ मरणान्तर अथवा पुनर्भव में आने के पहले अर्थात् विग्रह गति में मरण करने के पहले रहने वाले शरीर आकार के आत्म प्रदेश को रखने वाले कर्म—योग विहायो गति नाम कर्म—यह कर्म आकाश में संचार करने की शक्ति उत्पन्न करा देता है। तीर्थंकर नामकर्म—इस कर्म से जीव को अर्हन्त पद प्राप्त होता है।

को सम्यक्त्व परिणाम ऐसा नहीं कह सकते और मिथ्यात्व भी नहीं कह सकते। सम्यक्त्व प्रकृति इस कर्म के उदय से जीव के सम्यक्त्व मूल सम्यक्त्व उत्पत्ति वे नाश होने पर भी उसमें चलने आदि के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म में तीन प्रभेद है।

चारित्र मोहनीय—इसके २५ भेद हैं। अनन्तानुबंधि क्रोध, मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ, ये सोलह कर्मों को कषाय कहते हैं। (४+४+४+४=१६)

हास्य रति शोक भय जुगुप्सा स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद इन नो भेद को ९ कषाय कहते हैं। ये सोलह कषाय ९ कषाय मिलकर के चारित्र मोहनीय कर्म कहलाता है।

५. आयु कर्म—आत्मा को देह रूपी पंजन के मजबूत बंधन में रखने वाले कर्म को आयु कर्म कहते हैं। इसमें नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु ऐसे चार भेद हैं।

६. नाम कर्म—आत्मा को नाना प्रकार के शरीर अवयव रूप उत्पन्न करने वाले कर्म को नाम कर्म कहते हैं। इसमें ९३ भेद हैं।

७. गोत्र कर्म - इस कर्म से अनादि से चले आए हुए आचरण स्वरूपी उच्च तथा नीच गोत्र में जन्म होना होता है। इसमें दो भेद हैं उच्च तथा नीच।

८. अन्तराय कर्म—ये कर्म दानादि कार्य में विघ्न करता है। इसमें दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, वीर्यान्तराय, ऐसे चार भेद हैं।

ज्ञानावरणादि सभी कर्म मिलकर १४८ उत्तर प्रकृति रहते हैं।

घातिया कर्म — ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय अन्तराय कर्म को घातिया कर्म कहते हैं। ये जीव के सम्यक्चारित्र आदि गुण को घात करते हैं। इन चार कर्मों को जीतने से जीव जिन कहलाता है। और उनको संसार का भय नहीं रहता है।

अघातिया कर्म—वेदनीय आयु नाम गोत्र ये चार कर्मों को अघातिया कर्म कहते हैं। ये कर्म जीव के ज्ञानादि अणु जीवों के कर्म को घात नहीं करते हैं। जिनेन्द्र भगवान में यह चारों कर्म रहते हैं। जब भगवान सिद्ध बन जाते हैं तो यह कर्म नष्ट हो जाते हैं।

बन्ध तत्व—चार प्रकार के होते हैं। ज्ञानावरणीय, कर्म पुदगल और आत्म प्रदेश दूध और काई के समान रहने को द्रव्य बन्ध कहते हैं।

द्रव्य बंध होने के लिए कारण मिथ्यात्व रागादि रूप ऐसे अशुद्ध चेतना भाव को भाव बंध कहते हैं।

ज्ञानावरणादि ८ कर्मों के स्वभाव आत्मा के साथ बंध होने को प्रकृति बंध कहते हैं।

ये जब बंध होना है तब कर्म को आत्म घात करने की शक्ति निर्माण होती है। जब तक कर्म आत्मा में रहता है उस अवधि को स्थिति बंध कहते हैं। उदाहरणार्थ मोहनीय कर्म ज्यादा से ज्यादा रहता है तो १७ कोड़ा कोड़ी सागर तक रहेगा और एक अन्तर्मूहूर्त काल तक आत्मा के साथ रहता है। कर्म के अनुदायक शक्ति को बनाने वाले के लिये अनुभाग बंध कहते हैं। आत्मा के साथ पहले कर्म के सचार को निर्णय करना ही प्रदेश बंध है।

मन वचन काय ऐसा योग ही प्रकृति बंध और प्रदेश बंध का कारण होता है। अर्थात् आत्म प्रदेश के चलायमान को योग कहते हैं कषाय भाव में कमी ज्यादा होने पर स्थिति और अनुभाग में कमी ज्यादा होती है।

पाक्षिक श्रावक का वर्णन

जिनको जैन धर्म के देव, शास्त्र गुरु के द्वारा आत्म-कल्याण का स्वरूप वा मार्ग भली भांति ज्ञात तथा निश्चित हो जाने से पवित्र जिनधर्म की तथा श्रावक धर्म (अहिंसादि) की प्राप्ति हो जाती, जिनके मैत्री, प्रमोद, कारूण्य, माध्यस्थ भावनायें दिन २ वृद्धिरूप होती जाती हैं जो स्थूल त्रसहिंसा के त्यागी हैं ऐसे चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि, पाक्षिक श्रावक कहलाते हैं। इन्हें व्रतादि प्रतिमाओं के धारण करने के अभिलाषी होने से प्रारब्ध सज्ञा भी है। इनके सप्त व्यसनों का त्याग तथा अष्ट मूलगुण धारण, सातिचार होता है, ये जान बूझकर अतीचार

नहीं लगाते, किन्तु बचाने का प्रयत्न करते हैं, तो भी अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विवश अतीचार लगते हैं।

पाक्षिक श्रावक आपत्ति आने पर भी पंच परमेष्ठी के सिवाय चक्रेश्वरी, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि किसी देवी-देवता की पूजा वंदना नहीं करता। रत्नकरंड श्रावकाचार में श्री समंतभद्रस्वामी ने भी सम्यग्दृष्टि को इनकी पूजन-वंदना का स्पष्टरूप से निषेध किया है।

(नोट) जिन धर्म के भक्त देवों को साधारण रीति पर साधर्मी जान यथोचित आदर सत्कार पूर्वक यज्ञ (प्रतिष्ठा) आदि कार्यों में उनके योग्य कार्य संपादन करने के लिये सौंपने से सम्यक्त्व में कोई हानि—बाधा नहीं आ सकती।

अब यहां अष्ट मूलगुण और सप्त व्यसन का स्पष्ट वर्णन किया जाता है।

अष्ट मूलगुण

कई ग्रन्थों में बड़, पीपल, गूलर (ऊमर), कठूमर, पाकर इन पांच उदम्बर फलों के (जिनमें प्रत्यक्ष त्रस जीव दिखाई देते हैं) तथा मद्य, मांस, मधु तीन मकारों के (जो त्रस जीवों के कलेवर के पिंड हैं) त्याग करने को अष्ट मूलगुण कहा है। रत्नकरंड श्रावकाचारादि कई ग्रन्थों में पंचाणुव्रत धारण तथा तीन मकार के त्याग को अष्ट मूलगुण कहा है। महापुराण में मधु की जगह सप्तव्यसन के मूल जूआ खेलने की गणना की है। सागारधर्मामृतादि कई ग्रन्थों में मद्य (शराब) मांस, मधु, (शहद) इन तीन मकार के त्याग के ३, उपर्युक्त पंच उदम्बर फलों के त्याग का १, रात्रि भोजन के त्याग का १, नित्य देववंदना करने का १ जीवदया पालने का १, जल छानकर पीने का १, इस प्रकार अष्ट मूलगुण कहे हैं। इन सब ऊपर कहे हुये अष्ट मूलगुणों पर जब सामान्य रूप से विचार किया जाता है तो सभी का मत अभक्ष्य, अन्याय और निर्दयता के त्याग कराने और धर्म में लगाने का एक सरीखा ज्ञात होता है। अतएव सबसे पीछे कहे हुये त्रिकाल वंदना, जीव दया पालनादि अष्ट मूलगुणों में इन अभिप्रायों की भली भांति सिद्धि होने के कारण यहां उन्हीं के अनुसार वर्णन किया जाता है।

१. मद्यदोष—मद्य बनाने के लिये, दाख, छुहारे आदि पदार्थ कई दिनों तक सड़ाये जाते हैं, पीछे यन्त्र द्वारा उनसे शराब उतारी जाती है, यह महादुर्गन्धित होती है, इसके बनने में असंख्याते-अनन्ते, त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है। यह मद्य मन को मोहित करती है, जिससे धर्म-कर्म की सुध-बुध नहीं रहती तथा पंच पापों में निश्शंक प्रवृत्ति होती है, इसी कारण मद्य को पंच पाप की जननी (माता) कहते हैं। मद्य पीने से मूर्छा, कम्पन, परिश्रम, पसीना, विपरीतपना, नेत्रों के लाल हो जाने आदि दोषों के सिवाय मानसिक एवं शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाती है। शराबी धनहीन और अविश्वास का पात्र हो जाता है, शराबी का शरीर प्रतिदिन अशक्त होता जाता है, अनेक रोग आ घेरते हैं, आयु क्षीण होकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता हुआ मरता है। प्रत्यक्ष ही देखो! मद्यपी उन्मत्त होकर माता, पुत्री, बहिन आदि की सुध भूलकर निर्लज्ज हुआ जदवा-तदवा वर्ताव करता है। इस प्रकार मद्यपी स्व-पर को दुःखदाई होता हुआ, जितने कुछ संसार में दुष्कर्म करता है, उससे कोई भी व्यसन बच नहीं रहता। ऐसी दशा में धर्म की शुद्धि तथा उसका सेवन होना सर्वथा असम्भव है। पीने वाला इस लोक में निंद्य तथा दुःखी रहता है और मरने पर नरक को प्राप्त होकर अति तीव्र कष्ट भोगता है। वहां उसे संड़सियों से मुंह फाड़-फाड़ कर तांबा-शीशा पिलाया जाता है। इस प्रकार मद्य-पान को लोक-परलोक बिगाड़नेवाला जानकर दूर से ही त्याग देना योग्य है। प्रगट रहे कि चरस, चंडू, अफीम, गांजा, तमाखू, कोकेन आदि नशीली चीजें खाना-पीना भी मदिरापान के समान धर्म-कर्म नष्ट करने वाली है, अतएव मद्य त्यागियों को इनका त्यागना भी योग्य है।

२. मांस दोष—मांस यह त्रस जीवों के वध से उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति, नाम और दुर्गन्ध से ही चित्त में महाग्लानि उत्पन्न होती है। यह जीवों के मूत्र, विष्टा एवं सप्त धातु-उपधातु रूप महा अपवित्र पदार्थों का समूह है। मांस का पिंड चाहे सूखा हुआ हो, चाहे पका हुआ हो, उसमें हर हालत में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती ही रहती है। मांसभक्षण के लोलुपी बिचारे, निरपराध, दीन, मूक पशुओं का वध करते हैं। मांस भक्षियों का स्वभाव निर्दय, कठोर सर्वथा धर्म धारण के योग्य नहीं रहता है। मांस भक्षण के साथ-साथ मदिरापानादि व्यसन भी लगते हैं। मांस भक्षी इस लोक में सामाजिक एवं धर्मपद्धति में निंद्य गिना जाता है, मरने पर नरक के महान्

दु:सह दु:ख भोगता है। वहाँ लोहे के गर्म गोले, संडसियों से मुंह फाड़-फाड़ कर खिलाये जाते हैं तथा दूसरे-दूसरे नारकी गृद्धादि मांस भक्षी पशु पक्षियों का रूप धारण कर उसके शरीर को नोचते और नाना प्रकार के दु:ख देते हैं। अतएव मांस-भक्षण को अतिनिंद्य, दुर्गति एव दु:खों का दाता जान सर्वथा त्याग देना योग्य है।

३. मधु दोष—मधु अर्थात् शहद की मक्खियां फूलों का रस चूस-चूस कर लातीं उसे उगल कर अपने छत्ते में एकत्र करतीं और वहीं रहती हैं, उसी में सम्मूर्छन अण्डे उत्पन्न होते हैं। भील, गोंड आदि निर्दयी नीच जाति के मनुष्य उन छत्तों को तोड़ मधु मक्खियों को नष्ट कर उन अण्डों-बच्चों को बची खुची मक्खियों सहित निचोड़ इस मधु को तैयार करते हैं। यथार्थ में यह त्रस जीवों के कलेवर (मांस) का पुंज अथवा सत् है। इसमें समय-समय असंख्याते त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। अन्य मतों में भी इसके भक्षण करने का निषेध किया गया है। मधु भक्षण के पाप से नीच गति का बंध और नाना प्रकार के दु:खों की प्राप्ति होती है। अतएव इसे सर्वथा त्याग देना योग्य है।

जिस प्रकार ये तीन मकार अभक्ष्य एवं हिंसामय होने से त्यागने योग्य हैं उसी प्रकार मक्खन भी है। यह महाविकृत, मद का उत्पन्न करने वाला और घृणा रूप है। तैयार होने पर यद्यपि इसमें अन्तर्मुहुर्त के पीछे त्रस जीवों की उत्पत्ति होना शास्त्रों में कहा है, तथापि विकृत होने के कारण आचार्यों ने तीन मकार के समान इसे भी अभक्ष्य और सर्वथा त्यागने योग्य कहा है।

४. पंच उदुम्वरफल दोष—जो वृक्ष के काठ को फोड़ कर फलें, वे उदुम्बर फल कहलाते हैं। यथा :–(१) गूलर या ऊमर (२) वट या वड़, (३) प्लक्ष या पाकर, (४) कठूमर या अंजीर, (५) पिप्पल या पीपल। इन फलों में हिलते, चलते, उड़ते, सैकड़ों जीव आँखों से दिखाई देते हैं। इनका भक्षण निषिद्ध, हिंसा का कारण और आत्म परिणाम को मलिन करने वाला है। जिस प्रकार मांसभक्षी के दया नहीं, मदिरापायी के पवित्रता नहीं, उसी प्रकार पंच उदुम्वर फल के खाने वाले के अहिंसा धर्म नहीं होता, अतएव इनका भक्षण त्याग देना योग्य है। इनके सिवाय जिन वृक्षों में दूध निकलता हो, ऐसे क्षीरवृक्षों के फलों का अथवा जिनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति होती हो, ऐसे सभी फलों का सूखी, गीली आदि सभी दशाओं में भक्षण सर्वथा तजना योग्य है। इसी प्रकार सड़ा-घुना अनाज भी अभक्ष्य है, क्योंकि इसमें भी त्रस जीव होने से मांस भक्षण का दोष आता है।

५. रात्रि भोजन दोष—दिन को भोजन करने की अपेक्षा रात्रि को भोजन करने में राग-भाव की उत्कटता, हिंसा और निर्दयता विशेष होती है। जिस प्रकार रात्रि को भोजन बनाने में असंख्याते जीवों की हिंसा होती है, इसी कारण शास्त्रों में रात्रि भोजियों को निशाचर की उपमा दी गई है। यहाँ कोई शंका करे, कि रात्रि को दीपक के प्रकाश में भोजन किया जाय तो क्या दोष है? उसका समाधान—दीपक के प्रकाश के कारण बहुत से पतंगादि सूक्ष्म तथा बड़े-बड़े कीड़े उड़कर आते और भोजन में गिरते हैं। रात्रि भोजन में अरोक (अनिवारित) महान् हिंसा होती है। रात्रि में अच्छी तरह न दिखने से हिंसा (पाप) के सिवाय शारीरिक नीरोगता में बहुत हानि होती है। मक्खी खा जाने से वमन हो जाती, कीड़ा खा जाने से पेशाव में जलन होती, केश भक्षण से स्वर का नाश होता, जुंआ खा जाने से जलोदर रोग होना, मकड़ी भक्षण से कोढ़ हो जाता यहाँ तक कि विषमरा के भक्षण से आदमी मर तक जाता है।

धर्म संग्रह श्रावकाचार में रात्रि भोजन प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि रात्रि में जब देव कर्म, स्नान दान, होम कर्म नहीं किये जाते (वर्जित) हैं तो फिर भोजन करना कैसे सभव हो सकता है? कदापि नहीं। वसुनन्दिश्रावकाचार में कहा है कि रात्रि भोजी किसी भी प्रतिमा का धारक नहीं हो सकता। इसी कारण यह रात्रि भोजन उत्तम जाति, उत्तम धर्म, उत्तम कर्म को दूषित करने वाला, नीच गति को ले जाने वाला जान सर्वथा त्यागने योग्य है।

६. देव वंदना—वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी श्री अर्हंत देव के साक्षात् वा प्रतिविम्व रूप में, सच्चे चित्त से अपना पूर्ण पुण्योदय समझ पुलकित, आनंदित होते हुये दर्शन करने गुणों के चितवन करने तथा उनको आदर्श मान अपने स्वभाव, विभावों का चिंतवन करने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो सकती है। नित्य पूजन, दर्शन करने से सम्यक्त्व की निर्मलता, धर्म को श्रद्धा चित्त की शुद्धता धर्म में प्रीति बढ़ती है। इस देव वंदना

का अन्तिम फल मोक्ष है, अतएव मोक्ष रूपी महानिधि को प्राप्त करने वाली यह देववन्दना अर्थात् जिनदर्शन पूजनादि प्रत्येक धर्मेच्छु पुरुष को अपने कल्याण के निमित्त योग्यतानुसार नित्य करना चाहिये। तथा शक्ति एवं योग्यता के अनुसार पूजन की सामग्री एक द्रव्य अथवा अष्ट द्रव्य नित्य अपने घर से ले जाना चाहिये।

जो जिनेन्द्र पूजे फूलन सौं, सुर नैनन पूजा तिस होय,
वंदै भावसहित जो जिनवर, बंदनीक त्रिभुवन में सोय।

किसी किसी ग्रन्थ में प्रातः, मध्यान्ह और संध्या तीनों काल देव वंदना कही है सो सन्ध्यावन्दन से कोई रात्रि पूजन न समझ लें, क्योंकि रात्रि पूजन का निषेध धर्म संग्रह श्रावकाचार वसुनन्दिश्रावकाचारादि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से किया है तथा प्रत्यक्ष हिंसा का कारण भी है इसलिये सन्ध्या के पूर्वकाल में यथाशक्ति पूजन करना ही सन्ध्यावंदन है। रात्रि को पूजन का आरम्भ करना अयोग्य और अहिंसामयी जिनधर्म के सर्वथा विरुद्ध है अतएव रात्रि को केवल दर्शन करना ही योग्य है।

७. जीव दया—सदा सब प्राणी अपने अपने प्राणों की रक्षा चाहते है। जिस प्रकार अपना प्राण अपने को प्रिय हैं उसी प्रकार एकेन्द्रीय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। जिस प्रकार अपना जरासा भी कष्ट नहीं सह सकते, उसी प्रकार वृक्ष, लट, कीड़ी, मकोड़ी, मक्खी, पशु, पक्षी, मनुष्यादि कोई भी प्राणी दुःख भोगने की इच्छा नहीं करते और न सह सकते हैं। अतएव सब जीवों को अपने समान जानकर उनको जरा भी दुःख कभी मत दो, कष्ट मत पहुंचाओ. सदा उन पर दया करो। जो पुरुष दयावान् हैं, उनके पवित्र हृदय में धर्म की क्षति कदापि नहीं हो सकती ऐसा जान कर ही पवित्र धर्म ठहर सकता है, निर्दयी पुरुष धर्म के पास नहीं उनके हृदय में धर्म सदा सर्व जीवों पर दया न करना योग्य है। दया पालक के झूठ चोरी, कुशीलादि पंच पापों का त्याग सहज ही हो जाता है।

८—जलगालन—प्रगट रहे कि अनछने जल की एक बूंद में असंख्यात छोटे २ त्रस जीव होते हैं। अतएव जीव दया के पालन तथा अपनी शरीरिक आरोग्यता के निमित्त जल को दोहरे छन्ने से छानकर पीना योग्य है। छन्ने का कपड़ा स्वच्छ सफेद साफ और गाढ़ा हो। खुरदरा, छेददार, पतला, पुराना. मैला फटा तथा ओढ़ा पहिना कपड़ा छन्ने के योग्य नहीं। पानी छानते समय छन्ने में गुड़ी न रहे। छन्ने का प्रमाण सामान्य रीति से शास्त्रों में ३६ अंगुल लम्बा और २४ अंगुल चौड़ा हो, तथा वर्तन के मुंह से तिगुना दुहरा छन्ना होना चाहिए। छन्ने में रहे हुए जीव अर्थात् जीवाणी (बिलछानी) रक्षापूर्वक उसी जलस्थान में क्षेपे, जिसका पानी भरा हो। तालाब, वावणी, नदी आदि जिसमें पानी भरने वाला जल तक पहुंच जाता है जीवाणी डालना सहज है, कुएं में जीवाणी बहुधा ऊपर से डाल दी जाती है सो या तो वह कुएं में दीवालों पर गिर जाती है अथवा कदाचित् पानी तक भी पहुंच जाय, तो उसमें के जीव इतने ऊपर से गिरने के कारण मर जाते हैं, जिससे जीवाणी डालने का अभिप्राय अहिंसाधर्म नही पलता। अतएव भंवर कड़ीदार लोटे से कुएं के जल में जीवाणी पहुंचाना योग्य है।

पानी छानकर पीने से जीवदया पलने के सिवाय शरीर भी निरोगी रहता है। वैद्य तथा डाक्टरों का भी यही मत है। अनछना पानी पीने से बहुधा मलेरिया ज्वर, नहरुआ आदि दुष्ट रोगों की उत्पत्ति होती है। इन उपर्युक्त हानि—लाभों को विचार कर हरएक बुद्धिमान पुरुष का कर्तव्य है कि शास्त्रोक्त रीति से जल छानकर पीवे। उसकी मर्यादा दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट तक होती है। इसके बाद त्रस जीव उत्पन्न हो जाने से वह जल फिर अनछने के समान हो जाता है।

इन अष्ट मूल गुणों में देवदर्शन, जलछानन और रात्रि भोजन त्याग ये ३ गुण तो ऐसे हैं जिनसे हरएक सज्जन पुरुष जैनियों के दयाधर्म की तथा धर्मात्मापने की पहिचान कर सकता है। अतएव आत्महितेच्छु—धर्मात्माओं को चाहिए कि जीवमात्र पर दया करते हुए प्रमाणिकता पूर्वक वर्ताव करके पवित्र धर्म की सर्व जीवों में प्रवृत्ति करे।

सप्त व्यसन दोष वर्णन

जहां अन्याय रूप कार्य को बार बार सेवन किये बिना चैन नहीं पड़े, ऐसा शौक पड़ जाना व्यसन कहलाता है अथवा व्यसन नाम आपत्ति (बड़े कष्ट) का है इसलिए जो महान् दुःख को उत्पन्न करे, अति विकलता उपजावे सो व्यसन है (मूलाचार)

पुनः जिसके होने पर उचित अनुचित के विचार से रहित प्रवृत्ति हो (स्याद्वादमंजरी) वह व्यसन कहलाता है।

स्पष्ट रहे कि जूआ खेलना, मांसभक्षण करना, मद्यपान, करना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, पर स्त्री सेवन, ये सात ऐसे अति अन्याय रूप और लुभावने कार्य हैं कि एक बार सेवन करने से इन में अति आसक्तता हो जाती है जिससे इनके सेवनकिये बिना चैन नहीं पड़ती, रात-दिन इन्हीं में चित्त रहता है। इनमें उलझना तो सहज पर सुलझना महा कठिन है, इसी कारण इनकी शास्त्रों में व्यसन संज्ञा है। यद्यपि चोरी, परस्त्री, को पंच पापों में भी कहा है, तथापि जहां इन पापों के करने की ऐसी टेव पड़ जाय कि राजदण्ड लोकनिन्दा होने पर भी न छोड़े जावें तो व्यसन हैं और जहां कोई कारण विशेष से किंचित लोकनिंद्य वा गृहस्थ धर्म विरुद्ध ये कार्य बन जाय सो पाप है।

यद्यपि इन व्यसनों का नियमपूर्वक त्याग सम्यक्त्व होने पर पाक्षिक अवस्था में होता है, तथापि ये इतने हानिकारक, ग्लानि रूप और दुखदाई हैं कि इन्हें उच्चजातीय सामान्य गृहस्थ भी कभी सेवन नहीं करते, इनमें लवलीन (आसक्त) पुरुषों को सम्यक्त्व होना तो दूर रहे, किन्तु धर्म रुचि, धर्म की निकटता भी होना दुस्साध्य है। ये सप्त व्यसन वर्तमान में नष्ट भ्रष्ट करने वाले और अन्त में सप्त नरकों में ले जाने वाले दूत हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

१. जुआ खेलना—जिसमें हार जीत हो, ऐसे चोपड़, गंजफा, मूठ, नक्की आदि खेलना सो जुआ है। यह जुआ सप्त व्यसनों का मूल सर्व पापों का स्थान है। जिनके धन की अधिक तृष्णा है, वे जुआ खेलते हैं। जुआरी, नीच जाति के साथ भी राज्य के भय से छिपकर मलिन और शून्य स्थानों में जुआ खेलते हैं, अपने विश्वासपात्र मित्र भाई आदि से भी कपट करते हैं। हार जीत दोनों दशाओं में (चाहे धन सम्बन्धी हो, चाहे बिना धन सम्बन्धी) अति व्याकुल परिणाम रहते है। रात दिन इसी की मूर्छा रहती है। ऐसे लोगों से न्याय-पूर्वक अन्य कोई रोजगार धंधा हो नहीं सकता। जीतने पर मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्यासेवनादि निंद्यकर्म करते और हारने पर चोरी छल झूठ आदि का प्रयोग करते हैं। जुआ खेलने वालों से कोई दुष्कर्म बचा नहीं रहता। इसी कारण जुए को सप्त व्यसन का राजा कहा है। सट्टे (फटाके) का धंधा, होड़ लगाकर चौपड, शतरंज आदि खेलना यह सब जुआ ही का परिवार है। जुआरी पुत्र पुत्री, स्त्री, हाट, महल, दुकान आदि पदार्थों को जुए पर लगा कर घड़ी भर में दरिद्री, नष्ट भ्रष्ट बन बैठता है। इसके खेलमात्र से पांडवों ने जो दुःख उठाया सो जगत प्रसिद्ध है।

२. मांस ३ मद्य—इनका वर्णन ३ मकार में हो चुका है। मांस भक्षण से बकराजा और मादक जलमात्र पीने से यादव अति दुःखी और नष्ट भ्रष्ट हुए।

४. वेश्या सेवन—जिस अविवेकिनी ने पैसे के अति लालच सेवेश्यावृत्ति अंगीकार कर अपने शरीर को, अपनी इज्जत आबरु को, अपने पतिव्रत धर्म को नीच लोगों के हाथ बेच दिया, ऐसी वेश्या का सेवन महानिंद्य है। यह पैसे की स्त्री, इसके पतियों की गिनती नहीं, रोगी घर, सब दुर्गुणों की रानी है। मांस मदिरा जुआ आदि सब प्रकार के दुर्व्यसनों में फंसा कर अपने भक्तों को कष्ट आपदा रोगों का घर बनाकर अन्त में निर्धन दरिद्री अवस्था में मरणप्राय करके छोड़ती है। इसके सेवन करने वाले महानीच, घिनावने स्पर्श करने योग्य नहीं। जिनको वेश्या सेवन की ऐसी लत पड़ जाती है कि वे जाति, पांति धर्मकर्म की बात तो दूर ही रहे किन्तु मरण भी स्वीकार कर लेते, परन्तु व्यसन को छोड़ना स्वीकार नहीं कर सकते। जो लोग अज्ञानतावश वेश्याव्यसन में फंस जाते हैं, उनकी गृहस्थी धन इज्जत, आबरू, धर्म, कर्म सब नष्ट हो जाते हैं और वे परलोक में कुगति को प्राप्त होते हैं। इस व्यसन से चारुदत्त सेठ अति विपत्तिग्रस्त हुये थे, यह कथा पुराण प्रसिद्ध है।

५. शिकार बेचारे निरपराधी, भयभीत, जंगलवासी पशु, पक्षियो अपना शौक पूरा करने के लिये या कौतुक निमित्त मारना महा अन्याय और निर्दयता है। गरीब, दीन, अनाथको रक्षा को करना बलवानों का कर्तव्य है। जो प्रजा की निस्सहाय जीवों की घात से, कष्ट से रक्षा करे, सो ही सच्चा राजा तथा क्षत्रिय है। यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय. तो दीन अनाथ जीव किस से फर्याद करें। ऐसा जानकर बलवानों को अपने बल का प्रयोग ऐसे निंद्य, निर्दय और दुष्ट कार्यो में करना सर्वथा अनुचित है। इस शिकार दुर्व्यसन को ऐसी खोटी लत है कि

एक वार इसका चसका पड़ जाने से फिर वही वही दिखाई देता है। हर समय इस व्यसन में प्राण जाने का संकट उपस्थित रहता है। जो लोग इस व्यसन को सेवन कर वीर वनना चाहते हैं वे वीर नहीं, किन्तु धर्महीन अविवेकी हैं। वे इस लोक में निंद्य गिने जाते हैं और परलोक में कुगति को प्राप्त होते हैं शिकार व्यसन के कारण ब्रह्मदत्त राजा राज्य भ्रष्ट होकर नरक गया।

६. चोरी—पराई वस्तु भूली-विसरी रक्खी हुई उसकी आज्ञा विना ले जाना, चोरी है। चोरी करने में आसक्त हो जाना चोरी व्यसन कहलाता है, जिनको चोरी का व्यसन पड़ जाता है, वे धन पास होते हुये भी महाकष्ट आपदा आते हुये भी चोरी करते हैं। ऐसे पुरुष राजदण्ड का दुःख भोग निन्दा एवं कुगति के पात्र वनते हैं। चोरी करने से शिवभूति पुरोहित कष्ट आपदा भोग कर कुगति को प्राप्त हुआ।

७. परस्त्री सेवन—देव, गुरु, धर्म और पंचों की साक्षी पूर्वक पाणिग्रहण की हुई स्वस्त्री के सिवाय अन्य स्त्री से संयोग (संभोग) करने में आसक्त हो जाना पर स्त्री सेवन व्यसन है। पर स्त्री सेवी धर्म-धन-यौवनादि उत्तम पदार्थों को गंवाते हैं, राजदण्ड, जातिदण्ड, लोकनिन्दा को प्राप्त हो, नरक में जाकर लोहे की तप्त पुतलियों से भिटाये जाते हैं। जैसे जूंठन खाकर कूकर-काग प्रसन्न होते हैं वैसे ही पर स्त्री लंपटी की दशा जानो। इस व्यसन की इच्छा तथा उपाय करने मात्र से रावण नरक गया और लोक में अब तक उसका अपयश चला आता है।

ये सप्त व्यसन संसार परिभ्रमण के कारण रोग-क्लेश, वध वंधनादि के कराने वाले, पाप के वीज, मोक्ष मार्ग में विघ्न करने वाले हैं। सर्व औगुणों के मूल, अन्याय की मूर्ति तथा लोक-परलोक विगाड़ने वाले हैं। जो सप्त व्यसनों में रत होता है उसके विशुद्ध लब्धि अर्थात् सम्यक्त्व धारण होने योग्य पवित्र परिणामों का होना भी सम्भव नहीं, क्योंकि उसके परिणामों में अन्याय से अरुचि नहीं होती। ऐसी दशा में शुभ कार्यों से तथा धर्म से रुचि कैसे हो सकती है? इसलिये प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इन सप्त व्यसनों को सर्वथा तजकर शुभ कार्यों में रुचि करते हुये नियमपूर्वक सम्यक्‌श्रद्धानी वनना चाहिये और गृहस्थ धर्म के उपर्युक्त अष्ट मूलगुण धारण करना चाहिये।

चारित्रधारक गृहस्थ के ११ निलय यानि श्रेणी (प्रतिमायें) हैं।

दर्शन प्रतिमा

संसार तथा शरीर, विषय भोगों से विरक्त गृहस्थ जब पांच उदुम्बर फल (विना फूल के ही जो फल होते हैं) १ बड़, २ पीपल, ३ पाकर, ४ ऊमर, ५ कठूमर) भक्षण के त्याग तथा ३ मकार (मद्यपान, मांस भक्षण, मधु भक्षण) के त्याग के साथ सम्यग्दर्शन (वीतराग देव, जिन वाणी, निर्ग्रन्थ साधु की श्रद्धा) का धारण करना दर्शन प्रतिमा है।

व्रत प्रतिमा

हिंसा, असत्य, चोरी कुशील और परिग्रह, इन पांच पापों के स्थूल त्याग रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण ये पांच अणुव्रत, दिग्व्रत, देश व्रत, अनर्थदण्ड व्रत, ये तीन गुणव्रत सामायिक प्रोषधोपवास भोगोपभोग परिमाण अतिथि संविभाग ये ४ शिक्षाव्रत (५+३+४=१२) हैं। इन समस्त १२ व्रतों का आचरण करना व्रत प्रतिमा है।

संकल्प से (जान बूझकर) दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों को न मारना अहिंसा अणुव्रत है। राज दण्डनीय, पंचों द्वारा दण्डनीय असत्य भाषण न करना सत्य अणुव्रत है। सर्व साधारण जल मिट्टी के सिवाय अन्य व्यक्ति का कोई भी पदार्थ विना पूछे न लेना, अचौर्य अणुव्रत है। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय शेष सब स्त्रियों से विषय सेवन का त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। सोना, चांदी, वस्त्र, वर्तन, गाय आदि पशु धन, गेहूं आदि धान्य, पृथ्वी, मकान, दासी (नौकरानी), दास (नौकर) तथा और भी परिग्रह पदार्थों को अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण करके शेष परिग्रह का परित्याग करना परिग्रह परिमाणव्रत है। इन पापों का आंशिक त्याग होने से इनको अणुव्रत कहते हैं।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य तथा ऊर्ध्व (पृथ्वी से ऊपर आकाश) और अधः (पृथ्वी से नीचे) इन दस दिशाओं में आने जाने की सीमा (हद) जन्म भर के लिये करना 'दिग्व्रत' है।

दिग्व्रत के भीतर कुछ नियत समय तक आवश्यकतानुसार छोटे क्षेत्र की मर्यादा करना देशव्रत है।

जिन क्रियाओं से बिना प्रयोजन व्यर्थ में पाप—अर्जन होता है उन कार्यों का त्याग करना अनर्थ दण्ड व्रत है।

नियत समय तक पंच पापों का त्याग करके एक आसन से बैठकर या खड़े होकर सबसे रागद्वेष छोड़कर, आत्म चिन्तन करना बारह भावनाओं का चिन्तवन करना, जाप करना, सामायिक पाठ पढ़ना, सामायिक है।

अष्टमी और चतुर्दशी के दिन समस्त आरम्भ परिग्रह को छोड़कर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना तथा पहले और पीछे के दिन (सप्तमी, नवमी त्रयोदशी, पूर्णिमा) प्रोषध (एकाशन एक बार भोजन) करना प्रोषधोपवास है।

भोग्य (एक बार भोगने योग्य भोजन, तेल आदि पदार्थ) तथा उपभोग्य (अनेक बार भोगने योग्य पदार्थ वस्त्र, आभूषण मकान, सवारी आदि) पदार्थों का अपनी आवश्यकता अनुसार परिमाण करके शेष अन्य सबका त्याग करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

अपने यहां आने की तिथि (प्रतिपदा द्वितीया आदि) जिनकी कोई नियत नहीं होती, ऐसे मुनि, ऐलक, क्षुल्लक आदि अतिथि व्रती पुरुषों को भक्ति भाव से तथा दीन दुःखी दरिद्रों को करुणा भाव से एवं साधर्मी गृहस्थों को वात्सल्य भाव से, भोजन कराना, ज्ञान, दान, औषध दान तथा अभय दान करना अतिथि संविभाग व्रत है।

सामायिक प्रतिमा

निर्दोष (अतिचार सहित) प्रातः, दोपहर और सायंकाल कम से कम दो दो घड़ी (२४ मिनट की एक घड़ी) तक नियम से सामायिक करना, सामायिक प्रतिमा है। सामायिक का मध्यम समय ४ घड़ी और उत्तम समय ६ घड़ी है।

रागद्वेष आदि विकार भाव न आने देकर सब में समता (समान) भाव रखना सामायिक है। विषय भेद से उसे १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ क्षेत्र, ५ काल, और ६ भाव, छः भेद रूप माना गया है।

सामायिक करते समय किसी भी अच्छे नाम से राग न करना, बुरे नाम से द्वेष न करना, दोनों में समभाव रखना नाम सामायिक है।

सामायिक के समय किसी सुन्दर चित्र मूर्ति ? स्त्री पुरुष के चित्र, मूर्ति, प्रतिमा आदि पर राग भाव चिन्तवन न करना सुन्दर चित्र आदि के लिए द्वेष भाव हृदय में न आने देना, समता भाव रखना स्थापना सामायिक है।

इष्ट अनिष्ट चेतन अचेतन पदार्थों में द्वेष भावना तथा हर्ष भावना न लाकर सामायिक के समय समताभाव रखना द्रव्य सामायिक है।

सामायिक काल में शुभ, मनोहर, रमणीक क्षेत्रों (स्थानों) में राग भाव हृदय में न आने देना और अशुभ स्थानों से द्वेष भाव न आने देना, साम्यभाव रखना क्षेत्र सामायिक है।

शुभ अशुभ कालों के विषय में सामायिक के समय राग द्वेष भाव उत्पन्न न होने देना काल सामायिक है।

सामायिक के समय क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष काम, भय, शोक, आदि दुर्भाव उत्पन्न न होने देना भाव सामायिक है।

सामायिक करने के लिये ७ प्रकार की शुद्धि का ध्यान रखना भी आवश्यक है। वे हैं क्षेत्र, काल, आसन, मन, वचन, काय और विनय।

मन्दिर, धर्मशाला, बाग, पर्वत, नदीतट, वन आदि कोलाहल रहित तथा जीव जन्तु आदि रहित स्थान होना क्षेत्र शुद्धि है।

तीन घड़ी रात्रि का अन्तिम समय और तीन घड़ी सूर्योदय समय प्रातः काल, बारह बजे दिन से तीन घड़ी पहले और पीछे ६ घड़ी तक एवं ३ घड़ी दिन का अन्त समय में सामायिक के लिए उपयुक्त है यह काल शुद्धि है।

पद्मासन, खड्गासन, आदि दृढ़ आसन में स्थिर होकर चटाई, तख्त शिला पर निश्चल रूप से समायिक करना आसन शुद्धि है।

मन को दुर्भावना से शुद्ध रखना मन शुद्धि है।

सामायिक पाठ, मंत्र आदि के उच्चारण के सिवाय अन्य वचन न बोलना मौन रहना वचन शुद्धि है।

हाथ पैर धोकर या स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनना आदि काय शुद्धि है।

देव, शास्त्र, गुरु, चैत्य, चैत्यालय आदि के लिये विनय भावना रखना विनय शुद्धि है।

सामायिक करने की विधि

सबसे पहले पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़ा हो फिर नो वार णमोकार मन्त्र पढ़कर ढोक दे (दन्डवत नमस्कार करें)। तदनन्तर उसी तरह खड़े होकर ९ वार णमोकार मन्त्र पढ़कर तीन आवर्त (दोनों जुड़े हुये हाथों को वांयी ओर से दाहिनी ओर तीन वार घुमाना) और एक शिरोनति (नमस्कार) करे। तत्पश्चात् दाहिने हाथ की ओर खड़े घूम जावे और ९ वार णमोकर मंत्र पढ़े फिर तीन आवर्त, एक शिरोनति करे। इसके वाद दाहिने हाथ की ओर घूम जावे, उस ओर भी ९ वार णमोकार मन्त्र पढ़कर ३ आवर्त, १ शिरोनति करे, तत्पश्चात् दाहिनी ओर घूमकर भी ९ वार णमोकर मन्त्र पढ़कर ३ आवर्त, एक शिरोनति करे। यह सब कर लेने के वाद उसी पूर्व या उत्तर दिशा की ओर खड़े होकर या वैठकर सामायिक करे।

सामायिक करते समय अपने मन को एकाग्र करे, आत्म चिन्तवन करे कि मैं निरंजन, निर्विकार, सच्चिदानन्द रूप हूं, अर्हंत सिद्ध भगवान् का रूप मेरे भीतर भी है, कर्म का पर्दा हटाते ही मेरा वह शुद्ध रूप प्रगट हो जायेगा, संसार में मेरा कोई भी पदार्थ नहीं, मैं सवसे अलग हूं, सब पदार्थ मुझसे जुदे हैं, संसार में मेरा न कोई मित्र है, न शत्रु समस्त जीवों के साथ मेरा समता भाव है। इत्यादि।

जब तक चित्त ऐसे आत्मचिन्तवन में ठहरे तब तक ऐसा चिन्तवन करता रहे। फिर श्री अमिति गति आचार्य-रचित "सत्वेषु मैत्री" आदि ३२ श्लोकों वाला संस्कृत भाषा का सामायिक पाठ पढ़े। अथवा "काल अनन्त भ्रम्यो इस जग में" आदि भाषा सामायिक पाठ पढ़े। उसके वाद णमोकार आदि किसी मन्त्र की जाप देवे। जाप के लिये—३५ अक्षरों का णमोकार मंत्र, १७ अक्षरों का "अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यो नमः, ६ अक्षरों का अरहन्तसिद्ध, ५ अक्षरों का असिआउसा, ४ अक्षरों का अरहंत, दो अक्षरों का मन्त्र सिद्ध तथा एक अक्षर का मन्त्र ॐ है। इनके सिवाय और भी अनेक मंत्र माला फेरने के लिये हैं। जाप देकर समय और सुविधा हो तो भक्तामर आदि पांच स्तोत्र, स्वयम्भूस्तोत्र, का या एक स्तोत्र का पाठ कर ले। अन्त में उसी स्थान में कायोत्सर्ग (हाथ नीचे लम्बे करके निश्चल खड़ा होना) के रूप में खड़े होकर ९ वार णमोकार मन्त्र पढ़े और ढोक देकर नमस्कार (दण्डवत) करे।

प्रोषध प्रतिमा

प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को सब आरम्भ परिग्रह छोड़कर मन्दिर या धर्मशालादि एकान्त शान्त स्थान में आहार पान छोड़कर धर्मध्यान करे, कोई अतिचार न लगने दे। अष्टमो को प्रोषधोपवास करना हो तो सप्तमी को एकासन करे, अष्टमी को उपवास करे और नवमी को दोपहर पीछे भोजन करे। इस तरह सप्तमी के आधे दिन के २ पहर रात के ४ पहर, अष्टमी दिन रात के ८ पहर और नवमी के २ पहर सब १६ पहर (४८ घंटे) तक खान पान का त्याग करना चाहिये। १६ पहर का प्रोषधोपवास उत्कृष्ट है। १२ पहर का मध्यम, (सप्तमी की रात्री के ४ पहर अष्टमी के दिन रात आठ पहर धर्मध्यान में विताना) है और ८ पहर का (अष्टमी दिन रात के आठ पहर धर्मध्यान में व्यतीत होना) जघन्य है।

इसमें कोई अतिचार न लगाना चाहिये। दूसरी प्रतिमा का प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के रूप में होता है उसमें अतिचारों का त्याग नहीं होता। चौथी प्रतिमा में अतिचारों का त्याग होता है।

सचित्त त्याग प्रतिमा

जीव सहित पदार्थ को सचित्त कहते हैं। जघन्य श्रावक के भी दो इन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा तथा उनके मांस भक्षण का त्याग होता है। स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग चौथी प्रतिमाधारी तक के स्त्री पुरुषों के नहीं होता। इसी कारण वे छने हुये सचित्त जल (कच्चा पानी) तथा सचित्त वनस्पति (शाक फल आदि) खाते हैं। परन्तु पांचवी प्रतिमा

जल में जीव

वर्तमान वैज्ञानिकों की सम्मति ।

जल छान कर पीना परम धर्म है ।

अहिंसा परमो धर्मः

पाठकवृन्द जो ऊपर चित्र देख रहे हैं, वह जल में रहनेवाले सूक्ष्मतर ऐसे वारीक जीवों का है जिनको कोई भी मनुष्य साधारण आँखों से नहीं देख सकता । वर्तमान समय के सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता "कैप्टन स्ववोर्सवी" ने इनको दूरवीन (सूक्ष्म दर्शक यन्त्र) से देखकर इनका फोटो लिया है उसी की यथार्थ नकल ऊपर दी गई है। आपने इन सूक्ष्म जन्तुओं की संख्या ३६४५० वतलाई है । यह संख्या पानी के एक सवसे छोटे विन्दु में होनेवाले जीवों की है । इलाहावद गवर्मेन्ट प्रेस से एक पुस्तक 'सिद्ध पदार्थ विज्ञान' नाम की प्रकाशित हुई है उसमें कैप्टन साहव का पूरा मत दिया है तथा उपर्युक्त फोटो भी वहाँ दिया है । अनेक वैज्ञानिकों का अव यह कहना है कि पानी हमेशा छानकर ही पीना चाहिये । क्योंकि विना छाने पानी पीने से कभी २ सूक्ष्म जन्तु पेट में जाकर अनेक भयानक वीमारियाँ उत्पन्न कर देते हैं । अतः इन विषैले रोगोत्पादक जन्तुओं के विष से वचने के लिए छानकर कर पानी पीना परम आवश्यक है । महाराज मनुजी ने पानी छानकर पीने का ही उपदेश दिया है । यथा—

दृष्टि पूतं न्यसेत्पादं, वस्त्र पूतं जलं पिवेत् ।

मनुस्मृति अ० ६।४६

अर्थात्—जमीन को देखकर चलो और वस्त्र से छानकर पानी पीओ । अन्यथा सूक्ष्म जीवों को मारने के अपराधी वनोगे । श्री स्वामी दयानन्दजी ने भी सत्यार्थ-प्रकाश के तीसरे समुल्लास में पानी छानकर पीने का उपदेश दिया है । अतः धार्मिक और वैज्ञानिक सभी विद्वानों की सम्मति में पानी छानकर पीना परम कर्तव्य है ।

ग्रहण करने पर उस कच्चे जल का पानी और सचित्त (सजीव हरी) वनस्पति खाने का त्याग कर देते हैं।

जो जल सचित्त है वह गर्म कर लेने पर ४ पहर तक अचित्त रहता है और औटा हुआ (खौला हुआ) जल ८ पहर (२४ घंटे) तक अचित्त रहता है। छने हुये जल में बारीक राख या पिसी हुई लौंग, इलायची, मिर्च आदि चीजें मिलाकर जल का रस रूप गन्ध बदल लेने पर दो पहर (छह घंटे) तक जल अचित्त [जल कायिक जीव रहित] रहता है, तदनन्तर सचित्त हो जाता है।

शाक फल आदि सचित्त [हरित] वनस्पति सूख जाने पर या अग्नि से पक जाने आदि के बाद अचित्त [प्रासुक-वनस्पति काय रहित] हो जाती है।

इस प्रकार पांचवीं प्रतिमाधारी को अचित्त जल पीना चाहिये तथा अचित्त वनस्पति खानी चाहिये। जीभ की लोलुपता हटाने तथा जीव-रक्षा की दृष्टि से पांचवीं प्रतिमा का आचरण है।

रात्रि भोजन त्याग

खाद्य [रोटी, दाल आदि भोजन], स्वाद्य [मिठाई आदि स्वादिष्ट वस्तु] लेह्य [रबड़ी, चटनी आदि चाटने योग्य चीजें] पेय [दूध पानी शर्बत आदि पीने की चीजें], इन चारों प्रकार के पदार्थों का रात्रि के समय कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा है।

सूर्यास्त से सूर्योदय तक रात में भोजन पान न स्वयं करना, न किसी दूसरे को भोजन कराना और न रात में भोजन करने वाले को उत्साहित करना, सराहना करना, अच्छा समझना इस प्रतिमाधारी का आचरण है। यदि अपना छोटा पुत्र भूख से रोता रहे तो भी यह प्रतिमाधारी व्यक्ति न उसको स्वयं भोजन करावेगा, न किसी को उसे खिलाने की प्रेरणा करेगा या न कहेगा।

ब्रह्मचर्य प्रतिमा

काम सेवन को तीव्र राग का, मन की अशुद्धता का तथा महान् हिंसा का कारण समझकर अपनी पत्नी से भी मैथुन सेवन का त्याग कर देना ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमा है।

इस प्रतिमा का धारक नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है।

नौ बाड़

जैसे खेत में उगे हुये धान्य आदि पशुओं से खाने बिगाड़ने से बचाने के लिये खेत के चारों ओर कांटों की बाड़ लगा दी जाती है उसी प्रकार ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य सुरक्षित रखने के लिये निम्नलिखित ९ नियमों का आचरण करना आवश्यक है, इनको ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करने के कारण बाड़ कहते हैं।

१. स्त्रियों के स्थान में रहने का त्याग।
२. राग भाव से स्त्रियों के देखने का त्याग।
३. स्त्रियों के साथ आकर्षक मीठी बातचीत करने का त्याग।
४. पहले भोगे हुये विषय भोगों के स्मरण करने का त्याग।
५. काम-उद्दीपक गरिष्ठ भोजन न करना।
६. अपने शरीर का शृंगार करके आकर्षक बनाने का त्याग।
७. स्त्रियों के बिस्तर, चारपाई, आसन आदि का त्याग।
८. काम कथा करने का त्याग।
९. भोजन थोड़ा सादा करना जिससे काम जागृत न हो।

इस प्रतिमा के धारी को सादा वस्त्र पहनने चाहिए। वह घर में रहता हुआ व्यापार आदि कर सकता है।

आरम्भ त्याग

सब प्रकार के आरम्भ का त्याग कर देना आरम्भ त्याग नामक आठवीं प्रतिमा है।

आरम्भ के दो भेद हैं— १—घर सम्बन्धी, [चक्की, चूल्हा ओखली, बुहारी और परीण्डा पानी भरने का कार्य] २—व्यापार सम्बन्धी। जैसे दुकान, कारखाना, खेती आदिक कार्य।

आरम्भ करने में जीव हिंसा होती है तथा चित्त व्याकुल रहता है, कषाय भाव जागृत रहते हैं, अतः आत्म शुद्धि और अधिक दया भाव आचरण करने की दृष्टि से यह प्रतिमा का धारी अपने हाथ रसोई बनाना बन्द कर देता है। दूसरों के द्वारा बनाये हुए भोजन को ग्रहण करता है।

परिग्रह त्याग

रुपये, पैसे, सोना चांदी, मकान खेत, आदि परिग्रह को लोभ तथा आकुलता का कारण समझकर अपने शरीर के सादे वस्त्रों के सिवाय समस्त परिग्रह के पदार्थों का त्याग कर देना परिग्रह त्याग प्रतिमा है।

इस प्रतिमा को धारण करने से पहले वह अपने परिग्रह का धर्मार्थ तथा पुत्र आदि उत्तराधिकारियों में वितरण करके निश्चित हो जाता है। विरक्त होकर धर्मशाला, मठ आदि में रहता है। शुद्ध प्रासुक भोजन करने के लिए जो भी कहे उसके घर भोजन कर आता है, किन्तु स्वयं किसी प्रकार के भोजन बनाने के लिए नहीं कहता। पुत्र आदि यदि किसी कार्य के विषय में पूछते हैं तो उनको अनुमति [सलाह] दे देता है।

अनुमति त्याग

घर गृहस्थाश्रम के किसी भी कार्य में अपनी अनुमति [इजाजत] तथा सम्मति देने का त्याग कर देना अनुमति त्याग प्रतिमा है।

इस प्रतिमा का धारक अपने पुत्र आदि को किसी व्यापारिक तथा घर सम्बन्धी कार्य करने, न करने की किसी भी तरह की सम्मति नहीं देता। उदासीन होकर चैत्यालय आदि में स्वाध्याय, सामायिक आदि आध्यात्मिक कार्य करता रहता है। भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करके घर पर भोजन कर आता है।

उद्दिष्ट त्याग

अपने उद्देश्य से बनाये गये भोजन ग्रहण करने का त्याग करना उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है।

श्रावक का यह सर्वोच्च आचरण है। इस प्रतिमा का धारक घर छोड़ कर मुनियों के साथ रहने लगता है। मुनियों के समान गोचरी के रूप में जहां पर ठीक विधि भोजन मिल जावे वहां भोजन लेता है। निमन्त्रण से भोजन नहीं करता।

इस प्रतिमा के धारक के दो भेद हैं—१. क्षुल्लक, २. ऐलक।

जो कौपीन [लंगोटी] और एक खण्ड वस्त्र [छोटी चादर, जो कि सोते समय शिर से पैर तक सारा शरीर न ढक सके] पहने के लिए रखता है, अन्य कोई वस्त्र उसके पास नहीं होता तथा एक कमंडलु और मोर के पंखों की पीछी रखता है।

ऐलक—केवल मात्र एक लंगोटी पहनता है अन्य कोई वस्त्र उसके पास नहीं होता।

यहां यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि आगे की प्रतिमा धारण करने वाले को उससे पहले की प्रतिमाओं के यम, नियम आचरण करना आवश्यक है।

बारह भावना

शरीर आदि समस्त संसार के प्रपंच आत्मा से बाह्य पुद्गल का उसी प्रकार उसके स्वरूप की अलोचना करके इससे विरक्त होकर आत्मा के साधक के लिए सद्धर्म ही एक कल्याण का मार्ग है। ऐसे सम्यक्त्व पूर्वक वैराग्य भावना रखने के लिए अनुप्रेक्षा का विचार करना ही अनुप्रेक्षा है। ये अनुप्रेक्षा १२ प्रकार की है।

१—अनित्य अनुप्रेक्षा—शरीर इन्द्रिय विषय भोग ये सब बिजली के समान क्षणिक हैं। ऐसा विचार करना।

२—जन्म मरण व्याधि—व्यसन से भरा हुआ ऐसे भव संसार से अपने को उद्धार करके कोई रक्षा करने वाले नहीं हैं। एक धर्म ही स्वयं रक्षा करने वाला है। ऐसा विचार करना अशरणानुप्रेक्षा है।

३—संसार में कर्माधीन हुआ जीव अनेक प्रकार के संसार रूपी भव में भ्रमण करता है इसी भव भ्रमण से इस जीव को तारने वाली अपनी आत्मा ही है दूसरा कोई नहीं है। यह संसार अनुप्रेक्षा है।

४—अपने द्वारा किये हुये कर्म को आप अकेला ही भोगना पड़ता है दूसरा उसमें कोई भागीदार नहीं होता है।

इस कर्म को दूर रहने के लिए धर्म ही समर्थ है दूसरा कोई नहीं है। ऐसा विचार करना एकत्व अनुप्रेक्षा है।

५—शरीर का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है मेरा होकर कभी भी नहीं रहता है। ये जीव अनादि काल मोह के कारण है। यह शरीर ही संसार के मोह में पड़ा है। यह मेरा नहीं है भिन्न रूप से चिन्तवन करना ये अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

६—यह शरीर शुक्र और रक्त वीर्य से युक्त है इसका निर्माण इससे ही हुआ है। इससे बढ़कर के और कोई घृणा की चीज नहीं है। ऐसे शरीर सम्बन्धी आलोचना करना अशुचि अनुप्रेक्षा है।

७—जिस प्रकार गर्म लोहे का गोला यदि जल में रख दिया जाय तो वह अपने चारों ओर के जल को खींच कर सोख लेता है इसी प्रकार क्रोध, मान, हास्य, शोक आदि दुर्भावों से संतप्त संसारी जीव सर्वाङ्ग से अपने निकटवर्ती कार्माण वर्गणाओं को आकर्षित करके अपने प्रदेशों में मिला लेता है, विभाव परिणति के कारण जीव को यह कर्मास्त्रव हुआ करता है ऐसा विचार करना आस्रव अनुप्रेक्षा है।

८—कर्म को बुरा कर जैसे कीचड़ के ऊपर मिट्टी फेंकने के समान कषाय को बुला कर जो कर्म आज तक आश्रव के द्वारा आये थे और आश्रव का दरवाजा खुला था, कर्म आश्रव न आ जायें। इस प्रकार आने वाले प्रभाव को बन्द करना और बन्द करने का विचार करना ये संवर अनुप्रेक्षा है।

९—अनादि काल से लेकर अभी तक मेरे आत्मा में मित्र के नाते जो कर्म आ करके कर्म पुदगल एक हो गये हैं। उसको परस्पर भेद करने के उपाय को विचार करना निर्जरा अनुप्रेक्षा कहते हैं।

१०—लोक स्वरूप का चिन्तवन करना लोकानुप्रेक्षा है।

११—जीवों में मानव पर्याय दुर्लभ है। मनुष्य पर्याय में सद्धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। उससे रत्नत्रय स्वरूप हो भी तो प्राप्त करना ये अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे विचार करने को बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा कहते हैं।

१२—समान रूप से सद्जाति में जन्म लेकर सद्गृहस्थ को प्राप्त होना उसमें जैन धर्म प्राप्त करना। पुनः चक्रवर्ती होकर जन्म लेना उसके बाद अर्हन्त होकर निर्वाण को प्राप्त करना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस प्रकार ये सभी भाग्य मुझे कब प्राप्त होंगे इसी प्रकार विचार करना धर्म अनुप्रेक्षा है।

जिनवाणी से प्राप्त हुआ जिन धर्म दस प्रकार का है।

१—उत्तम क्षमा, २—मार्दव, ३—आर्जव, ४—सत्य, ५—शौच ६—संयम, ७—तप, ८—त्याग, ९—आकिंचन, १० ब्रह्मचर्य।

इस १० प्रकार के धर्म को पालन करने से निश्चित सुख की प्राप्ति मिलती है। ये ही आत्मा का धर्म है। इसके अलावा किसी प्रकार की शान्ति नहीं मिल सकती। इसका पालन करना धर्मअनुप्रेक्षा है।

सोलह कारण भावनायें

ये सोलह भावना तीर्थंकर पद प्राप्ति होने के कारण इसको कारण भावना कहते हैं। इन भावनाओं को पुनः पुनः चिन्तवन करने से ही श्रेणिक राजा भविष्य काल में प्रथम महापद्म तीर्थंकर होगा। इस प्रकार शास्त्र में उल्लेख किया गया है।

१—दर्शन शुद्धि, २—विनय सम्पन्नता, ३—शीलव्रतेष्वनति-अतिचार, अर्थात अहिंसा व्रत आदि में किसी प्रकार दोष न आना ऐसी भावना करना।

४—अभीक्षण ज्ञानोपयोग—अर्थात् प्रतिज्ञा में सम्यग्दर्शन के महत्व की भावना करना।

५—संवेग, धर्मानुराग में हमेशा विचार करना।

६—शक्ति का त्याग—शक्ति के अनुसार त्याग करना। शक्ति के बाहर त्याग न करना शक्ति त्याग कहते हैं।

७—शक्ति का तप—अपनी शक्ति के अनुसार तपश्चरण करना।

८—साधु समाधि—साधु के तपश्चरण करने उपसर्ग आदि या उनकी शक्ति के अनुसार आये हुये उपसर्ग को दूर करने का विचार करना ये साधु समाधि है।

९—वैय्यावृत्ति करना—सज्जन तथा साधु पर आने वाले कष्ट को दूर करने का प्रयत्न करना।

१०—अनन्त भक्ति—पुनःपुनः जिनेन्द्र भगवान के गुणगान करना अथवा भगवान की भक्ति करना।

११-आचार्य भक्ति-आचार्य की भक्ति करना आचार्य भक्ति कहलाता है।

१२-उपाध्याय भक्ति-उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है।

१३-जिनवाणी भक्ति-छः आवश्यक कर्मों को सावधानी से पालन करना आवश्यक भक्ति है।

१५-प्रभावना भक्ति--जैन धर्म का प्रभाव फैलाना मार्ग प्रभावना है।

१६-प्रवचन भक्ति--साधर्मीजन से अगाध प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है।

२२ परिषह

इसी प्रकार श्रावक के योग्य मुनि का २२ परिषह का वर्णन किया है। जो निम्न प्रकार है।

१-क्षुधा, २-पिपासा, ३-शीत, ४-उष्ण, ५-दंशमशक, ६-नग्नता, ७-अरति, ८-स्त्री, ९-निषद्या, १०-चर्या, ११-शय्या १२-आक्रोश, १३-वध, १४-याचना, १५-अलाभ, १६-रोग, १७-तृणस्पर्श, १८-मल, १९-सत्कार पुरस्कार, २०-प्रज्ञा, २१-अज्ञान और २२-अदर्शन।

ये २२ परिषह पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से होते हैं। किस कर्म के उदय से कौन सी परिषह होती है, इसका वर्णन करते हैं।

चारित्र—शुद्धात्मभावना में तन्मय होना निश्चय चारित्र है। यह चारित्र व्यवहार और निश्चय भेद से दो प्रकार का है। शुद्ध निश्चय चारित्र जब तक प्राप्त न हो तब तक व्यवहार चारित्र साधनाभूत है।

१—सामायिक-व्रत धारण समिति का पालन, कषाय का निग्रह, इन्द्री निग्रह या सम्पूर्ण परवस्तु से भिन्न आत्मस्वरूप का ध्यान करना या मोह ममता का त्याग करना।

२—छेदोपस्थापना-प्रमाद न हो इस प्रकार जागृत होकर व्रत का निरतिचार पालन करना और प्रमाद से हुये दोषों का प्रायश्चित करना या दीक्षा का कम करना छेदोपस्थापना कहते हैं।

३—परिहार विशुद्धि-पांच समिति और तीन गुप्ति को पालन करके दोषमुक्त होना परिहार विशुद्धि कहलाती है।

४—संज्वलन-सूक्ष्म लोभकषाय से युक्त संयमी के चारित्र को सूक्ष्मसांपराय चारित्र कहते हैं।

५—यथाख्यात चारित्र- ११ और १२वें गुणस्थान में रहने वाले संयमी अर्थात् मुनियों में और सयोगकेवली व अयोगकेवलियों में उत्पन्न होने वाले यथास्थित आत्मोपलब्धिरूप चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

बारह प्रकार का तप

छह प्रकार के बाह्य तप और छह प्रकार के अन्तरंग तप हैं।

१—बाह्य तप—अनशन उपवास करना, २—अवमौदर्य—कुछ कम खाना, ३—व्रतपरिसंख्यान—आकड़ी नियम के अनुसार यदि विधि मिले तो आहार लेना अन्यथा उपवास करना, ४—रस परित्याग—कोई न कोई रस का त्याग करना, ५—कायक्लेश—शीतोष्णादि परीषह सहन करना, ६—विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थान में बैठना और सोना, ये छह प्रकार के बाह्य तप कहलाते हैं।

अन्तरंग तप—१—प्रायश्चित—किये हुये दोषों की निवृत्ति के लिये गुरु के पास जाकर प्रायश्चित मांगना, २—विनय—अपने से बड़े गुरु अथवा सज्जन पुरुषों का विनय करना, ३—वैय्यावृत्य—अशक्त रोगी आदि साधु पुरुषों की सेवा करना ४—स्वाध्याय—विनय के साथ शास्त्र को पढ़ना, ५—उत्सर्ग—शरीर के ऊपर से मोह का परित्याग करना, ६—ध्यान—आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना ये छह प्रकार के अन्तरंग तप कहलाते हैं।

निर्जरा तत्व—संवर के अनुसार आत्मप्रदेश में आने वाले कर्मों को रोकना, अर्थात् पुनः कर्म आत्म प्रदेश में न आ जायें। इस प्रकार इन कर्म समूहों को पूर्णतया निर्जरा करने का प्रयत्न करना—पुरुषार्थ करना निर्जरा तत्व कहलाता है। अपनी स्थिति पूर्ण हो जाने के पश्चात् कर्म अपने आप निकल जाने को सविपाक निर्जरा कहते हैं।

साधक अपनी तपश्चर्या के द्वारा कर्मों की निर्जरा के लिये जो प्रयत्न करता है उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। इन दोनों

निर्जराओं से होने वाले आत्मा के परिणाम को भाव निजरा कहते हैं। कर्म पुद्गल का आत्म प्रदेश से अलग होने का प्रयत्न करना द्रव्य निर्जरा है।

मोक्ष तत्व—अपने आत्मा में लगे हुये संपूर्ण कर्मों के नाश करने वाले आत्म परिणाम को भाव मोक्ष कहते हैं। आत्मा से संपूर्ण कर्म अलग होना द्रव्य मोक्ष कहलाता है।

आश्रव से आने वाले कर्म के आवागमन को रोकना तत्पश्चात् निर्जरा के द्वारा पहले सत्ता में रहने वाले कर्मों का निर्गमन होने के बाद आत्मा सम्पूर्णपने कर्म के संसर्ग से अलग होकर अपने स्वरूप में स्थित होने का नाम मोक्ष है।

६. पदार्थ—सात तत्व के साथ पाप और पुण्य को मिलाने से ६ पदार्थ होते हैं। शुभ कषायी आत्म परिणाम को शुभयोग कहते हैं। अशुभ आत्म परिणाम को अशुभ योग कहते हैं। शुभ योग से पुण्य और अशुभ योग से पाप आत्मा में आकर प्रवेश करता है। एक ही आत्मा भिन्न भिन्न समयों में शुभोपयोगी और अशुभोपयोगी होता है। और शुभोपयोग से युक्त आत्मा पुण्यजीवी कहलाता है तथा अशुभयोग से युक्त आत्मा पापजीवी कहलाता है।

शुभोपयोग से स्वर्ग और अशुभोपयोग से नरक गति मिलती है। इसलिये शुभाशुभ दोनों संसार के लिये कारण होते हैं। अर्थात पाप और पुण्य संसार वृक्ष को बढ़ाने वाले जड़रूप यानी वृक्ष के मूल के समान ये दोनों हैं। आत्म साधन अर्थात् शुद्धोपयोग साधन होने पर्यन्त शुभोपयोग कुछ अंश में ठीक है, किन्तु अशुभोपयोग पाप का कारण होने से सर्वदा त्याज्य है।

गुण स्थान

गुण स्थानों की संख्या चौदह है।

मिच्छोसासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरता पमत्त इदरो अपुव्व आणियट्ठ सुहूमो य॥
उवसंतखी णमाहो सजोग केवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमाण कमेण सिद्धा य णादव्वा॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली ये १४ गुणस्थान हैं।

मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से तथा योगों के कारण जो जीव के भाव होते हैं उनको गुण स्थान कहते हैं।

शुद्ध बुद्ध अखण्ड अमूर्तिक, अनन्त गुण-सम्पन्न आत्मा का तथा वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त भगवान् प्ररूपित तत्व, द्रव्य, पदार्थ, अर्हंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणी की श्रद्धा न होना, मिथ्यात्व गुणस्थान है। यह मिथ्यात्व कर्म के उदय से होता है। एकान्त, विपरीत, विनय, संशय, अज्ञान रूप भाव इस गुणस्थानवर्ती के होते हैं।

अनन्तानुबन्धी—सम्बन्धी क्रोध पत्थर पर पड़ी हुई लकीर के समान दीर्घकाल तक रहने वाला, मान पत्थर के स्तम्भ के समान न झुकने वाला, एक दूसरे में गुथी हुई बांस की जड़ों के समान कुटिल माया और मजीठ के रंग के समान अमिट लोभ होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व-वाले व्यक्ति के जब इनमें से किसी भी कषाय का उदय हो जावे तब उसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है किन्तु (कम से कम) एक समय और अधिक से अधिक ६ आवली काल प्रमाण जब तक मिथ्यात्व का उदय नहीं हो पाता उस बीच की दशा में जो आत्मा के परिणाम होते हैं, वह सासादन गुणस्थान है। जैसे कोई मनुष्य पर्वत से गिर पड़ा हो किन्तु जब तक पृथ्वी पर न पहुँच पाया हो।

सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से जो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिले हुये मिश्रित परिणाम होते हैं जैसे दही और खांड मिला देने पर एक विलक्षण स्वाद होता है जिसमें न दही का स्वाद आता है, न केवल खांड़ का ऐसे ही मिश्रगुण स्थान वाले के न तो मिथ्यात्व रूप ही परिणाम होते हैं, न केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम होते हैं किन्तु दोनों भावों के मिले हुये विलक्षण परिणाम हुआ करते हैं। इस गुण स्थान में न तो कोई आयु बन्धती है और न मरण होता है, जो आयु पहले बांध ली हो उसी के अनुसार सम्यक्त्व या मिथ्यात्व भाव प्राप्त करके मरण होता है।

अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से उप

होने से या क्षयोपशम होने से जो उपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। किन्तु अप्रत्याख्यानावरण के उदय से जिसको अणुव्रत भी नहीं होता वह अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। यानि-व्रत रहित सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान वाला होता है। इस गुणस्थान-वाला सांसारिक भोगों को विरक्ति के साथ भोगता है।

सम्यग्दृष्टि जीव को जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय, जिसका क्रोध पृथ्वी की रेखा के समान होता है के क्षयोपशम से अणुव्रत धारण करने के परिणाम होते है तब उसके देशविरत नामक पांचवां गुणस्थान होता है। यह पांच पापों का एक देश त्याग करके ११ प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा का चारित्र पालन करता है।

दंसणवय सामाइय पोसह सचित्तराइभत्ते य।
बम्भारम्भपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य॥

यानि—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरक्त, रात्रि भोजन त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ये पांचवें गुणस्थान वाले की ११ प्रतिमायें (श्रेणियां) हैं, इनका स्वरूप पीछे चरणानुयोग में लिख चुके है।

धूलि की रेखा के समान प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि का क्षयोपशम हो जाने पर जब महाव्रत का आचरण होता है, किन्तु जल रेखा के समान क्रोधादि वाली संज्वलन कषाय तथा नो कषाय के उदय से चारित्र में मैल रूप प्रमाद भी होता रहता है, तब छठा प्रमत्त गुणस्थान होता है। ४ विकथा (स्त्री कथा, भोजन कथा, राष्ट्र कथा, अवनपाल कथा), चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ,) ५ इन्द्रियाँ तथा नींद और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं।

महाव्रती मुनि जब संज्वलन कषाय तथा नोकषाय के मंद उदय से प्रमाद रहित होकर आत्मनिमग्न ध्यानस्थ होता है, तब अप्रमत्त नामक सातवां गुणस्थान होता है। इसके दो भेद हैं। १-स्वस्थान अप्रमत्त (जो सातवें गुणस्थान में ही रहता है, ऊपर के गुणस्थानों में नहीं जाता) २-सातिशय जो ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ के सिवाय चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम करने के लिए अथवा क्षय करने के लिए श्रेणी चढ़ते समय जो प्रथम शुक्लध्यान के कारण प्रति समय अपूर्व परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण नामक आठवां गुणस्थान है।

अपूर्वकरण गुणस्थान में कुछ देर (अन्तर्मुहूर्त) ठहर कर अधिक विशुद्ध परिणामों वाला नौवां अनिवृत्ति गुणस्थान होता है। इसमें समान समयवर्ती मुनियों के एक समान ही परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान में ६ नोकषायों का तथा अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान-आवरण कषाय सम्बन्धी क्रोध मान माया लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, इन २० चारित्र मोहनीय कर्म प्रकृतियों का उपशम या क्षय होकर केवल स्थल संज्वलन लोभ रह जाता है। इस गुणस्थान का समय भी अन्तर्मुहूर्त है।

तदनन्तर उससे अधिक विशुद्ध परिणामों वाला सूक्ष्म-साम्पराय नामक १० वां गुणस्थान होता है, इसमें स्थूल संज्वलन लोभ सूक्ष्म हो जाता है।

उपशम श्रेणी चढ़ने वाले मुनि १० वें गुणस्थान में अन्त-मुहूर्त रहकर तदनन्तर संज्वलन सूक्ष्म लोभ को भी उपशम करके ११ वें गुणस्थान उपशान्त मोह में पहुंच जाते हैं। यहाँ पर उनके विशुद्ध यथाख्यात चारित्र हो जाता है, राग, द्वेष, क्रोध आदि विकार नहीं रहते, वीतराग हो जाते हैं। परन्तु अन्तर्मुहूर्त पीछे ही उपशम हुआ सूक्ष्म लोभ फिर उदय हो जाता है तब उपशांत मोह वाले मुनि उस ११ वें गुणस्थान से भ्रष्ट होकर क्रम से १० वें, ९ वें, ८ वें आदि गुणस्थानों में आ जाते हैं।

जो मुनि क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं वे १० वें गुणस्थान से सूक्ष्म लोभ का भी क्षय करके क्षीणमोह नामक १२ वें गुण-स्थान में पहुंच जाते हैं। वहां उन्हें वीतराग पद, विशुद्ध यथा-ख्यात चारित्र सदा के लिए प्राप्त हो जाता है। उन्हें उस गुणस्थान से भ्रष्ट नहीं होना पड़ता।

८ वें से १० वें गुणस्थान तक उपशम-श्रेणी तथा ८ वें गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान तक (११ वें गुणस्थान के सिवाय) क्षपक श्रेणी का काल अन्तर्मुहूर्त है और उनके

प्रत्येक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है। अन्तर्मुहूर्त के छोटे बड़े अनेक भेद होते हैं।

दूसरे शुक्लध्यान एकत्ववितर्क अविचार के बल से १२ वें गुणस्थान वाला वीतरागी मुनि जब ज्ञानावरण और दर्शनावरण अन्तराय कर्म का भी समूल क्षय कर देता है। तब अनन्तज्ञान (केवल ज्ञान), अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य प्रगट होता है, यह सयोग केवली नामक तेरहवां गुणस्थान है। मोहनीय कर्म के नष्ट होने से अनन्त सुख होता है। इस तरह केवली अर्हन्त भगवान अनन्त चतुष्टय के धारक सर्वज्ञ वीतराग होते हैं। उनके भाव मन योग नहीं रहता। काययोग के कारण उनका विहार होता है और वचन योग के कारण उनका दिव्य उपदेश होता है। दोनों कार्य इच्छा विना स्वयं होते हैं।

आयु कर्म समाप्त होने से कुछ समय पहले जब योग का निरोध भी हो जाता है तब १४ वाँ अयोग केवली गुणस्थान होता है। अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतना समय इस गुणस्थान का काल है। केवलि इस गुणस्थान में शेष समस्त अघाति कर्मों का नाश करके मुक्त हो जाते हैं।

मुक्त हो जाने पर द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित होकर सिद्ध अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार (अमूर्तिक) में हो जाते हैं और आत्मा के समस्त गुण विकसित हो जाते हैं। तदनन्तर एक ही समय में ऊर्ध्वगमन करके लोक के अग्र भाग में पहुंचकर ठहर जाते हैं। फिर उनको जन्म मरण आदि नहीं होना। अनन्त काल तक अपने परम विशुद्ध स्वाधीन सुखानुभव में निमग्न रहते हैं।

इस प्रकार जैन धर्म का संक्षेप में वर्णन किया गया है। आगे जैन धर्म की परम्परा का परिचय तथा लोक का वर्णन किया जायगा। और विषयानुसार जीवसमास का वर्णन किया जायगा। तत्पश्चात संक्षेप में २३ तीर्थकरों का एवं अन्त में भगवान महावीर स्वामी के चरित्र का वर्णन करेंगे।
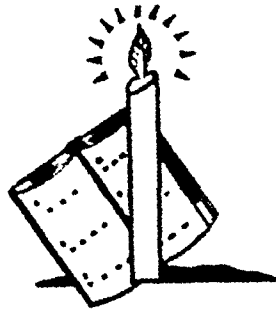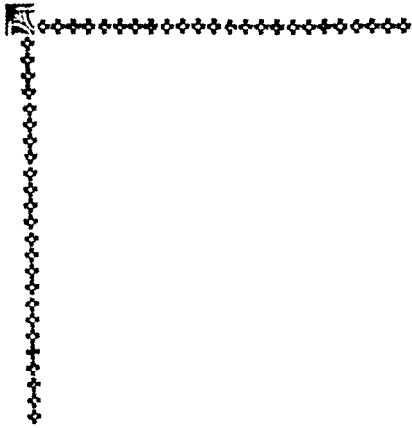
श्री भगवान महावीर

और

उनकी वाणी

[द्वितीय अध्याय]
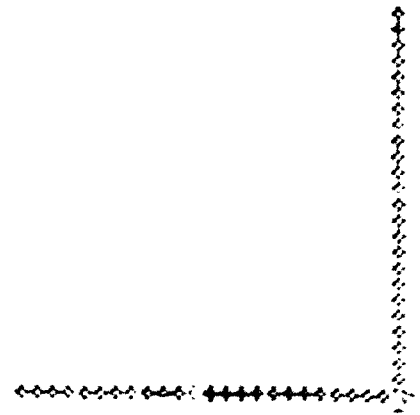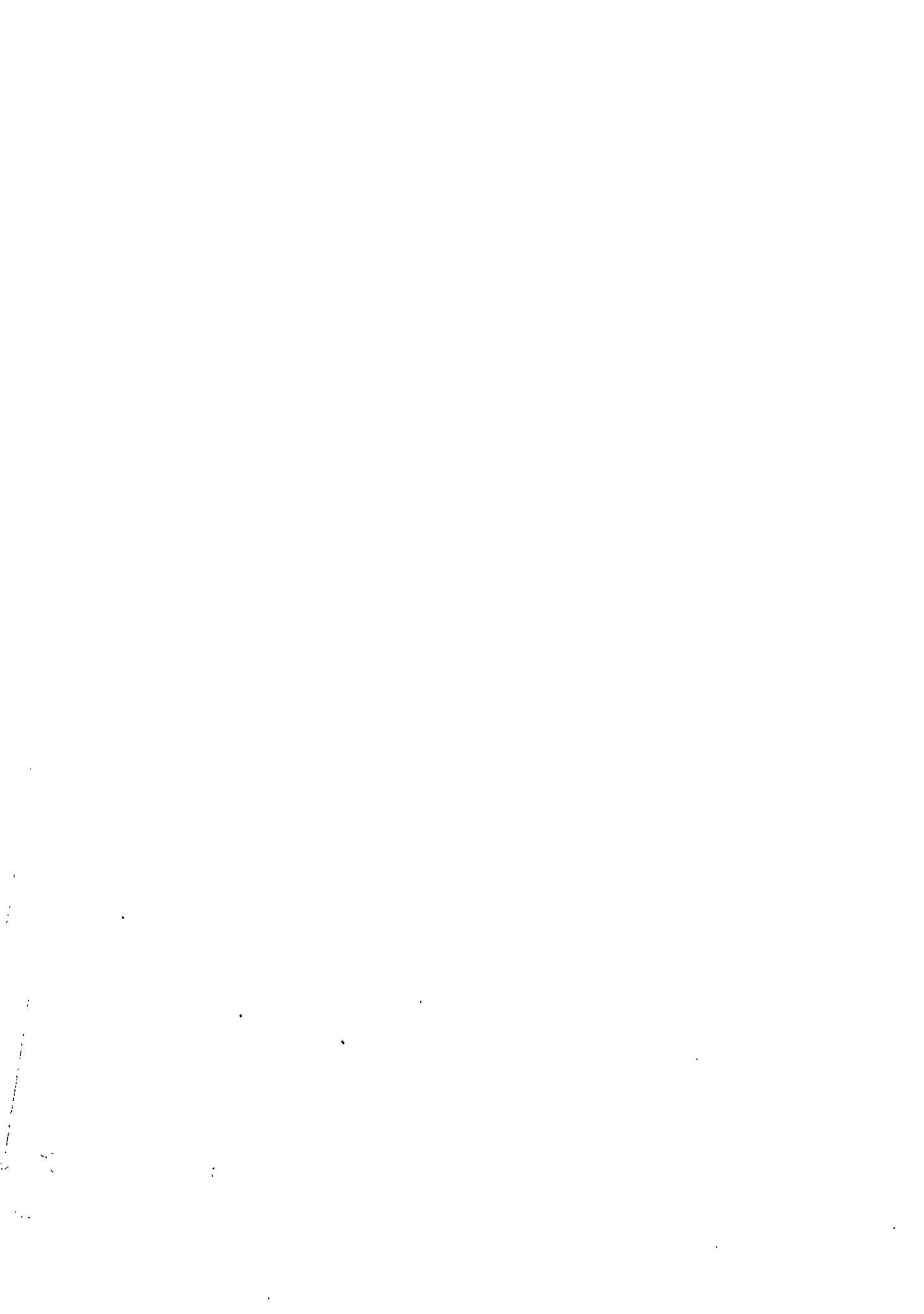
जैनाभिमत भूगोल परिचय

जैसा कि अगले अधिकारों पर से जाना जाता है इस अनन्त आकाश के मध्य वह अनादि व अकृत्रिम भाग जिसमें कि जीव पुद्गल् आदि षट् द्रव्यों का समुदाय दिखाई देता है, वह लोक कहलाता है जो इस समस्त आकाश की तुलना में न के बराबर हैं। लोक नाम से प्रसिद्ध आकाश का यह खण्ड मनुष्याकार है तथा चारों ओर तीन प्रकार की वायुओं से वेष्टित है। लोक के ऊपर से लेकर बीचोंबीच एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त त्रसनाली है, त्रस जीव इसके बाहर नहीं रहते पर स्थावर जीव सर्वत्र रहते हैं। यह तीनों भागों में विभक्त हैं। अधोलोक, मध्यलोक व उर्ध्वलोक। अधोलोक में नारकी जीवों के रहने के अति दुःखमय रौरव आदि सात नरक हैं। जहां पापी जीव मर कर जन्म लेते हैं. और उर्ध्वलोक में करोड़ो योजनों के अन्तराल में एक के ऊपर एक करके १६ स्वर्गों में कल्पवासी विमान हैं। जहां पुण्यात्मा जीव मर कर जन्मते हैं। उनसे भी ऊपर एक भवावतारी लौकान्तिकों के रहने का स्थान है तथा लोक के शीर्ष पर सिद्ध लोक है जहां कि मुक्त जीव ज्ञान मात्र शरीर के साथ अवस्थित है। मध्यलोक में वलयाकार रूप अवस्थित असंख्यातों द्वीप व समुद्र एक के पीछे एक को वेष्टित करते हैं। जम्बू, धातकी, पुष्कर आदि तो द्वीप हैं और लवणोद, कालोद, वारुणीवर, क्षीरवर, इक्षुवर आदि समुद्र हैं। प्रत्येक द्वीप व समुद्र पूर्व की अपेक्षा दूने विस्तार युक्त हैं। सबके बीच में जम्बू द्वीप है। जिसके बीचों बीच सुमेरु पर्वत है। पुष्कर द्वीप के बीचोंबीच वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। जिससे उसके दो भाग हो जाते हैं। जम्बू

लोक का वर्णन

(तिलोय पण्णत्ति)

सामान्य जगत् का स्वरूप, उसमें स्थित नारकियों का लोक भवनवासी, मनुष्य, तिर्यंच, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी और सिद्धों का लोक, इस प्रकार प्रकृत में उपलब्ध भेदरूप नौ अधिकारों, तथा उस लोक में निबद्ध जीवों को, नयविशेषों का आश्रय लेकर उत्कृष्ट वर्णन से युक्त, भव्यजनों को आनन्द के प्रसार का उत्पादक और जिन भगवान् के मुखरूपी कमल से निकले हुये इस त्रिलोक का वर्णन करेंगे।

अनन्तानन्त अलोकाकाशके बहुमध्य भाग में स्थित, जीवादि पांच द्रव्यों से व्याप्त और जग श्रेणी के घन प्रमाण यह लोकाकाश है।। ९१ ।।

≡ १६ ख ख ख।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांचों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित है।। ९२ ।।

अब यहां से आगे श्रेणी के घन प्रमाण लोक का निर्णय करने के लिए परिभाषाएं अर्थात् पल्योपमादिका स्वरूप कहते हैं—

पल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल जगश्रेणि, लोकप्रतर, और लोक ये आठ उपमाप्रमाण के भेद हैं।। ९३ ।।

प. । सा २ सू. ३ प्र. ४ घ. ५ ज. ६ लोक प्र. ७ लो. ८ ।।

व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य, और अद्धापल्य ये पल्य के तीन भेद हैं? इनमें प्रथम पल्य से संख्या द्वितीय से द्वीप-समुद्रादिक और तृतीय से कर्मों की स्थिति का प्रमाण लगाया जाता है।। ९४ ।।

सब प्रकार से समर्थ अर्थात् सर्वांशपूर्ण स्कन्ध कहलाता है? उसके अर्धभाग को देश और आधे के आधे भाग को प्रदेश कहते

द्वीप, घातकी व पुष्कर का अभ्यन्तर अर्धभाग, ये अढ़ाई द्वीप है। इनसे आगे मनुष्यों का निवास नहीं हैं। शेष द्वीपों में तिर्यंच व भूतप्रेत आदि व्यन्तर देव निवास करते हैं। जम्बू द्वीप में सुमेरु पर्वत के दक्षिण में हिमवान महाहिमवान व निषध तथा उत्तर में नील रुक्म व शिखरी के ये ६ कुलपर्वत हैं जो इस द्वीप को भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्य पर्वत व ऐरावत नाम वाले सात क्षेत्रों में विभक्त करते हैं। प्रत्येक पर्वत पर एक एक महाह्रद हैं जिनमें से दो-दो नदियां निकल कर प्रत्येक क्षेत्र में पूर्व व पश्चिम दिशा मुख से बहती हुई लवण सागर में मिल जाती है उस क्षेत्र में ये नदियां अन्य सदस्यों परिवार नदियों को अपने में समा लेती हैं। भरत व ऐरावत क्षेत्रों के बीचों बीच एक एक विजयार्ध पर्वत हैं। इस क्षेत्रों को दो-दो नदियों व इस पर्वत के कारण ये क्षेत्र छः छः खण्डों में विभाजित हो जाते हैं। जिनमें मध्यवर्ती एक खण्ड में आर्य जन रहते हैं, और शेष पांच में म्लेच्छ। इन दोनों क्षेत्रों में ही धर्म कर्म व सुख दुःख आदि की हानि वृद्धि होती है, शेष क्षेत्र सदा अवस्थित हैं विदेह क्षेत्र में सुमेरु पर्वत के दक्षिण में उत्तर में निषेध व नील पर्वत स्पर्शी सोमनस विद्युतप्रभ तथा गन्धामादन व माल्यवान नाम के दो गजदन्ताकार पर्वत हैं। जिनके मध्य देवकुरु व उत्तरकुरु नामक दो उत्कृष्ट भोग भूमियां है। यहां के मनुष्य व तिर्यंच बिना कुछ कार्य किये अति सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी आयु भी असंख्यात वर्षों की होती है-इन दोनों क्षेत्रों में जम्बू व शाल्मली नामक के दो वृक्ष हैं। जम्बू वृक्ष के कारण ही इसका नाम जम्बू

हैं। स्कंध के अविभागों अर्थात् जिसके और विभाग न हो सकें, ऐसे अंश को परमाणु कहते है॥ ९५॥

जो अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी छेदा या भेदा नही जा सकता, तथा जल और अग्नि आदि के द्वारा नाश को भी प्राप्त नही होता, वह परमाणु है॥ ९६॥

जिसमें पाच रसों में से एक रस, पांच वर्णो में से एक वर्ण, दो गन्धों में से एक गन्ध, और स्निग्ध-रुक्ष में से एक तथा शीत उष्ण में से एक स्पर्श, इस प्रकार कुल पांच गुण हों, और जो स्वयं शब्दमय न हो कर भी शब्द का कारण हो एवं स्कंध के अन्तर्गत हो, ऐसे द्रव्य को पण्डित जन परमाणु कहते है। ९७।

जो द्रव्य अन्त, आदि एवं मध्य से विहीन हो, प्रदेशों से रहित अर्थात् एक प्रदेशी हो, इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता हो और विभाग रहित हो, उसे जिन भगवान् परमाणु कहते हैं॥ ९८॥

क्योंकि स्कन्धों के समान परमाणु भी पूरते हैं, और गलते हैं, इसीलिए पूरण-गलन क्रियाओं के रहने से वे भी पुद्गल के अन्तर्गत है, ऐसा दृष्टिवाद अंग में निर्दिष्ट हैं॥ ९९॥

परमाणु स्कन्ध की तरह सब काल में वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, इन गुणों में पूरण-गलन की क्रिया करते हैं, इसीलिए वे पुद्गल ही हैं॥ १००॥

जो नयविशेष की अपेक्षा कथंचित् मूर्त व कथंचित् अमूर्त हैं, चार धातुरूप स्कन्ध का कारण है, और परिणमनस्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिये॥ १०१॥

नाना प्रकार के अनन्तानन्त परमाणु-द्रव्यों से उवसन्नासन्न नाम से प्रसिद्ध एक स्कन्ध उत्पन्न होता है॥ १०२॥

उवसन्नासन्नों को भी आठ से गुणित करने पर सन्नासन्न नाम का स्कन्ध होता है अर्थात् आठ उवसन्नासन्नों का एक सन्नासन्न नाम का स्कन्ध होता है? आठ से गुणित सन्नासन्नों अर्थात् आठ सन्नासन्नों से एक त्रुटिरेणु, और इतने ही (आठ) त्रुटिरेणुओं से त्रसरेणु होता है? इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्कन्धों से आठ-आठ गुणे क्रमशः रथरेणु, उत्तम भोगभूमिका बालाग्र, मध्यम भोग भूमिका बालाग्र, जघन्य भोगभूमिका बालाग्र, कर्म भूमिका बालाग्र, लीख, जूं, जौ और अंगुल, ये उत्तरोत्तर स्कन्ध कहे गये हैं॥ १०३-१०६॥

अंगुल तीन प्रकार का है-उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल? इनमें से जो अंगुल उपर्युक्त परिभाषा से सिद्ध किया गया है, वह सूच्यंगुल है॥ १०७॥

पांच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण अवसर्पिणी काल के प्रथम भरत चक्रवर्तीका एक अंगुल होता है, और इसी का नाम प्रमाणांगुल है॥ १०८॥

जिस-जिस काल में भरत और ऐरावत क्षेत्र में जो-जो मनुष्य हुआ करते हैं, उस-उस काल में उन्हीं मनुष्यों के अंगुल

द्वीप हैं। इसके पूर्व व पश्चिम भाग में से प्रत्येक में १६,१६ क्षेत्र हैं। जो ३२ विदेह कहलाते हैं। इनका विभाजन वहां स्थित पर्वत व नदियों के कारण से ही हुआ। प्रत्येक क्षेत्र में भरतक्षेत्रवत् छह खण्डों की रचनाहै। इन क्षेत्रों में कभी धर्म विच्छेद नहीं होता है। दूसरे तथा तीसरे आधे द्वीप में पूर्व व पश्चिम विस्तार के मध्य एक सुमेरू पर्वत है। प्रत्येक सुमेरु पर्वत सम्बन्धी छः पर्त व सात क्षेत्र हैं। जिनकी रचना उपरोक्तवत् है। लवणोद के कारण तल भाग में अनेकों पाताल हैं। जिनमें वायु की हानि वृद्धि के कारण सागर के जल में भी हानि होती है।

पृथ्वी तल से ७९० योजन ऊपर आकाश में क्रम से सितारे, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र बुध, शुक्र, वृहस्पति, मंगल, शनि इन तीनों ज्योतिष ग्रहों के संचार से क्षेत्र अवस्थित हैं। जिनका उल्लंघन न करते हुये वे सदा सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुये घूमा करते हैं। इसी के कारण दिन रात वर्षा ऋतु आदि की उत्पत्ति होती है। जैनाम्नाय में चन्द्रमा की अपेक्षा सूर्य छोटा माना गया है।

का नाम आत्मांगुल है ॥ १०९ ॥

उत्सेधांगुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण, और चारों प्रकार के देवों के निवास स्थान व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है ॥ ११० ॥

द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड या सरोवर जगती और भरतादिक क्षेत्र इन सबका प्रमाण प्रमाणांगुल से ही हुआ करता है ॥ १११ ॥

झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट (गाड़ी), हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नालि, अक्ष, चामर, दुंदुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यों के निवास स्थान व नगर और उद्यानादिकों की संख्या आत्मांगुल से समझना चाहिये।
॥ ११२-११३ ॥

छह अंगुलों का पाद, दो पादों का वितस्ति, दो वितस्तियों का हाथ, दो हाथों का रिक्कू दो रिक्कूओं का दण्ड, दण्ड के बराबर अर्थात् चार हाथ प्रमाण ही धनुष, मूसल, तथा नाली, और दो हजार दण्ड या धनुषका एक क्रोश होता है।
॥ ११४-११५ ॥

चार क्रोशका एक योजन होता है। उतने ही अर्थात् एक योजन विस्तार वाले गोल गड्ढेका गणित शास्त्र में निपुण पुरुषों को घनफल ले आना चाहिये ॥ ११६ ॥

समान गोल क्षेत्र के व्यास के वर्ग को दश से गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि का प्रमाण निकलता है। तथा विस्तार अर्थात् व्यास के चौथे भाग से परिधि को गुणा करने पर उसका क्षेत्रफल निकलता है।

तथा उन्नीस योजनों को चौबीस से विभक्त करने पर तीन प्रकार के पल्यों में से प्रत्येक घन क्षेत्रफल होता है।

उदाहरण १—योजन व्यास वाले गोल क्षेत्र का घनफल—

१ × १ × १० = १०; √१० = $\frac{१९}{६}$ परिधि; $\frac{१९}{६} \times \frac{१}{४} = \frac{१९}{२४}$ क्षेत्रफल, $\frac{१९}{२४} \times १ = \frac{१९}{२४}$ घनफल,

उत्तम भोग भूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुए मेंढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्ड करके उन खण्डित रोमाग्रों से उस एक योजन विस्तार वाले प्रथम पल्य (गड्ढेको) पृथ्वी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिये।

ऊपर जो $\frac{१९}{२४}$ प्रमाण घनफल आया है उसके उत्सेधांगुल करके प्रमाणांगुल कर लेना चाहिये। पुनः प्रमाणांगुलों के उत्सेधांगुल करना चाहिये। पुनः जौ, जूं, लीख, कर्मभूमि के बालाग्र, जघन्य भोग भूमि के बालाग्र, मध्यम भोगभूमि के बालाग्र, उत्तम भोग भूमि के बालाग्र, उनकी अपेक्षा प्रत्येक को आठ के घन से गुणा करने पर व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या निकल आती है।

$\frac{१९}{२४}$ × ४ = ४ × ६ = २०००× २००० × २००० × ६ × ६ × ४ × २४ × २४ × २४ × ५०० × ५०० × ५०० × ८ = ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००००

वैदिक धर्माभित भूगोल परिचय

(विष्णु पुराण २२/७ के आधार पर कथित भावार्थ) इस पृथ्वी पर जम्बू पक्ष, शालमल वुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर ये सात दवीप् तथा लवणोद, इक्षुरस, सुराद, सापरसलील, दधितोय, क्षीरोद, और स्वाद्सलिल ये सात समुद्र हैं। (२/२-४) जो चूडी के आकार रूप से एक दूसरे को वेष्टित करते हैं। ये द्वीप पूर्व पूर्व द्वीप की अपेक्षा दूने विस्तार वाले हैं। (२/४,८८०)

इन सब के बीच में जम्बू द्वीप और उसके बीच में ८४००० योजन ऊँचा सुमेरू पर्वत है। जो १६००० योजन पृथ्वी में धंसा हुआ है। सुमेरू पर्वत से दक्षिण में हिमवान हेमकूट और निषेध तथा उत्तर में नील श्वेत और श्रृगों में ये छः पर्वत हैं। जो इसको भारतवर्ष, किंपुरूम्, हरिवर्ष, हलाकृत, रम्यक, हिरण्मय और उत्तर कुरू इन क्षेत्रों में विभक्त कर देते हैं।

नोट :—जम्बूद्वीप की चातुर्दीपक भूगोल के साथ तुलना (दे० आग शीर्षक नं० ८) मेरू पर्वत के पूर्व व पश्चिम में इलावृत की मर्यादाभूत मात्यवान व गन्धवान नाम के ये दो पर्वत हैं जो निषध व नील तक फैले हुये हैं। मेरू के चारों ओर पूर्वादि दिशाओं में मन्दर, गन्धदान, वपुल, और सुपार्श्व ये चार पर्वत हैं। इनके ऊपर क्रमशः कदम्ब, जम्बू, पीपल व वट ये चार वृक्ष हैं। जम्बू वृक्ष के नाम से ही यह द्वीप जम्बूद्वीप नाम से प्रसिद्ध है। वर्षों में भारतवर्ष कर्म भूमि है। और शेष भोग भूमियाँ हैं। क्योंकि भारत में हर युग त्रेता द्वीप और त्रियुग ये चार काल वर्तते हैं। और स्वर्ग मोक्ष के पुरुषार्थ की सिद्धी हैं। अन्य क्षेत्रों में सदा त्रेता युग रहता है। और वहाँ के निवासी पुण्यवान व आधि व्याधि से रहित होते हैं।

भरत क्षेत्र में महेन्द्र आदि छः कुल पर्वत हैं। जिनसे चन्द्रमा आदि अनेक नदियां निकलती हैं। नदियों के किनारों पर कुरु पाँचाल आदि और पौण्ड्र कलिंग आदि लोग रहते है। इसी प्रकार प्लक्ष द्वीप में भी पर्वत व उनसे विभाजित क्षेत्र है। वहाँ प्लक्ष नाम का वृक्ष है और सदा त्रेता काल रहता है। शालमल आदि शेष सर्व द्वीपों की रचना प्लक्ष द्वीप वत् है। पुष्कर द्वीप के बीचोंबीच वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। जिससे उसके दो खण्ड हो गये हैं। आभ्यंतर खंड का नाम धातकी है। यहाँ भोग भूमि है इस द्वीप में पर्वत व नदियां नहीं हैं। इस द्वीप को स्वादूदक समुद्र वेष्टित करता है। इससे आगे प्राणियों का निवास नहीं है।

इस भू खंड के नीचे दस दस हजार योजन के सात पाताल हैं। अतल, वितल, नितल, गभस्तिमत, महातल, सुतल और पाताल। पातालों के नीचे विष्णु भगवान् हजारों फनों से युक्त शेष नाग के रूप में स्थित होते हुये इस भू खंड को अपने सिर पर धारण करते हैं।

अन्त में १८ शून्य, दो, नौ४, एक, दो, एक, पांच, नो, चार, सात, सात, सात, एक, तीन, शून्य दो, आठ, शून्य, तीन शून्य, तीन, छः, दो, पांच, चार, तीन, एक और चार, ये क्रम से पल्य के अंक है।

सौ सौ वर्षो में एक एक रोम खण्ड से निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली हो, उतने काल को व्यवहारपल्योपम कहते हैं। वह व्यवहारपल्य उद्धारपल्य का निमित्त है।

व्यवहारपल्य का स्वरूप

व्यवहारपल्य को रोमराशि में से प्रत्येक रोम खण्ड को, असंख्यात करोड़ों वर्षो के जितने समय हों उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को भर कर पुनः एक एक समय में एक एक रोम-खण्ड को निकाले। इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य खाली हो जाये, उतने काल को उद्धारपल्योपम समझना चाहिये।

उद्धारपल्य का स्वरूप

इस उद्धारपल्य से द्वीप और समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है। उद्धारपल्य की रोम राशि में से प्रत्येक रोम खण्ड के असंख्यात वर्षों के समय प्रमाण खण्ड करके तीसरे गड्ढे के भरने पर और पहले के समान एक एक समय में एक एक रोम खण्ड को निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा रिक्त हो जाये उतने कालको अद्धापल्योपम कहते है। इस अद्धा पल्य से नारकी, तिर्यन्च, मनुष्य और देवों की आयु तथा कर्मों की स्थिति का प्रमाण जानना चाहिये।

पृथ्वी तल और जल के नीचे रौरव, सूकर, रोध, ताल, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विलोहित रुधिररम्मा, वैतरणी, कृमीश, कृमि भोजन, असि पत्र, वन, कृष्ण लीला, भक्ष, दारुण, पूयवह, पाप,वह्णि, ज्वाल, अधःशिरा, संदेश, कालसूत्र, तमस्, अवीचि, श्वभोजन, अप्रतिष्ठ, और, अरुचि, आदि महा भयंकर नरक हैं। जहां पापी जाव मरकर जन्म लेते हैं। भूमि में एक लाख योजन ऊपर जाकर एक-एक लाख योजन के अन्तराल में सूर्य, चन्द्रमा व नक्षत्र, मंडल स्थित हैं। तथा इनके ऊपर दो-दो लाख योजन के अन्तराल में बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति,शनि, तथा इसके ऊपर एक-एक लाख योजन के अन्तराल से सप्तऋषि व ध्रुव तारे स्थित हैं। इससे एक करोड़ योजन ऊपर महलों हैं जहां कल्पों तक जीवित रहने वाले कल्पवासी भृगु आदि सिद्ध गण रहते हैं। इससे दो करोड़ योजन ऊपर जनलो है जहां ब्रह्माओं के पुत्र सनकादि रहते हैं। आठ करोड़ योजन ऊपर सत्य लोक है। जहां वैराज देव निवास करते हैं। १२ करोड़ योजन ऊपर सबलोक हैं। जहां फिर से मरने वाले जीव रहते हैं, इसे ब्रह्म लोक भी कहते हैं। भूलोक स्वर्गलोक के मध्य में मुनिजनों से सेवित भुवलोक है और सुर्य तथा ध्रुव के बीचों बीच में हैं। १४ लाख योजन स्वर्ग लोक कहलाता है। ये तीनों लोक कृतक हैं। जनलोक, कृतलोक, तपलोक व सत्यलोक ये योजन तक हैं। इन दोनों कृतक व अकृतके मध्य में महलोक हैं। इसलिये यह कृताकृतक हैं।

भूमंडल

४- बौद्धाभिमत भूगोल परिचय

५वीं शताब्दी के वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोष के आधार पर ति० प० । प्र ८७ । (H. L. Jain द्वारा कथित का भावार्थ) लोक के अधोभाग में १६००,००० योजन ऊँचा अपरिमित वायु मण्डल है। इसके ऊपर ११२०,००० योजन ऊँचा जल-मण्डल है। इस जलमण्डल में ३२०,००० यो० भूमण्डल है। इस भूमण्डल के बीच में मेरु पर्वत है। आगे ८०,००० योजन विस्तृत सीता (समुद्र) है जो मेरू को चारों ओर से वेष्टित करके स्थित है। इसके आगे ४०,००० योजन विस्तृत युगन्धर पर्वत वलयाकार से स्थित है। इसके आगे भी इसी प्रकार एक-एक सीता (समुद्र) के अन्तराल में से उत्तरोत्तर आधे-आधे विस्तार से युक्त क्रमशः ईषाधर, खदिरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक और निमिंधर पर्वत हैं। अन्त में लोहमय चक्रवाल पर्वत है।

उद्धार पल्य समाप्त हुआ। इस प्रकार पल्य समाप्त हुआ।

इन दशकोडाकोडी पल्यों का जितना प्रमाण हो उतना पृथक पृथक एक सागरोपम का प्रमाण होता है। अर्थात् दश कोडाकोडी व्यवहार पल्यों का एक व्यवहारसागरोपम, दश कोडाकोडी उद्धार पल्यों का एक उद्धारसागरोपम और दश कोडाकोडी अद्धापल्यों का अद्धासागरोपम होता है।

सागरोपम समाप्त हुआ।

अद्धापल्य के जितने अर्धच्छेद हों, उतनी जगह पल्य को रख कर परस्पर में गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उसे सूच्यंगुल और अद्धापल्य की अर्धच्छेद राशि के असंख्यात में भागप्रमाण घनांगुल को रखकर उनके परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न होती है उसे जगश्रेणी कहते हैं।

जगश्रेणी —— सूं अं. २

उपर्युक्त सूच्यंगुल का वर्ग करने पर प्रतरांगुल और जगश्रेणी का वर्ग करने परजगप्रतरहोता है। इसी प्रकारसूच्यंगुल का घन करने पर घनांगुल और जगश्रेणी को घन करने पर लोक का प्रमाण होता है। जगश्रेणी के सातवें भाग प्रमाण राजू प्रमाण कहा जाता हैं।

प्र. अं. ४., ज. प्र.–घ. अं. ६. घ. लोस.×

इस प्रकार परिभाषा समाप्त हुई।

सर्वज्ञ भगवान् से अवलोकित यह लोक आदि द्रव्यों और अन्त से रहित अर्थात् अनाधनन्त हैं, स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है, और जीव एवं अजीव द्रव्यों से व्याप्त है।

जितने आकश में धर्म अधर्म द्रव्य के निमित्त होने वाली जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति हो उसे लोकाकाश समझना चाहिये।

छह: द्रव्यों से सहित यह लोकाकाश स्थान निश्चय ही स्वयंप्रधान हैं। इसको सब दिशाओं में नियम से सब लोकाकाश स्थित है।

श्रेणीवृन्द के मान अर्थात जगश्रेणी के घनप्रमाध से निष्पन्न हुआ यह लोक अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है।

इनमें से अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत्रासन के सदृश और मध्यलोक का आकार खड़े किये हुये आधे मृदंग के उर्ध्वभाग के समान है।

उर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुये मृदंग के सदृश है। अब इन तीनों लोकों के आकार को कहते हैं।

उस सम्पूर्ण लोक के बीच में से जिस प्रकार मुख एक राजु और भूमि सात राजु हो इस प्रकार मध्य में छेदने पर अधोलोक का आकार होता है।

दोनों ओर फैले हुए क्षेत्र को उठाकर अलग रख दे, फिर विपरीत क्रम से मिलाने पर विस्तार और उत्सेध सात राजु होता है।

जिस प्रकार मध्य में पांच राजु नीचे और ऊपर क्रम से एक राजु और ऊँचाई सात राजु हो, इस प्रकार खण्डित करने पर नीचे और ऊपर मिले हुये क्षेत्र का आकार अन्तिम लोक अर्थात् उर्ध्वलोक का आकार होता है। इसको पूर्वोक्त क्षेत्र

निमिधर और चक्रवाल पर्वतों के मध्य में जो समुद्र स्थित है उसमें मेरू की पूर्वादि दिशाओं में क्रम से अर्द्ध चन्द्राकार पूर्व विदेह, शकछाकार जम्बू द्वीप, मण्डलाकार अवरगोदानीय और समचतुष्कोण उत्तर कुरु ये चार द्वीप स्थित हैं। इन चारों के पार्श्व भागों में दो-दो अन्तर्द्वीप हैं। उनमें से जम्बू द्वीप के पास वाले चमर द्वीप में राक्षसों का और शेष द्वीपों में मनुष्यों का निवास है। जम्बू द्वीप में उत्तर की ओर ९ कीटाद्रि (छोटे पर्वत) तथा उनके आगे हिमवान पर्वत अवस्थित हैं। उसके आगे अनवतृप्त नामक अगाध सरोवर है, जिसमें से गंगा सिन्धु वक्ष और सीता ये नदियाँ निकलती हैं। उक्त सरोवर के समीप में जम्बू वृक्ष है। जिसके कारण इस द्वीप का "जम्बू" ऐसा नाम पड़ा है। जम्बूद्वीप के नीचे २०,००० योजन प्रमाण अवीचि नामक नरक है। उसके ऊपर क्रमश: प्रतापन आदि सात नरक और हैं। इन नरकों के चारों पार्श्व भागों में कुकूल, कुणप, क्षुरमार्गादिक और खारोदक (असि पत्रवन, श्यामशबलस्व-स्थान, अय: शाल्मली वन और वैतरणी नदी) ये चार उत्सद हैं। इन नरकों के धरातल में आठ शीत नरक और हैं। भूमि से ४०,००० योजन ऊपर जाकर चन्द्र सूर्य परिभ्रमण करते हैं। जिस समय जम्बूद्वीप में मध्याह्न होता है उस समय उत्तर कुरु में अर्द्धरात्रि, पूर्व विदेह में अस्तगमन और अवरगोदानीय में सूर्योदय होता है। मेरु पर्वत की पूर्वादि दिशाओं में उसके चार परिखण्ड (विभाग) हैं, जिन पर क्रम से यक्ष, मालाधार, सदामद और चातुर्महाराजिक देव रहते हैं। इसी प्रकार शेष सात पर्वतों पर भी देवों के निवास हैं। मेरु शिखर पर त्रयस्त्रिंश (स्वर्ग) है। इससे ऊपर विमानों में याम तुषित आदि देव रहते हैं। उपरोक्त देवों में चातुर्महाराजिक और त्रयस्त्रिंश देव मनुष्यवत् कामभोग भोगते हैं। याम तुषित आदि क्रमश: आलिंगन, पाणिसंयोग हसित और अवलोकन से तृप्ति को प्राप्त होते हैं। उपरोक्त कामधातु देवों के ऊपर रूपधातु देवों के ब्रह्मकायिक आदि १७ स्थान हैं। ये सब क्रमश: ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं। जम्बूद्वीपवासी मनुष्यों की ऊँचाई केवल ३ हाथ है। आगे क्रम से बढ़ती हुई अनभ्र देवों के शरीर की ऊँचाई १२५ योजन प्रमाण है।

५. आधुनिक विश्व परिचय

ति. प.। प्र. ९०। एच० एल० जैन का भावार्थ– जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह नारंगीवत् चपटा गोल गष्ट है। जो कभी अग्नि का गोला था। परन्तु पीछे से जिसका ऊपरी तल

अर्थात् अधोलोक के ऊपर रखने पर प्रकृत में खड़े किये हुए ध्वजयुक्त डेढ़ मृदंग के सदृश उस सम्पूर्ण लोक का आकार होता है इसको एकत्र करने पर उस लोक का बहल्य सात राजु और ऊँचाई चौदह राज होती है। इस लोक की भूमि और मुख का व्यास पूर्व पश्चिम की अपेक्षा एक ओर क्रमश: सात, एक, पांच और एक राजु मात्र होती है। तथा मध्य में हानि होती है।

आकाश में स्थित चारों सदृश आकार वाले खंडों को ग्रहण करके उन्हें विचारपूर्वक उभय पक्ष में विपरीत क्रम से मिलना चाहिये। इसी प्रकार अवशेष क्षेत्रों को ग्रहण करके और पूर्व के समान ही प्रतरप्रमाण करके बाहल्य में मिला दें। इस क्रम से जब तक अवशिष्ट क्षेत्र समाप्त न हो जाये तब तक एक-एक प्रदेश बाहल्यरचना एक-एक प्रतरप्रमाण को ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार से सिद्ध हुये त्रिलोक स्वरूप क्षेत्र की मोटाई चौड़ाई और ऊँचाई का हम वैसा ही वर्णन करते हैं। जैसा कि दृष्टिवाद अङ्ग से निकलता है।

दक्षिण और उत्तर भाग में लोक का आयाम जग श्रेणी प्रमाण अर्थात् सात राजु है। पूर्व और पश्चिम भाग में भूमि तथा मुख का व्यास क्रम से सात, एक, पांच और एक राजु है। तात्पर्य यह है कि लोक की मोटाई सर्वत्र सात राजु है और विस्तार क्रमश: अधोलोक के नीचे सात राजु मध्यलोक में एक राजु, ब्रह्म स्वर्ग पर पांच राजु और लोक के अन्त में एक राजु है। सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह राजु प्रमाण है। अर्ध मृदंग की ऊँचाई सम्पूर्ण मृदंग की ऊँचाई के सदृश है अर्थात् अर्ध मृदंग सदृश अधोलोक जैसे सात राजु ऊँचा है। उसी प्रकार पूर्ण मृदंग के सदृश ऊर्ध्वलोक भी सात ही राजु ऊँचा है।

क्रम से अधोलोक की ऊँचाई सात राजु, मध्यलोक की ऊँचाई एक लाख योजन और ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजु है।
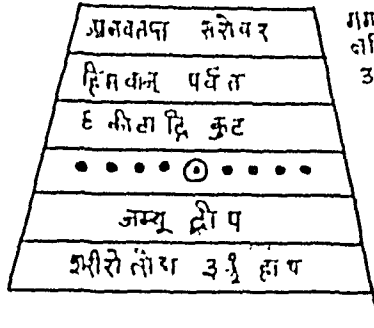
रूपधातु प्रवीचार (शरीरोत्सेध १२५ यो०)	१७
"	१६
"	१५
"	१४
"	१३
"	१२
"	११
"	१०
"	९
"	८
"	७
"	६
"	५
"	४
"	३
"	२
रूपधातु प्रवीचार	१ ब्रह्मकायिक
अवलोकन प्रवीचार	५
हसित प्रवीचार	४
पाणि संयोग प्रवीचार	३ तुषित देव
आलिंगन प्रवीचार	२ यामदेव
काय प्रवीचार	१ त्रायस्त्रिंश
तारे	
नक्षत्र	
ग्रह	
चन्द्र	
सूर्य	
४०,००० यो०	
३२०,००० यो०	भूमण्डल

रूपधातु प्रवीचार देवों के ब्रह्मकायिकादि १७ स्वर्ग

कामा... ६ देव

स्वर्ग लोक

ज्योतिष लोक

मेरु शिखर के ऊपर की रचना

भूगोल सामान्य (चित्र क)
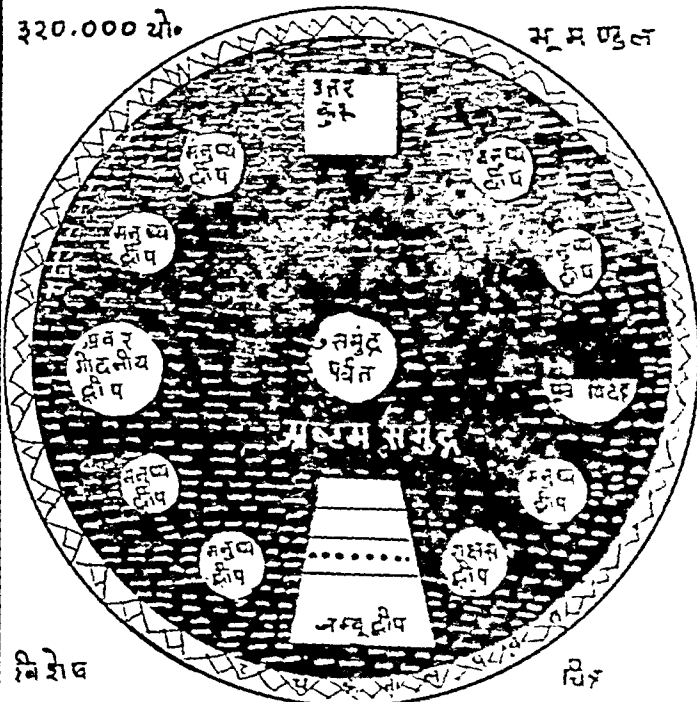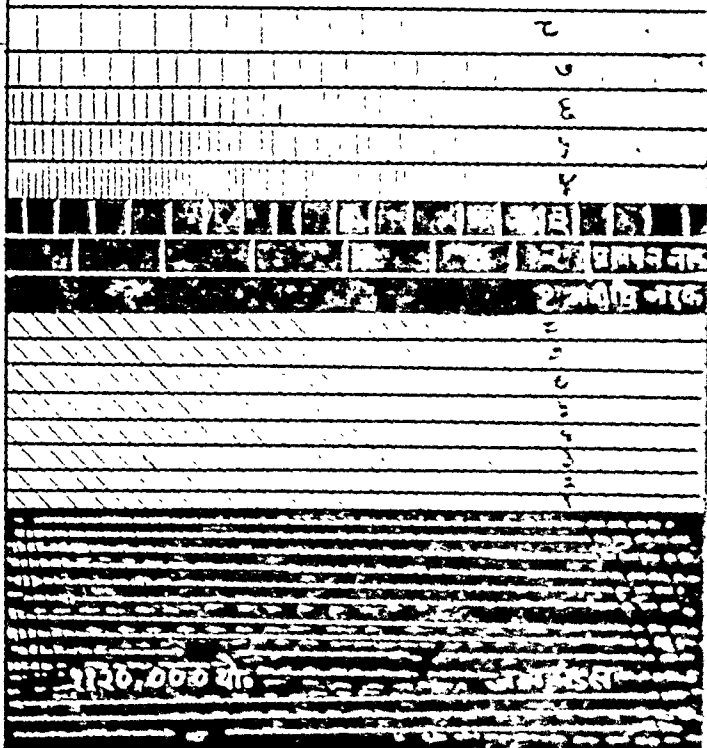
ठण्डा हो गया। इसके भीतर अब भी ज्वाला धधक रही है। वायु मण्डल धरातल से ऊपर उत्तरोत्तर विरल होते हुये ५०० मील तक फैला हुआ है। पहले इस पर जीवों का निवास नहीं था। पीछे क्रम से सजीव पाषाणादि वनस्पति जल के भीतर रहने वाले मत्स्यादि पृथ्वी पर फिरने वाले मेढक आदि सरीसृप, पक्षी, स्तनधारी पशु, बन्दर और मनुष्य उत्पन्न हुये। तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार और भी असंख्य जीव जातियां उत्पन्न हुईं। भूमि से जल का विस्तार तिगुना है। भूभाग में एशिया आदि महाद्वीप तथा अन्य अनेकों क्षुद्र द्वीप हैं। सुदूर पूर्व में सम्भवत: परस्पर में मिले हुये थे। तहां "भारत" एशिया का दक्षिण पूर्वी भाग है। जिसके उत्तर में हिमालय और मध्य में विन्ध्याचल, सतपुड़ा आदि पर्वत हैं। पूर्व व पश्चिम की ओर सागर में गिरने वाली गंगा सिन्धु आदि नदियां हैं। देश के उत्तर में प्राय: आर्य जाति तथा अन्य दिशाओं में द्राविड़ भील कोल तथा अनेकों पर्वतीय जातियां (म्लेच्छ) रहती हैं। इस भूखण्ड के चारों ओर अनन्त आकाश है जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारे आदि दिखाई देते हैं। चन्द्रमा अधिक समीपवर्ती है। तत्पश्चात् क्रमश: शुक्र, बुध, मंगल, बृहस्पति, शनि आदि ग्रह। इनसे साढ़े नौ करोड़ मील परे सूर्य तथा असंख्यात मील दूर असंख्यों तारे हैं। चन्द्रमा व ग्रह स्व प्रकाशित नहीं हैं, बल्कि सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित हैं। तारे यद्यपि दूर होने के कारण बहुत छोटे दिखाई देते हैं। परन्तु इनमें सूर्य के बराबर या उससे छोटे बहुत ही कम हैं। प्राय: वे सब सूर्य की अपेक्षा लाखों व करोड़ों गुणा बड़े हैं। तथा स्वयं जाज्वल्यमान बड़े सूर्य हैं। इस प्रकार लोक का प्रमाण असंख्य है। तथा इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं जीव राशि का अवस्थान नहीं है। पहले मंगल ग्रह में जीवधारियों की सम्भावना का अनुमान किया जाता था, पर अब किसी भी ग्रह में उनको स्वीकार नहीं किया जाता है।

अ. लो. ७ रा. । म. लो. १००००० यो. । ऊ. लो. रा. ७ ऋण १००००० यो.।

इन तीनों लोकों में से अर्धमृदंगाकार अधोलोक में रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तम:प्रभा और महातम:प्रभा, ये सात पृथ्वियां एक एक राजु के अन्तराल से हैं ॥१५२॥

विशेषार्थ—ऊपर प्रत्येक पृथ्वी के मध्य का अन्तर जो एक राजु कहा है वह सामान्य कथन है विशेष रूप से विचार करने पर पहली और दूसरी पृथ्वी की मुटाई एक राजु में शामिल है अतएव इन दोनों पृथ्वियों का अन्तर दो लाख बारह हजार योजन कम एक राजु होगा। इसी प्रकार आगे भी पृथ्वियों की मुटाई प्रत्येक राजु में शामिल हैं अतएव मुटाई का जहाँ जितना प्रमाण है उतना कम एक राजु वहां अन्तर जानना चाहिये।

घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी ये तीन उपर्युक्त पृथ्वियों के गोत्र नाम हैं ॥१५३॥

मध्य लोक के अधोभाग से प्रारम्भ होकर पहिला राजु शर्कराप्रभा पृथ्वी के अधोभाग में समाप्त होता है ॥१५४॥

रा. ।

इसके आगे दूसरा राजु प्रारम्भ होकर वालुकाप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है, तथा तीसरा राजु पंकप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है ॥१५५॥

रा. २ । ३ ।

इसके अनन्तर चौथा राजु धूमप्रभा के अधोभाग में और पांचवा राजु तम:प्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है ॥१५६॥

रा. ४ । ५ ।

पूर्वोक्त क्रम से छठवां राजु महातम:प्रभा के अन्त में समाप्त होता है और इसके आगे सातवाँ राजु लोक के तलभाग में समाप्त होता है ॥ १५७ ॥

रा. ६ । ७ ।

मध्य लोक के ऊपरी भाग से सौधर्म विमान के ध्वजदण्ड तक एक लाख योजन कम डेढ़ राजु प्रमाण ऊँचाई है ॥१५८॥

रा. १½ ऋण १००००० यो.

इसके आगे डेढ़ राजु माहेन्द्र और सानत्कुमार स्वर्ग के ऊपरी भाग में समाप्त होता है। अनन्तर आधा राजु ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के ऊपरी भाग में पूर्ण होता है ॥ १५९ ॥

रा. १½ । ½ ।

इसके पश्चात् आधा राजु कापिष्ट के ऊपरी भाग में आधा राजु महाशुक्र के ऊपरी भाग में और आधा राजु सहस्रार के ऊपरी भाग में समाप्त होता है ॥१६०॥

रा. ½ । ½ । ½ ।

६- उपरोक्त मान्यताओं की तुलना

१. जैन व वैदिक मान्यता बहुत अंशों में मिलती है। जैसे १. चूड़ी के आकार रूप से अनेकों द्वीपों व समुद्रों का एक दूसरे को वेष्टित किये हुये अवस्थान। २. जम्बूद्वीप, सुमेरु, हिमवान, निषध, नील, श्वेत (रुक्मि), (शृंगी शिखरी) ये पर्वत, भारतवर्ष (भरत क्षेत्र) हरिवर्ष, रम्यक, हिरण्यमय (हैरण्वत्) उत्तर कुरु ये क्षेत्र, माल्यवान व गन्धमादन पर्वत, जम्बूवृक्ष इन नामों का दोनों मान्यताओं में समान होना। ३. भारतवर्ष में कर्मभूमि तथा अन्य क्षेत्र में त्रेतायुग (भोगभूमि) का अवस्थान। मेरु की चारों दिशाओं में मन्दर आदि चार पर्वत जैनमान्य चार गजदन्त हैं। ४. कुल पर्वतों से नदियों का निकलना तथा आर्य व म्लेच्छ जातियों का अवस्थान। ५. प्लक्ष द्वीप में प्लक्ष-वृक्ष जम्बू द्वीप वत् उसमें पर्वतों व नदियों आदि का अवस्थान वैसा ही है जैसा कि धातकी खण्ड में धातकी वृक्ष व जम्बूद्वीप के समान दुगुनी रचना। ६. पुष्कर द्वीप के मध्य वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत तथा उसके अभ्यन्तर भाग में धातकी नामक खण्ड है। ७. पुष्कर द्वीप से परे प्राणियों का अभाव लग ग वैसा ही है जैसा कि पुष्करार्ध से आगे मनुष्यों का अभाव। ८. भूखण्ड के नीचे पातालों का निर्देश लवण सागर के पातालों से मिलता है। ९. पृथ्वी के नीचे नरकों का अवस्थान। १०. आकाश में सूर्य, चन्द्र आदि का अवस्थान क्रम। ११. कल्पवासी तथा फिर से न मरने वाले (लौकान्तिक) देवों के लोक।

२—इसी प्रकार जैन व बौद्ध मान्यतायें भी बहुत अंशों में मिलती हैं। जैसे १. पृथ्वी के चारों तरफ वायु व जल मण्डल का अवस्थान जैन मान्य वातवलयों के समान है। २. मेरु आदि पर्वतों का एक-एक समुद्र के अन्तराल से उत्तरोत्तर वेष्टित वलयाकाररूपेण अवस्थान। ३. जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, उत्तरकुरु, जम्बूवृक्ष, हिमवान, गंगा, सिन्धु आदि नामों की समानता। ४. जम्बूद्वीप के उत्तर में नौ क्षुद्र पर्वत, हिमवान् महा सरोवर व उनसे गंगा सिन्धु आदि नदियों का निकास ऐसा ही है जैसा कि भरत क्षेत्र के उत्तर में ११ कूटों युक्त हिमवान पर्वत पर स्थित पद्म द्रह से गंगा सिन्धु व रोहितास्या नदियों का निकास। ५. जम्बू द्वीप के नीचे एक के बाद एक करके अनेकों नरकों का अवस्थान। ६. पृथ्वी से ऊपर चन्द्र-सूर्य का परिभ्रमण। ७. मेरु शिखर पर स्वर्गों का अवस्थान लगभग ऐसा ही है.

इसके अनन्तर अर्ध राजु आनत स्वर्ग के ऊपरी भाग में और अर्ध राजु आरण स्वर्ग के ऊपरी भाग में पूर्ण ह ना है। बाद एक राजु की ऊँचाई में नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक में राजु का विभाग कहा गया है ॥ १६१-१६२ ॥

रा. ½ । ½ । १ ।

अपने अपने अन्तिम इन्द्रक विमान सम्बन्धी ध्वजदण्ड के अग्रभाग तक उन उन स्वर्गों का अन्त समझना चाहिये। और कल्पातीत भूमिका जो अन्त है वही लोक का भी अन्त है ॥१६३॥

अधोलोक के मुख का विस्तार जग श्रेणी का सातवां भाग, भूमि का विस्तार जगश्रेणी प्रमाण और अधोलोक के अन्त तक ऊँचाई भी जगश्रेणी प्रमाण ही हैं ॥१६४॥

रा. १ । ७ । ७ ।

मुख और भूमि के योग को आधा करके पुनः ऊँचाई से गुणा करने पर वेत्रासन सदृश लोक (अधोलोक) का क्षेत्रफल जानना चाहिये ॥ १६५ ॥

१ · ३ · ३ · ३ २८ रा. क्षे. फ

लोक को चार से गुणा करके उसमें सात का भाग देने पर अधोलोक के घनफल का प्रमाण निकलता है और सम्पूर्ण लोक को दो से गुणा कर प्राप्त गुणनफल में सात का भाग देने पर अधोलोक सम्बन्धी आधे क्षेत्र का घनफल होता है ॥ १६६ ॥

३४३ × ४ ÷ ७ = १९६ रा. अ. लो. का घ. फ.

३४३ × २ ÷ ७ = ९८ रा. अर्ध अ. लो. का घ. फ

अधोलोक में से त्रसनाली को छोड़कर और उसे पृथक् कर कर उसका घनफल निकालना चाहिये। इस घनफल का प्रमाण लोक के प्रमाण में उनचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना होता है ॥ १६७ ॥

रा. ७ × १ × १ = ७ [illegible] ३४३ ÷ ४९ = ७।

लोक को [illegible]

जैसा कि मेरु शिखर से ऊपर केवल एक बाल प्रमाण अन्तर से जैन मान्य स्वर्ग के प्रथम "ऋतु" नामक पटल का अवस्थान ८. देवों में कुछ का मैथुन से और कुछ का स्पर्श या अवलोकन आदि से काम भोग का सेवन तथा ऊपर के स्वर्गों में कामभोग का अभाव जैनमान्यतावत् ही है। (दे० देव।११।२।१०)। ९. देवों का ऊपर ऊपर अवस्थान। १०. मनुष्यों की ऊँचाई से लेकर देवों के शरीरों की ऊँचाई तक क्रमिक वृद्धि लगभग जैन मान्यता के अनुसार है। (दे० अवगाहना)। ३—आधुनिक भूगोल के साथ यद्यपि जैन भूगोल स्थूल दृष्टि से देखने पर मेल नहीं खाता पर आचार्यों की सुदूरवर्ती सूक्ष्मदृष्टि व उनकी सूत्रात्मक कथन पद्धति को ध्यान में रखकर विचारा जाये तो वह भी बहुत अंशों में मिलता प्रतीत होता है।

यहाँ यह बात अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि वैज्ञानिक जनों के अनुमान का आधार पृथ्वी का कुछ करोड़ वर्ष मात्र पूर्व का इतिहास है। जबकि आचार्यों की दृष्टि कल्पों पूर्व के इतिहास को स्पर्श करती है। जैसे कि १. पृथ्वी के लिये पहले अग्नि का गोला होने की कल्पना उसका धीरे-धीरे ठण्डा होना और नये सिरे से उस पर जीवों व मनुष्यों की उत्पत्ति का विकास लगभग जैनमान्य प्रलय के स्वरूप से मेल खाता है (दे० प्रलय)। २. पृथ्वी के चारों ओर के वायुमण्डल में ५०० मील तक उत्तरोत्तर तरलता जैन मान्य तीन वातवलयोंवत ही है। ३. एशिया आदि महाद्वीप जैन मान्य भरतादि क्षेत्रों के साथ काफी अंश में मिलते हैं (दे० अगला शीर्षक)। ४. आर्य व म्लेच्छ जातियों का यथायोग्य अवस्थान भी जैन मान्यता को सर्वथा उल्लघन करने को समर्थ नहीं। ५. सूर्य-चन्द्र आदि के अवस्थान में तथा उन पर जीव राशि सम्बन्धी विचार में अवश्य दोनों मान्यताओं में भेद हैं। तहाँ भी सूर्य-चन्द्र आदि में जीवों का सर्वथा अभाव मानना वैज्ञानिकों की अल्पज्ञता का भी द्योतक है, क्योंकि वहाँ रहने वाले जैन मान्य वैक्रियिक शरीरधारी जीव विशेषों को उनकी स्थूल दृष्टि यन्त्रों द्वारा भी स्पर्श करने को समर्थ नहीं है।

का घनफल समझना चाहिये। और लोक प्रमाण को चार से गुणा कर उसमें सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना त्रस नाली से युक्त पूर्ण अधोलोक का घनफल समझना चाहिये ॥१६८॥

३४३ × २७ ÷ ४९ = १८९ त्रसनाली छोड़ शेष अ. लो. का घ. फ.

३४३ × ४ ÷ ७ — १९६ पूर्ण अ. लो. का घनफल।

मृदंग के आकार जो सम्पर्ण ऊर्ध्वलोक है उसे छेदकर मिला देने पर पूर्व पश्चिम से वेत्रासन के सदृश अधोलोक का आकार बन जाता है ॥ १६९ ॥

ऊर्ध्व लोक के मुख का व्यास जगश्रेणी का सातवां भाग है और इससे पांचगुणा (५ राजु) उसकी भूमिका व्यास तथा ऊँचाई एक जगश्रेणी है ॥ १७० ॥

रा. १। ५। ७।

लोक को तीन से गुणा करके उसमें सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना ऊर्ध्वलोक का घनफल है और लोक को तीन से गुणा करके उसमें चौदह का भाग देने पर लब्धराशि प्रमाण ऊर्ध्व लोक सम्बन्धी आधे क्षेत्र का फल (घनफल) होता है ॥ १७१ ॥

३४३ × ३ ÷ ७ = १४७ ऊ. लो. घ. फ.

३४३ × ३ ÷ १४ = ७३½ अर्द्ध ऊ. लो. घ. फ.

ऊर्ध्वलोक से त्रस नाली को छेदकर और उसे अलग रखकर उसका घनफल निकाले। इस घनफल का प्रमाण उनचास से विभक्त लोक के बराबर होगा ॥ १७२ ॥

३४३ ÷ ४९ = ७ अ. लो. त्र. ना. घ. फ.

लोक को बीस से गुणा करके उसमें उनंचास का भाग देने पर त्रसनाली को छोड़ बाकी ऊर्ध्वलोक का घनफल निकल आता है। लोक को तिगुणा कर उसमें सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना त्रसनाली युक्त पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल है ॥ १७३ ॥

३४३ × २० ÷ ४९ = १४० त्रसनाली से रहित ऊ. लो. का घ. फ.

३४३ × ३ ÷ ७ = १४७ त्रसनाली युक्त ऊ. लो. का घनफल

ऊर्ध्व लोक और अधोलोक के घनफल को मिला देने पर वह श्रेणी के घनप्रमाण (लोक) होता है। अब विस्तार में

७- जैन भूगोल का कुछ समन्वय

यद्यपि निश्चित रूप से इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु वर्तमान के भूगोल की, जिसका आधार कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, भी अवहेलना करना या उसे विश्वास योग्य न मानना युक्त नहीं। अतः समन्वयात्मक दृष्टि से विचार कर आचार्य प्रणीत सूत्रों का अर्थ करना योग्य है। ऐसा करने से इस विषय सम्बन्धी अनेकों उलझनें सुलझ सकती हैं और वर्तमान भूगोल के साथ उनका मेल स्पष्ट हो सकता है। यथा १. नरक, स्वर्गों के पटलों को पृथ्वीमयी न समझकर केवल आकाश के भीतर कल्पना किये गये वे क्षेत्र समझने चाहिये जिनमें कि आचार्य प्रणीत इन्द्रकों आदि की वह रचना विशेष अवस्थित है। २. नरक व स्वर्गों के इन्द्रक श्रेणी बद्ध व प्रकीर्णक बिल व विमान इस पृथ्वी की भांति ही स्वतन्त्र भूखण्ड हैं। तथा ऐसा माना भी गया है। (दे० विमान) ३. यद्यपि इन पृथ्वियों के घूमने का कोई निर्देश नहीं है पर साथ ही निश्चित रूप से उनके घूमने का कहीं निषेध भी नहीं है। इसलिये उन सभी पृथ्वियों का प्रकृति के नियमानुसार एक दूसरे के गिर्द घूमना स्वीकार करने में कोई हानि नहीं पड़ती। तथा उनका चक्राकार से अवस्थान भी कुछ इस बात का अनुमान कराता है कि वे पृथ्वियाँ अवश्य नित्य घूम रही हैं। दे० आगे लोक ७ में इन्द्रों व श्रेणीबद्धों की रचना विशेष का आकार)। ४. इनके घूमने का क्रम भी उसी प्रकार का होना चाहिये जैसा कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ में एक प्रोटोन के गिर्द अनेकों इलेक्ट्रानों का घूमना अथवा सौर मण्डल में एक सूर्य के गिर्द चन्द्र. पृथ्वी. ग्रह आदि अनेकों पृथ्वियों का घूमना। ५. एक सौरमण्डल में अनेकों पृथ्वियां एक सूर्य के गिर्द घूमती हैं और वह एक पूरा का पूरा सौर मण्डल किसी दूसरे सौर मण्डल के गिर्द घूमता है और ये दोनों समुदित रूप से किसी तीसरे बड़े सौर मण्डल के गिर्द घूमते हैं इत्यादि। इसी प्रकार यहाँ इन्द्रक सर्व प्रधान है। इसके गिर्द चक्र के अरों के आकार से स्थित श्रेणीबद्धों के अनेकों बिल व विमान घूमते हैं। प्रत्येक श्रेणीबद्ध को मध्य में करके अनेकों प्रकीर्णक मण्डल घूमते हैं। एक-एक प्रकीर्णक मण्डल में भी इसी प्रकार की क्षुद्र रचना अनुमान की जाती है। ६. नित्य घूमते रहने भी वे आकाश में निश्चित उपरोक्त अपनी-अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करते, यही उन पटलों का क्रम व अवस्थान है। ये [illegible]

अनुराग रखने वाले शिष्यों को समझाने के लिये अनेक विकल्पों द्वारा भी इसका कथन करता हूं ॥ १७४ ॥

ऊ. घ. १४७+अ. घ. १९६=३४३ (७×७×७ ३४३ श्रे. घ.)

अधोलोक के मुख का व्यास श्रेणी का सातवां भाग अर्थात् एक राजु, और भूमि का विस्तार श्रेणी प्रमाण (७ रा.) है, तथा उसकी ऊँचाई भी श्रेणीमात्र ही है ॥ १७५ ॥

रा. । / ७ / ७ /

भूमि के प्रमाणों में से मुख का प्रमाण घटाकर शेष में ऊँचाई के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना, सब भूमियों में से प्रत्येक पृथ्वी क्षेत्र की, मुख की अपेक्षा वृद्धि और भूमि की अपेक्षा हानि का प्रमाण निकलता है ॥ १७६ ॥

७—१÷७=६/७ वृद्धि और हानि का प्रमाण।

विवक्षित स्थान में अपनी अपनी ऊँचाई से इस वृद्धि और क्षय के प्रमाण को (६/७) गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो, उसको भूमि के प्रमाण में से घटाने पर अथवा मुख के प्रमाण में जोड़ देने पर उक्त स्थान में व्यास का प्रमाण निकलता है ॥१७७॥

विशेषार्थ—कल्पना कीजिये कि यदि हमें भूमि की अपेक्षा चतुर्थ स्थान के व्यास का प्रमाण निकालना है, तो हानि का प्रमाण जो छह बटे सात (६/७) है, उसे उक्त स्थान की ऊँचाई से (३ रा.) गुणाकर प्राप्त हुये गुणन—फल को भूमि के प्रमाण में से घटा देना चाहिये। इस रीति से चतुर्थ स्थान का व्यास निकल आवेगा। इसी प्रकार मुख की अपेक्षा चतुर्थ स्थान के व्यास को निकालने के लिये वृद्धि के प्रमाण (६/७) को उक्त स्थान की ऊँचाई (४ राजु) से गुणा करके प्राप्त हुये गुणनफल को मुख में जोड़ देने पर विवक्षित स्थान के व्यास का प्रमाण निकल आवेगा।

उदाहरण— [illegible] भूमि की अपेक्षा चतुर्थ स्थान का व्यास।

[illegible] मुख की अपेक्षा चतुर्थ स्थान का व्यास।

पश्चात् एक करके गणनातीति योजनों के अन्तराल से ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं। ७. नरक में उन इन्द्रक आदि भूखण्डों की बिल संज्ञा और स्वर्ग में उन्हीं को विमान संज्ञा देने का कारण यही है कि पहले के निवासी वहां अत्यन्त अन्धकार पूर्ण अत्यन्त शीत या अत्यन्त उष्ण अनेकों प्रकार के विषैले व तीक्ष्ण दांत वाले क्षुद्र जीवों से पूर्ण दलदल वाली गुफाओं में रहते हैं और दूसरे के निवासी वहां अत्यन्त सुखमय भवनों में रहते हैं। ८. उपरोक्त पटलों की भांति मध्य लोक भी एक पटल है। अन्तर इतना ही है कि उपरोक्त पटलों में नारकी व देवों की निवास-भूत पृथ्वियां हैं और यहां मनुष्य व तिर्यंचों की निवासभूत हैं। वहां वे पृथ्वियां श्रेणीवद्ध व प्रकीर्णकों के रूप में अवस्थित रहती हुई घूमती हैं और यहां सभी पृथ्वियां एक श्रेणी में अवस्थित रहती हुई घूमती हैं। एक के पश्चात् एक करके उत्तरोत्तर दूने प्रमाण को लिये उनका अवस्थान तथा उनकी असंख्यात विरोध को प्राप्त नहीं होती। ९. विवाद पड़ता है उनके आकार के विषय में। भारतीय दर्शनकार उन्हें वलयाकार मानते हैं। जबकि वैज्ञानिक नारंगीवत् गोल। सो इसका भी समन्वय इस प्रकार किया जाता है कि द्वीप रूप से निर्दिष्ट उन्हें भूखण्ड न मानकर भूखण्डों का संचार क्षेत्र मान लिया जाये। जम्बू द्वीप सुमेरु के गिर्द, धातकी खण्ड जम्बूद्वीप के गिर्द और इसी प्रकार आगे-आगे के द्वीप पूर्व-पूर्व के द्वीप के गिर्द घूम रहे हैं। सुमेरु के गिर्द लट्टू की भांति घूमने से जम्बूद्वीप का संचार क्षेत्र जम्बूद्वीप प्रमाण ही है, परन्तु अगले द्वीपों का संचारक्षेत्र पूर्व-पूर्व द्वीप के गिर्द वलयाकार रूप बनता है। इन संचार क्षेत्रों का विष्कम्भ या विस्तृत अपनी-अपनी पृथ्वी के बराबर होना स्वाभाविक है। सुमेरु पर्वत व उस-उस पृथ्वी के बीच जो अन्तराल है वही इन वलयों की सूची का प्रमाण है। यद्यपि यह अनुमान प्रमाण भूत नहीं कहा जा सकता है, पर प्रत्यक्षदृष्ट आधुनिक भूगोल के साथ जैन भूगोल की संगति बैठाने के लिये इसमें कुछ विरोध भी नहीं है। १०. द्वीपों के मध्यवर्ती सागरों का निर्देश वास्तव में जलपूर्ण सागर रूप प्रतीत नहीं होता, बल्कि उन द्वीपों के मध्यवर्ती अन्तरालों में स्थित घन व घनोदधि वातवलय रूप प्रतीत होता है। वलयाकार संचार क्षेत्रों के मध्य रहने वाले उस अन्तराल का

श्रेणी में उनचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे क्रम से आठ जगह रखकर व्यास के निमित्त गुणा करने के लिये आदि में गुणकार सात हैं। पुनः इसके आगे क्रम से छह छह गुणकार की वृद्धि होती गई है ॥१७८॥

श्रेणी प्रमाण रा. ७; $\frac{—}{४९}$ × ७; $\frac{—}{४९}$ + १३; $\frac{—}{४९}$ × १९; $\frac{—}{४९}$ × २५; $\frac{—}{४९}$ = ३१; $\frac{—}{४९}$ × ३७; $\frac{—}{४९}$ × ४३; $\frac{—}{४९}$ × ४९।

सात के घन अर्थात तीन सौ तेंतालीस से भाजित लोक को क्रम से सात जगह रख कर अधोलोक के सात क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र के घन फल को निकालने के लिये आदि में गुणकार दश और फिर इसके आगे क्रम से छह छह की वृद्धि होती गई है।

॥ १७९ ॥

लो. प्र. ३४३; ३४३ ÷ ७³ = १; १ × १०; १ × १६; १ × २२; १ × २८; १ × ३४; १ × ४०; १ × ४६।

विशेषार्थ— मुख और भूमि को जोड़कर उसे आधा करने पर प्राप्त हुये प्रमाण को विवक्षित क्षेत्र की ऊँचाई और मोटाई से गुणा करने पर विषम क्षेत्र का घनफल निकलता है। इस नियम के अनुसार उपर्युक्त सात पृथ्वियों का घन-फल निम्न प्रकार है—

प्र. पृथ्वी क्षेत्र का घ. फ. —मु. $\frac{७}{७}$ + भू. $\frac{१३}{७}$ ÷ २ × १ × ७ = $\frac{१४०}{१४}$ = १० रा.

द्वितीय पृथ्वी क्षेत्र का घ. फ. $\frac{१३}{७}$ + $\frac{१९}{७}$ ÷ २ × १ × ७ = $\frac{२२४}{१४}$ = १६ रा.

तृतीय पृथ्वी क्षेत्र का घ. फ. $\frac{१९}{७}$ + $\frac{२५}{७}$ ÷ २ × १ × ७ = $\frac{३०८}{१४}$ = २२ रा.

च. पृथ्वी क्षेत्र का घ.फ. $\frac{२५}{७}$ + $\frac{३१}{७}$ ÷ २ × १ × ७ = $\frac{३९२}{१४}$ = २८ र.

पं. पृथ्वी क्षेत्र का घ.फ. $\frac{३१}{७}$ + $\frac{३१}{७}$ ÷ २ × १ × ७ = $\frac{४७६}{१४}$ = ३४ रा

प. पृथ्वी क्षेत्र का घ.फ. $\frac{३७}{७}$ + $\frac{४३}{७}$ ÷ २ × १ × ७ = $\frac{५६०}{१४}$ = ४० रा

स. पृथ्वी क्षेत्र का घ.फ. $\frac{४३}{७}$ + $\frac{४९}{७}$ ÷ २ × १ × ७ = $\frac{६४४}{१४}$ = ४६ रा.

पूर्व और पश्चिम से लोक के अन्त के दोनों पार्श्व-भागों में तीन, दो और एक राजु प्रवेश करने पर ऊँचाई क्रम से एक जग श्रेणी, श्रेणी के तीन भागों में से दो भाग, और श्रेणी के तीन भागों में से एक भाग मात्र हैं ॥ १८० ॥

भी वलयाकार होना युक्ति संगत है। ११. मध्यलोक की उप-रोक्त सर्व पृथिवियों को पृथक-पृथक रूप से नारंगीवत् गोल मान लेने पर भी मध्यलोक का समुदित चपटा थाली के आकार वाला रूप विरोध को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि उक्त संचार क्षेत्रों का समुदित रूप का वही आकार है। १२. इस पृथ्वी को ही जम्बूद्वीप मानकर इसमें भरत आदि क्षेत्रों का हिमयान पवतों का अवस्थान भी यथायोग्य रूप में फिर वैठाया जा सकता है। भले ही शब्दश: व्याख्या का मेल न वैठाया जा सके पर लगभग मेल वैठ जाता है। परन्तु ऐसा करने के लिये हमें भौगोलिक इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी, कि किस-किस समय में इनके नाम क्या-क्या रहे हैं, किस प्रकार से उस मान्यता ने वदलकर यह रूप धारण कर लिये। प्रकृति के परिवर्तन की अटूट धारा में कव-कव व किस-किस प्रकार पहले-पहले पर्वत आदि भूगर्भ में समा गये और नये उत्पन्न हो गये इत्यादि। इस विषय का कुछ स्पष्टीकरण चातुर्द्वीपिक भूगोल नाम के अगले शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है।

८- चातुर्द्वीपिक भूगोल परिचय

(ज. प. । प्र. १०८ । एच० एल० जैन का भावार्थ) १. काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रथ में दिये गये, श्री रामकृष्ण दास जी के एक लेख के अनुसार, वैदिक धर्म मान्य सप्तद्वीपक भूगोल (दे० शीर्षक न० ३) की अपेक्षा चातुर्द्वीपिक भूगोल अधिक प्राचीन है। इसका अस्तित्व अब भी वायु पुराण में कुछ-कुछ मिलता है। चीनी यात्री मेगस्थनीज के समय में भी यही भूगोल प्रचलित था, क्योंकि वह लिखता है कि —भारत के सीमान्त पर तीन और देश माने जाते हैं— सीदिया, बैक्ट्रिया तथा एरियाना। सीदिया से उसके भद्राश्व व उत्तरकुरु तथा बैक्ट्रिया व एरियाना से केतुमालद्वीप अभिप्रेत है। अशोक के समय में भी यही भूगोल प्रचलित था, क्योंकि उसके शिला लेखों में जम्बूद्वीप भारतवर्ष की संज्ञा है। महाभाष्य में आकर सर्व प्रथम सप्त-द्वीपिक भूगोल की चर्चा है। अतएव वह अशोक तथा महा-भाष्य काल के बीच की कल्पना जान पड़ती है। २. सप्तद्वीपिक भूगोल की भांति यह चातुर्द्वीपिक भूगोल कल्पना मात्र नहीं है, बल्कि इसका आधार वास्तविक है। इसका सामंजस्य आधुनिक भूगोल से हो जाता है। ३. चातुर्द्वीपिक भूगोल में जम्बूद्वीप पृथ्वी के चार महाद्वीपों में से एक है और भारतवर्ष जम्बूद्वीप का ही दूसरा नाम है। यही सप्तद्वीपिक भूगोल में आकर इतना बड़ा हो जाता है कि उसकी बराबरी वाले अन्य तीन द्वीप (भद्राश्व, केतुमाल व उत्तरकुरु) उसी के वर्ष बनकर रह जाते हैं। और भारतवर्ष नाम वाला एक अन्य वर्ष (क्षेत्र) भी उसी के भीतर कल्पित कर लिया जाता है। ४. चातुर्द्वीपिक भूगोल का भारत (जम्बूद्वीप) जो मेरु तक पहुंचता है, सप्तद्वीपिक भूगोल में जम्बूद्वीप के तीन वर्षों या क्षेत्रों में विभक्त हो गया है—भारत वर्ष, किंपुरुष व हरिवर्ष। भारत का वर्ष पर्वत हिमालय है। किंपुरुष हिमालय के परभाग में [illegible] की बस्ती है, जहां से सरस्वती नदी का उद्गम होता है तथा जिसका नाम अब भी कन्नौर में अवशिष्ट है। [illegible]

---

(१) भुजा और प्रतिभुजा को मिलाकर आधा करने पर जो व्यास हो, उसे ऊँचाई और मटोाई से गुणा करना चाहिये। ऐसा करने से त्रिकोण क्षेत्र का घनफल आता है।

(२) एक लम्बे वाहु को व्यास के आधे से गुणा करके पुनः मोटाई से गुणा करने पर एक लम्बे वाहुयुक्त क्षेत्र के घनफल का प्रमाण आता है ॥ १८१ ॥

लोक में व्यालीस का भाग देने से, चौदह का भाग देने से, और लोक को पांच से गुणा करके उसमें व्यालीस का भाग देने से क्रमश: उन तीनों अभ्यन्तर क्षेत्रों का घनफल निकलता है। ॥ १८२ ॥

[illegible]

[illegible] त्रि. [illegible] क्षेत्र का घनफल [illegible]

तृ. प. क्षेत्र का घनफल।

[illegible] घनफल [illegible] क्षेत्र [illegible] घनफल [illegible] घनफल का प्रमाण [illegible] ॥ १८३ ॥

[illegible]

१८६ [illegible]

क्योंकि वहां तक मंगोलों की बस्ती पायी जाती है। तथा इसका वर्ष पर्वत हेमकूट है, जो कतिपय स्थानों में हिमालयान्तर्गत ही वर्णित हुआ है। (जैन मान्यता में किंपुरुष के स्थान पर हैमवत और हिमकूट के स्थान पर महा हिमवान का उल्लेख है। हरि-वर्ष से हिरात का तात्पर्य है जिसका पर्वत निषध है, जो मेरु तक पहुंचता है। इसी हरिवर्ष का नाम अवेस्ता में हरिवर जो मिलता है। ५. इस प्रकार रम्यक, हिरण्मय और उत्तर कुरु नामक वर्षों में विभक्त होकर चातुर्द्वीपिक भूगोल वाले उत्तरकुरु महाद्वीप के तीन वर्ष बन गये हैं। ६. किन्तु पूर्व और पश्चिम के भद्राश्व व केतुमाल द्वीप यथापूर्व दो के दो ही रह गये।
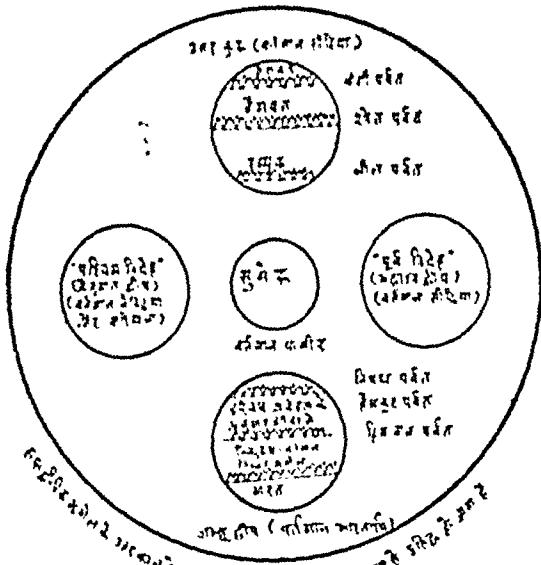
अन्तर केवल इतना ही है कि वे यहां दो महाद्वीप न होकर एक द्वीप के अन्तर्गत दो वर्ष या क्षेत्र हैं। साथ ही मेरु को मेखलित करने वाला, सप्तद्वीपिक भूगोल का इलावृत भी एक स्वतन्त्र वर्ष बन गया है। ७. यों उक्त चार द्वीपों से पल्लवित भारतवर्ष आदि तीन दक्षिणी, हरिवर्ष आदि तीन उत्तरी, भद्राश्व व केतु-माल ये दो पूर्व व पश्चिमी तथा इलावृत नामक केन्द्रीय वर्ष, जम्बूद्वीप के नौ वर्षों की रचना कर रहा है। ८. (जैनाभिमत भूगोल में ६ की बजाय १० वर्षों का उल्लेख है)। भारतवर्ष किंपुरुष व हरिवर्ष के स्थान पर भरत हैमवत व हरि ये तीन मेरु के दक्षिण में हैं। रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर कुरु के स्थान पर रम्यक हैरण्यवत व ऐरावत ये तीन मेरु के उत्तर में हैं। भद्राश्व व केतुमाल के स्थान पर पूर्व विदेह व पश्चिम विदेह ये दो मेरु के पूर्व व पश्चिम में हैं। तथा इलावृत के स्थान पर देवकुरु व उत्तरकुरु ये दो मेरु के निकटवर्ती हैं। यहां वैदिक मान्यता में तो मेरु के चोगिर्द एक ही वर्ष मान लिया गया और जैन मान्यता में उसे दक्षिण व उत्तर दिशा वाले दो भागों में विभक्त कर दिया है। पूर्व व पश्चिमी भद्राश्व व केतुमाल द्वीपों में वैदिकजनों ने क्षेत्रों का विभाग न दर्शाकर अखण्ड रक्खा, पर जैन मान्यता में उनके स्थानीय पूर्व व पश्चिम विदेहों को भी (१६, १६ क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया) ६. मेरु पर्वत वर्तमान भूगोल का पामीर प्रदेश है। उत्तरकुरु पश्चिमी तुर्किस्तान है। सीता नदी यारकन्द नदी है।

निषध पर्वत हिन्दुकुश पर्वतों की शृंखला है। हैमवत भारतवर्ष का ही दूसरा नाम रहा है। (दे० वह-वह नाम)।

लोक सामान्य निर्देश

१. लोक का लक्षण

दे० आकाश ११३ (१. आकाश के जितने भाग में जीव पुद्गल आदि षट् द्रव्य देखे जांय सो लोक है और उसके चारों तरफ शेष अनन्त आकाश अलोक है, ऐसा लोक का निरुक्ति अर्थ है। २. अथवा षट् द्रव्यों का समवाय लोक है)।

दे० लोकान्तिक ।१। (३. जन्म-जरामरण रूप यह संसार भी लोक कहलाता है।)

रा. वा. ।५।१२।१०-१३।४५५।२० यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः ।१०। कः पुनरसौ। आत्मा। लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः ।११। सर्वज्ञेनानन्ताप्रतिहदकेवलदर्शनेन लोक्यते यः स लोकः। तेन धर्मादीनामपि लोकत्वं सिद्धम् ।१३।—जहाँ पुण्य व पाप का फल जो सुख-दुःख वह देखा जाता है सो लोक है इस व्युत्पत्तिके के अनुसार लोक का अर्थ आत्मा होता है। जो पदार्थों को देखे व जाने सो लोक इस व्युत्पत्ति से भी लोक का अर्थ आत्मा है। आत्मा स्वयं अपने स्वरूप का लोकन कर-

ता है अतः लोक है। सर्वज्ञ के द्वारा अनन्त व अप्रतिहत केवलदर्शन से जो देखा जाये सो लोक है। इस प्रकार धर्म आदि द्रव्यों का भी लोकपना सिद्ध है।

२. लोक का आकार

ति. प. ।१।१३७-१३८ हेट्ठिमलोयायारो वेत्तासणसण्णिहो सहावेण। मज्झिमलोयायारो उब्भियमुरवेण होइ सरिसत्तो। संठाणो एदाणं लोयाणं एण्हिं साहेमि ।१३८। इन (उपरोक्त) तीनों में से अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत्रासन के सदृश है, और मध्य लोक का आकार खड़े किये हुये आधे मृदंग के ऊर्ध्वभाग के समान है।१३७। ऊर्ध्व लोक का आकार खड़े किये हुये मृदंग के सदृश है।१३८। (ध. ४।१.३.२। गा०६।११) (त्रि. सा. ६) : (ज. प. ।८।४-६) : (द्र. सं.। टी.। टी. ।३५।११२।११) । ध. ४।१. ३. २। गा. ७ ११ तलरुक्ख संठाणो।७।—यह लोक ताल वृक्ष के आकार वाला है।

ज. प. प्र.। २४ प्रो० लक्ष्मीचन्द—मिस्र देश के गिरजे में बने हुये महास्तूप से यह लोकाकाश का आकार किंचित् समानता रखता प्रतीत होता है।

३. लोक का विस्तार

ति. प. ।१।१४९-१६३ सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढं। पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे सत्त येक्कपंचेक्का।१४९। चोद्दसरज्जुपमाणो उच्छेहो होदि सयललोगस्स। अद्धमुरज्जस्सुदवो समग्गमुखोदयसरिच्छो।१५०। व हेट्ठिम मज्झिमउवरिमलो उच्छेहो कमेण रज्जूवो। सत्तय जायणलक्खं जोयणलक्खूणसगरज्जू।१५१। इह रयणसक्करावालुपंकधूमतममहातमादिपहा। सुरवद्धस्मि महीओ सत्त च्चिय रज्जु अन्तरिआ।१५२। घम्माव सामेघाअंजणरिट्ठाण उब्भमघवीओ माघविया इय ताणं पुढवीणं वोत्तणामाणि।१५२।। मज्झिम जगस्सहेट्ठिमभागादो णिग्गदो पढमरज्जू। सक्करपहपुण्वीए हेट्ठिमभागम्मि णिट्ठादि।१५४। तत्तो दोई रज्जू वालुवपहहेट्ठि समप्पेदि। तह य तइज्जा रज्जू पंकपहहेट्ठास्स भागम्मि।१५५। धूमपहाए हेट्ठिम भागम्मि समप्पदे तुरिय रज्जू। तह पंचमिया रज्जू तमप्पहाहेट्ठिमपएसे।१५६। महतमहेट्ठिमयंते छट्ठी हि समप्पदे रज्जू तत्तो सत्तमरज्जू लायस्स तलम्मि णिट्ठादि।१५७। मज्झिमजगस्य उवरिमभागादु दिवड्ढरज्जुपरिमाणं। इगिजोयण लक्खूणं सोहम्मविमाण धयदंडे।१५८। वच्चदि दिवड्ढरज्जू माहिंदसणक्कुमारउवरिम्मि। णिट्ठादि अद्धरज्जू बभुत्तर उड्ढभागम्मि।१५९। अवसादि अद्धरज्जू काविट्ठस्सोवरिट्ठभागम्मि। स च्चिय महसुक्कोवरि सहसारोवरि अ स च्चेय।१६०। तत्तो य अद्धरज्जू आणदकप्पस्स उवरिमपएसे। स य आरणस्स कप्पस्स उवरिमभागम्मि गेविज्जं।१६१। तत्तो उवरिमभागे णवाणुत्तरओ होंति एक्करज्जूवो। एवं उवरिमलोए रज्जुविभागो समुद्दिट्ठं।१६२। णियणिय चरिमिंदयदंडग्गं कप्प भूमिअवसाणं कप्पादीदमहीए विच्छेदो लोयविच्छेदो।१६३।

दक्षिण और उत्तर भाग में लोक का आयाम जग श्रेणी प्रमाण अर्थात् सात राजू है। पूर्व और पश्चिम भाग में भूमि और मुख का व्यास क्रम से सात, एक, पाँच और एक राजु है। तात्पर्य यह है कि लोक की मोटाई सर्वत्र सात राजू है और विस्तार क्रम से लोक के नीचे सात राजू, मध्यलोक में एक राजू ब्रह्म स्वर्ग पर पाँच राजू और लोक के अन्त में एक राजू है।१४९। २.) सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। अर्द्ध मृदंग की ऊँचाई सम्पूर्ण मृदंग की ऊँचाई के सदृश है। अर्थात् अर्द्धमृदंग सदश अधोलोक जैसे सात राजू ऊँचा है। उसी प्रकार ही पूर्ण मृदंग सदृश ऊर्ध्वलोक भी सात ही राजू ऊँचा है।१५०। क्रम से अधोलोक की ऊँचाई सात राजू, मध्यलोक की ऊँचाई १००,००० योजन और ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजू है।१५१। (ध. ४।१, ३, २। गा. ८।११), (त्रि. सा. ।१३३) (ज. प. ।४।११, १६-१७)। ३. तहां भी तीनों लोकों में से अर्द्धमृदंगाकार अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा और महातमप्रभा ये सात पृथ्वीयाँ एक राजू के अन्तराल से हैं।१५२। धर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माधवी ये इन उपर्युक्त पृथ्वियों के अपरनाम हैं। १५३। मध्यलोक के अधोभाग से प्रारम्भ होकर पहला राजू शर्कराप्रभा पृथ्वी के अधोभाग में समाप्त होता है।१५४। इसके आगे दूसरा राजू प्रारम्भ होकर वालुकाप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है। तथा तीसरा राजू पंकप्रभा के अधोभाग में।१५५। चौथा धूम प्रभा के अधोभाग में, पाँचवाँ तमः प्रभा के अधोभाग में।१५६।

और छठा राजू महातमःप्रभा के अन्त में समाप्त होता है। इससे आगे सातवां राजू लोक के तलभाग में समाप्त होता है।१५७। (इस प्रकार अधोलोक की ७ राजू ऊँचाई का विभाग है।) ४. रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भागों में से खरभाग १६००० यो० पंक भाग ८४००० योजन और अब्बहुल भाग ८०,००० योजन मोटे हैं। दे. रत्नप्रभा/२। ५. लोक में मेरु के तलभाग से उसकी चोटी पर्यन्त १००,००० योजन ऊँचा व १ राजू प्रमाण विस्तार युक्त मध्यलोक है। इतना ही तिर्यक्लोक है। (- दे. तिर्यंच/३/१)। मनुष्यलोक चित्रा पृथ्वी के ऊपर से मेरु की चोटी तक ९९००० योजन विस्तार तथा अढाई द्वीप प्रमाण ४५,००,००० योजन विस्तार युक्त है। (दे. मनुष्य/४) ६. (चित्रा पृथ्वी के नीचे खर व पंक भाग में १००,००० यो. तथा चित्रा पृथ्वी के ऊपर मेरु की चोटी तक ९९००० योजन ऊँचा और एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त भावनलोक है। –दे. लोक/२/९। इसी प्रकार व्यन्तर लोक भी जानना। दे. लोक/२/१०। चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर जाकर ११० योजन बाहल्य व १ राजू विस्तार युक्त ज्योतिष लोक है। -दे. ज्योतिष/२/१)। ७. मध्यलोक के ऊपरी भाग से सौधर्म विमान का ध्वजदण्ड १००,००० योजन कम १½ राजू प्रमाण ऊँचा है। ।१५८। इसके आगे १½ राजू माहेन्द्र व सनत्कुमार स्वर्ग के ऊपरी भाग में, १/२ राजू महाशुक्र के ऊपरी भाग में, १/२ राजू सहस्रार के ऊपरी भाग में।१६०। १/२ राजू आनत के ऊपरी भाग में और १/२ राजू आरण-अच्युत के ऊपरी भाग में समाप्त हो जाता है।१६१। उसके ऊपर एक राजु की ऊँचाई में नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, और ५ अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक में ७ राजु का विभाग कहा गया।१६२। अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक-विमान सम्बन्धी ध्वजदण्ड के अग्रभाग तक उन-उन स्वर्गों का अन्त समझना चाहिये। और कल्पातीत भूमिका जो अन्त है वही लोक का भी अन्त है। ।१६३। ८. (लोक शिखर के नीचे ४२५ धनुष और २१ योजन मात्र जाकर अन्तिम सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक स्थित है (दे. स्वर्ग/५/१) सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के ध्वजदण्ड से १२ योजन मात्र ऊपर जाकर अष्टम पृथ्वी है। वह ८ योजन मोटी व एक राजू प्रमाण विस्तृत है। उसके मध्य ईषत् प्राग्भार क्षेत्र है। वह ४५,००,००० योजन विस्तार युक्त है। मध्य में ८ योजन और सिरों पर केवल अंगुल प्रमाण मोटा है। इस अष्टम पृथ्वी के ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धि लोक है दे. मोक्ष/१/७)।

राजुके सातवें भाग को तीन, छः, दो, पांच, एक, चार और सात से गुणा करने पर वंशा आदिक में स्तम्भों के बाहिर छोटी भुजाओं के विस्तार का प्रमाण निकलता है।

$\frac{३}{७}$; $\frac{६}{७}$; $\frac{२}{७}$; $\frac{५}{७}$; $\frac{१}{७}$; $\frac{४}{७}$; $\frac{७}{७}$ रा०

लोक के अन्त तक अर्ध भाग सहित पांच धनराजु और सातवीं पृथ्वी तक ढाई धनराजु प्रमाण घनफल होता है।

$\frac{३}{७}+\frac{४}{७}\div२\times१\times७=\frac{७}{२}$ घनराजु;

$\frac{४}{७}\times\frac{१}{७}\div२\times१\times७=\frac{५}{२}$ घ० रा०

छठवीं पृथ्वी तक बाह्य और आभ्यन्तर दोनों क्षेत्रों का मिश्र घन फल दो से विभक्त तेरह घनराजु प्रमाण है।

$\frac{८}{७}+\frac{५}{७}\div२\times१\times७=\frac{१३}{२}$ घ० रा०

छठवीं पृथ्वी तक जो बाह्य क्षेत्र का घनफल एक बटे छह ($\frac{१}{६}$) घनराजु होता है, उसे उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों के जोड़ रूप घनफल ($\frac{१३}{२}$) घ० रा० में से घटा देने पर शेष एक त्रिभाग ($\frac{१}{३}$) सहित छह घनराजु प्रमाण आभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल समझना चाहिये।

$\frac{१}{७}\div२\times\frac{१}{३}\times७=\frac{१}{६}$ घ० रा० बाह्य क्षेत्र का घनफल;

$\frac{१३}{२}-\frac{१}{६}=\frac{३८}{६}$ घ० रा० अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल।

धूमप्रभापर्यन्त घननफल का जोड़ साढ़े तीन घनराजु बतलाया गया है। और पंकप्रभा के अन्तिम भाग तक एक त्रिभाग ($\frac{१}{३}$) कम एक घनराजु प्रमाण घनफल है।

$\frac{५}{७}+\frac{२}{७}\div२\times१\times७=\frac{७}{२}$ घ० रा०; $\frac{२}{७}\div२\times२=\frac{२}{३}\times७$ $=\frac{२}{३}$ घ० रा० बाह्य क्षेत्र का घनफल।

चतुर्थ पृथ्वीपर्यन्त अभ्यन्तर भाग में घनफल का प्रमाण एक बटे छह ($\frac{१}{६}$) कम सात घनराजु है।

$\frac{६}{७}+\frac{६}{७}\div२\times१\times७-\frac{२}{३}=\frac{४१}{६}$ घ० रा० अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल।

अर्ध ($\frac{१}{२}$) घनराजु को नौ से गुणा करनें पर जो गुणनफल

लोक का वर्णन

(हरिवंश पुराण के आधार पर)

सब ओर से जिसका अनन्त विस्तार है, जिसके अपने देश भी अनन्त हैं तथा जो अन्य द्रव्यों से रहित है वह लोकाकाश कहलाता है। यतश्च उसमें जीवाजीवात्मक अन्य र्थ नहीं दिखाई देते हैं इसलिए वह अलोकाकाश इस नाम प्रसिद्ध है। गति और स्थिति में निमित्तभूत धर्मास्तिकाय र्मास्तिकाय का अभाव होने से अलोकाकाश में जीव और ाल की न गति ही है और न स्थिति ही है। उस अलोका- के मध्य में असंख्यात प्रदेशी तथा लोकाकाश से मिश्रित दि लोक स्थित है। काल द्रव्य तथा अपने अवान्तर ार से सहित अन्य समस्त पंचास्तिकाय यतश्च इसमें ई देते हैं इसलिए यह लोक कहलाता है। यह लोक नीचे के मध्य में वेत्रासन मृदंग और बहुत बड़ी झालर के है अर्थात् अधोलोक वेत्रासन—मूंठा के समान है, क मृदंग के तुल्य है और मध्यलोक जिसे तिर्यक् लोक भी झालर के समान है। नीचे आधा मृदग रखकर उस पूरा मृदंग रखा जाय तो जैसा आकार होता है वैसा का आकार है किन्तु विशेषता यह कि यह लोक चतु- ीत् चौकोर है। अथवा कमर पर हाथ रख तथा पर अचल स्थिर खड़े हुए मनुष्य का जो आकार है उसी ो यह लोक धारण करता है। अपने विस्तार की अपेक्षा नीचे सात रज्जु प्रमाण है, फिर क्रम-क्रम से प्रदेशों ते-होते मध्यम लोक के यहां एक रज्जु विस्तृत रह । तदनन्तर उसके आगे प्रदेश हानि होते-होते ब्रह्म- र स्वर्ग के समीप पांच रज्जु प्रमाण है। तदनन्तर उसके प्रदेश हानि होते-होते लोक के अन्त में एक रज्जु प्रमाण तृत रह जाता है। तीनों लोकों की लम्बाई चौदह रज्जु ण है। सात रज्जु सुमेरु पर्वत के नीचे और सात रज्जु ऊपर है। चित्रा पृथिवी के अधोभाग से लेकर द्वितीय ी के अन्त तक एक रज्जु समाप्त होती है, इसके आगे तृतीय पृथिवी के अन्त तक द्वितीय रज्जु, चतुर्थ पृथिवी के अन्त तक पंचम रज्जु, सप्तम पृथिवी के अन्त तक षष्ठ रज्जु और लोक के अन्त तक सप्तम रज्जु समाप्त होती है अर्थात् चित्रा पृथिवी के नीचे छह रज्जु की लम्बाई तक सात पृथिवियां और उसके नीचे एक रज्जु के विस्तार में निगोद तथा वातवलय हैं। यह तो चित्रा पृथिवी के नीचे का विस्तार बतलाया अब इसके ऊपर ऐशान स्वर्ग तक डेढ़ रज्जु उसके आगे माहेन्द्र स्वर्ग के अन्त तक फिर डेढ़ रज्जु, फिर कापिष्ट स्वर्ग तक एक रज्जु तदनन्तर सहस्त्रार स्वर्ग तक एक रज्जु. उसके आगे आरण अच्युत स्वर्ग तक एक रज्जु और उसके ऊपरऊर्ध्व लोक के अन्त तक एक रज्जु इस प्रकार कुल सप्त रज्जु समाप्त होती है।

चित्रा पृथिवी के नीचे प्रथम रज्जु के अन्त में जहां दूसरी पृथिवी समाप्त होती है वहां लोक के जानने वाले आचार्यों ने अधोलोक का विस्तार एक रज्जु तथा द्वितीय रज्जु के सात भागों में से छह भाग प्रमाण बतलाया है। द्वितीय रज्जु के अन्त में जहां तीसरी पृथिवी समाप्त होती है वहां अधोलोक का विस्तार दो रज्जु पूर्ण और एक रज्जु के सात भागों में से पांच भाग प्रमाण बतलाया है। तृतीय रज्जु के अन्त में जहां चौथी पृथिवी समाप्त होती है वहां अधोलोक का विस्तार तीनरज्जु और एक रज्जु के सात भागों में से चार भाग प्रमाण बतलाया है। चतुर्थ रज्जु के अन्त में जहां पांचवीं पृथिवी समाप्त होती है, वहां अधोलोक का विस्तार चार रज्जु और एक रज्जु के सात भागों से तीन भाग प्रमाण कहा गया है, पंचम रज्जु के अन्त में जहां छठवीं पृथिवी समाप्त होती है, वहां अधोलोक का विस्तार पांच रज्जु और एक रज्जु के सात भागों में से दो भाग प्रमाण बतलाया है, षष्ठ रज्जु के अन्त में जहां सातवीं पृथिवी समाप्त होती है वहां अधोलोक का विस्तार छह रज्जु और एक रज्जु के सात भागों

ा, उतना तीसरी पृथ्वीपर्यन्त क्षेत्र के घनफल का प्रमाण र दूसरी पृथ्वीपर्यन्त क्षेत्र का घनफल डेढ़ घनराजु प्रमाण है। इस सब घनफल को जोड़ कर दोनों तरफ के घनफल को लाने के लिये उसे दुगुणा करना चाहिये।

लोक का वर्णन

लोक अलोक आकाश माँहि थिर निराधार जानों।
पुरुष रूप कर कटी भये षट् द्रव्यनसों मानो।
इसका कोइ न करता हरता अमिट अनादि है।
जीवरु पुद्गल नाचे यामें, कर्म उपाधी है॥

पाप पुण्य सों जीव जगत में, नित सुख दुख भरता।
अपनी करनी आप भरे, सिर औरन के धरता।
मोह कर्म को नाश मेटकर, सब जग की आसा।
निजपद में थिर होय, लोक के सीस करो वासा॥

$\frac{८}{७} \times \frac{३}{७} \div २ \times १ \times ७ = \frac{१२}{७}$ घ० रा० ; $\frac{३}{७}$

$\frac{३}{७} \div २ \times १ \times ७ = \frac{३}{२}$ घ० रा०

योग—$\frac{११}{२} + \frac{४}{२} + \frac{१}{६} + \frac{३८}{६} + \frac{३}{२} + \frac{१}{३} + \frac{४१}{६} + \frac{१२}{७} + \frac{३}{२} = \frac{१८९}{६}$;
$\frac{१८९}{६} \times २ = \frac{३७८}{६} = ६३$ घनराजु।

उपर्युक्त घनफल को दुगुणा करने पर दोनों (पूर्व-पश्चिम) तरफ का कुल घनफल त्रेसठ घनराजु प्रमाण होता है। इसमें सब अर्थात् पूर्ण तक राजु प्रमाण विस्तार वाले समस्त (१९) क्षेत्रों का घनफल जो एक सौ तेतीस घनराजु है, उसे जोड़ देने पर चार कम दो सौ अर्थात् एक सौ छ्यानवे घनराजु प्रमाण कुल अधोलोक का घनफल होता है।

६३ + १३३ = १९६ घनराजु।

ऊर्ध्वलोक के नीचे व ऊपर मुख का विस्तार एक एक राजु, भूमि का विस्तार पांच राजु और ऊँचाई (मुख से भूमि तक) जग श्रेणी के अर्द्धभाग अर्थात् साढ़े तीन राजु मात्र है।

ऊपर व नीचे मुख १; भूमि ५; उत्सेध-भूमि से नीचे $३\frac{१}{२}$; ऊपर $३\frac{१}{२}$ राजु।

भूमि में से मुख के प्रमाण को घटाकर शेष में ऊंचाई का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना प्रत्येक राजु पर मुख की अपेक्षा वृद्धि और भूमि की अपेक्षा हानि का प्रमाण होता है। वह प्रमाण सात से विभक्त आठ अंकमात्र अर्थात् आठ बटे सात होता है।

भूमि ५; मुख १; ५ − १ = ४; $४ \div \frac{७}{२} = \frac{८}{७}$ प्रत्येक राजु पर क्षय और वृद्धि का प्रमाण।

उस क्षय और वृद्धि के प्रमाण को इच्छानुसार अपनी अपनी ऊंचाई से गुणा करने पर जो कुछ गुणनफल प्राप्त हो उसे भूमि में से कम करने अथवा मुख में जोड़ देने पर विवक्षित स्थान में व्यास का प्रमाण निकलता है।

उदाहरण—सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्प का विस्तार—

ऊँचाई राजु ३; $(३ \times \frac{८}{७}) + १ = \frac{३१}{७} = ४\frac{३}{७}$ राजु।

अथवा; भूमि से कल्प की नीचाई राजु $\frac{१}{२}$; $५ - (\frac{१}{२} \times \frac{८}{७}) = \frac{३१}{७} = ४\frac{३}{७}$ राजु।

श्रेणी को आठ से गुणा करके उसमें उन्नचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना ऊर्ध्व लोक के व्यास की वृद्धि और हानि प्रमाण है।

७ × ८ = ५६; $५६ \div ४९ = \frac{८}{७}$ क्ष० वृ० का प्रमाण।

राजु के सातवें भाग को क्रम से दश स्थानों में रखकर उसको सात उन्नीस, इकतीस, पंतीस, इकतीस, सत्ताईस, तेईस, उन्नीस, पन्द्रह और सात से गुणा करने पर ऊपर के क्षेत्रों का व्यास निकलता है।

दश उपरिम क्षेत्रों के अधोभाग में विस्तार का क्रम—

तीन लोक
तीन लोक
रत्न प्रभा
मध्य लोक
वात वलय
शर्करा प्रभा दूसरा नरक
तीसरा नरक बालुकाप्रभा
चौथा नरक
पांचवा नरक
धूमप्रभा
सातवीं नरक
महातमप्रभा
नि गो द
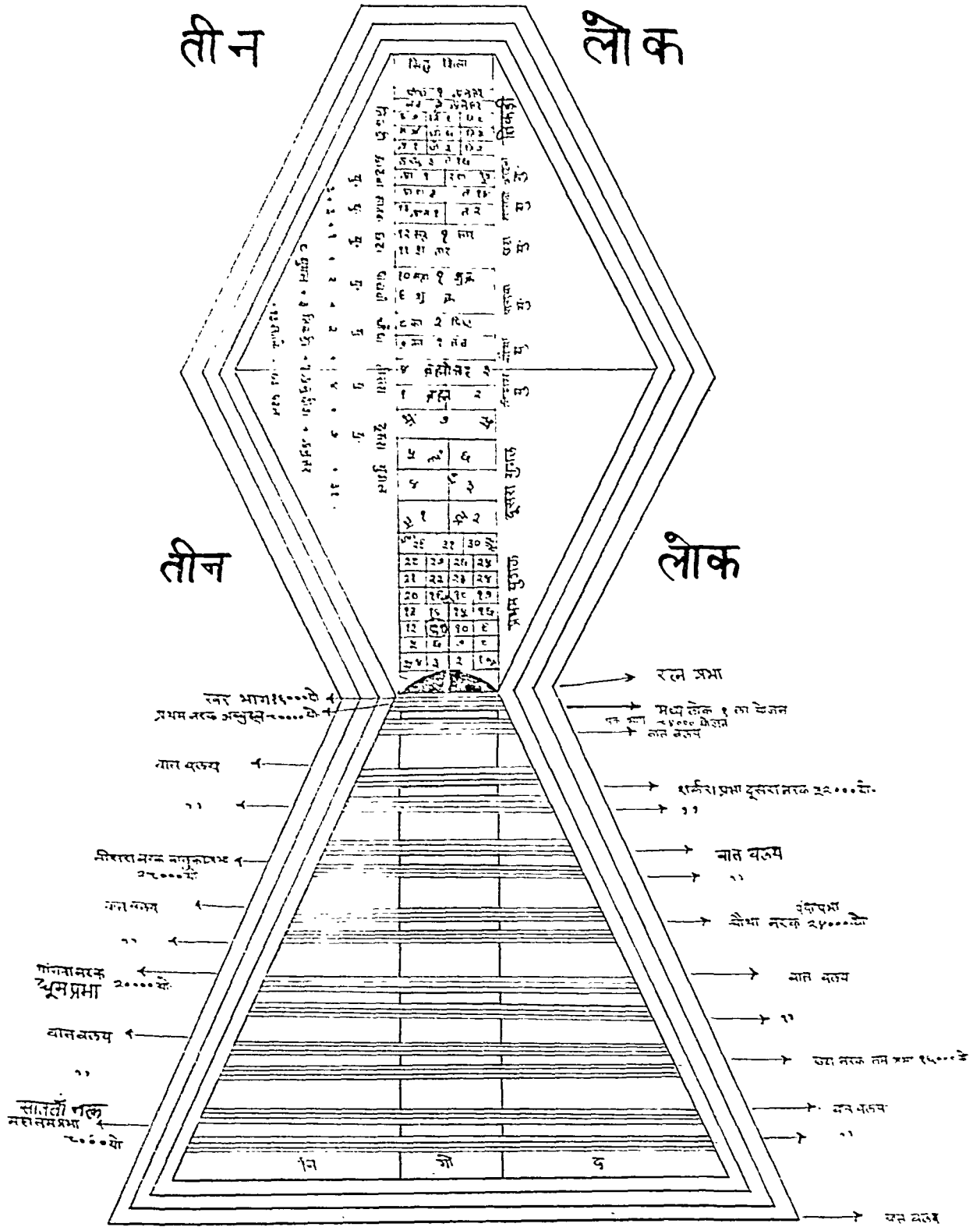
में से एक भाग प्रमाण है तथा सप्तम रज्जु के अन्त में जहां लोक समाप्त होता है वहां अधोलोक का विस्तार सात रज्जु प्रमाण कहा गया है।

चित्रा पृथिवी के ऊपर डेढ़ रज्जु की ऊंचाई पर जहां दूसरा ऐशान स्वर्ग समाप्त होता है वहां लोक का विस्तार दो रज्जु पूर्ण और एक रज्जु के सात भागों में से पांच भाग प्रमाण कहा गया है। उसके ऊपर डेढ़ रज्जु और चलकर जहां माहेन्द्र स्वर्ग समाप्त होता है, वहां लोक का विस्तार चार रज्जु और एक रज्जु के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण बताया गया है। उसके आगे आधी रज्जु और चलकर जहां ब्रह्मोत्तर स्वर्ग समाप्त होता है। वहां लोक का विस्तार पांच रज्जु प्रमाण कहा गया है। उसके ऊपर आधी रज्जु और चलकर जहां कापिष्ट स्वर्ग समाप्त होता है वहां लोक का विस्तार चार रज्जु और एक रज्जु के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण बतलाया गया है। उसके आगे आधी रज्जु चलकर जहां महाशुक्र स्वर्ग समाप्त होता है वहां लोक का विस्तार तीन रज्जु और एक रज्जु के सात भागों में से छह भाग प्रमाण कहा गया है। इसके ऊपर आधी रज्जु चलकर जहां सहस्त्रार स्वर्ग का अंत आता है वहां लोक का विस्तार तीन रज्जु और एक रज्जु के सात भागों में से दो भाग प्रमाण बतलाया गया है। इसके आगे आधी रज्जु और चल कर प्राणत स्वर्ग का अन्त आता है वहां लोक का विस्तार दो रज्जु और एक रज्जु के सात भागों में से पांच भाग प्रमाण बतलाया है इसके ऊपर आधी रज्जु और चलकर जहाँ अच्युत स्वर्ग समाप्त होता है वहां लोक का विस्तार दो रज्जु और एक रज्जु के सात भागों में से एक भाग प्रमाण बतलाया है और इसके आगे सातवीं रज्जु के अन्त में जहां लोक की सीमा समाप्त होती है वहां लोक का विस्तार एक रज्जु प्रमाण कहा गया है। तीनों लोकों में अधोलोक तो पुरुष की जंघा तथा नितम्ब के समान है, तिर्यग्लोक कमर के सदृश है, माहेन्द्र स्वर्ग का अन्त मध्य अर्थात् नाभि के समान है, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग छाती के समान है, तेरहवां, चौदहवां, स्वर्ग भुजा के समान है, आरण अच्युत स्वर्ग स्कन्ध के समान है, नव ग्रैवेयक ग्रीवा के समान है, अनुदिश उन्नत दाढ़ी के समान है, पंचानुत्तर विमान मुख के समान है, सिद्ध क्षेत्र ललाट के समान है और जहां सिद्ध जीवों का निवास है ऐसा आकाश प्रदेश मस्तक के समान है। जिस के मध्य में जीवादि समस्त पदार्थ स्थित हैं ऐसा यह लोक रूपी पुरुष अपौरुषेय ही है—अकृत्रिम ही है। घनोदधि, घनवात और वातवलय तनुवात ये तीनों वातवलय इस लोक को सब ओर से घेरकर स्थित हैं। आदि का घनोदधि गोमूत्र के वर्ण के समान है, बीच का घनवातवलय मूंग के समान वर्ण वाला है और अन्त का तनुवातवलय परस्पर मिले हुए अनेक वर्णोंवाला है। ये वातवलय दण्ड के आकार लम्बे हैं, घनीभूत हैं, ऊपर नीचे तथा चारों ओर स्थिति है, चंचलाकृति हैं तथा लोक के अन्त तक वेष्टित हैं। अधोलोक के नीचे तीनों वलयों में से प्रत्येक का विस्तार बीस-बीस हजार योजन है, और लोक के ऊपर तीनों वातवलय कुछ कम एक योजन विस्तार वाले हैं। अधोलोक के नीचे तीनों वातवलय दण्डाकार हैं और ऊपर चलकर जब ये दण्डाकार का परित्याग करते हैं अर्थात् लोक के आजू बाजू में खड़े होते हैं तब क्रमशः सात, पाँच और चार योजन विस्तार वाले रह जाते हैं। तदन्तर प्रदेशों में हानि होते-होते मध्यम लोक के यहां इसका विस्तार क्रम से पांच, चार और तीन योजन रह जाता है तदनन्तर प्रदेशों में वृद्धि होने से ब्रह्म ब्रह्मोत्तर नामक पांचवे स्वर्ग के अन्त में क्रमशः सात, पांच और चार योजन विस्तृत हो जाते हैं। पुनः प्रदेशों में हानि होने से मोक्ष स्थान के समीप क्रम से पांच, चार और तीन योजन विस्तृत रह जाते हैं। तदनन्तर लोक के ऊपर पहुंच कर घनोदधि वातवलय आधा योजन अर्थात् दो कोस, घनवात वलय उससे आधा अर्थात् एक कोस और तनुवातवलय उससे कुछ कम अर्थात् पन्द्रह से पचहत्तर धनुष प्रमाण विस्तृत है। तीनों वातवलयों से घिरा हुआ यह लोक ऐसा जान पड़ता है मानो महालोक जीतने की इच्छा से कवचों से ही आवेष्टित हुआ हो।

इस लोक में पहली रत्नप्रभा, दूसरी शर्कराप्रभा, तीसरी वालुका प्रभा, चौथी पंकप्रभा, पांचवी, धूमप्रभा, छटवीं तमः प्रभा और सातवीं महतमः प्रभा ये सात भूमियां हैं। ये सातों भूमियां तीनों वातवलयों पर अधिष्ठित तथा क्रम से नीचे नीचे स्थित हैं। अन्त में चलकर ये सभी अधोलोक के नीचे स्थित, घनोदधिवातवलय पर अधिष्ठित हैं। इन पृथिवीयों के

रूढ़ि नाम क्रम से घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माधवी भी हैं पहिली रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मटी है तथा खर भाग पंकभाग और अब्बुल वहल भाग इन तीन भागों में विभक्त है। पहला खर भाग सोलह हजार योजन मोटा है, दूसरा पंक भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और तीसरा अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है। पंक भाग को राक्षसों तथा असुरकुमारों के रत्नमयी देदीप्यमान भवन यथा क्रम से सुशोभित कर रहे हैं। तथा खर भाग को नौ भवनवासियों के महाकान्ति से युक्त, स्वयं जगमगाते हुए नाना प्रकार के भवन अलंकृत कर रहे हैं। खर भाग के १ चित्रा, २ व्रजा, ३ वैडूर्य, ४ लोहितांक, ५ मसारगल्व, ६, गोमेद, ७ प्रवाल, ८ ज्योनि, ९ रस, १० अंजन, ११ अंजनमूल, १२ अंग, १३ स्फटिक, १४ चन्द्राभ, १५ वर्चस्क और १६ बहुशिलामय ये सोलह पटल हैं। इनमें से प्रत्येक पटल की मोटाई एक एक हजार योजन है तथा देदीप्यमान खर भाग इन सोलह पटल स्वरूप ही है। पंक भाग से शेष छह भूमियों का अपना अपना अन्तर अपनी अपनी मोटाई से कम एक एक रज्जु प्रमाण है। समस्त तत्वों को प्रत्यक्ष देखने वाले श्री जिनेन्द्र देव ने द्वितीयादि पृथिवीयों की मोटाई क्रम से वत्तीस हजार, अट्ठाईस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन वतलाई है।

प्रथम पृथवी में असुरकुमार आदि दसभवन वासी देवों के भवनों की संख्या निम्न प्रकार जानना चाहिए—असुर कुमारों के चोंसठ लाख, नाग कुमारों के चौरासी लाख. गरुड़कुमारों के वहत्तर लाख, दीपकुमारों उदधिकुमार, मेघकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार, और विद्युत कुमार इन छह कुमारों के छिहत्तर लाख तया वायुकुमारों के छियानवें लाख भवन हैं। ये सव भवन श्रेणि रूप से स्थित हैं तथा प्रत्येक में एक एक चैत्यालय हैं। पृथिवी के नीचे भूतों के चौदह हजार और राक्षसों के सोलह हजार भवन यथाक्रम से स्थित हैं। जहां मणिरूपी सूर्य की निरन्तर आभा फैली रहती है ऐसे पाताल लोक में असुरकुमार, सुपर्णकुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, दिक्कुमार अग्निकुमार, और वायुकुमार ये दस प्रकार के भवनवासी देव यथायोग्य अपने अपने भवनों में निवास करते हैं। उनमें असुर कुमारों की उत्कृष्टआयु कुछ अधिक एक सागर, नागकुमारों की तीन पल्य, सुपर्णकुमारों की अढ़ाई पल्य द्वीपकुमारों की दो पल्य और शेष छह कुमारों की डढ़ पल्य प्रमाण है। असुरकुमारों की ऊंचाई पच्चीस धनुष, शेप नौ प्रकार के भवनवासियों तथा व्यन्तरों की दस धनुप और ज्योतिषी देवों की सात धनुष है। सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की ऊंचाई सात हाथ है। उसके आगे एक तथा आधा हाथ कम होते होते सर्वार्थसिद्धि में एक हाथ की ऊंचाई रह जाती है। भावार्थ - पहले दूसरे स्वर्ग में सात हाथ, तीसरे चौथे स्वर्ग में छह हाथ, पांचवें, छटवें, सातवें, आठवं, स्वर्ग में पांच हाथ, नौवें, दसवें ग्यारहवें, वारहवें स्वर्ग में चार हाथ तेरहवें, चौदहवें में साढ़े तीन हाथ, पन्द्रहवें सोलहवें स्वर्ग में तीन हाथ, अधोग्रवेयकों में अढ़ाई हाथ, मध्यम ग्रवेयकों में दो हाथ, उपरि ग्रंवेयकों में तथा अनुदिश विमानों में डेढ़ हाथ और अनुत्तर विमानों में एक हाथ ऊंचाई है। गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अव इसके आगे संक्षेप से रत्नप्रभा आदि सातों भूमियों के विलों का यथाक्रम से वर्णन करेंगे।

धर्मा नामक पहिली पृथ्वी के अब्बहुल भाग में ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर नारकियों के विल हैं। यही क्रम शेष पृथ्वियों में भी समझना चाहिये। किन्तु सातवीं पृथ्वी में पैंतीस कोश के विस्तार वाले मध्य देश में विल हैं। पहिली पृथिवी में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरा में

उदाहरण—१. सौ० ई० १/७ ७=१ राजु
२. सा० मा० १/७ १९=१२/७=२ ५/७ रा०;
३. ब्रह्म० ब्रह्मो, १/७ ३१=३१/७=४ ३/७ रा०;
४. ला० का० १/७ ३५=३५/७ रा०;
५. शु० म० १/७ ३१=३१/७=४ ३/७ रा०;
६. श० स० १/७ २७=२१/७=२ ६/७ रा०;
७. अ० प्रा० १/७ २३=२३/७=३ २/७ रा०;
८. आ० अ० १/७ १९=१९/७=२ ५/७ रा०;
९. ग्रैवेयकादि १/७ १५=१५/७=२ १/७ रा०;
१०. लोकान्त में १/७ ७=१ रा.

पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पांचवी में तीन लाख, छठवी में पांच कम एक लाख, सातवी में पांच, और सातों में सब मिलाकर चौरसी लाख बिल हैं। उन पृथ्वीयों में क्रम से तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पांच, तीन और एक प्रस्तार अर्थात् पटल हैं। घर्मा पृथिवी के तेरह प्रस्तारों में क्रम से निम्नलिखित तेरह इन्द्रक बिल हैं।—१. सीमन्तक, २. नारक, ३. रौरुक, ४. भ्रान्त ५. उद्भ्रान्त, ६. सम्भ्रान्त, ७. असम्भ्रांत ८. विभ्रांत, ९. त्रस्त, १०. त्रसित, ११. वक्रान्त, १२. अवक्रान्त और १३. विक्रान्त।

श्री जिनेन्द्र देव ने वंशा नामक दूसरी पृथिवी के प्रस्तारों में निम्नांकित ग्यारह इन्द्रक बिल बताए हैं।—१. तरक २. स्तनक, ३. मनक, ४. वनक, ५. घाट, ६. संघाट, ७. जिह्वा, ८. जिह्वक, ९. लोल, १०. लोलुप और ११. स्तन लोलुप।

तीसरी मेघा पृथिवी के नौ प्रस्तारों में निम्न प्रकार नौ इन्द्रक बिल बतलाये हैं—१. तप्त, २. तपित, ३. तपन ४. तापन, ५. निदाघ, ६. प्रज्वलित, ७. उज्वलित, ८. सज्वलित, ९. सप्रज्वलित। चौथी पृथिवी के सात प्रस्तारों में क्रम से निम्नलिखिति सात इन्द्रक बिल हैं।—१. आर, २. तार ३. मार, ४. वर्चस्क, ५. तमक. ६. खंड, ७. खडखड.।

पांचवी पृथिवी के पांच प्रस्तारों में निम्नलिखित पांच इन्द्रक बिल हैं।—१. तम, २. भ्रम, ३. झष, ४. अन्त ५. तामिस्त्र। ये इन्द्रक बिल नगरों के आकार हैं।

छठी पृथवी में १. हिम, २. वर्दल, ३. लल्लक ये तीन इन्द्रक बिल हैं। सातों पृथिवयों के सब इन्द्रक मिलकर उनचास हैं। ऊपर से नीचे की ओर प्रत्येक पृथिवी में दो दो कम हो जाते हैं। और नीचे से ऊपर की ओर प्रत्येक पृथिवी में दो-दो अधिक हो जाते हैं।

प्रथम पृथिवी के प्रथम प्रस्तार सम्बन्धी सीमान्तक इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं में प्रत्येक में उनचास-उनचास श्रेणि बद्ध बिल है। और ये परस्पर बहुत भारी अन्तर को लिये हुए हैं।

इसी सीमन्तक बिल की चार विदिशाओं में प्रत्येक में अड़तालीस अड़तालीस श्रेणी बद्ध है। इन श्रेणियों तथा श्रेणीबद्ध बिलों के सिवाय बहुत से प्रकीर्णक बिल भी हैं। इन सीमन्तक आदि नरकों में नीचे नीचे क्रम-क्रम से एक एक बिल कम होता जाता है। इस प्रकार सातवी पृथिवी के अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक की चार दिशाओं में एक के केवल चार बिल हैं वहां न श्रेणी है और न प्रकीर्णक बिल हैं। इस प्रकार प्रथम पृथिवी के प्रथम सीमन्तक इन्द्रक की चार दिशाओं में एक सौ छियानवे चार विदिशाओं में एक सौ बानवे और सब मिलाकर तीन सौ अठासी श्रेणिबद्ध बिल हैं। दूसरे प्रस्तार के नारक इन्द्रक की चार दिशाओं में एक सौ बानवे चार विदिशाओं में एक सौ अठासी और सब मिल कर तीन सौ अस्सी श्रेणी बद्ध बिल है। तीसरे प्रस्तार के रौरुक इन्द्रक की चार दिशाओं में एक सौ अठासी, चार विदिशाओं में एक सौ चौरासी, और सब मिलाकर तीन सौ बहत्तर श्रेणी बद्ध बिल है। चौथे प्रस्तार के भ्रान्त नामक इन्द्रक को चार दिशाओं में एक सौ चौरासी और विदिशाओं में एक सौ अस्सी

उनतालीस, पचहत्तर, तेतीस, फिर तेतीस, उनतीस, पच्चीस, इक्कीस, सत्तरह और बाईस, इनमें से प्रत्येक को घनराजु के अर्धभाग से गुणा करने पर मेरु-तल से ऊपर ऊपर क्रम से घनफल का प्रमाण आता है।

उदाहरण—'मुहभूमि जोग दले' इत्यादि के नियम के अनुसार सौधर्मादिक का घनफल इस प्रकार है—

(१) $\frac{१९}{७}+\frac{७}{७}\div२\times\frac{३}{२}\times७=\frac{३९}{२}=१९\frac{१}{२}$ रा.

(२) $\frac{३१}{७}+\frac{१९}{७}\div२\times\frac{३}{२}\times७=\frac{७५}{२}=३७\frac{१}{२}$ रा.

(३) $\frac{३१}{७}+\frac{३५}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=\frac{३३}{२}=१६\frac{१}{२}$ रा.

(४) $\frac{३५}{७}+\frac{३१}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=\frac{३३}{२}=१६\frac{१}{२}$ रा.

(५) $\frac{३१}{७}+\frac{२७}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=\frac{२९}{२}=१४\frac{१}{२}$ रा.

(६) $\frac{२७}{७}+\frac{२३}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=\frac{२५}{७}=१२\frac{१}{२}$ रा.

(७) $\frac{२३}{७}+\frac{१९}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=\frac{२१}{२}=१०\frac{१}{२}$ रा.

(८) $\frac{१९}{७}+\frac{१५}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=\frac{१७}{२}=८\frac{१}{२}$ रा.

(९) $\frac{१५}{७}+\frac{७}{७}\div२\times१\times७=\frac{७७}{७}=११$ रा.

योग $\frac{३९}{२}+\frac{७५}{२}+\frac{३३}{२}+\frac{३३}{२}+\frac{२९}{२}+\frac{२५}{२}+\frac{२१}{२}+\frac{१७}{२}+\frac{२२}{२}$

$=१४७$ रा. कुल।

ग्रौर सब मिलकर तीन सौ चौसठ श्रेणीवद्ध विल हैं। पांचवे प्रस्तार के उद्भ्रान्त नामक इन्द्रक विल की चार दिशाओं में एक सौ अस्सी विदिशाओं में एक सौ छियत्तर और सब मिलाकर तीन सौ छप्पन श्रेणी वद्ध विल हैं। छठवें प्रस्तार के संभ्रान्त नामक इन्द्रक विल की चार दिशाओं में एक सौ छियत्तर विदिशाओं में एक सौ वहत्तर और सब मिलाकर तीन सौ अड़तालीस श्रेणी वद्ध विल हैं। सातवें प्रस्तार के असंम्भ्रान्त नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में एक सौ वहत्तर विदिशाओं में एक सौ अडसठ और सब मिलाकर तीन सौ चालीस श्रेणी वद्ध विल हैं। आठवें प्रस्तार के विभ्रान्त नामक इन्द्रक विल की चार दिशाओं में एक सौ अडसठ विदिशाओं में एक सौ चौसठ और सब मिलाकर तीन सौ वत्तीस श्रेणी वद्ध विल हैं। नौवे प्रस्तार के त्रस्त नामक इन्द्रक विल की चार दिशाओं में एक सौ चौसठ, विदिशाओं में एक सौ, साठ और सब मिलाकर तीन सौ चौवीस श्रेणी वद्ध विल हैं। दसवें प्रस्तार के त्रसित नामक इद्रक विल की चार दिशाओं में एक सौ साठ, विदिशाओं में एक सौ छप्पन और सब मिलाकर तीन सौ सोलह श्रेणी वद्ध विल हैं। ग्यारहवें प्रस्तार के वक्रान्त नामक इन्द्रक विल की चार दिशाओं में एक सौ छप्पन, विदिशाओं में एक सौ वावन, और सब मिलाकर तीन सौ आठ श्रेणीवद्ध विल हैं।

वारहवें प्रस्तार के अवक्रान्त नामक इन्द्रक विल की चार दिशाओं में एक सौ वावन, विदिशाओं में एक सौ अडतालीस और सब मिलाकर तीन सौ श्रेणी वद्ध विल हैं। और तेरहवें प्रस्तार के विक्रान्त नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में एक सौ अडतालीस विदिशाओं में एक सौ चौवालीस और दोनों के सब मिला कर दो सौ वानवें श्रेणीवद्ध विल हैं। इस प्रकार तेरहों प्रस्तारों के समस्त श्रेणी वद्ध विल चार हजार चार सौ वीस इन्द्रक विल तरह और श्रेणीवद्ध तथा इन्द्रक दोनो मिलाकर चार हजार चार सौ तेंतीस विल हैं। इनके सिवाय उनतीस लाख पचानंवे हजार पांच सौ सडसठ प्रकीर्णक विल हैं। इस प्रकार सब मिला कर प्रथमपृथ्वी में तीस लाख विल हैं।

द्वितीय पृथ्वी के प्रथम प्रस्तार के स्तरक नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में एक सौ चौवालीम, विदिशाओ में एक सौ चालीस और सब मिलाकर दो सौ चौरासी श्रेणी वद्ध विल हैं। द्वितीय प्रस्तार के स्तनक नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में एक सौ चालीस विदिशाओं में एक सौ छत्तीस और सब मिलाकर दो सौ छियत्तर श्रेणी वद्ध विल हैं। तृतीय प्रस्तार के मनक नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में एक सौ छत्तीस विदिशाओं में एक सौ वत्तीस और सब मिलाकर दो सौ अडसठ श्रेणी वद्ध विल हैं। चतुर्थ प्रस्तार के वनक नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में एक सौ वत्तीस, विदिशाओं में एक सौ अट्ठाईस और सब मिलाकर दो सौ साठ श्रेणी वद्ध विल हैं। पंचम प्रस्तार के घाट नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में एक सौ अठाईस, विदिशाओं में एक सौ चौवीस और सब मिलाकर दो सौ वावन विल श्रेणी वद्ध हैं। षष्ठ प्रस्तार के संघाट नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में एक सौ चौवीस, विदिशाओं में एक सौ वीस और सब मिलाकर दो सौ चौवालोस श्रेणीवद्ध विल हैं। सप्तम प्रस्तार के जिह्व नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में एक सौ वीस, विदिशाओं में एक सौ सोलह और सब मिलाकर दो सौ छत्तीस श्रेणी वद्ध विल हैं। अष्टम प्रस्तार के जिह्व नामक इद्रक की चारों दिशाओं में एक सौ सोलह विदिशाओं में एक सौ वारह और सब मिलाकर दो सौ अट्ठाईस श्रेणी वद्ध विल हैं। नवम प्रस्तार के लोल नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में एक

ब्रह्म स्वर्ग के समीप पूर्व-पश्चिम भाग में एक और दो राजु प्रवेश करने पर क्रम से नीचे-ऊपर चार और दो से भाजित जगश्रेणी प्रमाण स्तंभों की ऊंचाई है।

स्तम्भोत्सेध—१ रा. के प्रवेश में ४/७ रा.; २ रा. के प्रवेश में २/७ रा.।

छप्पन से भाजित लोक को दो जगह रखकर उसे क्रम से एक और तीन से गुणा करने पर उपर्युक्त अभ्यन्तर क्षेत्रों का घनफल निकलता है।

३४३ ÷ ५६ × १ = ६ ७/८; ३४३ ÷ ५६ × ३ = १८ ३/८ घ. फ.

इस घनफल को मिलाकर और उसको चार से गुणाकार उसमें मध्य क्षेत्र के घनफल को मिला देने पर पूर्ण ऊर्ध्व लोक का घनफल होता है। यह घनफल तीन से गुणित और सात से

सो बारह, विदिशाओं में एक सौ आठ और सब मिलाकर दो सौ बीस श्रेणी बद्ध विल हैं। दशम प्रस्तार के लोलुप नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में एक सौ आठ, विदिशाओं में एक सौ चार और सब मिलाकर दो सौ बारह श्रेणी बद्ध विल हैं। और एकादश प्रस्तार के स्तन लोलुप नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में एक सौ चार विदिशाओं में सौ और सब मिलाकर दो सौ चार श्रेणी बद्ध विल हैं। इस प्रकार इन ग्यारह प्रस्तारों के श्रेणी बद्ध विल दो हजार छः सौ चौरासी और इन्द्रक विल ग्यारह हैं। तथा दोनों मिलाकर दो हजार छह सौ पचानवें हैं। तथा प्रकीर्णक विल चौबीस लाख सतानवें हजार तीन सौ पांच हैं। इस तरह सब मिलकर पच्चीस लाख विल हैं।

तीसरी पृथ्वी के पहले प्रस्तार सम्बन्धी तप्त नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में सौ, विदिशाओं छियानवें और सब मिलाकर एक सौ छियानवें श्रेणीबद्ध विल हैं। दूसरे प्रस्तार के तपित नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं छियानवें, विदिशाओं में बानवें और दोनों के मिलाकर एक सौ अठासी श्रेणीबद्ध विल हैं। तीसरे प्रस्तार के तपन नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में बानवें, विदिशाओं में अठासी और दोनों के मिलाकर एक सौ अस्सी श्रेणी बद्ध विल है। चौथे प्रस्तार के तापन नामक इन्द्रक की चारों महा दिशाओं में अठासी, विदिशाओं में चौरासी और सब मिलाकर एक सौ बहत्तर श्रेणी बद्ध विल है। पाचवें प्रस्तार के निदाघ नामक इन्द्रक विल की चारों दिशाओं में चौरासी विदिशाओं में अस्सी और दोनों के मिलाकर एक सौ चौसठ श्रेणीबद्ध विल है। छठवें प्रस्तार के प्रज्वलित नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में अस्सी, विदिशाओं में छिहत्तर और दोनों के मिलाकर एक सौ छप्पन श्रेणीबद्ध विल है। सातवें प्रस्तार के उज्वलित नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में छिहत्तर विदिशाओं में बहत्तर और दोनों मिलाकर एक सौ अड़तालीस श्रेणीबद्ध विल हैं। आठवें संज्वलित नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में बहत्तर विदिशाओं में अड़सठ और दोनों के मिलकर एक सौ चालीस श्रेणी बद्ध विल हैं। और नौवें प्रस्तार के संप्रज्वलित नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में अड़सठ विदिशाओं में चौसठ और दोनों के सब मिलाकर एक सौ बत्तीस श्रेणी बद्ध विल हैं। इस प्रकार नौ प्रस्तारों के समस्त श्रेणीबद्ध विल एक हजार चार सौ छिहत्तर हैं। इनमें नौ इन्द्रक विलों की संख्या मिलाने पर एक हजार चार सौ पचासी विल होती है। पहली पृथ्वी में चौदह लाख, अठानवें हजार पांच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक हैं और सब मिलाकर पन्द्रह लाख विल है।

चौथी पृथ्वी के पहले प्रस्तार सम्बन्धी आर नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में चौसठ, विदिशाओं में साठ और दोनों के मिलाकर एक सौ चौबीस श्रेणिबद्ध विल हैं। दूसरे प्रस्तार के तार नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में साठ, विदिशाओं में छप्पन और दोनों के मिलाकर एक सौ सोलह श्रेणिबद्ध विल है। तीसरे प्रस्तार के मार नामक इन्द्रक की चारों महा दिशाओं में छप्पन, विदिशाओं में बावन और दोनों मिलाकर एक सौ आठ श्रेणी बद्ध विल हैं। चौथे प्रस्तार के वर्चस्क नामक इन्द्रक की चारों महादिशाओं में बावन, विदिशाओं में अड़तालीस और दोनों के मिलाकर एक सौ श्रेणी बद्ध विल हैं। पांचवें प्रस्तार के तमक नामक इन्द्रक की चारों महा दिशाओं में अड़तालीस, विदिशाओं में चवालीस और दोनों को मिलाकर सब बानवे श्रेणि बद्ध विल है। छठवें प्रस्तार के खण्ड नामक इन्द्रक की चारों दिसाओं में चवालीस विदिशाओं में चालीस और दोनों के मिलाकर चौरासी श्रेणी बिद्ध विल हैं। और सातवें प्रस्तार के खड खड नामक इन्द्रक की चारों महा दिशाओं में चालीस विदिशाओं में छत्तीस और दोनों को मिलाकर छियत्तर श्रेणि बद्ध विल है। इस प्रकार चौथी भूमि में सात इन्द्रक विलों की संख्या मिलाकर सब इन्द्रक और श्रेणिबद्ध विलों की संख्या सात सौ सात है। इनके सिवाय नौ लाख निन्यानवे हजार दो सौ तिरानवें

भाजित लोक के प्रमाण है।

६$\frac{६}{७}$+१८$\frac{६}{७}$=२४$\frac{३}{७}$; २४$\frac{३}{७}$×४=९८; ९८+४९= १४० रा.।

बराबर २४३×३÷७ रा.।

सोधर्म और ईशान स्वर्ग के ऊपर लोक के एक पार्श्व भाग में छोटी भुजा का विस्तार सात से विभक्त छह राजुप्रमाण है।

माहेन्द्र स्वर्ग के ऊपर अन्त में सात से भाजित पांच राजु और ब्रह्मस्वर्ग के पास उनंचास से भाजित और सात से गुणित

प्रकीर्णक विल हैं। तथा सव मिलाकर दस लाख विल हैं।

पांचवीं पृथ्वी सम्बन्धी प्रस्तार के तम नामक इन्द्रक की चारों महा दिशाओं में छत्तीस, विदिशाओं में वत्तीस और दोनों के मिलाकर अड़सठ श्रेणीवद्ध विल हैं। दूसरे प्रस्तार में भ्रम नामक इन्द्रक की चारों महादिशाओं में वत्तीस विदिशाओं में अट्ठाईस, और दोनों के मिलाकर साठ श्रेणीवद्ध विल है। तीसरे प्रस्तार के ऋषभनामक इन्द्रक की चारों महा दिशाओं में अट्ठाईस विदिशाओं में चौवीस और दोनों मिलाकर वावन श्रेणीवद्ध विलहै। चौथे प्रस्तार के अन्धनामक इन्द्रक की चारों —दिशाओं में चौवीस, विदिशाओं में वीस और दोनों के मिलाकर चवालिस श्रेणी वद्ध विल है। और पाचवें प्रस्तार के तमिस्त्र नामक इन्द्रक की चारों दिशाओं में वीस, विदिशाओं में सोलह और दोनों के मिलाकर छत्तीस श्रेणि वद्ध विल हैं। इस प्रकार पांचवीं पृथ्वी में पांच इन्द्रक विल मिलाकर समस्त इन्द्रक और श्रेणिवद्ध विलों की संख्या दो सौ पैंसठ है। तथा दो लाख निन्यानवें हजार सात सौ पैंतीस प्रकीर्णक विल हैं। और सव मिल कर तीन लाख विल हैं।

छठवी पृथ्वी सम्वन्धि प्रथम प्रस्तार के हिम नामक इन्द्रक की चारो महा दिशाओं में सोलह विदिशाओं में वारह और दोनों के मिलकर अट्ठाईस श्रेणी वद्ध विल है।

दूसरे प्रस्तार के वर्दल नामक इन्द्रक की चारों महा दिशाओं में वारह विदिशाओं में आठ और दोनों के मिलकर वीस श्रेणीवद्ध विल हैं। और तीसरे प्रस्तार के लल्लक नामक इन्द्रक की चारो महा दिशाओं में आठ विदिशाओं में चार और दोनों के मिलकर वारह श्रेणी वद्ध हैं। इस प्रकार छठी पृथ्वी के तीन प्रस्तारों में तीन इन्द्रक की संख्या मिलकर त्रेसठ इन्द्रक और श्रेणीवद्ध विल है। तथा निन्यानवें हजार नौ सौ वत्तीस प्रकीर्णक है। और सव मिलकर पांच कम एक लाख विल हैं। ये सभी विल प्राणीयों के लिये दुःख से सहन करने के योग्य हैं।

सातवी पृथ्वी में एक ही प्रस्तार है और उसके वीच में अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक है उसकी चारो दिशाओं में चार श्रेणी वद्ध विल हैं। इसकी वि दशाओं में विल नहीं है। तथा प्रकीणक विल भी इस पृथ्वी में नहीं हैं। एक इन्द्रक और चार श्रेणी वद्ध दोनों मिलकर पांच विल हैं।

प्रथम पृथिवी के प्रथम प्रस्तार में जो सीमन्तक नाम का इन्द्रक विल है उसकी पूर्व दिशा में काङ्०क्ष, पश्चिम दिशा में महाकाङ्०क्ष, दक्षिण दिशा में पिपास और उत्तर दिशा में अतिपिपास नाम के चार प्रसिद्ध महानरक हैं। ये महानरक इन्द्रक विल के निकट में स्थित हैं तथा दुर्वर्ण नारकियों से व्याप्त हैं। दूसरी पृथिवी के प्रथम प्रस्तार में जो तरक नाम का इन्द्रक विल है। उसकी पूर्व दिशा में अनिच्छ, पश्चिम दिशा में महानिच्छ, दक्षिण दिशा में विन्ध्य और उत्तर दिशा में महाविन्ध्य नाम के प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं। तीसरी पृथिवी के प्रथम प्रस्तार में जो तप्त नाम का इन्द्रक विल है उसकी पूर्व दिशा में दुःख, पश्चिम दिशा में महादुःख, दक्षिण दिशा में वेदना और पश्चिम दिशा में महावेदना नाम के चार प्रसिद्ध महानरक हैं। चौथी पृथिवी के प्रथम प्रस्तार में जो आर नाम का इन्द्रक विल है, उसकी पूर्व दिशा में निःसृष्ट, पश्चिम दिशा में अतिनि सृष्ट, दक्षिण दिशा में निरोध और उत्तर दिशा में महानिरोध नाम के प्रसिद्ध चार प्रसिद्ध महानरक हैं। पांचवीं पृथिवों के प्रथम प्रस्तार में जो तम नाम का इन्द्रक है उसकी पूर्व दिशा में निरुद्ध पश्चिम दिशा में अतिनिरिरुद्ध दक्षिण में विमर्दनऔर उत्तर में महाविमर्दन नाम के चार प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं। छठवों पृथिवी के प्रथम प्रस्तार में जो हिम नाम का इन्द्रकविल है उसको पूर्व दिशा में नील, पश्चिम दिशा में महानील दक्षिण में पक और उतर में महापंक नाम के

जग श्रेणी प्रमाण छोटी भुजा का प्रमाण है।

मा. कल्प रा. $\frac{५}{७}$; ब्र. कल्प. श्रे. $४\frac{१}{६} \times ७ = ७४\frac{७}{६}$ रा.।

कापिष्ठ स्वर्ग के ऊपर अन्त में सात से भाजित पांच राजु, और शुक्र के ऊपर अन्त में सात से भाजित और तीन से गुणित रा. प्रमाण छोटी भुजा का विस्तार है। का. रा. $\frac{५}{७}$; शु. रा. $\frac{३}{७}$।

सहस्रार के ऊपर अन्त में सात से भाजित एक राजु प्रमाण और प्राणत के ऊपर अन्त में सात से भाजित छह राजुप्रमाण छोटी भुजा का विस्तार है।

स. रा. $\frac{१}{७}$; प्रा. रा. $\frac{६}{७}$।

आरण और अच्युत स्वर्ग के पास अन्तिम इन्द्रक विमान के

चार प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं। और सातवीं पृथिवी में जो अप्रतिष्ठान नाम का इन्द्रक है उसकी पूर्व दिशा में काल, पश्चिम दिशा में महाकाल, दक्षिण दिशा में रौरव और उत्तर दिशा में महारौरव नाम के चार प्रसिद्ध महानरक हैं। इस प्रकार सातों पृथिवियों में तेरासी लाख नब्बे हजार, तीन सौ सैंतालिस प्रकीर्णक, नौ हजार छह सौ श्रेणिबद्ध, उनंचास इन्द्रक और सब मिलाकर चौरासी लाख बिल हैं।

प्रथम पृथिवी के तीस लाख बिलों में छह लाख बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं। और चौबीस लाख बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। उसके नीचे दूसरी पृथिवी में पांच लाख संख्यात योजन विस्तार वाले और बारह लाख असंख्यात योजन विस्तार वाले बिल हैं। चौथी पृथिवी में दो लाख बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और आठ लाख असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। पांचवीं पृथिवी में साठ हजार बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और दो लाख चालीस हजार बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। छठवीं पृथिवी में उन्नीस हजार नौ सौ निन्यानवे बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और उन्यासी हजार नौ सौ छियानवे बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। सातवीं पृथिवी में एक अर्थात् बीच का इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तार वाला है और चारों दिशाओं के चार बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। सातों पृथिवियों में जो इन्द्रक बिल हैं वे सब संख्यात योजन विस्तार वाले हैं तथा श्रेणिबद्ध बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णक बिलों में कितने ही संख्यात योजन विस्तार वाले तथा कितने ही असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं इस तरह उभय विस्तार वाले हैं।

अब सातों पृथिवियों के उनंचास इन्द्रक बिलों का विस्तार कहते हैं—उनमें से प्रथम पृथिवी के सीमन्तक इन्द्रक का विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। दूसरे नारक इन्द्रक का विस्तार चवालीस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन तथा एक योजन के तीन भागों में से एक भाग प्रमाण है। तीसरे रौरव इन्द्रक का विस्तार तैंतालीस लाख सोलह हजार छह सौ सड़सठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है। चौथे भ्रान्त नामक इन्द्रक का विस्तार सब ओर से बयालीस लाख पच्चीस हजार योजन है। पांचवें उद्भ्रान्त नामक इन्द्रक का विस्तार इकतालीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण हैं। छठवें सम्भ्रान्त नामक इन्द्रक का विस्तार चालीस लाख इकतालीस हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण हैं। सातवें असंभ्रान्त का इन्द्रक का विस्तार सब ओर से उनतालीस लाख पचास हजार योजन है। आठवें विभ्रान्त नामक इन्द्रक का विस्तार अड़तालीस लाख अठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन के तीन भागों में से एक भाग प्रमाण है। नौवें त्रस्त नामक इन्द्रक का विस्तार सैंतीस लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है। दशवें त्रसित नामक इन्द्रक का विस्तार छत्तीस लाख पचहत्तर हजार योजन है। ग्यारहवें वक्रान्त नामक इन्द्रक का विस्तार पैंतीस लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में से एक भाग प्रमाण है। बारहवें अवक्रान्त नामक इन्द्रक का विस्तार सब ओर से चौंतीस लाख एकानवे हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है। और तेरहवें विक्रान्त नामक इन्द्रक का विस्तार चौंतीस लाख योजन है।

द्वितीय पृथिवी के पहले स्तरक नामक इन्द्रक का विस्तार

ध्वज-दंड के समीप छोटी भुजा का विस्तार सात से भाजित चार राजुप्रमाण है।

आ. अ. रा. $\frac{४}{७}$।

सौधर्म युगल तक त्रिकोण क्षेत्र का घनफल अर्ध राजु से कम पांच घनराजु प्रमाण है। (सनत्कुमारयुगलतक वाह्य और आभ्यन्तर दोनों क्षेत्रों का मिश्र घनफल साढ़े तेरह घनराजुप्रमाण है।) इस मिश्र घनफल में से वाह्य त्रिकोण क्षेत्र का घनफल ($\frac{२५}{८}$) कम कर देने पर आठ से भाजित तेरासी घनराजुप्रमाण अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल होता है। $\frac{६}{७} \div २ \times \frac{३}{२} \times ७ = \frac{९}{२}$ घ. फ. (सौधर्म) $\frac{५}{७} \div २ \times \frac{५}{४} \times ७ = \frac{२५}{८}$ सन क तक वा० क्षे० का० घ० फ०। $\frac{१२}{७} + \frac{६}{७} \div २ \times \frac{३}{२} \times ७ = \frac{२७}{२}$ वा० और आ० क्षेत्र का मिश्र घनफल $\frac{२७}{२} - \frac{२५}{८} = \frac{८३}{८}$ आ० क्षेत्र का घनफल।

तैंतीस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतोस योजन और एक योजन के तीन भागों में से एक भाग प्रमाण है दूसरे स्तनक नामक इन्द्रक का विस्तार वत्तीस लाख सोलह् हजार छह् सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग हैं। तीसरे मनक इन्द्रक का विस्तार इकत्तीस लाख पच्चीस हजार योजन है। चौथे वनक इन्द्रक का विस्तार तीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतोस योजन और एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण है। पांचवें घाट नामक इन्द्रक का विस्तार उनतीस लाख इकतालीस हजार छः सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है। छठवें संघाट नामक इन्द्रक का विस्तार अट्ठाईस लाख पचास हजार योजन है। सातवें जिह्व नामक इन्द्रक का विस्तार सत्ताईस लाख अठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण है। आठवें जिह्वक इन्द्रक का विस्तार छव्वीस लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है। नौवे लोल इन्द्रक का विस्तार पच्चीस लाख पचहत्तर हजार योजन है। दसवें लोलुप नामक इन्द्रक का विस्तार चौवीस लाख तेरासी हजार तीन सौ तेंतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण है। और ग्यारवें स्तनलोसुप इन्द्रक का विस्तार तेईस लाख एकानवे हजार छह सौ छियासठ योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है।

तीसरी पृथिवी के पहले तप्त नामक इन्द्रक का विस्तार तेईस लाख योजन है। दूसरे तपित इन्द्रक का विस्तार वाईस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतोस योजन और एक योजन के तीन भागों के एक भाग प्रमाण है। तीसरे तपन इन्द्रक का विस्तार एक्कीस लाख सोलह् हजार छह् सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है। चौथे तापन नामक इन्द्रक का विस्तार मुनियों ने सब ओर लाख पच्चीस हजार योजन कहा है। पांचवें निदाघ नामक इन्द्रक का विस्तार उन्नीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तोन भागों में एक भाग प्रमाण है। छठवें प्रज्वलित इन्द्रक का विस्तार अठारह लाख इकतालीस हजार छह सौ छियासठ योजन है। सातवें उज्वलित इन्द्रक का विस्तार तत्वदर्शी आचार्यों ने सत्रह लाख चालीस हजार योजन वतलाया है। आठवें संज्वलित इन्द्रक का विस्तार सोलह लाख अठावन हजार तीन तैतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण है। और नौवें संप्रज्वित इन्द्रक का विस्तार पन्द्रह लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण है।

चौथो पृथिवी के आर नामक पहले इन्द्रक का विस्तार सव ओर चौदह लाख पचत्तर हजार योजन कहा है। दूसरे तार इन्द्रक का विस्तार तेरह लाख तेरासी हजार तीन सौ तैतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण है। तीसरे मार नामक इन्द्रक का विस्तार वारह लाख एकानवें हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजन के तोन भागों दो भाग प्रमाण है। चौथे वर्चस्क इन्द्रक का विस्तार वारह लाख योजन है। पांचवें तनक इन्द्रक का विस्तार ग्यारह लाख आठ हजार तीन सौं तैंतीस योजन एक योजन के तोन भागों में एक भाग प्रमाण है। छठवें खंड इन्द्रक का विस्तार दश लाख सोलह हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग है। और सातवें खडखडा

व्रह्मोत्तर स्वर्ग के नीचे और ऊपर प्रत्येक क्षेत्र का घनफल तीन घनराजु प्रमाण है। लांतव स्वर्ग तक दो घनराजु, और शुक्र कल्प तक एक घनराजु प्रमाण घनफल है।

व्रह्मोतर कल्प के नीचे व ऊपर वा० क्षे० का घ. फ. $\frac{७}{७}+\frac{५}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=३$ घ. राजू लां का वा. क्षे. का घ. फ. $\frac{५}{७}+\frac{३}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=२$ घ. रा. शु. क. वा. क्षे. का घ. फ. $\frac{३}{७}+\frac{१}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=१$ घ. रा.।

शतार स्वर्ग तक उभय अर्थात आभ्यन्तर और वाह्य क्षेत्र का घनफल अट्ठानवे से भाजित लोक के प्रमाण है। तथा इसके वाह्य क्षेत्र का घनफल घनराजु का अष्टमांश है। $\frac{३}{७}+\frac{६}{७}\div२\times\frac{१}{२}\times७=\frac{७}{२}=३४३\div९८$।

घ. रा. श. कल्प के उभय क्षेत्र का घनफल $\frac{१}{७}\div२\times\frac{१}{४}\times७=\frac{१}{८}$ वाह्य क्षेत्र का घनफल।

उपर्युक्त उभय क्षेत्र के घनफल में से वाह्य क्षेत्र के घनफल

नामक इन्द्रक का विस्तार जानकार आचार्यों नेनो लाख पच्चीस हजार योजन कहा है।

पांचवी पृथिवी के पहले तम नामक इन्द्रक का विस्तार आठ लाख तेंतीस हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग है। दूसरे भ्रम इन्द्रक का विस्तार सात लाख इकतालीस हजार छ सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग है। तीसरे भ्रम इन्द्रक का विस्तार छः लाख पचास हजार योजन चौथे इन्द्रक का पांच लाख अंठावन हजार तीन सौ तेंतीस योजन एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण वर्णित है।

और पांचवे तमिस्र नामक इन्द्र का विस्तार चार लाख छियासठ हजार छः सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है।

छठवी पृथ्वी के पहले हिम नामक इन्द्रक का विस्तार निर्मल केवल ज्ञान के धारी अरहन्त भगवान् ने तीन लाख पचहत्तर हजार योजन बतलाया है। दूसरे वर्दल इन्द्रक का विस्तार दो लाख तेरासी हजार तीन सौ तेंतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में एक भाग प्रमाण है। और तीसरे लल्लक इन्द्रक का विस्तार एक लाख एकानवें हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण हैं।

सातवीं पृथ्वी में केवल अप्रतिष्ठान नाम का एक ही इन्द्रक है तथा वस्तु के विस्तार को जानने वाले सर्वज्ञ देव ने उसका विस्तार एक लाख योजन बतलाया है।

धर्मा नाम पहली पृथ्वी के इन्द्रक विलों की मुटाई एक कोश श्रेणी बद्ध विलो की एक कोश तथा एक कोश के तीन भागों में एक भाग और प्रकीर्णक विलों की दो कोश एक कोश के तीन भागों में एक भाग प्रमाण हैं। दूसरी वंशा पृथ्वी के इन्द्रक विलों की मुटाई डेढ़ कोश, श्रेणी बद्धों की दो कोश और प्रकीर्णकों की साढ़े तीन कोश है। तीसरी मेघा पृथ्वी के इन्द्रक की मुटाई दो कोश, श्रेणी बद्धों की दो कोश और एक कोश के तीन भागों में दो भाग हैं। चौथी अंजना पृथ्वी के इन्द्रकों की मुटाई अढ़ाई कोश, श्रेणी बद्धों की तीन कोश और एककोश के तीन भागों में एक भाग तथा प्रकीर्णकों की पांच कोश और एक कोश के छह भागों में पांच भाग पांचवीं अरिष्ठा पृथ्वी के इन्द्रकों की मुटाई तीन कोश, श्रेणी बद्धों की चार और प्रकीर्णकों की सात कोश है। छठवीं मघवी पृथ्वी के इन्द्रकों की मुटाई साढ़े तीन कोश, श्रेणी बद्धों की चार कोश और एक कोश के तीन भागों में दो भाग तथा प्रकीर्णकों की आठ और एक कोश के आठ भागों में छह भाग प्रमाण हैं। एवं माघवी नामक सातवीं पृथ्वी के अप्रतिष्ठान इन्द्रक की मुटाई चार कोश श्रेणी बद्धों की पांच कोश और एक कोश के तीन भागों में एक भाग है। सातवीं पृथ्वी में प्रकीर्णक विल नहीं हैं।

अब विलों का परस्पर अन्तर कहते हैं प्रथम पृथ्वी के इन्द्रक विलों का अन्तर बुद्धिमान् पुरुषों को चौसठ सौ निन्यानवें योजन (छः हजार चार सो निन्यानवें योजन) दो कोश और एक कोश के बारह भागों में से ग्यारह भाग जानना चाहिये। श्रेणी बद्ध विलों का चौसठ सौ निन्यानवें योजन दो कोश और एक कोश के नौ भागों में पांच भाग हैं। तथा प्रकीर्णक विलों का अन्तर चौसठ सौ निन्यानवें योजन दो कोश और एक कोश के छत्तीस भागों में सत्रह भाग प्रमाण हैं। द्वितीय पृथ्वी के इन्द्रक विलों का अन्तर बहुश्रुत-विद्वानों ने दो हजार नौ सौ निन्यानवें योजन और चार हजार सात सौ धनुष कहा है। श्रेणी बद्ध विलों का अन्तर दो हजार नौ सौ निन्यानवें योजन और तीन हजार छह सौ धनुष है। एवं प्रकीर्णक विलों का भी पारस्परिक अन्तर उतना ही अर्थात दो हजार नौ सौ निन्यानवें योजन और तीन सौ धनुप हैं। तीसरी पृथ्वी में

को घटा देने पर जो शेष रहे उतना आभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल होता है। वह सत्ताईस से गुणित और आठ से भाजित घनराजु के प्रमाण है। $\frac{७}{२} - \frac{१}{८} = \frac{२७}{८} = ३\frac{३}{८}$ घ. रा. श. कल्प के आभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल।

घनराजु को क्रमशः ढाई और दो से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो, उतना शेष दो स्थानों के घनफल का प्रमाण है। इस सब घनफल को जोड़कर और उसे दुगुणा कर संयुक्त रूप से रखना चाहिए। $\frac{६}{७} + \frac{४}{७} \div २ \times \frac{१}{२} \times ७ = \frac{५}{२}$ घ. रा. आनत कल्प के ऊपर का घ. फ.।

इन्द्रक विलों का विस्तार वत्तीस सौ योजन और पैंतीस सौ धनुष प्रमाण है। श्रेणी गत विलों का अन्तर विद्वानों ने वत्तोस सौ योजन और दो हजार धनुप वतलाया है। तथा प्रकीर्णकों का अन्तर वत्तीस सौ अडतालीस योजन और पचपन सौ धनुष कहा है। चौथी पृथ्वी में इन्द्रक विलों का विस्तार छत्तीस सौ पैंसठ योजन और पचहत्तर सौ धनुष प्रमाण है। श्रेणी वद्ध विलों का अन्तर छत्तीस सौ पैंसठ योजन पचहत्तर सौ धनुष और एक धनुष के नौ भागों में से पांच भाग प्रमाण है। तथा प्रकीर्णक विलों का विस्तार छत्तीस सौ चौसठ योजन, सतहत्तर सौ वाईस धनुष और एक धनुष के नौ भागों में दो भाग प्रमाण हैं। पांचवी पृथ्वी के इन्द्रक विलों का अन्तर भेद तथा अन्तरों का विस्तार जानने वाले आचार्यो ने चार हजार चार सौ निन्यानवें योजन और पांच सौ धनुष वतलाया है। श्रेणी वद्ध विलों का अन्तर चार हजार चार सौ अठानवें योजन और छह हजार धनुष है। तथा प्रकीर्णक विलों का अन्तर चार हजार चार सौ सतानवे योजन और छह हजार पांच सौ धनुष है। छठवीं पृथिवो के इन्द्रक विलों का अन्तर छह हजार नौ सौ अठानवे योजन और पचपन सौ धनुष प्रमाण है। श्रेणी वद्ध विलों का अन्तर छः हजार नौ सौ अट्ठावें योजन और दो हजार धनुष है। तथा प्रकीर्णक विलों का अन्तर छः हजार नौ सौ छियानवें योजन और सात हजार पांच सौ धनुष। सातवीं पृथ्वी में इन्द्रक विल का अन्तर ऊपर-नीचे तीन हजार नौ सौ निन्यानवें योजन और एक गव्यूति अर्थात् दो कोश प्रमाण है। तथा इसी सातवीं पृथ्वी में श्रेणिवद्ध विलो का अन्तर तीन हजार नौ सौ निन्यानवें योजन और एक कोश के तीन भागों में एक प्रमाण है ऐसा निश्चय है।

अब सातों पृथ्वीयों में जघन्य तथा उत्कृष्ट आयु का वर्णन करते हैं—पहली पृथ्वी के प्रथम सीमन्तक नामक प्रस्तार में नारकियों की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष की और उत्कृष्ट नव्वे हजार वर्ष की कही गई है। दूसरे नारक नामक इन्द्रक में कुछ अधिक नव्वे हजार वर्ष की जघन्य स्थिति और नव्वे लाख वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति है। रौरव नामक तीसरे प्रस्तार में एक समय अधिक नव्वे लाख की जघन्य स्थिति है। और असंख्यात करोड़ वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति है। भ्रान्त नामक चौथे प्रस्तार में एक समय अधिक असंख्यात करोड़ वर्ष की जघन्य स्थिति और सागर के दसवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। उद्भ्रान्त नामक पाचवें प्रस्तार में एक समय अधिक सागर का दसवां भाग स्थिति है और एक सागर के दश भागों में दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तत्वज्ञ पुरुषों ने मानी है। संभ्रान्त नामक छठवें प्रस्तार में एक सागर के दश भागों में दो भाग तथा एक समय जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति सागर के दश भागों में तीन भाग प्रमाण है। असम्भ्रान्त नामक सातवें प्रस्तार में जघन्य स्थिति सागर के दस भागों में समयाधिक तीन भाग है। और उत्कृष्ठ स्थिति सागर के दस भागों में चार भाग प्रमाण है। विभ्रांत नामक आठवें प्रसार में जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागर के दस भागों में चार भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागर के दस भागों में पांच भाग प्रमाण है। त्रस्त नामक नौवें प्रस्तारमें एक समय अधिक सागर के दश भागों में पांच भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है और सागर के दस भागों में छह भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट

$\frac{४}{७} \div २ \times १ \times ७ = \frac{५}{२}$ ।

घ. रा. आरण कल्प के उपरिम क्षेत्र का घ. फ. ।

सव घनफल का योग—

$\frac{६}{२}+\frac{२५}{८}+\frac{८३}{८}+\frac{६}{२}+\frac{६}{२}+\frac{४}{२}+\frac{२}{२}+\frac{१}{८}+\frac{२७}{८}+\frac{५}{२}+\frac{४}{२}=\frac{२८०}{८}$, $\frac{२८०}{८} \times २ = \frac{२८०}{४} = ७०$ घ. रा. ।

इसके अतिरिक्त दल (अर्ध) राजुओं का घनफल अट्ठाईस घनराजु और मध्मय क्षेत्र (त्रसनाली) का घनफल उनंचास से गुणित एक घनराजु प्रमाण अर्थात् उनंचास घनराजु प्रमाण है।

दल राजुओं का घ. फ.—दलराजु $८ = \frac{८}{२}$; $\frac{८}{२} \times ७ = २८$ घ. रा.; मध्य क्षेत्र का घ. फ.—$१ \times ७ \times ७ = ४९$ घ. रा.

पूर्व में वर्णित इन पृथिवियों का घनफल सत्तर घनराजु प्रमाण होता है। इस प्रकार इन तीनों राशियों का योग एक सौ सैंतालीस घनराजु है, जो सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल समझना चाहिये।

दल रा. घ. फ. २८+म. क्षे. घ. फ. ४९+पूर्वोक्त क्षेत्रों का घ. फ. ८० = १४७ घ. राजु कुल ऊ. लो. का घ. फ.।

सम्पूर्ण लोक सामान्य, दो चतुरस्र अर्थात ऊर्ध्वायत और

है। त्रसित नामक दसवें प्रस्तार में जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागर के दश भागों में छह भाग उत्कृष्ट स्थिति सागर के दश भागों में सात भाग प्रमाण है। वक्रान्त नामक ग्यारहवें प्रस्तार में जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागर के दश भागों में सात भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागर के दश भागों में आठ भाग प्रमाण है। अवक्रान्त नामक बारहवें प्रस्तार में एक समय अधिक सागर के दश भागों में आठ भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है और एक सागर के दश भागों में नौ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति विद्वानों ने कही है। विक्रान्त नामक तेरहवें प्रस्तार में जघन्य स्थिति एक सागर के दश भागों में समयाधिक नौ भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागर के दश भागों में दशों भाग अर्थात् एक सागर प्रमाण है। इस प्रकार घर्मा नामक पहली पृथ्वी के तेरह प्रस्तारों में जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति का कथन किया अब दूसरी पृथ्वी के ग्यारह प्रस्तारों में स्थिति का वर्णन करते हैं।

दूसरी पृथ्वी के स्तरक नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक एक सागर और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर तथा एक सागर के ग्यारह अंशों में दो अंश प्रमाण है। स्तनक नामक दूसरे प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति है तथा एक सागर पूर्ण और एक सागर के ग्यारह भागों में चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। मनक नामक तीसरे प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति है और एक सागर पूर्ण तथा एक सागर के ग्यारह भागों में छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। वनक नामक चौथे प्रस्तार में विद्वानों ने यही जघन्य स्थिति एक सागर पूर्ण और एक सागर के ग्यारह भागों में आठ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही है। विघाट नामक पांचवें प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति तथा एक सागर पूर्ण और एक सागर के ग्यारह भागों में दश भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति विज्ञ पुरुषों ने प्रकट की है—बतलाई है। संघाट नामक छठवें इन्द्रक अथवा प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागर के ग्यारह भागों में एक भागप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। जिह्व नामक सातवें प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागर के ग्यारह भागों में तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। जिह्वक नामक आठवें प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागर के ग्यारह भागों में पांच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। लोल नामक नौवें प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति तथा दो सागर पूर्ण और एक सागर के ग्यारह भागों में सात सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिये। लोलुप नामक दसवें प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति और दो सागर पूर्ण तथा एक सागर के ग्यारह भागों में नौ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। एवं स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें प्रस्तार में यही जघन्य स्थिति और तीन सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। इस तरह वंशा नामक दूसरी पृथ्वी में सामान्य रूप से तीन सागर प्रमाण स्थिति प्रसिद्ध है।

तीसरी पृथ्वी के तप्त नामक प्रथम इन्द्रक में तीन सागर जघन्य और तीन सागर पूर्ण तथा एक सागर के नौ भागों में चार भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है। तपित नामक दूसरे इन्द्रक में यही जघन्य तथा तीन सागर पूर्ण और एक सागर के नौ भागों में आठ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वर्णन करने योग्य है। तपन नामक तीसरे इन्द्रक में यही जघन्य और चार सागर पूर्ण तथा एक सागर के नौ भागों में तीन भाग पूर्ण उत्कृष्ट

तिर्यगायत चतुरस्र, यवमुरज, यवमध्य, मन्दर, दूष्य और गिरिगकटक, इस प्रकार आठ भेद रूप है।

सामान्य लोक जग श्रेणी के घनमात्र है। आयात चतुरस्र क्षेत्र के वेध, कोटि और भुजा, ये तीनों क्रम से जगश्रेणी, जगश्रेणी का अर्द्ध भाग अर्थात साढ़े तीन राजु और जगश्रेणी से दुगुणा अर्थात चौदह राजुप्रमाण है।

सामान्य लोक—७×७×७आयत च. का वेध ७ रा० कोटि $\frac{७}{२}$=३$\frac{१}{२}$रा० भुजा ७×२=१४ रा०।

लोक को सत्तर से भाजित कर लब्ध राशि को पच्चीस से गुणित करने पर यवमुरज क्षेत्र में यवका प्रमाण आता है

नौ से गुणित लोक में चौदह का भाग देने पर मुरज क्षेत्र का घनफल आता है। इन दोनों के घन फल को जोड़ने से जग श्रेणी घन रूप सम्पूर्ण यवमुरज क्षेत्र का घनफल होता है।

तीन—३४३÷७०×२५=१२२$\frac{१}{२}$ यव का घ. फ. ३४३×९÷१४=२२०$\frac{१}{२}$मुरज क्षे० का घ. फ. १२२$\frac{१}{२}$+२२०$\frac{१}{२}$=३४३ घनराजु सम्पूर्ण य. मु० क्षेत्र का घ. फ.=

स्थिति कही गई है। तापन नामक चौथे इन्द्रक में यही जघन्य स्थिति और चार सागर पूर्ण तथा एक सागर के नौ भागों में सात भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वतलाई गई है । निदाघ नामक पांचवें इन्द्रक में यही जघन्य और पांच सागर पूर्ण तथा एक सागर के नौ भागों में दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वर्णन की गई है। प्रज्वलित नामक छठवें इन्द्रक में यही जघन्य स्थिति तथा पांच सागर पूर्ण और एक सागर के नौ भागों में छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। प्रज्वलित इन्द्रक की जो उत्कृष्ट स्थिति है वही उज्वलित नामक सातवें इन्द्रक की जघन्य स्थिति है। तथा छः सागर पूर्ण और एक सागर के नौ भागों में एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। उज्ज्वलित इन्द्रक में जो उत्कृष्ट स्थिति है वही सज्वलित नामक आठवें इन्द्रक की जघन्य स्थिति है तथा छह सागर पूर्ण और एक सागर के नौ भागों में पाँच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। संप्रज्वलित नामक नौवें इन्द्रक में यही जघन्य स्थिति और सात सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। इस तरह तीसरे नरक में सामान्य रूप से सात सागर की स्थिति प्रसिद्ध है।

ऊपर संप्रज्वलित नामक इन्द्रक में जो सात सागर की उत्कृष्ट स्थिति वतलाई है वह चौथी पृथ्वी के आर नामक प्रथम इन्द्रक में जघन्य स्थिति कही गई है तथा सात सागर पूर्ण और एक सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वतलाई गई है। आर इन्द्रक में जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही तार नामक दूसरे इन्द्रक में जघन्य स्थिति वतलाई गई है, तथा सात सागर पूर्ण और एक सागर के सात भागों में से छः भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। तार इन्द्रक में जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही मार नामक तीसरे इन्द्रक में जघन्य स्थिति वतलाई गई है और आठ सागर पूर्ण तथा एक सागर के सात भागों में दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। मार इन्द्रक में जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही वर्चस्क नामक चौथे इन्द्रक में जघन्य स्थिति वतलाई है और आठ सागर पूर्ण तथा एक सागर के सात भागों में पांच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। वर्चस्क इन्द्रक में जो उत्कृष्ट स्थिति कही है वही तमक नामक पांचवें इन्द्रक में जघन्य स्थिति वतलाई गई है और नौ सागर पूर्ण तथा एक सागर के सात भागों में एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। तमक इन्द्रक में जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही खड नामक छठवें इन्द्रक में जघन्य स्थिति बतलाई गई है और नौ सागर पूर्ण तथा एक सागर के सात भागों में चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति प्रदर्शित की गई है। खड इन्द्रक में जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही खडखड नामक सातवें इन्द्रक में जघन्य स्थिति वतलाई गई है और दश सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। इस प्रकार चौथी पृथ्वी में सामान्य रूप से दश सागर स्थिति प्रसिद्ध है।

ऊपर जो स्थिति कही गई है वही पांचवीं पृथ्वी के तम नामक प्रथम इन्द्रक में जघन्य स्थिति वतलाई गई है। और ग्यारह सागर पूर्ण एक सागर के पांच भागों मे दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। भ्रम नामक दूसरे इन्द्रक में यही जघन्य स्थिति कही गई है और वारह सागर पूर्ण तथा एक सागर के पांच भागों में चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वतलाई गई है।

झष नामक तीसरे इन्द्रक में यही जघन्य स्थिति कही गई

७×७×७ घनराजु।

यवमध्य क्षेत्र में एक यवका घनफल पैंतीस के आधे साढ़े सत्तरह से भाजित लोक प्रमाण है। इसको पैंतीस के आधे साढ़े सत्तरह से गुणा करने पर जग श्रेणी के घन प्रमाण सम्पूर्ण यवमध्य क्षेत्र का घनफल निकलता है।

$३४३ \div \frac{३५}{२} = १९\frac{३}{५}$ एक यव का घनफल; $१९\frac{३}{५} \times \frac{३५}{२} =$ ३४३ घनराजु सम्पूर्ण।

य. म. क्षेत्र का घ. फ.$=७ \times ७ \times ७$ घ. रा.

चार, दो, तीन, इकत्तीस, तीन और तेईस से गुणित, तथा क्रम से तीन, तीन, दो, छह, दो और छह से भाजित राजुप्रमाण मन्दर क्षेत्र की ऊंचाई है।

मन्दराकार लोक की ऊंचाई का क्रम राजुओं में—

$\frac{४}{३}; \frac{२}{३}; \frac{३}{२}; \frac{३१}{६}; \frac{३}{२}; \frac{२३}{६}$

पन्द्रह से गुणित और छप्पन से भाजित राजुप्रमाण चूलिका के प्रत्येक तटों का विस्तार ३। उस प्रत्येक अंतवर्ती करणकार अर्थात त्रिकोण खण्डित क्षेत्र से चूलिका सिद्ध होती है।

है और चौदह सागर पूर्ण तथा एक सागर के पांच भागों में एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है। अंध नामक चौथे इन्द्रक में सत्यवादी जिनेन्द्र भगवान ने यही जघन्य स्थिति कही है और पन्द्रह सागर पूर्ण तथा एक सागर के पांच भागों में तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। तमिस्र नामक पांचवें इन्द्रक में यही जघन्य स्थिति मानी जाती है और सत्रह सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई जाती है। इस प्रकार पांचवीं पृथिवी में सामान्य रूप से सत्रह सागर की आयु प्रसिद्ध है।

छठवीं पृथिवी के हिम नामक प्रथम इन्द्रक में सत्रह सागर प्रमाण जघन्य स्थिति कही गई है और अठारह सागर पूर्ण तथा एक सागर के तीन भागों में दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है। वर्दल नामक दूसरे इन्द्रक बिल में यही जघन्य स्थिति कही गई है और बीस सागर पूर्ण तथा एक सागर के तीन भागों में एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है। मुनियों में श्रेष्ठ गणधरादि देवों ने लल्लक नामक तीसरे इन्द्रक में यही जघन्य स्थिति कही है तथा बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है इस प्रकार छठवीं पृथिवी में सामान्य रूप से बाईस सागर प्रमाण आयु कही गई है।

सातवीं पृथिवी में केवल एक अप्रतिष्ठान नाम का इन्द्रक है सो उसमें यही जघन्य स्थिति बतलाई गई है और जो उत्कृष्ट स्थिति है वह तेंतीस सागर प्रमाण है इस प्रकार सातवीं पृथिवी में सामान्य रूप से तेंतीस सागर प्रमाण आयु प्रसिद्ध है अब नारकियों के शरीर की ऊंचाई का वर्णन किया जाता है—

पहली पृथिवी के सीमन्तक नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊंचाई तीन हाथ है। तरक नारक दूसरे प्रस्तार में एक धनुष एक हाथ तथा साढ़े आठ अंगुल है। रौरुक नामक तीसरे प्रस्तार में एक धनुष तीन हाथ तथा सत्रह अंगुल है। भ्रान्त नामक चौथे प्रस्तार में दो धनुष दो हाथ और डेढ़ अंगुल है। उद्भ्रान्त नामक पांचवें प्रस्तार में तीन धनुष और दश अंगुल है। संभ्रात नामक छठवें प्रस्तार में तीन धनुष दो हाथ और साढ़े अठारह अंगुल है। असंभ्रान्त नामक सातवें प्रस्तार में विशद ज्ञान के धारी आचार्यों ने नारकियों के शरीर की ऊंचाई चार धनुष, एक हाथ और तीन अंगुल बतलाई है। भ्रान्ति रहित आचार्यों ने विभ्रान्त नामक आठवें प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध चार धनुष तीन हाथ और साढ़े ग्यारह अंगुल प्रमाण कहा है। त्रस्त नामक नौवें प्रस्तार में पांच धनुष एक हाथ और बीस अंगुल ऊंचाई कही गई है। जहां प्राणी भयभीत हो रहे हैं ऐसे त्रसित नामक दसवें प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊंचाई चतुर आचार्यों ने छह धनुष और साढ़े चार अंगुल प्रमाण बतलाई है। वक्रान्त नामक ग्यारहवें प्रस्तार में श्रेष्ठ वक्ताओं ने नारकियों का शरीर छः धनुष दो हाथ और तेरह अंगुल प्रमाण कहा है। अवक्रान्त नामक बारहवें प्रस्तार में विद्वान आचार्यों ने नारकियों की ऊंचाई सात धनुष और साढ़े इक्कीस अंगुल कही है। और विक्रान्त नामक तेरहवें प्रस्तार में सात धनुष तीन हाथ तथा छः अंगुल प्रमाण ऊंचाई है। इस प्रकार बुद्धिमान आचार्यों ने प्रथम पृथिवी में ऊंचाई का वर्णन किया है।

दूसरी पृथिवी के स्तरक नामक पहले प्रस्तार में नारकियों की ऊचाई आठ धनुष, दो हाथ, दो अंगुल और एक अंगुल के

$\frac{४५}{५६} \times \frac{१}{३} = \frac{१५}{५६}$ राजू.

चूलिका की भूमिका विस्तार पैंतालीस से गुणित और छप्पन से भाजित एक राजु प्रमाण ($\frac{४५}{५६}$ राजु) है। उसी चूलिका की ऊंचाई डेढ़ राजु (१$\frac{१}{२}$) और मुखविस्तार भूमि के विस्तार का तीसरा भाग अर्थात् तृतीयांस ($\frac{१५}{५६}$) है।

भूमि में से मुख को घटाकर शेष में ऊंचाई का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना भूमि की अपेक्षा हानि और मुख की अपेक्षा वृद्धि का प्रमाण होता है। यहां भूमिका प्रमाण छह राजु, मुख का प्रमाण एक राजु, और ऊंचाई का प्रमाण दुगुणित श्रेणी अर्थात् चौदह राजु है।

उदाहरण—६—१÷१४=$\frac{५}{१४}$ हा. वृ. का प्रमाण प्रत्येक राजु पर।

हानि और वृद्धि का वह प्रमाण चौदह से भाजित पांच, अर्थात् एक राजु के चौदह भागों में से पांच भाग मात्र है। इस क्षय वृद्धि के प्रमाण को अपनी अपनी ऊंचाई से गुणा करके विवक्षित पृथिवी के (क्षेत्र के) विस्तार को ले आना चाहिये।

ग्यारह भागों में दो भाग प्रमाण मानी जाती है। स्तनक नामक दूसरे प्रस्तार में नारकियों का उत्सेध नो धनुष बाईस अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में चार भाग प्रमाण कहा गया है। मनक नामक तीसरे प्रस्तार में नौ धनुष तीन हाथ अठारह अंगुल तथा एक अंगुल के ग्यारह भागों में छह भाग प्रमाण ऊंचाई वतलाई। वनक नामक चौथे प्रस्तार में नार-के शरीर की ऊंचाई दश धनुप दो हाथ चौदह अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में आठ भाग, प्रमाण मानो जाती है। घाट नामक पांचवें प्रस्तार में ग्यारह धनुप, एक हाथ, दस अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में दश भाग शरीर की ऊंचाई कही गई है। संघाट नामक छठवें प्रस्तार में नारकियों की ऊंचाई वारह धनुष सात अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में एक भाग प्रमाण कही गई है।

जिह्व नामक सातवें प्रस्तार में वारह धनुष, तीन हाथ, तीन अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में तीन भाग प्रमाण ऊंचाई है। जिह्वक नामक आठवें प्रस्तार में तेरह धनुष, एक हाथ, तेईस अंगुल और एक अंगुल के पाँच भागों में एक भाग प्रमाण ऊंचाई इष्ट है। लोल नामक नौवें प्रस्तार में चौदह धनुष, उन्नीस अगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में सात भाग प्रमाण ऊंचाई है। लोलुप नामक दसवें प्रस्तार में चौदह धनुप तीन हाथ पन्द्रह अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में नौ भाग प्रमाण ऊंचाई है। और स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें प्रस्तार में पन्द्रह धनुप, दो हाथ और वारह अंगुल ऊंचाई इष्ट है। इस प्रकार दूसरी पृथ्वी में नारकियों के शरीर की ऊंचाई का वर्णन किया।

तीसरी पृथ्वी के तप्त नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊंचाई सत्रह धनुष, एक हाथ दश अंगुल और एक अंगुल के तीन भागों में दो भाग प्रमाण कही गई है। स्पष्ट ज्ञान रूपी इष्ट दृष्टि को धारण करने वाले तपित नामक दूसरे प्रस्तार में नारकियों को ऊंचाई उन्नीस धनुष नौ अंगुल और एक अंगुल के तीन भागों में एक भाग प्रमाण वतलाई है। शिष्टजनों ने तपन नामक तीसरे प्रस्तार में नारकियों के शरीर का उत्सेध वीस धनुष तीन हाथ और आठ अंगल प्रमाण वतलाया है। तापन नामक चौथे प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊंचाई बाईस धनुष दो हाथ छः अंगुल और एक अंगुल के तोन भागों में दो भाग प्रमाण कही है। निदाघ नामक पांचवें प्रस्तार में चौबीस धनुप, एक हाथ, पांच अंगुल और एक अंगुल के तीन भागों में एक भाग प्रमाण ऊंचाई विद्वानों ने वतलाई है। जिनकी आत्मा ज्ञान के द्वारा देदोप्यमान है ऐसे आचार्यों ने प्रोज्जवलित नामक छठवें प्रस्तार में नारकियों की ऊंचाई छव्वीस धनुष और चार अंगुल प्रमाण वतलाई है। आगम ज्ञान से सुशोभित विद्वज्जनों ने उज्व-लित नामक ७वें प्रस्तार में नारकियों का शरीर सत्ताईस धनुष, तीन हाथ, दो अंगुल और एक अंगुल के तोन भागों में दो भाग प्रमाण ऊंचा कहा है। विद्वानों को संज्वलित नामक आठवें प्रस्तार में नारकियों को ऊंचाई उन्तीस धनुष, दो हाथ एक अंगुल के तोन भागों में एक भाग प्रमाण जानना चाहिये। और संप्रज्वलित नामक नौवें प्रस्तार में ऊंचाई का प्रमाण इकतीस धनुष तथा एक हाथ प्रमाण कहा जाता है। इस प्रकार तीसरी पृथ्वी में नारकियों की ऊंचाई का वर्णन किया।

मेरु के सदृश लोक में, ऊपर ऊपर सात स्थानों में राजु को रखकर विस्तार को लाने के लिये गुणकार और भागहारों को कहता हूं।

नीचे से तीन स्थानों में इक्कीस से विभक्त एक सौ छव्वीस, एक सौ सोलह और एक सौ ग्यारह गुणकार है।

$$\frac{७ \times १२६}{१४७} = \frac{१२६}{२१};\quad \frac{७ \times ११६}{१४७} = \frac{११६}{२१},\quad \frac{७ \times १११}{१४७} = \frac{१११}{२१}$$

इसके आगे चार स्थानों में क्रम से चौरासी से विभक्त एक कम चार सौ (३९९), दो सौ चवालीस, एक कम दो सौ (१९९) और चौरासी, ये चार गुणकार हैं।

$$\frac{७ \times ३९९}{५८८} = \frac{३९९}{८४};\quad \frac{७ \times २४४}{५८८} = \frac{२४४}{८४};\quad \frac{७ \times १९९}{५८८} = \frac{१९९}{८४};\quad \frac{७ \times ८४}{५८८} = \frac{८४}{८४}$$

मन्दर के सदृश लोक में घनफल लाने के लिये नीचे से सात स्थानों में घनराजु को रखकर गुणकार और भागहारों को कहते हैं।

चार सौ चौरासी, दो सौ सत्ताईस, एक कम चार सौ

चौथी पृथ्वी के आर नामक प्रथम प्रस्तार में पैंतीस धनुष, दो हाथ, बीस अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में चार भाग प्रमाण ऊंचाई कही गई है। तार नामक दूसरे प्रस्तार में चालीस धनुष, सत्रह अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में एक भाग प्रमाण नारकियों की ऊंचाई है। मार नामक तीसरे प्रस्तार में चवालीस धनुष, दो हाथ, तेरह अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में पांच भाग प्रमाण ऊंचाई मानी गई है। वर्चस्क नामक चौथे प्रस्तार में विद्वानों ने शरीर की ऊंचाई उनचास धनुष, दश अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में दो भाग प्रमाण बतलाई है। तमक नामक पांचवें प्रस्तार में त्रेपन धनुष, दो हाथ, छः अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में छः भाग प्रमाण ऊंचाई कही गई है। खड नामक छठवें प्रस्तार में अठावन धनुष, तीन अंगुल और एक अंगुल के सात भागों में तीन प्रमाण ऊंचाई प्रकट की गई है। और खडखड नामक सातवें प्रस्तार में बासठ धनुष, दो हाथ ऊंचाई प्रसिद्ध है। इस प्रकार चौथी पृथ्वी में विद्यमान नारकियों की ऊंचाई का वर्णन किया है।

पांचवी पृथ्वी के तम नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊंचाई पचहत्तर धनुष बतलाई है। भ्रम नामक दूसरे प्रस्तार में सत्तासी धनुष और दो हाथ है। झष नामक तीसरे प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊंचाई सौ धनुष कही गई है। अन्ध्र नामक चौथे प्रस्तार में एक सौ बारह धनुष तथा दो हाथ है। और तमिस्र नामक पांचवें प्रस्तार में एक सौ पच्चीस धनुष है इस प्रकार पांचवीं पृथ्वी में विद्वानों ने ऊंचाई का वर्णन किया है।

छठवी पृथ्वी के हिम नामक प्रथम प्रस्तार में नारकियों के शरीर की ऊंचाई एक सौ छयासठ धनुष, दो हाथ तथा सोलह अंगुल बतलाई है। वर्दल नामक दूसरे प्रस्तार में शास्त्ररूपी नेत्रों के धारक विद्वानों ने नारकियों की ऊंचाई दो सौ आठ धनुष, एक हाथ और छः अंगुल प्रमाण देखी है और लल्लक नामक तीसरे प्रस्तार में नारकियों की ऊंचाई दो सौ पचास धनुष बतलाई है। इस प्रकार कृतकृत्य सर्वज्ञ देव ने छठवीं पृथ्वी में ऊंचाई का वर्णन किया। सातवीं पृथ्वी में एक ही अप्रतिष्ठान नाम का प्रस्तार है सो उसमें सन्देहरहित ज्ञान के धारक आचार्यों ने नारकियों की ऊंचाई पांच सौ धनुष प्रमाण निश्चित की है।

प्रथम पृथ्वी को आदि लेकर उन सातों पृथ्वीयों में यथा-क्रम से अवधिज्ञान का विषय इस प्रकार जानना चाहिये। पहली पृथ्वी में अवधि ज्ञान का विषय एक योजन अर्थात् चार कोश, दूसरी में साढ़े तीन कोश, तीसरी में तीन कोश, चौथी में अढाई कोश, पांचवीं में दो कोश, छठवीं में डेढ़ कोश और सातवीं में एक कोश प्रमाण है। प्रथम पृथ्वी सम्बन्धी पहले पटल की मिट्टी की दुर्गन्ध आध कोश तक जाती है और उसके नीचे प्रत्येक पटल के प्रति आधा-आधा कोश अधिक बढ़ती

अर्थात् तीन सौ निन्यानवे, सड़सठ कम बीस हजार, एक कम दो सौ, नौ अधिक पैंसठ सौ और पैंतालीस, ये क्रम से सात स्थानों में सात गुणकार हैं।

नौ, नौ, आठ, बारह का वर्ग, आठ, एक सौ चवालीस और आठ, ये क्रम से सात स्थानों में सात भागहार हैं।

$$\frac{३४३ \times ४८४}{३४३ \times ९} = \frac{४८४}{९};\quad \frac{३४३ \times २२७}{३४३ \times ९} = \frac{२२७}{९};$$

$$\frac{३४३ \times ३९९}{३४३ \times ८} = \frac{३९९}{८};\quad \frac{३४३ \times १९९३३}{३४३ \times १४४} = \frac{१९९३३}{१४४};$$

$$\frac{३४३ \times १९९}{३४३ \times ८} = \frac{१९९}{८};\quad \frac{३४३ \times ६५०९}{३४३ \times १४४} = \frac{६५०९}{१४४};$$

$$\frac{३४३ \times ४५}{३४३ \times ८} = \frac{४५}{८} \text{ घ. रा.}$$

$$\text{योग} - \frac{४८४}{९} + \frac{२२७}{९} + \frac{३९९}{८} + \frac{१९९३३}{१४४} + \frac{१९९}{८} + \frac{६५०९}{१४४} + \frac{४५}{८} = \frac{४९३९२}{१४४} = ३४३ \text{ घनराजु ।}$$

दूष्य क्षेत्र की बाहरी दोनों भुजाओं का घनफल सात से भाजित और दो से गुणित लोक प्रमाण होता है। तथा भीतरी दोनों भुजाओं का घनफल पांच से भाजित और दो से गुणित लोक प्रमाण है।

उदाहरण—वा उभय बाहुओं का घ. फ. ३४३÷७×२= ९८ रा. अभ्य, उ. बाहुओं का घ. फ. ३४३÷५×२= १३७$\frac{१}{५}$ रा.।

इसी क्षेत्र में उसके लघु बाहु का घनफल छह से गुणित

जाती है। पहली और दूसरी पृथिवी में रहने वाले नारकी कापोत लेश्या से युक्त हैं। तीसरी पृथ्वी के ऊर्ध्व भाग में रहने वाले कापोत लेश्या से और अधोभाग में रहने वाले नील लेश्या से सहित है। चौथी के ऊपर-नीचे दोनों स्थानों पर तथा पांचवीं पृथ्वी के ऊपरी भाग में नील लेश्या से युक्त हैं और अधोभाग में कृष्ण लेश्या से सहित हैं। छठवीं पृथ्वी के ऊर्ध्व भाग में कृष्ण लेश्या से, अधोभाग में परमकृष्ण लेश्या से और सातवीं पृथ्वी के ऊपर नीचे दोनों ही जगह रहने वाले परम-कृष्ण लेश्या से सक्लिष्ट हैं। अर्थात् संक्लेश को प्राप्त होते रहते हैं। प्रारम्भ की चार भूमियों में रहने वाले नारकी उष्ण स्पर्श से, पांचवी भूमि में रहने वाले उष्ण और शीत दोनों स्पर्शों से तथा अन्त की दो भूमियों में रहने वाले केवल शीत स्पर्श से ही पीड़ित रहते हैं। प्रारम्भ की तीन पृथ्वियों में नारकियों के उत्पत्ति स्थान कुछ तो ऊट के आकार हैं। कुछ कुंभी कुछ कुस्थली मुद्गर और नाड़ी के आकार हैं। चौथी और पांचवीं पृथ्वी में नारकियों के जन्मस्थान अनेक तो गौके आकार हैं, अनेक हाथी घोड़े आदि जन्तुओं तथा धोंकनी, नाव और कमलपुट के समान हैं। अन्तिम दो भूमियों में कितने ही खेत के समान, कितने ही झालर और कटोरों के समान, और कितने ही मयूरों के आकार वाले हैं। वे जन्मस्थान एक कोष, दो कोश, तीन कोश और एक योजन विस्तार से सहित हैं। उनमें जो उत्कृष्ट स्थान हैं वे सौ योजन तक चौड़े कहे गये हैं। उन समस्त उत्पत्ति स्थानों की ऊंचाई अपने विस्तार से पंचगुनी है ऐसा वस्तु स्वरूप को जानने वाले आचार्य जानते हैं। समस्त इन्द्रक विल तीन द्वारों से युक्त तथा तीन कोणों वाले हैं। इनके सिवाय जो श्रेणी वद्ध और प्रकीर्णक निगोद हैं उनमें कितने ही दो द्वार वाले दुकोने कितने ही तीन द्वार वाले तिकोने, कितने ही पांच द्वार वाले पंचकोने और कितने ही सात द्वार वाले सतकोने हैं। इनमें संख्यात योजन विस्तार वाले विलों का अपना जघन्य अन्तर छः कोश और उत्कृष्ट अन्तर वारह कोश है। एवं असंख्यात योजन विस्तार वाले विलों का उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात योजन तथा जघन्य अन्तर सात हजार योजन है।

धर्मा नामक पहली पृथ्वी के उत्पत्ति-स्थानों में उत्पन्न होने वाले नारकी जीव जन्म काल में जब नीचे गिरते हैं, तब सात योजन सवा तीन कोश ऊपर आकाश में उछल कर पुनः नीचे गिरते हैं। दूसरी वंशा पृथ्वी के निगोदों में जन्म लेने वाले नारकी पन्द्रह योजन अढ़ाई कोश आकाश में उछल कर नीचे गिरते हैं। तीसरी मेघा पृथ्वी में जन्म लेने वाले जीव इकत्तीस योजन एक कोश आकाश में उछल कर नीचे गिरते हैं। चौथी अंजना पृथ्वी के निगोदों में जन्म लेने वाले जीव वासठ योजन दो कोश उछलकर नीचे गिरते हैं और तीव्र दुःख से दुःखी होते हैं। पांचवीं पृथ्वी के निगोदों में जन्म लेने वाले नारकी अत्यन्त दुःखी हो एक सौ पच्चीस योजन आकाश में उछलकर नीचे गिरते हैं। छठवीं पृथ्वी में स्थित निगोदों में जन्म लेने वाले जीव दो सौ योजन आकाश में उछलकर नीचे गिरते हैं। और सप्तमी

और पैंतीस से भाजित लोकप्रमाण, तथा यवक्षेत्र का घनफल सात से विभक्त लोक प्रमाण है।

लघु वाहु का घ. फ. ३४३ × ६ ÷ ३५ = ५८$\frac{४}{५}$ रा. यव क्षेत्र का घ. फ.—३४३ ÷ ७ = ४९ रा. दूष्य क्षेत्र का समस्त घ. फ. ९८ + १३७$\frac{१}{५}$ + ५८$\frac{४}{५}$ + ४९ = ३४३ रा.।

इनको पैंतीस से गुणा करने पर श्रेणी के घन प्रमाण कुल गिरिकटक क्षेत्र का मिश्र घनफल होता है।

इस उपर्युक्त लोक क्षेत्र में सात का भाग देकर लब्ध राशि को चार से गुणा करने पर सामान्य अधोलोक का घनफल होता है। आयत चतुरस्रक्षेत्र में भुजा श्रेणी प्रमाण सात राजु, कोटि चार राजु और इतना ही (सात राजु) वेध भी है। वहुत से यवों युक्त मुरज क्षेत्र में यवक्षेत्र और मुरक्षेत्र दोनों ही नियम से होते हैं। उस यवमुरज क्षेत्र में यवाकार क्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोक प्रमाण तथा मुरज क्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित और पांच से गुणित लोक प्रमाण है।

उदाहरण—(१) (एक गिरकटक का घ. फ. रा. (९$\frac{४}{५}$ होता है।) ९$\frac{४}{५}$ × ३५ = ३४३ रा. समस्त गिरिकटक का घनफल। (२) सामान्य अधोलोक का घनफल ३४३ ÷ ७ × ४ = १९६ रा० आयात चतुरस्र अधोलोक में भुजा ७ रा० कोटि ४ रा० और वेध ७ राजू है। ७ × ४ × ७ = १९६ राजु० घ० फ०। (४) यवमुरजाकार अधोलोक में यवक्षेत्र का घ.

पृथ्वी में स्थित निगोदों में उत्पन्न हुए जीव पांच सौ धनुष ऊंचे उछलकर पृथ्वी तल पर नीचे गिरते हैं । तीसरी पृथ्वी तक असुरकुमार देव नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं । इसके सिवाय वे नारकी पुराने वैर भाव को जानकर स्वयं भी लड़ते रहते हैं । विक्रिया शक्ति के द्वारा अपने शरीर से ही उत्पन्न होने वाले भाले, कपोत तथा शूल आदि नाना शस्त्रों से उन नारकियों के खण्ड-खण्ड कर दिये जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को पीड़ा पहुंचाते हैं । खण्ड-खण्ड होने पर भी पारे के समान उनके शरीर के टुकड़ों का पुनः समूह बन जाता है और जब तक उनकी आयु की स्थिति रहती है तब तक उनका मरण नहीं होता । ये नारकी पूर्वकृत पाप कर्म के उदय से निरन्तर एक दूसरे के द्वारा दिये हुए शारीरिक एवं मानसिक दुःख को सहते रहते हैं । ये खारा गरम तथा अत्यन्त तीक्ष्ण वैतरणी नदी का जल पीते हैं और दुर्गन्धि युक्त मिट्टी का आहार करते हैं इसलिए निरन्तर असाध्य दुःख भोगते रहते हैं । रात-दिन नरक में पचने वाले नारकियों को निमेष मात्र भी कभी सुख नहीं होता । उन नारकियों के निरन्तर अत्यन्त अशुभ परिणाम रहते हैं । तथा नपुंसक लिंग और हुण्डक संस्थान होता है । जो आगामी काल में तीर्थङ्कर होने वाले हैं तथा जिनके पाप कर्मों का उपशम हो चुका है । देव लोग भक्तिवश छः माह पहले से उनके उपसर्ग दूर कर देते हैं । अन्तर के जानने वाले आचार्यों ने प्रथम पृथ्वी में नारकियों की उत्पत्ति का अन्तर अड़तालीस घड़ी बतलाया है । और नीचे की छह भूमियों में क्रम से एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मास का विरह—अन्तरकाल कहा है । जो तीव्र मिथ्यात्व से युक्त हैं तथा बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के धारक हैं ऐसे तिर्यञ्च और मनुष्य उन पृथ्वियों को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनमें उत्पन्न होते हैं । असंज्ञी पंचेन्द्रिय पहली पृथ्वी तक जाते हैं, सरकने वाले दूसरी पृथ्वी तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पांचवी तक, स्त्रियां छठवी तक और तीव्र पाप करने वाले मत्स्य तथा मनुष्य सातवीं पृथ्वी तक जाते हैं । सातवीं पृथ्वी से निकला हुआ जीव यदि पुनः अव्यवहित रूप से सातवीं में जावे तो एक बार, छठवीं से निकला हुआ छठवीं में दो बार, पांचवीं से निकला हुआ पांचवीं में तीन बार, चौथी से निकला हुआ चौथी में चार बार, तीसरी से निकला हुआ तीसरी में पांच बार, दूसरी से निकला हुआ दूसरी में छः बार और पहली से निकला हुआ पहली में सात बार तक उत्पन्न हो सकता है । सातवीं पृथ्वी से निकला हुआ प्राणी नियम से संज्ञी तिर्यञ्च होता है तथा संख्यात वर्ष की आयु का धारक हो फिर से नरक जाता है। छठवीं पृथ्वी से निकला हुआ जीव संयम को प्राप्त तो हो सकता है पर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता । चौथी पृथ्वी से निकला हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है परन्तु निश्चय से तीर्थङ्कर नहीं हो सकता । तीसरी दूसरी और पहली पृथ्वी से

फ. ३४३ ÷ १४ × ३ = ७३$\frac{१}{२}$ रा० मुरज क्षेत्र का घ. फ. ३४३ ÷ १४ × ५ = १२२$\frac{१}{२}$ रा०; १२२$\frac{१}{२}$ + ७३$\frac{१}{२}$ = १९६ रा० समस्त यवमुरज क्षेत्र का घ. फ. ।

यवाकार क्षेत्र में एक यव का घनफल ब्यालीस से भाजित लोक प्रमाण है । उसको चौबीस से गुणा करने पर सात से भाजित और चार से गुणित लोक प्रयाण समस्त यवमध्य क्षेत्र का घनफल निकलता है । ३४३ ÷ ४२ = ८$\frac{१}{६}$ राजु एक यव का घ. फ. ८$\frac{१}{६}$ × २४ = ३४३ ÷ ७ × ४ = १९६ रा. य. म. का घ. फ. ।

मन्दर के सदृश आयाम वाले क्षेत्र में ऊपर ऊपर ऊंचाई क्रम से एक राजु के चार भागों में से तीन भाग, बारह भागों में से सात भाग, बारह से भाजित तेतालीस राजु, राजु के बारह भागों में से सात भाग और गेड़ राजुमात्र है । $\frac{३}{४}$ ($\frac{३}{४}$ + $\frac{१}{४}$) + $\frac{७}{१२}$ + $\frac{४३}{१२}$ + $\frac{७}{१२}$ + $\frac{३}{२}$ = $\frac{८४}{१२}$ = ७ रा. ।

मन्दरसदृश क्षेत्र में तटभाग के विस्तार में से अट्ठाईस से विभक्त जग श्रेणी प्रमाण चार तटवर्ती करणाकार खण्डित क्षेत्रों से चूलिका होती है । $\frac{७}{२८}$ = $\frac{१}{४}$ राजु प्रत्येक खण्डित क्षेत्र प्रमाण ।

इस चूलिका के मुख का विस्तार अट्ठाईस से विभक्त जग श्रेणी प्रमाण, भूमिका विस्तार इससे तिगुणा और ऊंचाई बारह से भाजित जग श्रेणी मात्र है ।

चूलिका का मुख $\frac{७}{२८}$ भूमि $\frac{२१}{२८}$ ($\frac{७}{२८}$) ऊंचाई $\frac{७}{१२}$ रा.

अट्ठानवैसे विभक्त जग श्रेणी को ऊपर ऊपर सात स्थानों में रखकर विस्तार को लाने के हेतु गुणकार कहता हूं ।

निकला हुआ जीव सम्यग्दर्शन की शुद्धता से तीर्थङ्कर पद प्राप्त कर सकता है। नरकों से निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती पद छोड़कर ही मनुष्य पर्याय प्राप्त कर सकते हैं अर्थात मनुष्य तो होते हैं पर बलभद्र नारायण और चक्रवर्ती नहीं हो सकते। गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक इस प्रकार मैंने संक्षेप से तेरे लिए अधोलोक के विभाग का वर्णन किया। अब तू तिर्यग्लोक—मध्यम लोक के विभाग का वर्णन सुन।

बुद्धिमान मनुष्य सब समय, सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी उत्तम दीपकों की सामर्थ्य से सूर्य और चन्द्रमा के अगोचर अधोलोक के अन्धकार को नष्ट कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को देखते हुए प्रभुत्व को प्राप्त होते हैं इसमें क्या आश्चर्य है? क्योंकि तीन लोक में जिनेन्द्र रूपी सूर्य के द्वारा प्रकाश के उत्पन्न होने पर अन्धकार का सद्भाव कहां रह सकता है?

४. वातवलयों का परिचय

१. वातवलय सामान्य परिचय

ति. प./१/२६८ गोमुत्तमुग्गवण्णा घणोदधी तह घणाणिल ओ वाऊ। तणुवादो बहुवण्णोरुक्खस्य तयं व वलयातियं ।२६८। =गोमूत्र के समान वर्णवाला घनोदधि, मूंग के समान वर्ण-वाला घनवात तथा अनेक वर्णवाला तनुवात। इस प्रकार ये तीनों वातवलय वृक्ष की त्वचा के समान (लोक को घेरे हुये) हैं ।२६८। (रा. वा. /३/१/८/१६०/१६) : (त्रि. सा./१२३) :

२. तीन वातवलयों का अवस्थान क्रम

ति. प./१/२६९ पढमो लोयाधारो घणोवही इह घणाणिलो ततो। तप्परदो तणुवादो अंतम्मि णहं णिआधारं ।२६९।= इनमें से प्रथम घनोवधि वातवलय लोक का आधार भूत है, इसके पश्चात् घनवातवलय, उसके पश्चात् तनुवातवलय और फिर अन्त में निजाधार आकाश है ।२६९। (स. सि./३/१/२०४/३): (रा. वा./३/१/८/१६०/१४): (तत्वार्थ वृत्ति/३/१/श्लो. १-२/११७)।

तत्वार्थ वृत्ति/३/१/१११/१९ सर्वाः सप्तापि भूमयो घन-वातप्रतिष्ठा वर्तन्ते। स च घनवातः अम्बुवात प्रतिष्ठोऽस्ति। स चाम्बुवातस्तनुवातस्तनूप्रतिष्ठो वर्तते। स च तनुवात आकाश प्रतिष्ठो भवति। आकाशस्यालम्बनं किमपि नास्ति। =दृष्टि नं. २.—ये सभी सातों भूमियां घनवात के आश्रय स्थित हैं। वह घनवात भी अम्बु (धनोदधि) वात के आश्रय स्थित है और वह अम्बुवात तनुवात के आश्रय स्थित है। वह तनुवात आकाश के आश्रय स्थित है, तथा आकाश का कोई भी आलं-बन नहीं है।

३. पृथ्वियों के साथ वातवलयों का स्पर्श

ति. प./२/२४ सत्तच्चिय भूमीओ णवदिसभाएण घणोवहि-विलग्गा। अट्ठमभूमीदसदिस भागेसु घणोवहिं छिवदि ।२४।

ति.प. ८/२०६-२०७ सोहम्मदुगविमाणा घणस्सस्वस्स उवरि सलिलस्स चेट्ठतेंपवणोवरि माहिन्द सणक्कुमाराणि ।२०६। वम्हाई चत्तारो कप्पा चेट्ठति सलिलवादूढं। आणदपाणदपहुदी सेसा सुद्धम्मि गयणयले ।२०७।=सातों (नरक) पृथ्वियाँ

अट्ठानवे, बानवे, नवासी, व्यासी, उनतालीस, बत्तीस और चौदह, ये क्रम से उक्त सात स्थानों में सात गुणकार हैं।

पूर्वोक्त ऊंचाई क्रम से विस्तार का प्रमाण—$\frac{\equiv ७}{९८}$ × ९८; $\frac{\equiv ७}{९८}$ × ९२, $\frac{\equiv ७}{९८}$ × ८९; $\frac{\equiv ७}{९८}$ × ८२; $\frac{\equiv ७}{९८}$ × ३९; $\frac{\equiv ७}{९८}$ × ३२; $\frac{\equiv ७}{९८}$ × १४।

नीचे से ऊपर सात स्थानों में घनराजु को रखकर घनफल जानने के लिये गुणकार को कहता हूं।

उक्त सात स्थानों में पंचानवे, एक सौ इक्यासी, दो सौ सतासी, पांच हजार दो सौ तीन, अट्ठाईस, उनहत्तर और उनंचास, ये सात गुणकार, तथा चार, चार का वर्ग (१६), वारह, अड़तालीस, तीन, चार और चौवीस, ये सात भागहार हैं।

पूर्वोक्त ऊंचाई के क्रम से घनफल का प्रमाण—

$\frac{९५}{४} + \frac{१८१}{१६} + \frac{२८७}{१२} + \frac{५२०३}{४८} + \frac{२८}{३} + \frac{६९}{४} + \frac{४९}{२४}$ = १९६ रा०

दूष्य क्षेत्र में चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोक प्रमाण वाह्य उभय वाहुओं का और पांच से विभक्त लोक प्रमाण आभ्यन्तर दानों वाहुओं का घनफल है।

ऊर्ध्व दिशा को छोड़कर शेष नौ दिशाओं में घनोदधि वातवलय से लगी हुई हैं, परन्तु आठवीं पृथ्वी दसों दिशाओं में ही वातवलय को छूती है ।२४। सौधर्म युगल के विमान घनस्वरूप जल के ऊपर तथा माहेन्द्र व सनत्कुमार कल्प के विमान पवन के ऊपर स्थित हैं।२०६। ब्रह्मादि चार कल्प जल व वायु दोनों के ऊपर, तथा आनत प्राणत आदि शेष विमान शुद्ध आकाश तल में स्थित हैं।२०७।

४. वातवलयों का विस्तार

ति. प./१/२७०-२८१ जोयणवीससहस्सं बहलंतरमारुदाण पत्तेक्कं। अट्ठाखिदीणं हेट्ठलोअन्ते उवरि जाव इगिरज्जू। ।२७०। सगपण चउजोयणयं सत्तमणारयम्मि पुह्विपणधीए। पंचचउतियपमाणं तिरीयखेत्तस्स पणिधीए।२७१। सगपंचचउसमाणा पणिधीए होंति बम्हकप्पस्स। पणचउतिय जोयणया उवरिमलोयस्स यंतम्मि।२७२। कोसदुगमेक्ककोसं किचूणेक्कं च लोयसिहरम्मि। ऊणपमाणं दंडा चउस्सया पंचवोस जुदा। ।२७३।

तीसं इगिदालदलं कोसा तियभाजिदा य उणवणया। सत्तमखिदिपणिधीए बम्हजुदे वाउबहुलत्तं।२८०। दो छब्बारस भागब्भहिओ कोसो कमेण वाउघणं। लोयउवरिम्मि एवं लोय विभायम्मि पण्णत्तं।२८१। १=दृष्टि न. १—आठ पृथ्वियों के नीचे लोक के तल भाग से एक राजू की ऊँचाई तक इन वायु मण्डलों में से प्रत्येक की मोटाई २०,००० योजन प्रमाण है। ।२७०। सातवें नरक में पृथ्वियों के पार्श्व भाग में क्रम से इन तीनों वातवलयों की मोटाई ७, ५ और ४ तथा इसके ऊपर तिर्यग्लोक (मर्त्यलोक) के पार्श्वभाग में ५, ४ और ३ योजन प्रमाण है।२७१। इसके आगे तीनों वायुओं की मोटाई ब्रह्म स्वर्ग के पार्श्व भाग में क्रम से ७, ५ और ४ योजन प्रमाण, तथा ऊर्ध्व लोक के अन्त में (पार्श्व भाग में) ५, ४ और ३ योजन प्रमाण है।२७२। लोक के शिखर पर (पार्श्व भाग में) उक्त तीनों वातवलयों का बाहल्य क्रमशः २ कोस, १ कोस और कुछ कम १ कोस है। यहां कुछ कम का प्रमाण ४२५ धनुष समझना चाहिये।२७३। (शिखर पर प्रत्येक को मोटाई २०,००० योजन है —दे. मोक्ष/१/७) (त्रि. सा./१२४-१२६) १ दृष्टि नं० २—सातवीं पृथ्वी और ब्रह्म युगल के पार्श्वभाग में तीनों वायुओं की मोटाई क्रम से ३०, ४१/२ और ४६/३ कोस हैं।।२८०। लोक शिखर पर तीनों वातवलयों की मोटाई क्रम से १½, १⅙ और १११⁄१२ कोस प्रमाण है। ऐसा लोक विभाग में कहा गया है।२८१। १—विशेष दे. चित्र सं. १।

५. लोक के आठ रुचक प्रदेश

रा. वा./१/२०/१२/७६/१३ मेरुप्रतिष्ठावज्रवैडूर्यपटलान्तरुचकसंस्थिता अष्टावाकाशप्रदेशलोकमध्यम्। =मेरु

इसी क्षेत्र में लघु बाहुओं का घनफल तीन से गुणित और पैंतीस से भाजित लोक प्रमाण तथा यवक्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित लोक प्रमाण है।

दूष्य क्षेत्र में—३४३÷१४×७३½ बाह्य बाहुओं का घनफल ३४३÷५=६८⅗ अ० बा० का घ. फ. ३४३×३÷३५ =२९⅖ ल० बा० का घ० फ० ३४३÷१४=२४½ यव क्षेत्र का घ. फ. ७३½+६८⅗+२९⅖+२४½=१९६।

रा. अधोलोक संबंधी कुल दूष्य क्षेत्र का घनफल।

एक गिरिकटक क्षेत्र का घनफल चौरासी से भाजित लोक प्रमाण है। इसको अड़तालीस से गुणा करने पर कुल गिरिकटक क्षेत्र का घनफल होता है। ३४३÷८४=४१⁄१२ एक गिरिकटक का घ. फ. ४१⁄१२×४८=१९६ सम्पूर्ण गिरि का घ. फ.।

इस प्रकार आठ भेद रूप इस अधोलोक का वर्णन किया जा चुका है। अब यहां से आगे आठ प्रकार के ऊर्ध्व लोक का निरूपण करते हैं।

सामान्य ऊर्ध्वलोक का घनफल सात से भाजित और तीन से गुणित लोक के प्रमाण अर्थात् एक सौ सैंतालोस राजु मात्र है। ३४१÷७×३=१४७ रा० सामान्य ऊर्ध्व लोक का घनफल।

द्वितीय ऊर्ध्वायत चतुरस्र क्षेत्र में वेध और भुजा जग श्रेणी प्रमाण, तथा कोटि तीन राजुमात्र है। ७×७×३=१४७ ऊ० आयत क्षेत्र का घनफल।

तीसरे तिर्यगायत चतुरस्र क्षेत्र में भुजा और कोटि श्रेणी प्रमाण, तथा वेध तीन राजु मात्र है। बहुत से यवों युक्त मुरज क्षेत्र में वह क्षेत्र यव और मुरज रूप होता है। इसमें से यव

पर्वत के नीचे वज्र व वैडूर्य पटलों के बीच में चौकोर संस्थान रूप से अवस्थित आकाश के आठ प्रदेश लोक का मध्य है।

६. लोक विभाग निर्देश

ति. प./१/१३६ सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविंद-माणेण। तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिममज्झिल्लउड्ढ भेएण। ।१३६।=श्रेणी वृन्द के मान से अर्थात् जग श्रेणी के घन प्रमाण से निष्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण लोक, अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है।१३६। (वा. अ./३९): (ध. १३/५, ५, ५०/२८८/४)।

७. त्रस व स्थावर लोक निर्देश

(पूर्वोक्त वेत्रासन व मृदंगाकार लोक के वहु मध्य भाग में, लोक शिखर से लेकर उसके अन्त पर्यन्त १४ राजू लम्वी व मध्य लोक समान एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त नाड़ी है। त्रस जोव इस नाड़ी से वाहर नहीं रहते इसलिये यह त्रस नालो नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु स्थावर जोव इस लोक में सर्वत्र पाये जाते हैं। तहीं भी सूक्ष्म जीव तो लोक में सर्वत्र ठसाठस भरे हैं, पर वादर जीव केवल त्रसनाली में होते हैं उनमें भो तेजस्का-यिक जीव केवल कर्मभूमियों में ही पाये जाते हैं अथवा अधो-लोक व भवनवासियों के विमानों में पाँचों कायों के जीव पाये जाते हैं, पर स्वर्ग लोक में नहीं।

८. अधोलोक सामान्य परिचय

(सर्व लोक तीन भागों में विभक्त है—अधो, मध्य व ऊर्ध्व —दे. लोक/२/२ मेरु तल के नीचे का क्षेत्र अधोलोक है, जो वेत्रासन के आकार वाला है। ७ राजू ऊँचा व ७ राजू मोटा है। नीचे ७ राजू व ऊपर १ राजू प्रमाण चौड़ा है। इसमें ऊपर से लेकर नीचे तक क्रम से रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालु-काप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा व महातमप्रभा नाम की ७ पृथ्वियां लगभग एक राजू अन्तराल से स्थित हैं। प्रत्येक पृथ्वी में यथा योग्य १३, ११ आदि पटल १००० योजन अन्त-राल से अवस्थित हैं। कुल पटल ४९ हैं। प्रत्येक पटल में अनेकों विल या गुफायें हैं। पटल का मध्यवर्ती विल इन्द्रक कहलाता है। इसकी चारों दिशाओं व विदिशाओं में एक श्रेणी में अवस्थित विल श्रेणीवद्ध कहलाते हैं और इनके बीच में रत्नराशिवत् विखरे हुये विल प्रकीर्णक कहलाते हैं। इन विलों में नारकी जीव रहते हैं। (दे. नरक/५]। सातों पृथ्वियों के नीचे अन्त में एक राजू प्रमाण क्षेत्र खाली हैं। (उसमें केवल निगोद जीव रहते हैं] —दे. लोक/३/१४। (विशेष देखो, नरग/५]

९. भावनलोक निर्देश

उपरोक्त सात पृथ्वियों में जो रत्नप्रभा नाम की प्रथम पृथ्वी है, वह तीन भागों में विभक्त है— खरभाग, पंकभाग व

क्षेत्र का घनफल सात से भाजित लोक प्रमाण और मुरज क्षेत्र का घनफल सात से भाजित और दो से गुणित लोक के प्रमाण है। ७×७×३=१४७ ति. आयात क्षे. का घ. फ. यव मुरज में ३४३÷७=४९ य. क्षे. घ. फ. ३४३÷७×२=९८ मु. क्षे. का घ. फ. ४९+९८=१४७ समस्त य. मु. क्षे. का घ.फ.।

यवमध्य क्षेत्र में एक यव का घनफल अट्ठाईस से भाजित लोक प्रमाण है। इसको वारह से गुणा करने पर सम्पूण यव मध्य क्षेत्र का घनफल निकलता है। ३४३÷२८=१२$\frac{१}{४}$ एक यव का घ. फ. १२$\frac{१}{४}$×१२=१४७ रा. सम्पूर्ण य. म. क्षे. का घ. फ.।

मन्दरसदृश आकार वाले ऊर्ध्व क्षेत्र में ऊपर ऊपर ऊंचाई क्रम से तीन से भाजित दो राजु, तीन से भाजित एक राजु, चार से भाजित तीन राजु, वारह से भाजित इकतीस राजु, चार से भाजित तीन राजु और वारह से भाजित तेईस राजु मात्र है।

$$\frac{२}{३}+\frac{१}{३}+\frac{३}{४}+\frac{३१}{१२}+\frac{३}{४}+\frac{२३}{१२}+\frac{८४}{१२}=७ \text{ राजु।}$$

अट्ठानवें से विभक्त और तीन से गुणित जग श्रेणी प्रमाण तटों का विस्तार है। ऐसे चार तटवर्ती करणाकार खण्डित क्षेत्रों से चूलिका होती है।

प्रत्येक तट का विस्तार—$\frac{७}{९८}\times ३=\frac{२१}{९८}=\frac{३}{१४}$ राजु।

उस चूलिका की भूमि का विस्तार तीन तटों के प्रमाण, मुख का विस्तार इसका तीसरा भाग, तथा ऊंचाई चार से भाजित और तीन से गुणित राजु मात्र है।

ऊर्ध्व दिशा को छोड़कर शेष नौ दिशाओं में घनोदधि वातवलय से लगी हुई हैं, परन्तु आठवीं पृथ्वी दशों दिशाओं में ही वातवलय को छूती है ।२४। सौधर्म युगल के विमान घनस्वरूप जल के ऊपर तथा माहेन्द्र व सनत्कुमार कल्प के विमान पवन के ऊपर स्थित हैं ।२०६। ब्रह्मादि चार कल्प जल व वायु दोनों के ऊपर, तथा आनत प्राणत आदि शेष विमान शुद्ध आकाश तल में स्थित हैं ।२०७।

४. वातवलयों का विस्तार

ति. प./१/२७०-२८१ जोयणवीससहस्सां बहलंतम्मारुदाण पत्तेक्कं । अट्ठाखिदीणं हेट्ठेलोअतले उवरि जाव इगिरज्जू । ।२७०। सगपण चउजोयणयं सत्तमणारयम्मि पुहविपणधीए। पंचचउतियमाणं तिरीयखेत्तस्स पणिधीए ।२७१। सगपंचचउसमाणा पणिधीए होति बम्हकप्पस्स । पणचउतिय जोयणया उवरिमलीयस्स यंतम्मि ।२७२। कोसदुगमेक्ककोसं किंचूणेक्कं च लोयसिहरम्मि । ऊणपमाणं दंडा चउस्सया पंचवोस जुदा । ।२७३।

तीसं इगिदालदलं कोसा तियभाजिदा य उणवणया । सत्तमखिदिपणिधीए वम्हजुदे बाउबहुलत्तं ।२८०। दो छब्बारस भागब्भहिओ कोसो कमेण वाउघणं । लोयउवरिम्मि एवं लोय विभायम्मि पण्णतं ।२८१। १=दृष्टि न. १–आठ पृथ्वियों के नीचे लोक के तल भाग से एक राजू की ऊँचाई तक इन वायु मण्डलों में से प्रत्येक की मोटाई २०,००० योजन प्रमाण है। ।२७०। सातवे नरक में पृथ्वियों के पार्श्व भाग में क्रम से इन तीनों वातवलयों की मोटाई ७, ५ और ४ तथा इसके ऊपर तिर्यग्लाक (मर्त्यलोक) के पार्श्वभाग में ५, ४ और ३ योजन प्रमाण है ।२७१। इसके आगे तीनों वायुओं की मोटाई ब्रह्म स्वर्ग के पार्श्व भाग में क्रम से ७, ५ और ४ योजन प्रमाण, तथा ऊर्ध्व लोक के अन्त में (पार्श्व भाग में) ५, ४ और ३ योजन प्रमाण है ।२७२। लोक के शिखर पर (पार्श्व भाग में) उक्त तीनों वातवलयों का वाहल्य क्रमशः २ कोस, १ कोस और कुछ कम १ कोस है । यहां कुछ कम का प्रमाण ४२५ धनुष समझना चाहिये ।२७३। (शिखर पर प्रत्येक को मोटाई २०,००० योजन है –दे. मोक्ष/१/७) (त्रि. सा./१२४-१२६) १ दृष्टि नं० २–सातवीं पृथ्वी और ब्रह्म युगल के पार्श्वभाग में तीनों वायुओं की मोटाई क्रम से ३०, ४१/२ और ४६/३ कोस हैं । ।२८०। लोक शिखर पर तीनों वातवलयों की मोटाई क्रम से $१\frac{१}{३}$, $१\frac{१}{२}$ और $११\frac{१}{२}$ कोस प्रमाण है । ऐसा लोक विभाग में कहा गया है ।२८१। १–विशेष दे. चित्र सं. १ ।

५. लोक के आठ रुचक प्रदेश

रा. वा./१/२०/१२/७६/१३ मेरुप्रतिष्ठावज्रवैडूर्यपटलान्तरुचकसस्थिता अष्टावाकाशप्रदेशलोकमध्यम् । =मेरु

इसी क्षेत्र में लघु वाहुओं का घनफल तीन से गुणित और पैंतीस से भाजित लोक प्रमाण तथा यवक्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित लोक प्रमाण है।

दूष्य क्षेत्र में—३४३÷१४×७३$\frac{१}{२}$ वाह्य वाहुओं का घनफल ३४३÷५=६८$\frac{३}{५}$ अ० बा० का घ. फ. ३४३×३÷३५ =२९$\frac{२}{५}$ ल० वा० का घ० फ० ३४३÷१४=२४$\frac{१}{२}$ यव क्षेत्र का घ. फ. ७३$\frac{१}{२}$+६८$\frac{३}{५}$+२९$\frac{२}{५}$+२४$\frac{१}{२}$=१९६ ।

रा. अधोलोक संबंधी कुल दूष्य क्षेत्र का घनफल ।

एक गिरिकटक क्षेत्र का घनफल चौरासी से भाजित लोक प्रमाण है । इसको अड़तालीस से गुणा करने पर कुल गिरिकटक क्षेत्र का घनफल होता है । ३४३÷८४=४$\frac{१}{१२}$ एक गिरिकटक का घ. फ. ४$\frac{१}{१२}$×४८=१९६ सम्पूर्ण गिरि का घ. फ. ।

इस प्रकार आठ भेद रूप इस अधोलोक का वर्णन किया जा चुका है । अब यहाँ से आगे आठ प्रकार के ऊर्ध्व लोक का निरूपण करते हैं ।

सामान्य ऊर्ध्वलोक का घनफल सात से भाजित और तीन से गुणित लोक के प्रमाण अर्थात् एक सौ सैंतालीस राजु मात्र है । ३४१÷७×३=१४७ रा० सामान्य ऊर्ध्व लोक का घनफल ।

द्वितीय ऊर्ध्वायत चतुरस्र क्षेत्र में वेध और भुजा जगश्रेणी प्रमाण, तथा कोटि तीन राजुमात्र है। ७×७×३=१४७ ऊ० आयत क्षेत्र का घनफल ।

तीसरे तिर्यगायत चतुरस्र क्षेत्र में भुजा और कोटि श्रेणी प्रमाण, तथा वेध तीन राजु मात्र है । बहुत से यवों युक्त मुरज क्षेत्र में वह क्षेत्र यव और मुरज रूप होता है । इसमें से यव

पर्वत के नीचे वज्र व वैडूर्य पटलों के बीच में चौकोर संस्थान रूप से अवस्थित आकाश के आठ प्रदेश लोक का मध्य है।

६. लोक विभाग निर्देश

ति. प./१/१३६ सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविंद-माणेण। तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिममज्झिल्लउड्ढ भेएण। ।१३६।=श्रेणी वृन्द के मान से अर्थात् जग श्रेणी के घन प्रमाण से निष्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण लोक, अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है।१३६। (वा. अ./३९): (ध. १३/५, ५, ५०/२८८/४)।

७. त्रस व स्थावर लोक निर्देश

(पूर्वोक्त वेत्रासन व मृदंगाकार लोक के वहु मध्य भाग में, लोक शिखर से लेकर उसके अन्त पर्यन्त १४ राजू लम्बी व मध्य लोक समान एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त नाड़ी है। त्रस जोव इस नाड़ो से वाहर नहीं रहते इसलिये यह त्रस नालो नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु स्थावर जोव इस लोक में सर्वत्र पाये जाते हैं। तहीं भी सूक्ष्म जीव तो लोक में सर्वत्र ठसाठस भरे हैं, पर वादर जीव केवल त्रसनाली में होते हैं उनमें भो तेजस्का-यिक जीव केवल कर्मभूमियों में ही पाये जाते हैं अथवा अधो-लोक व भवनवासियों के विमानों में पाँचों कायों के जीव पाये जाते हैं, पर स्वर्ग लोक में नहीं।

८. अधोलोक सामान्य परिचय

(सर्व लोक तीन भागों में विभक्त है—अधो, मध्य व ऊर्ध्व —दे. लोक/२/२ मेरु तल के नीचे का क्षेत्र अधोलोक है, जो वेत्रासन के आकार वाला है। ७ राजू ऊँचा व ७ राजू मोटा है। नीचे ७ राजू व ऊपर १ राजू प्रमाण चौड़ा है। इसमें ऊपर से लेकर नीचे तक क्रम से रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालु-काप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा व महातमप्रभा नाम की ७ पृथिवियां लगभग एक राजू अन्तराल से स्थित हैं। प्रत्येक पृथ्वी में यथा योग्य १३, ११ आदि पटल १००० योजन अन्त-राल से अवस्थित हैं। कुल पटल ४९ हैं। प्रत्येक पटल में अनेकों विल या गुफायें हैं। पटल का मध्यवर्ती विल इन्द्रक कहलाता है। इसकी चारों दिशाओं व विदिशाओं में एक श्रेणी में अवस्थित विल श्रेणीवद्ध कहलाते हैं और इनके वीच में रत्नराशिवत् विखरे हुये विल प्रकीर्णक कहलाते हैं। इन विलों में नारकी जीव रहते हैं। (दे. नरक/५]। सातों पृथ्वियों के नीचे अन्त में एक राजू प्रमाण क्षेत्र खाली हैं। (उसमें केवल निगोद जीव रहते हैं] —दे. लोक/३/१४। (विशेष देखो, नरग/५]

९. भावनलोक निर्देश

उपरोक्त सात पृथ्वियों में जो रत्नप्रभा नाम की प्रथम पृथ्वी है, वह तीन भागों में विभक्त है— खरभाग, पंकभाग व

क्षेत्र का घनफल सात से भाजित लोक प्रमाण और मुरज क्षेत्र का घनफल सात से भाजित और दो से गुणित लोक के प्रमाण है। ७×७×३=१४७ ति. आयात क्षे. का घ. फ. यव मुरज में ३४३÷७=४९ य. क्षे. घ. फ. ३४३÷७×२=९८ मु. क्षे. का घ. फ. ४९+९८=१४७ समस्त य. मु. क्षे. का घ.फ.।

यवमध्य क्षेत्र में एक यव का घनफल अट्ठाईस से भाजित लोक प्रमाण है। इसको वारह से गुणा करने पर सम्पूर्ण यव मध्य क्षेत्र का घनफल निकलता है। ३४३÷२८=१२$\frac{१}{४}$ एक यव का घ. फ. १२$\frac{१}{४}$×१२=१४७ रा. सम्पूर्ण य. म. क्षे. का घ. फ.।

मन्दरसदृश आकार वाले ऊर्ध्व क्षेत्र में ऊपर ऊपर ऊंचाई क्रम से तीन से भाजित दो राजु, तीन से भाजित एक राजु, चार से भाजित तीन राजु, वारह से भाजित इकतीस राजु, चार से भाजित तीन राजु और वारह से भाजित तेईस राजु मात्र है।

$\frac{२}{३}+\frac{१}{३}+\frac{३}{४}+\frac{३१}{१२}+\frac{३}{४}+\frac{२३}{१२}+\frac{२४}{१२}$=७ राजु।

अट्ठानवें से विभक्त और तीन से गुणित जग श्रेणी प्रमाण तटों का विस्तार है। ऐसे चार तटवर्ती करणाकार खण्डित क्षेत्रों से चूलिका होती है।

प्रत्येक तट का विस्तार—$\frac{७}{९८}$×३=$\frac{२१}{९८}$=$\frac{३}{१४}$ राजु।

उस चूलिका की भूमि का विस्तार तीन तटों के प्रमाण, मुख का विस्तार इसका तीसरा भाग, तथा ऊंचाई चार से भाजित और तीन से गुणित राजु मात्र है।
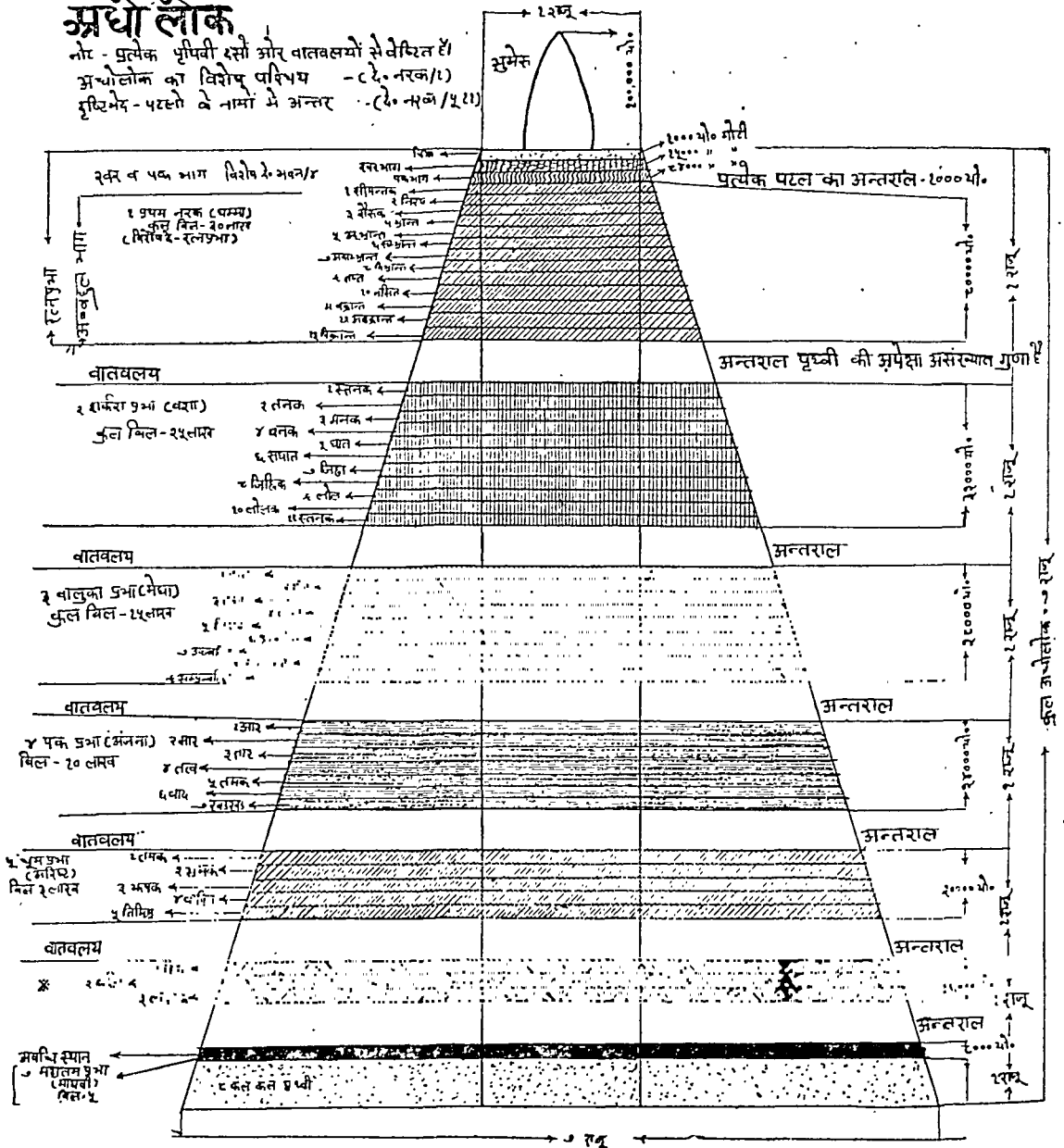
अधो लोक
नोट - प्रत्येक पृथिवी तीनों ओर वातवलयों से वेष्टित है।
अधोलोक का विशेष परिचय -(दे० नरक/१)
दृष्टिभेद - पटलों के नामों में अन्तर -(दे० नरक/५।११)
१ राजू
सुमेरु
खर व पङ्क भाग विशेष दे० भवन/४
१ प्रथम नरक (धम्मा)
कुल बिल - ३० लाख
(विशेष दे० - रत्नप्रभा)
रत्नप्रभा
अब्बहुल भाग
खरभाग
पङ्कभाग
प्रत्येक पटल का अन्तराल - १००० यो०
अन्तराल पृथ्वी की अपेक्षा असंख्यात गुणा है
वातवलय
२ शर्करा प्रभा (वंशा)
कुल बिल - २५ लाख
१ स्तनक
२ तनक
३ मनक
४ वनक
५ घात
६ संघात
७ जिह्वा
८ जिह्विक
९ लोल
१० लोलक
११ स्तनलोलक
अन्तराल
३ बालुका प्रभा (मेघा)
कुल बिल - १५ लाख
४ पंक प्रभा (अंजना)
बिल - १० लाख
१ आर
२ मार
३ तार
४ तत्व
५ तमक
६ वाद
७ खडखड
५ धूम प्रभा (अरिष्टा)
बिल ३ लाख
३ झषक
५ तिमिश्र
अवधि स्थान
७ महातम प्रभा (माघवी)
बिल - ५
८ कलकल पृथ्वी
कुल अधोलोक - ७ राजू
७ राजू
प्रत्येक पटल में इन्द्रक व श्रेणी बद्ध
अंतिम नरक का अंतिम पटल
प्रथम नरक का प्रथम पटल
त्रस नाली में ऊपर की ओर से देखने पर
उत्तर
दक्षिण
पूर्व
पश्चिम
सीमन्तक पटल
श्रेणीबद्ध
अवधिस्थान पटल
महा
रौरव
काल
महाकाल
यही प्रत्येक दिशा में केवल एक एक श्रेणी-बद्ध है। विदिशाओं में नहीं है। न ही प्रकीर्णक है।
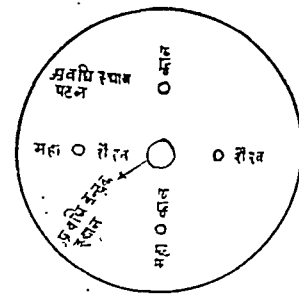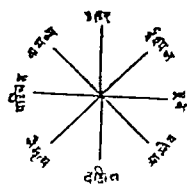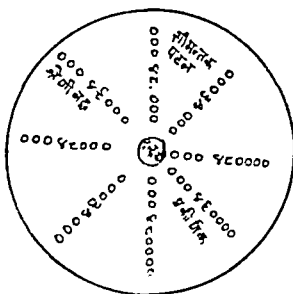
अब्बहुल भाग। खरभाग भी चित्रा, वैडूर्य, लोहितांक आदि १६ प्रस्तरों में विभक्त है। प्रत्येक प्रस्तर १००० योजन मोटा है। उनमें चित्रा नाम का प्रथम प्रस्तर अनेकों रत्नों व धातुओं की खान है। (दे. रत्नप्रभा)। तहाँ खर व पंक भाग में भावनवासी देवों के भवन हैं और अब्बुहल भाग में नरक पटल है, (दे. भवन.४/१) इसके अतिरिक्त तिर्यक लोक में भी यत्र तत्र सर्वत्र उनके पूरे, भवन व आवास हैं।

(दे. व्यंतर ४/१, ५)। (विशेष दे. भवन/४)।

१०. व्यन्तर लोक निर्देश

चित्रा पृथ्वी के तल भाग से लेकर सुमेरु की चोटी तक तिर्यगलोक प्रमाण विस्तृत सर्व क्षेत्र व्यन्तरों के रहने का स्थान है। इसके अतिरिक्त खर व पंकभाग में भी उसके भवन हैं। मध्य लोक के सर्व द्वीप समुद्रों की वेदिकाओं पर, पर्वतों के कूटों पर, नदियों के तटों पर इत्यादि अनेक स्थलों पर यथा योग्य रूप में उनके पुर, भवन व आवास हैं। (विशेष दे० व्यन्तर/४)।

११. मध्य लोक निर्देश

१. द्वीप सागर आदि निर्देश

ति. प./५/८-१०, २७, सव्वे दीवसमुद्दा संखादीदा भवंति समवट्टा। पढमो दीओ उवही चरिमो मज्झम्मि दीउवही।८। चित्तोवरि वहुमज्झे रज्जूपरिमाणदीहविक्खमे। चेट्ठंति दीवउवही एक्केक्कं वेढिऊणं हु प्परिदो।९। सव्वे वि वाहिणीसा चित्तखिदिं खडिदूण चेटठंति। वज्जखिदीए उवरिं दीवा वि हु उवरि चित्ताए।१०। जम्बूदीवे लवणो उवही कालो त्ति धादईसंडे। अवसेसा वारिशिही वत्तव्वा दीवसमणामा।२८। =१. सब द्वीप समुद्र असंख्यात एवं समवृत्त है। इनमें से पहला द्वीप, अन्तिम समुद्र और मध्य में द्वीप समुद्र हैं।८। चित्रा पृथ्वी के ऊपर बहुमध्य भाग में एक राजू लम्बे चौड़े क्षेत्र के भीतर एक एक को चारों ओर से घेरे हुये द्वीप व समुद्र स्थित हैं।९। सभी समुद्र चित्रा पृथ्वी खण्डित कर व्रजा पृथ्वी के ऊपर, और सब द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित है।१०। (मू. आ./१०७६), २. जम्बूद्वीप में लवणोदधि और धातकी खण्ड में कालोद नामक समुद्र है। शेष समुद्रों के नाम द्वीपों के नाम के समान ही कहना चाहिये।

त्रि. सा./८८६ वज्जभयमूलभागा वेलुरियकयाइरम्मा सिहरजुदा। दीवो वहीणमते पायारा होंति सव्वत्थ।८८६। = सभी द्वीप व समुद्रों के अन्त में परिधि रूप से वैडूर्यमयी वेदिका होती है, जिनका मूल व्रजमयी होता है तथा जो रमणीक शिखरों से संयुक्त हैं। [विशेष दे. लोक/३-४]

नोट—[द्वीप समुद्रों के नाम व समुद्रों के जल का स्वाद —दे. लोक/५]

भूमिविस्तार—$\frac{३}{१४}\times ३=\frac{९}{१४}$ मुखविस्तार $\frac{९}{१४}\div\frac{१}{३}=\frac{३}{१४}$ ऊंचाई $\frac{३}{४}$ राजु.।

सात स्थानों में ऊपर इक्कीस से विभक्त राजु को रख कर विस्तार के निमित्त भूत गुणकार को कहता हूं।

एक सौ पांच, सत्तानवें, तिरानवें, चौरासी, तेरेपन, चवालीस और इक्कीस, ये उपर्युक्त सात स्थानों में सात गुणाकार हैं। $\frac{१०५}{२१}$, $\frac{९७}{२१}$, $\frac{९३}{२१}$, $\frac{८४}{२१}$, $\frac{५३}{२१}$, $\frac{४४}{२१}$, $\frac{२१}{२१}$ रा.।

सात स्थानों में नीचे से ऊपर घनराजु को रखकर घनफल जानने के लिए गुणकार और भाग हारों को कहता हूं।

इन सात स्थानों में क्रम से दो सौ दो, पंचानवें, इक्कीस, वयालीस सौ सैंतालीस, ग्यारह, चौदह सौ पंचानवें और नौ ये सात गुणकार हैं। तथा भागहार यहां नौ, नौ, एक, वहत्तर, एक, वहत्तर और चार हैं। $\frac{२०२}{९}+\frac{९५}{९}+\frac{२१}{१}+\frac{४२४७}{७२}+\frac{११}{१}+\frac{१४९५}{७२}+\frac{९}{४}=१४७$ राजु मन्दर क्षेत्र का घनफल।

दूष्य क्षेत्र की वाहिरी उभय भुजाओं का घनफल चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोक प्रमाण; तथा अभ्यन्तर दोनों भुजाओं का घनफल चौदह से भाजित और दो से गुणित लोक प्रमाण है।

दूष्य क्षेत्र में—$३४३\div १४\times ३=७३\frac{१}{२}$ वा. उ. भु. घ. फ. $३४३\div १४\times २=४९$ अ. क्षे. घ. फ.।

इस दूष्य क्षेत्र के यव क्षेत्रों का घनफल चौदह से भाजित लोक प्रमाण है। अब यहां से आगे अनुक्रम से गिरिकटक खण्ड

२. तिर्यक्लोक, मनुष्यलोक आदि विभाग

ध. ४/१, ३, १/६/३ देसभेएण तिविहो, मंदरचिलियादो, उवरिमुड्ढ लोगो, मंदरमूलादो हेट्ठा अधोलोगो, मंदरपरिच्छिण्णो मज्झलोगोत्ति। देश के भेद से क्षेत्र तीन प्रकार का है। मन्दराचल [सुमेरु पर्वत] की चूलिका से ऊपर का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है। मन्दराचल के मूल से नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। मन्दराचल से परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्रमाण मध्य लोक है।

ह. पु./५/१ तनुवातान्तपर्यन्तस्तिर्यग्लोको व्यवस्थितः। लक्षितावधिरूर्ध्वाधो मेरुयोजनलक्षया।१।=१ तनुवातवलय के अन्तभाग तक तिर्यग्लोक अर्थात मध्य लोक स्थित है। मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तार वाला है। उसी मेरु पर्वत द्वारा ऊपर तथा नीचे इस तिर्यग्लोक की अवधि निश्चित है। ।१। इसमें असंख्यात द्वीप, समुद्र एक दूसरे को वेष्टित करके स्थित हैं, यह सारा का सारा तिर्यकलोक कहलाता है, क्योंकि तिर्यंच जीव इस क्षेत्र में सर्वत्र पाये जाते हैं। २. उपरोक्त तिर्यग्लोक के मध्यवर्ती, जम्बूद्वीप से लेकर मानुषोत्तर पर्वत तक अढ़ाई द्वीप व दो सागर से रुद्ध ४५,००,००० योजन प्रमाण क्षेत्र मनुष्य लोक है। देवों आदि के द्वारा भी उनका मानुषोत्तर पर्वत के पर भाग में जाना सम्भव नहीं है। ३. मनुष्य लोक के इन अढ़ाई द्वीपों में से जम्बू द्वीप में १ और धातकी व पुष्करार्ध में दो-दो मेरु हैं। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी ६ कुलधर पर्वत होते हैं, जिनसे वह द्वीप ७ क्षेत्रों में विभक्त हो जाता है। मेरु के प्रणिधि भाग में दो कुरु तथा मध्यवर्ती विदेह क्षेत्र के पूर्व व पश्चिमवर्ती दो विभाग होते हैं। प्रत्येक में ८ वक्षार पर्वत, ६ विभंगा नदियां तथा १६ क्षेत्र हैं। उपरोक्त ७ व इन ३२ क्षेत्रों में से प्रत्येक में दो-दो प्रधान नदियां हैं। ७ क्षेत्रों में से दक्षिणी व उत्तरीय दो क्षेत्र तथा ३२ विदेह इन सब के मध्य में एक-एक विजयार्ध पर्वत हैं, जिन पर विद्याधरों की बस्तियां हैं। ४. इस अढ़ाई द्वीप तथा अन्तिम द्वीप सागर में ही कर्म भूमि है, अन्य सर्व द्वीप व सागर में सर्वदा भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। कृष्यादि षट्कर्म तथा धर्म कर्म सम्बन्धो अनुष्ठान जहाँ पाये जायें वह कर्मभूमि है, और जहाँ जीव विना कुछ किये प्राकृतिक पदार्थों के आश्रय पर उत्तम भोग भोगते हुये सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करें वह भोगभूमि है। अढ़ाई द्वीप के सर्व क्षेत्रों में भी सर्व विदेह क्षेत्रों में त्रिकाल उत्तम प्रकार की कर्मभूमि रहती है। दक्षिणी व उत्तरी दो-दो क्षेत्रों में षट्काल परिवर्तन होता है। तीन कालों में उत्तम, मध्यम, व जघन्य भोगभूमि और तीन कालों में उत्तम मध्यम व जघन्य कर्मभूमि रहती है। दोनों कुरुओं में सदा उत्तम भोगभूमि रहती है, इनके आगे दक्षिण व उत्तर क्षत्रों में सदा मध्यम भोग भूमि और उनसे भी आगे के शेष दो क्षेत्रों में सदा जघन्य भोगभूमि रहती है। भोगभूमि में जीव की आयु शरीरोत्सेध बल व सुख क्रम से वृद्धिगत होता है और कर्मभूमि में क्रमशः हानिगत होता है। ५. मनुष्य लोक व अन्तिम स्वयंप्रभ द्वीप व सागर को छोड़कर शेष सभी द्वीप सागरों में विकलेन्द्रिय व जलचर नहीं होते हैं। इसी प्रकार सर्व ही भोग भूमियों में भी वे नहीं होते हैं। वैर वश देवों के द्वारा ले जाये गये वे सर्वत्र सम्भव हैं।

को कहता हूं।

३४३÷१४=२४$\frac{३}{२}$ दूष्य क्षेत्र के य. क्षे. का घ. फ. ७३$\frac{३}{२}$ +४९+२४$\frac{३}{२}$=२४७ सम्पूर्ण हाथ क्षेत्र का घ. फ.।

एक गिरि कट का घनफल छप्पन से भाजित लोक प्रमाण है। इसको चौबीस से गुणा करने पर सात से भाजित और तीन से गुणित लोक प्रमाण सम्पूर्ण गिरिकटक क्षेत्र का घनफल आता है।

३४४÷५६=६$\frac{१}{८}$ एक गि. क. का घ. फ. ६$\frac{१}{८}$×२४= १४७ रा. (३४३÷७×३) सम्पूर्ण गि. क्षे. घ. फ.।

सामान्य, अधः और ऊर्ध्व के भेद से जो तीन प्रकार का जग अर्थात लोक है, उसको आठ प्रकार से कह कर अब वातवलयों के पृथक्-पृथक् आकार को कहता हूं।

गोमूत्र के समान वर्ण वाला घनोदधि, मूंग के समान वर्णवाला घनवात, तथा अनेक वर्णवाला तनुवात, इस प्रकार के ये तीनों वातवलय वृक्ष की त्वचा के समान (लोक को घेरे हुए) हैं।

इनमें से प्रथम घनोदधिवातवलय लोक का आधार भूत है। इसके पश्चात घनवातवलय, उसके पश्चात तनुवातवलय

मध्यलोक सामान्य

द्वीप सागरों के नाम संकेत यो०—योजन
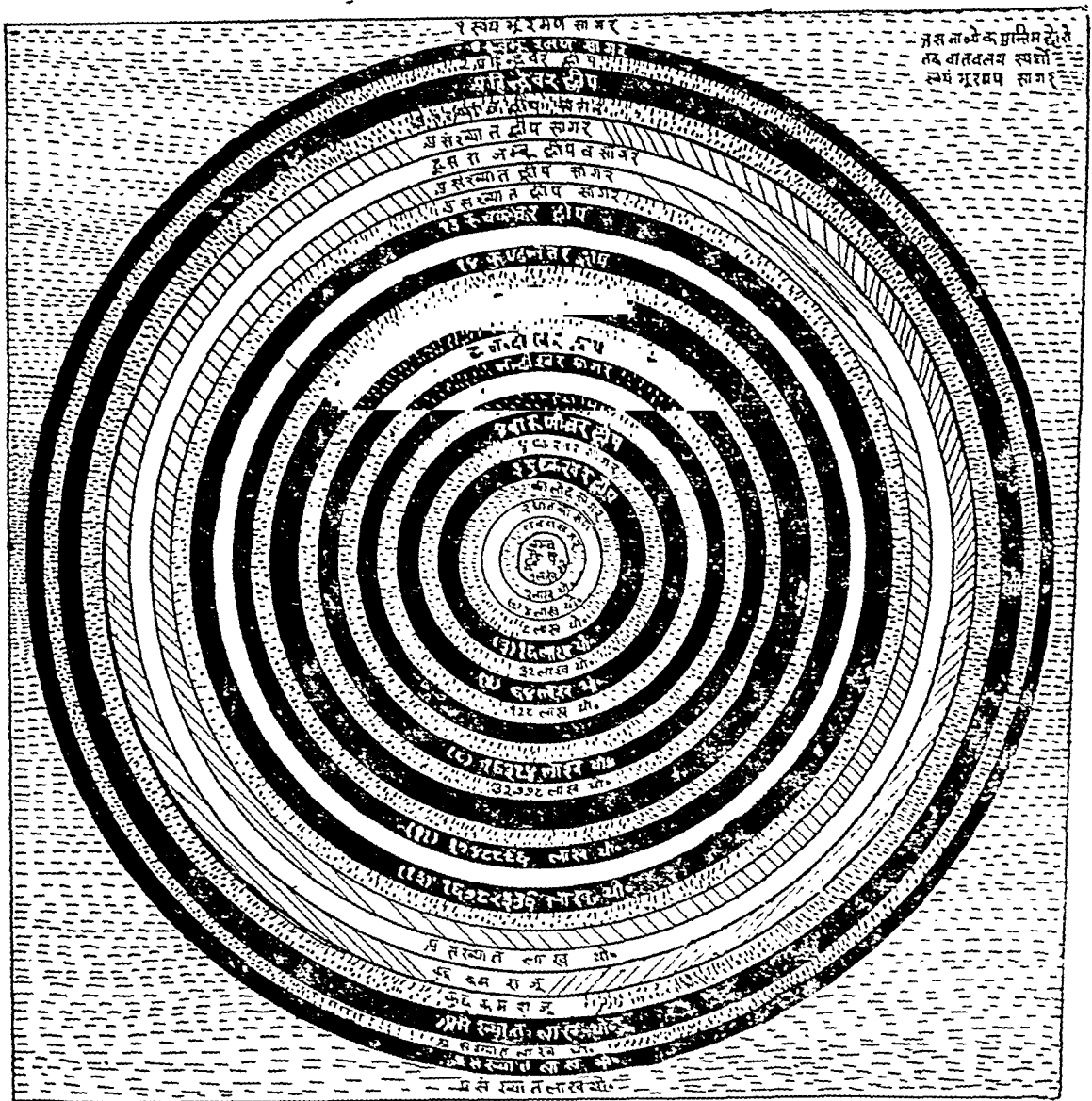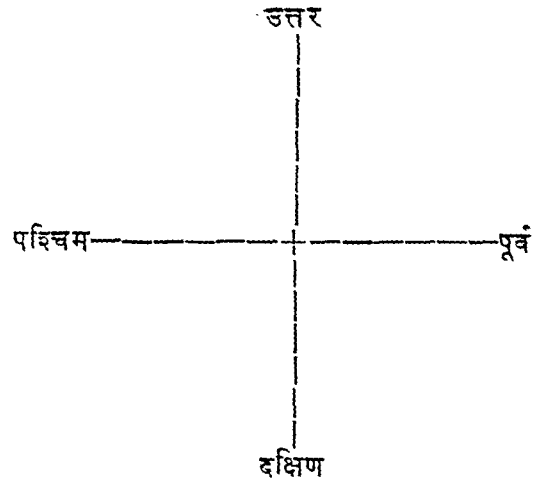
१२. ज्योतिष लोक सामान्य निर्देश

[पूर्वोक्त चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर जाकर ११० योजन पर्यन्त आकाश में एक राजू प्रमाण विस्तृत ज्योतिष लोक है। नीचे से ऊपर की ओर क्रम से तारागण, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, शुक्र, वृहस्पति, मंगल, शनि व शेष अनेक ग्रह अवस्थित रहते हुये अपने-अपने योग्य संचार क्षेत्र में मेरु की प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इनमें से चन्द्र इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र। १ सूर्य, ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र व ६६९७५ तारे, ये एक चन्द्रमा का परिवार है। जम्बू द्वीप में दो, लवण सागर में ४, धातकी खण्ड में १२, कालोद में ४२ और पुष्करार्व में ७२ चन्द्र हैं। ये सव तो चर अर्थात चलने वाले ज्योतिष विमान हैं। इससे आगे पुष्कर के परार्ध में ८, पुष्करोद में ३२, वारुणीवर द्वीप में ६४ और इससे आगे सर्व द्वीप समुद्रों में उत्तरोत्तर दुगुने चन्द्र अपने परिवार सहित स्थित हैं। ये अचर ज्योतिष विमान है। [दे. ज्योतिष/२]

१३. ऊर्ध्वलोक सामान्य परिचय

[सुमेरू पर्वत की चोटी से एक वाल मात्र अन्तर से ऊर्ध्व-लोक प्रारम्भ होकर लोक-शिखर पर्यन्त १००४०० योजन कम ७ राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है। उसमें भी लोक शिखर से २१ योजन ४२५ धनुष नीचे तक तो स्वर्ग है और उससे ऊपर लोक शिखर पर सिद्ध लोक है। स्वर्ग लोक में ऊपर-ऊपर स्वर्ग पटल स्थित हैं। इन पटलों में दो विभाग हैं —कल्प व कल्पातीत। इन्द्र सामानिक आदि १० कल्पनाओं युक्त देव कल्पवासी हैं और इन कल्पनाओं से रहित अहमिन्द्र कल्पातीत विमान-वासी हैं। आठ युगलों रूप से अवस्थित कल्प पटल १६ हैं–सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत। इनसे ऊपर ग्रैवेयेक, अनुदिश व अनुत्तर ये तीन पटल कल्पातीत हैं। प्रत्येक पटल लाखों योजनों के अन्तराल से ऊपर-ऊपर अवस्थित है। प्रत्येक पटल में असंख्यात योजनों के अन्तराल से अन्य क्षुद्र पटल हैं। सर्व पटल मिलकर ६३ हैं। प्रत्येक पटल में विमान हैं। नरक के विलोंवत् ये विमान भी इन्द्रक श्रेणीवद्ध व प्रकीर्णक के भेद से तीन प्रकारों में विभक्त हैं। प्रत्येक क्षुद्र पटल में एक-एक इन्द्रक हैं और अनेकों श्रेणीवद्ध व प्रकीर्णक। प्रथम महापटल में ३३ और अन्तिम में केवल एक सवार्थसिद्धि नाम का इन्द्रक है, इसकी चारों दिशाओं में केवल एक-एक श्रेणीवद्ध है। इतना यह सव स्वर्गलोक कहलाता है [नोट:—चित्र सहित विस्तार के लिये दे. स्वर्ग] सर्वाथ सिद्धि विमान के ध्वज दण्ड से २९ योजन ४२५ धनुष ऊपर जाकर सिद्ध लोक है। जहाँ मुक्तजीव अव-स्थित हैं। तथा इसके आगे लोक का अन्त हो जाता है। [दे. मोक्ष/१/७]।

और फिर अन्त में निजाधार आकाश है।

आठ पृथ्वियों के नीचे लोक के तल भाग में एक राजु की ऊंचाई तक इन वायु मण्डलों में से प्रत्येक की मुटाई वीस हजार योजन प्रमाण है।

घ. उ. २००००+घ. २००००+त. २००००=६०००० यो. लोक के तल भाग में एक राजु ऊपर तक वातवलयों की मुटाई।

सातवें नरक में पृथ्वी के पार्श्वभाग में क्रम से इन तीनों वातवलयों की मुटाई सात, पांच और चार तथा इसके ऊपर तिर्यग्लोक (मध्य लोक) के पार्श्वभाग में पांच, चार और तीन योजन प्रमाण है।

सातवीं पृथ्वी के पास तीनों वातवलयों की मुटाई—घ. उ. ७+घ ५+त. ४=१६ योजन मध्य लोक के पास घ. उ. ५+घ. ४+त ३=१२ योजन।

इसके आगे तीनों वायुओं की मुटाई ब्रह्म स्वर्ग के पार्श्व भाग में क्रम से सात, पांच और चार प्रमाण, तथा ऊर्ध्व लोक के अन्त में (पार्श्व भाग में) पांच, चार और तीन योजन प्रमाण है। ब्रह्म स्वर्ग के पास यो० ७, ५, ४; लोक के अंत में यो० ५, ४, ३

लोक के शिखर पर उक्त तीनों वातवलयों का वाहल्य क्रमशः दो कोस और कुछ कम एक कोस है। यहां तनुवात-वलय की मुटाई जो एक कोस से कुछ कम वतलाई है, उस कमी का प्रमाण चार सौ पच्चीस धनुष है।

लोक शिखर पर घनोदधिवात की मुटाई को २ घन० वा० को १; त० व० धनुष कम १. (धनुष १५७५)

३. जम्बूद्वीप निर्देश

१. जम्बूद्वीप सामान्य निर्देश

त. सू./३/६-२३ तन्मध्ये मेरुनाभिवृत्तो योजनशतशहस्त्र-विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।६। भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्य-वतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।१०। तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः । ।११। हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ।१२। मणिविचित्र-पार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ।१३। पद्ममहापद्मतिगिं-छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका हृदास्तेषामुपरि ।१४। तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।१७। तद्द्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि च ।१८। तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योप-मस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ।१६। गंगासिन्धुरोहिद्रोहिता-स्याहरिद्धहरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूला-रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ।२०। द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।२१। शेषास्त्वपरगाः ।२२। चतुर्दशनदीसहस्त्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ।२३।=१. उन सब [पूर्वोक्त असंख्यात द्वीप समुद्रों– दे. लोक/२/११] के बीच में गोल और १००,०० योजन विष्कम्भवाला जम्बूद्वीप है। जिसके मध्य में मेरु पर्वत है।६। [ति. प./४/११ व ५/८]; [ह. प./५/२]; (ज. प. /१/२०)। २. उसमें भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र हैं उन क्षेत्रों को विभाजित करने वाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी, और शिखरी ये छह वर्षधर या कुलाचल पर्वत हैं।११। (ति. प./४/६०-६४); (ह. पु./५/१३-१५); (ज.प. २ २ व ३ २); [त्रि. सा. ५६४]। ३. ये छहों पर्वत क्रम से सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोना इनके समान रंगवाले हैं।१२। इनके पार्श्वभाग मणियों से चित्र विचित्र हैं। तथा ये ऊपर, मध्य और मूल में समान विस्तार वाले हैं।१३। (ति. प. ४ ६४-६५); (त्रि. सा. ५६६)। ४. इन कुलाचल पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक, और पुण्डरीक, ये तालाव हैं।१४। ह.पु./५/१२०-१२१); (ज. प./३/६६)। ५. पहिला जो पद्म नाम का तालाव है उसके मध्य एक योजन का कमल है (इसके चारों तरफ अन्य भी अनेकों कमल हैं– दे. आगे लोक/३१) इससे आगे के हृदयों में कमल हैं। वे तालाव व कमल उत्तरोत्तर दूने विस्तार वाले हैं। १७-१८। (ह. पु./५/१२६); (ज. प./३/६६)। ६. पद्म हृदको आदि लेकर इन कमलों पर क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ, अपने-अपने सामानिक, परिषद् आदि परिवार देवों के साथ रहती हैं– (दे० व्यंतर/-३) ।१६। (ह.पु. /५/१३०)। ७. (उपरोक्त पद्म आदि द्रहों में से निकलकर भरत आदि क्षेत्रों में से प्रत्येक में दो-दो करके क्रम से) गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा नदियां वहती हैं।२०। (ह. पु. /५/

तिर्यक्क्षेत्र के पार्श्व भाग में स्थित तीनों वायुओं के वाहल्य को मिला कर जो योगफल प्राप्त हो, उसको सातवीं पृथ्वी के पार्श्व भाग में स्थित वायुओं के वाहल्य में से घटा कर शेष में छह प्रमाण राजुओं का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतनी सातवीं पृथ्वी से लेकर मध्य लोक तक प्रत्येक प्रदेश-क्रम से एक राजु पर वायु की हानि और वृद्धि होती है।

७वीं पृ० के पास वातवलयों का वाहल्य ७+५÷४=१६, ५+४+३=१२, १६—१२÷६=४/६

प्रति प्रदेश क्रम से एक राजु पर होने वाली हानि वृद्धि का प्रमाण।

अड़तालीस, छयालीस, चवालीस, चालीस, अड़तीस और छत्तीस में तीन का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना क्रम से नीचे से लेकर सब पार्श्व भागों में (सात पृथ्वियों के पा० भा० में) वातवलयों का वाहुल्य है।

सात पृथ्वियों के पार्श्व भाग में स्थित वातवलयों का वाहल्यसप्तम पृ० ४८/३ पष्ठ पृ० ४८/३ पं० पृ० ४४/३ च० पृ० ४२/३ तृ० पृ० ४०/३ द्वि० पृ० ३८/३ प्र० पृ० ३६/३ यो०

ऊर्ध्व लोक में निश्चय से एक जग श्रेणी से भाजित आठ योजन-प्रमाण वृद्धि है। इस वृद्धि-प्रमाण को इच्छा से गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसको भूमि में से कम कर देना चाहिये और मुख में मिला देना चाहिये। (ऐसा करने से ऊर्ध्व लोक में अभीष्ट स्थान के वायु मण्डलों की मुटाई

२२-१२५) । (तिनमें भी गंगा, सिन्धु व रोहितास्या ये तीन
द्मद्रह से, रोहित व हरिकान्ता महापद्म द्रह से, हरित व
ीतोदा तिगिंछ द्रह से, सोता व नरकान्ता केशरी द्रह से, नारो
 रूप्यकूला महापुण्डरीक से तथा सुवर्णकूला, रक्ता व रक्तोदा
ुण्डरीक सरोवर से निकली हैं—(ह. पु. /५/१३२-१३५) ।
. उपरोक्त युगलरूप दो-दो नदियों में से पहली पहली नदी
ूर्व समुद्र में गिरतो हैं और पिछली-पिछली नदी पश्चिम समुद्र
में गिरती है ।२१-२२। (ह.पु. ५/१९०); (ज.प. /३/१९२-
१९३) । ९. गंगा सिन्धु आदि नदियों की चौदह-चौदह हजार
परिवार नदियां हैं । (यहां यह विशेषता है कि प्रथम गंगा
सिन्धु युगल में से प्रत्येक की १४०००, द्वि. युगल में प्रत्येक
को २८००० इस प्रकार सीतोदा नदी तक उत्तोत्तर दूनी
नदियां हैं । तदनन्तर शेष तीन युगलों में पुन: उत्तरोत्तर आधी-
आधी हैं । (स.सि. /३/२३/२२०/१०) : (रा.वा. ३/२३/३/
१९/१३), (ह.पु. /५/२७५-२७६) ।

ति.प. /४/गा. का भावार्थ—१०. यह द्वीप एक जगती करके वेष्टित है ।१५। (ह.पु. /५/३), (ज.प. /१/२६) । ११. इस जगती की पूर्वादि चारों दिशाओं में विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के चार द्वार हैं ।४१-४२। (रा. वा. /३/९/१ '१७०/२९); (ह.पु. ५/३९०); (त्रि.सा. / ८९२); (ज.प. /१३८, ४२) । १३. इनके अतिरिक्त यह द्वीप अनेकों वन उपवनों, कुण्डों, गोपुर द्वारों, देव नगरियों व पर्वत, नदी. सरोवर, कुण्ड आदि सबकी वेदियों करके शोभित हैं ।९२-९३। १४. (प्रत्येक पर्वत पर अनेकों कूट होते हैं (दे० आगे उन पर्वतों का निर्देश) प्रत्येक पर्वत व कूट नदी, कुण्ड, द्रह, आदि वेदियों करके संयुक्त होते हैं—(दे० अगला शीर्षक) । प्रत्येक पर्वत, कुण्ड, द्रह, कूटों पर भवनवासी व व्यन्तर देवों के पुर, भवन व आवास हैं— (दे० व्यन्तर /४) । प्रत्येक पर्वत आदि के ऊपर तथा उन देवों के भवनों में जिन चैत्यालय होते हैं । (दे० चैत्यालय /३/२) ।

का, प्रमाण निकल आता है) ।

उदाहरण—भूमि की अपेक्षा सान० माहेन्द्र कल्प के पास वातवलयों की मुटाई—१६ ($\frac{८}{७}\times\frac{१}{२}$)=१५$\frac{३}{७}$ यो० अथवा १२+($\frac{८}{७}\times\frac{३}{१}$)=१५$\frac{३}{७}$ यो० मुख की अपेक्षा ।

मेरूतल से ऊपर कल्पों तथा सिद्ध क्षेत्र के पार्श्व भाग में चौरासी, छयानवें, एक सौ आठ, एक सौ वारह और फिर इसके आगे सात स्थानों में उक्त एक सौ वारह में से (११२) उत्तरोत्तर चार चार कम संख्या को रखकर प्रत्येक में सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना वातवलयों की मुटाई का प्रमाण है ।

ऊर्ध्व लोक में वातवलयों का वाहल्य—(१) मेरूतल से ऊपर सौ० ई० के अधो भाग में $\frac{८४}{७}$; (२) सौ० ई० के उपरि भाग में $\frac{९६}{७}$ (३) सा० मा० $\frac{१०८}{७}$ (४) ब्र० ब्रम्हो० $\frac{११८}{७}$ (५) ला० का० $\frac{१०८}{७}$ (६) भु० महा शु० $\frac{१०४}{७}$ (७) श० स० $\frac{१००}{७}$ (८) आ० प्र० $\frac{९६}{७}$ (९) आ० अ० $\frac{९२}{७}$ (१०) अं० $\frac{८८}{७}$ (११) सिद्ध क्षेत्र $\frac{८४}{७}$ ।

सातवीं पृथ्वी और ब्रह्मयुगल के पार्श्व भाग में तीनों वायुओं की मुटाई क्रम से तीस, इकतालीस के आधे और तीन से भाजित उन्नचास कोस है । घ० ड० ३०, घ $\frac{४१}{२}$ तनु $\frac{४९}{३}$ कोश ।

लोक के ऊपर अर्थात लोक शिखर पर तीनों वातवलयों की मुटाई क्रम से दूसरे भाग से अधिक एक कोस, छठवें भाग से अधिक एक कोस और वारहवें भाग से अधिक एक कोस है ऐसा 'लोक विभाग में' कहा गया है । पाठान्तर । घ० ड० १$\frac{१}{२}$ घ० १$\frac{१}{६}$ तनु १$\frac{१}{१२}$ कोस ।

यहाँ वायु से रोके गये क्षेत्र, आठों पृथ्वियों और शुद्ध आकाश-प्रदेश के घनफल को लवमात्र अर्थात् संक्षेप में कहते हैं ।

अब लोकपर्यन्त में स्थित वातवलयों से रोके गये क्षेत्रों के निकालने के विधान को कहते हैं—लोक के नीचे तीनों वायुओं में से प्रत्येक वायु का वाहल्य वीस हजार योजन प्रमाण है । इन तीनों वायुओं के वाहल्य को इकट्ठा करने पर साठ हजार योजन वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है । यहां विशेपता सिर्फ इतनी है कि लोक के दोनों ही अन्तों अर्थात् पूर्व-पश्चिम के अन्तिम भागों में साठ हजार योजन की ऊंचाई तक क्षेत्र यद्यपि हानि रूप है, फिर भी उसे न जोड़कर साठ हजार योजन

२. जम्बूद्वीप में क्षेत्र पर्वत नदी आदि का प्रमाण

१ क्षेत्र नगर आदि का प्रमाण

नं०	नाम	गणना	विवरण
१.	महाक्षेत्र	७	भरत हैमवत आदि।
२.	कुरुक्षेत्र	२	देवकुरु व उत्तर कुरु।
३.	कर्मभूमि	३४	भरत, ऐरावत व ३२ विदेह।
४.	भोगभूमि	६	हैमवत्, हरि, रम्यक व हैरण्यवत तथा दोनों कुरुक्षेत्र।
५.	आर्यखण्ड	३४	प्रति कर्मभूमि एक।
६.	म्लेच्छखण्ड	१७०	प्रति कर्मभूमि पांच।
७.	राजधानी	३४	प्रति कर्मभूमि एक।
८.	विद्याधरों के नगर	३७४० (३७५०)	भरत व ऐरावत के विजयार्धों में से प्रत्येक पर ११५ तथा ३२ विदेहों के विजयार्धों में से प्रत्येक पर ११० (दे० विद्याधर।

वाहल्य वाला जगप्रतर है इस प्रकार संकल्प पूर्वक उसको छेद कर प्रथक् स्थापित करना चाहिए। यो. ६००००×४९।

अन्तर एक राजु उत्सेध, सात राजु आयाम और साठ हजार योजन वाहल्य वाले वातवलय को अपेक्षा दोनों पार्श्व भागों में स्थित वात क्षेत्र को वुद्धि से अलग करके जगप्रतर प्रमाण से सम्बद्ध करने पर सात से भाजित एक लाख वीस हजार योजन वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है।

$$\frac{१२००००\times४९}{७}$$

इसको पूर्वोक्त क्षेत्र के ऊपर स्थापित करने पर पांच लाख चालीस हजार योजन के सातवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है।

$$\frac{(६००००\times७)}{१}+\frac{१२००००}{७}=\frac{५४००००\times४९}{७}$$

इसके आगे इतर दो दिशाओं अर्थात् दक्षिण और उत्तर की अपेक्षा एक राजु उत्सेघ रूप, तल भाग में सात राजु आयामरूप, मुख में सातवें भाग से अधिक छह राजु विस्तार रूप और साठ हजार योजन वाहल्यरूप वायुमण्डल की अपेक्षा स्थित वात क्षेत्र के जगप्रतर प्रमाण से करने पर पचपन लाख वीस हजार योजन के तीन सौ तेतालीसवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। $\frac{४९}{७}+\frac{३}{७}\div\frac{२}{१}\times\frac{२}{१}\times६००००=$

$$\frac{५५२००००\times४९}{७\times४९}=\frac{५५२००००\times४९}{३४३}$$

इस उपयुक्त घनफल के प्रमाण को पूर्वोक्त क्षेत्र के ऊपर रखने पर तीन करोड़ उन्नीस लाख अस्सी हजार योजन के तीन सौ तेतालीसवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है।

$$\frac{५४००००}{७}+\frac{५५२००००}{३४३}=\frac{३१९८००}{३४३}\times४९$$

इसके अनन्तर सात राजु विष्कंभ, तेरह राजु आयाम तथा सोलह, वारह, (सोलह एव वारह) योजन वाहल्य रूप

२ पर्वतों का प्रमाण

नं०	नाम	गणना	विवरण
१.	मेरु	१	जम्बूद्वीप के बीचोंबीच।
२.	कुलाचल	६	हिमवान् आदि।
३.	विजयार्ध	३४	प्रत्येक कर्मभूमि में एक।
४.	वृषभगिरि	३४	प्रत्येक कर्मभूमि के उत्तर मध्य म्लेच्छ खण्ड में एक।
५.	नाभिगिरी	४	हैमवत, हरि, रम्यक व हैरण्यवत क्षेत्रों के बीचोंबीच।
६.	वक्षार	१६	पूर्व व अपर विदेह के उत्तर व दक्षिण में चार-चार।
७.	गजदन्त	४	मेरु की चारों विदिशाओं में।
८.	दिग्गजेन्द्र	८	विदेह क्षेत्र के भद्रशालवन में व दोनों कुरुओं में सीता व सीतोदा नदी के दोनों तटों पर।
९.	यमक	४	दो कुरुओं में सीता व सीतोदा के दोनों तटों पर।
१०.	कांचनगिरि	२००	दोनों कुरुओं में पांच-पांच द्रहों के दोनों पार्श्व भागों में दस-दस।
		३११	

अर्थात् सातवीं पृथ्वी के पार्श्व भाग में सोलह, मध्य लोक के पार्श्व भाग में बारह, ब्रह्म स्वर्ग के पार्श्व भाग में सोलह, और सिद्ध लोक के, पार्श्व भाग में बारह योजन के बाहल्य रूप वातवलय की अपेक्षा दोनों ही पार्श्व भागों में स्थित वात क्षेत्र को जगप्रतर प्रमाण से करने पर एक सौ चौंसठ योजन कम अठारह योजन के तीन सौ तेतालीसवें भाग बाहल्य प्रमाण होता है। १३ × ७ × १४ × २ = २५४८ =

$$\frac{१७८३६ \times ४९}{३४३}$$

पुन: सातवें भाग से अधिक छह राजु मूल में विस्तार रूप, छह राजु उत्सेध रूप, मुख में एक राजु विस्तार रूप और सोलह-बारह योजन बाहल्य रूप (सातवीं पृथ्वी और मध्य लोक के पार्श्व भाग में) वातवलय की अपेक्षा दोनों ही पार्श्व भागों में स्थित वात क्षेत्र को जगप्रतर प्रमाण से करने पर बयालिस सौ योजन के तीन सौ तेतालीसवें भाग बाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। $\frac{४३}{७} + \frac{७}{७} \div \frac{२}{१} \times \frac{२}{१} \times १४ \times ६ =$

$$\frac{४२०० \times ४९}{७ \times ४९} = \frac{४२०० \times ४९}{३४३}$$

अनन्तर एक, पांच व एक राजु विष्कंभ रूप (क्रम से मध्य लोक, ब्रह्म स्वर्ग और सिद्ध क्षेत्र के पार्श्वभाग में), सात राजु उत्सेध रूप, और क्रमशः मध्य लोक, ब्रह्म स्वर्ग एवं सिद्ध लोक के पार्श्व भागों में स्थित वात क्षेत्र को जगप्रतर प्रमाण से करने पर पांच सौ अठासी योजन के एक कम पचासवें अर्थात् उनंचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है।

५ + १ ÷ २ × ७ × २ × १४ = ५८८ । ४९ × ४९

ऊपर एक राजु विस्तार रूप, सात राजु आयाम रूप और कुछ एक योजन बाहल्य रूप वातवलय की अपेक्षा स्थित वात क्षेत्र को जगप्रतर प्रमाण से करने पर तोन सौ तीन योजन के

३ नदियों का प्रमाण

नाम	गणना	प्रत्येक का परिवार	कुल प्रमाण	विवरण
गंगा-सिन्धु	२	१४०००	२८००२	भरत क्षेत्र में
रोहित-रोहितास्या	२	२८०००	५६००२	हैमवत क्षेत्र में
हरित-हरिकान्ता	२	५६०००	११२००२	हरि क्षेत्र में
नारी नरकान्ता	२	५६०००	११२००२	रम्यक क्षेत्र में
सुवर्णकूला व रूप्यकूला	२	२८०००	५६००२	हैरण्यवत् क्षेत्र में
रक्ता-रक्तोदा	२	१४०००	२८००२	ऐरावत क्षेत्र में
छह क्षेत्रों की कुल नदियाँ			३९२०१२	
सीता-सीतोदा	२	८४०००	१६८००२	दोनों कुरुओं में
क्षेत्र नदियाँ	६४	१४०००	८९६०६४	३२ विदेहों में
विभंगा	१२	—	१२	
विदेह की कुल नदियाँ			१०६४०७८	ह. पु. व. ज. प. की अपेक्षा
जम्बूद्वीप की कुल नदी			१४५६०९०	
विभंगा	१२	२८०००	३३६०१०	
जम्बूद्वीप की कुल नदी			१७९२०९०	ति. प. की अपेक्षा

दो हजार दो सौ चालीसवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। $१ \times ७ \times \frac{३०३}{३२०} \div \frac{७}{१} = \frac{३०३}{२२४०} \times ४९$

इस सबको इकट्ठा करके मिला देने पर एक हजार चौवीस करोड़, उन्नीस लाख, तेरासी हजार, चार सौ सतासी योजनों में एक लाख नौ हजार सात सौ आठ का भाग देने पर लब्ध एक भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है।

$$\frac{३१९८००००}{३४३} + \frac{१७८३६}{३४३} + \frac{४२००}{३४३} + \frac{५८८}{४९} + \frac{३०३}{२२४०}$$

$$= \frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०} \times ४९$$

३. क्षेत्र निर्देश

१. जम्बूद्वीप के दक्षिण में प्रथम भरतक्षेत्र जिसके उत्तर में हिमवान पर्वत और तीन दिशाओं में लवण सागर है। इसके बीचोंबीच पूर्वापर लम्बायमान एक विजयार्ध पर्वत है। इस के पूर्व में गंगा और पश्चिम में सिंधु नदी बहती हैं। ये दोनों नदियाँ हिमवान के मूल भाग में स्थित गंगा व सिंधु नाम के दो कुंडों से निकलकर पृथक्-पृथक् पूर्व व पश्चिम दिशा में उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर बहती हुई विजयार्ध दो गुफा में से निकल कर दक्षिण क्षेत्र के अर्धभाग तक पहुंचकर और पश्चिम की ओर मुड़ जाती हैं। और अपने अपने समुद्र में गिर जाती हैं। इस प्रकार इन दो नदियों व विजयार्ध से विभक्त इस क्षेत्र के छः खण्ड हो जाते हैं। विजयार्ध की दक्षिण की तीन खण्डों में मध्य का खण्ड आर्यखण्ड है और शेष पांच खण्ड मलेच्छ खण्ड हैं। आर्यखण्ड के मध्य (१२×६) योजन विस्तृत विनीता या अयोध्या नाम की प्रधान नगरी है। जो चक्रवर्ती की राजधानी होती है। विजयार्ध के उत्तर वाले तीन खण्डों में मध्य वाले मलेच्छ खण्ड के बीचोंबीच वृषभगिरि नाम का एक गोल पर्वत है जिस पर दिग्विजय करने पर चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है।

इसके पश्चात हिमवान पर्वत के उत्तर में तथा महाहिमवान के दक्षिण में दूसरा हेमवत क्षेत्र है। इसके बहुमध्य भाग में एक गोल शब्द नाम का नाभिगिरि पर्वत है। इस क्षेत्र के पूर्व में रोहित और पश्चिम में रोहितास्या नदियां बहती हैं। ये दोनों ही नदियां नाभिगिरि के उत्तर व दक्षिण में उससे दो कोश परे रहकर ही उसकी प्रदक्षिणा देती हुई अपनी अपनी दिशाओं में मुड़ जाती हैं और अन्त में अपनी अपनी दिशा वाले सागर में गिर जाती हैं। इसके पश्चात् महाहिमवान के उत्तर तथा निषध पर्वत के दक्षिण में तीसरा हरिक्षेत्र है। नील के उत्तर में और रुक्मि पर्वत के दक्षिण में पांचवां रम्यक् क्षेत्र है पुनः रुक्मि के उत्तर व शिखरी पर्वत के दक्षिण में छठा हैरण्डवत् क्षेत्र है तहां विदेह क्षेत्र को छोड़कर इन चारों का कथन हेमवत् के समान है। केवल नदियों व नाभिगिरि पर्वत के नाम भिन्न हैं। निषध पर्वत के उत्तर व नील पर्वत के दक्षिण में विदेह क्षेत्र स्थित है। इस क्षेत्र की दिशाओं का यह विभाग भरत क्षेत्र की अपेक्षा है सूर्योदय की अपेक्षा नहीं क्योंकि वहाँ इन दोनों दिशाओं में सूर्य का उदय व अस्त दिखाई देता है। इसके बहुमध्य भाग में सुमेरु पर्वत है। ये क्षेत्र दो भागों में विभक्त हैं। कुरुक्षेत्र व विदेह। मेरू पर्वत की दक्षिण व निषध के उत्तर में देव कुरू है। मेरू के उत्तर व नील के दक्षिण में उत्तर कुरू है। मेरू के पूर्व व पश्चिम भाग में पूर्व व अपर विदेह हैं। जिनमें पृथक् पृथक् सोलह सोलह क्षेत्र हैं। जिन्हें ३२ विदेह कहते हैं। सबसे अन्त में शिखरी पर्वत के उत्तर में तीन तरफ से लवण सागर के साथ स्पर्शित सातवां ऐरावत क्षेत्र

सात राजु लंबाई और साठ हजार योजन वाहल्यवाला प्रथम पृथ्वी का वातरुद्ध क्षेत्र है। इसका घनफल अपने वाहल्य अर्थात् साठ हजार योजन के सातवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है।

$$\frac{१ \times ७ \times ६०००० \times ४९}{४९} = \frac{४९ \times ६०००० }{७}$$

दूसरी पृथ्वी के अधस्तन भाग में वातरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—सातवें भाग कम दो राजु विष्कम्भवाला, सात राजु आयत और साठ हजार योजन वाहल्य वाला द्वितीय पृथ्वी का वातरुद्ध क्षेत्र है। उसका घनफल सात लाख अस्सी हजार योजन के उन्नचासवें भाग वाहल्यप्रमाण जगप्रतर होता है। —$\frac{१}{७} \times \frac{१३}{७} \times \frac{६००००}{१} =$

$$\frac{७ \times ७८०००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{७८०००० \times ४९}{४९}$$

तीसरी पृथ्वी के अधस्तन भाग में वातरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—दो बटे सात भाग ($\frac{२}{७}$) कम तीन राजु विष्कम्भयुक्त, सात राजु लंबा और साठ हजार योजन वाहल्यवाला तृतीय पृथ्वी का वातरुद्ध क्षेत्र है। इसका घनफल ग्यारह लाख चालीस हजार योजन के उन्नचासवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। $\frac{१}{७} \times \frac{१९}{७} \times \frac{६००००}{१} =$

$$\frac{७ \times ११४०००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{११४०००० \times ४९}{४९}$$

चौथी पृथ्वी के अधस्तन भाग में वातरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—चतुर्थ पृथ्वी का वातावरुद्ध क्षेत्र तीन बटे सात

है। इसका सम्पूर्ण कथन भरतक्षेत्र वत् है। केवल इसकी दोनों नदियों के नाम भिन्न है।

४. कुलाचल पर्वत निर्देश—

भरत व हेमवत इन दोनों क्षेत्रों को सोमा पर पूर्व पश्चिम लम्वायमान प्रथम हिमवान् पर्वत है। इस पर ११ कूट हैं। पूर्व दिशा के कूट पर जिनायतन और शेष कूटों पर यथायोग्य नामधारी व्यन्तर देव व देवियों के भवन हैं। इस पर्वत के शीर्ष पर बोचों वीच पद्म नाम का हृद हैं। तदन्तर हेमवत् क्षेत्र के उत्तर व हरिक्षेत्र के दक्षिण में दूसरा महाहिमवान् पर्वत है। इस पर पूर्ववत् आठ कूट है। इसके शीर्ष पर पूर्ववत् महापद्म नाम का द्रह है। तदन्तर हरिवर्ष के उत्तर व विदेह के दक्षिण में तीसरा निषध पर्वत हैं। इस पर्वत पर पूर्ववत् ९ कूट हैं। इसके शीर्ष पर पूर्ववत् तिगिंछ नाम का द्रह हैं। तदनन्तर विदेह के उत्तर तथा रम्यक क्षेत्र के दक्षिण दिशा में दोनों क्षेत्रों को विभक्त करने वाला निषध पर्वत के सदृश चौथा नील पर्वत है। इस पर पूर्ववत् ९ कूट हैं।
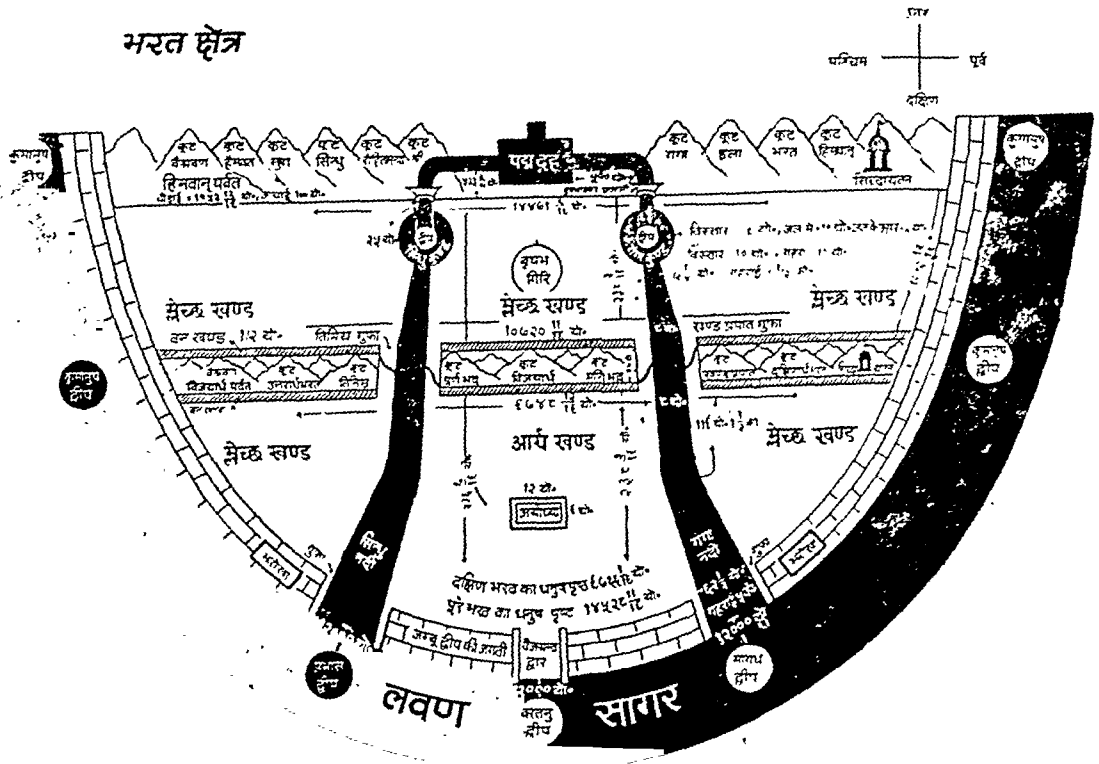
भाग (३/७) कम चार राज विस्तार वाला सातराजुलंवा और साठ हजार योजन मोटा है। इसका घनफल पन्द्रह लाख योजन के उन्नचासवें भाग वाहल्यप्रमाण जगप्रतर होता है। $\frac{२५}{७}\times ७ = ६००००=$

$$\frac{७\times १५०००००\times (१)}{७\times ७} = \frac{१५०००००\times ४९}{४९}$$

पांचवीं पृथ्वी के अधस्तन भाग में अवरुद्ध वातक्षेत्र के घनफल को कहते हैं—पांचवीं पृथ्वी के अधो भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र चार वटे सात भाग (४/७) कम पांच राजु विस्तार रूप, सात राजु लम्वा और साठ हजार योजन मोटा है। इसका घनफल अठारह लाख साठ हजार योजन के उन्नचासवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। $\frac{३१}{७}\times ७\times ६००००=$

$$\frac{७\times १८६००००\times ७}{७\times ७} = \frac{१८६००००\times ४९}{४९}$$

छठी पृथ्वी के अधस्तन भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—पांच वटे सात भाग (५/७) कम छह राजु विस्तार वाला, सात राजु लंवा और साठ हजार योजन वाहल्य वाला छठी पृथ्वी के नीचे वातरुद्ध क्षेत्र है; इसका घनफल वाईस

विजयार्ध पर्वत निर्देश;—

भरतक्षेत्र के मध्य में पूर्व पश्चिम लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है भूमि तल से १० योजन ऊपर जाकर इसकी उत्तर व दक्षिण दिशा में विद्याधर नगरों की दो श्रेणियां हैं। तहां दक्षिण श्रेणी में ५५ और उत्तर श्रेणी में ६० नगर हैं। इन श्रेणियों से भी १० योजन ऊपर जाकर उसी प्रकार दक्षिण व उत्तर दिशा में अभियोग देवों की श्रेणियां हैं। इसके ऊपर ९ कूट हैं। पूर्वदिशा के कूट पर सिद्धायतन है और शेष पर यथायोग्य नामधारी व्यन्तर व भवनवासी देव रहते हैं। इसके मूल भाग में पूर्व व पश्चिम दिशाओं में तमिस्त्र व खण्डप्रपात नाम की दो गुफाएं हैं, जिनमें क्रम से गंगा व सिन्धु नदी प्रवेश करती हैं। रा. वा व, त्रि. सा. के मत से पूर्व दिशा में गंगा प्रवेश के लिए खण्ड प्रपात और पश्चिम शिक्षा में सिन्धु नदी के प्रवेश के लिए तमिस्त्र गुफा है। इन गुफाओं के भीतर वहु मध्य भाग में दोनों तटों से उन्मग्ना व निमग्ना नाम की दो नदियां निकलती हैं जो गंगा और सिन्धु में मिल जाती हैं। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र के मध्य में भी एक विजयार्ध है, जिसका सम्पूर्ण कथन भरत विजयार्धवत् है। कूटों व तन्निवासी देवों के नाम भिन्न हैं। विदेह के ३२ क्षेत्रों में से प्रत्येक के मध्य पूर्वा पर लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है। जिनका सम्पूर्ण वर्णन भरत विजयार्धवत् हैं। विशेषता यह कि यहां उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियों में ५५.५५ नगर हैं। इनके ऊपर भी ९.९ कूट हैं। परन्तु उनके व उन पर रहने वाले देवों के नाम भिन्न हैं।
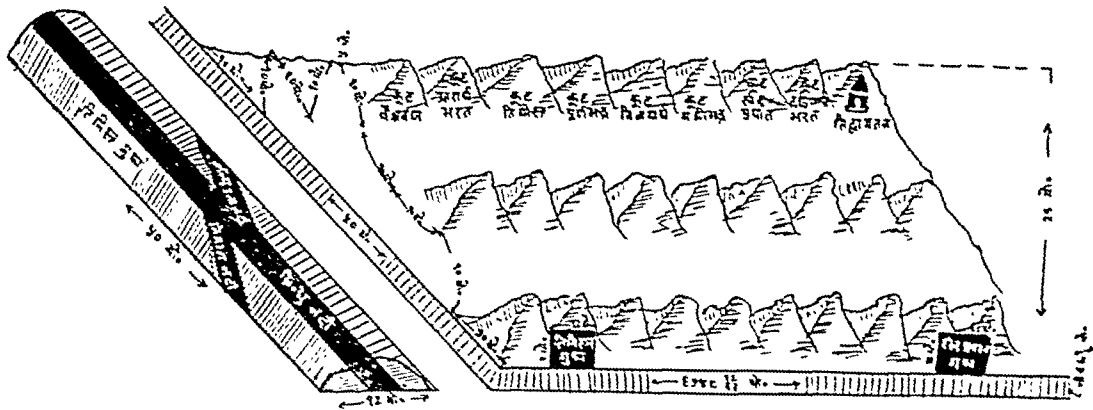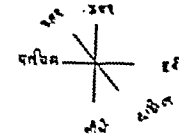
लाख वीस हजार योजन के उन्नचासवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता। $\frac{३७}{७} \times ७ \times ६००००=$

$$\frac{७ \times २२२०००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{२२२००००}{४९} \times ४९$$

सातवीं पृथ्वी के अधो भाग में वातरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—सातवीं पृथ्वी के नीचे वातावरुद्ध क्षेत्र छह वटे सात भाग ($\frac{६}{७}$ कम सात राजु विस्तारवाला, सात राजु लंवा और साठ हजार योजन के उनचासवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। $\frac{४३}{७} \times ७ \times ६००००=$

$$\frac{७ \times २५८०००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{२५८००००}{४९} \times ४९$$

अष्टम पृथ्वी के अधस्तन भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—अष्टम पृथ्वी के अवस्तन भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र सात राजु लंवा, एक राजु विस्तार युक्त और साठ हजार योजन वाहल्य वाला है। इसका घनफल अपने वाहल्य के सातवें भाग वाहल्यप्रमाण जगप्रतर होता है। १ × ७ ×

$$\frac{६०००० \times ७०}{७} = \frac{६००००}{७} \times ४९$$

५—सुमेरु पर्वत निर्देश—

१. सामान्य निर्देश

विदेहक्षेत्र के वहु मध्य भाग में सुमेरु पर्वत है। यह पर्वत तीर्थकरों के जन्माभिषेक का आसनरूप माना जाता है। क्योंकि इसके शिखर पर पाण्डुक वन में स्थित पाण्डुक आदि चार शिलाओं पर भरत ऐरावत तथा पूर्व व पश्चिम विदेहों के सर्व तीर्थकरों का देव लोग जन्माभिषेक करते हैं। यह तीनों लोकों का मानदण्ड है, तथा इसके मेरु, सुदर्शन, मन्दर आदि अनेकों नाम हैं।

२. मेरु का आकार—

यह पर्वत गोल आकार वाला है। पृथ्वी तल पर १०,००० योजन विस्तार तथा ९९,००० योजन उत्सेध वाला है। क्रम से हानि रूप होता हुआ इसका विस्तार शिखर पर जाकर १००० योजन रह जाता है। इसको हानि का क्रम इस प्रकार है—क्रम से हानि का रूप होता हुआ पृथ्वीतल से ५०० योजन ऊपर जाने पर नन्दन वन के स्थान पर यह चारों ओर से युगपत ५०० योजन संकुचित होता है। तत्पश्चात् ११००० योजन समान विस्तार से जाता है। पुनः १५५०० योजन क्रमिक हानि रूप से जाने पर, सौमनस वन के स्थान पर चारों ओर से ५०० यो० संकुचित होता है। यहाँ से ११००० योजन तक पुनः समान विस्तार से जाता है और उसके ऊपर २५००० यो० क्रमिक हानिरूप से जाने पर पाण्डुक वन के स्थान पर चारों ओर से युगपत् ४९४ योजन संकुचित होता है। इसका वाह्य विस्तार भद्रशाल आदि वनों के स्थान पर क्रम से १००,००. ९९५४$\frac{६}{११}$ ४२७२$\frac{८}{११}$ तथा १००० योजन प्रमाण है। इस पर्वत के शीश पर पाण्डुक वन के वीचोंवीच ४० योजन ऊंची तथा १२ योजन मूल विस्तार युक्त चूलिका है।

सुमेरु पर्वत
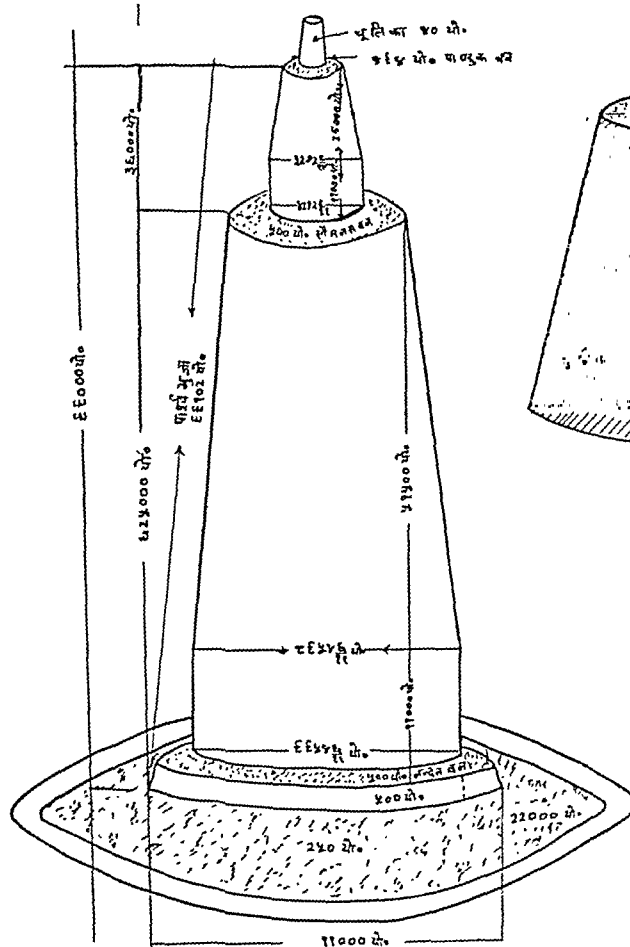
--मेरु की परिधियाँ—

नीचे से ऊपर की ओर इस पर्वत की परिधि सात मुख्य भागों में विभाजित है—[illegible]

में है और चौथा मेरु के उत्तर व सीता के पश्चिम में है। इन चैत्यालयों का विस्तार पाण्डुक वन के चैत्यालयों से चौगुना है। इस वन में मेरु की चारों तरफ सीता व सीतोदा नदी के

...-एक करके आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं।

वन से ५०० योजन ऊपर जाकर मेरु पर्वत ...ीय वन स्थित है। इसके दो विभाग हैं— ...। इसकी पूर्वादि चारों दिशाओं में पर्वत के ...धारण, गन्धर्व व चित्र नाम के चार भवन ... सौधर्म इन्द्र के चार लोकपाल सोम, यम, ...ा करते हैं। कहीं-कहीं इन भवनों को गुफाओं ...ा जाता है। यहाँ भी मेरु के पास चारों ... जिन भवन हैं। प्रत्येक जिन भवन के आगे ...न पर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। ति. प. ... कूट इस वन में न होकर सौमनस वन में ...ं में सौमनस वन की भांति चार चार करके ...णियाँ हैं। इन वन की ईशान दिशा में एक ...ूट है जिसका कथन सौमनस वन के बलभद्र ... इस पर बलभद्र देव रहता है।

...ा से ६२५०० योजन ऊपर जाकर सुमेरु ... सौमनस वन स्थित है। इसके दो विभाग ...पसौमनस। इसकी पूर्वादि चारों दिशाओं

...ोटी है। इसका घनफल अपने बाहल्य ... के सातवें भाग बाहल्य प्रमाण जगप्रतर
...×१८०००० =

...×७ × १८०००० × ४९ / ७

...ातवें भाग कम दो राजु विस्तार वाली सात ...त्तीस हजार योजन मोटी है। इसका घन- ...सोलह हजार योजन के उनंचासवें भाग ...प्रतर है।

...× ३२००० / १ = ३ × ११६००० × ३ / ७ × ७ =

...४९
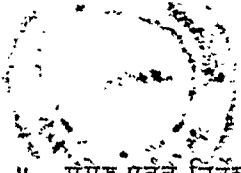
५—सुमेरु पर्वत निर्देश—

१. सामान्य निर्देश

विदेहक्षेत्र के बहु मध्य भाग में सुमेरु पर्वत है। यह पर्वत तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का आसनरूप मा
क्योंकि इसके शिखर पर पाण्डुक वन में स्थित
चार शिलाओं पर भरत ऐरावत तथा पूर्व व
के सर्व तीर्थंकरों का देव लोग जन्माभिषेक
तीनों लोकों का मानदण्ड है, तथा इसके मेरु,
आदि अनेकों नाम हैं।

२. मेरु का आकार—

यह पर्वत गोल आकार वाला है। पृथ्वी तल
योजन विस्तार तथा ९९,००० योजन उत्सेध
से हानि रूप होता हुआ इसका विस्तार शिख

सुमेरु पर्वत

१००० योजन रह जाता है। इसको हानि का क्रम इस प्रकार है—क्रम से हानि का रूप होता हुआ पृथ्वीतल से ५०० योजन ऊपर जाने पर नन्दन वन के स्थान पर यह चारों ओर

--मेरु की परिधियाँ—
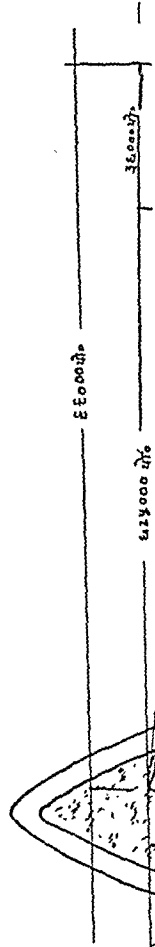
नीचे से ऊपर की ओर इस पर्वत की परिधि सात मुख्य भागों में विभाजित है—हरितालमयी, वैडूर्यमयी, सर्वरत्नमयी, वज्रमयी, मद्यमयीं और पद्मरागमयी अर्थात् लोहिताक्षमयी। इन छहों में से प्रत्येक १६५०० योजन ऊंची है। भूमितल अवगाही सप्त परिधि (पृथ्वी उपल वालुका आदि रूप होने के कारण) नाना प्रकार है। दूसरी मान्यता के अनुसार ये सातों परिधियाँ क्रम से लोहिताक्ष, पद्म, तपनीय, वैडूर्य, वज्र, हरिताल और जाम्बूनद-सुवर्णमयी हैं। प्रत्येक परिधि की ऊंचाई १६५०० योजन है। पृथ्वी तल के नीचे १००० योजन पृथ्वी, उपल, वालुका और शर्करा ऐसे चार भाग रूप हैं। तथा ऊपर चूलिका के पास जाकर तीन काण्डकों रूप है। प्रथम काण्डक सर्वरत्नमयी, द्वितीय जाम्बूनदमयी और तीसरा काण्डक चूलिका का है जो वैडूर्यमयी है।

४. वनखण्ड निर्देश—

१—सुमेरु पर्वत के तलभाग में भद्रशाल नाम का प्रथम वन है जो पांच भागों में विभक्त है—भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण। इस वन की चारों दिशाओं में चार जिन भवन हैं। इनमें से एक मेरु से पूर्व तथा सीता नदी के दक्षिण में है। दूसरा मेरु की दक्षिण व सीतोदा के पूर्व में है। तीसरा मेरु से पश्चिम तथा सीतोदा के उत्तर में है और चौथा मेरु के उत्तर व सीता के पश्चिम में है। इन चैत्यालयों का विस्तार पाण्डुक वन के चैत्यालयों से चौगुना है। इस वन में मेरु की चारों तरफ सीता व सीतोदा नदी के दोनों तटों पर एक-एक करके आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं।

२—भद्रशाल वन से ५०० योजन ऊपर जाकर मेरु पर्वत की कटनी पर द्वितीय वन स्थित है। इसके दो विभाग हैं—नन्दन व उपनन्दन। इसकी पूर्वादि चारों दिशाओं में पर्वत के पास क्रम से मान, धारण, गन्धर्व व चित्र नाम के चार भवन हैं जिन में क्रम से सौधर्म इन्द्र के चार लोकपाल सोम, यम, वरुण व कुबेर क्रीड़ा करते हैं। कहीं-कहीं इन भवनों को गुफाओं के रूप में वताया जाता है। यहाँ भी मेरु के पास चारों दिशाओं में चार जिन भवन हैं। प्रत्येक जिन भवन के आगे दो दो कूट हैं—जिन पर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। ति. प. की अपेक्षा से आठ कूट इस वन में न होकर सौमनस वन में है। चारों दिशाओं में सौमनस वन की भांति चार चार करके कुल १६ पुष्करिणियाँ हैं। इन वन की ईशान दिशा में एक वलभद्र नाम का कूट है जिसका कथन सौमनस वन के वलभद्र कूट के समान है। इस पर वलभद्र देव रहता है।

३—नन्दन वन से ६२५०० योजन ऊपर जाकर सुमेरु पर्वत पर तीसरा सौमनस वन स्थित है। इसके दो विभाग हैं—सौमनस व उपसौमनस। इसकी पूर्वादि चारों दिशाओं

इस सवको इकट्ठा मिलाने पर निम्न प्रकार कुल घनफल होता है।

$$\frac{४२००००}{४९}+\frac{७८००००}{४९}+\frac{११४००००}{४९}+\frac{१५०००००}{४९}+\frac{१८६००००}{४९}+\frac{२२२००००}{४९}+\frac{२५८००००}{४९}+\frac{४२००००}{४९}=\frac{१०९२००००\times ४९}{४९}$$

इस प्रकार वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल का वर्णन समाप्त हुआ।

अव आठ पृथ्वियों में से प्रत्येक पृथ्वी के घनफल को संक्षेप में कहते हैं—इनमें से प्रथम पृथ्वी एक राजु विस्तृत, सात राजु लंवी, और वीस हजार कम दो लाख, अर्थात् एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसका घनफल अपने वाहल्य (१८०००० यो०) के सातवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। १×७×१८००००=

$$\frac{७\times १८००००\times ७}{७}\times\frac{१८००००\times ४९}{७}$$

दूसरी पृथ्वी सातवें भाग कम दो राजु विस्तार वाली सात राजु आयत और वत्तीस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल चार लाख सोलह हजार योजन के उनंचासवें भाग वाहल्य प्रमाण जगप्रतर है।

$$\frac{१३}{७}\times\frac{७}{१}\times\frac{३२०००}{१}=\frac{७\times ४१६०००\times ७}{७\times ७}=\frac{४१६०००\times ४९}{४९}$$

में मेरु के निकट वज्र, वज्रमय, सुवर्ण व सुवर्णप्रभ नाम के चार पुर हैं, इनमें भी नन्दन वन के भवनोंवत् सोम आदि लोकपाल क्रीड़ा करते हैं। चारों विदिशाओं में चार चार पुष्करिणी हैं। पूर्वादि चारों दिशाओं में चार जिन भवन हैं प्रत्येक जिन मंदिर सम्बन्धी बाह्य कोटों के बाहर उसके दोनों कोनों पर एक एक करके कुल आठ कूट हैं जिन पर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। इसकी ईशान दिशा में बलभद्र नाम का कूट है जो ५०० योजन तो वन के भीतर है और ५०० योजन उसके बाहर आकाश में निकला हुआ है। इस पर बलभद्र देव रहता है। मतान्तर की अपेक्षा इस वन में आठ कूट व बलभद्र कूट नहीं है।

४—सौमनस वन से ३६००० योजन ऊपर जाकर मेरु के शीर्ष पर चौथा पाण्डुक वन है। जो चूलिका को वेष्टित करके शीर्ष पर स्थित है। इसके दो विभाग हैं—पाण्डुक व उप-पाण्डुक। इसके चारों दिशाओं में लोहित अंजन हरिद्र और पाण्डुक नाम के चार भवन हैं जिनमें सोम आदि लोकपाल क्रीड़ा करते हैं। चारों विदिशाओं में चार-चार करके १६ पुष्करिणियां हैं। वन के मध्य चूलिका की चारों दिशाओं में चार जिन भवन हैं। वन की ईशान आदि दिशाओं में अर्ध चन्द्राकार चार शिलाएँ हैं—पाण्डुक शिला, पाण्डुकंवला शिला, रक्तकंवला शिला और रक्तशिला। रा. वा. के अनुसार ये चारों पूर्वादि दिशाओं में स्थित हैं। इन शिलाओं पर क्रम से भरत, अपरविदेह, ऐरावत और विदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है।
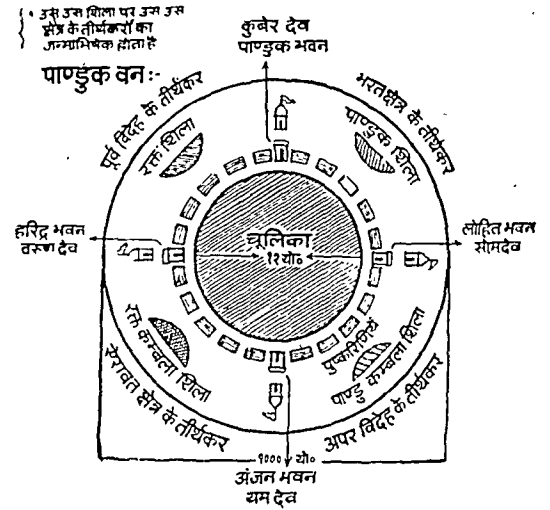
तीसरी पृथ्वी दो बटे $\frac{२}{७}$ कम तीन राजु विस्तार वाली सात राजु आयत और अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल पांचलाख बत्तीसहजार योजन के उनंचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है।

$$\frac{१९ \times ७}{७ \times १} \times \frac{२८०००}{१} = \frac{७ \times ५३२००० \times ७}{७ \times ७} =$$

$$\frac{५३२००० \times ४९}{४९}$$

चतुर्थ पृथ्वी तीन बटे सात $\frac{३}{७}$ कम चार राजु विस्तार वाली सात राजु लम्बी और चौबीस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल छः लाख योजन के उनंचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है।

$$\frac{२५}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{२४०००}{१} = \frac{७ \times ६००००० \times ७}{७ \times ७} =$$

$$\frac{६००००० \times ४९}{४९}$$

पाँचवीं पृथ्वी चार बटे सात भाग ($\frac{४}{७}$) कम पांच राजु विस्तार युक्त, सात राजु लम्बी और बीस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल छह लाख बीस हजार योजन के उनंचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। $\frac{३१}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{२००००}{१} =$

$$\frac{७ \times ६२०००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{६२०००० \times ४९}{४९}$$

छठी पृथ्वी ($\frac{५}{७}$) कम छह राजु विस्तार वाली, सात राजु आयत, और सोलह हजार योजन बाहल्य वाली है। इसका घनफल पांच लाख बानवें हजार योजन के उनंचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगप्रतर होता है। $\frac{३७}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{१६०००}{१} =$

$$\frac{७ \times ५९२००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{५९२००० \times ४९}{४९}$$

सातवीं पृथ्वी छह बटे सात भाग ($\frac{६}{७}$) कम सात राजु विस्तार वाली, सातराजु आयत, और आठ हजार योजन बाहल्यवाली है। इसका घनफल तीन लाख चवालीस हजार

है और शेष कूटों पर व्यन्तर देव रहते हैं। इन कूटों का सर्व कथन हिमवान पर्वत के कूटोंवत् है।

७—भरत क्षेत्र के पांच म्लेच्छ खण्डों में से उत्तर वाले तीन के मध्यवर्ती खण्ड में बीचों बीच एक वृषभ गिरि है, जिस पर दिग्विजय के पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। इसी प्रकार विदेह के ३२ क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र में भी जनना।

८—द्रह निर्देश—

१—हिमवान पर्वत के शीष पर बीचोंबीच पद्म नाम का द्रहहै इसके तट पर चारों कोनों पर तथा उत्तर दिशा में ५ कूट हैं और जल में आठों दिशाओं में आठ कूट हैं। हृद के मध्य में एक बड़ा कमल है, जिसके ११००० पत्ते हैं इस कमल पर श्री देवी रहती है। इस प्रधान कमल की दिशा विदिशाओं में उसके परिवार के अन्य भी अनेकों कमल हैं। कुल कमल १४०११६ हैं। तहां वायव्य उत्तर व ईशान दिशाओं में कुल ४००० कमल उसके सामानिक देवों के हैं। पूर्वादि चार दिशाओं में से प्रत्येक के ४००० [कुल १६०००] कमल आत्म रक्षकों के हैं। आग्नेय दिशा में ३२००० कमल आभ्यन्तरपारिषदों के, दक्षिण दिशा में ४०,००० कमल मध्यम परिषदों नैऋत्य दिशा में ४८००० कमल बाह्य पारिषदों के हैं। पश्चिम में ७ कमल सप्त अनीक महत्तरों के हैं। तथा दिशा व विदिशा के मध्य आठ अन्तर दिशाओं में १०८ आयस्त्रिशों के हैं। इसके पूर्व पश्चिम व उत्तर द्वारों से क्रम से गंगा, सिन्धु व रोहितास्या नदी निकलती हैं।

२—महाहिमवान् आदि शेष पांच कुलाचलों पर स्थित महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के ये पांच द्रह हैं। इन हृदों का सर्व कथन कूट कमल आदि का उपरोक्त पद्महृदवत् ही जानना। विशेषता यह कि तन्नि-बासिनी देवियों के नाम क्रम से ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी है। तथा कमलों की संख्या तिगिंछ तक उत्तरोत्तर दूनी है। केसरी की तिगिंछवत्, महापुण्डरीक की महापद्मवत और पुण्डरीक की पद्मवत् है। अन्तिम पुण्डरीक द्रह से पद्मद्रहवत् रक्ता रक्तो दा सुवर्णकूला ये तीन नदियां निकलती हैं और शेष द्रहों से दो दो नदियां केवल उत्तर व दक्षिण द्वारों से निकलती हैं। [ति. प. में महापुण्डरीक के स्थान पर रूक्मिपर्वत पर पुण्डरीक के स्थान पर शिखरी पर्वत पर महापुण्डरीक द्रह कहा है—]

राजु लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तेरह राजु ऊंची त्रसनाली (त्रसजीवों का निवास क्षेत्र) है।

त्रसनाली को जो तेरह राजु से कुछ कम ऊंचा बतलाया गया है, उस कमी का प्रमाण यहां तीन करोड़, इक्कीस लाख, बासठ हजार दो सौ इकतालीस धनुष और एक धनुष के तीन भागों में से दो भाग अर्थात $\frac{२}{३}$ है त्रसनाली की ऊंचाई—३२१६२२४१$\frac{२}{३}$ धनुष कम १३ राजु।

अथवा—उपपाद और मारणांतिक समुद्घात में परिणत त्रस तथा लोक पूरण समुद्घात को प्राप्त केवलीका आश्रय करके सारा लोक ही त्रसनाली है।

विशेपार्थ—विवक्षित भव के प्रथम समय में होने वाली पर्याय कीं प्राप्ति को उपपाद कहते हैं। वर्तमान पर्याय सम्बन्धी आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जीव के प्रदेशों के आगामी पर्याय के उत्पत्ति स्थान तक फैल जाने को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। जब आयु कर्म की स्थिति सिर्फ अन्तर्मुहूर्त ही बाकी हो, परन्तु नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक हो, तब सयोग केवली दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को करते हैं। ऐसा करने से उक्त तीनों कर्मों की स्थिति भी आयु कर्म के बराबर हो जाती है। इन तीनों अवस्थाओं में त्रस जीव त्रसनाली के बाहर भी पाये जाते हैं।

अधोलोक में सबसे पहिली रत्नप्रभा पृथ्वी है। उसके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग। इन तीनों भागों का बाहल्य क्रमशः सोलह हजार, चौरासी हजार, और अस्सी हजार योजन प्रमाण है।

खरभाग १६०००, पंकभाग ८४००० अब्बहुल भाग ८०००० योजन।

इनमें से खरभाग नियम से सोलह भेदों से सहित है। ये भेद चित्रादिक सोलह पृथ्वी रूपी हैं। इनमें से चित्रा पृथ्वी

३—देव कुरु व उत्तर कुरु में दस द्रह हैं। अथवा दूसरी मान्यता से २० द्रह हैं। इनमें देवियों के निवासभूत कमलों आदि का सम्पूर्ण कथन पद्मद्रहवत् जानना। ये द्रह नदी के प्रवेश व निकास के द्वारों से संयुक्त हैं।

४—सुमेरु पर्वत के नन्दन, सौमनस व पाण्डुक वन में १६, १६ पुष्करिणी हैं जिनमें सपरिवार सौधर्म व ऐशानेन्द्र क्रीड़ा करते हैं। तहां मध्य में इन्द्र का आसन है। उसकी चारों दिशाओं में चार आसन लोकपालों के हैं, दक्षिण में एक आसन प्रतीन्द्र का, अग्रभाग में आठ आसन अग्रमहिषियों के, वायव्य और ईशान दिशा में ८४,००,००० आसन सामानिक देवों के, आग्नेय दिशा में १२,००,००० आसन अभ्यन्तर पारिषदों से, दक्षिण में १४,००,००० आसन मध्यम पारिषदों के, नऋत्य दिशा में १६,००,००० आसन वाह्य पारिषदों के, तथा उसी दिशा में ३३ आसन त्रायस्त्रिशों के, पश्चिम में छह आसन महत्तरों के और एक आसन महत्तरिका का है। मूल मध्य सिंहासन के चारों दिशाओं में ८४००० आसन अंगरक्षकों के हैं। [इस प्रकार कुल आसन १२६८४०५४ होते हैं]।

पद्म द्रह
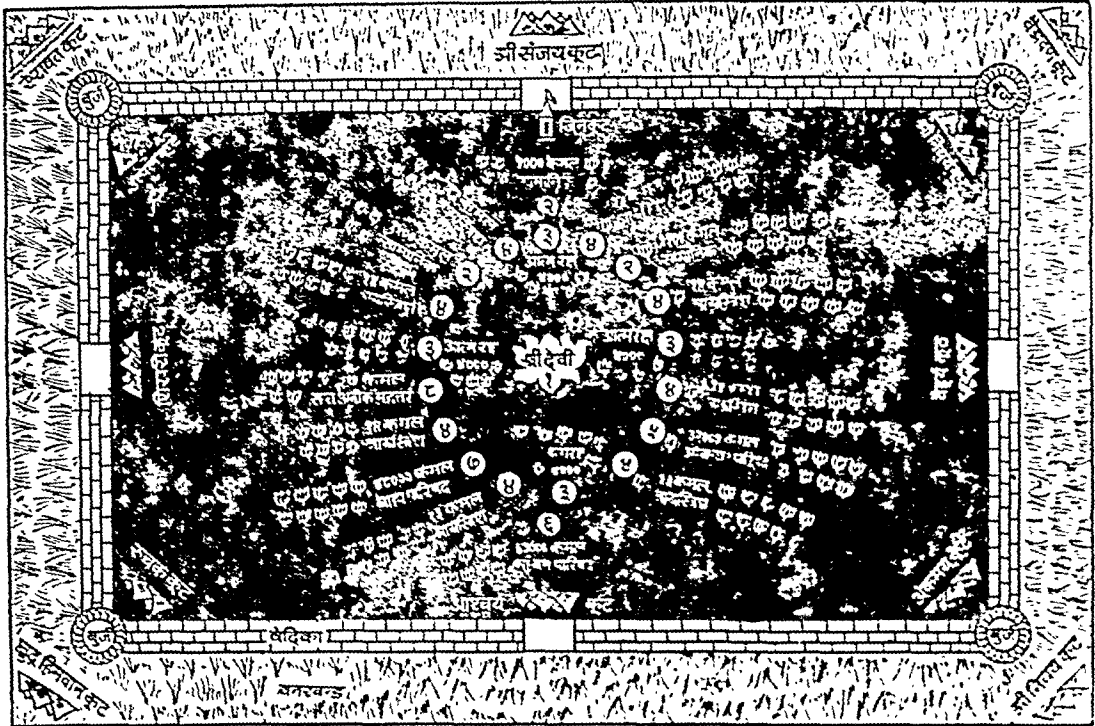
अनेक प्रकार है।

यहां पर अनेक प्रकार के वर्णों से युक्त महीतल, शिलातल, उपपाद, वालु, शक्कर, शीशा, चांदी, सुवर्ण, इनके उत्पत्ति स्थान, वज्र तथा अयस् (लोहा) तांबा (त्रपु) (रांगा), सस्यक (मणि-विशेष) मणिशिला, हिंगुल (सिंगरफ), हरिताल, अंजन, प्रवाल (मूंगा), गोमेदक (मणि-विशेष), रुचक, कदंब (धातु विशेष), प्रतर (धातु विशेष) ताम्र वालुका (लाल रेत), स्फटिक मणि, जलकान्त मणि, सूर्यकान्त मणि, चन्द्र प्रभ (चन्द्रकान्त मणि), वैडूर्य मणि, मेरु चन्द्राश्म, लोहितांक (लोहिताक्ष), वंवय (पप्रक ?), वगमोच (?), और सारंग इत्यादि विविध वर्ण वाली धातुएं हैं। इसलिये इस पृथ्वी का 'चित्रा' इस नाम से वर्णन किया गया है।

पद्म द्रह का मध्यवर्ती कमल
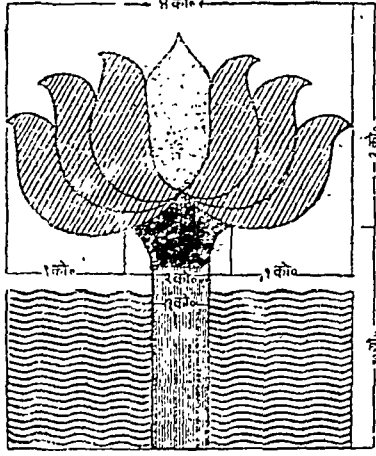
६—कुण्ड निर्देश—

१—हिमवान् पर्वत के मूल भाग से २५ योजन हटकर गंगा कुण्ड स्थित है। उसके बहुमध्य भाग में एक द्वीप है, जिसके मध्य में एक शैल है। शैल पर गंगा देवी का प्रासाद हैं। इसी का नाम गंगाकूट है। उस कूट के ऊपर एक जिन प्रतिमा है, जिसके शीश पर गंगा की धारा गिरती है।

२—उसी प्रकार सिन्धु आदि शेष नदियों के पतन स्थानों पर भी अपने अपने क्षेत्रों में अपने अपने पर्वतों के नीचे सिन्धु कुण्ड जानने। इनका सम्पूर्ण कथन उपरोक्त गंगा कुण्डवत् है विशेषता यह कि उन कुण्डों के तथा तन्निवासिनी देवियों के नाम अपनी अपनी नदियों के समान हैं। भरत आदि क्षेत्रों में अपने अपने पर्वतों उन कुण्डों का अन्तराल भी क्रम से २५, ५०, १००, २००, १००, ५०, २५ योजन है। विदेहों में गंगा सिधु रक्ता रक्तोदा नामवाली ६४ नदियों के भी अपने-अपने नाम वाले कुंडनील व निषध पर्वत के मूल भाग में स्थिति है जिनका कथन गंगा कुंडवत है।

१०—नदी निर्देश—

१—हिमवान् पर्वत पर पद्मद्रह के पूर्व द्वार से गंगा नदी निकलती है। द्रह की पूर्व दिशा में इस नदी के मध्य एक कमलाकार कूट है, जिसमें वला नाम की देवी रहती है। द्रह से ५०० योजन आगें पूर्व दिशा में जाकर पर्वत पर स्थित गंगाकूट १।२ योजन इंधर ही इधर रहकर दक्षिण की ओर मुड़ जाती है, और पर्वत के ऊपर ही उसके अर्ध विस्तार प्रमाण अर्थात् ५२३$\frac{२६}{१५२}$ योजन आगे जाकर वृपभाकार प्रणाली को प्राप्त होती है। फिर उसके मुख में से निकलती हुई पर्वत के ऊपर से अधोमुखी होकर उसकी धारा नीचे गिरतो है। वहां पर्वत के मूल से २५ योजन हटकर वह धार गंगा कुण्ड में स्थित गंगाकूट के ऊपर गिरती है। इस गंगा कुण्ड के दक्षिण द्वार से निकल कर वह उत्तर भारत में दक्षिण मुखी वहती हुई विजयार्ध की तमिस्त्र गुफा में प्रवेश करतो है। उस गुफा के भीतर वह उन्मग्ना व निमग्ना नदी को अपने में समाती हुई। गुफा के दक्षिण द्वार से निकल कर वह दक्षिण भारत में उसके आधे विस्तार तक अर्थात् ११९$\frac{३}{१९}$ योजन तक दक्षिण की ओर जाती हैं। तत्पश्चात् पूर्व की ओर मुड़ जाती है और मागध तीर्थ के स्थान पर लवण सागर में मिल जाती है। इसकी परिवार नदियां कुल १४००० है। ये सब परिवार नदियाँ म्लेच्छ खण्ड में ही होती हैं आर्यखण्ड में नहीं।

२—सिन्धु नदी का सम्पूर्ण कथन गंगा नदीवत् है। विशेष यह कि पद्मद्रह के पश्चिम द्वार से निकलती है। इसके भीतरी कमलाकारकूट में लवणा देवी रहती है। सिन्धु कुण्ड में स्थित

इस चित्रा पृथ्वी की मुटाई एक हजार योजन है। इसके नीचे क्रम से चौदह अन्य पृथ्वियां स्थित हैं।

वैडूर्य, लोहितांक (लोहिताक्ष), असारगल्ल (मसारकल्पना), गोभेदक, प्रवाल, ज्योतिरस, अंजन, अंजनमूल, अंक, स्फटिक, चन्दन, वर्चगत (सर्वार्थका), वहुल (वकुल) और शैल, ये उन उपर्युक्त चौदह पृथ्वियों के नाम हैं। इनमें से प्रत्येक की मुटाई एक हजार योजन है।

इन पृथ्वियों के नीचे एक पापाण नाम की (सोलहवीं) पृथ्वी है, जो रत्नशैल के समान है। इसकी मुटाई भी एक हजार योजन, प्रमाण है। ये सव पृथ्वियां वेत्रासन के सदृश स्थित हैं।

इसी प्रकार पंक वहुल भाग भी है जो पंक से परिपूर्ण देखा जाता है। तथैव अब्बहुलभाग जल स्वरूप के आश्रय से है।

सिन्धुकूट पर गिरती है। विजयार्ध की खण्डप्रपात गुफा को प्राप्त होती है अथवा रा-वा व त्रि. सा. की अपेक्षा तमिस्त्र गुफा को प्राप्त होती है। पश्चिम की ओर मुड़कर प्रभास तीर्थ के स्थान पर पश्चिम लवण सागर में मिलती है। इसकी परिवार नदिया १४००० हैं।

३—हिमवान् पर्वत के ऊपर पद्मद्रह के उत्तर से रोहितास्या नदी निकलती है जो उत्तरमुखी ही रहती हुई पर्वत के ऊपर २७६ ६/१९ योजन चलकर पर्वत के उत्तरी किनारे को प्राप्त होती है, फिर गंगा नदीवत् ही धार बनकर नीचे रोहितास्या कुण्ड में स्थित रोहितास्याकूट पर गिरती है। कुण्ड के उत्तरी द्वार से निकल कर उत्तरमुखी रहती हुई वह हेमवत क्षेत्र के मध्य स्थित नाभिगिरि तक जाती है। परन्तु उससे दो कोस इधर ही रहकर पश्चिम की ओर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम दिशा में उसके अर्ध भाग के सम्मुख होती है। वहाँ पश्चिम दिशा की ओर मुड़ जाती है और क्षेत्र के अर्ध आयाम प्रमाण क्षेत्र के बीचोंबीच बहती हुई अन्त में पश्चिम लवण सागर में मिल जाती है। इसकी परिवार नदियों का प्रमाण २८००० है। महाहिमवान् पर्वत के ऊपर महापद्म ह्रद के दक्षिण द्वार से रोहित नदी निकलती है। दक्षिण मुखी होकर १६०५ ५/१९ योजन पर्वत के ऊपर जाती है। वहां से पर्वत के नीचे रोहितकुण्ड में गिरती है और दक्षिण मुखी बहती हुई रोहितास्यावत् ही हैमवत क्षेत्र में, नाभिगिरि से २ कोस इधर रहकर पूर्व दिशा की ओर उसकी प्रदक्षिणा देती है। फिर वह पूर्व की ओर मुड़कर क्षेत्र के बीच में बहती हुई अन्त में पूर्व लवण सागर में गिर जाती है। इसकी परिवार नदियाँ २८००० हैं। महाहिमवान पर्वत के ऊपर महापद्म ह्रद के उत्तर द्वार से हरिकान्ता नदी निकलती है। वह उत्तर मुखी होकर पर्वत पर १६०५ ५/१९ योजन चलकर हरिकान्ता कुण्ड में गिरती है। यहाँ से उत्तरमुखी बहती हुई हरिक्षेत्र के नाभिगिरी को प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम की ओर मुड़ जाती और क्षेत्र के बीचोंबीच बहती हुई पश्चिम लवणसागर में मिल जाती है। इसकी परिवार नदियां ५६००० हैं। निषध पर्वत के तिगिंछद्रह के दक्षिण द्वार से निकलकर हरित नदी दक्षिणमुखी ही ७४२१ १/१९ योजन पर्वत के ऊपर जा, नीचे हरित कुण्ड में गिरती है। वहाँ से दक्षिण मुखी बहती हुई हरिक्षेत्र के नाभिगिरि को प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पूर्व की ओर मुड़ जाती है। और क्षेत्र के बीचोंबीच बहती हुई पूर्व लवण सागर में गिरती है। इसकी परिवार नदियां ५६००० हैं। निषध पर्वत के तिगिंछह्रद के उत्तर द्वार से सीतोदा, नदी निकलती है, जो उत्तरमुखी ही पर्वत के ऊपर ७४२१ १/१९ योजन जाकर नीचे विदेह क्षेत्र में स्थित सीतोदा कुण्ड में गिरती है। वहाँ से उत्तरमुखी बहती हुई वह सुमेरु पर्वत तक पहुँचकर उससे दो कोस इधर ही पश्चिम की ओर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई, विद्युत्प्रभ गजदन्त की गुफा में से निकलती है। सुमेरु के अर्धभाग के सम्मुख हो वह पश्चिम को ओर मुड़ जाती है। और पश्चिम विदेह के बीचोंबीच बहती हुई अन्त में पश्चिम लवणसागर में मिल जाती है। इसकी सर्व परिवार नदियाँ देवकुरु में ८४००० और पश्चिम विदेह में ४४८०३८ [कुल ५३२०३८] हैं। लोक

इस प्रकार क्योंकि यह पृथ्वी बहुत प्रकार के रत्नों से भरी हुई शोभायमान होती है, इसलिये निपुण पुरुषों ने इसका 'रत्न प्रभा' यह सार्थक नाम कहा है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और तमस्तम:प्रभा (महातम:प्रभा), ये शेष छह पृथ्वियां क्रमश: शक्कर, वालु, कीचड़, धूम, अंधकार और महान्धकार की प्रभा से सहचरित हैं, इसीलिए इनके भी उपर्युक्त नाम सार्थक हैं।

इन छह अधस्तन पृथ्वियों की मुटाई क्रम से बत्तीस हजार, अट्ठाईस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन प्रमाण है।

श. प्र. ३२०००, वा. प्र. २८०००, पं० प्र. २४००० धू. प्र. २००००, त. प्र. १६०००, म. प्र. ८००० योजन।

छयासठ, चौंसठ, साठ, उनसठ, अट्ठावन, और चौव्वन, इनके दुगुने हजार अर्थात एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अट्ठाईस हजार, एक लाख बीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार, और एक लाख आठ हजार, योजन प्रमाण इन अधस्तन छह पृथ्वियों की मुटाई है।

३।१ की अपेक्षा ११२००० हैं । सीता नदी का सर्व कथन सीतोदावत् जानना। विशेषता यह कि नील पर्वत के केसरी द्रह के दक्षिण द्वार से निकलती है। सीता कुण्ड में गिरती है। माल्यवान् गजदन्त की गुफा से निकलती है। पूर्व विदेह में से बहती हुई पूर्व सागर में मिलती है। इसकी परिवार नदियाँ भी सीतोदावत् जानना । नरकान्ता नदी का सम्पूर्ण कथन हरितवत है। विशेषता यह कि नीलपर्वत के केसरी द्रह के उत्तरद्वार से निकलती है। पश्चिमी रम्यक् क्षेत्र के बीच में से बहती और पश्चिम सागर में मिलती है। नारी नदी का सम्पूर्ण कथन हरिकान्तावत है । विशेषता यह है कि रुक्मि पर्वत के महापुण्डरीक द्रह के दक्षिण द्वार से निकलती है और पूर्व रम्यक् क्षेत्र में बहती हुई पूर्ण सागर में मिलती है। रूप्यकूला नदी का कथन रोहितनदीवत् है। विशेषता यह है कि रुक्मि पर्वत के महापुण्डरीक ह्रद के उत्तर द्वार से निकलती है। और पश्चिम हैरण्वत क्षेत्र में बहती हुई पश्चिम सागर में मिलती है । सुवर्णकूला नदी का सम्पूर्ण कथन रोहितास्यावत् है । विशेषता यह है कि यह शिखरी के पुण्डरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से निकलती है और पूर्वी हैरण्य वत् क्षेत्र में बहती हुई पूर्व सागर में मिल जाती है। रक्ता वा रक्तोदा नदी का कथन गंगा व सिन्धुवत है। विशेषता यह कि शिखरी पर्वत के महापुण्डरोक ह्रद के पूर्व और पश्चिम द्वार से निकलती है। इनके भीतरी कमलाकार कूटों के नाम रक्ता रक्तोदा हैं। ऐरावत् क्षेत्र के पूर्व व पश्चिम में बहती है। विदेह के ३२ क्षेत्रों में भी गंगानदी की भाँति गंगा सिन्धु वा रक्ता रक्तोदा नाम की क्षेत्र नदियां है इनका कथन गंगा नदीवत् जानना। इन नदियों की भी परिवार नदियां चौदह चौदह हजार हैं। पूर्व व पश्चिम विदेह में से प्रत्येक में सीता वा सीतोदा के दोनों तरफ तीन तीन करके कुल १२ विभंगा नदियां हैं। ये सव नदियाँ निषध वा नील पर्वत से निकलकर सीतोदा वा सीता नदियों में प्रवेश करती हैं। ये नदियाँ जिन कुण्डों से निकलती हैं वे निषध व नील पर्वत के ऊपर स्थित हैं। प्रत्येक नदी का परिवार २८००० नदी प्रमाण है।

११—देवकुरू व उत्तरकुरू निर्देश—

जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती चौथे नम्बर वाले विदेह क्षेत्र के बहुमध्य प्रदेश में सुमेरु पर्वत स्थित है। उसके दक्षिण व निषध पर्वत की उत्तर दिशा में देवकुरु व उसकी उत्तर व नील पर्वत की दक्षिण दिशा में उत्तरकुरू स्थित है। सुमेरु पर्वत की चार दिशाओं में चार गजदन्त पर्वत है जो एक ओर तो निषध व नील कुलाचलों को स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर सुमेरु को। अपनी पूर्व व पश्चिम दिशा में ये दो कुरू इनमें से ही दो दो गजदन्त पर्वतों से घिरे हुये हैं। तहां देवकुरू में निषध पर्वत से १०० योजन उत्तर में जाकर सीतोदा नदी के दोनों तटों पर यमक नाम के दो शैल हैं जिनका मध्य अन्तराल ५०० यो. है। अर्थात् नदी के तटों से नदी के अर्ध विस्तार से होन २२५ यो हटकर है। इसी प्रकार उत्तरकुरू में नील पर्वत के दक्षिण में सौ योजन जाकर सीता नदी के

श. प्र. १३२००० वा. प्र. १२८००० पं० प्र. १२०००० धू. प्र. ११८००० त. प्र. ११६००० म. प्र. १०८००० यह पाठान्तर अर्थात मतभेद है।

सातों पृथ्वियाँ ऊर्ध्व दिशा को छोड़ शेष नौ दिशाओं में घनोदधि वातवलय से लगी हुई हैं। परन्तु आठवीं पृथ्वी दशों दिशाओं में ही घनोदधि वातवलय को छूती है।

उपर्युक्त पृथ्वियाँ पूर्व और पश्चिम दिशा के अन्तराल में वेत्रासन के सदृश आकार वाली है। तथा उत्तर और दक्षिण में समान रूप से दीर्घ एवं अनादिनिघन हैं।

सर्व पृथ्वियों में नारकियों के विल कुल चौरासी लाख हैं। अव इनमें से प्रत्येक पृथ्वी का आश्रय करके उन विलों के प्रमाण का निरूपण करते हैं। समस्त पृथ्वियों के विल ८४०००००।

रत्नप्रभा आदिक पृथ्वियों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पांच कम एक लाख और केवल पांच ही नारकियों के विल हैं।

विल संख्या—र. प्र. ३०००००० । श. प्र. २५००००० । वा.प्र. १५००००० । पं० प्र. १०००००० । धू.प्र. ३००००० । त. प्र. ९९९९५ । म. प्र. ५=८४००००० ।

सातवीं पृथ्वी के तो ठीक मध्य भाग में ही नारकियों के विल हैं, परन्तु अव्वहुल भाग-पयन्त शेष छह पृथ्वियों में नीचे व ऊपर एक एक हजार योजन छोड़कर पटलों के क्रम से नारकियों के विल हैं।

दोनों तटों पर दो यमक हैं। इन यमकों से पांच सौ योजन उत्तर में जाकर देवकुरू की सीतोदा नदी के मध्य उत्तर दक्षिण लम्बायमान पांच द्रह हैं। मतान्तर से कुलाचल से ५५० यो. दूरी पर पहला द्रह है। ये द्रह नदियों के प्रवेश व निकास द्वारों से सयुक्त हैं। अन्तिम द्रह से २०९२ $\frac{२}{१९}$ यो. उत्तर में जाकर पूर्व व पश्चिम गजदन्तों की वन की वेदी आ जाती है। इसी प्रकार उत्तरकुरू में भी सीता नदी के मध्य ५ द्रह हैं। उनका सम्पूर्ण वर्णन पूर्ववत् है। इस प्रकार दोनों कुरूओं में कुल दस द्रह हैं। परन्तु मतान्तर से बीस हैं। मेरु पर्वत की चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में पांच हैं उपरोक्त वत् ५०० यो. अन्तराल से सीता व सीतोदा नदी में ही स्थित हैं। इनके नाम ऊपर वालों के समान हैं। दस द्रह वाली प्रथम मान्यता के अनुसार प्रत्येक द्रह के पूर्व व पश्चिम तटों पर दस दस करके कुल २०० कांचन शैल हैं। पर बीस द्रहों वाली दूसरी मान्यता के अनुसार प्रत्येक द्रह के दोनों पार्श्व भागों में पांच पांच करके कुल २०० कांचन शैल है। देवकुरू व उत्तरकुरु के भीतर भद्रशाल वन में सीतोदा व सीता नदी के पूर्व व पश्चिम तटों पर तथा इन कुरू क्षेत्रों के वाहर भद्रशाल वन में उक्त दोनों नदियों के उत्तर व दक्षिण तटों पर एक एक करके कुल आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं, देवकुरू में सुमेरु के दक्षिण भाग में सीतोदा नदी के पश्चिम तट पर तथा उत्तरकुरू को सुमेरु के उत्तर भाग में सीता नदी के पूर्व तट पर तथा इसी प्रकार दोनों कुरुओं से वाहर मेरु के पश्चिम में सीतोदा के उत्तर तट पर और मेरु की पूर्व दिशा में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक एक करके चार त्रिभुवन चूड़ामणि नाम वाले जिन भवन हैं। निषध व नील पर्वतों से संलग्न सम्पूर्ण विदेह क्षेत्र के विस्तार समान लम्बी दक्षिण उत्तर लम्बायमान भद्रशाल वन की वेदी है। देवकुरू के निषध पर्वत के उत्तर में विद्युत्प्रभ गजदन्त के पूर्व में सीतोदा के पश्चिम में और सुमेरु के नैर्ऋत्य दिशा में शाल्मली वृक्षस्थल है। सुमेरु की ईशान दिशा में नील पर्वत के दक्षिण में माल्यवन्त गजदन्त के पश्चिम में सीता नदी के पूर्व में जम्बू वृक्ष स्थल है।

१२ जम्बू व शाल्मली वृक्षस्थल

१. देवकुरु व उत्तरकुरु में प्रसिद्ध शाल्मली व जम्बूवृक्ष हैं। ये वृक्ष पृथिवीमयी हैं। तहां शाल्मली या जम्बूवृक्ष का सामान्य स्थल ५०० योजन विस्तार युक्त होता है। तथा मध्य में आठ योजन और किनारों पर २ कोस मोटा है। मतान्तर की अपेक्षा वह मध्य में १२ योजन और किनारों पर २ कोस मोटा है।
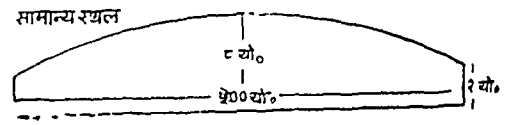
२. यह स्थल चारों ओर से स्वर्णमयी वेदिका से वेष्ठित है। इसके वहुमध्य भाग में एक पीठ है, जो आठ योजन ऊंचा है तथा मूल में १२ और ऊपर ४ योजन विस्तृत है। पीठ के मध्य में मूलवृक्ष है, जो कुल आठ योजन ऊंचा है। उसका स्कन्ध दो योजन ऊंचा तथा एक कोस मोटा है।

पहली पृथ्वी से लेकर दूसरी, तीसरी, चौथी और पांचवीं पृथ्वी के चार भागों में से तीन भागों ($\frac{३}{४}$) में स्थित नारकियों के विल अत्यन्त उष्ण होने से वहाँ रहने वाले जीवों के तीव्र गर्मी की पीड़ा पहुँचाने वाले हैं।

पांचवीं पृथ्वी के अवशिष्ट चतुर्थ भाग में, तथा छट्ठी और सातवीं पृथ्वी में स्थित नारकियों के विल अत्यन्त शीत होने से वहाँ रहने वाले जीवों को भयानक शीत की वेदना करने वाले हैं।

नारकियों के उपर्युक्त चौरासी लाख विलों में से व्यासी लाख पच्चीस हजार विल उष्ण, और एक लाख पचहत्तर हजार विल अत्यन्त शीत हैं।

उष्ण विल ८२२५०००, शीत विल १७५०००।

यदि उष्ण विल में मेरु के वरावर लोहे का शीतल पिण्ड डाल दिया जाय, तो वह तल प्रदेश तक न पहुँच कर बीच में ही मैनके टुकड़े के समान पिघल कर नष्ट हो जायगा। तात्पर्य यह है कि इन विलों में उष्णता की वेदना अत्यधिक है।

इसी प्रकार, यदि में मेरु पर्वत के वरावर लोहे का उष्ण पिण्ड शीत विल में डाल दिया जाय, तो वह तल प्रदेश तक न पहुँच कर बीच ही नमक के टुकड़े के समान विलीन हो जावेगा में।

पीठ पर स्थित मूल वृक्ष

३. इस वृक्ष की चारों दिशाओं में छह-छह योजन लम्बी तथा इतने अन्तराल से स्थित चार महाशाखाएं हैं। शालमली वृक्ष की दक्षिण शाखा पर और जम्बूवृक्ष की उत्तर शाखा पर जिनभवन है। शेष तीन शाखाओं पर व्यन्तर देवों के भवन हैं। तहां शालमली वृक्ष पर वेणु व वेणुधारी तथा जम्बू वृक्ष पर इस द्वीप के रक्षक आदृत व अनादृत नाम के देव रहते हैं।
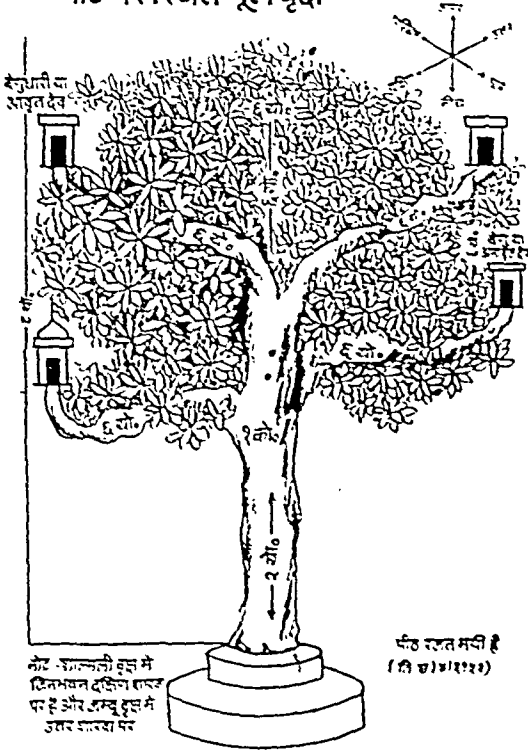
४. इस स्थल पर एक के पीछे एक करके १२ वेदिया हैं, जिनके बीच बारह भूमियां हैं। यहां पर ह. पु. में वापियों आदि वाली ५ भूमियों को छोड़कर केवल परिवार वृक्षों वाली ७ भूमियां बतायी हैं। इस सात भूमियों में आदृत युगल या वेणु युगल के परिवार देवों के वृक्ष हैं।

५. तहां प्रथम भूमि मध्य में उपरोक्त मूलवृक्ष स्थित है। द्वितीय में वन वापिकाएं हैं। तृतीय की प्रत्येक दिशा में २७ करके कुल १०८ वृक्ष महामान्यों अर्थात त्रायस्त्रियों के हैं। चतुर्थ की चारों दिशाओं में चार द्वार हैं, जिन पर स्थित वृक्षों पर उसकी देवियां रहती हैं। पांचवीं में केवल वापियां हैं। छठीं में वनखण्ड हैं। सातवीं की चारों दिशाओं में कुल १६००० वृक्ष अंगरक्षकों के हैं। अष्टम की वायव्य ईशान व उत्तर दिशा में कुल ४००० वृक्ष सामानिकों के हैं। नवम की आग्नेय दिशा में कुल ३२००० वृक्ष आभ्यन्तर परिषदों के हैं। दसवीं की दक्षिण दिशा में ४०००० वृक्ष मध्यम पारिषदों के हैं। ग्यारहवीं की नैऋत्य दिशा में ४८००० वृक्ष बाह्य पारिषदों के हैं। बारहवीं की पश्चिम दिशा में सात वृक्ष अनीक महत्तरों के हैं। सब वृक्ष मिलकर १४०१२० होते हैं।

६. स्थल के चारों ओर तीन वन खण्ड हैं। प्रथम की चारों दिशाओ में देवों के निवासभूत चार प्रासाद है। विदिशाओं में से प्रत्येक में चार-चार पुष्करिणी की चारों दिशाओं में आठ-आठ कूट हैं। प्रत्येक कूट पर चार-चार प्रसाद हैं। जिन पर उन आदृत आदि देवों के परिवार देव रहते हैं। इस प्रकार प्रासादों के चारों तरफ भी आठ कूट बताये हैं। इन कूटों पर उन आदृत युगल या वेणु युगल का परिवार रहता है।

बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊंट, बिल्ली, सर्प और मनुष्यादिक के सड़े हुए शरीरों के गन्ध की अपेक्षा वे नारकियों के बिल अनन्तगुणी दुर्गन्ध से युक्त हैं।

स्वभावत: अंधकार से परिपूर्ण ये नारकियों के बिल कक्षक (कौक्षेयक या ककच), कृपाण, छुरिका, खदिर (खैर) की आग, अति तीक्ष्ण सुई और हाथियों की चिक्कार से अत्यन्त भयानक है।

वे नारकियों के बिल इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से तीन प्रकार के हैं ये सब ही नरकबिल नारकियों को भयानक दुख दिया करते हैं।

विशेषार्थ—जो अपने पटल के सब बिलों के बीच में हो वह इन्द्रक बिल कहलाता है, चार दिशा और चार विदिशाओं में जो बिल पंक्ति से स्थित होते हैं, उन्हें श्रेणीबद्ध कहते हैं। श्रेणी-बद्ध बिलों के बीच में इधर उधर रहने वाले बिलों को प्रकीर्णक समझना चाहिये।

रत्नप्रभा आदिक पृथ्वियों में क्रम से तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पांच, तीन और एक, इस प्रकार कुल उनचास इन्द्रक बिल हैं।
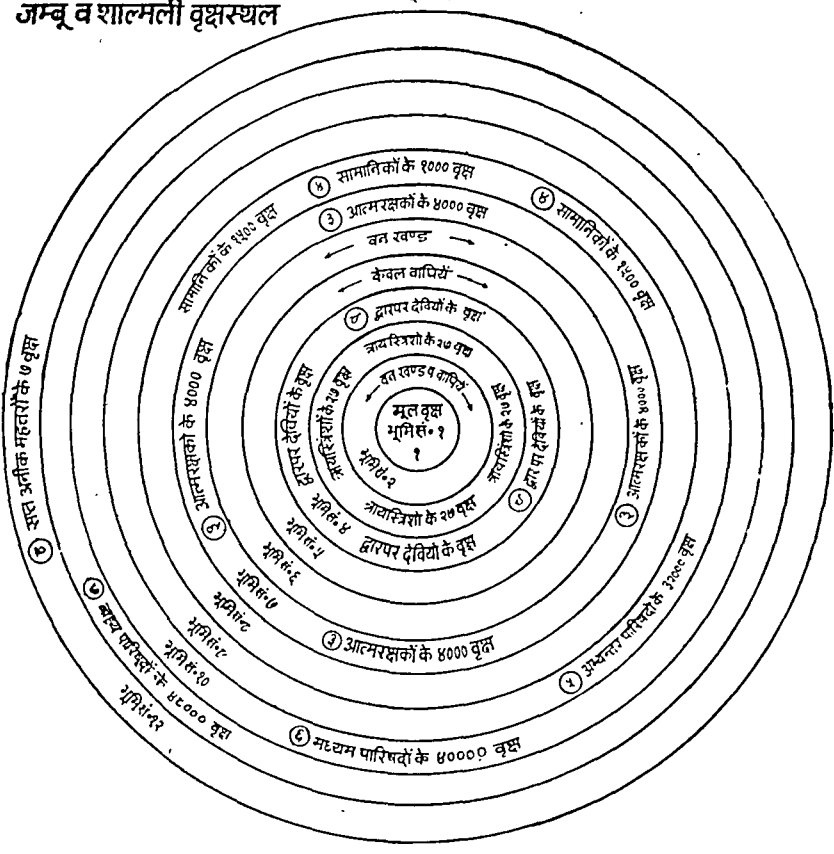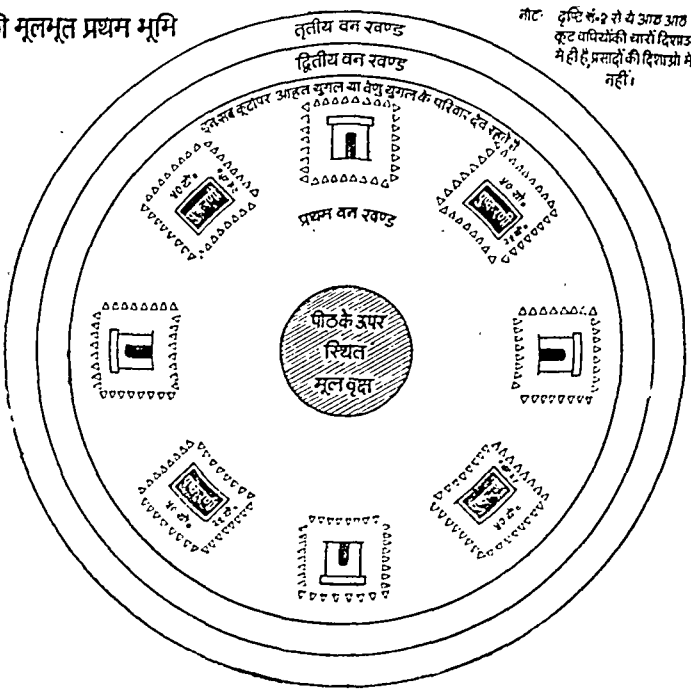
१३. विदेहके ३२ क्षेत्र

१. पूर्व व पश्चिम की भद्रशाल वन की वेदियों से आगे जाकर सोता व सीतोदा नदी के दोनों तरफ चार-चार वक्षार-गिरि और तीन-तीन विभंगा नदियां एक वक्षार व एक विभंगा के क्रम से स्थित हैं। इन वक्षार व विभंगा के कारण उन नदियों के पूर्व व पश्चिम भाग आठ-आठ भागों में विभक्त हो जाते है। विदेह के ये ३२ खण्ड उसके ३२ क्षेत्र कहलाते हैं।

२. उत्तरीय पूर्व विदेह का सर्वप्रथम क्षेत्र कच्छा नाम का है। इनके मध्य में पूर्वापर लम्बायमान भरत क्षेत्रके विजयार्धवत् एक विजयार्ध पर्वत है। उसके उत्तर में स्थित नील पर्वत को वन वेदी के दक्षिण पार्श्वभाग में पूर्व व पश्चिम दिशाओं में कुण्ड हैं, जिनसे रक्ता व रक्तोदा नाम की दो नदियां निकलती हैं। दक्षिणमुखी होकर बहती हुई वे विजयार्ध की दोनों गुफाओं में से निकलकर नीचे सीता नदी में जा मिलती हैं। जिसके कारण भरत क्षेत्र की भांति यह देश भी छह खण्डों में विभक्त हो गया है। यहां भी उत्तर म्लेच्छ खण्ड के मध्य एक वृषभगिरि है, जिस पर दिग्विजय के पश्चात चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है, इस क्षेत्र के आर्यखण्ड की प्रधान नगरी का नाम क्षेमा है। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में दो नदियां व एक विजयार्घ के कारण छह-छह खण्ड उत्पन्न हो गये हैं। विशेष यह है कि दक्षिण वाले क्षेत्रों में गगा सिन्धु नदियां बहती हैं। मतान्तर से उत्तरीय क्षेत्रों में गंगा सिन्धु व दक्षिणी क्षेत्रों में रक्ता रक्तोदा नदियां हैं।

विदेहका कच्छा क्षेत्र
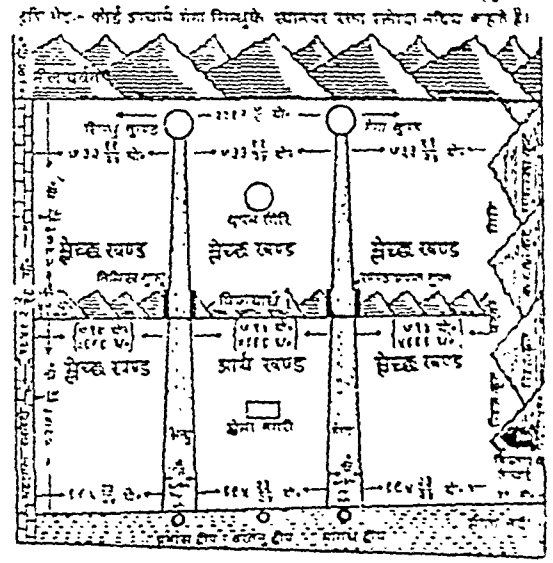
३. पूर्व व अपर दोनों विदेहों में प्रत्येक क्षेत्र के सीता सीतोदा नदी के दोनों किनारों पर आर्यखण्डों में मागघ, वरतनु और प्रभास नामवाले तीन तीन तीर्थस्थान हैं।

४. पश्चिम विदेह के अन्त में जम्बूद्वीप की जगती के पास सीतोदा नदी के दोनों ओर, भूतारण्यक वन है। इसी प्रकार पूर्व विदेह के अन्त में जम्बू द्वीप की जगती के पास नदी के दोनों ओर देवारण्यक वन हैं।

४. अन्य द्वीप सागर निर्देश—

१. लवण सागर निर्देश

इन्द्रक विल—र. प्र. १३, श. प्र. ११, वा. प्र. ९, पं. प्र. ७, धू. प्र. ५, त. प्र. ३, म. प्र. १।

पहिले इन्द्रक विल के आश्रित दिशाओं में उनंचास और विदिशाओं में अड़तालीस श्रेणविद्ध विल हैं। इसके आगे द्वितीयादिक इन्द्रक विलों के आश्रित रहने वाले श्रेणीबद्ध विलों से एक एक विल कम होता गया है। (देखो मूल की संदृष्टि)।

उक्त सात भूमियों में तेरह को आदि लेकर एकपर्यन्त कुल मिलकर उनंचास इन्द्रक विल हैं।

पहिला सीमन्तक तथा द्वितीयादि निरय, रौरुक, भ्रान्त, उदभ्रान्त, संभ्रान्त, असंभ्रान्त, विभ्रान्त तप्त, त्रसित, वक्रान्त, अवक्रान्त, और विक्रान्त, इस प्रकार, ये तेरह इन्द्रक विल प्रथम पृथ्वी में हैं। स्तनक, तनक, मनक, वनक, घात, संघात जिह्वा, जिह्वक, लोल, लोलक और स्तनलोलुक, ये ग्यारह इन्द्रक विल द्वितीय पृथ्वी में है।

तप्त, शोत, तपन, तापन, निदाघ, प्रज्वलित, उज्जवलित संज्वलित संप्रज्वलित ये नौ इन्द्रक विल तृतीय पृथ्वी में हैं।

आर, मार, तार, तत्व (चर्चा), तमक, वाद और खडखड, ये सात इन्द्रक विल चतुर्थ पृथ्वी में हैं।

तमक, भ्रमक, झषक, वाविल (अन्ध) और तिमिश्र ये पांच इन्द्रक विल धूम प्रभा पृथ्वी में हैं। छठी पृथ्वी में हिम,
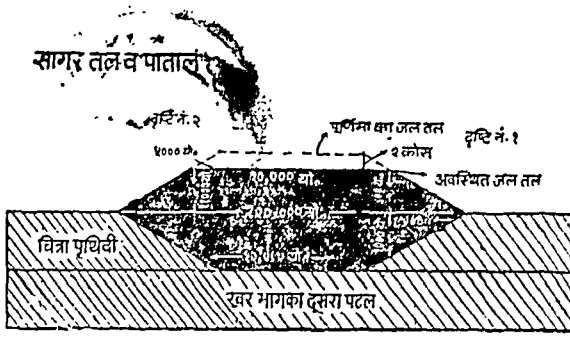
१. जम्बूद्वीप को घेरकर २००,००० योजन विस्तृत बलयाकार यह प्रथम सागर स्थित है, जो एक नाव पर दूसरी नाव मुंघी रखने से उत्पन्न हुए आकार वाले हैं। तथा गोल है।

२. इसके मध्य तल भाग चारों ओर १००८ पाताल या विवर हैं। इनमें ४ उत्कृष्ट, ४ मध्यम और १००० जघन्य विस्तार वाले हैं। तटों से ६५००० योजन भीतर प्रवेश करने पर चारों दिशाओं में चार ज्येष्ठ पाताल हैं। ९९५०० योजन प्रवेश करनें पर उनके मध्य विदिशा में चार मध्यम पाताल और उनके मध्य प्रत्येक अन्तर दिशा में १२५,१२५ करके १००० जघन्य पाताल मुक्तावली रूप से स्थित हैं। १००,००० योजन गहरे महापाताल नरक सीमन्तक बिल के ऊपर संलग्न हैं।

३. तीनों प्रकार के पातालों की ऊंचाई तीन बराबर भागों में विभक्त हैं। तहां निचले भाग में वायु, ऊपर ले भाग में जल और मध्य के भाग में यथायोग रूप से जल व वायु दोनों रहते हैं।

४. मध्य भाग में जल व वायु की हानि वृद्धि होती रहती हैं। शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन[२] २२२$\frac{2}{9}$ योजन वायु बढ़ती है और कृष्ण पक्ष में इतनी ही घटती है। यहां तक कि इस पूरे भाग में पूर्णिमा के दिन केवल वायु ही तथा अमावस्या को केवल जल ही रहता है। पाताल में जल व वायु की इस वृद्धि का कारण नीचे रहने वाले भवनवासी देवों का उच्छ्वास निःश्वास है।

५. पातालों में होने वाली उपरोक्त वृद्धि हानि से प्रेरित होकर सागर का जल शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन ८००।३ धनुष ऊपर उठता है, और कृष्ण पक्ष में इतना ही घटता है। यहां तक कि पूर्णिमा को ४००० धनुष आकाश में ऊपर उठ जाता है और अमावस्या को पृथिवी तल के समान हो जाता है (अर्थात् ७००० योजन ऊचा अवस्थित रहता है) लोगायणी के अनुसार सागर ११००० योजन तो सदा ही पृथिवी तल से ऊपर अवस्थित रहता है। शुक्ल पक्ष में इसके ऊपर प्रतिदिन ७०० योजन बढ़ता है और कृष्ण पक्ष में इतना ही घटता है। यहां तक कि पूर्णिमा के दिन ५००० योजन बढ़कर १६००० योजन हो जाता है।

६. समुद्र के दोनों किनारों पर व शिखर पर आकाश में ७०० योजन जाकर सागर के चारों तरफ कुल १४२००० वेलन्धर देवों की नगरियां है। तहां वाह्य व अभ्यन्तर वेदी के ऊपर क्रम से ७२००० और ४२००० और मध्य में शिखर पर २८००० है मतान्तर से इतनी ही नगरियां सागर के दोनों किनारों पर पृथिवी तल पर भी स्थित हैं सग्गायणी

बदंल और लल्लंक, इस प्रकार तीन तथा सातवीं में केवल एक अवधिस्थान नाम का इन्द्रक बिल है।

घर्मादिक सातों पृथ्वियों सम्बन्धी प्रथम इन्द्रक बिलों के समीपवर्ती प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों के नामों का पूर्वादिक दिशाओं में प्रदक्षिण क्रम से निरूपण करते हैं।

घर्मा पृथ्वी में सीमन्त इन्द्रक बिल के समीप पूर्वादिक चारों दिशाओं में क्रम से कांक्षा, पिपासा, महाकांक्षा और अतिपिपासा, ये चार प्रथम श्रेणीबद्ध बिल हैं।

वंशा पृथ्वी में प्रथम अनित्य, दूसरा अविद्य तथा महानिद्य और चतुर्थ महाविद्य, ये चार श्रेणीबद्ध बिल पूर्वादिक दिशाओं में स्तनक इन्द्रक बिल के समीप हैं।

मेघा पृथ्वी में दुःखा, वेदा, महादुःखा और चौथा महावेदा, ये चार श्रेणीबद्ध बिल पूर्वादिक दिशाओं में तप्त इन्द्रक बिल के समीप में तप्त इन्द्रक बिल के समीप में हैं।

अंजना पृथ्वी में आर इन्द्रक बिल के समीप प्रथम निसृष्ट, द्वितीय निरोध, तृतीय अतिनिसृष्ट और चतुर्थ महानिरोध, ये चार श्रेणीबद्ध बिल हैं।

तमक इन्द्रक बिल के समीप निरोध, विमर्दन अतिनिरोध

के अनुसार सागर की बाह्य व आभ्यन्तर वेदीवाले उपरोक्त नगर दोनों वेदियों से ४२००० योजन भीतर प्रवेश करके आकाश में अवस्थित हैं और मध्य वाले जल के शिखर पर भी।

७. दोनों किनारों से ४२००० योजन भीतर जाने पर चारों दिशाओं में ज्येष्ठ पाताल के बाह्य व भीतरी पार्श्व भागों में एक एक करके कुल आठ पर्वत हैं। जिन पर वेलन्धर देव रहते हैं।
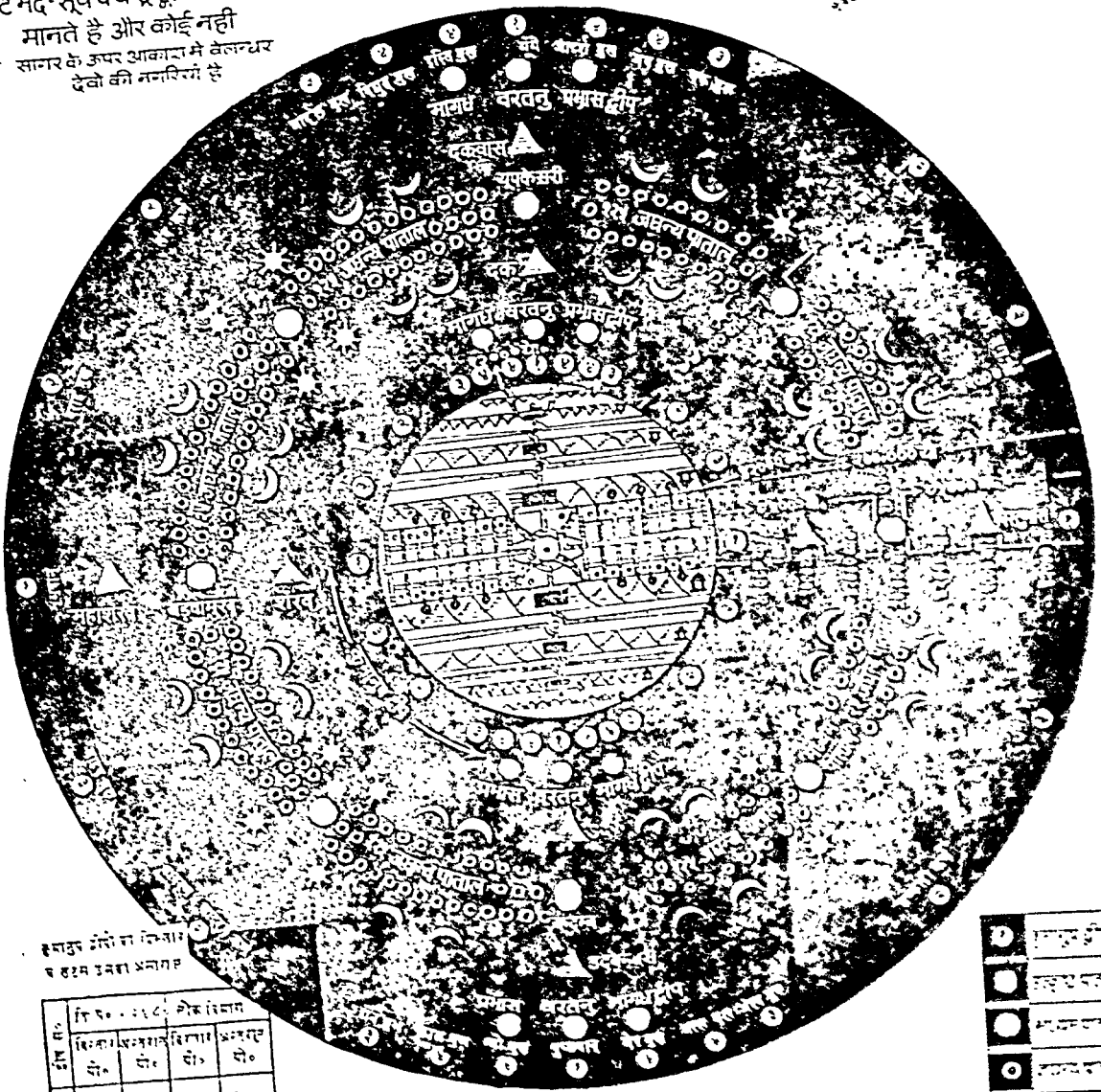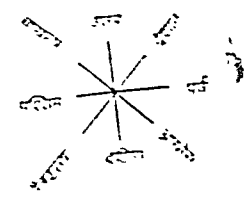
द्वीप सं०	[illegible]			
	[illegible] यो०	[illegible] यो०	[illegible] यो०	[illegible] यो०
१	१००	५००	१००	५००
२	५५	५००	५०	५५०
३	८	५५०	१००	६००
४	२५	६००	२५	१००

कुमानुष द्वीपोका अवस्थान क्रम —
दोनों तटोपर तटसे उक्त अन्तराल छेड़कर चार चार द्वीप चारो दिशाओंमे, चार चार विदिशाओंमें, आठ आठ अन्तर-दिशाओंमे, और आठ आठ विजयार्धो तथा हिमवान व शिखरी पर्वतोके प्रणिधि भागोंमे स्थित है।
विशेष दे० चित्र सं० १३ तथा ल०क०/४१

८ इस प्रकार अभ्यन्तर वेदी से ४२०००. भीतर जाने पर उपरोक्त भीतरी ४ पर्वतों के दोनों पार्श्व भागों में (विदिशाओं में) प्रत्येक में दो दो करके कुल आठ सूर्य द्वीप हैं। सागर के भीतर, रक्तोदा नदी के सम्मुख मगध द्वीप, जगती के अपराजित नामक उत्तर द्वार के सन्मुख वरतनु और रक्ता नदी के सम्मुख प्रभास द्वीप है। इसी प्रकार ये तीन द्वीप-जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में भी गंगा नदी, व वैजयन्त नामक दक्षिण द्वार के प्रविधि भाग में स्थित हैं। अभ्यन्तर वेदी से १२००० योजन सागर के भीतर जाने पर सागर को वायव्य दिशा में मागध नाम का द्वीप है। इसी प्रकार लवण समुद्र के वाह्य भाग में भी ये द्वीप जानना। मतान्तर की अपेक्षा दोनों तटों से ४२००० योजन भीतर जाने पर ४२००० योजन विस्तार वाले २४, २४ द्वीप हैं। जिनमें ८ तो चारों दिशाओं व विदिशाओं के दोनों पार्श्व भागों में हैं और आठों अन्तर दिशाओं के दोनों पार्श्व भागों में। विदिशावालों का नाम सूर्य द्वीप और अन्तर दिशावालों का नाम चन्द्रद्वीप है।

९. इनके अतिरिक्त ४८ कुमानुष द्वीप हैं। २४ अभ्यन्तर भाग में और २४ वाह्य भाग में तहां चारों दिशाओं में चार चारों विदिशाओं में ४, अन्तर दिशाओं में आठ तथा हिमवान, शिखरी व दोनों विजयार्ध पर्वतों के प्रणिधि भाग में ८ हैं। दिशा, विदिशा व अन्तर दिशा तथा पर्वत के पास वाले, ये चारों प्रकार के द्वीप क्रम से जगती से ५००,५००,५५० व ६०० योजन अन्तराल पर अवस्थित हैं और १००,५५,५० व २५ योजन विस्तार युक्त हैं। लोक विभाग के अनुसार वे जगती से ५००,५५०,५००,६०० योजन अन्तराल पर स्थित हैं। इन कुमानुषद्वीपों में एक जांघवाला, शशकर्ण वन्दरमुख आदि रूप आकृतियों के धारक मनुष्य वसते हैं। धात की खन्ड द्वीप की दिशाओं में भी इस सागर में इतने ही अर्थात् २४ अन्तर्द्वीप हैं। जिनमें रहने वाले कुमानुष भी वैसे ही हैं।

२ धातकी खण्ड निर्देश—

१. लवणोद को वेष्ठित करके ४००,००० योजन विस्तृत ये द्वितीय द्वीप हैं। इसके चारों तरफ भी एक जगती है।

२. इसकी उत्तर व दक्षिण दिशा में उत्तर दक्षिण लम्बायमान दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिनसे यह द्वीप पूर्व व पश्चिम रूप दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्रत्येक पर्वत पर ४ कूट हैं। प्रथम कूट पर जिन मन्दिर है और शेष पर व्यन्तर देव रहते हैं।

और चौथा महाविमर्दन, ऐसे चार श्रेणीवद्ध विल पूर्वादिक चारों दिशाओं में विद्यमान हैं।

हिम इन्द्रक विल के समीप नीला, पंका, महानीला और महापंका ये चार श्रेणीवद्ध विल क्रम से पूर्वादिक दिशाओं में स्थित हैं।

अवधिस्थान इन्द्रक विल के समीप पूर्वादिक चारों दिशाओं में काल, रौरव, महाकाल और चतुर्थ महारौरव ये चार श्रेणीवद्ध विल हैं।

शेष द्वितीयादिक विलों के समीप पूर्वादिक दिशाओं में स्थित श्रेणीवद्ध विलों के और पहिले इन्द्रक विलों के समीप में स्थित द्वितीयादिक श्रेणीवद्ध विलों के नाम नष्ट हो गये हैं।

दिशा और विदिशाओं के मिलकर कुल तीन सौ अठासी श्रेणी वद्ध विल हैं। इनमें सीमन्त इन्द्रक विल के मिला देने पर सव तीन सौ नवासी होते हैं। सीमन्त इन्द्रक सम्बन्धी श्रे. व. विल ३८८ सीमान्त सहित ३८९ हैं।

इस प्रकार प्रथम पृथ्वी के प्रथम पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणी वद्ध विल तीन सौ नवासी हैं। इसके आगे द्वितीयादिक पृथ्वियों में हीन होते होते माधवी पृथ्वी में सिर्फ पांच ही इन्द्रक व श्रेणीवद्ध विल रह गये हैं। घर्मा पृथ्वी के प्रथम पाथड़े में स्थित इं. व श्रे. व. विल ३८९।

आठों ही दिशाओं में यथाक्रम से एक एक विल कम होता गया है। इस प्रकार एक एक के कम होने से सम्पूर्ण हानि के होने पर अन्त में पाँच ही विल शेष रह जाते हैं।

इष्ट इन्द्रक प्रमाण में से एक कम कर अवशिष्ट को आठ से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो, उसे तीन सौ नवासी में से घटा देने पर शेष नियम विवक्षित पाथड़े के श्रेणी वद्ध सहित इन्द्रक का प्रमाण होता है।

३. इस द्वीप में भी दो रचनाएं हैं—पूर्वधातकी और पश्चिमधातकी। दोनों में पर्वत, क्षेत्र, नदी, कूट आदि सब जम्बू द्वीप के समान है। जम्बू व शाल्मली वृक्ष को छोड़कर शेष सव के नाम भी वही हैं। सभी का कथन जम्बू द्वीपवत् है।

४. दक्षिण इष्वाकार के दोनों तरफ दो भरत हैं तथा उत्तर इष्वाकार के दोनों तरफ दो ऐरावत हैं।

५. तहाँ सर्व कुल पर्वत तो दोनों सिरों पर समान विस्तार को धरे पहिये के अरोंवत स्थित हैं और क्षेत्र उनके मध्यवर्ती छिद्रोंवत है। जिनके अभ्यन्तर भाग का विस्तार कम व बाह्य भाग का विस्तार अधिक हैं।

६. तहाँ भी सर्व कथन पूर्व व पश्चिम दोनों धातकी खण्डों में जम्बूद्वीपवत् हैं। विदेह क्षेत्र के बहु मध्य भाग में पृथक् २ सुमेरु पर्वत है। उनका स्वरूप तथा उन पर स्थित जिन भवन आदि का सर्व कथन जम्बूद्वीपवत् है। इन दोनों पर भी जम्बूद्वीप के सुमेरुवत् पाण्डुक आदि चार वन हैं। विशेषता यह है कि यहां भद्रशाल से ५०० योजन ऊपर नन्दन, उससे ५५५०० योजन सोमनस वन और उससे २८००० योजन ऊपर पाण्डुक वन है पृथ्वि तल पर ९४०० योजन है, ५०० योजन ऊपर जाकर नन्दन वन पर ९३५० योजन रहता है। तहां चारों तरफ से युगपत ५०० योजन सुकुड़कर ८३५० योजन ऊपर तक समान विस्तार से जाता है। तदनन्तर ४५५०० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ सौमनस वन पर ३८०० योजन रहता है तहां चारों तरफ से युगपत ५०० योजन सुकुड़कर २८०० योजन रहता है, ऊपर फिर १०,००० योजन समान विस्तार से जाता है तदनन्तर १८०० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ शेष पर १००० योजन विस्तृत रहता है।

७. जम्बूद्वीप के शाल्मली वृक्षवत् यहां दोनों कुरुओं में दो-दो करके कुल चार धातकी (आंवले के) वृक्ष स्थित हैं। प्रत्येक वृक्ष का परिवार जम्बूद्वीपवत् १४०१२० है। चारों वृक्षों का कुल परिवार ५६०४८० है। इन वृक्षों पर इस द्वीप के रक्षक प्रभास व प्रियदर्शन नामक देव रहते हैं।

८. इस द्वीप में पर्वतों आदि का प्रमाण निम्न प्रकार है। मेरु २, इष्वाकार २, कुल गिरि १२, विजयार्ध ६८, नाभिगिरि ८, गजदन्त ८, यमक ८, कांचन शैल ४००, दिग्गजेन्द्र पर्वत १६, वक्षार पर्वत ३२, वृषभगिरि ६८, कर्मभूमि ६. महानदियां २८, विदेह क्षेत्र की नदियां १२८, विभंगा नदियां २४, द्रह ३२, महानदियों व क्षेत्र नदियों के कुण्ड १५६, विभंगा के कुण्ड २४, धातकी वृक्ष २, शाल्मली वृक्ष २ हैं।

३. कालोद समुद्र निर्देश—

१. धातकी खण्ड को घेरकर ८००,००० योजन विस्तृत वलयाकार कालोद समुद्र स्थित है। जो सर्वत्र १००० योजन गहरा है।

२. इस समुद्र में पाताल नहीं है।

उदाहरण—चतुर्थ पाथड़े के इंद्रक सहित श्रे. व. विल, ४—१८=२४; ३८९—२४=३६५।

अथवा—इष्ट प्रतर के प्रमाण को उनंचास में से कम कर देने पर जो अवशिष्ट रहे उसको नियमपूर्वक आठ से गुणा कर प्राप्त राशि में पांच मिला दे। इस प्रकार अन्त में जो संख्या प्राप्त हो वही विवक्षित पटल के इंद्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण होता है।

उदाहरण—चतुर्थ पटल सम्बन्धी ई. व श्रे. व. विल ४९—४८+५=३६५।

किसी विवक्षित पटल के श्रेणीबद्ध सहित इन्द्रक के प्रमाण रूप उद्दिष्ट संख्या में से पांच कम करके शेष में आठ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसको उनंचास में से कम कर देने पर अवशिष्ट संख्या के बराबर वहां के इन्द्रक का प्रमाण होता है।

उदाहरण—चतुर्थ पटल के इन्द्रक और श्रेणीबद्धों का प्रमाण जो ३६५ हैं, वह यहां उद्दिष्ट है, ३६५—५ ÷ ८ = ४५; ४९—४५=४ च. पटल के इंद्रक।

अपने-अपने अन्तिम इंद्रक का प्रमाण आदि कहा गया है, चय सब जगह आठ हैं, और अपने पटलों का प्रमाण गच्छ या पद है।

विशेषार्थ—श्रेणी व्यवहार गणित में, प्रथम स्थान में जो प्रमाण होता है उसे आदि, मुख (वदन) अथवा प्रभव कहते हैं। इसी प्रकार अनेक स्थानों में समान रूप से होने वाली

उत्कृष्ट पाताल
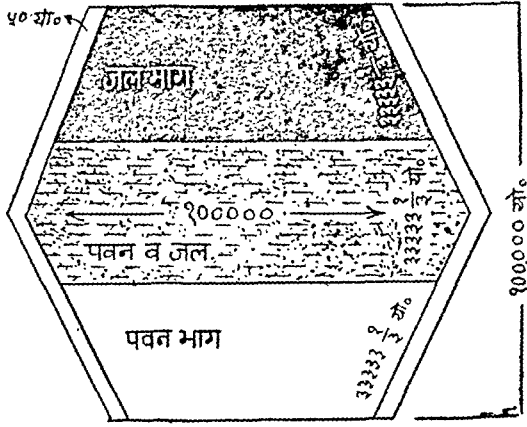
३. इसके अभ्यन्तर व बाह्य भाग में लवणोदवत् दिशा विदिशा, अन्तरदिशा व पर्वतों के प्रणिधि भाग में २४, २४ अन्तर्द्वीप स्थित हैं। वे दिशा विदिशा आदि वाले द्वीप क्रम से तट से ५००, ६००, ५५०, व ६५० योजन के अन्तर से स्थित हैं तथा २००, १००, ५०, ५० योजन हैं। मतान्तर से इनका अन्तराल क्रम से ५००, ५५०, ६००, ६५० है तथा विस्तार लवणोद वालों की अपेक्षा दूना अर्थात् २००, १००० व ५० योजन है।

४. पुष्कर द्वीप

१. कालोद समुद्र को घेर कर १६००,००० के विस्तार युक्त पुष्कर द्वीप स्थित है। इसके बीचोंबीच स्थित कुण्डलाकार मानुषोत्तर पर्वत के कारण इस द्वीप के दो अर्ध भाग हो गये हैं, एक अभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। अभ्यन्तर भाग में मनुष्यों की स्थिति है पर मानुषोत्तर पर्वत को उल्लंघ कर बाह्य भाग में जाने की उनकी सामर्थ्य नहीं है। अभ्यन्तर धातकी खण्डवत् ही दो इष्वाकार पर्वत हैं जिनके कारण यह पूर्व व पश्चिम के दो भागों में विभक्त हो जाता है। दोनों भागों में धातकी खण्डवत् रचना है। धातकी खण्ड के समान यहां ये सब कुलगिरि तो पहिये के अरोंवत समान विस्तार वाले और क्षेत्र उनके मध्य छिद्रों में हीनाधिक विस्तार वाले हैं। दक्षिण इष्वाकार के दोनों तरफ दो भरत क्षेत्र और इष्वाकार के दोनों तरफ दो ऐरावत क्षेत्र हैं। क्षेत्रों ? पर्वतों, आदि के नाम जम्बूद्वीपवत् हैं। दोनों मेरुओं का वर्णन धातकी मेरुओंवत् हैं। मानुषोत्तर पर्वत का अभ्यन्तर भाग दीवार की भांति सीधा है और बाह्य भाग में नीचे से ऊपर तक क्रम से घटता रहता है। भरतादि क्षेत्रों की १४ नदियों के गुजरने के लिए इसके मूल में १४ गुफाएं हैं। इस पर्वत के ऊपर २२ कूट हैं। तहां पूर्वादि प्रत्येक दिशा ने तीन-तीन कूट हैं। पूर्वी विदिशाओं में दो-दो और पश्चिमी विदिशाओं में एक-एक कूट है। इन कूटों की अग्रभूमि में अर्थात् मनुष्य लोक की तरफ चारों दिशाओं में ४ सिद्धायतन कूट हैं। सिद्धायतन कूट पर जिनभवन है और शेष पर सपरिवार व्यन्तर देव रहते हैं। मतान्तर की अपेक्षा नैर्ऋत्य व वायव्य दिशा वाले एक-एक कूट नहीं है। इस प्रकार कुल २० कूट हैं। इनके ४ कुरुओं के मध्य जम्बू वृक्षवत् सपरिवार ४ पुष्कर वृक्ष हैं। जिनका सम्पूर्ण कथन जम्बूद्वीप के जम्बू व शालमली वृक्षवत् है। पुष्करार्ध द्वीप में पर्वत क्षेत्रादि का प्रमाण बिलकुल धातकी खण्डवत् जानना चाहिये।

वृद्धि अथवा हानि के प्रमाण को चय या उत्तर तथा जिन स्थानों में समान रूप से वृद्धि या हानि हुआ करती है, उन्हें गच्छ अथवा पद भी कहते हैं।

दो सौ तेरानवै, दो सौ पांच, एक सौ तेंतीस, सतहत्तर, सैंतीस और तेरह, यह क्रम से, रत्न प्रभादिक छह पृथ्वियों में आदि का प्रमाण है।

आदि का प्रमाण—र. प्र. २९३, श. प्र. २०५, वा. प्र. १३३, पं. प्र. ७७ ध. प्र. ३७, त. प्र. १३।

रत्न प्रभादिक पृथ्वियों में क्रम से तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पांच और तीन गच्छ है उत्तर या चय सब जगह आठ हैं।

गच्छ का प्रमाण—र. प्र. १३, श. प्र. ११, व. प्र. ९, पं. प्र. ७, धू प्र. ५, त. प्र. ३। सर्वत्र उत्तर ८।

इच्छा से हीन गच्छ को चय से गुणा करके उसमें एक कम इच्छा गुणित चय को जोड़कर प्राप्त हुए योग फल में दुगुने मुख को जोड़ देने के पश्चात् उसको गच्छ के अर्ध भाग से गुणा करने पर संकलित धन का प्रमाण आता है।

उदाहरण (१) (१३—१)×८×(१—१×८)÷(२९३×२)×१३/२=१२×८+०+५८६×१३/२=६८२×१३/२=६८२×१३/२ ४४३३ प्रथम पृथ्वी का संकलित धन।

(२) (११—२)×८+(२—१×८)÷(२०५×२

५. नन्दीश्वर द्वीप

अष्टम द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। उसका कुल विस्तार १६३८४०,००० योजन प्रमाण है। इसके बहुमध्य भाग में पूर्व दिशा की ओर काले रंग का एक-एक अंजनगिरि पर्वत है। अंजनगिरि के चारों तरफ १०००,०० योजन छोड़कर ४ वापियाँ हैं। चारों वापियों का भीतरी अन्तराल ६५०४५ योजन है और बाह्य अन्तर २२३६६१ योजन है। प्रत्येक वापी को चारों दिशाओं में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र नाम के चार वन है। इस प्रकार द्वीप की एक दिशा में १६ और चारों दिशाओं में ६४ वन हैं इन सब पर अवतंस
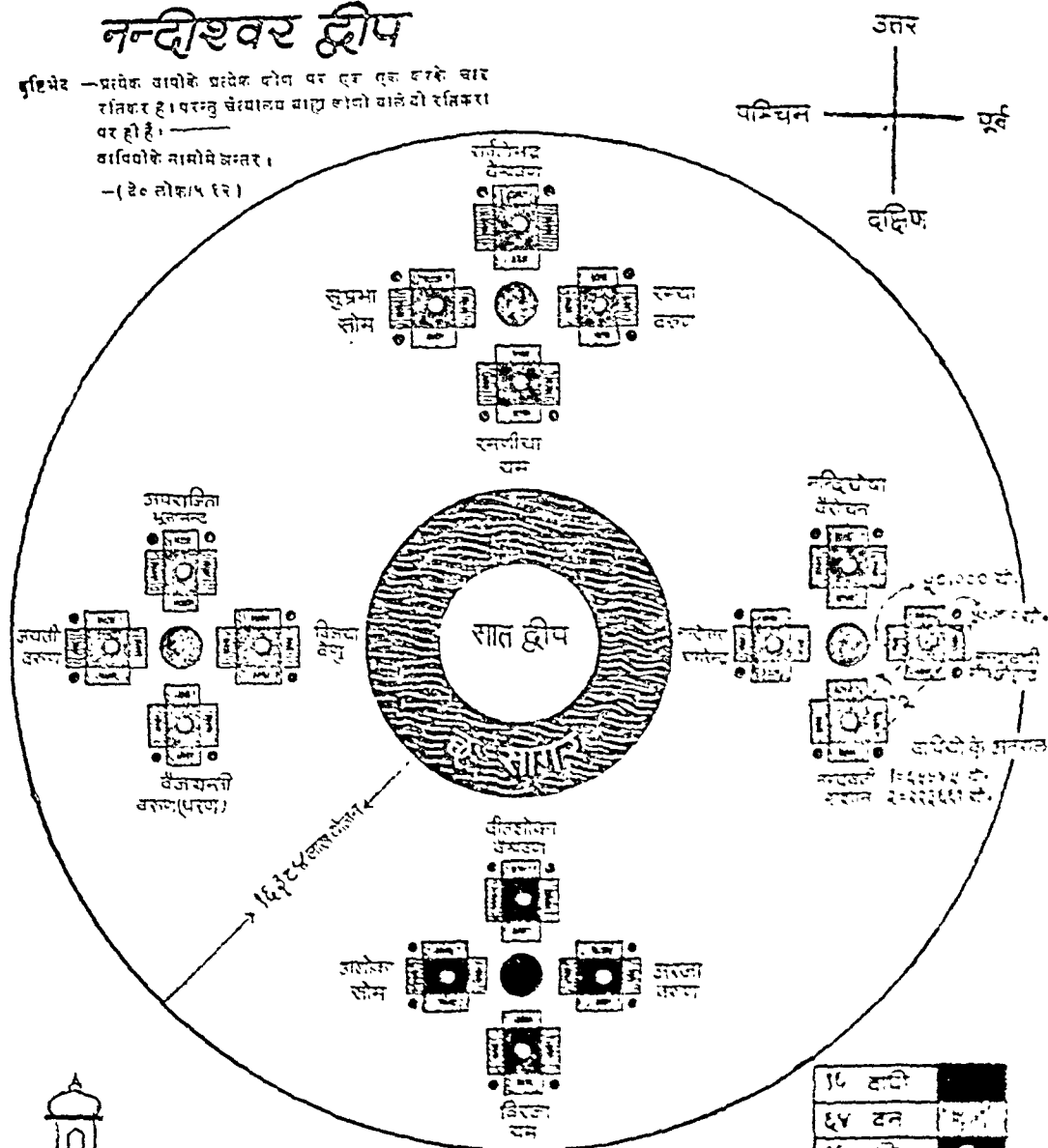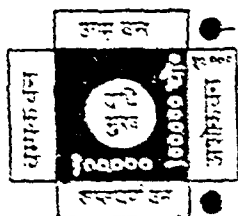
आदि ६४ वन हैं। इन सब पर अवतंस आदि ६४ देव रहते हैं। प्रत्येक वापी में सफेद रंग का एक-एक दधिमुख पर्वत है। प्रत्येक वापी के बाह्य दोनों कोनों पर लाल रंग के दो रतिकर पर्वत हैं। लोक विनिश्चय की अपेक्षा प्रत्येक द्रह के चारों कोनों पर चार रतिकर हैं। जिनमन्दिर केवल बाहर वाले दो रतिकरों पर ही होते हैं, अभ्यन्तर रतिकरों पर देव क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार एक दिशा में अंजनगिरि, चार दधिमुख, आठ रतिकर ये सब मिलाकर १३ पर्वत हैं। इनके ऊपर १३ जिनमन्दि स्थित हैं। इसी प्रकार शेष तीन दिशाओं में भी पर्वत द्रह वन व जिनमन्दिर जानना। कुल मिलाकर ५२ पर्वत, ५२ जिनमन्दिर और १६ वापियाँ हैं। अष्टाह्निक पर्व में सौधर्म आदि इन्द्र व देवगण बड़ी भक्ति से इन मन्दिरों की पूजा करते हैं

मानुषोत्तर पर्वत

दृष्टिभेद :—२२ की बजाय २० कूट हैं। नैऋत्य व वायव्य दिशा वाले कूट नहीं हैं।

उत्तर
ईशान
पूर्व
आग्नेय
दक्षिण
नैऋत्य
पश्चिम
वायव्य

स्फटिककूट अंककूट प्रवालकूट
सुदर्शनदेव मेघदेव सुप्रबुद्धदेव
प्रभंजनकूट
वेणुधारीदेव
वज्रकूट
हनुमानदेव
वैडूर्यकूट
यशस्वानदेव
अश्मगर्भकूट
यशस्कान्त देव
सौगन्धीकूट
यशोधर देव
तपनीयकूट
स्वाति देव
रत्नकूट
वेणु देव
रुचककूट
नन्ददेव
लोहित
नन्दोत्तरदेव
अंजन अशनि-
घोष देव
सर्वरत्नकूट
वेणुधारीदेव
अंजनमूलकूट
सिद्धार्थ देव
कनककूट
वैश्रवण देव
रजतकूट
मानसदेव
वेलम्बकूट
वेलम्ब देव
कालोद
धातकी खण्ड
लवणोद
अढ़ाई द्वीप
अभ्यन्तर पुष्करार्ध
बाह्यार्ध पुष्कर द्वीप

अभ्यन्तर पुष्करार्ध की ओर
← ४२४ यो० →
← ७२३ यो० →
← १०२२ यो० →
१७२१
४३० यो० १ को०
बाह्य पुष्करार्ध की ओर

नाभि गिरि
स्वाति देवका विहार स्थान

तहाँ पूर्व दिशा में कल्पवासी, दक्षिण में भवनवासी पश्चिम में व्यन्तर और उत्तर में देव पूजा करते हैं।

६. कुण्डलवर द्वीप

ग्यारहवाँ द्वीप कुण्डलवर नाम का है, जिसके बहुमध्य भाग में मानुषोत्तरवत् एक कुण्डलाकार पर्वत है। तहां पूर्वादि प्रत्येक दिशा में चार चार कूट हैं। उनके अभ्यन्तर भाग में अर्थात् मनुष्यलोक की तरफ एक एक सिद्धवर कूट हैं। इस प्रकार इस पर्वत पर कुल २० कूट हैं। जिनकूटों के अतिरिक्त प्रत्येक पर अपने-अपने कूटों के नाम वाले देव रहते हैं। मतान्तर की अपेक्षा आठों दिशाओं में एक एक जिनकूट हैं। लोक विनिश्चय की अपेक्षा इस पर्वत की पूर्वादि दिशाओं में से प्रत्येक में चार कूट हैं। पूर्व व पश्चिम दिशा वाले कूटों की अग्रभूमि में द्वीप के अधिपति देवों के दो कूट हैं। इन दोनों कूटों के अभ्यन्तर भागों में चारों दिशाओं में एक एक जिनकूट हैं। मतान्तर की अपेक्षा उनके उत्तर व दक्षिण भागों में एक-एक जिनकूट हैं।

७ रुचकवर द्वीप

तेरहवाँ द्वीप रुचकवर नाम का है। उसमें बीचोंबीच रुचकवर नाम का कुंडलाकार पर्वत है। इस पर्वत पर कुल ४४ कूट हैं। पूर्वादि प्रत्येक दिशा में आठ-आठ कूट हैं जिन पर दिक्कुमारियां देवियां रहती हैं, जो भगवान के जन्म कल्याणक के अवसर पर माता की सेवा में उपस्थित रहती हैं। पूर्वादि दिशाओं वाली आठ-आठ देवियां क्रम से झारी दर्पण, छत्र, व चवर धारण करती हैं। इन कूटों के अभ्यन्तर भाग में चारों दिशाओं में चार महाकूट हैं तथा इनकी भी अभ्यन्तर दिशाओं में चार अन्य कूट हैं। जिन पर दिशाएं स्वच्छ करने वाली तथा भगवान का जातकर्म करने वाली देवियां रहती हैं। इनके अभ्यन्तर भाग, में चार सिद्धकूट हैं। किन्हीं आचार्यों के अनुसार विदिशाओं में भी चार सिद्धकूट हैं। लोक विनिश्चय के अनुसार पूर्वादि चार दिशाओं में एक एक करके चार कूट हैं जिन पर दिग्गजेन्द्र रहते हैं। इन चारों के अभ्यन्तर भाग में चार दिशाओं में आठ आठ कूट हैं, जिन पर उपरोक्त माता की सेवा करने वाली ३२ दिक्कुमारियाँ रहती हैं। उनके बीच की विदिशाओं में दो-दो करके आठ कूट हैं, जिन पर भगवान का जातकर्म करने वाली आठ महत्तरियां रहती हैं। इनके अभ्यन्तर भाग में पुनः पूर्वादि दिशाओं में चार कूट हैं जिन पर दिशाएं निर्मल करने वाली देवियां रहती हैं। इनके अभ्यन्तर भाग में चार सिद्धकूट हैं।

×२१=६×८+८+४१०×१/२=२७६५ द्वि. पृ. का सं. घन।

(३) (६...३)×८+(३—१×८)+(१३३×२)×१/२=६×८+१६+२२६×१/२=१४८५ तृ. पृ. का सं. घन इत्यादि।

एक कम इष्ट पृथ्वी के इन्द्रक प्रमाण को आधा करके उसका वर्ग करने पर जो प्रमाण हो उसमें मूल को जोड़कर आठ से गुणा करे और पांच जोड़ दे। पश्चात विवक्षित पृथ्वी के इन्द्रक का जो प्रमाण हो उससे गुणा करने पर विवक्षित पृथ्वी का घन अर्थात इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण निकलता है।

विशेषार्थ—जैसे प्रथम पृथ्वी के इन्द्रक के प्रमाण १३ में से १ कम करने पर अवशिष्ट १२ के आधे ६ का वर्ग ३६ होता है। इसमें मूल ६ के मिलने पर योग फल ४२ हुआ। उसको ८ से गुणा करने पर जो ३३६ गुणन फल होता है, इसमें ५ जोड़ कर योगफल ३४१ को प्रथम पृथ्वी के इन्द्रक प्रमाण १३ के गुणा करने पर प्राप्त गुणन फल ४४३३ प्रमाण प्रथम पृथ्वी में इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण समझना चाहिये।

उदाहरण —$\left(\frac{१३-१}{२}\right)^{२}+\left(\frac{१३-१}{२}\right)$ ×८+५× १३=३६+६×८+५×१३=४४३३ प्र. पृ. के इन्द्रक व श्रेणीबद्ध।

प्रथम पृथ्वी में इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिल चवालीस सौ तेतीस हैं। और द्वितीय पृथ्वी में दो हजार छह सौ पंचानवे इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिल हैं। ४४३३। २६९५।

तृतीय पृथ्वी में इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिल चौदहसौ पचासी; और चौथी पृथ्वी में सात सौ सात हैं। १४८५। ७०७।

पाँचवीं पृथ्वी में दो सौ पैंसठ, छठी में तिरेसठ और अन्तिम सातवीं पृथ्वी में सिर्फ पाँच ही इन्द्रक व श्रेणीवद्ध विल हैं, ऐसा जानना चाहिये। २६५; ६३; ५।

सम्पूर्ण पृथ्वियों के इन्द्रक व श्रेणीवद्ध विलों के प्रमाण को निकालने के लिये आदि पांच, चय आठ और गच्छ का प्रमाण उनंचास है, यह निश्चित समझना चाहिये।

इष्ट से अधिक पद को चय से गुणा करके उसमें से, एक अधिक इष्ट से गुणित चय को घटा देने पर जो शेष रहे उसमें दुगणे मुख को जोड़कर गच्छ के अर्ध भाग से गुणा करने पर संकलित धन आता है।

उदाहरण—(४६+७×८)—(७+१×८)+(५×२)×४९/२=४४८—६४÷१०×४९/२=९६५३ सातों पृथ्वियों

रुचकवर पर्वत व द्वीप

दृष्टिभेद —विदिशाओं वाले सिद्धायतन कूटोंको कोई आचार्य मानते हैं और कोई नहीं।
कूटों व देवियोंके नामोंमें अंतर। —(दे० लोक ५।१३)
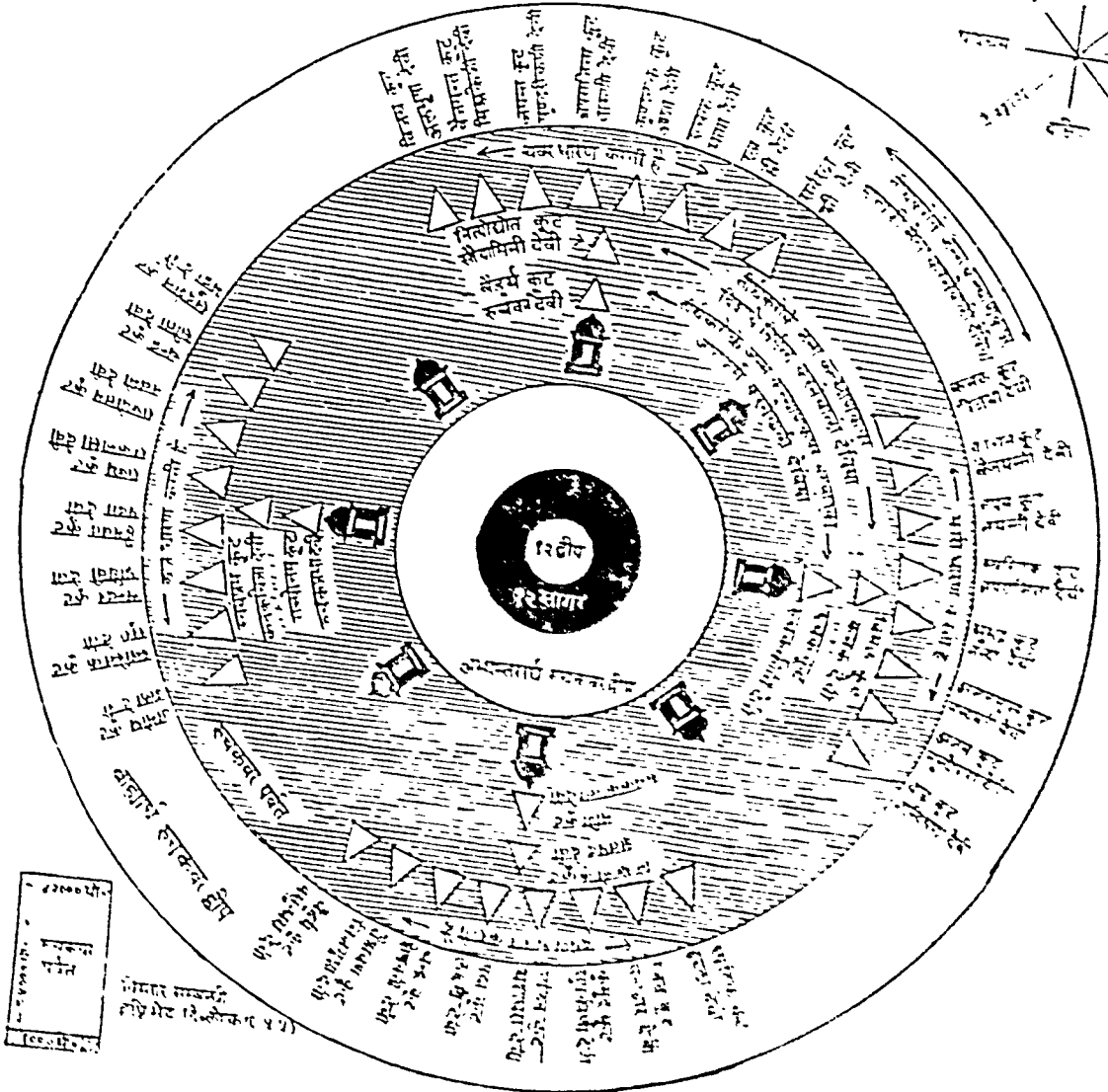
का सं. धन।

अथवा—अड़तालीस के आधे को आठ से गुणा करके उसमें पांच मिला देने पर प्राप्त हुई राशि को उनंचास से गुणा करे। इस रीति से पृथ्वियों का सर्वधन निकलता है।

उदाहरण—$\frac{48}{2} \times 8 + 5 \times 49 = 9653$ सर्व पृथ्वियों का सं. धन।

सम्पूर्ण पृथ्वियों में कुल नौ हजार छह सौ तिरेपन इन्द्रक व श्रेणीबद्ध बिल हैं। ९६५३।

(प्रत्येक पृथ्वी के श्रेणी धन को निकालने के लिये) एक कम अपने अपने चरम इन्द्रक का प्रमाण आदि, अपने अपने पटल का प्रमाण गच्छ और चय सब जगह आठ ही है।

दो सौ बानवै, दो सौ चार, एक सौ छत्तीस, छयत्तर छत्तीस और बारह, इस प्रकार रत्नप्रभादि छह पृथ्वियों में आदि का प्रमाण है।

र. प्र. २९२ : श. प्र. २०४ : वा. प्र. १३६ : पं. प्र. ७६ : धू. प्र. ३६ त. प्र. १२।

रुचकवर पर्वत व द्वीप

दृष्टिभेद — कूटों व देवियोंके नामोंमें अन्तर। —(दे० लोक/५.१२)
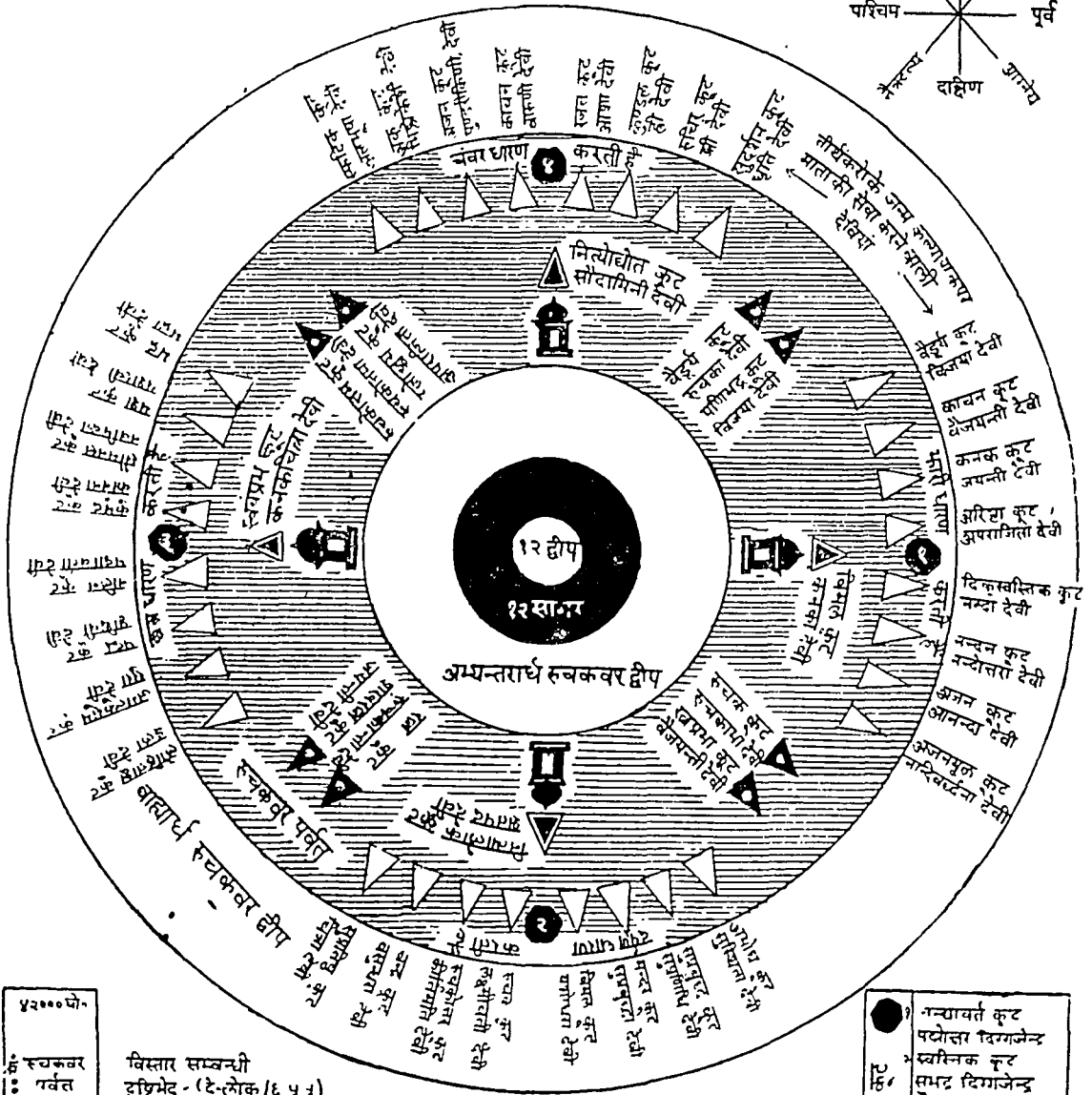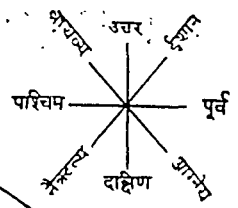
८. स्वयंभूरमण समुद्र

अन्तिम द्वीप स्वयंभूरमण है। इसके मध्य में कुण्डलाकार स्वयंप्रभ पर्वत है। इस पर्वत के अभ्यन्तर भागतक तिर्यच नहीं होते, पर उसके परभाग से लेकर अन्तिम स्वयंम्भूरमण सागर के अन्तिम किनारे तक सब प्रकार के तिर्यच पाये जाते हैं।

५ द्वीप पर्वतों आदि के नाम रस आदि

१ द्वीप समुद्रों के नाम—

मध्य भाग से प्रारम्भ करने पर मध्य लोक में क्रम से १ जम्बूद्वीप, २ लवण सागर, घात की खण्ड कालोद सागर, ३ पुष्करवर द्वीप पुष्करवर समुद्र, ४ वारुणीवर द्वीप वारुणीवर समुद्र, ५ क्षीरवर द्वीप-क्षीरवर समुद्र, ६ घृतवरद्वीप घृतवर समुद्र, ७ क्षोद्रवर (इक्षुवर) द्वीप—क्षोद्रवर (इक्षुवर) समुद्र, ८ नन्दीश्वर द्वीप नन्दीश्वर समुद्र, ९ अरुणीवर द्वीप—अरुणीवर समुद्र १० अरुणाभास द्वीप अरुणाभास समुद्र ११ कुण्डलवर द्वीप-कुण्डलवरसमुद्र, १२ शंखवर द्वीप—शंखवर समुद्र १३ रुचकवर द्वीप—रुचकवर समुद्र, १४ भुजगवर द्वीप-भुजगवर समुद्र १५ कुशवर द्वीप-कुशवर समुद्र, १६ क्रौंचवर द्वीप—क्रौंचवर समुद्र ये १६ नाम मिलते हैं।

संख्यात द्वीप समुद्र आगे जाकर पुनः एक जम्बूद्वीप है। मध्यलोक के अन्त से प्रारम्भ करने पर—१. स्वम्भू रमण समुद्र स्वयंभूरमण द्वीप, २. अहीन्द्रवर सागर अहीन्द्रवर द्वीप, ३. देववर समुद्र-देववर द्वीप, ४. यक्षवर समुद्र यक्षवर द्वीप, ५. भूतवर समुद्र-भूतवर द्वीप, ६. नागवर समुद्र-नागवर द्वीप, ७. वैडूर्य समुद्र-वैडूर्य द्वीप, ८. वज्रवर समुद्र-वज्रवर द्वीप, ९. कांचन समुद्र-कांचन द्वीप, १०. रूप्यवर समुद्र-रूप्यवर द्वीप, ११. हिंगुल समुद्र-हिंगुल द्वीप, १२. अंजनवर समुद्र-अंजनवर द्वीप, १३. श्याम समुद्र-श्याम द्वीप, १४. सिन्दूर समुद्र-सिन्दूर द्वीप, १५. हरिताल समुद्र-हरिताल द्वीप, १६. मनः शिल समुद्र-मनःशिलद्वीप।

२. सागरों के जल का स्वाद—चार समुद्र अपने नामों के अनुसार रसवाले, तीन उदक रस अर्थात् स्वाभाविक जल के स्वाद से संयुक्त, शेष समुद्र ईख समान रस से सहित हैं। तीसरे समुद्र में मधुजल है। वारुणीवर, लवणाब्धि, घृतवर और क्षीरवर ये चार समुद्र प्रत्येक रस, तथा कालोद, पुष्करवर और स्वयम्भूरमण, ये तीन समुद्र उदकरस हैं।

२. जम्बू द्वीप के क्षेत्रों के नाम

१. जम्बू द्वीपादि महाक्षेत्रों के नाम—जम्बूद्वीप में ७ क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत् व ऐरावत।

२. विदेह क्षेत्र के ३२ व उनके प्रधान नगर :—

तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पांच और तीन; यह सब पृथ्वियों के (पृथक्-पृथक्) श्रेणी धन को निकालने के लिये गच्छ का प्रमाण है; चय सब जगह आठ ही है।

पद के वर्ग को चय से गुणा करके उसमें दुगुणे पद से गुणित मुख को जोड़ देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसमें से चय से गुणित पद प्रमाण संकलित धन को जाना चाहिये।

उदाहरण—(१३२×८)+१३×२×२९२१)—(८×१३)=८८४०÷=४४२० प्रथम पृथ्वीगत श्रेणीबद्ध दिलों का कुल प्रमाण।

पहिली पृथ्वी में चार हजार बीस; और दूसरी में दो हजार छह सौ चौरासी श्रेणीबद्ध दिल हैं ४४२०; २६८४।

तृतीय पृथ्वी में चौदह सौ छयत्तर, चौथी में सात सौ और पांचवीं में दो सौ साठ श्रेणीबद्ध दिल हैं, ऐसा जानना चाहिये। १४७६; ७००; २६०।

तमःप्रभा पृथ्वी में साठ और अन्तिम अर्थात् महातमः प्रभा पृथ्वी में चार श्रेणीबद्ध बिल हैं। इस प्रकार सात पृथ्वियों में से प्रत्येक श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण समझना चाहिये। ६०; ४।

(रत्नप्रभादिक पृथ्वियों में सम्पूर्ण श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण निकालने के लिये) आदि का प्रमाण चार चय का प्रमाण आठ और गच्छ का प्रमाण एक कम पचास होता है।

आदि ४ चय ८; गच्छ ४९।

पद का वर्ग कर उसमें से पद के प्रमाण को कम कर करके अवशिष्ट राशि को चय के प्रमाण से गुणा करना चाहिये। पश्चात् उसमें पद से गुणित आदि को मिलाकर और फिर उसका आधा कर प्राप्त राशि में मुख के छठे भाग से गुणित

१. क्षेत्र सम्बन्धी प्रमाण :—

अवस्थान	क्रम	क्षेत्र	नगरी	अवस्थान	क्रम	क्षेत्र	नगरी
	१	कच्छा	क्षेमा		१	पद्मा	अश्वपुरी
	२	सुकच्छा	क्षेमपुरी		२	सुपद्मा	सिंहपुरी
उत्तरी पूर्व	३	महाकच्छा	रिष्टा (अरिष्टा)	दक्षिण	३	महापद्मा	महापुरी
विदेह में	४	कच्छावती	अरिष्टपुरी	पश्चिम	४	पद्मकावती	विजयपुरी
पश्चिम से	५	आवर्ता	खड्गा	विदेह में		(पद्मवत्)	
पूर्व की	६	लांगलावर्ता	मंजूषा	पूर्व से	५	शंखा	अरजा
ओर	७	पुष्कला	औषध नगरी	पश्चिम	६	नलिनी	विरजा
	८	पुष्कलावती	पुण्डरीकिणी	की ओर	७	कुमुदा	शोका
		(पुष्कलावर्ती)			८	सरित	वीतशोका
	१	वत्सा	सुसीमा		१	वप्रा	विजया
	२	सुवत्सा	कुण्डला		२	सुवप्रा	वैजयन्ता
दक्षिण पूर्व	३	महावत्सा	अपराजिता	उत्तरी	३	महावप्रा	जयन्ता
विदेह में	४	वत्सकावती	प्रभंकरा	पश्चिम	४	वप्रकावती	अपराजित
पूर्व से		(वत्सवत्)	(प्रभाकरो)	विदेह में		(वप्रावत)	
पश्चिम	५	रम्या	अंका (अंकावली)	पश्चिम से	५	गधा (वल्गु)	चक्रपुरी
की ओर	६	सुरम्या (रम्यक)	पद्मावती	पूर्व की	६	सुगन्धा-सुवल्गु	खड्गपुरी
	७	रमणीया	शुभा	ओर	७	गन्धिला	अयोध्या
	८	मंगलावती	रत्नसंचया		८	गन्धमालिनी	अवध्या

पद के मिला देने पर संकलित धन का प्रमाण निकलता है।

उदाहरण—$\frac{(४९^2-४९)\times ८+(४९\times ४)}{२}+(२\times ४९)$

$\frac{२३५२\times ८+१९६}{२}+९८=९६०४$ सं. धन

रत्नप्रभादिक पृथ्वियों में सम्पूर्ण श्रेणीवद्ध विलों का प्रमाण नौ हजार छह सौ चार है ९६०४।

पद के अर्ध भाग से भाजित संकलित धन में इच्छा से गुणित चय को जोड़ कर, और उसमें से चय से गुणित एक कम इच्छा से अधिक पद को कम करके शेष को आधा करने पर आदि का प्रमाण आता है।

$\frac{(९६०४+\frac{४९}{२}+(८\times ७)-७-१\div ४९\times ८)}{२}$

$=\frac{३९२+५६०-४३०^2}{२}=४$ आदि

पद के अर्द्ध भाग से गुणित जो एक कम पद, उससे भाजित संकलित धन के प्रमाण में से, एक कम पद के अर्ध भाग से भाजित मुख को कम कर देने पर शेष चय का प्रमाण होता है।

$९६०४\div(४९-१\times\frac{४९}{२})-(४\div\frac{४९-१}{२})=\frac{९६०४}{११७६}-\frac{४}{२४}=$ चय

चय के अर्द्ध भाग से गुणित संकलित धन में चय के अर्ध भाग से रहित आदि (मुख के अन्तर रूप संख्या के वर्ग को मिला देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसका वर्गमूल निकाले। पश्चात् उसमें से पूर्व से मूल को (जिसके वर्ग को संकलित

३. जम्बू द्वीप के पर्वतों के नाम :—

१. कुलाचल आदि के नाम—

जम्बू द्वीप में छह कुलाचल हैं—हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी। सुमेरु पर्वत के अनेकों नाम है। कांचन पर्वतों का नाम कांचन पर्वत ही हैं। विजयार्ध पर्वतों के नाम प्राप्त नहीं है। शेष के नाम निम्न प्रकार हैं :—

नाभिगिरि तथा उनके रक्षक देव

नं०	क्षेत्र का नाम	पर्वतों के नाम: ति. प. ।४। १७०४, १७४५ २३३५, २३५०	पर्वतों के नाम: रा. व. ।३।१०। १७२। २१+१०।१७२।३१+१६। १८११७+१६।१८।१२३	पर्वतों के नाम: ह. पु. ।५।१६१। त्रि. सा. ।७१९	पर्वतों के नाम: ज. प. ।३।२०९	देवों के नाम: ति. प. । पूर्वोक्त रा. वा. । ह. पु. ।५।१६४ त्रि. सा. ।७१९
१	हैमवत	शब्दवान्	—	श्रद्धावान्	श्रद्धावती	स्वाती (स्वाति)
२	हरि	विजयवान्	विकृतवान्	विजयवान्	निकटावती	चारण (अरुण)
३	रम्यक	पद्म	गन्धवान्	पद्मवान्	गन्धवती	पद्म
४	हैरण्यवत्	गन्धमादन	मल्यवान्	गन्धवान्	मालवान	प्रभास

धन में जोड़ा था) घटाकर अवशिष्ट राशि में चय के अर्ध भाग का भाग देने पर पद का प्रमाण निकलता है।

$$\{\sqrt{(\frac{८}{२}\times ४४२०)+(२९२-\frac{८}{२})^{2}}-(२९२-\frac{८}{२})\}\div\frac{८}{२}=$$

$$\frac{\sqrt{१७६८०+१४४^{2}}-१४४}{४}=\frac{१९६-१४४}{४}=\frac{५२}{४}$$

=१३ प्र. पृ. का पद प्रमाण।

अथवा—दुगुणे चय से गुणित संकलित धन में चय के अर्द्ध भाग और मुख के अन्तर रूप संख्या के वर्ग को जोड़कर उसका वर्गमूल निकालने पर जो संख्या प्राप्त हो उसमें से पूर्व मूल को (जिसके वर्ग को संकलित धन में जोड़ा था) घटाकर शेष में चय का भाग देने पर विवक्षित पृथ्वी के पद का प्रमाण निकलता है।

$$\{\sqrt{(२\times ८\times ४४२०)+(२९२-\frac{८}{२})^{2}}-(२९२-\frac{८}{२})\}\div ८$$

$$=\frac{\sqrt{७०७२०+८२९४४}-२८८}{८}$$

$=\frac{१०४}{८}=$ १३ प्र. पृ. का पद प्रमाण

रत्न प्रभादिक प्रत्येक पृथ्वी के सम्पूर्ण बिलों की संख्या को रखकर उसमें से अपने अपने श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिलों की संख्या को घटा देने पर शेष उस उस पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण होता।

प्रथम पृथ्वी के समस्त बिल ३०००००० ; ३००००००—(१३+४४२०)=२९९५५६७ प्र. पृ. के प्रकी. बिल।

प्रथम पृथ्वी में उनतीस लाख पंचानवे हजार पांच सौ सड़सठ प्रकीर्णक बिल है।

२९९५५६७

द्वितीय पृथ्वी में चौबीस लाख सत्तानवें हजार तीन सौ पांच प्रकीर्णक बिल हैं।

समस्त बिल २५०००००—(२६८४+११)=२४९७३०५ द्वि. पृ. के प्रकी. बिल।

तृतीय पृथ्वी में चौदह लाख अट्ठानवें हजार पांच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक बिल हैं।

समस्त बिल १५०००००—(१४५६+९)=१४९८५३५ तृ. पृ. के प्रकी. बिल।

चतुर्थ पृथ्वी में प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण नौ लाख निन्यानवे हजार दो सौ तेरानवे है।

३—विदेह वक्षारों के नाम

अवस्थान	क्रम	ति. प.	शेष प्रमाण
उत्तरीय पूर्व विदेह के पश्चिम से पूर्व की ओर	१	चित्रकूट	—
	२	नलिनकूट	पद्मकूट
	३	पद्मकूट	नलिनकूट
	४	एक शैल	—
दक्षिण पूर्व विदेह में पूर्व से पश्चिम की ओर	५	त्रिकूट	—
	६	वैश्रवणकूट	—
	७	अंजन शैल	—
	८	आत्मांजन	—
दक्षिण उत्तर विदेह में पूर्व से पश्चिम की ओर	९	श्रद्धावान्	×
	१०	विजयवान्	×
	११	आशीर्विष	—
	१२	सुखावह	—
उत्तर अपर विदेह में पश्चिम से पूर्व की ओर	१३	चन्द्रगिरि (चन्द्रमाल)	—
	१४	सूर्यगिरि (सूर्यमाल)	—
	१५	नागगिरि (नाग माल)	—
	१६	देवमाल	+

नोट—नं० ९ पर ज. प. में श्रद्धावती। नं० १० पर रा. वा. में विकृतवान् त्रि. सा. में विजयवान् और ज. प. में विजटावती है। नं० १६ पर ह. पु. में मेघमाल है.

४—गजदन्तों के नाम

वायव्य आदि दिशाओं में क्रम से सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, व माल्यवान् ये चार हैं। मतान्तर से गन्धमादन, माल्यवान्, सोमनस व विद्युत्प्रभ ये चार हैं।

५ यमक पर्वतों के नाम

अवस्थान	क्रम	दिशा	ति. प. ।१।२०७७ २१२४ ह. पु. ।५। १९१-१९२ त्रि. सा. ।६५४-६५५	रा. वा. ।३।१०।१३। १७४, २५; १ ५। २६ ज. प. ।६। १५, १८, ८७
देवकुरु	१	पूर्व	यमकूट	चित्रकूट
	२	पश्चिम	मेघकूट	विचित्र कूट
उत्तरकुरु	३	पूर्व	चित्रकूट	यमकूट
	४	पश्चिम	विचित्र कूट	मेघकूट

६ दिग्गजेन्द्रों के नाम

देवकुरु में सीतोदा नदी के पूर्व व पश्चिम में क्रम से स्वास्तिक अंजन, भद्रशाल वन में सीतोदा के दक्षिण व उत्तर तट पर अंजन व कुमुद, उत्तरकुरु में सीता नदी के पश्चिम व पूर्व में अवतंस व रोचन, तथा पूर्वी भद्रशाल वन में सीता नदी के उत्तर व दक्षिण तट पर पद्मोत्तर व नील नामक दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं।

समस्त विल १०००००० — (७०० + ७) = ९९९२९३ च. पृ. के प्रकी. विल।

पांचवी पृथ्वी में नियम से दो लाख निन्यानवें हजार सातसौ पैंतीस प्रकीर्णक विल हैं।

समस्त विल ३०००००—(२६०+५)=२९९८३५ पं. पृ. के प्रकी. विल।

छठवीं पृथ्वी में अड़सठ कम एक लाख प्रकीर्णक विल हैं। सातवीं पृथ्वी में नियम से प्रकीर्णक विल नहीं हैं।

समस्त विल ९९९५—(६०+३)=९९९३२ ष. पृ. के प्रकी. विल।

४ जम्बूद्वीप के पर्वतीय कूट व तन्निवासी देव

१ भरत विजयार्ध—(पूर्व से पश्चिम की ओर)

ति. प.।४।१४८+१६७) ; (रा. वा. ।३।१०।४।१७२।१०) ; (ह. पु. ।५।२६) ; (त्रि. सा. ७३२—७३१) ; (ज.प. ।२।४६)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	(दक्षिणार्ध) भरत	—
३	खण्ड प्रपात	नृत्यमाल
४	मणिभद्र	—
५	विजयार्ध कुमार	—
६	पूर्णभद्र	—
७	तिमिस्त्र गुह्य	कृतमाल
८	(उत्तरार्ध) भरत	—
९	वैश्रवण	—

नोट :—त्रि. सा. में मणिभद्र के स्थान पर पूर्णभद्र और पूर्णभद्र के स्थान पर मणिभद्र हैं।

२ ऐरावत विजयार्ध—(पूर्व से पश्चिम की ओर)

(ति. प. ।४।२३६७), (ह. पु. ।५।११०—१२२), (त्रि. सा. ।७३३—७३५)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमंदिर
२	(उत्तरार्ध) ऐरावत	—
३	खण्ड प्रपात	कृतमाल
४	मणिभद्र	—
५	विजयार्ध कुमार	—
६	पूर्णभद्र	—
७	तिमिस्त्र गुह्य	नृत्यमाल
८	(दक्षिणार्ध) ऐरावत	—
९	वैश्रवण	—

नोट :—त्रि. सा. में नं० २ व ७ पर क्रम से तिमिस्र गुह व खण्डप्रपात नाम कूट व कृतमाल देव बताये हैं।

छह पृथ्वियों के सब ही प्रकीर्णक बिल मिलकर तेरासी लाख नब्बे हजार तीन सौ सैंतालीस होते हैं ८३९०३४७ सब पृ. के. प्रकी. बिल।

इन्द्रक बिलों का विस्तार संख्यात योजन, श्रेणी बद्ध बिलों का संख्यात योजन और प्रकीर्णक बिलों का विस्तार उभय मिश्र अर्थात् कुछ का संख्यात और कुछ का असंख्यात योजन है।

सम्पूर्ण बिल संख्या के पांच भागों में से एक भाग प्रमाण ($\frac{1}{5}$) बिलों का विस्तार संख्यात योजन, और शेष चार भाग प्रमाण ($\frac{4}{5}$) बिलों का विस्तार असंख्यात योजन प्रमाण है।

सर्व बिल ८४०००००, संख्यात योजन विस्तार वाले १६८००००, असं. यो. विस्तारवाले ६७२००००।

रत्न प्रभादिक पृथ्वियों में क्रमशः छह लाख, पांच लाख, तीन लाख, दो लाख, साठ हजार, एक कम बीस हजार और एक, इतने बिलों का विस्तार संख्यात योजन प्रमाण है।

संख्यात योजन प्रमाण बिल—र. प्र. ६००००० ; श. प्र. ५००००० ; वा. प्र. ३००००० ; प. प्र. २००००० ; धू. प्र. ६०००० ; त. प्र. १९९९९ ; म. त. प्र. १।

रत्नप्रभादिक सब पृथ्वियों में क्रम से चौबीस लाख, बीस लाख, बारह लाख, आठ लाख, चौबीस से गुणित सौ के वर्ग प्रमाण अर्थात् दो लाख चालीस हज़ार, चार कम अस्सी हजार, और चार इतने बिल असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं।

असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले बिल—र. प्र. २४००००० ; श. प्र. २०००००० ; १२००००० पं. प्र. ८००००० ; धू. प्र. २४०००० ; त. प्र. ७९९९६ म. त. प्र. ४।

संख्यात योजन विस्तार वाले नारकियों के बिलों में तिरछे रूप में जघन्य अन्तराल छह कोस और उत्कृष्ट अन्तराल इससे दुगुना अर्थात् बारह कोस मात्र है व अन्तराल [illegible] कोस।

३ विदेह के ३२ विजयार्ध—

(ति. प. ।४।२२६०, २३०३-२३०३)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	देवों के नाम
२	दक्षिणार्ध स्वदेश	भरत विजयार्ध
३	खण्ड प्रपात	वत् जानने
४	पूर्णभद्र	
५	विजयार्धकुमार	
६	मणिभद्र	देवों के नाम
७	तिमिस्त्रगुह्य	भरत विजयार्ध
८	(उत्तरार्ध) स्वदेश	वत जानने
९	वैश्रवण	

४ हिमवान्—

(ति. प. ।४।१६३२+६१५१), रा. वा. ।३।२१।२ ।१७२।२४), (हि. पु. ।५।५३-५५), (त्रि. सा. ।७२१), (ज. म. ।३।४०)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमदिर
२	हिमवान्	—
३	भरत	—
४	इला	इलादेवी
५	घंगा	गंगादेवी
६	श्री	श्री देवी
७	रोहितास्या	रोहितास्या देवी
८	सिन्धु	सिन्धु देवी
९	सुरा	सुरा देवी
१०	हैमवत	—
११	वैश्रवण	—

५ महाहिमवान् (पूर्व से पश्चिम की ओर) तिखप. ।४।१७२४-१७२६), (रा. वा. ।३।११।४। १८३।४), ह. पु. ।५।७१-७२) (त्रि. सा. ।७२४), (ज. प. ।३।४१)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिन मन्दिर
२	महाहिमवान्	
३	हैमवत	
४	रोहित	
५	हरि (ह्री)	
६	हरिकान्त	
७	हरिवर्प	
८	वैडूर्य	

६. निपध पर्वत—(पूर्व से पश्चिम की ओर) (ति. प. ।४।१७५८-१७६०),(रा. वा. ।३।११।६।१८३।१७), (ह. पु. ।५।८८-८९) (त्रि. सा. ।७२५), (ज. प. ।३ ४२)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायनन	जिनमंदिर
२	निपध	—
३	हरिवर्प	—
४	पूर्व विदेह	—
५	हरि (ह्री)	—
६	विजय	—
७	सीतोदा	—
८	अपर विदेह	—
९	रुचक	—

नोट :—रा. वा. व. त्रि. सा. में नं० ६ पर वृत यावृति नामक कूट व देव कहे हैं। तथा ज. प. में नं० ४, ५, ६ पर क्रम से धृति, पूर्व और हरिविजय नामक कूटदेव कहे हैं।

असंख्यात योजन विस्तार वाले नारकियों के विलों में जघन्य अन्तराल सात हजार योजन और उत्कृष्ट अन्तराल असंख्यात योजन मात्र है। ज. अन्तराल ७००० यो.।

पूर्वोक्त प्रकीर्णक विलों में से असंख्यात योजन विस्तार वाले बहुत और असंख्यात योजन विस्तारवाले विल थोड़े ही हैं। ये सब विल अहोरात्र अन्धकार से व्याप्त हैं।

७. नील पर्वत—(पूर्व से पश्चिम की ओर)

ति. प. ।४।२३२८+२३३१), (रा. वा. ।३।११।८। १८३।२४), (ह. पु. ।५।९९-१०१), (त्रि. सा. ।७२९), (ज. प. ।३।४३) ।

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमंदिर
२	नील	—
३	पूर्व विदेह	—
४	सीता	—
५	कीर्ति	—
६	नारी	—
७	अपर विदेह	—
८	रम्यक	—
९	अपदर्शन	—

नोट :—रा. वा. व त्रि. सा. में नं. ६ पर नरकान्ता नामक कूट व देव कहा है ।

८. रुक्मि पर्वत—(पूर्व से पश्चिम की ओर)

(ति. प. ।४।२३४१+२३४३), (रा. वा. ।३।११।१०। १८३।३१) (ह. पु. ।५।१०२-१०४), त्रि. सा. ।७२७), (ज. प. ।३।४४) ।

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमंदिर
२	रुक्मि [रूप्य]	—
३	रम्यक	—
४	नरकान्ता	—
५	बुद्धि	—
६	रूप्यकूला	—
७	हैरण्यवत	—
८	मणिकाचन [कांचन]	—

नोट :—रा. वा. व त्रि. सा. में नं० ४ पर नारी नामक कूट व देव रहता है ।

अपनी अपनी पृथ्वी के संख्यात योजन विस्तार वाले विलो की राशि में से इन्द्रक विलों के प्रमाण को घटा देने पर शेष संख्यात योजन विस्तार वाले प्रकीर्णक विलों का प्रमाण होता है । इसी प्रकार अपनी अपनी पृथ्वी के असंख्यात योजन विस्तार वाले विलों की संख्या श्रेणीवद्ध विलों के प्रमाण को घटा देने पर अवशिष्ट असंख्यात योजन विस्तार वाले प्रकीर्णक विलों का प्रमाण रहता है ।

प्र. पृथ्वी में सं. यो. विस्ता. विल ६०००००; असं. यो. वि. २४०००००; इन्द्रक १३, श्रे. ब. ४४२०; ६०००००—१३=५९९९८७ सं. यो. वि. प्रकी. विल, २४०००००—४४२०=२३९५५८० असं. यो वि. प्रकी. विल ।

संख्यात योजन विस्तार वाले नरक विल में नियम से संख्यात नारकी जीव, तथा असंख्यात योजन विस्तार वाले विल में असंख्यात ही नारकी जीव होते है ।

प्रथम इन्द्रक का विस्तार पैंतालीस लाख योजन और अन्तिम इन्द्रक का विस्तार एक लाख योजन है । इनमें प्रथम इन्द्रक के विस्तार में से अन्तिम इन्द्रक के विस्तार को घटाकर शेष में एक कम इन्द्रक प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना (द्वितीयादि इन्द्रकों के विस्तार को निकालने के लिये) हानि और वृद्धि का प्रमाण समझना चाहिये ।

४५०००००—१०००००÷(४९—१)=९१६६६$\frac{2}{3}$ हानि-वृद्धि ।

इस हानि-वृद्धि का प्रमाण इक्यानवें हजार छह सौ छयासठ योजन और तीन से विभक्त दो कला है ।

द्वितीयादिक इन्द्रक के विस्तार को निकालने के लिए एक कम इच्छित इन्द्रक प्रमाण से उक्त क्षय और वृद्धि के प्रमाण को गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो उसको सीमन्त इन्द्रक के विस्तार में से घटा देने पर या सर्वावधिस्थान इन्द्रक के विस्तार में मिलाने पर अभीष्ट इन्द्रक का विस्तार निकलता है ।

उदाहरण—सीमन्त और सर्वावधिस्थान की अपेक्षा २५ वें तप्त नामक इन्द्रक का विस्तार हा. वृ. ९१६६६$\frac{2}{3}$ (२४ [illegible] १)

९. शिखरी पर्वत—(पूर्व से पश्चिम की ओर)

(ति. प. ।४।२३५-२३५६+१२४३), (रा. वा. ।३।११। १२।१८४।४), (ह. पु. ।५।१०५-१०८), (त्रि. सा. ।७२८), (ज. प. ।३।४५)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमंदिर
२	शिखरी	
३	हैरण्यवत	
४	रस देवी	
५	रक्ता	रक्ता देवी
६	लक्ष्मी	लक्ष्मी देवी
७	कांचन (सुवण)	—
८	रक्तवती	रक्तावतीदेवी
९	गन्धवती (गान्धार)	गन्धवती देवी
१०	रवत (ऐरावत)	—
११	मणिकांचन	—

नोट :—रा. वा. में नं० ६,७,८,९,१०,११ पर क्रम से प्लक्षणकूला, लक्ष्मी, गन्धदेवी, ऐरावत, मणि व कांचन नामक कूट व देव देवी कहे हैं।

१०. विदेह के १६ वक्षार—

(ति. प. ।४।२३१०),(रा. वा. ।३।।१०।।१३।१७७।११) (ह. पु. ।५।२३४-२३५), (त्रि. सा. ।७४३)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमंदिर
२	स्व वक्षार का नाम	कूट सदृश नाम
३	पहले क्षेत्र का नाम	कूट सदृश नाम
४	पिछले क्षेत्र का नाम	कूट सदृश नाम

नोट :—ह. पु. में नं० ४ कूट पर दिक्कुमारी देवी का निवास बताया है।

११. सौमनस गजदन्त—(मेरु से कुलगिरि की ओर)

(ति. प. ।४।२०३१+२०४३–२०४४), (रा. वा. ।३। १०।१३।१७५।१३) (ह. पु. ।५।२२१, २२७) (त्रि. सा ।७३९)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	सौमनस	—
३	देवकुरु	—
४	मंगल	—
५	विमल	वत्समित्रा देवी
६	कांचन	सुवत्सा (सुमित्रा देवी)
७	विशिष्ट	—

(रा. वा.)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	सौमनस	—
३	देवकुरु	—
४	मंगलावत	मंगल
५	पूर्वविदेह	—
६	कनक	सुवत्सा
७	कांचन	वत्समित्रा
८	विशिष्ट	—

—२२०००००; ४५०००००—२२०००००=२३००००० सीमन्त की अपेक्षा। ९१६६६$\frac{2}{3}$ (२५—१)=२२,०००००; २२०००००+१०००००=२३००००० अवधि स्थान की अपेक्षा।

रत्न प्रभा पृथ्वी में सीमन्त इन्द्रक का विस्तार नियम से पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। (४५००००० यो.)।

निरय (नरक) नामक द्वितीय इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण चवालीस लाख तेरासी सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में से एक भाग है।

सीमंत वि. ४५०००००—९१६६६$\frac{2}{3}$=४४०८३३३$\frac{1}{3}$

रौरुक (रौरव) नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार तेतालीस लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन

१२. विद्युत्प्रभ गजदंत-(मेरु से कुलगिरि की ओर)

(ति. प. ।४।२०४४-२०४६+२०५४), (रा. वा. ।३।१०।१७५।१८) (ह. पु. ।५।२२२,२२७), त्रि. सा. ।७३६-७४०) (ति. प., ह. प. व त्रि. सा.)

(रा. वा.)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	विद्युत्प्रभ	
३	देवकुरु	
४	पद्म	
५	तपन	वारिषेणा देवी
६	स्वस्तिक	बला देवी
७	शतउज्जवल [शतज्वाल]	
८	सीतोदा	
९	हरि	

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	विद्युत्प्रभ	
३	देवकुरु	
४	पद्म	
५	विजय	वारिषेणादेवी
६	अपर विदेह	बलादेवी
७	स्वस्तिक	
८	शतज्वाल	
९	सीतोदा	
१०	हरि	

नोट :—ह. पु. में बलादेवी के स्थान पर अनन्तादेवी कहा है।

१३. गन्धमादन—(मेरु से कुलगिरि की ओर)

(ति. प. ।४।२०५३-२०५९), (रा. वा. ।३।१०।१३।१७३ २४), (ह. पु. ।५।२१७-२१७), (त्रि. सा. ।७४०-७४१)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	गन्धमादन	—
३	देवकुरु	—
४	गन्धव्यास (गन्धमालिनी)	—
५	लोहित	भोगवती
६	स्फटिक	भोगंकृत (भोगंकरा)
७	आनन्द	—

नोट :—त्रि. सा. में नं० ३ पर उत्तरकुरु कहा है और रा. वा. में लोहित के स्थान पर स्फटिक व स्फटिक के स्थान पर लोहित कहा है।

१४. माल्यवान् गजदन्त—(मेरु से कुलगिरि की ओर)

(ति. प. ।४।२०६०-२०६२), (रा. वा. ।३।१०।१३।१७३ ।३०), (ह. पु. ।५।२१९-२२०), (त्रि. सा. ।७३८)
(ति. प.; ह. पु.; त्रि. सा.)

क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	माल्यवान	—
३	उत्तरकुरु	—
४	कच्छ	—

के तीन भागों में से दो भाग मात्र जानना चाहिये।

सीमंत वि. ४४०८३३३⅓—९१६६६⅔=४३१६६६६⅔

प्रथम पृथ्वी में भ्रान्त नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार ब्यालीस लाख पच्चीस हजार योजन प्रमाण कहा गया है।

४३१६६६६⅔—९१६६६⅔=४२२५०००

उद्भ्रान्त नामक पांचवें इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण इकतालीस लाख तेतीस हजार तीन सौ तेतीस योजन और योजन के तीन भागों में से एक भाग है।

४२२५०००—९१६६६⅔=४१३३३३३⅓

सम्भ्रान्त नामक छठे इन्द्रक का विस्तार चालीस लाख इकतालीस हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है।

क्रम	कूट	देव
५	सागर	भोगवती देवी (सुभोगा)
६	रजत	भोगमालिनी देवी
७	पूर्णभद्र	—
८	सीता	सीतादेवी
९	हरिसह	—

(रा. वा.)

१	सिद्धायतन	जिनमंदिर
२	माल्यवान	—
३	उत्तरकुरु	—
४	कच्छ	—
५	विजय	—
६	सागर	भोगवती
७	रजत	भोगमालिनी
८	पूर्णभद्र	—
९	सीता	—
१०	हरि	—

५. सुमेरु पर्वत के वनों में कूटों के नाम व देव

(ति. प. ।४।१९६६-१९७७), (रा. वा ।३।१०।१३। १७९।१९), (ह. पु. ।५।३२९), (त्रि. सा. ।६२७), (ज. प. ।४।१०५)।

(ति. प.) सोमनस वन में

क्रम	कूट	देव
१	नन्दन	मेघंकरा
२	मन्दर	मेघवती
३	निषध	सुमेघा
४	हिमवान्	मेघमालिनी
५	रजत	तोयंधरा
६	रुचक	विचित्रा
७	सागरचित्र	पुष्पमाला
८	वज्र	अनिन्दिता

(शेष ग्रन्थ) नन्दन वन में

१	नन्दन	मेघंकरी
२	मन्दर	मेघवती
३	निषध	सुमेघा
४	हैमवत	मेघमालिनी
५	रजत	तोयन्धरा
६	रुचक	विचित्रा
७	सागरचित्र	पुष्पमाला
८	वज्र	आनन्दिता

नोट :—ह. पु. में सं० ४ पर हिमवत, सं० ६ पर रजत, सं० ८ पर चित्रक नाम दिये हैं। ज. प. में सं० ४ पर हिमवान्, नं० ५ पर विजय नामक कूट कहे हैं । तथा सं० ७ पर देवी का नाम मणिमालिनी कहा है।

६. जम्बूद्वीप के द्रहों व वापियों के नाम—

१ हिमवान् आदि कुलाचलों पर—

क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक व पुण्डरीक द्रह हैं। ति. प. में रुक्मि पर्वत पर महापुण्डरीक के स्थान पर पुण्डरीक तथा शिखरी पर्वत पर पुण्डरीक के स्थान पर महापुण्डरीक कहा है।

४१३३३३३$\frac{१}{३}$—९१६६६$\frac{२}{३}$=४०४१६६६$\frac{२}{३}$

प्रथम पृथ्वी में असम्भ्रान्त नामक सातवें इन्द्रक का विस्तार उनतालीस लाख पचास हजार योजन प्रमाण है।

४०४१६६६$\frac{२}{३}$—९१६६६$\frac{२}{३}$=३९५०००० ।

विभ्रान्त नामक आठवें इन्द्रक का विस्तार अड़तीस लाख अट्ठावन हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में से एक भाग प्रमाण है।

३९५००००—९१६६६$\frac{२}{३}$=३८५८३३३$\frac{१}{३}$ ।

तप्त नामक नवें इन्द्रक का विस्तार सैंतीस लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ योजन और योजन के तीन भागों में से दो भाग है।

२ सुमेरु पर्वत के वनों में—

आग्नेय दिशा को आदि करके (ति. प. ।४।१९४६, १९६२-१९६३), (रा. वा. ।३।१०।१३।१७९।२६), (ह. पु. ५।३३४-३४६), (त्रि. सा. ।६२८।६२९), (ज. प. ।४।११०-११३)।

	सौमनसवन (ति. प.)	नन्दनवन (रा. वा.)
१	उत्पलगुल्मा	—
२	नलिना	—
३	उत्पला	—
४	उत्पलोज्ज्वला	—
५	भृंगा	—
६	भृंगनिभा	—
७	कज्जला	—
८	कज्जलप्रभा	—
९	श्रीभद्रा	श्रीकान्ता
१०	श्रीकान्ता	श्रीचन्द्रा
११	श्रीमहिता	श्रीनिचया
१२	श्रीनिलया	श्रीमहिता
१३	नलिना (पद्मा)	—
१४	नलिनगुल्मा (पद्मगुल्मा)	—
१५	कुमुदा	—
१६	कुमुदप्रभा	—

नोट :—ह. पु., त्रि. सा. व. ज. प. में नन्दन वन की अपेक्षा ति. प. वाले ही नाम दिये हैं।

३ देव व उत्तरकुरु में—

(ति. प. ।२०९१, २१३६). रा. वा. ।३।१०।१३।१७४। २६+१७५।५, ६, ९, २८), (ह. पु. ।५।१६४-१९६). (त्रि. सा. ।६५६), (ज. प. ।६।२८, ८३)

सं०	देवकुरु में दक्षिण से उत्तर की ओर	उत्तरकुरु में उत्तर से दक्षिण की ओर
१	निषध	नील
२	देवकुरु	उत्तरकुरु
३	सूर	चन्द्र
४	सुलस	ऐरावत
५	विद्युत (तडित्प्रभ)	माल्यवान्

७. महाह्रदों के कूटों के नाम—

१. पद्मद्रह के तट पर ईशान आदि चार विदिशाओं में वैश्रवण, श्रीनिचय, क्षुद्रहिमवान् व ऐरावत ये तथा उत्तर दिशा में श्री संचय ये पांच कूट हैं। उसके जल में उत्तर आदि आठ दिशाओं में जिनकूट, श्रीनिचय, वैडूर्य, अंकमय, आश्चर्य, रुचक, शिखरी व उत्पल ये आठ कूट हैं। (ति. प. ।४।१६९०-१६९५)।

२. महापद्म आदि द्रहों के कूटों के नाम भी इसी प्रकार है। विशेषता यह है कि हिमवान् के स्थान पर अपने-अपने पर्वतों के नाम वाले कूट हैं (ति. प. ।४।१७३०-१७३४, १७६५ १७६६)।

८ जम्बूद्वीप की नदियों के नाम

१ भरतादि महाक्षेत्रों में—क्रम से गंगा-सिन्धु, रोहित रोहितास्या, हरित् हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा ये १४ नदियां हैं। (देखो लोक ।३।१ व लोक ।३।१०)

२ विदेह के ३२ क्षेत्रों में—गंगा सिन्धु नाम की १६ और रक्ता-रक्तोदा नाम की १६ नदियां हैं (देखो लोक ।३।१०)

२८५८३३३३⅓—९१६६६⅔=३७६६६६६⅔।

प्रथम पृथ्वी में त्रसित नामक दसवें इन्द्रक का विस्तार छत्तीसलाख पचहत्तर हजार योजन प्रमाण जानना चाहिये।

३७६६६६६⅔—९१६६६⅔ = ३६७५०००।

वक्रान्त नामक ग्यारहवें इन्द्रक का विस्तार पैंतीस लाख तेरासी हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में से एक भाग है।

३६७५०००—९१६६६⅔ = ३५८३३३३⅓।

२ विदेह क्षेत्र की १२ विभंगा नदियों के नाम

(ति. प. ।४।२२१५-२२१६), (रा. वा. ३।१०।१३।१७५।२३+१७७।७, १७, २५), ह. पु. ।५।२३६+२४३), (त्रि. सा ।६६६—६६६), (ज. प. ।८—६वाँ अधिकार) ।

अवस्थान	नं०	नदियों के नाम			
		ति. प.	रा. वा.	त्रि. सा.	ज. प.
उत्तरी पूर्व विदेह में पश्चिम से पूर्व की ओर	१	द्रहवती	ग्राहवती	गाधवती	ग्रहवती
	२	ग्राहवती	हृदयावती	द्रहवती	←
	३	पंकवती	पंकावती	पंकवती	←
दक्षिण पूर्व विदेह में पूर्व से पश्चिम की ओर	१	तप्तजला	—	—	—
	२	मतजला	—	—	—
	३	उन्मत्तजला	—	—	—
दक्षिण अपर विदेह मेंपूर्व से पश्चिम की ओर	१	क्षीरोदा	—	—	—
	२	सीतोदा			
	३	औषध वाहिनी	मीतान्तर वाहिनी	सीतो-वाहिनी	सीतो-वाहिनी
उत्तरी अपर विदेह में पश्चिम से पूर्व की ओर	१	गंभीरमालिनी	—	—	—
	२	फेनमालिनी	—	—	—
	३	ऊर्मिमालिनी	—	—	—

अवक्रान्त नामक बारहवें इन्द्रक का विस्तार चौंतीस लाख इक्यानवै हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण हैं।

३५८३३३३$\frac{1}{3}$—६१६६६$\frac{2}{3}$=३४६१६६६$\frac{2}{3}$

प्रथम पृथ्वी में विक्रान्त नामक तेहरवें इन्द्रक का विस्तार चौंतीस लाख योजन प्रमाण जानना चाहिये।

३४६१६६६$\frac{2}{3}$—६१६६६$\frac{2}{3}$=३४०००००

द्वितीय पृथ्वी में स्तन प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण तेतीस लाख आठ हजार तीन सौ तेतीस योजन और योजन के प्रति भागों में से एक भाग है।

३४०००००—६१६६६$\frac{2}{3}$=३३०८३३३$\frac{1}{3}$।

तनक नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार बत्तीस लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है।

३३०८३३३$\frac{1}{3}$—६१६६६$\frac{1}{3}$=३११६६६६$\frac{2}{3}$।

द्वितीय पृथ्वी में मन नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार इकत्तीस लाख पच्चीस हजार प्रमाण जानना चाहिये।

३२१६६६६$\frac{2}{3}$—६१६६६$\frac{2}{3}$=३१२५००० ।

द्वितीय पृथ्वी में वन नामक चतुर्थ इन्द्रक के विस्तार का

९ लवणसागर के पर्वत पाताल व तन्निवासी देवों के नाम

(ति. प. ।४।२४१०+२४६०—२४६९), ह. पु. ।५।४४२, ४४३, ४६०), (त्रि. सा. ।८९७+९०५—९०७), (ज. प. ।१०।६+३०—३३)

दिशा	सागर के अभ्यन्तर भाग की ओर		मध्यवर्ती पाताल का नाम	सागर के बाह्य भाग की ओर	
	पर्वत	देव		पर्वत	देव
पूर्व	कौस्तुभ	←	पाताल	कौस्तुभावास	
दक्षिण	उदक	शिव	कदम्ब	उदकावास	शिवदेव
पश्चिम	शंख	उदकावास	वड़वामुख	महाशंख	उदक
उत्तर	दक	लोहित (रोहित)	यूपकेशरी	दकवास	लोहितांक

नोट—त्रि. सा. में पूर्वादि दिशाओं में क्रम से वड़वामुख, कदंवक, पाताल, व यूपकेशरी नामक पाताल बताये हैं ।

प्रमाण तीस लाख तेतीस हजार तीन सौ तेतीस योजन और योजन का एक तृतीय भाग है ।

३१२५०० — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = ३०३३३३३$\frac{१}{३}$ ।

घात नामक पंचम इन्द्रक का विस्तार योजन के तीन भागों में से दो भाग सहित उनतीस लाख इकतालीस हजार छह सौ छयासठ योजन प्रमाण हैं ।

३०३३३३३$\frac{१}{३}$ — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २९४१६६६$\frac{२}{३}$ ।

द्वितीय पृथ्वी में संघात नामक छठवे इन्द्रक का विस्तार अट्ठाईस लाख पचास हजार योजन प्रमाण है ।

२९४१६६६$\frac{२}{३}$ — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २८५०००० ।

जिव्ह नामक सातवें इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण सत्ताईस लाख अट्ठावन हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ।

२८५०००० — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २७५८३३३$\frac{१}{३}$ ।

जिह्वक नामक आठवें इन्द्रक का विस्तार छब्बीस लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है ।

२७५८३३३$\frac{१}{३}$ — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २६६६६६६$\frac{२}{३}$

द्वितीय पृथ्वी में नववें लोल इन्द्रक का विस्तार पच्चीस लाख पचहत्तर हजार योजन प्रमाण है ।

२६६६६६६$\frac{२}{३}$ — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २५७५००० ।

लोलक नामक दसवें इन्द्रक का विस्तार चौबीस लाख तेरासी हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ।

२५७५००० — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २४८३३३३$\frac{१}{३}$

स्तन लोलक नामक ग्यारहवें इन्द्रक का विस्तार तेईस लाख इक्यानवे हजार छह सौ छयासठ योजन और योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है ।

२४८३३३३$\frac{१}{३}$ — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २३९१६६६$\frac{२}{३}$

तीसरी पृथ्वी में तप्त नामक प्रथम इन्द्रक का विस्तार तेईस लाख योजन प्रमाण जानना चाहिए ।

२३९१६६६$\frac{२}{३}$ — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २३००००० ।

तृतीय पृथ्वी में त्रसित नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार

१० मानुषोत्तर पर्वत के कूटों व देवों के नाम

(ति. प. ।४।२७६६+२७७६—२७७२), (र. वा. ।३।३४।६।१९७।१४), (ह. पु. ।५।६०२—६१०), (त्रि. सा. ।९४२)

दिशा	सं०	कूट	देव
पूर्व	१	वैडूर्य	यशस्वान्
	२	अश्मगर्भ	यशस्कान्त
	३	सौगन्धी	यशोधर
दक्षिण	४	रुचक	नन्द (नन्दन)
	५	लोहित	नन्दोत्तर
	६	अंजन	अशनिघोष
पश्चिम	७	अंजनमूल	सिद्धार्थ
	८	कनक	वैश्रवण (क्रमण)
	९	रजत	मानस (मानुष्य)
उत्तर	१०	स्फटिक	सुदर्शन
	११	अंक	मेघ (अमोघ)
	१२	प्रवाल	सुप्रबुद्ध
आग्नेय	१३	तपनीय	स्वाति
	१४	रत्न	वेणु
ईशान	१५	प्रभंजन	वेणुधारी
	१६	वज्र	हनुमान
वायव्य	१७	वेलम्ब	वेलम्ब
नैऋत्य	१८	सर्वरत्न	वेणुधारी (वेणुनीत)

नोट—रा. वा. व. ह. पु. में सं० १५, १७ व १८ के स्थान पर क्रम से सर्वरत्न, प्रभंजन व वलम्ब नामक कूट हैं। तथा वेणुतालि प्रभंजन व वेलम्ब ये क्रम से उनके देव हैं।

११ नन्दीश्वर द्वीप की वापियां व उनके देव पूर्वादि क्रम से

(ति. प. ।५।६३—७८), (रा. वा. ।३।३५।—१९८।१), (ह. पु. ।५।६५९—६६५), (त्रि. सा. ।९६९—९७०)

दिशा	सं०	ति. प. त्रि. सा.	रा. वा.	ह. पु.
पूर्व	१	नन्दा	—	सौधर्म
	२	नन्दवती	—	ऐशान
	३	नन्दोत्तरा	—	चमरेन्द्र
	४	नन्दिघोष	—	वैरोचन
दक्षिण	१	अरजा	विजया	वरुण
	२	विरजा	विजयन्ती	यम
	३	अशोका	जयन्ती	सोम
	४	वीतशोका	अपराजिता	वैश्रणव
पश्चिम	१	विजया	अशोका	वेणु
	२	वैजयन्ती	सुप्रबुद्धा	वेणुताल
	३	जयन्ती	कुमुदा	वरुण (धरण)
	४	अपराजिता	पुण्डरीकिणी	भूतानन्द
उत्तर	१	रम्या	प्रभंकर	वरुण
	२	रमणीय	सुमना	यम
	३	सुप्रभा	आनन्दा	सोम
	४	सर्वतोभद्रा	सुदर्शना	वैश्रवण

नोट—दक्षिण के कूटों पर सौधर्म इन्द्र के लोकपाल, तथा उत्तर के कूटों पर ऐशान इन्द्र के लोकपाल रहते हैं।

बाईस लाख आठ हजार तीन सौ तेतीस योजन और योजन का तीसरा भाग है।

२३००००० — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = २२०८३३३$\frac{१}{३}$ ।

१२ कुण्डलवर पर्वत के कूटों व देवों के नाम—

दृष्टि सं० १—(ति. प. ।५।१२२-१२५), (त्रि. सा. ।६४४-१४५),

दृष्टि सं० २—(तिख़प. ।५।१३३), (रा. वा. ।३। ३५।=१६६।१०) (ह. पु. ।५।६६०-६६४)

दिशा	कूट	देव		दिशा	कूट	देव	
		दृष्टि सं.१	दृष्टि सं. २			दृष्टि सं.१	दृष्टि सं. २
पूर्व	वज्र	स्व स्व कूट सदृश नाम	विशिष्ट (त्रिशिरा)	पश्चिम	अंक	स्व स्व कूट सदृश नाम	स्थिरहृदय
	वज्रप्रभ		पंचशिर		अंकप्रभ		महाहृदय
	कनक		महाशिर		मणि		श्री वृक्ष
	कनकप्रभ		महावाहू		मणिप्रभ		स्वास्तिक
दक्षिण	रजत		पद्म	उत्तर	रुचक		सुन्दर
	रजतप्रभ (रजताभ)		पद्मोत्तर		रुचकाभ		विशालनेत्र
	सुप्रभ		महापद्म		हिमवान		पाण्डुक
	महाप्रभ		वासुकी		मन्दर		पाण्डुर

नोट :—रा. वा. व. ह. पु. में उत्तर दिशा के कूटों का नाम क्रम से स्फटिक, स्फटिकप्रभ, हिमवान् व महेन्द्र बताया है। अन्तिम दो देवों के नामों में पाण्डुक के स्थान पर पाण्डुर और पाण्डुर के स्थान पर पाण्डुक बताया है।

तीसरी पृथ्वी में तपन नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार इक्कीस लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है।

२२०८३३३$\frac{१}{३}$—८१६६६$\frac{२}{३}$=२११६६६६$\frac{२}{३}$।

तीसरी पृथ्वी में तापन नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार बीस लाख पच्चीस हजार योजन प्रमाण है।

२११६६६६$\frac{२}{३}$—८१६६६$\frac{२}{३}$=२०२५००० ।

तृतीय वसुधा में (निदाधनामक पंचम इन्द्रक का) विस्तार उन्नीस लाख तेतीस हजार तीन सौ तेतीस योजन और योजन के तृतीय भाग प्रमाण है।

२०२५०००—८१६६६$\frac{२}{३}$=१६३३३३३$\frac{१}{३}$।

तीसरी पृथ्वी में प्रज्वलित नामक छठे इन्द्रक का विस्तार अठारह लाख इकतालीस हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है।

१६३३३३३$\frac{१}{३}$—८१६६६$\frac{२}{३}$=१८४१६६६$\frac{२}{३}$।

तृतीय वसुधा में उज्ज्वलित नामक सातवें इन्द्रक का विस्तार सत्तरह लाख पचास हजार योजन प्रमाण है।

१८४१६६६$\frac{२}{३}$—८१६६६$\frac{२}{३}$=१७५०००० ।

तृतीय भूमि में संज्वलित नामक आठवें इन्द्रक का विस्तार सोलह लाख अट्ठावन हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन का तीसरा भाग है। १७५००००—८१६६६$\frac{२}{३}$= १६५८३३३$\frac{१}{३}$।

तीसरी पृथिवी में संप्रज्वलित नामक नववें इन्द्रक का विस्तार पन्द्रह लाख छियासठ हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में दो भाग प्रमाण है।

१६५८३३३$\frac{१}{३}$—८१६६६$\frac{२}{३}$=१५६६६६६$\frac{२}{३}$।

चतुर्थ पृथ्वी में आर नामक प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण चौदह लाख पचत्तर हजार योजन है।

१४७५०००—८१६६६$\frac{२}{३}$=१३८३३३३$\frac{१}{३}$।

चतुर्थ पृथ्वी में मार नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार तेरह लाख तेरासी हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है।

१४७५०००—८१६६६$\frac{२}{३}$=१३८३३३३$\frac{१}{३}$।

१३ रुचकवर पर्वत के कूटों व देवों के नाम—

दिशा	सं०	ति. प. कूट	त्रि. सा. देवी	देवियों का काम	रा. वा., कूट	ह. पु. देवी	देवियों का काम
पूर्व	१	कनक	विजया	जन्म कल्याणक पर झारी धारण करना	वैडूर्य	विजया	जन्म कल्याणक पर झारी धारण करना
	२	कांचन	वैजयन्ती		कांचन	वैजयन्ती	
	३	तपन	जयन्ता		कनक	वैजयन्ती	
	४	स्वतिकदिशा	अपराजिता		अरिष्टा	अपराजिता	
	५	सुभद्र	नन्दा		दिक्स्वतिक	नन्दा	
	६	अंजनमूल	नन्दवती		नन्दन	नन्दोत्तरा	
	७	अंजन	नन्दोत्त		अंजन	आनन्दा	
	८	वज्र	नन्दषेणा		अंजनमूल	नन्दिवर्धना	
दक्षिण	१	स्फटिक	इच्छा	जन्म कल्याणक पर दर्पण धारण करना	अमोघ	सुस्थिता	दर्पण धारण करना
	२	रजत	समाहार		सुप्रवुद्ध	सुप्रणिधि	
	३	कुमुद	सुप्तकीर्णा		मन्दिर	सुप्रवुद्धा	
	४	नलिन	यशोधरा		विमल	यशोधरा	
	५	पद्म	लक्ष्मी		रुचक	लक्ष्मीवती	
	६	चन्द्र	शेषवती		रुचकोत्तर	कीर्तिमती	
	७	वैश्रवण	चित्रगुप्ता		चन्द्र	वसुन्धरा	
	८	वैडूर्य	वसुन्धरा		सुप्रतिष्ठ	चित्रा	
पश्चिम	१	अमोघ	इला	जन्म कल्याणक पर छत्र धारण	लोहिताक्ष	इला	जन्म कल्याणक पर छत्र धारण
	२	स्वस्तिक	सुरादेवी		जगत्कुसुम	सुरा	
	३	मन्दर	पृथिवी		पद्म	पृथिवी	
	४	हैमवत्	पद्मा		नलिन (पद्म)	पद्मावती	
	५	राज्य	एकनासा		कुमुद	कानना कांचना	
	६	राज्योत्तम	नवमी		सौमनस	नवमिका	

दिशा	सं०	ति. प. कूट	त्रि. सा. देवी	देवियों का काम	ति. प. कूट	त्रि. सा. देवी	देवियों का काम
	७	चन्द्र	सीता	करना	यश	यशस्वी (सीता)	करना
	८	सुदर्शन	भद्रा		भद्र	भद्रा	
उत्तर	१	विजय	अलंभूषा	जन्म कल्याणक पर चंवर धारण करना	स्फटिक	अलंभूषा	जन्म कल्याणक पर चंवर धारण करना
	२	वैजयन्त	मिश्रकेशी		अंक	मिश्रकेशी	
	३	जयन्त	पुण्डरीकिणी		अंजन	पुण्डरीकणी	
	४	अपराजित	वारुणी		कांचन	वारुणी	
	५	कुण्डलक	आशा		रजत	आशा	
	६	रुचक	सत्या		कुण्डल	ह्री	
	७	रत्नकूट	ह्री		रुचिर (रुचक)	श्री	
	८	सर्वरत्न	श्री		सुदर्शन	घृति	

दिशा	सं०	ति. प. कूट	त्रि. सा. देवी	देवियों का काम	ति. प. कूट	त्रि. सा. देवी	देवियों का काम
उपरोक्त की अभ्यन्तर दिशाओं में	१	विमल	कनका	दिशाएं निर्मल करना	×	×	
	२	नित्यालोक	शतपद (शतहृदा)				
	३	स्वयंप्रभ	कनक चित्रा				
	४	नित्योद्योत	सौदामिनी				
उपरोक्त की अभ्यन्तर दिशाओं में	१	रुचक	रुचककीर्ति	जात कर्म करना			
	२	मणि	रुचककान्ता				
	३	राज्योत्तम	रुचकप्रभा				
	४	वैडूर्य	रुचका				

चतुर्थ पृथ्वी में तार नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार बारह लाख इक्यानवै हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है।

$१३८३३३३\frac{१}{३} — ९१६६६\frac{२}{३} = १२९१६६६\frac{२}{३}$ ।

सर्वज्ञदेव ने चतुर्थ पृथ्वी में तत्व (चर्चा) नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार बारह लाख योजन-प्रमाण बतलाया है।

$१२९१६६६\frac{२}{३} — ९१६६६\frac{२}{३} = १२०००००$ ।

चतुर्थ पृथ्वी में तमक नामक पंचम इन्द्रक का विस्तार

२ दृष्टि सं० २ की अपेक्षा

(ति. प. ।५।१६६—१७७), (रा. वा. ।३।३५।—१६६।२४), (ह. पु. ।५।७०२—७२७)।

दिशा	सं०	(ति. प.) कूट	(ति. प.) देवी	देवी का काम	रा. वा. कूट	ह. पु. देवी	देवी का काम
चारों दिशाओं में	१	नन्द्यावर्त	पद्मोतर	दिग्गजेन्द्र	—	—	
	२	स्वस्तिक	सुभद्र		—	सहस्ती	
	३	श्रीवृक्ष	नील		—	—	
	४	वर्धमान	अंजनगिरि		—	—	
अभ्यन्तर दिशा में ३२ दे० पूर्वोक्त दृष्टि सं० १ में प्रत्येक दिशा के आठ कूट							
विदिशा में प्रदक्षिणा रूप से	१	वैडूर्य	रुचका	दिशाओं में उद्योत करना जातकर्म करने वाली महत्त	—	—	दिशाओं में उद्योत करना जातकर्म करने वाली महत्तरिका
	२	मणिप्रभ	विजया		रत्न	विजया	
	३	रुचक	रुचकामा		—	—	
	४	रत्नप्रभ	वैजयन्ती		—	—	
	५	रत्न	रुचकान्ता		मणिप्रभ	रुचककान्ता	
	६	शंखरत्न	जयन्ती		सर्वरत्न	जयन्ती	
	७	रुचकोत्तम	रुचकोत्तमा		—	रुचकप्रभा	
	८	रत्नोच्चय	अपराजिता		—	—	
उपराक्त के अभ्यन्तर भाग में चारों दिशाओं में	१	विमल	कनका		—	चित्रा	
	२	नित्यालोक	शतपद (शतहृदा)		—	कनकचित्रा	
	३	स्वयंप्रभ	कनकचित्रा		—	त्रिशिरा	
	४	नित्योद्योत	सौदामिनी		—	सूत्रमणि	

ग्यारह लाख आठ हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है।

१२००००० — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = ११०८३३३$\frac{१}{३}$ ।

चतुर्थ भूमि में वाद नामक छठे इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण दश लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है।

११०८३३३$\frac{१}{३}$ — ९१६६६$\frac{२}{३}$ = १०१६६६६$\frac{२}{३}$ ।

चौथी पृथ्वी में खलखल (खडखड) नामक सातवें इन्द्रक

१४. पर्वतों आदि के वर्ण :—

सं०	नाम	प्रमाण					वर्ण	
		ति. प.।४। गा. स.	रा वा. ।३। सू. । वा. ।पृ.।पंक्ति	ह.पु. ।५। श्लो.स.	त्रि.सा. गा. सं०	ज. प. । अधि।गा.	उपमा	वर्ण
१	हिमवान्	९५	१२।-।१८४।११ त. सू. ।३।१२	×	५६६	३।३	सुवर्ण	पीत (रा. वा.)
२	महाहिमवात	"	"	×	×	"	चांदी	शुक्ल (रा. वा.)
३	निषध	"	"	×	"	"	तपनीय	तरुणादित्य (रक्त)
४	नील	"	"	×	"	"	वैडूर्य	मयूरग्रीव(रा.वा.)
५	रुक्मि	"	"	×	"	"	रजत	शुक्ल
६	शिखरी	"	"	×	"	"	सुवर्ण	पीत (रा. वा.)
७	विजयार्घ	१०७	१०।४।१७१।१५	२१	×	२।३२	रजत	शुक्ल
८	विजयार्घ के कूट	×	×	×	६७०	×	सुवण	पीत
९	सुमेरु :—		दे० लोक ।३।५					
	पाण्डुकशिला	१८२०	१०।१३।१८०।१८	३४७	६३३	४।१३	अर्जुन सुवर्ण	श्वेत
	पाण्डुकम्बला	१८३०	"	"	"	"	रजत	विद्रुम (श्वेत)
	रक्तकम्बला	१८३४	"	"	"	"	रुधिर	लाल
	अतिरक्त	१८३२	"	"	"	"	सुवर्ण तपनीय	रक्त
१०	नाभिगिरि	×	×	×	७१९	×	दधि	श्वेत
	मतान्तर	×	×	×	×	३।११०	सुवर्ण	पीत
११	वृषभगिरि	२२९०	×	×	७१०	×	"	"
१२	गजदन्त :—							
	सौमनस	२०१६	१०।१३।१७४।११	२१२	६६३	×	चांदी	स्फटिक(रा.वा.)
	विद्युत्प्रभ	"	१०।१३।१७५।१७	"	"	×	तपनीय	रक्त
	गन्धमादन	"	१०।१३।१७३।१६	२१०		×	कनक	पीत

	माल्यवान्	”	१०।१३।१७३।२६	२११		×	वैडूर्य	(नीला)
१३	कांचन	×	१०।१३।१७५।११	२०२		×	कांचन	पीत
	मतान्तर	×	×	×	६५६	×	तोता	हरा
१४	वक्षार	×	×	×	६७०		सुवर्ण	पीत
१५	वृषभगिरि	२२६०	×	×	७१०		”	पीत
१६	गंगाकुंड में							
	शैल	२२१	×	×	×	×	वज्र	श्वेत
	गंगाकूट	२२३	×	×	×	×	सुवर्ण	पीत
१७	पद्मद्रह का कमल:-							
	मृणाल	१६६७	१७१—१८५।६	×	×	×	रजत	श्वेत
	कन्द	”	”	×	×	×	अरिष्टमणि	ब्राउन
	नाल	१६६७	१७१—१८५।६		५७०	३।७५	वैडूर्य	नील
	पत्ते	”	२२।२।१८८।३	×	×	×	लोहिताक्ष	रक्त
	कर्णिका		”	×	×	×	अर्कमणि	केशर
	केसर	×	”	×	×	×	तपनीय	रक्त
१८	जम्बूवृक्षस्थल—							
	सामान्य स्थल	२१५२	×	१७५	×	×	सुवर्ण	पीत
	इसकी वापियों के कूट	×	१०।१३।१७४।२२		×	×	अर्जुन	श्वेत
	स्कन्ध	२१५५	×	×	×	×	पुखराज	पीत
	पीठ	२१५२	×	×	×	×	रजत	श्वेत
१९	वेदियाँ :—							
	जम्बूद्वीप की जगती	१६	×		×	×	सुवर्ण	पीत
	भद्रशालवन (वेदी)	२११४	१०।१३।१७८।५	×		×		पद्मवर (रा. वा.)
	नन्दनवन वेदी	१९८९	१०।१३।१७९।६	×	×	×		
	सौमनसवन (वेदी)	१९३८	१०।१३।१८०।२	×	×	×	सुवर्ण	
	पाण्डुकवन वेदी		१०।१३।१८०।१२					

	जम्बूवृक्ष की १२	२१५१	७।१।१६६।२० तथा	६४१	—	—		
	वेदियां		१०।१२।१७४।१७	×	—	—		
	सर्व वेदियाँ	×	×		६७१	११५२, ६४	सुवर्ण	पीत
२०	नदियों का जल-							
	गंगा-सिन्धु				३।१६६		हिम	श्वेत
	रोहित रोहितास्या				"		कुंदपुष्प	
	हरित हरिकान्ता				"		मृणाल	हरित
	सीता-सीतोदा				"		शंख	श्वेत
२१	लवणसागरकेपर्वत	२४६१	×	४६०	६०८		रजत	धवल
	पूर्व दिशा वाले	×	×	—	—	१०।३०	सुवर्ण	पीत
	दक्षिण दिशा वाले	×	×	—	—	१०।३१	अंकरत्न	
	पश्चिम दिशा वाले	×	×	—	—	१०।३२	रजत	श्वेत
	उत्तर दिशा वाले	×	×	—	—	१०।३३	वैडूर्य	नील
२२	इष्वाकार	×	×		६२५	—	सुर्वण	पीत
२३	मानुषोत्तर	२७५१	×	५६५	६२७			
२४	अंनजगिरि	५७	×	६५४	६६८	—	इन्द्रनील मणि	काला
२५	दधिमुग्व	६५	×	६६६	—	—	दही	सफेद
२६	रतिकर	६७	×	६७३	—	—	सुवर्ण	रक्तातायुक्त पीत
२७	कुण्डलगिरी		×	६४३	—	—	"	"
२८	रुचकवर पर्वत	१४१	३।३५।—१६६।२२	६४३	—	—	"	"

का विस्तार नौ लाख पच्चीस हजार योजन प्रमाण है।

१०१६६६६६⅔—६१६६६६⅔=९२५०००।

पांचवीं पृथ्वी में तम नामक प्रथम इन्द्रक का विस्तार आठ लाख तेतीस हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है।

९२५०००—९१६६६⅔=८३३३३३⅓।

पांचवीं पृथ्वी में भ्रम नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार सात लाख इकतालीस हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है।

८३३३३३⅓—९१६६६⅔=७४१६६६⅔।

धूमप्रभा पृथ्वी में झष नामक तृतीय इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण छह लाख पचास हजार योजन है।

७४१६६६⅔—९१६६६⅔=६५००००।

पांचवी पृथ्वी में अंध नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार पांच

६. द्वीप क्षत्र पर्वत आदि का विस्तार

१. द्वीप सागरों का सामान्य विस्तार—

१. जम्बूद्वीप का विस्तार, १००,००० योजन है। तत्पश्चात् सभी समुद्र व द्वीप उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्रारयुक्त हैं। (त. सू. ।३।८।) (ति. प. ।५।३२)

२. लवणसागर व उनके पातालादि—

१. सागर

दृष्टि सं० १—(ति. प. ।४।२४००-२४०७), (रा. वा. ।३।३२।३।१९३।८), (ह. पु. ।४।४४) (त्रि. सा. ।९१५), (ज. प. ।१०।१२)

सं	स्थल विशेष	विस्तारादि में क्या	प्रमाण यो.
१	पृथिवी तल पर	विस्तार	२००,०००
२	किनारों से ९५००० योजन भीतर जाने पर तल में	"	१०,०००
३	" " " " " आकाश में	"	१०.०००
४	" " " " "	गहराई	१,०००
५	" " " " " आकाश में	ऊंचाई	७००
	दृष्टि सं० २—		
६	लोग्गायणी के अनुसार उपरोक्त प्रकार आकाश में अवस्थित (ति. प. ।४।२४४५), (ह. पु. ।५।४३४)	"	११,०००
	दृष्टि सं० ३—		
७	सग्गायणी के अनुसार उपरोक्त प्रकार आकाश में अवस्थित, (ति. प. ।४।२४४८)	"	१०,०००
८	तीनों दृष्टियों से उपरोक्त प्रकार आकाश में पूर्णिमा के दिन	ऊंचाई	दे० लोक ।४।१

लाख अट्ठावन हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है।

६५००००—९१६६६$\frac{2}{3}$=५५८३३२$\frac{1}{3}$।

पांचवीं पृथ्वी में तिमिश्र नामक पांचवें इन्द्रक का विस्तार चार लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है।

५५८३३३$\frac{1}{3}$—९१६६६$\frac{2}{3}$=४६६६६६$\frac{2}{3}$।

छठी पृथ्वी में हिम नामक प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण तीन लाख पचहत्तर हजार योजन है।

४६६६६६$\frac{2}{3}$—९१६६६$\frac{2}{3}$=३७५०००।

२. पाताल

पाताल विशेष	विस्तार यो.			गहराई	दीवारों की मोटाई	ति. प. ।४ गा.	रा. वा. ।३।३२।४।१३३। प.	ह. पु. ।५। गा.	त्रि. सा. । सा.	ज. प. ।१० ।गा.
	मूल में	मध्य में	ऊपर							
ज्येष्ठ	१००,०००	१०,०००	१०,०००	१००,०००	५००	२४१२	१४	४४४	८१६	५
मध्यम	१,०००	१०,०००	१,०००	१०,०००	५०	२४१४	२६	४५१	"	१३
जघन्य	१००	१,०००	१००	१,०००	५	२४३३	३१	४५६	"	१४

३. पर्वत व द्वीप

नाम	विशेष	विस्तार	ऊंचाई	ति. प. ।४। गा. नं०	त्रि. सा. । गा. नं०	ज. प. ।१० गा. नं०
पर्वत	सागर के विस्तार की दिशा में	११६०००	१०००	२४५८	९०८	२८
गौतम द्वीप	गोलाई का व्यास	१२०००	१२०००	`	९१०	४०
		विस्तार				
		दृष्टि सं० १	दृष्टि नं० २			
कुमानुष द्वीप	दिशाओं वाले	१००	१००	दे० लोक ।४।१		
	विदिशा वाले	५५	५०			
	अन्तर दिशा वाले	५०	१००			
	पर्वत के पास वाले	२५	२५			

छठी पृथ्वी में वर्दल नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार दो लाख तेरासी हजार तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है।

३७५०००—९१६६६$\frac{2}{3}$=२८३३३३$\frac{1}{3}$।

छठी पृथ्वी में लल्लंक नामक, तृतीय इन्द्रक का विस्तार एक लाख इक्यानवें हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है।

२८३३३३$\frac{1}{3}$—९१६६६$\frac{2}{3}$=१९१६६६$\frac{2}{3}$।

सातवीं पृथ्वी में अवधिस्थान नामक इन्द्रक का विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है। इस प्रकार जिनेन्द्र देव के वचनों

३. अढ़ाई द्वीप के क्षेत्रों का विस्तार—१ जम्बूद्वीप के क्षेत्र

नाम	विस्तार (योजन)	जीवा			प्रमाण			
		दक्षिण	उत्तर (योजन)	पार्श्व भुजा (योजन)	ति. प. ।४। गा. नं०	ह. पु. ।५। गा.	त्रि. सा.। गा.	ज. प. प्र. ।गा.
भरत सामान्य	५२६ ६/१९		१४८७१ ५/१९	धनुषपृष्ठ १४५२८ ११/१९	१०५+ १९२	१८+४०	६०४+ ७७१	२।१०
दक्षिण भरत	२३८ ३/१९		९७४८ १२/१९	धनुषपृष्ठ ९७६६ १/१९	१८४			
उत्तर भरत	,,		१४४७१ ५/१९	१८१२ १५/३८	१९१			
हैमवत्	२१०५ ५/१९		३७६७४ १६/१९	६७५५ ३/१९	१६९८	५७	७७३	
हरिवर्ष	८४२१ १/१९		७३९०१ १७/१९	१३३६१ १३/१८	१७३९	७४	७७५	३।२२९
विदेह	३३६८४ ४/१९	अपने-अपने पर्वतों की उत्तर जीवा	मध्य में १००,००० उत्तर व दक्षिण में पर्वतों की जीवा	३३७६७ ७/१९	१७७५	९१	६०५+ ७७७	७।३
रम्यक	×		हरिवर्षवत्	×	२३३५	९७	७७८	२।२०८
हैरण्यवत	×		हैमवतवत्	×	२३५०	,,	,,	,,
ऐरावत	×		भरतवत्	×	२३६५	,,	,,	,,
देवकुरु व उत्तर कुरु								
दृष्टि सं० १	११५९२ २/१९		५३०००	६०४१८ १२/१९	२१४०			
दृष्टि सं० २	,,		५८०००	(धनुपपृष्ठ)	२१२९			
दृष्टि सं० ३	११८४२ २/१९		५३०००	६०४१८ १२/१९ (धनुपपृष्ठ)		१९८	×	६।२

३२ विदेह	पूर्वा पर २२१२$\frac{७}{८}$		दक्षिण उत्तर १६५९२$\frac{२}{१९}$ (रा. वा. ।३।१० ।१३।१७६।१८)	(रा. वा. ३।१०। ।१३।१७४।३)	२२१७+ २२३१	२५३	६०५	७।११ +२०

२. धातकी खण्ड के क्षेत्र–

नाम	उत्सेध	विस्तार			प्रमाण
		अभ्यन्तर (योजन)	मध्यम (योजन)	वाह्य (योजन)	
भरत	द्वीप के विस्तारवत्	६६१४$\frac{१२९}{२१२}$	१२५८१$\frac{३६}{२१२}$	१८५४७$\frac{१५५}{२१२}$	(ति. प. ।४।२५६२-२५७७), (रा. वा. ।३।३३।२-७।१९३।२८), (ह. पु. ।५। ५०२-५०४), (त्रि. सा. ।९३६), (ज. प. ।११।६-१७)
हैमवत		२६४५८$\frac{१२}{२१२}$	५०३२८$\frac{१४४}{२१२}$	७४१९०$\frac{१६६}{२१२}$	
हरिवर्ष		१०५८३३$\frac{१५६}{२१२}$	२०१२९८$\frac{१५३}{२१२}$	२९६७६३$\frac{१४८}{२१२}$	
विदेह		४२३३३४$\frac{२००}{२१२}$	८०५१९४$\frac{१८४}{२१२}$	११८७०५४$\frac{१६८}{२१२}$	
रम्यक			हरिवर्षवत्		
हैरण्यवत्			हैमवतवत्		
ऐरावत			भरतवत्		

नाम	वाण	जीवा	धनुषपृष्ठ	ति. प. ।४ गा.	ह. पु. ।५।श्लो
दोनों कुरु	३६६६८०	२२३१५८	६२५४८६	२५६३	५३५

से उपदिष्ट त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में इन्द्रक बिलो का विस्तार कहा गया है।

१६१६६६$\frac{२}{३}$--६११६६६$\frac{२}{३}$=१००००० ।

एक अधिक पृथ्वी संख्या को तीन, चार और सात से गुणा करके छह का भाग देने पर जो लब्ध आवे इतने कोस प्रमाण क्रमशः इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का वाहल्य होता है।

रा. प्र. पृथ्वी के इं. बिलो का वाहल्य १ + १ × ३ ÷ ६ = १ कोस श. प्र पृ. के इं. का वाहल्य २ + १ × ३ ÷ ६ = $\frac{३}{२}$ कोस वा. प्र. पृ. के इं. का वाहल्य ३ + १ × ३ ÷ ६ = २ कोस इसी

नाम	पूर्व पश्चिम विस्तार	दक्षिण उत्तर लम्बाई (योजन)			ति. प. ।४। गा.
		आदि	मध्यम	अन्तिम	
दोनों वाह्य विदेहों के क्षेत्र—(ति. प. ।४। गा. सं.), (ह. पु. ।५।५४८—५४९), (त्रि. सा. ।६३१—६३३)					
कच्छा-गन्धमालिनी	प्रत्येक क्षेत्र—९७०२ $\frac{७}{८}$ योजन (ति. प. ।४।२३०७)	५०९५७० $\frac{२}{२}\frac{०}{१}\frac{०}{२}$	५१४१५४ $\frac{२}{२}\frac{०}{१}\frac{०}{२}$	५१८७३८ $\frac{२}{२}\frac{०}{१}\frac{०}{२}$	२६२२
सुकच्छा-गन्धिला		५१९९६३ $\frac{१}{२}\frac{०}{१}\frac{८}{२}$	५२४२७७ $\frac{१}{२}\frac{०}{१}\frac{८}{२}$	५२८८६१ $\frac{१}{२}\frac{०}{१}\frac{८}{२}$	२६३४
महाकच्छा सुगंधा		५२९१००	५३३६८४	५३८२६८	२६३८
कच्छाकावती-गन्धा		५३९२२२ $\frac{१}{२}\frac{२}{१}\frac{०}{२}$	५४३८०६ $\frac{१}{२}\frac{२}{१}\frac{०}{२}$	५४८३९० $\frac{१}{२}\frac{२}{१}\frac{०}{२}$	२६४२
आवर्ता-वप्रकावती		५४८६२९ $\frac{}{२}\frac{१}{१}\frac{२}{२}$	५५३२१३ $\frac{}{२}\frac{१}{१}\frac{२}{२}$	५५७७९७ $\frac{}{२}\frac{१}{१}\frac{२}{२}$	२६४६
लांगलावती-महावप्रा		५५८७५१ $\frac{१}{२}\frac{३}{१}\frac{२}{२}$	५६३ ३५ $\frac{१}{२}\frac{३}{१}\frac{२}{२}$	५६७९१९ $\frac{१}{२}\frac{३}{१}\frac{२}{२}$	२६५०
पुष्कला-सुवप्रा		५६८१५८ $\frac{}{२}\frac{२}{१}\frac{४}{२}$	५७२७४२ $\frac{}{२}\frac{२}{१}\frac{४}{२}$	५७७३२६ $\frac{}{२}\frac{२}{१}\frac{४}{२}$	३६५६
वप्रा-पुष्कलावती		५७८२८० $\frac{१}{२}\frac{४}{१}\frac{४}{२}$	५८२८६४ $\frac{१}{२}\frac{४}{१}\frac{४}{२}$	५८७४४८ $\frac{१}{२}\frac{४}{१}\frac{४}{२}$	२६५८
दोनों अभ्यन्तर विदेहों के क्षेत्र—(ति. प. ।४। गा. सं.), (ह. पु. ।५।५५५), (त्रि. सा. ।६३१—६३३)					
पद्मा-मंगलावती	प्रत्येक क्षेत्र ९७०२ $\frac{७}{८}$ (ति. प. ।४।२३०७)	२९४६२३ $\frac{१}{२}\frac{६}{१}\frac{६}{२}$	२९००३९ $\frac{१}{२}\frac{६}{१}\frac{६}{२}$	२८५४५५ $\frac{१}{२}\frac{६}{१}\frac{६}{२}$	२६७०
सुपद्मा-रमणीया		२८४५०१ $\frac{}{२}\frac{७}{१}\frac{८}{२}$	२७९९१७ $\frac{}{२}\frac{७}{१}\frac{८}{२}$	२७५३३३ $\frac{}{२}\frac{७}{१}\frac{८}{२}$	२६७४
महापद्मा-सुरम्या		२७५०९४ $\frac{१}{२}\frac{८}{१}\frac{४}{२}$	२७०५१० $\frac{१}{२}\frac{८}{१}\frac{४}{२}$	२६५९२६ $\frac{१}{२}\frac{८}{१}\frac{४}{२}$	२६७८
पद्मवावती-रम्या		२६४९७२ $\frac{}{२}\frac{६}{१}\frac{४}{२}$	२६०३८८ $\frac{}{२}\frac{६}{१}\frac{४}{२}$	२५५८०४ $\frac{}{२}\frac{६}{१}\frac{४}{२}$	२६८२
शंखा-वत्सकावती		२५५५६५ $\frac{१}{२}\frac{७}{१}\frac{२}{२}$	२५०९८१ $\frac{१}{२}\frac{७}{१}\frac{२}{२}$	२४६३९७ $\frac{१}{२}\frac{७}{१}\frac{२}{२}$	२६८६
नलिना-महावत्स		२४५४४३ $\frac{}{२}\frac{४}{१}\frac{२}{२}$	२४०८५९ $\frac{}{२}\frac{४}{१}\frac{२}{२}$	२३६२७५ $\frac{}{२}\frac{४}{१}\frac{२}{२}$	२६९०
कुमुदा-सुवत्सा		२३६०३६ $\frac{१}{२}\frac{६}{१}\frac{०}{२}$	२३१४५२ $\frac{१}{२}\frac{६}{१}\frac{०}{२}$	२२६८६८ $\frac{१}{२}\frac{६}{१}\frac{०}{२}$	२६९४
सरिता-वत्सा		२२५९१४ $\frac{}{२}\frac{४}{१}\frac{०}{२}$	२२१३३० $\frac{}{२}\frac{४}{१}\frac{०}{२}$	२१६७४६ $\frac{}{२}\frac{४}{१}\frac{०}{२}$	२६९८

प्रकार पंक प्रभादि पृथ्वीओं के इन्द्रक का वाहल्य क्रमशः $\frac{५}{३}$, ३ और ४ कोस होता है।

र. प्र. पृथ्वी के इं. विलो का वाहल्य—१ १ ३ ६ १ कोस। श. प्र. पृ. के इं. का वाहल्य—२ १ ३ ६ $\frac{३}{२}$ कोस। वा. प्र. पृ. इं. का वाहल्य—३ १ ३ ६ २ कोस। इसी प्रकार पंकप्रभादि पृथ्वियों के इन्द्रकों का वाहल्य क्रमशः $\frac{५}{३}$ और ४ कोस होता है।

रा. प्र. पृ. श्रे. विलो का वाहल्य—१ १ ४ ६ $\frac{४}{३}$ को। श.

३. पुष्करार्ध के क्षेत्र

नाम	लम्बाई	विस्तार			प्रमाण
		अभ्यन्तर (यो०)	मध्यम (यो०)	बाह्य (यो०)	
भरत	द्वीप के विस्तार वत्	४१५७९ $\frac{१७३}{२१२}$	५३५१२ $\frac{१९९}{२१२}$	६५४४६ $\frac{१३}{२१२}$	(ति. प. ४।२८०५—२८१७) (रा. वा. ३।३४।२—४।१९६।२९) (ह. पु. ५।५८०—५८६), (त्रि. सा. ९३९) (ज. प. ११।६७—७२)
हैमवत		१६६३१९ $\frac{५५}{२१२}$	२१४०५१ $\frac{१६०}{२१२}$	२६१७८४ $\frac{५२}{२१२}$	
हरि		६६५२७७ $\frac{१२}{२१२}$	८५६२०७ $\frac{४}{२१२}$	१०४७१३६ $\frac{१०८}{२१२}$	
विदेह		२६६११०८ $\frac{४८}{२१२}$	३४२४८२८ $\frac{१६}{२१२}$	४१८८५४७ $\frac{१६८}{२१२}$	
रम्यक		६६५२७७ $\frac{१२}{२१२}$	५३५१२ $\frac{१९९}{२१२}$.	६५४४६ $\frac{१३}{२१२}$	
हैरण्यवत्		१६६३१९ $\frac{५५}{२१२}$	२१४०५१ $\frac{१६०}{२१२}$	२६१७८४ $\frac{५२}{२१२}$	
ऐरावत		४१५७९ $\frac{१५३}{२१२}$	८५६२०७ $\frac{४}{२१२}$	१०४७१३६ $\frac{१०८}{२१२}$	

नाम	वाण	जीवा	धनुपपृष्ठ	प्रमाण
दोनों कुरु	१४८६९३१	४३६६१६	३६६८३३५	उपरोक्त

प्र. पृ. श्रे. विलोंका वाहल्य—२ १ ४ ६ २ को.। वा. प्र. पृ. श्रे. विलो का वाहल्य—३ १ ४ ६ $\frac{८}{३}$ को इसी प्रकार पंकप्रभादि पृथ्वियों के श्रेणीवद्ध विलों का वाहल्य क्रमहः $\frac{१०}{३}$ ४, $\frac{१४}{३}$ और $\frac{१६}{३}$ कोस होता है।

र. प्र. पृ. प्रकी. विलों का वाहल्य—१ १ ७ ६ $\frac{७}{३}$ $\frac{७}{३}$ को.। श. प्र. पृ. प्रकी. विलों का वाहल्य—२ १ ७ ६ $\frac{७}{२}$ को. वा. प्र. पृ. प्रकी. विलों का वाहल्य—३ १ ७ ६ $\frac{१४}{३}$ को.। इसी प्रकार पंकप्रभादि पृथ्वियों के प्रकीर्णक विलों का वाहल्य क्रमशः $\frac{३५}{६}$ ७ और $\frac{४९}{६}$ और $\frac{२८}{३}$ कोस होता है।

अथवा—यहां आदि का प्रमाण क्रम से छह, आठ और चौदह है। इसमें दूसरी पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी पर्यन्त उत्तरोत्तर इसी आदि के अर्ध भाग को जोड़कर प्राप्त संख्या में छह का भाग देने पर क्रमशः विवक्षित पृथ्वी के इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक विलोंका वाहल्य निकल आता है।

र. प्र. पृ. इन्द्रकों का वाहल्य—६ ६ = १ कोस। श. प्र. पृ. इन्द्रकों का वाहल्य—६ $\frac{३}{२}$ ६ $\frac{३}{२}$ को.। वा. प्र. पृ. इन्द्रकों का वाहल्य—९ $\frac{३}{२}$ ६ २ को। इसी प्रकार पंकप्रभादि पृथ्वियों के इन्द्रकों का वाहल्य क्रमशः $\frac{५}{२}$, ३, $\frac{७}{२}$ और ४ कोस होता है।

र. प्र. पृ. श्रे. विलों का वाहल्य—८ ६ $\frac{४}{३}$ को. श. प्र. पृ. श्रे. विलों का वाहल्य—८ $\frac{४}{२}$ २ कोस। वा. प्र. पृ. श्रे. विलों का वाहल्य—१२ $\frac{४}{२}$ ६ $\frac{८}{३}$ को.। इसी प्रकार पंकप्रभादि पृथ्वियों के श्रेणीवद्धों का वाहल्य क्रमशः $\frac{१०}{३}$, ४, $\frac{१४}{३}$ और $\frac{१६}{३}$ कोस होता है।

नाम	पूर्व पश्चिम विस्तार	दक्षिण उत्तर लम्बाई			ति. प. ।४। गा.
		आदिन	मध्यम	अन्तिम	
दोनों वाह्य विदेहों के क्षेत्र—		(ति.प.।४।गा. नं०),	(त्रि.सा.।९३१-९३३)		
कच्छा-गन्धमालिनी		१९२१८७४ $\frac{५६}{२१२}$	१९३१३२२ $\frac{११२}{२१२}$	१९४०७७० $\frac{१६८}{२१२}$	२९३७
सुकच्छा-गन्धिला		१९४२६७९ $\frac{१६६}{२१२}$	१९५२१२८ $\frac{४०}{२१२}$	१९६१५७६ $\frac{६६}{२१२}$	२८४८
महाकच्छा-सुवल्गु		१९६२०५३ $\frac{१५६}{२१२}$	१९७१५०२	१९८०९५० $\frac{५६}{२१२}$	२८५२
कच्छकावती-गन्धा		१९८२८५९ $\frac{८४}{२१२}$	१९९२३०७ $\frac{१४०}{२१२}$	२००१७५५ $\frac{१९६}{२१२}$	२८५६
आवर्ता-वप्रकावती		२००२२३३ $\frac{४४}{२१२}$	२०११६८१ $\frac{१००}{२१२}$	२०२११२९ $\frac{१५६}{२१२}$	२८६०
लांगलावती-महावप्रा		२०२३०३८ $\frac{१८४}{२१२}$	२०३२४८७ $\frac{३८}{२१२}$	२०४१९३५ $\frac{८४}{२१२}$	२८६४
पुष्कला व सुवप्रा		२०४२४१२ $\frac{१४४}{२१२}$	२०५१८६० $\frac{२००}{२१२}$	२०६१३०९ $\frac{४४}{२१२}$	२८६८
वप्रा व पुष्कलावती		२०६३२१८ $\frac{७२}{२१२}$	२०७२६६६ $\frac{१२८}{२१२}$	२०८२१४ $\frac{१८४}{२१२}$	२८७२
दोनों अभ्यन्तर विदेहों के क्षेत्र—		(ति. प. ।४। गा.)	(त्रि.सा.।९३१-९३३)		
पद्मा व मंगलावती		१५००९५३ $\frac{२०४}{२१२}$	१४९१५०५ $\frac{१४८}{२१२}$	१८४२०५७ $\frac{९२}{२१२}$	२८८०
सुपद्मा व रमणीया		१४८०१४८ $\frac{८}{२१२}$	१४७०७०० $\frac{८}{२१२}$	१४६१२५१ $\frac{१६४}{२१२}$	२८८४
महापद्मा-सुरम्या		१४६०७७४ $\frac{१०४}{२१२}$	१४५१३२६ $\frac{४८}{२१२}$	१४४१८७७ $\frac{२०४}{२१२}$	२८८८
राम्या-पद्मकावती		१४३९९६८ $\frac{१७६}{२१२}$	१४३०५२० $\frac{१२०}{२१२}$	१४२१०७२ $\frac{६४}{२१२}$	२८९२
शंखा-वप्रकावती		१४२०५९५ $\frac{४}{२१२}$	१४१११४६ $\frac{१६०}{२१२}$	१४०१६९८ $\frac{१०४}{२१२}$	२८९६
महावप्रा-नलिन		१३९९७८९ $\frac{७६}{२१२}$	१३९०३४१ $\frac{२०}{२१२}$	१३८०८९२ $\frac{१७६}{२१२}$	२९००
कुमुदा-सुवप्रा		१३८०४१५ $\frac{११६}{२१२}$	१३७०९६७ $\frac{६०}{२१२}$	१३६१५१९ $\frac{४}{२१२}$	२९०४
सरिता-वप्रा		१३५९६०९ $\frac{१८८}{२१२}$	१३५०१६१ $\frac{१३२}{२१२}$	१३४०७१३ $\frac{७६}{२१२}$	२९०८

र. प्र. पृ. प्री. विलों का वाहल्य—१४ ३ $\frac{७}{३}$ को. । श. प्र. पृ. प्रकी. विलों का वाहल्य—१४+$\frac{१४}{२}$ ६ $\frac{७}{३}$ को. । वा. प्र. पृ. प्रकी. विलों का वाहल्य—२१ $\frac{१४}{२}$ ६ $\frac{१४}{३}$ को. । इसी प्रकार पंकप्रभादि पृथ्वियों के प्रकीर्णक विलों का वाहल्य—$\frac{३५}{२}$, ७ और $\frac{४९}{२}$ और $\frac{७}{३}$ कोस होता है ।

अपने-अपने पटलों की पूर्ववर्णित संख्या से गुणित अपनी अपनी पृथ्वी के इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक विलों के वाहल्य को पूर्वोक्त राशि में से अर्थात् दो हजार योजन कम विवक्षित पृथ्वी के वाहल्य के लिये गये कोसों में से कम करके प्रत्येक में एक कम अपने अपने इन्द्रक प्रमाण से गुणित चार

४. जम्बू द्वीप के पर्वतों व कूटों का विस्तार—

१. लम्बे पर्वत—

नोट .—पर्वतों की नींव सर्वत्र ऊंचाई से चौथाई होती है।

(ह. पु. ।५।५०६); त्रि. सा. ।९३६); (ज. प. ।३।३७)।

नाम	ऊंचाई यो०	नींव यो०	विस्तार योजन	दक्षिण जीवा यो०	उत्तर जीवा यो०	पार्श्व भुजा यो०	प्रमाण				
							ति. प. ४/गा.	रा. वा. ३/-/-/-	ह. पु. ५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज.प./अ/गा.
कुलाचल—											
हिमवान्	१००	ऊंचाई से चौथाई	१०५२ $\frac{१२}{१९}$	अपने-अपने क्षेत्र की उत्तर जीवा	२४९३२ $\frac{१}{१९}$	५३५० $\frac{१५\frac{१}{२}}{१९}$	१६१४	११।२।१८२।११	४५	७७२	३।४
महा हिमवान	२००		४२१० $\frac{१०}{१९}$		५३९३१ $\frac{६}{१९}$	९२७६ $\frac{९\frac{१}{२}}{१९}$	१७१७	११।४।१८२।३२	६३	७७४	३।१७
निषध	४००		१६८४२ $\frac{२}{१९}$		९४१५६ $\frac{२}{१९}$	२०१६५ $\frac{२\frac{१}{२}}{१९}$	१७५०	११।६।१८३।१२	८०	७७६	३।२४
नील					निषेधवत्		२३२७	११।८।१८३।२४	९७	"	"
रुक्मि					महाहिमवानवत्		२३४०	११।१०।१८३।३१	"	"	३।१७
शिखरी					हिमवानवत्		२३५५			"	३।४
भरत क्षेत्र-विजयार्ध	२५		५०		१०७२० $\frac{११}{१९}$	४८८ $\frac{१६\frac{१}{२}}{१९}$	१०८ + १८३	१०।४।१७१।१६	२१ + ३२	७७०	२।३३
गुफा	८ यो०		१२ यो०				१७५	१०।४।१७१।२		५९८	२।८८
विदेह विजयार्ध	२५		५०		२२१२ $\frac{७}{८}$	५०	२२५७	१०।१३।१७३।२०	२२५		७।३३

का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने योजन प्रमाण अपनी के अन्तिम और अगली पृथ्वी के आदि भूत इन्द्रकादि अपनी पृथ्वी के इन्द्रकादि बिलों में ऊर्ध्वग अन्तराल जानना बिलों में कुछ कम एक राजू प्रमाण अन्तराल समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त परस्थान अर्थात् एक पृथ्वी चाहिये।

नाम	स्थल विशेष	ऊंचाई योः	गहराई योः	चौड़ाई योः	लम्बाई योः	ति. प. ।४। गा.	रा.वा. ।३। १०।१३।	ह. पु. ।५।गा.	त्रि. सा. गा.	ज. प. अ. गा.
वक्षार	सामान्य	—		५००	१६५९२ $\frac{३}{१९}$	२२३१	१७६।३	×	६०५, ७४३	७।८
	नदी के पास	५००		५००	×	२३०७	१७६।१	२३३	७४५	७।१८
	पर्वत के पास	४००	ऊंचाई से चौथाई	५००	×	”	”	”	”	”
गजदन्त	सामान्य				३०२०९ $\frac{६}{१९}$	२०२४		२१५	७५६	९।७
दृष्टि सं० १	कुलाचलों के पास	४००		५००		२०१७		२१३	७४५	९।३
	मेरु के पास	५००		५००				”	७५६	९।६
दृष्टि सं० २	कुलाचलों के पास	४००		२५०		२०२७	१७३।१९			
	मेरु के पास	५००		५००		”	”			

प्र. पृ. के इन्द्रकों का अन्तराल—

$$\frac{(८००००-२०००)\times४-(१\times१३)}{(१३-१)\times४}$$

$$=\frac{७८०००\times४-१३}{४८}=६४९९\ \frac{३५}{४८}\text{ यो० ।}$$

द्वि. पृ. के— $$\frac{(३२०००-२०००)\times४-(\frac{३}{२}\times११)}{(११-१)\times४}$$

$$\frac{३००००\times४-\frac{३३}{२}}{४०}=२९९९\frac{४७}{८०}\text{ योजन}$$

सातवीं पृथ्वी के वाहल्य में से इन्द्रक और श्रेणीवद्ध विलों के वाहल्य प्रमाण को घटाकर अवशिष्ट राशि को आधा करने पर क्रम से इन्द्रक और श्रेणीवद्ध विलों के ऊपर-नीचे की पृथ्वी की मुटाई का प्रमाण निकलता है।

$$\frac{८०००-१}{२}=३९९९\frac{१}{२}\text{ यो.}$$

सातवीं पृथ्वी के इन्द्रक विल के नीचे और ऊपर की पृथ्वी का वाहल्य—

$$\frac{८००-\frac{४}{३}}{२}=३९९९\frac{२}{३}$$

सा. पृ. के श्रेणीवद्ध विलों के ऊपर-नीचे की पृथ्वी का वाहल्य।

एक राजू में से पहली और दूसरी पृथ्वी के वाहल्य प्रमाण को कम करके अवशिष्ट राशि में तीन हजार योजनों के मिलाने पर प्रथम पृथ्वी के अन्तिम और द्वितीय पृथ्वी के प्रथम विल के मध्य में परस्थान अन्तराल का प्रमाण निकलता है।

विशेषार्थ—प्रथम पृथ्वी की मुटाई १८०००० योजन और द्वितीय पृथिवी की मुटाई ३२००० योजन प्रमाण है। इस मुटाई से रहित दोनों पृथ्वियों के मध्य में एक राजु प्रमाण अन्तराल है। चूंकि एक हजार योजन प्रमाण चित्रा-पृथिवी की मुटाई प्रथम पृथिवी की मुटाई में सम्मिलित है परन्तु उसकी गणना ऊर्ध्व लोक की मुटाई में की गई है, अतएव इसमें से इन एक हजार योजनों को कम कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रथम पृथ्वी के नीचे और द्वितीय पृथ्वी के ऊपर एक-एक हजार योजन प्रमाण क्षेत्र में नारकियों के विलों के न होने से इन दो हजार योजनों को भी कम कर देने पर शेष २०९००० (१८००००+३२०००−३०००) योजनों से रहित एक राजु प्रमाण प्रथम पृथ्वी के अन्तिम और द्वितीय पृथिवी के प्रथम इन्द्रक के बीच परस्थान अन्तराल रहता है।

२. गोल पर्वत

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति. प. ।	रा.वा.।३।१०	ह.पु.।	त्रि.सा.।	ज.प.।
			मूल में	मध्य में	ऊपर	४।गा.	वा.।पृ.।प.	५।गा.	गा.	अ.।गा.
	यो.	यो.	यो.	यो.	यो.					
वृषभगिरि	१००		१००	७५	५०	२७०			७१०	
नाभिगिरि										
दृष्टि सं० १	१०००		१०००	१०००	१०००	१७०४	७।१८२।१२		७१८	३।२१०
दृष्टि सं० २	१०००		१०००	७५०	५००	१७०६				
सुमेरु :—										
पर्वत	९९०००	१०००	१०,०००	दे. लोक। ३।५।१	१०००	१७८१	७।१७७।३२	२८३	६०६	४।२२
चूलिका	४०		१२	८	४	१७९५	७।१८०।१४	३०२	६२७	४।१३२
यमक :—		ऊँचाई से, गहराई								
दृष्टि सं० १	२०००		१०००	७५०	५००	२०७७				
दृष्टि सं० २	१०००		१०००	७५०	५००		७।१७४।२६	१९३	६५५	६।१६
कांचनगिरि	१००		१००	७५	५०	२०९४	७।१७५।१		६५९	६।४५
दिग्गजेन्द्र	१००		१००	७५	५०	२१०४, २११३			६६१	४।३९

दो हजार योजन अधिक एक राजु में से तीसरी आदिक पृथ्वी के बाहल्य प्रमाण को घटा देने पर जो शेष रहे, उतना छठी पृथ्वी पर्यन्त प्रस्थान अन्तराल का प्रमाण कहा गया है ॥

सौ के वर्ग में से एक कम करके शेष को आधा करे और उसे एक राजु में जोड़कर लब्ध में से अन्तिम भूमि के बाहल्य को घटा देने पर मघवी पृथ्वी के अन्तिम इन्द्रक और अवधिस्थान इन्द्रक के बीच प्रस्थान अन्तराल का प्रमाण निकलता है।

घर्मा पृथ्वी के इन्द्रक बिलों का अन्तराल छह हजार चार सौ निन्यानवे योजन, दो कोस और एक कोस के बारह भागों में से ग्यारह भाग प्रमाण है। ६४९९ यो. २ $\frac{11}{12}$ को.।

रत्नप्रभा पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक और शर्करा प्रभा के आदि के इन्द्रक बिलों का अन्तराल दो लाख नौ हजार योजन कम एक राजु प्रमाण है। २०९००० यो. कम १ रा ।

वंशा पृथ्वी के ग्यारह इन्द्रकों का अन्तराल [illegible] हजार योजन और चार हजार सात सौ धनुष प्रमाण है। २९९९ यो. ४७०० धनु.।

वंशा पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक स्तनलोलुक से मेघा पृथिवी के प्रथम इन्द्रक तप्त का अंतराल छब्बीस हजार योजन कम

३. पर्वतीय व अन्य कूट :—

कूटों के विस्तार सम्बन्धी सामान्य नियम :—सभी कूटों का मूल विस्तार अपनी ऊंचाई का अर्ध प्रमाण है। ऊपरी विस्तार उससे आधा है। उनकी ऊंचाई अपने-अपने पर्वतों की गहराई के समान है।

अवस्थान	ऊंचाई	विस्तार			त्रि. प.	रा. वा. ।३। सू.	ह. पृ.।	त्रि. गा.	ज. प.।
		मूल में	मध्य में	ऊपर	४। गा.	वा. पृ. प.	५। गा.	गा.	अ.।गा.
	यो०	यो०	यो०	यो०					
भरत विजयार्ध	६ १/४	६ १/४	४ ११/१६	३ १/८	१४९		२८	७२३	३।४६
ऐरावत विजयार्थ		भरत विजयार्थ वत्					११२	"	"
हिमवान्	२५	२५	१८ ३/४	१२ १/२	१६३३		५५	७२३	३।४६
महाहिमवान्		हिमवान् से दुगुना			१७२५		७२	"	"
निषध		हिमवान् से चौगुना			१७५९		९०	"	"
नील		निषधवत्			२३२७		१०१	"	"
रुक्मि		महाहिमवानवत्			२३४०		१०४	"	"
शिखरी		हिमवानवत्			२३५५		१०५	"	"
हिमवान् का सिद्धायतन	५००	५००	३७५	२५०		११।२।१८२।१६			
शेष पर्वत		हिमवान् के समान (रा. वा. ।३।११। ४।१८३।५; ६।१८३।१८; ८।१८३।२५; १०।१८३।३२; १२।१८४।५)							
चारों गजदन्त	पर्वत से चौथाई	उपरोक्त नियमानुसार जानना;			२०३२. २०४८	१०।१३।१७३।-२३	२२४	२७६	

					२०४८			
					२०६०			
पद्मद्रह		हिमवान् पर्वतवत्			१६६६			
अन्यद्रह		अपने-अपने पर्वतोंवत्						
भद्रशालवन		(दे. दिग्गजेन्द्र पर्वत)						
नन्दनवन	५००	५००	३७५	२५०	१९९७		३३१	६२६
सौमनसवन	२५०	२५०	१८७½	१२५	१९७१			
नन्दनवन का		सौमनस वन वाले के समान						
भलभद्रकूट—					१९९७			
सौमनसवन का वलभद्र कूट—								
दृष्टि सं० १	१००	१००	७५	५०	१९७८			
दृष्टि स० २	१०००	१०००	७५०	५००	१९८०	(१०।१।३।१७९ १६)		

एक राजु प्रमाण है ।।२६००० यो. कम १ रा. ।

तीसरी पृथिवी के प्रत्येक इन्द्रक बिल का अन्तराल तीन हजार दो सौ उनचास योजन और पेंतीस सौ धनुष प्रमाण है। ३२४९ यो. ३५०० दण्ड ।

तृतीय पृथ्वी का अन्तिम इन्द्रक संप्रज्वलित और चतुर्थ पृथ्वी का प्रथम इन्द्रक और, इन दोनों बिलों का अन्तराल बाईस हजार योजन कम एक राजु प्रमाण है ।।२२००० यो. कम १ रा. ।

पंक प्रभा पृथ्वी के इन्द्रक बिलों का अन्तराल तीन हजार छह सौ पेंसठ योजन और पचहत्तर सौ दण्ड प्रमाण है ।३६६५। यो. ७५०० दण्ड ।

चतुर्थ पृथ्वी का अन्तिम इन्द्रक खल-खल और पांचवीं पृथ्वी का प्रथम इन्द्रक तम, इन दोनों बिलों के अन्तराल का प्रमाण अठारह हजार योजन कम एक राजु है। १८००० यो. कम १ रा. ।

धूम प्रभा के इन्द्रक बिलों का अन्तराल चार हजार चार सौ निन्यानवें योजन और पांच सौ दण्ड प्रमाण है। ४४९९ यो. ५०० दण्ड ।

पाँचवीं पृथ्वी का अन्तिम इन्द्रक तिमिश्र और छठी पृथ्वी का प्रथम इन्द्रक हिम. इन दोनों बिलों का अन्तराल चौदह हजार योजन कम एक राजु प्रमाण है। १४००० यो. कम १ राजु ।

मघवी पृथ्वी में प्रत्येक इन्द्रक का अन्तराल छह हजार नौ सौ अट्ठानवें योजन और पचपनसौ धनुष है। ६९९८ यो. ५५०० दण्ड ।

छठी पृथ्वी के अन्तिम इन्द्रक लल्लक और सातवीं पृथ्वी के अवधिस्थान इन्द्रक का अन्तराल तीन हजार योजन और दो

४. नदी कुण्ड द्वीप व पाण्डुक शिला आदि—

<table>
<tr><th>अवस्थान</th><th>ऊंचाई</th><th colspan="3">गहराई</th><th colspan="3">विस्तार</th><th>त्रि. प.।४।गा.</th><th>रा.वा.।३।२२ वा.।पृ.।प.</th><th>ह.प.।५।गा.</th><th>त्रि.सा.।गा.</th><th>ज.प.।अ.।गा.</th></tr>
<tr><td>नदी कुण्डों के द्वीप—</td><td></td><td colspan="3"></td><td colspan="3"></td><td></td><td></td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td>गंगा कुण्ड</td><td>२ कोस</td><td colspan="3">१० यो.</td><td colspan="3">८ यो.</td><td>२२१</td><td>१।१८७।२६</td><td>१४३</td><td>५८७</td><td>३।१६५</td></tr>
<tr><td>सिन्धु कुण्ड</td><td></td><td colspan="3">गंगावत्</td><td colspan="3"></td><td></td><td>२।१८७।३१</td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td>शेष कुण्ड युगल</td><td>२ कोस</td><td colspan="3">"</td><td colspan="3">उत्तरोत्तर दूना</td><td></td><td>३।१४।१८८।१८९</td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td></td><td></td><td colspan="6">विस्तार</td><td></td><td></td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td></td><td></td><td colspan="2">मूल</td><td colspan="2">मध्य</td><td colspan="2">ऊपर</td><td></td><td></td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td>गंगा कुण्ड</td><td>१० यो.</td><td colspan="2">४यो.</td><td colspan="2">२यो.</td><td colspan="2">१यो.</td><td>२२२</td><td></td><td>१४४</td><td></td><td>३।१६५</td></tr>
<tr><td></td><td></td><td colspan="3">लम्बाई</td><td colspan="3">चौड़ाई</td><td></td><td></td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td>पाण्डुकशिला—</td><td></td><td colspan="3"></td><td colspan="3"></td><td></td><td></td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td>दृष्टि सं० १</td><td>८ यो.</td><td colspan="3">१०० यो.</td><td colspan="3">५० यो.</td><td>१८१९</td><td></td><td>३४९</td><td>६३५</td><td></td></tr>
<tr><td>दृष्टि सं० २</td><td>४ यो.</td><td colspan="3">५०० यो.</td><td colspan="3">२५० यो.</td><td>१८२१</td><td>१८०।२०</td><td></td><td></td><td>४।१४२</td></tr>
<tr><td></td><td></td><td colspan="6">विस्तार</td><td></td><td></td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td></td><td></td><td colspan="2">मूल</td><td colspan="2">मध्य</td><td colspan="2">ऊपर</td><td></td><td></td><td></td><td></td><td></td></tr>
<tr><td>पाण्डुक शिला के सिंहासन व आसन</td><td>५०० ध.</td><td colspan="2">५००ध.</td><td colspan="2">२७५ध.</td><td colspan="2">२५०ध.</td><td></td><td></td><td></td><td></td><td></td></tr>
</table>

कोस कम एक राजु प्रमाण है। यो. ३०००, को २ कम १ रा.।

अवधिस्थान इन्द्रक की ऊर्ध्व और अधस्तन भूमि के वाहल्य का प्रमाण तीन हजार नौ सौ निन्यानवें योजन और दो कोस है। ३९९९ यो. २ को।

धर्मा पृथ्वी में श्रेणीवद्ध विलों का अन्तराल छह हजार चार सौ निन्यानवें योजन दो कोस और एक कोस के नौ भागों में से पाँच भाग प्रमाण है। ६४९९ यो. २$\frac{5}{9}$ को।

वंशा पृथ्वी में श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल दो हजार नौ निन्यानवें योजन और तीन हजार छह सौ दण्ड प्रमाण है। २९९९ यो. ३६०० दण्ड।

४. नदी कुण्ड द्वीप व पाण्डुक शिला आदि—

अवस्थान	ऊंचाई	गहराई	विस्तार	त्रि. प. ।	रा.वा.।३।२२	ह.प.।	त्रि.सा.।	ज. प.।
नदी कुण्डों के द्वीप—								
गंगा कुण्ड	२ कोस	१‹						
सिन्धु कुण्ड		गंग						
शेष कुण्ड युगल	२ कोस							
गंगा कुण्ड	१० यो.	मूल ४यो. लम्ब						
पाण्डुकशिला—								
दृष्टि सं० १	८ यो.	१००						
दृष्टि सं० २	४ यो.	५००						
पाण्डुक शिला के सिंहासन व आसन	५०० ध.	मूल ५००ध.						

कोस कम एक राजु प्रमाण है। यो. ३०००, को २ कम १ रा.।

अवविस्थान इन्द्रक की ऊर्ध्व और अधस्तन भूमि के बाहल्य का प्रमाण तीन हजार नौ सौ निन्यानवें योजन और दो कोस है। ३९९९ यो. २ को।

धर्मा पृथ्वी में श्रेणीवद्ध विलों का अन्तराल छह हजार चार सौ निन्यानवें योजन दो कोस और एक कोस के नौ भागों में से पाँच भाग प्रमाण है। ६४९९ यो. २$\frac{5}{9}$ को।

वंशा पृथ्वी में श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल दो हजार नौ निन्यानवें योजन और तीन हजार छह सौ दण्ड प्रमाण है। २९९९ यो. ३६०० दण्ड।

५. अढ़ाई द्वीपों की सर्व वेदियां—

वेदियों के विस्तार सम्बन्धी सामान्य नियम-देवारण्यक व भूतारण्यक वनों के अतिरिक्त सभी कुण्डों, नदियों, वनों, नगरों, चैत्यालयों आदि की वेदियां समान होती हुई निम्म विस्तार-सामान्यवाली हैं। (ति. प. ।४।२३८८—२३६१) (ज. प. ।१।६०—६६)

अवस्थान	ऊंचाई	गहराई	विस्तार	ति. प. ।४। गा.	रा. वा ।३। सू. वा. ।पृ.।प.	ह. पु. ५।गा.	त्रि.सा.गा.	ज. प.। अ. ।गा.
सामान्य	१२ यो.	ऊंचाई से चौथाई	५०० धनुप	२३६०		११६		१।६६
भूतारण्यक	१ यो.	"	१००० "	२३६१				
देवारण्यक	"	"	"					
हिमवान्		सामान्य वेदीवत्		१६२६				
पद्मद्रह		"			१५।-१८५।-१			
शाल्मली वृक्षस्थल		"		२१६८		५११		
गजदन्त		भूतारण्यक वत्		२१००,२१२८				
भद्रशालवन		"		२००६				
धात की खण्डकी सर्व		उपरोक्त वत्						
पुष्करार्ध की सर्व		"						
इष्वाकार		सामान्य वत्		२५३५				
मानुषोत्तर की तटवटी		सामान्य वत् १६		२७५४				
शिखरवेदी	४०००							
जम्बूद्वीप की जगती		गहराई	विस्तार — मूल / मध्य / ऊपर					
	८ यो.	१२यो.	१२यो. / ८यो. / ४यो.	१५—२७	६।१।३०।२६	३७८	८८५	१।२६
जगती के द्वार—		प्रवेश	आयम					
दृष्टि सं० १	८ यो.	४ यो.	४ यो.	४३				
दृष्टि सं० २	७५० यो.		५०० यो	७३				
लवणसागर		जम्बूद्वीप की जगती वत्		२५१६				

७. शेष द्वीपों के पर्वतों व कूटों का विस्तार—

१. घात की खण्ड के पर्वत —

नाम	ऊंचाई	लम्बाई	विस्तार	ति. प. ।४। गा.	रा.वा.।३।३३। वा. ।पृ.। पं.	ह. पु. । ५। गा.	त्रि. सा. ।गा.	ज. प।[illegible] अ.।गा.
पर्वतों के विस्तार व ऊंचाई सम्बन्धी सामान्य नियम :—								
कुलाचल	जम्बूद्वीपवत्	स्वदीपवत्	जम्बूद्वीप से दूना	२५४४-२५४६	५।१६५।२०	४६७.५०६		
विजयार्ध	"	"	"	"		"		
वक्षार	"	"	"	"		"		
गजदन्त दृष्टि सं० १	"	"	"	"		"		
दृष्टि सं० २		जम्बूद्वीपवत्		२५४७				
उपरोक्त सर्व पर्वत		"						
वृषभगिरि		"		"		५११		
यमक		"						
कांचन		"				"		
दिग्गजेन्द्र		"				"		
		विस्तार						
		दक्षिण उत्तर	पूर्व पश्चिम					
इष्वाकार	४०० यो.	स्वद्वीपवत्	१००० यो.	२५३३	६।१६५।२६	४९५	६२५	११।[illegible]
विजयार्थ	जम्बूद्वीपवत्	जम्बूद्वीप से दूना	स्वक्षेत्रवत्	२६०७ — उपरोक्त सामान्य नियम				

वक्षार	जम्बूद्वीपवत्	निम्नोक्त		जम्बूद्वीप से दूना		४०८+उपरोक्त सामान्य नियम				
गजदन्त—										
अभ्यन्तर	जम्बूद्वीपवत्	२५६२२७		"		२५९१		५३३	७५६	
वाह्य	जम्बूद्वीपवत्	५६९२५७		"		२५९२		५३४	"	
सुमेरु पर्वत—		विस्तार								
		भूतल	मूल	मध्य	ऊपर					
पृथ्वीपर	८४०००	१०००	९००००	दे. लोक ३।६।३	१०००	२५७७	६।१६५।२८	५१३		११।१८
पाताल में	दृष्टि सं० १ की अपेक्षा विस्तार=१०,०००					"		५१३		
	दृष्टि सं० २ की अपेक्षा विस्तार= ९५००					"		"		
चूलिका	जम्बूद्वीप के मेरुवत्					२५८३			.	

मेघा पृथ्वी में श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल तीन हजार दो सौ उनंचास योजन और दो हजार धनुष है। ३२४९ योजन २००० दण्ड।

चतुर्थ पृथ्वी में श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल. वाईस हजार में नो का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने धनुष कम छत्तीस सौ छयासठ योजन प्रमाण है। ३६६५ वो ५५५५$\frac{5}{9}$ दण्ड।

धूम प्रभा पृथ्वी में श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल चवालीस सौ अट्ठानवें योजन और छह हजार धनुष है।४४९८ योजन ६००० दण्ड।

मधवी पृथ्वी में श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल छह हजार नौ सौ अट्ठानवें योजन और दो हजार धनुष है।६९९८ यो. २००० दण्ड।

मधवी पृथ्वी में श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल छह हजार नौ सौ निन्यानवें योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है। ६९९९$\frac{1}{3}$ यो.।

यह जो श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल है उसे स्वस्थान में समझना चाहिए। तथा पर स्थान में जो इन्द्रक विलों का अन्तराल कहा जा चुका है. उसी को यहां भी कहना चाहिए। किन्तु विशेषता यह है कि लल्लक और अवधि स्थान इन्द्रक के मध्य में जो अन्तराल कहा गया है उसमें से अर्ध योजन के चार भागों में से एक भाग कम वहां श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल जानना चाहिए।

इस प्रकार श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल समाप्त हुआ।

घर्मा पृथ्वी में प्रकीर्णक विलों का अन्तराल, उनचासवें में छह के वर्ग का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने कम कम छह हजार पांच सौ यो. प्रमाण है। यो. ६५०० — [illegible] =यो. ६४९९ को [illegible]।

वंशा पृथ्वी में प्रकीर्णक विलों का अन्तराल दो हजार नौ सौ निन्यानवे योजन और तीन सौ धनुष प्रमाण है। २९९९ यो. ३००० दण्ड।

नाम	ऊंचाई व चोड़ाई	दक्षिण उत्तर विस्तार			ति. पा. ४।गा.	
		आदिम	मध्यम	अन्तिम		
दोनों वाह्य विदेशों के वक्षार-चित्र व देवमाल कूट	देखो पूर्वोक्त सामान्य नियम	५१८७३८ २००/२१२	५१९२१६ ४८/२१२	५१९६९३ १०८/२१२	२६३२	त्रि. सा. ७३२—७३३
नलिन व नागकूट		५३८२६८	५३८७४५ १६०/२१२	५३९२२२ १२०/२१२	२६४०	
पद्म व सूर्यकूट		५५७७९७ १२/२१२	५५८२७४ ७२/२१२	५५८७५१ १३२/२१२	२६४८	
एकशैल व चन्द्रनाग		५७७३२६ २४/२१२	५७७८०३ ८४/२१२	५८८२८० १४४/२१२	२६५६	
दोनों अभ्यन्तर विदेहों के वक्षार श्रद्धावान् व आत्मांजन		२८५४५५ १६६/२१२	२८४९७८ १३६/२१२	२८४५०१ ७६/२१२	२६७२	
अंजन व विजयवान्		२६५९२६ १८४/२१२	२६५४४९ १२४/२१२	२६४९७२ ६४/२१२	२६८०	
आशीविष ववैश्रवण		२४६३९७ १७२/२१२	२४५९२० ११२/२१२	२४५४४३ ५२/२१२	२६८८	
सुखावह व त्रिकूट		२२६८६८ १६०/२१२	२२६३९१ १००/२१२	२०५९१४ ४०/२१२	२६९६	

मेघा पृथ्वी में प्रकीर्णक विलों का ऊर्ध्वग अन्तराल तीन हजार दो सौ अड़तालीस योजन और पचपनसौ धनुप है। ३२४८ यो. ५५०० दण्ड।

चतुर्थ पृथ्वी में श्रेणी वद्ध विलों का अन्तराल तीन हजार छह सौ चौंसठ योजन और नो से भाजित उनहत्तर हजार पाँच सौ धनुप प्रमाण है। ३६६४ यो. ६९५००/९ दण्ड।

पाँचवीं पृथ्वी में प्रकीर्णक विलों का अन्तराल चवालीस सौ सत्तानवें योजन और छह हजार पाँच सौ धनुप प्रमाण है। ४४९७ यो. ६५००।

(छठी पृथ्वी में प्रकीर्णक विलों का अन्तराल छह हजार नो सौ छयानवें योजन और पचहत्तरसौ धनुप है। ६९९६ यो. ७५०० दण्ड।)

इस प्रकार यह प्रकीर्णक विलों का अन्तराल स्वस्थान में समझना चाहिए। पर स्थान में जो इन्द्रक विलों का अन्तराल कहा जा चुका है, उसी को यहाँ पर भी कहना चाहिए।

इस प्रकार प्रकीर्णक विलों का अन्तराल समाप्त हुआ।

इस प्रकार प्रकार निवास क्षेत्र समाप्त हुआ।

घर्मा पृथ्वी में नारकी जीव संख्यात आयु के धारक हैं। इनकी संख्या निकालने के लिये गुणकार घनांगुल के द्वितीय वर्ग मूल से कुछ कम है। अर्थात् इस गुणकार से जग श्रेणी को गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतने नारकी जीव घर्मा पृथ्वी में विद्यमान हैं।

श्रेणी घनांगुल के २ सरे वर्ग मूल से कुछ कम = घर्मा पृ० के नार की।

२. पुष्कर द्वीप के पर्वत व कूट

नाम	ऊंचाई योे.	लम्बाई यो.	विस्तार यो.	ति. प. ।४। गा.	रा. वा. ।३।३४। वा. पृ. । पं.	ह. पु. ।५। गा.	त्रि. सा. गा.	ज. प.।अ. गा.
पर्वतों के विस्तार व ऊंचाई सम्बन्धी सामान्य नियम								
कुलाचल	जम्बूद्वीपवत्	स्वद्वीप प्रमाण	जम्बूद्वीपसे चौगुना	२७८६-२७६०	५।१६७।२	५८८-५८६		
विजयार्ध	"	निम्नोक्त	"	"		"		
वक्षार	"	"	"	"		"		
गजदन्त	"	"	"	"		"		
नाभिगिरि	"	"	"	"		"		
उपरोक्त सर्वपर्वत दृष्टि सं० २		जम्बूद्वीपवत्		२७६१				
वृषभगिरी		"						
यमक		"						
कांचन		"						

वंशा पृथ्वी में नारकी जीव यद्यपि जग श्रेणी के असंख्यात भाग मात्र हैं, तथापि उनकी राशि का प्रमाण जग श्रेणी के बारहवें वर्ग मूल से भाजित जग श्रेणी मात्र है।

श्रेणी÷श्रेणी का १२ हवां वर्ग मूल=वंशा पृ. के नारकी।

मेघा पृथ्वी में नारकी जीव जग श्रेणी के असंख्यात भाग प्रमाण होते हुए भी जग श्रेणी के दसवें वर्ग मूल से भाजित जग श्रेणी प्रमाण हैं।

श्रेणी÷श्रेणी का १०वां वर्ग मूल=मेघा पृ. के नारकी।

चौथी पृथ्वी में नारकी जीव यद्यपि जग श्रेणी के असंख्यात भाग मात्र हैं, तथापि उनका प्रमाण जग श्रेणी में जग श्रेणी के आठवें वर्ग मूल का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना है।

श्रेणी÷श्रेणी का ८वां वर्ग मूल=चौथी पृ. के नारकी।

पांचवीं पृथ्वी में नारकी जीव जग श्रेणी के असंख्यातवे भाग प्रमाण होकर भी जग श्रेणी के छठे वर्ग मूल से भाजित जग श्रेणी मात्र हैं।

श्रेणी÷श्रेणी का ६वां वर्ग मूल=पांचवी पृ. के नारकी।

मघवी पृथ्वी में भी नारकी जीव का जग श्रेणी के असंख्यातवे भाग मात्र हैं, तथापि उनका प्रमाण जग श्रेणी में उसके तीसरे वर्ग मूल का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना है।

श्रेणी÷श्रेणी का ३सरा वर्ग मूल=छठी पृ. के नारकी।

सातवीं पृथ्वी में यद्यपि नारकी जीव जग श्रेणी के असंख्यातवे भाग प्रमाण ही है, तथापि उनकी राशि का प्रमाण जग श्रेणी के द्वितीय वर्गमूल से भाजित जग श्रेणी है।

नाम	ऊँचाई	लम्बाई		विस्तार		ति.प.।४।गा.	रा.वा.।३।३४।वा.।पृ.।प.	ह.पु.।५।गा.	त्रि.सा.।गा.	ज.प.।अ।गा.
	यो.	यो.		यो.						
दिग्गजेन्द्र		जम्बूद्वीपवत								
मेरु व इष्वाकार		घातकीवत				२८१२	५।१९७।४	५८९		
		विस्तार								
		दक्षिण उत्तर		पूर्व पश्चिम						
		यो.		यो.						
विजयार्ध	उपरोक्त	उपरोक्त नियम		स्वक्षेत्रवत्		२८२६	+उपरोक्त सामान्य नियम			
वक्षार	जम्बूद्वीपवत	निम्नोक्त		जंबूद्वीप से चौगूना		२८२७	+उपरोक्त सामान्य नियम			
गजदन्त—										
अभ्यन्तर	,,	१६२६११६		,,		२८१३			२५७	
वाह्य	,,	२०४२२१९		,,		२८१४			,,	
		विस्तार								
		गहराई	मूल	मध्य	ऊपर					
मानुषोत्तर पर्वत	१७२१	चौथाई	१०२२	७२३	४२४	२७४९	६।१९७।८	५९१	९३४०+ ९४२	११।५६
मानुषोत्तर के		लोक।६।४।३ में कथित नियमानुसार								
कूट—										
दृष्टि सं० १	४३० $\frac{१}{९}$		४३० $\frac{१}{९}$		२१५ $\frac{१}{१८}$					
दृष्टि सं० २	५००		५००	३७५	२५०		६।१९७।१६	६००		

श्रेणी÷श्रेणी का २सरा वर्गमूल=सातवीं पृ. के नारकी। इस प्रकार संख्या समाप्त हुई।

नरक पटलों में से सीमन्त आदिक दो पटलों में संख्यात वर्ष की आयु है, तीसरे में संख्यात व असंख्यात वर्ष की आयु

नाम	ऊंचाई व चौड़ाई	विस्तार			ति. प. श्रौ गा.	
		आदिम	मध्यम	अन्तिम		
दोनों बाह्य विदेशों के वक्षार—						
चित्रकूट व देवमाल	पूर्वोक्त सामान्य नियम	१९४०७७० $\frac{१६८}{२१२}$	१९४१७२५ $\frac{७६}{२१२}$	१९४२६७९ $\frac{११६}{२१२}$	२८४६	ति. गा. १९३२-९३३
पद्म व वैडूर्य कट	पूर्वोक्त सामान्य नियम	१९८०९५० $\frac{५६}{२१२}$	१९८१९०४ $\frac{१७६}{२१२}$	१९८२८५९ $\frac{८४}{२१२}$	२८५४	ति. गा. १९३२-९३३
नलिन व नागकूट	पूर्वोक्त सामान्य नियम	२०२११२९ $\frac{१५६}{२१२}$	२०२२०८४ $\frac{६४}{२१२}$	२०२३०३८ $\frac{१८४}{२१२}$	२८६२	ति. गा. १९३२-९३३
एक शैल व चन्द्रनाग	पूर्वोक्त सामान्य नियम	२०६११३० $\frac{४४}{२१२}$	२०६२२६३ $\frac{१६४}{२१२}$	२०६३२१८ $\frac{७२}{२१२}$	२८७०	ति. गा. १९३२-९३३
दोनों अभ्यन्तर विदेहों के वक्षार—						
श्रद्धावान् व आत्मांजन	पूर्वोक्त सामान्य नियम	१४८२०५७ $\frac{१२}{२१२}$	१४८११०२ $\frac{१८४}{२१२}$	१४८०१४८ $\frac{४}{२१२}$	२८८२	
अंजन व विजयवान	पूर्वोक्त सामान्य नियम	१४४१८७७ $\frac{२०४}{२१२}$	१४४०९२३ $\frac{८४}{२१२}$	१४३९९६८ $\frac{७६}{२१२}$	२८९०	
आशीविष व वैश्रवण	पूर्वोक्त सामान्य नियम	१४०१९९८ $\frac{२०४}{२१२}$	१४००७४३ $\frac{२६}{२१२}$	१३९९७८९ $\frac{५६}{२१२}$	२८९८	
सुखावह व त्रिकूट	पूर्वोक्त सामान्य नियम	१३६१५१९ $\frac{४}{२१२}$	१३६०५६४ $\frac{६४}{२१२}$	१३५९६०९ $\frac{१६६}{२१२}$	२९०६	

है, और आगे के दश पटलों में तथा शेष पटलों में भी असंख्यात वर्ष प्रमाण ही नारकियों की आयु होती है।

उन रत्न प्रभादिक सातों पृथिवियों के अन्तिम इन्द्रक विलों में क्रम से एक, तीन, सात, दश, सत्तरह, वाईस और तेतीस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु है।

सा. १।३।७।१०।१७।२२।३३।

सीमन्तक इन्द्रक में जघन्य आयु दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु नव्वे हजार वर्ष प्रमाण है। निरय इन्द्रक में उत्कृष्ट आयु का प्रमाण नव्वे लाख वर्ष है।

सीमंत ई. में ज. आयु १००००; उ. आ. ९००००; नरक ई. में उ. आयु ९०००००० वर्ष।

रौरुक इन्द्रक में उत्कृष्ट आयु असंख्यात पूर्वकोटी, और भ्रांत इन्द्रक में सागरोपम के दशवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। रौ. ई. में असंख्यात पू. को.; भ्रां. ई. में $\frac{१}{१०}$ सा.।

प्रथम पृथ्वी के चतुर्थ पटल में जो एक सागर के दशवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट आयु है, उसको प्रथम पृथ्वीस्थ नारकियों की उत्कृष्ट आयु में से कम करके शेष में नौ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना, प्रथम पृथ्वी के अवशिष्ट नौ पटलों में आयु के प्रमाण को लाने के लिये हानि वृद्धि का प्रमाण जानना चाहिये। (इस हानि-वृद्धि के प्रमाण को चतुर्थादि पटलों की आयु में उत्तरोत्तर जोड़ने पर पटलों में आयु का प्रमाण निकलता है)।

र. प्र. पृ. में उ. आयु एक सागरोपम है अतः १ — $\frac{१}{१०}$ ÷ ९ = $\frac{१}{१०}$ हा. वृ.।

रत्न=प्रभा पृथ्वी के चतुर्थ पटलादि इन्द्रकों में क्रमशः दश से भाजित एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ और दश सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु है।

भ्रांत ई. $\frac{१}{१०}$, उद्भ्रांत ई. $\frac{२}{१०}$, स. ई. $\frac{३}{१०}$, असं. ई. $\frac{४}{१०}$, विभ्रां. ई. $\frac{५}{१०}$, तप्त. ई. $\frac{६}{१०}$, त्रसित. ई. $\frac{७}{१०}$, वक्रां. ई. $\frac{८}{१०}$, अव. ई. $\frac{९}{१०}$, विक्रां. $\frac{१०}{१०}$ सा.।

३. नन्दीश्वर के पर्वत—

नाम	ऊंचाई	गहराई	विस्तार			ति. प. ५।गा.	रा. वा. ३।३५।पृ.५.	ह. पु. ५।गा.	त्रि. सा. गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
	यो.	यो.	यो.	यो.	यो.				
अंजनगिरि	८४०००	१०००	८४०००	८४०००	८४०००	५८	१९८।८	६५२	९६८
दधिमुख	१०,०००	१०००	१०,०००	१०,०००	१०,०००	६५	१९८।२५	६७०	"
रतिकर	१०००	२५०	१०००	१०००	१०००	६८	१९८।३१	६७४	"

उपरिम पृथ्वी की उत्कृष्ट आयु को नीचे की पृथ्वी की उत्कृष्ट आयु में से कम करके शेष में अपने-अपने इन्द्रकों की संख्या का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना विवक्षित पृथ्वी में आयु की हानि-वृद्धि का प्रमाण जानना चाहिये।

उदाहरण—द्वि. उ. आयु सा. ३—१÷११=$\frac{२}{११}$ द्वि. पृ. में आयु की हा. वृ.

द्वितीय पृथ्वी के ग्यारह इन्द्रकों में से ग्यारह से भाजित तेरह ($\frac{१३}{११}$) साग-रोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसमें तेतीस ($\frac{३३}{११}$) प्राप्त होने तक ग्यारह से भाजित दो दो ($\frac{२}{११}$) को मिलाने पर क्रमशः द्वितीय पृथ्वी के शेष द्वितीयादि इन्द्रकों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण होता है।

स्तनक—इ. $\frac{१३}{११}$, त. $\frac{१५}{११}$, म. $\frac{१७}{११}$, व. $\frac{१९}{११}$, घा. $\frac{२१}{११}$, सं. $\frac{२३}{११}$, जिह्वा $\frac{२५}{११}$, जिह्वक $\frac{२७}{११}$, लोल $\frac{२९}{११}$, लोलक $\frac{३१}{११}$, स्त. लो. $\frac{३३}{११}$ सा.।

तृतीय पृथ्वी में नौ से भाजित इकतीस ($\frac{३१}{९}$) सागरोपम प्रभव या आदि है। इसके आगे प्रत्येक पटल में नौ से भाजित चारकी ($\frac{४}{९}$) की तिरेसठ ($\frac{६३}{९}$) तक वृद्धि करने पर उत्कृष्ट आयु का प्रमाण होता है।

तप्त—$\frac{३१}{९}$, शी. $\frac{३५}{९}$, तपन $\frac{३९}{९}$, तापन $\frac{४३}{९}$, नि. $\frac{४७}{९}$, प्रज्व $\frac{५१}{९}$, उज्व $\frac{५५}{९}$, संज्व. $\frac{५९}{९}$, संप्रज्व $\frac{६३}{९}$ सा.।

चतुर्थ पृथ्वी में सात से भाजित बावन सागरोपम प्रभव है। इसके आगे प्रत्येक पटल में सत्तरपर्यन्त सात से भाजित तीन ($\frac{३}{७}$) की वृद्धि करने पर उत्कृष्ट आयु का प्रमाण निकलता है।

आर—$\frac{५२}{७}$, मार $\frac{५५}{७}$, तार $\frac{५८}{७}$, चर्चा $\frac{६१}{७}$, तमक $\frac{६४}{७}$, वाद $\frac{६७}{७}$, खड़खड़ $\frac{७०}{७}$ सा.।

पांचवीं पृथ्वी में पांच से भाजित सत्तावन सागरोपम आदि है। अनन्तर प्रत्येक पटल में पचासी तक पांच से भाजित सात ($\frac{७}{५}$) के जोड़ने पर उत्कृष्ट आयु का प्रमाण जाना जाता है।

तमक—$\frac{५७}{५}$, भ्र $\frac{६४}{५}$, झ $\frac{७१}{५}$ अंध $\frac{७८}{५}$, ति. $\frac{८५}{५}$, सा.।

मघवी पृथ्वी के तीन पटलों में नारकियों की उत्कृष्ट आयु क्रम से तीन से भाजित छप्पन, इकसठ और छयासठ सागरोपम है।

हिम. $\frac{५६}{३}$, वर्दल $\frac{६१}{३}$, लल्लंक $\frac{६६}{३}$ सा.।

सातवीं पृथ्वी के जीवों की आयु तेतीस सागरोपम प्रमाण है। ऊपर ऊपर के पटलों में जो उत्कृष्ट आयु है, उसमें एक समय मिलाने पर वहां नीचे के पटलों में जघन्य आयु हो जाती है।

अवधिस्थान ३३ सा.

इस प्रकार सातों पृथ्वियों के प्रत्येक इन्द्रक में जो उत्कृष्ट आयु कही गई है, वही वहां के श्रेणीबद्ध और विश्रेणीगत प्रकीर्णक बिलों की भी आयु समझना चाहिये।

इस प्रकार आयु का वर्णन समाप्त हुआ।

४. कुण्डलवर पर्वत व उसके कूट

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार मूल	विस्तार मध्य	विस्तार उत्तर	ति. प.।५। गा.	रा.वा।३। ३५।पृ.पं.	ह.पु.।५। श्लो.	त्रि. सा. गा.
	यो.	यो.	यो.	यो.	यो.				
पर्वत—									
दृष्टि सं० १	७५०००	१०००	१०२२०	७२३०	४२४०	११८	१९९।८	६८७	९४३
दृष्टि सं० २	४२०००	१०००	मानुषोत्तरवत्			१३०			
इसके कूट		मानुषोत्तर के दृष्टि सं० २ वत				१२४, १३१	१९९।१२		९६०
द्वीप के स्वामी		सर्वत्र उपरोक्त से दूने				१३७		६८७	
देवों के कूट									

घर्मा पृथ्वी के अन्तिम इन्द्रक में नारकियों के शरीर की ऊंचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल है। इसके आगे शेष पृथ्वियों के अन्तिम इन्द्रकों में रहने वाले नारकियों के शरीर की ऊंचाई का प्रमाण उत्तरोत्तर इससे दुगुणा-दुगुणा होता गया है।

घर्मा पृ. में शरीर की ऊंचाई दं. ७, ह. ३, अं. ६; वंशा दं, १५, ह. २, अं. १२; मेघा दं, ३१, ह. १, अंजना दं, ६२, ह. २; अरिष्टा दं, १२५; मघवी दं, २५० माघवी दं, ५००।

रत्नप्रभा पृथ्वी के सीमन्त पटल में जीवों के शरीर की ऊंचाई तीन हाथ है। इसके आगे शेष पटलों में शरीर की ऊंचाई हानि-वृद्धि को लिये हुए है। सीमंत ऊंचाई ह. ३।

अन्त में से आदि को घटाकर शेष में एक कम अपने इन्द्रक के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना प्रथम पृथ्वी में हानि-वृद्धि का प्रमाण है। इसे उत्तरोत्तर मुख में मिलाने अथवा भूमि में से कम करने पर अपने पटलों में ऊंचाई का प्रमाण ज्ञात होता है।

उदाहरण—अन्त ७ धनु. ३ हा. ६ अं; आदि ३ हा.: इसे हाथों में परिवर्तित करके ३१½ — ३ ÷ (१३ — १) = २ हा. ८½ अं. हानि-वृद्धि।

घर्मा पृथ्वी में इस हानि-वृद्धि का प्रमाण दो हाथ, आठ अंगुल और एक अंगुल का दूसरा भाग (½) है। हा. २, अं. ८½।

प्रथम पृथ्वी के निरय नामक द्वितीय पटल में एक धनुष एक हाथ और सत्तरह अंगुल के आधे अर्थात् साढ़े आठ अंगुल प्रमाण तथा रौरुक पटल में एक धनुष, तीन हाथ और सत्तरह अंगुल प्रमाण शरीर की ऊंचाई है।

नरक. प. में दं. १, हा. १. अं. ८½; रौरुक प. में द. १, ह. ३, अ, १७।

भ्रांत पटल में दो धनुष, दो हाथ और ड़ेढ़ अंगुल, तथा उद्भ्रान्त पटल में तीन धनुष और दस अंगुल प्रमाण शरीर का उत्सेध है।

भ्रान्त प. में द. २, ह. २, अ. १½, उद्भ्रान्त प. में द. ३, अ. १०।

प्रथम पृथ्वी के सम्भ्रान्त नामक इन्द्रक में शरीर की ऊंचाई तीन धनुष, दो हाथ और साढ़े अठारह अंगुल है। सम्भ्रान्त प. में द. ३, ह. २, अं. १८½।

५. रुचकवर पर्वत व उसके कूट

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प.।५।	रा.वा.।३।	ह.प.।५।	त्रि.सा.
			मूल	मध्य	ऊपर	गा.	३५।-।पृ.।पं.	गा.	गा.
पर्वत—									९४३
दृष्टि सं० १	८४०००	१०००	८४०००	८४०००	८४०००	१४२	१६६।२३	७००	
दृष्टि सं० २	८४०००	१०००	४२०००	४२०००	४२०००				
इसके कूट—									९६०
दृष्टि सं० १	मानुपोत्तर	की दृष्टि सं० २ वत				१४६			
दृष्टि सं० २	५००		१०००	७५०	५००	१६६, १७१	२००।२०	७०१	
३२ कूट	५००		१०००	१०००	१०००		१६६।२५		

प्रथम पथ्वी के असंभ्राँत इन्द्रक में नारकियों के शरीर की ऊंचाई का प्रमाण चार धनुप और सत्ताईस अंगुल है। असंभ्राँत प. में दं. ४ अं. २७।

विभ्रांत नामक पटल में चार धनुप, तीन हाथ और तेईस अंगुल के आधे अर्थात् साढ़े ग्यारह अंगुल प्रमाण उत्सेध है। विभ्रान्त, प. में दं, ४, ह. ३ अं ११½।

प्रथम पृथ्वी के तप्त इन्द्रक में शरीर का उत्सेध पांच धनुप, एक हाथ और बीस अंगुल-प्रमाण कहा गया है। तप्त प. में दं. ५, ह. १, अं २०।

त्रसित नासिक पटल में नारकियों के शरीर की ऊंचाई छह धनुप और अर्ध अंगुल सहित अंगुल प्रमाण जानना चाहिये। त्रसित प. में दं. ६, अं. ४½।

प्रथम पृथ्वी के वक्रान्त नामक पटल में शरीर का उत्सेव छह धपु, दो हाथ तेरह अंगुल है। वक्रान्त प. में दं. ६, ह. २, अं १३.।

अवक्रान्त नामक पटल में सात धनुप, और साढ़े इक्कीस अंगुल प्रमाण शरीर का उत्सेध है। अवक्रांत प. में दं ७, अं २१½।

प्रथम पृथ्वी के विक्रान्त नामक अन्तिम इन्द्रक में शरीर का उत्सेध सात धनुप, तीन हाथ और छह अंगुल है। विक्रान्त प. में दं. ७, ह. ३, अं. ६.

वंशा पृथ्वी में दो हाथ, बीस अंगुल और ११ से भाजित दो भाग प्रमाण प्रत्येक पटल में वृद्धि होती है। इस वृद्धि को मुख अर्थात् प्रथम पृथ्वी के उत्कृष्ट उत्सेध प्रमाण में उत्तरोत्तर मिलाते जाने से क्रमशः द्वितीय पृथ्वी के प्रथमादि पटलों का उत्सेध का प्रमाण निकलता है। ह. २, अं, २० २/८।

द्वितीय पृथ्वी के (स्तनक नामक प्रथम इन्द्रक में) नारकियों के शरीर का उत्सेध, आठ धनुप, दो हाथ और ग्यारह से भाजित चौवीस अंगुल प्रमाण है।

स्तनक प. में दं. ८, ह. २, अ. २४/११।

दूसरी पृथ्वी के (तनक नामक द्वितीय पटल में) नौ धनुप बाईस अंगुल और ग्यारह से भाजित चार भाग प्रमाण शरीर का उत्सेध है।

तनक प. में दं. ९, अं. २२ ४/११।

मन इन्द्रक में जीवों के शरीर का उत्सेध नौ धनुप, तीन हाथ और ग्यारह से भाजित दो सौ चार अंगुल प्रमाण है।

मनक प. में दं ९, ह. ३, अं. २०४/११ (१८ ६/११)।

वनफ प. में दं. १०, ह. २, अं. १८ ८/११।

६. स्वयंभूरमण पर्वत

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प.।५। गा.	रा वा.।३। ३५।पृ.।प.	ह.पु.।५। गा.	त्रि.सा. गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
पर्वत		१०००				२३९			

द्वितीय पृथ्वी के घात इन्द्रक में ग्यारह धनुष, एक हाथ, दश अंगुल और ग्यारह से भाजित दश भाग प्रमाण शरीर का उत्सेध है। घात प. में दं. ११, अं १० $\frac{१०}{११}$।

संघात इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध बारह धनुष, और ग्यारह से भाजित अठसत्तर अंगुल प्रमाण है। सघात प. में दं. १२ अं. $\frac{७८}{११}$ (७ $\frac{१}{११}$)।

द्वितीय पृथ्वी के जिह्व इन्द्रक में शरीर का उत्सेध बारह धनुष, तीन हाथ, तीन अंगुल और ग्यारह से भाजित तीन भाग प्रमाण है।

जिह्व प. में दं. १२, ह. ३, अं. ३ $\frac{३}{११}$।

जिह्वक पटल में शरीर का उत्सेध तिरेपन हाथ, तेईस अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह भागों में से पांच भाग मात्र है। जिह्वक प. में ह. ५३, अं २३ $\frac{५}{११}$।

लोल नामक पटल में शरीर का उत्सेध चौदह धनुष और ग्यारह से भाजित दो सौ सोलह अंगुल मात्र है। लोल प. में दं. १४, अं. $\frac{२१६}{११}$ (१९ $\frac{७}{११}$)।

लोलक नामक पटल में नारकियों के शरीर की ऊंचाई उनसठ हाथ, पन्द्रह अंगुल और ग्यारह से भाजित अंगुल के नौ भाग प्रमाण है।

लोलक प. मे ह. ५९, अं. १५ $\frac{९}{११}$।

द्वितीय पृथ्वी के स्तन लोलक अन्तिम पटल में पन्द्रह धनुष दो हाथ और बारह अंगुल-प्रमाण शरीर का उत्सेध है। स्तन प. में दं. १५, ह. २, अं १२।

मेघा पृथ्वी में एक धनुष, दो हाथ, बाईस अंगुल और तीन से भाजित एक अंगुल के दो भाग प्रमाण हानि-वृद्धि जानना चाहिये।

मेघा पृथ्वी के तप्त इन्द्रक में जीवों के शरीर का उत्सेध सत्तरह धनुष, चौंतीस अंगुल और तीन से भाजित अंगुल के दो भाग प्रमाण है। तप्त प. में द. १७, अं. ३४ $\frac{२}{३}$।

तीसरी पृथ्वी के शीत इन्द्रक में नारकियों का उत्सेध उन्नीस धनुष और तीन से भाजित अट्ठाईस अंगुल मात्र है। शीत प. में द. १९, अ. $\frac{२८}{३}$ (९ $\frac{१}{३}$)।

तीसरी पृथ्वी के तपन इन्द्रक बिल में शरीर उत्सेध बीस धनुष सहित अस्सी अंगुल-प्रमाण है। तपन प. में द २०, अ. ८० (ह. ३, अ ८)।

मेघा पृथ्वी के तापन इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध नब्बै हाथ और तीन से भाजित बीस अंगुल मात्र है। तापन प मे ह. ९०, अ $\frac{२०}{३}$ (द २२, ह. २, अ ६ $\frac{२}{३}$)।

निदाघ नामक पटल में नारकी जीवों के शरीर की ऊंचाई सत्तानबै हाथ और तीन से भाजित सोलह अंगुल मात्र है। निदाघ प. में ह. ९७, अ. $\frac{१६}{३}$ (द. २४, ह. १, अ ५ $\frac{१}{३}$)।

मेघा पृथ्वी के प्रज्वलित नामक पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध छब्बीस धनुष और चार अंगुल प्रमाण है। प्रज्वलित प. मे द. २६, अ. ४।

उज्वलित इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध सत्ताईस धनुष, तीन हाथ और तीन से भाजित आठ अंगुल मात्र है। उज्वलित प. में ध. २७, ह. ३ अ $\frac{८}{३}$।

तीसरी पृथ्वी के संज्वलित इन्द्रक में शरीर का उत्सेध उनतीस धनुष, दो हाथ और तीन से भाजित चार अंगुल मात्र है। संज्व प. में ध २९, ह. २, अ $\frac{४}{३}$ (१ $\frac{१}{३}$)।

सं. ज्व. प. में ध ३१, ह. १।

चतुर्थ पृथ्वी में चार धनुष, एक हाथ बीस अंगुल और

६. अढाई द्वीप के वन खण्डों का विस्तार—

१. जम्बूद्वीप के वनखण्ड—

नाम	विस्तार		ति. प. ।४।गा.	रा. वा. ।३।१८।१३१ पृ.।	ह. पु. ।५। गा.	त्रि. सा.। गा.	ज. प. ।अ. गा.
जम्बूद्वीप जगती के अभ्यन्तर भाग में	२ को.		८७				
विजयार्ध के दोनों पार्श्वों में	२ को.		१७१				
हिमवान् के दोनों पार्श्वों में	२ को.		१६३०		११५	७३०	
नाम	विस्तार						
	पूर्वापर	उत्तर दक्षिण					
देवारण्यक	२९२२ यो.	१६५९२$\frac{२}{१९}$यो.	२२२०	१७७।२	२८२		७।१५
भूतारण्यक	देवारण्यकवत्						

सात से भाजित चार भाग प्रमाण हानि-वृद्धि है। ध. ४, ह. १, अ २०$\frac{४}{७}$।

आर पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध पैंतीस धनुष, दो हाथ, वीस अंगुल और सात से भाजित चार भाग प्रमाण है। आर प. में ध ३५, ह. २, अं. २०$\frac{४}{७}$।

चतुर्थ पृथ्वी के मार नामक पटल में रहने वाले जीवों के शरीर की ऊंचाई चालीस धनुप और सात से भाजित एक सौ वीस अंगुल प्रमाण है। मार प. में घ. ४०, अं $\frac{१२०}{७}$ (१७$\frac{१}{७}$)।

चतुर्थ पृथ्वी के तार इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध चवालीस धनुप, दो हाथ और सात से भाजित छयानवें अंगुलमात्र है।

तार प. में घ. ४४, ह. २, अं. $\frac{९६}{७}$ (१३$\frac{५}{७}$)।

चतुर्थ पृथ्वी में तत्व (चर्चा) इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध उनंचास धनुप और सात से भाजित वहत्तर अंगुलमात्र है। चर्चा प. में ध. ४९, अं. $\frac{७२}{७}$ (१०$\frac{२}{७}$)।

तमंक इन्द्रक में स्थित जीवों के शरोर का उत्सेध तिरेपन धनुप, दो हाथ और सात से भाजित अड़तालीस अगुल प्रमाण है। तमक प. में ध. ५३, ह. २ अं. $\frac{४८}{७}$ (६$\frac{६}{७}$)।

चतुर्थ पृथ्वी के वाद इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध अठ्ठावन धनुप और सात से भाजित चौवीस अंगुल है। वाद प. में ध. ५८, अं. $\frac{२४}{७}$ (३$\frac{३}{७}$)।

चतुर्थ पृथ्वी के खलखल नामक अन्तिम इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध वासठ धनुप और दो हाथ प्रमाण है। खलखल प. में ध. ६२, ह. २.।

वीतरागदेव ने पांचवीं पृथ्वी में क्षय व वृद्धि का प्रमाण वारह धनुप और दो हाथ वतलाया है। ध. १२, ह. २ हा. वृ.

नाम	विस्तार			ति. प. ।४।गा.	रा. वा. ।३। १०।१३। ।पृ. प.	ह. पु. ।५।गा.	त्रि. सा. ।गा.	ज. प. अ.।गा
	मेरु के पूर्व या पश्चिम में	मेरु के उत्तर या दक्षिण में	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार					
	यो.	यो.	यो.					
भद्रशाल	२२०००	२५०	विदेह क्षेत्रवत्	२००२	१७८।३	२३७	६१०+६१२	४।४३
	वलय व्यास	बाह्य व्यास	अभ्यन्तर व्यास					
	यो.	यो.	यो.					
नन्दनवन	५००	९९५४ ६/११	८९५४ ६/११	११८९	१७९।७	२९०	६१०	४।८२
सौमनसवन	५००	४२७२ ८/११	३२७२ ८/११	१९३८+१९८८	१८०।१	२९६	"	४।१२७
पाण्डुक वन	४९४	१०००		१८१०+१८१४	१८०।१२	३००	"	४।१३१

पांचवीं पृथ्वी के तम नामक प्रथम इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर की ऊंचाई पचहत्तर धनुष प्रमाण है। तम प. में ध. ७५।

पांचवीं पृथ्वी के भ्रम नामक पटल में नारकी जीवों के शरीर का उत्सेध सतासी धनुष और दो हाथ प्रमाण है। भ्रम प. में ध. ८७, ह. २।

झष नामक पटल में एक सौ धनुष, तथा अंधक पटल में एक सौ बारह धनुष और दो हाथ प्रमाण नारकियों के शरीर की ऊंचाई है।

झष प. में ध. १००। अंधक प. में ध. ११२, ह. २।

धूमप्रभा पृथ्वी के तिमिश्र नामक अन्तिम इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध पच्चीस अधिक एक सौ अर्थात् एक सौ पच्चीस धनुषमात्र है। तिमिश्र प. में ध. १२५।

छठी पृथ्वी में हानि-वृद्धि का प्रमाण इकतालीस धनुष, दो हाथ और सोलह अंगुल है। ध. ४१, ह. २, अ. १६ हा. वृ.।

हिम पटलगत जीवों के शरीर की ऊंचाई एक सौ छयासठ धनुष, दो हाथ और सोलह अंगुल प्रमाण है। हिम प. में दं. १६६, ह. २, अं. १६।

छठी पृथ्वी के वर्दल पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध दो सौ आठ धनुष और बत्तीस अंगुल प्रमाण है। वर्दल प. में दं. २०८, अं. ३२ (१ ह. ८ अं.)।

लल्लंक नामक इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध दो सौ पचास धनुषमात्र है। लल्लक प. में दं. २५०।

सातवीं पृथ्वी के अवधिस्थान इन्द्रक में पांच सौ धनुष प्रमाण नारकियों के शरीर का उत्सेध है। इस प्रकार जिन भगवान् ने नारकियों के शरीर का उत्सेध कहा है।

अवधिस्थान, न. में द. ५००।

इस प्रकार रत्नप्रभादिक पृथिवियों के प्रत्येक इन्द्रकों में जो शरीर का उत्सेध है, वही उत्सेध उन उन पृथिवियों के श्रेणी बद्ध और विश्रेणीगत प्रकीर्णक बिलों में भी जानना चाहिये।

इस प्रकार नारकियों के शरीर का उत्सेध प्रमाण समाप्त हुआ।

रत्नप्रभा पृथ्वी में [illegible] है। [illegible] है।

२. धातकी खण्ड के वनखण्ड

—सामान्य नियम—सर्ववन जम्बूद्वीप वालों से दूने विस्तार वाले हैं। (ह.पु.।५।५०९)

नाम	पूर्वापर विस्तार	उत्तर दक्षिण विस्तार			ति.प.।४।गा.	रा.वा.।३।३३।६।पृ.प.	ह.पु.।५।गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम			
	यो.	यो.	यो.	यो.			
वाह्य	५८४४	५८७४४८ $\frac{१४४}{२१२}$	५९०२३८ $\frac{२४}{२१२}$	५९३०२७ $\frac{११६}{२१२}$	२६०९-२६६०		
अभ्यन्तर	”	२१६७४६ $\frac{४०}{२१२}$	२१३९५६ $\frac{१६०}{२१२}$	२१११६७ $\frac{९८}{२१२}$	२६०९-२७००		
	मेरु से पूर्व या पश्चिम में	मेरु के उत्तर या दक्षिण में	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार				
	यो.	यो.	यो.				
भद्रशाल	१०७८७९	नष्ट	१२२५ $\frac{७}{८८}$		२५२८		५३१
	वलयव्यास	वाह्यव्यास	अभ्यन्तरव्यास				
	यो.	यो.	यो.				
नन्दन	५००	९३५०	८३५०			१९५।३१	५२०
सौमनस	५००	३८००	२८००			१९६।१	५२४
पाण्डुक	४९४	१०००	१२ चूलिका				५२३

र. प्र. को. ४; श. प्र $\frac{७}{२}$; वा. प्र. ३; पं. प्र. $\frac{५}{२}$; धू. प्र. २; त. प्र. $\frac{३}{२}$; म. त. प्र. १ को।

इस प्रकार अवधिज्ञान का क्षेत्र समाप्त हुआ।

अब इस समय नारकी जीवों में यथायोग्य क्रम से गुण स्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा और उपयोग (ज्ञान-दर्शन), इनका कथन करने योग्य है।

सब नारकी जीवों के मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि, ये चार गुणस्थान हो सकते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सहित, हिंसा [illegible] आनन्द मानने वाले और नाना प्रकार के प्रचुर दुःखों से [illegible] उन सब नारकी जीवों के देशविरत आदिक उपरितन [illegible] स्थानों के हेतुभूत, जो विशुद्ध परिणाम हैं, वे कदाचित् [illegible] होते हैं।

इन नारकी जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो जीवस[illegible] तथा छह प्रकार पर्याप्तियां व इतनी (छह) ही अपर्याप्ति[illegible] भी होती हैं।

३. पुष्करार्ध द्वीप के वन खण्ड—

नाम	पूर्वापर विस्तार	उत्तर दक्षिण विस्तार			ति. प. ।४। गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
देवारण्यक—					
बाह्य	११६८८	२०८२११४ [illegible]	२०८७६६३ [illegible]	२०९३२७२ [illegible]	२८२८ ÷ २८३४
अभ्यन्तर	"	१३४०७१३ [illegible]	१३३५१३४ [illegible]	१३२९५५५ [illegible]	२८२८ ÷ २८१०
	मेरु के पूर्व या पश्चिम में	मेरु के उत्तर या दक्षिण में	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार		ति. प. ।४। गा.
भद्रशाल	२१५७५८	नष्ट	२४५१ [illegible]	(दे० लोक ४।४)	२८२१
नन्दन आदि वन		घातकी खण्डवत्			

नारकी जीवों के पांचों इन्द्रिय प्राण, मन-वचन-काय ये तीनों बलप्राण, आयुप्राण और आनप्राण (श्वासोछ्वास) प्राण, ये दशों प्राण तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, ये चारों संज्ञायें होती हैं।

सब नारकी जीव नरकगति से सहित, पचेन्द्रि, त्रसकाय-वाले, सत्य, असत्य, उभय और अनुभय, इन चार मनोयोग, चारों वचनयोग, तथा दो वैक्रियिक (वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र), कार्मण, इन तीन काययोगों से संयुक्त, द्रव्य और भाव से नपंसकवेद वाले, सम्पूर्ण कषायों में आसक्त, मति, श्रुत अवधि, कुमति, कुश्रुत और विभंग इन छह ज्ञानों से संयुक्त, विविध प्रकार के असंयमों (अविरतिभेदों) से परिपूर्ण, चक्षु, अचक्षु, अवधि, इन तीन दर्शनों से युक्त, भाव की अपेक्षा कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन लेश्याओं और द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या से सहित, भव्यत्व और अभव्यत्व परिणाम से युक्त, औपशमिक, क्षायिक, वेदक, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, इन छह सम्यक्त्वों से सहित, संज्ञी, आहारक व अनाहारक, इस प्रकार चौदह मार्गणाओं में से भिन्न भिन्न मार्गणाओं से सहित होते हैं।

उन नारकी जीवों के साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) दोनों ही उपयोग होते हैं। ये नारकी [illegible] और तीव्र उदयवाली पाप-प्रकृतियों से युक्त होते हैं।

इस प्रकार गुणस्थानादि का वर्णन समाप्त हुआ।

प्रथम पृथ्वी के अन्त तक असंज्ञी, तथा प्रथम और द्वितीय में सरीसृप जाता है। पक्षी से तीसरी पृथ्वी पर्यन्त तथा चौथी तक भुजंगादिक उत्पन्न होते हैं।

पांचवीं पृथ्वी पर्यन्त सिंह, छठी पृथ्वी तक स्त्री, और सातवीं भूमि तक मत्स्य एवं मनुज (पुरुष) ही जाते हैं।

उपर्युक्त सात पृथ्वियों में क्रम से ये असंज्ञी आदिक जीव उत्कृष्ट रूप से आठ, सात, छह, पांच, चार, तीन और दो बार ही उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार उत्पद्यमान जीवों का वर्णन समाप्त हुआ।

४. नन्दीश्वरद्वीप के वन

वापियों के चारों ओर वनखण्ड है, जिनका विस्तार—

(१००,००० ५०,०००) योजन है। (ति.प.।५।६४) : (रा.वा.।३।३५।-१९८।२८) : (त्रि.सा.।९७२)

७. अढाई द्वीप को नदियों का विस्तार

१. जम्बूद्वीप की नदियाँ

नदियों के विस्तार व गहराई आदि सम्बन्धी सामान्य नियम—भरत व ऐरावत क्षेत्र की नदियों का विस्तार प्रारम्भ में ६१/४ यो. और अन्त में उससे दस गुणा होता है। आगे-आगे के क्षेत्रों में विदेह पर्यन्त वह प्रमाण दुगुना-दुगुना होता गया है। (त्रि. सा. ।६००); (ज. प. ।३।१९४)।

नदियों का विस्तार उनकी गहराई से ५० गुणा होता है। (ह. पु. ।५।५०७)।

नाम	स्थल विशेष	चौड़ाई	गहराई	ऊंचाई	ति. प. ।४। गा.	रा. वा. ।३। २२।वा.।पृ. ।पं.	ह. पु. ।५। गा.	त्रि. सा. ।गा.	ज. प. ।अ.।गा.
वृषभाकार प्रणाली—									
गंगा-सिन्धु	हिमवान्	६१/४ यो.	२ को प्रवेश	२ को प्रवेश	२१४		१४०	५८४	३।१५०
आगे के नदी युगल—	विदेह तक उत्तरोत्तर दुगुने						१५१	५९९	३।१५२
	ऐरावत तक उत्तरोत्तर आधे						१५९	"	३।१५३
गंगा—	उद्गम	६१/४ यो.	१/२ को.		१९७		१३६	६००	३।१६४
	पर्वत से गिरने वाली धार			पर्वत की ऊंचाई	२१३			५८६	
	दृष्टि सं. १	१०		"					
	दृष्टि सं. २	२५		"	२१७				३।१६८
	गुफा द्वार पर	८ यो.			२३६		१४८		७।६३
	समुद्र प्रवेश पर	६२१/२ यो.		५ को.	२४६	१।१८७।२९	१४९	६००	३।१३३
सिन्धु		गंगानदीवत्			२५२	२।१८७।३२	१५१	६००	३।१६५
रोहितास्या		गंगा से दूना			१६६६	३।१८८।९	"	५९९	३।१८८

रोहित		रोहितास्यावत्			१७३७	४।१८८।१७	१५१	५६६	३।१८०
हरिकान्ता		रोहित से दुगुना (गंगा से चौगुना)			१७४८	५।१८८।२१	"	"	३।१८१
हरित		हरिकान्तावत्			१७७३	६।१८८।२६	"	"	"
सीतोदा		हरिकान्त से दूना (गंगा से आठ गुना)			२०७४	७।१८८।३३	"	"	३।१८२
सीता		सीतोदावत्			२१२२	८।१८६।६	"	"	"
उत्तर की छः नदियां		क्रम से हरितादिवत्				६।२४।१८६	१५६		
विदेह की ६४ नदियां		गंगानदीवत्				(दे. लोक ।३।१०)			
विभंगा	कुण्ड के पास	५० को.	१६५६२ $\frac{२}{१९}$ (उत्तर दक्षिण)		२११८			६०५	
	महानदी के पास	५०० को.			२२१६	३।१०।१३।-			
	दृष्टि सं० २		सर्वत्र गंगा से दूना			१७६।१३			[illegible]

चौवीस मुहूर्त, सात दिन, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मास यह क्रम से प्रथमादिक पृथ्वियों में जन्म-मरण के अन्तर का प्रमाण है।

प्र. पृ. में मुहूर्त २४, द्वि. पृ. दि. ७, तृ. पृ. दि. १५, च. पृ. मा. १, पं. पृ. मा. २, ष. पृ. मा. ४, स. पृ. मा. ६।

इस प्रकार जन्म-मरण के अन्तरकाल का प्रमाण समाप्त हुआ।

रत्नप्रभादिक पृथ्वियों में स्थित नारकियों के अपनी संख्या के असंख्यातवें भाग प्रमाण नारकी प्रत्येक समय में उत्पन्न होते हैं और उतने ही मरते भी हैं।

इस प्रकार एक समय में उत्पन्न होने वाले व मरने वाले जीवों का कथन समाप्त हुआ।

नरक से निकले हुए जीव गर्भज, कर्मभूमिज, संज्ञी एवं पर्याप्त ऐसे मनुष्य और तिर्यंचों में ही जन्म लेते हैं। परन्तु अन्तिम पृथ्वी से निकला हुआ जीव केवल तिर्यंच ही होता है, अर्थात् मनुष्य नहीं होता।

नरकों से निकले हुए उनमें से कितने ही जीव व्यालों (सर्पादिकों) में, दाढ़ों अर्थात् तीक्ष्ण दांतों वाले व्याघ्रादिक पशुओं में, गृद्धादिक पक्षियों में, तथा जलचर जीवों में जाकर और संख्यात वर्ष की आयु से युक्त होकर पुनः नरकों में जाते हैं।

नरक से आने वाले जीव कभी भी नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और चक्रवर्ती कदापि नहीं होते। तीसरी पृथ्वी तक के नारकी जीव वहां से निकल कर तीर्थंकर हो सकते हैं।

नाम	पूर्व पश्चिम	उत्तर दक्षिण लम्बाई			ति. प. ।४। गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
सामान्य नियम—सर्व नदियां जम्बूद्वीप से दुगुने विस्तार वाली हैं (ति. प. ।४।२५४६)					
दोनों बाह्य विदेहों की विभंगाद्रहवती व ऊर्मिमालिनी	सर्वत्र २५० यो. (ति. प. ।४। २६०८)	५२८८६१ १०८/२१२	५२८९८० १६०/२१२	५२९१००	२६३६
ग्रहवती व फनमालिनी		५४८३९० १२०/२१२	५४८५०९ १७२/२१२	५४८६२९ १२/२१२	२६४४
गम्भीर मालिनी व पंकावती		५६७९१९ १३२/२१२	५६८०३८ १८४/२१२	५६८१५८ २४/२१२	२६५२
दोनों अभ्यन्तर विदेहों की विभंगा क्षीरोदा व उन्मत्तजला		२७५३३३ ७६/२१२	२७५२१४ २४/२१२	२७५०९४ १८४/२१२	२६७६
मत्तजला व सीतोदा		२५५८०४ ६४/२१२	२५५६८५ २/२१२	२५५५६५ १७२/२१२	२६८४
तप्तजला व औषधवाहिनी		२३६२७५ ५२/२१२	२३६१५६	२३६०३६ १६०/२१२	२६९२

चौथी पृथ्वी तक के नारकी वहाँ से निकल कर चरम-शरीरी, धूम्रप्रभा पृथ्वी तक के जीव सकल-संयमी और छठी पृथ्वी तक के नारकी जीव देशव्रती हो सकते हैं। अन्तिम (सातवीं) पृथ्वी से निकले हुए जीवों में कोई विरले ही सम्यक्त्व के धारक होते हैं।

इस प्रकार आगमन का वर्णन समाप्त हुआ।

आयु बन्ध के समय सिलकी रेखा के समान क्रोध, शल के समान मान, बाँस की जड़ के समान माया और कृमिराग के समान लोभ कषाय का उदय होने पर नरकायु का बन्ध होता है।

कृष्ण, नील अथवा कापोत इन तीन लेश्याओं का उदय होने से नरकायु को बाँध कर और मर कर उन्हीं लेश्याओं से युक्त होकर महाभयानक नरक को प्राप्त करता है।

जो पुरुष कृष्णादि तीन लेश्याओं से सहित है, उनका लक्षण यह है कृष्ण लेश्या से युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय तथा एकमात्र स्वकलत्रको भी मारने की इच्छा करता है।

दया धर्म से रहित, वैर को न छोड़ने वाला, प्रचण्ड कलह करने वाला और बहुत क्रोधी जीव कृष्ण लेश्या के साथ धूम-प्रभा पृथ्वी से लेकर अन्तिम पृथ्वी तक में जन्म लेता है।

विषयों में आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेकबुद्धि से रहित, मंद (मूर्ख), आलसी, कायर, प्रचुर मायाप्रपंच में संलग्न, निद्राशील, दूसरों के ठगने में तत्पर, लोभ से अन्ध, धन-धान्यजनित सुख का इच्छुक, और बहुसंज्ञायुक्त अर्थात् आहा-रादि चारों संज्ञाओं में आसक्त, ऐसा जीव नील लेश्या के साथ धमप्रभा पृथ्वी तक में जन्म लेता है।

जो अपने आपकी प्रशंसा और असत्य दोषों को दिखाकर दूसरों की निन्दा करता है, तथा जो भीरु, शोक व विषाद से युक्त, परका अपमान करने वाला और ईर्ष्या से संयुक्त है, जो

८. मध्यलोक की वापियों व कुण्डों का विस्तार :—

१. जम्बूद्वीप सम्बन्धी

नाम	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	ति. प. । ४. । गा.	रा. वा. ।३। सू. वा. । पृ. । पं.	ह. पु. ५। गा.	त्रि. स. गा.	ज. प. ।अ. गा.
सामान्य नियम—सरोवरों का विस्तार अपनी गहराई से ५० गुना है (ह. पु. ५।५०७) द्रहों की लम्बाई अपने-अपने पर्वतों की ऊंचाई से १० गुनी है, चौड़ाई ५ गुनी और गहराई दसवें भाग है। (त्रि. सा. ।५६८); (ज. प. ।३।७१)								
जम्बूद्वीप की जगती के मूलवाली								
उत्कृष्ट	२०० ध.	१०० .	२० ध.	३३				
मध्यम	१५० ध.	७५ .	१५ ध.	"				
जघन्य	१०० ध.	५० ध.	१० ध.	"				
पद्मद्रह	१००० ध.	५०० ध.	१०	१६५८	(त.सू.३।१५-१६)	१२६	दे. पूर्वोक्त सामान्य नियम	दे. पूर्वोक्त सामान्य नियम
महापद्म		पद्म से दुगुना		१७२७		१२६		
तिगिंछ		पद्म से चौगुना		१७६१		"		
केसरी		तिगिंछवत्		२३२३		"		
पुण्डरीक		महापद्मवत्		२३४४		"		
महापुण्डरीक		पद्मवत्		२३५५		"		
देवकुरु के द्रह		पद्मद्रहवत्		२०९०	१०।१३।१७४।३०	१९५	६५६	६।५०
उत्तरकुरु के द्रह		देवकुरुवत्		२११६				
नन्दनवन की वापियाँ	५० यो.	२५ यो.	१० यो.					
सौमनस वन की वापियां								
दृष्टि सं० १.	२५ यो.	२५ यो.	५ यो.	१९४७				
दृष्टि सं० २.		नन्दनवनवत्			१०।१३।१८०।७			
गंगा कुण्ड—		गोलाई का व्यास	गहराई					
दृष्टि सं० १	१० यो.		१० यो.	२१६-२२१				
दृष्टि सं० २	६० यो.		१० यो.	२१८	२२।५।१८७।२५	१४२	५८७	

दृष्टि सं० ३	६२½ यो.		१० यो.	२१६				
सिन्धुकुण्ड		गंगाकुण्डवत्			२२।५।१।८७।३२			
आगे सीतासीतोदा तक		उत्तरोत्तर दुगना			२२।३—८।१।८६			
आगे रक्तारक्तोदा तक		उत्तरोत्तर आधा			२२।६—१४।१।८६			
३२विदेहों की नदियों के कुण्ड	६३ यो.		१० यो.		१०।१३।१७६।२४			
विभंगा के कुण्ड	१२० यो.		१० यो.		१०।१३।१७६।१०			

जन्म भूमियों का ज. विस्तार को. ५, उ. वि. को. ४००, म. वि. को. १०-१५।

जन्म भूमियों की ऊंचाई अपने अपने विस्तार को अपेक्षा पांच गुणी है। ये जन्मभूमियां सात, तीन, दो, एक और पांच कोन वाली हैं।

ज. भू. की. ज. ऊंचाई को. २५, उ. ऊंचाई २०००, म. ऊं. ५०-७५।

जन्म भूमियों में एक, दो, तीन, पांच और सात द्वार-कोन और इतने ही दरवाजे होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था केवल श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में ही है।

इन्द्रक बिलों में ये जन्म भूमियां तीन द्वार और तीन कोनों से युक्त हैं। उक्त सब ही जन्म भूमियां नित्य ही कस्तूरी से अनन्तगुणित काले अन्धकार से व्याप्त हैं।

इस प्रकार जन्मभूमियों का वर्णन समाप्त हुआ।

नारकी जीव पाप से नरक बिल में उत्पन्न होकर और एक मुहूर्तमात्र काल में छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर आकस्मिक भय से युक्त होता है।

पश्चात् वह नारकी जीव भय से कांपता हुआ बड़े कष्ट से चलने के लिये प्रस्तुत होकर और छत्तीस आयुधों के मध्य में गिरकर वहां से उछलता है।

प्रथम पृथ्वी में जीव सात उत्सेध योजन और छह हजार पांच सौ धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है, इसके आगे शेष पृथ्वियों में उछलने का प्रमाण क्रम से उत्तरोत्तर दूना दूना है।

यो. ७, ध० ६५००।

जिस प्रकार दुष्ट व्याघ्र मृग के बच्चे को देखकर उसके ऊपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार क्रूर पुराने नारकी उस नवीन नारकी को देखकर धमकाते हुए उसकी ओर दौड़ते हैं।

जिस प्रकार कुत्तों के झुण्ड एक दूसरे को [illegible] देते हैं, उसी प्रकार नारकी नित्य ही परस्पर दुस्सह पीड़ादिक किया करते हैं।

वे नारकी जीव चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोंत, भाला, सुई, मूसल और तलवार इत्यादिक शस्त्रास्त्र, वन एवं पर्वत की आग, तथा भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष, शृगाल, कुत्ता, बिलाव और सिंह, इन पशुओं के अनुरूप परस्पर में सदैव अपने अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं।

अन्य नारकी जीव गहरा बिल, धूआं, वायु, अत्यन्त तपा हुआ खप्पर, यंत्र, चूल्हा, कण्डनी (एक प्रकार का कूटने का उपकरण), चक्की और दर्वी (बर्छी), इनके आकार रूप अपने शरीर की विक्रिया करते हैं।

उपर्युक्त नारकी शूकर, दावानल तथा शोणित और कीड़ों से युक्त सरित, द्रह, कूप और वापी आदि रूप पृथक् पृथक् रूप से रहित अपने अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं। तात्पर्य यह कि नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है, देवों के समान उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती।

पश्चात् विकट [illegible] वाले [illegible] मारने वाले अन्य नारकी [illegible] डालते हैं।

कोई नारकी जीव विलाप करते हुए [illegible] (कोल्हुओं) से पेले जाते हैं। दूसरे नारकी [illegible] जाते हैं, और इतर नारकी विविध प्रकार से छेदे जाते हैं।

दृष्टि सं० ३	६२½ यो.		१० यो.	२१९				
सिन्धुकुण्ड		गंगाकुण्डवत्			२२।५।१८७।३२			
आगे सीतासीतोदा तक		उत्तरोत्तर दुगना			२२।३—८।१८९			
आगे रक्तारक्तोदा तक		उत्तरोत्तर आधा			२२।९—१४।१८९			
३२विदेहों की नदियों के कुण्ड	६३ यो.		१० यो.		१०।१३।१७६।२४			
विभंगा के कुण्ड	१२० यो.		१० यो.		१०।१३।१७६।१०			

जन्म भूमियों का ज. विस्तार को. ५, उ. वि. को. ४००, म. वि. को. १०-१५।

जन्म भूमियों की ऊंचाई अपने अपने विस्तार को अपेक्षा पांच गुणी है। ये जन्मभूमियां सात, तीन, दो, एक और पाँच कोन वाली हैं।

ज. भू. की. ज. ऊंचाई को. २५, उ. ऊंचाई २०००, म. ऊं. ५०-७५।

जन्म भूमियों में एक, दो, तीन, पांच और सात द्वार-कोन और इतने ही दरवाजे होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था केवल श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक विलों में ही है।

इन्द्रक विलों में ये जन्म भूमियां तीन द्वार और तीन कोनों से युक्त हैं। उक्त सब ही जन्म भूमियां नित्य ही कस्तूरी से अनन्तगुणित काले अन्धकार से व्याप्त हैं।

इस प्रकार जन्मभूमियों का वर्णन समाप्त हुआ।

नारकी जीव पाप से नरक विल में उत्पन्न होकर और एक मुहूर्तमात्र काल में छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर आकस्मिक भय से युक्त होता है।

पश्चात् वह नारकी जीव भय से कांपता हुआ बड़े कष्ट से चलने के लिये प्रस्तुत होकर और छत्तीस आयुधों के मध्य में गिरकर वहाँ से उछलता है।

प्रथम पृथ्वी में जीव सात उत्सेध योजन और छह हजार पांच सौ धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है, इसके आगे शेष पृथ्वियों में उछलने का प्रमाण क्रम से उत्तरोत्तर दूना दूना है।

यो. ७, ध० ६५००।

जिस प्रकार दुष्ट व्याघ्र मृग के बच्चे को देखकर उसके ऊपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार क्रूर पुराने नारकी उस नवीन नारकी को देखकर धमकाते हुए उसकी ओर दौड़ते हैं।

जिस प्रकार कुत्तों के झुंड एक दूसरे को दारुण दुख देते हैं, उसी प्रकार नारको नित्य हो परस्पर दुस्सह पीड़ादिक किया करते हैं।

वे नारकी जीव चक्र, वाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोंत, भाला, सुई, मूसल और तलवार इत्यादिक शस्त्रास्त्र. वन एवं पर्वत की आग, तथा भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष, श्रृगाल, कुत्ता, विलाव और सिंह, इन पशुओं के अनुरूप परस्पर में सदैव अपने अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं।

अन्य नारकी जीव गहरा विल, धुआँ, वायु अत्यन्त तपा हुआ खप्पर, यंत्र, चूल्हा, कण्डनी (एक प्रकार का कूटने का उपकरण), चक्की और दर्वी (वर्छी), इनके आकार रूप अपने अपने शरीर की विक्रिया करते हैं।

उपर्युक्त नारकी शूकर, दावानल तथा शोणित और कीड़ों से युक्त सरित, द्रह, कूप और वापी आदि रूप पृथक् पृथक् रूप से रहित अपने अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं। तात्पर्य यह कि नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है, देवों के समान उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती।

वज्रमय विकट मुख वाले व्याघ्र और सिंहादिक, पीछे को भागने वाले अन्य नारकी को कहीं पर भी क्रोध से खा डालते हैं।

कोई नारकी जीव विरस विलाप करते हुए हजारों यंत्रों (कोल्हुओं) से पेले जाते हैं। दूसरे नारकी जीव वहाँ पर ही जाते हैं, और इतर नारकी विविध प्रकारों से छेदे जाते हैं।

२. अन्य द्वीप सम्बन्धी—

नाम	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	ति.प. ।५।गा.	रा.वा.।३।सू.। व.पृ.प.	ह.पु.।५। गा.	त्रि.सा. गा.	ज.प.अ. गा.
	यो.	यो.	यो.					
धात की खण्ड के पद्म आदि द्रह	जम्बूद्वीप से दूने				३३।५।१९५।२३			
नन्दीश्वर द्वीप की वापियां	१००,०००	१००,०००	१०००	६०	३५।-।१९८।११	६५७	९७१	

कोई नारकी परस्पर में एक दूसरे के द्वारा वज्रतुल्य सांकलों से खंमों सेवांधे जाते हैं, और कोई अत्यन्त जाज्वल्यमान दुष्प्रेक्ष्य अग्नि में फेंके जाते हैं।

कोई नारकी करोंत (आरी) के काटों के मुखों से फाड़े जाते हैं, और इतर नारकी भयंकर और विचित्र भालों से वेधे जाते हैं।

कितने ही नारकी जीव लोहे की कड़ाहियों में स्थित तपे हुए तेल में फेंके जाते हैं, और कितने ही जलती हुई ज्वालाओं से उत्कट अग्नि में पकाये जाते हैं।

कोयले और उपलों की आग में जल रहा है महान शरीर जिनका, ऐसे वे नारकी जीव शीतल जल समझ दौड़कर वैतरिणो नदी में प्रवेश करते हैं।

उस वैतरिणी नदी में कर्तरी (कैंची) के समान तीक्ष्ण जल के आकार परिणत हुए दूसरे नारकी उन नारकियों के शरीरों को दुस्सह अनेक प्रकार की पीड़ाओं को पहुँचाते हुए छेदते हैं।

वैतरिणी नदी के जल से नारकी कछुआ, मेंढक और मगर प्रभृति जलचर जीवों के विविध रूपों को धारणकर एक दूसरे को भक्षण करते हैं।

पश्चात् वे नारकी विस्तीर्ण शिलाओं के वीच में विलों को देखकर झटपट उनमें प्रवेश करते हैं, परन्तु वहाँ पर भी सहसा विशाल ज्वालाओं वाली महान् अग्नि उठती है।

पुन: जिनके सम्पूर्ण अंग तीक्षण अग्नि की ज्वालाओं के समूहों से जल रहे हैं, ऐसे वे ही नारकी शीतल छाया जानकर असिपत्र वन में प्रवेश करते हैं।

वहां पर विविध प्रकार के वृक्षों के गुच्छे, पत्र और फलों के पुंज पवन से ताड़ित होकर उन नारकियों के ऊपर दुष्प्रेक्ष्य (अदर्शनीय) वज्रदण्ड के समान गिरते हैं।

इसके अतिरिक्त उस असिपत्रवन से चक्र, वाण, कनक (शलाकाकार ज्योतिः पिंड), तोमर (वाणविशेष), मुद्गर, तलवार, भाला, मूसल तथा और भी अस्त्र-शस्त्र उन नारकियों के सिर पर गिरते हैं।

अनन्तर, जिनके शिर छिद् गये हैं, हाथ खण्डित हो गये हैं, नेत्र व्यथित हैं, आंतों के समूह लंवायमान हैं, और शरीर खून से लाल तथा भयानक हैं, ऐसे वे नारको अशरण होकर उस वन को भी छोड़ देते हैं।

गृद्ध, गरुड, काक तथा और भी वज्रमय मुखवाले व तीक्ष्ण दांतों वाले पक्षी नारकियों के शरीर को काटकर उन्हें खाते हैं।

अन्य नारकी उन नारकियों के अंग और उपांगों की हड्डियों का प्रचंड़ घातों से चूर्ण करके उत्पन्न हुए विस्तृत घावों में वहुत क्षार पदार्थों को डालते हैं।

घावों में क्षार द्रव्यों के डालने से यद्यपि वे नारकी करुणापूर्ण विलाप करते हैं और चरण युगल में लगते हैं

९. अढाई द्वीप के कमलों का विस्तार

नाम	ऊंचाई या विस्तार	कमल सामान्य को.	नाल को.	मृणाल को.	पत्ता को.	कणिका को.	ति.प.।४। गा.	रा.वा.।३। १७१-१८५। पंक्ति	ह.पु.।५। गा.	त्रि.सा. गा.	ज.प.अ. गा.
पद्म द्रह का	ऊंचाई—										
मूल कमल	दृष्टि सं० १	४	४२			१	१६६७		१२८	५७०-५७१	६।७४
मूल कमल	दृष्टि सं० २				२	२	१६७०	८, ९			
	विस्तार —										
	दृष्टि सं० १	४ या २	१	३		१	१६६७-१६७९			५७०-५७१	
	दृष्टि सं० २	४	१	३	१	२	१६६७-१६७०	८	१२८		३।७४

नोट :—जल के भीतर १० योजन या ४० कोस तथा ऊपर दो कोस (रा.वा.।-।१८५।९); (ह.पु.५।१२८); (त्रि.सा.।५७१); (ज.प.।३।७४)

नाम	ऊंचाई या विस्तार	कमल सामान्य को.	नाल को.	मृणाल को.	पत्ता को.	कणिका को.	ति.प.।४। गा.	रा.वा.।३। १७१-१८५। पंक्ति	ह.पु.।५। गा.	त्रि.सा. गा.	ज.प.अ. गा.
परिवार कमल		सर्वत्र उपरोक्त से आधा						१९			
आगे तिगिंछ द्रह तक		उत्तरोत्तर दूना						त.सू.।३।१८			३।१२७
केसरी आदि के द्रह		तिगिंछ आदि वत्						त.सू.।३।२६			
हिमवान् पर कमलाकार कूट	ऊंचाई	१				१	२०६	२२।२।१८८।३			३।७४
	विस्तार	जल के ऊपर २			१।२	१	२५४				
धातकीखंड के			जम्बूद्वीप वालों से दूने (रा.वा.।३।३३।५।१९५।२३)								

तथापि अन्य नारकी उस प्रकार खिन्न अवस्था में ही उन्हें खंड खंड करके चूल्हे में डालते हैं।

इतर नारकी परस्त्री में आसक्त रहने वाले जीवों के शरीरों में अतिशय तपी हुई लोहमय युवती स्त्री की मूर्ति को दृढ़ता से लगाते हैं और उन्हें जलती हुई आग में फेंकते हैं।

जो पूर्व भव में मांस भक्षण के प्रेमी थे उनके शरीर के मांस को काटकर अन्य नारकी रक्त से भीगे हुए उन्हीं के मांस खंडों को उनके ही मुखों में डालते हैं।

मधु और मद्य का सेवन करने वाले प्राणियों के मुखों में नारकी अत्यन्त तपे हुए द्रवित लोहे को डालते हैं, जिससे उनके अवयवसमूह भी पिघल जाते हैं।

जिस प्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ कुएं का जल फिर से मिल जाता है, इसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छेदा गया नारकियों का शरीर भी फिर मिल जाता है। तात्पर्य यह कि अनेकानेक शस्त्रों से छेदने पर भी नारकियों का अकाल मरण नहीं होता।

नरकों में कच्छुरि (कपिकच्छु, केवांच), करोंत, सुई और खर की आग इत्यादि विविध प्रकारों से नारकी परस्पर में एक दूसरे को यातनायें किया करते हैं।

धर्मा पृथ्वी के नारकी अत्यन्त तीखी और कड़वी कत्थरि (कचरी या अचार ?) की शक्ति से अनन्तगुणी तीखी और कड़वी थोड़ी सी मट्टी को चिरकाल में खाते हैं।

नरकों में वकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊंट, बिल्ली और मेंढ़े आदि के सड़े हुए शरीरों की गन्ध से अनन्तगुणी दुर्गन्धवाला आहार होता है।

रत्नप्रभा से लेकर अन्तिम पृथ्वीपर्यन्त अत्यन्त सड़ा, अशुभ और उत्तरोत्तर असंख्यात-गुण ग्लानिकर अन्न आहार होता है।

धर्मा पृथ्वी में जो आहार है, उसकी गन्ध से यहां पर एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं, इसके आगे शेष द्वितीयादिक पृथ्वियों में इसकी घातक शक्ति, आधा आधा कोस और भी वढ़ती गई है।

धर्मा १; वंशा ३/२; मेघा २; अंज. ५/२; अरि ३; मघ. ७/२; माघ. ४ कोस।

पूर्व में देवायुका वन्ध करने वाले कोई नर या तिर्यंच अनन्तानुवन्धी में से किसी एक का उदय आजाने से रत्नत्रयं को नष्ट करके असुर कुमार जाति के देव होते हैं।

सिकतानन, असिपत्र, महावल, महाकाल, श्याम और शवल, रुद्र, अवरीष, विलसित नामक, महारुद्र, महाखर नामक, काल, तथा अग्निरुद्र नामक, कुम्भ और वैतरणि आदि असुर कुमार जाति के देव तीसरी वालुका प्रभा पृथ्वी तक जाकर नारकियों को क्रोधित कराते हैं।

इस क्षेत्र में जिस प्रकार मनुष्य मेंढ़े और भैंसे आदि के युद्ध को देखते हैं, उसी प्रकार नरक में असुर जाति के देव नारकियों के युद्ध को देखते हैं और मन में सन्तुष्ट होते हैं।

रत्नप्रभादिक पृथ्वियों में नारकी जीव, जव तक क्रमशः एक, तीन, सात, दश, सत्तरह, वाईस और तेतीस अर्णवोपम (सागरोपम) पूर्ण होते हैं, तव तक वहुत भारी दुख को प्राप्त करते हैं।

नरकों में पचने वाला नारकियों को क्षणमात्र के लिये भी सुख नहीं है, किन्तु उन्हें सदैव दारुण दुःखों का अनुभव होता रहता है।

नारकियों के शरीर कदलीघात (अकालमरण) के विना आयु के अन्त में वायु से ताड़ित मेघों के समान निःशेष विलीन हो जाते हैं।

इस प्रकार पूर्व में किये गये दोषों से जीव नरकों में जिस नाना प्रकार के दुख को प्राप्त करते हैं, उस दुख के संपूर्ण स्वरूप का वर्णन करने के लिये भला कौन समर्थ है ?

सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वत के शिखर से मिथ्यात्व भावरूपी पृथ्वी पर पतित हुआ प्राणी नरकादिक पर्यायों में अत्यन्त दुःख को प्राप्त कर निगोद में प्रवेश करता है।

सम्यक्त्व और देशचारित्र को प्राप्त कर यह जीव विषय सुख के निमित्त उससे (सम्यक्त्व और चारित्र से) चलायमान हो जाता है, और इसीलिये वह नरकों में अत्यन्त दुख को भोगकर निगोद में प्रविष्ट होता है।

कभी सम्यक्त्व और सकल संयम को भी प्राप्त कर विषयों के कारण उनसे चलायमान होता हुआ नरकों में अत्यन्त दुख को पाकर निगोद में प्रवेश करता है।

जिसका चित्त सम्यग्दर्शन से विमुख है तथा जो ज्योतिष और मंत्रादिकों से आजीवका (वृत्ति) करता है, ऐसा जीव नारकादिक में वहुत दुःख को पाकर निगोद में प्रवेश करता है।

दुःख के स्वरूप का वर्णन समाप्त हुआ।

धर्मा आदि तीन पृथ्वियों में मिथ्यात्व भाव से संयुक्त नारकियों में से कोई जाति स्मरण से, कोई दुर्वार वेदना से व्यथित होकर, और धर्म से सम्वन्ध रखने वाली कथाओं को देवों से सुनकर अनन्त भावों के चूर्ण करने में निमित्त भूत ऐसे सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते हैं।

पकप्राभादिक शेष चार पृथ्वियों के नारकी जीव देवकृत प्रवोध के विना जाति स्मरण और वेदना के अनुभवमात्र से ही सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते हैं।

सम्यग्दर्शन के ग्रहण का कथन समाप्त हुआ।

जो मद्य को पीते हैं, माँस की अभिलाषा करते हैं, जीवों का घात करते हैं,और मृगया में तृप्त होते हैं, वे क्षणमात्र के सुख के लिये पाप उत्पन्न करते हैं और नरक में अनन्त दुखको पाते हैं।

जो जीव लाभ, क्रोध, भय अथवा मोह के वल से असत्य वोलते हैं, वे निरंतर भय को उत्पन्न करने वाले, महान् कष्ट कारक, और अत्यन्त भयानक नरक में पड़ते हैं।

भीत को छेदकर, प्रिय जनको मारकर और पट्टादिक को ग्रहण करके धन को हरने तथा अन्य सैकड़ों अन्यायों से मूर्ख लोग भयानक नरक में तीव्र दुख को भोगते हैं।

लज्जा से रहित, काम से उन्मत्त जवानी में मस्त, पर स्त्री में आसक्त, और रात-दिन मैथुन सेवन करने वाले प्राणी नरक में जाकर घोर दुख को प्राप्त करते हैं।

पुत्र, स्त्री, स्वजन और मित्र के जीवनार्थ जो लोग दूसरों को ठगकर तृष्णा को वढ़ाते हैं, तथा पर के धन को हरते हैं वे तीव्र दुखको उत्पन्न करने वाले नरक में जाते हैं।
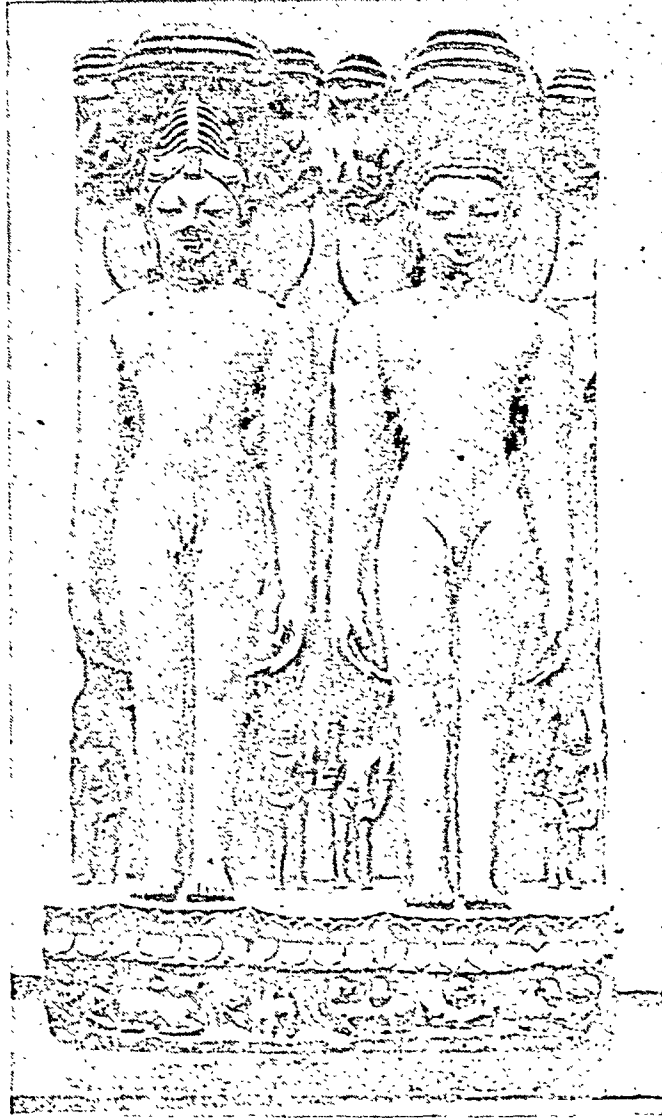
श्री १००८ दिगम्बरत्व के प्रचारक-श्री ऋषभनाथ जी
और अंतिम प्रचारक श्री महावीर स्वामी
(ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन के सौजन्य व आज्ञा से)

काल का वर्णन

अथ त्रिविधः कालः ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार मंगल निमित्त विशेष इष्ट देवता को नमस्कार करने के बाद कहते हैं कि त्रिविधः कालः अनन्तानन्तरूप अतीतकाल से भी अनन्त गुणित अनागत काल, समयादिक वर्तमान काल, इस प्रकार से काल तीन प्रकार के होते हैं।

द्विविधः ॥२॥

अर्थ—पाँच भरत और पाँच ऐरावतों की अपेक्षा से शरीर की ऊंचाई बल और आयु आदि की हानि से युक्त दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण वाला अवसर्पिणी काल तथा उत्सेध आयु बलादि की वृद्धिवाला दशकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्सर्पिणीकाल है। इस प्रकार काल के दो भेद हो जाते हैं।

षड्विधोवा ॥३॥

अर्थ—सुषम सुषमा, १ सुषमा, २ सुषमा दुःषमा ३ दुषम सुषमा, ४ दुःषमा, ५ अतिदुःषमा ६ ऐसे अवसर्पिणी काल के छः भेद हैं। इस प्रकार इनसे उलटे अति दुःषमा १ दुःषमा २ दुःषमसुषमा ३ सुषम दुःषमा ४ सुषमा ५ सुषम सुषमा ६ ये उत्सर्पिणी के छः भेद हैं।

इस अवर्पिणी में सुषम सुषमा नाम का जो प्रथम काल है वह चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण प्रवर्तता है, इसमें उत्तम भोग भूमि की सी प्रवृत्ति होती है। उस युग के स्त्री पुरुष ६००० धनुष की ऊंचाई वाले तथा तीन पल्योपम आयु वाले और तीन दिन के बाद बदरी फल के प्रमाण आहार लेने वाले होते हैं। उन के शरीर की कांति बाल सूर्य के समान होती है। समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन तथा ३२ शुभ लक्षणों से युक्त होते हैं। मार्दव और आर्जव गुण से युक्तवेसत्य सुकोमल सुभाषा भाषी होते हैं, उनकी बोली मृदु मधुर वीणा के नाद के समान होती है, वे ९००० हजार हाथियों के समान बल से युक्त होते हैं। क्रोध लोभ, मद मात्सर्य और मान से रहित होते हैं, सहज १, शारीरिक २ आगंतुक ३ दुःख से रहित होते हैं। संगीत आदि विद्याओं में प्रवीण होते हैं, सुन्दर रूप वाले होते हैं, सुगंध निःश्वास वाले होते हैं तथा मिथ्यात्वादि चार गुणस्थान वाले होते हैं, उपशमादि सम्यत्व के धारक होते हैं, जघन्य कापोत पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या रूप परिणाम वाले होते हैं, निहार रहित होते हैं, अनपवर्त्य आयु वाले होते हैं, जन्म से ही बालक कुमार यौवन और मरण पर्याय से युक्त होते हैं, रोग शोक खेद और स्वेद आदि से रहित, भाई बहन के विकल्प से रहित, परस्पर प्रेमवाले होते हैं। आपस में प्रेम पूर्वक दंपति भाव को लेकर अपने समय को बिताते हैं। अपने संकल्प मात्र से ही अपने को देने वाले दश प्रकार के कल्पवृक्षों से भोगोपभोग सामग्री प्राप्तकर भोगते हुए आयु व्यतीत करते हैं, जब अपनी आयु में नव महीने का समय शेष रह जाता है, तब वह युगल एक बार गर्भ धारण कर फिर अपनी आयु के छै महीने बाकी रहें उसमें देवायु को बांधकर मरण के समय दोनों दम्पत्ति स्वर्ग में देव होते हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, वे सब तो सौधर्म आदि स्वर्ग में और मिथ्यादृष्टि जीव भवनत्रिक में जाकर पैदा होते हैं, यहाँ पर छोड़ा हुआ युगल का शरीर तुरन्त ही ओस के समान पिघल जाता है, उनके द्वारा उत्पन्न हुए स्त्री पुरुष के जोड़े तीन दिन तक तो अंगुष्ठ को चूसते रहते हैं, तीन दिन के बाद रेंगने लगते हैं फिर तीन दिन बाद उनका मन स्थिर हो जाता है फिर तीन दिनों बाद यौवन प्राप्त होता है फिर तीन दिन बाद कथा सुनने वाले होते हैं फिर तीन दिन बाद सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होते हैं। इस प्रकार २१ दिन में सम्पूर्ण कला सम्पन्न हो जाते हैं।

अर्थ—उस भूमि में रात और दिन का गराब और अमीर आदि का भेद नहीं होता है। विष सर्प समूह अकाल वर्षा तूफान दावानल इत्यादि उस भूमि में नहीं होता है, पुनः पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन विकलेन्द्रिय असैनी पचेंद्रिय अपर्याप्त जीव

तथा जलचर जीव वहां नहीं होते हैं। स्थलचर और नभचर जाति के जीव युगल रूप से उत्पन्न होते हैं क्योंकि उस क्षेत्र में स्वभाव से परस्पर विरोध रहित तथा वहां पर होने वाले सरस स्वदिष्ट तृण पत्र पुष्प फलादि को खाकर अत्यंत निर्मल पानी को पीकर तीन पल्योपम कालतक जीकर निज आयु अवसान काल में सुमरण से मरकर देवगति में उत्पन्न होते है।

सुषमा (मध्यम भोगभूमि का) काल—

मध्यम भोगभूमि का काल तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम होता है सो उत्सेध आयु और वल आदि क्रमशः कम कम होते आकर इस काल के शुरू में दो कोस का शरीर दो पल्योपम आयु दो दिन के अंतर से फल मात्र आहार एक वार ग्रहण करते हैं, पूर्ण चन्द्र के प्रकाश के समान उनके शरीर की कांति होती है, जन्म से पांच दिन तक अंगुष्ठ चूसते हुए क्रमशः ३५ दिन में सम्पूर्ण कला सम्पन्न होते हैं। वाकी और वात पूर्व की भाँति समझना।

सुषम दुषमा (जघन्य भोगभूमि का)काल—

यह जघन्य भोगभूमि का काल यानी तीसरा काल दो कोड़ाकोड़ी सागर का होता है, सो उत्सेध आयु तथा वल क्रम से कम होते-होते इस काल के आदि में एक कोस का शरीर एक पल्योपम आयु और एक दिन अंतर से आंवला प्रमाण एक वार आहार लेते हैं। प्रियंगु (श्याम) वर्ण शरीर होता है। जन्म से सात दिन तक अंगुष्ठ चूसते हुए उनचास दिन में सर्वकला संपन्न वन जाते हैं, वाकी सव पूर्ववत् समझना। इस प्रकार यह अनवस्थित भोगभूमि का क्रम है।

चौथा दुषमा-सुषमा काल—

चौथा अनवस्थित कर्मभूमि का काल ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण का होता है। सो क्रमशः घटकर इस काल के आदि में ५०० धनुष शरीर कोड़ पूर्व प्रमित आयु प्रतिदिन आहार करने वाले पंच वर्ण शरीर महा-वल पराक्रमशाली अनेक प्रकार के भोग को भोगने वाले धर्मानुरक्त होकर प्रवर्तन करने वाले इस काल में त्रेसठशला का पुरुष क्रम से उत्पन्न होते हैं।

पाँचवा दुषमा काल—

जोकि २१ हजार वर्ष का होता है। उस काल के स्त्री पुरुष प्रारम्भ में १२० वर्ष की आयु वाले सात हाथ प्रमाण शरीर वाले रूक्षवर्ण वहु आहारी कम ताकत वाले शौचाचार से हीन, भोगादि में आसक्त रहने वाले होते हैं। ऐसे इस पंचम काल के अन्त में अन्तिम प्रतिपदा के दिन पूर्वाण्ह में धर्म का नाश, मध्याह्न में राजा का नाश और अपराण्ह में अग्नि का नाश काल स्वभाव से हो जाएगा।

छठवां अति दुषमा काल—

यह काल भी २१ हजार वर्ष का होता है सो आयु काय और वल कम होते होते इस छठे काल के प्रारम्भ में मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई दो हाथ की आयु २० वर्ष तथा धूम्र वर्ण होगा, निरंतर आहार करने वाले मनुष्य होंगे तथा इस छठे काल के अन्त में पन्द्रह वर्ष की आयु और एक हाथ का शरीर होगा। इस काल में षट्कर्म का अभाव, जाति पांति का अभाव, कुल धर्म का अभाव इत्यादि होकर लोग निर्भय स्वेच्छाचारी हो जावेंगे, वस्त्रालंकार से रहित नग्न विचरने लगेंगे मछली आदि का आहार करने वाले होंगे पशु पक्षी के समान उनकी जीवन चर्या होगी पति पत्नी का भी नाता नहीं रहेगा ऐसा इस छठे काल के अंत में जव ४९ दिन वाकी रहेंगे तव सात रोज तक तीक्ष्ण वायु चलेगी सात दिन अत्यंत भयंकर शीत पड़ेगी सात दिन वर्षा होगी फिर सात दिन विष की वृष्टि होगी इसके वाद सात दिन तक अग्नि की वर्षा होगी जिससे कि भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्य खंडों में क्षुद्र पर्वत उप-समुद्र छोटी-छोटी नदियां. ये सव भस्म होकर संपूर्ण पृथ्वी समतल हो जावेगी और सात दिन तक रज और धुवां से आकाश व्याप्त रहेगा। इस प्रकार इन क्षेत्रों में चौथा पांचवा और छठा इन तीनों कालों में अनवस्थित कर्म भूमि होगी इसके अनन्तर जिस प्रकार शुक्लपक्ष के वाद कृष्ण पक्ष आता है उसी प्रकार अवसर्पणी के वाद उत्सर्पणी काल का प्रारम्भ होता है जिसमें सवसे पहले अति दुषमा काल आरम्भ होता है।

अति दुषमा काल—

इस काल में मनुष्यों की आयु १५ वर्ष और उत्सेध एक हाथ की होगी जो कि क्रमशः वढ़ती रहती है। इस काल में
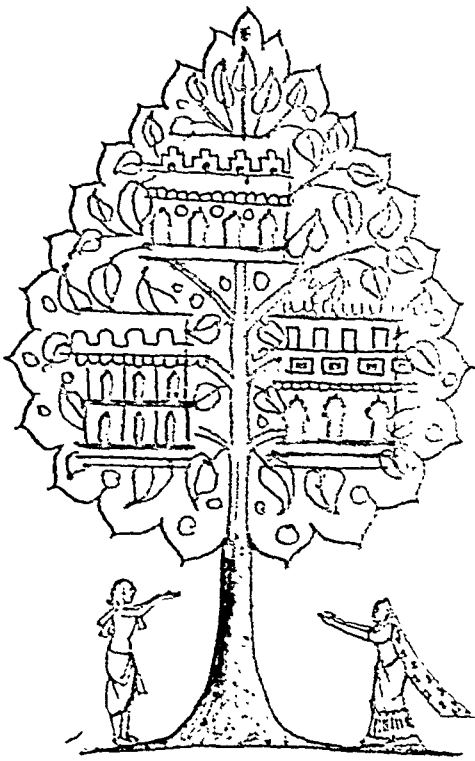
गृहांग कल्पवृक्ष
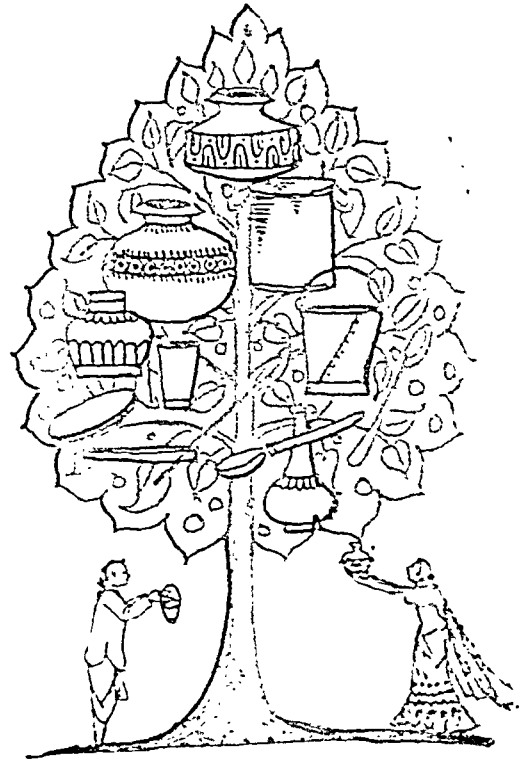
भाजनांग कल्पवृक्ष
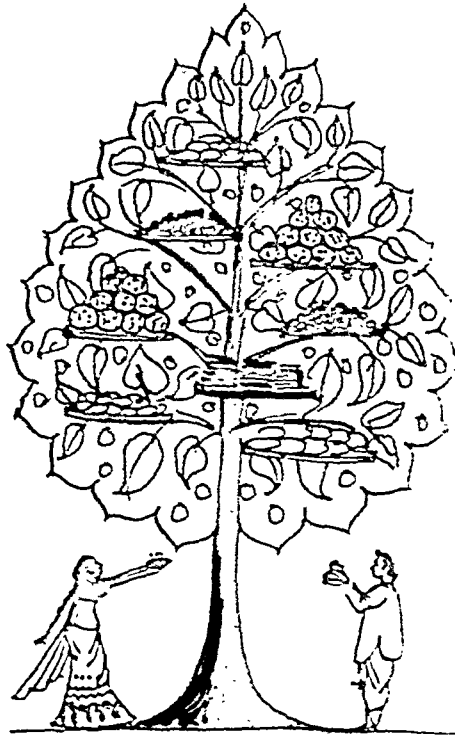
भोजनांग कल्पवृक्ष
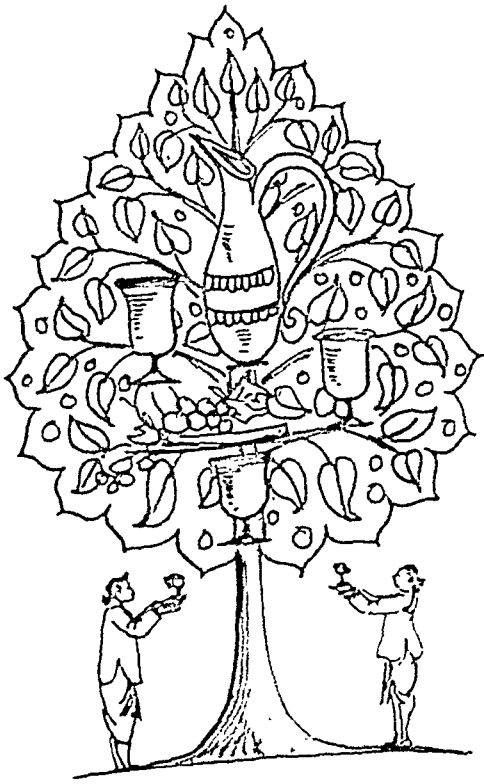
पानांग कल्पवृक्ष
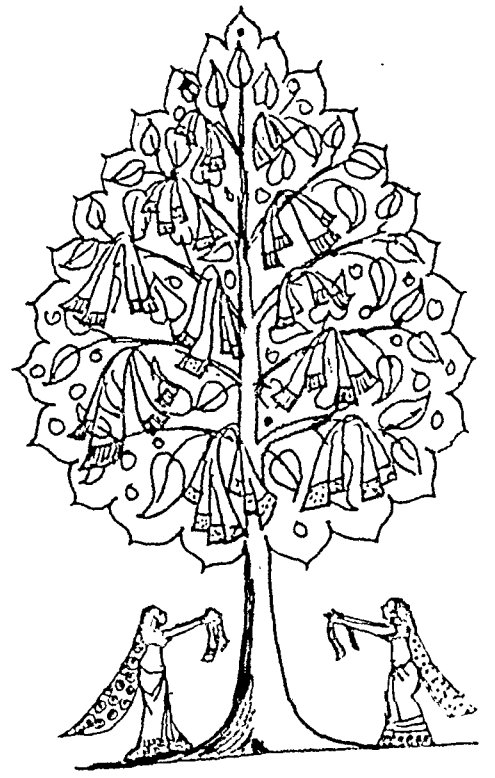
वस्त्रांग कल्पवृक्ष
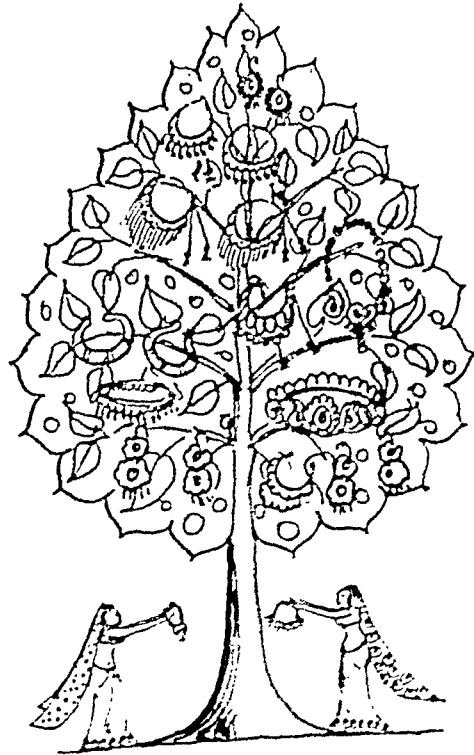
भूषणांग कल्पवृक्ष
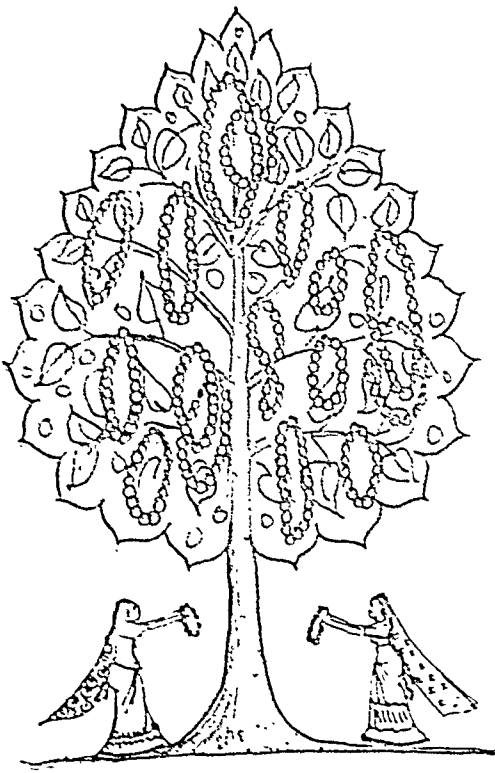
मालांग कल्पवृक्ष
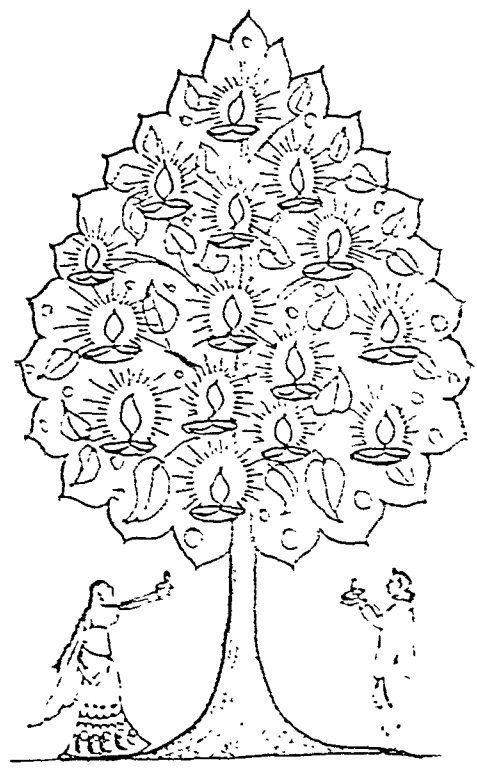
दीपांग कल्पवृक्ष
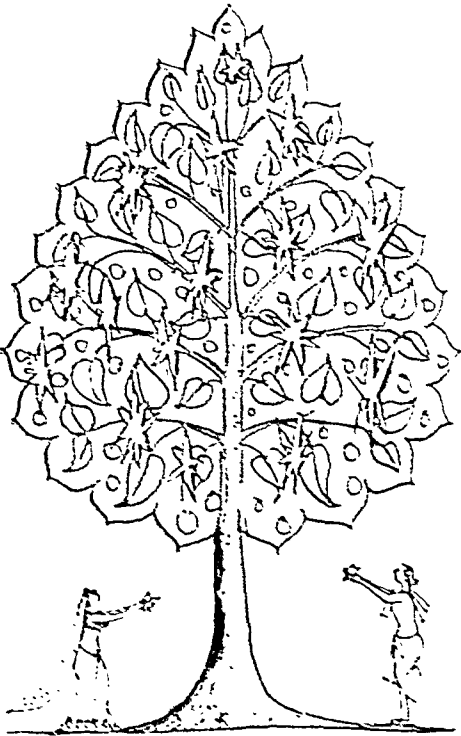
ज्योतिरांग कल्पवृक्ष
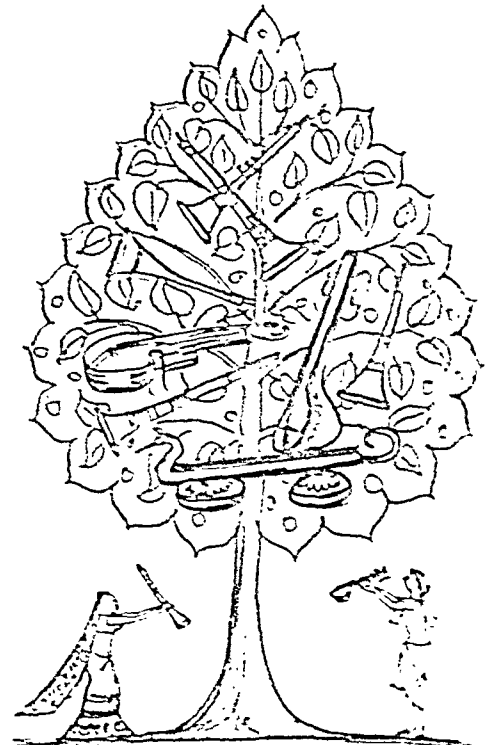
वाद्यांग कल्पवृक्ष

प्रारम्भ में सम्पूर्ण आकाश धूम्र से आच्छादित होने से पहिले के समान सात दिन तक लगातार पुष्करवृष्टि फिर सात दिन तक क्षीर वृष्टि, सात दिन तक घृत वर्षा, सात दिन तक इच्क्षु-रस की वर्षा होकर पूर्व में विजयार्ध पर्वत की विशाल गुफा में विद्याधर और देवों के द्वारा सुरक्षित रखे हुए जीवों में से कुछ तो मर जाते हैं वाकी जो जीवित रहते हैं वे सब निकल कर वाहर आते हैं और वे अति मधुर मिष्टान्न के समान होने वाली मृत्तिका के आहार को करते हुए वस्त्रालंकार से रहित होकर धूम्रवर्ण वाले मनुष्य जीवन पाकर क्रमशः वढ़कर दो हाथ के शरीर वाले हो जाते हैं।

पुनः दुःषम काल—

यह काल भी २१००० हजार वर्ष का होता है। इस काल के मनुष्य क्रम से वढ़कर सात हाथ की ऊंचाई युक्त शरीर वाले हो जाते हैं वाकी सब क्रम पूर्वोक्त प्रकार से समझ लेना। इसी प्रतिपचम काल के अंत में जब एक हजार वर्ष वाकी रहते हैं तब मनु लोग कुलंकर उत्पन्न होकर तत्कालोचित सत्क्रियाओं का उपदेश करते हैं।

प्रति दुःषम सुषम काल—

यह काल ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इस युग के मनुष्य पूर्वोक्त आयु काय से वढते वढ़ते जाकर अंत में ५०० सौ धनुष की ऊंचाई के शरीर वाले और एक करोड़ पूर्व की आयु वाले होते हैं।

शेष व्याख्यान पूर्ववत् समझना चाहिये।

इस प्रकार ये तीनों काल अनवस्थित कर्मभूमि वाले होते हैं। पुनः सुषम दुःषमा चौथा, सुषमा पांचवां तथा सुषम सुषमा छठा इस प्रकार ये तीन काल अनवस्थित जघन्य, मध्यम और उत्तम भोगभूमि रूप आते हैं जिनका प्रमाण दो कोड़ा कोड़ी सागर, तीन कोड़ाकोड़ी सागर और चार कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। जिन कालों में मनुष्य तथा स्त्रियां भी एक दो और तीन कोस की ऊंचाई के शरीर वाले तथा एक दो और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं। दो तीन दिन के वाद वदरीफल के प्रमाण एक वार आहार को करने वाले होते हैं। प्रियंगु समान शरीर, चंद्रमा के समान शरीर और वाल-सूर्य के समान शरीर वाले होते हैं। कल्प वृक्षों द्वारा प्राप्त भोगोपभोग को भोगने वाले होते हैं।

मिथ्यात्वादि चार गुणस्थान वाले होते हैं और संपूर्णक्रम पूर्वोक्त प्रकार होकर उनके शरीर की ऊंचाई आयु वल वढ़कर क्रम से वलशाली होते हैं। किन्तु इन्हीं पंच भरत और पंच ऐरावत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों में तथा मलेच्छ खंडों में भी दुःषम सुषमा नाम का काल शुरु से अंत तक एवं अंत से आदि तक हो ऐसी हानि वृद्धि होती है। इस प्रकार उत्सर्पिणी से अवसर्पिणी तक तथा अवसर्पिणी से उत्सर्पिणी होते हुए अनंतानंत कल्पकाल क्रम से प्रवर्तते रहते हैं।

दशविधकल्पद्रुमाः ॥४॥

१ गृहांग, २ भोजनांग, ३ भाजनांग, ४ पानांग, ५ वस्त्रांग, ६ भूषणांग, ७ माल्यांग, ८ दीपांग, ९ ज्योतिरांग १० तूर्यांग। इस प्रकारके कल्पवृक्ष उस भोग भूमि के जीवों को नानाभोगोपभोग सामग्री देते रहते हैं। जैसे आगे कहा है—

स्वर्ण की वनी हुई दीवाल से युक्त ऐसी नाट्यशाला, वड़े सुन्दर दरवाजों से युक्तमहल, इत्यादि नाना प्रकार के मकान जो कि उन भोगभूमि के मिथुन को इन्द्रिय सुखदायक हो उन सवको देने वाले गृहांग जाति के कल्पवृक्ष हैं।

अत्यन्त सुख देने वाले स्वर्ण और मणियों से बने हुए नाना प्रकार के वरतन देने वाले भाजनांग जाति के कल्प वृक्ष हैं।

स्वर्गीय अमृतमय भोजन के समान, तेज वल आयु और आरोग्य दायक ऐसे अमृतान्न को देने वाले भोजनांग जाति के कल्प वृक्ष हैं।

पीने में स्वादिष्ट, शारीरिक वल वर्द्धक पाप को नष्ट कर मन को पवित्र करने वाला तथा प्रमाद को भी हरने वाला ऐसा समयोचित मधुर पेय पदार्थ जिनसे मिलता है, ऐसे पानांग जाति के वृक्ष हैं।

अनेक प्रकार को मणियों से जड़े हुए, ज्यादा कामनी रेशम आदि के बने मन और इन्द्रियों को भाने वाले देवोपनीत वस्त्रों के समान मनोहर वस्त्रों का देने वाले वस्त्रांग जाति के कल्प वृक्ष हैं।

शरीर की शोभा को वढ़ाने वाले अत्यन्त मनोहरकेयूर कुण्डल मुद्रिका कर्णफूल, मकुट, रत्नहारादिक का अर्थात् मनवांछित नाना प्रकार के आभूषणों को देने वाले भूषणांग जाति के वृक्ष हैं।

अति लुभावने वाली सुगन्ध को देने वाले जाति जुही, चम्पा, चमेली, आदि नाना प्रकार के फूलों की माला को मालाकार के समान समयानुसार सम्पन्न कर देने वाले मालांग जाति के कल्पवृक्ष होते हैं।

दशों दिशाओं में उद्योत करने वाले मणिमय नाना प्रकार के दीपकों को हर सयम प्रदान करते हैं ऐसे दीपांग जाति के कल्प वृक्ष हैं।

भोग भूमियों के मन को प्रसन्न करने वाली ज्योति को निरंतर फैलाने वाले ज्योतिरंग जाति के कल्प वृक्ष हैं।

अति समतुल आवाज करने वाले घन शुषिर तथा वितत जाति के अनेक प्रकार के वादित्रों को देने वाले, ध्वनि से मन को उत्साह तथा वीरत्व पैदा करने वाले वाद्यांग जाति के कल्प वृक्ष हैं।

भरत और ऐरावत इन दोनों प्रकार के क्षेत्रों में अरहट के घट के समान उत्सर्पिणी के वाद अवसर्पिणी तथा अवसर्पिणी के वाद फिर उत्सर्पिणी इस प्रकार निरंतर अनंतानंत काल हो गये हैं और आगे होते रहेंगे।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल असंख्यात वर्ष वीत जाने के वाद एक हुंडावसर्पिणी काल होता है। अब उसी के चिन्ह को वतलाते हैं।

उसमें सुषम दुःषमा काल के समय में वर्षा होकर धूप पड़ती है जिससे विकलेंद्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है।

कल्प वृक्षों का विराम होते ही तत्काल प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती उत्पन्न होते हैं। चक्रवर्ती की विजय में भंग होता है। तथा उस चक्रवर्ती के निमित्त से ब्राह्मणों की उत्पत्ति होती है। फिर तीर्थंकर तथा वह चक्रवर्ती निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं। एवं आगे भी तीर्थंकर चक्री आदि होते रहते हैं।

दुःषमा सुषमा काल में क्रमशः (६३) शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। वहाँ नवम तीर्थंकर के वाद सोलहवें तीर्थंकर तक धर्म की हानि होती है। इन सात तीर्थंकरों के समय में क्रम से, आधा पल्य पल्य, का चतुर्थांश, पल्य का द्विभाग पल्य का त्रिभाग, पल्य का द्विभाग फिर पल्य का चतुर्थभाग में तो धर्म के पढ़ने वाले सुनने वाले और सुनाने वाले होते हैं। इसके वाद पढ़ने वाले और सुनने तथा सुनाने वाले न होने के कारण धर्म विच्छिन्न होता है।

इस काल में एकादश रुद्र होते हैं, तथा कलह प्रिय नव नारद होते हैं, और सातवें तेईसवें तथा चौवीसवें तीर्थंकर को उपसर्ग होता है।

तृतीय चतुर्थ पंचम काल में श्री जैन धर्म के नाशक कई प्रकार के कुदेव कुलिंग दुष्ट पापिष्ट ऐसे चंडाल शवर पान नाहल चिलातादि कुल वाले खोटे जीव उत्पन्न होते हैं। तथा दुःखम काल में कल्कि और उप कल्कि ऐसे ४२ जीव उत्पन्न होते हैं। तथा अतिवृष्टि अनावृष्टि भूवृद्धि वज्राग्नि इत्यादि अनेक प्रकार के दोष तथा विचित्र भेद उत्पन्न होते हैं। और इस भरत क्षेत्र के हुंडावसर्पिणी के तृतीय काल के अंत का आठवाँ भाग वाकी रहने से कल्प वृक्ष के वीर्य की हानि रूप में कर्म भूमि की उत्पत्ति का चिन्ह प्रगट होने से उसकी सूचना को वतलाने वाले मनुओं के नाम वतलाते हैं।

कुलंकर (मनु)

चतुर्दश कुलंकराः इति

इस जम्वूद्वीप के भरत क्षेत्र की अपेक्षा से प्रतिश्रुति १ सन्मति २ क्षेमंकर ३ क्षेमंधर ४ सीमंकर ५ सीमंधर ६ विमल वाहन ७ चक्षुष्मान ८ यशस्वी ९ अभिचंद्र १० चंद्राभ ११ मरुदेव १२ प्रसेनजित १३ नाभिराज १४ ऐसे चौदह कुलंकर अथवा मनु पूर्वभव में विदेह क्षेत्र में सत्पात्र को विशेष रूप से आहार दान दिया। उसके फलस्वरूप मनुष्यायु को वांधकर तत्पश्चात क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके वहाँ से आकर इस भरत क्षेत्र के क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर कुछ लोग अवधिज्ञान से व कुछ लोग जातिस्मरण से कल्प वृक्ष की सामर्थ्य में हानि उत्पन्न होती हैं उसके स्वरूप को समझते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

ये सभी कुलंकर पूर्व भव में विदेह क्षेत्र में क्षत्रिय राजकुमार थे, मिथ्यात्व दशा में इन्होंने मनुष्य आयु का बंध कर लिया था। फिर इन्होंने मुनि आदिक सत्पात्रों को विधि सहित भक्ति पूर्वक आहार दान दिया, दुखी जीवों का दुख करुणा भाव से दूर किया। तथा केवली श्रुतकेवली के पाद मूल में क्षायक सम्यक्त्व प्राप्त किया। विशिष्ट दान के प्रभाव से वे भोगभूमि में उत्पन्न हुए। इनमें से अनेक कुलंकर पूर्वभव में अवधि ज्ञानी थे, इस भव में भी अवधिज्ञानी हुए। अतः अपने समय के लोगों की कठिनाईयों का प्रतिकार अवधिज्ञान से

प्रतिश्रुति कुलंकर, आयु पल्ल के दशवें भाग शरीर की ऊंचाई १८०० धनुष। जनता को सूर्य चन्द्रमा ज्योतिषी देवों से न डरने का आश्वासन दिया।

सन्मति कुलंकर. आयु पल्य के सौवें भाग प्रमाण. शरीर की ऊंचाई १३०० धनुष, जनता को ग्रह, नक्षत्र, तारों के प्रकाश से भयभीत न होने का आश्वासन दिया और बताया कि ये ज्योतिषी देवों के विमान हैं घबराओ मत।

क्षेमंकर कुलकर

आयु १/१००० पल्य, शरीर की ऊंचाई ८०० धनुष, शरीर का रंग स्वर्ण जैसा।
उनके समय में सिंह, वाघ आदि जानवर दुष्ट प्रकृति के हो गये, जिनसे
स्त्री पुरुष भयभीत हुए। तब क्षेमंकर कुलकर ने सब को समझाया
कि ये पशु शान्त स्वभाव के नहीं रहे, पहले की तरह इन का
विश्वास मत करो और सावधान रहो। यह सुन कर
प्रजा के लोग सचेत और निर्भय हो गए।

(क्षेमन्धर कुलकर)

आयु पल्य के दस हजारवें भाग प्रमाण, शरीर की ऊंचाई ७७५ धनुष। इनके समय में सिंह, बाघ आदि और अधिक क्रूर बन गए जनता में भारी भय फैल गया। उन्होंने लोगों को पशुओं की दुष्ट प्रकृति से परिचय कराया और उनसे सुरक्षा का उपाय बताया। दीप जाति के कल्प वृक्ष की हानि हो जाने से दीपोद्योत करने का उपाय भी बतलाया

जानकर उनकी समस्या सुलझाई और कुलंकर अवधिज्ञानी तो नहीं थे किन्तु विशेष ज्ञानी थे, जाति स्मरण के धारक हुए थे उन्होंने उस समय कल्पवृक्षों की हानि के द्वारा लोगों की कठिनाईयों को जानकर उनका प्रतिकार करके जनता का कष्ट दूर किया। कुलंकरों का दूसरा नाम मनु भी है। इसका खुलासा इस प्रकार हैं।

प्रतिश्रुति कुलंकर

सुषम दुषमा नामक तीसरे काल में पल्य का आठवां भाग प्रमाण समय जब शेष रह जाता तब स्वर्ण समान कांति वाले प्रतिश्रुति कुलंकर उत्पन्न हुए। उनकी आयु पल्य के दशवें भाग १ प्रमाण थी उनका शरीर अठारहसौ १८०० धनुष ऊंचा था और उनकी देवी (स्त्री) स्वयंप्रभा थी।

उस समय ज्योतिरांग कल्पवृक्षों का प्रकाश कुछ मंद पड़ गया था इसलिये सूर्य और चन्द्र दिखाई देने लगे, शुरू में जब चन्द्र और सूर्य दिखलाई दिये वह आसाढ़ को पूर्णिमा का दिन था। यह उस समय के लिये एक अद्भुत विचित्र घटना थी, क्योंकि उससे पहले कभी ज्योतिरांग कल्पवृक्षों के महान् प्रकाश के कारण सूर्य चन्द्र आकाश में दिखाई नहीं देते थे। इस कारण उस समय के स्त्री पुरुष सूर्य चन्द्र को देखकर भयभीत हुए कि यह क्या भयानक चीज दीख रही हैं, क्या कोई भयानक उत्पात होने वाला है।

तब प्रतिश्रुति कुलंकर ने अपने विशेष ज्ञान से जानकर लोगों को समझाया कि ये आकाश में सूय चन्द्र नामक ज्योतिषी देवों के प्रभामय विमान हैं, ये सदा रहते हैं। पहले ज्योतिरांग कल्पवृक्षों के तेजस्वी प्रकाश से दिखाई नहीं देते थे किन्तु अब कल्पवृक्षों का प्रकाश फीका हो जाने से ये दिखाई देने लगे हैं। तुमको इनसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं, ये तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं करेंगे।

प्रतिश्रुति की आश्वासन भरी बात सुनकर जनता निर्भय, और संतुष्ट हुई।

सन्मति कुलंकर

प्रतिश्रुति का निधन हो जाने पर तृतीय काल में जब पल्य का अस्सीवां भाग शेष रह गया तब दूसरे कुलंकर सन्मति उत्पन्न हुए। उनका शरीर १३०० सौ धनुष ऊंचा था और आयु पल्य के सौवें $\frac{१}{१००}$ भाग प्रमाण थी, उनका शरीर सोने के समान कांतिवाला था। उनकी स्त्री का नाम यशस्वती था।

उनके समय में ज्योतिरांग (तेजांग) कल्पवृक्ष प्राय: नष्ट हो गये अत: उसका प्रकाश बहुत फीका हो जाने से ग्रह, नक्षत्र तारे भी दिखाई देने लगे। इन्हें पहले स्त्री पुरुषों ने कभी नहीं देखा था, अत: लोग इन्हें देखकर बहुत घबराये कि यह क्या कुछ है, क्या उपद्रव होने वाला है। तब सन्मति कुलंकर ने अपने विशिष्ट ज्ञान से जानकर जनता को समझाया कि सूर्य चन्द्रमा के समान ये भी ज्योतिषी देवों के विमान हैं, ये सदा आकाश में रहते हैं। पहले कल्पवृक्षों के तेजस्वी प्रकाश के कारण दिखाई न देते थे, अब उनकी ज्योति बहुत फीकी हो जाने से ये दिखाई देने लगे हैं। ये तारे तुमको कुछ हानि नहीं करेंगे।

सन्मति की विश्वासजनक बात सुनकर लोगों का भय दूर हुआ और उन्होंने सन्मति का बहुत आदर सत्कार किया।

क्षेमंकर कुलंकर

सन्मति की मृत्यु हो जाने पर पल्य के ८००वें ($\frac{१}{८००}$) भाग बीत जाने पर तीसरे कुलंकर 'क्षेमंकर' उत्पन्न हुए उनकी आयु ($\frac{१}{८०००}$) पल्य थी, शरीर ८०० धनुष ऊंचा था और उनका रंग सोने जैसा था। उनकी देवी (पत्नी) का नाम "सुनन्दा" था।

उनके समय में सिंह, बाघ आदि जानवर दुष्ट प्रकृति के हो गये, उनकी भयानक आकृति देखकर उस समय स्त्री पुरुष भयभीत हुए। तब क्षेमंकर कुलकर ने सबको समझाया कि अब काल दोष से ये पशु सौम्य शान्त स्वभाव के नहीं रहे, इस कारण आप पहले की तरह इनका विश्वास न करें, इनके साथ क्रीड़ा न करें, इनसे सावधान रहें। क्षेमंकर की बात सुनकर स्त्री पुरुष सचेत और निर्भय हो गये।

क्षेमंधर कुलंकर

क्षेमंकर कुलंकर के स्वर्ग चले जाने पर पल्य के ८ हजारवें ($\frac{१}{८००००}$) भाग बीत जाने पर चौथे कुलंकर क्षेमंधर नामक मनु (कुलकर) हुये। उनका शरीर ७७५ धनुष ऊंचा था और

उनकी आयु पल्य के दश हजारवें (१/१००००) भाग प्रमाण थी, उनकी देवी "विमला" नामक थी।

इनके समय में सिंह, वाघ आदि और अधिक क्रूर तथा हिंसक बन गये, इनसे जनता में बहुत भारी व्याकुलता और भय फैल गया। तब क्षेमंधर मनु ने इन हिंसक पशुओं की दृष्ट प्रकृति का लोगों को परिचय कराया और डंडा आदि से उनको दूर भगाकर अपनी सुरक्षा का उपाय बतलाया तथा दीपक जाति के कल्पवृक्ष की हानि हो जाने से दीपोद्योत करने का उपाय भी बतलाया, जिससे स्त्री पुरुषों का भय दूर हुआ।

सीमंकर कुलंकर

क्षेमंधर मनु के स्वर्गवास हो जाने पर पल्य के ८० हजारवें भाग व्यतीत हो जाने पर पांचवें कुलंकर 'सीमंकर" उत्पन्न हुए। इनका शरीर ७५० धनुप ऊंचा था और आयु पल्य के एक लाखवें भाग प्रमाण थी। उनकी देवी का नाम "मनोहारी" था। इस मनु ने उस समय के लोगों को वृक्षों की सीमा बताई।

सीमंधर कुलंकर

सीमंकर कुलंकर के स्वर्ग चले जाने पर सीमंधर नामक छठे कुलंकर हुए। इनका शरीर ७२५ धनुप ऊंचा और आयु पल्य के दश लाखवें भाग प्रमाण थी, इनकी देवी यशोधरा थी इस मनु ने उस समय के लोगों को भिन्न-भिन्न रहने की सीमा बतलाई और निराकुल करके आपस की कलह मिटाई।

विमलवाहन कुलंकर

सीमंकर मनु के स्वर्गारोहण के बाद पल्य के अस्सी लाखवें भाग प्रमाण समय बीत जाने पर विमलवाहन नामक सातवें कुलंकर उत्पन्न हुए। इनकी आयु पल्य के एक करोड़वें हिस्से थी, और शरीर ७०० धनुप ऊंचा था। इनकी देवी का नाम सुमति था।

इन्होंने स्त्री पुरुषों को दूर तक आने जाने की सुविधा के के लिये हाथी घोड़े आदि वाहनों पर सवारी करने का ढंग समझाया।

चक्षुष्मान कुलंकर

सातवें कुलंकर विमलवाहन के स्वर्गारोहण के पश्चात पल्य के आठ करोड़वें १/८,००००००० भाग बीत जाने पर आठवें मनु चक्षुष्मान उत्पन्न हुए। उनकी आयु पल्य के दश करोड़वें भाग प्रमाण थी और शरीर की ऊंचाई ६७५ धनुप थी। उनकी देवी का नाम था वसुन्धरा।

इनसे पहले भोगभूमि में बच्चों (लड़की लड़के का युगल) उत्पन्न होते ही माता पिता की मृत्यु हो जाती थी, वे अपने बच्चों का मुख भी न देख पाते थे किन्तु आठवें कुलकर के समय माता पिताओं के जीवित रहते हुये बच्चे उत्पन्न होने लगे, यह एक नई घटना थी जिसको कि उस समय के स्त्री पुरुप नहीं जानते थे, अतः वे आश्चर्यचकित और भयभीत हुये कि यह क्या मामला है।

तब चक्षुष्मान् कुलंकर ने स्त्री पुरुषों को समझाया कि ये तुम्हारे पुत्र पुत्री हैं, इनसे भयभीत मत होओ, इनका प्रेम से पालन करो, ये तुम्हारी कुछ हानि नहीं करेंगे। कुलंकर की बात सुनकर जनता का भय तथा भ्रम दूर हुआ और उन्होंने कुलंकर की स्तुति तथा पूजा की।

यशस्वी कुलंकर

आठवें कुलंकर की मृत्यु हो जाने के बाद पल्य के अस्सी करोड़वें भाग (१/८००००००००) समय बीत जाने पर ९ वें कुलंकर यशस्वी हुये। उनका शरीर ६५० धनुप ऊंचा था और आयु पल्य के सौ करोड़वें भाग प्रमाण थी। उनकी देवी का नाम कान्तमाला था।

यशस्वी कुलंकर ने यह एक विशेप कार्य किया कि इन भोगभूमिज स्त्री पुरुषों के जीवन काल में ही उनके सन्तान होने लगी थी, उन्होंने लड़के लड़कियों के नाम रखने की पद्धति चालू की।

अभिचन्द्र कुलंकर

नौवें कुलंकर के स्वर्गवास हो जाने पर पल्य के ८०० करोड़ोवें भाग समय बीत जाने पर दसवें अभिचन्द्र मनु हुये। उनके शरीर की ऊंचाई छः सौ पच्चीस ६२५ धनुप थी और आयु एक करोड़ से भाजित पल्य के बराबर थी। उनकी देवी का नाम श्रीमती था।

इन्होंने बच्चों के लालन-पालन की, उनको प्रसन्न करने की, उनका रोना बन्द कराने की विधि स्त्री पुरुषों को सिखाई

सीमङ्कर कुलकर

आयु पल्य के लाखवें भाग शरीर की ऊंचाई ७५० धनुष
उस समयके लोगों को वृक्षों की सीमा बतलाई ।

सीमन्धर कुलकर

आयु पल्य के दशलाखवें भाग प्रमाण शरीर की ऊंचाई ७५० धनुष।
उस समय के लोगों को भिन्न भिन्न रहने की सीमा बतलाई.
निरा कुल कर के आपस की कलह मिटाई।

विमलवाहन कुलकर

आयु पल्य के एक करोड़वें भाग प्रमाण, शरीर की ऊंचाई ७०० धनुष।
लोगों को दूरतक आने जाने के लिए हाथी घोड़े आदि वाहनों
पर सवारी करने का ढंग समझाया।

चक्षुष्मान कुलकर
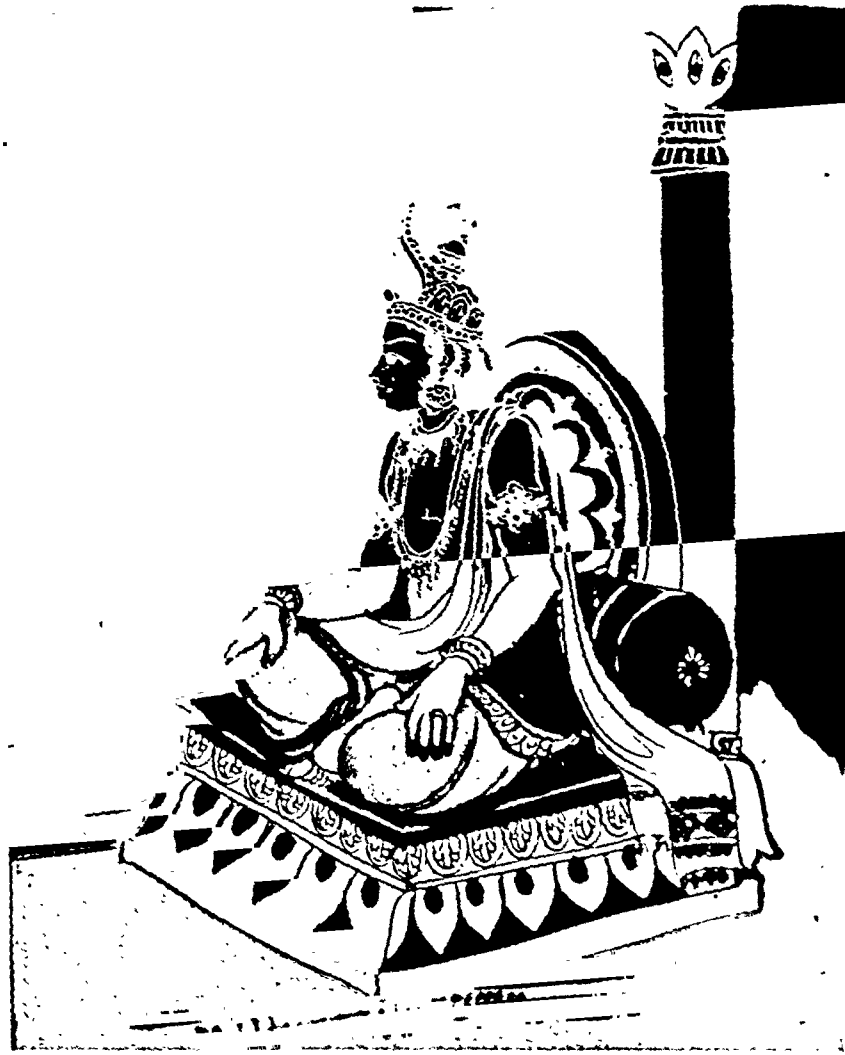
आयु पल्य के दस करोड़वें भाग, शरीर की ऊंचाई ६७५ धनुष। भोग भूमि में
बच्चों के युगल पैदा होते ही माता पिता की मृत्यु हो जाती थी, वे
अपने बच्चों का मुख भी नहीं देख पाते थे, इनके पैदा होते ही युगल
बच्चों के पैदा होते समय माता पिता का मरण बन्द हो गया,
जिसे देख कर लोग घबराये परन्तु इन्होंने समझाया
कि ये तो तुम्हारे बच्चे हैं इनसे मत घबराओ।

यशस्वी कुलकर

आयु पल्य के सौ करोड़वें भाग, शरीर की ऊंचाई ६५० धनुष।
भोग भूमि में उत्पन्न होने वाले बच्चों का नाम रखना चालू करवाया।

अभिचन्द्र कुलकर

आयु पल्य के करोड़वें भाग भाजित शरीर की ऊंचाई ६२४ धनुष।
बच्चों को प्रसन्न रखने की रोना बन्द कराने की विधि सिखलाई।
बोलने का अभ्यास कराया।

चन्द्राभ कुलकर

आयु पल्य के दस हजार करोड़वें भाग. शरीर की ऊंचाई ६०० धनुष।
इनके समय में बच्चे कुछ अधिक काल तक जीने लगे। सो
इनके जीवन के वर्षों की सीमा बतलाई और निराकुल किया।

मरुदेव कुलकर
आयु एक लाख करोड़ से भाजित पल्य के बराबर, शरीर की ऊंचाई
५७५ धनुष। इनके समय में मेघ पानी बरसने लगा जिससे
४० नदियां पैदा हो गयीं, इनको नाव आदि से उतर
उपाय बतलाया।

प्रशेनजित कुलकर

आयु दशलाख करोड़ से भाजित पल्य के बराबर शरीर की ऊंचाई ४४० धनुष।
प्रसूत बच्चे के ऊपर की जरायु को निकालने का उपाय बतलाया।

नाभिराय कुलकर

आयु एक करोड़ पूर्व, शरीर की ऊंचाई ५२५ धनुष। इनके
समय में उत्पन्न होने वाले बच्चों की नाभि में नाल आने
लगा। उसे काटने की विधि बतलाई। कल्पवृक्ष
नष्ट हो गये थे, इन्होंने पेड़ों के फलों को
धान्य को तथा ईख के रस को पीने
खाने का उपाय बतलाया, इसलिए
इन्हें इक्ष्वाकुवंश सार्थक नाम
से कहने लगे। इनके
पुत्र श्री ऋषभनाथ
जी हुए।
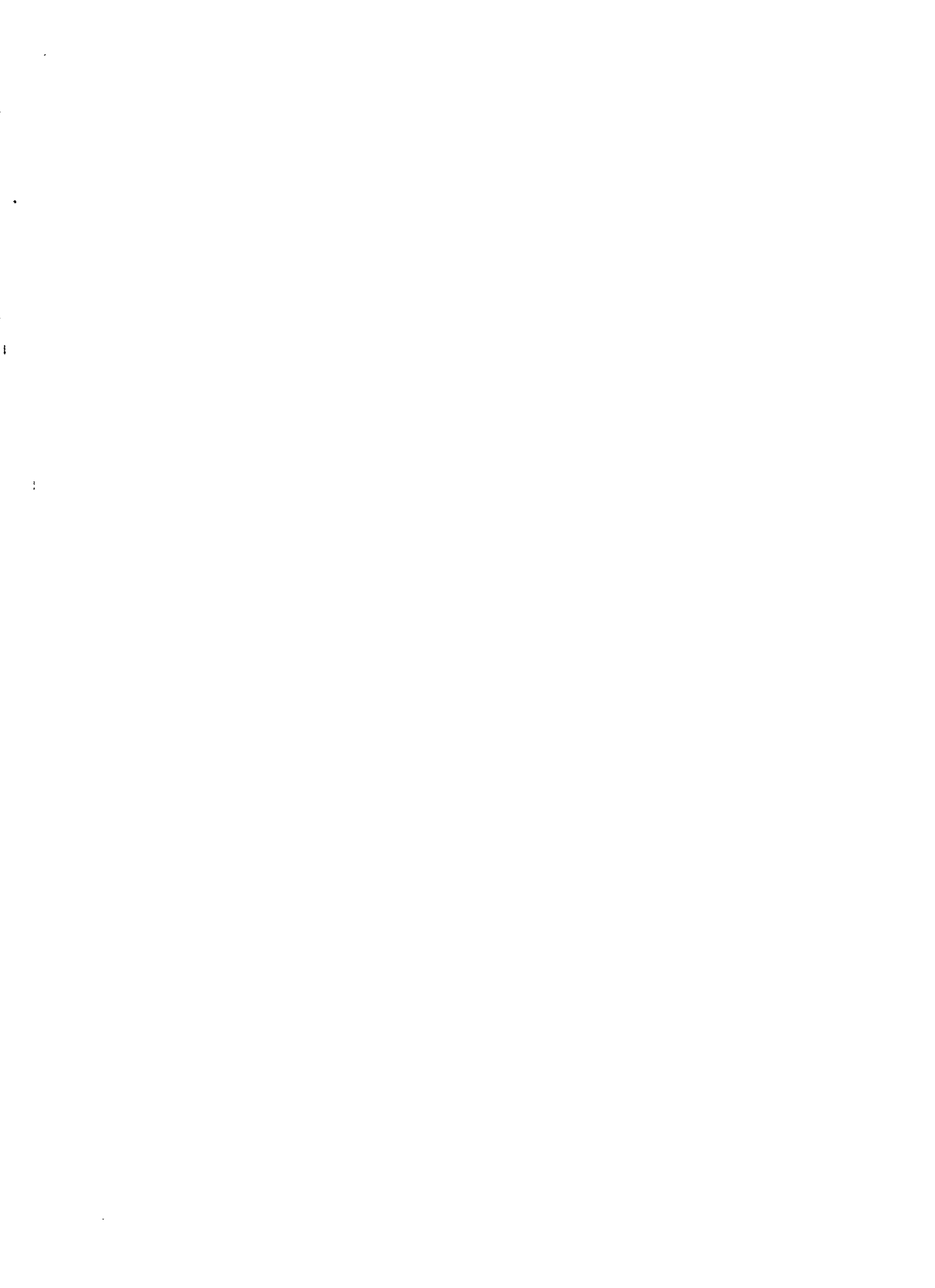
ऋषभनाथ कुलकर

आयु ८४ लाख वर्ष शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष
आपने लोगों को खेतीबाड़ी, व्यापार, अस्त्र शस्त्र
चलाना वस्त्र बनाना, लिखना पढ़ना
आदि कलाएँ सिखलाईं।

ऋषभनाथ कुलकर

आयु ८४ लाख वर्ष शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष
आपने लोगों को खेतीवाड़ी, व्यापार, अस्त्र शस्त्र
चलाना वस्त्र बनाना, लिखना पढ़ना
आदि कलाएं सिखलाई।

(भरत चक्रवर्ती कुलकर)

शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष, आयु चौरासी लाख वर्ष पूर्व
लोगों को मल्ल विद्या की शिक्षा दिलाई।

रात्रि में बच्चों को चन्द्रमा दिखलाकर क्रीड़ा करने का उपदेश दिया तथा बच्चों को बोलने का अभ्यास भी अनुपम कराने की प्रेरणा की।

चन्द्राभ कुलंकर

दशवें कुलंकर के स्वर्ग जाने के बाद आठ हजार करोड़वें भाग (८००००००००००) प्रमाण पल्य बीत जाने पर चन्द्राभ नामक ग्यारहवें कुलंकर उत्पन्न हुये। उनका शरीर ६०० सौ धनुष ऊंचा था और आयु पल्य के (१०००००००००००) दश हजार करोड़वें भाग समान थी। उनकी पत्नी सुन्दरी प्रभावती थी।

इस मनु के समय बच्चे कुछ अधिक काल जीने लगे सो उनके जीवन के वर्षों की सीमा बतलाई और निराकुल किया।

मरुदेव कुलंकर

चन्द्राभ कुलकर के स्वर्ग जाने के पश्चात् अस्सी हजार करोड़ से भाजित (८००००००००००००) पल्य का समय बीत जाने पर मरुदेव नामक बारहव कुलंकर उत्पन्न हुये। उनकी आयु एक लाख करोड़ से भाजित पल्य के बराबर और शरीर (५७५) धनुष ऊंचा था। उनकी पत्नी का नाम सत्या था।

इनके समय में पानी खूब बरसने लगा जिससे ४० नदियां पैदा हो गई, उनको नाव आदि के द्वारा जलतर उपाय बतलाया।

प्रशेनजित कुलंकर

मरुदेव का निधन हो जाने पर (१०,०००००,०००००००) दसलाख करोड़ से भाजित पल्य प्रमाण समय बीत जाने पर प्रशेनजित नामक तेरहवें कुलंकर पैदा हुये। उनकी आयु दशलाख करोड़ (१०,०००००,०००००००) से भाजित पल्य के बराबर थी। उनका शरीर ५५० धनुष ऊंचा था, उनकी स्त्री का नाम अमृतमती था। इन्होंने प्रसूत बच्चे के ऊपर की जरायु को निकालने के उपाय को उपदेश दिया।

नाभिराय कुलंकर

प्रशेनजित के स्वर्ग चले जाने पर (८०,०००००,-०००००००) भाग पल्य बीत जाने पर चौदहवें कुलंकर नाभिराय उत्पन्न हुये। उनका शरीर ५२५ धनुष ऊंचा था और उनकी आयु एक करोड़ पूर्व (१.०००००००) की थी। उनकी महादेवी का नाम मरुदेवी था।

नाभिराय के समय उत्पन्न होनेवाले बच्चों का नाभि में लगा हुआ नाल आगे लगा। उस नाल को काटने की विधि बतलाई। सिवाय इनके समय में भोजनांग कल्पवृक्ष नष्ट हो गये जिससे जनता भूख से व्याकुल हुई तब नाभिराय ने उनको उगे हुये पेड़ों के स्वादिष्ट फल खाने तथा धान्य को पकाकर खाने की एवं ईख को कोल्हू में पेलकर उसका रस पीने का उपाय बताया। इसलिये उस समय के लोग उन्हें इक्ष्वाकुहंस सार्थक नाम से भी कहने लगे। ताकि इक्ष्वाकु वंश चालु हुआ। इन्हीं के पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ हुये। जो कि १५ वें कुलंकर तथा ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती सोलहवें मनु हुये।

प्रथम कुलंकर से लेकर आठवें कुलंकर तक प्रजा की रक्षार्थ 'हा' यह दंड नियत हुआ, इसके बाद के पांच मनुओं तक में यानी दशवें कुलंकर तक 'हा' और 'मा' ये दो दंड तथा इसके बाद पांच मनुओं तक यानी ऋषभदेव भगवान् तक की प्रभा में हा, मा और धिक् ये तीन दंड चले। फिर भरत चक्रवर्ती के समय में तनु दंड भी चालू हो गया था। इसी प्रकार १ कनक, २ कनकप्रभ, ३ कनकराज, ४ कनकध्वज, ५ कनकपुंगव, ६ नलिन, ७ नलिनप्रभ, ८ नलिनराज, ९ नलिनध्वज, १० नलिन पुंगव, ११ पद्म, १२ पद्मप्रभ, १३ पद्मराज, १४ पद्मध्वज, १५ पद्मपुंगव और सोलहवें महापद्म। यह सोलह कुलंकर भविष्य काल में उत्सर्पिणी के दूसरे काल में जब एक हजार वर्ष बाकी रहेगा तब पैदा होंगे।

अब आगे नो प्रकृतियों में सबसे अधिक पुण्य प्रकृति (तीर्थंकर) प्रकृति के बंध कराने के कारणरूप सोलह भावनायें हैं।

षोडस भावना

कर्म प्रकृतियों में सबसे अधिक पुण्य प्रकृति तीर्थंकर प्रकृति के बंध करने की कारण रूप सोलह भावनायें हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाले के विषय में गोमटसार कर्मकांड में बतलाया हैं।

पढमुवसमिये सम्मे सेसातिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलि दुगंते ॥

यानि प्रथम उपशम सम्यक्त्व अथवा द्वितीयोपशमसम्यक्तत्व, क्षायोपशम या क्षायिक सम्यक्तव वाला पुरुष चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक के किसी भी गुणस्थान में केवली या श्रुत केवली के निकट तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ करता है।

जिस व्यक्ति को ऐसी प्रबल शुभ भावना हो कि (मैं समस्त जगवर्ती जीवों का उद्धार करूँ समस्त जीवों को संसार से छुडाकर मुक्त कर दूं।) उस किसी एक विरले मनुष्य के उपरयुक्त दशा में निम्नलिखित सोलह भावनाओं के निमित्त से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

१ दर्शन विशुद्धि २ विनय संपन्नता ३ अतिचार रहित शीलव्रत ४ अभीक्षण ज्ञानोपयोग ५ संवेग ६ शक्ति अनुसार त्याग ७ शक्ति अनुसारतप ८ साधु समाधि ९ वैय्यावृत करण १० अरहत भक्ति ११ अचार्य भक्ति १२ बहु श्रुत भक्ति १३ प्रवचन भक्ति १४ आवश्य कापरिहारणि १५ मार्ग प्रभावना १६ प्रवचन वात्सल्य।

विशेष विवेचन—शंका, कांक्ष, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनूपगूहन, अस्थितिकरण, अप्रभावना, अवात्सल्य, ये आठदोष, कुलमद जातिमद, बलभद, ज्ञानमद, तपमद, रूपमद, धनमद, अधिकारमद ये आठ मद देवमूढता, गुरूमूढ़ता लोकमूढ़ता ये मूढ़तायें हैं। तथा छः अनायतन, कुगुरू, कुगुरू भक्ति, कुदेव, कुदेव भक्ति, कुधर्म, कुधर्म सेवक, ऐसे सम्यकज्ञान के ये पच्चीस दोष हैं। इन दोषों से रहित शुद्ध सम्यकदर्शन का होना सो दर्शन विशुद्धि ? भावना हैं। देव शास्त्र गुरू तथा रत्नत्रय का हृदय से सन्मान करना विनय करना विनय सपन्नता है। व्रतों तथा व्रतों के रक्षक नियमों (शीलों) में अतिचार रहित होना शील व्रत भावना है।

सदाज्ञान अभ्यास में लगे रहना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है।

धर्म और धर्म के फल से अनुराग होना संवेग भावना है।

अपनी शक्ति को न छिपाकर अंतरंग बहिरंग तप करना शक्तितस् त्याग हैं। अपनी शक्ति के अनुसार आहार, अभय औषध और ज्ञान दान करना शक्तितस् त्याग है।

साधुओं का उपसंग दूर करना अथवा समाधि सहित मरण करना साधु समाधि है।

व्रती त्यागी सधर्मी की सेवा करना दुखी का दुख दूर करना वैय्यावृत करण हैं अरहंत भगवान की भक्ति करना अरहत भक्ति है।

मुनि संघ के नायक आचार्य को भक्ति करना आचार्य भक्ति है।

उपाध्याय परमेष्ठि की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है।

जिनवाणी की भक्ति करना प्रवचन भक्ति है।

छै आवश्यक कर्मों को सावधानी से पालन करना आवश्यक परिहारिणी है।

जैनधर्म का प्रभाव फैलाना मार्ग प्रभावना है।

धर्मीजन से अगाध प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है।

इन सोलह भावनाओं में से दर्शनविशुद्धि भावना का होना परमावश्यक है। दर्शनविशुद्धि के साथ कोई भी एक दो तीन चार भावना हों या सभी भावना हों तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है।

अब इस क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरों की भवावली यथाक्रम से कहते हैं—

श्री आदिनाथ जी

गर्भकल्याणक—आषाढ़ कृष्ण द्वितीया उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में।

जन्मकल्याणक—चैत्र कृष्ण नवमी को उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में।

जन्मकाल—सुषमा दुषमा काल में चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ मास एक पक्ष शेष रहने पर जन्म हुआ।

दीक्षाकल्याणक—चैत्र सुदी नवमी को रोहिणी नक्षत्र में अपराह्न काल में।

दीक्षा लेने के बाद १००० वर्ष बाद केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

केवलज्ञान—फाल्गुन सुदी एकादशी उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

मोक्षकल्याणक—माघकृष्ण चौदस के दिन पूर्वाह्न में उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में १०० मुनियों के साथ मोक्ष गये।

भगवान वृषभदेव के पूर्व १० भव यह हैं—१ जयवर्मा, २ महावलविद्याधर ३ ललितांग देव ४ वज्रजंघराजा ५ भोग भूमिया ६ श्री धर ७ सुविध (नारायण) ८ अच्युत स्वर्ग का इन्द्र ९ वज्रनाभि चक्रवर्ती इस भव में सोलह कारण भावना के वल से तीर्थंकर प्रकृति का वंध किया, वहां से चयकर भरत क्षत्र के सुकौशल देश की अयोध्या नगरी में अन्तिम कुलंकर नाभिराजा के यहां मरूदेवो माता की कोख से प्रथम तीर्थंकर के रूप में जन्म लिया। आप का शरीर ५०० धनुष ऊँचा था, आयु चौराशो लाख पूर्व थी शरीर का रंग तपे हुए सोने के समान था। शरोर में १००८ शुभ लक्षण थे। आपका नाम श्री ऋषभनाथ रखा गया। वृषभनाथ तथा आदिनाथ भी आपके दूसरे नाम हैं। आपके दाहिने पैर में बैल का चिह्न प्रसिद्ध हुआ और इसलिये नाम भो वृषभनाथ पड़ा।

आपका २० लाख पूर्व समय कुमार अवस्था में व्यतीत हुआ। आपका (यशस्वती और सुनंदा) नामक दो राज पुत्रियों से विवाह हुआ। ६३ लाख पूर्व तक राज्य किया। आपकी रानी यशस्वती के उदर से भरतादि ९९ पुत्र तथा ब्राह्मी नामक कन्या हुई और सुनन्दा रानी से वाहुवली नामक एक पुत्र और सुन्दरो नामक कन्या हुई।

अपने राज्य काल में जनता को खेती वाड़ी, व्यापार अस्त्र शस्त्र चलाना, वस्त्र बनाना, लिखना पढ़ना, अनेक प्रकार के कला कौशल अदि सिखलाए। अपने पुत्र भरत को नाट्य कला, वाहुवली को मल्ल विद्या, ब्राह्मि को अक्षर विद्या, सुन्दरी को अङ्क विद्या, राजनीति आदि सिखलाई।

८३,००००० लाख पूर्व आयु वीत जाने पर राज सभा में नृत्य करते हुए निलांजना नामक अप्सरा की मृत्यु देखकर आपको संसार, शरीर और विषय भोगों से वैराग्य हुआ तब भरत को राज्य देकर आपने पंच मुष्टियों से केशलोंच करके सिद्धों को नमस्कार करके स्वयं मुनि दीक्षा ली। छै मास तक आत्म ध्यान में निमग्न रहे। फिर छः मास पीछे जब योग से उठे तो आपको लगातार छः मास तक विधि अनुसार आहार प्राप्त नहीं हुआ। इस तरह एक वर्ष पीछे हस्तिनापुर में राजा श्रेयांस ने पूर्वभव के स्मरण से मुनियों को आहार देने की विधि जानकर आप को ठीक विधि से ईख के रस द्वारा पारना कराई।

एक हजार वर्ष तपस्या करने के वाद आपको केवलज्ञान हुआ। तदनन्तर १,००० हजार वर्ष कम १०,०००० लाख पूर्व तक आप समस्त देशों में विहार करके धर्म प्रचार करते रहे। आपके उपदेश के लिये समवशरण नामक विशाल सभा मंडप बनाया जाता था। अन्त में आपने कैलाश पर्वत से पर्यंकासन (पलथी) से मुक्ति प्राप्त की।

विशेषार्थ—आपका ज्येष्ठ पुत्र भरत, भरत क्षेत्र का पहला चक्रवर्ती था उस ही के नाम पर इस देश का नाम भारत प्रख्यात हुआ। आपका दूसरा पुत्र वाहुवली प्रथम कामदेव था तथा चक्रवर्ती को भी युद्ध में हराने वाला महान बलवान था। उसने मुनि दीक्षा लेकर निश्चल खड़े रह कर एक वर्ष तक निराहार रहकर तपस्या की और भगवान वृषभनाथ से भी पहले मुक्त हुआ।

भगवान वृषभनाथ का पौत्र (नाति, पोता) मरीचिकुमार अनेक भव विताकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुआ। आपकी पुत्री ब्राह्मी, सुन्दरी आर्यिकाओं की नेत्री थी। आपके वृषभ आदि ८४ गणधर थे।

आप सुषमा दुषमा नामक तीसरे काल में उत्पन्न हुए और मोक्ष भी तीसरे ही काल में गए। जनता को आपने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्गो में विभाजित करके जीवन निर्वाह की रीति वतलाई। इस कारण आपको आदि ब्रह्मा तथा १५ वां कुलकर भी कहते हैं।

भगवान अजितनाथजी

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्र शत्रु विद्या विनिर्वान्ति कषाय दोषः।
लव्धात्म लक्ष्मी रजितो जितात्मा जिनः श्रिय मे भगवान
विधत्ताम्॥ —समन्तभद्र

वे आत्म स्वरूप में लीन, शत्रु और मित्रों को समान रूप से देखने वाले, सम्यक्ज्ञान से कषाय रूपी शत्रुओं को हटाने वाले, आत्मोय विभूति को प्राप्त हुए और अजित है आत्मा

जिनकी ऐसे भगवान् अजित जिनेन्द्र मुझे कैवल्य लक्ष्मी से युक्त करें ।

(१) पूर्व भव परिचय

इसी जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण किनारे पर एक मत्स नाम का देश है । उसमें धनधान्य से सम्पन्न एक सुसीमा नगर है । वहाँ किसी समय विमलवाहन नाम का राजा राज्य करता था । राजा विमलवाहन समस्त गुणों से विभूषित था । वह उत्साह, मन्त्र और प्रभाव इन तीन शक्तियों से हमेशा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था । राज्य कार्य करते हुए भी वह कभी आत्म धर्म संयम, सामायिक वगैरह को नहीं भूलता था । वह बहुत ही मन्द कषायी था ।

एक दिन राजा विमल को कुछ कारण पाकर वैराग उत्पन्न हो गया । विरक्त होकर वह सोचने लगा – संसार के भीतर कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है । यह मेरी आत्मा भी एक दिन इस शरीर को छोड़कर चली जावेगी, क्योंकि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध तभी तक रहता है तब तक कि आयु शेष रहती है । यह आयु भी धीरे धीरे घटती जा रही है इसलिए आयु पूर्ण होने के पहले ही आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

इस प्रकार विचार कर वह वन में गया और किन्हीं दिगम्बर यती के पास दीक्षित हो गया । उसके साथ और भी बहुत से राजा दीक्षित हुए थे । गुरु के चरणों के समीप रह कर उसने खूब विद्याध्ययन किया जिससे उसे ग्यारह अंग का ज्ञान हो गया था । उसी समय उसने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन भी किया था जिससे उनके तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया था ।

विमलवाहन आयु के अन्त में संन्यास पूर्वक मर कर विजय विमान में अहमिन्द्र हुआ । वहाँ उसकी आयु तेतीस सागर की थी । उसका जैसा शरीर शुक्ल था वैसा हृदय भी शुक्ल था । उसे वहां संकल्प मात्र से ही सब पदार्थ प्राप्त हो जाते थे । पहले की वासना से वहां भी उसका चित्त विषयों से उदासीन रहता था । वह वहां विषयानन्द को छोड़कर आत्मानन्द में ही लीन रहता था । तेतीस हजार वर्ष बीत जाने पर उसे एक बार आहार की इच्छा होती थी और तेतीस पक्ष बाद एक बार श्वासोच्छ्वास हुआ करता था । वहाँ उसके शरीर की ऊंचाई एक हाथ की थी । अहमिन्द्र विमलवाहन को विजय विमान में पहुँचते ही अवधि ज्ञान हो गया था जिससे वह त्रस नाली के भीतर के परोक्ष पदार्थों को प्रत्यक्ष की तरह स्पष्ट जान लेता था । यही अहमिन्द्र आगे चलकर भगवान अजितनाथ हुए ।

(२) वर्तमान परिचय

इसी भरत वसुन्धरा पर अत्यन्त शोभायमान एक साकेत पुरी (अयोध्यापुरी) है । उसमें किसी समय इक्ष्वाकु वंशीय काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु राज्य करते थे । उनकी महारानी का नाम विजयसेना था । ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये है उसकी आयु जब वहां पर छः माह बाकी रह गई तब यहां राजा जितशत्रु के घर पर प्रतिदिन तीन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होने लगी । ये रत्न इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर बरसाता था । यह अतिशय देखकर जितशत्रु बहुत ही आनन्दित होते थे । इसके बाद जेठ महीने की अमावस के दिन रात्रि के पिछले भाग में जब कि रोहिणी नक्षत्र का उदय था, ब्रह्म मुहूर्त के कुछ समय पहले महारानी विजयसेना ने ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे और उनके बाद अपने मुख में एक मत्त हस्ती को प्रवेश करते हुए देखा ।

सबेरा होते ही महारानी ने स्वप्नों का फल जितशत्रु से पूछा तो उन्होंने देशावधि रूप लोचन से देख कर कहा कि हे देवि ! तुम्हारे कोई तीर्थंकर पुत्र होगा । उसी के पुण्य बल से कारण छह मास पहले से ये प्रति दिन रत्न बरसा रहे हैं और आज आपने ये सोलह स्वप्न देखे हैं । स्वप्नों का फल सुनकर विजय सेना आनन्द से फूली न समाती थी । जिस समय रानी ने अपने मुंह प्रवेश करते हुए गन्ध हस्ती को देखा था उसी समय अहमिन्द्र विमलवाहन का जीव विजय विमान से चल कर उनके गर्भ में अवतीर्ण हुआ । उस दिन देवों ने आकर साकेतपुरी में खूब उत्सव किया था ।

धीरे धीरे गर्भ पुष्ट होता गया, महाराज जितशत्रु के घर वह रत्नों की धारा गर्भ के दिनों में भी पहले की तरह बरसती रहती थी । भावी पुत्र के अनुपम अतिशय को देख कर महाराज को बहुत आनन्द होता था । जब गर्भ के नव मास व्यतीत हो गया तब माघ शुक्ल दशमी के दिन महारानी

विजयसेना ने पुत्र रत्न का प्रसव किया। वह पुत्र जन्म से ही मति, श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञानों से शोभायमान था। उसकी उत्पत्ति के समय अनेक शुभ शकुन हुए थे। उसी समय देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उसका जन्माभिषेक किया और अजित नाम रखा। भगवान अजितनाथ धीरे-धीरे बढ़ने लगे। वे अपनी बाल सुलभ चेष्टाओं से माता-पिता तथा बन्धु वर्ग आदि का मन प्रमुदित करते थे। आपस के खेल कूद में भी जब इनके भाई इनसे पराजित होते जाते थे तब वे इनका अजित नाम सार्थक समझने लगते थे।

भगवान अजितनाथ-जन्म

भगवान् आदिनाथ को मुक्त हुए पचास लाख करोड़ सागर बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। उक्त अन्तराल में लोगों के हृदय में धर्म के प्रति जो कुछ शिथिलता सी हो गयी थी इन्होंने उसे दूर कर फिर से धर्म का प्रद्योग किया था। इनके शरीर का रंग तपे हुए सुवर्ण की नाई था। ये बहुत ही वीर और क्रीड़ा-चतुर पुरुष थे। अनेक तरह की क्रीड़ा करते हुए जब इनके अठारह लाख पूर्व वर्ष बीत गये तब इन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया। उस समय उनके शरीर की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई थी। महाराज जितशत्रु ने अनेक सुन्दरी कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया और किसी शुभ मुहूर्त में उन्हें राज्य देकर आप धर्म सेवन करते हुए सद्गति को प्राप्त हुए।

भगवान् अजितनाथ ने राज्य पाकर प्रजा का इस तरह शासन किया कि उनके गुणों से मुग्ध होकर वह महाराज जितशत्रु का स्मरण भी भूल गई। इन्होंने समयोपयोगी अनेक सुधार करते हुए त्रेपन लाख पूर्व तक राज्य लक्ष्मी का भोग किया अर्थात् राज्य किया।

वैराग्य

एक दिन भगवान अजित नाथ महल की छत पर बैठे हुए थे कि उन्होंने अचानक चमकती हुई बिजली को नष्ट होते देखा। उसे देखकर उनका हृदय विषयों से विरक्त हो गया। वे सोचने लगे कि संसार के हर एक पदार्थ इसी बिजली की तरह क्षणभंगुर है। मेरा यह सुन्दर शरीर और यह मनुष्य पर्याय भी एक दिन इसी तरह नष्ट हो जावेगी। जिस लिए मेरा जन्म हुआ था उसके लिए तो मैंने अभी तक कुछ भी नहीं किया खेद है कि मैंने सामान्य अज्ञ मनुष्यों की तरह

श्री मद्भागवत महापुराण पंचम स्कंध-अध्याय-३ में श्री भगवान आदिनाथ जी का वर्णन

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन! वर्षाधिपति नाभि के पूज्य ऋत्विजनों ने प्रभु के चरणों की वन्दना करके जब पूर्वोक्त स्तोत्र से स्तुति की, तब देवश्रेष्ठ श्री हरि ने करुणावश इस प्रकार कहा।

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद् द्विजदेवकुलम्। तत आग्नीध्रीयेंऽशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः।

श्री भगवान ने कहा—ऋषियो बड़े असमंजस की बात है। आप सब सत्यवादी महात्मा हैं, आपने मुझसे यह बड़ा दुर्लभ वर माँगा है कि राजर्षि नाभि के मेरे समान पुत्र हो। मुनियो! मेरे समान तो मैं ही हूं क्योंकि मैं अद्वितीय हूं। तो भी ब्राह्मणों का वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये, द्विजकुल मेरा ही तो मुख है। इसलिये मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से अग्निध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूंगा, क्योंकि अपने समान मुझे कोई और दिखायी नहीं देता।

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान्। बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान परमर्षिभिः प्रसादितः प्रियचिकीर्षया तदवरोधाय ने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्ला तनुवावततार।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महारानी मेरुदेवी के सुनते हुए उसके पति से इस प्रकार कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये। विष्णुदत्त परीक्षित! उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार

जिनकी ऐसे भगवान् अजित जिनेन्द्र मुझे कैवल्य लक्ष्मी से युक्त करें।

(१) पूर्व भव परिचय

इसी जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण किनारे पर एक मत्स नाम का देश है। उसमें धनधान्य से सम्पन्न एक सुसीमा नगर है। वहाँ किसी समय विमलवाहन नाम का राजा राज्य करता था। राजा विमलवाहन समस्त गुणों से विभूषित था। वह उत्साह, मन्त्र और प्रभाव इन तीन शक्तियों से हमेशा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था। राज्य कार्य करते हुए भी वह कभी आत्म धर्म संयम, सामायिक वगैरह को नहीं भूलता था। वह बहुत ही मन्द कषायी था।

एक दिन राजा विमल को कुछ कारण पाकर वैराग उत्पन्न हो गया। विरक्त होकर वह सोचने लगा—संसार के भीतर कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है। यह मेरी आत्मा भी एक दिन इस शरीर को छोड़कर चली जावेगी, क्योंकि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध तभी तक रहता है तब तक कि आयु शेष रहती है। यह आयु भी धीरे धीरे घटती जा रही है इसलिए आयु पूण होने के पहले ही आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए।

इस प्रकार विचार कर वह वन में गया और किन्हीं दिगम्बर यती के पास दीक्षित हो गया। उसके साथ और भी बहुत से राजा दीक्षित हुए थे। गुरु के चरणों के समीप रह कर उसने खूब विद्याध्ययन किया जिससे उसे ग्यारह अंग का ज्ञान हो गया था। उसी समय उसने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तवन भी किया था जिससे उनके तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया था।

विमलवाहन आयु के अन्त में संन्यास पूर्वक मर कर विजय विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसकी आयु तेतीस सागर की थी। उसका जैसा शरीर शुक्ल था वैसा हृदय भी शुक्ल था। उसे वहां संकल्प मात्र से ही सब पदार्थ प्राप्त हो जाते थे। पहले की वासना से वहां भी उसका चित्त विषयों से उदासीन रहता था। वह यहां विषयानन्द को छोड़कर आत्मानन्द में ही लीन रहता था। तेतीस हजार वर्ष बीत जाने पर उसे एक बार आहार की इच्छा होती थी और तेतीस पक्ष बाद एक बार श्वासोच्छवास हुआ करता था। वहाँ उसके शरीर की ऊंचाई एक हाथ की थी। अहमिन्द्र विमलवाहन के विजय विमान में पहुँचते ही अवधि ज्ञान हो गया था जिससे वह त्रस नाड़ी के भीतर के परोक्ष पदार्थों को प्रत्यक्ष की तरह स्पष्ट जान लेता था। यही अहमिन्द्र आगे चलकर भगवान अजितनाथ हुए।

(२) वर्तमान परिचय

इसी भरत वसुन्धरा पर अत्यन्त शोभायमान एक साकेत-पुरी (अयोध्यापुरी) है। उसमें किसी समय इक्ष्वाकु वंशीय काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम विजयसेना था। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये है उसकी आयु जब वहां पर छः माह बाकी रह गई तब यहां राजा जितशत्रु के घर पर प्रतिदिन तीन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होने लगी। वे रत्न इन्द्र की आज्ञा पाकर कुबेर बरसाता था। यह अतिशय देखकर जितशत्रु बहुत ही आनन्दित होते थे। इसके बाद जेठ महीने की अमावस के दिन रात्रि के पिछले भाग में जब कि रोहिणी नक्षत्र का उदय था, ब्रह्म मुहूर्त के कुछ समय पहले महारानी विजयसेना ने ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे और उनके बाद अपने मुंह में एक मत्त हस्ती को प्रवेश करते हुए देखा।

सवेरा होते ही महारानी ने स्वप्नों का फल जितशत्रु से पूछा तो उन्होंने देशावधि रूप लोचन से देख कर कहा कि हे देवी! तुम्हारे कोई तीर्थंकर पुत्र होगा। उसी के पुण्य बल के कारण छह मास पहले से ये प्रति दिन रत्न बरसा रहे हैं और आज आपने ये सोलह स्वप्न देखे हैं। स्वप्नों का फल सुनकर विजयसेना आनन्द से फूली न समाती थी। जिस समय इसने स्वप्न में मुंह प्रवेश करते हुए गन्ध हस्ती को देखा था उसी समय अहमिन्द्र विमलवाहन का जीव विजय विमान से चयकर उसके गर्भ में अवतीर्ण हुआ। उस दिन देवों ने आकर साकेतपुरी में खूब उत्सव किया था।

धीरे धीरे गर्भ पुष्ट होता गया, महाराज जितशत्रु के घर वह रत्नों की धारा गर्भ के दिनों में भी पहले की तरह ही बरसती रहती थी। भावी पुत्र के अनुपम अतिशय को देख कर महाराज को बहुत आनन्द होता था। जब गर्भ का समय व्यतीत हो गया तब माघ शुक्ल दशमी के दिन महारानी

विजयसेना ने पुत्र रत्न का प्रसव किया। वह पुत्र जन्म से ही मति, श्रुति और अवधि इन तीन ज्ञानों से शोभायमान था। उसकी उत्पत्ति के समय अनेक शुभ शकुन हुए थे। उसी समय देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उसका जन्माभिषेक किया और अजित नाम रखा। भगवान अजितनाथ धीरे-धीरे बढ़ने लगे। वे अपनी बाल सुलभ चेष्टाओं से माता-पिता तथा बन्धु वर्ग आदि का मन प्रमुदित करते थे। आपस के खेल कूद में भी जब इनके भाई इनसे पराजित होते जाते थे तब वे इनका अजित नाम सार्थक समझने लगते थे।

भगवान अजितनाथ-जन्म

भगवान् आदिनाथ को मुक्त हुए पचास लाख करोड़ सागर बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। उक्त अन्तराल में लोगों के हृदय में धर्म के प्रति जो कुछ शिथिलता सी हो गयी थी इन्होंने उसे दूर कर फिर से धर्म का प्रद्योग किया था। इनके शरीर का रंग तपे हुए सुवर्ण की नाई था। ये बहुत ही वीर और क्रीड़ा-चतुर पुरुष थे। अनेक तरह की क्रीड़ा करते हुए जब इनके अठारह लाख पूर्व वर्ष बीत गये तब इन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया। उस समय उनके शरीर की शोभा बड़ी ही विचित्र हो गई थी। महाराज जितशत्रु ने अनेक सुन्दरी कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया और किसी शुभ मुहूर्त में उन्हें राज्य देकर आप धर्म सेवन करते हुए सद्गति को प्राप्त हुए।

भगवान् अजितनाथ ने राज्य पाकर प्रजा का इस तरह शासन किया कि उनके गुणों से मुग्ध होकर वह महाराज जितशत्रु का स्मरण भी भूल गई। इन्होंने समयोपयोगी अनेक सुधार करते हुए त्रेपन लाख पूर्व तक राज्य लक्ष्मी का भोग किया अर्थात् राज्य किया।

वैराग्य

एक दिन भगवान अजित नाथ महल की छत पर बैठे हुए थे कि उन्होंने अचानक चमकती हुई बिजली को नष्ट होते देखा। उसे देखकर उनका हृदय विषयों से विरक्त हो गया। वे सोचने लगे कि संसार के हर एक पदार्थ इसी बिजली की तरह क्षणभंगुर है। मेरा यह सुन्दर शरीर और यह मनुष्य पर्याय भी एक दिन इसी तरह नष्ट हो जावेगी। जिस लिए मेरा जन्म हुआ था उसके लिए तो मैंने अभी तक कुछ भी नहीं किया खेद है कि मैंने सामान्य अज्ञ मनुष्यों की तरह

श्री मद्भागवत महापुराण पंचम स्कंध-अध्याय ३ में श्री भगवान आदिनाथ जी का वर्णन

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन! वर्षाधिपति नाभि के पूज्य ऋत्विजनों ने प्रभु के चरणों की वन्दना करके जब पूर्वोक्त स्तोत्र से स्तुति की, तब देवश्रेष्ठ श्री हरि ने करुणावश इस प्रकार कहा।

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद् द्विजदेवकुलम्। तत आग्नीध्रीयेंऽशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः।

श्री भगवान ने कहा—ऋषियो बड़े असमंजस की बात है। आप सब सत्यवादी महात्मा हैं, आपने मुझसे यह बड़ा दुर्लभ वर माँगा है कि राजर्षि नाभि के मेरे समान पुत्र हो। मुनियो! मेरे समान तो मैं ही हूं, क्योंकि मैं अद्वितीय हूं। तो भी ब्राह्मणों का वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये, द्विजकुल मेरा ही तो मुख है। इसलिये मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से अग्निध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूंगा, क्योंकि अपने समान मुझे कोई और दिखायी नहीं देता।

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान्। बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान परमर्षिभिः प्रसादितः प्रियचिकीर्षया तदवरोधाय ने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वात रशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्ला तनुवावततार।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—महारानी मेरुदेवी के सुनते हुए उसके पति से इस प्रकार कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये। विष्णुदत्त परीक्षित! उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार

अपनी आयु का वहुभाग व्यर्थ ही खो दिया। अव आज से मैं सर्वथा विरक्त होकर दिगम्वर मुद्रा को धारण कर वन में रहूंगा। क्योंकि इन रग विरंगे महलों में रहने से चित्त को शांति नहीं मिल सकती। इधर इन के चित्त में ऐसा विचार हो रहा था उधर लौकान्तिक देवों के आसन कांपने लगे थे। आसन कांपने से उन्हें निश्चय हो गया था कि भगवान अजित नाथ का चित्त वैराग्य की ओर वढ़ रहा है। निश्चयानुसार वे शीघ्र ही इनके पास आये और तरह-तरह के सुभाषितों से इनकी वैराग्य धारा को अत्यधिक प्रवर्द्धित कर अपने-अपने स्थान पर चले गये। उसी समय तपःकल्याण का उत्सव मनाने के लिए वहां समस्त देव आ उपस्थित हुए। सव से पहले भगवान् ने अभिषेक के पूर्व अजितसेन नामके पुत्र के लिए राज्य का भार सौंपा और फिर अनाकुल हो वन में जाने के लिए तैयार हो गये। देवों ने उनका तीर्थ जल से अभिषेक किया और तरह-तरह के मनोहर आभूषण पहिनाये अवश्य, पर उनकी इस रागवर्द्धक क्रिया में भगवान को कुछ भी आनन्द नहीं मिला। वे सुप्रभा नामक पालकी पर सवार हो गये। पालकी को मनुष्य, विद्याधर और देव लोग क्रम-क्रम से अयोध्या के सहेतुक वन में ले गये। वहाँ वे सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे एक सुन्दर शिला पर पालकी से उतरे। जिस शिला पर वे उतरे थे उस पर देवाँगनाओं ने रत्नों के चूर्ण से कई तरह के चौंक पूरे थे। सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे विराजमान द्वितीय जिनेन्द्र अजितनाथ ने पहले सवकी ओर विरक्त दृष्टि से देख कर दीक्षित होने के लिए सम्मति ली। फिर पूर्व की ओर मुंह कर "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" कहते हुए वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये और पंच मुष्ठियों से केश उखाड़ डाले। इन्द्र ने केशों को उठाकर रत्नों के पिटारे में रख लिया और उत्सव समाप्त होने के वाद क्षीर सागर में क्षेपण कर आया। दीक्षा लेते समय उन्होंने षष्ठोपवास धारण किया था। जिस दिन भगवान अजितनाथ ने दीक्षा धारण की थी उस दिन माघ मास के शुक्ल पक्ष की नवमी थी और रोहिणी नक्षत्र का उदय था। दीक्षा सांय काल के समय केले के वृक्ष के नीचे ली थी। उनके साथ में एक हजार राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की थी। उस समय भगवान् अजितनाथ की विशुद्धता इतनी अधिक वढ़ गई थी कि उन्हें दीक्षा लेते समय ही मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था।

प्रसन्न किये जाने पर श्री भगवान नाभि का प्रिय करने के लिये उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ से दिगम्वर संन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिये शुद्धसत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए।

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशम-वैराग्यैश्वर्य महाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः। तस्य ह वा इत्थं वर्मणा वरीयसा वृहच्छ्लोकेन चौजसा वलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार।

श्री शुकदेवजी कहते हैं—राजन ! नाभिनन्दन के अंग जन्म से ही भगवान् विष्णु के वज्र अङ्कुश आदि चिह्नों से युक्त थे। समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव दिनोंदिन वढ़ता जाता था। यह देखकर मन्त्री आदि प्रकृति वर्ग प्रजा ब्राह्मण और देवताओं की यह उत्कृष्ट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वी का शासन करें। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, वल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम 'ऋषभ' (श्रेष्ठ) रक्खा।

तस्य हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवोयोगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत्। नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्याति‌प्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं गृहीतनरलोकसंधर्म भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन् परां निर्वृतिमुपगतः।

एक वार भगवान इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य में वर्षा नहीं की। तव योगेश्वर भगवान् ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हँसते हुए अपनी योगमाया के प्रभाव से अपने वर्ष अजनाभखण्ड में खूव जल वरसाया। महाराज नाभि अपनी इच्छा के अनुसार श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्दमग्न हो गये और

जब प्रथमयोग समाप्त हुआ तब वे आहार के लिए अयोध्यापुरी में आये। वहां ब्रह्मा नामक श्रेष्ठी ने उन्हें उत्तम आहार दिया जिससे उसके घर पर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। तथा तप करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। आपके सित सेनादि ५२ गणधर थे—और प्रकुब्जादि आर्यिकायें थी, महायक्ष रोहिणी यक्षिणी थी। आपने सम्मेद शिखर जी से मोक्ष प्राप्त किया। भगवान अजित नाथ जी के समय में सगरनामक दूसरे चक्रवर्ती हुये और जितशत्रु नामक दूसरे रुद्र भी आपके समय में ही हुये थे।

भगवान शंभवनाथ

त्वं शंभवः संभवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य लोके।
आसी रिहा कास्मिक एवं वैद्यौ, वैद्यो यथा नाथ! रुजा प्रशान्त्यै।

—स्वामी समन्तभद्र।

हे नाथ! जिस तरह रोगों की शान्ति के लिए कोई वैद्य होता है उसी तरह आप शंभवनाथ भी उत्पन्न हुए तृष्णा रोग से दुःखी होने वाले मनुष्य की रोग शान्ति के लिए अकस्मात प्राप्त हुए वैद्य हैं।

(१) पूर्व भव परिचय

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सप्ता नदी के उत्तर तट पर एक कच्छ नाम का देश है उसमें एक क्षेभपुर नाम का नगर है। क्षेभपुर का जैसा नाम था उसमें वैसे ही गुण थे अर्थात् उसमें हमेशा क्षेम मंगलों का ही निवास रहता था। वहां के राजा का नाम विमलवाहन था। विमलवाहन ने अपने बाहुबल से समस्त विरोधी राजाओं को वश में कर लिया था। शरद ऋतु के इन्दु की तरह उसकी निर्मल कीर्ति सब ओर फैली हुई थी। वह जो भी कार्य करता था मंत्रियों की सलाह से ही करता था इसलिए उसके समस्त कार्य सुदृढ़ हुआ करते थे।

एक दिन राजा विमलवाहन किसी कारणवश संसार से विरक्त हो गये जिससे उसे पांचों इन्द्रियों के विषय भोग काले भुजंगों की तरह दुखदायी मालूम होने लगे। वह सोचने लगा कि यमराज किसी भी छोटे बड़े का लिहाज नहीं करता। अच्छे से अच्छे और दीन से दीन मनुष्य इसकी कराल दंष्ट्रातल के नीचे दले जाते हैं। जब ऐसा है तब क्या मुझे छोड़ देगा? इसलिए जब तक मृत्यु निकट नहीं आती तब तक तपस्या आदि से आत्महित की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए। ऐसा विचार

अपनी ही इच्छा से मनुष्य शरीर धारण करने वाले पुराण पुरुष श्रीहरि का सप्रेम लालन करते हुए, उन्हीं के लीला-विलास से मुग्ध होकर 'वत्स! तात!' ऐसा गद्‌गदवाणी से कहते हुए बड़ा सुख मानने लगे।

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदौ राजानाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह मेरुदेव्या विशालायां प्रशन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणख्य भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप।

जब उन्होंने देखा कि मन्त्रिमण्डल, नागरिक और राष्ट्र की जनता ऋषभदेव से बहुत प्रेम करती है, तो उन्होंने उन्हें धर्ममर्यादा की रक्षा के लिये राज्यभिषिक्त करके ब्राह्मणों की देखरेख में छोड़ दिया। आप अपनी पत्नी मेरुदेवा के सहित बदरिकाश्रम को चले गये। वहाँ अहिंसावृत्ति से, जिससे किसी को उद्वेग न हो ऐसी कौशलपूर्ण, तपस्या और समाधियों के द्वारा भगवान वासुदेव के नर-नारायणरूप की आराधना करके हुए समय आने पर उन्हीं के स्वरूप में लीन हो गये।

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्तामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कम समाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास। येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्ष भारतमिति व्यपदिशन्ति।

भगवान ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभखण्ड को कर्मभूमि मानकर लोक संग्रह के लिये कुछ काल गुरुकुल में वास किया। गुरुदेव को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करने के लिये उनकी आज्ञा ली। फिर लोगों को गृहस्थधर्म की शिक्षा देने के लिये देवराज इन्द्र की दी हुई उनकी कन्या जयती से विवाह किया तथा श्रौतस्मार्त्त दोनों प्रकार के शास्त्रो-

कर वह विमलकीर्ति नामक पुत्र के लिए राज्य देकर स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के पास दीक्षित हो गया। उनके समीप में रहकर उसने कठिन-कठिन तपस्याओं से आत्म शुद्धि की और निरन्तर शास्त्रों का अध्ययन करते-करते ग्यारह अंग तक का ज्ञान प्राप्त कर लिया। मुनिराज विमलवाहन यही सोचा करते थे कि इन दुखी प्राणियों का संसार सागर से कैसे उद्धार हो सकेगा? यदि मैं इनके हित साधन में कृतकार्य हो सका तो अपने को धन्य समझूंगा। इसी समय उन्होंने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिन्तन किया जिससे उन्हें तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त में समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर पहले ग्रैवेयक के सुदर्शन नामक विमान में अहमिन्द्र हुए। वहां उनकी आयु तेईस सागर प्रमाण थी, शरीर की ऊंचाई साठ अंगुल थी, और रंग धवल था। वे वहां तेईस पक्ष में श्वांस लेते थे और तेईस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार करते थे। वे स्त्री संसर्ग से सदा रहित थे। उनके जन्म से ही अवधिज्ञान था, और शरीर में अनेक तरह की ऋद्धियां थीं। इस तरह वे वहां आनन्द से समय बिताने लगे। यही अहमिन्द्र आगे चलकर भगवान शंभवनाथ हुये।

(२) वर्तमान परिचय

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक श्रावस्ती नाम की नगरी है। उस नगरी की रचना बहुत ही मनोहर थी, वहां गगन चुम्बी भवन थे, जिन पर अनेक रंगों की पताकाएं फहरा रही थीं। जगह-जगह पर अनेक सुन्दर वापिकाएं थीं। उन वापिकाओं के तटों पर मराल बाल क्रीड़ा किया करते थे। उनके चारों ओर अगाध जल से भरी हुई परिखा थी और उसके बाद ऊंची शिखरों से मेघों को छूने वाला प्राकार कोट था। जिस समय की यह कथा है उस समय वहां दृढ़राज्य नाम के राजा राज्य करते थे। वे अत्यन्त प्रतापी, धर्मात्मा, सौम्य और साधु स्वभाव वाले व्यक्ति थे। उनका जन्म इक्ष्वाकु वंश और काश्यप गोत्र में हुआ था। उनकी महारानी का नाम सुषेणा था। उस समय वहाँ महारानी सुषेणा के समान सुन्दरी स्त्री दूसरी नहीं थी। वह अपने रूप से देवाँगनाओं को भी तिरस्कृत करती थी, तब नर, देवियों की बात ही क्या थी? दोनों दम्पत्ति सुख पूर्वक अपना समय बिताते थे, उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन

पदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए उसके गर्भ से अपने ही समान गुण वाले सौ पुत्र उत्पन्न किये।

तमनुकुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीटक इति नव नवतिप्रधानाः।

उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट—ये नौ राजकुमार शेष नव्वे भाइयों से बड़े एवं श्रेष्ठ थे।

> कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रवुद्धः पिप्लायनः।
> आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः॥

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपवृंहितं वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्यामः।

उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—ये नौ राजकुमार भागवत धर्म का प्रचार करने वाले बड़े भगवद्भक्त थे। भगवान् की महिमा से महिमान्वित और परम शान्ति से पूर्ण इनका पवित्र चरित हम नारद-वसुदेव संवाद के प्रसग से आगे (एकादश स्कन्ध में) कहेंगे।

यवीयांस एकाशोतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा वभूवुः।

इनसे छोटे जयंती के इक्यासी पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करने वाले, अति विनीत, महान् वेदज्ञ और निरंतर यज्ञ करने वाले थे। वे पुण्यकर्मों का अनुष्ठान करने से शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे।

भगवानृषभसंज्ञ आत्मतंत्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानंदानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानंदामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत्।

कर आये हैं उनकी वहाँ की आयु जब सिर्फ छह मास की बाकी रह गई तब से राजा दृढ़ के घर पर प्रतिदिन असंख्य रत्नों की वर्षा होने लगी। रत्नों की वर्षा के सिवाय और भी अनेक शुभ शकुन प्रकट होने लगे थे जिससे राज दम्पति आनन्द से फूले न समाते थे। एक दिन रात्रि के पिछले पहर में महारानी सुषेणा ने सोते समय ऐरावत हाथी को आदि लेकर सोलह स्वप्न देखे और स्वप्न देखने के बाद मुंह में प्रवेश करते हुए एक गन्धसिन्दूर मत्त हाथी को देखा। सवेरा होते ही उसने पतिदेव से स्वप्नों का फल पूछा राजा दृढ़राज्य ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा कि आज तेरे गर्भ में तीर्थंकर पुत्र ने अवतार लिया है। पृथिवी तल में तीर्थंकर का जैसा पुण्य किसी का नहीं होता है। देखो न! वह तुम्हारे गर्भ में आया भी नहीं था कि छह मास पहले से प्रति दिन असख्य रत्न राशि बरस रही है। कुबेर ने इस नगरी को कितना सुन्दर बना दिया है। यहां की प्रत्येक वस्तु कितनी मोहक हो गई है कि उसे देखते जी नहीं अघाता। यहां राजा, रानी को स्वप्नों का फल बतला रहे थे वहां भावी पुत्र के पुण्य प्रताप से देवों के अचल आसन भी हिल गये जिस से समस्त देव तीर्थंकर का गर्भावतार समझ कर उत्सव मनाने के लिए श्रावस्ती आये और क्रम क्रम से राज मंदिर में पहुंच कर उन्होंने राजा-रानी की खूब स्तुति करके उनका स्वीर्गीय वस्त्राभूषणों से खूब सत्कार किया। गर्भावतार का उत्सव मना कर देव अपने-अपने स्थानों पर वापिस चले गये और कुछ देवियों को जिन माता की सेवा के लिए वहीं पर नियुक्त कर गये। देवियों ने गर्भशुद्धि को आदि लेकर अनेक तरह से महारानी सुषेणा की सुश्रुसा करनी प्रारम्भ कर दी। राज दम्पत्ति भावी पुत्र के उत्कर्ष का ख्याल कर मन ही मन हर्षित होते थे। जिस दिन अहमिन्द्र (भगवान संभव नाथ के जीव) ने सुषेणा के गर्भ में अवतार लिया था। उस दिन फाल्गुन कृष्ण अष्टमी का दिन था, मृगशिर नक्षत्र का उदय था और प्राची दिशा में बाल सूर्य कुमकुम रंग बर्षा रहा था। देव कुमारियों की शुश्रूषा और विनोद भरी वार्ताओं से जब रानी के गर्भ के दिन सुख से बीत गये उन्हें गर्भ सम्बन्धी कोई कष्ट नहीं हुआ तब कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी के दिन मृगशिर नक्षत्र में पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। पुत्र उत्पन्न होते ही आकाश से असंख्य देव सेनाएं श्रावस्ती नगरी के महाराज दृढ़राज्य के घर आई। इन्द्र

भगवान् ऋषभदेव, यद्यपि परम स्वतंत्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनंदानुभवस्वरूप और साक्षात ईश्वर ही थे, तो भी अज्ञानियों के समान कर्म करते हुए उन्होने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले लोगों को उस की शिक्षा दी। साथ ही सम, शांत, सुहृद् और कारुणिक रह कर धर्म, अर्थ, यश, संतान, भोग-सुख और मोक्ष का संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।

यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः।

महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग उसी का अनुकरण करने लगते हैं।

यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास।

यद्यपि वे सभी धर्मों के साररूप वेद के गूढ़ रहस्य को जानते थे, तो भी ब्राह्मणों की बतलायी हुई विधि से सामदानादि नीति के अनुसार ही जनता का पालन करते थे।

द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज।

उन्होंने शास्त्र और ब्राह्मणों के उपदेशानुसार भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज आदि से सुसम्पन्न सभी प्रकार के सौ-सौ यज्ञ किये।

भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तर्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमंतरेण।

भगवान् ऋषभदेव के शासन काल में इस देश का कोई भी पुरुष अपने लिये किसी से अपने प्रभु के प्रति दिन-दिन बढ़ने वाले अनुराग के सिवा और किसी वस्तु को कभी इच्छा नहीं करता था। यही नहीं, आकाशकुसुमादि अविद्यमान वस्तु की

ने इन्द्राणी को भेजकर प्रसूति गृह से जिन बालक मंगवाया। पुत्र रत्न की स्वाभाविक सुन्दरता देखकर इन्द्र आनन्द से फूला न समाता था। आई हुई देव सेनाओं ने पहले के दो तीर्थंकरों की तरह मेरु पर्वत पर ले जाकर इनका भी जन्माभिषेक किया और वहाँ से वापिस आकर पुत्र को माता-पिता के लिए सौंप दिया। बालक को देखने मात्र से ही शम् अर्थात् शान्ति होती थी। इसलिए इन्द्र ने उनका शंभवनाथ नाम रखा था। शंभवनाथ अपने दिव्य गुणों से संसार में भगवान कहलाने लगे। देव और देवेन्द्र जन्म समय के समस्त उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

भगवान शंभवनाथ दोयज की चन्द्रमा की तरह धीरे-धीरे बढ़ने लगे। वे अपनी बाल सुलभ अनर्गल लीलाओं से माता, पिता, बन्धु, बान्धवों को हमेशा हर्षित किया करते थे। उनके शरीर का रंग सुवर्ण के समान पीला था। भगवान अजित नाथ से तीस करोड़ वर्ष बाद उनका जन्म हुआ था। इस अन्तराल के समय धर्म के विषय में जो कुछ शिथिलता आ गई थी वह इनके उत्पन्न होते ही धीरे-२ विनष्ट हो गई।

इनकी पूर्ण आयु साठ लाख पूर्व की थी और शरीर की ऊंचाई चार सौ धनुष प्रमाण थी। जन्म से पन्द्रह लाख पूर्व बीत जाने पर इन्हें राज्य विभूति प्राप्त हुई थी। इन्होंने राज्य पाकर अनेक सामाजिक सुधार किये थे। समय की प्रगति देखते हुए आपने राजनीति को पहले से बहुत कुछ परिवर्धित किया। पिता दृढ़राज्य ने योग्य कुलीन कन्याओं के साथ इनका विवाह किया था इसलिये वे अनुरूप भार्याओं के साथ साँसारिक सुख भोगते हुए चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्व तक राज्य करते रहे।

एक दिन वे महल की छत पर बैठे हुए प्रकृति की सुन्दर शोभा देख रहे थे कि उनकी दृष्टि एक सफेद मेघ पर पड़ी। क्षण एक में हवा के वेग से वह मेघ विलीन हो गया—कहीं का कहीं चला गया। उसी समय भगवान शंभवनाथ के चारित्र मोहनीय के बन्धन ढीले हो गये थे जिससे वे संसार के विषय भोगों से सहसा विरक्त हो गये। वे सोचने लगे कि संसार की सभी वस्तुएं इस मेघ खण्ड की नाईं क्षणभंगुर है, एक दिन मेरा यह दिव्य शरीर भी नष्ट हो जायेगा। मैं जिस स्त्री

भांति कोई किसी की वस्तु को ओर दष्टिपात भी नहीं करता था।

स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवर-सभायां प्रजानां निशामयंतीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रय-प्रणयभरसुयंत्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच।

एक बार भगवान् ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्तदेश में पहुंचे। वहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों की सभा में उन्होंने प्रजा के सामने ही अपने समाहितचित्त तथा विनय और प्रेम के भार से सुसंयत पुत्रों को शिक्षा देने के लिये इस प्रकार कहा।

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्धयेद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनंतम्॥

श्री ऋषभदेव जी ने कहा—पुत्रो! इस मर्त्यलोक में यह मनुष्य-शरीर दुःखमय विषय भोग प्राप्त करने के लिये ही नहीं है। ये भोग तो विष्टाभोजी सूकर-कूकरादि को भी मिलते ही नहीं है। इस शरीर से दिव्य तप ही करना चाहिये, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो; क्योंकि इसी से अनंत ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है।

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां संगिसंगम्।
महांतस्ते समचित्ताः प्रशांता
विमंयवः सुहृदः साधवो ये॥

शास्त्रों ने महापुरुषों की सेवा को मुक्ति का और स्त्री संगी कामियों के संग को नरक का द्वार बताता है। महापुरुष वे ही हैं जो समानचित्त, परमशांत, क्रोधहीन, सबके हितचिंतक और सदाचार सम्पन्न हों।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके॥

पुत्रों के मोह में उलझा हुआ आत्म हित की ओर प्रवृत्त नहीं हो रहा हूं वे एक भी मेरे साथ न जावेंगे। इस तरह भगवान शंभवनाथ उदासीन होकर वस्तु का स्वरूप विचार ही रहे थे कि इतने में लौकान्तिक देवों ने आकर उनके विचारों का खूब समर्थन किया। बारह भावनाओं के द्वारा उनकी वैराग्य धारा को खूब बढ़ा दिया। अपना कार्य समाप्त कर लौकान्तिक देव ब्रह्म लोक को वापिस चले गये। इधर भगवान जिन पुत्र को राज्य देकर वन में जाने के लिए तैयार हो गये। देव और देवेन्द्रों ने आकर इनके तप कल्याणक का उत्सव मनाया। तदनन्तर वे सिद्धार्थ नाम की पालकी पर सवार होकर श्रावस्ती के समीपवर्ती सहेतुक वन में गये। वहाँ उहोंने माता-पिता आदि इष्ट जनों से सम्मति लेकर मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णमासी के दिन शाल वृक्ष के नोचे एक हजार राजाओं के साथ जिन दीक्षा लेली। वस्त्राभूषण उतार कर फेंक दिये, पंच मुष्ठियों से केश उखाड़ डाले और उपवास की प्रतिज्ञा ले पूर्व की ओर मुंह करके ध्यान धारण कर लिया। उस समय का दृश्य बड़ा ही प्रभावक था। देखने वाले प्रत्येक प्राणी के हृदय पर वैराग्य की गहरो छाप लगतो जाती थी। उन्हें दीक्षा के समय ही मनःपर्यय ज्ञान हो गया था जो उनकी आत्म विशुद्धि को प्रत्यक्ष कराने के लिए प्रवल प्रमाण था।

दूसरे दिन उन्होंने आहार के लिए श्रावस्ती नगरी में प्रवेश किया। उन्हें देखते ही राजा सुरेन्द्रदत्त ने पड़गाह कर विधिपूर्वक आहार दिया। आहार दान से प्रभावित होकर देवों ने सुरेन्द्रदत्त के घर पंचाश्चर्य प्रकट किये थे। भगवान शंभवनाथ आहार लेकर ईर्या समिति से विहार करते हुए पुनः वन को वापिस चले गये और जव तक छद्मस्थ रहे तव तक मौन धारण कर तपस्या करते रहे। यद्यपि वे मौनी होकर ही उस समय सब जगह विहार करते थे तथापि उनकी सौम्य मूर्ति के देखने मात्र से ही अनेक भव्य जीव प्रतिवुद्ध हो जाते थे। इस तरह चौदह वर्ष तक तपस्या करने के वाद उन्हें कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन मृगशिर नक्षत्र के उदय में संध्या के समय केवल ज्ञान प्राप्त हो गया था। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवापी इन चारों प्रकार के देवों ने आकर उनके ज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने समवसरण की रचना की। जिसके मध्य में देव सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान होकर अपनी सुललित दिव्य भाषा में

अथवा मुझ परमात्मा के प्रेम का ही जो एकमात्र पुरुषार्थ मानते हों, केवल विषयों की ही चर्चा करने वाले लोगों में तथा स्त्री, पुत्र और धन आदि सामग्रियों से सम्पन्न घरों में जिनकी अरुचि हो और जो लौकिक कार्यों में केवल शरीरनिर्वाह के लिये ही प्रवृत्त होते हों।

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
यदिन्द्रिमप्रोतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः।

मनुष्य अवश्य प्रमादवश कुकर्म करने लगता है, उसकी वह प्रवृत्ति इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये हीती है। मैं इसे अच्छा नहीं समझता, क्योंकि इसी के कारण आत्मा को यह असत् और दुःखदायक शरीर प्राप्त होता है।

पराभवस्तावदवोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरवन्धः।

जवतक जीव को आत्मतत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती, तभी तक अज्ञानवश देहादि के द्वारा उसका स्वरूप छिपा रहता है। जवतक यह लौकिक-वैदिक कर्मों में फँसा रहता है, तवतक मन में कर्म की वासनाएँ भी वनी ही रहती हैं और इन्हीं से देह-वन्धन की प्राप्ति होती है।

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत्।

इस प्रकार अविद्या के द्वारा आत्मा स्वरूप के ढक जाने से कर्म वासनाओं के वशीभूत हुआ चित्त मनुष्य को फिर कर्मों में ही प्रवृत्त करता है। अतः जवतक उसको मुझ वासुदेव में प्रीति नहीं होती, तवतक वह देह वन्धन से छूट नहीं सकता।

सब को धर्मोपदेश दिया। वस्तु का वास्तविक रूप समझाया संसार का स्वरूप बतलाया चारों गतियों के दुःख प्रकट किये और उनसे छुटकारा पाने के उपाय बतलाए। उनके उपदेश से प्रभावित होकर असंख्य नर नारियों ने व्रत अनुष्ठान धारण किये थे। क्रम-क्रम से उन्होंने समस्त आयु क्षेत्रों में विहार कर सार्व धर्म जैन धर्म का प्रचार किया था।

उनके समवसरण में चारुषेण आदि एक सौ पाँच गणधर थे, दो हजार एक सौ पचास द्वादशांग के वेत्ता थे, एक लाख उन्तीस हजार तीन सौ पचास मनःपर्यय ज्ञानी थे, उन्नीस हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारी थे और बारह हजार वादी थे जिनसे भरा हुआ समवशरण बहुत ही भला मालूम होता था। धर्माया आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएं थी, तीन लाख श्रावक, पाँच लाख श्राविकाएं, असंख्य देव-देवियाँ और असंख्यात तिर्यञ्च उनके समवशरण की शोभा बढ़ाती थी। भगवान शंभवनाथ अपने दिव्य उपदेश से इन समस्त प्राणियों को हित का मार्ग बतलाते थे।

अन्त में जब आयु का एक महीना बाकी रह गया तब वे विहार बन्दकर सम्मेद शैल की किसी शिखर पर जाकर विराजमान हुए और हजार मनुष्यों के साथ प्रतिमा योग धारण कर आत्म-ध्यान में लीन हो गये। अन्त में शुक्ल ध्यान के प्रताप से बाकी बचे हुए चार अघातिया कर्मों का नाश कर चैत्र शुक्ला षष्ठी के दिन साँयकाल के समय मृगशिर नक्षत्र के उदय में सिद्धिसदन-मोक्ष को प्राप्त हुए। देवों ने आकर उनका निर्वाण महोत्सव मनाया।

भगवान अभिनन्दन तीर्थंकर

गुणाभिनंदा दभि दनंनो भवान् दयावधूं शांति सुखो मशिश्रियत्।
समाधि तन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्य गुणेन चायुजत्॥

— स्वामी समन्तभद्र

जिनेन्द्र। सम्यग्दर्शन आदि गुणों का अभिनन्दन करने से अभिनन्दन कहलाने वाले अपने शान्ति सुखों से युक्त दया रूपी स्त्री का आश्रय किया था और फिर उसकी सत्कृति के लिए ध्यान करते हुए आप द्विविध अन्तरंग बहिरंग रूप निष्परिग्रहता से मुक्त थे।

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित्।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः।

स्वार्थ में पागल जीव जबतक विवेकदृष्टि का आश्रय लेकर इन्द्रियों की चेष्टाओं को मिथ्या नहीं देखता, तबतक आत्म स्वरूप की स्मृति खो बैठने के कारण वह अज्ञानवश विषप्रधान गृह आदि में आसक्त रहता है और तरह-तरह के क्लेश उठाता रहता है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-
र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति।

स्त्री और पुरुष—इन दोनों का जो परस्पर दाम्पत्य भाव है, इसी को पण्डितजन उनके हृदय की दूसरी स्थूल एवं दुर्भेद्य ग्रन्थि कहते हैं। देहाभिमानरूपी एक-एक सूक्ष्म ग्रन्थि तो उनमें अलग-अलग पहले से ही है। इसी के कारण जीव को देहेन्द्रियादि के अतिरिक्त घर-खेत, पुत्र, स्वजन और धन आदि में भी 'मैं' और 'मेरे' पन का मोह हो जाता है।

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत।
तदा जनः सम्परिवर्ततेऽस्माद्
मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम्।

जिस समय कर्मवासनाओं के कारण पड़ी हुई इसकी यह दृढ़ हृदय-ग्रन्थि ढीली हो जाती है, उसी समय यह दाम्पत्य भाव से निवृत्त हो जाता है और संसार के हेतुभूत अहंकार को त्याग कर सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो परम पद प्राप्त कर लेता है।

हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च।

पूर्व भव परिचय

जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक मंगलावती नामक देश है। उसमें रत्न संचय नाम का एक महा मनोहर नगर है। उसमें किसी समय महाबलनाम का राजा राज्य करता था। वह बहुत ही सम्पत्तिशालो था। उसके राज्य में सब प्रजा सुखी थी, चारों वर्णों के मनुष्य अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। महाबल दर असल में महाबल ही था। उसने अपने बाहुबल से समस्त विरोधो राजाओं के दांत खट्टे कर दिये थे। वह सन्धि विग्रह, यान, संस्थान, आसन और द्वैधीभाव इन छह गुणों से विभूषित था। उसके साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार उपाय कभी निष्फल नहीं होते थे। वह उत्साह, मंत्र और प्रभाव इन तीन शक्तियों से युक्त था, जिससे वह हर एक सिद्धियों का पात्र बना हुआ था। कहने का मतलब यह है कि उस समय वहां राजा महाबलो की बराबरी करने वाला कोई दूसरा राजा नहीं था। अपनी कान्ति से देवांगनाओं को भी पराजित करने वाली अनेक नर देवियों के साथ तरह तरह के सुख भोगते हुए महाबल का बहुत सा समय व्यतीत हो गया।

एक दिन कारण पाकर उसका चित्त विषय वासनाओं से हट गया जिससे वह अपने धनपाल नामक पुत्र को राज्य देकर विमलवाहन गुरु के पास दीक्षित हो गया। अब मुनिराज महाबल के पास रंच मात्र भो परिग्रह नहीं रहा था। वे शरदी, गर्मी, वर्षा, क्षुधा, आदि के दुःख समता भावों से सहने लगे। संसार और शरीर के स्वरूप का विचार कर निरन्तर संवेग और वैराग्य गुण की वृद्धि करने लगे। आचार्य विमलवाहन के पास रह कर उन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का विशुद्ध हृदय से चिन्तवन किया जिससे उन्हें तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में वे समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर विजय नाम के पहले अनुत्तर में महा ऋद्धिधारी अहमिन्द्र हुए। वहां उनकी तेतोस सागर प्रमाण आयु थी, एक हाथ बराबर सफेद शरीर था, वे तेतोस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार लेते और तेतीस पक्ष में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते थे। वहाँ वे इच्छा मात्र से प्राप्त हुई उत्तम द्रव्यों से जिनेन्द्र देव की अर्चा करते और स्वेच्छा से मिले हुये देवों के साथ तत्त्व चर्चा करके मन बहलाते थे। यही अहमिन्द्र आगे चल कर भगवान अभिनन्दन नाथ हुये।

सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या।
मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद् गुणकीर्तनान्मे।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः।
अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्यक्।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद्
असम्प्रमादेन यमेन वाचाम्।
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्याम्।

पुत्रो! संसार सागर से पार होने में कुशल तथा धैर्य, उद्यम एवं सत्त्वगुण युक्त विशिष्ट पुरुष को चाहिये कि सब के आत्मा और गुण स्वरूप मुझ भगवान् में भक्तिभाव रखने से, मेरे परायण रहने से, तृष्णा के त्याग से, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के सहने से 'जीव को सभी योनियों में दुःख ही उठाना पड़ता है' इस विचार से, तत्त्व जिज्ञासा से, तप से, सकाम कर्म के त्याग से मेरे ही लिये कर्म करने से मेरी कथाओं को नित्य प्रति श्रवण से, मेरे भक्तों के सङ्ग और मेरे गुणों के कीर्तन से, वैरत्याग से, समता से, शान्ति से और शरीर तथा घर आदि में मैं-मेरे पर के भाव को त्यागने की इच्छा से, आध्यात्मशास्त्र के अनुशीलन से, एकान्त सेवन से, प्राण इन्द्रिय और मन के संयम से, शास्त्र और सत्पुरुषों के वचन में यथार्थ बुद्धि रखने से, पूर्ण ब्रह्मचर्य से, कर्तव्य कर्मों में निरन्तर सावधान रहने से, वाणी के संयम से, सर्वत्र मेरी ही सत्ता देखने से, अनुभव ज्ञान सहित तत्त्व

(२) वर्तमान परिचय

जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में अयोध्या नाम की नगरी है जो विश्ववन्द्य तीर्थकरों के जन्म से महा पवित्र है । जिस समय की यह वार्ता है उस समय वहां स्वयम्वर राजा राज्य करते थे उनकी महारानी का नाम सिद्धार्था था । स्वयम्वर महाराज वीर लक्ष्मी के स्वयम्वर पति थे । वे बहुत ही विद्वान और कठिन से कठिन कार्यों को वे अपनी बुद्धि वल से अनायास ही कर डालते थे, जिससे देखने वालों को दांतों तले अंगुली दवानी पड़ती थी । राज दम्पति तरह तरह के सुख भोगते हुए दिन विताते थे ।

ऊपर जिस अमिन्द्रि का कथन कर आये उसकी आयु जब विजय विमान में छह मास की वाकी रह गई तब से राजा स्वयंवर के घर के आंगन में प्रति दिन रत्नों की वर्षा होने लगी । साथ में और भी अनेक शुभ शकुन प्रकट हुये जिन्हें देखकर भावी शुभ की प्रतीक्षा करते हुये राजदम्पति बहुत ही हर्षित होते थे । इसके अनन्तर महारानी सिद्धार्था ने वैशाख शुक्ल षष्टी के दिन पुनर्वसु नामक नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में सुरकुंजर आदि सोलह स्वप्नों को देखा । सवेरे स्वयंवर महाराज ने उनका फल कहा—प्रिये ! आज तुम्हारे गर्भ में स्वर्ग से चयकर किसी पुण्यात्मा ने अवतार लिया है—नौ माह वाद तुम्हारे तीर्थकर पुत्र होगा । जिसके वल, विद्या, वैभव, आदि के सामने देव देवेन्द्र अपना माथा धुनेंगे । पति के मुंह से भावी पुत्र का माहात्म्य सुनकर सिद्धार्था के हर्ष का पारावार नहीं रहा । उस समय उसने अपने आपको समस्त स्त्रियों में सारभूत समझा था । गर्भ में स्थित तीर्थकर बालक के पुण्य प्रताप से देव कुमारियां आकर महाराणी की सुश्रूषा करने लगी और चतुर्णिकाय के देवों ने आकर स्वर्गीय वस्त्रा-भूषणों से खूब सत्कार किया, खूब उत्सव मनाया, खूब भक्ति प्रदर्शित की । धीरे २ जब गर्भ के दिन पूर्ण हो गये तब रानी सिद्धार्था ने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन आदित्य योग और पुनर्वसु नक्षत्र में उत्तम पुत्र उत्पन्न किया । देवों ने मेरुपर्वत

विचार से और योग साधन से अहंङ्कार रूप अपने लिङ्ग शरीर को लीन कर दे ।

कर्माशयं हृदयग्रन्थिवन्ध-
मविद्ययाऽऽसादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ।

मनुष्य को चाहिये कि वह सावधान रहकर अविद्या से प्राप्त इस हृदय ग्रन्थि रूप वन्धन को शास्त्रोक्त रीति से इन साधनों से द्वारा भली भांति काट डाले; क्योंकि यही कर्म संस्कारों के रहने का स्थान है । तदन्तर साधन को भी परित्याग कर दे ।

पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्
न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ।

जिसका मेरे लोक की इच्छा हो अथवा जो मेरे अनुग्रहकी प्राप्ति को ही परम पुरुपार्थ मनता हो—वह राजा हो तो अपनी अवोध प्रजाको, गुरु अपने शिष्योंको और पिता अपने पुत्रों को ऐसी ही शिक्षा दे । अज्ञान के कारण यदि वे उस शिक्षाके अनुसार न चलकर कर्म को ही परम पुरुपार्थ मानते रहें, तो भी उस पर क्रोध न करके उन्हें समझा बुझाकर कर्म में प्रवृत न होने दे । उन्हें विपयासक्तियुक्त काम्यकर्मों में लगाना तो ऐसा ही है, जैसे किसी अंधे मनुष्य को जान-बूझकर गड्ढे में ढकेल देना । इससे भला, किस पुरुपार्थ की सिद्धि हो सकती है ।

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान् समीहेत निकामकामः ।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ।

अपना सच्चा कल्याण किस वातमें है, इसको लोग नहीं जानते, इसीसे वे तरह तरहकी भोग-कामनाओंमें फंसकर तुच्छ क्षणिक सुखके लिये आपसमें वैर ठान लेते हैं और

पर ले जाकर रमणीय सलिल से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने तरह-तरह के आभूषण पहिनाये। फिर मेरु पर्वत से वापिस आकर अयोध्यापुरी में अनेक उत्सव मनाये। राजा नें याचकों के लिए मनचाहा दान दिया। इन्द्र ने राजा वन्धुओं की सलाह से वालक का अभिनन्दन नाम रक्खा। वालक अभिनन्दन अपनी बाल चेष्टाओं से सब के मन को आनन्दित करता था इसलिये उसका अभिनन्दन नाम सार्थक ही था। जन्मकल्याणक का महोत्सव मनाकर इन्द्र वगैरह अपने अपने स्थानों पर वापिस चले गये। पर इन्द्र की आज्ञा से वहुत से देव बालक अभिनन्दन कुमार के मनोविनोद के लिए वहीं पर रह गये। शंभव नाथ के वाद दश लाख करोड़ सागर समय वीत चुकने पर भगवान् अभिनन्दन नाथ हुये थे। उनकी आयु पचास लाख पूर्वको थी, शरीर की ऊंचाई तीन सौ पचास धनुष की थी और रंग सुवर्ण की तरह पीला था, उनके शरीर से सूर्य के समान तेज निकलता था। वे मूर्तिधारी पुण्य के समान मालूम होते थे।

जव इनकी आयु के साढ़े वारह लाख वर्ष वीत गये तब महाराज स्वयंवर ने इन्हें राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली। अभिनन्दन स्वामी ने भी राज्य सिंहासन पर विराजमान होकर साढ़े छत्तीस लाख पूर्व और आठ पूर्वांग तक राज्य किया।

एक दिन वे मकान की छत पर वैठकर आकाश की शोभा देख रहे थे देखते देखते उनकी दृष्टि एक वादलों के समूह पर पड़ी। उस समय वह वादलों का समूह आकाश के मध्य भाग में स्थित था। उसका आकार किसी मनोहर नगर के समान था। भगवान अनिमेष दृष्टि से उसके सौन्दर्य को देख रहे थे। पर इतने में वायु के प्रवल वेग से वादलों का समूह नष्ट हो गया—कहीं का कहीं चला गया। वस, इसी घटना से उन्हें आत्म ज्ञान प्रकट हो गया, जिससे उन्होंने राज्य कार्य से मोह छोड़ कर दीक्षा लेने का दृढ़ विचार कर लिया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर उनके विचारों का समर्थन किया, चारों निकायों के देवों ने आकर दीक्षा कल्याणक का उत्सव किया। अभिनन्दन स्वामो राज्य का भार पुत्र के लिए सौंपकर देव निर्मित हस्तचित्रा पालकी पर सवार हुए। देव उस पालकी को उठा कर उग्र नाम उद्यान में ले गये वहां उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र के उदय में शाम के समय

निरन्तर विषयभोगों के लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं। वे मूर्ख इस वातपर कुछ भी विचार नही करते कि इस वैर-विरोध के कारण नरक आदि अनन्त घोर दुःखों की प्राप्ति होगी।

कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चिद्
अविद्यायामन्तरे वर्तमानम्।
दृष्ट्वा। पुनस्तं सघृणः कुबुद्धि
प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम्।

गढ़े में गिरने के लिये उल्टे रास्ते से जाते हुए मनुष्य को जैसे आँख वाला पुरुष उधर नही जाने देता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य को अविद्या में फँसकर दुःखोंकी ओर जाते देखकर कौन ऐसा दयालु और ज्ञानी पुरुष होगा, जो जान-बूझकर भी उसे उसी राह पर जाने दे, या जाने के लिये प्रेरणा करे।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न
मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्।

जो अपने प्रिय सम्बन्धी को भगवद्भक्ति का उपदेश देकर मृत्यु की फाँसी से नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः।

मेरे इस अवतार शरीरका रहस्य साधारण जनों के लिये वुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है, मैंने अधर्म को अपने से वहुत दूर पीछे की ओर ढकेल दिया है, इसी से सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं।

जगद्वन्द्य सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार कर दीक्षा धारण कर ली—वाह्य अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़ दिये और केश उखाड़ कर फेंक दिये। उनके साथ में और भी हजार राजाओं ने दीक्षा धारण की । उन सब से घिरे हुए भगवान अभिनन्दन वहुत ही शोभायमान होते थे। उन्होंने दीक्षा लेते समय वेला अर्थात् दो दिन का उपवास धारण किया था।

जव तीसरा दिन आया तव वे मध्याह्न से कुछ समय पहले आहार लेने के लिए अयोध्यापुरी में गये। उस समय वे आगे चार हाथ जमीन देखकर चलते थे, किसी से कुछ नहीं कहते, उनकी आकृति सौम्य थी दर्शनीय थी । वे उस समय ऐसे मालूम होते थे मानों चचाल चित्रं किलकान्चनाद्रि मेरु पर्वत ही चल रहा हो। महाराज इन्द्रदत्त ने पड़गाह कर उन्हें विधि-पूर्वक आहार दिये जिससे उनके घर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। वहाँ से लौट कर अभिनन्दन स्वामी वन में जा विराजे और कठिन तपस्या करने लगे। इस तरह अट्ठारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहकर विहार किया।

एक दिन वेला उपवास धारण कर वे शाल वृक्ष के नीचे विराजमान थे। उसी समय उन्होंने शुक्ल ध्यान के अवलम्वन से क्षपक श्रेणी मांढ क्रम क्रम से आगे वढ़कर दशवें गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया फिर वढ़ती हुई विशुद्धि से वारहवें गुणस्थान में पहुँचे। वहां अन्तर्मुहूत ठहर का शुक्ल ध्यान के प्रताप से अवशिष्ट तीन घातिया कर्मों का नाश किया जिससे उन्हें पौष शुक्ल चतुर्दशी के शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र में अनन्त चतुष्टय, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य प्राप्त हो गये । उस समय सब इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की, ज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। धनपति ने समवसरण की रचना की जिसके मध्य में सिंहासन पर अधर विराजमान होकर पूर्ण ज्ञानी भगवान् अभिनन्दन नाथ ने दिव्य ध्वनि के द्वारा सव को हित का उपदेश दिया। जीव, अजीव, आश्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों का विशद व्याख्यान किया । संसार के दुखों का वर्णन कर उससे छूटने के उपाय वतलाये। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक प्राणी धर्म में दीक्षित हो गये थे । वे जो कुछ कहते थे वह विशुद्ध हृदय से कहते थे इसलिए लोगों के हृदयों पर उसका असर पड़ता था । आर्य क्षेत्र में जगह जगह घूम

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः
सर्वे महीयांसममुं सनाभम्।
अकिलष्टवुद्धया भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम्।

तुम सव मेरे उस शुद्ध सत्त्वमय हृदय से उत्पन्न हुए हो, इसलिये मत्सर छोड़कर अपने वड़े भाई भरत की सेवा करो। उसकी सेवा करना मेरी ही सेवा करना है और यही तुम्हारा प्रजापालन भी है।

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सवोधनिष्ठाः
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विवुधानुगा ये।

अन्य सव भूतों की अपेक्षा वृक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, उनसे चलने वाले जीव श्रेष्ठ हैं और उनमें भी कीटादि की अपेक्षा ज्ञानयुक्त पशु आदि श्रेष्ठ हैं। पशुओं से मनुष्य, मनुष्यों से प्रमथगण, प्रमथों से गन्धर्व, गन्धर्वों से सिद्ध और सिद्धों से देवताओं के अनुयायी किन्नरादि श्रेष्ठ हैं।

देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम्।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः।

उनसे असुर, असुरों से देवता और देवताओं से भी इन्द्र श्रेष्ठ हैं। इन्द्र से भी ब्रह्माजी के पुत्र दक्षादि प्रजापति श्रेष्ठ हैं। ब्रह्माजी के पुत्रों में रुद्र सवसे श्रेष्ठ हैं। वे ब्रह्माजी से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ब्रह्माजी उनसे श्रेष्ठ हैं। वे भी मुझसे उत्पन्न हैं और मेरी उपासना करते हैं, इसलिये मैं उनसे भी श्रेष्ठ हूँ। परंतु ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं उन्हें पूज्य मानता हूँ।

कर उन्होंने सार्वधर्म का प्रचार किया और संसार सिन्धु में पड़े हुए प्राणियों को हस्तावलम्बन दिया।

उनके समवसरण में व्रजनाभि को आदि लेकर १०३ एक सौ तीन गणधर थे, दो हजार पांच सौ द्वादशांग के पाठी थे, दो लाख तीस हजार पचास शिक्षक थे, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, सोलह हजार केवलज्ञानी थे, ग्यारह हजार छह सौ मन:पर्यय ज्ञान के धारक थे, उन्नीस हजार विक्रिया ऋद्धि के धारण करने वाले थे, और ग्यारह हजार वाद विवाद करने वाले थे, इस तरह सब मिलाकर तीन लाख मुनिराज थे। इनके सिवाय मेरुषेणा को आदि लेकर तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्रावक थे, पांच लाख श्राविकाएँ थीं। असंख्यात देव देवियाँ थीं और थे असंख्यात तिर्यन्च।

अनेक जगह विहार करने के बाद वे आयु के अन्तिम समय में सम्मेद शिखर पर पहुँचे। वहां से प्रतिमायोग धारण कर अचल हो बैठगये। उस समय उनका दिव्य ध्वनि वगैरह बाह्य वैभव लुप्त हो गया था। वे हर एक तरह के आत्म ध्यान में लीन हो गये थे। धीरे धीरे उन्होंने योगों की प्रवृत्ति को भी रोक लिया था जिससे अनेक नवीन कर्मों का आश्रव विल्कुल वन्द हो गया और शुक्ल ध्यान के प्रताप से सत्ता में स्थित अघाति चतुष्क की पचासी प्रकृतियाँ धीरे २ नष्ट हो गईं। जिससे वे वैसाख शुक्ल षष्ठी के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में प्रातः काल के समय मुक्ति मन्दिर में जा पधारे। देवों ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक का महोत्सव किया। आचार्य गुणभद्र लिखते हैं कि जो पहले विदेह क्षेत्र के रत्नसंचय नगर में महाबल नाम के राजा हुए फिर विजय अनुत्तर में अहमिन्द्र हुए और अन्त में साकेतपति अभिनन्दन नामक राजा हुए वे अभिनन्दन स्वामी तुम सब की रक्षा करें।

भगवान सुमतिनाथ तीर्थंकर

रिपुनृप यम दण्ड:-पुण्डरीकिण्यधीशोहरिरिव रतिपेणो वैजयन्ते हमिन्द्रः।

सुमति रमित लक्ष्मीस्तीर्थकृद्य: कृतार्थ: सकलगुणासमृद्धो वः स सिद्धिं विद्ध्यात्॥

—आचार्य गुणभद्र

न ब्राह्मणंस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्राः किमतः परंतु।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे।

सभा में उपस्थित ब्राह्मणों को लक्ष्य करके विप्रगण! दूसरे किसी भी प्राणी को मैं ब्राह्मणों के समान भी नहीं समझता, फिर उनसे अधिक तो मान ही कैसे सकता हूँ। लोग श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों के मुख में जो अन्नादि आहुति डालते हैं, उसे मैं जैसी प्रसन्नता से ग्रहण करता हूँ वैसे अग्निहोत्र में होम की हुई सामग्री को स्वीकार नहीं करता।

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र।

जिन्होंने इस लोक में अध्ययनादिके द्वारा मेरी वेदरुपा अति सुन्दर और पुरातन मूर्तिको धारण कर रखा है तथा जो परम पवित्र सत्त्वगुण शम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा और ज्ञानादि आठ गुणोंसे सम्पन्न हैं—उन ब्राह्मणों से बढ़कर और कौन हो सकता है।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम्॥

मैं ब्रह्मादि से भी श्रेष्ठ और अनन्त हूं तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि देने की सामर्थ्य रखता हूं; किंतु मेरे अकिञ्चन भक्त ऐसे निःस्पृह होते हैं कि वे मुझसे भी कभी कुछ नहीं चाहते; फिर राज्यादि अन्य वस्तुओं की तो वे इच्छा ही कैसे कर सकते हैं?

जो शत्रु रूप राजाओं के लिए यमराज के दण्ड के समान अथवा हरि इन्द्र के समान पुण्डरीकिणी नगरी के राजा रतिषेण हुए, फिर वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए वे अपार लक्ष्मी के धारक, कृतकृत्य, सब गुणों से सम्पन्न भगवान् सुमति नाथ तीर्थंकर तुम सब की सिद्धि करें - तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करे ।

पूर्व भव परिचय

दूसरे धातकी खण्ड द्वीप में पूर्व मेरू से पूर्व की ओर विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावली नामक देश है। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी है जो अपनी शोभा से पुरन्दरपुरी अमरावती को भी जीतती है । वहाँ राजा रतिषेण राज्य करते थे । जिस तरह बड़े २ शत्रुओं को जीत लिया था उसी तरह अनुपम मनोबल से काम क्रोध, लोभ मद्, मात्सर्य और मोह इन छह अन्तरंग शत्रुओ को भी जीत लिया था । वे बड़े ही यशस्वी थे, दयालु थे, धर्मात्मा थे और थे सच्चे नीतिज्ञ । अनेक तरह के विषय भोगते हुए जब उनकी आयु का बहुभाग व्यतीत हो गया तब उन्हें एक दिन किसी कारणवश ससार से उदासीनता हो गई। ज्योंही उन्होंने विवेकरुपी नेत्र से अपनी ओर देखा त्योंही उन्हें अपने बीते हुए जीवन पर बहुत ही सन्ताप हुआ । वे सोचने लगे हाय मैंने अपनी विशाल आयु इन विषय सुखों के भोगने में ही बिता दी पर विषय सुख भोगने से क्या सुख मिला है। इसका कोई उत्तर नहीं है । मैं आज तक भ्रमवश दुःख के कारणों को ही सुख का कारण मानता रहता हूं। ओह! इत्यादी विचार कर वे अतिरथ पुत्र के लिये राज्य दे वन में जा कर कठिन तपस्याएं करने लगे । उन्होंने अहन्नन्दन गुरु के पास रहकर ग्यारह अंगों का विधिपूर्वक अध्ययन किया तथा दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का शुद्ध हृदय से चिन्तवन किया जिससे उन्हें तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया मुनिराज रतिषेण आयु के अन्त में सन्यास पूर्वक मर कर वैजन्त विमान में अहमिन्द्रहुए। वहां उनकी आयु तेतीस सागर वर्ष की थी, शरीर एक हाथ उंचा और रंग मे सफेद था। वे तेतीस हजार वर्ष बाद एक बार मानसिक आहार लेते और तेतीस पक्ष में सुरभित श्वास लेते थे। इस तरह यहां जिन अर्चा और तत्व चर्चाओं से अहिमिन्द्र रतिषेण के दिन सुख से बीतने लगे। यही अहमिन्द्र आगे के भव में कथानायक भगवान्

सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदु हार्हणं मे ॥

पुत्रो ! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतों को मेरा ही शरीर समझ कर शुद्ध बुद्धि से पद-पद पर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है ।

मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिवर्हणं हि ।
विना पुमान् येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥

मन, वचन, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियों की चेष्टाओं का साक्षात् फल मेरा इस प्रकार का पूजन ही है। इसके बिना मनुष्य अपने को महामोहमय कालपाश से छुड़ा नहीं सकता ।

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरत- कर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुप- शिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीर- मात्रपरिग्रह ।

श्री शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! ऋषभदेव जी के पुत्र यद्यपि स्वयं ही सब प्रकार सुशिक्षित थे, तो भी लोगों को शिक्षा देने के उद्देश्य से महाप्रभावशाली परम सुहृद् भगवान् ऋषभ ने उन्हें इस प्रकार उपदेश दिया । ऋषभदेव जी के सौ पुत्रों में भरत सबसे बड़े थे । वे भगवान् के परम भक्त और भगवद्भक्तों के परायण थे । ऋषभदेव जी ने पृथ्वी का पालन करने के लिये उन्हें राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्ति- परायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसो- चित धर्मो की शिक्षा देने के लिए बिल्कुल विरक्त हो गये। केवल शरीरमात्र का परिग्रह रक्खा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया । अब वे वस्त्रों का भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये ।

सुमति होगें। अब कुछ वहां का वर्णन सुनिये वहां आगे चल कर उक्त अहमिन्द्र जन्म धारण करेगें।

(२) वर्तमान परिचय

पाठकगण जम्बूद्वीप भरत क्षेत्र की जिस अयोध्या से परिचित होते आ रहे हैं उसी में किसी समय मेघरथ नाम के राजा राज्य करते थे उनकी महारानी का नाम मंगला था। मगला सचमुच मंगला ही थी। महाराज मेघरथ के सर्व मंगल मंगला के ही आधीन थे। ऊपर जिस अहमिन्द्र का कथन कर आये हैं उसकी वहां की आयु जब छह माह की बाकी रह गई थी तभी से महाराज मेघरथ के घर पर देवों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरु कर दी थी। श्रावण शुक्ला द्वितीया के दिन मघा नक्षत्र में मंगला देवी ने पिछले भाग में ऐरावत आदि सोलह स्वप्न देखे और फिर मुंह में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। सवेरा होते ही उसने प्राणनाथ से स्वप्नों का फल पूछा तब उन्होंने अवधिज्ञान से जानकर कहा कि आज तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर बालक ने अवतार लिया है - सोलह स्वप्न उसी की विभूति के परिचायक हैं। पति के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर और भावी पुत्र के सुविशाल वैभव का स्मरण करके वह बहुत ही सुखी होती थी। उसी दिन देवों ने आकर राजा रानी का खूब यश गाया, खूब उत्सव मनाये। इन्द्र की आज्ञा से सुर कुमारियां महादेवी मंगला की तरह तरह की शुश्रूषा करती थी और प्रमोदमयी वचनों से उसका मन बहलाये रहती थीं।

नौ महीना बाद चेत शुक्ल एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में महारानी ने पुत्र उत्पन्न किया। पुत्र उत्पन्न होते ही तीनों लोकों में आनन्द छा गया। सब के हृदय आनन्द से उल्लसित हो उठे, एक क्षण के लिए नारकी भी मारकाट का दुःख भूल गये, भवनवासी देवों के भवनों में अपने आप शख बज उठे, व्यन्तरों के मंदिरों में भेरी की आवाज गूंजने लगी ज्योतिषियों के विमानों में सिंहनाद हुआ तथा कल्पवासी देवों के विमानों में घन्टा की आवाज फैल गई। मनुष्य लोक में भी दिशाएं निर्मल हो गई, आकाश निमेघ हो गया, दक्षिण की शीतल और सुगन्धित वायु धीरे २ बहने लगी, नदी, तालाब आदि का पानी स्वच्छ हो गया।

अथानन्तर तीर्थंकर के पुण्य उदय से देव लोग बालक तीर्थंकर को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहां उन्होंने क्षीर सागर के जल से उनका अभिषेक किया। अभिषेक के बाद इन्द्राणी ने शरीर पोंछकर उन्हें बालोचित उत्तम आभूषण पहिनाये और इन्द्र ने स्तुति की। फिर जय जय शब्द से समस्त आकाश को व्याप्त करते हुए अयोध्या आये और बालक को माता पिता के लिए सौंप कर उन्होंने बड़े ठाट बाट से जन्मोत्सव मनाया। उसी समय इन्द्र ने आनन्द नाम का नाटक किया था।

पुत्र का अनुपम माहात्म्य देख कर माता पिता हर्ष से फूले न समाते थे। इन्द्र ने महाराज मेघरथ की सम्मति से बालक का नाम सुमति रक्खा। उत्सव समाप्त कर देव लोग अपने-२ घर चले गये।

बालक सुमतिनाथ दोयज के चन्द्रमा की तरह धीरे-२ बढ़ता गया। वह बाल चन्द्र ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था त्यों-त्यों अपनी कलाओं से माता पिता के हर्ष सागर को बढ़ाता जाता था। भगवान सुमतिनाथ, अभिनन्दन स्वामी के बाद नौ लाख करोड़ सागर समय बीत जाने पर हुए थे। उनकी आयु चालीस लाख पूर्व की थी जो उसी अन्तराल में शामिल है। शरीर की ऊचाई तीन सौ धनुप और शरार की कान्ति तपे हुए स्वर्ण की तरह थी। उनका शरीर बहुत ही सुन्दर था। उनके अंग प्रत्यंग से लावण्य फूट-फूट कर निकल रहा था। धीरे-धीरे जब उनके कुमार काल के दश लाख पूर्व व्यतीत हो गये तब महाराज मेघरथ उन्हें राज्य भार सौंपकर दीक्षित हो गये।

भगवान सुमतिनाथ ने राज्य पाकर उसे इतना व्यवस्थित बनाया था कि जिससे उनका कोई भी शत्रु नहीं रहा था। समस्त राजा लोग उनकी आज्ञाओं को मालाओं की तरह मस्तक पर धारण करते थे। उनके राज्य में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप देखने को न मिलते थे। उन्हें हमेशा प्रजा के हित का ख्याल रहता था इसलिए वे कभी ऐसे नियम नहीं बनाते थे जिनसे कि प्रजा दुखी हो। महाराज मेघरथ दीक्षित होने के पहले ही उनका योग्य कुलीन कन्याओं के साथ पाणिग्रहण (विवाह) करा गये थे। सुमतिनाथ उन नर देवियों के साथ अनेक सुख भोगते हुए अपना समय व्यतीत करते थे।

इस तरह राज्य करते हुए जब उनके उन्नीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग बीत चुके तब किसी दिन कारण पाकर उनका चित्त विषय वासनाओं से विरक्त हो गया जिससे उन्हें संसार के भोग विरस और दुःखप्रद मालूम होने लगे। ज्योंही उन्होंने अपने अतीत जीवन पर दृष्टि डाली त्योंही उनके शरीर में रोमाँच खड़े हो गये। उन्होंने सोचा "हाय, मैंने एक मूर्ख की तरह इतनी विशाल आयु व्यथ हो गवां दी दूसरों के हित का मार्ग बतलाऊं। उनका भला करूं—यह जो मैं बचपन में सोचा करता था वह सब इस यौवन और राज्य सुख के प्रवाह में प्रवाहित हो गया। जैसे सैकड़ों नदियों का पान करते हुए भी समुद्र को तृप्ति नहीं होती वैसे इन विषय सुखों को भोगते हुए भी प्राणियों को तृप्ति नहीं होती। ये विषयाभिलाषाएं मनुष्य को आत्म हित की ओर कदम नहीं बढ़ाने देतीं। इसलिए अब मैं इन विषय वासनाओं को तिलाँजलि देकर आत्म हित की ओर प्रवृत्त करता हूं।

इधर भगवान सुमतिनाथ विरक्त हृदय से ऐसा विचार कर रहे थे उधर आसन कांपने से लौकान्तिक देवों को इनके वैराग्य का ज्ञान हो गया था जिससे वे शीघ्र ही इनके पास आये और अपनी विरक्त वाणी से इनके वैराग्य को बढ़ाने लगे। जब लौकान्तिक देवों ने देखा कि अब इनका हृदय पूर्ण रूप से विरक्त हो चुका है तब वे अपनी-अपनी जगह पर वापिस चले गये और उनके स्थान पर असंख्य देव लोग आ गये। उन्होंने आकर वैराग्य महोत्सव मनाना प्रारम्भ कर दिया। पहिले जिन देवी की संगीत, नृत्य, तथा अन्य चेष्टाएं राग बढ़ाने वाली होती थी आज उन्हीं देवियों की समस्त चेष्टाएं वैराग्य बढ़ाने वाली होती थी आज उन्हीं देवियों की समस्त चेष्टाएं वैराग्य बढ़ा रही थीं।

भगवान सुमतिनाथ पुत्र के लिए राज्य देकर देव निर्मित "अभया पालकी पर बैठ गये। देव लोग "अभया" को अयोध्या के समीपवर्ती सहेतुक नामक वन में ले गये वहाँ उन्होंने नर-सुर की साक्षी में जगद्वन्द्य सिद्ध परमेष्टी को नमस्कार कर बैसाख शुक्ला नवमी के दिन मध्याह्न के समय मघा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा धारण करते समय ही वे तेला—तीन दिन के उपवास को प्रतिज्ञा कर चुके थे इसलिए लगातार तीन दिन तक एक आसन से ध्यान मग्न होकर बैठे रहे। ध्यान के प्रताप से उनकी विशुद्धता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी इसलिए उन्हें दीक्षा लेने के बाद ही चौथा मनः पर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया था। जब तीन दिन समाप्त हुए तब वे मध्यान्ह के आहार के लिए सौमनस नगर में गये। वहां उन्हें "द्युम्न द्युति" राजा ने पडगाह कर योग्य (समयानुकूल) आहार दिया। पात्रदान के प्रभाव से राजा द्युम्नद्युति के घर देवों ने पंचाश्चर्य प्रकट किये। भगवान सुमतिनाथ आहार लेकर वन को वापिस लौट आये और फिर आत्म-ध्यान में लीन हो गये।

इस कुछ-२ दिनों के अन्तराल से आहार ले कठिन तपश्चर्या करते हुए जब बीस वर्ष बीत गये तब उन्हें प्रियंगु वृक्ष के नीचे शक्ल ध्यान के प्रताप से घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर चैत्र सुदी एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में सायंकाल के समय लोक अलोक का प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। देव, देवेन्द्रों ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक का उत्सव मनाया। अलकाधिपति कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा पाते ही समवशरण की रचना की। उनके मध्य में सिंहासन पर अचेत रूप से विराजमान हो करके वली सुमतिनाथ ने दिव्य ध्वनि के द्वारा उपस्थित जनसमूह को धर्म, अधर्म का स्वरूप बतलाया। जीव, पद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के स्वरूप का व्याख्यान किया। भगवान के मुखारविन्द से वस्तु का स्वरूप समझ कर वहाँ बैठी हुई जनता के मुंह उस तरह हर्षित हो रहे थे। जिस तरह कि सूर्य की किरणों के स्पर्श से कमल हर्षित हो जाते हैं।

व्याख्यान समाप्त होते ही इन्द्र ने मधुर शब्दों में उनकी स्तुति की और आर्य क्षेत्रों में विहार करने की प्रार्थना की। उन्होंने आवश्यकतानुसार आर्य क्षेत्रों में विहार कर समीचीन धर्म का खब प्रचार किया।

भगवान का विहार उनकी इच्छा पूर्वक नहीं होता था। क्योंकि मोहनीय कर्म का अभाव होने से उनकी हर एक प्रकार की इच्छाओं का अभाव हो गया था। जिस तरफ भव्य जीवों के विशेष पुण्य का उदय होता था उसी तरफ मेघों की नाई उनका स्वाभाविक विहार हो जाता था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक नर-नारी उनकी शिष्य दीक्षा में दीक्षित हो जाते थे।

आचार्य गुणभद्र जी ने लिखा है कि उनके समवसरण में अमर आदि एक सौ सोलह गणधर थे, दो लाख चौअन हजार तीन सौ पचास शिक्षक थे ग्यारह हजार अवधिज्ञानी थे, तेरह हजार केवल ज्ञानी थे, दश हजार चार सौ मनःपर्यय ज्ञानी थी, अठारह हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, और दस हजार चार सौ पचास वादी थे। इस तरह सव मिलाकर तीन लाख वीस हजार मुनि थे। अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएं थीं, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकाएं थीं। इनके सिवाय असंख्यात देव देवियां और संख्यात तिर्यंच थे।

जब उनकी आयु एक माह की बाकी रह गई तब वे सम्मेद शैल पर आये और वहीं याग निरोध कर विराजमान हो गये। वहाँ उन्होंने शुक्ल ध्यान के द्वारा अघाति चतुष्टय का क्षय कर चैत्र सुदी एकादशो के दिन मघा नक्षत्र में शाम के समय मुक्ति मन्दिर में प्रवेश किया। देवों ने सिद्ध क्षेत्र सम्मेद शिखर पर आकर उनकी पूजा की और मोक्ष कल्याणक का उत्सव किया।

अथानन्तर जो लोग सुमतिनाथ की वुद्धि को ही बुद्धि मानते हैं अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित मत में हो जिनकी वुद्धि प्रवृत्त रहती है उन्हें अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इसके सिवाय जिनके वचन सज्जन पुरुषों के द्वारा ग्राह्य हैं ऐसे सुमतिनाथ भगवान् हम सबके लिए सद्बुद्धि प्रदान करें। अखण्ड घातकी खण्ड द्वीप में पूर्व मेरु पर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक पुष्कलावती नाम का उत्तम देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में रतिषेण नाम का राजा था। वह राजा राज्य-सम्पदाओं से सहित था, उसे किसी प्रकार का व्यसन नहीं था और पूर्व भाग में उपर्जित विशाल पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त हुए राज्य का नीति-पूर्वक उपभोग करता था। उसका वह राज्य शत्रुओं से रहित था, क्रोध के कारणों से रहित था और निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता था। राजा रतिषेण की जो राजविद्या थी वह उसी की थी वैसी राजविद्या अन्य राजाओं में नहीं पाई जाती थी। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड इन चारों विद्याओं में चौथी दण्डविद्या का वह कभी प्रयोग नहीं करता क्योंकि उसकी प्रजा प्राणदण्ड आदि अनेक दण्डों में से किसी एक भी दण्ड मार्ग में नहीं जाती थी। इन्द्रियों के विषय में अनुराग रखने वाले मनुष्य को जो मानसिक तृप्ति होती है उसे काम कहते हैं। वह काम, अपने इष्ट समस्त पदार्थों की संपत्ति रहने से राजा रतिषेण को कुछ भी दुर्लभ नहीं था। वह राजा अर्जन, रक्षण, वर्धन और व्यय इन चारों उपायों से धन संचय करता था और आगम के अनुसार अर्हन्त भगवान् को ही देव मानता था। इस प्रकार अर्थ और धर्म को वह काम की अपेक्षा सुलभ नहीं मानता था अर्थात् काम की अपेक्षा अर्थ तथा धर्म पुरुषार्थ का अधिक सेवन करता था। इस प्रकार लीला पूर्वक पृथ्वी का पालन करने वाले और परस्पर की अनुकूलता से धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग की वुद्धि करने वाले राजा रतिषेणका जब बहुत-सा समय व्यतीत हो गया तब एक दिन उसके हृदय में निम्नांकित विचार उत्पन्न हुआ।

वह विचार करने लगा कि इस संसार में जीवका कल्याण करने वाला क्या है? और पर्यायरूपी भंवरों में रहने वाले दुर्जन्म तथा दुर्मरण रूपी सर्पों से दूर रहकर यह जीव सुख को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? अर्थ और काम से तो सुख हो नहीं सकता क्योंकि उनसे संसार की ही वृद्धि होती है। रहा धर्म, सो जिस धर्म में पाप की संभावना है उस धर्म से भी सुख नहीं हो सकता। हां, पाप रहित एक मुनि धर्म है उसी से इस जीव को उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार विरक्त राजा के हृदय में उत्तम फल देने वाला विचार उत्पन्न हुआ। तदनन्तर संसार का अन्त करने वाले राजा रतिषेण ने राज्य का भारी भार अपने अतिरथ नामक पुत्र के लिए सौंप कर तपका हलका भार धारण कर लिया। उसने अर्हन्नन्दन जिनेन्द्र के समीप दीक्षा धारण की, ग्यारह अगों का अध्ययन किया और मोह-शत्रु को जीतने की इच्छा से अपने शरीर से भी ममता छोड़ दी। उसने दर्शन विशुद्धि, विनय सम्पन्नता आदि कारणों से तीर्थकर प्रकृति का बन्ध किया सो ठीक ही है क्योंकि जिसने अभीष्ट पदार्थ की सिद्धि होती है बुद्धिमान पुरुष वैसा ही आचरण करते हैं। उसने अन्त समय में संन्यासमरण कर उत्कृष्ट आयु का बन्ध किया तथा वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। वहाँ उसका एक हाथ ऊंचा शरीर था। वह सोलह माह तथा पन्द्रह दिन में एक बार स्वास लेता था, तैंतीस हजार वर्ष बाद मानसिक आहार ग्रहण करता था, शुक्ल लेश्या का धारक था,

अपने तेज तथा अवधिज्ञान से लोकनाड़ी को व्याप्त करता था, उतनी ही दूर तक विक्रिया कर सकता था, और लोकनाड़ी उखाड़ कर फेंकने की शक्ति रखता था।

इस संसार में अहमिन्द्र का सुख ही मुख्य सुख है, वही निर्द्वन्द है, अतीचार से रहित है और राग से शून्य है। अहमिंद्र का सुख राजा रतिषेण के जीव को प्राप्त हुआ था। आयु के अन्त में समाधिमरण कर जब वह अहमिन्द्र यहां अवतार लेने को हुआ तब इस जम्बूद्वीप-सम्बन्धी भरत-क्षेत्र की अयोध्या नगरी में मेघरथ नाम का राजा राज्य करता था। वह भगवान वृषभ देव के वंश तथा गोत्र में उत्पन्न हुआ था, शत्रुओं से रहित था और अतिशय प्रशसनीय था। मंगला उसकी पटरानी थी जो रत्नवृष्टि आदि अतिशयों से सम्मान को प्राप्त थी। उसने श्रावण शुक्ल द्वितीया के दिन मघा नक्षत्र में हाथी आदि सोलह स्वप्न देखकर अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र रानी के गर्भ में आया। अपने पति से स्वप्नों का फल जानकर रानी बहुत ही हर्षित हुई। तदन्तर चैत्र माह के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन चित्रा नक्षत्र तथा पितृ योग में उसने तीन ज्ञान के धारक, सत्पुरुषों में श्रेष्ठ और त्रिभुवन कर्ता उस अहमिन्द्र के जीव को उत्पन्न किया। सदा की भांति इन्द्र लोग जिन-बालक को सुमेरु पर्वत पर ले गये, वहाँ उन्होंने जन्माभिषेक सम्बन्धी उत्सव किया, सुमति नाम रक्खा और फिर घर वापस ले आये।

अभिनन्दन स्वामी के बाद नौ लाख करौड़ सागर बीत जाने पर उत्कृष्ठ पुण्य को धारण करने वाले भगवान सुमतिनाथ उत्पन्न हुये थे। उनकी आयु भी इसी काल में शामिल थी। इनकी आयु चालीस लाख पूर्व की थी, शरीर की ऊंचाई तीन सौ धनुष थी, तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्ति थी, और आकार स्वभाव से ही सुन्दर था। वे देवों के द्वारा लाये हुए बाल्यकाल के योग्य समस्त पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते थे। उनके शरीर के अवयव ऐसे जान पड़ते थे मानों चन्द्रमा की किरणें ही हों। उनके पतले, टेढ़े, चिकने तथा जामुन के समान कान्ति वाले शिर के केश ऐसे जान पड़ते थे, मानों मुख में कमल की आशंका कर भौंरें ही इकट्ठे हुए हों। उन्होंने देवों के द्वारा अभिषेक के बाद तीन लोक के राज्य का पद प्राप्त हुआ था। तीन ज्ञान को धारण करने वाले भगवान के कान सब लक्षणों से युक्त थे और पांच वर्ष के बाद भी उन्होंने किसी के शिष्य बनने का तिरस्कार नहीं प्राप्त किया था। उनकी भौंहें बड़ी ही सुन्दर थीं, भौंहों के संकेत मात्र से दिये हुए धन-समूह से उन्होंने याचकों को संतुष्ट कर दिया था अतः उनकी भौंहों की शोभा बड़े-बड़े विद्वानों के द्वारा भी नहीं कही जा सकती थी। समस्त इष्ट पदार्थों के देखने से उत्पन्न होने वाले अपरिमित सुख को प्राप्त हुए उनके दोनों नेत्र विलास पूर्ण थे, स्नेह से भरे थे, शुक्ल कृष्ण और लाल इस प्रकार तीन वर्ण के थे तथा अत्यन्त सुशोभित होते थे। मुख-कमल की सुगन्धि का पान करने वाली उनकी नाक, 'मेरे बिना मुख की शोभा नहीं हो सकती' इस बात का अहंकार धारण करती हुई ही मानों ऊंची उठ रही थी।

उनके दोनों कपोलों की लक्ष्मी उत्तमांग अर्थात मस्तक का आश्रय होने तथा संख्या में दो होने के कारण वक्षःस्थल पर रहने वाली लक्ष्मी को जीतती हुई—सी शोभित हो रही थी। उनके दांतों की पंक्ति कुन्द पुष्प के सौन्दर्य को जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो मुख कमल में निवास करने से संतुष्ट हो हंसती हुई सरस्वती ही हो। जिन्होंने समस्त देवों को तिरस्कृत कर दिया है, सुमेरु पर्वत की शोभा बढ़ाई है और छह रसों के सिवाय सप्तम अलौकिक रस के आस्वाद में सुशोभित हैं ऐसे उनके अधरों (ओठों) की (अधर तुच्छ) संज्ञा नहीं थी। जिससे समस्त पदार्थों का उल्लेख करने वाली दिव्य ध्वनि प्रकट हुई है ऐसे उनके मुखकी शोभा वचनों से प्रिय तथा उज्जवल थी अथवा वचनरूपी वल्लभा-सरस्वती से देदीप्यमान थी।

जबकि अपनी-अपनी वल्लभाओं सहित देवेन्द्र भी उस पर सतृष्ण भ्रमर जैसी अवस्था को प्राप्त हो गये थे। तब उनके मुख-कमल के भाव का क्या वर्णन किया जावे। जिन्होंने स्याद्वाद सिद्धान्त से समस्त वादियों को कुण्ठित कर दिया है ऐसे भगवान सुमतिनाथ के कण्ठ में जब इन्द्रों ने तीन लोक के अधिपतित्व की कण्ठी बांध रक्खी थी तब उसकी क्या प्रशंसा की जावे। शिर से भी ऊंचे उठे हुए उनकी भुजाओं के शिखर ऐसे जान पड़ते थे मानो वक्षःस्थल पर रहने वाली लक्ष्मी के क्रीड़ा-पर्वत ही हों। घुटनों तक लटकने वाली विजयी

सुमतिनाथ की भुजाएं ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो पृथ्वी की लक्ष्मी को हरण करने के लिए वीर लक्ष्मी ने ही अपनी भुजाएं फैलाई हों। उनके वक्षःस्थल की शोभा का पृथक-पृथक वर्णन कैसे किया जा सकता है जबकि उस पर मोक्ष लक्ष्मी और अभ्युदयलक्ष्मी साथ ही निवास करती थी। उनका मध्य भाग कृश होने पर भी कृश नहीं था क्योंकि वह मोक्ष लक्ष्मी और अभ्युदय-लक्ष्मी से युक्त उनके भारी भारी शरीर को लीला पूर्वक धारण कर रहा था।

उनकी आवर्त के समान गोल नाभि गहरी थी यह कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यदि वह वैसी नहीं होती तो उनके शरीर में अच्छी ही नहीं जान पड़ती। समस्त अच्छे परमाणुओं ने विचार किया—हम किसी अच्छे आश्रय के बिना रूप तथा शोभा को प्राप्त नहीं हो सकते ऐसा विचार कर ही समस्त अच्छे परमाणु उनकी कमर पर आकर स्थित हो गये थे और इसीलिये उनकी कमर अत्यन्त सुन्दर हो गई थी। केले के स्तम्भ आदि पदार्थ अन्य मनुष्यों की जांघों की उपमानता को भले ही प्राप्त हो जावें परन्तु भगवान सुमतिनाथ की जांघों के सामने वे गोलाई आदि गुणों में उपमेय ही बने रहते थे।

विधाता ने उनके सुन्दर घुटने किसलिये बनाये थे यह बात मैं ही जनता हूं अन्य लोग नहीं जानते और वह बात यह है कि इनकी ऊरुओं तथा जंघाओं में शोभा सम्बन्धी ईर्ष्या न हो इस विचार से ही बीच में घुटने बनाये थे। विधाता ने उनकी जंघाएँ वज्र से बनाई थीं, यदि ऐसा न होता तो वे कृश होने पर भी त्रिभुवन के गुरु अथवा त्रिभुवन में सबसे भारी उनके शरीर के भार को कैसे धारण करतीं। यह पृथ्वी संपूर्णरूप से हमारे तलवों के नीचे आकर लग गई है यह सोचकर ही मानो उनके दोनों पैर हर्ष से कछुवे की पीठ के समान शुभ कान्ति के धारक हो गये थे।

इन भगवान् सुमतिनाथ में कर्मों को नष्ट करने वाले इतने धर्म प्रकट होंगे यह कहने के लिये हो मानों विधाता ने उनकी दश अंगुलियां बनाई थीं। उनके चरणों के नख ऐसी शंका उत्पन्न करते थे कि मानो उनसे श्रेष्ठ कान्ति प्राप्त करने के लिए ही चन्द्रमा दश रूप बनाकर उनके चरणों की सेवा करता था। इस प्रकार लक्षणों तथा व्यंजनों से सुशोभित उनके सर्व शरीर की शोभा मुक्ति रूपी स्त्री को स्वीकृत करेगी इसमें कुछ भी संशय नहीं था। इस प्रकार भगवान की कुमार अवस्था स्वभाव से ही सुन्दरता धारण कर रही थी, यद्यपि उस समय उन्हें यौवन नहीं प्राप्त हुआ था तो भी वे कामदेव के बिना ही अधिक सुन्दर थे। तदनन्तर यौवन प्राप्त कर कामदेव ने भी उनमें अपना स्थान बना लिया सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे कौन सत्पुरुष हैं जो स्थान पाकर स्वयं नहीं ठहर जाते।

इस प्रकार क्रम-क्रम से जब उनके कुमार-काल के दश लाख पूर्व बीत चुके तब उन्हें स्वर्ग लोग के साम्राज्य का तिरस्कार करने वाला मनुष्यों का साम्राज्य प्राप्त हुआ। शुक्ल लेश्या को धारण करने वाले भगवान सुमतिनाथ न कभी हिंसा करते थे, न झूठ बोलते थे और न चोरी तथा परिग्रह सम्बन्धी आनन्द उन्हें स्वप्न में भी कभी प्राप्त होता था। भावार्थ—वे हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और परिग्रहानन्द इन चारों रौद्र ध्यान से रहित थे। उन्हें न कभी अनिष्ट-संयोग होता था, न कभी इष्ट-वियोग होता था, न कभी वेदनाजन्य दुःख होता था और न वे कभी निदान ही करते थे। इस प्रकार वे चारों आर्तध्यान सम्बन्धी संक्लेश से रहित थे। गुण, पुण्य और सुखों को धारण करने वाले भगवान अनेक गुणों की वृद्धि करते थे, नवीन पुण्य कर्म का सचय करते थे और पुरातन समस्त पुण्य कर्मों के विपाक का अनुभव करते थे। अनुराग से भरे हुए देव, विद्याधर और भूमिगोचरी मानव सदा उनकी सेवा किया करते थे, उन्होंने इस लोक सम्बन्धी समस्त आरम्भ दूर कर दिये थे, और वे सर्व सम्पदाओं से परिपूर्ण थे। वे मनुष्यों तथा देवों में होने वाले काम भोगों में, न्यायपूर्ण अर्थ में तथा हितकारी धर्म में श्रेष्ठ सुख को प्राप्त हुए थे। वे दिव्य अंगराग, माला, वस्त्र और आभूषणों से सुशोभित, सुन्दर, समान अवस्थावाली तथा स्वेच्छा से प्राप्त हुई स्त्रियों के साथ रमण करते थे। समान प्रेम से संतोषित दिव्य लक्ष्मी और मनुष्य लक्ष्मी दोनों ही उन्हें सुख पहुंचाती थी सो ठीक ही है क्योंकि मध्यस्थ मनुष्य किसे प्यारा नहीं होता?

संसार में सुख वही था जो इनके इन्द्रिय गोचर था क्योंकि स्वर्ग में भी जो सारभूत वस्तु थी उसे इन्द्र इन्हीं के लिए सुरक्षित रखता था। इस प्रकार दिव्य लक्ष्मी और राज्य

लक्ष्मी इन दोनों में समय व्यतीत करते हुए भगवान् सुमतिनाथ संसार से विरक्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि निकट भव्यपना इसी को कहते हैं। भगवान् ने विचार किया कि अल्प सुख की इच्छा रखने वाले बुद्धिमान् मानव, इस विषय रुपी मांस में क्यों लम्पट हो रहे हैं। यदि ये संसार के प्राणी मछली के समान आचरण न करें तो इन्हें पापरुपो वंसी का साक्षात्कार न करना पड़े। जो परम चातुर्यको प्राप्त नहीं है ऐसा मूर्ख प्राणी भले ही अहितकारी कार्यों में लीन रहे परन्तु मैं तो तीन ज्ञानों से सहित हूं फिर भी अहितकारी कार्यों में कैसे लीन हो गया? जव तक यथेष्ट वैराग्य नहीं होता और यथेष्ट सम्यज्ञान नहीं होता तव तक आत्मा की स्वरूप में स्थिरता कैसे हो सकती है। और जिसके स्वस्वरूप में स्थिरता नहीं है उसके सुख कैसे हो सकता है। राज्य करते हुए जव उन्हें उन्तीस लाख पूर्व और वारह पूर्वांग वीत चुके तव अपनो आत्मा में उन्होंने पूर्वोक्त विचार किया।

उसी समय सारस्वत आदि समस्त लौकान्तिक देवों ने अच्छे-अच्छे स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति की, देवों ने उनका अभिषेक किया और उन्होंने उनकी अभय पालकी उठाई। इस प्रकार भगवान सुमतिनाथ ने वैशाख सुदी नवमी के दिन मघा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ वेला का नियम लेकर दीक्षा धारण कर ली। संयम के प्रभाव से उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन वे भिक्षा के लिए सौमनस नामक नगर में गये वहां सुवर्ण के समान कान्ति के धारक पद्म राजा ने पडगाह कर आहार दिया तथा स्वयं प्रतिष्ठा प्राप्त की। उन्होंने सर्वपाप की निवृति रूप सामायिक संयम धारण किया था, वे मौन से रहते थे, उनके समस्त पाप शान्त हो चुके थे, वे अत्यन्त सिहष्णु—सहनशील थे और जिसे दूसरे लोग नहीं सह सकते ऐसे तपको वड़ी सावधानी के साथ तपते थे। उन्होंने छदमस्थ रहकर वीस वर्ष विताये। तदन्तर उसी सहेतुक वन में प्रियगु वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास लेकर योग धारण किया। और चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन जव सूर्य पश्चिम दिशा की ओर ढल रहा था तव केवल ज्ञान उत्पन्न किया।

देवों ने उनके ज्ञानकल्याण की पूजा की। सप्त ऋद्धियों के धारक अमर आदि एक सौ सोलह गणधर निरन्तर सम्मुख रह कर उनकी पूजा करते थे, दो हजार चार सौ पूर्वधारी निरन्तर उनके साथ रहते थे, वे दो लाख चौअन हजार तीन सौ पचास शिक्षकों से सहित थे, ग्यारह हजार अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, तेरह हजार केवलज्ञानी उनकी स्तुति करते थे, आठ हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धि के धारण करने वाले उनका स्तवन करते थे, दश हजार चार सौ मनःपर्यय-ज्ञानी उन्हें घेरे रहते थे, और दश हजार चार सौ पचास वादो उनकी वंदना करते थे, इस प्रकार सव मिलाकर तीन लाख तीस हजार मुनियों से वे सुशोभित हो रहे थे। अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएं उनकी अनुगामिनी थीं, तीन लाख श्रावक उनकी पूजा करते थे, पाँच लाख श्राविकायें उनके साथ थीं। असंख्यात देव-देवियों और असंख्यात तिर्यंचों वे सदा घिरे रहते थे।

इस प्रकार देवों के द्वारा पूजित हुए भगवन् सुमितनाथ ने अठारह क्षेत्रों में विहार कर भव्य जोवों के लिये उपदेश दिया था। जिस प्रकार अच्छो भूमि में वोज वोया जाता है और उससे महान् फल की प्राप्ति होती है उसो प्रकार भगवान् ने प्रशस्त अप्रशस्त सभी भाषाओं में भव्य जोवों के लिए उपदेश दिया था। दिव्य-ध्वनि रूपी वीज वोया था और उससे भव्य जीवों को रत्नत्रयरूपी महान् फल की प्राप्ति हुई थी।

अन्त में जव उनकी आयु एक मास की रह गई तव उन्होंने विहार करना वन्द कर सम्मेद-गिरी पर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और वहां से चैत्र शुक्ल एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में शाम के समय निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने उनका निर्वाण कल्याणक किया। जो पहले शत्रु राजाओं को नष्ट करने के लिए यमराज के दण्ड के समान अथवा इन्द्र के समान पुण्डरीकिणी नगरी के अधिपति राजा रतिषेण थे, फिर वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए और फिर अनन्त लक्ष्मी के धारक, समस्त गुणों से सम्पन्न तथा कृतकृत्य सुमतिनाथ तीर्थंकर हुए वे तुम सवको सिद्धि प्रदान करें जो भगवान् स्वर्गावतरण के समय गर्भ कल्याणक के उत्सव में "सद्योजात" कहलाये, जन्माभिषेक के समय इन्द्रों के वज्र से विरचित आभूषणों से सुशोभित होकर

'वाम' कहलाये, दीक्षा-कल्याणक के समय 'अघोर' कहलाये, केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर ईशान कहलाये और निर्वाण होने पर 'तत्पुरुष' कहलाये ऐसे रागद्वेप रहित अतिशय पूज्य भगवान् सुमतिनाथ का शान्ति के लिए हे भव्य जीवो। आश्रय ग्रहण करो।

भगवान् पद्मप्रभु

कमल दिन में ही फूलता है, रात में वन्द हो जाता है अतः उसमें स्थिर न रह सकने के कारण जिस प्रकार प्रभा की शोभा नहीं होती और इसलिए उसने कमल को छोड़कर जिनका आश्रय ग्रहण किया था उसी प्रकार लक्ष्मी ने भी कमल को छोड़कर जिनका आश्रय लिया था वे पदमप्रभ स्वामी हम सवकी रक्षा करें दूसरे धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स देश है। उसके सुसीमा नगर में महाराज अपराजित राज्य करते थे। महाराज अपराजित वास्तव में अपराजित थे क्योंकि उन्हें शत्रु कभी भी नहीं जीत सकते थे और उन्होंने अन्तरंग तथा वहिरग के सभी शत्रुओं को जीत लिया था वह राजा कुटिल मनुष्यों को अपने पराक्रम से ही जीत लेता था अतः वाहुवल से सुशोभित उस राजा की सप्तांग सेना केवल वाह्य आडम्बर मात्र थी उसके सत्य से मेघ किसानों की इच्छा अनुसार वरसते थे और वर्ष के आदि, मध्य तथा अन्त में वोये जाने वाले सभी धान्य फसल प्रदान करते थे उसके दान के कारण दारिद्र शव्द आकाश के फूल के समान हो रही था और पृथ्वी पर पहले जिन मनुष्यों में दरिद्रता थी वे अव कुवेर के समान आचरण करने लगे थे जिस प्रकार उत्तम खेत में वोये हुए वीज सजातीय अन्य वीजों को उत्पन्न करते है उसी प्रकार उस राजा के उक्त तीनों महान् गुण सजातीय अन्य गुणों को उत्पन्न करते थे इस राजा की रुपादि सम्पत्ति अन्य मनुष्यों के समान इसे कुमार्ग में नहीं ले गई थी सो ठीक ही है क्योंकि वृक्षों को उखाड़ने वाला क्या मेरु पर्वत को भी कम्पित करने में समर्थ है। वह राजा राजाओं के योग्य सन्धि विग्रहादि छह गुणों से सुशोभित था और छह गुण उ से सुशोभित थे। उसका राज्य दूसरों के द्वारा घर्षणीय-तिरस्कार करने के योग्य नहीं था पर वह स्वयं दूसरों का घर्षक-तिरस्कार करने वाला था। इस प्रकार अनेक भवों में उपार्जित पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त तथा अनेक मित्रों में वटे हुए राज्य का उसने चिरकाल तक उपभोग किया तदनन्तर वह विचार करने लगा कि इस संसार में समस्त पर्याय क्षणभंगुर हैं, सुख पर्यायों के द्वारा भोगा जाता है और कारण का विनाश होने पर कार्य की स्थिती कैसे हो सकती है।

इस प्रकार ऋजुसूत्र नयसे सव पदार्थो को मंथन करते हुए उस राजा ने अपने आत्मा को वश में करने वाले सुमित्र पुत्र के लिए राज्य दे दिया, वन में जाकर विसितास्त्रव जिनेन्द्र को दीक्षा-गुरु वनाया, ग्यारह अंगों का अध्ययन कर तीर्थकर प्रकृति का वन्ध किया और आयु के अन्त में समाधिमरण के द्वारा शरीर छोड़कर अत्यन्त रमणीय ऊर्ध्व-ग्रैवेयक के प्रीतिकर विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। इकतीस सागर उसकी आयु थी, दो हाथ उंचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, चार सौ पैंसठ दिन में श्वासोच्छवास ग्रहण करता था, इकतीस हजार वर्ष वाद मानसिक आहार से संतुष्ट होता था, अपने तेज, वल तथा अवधि-ज्ञान से सप्तमी पृथ्वी को व्याप्त करता था और वहीं तक उसकी विक्रिया ऋद्धि थी। इस प्रकार अहमिन्द्र सम्वन्धी सुख प्राप्त थे। आयु के अन्त में जव वह वहां से चय कर पृथवी पर अवतार लेने के लिए उद्यत हुआ। तव इसी जम्वूद्वीप की कौशाम्वी नगरी में ईक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री धरण नाम का एक वड़ा राजा था। उसकी सुसीमा नाम की रानी थी जो रत्नवृष्टि आदि अतिशयों से सम्मानित थी। माघ कृष्ण षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय जव चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का संयोग हो रहा था तव रानी सुसीमा ने हाथी आदि सोलह स्वप्न देखने के वाद मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। पति से स्वप्नों का फल जानकर वहुत ही हर्षित हुई। कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी के दिन त्वष्ट्र योग में उसने लाल कमल की कलिका के समान कान्तिवाले अपराजित पुत्र को उत्पन्न किया। इस पुत्र की उत्पत्ति होते ही गुणों की उत्पत्ति हुई, दोष समूह का नाश हुआ और हर्ष से समस्त प्राणियों का शोक शान्त हो गया। स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग चलाने वाले भगवान् के उत्पन्न होते ही मोहरुपी शत्रु कांति रहित हो गया तथा 'अव मैं नष्ट हुआ' यह सोचकर कांपने लगा। उस समय विद्वानों में निम्न

प्रकार का वार्तालाप हो रहा था कि जब भगवान् सबको प्रबुद्ध करेंगे तब बहुत से लोग मोह-निद्रा को छोड़ देवेंगे, प्राणियों का जन्मजात विरोध नष्ट हो जावेगा, लक्ष्मी विकाश को प्राप्त होगी और कीर्ति तीनों जगत् में फैल जावेगी। उसी समय इन्द्रों ने मेरु पर्वत पर, ले जाकर क्षीर सागर के जल से उनका अभिषेक किया, हर्ष से पद्म-प्रभ नाम रक्खा, स्तुति की, तदनन्तर महाकान्तिमान् जिन बालक को वापिस लाकर माता की गोद में रक्खा, हर्षित होकर नृत्य किया और फिर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

चन्द्रमा के समान उनके बाल्यकाल की सब बड़े हर्ष से प्रशंसा करते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो आह्लादित कर वृद्धि को प्राप्त होता है उससे कौन पराङ मुख रहता है? भगवान् पद्म प्रभ के शरीर की जैसी सुन्दरता थी वैसी सुन्दरता न तो शरीर रहित कामदेव में थी और न अन्य किसी मनुष्य में भी। यथार्थ में उनकी सुन्दरता की किसी से उपमा नहीं दी जा सकती थी। इसी प्रकार उनके रूप का भी पृथक् पृथक् वर्णन नहीं करना चाहिये क्योंकि जो जो गुण उनमें विद्यमान थे विद्वान् लोग उन गुणों की अन्य मनुष्यों में रहने वाले गुणों साथ उपमा नहीं देते थे।

स्त्रियाँ पुरुषों की इच्छा करती हैं और पुरुष स्त्रियों को इच्छा करते हैं परन्तु उन पद्म प्रभ की, स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही इच्छा करते थे सो ठीक ही है। क्योंकि जिनका भाग्य अल्प है वे इनके सौभाग्य को नहीं पा सकते हैं। जिस प्रकार मत्त भौरों की पंक्ति आम्रमंजरी में परम संतोष को प्राप्त होती है उसी प्रकार सब मनुष्यों की दृष्टि उनके शरीर में ही परम संतोष को प्राप्त करती थी। हम तो ऐसा समझते हैं कि समस्त इन्द्रियों के सुख यदि उन पद्मप्रभ भगवान् में पूर्णता को प्राप्त नहीं थे तो फिर अन्य पुण्य के धारक दूसरे किन्हीं भी मनुष्यों में पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकते थे। जब सुमति नाथ भगवान् की तीर्थ परम्परा के नब्बे हजार करोड़ सागर बीत गये तब भगवान् पद्मप्रभ उत्पन्न हुए थे। तीस लाख पूर्व उनकी आयु थी, दो सौ पचास धनुष ऊंचा शरीर था और देव लोग उनकी पूजा करते थे। उनकी आयु का जब एक चौथाई भाग बीत चुका तब उन्होंने एक छत्र राज्य प्राप्त किया। उनका वह राज्य क्रम से प्राप्त होता था—वंश परम्परा से चला आ रहा था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन मनुष्य उस राज्य की इच्छा नहीं करते हैं जो अन्य रीति से प्राप्त होता है। जब भगवान् पद्मप्रभ को राज्यपट्ट बांधा गया तब सबको ऐसा हर्ष हुआ मानों मुझे ही राज्यपट्ट बांधा गया हो। उनके देश में आठों महाभय समूल नष्ट हो गये थे। दरिद्रता दूर भाग गई, धन स्वच्छंदता से बढ़ने लगा, सब मंगल प्रकट हो गये और सब सम्पदाओं का समागम हो गया। उस समय दाता लोग कहा करते थे कि किस मनुष्य को किस पदार्थ की इच्छा है और याचक लोग कहा करते थे कि किसी को किसी पदार्थ की इच्छा नहीं है।

इस प्रकार जब भगवान् पद्मप्रभ को राज्य प्राप्त हुआ तब संसार मानों सोते से जाग पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि राजाओं का राज्य वही है जो प्रजा को सुख देने वाला हो। जब उनकी आयु सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व की रह गई तब किसी समय दरवाजे पर बंधे हुए हाथी की दशा सुनने से उन्हें अपने पूर्व भवों का ज्ञान हो गया और तत्वों के स्वरूप को जानने वाले वे संसार को इस प्रकार धिक्कार देने लगे। वे पाप तथा दुःखों को देने वाले काम-भोगों से विरक्त हो गये। वे विचारने लगे कि इस संसार में ऐसा कौन-सा पदार्थ है जिसे मैंने देखा न हो, छुआ न हो, सूंघा न हो, सुना न हो, और खाया न हो जिससे वह नये के समान जान पड़ता है। यह जीव अपने पूर्व भवों में जिन पदार्थों का अनन्त बार उपभोग कर चुका है उन्हें ही बार-बार भोगता है अतः अभिलाषा रूप सागर के बीच पड़े हुए इस जीव से क्या कहा जावे?

घातिया कर्मों के नष्ट होने पर इसके केवल ज्ञानरूपी उपयोग में जब तक सारा संसार नहीं झलकने लगता तब तक मिथ्यात्व आदि से दूषित इन्द्रियों के विषयों से इसे तृप्ति नहीं हो सकती। यह शरीर रोगरूपी सांपों की बामी है तथा यह जीव देख रहा है कि हमारे इष्टजन इन्हीं रोगरूपी सांपों से काटे जाकर नष्ट हो रहे हैं फिर भी यह शरीर में अविनाशी मोह कर रहा है यह बड़ा आश्चर्य है। क्या आज तक कहीं किसी जीव ने आयु के साथ सहवास किया है? अर्थात् नहीं किया। जो हिंसादि पांच पापों को धर्म मानता है, और इन्द्रिय तथा पदार्थ के सम्बन्ध से होने वाले सुख को सुख समझता है

उसी विपरीतदर्शी मनुष्य के लिए यह ससार रुचता है—अच्छा मालूम होता है। जिस कार्य से पाप और पुण्य दोनों उपलेपों का नाश हो जाता है, विद्वानों को सदा उसी का ध्यान करना चाहिये, उसी का आचरण करना चाहिये और उसी का अध्ययन करना चाहिये।

इस प्रकार संसार, शरीर और भोग इन तीनों के वैराग्य से जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, लौकान्तिक देवों ने जिनका उत्साह बढ़ाया है और चतुर्निकाय देवों ने जिनके दीक्षा-कल्याणक का अभिषकोत्सव किया है ऐसे भगवान् पद्मप्रभ, निवृत्ति नाम की पालकी पर सवार होकर मनोहर नाम के वन में गये और वहाँ वेला का नियम लेकर कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के दिन शाम के समय चित्रा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ आदर पूर्वक उन्होंने शिक्षा के समान दीक्षा धारण कर ली। जिन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे विद्वानों में श्रेष्ठ पद्मप्रभ स्वामी दूसरे दिन चर्या के लिए वर्धमान नामक नगर में प्रविष्ट हुए। शुक्ल कांति के धारक राजा सोमदत्त ने उन्हें आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदान से क्या नहीं होता है। शुभ आस्रवों से पुण्य का संचय, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहज तथा चारित्र इन छह उपायों से कर्म समूह का संवर और तप के द्वारा निर्जरा करते हुए उन्होंने छद्मस्थ अवस्था के छह माह मौन से व्यतीत किये। तदनन्तर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश किया तथा चैत्र शुक्ल पूर्णमासी के दिन जब कि सूर्य मध्याह्न से कुछ नीचे ढल चुका था तब चित्रा नक्षत्र में उन पर कल्याणकारी भगवान् ने केवल ज्ञान प्राप्त किया।

उसी समय इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की। जगत् का हित करने वाले भगवान्, वज्र चामर आदि एक सौ दश गणधरों से सहित थे, दो हजार तीन सौ पूर्वधारियों से युक्त थे, दो लाख उनहत्तर हजार शिक्षकों से उपलक्षित थे, दश हजार अवधिज्ञानी और बारह हजार केवल ज्ञानी उनके साथ थे, सोलह हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारकों से समृद्ध थे, दस हजार तीन सौ मनःपर्ययज्ञानी उनकी सेवा करते थे, और नौ हजार छह सौ श्रेष्ठ वादियों से युक्त थे, इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख तीस हजार मुनि सदा उनकी स्तुति करते थे। रात्रिषेणा को आदि लेकर चार लाख बीस हजार आर्यिकाएं सब ओर से उनकी स्तुति करती थीं। तीन लाख श्रावक, पांच लाख श्राविकाएं, असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच उनके साथ थे।

इस प्रकार धर्मोपदेश के द्वारा भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में लगाते और पुण्यकर्म के उदय से धर्मात्मा जीवों को सुख प्राप्त कराते हुए भगवान् पद्मप्रभ सम्मेद शिखर पर पहुंचे। वहाँ उन्होंने एक माह तक ठहर कर योग-निरोध किया तथा एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण किया।

तदनन्तर फाल्गुण कृष्ण चतुर्थी के दिन शाम के समय चित्रा नक्षत्र में उन्होंने समुच्छिन्न-क्रिया-प्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों का नाश कर निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्र आदि देवों ने आकर उनके निर्वाण-कल्याणक की पूजा की। सेवा करने योग्य क्या है? कमलों को जीत लेने से लक्ष्मी ने भी जिन्हें अपना स्थान बनाया है ऐसे इन्हीं पद्मप्रभ भगवान् के चरण युगल सेवन करने योग्य हैं। सुनने योग्य क्या है? सब लोगों को विश्वास उत्पन्न कराने वाले इन्हीं पद्मप्रभ भगवान् के सत्य वचन सुनने के योग्य हैं, और ध्यान करने योग्य क्या है? अतिशय निर्मल इन्हीं पद्मप्रभ भगवान् के दिग्दिगन्त तक फैले हुए गुणों के समूह का ध्यान करना चाहिये इस प्रकार उक्त स्तुति के विषयभूत भगवान पद्मप्रभ तुम सबकी रक्षा करें। जो पहले सुसीमा नगरी के अधिपति, शत्रुओं के जीतने वाले, अपराजित नाम के लक्ष्मी-सम्पन्न राजा हुए, फिर तप धारण कर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करते हुए अन्तिम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर कौशाम्बी नगरी में अनन्तगुणों से सहित, इक्ष्वाकुवंश के अग्रणी, जिन पर का कल्याण करने वाले छठवें तीर्थंकर हुए, वे पद्मप्रभ स्वामी सब लोगों का कल्याण करें।

भगवान सुपार्श्वनाथ

जिन्होंने जीवाजीवादि तत्त्वों को सत्त्व असत्त्व आदि किसी एक रूप से निश्चित नहीं किया है फिर भी उनके जानकार वही हैं ऐसे सुपार्श्वनाथ भगवान् मेरे गुरु हों। धातकी खण्ड के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नाम का देश है। उसके क्षेमपुर नगर में नन्दिषेण नाम का राजा राज्य करता था। वह राजा बुद्धि और पराक्रम से युक्त था,

उसके अनुचर सदा उसमें अनुराग रखते थे, यही नहीं देव भी सदा उसके अनुकूल रहता था। इसलिये उसकी राज्य लक्ष्मी सबको सुख देने वाली थी। उसके शरीर की न तो वैद्य लोग रक्षा करते थे और न राज्य को मंत्री ही रक्षा करते थे फिर भी पुण्योदय से उसके शरीर और राज्य दोनों ही कुशलयुक्त थे। धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर का उपकार करते हुए उसी एक राजा में स्थित थे इसीलिये यह उस राजा का उपकारीपना ही था।

शत्रुओं को जीतने वाले इस राजा नन्दिषेण को जीतने की इच्छा की सिर्फ इस लोक सम्बन्धी ही नहीं थी किन्तु समीचीन मार्ग की रक्षा करते हुए इसके परलोक के जीतने की भी इच्छा थी। इस प्रकार वह श्रीमान् तथा बुद्धिमान् राजा बन्धुओं, मित्रों तथा सेवकों के साथ राज्य सुख का अनुभव करता हुआ शीघ्र ही विरक्त हो गया। वह विचार करने लगा कि यह जीव दर्शनमोह तथा चारित्रमोह इन दोनों मोहकर्म के उदय से मिली हुई मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति से कर्मों को बांधकर उन्हीं के द्वारा प्रेरित हुआ चारों गतियों में उत्पन्न होता है। अत्यन्त दुःख से तरने योग्य इस अनादि संसार में चक्र की तरह चिरकाल से भ्रमण करता हुआ भव्य प्राणी दुःख से दूषित हुआ कदाचित् कालादि लब्धियां पाकर अतिशय कठिन मोक्षमार्ग को पाता है फिर भी मोहित हुआ स्त्रियों आदि के साथ क्रीड़ा करता है। मैं भी ऐसा हो हूं अतः कामियों में मुख्य मुझको बार-बार धिक्कार है।

मैं समस्त कर्मों को नष्ट कर निर्मल हो ऊर्ध्वगगामी बन कर सबका हित करने वाले सर्वज्ञ-निरूपति निर्वाणलोक को नहीं प्राप्त हो रहा हूं यह दुःख की बात है। इस प्रकार विचार कर उत्तम हृदय को धारण करने वाले राजा नन्दिषेण ने अपने पद पर सज्जनोत्तम धनपति नामक अपने पुत्र को विराजमान किया और स्वयं अन्य राजाओं के साथ पाप कर्म को नष्ट करता हुआ बड़े हर्ष से पूज्य अर्हन्नन्दन मुनि का शिष्य बन गया। तदनन्तर ग्यारह अंग का धारी होकर उसने आगम में कही हुई दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं के द्वारा तीर्थकर नामकर्म का बन्ध किया और आयु के अन्त में संन्यास मरण कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र नामक मध्यम विमान में अहमिन्द्र का जन्म धारण किया। वहाँ उसके शुक्ल लेश्या थी, और दो हाथ ऊंचा शरीर था।

चार सौ पांच दिन में श्वास लेता था और सत्ताईस हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था। उसकी विक्रिया ऋद्धि, अवधिज्ञान, बल और कान्ति सप्तमी पृथ्वी तक थी तथा सत्ताईस सागर उसकी आयु थी। इस प्रकार समस्त सुख भोगकर आयु के अन्त में जब वह पृथ्वी तल पर अवतीर्ण होने को हुआ तब इस जम्बूद्वीप के भारत-वर्ष सम्बन्धी काशी देश में बनारस नाम की नगरी थी। उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे। सुप्रतिष्ठ का जन्म भगवान् वृषभदेव के इक्ष्वाकु-वंश में हुआ था। उनकी रानी का नाम पृथ्वीषेणा था। रानी पृथ्वीषेणा के घर के आंगन में देवरूपी मेघों ने छह माह तक उत्कृष्ट रत्नों की वर्षा की थी। उसने भाद्रपद शुक्ल षष्ठी के दिन विशाखा नक्षत्र में सोलह शुभ स्वप्न देखकर मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र रानी के गर्भ में आया। पति के मुख से स्वप्नों का फल जान-कर रानी पृथ्वीषेणा बहुत ही हर्षित हुई। तदनन्तर ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन अग्निमित्र नामक शुभयोग में उसने ऐरावत हाथी के समान उन्नत और बलवान् अहमिन्द्र को पुत्र रूप से उत्पन्न किया।

इन्द्रों ने सुमेरु पर्वत के मस्तक पर उसका जन्मकालीन महोत्सव किया, उसके चरणों में अपने मुकुट झुकाये और 'सुपार्श्व' ऐसा नाम रक्खा। पद्मप्रभ जिनेन्द्र के बाद नौ हजार करोड़ समय बीत जाने पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में सम्मिलित थी। उनकी आयु बीस लाख पूर्व की थी, और शरीर की ऊंचाई दो सौ धनुष थो, वे अपनी कांति से चन्द्रमा को लज्जित करते थे। इस तरह उन्होंने यौवन-अवस्था प्राप्त की। जब उनके कुमार-काल के पाँच लाख पूर्व व्यतीत हो गये तब उन्होंने दानी कीभांति धन त्याग करने के लिए साम्राज्य स्वीकार किया। उस समय इन्द्र सुश्रुषा आदि बुद्धि के आठ गुणों से श्रेष्ठ, सर्वशास्त्रों में निपुण झुण्ड के झुण्ड नटों को, देखने योग्य तथा नृत्य करने में निपुण नर्तकों को, उत्तम कण्ठवाले गायकों को, श्रवण करने योग्य साढ़े सात प्रकार के वादित्र-वादकों को, हास्य विनोद करने में चतुर, अनेक विद्याओं और कलाओं में निपुण अन्य अनेक मनुष्यों को, ऐसे ही गुणों से सहित अनेक स्त्रियों को तथा

गन्धर्वों की श्रेष्ठ सेना को बुलाकर अनेक प्रकार के विनोदों से भगवान् को सुख पहुंचाता था।

इसी प्रकार चक्षु और कर्ण के सिवाय शेष तीन इन्द्रियों के उत्कृष्ट विषयों से भी इन्द्र, भगवान् को निरन्तर सुखी रखता था। यथार्थ संसार में सुख वही था जिसका कि भगवान् सुपार्श्वनाथ उपभोग करते थे। प्रशस्त नामकर्म के उदय से उनके निःस्वेदत्व आदि आठ अतिशय प्रकट हुए थे, वे सर्वप्रिय तथा सर्वहितकारी वचन बोलते थे, उनके व्यापार रहित अतुल्य बल था, वे सदा प्रसन्न रहते थे, उनकी आयु अनपवर्त्य थी—असमय में कटने वाली नहीं थी, गुण, पुण्य और सुख रूप थे, उनका शरीर कल्याणकारी था, वे मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से सहित थे, प्रियंगु के पुष्प के समान कांति थी, उनके अशुभ कर्म का अनुभाग अत्यन्त मन्द था, शुभ कर्म का अनुभाग अत्यन्त उत्कृष्ट था, उनका कण्ठ मानो मोक्ष-स्वर्ग तथा मानवोचित ऐश्वर्य की कण्ठी से ही सुशोभित था। उनके चरणों के नखों में समस्त इन्द्रों के मुख कमल प्रतिबिम्बित हो रहे थे, इस लक्ष्मी को धारण करने वाले प्रकृष्टज्ञानी भगवान् सुपार्श्वनाथ अगाध संतोष सागर में वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। जिनके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान माया, लोभ इन आठ कषायों का ही केवल उदय रह जाता है ऐसे सभी तीर्थंकरों के अपनी आयु के प्रारम्भिक आठ वर्ष के बाद देश-संयम हो जाता है। इसलिए यद्यपि उनके भोगोपभोग की वस्तुओं की प्रचुरता थी तो भी वे अपनी आत्मा को अपने वश में रखते थे, उनकी वृत्ति नियमित थी तथा असंख्यातगुणी निर्जरा का कारण थी।

जब उनकी आयु बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्व की रह गई तब किसी समय ऋतु का परिवर्तन देखकर वे 'समस्त पदार्थ नश्वर हैं', ऐसा चिन्तवन करने लगे। उनके निर्मल सम्यग्ज्ञान रूपी दर्पण में काललब्धि के कारण समस्त राज्य लक्ष्मी की क्रीडा के समान नश्वर जान पड़ने लगी। मैं नहीं जान सका कि यह राज्य लक्ष्मी इसी प्रकार शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली तथा माया से भरी हुई है। मुझे धिक्कार हो, धिक्कार हो! सचमुच ही जिनके चित्त भोगों के राग से अन्धे हो रहे हैं ऐसे कौन मनुष्य हैं जो मोहित न होते हों। इस प्रकार भगवान के मनरूपी सागर में चन्द्रमा के समान उत्कृष्ट आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर समयानुकूल पदार्थों से भगवान की स्तुति की। तदनन्तर भगवान सुपार्श्वनाथ, देवों के द्वारा उठाई हुई मनोगति नाम की पालकी पर आरूढ़ होकर सहेतुक वन में गये और वहां ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी के दिन सायंकाल के समय, गर्भ के विशाखा नक्षत्र में बेला का नियम लेकर हजार राजाओं के साथ संयमी हो गये—दीक्षित हो गये। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन वे चर्या के लिए सोमखेट नामक नगर में गये। वहां सुवर्ण के समान कान्तिवाले महेन्द्रदत्त नाम के राजा ने पडगाह कर देवों से पूजा प्राप्त की। सुपार्श्वनाथ भगवान छद्मस्थ अवस्था में नौ वर्ष तक मौन रहे। तदन्तर उसी सहेतुक वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हुए। वहीं फाल्गुन कृष्ण षष्ठी के दिन सायंकाल के समय गर्भावतार के विशाखा नक्षत्र में उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ जिसमें देवों ने उनकी पूजा की। वे बल को आदि लेकर पंचानवे गणधरों से सदा घिरे रहते थे, दो हजार तीस पूर्वधारियों के अधिपति थे, दो लाख चवालीस हजार नौ सौ बीस शिक्षक उनके साथ रहते थे, नौ हजार अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे, ग्यारह हजार केवलज्ञानी उनके सहगामी थे, पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक उनकी पूजा करते थे, नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे, और आठ हजार छह सौ वादी उनकी वन्दना करते थे। इस प्रकार सब मिलाकर तीन लाख मुनियों के स्वामी थे। मीनार्या आदि को लेकर तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएं उनके साथ रहती थीं, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकाएं उनकी पूजा करती थीं, असंख्यात देव-देवियां उनकी स्तुति करती थीं और संख्यात तिर्यंच उनकी वन्दना करते थे। इस प्रकार लोगों को धर्मामृत रूपी वाणी ग्रहण कराते हुए वे पृथ्वी पर विहार करते थे। अन्त में जब आयु का एक माह रह गया तब विहार बन्द कर वे सम्मेद शिखर पर जा पहुंचे। वहां एक हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमा-योग धारण किया और फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के दिन विशाखा नक्षत्र में सूर्योदय के समय लोक का अग्रभाग प्राप्त किया—मोक्ष पधारे। तदनन्तर पुण्यवान कल्पवासी

उत्तम देवों ने निर्वाण—कल्याणक किया, तथा 'यहां निर्वाण-क्षेत्र है' इस प्रकार सम्मेद शिखर को निर्वाण-क्षेत्र ठहराकर स्वर्ग की ओर प्रयाण किया।

अत्यन्त बुद्धिमान और निपुण जिन सुपार्श्वनाथ भगवान ने दुःख से निवारण करने के योग्य पाप रूपी बड़ भारी शत्रुओं के समूह को निष्क्रिय कर दिया, मौन रखकर उसके साथ युद्ध किया, कुछ काल तक समवसरण में प्रतिष्ठा प्राप्त की, अत्यन्त दुष्ट दुर्वासना को दूर किया और अन्त में निर्वाण की अवधि को प्राप्त किया, वे श्रेष्ठतम भगवान सुपार्श्वनाथ हम सब परिचितों को चिरकाल के लिए शीघ्र ही अपने समीपस्थ करें। जो पहले भव में क्षेमपुर नगर के स्वामी तथा सबके द्वारा स्तुति करने योग्य नन्दिषेण राजा हुए, फिर तप कर नव ग्रैवेयकों में से मध्य के ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए, तदन्तर बनारस नगरी में शत्रुओं को जीतने वाले और इक्ष्वाकु वंश के तिलक महाराज सुपार्श्व हुए वे सप्तम तीर्थंकर तुम सबकी रक्षा करें।

भगवान् चन्द्रप्रभु

जो स्वयं शुद्ध हैं और जिन्होंने अपनी प्रभा के द्वारा समस्त सभा को एक वर्ण की बनाकर शुद्ध कर दी, वे चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबकी शुद्धि के लिए हों। शरीर की प्रभा के समान जिनकी वाणी भी हर्षित करने वाली तथा पदार्थों को प्रकाशित करने वाली थी और जो आकाश में देवरूपी ताराओं से घिरे रहते थे उन चन्द्रप्रभ स्वामी को नमस्कार करता हूं। जिनका नाम लेना भी जीवों के समस्त पापों को नष्ट कर देता है फिर सुना हुआ उनका पवित्र चरित्र क्यों नहीं नष्ट कर देगा? इसलिये मैं पहले के सात भवों से लेकर उनका चरित्र कहूंगा। हे भव्य श्रेणिक! तुझे उसे श्रद्धा रखकर सुनना चाहिये। दान, पूजा तथा अन्य कारण यदि सम्यग्ज्ञान से सुशोभित होते हैं तो वे मुक्ति के कारण होते हैं और चूंकि वह सम्यग्ज्ञान इस पुराण के सुनने से होता है अतः हित की इच्छा करने वाले पुरुषों के द्वारा अवश्य ही सुनने के योग्य है। अर्हन्त भगवान् ने अनुयोगों के द्वारा जो चार प्रकार के सूक्त बतलाये हैं उनमें पुराण प्रथम सूक्त है! भगवान् ने इन पुराणों से ही सुनने का क्रम बतलाया है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ का उपदेश देने वाले भगवान् ऋषभदेव आदि के पुराणों को जो जीभ कहती है, जो कान सुनते हैं और जो मन सोचता है वही जीभ है, वही कान हैं और वही मन है, अन्य नहीं।

इस मध्यम लोक में एक पुष्कर द्वीप है। उसके बीच में मानुषोत्तर पर्वत है। यह पर्वत चारों ओर से वलय के आकार का गोल है तथा मनुष्यों के आवागमन की सीमा है। उसके भीतरी भाग में दो सुमेरु पर्वत हैं एक पूर्व मेरु और दूसरा पश्चिम मेरु। पूर्व मेरु के पश्चिम की ओर विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर एक सुगन्धि नाम का बड़ा भारी देश है। जो कि योग्य किला, वन, खाई, खानें और बिना बोये होने वाली धन्य आदि पृथ्वी के गुणों से सुशोभित है। उस देश के सभी मनुष्य क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण में विभक्त थे तथा नेत्र विशेष के समान स्नेह से भरे हुए, सूक्ष्म पदार्थों को देखने वाले एवं दर्शनीय थे। उस देश के किसान तपस्वियों का अतिक्रमण करते थे अर्थात् उनसे आगे बढ़े हुए थे। जिस प्रकार तपस्वी ऋजु अर्थात् सरल परिणामी होते हैं उसी प्रकार वहां के किसान भी सरल परिणामी भोले भाले थे, जिस प्रकार तपस्वी धार्मिक होते हैं उसी प्रकार किसान भी धार्मिक थे—धर्मात्मा थे अथवा खेती की रक्षा के लिये धर्म धनुष से सहित थे, जिस प्रकार तपस्वी वीत दोष-दोषों से रहित होते हैं उसी प्रकार किसान भी वीतदोष-निर्दोष थे अथवा खेती की रक्षा के लिए दोषाएं-रात्रियां व्यतीत करते थे, जिस प्रकार तपस्वी क्षुधा तृषा आदि के कष्ट सहन करते हैं उसी प्रकार किसान भी क्षुधा तृषा आदि के कष्ट सहन करते थे। इस प्रकार सादश होने पर भी किसान तपस्वियों से आगे बढ़े हुए थे उस का कारण था कि तपस्वी मनुष्यों के आरम्भ सफल भी होते थे और निष्फल भी चले जाते थे परन्तु किसानों के आरम्भ निश्चित रूप से सफल ही रहते थे।

वहां के सरोवर अत्यन्त निर्मल थे, सुख से उपभोग करने के योग्य थे, कमलों से सहित थे, सन्ताप का छेद करने वाले थे, अगाध-गहरे थे और मन तथा नेत्रों को हरण करने वाले थे। वहां के खेत राजा के भण्डार के समान जान पड़ते थे, क्योंकि जिस प्रकार राजाओं के भण्डार सब प्रकार के अनाज से परिपूर्ण रहते हैं उसी प्रकार वहां के खेत भी सब प्रकार के

अनाज से परिपूर्ण रहते थे, राजाओं के भण्डार जिस प्रकार हमेशा सबको संतुष्ट करते हैं उसी प्रकार वहाँ के खेत भी हमेशा सबको संतुष्ट रखते थे, और राजाओं के भंडार जिस प्रकार सम्पन्न-सम्पत्ति से युक्त रहते थे अथवा 'समन्तात् पन्नाः सम्पन्नाः' सब ओर से प्राप्त करने योग्य थे।

वहाँ के गाँव इतने समीप थे कि मुर्गा भी एक से उड़कर दूसरे पर जा सकता था, उत्तम थे, उनमें बहुत से किसान रहते थे, पशु धन धान्य आदि से परिपूर्ण थे। उनमें निरन्तर काम-काज होते रहते थे तथा सब प्रकार से निराकुल थे। वे गाँव दण्ड आदि की बाधा से रहित होने के कारण सर्व सम्पत्तियों से सुशोभित थे, वर्णाश्रम से भरपूर थे और वहीं रहने वाले लोगों का अनुकरण करने वाले थे। वह देश ऐसे भागों से सहित था जिनमें जगह-जगह कंधों पर्यन्त पानी भरा हुआ था, अथवा जो असंचारी-दुर्गम थे, अथवा जो असंवारि आने-जाने की रुकावट से रहित थ। वहाँ के वृक्ष फलों से लदे हुए तथा काँटों से रहित थे। आठ प्रकार के भयों में से वहाँ एक भी भय दिखाई नहीं देता था और वहाँ के वन समीपवर्ती गलियो रूपी स्त्रियों के आश्रय थे। नीति शास्त्र के विद्वानों ने देश के जो जो लक्षण कहें हैं यह देश उन सबका लक्ष्य था अर्थात् वे सब लक्षण इसमें पाये जाते थे।

उस देश में धन की हानि सत्पात्र को दान देते समय होती थी अन्य समय नहीं। समीचीन क्रिया की हानि फल प्राप्त होने पर ही होती थी अन्य समय नहीं उन्नति की हानि विनय के स्थान पर होती थी अन्य स्थान पर नहीं, और प्राणों की हानि आयु समाप्त होने पर ही होती थी अन्य समय नहीं। ऊंचे उठे हुए पदार्थो में यदि कठोरता थी तो स्त्रियों के स्तनों में ही थी अन्यत्र नहीं थी। प्रताप यदि था तो हाथियों में ही था अर्थात् उन्हीं का मद झरता था अन्य मनुष्यों में प्रताप अर्थात् पतन नहीं था। अथवा प्रताप था तो गुहा आदि निम्न स्थानवर्ती वृक्षों में ही था अन्यत्र नहीं। वहाँ यदि दण्ड था तो छत्र अथवा तराजू में ही था वहाँ के मनुष्यों में दण्ड नहीं था अर्थात् उनका कभी जुर्माना नहीं होता था। तीक्ष्णता-तेजस्विता यदि थी तो कोतवाल आदि में ही, वहां के मनुष्यों में तीक्ष्णता नहीं—क्रूरता नहीं थी। रुकावट केवल पुला में हो थी वहां के मनुष्यों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं थी। और अपवाद यदि था तो व्याकरण शास्त्र में ही था वहाँ के मनुष्यों में अपवाद-अपयश नहीं था।

निस्त्रिंश शब्द कृपाण में ही आता था अर्थात् कृपाण ही त्रिंशद्भ्योऽगुंलिभ्यो निर्गत इति निस्त्रिंशः तीस अंगुल से बड़ी रहती थी, वहां के मनुष्यों में निस्त्रिंश—क्रूर शब्द का प्रयोग नहीं होता था। विश्वाशत्व अर्थात् सब चीजें खा जाना यह शब्द अग्नि में ही था वहाँ के मनुष्यों में विश्वाशित्व—सर्व-भक्षकपना नहीं था। दाहकत्व अर्थात् संताप देना केवल सूर्य में था वहाँ के मनुष्यों में नहीं था, और मारकत्व केवल यम-राज के नामों में था वहाँ के मनुष्यों में नहीं था।

जिस प्रकार सूर्य दिन में ही रहता है उसी प्रकार धर्म शब्द केवल जिनेन्द्र प्रणीत धर्म में ही रहता था। यही कारण था कि वहां पर उल्लुओं के समान एकान्तवादों का उद्गम नहीं था। उस देश में सदा यथा स्थान रखे हुए यन्त्र, शस्त्र, जल, जौ, घोड़े और रक्षकों से भरे हुए किले थे। जिस प्रकार ललाट के बीच में तिलक होता है उसी प्रकार अनेक शुभ स्थानों से युक्त उस देश के मध्य में श्रीपुर नाम का नगर है। वह श्रीपुर नगर अपनी सब तरह की मनोहर वस्तुओं से देव-नगर के समान जान पड़ता था। खिले हुए नीले तथा लाल कमलों के समूह ही जिनके नेत्र हैं ऐसे स्वच्छ जल से भरे हुए, सरोवर रूपी मुखों के द्वारा वह नगर शत्रु नगरों की शोभा की मानो हंसी ही उड़ाता था। उस देश में अनेक प्रकार के फूलों के स्वादिष्ट केशर के रस को पीने वाले भौंरे भ्रमरियों के समूह के साथ पान-गोष्ठी का आनन्द प्राप्त करते थे। उस नगर में बड़े-बड़े ऊंचे पक्के भवन बने हुए थे, उनमें मृदंगों का शब्द हो रहा था। जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो 'आप लोग यहां विश्राम कीजिये' इस प्रकार वह नगर मेघों को ही बुला रहा था ऐसा मालूम होता था कि वह नगर सर्व वस्तुओं का मानो खान था। यदि ऐसा न होता तो निरन्तर उपभोग में आने पर वे समाप्त क्यों नहीं होतीं ?

उस नगर में जो जो वस्तु दिखाई देती थी वह अपने वर्ग में सर्वश्रेष्ठ रहती थी अतः देवों को भी भ्रम हो जाता था कि क्या यह स्वर्ग ही है ? वहां के रहने वाले सभी लोग उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए थे, व्रत सहित थे तथा सम्यग्दृष्टि थे अतः

वहां के मरे हुए जीव स्वर्ग में ही उत्पन्न होते थे। स्वर्ग में क्या रक्खा ? वह तो ऐसा ही है, यह सोचकर वहां के सम्यग्दृष्टि मनुष्य मोक्ष के लिए ही धर्म करते थे, स्वर्ग की इच्छा से नहीं। उस नगर में विवेकी मनुष्य उत्सव के समय मंगल के लिए और शोक के समय उसे दूर करने के लिए जिनेन्द्र भगवान् की पूजा किया करते थे। वहाँ के जैनवादी लोग अपरिमित सुख देने वाले धर्म, अर्थ और काम को साध्य पदार्थों के समान उन्हीं से उत्पन्न हुए हेतुओं से सिद्ध करते थे।

उस नगर को घेरे हुए जो कोट था वह ऐसा जान पड़ता था मानो पुष्करवर द्वीप के बीच में पड़ा हुआ मानुषोत्तर पर्वत ही हो। वह कोट अपने रत्नों की किरणों में ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्य के संताप के भय से छिप ही गया हो। नमस्कार करने वाले शत्रु राजाओं के मुकुटों में लगे हुए रत्नों की किरणें रूपी जल में जिसके चरण, कमल के समान विकसित हो रहे हैं ऐसा, इन्द्र के समान कान्ति का धारक श्रीषेण नाम का राजा उस श्रीपुर नगर का स्वामी था। जिस प्रकार शक्तिशाली मन्त्र के समीप सर्प विकार रहित हो जाते हैं उसी प्रकार विजयी श्रीषेण के पृथ्वी का पालन करने पर सब दुष्ट लोग विकार रहित हो गये थे। उसने शाम, दान आदि उपायों का ठीक-ठीक विचार कर यथास्थान प्रयोग किया था इसलिए वे दाता के समान बहुत भारी इच्छित फल प्रदान करते थे।

उसकी विनय करने वाली श्रीकान्ता नाम की स्त्री थी। वह श्रीकान्ता किसी अच्छे कवि की वाणी के समान थी। क्योंकि जिस प्रकार अच्छे कवि की वाणी सती अर्थात दुःश्रवत्व आदि दोषों से रहित होती है उसी प्रकार वह भी सती अर्थात पतिव्रता थी और अच्छे कवि की वाणी जिस प्रकार मृदुपद-न्यासा अर्थात कोमलकान्त पद विन्यास से युक्त होती है उसी प्रकार वह भी मृदुपन्यासा अर्थात कोमल चरणों के निक्षेप सहित थी। स्त्रियों के रूप आदि जो गुण हैं वे सब उसमें सुख देने वाले उत्पन्न हुए थे। वे गुण पुत्र के समान पालन करने योग्य थे और गुरुओं के समान सज्जनों के द्वारा वन्दनीय थे। जिस प्रकार स्यादेवकारस्याद एव शब्द से (किसी अपेक्षा से ऐसा ही है) से युक्त नय किसी विद्वान के मन को आनन्दित करते हैं उसी प्रकार उसकी कान्ता के रूप आदि गुण पति के मन को आनन्दित करते थे। वह स्त्री अन्य स्त्रियों के लिए आदर्श के समान थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो नाम कर्म रूपी विधाता ने अपनी बुद्धि की प्रकर्षता बतलाने के लिए गुणों की पेटी ही बनाई हो। वह दम्पती देवदम्पती के समान पापरहित, अविनाशी, कभी नष्ट न होने वाले और समान तृप्ति को देने वाले उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता था।

वह राजा निष्पुत्र था अतः शोक से पीड़ित होकर पुत्र के लिए अकेला अपने मन में निम्न प्रकार विचार करने लगा। स्त्रियां संसार की लता के समान हैं और उत्तम पुत्र उनके फल के समान है। यदि मनुष्य के पुत्र नहीं हुए तो इस पापी मनुष्य के लिए पुत्रहीन पापिनी स्त्रियों से क्या प्रयोजन है ? जिसने दैवयोग से पुत्र का मुखकमल नहीं देखा है वह छह खण्ड की लक्ष्मी का मुख भले ही देख ले पर उससे क्या लाभ है। उसने पुत्र प्राप्त करने के लिए पुरोहित के उपदेश से पांच वर्ण के अमूल्य रत्नों से मिले सुवर्ण की जिन-प्रतिमाएं बनवाई। उन्हें आठ प्रातिहार्यों तथा भृंगार आदि आठ मंगल-द्रव्य से युक्त किया, प्रतिष्ठाशास्त्र में कही हुई क्रियाओं के क्रम से उनकी प्रतिष्ठा कराई, महाभिषेक किया, जिनेन्द्र भगवान के संसर्ग से मंगल रूप हुए गन्धोदक से रानी के साथ स्वयं स्नान किया, जिनेन्द्र भगवान की स्तुति की तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी अभ्युदय को देने वाली आष्टाह्निकपर्व की पूजा की। इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत होने पर कुछ-कुछ जागती हुई रानी ने हाथी सिंह चन्द्रमा और लक्ष्मी का अभिषेक ये चार स्वप्न देखें। उसी समय उसके गर्भ धारण हुआ तथा क्रम से आलस्य आने लगा, अरुचि होने लगी, तन्द्रा आने लगी और बिना कारण ही ग्लानि होने लगी। उसके दोनों स्तन चिरकाल व्यतीत हो जाने पर भी परस्पर एक दूसरे को जीतने में समर्थ नहीं हो सके थे अतः दोनों के मुखः प्रतिदिन कालिमा को धारण कर रहे थे। स्त्रियों के लिये लज्जा ही प्रशंसनीय आभूषण है अन्य आभूषण नहीं यह स्पष्ट करने के लिए ही मानो उसकी समस्त चेष्टाएं लज्जा से सहित हो गई थीं।

जिस प्रकार रात्रि के अन्त में आकाश के ताराओं के समूह अल्प रह जाते हैं उसी प्रकार भार धारण करने में समर्थ नहीं होने से उसके योग्य आभूषण भी अल्पमात्र रह गये थे—विरल हो गये थे। जिस प्रकार अल्पधन वाले मनुष्य की विभूतियां परमित रहती हैं उसी प्रकार उसके वचन भी परिमित थे और

नई मेघमाला के शब्द के समान एक-एक कर वहुत देर वाद सुनाई देते थे। इस प्रकार उसके गर्भ के चिह्न निकटवर्ती मनुष्यों के लिए कुतूहल उत्पन्न कर रहे थे। वे चिह्न कुछ अप्रकट थे। किसी एक दिन रानी की प्रधान दासियों ने हर्ष से राजा के पास जाकर और प्रणाम कर उनके कान में यह समाचार कहा। यद्यपि यह समाचार दासियों के मुख की प्रसन्नता से पहले ही सूचित हो गया था तो भी उन्होंने कहा था। गर्भ धारण का समाचार सुनकर राजा का मुख-कमल ऐसा विकसित हो गया जैसा कि सूर्योदय से कमल और चन्द्रोदय से कुमुद विकसित हो जाता है।

जो वंशरूपी समुद्र को वृद्धिगंत करने के लिए तिलक के लिए चन्द्रोदय के समान है ऐसा पुत्र का प्रादुर्भाव किसके संतोष के लिए नहीं होता। जिसका मुखकमल अभी देखने को नहीं मिला है, केवल गर्भ में ही स्थित है ऐसा भी जव मुझे इस प्रकार संतुष्ट कर रहा है तव मुख दिखाने पर कितना संतुष्ट करेगा इस बात का क्या कहना है। ऐसा मानकर राजा ने उन दासियों के लिये इच्छित पुरस्कार दिया और द्विगुणित आनन्दित होता हुआ कुछ आप्त जनों के साथ वह रानी के घर गया। वहां उसने नेत्रों को सुख देने वाली रानी को ऐसा देखा मानो मेघ से युक्त आकाश ही हो, अथवा रत्नगर्भा पृथ्वी हो अथवा उदय होने के समीपवर्ती सूर्य से युक्त पूर्व दिशा ही हो। राजा को देखकर रानी खड़ी होने की चेष्टा करने लगी परन्तु 'हे देवि, वैठी रहो' इस प्रकार राजा के मना किये जाने पर वैठी रही। राजा एक ही शय्या पर चिरकाल तक रानी के साथ वैठा रहा और लज्जा सहित रानी के साथ योग्य वार्तालाप कर हर्षित होता हुआ वापिस चला गया।

तदनन्तर कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर पुण्य कर्म के उदय से अथवा गुरु शुक्र आदि ग्रहों के विद्यमान रहते हुए उसने जिस प्रकार इन्द्र की दिशा (प्राची) सूर्य को उत्पन्न करती है, शरदऋतु पके हुए धान को उत्पन्न करती है और कीर्ति महोदय को उत्पन्न करती है उसी प्रकार रानी ने उत्तम पुत्र उत्पन्न किया। जिसका भाग्य बढ़ रहा है और जो सम्पूर्ण लक्ष्मी पाने के योग्य है ऐसे उस पुत्र का वन्धुजनों ने 'श्रीवर्मा' यह शुभ नाम रक्खा। जिस प्रकार मूर्च्छित को सचेत होने से संतोष होता है, दरिद्र को खजाना मिलने से संतोष होता है, और थोड़ी सेना वाले राजा को विजय मिलने से संतोष होता है उसी प्रकार उस पुत्र-जन्म से राजा को संतोष हुआ था। उस पुत्र के शरीर के तेज से जिनकी कान्ति नष्ट हो गई है ऐसे रत्नों के दीपक रात्रि के समय सभा-भवन में निरर्थक हो गये थे।

उसके शरीर की वृद्धि वैद्यक शास्त्रों में कही हुई विधि के अनुसार होती थी और अच्छी क्रियाओं को करने वाली वुद्धि की वृद्धि व्याकरण आदि शास्त्रों के अनुसार हुई थी। जिस प्रकार यह जम्बूद्वीप ऊंचे मेरु पर्वत से सुशोभित होता है उसी प्रकार पृथ्वी-मंडल का पालन करने वाला यह लक्ष्मी-सम्पन्न राजा उस श्रेष्ठ पुत्र से सुशोभित हो रहा था। किसी एक दिन शिवंकर वन के उद्यान में श्री पद्म नाम के जिनराज अपनी इच्छा से पधारे थे। वनपाल से यह समाचार सुनकर राजा ने उस दिशा में सात कदम जाकर शिर से नमस्कार किया और वड़ी विनय के साथ उसी समय जिनराज के पास जाकर तीन प्रदक्षिणाएं दीं, नमस्कार किया, और यथास्थान आसन ग्रहण किया। राजा ने उनसे धर्म का स्वरूप पूछा, उनके कहे अनुसार वस्तु तत्व का ज्ञान प्राप्त किया, शीघ्र ही भोगों की तृष्णा छोड़ी, धर्म की तृष्णा में अपना मन लगाया, श्री वर्मा पुत्र के लिए राज्य दिया और उन्हीं श्रीपद्म जिनेन्द्र के समीप दीक्षा धारण कर ली।

जिनेन्द्र भगवान् के उपदेश से जिसका मिथ्यादर्शन रूपी महान्धकार नष्ट हो गया है। ऐसे श्री वर्मा ने भी वह चतुर्थ गुणस्थान धारण किया जो कि मोक्ष की पहली नाड़ी कहलाती है। चतुर्थ गुणस्थान के सन्निधान में जिस पुण्य-कर्म का संचय होता है वह स्वयं ही इच्छानुसार समस्त पदार्थों को सन्निहित-निकटस्थ करता रहता है। उन पदार्थों से श्री वर्मा ने इच्छित सुख प्राप्त किया था।

किसी समय राजा श्री वर्मा आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन जिनेन्द्र भगवान् की उपासना और पूजा कर अपने आप्त-जनों के साथ रात्रि में महल की छत पर वैठा था। वहां उल्कापात देखकर वह भोगों से विरक्त हो गया। उसने श्री कान्त नामक वड़े पुत्र के लिए राज्य दे दिया और श्री प्रभ जिनेन्द्र के समीप दीक्षा लेकर चिरकाल तक तप किया तथा

अन्त में श्री प्रभ नामक पर्वत पर विधिपूर्वक संन्यासमरण किया। जिससे प्रथम स्वर्ग के श्री प्रभ विमान में दो सागर की आयु वाला श्री धर नाम का देव हुआ। वह देव अणिमा, महिमा आदि आठ गुण से युक्त था, सात हाथ ऊंचा उसका शरीर था, वैक्रियिक शरीर का धारक था, पीतलेश्या वाला था, एक माह में श्वास लेता था; दो हजार वर्ष में अमृतमय पुद्गलों का मानसिक आहार लेता था, कायप्रवीचार से संतुष्ट रहता था, प्रथम पृथ्वी तक उसका अवधिज्ञान था, बल तेज तथा विक्रिया भी प्रथम पृथ्वी तक थी, इस तरह अपने पुण्य कर्म के परिपाक से प्राप्त हुए सुख का उपभोग करता हुआ वह सुख से रहता था।

धातकी खण्ड द्वीप की पूर्व दिशा में जो इष्वाकार पर्वत है उससे दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र में एक अलका नाम का सम्पन्न देश है। उसमें अयोध्या नामक उत्तम नगर है। उसमें अतितंजय राजा सुशोभित था। उसकी अजितसेना नाम की वह रानी थी जो कि पुत्र सुख प्रदान करती थी। किसी एक दिन पुत्र-प्राप्ति के लिए उसने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की और रात्रि को पुत्र की चिन्ता करती हुई सो गई। प्रातःकाल नीचे लिखे हुए आठ शुभ स्वप्न उसने देखे। हाथी, बैल, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, कमलों से सुशोभित सरोवर, शंख और पूर्ण कलश। राजा अजितजय से उसने स्वप्नों का निम्न प्रकार फल ज्ञात किया। हे देवी ! हाथी देखने से तुम पुत्र को प्राप्त करोगी; बैल के देखने से वह पुत्र गंभीर प्रकृति का होगा; सिंह के देखने से अनन्त बल का धारक होगा, चन्द्रमा के देखने से सबको संतुष्ट करने वाला होगा, सूर्य को देखने से तेज और प्रताप से युक्त होगा, सरोवर के देखने से शंख-चक्र आदि बत्तीस लक्षणों से सहित होगा, शंख देखने से चक्रवर्ती होगा और पूर्ण कलश देखने से निधियों का स्वामी होगा।

स्वप्नों का उक्त प्रकार फल जानकर रानी बहुत ही संतुष्ट हुई। तदन्तर कुछ माह बाद उसने पूर्वोक्त श्रीधरदेव को उत्पन्न किया। राजा ने शत्रुओं को जीतने वाले इस पुत्र का अजितसेन नाम रक्खा। राजा उस तेजस्वी पुत्र से ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि धूल रहित दिन सूर्य से सुशोभित होता है। यथार्थ में ऐसा पुत्र ही कुल का आभूषण होता है। दूसरे दिन स्वयंप्रभ नामक तीर्थंकर अशोक वन में आये। राजा ने परिवार के साथ जाकर उनकी पूजा की, स्तुति की, धर्मोपदेश सुना और सज्जनों के छोड़ने योग्य राज्य शत्रुओं को जीतने वाले अजितसेन पुत्र के लिए राज्य देकर संयम धारण कर लिया तथा स्वयं केवलज्ञानी बन गया। इधर अनुराग से भरी हुई राज्य-लक्ष्मी ने कुमार अजितसेन को अपने वश कर लिया जिससे वह युवावस्था में ही प्रौढ़ की तरह मुख्य सुखों का अनुभव करने लगा उसके पुण्य कर्म के उदय से चक्रवर्ती के चक्ररत्न आदि जो-दो चेतन-अचेतन सामग्री उत्पन्न होती है वह सब आकर उत्पन्न हो गई।

उसके समस्त दिशाओं के समूह को जीतने वाला चक्ररत्न प्रकट हुआ। चक्ररत्न के प्रकट होते ही उसके लिए दिग्विजय करना नगर के बाहर घूमने के समान सरल हो गया। इस चक्रवर्ती के कारण कोई भी दुःखी नहीं और यद्यपि यह छह खण्ड का स्वामी था फिर भी परिग्रह में इसकी आसक्ति नहीं थी। यथार्थ में पुण्य तो वही है जो पुण्य कर्म का बन्ध करने वाला हो। उसके साम्राज्य में प्रजा को यदि दुःख था तो अपने अशुभ कर्मोदय से था और सुख था तो उस राजा के द्वारा सम्यक् रक्षा होने से था। यही कारण था कि प्रजा उसकी वन्दना करती थी। देव और विद्याधर राजाओं के मुकुटों के अग्रभाग पर चमकने वाले रत्नों की किरणों का निष्प्रभ बनाकर उसकी उन्नत आज्ञा ही सुशोभित होती थी। यदि निरन्तर उदय रहने वाले और कमलों को आनन्दित करने वाले सूर्य का बल प्राप्त नहीं होता तो इन्द्र स्वयं अधिपति होकर भी अपनी दिशा की रक्षा कैसे करता। विधाता अवश्य ही बुद्धि हीन है क्यों क यदि वह बुद्धिहीन नहीं होता तो आग्नेय दिशा की रक्षा के लिए अग्नि को क्यों नियुक्त करता ? भला जो अपने जन्मदाता को जलाने वाला है उससे भी क्या कहीं किसी की रक्षा हुई है ?

क्या विधाता यह नहीं जानता था कि यमराज या मारक ? फिर भी उसने उसी सर्व भक्षी पापी को दक्षिण दिशा का रक्षक बना दिया। जो कुत्ते के स्थान पर रहता है, दीन है, सदा यमराज के समीप रहता है और अपने जीवन में जिसे संदेह है ऐसा नैऋत किस की रक्षा कर सकता है ? जो जल भूमि में विद्यमान बिल में मकरादि हिंसक जन्तु के समान रहता है, जिसके हाथ में पाश है, जो जलप्रिय है—जिसे जल

प्रिय है (पक्ष में जिसे जड़-मूर्ख प्रिय है) और जो नदीनाश्रय है—समुद्र में रहता है (पक्ष में दीन मनुष्यों का आश्रय नहीं है) ऐसा वरुण प्रजा की रक्षा कैसे कर सकता है ? जो अग्नि का मित्र है, स्वयं अस्थिर है और दूसरों को चलाता रहता है उस वायु को विधाता ने वायव्य दिशा का रक्षक स्थापित किया सो ऐसा वायु क्या कहीं ठहर सकता है ? जो लोभी है वह कभी पुण्य-संचय नहीं कर सकता और जो पुण्यहीन है वह कैसे रक्षक हो सकता है जबकि कुबेर कभी किसी को धन नहीं देता तब उसे विधाता ने रक्षक कैसे बना दिया ? ईशान अन्तिम दशा को प्राप्त होता है, गिनती उसकी सबसे पीछे होती है, पिशाचों से घिरा हुआ है और दुष्ट है इसलिए यह ऐशान दिशा का स्वामी कैसे हो सकता है ?

ऐसा जान पड़ता है कि विधाता ने इन सबको बुद्धि की विकलता से ही दिशाओं का रक्षक बनाया था और इस कारण उसे भारी अपयश उठाना पड़ा था । अब विधाता ने अपना सारा अपयश दूर करने के लिए ही मानो इस एक अजितसेन को समस्त दिशाओं का पालन करने में समर्थ बनाया था। इस प्रकार के उदार वचनों की माला बनाकर सब लोग जिसकी स्तुति करते हैं और अपने पराक्रम से जिसने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर लिया है ऐसा अजितसेन इन्द्रादि देवों का उल्लंघन करता था। उसका धन दान देने में, बुद्धि धार्मिक कार्यों में, शूरवीरता प्राणियों की रक्षा में, आयु सुख में और शरीर भोगोपभोग में सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहता था। उसके पुण्य की वृद्धि दूसरे के आधीन नहीं थी, कभी नष्ट नहीं होती थी और उसमें किसी तरह की बाधा नहीं आती थी । इस प्रकार वह तृष्णा रहित होकर गुणों का पोषण करता हुआ बड़े आराम से सुख को प्राप्त होता था । उसके वचनों में सत्यता थी, चित्त में दया थी, धार्मिक कार्यों में निर्मलता थी, और प्रजा की अपने गुणों के समान रक्षा करता था फिर वह राजर्षि क्यों न हो ?

मैं तो ऐसा मानता हूं सुजनता उसका स्वाभाविक गुण था। यदि ऐसा न होता तो प्राण हरण करने वाले पापी शत्रु पर भी विकार को क्यों नहीं प्राप्त होता। उसके राज्य में न तो कोई मूलहर था—मूल पूंजी को खाने वाला था, न कोई कदर्य था—अतिशय कृपण था और न कोई तादात्विक था—भविष्यत् का विचार न रख वर्तमान में ही मौज उड़ाने वाला था, किन्तु सभी समीचीन कार्यों में खर्च करने वाले थे। इस प्रकार जब वह राजा पृथ्वी का पालन करता था तब सब ओर सुराज्य हो रहा था और प्रजा उस बुद्धिमान् राजा को ब्रह्मा मानकर वृद्धि को प्राप्त हो रही थी। जब नव यौवन प्राप्त हुआ तब उस राजा के पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय से चौदह रत्न और नौ निधियां प्रकट हुई थीं। भाजन, भोजन, शय्या, सेना, सवारी, आसन, निधि, रत्न, नगर और नाट्य इन दश भोगों का वह अनुभव करता था।

श्रद्धा आदि गुणों से सम्पन्न उस राजा ने किसी समय एक माह का उपवास करने वाले अरिन्दम नामक साधु के लिए आहार-दान देकर नवीन पुण्य का बन्ध किया तथा रत्न-वृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम कार्यों के करने में तत्पर रहने वाले मनुष्यों को क्या दुर्लभ है ? दूसरे दिन वह राजा, गुप्तप्रभ जिनेन्द्र की वन्दना करने के लिए मनोहर नामक उद्यान में गया। वहीं उसने जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए श्रेष्ठ धर्म रूपी रसायन का पान किया, अपने पूर्व भव के सम्बन्ध सुने, जिनसे भाई के समान प्रेरित हो शीघ्र ही वैराग्य प्राप्त कर लिया। वह जितशत्रु नामक पुत्र के लिए राज्य देकर त्रैलोक्यविजयी मोह राजा को जीतने के लिये इस प्रकार निरतिचार तप तप कर आयु के अन्त में वह नभस्तिलक नामक पर्वत के अग्रभाग पर शरीर छोड़ सोलहवें स्वर्ग में शान्तकार विमान में अच्युतेन्द्र हुआ। वहाँ उसकी बाईस सागर की आयु थी, तीन हाथ ऊँचा तथा धातु-उपधातुओं से रहित देदीप्यमान शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, वह ग्यारह माह में एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्ष बाद एक बार अमृतमयी मानसिक आहार लेता था, उसके देशावधिज्ञान-रूपी नेत्र छठवीं पृथ्वी तक के पदार्थों तक को देखते थे, उसका समीचीन तेज, बल तथा वैक्रियिक शरीर भी छठवीं पृथ्वी तक व्याप्त हो सकता था। इस प्रकार निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला वह अच्युतेन्द्र चिरकाल तक स्वर्ग के सुख भोग आयु के अन्त में जहाँ उत्पन्न हुआ वह कहते हैं ।

पूर्व धातकी खण्ड द्वीप में सीता नदी के दाहिने तट पर मङ्गलावती नाम का देश है। उसके रत्नसंचय नगर में कनकप्रभ

राजा राज्य करते थे। उनकी कनकमाला नाम की रानी थी। वह अहमिन्द्र उन दोनों दम्पतियों के शुभ स्वप्नों द्वारा अपनी सूचना देता हुआ पद्म नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। पद्म नाम; वालकोचित सेवा-विशेष के द्वारा निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता था। उपयोग तथा क्षमा आदि सव गुणों की पूर्णता हो जाने पर राजा ने उसे व्रत देकर विद्यागृह में प्रविष्ट कराया। कुलीन विद्वानों के साथ रहने वाला वह राजकुमार, दास तथा महावत आदि को दूर कर समस्त विद्याओं के सीखने में उद्यम करने लगा। उसने इन्द्रियों के समूह को इस प्रकार जीत रक्खा था कि वे इन्द्रियाँ सव रूप से अपने विषयों के द्वारा केवल आत्मा के साथ ही प्रेम वढ़ाती थीं। वह वुद्धिमान् विनय की वृद्धि के लिए सदा वृद्धजनों की संगति करता था। शास्त्रों से निर्णय कर विनय करना कृत्रिम विनय है और स्वभाव से ही विनय करना स्वाभाविक विनय है। जिस प्रकार चन्द्रमा को पाकर गुरु और शुक्र ग्रह अत्यन्त सुशोभित होते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण कलाओं को धारण करने वाले अतिशय सुन्दर उस राजकुमार को पाकर स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार के विमान अतिशय सुशोभित हो रहे थे। वह वुद्धिमान् राजकुमार सोलहवें वर्ष में यौवन प्राप्त कर ऐसा सुशोभित हुआ जैसा कि विनयवान् जितेन्द्रिय संयमी वन को पाकर सुशोभित होता है।

जिस प्रकार भद्र जाति के हाथी को देखकर उसका शिक्षक हर्षित होता है उसी प्रकार रूप, वंश, अवस्था और शिक्षा से सम्पन्न तथा विकार से रहित पुत्र को देखकर पिता वहुत ही हर्षित हुए। उन्होंने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के साथ उसकी विद्या की पूजा की तथा संस्कार किये हुए रत्न के समान उस की वुद्धि दूसरे कार्य में लगाई। जिस प्रकार शुद्धपक्ष-शुक्लपक्ष के आश्रय से कलाओं के द्वारा वालचन्द्र को पूर्ण किया जाता है उसी प्रकार वलवान् राजा ने उस सुन्दर पुत्र को अनेक स्त्रियों से पूर्ण किया था अर्थात् उसका अनेक स्त्रियों के साथ विवाह किया था। जिस प्रकार सूर्य के किरणें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उसकी सोमप्रभा आदि रानियों के सुवर्णनाम आदि शुभ पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार पुत्र-पुत्रादि से घिरे हुए श्रीमान् और वुद्धिमान् राजा कनकप्रभ सुख से अपने राज्य का पालन करते थे।

किसी दिन उन्होंने मनोहर नामक वन में पधारे हुए श्री धर नामक जिन-राज से धर्म का स्वरूप सुनकर अपना राज्य पुत्र के लिए दे दिया तथा संयम धारण कर क्रम-क्रम से निर्वाण प्राप्त कर लिया। पद्मनाभ ने भी उन्हीं जिनराज के समीप श्रावक के व्रत लिये तथा मन्त्रियों के साथ स्वराष्ट्र और पर-राष्ट्र की नीति का विचार करता हुआ वह सुख से रहने लगा। परस्पर के समान अत्यन्त कोमल स्त्रियों की विनय, हंसी, स्पर्श, विनोद, मनोहर वातचीत और चंचल चितवनों के द्वारा वह चित्त की परम प्रसन्नता को प्राप्त होता था। कामदेव रूपी कल्प-वृक्ष से उत्पन्न हुए, स्त्रियों के प्रेम से प्राप्त हुए और थके हुए भोगापभोग रूपी उत्तम फल ही राजा पद्मनाभ के वैराग्य की सीमा हुए थे अर्थात् इन्हीं भोगोपभोगों से उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया था।

ये सव भोगापभोग पूर्व भव में किये हुए पुण्यकर्म के फल हैं इस प्रकार मूर्ख मनुष्यों को स्पष्ट रीति से वतलाया हुआ वह तेजस्वी पद्मनाभ सुखी हुआ था। विद्वानों में श्रेष्ठ पद्मनाभ भी, श्री धर मुनि के समीप धर्म का स्वरूप जानकर अपने हृदय में संसार और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप इस प्रकार विचारने लगा। उसने विचार किया कि जव तक औदयिक भाव रहता है तव तक आत्मा को संसार-भ्रमण करना पड़ता है, औदयिक भाव तव तक रहता है जव तक कि कर्म रहते हैं और कर्म तव तक रहते हैं जव तक कि उनके कारण विद्यमान रहते हैं। कर्मों के कारण मिथ्यात्वादिक पांच हैं। उनमें से जहां मिथ्यात्व रहता है वहाँ वाकी के चार कारण अवश्य रहते हैं। जहां असंयम रहता है वहाँ उसके सिवाय प्रमाद, कपाय और योग ये तीन कारण रहते हैं। जहाँ कपाय रहती है वहां उसके सिवाय योग कारण रहता और जहाँ कपाय का अभाव है वहां सिर्फ योग ही वन्ध का कारण रहता है।

अपने-अपने गुण स्थान में मिथ्यात्वादि कारणों का नाश होने से वहाँ उनके निमित्त से होने वाला वन्ध भी नष्ट हो जाता है। पहले सत्ता, वन्ध और उदय नष्ट होते हैं, उनके पश्चात् चौदहवें गुणस्थान तक अपने-अपने काल के अनुसार कर्म नष्ट होते हैं तथा कर्मों के नाश होने से संसार का नाश हो जाता है। जो पाप रूप है और जन्म-मरण ही जिसका लक्षण है ऐसे संसार के नष्ट हो जाने पर आत्मा के क्षायिक

भाव ही शेष रह जाते हैं। उस समय यह आत्मा अपने आप में उन्हीं क्षायिक भावों के साथ बढ़ता रहता है। इस प्रकार जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए तत्व को नहीं जानने वाला यह प्राणी, जिसका अन्त मिलना अत्यन्त कठिन है ऐसे संसाररूपी दुर्गम वन में अन्धे के समान चिरकाल से भटक रहा है। अव मैं असंयम आदि कर्म बन्ध के समस्त कारणों को छोड़कर शुद्ध श्रद्धान् आदि मोक्ष के पांचों कारणों को प्राप्त होता हूं—धारण करता हूं।

इस प्रकार अन्तरंग में हिताहित का यथार्थ स्वरूप जानकर पद्मनाभ ने वाह्य सम्प्रदाओं की प्रभुता सुवर्णनाम के लिए दे दीं और बहुत से राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। अव वह मोक्ष के कारण भूत चारों आराधनाओं का आचरण करने लगा, सोलह कारण-भावनाओं का चिन्तन करने लगा तथा ग्यारह अंगों का पारगामी वनकर उसने तीर्थंकर नाम कर्म का वन्ध किया। जिसे अज्ञानी जीव नहीं कर सकते ऐसे सिंह निष्क्रीडित आदि कठिन तप उसने किये और आयु के अन्त में समाधिमरण-पूर्वक शरीर छोड़ा जिससे वैजयन्त विमान में तैंतीस सागर की आयु का धारक अहमिन्द्र हुआ। उसके शरीर का प्रमाण तथा लेश्यादिकी विशेषता पहले कहे अनुसार थी। इस तरह वह दिव्य सुख का उपभोग करता हुआ रहता था।

तदनन्तर जब उसकी आयु छह मास की वाकी रह गई तव इस जम्वूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक चन्द्रपुर नाम का नगर था। उसमें इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री तथा आश्चर्यकारी वैभव को धारण करने वाला महासेन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी महादेवी का नाम लक्ष्मणा था। लक्ष्मणा ने अपने घर के आंगन में देवों के द्वारा वरसाई हुई रत्नों की धारा प्राप्त की थी। श्री ह्री आदि देवियाँ सदा उसे घेरे रहती थीं। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदि सुखों का समुचित उपभोग करने वाली रानी ने चैत्रकृष्ण पंचमी के दिन पिछली रात्रि में सोलह स्वप्न देखकर सतोष लाभ किया। सूर्योदय के समय उसने उठकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभरण धारण किये तथा प्रसन्न मुख होकर सिंहासन पर वैठे हुए पति से अपने सव स्वप्न निवेदन किये।

राजा महासेन ने भी अवधिज्ञान से उन स्वप्नों का फल जानकर रानी के लिए पृथक्-पृथक् वतलाया जिन्हें सुनकर वह वहुत ही हर्षित हुई। श्री ह्री आदि देवियां उसकी कान्ति, लज्जा, धैर्य, कीर्ति, वुद्धि और सौभाग्य-सम्पत्ति को सदा वढ़ाती रहती थीं। इस प्रकार कितने ही दिन व्यतीत हो जाने पर उसने पौषकृष्ण एकादशी के दिन शुक्रयोग में देव पूजित, अचिन्त्य प्रभा के धारक और तीन ज्ञान से सम्पन्न उस अहमिन्द्र पुत्र को उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्र ने आकर महामेरु की शिखर पर विद्यमान सिंहासन पर उक्त जिन वालक को विराजमान किया, क्षीर सागर के जल से उनका अभिषेक किया, सव प्रकार के आभूषणों से विभूषित किया, तीन लोक के राज्य की कठी वांधी और फिर प्रसन्नता से हजार नेत्र वनाकर उन्हें देखा। उनके उत्पन्न होते ही यह कुवलय अर्थात् पृथ्वी-मण्डल का समूह अथवा नील-कमलों का समूह अत्यन्त विकसित हो गया था इसलिये इन्द्र ने व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए उनका 'चन्द्रप्रभ' यह सार्थक नाम रक्खा।

इन्द्र ने इन त्रिलोकीनाथ के आगे आनन्द नाम का नाटक किया। तदनन्तर उन्हें लाकर उनके माता-पिता के लिए सौंप दिया। 'तुम भोगोपभोग की योग्य वस्तुओं के द्वारा भगवान् की सेवा करो' इस प्रकार कुवेर के लिये संदेश देकर इन्द्र अपने स्थान पर चला गया। यद्यपि विद्वान लोग स्त्री-पर्याय को निन्द्य वतलाते हैं तथापि लोगों का कल्याण करने वाले जगत्पति भगवान को धारण करने से यह लक्ष्मणा वड़ी ही पुण्यवती है, वड़ी ही पवित्र है, इस प्रकार देव लोग उसकी स्तुति कर महान् फल को प्राप्त हुए थे तथा इस प्रकार की स्त्री पर्याय श्रेष्ठ है ऐसा देवियों ने भी स्वीकार किया था।

भगवान सुपार्श्वनाथ के मोक्ष जाने के वाद जब नौ सौ करोड़ सागर का अन्तर वीत चुका तव भगवान चन्द्रप्रभ उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तर में सम्मिलित थी। दश लाख पूर्व की उनकी आयु थी, एक सौ पचास धनुष ऊंचा शरीर था, द्वितीया के चन्द्रमा की तरह वे वढ़ रहे थे तथा समस्त संसार उनकी स्तुति करता था। हे स्वामिन्! आप इधर आइये इस प्रकार कुतूहलवश कोई देवी उन्हें वुलाती थी। वे उसके फैलाये हुए हाथों पर कमलों के समान अपनी हथेलियाँ रख देते थे। उस समय कारण के विना ही प्रकट हुई मन्द मुसकान से उनका मुखकमल वहुत ही सुन्दर दिखता था। वे कभी मणिजटित पृथ्वी पर लड़खड़ाते हुए पैर रखते थे। इस

प्रकार उस अवस्था के योग्य भोली भाली शुद्ध चेष्टाओं से बाल्यकाल को बिताकर वे सुखाभिलाषी मनुष्यों के द्वारा चाहने योग्य कौमार अवस्था को प्राप्त हुए। उस समय वहाँ के लोगों में कौतुकवश इस प्रकार की बातचीत होती थी कि हम ऐसा समझते हैं कि विधाता ने इनका शरीर अमृत से ही बनाया है।

उनकी द्रव्य लेश्या अर्थात शरीर की कान्ति पूर्ण चन्द्रमा को जीतकर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो बाह्य वस्तुओं को देखने के लिये अधिक होने से भाव लेश्या ही बाहर निकल आई हो तथा उनका शरीर शुक्ल था और भाव भी शुक्ल उज्ज्वल थे। उनके यश और लेश्या से ज्योतिषी देवों की कान्ति छिप गई थी इसलिये भोगभूमि लौट आई है यह समझ कर लोग संतुष्ट होने लगे थे। (ये बाल्यावस्था से ही अमृत का भोजन करते हैं अत: इनके शरीर की कान्ति मनुष्यों से भिन्न है तथा अन्य सबकी कान्ति को पराजित करती है।) उनके शरीर की कान्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानो सूर्य और चन्द्रमा को मिली हुई कान्ति हो इसीलिये तो उनके समीप निरन्तर कमल और कुमुद दोनों ही खिले रहते थे। कुन्द के फूलों की हंसी उड़ाने वाले उनके गुण चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल थे। इसीलिये तो वे भव्य जीवों के मनरूपी नील कमलों के समूह को विकसित करते रहते थे। लक्ष्मी इन्हीं के साथ उत्पन्न हुई थी इसलिए वह इन्हीं की बहिन थी। लक्ष्मी चन्द्रमा की बहिन है यह जो लोक में प्रसिद्धि है वह अज्ञानी लोगों ने मिथ्या कल्पना कर ली है। जिस प्रकार चन्द्रमा का उदय होने पर यह लोक हर्षित हो उठता है, सुशोभित होने लगता है और निराकुल होकर बढ़ने लगता है उसी प्रकार सब प्रकार के संतोष को हरने वाले चन्द्र-प्रभु भगवान का जन्म होने पर यह सारा संसार हर्षित हो रहा है, सुशोभित हो रहा है और निराकुल होकर बढ़ रहा है।

कारण के अनुकूल ही कार्य होता है यदि यह लोकोक्ति सत्य है तो मानना पड़ता है कि इनकी लक्ष्मी और कीर्ति इन्हीं के गुणों से निर्मल हुई थीं। भावार्थ—उनके गुण निर्मल थे अत: उनसे जो लक्ष्मी और कीर्ति उत्पन्न हुई थीं वह भी निर्मल ही थी। जो बहुत भारी विभूति से सम्पन्न हैं, जो स्नान आदि मांगलिक कार्यों से सजे रहते हैं और अलंकारों से सुशोभित ऐसे अतिशय कुशल भगवान कभी मनोहर वीणा बजाते थे, कभी मृदंग आदि बाजों के साथ गाना गाते थे, कभी कुबेर के द्वारा लाये हुए आभूषण तथा वस्त्र आदि देखते थे, कभी वादी-प्रतिवादियों के द्वारा उपस्थापित पक्ष आदि की परीक्षा करते थे और कभी कुतूहलवश अपना दर्शन करने के लिए आये हुए भव्य जीवों को दर्शन देते थे इस प्रकार अपना समय व्यतीत करते थे। जब भगवान कौमार अवस्था में ही थे तभी धर्म आदि गुणों की वृद्धि हो गई थी और पाप आदि का क्षय हो गया था, फिर संयम धारण करने पर तो कहना ही क्या है? इस प्रकार दो लाख पचास हजार पूर्व व्यतीत होने पर उन्हें राज्याभिषेक प्राप्त हुआ था और उससे वे बहुत ही हर्षित तथा सुन्दर जान पड़ते थे। जो अपनी हथेली प्रमाण मण्डल की राहु से रक्षा नहीं कर सकता ऐसे सूर्य का तेज किस काम का? तेज तो इन भगवान चन्द्रप्रभ का था जो कि तीन लोक की रक्षा करते थे।

जिनके जन्म के पहले ही इन्द्र आदि देव किंकरता स्वीकृत कर लेते हैं ऐसे अन्य ऐश्वर्य आदि से घिरे हुए इन चन्द्रप्रभ भगवान को किस की उपमा दी जावे? वे स्त्रियों के कपोल-तल में अथवा हाथी-दांत के टुकड़े में कामदेव से मुस्काता हुआ अपना मुख देखकर सुखी होते थे। जिस प्रकार कोई दानी पुरुष दान देकर सुखी होता है उसी प्रकार शृङ्गार चेष्टाओं को करने वाले भगवान, अपनी ओर देखने वाली उत्सुक स्त्रियों के लिए अपने मुख का रस समर्पण करने से सुखी होते थे। मुख में कमल की आशंका होने से जो पास ही में मंडरा रहे हैं ऐसे भ्रमरों को छोड़कर स्त्री का मुख-कमल देखने में उन्हें और कुछ बाधक नहीं था। चंचल सतृष्ण, योग्य अयोग्य का विचार नहीं करने वाले और मलिन मधुर-भ्रमर भी (पक्ष में मद्य-पायी लोग भी) जब प्रवेश पा सकते हैं तब संसार में ऐसा कार्य ही कौन है जो नहीं किया जा सकता हो। इस प्रकार साम्राज्य-सम्पदा का उपभोग करते हुए जब उनका छह लाख पचास हजार पूर्व तथा चौबीस पूर्वांग का लम्बा समय सुख पूर्वक क्षण भर के समान बीत गया तब वे एक दिन आभूषण धारण करने वाले घर के दर्पण में अपना मुख-कमल देख रहे थे।

वहां उन्होंने मुख पर स्थित किसी वस्तु को वैराग्य का कारण निश्चित किया और इस प्रकार विचार करने लगे। देखो यह शरीर नश्वर है तथा इससे जो प्रीति की जाती है वह भी इति के समान दुःखदायी है। वह सुख ही क्या है जो चंचल हो, वह यौवन की क्या है जो नष्ट हो जाने वाला हो, और वह आयु ही क्या है जो अवधि से सहित हो—शान्त हो। जिसके आगे वियोग होने वाला है ऐसा बन्धुजनों के साथ समागम किस काम का ? मैं वही हूं, पदार्थ वही हैं, इन्द्रियां भी वही हैं, प्रीति और अनुभूति भी वही है, किन्तु इस संसार की भूमि में यह सब बार-बार बदलता रहता है। इस संसार में अब तक क्या हुआ है और आगे क्या होने वाला है यह मैं जानता हूं, फिर भी बार-बार मोह को प्राप्त हो रहा हूं यह आश्चर्य है। मैं आज तक अनित्य पदार्थों को नित्य समझता रहा, दुःख को सुख स्मरण करता रहा, अपवित्र पदार्थों को पवित्र मानता रहा और पर को आत्मा जानता रहा। इस प्रकार अज्ञान से अक्रान्त हुआ यह जीव, जिसका अन्त अत्यन्त कठिन है। ऐसे संसार रूपी सागर में चार प्रकार के विशाल दुःख तथा भयंकर रोगों के द्वारा चिरकाल से पीड़ित हो रहा है।

इस प्रकार काल-लब्धि को पाकर संसार का मार्ग छोड़ने की इच्छा से वे बड़े लम्बे पुण्यकर्म के द्वारा खिन्न हुए के समान व्याकुल हो गये थे। आगे होने वाले केवलज्ञानादि गुणों से मुझे समृद्ध होना चाहिए ऐसा स्मरण करते हुए वे दूती के समान सद्बुद्धि के साथ समागम को प्राप्त हुए थे। मोक्ष प्राप्त करने वाली उनकी सद्बुद्धि अपने आप दीक्षा लक्ष्मी को प्राप्त हो गई थी। इस प्रकार जिन्होंने आत्म-तत्व को समझ लिया है ऐसे भगवान चन्दप्रभ के समीप लौकान्तिक देव आये और यथायोग्य स्तुति कर ब्रह्म स्वर्ग को वापिस चले गये। तदनन्तर महाराज चन्द्रप्रभ भी वर चन्द्र नामक पुत्र को राज्याभिषेक कर देवों के द्वारा की हुई दीक्षा-कल्याणक की पूजा को प्राप्त हुए और देवों के द्वारा उठाई गई विमला नाम की पालकी में सवार होकर सर्वर्तुक नामक वन में गये। वहां उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर पौष कृष्ण एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते हो उन्हें मनः पर्ययज्ञान प्राप्त हो गया। दूसरे दिन वे चर्या के लिए नलित नामक नगर में गये। वहां गौर वर्ण वाले सोमदत्त राजा ने उन्हें नवधा भक्ति पूर्वक उत्तम आहार देकर दान से संतुष्ट हुए देवों के द्वारा प्रगटिक रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान् अहिंसा आदि पांच महाव्रतों को धारण करते थे। ईर्या आदि पांच समितियों का पालन करते थे, मन वचन काय की निरर्थक प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों का त्याग करते थे।

उन्होंने कषायरूपी शत्रु का निग्रह कर दिया था, उनकी विशुद्धता निरन्तर बढ़ती रहती थी, वे तीन गुप्तियों से युक्त थे, शील सहित थे, गुणी थे, अन्तरंग और बहिरंग दोनों तपों को धारण करते थे, वस्तु वृत्ति और वचन के भेद से निरन्तर पदार्थ का चिन्तन करते थे, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों में स्थित रहते थे, समस्त परिषह सहन करते थे, यह शरीरादि पदार्थ अनित्य हैं, अशुचि हैं और दुःख रूप है, ऐसा बार-बार स्मरण रखते थे तथा समस्त पदार्थों में माध्यस्थ भाव रखकर परमयोग को प्राप्त हुए थे। इस प्रकार जिन-कल्प-मुद्रा के द्वारा तीन माह बिताकर वे दीक्षावन में नागवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर स्थित हुए। वह फाल्गुन कृष्ण सप्तमी के सांयकाल का समय था और उस दिन अनुराधा नक्षत्र का उदय था। सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियों का तो उन्होंने पहले ही क्षय कर दिया। अब अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप तीन परिणामों के संयोग से क्षपक श्रेणी को प्राप्त हुए। वहां उनके द्रव्य तथा भाव दोनों ही रूप से चौथा सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र प्रकट हो गया। वहां उन्होंने प्रथम शुक्ल ध्यान के प्रभाव से मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर दिया जिससे उनका सम्यग्दर्शन अगाढ सम्यग्दर्शन हो गया। उस समय चार ज्ञानों से देदोप्यमान चन्द्रप्रभ भगवान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। बारहवें गुणस्थान के अन्त में उन्होंने द्वितीय शुक्ल ध्यान के प्रभाव से मोहातिरिक्त तीन घातिया कर्मो का क्षय कर दिया। उपयोग जीव का ही खास गुण है क्योंकि वह जीव के सिवाय अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म जीव के उपयोग गुण का घात करते हैं इसलिए घातिया कहलाते है। उन भगवान के घातिया कर्मो का नाश हुआ था और अघातिया कर्मों में से भी कितनी ही प्रकृतियों का नाश

हुआ था ।

इस प्रकार वे परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन, अन्तिम यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान, दर्शन तथा ज्ञानादि पांच लब्धियां पाकर शरीर सहित सयोग केवली जिनेन्द्र हो गये। उस समय वे सर्वज्ञ थे, समस्त लोक के स्वामी थे, सवका हित करने वाले थे, सबके एक मात्र रक्षक थे, सर्वदर्शी थे, समस्त इन्द्रों के द्वारा वन्दनीय थे और समस्त पदार्थों का उपदेश देने वाले थे। चौंतीस अतिशयों के द्वारा उनके विशेष वैभव का उदय प्रकट हो रहा था और आठ प्रातिहार्यों के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का उदय व्यक्त हो रहा था। वे देवों के देव थे, उनके चरणकमलों को समस्त इन्द्र अपने मुकुटों पर धारण करते थे, अपनी प्रभा से उन्होंने समस्त संसार को आनन्दित किया था, तथा वे समस्त लोक के आभूषण थे। गति, जीव, समास, गुणस्थान, नय, प्रमाण आदि के विस्तार का ज्ञान कराने वाले श्रीमान चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र आकाश में स्थित थे। सिंहों के द्वारा धारण किया हुआ उनका सिंहासन ऐसा सुशोभित हो रहा था कि सिंह जाति ने क्रूरता-प्रधान शूर-वीरता के द्वारा पहले जिस पाप का संचय किया था उसे हरने के लिए मानों उन्होंने भगवान का सिंहासन उठा रक्खा था। समस्त दिशाओं को प्रकाशित करती हुई उनके शरीर की प्रभा ऐसी जान पड़ती थी मानो देदीप्यमान केवलज्ञान की कान्ति ही तदाकार हो गई हो। हंसों के कंधों के समान सफेद देवों के चमरों से जिनकी प्रभा की दीर्घता प्रकट हो रही है ऐसे भगवान ऐसे जान पड़ते थे मानो गंगानदी की लहरें ही उनकी सेवा कर रहीं हों।

जिस प्रकार सूर्य का एक ही प्रकाश देखने वालों के लिए समस्त पदार्थों का प्रकाश कर देता है उसी प्रकार भगवान की एक ही दिव्य ध्वनि सुनने वालों के लिए समस्त पदार्थों का ज्ञानकर देती थी। भगवान का छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग जुदा-जुदा होकर यह कह रहा हो कि मोक्ष की प्राप्ति हम तीनों से ही हो सकती है अन्य से नहीं। लाल-लाल अशोक वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भगवान के आश्रय से ही मैं अशोक-शोकरहित हुआ हूं अतः उनके प्रति अपने पत्रों और फूलों के द्वारा अनुराग ही प्रकट कर रहा हो। आकाश से पड़ती हुई फूलों की वर्षा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो भगवान की सेवा करने के लिए भक्ति से भरी हुई ताराओं की पंक्ति ही आ रही हो। समुद्र की गर्जना को जीतने वाले देवों के नगाड़े ठीक तरह शब्द कर रहे थे, मानो वे दिशाओं को यह सुना रहे हों कि भगवान ने मोहरूपी शत्रु को जीत लिया है। उनकी प्रभा के मध्य में प्रसन्नता से भरा हुआ मुख मण्डल ऐसा सुशोभित होता था मानो आकाश गंगा में कमल ही खिल रहा हो अथवा चन्द्रमा का प्रतिविम्ब ही हो।

जिस प्रकार तारागणों से सेवित शरद-ऋतु का चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार वारह सभाओं से सेवित भगवान गन्धकुटी के मध्य में सुशोभित हो रहे थे। उनके दत्त आदि तेरानवें गणधर थे, दो हजार पूर्वधारी थे, आठ हजार अवधिज्ञानी थे, दो लाख चार सौ शिक्षक थे, आठ हजार मनःपर्यय ज्ञान के धारक उनको सेवा करते थे, तथा सात हजार छह सौ वादियों के स्वामी थे। इस प्रकार सब मुनियों की संख्या अढ़ाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएं उनको स्तुति करती थीं तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकाएं उनकी पूजा करती थीं। वे असंख्यात देव-देवियों से स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यंच उनकी सेवा करते थे। ये सब बारह सभाओं के जीव प्रदक्षिणा रूप से भव्यों के स्वामी भगवान चन्द्रप्रभ को घेरे हुए थे, सब अपने-अपने कोठों में बैठे थे और सभी कमल के मुकुल के समान अपने-अपने हाथ जोड़े हुए थे।

उसी समय जो उत्पन्न हुई भक्ति के भार से नम्र हो रहा है और जिसके मुकुट के अग्रभाग में लगे हुए मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा दूसरा ज्ञानेन्द्र इस प्रकार स्तुति करने लगा। वह कहने लगा कि हे भगवान! जिस रत्नत्रय से आपने उत्कृष्ट रत्नत्रय प्राप्त किया है वही रत्नत्रय-सम्पत्ति आप मुझे भी दीजिये।

हे देव! समुद्र और सुमेरु पर्वत की महिमा केवल अपने लिए हैं तथा महिमा केवल पर के लिए है। हे भगवान्! आप परम सुख देने वाले हैं ऐसी आपकी स्तुति तो दूर ही रही, अपने आत्मतत्व रूपी संपदा को सिद्ध करने वाले आप सदा समृद्धिमान् हों मैं यहीं स्तुति करता हूं। जो मनुष्य आपके वचन को अपने वचनों में, आपके धर्म को अपने

हृदय में और आपकी प्रकृति को अपने शरीर में धारण करता है वह आप जैसा ही होकर परम आनन्द को प्राप्त होता है। हे नाथ ! आप अकेले ने ही शुक्ल ध्यान रूपी तलवार के द्वारा तीनों लोकों से द्वेष रखने वाले कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर मुक्ति का साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। हे प्रभो ! जो आपके चरणरूपी वृक्ष से उत्पन्न हुई सघन छाया का आश्रय लेते हैं वे पापरूपी सूर्य के रोगरूपी घाम के तीव्र दुःखरूपी संताप से दूर रहते हैं। हे देव ! यह संसार, समस्त जीवों के लिये या तो समुद्र है या अनन्त वन है परन्तु जो भव्य आपके मत का आश्रय लेते हैं उनके लिये गाय का खुर है अथवा नन्दन वन है। हे भगवान् ! यद्यपि आपके चरणों का स्मरण करने से कुछ क्लेश अवश्य होता है परन्तु उसका फल तीनों लोकों का साम्राज्य है। आश्चर्य है कि ये संसार के प्राणी उस महान् फल में भी मन्द इच्छा रखते हैं इससे जान पड़ता है कि ये अपनी आत्मा का हित नहीं जानते ।

हे प्रभो ! आपका यह आधाराधेय भाव अनन्यसदृश है—सर्वथा अनुपम है क्योंकि नीचे रहने वाला यह संसार तो आधेय है और उसके ऊपर रहने वाले आप आधार हैं। भावार्थ—जो चीज नीचे रहती है वह आधार कहलाती है और जो उसके ऊपर रहती है वह आधेय कहलाती है परन्तु आपके आधाराधेय अभाव को व्यवस्था से भिन्न है अतः अनुपम है। दूसरे पक्ष में यह अर्थ है कि आप जगत् के रक्षक हैं अतः आधार हैं और जगत् आपको रक्षा का विषय है अतः आधेय है। आप सबको जानते हैं परन्तु आप किसी के द्वारा नहीं जाने जाते, आप सबके रक्षक हैं। परन्तु आप किसी के द्वारा रक्षा योग्य नहीं हैं, आप सबके जानने वाले हैं परन्तु आप किसी के द्वारा जानने के योग्य नहीं हैं और आप सबका पोषण करने वाले हैं परन्तु आप किसी के द्वारा पोषण किये जाने के योग्य नहीं हैं। जो आपको नमस्कार नहीं करता वह पापों से संतप्त होता है और जो आपकी स्तुति नहीं करता वह सदा निन्दा को प्राप्त होता है।

हे भगवान् ! इस संसार में कितने ही लोग नास्तिक हैं—परलोक की सत्ता स्वीकृत नहीं करते हैं इसलिये स्वच्छन्द होकर तरह-तरह के पाप करते हैं और कितने ही लोग केवल भाग्य-वादी हैं इसलिए उद्यमहीन होकर अकर्मण्य हो रहे हैं परन्तु आपके भक्त लोग आस्तिक हैं—परलोक की सत्ता स्वीकृत करते हैं इसलिए 'परलोक बिगड़ न जावे' इस भय से सदा धार्मिक क्रियाएं करते हैं और परलोक के सुधार के लिए सदा उद्यम करते हैं। सबका हित करने वाले और सबको जानने वाले आप सब जगह सब समय सब पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। ऐसा प्रकाश न चन्द्रमा कर सकता है और न सूर्य ही, फिर, अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या ? हे भगवान् ! कोई भी वस्तु न नित्य है, न क्षणिक है, ज्ञानमात्र है और न अदृश्य होने से शून्य रूप है किन्तु आपके दर्शन से प्रत्येक वस्तु तत्व और अतत्व रूप-अस्ति रूप है।

आत्मा है, क्योंकि उसमें ज्ञान का सद्भाव है, आत्मा दूसरा जन्म धारण करता है क्योंकि उसका स्मरण बना रहता है, और आत्मा सवज्ञ है क्योंकि ज्ञान में वृद्धि देखी जाती है। हे भगवान् ! ये तोनों ही बुद्धिहीन मनुष्य कहते हैं परन्तु आपने कहा है कि द्रव्य का परिणमन गुणों से ही होता है अर्थात् द्रव्य से गुण सवथा जुदा पदार्थ नहीं है। इसीलिये आप यथार्थद्रष्टा है—आप पदार्थ के स्वरूप को ठीक-ठीक देखते हैं। हे नाथ ! चन्द्रमा की प्रभा तो राहु से तिरोहित हो जाती है परन्तु आपके शरीर की प्रभा बिना किसी प्रतिबन्ध के रात-दिन प्रकाशित रही आती है अतः इन्द्र ने जो आपका 'चन्द्रप्रभ' (चन्द्रमा जैसी प्रभावाला) नाम रक्खा है यह बिना परीक्षा किये ही रख दिया है। इस प्रकार जिसमें शब्द और अर्थ दोनों ही गंभीर हैं ऐसे स्तवन से प्रसन्न बुद्धि के धारक इन्द्र ने अपने आपको चिरकाल के लिए बहुत हो पुण्यवान् माना था।

अथानन्तर चन्द्रप्रभ स्वामी समस्त आर्य देशों में विहार कर धर्म-तीर्थ को प्रवृत्ति करते हुए सम्मेद शिखर पर पहुंचे। वहां वे विहार बन्द कर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर एक मास तक सिद्धशिला पर आरूढ़ रहे। और फाल्गुन शुक्ल सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में सायंकाल के समय योग-निरोध कर चौदहवें गुण स्थान को प्राप्त हुए तथा चतुर्थ शुक्ल-ध्यान के द्वारा शरीर को नष्ट कर सर्वोत्कृष्ट सिद्ध हो गये। उसी समय निर्वाण-कल्याणक की पूजा की विधि को करने वाले देव आये और पुण्यरूपी पण्य—खरीदने योग्य पदार्थ को लेकर अपने-अपने स्थान पर चले गये।

'क्या यह शरद् ऋतु का पूर्ण चन्द्रमा है, अथव समस्त

पदार्थों को जानने के लिए रक्खा हुआ है, अथवा अमृत का शोभायमान विशाल पिण्ड है अथवा पुण्य परमाणुओं का समूह है' इस प्रकार जिनके सुख-कमल को देखकर लोग शंका किया करते हैं वे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हुए पाप के भय से हमारी रक्षा करें। जिनकी द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार की लेश्याएं कमल की मृणाल के समान सफेद तथा प्रशंसनीय सुशोभित हैं, जिनका मुखरूपी चन्द्रमा रात कुवलय-पृथ्वी-मण्डल अथवा नील कमलों के समूह को हर्षित करता रहता है, जिनके ज्ञानरूपी निर्मल दर्पण में त्रिकाल सम्बन्धी जीवाजीवादि पदार्थ दिखाई देते हैं और जिन्होंने अष्ट कर्मों का समूह नष्ट कर दिया है ऐसे मात्र-लक्ष्मी से सम्पन्न चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबको लक्ष्मी प्रदान करें। जो पहले श्री वर्मा हुए, फिर श्रीधर देव हुए, तदनन्तर अजितसेन हुए, तत्पश्चात अच्युत स्वर्ग के इन्द्र हुए, फिर पद्मनाभ हुए फिर अहमिन्द्र हुए और तदनन्तर अष्टम तीर्थंकर हुए ऐसे चन्द्रप्रभ स्वामी हम सबकी रक्षा करें।

भगवान् पुष्पदन्त

जिन्होंने विशाल तथा निर्मल मोक्षमार्ग में अनेक शिष्यों को लगाया और स्वयं लगे एवं जो सुविधि रूप हैं—उत्तम मोक्षमार्ग को विधि रूप हैं अथवा उत्तम पुण्य से सहित हैं वे सुविधनाथ भगवान् हम सबके लिए सुविधि—मोक्षमार्ग की विधि अथवा उत्तम पुण्य प्रदान करें। पुष्करार्धद्वीप के पूर्व दिग्भाग में जो मेरु पर्वत है उसके पूर्वविदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्पकलावती नाम का एक देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में महापद्म नाम का राजा राज्य करता था। उस राजा ने अपने भुजदण्डों से शत्रुओं के समूह खण्डित कर दिये थे, वह अत्यन्त पराक्रमी था, वह किसी पुराने मार्ग को अपनी वृत्ति के द्वारा नया कर देता था और फिर आगे होने वाले लोगों के लिए वही नया मार्ग पुराना हो जाता था। जिस प्रकार कोई गोपाल अपनी गाय का अच्छी तरह भरण-पोषण कर उसकी रक्षा करता है और गाय द्रवीभूत होकर वड़ी प्रसन्नता के साथ उसे दूध देती हुई सदा संतुष्ट रहती है उसी प्रकार वह राजा अपनी पृथ्वी का भरण-पोषण कर उसकी रक्षा करता था और वह पृथ्वी भी द्रवीभूत हो वड़ी प्रसन्नता के साथ अपने में उत्पन्न होने वाले रत्न आदि श्रेष्ठ पदार्थों के द्वारा उस राजा को संतुष्ट रखती थी।

वह बुद्धिमान् सब लोगों को अपने गुणों के द्वारा अपने में अनुरक्त बनाता था और सब लोग भी सब प्रकार से उस बुद्धिमान् को प्रसन्न रखते थे। उसने मंत्री पुरोहित आदि जिन कर्त्ताओं को नियुक्त किया था तथा उन्हें बढ़ाया था वे सब अपने-अपने उपकारों से उस राजा को बढ़ाते रहते थे। जिस प्रकार मुनियों में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार उस सदाचारी और शास्त्रज्ञान से सुशोभित राजा में अनेक गुण वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे तथा जिस प्रकार संस्कार किये हुए मणि सुशोभित होते हैं उसी प्रकार उस राजा में अनेक गुण सुशोभित हो रहे थे। वह राजा यथायोग्य रीति से विभाग कर अपने आश्रित परिवार के साथ अखण्ड रूप से चिरकाल तक अपनी राज्य-लक्ष्मी का उपभाग करता रहा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष लक्ष्मी को सर्वसाधारण के उपभोग के योग्य समझते हैं। नीति के जानने वाले राजा को इन्द्र और यम के समान कहते हैं परन्तु वह पुण्यात्मा इन्द्र के ही समान था क्योंकि उसकी सब प्रजा गुणवती थी अतः उसके राज्य में कोई दण्ड देने के योग्य नहीं था।

उसके सुख की परम्परा निरन्तर बनी रहती थी और उसके भोगोपभोग के योग्य पदार्थ भी सदा उपस्थित रहते थे अतः विशाल पुण्य का धारी वह राजा अपने सुख के विरह को कभी जानता ही नहीं था। इस प्रकार अपने पुण्य के माहात्म्य से जिसके महोत्सव निरन्तर बढ़ते रहते हैं ऐसे राजा महापद्म ने किसी दिन अपने वनपाल से सुना कि मनोहर नामक उद्यान में महान् ऐश्वर्य के धारक भूतहित नाम के जिनराज स्थित हैं। वह उनकी वन्दना के लिये बड़े वैभव से गया और समस्त जीवों के स्वामी जिनराज की तीन प्रदक्षिणाएं देकर उसने पूजा की, वन्दना की तथा हाथ जोड़कर अपने योग्य स्थान पर बैठकर उनसे धर्मोपदेश सुना। उपदेश सुनने से उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और वह इस प्रकार विचार करने लगा। अनादि कालीन मिथ्यात्व के उदय से दूषित हुआ यह आत्मा, अपने ही आत्मा में अपने ही आत्मा के द्वारा दुःख उत्पन्न कर पागल की तरह अथवा मतवाले की तरह अन्धा हो रहा है तथा किसी भूताविष्ट के समान अविचारी हो रहा है। जो-जो कार्य आत्मा के लिये अहितकारी हैं मोहोदय से यह प्राणी

चिरकाल से उन्हीं का आचरण करता चला आ रहा है। संसाररूपी अटवी में भटक-भटक कर यह मोक्ष के मार्ग से भ्रष्ट हो गया है। इस प्रकार चिन्तवन कर वह संसार से भयभीत हो गया तथा मोक्ष-मार्ग को प्राप्त करने की इच्छा से धनद नामक पुत्र के लिये अपना ऐश्वर्य प्रदान कर संसार से डरने वाले अनेक राजाओं के साथ दीक्षित हो गया। क्रम-क्रम से वह ग्यारह अंगरूपी समुद्र का पारगामी हो गया, सोलह कारण भावनाओं के चिन्तवन में तत्पर रहने लगा और तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध कर अन्त में उसने समाधिमरण धारण किया।

समाधिमरण के प्रभाव से वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। वहाँ वीस सागर की उसकी आयु थी, साढ़े तीन हाथ ऊंचा शरीर था, शुक्ल लेश्या थी, दश-दश माह में श्वास लेता था, वीस हजार वर्ष वाद आहार लेता था, मानसिक प्रवीचार करता था, धूम्रप्रभा पृथ्वी तक उसका अवधिज्ञान था, विक्रिया वल और तेज की सीमा भी उसके अवधिज्ञान की सीमा के वरावर थी तथा अणिमा महिमा आदि आठ उत्कृष्ट गुणों से उसका ऐश्वर्य वढ़ा हुआ था। वहाँ का दीर्घ सुख भोग कर जव वह यहाँ आने के लिये उद्यत हुआ तव इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की काकन्दी नगरी में इक्ष्वाकुवशी काश्यपगोत्री सुग्रीव नाम का क्षत्रिय राजा राज्य करता था। सुन्दरकान्ति को धारण करने वाली जयरामा उसकी पटरानी थी। उस रानी ने देवों के द्वारा अतिशय श्रेष्ठ रत्नवृष्टि आदि सम्मान को पाकर फाल्गुण कृष्ण नवमी के दिन प्रभात काल के समय मूल-नक्षत्र में जव कि उसके नेत्र कुछ-कुछ वाकी वची हुई निद्रा से मलिन हो रहे थे, सोलह स्वप्न देखे। स्वप्न देखकर उसने अपने पति से उनका फल जाना और जानकर वहुत ही हर्षित हुई।

मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा के दिन जैत्रयोग में उस महादेवी ने वह उत्तम पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रों ने देवों के साथ आकर उनका क्षीर सागर के जल से अभिषेक किया, आभूषण पहिनाये और कुन्द के फूल के समान कान्ति से सुशोभित शरीर की दीप्ति से विराजित उन भगवान् का पुष्पदन्त नाम रक्खा। श्री चन्द्रप्रभ भगवान् के वाद जव नव्वें करोड़ सागर का अन्तर वीत चुका था तव श्री पुष्पदन्त भगवान् हुए थे। उनकी आयु भी इसी अन्तर में शामिल थी। दो लाख पूर्व की उनकी आयु थी, सौ धनुष ऊंचा शरीर था और पचास लाख पूर्व तक उन्होंने कुमार-अवस्था के सुख प्राप्त किये थे।

अथानन्तर अच्युतेन्द्रादि देव जिसे पूज्य समझते हैं ऐसा साम्राज्य पाकर उन पुष्पदन्त भगवान् ने इष्ट पदार्थों के संयोग से युक्त सुख का अनुभव किया। उस समय वड़े-वड़े पूज्य पुरुष उनकी स्तुति किया करते थे। सव स्त्रियों से, इन्द्रियों से और इस राज्य से जो भगवान् सुविधिनाथ को सुख मिलता था और भगवान् सुविधिनाथ से उन स्त्रियों को जो सुख मिलता था उन दोनों में विद्वान् लोग किसको वड़ा अथवा वहुत कहें? भगवान् पुण्यावान् रहें किन्तु मैं उन स्त्रियों को भी वहुत पुण्यात्मा समझता हूं क्योंकि मोक्ष का सुख जिनके समीप है ऐसे भगवान् को भी वे प्रसन्न करती थीं—क्रीड़ा कराती थीं वे भगवान् स्वर्ग के श्रेष्ठ सुख-रूपी समुद्र में मग्न रहकर पृथ्वी पर आये थे। इससे कहना पड़ता है कि यथार्थ भोग्य वस्तुएं वही थीं जो कि भगवान् को अभिलाषा उत्पन्न कराती थीं—अभीष्ट लगती थीं।

जो भगवान् अनन्त वार अहमिन्द्र पद पाकर भी उससे संतुष्ट नहीं हुए वे यदि मनुष्य-लोक के सुख से संतुष्ट हुए तो कहना चाहिये कि सव सुखों में यही सुख प्रधान था। इस प्रकार प्रेम-पूर्वक राज्य करते हुए जव उनके राज्य-काल के पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वांक वीत गये तव वे एक दिन दिशाओं का अवलोकन कर रहे थे। उसी समय उल्कापात देखकर उनके मन में इस प्रकार विचार उत्पन्न हुआ कि यह उल्का नहीं है किन्तु मेरे अनादिकालीन महामोह रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाली दीपिका है। इस प्रकार उस उल्का के निमित्त से उन्हें निर्मल आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया। वे स्वयं वुद्ध भगवान् इस निमित्त से प्रतिवुद्ध होकर तत्व का इस प्रकार विचार करने लगे कि आज मैंने स्पष्ट देख लिया कि यह संसार विडम्वना रूप है। कर्म रूपी इन्द्रजालिया ही इसे उलटा कर दिखलाया है। काम, शोक, भय, उन्माद, स्वप्न चोरी आदि से उपद्रुत हुए प्राणी सामने रक्खे हुए असत् पदार्थ को सत् समझने लगते हैं। इस संसार में न तो कोई वस्तु स्थिर है, न शुभ है, न कुछ सुख देने वाली है और न कोई पदार्थ मेरा है, मेरा तो मेरा आत्मा ही है, यह सारा संसार मुझ से जुदा है।

और मैं इससे जुदा हूं, इन दो शब्दों के द्वारा ही जो कुछ कहा जाता है वही सत्य है, फिर भी आश्चर्य है कि मोहोदय से शरीरादि पदार्थों में इस जीव की आत्मीय बुद्धि हो रही है।

शरीरादिक ही मैं हूं मेरा सब सुख शुभ है, नित्य है इस प्रकार अन्य पदार्थों में जो मेरी विपर्यय-बुद्धि हो रही है उसी से मैं अनेक दुःख देने वाले जरा, मरण और मृत्यु रूपी बड़े-बड़े भयंकर इस संसार रूपी समुद्र में भ्रमण कर रहा हूं। ऐसा विचार कर वे राज्य-लक्ष्मी को छोड़ने की इच्छा करने लगे। लौकान्तिक देवों ने उनकी पूजा की। उन्होंने सुमित नामक पुत्र के लिए राज्य का भार सौंप दिया, इन्द्रों ने दीक्षा-कल्याणक कर उन्हें घेर लिया। वे उसी समय सूर्यप्रभा नाम की पालकी में सवार होकर पुष्पकवन में गये और मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन सायं काल के समय बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दूसरे दिन आहार के लिए शैलपुर नामक नगर में प्रविष्ट हुए। वहां सुवर्ण के समान कान्ति वाले पुष्पमित्र राजा ने उन्हें भोजन कराकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था करते हुए उनके चार वर्ष बीत गये। तदनन्तर कार्तिक शुक्ल द्वितीया के दिन सायंकाल के समय मूल नक्षत्र में दो दिन का उपवास लेकर नागवृक्ष के नीचे स्थित हुए और उसी दीक्षावन में घातिया कर्मरूपी पाप कर्मों को नष्ट कर अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हो गये। चतुर्णिकाय देवों के इन्द्रों ने उनके अचिंत्य वैभव की रचना को—समवसरण बनाया और वे समस्त पदार्थों का निरूपण करने दिव्य ध्वनि से सुशोभित हुए। वे सात ऋद्धियों को धारण करने वाले विदर्भ आदि अट्ठासी गणधरों से सहित थे, पन्द्रह सौ श्रुतकेवलियों के स्वामी थे; एक लाख पचपन हजार पांच सौ शिक्षकों के रक्षक थे, आठ हजार सौ अवधि-ज्ञानियों से सेवित थे, सात हजार केवल ज्ञानियो और तेरह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारकों से वेष्टित थे, सात हजार पांच सौ मनःपर्ययज्ञानियों और छह हजार छह सौ वादियों के द्वारा उनके मंगलमय चरणों की पूजा होती थी, इस प्रकार वे सब मिलाकर दो लाख मुनियों के स्वामी थे, घोषार्या को आदि लेकर तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाओं से सहित थे, दो लाख श्रावकों से युक्त थे, पांच लाख श्राविकाओं से पूजित थे, असंख्यात देवों और संख्यात तिर्यन्चों से सम्पन्न थे। इस तरह बारह सभाओं से पूजित भगवान् पुष्पदन्त आर्य देशों में विहार कर सम्मेदशिखर पर पहुंचे और रोग निरोध कर भाद्रशुक्ल अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में सायंकाल के समय एकहजार मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हो गये। देव आये और उनका निर्वाण-कल्याणक कर स्वर्ग चले गये।

जिन्होंने स्वयं चलकर मोक्ष का कठिन मार्ग दूसरों के लिए सरल तथा शुद्ध कर दिया है, जिन्होंने चित्त में उपशम भाव को धारण करने वाले भक्तों के लिए स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग प्राप्त करने को उत्तम विधि बतलाई है, जो मोक्ष-लक्ष्मी के स्वामी हैं, जिनके दांत खिले हुए पुष्प के समान हैं जो स्वयं देदीप्यमान हैं और जिनका मुख दाँतों की कान्ति से सुशोभित हैं ऐसे भगवान् पुष्पदन्त को हम नमस्कार करते हैं। हे देव! आपका शरीर शान्त है, वचन कानों को हरने वाले हैं, चरित्र सब का उपकार करने वाला है और आप स्वयं संसार रूपी विशाल रेगिस्तान बीच में 'सघन' छायादार वृक्ष के समान हैं अतः हम सब आपका ही आश्रय लेते हैं।

जो पहले महापद्म नामक राजा हुए, फिर स्वर्ग में चौदहवें कल्प के इन्द्र हुए और तदन्तर भरतक्षेत्र में महाराज सुविधि नामक नवें तीर्थंकर हुए ऐसे सुविधिनाथ अथवा पुष्पदन्त हम सबको लक्ष्मी प्रदान करें।

भगवान् शीतलनाथ

जिनका कहा हुआ समीचीन धर्म, कर्मरूपी सूर्य की किरणों से संतप्त प्राणियों के लिए चन्द्रमा के समान शीतल है—शान्ति उत्पन्न करने वाला है वे शीतलनाथ भगवान् हम सबके लिए शीतल हों—शान्ति उत्पन्न करने वाले हों। पुष्करवर द्वीप के पूर्वार्ध भाग में जो मेरु पर्वत है उसकी पूर्व दिशा के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नामक देश है। उसके सुसीमा नगर में पद्मगुल्म नाम का राजा राज्य करता था। राजा पद्मगुल्म साम, दान, दण्ड और भेद इन चार उपायों का ज्ञाता था, सहाय, साधनोपाय, देशविभाग, कालविभाग और विनिपात प्रतीकार इन पांच अंगों से निर्णीत संधि और विग्रह-युद्ध के रहस्य को जानने वाला था। उसका राज्य-रूपी

वृक्ष बुद्धि-रूपी जल के सिंचन से खूब वृद्धि को प्राप्त हो रहा था, तथा स्वामी, मंत्री, किला, खजाना, मित्र, देश और सेना इन सात प्रकृति रूपी शाखाओं से विस्तार को प्राप्त होकर धर्म, अर्थ और कामरूपी तीन फलों को निरन्तर फलता रहता था।

वह प्रताप-रूपी वड़वानल की चंचल ज्वालाओं के समूह से अत्यन्त देवीप्यमान था तथा उसने अपने चन्द्रहास खड्ग की धारा जल के समुद्र में समस्त शत्रु राजा रूप-पर्वतों को डुवा दिया था। उस गुणवान् राजा ने देव, बुद्धि और उद्यम के द्वारा स्वयं लक्ष्मी का उपार्जन कर उसे सर्व साधारण के द्वारा उपभोग करने योग्य वना दिया था। साथ ही वह स्वयं भी उसका उपभोग करता था। न्यायोपार्जित धन के द्वारा याचकों के समूह को संतुष्ट करने वाला तथा समस्त ऋतुओं के सुख भोगने वाला राजा पद्मगुल्म जब इस धराचक्र का—पृथ्वीमण्डल का पालन करता था तब उसके समागम की उत्सुकता से ही मानो वसन्त ऋतु आ गई थी। कोकिलाओं और भ्रमरों के मनोहर शब्द ही उसके मनोहर शब्द थे, वृक्षों के लहलहाते हुए पल्लव ही उसके ओंठ थे, सुगन्धि से एकत्रित हुए मत्त भ्रमरों से सहित पुष्प ही उसके नेत्र थे, कुहरा से रहित निर्मल चाँदनी ही उसका हास्य था, स्वच्छ आकाश ही उसका वस्त्र था, सम्पूर्ण चन्द्रमा का मण्डल ही उसका मुख था, मौलिश्री की सुगन्धि से सुवासित मलय समीर ही उसका श्वासोच्छ्वास था और कनेर के फूल ही उसके शरीर को पीत कान्ति थी। कामदेव यद्यपि शरीर रहित था और उसके पास सिर्फ पांच ही वाण थे, तो भी वह राजा पद्मगुल्म को इस प्रकार निष्ठुरता से पीड़ा पहुंचाने लगा जैसे कि अनेक वाणों सहित हो सो ठीक ही है क्योंकि समय का वल पाकर कौन नहीं वलवान् हो जाता है ?

जिसका मन वसन्त-लक्ष्मी ने अपने अधीन कर लिया है तथा जो अनेक सुख प्राप्त करना चाहता है ऐसा वह राजा प्रीति को वढ़ाता हुआ उस वसन्त लक्ष्मी के साथ निरन्तर क्रीड़ा करने लगा। परन्तु जिस प्रकार वायु से उड़ाई हुई मेघमाला कहीं जा छिपती है उसी प्रकार कालरूपी वायु से उड़ाई वह वसन्त-ऋतु कहीं जा छिपी—नष्ट हो गई और उसके नष्ट होने से उत्पन्न हुए दुःख के द्वारा उसका चित्त बहुत ही व्याकुल हो गया। वह विचार करने लगा कि यह काम बड़ा दुष्ट है, यह पापी समस्त संसार को दुःखी करता है और विग्रह-शरीर रहित होने पर भी विग्रही—शरीर सहित (पक्ष में उपद्रव करने वाला) है। मैं उस काम को आज ही ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा भस्म करता हूं। इस प्रकार उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ। वह चन्दन नामक पुत्र के लिए राज्य का भार सौंपकर आनन्द नामक मुनिराज के समीप पहुंचा और समस्त परिग्रह तथा शरीर से विमुख हो गया।

शान्त परिणामों को धारण करने वाले उसने विपाकसूत्र तक सव अंगों का अध्ययन किया, चिरकाल तक तपश्चरण किया, तीर्थंकर नाम-कर्म का वन्ध किया, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आराधनाओं का साधन किया तथा आयु के अन्त में वह समाधिमरण कर आरण नामक पन्द्रहवें स्वर्ग में विशाल वैभव को धारण करने वाला इन्द्र हुआ। वहां उसकी आयु वाईस सागर की थी, तीन हाथ ऊंचा उसका शरीर था, द्रव्य और भाव दोनों ही शुक्ललेश्याएँ थी, ग्यारह माह में श्वास लेता, वाईस हजार वर्ष में मानसिक आहार लेकर संतुष्ट रहता था, लक्ष्मीमान् था, मानसिक प्रवीचार से युक्त था, प्राकाम्य आदि आठ गुणों का धारक था, छठवें नरक के पहले-पटल तक व्याप्त रहने वाले अवधिज्ञान से देदीप्यमान था, उतनी ही दूर तक उसका वल तथा विक्रिया शक्ति थी और वाह्य-विकारों से रहित विशाल श्रेष्ठ सुखरूपी सागर का पारगामी था, इस प्रकार उसने अपनी असंख्यात वर्ष की आयु को काल की कला के समान—एक क्षण के समान विता दिया।

जव उस इन्द्र की आयु छह मास की वाकी रह गई और वह पृथ्वी पर आने के लिए उद्यत हुआ तव जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र सम्वन्धी मलय नामक देश में भद्रपुर नगर का स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा दशरथ राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम सुनन्दा था। कुवेर की आज्ञा से यक्ष जाति के देवों ने छह मास पहले से रत्नों के द्वारा सुनन्दा का घर भर दिया। मानवती सुनन्दा ने भी रात्रि के अन्तिम भाग में सोलह स्वप्न देखकर अपने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। प्रातःकाल राजा से उनका फल ज्ञात किया और उसी समय चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में सद्वृत्तता-सदाचार

इत्यादि गुणों से उपलक्षित वह देव स्वर्ग से च्युत होकर रानी के उदर में उस प्रकार अवतीर्ण हुआ जिस प्रकार कि सद्वृत्तता-गोलाई आदि गुणों से उपलक्षित जल की बूंद शुक्ति के उदर में अवतीर्ण होती है। देवों ने आकर बड़े प्रेम से प्रथम कल्याणक की पूजा की क्रम-क्रम से नव माह व्यतीत होने पर माघकृष्ण द्वादशी के दिन विश्वयोग में पुत्र जन्म हुआ।

उसी समय बहुत भारी उत्सव से भरे देव लोग आकर उस बालक को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहां उन्होंने उसका महाभिषेक किया और शीतलनाथ नाम रक्खा। भगवान पुष्पदन्त के मोक्ष चले जाने के बाद नौ करोड़ सागर का अन्तर बीत जाने पर भगवान शीतलनाथ का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी में सम्मिलित थी। उनके जन्म लेने के पहले पल्य के चौथाई भाग तक धर्म-कर्म का विच्छेद रहा था। भगवान् के शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान थी, आयु एक लाख पूर्व की थी और शरीर नव्वे धनुष ऊंचा था। जब आयु के चतुर्थ-भाग के प्रमाण कुमारकाल व्यतीत हो गया तब उन्होंने अपने पिता का पद प्राप्त किया तथा प्रधान सिद्धि प्राप्त कर प्रजा का पालन किया। गति आदि शुभ नाम कर्म, साता वेदनीय, उत्तम गोत्र और अपघात मरण से रहित तथा तीर्थकर नाम कर्म से सहित आयु-कर्म ये सभी मिलकर उत्कृष्ट अनुभागबन्ध का उदय होने से उनके लिए सब प्रकार के सुख प्रदान करते थे अतः उनके सुख की उपमा किसके साथ दी जा सकती है? इस प्रकार जब उनकी आयु का चतुर्थ भाग शेष रह गया, तथा संसार-भ्रमण अत्यन्त अल्प रह गया तब उनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का अन्त हो गया। महातेजस्वी भगवान् शीतलनाथ किसी समय विहार करने के लिए वन में गये। वहां उन्होंने देखा कि पाले का समूह जो क्षण भर पहले समस्त पदार्थों को ढके हुए था शीघ्र ही नष्ट हो गया है।

इस प्रकरण से उन्हें आत्म-ज्ञान उत्पन्न हो गया और वे इस प्रकार विचार करने लगे कि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण भर में बदलते रहते हैं उन्हीं से यह सारा संसार विनश्वर है। आज मैंने दुःख, दुःखी और दुःख के निमित्त इन तीनों का निश्चय कर लिया। मोह के अनुबन्ध से मैं इन तीनों को सुख, सुखी और सुख का निमित्त समझता रहा। मैं सुखी हूं, यह सुख है और सुख पुण्योदय से फिर भी मुझे मिलेगा' यह बड़ा भारी मोह है जोकि काललब्धि के बिना हो रहा है। कर्म पुण्य रूप हों अथवा न हों, यदि कर्म विद्यमान हैं तो उनसे इस जीव को सुख कैसे मिल सकता है? क्योंकि यह जीव राग-द्वेष तथा अभिलाषा आदि अनेक दोषों से युक्त है। यदि विषयों से ही सुख प्राप्त होता है तो मैं विषयों के अन्त को प्राप्त हूं अर्थात् मुझे सबसे अधिक सुख प्राप्त है फिर मुझे संतोष क्यों नहीं होता। इससे जान पड़ता है कि विषय-सम्बन्धी सुख मिथ्या सुख है।

उदासीनता ही सच्चा सुख है और वह उदासीनता मोह के रहते हुए कैसे हो सकती है? इसलिए मैं सर्व प्रथम इस मोह शत्रु को ही शीघ्रता के साथ जड़-मूल से नष्ट करता हूं। इस प्रकार पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का विचार कर उन्होंने विवेकियों के द्वारा छोड़ने के योग्य और मोही जीवों के द्वारा आदर देने के योग्य अपना सारा साम्राज्य पुत्र के लिए दे दिया। उसी समय आये हुए लौकान्तिकदेव शुक्लप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में पहुंचे। वहां उन्होंने माघकृष्ण द्वादशी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में दो उपवास का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण किया। चार ज्ञान के धारी भगवान् दूसरे दिन चर्या के लिए अरिष्ट नगर में प्रविष्ट हुए। वहां नवधा भक्ति करने वाले पुनर्वसु राजा ने बड़े हर्ष के साथ उन्हें खीर का आहार देकर संतुष्ट देवों के द्वारा प्रदत्त पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष बिताकर वे एक दिन बेल के वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास का नियम लेकर विराजमान हुए। जिससे पौषकृष्ण चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में सायंकाल के समय सुवर्ण समान कान्तिवाले उन भगवान् ने केवल ज्ञान प्राप्त किया। उसी समय देवों ने आकर उनके ज्ञान-कल्याणककी पूजा की। उनकी सभा में सप्त ऋद्धियों को धारण करने वाले अनागार आदि इक्यासी गणधर थे। चौदह सौ पूर्वधारी थे, उनसठ हजार दो सौ शिक्षक थे सात हजार केवलज्ञानी थे, बारह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक मुनि उनकी पूजा करते थे, सात हजार पांच सौ मनःपर्ययज्ञानी उनके चरणों की पूजा करते थे, इस तरह सब मुनियों की संख्या एक लाख थी, धारण आदि तीन ला

अस्सी हजार आर्यिकाएँ उनके साथ थीं, दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएं उनकी अर्चा तथा स्तुति करती थीं, असंख्यात देव-देवियां उनका स्तवन करती थीं और संख्यात तिर्यंच उनकी सेवा करते थे।

असंख्यात देशों में विहार कर धर्मोपदेश के द्वारा बहुत से भव्य मिथ्यादृष्टि जीवों को सम्यक्त्व आदि गुणस्थान प्राप्त कराते हुए वे सम्मेदशिखर पर पहुंचे। वहां एक माह का योग-निरोध कर उन्होंने प्रतिमा योग धारण किया और एक हजार मुनियों के साथ आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में समस्त कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया। अपने शरीर की कान्ति से सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाले इन्द्र पंचम कल्याणक कर तथा शीतलनाथ जिनेन्द्र की स्तुति कर स्वर्ग को चले गये।

जिनका जन्म होते ही संसार इस प्रकार प्रसन्नता को प्राप्त हो गया। जिस प्रकार कि चन्द्रोदय से होता है। समस्त भाई-बन्धुओं के मुख इस प्रकार विकसित हो गये जिस प्रकार कि सूर्य से कमल विकसित हो जाते हैं और याचक लोग इच्छित पदार्थ पाकर बड़े हर्ष से कृतकृत्य हो गये उन देव पूजित, रति तथा तृष्णा को नष्ट करने वाले शीतलनाथ जिनेन्द्र की मैं वन्दना करता हूं—स्तुति करता हूं। दिग्गजों के कपोलमूल से गलते हुए तथा सबको सुगन्धित एवं हर्षित करने वाले मदजल से जिन्होंने ललाट पर अर्धचन्द्राकार तिलक दिया है, जिनके कण्ठ मधुर हैं ऐसी दिवकन्याएं स्वरचित पद्यों के द्वारा जिनकी अत्यन्त उद्दण्ड मोहरूपी शूर-वीर को जीत लेने के गीत गाती हैं उन शीतलनाथ जिनेन्द्र की मैं स्तुति करता हूं। जो पहले सब तरह के गुणों से स्तुत्य पद्मगुल्म नाम के राजा हुए, फिर देवों के द्वारा पूजित आरण स्वर्ग के इन्द्र हुए और तदनन्तर दशम तीर्थंकर हुए उन दयालु तथा सबको शान्त करने वाले श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र को हे भव्य जीवो ! नमस्कार करो।

अथानन्तर श्री शीतलनाथ भगवान् के तीर्थ के अन्तिम भाग में काल दोष से वक्ता, श्रोता और आचरण करने वाले धर्मात्मा लोगों का अभाव हो जाने से समीचीन जैन धर्म का नाश गया। उस समय भद्रिलपुर में मलय देश का स्वामी राजा मेघरथ रहता था, उसके मंत्री का नाम सत्यकीर्ति था। किसी एक दिन राजा मेघरथ सभा-भवन में सिंहासन पर बैठे हुए थे उसी समय उन्होंने धर्म के लिये धन दान करने की इच्छा से सभा में बैठे हुए लोगों से कहा—कि सब दानों में ऐसा कौन-सा दान है कि जिसके देने पर बहुत फल होता हो ? इसके उत्तर में दान के तत्व को जानने वाला मंत्री इस प्रकार कहने लगा—कि श्रेष्ठ मुनियों ने शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान ये तीन प्रकार के दान कहे हैं।

ये दान बुद्धिमानों के लिए पहले-पहले अधिक फल देने वाले हैं अर्थात अन्नदान की अपेक्षा अभयदान का और अभय दान की अपेक्षा शास्त्रदान का बहुत फल है। जो सर्वज्ञ-देव का कहा हुआ हो, पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित हो, हिंसादि पापों को दूर करने वाला हो और प्रत्यक्ष परोक्ष दोनों प्रमाणों से सम्पन्न हो उसे शास्त्र कहते हैं। संसार के दुःखों से डरे हुए सत्पुरुषों का उपकार करने की इच्छा से पूर्वोक्त शास्त्र का व्याख्यान करना शास्त्रदान कहलाता है। मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक तथा तत्वों के स्वरूप को जानने वाला मुनि कर्म-बन्ध के कारणों को छोड़ने की इच्छा से जो प्राणि पीड़ा का त्याग करता है उसे अभयदान कहते हैं। हिंसादि दोषों से दूर रहने वाले ज्ञानी साधुओं के लिए शरीरादि बाह्य साधनों की रक्षा के अर्थ जो शुद्ध आहार दिया जाता है ; उसे आहारदान कहते हैं।

इन आदि और अन्त के दानों के देने तथा लेने वाले दोनों को ही कर्मों की निर्जरा एवं पुण्य कर्म का आस्रव होता है। इस संसार में ज्ञान से बढ़ कर अन्य दान नहीं हो सकता। वास्तव में शास्त्र ही हेय और उपादेय तत्वों को प्रकाशित करने वाला श्रेष्ठ साधन है। शास्त्र का अच्छी तरह व्याख्यान करना, सुनना चिन्तवन करना शुद्ध बुद्धि का कारण है। शुद्ध बुद्धि के होने पर भव्य जीव हेय पदार्थ को छोड़कर और हितकारी पदार्थ को ग्रहण कर व्रती बनते हैं, मोक्ष मार्ग का अवलम्बन लेकर क्रम-क्रम से इन्द्रियों तथा मन को शान्त करते हैं और अन्त में शुक्ल-ध्यान का अवलम्बन लेकर अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त करते हैं। इसलिए सब दानों में शास्त्रदान ही श्रेष्ठ है पाप-कार्यों से रहित है तथा देने और लेने वाले दोनों के लिए ही निजानन्द रूप मोक्ष-प्राप्ति का कारण है। अन्तिम आहारदान में थोड़ा आरम्भ-जन्य पाप करना पड़ता है इसलिए उसकी अपेक्षा अभयदान श्रेष्ठ है। यह जीव इन तीन महादानों

के द्वारा परम पद को प्राप्त होता है। इस प्रकार कहे जाने पर भी राजा ने दान का यह निरूपण स्वीकृत नहीं किया क्योंकि वह कपोतलेश्या के महात्म्य से इन तीन दानों के सिवाय और ही कुछ दान देना चाहता था।

उसी नगर में एक मूर्तिशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था। वह अपनी बुद्धि के अनुसार खोटे-२ शास्त्र बनाकर राजा को प्रसन्न किया करता था। उसके मरने पर उसका मुण्डशालायन नामक पुत्र समस्त शास्त्रों का जानने वाला हुआ। उस समय वह उसी सभा में बैठा हुआ था अतः मंत्री के द्वारा पूर्वोक्त दान का निरूपण समाप्त होते ही कहने लगा। कि वे तीन दान मुनियों के लिए अथवा दरिद्र मनुष्यों के लिए हैं। बड़ी-बड़ी इच्छा रखने वाले राजाओं के लिए तो दूसरे ही उत्तम दान हैं। शाप तथा अनुग्रह करने की शक्ति से सुशोभित ब्राह्मणों के लिए, जब तक चन्द्र अथवा सूर्य हैं तब तक यश का करने वाला पृथ्वी तथा सुवर्णादिका बहुत भारी दान दीजिए। इस दान का समर्थन करने वाला ऋषिप्रणीत शास्त्र भी विद्यमान है, ऐसा कहकर वह अपने घर से अपनी बनाई हुई पुस्तक ले आया और सभा में उसे बचवा दिया। इस प्रकार अभिप्राय को जानने वाले मुण्डशालायन ने अवसर पाकर कुमार्ग का उपदेश दिया और राजा ने उसे बहुत माना—उसका सत्कार किया। देखो, मुण्डशालायन पाप से डरता था, अभद्र था, विषयान्ध था और दुर्बुद्धि था फिर भी राजा परलोक की बड़ी भारी आशा से उस पर अनुरक्त हो गया—प्रसन्न हो गया। किसी समय कार्तिक मास पौर्णमासी के दिन उस दुर्बुद्धि राजा ने शुद्ध होकर बड़ी भक्ति के साथ अक्षतादि पूजा द्रव्यों से मुण्डशालायन की पूजा कर उसे उसके द्वारा कहे हुए भूमि तथा सुवर्णादि के दान दिये। यह देख भक्त मंत्री ने राजा से कहा। अनुग्रह के लिए अपना धन या अपनी कोई वस्तु देना सो दान है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है और इस विषय के जानकार मनुष्य अपने तथा परके उपकार को ही अनुग्रह कहते हैं। पुण्य कर्म की वृद्धि होना परका उपकार है।

स्व शब्द धन का पर्यायवाची है। धन का पात्र के लिए देना स्व दान कहलाता है। यही दान प्रशंसनीय दान है फिर जानते हुए भी आप इस प्रकार कुपात्र के लिए धन दान देकर आप दाता, दान और पात्र तीनों को क्यों नष्ट कर रहे हैं। उत्तम बीज कितना ही अधिक क्यों न हो, यदि ऊसर जमीन में डाला जायेगा तो उससे संक्लेश और बीज नाश-रूप फल के सिवाय और क्या होगा ? कुछ भी नहीं। इसके विपरीत उत्तम बीज थोड़ा भी क्यों न हो, यदि संयम को जानने वाले मनुष्य के द्वारा उत्तम क्षेत्र में बोया जाता है तो बोने वाले के लिए उससे हजार गुना फल प्राप्त होता है। इस प्रकार उस बुद्धिमान एवं भक्त मंत्री ने यद्यपि करोड़ों उदाहरण देकर उस राजा को समझाया परन्तु उससे राजा का कुछ भी उपकार नहीं हुआ। सो ठीक ही है क्योंकि विपरीत बुद्धिवाले मनुष्य के लिए सत्-पुरुषों के वचन ऐसे हैं जैसे कि काल के काटे के लिए मंत्र, जिसकी आयु पूर्ण हो चुकी है उसके लिए औषधि, और जन्म के अन्धे के लिए दर्पण। उस कुमार्गगामी राजा ने प्रारम्भ से ही चले आये दान के मार्ग को छोड़ कर मूर्ख मुण्डशालायन के द्वारा कहे हुए आधुनिक दान के मार्ग को प्रचलित किया। इस प्रकार लौकिक वस्तुओं के लोभी, मूर्तिशर्मा के पुत्र मुण्डशालायन ने श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र के तीर्थ के अन्तिम समय में दरिद्रों को अच्छा लगने वाला—कन्यादान, हस्तिदान सुवर्णदान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान यह दश प्रकार का दान स्वयं ही अच्छी तरह चलाया।

श्री भगवान श्रेयान्सनाथ

जो आश्रय लेने योग्य हैं उनमें श्रेयान्सनाथ को छोड़कर कल्याण के लिए विद्वानों के द्वारा और दूसरा आश्रय लेने योग्य "नहीं है—इस तरह कल्याण के अभिलाषी मनुष्यों के द्वारा आश्रय करने योग्य भगवान् श्रेयांसनाथ हम सबके कल्याण के लिए हों। पुष्करार्ध द्वीप सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्र के सुकच्छ देश में सीता नदी के उत्तर तट पर क्षेमपुर नाम का नगर है। उसमें समस्त दुष्ट शत्रुओं को नम्र करने वाला तथा प्रजा के अनुराग से प्राप्त अचिन्त्य महिमा का आश्रयभूत नलिनप्रभ नाम का राजा राज्य करता था। पृथक्-पृथक् तीन भेदों के द्वारा जिनका निर्णय किया गया है ऐसी शक्तियों, सिद्धियों और उदयों से जो अभ्युदय को प्राप्त है तथा शान्ति और परिश्रम से जिसे क्षेम और योग प्राप्त हुए हैं ऐसा यह राजा सदा बढ़ता रहता था। वह राजा न्याय पूर्वक प्रजा का पालन

करता था स्नेह पूर्ण पृथ्वी को मर्यादा में स्थित कर उसका भूभृत्यपना सार्थक था।

समीचीन मार्ग में चलने वाले उस श्रेष्ठ राजा में धर्म ही था, किन्तु अर्थ तथा काम भी धर्म-युक्त थे। अतः वह धर्ममय ही था। इस प्रकार स्वकृत पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त सुख की खान स्वरूप यह राजा लोकपाल के समान इस समस्त पृथ्वी का दीर्घकाल तक पालन करता रहा। एक दिन वनपाल से उसे मालूम हुआ कि सहस्राभ्रवन में अनन्त जिनेन्द्र अवतीर्ण हुए हैं तो वह अपने समस्त परिवार से युक्त होकर सहस्राभ्रवन में गया। वहाँ उसने जिनेन्द्र देव की पूजा की, चिरकाल तक स्तुति की, नमस्कार किया और फिर अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। तदनन्तर धर्मोपदेश सुनकर उसे तत्वज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे इस प्रकार चिन्तवन करने लगा कि किस का कहां किसके द्वारा किस प्रकार किससे और कितना कल्याण हो सकता है यह न जान कर मैंने खेद-खिन्न होते हुए अनन्त जन्मों में भ्रमण किया है। मैंने जो बहुत प्रकार का परिग्रह इकट्ठा कर रखा है वह मोह वश ही किया है इसलिये इसके त्याग से यदि निर्वाण प्राप्त हो सकता है, तब समय बिताने में क्या लाभ है?

ऐसा विचार कर उसने गुणों से सुशोभित सुपुत्र नामक पुत्र के लिए राज्य देकर बहुत से राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध किया और आयु के अन्त में समाधिमरण कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में अच्युत नाम का इन्द्र हुआ। वहां बाईस सागर प्रमाण उसकी आयु थी, तीन हाथ ऊंचा शरीर था, और ऊपर जिनका वर्णन आ चुका है ऐसी लेश्या आदि से सहित था। दिव्य भावों को धारण करने वाली सुन्दर देवियों के साथ उसने बहुत समय तक प्रतिदिन उत्तम से उत्तम सुखों का बड़ी प्रीति से उपभोग किया। कल्पातीत-सोलहवें स्वर्ग के आगे के अहमिन्द्र विराग हैं—राग रहित है और अन्य देव अल्प सुखवाले हैं इसलिये संसार के सबसे अधिक सुखों से संतुष्ट होकर वह अपनी आयु व्यतीत करता था। वहाँ के सुख भोगकर जब वह यहां आने के लिए उद्यत हुआ तब इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सिंहपुर नगर का स्वामी इक्ष्वाकु वंश से प्रसिद्ध विष्णु नाम का राजा राज्य करता था। उसकी वल्लभाका नाम सुनन्दा था। सुनन्दा ने गर्भधारण के छह माह पूर्व से ही रत्नवृष्टि आदि कई तरह की पूजा प्राप्त की थी।

ज्येष्ठ कृष्ण षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में प्रातःकाल के समय उसने स्वप्न तथा अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी को देखा। पति से उनका फल जानकर वह बहुत ही हर्ष को प्राप्त हुई। उसी समय इन्द्रों ने आकर गर्भ-कल्याणक का महोत्सव किया। उत्तम सन्तान को धारण करने वाली सुनन्दा ने पूर्वोक्त विधि से नौ माह बिता कर फाल्गुनकृष्ण एकादशी के दिन विष्णुयोग में तीन ज्ञानों के धारक तथा महाभाग्यशाली उस पुत्र को उत्पन्न किया जिस प्रकार कि मेघमाला उत्तम वृष्टि को उत्पन्न करती है। जिस प्रकार शरद-ऋतु के आने पर सब जगह के जलाशय शीघ्र ही प्रसन्नस्वच्छ हो जाते हैं उसी प्रकार उनका जन्म होते ही सब जीवों के मन प्रसन्न हो गये थे—हर्ष से भर गये थे। भगवान् का जन्म होने पर याचक लोग धन पाकर हर्षित हुए थे, धनी लोग दीन मनुष्यों को संतुष्ट करने से हर्षित हुये थे और वे दोनों इष्ट भोग पाकर सुखी हुये थे। उस समय सब जीवों को सुख-देनेवाली समस्त ऋतुएँ मिलकर अपने-अपने मनोहर भावों से प्रकट हुई थीं।

बड़ा आश्चर्य था कि उस समय भगवान् का जन्म होने पर रोगी मनुष्य नीरोग हो गये थे, शोकवाले शोकरहित हो गये थे। जब उस समय साधारण मनुष्यों को इतना संतोष हो रहा था तब माता-पिता के संतोष का प्रमाण कौन बता सकता है? शीघ्र ही चारों निकाय के देव अपने शरीर तथा आभरणों की प्रभा के समूह से समस्त संसार को तेजोमय करते हुए चारों ओर से आ गये। मनोहर दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्प-वर्षाएं होने लगीं, देव-नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं और स्वर्ग के गवैया मधुर गान गाने लगे। 'यह लोक देव लोक है अथवा उससे भी अधिक वैभव को धारण करने वाला कोई दूसरा ही लोक है' इस प्रकार देवों के शब्द निकल रहे थे। सौधर्मेन्द्र ने स्वयं उत्तम आभूषणादि से भगवान् के माता-पिता को संतुष्ट किया और इन्द्राणी ने माया से माता को संतुष्ट कर जिन-बालक को उठा लिया।

श्री धरणेंद्र जिन-बालक को ऐरावत हाथी के कन्धे पर विराजमान कर देवों की सेना के साथ लीला-पूर्वक महा-तेजस्वी

महामेरु पर्वत पर पहुंचा। वहां उसने पंचम क्षीर समुद्र से लाये हुए क्षीर रूप जल के कलशों के समूह से भगवान का अभिषेक किया, आभूषण पहिनाये और बड़े हर्ष के साथ उनका नाम श्रेयांस रखा। इन्द्र मेरु पर्वत से लौटकर नगर में आया और जिन-बालक को माता की गोद में रख, देवों के साथ उत्सव मनाता हुआ स्वर्ग चला गया। जिस प्रकार किरणों के द्वारा क्रम-क्रम से कान्ति को पुष्ट करने वाले बालचन्द्रमा के अवयव बढ़ते रहते हैं उसी प्रकार गुणों के साथ-साथ उस समय भगवान के शरीरावयव बढते रहते थे। शीतलनाथ भगवान के मोक्ष जाने के बाद जब सौ सागर और छयासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष कम एक सागर प्रमाण अन्तराल बीत गया तथा आधा पल्य तक धर्म परम्परा टूटी रही तब भगवान श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी। उनकी कुल आयु चौरासी लाख वर्ष की थी। शरीर सुवर्ण के समान कान्ति वाला था, ऊंचाई अस्सी धनुष की थी, तथा स्वयं बल, ओज और तेज के भंडार थे। जब उनकी कुमारावस्था के इक्कीस लाख वर्ष बीत चुके तब सुख के सागर स्वरूप भगवान् ने देवों के द्वारा पूजिनीय राज्य प्राप्त किया। उस समय सब लोग उन्हें नमस्कार करते थे, वे चन्द्रमा के समान सबको संतृप्त करते थे और अहंकारी मनुष्यों को सूर्य के समान संतापित करते थे। उन भगवान ने महामणि के समान अपने आपको तेजस्वी बनाया था, समुद्र के समान गम्भीर किया था, चन्द्रमा के समान शीतल बनाया था और धर्म के समान चिरकाल तक कल्याणकारी श्रुत-स्वरूप बनाया था। पूर्व जन्म में अच्छी तरह किये हुए पुण्य कर्म से उन्हें सर्व प्रकार की सम्पदाएं तो स्वयं प्राप्त हो गई थीं अतः उनको बुद्धि और पौरुष की व्याप्ति सिर्फ धर्म और काम में ही रहती थी। भावार्थ—उन्हें अर्थ की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। देवों के द्वारा किये पुण्यानुबन्धी शुभ विद्वानों में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते हुए उनके दिन व्यतीत हो रहे थे।

इस प्रकार बयालीस वर्ष तक उन्होंने राज्य किया। तदनन्तर किसी दिन बसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर वे विचार करने लगे कि जिस काल ने इस समस्त संसार को ग्रस्त कर रक्खा है वह काल भी क्षण घड़ी आदि के परिवर्तन से व्यतीत होता जा रहा है तब अन्य किस पदार्थ से स्थिरता रह सकती है? यथार्थ में यह समस्त संसार विनश्वर है, जब तक शाश्वत पद-अविनाशी मोक्ष पद नहीं प्राप्त कर लिया जाता है तब तक एक जगह सुख से कैसे रहा जा सकता है? भगवान् ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उसी समय सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की। उन्होंने श्रेयस्कर पुत्र के लिए राज्य दिया, इन्द्रों के द्वारा दीक्षा-कल्याणक के समय होने वाला महाभिषेक प्राप्त किया और देवों के द्वारा उठाई जाने के योग्य विमलप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर मनोहर नामक महान् उद्यान की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुंच कर उन्होंने दो दिन के लिए आहार का त्याग कर फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन प्रातः काल के समय श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें चौथा मनः पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दूसरे दिन उन्होंने भोजन के लिए सिद्धार्थ नगर में प्रवेश किया। वहां उनके लिये सुवर्ण के समान कान्तिवाले उस राजा ने भक्ति-पूर्वक आहार दिया जिससे उत्तम बुद्धि वाले उस राजा ने श्रेष्ठ पुण्य और पंचाश्चय प्राप्त किये। इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था के दो वर्ष बीत जाने पर एक दिन महामुनि श्रेयांसनाथ मनोहर नामक उद्यान में दो दिन के उपवास का नियम लेकर तुम्बुर वृक्ष के नीचे बैठे और वहीं पर उन्हें माघकृष्ण अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय अनेक ऋद्धियों से सहित चार निकाय के देवों ने उनके चतुर्थ कल्याणक की पूजा की।

भगवान श्रेयांसनाथ, सतहत्तर गणधरों के समूह से घिरे हुए थे, तेरह सौ पूर्व धारियों से सहित थे, अड़तालीस हजार दो सौ उत्तम शिक्षक मुनियों के द्वारा पूंजित थे, छह हजार अवधिज्ञानियों से सम्मानित थे, छह हजार पांच सौ केवलज्ञान रूपी सूर्यों से सहित थे, ग्यारह हजार विक्रिया-ऋद्धि के धारकों से सुशोभित थे, छह हजार मनः पर्ययज्ञानियां से युक्त थे, और पांच हजार मुख्य वादियों से सेवित थे। इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी हजार मुनियों से सहित थे। इनके सिवाय एक लाख बीस हजार धारणा आदि आर्यिकाएं उनकी पूजा करती थीं, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएं उनके साथ थीं, पहले कहे अनुसार असंख्यात देव-देवियां और संख्यात तिर्यंच सदा उनके साथ रहते थे। इस

प्रकार विहार करते और धर्म का उपदेश देते हुए वे सम्मेद-शिखर पर जा पहुंचे। वहाँ एक माह तक योग-निरोध कर एक हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया। श्रावण शुक्ला पौर्णमासी के दिन सायंकाल के समय धनिष्ठा नक्षत्र में विद्यमान कर्मों की असंख्यातगुण श्रेणी निर्जरा की और अ इ उ ऋ लृ इन पांच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय में अन्तिम दो शुक्लध्यानों से समस्त कर्मों को नष्ट कर पंचम गति में स्थित हो वे भगवान् श्रेयांसनाथ मुक्त होते हुए सिद्ध हो गये। इसके विना हमारा टिमकाररहितपना व्यर्थ है ऐसा विचार कर देवों ने उसी समय उनका निर्वाण कल्याणक किया और उत्सव कर सब स्वर्ग चले गये।

जिनके ज्ञान ने उत्पन्न होते ही समस्त अन्धकार को नष्ट कर सब चराचर विश्व को देख लिया था, और कोई प्रतिपक्ष न होने से जो अपने ही स्वरूप में स्थित रहा था ऐसे श्री श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र तुम सबका अकल्याण दूर करें। हे प्रभो! आपके वचन सत्य, सबका हित करने वाले तथा दयामय हैं। इसी प्रकार आपका समस्त चरित्र सुहृत् जनों के लिए हितकारी है। हे भगवन्! आपकी ये दोनों वस्तुएं परम विशुद्धि को प्रकट करती हैं। हे देव! इसीलिए इन्द्र आदि देव भक्ति-पूर्वक आपका ही आश्रय लेते हैं। इस प्रकार विद्वान् लोग जिनकी स्तुति किया करते हैं ऐसे श्रेयांसनाथ भगवान् तुम सबके कल्याण के लिए हों। जो पहले पाप की प्रभा को नष्ट करने वाले श्रेष्ठतम नलिनप्रभ राजा हुए, तदनन्तर अन्तिम कल्प में संकल्प मात्र से प्राप्त होने वाले सुखों की खान स्वरूप, समस्त देवों के अधिपति—अच्युतेन्द्र हुए और फिर त्रिलोकपूजित तीर्थंकर होकर कल्याणकारी स्याद्वादका उपदेश देते हुए मोक्ष को प्राप्त हुए ऐसे श्रीमान् श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र तुम सबकी लक्ष्मी के लिए हों—तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करें।

जिस प्रकार चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती भरत हुआ उसी प्रकार श्रेयांसनाथ के तीर्थ में तीन खण्ड को पालन करने वाले नारायणों में उद्यमी प्रथम नारायण हुआ। उसी का चरित्र तीसरे भव से लेकर कहता हूं। यह उदय तथा अस्त होने वाले राजाओं का एक अच्छा उदाहरण है। इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक मगध नाम का देश है उसमें राजगृह नाम का नगर है जो कि इन्द्रपुरी से भी उत्तम है। स्वर्ग से आकर उत्पन्न होने वाले राजाओं का यह घर है इसलिए भोगोपभोग की सम्पत्ति की अपेक्षा उसका 'राजगृह' यह नाम सार्थक है। किसी समय विश्वभूति राजा उस राजगृह नगर का स्वामी था, उसकी रानी का नाम जैनी था। इन दोनों के एक पुत्र था जो कि सबके लिए आनन्ददायी स्वभाव वाला होने के कारण विश्वनन्दी नाम से प्रसिद्ध था। विश्वभूति के विशाखनन्दी नाम का छोटा भाई था, उसकी स्त्री का नाम लक्ष्मणा था और उन दोनों के विशाखनन्दी नाम का पुत्र था। विश्वभूति अपने छोटे भाई को राज्य सौंपकर तपके लिए चला गया और समस्त राजाओं को नम्र बनाता हुआ विशाखभूति प्रजा का पालन करने लगा। उसी राजगृह नगर में नाना गुफाओं, लताओं और वृक्षों से सुशोभित एक नन्दन नाम का बाग था जो कि विश्वनन्दी को प्राणों से अधिक प्यारा था। विशाखभूति के पुत्र ने वनवालों को डांटकर जबर्दस्ती वह वन ले लिया जिससे उन दोनों—विश्वनन्दी और विशाखनन्दी में युद्ध हुआ।

विशाखनन्दी उस युद्ध को नहीं सह सका अतः भाग खड़ा हुआ। यह देखकर विश्वनन्दी को वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह विचार करने लगा कि इस मोह को धिक्कार है। वह सबको छोड़कर सम्भूत गुरु के समीप आया और काका विशाखभूति को अग्रगामी बनाकर अर्थात् उसे साथ लेकर दीक्षित हो गया। वह शील तथा गुणों से सम्पन्न होकर अनशन तप करने लगा तथा विहार करता हुआ एक दिन मथुरा नगरी में प्रविष्ट हुआ। वहां एक छोटे बछड़े वाली गाय ने क्रोध से धक्का दिया जिससे वह गिर पड़ा। दुष्टता के कारण राज्य से बाहर निकाला हुआ मूर्ख विशाखनन्दी अनेक देशों में घूमता हुआ उसी मथुरा नगरी में आकर रहने लगा था। वह उस समय एक वेश्या के मकान की छत पर बैठा था। वहां से उसने विश्वनन्दी को गिरा हुआ देखकर क्रोध से उसकी हंसी की कि तुम्हारा वह पराक्रम आज कहां गया? विश्वनन्दी को कुछ शल्य थी अतः उसने विशाखनन्दी की हंसी सुनकर निदान किया। तथा प्राणक्षय होने पर महाशुक्ल स्वर्ग में जहां कि पिता का छोटा भाई उत्पन्न हुआ

था, देव हुआ। वहां सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी। समस्त आयु भर देवियों और अप्सराओं के समूह के साथ मनचाहे भोग भोगकर वहां से च्युत हुआ और इस पृथ्वी तल पर जम्बू द्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र के सुरम्य देश में पोदनपुर नगर के राजा प्रजापति की प्राणप्रिया मृगावती नाम की महादेवी के शुभ स्वप्न देखने के बाद त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। काका का जीव भी वहां से--महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर इसी नगरी के राजा की दूसरी पत्नी जयावती के विजय नाम का पुत्र हुआ। और विशाखनन्दी चिरकाल तक संसार-चक्र में भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी की अलका नगरी के स्वामी मयूरग्रीव राजा के अपने पुण्योदय से शत्रु राजाओं को जीतने वाला अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ। इधर विजय और त्रिपृष्ठ दोनों ही प्रथम बलभद्र तथा नारायण थे, उनका शरीर अस्सी धनुष ऊंचा था और चौरासी लाख वर्ष की उनकी आयु था। विजय का शरीर शंख के समान सफेद था और त्रिपृष्ठ का शरीर इन्द्रनीलमणि के समान नील था। वे दोनों उद्दण्ड, अश्वग्रीव को मारकर तीन खण्डों से शोभित पृथ्वी के अधिपति हुए थे। वे दोनों ही सोलह हजार मुकुट-बद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यन्तर देवों के अधिपत्य को प्राप्त हुए थे। त्रिपृष्ठ के धनुष, शंख, चक्र, दण्ड, असि, शक्ति और गदा ये सात रत्न थे जो कि देवों से सुरक्षित थे।

बलभद्र के भी गदा, रत्नमाला, मूसल और हल, ये चार रत्न थे जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तप के समान लक्ष्मी को बढ़ाने वाले थे। त्रिपृष्ठ की स्वयंप्रभा को आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियाँ थीं और बलभद्र के चित्त को प्रिय लगने वाली आठ हजार स्त्रियां थीं। बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह को धारण करने वाला त्रिपृष्ठ नारायण उन स्त्रियों के साथ चिरकाल तक रमण कर सातवीं पृथ्वी को प्राप्त हुआ--सप्तम नरक गया। इसी प्रकार अश्वग्रीव प्रतिनारायण भी सप्तम नरक गया। बलभद्र ने भाई के दुःख से दुःखी होकर उसी समय सुवर्णकुम्भ नामक योगिराज के पास संयम धारण कर लिया और क्रम-क्रम से अनगारकेवली हुआ। देखो, त्रिपृष्ठ और विजय ने साथ ही साथ राज्य किया, और चिरकाल तक अनुपम सुख भोगे परन्तु नारायण-त्रिपृष्ठ समस्त दुःखों के महान् गृह स्वरूप सातवें नरक में पहुंचा और बलभद्र सुख के स्थानभूत त्रिलोक के अग्रभाग पर जाके अधिष्ठित हुआ इसलिए, प्रतिकूल रहने वाले इस दुष्ट कर्म को धिक्कार हो। जब तक इस कर्म को नष्ट नहीं कर दिया जावे तब तक इस संसार में सुख का भागी कौन हो सकता है? त्रिपृष्ठ, पहले तो विश्वनन्दी नाम का राजा हुआ फिर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ, फिर त्रिपृष्ठ नाम का अर्धचक्री-नारायण हुआ और फिर पापों का संचय कर सातवें नरक गया। बलभद्र, पहले विशाखभूति नाम का राजा था फिर मुनि होकर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ, वहां से चयकर विजय नाम का बलभद्र हुआ और फिर संसार को नष्ठ कर परमात्म-अवस्था को प्राप्त हुआ। प्रतिनारायण पहले विशाखनन्दी हुआ, फिर प्रताप रहित हो मरकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहा, फिर अश्वग्रीव नाम का विद्याधर हुआ जो कि त्रिपृष्ठ नारायण का शत्रु होकर अधोगति--नरक गति को प्राप्त हुआ।

भगवान् वासुपूज्य

जो वासु अर्थात् इन्द्र के पूज्य हैं अथवा महाराज वसुपूज्य के पुत्र हैं और सज्जन लोग जिनकी पूजा करते हैं ऐसे वासुपूज्य भगवान् अपने ज्ञान से हम सबको पवित्र करें। पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का एक देश है। उसके अतिशय प्रसिद्ध रत्नपुर नगर में पद्मोत्तर नाम का राजा राज्य करता था। उस राजा की गुणमयी कीर्ति सबके वचनों में रहती थी, पुण्यमयी मूर्ति सबके नेत्रों में रहती थी, और धर्ममयी वृत्ति सबके चित्त में रहती थी। उसके वचनों में शान्ति थी, चित्त में दया थी, शरीर में तेज था, बुद्धि में नीति थी, दान में धन था, जिनेन्द्र भगवान् में भक्ति थी और शत्रुओं में प्रताप था अर्थात् अपने प्रताप से शत्रुओं का नष्ट करता था। जिस प्रकार न्यायमार्ग से चलने वाले मुनि में समितियां बढ़ती रहती हैं उसी प्रकार न्यायमार्ग से चलने वाले उस राजा के पृथ्वी का पालन करते समय प्रजा खूब बढ़ रही थी। उसके गुण ही धन था तथा उसकी लक्ष्मी भी गुणों से प्रेम करने वाली थी इसलिए वह उस लक्ष्मी के साथ बिना किसी प्रतिबन्ध के विशाल सुख प्राप्त करता रहता था।

किसी एक दिन मनोहर नाम के पर्वत पर युगन्धर जिनराज विराजमान थे। पद्मोत्तर राजा ने वहां जाकर भक्तिपूर्वक अनेक स्तोत्रों से उनकी उपासना की। विनयपूर्वक धर्म सुना और अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन किया। अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन से उसे संसार, शरीर और भोगों से तीन प्रकार का वैराग्य उत्पन्न हो गया। वैराग्य होने पर वह इस प्रकार पुनः चिन्तवन करने लगा। कि यह लक्ष्मी माया रूप है, सुख दुःख रूप है, जीवन मरण पर्यन्त है, संयोग-वियोग होने तक है और यह दुष्ट शरीर रोगों से सहित है। अतः इन सबमें क्या प्रेम करना है ? अब तो मैं उपस्थित हुई इस काललब्धि का अवलम्बन लेकर अत्यन्त भयानक इस संसार रूपी पंच परावर्तनो से बाहर निकलता हूं। ऐसा विचार कर उसने राज्य का भार धनमित्र नामक पुत्र के लिए सौंपा और स्वयं आत्म-शुद्धि के लिए अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। निर्मल बुद्धि के धारक पद्मोत्तर मुनि ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं रूप सम्पत्ति के प्रभाव से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया और अन्त में संन्यास धारण किया। जिससे महाशुक्र विमान में महाशुक्र नाम का इन्द्र हुआ। सोलह सागर प्रमाण उसकी आयु थी और चार हाथ ऊंचा शरीर था। पद्मोलेश्या थी, आठ माह में एक बार श्वास लेता था, सदा सन्तुष्टचित्त रहता था और सोलह हजार वर्ष बीतने पर एक बार मानसिक आहार लेता था। सदा शब्द से ही प्रवीचार करता था अर्थात् देवांगनाओं के मधुर शब्द सुनने मात्र से उसकी कामबाधा शान्त हो जाती थी, चतुर्थ पृथ्वी तक उसके अवधिज्ञान का विषय था, और चतुर्थ पृथ्वी तक ही उसकी विक्रिया बल और तेज की अवधि थी। वहां देवियों के मधुर वचन, गीत, बाजे आदि से वह सदा प्रसन्न रहता था। अन्त में काल द्रव्य की पर्यायों से प्रेरित होकर जब वह यहां आने वाला हुआ।

तब इस जम्बू द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के चम्पा नगर में वसुपूज्य नाम का अंगदेश का राजा रहता था। वह इक्ष्वाकुवंशी तथा काश्यपगोत्री था। उसकी प्रिय स्त्री का नाम जयावती था। वे जयावती ने रत्नवृष्टि आदि सम्मान प्राप्त किया था। तदनन्तर उसने आषाढ़कृष्ण षष्ठी के दिन चौबीसवें शतभिषा नक्षत्र में सोलह स्वप्न देखे और पति से उनका फल जानकर बहुत ही सन्तोष प्राप्त किया। क्रम-क्रम से आठ माह बीत जाने पर जब नौवां फाल्गुन माह आया तब उसने कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन वारुण योग में सब प्राणियों का हित करने वाले उस इन्द्ररूप पुत्र को सुख से उत्पन्न किया। सौधर्म आदि देवों ने उसे सुमेरु पर्वत पर लेजाकर घड़ों द्वारा क्षीर-सागर से लाये हुए जल के द्वारा उसका जन्माभिषेक किया, आभूषण पहनाये, वासुपूज्य नाम रक्खा, घर वापिस लाये और अनेक महोत्सव कर अपने-अपने निवास-स्थानों की ओर गमन किया। श्री श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के तीर्थ से जब चौवन सागर प्रमाण अन्तर बीत चुका था और अन्तिम पल्य के तृतीय भाग में जब धर्म विच्छेद हो गया था तब वासुपूज्य भगवान् का जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी अन्तर में सम्मिलित थी, वे सत्तर धनुष ऊंचे थे बहत्तर लाख वर्ष की उनकी आयु थी और कुंकुम के समान उनके शरीर की कान्ति थी। जिस प्रकार मेंडकों द्वारा आस्वादन करने योग्य अर्थात् सजल क्षेत्र अठारह प्रकार के इष्टधान्यों के बीजों की वृद्धि का कारण होता है उसी प्रकार यह राजा गुणों की वृद्धि का कारण था।

जिस प्रकार संसार का हित करने वाले सब प्रकार के धान्य, समा नाम की इच्छित वर्षा को पाकर श्रेष्ठ फल देने वाले होते हैं उसी प्रकार समस्त गुण इस राजा की वृद्धि को पाकर श्रेष्ठ फल देने वाले हो गये थे। सात दिन तक मेघों का बरसना त्रय कहलाता है, अस्सी दिन तक बरसना कणशीकर कहलाता है और बीच-बीच में आतप-धूप प्रकट करने वाले मेघों का साठ दिन तक बरसना समावृष्टि कहलाती है। गुण. अन्य हरि-हीरादिक में जाकर अप्रधान हो गये थे परन्तु इन वासुपूज्य भगवान् में वही गुण मुख्यता को प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि विशिष्ट आश्रय किसकी विशेषता को नहीं करते ? चूंकि सब पदार्थ गुणमय हैं—गुणों से तन्मय हैं अतः गुण का नाश होने से गुणी पदार्थ का भी नाश हो जावेगा यह विचार कर ही बुद्धिमान वासुपूज्य भगवान् समस्त गुणों का अच्छी तरह पालन करते थे। जब कुमार काल के अठारह लाख वर्ष बीत गये तब संसार से विरक्त होकर बुद्धिमान् भगवान् अपने मन में पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का इस प्रकार विचार करने लगे।

यह निर्बुद्धि प्राणी विषयों में आसक्त होकर अपनी आत्मा को अपने ही द्वारा बांध लेता है तथा चार प्रकार के बन्ध से चार प्रकार का दुःख भोगता हुआ इस अनादि संसार-वन में भ्रमण कर रहा है। अब मैं कालादि लब्धियों से उत्तम गुण को प्रकट करने वाले सन्मार्ग को प्राप्त हुआ हूं अतः मुझे मोक्ष रूप सद्गति ही प्राप्त करना चाहिए। शरीर भला ही स्थायी हो, दर्शनीय-सुन्दर हो, नीरोग हो, आयु चिरकाल तक बाधा से रहित हो, और सुख के साधन निरन्तर मिलते रहें परन्तु यह निश्चित है कि इन सबका वियोग अवश्यंभावी है, यह इन्द्रियजन्य सुख रागरूप है, रागी जीव कर्मों को बांधता है, बन्ध ससार का कारण है, संसार चतुर्गति रूप है और चारों गतियां दुःख तथा सुख को देने वाली हैं अतः मुझे इस ससार से क्या प्रयोजन है? यह तो बुद्धिमानों के द्वारा छोड़ने योग्य ही है।

इधर भगवान् ऐसा चिन्तवन कर रहे थे उधर लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति करना प्रारम्भ कर दी। देवों ने दीक्षा-कल्याणक के समय होने वाला अभिषेक किया, आभूषण पहिनाये तथा अनेक उत्सव किये। महाराज वासुपूज्य देवों के द्वारा उठाई गई पालकी पर सवार होकर मनोहरोद्यान नामक वन में गये और वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सामायिक नामक चारित्र ग्रहण कर साथ ही साथ मनःपर्ययज्ञान के धारक भी हो गये। उनके साथ परमार्थ को जानने वाले छह सौ छिहत्तर राजाओं ने भी बड़े हर्ष से दीक्षा प्राप्त की थी। दूसरे दिन उन्होंने आहार के लिए महानगर में प्रवेश किया। वहाँ सुवर्ण के समान कान्ति वाले सुन्दर नाम के राजा ने उन्हें आहार दिया। और पंचाश्चर्य प्राप्त किये। तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीत जाने पर किसी दिन वासुपूज्य स्वामी अपने दीक्षावन में आये। वहां उन्होंने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर उपवास का नियम लिया और माघशुक्ल द्वितीया के दिन सायंकाल के समय विशाख नक्षत्र में चार घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान प्राप्त किया। अब वे जिनराज हो गये।

सौधर्म आदि इन्द्रों ने उसी समय आकर उनकी पूजा की। चूंकि भगवान् का वह दीक्षा-कल्याणक नाम कर्म के उदय से हुआ था अतः उसका विस्तार के साथ वर्णन नहीं किया जा सकता। वे धर्म को आदि लेकर छयासठ गधरों के समूह से वन्दित थे, बारह सौ पूर्वधारियों से घिरे रहते थे, उनतालीस हजार दो सौ शिक्षक उनके चरणों की स्तुति करते थे, पांच हजार चार सौ अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे, छह हजार केवल ज्ञानी उनके साथ थे, दश हजार विक्रिया ऋद्धि को धारण करने वाले मुनि उनकी शोभा बढ़ा रहे थे, छह हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके चरण-कमलों का आदर करते थे और चार हजार दो सौ वादी उनकी उत्तम प्रसिद्धि को बढ़ा रहे थे। इस प्रकार सब मिलकर बहत्तर हजार मुनियों से सुशोभित थे, एक लाख छह हजार सेना आदि आर्यिकाओं को धारण करते थे, दो लाख श्रावकों से सहित थे, चार लाख श्राविकाओं से युक्त थे, असंख्यात देव-देवियों से स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यंचों से स्तुत्य थे।

भगवान् ने इन सब के साथ समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार कर उन्हें धर्म वृष्टि से संतृप्त किया और क्रम-क्रम से चम्पा नगरी में आकर एक हजार वर्ष तक रहे। जब आयु में एक मास शेष रह गया तब योग-निरोध कर रजत-मालिका नामक नदी के किनारे की भूमि पर वर्तमान, मन्दर गिरि की शिखर को सुशोभित करने वाले मनोहरोद्यान में पर्यंकासन से स्थित हुए तथा भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चौरानवें मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए। सेवा करने में अत्यन्त निपुण देवों ने निर्वाण कल्याणक की पूजा के बाद बड़े उत्सव से भगवान् की वन्दना की। जबकि विजय की इच्छा रखने वाले राजा को, अच्छी तरह प्रयोग में लाये हुए सन्धि-विग्रह आदि छह गुणों से ही सिद्धि (विजय) मिल जाती है तब मोक्षाभिलाषी भगवान् को चौरासी लाख गुणों से सिद्धि (मुक्ति) क्यों नहीं मिलती? अवश्य मिलती।

पदार्थ कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, कथंचित् सत्-असत् उभयरूप है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् असत् अवक्तव्य है और कथंचित् सदसद्-वक्तव्य है, इस प्रकार हे भगवान्, आपने प्रत्येक पदार्थ के प्रति सप्तभंगी का निरूपण किया है और इसीलिए आप सत्यवादी रूप से प्रसिद्ध हैं फिर हे वासुपूज्य देव! आप पूज्य क्यों न हों? अवश्य हों। धर्म दया रूप है, परन्तु वह दयारूप धर्म परिग्रह

सहित पुरुष के कैसे हो सकता है ? वर्षा पृथ्वीतल का कल्याण करने वाली है परन्तु प्रतिवन्ध के रहते हुई कैसे हो सकती है ? इसीलिए आपने अन्तरंग-बहिरंग—दोनों परिग्रहों के त्याग का उपदेश दिया है । हे वासुपूज्य जिनेन्द्र ! आप इसी परिग्रह-त्याग की वासना से पूजित हैं । जो पहले जन्म में पद्मोत्तर हुए, फिर महा शुक्र स्वर्ग में इन्द्र हुए, वह इन्द्र जिनके कि चरण, देवरूपी भ्रमरों के लिये कमल के समान थे और फिर त्रिजगत्पूज्य वासुपूज्य जिनेन्द्र हुए, वह जिनेन्द्र, जिन्होंने कि वालब्रह्मचारी रह कर ही राज्य किया था, वे बारहवें तीर्थंकर तुम सबके लिए अतुल्य सुख प्रदान करें ।

अथानन्तर—श्री वासुपूज्य स्वामी के तीर्थ में द्विपृष्ठ नाम का राजा हुआ जो तीन खण्ड का स्वामी था और दूसरा अर्धचक्री (नारायण) था । यहां उनका जन्म सम्बन्धी चरित्र कहता हूं जिसके सुनने से भव्य-जीवों को संसार से बहुत भारी भय उत्पन्न होगा । इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक कनकपुर नाम का नगर है । उसके राजा का नाम सुवेण था । सुवेण के एक गुणमंजरी नाम की नृत्यकारिणी थी । वह नृत्यकारिणी रूपवती थी, सौभाग्यवती थी, गीत नृत्य तथा वाजे बजाने आदि कलाओं में प्रसिद्ध थी, और दूसरी सरस्वती के समान जान पड़ती थी, इसीलिए सब राजा उसे चाहते थे । उसी भरत क्षेत्र में एक मलय नाम का मनोहर देश था, उसके विन्ध्य-पुर नगर में विन्ध्यशक्ति नाम का राजा रहता था । जिस प्रकार मधुरता के रस से अनुरक्त हुआ भ्रमर आम्रमंजरी के देखने में आसक्त होता है उसी प्रकार वह राजा गुणमंजरी के देखने में आसक्त था ।

उसने नृत्यकारिणी को प्राप्त करने की इच्छा से सुवेण राजा का सन्मान कर उसके पास रत्न आदि की भेंट लेकर चित्त को हरण करने वाला एक दूत भेजा । उस दूत ने भी शीघ्र जाकर सुवेण महाराज के दर्शन किये, यथा योग्य भेंट दी और निम्न प्रकार समाचार कहा उसने कहा कि आपके घर में जो अत्यन्त प्रसिद्ध नर्तकीरूपी महारत्न है, उसे आपका भाई विन्ध्यशक्ति देखना चाहता है । हे राजन् ! इसी प्रयोजन को लेकर मैं यहां भेजा गया हूं । आप भी उस नृत्यकारिणी को भेज दीजिये । मैं उसे वापिस लाकर आपको सौंप दूंगा । दूत के ऐसे वचन सुनकर सुवेण क्रोध से अत्यन्त कांपने लगा और कहने लगा कि जा, जा, नहीं सुनने योग्य तथा अहंकार से भरे हुए इन वचनों से क्या लाभ है ? इस प्रकार सुवेण ने खोटे शब्दों द्वारा दूत की बहुत भारी भर्त्सना की । दूत ने वापिस आकर यह सब समाचार राजा विन्ध्यशक्ति से कह दिए । दूत के वचन सुनकर वह भी बहुत भारी क्रोधरूपी ग्रह से आविष्ट हो गया—अत्यन्त कुपित हो गये और कहने लगा कि रहने दो, क्या दोष है ? तदनन्तर मंत्रियों के साथ उसने कुछ गुप्त विचार किया ।

कूट युद्ध करने में चतुर, श्रेष्ठ योद्धाओं के आगे चलने वाला और शूरवीर वह राजा अपनी सेना लेकर शीघ्र ही चला । विन्ध्यशक्ति ने युद्ध में राजा सुवेण को पराजित किया और उसकी कीर्ति के समान नृत्यकारिणी को जबरदस्ती छीन लिया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य के चले आने पर कौन किस की क्या वस्तु नहीं हर लेता ? जिस प्रकार दांत का टूट जाना हाथी की महिमा को छिपा लेता है, और दाढ़ का टूट जाना सिंह की महिमा को तिरोहित कर देता है उसी प्रकार पराजय मानभंग राजा की महिमा को छिपा देता है । उस मान भंग से राजा सुवेण का दिल टूट गया अतः जिस प्रकार पीठ टूट जाने से सर्प एक पद भी नहीं चल पाता उसी प्रकार वह भी अपने स्थान से एक पद भी नहीं चल सका । किसी एक दिन उसने विरक्त होकर धर्म के स्वरूप को जानने वाले गृह-त्यागी सुव्रत जिनेन्द्र से धर्मोपदेश सुना और निर्मल चित्त से इस प्रकार विचार किया कि वह हमारे किसी पाप का ही उदय था जिससे विन्ध्यशक्ति ने मुझे हरा दिया । ऐसा विचार कर उसने पाप-रूपी शत्रु को नष्ट करने की इच्छा की और उन्हीं जिनेन्द्र से दीक्षा ले ली । बहुत दिन तक तपरूपी अग्नि के संताप से उसका शरीर कृश हो गया था । अन्त में शत्रु पर क्रोध रखता हुआ वह निदान बन्ध सहित सन्यास धारण कर प्राणत स्वर्ग के अनुपम नामक विमान में बीस सागर की आयुवाला तथा आठ ऋद्धियों से हर्षित देव हुआ ।

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्र के महापुर नगर में श्रीमान् वायुरथ नाम का राजा रहता था । चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग कर उसने सुव्रत नामक जिनेन्द्र के पास धर्म का उपदेश सुना, तत्व-ज्ञानी वह पहले से ही था अतः विरक्त होकर घरनाथ नामक पुत्र को राज्य देकर तप के लिये चला गया ।

समस्त शत्रुओं का अध्ययन कर तथा उत्कृष्ट तप कर वह उसी प्राणत स्वर्ग के अनुत्तर नामक विमान में इन्द्र हुआ। वहाँ से चय कर इसी भरत क्षेत्र की द्वारावती नगरी के राजा ब्रह्म के उनकी रानी सुभद्रा के अचलस्तोक नाम का पुत्र हुआ। तथा सुषेण का जीव भी वहां से चय कर उसी ब्रह्म राजा की दूसरी रानी उषा के द्विपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। उस द्विपृष्ठ का शरीर सत्तर धनुष ऊंचा था और आयु बहत्तर लाख वर्ष की थी। इस प्रकार इक्ष्वाकु वंश का अग्रसर वह द्विपृष्ठ, राजाओं के उत्कृष्ट भोगों का उपभोगों करता था।

कुन्द पुष्प तथा इन्द्रनीलमणि के समान कान्ति वाले वे बलभद्र और नारायण जब परस्पर में मिलते थे तब गंगा और यमुना के प्रवाह के समान जान पड़ते थे। जिस प्रकार समान दो श्रावक गुरु के द्वारा दी हुई सरस्वती का बिना विभाग किये ही उपभोग करते हैं उसी प्रकार पुण्य के स्वामी वे दोनों भाई बिना विभाग किये ही पृथ्वी का उपभोग करते थे। समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने वाले उन दोनों भाइयों में अभेद था—किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था सो ठीक ही है क्योंकि उसी अभेद की प्रशंसा होती है जो कि लक्ष्मी और स्त्री का संयोग होने पर भी बना रहता है। वे दोनों स्थिर थे, बहुत ही ऊंचे थे, तथा सफेद, और नील रंग के थे इसलिए ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो कैलास और अंजनगिरि ही एक जगह आ मिले हों।

इधर राजा विन्ध्यशक्ति, घटी यंत्र के समान चिरकाल तक संसार-सागर में भ्रमण करता रहा। अन्त में जब थोड़े से पुण्य के साधन प्राप्त हुए तब इसी भरतक्षेत्र के भोगवर्धन नगर के राजा श्रीधर के सर्व प्रसिद्ध तारक नाम का पुत्र हुआ। अपने चक्र के आक्रमण सम्बन्धी भय से जिसने समस्त विद्याधर तथा भूमि-गोचरियों को अपना दास बना लिया है ऐसा वह तारक आधे भारत क्षेत्र में रहने वाली देदीप्यमान लक्ष्मी को धारण कर रहा था। अन्य जगह की बात रहने दीजिए, मैं तो ऐसा मानता हूं कि—उसके डर से सूर्य की प्रभा भी मन्द पड़ गई थी इसलिए लक्ष्मी कमलों में भी कभी प्रसन्न नहीं दिखती थी। जिस प्रकार उग्र राहु पूर्णिमा के चन्द्रमा का विरोधी होता है उसी प्रकार उग्र प्रकृति वाला तारक भी प्राचीन राजाओं के मार्ग का विरोधी था। जिस प्रकार किसी दूर ग्रह के विकार से मेघमाला के गर्भ गिर जाते हैं उसी प्रकार तारक का नाम लेते ही भय उत्पन्न होने से गर्भिणी स्त्रियों के गर्भ गिर जाते थे। स्याही के समान श्याम वर्ण वाला वह तारक सदा शत्रुओं को ढूंढ़ता रहता था और जब किसी शत्रु का नहीं पाता था तब ऐसा जान पड़ता था मानो अपने प्रतापरूपी अग्नि के धुएं से ही काला पड़ गया हो।

जिसने समस्त क्षत्रियों को संतप्त कर रक्खा है और जो ग्रीष्म ऋतु के सूर्य के समान दुःख से सहन करने योग्य है ऐसा वह तारक अन्त में पतन के सम्मुख हुआ सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे लोगों की लक्ष्मी क्या स्थिर रह सकती है? जो अखण्ड तीन खण्डों का स्वामित्व धारण करता था ऐसा तारक जन्मान्तर से आये हुए तीव्र विरोध से प्रेरित होकर द्विपृष्ठ नारायण और अचल बलभद्र की वृद्धि को नहीं सह सका। वह सोचने लगा कि मैंने समस्त राजाओं और किसानों को कर देने वाला बना लिया है परन्तु ये दोनों भाई ब्राह्मण के समान कर नहीं देते। इतना ही नहीं, दुष्ट गर्व से युक्त भी हैं। अपने घर में बढ़ते हुए दुष्ट सांप को कौन सहन करेगा? ये दोनों ही मेरे द्वारा नष्ट किये जाने योग्य शत्रुओं की श्रेणी में स्थित हैं तथा अपने स्वभाव से दूषित भी हैं अतः जिस किसी तरह दोष लगाकर इन्हें अवश्य ही नष्ट करूंगा। इस प्रकार उपायका विचार कर उसने दुर्वचन कहने वाला एक कलह-प्रेमी दूत भेजा और वह दुष्ट दूत भी सहसा उन दोनों भाइयों के पास जाकर इस प्रकार कहने लगा कि शत्रुओं को मारने वाले तारक महाराज ने आज्ञा दी है कि तुम्हारे घर में जो एक बड़ा भारी प्रसिद्ध गन्धहस्ती है वह हमारे लिए शीघ्र ही भेजो अन्यथा तुम दोनों के शिर खण्डित कर अपनी विजयी सेना के द्वारा उस हाथी को जबरदस्ती मंगा लूंगा।

इस प्रकार उस कलहकारी दूत के द्वारा कहे हुए असभ्य तथा सहन करने के अयोग्य वचन सुनकर पर्वत के समान अचल, उदार तथा धीरोदात्त प्रकृति के धारक अचल बलभद्र इस तरह कहने लगे। कि हाथी क्या चीज है? तारक महाराज ही अपनी सेना के साथ शीघ्र आवें। हम उनके लिए वह हाथी तथा अन्य वस्तुएं देंगे जिससे कि वे स्वस्थता-कुशलता (पक्ष में स्वः स्वर्गे तिष्ठतीति स्वस्थः 'शर्परि खरि विसर्गलोपो वा वक्तव्यः' इति वार्तिके न सकारस्य लोपः। स्वस्थस्य भावः

स्वास्थ्यम्) मृत्यु को प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार गम्भीर वचन कह कर अचल बलभद्र ने उस दूत को विदा कर दिया और उसने भी जाकर हवा की तरह उसकी कोपाग्नि को प्रदीप्त कर दिया। यह सुनकर कोपाग्नि से प्रदीप्त हुआ तारक अग्नि के समान प्रज्वलित हो गया और कहने लगा कि इस प्रकार वे दोनों भाई मेरी क्रोधाग्नि के पतंगे बन रहे हैं। उसने मंत्रियों के साथ बैठकर किसी कार्य का विचार नहीं किया और अपने आपको सर्वशक्ति-सम्पन्न मानकर मृत्यु प्राप्त करने के लिए प्रस्थान कर दिया। अन्याय करने के सम्मुख हुआ वह मूर्ख षडंग सेना से समस्त पृथ्वी को कंपाता हुआ उदय होने के सम्मुख हुए उन दोनों भाइयों के पास जा पहुंचा। उसने मर्यादा का उल्लंघन कर दिया था इसलिए प्रलयकाल के समुद्र को भी जीत रहा था। इस अतिशय दुष्ट तारक ने शीघ्र ही जाकर अपनी सेनारूपी वेला (ज्वारभाटा) के द्वारा अचल और द्विपृष्ठ के नगर को घेर लिया।

जिस प्रकार कोई पर्वत जल की लहर को अनायास ही रोक देता है उसी प्रकार पर्वत के समान स्थिर रहने वाले अचल ने अपनी सेना के द्वारा उसको निःसार सेना को अनायास ही रोक दिया था। जिस प्रकार सिंह का बच्चा मत्त हाथी के ऊपर आक्रमण करता है उसी प्रकार उद्दण्ड प्रकृति वाले द्विपृष्ठ ने भी एक पराक्रम की सहायता से ही बलवान् शत्रु पर आक्रमण कर दिया। तारक ने यद्यपि चिरकाल तक युद्ध किया पर तो भी वह द्विपृष्ठ को पराजित करने में समर्थ नहीं हो सका। अन्त में उसने यमराज के चक्र के समान अपना चक्र घुमा कर फेंका। वह चक्र द्विपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उस लक्ष्मीपति की दाहिनी भुजा पर स्थिर हो गया और उसने उसी चक्र को तारक के लिए भेज दिया। उसी समय द्विपृष्ट, सात उत्तम रत्नों का तथा तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी हो गया और अचल बलभद्र बन गया तथा चार रत्न उसे प्राप्त हो गये। दोनों भाइयों ने शत्रु राजाओं को जीतकर दिग्विजय किया और श्री वासुपूज्य स्वामी को नमस्कार कर अपने नगर में प्रवेश किया। चिरकाल तक तीन खण्ड का राज्य कर अनेक सुख भोगे। आयु के अन्त में मरकर द्विपृष्ठ सातवें नरक गया।

भाई के वियोग से अचल को बहुत शोक हुआ जिससे उसने श्री वासुपूज्य स्वामी का आश्रय लेकर संयम धारण कर लिया तथा मोक्ष-लक्ष्मी के साथ समागम प्राप्त किया। उन दोनों भाइयों ने किसी पुण्य का बीज पाकर तीन खण्ड की पृथ्वी पाई, अनेक विभूतियां पाईं और साथ ही साथ उत्तम पद प्राप्त किया परन्तु उनमें से एक तो अंकुर के समान फल प्राप्त करने के लिए ऊपर की ओर (मोक्ष) गया और दूसरा पाप से युक्त होने के कारण फलरहित जड़ के समान नीचे की ओर (नरक) गया। इस प्रकार द्विपृष्ठ तथा अचल का जो भी जीवन-वृत्त घटित हुआ है वह सब कर्मोदय से ही घटित हुआ है ऐसा विचार कर विशाल बुद्धि के धारक आर्य पुरुषों को पाप छोड़कर उसके विपरीत समस्त सुखों का भण्डार जो पुण्य है वही करना चाहिए। राजा द्विपृष्ठ पहले इसी भरत क्षेत्र के कनकपुर नगर में सुषेण नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ, फिर तपश्चरण कर चौदहवें स्वर्ग में देव हुआ, तदनन्तर तीन खण्ड की रक्षा करने वाला द्विपृष्ठ नाम का अर्धचक्री हुआ और इसके बाद परिग्रह के महान् भार से मरकर सातवें नरक गया। बलभद्र, पहले महापुर नगर में वायुरथ राजा हुआ, फिर उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त कर उसी प्राणत स्वर्ग के अनुत्तर-विमान में उत्पन्न हुआ, तदनन्तर द्वारावती नगरी में अचल नाम का बलभद्र हुआ और अन्त में निर्वाण प्राप्त कर त्रिभुवन के द्वारा पूज्य हुआ। प्रतिनारायण तारक, पहले प्रसिद्ध विन्ध्यनगर में विन्ध्यशक्ति नाम का राजा हुआ, फिर चिरकाल तक संसार-वन में भ्रमण करता रहा। कदाचित् थोड़ा पुण्य का संचय कर श्री भोगवर्द्धन नगर का राजा तारक हुआ और अन्त में द्विपृष्ठ नारायण का शत्रु होकर—उनके हाथ से मारा जाकर महापाप के उदय से अन्तिम पृथ्वी में नारकी उत्पन्न हुआ।

श्री भगवान् विमलनाथ

जिनके दर्पण के समान निर्मल ज्ञान में सारा संसार निर्मल स्पष्ट दिखाई देता है और जिनके सब प्रकार के मलों का अभाव हो चुका है ऐसे श्री विमलनाथ स्वामी आज हमारे मलों का अभाव करें—हम सबको निर्मल बनायें। पश्चिम घातका खण्ड द्वीप में मेरुपर्वत से पश्चिमी और सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नामक एक देश है। उसके महा-नगर में वह पद्मसेन राजा राज्य करता था जो कि प्रजा के

लिए कल्पवृक्ष के समान इच्छित फल देने वाला था। स्वदेश तथा परदेश के विभाग से कहे हुए नीति-शास्त्र सम्बन्धी अर्थ का निश्चय करने में उस राजा का चरित्र उदाहरण रूप था ऐसा शास्त्र के जानकार कहा करते थे। शत्रुओं को नष्ट करने वाले उस राजा के राज्य करते समय अपनी अपनी वृत्ति के अनुसार धन का अर्जन तथा उपभोग करना हो प्रजा का व्यापार रह गया था। वहां की प्रजा भी न्याय का उल्लंघन नहीं करती थी, राजा प्रजा का उल्लंघन नहीं करता था, धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग राजा का उल्लंघन नहीं करता था और त्रिवर्ग परस्पर एक दूसरे का उल्लंघन नहीं करता था।

किसी एक दिन राजा पद्मसेन ने प्रीतिकर वन में स्वर्गगुप्त केवली के समीप धर्म का स्वरूप जाना और उन्हीं से यह भी जाना कि हमारे सिर्फ दो आगामी भव वाकी रह गये हैं। उसी समय उसने ऐसा उत्सव मनाया मानों मैं तीर्थंकर ही हो गया हूं और पद्मनाभ पुत्र के लिये राज्य देकर उत्कृष्ट तप तपना शुरु कर दिया। ग्यारह अंगों का अध्ययन कर उन पर दृढ़ विश्वास किया, अन्य पुण्य प्रकृतियों का भी यथायोग्य संचय किया और अन्त समय में चार आराधनाओं की आराधना कर सहस्रार नामक स्वर्ग में सहस्रार नाम का इन्द्रपद प्राप्त किया। वहां अठारह सागर उसकी आयु थी, धनुष अर्थात् चार हाथ ऊंचा शरीर था, द्रव्य और भाव की अपेक्षा जघन्य शुक्ललेश्या थी, वह नौ माह में एक बार श्वास लेता था, अठारह हजार वर्ष में एक बार मानसिक आहार ग्रहण करता था, देवांगनाओं का रूप देखकर ही उसकी काम-व्यथा शान्त हो जाती थी, चतुर्थ पृथ्वी तक उसके अवधिज्ञान का विषय था, वहीं तक उसकी दीप्ति आदि फैल सकती थी, वह अणिमा आदि गुणों से समुन्नत था, स्नेह रूपी अमृत से सम्पृक्त रहने वाले उसके मुखकमल को देखने से देवांगनाओं का चित्त संतुष्ट हो जाता था। इस प्रकार चिरकाल तक उसने सुखों का अनुभव किया।

वह इन्द्र जब स्वर्ग लोक से चयकर इस पृथ्वी लोक पर आने वाला हुआ तब इसी भरत क्षेत्र के काम्पिल्य नगर में भगवान् ऋषभदेव का वंशज कृत वर्मा नाम का राजा राज्य करता था। जय-श्यामा उसकी प्रसिद्ध महादेवी थी। इन्द्रादि देवों ने रत्नवृष्टि आदि के द्वारा जयश्यामा की पूजा की। उसने ज्येष्ठ कृष्णा दशमी के दिन रात्रि के पिछले भाग में उत्तराभाद्रपद नक्षत्र के रहते हुए सोलह स्वप्न देखे, उसी समय अपने मुख-कमल में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा, और राजा से इन सबका फल ज्ञात किया। उसी समय अपने आसनों के कम्पन से जिन्हें गर्भ कल्याणक की सूचना हो गई है ऐसे देवों ने स्वर्ग से आकर प्रथम--गर्भ कल्याणक किया।

जिस प्रकार बढ़ते हुए धन से किसी दरिद्र मनुष्य के हृदय में हर्ष की वृद्धि होने लगती है उसी प्रकार रानी जयश्यामा के बढ़ते हुए गर्भ से बन्धुजनों के हृदय में हर्ष की वृद्धि होने लगी था। इस संसार में साधारण से साधारण पुत्र का जन्म भी हर्ष का कारण है तब जिसके जन्म के पूर्व ही इन्द्र लोग नम्रीभूत हो गये हों उस पुत्र के जन्म की बात ही क्या कहना है? माघशुक्ल चतुर्थी के दिन (ख० ग० प्रति पाठ की अपेक्षा चतुर्दशी के दिन) अहिर्बुध्न योग में रानी जयश्यामा ने तीन ज्ञान के धारी, तीन जगत् के स्वामी तथा निर्मल प्रभा के धारक भगवान को जन्म दिया। जन्माभिषेक के बाद सब देवों ने उनका विमल वाहन नाम रक्खा और सबने स्तुति की। भगवान् वासुपूज्य के तीर्थ के बाद जब तीस सागर वर्ष बीत गए और पल्य के अन्तिम भाग में धर्म का विच्छेद हो गया तब विमलवाहन भगवान् का जन्म हुआ था। उनकी आयु साठ लाख वर्ष की थी, शरीर साठ धनुष ऊंचा था, कान्ति सुवर्ण के समान थी और वे ऐसे सुशोभित होते थे मानो समस्त पुण्यों की राशि ही हों।

समस्त लोक को पवित्र करने वाले, अतिशय पुण्यशाली भगवान् विमल वाहन की आत्मा पन्द्रह लाख प्रमाण कुमार-काल वीत जाने पर राज्याभिषेक से पवित्र हुई थी। लक्ष्मी उनकी सहचारिणी थी, कीर्ति जन्मान्तर से साथ आई थी, सरस्वती साथ ही उत्पन्न हुई थी और वीर-लक्ष्मी ने उन्हें स्वयं स्वीकृत किया था। उस राजा में जो सत्यादिगुण बढ़ रहे थे वे बड़े-बड़े मुनियों के द्वारा भी प्रार्थनीय थे इससे बढ़कर उनकी और क्या स्तुति हो सकती थी। अत्यन्त विशुद्धता के कारण थोड़े ही दिन बाद जिन्हें मोक्ष का अनन्त सुख प्राप्त होने वाला है ऐसे विमलवाहन भगवान् के अनन्त सुख का वर्णन भला कौन सकता है? जब उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तब समस्त इन्द्रों ने उनके चरण कमलों की पूजा की थी और

इसलिए वे देवाधिदेव कहलाये थे। लक्ष्मी के अधिपति भगवान् विमलवाहन का कुन्दपुष्प अथवा चन्द्रमा के समान निर्मल यश दिशाओं को प्रकाशित कर रहा था और आकाश को पुष्प के समान बना रहा था। इस प्रकार छह ऋतुओं में उत्पन्न हुए भोगों का उपभोग करते हुए भगवान् के तीस लाख वर्ष बीत गये।

एक दिन उन्होंने, जिसमें समस्त दिशाएं, भूमि, वृक्ष और पर्वत वर्फ से ढक रहे थे ऐसी हेमन्त ऋतु में वर्फ की शोभा को तत्क्षण में विलीन होते देखा। जिससे उन्हें उसी समय संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया, उसी समय उन्हें अपने पूर्व जन्म की सब बातें याद आ गई और मान-भंग का विचार कर रोगी के समान अत्यन्त खेदखिन्न हुए। वे सोचने लगे कि इन तीन सम्यग्ज्ञानों से क्या होने वाला है क्योंकि इन सभी की सीमा है—इन सभी का विषय क्षेत्र परिमित है और इस वीर्य से भी क्या लाभ है? जोकि परमोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त नहीं है। चूंकि प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय है अतः मेरे चारित्र का लेश भी नहीं है और बहुत प्रकार का मोह तथा परिग्रह विद्यमान है अतः चारों प्रकार बन्ध भी विद्यमान है। प्रमाद भी अभी मौजूद है और निर्जरा भी बहुत थोड़ी है। अहो! मोह की बड़ी महिमा है कि अब भी मैं इन्हीं संसार की वस्तुओं में रक्त हो रहा हूं। मेरा साहस तो देखो कि मैं अब तक सर्प के शरीर अथवा फण के समान भयंकर इन भोगों को भोग रहा हूं। यह सब भोगोपभोग मुझे पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त हुए हैं।

सो जब तक इस पुण्यकर्म का अन्त नहीं कर देता जब तक मुझे अनन्त सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? इस प्रकार निर्मल ज्ञान उत्पन्न होने से विमलवाहन भगवान ने अपने हृदय में विचार किया। उसी समय आये हुए सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने उनका स्तवन किया तथा अन्य देवों ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव किया। तदनन्तर देवों के द्वारा घिरे हुए भगवान् देवदत्त नाम की पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गये और वहां दो दिन के उपवास का नियम लेकर दीक्षित हो गये। उन्होंने यह दीक्षा माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन सायंकाल के समय छब्बीसवें उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ ली थी और उसी दिन वे चौथा—मनःपर्ययज्ञान प्राप्त कर चार ज्ञान के धारी हो गये थे। दूसरे दिन उन्होंने भोजन के लिए नन्दनपुर नगर में प्रवेश किया। वहां सुवर्ण के समान कान्ति वाले राजा कनकप्रभ ने उन्हें आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये सो ठीक ही है क्योंकि पात्रदान से क्या नहीं प्राप्त होता? इस प्रकार सामायिक चारित्र धारण करके शुद्ध हृदय से तपस्या करने लगे।

जब तीन वर्ष बीत गये तब वे महामुनि एक दिन अपने दीक्षावन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हुए। फल स्वरूप माघ शुक्ल षष्ठी के दिन सायंकाल के समय अतिशय श्रेष्ठ भगवान् विमलवाहन ने अपने दीक्षा ग्रहण के नक्षत्र में घातिया कर्मों का विनाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अब वे चर-अचर समस्त पदार्थों को शीघ्र ही जानने लगे। उसी समय अपने मुकुट तथा मुख झुकाये हुए देव लोग आये। उन्होंने देवदुन्दुभि आदि आठ मुख्य प्रातिहार्यों का वैभव प्रकट किया। उसे पाकर वे गन्धकुटी के मध्य में स्थित सिंहासन पर विराजमान हुए। वे भगवान् मन्दर आदि पचपन गणधरों से सदा घिरे रहते थे, ग्यारह सौ पूज्य पूर्वधारियों से सहित थे, छत्तीस हजार पांच सो तीस शिक्षकों से युक्त थे, चार हजार आठ सौ तीनों प्रकार के अवधि ज्ञान से वन्दित थे, पांच हजार पांच सौ केवलज्ञानी उनके साथ थे, नौ हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक उनके संघ की वृद्धि करते थे, पांच हजार पांच सौ मनःपर्यय ज्ञानी उनके समवसरण में थे, वे तीन हजार छह सौ वादियों से सहित थे, इस प्रकार अड़सठ हजार मुनि उनकी स्तुति करते थे। पद्मा को आदि लेकर एक लाख तीन हजार आर्यिकाएं उनकी पूजा करती थीं, वे लाख श्रावकों से सहित थे तथा चार लाख श्राविकाओं से पूजित थे।

इनके सिवाय दो गणों अर्थात् असंख्यात देव देवियों और सख्यात तिर्यंचों से वे सहित थे। इस तरह धर्म क्षेत्रों में उन्होंने निरन्तर विहार किया तथा संसार रूपी आतप से मुरझाये हुए भव्यरूपी धान्यों को सन्तुष्ट किया। अन्त में वे सम्मेदशिखर पर जा विराजमान हुए और वहां पर उन्होंने एक माह का योग निरोध किया। आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया तथा आषाढ़ कृष्ण अष्टमी के दिन

उत्तराषाढ़ नक्षत्र में प्रातः काल के समय शीघ्र ही समुद्घात कर सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती नाम का शुक्ल ध्यान धारण किया और तत्काल ही सहयोग अवस्था से अयोग अवस्था धारण कर उस प्रकार स्वास्थ्य स्वरूपावस्थान अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया जिस प्रकार कि कोई रोगी स्वास्थ्य (नीरोग अवस्था) प्राप्त करता है। उसी समय से लेकर लोक में आषाढ़ कृष्ण अष्टमी, कालाष्टमी के नाम से विद्वानों के द्वारा पूज्य हो गई और इसी निमित्त को पाकर मिथ्या-दृष्टि लोग भी उसकी पूजा करने लगे। उसी समय सौधर्म आदि देवों ने आकर उनका अन्त्येष्टि संस्कार किया और मुक्त हुए उन भगवान् की अर्थपूर्ण सिद्ध स्तुतियों से वन्दना की।

हिंसा आदि पापों से परिणत हुआ यह जीव निरन्तर मल का संचय करता रहता है और पुण्य के द्वारा भी इसी संसार में निरन्तर विद्यमान रहता है अतः कहीं अपने गुणों को विशुद्ध बनाना चाहिये--पाप पुण्य के विकल्प से रहित बनाना चाहिए। आज मैं निर्मल बुद्धि-शुद्धोपयोग की भावना को प्राप्त कर अपने उन गुणों को शुद्धि प्राप्त कराता हूं--पुण्य-पाप के विकल्प से दूर हटाकर शुद्ध बनाता हूं ऐसा विचार कर ही जो शुक्लध्यान को प्राप्त हुए थे ऐसे विमलवाहन भगवान् अपने सार्थक नाम को धारण करते थे। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही जिसके दो दांत हैं; गुण ही जिसका पवित्र शरीर है, चार आराधनाएं ही जिसके चरण हैं और विशाल धर्म ही जिसकी सूंड है ऐसे सन्मार्ग रूपी हाथी को पाप-रूपी शत्रु के प्रति प्रेरित कर भगवान् विमलवाहन ने पाप-रूपी शत्रु को नष्ट किया था इसलिए ही लोग उन्हें विमलवाहन (विमलं वाहनं यानं यस्य सः विमलवाहनः--निर्मल सवारी से युक्त) कहते थे। जो पहले शत्रुओं की सेना को नष्ट करने वाले पद्मसेन राजा हुए, फिर देव समूह से पूजनीय तथा स्पष्ट सुखों से युक्त अष्टम स्वर्ग के इन्द्र हुए, और तदनन्तर विशाल निर्मलकीर्ति के धारक एवं समस्त पृथ्वी के स्वामी विमलवाहन जिनेन्द्र हुए, वे तेरहवें विमलनाथ तीर्थंकर अच्छी तरह आप लोगों के संतोष के लिए हों।

हे भव्य जीवो! जिन्होंने अपनी अत्यन्त निश्चल समाधि के द्वारा समस्त दोषों को नष्ट कर दिया है, जिनका ज्ञान क्रम, इन्द्रिय तथा मन से रहित है, जिनका शरीर अत्यन्त निर्मल है और देव भी जिनकी कीर्ति का गान करते हैं ऐसे विमलवाहन भगवान् को निर्मलता प्राप्त करने के लिए तुम सब बड़ी भक्ति से नमस्कार करो।

अथानन्तर श्री विमलनाथ भगवान् के तीर्थ में धर्म और स्वयंभू नाम के बलभद्र तथा नारायण हुए इसलिए अब उनका चरित कहा जाता है। इसी भरत क्षेत्र के पश्चिम विदेह क्षेत्र में एक मित्रनन्दी नाम का राजा था, उसने अपने उपभोग करने योग्य समस्त पृथ्वी अपने आधीन कर ली थी प्रजा इसके साथ प्रेम रखती थी इसलिये यह प्रजा की वृद्धि के लिये था और यह प्रजा की रक्षा करता था अतः प्रजा इसकी वृद्धि के लिये थी--राजा और प्रजा दोनों ही सदा एक दूसरे की वृद्धि करते थे सो ठीक ही है क्योंकि परोपकार के भीतर स्वोपकार भी निहित रहता है। उस बुद्धिमान के लिए शत्रु की सेना भी स्वसेना के समान थी और जिसकी बुद्धि चक्र के समान फिरा करती थी--चंचल रहती थी उसके लिए क्रम का उल्लघन होने से स्वसेना भी शत्रु-सेना के समान हो जाती थी। यह राजा समस्त प्रजा को संतुष्ट करके ही स्वयं संतुष्ट होता था सो ठीक ही है क्योंकि परोपकार करने वाले मनुष्यों के दूसरों को संतुष्ट करने से ही अपना संतोष होता है। किसी एक दिन वह बुद्धिमान् सुव्रत नामक जिनेन्द्र के पास पहुंचा और वहां धर्म का स्वरूप सुनकर अपने शरीर तथा भोगादि को नश्वर मानने लगा। वह सोचने लगा--बड़े दुःख की बात है कि ये संसार के प्राणी परिग्रह के समागम से ही पापों का संचय करते हुए दुःखी हो रहे हैं फिर भी निष्परिग्रह अवस्था को प्राप्त नहीं होते--सब परिग्रह छोड़कर दिगम्बर नहीं होते। बड़ा आश्चर्य है कि ये सामने की बात को भी नहीं जानते। इस प्रकार संसार से विरक्त होकर उसने उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया और अन्त समय में सन्यास धारण कर अनुत्तर विमान में तेतीस सागर की आयु वाला अहमिन्द्र हुआ।

वहां से चयकर द्वारावती नगरी के राजा भद्र की रानी सुभद्रा के शुभ स्वप्न देखने के बाद धर्म नाम का पुत्र हुआ। इसी भारतवर्ष के कुणाल देश में एक श्रावस्ती नाम का नगर था वहां पर भोगों में तल्लीन हुआ सुकेतु नाम का राजा रहता था। अशुभ कर्म के उदय से वह बहुत कामी था, तथा द्यूत व्यसन में आसक्त था। यद्यपि हित चाहने वाले मन्त्रियों और

कुटुम्बियों ने उसे बहुत बार रोका पर उसके बदले उनसे प्रेरित हुए के समान वह बार-बार जुआ खेलता रहा और कर्मोदय के विपरीत होने से वह अपना देश-धन-बल और रानी सब कुछ हार गया क्रोध से उत्पन्न होने वाले मद्य, मांस और शिकार इन तीन व्यसनों में तथा काम से उत्पन्न होने वाले जुआ, चोरी, वेश्या और पर-स्त्री सेवन इन चार व्यसनों में जुआ खेलने के समान कोई नीच व्यसन नहीं है ऐसा सब शास्त्रकार कहते हैं ।

जो सत्य महागुणों में कहा गया है जुआ खेलने में आसक्त मनुष्य उसे सबसे पहले हारता है । पीछे लज्जा, अभिमान, कुल, सुख, सज्जनता, बन्धुवर्ग, धर्म, द्रव्य, क्षेत्र, घर, यश, माता-पिता, बाल-बच्चे, स्त्रियां और स्वयं अपने आपको हारता है— नष्ट करता है । जुआ खेलने वाला मनुष्य अत्यासक्ति के कारण न स्नान करता है, न भोजन करता है, न सोता है और इन आवश्यक कार्यों का रोध हो जाने से रोगी हो जाता है । जुआ खेलने से धन प्राप्त होता हो सो बात नहीं, वह व्यर्थ ही क्लेश उठाता है, अनेक दोष उत्पन्न करने वाले पाप का संचय करता है, निन्द्य कार्य कर बैठता है, सबका शत्रु बन जाता है, दूसरे लोगों से याचना करने लगता है । बन्धुजन उसे छोड़ देते हैं—घर से निकाल देते हैं, एवं राजा की ओर से उसे अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं । इस प्रकार जुआ के दोषों का नामोल्लेख करने के लिये भी कौन समर्थ है ?

राजा सुकेतु ही इसका सबसे अच्छा दृष्टान्त है क्योंकि वह इस जुआ के द्वारा अपना राज्य भी हार बैठा था । इसलिये जो मनुष्य अपने दोनों लोकों का भला चाहता है वह जुआ को दूर से ही छोड़ देवे । इस प्रकार सुकेतु जब अपना सर्वस्व हार चुका तब शोक से व्याकुल होकर सुदर्शनाचार्य के चरण-मूल में गया । वहां उसने जिनागम का उपदेश सुना और संसार से विरक्त होकर दीक्षा धारणा कर ली । यद्यपि उसने दीक्षा धारण कर ली थी तथापि उसका आशय निर्मल नहीं हुआ था । उसने शोक से अन्न छोड़ दिया और अत्यन्त कठिन तपश्चरण किया । इस प्रकार दीर्घकाल तक तपश्चरण कर उसने आयु के अन्तिम समय में निदान किया कि इस तप के द्वारा मेरे कला, गुण, चतुरता और बल प्रकट हों । ऐसा निदान कर वह सन्यास मरण से मरा तथा लान्तव स्वर्ग में देव हुआ । वहां चौदह सागर तक स्वर्गीय सुख का उपभोग करता रहा । वहाँ से चयकर इसी भरत क्षेत्र की द्वारावती नगरी के भद्र राजा की पृथ्वी रानी के स्वयंभू नाम का पुत्र हुआ । यह पुत्र राजा को सब पुत्रों में अधिक प्यारा था । धर्म बलभद्र था और स्वयंभू नारायण था । दोनों में ही परस्पर अधिक प्रीति थी और दोनों ही चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते रहे । सुकेतु की पर्याय में जिस बलवान् राजा ने जुआ में सुकेतु का राज्य छीन लिया था वह मर कर रत्नपुर नगर में राजा मधु हुआ था ।

पूर्व जन्म के वैर का संस्कार होने से राजा स्वयंभू मधु का नाम सुनने मात्र से कुपित हो जाता था । किसी समय किसी राजा ने राजा मधु के लिए भेंट भेजी थी, राजा स्वयंभू ने दोनों के दूतों को मारकर तिरस्कार के साथ वह भेंट स्वयं छीन ली । आचार्य कहते हैं कि प्रेम और द्वेष से उत्पन्न संस्कार स्थिर हो जाता है इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य को कहीं किसी के साथ द्वेष नहीं करना चाहिये । जब मधु ने नारद से दूत के मरने का समाचार सुना तो वह क्रोधित होकर युद्ध करने के लिए बलभद्र और नारायण के सन्मुख चला । इधर युद्ध करने में चतुर तथा कुपित बलभद्र और नारायण युद्ध के लिये पहले से ही तैयार बैठे थे अतः यमराज और अग्नि की समानता रखने वाले वे दोनों राजा मधु को मारने के लिए सहसा उसके पास पहुंचे ।

दोनों वीरों की सेनाओं में परस्पर का संहार करने वाला चिरकाल तक घमासान युद्ध हुआ । अन्त में राजा मधु ने कुपित होकर स्वयंभू को मारने के उद्देश्य से शीघ्र ही जलता हुआ चक्र घुमा कर फेंका । वह चक्र शीघ्रता के साथ जाकर तथा प्रदक्षिणा देकर स्वयंभू की दाहिनी भुजा के अग्रभाग पर ठहर गया । उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो आकाश से उतर कर सूर्य का बिम्ब ही नीचे आ गया हो । उसी समय राजा स्वयभू ने कुपित होकर वह चक्र शत्रु के प्रति फेंका सो ठीक ही है क्योंकि पुण्योदय से क्या नहीं होता ? उसी समय स्वयभू नारायण, आधे भरत क्षेत्र का राज्य प्राप्त कर इन्द्र के समान अपने बड़े भाई के साथ उसका निर्विघ्न उपभोग करने लगा । राजा मधु ने प्राण छोड़कर बहुत भारी पाप का सचय किया जिससे नरकायु बांध कर तमस्तम नामक सातवें

नरक में गया । और नारायण स्वयंभू भी वैर के संसार—से उसे खोजने के लिए ही मानो अपने पापोदय के कारण पीछे से उसी नरक में प्रविष्ट हुआ । स्वयंभू के वियोग से उत्पन्न हुए शोक के द्वारा जिसका हृदय संतप्त हो रहा था ऐसा बलभद्र धर्म भी संसार से विरक्त होकर भगवान् विमलनाथ के समीप पहुंचा ।

और सामायिक संयम धारण कर संयमियों में अग्रसर हो गया । उसने निराकुल होकर इतना कठिन तप किया मानो शरीर के साथ विद्वेष ही ठान रक्खा हो । उस समय बलभद्र ठीक सूर्य के समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोलाकार होता है उसी प्रकार बलभद्र भी सद्वृत्त अर्थात् सदाचार से युक्त थे, जिस प्रकार सूर्य तेज की मूर्ति स्वरूप होता है उसी प्रकार बलभद्र भी तेज की मूर्ति स्वरूप थे, जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार बलभद्र ने मुनि होते ही अन्तरंग के अन्धकार को नष्ट कर दिया था, जिस प्रकार सूर्य निर्मल होता है उसी प्रकार बलभद्र भी कर्ममल नष्ट हो जाने से निर्मल थे और जिस प्रकार सूर्य बिना किसी रुकावट के ऊपर आकाश में गमन करता है उसी प्रकार बलभद्र भी बिना किसी रुकावट के ऊपर तीन लोक के अग्रभाग पर जा विराजमान हुए । देखो, मोह वश किये हुए जुआ से मूर्ख स्वयंभू और राजा मधु पाप का संचय कर दुखदायी नरक में पहुंचे सो ठीक ही है क्योंकि धर्म, अर्थ, काम इन तीन का यदि कुमार्ग वृत्ति से सेवन किया जाय तो यह तीनों ही दुःख परम्परा के कारण हो जाते हैं ।

कोई उत्तम तपश्चरण करे और क्रोधादि के वशीभूत हो निदान बंध कर ले तो उसका वह निदान-बन्ध अतिशय पाप से उत्पन्न दुःख का कारण हो जाता है । देखो, 'सुकेतु यद्यपि तीर्थमार्ग का पथिक था तो भी निदानबन्ध दूर से ही छोड़ने योग्य है । धर्म, पहले अपनी कान्ति से सूर्य को जीतने वाला मित्रनन्दी नाम का राजा हुआ, फिर महाव्रत और समितियों से सम्पन्न होकर अनुत्तर विमान का स्वामी हुआ, वहां से चयकर पृथ्वी पर द्वारावती नगरी में सुधर्म बलभद्र हुआ और तदनन्तर आत्म-स्वरूप को सिद्ध कर मोक्ष पद को प्राप्त हुआ । स्वयंभू पहले कुणाल देश का मूर्ख राजा सुकेतु हुआ, फिर तपश्चरण कर सुख के स्थान-स्वरूप लान्तव स्वर्ग में देव हुआ, फिर राजा मधु को नष्ट करने लिए यमराज के समान चक्रवर्ती-नारायण हुआ और तदनन्तर पापोदय से नीचे सतवीं पृथ्वी में गया ।

अथानन्तर—इन्हीं विमलवाहननाथ तीर्थंकर ? के तीर्थ में अत्यन्त उन्नत, स्थिर और देवों के द्वारा सेवनीय मेरु और मन्दर नाथ के दो गणधर हुए थे इसलिए अब उनका चरित कहते हैं । जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर एक गन्धमालिनी नाम का देश है उसके वीतशोक नगर में वैजयन्त राजा राज्य करता था । उसकी सर्वश्री नाम की रानी थी और उन दोनों के संजयन्त तथा जयन्त नाम के दो पुत्र थे, ये दोनों ही पुत्र राजपुत्रों के गुणों से सहित थे। किसी दूसरे दिन अशोक वन में स्वयंभू नामक तीर्थंकर पधारे। उनके समीप जाकर दोनों भाइयों ने धर्म का स्वरूप सुना और दोनों ही भोगों से विरक्त हो गये । उन्होंने संजन्त के पुत्र वैजयन्त के लिए जो कि अतिशय बुद्धिमान् था राज्य देकर पिता के साथ संयम धारण कर लिया । संयम के सातवें स्थान अर्थात् बारहवें गुणस्थान में समस्त कषायों का क्षय कर जिन्होंने समरसपना—पूर्ण वीतरागता प्राप्त कर ली है ऐसे वैजयन्त मुनिराज जिनराज अवस्था को प्राप्त हुए । पिता के केवल ज्ञान का उत्सव मनाने के लिए सब देव आये तथा धरणेन्द्र भी आया । धरणेन्द्र के सौन्दर्य और बहुत भारी ऐश्वर्य को देखकर जयन्त मुनि ने धरणेन्द्र होने का निदान किया । उस निदान के प्रवाह से वह दुर्बुद्धि मर कर धरणेन्द्र हुआ सो ठीक ही है क्योंकि बहुत मूल्य से अल्प मूल्य की वस्तु खरीदना दुर्लभ नहीं है ।

किसी एक दिन संजयन्त मुनि, मनोहर नगर के समीपवर्ती भीम नामक वन में प्रतिमा योग धारण कर विराजमान थे । वहीं से विद्युद्दंष्ट्र नाम का विद्याधर निकला । वह पूर्व भव के वैर के स्मरण हुए तीव्र वेग से युक्त क्रोध से आगे बढ़ने के लिए असमर्थ हो गया । वह दुष्ट उन मुनिराज को उठा लाया तथा भरत क्षेत्र के इला नामक पर्वत की दक्षिण दिशा की ओर जहाँ कुसुमवती हरवती, सुवर्णवती, गजवती

और चण्डवेगा इन नदियों का समागम होता है वहाँ उन नदियों के अगाघ जल में छोड़ आया।

इतना ही नहीं उसने भोले-भाले विद्याधरों को निम्नांकित शब्द कहकर उत्तेजित भी किया। वह कहने लगा कि यह कोई बड़े शरीर का घारक, मनुष्यों को खाने वाला पापी राक्षस है, यह हम सवको अलग-अलग देखकर खाने के लिए चुपचाप खड़ा है, इस निर्दय, सर्वभक्षी तथा सर्वद्वेषी दैत्य को हम लोग मिलकर वाण तथा भाले आदि शस्त्रों के समूह से मारें, देखो, यह भूखा है, भूख से इसका पेट भुका जा रहा है, यदि उपेक्षा की गई तो यह देखते-देखते आज रात्रि को ही स्त्रियों-वच्चों तथा पशुओं को खा जावेगा। इसलिये आप लोग मेरे वचनों पर विश्वास करो, मैं वृथा ही भूठ क्यों वोलूंगा ? क्या इसके साथ मेरा द्वेष है ? इस प्रकार उसके द्वारा प्रेरित हुए सव विद्याधर मृत्यु से डर गये और जिस प्रकार किसी विश्वासपात्र मनुष्यों को ठग लोग मारने लगते हैं उस प्रकार शस्त्रों का समूह लेकर साधुशिरोमणि एवं समाधि में स्थित उन संजयन्त मुनिराज को वे विद्याधर सव ओर से मारने लगे। जयन्त मुनिराज भी इस समस्त उपसर्ग को सह गये, उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ था, वे पर्वत के समान निश्चल खड़े रहे और शुक्लध्यान के प्रभाव से निर्मल ज्ञान के धारी मोक्ष को प्राप्त हो गये।

उसी समय चारों निकाय के इन्द्र उनकी भक्ति से प्रेरित होकर निर्वाण-कल्याणक की पूजा करने के लिये आये। सब देवों के साथ पूर्वोक्त धरणेन्द्र भी आया था, अपने वड़े भाई का शरीर देखने से उसे अवधिज्ञान प्रकट हो गया जिससे वह वड़ा कुपित हुआ। उसने उन समस्त विद्याधरों को नागपाश से वांध लिया। उन विद्याधरों में कोई-कोई बुद्धिमान भी थे अतः उन्होंने प्रार्थना की कि हे देव ! इस कार्य में हम लोगों का दोष नहीं है, पापी विद्युद्दंष्ट्र इन्हें विदेह क्षेत्र से उठा लाया और विद्याधरों को इसने वतलाया कि इनसे तुम सवको वहुत भय है। ऐसा कहकर इसी दुष्ट ने हम सव लोगों से व्यर्थ ही यह महान् उपसर्ग करवाया है। विद्याधरों की प्रार्थना सुनकर धरणेन्द्र ने उन पर क्रोध छोड़ दिया और परिवार सहित विद्युद्दंष्ट्र को समुद्र में गिराने का उद्यम किया। उसी समय वहाँ एक आदित्याभ नाम का देव आया था जो कि विद्युद्दंष्ट्र और धरणेन्द्र दोनों के ही गुण-लाभ का उस प्रकार हेतु हुआ था जिस प्रकार की किसी धातु और प्रत्यय के वीच में आया हुआ अनुवन्ध गुण—व्याकरण में प्रसिद्ध संज्ञा विशेष का हेतु होता हो। वह कहने लगा कि हे नागराज ! यद्यपि इस विद्युद्दंष्ट्र ने अपराध किया है तथापि मेरे अनुरोध से इस पर क्षमा कीजिये। आप जैसे महापुरुषों का इस क्षुद्र पशु पर क्रोध कैसा ? वहुत पहले, आदिनाथ तीर्थंकर के समय आपके वंश में उत्पन्न हुए धरणेन्द्र के द्वारा विद्याधरों की विद्याएं देकर इसके वंश की रचना की गई थी। लोक में यह वात वालक तक जानते हैं। कि अन्य वृक्ष की वात जाने दो, विषवृक्ष को भी स्वयं वढ़ाकर स्वयं काटना उचित नहीं है, फिर हे नागराज ! आप क्या यह वात नहीं जानते ?

जब आदित्याभ यह कह चुका तव नागराज—धरणेन्द्र ने उत्तर दिया कि 'इस दुष्ट ने मेरे तपस्वी वड़े भाई को अकारण ही मारा है अतः यह मेरे द्वारा अवश्य ही मारा जावेगा। इस विषय में आप मेरी इच्छा को रोक नहीं सकते।' यह सुनकर बुद्धिमान् देव ने कहा कि—'आप वृथा ही वैर धारण कर रहे हैं। इस संसार में क्या यही तुम्हारा भाई है ? और संसार में भ्रमण करता हुआ विद्युद्दंष्ट्र क्या आज तक तुम्हारा भाई नहीं हुआ। इस ससार में कौन वन्धु है ? और कौन वन्धु नहीं है ? वन्धुता और अवन्धुता दोनों ही परिवर्तनशील हैं—आज जो वन्धु है वह कल अवन्धु हो सकता है और जो अवन्धु है वह कल वन्धु हो सकता है अतः इस विषय में विद्वानों को आग्रह क्यों होना चाहिये ? पूर्व जन्म में अपराध करने पर तुम्हारे संजयन्त ने विद्युद्दंष्ट्र के जीव को दण्ड दिया था, आज इसे पूर्व जन्म की वह वात याद आ गई अतः इसने मुनि का अपकार किया है। इस पापी ने तुम्हारे वड़े भाई को पिछले चार जन्मों में भी महा वैर के संस्कार से परलोक भेजा है—मारा है। इस जन्म में तो मैं इस विद्याधर को इन मुनिराज का उपहार करने वाला मानता हूं क्योंकि, इसके द्वारा किये हुए उपसर्ग को सहकर ही ये मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। हे भद्र ! इस कल्याण करने वाले मोक्ष के कारण को जाने दीजिये। आप यह कहिये कि पूर्व-जन्म में किये हुए अपकार का क्या प्रतिकार हो सकता है ?

यह सुनकर धरणेन्द्र ने उत्सुक होकर आदित्याभ से कहा कि वह कथा किस प्रकार है ? आप मुझ से कहिये। वह देव कहने लगा कि हे बुद्धिमान्। इस विद्युद्दंष्ट्र पर वैर छोड़कर शुद्ध हृदय से सुनो, मैं वह सब कथा विस्तार से साफ-साफ कहता हूं।

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सिंहपुर नगर का स्वामी राजा सिंहसेन था। उसको रामदत्ता नाम की पतिव्रता रानी थी। उस राजा का श्रीभूति नाम का मंत्री था, वह श्रुति स्मृति तथा पुराण आदि शास्त्रों का जानने वाला था, उत्तम ब्राह्मण था और अपने आपको सत्यघोष कहता था। उसी देश के पद्मखण्डपुर नगर में एक सुदत्त नाम का सेठ रहता था। उसकी सुमित्रा स्त्री से भद्रमित्र नाम का पुत्र हुआ उसने पुण्योदय से रत्नद्वीप में जाकर स्वय बहुत से बड़े बड़े रत्न कमाये। उन्हें लेकर वह सिंहपुर नगर आया और वहीं स्थायी रूप से रहने की इच्छा करने लगा। उसने श्रीभूति मंत्री से मिलकर सब बात कही और उसकी सम्मति से अपने रत्न उसके हाथ में रखकर अपने भाई-बन्धुओं को लेने के लिए वह पद्मखण्ड (पद्म) नगर में गया। वहां से वापिस आया तब उसने सत्यघोष से अपने रत्न मांगे परन्तु रत्नों के मोह में पड़कर सत्यघोष बदल गया और कहने लगा कि मैं कुछ नहीं जानता।

तब भद्रमित्र ने सब नगर में रोना-चिल्लाना शुरु किया और सत्यघोष ने भी अपनी प्रामाणिकता बनाये रखने के लिए लोगों को यह बतलाया कि पापी चोरों ने इसका सब धन लूट लिया है। इसी शोक से इसका चित्त व्याकुल हो गया है और उसी दशा में वह यह सब बक रहा है। सदाचार से दूर रहने वाले उस सत्यघोष ने अपनी शुद्धता प्रकट करने के लिए राजा के समक्ष, धर्माधिकारियों-न्यायाधीशों के द्वारा बतलाई शपथ खाई। भद्रमित्र यद्यपि अनाथ रह गया था तो भी उसने अपना रोना नहीं छोड़ा, वह बार-बार यही कहता था कि इस पापी विजाति ब्राह्मण ने मुझे ठग लिया। हे सत्यघोष ! मैंने तुझे चारों तरफ से शुद्ध जाति आदि गुणों से युक्त मंत्रियों के उत्तम गुणों से विभूषित तथा सचमुच ही सत्यघोष समझा था इसलिए ही मैंने अपना रत्नों का पिटारा तेरे हाथ में सौंप दिया था, अब इस तरह तू क्यों बदल रहा है, इस बदलने का कारण क्या है और यह सब करना क्या ठीक है ? महाराज सिंहसेन के प्रसाद से तेरे क्या नहीं है ? छत्र और सिंहासन को छोड़कर यह सारा राज्य तेरा ही तो है। फिर धर्म, यश और बड़प्पन को व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहा है ? क्या तू स्मृतियों में कहे हुये न्यासापहार के दोष को नहीं जानता ? तूने जो निरन्तर अर्थशास्त्र का अध्ययन किया है क्या उसका यही फल है कि तू सदा दूसरों को ठगता है और दूसरों के द्वारा स्वयं नहीं ठगाया जाता। अथवा तू पर शब्द का अर्थ विपरीत समझता है—पर का अर्थ दूसरा न लेकर शत्रु लेता है सो हे सत्यघोष ! क्या सचमुच ही मैं तुम्हारा शत्रु हूँ। सद्भावना से पास में आये हुए मनुष्यों को ठगने में क्या चतुराई है ? गोद में आकर सोये हुए को मारने वाले का पुरुषार्थ, क्या पुरुषार्थ है ? हे श्रीभूति ! तू महामोह रूपी पिशाच से ग्रस्त हो रहा है, तू अपने भावी जीवन को नष्ट मत कर, मेरा रत्नों का पिटारा मुझे दे दे। मेरे रत्न ऐसे हैं, इतने बड़े हैं और उनकी यह जाति है, यह सब तू जानता है फिर क्यों इस तरह उन्हें छिपाता है।

इस प्रकार वह भद्रमित्र प्रति दिन प्रातःकाल के समय किसी वृक्ष पर चढ़कर बार-बार रोता था सो ठीक ही है क्योंकि धीर-वीर मनुष्य कठिन कार्य में भी उद्यम नहीं छोड़ते। बार बार उसका एक-सा रोना सुनकर एक दिन रानी के मन में विचार आया कि चूंकि यह सदा एक ही सदृश शब्द कहता है अतः यह उन्मत्त नहीं है, ऐसा समझ पडता है। रानी ने यह विचार राजा से प्रकट किये और मंत्री के साथ जुआ खेलकर उसका यज्ञोपवीत तथा उसके नाम की अंगूठी जीत ली। तदनन्तर उसने निपुणमती नाम की धाय के हाथ में दोनों चीजें देकर उसे एकान्त में समझाया कि तू श्रीभूति मंत्री के घर जा और उनकी स्त्री से कह कि मुझे मंत्री ने भेजा है, तू मेरे लिए भद्रमित्र का पिटारा दे दे। पहिचान के लिए उन्होंने यह दोनों चीजें भेजी हैं इस प्रकार झूठ-मूठ ही कह कर तू वह रत्नों का पिटारा ले आ, इस तरह सिखलाकर रानी रामदत्ता ने धाय भेजकर मंत्री के घर से वह रत्नों का पिटारा बुला लिया। राजा ने उस पिटारे में और दूसरे रत्न डालकर भद्रमित्र को स्वयं एकांत में बुलाया और कहा कि क्या यह पिटारा तुम्हारा है ? राजा के ऐसा कहने पर भद्रमित्र ने कहा

कि हे देव ! यह पिटारा तो हमारा ही है परन्तु इसमें कुछ दूसरे अमूल्य रत्न मिला दिये गये हैं। इनमें ये रत्न मेरे नहीं हैं इस तरह कहकर सच बोलने वाले, शुद्ध बुद्धि के धारक तथा सज्जनों में श्रेष्ठ भद्रमित्र ने अपने ही रत्न ले लिये। यह जानकर राजा बहुत ही संतुष्ट हुए और उन्होंने भद्रमित्र के लिए सत्यघोष नाम के साथ अत्यन्त उत्कृष्ट सेठ का पद दे दिया—भद्रमित्र को राजश्रेष्ठी बना दिया और उसका 'सत्यघोष' मंत्री झूठ बोलने वाला है, पापी है तथा इसने बहुत पाप किये हैं इसलिए इसे दण्डित किया जावे इस प्रकार धर्माधिकारियों के कहे अनुसार राजा ने उसे दण्ड दिये जाने की अनुमति दे दी। इस प्रकार राजा के द्वारा प्रेरित हुए नगर के रक्षकों ने श्रीभूति मंत्री के लिए तीन दण्ड निश्चित किये :—(१) इसका सब धन छीन लिया जावे, (२) वज्रमुष्टि पहलवान के मजबूत तीन घूंसे दिये जावें, (३) और कांसे के तीन थालों में रखा हुआ नया गोबर खिलाया जावे, इस प्रकार नगर के रक्षकों ने उसे तीन प्रकार के दण्डों से दण्डित किया। श्रीभूति राजा के साथ वैर बांधकर आर्तध्यान से कुपित होता हुआ मरा और मरकर राजा के भण्डार में अगन्धन नाम का सांप हुआ।

अन्याय से दूसरे का धन ले लेना चोरी कहलाती है वह दो प्रकार की मानी गई है एक जो स्वभाव से ही होती और दूसरी किसी निमित्त से। जो चोरी स्वभाव से होती है वह जन्म से ही लोभ कषाय के निकृष्ट संबंधों का उदय होने से होती है। जिस मनुष्य के नैसर्गिक चोरी करने की आदत होती है, उसके घर में करोड़ों का धन रहने पर भी तथा करोड़ों का आय-व्यय होने पर भी चोरी के बिना उसे संतोष नहीं होता। जिस प्रकार सबको क्षुधा आदि की बाधा होती है उसी प्रकार उसके चोरी का भाव होता है। जब घर में स्त्री-पुत्र आदि का खर्च अधिक होता है और घर में धन का अभाव होता है तब दूसरी तरह की चोरी करनी पड़ती है वह भी लोभ कषाय अथवा किसी अन्य दुष्कर्म के उदय से होती है। यह जीव दोनों प्रकार की चोरियों से अशुभ आयु का बन्ध करता है और दुष्ट चेष्टा से दुर्गति में चिरकाल तक भारी दुःख सहन करता है। चोरी करने वाले की सज्जनता नष्ट हो जाती, धनादि के विषय में उसका विश्वास चला जाता है, और मित्र तथा भाई-बन्धुओं के साथ उसे प्राणान्त तक विपत्ति उठानी पड़ती है। जिस प्रकार दावानल से लता शीघ्र ही नष्ट हो जाती है उसी प्रकार गुणरूपी फूलों से गुंथी हुई कीर्ति रूपी ताजी माला चोरी से शीघ्र ही नष्ट हो जाती है यह सब जानते हुए भी मूर्ख सत्यघोष (श्रीभूति) ने पहली नैसर्गिक चोरी के द्वारा यह साहस कर डाला। इस चोरी के कारण वह मंत्री पद से शीघ्र ही च्युत कर दिया गया, उसे पूर्वोक्त कठिन तीन दण्ड भोगने पड़े तथा बड़े भारी पाप से बंधी हुई दुर्गति में जाना पड़ा। इस प्रकार अपने हृदय में मन्त्री के दुराचार का चिन्तवन करते हुए राजा सिंहसेन ने उसका मंत्री पद धर्मिल नामक ब्राह्मण के लिए दे दिया।

इस प्रकार समय व्यतीत होने पर किसी दिन असना नाम के वन में विमलकान्तार नाम के पर्वत पर विराजमान वरधर्म नाम के मुनिराज के पास जाकर सेठ भद्रमित्र ने धर्म का स्वरूप सुना और अपना बहुत-सा धन दान में दे दिया। उसकी माता सुमित्रा इसके इतने दान को न सह सकी अतः अत्यन्त क्रुद्ध हुई और अन्त में मरकर उसी असना नाम के वन में व्याघ्री हुई। एक दिन भद्रमित्र अपनी इच्छा से असना वन में गया था उसे देखकर दुष्ट अभिप्राय वाली व्याघ्री ने उस अपने ही पुत्र को खा लिया सो ठीक ही है क्योंकि क्रोध से जीवों का क्या भक्ष्य नहीं हो जाता ? वह भद्रमित्र मरकर स्नेह के कारण रानी रामदत्ता के सिंहचन्द्र नाम का पुत्र हुआ तथा पूर्णचन्द्र उसका छोटा भाई हुआ। ये दोनों ही पुत्र राजा को अत्यन्त प्रिय थे। किसी समय राजा सिंहसेन अपना भण्डागार देखने के लिये गये थे वहाँ सत्यघोष के जीव अगन्धन नामक सर्प ने उसे क्रोध से डस लिया। उस गरुड़दण्ड नामक गारुड़ी ने मन्त्र से सब सर्पों को बुलाकर कहा कि तुम लोगों में जो निर्दोष हो वह अग्नि में प्रवेश कर बाहर निकले और शुद्धता प्राप्त करे। अन्यथा प्रवृत्ति करने पर मैं दण्डित करूंगा। इस प्रकार कहने पर अगन्धन को छोड़ बाकी सब सर्प उस अग्नि में क्लेश के बिना ही इस तरह बाहर निकल आये जिस तरह कि मानो किसी जलाशय से ही बाहर निकल आए हों। परन्तु अगन्धन क्रोध और मान से भरा था अतः उस अग्नि में जल गया और मरकर कालक वन में लोम सहित चमरी जाति का मृग हुआ। राजा

सिंहसेन भी आयु के अन्त में मर कर सल्ल की वन में अशनि-घोष नाम का मदोन्मत्त हाथी हुआ।

इधर सिंहचन्द्र राजा हुआ और पूर्णचन्द्र युवराज बना। राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते हुए उन दोनों का बहुत भारी समय जब एक क्षण के समान बीत गया। तब एक दिन राजा सिंहसेन की मृत्यु के समाचार सुनने से दान्तमति और हिरण्य-मति नाम को संयम धारण करने वाली आर्यिकाएँ रानी रामदत्ता के पास आईं। रामदत्ता ने भी उन दोनों के समीप संयम धारण कर लिया। इस शोक से राजा सिंहचन्द्र पूर्णचन्द्र नामक मुनिराज के पास गया और धर्मोपदेश सुनकर यह विचार करने लगा कि यदि यह मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है तो फिर इसमें उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है, इसमें उत्पत्ति होने की आशा रखना भ्रम मात्र है अथवा नाना योनियों में भटकना ही बाकी रह जाता है। इस प्रकार विचार कर उसने छोटे भाई पूर्णचन्द्र को राज्य में नियुक्त किया और स्वयं दीक्षा धारण कर ली। वह प्रमाद को छोड़कर विशुद्ध होता हुआ संयम के द्वितीय गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थान को प्राप्त हुआ। तप के प्रभाव से उसे आकाशचारण ऋद्धि तथा मन:पर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ। किसी समय रामदत्ता सिंहचन्द्र मुनि को देखकर बहुत ही हर्षित हुई। उसने मनोहर वन नाम के उद्यान में विधि पूर्वक उनकी वन्दना की, तप के निर्विघ्न होने का समाचार पूछा और अन्त में पुत्र स्नेह के कारण यह पूछा कि पूर्णचन्द्र धर्म को छोड़कर भोगों का आदर कर रहा है वह कभी धर्म को प्राप्त होगा या नहीं? सिंहचन्द्र मुनि ने उत्तर दिया कि खेद मत करो, वह अवश्य ही तुम से अथवा अन्य से तुम्हारे धर्म को ग्रहण करेगा। मैं इसके अन्य भव से सम्बन्ध रखने वाली कथा कहता हूं सो सुनो।

कोशल देश के वृद्ध नामक ग्राम में एक मृगायण नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम मधुरा था। उन दोनों के वारुणी नाम की पुत्री थी, मृगायण आयु के अन्त में मरकर साकेत नगर के राजा दिव्यबल और उसकी रानी सुमति के हिरण्यवती नाम को पुत्री हुई। वह सती हिरण्यवती पोदनपुर नगर के राजा पूर्णचन्द के लिए दी गई—ब्याही गई। मृगायण ब्राह्मण को स्त्री मधुरा भी मरकर उन दोनों पूर्णचन्द्र और हिरण्यवती के तू रामदत्ता नाम की पुत्री हुई थी, सेठ भद्रमित्र तेरे स्नेह से सिंहचन्द्र नाम का पुत्र हुआ था और वारुणी का जीव यह पूर्णचन्द्र हुआ है। तुम्हारे पिता ने भद्रबाहु से दीक्षा ली थी और उनसे दीक्षा ली थी। इस प्रकार तुम्हारे पिता हम दोनों के गुरु हुए हैं। तेरी माता ने दान्तमती के समीप दीक्षा धारण की थी और फिर हिरण्यवती माता से तूने दीक्षा धारण की है। आज मुझे सब प्रकार की शान्ति है। राजा सिंहसेन को सांप ने डस लिया था जिससे मर कर वह वन में अशनिघोष नाम का हाथी हुआ। एक दिन वह मदोनमत्त हाथी वन में घूम रहा था, वहीं मैं था, मुझे देखकर वह मारने की इच्छा से दौड़ा, मुझे आकाशचारण ऋद्धि थी। अत: मैंने आकाश में स्थित हो पूर्वभव का सम्बन्ध बताकर उसे समझाया। वह ठीक-ठीक सब समझ गया जिससे उस भव्य ने शीघ्र ही संयामासंयम—देशव्रत ग्रहण कर लिया। अब उसका चित्त बिलकुल शान्त है, वह सदा विरक्त रहता हुआ शरीर आदि की नि:सारता का विचार करता रहता है, लगातार एक माह के उपवास कर सूखे पत्तों की पारणा करता है।

इस प्रकार महान धैर्य का धारक वह हाथी चिरकाल तक कठिन तपश्चरण कर अत्यंत दुर्बल हो गया। एक दिन वह यूपकेसरिणी नाम की नदी के किनारे पानी पीने के लिए घुसा। उसे देखकर श्रीभूति—सत्यघोष के जीव ने जो मरकर चमरी मृग और बाद में कुर्कुट सर्प हुआ था उसी हाथी के मस्तक पर चढ़कर उसे डस लिया। उसके विष से हाथी मर गया, वह चूंकि समाधिमरण से मरा था। अत: सहस्रार स्वर्ग के रविप्रिय नामक विमान में श्रीधर नाम का देव हुआ। धमिल ब्राह्मण जिसे कि राजा सिंह सेन ने श्रीभूति के बाद अपना मन्त्री बनाया था आयु के अन्त में मरकर उसी वन में वानर हुआ था। उस वानर की और पूर्वोक्त हाथी की समान मित्रता थी। अत: उसने उस कुर्कुट सर्प को मार डाला जिससे वह मर कर तीसरे नरक में उत्पन्न हुआ। इधर शृगालवान नाम के व्याघ्र ने उस हाथी के दोनों दांत तोड़े और अत्यन्त चमकीले मोती निकाले तथा धनमित्र नामक सेठ के लिए दिये। राजश्रेष्ठी धनमित्र ने वे दोनों दांत तथा मोती राजा पूर्णचन्द के लिए दिये। राजा पूर्णचन्द्र ने उन दोनों दांतों से

अपने पलंग के चार पाये बनवाये और मोतियों से हार बनवा कर पहिना। वह मनुष्य सर्वथा बुद्धिरहित नहीं है अथवा संसार के प्रभाव का विचार नहीं करता है तो संसार के ऐसे स्वभाव का विचार करने वाला कौन मनुष्य है जो विषय-भोगों में प्रीति बढ़ाने वाला हो ?

इस तरह सिंहचन्द्र मुनि के समझाने पर रामदत्ता को बोध हुआ, वह पुत्र के स्नेह से राजा पूर्णचन्द्र के पास गई और उसे सब बातें कहकर समझाया। पूर्णचन्द्र ने धर्म के तत्व को समझा और चिरकाल तक राज्य का पालन किया। रामदत्ता ने पुत्र के स्नेह से निदान किया और आयु के अन्त में मरकर महाशुक्ल स्वर्ग के भास्कर नामक विमान में देव पद प्राप्त किया। तथा पूर्णचन्द्र भी उसी स्वर्ग के वैडूर्य नामक विमान में वैडूर्य नाम का देव हुआ। निर्मल ज्ञान के धारक सिंहचन्द्र मुनिराज भी अच्छी तरह समाधिमरण कर नौवें ग्रैवेयक के प्रीतंकर विमान में अहमिन्द्र हुए। रामदत्ता का जीव महाशुक्र स्वर्ग से चलकर इसी दक्षिण श्रेणी के धरणीतिलक नामक नगर के स्वामी अतिवेग विद्याधर के श्रीधरा नामकी पुत्री हुई। वहां इसकी माता का नाम सुलक्षणा था। यह श्रीधरा पुत्री अलका नगरी के अधिपति दर्शन नामक विद्याधर के राजा के लिए दी गई। पूर्णचन्द्र का जीव जो कि महाशुक्र स्वर्ग के वैडूर्य विमान में वैडूर्य नामक देव हुआ था वहां से चयकर इसी श्रीधरा के यशोधरा नामकी वह कन्या हुई जो कि पुष्करपुर नगर के राजा सूर्यावर्त के लिए दी गई थी। राजा सिंहसेन अथवा अशनिघोष हाथी का जीव श्रीधर देव उन दोनों—सूर्यावर्त और यशोधरा के रश्मिवेग नाम का पुत्र हुआ। किसी मुनिचन्द्र नामक मुनि से धर्मोपदेश सुनकर राजा सूर्यव्रत तप के लिए चले गये और श्रीधरा तथा यशोधरा ने गुणवती आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली।

किसी समय रश्मिवेग सिद्धकूट पर विद्यमान जिन-मन्दिर के दर्शन के लिए गया, वहां उसने चारण-ऋद्धि धारी हरिश्चन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन कर उनसे धर्म का स्वरूप सुना, उन्हीं से सम्यग्दर्शन और संयम प्राप्त कर मुनि हो गया तथा शीघ्र ही आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त कर ली। किसी दिन रश्मिवेग मुनि कांचन नाम की गुहा में विराजमान थे, उन्हें देखकर श्रीधरा और यशोधरा आर्यिकाएं उन्हें नमस्कार कर वहीं बैठ गईं।

इधर सत्यघोष का जीव जो तीसरे नरक में नारकी हुआ था। वहां से निकल कर पाप के उदय से चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहा और अन्त में उसी वनमें महान अजगर हुआ। उन श्रीधरा तथा यशोधरा आर्यिकाओं को और सूर्य के समान दीप्ति वाले उन रश्मिवेग मुनिराज को देखकर उस अजगर ने क्रोध से एक ही साथ निगल लिया। समाधिमरण कर आर्यिकाएँ तो कापिष्ठ नामक स्वर्ग के रुचक नामक विमान में उत्पन्न हुई। और मुनि उसी स्वर्ग के अर्कप्रभ नामक विमान में देव उत्पन्न हुए। वह अजगर भी पाप के उदय से पंकप्रभा नामक चतुर्थ पृथ्वी में पहुंचा। सिंहचन्द्र का जीव स्वर्ग से चयकर इसी जम्बूद्वीप के चन्द्रपुर नगर के स्वामी राजा अपराजित और उनकी सुन्दरी नाम की रानी के चक्रायुद्ध नाम का पुत्र हुआ। उसके कुछ समय बाद रश्मिवेग का जीव भी स्वर्ग से च्युत होकर इसी अपराजित राजा की दूसरी रानी चित्रमाला के वज्रायुध नाम का पुत्र हुआ। श्रीधरा आर्यिका स्वर्ग से चयकर धरणी तिलकनगर के स्वामी अतिवेग राजा की प्रियकारिणी रानी के समस्त लक्षणों से सम्पूर्ण रत्नमाला नाम की अत्यन्त प्रसिद्ध पुत्री हुई। यह रत्नमाला आगे चलकर वज्रायुध के आनन्द को बढ़ाने वाली उसकी प्राणप्रिया हुई। और यशोधरा आर्यिका स्वर्ग से चय कर इन दोनों—वज्रायुध और रत्नमाला के रत्नायुध नाम का पुत्र हुआ। इस प्रकार से सब यहां प्रतिदिन अपने-अपने पूर्व पुण्य का फल प्राप्त करने लगे।

किसी दिन धीरबुद्धि के धारक राजा अपराजित ने पिहितास्रव मुनि से धर्मोपदेश सुना और चक्रायुध के लिए राज्य देकर दीक्षा ले ली। कुछ समय बाद राजा चक्रायुध भी वज्रायुध पर राज्य का भार रखकर अपने पिता के पास दीक्षित हो गये और उसी जन्म में मोक्ष चले गये। अब वज्रायुध ने भी राज्य का भार रत्नायुध के लिए सौंपकर चक्रायुध के समीप दीक्षा ले ली सो ठीक ही है क्योंकि सत्वगुण के धारक क्या नहीं करते ? रत्नायुध भोगों में आसक्त था। अतः धर्म की रक्षा छोड़कर बड़ी लम्पटता के साथ वह चिर-काल तक राज्य के सुख भोगता रहा। किसी समय मनोरम

नाम के महोद्यान में वज्रदन्त महामुनि लोकानुयोग का वर्णन कर रहे थे उसे सुनकर बड़ी बुद्धिवाले, राजा के मेघविजय नामक हाथी को अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया जिससे उसने योग धारण कर लिया, मांसादि ग्रास लेना छोड़ दिया और संसार की दुःखमय स्थिति का वह विचार करने लगा। यह देख राजा घबड़ा गया, उसने बड़े-बड़े मन्त्रवादियों तथा वैद्यों को बुलाकर स्वयं ही बड़े आदर से पूछा कि इस हाथी को क्या विकार हो गया है? उन्होंने जब वात पित्त और कफ से उत्पन्न हुआ कोई विकार नहीं देखा तब अनुमान से विचार कर कहा कि धर्म श्रवण करने से इसे जाति-स्मरण हो गया है इसलिए उन्होंने किसी अच्छे वर्तन में बना तथा घृत आदि से मिला हुआ शुद्ध आहार उसके सामने रखा जिसे उस गजराज ने खा लिया।

यह देख राजा बहुत ही अश्चर्य को प्राप्त हुआ। वह वज्रदन्त नामक अवधिज्ञानी मुनिराज के पास गया और यह सब समाचार कहकर उनसे इसका कारण पूछने लगा। मुनिराज ने कहा कि हे राजन! मैं सब कारण कहता हूं तू सुन। इसी भरतक्षेत्र में छत्रपुर नगर का राजा प्रतिभद्र था। उसकी सुन्दरी नाम की रानी से प्रीतिकंर नामक पुत्र हुआ। राजा के एक चित्रमति नामक मत्री था और लक्ष्मी के समान उसकी कमला नाम की स्त्री थी। कमला के विचित्रमति नाम का पुत्र हुआ। एक दिन राजा और मंत्री दोनों के पुत्रों ने धर्मरुचि नाम के मुनिराज से धर्म उपदेश सुना और उसी समय भोगों से उदास होकर दोनों ने तप धारण कर लिया। महामुनि प्रीतिंकर को क्षीरास्रव नामकी ऋद्धि उत्पन्न हो गई। वे दोनों मुनि क्रम-क्रम से विहार करते हुए साकेतपुर पहुंचे। उनमें से मन्त्रिपुत्र विचित्रमति मुनि उपवास का नियम लेकर नगर के बाहर रह गये और राजपुत्र प्रीतिंकर मुनि चर्या के लिए नगर में गये। अपने घर के समीप जाता हुआ देख बुद्धिषेणा नाम की वैश्या ने उन्हें बड़ी विनय से प्रणाम किया। और मेरा कुल दान देने योग्य नहीं है इसलिए बड़े शोक से अपनी निन्दा करती हुई उसने मुनिराज से पूछा कि हे मुने, आप यह बताइये कि प्राणियों को उत्तम कुल तथा रूप आदि की प्राप्ति किस कारण से होती है? 'मद्य मांसादि के त्याग से होती है' ऐसा कहकर वह मुनि नगर से लौट आये। दूसरे विचित्रमति मुनि ने उनसे आदर के साथ पूछा कि आप नगर में बहुत देर तक कैसे ठहरे? उन्होंने भी वैश्या के साथ जो बात हुई थी वह ज्यों की त्यों निवेदन कर दी।

दूसरे दिन मंत्रिपुत्र विचित्रमति मुनि ने भिक्षा के समय वैश्या के घर में प्रवेश किया। वैश्या मुनि को देखकर एकदम उठी तथा नमस्कार करके पहले के समान बड़े आदर से धर्म का स्वरूप पूछने लगी। परन्तु दुर्बद्धि विचित्रमतिमुनि ने उसके साथ काम और राग सम्बन्धी कथाएं ही कीं। वैश्या उनके अभिप्राय को समझ गई अतः उसने उनका तिरस्कार किया। विचित्रमति वैश्या से अपमान पाकर बहुत ही क्रुद्ध हुआ। उसने मुनिपना छोड़ दिया और राजा की नौकरी कर ली। वहां पाकशास्त्र के कहे अनुसार बनाये हुए मांस से उसने उस नगर के स्वामी राजा गन्धमित्र को अपने वश कर लिया और इस उपाय से उस बुद्धिषेणा को अपने अधीन कर लिया। अन्त में वह विचित्रमति मरकर तुम्हारा हाथी हुआ है। मैं यहां त्रिलोकप्रज्ञप्ति का पाठ कर रहा था उसे सुनकर इसे जाति-स्मरण हुआ है। अब यह संसार से विरक्त है, निकट भव्य है और इसी लिए धर्म का त्याग करना ऐसा है जैसा कि कांच के लिए महामणि का और दासी के लिए माता का त्याग करना है इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे भोगों का सदा त्याग करें। यह सुनकर राजा कहने लगा कि 'धर्म को दूषित करने वाले काम को धिक्कार है, वास्तव में धर्म ही परम मित्र है' ऐसा कहकर वह धर्म में तत्पर हो गया। उसने उसी समय अपना राज्य पुत्र के लिए दे दिया और माता के साथ संयम धारण कर लिया। तपश्चरण कर मरा और आयु के अन्त में सोलहवें स्वर्ग में देव हुआ।

सत्यघोष का जीव जो पंकप्रभा नामक चौथे नरक में गया था। वहां से निकलकर चिरकाल तक नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ अनेक दुःख भोगता रहा। एक बार वह पूर्वकृत पाप के उदय से इस क्षेत्रपुर नगर में दारुण नामक व्याल की मंगी स्त्री से अतिदारुण नामक पुत्र हुआ। किसी एक प्रियगु-खण्ड नाम के वन में वज्रयुध मुनि प्रतिमायोग धारण कर विराजमान थे उन्हें उस दुष्ट भील के लड़के ने परलोक भेज दिया—मार डाला। तीक्ष्ण बुद्धि के धारक वे मुनि व्याल के द्वारा किया हुआ तीव्र उपसर्ग सहकर धर्मध्यान से सर्वार्थसिद्धि

को प्राप्त हुए। और अति दारुण नामका व्याध मुनिहत्या के पाप से सातवें नरक में उत्पन्न हुआ।

पूर्व धातकी खण्ड के पश्चिम विदेह क्षेत्र में गन्धिल नामक देश है उसके अयोध्या नगर में राजा अर्हद्दास रहते थे, उनकी सुख देने वाली सुव्रता नाम की स्त्री थी। रत्नमाला का जीव उन दोनों के वीतमय नाम का पुत्र हुआ। और उसी राजा की दूसरी रानी जिनदत्ता के रत्नायुध का जीव विभीषण नाम का पुत्र हुआ। वे दोनों ही पुत्र बलभद्र तथा नारायण थे और दीर्घकाल तक विवाह किये बिना ही राजलक्ष्मी का यथायोग्य उपभोग करते रहे। अन्त में नारायण तो नरकायु का बंधकर शर्कराप्रभा में गया और बलभद्र अन्तिम समय में दीक्षा लेकर लान्तव स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। मैं वही आदित्याभ नाम का देव हूं, मैंने स्नेहवश दूसरे नरक में जाकर वहां रहने वाले विभीषण को सम्बोधा था। वह प्रतिबोध को प्राप्त हुआ और वहां से निकलकर इसी जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र की अयोध्या नगरी के राजा श्रीवर्मा की सुसोमा देवी के श्री धर्मा नाम का पुत्र हुआ। और वयस्क होने पर अनन्त नामक मुनिराज से संयम ग्रहण कर ब्रह्मस्वर्ग में आठ दिव्य गुणों से विभूषित देव हुआ।

वज्रायुध का जीव जो सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था वहां से आकर संजयन्त हुआ। श्रीधर्मा का जीव ब्रह्मस्वर्ग से आकर तू जयन्त हुआ था और निदान बांधकर मोह-कर्म के उदय से धरणीन्द्र हुआ। सत्यघोष का जीव सातवीं पृथ्वी से निकल कर जघन्य आयु का धारक सांप हुआ और फिर तीसरे नरक गया। वहां से निकलकर त्रस स्थावर रूप तिर्यंच गति में भ्रमण करता रहा। एक वार भूतरमण नामक वन के मध्य में ऐरावत नदी के किनारे गोश्रृंग नामक तापस की शंखिका नामक स्त्री के मृगश्रृंग नाम का पुत्र हुआ। वह विरक्त होकर पचांग्नि तप कर रहा था कि इतने में वहां से दिव्य तिलक नगर का राजा अंशुमाल नाम का विद्याधर निकला उसे देखकर उस मूर्ख ने निदान बन्ध किया। अन्त में मरकर इसी भरतक्षेत्र के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी-सम्बन्धी गगनवल्लभ नगर के राजा वज्रदंष्ट्र विद्याधर की विद्युतप्रभा रानी के विद्युद्दंष्ट्र नाम का पुत्र हुआ। इसने पूर्व वैर के संस्कार से कर्मबंध कर चिरकाल तक दुःख पाये और आगे भी पावेगा।

इस प्रकार कर्म के वश होकर यह जीव परिवर्तन करता रहता है। पिता पुत्र हो जाता है, पुत्र माता हो जाती है, माता भाई हो जाती है, भाई बहन हो जाता है और बहन नाती हो जाती है सो ठीक ही है क्योंकि इस संसार में बन्धुजनों के सम्बन्ध की स्थिरता ही क्या है? इस संसार में किसने किसका अपकार नहीं किया और किसने किसका उपकार नहीं किया? इसलिए वैर बाँध कर पाप का बन्ध मत करो। हे नागराज! हे धरणेन्द्र! वैर छोड़ो और विद्युद्दंष्ट्र को भी छोड़ दो। इस प्रकार उस देव के वचन रूप अमृत की वर्षा से धरणेन्द्र बहुत ही संतुष्ट हुआ।

वह कहने लगा कि हे देव! तुम्हारे प्रसाद से आज मैं समीचीन धर्म का श्रद्धान करता हूं। किन्तु इस विद्युद्दंष्ट्र ने जो यह पाप का आचरण किया है वह विद्या के बल से ही किया है इसलिए मैं इसकी तथा इसके वंश की महाविद्या को छीन लेता हूं' यह कहा। उसके वचन सुनकर वह देव धरणेन्द्र से फिर कहने लगा कि आपको स्वयं नहीं तो मेरे अनुरोध से ही ऐसा नहीं करना चाहिए। धरणेन्द्र ने भी उस देव के वचन सुनकर कहा कि यदि ऐसा है तो इसके वंश के पुरुषों को महाविद्याएं सिद्ध नहीं होंगी परन्तु इस वंश की स्त्रियाँ संजयन्त स्वामी के समीप महाविद्याओं को सिद्ध कर सकती हैं। यदि इन अपराधियों को इतना भी दण्ड नहीं दिया जावेगा तो ये दुष्ट अहंकार से खोटी चेष्टाएं करने लगेंगे तथा आगे होने वाले मुनियों पर भी ऐसा उपद्रव करेंगे।

इस घटना से इस पर्वत पर के विद्याधर अत्यन्त लज्जित हुए थे इसलिए इसका नाम 'ह्रीमान' पर्वत है ऐसा कहकर उसने उस पर्वत पर अपने भाई संजयन्त मुनि की प्रतिमा बनवाई। धर्म और न्याय के अनुसार कहे हुए शान्त वचनों से विद्युद्दंष्ट्र को कालुष्य रहित किया और उस देव की पूजा कर अपने स्थान पर चला गया। वह देव अपनी आयु के अन्त में उत्तर मथुरा नगरी के अनन्तवीर्य राजा और मेरुमालिनी नाम की रानी के मेरु नाम का पुत्र हुआ। तथा धरणेन्द्र भी उसी राजा की अमितवती रानी के मन्दर नाम का पुत्र हुआ। वे दोनों ही भाई शुक्र और बृहस्पति के समान थे। तथा अत्यन्त निकट भव्य थे इसलिए विमलवाहन भगवान के पास जाकर उन्होंने अपने पूर्वभव के सम्बन्ध सुने एवं दीक्षा लेकर उनके

गणधर हो गये। अब यहां इसमें से प्रत्येक का नाम लेकर उनकी गति और भवों के समूह का वर्णन करता हूं।

सिंहसेन का जीव अशनिघोष हाथी हुआ, फिर श्रीधर देव, रश्मिवेग, अर्कप्रभदेव, महाराज वज्रायुध, सर्वार्थसिद्धि में देवेन्द्र और वहां से चयकर संजयन्त केवली हुआ। इस प्रकार सिंहसेनने आठ भवमें मोक्षपद पाया। मधुरा का जीव रामदत्ता, भास्करदेव, श्रीधरा, देव, रत्नमाला, अच्युतदेव, वीतभय और आदित्य प्रभदेव होकर विमलवाहन भगवान का मेरु नाम का गणधर हुआ और सात ऋद्धियों से युक्त होकर उसी भव से मोक्ष को प्राप्त हुआ। वारुणी का जीव पूर्णचन्द्र, वैडूर्यदेव, यशोधरा, कामिष्ठ स्वर्ग में बहुत भारी ऋद्धियों को धारण करने वाला रुचकप्रभ नाम का देव, रत्नायुध देव, विभीष्ण पाप के कारण दूसरे नरक का नारकी, श्रीधर्मा ब्रह्मस्वर्ग का देव, जयन्त, धरणेन्द्र और विमल नाथ का मन्दर नाम का गणधर हुआ और चार ज्ञान का धारी होकर संसार सागर से पार हो गया। श्रीभूति—(सत्यघोष) मंत्री का जीव सर्प, चमर, कुर्कुट, सर्प, तीसरे नरक का दुःखी नारकी, अजगर चौथे नरक का नारकी, त्रस और स्थावरों के बहुत भव अति दारुण सातवें नरक का नारकी, सर्प, नारकी, अनेक योनियों में भ्रमण कर मृगशृंग और फिर मरकर पापी विद्युद्दंष्ट्र विद्याधर हुआ एवं पीछे से वैर रहित-प्रसन्न भी हो गया था। भद्रमित्र सेठ का जीव सिंहचन्द्र, प्रीतिकर देव और चक्रायुध का भव धारण कर आठों कर्मों को नष्ट करता हुआ निर्वाण को प्राप्त हुआ था।

इस प्रकार कहे हुए तीनों ही जीव अपने-अपने कर्मोदय के वश चिरकाल तक उच्च-नीच स्थान पाकर कहीं तो सुख का अनुभव करते रहे और कहीं बिना मांगे हुए तीव्र दुःख भोगते रहे परन्तु अन्त में तीनों ही निष्पाप होकर परमपद को प्राप्त हुए। जिन महानुभाव ने हृदय में समता रसके विद्यमान रहने से दुष्ट विद्याधर के द्वारा किये हुए भयंकर उपसर्ग को 'यह किसी विरले ही भाग्यवान को प्राप्त होता है' इस प्रकार विचार कर बहुत अच्छा माना और अत्यन्त निर्मल शुक्ल ध्यान को धारण कर शुद्धता प्राप्त की वे कर्ममल रहित संजयन्त स्वामी तुम सबकी रक्षा करें। जिन्होंने सूर्य और चन्द्रमा को जीतकर उत्कृष्ट तेज प्राप्त किया है, जो मुनियों के समूह के स्वामी हैं, तथा नयों से परिपूर्ण जनागम के नायक हैं ऐसे मेरु और मंदर नाम के गणधर सदा आप लोगों से पूजित रहें—आप लोग सदा उनकी पूजा करते रहें।

श्री भगवान अनन्तनाथ जी

अथानन्तर जो अनन्त दोषों को नष्ट करने वाले हैं तथा अनन्त गुणों की खान-स्वरूप हैं ऐसे श्री अनन्तनाथ भगवान हम सबके हृदय में रहने वाले मोह रूपी अन्धकार की सन्तान को नष्ट करें। घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व मेरु से उत्तर की ओर विद्यमान किसी देश में एक अरिष्ट नामका बड़ा सुन्दर नगर है जो ऐसा जान पड़ता है मानो समस्त सम्पदाओं के रहने का एक स्थान ही हो। उस नगर का राजा पद्मरथ था, वह अपने गुणों से पद्मा-लक्ष्मी का स्थान था, उसने चिर-काल तक पृथ्वी का पालन किया जिससे प्रजा परम प्रीति को प्राप्त होती रही।

जीवों को सुख देने वाली उत्तम रूप आदि सामग्री पुण्योदय से प्राप्त होती है और राजा पद्मरथ के वह पुण्य का उदय बहुत भारी तथा बाधा रहित था। इसलिए इन्द्रियों के विषयों के सान्निध्य से उत्पन्न होने वाले सुख से वह इन्द्र के समान संतुष्ट होता हुआ अच्छी तरह संसार के सुख का अनुभव करता था। किसी एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप गया। वहां उसने विनय के साथ उनकी स्तुति की और निर्मल धर्म का उपदेश सुना। तदन्तर वह चिन्तवन करने लगा कि 'जीवों का शरीर के साथ और इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ जो संयोग होता है वह अनित्य है क्योंकि इस संसार में सभी जीवों के आत्मा और शरीर तथा इन्द्रियां और उनके विषय इनमें से एक का अभाव होता ही रहता है।

यदि अन्य मतावलम्बी लोगों का आशय मोहित हो तो भले ही हो मैंने तो मोहरूपी शत्रु के माहात्म्य को नष्ट करने वाले अर्हन्त भगवान के चरण-कमलों का आश्रय प्राप्त किया है। मैं इन विषयों में अपनी बुद्धि स्थिर कैसे कर सकता हूं—इन विषयों को नित्य किस प्रकार मान सकता हूं' इस प्रकार इसकी बुद्धि मोहरूपी महागांठ को खोलकर उद्यम करने लगी। तदन्तर जिस प्रकार चारों ओर लगी हुई वनाग्नि

को ज्वालाओं से भयभीत हुआ हरिण अपने बहुत पुराने रहने के स्थान को छोड़ने का उद्यम करता है उसी प्रकार वह राजा भी चिरकाल से रहने के स्थान-स्वरूप संसाररूपी स्थली को छोड़ने का उद्यम करने लगा। उसने घनरथ नामक पुत्र के लिए राज्य देकर संयम धारण कर लिया और ग्यारह अंगरूपी सागर का पारगामी होकर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। अन्त में सल्लेखना धारण कर शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्रपद प्राप्त किया। वहां उसकी आयु बाईस सागर थी, शरीर साढ़े तीन हाथ का था, शुक्ल-लेश्या थी, वह ग्यारह माह में एक बार श्वास लेता था, बाईस हजार वर्ष बाद आहार ग्रहण करता था, मानसिक प्रवीचार से सुखी रहता था, तमःप्रभा नामक छठवीं पृथ्वी तक उसका अवधिज्ञान था और वहीं तक उसका बल, विक्रिया और तेज था। इस प्रकार चिरकाल तक सुख भोगकर वह इस मध्यम लोक में आने के लिए सम्मुख हुआ।

उस समय इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री महाराज सिंहसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। देवों ने उसके घर के आगे छह माह तक रत्नों की श्रेष्ठ धारा बरसाई। कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल के समय रेवती नक्षत्र में उसने सोलह स्वप्न देखने के बाद मुंह में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। अवधिज्ञानी राजा से उन स्वप्नों का फल जाना। उसी समय वह अच्युतेन्द्र उसके गर्भ में आकर स्थित हुआ जिससे वह बहुत भारी सन्तोष को प्राप्त हुई। तदनन्तर देवों ने गर्भकल्याणक का अभिषेक कर वस्त्र, माला और बड़े-बड़े आभूषणों से महाराज सिंहसेन और रानी जयश्यामा की पूजा की। जयश्यामा का गर्भ सुख से बढ़ने लगा। नव माह व्यतीत होने पर उसने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पूषयोग में पुण्यवान पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रों ने आकर उस पुत्र का मेरु पर्वत पर अभिषेक किया और बड़े हर्ष से अनन्तजित यह सार्थक नाम रखा।

श्री विमलनाथ भगवान के बाद नौ सागर और पौन पल्य बीत जाने पर तथा अन्तिम समय धर्म का विच्छेद हो जाने पर भगवान अनन्तनाथ जिनेन्द्र, उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी। उनकी आयु तीन लाख वर्ष की थी, शरीर पचास धनुष ऊंचा था, देदीप्यमान सुवर्ण के समान रंग था और वे सब लक्षणों से सहित थे। मनुष्य, विद्याधर और देवों के द्वारा पूजनीय भगवान अनन्तनाथ ने सात लाख पचास हजार वर्ष बीत जाने पर राज्याभिषेक प्राप्त किया था। और जब राज्य करते हुए उन्हें पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये तब किसी एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सोचने लगे कि यह दुष्कर्मरूपी बेल अज्ञानरूपी बीज से उत्पन्न हुई है, असंयमरूपी पृथ्वी के द्वारा धारणा की हुई है, प्रमादरूपी जल से सींची गई है, कषाय ही इसकी स्कन्धयष्टि है—बड़ी मोटी शाखा है, योग के आलम्बन से बढ़ी हुई है, तिर्यञ्च गति के द्वारा फैली हुई है, वृद्धावस्था रूपी फूलों से ढकी हुई है, अनेक रोग ही इसके पत्ते हैं, और दुःख रूपी दुष्ट फलों से झुक रही है। मैं इस दुष्ट कर्मरूपी बेल को शुक्ल ध्यानरूपी तलवार के द्वारा आत्म-कल्याण के लिए जड़-मूल से काटना चाहता हूं।

ऐसा विचार करते ही स्तुति करते हुए लौकान्तिक देव आ पहुंचे। उन्होंने उनकी पूजा की, विजयी भगवान ने अपने अनन्तविजय पुत्र के लिए राज्य दिया; देवों ने तृतीय-दीक्षा-कल्याणक की पूजा की, भगवान सागरदत्त नामक पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गये और वहां बेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। जिन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ और जो सामाजिक संयम से सहित हैं ऐसे अनन्तनाथ दूसरे दिन चर्या के लिए साकेतपुर में गये। वहां सुवर्ण के समान कान्ति वाले विशाख नामक राजा ने उन्हें आहार देकर स्वर्ग तथा मोक्ष की सूचना देने वाले पंचाश्चर्य प्राप्त किये। इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्थाओं के दो वर्ष बीत गये तब पूर्वोक्त सहेतुक वन में अश्वत्थ-पीपल वृक्ष के नीचे चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन सायंकाल के समय रेवती नक्षत्र में उन्होंने केवल ज्ञान उत्पन्न किया। उसी समय देवों ने चतुर्थ कल्याणक की पूजा की।

जय आदि पचास गणधरों के द्वारा उनकी दिव्य ध्वनि का विस्तार होता था, वे एक हजार पूर्व धारियों के द्वारा वन्दनीय थे, तीन हजार दो सौ वाद करने वाले मुनियों के स्वामी थे, उनतालीस हजार पांच सौ शिक्षक उनके साथ रहते थे, चार

हजार तीन सौ अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, वे पांच हजार केवल ज्ञानियों से सहित थे, आठ हजार विक्रियाऋद्धि के धारकों से विभूषित थे, पांच हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे, इस प्रकार सब मिलाकर छयासठ हजार मुनि उनकी पूजा करते थे। सर्वश्री आदि को लेकर एक लाख आठ हजार आर्यिकाएं उनकी स्तुति करती थीं। वे असंख्यात देव-देवियों के द्वारा स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यंचों से सेवित थे। इस तरह बारह सभाओं में विद्यमान भव्य-समूह के अग्रणी थे। पदार्थ कथंचित सद्रूप है और कथंचिद् असद्रूप है इस प्रकार विधि और निषेध पक्ष के सद्भाव को प्रकट करते हुए भगवान अनन्तनाथ ने प्रसिद्ध देशों में विहार कर भव्य जीवों को सन्मार्ग में लगाया।

अन्त में सम्मेद शिखर पर जाकर उन्होंने विहार करना छोड़ दिया और एक माह का योग निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया। तथा चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में चतुर्थ शुक्ल ध्यान के द्वारा परम पद प्राप्त किया। उसी समय देवों के समूह ने आकर बड़े आदर से विधि पूर्वक अन्तिम संस्कार किया और यह सब क्रिया कर वे सब अपने-अपने स्थानों पर चले गये। जिन्होंने मिथ्यानयरूपी सघन अन्धकार से भरे हुए समस्त लोक को सम्यग्नयरूपी किरणों से शीघ्र ही प्रकाशित कर दिया है, जो मिथ्या शास्त्ररूपी उल्लुओं से द्वेष करने वाले हैं, जिनकी उत्कृष्ट दीप्ति अत्यन्त प्रकाशमान है और जो भव्य जीव रूपी कमलों को विकसित करने वाले हैं ऐसे श्री अनन्तजित भगवान रूपी सूर्य तुम सबके पाप को जलावें। जो पहले पद्मरथ नाम के प्रसिद्ध राजा हुए फिर तप के प्रभाव से निःशक बुद्धि के धारक अच्युतेन्द्र हुए वे अनन्त भवों में होने वाले मरण से तुम सबकी रक्षा करें।

अथानन्तर—इन्हीं अनन्तनाथ के समय में सुप्रभ बलभद्र और पुरुषोत्तम नामक नारायण हुए हैं इसलिए इन दोनों के तीन भवों का उत्कृष्ट चरित्र कहता हूं। इसी भरत क्षेत्र के पोदनपुर नगर में राजा वसुषेण रहते थे उनकी महारानी का नाम नन्दा था जो अतिशय प्रशंसनीय थी। उस राजा के यद्यपि पांच सौ स्त्रियां थी तो भी वह नन्दा के ऊपर ही विशेष प्रेम करता था सो ठीक ही है क्योंकि वसन्त ऋतु में अनेक फूल होने पर भी भ्रमर आम्रमंजरी पर ही अधिक उत्सुक रहता है। मलय देश का राजा चण्डशासन, राजा वसुषेण का मित्र था। इसलिए वह किसी समय उसके दर्शन करने के लिए पोदनपुर आया। पाप के उदय से प्रेरित हुआ चण्डशासन नन्दा को देखने से उस पर मोहित हो गया। अतः वह दुर्बुद्धि उसी समय से उसे हरकर अपने देश ले गया। राजा वसुषेण असमर्थ था अतः उस पराभव से बहुत दुखी हुआ, चिन्ता रूपी यमराज उसके प्राण खींच रहा था परन्तु उसे शास्त्रज्ञान का बल था अतः वह शान्त होकर श्रेय नामक गणधर के पास जाकर दीक्षित हो गया। उस महाबलवान ने सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तपकर यह निदान किया कि यदि मेरी इस तपश्चर्या का कुछ फल हो तो मैं अन्य जन्म में ऐसा राजा होऊं कि जिसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन न कर सके। तदनन्तर संन्यासमरण कर वह सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग में देव हुआ। वहां अठारह सागर की उसकी आयु थी।

अथानन्तर-जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र में एक सम्पत्ति-सम्पन्न नन्दन नाम का नगर है। उसमें महाबल नाम का राजा राज्य करता था। यह प्रजा की रक्षा करता हुआ सुखों का उपभोग करता था, अत्यन्त धर्मात्मा था, श्रीमान था, उसकी कीर्ति दिशाओं के अन्त तक फैली थी, और वह याचकों की पीड़ा दूर करने वाला था—बहुत दानी था। एक दिन उसे शरीरादि वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का बोध हो गया जिससे वह उनसे विरक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो गया। उसने अपने पुत्र के लिए राज्य दिया और प्रजापाल नामक अर्हन्त के समीप संयम धारण कर सिंह-निष्क्रीडित नाम का तप किया। अन्त में संन्यास धारण कर अठारह सागर की स्थिति वाले सहस्रार स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। वहां चिरकाल तक भोग भोगता रहा। जब अन्तिम समय आया तब शान्तचित्त होकर मरा। और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र की द्वारावती नगर के स्वामी राजा सोमप्रभ की रानी जयवन्ती के सुप्रभ नाम का सुन्दर पुत्र हुआ।

वह सुप्रभ दूसरे विजयार्ध के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयार्ध महायति—बहुत लम्बा है उसी प्रकार सुप्रभ भी महायति—उत्तम भविष्य से सहित था, जिस प्रकार विजयार्ध समतुंग—ऊंचा है उसी प्रकार सुप्रभ भी

समतुंग—उदार प्रकृति का था, जिस प्रकार विजयार्ध देव और विद्याधरों का आश्रय-आधार-रहने का स्थान है उसी प्रकार सुप्रभ भी देव और विद्याधरों का आश्रय-रक्षक था और जिस प्रकार विजयार्ध श्वेतिमा शुक्लवर्ण को धारण करता है, उसी प्रकार सुप्रभ भी श्वेतिमा शुक्लवर्ण अथवा कीर्ति सम्बन्धी शुक्लता को धारण करता था। यही नहीं, वह सुप्रभ चन्द्रमा को भी पराजित करता था क्योंकि चंद्रमा कलंक सहित है परन्तु सुप्रभ कलंकरहित था, चन्द्रमा केवल रात्रि के समय ही कान्त-सुन्दर दिखता है परन्तु सुप्रभ रात्रि-दिन सदा ही सुन्दर दिखता था, चन्द्रमा सबके चित्त को हरण नहीं करता — चकवा आदि को प्रिय नहीं लगता परन्तु सुप्रभ सबके चित्त को हरण करता था—सर्वप्रिय था, और चन्द्रमा पद्मानन्दविधायी नहीं है— कमलों को विकसित नहीं करता परन्तु सुप्रभपद्मानन्दविधायी था—लक्ष्मी को आनन्दित करने वाला था। उसी राजा की सीता नाम की रानी के वसुषेण का जीव पुरुषोत्तम नाम का पुत्र हुआ जो कि अनेक गुणों से मनुष्यों को आनन्दित करने वाला था।

वह पुरुषोत्तम सुमेरु पर्वत के समान सुन्दर था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत समस्त तेजस्वियों—सूर्य चन्द्रमा आदि देवों के द्वारा सेव्यमान है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी समस्त तेजस्वियों प्रतापी मनुष्यों के द्वारा सेव्यमान था, जिस प्रकार सुमेरु पर्वत की महोन्नति—भारी ऊंचाई का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता उसी प्रकार पुरुषोत्तम की महोन्नति-भारी श्रेष्ठता अथवा उदारता का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता और जिस प्रकार सुमेरु पर्वत महारत्नों—बड़े-बड़े रत्नों से सुशोभित है उसी प्रकार पुरुषोत्तम भी महारत्नों—बहुमूल्य रत्नों अथवा श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित था। वे बलभद्र और नारायण क्रमशः शुक्ल और कृष्ण कान्ति के धारक थे, तथा समस्त लोक व्यवहार के प्रवर्तक थे अतः शुक्ल पक्ष और कृष्णपक्ष के समान सुशोभित होते थे। उन दोनों का पचास धनुष ऊंचा शरीर था तीस लाख वर्ष की दोनों की आयु थी और एक समान दोनों को सुख था अतः साथ ही साथ सुखोपभोग करते हुए उन्होंने बहुत-सा समय बिता दिया।

अथानन्तर-पहले जिस चण्डशासन का वर्णन कर आये हैं वह अनेक भवों में घूमकर काशी देश की वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन नाम का राजा हुआ। वह सूर्य के समान अत्यन्त तेजस्वी था, उसने समस्त शत्रुओं के समूह को दण्डित कर दिया था तथा उसका बल और पराक्रम बहुत ही प्रसिद्ध था।

नारद से उस असहिष्णु ने उन बलभद्र और नारायण का वैभव सुनकर उसके पास खबर भेजी कि तुम मेरे लिए हाथी तथा रत्न आदि कर स्वरूप भेजो। उसकी खबर सुनकर पुरुषोत्तम का मन रूपी समुद्र ऐसा क्षुभित हो गया मानो प्रलय काल की वायु से ही क्षुभित हो उठा हो, वह प्रबल काल के यमराज के समान दुष्प्रेक्ष्य हो गया और अत्यन्त क्रोध करने लगा। बलभद्र सुप्रभ भी दिशाओं में अपने नेत्रों की लाल-लाल कान्ति को इस प्रकार बिखेरने लगा मानो क्रोध रूपी अग्नि की ज्वालाओं के समूह ही बिखेर रहा हो। वह कहने लगा—मैं नहीं जानता कि कर क्या कहलाता है? क्या हाथ को कर कहते हैं? जिससे कि खाया जाता है। अच्छा तो मैं जिसमें तलवार चमक रही है ऐसा कर—हाथ दूंगा वह सिर से उसे स्वीकार करे। वह आवे और कर ले जावे इसमें क्या हानि है—इस प्रकार तेज प्रकट करने वाले दोनों भाईयों ने कटुक शब्दों के द्वारा नारद को उच्च स्वर से उत्तर दिया।

तदनन्तर यह समाचार सुनकर मधुसूदन बहुत ही कुपित हुआ और उन दोनों भाइयों को मारने के लिए चला तथा वे दोनों भाई भी क्रोध से उसे मारने के लिए चले। दोनों सेनाओं का ऐसा संग्राम हुआ मानो सबका संहार ही करना चाहते हों। शत्रु-मधुसूदन ने पुरुषोत्तम के ऊपर चक्र चलाया परन्तु वह चक्र पुरुषोत्तम का कुछ नहीं बिगाड़ सका। अन्त में पुरुषोत्तम ने उसी चक्र से मधुसूदन को मार डाला। दोनों भाई चौथे बलभद्र और नारायण हुए तथा तीन खण्ड के आधिपत्य का इस प्रकार अनुभव करने लगे जिस प्रकार कि सूर्य और चन्द्रमा ज्योतिर्लोक के आधिपत्य का अनुभव करते हैं। आयु के अन्त में पुरुषोत्तम नारायण छठवें नरक गया और सुप्रभ बलभद्र उसके वियोग से उत्पन्न शोक रूपी अग्नि से बहुत ही संतप्त हुआ। सोमप्रभ जिनेन्द्र ने उसे समझाया जिससे प्रसन्नचित्त होकर उसने दीक्षा ले ली और अन्त में क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर उस बुद्धिमान ने मोक्ष प्राप्त कर लिया।

पुरुषोत्तम पहले पोदनपुर नगर में समषेण नाम का राजा हुआ, फिर तपकर शुक्ललेश्या का धारक देव हुआ, फिर वहां से चयकर अर्धभरत क्षेत्र का स्वामी, तथा शत्रुओं का नष्ट करने वाला पुरुषोत्तम नाम का नारायण हुआ एवं उसके बाद अधोलोक में सातवीं पृथ्वी में उत्पन्न हुआ। मलयदेश का अधिपति पापी राजा चण्डशासन चिरकाल तक भ्रमण करता हुआ मधुसूदन हुआ और तदन्तर ससाररूपी सागर के अधोभाग में निमग्न हुआ। सुप्रभ पहले नन्दन नामक नगर में महाबल नाम का राजा था फिर महान तप कर बारहवें स्वर्ग में देव हुआ, तदनन्तर सुप्रभ नाम का बलभद्र हुआ और समस्त परिग्रह छोड़कर उसी भव से परमपद को प्राप्त हुआ। देखो, सुप्रभ और पुरुषोत्तम एक ही साथ साम्राज्य के श्रेष्ठ सुखों का उपभोग करते थे परन्तु उनमें से पहला—सुप्रभ तो मोक्ष गया और दूसरा—पुरुषोत्तम नरक गया, यह सब अपनी वृत्ति-प्रवृत्ति की विचित्रता है।

श्री भगवान धर्मनाथ जी

जिन धर्मनाथ भगवान से अत्यन्त निर्मल उत्तमक्षमा आदि दश धर्म उत्पन्न हुए वे धर्मनाथ भगवान हम लोगों का अधर्म दूर कर हमारे लिए सुख प्रदान करें। पूर्व धातकीखण्ड द्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में नदी के दक्षिण तट पर एक वत्स नाम का देश है। उसमें सुसीमा नाम का महानगर है। वहां राजा दशरथ राज्य करता था, वह बुद्धि, बल और भाग्य तीनों से सहित था। चूंकि उसने समस्त शत्रु अपने वश कर लिये थे इसलिये युद्ध आदि के उद्योग से रहित होकर वह शान्ति से रहता था। प्रजा की रक्षा करने में सदा उसकी इच्छा रहती थी और वह बंधुओं तथा मित्रों के साथ निश्चिन्तता-पूर्वक धर्म प्रधान सुखों का उपभोग करता था।

एक बार वैशाख शुक्ल पूर्णिमा के दिन सब लोग उत्सव मना रहे थे उसी समय चन्द्र ग्रहण पड़ा उसे देखकर राजा दशरथ का मन भोगों से एकदम उदास हो गया। यह चन्द्रमा सुन्दर है, कुवलयों—नीलकमलों (पक्ष में-महीमण्डल) को आनन्दित करने वाला है और कलाओं से परिपूर्ण है। जब इसकी भी ऐसी अवस्था हुई है तब अन्य पुरुष की क्या अवस्था होगी। ऐसा मानकर उसने महारथ नामक पुत्र के लिए राज्य-भार सौंपा और स्वयं परिग्रहरहित होने से भारहीन होकर संयम धारण कर लिया। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन कर सोलह कारण-भावनाओं का चिन्तवन किया, तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध किया और आयु के अन्त में समाधिमरण कर अपनी बुद्धि को निर्मल बनाया। अब वह सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ, तेंतीस सागर उसकी स्थिति थी, एक हाथ ऊंचा उसका शरीर था, चार सौ निन्यानवें दिन अथवा साढ़े सोलह माह में एक बार कुछ श्वास लेता था। लोक नाड़ी के अन्त तक उसके निर्मल अवधिज्ञान का विषय था, उतनी ही दूर तक फैलने वाली विक्रिया तेज तथा बलरूप सम्पत्ति से सहित था। तीस हजार वर्ष में एक बार मानसिक आहार लेता था, द्रव्य और भाव सम्बन्धी दोनों शुक्ललेश्याओं से युक्त था।

इस प्रकार वह सर्वार्थ-सिद्धि में प्रवीचार रहित उत्तम सुख का अनुभव करता था। वह पुण्यशाली जब वहां से चयकर मनुष्य लोक में जन्म लेने के लिए तत्पर हुआ। तब इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक-रत्नपुर नाम का नगर था उसमें कुरुवंशी काश्यपगोत्री महातेजस्वी और महालक्ष्मी सम्पन्न महाराज भानु राज्य करते थे उनकी महादेवी का नाम सुप्रभा था, देवों ने रत्नवृष्टि आदि सम्पदाओं के द्वारा उसका सम्मान बढ़ाया था। रानी सुप्रभा ने वैशाख शुक्ल त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र में प्रातःकाल के समय सोलह स्वप्न देखे तथा मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। जागकर उसने अपने अवधिज्ञानी पति से उन स्वप्नों का फल मालूम किया और ऐसा हर्ष का अनुभव किया मानो पुत्र ही उत्पन्न हो गया हो। उसी समय अन्तिम अनुत्तरविमान से—सर्वार्थसिद्धि से चयकर वह अहमिन्द्र रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। इन्द्रों ने आकर गर्भकल्याणक का उत्सव किया।

नव माह बीत जाने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन गुरुयोग में उसने अवधिज्ञान रूपी नेत्रों के धारक पुत्र को उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रोंने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर बहुत भारी सुवर्ण-कलशों में भरे हुये क्षीर सागर के जल से उनका अभिषेक कर आभूषण पहिनाये तथा हर्ष से धर्मनाथ नाम रक्खा। जब अनन्तनाथ भगवान के बाद चार सागर

प्रमाण काल बीत चुका और अन्तिम पल्य का आधा भाग जब धर्मरहित हो गया तब धर्मनाथ भगवान का जन्म हुआ था, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी। उनकी आयु दशलाख वर्ष की थी, शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान थी, शरीर की ऊंचाई एक सौ अस्सी हाथ थी। जब उनके कुमारकाल के अढ़ाई लाख वर्ष बीत गये। तब उन्हें राज्य का अभ्युदय प्राप्त हुआ था। वे अत्यन्त ऊंचे थे, अत्यन्त शुद्ध थे, दर्शनीय थे, उत्तम आश्रय देने वाले थे, और सबका पोषण करने वाले थे अतः शरद्ऋतु के मेघ के समान थे।

अथवा किसी उत्तम हाथी के समान थे क्योंकि जिस प्रकार उत्तम हाथी भद्र जाति का होता है उसी प्रकार वे भी भद्र प्रकृति थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार बहु दान बहुत मद से युक्त होता है उसी प्रकार वे भी बहु दान-बहुत दान से युक्त थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार सुलक्षण अच्छे-अच्छे लक्षणों से सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुलक्षण अच्छे सामुद्रिक चिन्हों से सहित थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार महान होता है उसी प्रकार वे भी महान्-श्रेष्ठ थे, उत्तम हाथी जिस प्रकार सुकर—उत्तम सूंड़ से सहित होता है। उसी प्रकार वे भी सुकर—उत्तम हाथों से सहित थे, और उत्तम हाथी जिस प्रकार सुरेभ—उत्तम शब्द से सहित होता है उसी प्रकार वे भी सुरेभ उत्तम-मधुर शब्दों से सहित थे। वे दुर्जनों का निग्रह और सज्जनों का अनुग्रह करते थे सो द्वेष अथवा इच्छा के वश नहीं करते थे अतः निग्रह करते हुए भी वे प्रजा के पूज्य थे। उनकी समस्त संसार में फैलने वाली कीर्ति यदि लता नहीं थी तो वह कवियों के प्रवचन रूपी जल के सिंचन से आज भी क्यों बढ़ रही है। सुख से सम्भोग करने के योग्य तथा अपने गुणों से अनुरक्त पृथ्वी उनके लिए उत्तम नायिका के समान इच्छानुसार फल देने वाली थी। जब अन्य भव्य जीव इन धर्मनाथ भगवान के प्रभाव से अपने कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर निर्मल सुख प्राप्त करेंगे तब इनके सुख का वर्णन कैसे किया जा सकता है?

जब पांच लाख वर्ष प्रमाण राज्यकाल बीत गया तब किसी एक दिन उल्कापात देखने से इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। विरक्त होकर वे इस प्रकार चिन्तवन करने लगे—'मेरा यह शरीर कैसे, कहां और किससे उत्पन्न हुआ है? क्रियात्मक है, किसका पात्र है और आगे चलकर क्या होगा' ऐसा विचार न कर मुझ मूर्ख ने इसके साथ चिरकाल तक संगति की। पाप संचय कर उसके उदय से मैं आज तक दुःख भोगता रहा। कर्म से प्रेरित हुए मुझ दुर्मति ने दुःख को ही सुख मानकर कभी शाश्वत—स्थायी सुख प्राप्त नहीं किया। मैं व्यर्थ ही अनेक भवों में भ्रमण कर थक गया। ये ज्ञान दर्शन मेरे गुण हैं यह मैंने कल्पना भी नहीं की किन्तु इसके विरुद्ध बुद्धि के विपरीत होने से रागादि को अपना गुण मानता रहा। स्नेह तथा मोह रूपी ग्रहों से ग्रसा हुआ यह प्राणी बार-बार परिवार के लोगों तथा धन का पोषण करता है और पाप के संचय से अनेक दुर्गतियों में भटकता है।' इस प्रकार भगवान को स्वयं बुद्ध जानकर लौकान्तिक देव आये और बड़ी भक्ति के साथ इस प्रकार स्तुति करने लगे—कि हे देव! आज आप कृतार्थ—कृतकृत्य हुए। उन्होंने सुधर्म नाम के ज्येष्ठ पुत्र के लिए राज्य दिया, दीक्षा-कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव प्राप्त किया, नागदत्ता नाम की पालकी में सवार होकर ज्येष्ठ देवों के साथ शालवन के उद्यान में जाकर दो दिन के उपवास का नियम लिया और माघशुक्ला त्रयोदशी के दिन सायं काल के समय पुष्य नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ मोक्ष प्राप्त कराने वाली दीक्षा धारण कर ली।

दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दूसरे दिन आहार लेने के लिए पताकाओं से सजी हुई पाटलिपुत्र नाम की नगरी में गये। वहां सुवर्ण के समान कान्ति वाले धन्यषेण राजा ने उन उत्तम पात्र के लिए आहार दान देकर पचाश्चर्य प्राप्त किये। तदनन्तर छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीत जाने पर उन्होंने उसी पुरातन वन में सप्तच्छद वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास का नियम लेकर योग धारण किया और पौषशुक्ल पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में केवल ज्ञान प्राप्त किया। देवों ने चतुर्थ कल्याणक की उत्तम पूजा की। वे अरिष्टसेन को आदि लेकर तैतालीस गणधरों के स्वामी थे, नौ सौ ग्यारह पूर्वधारियों से आवृत थे, चालीस हजार सात सौ शिक्षकों से सहित थे, तीन हजार छह सौ तीन प्रकार के अवधिज्ञानियों से युक्त थे, चार हजार पांच सौ केवल ज्ञानी उनके साथ थे, सात हजार विक्रियाऋद्धि के

ऊंचा विजयार्ध पर्वत सुशोभित होता है जो कि उज्ज्वल यश के समूह के समान जान पड़ता है। अथवा चांदी का बना हुआ वह विजयार्ध-पर्वत ऐसा जान पड़ता है कि स्वर्ग लोक को जीतने से जिसे संतोष उत्पन्न हुआ है ऐसी पृथ्वी रूपी स्त्री का इकट्ठा हुआ मानो हास्य ही हो।

हमारे ऊपर पड़ी हुई वृष्टि सदा सफल होती है और तुम लोगों के ऊपर पड़ी हुई वृष्टि कभी सफल नहीं होती इस प्रकार वह पर्वत अपने तेज से सुमेरु पर्वतों की मानो हंसी ही करता रहता है। ये नदियां चंचल स्वभाववाली हैं, जल से (पक्ष में जडधि-मूर्ख) को प्रिय हैं इसलिए घृणा से ही मानो उसने गंगा-सिन्धु इन दो नदियों को अपने गुहारूपी मुख से वमन कर दिया था। वह पर्वत चक्रवर्ती का अनुकरण करता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने आश्रय में रहने वाले देव और विद्याधरों के द्वारा सदा सेवनीय होता है और समस्त इन्द्रिय-सुखों का स्थान होता है उसी प्रकार वह पर्वत भी अपने आश्रय में रहने वाले देव और विद्याधरों से सदा सेवित था और समस्त इन्द्रिय-सुखों का स्थान था। उस विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनपुर चक्रवाल नाम की नगरी है जो अपनी पताकाओं से आकाश को मानो बलाकाओं से सहित ही करती रहती है। वह मेघों को चूमने वाले रत्नमय कोट से घिरी हुई है इसलिए ऐसी जान पड़ती है मानो रत्न की वेदिका से घिरी हुई जम्बूद्वीप की भूमि ही हो। वहां धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ हर्ष से बढ़ रहे थे और दरिद्र शब्द कहीं बाहर से भी नहीं दिखाई देता था—सदा छुपा रहता था।

जिस प्रकार अन्य मतावलम्बियों के लिए दुर्गम—कठिन प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोग इन चार उपायों के द्वारा पदार्थों की परीक्षा सुशोभित होती है उसी प्रकार शत्रुओं के लिए दुर्गम—दुःख से प्रवेश करने के योग्य चार गोपुरों से वह नगरी सुशोभित हो रही थी। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् की विद्या में अचारित्र—असंयम का उपदेश देने वाले वचन नहीं हैं उसी प्रकार उस नगरी में शीलरूपी आभूषण से रहित कुलवती स्त्रियाँ नहीं थीं। ज्वलनजटी विद्याधर उस नगरी का राजा था, जो अत्यन्त कुशल था और जिस प्रकार मणियों का आकार—खान-समुद्र है उसी प्रकार वह गुण मनुष्यों का आकार था। जिस प्रकार सूर्य के प्रताप से नये पत्ते मुरझा जाते हैं उसी प्रकार उसके प्रताप से शत्रु मुरझा जाते थे—कान्ति हीन हो जाते थे और जिस प्रकार वर्षा से लताएं बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार उसकी नीति से प्रजा सफल होकर बढ़ रही थी। जिस प्रकार यथा समय यथास्थान बोये हुए धान उत्तम फल देते हैं उसी प्रकार उसके द्वारा यथा समय यथा स्थान प्रयोग किये हुए साम आदि उपाय बहुत फल देते थे। जिस प्रकार आगे की संख्या पिछली संख्याओं से बड़ी होती है उसी प्रकार वह राजा पिछले समस्त राजाओं को अपने गुणों और स्थानों से जीतकर बड़ा हुआ था। उसकी समस्त सिद्धियां देव और पुरुषार्थ दोनों के आधीन थीं, वह मंत्री आदि मूल प्रकृति तथा प्रजा आदि बाह्य प्रकृति के क्रोध से रहित होकर स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र का विचार करता था, उत्साह शक्ति, मन्त्र शक्ति और प्रभुत्व शक्ति इन तीन शक्तियों तथा इनसे निष्पन्न होने वाली तीन सिद्धियों की अनुकूलता से उसे सदा योग और क्षेम का समागम होता रहता था, साथ ही वह सन्धि विग्रह यान आदि छह गुणों को अनुकूलता रखता था इसलिए उसका राज्य निरन्तर बढ़ता ही रहता था।

उसी विजयार्ध पर द्युतिलक नाम का दूसरा नगर था। राजा चन्द्राभ उसमें राज्य करता था, उसकी रानी का नाम सुभद्रा था। उन दोनों के वायुवेगा नाम की पुत्री थी। उसने अपनी वेगविद्या के द्वारा समस्त वेगशाली विद्याधर राजाओं को जीत लिया था। उसकी कान्ति चमकती हुई बिजली के प्रकाश को जीतने वाली थी। जिस प्रकार भाग्यशाली पुरुषार्थी मनुष्य की बुद्धि उसकी त्रिवर्ग सिद्धि का कारण होती है उसी प्रकार समस्त गुणों से विभूषित वह वायुवेगा राजा ज्वलनजटी की त्रिवर्ग सिद्धि का कारण हुई थी। प्रतिपदा के चन्द्रमा की रेखा के समान वह सब मनुष्यों के द्वारा स्तुत्य थी। तथा अनुराग से भरी हुई द्वितीय भूमि के समान वह अपने ही पुरुषार्थ से राजा ज्वलन के भोगने योग्य हुई थी। वायुवेगा के प्रेम की प्रेरणा से ज्वलनजटी ने अनेक ऋद्धियों से युक्त राजलक्ष्मी को उसका परिकर-दासा बना दिया था सो ठीक ही है क्योंकि अलभ्य वस्तु के विषय में मनुष्य क्या नहीं करता है? बड़े कुल में उत्पन्न होने से तथा अनुराग से युक्त होने के कारण उस पतिव्रता के एक पतिव्रत था और प्रेम की अधिकता से उस राजा के एकपत्नीव्रत था ऐसा लोग कहते हैं।

जिस प्रकार इन्द्राणी में इन्द्र की लोकोत्तर प्रीति होती है उसी प्रकार उसमें ज्वलनजटी की लोकोत्तर प्रीति थी फिर उसके रूपादि गुणों का पृथक्-पृथक् क्या वर्णन किया जावे। जिस प्रकार दया और सम्यग्ज्ञान के मोक्ष होता है उसी प्रकार उन दोनों के अपनी कीर्ति की प्रभा से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला अर्ककीर्ति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार नीति और पराक्रम से लक्ष्मी होती है उसी प्रकार उन दोनों के सबका मन हरने वाली स्वयंप्रभा नाम की पुत्री भी उत्पन्न हुई जो अर्ककीर्ति के साथ इस प्रकार बढ़ने लगी जिस प्रकार कि चन्द्रमा के साथ उसकी प्रभा बढ़ती है। वह मुख से कमल को, नेत्रों से उत्पल को, आभा से मणिमय दर्पण को और कान्ति से चन्द्रमा को जीत कर ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो भौंहरूप पताका ही फहरा रही हो। लता में फूल के समान ज्यों ही उसके शरीर में यौवन उत्पन्न हुआ त्यों ही उसने कामी विद्याधरों में कामज्वर उत्पन्न कर दिया। कुछ कुछ पीले और सफेद कपोलों की कान्ति से सुशोभित मुख-मंडल पर उसके नेत्र बड़े चंचल हो रहे थे जिनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कमर को पतली देख उसके टूट जाने के भय से ही नेत्रों को चंचल कर रही हो। उस दुबली पतली स्वयम्प्रभा की इन्द्रनील मणि के समान कान्तिवाली पतली रोमवाली ऐसी जान पड़ती थी मानो उछल कर ऊंचे स्थूल और निविड़ स्तनों पर चढ़ना ही चाहती हो। यद्यपि कामदेव ने उसका स्पर्श नहीं किया था तथापि प्राप्त हुए यौवन ने ही वह कामदेव के विकार को प्रकट करती हुई-सा मनुष्यों के दृष्टिगोचर हो रही थी।

अथानन्तर किसी एक दिन जगन्नन्दन और नाभिनन्दन नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज मनोहर नामक उद्यान में आकर विराजमान हुए। उनके आगमन की खबर देने वाले वनपाल से यह समाचार जानकर राजा चतुरंग सेना, पुत्र तथा अन्तःपुर के साथ उनके समीप गया। वहां वन्दना कर उसने श्रेष्ठ धर्म का स्वरूप सुना, बड़े आदर से सम्यग्दर्शन तथा दान शील आदि व्रत ग्रहण किये, तदनन्तर भक्तिपूर्वक उन चारणऋद्धिधारी मुनियों को प्रणाम कर वह नगर में वापिस आ गया। स्वयंप्रभा ने भी वहां समीचीन धर्म ग्रहण किया। एक दिन उसने पर्व के समय उपवास किया जिससे उसका शरीर कुछ म्लान हो गया। उसने अर्हन्त भगवान् की पूजा की तथा उनके चरण-कमलों के सम्पर्क से पवित्र पाप हारिणी विचित्र माला विनय से झुक कर दोनों हाथों से पिता के लिए दी। राजा ने भक्ति पूर्वक वह माला ले ली और उपवास से थकी हुई स्वयंप्रभा की ओर देखा, 'जाओ पारण करो' यह कह कर उसे विदा किया। पुत्री के चले जाने पर राजा मन ही मन विचार करने लगा कि जो यौवन से परिपूर्ण समस्त अंगों से सुन्दर है ऐसी यह पुत्री किसके लिये देनी चाहिये। उसने उसी समय मन्त्रिवर्ग को बुलाकर प्रकृत बात कही, उसे सुनकर सुश्रुत नाम का मंत्री परीक्षा कर तथा अपने मन में निश्चय कर बोला।

कि इसी विजयार्ध की उत्तर श्रेणी में अलका नगरी के राजा मयूरग्रीव हैं, उनकी स्त्री का नाम नीलांजना है, उन दोनों के अश्वग्रीव, नीलरथ, नीलकण्ठ, सुकण्ठ और वज्रकण्ठ नाम के पांच पुत्र हैं। इनमें अश्वग्रीव सबसे बड़ा है। अश्वग्रीव की स्त्री का नाम कनकचित्रा है उन दोनों के रत्नग्रीव, रत्नागंद, रत्नमूड तथा रत्नरथ आदि पांच सौ पुत्र हैं। शास्त्रज्ञान का सागर हरिश्मश्रु इसका मंत्री है तथा शतबिन्दु निमित्तज्ञानी है—पुरोहित है जो कि अष्टांग निमित्तज्ञान में अतिशय निपुण है। इस प्रकार अश्वग्रीव सम्पूर्ण राज्य का अधिपति है और दोनों श्रेणियों का स्वामी है अतः इसके लिए ही कन्या देनी चाहिये। इसके बाद सुश्रुत मंत्री के द्वारा कही हुई बात का विचार करता हुआ बहुश्रुत मंत्री राजा से अपने हृदय की बात कहने लगा। वह बोला कि सुश्रुत मंत्री ने जो कुछ कहा है वह यद्यपि ठीक है तो भी निम्नांकित बात विचारणीय है। कुलीनता, आरोग्य, अवस्था, शील, श्रुत, शरीर, लक्ष्मी, पक्ष और परिवार, वर के ये नौ गुण कहे गये है। अश्वग्रीव में यद्यपि ये सभी गुण विद्यमान हैं किन्तु उसकी अवस्था अधिक है, अतः कोई दूसरा वर जिसकी अवस्था कन्या के समान हो और गुण अश्वग्रीव के समान हों, खोजना चाहिये।

गगनवल्लभपुर का राजा चित्ररथ प्रसिद्ध है, मेघपुर में श्रेष्ठ राजा पद्मरथ रहता है, चित्रपुर का स्वामी अरिंजय है। त्रिपुरनगर में विद्याधरों का राजा ललितांगद रहता है, अश्वपुर का राजा कनकरथ विद्या में अत्यन्त कुशल है, और

महारत्नपुर का राजा धनंजय समस्त विद्याधरों का स्वामी है। इनमें से किसी एक के लिए कन्या देनी चाहिये यह निश्चय है। बहुश्रुत के वचन हृदय में धारण कर तथा विचार कर स्मृतिरूपी नेत्र को धारण करने वाला श्रुत नाम का तीसरा मंत्री निम्नांकित मनोहर वचन कहने लगा। यदि कुल, आरोग्य वय और रूप आदि से सहित वर के लिए कन्या देना चाहते हो तो मैं कुछ कहता हूं उसे थोड़ा सुनिये। इसी विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में सुरेन्द्रकान्तार नाम का नगर है उसके राजा का नाम मेघवाहन है। उसके मेघमालिनी नाम की वल्लभा है। उन दोनों के विद्युत्प्रभ नाम का पुत्र और ज्योतिर्माला नाम की निर्मल पुत्री है। खगेन्द्र मेघवाहन इन दोनों पुत्र-पुत्रियों से ऐसा समृद्धिमान सम्पन्न हो रहा था जैसा कि कोई पुण्य कर्म और सुबुद्धि से होता है। अर्थात् पुत्र पुण्य के समान था और पुत्री बुद्धि के समान थी। किसी एक दिन मेघवाहन स्तुति करने के लिए सिद्धकूट गया था। वहां वर धर्म नाम के अवधिज्ञानी चारणऋद्धिधारी मुनि की वन्दना कर उसने पहले तो धर्म का स्वरूप सुना और बाद में अपने पुत्र के पूर्व भव पूछे। मुनि ने कहा कि हे विद्याधर। चित्त लगाकर सुनो, मैं कहता हूं।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्सकावती नाम का देश है उसमें प्रभाकरी नाम की नगरी है वहां सुन्दर आकार वाला नन्दन नाम का राजा राज्य करता था। जयसेना स्त्री के उदर से उत्पन्न हुआ विजयभद्र नाम का इसका पुत्र था। उस विजयभद्र ने किसी दिन मनोहर नामक उद्यान में फैला हुआ आम का वृक्ष देखा फिर कुछ दिन बाद उसी वृक्ष को फलरहित देखा। यह देख उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया और विहितास्रव गुरु से चार हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। आयु के अन्त में माहेन्द्र स्वर्ग के चक्र नामक विमान में सात सागर की आयु वाला देव हुआ। वहां चिरकाल तक दिव्य-भोगों का उपभोग करता रहा। वहां से च्युत होकर यह तुम्हारा पुत्र हुआ है और इसी भव से निर्वाण को प्राप्त होगा। श्रुतसागर मन्त्री कहने लगा कि मैं भी स्तुति करने के लिये सिद्धकूट जिनालय में वट धर्म नामक चारण मुनि के पास गया था वहीं यह सब मैंने सुना है।

इस प्रकार विद्युत्प्रभ वर के योग्य समस्त गुणों से सहित है उसे ही यह कन्या दी जावे और उसकी पुण्यशालिनी बहिन ज्योतिर्माला को हम लोग अर्ककीर्ति के लिये स्वीकृत करें। इस प्रकार श्रुतसागर के वचन सुनकर विद्वानों में अत्यन्त श्रेष्ठ सुमति नाम का मन्त्री बोला कि इस कन्या को पृथक्-पृथक् अनेक विद्याधर राजा चाहते हैं इसलिए विद्युत्प्रभ को कन्या नहीं देनी चाहिये क्यों कि ऐसा करने से बहुत राजाओं के साथ बैर हो जाने की सम्भावना है मेरी समझ से तो स्वयंवर करना ठीक होगा। ऐसा कहकर वह चुप हो गया। सब लोगों ने यही बात स्वीकृत कर ली, इसलिए विद्याधर राजा ने सब मंत्रियों को विदा कर दिया और संभिन्नश्रोत नामक निमित्तज्ञानी से पूछा कि स्वयंप्रभा का हृदयवल्लभ कौन होगा? पुराणों के अर्थ को जानने वाले निमित्त-ज्ञानी ने राजा के लिये निम्न प्रकार उत्तर दिया। वह कहने लगा कि भगवान् ऋषभदेव ने पहले पुराणों का वर्णन करते समय प्रथम चक्रवर्ती से, प्रथम नारायण से सम्बन्ध रखने वाली एक कथा कही थी। जो इस प्रकार है—

इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में एक पुष्कलावती नाम का देश है उसकी पुण्डरीकिणी नगरी के समीप ही मधुक नाम के वन में पुरूरवा नाम का भीलों का राजा रहता था। किसी एक दिन मार्ग भूल जाने से इधर-उधर घूमते हुए सागरसेन मुनिराज के दर्शन कर उसने मार्ग से ही पुण्य का संचय किया तथा मद्य मांस मधु का त्याग कर दिया। इस पुण्य के प्रभाव से वह सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और वहां से च्युत होकर तुम्हारी अनन्तसेना नाम की स्त्री के मरीचि नाम का पुत्र हुआ है। यह मिथ्या मार्ग के उपदेश देने में तत्पर है इसलिये चिरकाल तक इस संसाररूपी चक्र में भ्रमण कर सुरम्यदेश के पोदनपुर नगर के स्वामी प्रजापति महाराज की मृगावती रानी से त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र होगा। उन्हीं प्रजापति महाराज की दूसरी रानी भद्रा के एक विजय नाम का पुत्र होगा जो कि त्रिपृष्ठ का बड़ा भाई होगा। ये दोनों भाई श्रेयान्सनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में अश्वग्रीव नामक शत्रु को मार कर तीन खंड के स्वामी होंगे और पहले बलभद्र कहलावेंगे। त्रिपृष्ठ संसार में भ्रमण कर अन्तिम तीर्थंकर होगा।

आपका भी जन्म राजा कच्छ के पुत्र नमि के वंश में हुआ है अतः बाहुबली स्वामी के वंश में उत्पन्न होने वाले उस त्रिपृष्ठ

के साथ आपका सम्बन्ध है ही। इसीलिये तीन खड की लक्ष्मी और सुख के स्वामी त्रिपृष्ठ के लिये यह कन्या देनी चाहिये, यह कल्याण करने वाली कन्या उसका मन हरण करने वाली हो। त्रिपृष्ट को कन्या देने से आप भी समस्त विद्याधरों के स्वामी हो जावेंगे इसलिये भगवान् आदिनाथ के द्वारा कही हुई इस बात का निश्चय कर आपको यह अवश्य ही करना चाहिये। इस प्रकार निमित्तज्ञानी के वचनों को हृदय में धारण कर रथनूपुर नगर के राजा ने बड़े हर्ष से उस निमित्त ज्ञानी की पूजा की। और उसी समय उत्तम लेख और भेंट के साथ इन्दु नाम का एक दूत प्रजापति महाराज के पास भेजा। यह त्रिपृष्ठ स्वयप्रभा का पति होगा यह बात प्रजापति महाराज ने जयगुप्त नामक निमित्त ज्ञानी से पहले ही जान ली थी। इसलिये उसने आकाश से उतरते हुए विद्याधर राजा के दूत का, पुष्पकारण्डक नाम के वन में बड़े उत्सव से स्वागत-सत्कार किया। महाराज उस दूत के साथ अपने राजभवन में प्रविष्टि होकर जब सभागृह में राजसिंहासन पर विराजमान हुए तब मत्री ने दूत के द्वारा लाई हुई भेंट समर्पित की। राजा ने उस भेट को बड़े प्रेम से देखकर अपना अनुराग प्रकट किया और दूत को सतुष्ट करते हुए कहा कि हम तो इस भेंट से ही सन्तुष्ट हो गये। तदनन्तर दूत ने सन्देश सुनाया कि यह श्रीमान त्रिपृष्ठ समस्त कुमारों में श्रेष्ठ है अत: इसे लक्ष्मी के समान स्वयप्रभा नाम की इस कन्या से आज सुशोभित किया जावे। इस यथार्थ सदेश को सुनकर प्रजापति महाराज का हर्ष दुगुना हो गया। वे मस्तक पर भुजा रखते हुए बोले कि जब विद्याधरों के राजा स्वय ही अपने जमाई का यह तथा अन्य महोत्सव करने के लिए चिन्तित हैं तब हम लोग क्या चीज हैं।

इस प्रकार उस समय आये हुए दूत को महाराज प्रजापति ने कार्य की सिद्धि से प्रसन्न किया, उसका सम्मान किया और बदले की भेंट देकर शीघ्र ही विदा कर दिया। वह दूत भी शीघ्र ही जाकर रथनूपुर नगर के राजा के पास पहुंचा और प्रणाम कर उसने कल्याणकारी कार्य सिद्ध होने की खबर दी। यह सुनकर विद्याधरों का राजा बहुत भारी हर्ष से प्रेरित हुआ और सोचने लगा कि इस कार्य में विलम्ब करना योग्य नहीं है यह विचार कर वह कन्या सहित बड़े ठाट-बाट से पोदनपुर पहुंचा। उस समय उस नगर में जगह-जगह तोरण बांधे गये थे, चन्दन का छिड़काव किया था, सब जगह उत्सुकता ही उत्सुकता दिखाई दे रही थी, और पताकाओं की पंक्ति रूप चंचल भुजाओं से वह ऐसा जान पड़ता था मानो बुला ही रहा हो। महाराज प्रजापति ने अपनी सम्पत्ति के अनुसार उसकी अगवानी की। इस प्रकार उसने बड़े हर्ष से नगर में प्रवेश किया। प्रवेश करने के बाद महाराज प्रजापति ने उसे स्वयं ही योग्य स्थान पर ठहराया और पाहुने के योग्य उसका सत्कार किया। इस सत्कार से उसका हृदय तथा मुख दोनों ही प्रसन्न हो गये। विवाह के योग्य सामग्री से उसने समस्त पृथ्वी तल को सन्तुष्ट किया और दूसरी प्रभा के समान अपनी स्वयंप्रभा नाम को पुत्री त्रिपृष्ठ के लिये देकर सिद्ध करने के लिये सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नाम की दो विद्याएं दीं। इस तरह वे सब मिलकर सुखरूपी समुद्र में गोता लगाने लगे। इधर अश्वग्रीव प्रतिनारायण के नगर में विनाश को सूचित करने वाले तीन प्रकार के उत्पात बहुत शीघ्र साथ ही साथ होने लगे। जिस प्रकार तीसरे काल के अन्त में पल्य का आठवां भाग बाकी रहने पर नई नई बातों को देखकर भोगभूमि के लोग भयभीत होते हैं उसी प्रकार उन अभूतपूर्व उत्पातों को देखकर वहां के मनुष्य सहसा भयभीत होने लगे।

अश्वग्रीव भी घबड़ा गया। उसने सलाह कर एकान्त में शतबिन्दु नामक निमित्तज्ञानी से यह क्या है? इन शब्दों द्वारा उनका फल पूछा। शतबिन्दु ने कहा कि जिसने सिन्धु देश में पराक्रमी सिंह मारा है, जिसने तुम्हारे प्रति भेजी हुई भेंट जबर्दस्ती छीन ली और रथनूपुर नगर के राजा ज्वलनजटी ने जिसके लिये आपके योग्य स्त्रीरत्न दे दिया है उससे आपको क्षोभ होगा। ये सब उत्पात उसी के सूचक हैं। तुम उसका प्रतिकार करो। इस प्रकार निमित्त ज्ञानी के द्वारा यह बात को हृदय में रखकर अश्वग्रीव अपने मन्त्रियों से कहने लगा कि आत्मज्ञानी मनुष्य शत्रु और रोग को उत्पन्न होते ही नष्ट कर देते हैं परन्तु हमने व्यर्थ ही अहंकारी रहकर यह बात भुला दी। अब भी यह दुष्ट आप लोगों के द्वारा विष के अंकुर के समान शीघ्र ही छेदन कर देने के योग्य है। उन मंत्रियों ने भी गुप्त रूप से भेजे हुए दूतों के द्वारा उन सबकी खोज लगा ली और निमित्त ज्ञानी ने जिन सिंहवध आदि की बातें कही थी उन सबका पता चलाकर निश्चय कर लिया कि इस दुष्टों पर

प्रजापति का पुत्र त्रिपृष्ठ ही बड़ा अहंकारी है। वह अपने पराक्रम से सब राजाओं पर आक्रमण कर उन्हें जीतना चाहता है।

वह हम लोगों के विषय में कैसा है? —अनुकूल प्रतिकूल कैसे विचार रखता है इस प्रकार सरल चित्त – निष्कपट दूत भेजकर उसकी परीक्षा करनी चाहिये मंत्रियों ने ऐसा पृथक्-पृथक् राजा से कहा। उसी समय उसने उक्त बात सुनकर चिन्तागति और मनोगति नाम के दो विद्वान दूत त्रिपृष्ठ के पास भेजे। उन दूतों ने जाकर पहले अपने आने की राजा के लिये सूचना दी, फिर राजा के दर्शन किये, अनन्तर विनय से नम्रीभूत होकर यथायोग्य भेंट दी। फिर कहने लगे कि राजा अश्वग्रीव ने आज तुम्हें आज्ञा दी है कि मैं रथावर्त नाम के पर्वत पर जाता हूं आप भी आइये। हम दोनों तुम्हें लेने के लिये आये हैं। आपको उसकी आज्ञा मस्तक पर रखकर आना चाहिये। ऐसा उन दोनों ने जोर से कहा। यह सुनकर त्रिपृष्ठ बहुत क्रुध हुआ और कहने लगा कि अश्वग्रीव (घोड़े जैसी गर्दन वाले) खरग्रीव (गधे जैसी गर्दन वाले) क्रौंचग्रीव (क्रौंच पक्षी जैसे गर्दन वाले) और क्रमेलक ग्रीव (ऊंट जैसी गर्दन वाले) ये सब मैंने देखे हैं। हमारे लिये वह अपूर्व आदमी नहीं जिससे कि देखा जावे।

जब वह त्रिपृष्ठ कह चुका तब दूतों ने फिर से कहा कि वह अश्वग्रीव सब विद्याधरों का स्वामी है, सबके द्वारा पूजनीय है और आपका पक्ष करता है इसलिए उसका अपमान करना उचित नहीं है। यह सुन त्रिपृष्ठ ने कहा कि वह खग अर्थात् पक्षियों का ईश है—स्वामी है इसलिए पक्ष अर्थात् पंखों से चले इसके लिए मनाई नहीं है परन्तु मैं उसे देखने के लिए नहीं जाऊंगा। यह सुनकर दूतों ने फिर कहा कि अहंकार से ऐसा नहीं कहना चाहिये। चक्रवर्ती के देखे विना शरीर में भी स्थिति नहीं हो सकती फिर भूमि पर स्थिर रहने के लिए कौन समर्थ है? दूतों के वचन सुनकर त्रिपृष्ठ ने फिर कहा कि तुम्हारा राजा चक्र फिराना जानता है सो क्या वह घट आदि को बनाने वाला (कुम्भकार) कर्ता कारक है, उसका क्या देखना है? यह सुनकर दूतों को क्रोध आ गया। वे कुपित होकर बोले कि यह कन्यारत्न जो कि चक्रवर्ती के भोगने योग्य है क्या अब तुम्हें हजम हो जावेगा? और चक्रवर्ती के कुपित होने पर रथनूपुर का राजा ज्वलनजटी तथा प्रजापति अपना नाम भी क्या सुरक्षित रख सकेगा। इतना कह वे दूत वहाँ से शीघ्र ही निकल कर अश्वग्रीव के पास पहुंचे और नमस्कार कर त्रिपृष्ठ के वैभव का समाचार कहने लगे।

अश्वग्रीव यह सब सुनने के लिए असमर्थ हो गया, उसकी आंखें रूखी हो गई और उसी समय उसने युद्ध प्रारम्भ की सूचना देने वाली भेरी बजवा दी। उस भेरी का शब्द दिग्गजों का मद नष्ट कर दिशाओं के अन्त तक व्याप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि चक्रवर्ती के कुपित होने पर ऐसे कौन महापुरुष हैं जो भयभीत नहीं होते हों। वह अश्वग्रीव चतुरंग सेना के साथ रथावर्त पर्वत पर जा पहुंचा वहां उल्काएं गिरने लगीं, पृथ्वी हिलने लगी और दिशाओं में दाह दोष होने लगे। जिनका ओज चारों ओर फैल रहा है और जिन्होंने अपने प्रतापरूपी अग्नि के द्वारा शत्रुरूपी ईन्धन की राशि भस्म कर दी है ऐसे प्राजपति के दोनों पुत्रों को जब इस बात का पता चला तो इसके संमुख आये। वहां दोनों सेनाओं में महान् संग्राम हुआ। दोनों सेनाओं का समानक्षय हो रहा था इसलिए यमराज सचमुच ही समवर्तिता मध्यस्था को प्राप्त हुआ था। चिरकाल तक युद्ध करने के बाद त्रिपृष्ठ ने सोचा कि सैनिकों का व्यर्थ ही क्षय क्यों किया जाता है। ऐसा सोचकर वह युद्ध के लिए अश्वग्रीव के सामने आया।

जन्मान्तर से बंधे हुए भारी वैर के कारण अश्वग्रीव बहुत क्रुद्ध था अतः उसने बाण-वर्षा के द्वारा शत्रु को आच्छादित कर लिया। जब वे दोनों द्वन्द युद्ध से एक दूसरे को जीतने के लिए समर्थ न हो सके तब महाविद्याओं के बल से उद्धत हुए दोनों मायायुद्ध करने के लिये तैयार हो गये। अश्वग्रीव ने चिरकाल तक युद्धकर शत्रु के सन्मुख चक्र फेंका और नारायण त्रिपृष्ठ ने वही चक्र लेकर क्रोध से उसकी गर्दन छेद डाली। शत्रुओं के नष्ट करने वाले त्रिपृष्ठ और विजय आधे भरत क्षेत्र का आधिपत्य पाकर सूर्य और चन्द्रमा के समान सुशोभित हो रहे थे। भूमिगोचरी राजाओं, विद्याधर राजाओं और मागधादि देवों के द्वारा जिनका अभिषेक किया गया था ऐसे त्रिपृष्ठ नारायण पृथ्वी में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए। प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ ने हर्षित होकर स्वयंप्रभा के पिता के लिए दोनों श्रेणियों का अधिपत्य प्रदान किया सो ठीक है क्योंकि श्रीमानों

के आश्रय से क्या नहीं होता है ? असि, शंख, धनुष, चक्र, शक्ति, दण्ड और गदा ये सात नारायण के रत्न थे। देवों के समूह इनकी रक्षा करते थे।

रत्नमाला, देदीप्यमान हल, मूसल और गदा ये चार मोक्ष प्राप्त करने वाले बलभद्र के महारत्न थे। नारायण की स्वयंप्रभा को आदि लेकर सोलह हजार स्त्रियां थीं और बलभद्र की कुलरूप तथा गुणों से युक्त आठ हजार रानियां थीं। ज्वलनजटी विद्याधर ने कुमार अर्ककीर्ति के लिये ज्योतिर्माला नाम की कन्या बड़ी विभूति के साथ प्राजापत्य विवाह से स्वीकृत की। अर्ककीर्ति और ज्योतिर्माला के अमिततेज नाम का पुत्र तथा सुतारा नाम की पुत्री हुई। ये दोनों भाई-बहिन ऐसे सुन्दर थे मानो शुक्ल पक्ष की पडिवा के चन्द्रमा की रेखाएं ही हों। इधर त्रिपृष्ठ नारायण के स्वयप्रभा रानी से पहिले श्रीविजय नाम का पुत्र हुआ, फिर विजयभद्र पुत्र हुआ फिर, ज्योतिप्रभा नाम की पुत्री हुई। महान् अभ्युदय को प्राप्त हुए प्रजापति महाराज को कदाचित् वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे पिहितास्रव गुरु के पास जाकर उन्होंने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया और श्रीजिनेन्द्र भगवान का वह रूप धारण कर लिया जिससे सुख स्वरूप परमात्मा का स्वभाव प्राप्त होता है। छह बाह्य और छह आभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार के तपश्चरण में निरन्तर उद्योग करने वाले प्रजापति मुनि ने चिरकाल तक तपस्या की और आयु के अन्त में चित्त को स्थिर कर क्रम से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, सकषायता तथा सयोग-केवली अवस्था का त्याग कर परमोत्कृष्ट अवस्था–मोक्ष पद प्राप्त किया। विद्याधरों के राजा ज्वलनजटी ने भी जब यह समाचार सुना तब उन्होंने अर्ककीर्ति के लिए राज्य देकर जगन्नन्दन मुनि के समीप दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। याचना नहीं करना, बिना दिये कुछ ग्रहण नही करना, सरलता रखना, त्याग करना, किसी चीज की इच्छा नहीं रखना, क्रोधादि का त्याग करना, ज्ञानाभ्यास करना और ध्यान करना—इन सब गुणों को वे प्राप्त हुए थे। वे समस्त पापों का त्याग कर निर्द्वन्द्व हुए। निराकार होकर भी साकार हुए तथा उत्तम निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

इधर विजय बलभद्र का अनुगामी त्रिपृष्ठ कठिन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता हुआ तीन खण्ड की अखण्ड पृथ्वी के भोगों का इच्छानुसार उपभोग करता रहा। किसी एक दिन त्रिपृष्ठ ने स्वयंवर की विधि से अपनी कन्या ज्योतिःप्रभा के द्वारा जामाता अमिततेज के गले में वरमाला डलवाई। अनुराग से भरी सुतारा भी इसी स्वयंवर की विधि से श्रीविजय के वक्षःस्थल पर निवास करने वाली हुई। इस प्रकार परस्पर में जिन्होंने अपने पुत्र पुत्रियों के सम्बन्ध किये हैं ऐसे ये समस्त परिवार के लोग स्वच्छन्द जल से भरे हुए प्रफुल्लित सरोवर की शोभा को प्राप्त हो रहे थे। आयु के अन्त में अर्धचक्रवर्ती त्रिपृष्ठ तो सातवें नरक गया और विजय बलभद्र श्रीविजय नामक पुत्र के लिए राज्य देकर तथा विजयभद्र को युवराज बनाकर पापरूपी शत्रु को नष्ट करने के लिए उद्यत हुए। यद्यपि उनका चित्त नारायण के शोक से व्याप्त था तथापि निकट समय में मोक्षगामी होने से उन्होंने सुवर्णकुम्भ नामक मुनिराज के पास जाकर सात हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया।

घातिया कर्म नष्ट कर केवलज्ञान उत्पन्न किया और देवों के द्वारा पूज्य अनगारकेवली हुए। यह सुनकर अर्ककीर्ति ने अमिततेज को राज्य पर बैठाया और स्वयं विपुलमति नामक चारणमुनि से तप धारण कर लिया। कुछ समय बाद उसने अष्ट कर्मों को नष्ट कर अभिवांछित अष्टम पृथ्वी प्राप्त कर ली सो ठीक ही है क्योंकि इस संसार में जिन्होंने आशा का त्याग कर दिया है उन्हें कौन-सी वस्तु अप्राप्य है ? अर्थात् कुछ भी नही। इधर अमिततेज और श्रीविजय दोनों में अत्यन्त प्रेम था, दोनों का काल बिना किसी आकुलता के सुख से व्यतीत हो रहा था। किसी दिन कोई एक पुरुष श्री विजय राजा के पास आया और आशीर्वाद देता हुआ बोला कि हे राजन् ! मेरी बात पर चित्त लगाइये। आज से सातवें दिन पोदनपुर के राजा के मस्तक पर महावज्र गिरेगा, अतः शीघ्र ही इसके प्रतिकार का विचार कीजिये। यह सुनकर युवराज कुपित हुआ, उसकी आंखें क्रोध से लाल हो गई। वह उस निमित्तज्ञानी से बोला कि यदि तू सर्वज्ञ है तो बता कि उस समय तेरे मस्तक पर क्या पड़ेगा ? निमित्त ज्ञानी ने भी कहा कि उस समय मेरे मस्तक पर अभिषेक के साथ रत्नवृष्टि पड़ेगी। उसके अभिमानपूर्ण वचन सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि हे भद्र ! तुम इस आसन पर बैठो, मैं कुछ कहना हूं।

कहो तो सही, आपका गोत्र क्या है ? गुरु कौन है, क्या-क्या शास्त्र आपने पढ़े हैं, क्या-क्या निमित्त आप जानते हैं, आपका क्या नाम है ? और आपका यह आदेश किस कारण हो रहा है ? यह सब राजा ने पूछा। निमित्तज्ञानी कहने लगा कि कुण्डपुर नगर में सिंहरथ नाम का एक बड़ा राजा है। उसके पुरोहित का नाम सुरगुरु है और उसका एक शिष्य बहुत ही विद्वान है। किसी एक दिन बलभद्र के साथ दीक्षा लेकर मैंने उसके शिष्य के साथ अष्टांग निमित्तज्ञान का अध्ययन किया है और उपदेश के साथ उनका श्रवण भी किया है। अष्टांग निमित्त कौन हैं और उनके लक्षण क्या हैं ? यदि यह आप जानना चाहते हैं तो हे आयुष्मन् विजय ! तुम सुनो, मैं तुम्हारे प्रश्न के अनुसार सब कहता हूं। आगम के जानकार आचार्यों ने अन्तरिक्ष, भोम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न इनके भेद से आठ तरह के निमित्त कहे हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ये पांच प्रकार के ज्योतिषी आकाश में रहते हैं अथवा आकाश के साथ सदा उनका साहचर्य रहता है इसलिए इन्हें अन्तरिक्ष-आकाश कहते हैं। इनके उदय अस्त आदि के द्वारा जो जय-पराजय, हानि, वृद्धि, शोक, जीवन, लाभ, अलाभ तथा अन्य बातों का यथार्थ निरूपण होता है उसे अन्तरिक्ष निमित्त कहते हैं। पृथ्वी के जुदे-जुदे स्थान आदि के भेद से किसी की हानि वृद्धि आदि का बतलाना तथा पृथ्वी के भीतर रखे हुए रत्न आदि का कहना सो भौम-निमित्त है। अंग-उपांग के स्पर्श करने अथवा देखने से जो प्राणियों के तीन काल में उत्पन्न होने वाले शुभ-अशुभ का निरूपण होता है वह अंग-निमित्त कहलाता है।

मृदंग आदि अचेतन और हाथी आदि चेतन पदार्थों के सुस्वर तथा दुःस्वर के द्वारा इष्ट-अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति की सूचना देने वाला ज्ञान स्वर निमित्त ज्ञान है। शिर मुख आदि में उत्पन्न हुए तिल आदि चिह्न अथवा घाव आदि से किसी का लाभ अलाभ आदि बतलाना सो व्यंजन-निमित्त है। शरीर में पाये जाने वाले श्री वृक्ष तथा स्वस्तिक आदि एक सौ आठ लक्षणों के द्वारा भोग ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति का कथन करना लक्षण-निमित्त ज्ञान है। वस्त्र तथा शस्त्र आदि में मूषक आदि जो छेद कर देते हैं वे देव, मानुष और राक्षस के भेद से तीन प्रकार के होते हैं उनसे जो फल कहा जाता है उसे छिन्न-निमित्त कहते हैं। शुभ-अशुभ के भेद से स्वप्न दो प्रकार के कहे गये हैं उनके देखने से मनुष्यों की वृद्धि तथा हानि आदि का यथार्थ कथन करना स्वप्न निमित्त कहलाता है। यह कहकर वह निमित्त ज्ञानी कहने लगा कि क्षुधा प्यास आदि बाईस परिषहों से मैं पीड़ित हुआ, उन्हें सह नहीं सका इसलिये मुनिपद छोड़ कर पद्मिनीखेट नाम के नगर में आ गया। वहां सोम शर्मा नाम के मेरे मामा रहते थे। उनके हिरण्यलोमा नाम की स्त्री से उत्पन्न चन्द्रमा के समान मुख वाली एक चन्द्रानना नाम की पुत्री थी। वह उन्होंने मुझे दी। मैं धन कमाना छोड़कर निरंतर निमित्त शास्त्र के अध्ययन में लगा रहता था अतः धीरे-धीरे चन्द्रानना के पिता के द्वारा दिया हुआ धन समाप्त हो गया। मुझे निर्धन देख वह बहुत विरक्त अथवा खिन्न हुई। मैंने कुछ कौड़ियां इकट्ठी कर रक्खी थीं। दूसरे दिन भोजन के समय यह तुम्हारा दिया हुआ धन है ऐसा कहकर उसने क्रोध-वश वे सब कौड़ियां हमारे पात्र में डाल दीं।

उनमें से एक अच्छी कौड़ी स्टटिक-मणि के बने हुए सुन्दर थाल में जा गिरी, उस पर जलाई हुई अग्नि के फुलिंगे पड़ रहे थे (?) उसी समय मेरी स्त्री मेरे हाथ धुलाने के लिए जल की धारा छोड़ रही थी उसे देखकर मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे संतोष पूर्वक अवश्य ही धन का लाभ होगा। आपके लिये यह आदेश इस समय अमोघ-जिह्व नामक मुनिराज ने किया है। इस प्रकार निमित्त ज्ञानी ने कहा। उसके युक्तिपूर्ण वचन सुनकर राजा चिन्ता से व्यग्र हो गया। उसने निमित्त ज्ञानी का तो विदा किया और मन्त्रियों से इस प्रकार कहा—कि इस निमित्त ज्ञानी की बात पर विश्वास करो और इसका शीघ्र हो प्रतिकार करो क्योंकि मूल का नाश उपस्थित होने पर विलम्ब कौन करता है ? यह सुनकर सुमति मन्त्री बोला कि आपकी रक्षा करने के लिये आपको लोहे की सन्दूक के भीतर रखकर समुद्र के जल से भीतर बैठाये देते हैं। यह सुनकर सुबुद्धि नाम का मंत्री बोला कि नहीं, वहां तो मगरमच्छ आदि का भय रहेगा इसलिये विजयार्ध पर्वत की गुफा में रख देते हैं। सुबुद्धि की बात पूरी होते ही बुद्धिमान् तथा प्राचीन वृत्तान्त को जानने वाला बुद्धिमान नाम का मंत्री यह प्रसिद्ध कथानक कहने लगा।

इस भरत क्षेत्र के सिंहपुर नगर में मिथ्याशास्त्रों के सुनने

से अत्यन्त घमण्डी सोम नाम का परिव्राजक रहता था। उसने जिनदास के साथ वाद-विवाद किया परन्तु वह हार गया। आयु के अन्त में मर कर उसी नगर में एक वड़ा भारी भैंसा हुआ। उस पर एक वैश्य चिरकाल तक नमक का वहुत भारी वोझ लादता रहा। जव वह वोझ ढोने में असमर्थ हो गया तव उसके पालकों ने उसकी उपेक्षा कर दी—खाना-पीना देना भी वन्द कर दिया। कारण वश उसे जाति-स्मरण हो गया और वह नगर भर के साथ वैर करने लगा। अन्त में मर कर वहीं के श्मशान में पापी राक्षस हुआ। उस नगर के कुम्भ और भीम नाम के दो अधिपति थे। कुम्भ के रसोइया का नाम रसायनपाक था, राजा कुम्भ मांसभोजी था, एक दिन मांस नहीं था इसलिये रसोइया ने कुम्भ को मरे हुए वच्चे का मांस खिला दिया। वह पापी उसके स्वाद से लुभा गया इसलिए उसी समय से उसने मनुष्य का मांस खाना शुरू कर दिया, वह वास्तव में नरक गति प्राप्त करने का उत्सुक था। राजा प्रजा का रक्षक है इसलिये जव तक प्रजा की रक्षा करने में समर्थ है तभी तक राजा रहना है परन्तु यह तो मनुष्यों को खाने लगा है अतः त्याज्य है ऐसा विचार कर मन्त्रियों ने उस राजा को छोड़ दिया। उसका रसोइया उसे नर-मांस देकर जीवित रखता था परन्तु किसी समय उस दुष्ट ने अपने रसोइया को ही मारकर विद्या सिद्ध कर ली और उस राक्षस को वश कर लिया। अव वह राजा प्रतिदिन चारों ओर घूमता हुआ प्रजा को खाने लगा जिससे समस्त नगरवासी भयभीत हो उस नगर को छोड़कर वहुत भारी भय के साथ कारकट नामक नगर में जा पहुंचे परन्तु अत्यन्त पापी कुम्भ राजा उस नगर में भी आकर प्रजा को खाने लगा। उसी समय से लोग उस नगर को कुम्भ कारकटपुर कहने लगे।

मनुष्यों ने देखा कि यह नरभक्षी है इसलिये उन्होंने उसकी व्यवस्था बना दी कि तुम प्रतिदिन एक गाड़ी भात और एक मनुष्य को खाया करो। उसी नगर में एक चण्डकौशिक नाम का ब्राह्मण रहता था सौमश्री उसकी स्त्री थी। चिरकाल तक भूतों की उपासना करने के वाद उन दोनों ने मण्डकौशिक नाम का पुत्र प्राप्त किया। किसी एक दिन कुम्भ के आहार के लिये मण्डकौशिक की वारी आई। लोग उसे गाड़ी में डालकर ले जा रहे थे कि कुछ भूत उसे ले भागे। कुम्भ ने हाथ में दण्ड लेकर उन भूतों का पीछा किया, भूत उसके आक्रमण से डर गये। इसलिये उन्होंने मुण्डकौशिक को भय से एक विल में डाल दिया परन्तु एक अजगर ने वहां उस ब्राह्मण को निगल लिया। इसलिये महाराज को विजयार्ध की गुहा में रखना ठीक नहीं है। बुद्धि सागर के ये हितकारी वचन सुनकर सूक्ष्म बुद्धिकाधारी मतिसागर मंत्री कहने लगा कि निमित्तज्ञानी ने यह तो कहा नहीं है कि महाराज के ऊपर ही वज्र गिरेगा। उसका तो कहना है कि जो पोदनपुर का राजा होगा उस पर वज्र गिरेगा। इसलिये किसी दूसरे मनुष्य को पोदनपुर का राजा वना देना चाहिये। उसकी यह वात सवने मान ली और कहा कि आपकी यह वात ठीक है। अनन्तर सव मंत्रियों ने मिलकर राजा के सिंहासन पर एक यक्ष का प्रतिबिम्ब रख दिया। और तुम्हीं पोदनपुर के राजा हो यह कहकर उसकी पूजा की। इधर राजा ने राज्य के भोग उपभोग सव छोड़ दिये, पूजादान आदि सत्कार्य प्रारंभ कर दिये। और अपने स्वभाव वाली मंडली को साथ लेकर जिन चैत्यालय में शांति कर्म करता हुआ बैठ गया सातवें दिन उस यक्ष की मूर्ति पर वड़ा भारी शब्द करता हुआ भयंकर वज्र अकस्मात् वड़ी कठोरता से आ पड़ा। उस उपद्रव के शान्त होने पर प्रजा ने वड़े हर्ष से वजते हुए नगाड़ों के शब्दों से वहुत भारी उत्सव किया।

राजा ने वड़े हर्ष के साथ उस निमित्त ज्ञानी को बुला कर उसका सत्कार किया और पद्मनीखेट के साथ उसे सौ गांव दिये। श्रेष्ठ मंत्रियों ने तीन लोक के स्वामी अरहन्त भगवान की विधिपूर्वक भक्ति के साथ शान्ति पूजा की महाभिषेक किया और राजा को सिंहासन पर बैठा कर स्वर्णमय कलशों से उनका कलशाभिषेक किया तथा उत्तम राज्य में प्रतिष्ठित किया। इसके वाद उसका काल वहुत भारी सुख से बीतने लगा। किसी एक दिन उसने अपनी माता से आकाशगामिनी विद्या लेकर सिद्ध की और सुतारा के साथ रमण करने की इच्छा से ज्योतिर्वन की ओर गमन किया। वह वहां अपनी इच्छानुसार लीला-पूर्वक विहार करता हुआ रानी के साथ बैठा था, यहां चमरचंचपुर का राजा इन्द्राशनि, रानी आसुरी का लक्ष्मी सम्पन्न अशनिघोष नाम का विद्याधर पुत्र भ्रामरी विद्या को सिद्ध कर अपने नगर को लौट रहा था। बीच में सुतारा को देखकर उस पर उसकी इच्छा हुई और उसे हरण करने

का उद्यम करने लगा। उसने एक कृत्रिम हरिण के छल से राजा को सुतारा के पास से अलग कर दिया और वह दुष्ट श्री विजय का रूप बनाकर सुतारा के पास लौट कर वापिस आया। कहने लगा कि हे प्रिय ! वह मृग तो वायु के समान वेग से चला गया। मैं उसे पकड़ने के लिये असमर्थ रहा अतः लौट आया हूं, अब सूर्य अस्त हो रहा है इसलिये हम दोनों अपने नगर की ओर चलें। इतना कहकर उस धूर्त विद्याधर ने सुतारा को विमान पर बैठाया और वहाँ से चल दिया। बीच में उसने अपना रूप दिखाया जिसे देखकर यह कौन है ऐसा कहती हुई सुतारा बहुत हो विह्वल हुई। इधर उसी अशिनघोष विद्याधर के द्वारा प्रेरित हुई वैताली विद्या सुतारा का रूप रखकर बैठ गई।

जब श्री विजय वापिस लौटकर आया तब उसने कहा कि मुझे कुक्कुट साँप ने डस लिया है। इतना कहकर उसने बड़े संभ्रम से ऐसी चेष्टा बनाई जैसे मर रही हो। उसे देख राजा ने जाना कि इसका विष मणि, मंत्र तथा औषधि आदि से दूर नहीं हो सकता। अन्त में निराश होकर स्नेह से भरा पोदनाधिपति उस कृत्रिम सुतारा के साथ मरने के लिये उत्सुक हो गया। उसने एक चिता बनाई, सूर्यकान्त मणि से उत्पन्न अग्नि के द्वारा उसका ईंधन प्रज्वलित किया और शोक से व्याकुल हो उस कपटी सुतारा के साथ चिता पर आरूढ़ हो गया। उसी समय वहाँ से कोई दो विद्याधर जा रहे थे उनमें एक महा तेजस्वी था उसने विद्या विच्छेदिनी नाम की विद्या का स्मरण कर उस भयभीत वैताली को बायें पैर से ठोकर लगाई जिससे उसने अपना असली रूप दिखा दिया। अब वह श्री विजय के सामने खड़ी रहने के लिये भी समर्थ न हो सकी अतः अदृश्यता को प्राप्त हो गई। यह देख राजा श्री विजय बहुत भारी आश्चर्य को प्राप्त हुए। उन्होंने कहा कि यह क्या है ? उत्तर में विद्याधर उसकी कथा इस प्रकार कहने लगा।

इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में एक ज्योतिः प्रभ नाम का नगर है। मैं वहाँ का राजा संभिन्न हूं, यह सर्वकल्याणी नाम की मेरी स्त्री है और यह दीपशिख नाम का मेरा पुत्र है। मैं अपने स्वामी रथनूपुर नगर के राजा अमिततेज के साथ शिखरनल नाम से प्रसिद्ध विशाल उद्यान में विहार करने के लिए गया था। वहाँ से लौटते समय मैंने मार्ग में सुना कि एक स्त्री अपने विमान पर बैठी हुई रो रही है और कह रही है कि मेरे स्वामी श्री विजय कहाँ हैं ? हे रथनूपुर के नाथ ! कहाँ हो ? मेरी रक्षा करो। इस प्रकार उसके करुण शब्द सुनकर मैं वहां गया और बोला कि तू कौन है ? तथा किसे हरण कर ले जा रहा है ? मेरी बात सुनकर वह बोला कि मैं चमरचंच नगर का राजा अशनिघोष नाम का विद्याधर हूं। इसे जबर्दस्ती लिये जा रहा हूं, यदि आप में शक्ति है तो आओ और इसे छुड़ाओ। यह सुनकर मैंने निश्चय किया कि यह तो मेरे स्वामी अमिततेज की छोटी बहिन को ले जा रहा है। मैं साधारण मनुष्य की तरह कैसे चला जाऊं ? इसे अभी मारता हूं। ऐसा निश्चय कर मैं उसके साथ युद्ध करने के लिये तत्पर हुआ ही था कि उस स्त्री ने मुझे रोककर कहा कि आग्रह वश वृथा युद्ध मत करो, पोदनपुर के राजा ज्योतिर्वन में मेरे वियोग के कारण शोकाग्नि से पीड़ित हो रहे हैं तुम वहाँ जाकर उनसे मेरी दशा कह दो। इस प्रकार हे राजन्, मैं तुम्हारी स्त्री के द्वारा भेजा हुआ यहाँ आया हूं। यह तुम्हारे वैरी की आज्ञा-कारिणी बैताली देवी है। ऐसा उस हितकारी विद्याधर ने बड़े आदर से कहा। इस प्रकार संभिन्न विद्याधर के द्वारा कही हुई बात को पोदनपुर के राजा ने बड़े आदर से सुना और कहा कि आपने यह बहुत अच्छा किया। आप मेरे सन्मित्र हैं अतः इस समय आप शीघ्र ही जाकर यह समाचार मेरी माता तथा छोटे भाई आदि से कह दोजिये। ऐसा कहने पर विद्याधर ने अपने दोपशिख नामक पुत्र को शीघ्र ही पोदनपुर की ओर भेज दिया।

उधर पोदनपुर में भी बहुत उत्पातों का विस्तार हो रहा था, उसे देखकर अमोघजिह्व और जयगुप्त नाम के निमित्त ज्ञानी बड़े संयम से कह रहे थे कि स्वामी को कुछ भय उत्पन्न हुआ था परन्तु अब वह दूर हो गया है, उनका कुशल समाचार लेकर आज ही कोई मनुष्य आवेगा। इसलिए आप लोग स्वस्थ रहें, भय को प्राप्त न हों। इस प्रकार वे दोनों ही विद्याधर, स्वयंप्रभा आदि को धीरज बंधा रहे थे। उसी समय दीपशिख नाम का बुद्धिमान् विद्याधर आकाश से पृथ्वी-तल पर आया और विधि-पूर्वक स्वयंप्रभा तथा उसके पुत्र को प्रणाम कर कहने लगा कि महाराज श्री विजय को सब प्रकार की कुशलता

है, आप लोग भय छोड़िये, इस प्रकार सब समाचार ज्यों के त्यों कह दिये। उस बात को सुनने से, जिस प्रकार दावानल से लता म्लान हो जाती है, अथवा बुझने वाले दीपक की शिखा जिस प्रकार प्रभाहीन हो जाती है, अथवा वर्षा ऋतु के मेघ का शब्द सुनने वाली कलहंसी जिस प्रकार शोक-युद्ध हो जाती है अथवा जिस प्रकार किसी स्थावादी विद्वान के द्वारा विध्वस्त हुई दुःश्रुति (मिथ्या-शास्त्र) व्याकुल हो जाती है उसी प्रकार स्वयंप्रभा भी म्लान शरीर, प्रभारहित, शोकयुक्त तथा अत्यन्त आकुल हो गई थी। वह उस विद्याधर को तथा पुत्र को साथ लेकर उस वन के बीच पहुंच गई। पोदनाधिपति के छोटे भाई के साथ आती हुई माता को दूर से ही देखा और सामने जाकर उसके चरणों में नमस्कार किया। पुत्र को देखकर स्वयंप्रभा के नेत्र हर्षाश्रुओं से व्याप्त हो गये। वह कहने लगी कि हे पुत्र! उठ, मैंने अपने पुण्योदय से तेरे दर्शन पा लिये, तू चिरंजीव रहे इस प्रकार कहकर उसने श्री विजय को अपनी दोनों भुजाओं से उठा लिया, उसका स्पर्श किया और बहुत भारी संतोष का अनुभव किया। अथानन्तर—जब श्री विजय सुख से बैठ गये तब उसने सुतारा के हरण आदि का समाचार पूछा।

श्री विजय ने कहा कि यह सभिन्न नामक विद्याधर अमिततेज का सेवक है। हे माता! आज इसने मेरा जो उपकार किया है वह तुझ ने भी नहीं किया। ऐसा कहकर उसने जो-जो बात हुई थी वह सब कह सुनाई। तदनन्तर स्वयंप्रभा ने छोटे पुत्र को तो नगर की रक्षा के लिए वापिस लौटा दिया और बड़े पुत्र को साथ लेकर वह आकाश मार्ग से रथनूपुर नगर को चली। अपने देश में घूमने वाले गुप्तचरों के कहने से अमिततेज को इस बात का पता चल गया जिससे उसने बड़े वैभव के साथ उसकी अगवानी की तथा संतुष्ट होकर जिसमें बड़ी ऊंची पताकाएं फहरा रही हैं और तोरण बांधे गये हैं ऐसे अपने नगर में उसका प्रवेश कराया। उस विद्याधरों के स्वामी अमिततेज ने उनका पाहुने के समान सम्पूर्ण स्वागत सत्कार किया और उनके आने का कारण जानकर इन्द्राशनि के पुत्र अशनिघोष के पास मरीचि नाम का दूत भेजा। उसने दूत से असह्य वचन कहे। दूत ने वापिस आकर वे सब वचन अमिततेज से कहे। उन्हें सुनकर अमिततेज ने मन्त्रियों के साथ सलाह कर मद से उद्धत हुए उस अशनिघोष को नष्ट करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उच्च अभिप्राय वाले अपने बहनोई को उसने शत्रुओं का विध्वंस करने के लिए वंशपरम्परागत युद्धवीर्य, प्रहरणावरण और बन्धमोचन नाम की तीन विद्याएं बड़े आदर से दीं। तथा रश्मिवेग सुवेग आदि पांच सौ पुत्रों के साथ-साथ पोदनपुर के राजा श्री विजय से अहंकारी शत्रु पर जाने के लिए कहा। और स्वयं सहस्ररश्मि नामक अपने बड़े पुत्र के साथ समस्त विद्याओं को छेदने वाली महाज्वाला नाम की विद्या को सिद्ध करने के लिए विद्याएं सिद्ध करने की जगह ह्रीमन्त पर्वत पर श्री संजयन्त मुनि की विशाल प्रतिमा के समीप गया।

इधर जब अशनिघोष ने सुना कि श्री विजय युद्ध के लिए रश्मिवेग आदि के साथ आ रहा है तब उसने क्रोध से सुघोष, शतघोष, सहस्रघोष आदि अपने पुत्र भेजे। उसके वे समस्त पुत्र तथा अन्य लोग पन्द्रह दिन तक युद्ध कर अन्त में पराजित हुए। जिसकी समस्त घोषणाएं अपने नाश को सूचित करने वाली हैं ऐसे अशनिघोष ने जब यह समाचार सुना तब वह क्रोध से सन्तप्त होकर स्वयं ही युद्ध करने के लिये गया। इधर युद्ध में श्री विजय ने अशनिघोष के दो टुकड़े करने के लिये प्रहार किया उधर भ्रामरी विद्या से उसने दो रूप बना लिये। श्री विजय ने नष्ट करने के लिये उन दोनों के दो-दो टुकड़े किये तो उधर अशनिघोष ने चार रूप बना लिये। इस प्रकार वह सारी सेना अशनिघोष की मायां से भर गई। इतने में ही रथनूपुर का राजा अमिततेज विद्या सिद्ध कर आ गया और आते ही उसने महाज्वाला नाम की विद्या को आदेश दिया। अशनिघोष उस विद्या को सह नहीं सका। इसलिये पन्द्रह दिन तक युद्ध कर भागा और भय से नाभेयसीम नाम के पर्वत पर गन्धध्वज के समीपवर्ती विजय तीर्थ करके समवसरण में जा घुसा। अमिततेज तथा श्री विजय आदि भी क्रोधित हो उसका पीछा करते-करते उसी समवसरण में जा पहुंचे। वहां मान-स्तम्भ देखकर उन सबकी चित्तवृत्तियां शान्त हो गईं। सबने जगत्पति जिनेन्द्र भगवान की तीन प्रदक्षिणाएं दीं, उन्हें प्रणाम किया और वैररूपी विष को उगलकर वे सब वहां साथ-साथ बैठ गये।

उसी समय शीलवती आसुरी देवी मुरझाई हुई लता के समान सुतारा को शीघ्र ही लाई और श्री विजय तथा अमित-

तेज को समर्पण कर बोली कि आप दोनों हमारे पुत्र का अपराध क्षमा कर देने के योग्य हैं। तिर्यंचों का जो जन्मजात बैर छूट नहीं सकता वह भी जब जिनेन्द्र भगवान के समीप आकर छूट जाता है तब मनुष्यों की तो बात ही क्या कहना है ? जब जिनेन्द्र भगवान के स्मरण से अनादि काल के बंधे हुए कर्म छूट जाते हैं तब उनके समीप बैर छूट जावे इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जो बड़े दुःख से निवारण किया जाता है ऐसा यमराज भी जब जिनेन्द्र भगवान के स्मरण मात्र से अनायास ही रोक दिया जाता है तब दूसरा ऐसा कौन शत्रु है जो रोका न जा सके ? इसलिए बुद्धिमानों को यमराज का प्रतिकार करने के लिए तीनों लोकों के नाथ अर्हन्त भगवान का ही स्मरण करना चाहिये। वही इस लोक तथा परलोक में हित के करने वाले हैं।

अथानन्तर विद्याधरों के स्वामी अमिततेज ने हाथ जोड़कर बड़ी भक्ति से भगवान् को नमस्कार किया और तत्वार्थ को जानने की इच्छा से सद्धर्म का स्वरूप पूछा। जिसमें कषायरूपी मगरमच्छ तैर रहे हैं और जो अनेक दुःखरूपी लहरों से भरा हुआ है ऐसे संसाररूपी विकराल सागर का पार कौन पा सकता है ? यह बात जिनेन्द्र भगवान् से ही पूछी जा सकती है किसी दूसरे से नहीं क्योंकि उन्होंने ही संसार रूपी सागर को पार कर पाया है। हे भगवान् ! एक आप ही जगत् के बन्धु है अतः हम सब शिष्यों को आप सद्धर्म का स्वरूप बतलाइये। रत्नत्रय रूपी महाधन को धारण करने वाले पुरुष आपकी दिव्यध्वनि रूपी बड़ी भारी नाव के द्वारा ही इस संसार रूपी समुद्र से निकल कर सुख देने वाले अपने स्थान को प्राप्त करते है। ऐसा विद्याधरों के राजा ने भगवान् से पूछा। तदनन्तर भगवान् दिव्यध्वनि के द्वारा कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार पूर्व वृष्टि के द्वारा चातक पक्षी संतोष को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार भव्य जीव दिव्यध्वनि के द्वारा संतोष को प्राप्त होते हैं। हे विद्याधर भव्य ! सुन, इस संसार के कारण कर्म हैं और कर्म के कारण मिथ्यात्व असंयम आदि हैं।

मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जो परिणाम ज्ञान को भी विपरीत कर देता है उसे मिथ्यात्व जानो। यह मिथ्यात्व वन्ध का कारण है। अज्ञान, संशय, एकान्त, विपरीत और विनय के भेद से ज्ञानी पुरुष उस मिथ्यात्व को पांच प्रकार का मानते हैं। पाप और धर्म के नाम से दूर रहने वाले जीवों के मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो परिणाम होता है वह अज्ञान मिथ्यात्व है। आप्त तथा आगम आदि के नाना होने के कारण जिसके उदय से तत्व के स्वरूप में दोलायमानता—चंचलता बनी रही है उसे हे श्रेष्ठ विद्वान् ! तुम संशय मिथ्यात्व जानो। द्रव्य पर्यायरूपी पदार्थ में अथवा मोक्ष का साधन जो सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र है उसमें किसी एक का ही एकान्त रूप से निश्चय करना सो एकान्त मिथ्यादर्शन है। आत्मा में जिसका उदय रहते हुए ज्ञान ज्ञायक और ज्ञेय के यथार्थ स्वरूप का विपरीत निर्णय होता है उसे मिथ्यादर्शन जानो। मन, वचन और काय के द्वारा जहां सब देवों को प्रणाम किया जाता है और समस्त पदार्थों को मोक्ष का उपाय माना जाता है उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं। व्रतरहित पुरुष को जो मन वचन काय की क्रिया है उसे असंयम कहते हैं। इस विषय के जानकार मनुष्यों ने प्राणी-असंयम और इन्द्रिय-असंयम के भेद से असंयम के दो भेद कहे हैं। जब तक जीवों के अप्रत्याख्यानावरण चारित्र मोह का उदय रहता है तब तक अर्थात् चतुर्थगुणस्थान तक असंयम बन्ध का कारण माना गया है। छठवें गुणस्थानों में व्रतों में संशय उत्पन्न करने वाली जो मन वचन काय की प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद छठवें गुणस्थान तक वन्ध का कारण होता है।

प्रमाद के पन्द्रह भेद कहे गये हैं। ये संज्वलन कषाय का उदय होने से होते हैं तथा सामाजिक, छेदोस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन चारित्रों से युक्त जीव के प्रायश्चित के कारण बनते हैं। सातवें से लेकर दशवें तक चार गुणस्थानों में संज्वलन क्रोध मान माया लोभ के उदय से जो परिणाम होते हैं उन्हें कषाय कहते हैं। इन चार गुणस्थानों में यह कषाय ही वन्ध का कारण है। जिनेन्द्र भगवान् ने इस कषाय के सोलह भेद कहे हैं। यह कषाय उपशान्तमोह गुणस्थान के इसी ओर स्थितिवन्ध तथा अनुभाग वन्ध का कारण माना गया है। आत्मा के प्रदेशों में जो संचार होता है उसे योग कहते हैं। यह योग ग्यारहवें, बारहवें इन तीन गुणस्थानों में सातावेदनीय के वन्ध का कारण माना गया है। इन गुणस्थानों में यह एक ही वन्ध का कारण है। मनोयोग चार प्रकार का है, वचन

योग चार प्रकार का है और काय-योग सात प्रकार का है। ये सभी योग यथायोग्य जहां जितने संभव हों उतने प्रकृति और प्रदेश बन्ध के कारण हैं। हे आर्य ! जिनका अभी वर्णन किया है ऐसे इन मिथ्यात्व आदि पांच के द्वारा वह जीव अपने अपने योग्य स्थानों में एक सौ बीस कर्मप्रकृतियों से सदा बंधता रहता है।

इन्हीं प्रकृतियों के कारण यह जीव गति आदि पर्यायों में बार बार घूमता रहता है, प्रथम गुणस्थान में इस जीव के सभी जीव समक्ष होते हैं, वहां यह जीव तीन अज्ञान और तीन अदर्शनों से सहित होता है, उसके औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं, संयम का अभाव होता है, कोई जीव भव्य रहता है और कोई अभव्य होता है। इस प्रकार संसार चक्र के भंवररूपी गड्ढे में पड़ा हुआ यह जीव तीन अज्ञान और तीन अदर्शनों से सहित होता है, उसके औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव होते हैं संयम का अभाव होता है, कोई जीव भव्य रहता है और कोई अभव्य होता है। इस प्रकार संसार चक्र के भंवररूपी गड्ढे में पड़ा हुआ यह जीव जन्म जरा मरण रोग सुख दुःख आदि विविध भेदों को प्राप्त करता हुआ अनादि काल से इस ससार में निवास कर रहा है। इनमें स कोई जीव कालादि लब्धियों का [निमित्त पाकर अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों से मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम करता है तथा संसार की परिपाटी का विच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। तदनन्तर अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से श्रावक के बारह व्रत ग्रहण करता है। कभी प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से महाव्रत प्राप्त करता है। कभी अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। कभी मोहकर्मरूपी शत्रु के उच्छेद से उत्पन्न हुए क्षायिक चारित्र से अलंकृत होता है। तदनन्तर द्वितीय शुक्ल ध्यान का धारक होकर तीन घातिया कर्मों का क्षय करता है, उस समय नव केवललब्धियों की प्राप्ति से अर्हन्त होकर सबके द्वारा पूज्य हो जाता है। कुछ समय बाद तृतीय शुक्ल ध्यान के द्वारा समस्त योगों को रोक देता है और समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्ल ध्यान के प्रभाव से समस्त कर्मबन्ध को नष्ट कर देता है। इस प्रकार हे भव्य ! तेरे समान भव्य प्राणी क्रम-क्रम से प्राप्त हुए तीन प्रकार के सन्मार्ग के द्वारा संसार-समुद्र से पार होकर सदा सुख से बढ़ता रहता है।

इस प्रकार समस्त विद्याधरों का स्वामी अमिततेज, श्री जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कही हुई जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त की प्रकिया को सुनकर ऐसा संतुष्ट हुआ मानो उसने अमृत का ही पान किया हो। ऊपर कही हुई कालादि चार लब्धियों की प्राप्ति से उस समय उसने सम्यग्दर्शन से शुद्ध होकर अपने आपको श्रावकों के व्रत से विभूषित किया। उसने भगवान् से पूछा कि हे भगवन् ! मैं अपने चित्त में स्थित एक दूसरी बात आपसे पूछना चाहता हूं। बात यह है कि इस अशनिघोष ने मेरा प्रभाव जानते हुए भी मेरी छोटी बहिन सुतारा का हरण किया है सो किस कारण से किया है ? उक्त प्रश्न में जिनेन्द्र भगवान् भी उसका कारण इस प्रकार कहने लगे।

जम्बूद्वीप के मगध देश में एक अचल नाम का ग्राम है। उसमें भरणीजट नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम अग्निला था और उन दोनों के इन्द्रभूति तथा अग्निभूति नाम के दो पुत्र थे। इनके सिवाय एक कपिल नाम दासी पुत्र भी था। जब वह ब्राह्मण अपने पुत्रों को वेद पढ़ाता था तब कपिल को अलग रखता था परन्तु कपिल इतना सूक्ष्मबुद्धि था कि उसने अपने आप ही शब्द तथा अर्थ दोनों रूप से वेदों को जान लिया था। जब ब्राह्मण को इस बात का पता चला तब उसने कुपित होकर तूने यह अयोग्य किया यह कहकर उस दासी पुत्र को उसी समय घर से निकाल दिया। कपिल भी दुःखी होता हुआ वहां से रत्नपुर नामक नगर में चला गया। रत्नपुर में एक सत्यक नामक ब्राह्मण रहता था। उसने कपिल को अध्ययन से सम्पन्न तथा योग्य देख जम्बू नामक स्त्री से उत्पन्न हुई अपनी कन्या समर्पित कर दी। इस प्रकार राज-पूज्य एव समस्त शास्त्रों के सम्पूर्ण अर्थ के ज्ञाता कपिल ने जिसको कोई खंडन न कर सके ऐसी व्याख्या करते हुए रत्नपुर नगर में कुछ वर्ष व्यतीत किये। कपिल विद्वान अवश्य था परन्तु उसका आचरण ब्राह्मण कुल के योग्य नहीं था अतः उसकी स्त्री सत्यभामा उसके दुश्चरित्र का विचार कर सदा

संशय करती रहती थी कि यह किसका पुत्र है ? इधर धरणी-जट दरिद्र हो गया। उसने परम्परा से कपिल के प्रभाव की सब बातें जान लीं इसलिए वह अपनी दरिद्रता दूर करने के लिए कपिल के पास गया। उसे आया देख कपिल मन ही मन बहुत कुपित हुआ परन्तु बाह्य में उसने उठकर अभिवादनप्रणाम किया। उच्च आसन पर बैठाया और कहा कि कहिये मेरी माता तथा भाइयों की कुशलता तो है न ? मेरे सौभाग्य से आप यहां पधारे यह अच्छा किया इस प्रकार पूजकर स्नान वस्त्र आसन आदि से उसे संतुष्ट किया और कहीं हमारी जाति का भेद खुल न जावे इस भय से उसने उसके मन को अच्छी तरह ग्रहण कर लिया। दरिद्रता से पीड़ित हुआ पापी ब्राह्मण भी कपिल को अपना पुत्र कहकर उसके साथ पुत्र जैसा व्यवहार करने लगा सो ठीक है क्योंकि स्वार्थी मनुष्यों की मर्यादा का पालन नहीं होता। इस प्रकार अपने समाचारों को छिपाते हुए उन पिता-पुत्र के कितने ही दिन निकल गये। एक दिन कपिल के परोक्ष में सत्यभामा ने ब्राह्मण को बहुत-सा धन देकर पूछा कि आप सत्य कहिये। क्या यह आपका ही पुत्र है ? इसके दुश्चरित्र से मुझे विश्वास नहीं होता कि यह आपका ही पुत्र है। धारिणी जट हृदय में तो कपिल के साथ द्वेष रखता ही था और सत्यभामा के दिये हुए सुवर्ण तथा धन को साथ लेकर घर जाना चाहता था इसलिये सब वृत्तान्त सच-सच कहकर घर चला गया सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट मनुष्यों के लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं हैं।

अथानन्तर उस नगर का राजा श्रीषेण था। उसके सिंह-नन्दिता और अनिन्दिता नाम की दो रानियां थीं। उन दोनों को इन्द्र और चन्द्रमा के समान सुन्दर मनुष्यों में उत्तम इन्द्र-सेन और उपेन्द्रसेन नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों ही पुत्र अत्यंत नम्र थे अतः माता-पिता उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। सत्यभामा को अपने वंश का अभिमान था अतः वह अपने पापी पति के साथ सहवास की इच्छा न रखती हुई राजा की शरण गई। उस समय अन्याय की घोषणा करने वाला वह बनावटी ब्राह्मण कपिल राजा के साथ ही बैठा था, शोक के कारण उसने अपना हाथ अपने मस्तक पर लगा रखा था, उसे देखकर और उस का सब हाल जानकर श्रीषेण राजा ने विचार किया कि पापी विजातीय मनुष्यों को संसार में न करने योग्य कुछ भी कार्य नहीं है। इसलिये राजा लोग ऐसे कुलीन मनुष्यों का संग्रह करते हैं जो आदि मध्य और अन्त में कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होते। जो स्वयं अनुरक्त हुआ पुरुष विरक्त स्त्री में अनुराग की इच्छा करता है वह इन्द्रनीलमणि में लाल तेज की इच्छा करता है। इत्यादि विचार करते हुए राजा ने उस दुराचारी को शीघ्र ही अपने देश से निकाल दिया सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुष मर्यादा की हानि को सहन नहीं करते। किसी एक दिन राजा ने घर पर आये हुए आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चरण मुनियों को पडिगाह कर स्वयं आहार दान दिया, पंचाश्चर्य प्राप्त किये और दश प्रकार के कल्पवृक्षों के भोग प्रदान करने वाली उत्तरकुरु की आयु बांधी। राजा की दोनों रानियों ने तथा उत्तम कार्य करने वाली सत्य-भामा ने भी दान की अनुमोदना से उसी उत्तरकुरु की आयु का बन्ध किया सो ठीक ही है क्योंकि साधुओं के समागम से क्या नहीं होता ?

अथानन्तर कौशाम्बी नगरी में राजा महाबल राज्य करते थे, उनकी श्रीमती नाम की रानी थी और उन दोनों के श्री कान्ता मानो सुन्दरता की सीमा ही थी। राजा महाबल ने वह श्री कान्ता विवाह की विधि पूर्वक इन्द्रसेन के लिए दी थी। श्री कान्ता के साथ अनन्तमति नाम की एक साधारण स्त्री भी गई थी। उसके साथ उपेन्द्रसेन का स्नेहपूर्ण समागम हो गया और इस निमित्त को लेकर बगीचा में रहने वाले दोनों भाइयों में युद्ध होने की तैयारी हो गई। जब राजा ने यह समाचार सुना तब वे उन्हें रोकने के लिये गये परन्तु वे दोनों ही कामी तथा क्रोधी थे अतः राजा उन्हें रोकने में असमर्थ रहे। राजा को दोनों ही पुत्र अत्यन्त प्रिय थे। साथ ही उनके परिणाम अत्यन्त आर्द्र-कोमल थे अतः वे पुत्रों का दुःख सहन में समर्थ नहीं हो सके। फल यह हुआ कि वे विष-पुष्प सूंघकर मर गये। वही विष-पुष्प सूंघकर राजा की दोनों स्त्रियां तथा सत्यभामा भी प्राणरहित हो गईं सो ठीक ही है क्योंकि कर्मों की प्रेरणा विचित्र होती है। घातकी खण्ड के पूर्वार्ध भाग में जो उत्तर-कुरु नाम का प्रदेश है उसमें राजा तथा सिंह-नन्दिता दोनों दम्पती हुए और अनिन्दिता नाम की रानी आर्य तथा सत्य-भामा उसकी स्त्री हुई। इस प्रकार वे सब वहाँ भोगभूमि के भोग भोगते हुए सुख से रहने लगे।

अथानन्तर कोई एक विद्याधर युद्ध करने वाले दोनों भाइयों के बीच प्रवेश कर कहने लगा कि तुम दोनों व्यर्थ ही क्यों युद्ध करते हो ? यह तो तुम्हारी छोटी वहिन है। उसके वचन सुनकर दोनों कुमारों ने आश्चर्य के साथ पूछा कि यह कैसे ? उत्तर में विद्याधर ने कहा। कि धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व भाग में मेरु पर्वत से पूर्व की और एक पुष्कलावर्ता नाम का देश है। उसमें विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर आदित्याभ नाम का नगर है। उसमें सुकुण्डली नाम का विद्याधर राज्य करता है। सुकुण्डलो की स्त्री का नाम मित्रसेना है। मैं उन दोनों का मणिकुण्डल नाम का पुत्र हूं। मैं किसी समय पुण्डरीकिणी नगरी गया था, वहां अमितप्रभ जिनेन्द्र से सनातन धर्म का स्वरूप सुनकर मैंने अपने पूर्वभव पूछे। उत्तर में वे कहने लगे—कि तीसरे पुष्करवर द्वीप में पश्चिम मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सरिद् नाम का एक देश है। उसके मध्य में वीतशोक नाम का नगर है। उसके राजा का नाम चक्रध्वज था, चक्रध्वज की स्त्री का नाम कनकमालिका था। उन दोनों के कनकलता और पद्मलता नाम की दो पुत्रियां उत्पन्न हुई। उसी राजा की एक विद्युन्मति नाम की दूसरी रानी थी उसके पद्मावती नाम की पुत्री थी। इस प्रकार इन सबका समय सुख से वीत रहा था। किसी दिन काललब्धि के निमित्त से रानी कनकमाला और उसकी दोनों पुत्रियों ने अमितसेना नाम की गणिनी के वचनरूपी रसायन का पान किया जिससे वे तीनों ही मरकर प्रथम स्वर्ग में देव हुई। इधर पद्मावतो ने देखा कि एक वेश्या दो कामियों को प्रसन्न कर रही है उसे देख पद्मावती ने भी वैसे ही होने की इच्छा की। मरकर वह स्वर्ग में अप्सरा हुई।

तदनन्तर कनकमाला का जीव, वहां से चयकर मणिकुण्डली नाम का राजा हुआ है और दोनों पुत्रियों के जीव रत्नपुर नगर में राजपुत्र हुए हैं। जिस अप्सरा का उल्लेख ऊपर आ चुका है वह स्वर्ग से चय कर अनन्तमति हुई है। इसी अनन्तमति को लेकर आज तुम दोनों राजपुत्रों का युद्ध हो रहा है। इस प्रकार जिनेन्द्र देव की कही हुई वाणी सुनकर, अन्याय करने वाले और धर्म को न जानने वाले तुम लोगों को रोकने के लिए मैं यहां आया हूं। इस प्रकार विद्याधर के वचनों से दोनों का कलह दूर हो गया, दोनों को आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया, दोनों को शीघ्र ही वैराग्य उत्पन्न हो गया. दोनों ने सुधर्मगुरु के पास दीक्षा ले ली, दोनों ही क्षायिक अनन्तज्ञानादि गुणों के धारक हुए और दोनों ही अन्त में निर्वाण को प्राप्त हुए। तथा अनन्तमति ने भी हृदय में श्रावक के सम्पूर्ण व्रत धारण किये और अन्त में स्वर्ग लोक प्राप्त किया। सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनों के अनुग्रह से कौन सी वस्तु नहीं मिलती ? राजा श्रीषेण का जीव भोगभूमि से चयकर सौधर्म स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीप्रभ नामक देव हुआ. रानी सिंहनन्दिता का जीव उसी स्वर्ग के श्रीनिलय विमान में विद्युत्प्रभा नाम की देवी हुई।

सत्यभामा ब्राह्मणी और अनिन्दिता नाम की रानी के जीव क्रमश: विमलप्रभ विमान में शुक्लप्रभा नाम की देवी और विमलप्रभ नाम के देव हुए। राजा श्रीषेण का जीव पांच पल्य प्रमाण आयु के अन्त में वहां से चयकर इस तरह की लक्ष्मी से सम्पन्न तू अर्ककीर्ति का पुत्र हुआ है। सिंहनन्दिता तुम्हारी ज्योति:प्रभ नाम की स्त्री हुई है, देवी अनिन्दिता का जीव श्री विजय हुआ है, सत्यभामा सुतारा हुई है और पहले का दुष्ट कपिल चिरकाल तक दुर्गतियों में भ्रमण [illegible] के वन में ऐरावती नदी के किनारे तापसियों के आश्रम में कौशिक नामक तापस की चपलवेगा स्त्री से मृगशृंग नाम का पुत्र हुआ है। वहां पर उस दुष्ट ने बहुत समय तक खोटे तापसियों के व्रत पालन किये। किसी एक दिन चपलवेग विद्याधर की लक्ष्मी देखकर उस मूर्ख ने मद से, विद्वान जिसकी निन्दा करते हैं ऐसा निदान बन्ध किया। उसी के फल से यह अशनिघोष हुआ है और पूर्व स्नेह के कारण ही इसने सुतारा का हरण किया है। तेरा जीव आगे होने वाले नौवें भव में सज्जनों को शान्ति देने वाला पांचवां चक्रवर्ती और शान्तिनाथ नाम का सोलहवां तीर्थंकर होगा।

इस प्रकार जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा की फैली हुई वचनरूपी चांदनी की प्रभा के सम्बन्ध से विद्याधरों के इन्द्र अमिततेज का हृदयरूपी कुमुदों से भरा सरोवर खिल उठा। उसी समय अशनिघोष, उसकी माता स्वयंप्रभा, सुतारा तथा अन्य कितने ही लोगों ने विरक्त होकर श्रेष्ठ संयम धारण किया। चक्रवर्ती के पुत्र को आदि लेकर दानों के मद [illegible] जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति कर तथा तीन प्रदक्षिणाएं देकर अमिततेज के साथ

यथायोग्य स्थान पर चले गये। इधर अर्ककीर्ति का पुत्र अमिततेज समस्त पर्वो में उपवास करता था, यदि कदाचित् ग्रहण किये हुये व्रत की मर्यादा का भंग होती थी तो उसके योग्य प्रायश्चित लेता था, सदा महापूजा करता था, आदर से पात्रदानादि करता था, धर्म-कथा सुनता था, भव्यों को धर्मोपदेश देता था, निःशंकित आदि गुणों का विस्तार करता था, दर्शनमोह को नष्ट करता था, सूर्य के समान अपरिमित तेज का धारक था और चन्द्रमा के समान सुख से देखने योग्य था। वह संयमी के समान शान्त था, पिता की तरह प्रजा का पालन करता था और दोनों लोकों के हित करने वाले धार्मिक कार्यों की निरन्तर प्रवृत्ति रखता था।

प्रज्ञप्ति, कामरूपिणी, अग्निस्तम्भिनी, उदकस्तम्भिनी, विश्वप्रवेशिनी, अप्रतिघातगामिनी, आकाशगामिनी, उत्पादिनी, वशीकरण, दशमा, आवेशिनी, माननीयप्रस्थानिनी, प्रमोहनी, प्रहरणी, संक्रामण आवर्तनी, संग्रहणी, भंजनी, विपाटनी, प्रावर्तकी, प्रमोदिनी, प्रहापणी, प्रभावती, प्रलापिनी, निक्षेपणी, शर्वरी, चांडाली, मातंगी, गौरी, षडंगिका, श्रीमत्कन्या, शत-संकुला, कुपाण्डी, विरजवेगिका, रोहिणी मनोवेगा, महावेगा, चण्डवेगा, चपलवेगा, लघुकरी, पर्ललघु, वेगावती, शीतदा, उष्णदा, वेताली, महाज्वाला, सर्वविद्याछेदिनी, युद्धवीर्या, बन्धमोचनी, प्रहारावरणी, भ्रामरी, अभोगिनी इत्यादि कुल और जाति में उत्पन्न हुई अनेक विद्याएं सिद्ध कीं। उन सब विद्याओं का पारगामी होकर वह योगी के समान सुशोभित हो रहा। दोनों श्रेणियों का अधिपति होने से वह सब विद्याधरों का राजा था और इस प्रकार विद्याधरों का चक्रवर्तीपना पाकर वह चिरकाल तक भोग भोगता रहा किसी एक दिन विद्याधरों के अधिपति अमिततेज ने दमवर नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि को विधिपूर्वक आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। किसी एक दिन अमिततेज तथा श्रीविजय ने मस्तक झुकाकर अमर गुरु और देव गुरु नामक दो श्रेष्ठ मुनियों को नमस्कार किया, धर्म का यथार्थ स्वरूप देखा, उनके वचनामृत का पान किया और ऐसा संतोष प्राप्त किया मानो अजर-अमरपना ही प्राप्त कर लिया हो।

तदनन्तर श्रीविजय ने अपने तथा पिता के पूर्वभवों का सम्बन्ध पूछा जिससे समस्त पापों को नष्ट करने वाले पहले भगवान् अमरगुरू कहने लगे। उन्होंने विश्वनन्दी के भव से लेकर समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। उसे सुनकर अमिततेज ने भोगों का निदानबन्ध किया। अमिततेज तथा श्रीविजय दोनों ने कुछ काल तक विद्याधरों तथा भूमि-गोचरियों के सुखामृत का पान किया। तदनन्तर दोनों ने विपुलमति और विमलमति नाम के मुनियों के पास अपनी आयु एक मास मात्र की रह गई है ऐसा सुनकर अर्कतेज तथा श्रीदत्त नाम के पुत्रों के लिए राज्य दे दिया, बड़े आदर से आष्टाह्निक पूजा की तथा नन्दन नामक मुनिराज के समीप चन्दनवन में सब परिग्रह का त्याग कर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया। अन्त में समाधि-मरण कर शुद्ध बुद्धि का धारक विद्याधरों का राजा अमिततेज तेरहवें स्वर्ग के ननावर्थ विमान में रविचूल नाम का देव हुआ और श्री विजय भी इसी स्वर्ग के स्वस्तिक विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ। वहाँ दोनों की आयु बीस सागर की थी। आयु समाप्त होने पर वहां से च्युत हुए।

उनमें से रविचूल नाम का देव ननावर्त विमान से च्युत होकर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी के राजा स्तिमित सागर और उनकी रानी वसुन्धरा के अपराजित नाम का पुत्र हुआ। मणिचूल देव भी स्वस्तिक विमान से च्युत होकर उसी राजा की अनुमति नाम की रानी से अनन्तवीर्य नाम का लक्ष्मी सम्पन्न पुत्र हुआ। वे दोनों ही भाई जम्बूद्वीप के चन्द्रमाओं के समान सुशोभित होते थे क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा कान्ति से युक्त होता है उसी प्रकार वे भी उत्तम कान्ति से युक्त थे, जिस प्रकार चन्द्रमा कुवलय-नील कमलों को आह्लादित करते थे, जिस प्रकार चन्द्रमा तृष्णा रूपी आताप-दुःख को दूर करते थे और जिस प्रकार कलाधर-सोलह कलाओं का धारक होता है उसी प्रकार वे भी अनेक कलाओं, अनेक चतुराइयों के धारक थे। अथवा वे दोनों भाई बालसूर्य के समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार बालसूर्य भास्वद्वपुर्देदीप्यमान शरीर का धारक होता है उसी प्रकार वे दोनों भाई भी पद्मानन्द कर—लक्ष्मी को आनन्दित करने वाले थे, जिस प्रकार बालसूर्य भास्वद्व-पुर्देदीप्यमान शरीर के धारक थे, जिस प्रकार बालसूर्य ध्वस्त-तामस-अन्धकार को नष्ट करने वाले थे जिस प्रकार बाल सूर्य नित्योदय होते हैं—उनका उद्गमन निरन्तर होता रहता है उसी

प्रकार वे दोनों भाई भी नित्योदय थे—उनका ऐश्वर्य निरन्तर विद्यमान रहता था और जिस प्रकार बालसूर्य जगन्नेत्र-जगच्चक्षु नाम को धारण करने वाले हैं, उसी प्रकार के वे दोनों भाई भी जगन्नेत्र-जगत के लिए नेत्र के समान थे।

वे दोनों भाई कलावान् थे परन्तु कभी किसी को ठगते नहीं थे, प्रताप सहित थे परन्तु किसी को दाह नहीं पहुंचाते थे. दोनों करों- दोनों प्रकार के टैक्सों से (आयात और निर्यात करों से) रहित होने पर भी सत्कार उत्तम कार्य करने वाले अथवा उत्तम हाथों से सहित थे इस प्रकार वे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। रूप की अपेक्षा उन्हें कामदेव की उपमा नहीं दी जा सकती थी क्योंकि वह अशरीरता को प्राप्त हो चुका था तथा नीति की अपेक्षा परस्पर एक दूसरे को जीतने वाले गुरु तथा शुक्र उनके समान नहीं थे। भावार्थ—लोक में सुन्दरता के लिए कामदेव की उपमा दी जाती है परन्तु उन दोनों भाइयों के लिए कामदेव की उपमा संभव नहीं थी क्योंकि वे दोनों शरीर से सहित थे और कामदेव शरीर से रहित था। इसी प्रकार लोक में नीतिविज्ञता के लिए गुरु-बृहस्पति और शुक्राचार्य की उपमा दी जाती है परन्तु उन दोनों भाइयों के लिए उनकी उपमा लागू नहीं होती थी क्योंकि गुरु और शुक्र परस्पर एक दूसरे को जीतने वाले थे परन्तु वे दोनों परस्पर एक दूसरे को नहीं जीत सकते थे। सूर्य के द्वारा रची हुई छाया कभी घटती है तो कभी बढ़ती है परन्तु उन दोनों भाइयों के द्वारा की हुई छाया बढ़ते हुए वृक्ष की छाया के समान निरन्तर बढ़ती ही रहती है।

वे न कभी युद्ध करते थे और न कभी शत्रुओं पर चढ़ाई ही करते थे फिर भी शत्रु राजा उन दोनों के साथ सदा सन्धि करने के लिए उत्सुक बने रहते थे। इस तरह जिन्हें राज्यलक्ष्मी अपने कटाक्षों का विषय बना रही है ऐसे वे दोनों भाई नवीन अवस्था को पाकर शुक्लपक्ष की अष्टमी के चन्द्रमा के समान बढ़ते ही रहते थे। अब मेरे दोनों योग्य पुत्रों की अवस्था राज्य का उपभोग करने के योग्य हो गई, ऐसा विचार कर किसी एक दिन इनके पिता ने भोगों में प्रीति करना छोड़ दिया। उसी समय इच्छा रहित राजा ने देव तुल्य दोनों भाइयों को बुलाकर उनका अभिषेक किया तथा एक को राज्य देकर दूसरे को युवराज बना दिया। तथा स्वयं, स्वयंप्रभ नामक जिनेन्द्र के चरणों के समीप जाकर संयम धारण कर लिया। धरणेन्द्र की ऋद्धि देखकर उसने निदान बन्ध किया। उससे दूषित होकर बालतप करता रहा। वह सांसारिक सुख प्राप्त करने का इच्छुक था। आयु के अन्त में विशुद्ध परिणामों से मरा और धरणेन्द्र अवस्था को प्राप्त हुआ।

भगवान कुन्थुनाथ

जम्बूद्वीपवर्ती पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्स नामक एक देश है उस देश के सुसीमा नगर में एक महान बलवान सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन उसने आकाश से गिरती हुई बिजली देखी इससे उसको वैराग्य हो गया। विरक्त होकर उसने साधु अवस्था में १६ कारण भवनाओं का चिन्तवन किया जिससे तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। अन्त में वीर मरण करके सर्वार्थ सिद्धि का देव हुआ।

वहां ३३ सागर की आयु बिताकर हस्तिनापुर में महाराजा सूरसेन की महारानी श्री कान्ता से उदर से १७ वें तीर्थंकर कुन्थुनाथ नामक तेजस्वी पुत्र हुआ। भगवान शांतिनाथ के मोक्ष गमन से ९५ हजार वर्ष कम आधा पल्य समय बीत जाने पर भगवान कुन्थुनाथ का जन्म हुआ था। इनकी आयु ९५ हजार वर्ष की थी। ३५ धनुष ऊंचा सुवर्ण वर्ण शरीर था। बकरे का चिन्ह पैर में था।

भगवान कुन्थुनाथ ने २३७५० वर्ष कुमार दिग्विजय करके निकले और छहखण्ड जीतकर भरत क्षेत्र के चक्रवर्ती सम्राट बने रहकर पूर्वभव के स्मरण से इनको वैराग्य हुआ। १६ वर्ष तपस्या करके अर्हन्त पद प्राप्त किया। तब समवशरण में अपनी दिव्यध्वनि से मुक्ति मार्ग का प्रचार किया। इनके स्वयम्भू आदि ३५ गणधर थे ६० हजार सब तरह के मुनि थे भाविता आदि ६० हजार ३०० आर्यिकायें थीं। गन्धर्व यक्ष जयावती थी। अन्त में आपने सम्मेद शिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान अरनाथ

जम्बूद्वीप में बहने वाली सीता नदी के उत्तरी तट पर कच्छ नामक एक देश है उसका शासन राजा धनपति करता था। उसने एक दिन तीर्थंकर के समवशरण में उनसे हित

वाणी सुनी दिव्य उपदेश सुनते ही वह संसार से विरक्त होकर मुनि बन गया। तब उसने अच्छी तपस्या की और सोलह भावनाओं का चिन्तवन करके तीर्थंकर पद का उपार्जन किया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके जयन्त विमान में अहमिन्द्र हुआ।। तैंतीस सागर अहमिन्द्र पद के सुख भोग कर उसने हस्तिनापुर के सोमवंशी राजा सुदर्शन की महिमय मयी रानी मित्रसेना के गर्भ में आकर श्री अर:नाथ तीर्थंकर के रूप में जन्म लिया।

भगवान अरनाथ के शरीर का वर्ण सुवर्ण समान था। जब हजार करोड़ चौरासी हजार वर्ष कम पल्य का चौथाई भाग समय भगवान कुन्थुनाथ को मोक्ष जाने के वाद से बीत चुका था। तब श्री अर:नाथ का जन्म हुआ। उनका शरीर ३० धनुष ऊंचा था पैर में मछली का चिन्ह था उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। २१ हजार वर्ष कुमार अवस्था में व्यतीत हुए। २१ हजार वर्ष तक मंडलेश्वर राजा रहे फिर ६ खंड विजय करके २१ हजार वर्ष तक चक्रवर्ती पद में शासन किया। तदन्तर शरद् कालीन बादलों को विघटता देखकर वैराग्य हुआ। अत: राज्य त्याग कर मुनि हो गये। १६ वर्ष तक तपश्चरण करते हुए जब बीत गये तब उनको केवल ज्ञान हुआ। फिर समवशरण में विराजमान होकर भव्य जनता को मुक्ति पथ का उपदेश दिया। इनके कुम्भार्य आदि तीस गणधर तथा सब प्रकार के ६० हजार मुनि और यक्षि आदि एक हजार आर्यिकायें भगवान के संघ में थीं। महेन्द्र यक्ष विजया यक्षी थी। सर्वत्र विहार करते हुए महान धर्म प्रचार किया और अन्त में सम्मेद शिखर पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान अर:नाथ के पीछे किन्तु उनके तीर्थ समय में ही परशुराम का वालक किन्तु स्वयं लोभ वश समुद्र में अपने पूर्व जन्म के शत्रु देव द्वारा मरने वाला सुभौम चक्रवर्ती हुआ है। तथा उनके ही तीर्थ काल में नन्दिषेण नामक छठा वलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ नामक प्रति नारारण हुआ है।

श्री भगवान् मल्लिनाथ

जम्बूद्वीपवर्ती सुमेरु पर्वत के पूर्व में कच्छकावती देशान्तर्गत वीतशोक नामक सुन्दर नगर है उसमें वैश्रवण नामक राजा राज्य करता था। एक दिन उसने वनविहार के समय विजली से एक वट वृक्ष को गिरते देखा इससे उनको वैराग्य हो गया और वह अपने पुत्र को राज्य देकर मुनि हो गया। मुनि अवस्था में उसने तीर्थंकर नाम कर्म का बंध किया। तपश्चरण करते हुए समाधि के साथ प्राण त्याग किया और अपराजित नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ तैंतीस सागर की आयु जब वहाँ समाप्त हुई तो बंग देश की मिथिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशी राजा कुम्भ की रानी प्रजावती के गर्भ में आया और ९ मास पश्चात् श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर के रूप में जन्म लिया। भगवान अरहनाथ की मुक्ति के ५५ हजार वर्ष कम एक करोड़ वर्ष व्यतीत हो जाने पर श्री मल्लिनाथ भगवान का जन्म हुआ।

आप सुवर्ण वर्ण के थे २५ धनुष ऊंचा शरीर था पचपन हजार वर्ष की आयु थी दाहिने पैर में कलश का चिन्ह था। जब उन्होंने यौवन अवस्था में पैर रखा तो उनके विवाह की तैयारी हुई। अपने नगर को सजा हुआ देखकर उन्हें पूर्व भव के अपराजित विमान का स्मरण हो गया। अत: संसार की विभूति अस्थिर जानकर विरक्त हो गये और अपना विवाह न कराकर कुमार काल में उसी समय उन्होंने मुनि दीक्षा ले ली। छ: दिन तक तपश्चरण करने के अनन्तर ही उनको केवल ज्ञान हो गया। फिर अच्छा धर्म प्रचार किया। उनके विशाख आदि २८ गणधर थे। केवल ज्ञानी आदि विविध ऋद्धिधारक ४० हजार मुनि और वन्धुषेणा आदि आर्यिकायें उनके संघ में थीं। कुवेर यक्ष अपराजिता यक्षी थी कलश चिन्ह था अन्त में वे सम्मेद शिखर से मुक्त हुए।

इनके तीनों काल में पद्मनामक चक्रवर्ती हुआ है तथा इनके ही तीर्थ काल में सातवं वलभद्र नन्दिमित्र, नारायण दत्त और बलि नामक प्रतिनारायण हुऐ हैं।

श्री भगवान् मुनिसुव्रतनाथ

अंग देश के चम्पापुर में प्रतापी राजा हरीवर्मा राज्य करता था एक बार उसने अपने उद्यान में पधारे हुए अनन्त वीर्य से संसार की असारतासूचक धर्म उपदेश सुना उसके प्रभाव से उसे आत्म रुचि हुई और वह सव परिग्रह त्याग कर मुनि बन गया। मुनि चर्या का निर्दोष पालन करते हुए उसने

सोलह भावनाओं का चिन्तवन करके वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। वहां पर २० सागर दिवसम्पदाओं का उपभोग किया तदन्तर मगध देश के राजग्रह नगर के शासक हरिवंशी राजा सुमित्र नाम की महारानी सोमा के गर्भ से वीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथ के रूप में जन्म लिया। भगवान मल्लिनाथ के मुक्ति समय से ५३ लाख ७० हजार वर्ष का समय वीत जाने के बाद पर श्री मुनिसुव्रतनाथ का जन्म हुआ था। शरीर का वर्ण नीला था, ऊंचाई २० धनुष थी। और आयु ३० हजार वर्ष की थी। दाहिने पैर में कछूए का चिन्ह था।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के साढ़े सात हजार वर्ष कुमार काल में व्यतीत हुए और साढ़े ७ हजार वर्ष तक राज्य किया। फिर उनको संसार से वैराग्य हुआ उनके साथ एक हजार राजाओं ने भी मुनि दीक्षा ग्रहण की। कई मास तक तपश्चरण करने के पश्चात उनको केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। तब लगभग ३० हजार वर्ष तक समवशरण द्वारा विभिन्न देशों में विहार करके वे प्रचार करते रहे। इनके मल्लि आदि १८ गणधर थे व केवल ज्ञानी अवधि ज्ञानी आदि सब तरह के ३० हजार मुनि और पुष्पदन्ता आदि ५० हजार आर्यिकाएं उनके साथ थी। वरुण यक्ष बहुरूपिणी यक्षी कच्छप का चिन्ह था अन्त में सम्मेद शिखर से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में हरिषेण चक्रवर्ती हुआ है तथा आठवें बलभद्र राम नारायण लक्ष्मण प्रति नारायण रावण हुआ है।

भगवान नमिनाथ

वत्स देश के कोशाम्बि नगर में सिद्धार्थ नामक इक्ष्वाकुवंशी राजा राज्य करता था। एक दिन उसने महाबल केवली से धर्म उपदेश सुना जिससे उसको वैराग्य हो गया। वह मुनि दीक्षा लेकर तपस्या करने लगा दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं द्वारा उसने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। आयु के अन्त में समाधिमरण किया। अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ। वहां उसने ३३ सागर की आयु व्यतीत की। तदन्तर मिथिला नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्रीय महाराजा विजय की महारानी वप्पिला के उदर से २१ वें तीर्थंकर श्री नमिनाथ के रूप में जन्म लिया। भगवान मुनिसुव्रत नाथ के बाद ६० लाख वर्ष तीर्थ काल वीत जाने पर भगवान नमिनाथ का जन्म हुआ था। उनकी आयु दस हजार वर्ष थी शरीर १५ धनुष ऊंचा था। वर्ण स्वर्ण के समान था चिन्ह नील कमल का था। भगवान नमिनाथ का ढाई हजार वर्ष समय कुमार काल में और ढाई हजार वर्ष राज्य शासन में व्यतीत हुआ। एक बार पूर्व भव का स्मरण कर उन्हें वैराग्य हो गया तब मुनि दीक्षा लेकर ९ वर्ष तक तपस्या की तदन्तर उनको केवल ज्ञान हुआ। उस समय देश देशान्तरों में विहार कर धर्म प्रचार करते रहे। उनके संघ में सुप्रभार्य आदि १७ गणधर २० हजार सब तरह के मुनि और मंगिनी आदि ४५ हजार आर्यिकाएं थी। भृकुटि यक्ष चामुंडी यक्षी नीलोत्पल चिन्ह था अन्त में भगवान नमिनाथ ने सम्मेद शिखर पर से मुक्ति प्राप्त की।

भगवान नेमिनाथ

जम्बूद्वीपवर्ती पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतानदी के उत्तर तट पर सुगन्धिला देश है। उसमें सिंहपुर नगर का यशस्वी प्रतापी और सौभाग्यशाली राजा अपराजित शासन करता था उसको एक दिन पूर्वभव के मित्र दो विद्याधर मुनियों ने आकर प्रबुद्ध किया कि अब तेरी आयु केवल एक मास की रह गई है कुछ आत्म कल्याण कर ले। अपराजित अपनी आयु निकट जान कर मुनि हो गया। मुनि होकर उसने खूब तपश्चर्या की। आयु के अन्त में समाधिमरण कर सलहवें स्वर्ग का इन्द्र हुआ। वहां से च्युत होकर हस्तिनापुर के राजा श्रीचन्द्र का पुत्र सुप्रतिष्ठ हुआ। राज्य करते हुए उसने एक दिन बिजली गिरती हुई देखी उससे संसार को क्षणभंगुर जानकर मुनि हो गया। मुनि अवस्था में उस ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। और आयु के अन्त में एक मास का सन्यास धारण कर जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहां पर तैतीस सागर की आयु बिताकर द्वारावती के यदुवंशी राजा समुद्रविजय व रानी शिवादेवी की कोख से २२ वें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के रूप में उत्पन्न हुआ।

भगवान नेमिनाथ का शरीर नील कमल के समान नीले वर्ण का था एक हजार वर्ष की आयु थी। और शरीर की ऊंचाई दस धनुष थी उनके पैर में शंख का चिन्ह था। वे भगवान

नमिनाथ के मुक्त होने के ४ लाख ६६ हजार वर्ष पीछे उत्पन्न हुए थे युवा हो जाने पर उनका विवाह संबन्ध जूनागढ़ के राजा उग्रसेन (ये कंस के पिता उग्रसेन से भिन्न थें) की गुणवतो युवती परम सुन्दरी सुपुत्री राजमति के साथ निश्चित हुआ । बड़ी धूम-धाम से आपकी बारात जूनागढ़ पहुंची । वहाँ पर कृष्ण ने भगवान नेमिनाथ को वैराग्य उत्पन्न करने के अभिप्राय से बहुत पशु एक वाड़े में एकत्र करा दिये । ये पशु करुण चीत्कार कर रहे थे । भगवान नेमिनाथ को अपने रथवाहक से ज्ञात हुआ कि इन पशुओं को मारकर मेरी बारात में आये हुए कुछ मांस भक्षी लोगों की लोलुपता पूरी की जायेगी । यह बात विचार कर उनको तत्काल वैराग्य हो गया । और वे तोरण द्वार से लौट आये । उन्होंने जूनागढ़ के समीपवर्ती गिरनार पर संयम धारण कर लिया । राजमती भी आर्यिका हो गई । ५६ दिन तपश्चर्या करने पश्चात् भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान हो गया । तदन्तर सर्वत्र विहार कर धर्म प्रचार करते रहे । उनके संघ में वरदत्त आदि ११ गणधर थे । १८ हजार सब तरह के मुनि थे । और राजमती आदि ४० हजार आर्यिकायें थी । सर्वाहिक यक्ष आम्रकुस्मांडिनी यक्षी व शंख का चिन्ह था । वे अन्त में गिरनार पर मुक्त हुए ।

उनके समय में उनके चचेरे भाई ६ वें बलभद्र बलदेव तथा नारायण कृष्ण और प्रतिनारायण जरासंध हुऐ हैं ।

भगवान पार्श्वनाथ

इसी भरत क्षेत्र में पोदनपुर के शासक राजा अरविन्द थे । उनका सदाचारी विद्वान मंत्री मरूभूति था । उसकी स्त्री वसुन्धरी बड़ी सुन्दर थी । मरूभूति का बड़ा भाई कमठ बहुत दुराचारी था । वह वसुन्धरी पर असक्त था । एक दिन मरूभूति का बड़ा भाई पोदनपुर से बाहर गया हुआ था । उस समय प्रपंच बनाकर कमठ ने मरूभूति की स्त्री का शीलभंग किया । राजा अरविन्द को जब कमठ के दुराचार का मालूम हुआ तो उन्होंने कमठ का मुख काला करके गधे पर विठाकर राज्य से बाहर निकाल दिया । कमठ एक तपस्वियों के आश्रम में चला गया । वहाँ पर एक पत्थर को दोनों हाथों से उठाकर खड़े होकर वह तप करने लगा । मरूभूति प्रेमवश उससे मिलने आया । कमठ ने उसके ऊपर वह पत्थर पटक दिया । जिससे कुचल कर मरूभूति मर गया ।

मरूभूति मर कर दूसरे भव में हाथी हुआ और कमठ मरकर सर्प हुआ । उस सर्प ने पूर्व भव का वैर विचारकर उस हाथी को सूंड में काट लिया हाथी ने शान्ति से शरीर का त्याग कर सहस्रार स्वर्ग में देव पर्याय पाई । सर्प मरकर नरक में गया । मरूभूति का जीव १६ सागर स्वर्ग में रहकर विदेह क्षेत्र में विद्याधर राजा का पुत्र रश्मिवेग हुआ । कमठ का जीव नरक से निकल कर विदेह क्षेत्र में अजगर हुआ । रश्मिवेग ने यौवन अवस्था में मुनि दीक्षा ले ली । सयोग से कमठ का जीव अजगर उन ध्यानमग्न मुनि के पास आया तो पूर्वभव का वैर विचारकर उनको खा गया रश्मिवेग मुनि मरकर सोलहवें स्वर्ग में देव हुए । कमठ का जीव अजगर मरकर छठे नरक में गया । मरूभूति का जीव स्वर्ग की आयु समाप्त करके विदेह क्षेत्र में राजा वज्रवीर्य का पुत्र वज्रनाभि हुआ । वज्रनाभि ने चक्ररत्न से दिग्विजय कर सम्राट पद पाया । बहुत समय तक राज्य करने के बाद वह फिर संसार से विरक्त होकर मुनि बन गया । कमठ का जीव नरक से निकल कर इसी विदेह क्षेत्र में भील हुआ । एक दिन उसने ध्यान में मग्न वज्रनाभि मुनि को देखा तो पूर्वभव का वैर विचार कर उनको मार डाला ।

मुनि मरकर मध्यम ग्रैवेयक के देव हुए । कमठ का जीव भील मरकर नरक में गया । मरूभूति का जीव अहमिन्द्र की आयु समाप्त कर अयोध्या के राजा वज्रबाहु का आनन्द नामक पुत्र हुआ । आनन्द ने राज पद पाकर बहुत दिन तक राज्य किया फिर अपने सिर का सफेद बाल देख कर मुनि दीक्षा ले ली । मुनि दशा में अच्छी तपस्या की और तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया । कमठ का जीव नरक से आकर सिंह हुआ था । उसने इस भव में पूर्व वैर विचार कर आनन्द मुनि का भक्षण किया । मुनि सन्यास से शरीर त्याग कर प्राणत स्वर्ग के इन्द्र हुए । सिंह मरकर शम्बर नामक असुर देव हुआ ।

मरूभूति के जीव ने प्राणत स्वर्ण की आयु समाप्त कर बनारस के इक्ष्वाकुवंशी राजा अश्वसेन की रानी वामादेवी के उदर से २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के रूप में जन्म लिया । भगवान नेमिनाथ के ८३ हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। भगवान पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की थी। उनका शरीर हरित रंग था। नौ हाथ की ऊँचाई थी पैर में सर्प का चिन्ह था। जब वे १६ वर्ष के हुए तब हाथी पर सवार होकर गंगा के किनारे सैर कर रहे थे। उस समय उन्होंने एक तपस्वी को अग्नि जलाकर तपस्या करते हुये देखा। भगवान पार्श्वनाथ को अवधि ज्ञान से ज्ञात हुआ कि एक जलती हुई लकड़ी के भीतर सर्प सर्पिणी भी जल रहे हैं। उन्होंने तापसी से यह बात कही तापसी ने क्रोध में आकर जब कुल्हाडी से लकड़ी फाड़ी तो सचमुच मरणोन्मुख नाग नागनी उसमें से निकले। भगवान पार्श्वनाथ ने उनको णमोकार मंत्र सुनाया। नाग नागिनी ने शान्ति से णमोकार मंत्र सुनते हुए प्राण दे दिये और दोनों मर कर भवनवासी देव देवी धरणीन्द्र पद्मावती हुए।

राजकुमार पार्श्वनाथ ने अपना विवाह नहीं किया और यौवन अवस्था में ही संसार से विरक्त होकर मुनि दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया। चार मास पीछे एक दिन जब वे ध्यान में बैठे थे तब कमठ का जीव असुरदेव उधर होकर आकाश में जा रहा था। भगवान पार्श्वनाथ को देखकर उसने फिर पूर्वभव का वैर विचार कर भगवान के ऊपर बहुत उपद्रव किया। उस समय धरणेन्द्र पद्मावती ने आकर उस असुर देव को भगा कर उपसर्ग दूर किया। उसी समय भगवान को केवल ज्ञान हुआ। तब समवशरण द्वारा समस्त देशों में धर्म प्रचार करते रहे। उनके स्वयंम्भू आदि १० गणधर थे सब तरह के १६ हजार मुनि और सुलोचना आदि १६ हजार आर्यिकायें उनके संघ में थी। धरणेन्द्र यक्ष पद्मावती यक्षी सर्प का चिन्ह था। अन्त में आपने सम्मेद शिखर से मुक्ति प्राप्त की।

श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी

दोहा

भरम हरण आनन्द करण, मुकति रमणि भरतार। मोह तिमिर नाशन अरक, बन्दौं निज हितकार ॥७॥

॥ अथ चौवीस जिनको नमस्कार ॥

चौपाई

वृषभ वृषभ चक्री कृत सार, वृषभ तीर्थ वर्तावन हार। वृषदायक वृष आतम जान, वन्दौं वृषभनाथ भगवान ॥ ८॥
मोह वाम आरति इन्द्रीय, दुसह परिपहादिक जोतीय। एकाकी अरु मिलत जु सर्व, अजितनाथ वन्दौं तजि गर्व ॥ ९॥
शंभव भव हैं तार महान, तीन लोक भवि जीवन जान। संपूरण सुख के करतार, वन्दौं निरावाध सुविचार ॥१०॥
सचिदानंद भगवान मनोग, आनंद करता हरता सोग। आतम थिति अभिनंदन देव, आनंद हेत करौं नित सेव ॥११॥

सुमति जिनेश सुमति दातार। भवि जीवन संबोधन सार।
स्वच्छ सुमतिकी सिद्धिविशाल। वन्दौं तास हरण भव जाल ॥१२॥

वन्दौं पद्म प्रभु भगवान, पद्मा पद्म अलंकृत जान। सकल जीवकों हैं दातार, पद्मा,-पद्मकांत शुभसार ॥१३॥
नमौं सुपार्श्वनाथ जिनराय, सुधिय नरनकौं पारस राय। सुख अनन्त अरु गुण जु अनन्त, अप्टकर्मकौ कीनौं अन्त ॥१४॥
जगत जीव आनंद करतार, धर्मामृत करि पूरित सार। मिथ्यातम हर चन्द्र समान, वन्दौं चन्द्रप्रभु सुखदान ॥१५॥

सुविधि सुभ्रम-भ्रम हरता वान। भव्यनि विधि उपदेशक जान।
सुरग मुकति सुख प्रापति काज। भ्रमनाशक प्रनमौं जिनराज ॥१६॥

शीतल भव्य जीवको सार, पाप ताप नाशक भवतार। वरपैं दिव्य सुधा ध्वनि जास, नमों पाप छेदन शुभ वास ॥१७॥
प्रणमौं श्रेय श्रेय-दातार, जे प्रभु थुति धारैं संसार। विश्वश्रेय अरु मोकर श्रेय, श्रेय लीन सुखदायक गेय ॥१८॥

सुमेरु पर्वत पर जिनका जन्माभिपेक उत्सव देखकर इन्द्रके सहस्र नेत्र हो गये।

जिन्होंने शैशवावस्थामें राज्यविभूतिको तृणवत समझकर तथा कामरूपी शत्रुको परित्याग कर कठिन तपस्यार्थ लिये वनमें गमन किया। जिन्हें आहार दान देनेके कारण चन्दना नामकी कन्या त्रैलोक्यमें प्रख्यात हुई।

जो रुद्रके उपसर्गोंको शान्तिपूर्वक सहन कर 'महावीर' नामसे प्रसिद्ध हुए। जिन्होंने घातिया कर्मरूपी योधाओंको परास्त कर केवलज्ञान प्राप्त किया।

जिस भगवान ने स्वर्ग मोक्ष रूपी लक्ष्मी प्रदान करनेवाला धर्मका प्रकाश किया, जो आज पर्यन्त श्रावक और मुनि धर्मके रूपमें विद्यमान है और भविष्यमें भी रहेगा।

जिनके कर्म जीतनेसे 'वीर', धर्मोपदेश देनेसे 'सन्मति' और उपसर्गोंको सहन करनेसे 'महावीर' नाम है, उन अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण श्री महावीर प्रभुको मैं उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये मन, वचन, कायसे सदा नमस्कार करता हूं। इनके साथ ही मैं श्रीऋषभदेव आदि तेइस तीर्थकरोंको भी तीनों योगोंसे वारम्वार नमस्कार करता हूं।

मैं ऐसे समस्त सिद्धोंको नमस्कार करता हूं, जो सम्यक्त्वादि अष्ट-गुणों सहित लोक शिखर पर विराजमान हैं।

श्री महावीर स्वामीके मोक्ष जानेके पश्चात् श्री गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य और अन्तिम श्री जम्बू स्वामी ये तीन केवलज्ञानी हुए।

ये तीनों श्री महावीर स्वामीके निर्वाण प्राप्त होनेके ६२ वर्ष पश्चात् धर्मके प्रवर्त्तक हुए।

उनके चरण कमलोंमें भक्तिभाव रखता हुआ, मैं उनके गुणोंकी प्राप्तिकी इच्छा रखता हूं।

इनके सौ वर्ष बाद अंग-पूर्वोंके जानकार नंदी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु स्वामी ये पांच श्रुत-केवली हुए। मेरा उनके चरणोंमें शतशः नमस्कार है।

वृषभसेन को आदि दे, चतुर ज्ञान धरतार। सप्त ऋद्धि भूषित नमौं, कवि ईश्वर गणधार ॥३७॥

॥ केवलीत्रय को नमस्कार ॥

मोक्ष गये श्रीवीर जिन, उपजै केवलि तीन। गौतम तथा सुधर्म मुनि, जम्बूस्वामि प्रवीन ॥३८॥
मध्य सुबासठ वरसकै, धर्मवर्ति मुनिराज। शरण गहौं पदकमल तिनि उनहूंकै गुणकाज ॥३९॥

॥ पंच श्रुतकेवली को नमस्कार ॥

श्री विष्णु नन्दमित्र पुनि, अपराजित मिलि सांच। गोवर्द्धन भद्रबाहु पुनि, ये श्रुतकेवलि पांच ॥४०॥
पूर्व अंग के देवता, उपजे त्रिजग सुचन्द। अन्तर इक शत वरष के, नमौं चरण भर विन्द ॥४१॥

॥ अंग पूर्वके पाठी आचार्यों को नमस्कार ॥

चौपाई

विशाख प्रोष्ठिल क्षत्रिय जान, नाग सिद्धार्थ जयसेन प्रमान। विजय बुद्धिमत गंग सुधर्म, जान्यौ अंग पूर्व दश मर्म ॥४२॥
तैरासी सौ वर्ष के मांहि, उपजै तामें विकलप नांहि। धर्म प्रकाशक दर्शन ज्ञान, चरण कमल प्रणमों जुगपान ॥४३॥
नक्षत्र नाम जयपाल प्रशंस, पाण्डुक ध्रुवसेन रु तह कंस। एकादशह अंग वेत्तार, धर्म प्रवर्तक मुनिवर सार ॥४४॥
दो शत वीस वरसमें भए, तिनिके चरण कमल हम नए। सुभद्र जशोभद्र, जयबाहु, लोहाचार्य अंगधर ताह ॥४५॥
विनय आदिवर श्रीदत्त जान, अरहदत्त शिवदत्त वखान। अंग पूर्व के धारक सोइ, वन्दों तास कमल पद दोइ ॥४६॥

दोहा

इकशत अठदश वरषके, उपजै अन्तरमांहि। रहित परिग्रह दुविधकर, राग द्वेष उर नांहि ॥४७॥
काल दोष तें हीन श्रुत, इनमें रह्यौ न कोई। भुजवलि पुष्पसुदन्त वर, उपजे मुनिवर दोइ ॥४८॥
श्रुतज्ञान के नाशतैं, मति बल पुस्तक कीन। साध तनी पूजा निमित, सुस्तुति में सो लीन ॥४९॥
ज्येष्ठ धवल पंचमि दिना, थाप्यौ शास्त्र सरूप। धर्मवृद्धि करता नमौं, श्रुति प्राणति जु अनूप ॥५०॥
और भये मुनिवर बहुत, कुन्दकुन्द गुरु आदि। कवि ईश्वर भूतल विषै परिग्रह कीनी वादि ॥५१॥

॥ उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार ॥

उस दिन सब संघोंने मिलकर जिनवाणीकी पूजाकी थी और आज भी करते हैं। तत्पश्चात् कुन्द कुन्दादि अनेक आचार्य हुए हैं। मैं गुण प्राप्तिकी आशासे उनकी वारवार वन्दना करता हूं।

मेरा ऐसा विश्वास है कि, भगवानके मुख कमलसे प्रकट हुई विश्वपूज्या सरस्वती (वाणी) मेरी बुद्धिको निर्मल बतलाने में समर्थ होगी।

इसी भांति सत्य एवं श्रेष्ठ गुणवाले देव तथा शास्त्र और गुरुओं को नमस्कार करता हुआ श्रोता-वक्ताके लक्षणोंका वर्णन करता हूं, जिससे इस ग्रन्थकी उत्तम प्रतिष्ठा हो।

वक्ता के लक्षण

जो सब परिग्रहोंसे मुक्त हों, अपनी पूजा तथा प्रसिद्धिके उत्सुक न हों, अनेकान्तवादके धारक हों, सर्व सिद्धान्तोंके पारदर्शी हों, जीव हितकारी तथा भव्यजीवोंके हितमें सदा लीन हों, सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र और तप ही जिनके भूषण हों, दया आदि गुणोंके सागर हों, निर्लोभी, निरभिमानी, गुणी एवं धर्मात्माओंसे विशेष प्रेम रखने वाले हों; अत्यन्त बुद्धिमानी, उत्तम तथा जैन धर्मके महात्म्य-प्रकाशनमें समर्थ हों, जिनका यश सर्वत्र विस्तृत हो जिन्हें सब मान देते हों, वे सत्यवक्ता आदि गुणोंके धारक आचार्य, उत्तम वक्ता कहे गये हैं। इन्हींके उपदेश श्रवणकर भव्य जीव धर्म और तपको धारण करते हैं—अन्य कुमार्गियोंके वचनों की लोग उपेक्षा करते हैं। कारण ऐसा कहा गया है कि, कुमार्गी जब धार्मिक उपदेश करता है, तो स्वयं वैसा आचरण नहीं करता। अतएव शास्त्रके रचयिता और धर्मोपदेश देने वालेमें ज्ञान और आचरण दोनों ही गुण पूर्ण मात्रामें होने चाहिये।
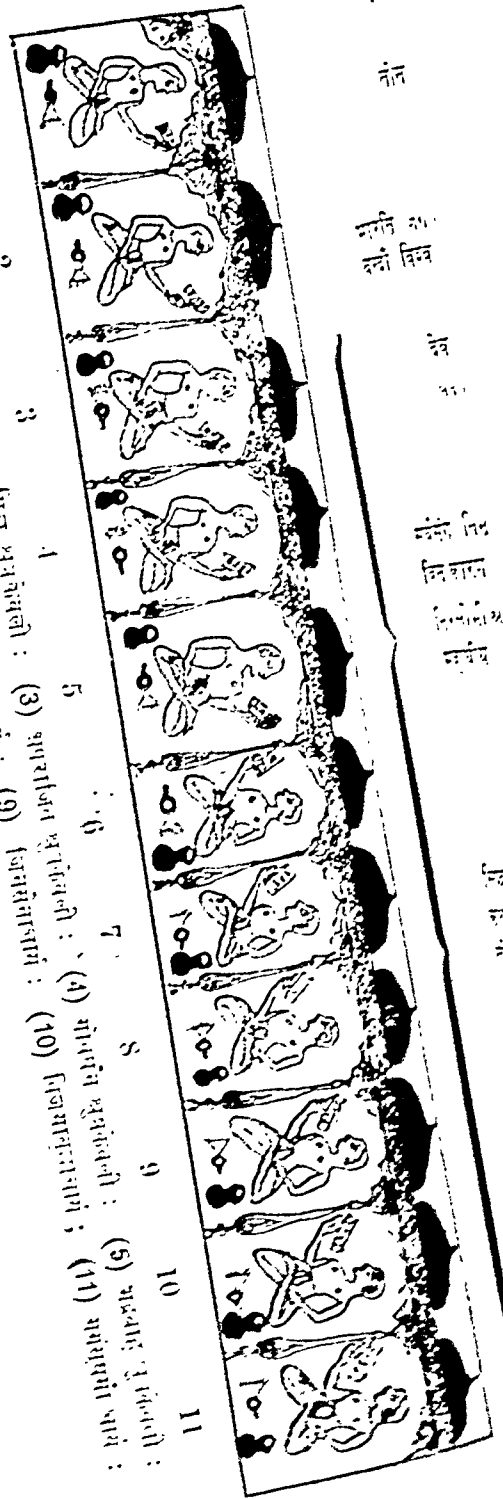
णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं,
णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्वसाहूणं ।

श्रोता के लक्षण

श्रोता के लक्षण
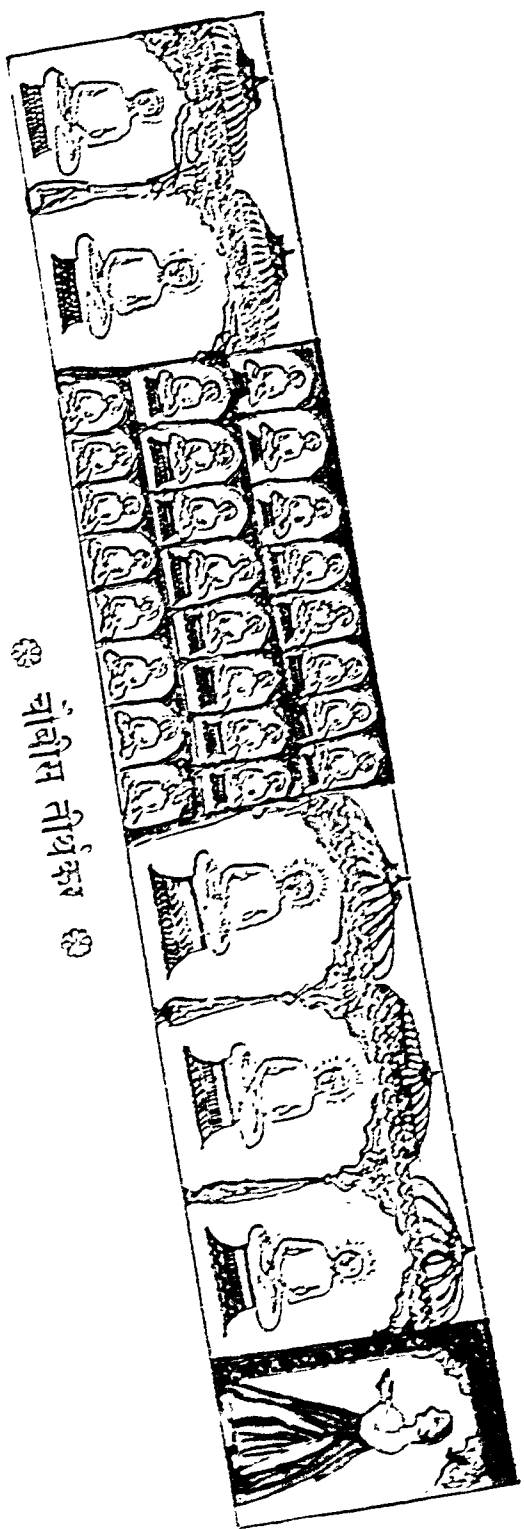
तीन काल जुत जोग में महा तपोवन जान। उपाध्याय परमेष्ठि को नमों जोर जुग पान ॥५२॥

॥ आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार ॥

भूषित पंचाचार करि, पाठक जिनवर लीन। वन्दौं जिनके गुण अरथ, श्रुति करके मुख तीन ॥५३॥

॥ साधु परमेष्ठी को नमस्कार ॥

तीन काल जुत जोगमें महा तपोवन जान। साधव ते जग पूज्य हैं नुस्तुति करों बखान ॥५४॥

॥ शारदा को नमस्कार ॥

चौपाई

भारति जगत मान्य है कही, जिनमुख अम्बुज उद्भव सही। कविता रचना को परवीन, शुद्धबुद्धि मतिदायक लीन ॥५५॥
वन्दौं विश्व अरथ दरशनी, श्रुति करकै शारद शिर मनी। होउ परमबुधि की करतार, दरशन ज्ञान सिद्ध सुख सार ॥५६॥

दोहा

देव शास्त्र गुरु पूर्व विधि, वन्दों गुण अभिराम। सिद्धि सुदृष्ट अनिष्ट हर मंगल सुख के धाम ॥५७॥
वक्ता श्रोता आदि दै, लक्षण कही प्रवीन। प्रतिष्ठादि अरु ग्रन्थ में, होउ शुद्ध मति लीन ॥५८॥

वक्ता के गुण

चौपाई

सर्वसंग निर्मुक्त प्रवीन, पूजा में सो निशदिन लीन। अनेकान्त मत पंडित होइ, सकल शास्त्र को वेदक सोइ ॥५९॥
विन कारण जग वन्ध न लहै, भव्य जीव हित ऐसी कहै। तप भूषण मय दरशन ज्ञान, समता गुणसागर शुभ ध्यान ॥६०॥
निरलोभी अरु निरहंकार, पुन धर्मी शुभ वचन विचार। जिन शासन माहात्म्य प्रवीन, परकाशक मुनिवर व्रत लीन ॥६१॥
महाधीय प्रज्ञावर भास, शास्त्र आदि रचने क्षमितास। कीर्ति प्रतिद्धिमान जग होइ, सत्य वचन [illegible] ॥६२॥

श्रोताके लक्षण

जो सम्यग्दृष्टी, शीलव्रती, सिद्धान्त ग्रन्थोंके श्रवणमें उत्सुक और शास्त्रोपदेशको धारण करनेमें समर्थ हों, जिनेन्द्र देवके सिद्धान्तोंको माननेवाले अर्हतके भक्त, सदाचारी और पदार्थ स्वरूपके विचारक और कसौटीके सदृश परीक्षक हों। जो आचार्योंके कथनानुसार शास्त्रोंका अध्ययन कर, सार-असारका अन्वेषण कर सत्यग्रहण करनेवाले हों, यदि आचार्योंकी कहीं भूल भी हो जाय तो उसपर हंसनेवाले न हों, ऐसे श्रोता गुणोंके धारक और श्रेष्ठ कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक श्रेष्ठ गुणों को धारण करनेवाले श्रोताओं के लक्षण दूसरे शास्त्रोंसे जानना।

श्रेष्ठ कथा का लक्षण

जिस कथा तथा उपदेशमें जीवादि सप्ततत्वोंका पूर्ण रूपसे विवेचन किया गया हो, जहां संसार, देह भोगोंसे [illegible] वैराग्य वतलाया गया हो, जिसमें दान, पूजा तप शील व्रतादि एवं उनके फल तथा बंध मोक्षका [illegible] हों। वस्तुत: जिस धर्मकी माता जीवदयाके प्रसादसे भव्यजन समस्त परिग्रहोंका परित्याग कर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त [illegible] जीव दयाका वर्णन जिस कथामें पूर्णरूपसे किया गया हो। जिस उपदेशमें महान पदवीको [illegible] शलाका पुरुषोंके चरित्र एवं उनकी विभूतियोंका विस्तृत वर्णन हो, साथ ही उन महापुरुषोंके पुण्य [illegible] कर्मोंके फल आदिका वर्णन हो, वह श्रेष्ठ कथा कल्याण कारिणी 'धर्म-कथा' कही जाती है। [illegible] विरोधी नहीं है और जिनसूत्रके आधार पर हो। इसके अतिरिक्त अन्य शृङ्गारादि रसोंसे [illegible] स्वप्नमें भी शुभ करनेवाली नहीं हो सकती। इस प्रकार वक्ता-श्रोता और कथाके लक्षणोंका संक्षिप्त [illegible] महावीर भगवानके परम निर्मल चरित्रका वर्णन करता हूं, जो सदा पुण्यका कारण और पापका नाशक है। [illegible] वक्ता तथा श्रोता दोनोंका हित करनेवाला है। इस चरित्रको श्रवण कर भव्य जीव पुण्यका संचय करते हैं [illegible] होता है और उन्हें दुःख रूपी संसारसे भय उत्पन्न होता है।

दोहा

इने आदि गुण सार जै, भूषित ऋषिवर जेय। ते वक्ता सब शास्त्रके, गुण उत्तम बुध गेय ॥६३॥

वक्ता के लक्षण

चौपाई

सत्य वचन में दक्ष महान, धर्मवन्त व्रतवन्त वखान। अरु चारित्र धरै पर मान, नाहीं शिथिल आतमा मान ॥६४॥
धर्म वेदता परम प्रवीन, क्रिया चरण में सो बहुलीन। सुथिर आतमा परम सुजान, धरमवन्त जे पुरुष महान् ॥६५॥
ज्ञानहीन जे धर्म रहीन, तिनको बोधै परम प्रवीन। ऐसे मुनि जिनवचन गहीर, नमौं शुद्ध आतमा सुधीर ॥६६॥

दोहा

शास्त्र तने करतार के, लक्षण इहि विधि जान। वरणौं गुणज्ञाता अवर धरमवन्त शुभ ज्ञान ॥६७॥

श्रोता के गुण

चौपाई

अर्हद्भक्ति सदा आचरै, निरग्रन्थी गुरु सेवा करै। चतुर प्रवीन कसौटी जेम, सार असार विचारत एम ॥६८॥
सूरि उक्ति अति श्रद्धा करै, सत्य वचन मन समकित धरै। यह विधि गुण अनन्त जुत होई, रागद्वेष व्यापै नहि कोई ॥६९॥
अब श्रोता चौदह परकार, कहौं सबै शुभ अशुभ विचार। प्रथम हंसवत हैं बड़भाग, पय पीवै अवगुण जल त्याग ॥७०॥
काहू सूप समान स्वभाव, अवगुण फटकै गुण रहि जाव। शुक समान जे श्रोता कहै, पढ़त पढ़ावत सो सुध लहै ॥७१॥
शुभ श्रोता ये तीनो भेय, अब एकादश अशुभ सुनेय। माटीवत जो श्रोता जोइ सुनतहि कोमल, सदा कठोर ॥७२॥
चलनी सम श्रोता है जेय, सार वस्तु को त्याग करेय। महिषा वत पुन श्रोता कोइ, निर्मल नीर मचावत सोई ॥७३॥
श्रोता कोई विलाव सुभाय, वृत पय दधिभाजन ढ़ड़काय। फिर पीछे भुवि चाढत फिरै, त्यों गुण ग्रन्थ हृदय वा धरै ॥७४॥
मशक समान जु श्रोता होइ, भली बुरी को भेद न कोइ। श्रोता मूढ़ जलूका जास, पय तज गहै रक्त श्री मास ॥७५॥
उलूकसम जे श्रोता कहै, दिवस अन्ध रजनी दृग लहै। ग्रन्थ सुनत सोवै अधिकाहि, सहज नींद ना दीसै ताहि ॥७६॥
फूटे घटवत श्रोता एक, रहै न तामें नीर विवेक। पशु समान जे श्रोताहोइ, मूरख महा ताहि अवलोइ ॥७७॥
वगुल ध्यान की पटतर तेह, बुरी वात जिय धारै जेह। श्रोता जे पाषाण समान, जड़ता धरैं मिटै नहिं ज्ञान ॥७८॥
ऐ श्रोता दश चार सु कहै, निज निज भाव फलाफल लहै। सकल शास्त्र को वेदक होइ, शुभ आशय जानौं भवि लोइ ॥७९॥

सवैया तेईसा

ज्यों कलधौत मगाय धनी, अह तोल सुनार के हाथकै दीनी। देखन हों गढ़वायो, तिन्हें, नहि चित्त चलै इमि चौकस कीनी॥
मौन लिये तह दुष्ट दिखै, अरु कायसौ नैकु उसास न लीनो। त्यों यह ग्रन्थ सुनै सुख पोख, लहै सुर मोख गिरा भ्रम भीनौं ॥८०॥

श्रोता का लक्षण—सम्यक्त्व निरूपण

चौपाई

जिन सम्यक्त्व कह्यौ परवीन, जीव तत्व आदिक गुणलीन। तत्व अरथ है मुख्य विराग, भव में भोगधाम बड़भाग ॥८१॥
दान देइ नित पूजा करें, शील विरत आदिक हिय धरै। ता फल बन्ध मोक्ष सुर होई उद्यम करो भविकजन सोई ॥८२॥
दया धर्म जीवन पै करै, सर्व संग त्यागी गुण धरै। इहि विधि सें वरतै शुभ ध्यान धर्मध्यान हिरदै धरि ज्ञान ॥८३॥
त्रेसठ पुरुष महन्त प्रवीन, महा रिद्धिधारी सुखलीन। तिनिको कहै पुराण महान, भवि अन्तर संपत्ति गुण खान ॥८४॥

इस प्रकार अपने इष्टदेवोंके चरण कमलोंमें नत होकर तथा वक्तादिकोंके स्वरूपका वर्णन कर जिनेन्द्रदेवके मुखसे उत्पन्न धर्म-प्रवर्तक अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर स्वामीकी निर्मल कथा आरम्भ करता हूं, जो कर्मरूपी शत्रुओंको शान्त करने में सहायक होगी। अतएव भव्यजनोको चाहिये कि वे सावधान पूर्वक इस अमृतरूपी कथाको श्रवण करें।

पूर्व विदेह आकार

ओर पुरुष शुभ या भव जोग, कहै धर्म की कथा मनोग। सार वस्तु शुभ दायक होई, सत्यवन्त जानो भवि सोई ।।८५।।
जिनवरसूत्र सु श्रौता कोय, पूरव अपर विरोधी होय। शृंगारादि करण भव सुक्ख, पापकारिणी दाइक दुक्ख ।।८६।।

दोहा

इत्यादिक श्रोता तनै लच्छन कहे प्रतेक। सम्यक् वुधि निश्चय कह्यौं, कह्यो, चरित गुन नेक ।।८७।।

अरिल्ल

वर्धमान जिन चरित जु श्रेणिक बूझियो। श्री मुख वाणी भई अनक्षर गूझियौ ।।
तव गौतम गनराय, नृपति प्रतिभासियौ। सकल सभा हरपंत, जगत परिकासियौ ।।८८।।

सकलकीर्ति मुनिराज, संस्कृत रचत वै। ताकौ लै अनुसार, कह्यौ भाषा अवै ।।
सिंगई देवाराइ, खटोला पुर ठए। तिन सुत प्रथमहि "नवल" पंच गुरुपद नए ।।८९।।

कवि लघुता

सवैया

जैसे नर पंगु कोई मेरु शिखा चढिवेकौं, वावन ही कहे दधिको तो भुज तरिहौं।
वाल जलमध्य शशिविम्व देखि गह्यो चाहै। मूरख तौ कहै अंग पूर्व पार धरिहौं ।।

क्रोधवंत केहिरिकौ देखत गयंद भजे, तासौं मृगि वीरजविहीन कहै लहिहौं।
तैसें यह ग्रन्थकौं आरंभ कियो अल्पबुद्धि, गुनी कोई हसैं मोंहि ऐसो नहि डरिहौं ।।९०।।

दोहा

जिनवाणी सागर अगम, पार न कोई लहेइ। मति भाजन जेकौं जितौं, तेतौं भर भर लेइ ।।९१।।
मधुरवचन कोकिल कहे, आमकली चखि आप। जैसे, ग्रन्थ कह्यौ किमपि, जिनवानी परताप ।।९२।।

गीतिका छन्द

इमि भांति इष्ट सुदेवता, सव जोरि कर तिनि पद नम्यौं। निज परमगुण जुत वक्तृ आदिक, तासु भनि दोष न वम्यौं ।।
जिनराज मुख सम्यक् कथा, शुभ धर्म खानि सुजानियौं। चरम जिनपति चरित निरमल, करम शान्त वखानियौं ।।९३।।
वीरतै वर वीर गुननिधि, वीर विधि हति हों सही। वीर प्रभु जगधीर जिनवर सासते पद को लही।
वीर गुन अति वुद्धि सुन्दर, यहै जस अव लीजिये। निज भक्ति हय धर करहु वीनति, वीर गुन मुहि दीजिये ।।९४।।

द्वितीय अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

वीर अंध्रि-अघ नीर सम, कर्ममल्ल हन वीर। उपसरगादिपरीषहा, जीतै नमौं सुधीर ॥१॥

कथा वर्णन

चौपाई

जम्बूवृक्ष अलंकृत जान, राजै जम्बूद्वीप महान। सागर द्वीप असंख्य मझार, दीसै व्योम नखत उनहार ॥२॥
जोजन महालाख इक जान, मध्य सुदरशन मेरू प्रधान। तहां ल्याई जिनवरको देव, करें न्हवन वहुविधिसौ सेव ॥३॥
ताकी पूर्व दिशा राजेह, उत्तम रम्य जु पूर्व विदेह। शोभा तास वरन को कहै, ठौर ठौर जिन मन्दिर लहै ॥४॥
यही क्षेत्र भवि तप वल सार, तहां लहैं मुनिवर अवतार। कर्म क्षय कर ह्वै शिवपति, साथ नाम शुभ ऊरधगती ॥५॥
ता मधि सुन्दर सीता जान, उत्तर तट भविजन पहिचान। पुष्कलावती देश वखान, सो है लक्षमी को सोपान ॥६॥
तीर्थंकर मन्दिर अति घना, तुंगकेतु जिमि दामिन गना। नगर ग्राम वन आय अनेक, मानों सर्व सुरालय एक ॥७॥
गणेशादि विहरैं जु महन्त, तुरिय संघ भूपित अरहन्त। वरतावें जहँ धर्म प्रभाव पांपंडी लिंगी नहिं नाव ॥८॥
दया धर्म अरहंत मुख होइ, श्रावक जती दुविध अवलोई। पढ़ैं अंग पूरव गुण ज्ञान, रहित कुज्ञान कुशास्त्र अयान ॥९॥
प्रजा वर्णत्रय मण्डित सार, ब्राह्मणवर्ण न होई लगार। सुख सुधर्म में सब परवीन, वहुत शास्त्रअभ्यासी गुण लीन ॥१०॥
उपजै तहँ तीर्थंकर राय, चक्री अधचक्री वलभाय। गिनतीं नहिं तिनकी सुखदाय, धनुप पांचसे ऊँची काय ॥११॥
आयु कोटि पूरव की लहै, काल चतुर्थ सदा तंहँ रहैं। महापुरुप परसादे साइ, सुरग मोक्षफल प्रापति होइ ॥१२॥
ताके मध्य नाभिवत कही, नगरी पुण्डरीकिणी सही। द्वादश जोजन लम्वी जान, नव जोजन चौड़ी पहिचान ॥१३॥
ताको कोट जुगिरदाकार, चौपथ सहित नगर विस्तार। दरवाजे इक सहस वखान, लघु खिड़की शत पंच प्रमान ॥१४॥
पथ पथ वीथी एक हजार, तिन सौ तीन तीन निरधार। वारह सहस जानियौ सोइ, इन्द्रपुरी सम सोभित जोइ ॥१५॥

असंख्य द्वीप-समुद्रसे घिरे हुए इसी मध्य लोकमें जामुनके वृक्षोंसे चिन्हित जम्बू नामका एक द्वीप है।

उस जम्बूद्वीपके मध्य विस्तृत और उच्च सुमेरु नामका पर्वत है। वह देवोंमें श्रेष्ठ तीर्थकरों के सदृश पर्वतोंमें मुख्य है। उस पर्वतकी पूर्व दिशाकी ओर पूर्व विदेह क्षेत्र है। वह क्षेत्र धर्मात्माओं से यथा जिनेन्द्र देवोंके समोशरणों से सुशोभित है। वहां अनन्त मुनि तपस्या पूर्वक विदेह से मुक्त हो गये हैं। इसी गुणके कारण इसका नाम 'विदेह' पड़ा है।

इस क्षेत्रमें स्थित सीता नदीके उत्तर भागमें पुष्कलावती नामका एक विस्तृत देश है। वहां ऊंची-ऊंची ध्वजाओंसे युक्त तीर्थकरोंके चैत्यालय सुशोभित हो रहे हैं।

इस स्थलपर चारो प्रकारके संघोंसे युक्त गणधरादि देव सत्य-धर्मको वृद्धिके लिये विचरण किया करते हैं। अतएव वहां किसी पाखण्डी, वेपधारीका निवास नहीं है। वहां अर्हंत भगवान् के मुख-कमलसे प्रकट अहिंसा प्रधान धर्म विस्तृत है। उसे यति (मुनि) और श्रावक सर्वदा धारण करते रहते हैं। अतएव उस नगरमें जीवोंके पीड़ा पहुंचानेवाला एक भी व्यक्ति नहीं है। अर्थात् सभी धर्मका पालन करते हैं।

जिस स्थानपर ज्ञान प्राप्त करनेके उद्देश्यसे भव्यजन ग्यारह अंग, चौदह श्रुत पूर्वका सदा अध्ययन और मनन करते हैं,

जिससे अज्ञानका विनाश हो।

पर वे कुशास्त्रोंका स्वप्नमें भी अध्ययन नहीं करते।

भीलराजा और भीलनी को शिकार करते समय एक मुनिराज दिखाई दिये। मुनिराज रास्ता भूलकर जंगल में खड़े थे। शिकार समझ कर उन्होंने मुनिराज पर बाण खींचा भीलनी भील को रोकती है। उसे कहती है ठहरो, यह धर्मदेवता है। मत मारो, पाप लगेगा।

पुरवा भील हिरण का शिकार करते हुए

दिगम्बर मुनी के द्वारा पुरवा भील को उपदेश
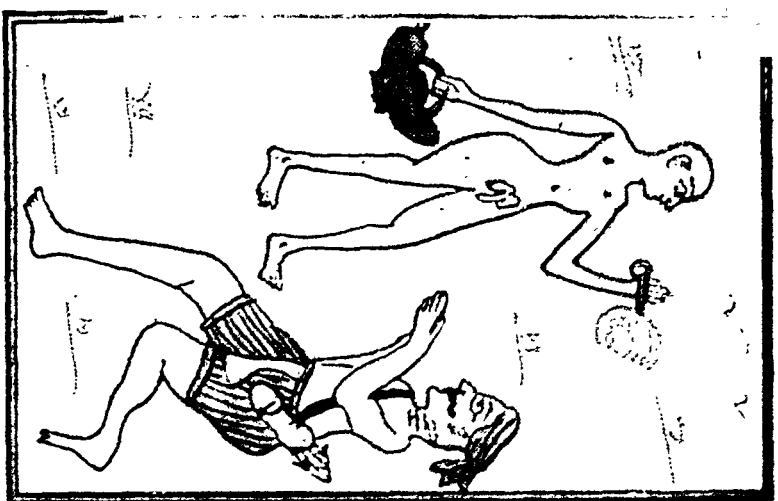
अति उतंग जिन मंदिर पांत, सोहै तास ध्वजा फहरात। धरमी जन निवस तिहि थान,धन कन पूरण पुण्य प्रधान ।।१६।।
नगरी वाहर वन शोभन्त, अति मनोज्ञ मधु नाम महन्त। शीतल छाय फले फल जहां,दुविध ध्यान मुनि भूषिततहां ।।१७।।
जहां वसै भीलनको सार्थ, पुरूरवा है तिनको नाथ। ताकी प्रिया कालिका नाम,शील शिरोमणि निवसै धाम ।।१८।।
एक दिना कानन में जाय, मृग मार्‌यौ निर्दय दुखदाय। तिहि अवसर ता वनहि मंझार,आए जिन विहरत भवितार।।१९।।
सारथवाह संग अभिराम, सागरसेन मुनीश्वर नाम। ईर्यापथ सोधत परवीन, दरशन, ज्ञान चरण मन लीन ।।२०।।
देखि संजमी भील घेरियौ, लूटनको तव उद्यम कियौ। वनदेवन संवोधे तवै, अति निषिध्य कारज है सवै ।।२१।।
तुम करतव्य जोग नहि नाथ, अघकारण दुर्गतिको साथ। देव वचन सुन उपशम सही, काललब्धितैं मृदुता लही ।।२२।।
पुरूरवा तब भील सु नाम, देखि मुनी तहँ कियो प्रणाम। धर्मवृद्धि दीनों मुनि वानि, कृपावन्त ह्वै भवि पहिचानि ।।२४।।
अहो भद्र मो वच सुन सार, धर्म जान त्रिभुवन भवतार। धर्मप्रभाव लक्षिमी होइ, इन्द्र चक्र तीरथ कर सोइ ।।२४।।
भोगपभोग वस्तु शुभ जान, मनोभाव सुख संपत दान। ऊंच गोत्र वहु पुत्र सहीत, धर्मप्रभाव शत्रुकर प्रीत ।।२५।।
पंच उदम्बर तीन मकार, इनतैं रहित होइ भवपार। सम्यक् सहित अणुवत पांच,गुणव्रत तीन कहे जिन सांच ।।२६।।
चउ शिक्षाव्रत भाव समेत, साधै गृहपति स्वर्ग सहेत। द्वादश व्रत ये श्रावक जान, जतिवर धर्म दुतो पहिचान ।।२७।।
यह प्रकार मुनिवच सुन तवै, छोड़ो वध वंधादिक सवै। नमिकै मुनि चरणाम्वुज दोय,श्रावक धर्म धरैं दृढ़ होय ।।२८।।
सम्यग्दृष्टि गह्यौ सुखकार,भील अधिक शुभचित्त विचार। वारह व्रत सुन भेदाभेद, श्रृद्धावान भयो तजि खेद ।।२९।।

इस देशमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्ररूप तीन वर्णमयी प्रजा सभी सुखी दिखलायी देती है।

वह सदा धर्म में तत्पर और अत्यन्त भाग्यशाली है। जो असंख्य तीर्थकरों, गणधरों, चक्रवर्तियों और वासुदेवोंकी जन्म-भूमि है और देवों द्वारा सर्वदासे पूज्य है।

जहां ५०० धनुष अर्थात् दो हजार हाथ ऊंचा शरीर और एक करोड़ पूर्वकी मनुष्योंकी परमायु है।

वहां सदा चतुर्थ कालका वर्ताव रहता है। जिस स्थलसे उत्पन्न हुए महापुरुष तपश्चरणके द्वारा स्वर्ग अहमिन्द्रपना एवं मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्ति करते हैं, अर्थात् वहां पर सभी कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।

उसी देशमें पुण्डरीकिनी नामकी वारह योजन लम्वी और नव योजन चौड़ी एक नगरी है।

वह एक हजार वड़े दरवाजोंसे युक्त तथा पांचसौ छोटे दरवाजोंसे वेष्टित है।

जहां महान पुण्यवान ही उत्पन्न होते हैं।

उस नगरी में जिन मंदिरोंकी ध्वजायें ऐसी शोभित हैं, मानों वे स्वर्गवासियोंको आह्वनन कर रही हों।

नगरके वाहर मधुक नामका एक वड़ा सा वन है, जो देखनेमें अत्यन्त रमणीक है। वहां ध्यानमें लीन हुए मुनिराज विराजमान हैं। इसलिए इस वनकी शोभाका वर्णन नहीं किया जा सकता।

किसी समय उस वनमें भीलोंका एक राजा रहता था, जिसका नाम पुरुरवा था। वह अत्यन्त भद्र परिणामी था। उसकी कालिका नामकी स्त्री थी। वह अत्यन्त कल्याणकारिणी थी।

१—मांसाहारी भील पुररवा

एक दिन महावीर स्वामी एकान्त में विचार कर रहे थे, कि यह संसार क्या है ? मैं कौन था ? क्या हुआ ? अव क्या हूं ? अनादि काल से कितनी वार जन्म-मरण हुआ ? उन्होंने अवधिज्ञान से विचारा कि एक समय मेरा जीव जम्बूदीप के विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश में पुण्डरीकिणी नाम के नगर के निकट मधुक नाम के वन में पुररवा नाम का मांसाहारी भीलों का सरदार था, कालिका पत्नी थी, पशुओं का शिकार करके मांस खाता था, एक दिन रास्ता भूलकर श्री सागरसेन नाम के मुनि उस जंगल में आ निकले। दूर से उनकी आंखों की चमक देख हिरण का भ्रम हुआ, झट तीर कमान उठा उनकी ओर निशाना लगाया ही था कि कालिका ने कहा कि यह हिरन नहीं, वनदेवता मालूम होते हैं। वे दोनों मुनिराज के पास गये।

दोहा

संसारी दुःख तपत अति, यौ जिय आदि अनन्त । पूर्ण सरोवर जैन मत, तामें हुवौ प्रशन्त ।।३०।।
शास्त्राभ्यासी शीलमय, कुलगरिष्ठ गुण खान । जिनमत के परभाव तैं, निर्धन ह्वै धनवान ।।३१।।
परमानंद लहै सदा, उपजै हित सन्तोप । अति दुर्लभ जिनधर्म यह, पायौ सुर शिव पोप ।।३२।।
पंथ माहिं मुनि परसकै, नमस्कार कर तेह । पुण्यवंत वह भील तव, गयौ हरपि निज गेह ।।३३।।
मुनि भापित व्रत पाल ही, रहै सुक्ख सौ एव । मरण अन्त सु समाधि लहि, प्रापत भयौ सुदेव[१] ।।३४।।

चौपाई

प्रथम स्वर्ग सौधर्म महान, ऋद्धिवन्त वहु सुक्ख प्रधान । भिल्ल देव तहं धर्म प्रभाव, उपजौ सागर एक जु आव ।।३५।।
संपुट शिला गर्भ सौ लयौ, अन्त मुहूरत जोवन भयौ । विमान आदि लक्ष्मी वहु देख,अचरज कर सपनैं सोलेख ।।३६।।
ततक्षण अवधि ज्ञान पहिचान, संपूरण पूरव भवजान । व्रत आदिक फल जान्यौ सवै,दृढ़मन धर्म धरयौ सुर तवै ।।३७।।
पीछे सव परिवार समेत, गये जिनालय वन्दन हेत । अष्ट द्रव्य जल आदिक लेइ, जिनवर आगे अरथ धरेइ ।।३८।।
धर्म उपावन कारण जोइ, आवै निजवाहन चढ़िसोई । मेरु आदि नन्दीश्वर द्वीप गीत नृत्य वादित्र समीप ।।३९।।
जिनवर केवलि ज्ञान महान, गणेशादि माहात्म सुजान । आवै जहां भक्ति मन धरै, शिर नवाइ कर वन्दन करै ।।४०।।
सुने धर्म तहां दुविध प्रवीन, तत्व अर्थ गर्भित गुणलीन । जहां उपार्जि वहु पुण्य सुभेव, जाय आपने मन्दिर देव ।।४१।।
इहि विधि विविध पुण्यको करै,शुभ चेष्टा हिरदै सुख धरै । देविन संग क्रीड़ा विस्तरै, गीत सुनै नर्तन मन हरै ।।४२।।
शृँगारादि सरुप विशाल, सुन्दर दिव्य जोपिता जाल । तिनको शोभा अगम अपार,कहतन को बुध पावै पार ।।४३।।

दोहा

पूर्व उपार्जित पुण्य सव, भुगते भोग अभंग । सात हाथ ऊँचौ सुवपु, सात धातु नहिं अंग ।।४४।।
तीन ज्ञान वसु ऋद्धि कर, भूपित दिव्य सुदेह । सुख सागरको केलिमें, तिष्ठै सुर गुण गेह ।।४५।।

चौपाई

भरतक्षेत्र वह आरज खण्ड, तामधि कौशल देश अखण्ड । उपजै भव्य आर्ज परिणाम, मोख लहैं कोइ ग्रैवक धाम ।।४६।।
कोई स्वर्ग वसैं तजि पाप, भोगभूमि शुभ दान प्रताप । कोई पूर्व विदेहै जाइ, पावै नृप पद सो पुन आइ ।।४७।।
कोई मुनिपद केवलि कोइ, धर्म आदि उपदेशक सोइ । विहरै जगत पूज्य सविचार, चार संघ भूपित अविकार ।।४८।।
पुर पत्तन अरु ग्राम अपार, शोभित तुंग जिनालय सार । कानन सफल तहां मुनि रहैं, ध्यानारूढ़ आतमा गहैं ।।४९।।

एक वार उस वनमें किसी दिन जिनदेवकी वन्दनाके लिये सागरसेन मुनिका आगमन हुआ ।

पुरुरवाने मुनिश्वरको दूरसे देखकर उन्हें हरिण समझा और मारनेकी इच्छा की ।

किन्तु उसके पुण्योदयसे उस भीलकी पत्नीने मुनिश्वरको मारनेसे मना किया और कहा—स्वामिन् ! ये संसार के कल्याणके उद्देश्यसे वन-देवता भ्रमण कर रहे हैं ।

मुनिराज ने उपदेश दिया कि संसार में मनुष्य-जन्म पाना वड़ा दुर्लभ है । इसे पाकर भी मिट्टी में मिल जाने वाले शरीर का दास वन रहना उचित नहीं । भील वोला—"महाराज ! मैं किसी का दास नहीं हूं भीलों का सरदार हूं ।" उसकी यह वात सुन कर साधु, हंस दिये और वोले—'अरे भोले जीव ! तू सरदार कहां है ? दो अंगुल की जीभ ने तुझे अपना दास वना रखा है, जिसके स्वाद के लिये तू दूसरे जीवों के प्राण लेता फिरता है !" भील चुप था । भीलनी ने कहा—"यदि खायें नहीं तो भूख से मर जायें ?" साधु वोले—"भूख से किसी को न मरना चाहिये, किन्तु ध्यान यह रखना चाहिये कि अपनी भूख प्यास की ज्वाला मिटाने के लिये दूसरे जीवों को कष्ट न हो । अन्न, जल और फल खाकर भी मानव जीवित रह सकता है । पशु-हत्या में हिंसा अधिक है । मांस मदिरा और मधु जीवों का पिण्ड है । इनके भक्षण से वड़ा पाप लगता है' आज ही इनका त्याग कर दो" ।

भील-भीलनी ने स्थूल रूप से अहिंसा व्रत ग्रहण करके उनका पालन किया, जिसके पुण्य फल से भील सौधर्म नाम के पहले स्वर्ग में देव हुआ । उसने दूसरों को सुखी वनाया, इसलिये स्वर्ग के सुख मिले ।
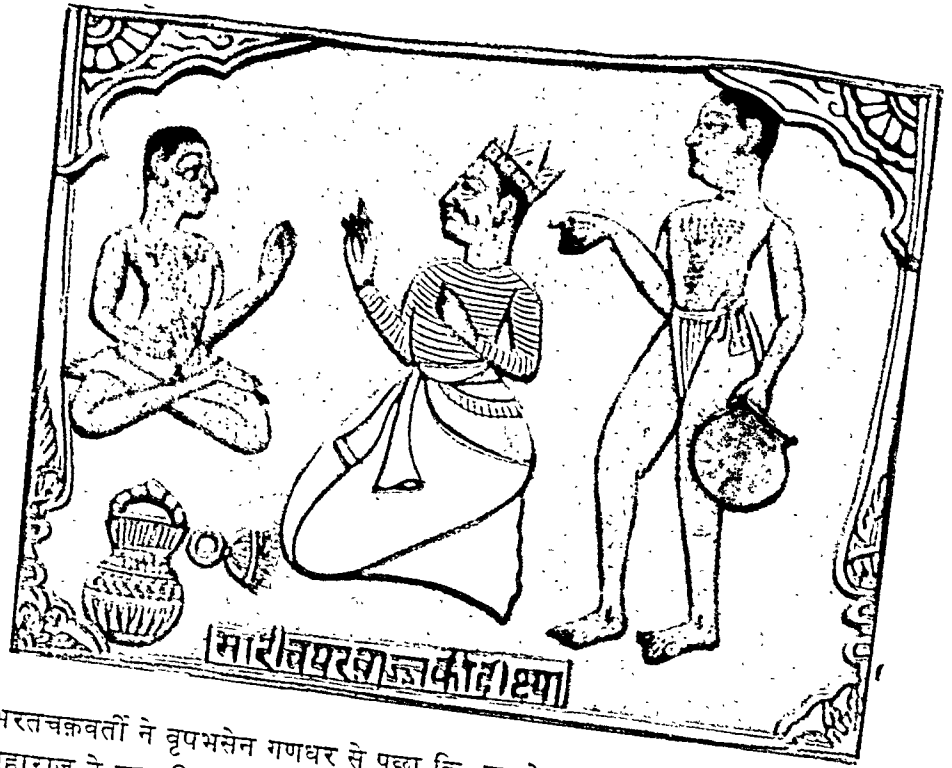
भरतचक्रवर्ती ने वृपभसेन गणधर से पूछा कि हमारे कुल में कोई तीर्थकर होगा. महाराज ने कहा कि मारीच का जीव आगे तीर्थंकर होगा।

समोसरन रचना

अयोध्या नगरी के राजा भरत चक्रवर्ती अपनी रानी अनन्तवती तथा
पुत्र मारीच कुमार के साथ ।
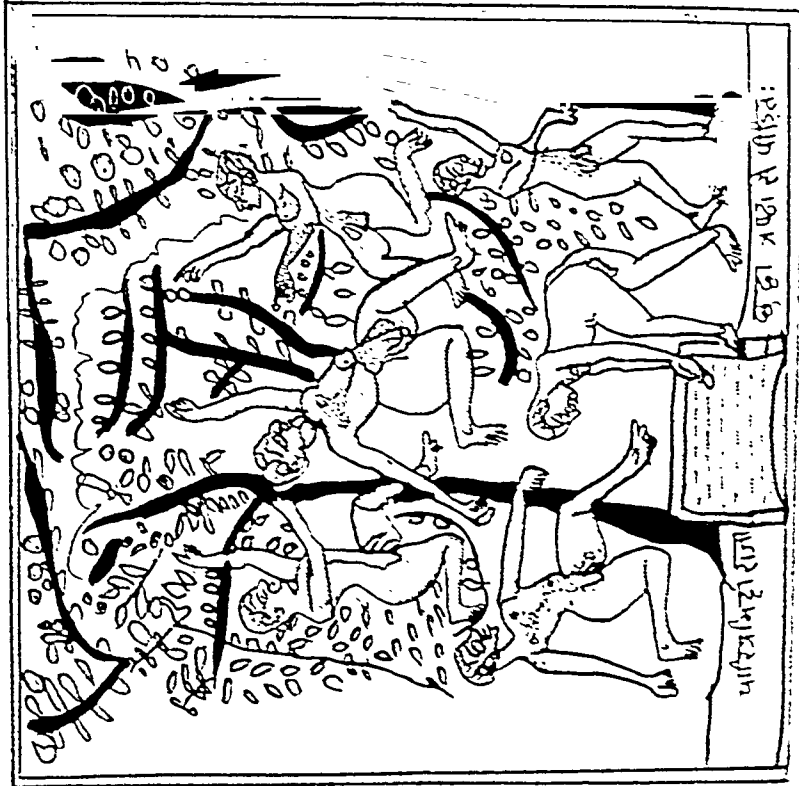
श्री १००८ भगवान आदिनाथ जी के साथ मारीच कुमार ने चार हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण करली परन्तु मारीच कुमार सहित कुछ साधु भूख प्यास को सहन न कर सके और पथभ्रष्ट होकर जंगल के फल फूल तोड़कर खाने लगे तथा नदी तालाब आदि से पानी पीने लगे।
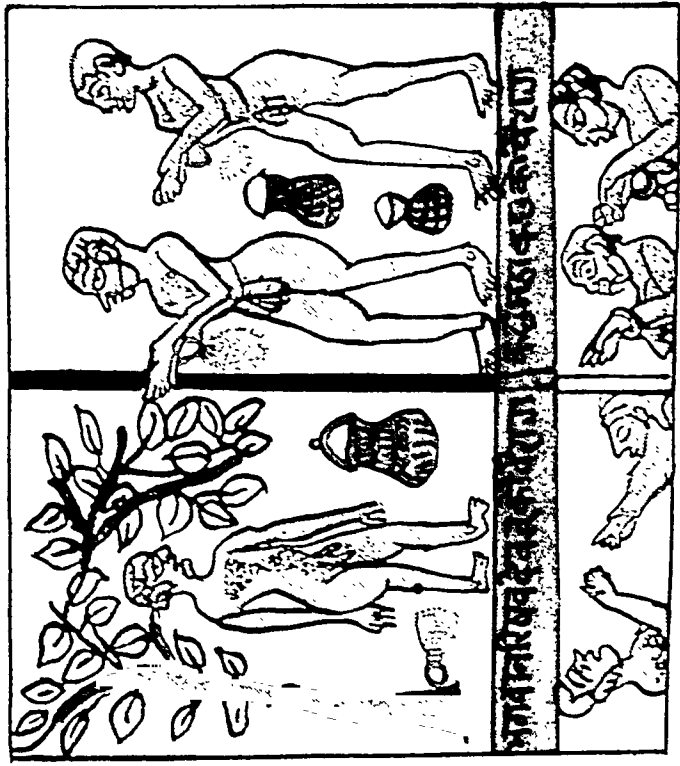
श्री १००८ भगवान् आदिनाथ जी ने एक हजार वर्ष तक विहार किया, कच्छ महाकच्छ ने उनसे दीक्षा धारण की।
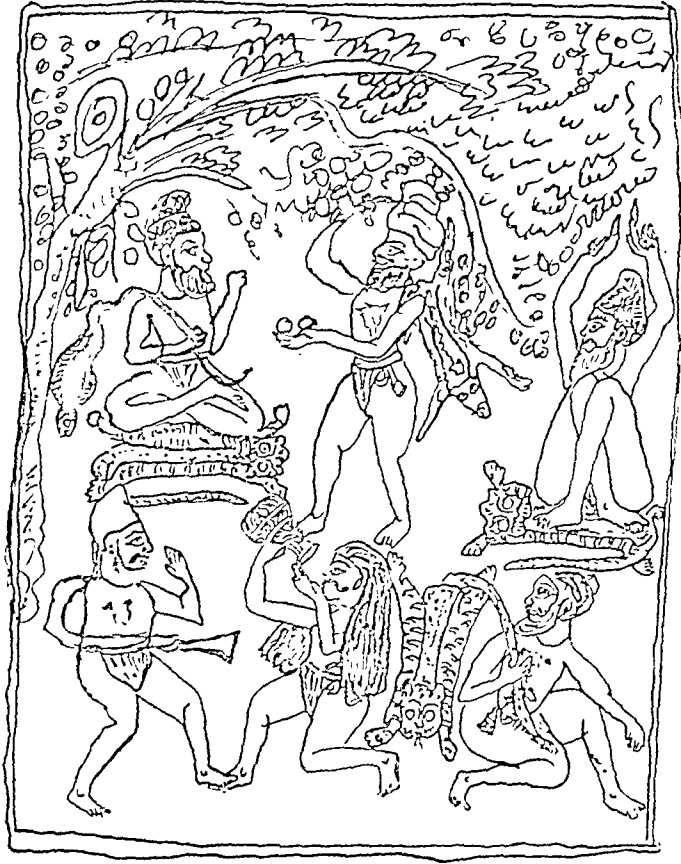
मारीच कुमार आदि ने बाद में पारिव्राजक दीक्षा धारण करली।

राजा कनकोज्वल रानी कनकवती के साथ वंदना को गया ।
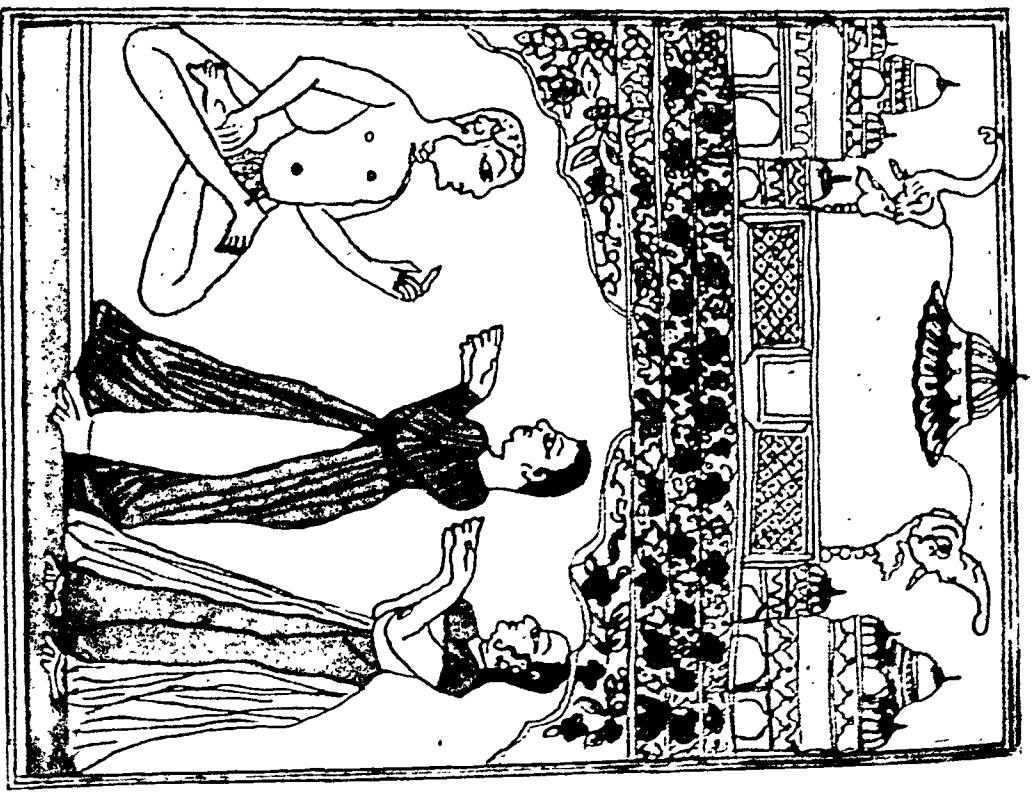
अपनी रानी सहित कनकोज्वल मेरुपर्वत के जिन मंदिर की पूजा करने गये और ऋद्धि धारी मुनि को देखकर नमस्कार किया और बाद में उपदेश प्रार्थना कर मुनि का उपदेश सुन रहे हैं ।

दोहा

इत्यादिक शोभा सहित, देशमध्य राजंत। पुरी अयोध्या रम्य अति, नीतिव्रत तन संत ॥५०॥

चौपाई

आदिनाथ जिन उपजे तहां, देवन रची पुरी शुभ जहां। नव द्वादश योजन विस्तार, वरनत कौन लहे बुध पार ॥५१॥
तुंग कोट गोपुर कर सार, दीर्घ खातिका गिरदाकार। मन्दिर पांति सघन शोभंत, सुर आदिक तहं प्रीति करंत ॥५२॥
हेमतनै चैत्यालय सही, रतन मई प्रतिमा तहं लही। दानीजन मार्दव परवीन, धरमशील शुभ आशय लीन ॥५३॥
आर्जवादि गुण मण्डित सोइ, रूप कला छवि भूपित जोइ। धरमवंत उत्तम आचार, सुखी पुरुष जिन भक्ती सार ॥५४॥
पापरहित अरु महापुनीत, अति धनवान परस्पर प्रीत। वसैं तुंग मन्दिर में सोइ, मानों सुर विमान यह होइ ॥५५॥
तिनकै तिय गुण कांति अपार, सुरदेवी सम शोभा सार। इच्छैं अमर लेन अवतार, शिव प्रापति कारण सुविचार ॥५६॥
भूप तहां लक्ष्मी को धाम, भरत चक्रपति गुण अभिराम। आदि श्रेष्ठ धरता जग ज्येष्ठ, भरतक्षेत्र अधिपति परमेष्ठ ॥५७॥
अकंपन नाम आदि भूपाल, नमि सुमुख्य खगपति सुकुमाल। आवैं ता प्रताप सोंदेव, नमें चरण—अम्बुजकर सेव ॥५८॥
छहों खण्ड स्वामी गुणलीन, चरम अंग जिन धर्म प्रवीन। नौ निधि चोदह रत्न महान, वनिता आदि शील सुखखान ॥५९॥
तीन ज्ञान शुभ कला विवेक, विद्यादिक गुण सहित अनेक। रूप आदि वल संपत्ति धनी, वरण सकै को बुध तिहि तनी ॥६०॥
पुण्यवती देवो तसु रानि, पुन्या दासो सुख को खानि। पुण्य सहित अर हिये विचार, पति आज्ञा पतिव्रत आचार ॥६१॥
पुरूरवा सुर तहं तै चयौ, पुत्र आय ताके उर भयौ। नाम [1]मरीच कुंवर तस जोइ, रूप आदि गुण मण्डित सोइ ॥६२॥

अतः इनकी हत्याकर पापक भागी मत वनो। अपनी प्यारी पत्नीको वातें सुनकर उस भीलको ज्ञान हो आया।

वह प्रसन्न चित्त हो मुनिके समीप गया और वड़ी भक्तिके साथ उनके चरणोंमें अपना मस्तक झुकाया।

धर्मात्मा मुनिश्वरने भी उसे धर्मोपदेश देते हुए कहा—हे चन्द्र! श्रेष्ठ धर्मको प्रकट करनेवाले मेरे वचनोंको श्रवण कर, जिस धर्मके पालनसे त्रैलोक्यकी लक्ष्मी अनायास प्राप्त होती है।

चक्रवर्ती तथा इन्द्रादि पदोंकी प्राप्ति भी उसी धर्मके प्रभावसे हुआ करती है। उस धर्मका प्रभाव ऐसा है कि मनोंवांछित सारी सम्पदायें और लौकिकसुख प्रदान करनेवाले कुटुम्वकी प्राप्ति वड़ी सफलतासे होती है।

वह धर्म मद्य-मधु मांसके त्याग करनेसे, पंच उदुम्बरोंके ग्रहण न करनेसे तथा सम्यक्त्वके सहित अहिंसादि पंच अणु-व्रतोके पालन करनेसे, प्राप्त होता है।

तीन गुणव्रत चार शिक्षा व्रत अर्थात १२ व्रतरूप एक देश गृहस्थोंके लिए है। इसके समुचित पालनेसे स्वर्गादिक सुखों की उपलब्धि हुआ करती है।

इस प्रकार मुनिश्वरके अमूल्य धर्मोपदेश सुनकर वह भीलोंका स्वामी मद्य-मांसादिका परित्यागकर उनके चरणोंमें नत हुआ तथा धर्म-प्राप्तिकी आशासे उसने उसी समय वारह व्रतोंको धारण कर लिया। आचार्य महाराजका कथन है कि, इस धर्मकी प्राप्तिसे शास्त्राभ्यास, विद्वानो की संगति, निरोगता, सम्पन्नता, ये समस्त वैभव प्राप्त होते हैं। पश्चात् उस भीलने मुनि

१--चक्रवर्ती पुत्र

१ स्वर्ग के भोग भोगने के वाद मैं अयोध्या नगरी में श्री ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत के मरीचि नाम का पुत्र हुआ। संसार को दुखों की खान जान-कर जव श्री ऋषभदेव जी ने जिन दीक्षा ली, तो कच्छ महाकच्छ आदि ४ हजार राजे भी उनके साथ दीक्षा लेकर जैन साधु हो गये थे, तो मरीचि भी उनके साथ जैन-साधु हो गया था।

एक दिन अधिक गरमी पड़ रही थी, भूमि अंगारे के समान तप रही थी, शरीर को झुलसाने वाली गरम लूयें चल रही थीं। सूरज की तपत से शरीर पसीने में तर हो रहा था। मरीचि उस समय प्यास की परीषह को सहन न कर सका। इसलिए दिगम्बर पद को त्याग कर उसने वृक्षों की छाल पहन ली, लम्बी जटा रख ली। कंद-मूल फल खाने लगा और यह विचार करके कि जैसे श्री ऋषभदेव के हजारों शिष्य हैं, उसने कपिल आदि अपने भी वहुत से शिष्य वनाकर सांख्य मत का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। संसारी पदार्थों की अधिक मोह-ममता त्यागने के कारण मृत्यु के वाद वह ब्रह्म नाम के पांचवें स्वर्ग में देव हुआ।

क्रम सौं वृद्धि करै दिनरात, भूपण भूपित निर्मल गात। कला अनेक शास्त्र पढ़ तदा, आप जोग पाई संपदा ॥६३॥
पिता सहित सुख क्रीड़ा करै, पूर्व उपार्जित सुख व्योपरै। विविध भोग पृथिवी में सार, भुगतहि ते मारीचकुमार ॥६४॥
एक दिना श्री आदि जिनेश, देवी नृत्य मरण लख भेप। भोग अंग राज्यादिक सबै, तज संवेग उपार्ज्यो तबै ॥६५॥
इन्द्र आदि सब राजनि लए, चढ़ि शिविका सो वन में गये। तजि कै दुविध परिग्रह भार, ग्रहत भये संयम सुख धार ॥६६॥
तब कक्षादि भूप परवीन, स्वामि भक्ति में तत्पर लीन। चार सहस जानौं सब लोइ, निश्चै प्रभु के सेवक सोइ ॥६७॥
तिनके संग मारीचकुमार संयम द्रव्य धरो अविचार। नगन भेप धारी हितकार, स्वामी वचन हि हिये विचार ॥६८॥
छोड्यौ देह ममत्व निदान, अचल भये प्रभु मेरु समान। हन्यौ कर्म अरिकौ संतान, आरति रौद्र निकन्दन जान ॥६९॥
छह महिना पर्यंत सुलीन, धरौ जोग उत्कृष्ट प्रवीन। लम्बो भुजा दण्ड कर सोय, कायोत्सर्ग ध्यान दृढ़ होय ॥७०॥
तब सब राय कर्म के जोर, पीड़े क्षुधा प्यास सौ घोर। जन्म अन्त लौ को तप भजौ, ह्वै असमर्थ सुपीछौ तजौ ॥७१॥
कहैं कि प्रभु तो जग भरतार, वज्रकाय थिर चित अविकार। जान्यौ जाय न केतै काल, थिर रहि है इहि विधि भूपाल ॥७२॥
हम तौ इन समान इहि थान, रहैं होइ प्रानन की हान। यातें कहा कीजिये अबै, मरण वचै सुख प्रापत सबै ॥७३॥
इहि प्रकार लिगिन कहि वैन नमैं नाथ चरणाम्बुज एन। भरतराय के भयसौं तेह, जाय न सकै आपने गेह ॥७४॥
ता वन में पापी अज्ञान, भक्षै फल अखाद्य दुख दान। अनगाल्यौ जल पीवै दीन, हियै विवेक न हैं गुणहीन ॥७५॥
तिनकै संग मारीचकुमार, पीड़ैं अधिक परीपह भार। तिन समान किरिया आदरै, अघ विपाकसौं सो व्योपरै ॥७६॥

दोहा

निन्द्य करम तिनकौ करत, आलोक्यौ[[वन]]देव। कहै अरे शठ ! तुम सुनौ, यो वच शुभकर भेव ॥७७॥

चौपाई

तपसा भेप मूढ़ ! तुम धरै, अशुभ निन्द्य कर्मनको करै। हिंसा है अघकी करतार, नरकतनौ भाजन अविचार ॥७८॥
गृही लिंग में पाप जु होय, अरह लिंग में छूटै सोय। होय पाप इह लिंग मझार, वज्रलेप सम सो दुखकार ॥७९॥
जिनवर लिंग जगत परधान, सो तुमने छोड़ौ अज्ञान। मिथ्यामत गहियौ दुखकाय, यातैं नरक कूप में जाय ॥८०॥
देव वचन सुन अति भयभीत, बुध पूजित मत तज्यौ पुनीत। जटा आदि धारै सबै, विविध वेप कीनै शठ तबै ॥८१॥
तिनके संग मरीचिकुमार, कठिन मिथ्यात्व उदै अविचार। परिव्राजक दीक्षा उर धरी, जिनवर वेप सबै परिहरी ॥८२॥
बहुत कुशास्त्र रचन परवीन, दीरघ संसारी दुख लीन। झूंठ बहुत मिथ्यामत बात, सत्यवन्त नहिं हिये सुहात ॥८३॥

को पथ दिखला दिया। भील अत्यन्त प्रसन्नताके साथ अपने घरको लौटा। उसने जीवन पर्यन्त उक्त व्रतोंका पालन किया और और अन्तमें समाधि-मरण करके व्रतसे उत्पन्न हुए पुण्योदयसे वह भील सौधर्म नाम्रक महाकल्प विमानमें महाऋद्धिधारी देव हुआ। उसकी आयु एक सागरकी हुई। उसने अन्तर्मूहूर्तमें नवयौवन अवस्थाको धारण किया। उसने अवधि ज्ञानसे अपने पूर्व जन्मका समस्त वृत्तान्त जान जिया। इससे जैनधर्ममें उसकी निश्चल भक्ति हुई। अतः वह धर्मकी सिद्धिके लिए जिन-चैत्यालयों में जाकर सर्वदा भगवानकी पूजा किया करता था। वह अपने परिवार वर्गके साथ आठ प्रकारके द्रव्यों से चैत्य वृक्षोंमें स्थित तीर्थकरोंकी पूजा कर पश्चात् नन्दीश्वरादि द्वीपोंमें जाकर केवलज्ञानी गणधरादि महात्माओंकी भक्ति के साथ पूजा करता। गणधरों द्वारा दोनों प्रकारके धर्मोपदेश सुनकर उसने महान् पुण्यका उपार्जन किया। इस प्रकार वह देव पुण्य उपार्जनकर अपने स्थानको लौटा। वह सदा महल, सुमेरे और वनोंमें जा-जाकर किन्हीं स्थानोंपर देवांगनाओं का नृत्य देखता, किन्हीं स्थलोंपर मनोहर गाने सुनता और कहीं क्रीड़ा करता था। इस भाँति पूर्व पुण्यके प्रभावसे उसे समग्र भोगोंकी उपलब्धि हुई। उसका शरीर सात ऊंचा और सप्त धातुसे रहित था। वह मति, श्रुत अवधि तीनों ज्ञानों से विभूपित था। आठों ऋद्धियोंसे युक्त वह वह देव इन्द्रिय जन्य सुखमें निमग्न रहने लगा।

भारत क्षेत्रमें कौशल नामका एक देश आर्य खण्डके मध्य भागमें है। उसे आर्यजनोंकी मुक्तिका कारण बतलाया गया है। वहांके उत्पन्न हुए भव्य जन व्रतादि धारण कर कोई मोक्ष प्राप्त करते हैं, कोई नव ग्रैवेयक एवं सोलहवें स्वर्गमें जन्म लेते हैं। कोई जिन देवके भक्त सौधर्मादि स्वर्गके इन्द्रपद वाच्य भी होते हैं। यही नहीं, यहांके लोग सुपात्रको दानके कारण भोग-भूमि में उत्पन्न होते हैं और कोई-कोई तो पूर्व विदेहमें जन्म धारणकर राज्य-लक्ष्मीका उपभोग करते हैं। इस स्थानपर संसार
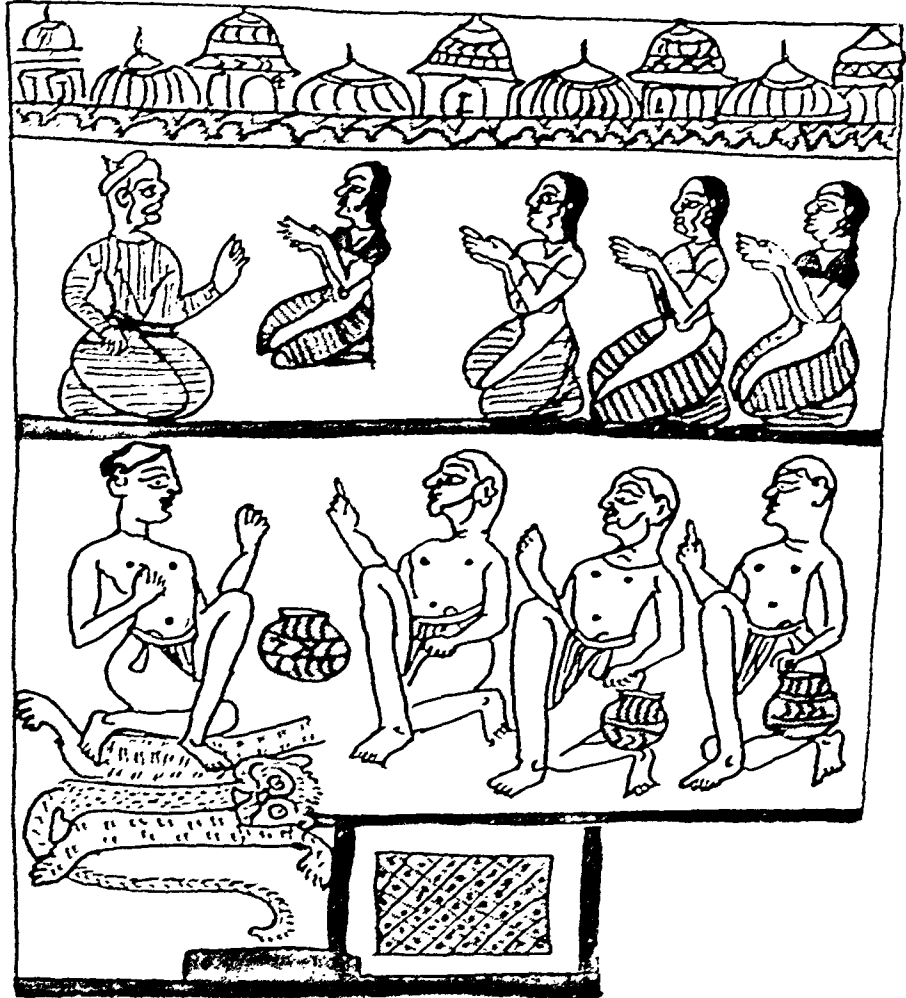
साकेता नगरी में कपिल ब्राम्हण अपनी स्त्री काली के साथ।
नीचे :— पूर्व संस्कार के कारण परिव्राजक तप किया और मूर्ख व्यक्तियों
के द्वारा पूज्य हुआ।

अब त्रिजगपति आदि जिनेश, एकाकी वन ज्यों मिरगेश। विहरै वर्ष जु एक हजार, मौन सहित पूरववत सार ॥८४॥
घातिकर्म–रिपु छेद्यौ घोर, शुकल–कृपाण ध्यान के जोर। केवल ज्ञान लक्ष्मी भई, समोशरण सूचक सुर ठई ॥८५॥
रतन सुवर्णभूमि तहं लसै, मानी जनो मान जहं नसै। इन्द्रादिक सुरपूजन काज, आये निज निज वाहन साज ॥८६॥
भरतराय आदिक सव भूप, आये सुन प्रभु केवल रूप। कच्छ आदि लिगिन सुन सवै, मोक्षवन्द्य जिनवरको तवै ॥८७॥
आये प्रभुके वन्दन हेत, संग मरीचि कुंवर समचेत। तव श्री जिन मुखवाणी भई, वृपभसेन गणधर अरथई ॥८८॥
तत्व पदारथ आदिक कहै, सकल सभा हितसौं सरदहै। भरतराय उठि नायो सीस, कृपावन्त कहिये जगदीश ॥८९॥
मो कुल में उत्तम जिय कोय, होनहार तीर्थंकर जोय। तव गणपति वोल्यो इमि वैन, भो नरेश! सुनिये मन चैन ॥९०॥
अन्तिम तीर्थंकर जगतार, हूहैंगे मारीच, कुमार। हरषत भयौ तवै मनमांहि, जिनवर कही सु विकलप नाहि ॥९१॥
जिनपति के वच सुन मारीच, दाइक मोक्ष हरन पद नीच। तवऊ न तज्यौ कुमत मिथ्यात, भव कारण मानैं सुख गात ॥९२॥
वेष त्रिदण्डी कुवुध अताप, काय कलेश जु दायक पाप। हाथ कमन्डलु अंकित सोइ, मूरख हिये विचार न कोइ ॥९३॥
प्रात शीत जलन्हवन करेय, कन्दमूल आदि भक्षेय। वाहिज की उपाधि को त्याग, करै आतमा में सव राग ॥९४॥
कपिल आदि ता शिष्य अलीन, कलपित सत अंतर परवीन। इन्द्रजाल सम निन्द्य अपार, जथा अर्थ प्रतिलोपन हार ॥९५॥
यह प्रकार भूल्यौ वहु सोय, मिथ्या मारग में सुध खोय। आयु अन्त वश पायो मीच, भरतराय सुत जो मारीच ॥९६॥
तप अज्ञान भयो फल एव, व्रह्म स्वर्ग उपज्यौ सो देव। दश सागर ता आयु प्रमान, ऋद्धि अनेक संपत सुख खान ॥९७॥
कुतप तनौ देखो परभाव, पायो सुरमन्दिर शुभ ठाव। सुतप करै जे नर सविचार, तिनके फलको नाही पार ॥९८॥
याही भरत क्षेत्र में जान, साकेता नगरी पहिचान। व्राह्मण कपिल वसै ता ठाम, प्रिया तातकी काली नाम ॥९९॥

पूज्य केवली मुनिगण धर्मोपदेश करते हुए चार प्रकारके संघोंके साथ विहार किया करते हैं। यह देश ग्राम, पत्तन, ऊंची नगरी वड़े-वड़े ऊंचे भव्य जिन मन्दिरोंसे शोभायमान था। यहांकी वनस्थली ध्यानारूढ़ योगियोंसे सदा भरपूर रहती थी और नवीन फल-फूलोंसे सदा लदी रहती थी। उस देशके मध्य अयोध्या नामकी नगरी थी। वहां भव्य पुरुषोंका निवास था। अतएव जैसा रमणीक उसका नाम था, वैसी ही गुणको धारण करनेवाली नगरी थी।

इस नगरीका निर्माण इन्द्रने श्री आदिनाथ तीर्थंकरके जन्मके लिये किया था। वह स्वर्ण, रत्नमयी चैत्यालयोंसे शोभायमान थी अयोध्यामें ऐसे ऊंचे-ऊंचे कोट और दरवाजे थे, जिसे शत्रु भी नहीं लाँघ सकते थे। उस नगरीकी लंवाई-चौड़ाई वारह और नव योजन थी; जो देवोंको वड़ी ही प्रिय थी। इस नगरीकी सुन्दरताका वर्णन वचनों द्वारा नहीं किया जा सकता। यहांके विशाल भवनोंमें निवास करनेवाले दानी, धर्मात्मा, पुण्य उपार्जन करनेवाले अत्यन्त धनाढ्य थे। उनके गुणोंकी प्रशंसा करना सूर्यको दीपक दिखाना है। वे सर्वगुण सम्पन्न विमानोंमें देवोंके समान और वहांकी स्त्रियां देवियोंके समान सुखोपभोग करती थीं। जिस अयोध्यामें देवगण भी मोक्ष प्राप्तिके उद्देश्यसे जन्म धारण करने को ललचते हैं, भला ऐसी स्वर्ग मोक्ष प्रदान. वाली नगरीकी यह तुच्छ लेखनी क्या प्रशंसा कर सकती है। जिस नगरीका स्वामित्व आदि धर्म प्रवर्तक श्री ऋपभदेवके पुत्र राजा भरतके अधिकृत था, जहां भरत चक्रीके चरण कमलोंकी अकंपनादि राजा नमि आदि विद्याधर मागध आदि देव सदा वंदना किया करते थे, ऐसे छै खण्डके स्वामी चरम शरीरी पुण्यवान को सुख प्रदान करनेवाली धारिणी नामकी पटरानी थी। वह सुन्दरी अपूर्व गुणवती थी। इन दोनोंके वह देव (पुरुरवा भीलका जीव) स्वर्गसे चयकर मरीचि नामका अनेक गुणोंसे सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हुआ। वह क्रमसे वढ़ने लगा। जव उसकी अवस्था कुछ अधिक हुई तव अनेक शास्त्रोंका अध्ययन कर अपने योग्य सम्पत्तिकी उपलब्धिकर वनादिमें क्रीड़ा रत हुआ।

एक समय की घटना है, श्री ऋषभ देवको देवांगनाओंके नृत्य देखकर भोगोंसे सर्वथा विरक्ति उत्पन्न हुई। वे पालकीमें सवार होकर लौकान्तिक देवोंको साथ लेकर वनमें पहुंचे। उन्होंने वहां जाकर वाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रह त्याग कर मोक्ष मार्ग प्रतिपादक तप धारण किया। ठीक उसी समय स्वामी भक्त कच्छ आदि चार सहस्र राजाओंने नग्न भेष रूपी द्रव्यसंयमको धारण किया, किन्तु इनके चित्तमें चरित्र धारण करनेकी संयम पूर्ण भावना नहीं थी। परन्तु वे ऋपभदेवने देहकी ममताका भी परित्याग कर सुमेरु पर्वत जैसे निश्चल कर्म रूपी वैरियोंको परास्त करनेके लिये छः मासकी परम समाधि लगा ली।

पश्चात् कच्छ मरीचि आदि ने भूख प्यास आदि कठिन परिषहों को सहन, स्वामी के साथ कुछ दिनों तक किया। पर पीछे उन्होंने अपने को इस महान् कार्य में असमर्थ पाया। क्लेश के भार से दवे हुए उन लोगों ने परस्पर इस प्रकार का वार्तालाप

ब्रह्म स्वर्ग तें सो सुर चयौ, जटिल[1] नाम ताके सुत भयौ। दुर्मत लीन भयौ द्रुत सोई, वेद शास्त्र को वेदक होइ ॥१००॥
पूरव संसकार के जोग, धारौं परिव्राजक तपशोग। मूढ जनन कर वन्दित भयौ, कुमति कुमार्ग प्रकाशक ठयौ ॥१०१॥
पूरव वत चिरकाल भ्रमेय, आयु क्षीण सो मृत्यु करेय। कायकलेश तनौ फल लयौ, प्रथम सुधर्म स्वर्ग सुर भयौ ॥१०२॥
सागर दोय आयु परवान, अष्ट ऋद्धि सुख संपति जान। देखो भवि! निष्फल नहि जाहि, कुवुध कुतपसा जगके माहि॥१०३॥
वही अयोध्या नग्र विशाल, सौहै मन्दिर पांति विशाल। भारद्वाज विप्र तिहि थान, पुष्पदन्त तस तिया बखान ॥१०४॥
सो सुर चयो तहां ते आय, पुष्पमित्र[2] सुत तिनकै थाय। भ्यासी भयौ कुशास्त्र अपार, दुर्मत दुराचार अविचार ॥१०५॥
मिथ्यापाक बहुरि सो जान, मिथ्या मत मोहित अज्ञान। कीन्यौ पूरववत तिन वेष, और नरन दीनौ उपदेश ॥१०६॥
पंचवीस दुठ तत्व अभ्यास, दुरवुद्धी मानों पुनि जास। मन्द कषाय वांध सुर आव, छोड़ देह पायो शुभ ठाव ॥१०७॥
सोधर्म[3] प्रथम स्वर्ग में गयौ, सागर एक आयु सुख लयौ। कुतप जोग बहु लक्ष्मी पाइ, देखो तप निष्फल नहि जाय ॥१०८॥
एही आरज खण्ड मंझार, स्वस्तिक पुर सोहै शुभ सार। अग्निभूति ब्राह्मण तह वसै, नारि गौतमी ता घर लसै ॥१०९॥
स्वर्ग आयु चय कै सो देव, कर्म विपाकतनौ फल एव। अग्निसिंधु[4] सुत तिनकै सार, मत एकांत शास्त्र वेत्तार ॥११०॥
पूरववत सब विधि आदरी, परिव्राजक दीक्षा उर धरी। कुतप योग सव काल गमाय, आयुहीन तिन छोड़ी काय ॥१११॥
तप अज्ञान कलेश प्रभाव, भयो देव पायो शुभ ठाव। सनतकुमार[5] स्वर्ग में सोय,वारिधि सप्त आयु तहं जोय ॥११२॥

आरम्भ किया। देखो, यह जगत का स्वामी वज्र शरीर न जाने कब तक इस प्रकार खड़ा रहेगा। हमें तो इनके साथ रहने में प्राण नष्ट होने का भय मालूम होता है। क्या हम इसके बराबरीकर प्राण त्याग करेंगे ? ऐसा वार्तालाप कर वे भगवान ऋषभ-देवको नमस्कार कर दूसरी ओर चल दिये। उन्हें घर लौटने में भी राजा भरत का भय था, इसलिये उन्होंने पापोदय से फल खाना आरम्भ कर दिया। उन राजाओं की देखा-देखी वह मरीचि भी वैसा ही करने लगा। किन्तु उन्हें इस प्रकार नीच कर्म करते हुए देखकर उस वनके देव ने कहा—अरे धूर्तो ! तुम सब मेरी बातों को सुनो। इस पवित्र मुनि-वेष में जो लोग निन्द्य कर्म करते हैं, वे पाप के उदय से नरक रूपी समुद्र में जा गिरते हैं। वस्तुतः गार्हस्थ अवस्था के किये हुए पाप जिन-लिंग अर्थात मुनि अवस्था में छूट जाते हैं। पर यदि मुनि वेष में पाप किया जाय तो उस पाप से छुटकारा पा जाना अत्यन्त कठिन ही नहीं, वरन असम्भव है। अतएव तुम लोग इस वेष का परित्याग कर कोई दूसरा वेष ग्रहण करो, अन्यथा मुझे वाध्य हो तुम्हें दण्ड देना पड़ेगा। देव की ऐसी फटकार सुनकर उन मुनि वेषधारी पाखण्डियों को वड़ा भय हुआ। वे मुनि वेष को त्याग कर जटा-जट इत्यादि वेष धारण कर लिये। भरत पुत्र मरीचिने भी तीव्र मिथ्यात्व कर्म के उदय से मुनिवेष का परित्याग कर सन्यासी का वेष धारण कर लिया। उसकी तीक्ष्ण वुद्धि अव परिव्राजक मतों के शास्त्रों की रचना करने में समर्थ हुई। ठीक ही है, जैसी होनी होती है, वह होकर रहती है। उसके लिए किसी प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ सिद्ध हुआ करता है।

ब्राह्मण पुत्र

१ स्वर्ग से आकर मैं अयोध्या के कपिल ब्राह्मण की काली नाम की स्त्री से जटिल नाम का पुत्र हुआ। बड़ा होकर परिव्राजक सांख्य-साधु हो गया। संसारी वस्तुओं को त्यागने का कैसा सुन्दर फल प्राप्त होता है। मृत्यु होने पर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ।

२ भोग भोगने के बाद इसी भारतवर्ष के स्थूणागार नाम के नगर में भारद्वाज नामक ब्राह्मण की स्त्री पुष्पदन्ता के पुष्पमित्र नाम का पुत्र हुआ। वहां भी परिव्राजक का साधु होकर सांख्य मत का प्रचार किया

३ संसार त्यागने के कारण फिर सौधर्म स्वर्ग प्राप्त हुआ।

वहाँ से आकर श्वेतिक नाम के नगर में अग्निभूति ब्राह्मण की गौतमी नाम की स्त्री से अग्निसह नाम का पुत्र हुआ। यहां भी परिव्राजक धर्म का संन्यासी होकर प्रकृति आदि २५ तत्वों का प्रचार किया।

संसार त्यागने के कारण फिर मर कर सनतकुमार नाम के तीसरे स्वर्ग में देव हुआ।

४ वहां से फिर इसी भारत क्षेत्र के मन्दिर नाम के नगर में गौतम नाम के ब्राह्मण की कौशम्भी नाम की स्त्री से अग्निभूत नाम का पुत्र हुआ। यहां भी सांख्य मत का प्रचार किया।

संसार त्यागने के हेतु महेन्द्र नाम का चौथा स्वर्ग प्राप्त हुआ।

५ वहां से आकर मैं उक्त मन्दिर नाम के नगर में सांकलायन नाम के ब्राह्मण की मदिरा नाम की पत्नी से भारद्वाज नाम का पुत्र हुआ। पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण त्रिदण्डी दीक्षा ग्रहण की और तप के प्रभाव से देवायु का वंधकर ब्रह्म नाम के पाँचवें स्वर्ग में देव हुआ।

संसारी मोह-ममता के त्याग का देखिये कितना सुन्दर फल मिलता है ! सम्यग्दर्शन न होने पर भी संसारी सुखों का तो कहना ही क्या, स्वर्गों तक के भोग आप से आप प्राप्त हो जाते हैं तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर मोक्ष के अविनाशक सुखों में क्या सन्देह हो सकता है ?
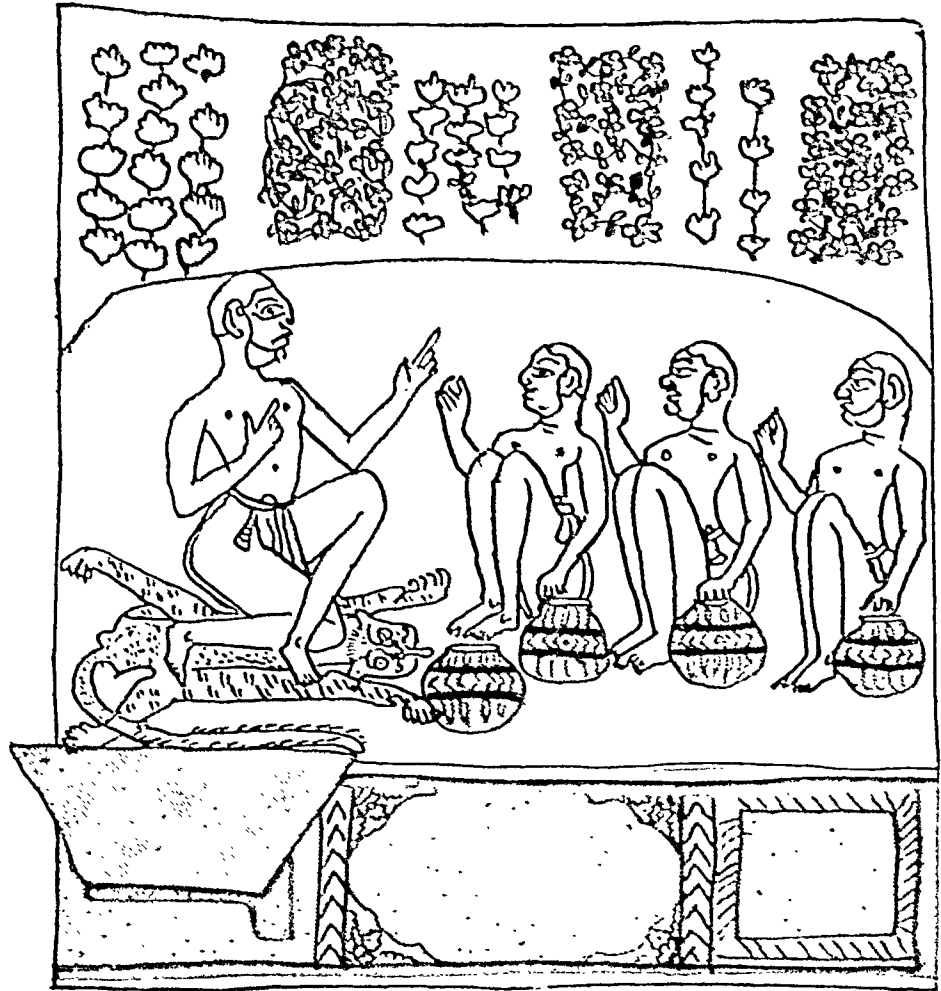
अग्निभूति ब्राह्मण स्वर्ग की आयु पूर्ण करके अपने पुत्र अग्न मित्र
के साथ परिव्राजक दीक्षा।
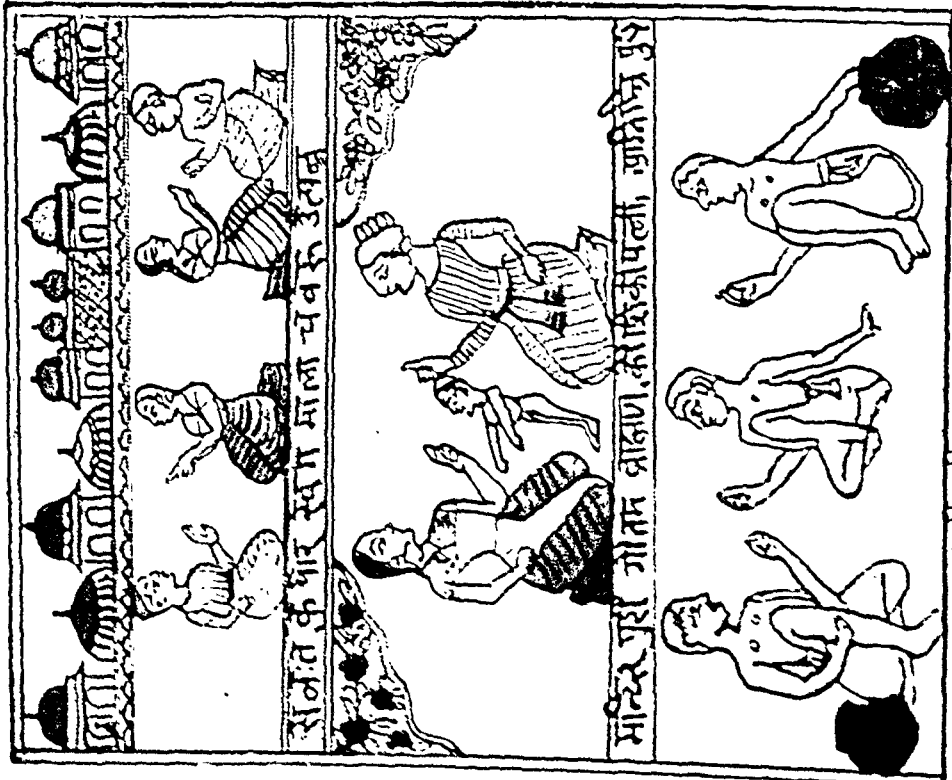
अग्नि मित्रका वैराग्य

१—अग्नि मित्र का जीव सनत्कुमार स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ।
२—मन्दिरपुर देश में गौतम ब्राह्मण और कौशिकी से अग्निमित्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।
३—अग्निमित्र ने परिव्राजक दीक्षा धारण कर ली।

माहेन्द्र स्वर्ग से चलकर भरद्वाज नाम से उत्पन्न हुआ जो कुशास्त्र में लीन था, त्रिदण्डी के भेष का धारण कर तपस्या की, और मरण समय में देवायु का बंध कर माहेन्द्र स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ।
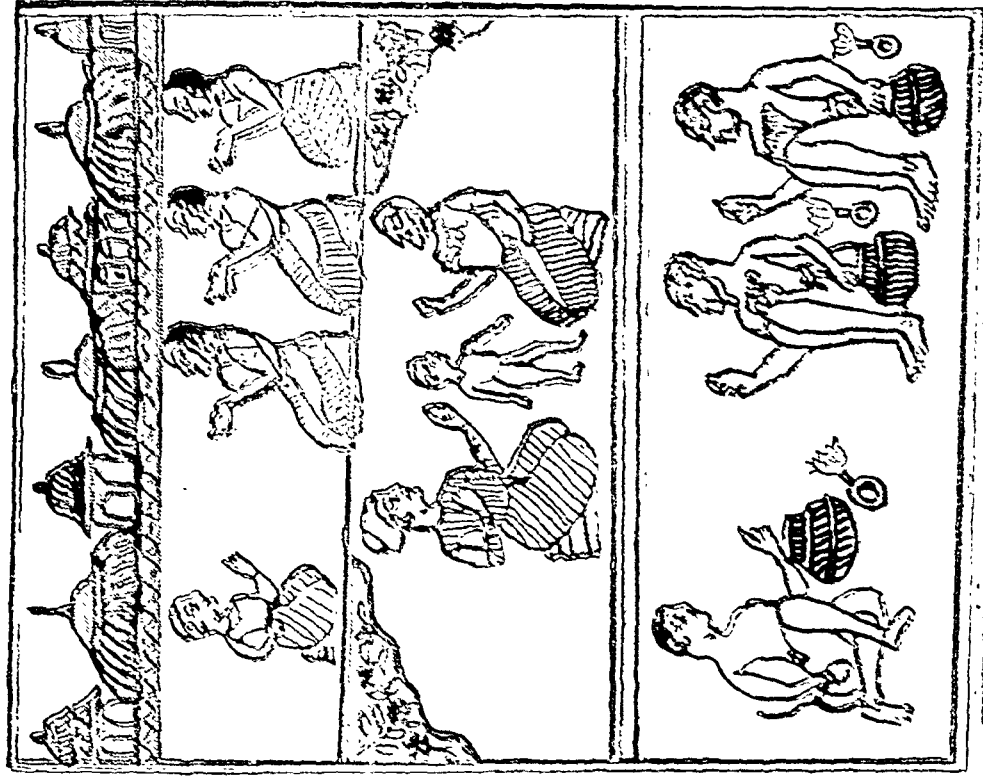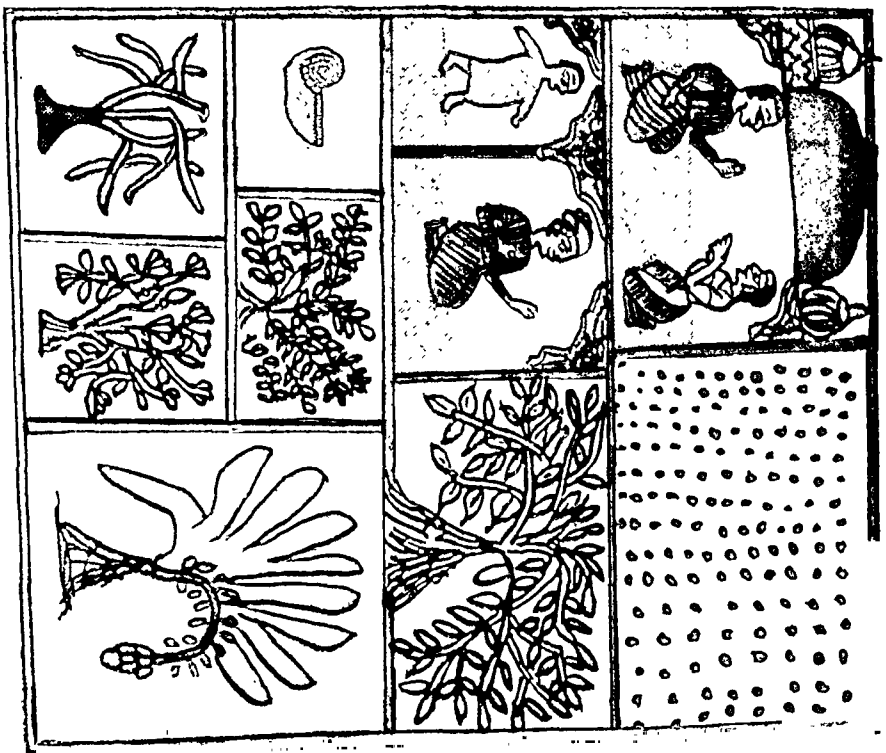
१– माहेन्द्र स्वर्ग से चलकर, नरक निगोद की पर्या में धारण की। ग्राक वृक्ष, सीप, नीम वृक्ष, केले का वृक्ष, चन्दन का वृक्ष, कनेर ग्रादि वृक्षों कींजाति में उत्पन्न हुग्रा ।
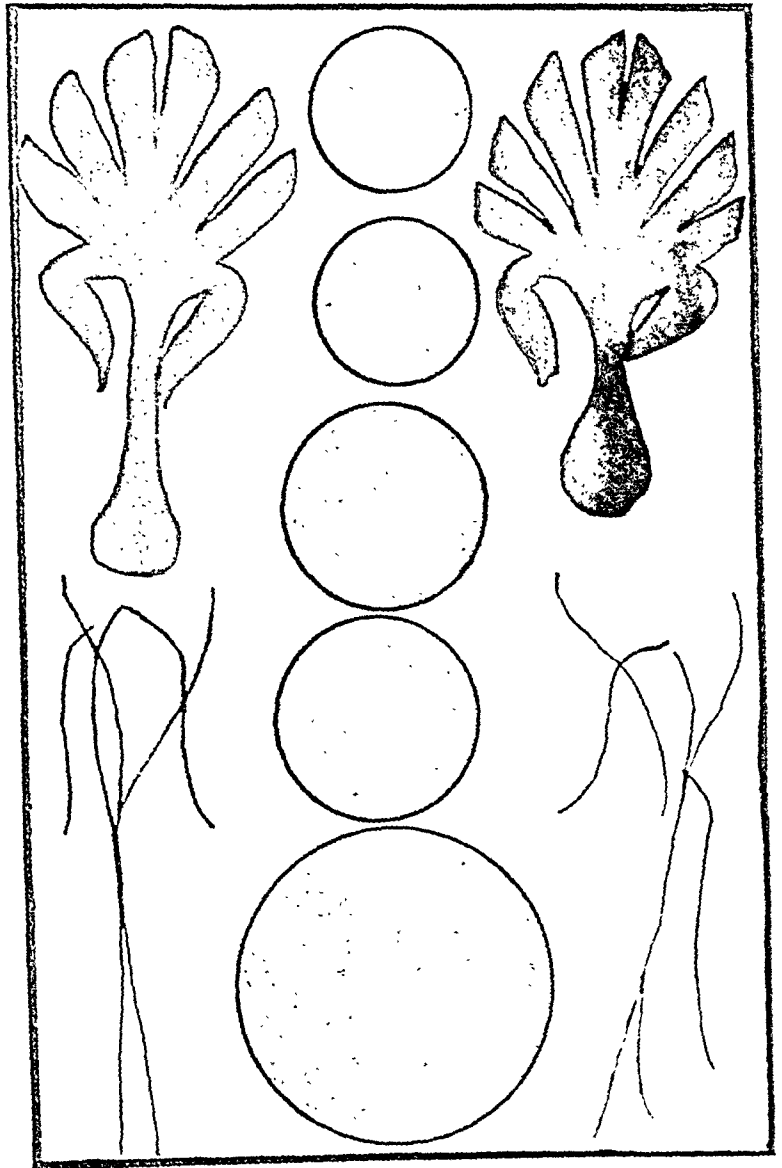
निगोदि जीव का स्थान ।

भरत क्षेत्र के मन्दिर नामक ग्राम में गौतम नाम का ब्राह्मण
अपनी स्त्री कौशिकी के साथ ।

यहै क्षेत्र शुभ भरत महान्, मदरपुर ता मध्य प्रधान। विप्र बसै तहं गौतम नाम, ताके प्रिया कौशिकी वाम ॥११३॥
देव भयो तिनके सुत भयौ, अग्निमित्र[1] नामा तस दयौ। मिथ्यादृष्टि उपजो जास, कुमति तनो कीनो परकास ॥११४॥
पुनि पूरव भव सम अभ्यास, पुरातनी दीक्षा उर वास। बहु कलेश धारौ तिन काय, आयु क्षीण तहं मरण कराय ॥११५॥
तप अज्ञानतनै परभाव, स्वर्ग महेन्द्र देवपद पाव। सागर सप्त आयु परवान, श्री दिव्यादिक मण्डित जान ॥११६॥
वहैं पूर्ववत गुण अभिराम, सोहैं पूरवमन्दर नाम। सालंकाइक विप्र वसन्त, नाम मन्दिरा तिय शोभन्त ॥११७॥
स्वर्ग महेन्द्र देव सो चयौ, भरद्वाज नाम सुत भयौ। अति कुशास्त्र में तत्पर लीन, मिथ्यामत वेदक परवीन ॥११८॥
अन्त अज्ञान जोग आदरो, वेष त्रिदण्डीको वह धरौ। तप कर देव आयु को बांधि, मरण समय कर हिये समाधि ॥११९॥
स्वर्ग महेन्द्र भयौ सो देव, करैं तास देवी सब सेव। सप्त जलधि तहं आयु प्रमान, तप कलेश पायो शुभथान ॥१२०॥

दोहा

तहां तैं चय दुर्मार्ग धर, प्रगटयौ भूतल मांहि। महा पापके पाकतैं, निन्द्य अधोगति जाहि ॥१२१॥

चौपाई

इतर निगोद भ्रम्यौ सो जाइ, सागर एक प्रयंत रहाइ। असुरकुमार परी बहु वैर, नरकन मांहि लखावै वैर ॥१२२॥
साढहि सहज आकतरु होइ, पायो दुख बहु गने न कोइ। असी सहस भव सीपै धार, भयौ नीम तरु वीस हजार ॥१२३॥

—०—०—०—

तीनों जगत के पूज्य श्री ऋषभदेव पृथ्वी पर विहार करने लगे। वे उसी वन में एक हजार वर्ष तक मौन साधकर सिंह के के समान निश्चल रहे। उस तीर्थंकर राजा ने अपने ध्यान रूपी खड्ग से, संसार हितकारी केवल ज्ञान रूपी राज्य को स्वीकार किया अर्थात् केवल ज्ञानी हो गये। ठीक उसी समय यक्षादिगणों ने बारह कोठों वाले सभा-मण्डप की रचना की, जिसमें संसार के सभी जीव आ जांय। साथ ही इन्द्रादिक देव ने भी अपनी विभूति और देवांगनाओं के साथ आकर अष्ट द्रव्य से भक्ति पूर्वक प्रभु की पूजा की।

संयोगवश वे भ्रष्ट हुए कच्छादि पाखण्डी राजा भगवान ऋषभदेव से बन्ध-मोक्ष का स्वरूप सुनकर वास्तव में निर्ग्रन्थ भावलिंगी हो गये। किन्तु मरीचि ने अपने मन में विचार किया कि, जैसे तीर्थनाथ ने गृहादि का परित्याग कर तीनों जगत को आश्चर्य में डालने वाली अपूर्व शक्ति प्राप्त की है, उसी प्रकार मैं भी अपने मत का प्रसार कर अपूर्व क्षमताशाली हो सकता हूं। वस्तुतः मैं भी जगद्गुरु हो सकता हूं। यह मेरी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी। इस प्रकार मान कपायके उदय से वह अपने स्थापित मिथ्या मत से किंचित भी विरक्त नहीं हुआ। वह पापात्मा मूर्ख मरीचि त्रिदण्डी वेप धारण कर कमण्डलु हाथ में लेकर अपने शरीर को कष्ट देने में तत्पर हुआ। वह प्रातःकाल ठण्डे जल से स्नान कर कन्द-मूलादि का भक्षण करता था। उसने बाह्य-ग्रहादि परिग्रह के त्याग से अपने को सर्वत्र प्रसिद्ध किया। उसने अपने शिष्यों को सत्य मत को इन्द्रजाल के समान बतलाया। किन्तु मिथ्या मार्ग का अग्रणी वह भरत राजा का पुत्र मरीचि आयुपूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। वह अज्ञान तप के प्रभाव से ब्रह्म नाम के पांचवें स्वर्ग देव हुआ। वहां उसे दश सागर की आयु मिली। उसे भोग्य सम्पदायें भी प्राप्त हुईं। देखो जब मिथ्या तप के प्रभाव से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तब सत्य तप के फल का क्या कहना ? अर्थात् उससे अपूर्व फल मिलेगा।

उसी अयोध्या नगरी में ही कपिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री का नाम काली था। उन दोनों के घर मरीचि का जीव स्वर्ग से चयकर जटिल नाम का पुत्र हुआ। पूर्व के संस्कारों के वश उसे वही मिथ्या मार्ग सूझा। वह सन्यासी होकर उसी कल्पित मिथ्या मार्ग का प्रचार करने लगा। उसे मूर्ख-जन नमस्कार भी करते थे। पर पुनः आयु क्षय होने पर मृत्यु

४--त्रस स्थावर नर्क और निगोद

१ आग में कूदना, विष का सेवन करना, समुद्र में डूब मरना उत्तम है, किन्तु मिथ्यात्व सहित जीवित रहना कदाचित् उचित नहीं है। सर्प तो एक जन्म में दुःख देता है, लेकिन मिथ्यात्व जन्म-जन्मान्तर तक दुःख देता है। मिथ्यात्व के प्रभावसे जीव नरक तक में भी दुःख का अनुभव नहीं करता, किन्तु दूसरे अधिक ऋद्धियों वाले देवों की उत्तम विभूतियों को देखकर ईर्ष्या भाव करने, महामुनों के देने वाली देवाङ्गनाओं का वियोग होने तथा आयु के समाप्त होने से छः महीने पहले माला मुरझा जाने से मिथ्यादृष्टि स्वर्ग में भी दुःख उठाता है। मृत्यु के छः महीने पहले मेरी भी माला मुरझा गई तो इस भय से कि मरने के बाद न मालूम कहां जन्म होगा ? ये स्वर्ग के सुख प्राप्त होंगे या नहीं ? अत्यन्त शोक और रुदन किया, जिसका फल यह हुआ कि स्वयं स्वर्ग की आयु समाप्त होते ही मैं निगोद में आ पड़ा। अनन्तान्तों वर्षों तक वहां के दुःख उठाकर वर्षों तक वहां के दुःख भोगे, फिर एकइन्द्रीय वनस्पति काय प्राप्त हुई। कई बार मैं गर्भ में आया और वह गर्भ गिर गये।

केलिवृक्ष उपजो वहुवार, नवै सहस भव धरौ असार। सहस तीन चन्दन तरु होय, पंच कोड़ि भव कनयड़ सोय ॥१२४॥
गणिका भवधर साठ हजार, पांच कोड़ तन पसियाधार। वीस कोड़ गज उपज्यौ भार, साठ कोड़ खर भी दुखधार ॥१२५॥
तीस कोड़ भव श्वानहिं भाख, भयौ नपुंसक साठ जु लाख। वीस कोड़ नारी तन साख, रजक भयौ नर नवैजु लाख ॥१२६॥
आठ करोड़ धर तुरी प्रजाई, वीस कोड़ मंजार सुभाइ। नार गर्भसो गिरयौ खोइ, साठ लक्ष तन तैं अव लोइ ॥१२७॥
साध लाख भव नृपपद पार, नहि पन छोड्यौ कर्म उपाय। कवहूं दान सुपात्रै दियौ, ता फल भोगभूमि सुख लियौ ॥१२८॥
असी लक्ष पुन सुर पद लेह, असी लक्ष भव धारी तेह। पुन पुन भ्रम संसार मंझार, वहु परजाय दुःख कौ धार ॥१२९॥
कर्म-संखला वन्ध्यौ फिरै, फिर-फिर भवसागर में परै। सर्व दुःख नाना परकार, मिथ्यामति-तरु फल्यौ अपार ॥१३०॥

अरिल्ल

अगनि मांहि परजरै, पियै हालाहल कोई। समुद मांहि जो परै, किमपि वर है भवि सोई॥
खाय सिंघ अहि खाय, चोर भयको करै। प्राण हनत जो होय, न मिथ्या आदरै ॥१३१॥

सोरठा

सरसों सम ह्वै पाप मिथ्या, मेरु समान दुख। प्राण अन्त वुध आप, ऐसी जान न कीजिये ॥१३२॥

प्राप्त कर काय-क्लेश तप के प्रभाव से सौधम नामक पहले स्वर्ग का देव हो गया। उसे यहाँ पर दो सागर की आयु प्राप्त हुई और थोड़ी-सी विभूति भी उसे मिली। अत्यन्त आश्चर्य की वात है कि, जव मिथ्या-दृष्टि पुरुषों का निकृष्ट तप भी निष्फल नहीं हो पाता, तव सुतपकी तो वात ही दूसरी है।

अयोध्यापुरी में ही स्थूणागार नामक नगर में भारद्वाज नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पुष्पदन्ता नामकी अत्यन्त रूपवती पत्नी थी। वह देव स्वर्ग से चयकर उन दोनों के पुष्प मित्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यहाँ भी उसने पूर्व संस्कार के वश कुशास्त्रों का ही अध्ययन किया और पुनः मिथ्यात्व कर्मों के उदय से मिथ्या मत में ही लीन हुआ। इसलिये वह पूर्व भेष को ग्रहण कर सांख्य मत के अनुसार प्रकृति आदि पच्चीस तत्वों का उपदेश करने लगा। वह मिथ्यामती मन्द कपायसे देवायु को वांध मृत्यु को प्राप्त हुआ और उसी सौधर्म स्वर्ग में उसने जन्म लिया। उसको आयु एक सागर हुई तथा वह भोग्य सम्पदा से सम्पन्न हुआ।

भरत क्षेत्र में ही श्वेतिक नाम के नगर में एक ब्राह्मण रहता था, जिसका नाम अग्निभूति था। उसकी पत्नी का नाम गौतमी था। वह सौधर्म स्वर्ग का देव स्वर्ग से चयकर अग्निभूति ब्राह्मण का अग्निसह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह एकान्त मत के शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता हुआ। किन्तु पूर्व कृत-कर्मोदय के प्रभाव से उसने पुनः परिव्राजक दीक्षा धारण की। पश्चात् आयुक्षय होने पर उसकी मृत्यु हो गयी। पूर्व के अज्ञानतप के प्रभाव से वह सनत्कुमार नाम के तृतीय स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और सुख सम्पदा से सम्पन्न उसे सात सागर की आयु प्राप्त हुई। उक्त क्षेत्र में ही मन्दिर नामक एक श्रेष्ठ नगर था। वहाँ गौतम नामका एक ब्राह्मण रहता था। वही सनत्कुमार स्वर्ग का देव वहाँ से चयकर गौतम का अग्निभूति नाम का पुत्र हुआ। पूर्व जन्म के संस्कारों के वश उसने मिथ्याशास्त्रों का ही अध्ययन किया। अन्त में उसने त्रिदण्डी दीक्षा ही धारण की और आयु की समाप्ति पर मृत्यु प्राप्त कर उसी अज्ञान तपके प्रभाव से माहेन्द्र नाम के पांचवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ एवं योग्य आयु सम्पदा का उपभोग करने लगा।

उक्त मन्दिर नामक नगर में ही सांकलायन नाम का एक ब्राह्मण निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम मन्दिरा था। वह माहेन्द्र स्वर्ग का देव वहां से चयकर उस ब्राह्मण का भारद्वाज नाम का पुत्र हुआ। वह पूर्व जन्म के संस्कारों से तो वंधा ही था। इस वार भी उसने मिथ्याशास्त्रों का ही अभ्यास किया। कुछ समय के पश्चात् उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ, किन्तु उसने पूर्व की भांति त्रिदण्डी दीक्षा ही ग्रहण की और देवायु का वन्ध कर मृत्यु प्राप्त किया। तप के प्रभाव से उसने पांचवें स्वर्ग में देवयोनि की प्राप्ति हुई, किन्तु वहां से चयकर उसे निम्न योनियों में आना पड़ा। वह असंख्य वर्षों तक निंदनीय त्रस-स्थावर योनियों में भटकता हुआ दुःख पाता रहा। आचार्य लोगों का कथन है कि, मिथ्यात्व के फल से प्राणि वर्ग को महान क्लेशों का सामना करना पड़ता है।
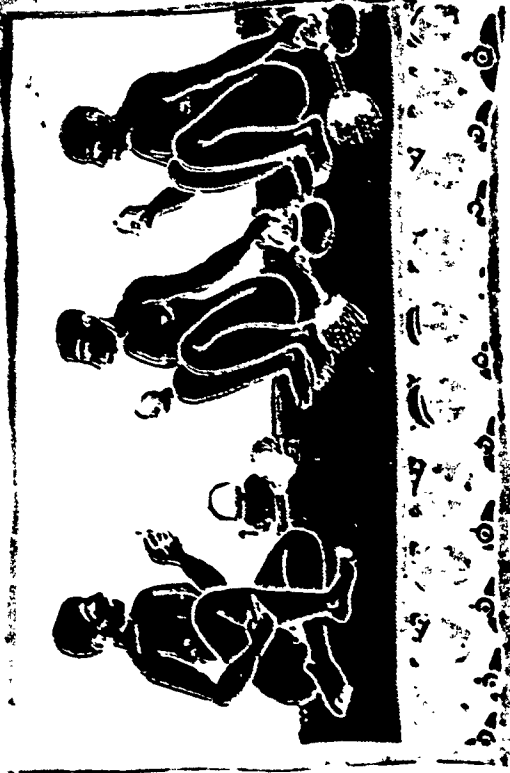
राजगृह नगर में सांडिल नाम के ब्राह्मण अपनी पत्नी पारासर के साथ ।
सांडिल ने अपने पुत्र के साथ परिव्राजक दीक्षा धारण करली ।
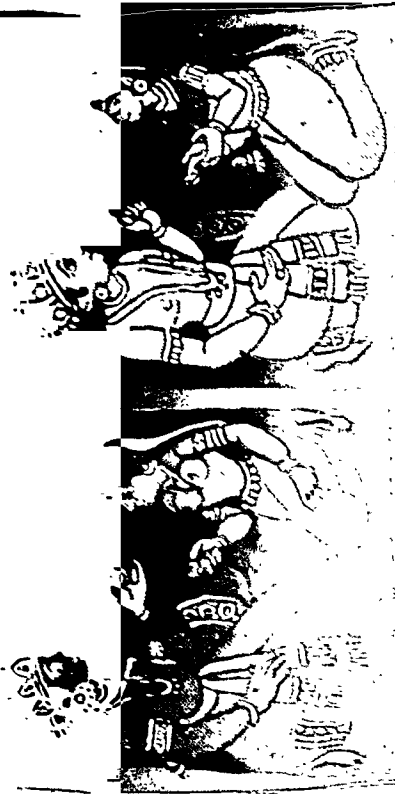
विश्वभूति राजा अपनी रानी जैनी के साथ वार्तालाप, करते हुए तथा
विश्वभूति का पुत्र विश्वनंदि और भाई विशाखभूति युद्ध में
जाने की वार्तालाप करते हुए ।
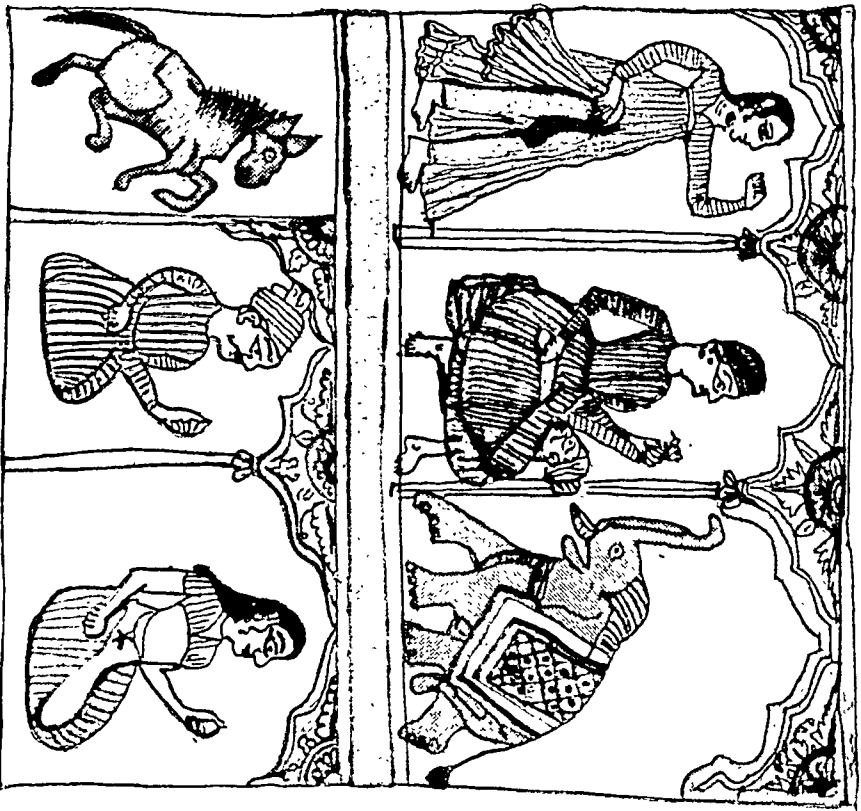
साठ हज़ार बार वेश्या के भव धारण किये। पांच करोड़ बार शिकारीके भव।
बीस करोड़ बार हाथी के. साठ करोड़ बार गधे के भव.
साठ लाख बार नपुंसक के भव. बीस करोड़ बार नारी के भव धारण किये।
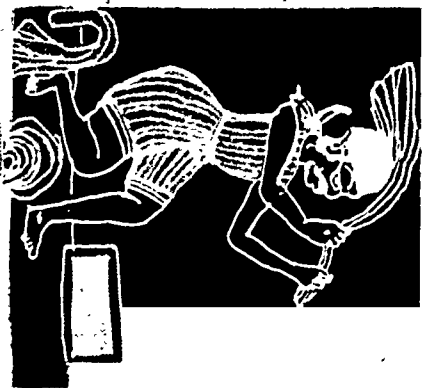
भारद्वाज का जीव महेन्द्र स्वर्ग से आकर कुशाग्र में लीन हो गया
और त्रिदण्डी का भेष धारण कर लिया तप के बल से महेन्द्र
स्वर्ग में देव हुआ पुनः पाप करने से भूतल पर अधोगति
को प्राप्त हुआ. जिससे कुबेर, वेश्या, शिकारी, गधा,
हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिलाव, आदि का जन्म धारण किया।

गीतिका छन्द

इमि कुपथपाक पाक अनेक भव धर, वेष तिरयञ्च हि तनो। पुनि भ्रम्यौ वहु परजाय अन्तर, दुःख जलनिधि सम भनो ॥
यह जानिकै मिथ्यात मारग, तजहु संपूरण सही। सम्यक्त्व को नित आदरो भवि ! जो त्रिजग सुख वांछहो ॥१३३॥
हैं·········नन्त सुख दाता सुजिनवर, दुखहरण वर वीर हैं। जग अन्त भवको नाश कीनौ, वुद्धि-घन मन धीर हैं ॥
वहु घातिया हति मुक्ति प्रिय पति, वीर भवित्त प्रनामियौ। सोइ वीर करता होहु मुझको, "नवलशाह" वखानियौ ॥१३४॥

वस्तुतः आगमें कूद पड़ना, हलाहल (विष) का सेवन करना, समुद्र में डूबकर मृत्यु प्राप्त कर लेना उत्तम है, किन्तु मिथ्यात्व सहित जीवित रहना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। सिंह आदि हिंसक जीवों की संगति प्राप्त कर लेना तो किन्हीं अंशों में ठीक भी है, पर मिथ्यादृष्टि जीवों के साथ सम्वन्ध स्थापित करना तो बड़ा ही भयानक है। कारण हिंसक जीव तो एक जन्म में ही दुख देते हैं, पर मिथ्यात्वका प्रभाव जन्म-जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ता। बुद्धिमान पुरुषोंका कथन है कि मिथ्यात्व और हिंसादि पापोंकी तुलना की जावे तो मेरु और राईके समान अन्तर मालूम होगा। अतएव यदि कहीं प्राण जानेका भी भय हो तो भव्य जीवोंको मिथ्यात्वका सेवन नहीं करना चाहिये। प्रत्यक्ष है कि मरीचिके जीवको मिथ्यात्वके प्रभाववश केवल क्षणिक सुखकी आशासे कठिनसे कठिन दुःख भोगने पड़े, अतः यदि तुम शास्वत सुखकी आकांक्षा रखते तो मिथ्यात्व का परित्यागकर सम्यक्त्व ग्रहण करो।
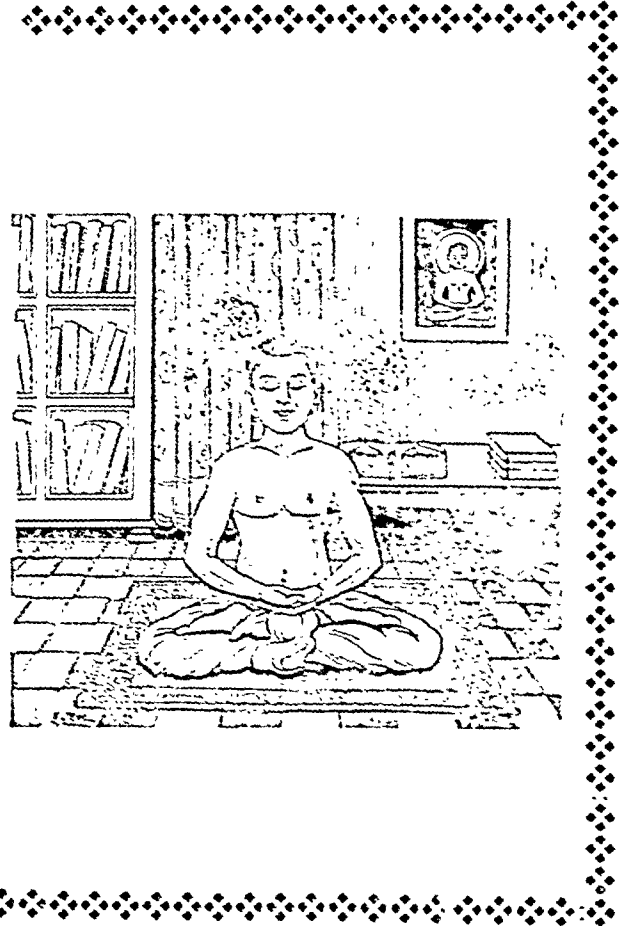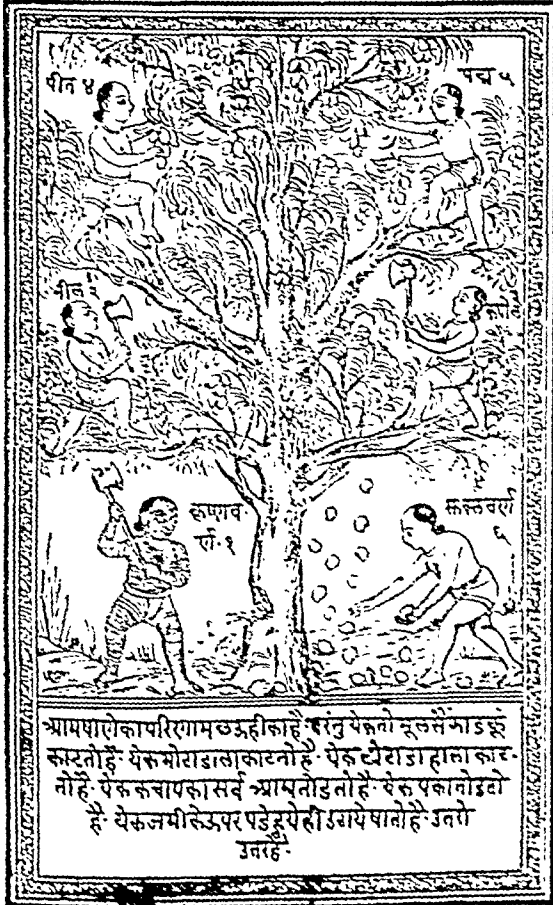
तृतीय अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

तीन लोक नहि वन सकै, गुण अनन्त जिनराज। सुर हिरदैमें आचरै, नमौं तास गुण काज ॥१॥

चौपाई

मगधदेश देशन परधान, राजग्रह तहँ नगर वखान। साडिल नाम विप्र तहाँ वसै, पारासर नारी ता लसै ॥२॥
भटके भ्रमत वहुत दुख पाय, स्थावराख्य[1] सुत उपज्यौ आय। पूरववत मिथ्या संस्कार, परिव्राजक दीक्षा उर धार ॥३॥
कायकलेशतने परभाय, मरण अन्त सुर उपज्यौ आय। कल्प महेन्द्र[2] अम्वुनिधि सात, पाई आयु सुक्ख विख्यात ॥४॥
एही मगधदेश में लसै, राजग्रही शुभ नगरी वसै। विश्वभूति महिपतिको नाम, जैनी प्रिया तास के धाम ॥५॥
सो वह देव स्वर्गतें आय, विश्वनन्दि[3] सुत तिनकै थाय। अति प्रसिद्ध पौरुष परवीन, पुण्य सुलक्षन गुण में लीन ॥६॥

जिनके शुद्ध असीम गुण, तीन भुवनमें व्याप्त।
उन प्रभुका वन्दन करूं, हों गुण मुझको प्राप्त ॥

जिनके अनन्त गुण किसी प्रकारकी वाधाके विना समग्र संसारमें विचरण कर रहे हैं, इन्द्रादि देवगण भी जिनकी आराधना करते हैं, उन वीतराग प्रभुकी, मैं गुणोंकी प्राप्तिके लिये वन्दना करता हूं।

मगध देशमें राजगृह नामका एक विख्यात नगर है। उस नगरमें शांडिलि नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी प्रिय पत्नीका नाम पारासिरी था। उसके गर्भसे उसी मरीचिके जीवकी उत्पत्ति हुई। यहां उसका नामकरण स्थावर हुआ। वह वेद-

---

१. राजगिरी नाम की नगरी में शांडिली नामक ब्राह्मण की स्त्री पारा, सिरी के स्थावर नाम का पुत्र हुआ।

२. माहेन्द्र नाम के चौथे स्वर्ग में देव हुआ।

श्रावक तथा जैन-मुनि

३. जिस प्रकार काठ की संगति से लोहा भी तिर जाता है, उसी प्रकार धर्मात्माओं की संगति से पापी तक का भी कल्याण हो जाता है। अब की वार माहेन्द्र स्वर्ग में धर्मात्मा लोगों की संगति मिली जिसके कारण मैं विषय-भोगों में न फँस कर मन्द-कषाय रहा। स्वर्ग के सुखों को पुण्य तथा नरक, निगोद को पाप कर्मों का फल जान कर, माला मुरझाने पर भी मैं दुखी न हुआ, तो इसका फल यह हुआ कि स्वर्ग की आयु समाप्त होने पर मैं मगध देश की राजधानी राजगृह में विश्वभूति नाम के राजा की जैनी नाम की रानी से विश्वनन्दी नाम का बड़ा पराक्रमी राजकुमार हुआ। राजा के विशाखभूति नाम का एक छोटा भाई था, जिसकी लक्ष्मण नाम की रानी और विशाखनन्द नाम का पुत्र था। यह सारा परिवार जैनी था। विश्वनन्दी वड़ा वलवान और धर्मात्मा था, वह श्रावक व्रत वड़ी श्रद्धा से पालता था।

संसार को असार जान कर अपने आत्मिक कल्याण के लिये विश्वभूति ने संसार त्यागने की ठान ली। उसके राज्य का अधिकारी तो उसका पुत्र विश्वनन्दी ही था, परन्तु उसको वच्चा जान कर अपना राज्य छोटे भाई विश्वभूति के सुपुर्द करके अपने पुत्र विश्वनन्दी को युवराज बना दिया और स्वयं श्रीवर नाम के मुनि से जिन दीक्षा लेकर जैन-साधु हो गया।

युवराज विश्वनन्दी के वागीचे पर विशाखनन्दी ने अपना अधिकार जमा लिया। समझाने से न माना और लड़ने को तैयार हो गया तो विश्वनन्दी विशाखनन्दी पर झपटा। विशाखनन्दी भय से भागकर एक पेड़ पर चढ़ गया। विश्वनन्दी ने एक ही झटके में उस वृक्ष को जड़ से उखाड़ दिया। विशाखनन्दी भाग कर पत्थर के एक खम्भे पर चढ़ गया, परन्तु विश्वनन्दी ने अपनी कलाई की एक ही चोटसेउस पत्थर के खम्भे को भी तोड़ दिया। विशाखनन्दी अपनी जान वचाने के लिये वुरी तरह भागा। उसकी ऐसी भयभीत दशा को देखकर विश्वनन्दी को वैराग्य आ गया और श्री संभूत नाम के मुनि से दीक्षा लेकर जैन-मुनि हो गया। इस घटना से विशाखभूति को भी वहुत पश्चात्ताप हुआ कि पुत्र के मोह में फँस कर साधु-स्वभाव विश्वनन्दी का वागीचा विशाखनन्दी को दे दिया, सच तो यह है कि यह समस्त राज्य ही उसका है। जव विश्वनन्दी ने ही भरी जवानी में संसार त्याग दिया तो मुझ वृद्ध को राज्य करना कैसे उचित है? वह भी जैन-साधु हो गया।

विश्वभूति भूपति अति नेह, अनुज विशाखभूति गुण गेह। लक्ष्मणाख्य नारी को नाम, लक्षण भूषित सुन्दर वा
तिनकै पुत्र कुवुद्धी भयौ, नाम विशाखानंदि तिहि दयो। ते सब पूरब पुण्य सँजोग, करैं सुक्ख मनवांछित भोग ॥८॥
मेघ पटलको देख विनाश, विश्वभूति नृप भयौ उदास। यह विव जोवन आयु शरीर, विनश जाय ज्यों वादर नीर ॥९॥
जौ लौं जौवन वल यौ आव, है शरीर में इनको चाव। तो लौं अनघ तपस्या करौं, मोख तनी सामग्री धरौं ॥१०॥
इत्यादिक चिंतै हिय धार, तव संवेग दुगुण विस्तार। सब भव भोग लक्ष्मी तजी, दीक्षा नृपने हिरदैं भजी ॥११॥
राज्य भार तव अनुजहि दियौ, पद युवराज पुत्र थापियौ। श्रीधर मुनिवर प्रणमैं जाय, दुविध परिग्रह दियो छुड़ाइ ॥१२॥
मन वच काया संजम धार, सो देवनको दुर्लभ सार। राय तीनसो संग सुजान, छोड़ी राग दोष दुख खान ॥१३॥
हन्यौ मोह इंद्रिय अति घोर, ध्यान खडग संजयके जोर। उग्र उग्र तप कीनों सार, धातै कर्म घातिया चार ॥१४॥
अव यह कथा रही इह ठौर, भाषौं भई जथारथ और। विश्वनंदि नृप वाग विशाल, सोहै सुन्दर परम विशाल ॥१५॥
हेम कोट लस गिरदाकार, चारों दिस दरवाजे चार। वनैं कंगूरे तुंग सु ठार, चित्र विचित्र चितेउर धार ॥१६॥
तामें सघनें वृक्ष अपार, फल अर फूल सहित सुखकार। खारक दाख जायफर चार, नारंगी पूंगी कचनार ॥१७॥
लोंग लायची इमली आम, फले नारियल शोभा धाम। नींबू सदफर वेल खजूर, महुआ दाडिम कैंथ वमूर ॥१८॥
नीम करोंदा तेंदू जूत, वर पीपर ऊमर जु अतूत। जामुन वेर गटाइनि तवा, वीजौं तिस सगोना धवा ॥१९॥
चन्दन पाडर खूजों वेलु, कुन्द गुलाव मालति मेलु। कमल कुमुदिनी कनयर जूही, केवरो केतु चम्पक जूही ॥२०॥
इन आदिक तरु नाना भांत, सोहत हैं सव निज निज पात। एक दिनांत वनहि मंझार, विश्वनंदि मनहरण सुसार ॥२१॥
नारि सहित निज क्रीडा करै, लीला स्थिति वर सुख व्यौपरे। अति मनोज्ञ ताही उद्यान, नंद विशाख गयो अनजान ॥२२॥
ता वन देख मोह वहु लह्यौ, आइ पिता सों इहि विधि लह्यौ। विश्वनंदि आरण्य प्रधान, सो दीजै हमको गुण भान ॥२३॥
अरु जो तुम मोहि वन नहीं देउ, तो अव हमरो मुजरा लेउ। हौं तो जाऊं विदेशै सही, निश्चै कही वात मैं यही ॥२४॥
ता वच सुन नृप मोहित होइ, वोल्यो कपट वचन उर लोइ। वाको मैं उपाय अव करों, तुम मनमें अव धीरज धरो ॥२५॥

वेदांग इत्यादि मिथ्या शास्त्रोंका पंडित हुआ। उसी प्रकार पूर्व के मिथ्या संस्कारकेवश उसने पारिव्राजक अर्थात् त्रिदण्डी दीक्षा ग्रहण की। उसने तप आदि भी किये। जिस कुतपके फलसे मृत्यु होनेपर वह माहेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ. उसकी आयु सात सागरकी हुई और वह थोड़ी सम्पदाका उपभोगी हुआ। उसी नगरमें विश्वभूति नामका एक राजा था. जिनकी नाम खोजन जैनी नामकी पत्नी थी। पुनः वह देव विश्वनन्दी नामका इनका पुत्र हुआ। वह बड़ा पुरुषार्थी और शुभ लक्षणोंवाला हुआ। राजाका एक विशाखभूति नामका छोटा भाई था। उसकी लक्ष्मणा नामकी पत्नी थी। उसके विशाखनन्द नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक समयकी घटना है राजा विश्वभूतिको शरद ऋतुके वादलोंको देखकर सहसा वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने विचार किया कि, कैसी आश्चर्यमयी वात है कि, ये वादल क्षण भरमें ही विलीन हो गये. इसी प्रकार मेरी आयु और यौवन आदि सारी सम्पदायें नष्ट हो जायँगी, इसमें सन्देह नहीं। अतएव जव तक शरीर क्षीण हो. उसके पूर्व ही मोक्ष प्राप्तिके लिये वरावर तप करना चाहिए। ऐसा विचारकर वह राजा सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त होकर दीक्षा धारण करनेके लिये प्रस्तुत हो गया।

एक दिन उसने अपना राज्य छोटे भाईको सौंपकर अपने पुत्रको युवराजपद दे दिया। इसके पश्चात् वह राजा अपने गृहसे निकलकर विश्ववंदनीय श्रीधर मुनिके समीप गया और उनसे दीक्षा ले ली। उसने बाह्य-अभ्यन्तरके समस्त परिग्रहोंका परित्यागकर तीन सौ राजाओंके साथ मन वचन कायकी शुद्धतासे मुनीश्वर पद प्राप्त किया। उस संयमीने ध्यानरूपी तलवारसे नाम और मोहको परास्त कर कर्मनाशके उद्देश्यसे तप आरम्भ किया।

विशाखनन्दी मकान की छत पर बैठा हुआ था कि विश्वनन्दी जिनका शरीर कठिन तपस्या के कारण निर्बल होगया था, आहार के निमित्त नगरी में आये तो असाता कर्म के उदय से एक गउ भागती हुई दूसरी ओरसे आई। जिसने मुनि महाराज को धक्का लगा और वह भूमि पर गिर पड़े। विशाखनन्दी ने यह देख कर हंसते हुए कहा कि हाथ से वृक्ष उखाड़ने और कलाई की एक चोट से वज्रमयी स्तम्भ को तोड़नेवाला वह तुम्हारा वल आज कहां है ? आहार में अन्तराय जान कर मुनिराज तो विना आहार किये शान्त स्वभाव जङ्गल में वापिस जाकर फिर ध्यान में लीन होगये, परन्तु विशाखनन्दी मुनिराज की निन्दा करने के पाप फल से सातवें नरक गया, जहां नरकोंकी और कठोर नारकीयों ने उसे गर्म घी में पकवान के समान पकाया, कोल्हू में उस गन्ने के समान पीड़ा और आरे से उसके जीवित शरीर को चीरा, मुद्गरों से पीटा। क्यों इसी प्रकार उसको नरकों की वेदनाएँ सहनी पड़ी।

कर परपंच बुलायौ राइ, विश्वनंदि आयौ तिहि ठाइ। अहो भद्र तुम ऐसी लहो, राज्यभार यह सव अव गहो ।।२६।।
हम ऊपर रिपु आयो सही, दई उजार देश पुर मही। जाउं तिन्हें जीतनको आज, परजा सुख प्रापतिके काज ।।२७।।
तव वोल्यो सो राजकुमार, तुम तिष्ठो गृह सुख अधिकार। हमको आज्ञा देउ तुरंत, अरिदल जीत करौं भसमन्त ।।२८।।
विश्वनंदि जानै नहि भेद, कुटिलरूप तिन कीनो खेद। वहु परकार प्रार्थना करी, लै आदेश चलो तिहि घरी ।।२९।।
सेना जुत तिन दियो पयान, जीतौ जाय शत्रुको थान। इहि अवसर ता वनहि मंझार, गयौ विशाखानंदि गंवार ।।३०।।
मोहित भयो तहां सो जाय, कर्यौ उपद्रव अति दुखदाय। यह विरतंत देख वनपाल, जानौ सफल पापको जाल ।।३१।।
देखो मोह धिगत संसार, अशुभ अर्थकर्ता अविचार। विश्वनन्दि राजा वर वीर, हिरदैमें हैं साहस धीर ।।३२।।
हम देखत रिपु ऊपर वाहि, याकैं पिता पठायौ ताहि। इन कौटिलता कर वन लियौ, राजसनेह नाश सो कियौ ।।३३।।
मोह जगतमें निन्द्य अपार, करी तास इन अघ करतार। मोह नरक दुःख व्यौपरै, यह भव परभव दुरगति धरै ।।३४।।
तिहि अवसर अरिजीत महान, आयो विश्वनन्दि गुणभान। सुनके सटक्यौ सव व्यौहार, गयों रोष धर वनहि मंझार ।।३५।।
ताके भय सौं नन्दि विशाख, अति आतुर डरपौ सुख आख। वृक्ष कपित्थ मूल सो गह्यो, मध्य, भाग ताके छिप रह्यो ।।३६।।
विश्वनन्दि अद्भुत वल होइ, लियौ उखाड़ वृक्ष तिन सोइ। शत्रु देख कै अति भय दियौ, हनवे को तिन उद्यम कियौ ।।३७।।
तहं तैं कढ़ि भाग्यौ पुनि सोइ, शिला स्तम्भ तर छिप्यौ सोइ। पीछौ गह धायौ सुकुमार, कहँ जैहे अन्यायि गमार ।।३८।।
मुष्टिप्रहार वली जव कर्यौं,शिलास्तम्भ ता छिन गिर पर्यौं। ताके भये तुरत शत खण्ड, सवल पुरुषकौ दीनें दण्ड ।।३९।।
तह तै भग्यौ विशाखानन्द, देख न रक्ष कषाय निमन्द। करुणा कर छोड़यौ तव सौइ, मन में सुमरि पंचपद लोइ ।।४०।।
देखो भोग धिगत संसार, कातर जीव कदर्य अपार। दण्ड दियौ मैं वांधव काज, वंधादिक कीनी अघ साज ।।४१।।

किसी सुखद ऋतुके समय राजा विश्वनन्दी अपनी रानियोंके साथ क्रीड़ा कर रहा था। इतनेमें ही विशाखनन्द वहां पहुंच गया। उसने लौटकर अपने पितासे विश्वनन्दीके वगीचेकी वात कह सुनाई। उसने यह भी कहा कि यदि विश्वनन्दीका वगीचा मुझे नहीं मिला, तो मैं अनायास ही घरसे निकल जाऊंगा। पुत्रकी ऐसी वात सुनकर राजाने कहा—वेटा, धैर्य रख, मैं शीघ्र ही उस वगीचेको तुझे दिलवानेका प्रयत्न करूंगा। एक दिन उस राजाने विश्वनन्दीको बुलाकर कहा—यह राज्य-भार मैं तुम्हें सौंपता हूं। आजसे मैं अन्यान्य राजाओं द्वारा किये गये उपद्रवोंको शान्त करनेके प्रयत्नमें लगूंगा। इसके लिये मुझे उनपर आक्रमण करना पड़ेगा। किन्तु विश्वनन्दी कुमारने उत्तर दिया—पूज्य, तुम शान्ति पूर्वक यहां निवास करो मैं स्वयं उन उपद्रवियोंको परास्त करूंगा। इस प्रकार राजाकी आज्ञा मानकर विश्वनन्दी कुमार अपनी पूरी सेना लेकर चल पड़ा। इधर राजाने अपने पुत्रको विश्वनन्दीका वगीचा सौंप दिया। आचार्यका कहना है कि, ऐसे मोहको धिक्कार है; जिसके लिए मनुष्यको अशुभसे अशुभ कार्य करने पड़ते हैं। पर जव वगीचेके रक्षक द्वारा भेजे गये दूतसे यह समाचार विश्वनन्दीको मिला तो उसे वड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा—आश्चर्य है, मेरे चाचाने मुझे दूसरी ओर भेजकर मेरे प्रति विश्वासघात किया है। चचाका यह कार्य प्रेम और सद्भावमें वाधा पहुंचाने वाला है।

वस्तुतः वह कौन-सा बुरा कार्य है, जिसे मोही पुरुष नहीं करते। इस प्रकार अपने चचाके प्रति विश्वनन्दीकी दुर्भावना वढ़ती ही गयी। वह विशाखनन्दको मारनेके लिए प्रस्तुत हो गया और क्रोध से तमतमाता हुआ अपने वगीचेकी ओर आया। जव यह समाचार विशाखनन्दनको मिला तो वह अत्यन्त भयभीत होकर वृक्षोंकी आड़में छिप गया। किन्तु वहां भी उसके प्राण संकटमें पड़े। विश्वनन्दी एक वृक्षको उखाड़कर उसे मारनेके लिये दौड़ा। पश्चात् वह विशाखनन्द एक वड़े खम्भेकी आड़ में छिपा। आचार्यगण कहते हैं कि, क्या अन्याय करनेवाले कभी विजयी हो सकते है। उस वलवान विश्वनन्दीने उस स्तम्भको मुष्टिकाघातसे चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।

पर थोड़ी देर वाद विश्वनन्दीने जव पराजित विशाखनन्दको दीनकी भांति देखा, तव उसके मनमें दयाका भाव उदय हो आया। उसने सोचा—धिक्कार है, इस जीवनको, जिसमें अपने भोगोंके लिये दीन भाईकी भी हत्या करने के लिये मनुष्य तैयार
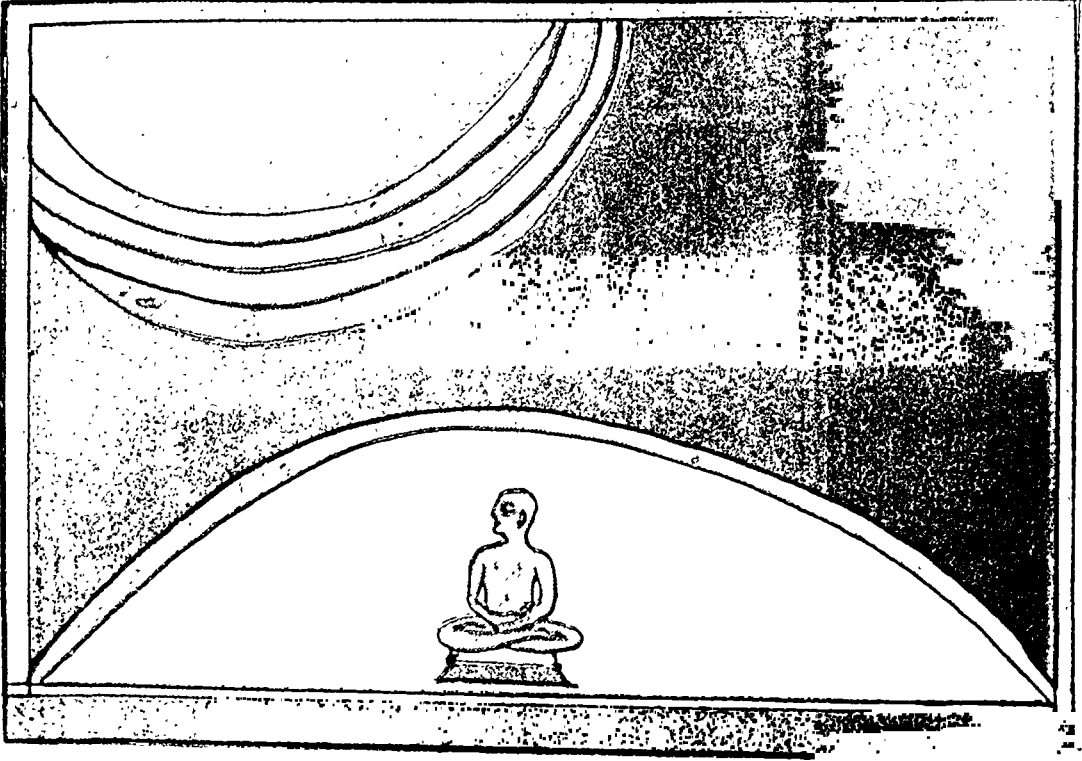
पृथ्वी, जल, अरु, अग्निजु, वायु, नभ ये पंच तत्त्व थिरलायु। जो मुनि ध्यान आराधन धरै, पद्मासन निश्चल चित धरै।

विश्वनंदि शत्रु से युध्द करके जीतकर घर को वापिस जाते हुए ।
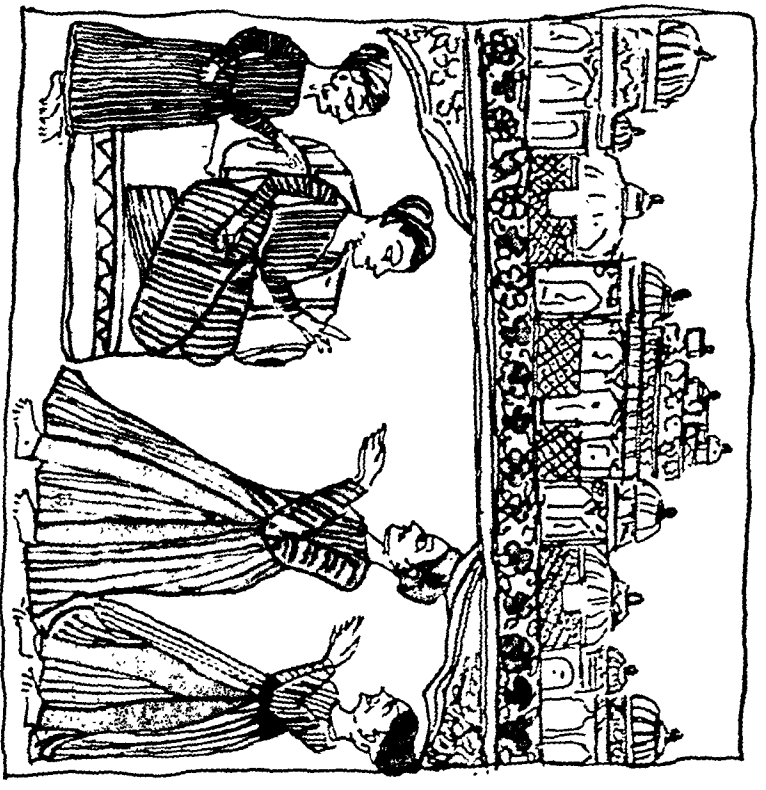
विशाखनंदि ने अपने पिता से विश्वनंदि का बगीचा मांग लिया राजा ने उसकी बात सुनकर कपट पूर्वक विश्वनंदि को बुलाया ।
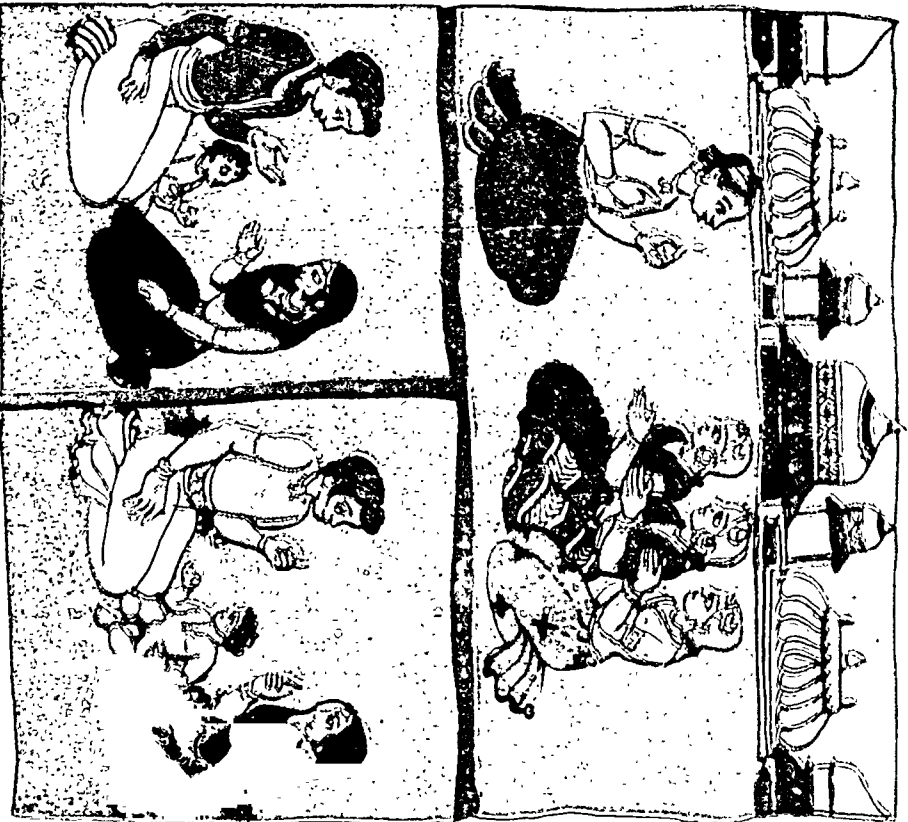
१) माहेद्र स्वर्ग में थावरक्ष जीव का उत्पन्न होना।
२) राजग्रह नगरी में विश्वभूति राजा अपनी जैनी रानी एव पुत्र विशाखनंद के साथ।
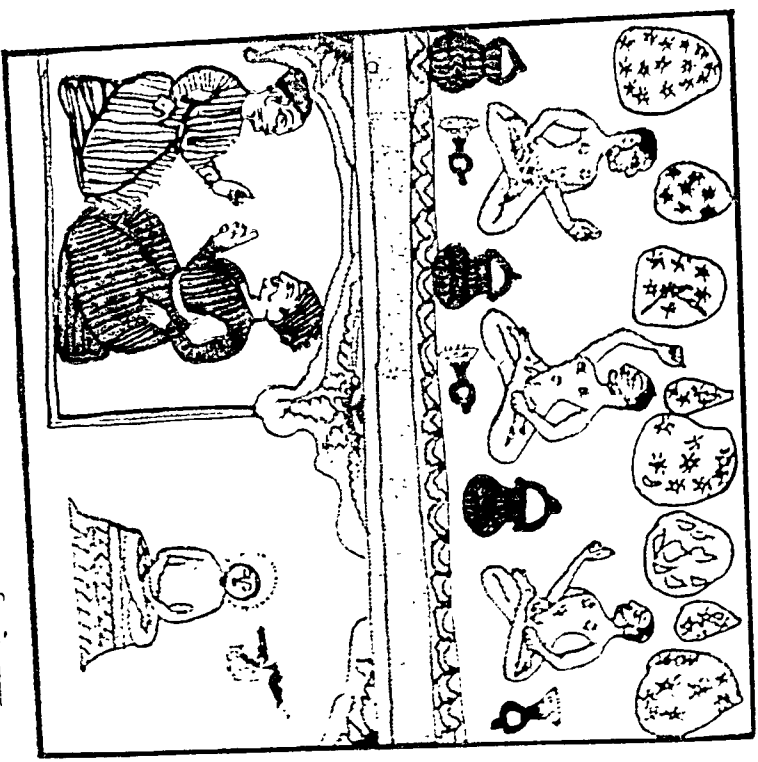
१) राजा विश्वभूति का श्रीधर नामक मुनि के पास जाकर वैराग्य धारण करना।
२) राजा विश्वनंदि द्वारा राजा विशाखानंदि को राज्य सौंपना एव राजा को केवल ज्ञान होना।
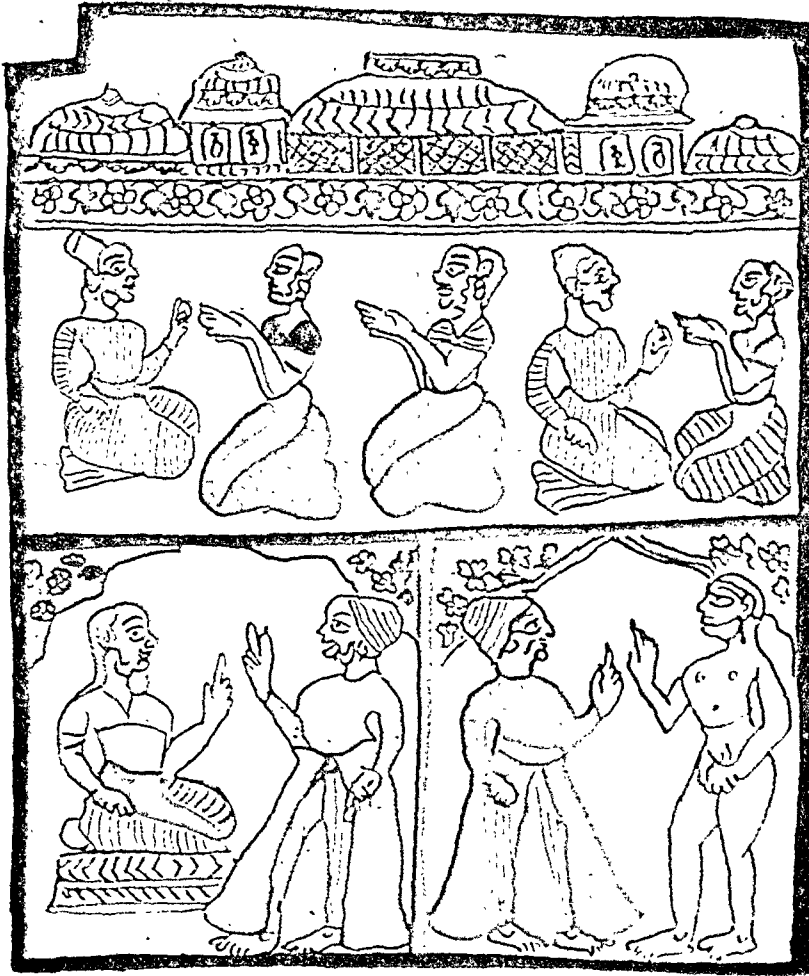
विशाख भूति को वैराग्य की भावना उत्पन्न हो गई। उसने मुनि महाराज के पास जा कर दीक्षा ग्रहण करली, उग्र तप के द्वारा तप करके समाधि पूर्वक मरण करके महाशुक्र स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और वहां की देवियों के साथ क्रीड़ा करते हुए

विविध भोग भुगतें जय जीव, दुःख प्राप्त हित होइ सदीव। तहू न तृप्ति लही जो सोइ, कष्ट साध्य अब तिनको होइ ॥४२॥
नारी भोग मथन उत्पत्त, मान जाय अरु होय विपत्त। संपूरण सुख मुक्ति प्रधान, ताको इछै परम सुजान ॥४३॥
यह चिंतत उपजौ वैराग, सुतको दीनों राज्य सुहाग। छोड़ी लक्ष्मी अर्थ भँडार, गुरुके निकट गये सविचार ॥४४॥
मुनि के चरण कमल को नये, दुविध परिग्रह छोड़त भये। दीक्षा लही महाव्रत धरो, विश्वनन्दि मुनि तप आदरो ॥४५॥

दोहा

रही कथा इस ठौर यह, नन्द गयौ शठ गेह। सकल वृतान्त पिता सुनौ, तब उर चिन्त करेह ॥४६॥

चौपाई

वड़े पुरुष अपकीरति करें, ऊँचे कुलको नीचौ धरें। जे उपकारी नर परवीन, ते जगपूज्य पुरुष गुण लीन ॥४७॥
विशाखभूति वह चिंतत भयौ, पश्चात्ताप निरुत्तर लयो। वहु प्रकार निन्द्यौ संसार, तब संवेग ऊपज्यौ सार ॥४८॥
भव तन भोग लक्ष्मी आदि, दुविध परिग्रह कीनो आदि। मुनिके निकट गयो तिहि घरी, मन वच काय सु दीक्षा धरी ॥४९॥
पापरहित तप कीनो घोर, काल चिरंतन कर्मनि जोर। अपनी शक्ति परीषह सही, घर संन्यास मरण तब लही ॥५०॥
ताके फल उपज्यो सो देव, महाशुक्र वसु ऋद्धि समेत। देविन सहित जु क्रीड़ाकरै, धर्मवन्त सुख सौं व्यौपरै ॥५१॥
विश्वनंदि तपकर चिरकाल, विहरै देश ग्राम वन जाल। पाख मासमें लैंहि अहार, भई क्षीण मुनि देह अपार ॥५२॥
आए वनतें चर्या हेत, इर्यापथ शोधत पग देत। शांतचित्त थिर चित अविकार, पहुंचे मुनि मथुरापुर सार ॥५३॥
तिहि अवसर आयौ ता गाम, विशाखनंदि भूपति दुखधाम। पथ समीप वेश्यागृह एक, तहँ ठाडो शठ रहित विवेक ॥५४॥
ता पथ आयौ श्री मुनिराय, मद मत्सर दोनों छुडकाय। गो प्रसूत मारो तह भृङ्ग, दुःखल मुनिके लाग्यो अंग ॥५५॥
मुनि महान अति धीरज धरौ, सही परिषह ध्यान न डरौ। दुरव्यसनी वह नन्द विशाख, देख जती ऊपर रिस भाख ॥५६॥
क्षीण पराक्रम मुनी शरीर, सहियो तिनको फेर अधीर। बोलो दुर्वच दायक पाप, दुख करता अर पातक पाप ॥५७॥
शिला स्तम्भ इन कीनो भंग, इतनौ हतो पराक्रम अंग। पूरव दर्प कहां सो गयो, जानी जाय न कैसो भयो ॥५८॥

हो जाता है। यदि इसे अनेक भोगोंसे भी तृप्ति नहीं मिली, तो भला इस क्षुद्र भोगके लिये अपने भाईका वध करनेसे क्या लाभ? ये भोग मान-भंग करने वाले होते हैं। अतः स्वाभिमानी पुरुषको इनकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। ऐसा विचारकर विश्व-नन्दीने उस वनको विशाखनन्दको दे दिया। उसे एक प्रकारसे वैराग्य हो गया था। वह सारी राज्यसम्पदाको त्यागकर श्री संभूत गुरुके समीप गया। वहांपर उसने मुनिके चरण-कमलोंको नमस्कारकर समस्त परिग्रहोंका परित्याग किया एवं दीक्षा धारण कर ली। यहां विचारणीय है कि, किन्हीं स्थलोंपर नीच पुरुषों द्वारा किया गया अपकार भी सज्जनोंका महान उपकारी हो जाता है।

कुछ समय के वाद विशाखभूति राजाको भी अपने दुष्कृत्योंपर महान पश्चात्ताप हुआ। वह सांसारिक भोगोंसे उदास हो गया। उसने भी मन, वचन, कायसे परिग्रहोंका परित्यागकर जिन-दीक्षा धारण कर ली। वह निष्पाप होकर कठोर तप करनेमें संलग्न हो गया। उसने अपनी शक्तिके अनुसार वहुत समय तक शुद्ध आचरण करते हुए, मृत्युके समय संन्यास धारण किया। जिसके परिणाम स्वरूप वह महाशुक्र नामके स्वर्गमें विशाखभूति नामक महान ऋद्धिका धारक देव हुआ।

विश्वनन्दी भी मुनि अवस्थामें अनेक ग्राम वनादिकोंका भ्रमण करने लगे। पक्ष मास आदिके अनशनोंसे उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो चुका था। उनके ओठ-मुंह आदि अङ्ग सूख गये थे। ऐसी अवस्थावाले मुनि विश्वनन्दीने एक दिन ईर्यापथ दृष्टिसे मथुरा नगरमें प्रवेश किया। इसी समय वह विशाखनन्द भी बुरे व्यसनोंके सेवनसे राज्य-भ्रष्ट हो किसीका दूत बनकर उसी नगरीमें आया उसका एक वेश्यासे सम्पर्क हो गया। एक दिन वह उसी वेश्याकी हवेली पर बैठा हुआ था। नीचेसे विश्व-नन्दी मुनि जा रहे थे। एकाएक, एक वछड़ेने अपनी सींगसे उन्हें धक्का दे दिया, जिससे वे जमीनपर गिर पड़े। उन्हें गिरते हुए देखकर विशाखनन्द हंसने लगा। उसने बड़े ही कठोर शब्दोंमें कहा—मुनि! तेरा पूर्वका पराक्रम और बल कहां चला गया। आज तो तू शक्तिहीन दुर्वल शरीरवाला मुर्देकी भांति दिखाई देता है।

सौ हम देखत दुर्वल भये, शक्ति रहित हिरदे अव ठये । इहि विधि वहु दुरवच सुन सोइ, कोप्यौ मुनि वहु आतुर होइ ॥५९॥
रक्त वर्ण तव कीनैं अक्ष, दयावंत हिरदैं परतच्छ । अरे दुष्ट ! मो तप माहत्त, हास्य करी तुमने आसत्त ॥६०॥
पाहे तूं कीनीं है जास, कटुक मूल तें कीनीं नास । यहीं तपस्याके परभाव, सव देखत छेदौं तुझ काय ॥६१॥
यही विधि मुनि वांधि निदान, फिर निज भावनकौ डर आन । निदान वन्ध वुध निन्दत सोग, यातैं सतपुरुषन नहि जोग ॥६२॥
धर संन्यास करी मन धीर, तपसौं छोड़े प्राण शरीर । महा[1] शुक्र कलप सुर ठयौ, तपके फलसौं प्रापत भयौ ॥६३॥
जहां विशाखभूति मुनि देव, दोई भये एक थानेव । षोडश सागर आयु प्रमान, मानै देव वहुत जिहि आन ॥६४॥
दिव्य देह तसु दीप्ति अपार, सप्त धातु वर्जित अविकार । विमान वैठकर वन्दन करैं, मेरु आदि नन्दीश्वर परैं ॥६५॥
श्री जिनेश पूजैं मन लाइ, पंचकल्याणक रहि अति साइ । गिरि नद नदी सरोवर मांहि, क्रीडा करैं चित्त हरसांहि ॥६६॥

दोहा

सहजाम्वर भूषण सहित, ऋद्धि विक्रयावन्त । पूर्व उपार्जित पुण्यफल, शान्ति कान्ति शोभन्त ॥ ६७ ॥
विविध भोग ते भोगवे, देविन सहित सुजान । सुखसागर के मध्य सुर, क्रीड़ा करत महान् ॥ ६८ ॥

चौपाई

जम्बूद्वीप भरत या खण्ड, देश सुरम्य वसै विन दण्ड । पौदनपुर नगरी शुभ वसै, तहँको भूप प्रजापति लसै ॥६९॥
रानी जयावती गुणरूप, विशाखभूति सुर चयौ अनूप । तिनके पुत्र ऊपज्यौ आय, विजयकुमार[2] नाम सो पाय ॥७०॥

विशाखनन्दके ऐसे वचन सुनकर मुनिको क्रोध हो आया । उन्होंने लाल नेत्रकर अन्तरंगमें ही कहा—रे दुष्ट ! मेरे तपके प्रभावसे तुझे अवश्य ही इस कटु हंसीका फल मिलेगा । यही नहीं, तेरे मूलका ही नाश निश्चित है । इस प्रकार उसके विनाश करने रूप वुद्धिमानों द्वारा निन्दा किया गया, ऐसा निदान बंध करके मुनिने समाधि मरण द्वारा प्राण त्याग किया । इस तपके प्रभावसे दशवें स्वर्गमें उसी स्थानपर वह देव हुआ, जहां विशाखभूति देव हुआ था । यहां उसे सोलह सागरकी आयु प्राप्त हुई । उन दोनों देवोंने उत्तम सप्त धातु रहित शरीरोंको धारण किया । वे विमानोंमें वैठकर सुमेरु पर्वत तथा नन्दीश्वरादि द्वीपोंमें जिनेन्द्रदेवकी भक्तिभावसे पूजा करते थे तथा भगवानके गर्भ कल्याणकमें भी जाते थे । अपने पूर्वाजित तपके प्रभावसे वे अपनी देवियोंके साथ सुख पूर्वक रहने लगे ।

इसी जम्वु द्वीप के सुरम्य देश में पोदनपुर नाम का एक विशाल नगर है । वहाँ के प्रजा पालक राजा का नाम प्रजापति था । उनकी जयावती नाम की रानी थी । उन दोनों के घर विशाखभूति राजा का जीव स्वर्ग से चयकर विजय नाम का वलभद्र हुआ और उसी राजा की मृगावती रानी के गर्भ से विश्वनन्दी का जीव त्रिपृष्ठ नाम का महा वलवान नारायण हुआ । वे दोनों भाई चन्द्रमा के वर्ण की भांति शुभ्र कान्ति वाले हुए । वे शास्त्रज्ञ, अनेक कलाओं में निपुण न्याय मार्ग में लीन तथा भूमिगोचरी एवं विद्याधर, देवों कर पूजनीय हुए । उनकी अवस्था क्रम-क्रम से वढ़ने लगी । सूर्य और चन्द्रमा के सदृश वे दोनों भाई प्रतिभाशाली हुए ।

१. महामुनि विश्वनन्दी शान्तप्रणाम आयु समाप्त करके तप के प्रभाव से महाशुक्र नाम के दसवें स्वर्ग में देव हुये । विशाखभूति भी तप के प्रताप से उसी स्वर्ग में देव हुये थे । यह दोनों आपस में प्रेम से स्वर्गों के महासुख भोगते थे ।

२. स्वर्ग के महा सुख भोग कर विशाखभूति का जीव इसी भारत क्षेत्र में सुरम्य देश के पोदनपुर नगर के प्रजापति नाम के राजा की जयावती नाम की रानी से विजय नाम का प्रथम वलभद्र हुआ और मैं विश्वनन्दी का जीव उसी राजा की मृगावती नाम की रानी से त्रिपृष्ट नाम का पहला नारायण हुआ । हम दोनों वड़े वलवान् थे । पिछले जन्म के संस्कार के कारण हम दोनों का आपस में वड़ा प्रेम था ।

विश्वनन्द मुनिराज महाशुक्र स्वर्ग में उत्पन्न भये जहां पर देवियों के
साथ नाना प्रकार के सुखों का भोग करते भये ।
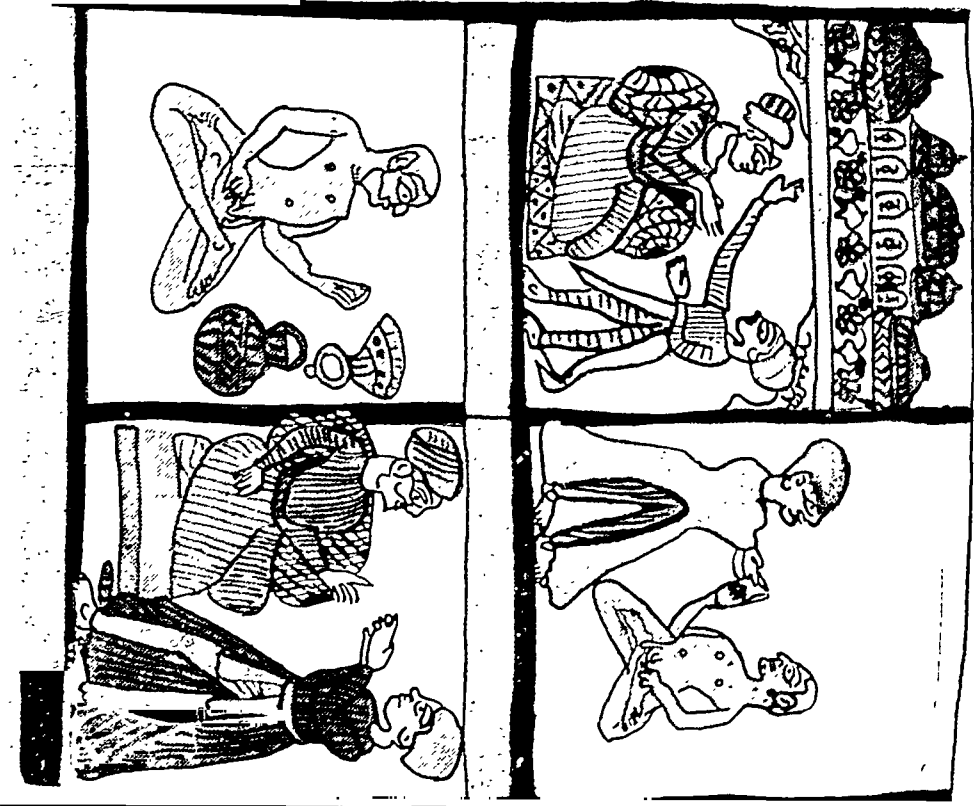
ऊपर : विश्वनंद ने अपने पुत्र को राज्य देकर गुरु के पास दीक्षा की आज्ञा मांगी।

नीचे : तपश्चरण से क्षीण देह वाले विश्वनंद मुनि।

विशाखानंदि जाकर पत्थर की शिला के नीचे छिप गया। उसे भी विश्वनंदि ने मुष्टि प्रहार से तोड़ दिया।
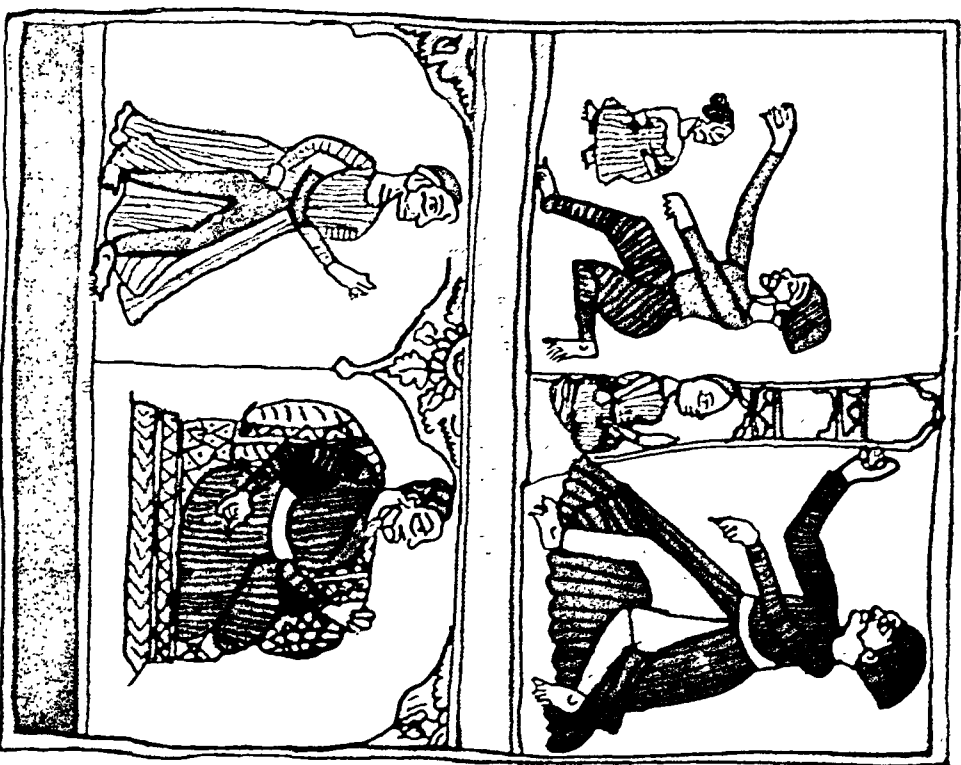
अलकापुरी के राजा मयूरग्रीव और रानी नीलयशा के घर विशाखनंदि
के जीव ने जन्म लिया और माता-पिता ने
अश्वग्रीव नाम रखा ।
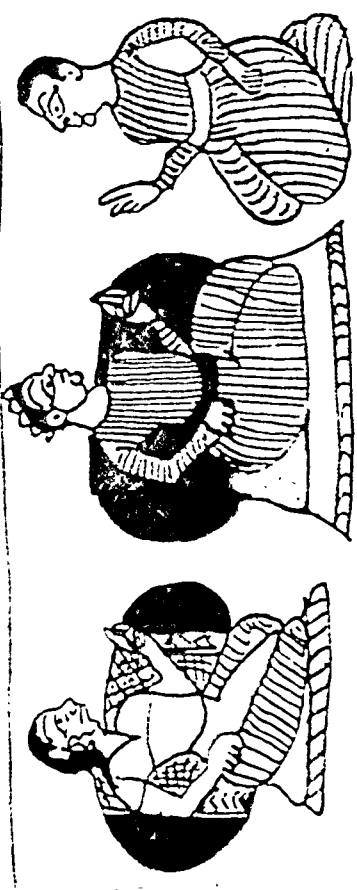
१ :—रत्नपुर का राजा ज्वलनजटी अपनी रानी के साथ ।

२ :—चंद्रकीर्ति राजा अपनी रानी सुभद्रा तथा पुत्र अर्ककीर्ति के साथ ।

(१) राजा ज्वलनजटी दूत का उत्तर सुनकर प्रसन्नता से पुत्र पुत्री को विदा करते हुए।

(२) स्वय प्रभा ने अपने भाई के साथ पोदन पुर को प्रस्थान किया।

रथनू पुर नगरी में ज्वलनजटी राजा और विजया पुर नगरी में
चन्द्रकीर्ति विद्याधर की स्त्री सुभद्रा और पुत्री मदेना के साथ ।

विजयकुमार ने अपने पुत्र को राज्य देकर मुनि दीक्षा धारण की और
तपश्चरण करके परमपद को प्राप्त भये

मृगावती दूजी तिय आन, विश्वनन्दि तिनके उर आन। उपजै पुत्र त्रिपृष्टकुमार, महाबली अरिदल क्षय कार ॥३१॥
चन्द्रकान्ति तन विजयकुमार, बली त्रिपृष्ट नील वपु धार। होऊ न्यायमार्ग पर वीन, अधिक प्रताप कला सो लीन ॥३२॥
चरणकमल सेवैं बहुभूप, भूचर खेचर असुर अनूप। महा विभव संपति सुख थान, दिव्याभरण लहैं गुणभान ॥३३॥
क्रमसों जोवन प्रापत भये, लक्ष्मीगृह क्रीडा अति ठये। पूरव पुण्यतनों फल सोय, भोग करैं मनवांछित लोय ॥३४॥
दान शील गुण सोहैं दोय, चन्द्र सूर्यकी पटतर होय। बल नारायण जानो तास, तीन खण्ड अधिपति परकास ॥३५॥
विजयारधकी उत्तर सैन, अलकापुरी नगर जन चैन। मयूरग्रीव तहँ राजा जान, रानी नीलयशा गुणवान ॥३६॥
विशाखनन्दि भ्रमि बहु परजाय, पुण्य फलै सुर दूजी पाय। तिनके सुत उपजौ चय देव, अश्वग्रीव[1] गुणमण्डित एव ॥३७॥
प्रतिकेशव अधचक्री सोय, तीन खण्ड भूपति पति होय। जगप्रसिद्ध लक्ष्मी है धाम, सोरा सहस सकल तस नाम ॥३८॥
ताही उत्तर श्रेणि प्रधान, रथनूपुर[2] नगरी शुभ थान। अति मनोज उपमा नहि तास, नमिवंशी भूपति परकास ॥३९॥
ज्वलनजटी है ताकौ नाम, चरमशरीरी मुक्त हि धाम। पुण्यवंत छविवंत अपार, विद्यावंत अनेक प्रकार ॥८०॥
वाही उत्तर श्रेणि मझार, तिलकापुर नगरी शुभ सार। चन्द्रकीर्ति खगपतिको नाम, प्रिया सुभद्रा तिसकै धाम ॥८१॥
तिनके वायुसवेगा सुता, सो है रूप कला संयुता। क्रमसों जीवन उपजो जवै, ज्वलनजटीको परणी तवै ॥८२॥
अर्ककीर्ति सुत तिनके भयो, अर्क समान प्रतापी जयो। दुहिता स्वयंप्रभा गुणलीन, रूपवन्त शुभ चित्र प्रवीन ॥८३॥

भरत क्षेत्र के अन्तर्गत ही विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अलका नाम की एक पुरी है। वहां का राजा मयूरग्रीव तथा रानी नीलंजना थी। दुष्ट विशाखानन्द का जीव संसार समुद्र में भटकता हुआ, कतिपय पुण्योदय से अश्वग्रीव नाम का उनका पुत्र हुआ। वह तीन खण्ड पृथ्वी का पति अर्द्धचक्री, देवों द्वारा सेव्य तथा प्रतापी सांसारिक भोगों में लीन हुआ। विजयार्द्ध के उत्तर में ही रथनूपुर देश में एक चक्रवाक नाम की अत्यन्त रमणीक पुरी थी। उस नगरी का राजा ज्वलनजटी था। वह पुण्योदय के फलस्वरूप बड़ा ही तेजस्वी और अनेक विद्याओं का जानकार हुआ।

---

१. विशाखनन्दी का जीव अनेक कुगतियों के दुःख भोगता हुआ विजयार्द्ध पर्वत के उत्तर में अलकापुरी के राजा मयूरग्रीव की रानी नीलंजना के अश्वग्रीव नाम का प्रतिनारायण हुआ। यह बड़ा दुष्ट था, इसी कारण इस की प्रजा इससे दुखी थी।

२. विजयार्द्ध के उत्तर में ही रथनपुर नाम के देश में एक चक्रवाक नाम की नगरी थी जिस का राजा ज्वलनजटी था, जिसकी रानी वायुवेगा थी जिसके स्वयंप्रभा नाम की पुत्री थी जिसके रूप को सुनकर अश्वग्रीव उससे विवाह करना चाहता था। परन्तु ज्वलनजटी ने अपनी राजकुमारी का विवाह त्रिपृष्ट कुमार से कर दिया। जब अश्वग्रीव ने सुना तो अपने चक्र-रत्न के घमण्ड पर ज्वलनजटी पर आक्रमण कर दिया। खबर मिलने पर त्रिपृष्ट कुमार और उसका भ्राता विजय उसकी सहायता को आ गए। पहले तो दूत भेज कर अश्वग्रीव को समझाया गया, परन्तु वह न माना। जिस पर देश रक्षा के कारण इनको भी युद्ध भूमि में आना पड़ा। वहां घमासान का युद्ध हुआ। अश्वग्रीव योद्धा था, उसके पास बड़ी भारी सेना थी। दूसरी ओर बेचारा ज्वलनजटी। शेर और बकरी का युद्ध था? कई बार ज्वलनजटी की सेना के पांव उखड़ गए। मगर त्रिपृष्ट दोनों हाथों में तलवार लेकर इस वीरता से लड़ा कि अश्वग्रीव के दांत खट्टे होगये और जोश में आकर उसने त्रिपृष्ट पर अपना चक्र चला दिया। पुण्योदय से वह चक्र त्रिपृष्ट कुमार की दाहिनी भुजा पर आ विराजमान हुआ और उसने वह चक्ररत्न अश्वग्रीव पर चला दिया जिस के कारण अश्वग्रीव प्राणरहित हो गया। उसकी फौज भाग गई, त्रिपृष्ट कुमार तीनों खण्ड का स्वामी नारायण हो गया।

अफयून का नशा, भङ्ग का नशा, शराब का नशा तो संसार बुरा जानता ही है, किन्तु दौलत तथा हकूमत का नशा इन सब से अधिक बुरा है। तीनों खण्ड का राज्य प्राप्त होने पर त्रिपृष्ट आपे से बाहर हो गया। गाना सुनने से उसको अधिक रुचि थी। उसने शय्यापाल को आज्ञा दे रखी थी कि जब तक वह जागता रहे गाना होता रहे और जब उसको नींद आ जावे गाना बन्द करवादे। शय्यापाल को भी गाने में आनन्द आने लगा। एक दिन की बात है कि त्रिपृष्ट सो गया परन्तु शय्यापाल गाने में इतना मग्न हो गया कि त्रिपृष्ट के सो जाने पर भी उसने गाना बन्द न करवाया। जब त्रिपृष्ट जागा तो उस समय तक गाना होते देख कर वह आग बबूला हो गया और उसने शय्यापाल के कानों में गर्म सीसा भरवा दिया। विषय भोग में फंसे रहने के कारण वह मर कर महातमप्रभा नाम के सातवें नरक में गया जहां उसने महादुःख उठाये कि जिन को सुन कर हृदय कांप उठता है।

एक दिना खगपति दरबार, आई ले गन्धोदक सार। जोवनवन्त पिता देखियो, मन चिन्ता वरको पेखियो ॥८४॥
नैमित्तिक पूछौ तिन जाय, विनय सहित शिर चरण लगाय। पुत्री भर्ता ह्व है कोय, कहिये मेरो संशय खोय ॥८५॥
नृप वच सुन तिन उत्तर दियो, राजा समाधान कर हियो। केशव प्रथम त्रिपृष्ट कुमार, तेरी सुता लहै भरतार ॥८६॥
विजयारधकी श्रेणी दोई, तुमको वैहै चक्री सोइ। नम हैं सब खगपति तुम पाय, नहीं अन्यथा यामें आय ॥८७॥
इहि प्रकार मुनिके वच सुनै, निहचौ कर नृप मन में गुनै। मुनि अमितेन्द्रतनै पद जान, राजा नम आयो निज थान ॥८८॥
अश्वग्रीव को डर मन भयो, यह करण्ड वन में नृप गयो। तहां जायकै लिखि शुभ लेख, दोऊ पक्ष सुनिर्मल देख ॥८९॥
दियो दूत को हर्ष बढ़ाय, कुल वृत्तान्त कह्यो समझाय। चलो दूत नहि लाई वार, पोदनपुर पहुंचो ततकार ॥९०॥
परजापति भूपति दरवार, सोहै मनो अमर गण भार। पुत्र सहित बैठ्यो नर ईश, नृप अनेक नावैं तिहि शीस ॥९१॥
दूत आइ तहँ कियो जुहार, पत्र दियो भूपति कर सार। पोदनाधिपिति पत्र जब लयो, माथौ नाय सुवांचत भयो ॥९२॥
हिनको कारज देखो सबै उमग्यो हृदय रायको तबै। आदर बहुत दूतका कियो, आसन सुभग बैठका दियो ॥९३॥
सबको पत्र सुनायो राय, लिख्यो यथाविधि हर्ष बढ़ाय। विजयारधकी उत्तर सैन, रथनूपुर नगरी शुभ चैन ॥९४॥
नमिके वंश किरण परकाश, ज्वलनजटि राजा गुण राश। विनयवन्त तस पुण्य प्रभाय, विद्याधर बहु सेवें पाय ॥९५॥
तुम पोदनपुर उदित सुभान, बाहुबली वंशी सुखदान। परजापति राजा अविकार, सुत त्रिपृष्ठ अरिदल-खयकार ॥९६॥
स्वयंप्रभा तिनि जोग कुवांरि, दई पिता अति प्रीति संवारि। यह प्रकार लेख तब सुन्यो, सबने मनो मानकर गुन्यो ॥९७॥

उसी पर्वत के अत्यन्त मनोहर द्युतिलक नाम के एक नगर में चन्द्राभ नाम का विद्याधरों का स्वामी था। उसकी प्यारी पत्नी का नाम सुभद्रा था। उन दोनों के वायुवेगा नाम की एक अत्यन्त रूपवती पुत्री उत्पन्न हुई। अवस्था प्राप्त होने पर वायुवेगा का विवाह ज्वलनजटी के साथ सम्पन्न हुआ। दोनों को सूर्य के समान तेजस्वी एक अर्ककीर्ति नाम का पुत्र और अत्यन्त शुभ परिणामों वाली स्वयंप्रभा नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। एक दिन की घटना है। वह विद्याधरों के स्वामी को अपनी कन्या को यौवन सम्पन्न तथा उसकी धार्मिक प्रवृत्ति देख कर उसके पूर्वभव को जानकारी प्राप्त करने की अभिलाषा हुई। उसने सम्भिन्न श्रोतृ नाम के एक निमित्त ज्ञानी को बुलाकर पूछा—कृपाकर यह तो बताइये कि इस पुत्री को कौन सा पुण्यवान पति प्राप्त होगा। राजा के प्रश्नोत्तर में निमित्त-ज्ञानी ने कहा—महाराज, आपकी पुत्री बड़ी भाग्यशालिनी है। यह अर्द्धचक्री नारायण (त्रिपृष्ट) की पटरानी होगी। वह अर्द्धचक्री नारायण तुझे विजयार्द्ध के दोनों ओर का राज्य दिलवाने में समर्थ होगा। इसमें किसी प्रकार का सन्देह करना उचित नहीं है। विजयार्द्ध का राज्य प्राप्त हो जाने पर तू विद्याधरों का स्वामी होगा। निमित्त ज्ञानी के श्रेष्ठ वचनों पर विश्वास कर, राजा ने इन्द्र नामक अपने मन्त्री को बुलाकर उसे पत्र लिखने का आदेश दिया। पत्र लिखा गया और वह लिखित पत्र लेकर मन्त्री ने स्वयं पोदनपुर को प्रस्थान किया। वह मन्त्री-दूत आकाश मार्ग होकर शीघ्र ही पुष्पकरम्यक वन में जा पहुंचा।

इस ओर त्रिपृष्ट ने भी किसी निमित्त ज्ञानी के द्वारा सारी घटनायें जान ली थीं। दूत के आगमन की बात भी उसे ज्ञात थी। वह बड़े हर्ष के साथ दूत की अगवानी करने के लिये आया। मंत्री दूत को उसी समय राजा प्रजापति के सामने लाया गया। दूत ने मस्तक नवा कर पोदनापुरेश्वर के समक्ष पत्र रख दिया और अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। पत्र के भीतर मुहर छाप थी, इसलिये उसे 'मुख्य कार्य सूचक' पत्र समझा गया। राजा ने पत्र पढ़ने की तत्काल आज्ञा दी। पत्र खोल कर पढ़ा गया। उसमें लिखा था :—

पवित्र बुद्धि, न्यायी महा चतुर नमिराजा के वंश में सूर्य के सदृश विद्याधरों का पति ज्वलनजटी रथनूपुर शहर से ऋषभदेव से उत्पन्न बाहुबलि वंशीय पोदनपुर के स्वामी महाराजा प्रजापति को स्नेह पूर्वक नमस्कार। कुशल के पश्चात सविनय निवेदन है कि, प्रजानाथ! हमारा तुम्हारा सम्बन्ध पूर्व पीढ़ियों से चला आ रहा है—केवल वैवाहिक सम्बन्ध ही नहीं है। अतएव मेरे पूज्य त्रिपृष्ट नारायण के साथ मेरी पुत्री स्वयं प्रभा लक्ष्मी की भाँति प्रेम विस्तारित करे अर्थात् मेरी पुत्री के साथ आपके पुत्र का विवाह हो, तो अत्युत्तम हो।

दोऊ पक्ष विशुद्ध महान, पूछत जोग कार्य नहि आन। है वड़भाग त्रिपृष्ठकुमार, स्वयंप्रभा मिल्यिो गुणभार ॥९८॥
शिर नवाइ तब बौलौ दूत, मो वच सुन भो नृप गुण जूत। पूर्ण वृतान्त कह्यो समझाय, अश्वग्रीव को भय दुखदाय ॥९९॥
सुनकै भूप महा परताप, एकमतै ह्वै दीनो ज्वाप। अश्वग्रीव को भय मत करो, अपने चितकी चिन्ता हरो ॥१००॥
वाकी आयु घटी जो होय, हमसों रार करें वहु सोय। या कह दूत विदा नृप कियो, दान मान बहु ताको दियो ॥१०१॥
चाल्यो तुरत न लाइवार, पहुंच्यो जाय राय दरवार। कारज सिद्ध सकल तिनि कह्यो, तब राजामन आनन्द लह्यो ॥१०२॥
अर्ककीर्ति पठ्यो जिन पूत, स्वयंप्रभा ले दल संजूत। हर्षवांन चाल्यो भूपाल, पोदनपुर पहुंच्यो तत्काल ॥१०३॥
विधि विवाह की कीनी जाय, प्रीति सहित दोनों खग राय। स्वयंप्रभा पटरानी भई, रूपकला गुण अनुपा ठई ॥१०४॥
सिंहवाहिनी विद्या सही, गरुणवाहिनी दूजी लही। देखो पुन्यतनों परभाय, विद्याधर घर ही दे जाय ॥१०५॥
अब विवाह की वार्ता सवै, अश्वग्रीव नृप सुनियो सवै। कोप्यो अति आतु ज्यों तोय, अग्नि ज्वाल तब उठ्यो सोय ॥१०६॥
वहु प्रकार वहु सेना संग, गज घोड़ रथ आदि पठंग। चक्र रतन आलंकृत सोई, आयो पोदनपुर अवलोइ ॥१०७॥
तिन आगमन सुनौ नरनाथ, चलौ त्रिपृष्ठ भ्रात ले साथ। हाथी आदिक और तुरंग, सेना साथ चलै चतुरंग ॥१०८॥
गये संग्रामभूति में दोय, भामि अर्धचक्री है सोय। ज्वलनजटी आयो तिहि ठाय, सेना सज अरिगण दुखदाय ॥१०९॥
आय राय वहु इनको मिलै, अश्वग्रीव के सन्मुख चलै। कटक दिखाव भयो दुहु ओर, लरन लगे जोधा वहु घोर ॥११०॥

दोहा

लरें सुभट दुहु ओर के, करें परस्पर घाव। ज्यों पतंग दीपक परें, देह नेक नहिं चाव ॥१११॥

करखा छन्द

जुरी दोउ सेना करें युद्ध ऐना, लरें, सुभटसों सुभट रण में प्रचारें।
लरें व्याल सों व्याल रथवान रथसौं, तहां कुंतसौं कुंत किरपान मारें॥
जुरें जोर जाधा मुरै नैक नाहीं, टरें आपने राय की पेज सारें।
करें मार घमसान हलकंप होतो, फिरे दोय में एक नहीं कोई हारें ॥११२॥

अरिल्ल

छूटत रार दुहु ओर गगन छायो सही। मानों वरषत मेघ अवनि उपर मही॥
रुधिर धार तह देखि सुकायर भज्जहीं। सुभट सूर वर वीर सु सन्मुख गज्जहीं ॥११३॥
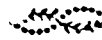
राजा प्रजापति पत्र सुनकर मुग्ध हो गये। उन्हें उक्त भावी सम्बन्ध से बड़ी ही प्रसन्नता हुई। उन्होंने उत्तर में कहा—तुम्हारे राजा की आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। मंत्री दूत आदर और दानादि पाकर वहाँ से शीघ्र ही लौटा। वह वहीं द्रुत गति से रथनूपुर आ पहुंचा। उसने आते ही राजा ज्वलनजटी को यह सब सन्देश सुनाया। ज्वलनजटी ने बड़े उत्साह के साथ अपनी पुत्री का विवाह वैवाहिक विधि के अनुसार त्रिपृष्टकुमार के साथ कर दिया। उस कन्या का रूप अवर्णनीय था। मानो वह दूसरी लक्ष्मी ही थी। वस्तुतः पुण्योदय से दुर्लभ वस्तु भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

पुनः वह विद्याधर पति ने अपने जामातृ को सिंहवाहिनी तथा गरुड़वाहिनी ये दो विद्यायें प्रदान कीं। जब इस विवाह की वात जब राजा अश्वग्रीव ने सुनी तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। वह विद्याधर राजाओं को साथ लेकर युद्ध के लिए प्रस्तुत हो राजा रथनूपुर के पर्वत पर जा पहुंचा। इधर त्रिपृष्ट भी अपनी सेना सजा कर युद्धस्थली के साथ पहुंच गया था। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। चक्री त्रिपृष्ट ने अपने बाहुबल के प्रताप से अश्वग्रीव पर विजय प्राप्त कर ली।

लगत घाव गिर परत फेर उठके लरें। स्वामि काज निज धर्म विचार हिये धरें।।
विना शुण्ड गज कोइक कटि कटिकें गिरें। पैदल और तुरंग सवै वेघर फिरें।।११४।।
ज्यौं वरपाऋतु पाय नीर सरिता वड़ै। त्यौं रण सिंधू समान रकत लहरें चढैं।।
कायर वहि वहि जाय सूर पहिरत फिरें। टूट-टूट रथ कवच ओय धरनी गिरें ।।११५।।

चौपाई

होइ युद्ध इहि विधि अधिकार, लरें सुभटसों सुभट अपार। प्रतिहरि केशव सन्मुख लरें, विद्या वेद परस्पर करें।।११६।।
प्रतिहरि हरि प्रति वोल्यौ एम, सुनरै वालक मो वच जेम। स्वयंप्रभा अव हमकौ देऊ, निश्चल अपनौ राज करेऊ।।११७।।
नातर अव छेदों तुझ काय, वीध्यौ हैं जम कातर आय। कोपत मोहि सुरासर डरै, भूपति कौ सन्मुख मुहि लरै।।११८।।
तव केशव हंसि ऐसी कही, अनुचित वात कहीतुम यही। नाम सम्हारन अपनी करै, राजनकी क्या समसर करै।।११९।।
विन लगाम तू चाहत ग्रीव, यातै वात कहत तज सीव। अश्वग्रीव यह सुनि परजर्यौं, मानों अग्नि महाघृत पर्यौ।।१२०।।
तवहि चक्र कर लियौ उठाय, सहस आर शोभा अधिकाय। दुरवच कहि घाल्यौ रिस आय, चल्यौं मंदगति अरुण सुभाय।।१२१।।
तीन प्रदक्षिण तीनी ताय, फिर दक्षिण भुज वैठयो आय। पुण्य पाप केशव को जान, तीन खण्ड लक्ष्मी वश मान।।१२२।।
तव तिपृष्ठ वोल्यो नरराव, मो पद नम तू निजपुर जाव। सुख विलास वहु आनन्द करो, हमरी आज्ञा निशदिन धरो।।१२३।।
अश्वग्रीव सुन कोपहि चढ्यो, मानो सिन्धु लहरसो वढ्यौ। रे भूचर तू दीन अपार, गरजत कहा चूक मद धार।।१२४।।
तोसे सोरह सहस नरेश, मोपद नमैं धरें उपदेश। स्वयंप्रभा अव अर्पो मोहि, नातर हनौं निरन्तर तोहि।।१२५।।
तव त्रिपृष्ट कोप्यो मन घोर, चक्र फिरायो अंगुलि जोर। सत चूकै करवाई ताहि, घालत रिपु शिर छेदौ जाहि।।१२६।।
अश्वग्रीव तव मृत्तक भयौ, रौद्रध्यानसौं नरक हि गयौ। वहु आरम्भ परिग्रह जोग, पूरव किये अशुभ तिन भोग।।१२७।।

दोहा

महा पाप के उदयसों, गयो सप्तमें भूर। संपूरन दुख तसं सहै, रहें सुक्ख सव दूर।।१२८।।

चौपाई

अव त्रिपृष्ट जगमें विख्यात, निर्जित जस पायौ अवदात। साधै चक्र-रत्नकर जान, तीन खण्ड नरपति अस्थान।।१२९।।
खगपति भूपति व्यन्तर देव, प्रणमें चरण कमल कर सेव। सार वस्तु सव अरपें आय, कन्यारत्न आदि सुखदाय।।१३०।।
विजयारधकी श्रेणी दोय, दीनी ज्वलनजटी को सोय। वहुत विभुति भई हरिगेह, दलखंड विधिवत मण्डित नेह।।१३१।।
दश दिश जीत भये श्रीमान, पुण्यवंत वहु जग परधान। अपने घर वहु लीला करै, त्रिया सहित सुखसौ व्यौपरै।।१३२।।

अश्वग्रीव ही कव मानने वाला था उसने त्रिपृष्ट को मारने के उद्देश्य से शस्त्र चक्ररत्न को चलाया पर वह चक्र त्रिपृष्ट के महान पुण्योदय से उनकी प्रदक्षिणा देकर उनकी दाहिनी भुजा पर आकर विराजमान हो गया। इसके पश्चात् त्रिपृष्ट ने भी तीन खण्ड की लक्ष्मी को अपने अधीन करने वाले अपने चक्ररत्न को अश्वग्रीव पर चलाया। उस चक्र से अश्वग्रीव की मृत्यु हो गयी। वह रौद्र परिणाम तथा आरम्भ परिग्रह के फल स्वरुप नरकायु वांध कर मरा था, इसलिये वह दुर्बुद्धि महापाप के उदय से सातवें नरक में गया, जो समग्र दुःखों की खानि है। वहाँ सर्वथा दुःख हैं और वह घृणित स्थान है।

इस युद्ध में विजय प्राप्त कर लेने के कारण त्रिपृष्ट की सारे संसार में ख्याति फैली। उसने चक्ररत्न से तीन खण्डवत राजाओं को अपने अधीन कर लिया। विद्याधरों के स्वामी मागधादि राजाओं तथा व्यन्तरादि पतियों ने भयभीत होकर त्रिपृष्ट को अपनी कन्यायें तथा भेंट में वहुमूल्य वस्तुएँ प्रदान की। त्रिपृष्ट ने विजयार्द्ध के दोनों ओर के राज और उसकी ऋद्धियाँ रथनूपुर के राजा ज्वलनजटी को सौंप दी और स्वयं वड़ी विभूति के साथ अपने नगर में प्रस्थान किया। पूर्व के
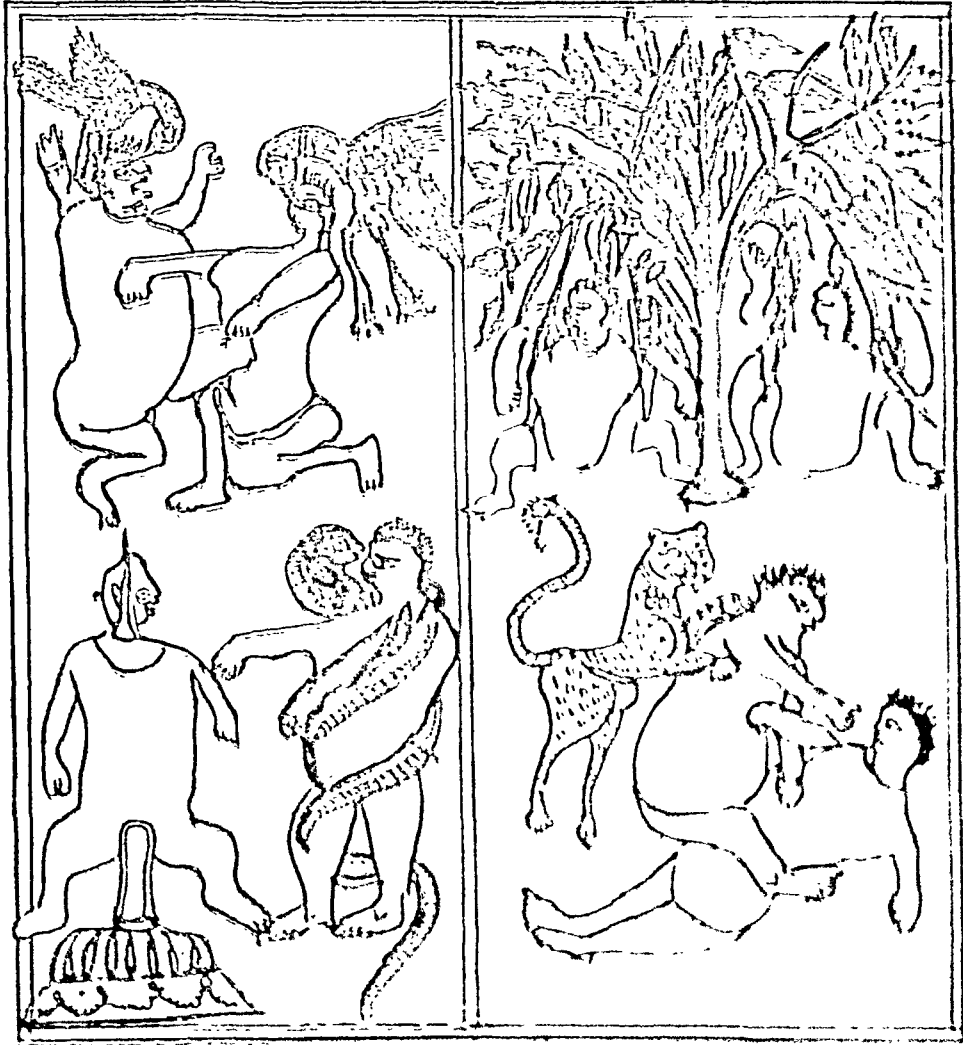
नरक गति के दुःख का वर्णन ।

नरक का वर्णन

नरक में नारकियों को असुर कुमार बड़ी पीड़ा देते हैं।
आरे से काटते हैं, कोल्हू में पेलते हैं,
कुत्तों से नुचवाते हैं, भयंकर सर्प डसते हैं।
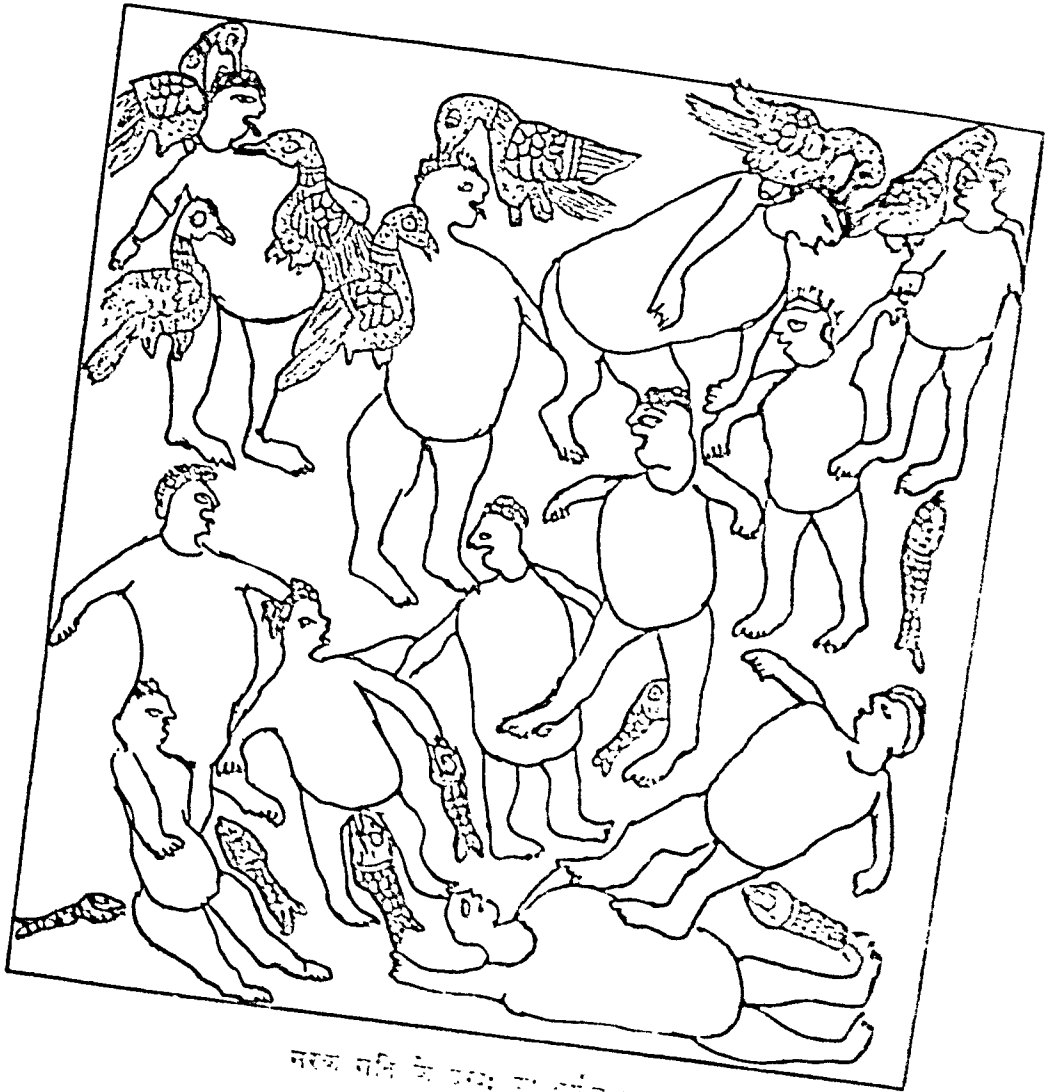
नरक गति के दुःख का अंकन।

नरक का वर्णन

पूर्व विपाक तनौ फल जान, सप्त रत्न अलंकृत मान। भूचर खेचर व्यंतर देव, सोलह सहस करैं नृप सेव ॥१३३॥
सोरह सहस भूपकी सुता, परणीं रूप कला संयुता। विविध भोग भुगतैं सुकुमाल, सुखमें जात न जानौ काल ॥१३४॥
मरण प्रयंत रम्यौ जगमांहि धर्मदान विधि जान्यों नांहि। ज्यों दिन अन्ध उलूका होइ, भानु उदोत न जानैं सोइ ॥१३५॥
वहु आरम्भ परिग्रह घोर, श्वभ्रवास पायौ ता जोर। विषयनमें आसक्त अपार, बांधो दुर लेश्या दुखकार ॥१३६॥

दोहा

छोड़े प्राण शरीरतैं, रौद्र ध्यान सों घोर। पूरव पाप विपाक कर, गयो नरकमें घोर ॥१३७॥

कथा तहाँ के कष्ट की, को कर सके बखान। भुगतै सो जानै सही, कै जानै भगवान ॥१३८॥

सामान्य नरक वर्णन

दोहा

घंटाकार घिनी जहां, अन्ध अधोमुख होई। सम्पूरण तन ऊपजै, अन्तर घटिका दोय ॥१३९॥
तल शिर ऊपर पांव है, परै भूमि में आय। बीछू एक हजारतैं अधिक वेदना पाय ॥१४०॥
उलछत जोजन पांचसै, नरक सात में मांहि। विषम वज्र कण्टकमयी, परै भूमि फिर आहि ॥१४१॥
देख तासको नारकी, मारैं निरदय होय। पूर्ण असाताके उदय, चिन्तै मन में सोय ॥१४२॥
कौन भयानक भूमि यह, सब दुख थानक निंद। रौद्रवरण ये कौन है, वेदना दायक निंद ॥१४३॥
को मैं कहं आयो इतै, एकाकी सुख नाहि। कोन कर्म यह ऊपज्यौ, भूमि भयानक माहि ॥१४४॥
इत्यादिक चिन्ता करत, अवधि विभंगा पाय। श्वभ्र कूप जानौ पर्यो, निज परख्यो दुखदाय ॥१४५॥
पूरव रस लोलुप हतौं, भाषैं वचन लवार। लगैं नरनको कटुक सम, ज्यों अग्नि अति दुखकार ॥१४६॥
पर त्रिय आदिक वस्तु जे, सेई हठकर जोय। परधनमें सब हर लियौ, पापबन्ध जिय होय ॥१४७॥
मैं अखाद्य खाई सवैं, पीई जिती अपीय। अरु अमेय मेरे हनी, सो अब यह दुख सोय ॥१४८॥
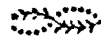
उपार्जन किये पुण्योदय के प्रताप से चक्रादि सप्त रत्नों से शोभायमान तथा सोलह हजार विद्याधरों से नमस्कृत वह प्रथम [illegible] (नारायण) त्रिपृष्ट सोलह हजार राज-कन्याओं के साथ विभिन्न प्रकार के भोगों का उपभोग करने लगा। किन्तु उसकी भोग-लिप्सा यहाँ तक बढ़ गयी कि, उसमें धार्मिक प्रवृत्ति नाम मात्र को नहीं रह गयी। वह धर्म-पूजा दानादि का नाम भी नहीं लेता था। अतएव उसने आरम्भ, ममता, परिणाम आदि विषयों में लीन रहने के कारण खोटी लेश्या और रौद्र ध्यान से नकरायु बांध लिया और मृत्यु होने पर वह सातवें नरक में गया।

नरक तो घृणित होता ही है। वहाँ उसका जन्म औंधे मुँह हुआ और दो घड़ी में ही पूर्ण शरीर हो गया। इसके पश्चात् त्रिपृष्ट का जीव उस स्थान से नरक की भूमि पर गिरा। उसके स्पर्श होते ही उसने [illegible] किया। जिस भूमि के स्पर्श से हजार बिच्छुओं के काटने जैसी पीड़ा होती है, ऐसी पृथ्वी के स्पर्श से दुःखी हुआ वह जीव ५०० योजन ऊपर ऊछल कर पुनः पत्थर और कांटों से भरपूर पृथ्वी पर गिरा। तदनन्तर वह दीन मारने आये हुए नारकियों को देखकर अपने भावी महान कष्टों की कल्पना कर ऐसा विचार करने लगा—
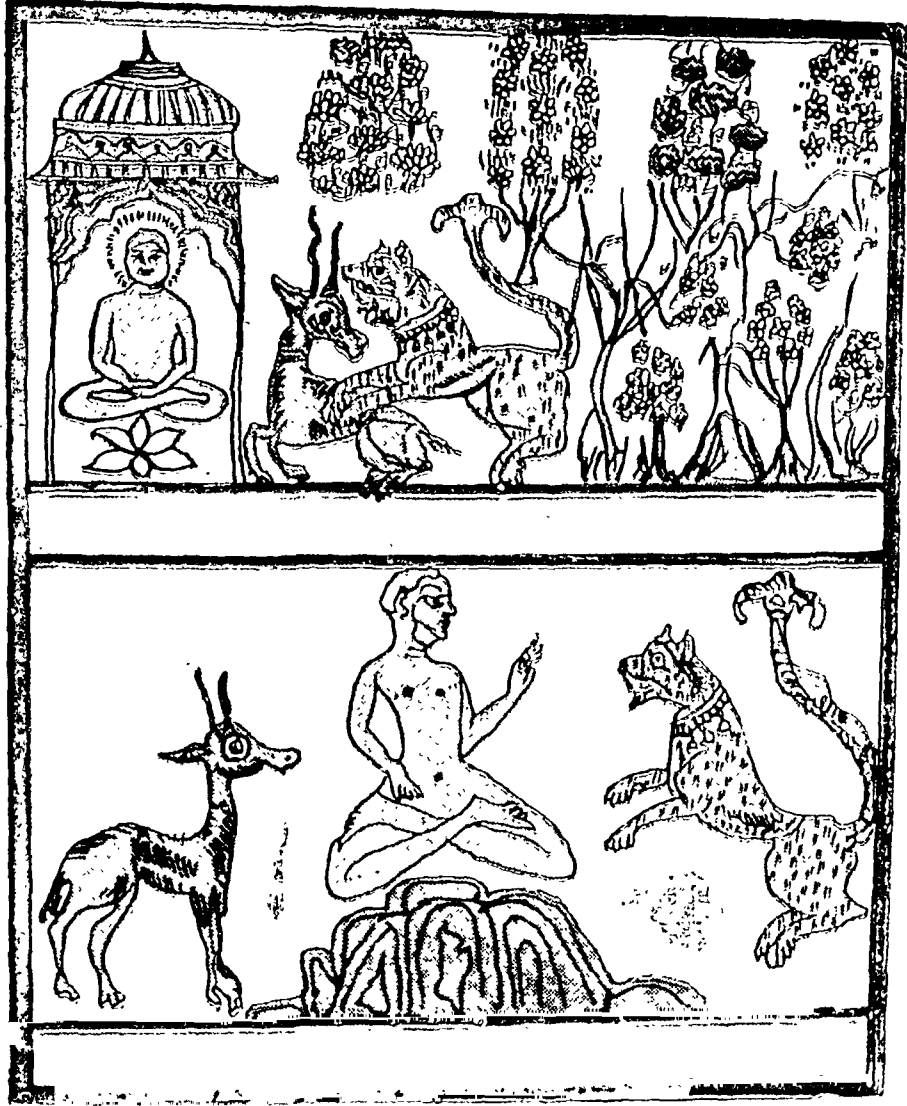
जंगल में सिंह हिरण को पकड़े है। उसी समय आकाश मार्ग से जाते
समय मुनीराज ने जान लिया कि यह सिंह मारीच का जीव
आगे तीर्थंकर होने वाला है, समझकर नीचे उतर कर संम्बोधन दे रहे हैं।

इत्यादिक तहं विविध दुख, भई कंदर्पन घोर। अशरण नित पीड़ै बहुत, कहो कहां लौं सोइ ॥२२॥
नरक आयु क्षयकर तुहो, खोटे कर्म उपाय। पराधीन मृगपति भयौ, पापवन्त दुखदाय ॥२३॥
शीत उष्ण वर्षादि ऋतु, क्षुधा प्यास के जोर। क्रूर कर्म कीने अशुभ, बाँधि बंध हिय घोर ॥२४॥
प्राणी हिंसा के उदय, दुख विपाक अंकूर। प्रथमी पृथिवी तुम गये, रहैं सुक्ख सब दूर ॥२५॥
तहं तैं चय तुम ऊपजै, धरी सिंह परजाय। क्रूर पराक्रम करत हैं, पूर्व दुःख विसराय ॥२६॥

चौपाई

इहि प्रकार मिथ्या चिरकाल, भटकै बहु विध भव विध जाल। हालाहल पीवत सुध जाय, सम्यक् बुद्धि हियै विसराय ॥२७॥
अहो वत्स ! दुर्गति को वास, छोड़ो कार्ज पराक्रम जास। अनशन गहो विविध परकार, व्रत पूरव के अर्थ विचार ॥२८॥
भरतक्षेत्र यह आरज ठाम, हूहौ दश में भव सुख धाम। अन्तिम तीर्थंकर गुण धीर, वर्द्धमान स्वामी वर वीर ॥२९॥
जंबूद्वीप सु पूर्व विदेह, सीमंधर जिनपति गुण गेह। श्रीमुख दिव्य कथा मैं सुनी, भावी तुम आगे सब भनी ॥३०॥
मुनिके वच सुन इह परकार, जातिस्मरण उपजौ सार। जानौ भवसागर दुख घोर, सर्व अंग कंप्यौ भय जोर ॥३१॥
दुठ परिणाम दूर सब रहै, शान्त चित्त सों मुनिपद गहै। अश्रुपात बहु कीनो तहां, पश्चात्ताप आदि हरि जहां ॥३२॥
फिर मुनि सौं मृगपति इम कही, सम्यक्वृद्धि भाषिये सही। शांत तरंग आतमाराम कहत भये मुनि कृपा निदान ॥३३॥

दोहा

धर्म कल्पतरु मूल है, वर्जित शंका दोष। मुक्ति प्रथम सोपान सौ, बुध नर सम्यक् पोष ॥३४॥
कल्याणक करता जगत भव भव सुक्ख अपार। अर्हद आदिक पंचपद, होत धर्म सौं सार ॥३५॥

चौपाई

दरशन सम तैं धर्मजु और, भयौ न हू है जगके ठौर। वर्तमान नाहीं है अबै, कल्याणक को साधक सबै ॥३६॥
मिथ्या सम नहिं पाप अपार, भयो न भावी दुख दातार। तीन लोक में अनरथ बन्ध, दुरमारग धारी नर अन्ध ॥३७॥
सप्त तत्व की श्रद्धा करै, निःसन्देह जिनागम धरै। दर्शन ज्ञान चरण अभ्यास, गहौ सुवृष करता सन्यास ॥३८॥

किसी कारण वश तू पुनः किसी राजा के यहाँ उत्पन्न हुआ। वहाँ तेरा नाम विश्वनन्दी पड़ा। तू ने पुनः संयम धारण किया और त्रिपृष्ट नाम का नारायण हुआ। आगे तू इसी भरत क्षेत्र में जन्म धारण कर संसार हित करने वाला चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा, यह सर्वथा सत्य है। कारण जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में एक बार किसी ने श्रीधर नामक तीर्थंकर से पूछा था कि, हे भगवन् ! जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जो चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा, उसका जीव आजकल किस स्थान पर है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने जो कुछ कहा था, उसे मैंने तुझे सुना दिया। अतएव अब तुम संसार के कारण ऐसे मिथ्यात्व को हलाहल समझ कर त्याग दो, और सम्यक्त्व को ग्रहण करो। सम्यक्त्व धर्मरूपी कल्पवृक्ष का बीज है। वह मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है। ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करने से तुम्हें तीनों संसार की विभूति, तीनों जगत में होने वाले चक्रवर्ती आदिकोंके सुख तथा अर्हंत पद जैसे सुख उपलब्ध होंगे।

वस्तुतः सम्यक् दर्शन के समान न तो कोई धर्म है, न होगा। वह सम्यक्त्व ही कल्याण का साधक है। पर मिथ्यात्व के समान तीनों लोकों में दूसरा पाप नहीं है। अतएव यह मिथ्यात्व ही सारे अनर्थों की जड़ है। उस सम्यक्त्व की प्राप्ति जीवादि सप्ततत्वों के श्रद्धान से तथा सर्वज्ञ देव सद्ग्रंथ और निर्ग्रन्थ गुरुओं के श्रद्धान से होती है, जिसकी प्राप्ति से ही ज्ञान चारित्र को सत्य कहा जा सकता है। यह कथन भगवान जिनेन्द्र देव का है। अतएव तुम्हें चाहिये कि सम्यक्त्व के साथ उत्कृष्ट श्रावक

तजियो जीव घात दुख राश, जातें होइ स्वर्ग सुख वास । यह सब व्रत आश्रव उत्कृष्ट, दोष रहित हित कर्ता इष्ट ॥३६॥
जो संसार भ्रमण भय खाय, रुचि सों सम्यक् मार्ग धराय । दुरमारग छोड़ो दुखदाय, इहिभव परभव दुख अधिकाय ॥४०॥

दोहा

इहि विधि मुनि मुख चन्द्रमा, उद्भव वचन विख्यात । धर्म सुधारसके पियत, वम्यो कुविष मिथ्यात ॥४१॥
वार वार परदक्षिणा, दीनी हरि मुनि पास । शिर नवाय वन्दन कियो, श्रद्धा हिय धर जास ॥४२॥

चाल छन्द

तत्वारथ श्रद्धा कीनी, श्री जिनवाणी लव लीनी । सम्यक्त्व धरौ जिन अंग, व्रत पालै रहित जु संग ॥४३॥
संन्यास सहित तन खीनौ, आहार न पानी कीनौ । सब संचित विवर्जित सोई, हिय शान्त सुसंजम होई ॥४४॥
सुध आदि परीषह धारी, नित सहत सुधीरज धारी । सब जीवदया को पालै, तनु नेक न इत उत घालै ॥४५॥
हरि चिन्तै धर्म सुध्याना, घातै दुठ कर्म कुज्ञाना । धारयो तन निश्चल अंग, थिर चित कर पाप निभंग ॥४६॥
जाचत नहि जीव सहाई, व्रत प्रचुर किये हरिराई । संन्यास सहित तज प्राना, हिय शुद्ध समाधि निदाना ॥४७॥

दोहा

व्रत फल स्वर्ग सुधर्म में, सिंह जीव तहं जाय । सिंहकेतु[1] नामा अमर, महा ऋद्धि अधिकाय ॥४८॥

चौपाई

शिल उपपाद जन्मसों भयौ, अन्त मुहूरत जोवन लयौ । संपूरण तन पायो तवै, अचरजवान हुओ हिय जवै ॥४६॥
ततक्षण अवधिज्ञान को भनौ, जानो व्रत फल पूरव तनौ । धर्मध्यान माहात्म्य अपार, सम्यक्‌मति दृढ़ गहियो सार ॥५०॥

के वारह व्रतों को धारण करें और अन्तिम काल में संन्यास व्रत ग्रहण कर प्राण त्याग करें । तुम अन्य सब प्रकार के हिंसादि पापों का परित्याग कर दो । अब तुम्हें संसार में भटकते रहने का बिलकुल डर नहीं रहा, अतः बुरे मार्ग का सर्वथा परित्याग कर शुभ मार्ग ग्रहण करो ।

सिद्ध योगी के मुख कमल से प्रकट हुए धर्मरूपी अमृत का पान कर त्रिपृष्ट के जीव सिंह ने मिथ्यात्व रूपी विष को उगल दिया । इस कारण वह अब शुद्ध चित्त हो गया । पश्चात् उसने दोनों मुनियों की परिक्रमा कर तथा उनके चरणों में मस्तक टेक कर देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान रूप सम्यक्त्व ग्रहण किया तथा समय पाकर उसने संन्यास व्रत के साथ-साथ समस्त व्रतों को ग्रहण किया । पूर्व में इस सिंह का भोजन मांस के अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं थी, इसलिये उसे व्रत धारण करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । फिर भी उसने बड़े धैर्य के साथ व्रतों का पालन किया । आचार्य का कथन है कि, वह कौनसा कार्य है, जो होनहार आने पर नहीं होता अर्थात् अपने आप हो जाता है ।

दोनों मुनियों के उपदेश से प्रभावित वह सिंह शांतचित्त वाला और अत्यन्त संयमी हो गया । उसे देखकर ऐसा प्रतीत होने लगा कि, चित्रामका सिंह है । वह भूख प्यास आदि सारी वेदनाओं को सहन करते हुए भी संसारकी दुःखमयी स्थिति पर सर्वदा विचार किया करता था । धैर्य्य पूर्वक समस्त जीवों पर दया भाव दिखलाता हुआ, वह आर्त रौद्र ध्यानों को छोड़ने लगा। पुनः पापोंको नष्ट करने वाला धर्म-ध्यान और सम्यकत्व आदिका चिन्तवन करने लगा ।

इस प्रकार उस सिंहने जीवन पर्यन्त व्रतोंका पूर्ण रूपसे पालन किया । अन्तमें समाधि मरण द्वारा उसकी मृत्यु हुई । वह व्रतादिकों के फलस्वरूप सौधर्म नामके प्रथम स्वर्ग में महान ऋद्धि धारी सिंहकेतु नामका देव हुआ । उसे दो घड़ी के अन्दर

१. हिंसा के त्याग और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का फल यह हुआ कि मर कर वे सौधर्म नाम के पहले स्वर्ग में सिंहकेतु नाम का महान् ऋद्धियों का धारी देव हुआ । जहाँ से वह अकृत्रिम चैत्यालय में जाकर श्रेष्ठ द्रव्यों सहित अर्हन्त देव की पूजा किया करता था । मनुष्य लोक नन्दीश्वरादि द्वीपों में जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओं की पूजा तथा मुनियों की भक्तिपूर्वक वन्दना करता था ।
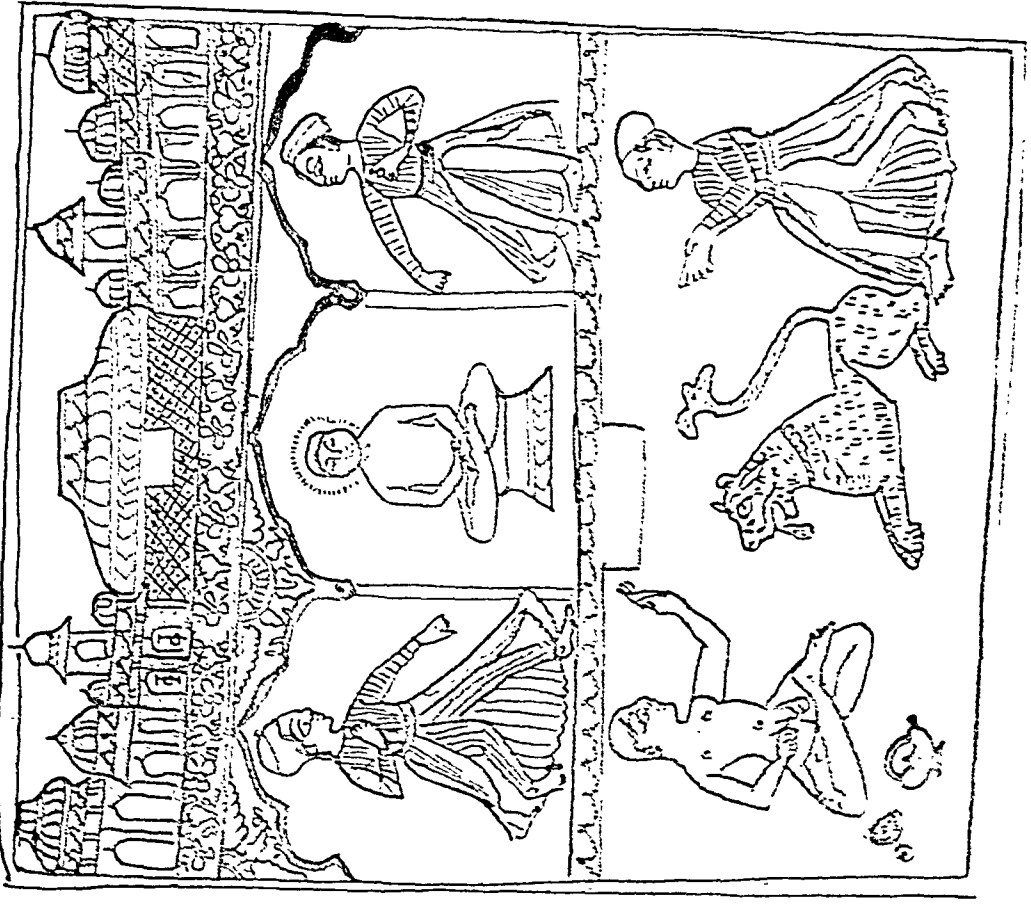
सिंह का जीव समाधिमरण कर सौधर्म स्वर्ग में सिंह केतु नामक देव हुआ।
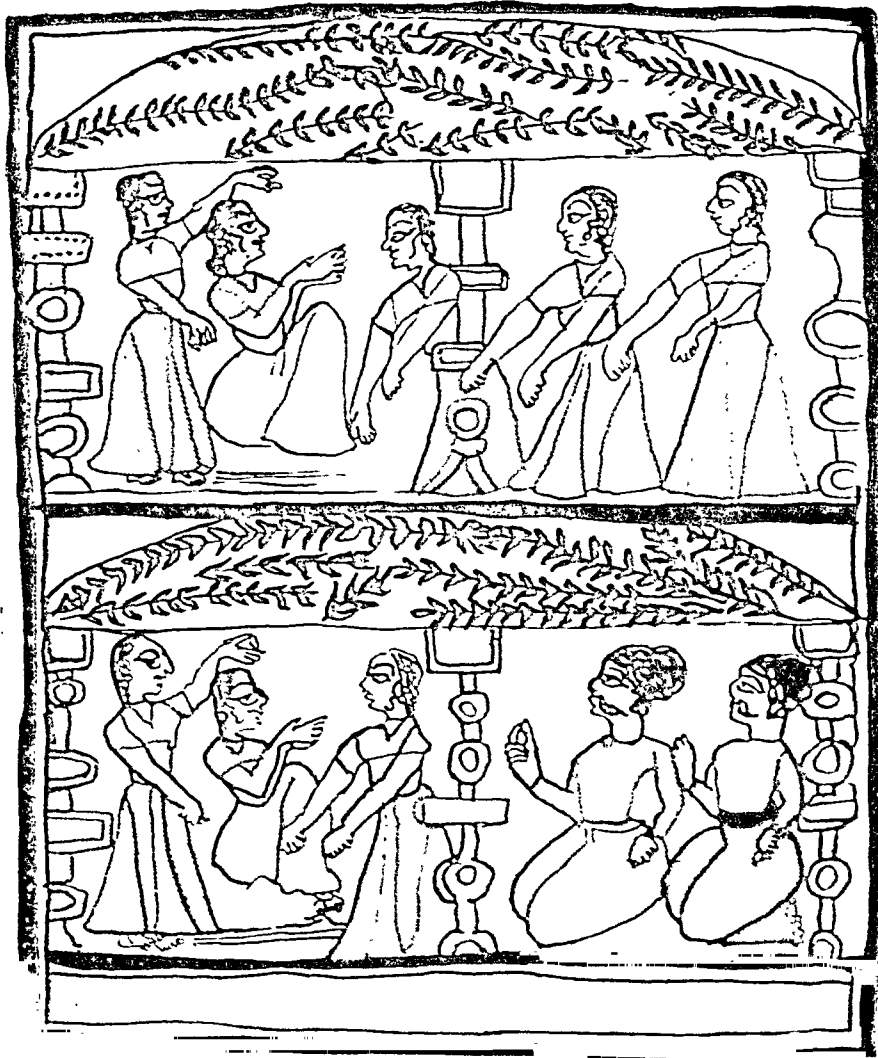
कनकपुर नगर में कनक राजा और कनक माला रानी का विवाह

अमृत वापिका न्हवन कराय, देविन सहित जिनालय जाय। रत्नमयी तहं प्रतिमा देख, हिय उमगायो हरष विशेख ॥५१॥
अष्ट द्रव्य से पूजा करी, भक्ति विनय पूर्वक विस्तरी। फिर नन्दीश्वरादि जिन गेह, कीनी पूजा हिय धर नेह ॥५२॥
गणधर आदि मुनीश्वर पाय, प्रणमैं सुरपति चित्त लगाय। तत्व अरथ आदिक तहं सुनैं, धर्म शर्म करता हिय गुनैं ॥५३॥

दोहा

फिर निज अस्थानै गयौ, पुण्यजनित श्रिय पाय। देविन सहित विमान में, तिष्ठै सुख समुदाय ॥५४॥

चौपाई

इत्यादिक वहु पुण्य समेत, धारै सो चेष्टा शुभ हेत। सप्त हाथ तन उचित मनोग, नेत्र विवर्जित निद्रा रोग ॥५५॥
मण्डित मति श्रुत अवधि त्रिज्ञान, विक्रिया ऋद्धि अधिक वलवान। वीतै वरस सहस जव दोय, लैंहि अहार सुधामय सोय ॥५६॥
पक्ष दोयमें रति तन होइ, मानसीक सव भुगते सोइ। देखै रूप विलास अपार, नृत्यत दिव्य योपिता सार ॥५७॥
पर्वतादि उद्यान मझार, देविन सहित रमैं कर प्यार। द्वीप समुद्रअसंख्य विचार, विहरै सहित विभूति अपार ॥५८॥
सागर दोय आयु परमान, सप्त धातु मल रहित महान। अमृत समुद सम सुक्ख अनेक, सरव दुःख तें रहित सु एक ॥५९॥

दोहा

विविध भोग तिन भोगवे, पूरव चरण प्रताप। काल जात जान्यो नहीं, सुखसों देव जु आप ॥६०॥

चौपाई

प्राग धातकी द्वीप महान, पूर्व विदेह सु उत्तम थान। विजयारध पर्वत तहं दीस, है उन्नत जोजन पच्चीस ॥६१॥
सोहै कूट जिनालय जहां, वन श्रेणी पुर आदिक तहां। ताकी उत्तर श्रेणि मझार, मंगलावति है देश विचार ॥६२॥
नगर कनकपुर सोहै जहां, सुवरणमय जिनमंदिर तहां। कनक पूर्व राजा तहं जान, प्रिया कनकमाला तन मान ॥६३॥

ही यौवनावस्था प्राप्त हो गयी। वहां पर उस अवधि ज्ञानके द्वारा व्रतोंके शुभ फल ज्ञात हो गये। अतः धर्मके माहात्म्य की प्रशंसा कर वह धर्म-धारण करने में संलग्न हो गया।

पश्चात् वह देव अकृत्रिम चैत्यालय में जाकर अष्ट द्रव्यों सहित अर्हन्त देवकी पूजा करने लगा। वह मनुष्यलोकमें नन्दीश्वरादि द्वीपोंमें अपने मनोरथों को सिद्धिके लिये जिन प्रतिमाओं की पूजा कर और गणधरादि मुनीन्द्रों को हर्ष सहित प्रणाम करके उनसे तत्वों का स्वरूप सुनकर धर्मका उपार्जन कर अपने स्थानको लौट आया। उसने अपने पूर्वकृत पुण्योदयसे देवियों तथा विमानादि सम्पदाओंको प्राप्त किया।

इस तरह वह देव विभिन्न रूपसे पुण्यका उपार्जन करता हुआ सात हस्त प्रमाण दिव्य शरीर धारण किया, जिसकी आंखोंके पलक सदा खुले रहते थे। उसे पूर्वमें नरककी भूमि तकका अवधिज्ञान और विक्रिया ऋद्धिका बल था। दो हजार वर्ष व्यतीत होने पर हृदयसे झड़ने वाले अमृतका आहार करता था तथा तीस दिनके पश्चात् थोड़ी श्वास लेता था। और देवांगनाओं आदिका नृत्य देखा करता था। वह वनों पर्वतों पर अपनी देवियोंके साथ क्रीड़ा-रत रहता था और अपनी इच्छा के अनुसार असंख्यात द्वीप समुद्रोंमें विहार करता रहता था। इन्द्रिय सुख रूपी समुद्रमें मग्न उस देवने दो सागरकी आयु प्राप्त की। उसका शरीर धातु मल और पसीनासे सर्वथा रहित था। इस प्रकार श्रेष्ठ चारित्र पालन द्वारा उपार्जन किये हुए पुण्यके प्रबल प्रतापसे उसे भोगोपभोगकी सारी सामग्रियां प्राप्त हुईं। उसने इस प्रकार कितने समय विताये, यह उसे ज्ञात न हो सका।

धातकी खण्डके पूर्व विदेहमें मंगलावती नामक एक देश है। उसके मध्य विजयार्द्ध पर्वत है। जो दो सौ कोस ऊंचा है। पर्वत की उत्तर श्रेणी में कनकप्रभ नामका एक नगर बड़ा ही रमणीक है। वहां कनकपुंग नामक विद्याधरों का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कनकमाला था। सिंहकेतु नामका देव स्वर्ग से चयकर सुवर्णकी कान्ति के

सोरठा

चयौ तहां तै सोइ, सिंह केतु नामा अमर। कनकोज्वल[1] सुत होइ, कनककांति तन जासको ॥६४॥

चौपाई

जन्म उछाह पिताने कियौ, वंदीजनं दान बहु दियौ। जिन आगार कराये सार, कल्याणक वरधावन हार ॥६५॥
कीनी पूजा महाभिषेक, पंचकल्याणक आदि अनेक। गीत करत और नचैं अपार, नर समूह कोलाहल धार ॥६६॥
वाल चंद्र सम वृद्धि कराय, पय पानी सौं सुख अधिकाय। आप जोग अति क्रीड़ा करै, दिन दिन रूप-कला गुण धरै ॥६७॥

अरिल्ल

क्रम सों जोवन पाय, शास्त्रभ्यासी ठयौ। विधि विवाह की जास, पिता करतो भयौ ॥
कनकवती तिय नाम, धर्मसौं सो मिली। कछू दिनन में कुंवर एक कीनी भली ॥६८॥
महा मेरु जिन तनै, वंदवै को गयो। भार्या सहित कुमार, विम्व पूजत भयो ॥
भूषित ऋद्धि अनेक, गुप्ति त्रयके धनी। अवधिज्ञानि मुनिराय, देखि जस शिर मनी ॥६९॥

छन्द चाल

प्रणमें शिर चरण लगाई, सुख प्रापत कारण राई। प्रभु अनघ धर्म है जोई, शिव करता भाषौ सोई ॥७०॥
सुनके तिन वचन सुयोगी, भाषै ;सुनिये नृप भोगी। भव समुद गिरै नर कोई, उखरै घर सम्यक् सोई ॥७१॥
शिव मन्दिर पीछे जाई, त्रैलोक्य राज्यको पाई। विधि सम्यक् तत्व वखानौ, शंकादि रहित परवानौ ॥७२॥

समान उन दोनों का कनकोज्वल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पिता ने पुत्र होने के आनन्द में जैन मन्दिर में जाकर पंचकल्याणक की वड़ी भक्ति के साथ पूजा की इसके पश्चात दानादिसे वन्धु वगैरह सज्जनों को तथा दीन दुःखियों को सन्तुष्ट करके नृत्य गीत से जन्मोत्सव मनाया। वह रूपवान वालक दोजके चन्द्रमा की भांति क्रमक्रमसे वढ़ने लगा। वह दुग्धपान वस्त्र अलंकारादि वाल्य सुलभ कार्यों से सवको प्रसन्न किया करता था। वह थोड़े ही समयमें अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर पारंगत हो गया और सर्व गुणों से सम्पन्न हुआ।

पश्चात जव वह जवान हुआ तो उसका विवाह उसके मामा की पुत्री कनकावती नाम की कन्या से हुआ। एक दिन वह कुमार अपनी पत्नी के साथ महामेरु पर्वत पर क्रीड़ा करने के लिए तथा कल्याण के लिए चैत्यालयों की पूजा करने गया था। उस स्थान पर आकाशगामिनी आदि ऋद्धियों वाले अवधिज्ञानी मुनीश्वर को देख तीन प्रदक्षिणा दे उन्हें नमस्कार किया पश्चात् धर्म में अभिरुचि रखनेवाला वह कुमार धर्म के सम्बन्ध में मुनिराज से पूछने लगा।

उसने पूछा—भगवान मुझे निर्दोष धर्म का स्वरूप वताओ जिससे मोक्षमार्ग में सहायता मिल सके। कुमार के वचनों को श्रवण कर मुनिने कहा—वुद्धिमान! तू एकाग्र मन से सुन, मैं तुझे धर्म का स्वरूप वतलाता हूं। जो संसार समुद्र में डूवते हुये जीवों को उतार कर मोक्ष स्थान पर रखे अथवा उसे तीनों जगत का स्वामी वनावें, उसे धर्म कहते

राज्यपद

१. स्वर्ग में भी अर्हन्त भक्ति करने के पुण्य फल से मैं विजयार्द्ध पर्वत के उत्तर की तरफ कनकप्रभ नाम के देश में विद्याधरों के राजा पंथ की कनकमाला नाम की रानी से कनकोज्वल नाम का वड़ा पराक्रमी और धर्मात्मा राजकुमार हुआ। निर्ग्रंथ मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर और संसारी सुखों को क्षणिक जान कर भरी जवानी में दीक्षा लेकर जैन साधु हो गया।
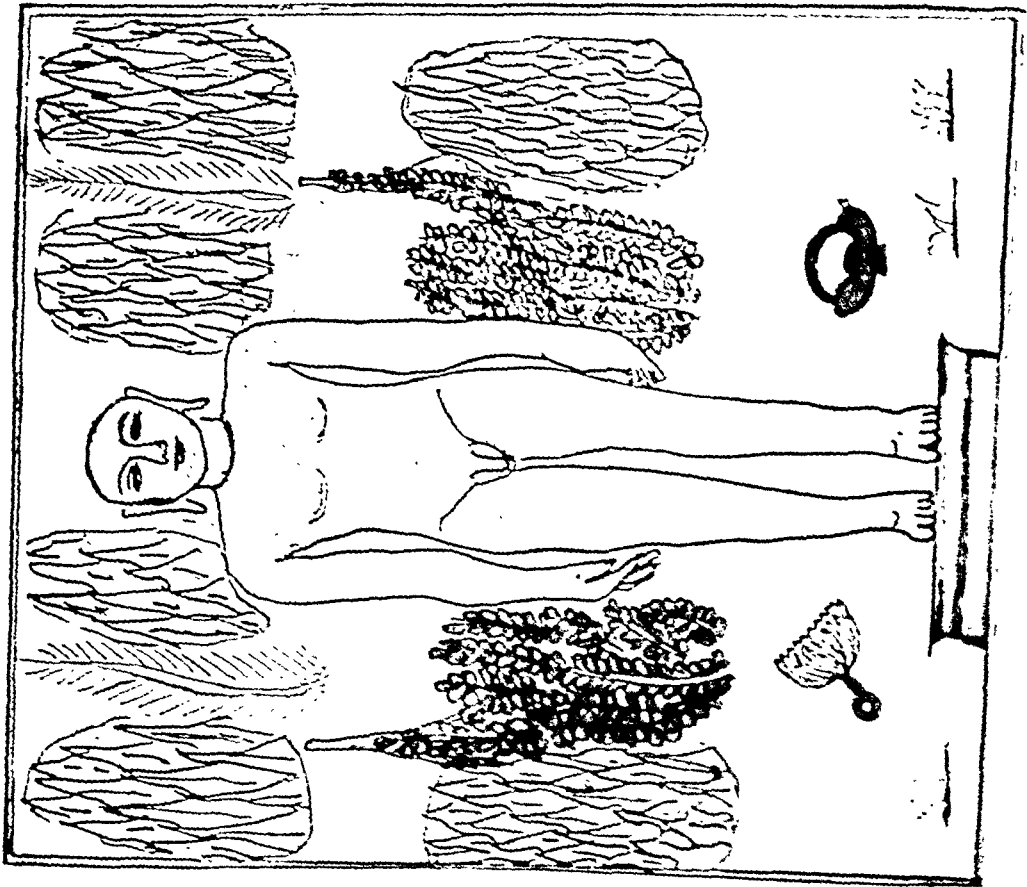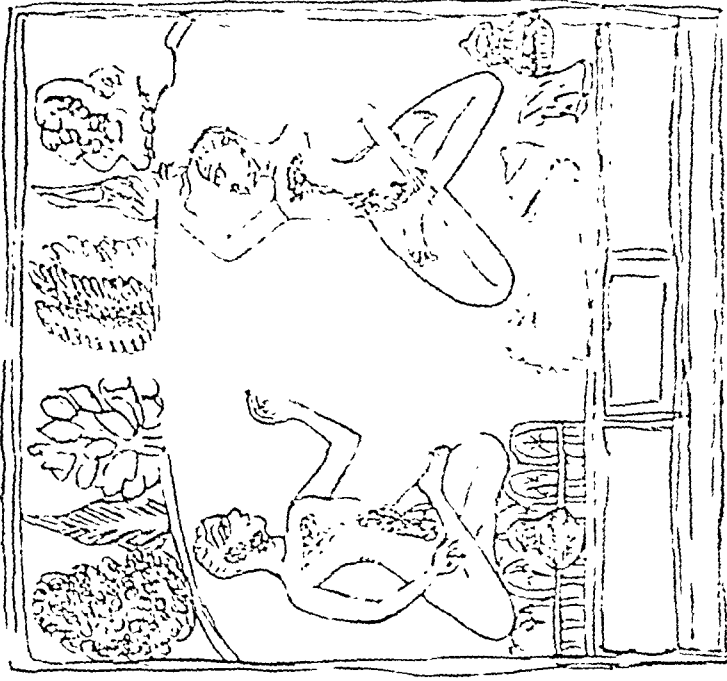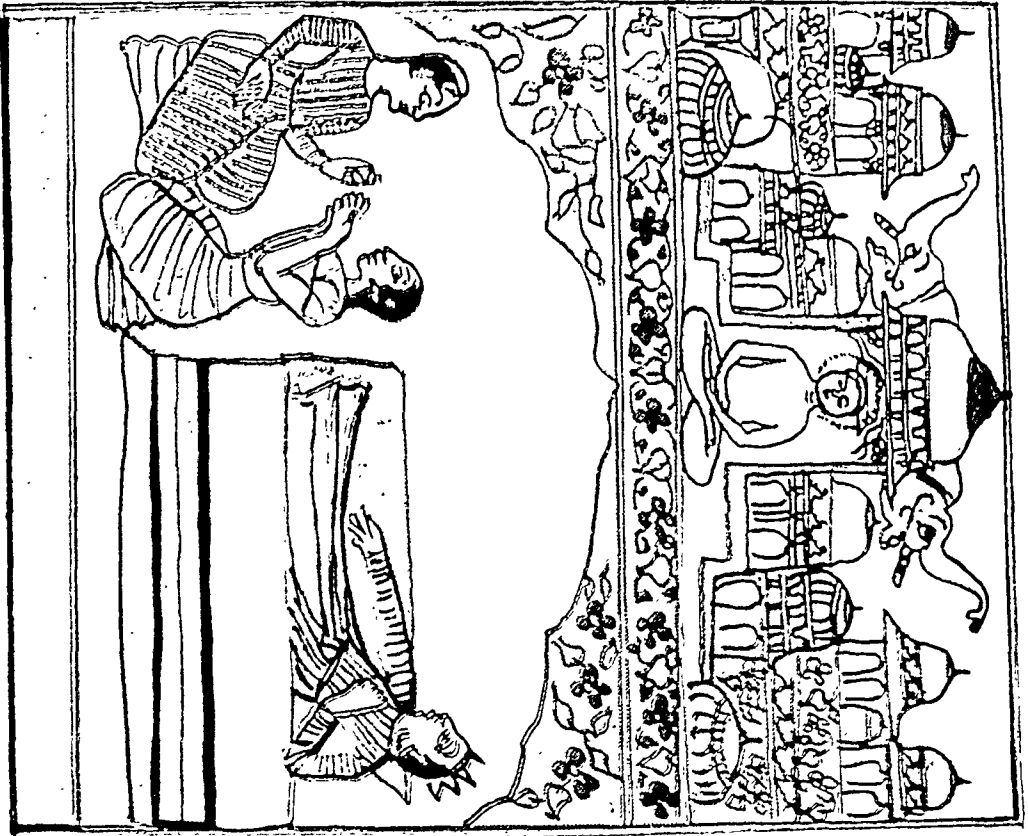
मुनिराज कनकोज्वल जी ने समाधि पूर्वक प्राणत्याग किए, और पुण्य के प्रताप से लांतव स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुए।
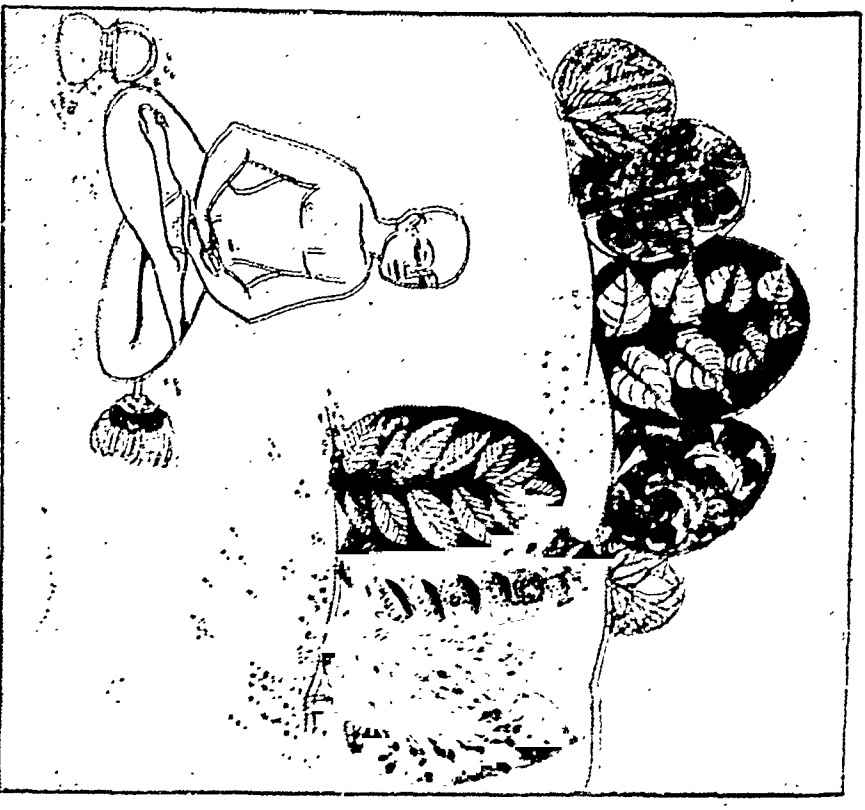
मंगलावति देश के राजा कनकोज्वल ने मुनि दीक्षा धारण करके घोर तपश्चरण किया।

चौपाई

यह भव होय धर्मसो सार, कल्याणक नरको सविचार। सकल मनोरथ पूरण जान, दुख विनशैं जग कीर्ति महान् ॥७३॥
परभव इन्द्र विभूति अपार, कै सरवारथ सिद्धि विचार। तीर्थंकर वल चक्री होइ, धर्म प्रताप जानियैं सोइ ॥७४॥

दोहा

धर्म विना नहिं और जग, सुख करता तज पाप। लक्षण दया विख्यात तस, उक्त केवली तास ॥७५॥

चौपाई

प्रथम अहिंसा सत्यास्तेय, ब्रह्मचर्य संगादि रहेय। ईर्या भाष एपणा दान निक्षेपण व्युत्सर्ग वखान ॥७६॥
मनोगुप्ति वच गुप्ति विचार, काय गुप्ति मिल तीन प्रकार। यह चारित्र त्रयोदश जान, साधैं राग रहित गुणवान ॥७७॥
तथा मूलगुण सव जानिये, दशलक्षण क्षमादि वखानिये। परम धरम करता सुख सार, मोह अक्ष सवको अपहार ॥७८॥
वुद्धिवन्त भो राजकुमार ! धर्म जती गोचर हितधार। काम आदि जे अरि दुखदाई, तप असि सौं तिन घात कराई ॥७९॥
धर्म चित्त में धरो महान, होय धर्म तैं सुर शिव थान। धर्म जगत में सव सुखदाय, नहीं धर्म तैं और सहाय ॥८०॥
नहीं साध्य अव इहितैं और, तिहि तैं मोह सुभट हन ठौर। धर्म जतन सौं पालो सार, मुक्तितनों साधक सखकार ॥८१॥
इहि प्रकार मुनि वचन सुनेह, कनकोज्वल नृप चिन्तौ येह। भव तन भोग विरक्त अपार द्वादशभावन हिरदै धार ॥८२॥
जोलौं कर्मवेदना लियें, भ्रमैं जगत मे सुध नहि हियै। कवहूंक नार गर्भ गिर परै, जन्म होइ विकलप सो मरै ॥८३॥
सुर अहमिन्द्र आदि हरिराय, सवै काल के वश्य पराय। जन कोई जीवन मद करैं, मूढ़ मन्द वुध को अनुसरै ॥८४॥
धर्मकार्य को वरधै सार, मद हिय धरै न एक लगार। अरु जे शठ मद धारैं अंग, ते जैहैं यम पथ सर्वंग ॥८५॥
अतिहि विनश्वर कारज याहि, सर्व अवस्था निशदिन माही। तातैं काल लंग नहि करै, मरण समय ना शंका धरै ॥८६॥

हैं। वस्तुतः धर्म वह है, जिससे इस भवमें सम्पदाओं की प्राप्ति और मनोकामनाओं की पूर्ति होती है तथा दुःख आदि भयानक आपत्तियों का सर्वथा नाश होता है। केवल यही ही नहीं, तीनों लोकों में प्रशंसा होती है। और परभव में राज्य आदि की विभूति सर्वार्थ सिद्ध पद, तीर्थंकर पद, वलभद्र चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति सुलभ होती है। जिस धर्म का उपदेश केवलीने किया है, जो अहिंसा स्वरूप और निष्पाप है, वही धर्म है। अन्य दूसरा कोई धर्म नहीं है।

वह धर्म अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग, ईर्या भाषा, एषणा आदान निक्षेपण, उत्सर्ग, मनो-गुप्ति, वचन गुप्ति, काय-गुप्ति इस तरह तेरह प्रकारका है, इसे वीतरागी मुनी धारण करते हैं। अथवा उत्तम क्षमादि दश स्वरूप परम धर्मको मोहेन्द्रिय रूपी चोरोंको परास्त करने वाले योगी धारण करते हैं। अतएव हे बुद्धिमान ! तू मुनि धर्मको धारण कर और कुमार अवस्थामें ही शीघ्र कामादि शत्रुओं को तप रूपी खड्गसे मार सदा चित्तमें धर्मका ध्यान कर धर्मसे अपने को शोभायमान कर, तू धर्म के लिए गृहका त्याग कर, धर्मके अतिरिक्त और दूसरा आचरण न कर, सदा धर्मकी शरण ग्रहण कर और धर्म में ही स्थिर रह। धर्म सदा तुम्हारी रक्षा करेगा।

विशेष वताने की आवश्यकता नहीं, अव तू शीघ्र से शीघ्र मोहरूप महान योद्धाको परास्त कर मुक्तिके लिए धर्म अंगीकार कर। इस प्रकार धर्मोपदेश करने वाले उन मुनिके वचनोंको सुनकर उसे संसार शरीर, स्त्री आदि भोगोंसे विरक्ति उत्पन्न हुई। उसने विचार किया कि परोपकारी मुनि महाराजने मेरे हित के लिये ही धर्मोपदेश किया है, अतः मुझे मोक्ष प्राप्ति के लिये शीघ्र ही श्रेष्ठ तपको ग्रहण करना चाहिये। कारण न जाने किस समय मृत्यु हो जाय, जो काल गर्भके वालकको मार डालता है, उसका क्या ठिकाना। जव यमराज अहमिन्द्र देवेन्द्र आदि महान पुण्यवानों तकको नहीं छोड़ता तव हम जैसे पुण्य हीन व्यक्तियों के जीवित रहने की क्या आशा ! वृद्ध होने पर भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये, जो

यों चिन्त्यो हिरदै परवीन, कीनो दुविध परिग्रह हीन। यथा पिशाची तन तैं जाय, आराधना मन्त्र परभाय ॥८७॥
मन वच काया दीक्षा धरी, तास ग्रहन जग इच्छा करी। सकल असार वस्तुको त्याग, स्वर्ग भक्तिदायक वैराग ॥८८॥
आर्तरौद्र दुरलेश्या जान, तातैं सब अघ करता मान। धर्म शुकल शुभ लेश्या तीन, भजैं सदा मुनिवर परवीन ॥८९॥
विकथा आदि वचन नहिं कहै, धर्मकथा निश दिन हिय गहैं। श्रुत सिद्धांत पढैं आचरैं, धर्मतनों उपदेश जु करैं ॥९०॥
गुफा मसान शैल उद्यान, निर्जन भवन वसैं गुण खान। ध्यान सिद्धि उपसर्ग प्रवीन, रहैं विराग थान चित लीन ॥९१॥
अटवी आदि ग्राम वहु देश, विहरैं सदा लोभ नहि लेश। द्वादश विध तप तपैं महान, कर्म दुष्ट अरि हतन कृपान ॥९२॥
सर्व मूल उत्तर गुण लीन, चित अडोल मुनि जगत प्रवीन। जिनवर कथित जती आचार, पालें निश दिन वहुत प्रकार ॥९३॥
मरन प्रजंत अनघ तप करी, अरु सन्यास हियैं आदरी। विकथा चार प्रकार निवार, देह आदि ममता सव टार ॥९४॥
क्षुधा तृषादि परीषह सबै, जीती धीरज धर मुनि तबै। आप वीर्यको परगट कीन, मुक्ति रमा साधक परवीन ॥९५॥
चार प्रकार आराधन धार, जतन पूर्व साधै मन धार। धर्मध्यान सौं छोड़ै प्रान, मन विकल्प वर्जित गुणधान ॥९६॥
तप व्रत फल सुर लान्तव थान, भयो महर्द्धिक[1] देव महान। अन्तमुहूरत अवधि प्रकाश, जान्यो पूरव भव सुख वास ॥९७॥
दृढ़ मन सम्यक् धार्यो जबै, धर्मसिद्धि के कारण सबै। तीन लोक जिन थानकजहां, पूजन हेत जाइ सुर तहां ॥९८॥
तीर्थंकर मुनि केवल सबै, जाइ तहां अर्चा कर नबै। इहि प्रकार वहु पुण्य उपाय, अति विभूति भुगतै गृह जाय ॥९९॥
तेरह समुद आयु परमान, पंच हस्त उन्नत वपु जान। वर्ष त्रयोदश सहस मझार, लेइ सुधा निर्मल आहार ॥१००॥

मूर्ख धर्म धारण नहीं करते, वे पाप का बोझ लेकर यमराज का ग्रास हो नरकादि योनियों में परिभ्रमण किया करते हैं अतएव भव्य जीवोंको सर्वदा धर्म का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। अपनी मृत्यु की शंका कर किसी भी समय को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये।

ऐसा विचार कर उस बुद्धिमानने वाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहोंका परित्याग कर एवं अपनी पत्नी को पिशाचिनी समझ कर मन वचन कर्म तीनों से नमस्कृत ऐसी जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली, जिससे स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग सरल हो जाते हैं। उन कनकोज्वल कुमारने आर्त रौद्ररूप खोट ध्यान तथा कृष्णादि खोटी लेश्याओंको छोड़कर धर्म ध्यान और शुद्ध लेश्या धारण की। वह चारों विकथा रूप वचनों को त्याग कर धर्म कथामें लीन हुआ। उसने ध्यान की सिद्धि के लिये राग उत्पन्न करने वाले स्थानों तथा गुफा, वन, पर्वत, श्मशान, और निर्जन स्थानोंकी शरण ली। वह धर्मोपदेश और शास्त्रोंका वहुत वड़ा ज्ञाता हुआ।

मुनि कुमारने वन ग्राम देश आदि स्थानोंमें विहार कर कर्मोको विनिष्ट करने वाला वारह प्रकारके तपोंका आचरण किया। इस प्रकार उन मुनिने मूल गुणोंका तथा शास्त्र में वर्णित संयम का मृत्यु काल पर्यन्त पालन कर अन्त समय चारों प्रकारके आहारोंका त्याग तथा शरीर का ममत्व छोड़ कर सन्यास धारण कर लिया। अन्तमें उन्होंने धैर्य्य पूर्वक भूख-प्यास आदि परिषहोंको जीत कर समाधिके समय धर्म ध्यानसे प्राणोंका परित्याग किया। उक्त तपके प्रभाव से इन्हें लांतव नामके सातवें स्वर्ग में महान ऋद्धि धारी देव पद प्राप्त हुआ और सुख प्रदान करने वाली सारी सम्पदायें उपलब्ध हुई।

इन्होंने स्वर्गमें भी अवधिज्ञान द्वारा पूर्वकृत तपोंके प्रभाव और उनके फलोंको जान कर दृढ़चित्त हो धर्मकी सिद्धि के लिये त्रैलोक्य स्थित जिनालयों एवं मुनिगण आदि की पूजा करते हुए महान पुण्यका उपार्जन किया। इस पुण्य फलसे उन्हें तेरह सागर

१. तप करके लांतवें नाम के सातवें स्वर्ग में महा ऋद्धिधारी देव हुआ, वहां भी वह सम्यग्दृष्टि शुभ ध्यान तथा जिन पूजा में लीन रहता था।
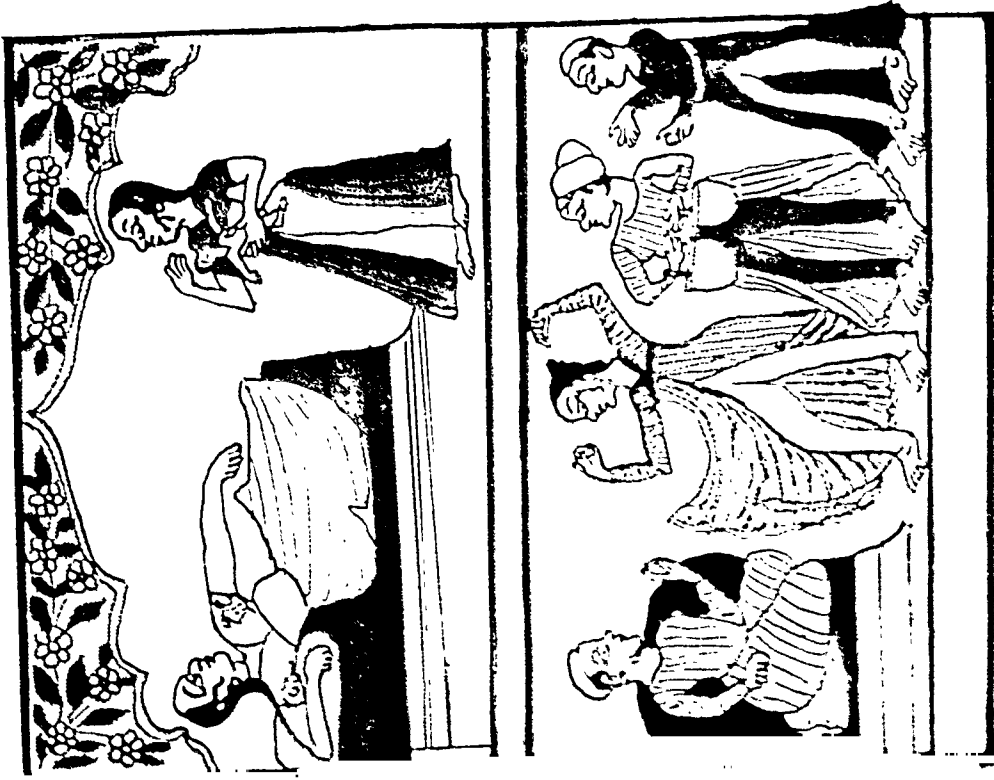
कनकोज्ज्वल का जीव स्वर्ग में उत्पन्न हुआ और वहां पर नाना प्रकार के सुखों का भोग किया।
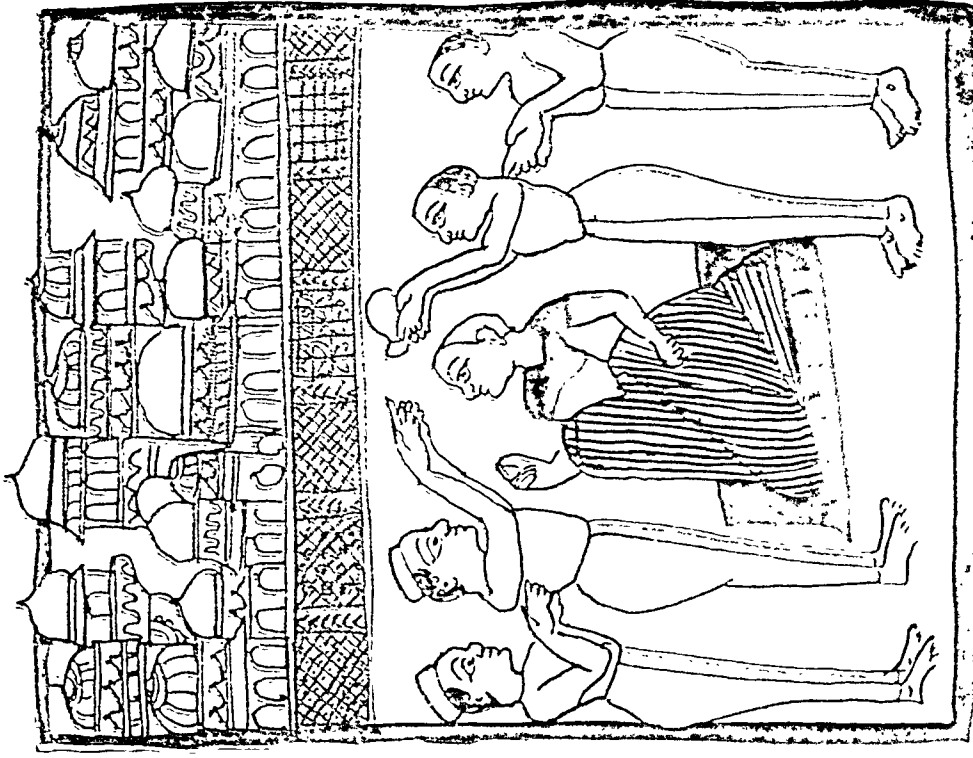
(लक्ष्मी का अभिषेक)
रानी द्वारा राजा से स्वप्नों का फल पूछना और राजा द्वारा स्वप्नों का फल बताना।
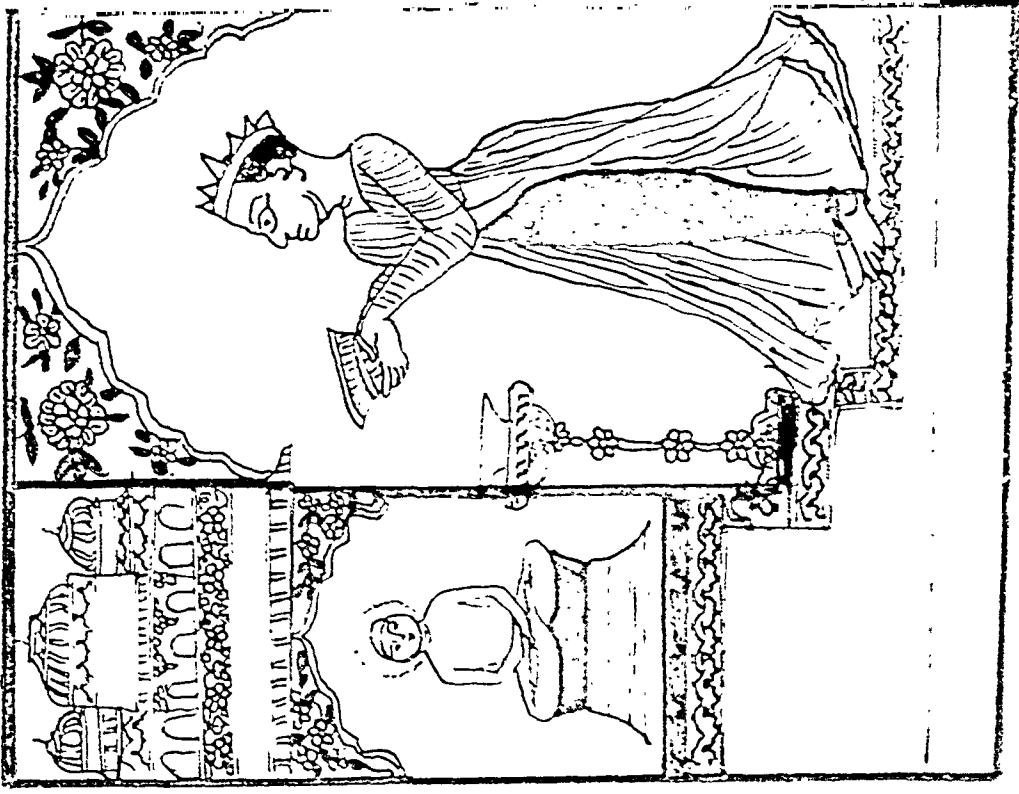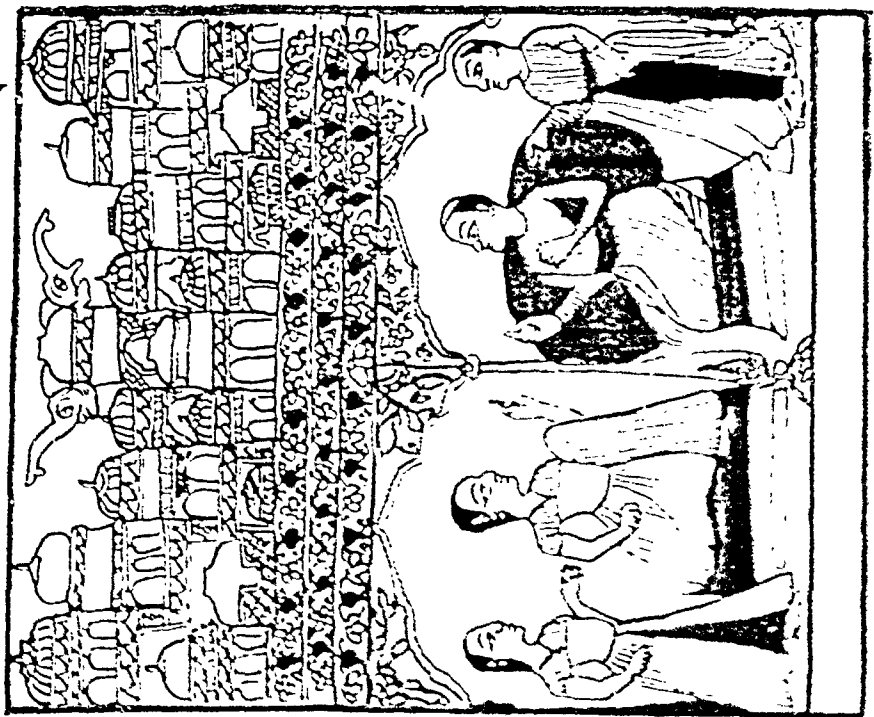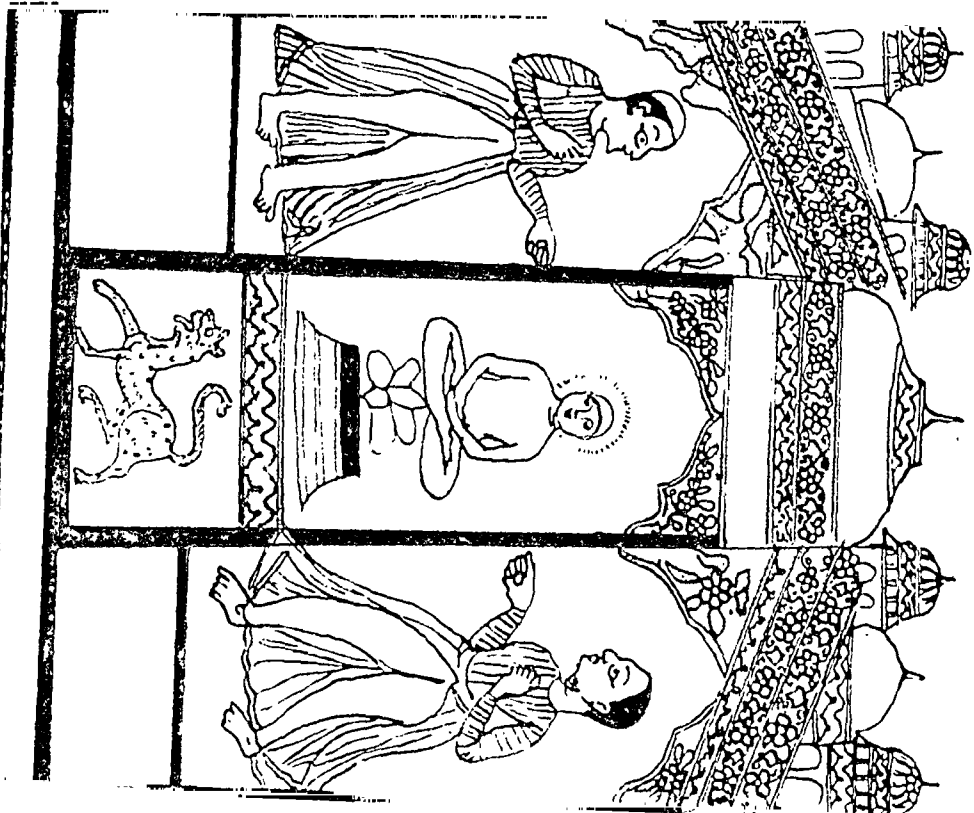
भगवान सदा सुख सागर में मग्न रहते हैं उन्हें लेश मात्र भी दुःख नही है।
और यह मनुष्य लोक उपमा रहित है यहां लोग शोक (दुख को)
त्याग कर धर्म ध्यान करते हैं।
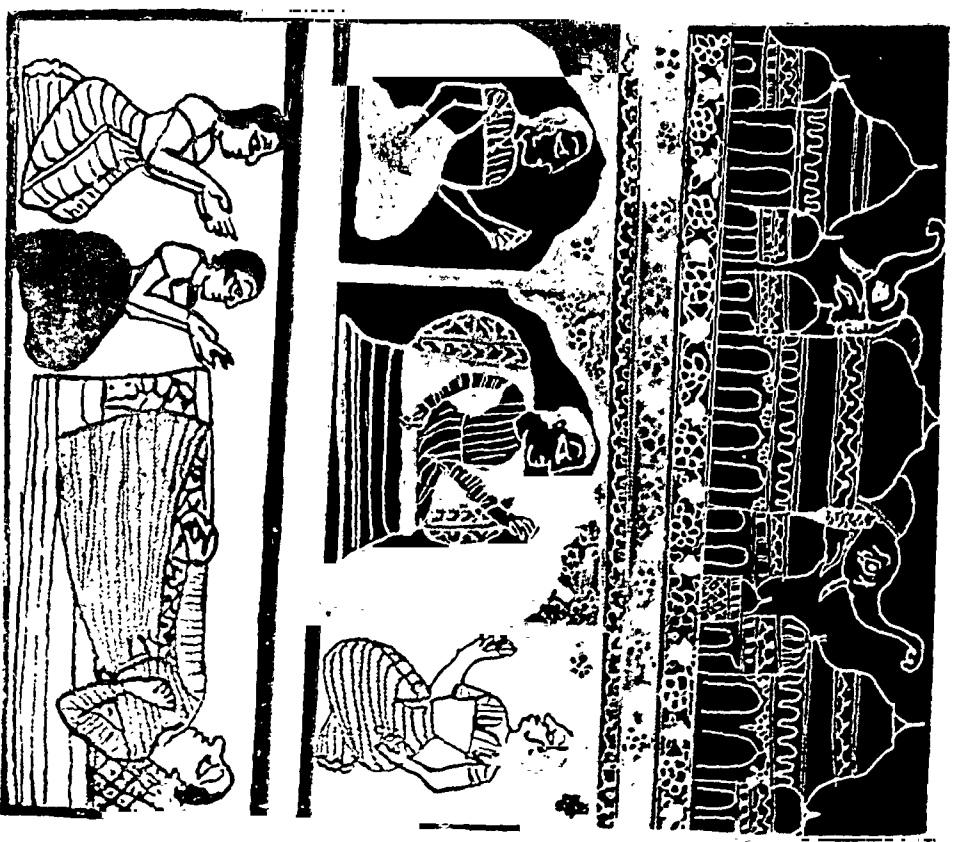
महाशुक्र नामक दशवें स्वर्ग में जाकर महर्द्धिक देव उत्पन्न
हुये, जहां देवियां उनकी सेवा करती हुई।

तेरह पक्ष वीत जब जांय, तव उसास तनसों मुकलाइ। तीजी भूमि नरक की जान, ऋद्धि विक्रिया को परमान ॥१०१॥
सप्त धातु मल स्वेद रहीत, निर्मल दिव्य शरीर पुनीत। सम्यक्दृष्टी हिये शुभ ध्यान, जिन पूजा में रक्त महान् ॥१०२॥
नृत्य गीत वादित्र अपार, मधुर शब्द सुख के करतार। भुगते बहुत भोग परधान, निशदिन देवी सहित सुजान ॥१०३॥
शुभ भावन युत मिथ्या हरैं, विविध रत्नमण्डित सुख धरैं। हर्षवन्त सुर सेवैं पाय, अमृत सागर न्हवन कराय ॥१०४॥

दोहा

याही आरज खण्ड में, कौशल देश विख्यात। अति मनोग्य अवध्यापुरी, वसैं भविक अवदात ॥१०५॥
वज्रसेन नृप तस पती, पुण्यवंत गम्भीर। शीलवती तिय तास घर, शीलशालिनी धीर ॥१०६॥
देव सुरग सों सौ चयो, सुत उपजो हरिषेण[1]। लक्षण भूपित पूर्णवपु, दिव्यकान्ति जुत जैन ॥१०७॥

चौपाई

तात मात जुत कुटुम्ब समेत, पुत्र महोत्सव कीनौं हेत। लहै पुण्यफल सुक्ख अनेक, कला बुद्धि गुण सहित विवेक ॥१०८॥
जिन सिद्धान्त हियें नित धार, सकल पदारथ वेदक सार। सबहि संपदा पूरण पाई, विविध भोग भुगतैं मन लाइ ॥१०९॥
रूप कला तन तेज अपार, गुण गरिष्ठ नाना परकार। वरषैं पक्ष मास अरु वास, देव समान लहै जस तास ॥११०॥
क्रमसौं जौवन प्रापत भयो, वहुत राज तनुजा परिणयौ। लक्ष्मी सहित पिता पद पाय, भुगते सुख नाना अधिकाय ॥१११॥
सम्यक्दर्शन शंका जाहि व्रत निरमल पालैं गृह माहि। धर्म गृहस्थ सिद्ध अनुसार, रहित प्रमाद तजैं अविचार ॥११२॥
आठैं चौदश प्रोषध करैं, सब सावद्य जोग परिहरैं। उठैं प्रात सामायिक देइ, आदि धर्मवर्धक सुख लेइ ॥११३॥

की आयु तथा पांच हाथका ऊंचा शरीर प्राप्त हुआ। वे तेरह हजार वर्ष बाद हृदयमें से झरते हुए अमृतका सेवन करते थे और छह मासके पश्चात् सुगन्धित श्वास लेते थे, उनका अवधि ज्ञान और विक्रिया ऋद्धि नरककी तीसरी भूमि तक थी। वह देव सप्त-धातु मल पसीना रहित दिव्य शरीर वाला हुआ। वह सदा सम्यग्दृष्टि शुभ ध्यानमें तथा जिन पूजामें लीन रहता था। उसे देवियों का नृत्य गीत आदि सुख सामग्रियां उपलब्ध थीं वह शुभ भावनाओंका चिन्तन करने वाला तथा देवों द्वारा पूज्य हुआ।

अथानन्तर-जम्बू द्वीपके कौशल नामक देशमें अयोध्या नामकी एक नगरी है। वह नगरी अत्यन्त रमणीक तथा भव्यजनोंसे भरी हुई है। वहांके राजाका नाम वज्रसेन था और उसकी पत्नीका नाम शीलवती था। स्वर्गसे चयकर वह देव इन दोनोंका हरिषेण नामक पुत्र हुआ। राजाने बड़े आनन्दके साथ पुत्रका जन्मोत्सव मनाया। हरिषेण कुमारअवस्थामें ही राजनीति के साथ-साथ जैन सिद्धान्तोंका बड़ा जानकार हुआ। वह रूप, गुण कान्ति आदि सभी गुणों से भूपित था। उत्तम वस्त्राभूषणोंसे हरिषेणकुमार देवके समान सुन्दर प्रतीत होता था।

पश्चात् यौवन अवस्थामें कुमारका विवाह अनेक राज्य कन्याओंके साथ हुआ। पिताने पुत्रको योग्य समझ कर राज्य-पद समर्पित कर दिया। वह बड़े आनन्दके साथ राज्य लक्ष्मीका उपभोग करने लगा। वह गृहस्थ धर्मकी सिद्धिके उद्देश्यसे बड़ी शुद्धता पूर्वक सम्यकत्वका पालन करने लगा। अष्टमी और चौदशके दिन वह पाप कर्मों को त्याग कर प्रोषध व्रतका आचरण

[1] जिस के पुण्य फल से वह अयोध्या नगरी के राजा वज्रसेन की रानी शीलवती से हरिषेण नाम का बड़ा बुद्धिमान् राजकुमार हुआ। राजनीतिक के साथ-साथ जैन सिद्धान्तों का बड़ा विद्वान् था। मैं श्रावक धर्म को भलि भांति पालता था। एक दिन विचार कर रहा था कि मैं कौन हूं? मेरा शरीर क्या है? स्त्री पुत्र आदि क्या मेरे हैं और कुछ मेरा लाभ कर सकते हैं? मेरी मृत्यु, किस प्रकार [illegible] होगी? तो मुझे संसार महाभयानक दिखाई पड़ा, वैराग्य भाव जाग्रत हो गए और श्री श्रुतसागर नामके निर्ग्रन्थ मुनि से दीक्षा लेकर मैं जैन साधु हो गया। दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तपरूप चारों आराधनाओं का सेवन करके समाधिमरण से प्राणों का परित्याग किया।

पीछे तन मंजन कर सार, पहरै धवल वस्त्रसुविचार। भाव सहित सो पूजा करै ? मन, वच, तन वसु मंगल धरै ॥ ११४॥
प्रासुक योग्यकाल में सार, दैइ सुपात्र मधुर आहार। आप जोग अपराहण काल, साधै सामायिक विधि हाल ॥ ११५॥
पीछैं जिनकेवलिकौ वृन्द, संघ सहित वंदें जगचन्द्र। शुभ कर्मन के प्रापति काज, धर्मतीर्थ वर्धक सुख साज ॥ ११६॥
तहां सुमर्ध सुन्यौ भवतार, मिश्रित तत्व आदि आचार। राग रहित तिष्ठै इमि भूप, बहुत भोग भुगतै सुख कूप ॥ ११७॥
वात्सल्य धरमी जन करै, धर्म वढ़ै मिथ्या परिहरै। दान मान बहु मुनिको देइ, प्रीति सहित गुण रंजित गेय ॥ ११८॥
जिन मन्दिर वनवावै पांति, प्रतिष्ठादि पूजा वहुभांति। जिन शासन माहात्म्य अपार, कीनौ बुध सुख वर्धनहार ॥ ११९॥
पुण्यवन्त भो भव्य महान, कीजौ इहि विध शक्ति प्रमान। जाके कछू शक्ति है नाहि, सो अनुमोद धरो मनमाहि ॥ १२०॥
इहि प्रकार वहुविध आचार, धर्म जिनेश्वर भाषत सार। मन वच काय आप संचरै, भव्यजनको उपदेश जु करै ॥ १२१॥
तीन काल पालै निजराज, न्याय धनी वरधै सुख साज। पालै प्रजा पुत्र सम जान, पुण्य उदधि उर हिय धर ज्ञान ॥ १२२॥
एक दिना कछु कारण पाइ, चिंतावंत भयौ नर राई। उदासीन भव भोग विरक्त, है विवेक धर उज्वल चित्त ॥ १२३॥
श्रुतसागर योगीश्वर नाम, श्रुत ज्ञानाभ्यासी गुण धाम। तीन प्रदक्षिण दै शिर नाय, प्रणमैं जाय मुनीश्वर पाय ॥ १२४॥
जो प्रभु कृपावन्त हिय होय, कहिए मेरो संशय खोय। लक्षण कहा आतमा तनौ, किही प्रकार जड़ चेतन भनौ ॥ १२५॥
किहि विध वंध कुटुम्व सुभाय, कारण कह दु:ख अधिकाय। कैसे सुक्ख शाश्वतौ जान, जातै विनसै आशा थान ॥ १२६॥

करता था। सवेरे शय्या त्याग करनेके साथ ही उसका सामायिक तथा स्तवन पाठ आरम्भ हो जाता था इसके वाद वह स्वच्छ वस्त्र से युक्त होकर अर्थ-धर्म काम आदिकी सिद्धिके लिये जिनालयमें जाकर देव पूजा करता था। मान कषाय आदि दुर्गुणोंसे मुक्त होकर सुपात्रोंको विधिवत दान किया करता था। उसका दान स्वादिष्ट और प्रासुक हुआ करता था।

वह जितेन्द्रिय संध्याके समय कल्याणकारक सामयिक आदि उत्तम कार्य सम्पन्न किया करता था। केवल यही नहीं वल्कि धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिके लिये वह अर्हत केवली योगीन्द्र और मुनिश्वरोंके संघ यात्रामें भी सम्मिलित हुआ करता था। वह राजा सुखोंके समुद्र जैसे तत्व-चर्चा तथा श्रेष्ठ धर्मोंका श्रवण किया करता था। उसे साधर्मी भाइयोंसे वड़ी प्रीती थी। उनके गुणोंसे मुग्ध होकर वह उनका वड़ा सम्मान करता था। अनेक प्रकार के आचरणोंका पालन करता हुआ वह राजा धर्मके पालनके फल से प्राप्त भोग्य सामग्रियोंका उपभोग करने लगा। अतएव हे भव्य पुरुषो ! यदि तुम श्रेष्ठ सुखकी उपलब्धि चाहते हो तो कठोर प्रयत्न करके भी धर्मको धारण करो।

कर्मोंको परास्त करने वाले तथा रुद्र द्वारा किये उपसर्गों को सहन करने वाले, वीरोंमें अग्रगण्य जिनेन्द्र भगवा कोनमैं नमस्कार करता हूं।

एक दिनकी घटना है। हरिषेण महाराजने विवेक पूर्वक निर्मल चित्तसे विचार किया कि मैं कौन हूँ, मेरा शरीर क्या है, और वन्धके इस कुटुम्वकी स्थिति क्या है मुझे अविनश्वर सुखको प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है, मेरी तृष्णा किस प्रकारसे शान्त होगी और संसारमें हित्-अहित क्या वस्तुएं हैं। इन विषयों पर पूर्ण विचार करनेके वाद, हरिषेण महाराजको ज्ञान हुआ कि, यह आत्मा सम्यग्दर्शन और ज्ञान चारित्र स्वरूप है और ये शरीरादि अवयव दुर्गन्धयुक्त अचेतन हैं। जिस प्रकार इस लोकमें पक्षियोंका समूह रात्रिके समय निवास करता हैं, और प्रातः सव अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री कुटुम्व आदि परिवार वर्ग भी हैं।

वस्तुत: मोक्षके अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई भी अविनश्वर सुख नहीं दिखलाई देता। पर उस सुखकी उपलब्धि इस क्षणभंगुर शरीरका ममत्व त्यागनेसे ही हो सकती है तपकी प्राप्ति भी सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्रसे ही हो सकेगी। ये मोह और इन्द्रिय विषय तो अत्यन्त अहित करने वाले हैं। अतएव आत्म-हित चाहने वालेको विना किसी प्रकारका विचार किये ही विषय सुखको तिलांजलि दे देना चाहिये और रत्नत्रय तपको ग्रहण कर मोक्षका मार्ग प्रशस्त कर लेना चाहिये।

कैसे हित अर अनहित होय, कैसे कृत्य अकृत्य विलोय । तव बोले मुनि वचन विचार, सुन भो भव्य ! धर्म चित धार ॥ १२७ ॥
दरशन ज्ञान व्रतादि अनेक, गुण जुत रूप महातम विवेक । लक्षण चेतन है जु पवित्र गंध जोग सो देह अनित्त ॥ १२८ ॥
जैसे पक्षीगण बहु मिलैं, तुंग तरुवर पै निश हिलैं । तैसे कुल कुटुम्ब परवीन, आप आप भावन गति लीन ॥ १२९ ॥
मोह महामद वश जग जीव, तासौं दुःख लहै अघ कीव । सुक्ख शास्वतौ है निर्वान, रहित परिग्रह आगम हान ॥ १३० ॥
तप रत्नत्रय सम नहीं और, हित करता जनको सब ठौर । इन्द्रिय विषय अशुभ यह थान, तासम अहित और नहि जान ॥ १३१ ॥
यह भव पर भव सुख अधिकाय, कृत्य वस्तु कोयही स्वभाव । दुःख अधिक जब नरको होइ, सो अकृत्य कारण अवलोइ ॥ १३२ ॥
यह प्रकार मुनि वच सुन सार, धरि संवेग धर्म अरिहार । देह आदि जग भोग अनेक, छोड्यौ ज्यौं जीरण तृण एक ॥ १३३ ॥
तज्यौ कुटुम्ब राज्य अरमान, जान्यौ भार यथा पाषाण । अंगीकार कियो तप साज, निजरा ग्रही सुगम मुनिराज ॥ १३४ ॥
वाहिज अन्तर परिग्रह तज्यौं, मन वच काया आतम भज्यौ । मुक्तिपुरी की इच्छा करी, जैनी दीक्षा नृप आदरी ॥ १३५ ॥
कर्म कुलाचल घातै सबै, तप वज्रायुध कर मुनि तबै । दुष्ट अक्ष अर मनको रोध, ध्यान करै शुभ सम्यक् शोध ॥ १३६ ॥
कन्दर अद्रि अरण्य अनेक, गुफा मशान वसैं मुनि एक । सिंह समान सदा विहरन्त, धर्म ध्यान धर हिरदै सत ॥ १३७ ॥
अटवी ग्राम खेटपुर जिते, विहरैं ईर्यापथ शोधते । अस्त होइ रवि अन्ध प्रवेश, दया अर्थ तिष्ठैं तहां नेश ॥ १३८ ॥
प्रावृट् काल रूखके मूल, जहां रहे व्यापै बहु शूल । लपकै दामिन झंझावाउ, वरसैं मनों वज्र को घाउ ॥ १३९ ॥
हेम काल मुनि तिष्ठें जहां, तुंग नदी तट हिमकुल तहां । ध्यान अनाहत धारे धीर, वाधागीन नहैं वर वीर ॥ १४० ॥
ग्रीषम सूर्य किरणको तेज पर्वत पीठ शिला सिर सेज । करें ध्यान उत्सर्ग महान, वाधा उष्ण अग्नि परवान ॥ १४१ ॥
इत्यादिक अन्तर तप घोर, देह कलेश कापकौ जोर । वाहिज आभ्यांतर परवीन, ध्यानाध्ययनमध्य सो लीन ॥ १४२ ॥
सबै मूल उत्तरगुण जान, पालै प्रीति सहित अधिकान । अन्त समय अनशन आदरो, समते खानपान परिहरो ॥ १४३ ॥
सम्यकदरशन ज्ञान चरित्र, तपसा दाइक मोक्ष पवित्र । यहै चार आराधन राधि, मन वच काय सु करके साधि ॥ १४४ ॥

बुद्धिमान लोग उसी कार्य पर दृढ़ रहते हैं, जिससे लौकिक और पारलौकिक दोनों ही सुखोंकी प्राप्ति होती हो। मनुष्यको वे कार्य कदापि न करने चाहिये, जिनसे दूसरोंको कष्ट पहुंचे, उनकी बुराई हो। इस प्रकार मनमें विचार कर हरिषेण महाराजको विनाशकी हुताग्निकी ओर प्रेरित करने वाले भोगों से विरक्ति उत्पन्न हुई। वह धर्म-बुद्धि हो अपने हित साधनमें संलग्न हुआ। एक दिन उसने अपने समस्त साम्राज्यको मृतिकावत समझ कर उसे परित्याग कर दिया और तप ग्रहण करनेके उद्देश्यसे घरसे निकल पड़ा। वह सर्व प्रथम उस वनमें पहुंचा, जहां अंगपूर्व श्रुतके जानकार श्रुतसागर नामके मुनि विराजमान थे। उसने वहां पहुंच कर उन्हें नमस्कार किया।

उस मोक्षके इच्छुक राजाने मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक वाह्य और अन्तरंग परिग्रहोंका परित्याग कर वहीं प्रसन्नतासे जिन-दीक्षा धारण कर ली। उसने पुनः कर्म रूपी पर्वतोंको ध्वस्त करनेके उद्देश्यसे तप रूपी वज्रका आश्रय ग्रहण किया और इन्द्रिय-मन रूपी वैरियोंको परास्त करनेके लिये प्रशंसनीय शुभ धर्मको धारण किया। वे मुनि स्वयं सिंहके सदृश धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यानकी सिद्धि प्राप्त करनेकी आकांक्षासे पर्वतों, गुफाओं, वनों और श्मशान आदि स्थानोंमें निवास करने लगे। उनकी दिनचर्या यह हो गयी कि दिनके समय तो वनादि स्थानोंमें विहार करते थे और सूर्यके अस्त हो जाने पर रातको ध्यानादि धारण करते थे। वे योगीराज सर्प आदि हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए स्थानों में हवा और अग्नि भयंकर वर्षामें भी वृक्षके नीचे ध्यान लगाकर बैठते थे।

शीत कालमें चौराहे पर तथा नदीके किनारे उनकी ध्यान-समाधि लगती। वे शीत-गर्मीकी बाधाको सहने में सर्वदा समर्थ हुए। वे ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी किरनोंसे तप्त पर्वतकी शिला पर अपने ज्ञानरूपी जलसे भीषण आतापको शान्त कर आसन लगाते थे। केवल इतना ही नहीं, वे ध्यानकी सिद्धि के लिये कठिन कायक्लेश वाह्य तपका पालन करने लगे। उन्होंने अभ्यंतर

तप सुध्यान सौं छोडें प्रान, धरि समाधि हिरदे शुभ ज्ञान । महाशुक्र सुरगै सो गयो, तप फल देव महर्द्धिक भयो ॥ १४५ ॥
संपुट शिलागर्भ तंह ठयो अन्तमुहूरत यौवन लयौ । अम्बर भूषित सहज सुभाय, सात धातु मल रहित सुकाय ॥ १४६ ॥
अति गरिष्ठ निज लक्ष्मी देख ता छिनअवधिज्ञान सो लेख । जानो पूरवसो विरतंत, परभवतनो धर्म फल संत ॥ १४७ ॥
तातैं धर्मसिद्धके काज, गये जहां जिनमन्दिर राज । प्रणमैं फिर कीनी शंकरी, कल्याणक करता गुण भरी ॥ १४८ ॥
अष्ट द्रव्य जल आ दिक लेह, जिनवर आगे अर्घ धरेह । भक्ति करी युत देवन जिती, उपमा वरण सकै को किती ॥ १४९ ॥
पीछे मनुज लोकमें आय, जिनमन्दिर पूजै सव जाय । वन्दै मुनी सुनी, श्रुत वानि, वर्धक पुण्य पापकी हानि ॥ १५० ॥
वहु विध सुनै धर्म उपदेश, चारित व्रत जहं होय न लेश । षोडश जलधि आयु परवान, शुभ लेश्या वर चित्त महान ॥ १५१ ॥

दोहा

तुर्य अवनि पर्यन्त लो, वस्तु चराचर जान । तित हीलौं है विक्रिया ऋद्धितनौं परभाव ॥ १५२ ॥
वरस सहस षोडश गये, लेहि सुवर आहार । आठ मास जव, वीतहीं गन्ध उसास विचार ॥ १५३ ॥
पूरव तप फल जानिये, दिव्य देह रति देव । वहु विभूक्ति संयुक्त सुख, करहि अप्सरा सेव ॥ १५४ ॥

गीतिका छन्द

इति भांति सुकृत विपाक फल कर राज्यलक्ष्मी लहि अति । सुक्ख निरुपम सार सुन्दर, भोग भुगतै नरपति ॥
तप चरणसौं फिर पाय सुरपद ऋद्धि वसुमण्डित सही । इमि धारि शिवपद चाह तिनकै, परम धरम सुध्यावही ॥ १५५ ॥
धर्म वहुविध कहिव पूरव, धर्म तिन पूरव भजौ । धर्म निर्मल चरण व्रत है, धर्म नमि पापहि तजौ ॥
धर्म तैं नहि अपर कोई धर्म शरण सहाय है । धर्म भव भव करहि रक्षा धर्म सव सुखदाय है ॥ १५६ ॥

इति श्री कविरत्न नवलशाह विरचित भाषा छन्दोवद्ध वर्द्धमान पुराण में सिंहादि आठ भवों का वणन करने वाला चतुर्थ अधिकार पूर्ण हुआ ।

रूप उत्तर मूल गुणोंका पालन करते हुए मृत्युके समय आहार और शरीर से ममता परित्याग कर अनशन तप ग्रहण कर लिया । बादमें वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र तपरूप चारों आराधनाओंका सेवन कर समाधिमरणसे प्राणोंका परित्याग कर, उसके फल स्वरूप महाशुक्र नामक दसवें स्वर्गमें महान ऋद्धिधारी देव हुए । वहां अन्तर मुहूर्तमें ही उन्हें यौवनावस्थाकी प्राप्ति हो गयी । वे एक दिव्य धातु-मल रहित शरीरधारी देव हुए ।

देव रूपमें उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हुआ । उसने अपने अवधिज्ञानसे पूर्वकृत धर्मके फलसे प्राप्त विभूतियोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया । वह धर्मकी सिद्धिके लिये, जिन मन्दिरोंमें जाकर सर्व जगतका कल्याण करनेवाली जिन भगवानकी अष्ट द्रव्योंसे पूजा किया करता था । पुनः मध्य लोकके जिन चैत्यालयौंकी पूजा कर और जिनवाणीका श्रवण कर उसने श्रेष्ठ पुण्यका उपार्जन किया । उस धर्मप्रेमी देवको सोलह सागर की आयु प्राप्त हुई और उसका शरीर चार हाथ ऊंचा हुआ । उसके शुभ परिणामसे देवको अवधिज्ञानसे चौथी नरक की भूमि तकका अविज्ञान था और वहीं तक उसे विक्रिया शक्ति प्राप्त थी । सोलह हजार वर्ष व्यतीत होने पर वह अमृतका आहार करता था तथा सोलह पक्ष व्यतीत होने पर सुगन्धमयी श्वास लेता था । इस प्रकार पूर्वमें तपश्चरणके प्रभावसे उसे दिव्य भोगोंकी उपलब्धि हुई । वह देवियोंके साथ विभिन्न भोगोंका उपभोग करते हुए सुख-समुद्रमें संलग्न रहने लगा ।

राजा सुमित्र ने रानी सुप्रभा के स्वप्नों का फल वर्णन किया,
तत्पश्चात रानी जिन मंदिर में दर्शन करने गई

पंचम अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

वीर धीर गण सुभट निज, हन्यौ कर्म सन्तान। रौद्र परीषह जीत यौं, वन्दौं दायक ज्ञान ॥१॥

चौपाई

सदा मग्न सुख सागर मांहि, तिष्ठै देव लेश दुख नाहि। उपमा रहित मनुज यह लोक, धर्म ध्यान पावैं तन शोक ॥२॥
दूजौ द्वीप धातकी खण्ड, पूरव दिशा दिपै परचण्ड। पूर्व विदेह सु उत्तम थान, देश पुष्कलावती बखान ॥३॥
पूरव व्रत वर्णन सव जान, पुण्डरीक नगरी सु महान। सदा शाश्वती अति विस्तार, वरणत कौन लहै बुध पार ॥४॥

दोहा

काल चतुर्थ सदा तहां, द्विज कुल होय न रंच। आयु कोटि पूरवतनी, देह धनुष शत पंच ॥५॥

चौपाई

पति सुमित्र भूपित नर ईश, नावैं वहुंत राय ता शीस। नाम सुव्रता रानी तास, शीलवंत व्रत [illegible] तास ॥६॥
एक दिना निश पच्छिम याम, पंच स्वप्न देखै अभिराम। चंद्र दिवाकर मेरु उतंग, सजल सरोवर सिंधु तरंग ॥७॥
उठी प्रात आई प्रिय पास, रात स्वप्न फल पूछै जास। सब नरेन्द्र बोले विहसंत, तुम सुत ह्वै है जगत महंत ॥८॥
चंद्र स्वप्न फल निर्मल गात, सूरज तेजवंत अरिघात। मेरु समान गरिष्ठ जु होय, सजल सरोवर बहुगुन सोय ॥९॥
सागर सम गंभीर अपार, वहुत राय आज्ञा शिर धार। सुनै स्वप्न फल हिय विहसंत, जिनमंदिर फिर गई तुरन्त ॥१०॥
महासुक्र सों चयकर सोय, गर्भवास लीनों तहं जोय। नमौं मास जव पूरण भयो, शुभ दिन लग्न जन्म तव लयो ॥११॥
नाम दियौ प्रियमित्रकुमार[१], सव जनको प्रिय करता सार। मात पिता अति आनन्द कियौ, वंदी जनै दान वहु दियौ ॥१२॥
वजै मृदंग ताल कंसाल, पटह आदि वादित्र रसाल। वनवाये जिन सदन अनेक, कीनी पूजा महाभिषेक ॥१३॥

सहन किये उपसर्ग वहु, करि विनष्ट निज कर्म। वन्दों जिनवरको सदा, जो है साधन-धर्म ॥

पूर्व विदेहमें पुष्कलावती नामका एक देश है। जहां पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है। वहां सदा ही चक्रवर्तियोंका निवास रहा है। वहांके राजाका नाम सुमित्र था और उसकी अत्यन्त शीलव्रत धारिणी सुव्रता नामकी रानी थी। [illegible] स्वर्गसे चलकर उन दोनोंका प्रिय मित्र नामका पुत्र हुआ। वह सवका प्यारा था। पिताने पुत्र उत्पन्न होनेकी खुशीमें [illegible]

चक्रवर्ती पद

१. आज का संसार भी स्वीकार करता है कि जैनी अधिक धनवान् और आदर सत्कार पाते हैं। इसका कारण उनका त्याग, [illegible] और अर्हन्त भक्ति है। जब थोड़ी सी अर्हन्त पूजा करने, मोटे रूप से हिंसा को त्यागने तथा श्रावक धर्म को पालने से अपार धन, [illegible] अतिसुन्दर स्त्री, महायश और सतकार, निरोग शरीर की बिना इच्छा के भी तृप्ति हो जाती है तो भरपूर राजपाट और [illegible] भी जो इनको सम्पूर्ण रूप से बिना किसी दबाव के त्याग करके भरी जवानी में जिन दीक्षा लेकर कठोर तप करते हैं उनको इस लोक में [illegible] और परलोक में स्वर्गीय सुख की प्राप्ति में क्या सन्देह हो सकता है? मन्द कषाय होने और मुनि धर्म पालने का फल [illegible] समाप्त होने पर मैं विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम के देश में पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र की रानी सुव्रता के प्रियमित्रकुमार [illegible] सम्राट हुआ। ९६ हजार रानियां, ८४ लाख हाथी, १८ करोड़ घोड़े, ८४ हजार पैदल मेरे पास थे। [illegible] ३२ हजार मुकुट बन्द राजा और १८ हजार मलेच्छ राजा मेरे अधीन थे। मनवांछित फल की प्राप्ति करा देने वाले [illegible] जिनकी रक्षा देव करते थे, मैं स्वामी था।

मैं रात दिन किये गये अशुभ कर्मों को सामायिक द्वारा नष्ट करता और साथ ही उनकी निन्दा करता था कि [illegible] हो गये? इस प्रकार मैं शुभ क्रियाओं द्वारा धर्म का पालन करता था और दूसरों की रुचि धर्म में [illegible] था।

एक दिन मैं परिवार सहित तीर्थंकर श्री क्षेमङ्कर जी की वन्दना को उनके समोशरण में गया। भगवान् के मुख से [illegible] स्वरूप सुनकर मेरे हृदय में वीतरागता आगई और छः खण्ड के राज्य तथा चक्रवर्ती विभूतियों को त्याग कर जिन दीक्षा लेकर [illegible] हो गया।

कल्याणक कर्ता सुखदाय, वहुविध कियौ महोत्सव राय। द्वितिय चंद्रसम वृद्धि कराय, जन आनन्दकरण सुखदाय ।।१४।।
पय जल अन्न वस्तु परतेक, भुगतै अतिशय रूप अनेक। क्रमसों कुंवर सयानो भयौ, जसकीरति जग वाढ़त गयो ।।१५।।
दिपै काम तन भूषत इसी, दिक्कुमारकी उपमा जिसी। तव सो तात अध्यापक राज, दीनी कुँवर पढ़ावन काज ।।१६।।
पढ़ी सार वानी जिनतनी, विद्या धर्म अर्थ सूजनी। विद्या सवै पढ़े सुकुमार, जो संसार चतुर्दश सार ।।१७।।
यौवन समय पिता पद पाय, महामण्डलेश्वर नृपराय। लक्ष्मी वहुत तासके गेह सुख समूह भुगते धर नेह ।।१८।।
पूरव पूण्य प्रकट अव थाय, वहु विभूति गृह उपजी आय। चक्र आदि सव रत्न महान् नौनिधि सुखदायक परवान ।।१९।।
भूचर खेचर व्यतंर देव, छहों खण्ड साधै स्वयमेव। कन्या रतन वस्तु जो सार, तिन दीनौ पदसों शिरधार ।।२०।।
अमर राज वत कीड़ा करै, सुरपुर समपुर शोभा धरै। खग भुमि लक्षराय की सुता, परणी परम पुण्य संयुता ।।२१।।
सहस छ्यानवै रूप अपार, नाटकनी वत्तीस हजार। परम विभूति अधिक निरभंग, सेना है वलवंत अभंग ।।२२।।
आठ जाति के भूपति सवै, तिनको भेद सुनो कछु अवै। कोट गांव को भूपति होय, मुकुट वंध कहियत है सोय ।।२३।।
नवें पांच सो राजा जास, अध राजा तासों परगास। सहस राय नावें ता शीश, महाराज कहिये अवनीश ।।२४।।
दोय सहस नृप प्रणमैं पाय, कहिये अर्ध मंडली राय। चार सहस जा सेवा करें, सोई मंडलीक पद धरै ।।२५।।
आठ सहस नृप सेवें जास, महामण्डलीक कहिये तास। सोलह सहस नवें नृप शीश, अधचक्री नायक नर ईश ।।२६।।
भूचर खेचर राजा सार, मुकुटवंध वत्तीस हजार। चक्रपती की आज्ञा धरै, नमैं पाय सव सेवा करैं ।।२७।।
म्लेच्छखण्ड वसुधाधिप जान, सहस अठारह हैं परवान। सेवैं चरण-कमल धरिनेह, चक्री तनो पुण्य फल तेह ।।२८।।
गणवद्धाधिप देव महान, सोलह सहस नमैं तज मान। नर विद्याधर अमर अनेक, चक्रीपद पूजें मन एक ।।२९।।
हस्ती तुंग मनोहर भाख, हैं प्रमाण चौरासी लाख। तितनै ही रथ लीजै जोड़, चपल तुरंग अठारह कोड़ ।।३०।।
आतुर गामी पयदल जान, चौरासी सुकोड़ परवान। प्रणमें नित चक्रीश्वर पाय, यह वर्णन जानौं समुदाय ।।३१।।

संपूरन सुख भोगवै, चक्री नित प्रियमित्त। तस विभूति वल वरनऊं, यथा शक्ति मो चित्त ।।३२।।

चौदह रत्नों का वर्णन।

चक्र चर्म मणि काकिणी, दण्ड छत्र असि नाम। ये अजीव सातों रतन, चक्रवर्ती के धाम ।।३३।।
सेनापति वनिता नृपति, गृहपति नाग तुरंग। प्रोहित मिल सातौं रतन, ये सजीव सरवंग ।।३४।।
चक्र दण्ड असि छत्र ये, आयुधशाला होत। चर्म काकिणी मणि रतन, श्रीगृह लहैं उदोत ।।३५।।
वनिता गज हय तीन ये, रूपाचल पर जान। सेनापति गृहपति स्थपति, प्रोहित निजपुर थान ।।३६।।

अर्हंत भगवानकी महान पूजाका आयोजन किया। उसने चारों प्रकारसे दान दिया और वाजे वजवाये। प्रियमित्र कुमार क्रम-क्रमसे वढ़ने लगा। वह शोभा और भूषणोंसे सुशोभित देवों जैसा शोभायमान हुआ।

पश्चात उस कुमारने धर्म और पुरुषार्थकी सिद्धिके उद्देश्यसे जैन गुरुके पास जाकर विद्यारम्भ किया। शास्त्र अध्ययनके साथ उसने राज-विद्याका भी अध्ययन किया। अवस्था होने पर उसने लक्ष्मीके साथ पिताके पदको प्राप्त किया। उसका जीवन सुख पूर्वक व्यतीत होने लगा। उस समय कुमारके पुण्योदयसे उसे अपूर्व निधियां प्राप्त हुईं। उसने उत्कृष्ट सम्पदा और छः अंगों वाली सेनाओंको प्राप्त किया। थोड़े ही समयमें कुमारने विद्याधरों और मागधादि व्यन्तर देवोंके स्वामियों को चक्रसे अपने वशमें कर उनसे कन्यायें आदि लेकर इन्द्रके समान शोभायमान हुआ।

युद्ध-यात्रा समाप्त कर वह राजकुमार चक्रवर्ती होकर अपनी पुरीमें लौटा। वड़े उत्साह पूर्वक मनुष्य, विद्याधर, व्यन्तरदेवोंके स्वामियोंके साथ उसने इन्द्रपुरी जैसी नगरीमें प्रवेश किया। पुण्यके फल स्वरूप इस चक्रवर्तीने भूमिगोचरी और विद्याधरोंकी छ्यानवे हजार कन्याओंसे विवाह किया। इस चक्रीके आदेशको सिर पर धारण कर वत्तीस हजार मुकुट-वद्ध राजा उसका पालन करते थे।

चक्रवर्ती राजा प्रिय मित्र कुमार के चौदह रत्नों का वर्णन।

नन्द राजा ने दीक्षा धारण करके घोर तप किया
जिससे उन्हें अवधिज्ञान हो गया।

चक्रवर्ती सेना का कुल वर्णन ९४६९६०००००

प्रभु का समवशरण

चक्रवर्ति की नवनिधि ।

सुमित्र राजा की रानी सुव्रता तथा उनके सैन्य, नौनिधि तथा घोड़े, हाथी आदि।

यक्षों के द्वारा नौनिधि की रक्षा और त्रिपृष्ठ राजा की सैन्य।

छप्पय

प्रथम सुदर्शन चक्र खण्ड छह सावन समरथ, चरम दूसरो जान वज्रमय नीर भेद पथ।
मणि काकिणि ये रतन चन्द्र सूरज सम दोई, लिखकैं गुफा मझार जाय साधन नृप सोई॥
खूले दण्ड सों द्वार गिरि, छत्र ज्योति अविकाइ हित। चन्द्रहास असि देख तन, वैरीगण भजि जाय नित॥३७॥
सेनापति अति शूर करत दिग्विजय निरन्तर, वनिता चेतन रतन महा बल धारत अन्तर।
स्यपति भद्रमुख नाम कलाको विद अधिकाई, हुकम पाय गृहपति तुरत गृह देत बनाई॥
गज रण में जय को करै, हम चढ़ि गुफा निहारिये। प्रोहित वर विद्याधनी, यह गुण रतन विचारिये॥३८॥

दोहा

अब प्रतेक नौ निधि तनें, कहौं नाम गुण रूप। जैनी बिन जानैं नहीं, इनको सहज स्वरूप॥३९॥

नवनिधि वर्णन।

प्रथम काल निधि जानिये, महाकाल पुनि दोय। नैसर्पिक पाण्डुक पदम, मानव पिंगल सोय॥४०॥
आठम शंख निधान निधि, सर्व रतन नम येह। कहीं जिनागम के विषैं, वरणों गुण कछु तेह॥४१॥

पद्धति छन्द।

अब प्रथम कालनिधि गुण अपार, पुस्तक अनेक दातार सार। मुनि महाकाल दूजो मनोग, असि मषि साधन सामग्री जोग॥४२॥
तीजी नैसर्पिकि निधि महान, नाना विध भाजन रत्नखान। चौथी निधि पांडुक नाम सोय, रस धान्य समर्पै सकल तोय॥४३॥
निधि पद्म पांचवीं सुक्ख खान, मनवाँछित देय जु वसन दान। मानव निधि छठवीं परम हेत, सो आयुध जानि अनेक देत॥४४॥
सप्तम निधि पिंगल शुभ अनूप, सव भूषण दायक सहज रूप। निधि शंख आठवीं वहु पुनीत, वादित्र सकलदायक सुनीत॥४५॥
निधि सर्व रतन नवमी वखान, सो सर्व रतन तापर निदान। तिन एक एक प्रति सहस एक, रखवारे जहं प्रापत अनेक॥४६॥

दोहा

ये नौ निधि चक्रेश की, शकटाकृति संठान। आठ चक्र संयुक्त शुभ, चौखूंटी सब जान॥४७॥
जोजन आठ उतंग अति, नव जोजन विस्तार। बारह मिति दीरघ सकल, बसैं गगन निरधार॥४८॥

नगरादि वर्णन।

पद्धडि छन्द

शासुतै सहस बत्तीस देश, धन कन कंचन पूरण विशेष। बाड़े चहुंओर जु विपुल बाड़ि, ते कोट छ्यानवैं गांव मांहि॥४९॥
है कोट सु गिरदा द्वार चार, छव्वीस सहस पुर इमि विचार। जिन लगें पांचसै गांव भूर, ते चार हजार मटम्ब पूर॥५०॥
गिरि नदी पैठ सोलह हजार, वे खेट कहै जिनमत मंझार। केवल गिर वेढ़े चहूं ओर, कर्वट हजार चौबीस जोर॥५१॥
पट्टन हजार अड़ताल जान, उपजैं जहं बहुविध रत्न खान। इक लख द्रोणामुख सहस घाट, ते वसत समुद्रतट सुभग ठाट॥५२॥
गिरि ऊपर सम वाहन वखान, चौदह हजार मन हरण थान। अठवीस हजार दुरंग मांहि, रिपुको प्रवेश तहं रंच नांहि॥५३॥
उप समुद मध्य जानो महान, तहं अन्तद्वीप छप्पन प्रमान। रतनाकर पुर छब्बिस हजार, बहुसार वस्तु की सो भण्डार॥५४॥
शुभ रतन कुछक सूसात लेख? जहं रतनधरा चहुं ओर देख। ये पुर राजैं सब आप जोग, जिनधर्मी तन तहँ वसैं लोग॥५५॥

इस चक्रवर्तीके यहां चौरासी हजार पैदल पुरुष थे और हजार गण बाले देव थे। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंका समूह इसके चरण-कमलोंकी पूजामें सदा लीन रहता था। सेनापति, स्थपति, स्त्री, हर्म्यपति पुरोहित, हाथी घोड़ा, दण्ड, चक्र चर्म, काकिणी, मणि, छत्र, असि ये चौदह रत्न उसे प्राप्त थे, जिनकी देव लोग रक्षा करते थे। काल, महाकाल, नैसर्प

शरीर वर्णन।

दोहा

प्रथम चतुरसंस्थान सम, वज्रवृपभनाराच। हेम वरण व्यंजन सहित, तन निरोग मधु वाच ॥५६॥

अन्य विभूति वर्णन।

एक कोट हल क्षीर के, खेती करहि किसान। कामधेनु गोकुल विविध, तीन कोट परवान ॥५७॥
कोट थाल कंचन तने, चक्री नृप के गेह। छहों खण्ड भूपति सकल, तिनतैं अतिवल देह ॥५८॥

वल वर्णन।

चौपाई

अव सुन मनको भदाभेद, जातैं नासैं मन को खेद। वारह मनुप गहै वल जितौ, एक वृपभ में वरते तितौ ॥५९॥
जो वल वारह वृपभ मझार, तितनौ एक तुरंग मझार। जो तुरंग वारह वल लियै, जो वल एक महिप के हिये ॥६०॥
महिष पांच सौ जो वल धरैं, सो गजराज सहस ता करै। जो वल सौ गंयद सरवंग, सोई एक सिंह के अंग ॥६१॥
सिंह पांच सैं जो वलवान, सो वलभद्र एक में जान। दो वलभद्र धरैं वल जोय, सो नारायण के तन होय ॥६२॥
नौं नारायण वल धारंत, सो चक्री तन होय तुरंत। चक्री कोट होय वल जितौ, सोई एक देव परिमितौ ॥६३॥
जो वल कोट देव के अङ्ग, तितनौ एक इन्द्र सरवंग। तीर्थंकर अद्भुत वल कही, तन परमाणु उतने वही ॥६४॥

दोहा

सहस छ्यानवै विक्रिया, धारत चक्री अङ्ग। मति श्रुत अवधिजु ज्ञान त्रय, पूरव धर्म अभंग ॥६५॥

मुख्य सम्पदा वर्णन।

छन्द चाल

अव मुख्य सम्पदा जोई, आगै सुनियो भवि सोई। सिंह वाहन सेज मनोगा, आरूढ़ चक्रपति जोगा ॥६६॥
अति आसन तुंग वखानौ, मणि जाल जटित परवानौ। सुर ढोरत चमर अनूपा, गंगा जल लहर सरूपा ॥६७॥
विद्युत मणि कुण्डल सोहै, द्युति देखत सुरनर मौहै। वर कवच अभेद महाना, जामैं न भिदै रिपु वाना ॥६८॥
विपमोचक पादुक दोई, पद पद विपमुंचत सोई। अजितंजय रथ सुखदाई, जलपै सो थलवत जाई ॥६९॥
पुनि वज्रकाण्ड धर चापा, सु चढ़ावत नरपति आपा। अमोघ वाण हाथ में लेई, रण में जय को सो देई ॥७०॥
तुंडा अति विकट महाना, पुन खण्डन शक्ती जाना। सिंहाटक वरछी सौहै, ताको नर देखत डोहै ॥७१॥
छुरी लोहवाहनी जानौ, दामिन गण चमकत मानौ। ये वस्तु सवै भूथाना, चक्री तज होत न आना ॥७२॥
दल मै ले सव गिरदाई, भू वारह योजन थाई। वारह विध आनंद भेरी, वारह जोजन ध्वनि घेरी ॥७३॥
है वज्रघोप जिस नामा, वारह पट नृप के धामा। गंभीरावर्त गरीसा, शख शोभन रूप चौवीसा ॥७४॥
रमणीक ध्वजा वहु दीसा, मिति कोट जु अड़तालीसा। इत्यादिक वस्तु अपारा, सव वरणत लहै न पारा ॥७५॥

पाण्डुक, नैसर्य, माणव, शंख, पिंगल ये नौ निधियां भी प्राप्त थीं, जो चक्रवर्तीके घरमें भोगोपभोगकी सामग्रियां प्रस्तुत करती रहती थीं।

चक्रवर्तीका पुण्य इतना प्रवल हुआ कि छयानवे करोड़ ग्राम तथा योग्य सम्पदायें इसे प्राप्त हुईं। मनुष्य देवों द्वारा उसकी पूजा होने लगी और दशांग भोगकी सामग्रियोंका वड़े आनन्द पूर्वक उपभोग करने लगा। आचार्यका कथन है कि, धर्म-साधनसे ही इस जीवके समग्र मनोरथोंकी सिद्धि हुआ करती है। अर्थ धर्म कामकी सम्पदायें और मोक्षकी इसीसे प्राप्ति होती

चार पर्व प्रोपध को धरै, निपदिन सदा पाप परिहरै। निरारम्य हिरदै शुभ ध्यान, अशुभ ध्यान की कीनो हान ॥९६॥
हेम रतनमय जिनगृह सार, करवाये बहु तुंग विचार। अर प्रतिमा कीनो जिन तनी, भक्ति प्रतिष्ठा आदिक घनी ॥९७॥
अष्टद्रव्य जल आदिक जान, बहु सामग्री सहित महान। श्री तीर्थंकर पूजा करै, तिन गुण कारण कर सिर धरै ॥९८॥
मुनिको प्रासुक देई अहार, विधिपूर्वक अति शुद्ध विचार। भक्ति सहित वंदै नरईश, कीरति पुण्य बढ़ै जग शीस ॥९९॥
जहँ निर्वाण भूमि जिनतनी, तथा बिम्ब अरुमुनि शिर मनी। जाय तहां मुनि वन्दन हेत, धर्म धनी वर भक्ति समेत ॥१००॥
सुनै केवली वचन पुनीत, तत्व अर्थ गर्भित गुणरीत। श्रावक जती धर्म सुखदाय, भेदाभेद कह्यौ समभाय ॥१०१॥
सामाइक विध पालै सोय, निशदिन छहों काल जुत होय। निज निन्दा परिगर्हा करै, मन विवेक बहु धीरज धरै ॥१०२॥
इन्हें आदि जे शुभ आचार, करै धर्म धर हियै विचार। देहि और को शुभ उपदेश, भविजन प्रीति सुजगत महेश ॥१०३॥

दोहा

ज्यों वारिज जल में वसै, करै न उससे प्रीत। त्यों चक्री संपति घनी, चलै धर्म की नीत ॥१०४॥

जोगीरासा।

एक समै चक्री नर-नायक, सब परिवार समेत। सीमंधर मुनि समोशरण, थित गये वन्दना हेत॥
तीन प्रदक्षिण दे शिर नायौ, पूजा विधि वसु कीनी। भक्ति सहित गणराज प्रणामैं, नरकोठा थिति लीनी ॥१०५॥
ताहित जिन दिव्यध्वनि सुंदर, गणधर प्रति परकाशी। द्वादश विध अनुप्रेक्षा चिंतन, धर्म-दुविध तहां भासी॥

बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन[1]

आयुष पूरण वपु भोगादिक, राज्य रमा सुख साध्यौ। दामिनि सम सो चंचल दीसै, तातैं शिव आराध्यौ ॥१०६॥
मरण कलेशदुखादिक भारी, जीव सहै नित सोई। यातैं धर्म धरो भवि दृढ़ मन, शरण न जग में कोई॥
दुःख दुरित जुत कर्म फिरावत, जगतैं जान न देवें। तातैं यह संसार भ्रमण तज, रत्नत्रय व्रत सेवें ॥१०७॥

राज्य-हितके लिये वह मुनियोंको प्रासुक आहार-दान भी दिया करता था। कभी कभी तीर्थंकर गणधर और योगियोंकी वन्दना पूजाके लिये यात्रा किया करता था। वह चक्रवर्ती सर्वदा अंग पूर्वके ग्रंथोंको श्रवण करता तथा दोनों प्रकारसे धर्मके स्वरूप को विचार करता था।

वह रात दिन किये गये अशुभ कर्मोको सामायिक आदि शुभ कार्यों द्वारा नष्ट करता और साथ ही अपनी निन्दा करता था कि, आज मैंने ये पाप किये। इस प्रकार वह शुभ क्रियाओंके द्वारा धर्मका पालन करता था, और दूसरोंको उपदेश देता था।

एक दिनकी घटना है। उसदिन वह चक्रवर्ती राजा अपने परिवारवर्गके साथ क्षेमंकर जिनेश्वरकी वन्दना करनेके लिये गया। वहां पहुंच कर उसने केवली भगवानकी तीन प्रदक्षिणा देते हुए मस्तक नवाकर जलादि आठ द्रव्योंसे उनकी पूजा की और मनुष्योंके कोठेमें जाकर बैठा। उस चक्रवर्तीके हितके लिये वे भगवान अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा बड़ी प्रीतिके साथ धर्मोपदेश करने लगे। उन्होंने कहना आरम्भ किया—संसारके आयु, लक्ष्मी भोग आदि इन्द्रिय जन्य सुख विद्युतके समान क्षणभंगुर और विनश्वर हैं, अतएव भव्य जनोंको सदा मोक्षका ही सेवन करना चाहिये। संसारमें जीवको मृत्यु रोग क्लेश

---

१. अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति, हथियन के असवार। मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार॥

स्त्री, पुत्र, धन आदि संसार के सारे पदार्थ नष्ट होने वाले हैं। जब देवी-देवता और स्वर्ग के इन्द्र तथा चक्रवर्ती सम्राट सदा नहीं रह सके तो मेरा शरीर कैसे रह सकता है? केवल आत्मा ही सदा से है और सदा रहनेवाली है। इसके अलावा जितने भी संसार के पदार्थ हैं, वे सब अनित्य हैं आत्मा से भिन्न हैं, एक दिन उनसे अवश्य अलग होना है। पुण्य के प्रताप से संसारी पदार्थ स्वयं मिल जाते हैं और अशुभ कर्म आने पर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, तो फिर उनकी मोह-ममता करके कर्मों के आश्रय द्वारा अपनी आत्मा को मलीन करने से क्या लाभ?

अन्य चिन्दानंद अन्य शरीरा, ऐसो जिय जब जानै। होय तबै तप सिद्धी मनोरथ, राग रहित पहिचानै ॥
सप्त धातुमय निंद्य कलेवर, अन्य अपूर्ण न तारो। ऐसो निज तन देखि सुधीजन, क्यों नहिं धर्म विचारो ॥१०८॥

आदि दुःखोंसे रक्षा करने वाला और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। धर्म ही एक शरण है। दुःखादिकोंके निवारण के लिये सदा उसका पालन करते रहना चाहिये। संसार-सागर दुःखोंका आगार है, उसके पार होनेके निमित्त रत्नत्रयका सेवन [illegible] ही आवश्यक है। जीवको यह समझ लेना चाहिये कि, मैं अकेला हूं, यदि मेरा कोई सहायक हो सकता है तो वे भगवान जिनेन्द्र देव हैं। इस प्रकार शरीरसे अपनेको भिन्न समझ कर आत्म-ध्यानमें शरीरकी ममतासे मुक्त हो, संलग्न हो जाना चाहिये। यह शरीर सप्त धातुमयी निन्दित है, दुर्गन्धिका घर है, ऐसा समझ कर बुद्धिमान लोग धर्मका ही आचरण करते हैं। [illegible] की बात है कि, इस प्रकारका ज्ञान होते हुए भी कुछ लोग संसार सागरमें डूबे रहते हैं। किन्तु कर्मोंको नाश करनेके लिये भव्यजनोंको जिन-दीक्षा धारण करनी चाहिये।

२—अशरण भावना

दल-बल देवी-देवता, मात-पिता परिवार। मरती बिरियां जीव को, कोई न राखनहार ॥

इस जीव को समस्त संसार में कोई शरण देने वाला नहीं है। जब पाप कर्म का उदय होता है तो [illegible] हैं। जब प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव को निरन्तर छः माह तक आहार नहीं हुआ, तो उनके जन्मोत्सव में [illegible] प्रतिदिन बरसाने वाले देव कहां चले गये थे? सीता जी के अग्नि-कुण्ड को जलमयी बनाने वाले देव, रावण के द्वारा सीता जी को [illegible] सोगये थे? हजारों योद्धाओं के प्राणों को नष्ट करके रावण के बन्धन से सीता जी को छुड़ा कर लाने [illegible] श्री रामचन्द्र जी का प्रेम गर्भवती सीता जी को बनों में निकालते समय कहां भाग गया था? देवी-देवता, [illegible] किसी की भी सारे संसार में कोई शरण नहीं है। यदि पुण्य का प्रताप है तो शत्रु तक मित्र बन जाते हैं। पुण्यहीन को [illegible] दे देते हैं।

सारे संसार में यदि कोई शरण्य है तो आत्मा अर्हन्त भगवान की है वही आत्मा हमारी है। जो गुण [illegible] है, वे ही गुण हमारी आत्मा में छुपे हुये हैं। अर्हन्त होने से पहले उनकी आत्मा भी हमारे समान कर्मों द्वारा [illegible] संसारी जीव भी यदि अपनी आत्मा के कर्मरूपी मैल को उनके समान दूर करदे तो हमारी आत्मा [illegible] अर्हन्त भगवान् के समान सर्वज्ञ हो जाये। इसलिये जो अर्हन्त भगवान् को द्रव्य रूप से, गुण रूप से और पर्याय रूप से [illegible] आत्मा और इसके गुणों को अवश्य जानता है, और जो अपनी आत्मा को जानता है, वह निज-पर के भेद को जानता है। [illegible] को जानता है, उसका मोह संसारी पदार्थों से अवश्य छूट जाता है। और जिसकी [illegible] जाता रहता है। और जिसका मिथ्यात्व दूर हो गया उसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। [illegible] सम्यक् चरित्र हो जाता है। इन तीनों रत्नों की एकता मोक्षमार्ग है, जो [illegible] ही आनन्द प्राप्त करने के हेतु सारे संसार में व्यवहार रूप से केवल अर्हन्त भगवान् की शरण है।

३—संसार-भावना

दाम बिना निरधन दुखी, तृष्णावश धनवान। कहूं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान ॥

यह संसार दुःखों की खान है। संसारी सुख खांड में लिपटा हुआ जहर है। [illegible] की प्राप्ति मानना ऐसा है, जैसे विष भरे सर्प के मुख पर से अमृत चाटने की आशा। जिस प्रकार [illegible] नाभि में है उसकी खोज में मारा-मारा फिरता है, इसी प्रकार जीव यह भूल कर कि [illegible] गुण है, सुख और शान्ति की खोज संसारी पदार्थों में करता है। यदि संसार में सुख होता तो [illegible] मुकुट बन्ध राजाओं का सम्राट, जिनकी रक्षा देव करते हैं, [illegible] राजसुखों को लात मार कर संसार को क्यों त्यागते? जब संसारी पदार्थों में सच्चा आनन्द नहीं, तो [illegible]

४—एकत्व-भावना

आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय। यों कबहूं इस जीव को, साथी सगा न कोय ॥

मेरी आत्मा अकेली है, अकेले ही कर्म करती है, अकेले ही कर्मों का फल भोगती है। [illegible] जितना खेद करे, परन्तु जो दुःख हमको हो रहा है उसमें कदाचित कमी नहीं कर सकते। [illegible]

चार पर्व प्रोपध को धरै, निपदिन सदा पाप परिहरै। निरारम्य हिरदै शुभ ध्यान, अशुभ ध्यान की कीनो हान ॥९६॥
हेम रतनमय जिनगृह सार, करवाये वहु तुंग विचार। अर प्रतिमा कीनी जिन तनी, भक्ति प्रतिष्ठा आदिक घनी ॥९७॥
अष्टद्रव्य जल आदिक जान, वहु सामग्री सहित महान। श्री तीर्थकर पूजा करै, तिन गुण कारण कर सिर धरै ॥९८॥
मुनिको प्रासुक देई अहार, विधिपूर्वक अति शुद्ध विचार। भक्ति सहित वंदें नरईश, कीरति पुण्य वढ़ै जग शीस ॥९९॥
जहँ निर्वाण भूमि जिनतनी, तथा विम्व अरुमुनि शिर मनी। जाय तहां मुनि वन्दन हेत, धर्म धनी वर भक्ति समेत ॥१००॥
सुनै केवली वचन पुनीत, तत्व अर्थ गर्भित गुणरीत। श्रावक जती धर्म सुखदाय, भेदाभेद कह्यो समझाय ॥१०१॥
सामाइक विध पालै सोय, निशदिन छहों काल जुत होय। निज निन्दा परिगर्हा करै, मन विवेक वहु धीरज धरै ॥१०२॥
इन्हें आदि जे शुभ आचार, करै धर्म धर हियै विचार। देहि और को शुभ उपदेश, भविजन प्रीति सुजगत महेश ॥१०३॥

दोहा

ज्यों वारिज जल में बसै, करै न उससे प्रीत। त्यों चक्री संपति घनी, चलै धर्म की नीत ॥१०४॥

जोगीरासा।

एक समै चक्री नर-नायक, सव परिवार समेत। सोमंधर मुनि समोशरण, थित गये वन्दना हेत ॥
तीन प्रदक्षिण दे शिर नायौ, पूजा विधि वसु कीनी। भक्ति सहित गणराज प्रणामैं, नरकोठा थिति लीनी ॥१०५॥
ताहित जिन दिव्यध्वनि सुंदर, गणधर प्रति परकाशी। द्वादश विध अनुप्रेक्षा चिंतन, धर्म-दुविध तहां भासी ॥

बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन[1]

आयुष पूरण वपु भोगादिक, राज्य रमा सुख साध्यौ। दामिनि सम सो चंचल दीसै, तातैं शिव आराध्यौ ॥१०६॥
मरण कलेशदुखादिक भारी, जीव सहै नित सोई। यातैं धर्म धरो भवि दृढ़ मन, शरण न जग में कोई ॥
दुःख दुरित जुत कर्म फिरावत, जगतैं जान न देवें। तातैं यह संसार भ्रमण तज, रत्नत्रय व्रत सेवैं ॥१०७॥

राज्य-हितके लिये वह मुनियोंको प्रासुक आहार-दान भी दिया करता था। कभी कभी तीर्थंकर गणधर और योगियोंकी वन्दना पूजाके लिये यात्रा किया करता था। वह चक्रवर्ती सर्वदा अंग पूर्वके ग्रंथोंको श्रवण करता तथा दोनों प्रकारसे धर्मके स्वरूप को विचार करता था।

वह रात दिन किये गये अशुभ कर्मोको सामायिक आदि शुभ कार्यों द्वारा नष्ट करता और साथ ही अपनी निन्दा करता था कि, आज मैंने ये पाप किये। इस प्रकार वह शुभ क्रियाओंके द्वारा धर्मका पालन करता था, और दूसरोंको उपदेश देता था।

एक दिनकी घटना है। उसदिन वह चक्रवर्ती राजा अपने परिवारवर्गके साथ क्षेमंकर जिनेश्वरकी वन्दना करनेके लिये गया। वहां पहुंच कर उसने केवली भगवानकी तीन प्रदक्षिणा देते हुए मस्तक नवाकर जलादि आठ द्रव्योंसे उनकी पूजा की और मनुष्योंके कोठेमें जाकर वैठा। उस चक्रवर्तीके हितके लिये वे भगवान अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा वड़ी प्रीतिके साथ धर्मोपदेश करने लगे। उन्होंने कहना आरम्भ किया—संसारके आयु, लक्ष्मी भोग आदि इन्द्रिय जन्य सुख विद्युतके समान क्षणभंगुर और विनश्वर हैं, अतएव भव्य जनोंको सदा मोक्षका ही सेवन करना चाहिये। संसारमें जीवको मृत्यु रोग क्लेश

---

१. अनित्य भावना

राजा राणा छत्रपति, हथियन के असवार। मरना सवको एक दिन अपनी-अपनी वार ॥

स्त्री, पुत्र, धन आदि संसार के सारे पदार्थ नष्ट होने वाले हैं। जब देवी-देवता और स्वर्ग के इन्द्र तथा चक्रवर्ती सम्राट सदा नहीं रह सके तो मेरा शरीर कैसे रह सकता है? केवल आत्मा ही सदा से है और सदा रहनेवाली है। इसके अलावा जितने भी संसार के पदार्थ हैं, वे सब अनित्य हैं आत्मा से भिन्न हैं, एक दिन उनसे अवश्य अलग होना है। पुण्य के प्रताप से संसारी पदार्थ स्वयं मिल जाते हैं और अशुभ कर्म आने पर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, तो फिर उनकी मोह-ममता करके कर्मो के आश्रय द्वारा अपनी आत्मा को मलीन करने से क्या लाभ?

अन्य चिन्दानंद अन्य शरीरा, ऐसौ जिय जब जानै। होय तबै तप सिद्धी सगोत्तम, राग रहित पहिचानै ॥
सप्त धातुमय निंद्य कलेवर, अन्ध अपूर्ण न तारौ। ऐसौ निज तन देखि सुधीजन, क्यों नहिं धर्म विचारौ ॥१०८॥

आदि दुःखोंसे रक्षा करने वाला और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। धर्म ही एक शरण है। दुःखादिकोंके निवारण के लिये सदा उसका पालन करते रहना चाहिये। संसार-सागर दुःखोंका आगार है, उसके पार होनेके निमित्त रत्नत्रयका सेवन करना बड़ा ही आवश्यक है। जीवको यह समझ लेना चाहिये कि, मैं अकेला हूं, यदि मेरा कोई सहायक हो सकता है तो वे भगवान जिनेंद्र देव हैं। इस प्रकार शरीरसे अपनेको भिन्न समझ कर आत्म-ध्यानमें शरीरकी ममतासे मुक्त हो, संलग्न हो जाना चाहिये। यह शरीर सप्त धातुमयी निन्दित है, दुर्गन्धिका घर है, ऐसा समझ कर बुद्धिमान लोग धर्मका ही आचरण करते हैं। अत्यन्त दुःख की बात है कि, इस प्रकारका ज्ञान होते हुए भी कुछ लोग संसार सागरमें डूबे रहते हैं। किन्तु कर्मोंको नाश करनेके लिये भव्यजनोंको जिन-दीक्षा धारण करनी चाहिये।

२—अशरण भावना

दल-बल देवी-देवता, मात-पिता परिवार। मरती बिरियाँ जीव को, कोई न राखनहार ॥

इस जीव को समस्त संसार में कोई शरण देने वाला नहीं है। जब पाप कर्म का उदय होता है तो शरीर के कपड़े भी शत्रु बन जाते हैं। जब प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव को निरन्तर छः माह तक आहार नहीं हुआ, तो उनके जन्मोपलक्ष में १५ मास तक साढ़े तीनकरोड़ रत्न प्रतिदिन बरसाने वाले देव कहां चले गये थे ? सीता जी के अग्नि-कुण्ड को जलमयी बनाने वाले देव, रावण के द्वारा सीता जी को चुराते समय कहा सोगये थे ? हजारों योद्धाओं के प्राणों को नष्ट करके रावण के बन्धन से सीता जी को छुड़ा कर लाने और वृक्षों तक से उनका पता पूछने वाले श्री रामचन्द्र जी का प्रेम गर्भवती सीता जी को वनों में निकालते समय कहां भाग गया था ? देवी-देवता, यन्त्र मन्त्र, मात-पिता, पुत्र-मित्र आदि किसी की भी सारे संसार में कोई शरण नहीं है। यदि पुण्य का प्रताप है तो शत्रु तक मित्र बन जाते हैं। पुन्यहीन को सगे और मित्र तक जवाब दे देते हैं।

सारे संसार में यदि कोई शरण्य है तो आत्मा अर्हन्त भगवान की है वही आत्मा हमारी है। जो गुण अर्हन्त भगवान् की आत्मा में प्रकट हैं, वे ही गुण हमारी आत्मा में छुपे हुये हैं। अर्हन्त होने से पहले उनकी आत्मा भी हमारे समान कर्मो द्वारा मलीन और संसारी थी। और हम संसारी जीव भी यदि अपनी आत्मा के कर्मरूपी मैल को उनके समान दूर करदें तो हमारी आत्मा के गुण प्रकट होकर हमारी पर्याय भी शुद्ध होकर अर्हन्त भगवान् के समान सर्वज्ञ हो जाये। इसलिये जो अर्हन्त भगवान् को द्रव्य रूप से, गुण रूप से और पर्याय रूप से जानता है। वह अपनी आत्मा और इसके गुणों को अवश्य जानता है, और जो अपनी आत्मा को जानता है, वह निज-पर के भेद को जानता है। और जो इस भेद-विज्ञान को जानता है, उसका मोह संसारी पदार्थो से अवश्य छूट जाता है। और जिसकी लालसा अथवा रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं, उसका मिथ्यात्व अवश्य जाता रहता है। और जिसका मिथ्यात्व दूर हो गया उसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यक्ज्ञान और उसका चरित्र सम्यक् चरित्र हो जाता है। इन तीनों रत्नों की एकता मोक्षमार्ग है, जो अविनाशक सुखों और सच्ची शांति का स्थान है। इसलिये सदा आनन्द ही आनन्द प्राप्त करने के हेतु सारे संसार में व्यवहार रूप से केवल अर्हन्त भगवान् की शरण है।

३—संसार-भावना

दाम बिना निरधन दुखी, तृष्णावश धनवान। कहूँ न सुख संसार में, सब जग देखो छान ॥

यह संसार दुःखों की खान है। संसारी सुख खांड में लिपटा हुआ जहर है। तलवार की धार पर लगा हुआ मधु है। इनमें सच्चे सुख की प्राप्ति मानना ऐसा है, जैन विष भरे सर्प के मुख पर से अमृत झड़ने की आशा। जिस प्रकार हिरण यह भूल कर कि कस्तूरी उसकी अपनी नाभि में है उसकी खोज में मारा-मारा फिरता है, इसी प्रकार जीव यह भूल कर कि अविनाशक सुख तो इस की अपनी निज आत्मा का स्वाभाविक गुण है, सुख और शान्ति की खोज संसारी पदार्थो में करता है। यदि संसार में सुख होता तो छयानवें हजार स्त्रियों को भोगने वाला, बत्तीस हजार मुकुट बन्ध राजाओं का सम्राट, जिनकी रक्षा देव करते हैं. ऐसे नौनिधि और चौदह रत्नों का स्वामी, छःखण्ड (समस्त संसार) का प्रजापति चक्रवर्ती राजसुखों को लात मार कर संसार को क्यों त्यागते ? जब संसारी पदार्थों में सच्चा आनन्द नहीं, तो इनकी इच्छा और मोह-ममता क्यों ?

४—एकत्व-भावना

आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय। यों कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय ॥

मेरी आत्मा अकेली है, अकेले ही कर्म करती है, अकेले ही कर्म का फल भोगती है। स्त्री, पुत्र, मित्र आदि हमारे दुःखों को देखकर चाहे जितना खेद करें, परन्तु जो दुःख हमको हो रहा है उसमें कदाचित कमी नहीं कर सकते। जब वेदनीय कर्म का प्रभाव कम होगा तभी दुःखों में कमी

कर्मास्रव कर जीव निरन्तर, भवसागर में भासै। जान यहै बुध दीक्षा गहु सुध, जायें मुक्ति प्रकासै ।।
कर्मास्रवको आवत रोको, सोई संवर जानौ। जानि सुधि ग्रहकौ तन तपकर, धारै मुक्ति पयानौ ।।१०६।।
दुविध निर्जरा कर्म संपूरन, तप कर ताहि खिरावै। मुक्ति रमा की वांछा निशदिन, भविजन काल गमावै ।।
दुख सुख पाय जगत्रय भ्रमतै, और न कवहूं आवै। तातें संजम भजहु सुधीजन, सुख अनन्त लहावै ।।११०।।

यह ध्रुवसत्य है कि, कर्मोंके संवरसे मोक्ष-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है, अतएव गृहवास त्यागकर मुक्तिके उद्देश्यसे संवर का प्रयत्न करना चाहिये। संसारमें सत्पुरुषोंके समस्त कर्मोंकी निर्जरा तपसे हुआ करती है। ऐसा समझकर सदा निष्पाप तपमें संलग्न रहना चाहिये। वस्तुतः इस तीन जगतको दुःखका स्थान समझ कर अनन्त सुख प्रदान करने वाली मोक्षकी प्राप्तिके लिये संयम धारण करना चाहिये। मानव शरीर, उत्तम कुल, आरोग्यता, पूर्ण आयु, सुधर्म आदिको प्राप्त कर लेना बड़ा कठिन

होगी। चारों घातिया कर्मो का संवर तथा निर्जरा भी आत्मा अकेली ही करके अर्हन्त अथवा अघातिया कर्मों को भी काट कर सिद्ध होकर अविनाशी सुखों का अकेले ही आनन्द लूटती है। जब आत्मा का कोई दूसरा साथी सङ्गी नहीं है तो संसारी पदार्थो, कषायों और परिग्रहों को अपनाकर अपनी आत्मा को मलीन करके संसारी वन्धन दृढ़ करने से क्या लाभ?

५—अन्यत्व-भावना

जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपनो कोय। घर सम्पति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोग ।।

जिस प्रकार म्यान में रहने वाली तलवार म्यान से अलग है उसी प्रकार शरीर में रहने वाली आत्मा शरीर से भिन्न है। आत्मा अलग है, शरीर अलग है, आत्मा चेतन, ज्ञान रूप है, शरीर जड़, ज्ञान शून्य है। आत्मा अमूर्तिक है, शरीर मूर्तिमान है। आत्मा जीव (जानदार) शरीर अजीव (बेजानदार) है। आत्मा स्वाधीन है और शरीर इन्द्रियों द्वारा पराधीन है। आत्मा निज है, शरीर पर है। आत्मा राग-द्वेष, क्रोध-मान, भय-खेद रहित है, शरीर को सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि हजारों दुःख लगे हैं। इस जन्म से पहले भी यही आत्मा थी, और इस जन्म के वाद नरक, स्वर्ग, अर्हन्त अथवा मोक्ष प्राप्त करने पर भी यही आत्मा रहेगी। आत्मा नित्य है, शरीर नष्ट होने वाला है, आत्मा के चोला वदलने पर यही शरीर यहीं पड़ा रह जाता है। जब प्रत्यक्ष में अपना दिखाई देने वाला यह शरीर ही अपना नहीं, तो स्पष्ट अलहदा दिखाई देनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि कैसे अपने हो सकते हैं? जब उनका संयोग सदा नहीं रहता तो इनकी मोह-ममता क्या। जिस प्रकार किरायेदार मकान से मोह न रखकर किराये के मकान में रहता है, उसी प्रकार जीव को शरीर का दास न वनकर शरीर से जप-तप करके अपनी आत्मा की मलीनता दूर करके शुद्धचित् रूप होना ही उचित है।

६—अशुचि-भावना

दिपै चाम चादर मढ़ी हाड़ पिंजरा देह। भीतर या सम जगत में और नहीं घिन गेह ।।

आत्मा निर्मल है, इसका स्वभाव परम पवित्र है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, चिन्ता, भय खेद आदि १४ अंतरङ्ग तथा स्त्री, पुत्र, दास-दासी, धन सम्पत्ति आदि दस प्रकार के वहिरङ्ग परिग्रहों से शुद्ध है। शरीर महा मलीन है। इसका स्वभाव ही अपवित्र है, इसके ६ द्वारों से हर समय मल-मूत्र, खून, पीप आदि टपकते हैं। अनादि काल से अनेक वार शरीर को खूब धोया परन्तु क्या कोयले को धोने से उसकी कालिमा नष्ट हो जाती है? यदि मैं अपनी आत्मा को कषायों और परिग्रहों से एक वार भी शुद्ध कर लिया होता तो कर्मरूपी मल को दूर करके हमेशा के लिये शुद्धचित् रूप हो जाता। जिन्होंने अपनी आत्मा सांसारिक पदार्थो की मोह-ममता से शुद्ध कर लिया, वे अजर-अमर हो गये, मोक्ष प्राप्त कर लिया, आवागमन के फंदे से मुक्त हो गये। यदि मैं भी पर पदार्थों की लालसा छोड़ दूं तो आठों कर्म नष्ट होकर सहज में अविनाशक सुखों के स्थान—मोक्ष को अवश्य प्राप्त कर सकता हूँ।

७—आस्रव-भावना

मोह नींद के जोर, जगवासी घूमैं सदा। कर्म चोर चहुं ओर, सरवस लूटैं सुध नहीं ।।

सारे संसार में मेरा कोई बुरा या भला नहीं कर सकता और न मैं ही किसी दूसरे का बुरा या भला कर सकता हूं। दूसरे का बुरा तब होगा जब उसके पाप कर्म हृदय में आवेंगे, केवल मेरे चाहने से उसका बुरा नहीं हो सकता। हां, किसी का बुरा चाहने से मेरे कर्मों का आस्रव हो कर मेरी आत्मा मलीन हो, मैं स्वयं अपना बुरा कर लेता हूं। इसी प्रकार जब मेरे अशुभ कर्म आवेंगे तो दूसरे के मेरा बुरा न चाहने पर भी मुझे हानि होगी। और शुभ कर्मो के समय दूसरों के बुरा करने पर भी मुझे लाभ होगा। जब कोई मेरी आत्मा को बुरा नहीं कर सकता, तो शत्रु कौन? और जब किसी दूसरे से मेरी आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता तो मित्र कौन? मैं स्वयं पांच प्रकार के मिथ्यात्व, वारह प्रकार के अव्रत पच्चीस प्रकार के कषाय और पन्द्रह प्रकार के योग करके सत्तावन द्वारों से स्वयं कर्मो का आस्रव कर के अपनी आत्मा के स्वाभाविक गुण, अविनाशक सुख व शांति की प्राप्ति में रोड़ा अटकाने के कारण स्वयं अपना शत्रु वन जाता है।

अनित्य भावना
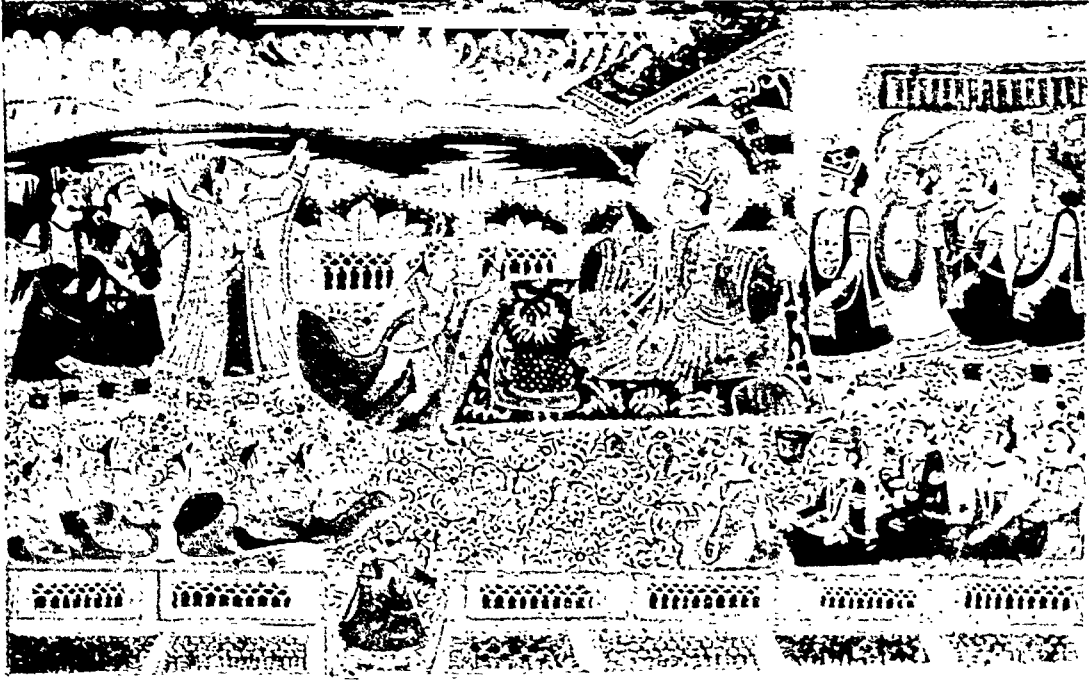
राजा राणा छत्रपति, हथियन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

अशरण भावना
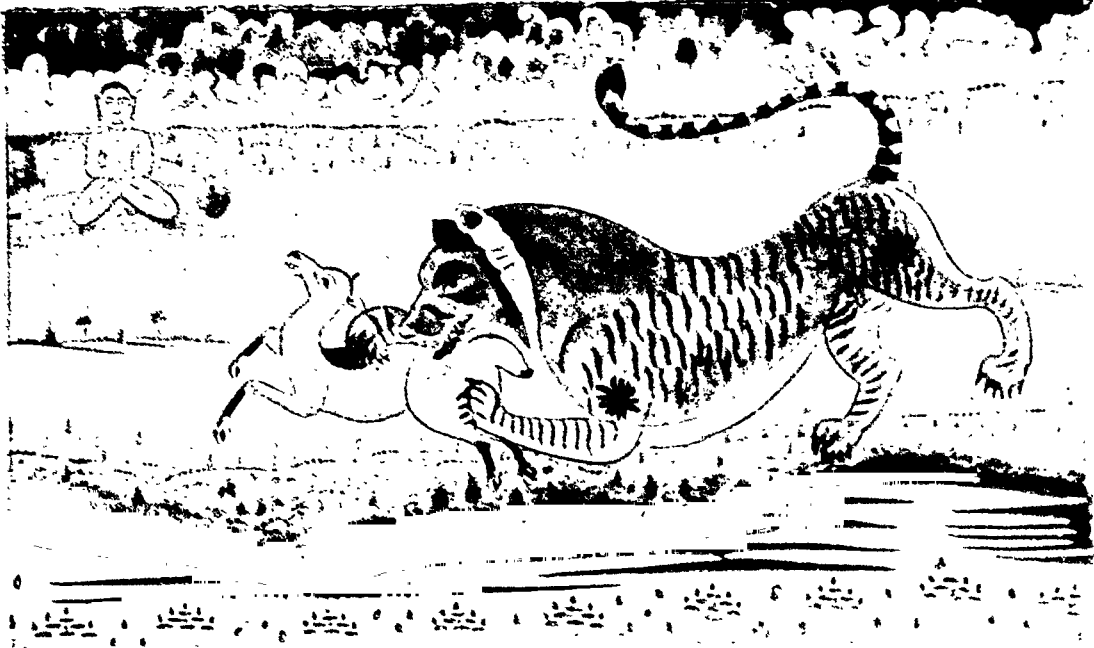
दल बल देवी देवता, मात-पिता परिवार।
मरती विरियां जीव को, कोई न राखन हार॥

संसार भावना
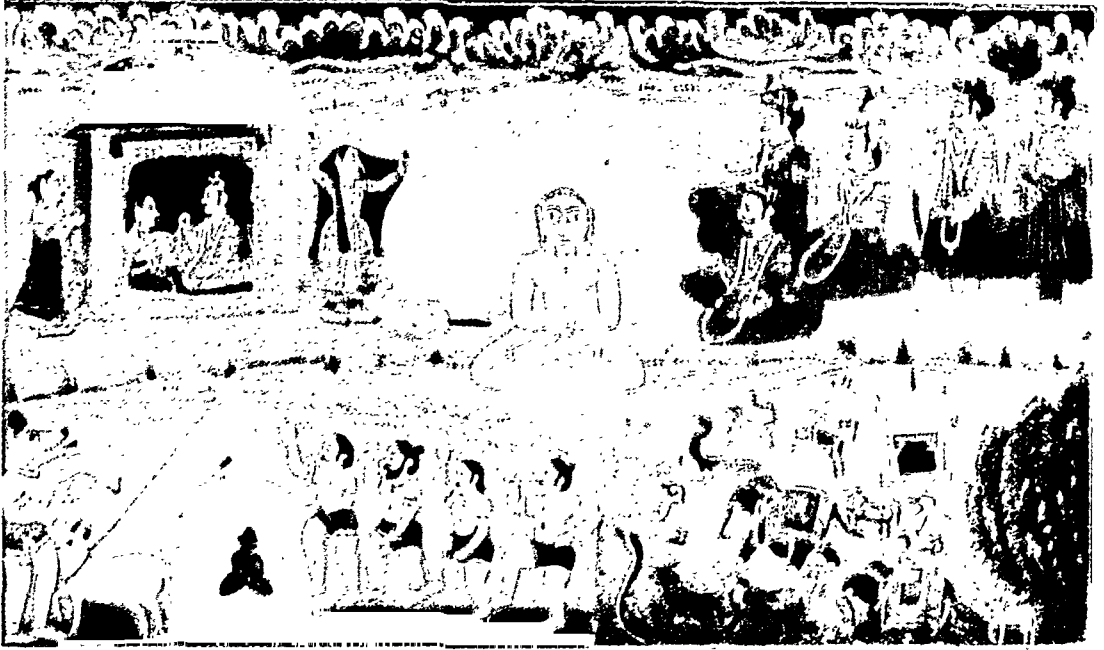
दाम विना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान ।
कहीं ना सुख संसार में, सब जग देखो छान ।।

एकत्व भावना

आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय ।
यूं कबहूं इस जीव का, साथी सगा न कोय ।।

अन्यत्व भावना
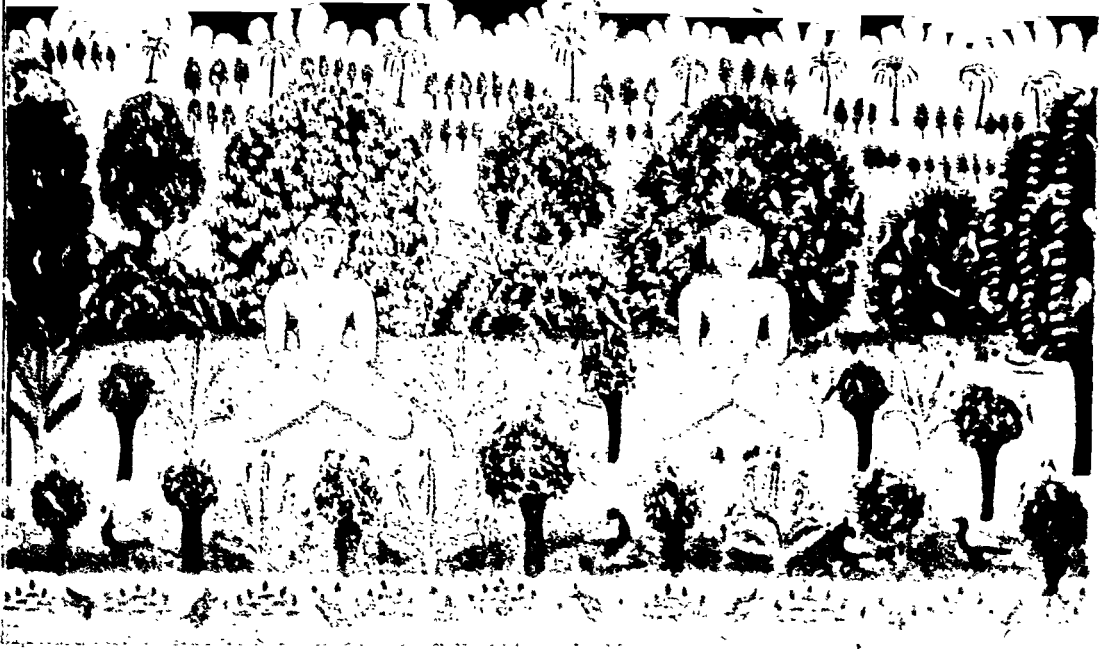
जहां देह अपनी नहीं, तहां न अपना कोय ।
घर सम्पति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय ॥

अशुचि भावना

दिपे चाम चादर मढ़ी, हाड पींजरा देह ।
भीतर या सम जगत् में, और नहीं घिन गेह ॥

आस्रव भावना
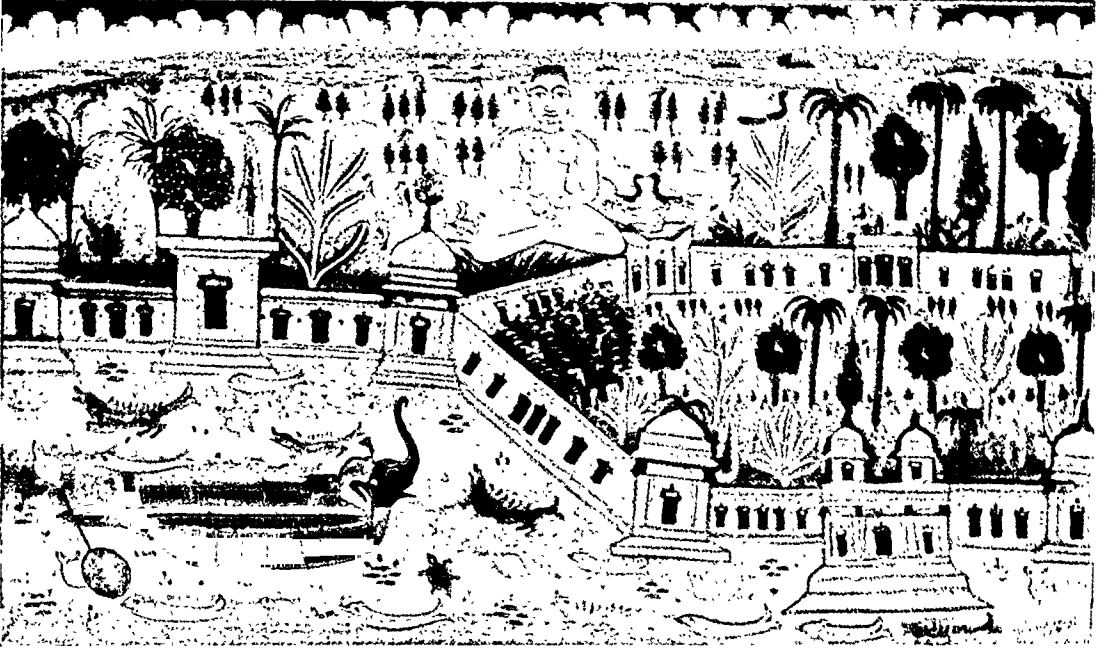
मोह नींद के जोर, जगवासी घूमें सदा ।
कर्म चोर चहुं ओर, सरवस लूटें सुधिनहीं ॥

संवर भावना
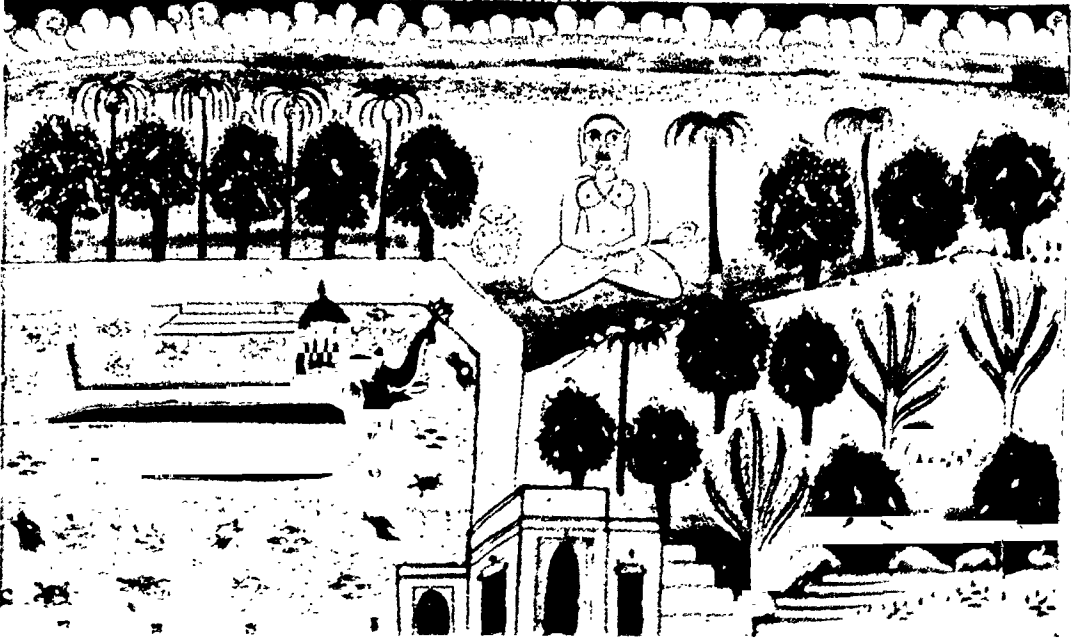
सतगुरु देय जगाय, मोह नींद जब उपशमै ।
तब कुछ बने उपाय, कर्म चोर आवत रुकें ॥

बोधि दुर्लभ भावना
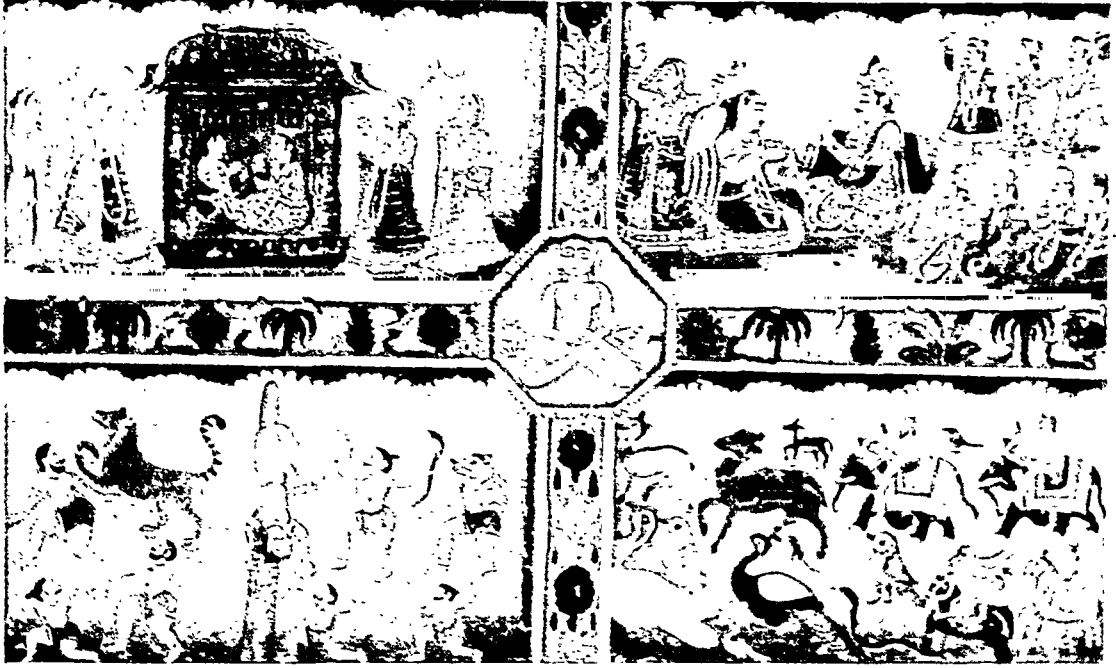
धन कन कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान ।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान ॥

धर्म भावना
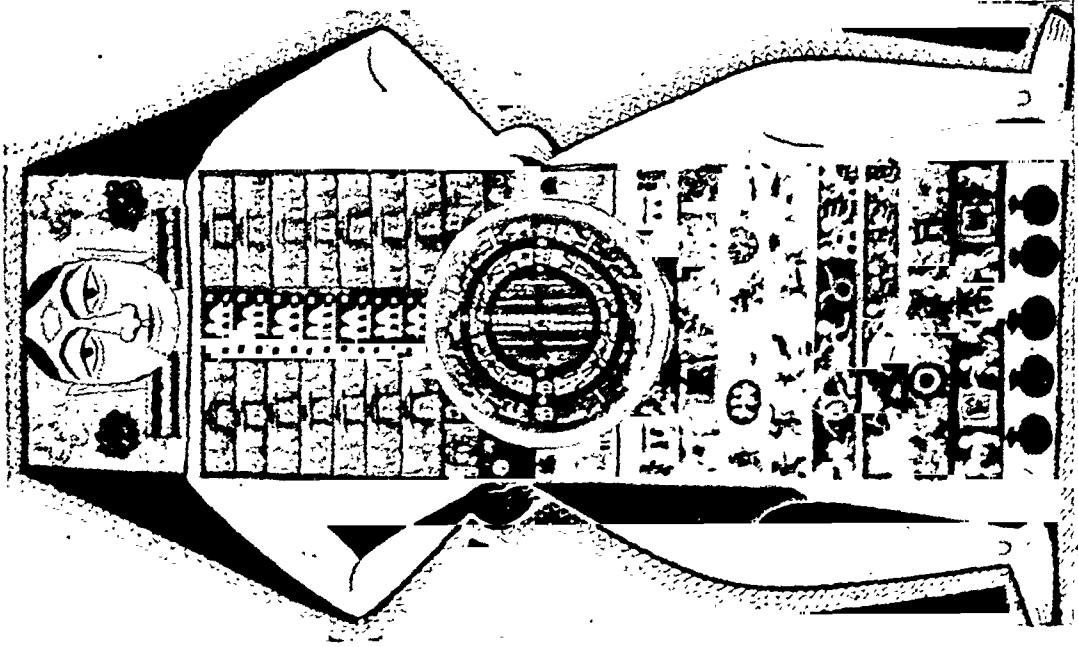
याचैं सुर तरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन ।
बिन याचे बिन चिन्तयै, धर्म सकल सुख दैन ॥

लोक भावना

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादि से, भरमत है बिन ज्ञान॥

निर्जरा भावना
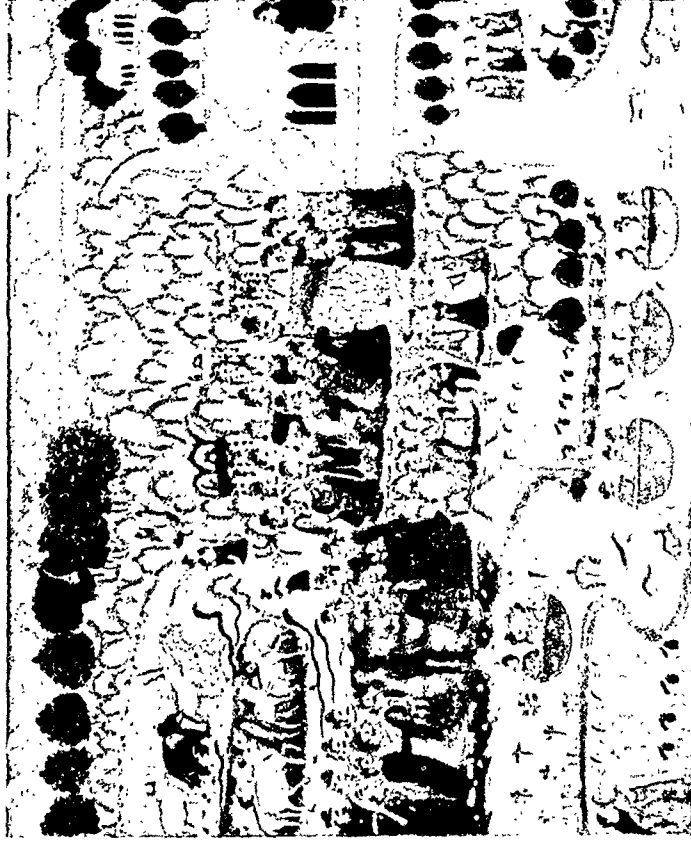
ज्ञान दीप तप तेल भर, घर सोधे भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसे नहीं, बैठे पूरब चोर॥
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच प्रकार।
प्रबल पंच इन्द्री विजय, धार निर्जरा सार॥

इक इन्द्रीतैं दुर्लभ दुर्लभ, पंच इन्द्री गति पाई। नव भव पाय तपस्या कीजै, जामें मोक्ष लहाई ॥
धर्म जिनेश्वर भाषित जग में, सुख करता जिय होई। भव दुख हरन करन शिव प्रापति, भविजन पालो सोई ॥१११॥
सम्यग्दर्श व्रतादि क्षमादिक, दशविध धर्म वखानै। ताहि धरै सुर शिव प्रापति लहि, वांछित सुघी सयानै ॥
सुखिया जनको सुक्ख वढ़ावत, दुखिया को दुख घातै। धर्म दुविध जति श्रावक गोचर, होई सकल सिय वातें ॥११२॥

है, इसलिये बुद्धिमान लोगों को अपने हित-साधन में सर्वदा संलग्न रहना चाहिये। केवली भगवान ने इस प्रकार त्रैलोक्यका सुख प्रदान करनेवाला तथा दुःखोंको विनष्ट करनेवाला धर्मोपदेश किया। केवली भगवान ने जिस धर्मका उपदेश किया, वह

८—संवर-भावना

पंच महाव्रत गचरण, समिति पंच परकार। प्रबल पंच इन्द्री-विजय, धार निर्जरा सार ॥

पांच समिति, पांच महाव्रत, दस धर्म, वारह भावना, तीन गुप्ती वाईस परिषय जय रूपी सत्तावन डाटों से मैं स्वयं आस्रव (कर्मों का आना) का संवर (रोक थाम) कर सकता हूँ और इस प्रकार अपनी आत्मा को कर्म रूपी मल से मलीन होने से बचा सकता हूँ। दूसरा मेरी आत्मा का भला-बुरा करने वाला सारे संसार में कोई शत्रु या मित्र नहीं।

९—निर्जरा-भावना

ज्ञान दीप तप तेल भर, घर सौघे भ्रम छोर। या विघ बिन निकसैं नहीं, बैठे पूरव चोर ॥

जिस प्रकार एक चतुर पोत संचालक छेद हो जाने से जहाज में पानी घुस आने पर पहले छेदों को बन्द करता है और फिर जहाजमें भरे हुये पानी को वाहर फेंक कर जहाज को हल्का करता है जिससे उसका जहाज विना किसी भयके सागरसे पार हो सके, उसी प्रकार ज्ञानी जीव पहले आस्रव रूपी छेदों को संवररूपी डाटोंसे बन्द करके कर्म रूपी जल को आने से रोक देता है, फिर आत्मा रूपी जहाज में पहले से इकट्ठा हुये कर्मरूपी जल को तप रूपी अग्नि से सुखाकर निर्जरा (नष्ट) कर देता है, जिससे आत्मारूपी जहाज संसार रूपी सागरको विना किसी भय के पार कर सके।

१०—लोक-भावना

चौदह राजु उतंग नभ, लोक पुरुष संठान। तामें जीव अनादितैं, भरमत है विन ज्ञान ॥

यह संसार (Universe) जीव (Soul) अजीव (Matter) धर्म (Medium of motion) अधर्म (Medium of rest) काल (Nime) आकाश (Space) छः द्रव्यों (Substances) का समुदाय है। ये सब द्रव्य सत् रूप नित्य है, इसलिये जगत भी सत् रूप नित्य, अनादि और अकृत्रिम है, जिसमें ये जीव देव, मनुष्य, पशु, नरक, चारों गतियों में कर्मानुसार भ्रमण करता हुआ अनादि काल से आवागमन के चक्कर में फ़ंस कर जन्म मरण के दुःखों को भोग रहा है। जिस प्रकार धान से छिलका उतर जाने पर उसमें उगने की शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार जीव आत्मा से कर्म रूपी छिलका उतर जानेपर आत्मा चावल के समान शुद्ध हो जाती है, और उसमें जन्मकी शक्ति नहीं रहती और जब जन्म नहीं तो मरण और आवागमन कहां? कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही तो जीव संसार में रुल रहा है। जब शुभ अशुभ दोनों प्रकारके कर्मों की निर्जरा हो गई तो फल किसका भोगेगा? इस लिए संसार के अनादि भ्रमण से मुक्त होनेके लिये निर्जराके सिवा और कोई उपाय नहीं।

११—वोधि-दुर्लभ भावना

धन कन कंचन राजसुख, सवहि सुलभकर जान। दुर्लभ है संसार में एक जथारथ ज्ञान ॥

इस जीव को स्त्री, पुत्र, धन, शक्ति आदि तो अनादि काल से न मालूम कितनी वार प्राप्त हुये, राज-सुख, चक्रवर्ती पद, स्वर्गों के उत्तम भोग भी अनेक वार प्राप्त हुये, परन्तु सच्चा सम्यक् ज्ञान न मिलने के कारण आज तक संसार में रुल रहा हूँ। मैंने पर पदार्थों को तो खूब जाना, परन्तु अपनी निज आत्मा को न समझा कि मैं कौन हूं? वार-वार जन्म-मरण करके संसार में क्यों भ्रमण कर रहा हूं? इससे मुक्त होने और सच्चा सुख प्राप्त करने का क्या उपाय है? जब संसारी पदार्थों की लालसा में फंस कर उनसे मुक्त होने की विधि पर कभी विचार नहीं किया तो फिर मुक्ति कैसे प्राप्त हो? इसलिए संसारी दुःखों से छूटने के लिये और सच्ची सुख शान्ति प्राप्त करने के लिये निज पर के भेद-विज्ञान को विश्वासपूर्वक जानने की आवश्यकता है।

१२—धर्म भावना

जांचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन। बिन जांचे बिन चितये, धर्म सकल सुखदैन ॥

अपनी आत्मा का स्वाभाविक गुण ही आत्मा का धर्म है। आत्मा के स्वाभाविक गुण तीनों लोक, तीनों काल में समस्त पदार्थों को एक साथ जानना, सारे पदार्थों को एक साथ देखना, अनन्तानन्त शक्ति और अनन्त सुख को अनुभव करना है। वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, रत्नत्रय रूपी है, अहिंसामयी है दशलक्षण स्वरूप है। इनको प्राप्त करने से यह जीव आठों कर्मों को काट कर मोक्ष (Salvation) प्राप्त करके सच्चा सुख और आत्मिक शान्ति प्राप्त कर सकता है।

होत धर्म सों पण्डित वहु विघ, धम सवै सुखकारी। धर्म जगत में पूजत उत्तिम धर्म सुगुरु गन भारी ॥
इहि विधि जिन मुख, द्वादशप्रेक्षा सुन चक्री वैरागे। आयु रमा तन भोग जगत्त्रय, क्षण भंगुर सव लागै ॥११३॥

चक्रवर्तिका वैराग्य वर्णन।

धिक् धिक् यह संसार महावन, भटकत ओर न आयो। ज्यों चौगा नवटा धर डोलै, हाथ कछू नहि पायो ॥
कवही जाय नरक दुख भुजें, छेदन भेदन होई। कवहूं पशु परजाय पाय जिय, वध वन्धन वहु जोई ॥११४॥
सुर पद में पर संपति लखि कै, राग उदै दुख पावै। मानुष जन्म सुखी नहि, कोई, विपत अनेक वढ़ावै ॥
मैं चक्री पद भोग घनेरे, भुगते तृपति न होई। जैसे अगिन प्रज्वले तैलसु, डारत शान्त न होई ॥११५॥
दरशन ज्ञान चरन विन जियको, भवदधि पार न पावै। तातै दीक्षा ग्रहण भलो, अव तपकर कर्म खिरावै ॥
सकल संपदा जीरन तृणवत, छोड़ी नृप अनुरागी। सहस छयानवै नारि पियारी, मन वच क्रम कर त्यागी ॥११६॥
सर्वमित्र सुत प्रथम अनुक्रम, राजभार तसु दीनौ। आपुन भूषण वसन उतारै, जिन मुद्रा मन लीनौ ॥
एक हजार नृपति संग चक्री, पंच महाव्रत धारै। गृह तव वन में वसहि निरन्तर, तिन पद हम शिर धारैं ॥११७॥

दोहा

छहों खण्ड संपति घनी, छोड़त लगी न वार। धन मुनीश प्रियमित्र चित, सुकृत सुवृद्धि अपार ॥११८॥

तपवर्णन।

चौपाई

दुविध प्रकार करै तप घनौ, धीर वीर चित पर्वत मनौ। ध्यानी ध्यान मध्य वहु लीन, तज प्रमाद चउदह मल हीन ॥११९॥
मूलोत्तर गुण आदिक जोय, सम्यग्दर्शन पालै सोय। तीन काल जुत जोग मझार, तीन गुप्ति को सदा विचार ॥१२०॥

सम्यकत्व, ज्ञान, चारित्र तपके योगसे एवं क्षमा आदि दस लक्षणोंसे युक्त होता है। उससे मोह और संतापका सर्वथा नाश हो जाता है। मोक्षकी इच्छा रखने वाले भव्य जीवोंको मोक्ष-प्राप्तिके लिये उस धर्मका पालन करते रहना चाहिये। सुखी पुरुषको सुखकी वृद्धिके लिये और दु:खी जीवके दु:खको विनष्ट करनेके लिये सदा धर्मका आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

केवली भगवान पुन: कहने लगे— संसारमें वही पण्डित और वुद्धिमान है, उसीका स्थान सर्वश्रेष्ठ है, वही जगतपूज्य है, जो अन्यान्य कार्यों को अलग कर निर्मल आचरणोंसे धर्मका सेवन करता है। इस संसारको तथा अपनी आयुको विनश्वर समझ कर वुद्धिमान लोग संसार तथा गृहका परित्याग कर देते हैं। भगवानकी दिव्यवाणीका चक्रवर्ती पर ऐसा हृदयग्राही प्रभाव पड़ा कि, वह लौकिक भोगों और राज्यसे एकदम विरक्त हो गया। उसने मनमें विचार किया—अत्यन्त खेद है कि, मैंने अज्ञानमें संसारके विषय भोगोंका सेवन किया फिर इन्द्रियां तृप्त नहीं हुई। अत: जो लोग भोगोंमें लिप्त रहना चाहते हैं, वे मूर्ख तेलसे अग्निकी शान्ति करनेका प्रयत्न करना चाहते हैं। जीवको जैसे- जैसे भोगोंकी उपलब्धि होती जाती है, उसी प्रकार उनकी तृष्णा भी वलवती होती चली जाती है। जिस शरीरसे यह जीव सांसारिक भोगोंका उपभोग करता है, वह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय और मल मूत्रादिका घर है।

यह राज्य भी पापोंका कारण है। स्त्रियां पापोंकी खानि है और वन्धु वगैरह कुटुम्वी वन्धनके समान है और लक्ष्मी वेश्याके समान निन्दनीय है। वैषयिक सुख हलाहलके समान हैं और संसारकी जितनी भी वस्तुएं हैं, वे सवकी सव क्षणभंगुर हैं। अधिक क्या कहा जाय, संसारमें रत्नत्रयके सिवा न दूसरा तप है और न जीवोंका हित करने वाला है। अत: अव मुझे ज्ञानरूपी तलवारसे अशुभ मोह का जाल काट कर मोक्षके लिये जिन-दीक्षा धारण करनी चाहिये। संयमके विना अव तकका मेरा जीवन व्यर्थ हो गया। किन्तु अव उसे व्यर्थ जाने देना किसी भी दशामें कल्याण कर नहीं हो हकता। मनमें ऐसा विचार कर प्रियमित्र चक्रवर्तीने अपने सर्वप्रिय नामके पुत्र को राज्यका भार समर्पित कर रत्न निधि आदि सारी सम्पदाओंका तृणवत परित्याग कर दिया।
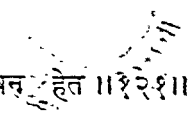
वसैं मुनी जहां निर्जन थान, अटवी गिरि पर गुहा मसान। विहरैं ईर्जापथ पग देत, देश ग्राम संबोधन हेत ॥१२१॥
पाख मास उपवास कराहि, चरजा हित मुनि ग्रामहिं जाहि। अन्तराय पालें धर नेह, शुद्धाहार लेइ भवि गेह ॥१२२॥
तहां धर्म उपदेश जु करैं, परभावना अंग विस्तरैं। जिन शासन माहात्म्य अपार नर स्वरूप पूजन जगसार ॥१२३॥
इनै आदि जे परम अचार, पालै संजम रहित विकार। वहुत काल तप कीनौ सार, अन्त समाधि धीर सुखकार ॥१२४॥
चार प्रकार तजौ आहार, परमारथ पद प्रापतिकार। अंगीकार कियौ सन्यास, धरौ जोग प्रतिमा सम जास ॥१२५॥
जीत परिषह दो अरु वीस, क्षुधाप्यास आदिक मुनि ईस। तपकर कीनैं कर्मन हीन, आप धर्म को परगत कीन ॥१२६॥
आराधन आराधी चार, मुक्तितनी साधक सुखकार। तजे प्रान तनतैं परवीन, जिनशासन, ध्यायक गुण लीन ॥१२७॥

दोहा

तहंतें चय प्रियमित्र मुनि, शुभ उदोत सों सोय। सहस्रार वर स्वर्ग में, सूर्यप्रभ[1] सुर होय ॥१२८॥

चौपाई

जन्म सु पाय सुरग मेंसोइ, नव जोवन तन उपज्यौ लोइ। तत छिन अवधि ज्ञान को पाय, जान्यो तप फल पूरव आय ॥१२९॥
फल प्रतच्छ सव देखत गयौ, धर्म मार्ग सौ रत वहु भयौ। उठकैं पहुंच्यौ जिन आगार, देखे रतन विम्व सुखकार ॥१३०॥
सव परिवार सहित तव देव, करी जाय जिनवर की सेव। अष्ट प्रकारी पूजा धरी, सव अनिष्ट तन तैंपरिहरी ॥१३१॥
करै कल्पना मन में जोय, आनि वस्तु सो परगत होय। यही कल्पना द्रव्यहिं आन, कीनौ सुर अस्तोत्र विधान ॥१३२॥
चैत्यवृक्ष जिन गेह अभंग, ते पूजे सुर निर्मल अंग। मेरू आदि नन्दीश्वर थान, मध्यलोक वन्दै भगवान ॥१३३॥
केवलज्ञानी मुनि जिनराज, तहां जाय सुर समिति समाज। शिर नवायकै वन्दन करै, वहु प्रकार पूजा विस्तरैं ॥१३४॥
वहु विध धर्मतत्व आचार, सुनै तहां श्रीमुख सुखकार। सब विभूति सों तहं तैं देव, आयौ निज आश्रम सुख हेव ॥१३५॥

उस चक्रीने मिथ्यात्वादि परिग्रहोंका सर्वथा परित्याग कर मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्रदान करने वाली अर्हत देवकी कही गयी जिन-दीक्षा धारण की। वह दीक्षा तीन लोकमें देव तिर्यच और मिथ्यात्वी मनुष्योंको दुर्लभ है। उस चक्रवर्तीके साथ संवेगादि गुणवाले हजारों राजा भी दीक्षित हुए। उन महा मुनिने प्रमाद रहित होकर दो प्रकारका कठिन तप आरम्भ किया। उन्होंने उत्तर गुण और मूल गुणका उत्तम रीतिसे पालन किया। वे मन वचन कायकी गुप्तिसे कर्मोके आश्रवको रोकने लगे। निर्जन वन, पर्वत और गुफाओंमें वे ध्यान लगाते थे। उन्होंने अनेक देश नगर और ग्रामोंका विहार आरम्भ किया।

वे महामुनि भव्यजीवोंके हितके लिये परम पावन जैन-धर्मके तत्वोंका उपदेश करने लगे। उनके प्रभावसे जैनमनकी प्रभावना सर्वत्र फैली। अन्तमें चारों प्रकारके आहारोंका परित्याग कर उन्होंने मन, वचन काय-योगोंको रोक कर सन्यास धारण कर लिया। वे अपनी सामर्थ्यसे क्षुधा त्रिषा बाईस परिषहोंको प्रसन्न चित्त होकर सहने लगे उन हरिषेण मुनीश्वरने चारों आराधनाओंका पालन कर प्रसन्न चित हो प्राणोंका त्याग किया।

पश्चात् वे मुनि तपसे उपार्जन किये पुण्यके उदयसे सहस्रार नामके बारहवें स्वर्गमें सूर्यप्रभ नामका महान देव हुए। उत्पन्न होनेके थोड़ी देर वाद ही वे यौवनावस्थाको प्राप्त हो गये। उन्हें अवधिज्ञानने पूर्व जन्म के तपका प्रभाव संपूर्ण रूपसे परिज्ञात हुआ। वह देव अत्यन्त धर्मानुरागी हुआ। वह धर्मकी प्राप्तिके लिये रत्नमयी जिन-प्रतिमाओंके दर्शनके लिये गया। वहां परिवार वर्गके साथ उसने पापों को विनष्ट करने वाली जिनविम्वोंकी पूजा की।

वह सदा अपनी इच्छासे चैत्यवृक्षोंके नीचे प्रतिष्ठित अर्हत भगवान की पूजा किया करता था। केवल यही नहीं वह दोनों लोकोंमें जा-जा कर अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा करने लगा। एक दिन उसने नन्दीश्वर द्वीपमें जाकर तीर्थंकर और

---

१. तप और त्याग के प्रभाव से मैं सहस्रार नाम के बारहवें स्वर्ग में उत्तम विभूतियों का धारी सूर्यप्रभ नाम का महान् देव हुआ।

पुण्य जनित लक्ष्मी पाय, मणि विमान आदिक सुखदाय। परमभोग उपभोग अपार, भुगतै तृप्त होइ सुविचार ॥१३६॥
अष्टादश सागर की आव, नेत्रदोष वर्जित अन राव। सप्त धातु मल रहित जु सोय, साढ़े तीन हाथ तनु होय ॥१३७॥
सहस अठारा वर्ष व्यतीत, लेइ सुधा आहार पुनीत। पक्ष अठारा पूरण जाय, स्वासा तन तैं तव मुकलाय ॥१३८॥
तुर्यभूमि पर्यन्त विचार, द्रव्य चराचर जानै सार। ऋद्धि विक्रिया तहं लों कही, क्षेत्र प्रभाव जानिये सही ॥१३९॥
देश ग्राम आरण्य पहार, सागर द्वीप असंख्य मझार। इच्छा पूर्वक विहरै सोई, देविन सों क्रीड़ा जुत होइ ॥१४०॥
कवहूँ वीणादिक धुनि सुनै, कवहूँ गीत मनोहर गुनै। कवहूँ दिव्य देवनि के संग, देखहि सब आगार अभंग ॥१४१॥
कवहूं धर्मगोठ आदरै, कवहूं केवलि पूजा करै। कवहूं श्री तीर्थंकर तनै, पंचकल्याणक उच्छव ठनै ॥१४२॥
इत्यादिक शुभ कर्म संयोग, करै सुक्ख सागर में भोग। काल न जान्यौ जातन देव, धर्मवंत गुण ज्ञान अभेव ॥१४३॥

गीतिका छन्द

इहि भांति शुभ परिपाक करकैं, चक्रिपद पायौ जबै। सब सार सुन्दर सुक्ख निरुपम, भोग भुगतै बहु तबै॥
अति विमल चरित संजोग करके, देव पद तिन पाइयौ। भज धर्म जिनवर मोक्षदायक, 'नवलशाह' प्रणामियौ ॥१४४॥

मुनिश्वरोंकी वन्दना की। वह बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने स्थानको लौटा। उस देवने पुण्यसे प्राप्त हुई लक्ष्मी, अप्सरा, और विमानादि विभूतियोंको ग्रहण कर इन्द्रिय-तृप्ति करने वाले महान भोगोंका उपभोग करना आरम्भ किया।

उसे सप्त धातु वर्जित साढ़े तीन हाथका दिव्य शरीर और अठारह सागर की आयु प्राप्त हुई। अठारह हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर वह देव कंठसे झरने वाले अमृतका आहार करता था और नव मासके पश्चात् श्वासोछवास लेता था। उसे अवधिज्ञान से चौथे नरक तककी जानकारी और विक्रिया करनेकी शक्ति प्राप्त थी वह अपनी देवियोंके साथ वन और पर्वतों पर क्रीड़ा करनेमें रत हुआ। कहीं वाजोंकी सुमधुर ध्वनिसे महा मनोहर गीतोंसे, कही देवांगनाओंके शृंगार दर्शनसे, कभी धर्म चर्चासे कभी केवली भगवानकी पूजा अर्चासे, कभी तीर्थंकरोंके पंचकल्याणादि उत्सवोंसे प्रसन्नचित हो वह अपने समयको व्यतीत करने लगा।
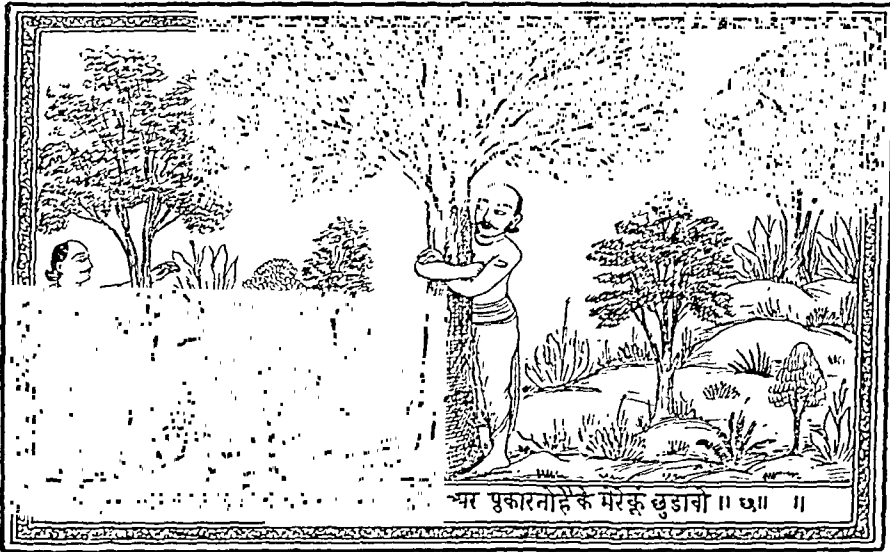
छठवाँ अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

मोह अक्ष-तसकर हन्यौ, भविजन रक्षक देव। ज्ञान धर्म करता अरथ, करो वीर जिन सेव ॥१॥

चौपाई

याही जम्बूद्वीप विख्यात, भरतक्षेत्र तामें अवदात। छत्राकार नग्र तहं जान, निवसैं धर्मीजन सुख खान ॥२॥
नन्दवर्ध भूपति अवनीश, आनन्दवर्धक गुणगण शीस। रानी वीरमती अतिरूप, पुण्यशालिनी शील अनूप ॥३॥
चयौ सुरगसैं देव पुनीत, तिनकैं पुत्र भयौ कर प्रीत। नन्द[1] नाम अति रूप विशाल, जग आनन्द करण सुकुमाल ॥४॥
वन्दीजन हिं दियौ बहु दान, पुत्र महोक्छव कियौ महान। योग्य अन्न पय पोष कराय, बाढ़े गुण संपूरन काय ॥५॥
उपाध्याय के पठ्यौ तवै, धरता शास्त्र-शस्त्र को जवै। कला विवेक रूप अति घनौ, सोहैं स्वर्ग देव यह भनौ ॥६॥
क्रम सौ कुंवर पितापद पाय, राज्यविभूति रमा अधिकाय। दिव्य-भोग भुगतै संसार, सदा धर्म को करहि विचार ॥७॥
निशंकादिक गुण पालंत, दर्शन शुद्ध धरै मन संत। द्वादश व्रत श्रावक से जान, करै जतन सो ते परवान ॥८॥
निरारम्भ उपवास पुनीत, सकल परव में करै सुरीत। दान मुनी को हर्ष बढ़ाय, देय यथार्त सुक्ख अधिकाय ॥९॥

किये विनष्ट विवेक से, मोह-शत्रु अपकर्म। करें सिद्ध शुभ कार्य वे, वीर प्रवर्तक धर्म ॥

इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें एक अत्यन्त रमणीक नगर है। उस धर्मकी खानि नगरका नाम छत्राकार है। उस समय इस नगरका राजा नन्दिवर्द्धन था। वीरवती नामकी उसकी सुशीला रानी थी। वह देव स्वर्गसे चलकर उन दोनोंका नन्द नाम का पुत्र हुआ। उसके सौंदर्य और गुणोंसे सारे नगर को प्रसन्नता हुई। उसका जन्मोत्सव बड़े आनंदसे मनाया गया। वह बालक चन्द्रकलाकी भांति बढ़ने लगा। क्रमसे उसने शास्त्र विद्या और शस्त्र-विद्याओंका अध्ययन किया। उसकी प्रतिभा यहां तक बढ़ी कि वह देवोंके सदृश जान पड़ने लगा। अनन्तर जवानीकी अवस्थामें अपने पिता द्वारा राज्य-पद पाकर विभिन्न प्रकारके भोगों का उपभोग करने लगा। उसने निःशंकादि गुणों के साथ निर्मल सम्यकत्वको धारण किया। श्रावकोंके बारह व्रतोंका अच्छी

इन्द्र पद

१. मनुष्य जन्म के तप का प्रभाव स्वर्ग में भी रहा, धर्म प्राप्ति के लिये मैं रत्नमयी जिन प्रतिमाओं के दर्शनों को जाता था, उनकी भक्ति पूर्वक अनमोल रत्नों से पूजा करता था। नन्दीश्वर द्वीप में भी जाकर अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजा किया करता था। तीर्थंकरों तथा मुनीश्वरों की भक्ति में आनन्द लेता था। कण्ठ से झरने वाले अमृत का आहार करता था। तीर्थंकरों के पञ्च कल्याणक उत्साह से मनाता था, जिनके पुण्य फल से स्वर्ग की आयु समाप्त होने पर मैं भरत क्षेत्र में छत्राकार नगर के महाराजा नन्दिवर्धन की वीरवती नाम की रानी से नन्द नाम का राजकुमार हुआ। धर्म में अधिक रुचि होने के कारण श्रावकों के बारह व्रतों को अच्छी तरह पालन करता था। श्री प्रोष्ठिल नाम के मुनि के उपदेश से वैराग्य आ गया तो राजपाट को लात मार कर उनके निकट दीक्षा लेकर जैन साधु हो गया। और केवली भगवान के निकट सोलह कारण भावनाएं मन, वचन काय से भाकर तीर्थंकर नामक महापुण्य प्रकृति का बंध किया। आयु के अन्त में आराधनापूर्वक शरीर त्याग कर, उत्तम तप के प्रभाव से अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग के पुष्पेत्तर विमान में देवों के देव इन्द्र हुये।

श्री जिनेश के मन्दिर जाय, महती पूजा तहां कराय। यात्रा करै धर्म के काज, वन्दै गणधर मुनि जिनराज ।।१०।।
होय धर्म सौ अर्थ अनूप, ताकर वाढ़ै सुक्ख स्वरूप। अघ त्यागे पावे निर्वान, सदा सासुतौ अविचल थान ।।११।।
वहु विध करै धर्म गुणमूर, दिन दिन वढ़ै सुक्ख अंकूर। यही जान भवि धर्म हि गहो, इह भव परभव के दुख दहो ।।१२।।
शुभ आचार करन परवीन, जिन भाषित मत में लवलीन। मन संकल्प न वर्त्तै कोय, सर्व अवस्था में दृढ़ सोय ।।१३।।
ता फल महाभोग उपभोग, भुगतै राज संपदा जोग। निशदिन काल गमावै सार, सुख सागर की केलि मझार ।।१४।।
एकदिना परमारथ काज, गये भव्यजन सहित समाज। 'प्रौष्ठिल' जो है गुरू परवीन, वन्दै तिनकै पद गुण लीन ।।१५।।
अष्ट द्रव्य ले पूजा करी, जथाशक्ति मुनि थुति विस्तरी। भक्ति सहित शिर नयौ महीप, वैठौ पुन मुनि पाय समीप ।।१६।।
ता हित पर-अरथी मुनिराय, भाषौ जती धर्म समुदाय। तत्व पदारथ आदिक सार, तत्व पदारथ शिव अधिकार ।।१७।।
मारूथल सम यह संसार, तामें दुःख अनन्त अपार। दोष अन्त तें रहित सदीव, कैसे कहां वसें भव जीव ।।१८।।
अरू जो दुख संसार न होय, वहु संपूरण सुख तहं जोय। तौ पुन सुतप गहैं किम काज, जिनवर आदि सवै मुनिराज ।।१९।।
क्षुधा प्यास कामादिक कोप, प्रजुलित निश दिन जिय चित लोप। जहां कुटिलता तन धारंत, धीरज धरे तहीं वुधवंत ।।२०।।
इन्द्रियादि तस्कर सव जोय, धर्म पदारथ चोरत सोय। वैसे तहां एकाकी वीर, चित अडोल तन साहस धीर ।।२१।।
पराधीन चल भोगी जौन, ताकौ सेवैं भव जन कौन ? दुख अनन्त परिपूरण सोय, भवसागर को वर्धक जोय ।।२२।।
इहि प्रकार वच सुन वड़भाग, मन में वाढ़यौ परम विराग। तव उठि मुनिको नायौ शीस तज्यौ परिग्रह चउ अरू वीस ।।२३।।

तरहसे पालन करने लगा। वह नन्दराजा पर्वके दिनोंमें आरम्भ रहित उपवास करता हुआ, मुनि वर्गको वड़ी भक्तिसे प्रति दिन आहार-दान दिया करता था। धर्मकी वृद्धिके लिये वह जिनालयों में जिनेंद्र देवकी पूजा और गणधरादि योगियोंकी यात्रा में भी जाया करता था। वस्तुतः धर्मसे मनोवांछित फलकी प्राप्ति हुआ करती है। उससे संसारके ऐहिक सुख उपलब्ध होते हैं और संसारसुखकी इच्छा त्याग देनेसे अविनश्वर सुखकी प्राप्ति होती है। ऐसा विचार कर उसने लोक-परलोकमें सुख प्राप्तिके उद्देश्यसे समस्त सुखका मूल धर्मका सेवन करना आरम्भ किया।

वह स्वयं शुभ आचरण करता था और दूसरेको प्रेरणा भी करता था। धर्मके फलसे प्राप्त हुए समग्र सुखोंका उपभोग करता हुआ, वह समय व्यतीत करने लगा। निर्मल चारित्रके सम्वन्धसे राजा-नन्दको उत्तम भोगोंकी उपलब्धि हुई।

एक वारकी घटना है। वह नन्द राजा भव्य जीवोंको साथ लेकर धर्मोपदेश श्रवण करनेके उद्देश्य से पौष्ठिल मुनिकी वन्दनाके लिये गया। वहां जाकर वह भक्ति पूर्वक अष्ट द्रव्योंसे उनकी पूजा वंदना कर उनके चरणोंके निकट वैठ गया। मुनिने श्रेष्ठ श्रोता समझ कर उसको धर्मोपदेश देना आरम्भ किया। उन्होंने कहा—वुद्धिमान ! उत्तम क्षमाके द्वारा तू श्रेष्ठ धर्मका पालन कर। उत्तम क्षमा उसे कहते हैं जिससें दुष्ट जनोंके उपद्रव होते रहने पर भी धर्मका विनाश करनेवाले क्रोधकी उत्पत्ति न हो। धर्म-वृद्धिके लिये वुद्धिमानों को मार्दवका पालन करना चाहिये। मार्दव उसे कहते हैं—मन, वचन कायको कोमल करके मानका परित्याग करना। सत्पुरुषों को चाहिये कि वे आर्जव धर्मका पालन करें। वह आर्जव धर्म मनकी कुटिलताको त्याग देने से प्राप्त होता है। सर्वदा सत्य वोलना चाहिये। ऐसा वचन कभी भी न उच्चारण करे जिससे किसी धर्मात्माको कष्ट पहुंचे। असत्य भाषणका सर्वथा त्याग कर दे। इन्द्रिय, अर्थ आदि वस्तुओंकी ओरसे लोभी मनको रोक कर शौचका पालन करना उत्तम कहा गया है। जल द्वारा किये गये शौचको धर्मका अंग कदापि न समझे। त्रस-स्थावर छः प्रकारके जीवोंकी रक्षा कर इन्द्रिय-मन पर नियन्त्रण कर धर्म-सिद्धिके उद्देश्यसे संयम धारण करना चाहिये। धर्म के कारण शास्त्र-अभय दानादि रूप त्याग-धर्मका पालन करे। सुख प्राप्तिके लिये अकिंचन धर्मका पालन श्रेयस्कर होता है। इसकी प्राप्ति परिग्रहोंके त्यागसे होती है। धर्म-प्राप्तिकी आकांक्षा रखने वालेको व्रह्मचर्यका पालन नितान्त आवश्यक होता है। गृहस्थके लिये अपनी स्त्रीको छोड़ कर सवका त्याग कहा गया है और मुनिके लिये तो सभी स्त्रियोंका ही त्याग वताया गया है।

राजानंद के सुख वैभव का वर्णन

महाराजा नंद की सेना का वर्णन

भगवान की सेवा करते हुए देव देवियां।
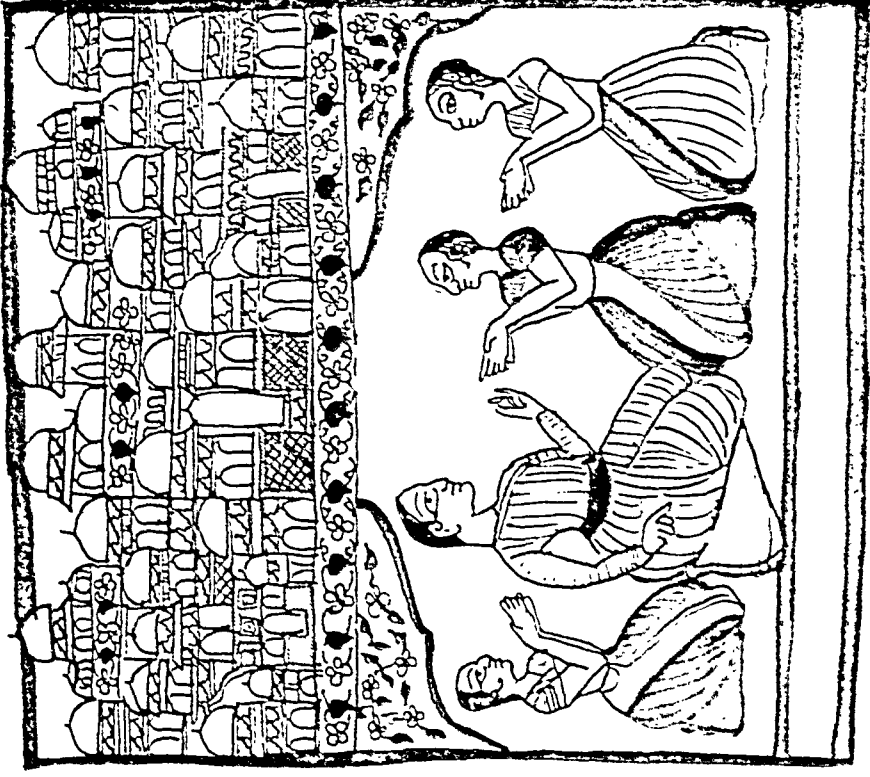
(चक्रवर्ती के वैभव का वर्णन)

चक्रवर्ती की सेना में अठारह करोड़ घुड़सवार थे।

राजा नन्द परम धार्मिक स्वभाव वाले थे। नित्य नियम से देव पूजन, स्वाध्याय सामायिक करते थे। जिससे उनके राज्य में सुख शान्ति थी।

दोहा

परम्पराय अनंत भव, घाती संजम जोर। परम शुद्ध चित आदरौ, साधक शिवकी ओर ॥२४॥
द्वादशांग वारिधि अगम, गुरु उपदेश जहाज। भयौ पार परवीन मुनि, रहित प्रमाद अकाज ॥२५॥

चौपाई

आप वीर्य को परगट करौ, द्वादश विध तप मन आदरौ। पाख मास उपवास हि धार पंचेन्द्रिय सोखै निरधार ॥२६॥
वसै गुफा गिरी कन्दर थान, एकाकी वन सिंह समान। सहैं परीषह दो अर बीस, क्षुधा तृषा आदि दुख दीस ॥२७॥

दोहा

नन्द मुनीश्वर भावजुत, षोडश भावन सार। भायैं निर्मल चित्त ह्वै, सकल सिद्धि दातार ॥२८॥

षोडश भावनाओं का वर्णन।

चौपाई

सम्यग्दर्शन प्रथम विशुद्ध, अष्ट अङ्ग ताकै अवरुद्ध। मल पच्चीस रहित जब होय, प्रथम भावना कहिए सोय ॥२९॥
दर्शन ज्ञान चरण उपदेश, जो मुनि देइ जथारथ लेश। ताकी विनय करै बहु भांत, द्वितीय भावना सो विरतांत ॥३०॥
सहस अठारह शीलह अङ्ग, अतीचार पालै तज संग। निर अतिचार कहावै सोइ, तृतिय भावना उत्तम होई ॥३१॥
पढ़ै अंग पूरव गुण ज्ञान, मत अज्ञान करै निरमान। काल पठन विस्तारै सोय, ज्ञान अभीक्षण भावना जोय ॥३२॥
भोग अंग सुत मित्र समेत, धन कन कंचन कुल बल हेत। जब इनतैं तन होय उदास, भव संवेग तनों परगास ॥३३॥
चार प्रकार संघ समुदाय, दीजै दान चार विध आय। यथाशक्ति जिन भाव समेत, शक्तितस्त्याग भावना हेत ॥३४॥
हनै कर्मरिपुकौ संतान, बारह विध तप करै निदान। जो निज शक्ति आतमा गहै, शक्तितस्तप सो जानावहै ॥३५॥
श्री मुनिवर गुण गायक नेह, रोग सोग भय पीड़ित देह। तास समाधि करै समुदाय, साधु समाधि वही सुखदाय ॥३६॥
वात पित्त कफ शूल अनेक, अति दुर्गन्ध कुष्ट तन टेक। ता मुनिकी शुश्रुषा करै, वैयावृत तब उत्तम धरै ॥३७॥
श्री अरहंत देव सुखदाय, मन वच काया सेव कराय। धर्म अर्थ शिव काम सहीत, दाइक अरहद भक्ति पुनीत ॥३८॥
वन्दै आचारज मन हीन, पंचाचार करण परवीन। गुण छत्तीस तनें धरतार, यह आचारज भक्ति विचार ॥३९॥
श्रुतज्ञान उद्योतक मुनी, मत अज्ञान हरन गुन गुनी। तिनकी भक्ति करै उर जोय, बहुश्रुत भक्ति कहावै सोय ॥४०॥

जो भव्यजीव इन सारभूत लक्षणोंसे युक्त मुनिगोचर परम धर्मका पालन करते हैं, वे संसारके सभी सुखोंका उपभोग कर अन्तमें मुक्ति के अधिकारी होते हैं। यदि किसीसे साक्षात् धर्मका पालन न हो सके, तो नाम मात्र स्मरण कर लेना चाहिये। उसीसे सुखकी प्राप्ति होगी। ऐसा धर्मका माहात्म्य समझ कर विवेकी पुरुषोंको चाहिये कि वे इन क्षणभंगुर शारीरिक भोगों से विरक्ति उत्पन्न कर लें। उन्हें मोहेन्द्रियोंको जीत कर अपनी सारी शक्ति लगा कर धर्म-साधनमें लीन हो जाना चाहिये। मुनिराजकी अमृत सदृश वाणी सुनकर नन्दराजा के मनमें विवेक उत्पन्न हुआ। उसने विचार किया कि, यह संसार अनन्त दुखोंका आगार है, आदि और अन्तसे रहित है, अतः इससे भव्य जीवोंको प्रीति कैसे हो सकती है। यदि यह संसार दुःखोंका स्थान न होता तो सांसारिक सुखोंसे परिपूर्ण तीर्थंकर देव मोक्ष के लिये इसका क्यों परित्याग करते? भला भूख-प्यास, रोग शोकादि रूप अग्निसे जलने वाले शरीर रूपी झोपड़ेसे धर्मात्मागण कैसी प्रीति कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते।

केवल यही नहीं, जिस स्थल पर इन्द्रियरूपी चोर धर्मरूपी धनको चुराने वाले हों, भला उस शरीरमें कौन बुद्धिमान निवास करना चाहेगा? जहां जन्मके पूर्व दुःख और मृत्युके बाद भी दुःख ही दुःख है, जहांके भोग, दाहको तीव्र करने वाले हों, उसे कौन बुद्धिमान आमंत्रित करेगा? भोग सर्वदा दुःख उत्पन्न करने वाले होते हैं। अतः महापुरुष उन्हें सर्वथा परित्याग कर

मोह महातम नाश मान, श्री जिनवर वानी सुख खान। ताको वहुविध वर्णन करै, प्रवचन भक्ति तहां विस्तरै ॥४१॥
प्रतिक्रमण शुभ प्रत्याख्यान, अरु व्युत्सर्ग सु समिता वान। तीन काल सावै स्वध्याय, यह आवसिका परिहानाय ॥४२॥
जो पुस्तक औरहि लिख देय मूरख तै पण्डित कर लेय। जिन पूजा मन वच तन करै, मार्ग प्रभावन उत्तम धरै ॥४३॥
सम्यग्दृष्टी जो नर होय, कर सम्मान बुलावै सोय। धर्मकथा भापै ता पास, वात्सल्य यह अंग प्रकाश ॥४४॥

दोहा

यह विध षोडश भावना, भाई नन्द मुनीश। तीर्थंकर पद वंधियौ, गुण अनन्त परमेश ॥४५॥
महिमा तीनों लोक में, इन्द्र उपेन्द्र अधार। मुक्ति सरूपी लक्ष्मी, वाँधी वर हितकार ॥४६॥

चौपाई

मरण प्रजंत कियौ तप घोर, पाल्यौ संजम आतम जोर। अल्प आयु संपूरन करी, वपु आहार क्रिया परिहरी ॥४७॥
व्रत साफल्य कियौ भवपार, तीन जगत सुख को करतार। परम विशुद्ध धरौ सन्यास, दायक मोख हरण दुख आस ॥४८॥
दरशन ज्ञान चरण तप लहै, समताभाव आतमा गहै। आराधन आराधै चार, वांछ हियें मोख वर-नार ॥४९॥
मन विकल्प सव कीनें दूर, आतम ध्यान दियौ भरपूर। सव जीवनसौ क्षमा कराय, तजै समाधि प्राण मुनिराय ॥५०॥

दोहा

यह तप फल सौ पाइयौ, सुरग सोरहैं वास। अच्युत इन्द्र पुनीत पद, देव नमैं पद जास ॥५१॥

चौपाई

संपुट शिला रतन मन लसै, मानों कमलसु ऊरध वसै। अन्त मुहूरत जौवन लयौ, संपूरन तन प्रापत भयौ ॥५२॥
आभूषण भूषित सरवंग सहज रूप सम नाना रंग। तह तैं उठ देखो सव भेष, अति रमणीक मनोहर देश ॥५३॥
ऋद्धि सिद्धि देखी सव राय, सुर विमान आदिक समुदाय। स्वप्न समान लगै यह वात मन चिन्तै कछु भेद न गात ॥५४॥
को मैं कौन पुण्य है कियौ, कौन देश यह कहाँ आनियौ। को प्रवीन ये वोलें वैन, को सुर सेवैं मन धर चैन ॥५५॥
कौन तनी देवी गुणमाल, रूस लता जुत शील विशाल। रतनमयो प्रासाद उतंग, कौन तनैं यह नाना रंग ॥५६॥

देते हैं, पर वे भोग हीनपुण्यी पुरुषोंको भी सुख नहीं दे सकते। यदि वस्तुतः भोग साधक इन्द्रिय सुखके वस्तुका विचार किया जाय तो उससे अत्यन्त घृणा उत्पन्न होती है। इसलिये यह निश्चित है कि भोग कोई शुभ वस्तु नहीं है।

इस प्रकार विचार करनेके वाद राजाको वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने उसी योगीको दीक्षा गुरु वनाकर दोनों प्रकार के परिग्रहोंको छोड़ परम शुद्धिसे जन्म-जन्मके दुःखोंसे मुक्त होनेके लिये मुनिव्रत ग्रहण किया। उस राजाने गुरुकी कृपासे अति अल्प-कालमें ही शास्त्रोंका अध्ययन किया। वह अपनी शक्तिको प्रकट कर कर्म-नष्ट करने वाले वारह प्रकारके तपोंका आचरण करने लगा।

उस मुनिने ६ मास तक कठोर अनशन व्रत किया। यह व्रत कर्मरूपी पर्वतको विनष्ट करनेके लिये वज्रके समान है। निद्रा कम होनेके लिये उस मुनिने अवमौदर्य तपको धारण किया। जितेन्द्री मुनिराजने तष्णा नाश करने वाला वृत्ति परिसंख्यान तपका पालन आरम्भ किया। अतीन्द्रिय सुखके लिये उन्होंने रस परित्याग तपको धारण किया। वे ध्यानाध्ययन करने वाले मुनि स्त्री आदि रहित वनों और गुफाओंमें विविक्त सय्यासन तपका पूर्ण रूपसे पालन करने लगे। वे वर्षा ऋतु और गर्म हवाके झकोरों में भी वृक्षके धैर्य्य रूपी कम्वलको ओढे हुए तप किया करते थे। सर्दीके दिनों में वे चौराहे पर, नदीके तीर पर और वर्फसे ढके हुए स्थलोंमें कार्योत्सर्ग तप किया करते थे! सूर्यको किरणोंसे तप्त पहाड़की गर्म शिला पर वे मुनि सूर्यके समान निश्चल रहते थे।

---

१. उत्तम तप के प्रभाव से अच्युत नाम के सोलहवें स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में देवों के देव इन्द्र हुये।

दल सप्तांग कौन को येह, अति मनोज्ञ सुर रक्ष करेह। दिपै सभामण्डप मनमोह, परम उतंग सबै यह कोह ॥५७॥
रतनजटिल वहुवर्ण विमान, तामें कौन वसै परधान। को यह नृत्य करैं मन लाय, सकल विभूति कहीं ना जाय ॥५८॥
मुहिको देखैं देवी देव, मन आनन्द करै सव सेव। कारण कौन स जान्यौ जाय, त्यों त्यों मन चिन्ता अधिकाय ॥५९॥
इहि प्रकार वहु चिन्ता करै, मनमें सुरपति विकलय धरै। भेदाभेद न जान्यौ येह, सत्त हियैं बाढ्यौ संदेह ॥६०॥
तावत मंत्री परम प्रवीन, प्रनमौं चरणकमल मन हीन। अवधिज्ञान कर जानौ येह, नाथ हिये वड्यौ संदेह ॥६१॥
अस्तुति करी नाय निज माल, मो स्वामी तुम दीनदयाल। धन्य आज देखै तुम नैन, जीवन सफल भयौ मुझ एन ॥६२॥
देह पवित्र आज मो भई, आज हु मनकी दुर्गति गई। हस्त कमल फिर जोरे देव, शिर नवाय बोलो कर सेव ॥६३॥
अब सुनिये मों कृपानिधान, जामें मन विकलपको हान। स्वर्ग महा अच्युय यह सोय, ऋद्धि सिद्धि को सागर तोय ॥६३॥
सकल स्वर्ग के ऊपर वसै, ज्यों माथे चूड़ामणि लसै। चन्द्रकान्त मूगा मणिभई, नाना रतन भूमि वरनई ॥६५॥
रात दिवस को भेद न कदा, रतन ज्योति सों उद्दित सदा। तीन लोक में दुर्लभ जोई, एक धर्मसों सुलभ जु होइ ॥६६॥
सुख-सागर में निवसै सोय, दुःख दारिद्र्य न व्यापै कोय। कामधेनु गौ दूध अपार, कल्पवृक्षदनविध दातार ॥६७॥
चिन्तामणि से रत्न अनूप, और वस्तु को कहा स्वरूप। स्वर्ग-बाग तरु नाना रूप, चैत्यवृक्ष आदि नग भूप ॥६८॥
फूलैं फूल तहाँ अधिकार, दश ही दिश फैली महकार। यहाँ न वरतै दुख को हेत, सुख समूह सब ही विधि देत ॥६९॥
हीन दरिद्री रोगी दुखी, निर्गुण निर्ज्ञानी दुर्मुखी। दुर्भागी दुर्वचनी जिते, सपनै मांहि न दीनै इते ॥७०॥
कै जिन पूजा वरतैं अंग, सुनैं केवली वचन उतंग। देखें नृत्य महारमणीक, और न मन में विकल्प नीक ॥७१॥

इस प्रकार वे धीर वीर मुनि इन्द्रिय जन्य सुखकी हानिके लियेसदा काय क्लेश रूप तप किया करते थे। उन्होंने वाह्य और अन्तरंग दोनों तपों का उचित रूप से पालन किया और दश प्रकार की आलोचनाके द्वारा प्रमाद रहित चरित्र को शुद्ध करने वाले प्रायश्चित तपको धारण किया। वे मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र और इनके धारण करने वाले परम मुनिश्वरोंकी प्रार्थना करते थे। साथ ही वे इन्द्रिय मनको वशमें करनेके लिये अंगपूर्व शास्त्रोंका अभ्यास किया करते थे।

उन्होंने निर्ममत्व सुखकी प्राप्तिके लिये शरीरादिसे ममता त्यागकर कर्म रूपी वनको भस्म करने के उद्देश्य से व्युत्सर्ग तप करना आरम्भ किया। वे बुद्धिमान मुनि धर्म-ध्यान शुद्ध ध्यान में लीन हो स्वप्नमें भी आर्त ध्यानको नहीं विचारते थे। यह आर्त ध्यान अनिष्ट संयोगसे उत्पन्न इष्ट वियोगसे उत्पन्न महान रोगसे उत्पन्न और निदान रूप इस तरह चार प्रकार का है। इस प्रकार मुनिके चित्तमें चार प्रकार का रौद्र ध्यान भी जगह नहीं पाता था। वह रौद्र ध्यान जीव-हिंसा, झूठ, चोरी परिग्रह रक्षा में आनन्द मानने से होता है और नरक गतिमें ले जाने वाला है। वे शुद्ध चित्त वाले मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान विचयरूप चार प्रकारके धर्म-ध्यानका चिंतवन करने लगे। यह धर्म-ध्यान स्वर्गादि सुखोंका प्रदान करने वाला है।

वे बुद्धिमान मुनि वनादिकों में पृथकत्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपत्ति, व्युपर क्रिया निवृत्ति - इस तरह चार प्रकारके शुक्ल ध्यानका चिंतवन करने लगे। यह शुक्ल ध्यान सर्व-श्रेष्ठ है, विकल्प रहित है और साक्षात मोक्ष प्रदान करने वाला है। मुनिने वारह भेद रूप महान तपका आचरण किया, जो कर्मरूपी शत्रुओंका संहारक है। वह केवल ज्ञानको उत्पन्न करने वाला है और वांछित अर्थको सिद्ध करने वाला है। कठिन तप के प्रभावसे उन्हें दिव्य ज्ञानादि अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुई। ये ऋद्धियां अविनश्वर सुख प्रदान करने वाली होती हैं।

मुनिका स्वभाव अत्यन्त सरल हो गया। वे सब प्राणियों पर दयाभाव रखते थे। धर्मात्मा पुरुषों को देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी और उनका बड़ा आदर करते थे। पर मिथ्या दृष्टि जीवोंसे सदा उदासीन रहा करते थे। मैत्री आदि चारों प्रकारकी भावनाओं में लीन उन मुनिको स्वप्न में भी राग-द्वेष नहीं होता था। वे दर्शन विशुद्धि आदि गुणोंमें लीन थे। एक दिन उन्होंने तीर्थंकरकी संपदा प्रदान करने वाली सोलह भावनाओंको ग्रहण किया। वे भावनायें निम्न थीं।

इकसै उनसठ सकल विमान, श्रेणीवद्ध प्रकीर्णक जान। तिनै असंख्य संख्य विस्तार, सवै सुक्खसागर अधिकार ॥७२॥
दश सहस्र सामानिक देव, तुम समान दीसें कर सेव। उत्तम सुर तैंतीस हजार, सुत समान वर्तें सुखकार ॥७३॥
सुर चालीस सहस परवान, ते तुम तन रक्षक गुण खान। या समान सव देव उतंग, कहै अढ़ाई सैं निरभंग ॥७४॥
देव पंचसै परम प्रवीन, तुम आज्ञा में तत्पर लीन। लोकपाल चारों चतुरंग, पालैं लोक धरा सरवंग ॥७५॥
दश दिकपाल नाथ पग धरैं, दशहि दिशा सव उज्वल करैं। इनैं आदि सुर सेवैं घने, अव सुभेद सुन देविन तनैं ॥७६॥
गणदेवी वत्तीस वखान, नाटक सुक्ख करें गुन खान। अष्ट महादेवी गुणरूप, प्रेम आदेश राग रस कूप ॥७७॥
एक एक प्रति है परवान, कहीं अठाईसैं शुभठान। तीन ज्ञान मण्डित मन रंग, ऋद्धि विक्रिया युत सरवंग ॥७८॥
वल्लभिका देवी सुन थान, है त्रैषठ इनको परवान। तुम चित हरैं करैं पद सेव, महती रूप सम्पदा एव ॥७९॥
कही पिण्डता देवी शाख, हैं सहस्र इकहत्तर भाख। अरु दस लाख सहस चौवीस, दिव्य जोषिता रूप गरीस ॥८०॥
पार्श्ववान हैं त्रिविध हि देव, गीत नृत्य कर तुम पद सेव। प्रथम पचीस दुनी पंचास, तृतीय परिधि शत ज्ञान प्रकाश ॥८१॥
सव में यह वर्धना शची, वसुंधरा नामांकित खची। जिनवर पूजा में लवलीन, क्षायिक समकित वहु भव हीन ॥८२॥
ललित वचन है लीला वन्ध, सुभग सुलच्छन सहज मुगन्ध। शीलरूप लावण्य हि लीन, हाव भाव रस कला प्रवीन ॥८३॥
सव देविन को आयु प्रमान, पचमन पल्य कही भगवान। विनशैं होय वहुत समुदाय, ज्यों समुद्र उठि लहर विलाय ॥८४॥

उन सोलह भावनाओंमें पहली भावनामें उन्होंने दर्शन विशुद्धि के लिये शंकादि पच्चीस दोषों को त्यागकर निःशंकादि आठ गुणोंको स्वीकार किया। जिनेन्द्र भगवान के कथनानुसार सूक्ष्म तत्वोंके विचार में प्रमाणिक पुरुषसे शंकाकी निवृत्ति कर 'निशंकित' अंगका पालन करना आरम्भ किया। वे तपसे इस लोक और परलोकके सुखों को परित्याग पूर्वक, उसे नरकका कारण समझ 'निःकांक्षित' अंगको धारण कर लिया। रत्नत्रयादि गुणोंको धारण करने वाले योगियों के शरीर पर मैल तथा रोग देखकर उससे ग्लानि नहीं उत्पन्न होना ऐसा वे 'निर्विचिकित्सा' अंगका पालन करने लगे। मुनिने देव गुरु शास्त्रकी धर्म रूपी ज्ञान भेद से परीक्षा कर मूढ़ता का त्याग पूर्वक 'अमूढ़त्व' अंग को स्वीकार किया।

वह जिन शासनमें अज्ञानी असमर्थ पुरुषोंके सम्वन्धसे प्राप्त हुए दोषोंको छिपाना ऐसे उपगूहन गुणको पालने लगा। दर्शन तप चरित्रसे युक्त जीवोंको उपदेशादि द्वारा दर्शनादि गुणोंमें स्थिर करने वाला ऐसे स्थितिकरण अङ्गका आचरण करने लगा। वह साधर्मी भाइयों से गो-वछड़ेकी भांति ऐसे 'वात्सल्य गुण, का पालन करने लगा। उसने मिथ्यात्वसे दूर रह कर जैन-धर्मके महात्म्यको प्रकाश करने वाला प्रभावनाका पालन आरम्भ किया।

उसने संयमी राजाकी भांति अष्ट गुणोंसे सम्यग्दर्शनको पुष्ट किया। सम्यग्दर्शनके प्रभावसे उसने कर्म-रूपी शत्रुओंको नष्ट कर दिया। देव, लोक और गुरु तीनों मूढ़ताको त्याग किया। इस मुनि ने जगतको अनित्य समझ कर अष्ट मदोंको छोड़ा। मिथ्या, दर्शन, ज्ञान, चरित्र और इनके धारक छः प्रकारके अनायतनोंको भी सर्वथा त्याग दिया।

मुनिने निःशंकादि गुणोंके विपरीत शंकादि आठ दोषोंका त्याग किया। वह अपने ज्ञानरूपी जल से सम्यक्त्वके पच्चीस मलोंको धोकर उसे निर्मल कर दर्शन विशुद्धि भावनाका पालन करने लगा। उस मुनिने संवेग, वैराग्य, उपशम, भक्ति वात्सल्य, अनुकंपा आदि गुणोंसे रहित होकर तीर्थंकरकी उपाधि का प्रथम सोपान-दर्शन विशुद्धि पर आरोहण किया।

वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र, व्यवहार विनय एवं ज्ञानादि गुणोंको धारण करने वालोंका विनय, मन, वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक करने लगा। वह सदा शास्त्रोंके अध्ययनमें लीन रहता था। साथ ही उसके यहां अनेक शिष्य पढ़नेके लिये आया करते थे। उसे देह-भोग और संसारके प्रति वड़ी अनास्था हुई। वह इनसे वड़ा भयभीत हुआ। उस नन्द नामके योगीने मुनियों को ज्ञानदान, अन्यान्य जीवोंको अभयदान और समग्र जीवोंको सुख देनेवाला धर्मोपदेश आरम्भ किया।

वह मुनि दुष्ट कर्मरूपी शत्रुओंको विनष्ट करनेके उद्देश्यसे निर्दोष तप करने लगा। वह सदा रोगसे पीड़ित और समाधिमरण करने वाले असमर्थ साधुओंकी सेवामें संलग्न रहने लगा। उन्हें वह धर्मोपदेश भी किया करता था। उसने मोक्षके लिये मुनियोंकी वैयावृत्य करने लगा। मुनिने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रदान करने वाली अर्हंत भगवानकी महत पूजाआरम्भ

हस्ती घोड़े रथ पद एव, वृष गन्धर्व नर्तकी देव। सप्त अनीक ठीक यह कही, भो प्रभ भेद सुनों कछु यही ॥८५॥
एक-एक के हिल्ले देव, सातों के सातों सुन लेव। ऋद्धि विक्रिया को विरतंत, हुकम पाय तज देंहि तुरन्त ॥८६॥
प्रथम अनी गजराज वखान, सोहै वीस सहस परवान। यातैं दुगुण-दुगुण विस्तार, सेना सकल जानि निरधार ॥८७॥
सव दल लक्ष पचीस सुनेह, अरु वालीस सहस अधिकेह। सेवा करें सबै मन लाय, भक्ति सहित प्रणमैं तुम पाय ॥८८॥
निज नगरीं है गिरदाकार, जोजन वीस सहस विस्तार। कोट असी योजन उत्तंग, अट्ठाई अवगाहन रंग ॥८९॥
कनक कंगूरा है प्राकार, खाई अति गम्भीर विचार। तोरन तुंग रतन छविदाय, सव उपमा नहिं वरणी जाय ॥९०॥
चारों दिश दरवाजे चार, सौ योजन ऊंचे निरधार। नगरी चौपथ सघनी पांत, तामें वीथी नाना भांत ॥९१॥
ता में प्रभ जिन सदन अभंग, है जोजन दो सै उत्तंग। जोजन वीस तास विस्तार, अरु आयाम दून सुखकार ॥९२॥
यह विभुति वरणी समुदाय, और विविध को कहै वढ़ाय। अहो नाथ तुम पुण्य अपार, सो सन्मुख पायो सुविचार ॥९३॥

दोहा

अणिमा महिमा गुण गरिम, लघिमा प्राप्ति सुनेव। प्राकाम्यत्व जु वृद्धि वश, स्वर्ग ऋद्धि वसु एव ॥९४॥
सुरगराज लक्ष्मी विविध, संपूरण सुखदाय। अद्भुत पुण्य सुरेश तुम, भुगतो निज मन लाय ॥९५॥

की। वह छत्तीस गुणोंके धारक आचार्यकी रत्नत्रय प्राप्त कराने वाली भक्ति करने लगा। संसारको प्रकाशित करने वाले और अज्ञान रूपी अन्धकारको नाश करने वाले उपाध्याय मुनिश्वरोंकी, उसने बड़ी भक्ति की। साथ ही वह जिनवाणीका अध्ययन करने लगा।

उस योगीने समता, स्तुति, त्रिकाल वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ये सिद्धान्तमें प्रकट किये गये छः आवश्यक पापोंको विनष्ट करनेके लिये योग्य कालमें नियम धारण किया। भेद विज्ञानसे तपस्यासे उत्कृष्ट आचरणों से सदा जीवोंकी रक्षा करने वाली जैन-धर्मकी वह प्रभावना किया करता था। सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंका आदर और धर्मात्माओंसे वात्सल्य भाव रखता था।

वह इस प्रकार तीर्थंकरकी विभूति प्रदान करने वाली सोलह कारण भावनाओंको शुद्ध मन वचन कायसे विचारने लगा। इन भावनाओंके चिन्तनके फल स्वरूप उसे अनन्त महिमा युक्त तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध हुआ, जिस तीर्थंकर नामके प्रभावसे इन्द्रका आसन हिल उठता है, जिनका मोक्षरूपी लक्ष्मी स्वयं आकर आलिंगन करती है, उस पदका बन्ध होना क्या सरल है ? इसके बाद उक्त मुनिने निर्दोष चारित्रका पालन करते हुए सन्यास मरणको धारण किया। पुनः सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप रूपी चतुः आराधनाओंका पालन करते हुए उसने अपने प्राणोंको छोड़ा।

उक्त समाधिके परिणाम स्वरूप नन्दनामा मुनि सोलहवें स्वर्गमें जा, देवोंके पूज्य अच्युतेन्द्र हुए। अन्तर मुहूर्तमें उन्हें पूर्ण यौवन प्राप्त हुआ और वे वस्त्रमाला आदि आभूषणोंसे सुशोभित हुए। अपनी कोमल सज्जासे उठ कर वे सुन्दर सुन्दर वस्तुओं को देखनेमें संलग्न हो गये। स्वर्गके विमान आदि वस्तुओंको देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे कि— वस्तुतः मैं कौन हूं, यह स्थान कौनसा है जहां सुखही सुख दृष्टि गोचर हो रहे हैं ? दुखका तो लेश भी नहीं है। ये अत्यन्त चतुर और प्रीति परिपूर्ण देव कौन है ? ये सुन्दर देवांगनायें और आकाश में लटकने वाली अट्टालिकायें किसकी हैं ?

ये वड़े ऊंचे सभा-मण्डप और देव रक्षित मनोज्ञ सेनायें किसकी हैं ? यह दिव्य ऊंचा सिंहासन किसका है, और ये सम्पदायें किसकी हैं ? ये सुन्दर विनयी लोग मुझे देखकर हर्ष क्यों मना रहे हैं। किस कर्मकी प्रेरणासे मैं आया हूं। इन्हीं सब विषयों पर इन्द्र चिन्ता कर रहे थे और उनका सन्देह भी दूर न हो पाया था कि, उनके चतुर मंत्रीने अवधि-ज्ञानसे उनके अभिप्राय को समझ, समीप आकर उनके चरण कमलोंको भक्ति पूर्वक नमस्कार किया। वह दोनों हाथ जोड़कर उनके संशयकी निवृत्ति के लिये प्रिय वचन कहने लगा। उसने कहा—

देव, हम लोगों पर दयादृष्टि रखकर अपने सन्देह निवारण के लिये मेरे वचनोंको सुनिये। नाथ ! आज हम अपने सफल जीवनका अनुभव करते हैं। हम धन्य हैं कि, आपने अपने जन्मसे इस स्थानको पवित्र किया। समग्र सम्पदाओंका आगार

तीर्थंकर कल्याणक पंच, तत्पर तहां जाय मन संच। शेष केवली मुक्ति महेश, दो कल्याणक करे सुरेश ॥१२५॥
मेरु कुलाचल जिनगृह जहां, भाव सहित हरि वन्दै तहाँ। द्वीप समुद्र असंख्य मझार, मन इच्छाधर करै विहार ॥१२६॥
पूजै श्री जिनवर के पाय, वंदै निज कर शीस लगाय। करै महोत्सव तहँ अधिकाय, बांधै विविध धर्म सुरराय ॥१२७॥
इहि विध भुगतैं परमानन्द, सुख सागर में सदा सुरन्द। सकल देव मिलि सेवा करैं, आज्ञा विना न कहुं पग धरैं ॥१२८॥

दोहा

स्वर्ग लोक की संपदा, वरणन है अधिकार। कही किमपि लघु रूप में जाने जाननहार ॥१२९॥

गीतिका

यह भांति वृष परिपाक करकै, सुरग राज सो पाइयौ। तहँ भई पूरण विभव सव विधि, दिव्य भोग कराइयौ ॥
यह जान भविजन भजहु धर्म हि, धरम एक सहाय है। धरम बहु भवहरण जियकौ, धरम शिव सुखदाय है ॥१३०॥

इस प्रकार धर्मके फलसे उन्हें अनेक सम्पदायें प्राप्त हुई। उन्होंने तीन हाथ ऊंचा, पसीना धातुमलसे रहित नेत्रोंकी टिमकार रहित दिव्य शरीर प्राप्त किया। उन्हें नरककी छठीं पृथ्वी तकका अवधि ज्ञान था और विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई। ज्ञानके समान ही क्षेत्रोंमें गमन-आगमनमें समर्थ उन इन्द्रको विभिन्न भूषणोंसे शोभायमान बाईस सागरकी आयु प्राप्त हुई।

बाईस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर वे मानसिक दिव्य अमृतका आहार करते थे। ग्यारह मास बीतने पर सुगन्धित श्वास लेते थे। वे सुरेश तीर्थंकरोंके पांचों कल्याणकोंमें तथा केवलियोंके दोनों कल्याणकोंमें जाया करते थे। देवों द्वारा पूज्य सुरेन्द्र सदा पूजा आदि महोत्सवोंमें जा जाकर धर्मकी अभिवृद्धि किया करते थे। उन्हें सुखकी सारी सामग्रियाँ उपलब्ध हुई।

इस तरह वे अच्युतेन्द्र सुख सागरमें निमग्न हुए। धर्मके फल स्वरूप उन्हें जो सम्पदायें प्राप्त हुई, उनका वर्णन करना असम्भव है। उन्होंने दिव्य भोगोंका उपभोग किया। ऐसा समझ कर बुद्धिमान जन शम-दम और संयमसे सदा धर्म का सेवन किया करते हैं।

कामी बीचार कर्ता है के याजीवती होती नोमें इसकूं भोगलेतो परमहंस वीचारता है के जप तप तील बीना वृथा ही मरगई स्वान विचार करता है के येह इहासें अलग होजावे तोमें इस वेश्या का मृतक कलेवर कूं पाऊं इति।

सप्तम अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

विघनहरन आनंद करन, सेवैं त्रिजगत पाय। वन्दौं पारस पद कमल, भवभव में सुखदाय ॥१॥
कहौं वीर जिनराज को, आगे चरित रसाल। पंचकल्याणक विविध विधि, मिथ्यातम खय काल ॥२॥

चौपाई

याही जम्बू द्वीप महान, जोजन लाख तास परवान। वज्रकोट है गिरदाकर, वनु जोजन अवगाहन धार ॥३॥
तीन लाख सोलह हज्जार, दोसै सत्ताईस विचार। इतनै जोजन है परवान, ऊपर कोश तीन पहिचान ॥४॥
धनुष एकसै अट्ठाईस, साढ़े तेरह अंगुल दीस। यह परिधीको सब विस्तार, वेठ्यौ जम्बूद्वीप सम्हार ॥५॥
लवण समुद्र वहै चहुं ओर, जोजन लाख दोय सर वोर। वड़वानल तहं अधिक प्रचण्ड, बड़ै नीर सोखै बलवण्ड ॥६॥
चहुं दिश चार पैठवा जान, विदिशा चारों मध्य प्रमान। सवा सवा सै अन्तर ओर, एक सहस वनु हैं सब जोर ॥७॥
जलचर जीव अनेक प्रकार, पीवन जोग नहीं जल खार। द्वीपहि मध्य परम परधान, मेरु सुदर्शन शोभावान ॥८॥
जोजन लाखजु महा उतंग, स्थूल सहस दस मूल अभंग। ताकी रचना सुनो अनन्द, एक सहस जोजन को कन्द ॥९॥
तापर भद्रसाल वनसार, तहं जिन भवन अकृत्रिम सार। विदिशा चार चार गजदन्त, नील निषध पर्वत लौं अन्त ॥१०॥
अति उत्तंग कंचन सम पगे, तिनपै इक इक जिनगृह लगे। वन सब शोभित नाना भांति कल्पद्रुम की सघनी पाति ॥११॥
कुरुद्वय दक्षिण उत्तर दोय, जम्बू शाल्मली अवलोय। इक इक तरुकी शाखा चार, चारों दिश लीजे अवधार ॥१२॥
पूरव शाखा जिन गृह वसै, सदा सासुते हिममय लसै। तहं तै पंच शत योजन जान, नन्दन वन सो कहो बखान ॥१३॥
चार चैत्यालय वन में सही, रचना तास पूर्ववत् कही। तहं तै साढ़े बासट सहस, है उतंग जोजन सौमनस ॥१४॥
तहां भवन जिन चार मनोग, पूरववत् सामग्री जोग। तहं तैं जोजन सहस छत्तीस, पाण्डक वन गिरीन्द्र के शीस ॥१५॥
पूरव वत चैत्यालय चार, कंचन मय चारौं दिश चार। ताके मध्य चूलिका दीस, मुकुट सदृश जोजन चालीस ॥१६॥

लोकपाल जिनका सदा, करते सद्‌गुण गान। करें विघ्न सब नष्ट वे, पार्श्वनाथ भगवान ॥

जिन महाप्रभुके सद्‌गुणोंका गान लोक-पतियोंके द्वारा सर्वदा हुआ करता है, वे पार्श्वनाथ भगवान समग्र विघ्नों (ग्रन्थ निर्माण सम्बन्धी आने वाले उत्पातों) को नष्ट करें। अर्थात् ग्रन्थ निर्माणमें किसी प्रकार की बाधा न उपस्थित होने दे।

भरत क्षेत्रमें विदेह नामक एक विस्तृत देश है। धार्मिक पुरुषोंका निवासस्थान होनेके कारण वह विदेह-क्षेत्र जैसा ही शोभायमान है। इस स्थलसे कितने ही मुनियोंने मोक्ष प्राप्त किया है। नामके अनुसार इस स्थान का गुण भी सार्थक है। यहांके निवासी कोई सोलहकारणादि भावनाओंका विचार कर तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध करते हैं, कोई पंचोत्तर नामके अहमिन्द्र स्थानमें पहुंचते हैं। भक्ति पूर्वक उत्तम पात्र दान देनेसे भोग-भूमिमें जन्म ग्रहण कर लेना तो यहांके निवासियोंके लिये सामान्य सी बात है। यहां तक कि यहांके कोई भव्य जीव भगवानकी पूजाके फल स्वरूप स्वर्गमें इन्द्र-पद प्राप्त होते है।

यह स्थान अर्हन्त केवली भगवानकी मोक्ष-भूमि है। कारण यहां स्थान स्थानपर मोक्ष स्थान हैं। इस भूमिको मनुष्य, देव, और विद्याधर सभी नमस्कार करते हैं। यहांके वन-पर्वत ध्यानी योगियों से अत्यन्त शोभायमान हैं। और यहां ऊंचे भव्य

वारह जोजन मूल विचार, आठ मध्य अर ऊरध चार। ताके ऊपर जो सुर थान, वालांतर है ऋतुक विमान ॥१७॥
अव दक्षिण उत्तर विस्तार, जम्बू द्वीप हि भाग विचार। इक सै नव्वै कीजै नेत्र, एक भाग को भरतहि क्षेत्र ॥१८॥
सो कहिये जोजन सौ पांच, ऊपर छव्विस हिय धर सांच। कला षष्ट अधिकी है और, कर उनीस इक जोजन ठौर ॥१९॥
लाखो तीन भाग परवान, धनुप अढ़ाई सै कर हान। हिमवन गिरि के पास जु सोय, पूरव अपर दिशा अवलोय ॥२०॥
धनुपाकार ताहि अवलोय, छहूं खण्ड मण्डित है सोय। पंच म्लेच्छ आर्य इक जान, क्षेत्रहि मधि राजत गिरि मान ॥२१॥
पट जोजन तस कन्द सरीस, ऊंचौ है जोजन पच्चीस। अरु पचास विस्तार जु होय, तापर इक जिनगृह अवलोय ॥२२॥
नव जु कूट है सबरे जोय, पूरव कूट हि उतकिठ सोय। अष्ट कूट पर लघु जिन गेह, प्रतिमा एक विराजै तेह ॥२३॥
दश योजन पर श्रेणी दोय, पुर पचास दक्षिण दिश सोय। उत्तर नगरी साठ सु जोड़, एक एक प्रति गांव जु कोड़ ॥२४॥
दोय भाग हिमवत गिरि सार, कन्द पचीस हि जोजन धार। सो जोजन उन्नति परवान, अन्तभाग छह लम्वौ जान ॥२५॥
....। तामेंपाव कोश घटि मान, तापर इक जिन भवन महान ॥२६॥
तापर पद्म दह इक रूर, दश जोजन गहरो जल पूर। लंवौ है जोजन हज्जार, अरु शत पांच जास विस्तार ॥२७॥
इक योजन तहं कमल प्रकाश, तापर श्री देवी को वास। सोलह सहस तास परिवार, थिति इक पल्य शचीवत सार ॥२८॥
तिनतैं निकसीं सरिता तीन, ताकौ भेद सुनौ परवीन। नदी मूल है देवी तेह, तिन नामांकित सरिता तेह ॥२९॥
प्रथम हि गंगा सरतै चली, मूल सवा छह-जोजन भली। भरतक्षेत्र विजयारध कोर, पूरव मिली लवणदधि जोर ॥३०॥
साढ़े वासट जोजन ताहि, जलचर जीव न उपजै माहि। गाले जल वत जलहु विचार, चौदा सहस तास परिवार ॥३१॥
दूजी सिन्धू तिहिवत चली, गुफा फौरि पच्छिम दिशि मिली। तीजी नदी जोहिता मूल, साढ़े वारह जोजन फूल ॥३२॥
क्षेत्र हेमवत में हो आय, पूरव मिली उदधि को जाय। जोजन शत पची। विस्तार, सहस अठाइस है परिवार ॥३३॥
भाग चार क्षेत्र हि अ-धार, भोग भूमि लग सव व्यौहार। अन्तर लेवो वारह भाग, तामें आध कोश घटि लाग ॥३४॥
मह हिमवन छठ भाग विथार, चौवीस लम्वौ कोश हि धार। कन्द पचास हि जोजन होय, अरु उन्नत जोजन सौ दोय ॥३५॥
एक भवन जिन तिन पर लही, अष्टोत्तर शत प्रतिमा सही। महापद्म द्रह तापर लह्यौ, जोजन सहस दु लांवौ कह्यौ ॥३६॥
सहस एक को चउरो वनो, वीस गहीर कमल द्वै तनौ। इजी ह्री देवी तहं वास, प्रथम हिवत सामग्री जास ॥३७॥

जिनालयोंको देखकर महान धार्मिक-स्थानका वोध होता है। विदेहके ग्राम, मुहल्ले सभी जिनालयोंसे सुशोभित हैं। यहां का मुनि समूह चारों प्रकारके संघके साथ धर्म की प्रवृत्तिके लिये विहार किया करता है।

इसी विदेहके ठीक मध्यमें कुंडलपुर नामका एक अत्यन्त रमणीक नगर है। यहां पर विशिष्ट धर्मात्माओंका निवास है। यहांके कोट, दरवाजे और अलघ्य खाइयोंको देखकर अपराजिता अयोध्या नगरीका भान होता है। इस नगरमें सर्वदा तीर्थंकरोंके जन्म कल्याणकके महान उत्सव सम्पन्न हुआ करते थे। देवगणोंकी यात्रासे इस नगरमें सदा कोलाहल मचा रहता था। यहांके ऊंचे और स्वर्ण रत्नोंसे निर्मित जैन-मन्दिरोंको देखकर लोगोंकी कुण्डलपुरके प्रति अपार श्रद्धा होती थी। वह नगर धर्मका समुद्र जैसा प्रतीत होता था। वहांके जिनालय जय जय शब्द स्तुति नृत्य गीत आदिसे सर्वदा शोभायमान होते थे। स्वर्गके उपकरणों सहित रत्नमयी प्रतिमाओंका दर्शन कर लोग कृतार्थ हो जाया करते थे।

यहांके जिन-मन्दिरोंकी पूजा आराधनाके लिये सदा सव समूहकी भीड़ लगी रहती थी। दर्शनार्थ आने वाले भव्य जीव देवों जैसे प्रतीत होते थे। वहांके दानी स्त्री-पुरुष सदा प्रतीक्षा किया करते थे कि किस समय हमारे यहां अतिथि या मुनि आ जांय। वे पात्र-दान देनेमें वड़े उदार थे। इस नगरके ऊंचे परकोटे देखकर यह भान होता था कि वे उच्च-स्थान देनेके लिये स्वर्गके देवोंको बुला रहे हैं। इस नगरके निवासी दाता, धर्मातमा शूर-वीर, व्रत-शीलादिसे युक्त और संयमी होते थे। वे जिनदेव तथा निर्ग्रंथ गुरुकी भक्ति, सेवा और पूजामें सदा तत्पर रहा करते थे। उनका धार्मिक कार्य सदा जारी रहता था। इस प्रकार वे वड़े ही धनवान, सुखी और बुद्धिमान थे।
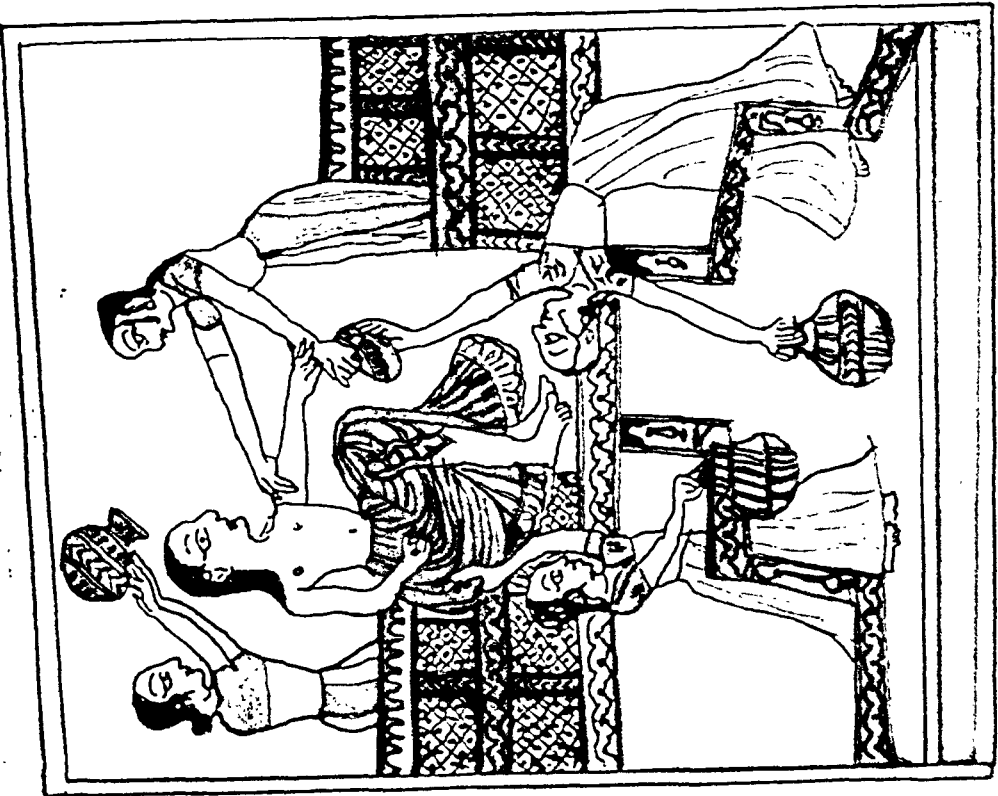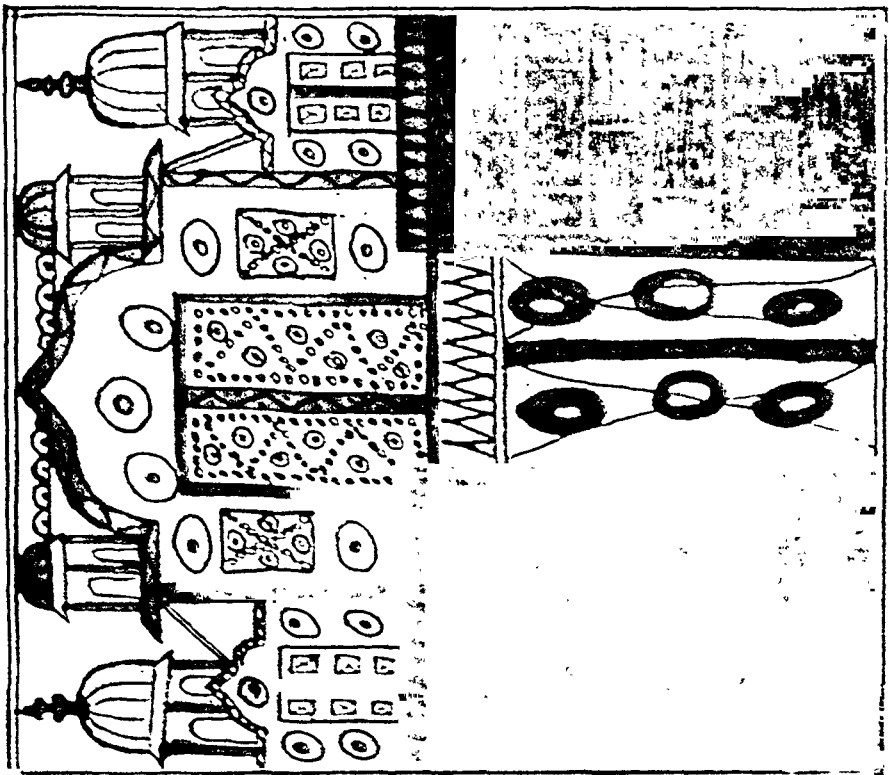
तहं तैं विकसी सरिता दोय, रोहित क्षेत्र हेमवत होय। पश्चिम मिली उदधि के द्वार, ताहि रोहिता वन सब चार ॥३८॥
हरिकान्ता हरि क्षेत्रहि दीस, मूल कही जोजन पच्चीस। पूरब मिली लवणदधि द्वार, तहं अढ़ाईसौ है विस्तार ॥३९॥
छप्पन सहस कह्यौ परिवार, निर्मल जल गालैं वतधार। सोलह भाग क्षेत्र विस्तार, भोगभूमि मध्यम सुविचार ॥४०॥
लांबौ भाग सु अड़तालीक, दोय कोश घट निषध नजीक। बत्तिस भाग निषध गिरिथाइ, जोजन घट छयानव लख लाइ ॥४१॥
सौ जोजन तस कन्द सम्हार, उन्नत है जोजन सौ चार। तापर इक जिन भवन मनोग, वसु प्रतिहारज प्रतिमा जोग ॥४२॥
द्रह तिगिंछ सोहै गिरिशीस, सो गहरो जोजन चालीस। लंबौ चार सहस पुन कह्यौ, दोय सहसको चौगे लह्यौ ॥४३॥
जोजन चार कमल तहं बसै, तामें धृतिदेवी तहं लसै। प्रथमहि वन सामग्री जोय, तहंतैं निकसी सरिता दोय ॥४४॥
हरिकान्ता हरिक्षेत्र मझार, पश्चिम मिली उदधि के द्वार। हरिकान्ता वन जानी सही, अब सीता सुनि जिहि विधि कही ॥४५॥
मूल पचासह जोजन सन्त, मेरु निकट कौरो गजदन्त। पूर्व विदेह होय दधि मिली, तहां पाचसैं जोजन रली ॥४६॥
सहस चुरासी सब परिवार, जलचर जीव न तिष्ठैं सार। अर्ध मेरु लौं बत्तिस भाग, भोग भूमि उत्कृष्ट सुहाग ॥४७॥
अर्ध मेरु तैं नील प्रजन्त, बत्तिस भाग भोग भूसंत। मेरु सहित सीता सीतोद, लम्बाई सब मध्य प्रमोद ॥४८॥
भाग एकसैं नव्वै होय, जोजन लक्ष पूर्व पर सोय। भाग बत्तीस नील विस्तार, तापर इक जिनभवन विचार ॥४९॥
निषध समान भेद सब कह्यौ, मध्य केशरी द्रह तहं लह्यौ। सो तिगिंछ वन कहिये तास, देवी कीर्ति कमलमें वास ॥५०॥
तहंतै निकसि तरंगनि होय, सीतोदा पश्चिम दिश जोय। मेरु निकट गजदन्त विदार, सब रचना सीतावन धार ॥५१॥
नारी सरिता रम्यक क्षेत्र, पूरण मिली समुद्रहि जेत्र। मध्यम भोग भूमि यह सही, षोडश भाग विथार सु मही ॥५२॥
पर्वत रुक्म भाग वसु लीन, जिन चैत्यालय एक प्रवीन। महापुण्डरीक द्रह सीस, तामें कमल प्रफुल्लित दीस ॥५३॥
तहां बुद्धि देवी को वास, नदी दोय निकसी सर जास। नरकान्ता रम्यक मधि होय, पश्चिम मिली समुद्रहि सोय ॥५४॥
सुवर्णकुला सरिवा तसु रली, हैरण्य हि पूरव को मिली। चार भाग क्षेत्र हि विस्तार, भोग भूमि नग जुगल विचार ॥५५॥
शिखरिन पर्वत भाग जु होइ, तहां एक श्री जिन गृह सोइ। पुण्डरीक द्रह तापर लसै, लक्ष्मीदेवी कमलहि बसै ॥५६॥
तीन नदी निकसी सु रमन्य, पछिमैं रुपकूला हैरन्य। रक्ता पुनि ऐरावत जाय, पूरब मिली लवणदधि धाय ॥५७॥
रक्तोदा पश्चिम दिश कही, क्षेत्र भाग इक जानो सही। ताके मध्य रजत गिरि एक, तापर जिन चैत्यालय एक ॥५८॥

उस नगरके राजाका नाम सिद्धार्थ था। वे हरिवंश रुपी गगनको सुशोभित करने वाले साक्षात् सूर्य थे। वे महाराज मति आदि तीनों ज्ञान को धारण करने वाले थे। उन्होंने सदा नीति मार्गको प्रश्रय दिया। वे जिनदेवके भक्त महादानी और दिव्य ज्ञानके धारक थे। उनकी सम्यक्दृष्टि बड़ी प्रबल थी। उनके चरणों की सेवा बड़े बड़े विद्याधर, भूमिगोचरी और देव किया करते थे। उनका पुण्य बड़ा प्रबल था। वे इन्द्रके सदृश समस्त राजाओंमें शोभायमान थे।

उनकी त्रिशला नामकी अत्यन्त रुपवती महारानी थी। महाराज जैसी ही उनकी प्रवृत्ति थी। वे पति परायण सती साध्वी थी। उनकी कांति और अलौकिक सुन्दरता सरस्वती जैसी थी। उनके चरण, कमल जैसे प्रतीत होते थे। उनकी नखरुपी चन्द्र-किरणोंसे सारा राजमहल शोभायमान हो रहा था। उनके दोनों सुन्दर जानु कदलीस्तम्भ जैसे मालूम होते थे। गहरी नाभि युक्त रानीको देख कर रति भी थोड़ी देरके लिये संकुचित हो जाती थी! उनके कोमल कण्ठों और हाथोंके आभूषण सारे राजमहलको प्रकाशित कर रहे थे। कानोंके कुण्डलोंसे शोभायमान अष्टमीके चन्द्रमाकी भांति मस्तक वाली मनोज्ञ भौहें और नील केशसे युक्त रानीका स्वरुप ऐसा प्रतीत होता था कि संसारके सुन्दर से सुन्दर परमाणुओंके द्वारा उनका निर्माण किया गया हो।

इसके अतिरिक्त उनके अंग उपांगोंकी स्त्रियोचित बनावट बड़ी ही आकर्षक और भव्य थी। वे देवी गुण रत्नोंकी खानि, अनेक शास्त्रोंमें निपुण, सरस्वती देवीके सदृश प्रतीत होती थी। वे इन्द्र की शची जैसी अपने प्रियतमकी प्यारी हुई।

जैसो दक्षिण दिश व्यवहार, मेरु हि तैसो उत्तर धार। हेमवरन शिखिरन हिमवन्न, रजत रुक्मि अर महाहिवन्न ॥५९॥
नील नील मति की उनहार, निषध महा कंचनवत धार। वज्रकोट ढिग कुल गिरि छोड़, तहं कुभोग भू भौविस जोड़ ॥६०॥
अव पूरव पश्चिम विस्तार, नील निषध के वीच मझार। कोट हेठ पूरव दिश जात, देवारण्य सुवन विख्यात ॥६१॥
जोजन दोय सहस परवान, नवसै वाइस ऊपर जान। पुनि विदेह इक सौहै तहां, दोय सहस जोजन पर जहां ॥६२॥
ऊपर होसै वारह जोय, साढ़े तीन कोश जुत सोय। तामें सरिता दोय पुनीत, गंगा सिन्धूवत सव रीत ॥६३॥
निषध निकट इदसें निकसाय, जाय मिली सीता सरमाय। षटखण्डहि मण्डित परवान, तामधि इक विजयारध जान ॥६४॥
ताही पै जिनभवन अकृत, काल चतुर्थ हि सदा प्रवृत्त। पुनि वछार पर्वत पहिचान, नीलहि तैं सीता लग मान ॥६५॥
पंच सया जोजन विस्तार, तापै जिनगृह एक सवार। अव विदेह दूजी पहिचान, पूरव वत विधि लीजो जान ॥६६॥
फेर विभंगा सरिता एक, कही सवासै जोजन टेक। रोहित वत सामग्री भली, निकस नील द्रह सीता मिली ॥६७॥
तृतिय विदेह पूर्ववत जोय, द्वितिय वछार प्रथम सम होय। तुर्य विदेह जान अव सही, द्वितीय विभंगा सरिता सही ॥६८॥
फेर विदेह पंचमो जात, गिरि बछार तीजौ पहिचान। छठी विदेह जान अव और, तृतिय विभंगा सरिता दौर ॥६९॥
विदेह सप्तमी थान गनेह, गिरि वछार तुर्य अवलेह। विदेह अष्टमी तहंतै लही, दक्षिण तट सव वर्णन यही ॥७०॥
एही विधि उत्तर तट जार, वसु विदेह लहं शोभा थान। तहतैं भद्रशाल वन सार, है जोजन वावीस हजार ॥७१॥
ताकी रचना है वहु घेर, पंच सहस लहि आधो मेर। मह पूरव दिश शोभा जान, जोजन सहस पचास प्रवान ॥७२॥
ताही विधि पश्चिम विरतंत, भूतारण्य वनहिलौं अन्त। सव विदेह वत्तीस वखान, तिहितै है विजयारध थान ॥७३॥
अर षोडश वक्षार महान, सवपै इक इक जिनगृह जान। ए पर्वत इकसठ परधान, सव जिनभवन अठत्तर थान ॥७४॥
अव सामान्य हि भूधर दीस, वृषभाचल है सव चौंतीस। मैं म्लेच्छ खण्ड के मांहि, तहां चक्रपति नाम लिखांहि ॥७५॥
मेरु निकट हैं दिग्गज आठ, दीसत कंचन गिरिको ठाठ। सीता सोतोदा तट तेह, कंचन वरण जान सव लेह ॥७६॥
जघन्य भोग भूमि में कहे, नान गिरीश चार सर दहे। चार जमुक गिरि कुरु भू मांहि, नील निषध के निकट जु आहि ॥७७॥
ए परवत सव ही वरणये, ग्यारा अधिक तीनसै भये। सरवर सव इकसै छत्तीस, तिनकी संख्या सुन अवनीस ॥७८॥

उन्हें महाराजका अत्यन्त स्नेह प्राप्त हुआ। वे दोनों ही महाराज और महारानी देव तुल्य सुखोंका उपभोग करते हुए जीवन व्यतीत करने लगे।

पाठक वर्गको स्मरण होगा कि अच्युत स्वर्गका इन्द्र वड़ी विभूतिके साथ अपना समय व्यतीत कर रहा था। सौधर्मके इन्द्रने एक दिन कुवेरसे कहा— अव अच्युतेन्द्रकी आयु केवल ६ मास वाकी रह गयी है। अव ये इसी जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें सिद्धार्थ महाराजके महलमें अन्तिम तीर्थकर श्री वर्द्धमान के रुपमें जन्म ग्रहण करेंगे। अतएव तुम्हें इस नगरमें पूर्वसे ही जाकर रत्नोंकी वर्षा आरम्भ कर देनी चाहिये। साथ ही शेष आश्चर्योंको भी परहित के लिए सम्पन्न करो। इन्द्रकी ऐसी आज्ञा प्राप्त कर यक्षाधिपति तत्काल ही मध्यलोक में आ गया। उसने वड़ी प्रसन्नताके साथ महाराज सिद्धार्थ के राजमन्दिरमें रत्नोंकी वर्षा आरम्भ की। महलमें ऐरावत हाथीकी सूंड जैसी रत्नोंकी धारा पड़ने लगी। उस समय रत्न सुवर्ण मयी वर्षा आकाशसे पड़ती हुई ऐसी प्रतीत होती थी, मानों आकाशरुपी माला माता-पिताकी सेवा करने आ रही हों।

गर्भाधानके पूर्व ६ मास तक इसी प्रकार कल्पवृक्षके पुष्प सुगन्धित जल सुवर्ण और रत्नोंके ढेरोंसे राज-महल जगमगा उठा। रत्न किरणोंकी जगमगाहटसे वह महल सूर्यादि ग्रहचक्रके समान प्रकाशित होने लगा। उस समय सारे नगरमें इसी बात की चर्चा होने लगी। कितने ही भव्य लोगोंने कहा—देखो, यह तीन जगतके गुरुकी ही अपूर्व महिमा है कि, आज कुवेर रत्नोंकी वर्षासे राज-महल को परिपूर्ण कर रहा है। उनकी ऐसी बातें सुनकर और लोगोंने भी कहना आरम्भ किया—इसमें जरा भी आश्चर्य नहीं कि राजाके उत्पन्न होने वाले पुत्र अर्हतकी सेवाके लिये ही देवेंद्रने भक्तिवश ऐसा किया है। उनकी ऐसी बातें सुनकर अन्य लोगोंने भी कहा—यह सव धर्मका ही प्रभाव है। उसीके फलस्वरुप पुत्र अर्हतकी प्रसन्नतामें रत्नोंकी अविराम वर्षा
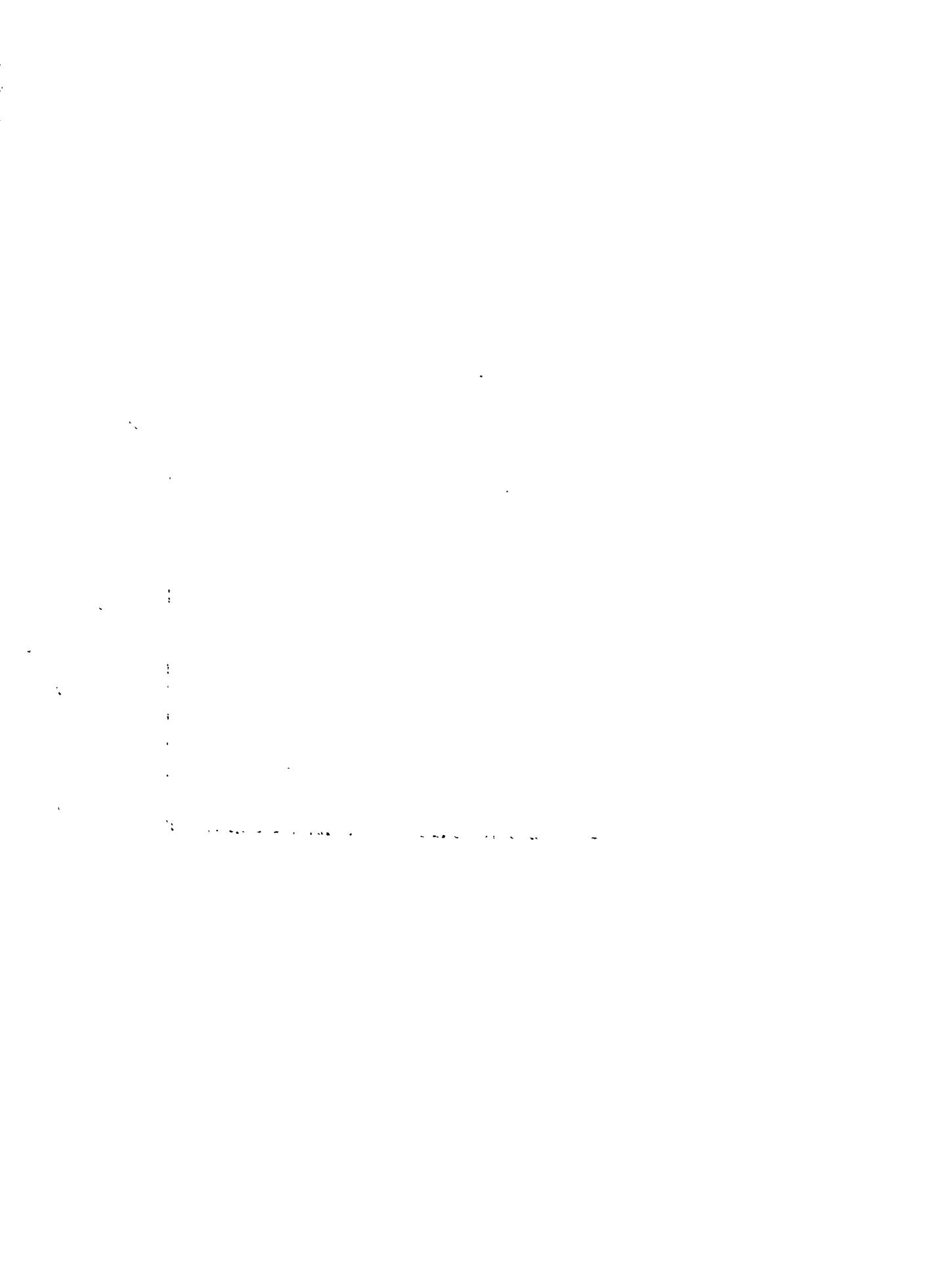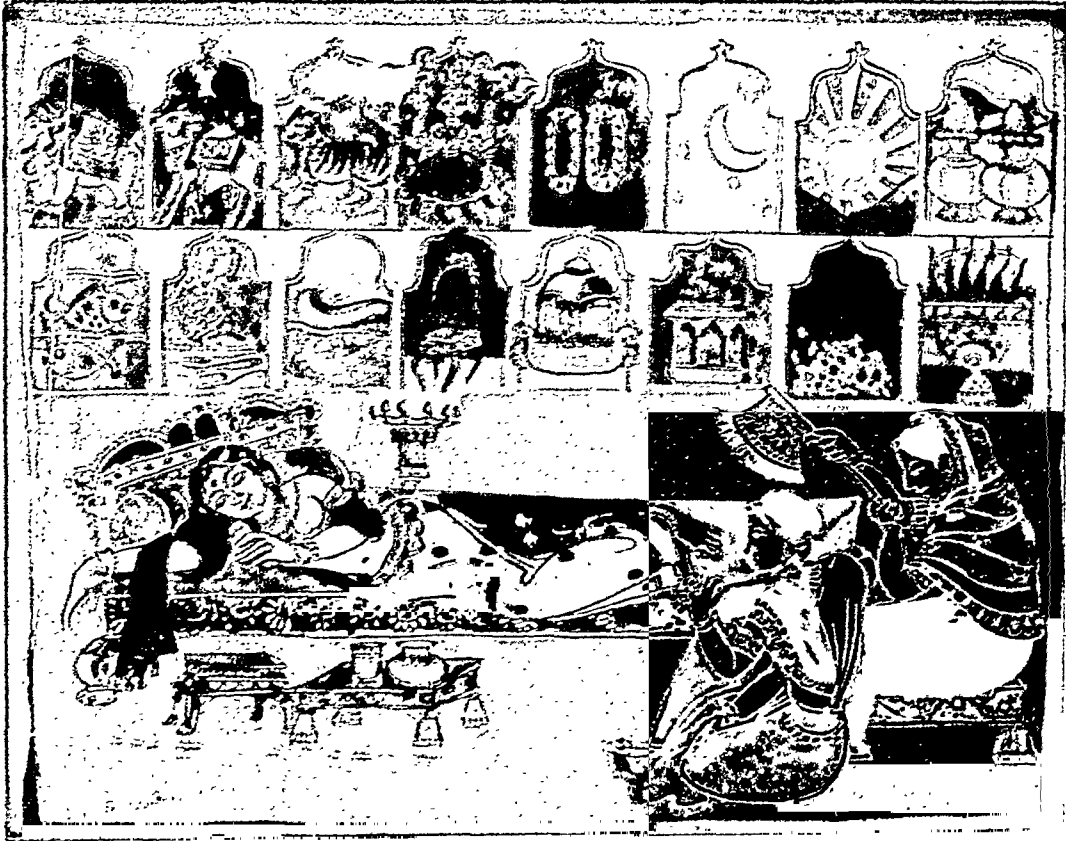
जिन माता के सोलह स्वप्न

पद्म आदि पट भूधर शीस, सीता सीतोदा मन वीस। नील निकट अड़तीस जु और, तितनै ही निषद्ध नग ठौर ॥७९॥
उपसमुद्र सब हैं चौतीस, आरज-खण्ड हि इक इक दीस। महा नदी नव्वै सब कही, गंगा आदि चतुर्दश लही ॥८०॥
चौंसठ सबहि विदेह मझार, बारह विपुल विभंगा सार। सत्रह लाख सु है परिवार, ऊपर सहस बानवै धार ॥८१॥
पर्वत नदी कुण्ड लघु वनें, सो सब भेद कहत नहि बनै। (जया बुद्धि कु बरणन कही, सुन बुध हियमें सरधा लही) ॥८२॥

दोहा

महिमा जम्बू द्वीप की, को कवि बरननहार। कही किमपि संक्षेप विधि, जिनमतके अनुसार ॥८३॥

चौपाई

अब यह आरजखण्ड महान, देश सहस बत्तीस प्रमान। तामें दक्षिण दिश गुणमाल, महा विदेहा देश रसाल ॥८४॥
सो विदेह वत है समुदाय, सब शोभा ता कही न जाय। कोई तप फलके परभाय, उपजे वर विदेह में आय ॥८५॥
उत्तम पद तहं पावै कोई, सार्थ नाम शिवगामी होई। कोई षोडश भावन भाय, बांधे तीर्थंकर पद पाय ॥८६॥
कोई पंचोत्तर पद लहैं, निज समता आतम चित गहैं। कोई दान सुपात्रहि देइ, ता फल भोगभूमिपद लेइ ॥८७॥
कोई धर्म तनें परभाव, लहैं इन्द्र पद उत्तम ठाव। जहां खान भूम मन रंग, पद पद पर दीसहु सत्संग ॥८८॥
नरपति सुरपति भवन महेश, वंदें आय केवली शेष। वन परवत गिरि गुफा मसान, तहां देई मुनि उत्तम ध्यान ॥८९॥
विहरै जाति—समूह सम चेत, धर्मवृद्धि के कारण हेत। चार प्रकार संघ सुखदाय, संबोधे भविजन मन लाय ॥९०॥
देश तनों वरनन बहु येह, कहत ग्रन्थ बाढ़ै अति केह। ताके मध्य नाभिवत जान, कुण्डलपुर नगरीसुर थान ॥९१॥
तुंग कोट तसु गोपुर चार, खाई अति गंभीर विचार। रिपुकुल तहां न पावे जान, वर्णन साकेता परमान ॥९२॥
तीर्थंकर कल्याणक जान, हूहैं सही यहां गुण खान। यही जान सुर यात्रा करें, परमोत्सव निज हिरदै धरै ॥९३॥
अति उन्नत जहां जिन आगार,हेम रत्नमय रहित विकार। बहु प्रकार दीसैं निरभंग, सर्व बुधजन निज मन रंग ॥९४॥
बाद साल जयनन्दन मान, गीत-नृत्य शुभ वादहि ठान। ताही में जिनबिम्ब मनोग, हेममयरूप उपकरण मनोग ॥९५॥
ते वंदें भविजन गुणधाम, दिव्यरूप कोमल परिणाम। मनों देवगण उत्तम गृह, पूजा करैं रहित सन्देह ॥९६॥
कोई निज गृह द्वारहिं खड़े, वारंवार भक्ति मन जड़े। देखि जती पड़गाहन करें, मद मत्सर ततनै परिहरैं ॥९७॥
देइ सुपात्रहिं उत्तम दान, रतनवृष्टि सुर करहिं निदान। तिनको देखि मध्य नर कोई, दान देन में तत्पर होई ॥९८॥
तापुर मन्दिर सघनी पात, तुंग ध्वजा दीसै बहु भात। वांछैं इन्द्र तेन अवतार, जाते लहै उत्तम पद सार ॥९९॥

हो रही है। कारण यह है कि, धर्मके प्रभाव से ही तीनों लोकोंमें पूज्य तीर्थंकर जैसे पदप्राप्त पुत्रका जन्म होता है। वस्तुतः संसारकी दुर्लभसे दुर्लभ वस्तुएं धर्मसे सुलभ हो जाती हैं। किसी किसीने यह भी कहा कि—यह सर्वथा सत्य है कि धर्मके प्रभाव में पुत्रादि इष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। अतएव सुखकी प्राप्ति चाहने वाले लोगोंको प्रयत्न पूर्वक अहिंसामय दया लक्षण रूप धर्मका सर्वदा पालन करते रहना चाहिये। यह धर्म सर्वथा निर्दोष अनुपम और महाप्रभोंने ही प्रकाशित है।

एक दिनकी घटना है। महारानी त्रिशलादेवी रातको कोमल सेज पर सोई थी। रात्रिके पिछले पहरमें पुण्योदयसे उन्हें सोलह स्वप्न दीख पड़े, जो सर्वथा कल्याणकारक और सौभाग्यसूचक हैं। सोलह स्वप्नोंमें सर्व प्रथम उन्होंने मदोन्मत्त हाथीको देखा। बादमें गंभीर शब्द और ऊंचे कंधे वाला चन्द्रमाके सदृश शुभ कांतिवाला बैल दिखाई दिया। तीसरा अपूर्व-कान्ति बृहदशरीर, और लाल कन्धे वाला सिंह था। चौथे स्वप्नमें कमलरूपी सिंहासन पर आरोहित लक्ष्मीदेवीको उन्होंने देव हस्तियों द्वारा स्नान करती हुई देखा। पांचवां सुगंधित दो मालायें थीं। छठेमें तारागणोंसे घिरे हुए चन्द्रमाको देखा, जिससे सारा संसार आलोकित हो रहा था।

पुरजन वहु धरमी दातार, व्रत तें शूर शील गुणधार। जिनपति ज्ञानवंत गुण पाय, भक्ति सहित सेवैं सुखदाय ॥१००॥
मारग नीति गहै परवीन, हित मित वचन कहै सुख लीन। बुद्धिवंत सब रहित विकार, अरि-मिथ्यामत के क्षयकार ॥१०१॥
दिव्यरूप नारी नर सवै, कोमल कमलगात मन फवै। तुंग सदन निवसैं मतिमान, मानो देव सहित वीमान ॥१०२॥

राजावर्णन

पुरपति महीपाल मतिवान, श्री सिद्धारथ नाम महान। काश्यप गोत्र परम सुख वास, नाथवंश नम किरण प्रकाश ॥१०३॥
तीन ज्ञानधारी बुधवन्त, तीन मार्गरत दुर्गति हंत। जिनवर भक्ति महा दातार, दिव्य सुलक्षण मण्डित सार ॥१०४॥
कर्म महा अरिनाशन वीर, शुभ दृष्टि पर वचन गहीर। कला ज्ञान चातुर्य विवेक, धर्मवंत गुणसहित अनेक ॥१०५॥
शीलवती शुभ ध्यान प्रवीन, भावनादि में निशदिन लीन। भूचर खेचर व्यन्तर सवै, नृप के चरण कमल को नवै ॥१०६॥
दीप्ति कान्ति तन अधिक प्रताप, दिव्य रूप सूरज अविलाप। नियमवंत गुण ज्ञापक सन्त, एक धर्म को मूल महंत ॥१०७॥

राज्ञी वर्णन

दोहा

तिनहि भवन देवी महा, प्रियकारिणि वर नार। गुण समूह उपमा रहित, जग प्रिय कर्ता सार ॥१०८॥
कला ज्ञान चातुर्य अति, यथा भारती आय। त्रिशला त्रस रक्षा करण, रूप अधिक परताप ॥१०९॥

राज्ञी रूपवर्णन

सवैया तेईसा

अम्बुज सौं जुग पाय वनै, नख देख नखत्त भयो भय भारी। नूपुर की झनकार सुनै, दृग शोर भयौ दशहू दिश भारी॥
कंदल थंम वनै जुग जंघ, सुचाल चलै गजकी पिय प्यारी। क्षीन वनौ कटि केहरि सौ, तन दामिनि होय रही लज सारी ॥११०॥
नाभि निवौरियसी निकसी, पटहावत पेट सुकंचन धारी। काम कपिच्छ कियौ पट अन्तर, शील सुधीर धरै अविकारी॥
भूषन वारह भांतिनके अंत, कण्ठ में ज्योति लसै अधिकारी। देखत सूरज चन्द्र छिपै, मुख दाडिम दंत महा छविकारी ॥१११॥
कर्ण अभर्ण दिपैं अति सुन्दर, नाक सुआ सम चोंच सम्हारी। वैन कुरंग समान वनै, वर अष्टम इन्दु ललाट निहारी॥
मस्तक केश मनों फणिनायक, रूप अनूप सवै सुखकारी। तीनहु लोक तिया नहिं तासम, निरमित सोइ सती सरदारी ॥११२॥

दोहा

षट गुण रत्न निधान अति, नव निधि संपति गेह। वहु देवी सेवा करैं, धरैं धरम सों नेह ॥११३॥
कुण्डलपुर अमरावती, नृप सुरपति सुखदाय। आप मनौं इन्द्रायणी, रहै भूमि अव छाय ॥११४॥

सातवें स्वप्नमें देवीने अन्धकार विनाश करने वाले सूर्यको उदयाचल पर्वतसे निकलते हुए देखा। आठवेंमें कमलके पत्तोंसे आच्छादित मुंह वाले सोनेके दो कलश देखे। नवेंमें तालावमें क्रीड़ा करती हुई मछलियां देखीं। वह तालाव कुमुदिनी और कमलिनीसे खिल रहा था। दसवें स्वप्नमें उन्होंने एक भरपूर ताल देखा, जिसमें कमलोंकी पीली रज तैर रही थी। ग्यारहवेंमें गम्भीर गर्जन करता हुआ चंचल तरंगोंसे युक्त समुद्र दिखलाई दिया। उन्होंने वारहवें स्वप्नमें दैदीप्यमान मणिसे युक्त ऊंचा सिंहासन देखा। तेरहवां स्वप्न वहुमूल्य रत्नोंसे प्रकाशित स्वर्गका विमान था। चौदहवें स्वप्नमें पृथ्वी को फाड़कर ऊपरकी ओर आता हुआ फणीन्द्र (भवनवासी देव) का ऊंचा भवन दिखाई दिया। पंद्रहवें स्वप्नमें उन्होंने रत्नोंकी विशाल राशि देखी, जिसकी किरणों से आकाश तक प्रकाशित हो रहा था। सोलहवें स्वप्नमें माताने निर्धूम अग्नि देखी।

उपरोक्त सोलह स्वप्नोंको देखनेके पश्चात् त्रिशला महारानीने पुत्रके आगमन सूचक ऊंचे शरीर वाला उत्तम हाथी को मुख-कमलमें घुसते हुए देखा। माताके स्वप्न देखनेके थोड़ीदेर वाद ही प्रातः काल हुआ। राजमहलमें महारानीको जगानेके लिये सुमधुर वाजे वजने लगे। वन्दी जनोंने कहना आरम्भ किया—माता अव जगनेका समय आकर उपस्थित हुआ है। अतएव तुम्हें अपनी शय्या छोड़कर अपने योग्य शुभ कार्यो को आरम्भ कर देना चाहिये, जिससे कल्याण कारक वस्तुयें तुम्हें वड़ी सरलतासे प्राप्त हों।

चौपाई

दंपति अधिक पुण्य परताप, उद्यत मनहु भान जनु आप। जगत भोग उपभोग अनेक, भुगतें एक धरमसों टेक ॥११५॥
इहि विधि नृप निवसैं निजथान, और कथा अब सुनहु निदान। धर्म तरुवर पूरण भयो, सो फल आनि परापत भयो ॥११६॥

नगरी रचना के लिये इन्द्र का कुबेर को आज्ञा देना।

पद्धरि छन्द

सौधर्म इन्द्र इमि कहउ ऐन, तुम धनद सुनहू मुझ तनैं वैन। अच्युत सुरेश सो रहें नाम, तनु आयु रहीं छह मास जाम ॥११७॥
हे भरत खेत कुंडल पुरेश, सिद्धारथ नृप मन्दिर महेश। श्री वर्धमान अन्तिम जिनेश, तिनके सुत ह्वै है जग महेश ॥११८॥
तहं रचउ नग्र नाना प्रकार, अर करहु रत्न वर्षा अपार। सब जीव ठिक्क तावइ एव, निज अन्य सुकृत दाइवक तेव ॥११९॥
आदेश सुनौ जब जक्ष ईश, लै हुकुम तुरत नायौ जु शीस। मनभाव दुगुन नहि किय विलंब, नरलोक आय पहुंच्यौ सुनंब ॥१२०॥

नगरी रचना वर्णन

नव वारह जोजन रचउ नग्र, सब हेमसदन मनिचित्त अग्र। बहु कोट जु गिरदाकार जोइ चहुंदिस दरवाजे चार सोइ ॥१२१॥
तहं गोपुर की छवि अधिक जास, खाई गंभीर जलभरी तास। वन-उपवन की शोभा अपार, सो वरनन होय सु अति अवार ॥१२२॥
जानें न राव अरु रंक कोइ, जयकार शब्द चहुं ओर होइ। नृपभवन रत्न वर्षा करंत, मानों जलधार उनघ पंत ॥१२३॥
नित प्रति ही साढ़े तीन कोट, पट मास अग्र नव अत जोड़। उद्योत ताहि लाजें सुभान, उपमा अनूप वरनें महान ॥१२४॥
गृह मंदिर जित तित रत्नराश, दुख विपति दई पुरतें निकाश। नृप आंगन कल्पद्रुम विशाल, तहं रत्नवृष्टि वरसैं रसाल ॥१२५॥
वहं फैल रही दशदिशि सुगंध, बहु पुरजन मन वाढ्यौ अनंद। नरनार नगर निज सदन देख, धन कंचन पूरन अति विशेष ॥१२६॥
मन विसमय घरघर सब निहार,यह कवन पुन्य पुर में विचार। तब कहिय भव्य आश्चर्य कोय, अंतिम जिन यह अवतार होय॥१२७॥
कीनो कुबेर पुर में प्रकाश, उन रचे हेम ऊंचे अवास। जिनराज धर्म आगमन जान, उन कियौ महोत्सव सुकृत गान॥१२८॥
मिथ्या मत रत जे सबै मूढ़, जिन धर्म ठिक्कता गही गूढ़। जैसे रजनी तम उदित भान, नसि जाय एक छिन में महान् ॥१२९॥

चौपाई

धर्मरत्न सब सुख करतार, जग में प्रगट करत भवपार। धर्म सुफल नहि दीसै कोय, दायक मोक्ष पंथ नर लोय ॥१३०॥
होइ धर्म सों पुत्र सुपुत्र, भव भव करता धर्म पवित्र। तीर्थंकर पद प्रापत होई, महा संपदा निज गृह जोइ ॥१३१॥
सुख सों रहें सदा जिन तात, कारज धर्म विचारें गात। आदि अहिंसा लक्षण लहै, पंच अणुव्रत निहचें गहे ॥१३२॥

प्रातः कालके समय समभाव रखने वाले कोई श्रावक तो सामायिक करते है, जिसमें कर्मरुपी वन जलकर नष्ट हो जाते हैं। कितने ही भव्यजन शय्यासे उठते ही लक्ष्मीके सुखको प्रदान करने अर्हंतादि पंच परमेष्ठीको नमस्कार रुप मंत्रका पाठ आरम्भ करते हैं। दूसरे महाबुद्धिमान लोग तत्वों का स्वरुप जानकर मनको रोक कर कर्मनाशके लिये गुणका समुद्र धर्मका ध्यान करते हैं। कोई मोक्ष प्राप्तिके उद्देश्यसे शरीरसे ममताको त्याग कर व्युत्सर्ग तपको धारण करते हैं। यह तप समस्त कर्मों का नाशक और मोक्षका सर्व श्रेष्ठ साधन है। इस प्रकार शुभ भावोंसे युक्त सज्जन गण प्रभात कालमें धर्म ध्यानमें संलग्न हो जाते हैं।

जिस प्रकार जिनदेव रुपी सूर्यके उदित होने पर मिथ्यामत प्रभा रहित हो जाते हैं, उसी प्रकार सूर्यके उदय होने पर तारागणोंके साथ चन्द्रमा प्रभाहीन हो गया। जिस तरह अर्हंत रुपी सूर्योदयसे भेषधारी रुपी चोर भाग जाते हैं, ठीक उसी प्रकार आजके सूर्योदयसे चोर यत्र-तत्र भाग गये। जिस तरह जिनवाणीके प्रकाशसे अज्ञान रुपी अन्धकारका विनाश हो जाता है, उसी तरह सूर्यने अपनी किरणों से विश्वके तिमिरका नाश कर दिया।

वन्दी जनोंका मंगल गान जारी था। वे कहते जाते थे—माता! जिस प्रकार शुद्ध ज्ञान रुपी किरणोंसे तीर्थंकर भगवान श्रेष्ठ मार्ग और पदार्थोंका स्वरुप ज्ञान कराते हैं, इसी प्रकार यह सूर्य अपनी किरणोंसे सब पदार्थोंका प्रकाश कर रहा

दोहा

बहुविधि सुख सब भोगवें नृप गुरु जन समुदाय। छहों मास पूरन भये, धर्म करत हित जाय ॥१३३॥
महिमा श्री जिनदेव की, तीन लोक सुखदाय। देखत भविजन धर्मधर, जिन पर सदा सहाय ॥१३४॥

सोलह स्वप्न वर्णन

चौपाई

एक समय रानी जिनधाम, कोमल सेज करें विश्राम। निशा पाछिले पहर निदान, सोवैं सुख जुत नींद प्रमान ॥१३५॥
जग प्रसिद्ध सुपनें निरभंग, देखे षोडश विधि सरवंग। पुण्य पाक फल जानौ सोय, धर्महि तैं भव कहा न होय ॥१३६॥
प्रथमहि गज वीख्यौ मद जात, ऐरावत सम उज्वल गात। दूजै वृषभ धवल निरमला, दीसैं मनों चन्द्रकी कला ॥१३७॥
रक्तवरन देखौ मृगराय, अति विकराल महाभयदाय। कमलादेवी न्हंवन करंत, हेम कलश ऊपर ढारंत ॥१३८॥
देखी दिव्य दामिनी धार, महासुगंध पुष्पमय सार। षोड़शकला सहित शशगेह, तारागण जुत देख्यौ तेह ॥१३९॥
पुनि देख्यौ तमनाशन भान, उदयाचल ऊपर सुख खान। कनककलश अति सुन्दर दोय, रमा शीस अवलोकै सोय ॥१४०॥
जुगम मीन तहं करत जु खेल, जल भीतर शुभ करें जुकेल। पूरन जल कर सरवर वनौ, फूल्यौ कमल जहां अति घनौ ॥१४१॥
देख्यौ सागर अति गम्भीर, लहरन सों झक झौरै नीर। फिर देख्यौ सिंहासन संत, अति उतंग मणिमय सोभंत ॥१४२॥
सुर विमान आवत आकाश, देख्यौ रतनजड़ित परकाश। भवनपती रथ देख्यौ जोड़, पृथिवी धंसत जातु है सोई ॥१४३॥
बहुत भांत रतननकी राश, देखी अति उद्योत प्रकाश। अगनि शिखा पुन देखी जवै, धूम रहित बहु दीपत सवै ॥१४४॥
इहिविधि सोलह स्वप्न अनूप, जिन माता देखैं भर रूप। पाछैं गज इक शोभावंत, निज मुख में देख्यौ प्रविशंत ॥१४५॥

दोहा

इहि अन्तर निशितम गयौ, भयौ घरन उद्योत। पठत पाठ विधि आदरी, चढ़ै धरम के पोत ॥१४६॥

चौपाई

उठि प्रभात भवि समतावंत, सामायिक विधि करत महंत। कर्म महा अरि चूरन करै, जियपद जापहिये में धरै ॥१४७॥
कोई उठै शयन सैं सोय, पंच परम पद सुमिरैं जोये। धर्म ध्यान धारैं, निज अंग, कर्म शत्रु नासैं सरवंग ॥१४८॥
कोई भविजन धीरजवंत, धरैं ध्यान व्युत्सर्ग महंत। इत्यादिक आरम्भ सुकर्म करै, प्रभात ध्यान यौ धर्म ॥१४९॥
जिन सूरज जब उदय कराय, खग घूका सम दुर्मत जाय। चोर कुलिंगी तुरत पलाइ, अति भयभीत न धीर धराइ ॥१५०॥

है। जैसे अर्हंतके वचन रुपी किरणोंसे भव्य जीवोंके मन रुपीकमल विकसित हो रहे हैं, वैसे ही सूर्यकी किरणें कमलोंको प्रफुल्लित कर रही हैं। अतएव हे देवी, अब प्रातःकाल हो गया, जो सब प्रकारसे सुख प्रदान करने वाला है। धर्म-ध्यानके लिये इससे उत्तम दूसरा समय नहीं होगा। तुम शीघ्र ही शय्याका परित्याग कर कर्म करो। तुम्हें सामायिक स्तवन आदिसे कल्याण-कारिणी सिद्धियां प्राप्त करनी चाहिये।

कुछ समय तक उसी प्रकार बाजोंके शब्द और वन्दीजनों द्वारा मंगल गान होते रहे। वे महारानी एकदम जाग उठीं। उन्हें प्रातःकालके देखे हुए स्वप्नोंसे महान प्रसन्नता हुई। शय्या त्याग कर उन्होंने मोक्ष प्राप्तिके उद्देश्यसे स्तवन सामायिक आदि उत्तम नित्यकर्म आरम्भ किया। इस प्रकारकी नित्य क्रिया सर्वथा कल्याणकारिणी है और सब प्रकारसे मंगल करने वाली है।

पश्चात् महारानीने स्नान कर अपना शृंगार किया। वे आभूषणोंसे सुसज्जित हो नौकरोंको साथ लेकर महाराजकी सभामें गयीं महाराज अपनी प्राण प्रियाको अपनी ओर आती हुई देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने रानीको बैठनेके लिये अपना आधा आसन समर्पित कर दिया। महारानी प्रसन्न चित्त हो उक्त आसन पर बैठीं। उन्होंने बड़े मधुर शब्दोंमें

छप्पन कुमार की देवियां माता की सेवा कर रही है।

ज्यों रजनीश कला वहु सजै, भानुगेह में प्रभुता लजै । जिन वच किरणप्रकट जव भयौ, तम विकल्प सव मन को गयौ ॥१५१॥
शुभ मारग शुभ वचन सुध्यान, शुभ पदार्थ किरणा जिन भान । धर्म कमल विकसावनहार, पाप कुमुदिनी सकुचनहार ॥१५२॥
यहि अन्तर जिन माता जान, उठी प्रातमुख सिन्धु समान । धर्म ध्यान सार्यो वहु भेद, सामायिक दीनो तज खेद ॥१५३॥
मज्जन न्हवन कियो तत्काल, आभूषण पहिरे सु विशाल । सखिन सहित फिर पहुंची तहां, सभामध्य नृप बैठ्यो जहां ॥१५४॥

रानी द्वारा राजा से स्वप्नों का फल पूछना और राजा द्वारा
स्वप्नों का फल बतलाना

नृप आवत देखी वर नार, मधुर वचन बोले हितकार । अति अस्नेह बुलाई तास, दियो अर्ध सिंहासन पास ॥१५५॥
हर्षवंत वोली करजोर, मो वच सुन स्वामी मुख मोर । आज रैनके पीछे जाम, देखे षोडश स्वप्न सु धाम ॥१५६॥
हस्ती आदि अगिनि पर्यन्त, यह आश्चर्य भयो मो कंत । जुदे जुदे फल कहिये तास, जाते मन को संशय नास ॥१५७॥
तीन ज्ञान वर मनहि विचार, तव नृप वोल्यो सुर वर नार । एक चित्त ह्वै फल सुन येह, मैं भाषत हों सव सुख गेह ॥१५८॥

पद्धरि छन्द

प्रथमहि गज सपनो फल सु एह, तीर्थंकर सुत तुम उर वसेह । है वृषभ तनो फल सुक्ख खान, जग ज्येष्ठ धर्म रथ धुर प्रधान ॥१५९॥
जव सिंह सुपन खय करत कर्म, ह्वै है अनन्त वीरज सुशर्म । लक्ष्मी भिषेक फल मेरु सीस, अस्नापन कर है अमर ईस ॥१६०॥
अरु पहुप दाम फल सुनहु तेह, अति ह्वै है सहज सुगन्ध देह । शशि पूरन देख्यो तुम विशाल सो धर्म सुधा वाणी रसाल ॥१६१॥
रवि सुपनतनो फल इहि प्रकार, अज्ञान महातम हरनहार । जुग कुंभ तनो फल है विशाल, सो ज्ञान ध्यान अमृत रसाल ॥१६२॥
जुग मीन सुपन फल इहि प्रमान, संपूरन सुखकर्ता महान । सर कमल सहित फल सुनहु जोग, लक्षण व्यंजन जुत तन मनोग ॥१६३॥
है सिन्धु सुपन को फल महंत, सुन केवलज्ञान प्रकाशवंत । सिंहासन फल इमि कहत राय, त्रय जगत रमा सेवै सुपाय ॥१६४॥
अव सुर विमान फल सुखदाय, सुरलोक छोड़ तुम गर्भ आय । नागेन्द्र भवन फल होइ जास, सो मति श्रुत अवधि त्रिज्ञान भास ॥१६५॥
तुम रत्नराशि देखी विशाल, फल दर्शन ज्ञान चरित्र माल । अव अगिन शिखा फल सुनहु एह, वसु कर्म जार शिवपुर वसेह ॥१६६॥

दोहा

गज प्रवेश मुख में कियो, सो फल अव सुन नार । अन्तिम जिन तुम गर्भ में, लियो आय अवतार ॥१६७॥
अंग अंग हरषित भई, सुनै स्वप्नफल सार । शीस नाय नृपको सुदिन, मन्दिर गई सयार ॥१६८॥

देवियों के द्वारा जिनमाता की सेवा का वर्णन ।

चौपाई

तवै प्रथम सोधर्म सुरेश, पट देविन को दिय आदेश । पद्म आदि द्रह वासिनी सोय, श्री आदि कुण्डपुर पहुंचोय ॥१६९॥
जिन माता के लागीं पाय, तुम सेवैं पठई सुरराय । गर्भ शोधना कीनी आय, आज्ञा धर्म सव हि मन लाय ॥१७०॥

महाराजसे निवेदन किया—देव ! आज रात्रिके तीसरे पहरमें मैंने अत्यन्त आश्चर्यजनक स्वप्न देखे हैं । इन हाथी इत्यादि सोलह स्वप्नों का अलग फल मुझे सुनाइये ।

महारानीके मुखसे ऐसी बातें सुनकर मति आदि तीनों ज्ञानके धारक महाराज सिद्धार्थने कहा—सुन्दरी ! मैं इन स्वप्नोंके शुभ फलोंका शीघ्र ही वर्णन करूंगा । तुम सावधान होकर श्रवण करो । महाराजने कहना आरम्भ किया—प्रथम हाथी देखनेका यह फल हुआ कि तेरा पुत्र तीर्थंकर होगा और बैल देखनेसे फल यह हुआ कि वह धर्मरथका संचालक होगा । सिंह दर्शनसे वह पुत्र कर्मरूपी हाथियोंको विनष्ट करने वाला, अनन्त बलवान होगा और लक्ष्मी का अभिषेक देखनेका फल, यह वालक सुमेरु पर्वत पर इन्द्रादिक देवों द्वारा स्नान कराया जायगा ।

श्री देवी श्री करै वढ़ाव, ह्री देवी लज्जासों चाव। धृति धीरज धारै सव काज, कीर्ति वढ़ावै कीरति साज ॥१७१॥
वुद्धि वुद्धि को करे अपार, लक्ष्मी लक्ष्मी को भण्डार। प्रभ अम्बा आज्ञा चित धरी, दिन दिन प्रीति वढ़ावैं खरी ॥१७२॥
माता निर्मल सहज सुभाय, वे सेवैं निज कारण पाय। फटिक समान उदर निरदोष, त्रिवली सहित हृदय सन्तोष ॥१७३॥

भगवान वर्द्धमान का माता के गर्भ में आना।

मास अपाढ़ शुक्ल छट जान, नखत उत्तरा अन्त प्रमान। अच्युत पति चय धर्म सनेह, प्रियकारिणि उर गर्भ धरेहृ ॥१७४॥
चतुर निकाय देव घर जवै, अनहद शव्द भयो अति तवै। कल्पवासि घर घंटा वजै, सिंहनाद ज्योतिष गृह गजै ॥१७५॥
भवनपती शंख ध्वनि भई, व्यन्तर धाम भेरि गृह गई। वहु विध भयौ अचर्ज अनेक, सुरपति आसन कंपी टेक ॥१७६॥
तीन ज्ञान धारी सुरराय, जान्यौ गर्भ धर्यौ प्रभु आय। तवैं त्रिदशपति मन हर्षियौ, आप आप वाहन चढ़ि कियौ ॥१७७॥

गर्भ कल्याण के लिये देवों का कुण्डलपुर आना।

आभूषण पहरै निज सवै, जोति दशौंदिश फैली तवै। ध्वजा छत्र जुत सरस विमान, छाय रह्यौ नभ मण्डल जान ॥१७८॥
जय जय शव्द करत मन लाय, आये कुण्डलपुर समुदाय। देवी देव विमान अपार, दिश दशहू रुध्यौ पुर सार ॥१७९॥
राजभवन आयौ सुरराय, जिनपति मात भक्ति उर लाय। सिंहासन वैठारो राय, हेमकलश अभिपेक कराय ॥१८०॥
पूजा करी इन्द्र मन लाय, भूषण वसन सवै पहिराय। गर्भमांहि प्रभु की थुति कीन, भक्ति सहित वहु आनन्द लीन ॥१८१॥
इत्यादिक अतिशय वहु कर्यौ, गर्भ महत्त्व महागुण भर्यौ। तेरम द्वीप रुचक गिरि जास, छप्पन देवी को तहं वास ॥१८२॥
ते जिनमाता सेवा काज, राखी दिक कुमारी का साज। प्रथम इन्द्र की आज्ञा वांन, रहत सदा सो अपने थान ॥१८३॥
वार वार फिर कर परणाम, गये शक्रपति निज निज धाम। परम पुण्यको इन्द्र वड़ाय, सो उपमा वरणी नहिं जाय ॥१८४॥

जिन माता की सेवा के लिये आई हुई देवियों का कार्य वर्णन।

अव जिनमाता सेवैं पाय, देवी अपनी वुद्धि उपाय। कोई हर्ष वड़ावहिं अंग, कोई मुख विंहसा वहिरंग ॥१८५॥
कोई नित मंजन विधि करै, कोई ले ताम्वूल जु धरै। कोई सेज रचै छविकार, कोई पाय प्रक्षालै सार ॥१८६॥
कोई दिव्य वसन पहिराय, कोई केश सभार वंधाय। हेम रतन आभरण जु कोय, अंग अंग पहिरावै सोय ॥१८७॥
कोई कज्जल देइ निहार, कोई तनकी करहिं सभार। रुचि आहार करावै कोइ, कोई प्रासुक जल मुख धोइ ॥१८८॥
कोई पुहुप माल गुहि देइ, कोई चन्दन खौर करेइ। रतनचूर कोइ पूरै चौक, वहुविधि रंग करहि कोई नीक ॥१८९॥
तुंगसदन जव निशपत होय, मदि दीपक उजियारै कोय। ऐसैं सुख संधान वढ़ाय, सेवैं खड़े सपरसैं पाय ॥१९०॥
कवहूं वन क्रीड़ा को जाय, गावैं मधुर वचन समुदाय। कवहूं नृत्य कर सुख पाय, वाद्य कथा वहु कहै वनाय ॥१९१॥
इत्यादिक वहु करैं उपाय, ऋद्धि विक्रिया के परभाय। जिनमाता को हर्ष वढ़ाय, करैं रंग देवी मन लाय ॥१९२॥

स्वप्नमें मालाओंके देखनेसे सुगन्धित शरीर वाला और श्रेष्ठ ज्ञानी होगा तथा पूर्ण चन्द्रमाके दर्शनसे वह पुत्र धर्मरूपी अमृत वर्षणसे भव्य जीवोंको प्रसन्न करने वाला होगा। सूर्यके देखनेसे वह अज्ञान रूपी अन्धकारका विनाशक तथा उन्हींके समान कान्तिवाला होगा। जलसे परिपूर्ण घड़ोंके देखने का फल यह है कि वह अनेक निधियोंका स्वामी तथा ज्ञान-ध्यान रूपी अमृतका घट होगा। मछलीके जोड़े देखनेसे सवके लिये कल्याणकारी तथा स्वयं महान सुखी होगा। सरोवर देखनेसे शुभ लक्षण तथा व्यंजनोंसे सुशोभित शरीर धारी होगा। समुद्रके देखनेसे नौ केवललव्धियों वाला केवलज्ञानी होगा तथा सिंहासन देखनेसे महाराज पद वाच्य जगतका स्वामी होगा। स्वर्गका विमान देखनेका यह फल हुआ कि, वह पुत्र स्वर्गसे आकर अवतार धारण करेगा और नागेन्द्र भवनके अवलोकनसे अवधिज्ञान रूपी नेत्रको धारण करने वाला होगा। रत्नोंके ढेर देखनेसे वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि रत्नोंकी खानि होगा और निर्मल अग्निके दर्शनसे वह कर्मरूपी ईंधनको छार करने वाला होगा। अन्तमें गजेन्द्र के दर्शनका फल यह हुआ कि, वह अन्तिम तीर्थकर स्वर्गसे आकर तुम्हारे निर्मल गर्भमें प्रवेश करेगा।

यह विधि निशि वासर बहु जाय, नवम मास तब लाग्यौ आय। प्रश्न प्रकर्षण देवी कर, माता सीख शीस पै धरें ॥१९३॥
गूढ़ अर्थ शब्दादिक क्रिया, नाना प्रश्न करें सुर त्रिया। कहत पहेली और निरोष्ठ, काव्य श्लोक धर्म की गोष्ठ ॥१९४॥

प्रहेलिका वर्णन

महागुरुन को गुरु है कोय ? जोगी त्रय जग जाहिर सोय। जो अतिशय मंडित चौतीस, गुण अनन्त धारै जिन ईश ॥१९५॥
वचन प्रमाण कहै को माय ? जग सर्वज्ञ कहा वै आय। दोष अठारा रहित शरीर, वीतराग है जो जगहीर ॥१९६॥
सुधासिंधु कहियतु है काहि ? जन्म मृत्यु विष दियो बहाहि। जिनवर मुख बहुज्ञान प्रकाश, सो अमृत दुर्मत विषनाश ॥१९७॥
ध्यनवंत बुध को जगमाहिं ? कौन ध्यान परमेष्ठित पाहि। सप्त तत्व की श्रद्धा करै, धर्म शुक्ल जो ध्यानहि धरै ॥१९८॥
तुरत हि करनी करता कौन ? पूरव कर्म खिपावै तौन। जो अनन्त दर्शन अरु ज्ञान, दृढ़ चारित्र धरै परवान ॥१९९॥
सहगामी जियको को होय ? दया धर्म बांधव है सोय। पाप महा अरि नाशै जोय, नरक दिशा रक्षक है सोय ॥२००॥
धर्म होय क्यों या जगमाहिं ? दर्शन ज्ञान चरित्र धराहिं। व्रत अरु शील सर्व आदरै, उत्तम क्षमा आदि दश धरै ॥२०१॥
धर्म तनो फल लोक मझार, होय विभूति इन्द्रपद सार। ए सुख लहि तीर्थंकर होय, फिर शिवपुर को पहुंचै सोय ॥२०२॥
लांछन कौन धर्म के कहे, शांतिभाव अतिरुचि लहलहे। निरहंकार जु रहै सदीव, शुद्ध क्रिया तत्पर सो जीव ॥२०३॥
कहो पाप को कहा प्रमान ? पंचमिथ्यात्व दुःख की खान। क्रोध आदि षोड़श जु कषाय, षट् अनायतन सदा धराय ॥२०४॥
पाप वृक्ष फल कहिये माय ? दुखकारण दुर्गति ले जाय। रोग क्लेश अधिक नहं सहै, नित्य होय भवभव में वहै ॥२०५॥
पापी लक्षण कैसो होय ? तीव्र कषाय धरै नर जोय। पर निन्दा को करता रहै, आरत रौद्र ध्यान सगहै ॥२०६॥
लोभी कौन सर्वदा कहे ? धर्मवृद्धि जो दृढ़ गहि रहे। निर्मल करे सवै आचार, कठिन जोग तप तन मन धार ॥२०७॥
को विवेक है जग में श्रेष्ठ ? देह वस्तु जाने सु अनिष्ट। देव शास्त्र गुरु नमैं न और, जैनधर्म पालै सिरमौर ॥२०८॥
धर्मी को कहिये जगमाहिं ? क्षमा आदि पालै दशधाहिं। जिनवर भाषित आज्ञा गहै, ज्ञानी व्रती वृद्धि सराहै ॥२०९॥
संवर कौन पंथ भव चले ? निर्मल पुण्य पाप दल मले। पूजा दान पवास जु धरै, व्रत अरु शील साम जस करै ॥२१०॥
सफल जन्म किहि कौ जगलोय ? उत्तम ज्ञान प्राप्ति ही होय। मुक्ति पुरी पैंडा उर हेत, और न भवकूप जिन धर्म ॥२११॥
सुखी कौन जग में परधान ? जो उपाधि वर्जित गुण मान। ज्ञान ध्यान अमृत को स्वाद, वनवासी तज के परमाद ॥२१२॥
चिन्ता कौलौं यह जगमाहिं ? जोलौं कर्म शत्रु क्षय नाहिं। साधन मुक्ति लक्ष्मी सोय, और स्वर्ग सों काज न सोय ॥२१३॥
बड़ो पुरुष है को जगथान ? जाके सदा सुमोक्ष हि ध्यान। रत्नत्रय तप जोग जु गहै, ज्ञान सदा सो निरवहै ॥२१४॥

महाराजके मुख कमलसे सोलहों स्वप्नोंका फल सुनकर पतिव्रता महारानी का हृदय प्रफुल्लित हो उठा। उन्होंने समझा मानों पुत्रकी प्राप्ति ही हो गयी। वे बड़ी प्रसन्न हुई। उसी समय सौधर्म इन्द्रका आदेश पाकर पद्म आदि सरोवरोंमें निवास करने वाली श्री आदि छः देवियां राज-महलमें आ गयी। उन्होंने तीर्थंकरकी उत्पत्तिके लिये स्वर्गसे लाई हुई पवित्र वस्तुओं से माताके गर्भका संशोधन किया, जिससे उन्हें पुण्यकी प्राप्ति हो। पुनः वे अपने अपने शुभ गुणोंको माताके स्थापित कर उनकी सेवामें संलग्न हो गयीं।

श्रीदेवीने शोभा दी, ह्री देवीने लज्जा, धृति देवीने धैर्य कीर्ति देवीने स्तुति बुद्धि देवीने श्रेष्ठ बुद्धि तथा लक्ष्मी देवीने भाग्य प्रदान किये। वे जिन माता बड़ी गुणवती हुई। यों तो महारानी पूर्व से ही स्वभावसे पवित्र थी, पर जब देवियोंने वस्तुओं से उन्हें शुद्ध की तब तो वे मानों स्फटिक मणिसे ही बनाई गयी प्रतीत होती हों, ऐसी शोभायमान हुई। इसके पश्चात् आषाढ़ मासके शुक्ल पक्षकी शुद्ध तिथि षष्ठीको आषाढ़ नक्षत्रमें और शुभ लग्नमें वह अच्युतेन्द्र स्वर्गसे चयकर माताके शुद्ध गर्भमें आया। महावीर प्रभुके गर्भमें आते ही स्वर्गके कल्पवासी देवोंके विमानोंमें घंटेकी ध्वनि होने लगी और इन्द्रका आसन कांप उठा।

श्री देवी श्री करै वढ़ाव, ह्री देवी लज्जासों चाव। धृति धीरज धारै सव काज, कीर्ति वढ़ावै कीरति साज ॥१७१॥
बुद्धि बुद्धि को करे अपार, लक्ष्मी लक्ष्मी को भण्डार। प्रभ अम्वा आज्ञा चित धरी, दिन दिन प्रीति वढ़ावैं खरी ॥१७२॥
माता निर्मल सहज सुभाय, वे सेवैं निज कारण पाय। फटिक समान उदर निरदोष, त्रिवली सहित हृदय सन्तोष ॥१७३॥

भगवान वर्द्धमान का माता के गर्भ में आना।

मास अषाढ़ शुक्ल छट जान, नखत उत्तरा अन्त प्रमान। अच्युत पति चय धर्म सनेह, प्रियकारिणि उर गर्भ धरेह ॥१७४॥
चतुर निकाय देव घर जवै, अनहद शब्द भयो अति तवै। कल्पवासि घर घंटा वजै, सिंहनाद ज्योतिष गृह गजै ॥१७५॥
भवनपती शंख ध्वनि भई, व्यन्तर धाम भेरि गृह गई। वहु विध भयौ अचर्ज अनेक, सुरपति आसन कंपी टेक ॥१७६॥
तीन ज्ञान धारी सुरराय, जान्यौ गर्भ धर्यौ प्रभु आय। तवै त्रिदशपति मन हर्षियौ, आप आप वाहन चढ़ि कियौ ॥१७७॥

गर्भ कल्याण के लिये देवों का कुण्डलपुर आना।

आभूषण पहरै निज सवै, जोति दशौंदिश फैली तवै। ध्वजा छत्र जुत सरस विमान, छाय रह्यौ नभ मण्डल जान ॥१७८॥
जय जय शव्द करत मन लाय, आये कुण्डलपुर समुदाय। देवी देव विमान अपार, दिश दशहू रुध्यौ पुर सार ॥१७९॥
राजभवन आयौ सुरराय, जिनपति मान भक्ति उर लाय। सिंहासन वैठारो राय, हेमकलश अभिषेक कराय ॥१८०॥
पूजा करी इन्द्र मन लाय, भूषण वसन सवै पहिराय। गर्भमांहि प्रभु की थुति कीन, भक्ति सहित वहु आनन्द लीन ॥१८१॥
इत्यादिक अतिशय वहु कर्यौ, गर्भ महत्त्व महागुण भर्यौ। तेरम द्वीप रुचक गिरि जास, छप्पन देवी को तहं वास ॥१८२॥
ते जिनमाता सेवा काज, राखी दिक कुमारी का साज। प्रथम इन्द्र की आज्ञा वांन, रहत सदा सो अपने थान ॥१८३॥
वार वार फिर कर परणाम, गये शक्रपति निज निज धाम। परम पुण्यको इन्द्र वड़ाय, सो उपमा वरणी नहिं जाय ॥१८४॥

जिन माता की सेवा के लिये आई हुई देवियों का कार्य वर्णन।

अव जिनमाता सेवैं पाय, देवी अपनी बुद्धि उपाय। कोई हर्ष वड़ावहिं अंग, कोई मुख विंहसा वहिरंग ॥१८५॥
कोई नित मंजन विधि करैं, कोई ले ताम्बूल जु धरै। कोई सेज रचै छविकार, कोई पाय प्रक्षालै सार ॥१८६॥
कोई दिव्य वसन पहिराय, कोई केश सभार वंधाय। हेम रत्न आभरण जु कोय, अंग अंग पहिरावै सोय ॥१८७॥
कोई कज्जल देइ निहार, कोई तनकी करहिं सभार। रुचि आहार करावै कोइ, कोई प्रासुक जल मुख धोइ ॥१८८॥
कोई पुहुप माल गुहि देइ, कोई चन्दन खौर करेइ। रतनचूर कोइ पूरै चौक, वहुविधि रंग करहि कोई नौक ॥१८९॥
तुंगसदन जव निशपत होय, मदि दीपक उजियारै कोय। ऐसैं सुख संधान वढ़ाय, सेवैं खड़े सपरसैं पाय ॥१९०॥
कवहूं वन क्रीड़ा को जाय, गावैं मधुर वचन समुदाय। कवहूं नृत्य कर सुख पाय, वाद्य कथा वहु कहै वनाय ॥१९१॥
इत्यादिक वहु करैं उपाय, ऋद्धि विक्रिया के परभाय। जिनमाता को हर्ष वढ़ाय, करैं रंग देवी मन लाय ॥१९२॥

स्वप्नमें मालाओंके देखनेसे सुगन्धित शरीर वाला और श्रेष्ठ ज्ञानी होगा तथा पूर्ण चन्द्रमाके दर्शनसे वह पुत्र धर्मरूपी अमृत वर्षणसे भव्य जीवोंको प्रसन्न करने वाला होगा। सूर्यके देखनेसे वह अज्ञान रूपी अन्धकारका विनाशक तथा उन्हींके समान कान्तिवाला होगा। जलसे परिपूर्ण घड़ोंके देखने का फल यह है कि वह अनेक निधियोंका स्वामी तथा ज्ञान-ध्यान रूपी अमृतका घट होगा। मछलीके जोड़े देखनेसे सबके लिये कल्याणकारी तथा स्वयं महान सुखी होगा। सरोवर देखनेसे शुभ लक्षण तथा व्यंजनोंसे सुशोभित शरीर धारी होगा। समुद्रके देखनेसे नौ केवललब्धियों वाला केवलज्ञानी होगा तथा सिंहासन देखनेसे महा-राज पद वाच्य जगतका स्वामी होगा। स्वर्गका विमान देखनेका यह फल हुआ कि, वह पुत्र स्वर्गसे आकर अवतार धारण करेगा और नागेन्द्र भवनके अवलोकनसे अवधिज्ञान रूपी नेत्रको धारण करने वाला होगा। रत्नोंके ढेर देखनेसे वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि रत्नोंकी खानि होगा और निर्मल अग्निके दर्शनसे वह कर्मरूपी ईंधनको छार करने वाला होगा। अन्तमें गजेन्द्र के दर्शनका फल यह हुआ कि, वह अन्तिम तीर्थंकर स्वर्गसे आकर तुम्हारे निर्मल गर्भमें प्रवेश करेगा।

यह विधि निशि वासर बहु जाय, नवम मास तब लाग्यो आय। प्रश्न प्रकर्पण देवी कर, माता सीख गौन पैं धरें ॥१६३॥
गूढ़ अर्थ शब्दादिक क्रिया, नाना प्रश्न करैं सुर त्रिया। कहत पहेली और निरोष्ठ, काव्य श्लोक धर्म की गोष्ठ ॥१६४॥

प्रहेलिका वर्णन

महागुरुन को गुरु है कोय ? जोगी त्रय जग जाहिर सोय। जो अतिशय मंडित चौंतीस, गुन अनन्त धारैं जिन ईश ॥१६५॥
वचन प्रमाण कहै को माय ? जग सर्वज्ञ कहा वै आय। दोष अठारा रहित शरीर, वीतराग है जो जगहीर ॥१६६॥
सुधासिंधु कहियतु है काहि ? जन्म मृत्यु विष दियो बहाहि। जिनवर मुख बहुज्ञान प्रकाश, सो अमृत दुर्मत विनाश ॥१६७॥
ध्यनवंत बुध को जगमाहिं ? कौन ध्यान परमेष्ठित पाहि। सप्त तत्व की श्रद्धा करै, धर्म शुक्ल जो ध्यानहि धरैं ॥१६८॥
तुरत हि करनी करता कौन ? पूरव कर्म खिपावैं तौन। जो अनन्त दर्शन अरु ज्ञान, दृढ़ चारित्र धरै परवान ॥१६९॥
सहगामी जियको को होय ? दया धर्म बांधव है दोय। पाप महा अरि नाशैं जोय, नरक दिशा रक्षक है सोय ॥२००॥
धर्म होय क्यों या जगमाहिं ? दर्शन ज्ञान चरित्र धराहिं। व्रत अरु शील सर्व आदरै, उत्तम क्षमा आदि दश धरै ॥२०१॥
धर्म तनो फल लोक मझार, होय विभूति इन्द्रपद सार। ए सुख लहि तीर्थंकर होय, फिर शिवपुर लो पहुँचै सोय ॥२०२॥
लांछन कौन धर्म के कहे, शांतिभाव अतिरुचि लहलहे। निरहंकार जु रहै सदीव, शुद्ध क्रिया तत्पर सो जीव ॥२०३॥
कहो पाप को कहा प्रमान ? पंचमिथ्यात्व दुःख की खान। क्रोध आदि षोड़श जु कषाय, षट् अनायतन सदा धराय ॥२०४॥
पाप वृक्ष फल कहिये माय ? दुखकारण दुर्गति ले जाय। रोग क्लेश अधिक नहं सहै, निद्य होय भवभव मे यों ॥२०५॥
पापी लक्षण कैसो होय ? तीव्र कषाय धरै नर जोय। पर निन्दा को करता रहै, आरत रौद्र ध्यान लहै ॥२०६॥
लोभी कौन सर्वदा कहे ? धर्मबुद्धि जो दृढ़ गहि रहे। निर्मल करै सबै आचार, कठिन जोग तप तन मन धार ॥२०७॥
को विवेक है जग में श्रेष्ठ ? देह वस्तु जाने सु अनिष्ट। देव शास्त्र गुरु नमैं न और, जैनधर्म पालै शिरमौर ॥२०८॥
धर्मी को कहिये जगमाहिं ? क्षमा आदि पालै दशधाहिं। जिनवर भाषित आज्ञा गहै, ज्ञानी ध्यानी वृत्ति लहै ॥२०९॥
संवर कौन पंथ भव चले ? निर्मल पुण्य पाप दल मले। पूजा दान पवास जु धरै, व्रत अरु शील साम्य उर धरै ॥२१०॥
सफल जन्म किहि कौ जगलोय ? उत्तम ज्ञान प्राप्ति ही होय। मुक्ति पुनि ऐसा उर हेत, और न भवसुख चित धरेत ॥२११॥
सुखी कौन जग में परधान ? जो उपाधि वर्जित गुण मान। ज्ञान ध्यान अमृत को स्वाद, चखनारो नर कै परमाद ॥२१२॥
चिन्ता कौलौं यह जगमाहिं ? जोलौं कर्म शत्रु क्षय नाहिं। साधन मुक्ति लक्ष्मी सोय, और स्वर्ग सो चाह न होय ॥२१३॥
बड़ो पुरुष है को जगथान ? जाके सदा मुमोक्ष हि ध्यान। रत्नत्रय तप जोग जु गहै, ज्ञान सरवर सो निरदौ ॥२१४॥

महाराजके मुख कमलसे सोलहों स्वप्नोंका फल सुनकर पतिव्रता महारानी का हृदय प्रफुल्लित हो उठा। उन्होंने समझा मानों पुत्रकी प्राप्ति ही हो गयी। वे बड़ी प्रसन्न हुईं। उसी समय सौधर्म इन्द्रका आदेश पाकर पद्म आदि सरोवरोंमें निवास करने वाली श्री आदि छः देवियां राज-महलमें आ गयीं। उन्होंने तीर्थंकरकी उत्पत्तिके लिये स्वर्गसे लाई हुई पवित्र वस्तुओं से माताके गर्भका संशोधन किया, जिससे उन्हें पुण्यकी प्राप्ति हो। पुनः वे अपने अपने शुभ गुणोंको माताके अर्पण कर उनकी सेवामें संलग्न हो गयीं।

श्रीदेवीने शोभा दी, ह्री देवीने लज्जा, धृति देवीने धैर्य कीर्ति देवीने स्तुति बुद्धि देवीने श्रेष्ठ बुद्धि तथा लक्ष्मी देवीने भाग्य प्रदान किये। वे जिन माता बड़ी गुणवती हुईं। यों तो महारानी पूर्व से ही स्वभावसे पवित्र थीं, पर जब देवियोंने पदार्थों से उन्हें शुद्ध की तब तो वे मानों स्फटिक मणिसे ही बनाई गयी प्रतीत होती हों, ऐसी शोभायमान हुईं। इसके पश्चात् आषाढ़ मासके शुक्ल पक्षकी शुद्ध तिथि षष्ठीको आषाढ़ नक्षत्रमें और शुभ लग्नमें वह अच्युतेन्द्र स्वर्गसे चयकर माताके शुद्ध गर्भमें आया। महावीर प्रभुके गर्भमें आते ही स्वर्गके कल्पवासी देवोंके विमानोंमें घंटेकी ध्वनि होने लगी और इन्द्रका आसन कांप उठा।

परम पुरुप को जग में मित्त ? जौ धर्मी है सहजै चित्त। तप अर ध्यान व्रतादिक धरै, दुराचार को नहि संचरै ॥२१५॥
को है शत्रु जगत विख्यात ? तप सुहानि दीक्षा न गहात। हित अनहित दोऊ परिछेद, धरै कुबुद्धि स्वपर बहु खेद ॥२१६॥
को दानी है जग शिरमौर ? क्षेत्र उलंघि धरै नहि ठौर। तप कर दुर्वल अंग करेय, ते अमोल गुनकौ जु धरेय ॥२१७॥
तुम सम तिय जग में अब कोय ? तीर्थंकर सुत जाके होय। तीन भुवन में तारक जोय, दुर्मत को खयकारक सोय ॥२१८॥
पण्डित कौन जगत में माय ? श्रुत को जाननहार सुभाय। दुराचार नहि बांधै अंग, पाप क्रियातें रहित प्रसंग ॥२१९॥
मूरख को कहिये जग माँहि ? व्रत अरु क्रिया चार गत नाहिं। तप अरु धर्म धरै ना लेश, पाप बुद्धि लहि कुगति प्रवेश ॥२२०॥
दुर्धर चोर जगत में कौन ? धर्म रतन के हर्ता जौन। इन्द्रिय पंच दई मुकराय, हित त्यागे अनहित जु सुहाय ॥२२१॥
शूरवीर को जग में होय ? सहै परीपह भट हो सोय। धीरज-असि कपाय-अरिनाश, मोहादिक तज दीनों वास ॥२२२॥
को है अखिल देवता देव ? दोप अठारह कीनो छेव। गुण अनन्त जग में विख्यात, पर उपकार धर्म शिक्षाद ॥२२३॥
उत्तम गुरु या जग में कोय, दुविध परिग्रह वर्जित होय। भव्यनि प्रति उपदेशहि सार, भवदधि पार उतारन हार ॥२२४॥
यह प्रकार बहु प्रश्नहि करी, दिक्कुमारिका मन गह भरी। अतिशय गर्भमाहिं प्रभु जान, माता उत्तर दियौ महान ॥२२५॥
उदर माहिं अन्तिम जिनराय, तीन ज्ञान धारैं निज काय। जैसे छीप मध्य मणिवास, तैसे उदर मध्य जिन तास ॥२२६॥
त्रिवली भंगुर नासी नाहिं, माता कछू न संकट पाहिं। अधिक दीप्ति बाढ़ी जु शरीर, गर्भ-रतन की ज्योति गहीर ॥२२७॥
इहि विधि देवी कर उत्साह, मन रजैं नित नित अति ताह। नवम मास पूरन जब भयो, मन आनन्द नपतिने ठयौ ॥२२८॥

दोहा

देवी बहु प्रश्न हि करी, माता दीनो ज्वाप। श्रुतसागर की केलि में, मनहु सरस्वती आप ॥२२९॥
तब सुर पंचाश्चर्य कर, रतन पहुप बहु वर्प। गन्धोदक दुन्दुभि मधुर, जय जय बोलत हर्ष ॥२३०॥

गीतिका छन्द

यहि भांति चरण सुधर्म करकै, भोग भुगते शक्रने। पुन चय तहांतै गर्भ आये, वीर जिन अन्तिम गने ॥
धर्म तें जिन पित्र मार्ताहि, इन्द्र शत सेवत भये। थुति करी मन अरु वचन तनवर, आप निज लोकहि गये ॥२३१॥

ज्योतिपी देवोंके यहां स्वयं सिंहनाद होने लगा। भवनवासी देवोंके यहां शंखकी महान ध्वनि हुई। साथ ही व्यन्तर देवोंके महलोंमें भेरीकी विकट आवाज हुई। केवल यही नहीं और भी आश्चर्य जनक घटनायें घटीं। उक्त आश्चर्य जनक घटनाओं को घटते देखकर चारों जातिके देवोंको यह ज्ञात हो गया कि, महावीर प्रभुका गर्भावतरण हो गया। पश्चात् वे स्वर्गपति भगवानका गर्भ-कल्याणक उत्सव मनानेके उद्देश्यसे उस नगरमें पधारे। उस समय देवोंके समूहको देखते ही बनता था। वे सर्वोत्तम सम्पदाओंसे सुशोभित थे, अपनी अपनी सवारियों पर आरूढ़ थे, उत्तम धर्मको पालन करने वाले उद्यमी थे। अपने अङ्गके आभूपणों और तेजसे दशों दिशाओंको प्रकाशित करने वाले थे। उन्होंने ध्वजा, छत्र विमानादिकोंसे आकाशको ढंक दिया। वे देव अपनी देवियोंके साथ जय-जय शब्द कर रहे थे।

उस समय नगरकी अवस्था देखने लायक हो गयी। विमानों, अप्सराओं और देवोंकी सेनाओं से घिरा हुआ वह नगर स्वर्ग जैसा सर्वोत्तम प्रतीत होने लगा। देवोंके साथ इन्द्रने भगवानके माता-पिताको सिंहासन पर बिठा कर सोनेके घड़ों से स्नान कराया तथा उन्हें दिव्य आभूपण तथा वस्त्र पहनाये। माताके गर्भके भीतर स्थित भगवानको सबोंने तीन प्रदक्षिणा दे नमस्कार किया।

इस प्रकार सौधर्म इन्द्र भगवानका गर्भ कल्याणक सम्पन्न कर जिन माताकी सेवामें देवियों को रख देवोंके साथ पुण्य उपार्जन करता हुआ, बड़ी प्रसन्नताके साथ पुनः स्वर्गको लौटा।

परम पुरुष को जग में मित्त ? जो धर्मी है सहजै चित्त। तप अर ध्यान व्रतादिक धरै, दुराचार को नहि संचरै ॥२१५॥
को है शत्रु जगत विख्यात ? तप सुहानि दीक्षा न गहात। हित अनहित दोऊ परिछेद, धरै कुबुद्धि स्वपर बहु खेद ॥२१६॥
को दानी है जग शिरमौर ? क्षेत्र उलंघि धरै नहि ठौर। तप कर दुर्बल अंग करेय, ते अमोल गुनकी जु धरेय ॥२१७॥
तुम सम तिय जग में अब कोय ? तीर्थंकर सुत जाके होय। तीन भुवन में तारक जोय, दुर्मत को खयकारक सोय ॥२१८॥
पण्डित कौन जगत में माय ? श्रुत को जाननहार सुभाय। दुराचार नहि बांधे अंग, पाप क्रियातें रहित प्रसंग ॥२१९॥
मूरख को कहिये जग माहिं ? व्रत अरु क्रिया चार गत नाहिं। तप अरु धर्म धरै ना लेश, पाप बुद्धि लहि कुगति प्रवेश ॥२२०॥
दुर्धर चोर जगत में कौन ? धर्म रतन के हर्ता जौन। इन्द्रिय पंच दई मुकराय, हित त्यागे अनहित जु सुहाय ॥२२१॥
शूरवीर को जग में होय ? सहै परीषह भट हो सोय। धीरज-असि कषाय-अरिनाश, मोहादिक तज दीनों वास ॥२२२॥
को है अखिल देवता देव ? दोष अठारह कीनो छेव। गुण अनन्त जग में विख्यात, पर उपकार धर्म शिक्षाद ॥२२३॥
उत्तम गुरु या जग में कोय, दुविध परिग्रह वर्जित होय। भव्यनि प्रति उपदेशहि सार, भवदधि पार उतारन हार ॥२२४॥
यह प्रकार बहु प्रश्नहि करी, दिक्कुमारिका मन गह भरी। अतिशय गर्भमाहिं प्रभु जान, माता उत्तर दियौ महान ॥२२५॥
उदर माहिं अन्तिम जिनराय, तीन ज्ञान धारें निज काय। जैसे छीप मध्य मणिवास, तैसे उदर मध्य जिन तास ॥२२६॥
त्रिवली भंगुर नासी नाहिं, माता कछू न संकट पाहिं। अधिक दीप्ति बाढ़ी जु शरीर, गर्भ-रतन की ज्योति गहीर ॥२२७॥
इहि विधि देवी कर उत्साह, मन रजें नित नित अति ताह। नवम मास पूरन जब भयो, मन आनन्द नरतिनै ठयो ॥२२८॥

दोहा

देवी बहु प्रश्न हि करी, माता दीनी ज्वाप। श्रुतसागर की केलि में, मनहु सरस्वती आप ॥२२९॥
तब सुर पंचाश्चर्य कर, रतन पहुप बहु वर्ष। गन्धोदक दुन्दुभि मधुर, जय जय बोलत हर्ष ॥२३०॥

गीतिका छन्द

यहि भांति चरण सुधर्म करकै, भोग भुगते अकने। पुन चय तहांतै गर्भ आये, वीर जिन अन्तिम गने॥
धर्म तें जिन पित्र मातहि, इन्द्र शत सेवत भये। थुति करी मन अरु वचन तनवर, आप निज लोकहि गये ॥२३१॥

ज्योतिषी देवोंके यहां स्वयं सिंहनाद होने लगा। भवनवासी देवोंके यहां शंखकी महान ध्वनि हुई। साथ ही व्यन्तर देवोंके महलोंमें भेरीकी विकट आवाज हुई। केवल यही नहीं और भी आश्चर्य जनक घटनायें घटीं। उक्त आश्चर्य जनक घटनाओं को घटते देखकर चारों जातिके देवोंको यह ज्ञात हो गया कि, महावीर प्रभुका गर्भावतरण हो गया। पश्चात् वे स्वर्गपति भगवानका गर्भ-कल्याणक उत्सव मानने के उद्देश्यसे उस नगरमें पधारे। उस समय देवोंके समूहको देखते ही बनता था। वे सर्वोत्तम सम्पदाओंसे सुशोभित थे, अपनी अपनी सवारियों पर आरुढ़ थे, उत्तम धर्मको पालन करने वाले उद्यमी थे। अपने अङ्गके आभूषणों और तेजसे दशों दिशाओंको प्रकाशित करने वाले थे। उन्होंने ध्वजा, छत्र विमानादिकोंसे आकाशको ढंक दिया। वे देव अपनी देवियोंके साथ जय-जय शब्द कर रहे थे।

उस समय नगरकी अवस्था देखने लायक हो गयी। विमानों, अप्सराओं और देवोंकी सेनाओं से घिरा हुआ वह नगर स्वर्ग जैसा सर्वोत्तम प्रतीत होने लगा। देवोंके साथ इन्द्रने भगवानके माता-पिताको सिंहासन पर बिठा कर सोनेके घड़ों से स्नान कराया तथा उन्हें दिव्य आभूषण तथा वस्त्र पहनाये। माताके गर्भके भीतर स्थित भगवानको सबोंने तीन प्रदक्षिणा दे नमस्कार किया।

इस प्रकार सौधर्म इन्द्र भगवानका गर्भ कल्याणक सम्पन्न कर जिन माताकी सेवामें देवियों को रख देवोंके साथ पुण्य उपार्जन करता हुआ, बड़ी प्रसन्नताके साथ पुनः स्वर्गको लौटा।

धर्म फल कर पित्र माता, पुत्र तीर्थंकर लहै। धर्मसों सब कर्म छूटैं, धर्म शिवपदवी गहै॥
यह जान भविजन धर्म धर, दृढ़ धर्म सुपथहि ठानिये। करि "नवलशाह" प्रणाम नितप्रति, धरम हित जग जानिये॥२३२॥

दोहा

महिमा गर्भ कल्याण की, को बुध बरनहि आप। कह्यौ नवल संक्षेप कर, जिनवाणी परताप॥२३३॥
वीर धीर गम्भीर अति, वीर कर्म अरि जीत। वीर सुभट गुणवीर है, वीर सुगुण धर प्रीत॥२३४॥

स्मरण रहे कि श्रेष्ठ धर्मके पालन करनेसे अच्युतेन्द्रका देव सुखके समस्त साधनोंका उपभोग कर तीर्थंकर पदको प्राप्त किया। ऐसा जानकर हे भव्य पुरुषों! यदि तुम सुख प्राप्त करना चाहते हो तो वीतराग भगवानके आदेशके अनुसार श्रेष्ठ धर्म का विधिवत पालन करो।
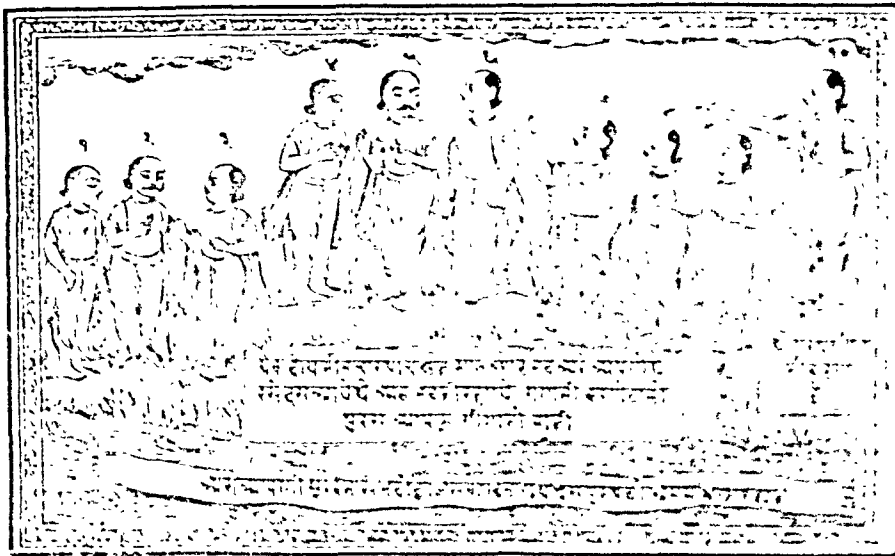
अष्टम अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

वन्दौं वीर जिनेन्द्र पद, तीन जगत श्रिय देन। पंच कल्याणक भोगता, त्राता मोहि सुचैन ॥१॥

भगवान के जन्म कल्याण का वर्णन

चौपाई

चैत्रमास उत्तम शशि पक्ष, त्रयोदशी उत्तम परतक्ष। माता सुख में सोवत थान, जन्ममें प्रभु[1] ज्यों प्राची भान ॥२॥
तन दीपत उद्योत अपार, निशि मिथ्यातम के क्षयकार। तीन ज्ञान भूपित उर ठयो, तीन जगत ऊर्जित पद लयो ॥३॥
जनम महत्व भयो अतिशाय, सकल दिशा निर्मलता थाय। तन सुगन्ध फैली चहुं ओर, नभ में उपज्यो जै जै शोर ॥४॥
निर्मल पुहुप वृष्टि तहं करें, निज निज टेक पुण्य हिय धरें। चतुर निकायी देवन भूप, आसन कंप भई निज रूप ॥५॥
अनहद घण्ट वज्यो सुरलोक, सिंह घोषणा ज्योतिष थोक। शंख भवनवासिन के गेह, भेरी रव व्यंतर कर नेह ॥६॥
सौधर्मेन्द्र आरि वहु देव, जन्म जिनेश जानकर भेव। कल्याणक प्रभु कीजे जाय, लीजे निजपर पुण्य उपाय ॥७॥
दल साजन आज्ञा की इन्द्र, सप्त अनीक रच्यो आनन्द। हस्ती प्रथम दुतिय हय जान, रथ गन्धर्व नृतक पय दान ॥८॥
वृषभ सातमों वरनो भेव, देव बलाहक विक्रिय एव। जोजन लख ऐरावत भयो, सौ मुख तासु दशों दिश ठयो ॥९॥
मुख मुख प्रति वसु दन्त धरेह, दन्त दन्त इक इक सर लेह। सर सर माहि कमलिनी जान, सवा सवासौ हैं परमान ॥१०॥
कमलिनि प्रति प्रति कमल बखान, ते पचीस पच्चीसहि ठान। कमल कमल प्रति दल सोभंत, अष्टोत्तर शत है विकसन्त ॥११॥
दल प्रति एक अप्सरा जान, सब सत्ताइस कोड प्रमान। ता गजपै आरुढ़ जु इन्द्र, अरु सब संग इन्द्राणी वृन्द ॥१२॥
सामानिक सब देव अनेक, षोडश स्वर्ग तनें कर टेक। आये सकल महोत्सव काज, अपने अपने वाहन साज ॥१३॥
ज्योतिष व्यन्तर और फणीन्द्र, सब परिवार सहित आनन्द। दुन्दुभि शब्द महा ध्वनि करै, सकल देव जै जै उच्चरै ॥१४॥

भोक्ता कल्याणक प्रभु, दाता वैभव सर्व। त्राता गति-संसारके, करें कर्म सब खर्व ॥

जो गर्भादिक पंच कल्याणकोंके भोक्ता हैं, जो समग्र विश्वको वैभव प्रदान करने वाले हैं, जो सांसारिक चारों गतियोंसे रक्षा करनेवाले हैं, वे प्रभु अर्थात् महावीर स्वामी मेरे समस्त कर्मोंको नष्ट करें।

स्वर्गसे आई हुई देवियोंमें कोई तो जिन माताके समक्ष मंगल द्रव्य रखती, किन्हीं देवियोंने माताकी सेज बिछानेका भार अपने ऊपर लिया, किसीने दिव्य आभूषण पहनानेका तथा किसीने माला तथा रत्नोंके गहने देनेका। कितनी देवियां माता

---

१. तीर्थंकरपद

पुण्य की महिमा देखिये जिसके कारण बिना इच्छा के भी स्वर्ग के उत्तम सुख स्वयं प्राप्त हो जाते हैं और स्वर्ग से भी महाउत्तम विमान आप से आप मिल जाते हैं विमान में सम्यग्दृष्टि देवों से तत्व-चर्चा करने, तीर्थंकरों के कल्याण को उत्साहपूर्वक मनाने सरल स्वभाव, मन्द कषाय तथा अहिंसामयी व्यवहार करने के कारण अच्युत विमान से आकर अब मैं माता त्रिशलादेवी का पुत्र वर्द्धमान हुआ हूं।

इन्द्र ऐरावत हाथी के ऊपर श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी को
जन्माभिषेक के लिये ले जाते हुये।

[illegible]
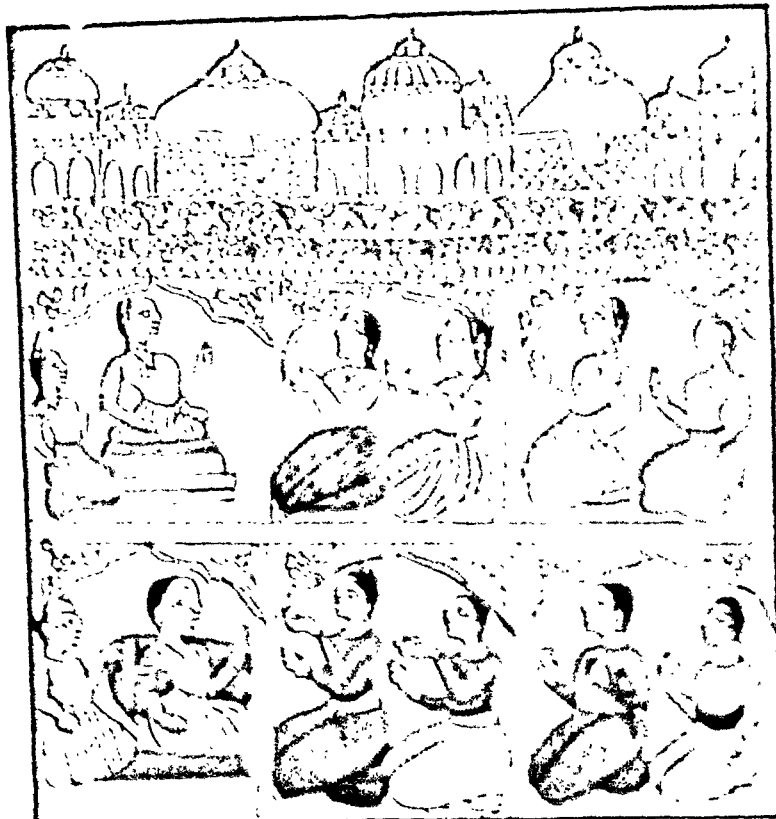
चर्या हित उठ धीरज लाय, भोग ममत्व न अंग समाय। ईर्यापथ शोधन पग देत, चाले नासा दृष्टि समेत ॥१५७॥
धनी निर्धनी एक समान, उर संवेग त्रिविध दृढ़वान। ना अति मन्द न शीघ्र चलाय, दयावंत भू शोधत जांय ॥१५८॥
दर पुर नगरी पहुंचे जबै, कूल नाम नृप देखे तबै। उत्तम पात्र जान जिनराय, पुण्य प्रताप मिले मुहि आय ॥१५९॥
विधिपूर्वक पड़गाहे सोय, अति आनन्द कियो उर जोय। तीन प्रदक्षिण दे शिर नाय, पंच अंग भुवि वंदे पाय ॥१६०॥
तिष्ठ तिष्ठ स्वामी यह कही, शुद्ध अहार लीजिये यही। तीन लोकपति दर्शन दयौ, मेरो जन्म सुफल अब भयौ ॥१६१॥
सिंहासनपै प्रभु बैठार, लै आओ नृप प्रासुक-वार। चरणकमल प्रक्षाले महां, अरु अस्नान कराए तहां ॥१६२॥
गन्धोदक वन्दौ नर ईश, तन पवित्र कीनो निज शीस। अष्ट प्रकारी पूजा करी, भक्ति भाव अस्तुति उच्चरी ॥१६३॥
भो प्रभु आज सुकृत बहु भयो, गार्हस्थ्य पनो सुफलता लयो। पात्र लाभ उर चिन्तो सोइ, सो अब सुफल फलो सब मोइ ॥१६४॥
धन्य नाथ शुभ वासर आज, तुम आगमन भयो जिनराज। मुख पवित्र मेरो अब भयौ, तुमरी अस्तुति उद्यत ठयौ ॥१६५॥

ध्यान मग्न हो सोचते मुक्ति-कामिनी संग। निज गुण दें, अर्हत प्रभु बाधा-रहित निसंग ॥

अर्थात् परिग्रहसे हीन एवं निर्बाध होकर मुक्ति रूपिनी स्त्री से सुख प्राप्तिकी अभिलाषा वाले और ध्यानमें तल्लीन महावीर प्रभुको मैं नमस्कार करता हूं। वे अपने वीर जनोचित गुणोंको हमें प्रदान करें।

इसके बाद महावीर स्वामी यद्यपि छः मास पर्यन्त अनशन तप करनेमें पूर्ण योग्य थे तथापि अन्य मुनीश्वरोंको चर्या-मार्गकी प्रवृत्ति दिखानेकी इच्छासे उन्होंने पारणा कर लेनेका निश्चय किया। यह पारणा (उपवासके बादका आहार) शरीरकी स्थितिको शक्ति प्रदान करती है। महावीर प्रभु ईर्यापथकी शुद्धिको ध्यानमें रखकर विचारने लगे कि आहार दान देने वाला निर्धन है या धनवान? इसका दिया हुआ आहार दान पवित्र है अथवा अपवित्र? वे अपने चित्तमें तीन प्रकारके वैराग्य का चिन्तवन कर रहे थे और अनेक दानियोंको अपने वचनसे सन्तुष्ट करते हुए स्वयं विशुद्ध आहारकी खोजमें घूमने लगे। वे न तो एकदम मन्दगतिसे और न एकदम तीव्रगतिसे चलते थे। साधारण चालसे पैरोंको बढ़ाते हुए उन्होंने 'कूल' नामके एक सुन्दर नगरमें प्रवेश किया। उस नगरका राजा कूल अत्यन्त परिश्रमके बाद प्राप्त हुए प्रिय धन-कोश (खजाना) की तरह अनायास ही आये हुए जिनदेव जैसे उत्तम पात्रको देखकर परम प्रसन्न हुआ। उस राजाने महावीर स्वामीकी तीन प्रदक्षिणाकी और भूमि पर पांच अंगोंको देकर प्रणाम किया। बादमें आनन्दोल्लासके कारण "तिष्ठ, तिष्ठ," (ठहरिये, ठहरिये) ऐसा कहा। धर्म-बुद्धि राजाने प्रभुको एक पवित्र एवं ऊँचे स्थान पर बैठाया और उनके कमल जैसे सुन्दर एवं कोमल चरणोंको

---

१. वीर का प्रथम आहार

जिस प्रकार बड़ का छोटा सा बीज बो देने से भी बहुत बड़ा वृक्ष उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार पात्र को दिया हुआ थोड़ा सा भी दान बहुत उत्तम तथा मनवांछित फल की उत्पत्ति करनेवाला है। दान के फल से मिथ्यादृष्टि को भोग-भूमि के सुख मिलते हैं और सम्यग्दृष्टि स्वर्गों के सुख भोगता हुआ परम्परा से मोक्ष पाता है। तीर्थङ्कर भगवान का प्रथम पारणा करने वाला तद्भव मोक्षगामी होता है।

—श्रावक-धर्म-संग्रह पृ० १७१।

महावीर स्वामी का प्रथम आहार मगध देश के कुल ग्राम के सम्राट कुल के यहाँ ७२ घण्टे के उपवास के बाद हुआ।

जो निर्ग्रन्थ मुनियों और सच्चे साधुओं को भक्तिपूर्वक विधि के साथ शुद्ध आहार देते हैं और जिन के ऐसे नियम हैं कि मुनि के आहार का समय गुजर जाने पर भोजन करेंगे। उनके पाप इस प्रकार धुल जाते हैं जिस प्रकार जल से लहू धुल जाता है। राज-सुख और इन्द्र-पद की प्राप्ति सहज से हो जाती है। संसारी सुख तो साधारण बात है, भोग भूमि के मनोवाञ्छित फल भी आप से आप मिल जाते हैं। सहस्रभट सुभट ने नियम ले रखा था कि सम्यक्दृष्टि साधुओं के आहार का समय जब गुजर जाया करेगा तब भोजन किया करूंगा। इस नियम का मीठा फल यह हुआ कि वह कुबेरकान्त नाम का इतना भाग्यशाली सेठ हुआ कि जिसकी देव भी सेवा करते थे। पिछले जन्म में इच्छारहित साधुओं को आहार कराने के कारण ही हरिषेण छः खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती सम्राट हुआ। जब त्यागियों और साधुओं के आहार कराने के इतना पुण्य-लाभ है, तो जिस के घर तीर्थंकर भगवान् का आहार हो उसके पुण्य का क्या ठिकाना? स्वर्ग तो उसी भव में मिल ही जाता है और मोक्ष जाने की ऐसी छाप लग जाती है कि थोड़े ही भव धारण करके वह अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

देवों और देवियों के द्वारा भगवान की स्तुति करना।

दरपुर नगरी में पहुंचने पर राजा कूल ने बड़ी भक्ति और श्रद्धा
के साथ भगवान महावीर स्वामी की स्तुति की।

भयौ पवित्र गात्र सब मोहि, कर पवित्र पद प्रनमौं तोहि। दोष सकल मेरेतुम हरे, सुख समाज संपूरन करे ॥१६६॥
इहि विधि थुति कीनी अधिकार, पुण्य उपायौ नव परकार। वहु विधि हरष चित्त नृप करी, दान तनी श्रद्धा उर धरी ॥१६७॥
यथाशक्ति निज परकट कीन, पात्र दान उद्यत परवीन। सुश्रुषा वहु भांति करेय, भयौ भक्ति में तत्पर तेय ॥१६८॥
यह विचार नृप कृपानिधान, परम क्षमा धीरज मन आन। क्षीर अन्न मिश्रित कर ठान, मन वच काय शुद्धि उर आन ॥१६९॥
प्रासुक मधुर सरस निर्दोष, क्षुधा तृषा नाशक सन्तोष। सो अहार प्रभु लीनो जवै, पंचाश्चर्य[1] करे सुर तवै ॥१७०॥
राजभवन अंगन भू मांहि, रत्नवृष्टि पूरी अधिकाहि। अति अमूल्य अरु थूलअपार, वरषैं मनो मेघ की धार ॥१७१॥
पहुप सुगंध वृष्टि अधिकार, दुंदभि शब्द होय अतिसार। जय जय घोष होय अति घनौ, दाता जश गावें सुर मनौ ॥१७२॥
परम दान फल वहु विध होय, भव समुद्र तें तारै सोय। जिहि घर कीनौं गमन जिनेश, सो दाता धन जगत महेश ॥१७३॥
दान पुरुष कौ परम निधान, स्वर्ग मुक्ति को कारण जान। वहु प्रकार जाके ग्रह देव, जयजयकार करें स्वमेव ॥१७४॥
उत्तम पात्र दान फल लोय, कोटिन की धन प्रापति होय। परभव स्वर्ग भोगभू लहै, तप कर फिर शिवपन्थ जु गहै ॥१७५॥
सब पुरजन नृप अंगन मांहि, रतन राशि देखें अधिकाहि। कहैं परस्पर सो इमि वैन, दान तनौं फल अति सुख दैन ॥१७६॥
तिन वच सुन भविजन इमि कहै, दान तनौं फल वहु विधि लहैं। कोई भोगभूमि सुर कोय, कोई मोक्ष लहैं तप जोय ॥१७७॥

दोहा

वर्धमान जिनराज इमि, लीनौं परम अहार। भूपति भवन पवित्र कर, फिर वन गये[2] संवार ॥१७८॥
दान तनौं फल नृप लह्यौ, सुख संपति गुण गेह। वहुजन हरष वढ़ाय हि, कियौ दानसौं नेह ॥१७९॥

पवित्र जलसे धोया। उन प्रभुके पाद प्रक्षालित जलको राजाने अपने सम्पूर्ण अंगोंमें लगाया। इसके वाद राजाने जलादि आठ प्रकारके प्रासुक द्रव्योंसे प्रभुकी भक्ति पूर्वक पूजा की। राजाने अपने मनमें विचारा कि आज घरमें सुपात्र उत्तम अतिथिके आ जानेसे मेरा गार्हस्थ्य-जीवन सफल हुआ। मैं पुण्यकर्मा हूं। इस पवित्र विवेकसे राजाका मन और भी विशेष पवित्र हो गया।

---

१. वीर स्वामी के आहार को अपने अवधिज्ञान से ज्ञान कर स्वर्ग के देवों तक ने पंच अतिशय किये।

२. वीर-चरण-रेखा

जैसे योद्धाओं में वासुदेव, फूलों में अरविन्द कमल, क्षत्रियों में चक्रवर्ती श्रेष्ठ हैं। वैसे ही ऋषियों में श्री वर्द्धमान महावीर प्रधान हैं, कि जिनके चरणों में अपना सर झुकाने के लिए स्वर्ग के इन्द्र और संसार के चक्रवर्ती लालायित रहते है। —सूत्र कृतांग

सोने की पालिकी में चलने वाले राजकुमार वर्द्धमान आहार करने के वाद नंगे पांव पैदल जंगल को वापिस लौटे और एक वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर ध्यान में लीन हो गए। थोड़ी देर वाद उसी रास्ते से पुण्क नाम का सामुद्रिक शास्त्री गुजरा तो उसने वीर स्वामी के चरणों की रेखा देखकर अपने सामुद्रिक ज्ञान से जान लिया कि यह चरण किसी वहुत भाग्यशाली और प्रतापी सम्राट के हैं, उसने विचार किया कि अवश्य कोई महाराजा रास्ता भूलकर इस जंगल में आ घुसा। यदि मैं उनको सही रास्ता वता दूं तो वे मुझे इतना धन देंगे कि मैं सारी उम्र की जीविका की चिन्ता से मुक्त हो जाऊँगा। यह सोचकर वह पांव के चिन्हों के साथ-साथ चलता हुआ उसी स्थान पर पहुंच गया कि जहां वीर स्वामी ध्यान में मग्न थे। वह आगे को चलने लगा, परन्तु पांव के निशान आगे न दीखे। वह केवल उस वृक्ष तक ही थे। सामुद्रिक शास्त्री को वहां कोई सम्राट नजर न पड़ा। वीर स्वामी को साधारण साधु जान कर विचार किया कि शायद मेरी समझ में कुछ अन्तर रह गया हो, उसने वहीं अपनी पुस्तक को वगल से निकाल कर वीर स्वामी की रेखाओं से मिलान किया तो वह आश्चर्य करने लगा कि पुस्तक के अनुसार तो ये वड़े भाग्यशाली सम्राट होने चाहियें, परन्तु यहां तो इनके पास लंगोटी तक भी नहीं। उसने सोचा कि मेरी यह पुस्तक गलत है जिस तरह आज इससे धोखा हुआ आइन्दा भी भय है, इसलिए वह अपनी पुस्तक को फाड़ने लगा। जो लोग वीर स्वामी के दर्शनों को आये थे उन्होंने पूछा, पण्डितजी यह क्या? उसने कहा, "मेरी पुस्तक के अनुसार ये चरणरेखायें किसी प्रतापी महाराजा की होनी चाहियें, परन्तु उनके स्थान पर मैं ऐसे साधारण मनुष्य को देख रहा हूं कि जिस वेचारे के पास एक लत्ता तक भी नहीं, मेरा ग्रन्थ गलत मालूम होता है, इसके रखने से क्या लाभ?" लोगों ने समझाया कि पण्डितजी! जिनको आप साधारण भिक्षुक समझते हो ये तो महाराज सिद्धार्थ के भाग्यशाली राजकुमार हैं, जिन्होंने राज्यकाल में किसी भी याचक को खाली हाथ नहीं लौटाया और अब एक ऐसा असाधारण दान देने के लिए तैयार हुए हैं कि जिसको पाकर संसार के समस्त प्राणी सच्चा सुख और शान्ति अनुभव करेंगे। यह सुनकर पण्डितजी वड़े प्रसन्न हुए और वीर स्वामी को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया।

चौपाई

अब जिनपति वहिर सरेसा, पुर ग्राम फिरैं बहु देशा। कछु ममता अंग न आना, नाना अटवी उद्याना ॥१८०॥
तप द्वादश भेद बखानौ, जिनवर मन वच तन ठानौ। प्रभु अनशन प्रथमहिं लीनौ, जाव चार* अहार न कीनौ ॥१८१॥
फिर अवमोदर तप कहिये, तहं अलप अहार जु लहिये। व्रत संख्या उर अवधारी, सो वस्तु संख्या तप भारी ॥१८२॥
भोजन रस स्वाद न कीनौ, रस त्याग महा तप लीनौ। जब आसन शयन जु न्यारैं, विविक्त शय्यासन धारें ॥१८३॥
अब काय क्लेश सु जीजै, निज काय क्लेश हि कीजै। वर्षा ऋतु तरुके मूला, तहं वायु वहै प्रतिकूला ॥१८४॥
सित काल नदी सर तीरा, जाड़े सौं कंपत शरीरा। प्रभु ध्यान अगनि तप भारी, शित जाय महाभयकारी ॥१८५॥
ऋतु ग्रीषम भानु [जि तेजा, गिरि तुंग शिला की सेजा। सो सरवर रहइ न कीचा, प्रभु ध्यान सुपय तन सींचा ॥१८६॥
यह वाहिज षट तप गुनिये, आभ्यंतर षट अब सुनिये। जो पूरव चिन्ता त्यागैं, निज आतम खोज हि लागैं ॥१८७॥
मद इन्द्रिय धोय वहावैं, सो प्रायश्चित्त कहावैं। जो होय अपुनतें भारी, तसु विनय करैं अधिकारी ॥१८८॥
जो रोग सहित तन छीजै, सुश्रूषा ताकी कीजै। जो बारह व्रत दृढ़ होई, वैयावृत जानी सोई ॥१८९॥
स्वाध्याय पंच विधि कीजै, सो स्वाध्याय हि तप लीजै। कायोत्सर्गासन साधैं, तहं चारी ध्यान अराधैं ॥१९०॥
पिण्डस्थ पदस्थ बखानौ, रूपस्थ रूपातित जानी। इमि कर्म महावन जारी, तप कायोत्सर्ग सुधारी ॥१९१॥

दोहा

वीरनाथ जिनराजने, द्वादशविध तप कीन। आतमवीर्य परगट भयौ, राग द्वेष मद हीन ॥१९२॥

हे देव, हे प्रभो, आज आपके आगमनसे मैं धन्य हो गया, आपने मेरे घरको परम पवित्र बना दिया, ऐसा कहनेसे राजाका वचन पवित्र हो गया। पात्र दान करनेसे मेरा हाथ एवं शरीर पवित्र हो गया। ऐसा सोचनेसे राजाकी काय शुद्धि हो गयी। उसने कृत आदि दोषोंसे हीन प्रासुक अन्नसे होने वाले विमल एषणा (आहार) को शुद्ध किया। इस प्रकार उस कूल राजाने नवधा भक्ति द्वारा महान् पुण्यका उपार्जन किया।

---

* वीर-उपवास

भगवान महावीर ने बारह वर्ष से भी अधिक महाकठिन तप किया। इस दीर्घकाल में उन्होंने केवल ३४९ दिन ही पारणा किया तथा सभी उपवास निर्जल ही थे।

पं० अनूपशर्मा : वर्द्धमान (ज्ञानपीठ काशी) पृ० ३०।

वीर स्वामी ने सांसारिक पदार्थों का राग-द्वेष और मोहममता तो त्याग ही दी थी, परन्तु उन्होंने शरीर का मोह भी इतना त्याग दिया था कि आहार तक से भी अधिक रुचि न थी। आहार के लिए नगरी में जाने से पहले ऐसी प्रतिज्ञा' कर लेते थे कि अमुक विधि से आहार पानी मिला तो ग्रहण करेंगे वरन् नहीं। वे अपनी इस कठिन प्रतिज्ञा को किसीके सन्मुख भी न करते थे। अनेक बार ऐसा हुआ कि तीन-तीन, चार-चार दिन के बाद आहार को उठे और राजा, प्रजा सभी महास्वादिष्ट भोजन कराने को उनकी प्रतीक्षा में अपने दरवाजों पर खड़े रहे परन्तु विधिपूर्वक आहार न मिलने पर वह बिना आहार जल लिए जंगल में वापस लौट आये। ऐसे अवसरों पर अपने अन्तराय कर्म का फल जानकर हृदय में खेद किये बिना ही वह फिर तप में लीन हो जाया करते थे।

एक बार कोशाम्बरी के जंगल में महावीर स्वामी तप कर रहे थे कि उन्होंने प्रतिज्ञा की—आहार किसी राज कन्या के हाथ से लूंगा, उस राज्य कन्या का सिर मुंडा हुआ हो, वे दासी की अवस्था में कैद हो और आहार में कोदों के दाने दे। देखिये श्री वर्द्धमान महावीर की प्रतिज्ञा कितनी कठोर हैं। कन्या राजकुमारी हो परन्तु उसकी अवस्था दासी की हो और सिर मुंडा हो, यदि किसी एक बात की भी कमी रह गई तो आहार-पानी दोनों का त्याग। वीर स्वामी अनेक बार आहार को उठे परन्तु विधि पूर्वक आहार न हो सका। यहां तक कि आहार-पानी लिये उन्हें छः मास हो गये।

चौपाई

क्षमा भाव सब ही सों मानै, कांचन कांच बराबर जानै। धन कन जिनसे एक समान, महल मसान भेद नहिं आन ॥१९३॥
दुख सुख जानहि एक हि भाव, जीवन मरण बराबर चाव। शत्रु मित्र दोनों सम एक, धनी निरधनी एक ही टेक ॥१९४॥

दोहा

उपजी प्रभु को ऋद्धि वसु, सिद्धि अनेक प्रकार। तिन गुण कछु वर्णन करौं, लहि आगम अनुसार ॥१९५॥
बुद्धि औषधि क्षेत्र वच, तप रस विक्रय धस्स। क्रिया सहित अष्टौ कही, तिन ऋद्धि तिस वस्स ॥१९६॥

सवैया इकतीसा

प्रथम बुद्धि ऋद्धि है अठारा गुन ताहू कै,तपसा प्रभाव श्री मुनीश उर आनिये—
केवल मनःपर्वय अवधि वीज कोष्ठ सं-भिन्न स्रोत तथा पादानुसार हां जानिये।
दूरी पर्श दूरी रस घ्राण औ श्रवण दूरी, दूरी वहु भांत अवलोकन वखानिये—
दश पूर्वा चतुर्दश पूर्वा प्रत्येक वाद प्रज्ञा नैमित्तक भेद अष्टादश प्रमानिये ॥१९७॥

पद्धडि छन्द

तहं तीन लोक भासैं जु एम, लहि जलकी बूंद जु हस्त जेम। यह केवल ऋद्धि तु प्रथम नाम, जहं जीव सर्व इष्टी विराम ॥१९८॥
अव मनःपर्यय दूजीय बुद्धि, तजि मन विकार निर्मल हि शुद्धि। सवके मन की आनै जु जीव, जैसी जाके हिरदै प्रतीव ॥१९९॥
ताही में हैं सुन भेद दोय, ऋजु विपुल कहे भगवान सोय। सवके मनको है सरल भाव, सो ऋजुमति वारे को लखाव ॥२००॥
सूधी टेढ़ी जो जान लेय, यह विपुल मती तासो कहेय। पुनि अवधि बुद्धि तीजी प्रमान, सो आगम शास्तर भव वखान ॥२०१॥
विन पूछैं नहि पहिचान होय, जव पुच्छय उत्तर कहइ सोय। है अवधि भेद तीनों प्रकार, देशावधि परमावधि जु सार ॥२०२॥
जो एक देश की कहइ दक्ष, सो देशावधि मुनिवर प्रतक्ष। जहं द्वीप अढ़ाई वरन भेद, मुनि परमावधि भाषें निखेद ॥२०३॥
कहि तीन लोक संवन्ध जोय, सर्वाविधि ऐसौ गुण जु होय। अव वीर्जबुद्धि चौथीय टेक, पद एक पढ़त प्रापति अनेक ॥२०४॥
पुन कोष्ठ बुद्धि पंचम वखान, जहं सुनहि एक अस लोक ठान। कहि पूरन अर्थ गिरंथ, सोइ, कछु भेद छिपौ नहि रहइ कोइ ॥२०५॥
संभिन्न श्रोतृता बुद्धि षष्ठ, नव वारह जोजन लौं गरिष्ठ। दल चक्रवर्ति ते तक प्रमान, नर देश देश के ताहि थान ॥२०६॥
जो वोलहिं एकहि वात सर्व, पहिचानहि तिनके वचन धर्व। पादानुसार सत्तमहि बुद्धि, पद आदि अंत की करहि शुद्धि ॥२०७॥
सो सकल ग्रन्थ अर्थहि समस्त, अरु कंठ पाठ भज मुनि प्रशस्त। दूरी सपरस अष्टम गनेइ, गुरु लघु चीकन अरु रुख धरेइ ॥२०८॥
कोमल कठोर अरु उष्ण शीत, यह आठ प्रकार सपर्स रीत। सो द्वीप अढ़ाई लौ उतिष्ठ, इक जोजन तें जानै कनिष्ठ ॥२०९॥
सवके गुण भाषै जुद जुदेय, तप वल सौं ते सव जान लेय। अव नवमी दूरी रसन थाय, मधु तिक्त कटुक आमल कषाय ॥२१०॥

यह परम दुर्लभ उत्तम पात्र ही मेरे ही भाग्यसे प्राप्त हुआ है इसलिये मेरा यह आहार दान सविधि पूर्ण रूपेण सम्पूर्ण है। ऐसा श्रेष्ठ विचार करके वह राजा अत्यन्त श्रद्धाशील बनकर अपनी शक्तिके अनुसार पात्र दानके महान् उद्योग में लग गया। किन्तु उस महादानके प्रभावसे उत्पन्न अजस्र रत्नवृष्टि एवं कीर्तिकी अभिलाषा उस राजाने नहीं की। वह सेवा पूजा इत्यादिके द्वारा प्रभुकी भक्तिमें लग गया, और धर्म सिद्धिके निमित्त अन्य कार्योंको जो वह किया करता था उन सबको तिलांजलि देदी। उस राजाने सोचा कि, यह प्रासुक आहार है और दान देनेका यही श्रेष्ठ समय है। यह संयमशील पुरुष किस प्रकार उपवासोंके उन असह्य क्लेशोंको धैर्य पूर्वक सह लेता होगा इन्हें उत्तम विधिसे आहार देना चाहिये। उस राजाने ऐसा विचार किया। राजाने इस प्रकार महान फलको देने वाले श्रेष्ठदाताके उत्तम गुणोंको अपनेमें ग्रहण किया। इसके बाद राजाने हितकारक उत्तम पात्रको मनसा, वाचा, कर्मणासे पवित्र होकर श्रद्धा-भक्तिके साथ विधि पूर्वक खीरका आहार दान दिया।

ए रस जो कोई कहइ भाष, तौ द्वीप अढ़ाई स्वाद चाख । सो स्वाद वखानैं मुनि गहीर, यह ऋद्धि लही कर तप शरीर ॥२११॥
अव दशमी दूरी घ्राण जास, दुरगंध और सुरगंध वास । सो पूर्व रीति मुनि जानि लेह, यह नासा विषय विलास जेह ॥२१२॥
पुन दूरी-श्रवण जु इक दशेव, हैं सात विषय ताके सुनेव । सो ऋषभ निषाद गांधार तीन, चौथे को षड्ज जु नामलीन ॥२१३॥
पंचम मध्यम धैवत छटेव, पंचम मिलि स्वर सातौं गनेव । जो पुरुष शवद है ऋषभ नाम, नभगरज निषाद द्वितीय ठाम ॥२१४॥
पुन अजा शवद गांधार होय, मंजार शवद जह षड्ज जोय । पन्चम मध्यम यह शवद रूप, छठमौं धैवत गजवर अनूप ॥२१५॥
कोकिल वर पंचम स्वर हो सात, सव पंच शब्द कहिये विख्यात । है प्रथम शवद जहं मर्मवाज, फुंकार दुतिय तहं तंत साज ॥२१६॥
चौथो मंजीरादिक वखान, जल लहर शब्द पंचम प्रमान । सो पूर्व रीति जानें लखाव, सव द्वीप अढ़ाई के प्रभाव ॥२१७॥
दूरी अवलोकन द्वादशे, रंग श्वेत पीत अनुरक्त भेव । तहं कृष्ण नील सव पंच वर्ण, पूर्वोक्त दूर तें ज्ञान धर्ण ॥२१८॥
दश पूर्ववुद्धि तेरम वखान, दर्श पूर्व अंग एकादशान । विन पढ़ै सकल विद्या लहेय, संपूरण अर्थ हि मुख कहेव ॥२१९॥
अरु रौहिणी देवी क्षुल्लिकादि, सव पंच सप्त तैं धर विपाद । मिल करैं कटाक्षी हाव भाव, थिर रहै तहां मन ध्यानचाव ॥२२०॥
चौदह पूर्वा वुधि चौदशेव, तहं चौदह पूर्व जु अंग तेव । विन ही श्रम सव ही पढ़ कहाय, सो द्वादशांग श्रुत ज्ञान राय ॥२२१॥
सत संयम अरु चारित विधान, ते विन उपदेश ही लहइ ज्ञान । इन्द्रिय दम तप घोरानुघोर, वह वुधि प्रतेक पन्द्रमहि जोर ॥२२२॥
अव षोडशमी है वाद वुद्धि, वहु वाद करन आवैं विशुद्धि । ते इन्द्र आदि विद्या प्रमान, इक उत्तर सवको मद गलान ॥२२३॥
वुध प्रज्ञा सत्रमि सुनहु तग्य, सव तत्व अरथ संजम सुतग्य । तिनि भेद थूल सूक्षम अनंत, विन द्वादशांग वाणी कहंत ॥२२४॥
अट्ठारम वुधि नैमित्त अन्न, तिनके गुण आठ प्रकार भन्न । स्वर अन्तरीक्ष भूमंड छिन्न, व्यंजन लक्षण अरु सुपन भिन्न ॥२२५॥
खग चौपद की भाषा अजीत,प्रगटैं मुनि हिय धर सहज प्रीत । तिनको जो कछु भावीय काल, दुख सुख वरनैं स्वर अंगभाल ॥२२६॥
ग्रह भान सोम आदिक प्रशस्त, शुभ अशुभ आदि फल उदय अस्त । तहं तीता नागत वर्तमान, वरनैं तु अंतरिछ अंगवान ॥२२७॥
पिछली सुवस्त कछु भू मंझार, द्रव्यादिक सव नाना प्रकार । अरु भूप कंप वरतैं जु सोइ, वरनैं भू अंगहि तृतिय जोइ ॥२२८॥
नर पशु दुख सुख सवको जनाय, वैद्यक सामुद्रिक सव सुभाय । करुणा जुत प्रापैं मुनि प्रसंग, प्रगटैं उपकार जु मंड अंग ॥२२९॥
तह वस्त्र शस्त्र सेनादि छत्र, आसन अवस्त्र कंटक अशस्त्र । एकस सुरनर मुख अंसभार, गोमय अरु अगनि विनाशहार ॥२३०॥
शुभ अशुभ उपावत फलजु सोय, प्रगटै वखान संशय न कोय । यह छिन्न अंग पंचम गनंत, वुद्धि नैमित्तिक मुनिवर भनंत ॥२३१॥
तिल मसे जु लहसन इनहि आदि, हैं सामुद्रिक तें जुद अनादि । तिनके फल वरनैं पूर्व ज्ञान, यह व्यंजन अंगहि गुणनिवान ॥२३२॥
लक्षण श्री वृक्षादिक भनीक, अष्टोत्तर शत तिनकी जु ठीक । कर पगतर शुभ अरु अशुभ जेम, वरनै सो लक्षण अंग तेम ॥२३३॥
जगमांहि पदारथ सकल होंय, ते सुपन विषै जो लखहि कोय । तिनको फल कहि संशय मिटाय, यह सुपनअंग आठम सुभाय ॥२३४॥

दोहा

यह अष्टादश भेद युत, वुद्धि ऋद्धि गुण गेह । विमल रूप प्रगटै सदा, आय तपोधन देह ॥२३५॥

वह विशुद्ध आहार प्रासुक स्वादिष्ट था, निर्मल तपको वढ़ानेवाला था, और क्षुधा पिपासाको शान्त करने वाला था । उस राजा के दानसे देवता लोग वहुत प्रसन्न हुए और पुण्योदयके कारण राज प्रासादके आंगनमें रत्नोंकी मूसलाधार वर्षा हुई । उस रत्न वर्षाके साथ ही साथ पुष्प वृष्टि एवं जल वृष्टि भी हुई । उसी समय आकाश मण्डलमें दुन्दुभि इत्यादि वाजोंकी गम्भीर तुमुल-ध्वनि हुई । उन वाद्योंके महान् रागोंको सुनने से ऐसा जान पड़ता था मानो वे राजाके पुण्य एवं उत्तम यशका गम्भीर स्वरमें गान कर रहे हों ! उसी समय देव भी 'जय जय' इत्यादि शुभ शब्दोंका उच्चारण करते हुए कहने लगे कि-हे प्राणियो, यह परमोत्तम पात्र श्रीमहावीर प्रभु दाताको इस संसार रूपी महा समुद्रसे अनायास ही पार उतार देनेवाले हैं । वह दाता अत्यन्त भाग्यशाली एवं धन्य है जिसके यहां कि अपने आप स्वयं जिनराज पहुंचं जांय । ऐसे उत्तम दानके प्रभावसे दाताको स्वर्ग एवं

इति बुद्धि ऋद्धि वर्णन

दोहा

ऋद्धि औषधी भेद वसु, विटमल आम उजल्ल। कुल्ल सर्व वृष्टि विषा-नाशन विष गुण मल्ल ॥२३६॥

गीतिका

विटऋद्धि मुनि विष्टा जु लेपहि, सकल रोगनको हरै। निर्मल निरोग शरीर निवसे, अंग परतापहिं धरै ॥
लहि मैल दांत जु कान नासा, रोग तस देखत डरैं। धातु सकल कल्याणकारी, मल ऋद्धि यह गुण विस्तरै ॥२३७॥
रोगसौं ग्रसि और दारिद भाग हीन जु चितवैं। तहं हाथ छुवतन सकल साता आम अंगहि गुण सवैं ॥
मुनि श्रम जलहि लै तन लगावत होय सुख दुख ही चमैं। नासैं असाता देह परसत अंग उज्लवल यह नमैं ॥२३८॥
मूत्र थूक खकार मुनिकौ—व्याधि हर धातुहि रचै। मनके मनोरथ पूर राखै—चुल्ल गूण सब भ्रम खुचै ॥
मुनि अंग परस जु पवन आवै करहि सुख तन दुख हरै। नासै जु अघ आताप जियके सर्व अंग जु यह टरै ॥२३९॥
मुनि सर्प काट्यो होई कोई तथा काहू विष पियौ। दृष्टि परत आताप नाही दृष्टि विष गुण पहिलयौ ॥
दुष्ट जन मुनिराज को विष मिश्र भोजन देवहीं। तो होय अमृत छिनक में ही विष तनें परभाव हीं ॥२४०॥

इति औषधि ऋद्धि वर्णन

दोहा

अब सुन क्षेत्र जु ऋद्धि को, वरनौं शाखा दोय। प्रथम अधिन्न महानसी, क्षेत्र महालय होय ॥२४१॥

गीतिका छन्द

जाकै जु मुनि जब होय भोजन; दीन वह फल यह लहै। चूक दल जु रसोई खातहि, तासतें अधिकी रहै ॥
क्षय भई प्रकृति लभान्तरायी, तथा उपशमके उदै। तप बलहि प्रगटै गुणहि ऐसो नाम अधिन्न महान है ॥२४२॥
जहां मुनिवर कर्म नाशहि, चार हाथ जु भुवि परै। कोटि नर सुर पशुन बल तहं, निराबाधक तनु धरै ॥
कष्ट मुनिको कबहुं नांही, यह प्रभावहि थल वही। अब छिन महालय अंग दूजौ, कह्यौ आगम लहि सही ॥२४३॥

दोहा

क्षेत्र ऋद्धिगृह विमल गुण, सौहे तप मुनि ईश। देवनको दुर्लभ सदा, भाषी श्री जगदीश ॥२४४॥

इति क्षेत्रऋद्धि वर्णन

मोक्ष प्राप्त होता है। इस लोकमें तो तुम लोगोंने देखा ही होगा कि उत्तम-पात्रको दान देनेसे बहुमूल्य अपार रत्न राशिकी प्राप्ति होती है एवं विमल यशका विस्तार होता है परलोकमें भी स्वर्ग सम्पदाएं एवं भोग विभूतियां प्राप्त होती हैं जिनके द्वारा चिरकाल तक आनन्दोपभोग किया जाता है। रत्नवृष्टिके कारण राज-महलका आंगन भर गया। आंगनमें पड़ी हुई उन रत्नोंके ढेरके देखकर बहुत लोग परस्पर कहने लगे कि देखो, दानका कैसा उत्तम फल है ? आंखोंसे देखते ही देखते यह राज प्रसाद बहुमूल्य रत्नोंकी वर्षासे भर गया ! दूसरेने कहा यहां क्या देखते हो ! यह तो अत्यन्त अल्प फलको ही तुम अपनी आंखोंसे देख रहे हो। उत्तम पात्र दानसे तो स्वर्ग एवं मोक्षके अक्षय सुख अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। इन लोगोंके कथनोपकथनको सुनकर एवं अपनी आंखोंसे प्रत्यक्ष पात्र दानकी महिमाको देखकर बहुतसे जीव स्वर्ग एवं मोक्ष फलकी कल्पना करने लगे और पात्र दानकी महत्तामें विश्वास कर लिया।

आहार दानके समय वीतराग श्रीमहावीर तीर्थंकरने अपने शरीरकी स्थितिके विचारसे अंजलिपुर रूपी पात्रके द्वारा

चौपाई

अब तुम सुनो ऋद्धि बलसार, मन वच काय त्रिविध परकार। भिन्न भिन्न तिनके गुण कह्यो, जैसे जिन शासन में लह्यो ॥२४५॥
श्रुत अवरणी कर्म प्रधान, ताके क्षय उपशम तैं जान। अन्तमुहूरत विषैं समर्थ, द्वादशांग वाणी को अर्थ ॥२४६॥
तिनको मन में करै विलास, यह कहिये मनबल परकास। द्वादशांग वाणी आवैन, कहत महासुख उपजै चैन ॥२४७॥
तिनको कष्ट न होय लगार, वचन अतुल बलकै अनुसार। वाणी पढ़त देह श्रम नाहीं, पढ़ै गु अन्त मुहूरत माहीं ॥२४८॥
काय अखंडित बल को करै, अतुल अखंड महाबल धरै। सोहै जिनको सुभग शरीर, काय अंग जानो वर वीर ॥२४९॥

दोहा

यह बल ऋद्धि गंभीर गुण, प्रगट बखानी देव। उदय होय तप योग में, जिनवाणी लहि भेव ॥२५०॥

इति बलऋद्धि वर्णन

पद्धड़ि छन्द

अब सुनहु भव्य तप ऋद्धि सार, तामें गुण वरनौं सप्त धार। ते घोर महत उग्रह अनन्त, अतिदीप्त तप्त घोरह गुनन्त ॥२५१
पुन ब्रह्म घोर सप्तम बखान, अब तिनकै गुण सुन भविसुजान। नव भूमि समान जु जहां होय, जोगासन रुचि सौं करें कोय ॥२५२

पद्धडि छन्द

तहं सहहिं उपद्रव कठिन अंग, याही सो कहिये घोर अंग। सिंह विक्रीडन व्रत आदि नाम, अष्टोत्तर शत क्रमक्रम बखान ॥२५३
सो करैं उपास जु सदा कौल, अरु मौन सहित अंतराय पाल। जो या विधिसौं तप तपहिं त्रास, सो महत अंग जानो प्रकाश ॥२५४
पुन वेद काय वसु वास मास, यह आदि करहि बहुते उपास। निर्वाह तहां वहु जोग रूढ़, यह उग्र अंग को गुण अगूढ़ ॥२५५
कर घोर वीर तप बहुत भांति, तिन घटै न कबहूं अंग कांति। उपजै नहिं दुर्गंध मुनि शरीर, यह दीप्त अंग को गुण गहीर ॥२५६
सो कर अहार नहि है निहार, ज्यों तपत लोह पर नीर डार। सोखै सुनीर नहि सहैं पीर, वह तप्त अंग जानो जु वीर ॥२५७
ते अतीचार विन मुनि रहाय, वह घोर गुण तप मुनि कहाय। दुख कामादिक मुनि नहि धरेय, सो घोर ब्रह्मचारी कहेय ॥२५८

दोहा

तप जु ऋद्ध कै सात गुण, अभ्यासै मुनिराज। अनुक्रम तातैं जानिये, केवल ज्ञान समाज ॥२५९॥

इति तप ऋद्धि वर्णन

दोहा

षटगुण वरनी ऋद्ध रस, आसन विष विष दृष्टि। घृत पय मधु अमृत स्रवहिं, जुदे जुदे कर तिष्ठ ॥२६०॥

खीरका आहार ग्रहण किया और इस आहार ग्रहणके उत्तम फलसे राजाको अनुकम्पित एवं उसके घरको पवित्र कर पुनः वनको चले गये। राजाने भी अपने जन्म गृह एवं धनको अप्रत्याशित पुण्यकारी समझा और वे अपना अहोभाग्य समझने लगे। इस श्रेष्ठ दानके मन, वचन एवं काय द्वारा अनुमोदन करनेके कारण अर्थात् दाता एवं पात्रकी प्रशंसा करके बहुत लोगोंने दाताके समान ही उत्तम पुण्य का उपार्जन कर लिया।

उधर जिनेश्वर महावीर प्रभु नाना देशके अनेक नगर, ग्राम एवं वन उपवनोंमें वायुकी तरह स्वच्छ गति से विचरने लगे। वे ममता मोहसे रहित थे और योग ध्यानादिकी सिद्धिसे लिये सिंहके समान निर्भय होकर रात्रिके समयमें भी पर्वतकी अंधेरी गुफामें श्मशानमें और एकदम भयंकर निर्जन वन में रहते थे। क्रमशः छठे आठवें उववाससे आरम्भ कर छः मास तकके

पद्धड़ि छन्द

तपके बलतैं यह पद लहाय, सो मरण समय जब होय आय। तह निसंदेह प्राननि विनाश, यह आसन विषगुण को प्रकाश ॥२६१॥
चितवैं जाहि तन क्रोध होय, जो प्राणी ततछिन मरहिसोय। यह यद्यपि मुनि है दयासिंध, यह दृष्टि विषापर ताप लिंध ॥२६२॥
कोईभोजन मुनिको रूक्ष देत, धर करपर सौं आहार लेय। परसतस्वहस्त घृत चुंवत जाय, यह घृत स्रावक गुणको सुभाय ॥२६३॥
अरु दुग्ध च्वैं वाही प्रकार, पय स्रावक अंग प्रताप धार। यह पर्व रीतसम मधुर जान, सो मधुर स्राविको फल वखान ॥२६४॥
अति अमृत मुनि कर स्रवै सोय, तद क्षुधा तृषाको हरण होय। इहि भांति मुनिहि आहार देय, यह अमृत स्रावि जुफल कहेय ॥२६५

दोहा

यह वरनी रस ऋद्धि की, दशा पुनीत अनूप। तिनकैं प्रगटत है सदा, जे मुनि मुक्ति सरूप ॥२६६॥

इति रसऋद्धि वर्णन।

दोहा

कहौं विक्रिया ऋद्धि के, एकादश गुण सोय। अणिमा महिमा लग्घिमा, गरिमा प्रापति होय ॥२६७॥
प्रकामित्व ईशित्वता, वशिता अप्रघ ताप। अंतर ध्यान जु दशम है, कामरुपित्व तथाप ॥२६८॥

चौपाई

एक एकको वरणन करौं, सुखसौं भवसागर उद्धरौं। अणूमात्र कर देही भेष, कमल नालके छिद्र प्रवेश ॥२६९॥
सोइ तहां चित पूरे सूत, चक्रवर्ति तव रहै विभूत। सो सव निज वपुमें ले धरै, अणिमा प्रथम चरित यह करै ॥२७०॥
जोजन एक लाख जो तुंग, मेरु समान शरीर अभंग। जव चाहै तव रचै वनाय, महिमा तैं यह गुण अधिकाय ॥२७१॥
पवन समान देख सव ठौर, यह जग में हलको नहिं और। ताही तैं लघु धरै शरीर, लघिमा गुण ऐसो गंभीर ॥२७२॥
वज्र कहावै भारी यहां, यह तै और वखानो कहां। ताही सम तन धारै सोइ, गरिमा को गुण ऐसो होय ॥२७३॥
वैठो आप धरापर लसै, मेरु अंग अंगुलसौं धसै। सूरज आदि ज्योतिषी देव, सवको परसै प्रापति एव ॥२७४॥
जलपर गमन भूमिवत करै, भूतैं अन्तरीक्ष पग धरै। निज तनतैं सेनादिक रचै, प्रकामित्व यह गुणको खचै ॥२७५॥
जव जियमें कर विविध हुलाश, जग की प्रभुता को परकाश। तींन लोकपति माने आप, यह ईशित्व तनो परताप ॥२७६॥
नर तिर्यंच अमर दे आदि, सकल जीव वरतैं जु अनादि। सवको निज वश कर मुनिराव, यहै वशित्व अमल परभाव ॥२७७॥
दुर्गम विषम पहार उतंग, जिन पै चलिवै को मन पंग। तिन गिरि गमन अकाश समान, अप्रतिघात सुगुन औ जान ॥२७८॥
सवको देखै वह न लखाय, अदरश रूप सदा हो जाय। अन्तरध्यान तनों वल जोइ, तप वल कहू न परगट होई ॥२७९॥
सुर नर खग तिर्यंच विचार, तिनको रूप विविध परकार। धरै जासको चाहै रूप, कामरुपि गुण यही अनूप ॥२८०॥

अनशन तपको करते थे। वे किसी पारणाके दिन अवमौदर्य तप और किसी पारणाके दिन लाभान्तरायकी इच्छासे पापोंको दूर करनेके लिये चतुष्पक्षादि की प्रतिज्ञा करके वृति परिसंख्यान तप करते थे। कभी निर्विकारिता पानेके लिये रस त्याग तप करते थे एवं कभी उत्तम ध्यानके लिये वनादिके एकान्त स्थलमें शय्यासन तपको करते थे। वर्षा कालमें जव कि सारी प्रकृति झंझा-वातके उग्र आलोडनसे थर्राती हुई दृष्टि गोचर हो रही थी तव महावीर प्रभु धैर्य रूपी कंवलको ओढ़कर किसी वृक्षके नीचे समाधि लगाये रहते थे। शीतकालमें वे किसी चतुष्पथ (चौराहे) पर अथवा सरिता तटपर ध्यानमें मग्न रहते थे। इस प्रकार कितने ही वृक्षोंको जला देनेवाला भयंकर हिम प्रपातको अपने ध्यान रूपी अग्नि-आडंगरसे जलाया करते थे। ग्रीष्म कालमें जव कि चारों ओर अग्नि वर्षा हुआ करती थी तव सूर्यकी किरणोंसे अत्यन्त तपे हुए पर्वतके शिलाखण्डों पर अपने ध्यान रूपी शीतल

दोहा

वरनी विक्रिय ऋद्धि यह, एकादश गुणवान। गूढ़ केवलीको सुगम, भाषी श्री भगवान ॥२८१॥

इति विक्रिया ऋद्धि वर्णन

दोहा

क्रिया ऋद्धि अन्तिम सुनो, वरनी शाखा दोय। चारण मुनि नभगामिनी, ताके गुण अवलोय ॥२८२॥
चारण ऋद्धि आठ गुण, जल जंघ पहु फल पत्त। श्रेणि तन्तु अग्नी शिखा, कहीं सवनको जत्त ॥२८३॥

अडिल्ल

भूवत करें विहार मुनी तप जोय हैं। होइ न जलहि लगार मु जलचारी कहै ॥
धरती तें चतुरंगुल पद्मासन चलै। जंघाचारी अंग प्रगट तपवल भलै ॥२८४॥
पहुपचारि मुनिराज फूल पै गमन है। फलचारी फल उपरि चलै अति अघु नहै ॥
पत्र चारको गमन पात हालै नहीं। चलै वेलि पर सोय श्रेणि चारी सही ॥२८५॥
सूक्षम कला जु टार तन्तुचारी यहै। अग्निशिखा पर शंक न चित्त न वंक है ॥
देह न परसै अगिन अग्र शिखचारिको। यह तपसा परभाव ऋद्धि वसुधारिको ॥२८६॥
अव प्रकाश कर गमन चलै धरि ध्यान जो। गगन गमन वह ऋद्धि करहि मुनि मान जो ॥
नभगामी यह अंग दुतिय पूरी भयी। क्रिया ऋद्धि मुनिराज गमन सूरी ययी ॥२८७॥

दोहा

क्रिया ऋद्धि दो गुण कहे, हिंसा रहित सदीव। सोहै श्री मुनिराजको, ज्ञान शुद्धकी सीव ॥२८८॥

इति क्रिया ऋद्धि वर्णन

दोहा

सप्त ऋद्धि अठताल गुण, विक्रिय ग्यारह अंग। क्रिया ऋद्धि गर्भित जुगम, संतावन सरवंग ॥२८९॥
आठ ऋद्धि उत्तम विमल, वसु मलहारी जोर। सिद्धि भई जिनराज को, करत तपस्या घोर ॥२९०॥
समभावन वरतें सदा, एकाकी वन ठौर। सहैं परीषह वीस द्वै, ते वरनौं कछु और ॥२९१॥

अमृत जलका सिंचन किया करते थे। इस प्रकार वर्षा, शीत एवं ग्रीष्म ऋतुओंमें शारीरिक सुखकी हानि के लिए काय क्लेश तपकी साधनामें तत्पर रहकर नितान्त दुष्कर छः प्रकारके वाह्य तपोंका महावीर प्रभुने पालन किया। उन्हें प्रायश्चित्तादि तपकी कोई आवश्यकता नहीं थी इसलिये महावीर प्रभु अपने प्रमाद शून्य एवं विजितेन्द्रिय मनको विकल्प रहित करके कायोत्सर्ग पूर्वक कर्मरूपी शत्रुओंका समूल नाश करनेके लिये आत्म ध्यानमें ही लगे रहते थे। वह ध्यान कर्मरूपी वनको जला देनेके लिये भीषण अग्निके समान है, एवं परमानन्दका दाता है। इस आत्मध्यानमें लीन होकर सम्पूर्ण आस्रवोंको रोक देनेसे महावीर स्वामीके सव अभ्यन्तर तपतो पहले ही हो चुके थे। इस रीतिसे महावीर प्रभुने अपनी शक्तियोंके प्रकट हो जाने पर भी चिरकाल तक दत्तचित्त होकर वारह प्रकारके श्रेष्ठ तपोंकी साधनामें तत्पर रहे। इसके वाद प्रभु महावीर क्षमा-गुणसे युक्त होकर पृथ्वी के समान अचल एवं प्रसन्न विमल स्वभावके कारण निर्मल स्वच्छ जलके समान शोभित हुए। वे दुष्ट कर्मरूपी जंगलको जलाने वाले अग्नि थे एवं कषाय तथा इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को मारने वाले दुर्द्धर्ष महावैरी थे। वे निरंतर अपनी धार्मिक वुद्धिके द्वारा धर्म साधनामें तत्पर रहते थे और इहलोक एवं परलोकमें अपार सुखोंको प्रदान करनेवाले क्षमा आदि दश लक्षणोंसे युक्त थे।

अथ वाईस परीषह वर्णन*

सवैया इकतीसा

क्षुधा तृषा शीत उष्ण दंशमशक नग्नार—ति स्त्री चरजा निषद्य शय्या क्रोश कहिये।
बंधन याचन अलाभ रोग तृण स्पर्श—मल सत्कार पुरस्कार प्रज्ञा ज्ञान सहिये॥
अदर्शन युक्त सव वाईस परीषह जा-न, ताके भेद भिन्न भिन्न जथाशक्ति लहिये।
मुनिके शरीर आय अति ही कलेश दाय, क्षमाभाव सो विलाय मोक्षपंथ गहिये॥२६२॥

अतुलनीय पराक्रमशाली महावीर प्रभुने भूख प्यास आदि स्वाभाविक रोगसे उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण कठिन परीषहों एवं वनके अत्युग्र उपद्रवोंको अपनी विलक्षण शक्तिके प्रभावसे जीत लिया और उत्तम ज्ञान प्राप्तिके लिये अतीचार रहित एवं भावना सहित पंच महाव्रतोंका पालन किया। पांच समिति एवं तीन गुप्ति इन आठ प्र वचन माताओंका नित्यश: पालन करते एवं इनके द्वारा कर्म-धूलिको नष्ट करनेके लिये सदैव तत्पर रहते थे। वे महावीर प्रभु श्रेष्ठ निवेदक शील थे इसलिये निरालस्य

---

*बाइस परिषहजय

"A real Conqueor is the man that having withstood all pains and sorrows has got over them, and take with him high up, above all worldly miseries, pure and unsoiled his most precious treasure—Soul." —Dr. Albert Poggi - Mahavira's Adrash Jiwan. P. 16.

जैसे ज्ञानी मनुष्य कर्जे की अदायगी से अपनी जिम्मेदारी में कमी जान कर हर्ष मानता है वैसे ही श्री वर्द्धमान महावीर दुःखों और उपसर्गों को अपने पिछले पाप कर्मों का फल जान कर उनकी निर्जरा के लिये २२ प्रकार की परिषह विना किसी भय खेद तथा चिन्ता के सहन करते थे :—

१. भूख परीषह – एक दिन भी भोजन न मिले तो हम व्याकुल हो जाते हैं। परन्तु श्री वर्द्धमान महावीर ने विना भोजन किये महीनों तक कठोर तप किया। आहार के निमित्त नगरी में गए, विधिपूर्वक शुद्ध आहार अन्तराय रहित न मिला तो विना आहार किये वापस लौट आये और विना किसी खेद के ध्यानमें मग्न हो गये। चार पांच रोजके बाद फिर आहार को उठे फिर भी विधि न मिलने पर विना आहार वापस आकर फिर ध्यान में लीन हो गये। इस प्रकार छः छः महीने तक आहार न मिलने पर वे इस को अन्तरायकर्म का फल जान कर कोई शोक न करते थे।

२. प्यास की परीषह – गर्मियों के दिन, सूरज की किरणों से तपते हुए पहाड़ों पर तप करने के कारण प्यास से मुंह सूख रहा हो, तो भी मांगना नहीं, आहार कराने वाले ने आहार के साथ विना माँगे शुद्ध जल दे दिया तो ग्रहण कर लिया वरन् वेदनीय कर्म का फल जान कर छः छः महीने तक पानी न मिलने पर भी कोई खेद न करते थे।

3. सर्दी की परीषह—भयानक सर्दी पड़ रही हो, हम अङ्गीठी जला कर, किवाड़ बन्द करके लिहाफ आदि ओढ़कर भी सर्दी-सर्दी पुकारते हैं। पोह-माह की ऐसी अन्धेरी रात्रियों में नदियोंके किनारे ठण्डी हवा में वर्द्धमान महावीर नग्नशरीर तप में लीन रहते थे। और कड़ाके की सर्दी को वेदनीय कर्म का फल जान कर सरल स्वभाव से सहन करते थे।

४. गर्मी की परीषह – गर्म लू चल रही हो, जमीन अङ्गारे के समान तप रही हो, दरिया का पानी तक सूख गया हो हम ठण्डे तहखानों में पङ्खों के नीचे खसखस की टट्टियों में बर्फ़ के ठण्डे और मीठे शर्बत पी कर भी गर्मी-गर्मी चिल्लाते हों, उस समय भी श्री वर्द्धमान सूरज की तेज किरणों में आग के समान तपते हुये पर्वतों की चोटियों पर नग्न शरीर विना आहार पानी के चरित्र मोहिनीय कर्म को नष्ट करने के हेतु महाघोर तप करते थे।

५. डांस व मच्छर आदि की परीषह—जहां हम मच्छरों तक से बचने के लिये मसहरी लगाकर जालीदार कमरों में सोते हैं, यदि खटमल, मक्खी, मच्छर, कीड़ी तक काठ ले तो हा-हा कार करके पृथ्वी सिर पर उठा लेते हैं, वहां वर्द्धमान महावीर सांप, विच्छू, कानखजूरे, शेर, भगेरे तक की परवाह न करके भयानक वन में अकेले तप करते थे। महाविप भरे सर्पो ने काटा, शिकारी कुत्तों ने शरीर को नोंच दिया, शेर, मस्त हाथी आदि महाभयानक पशुओं ने दिल खोल कर सताया, परन्तु वेदनीय कर्म का फल जान कर महावीर स्वामी समस्त उपसर्ग को सहन करके ध्यान में लीन रहते थे।

६. नग्नता परीषह—जहां नष्ट होने वाले शरीर की शोभा तथा विकारों की चंचलता को छिपाने के लिये हम अनेक प्रकार के सुन्दर

भूख

गीतिका छन्द

पाख मास उपास साधत, ध्यान धरि कालहि हनैं। जाहि भोजन निमित ग्रामहि, तहां विधि कछु नहि बनैं ॥
खेद उर तस करत नाही, परम समता थिर रहैं। क्षुधा इहि विधि सहत जे मुनि, तिनहुकें हम पद गहैं ॥२६३॥

प्यास

बढ़त प्यास अवास अति ही, त्रास उर व्यापै घनी। कंठ मुख जब सूख आवै, पित ज्वर कोप्यौ मनी ॥
ध्यान अमृत सींच के जब, तृषा तीक्षण नाशही। चलैं चित्त न किमपि मुनिको, चरण वितिके लागहीं ॥२६४

सर्दी

शीत सौं कंपत जग जन, तरु तुषारहिसों दहै। बहत झंझा पवन निशदिन, मेघ वर्षा ऋतु गहै ॥
तहं धीर तटिनी तट जु चौहट, ताल पालन तरु तलैं। सहत शीत मुनीश उत्तम, तरन तारन है भलैं ॥२६५॥

गर्मी

अगिम सम है धूप ग्रीषम, तपत अति ज्वाला घनी। तपत प्रवल पहार आदिक, नीर सर सूखत गनी ॥
नरहि सुवसन छांह, विलमत कुटे लोचन जाय हैं। धरत मुनि तब ध्यान गिरि शिर, उष्ण परिषह जय यहै ॥२६६॥
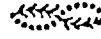
होकर सम्पूर्ण और गुणोंके साथ सारे मूल गुणोंकी पालनामें सचेष्ट होकर किसी भी दोषको स्वप्नमें भी अपने पास नहीं फटकने देते थे। इस प्रकारके परमोज्वल चारित्र युक्त महावीर प्रभु सम्पूर्ण पृथिवी पर विहार करते हुए उज्जयनी नामकी एक महा नगरीके अतिमुक्त नामक श्मशानमें जा पहुंचे। उस महा भयानक श्मशानमें पहुंचकर महावीर प्रभुने मोक्ष प्राप्तिके लिये शरीर का ममत्व छोड़कर प्रतिमा योग धारण कर लिया और पर्वतके समान अचल भावमें अवस्थित हो गये। सुमेरु पर्वतके उन्नत

वस्त्र पहिनते हैं वहां श्री वर्द्धमान महावीर ने अपनी इन्द्रियों तथा मन पर इतना काबू पा रखा था कि उन्हें लङ्गोटी तक की भी आवश्यकता न थी। चरित्र मोहनीय कर्म का नाश करने के हेतु वे कतई नग्न रहते थे।

अत्यन्त रूपवती स्त्री को देखकर भी दिगम्बर निर्ग्रंथ मुनियों को विकार उत्पन्न नहीं होता। बड़े-बड़े बजारों तक में सिंह के समान नग्न चलते फिरते है। इनको बहुत ही सन्मान प्राप्त है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, उपनिषद, शिवपुराण, कर्मपुराण, रामायण, विवेकचूड़ामणि, बौद्ध, सिख, मुसलमान, इसाई, यहूदियों, आदि में भी इनका उल्लेख है। गांधीजी को नग्न स्वयं प्रिय था। महाराजा भर्तृहरि जी नग्न होने की इच्छा रखते थे। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में लिखा है कि वे बालक के समान दिगम्बर हैं।

७. अरति परीषह—वर्द्धमान महावीर इष्टवियोग और अरिष्ट संयोग को चारित्र मोहनीय का फल जान कर किसी से राग-द्वेष न रखते थे।

८. स्त्री परीषह—जहां किसी सुन्दर स्त्री को देख कर हमारे में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु वीर स्वामी को स्वर्ग की महा सुन्दर देवांगनाओं तक ने लुभाना चाहा, तो भी वे सुमेरु पर्वत के समान निश्चल रहे। सूरदास जी वीर थे जिन्होंने स्त्रियों को देखकर हृदय में चंचलता उत्पन्न होने के कारण अपनी दोनों आंखें नष्ट करलीं, परन्तु वीर वास्तव में महावीर थे कि जिन्होंने आंखें होने तथा अनेक निमित्त कारण मिलने पर भी मन में विकार तक न आने दिया।

९. चर्या परीषह—जहां हम चार कदम चलने के लिये सवारी ढूंढ़ते है, वहां सोने की पालकी में चलने वाले और मखमलों के गद्दों में निवास करने वाले वर्द्धमान महावीर पथरीले और कांटेदार मार्ग तक में तथा आग के समान तपती हुई पृथ्वी पर नंगे पांव पैदल ही विहार करते थे।

१०. आसन परीषह—जहां हम एक आसन थोड़ी देर भी सरलता से नहीं बैठ सकते, भगवान महावीर महीनों-महीनों एक आसन एक ही स्थान पर तप में लीन रहते थे। जिस समय तक की प्रतिज्ञा कर लेते थे अधिक से अधिक उपसर्ग और कष्ट आजाने पर भी वे आसन से न डिगते थे।

११. शय्या परीषह—जहां हम पलङ्ग के जरा भी ऊंचे-नीचे हो जाने पर व्याकूल हो जाते हैं। सोने-चांदी के पलंगों, रेशमी और मख-

डांस, मच्छर आदि

काटत जु तन में डांस माखी, व्याल विच्छू विष भरे। पुनि सिंह वाघ सु श्याल शुंडल, रीछ पीडत अति खरे ।।
कष्ट इहि विधि सहत जे मुनि, भाव समता उर लिये। डंशमशक परीषह जयी, वसहु ते मेरे हिये ।।२९७।।

नग्न

लीक लाज न भय तिन्हें कछु, नगन तन विहरत मही। पुनि धर दिगम्वर जैन मुद्रा, ध्यान उर धारत सही ।।
शीलव्रत दृढ़ धरें तन मन, निरविकार सुहावने। महामुनिपद नगन विजयी, नमहुं त्रिभुवन भावने ।।२९८।।

अरति

देश में कहु काल उपजहिं, अधिक सवको दुख तहां। क्षीण तन जन होंहि विह्वल, धरत धीरज नहि जहां ।।
करत कोलाहल घने सो, अरति अति उपजावही। साधु धीरज गहत उनही, अरति विजय कहावही ।।२९९।।

स्त्री

ते शूर हैं परधान वहुविध, पकर केहरिको रहै। देखि जिनकी भोंह वांकी, कोट जोधा भय गहैं ।।
रूप सुन्दर जोपिता जुत, करत क्रीड़ा मन रमै। ते साधु मेरु समान निवसैं, सदा तिनके पद नमैं ।।३००।।

शृंगके समान एवं परत्मामाके ध्यानमें लीन श्रीजिनेन्द्र महावीर प्रभुको देखकर उनके धैर्यकी परीक्षा करनेके लिये स्थाणु नामक वहांके अन्तिम रुद्र महादेवको उपसर्ग करनेकी इच्छा हुई। इसी समय जिनेन्द्रके कुछ पूर्वकृत पापोंका भी उदय होने वाला था। वह स्थाणु रुद्र अनेक भयंकर एवं नानाकृति स्थूल-काय पिशाचोंको अपने संग लेकर महावीर स्वामीके ध्यानको भंग करने के लिये प्रस्तुत हुआ। रात्रिके समयमें वह स्थाणु रुद्र अपने वड़े वड़े नेत्रोंको फाड़कर देखते हुए जिनेन्द्र प्रभुके सन्मुख आया। उस

मली गद्दों तथा सुगन्धित पुष्पों की सेज पर सोने वाले वर्द्धमान महावीर कठोर भूमि पर विना किसी वस्त्र तथा सेज आदि के नग्न शरीर वेदनीय कर्म को नष्ट करने के हेतु रात्रि को भी ध्यान में मग्न रहते थे।

१२. आक्रोश परीषह—जहां हम साधारण वातों पर क्रोधित हो जाते हैं, वहां विना किसी कारण के फब्तियां उड़ाये जाने और कठोर शब्द सुनने पर भी वर्द्धमान महावीर किसी प्रकार का खेद तक न करते थे।

१३. वध परीषह— दुष्टों ने अज्ञानता, ईर्षा तथा उनके तप की परीक्षा के वश श्री वर्द्धमान महावीर को लोहे की जंजीरों से जकड़ दिया, लाठियों से मारपीट की, उनके दोनों पांवों के वीच में चुल्हे के समान अग्नि जलाकर खीर पकाई, दोनों कानों में कीलें ठोंक दीं, परन्तु श्री वर्द्धमान महावीर इतने दयालु और क्षमावान थे कि तप के प्रभाव से इतनी ऋद्धियां प्राप्त हो जाने पर भी कि वे इन सव कष्टों को सहज ही में नष्ट करदें; वेदनीय कर्मों की निर्जरा के हेतु, समस्त उपसर्गों को वे सरल हृदय से सहन करते थे।

१४. याचना परीषह—अधिक से अधिक कष्ट, भूख प्यास होने पर भी वर्द्धमान महावीर किसी से कोई पदार्थ, मांगना तो एक वड़ी वात है, मांगने की इच्छा तक भी न करते थे।

१५. अलाभ परीषह—अनेक वार नगरी में आहार निमित्त जाने पर भी भोजनादि का लाभ विधि-अनुसार न हुआ तो अन्तराय कर्म-रूपी कर्जे की अदायगी जानकर खेद तक न करते थे।

१६. रोग परीषह—जहां हम थोड़े से भी रोग हो जाने पर महा दुःखी हो जाते है। श्री वर्द्धमानजी महाभयानक रोग उत्पन्न हो जाने पर भी उसे वेदनीय कर्म का फल जानकर औपधि की इच्छा तक न करते थे।

१७. तृणस्पर्श परीषह—नंगे पांव चलते हुए कंकर या कांटादि भी चुभ जाय तो श्री वर्द्धमान महावीर उसे भी शान्तिचित्त सहन करते थे।

१८. मल परीषह—शरीर पर धूल लग जाने या किसी ने राख, मिट्टी, रेत आदि उनके शरीर पर डाल दिया तो भी उसका खेद न करके श्री वर्द्धमान तप में लीन रहते थे।

१९. अविनय परीषह—जहां हम संसारी जीव थोड़ा सा भी आदर सत्कार में कमी रह जाने पर महा दुःखी होते हैं, वीर स्वामी चार ज्ञान के धारी महा ज्ञानवान्, महाधर्मात्मा तथा महातपस्वी और ऋद्धियों के स्वामी होने पर भी कोई उनका सत्कार न करे तो चारित्र मोहनीय कर्म का फल जानकर वे किसी प्रकार का खेद न करते थे।

चर्या

चार हाथ प्रमाण शोधत, दृष्टि इत उत नहि करैं। चलत कोमल पाय तिनकै, कठिन धरती पर धरैं॥
चढ़त थे गज पालकी पर, तास याद न आनही। सहहिं चर्या दुःख जे मुनि, तिनहिं पद पर नामही॥३०१॥

आसन

शैल शीस मसान कानन, गुफा विवर वसैं सदा। तहै आन उपजहु कष्ट कीनहु, कर्ण जोगन तैं सदा॥
मनुप सुर पशु अर अचेतन, विपत आन सतावहीं। ठौर तब नहि भजहि थिर पद, निपध विजय कहावहीं॥३०२॥

शय्या

हेम महलन चित्र सारी, सेज कोमल सोवते। विकट वन में एकले है, कठिन भुवि तहां जीवते॥
गड़त पाहन खंड अति ही, तासको कायर नहीं। ऐसी परीपह शयन जीतत, नमौं तिनके पद तहीं॥३०३॥

आक्रोश

जगत जिय मुनि देखि कोई, कहत दुठ दुर वचन जै। पाखण्डि ठग यह चोर कोई, मार मार जु कहत जै॥
वचन ऐसे सुनत जिनके, क्षमा ढाल जु ओढई। सो अक्रोश परीपह विजयी, तिनही पदकर जोड़ई॥३०४॥

वध

सदा समता गहैं सब सौं, दुष्ट मिलि तिन मारहीं। खेंच बांधै खम्भ सों पुनि, अगनि तनपर जारहीं॥
कोप तहं मुनि करत नाहीं, पूर्व कर्म विचारहीं। सहैं वध बन्धन परीपह, तिनहिं पद शिर धारहीं॥३०५॥

याचना

भयौ जो कछु रोग आदी, देह अति विह्वल भई। नशा जाल जु रुधिर सूख्यौ, अस्थि चाम विला गई॥
सहत अति ही क्लेश दारुण, महा दुर्धर व्रत धरैं। अशन औपधि पान आदिक, याचना मुनि नहीं करै॥३०६॥

अलाभ

एक वार अहार विरियां, मौन ले वसती धसैं। जोग भिक्षा वनहि जो नहि, खेद तो उर नहि वसैं॥
इमि भ्रमत वहु दिन बीत जाहीं, विरत भावना भावहीं। सो अलाभ परीपह विजयी, साधु गुण तसु गावहीं॥३०७॥

समय वह किलकारियां मार रहा था, नुकीले २ भयानक दांतोको दिखा-दिखाकर हंस रहा था, ताल, स्वर एवं लयके अनुसार गा, बजा एवं नाच रहा था, साथ ही अनेक विशाल मुख-लिवरको फाड़े हुए और हाथोंमें तीक्ष्य आयुधोंको धारण किये हुए था। इस प्रकारके महा भयोत्पादक स्वरूपको लेकर वह महावीर स्वामीके आगे आया और उनके ध्यानको भंग करनेके लिये बड़ा भारी उपसर्ग किया। परन्तु इन उपद्रवोंका महावीर प्रभु पर किसी प्रकारका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उनका ध्यान यथा पूर्व अचल एवं अटूट बना रहा। जब इतना करने पर भी जिनेन्द्रके ध्यानको वह रुद्र नहीं भंग कर सका तब उसने दूसरे उपायोंका

२०. **प्रज्ञा परीपह**—जहां हम थोड़ी सी बात पर भी अधिक मान कर बैठते हैं वहां महाज्ञानवान् महातपस्वी, महाउत्तम कुल के शिरोमणी, होने पर भी श्री महावीर स्वामी किसी प्रकार का मान न करते थे।

२१. **अज्ञान परीपह**—वर्षो तक कठोर तपस्या करने पर भी केवल ज्ञान (Omniscience) की प्राप्ति न होने से वे इसकी प्राप्ति न होने से वे इसकी प्राप्ति में शंका न करते थे बल्कि यह विश्वास रखते हुए कि मेरा ज्ञानावर्णी कर्मरूपी ईंधन इतना अधिक हैं कि यह कठोर तपस्या भी उसको अभी तक भस्म न कर सकी, अपने कर्मों की निर्जरा के लिए और अधिक कठोर तप करते थे।

२२. **अदर्शन परीपह**—जहां हम थोड़ा सा भी धर्म पालने से अधिक संसारी सुखों की अभिलाषा करते हैं और उनकी तुरन्त प्राप्ति न होने हर उसमें शंका करने लगते हैं, वहां श्री वर्द्धमान महावीर बारह वर्ष तक सच्चा सुख न मिलने से धर्म के महत्व में शंका न करते थे। उन्हें विश्वास था कि कर्मों का नाश हो जाने पर अविनाशक सुखों की प्राप्ति आपसे आप अवश्य हों जायेगी।

रोग

बात पित कफ और शोणित, चार ए जब तन बढ़ैं। रोग शोक अनेक इहि विधि, जीव कायरता चढ़ै॥
सहै वेदन व्याधि दारुण, चाह नहि उपचारकी। आतमा थिर देह विरकत, जैन मुद्रा धारकी॥३०८॥

तृण

लगत कांटे गडत कंकर, पांय अति छिदना भये; पवन प्रेरित धूलि कण उड़ि, जुगम लोचन में गये।
परकी सहाय न तहू वांछत, भावना सम धरतही, साधु तृण विजयी परीपह, कृपा हम पर करत ही॥३०९॥

मल

चलत अतिहि पसेव ग्रीषम, धूलि उड़ि आंखिन परै। मलिन देह जु देख मुनिवर, मलिनता नहि उर धरै॥
चारित्र दर्शन ज्ञान जलकर, पाल मल तहं धोवहीं। जनित मल परिषह निवारन, साधु ते हम जोवहीं॥३१०॥

अविनय

महाविद्या निधि मनोहर, परम तपसी गुण गुरू। वचन हित मित कहत सब सौं, आतमा पद थिर धरू॥
विनय कोय न करत तिनकी, अरु प्रणाम न भापई। खेद मुनि कछु करत नांही भाव समता राखई॥३११॥

प्रज्ञा

तर्क छन्द जु व्याकरण गुण, कला आगम तव पढ्यौ। देखि जाकी सुमति वादी, लाज अति उरमें बढ़्यौ॥
सुनत जैसे नाद केहरि, वन गयंद जु भाजई। महामुनि इमि प्रज्ञ भाजन, रंच मद नहि छाजई॥३१२॥

अज्ञान

कर्‌यौ दीरघ काल मैं तप, कष्ट बहुविध तन सह्यौ। तीन गुप्ति सम्हाल निश दिन, चित्त इत उत नहि रह्यौ॥
अवधि मन परजय जु केवलज्ञान, आजहू नहि जग्यौ। तजैं इहि विधि साधु विकलप, सो अज्ञानी, पर ठग्यौ॥३१३॥

अदर्शन

काल बहु संयम जु पाल्यौ, नियम व्रत कीनै घने। होइ तपसौं सिद्धि शिवकी, झूठसी लागत मने॥
जो भाव ये उरमें न आनै, परम समता थिर रमें। साधु सोइ अधर्म विजयी, 'नवल' तिनके पद नमैं॥३१४॥

अवलम्बन किया। वह स्थाणु रुद्र सर्प, सिंह, हाथी, प्रवल वायु एवं अग्नि इत्यादिके रूप में आकर तथा उत्पीड़क वचनोंके द्वारा उग्र उपसर्गोका आरम्भ किया। इन उपसर्गोसे निवल-हृदयोंमें तो भयका संचार हो सकता था, किन्तु महावीर स्वामीका कुछ नहीं हुआ, वे बरावर अचल ही बने रहे। उनका ध्यान भंग होना तो दूर रहा, उत्तरोत्तर ध्यानकी गम्भीरता बढ़ती ही गयी। जब इस प्रकार भी सफलता नहीं मिली तब स्थाणु रुद्र और अन्य प्रकारके घोर उपसर्गोको प्रकट करने लगा। भीलोंके आकार में भयानक शस्त्रास्त्रोंको दिखाकर प्रभुके हृदयमें भय उत्पन्न करना चाहा, परन्तु इन अनेक उग्र उपद्रवोंसे ओतप्रोत रहने पर भी वह जगत्स्वामी जिनेन्द्र महावीर स्वामी जैसाका तैसा पर्वत के समान एकदम अचल बना रहा। किंचित्मात्र भी खिन्नताका आभास नहीं मिला। आचार्यने कहा है कि—कदाचित् अचल पर्वत भी चलायमान हो जाये परन्तु श्रेष्ठ योगियोंका चित्त हजारों उग्र उपद्रवोंके द्वारा भी कदापि चलायमान नहीं हो सकता। इस संसारमें वे ही लोग धन्य है जो कि ध्यान मग्न हो जाने पर भी विकार युक्त होकर ध्यान भंग करनेमें कदापि नहीं प्रवृत्त होते।

इसके बाद जब जिनेन्द्र महावीर स्वामीके ध्यानको भंग करनेमें स्थाणु रुद्रको कुछ भी सफलता प्राप्त करनेकी आशा नहीं रही तब हताश एवं लज्जित होकर वहीं उनकी स्तुति करने लगा—हे देव, इस संसारमें तुम्हीं बली हो, तुम्हीं जगद्गुरु हो एवं वीर शिरोमणि हो इसीलिये तुम्हारा नाम 'महावीर' हैं। तुम महा ध्यानी हो, सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हो, सकल परीपहोंके

परिषहों के निमित्त-कारणका वर्णन

सवैया इकतीसा

ज्ञानावरणी कर्म उदय प्रज्ञा अज्ञान दोइ, दरशनावरण तें अदर्शन वखानिये।
अन्तरायके परकाश उपजै अलाभ जास, वरनी चरित्र मोह सातों ठीक ठानिये ॥
नगन निपद्या रति अस्त्री कोश जाचना जु, सतकार पुरस्कार ग्यारा अब जानिये।
ग्यारा और वाकी रही वेदनी उदोत कही, वाईस परीषा सब ऐसी विधि मानिये ॥३१५॥

किस अवस्था में कितने परीषह उदय आवें ? इसका उत्तर

वीतराग देव छदमस्थ पनें जोग और, सूक्ष्म सांपराय और गुणस्थान जहीं हैं।
क्षुधा तृषा शीत उष्ण दंश मशक चरजा, सेज्या सन वंध रु अलाभ रोग सही हैं ॥
तृणस्पर्श मल स्पर्श प्रज्ञा एहि चतुर्दश, परीषह कहूं करम जोगतें लही हैं।
सवै मुनि उपशम गुणस्थान ताही लग, वाईस परीषा उदै चारिततें कही हैं ॥३१६॥

एक मुनिके एक कालमें कितने परीषह हो सकते हैं ? इसका उत्तर—

दोहा

जो काहू मुनिराज को, उदय होंय सब जाय। तामें तीन न पाइये, उनविंशति दुखदाय ॥३१७॥
शीत होय तो उषण न, उष्ण होय तो शीत। चर्या चयन निपथ व्रत, तिनमें दोय सहीत ॥३१८॥

व्रत कथा उत्तरगुणों का वर्णन

चौपाई

पंच महाव्रत भावें जहां, अतीचार सउ नाशै तहां। पंच समिति पालें, निरदोप, तीन गुप्तिको कीनो पोप ॥३१९॥

चौरासी लाख उत्तर गुणों का वर्णन

उत्तर गुण सावें निरभंग, लख चौरासी ताके अंग। पाचों अव्रत चार कपाय, रति आरति विदगछा पाय ॥३२०॥
भव मद मिथ्या तह अज्ञान, मन वच काय दुष्ट अर आन। धरै पिशुनता और प्रमाद, ये इक्वीस धरैं मन ल्हान ॥३२१॥
अतिक्रम व्यतिक्रम अरु अतिचार, अनाचार इन चौगुन सार। भये भेद चौरासी यही, काम विकृति दश सुनिये सही ॥३२२॥

विजेता हो, वायुके समान निःसङ्ग वीर हो एवं कूल पर्वतकी तरह अचल हो। तुम क्षमामें पृथिवीके समान, गम्भीरतामें समुद्रके समान और प्रसन्नचित्त होनेके कारण निर्मल जलके समान हो कर्मरूपी जंगलको नष्ट करनेके खिये आप अग्नि-अङ्गारके समान हैं। हे प्रभो, तुम त्रिलोकमें वर्द्धिष्णु हो एवं श्रेष्ठ बुद्धिशाली होनेके कारण सन्मति हो। तुम्हीं महाबली और परमात्मा हो। हे नाथ, आप निश्चल रूपके धारण करने वाले हैं एवं प्रतिमा योगके सीखने वाले हैं। आप परमात्मा स्वरूप हैं आपको सदैव नमस्कार है। इस प्रकार उस स्थानुरुद्रने महावीर प्रभुकी स्तुति करके नमस्कार किया और ईर्प्या छोड़कर अपनी प्रिय पत्नी पार्वतीके साथ आनन्दित होकर अपने स्थानको चला गया। जब महापुरुपोंके योग जन्य साहस एवं शक्तिको देखकर दुर्जन भी परम आनन्दित हो जाते हैं तव सत्पुरुपोंका तो कहना ही क्या ? उनका तो दूसरों के गुणों पर मुग्ध हो जानेका स्वभाव ही होता है।

इसके वाद किसी चेटक नामके राजाकी पुत्री जिसका नाम चन्दना था एवं जो महा पतिव्रता थी, वह जब वन क्रीड़ामें लीन थी तव वह विद्याधर शीघ्र ही उसको उठा ले गया। वादमें उसे अपनी स्त्रीका ध्यान आया और स्त्रीके भयसे उस सती चन्दना

चिन्ता प्रथम प्रवर्तै भारी, दूजै दर्शन वांछाकारी। दीर्घ उसास काम ज्वर चार, दहै देह भोजन रुचिभार ॥३२३॥
प्रसन्न मूरछा काम जु अंध, अष्टम क्रीड़ा हास्य प्रवन्ध। प्राण सन्देह नवम गुण जान, मोचन शुक्र दशम पहिचान ॥३२४॥
एवं सुगुन वसु सम चालीस, अव विराधना दशविध दीस। प्रथमहि अस्त्री को सनसर्ग, अरु शरीर मंडन दुरवर्ग ॥३२५॥
रागी सेवा सहस सुखार, सेवें सतत परम दुखकार। लैन सुगन्ध संचरै रैन, अर्थ ग्रहन पुन कोमल शैन ॥३२६॥
दशम कुलीन संसरण थये, आठ सहस अरु चय सम भये। कृत क्रमके दशभेद जु पोष, प्रथम अंकपित सूक्षम दोष ॥३२७॥
त्रय अवित्त अनुमानित चार, (प्र) छन्न दोष पंचम अवधार। दृष्ट दोष षष्ठम जानिये, वादर दोष सप्तम मानिये ॥३२८॥
शव्दाकुलित अष्टमौ कौप, वहुगम पूर्वभोग चितौन। इन दशसों गुनिये सव जान, सहस चुरासी भये प्रमान ॥३२९॥
अव संजम दश सुनौ प्रकाश, प्रथम भेद आलोचन जास। प्रतिक्रमण द्वै तदुभय तीन, चहु विवेक उतसग पन लीन ॥३३०॥
तप छेदन मूलहिं परिहार, उपस्थान नवमौं अवधार। इष्टच्छेद दशहि गुण सार, आठ लाख चालीस हजार ॥३३१॥
अव दश धर्महि को सुन भेव, उत्तम क्षम आदिक गन लेव। इनि दश गुन चौरासी लाख, जव पालै उत्तर गुण भाख ॥३३२॥
अरु अठवीस मूलगुण लहै, ते प्रमत गुण थानक कहे। इहि विधि गुण धारै निज काय, वीरनाथ प्रभु भवि सुखदाय ॥३३३॥
इत्यादिक आचार सहीत, विहरैं देश ग्राम जग वीत। रहें मौन सों सदा समेत, तोहू वपु दरशावे हेत ॥३३४॥
नगर उज्जैन वसै शुभ थान, शान भूमि वन निकट प्रमान। तहां जाय प्रभु दीनौं ध्यान, चित अडोल प्रतिमा जिम जान ॥३३५॥
मेरु शिखर सम मनों अधूप, उरमें जपै आतमा रूप। पुत्र सात्यकि अन्तिम रुद्र[१] स्थाणु नाम है पाप समुद्र ॥३३६॥

को एक भयानक वनमें उस विद्याधरने छोड़ दिया। चन्दनाने सोचा कि सम्प्रति मेरे पापकर्मों का उदय हुआ है, इसलिये वह पंच नमस्कार मंत्रोंको जपती हुई धर्म साधनामें तत्पर हो गयी। वहाँपर एक भीलोंका राजा आया और धनकी इच्छासे उस चन्दना को उठाकर वृषभसेन नामके एक सेठको दे आया और वदलेमें प्रचुर धन पाया। उस सेठकी सुभद्रा नामकी एक स्त्री पहलेसे ही थी उसने जव देखा यह एक अत्यन्त रूपवती युवती स्त्री यहां आयी है तव उसने सोचा कि अवश्य ही यह मेरी सोत होनेको

---

१. देवों द्वारा वीर-तप की परीक्षा

श्री वर्द्धमान महावीर की कठोर तपस्या से केवल मर्त्यलोक के जीव ही नहीं, वल्कि स्वर्गलोक के देवी-देवता भी दांतों तले अंगुली दवाते थे। एक दिन इन्द्र महाराज की सभा में वीर स्वामी की तपस्या की प्रशंसा हो रही थी, कि भव नाम के एक रुद्र देव को विश्वास न हुआ कि पृथ्वी के मनुष्यों में इतनी अधिक शक्ति शान्ति, स्वभाव-गम्भीरता हो। उसने इन्द्र महाराज से कहा कि जितनी शक्तिआपने वीर स्वामी में वताई हैं, उतनी तो हम स्वर्ग के देवताओं में भी नहीं। यदि आज्ञा दो तो परीक्षा करके अपना भ्रम मिटा लूं। इन्द्र महाराज ने स्वीकारता दे दी।

श्री वर्द्धमान महावीर उज्जैन नगरी के वाहर अतिमुक्तक नाम की श्मशान भूमि में प्रतिमा योग धारण किये नदी के किनारे तप में मग्न थे। रुद्र ने अपने अवधि ज्ञान से विचार करके कि महावीर स्वामी इस समय कहाँ हैं? उसी श्मशान भूमि में आ गया। रात्रि का समय, सुनसान और भयानक स्थान, सर्दी की ऋतु. नदी के किनारे प्रसन्न मुख श्री महावीर स्वामी को तप में लीन देखकर रुद्र आश्चर्य में पड गया। उसने अपनी देव-शक्ति से श्मशान भूमि को अधिक भयानक वनाकर अपने दांत वाहर निकाल, माथे पर सींग लगा, आंखें लाल कर वहुत भयानक शब्दों में इतना शोर किया कि मनुष्य तो क्या पशु तक भी कांप उठे। वीर स्वामी पर अपना कुछ प्रभाव न देखकर उसने इतनी शक्ति से चिल्लाना, चिघाड़ना और गरजना आरम्भ कर दिया कि दूर-दूर के जीव भयभीत होकर भागने लगे।

अपना कार्य सिद्ध न होता देखकर रुद्र ने अपनी मायामयी शक्ति से महा भयानक भीलों की फौज वनाई जो नंगी तलवारें हाथ में लेकर डराती और धमकाती हुई वीर स्वामी के चारों तरफ ऊधम मचाने लगी। इस पर भी वीर स्वामी को चलायमान होता न देख, उसने महाभयानक शेरों, चित्तों और भगेरों की डरावनी सेना से इतना अधिक घमसान मचवाया कि समस्त श्मशान भूमि दहल गई। परन्तु फिर भी वीर स्वामी को विना किसी खेद के प्रसन्न मुख ध्यान में मग्न देखकर रुद्र के छक्के छूट गए। उसने हिम्मत वांधकर इस कदर गर्द गुव्वार और मिट्टी वरसाई कि वीर स्वामी नीचे से ऊपर तक मिट्टी में दव गए। वीर स्वामी को फिर भी ध्यान से न हटा देख इतनी वरसा वरसाई कि तमाम श्मशान में पानी ही पानी हो गया और ऐसी तेज हवा चलाई कि वृक्ष तक जड़ से उखड़कर गिरने लगे। वीर स्वामी को विशाल पर्वत के

प्रभुको देख वैर निज मान, किय उपसर्ग ततक्षण आन। बलविद्या आरम्भन कियो, अति विकराल रूप धर लियो ॥३३॥
छिनक थूल छिन सूक्षम होय, छिन रोवै छिन गावै सोय। नख अरु दन्त बढ़ाये घने, मुख ज्वाला नहि देखत बने ॥३८॥
वीरनाथ जिन मेरु समान, चित अडोल अति धीरजवान। तब शठ और उपद्रव ठान, धरी सिंह गज रूप भयान ॥३९॥
तरतराय गरजै अधिकार, निज निज हस्त शस्त्र विकरार। फिर फणीन्द्रको रूप कराय, जित तित व्याल रहे फन छाय ॥४०॥
पुनि कीनी सेना अधिकार, निज आयुध धारी रनगार। मार मार मुखतें उच्चरें, कायर नर देखत ही मरें ॥४१॥
प्रभु निज आतम में लवलीन, पापी पाप आपको कीन। प्रलय पवन जो अतिबल करें, मेरु मही नहि टारे टरें ॥४२॥

आयी होगी। ऐसा सोचकर उस सेठानीने चन्दनाके उत्तम रूपको बिगाड़ डालनेकी इच्छासे पुराने कोदोंका भात मिट्टीके वर्तन में रखकर उसको प्रतिदिन देना आरम्भ किया। खिला चुकनेके बाद वह चन्दनाको लोहेकी सांकड़से बांध दिया करती थी। परन्तु इस दारुण यन्त्रणामें भी चन्दनाके मनमें किसी प्रकारका विकार नहीं उत्पन्न हुआ और अपने धर्म कर्म पर दृढ़ रही। यह कौशाम्बी नगरीकी बात हैं।

किसी एक दिन वत्स देशके उसी कौशाम्बी नगरीमें राग शून्य महावीर प्रभु कायकी स्थिरताके लिये आहार-ग्रहण

समान निरन्तर तप में लीन देख, वह आश्चर्य करने लगा कि यह मनुष्य है या देवता ? अपनी कमजोरी पर क्रोध करते हुए रुद्र ने मायामयी से अनेक विष भरे सर्प, बिच्छू, कानखजूरे आदि उनके नग्न शरीर से चिपटा दिये, परन्तु वीर स्वामी ने तो पहले से ही अपने शरीर से मोह हटा रखा था, जब चण्डकौशिक जैसा भयानक अजगरों का सम्राट ही उनके तप को न डिगा सका तो भला इन सर्पों, बिच्छुओं, कानखजूरों में क्या शक्ति थी कि वे वीर स्वामी के ध्यान को भंग कर सकें ? वीर तो महावीर थे, रुद्र इतने भयानक उपसर्गों पर भी वीर स्वामी की धीरता, गम्भीरता, वीरता, शान्त मुद्रा और सहनशक्ति को देखकर विचार करने लगा कि वीर स्वामी में मेरी मायामयी शक्ति को पछाड़ने की अद्भुत शक्ति होने पर भी मुझे परीक्षा का पूरा अवसर दिया। मनुष्य तो क्या देवताओं की भी मजाल न थी कि मेरे अत्याचारों के सामने ठहर सकें। मैंने ऐसे महान् तपस्वी और आत्मिक धीर को बिना कारण कष्ट देकर अपनी नरक की आयु बांध ली, उसने विनयपूर्वक भक्ति से वीर स्वामी को नमस्कार किया और कहा कि इन्द्र महाराज के शब्द वास्तव में सत्य हैं। वीर स्वामी वीर ही नहीं, बल्कि 'अतिवीर' हैं।

*विषधर सर्प : अमृतधर देव

श्री वर्द्धमान महावीर एक भयानक जंगल की ओर सिंह के समान निर्भय होकर विहार कर रहे थे, कि कुछ लोगों ने कहा—"यहां से थोड़ी दूर झाड़ियों में चण्डकौशिक नाम का एक बहुत भयानक नागराज रहता है। उसकी एक ही फुंकार से दूर दूर के जीव मर जाते हैं, इसलिये इस ओर न जाइये"। वे न रुके और चण्डकौशिक के स्थान पर ही ध्यान लगा दिया। चण्डकौशिक फुंकार मारता हुआ बाहर आया तो जहां दूर-दूर के वृक्ष तक उसकी फुंकार से सूख गए वीर स्वामी पर कुछ प्रभाव होता न देखकर चण्डकौशिक आश्चर्य करने लगा और अपनी कमजोरी पर क्रोध खाकर उनकी तरफ फना करके सम्पूर्ण शक्ति से फुंकार मारी, परन्तु वीर स्वामी बदस्तूर ध्यान में मग्न खड़े रहे। चण्डकौशिक अपनी जबरदस्त हार को अनुभव करके क्रोध से तिलमिला उठा और पूरे जोर से वीर स्वामी के पैर में डंक मारा। वीर स्वामी के चरणों से दूध जैसी सफ़ेद धारा निकली, परन्तु वह ध्यान में लीन खड़े रहे। चण्डकौशिक हैरान था कि मुझसे भी बलवान् आज मेरी शक्ति का इम्तिहान करने मेरे ही स्थान पर कौन आया है ? वह वीर स्वामी के चेहरे की ओर देखने लगा, उनकी शान्त मुद्रा और वीतरागता का चण्डकौशिक पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसके हृदय में एक प्रकार की हलचल-सी मच गई। वह सोच में पड़ गया कि इन्होंने मेरा क्या बिगाड़ किया, जो ऐसे महातपस्वी को भी कष्ट दिया। मैंने अपने एक जीवन में लाखों नहीं, करोड़ों के जीवन नष्ट कर दिये। मैं बड़ा अपराधी हूँ, पापी हूं। ऐसा विचार करते करते उसका हृदय कांप उठा और श्रद्धा से अपना मस्तक वीर स्वामी के चरणों में टेकता हुआ बोला—"प्रभो ! क्षमा कीजिये, मैंने आपको पहिचाना न अपने आपको"। वीर स्वामी तो पर्वत के समान निश्चल, समुद्र के समान गम्भीर, पृथ्वी के समान क्षमावान थे, उपसर्गों को पाप कर्मों का फल जानकर सरल स्वभाव से सहन करते थे और उपसर्ग करने वालों को कर्मों की निर्जरा करनेवाला महामित्र समझते थे। चण्डकौशिक के उपसर्ग का उनको न खेद था न क्षमा मांगने का हर्ष। उनकी उदारता से प्रभावित होकर नागराज ने प्रतिज्ञा करली कि मैं किसी को बाधा न दूंगा। उसका जीवन बिलकुल बदल चुका था। जहर की जगह अमृत ने ले ली थी। लोग हैरान थे कि जिस चण्डकौशिक को जान से मारने के लिये देश दीवाना हो रहा था, वह आज उसको दूध पिला रहा है। यह तो हैं श्री वर्द्धमान महावीर के जीवन का केवल एक दृष्टान्त, उन्होंने ऐसे अनेकों पापियों का उद्धार किया।

वीर प्रभु का प्रताप

श्री भगवान महावीर का झूला झुला रहे हैं।

❀ बाल क्रीडा करते हुये भगवान् महावीर ❀

श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी पर उपसर्ग
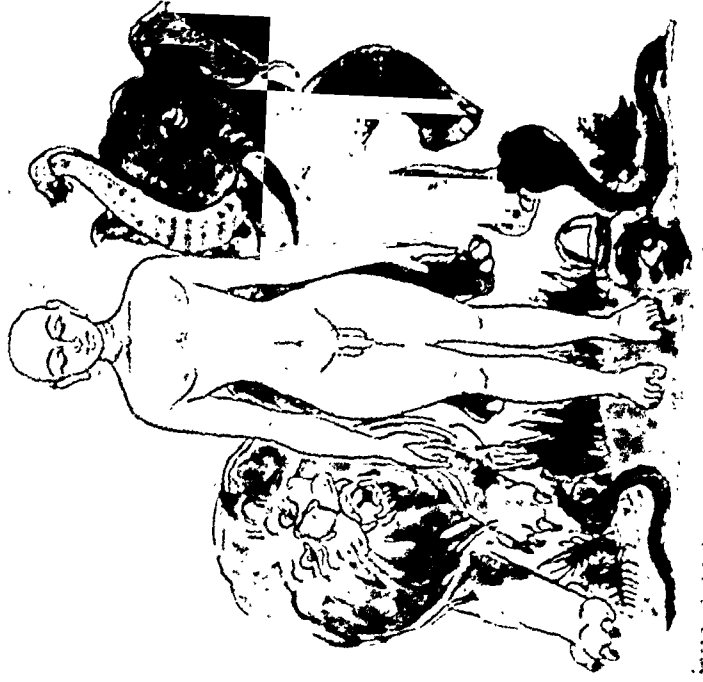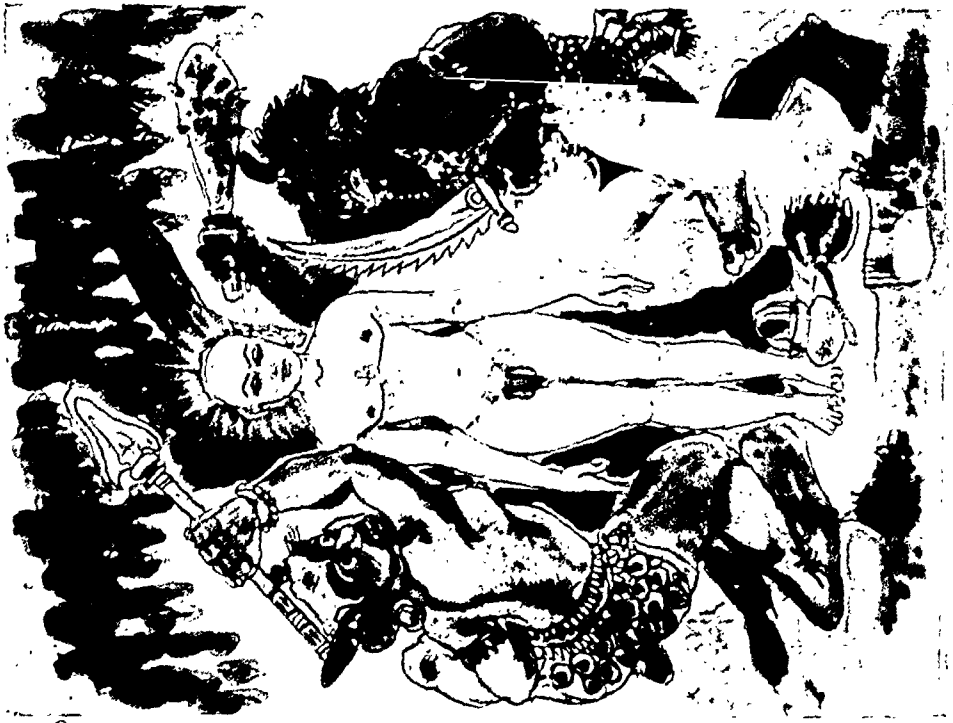
अन्तिम रुद्र सात्यकि के पुत्र स्थाणु के द्वारा श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी पर उज्जैन नगर में उपसर्ग करते हुए।

दोहा

धन्य वीर जिनराज जग, तन मन चलउ न रंच। अचल ध्यान धर मेरु सम जीतों इंद्रिय पंच ।।३४३।।
चल्यौ न वाकौ ,चाल कछु, लंपट भयौ मलीन। चरण कमल प्रभु के प्रणमि, पुनि बहुविधि थुति कीन ।।३४४।।

चौपाई

तुम प्रभु जगमें सुगुरु सुजान, तुम वीरन में वीर महान। तुम सम तेज न जगमें और, जीती दुसह परीषह ठौर ।।३४५।।
संग रहित विहरत जिमि वाऊ, अचल मनों पर्वत के राऊ। क्षमावंत पृथ्वी सम देव, गुण गहीर सागर जिमि एव ।।३४६।।
भव उपदेशक सुधा समान, कर्म महावन अगिन प्रमान। वर्धमान जय वर्धक वांन, सन्मति शुभमति दाता जान ।।३४७।।
नमौं मेरु सम अचल जिनेश, नमौं आत्मा थिति परमेश। नमौं जोग प्रतिमा सम चित्त, नमौं एक सम अरि अरु मित्त ।।३४८।।

दोहा

यह प्रकार थुति कीन बहु, पुनि पुनि प्रन मैं पाय। क्षमा करो मो दीन पर महावीर जिनराय ।।३४९।।
उमा सहित नृत्तत भयौ, अति आनन्द उर नेह। चारित हीन जु रुद्र यह, गयौ आपने गेह ।।३५०।।
धीरजको धर सत पुरुष, टरै विपत अंकूर। सन्मति प्रभु उपसर्ग सह, दुर्जनके मुख धूर ।।३५१।।
पाप कियौ शठ आपको, प्रभु वाधा नहि लेश। सो श्री सन्मति प्रभु हमहि, भव भव शरण महेश ।।३५२।।

अडिल्ल

हुंडासर्पिणी दोष, आप अप्रिय करै। तीर्थंकर उपसर्ग, मान चक्री हरै ।।
त्रेशठ पद जु महान, जीव उनसठ धरै। होंहि पांच पाखण्ड, विप्र कुल आदरै ।।३५३।।

:□:

करनेकी इच्छासे आये। उत्तम पात्र महावीर प्रभु को देखकर वह चन्दना वंधन मुक्त हो गयी। पुण्योदयके प्रभावसे वह पात्र दानकी इच्छासे प्रभुके पास पहुंची। वस्त्राभूपणोंसे अलंकृत उस चन्दनाके प्रभुको विधि पूर्वक नमस्कार किया और वादमें पड़गाहा।

उस सतीके शीलकी महिमासे कोंदोंका भात सुगन्धित एवं सुस्वादु चावलोंका भात हो गया और वह मिट्टीका सरवा एक सुन्दर सोनेका पात्र हो गया। पुण्य कर्मका ऐसा ही आश्चर्य चकित कर देने वाला प्रभाव होता है,वह पुण्य प्रभाव असम्भव

चन्दना-उद्धार

वैशाली के राजा चेटक की एक पुत्री चन्दना देवी नाम की अपनी सखियों के साथ वागीचे में क्रीड़ा कर रही थी। उसकी सुन्दरता को देख, एक विद्याधर उसे जवर्दस्ती उठाकर ले गया और अपने साथ विवाह करना चाहा। शीलवती चन्दनाजी उसके वश में न आई तो उसने उसे एक भयानक जंगल में छोड़ दिया जहां एक व्यापारी का काफला पड़ा था। चन्दनाजी ने उस व्यापारी से वैशाली का रास्ता पूछा। व्यापारी वैशाली के बहाने उनको अपने घर ले गया और उनके मनोहर रूप पर मोहित होकर उनसे विवाह कराने को कहा। चन्दना जी महाशीलवती थी वह कब किसीके बहकाने में आ सकती थी? व्यापारी आसानी से अपना कार्य सिद्ध होता न देखकर जबर्दस्ती करने लगा, चन्दना देवी ने उसे डाटा। व्यापारी ने कहा कि क्या तुम भूल रही हो कि यह मेरा मकान है, यहां तुम्हारी कौन सहायता करेगा? चन्दनाजी ने चोट खाये हुए शेर के समान दहाड़ते हुए कहा कि जरा भी बुरी निगाह से देखा तो तुम्हारी दोनों आंखें निकाल लूंगी। व्यापारी चन्दनाजी पर जबरदस्ती करने को उठा ही था कि चन्दना जी के शीलव्रत के प्रभाव से एक भयानक देव प्रकट हुआ। उसने व्यापारी की गर्दन पकड़ली और कहा, जालिम! अकेली स्त्री पर इतना अत्याचार? बता तुझे अब क्या दण्ड दूं? व्यापारी देव के चरणों में गिर पड़ा और गिड़गिड़ाकर क्षमा मांगने लगा। देव ने कहा, "तूने हमारा कुछ नहीं बिगाड़ा तो हमसे क्षमा कैसी? जिस शीलवन्ती को तू सता रहा था उसी से क्षमा मांग"! व्यापारी चन्दना जी के चरणों में गिर पड़ा और बोला, बहन! मैं न पहचान सका कि आप इतनी महान् शीलवती हो। मुझे क्षमा करो। मैं अभी आपको वैशाली छोड़कर आता हूं। व्यापारी ही था, देव के भय से वह चन्दना जी को लेकर वैशाली की ओर तो चल दिया, परन्तु रास्ते में विचार किया कि जब यह अनमोल रत्न मेरे हाथों से जा ही रहा है, तो वेचकर इसके दाम क्यों न उठाऊं? वैशाली के बजाय वह कौशाम्बी नाम के नगर में पहुंचा। उस समय दास-दासियों की अधिक खरीद—वेच होती थी। चौराहे पर लाकर चन्दना जी को नीलाम करना शुरू कर दिया। इनके रूप और जवानी को

चौपाई

वनवासां विहरत भगवान, कथा और अब सुनहु सुजान । सिद्ध देश विशाल पुर सार, चेटक नाम नृपति गुण भार ॥३५४॥
तिनके सात सुता ऊपनी, प्रथमहि त्रिशला मात जिन तनी । दूजी ज्येष्ठा गृहहि गाय, तृतीय चेलना श्रेणिक लाय ॥३५५॥
चौथी मशक पूर्व जननीय, पंचमि सुता चन्द्रमा प्रीय । रूपवंत रतितें अधिकार, शील शिरोमणि गुण अधिकार ॥३५६॥
सो सब जो मैं वर्णन करौं, होय अवार पार नहिं धरौं । एक समय वन क्रीड़ा गई, कामातुर खगपति हर लई ॥३५७॥
ता पीछे चिंत्यौ सब सोइ, निज त्रियकी भय कंपित होइ । ताको छोड़ महा उद्यान, खगपति गयौ आपने थान ॥३५८॥

बातको भी अनायास ही कर दिखाता है । निस्सन्देह इसके द्वारा सभी तरह की मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं । इसके बाद उसने प्रसन्नता पूर्वक पुण्यरूप नव प्रकारकी भक्तियोंके साथ महावीर प्रभुको आहार दान दिया । तत्क्षणोपार्जित आहार दानरूपी महा-पुण्यके प्रताप से उस सती चन्दनाको रत्न वर्षा, पांच आश्चर्यप्रद वस्तुएं एवं निज पारिवारिक कुटुम्ब प्राप्त हुए देखो श्रेष्ठ दान से क्या नहीं मिलता ? सभी वस्तुएं दान के प्रभाव से हाथ में आ जाती हैं । इस उत्तम दान के प्रभाव से उस चन्दना का निर्मल यश सम्पूर्ण संसार में फैल गया और बान्धवमिलन भी हो गया ।

देखकर एक वेश्या ने चन्दना जी को अपने काम की वस्तु जानकर दो हजार अशर्फियों में मोल ले ली । चन्दना जी ने पूछा, माता जी आप कौन है ? मुझ दुखिया को इतना अधिक मूल्य देकर क्यों खरीदा ? वेश्या ने उत्तर दिया—"चन्दना ! तू चिन्ता न कर, अब तेरी मुसीबतों के दिन समाप्त हो गए । मैं तुझे सर से पांवों तक सोने और हीरे जवाहरातों से लाद दूंगी । स्वादिष्ट भोजन और सुन्दर वस्त्र पहनने को दूंगी ।" चन्दना जी उसकी बातों को परख गई और उसके साथ जाने से इन्कार कर दिया । वेश्या जबरदस्ती चन्दनाजी को घसीटने लगी, कि तू मेरी दासी है, मैंने तुझे दो हजार अशर्फियों में खरीदा है । इस खींचातानी में अनेक लोगों को भीड़ वहां हो गई । उसी भीड़ में से एक नौजवान आगे बढ़ा और वेश्या को अशर्फियों की दो थैलियां देकर बोला—"खबरदार ! इस महासती से अपने नापाक हाथ मत लगाना" । और बड़े मीठे शब्दों में चन्दना जी से कहा कि तुम मेरी धर्म की पुत्री हो, मेरे साथ मेरे मकान पर चलो ।

ये उपकारी नौजवान कौशाम्बी नगरी के प्रसिद्ध सेठ वृषभसेन थे, जो बड़े धर्मात्मा और सज्जन थे । सेठजी दूसरी दासियों से अधिक चन्दनाजी का ध्यान रखते थे । चन्दनाजी सेठजी की स्त्री से भी अधिक रूपवती, गुणवती और बुद्धिमती थी । यह देखकर उनकी स्त्री ईर्ष्याग्नि से जलने लगी और झूठा कलंक लगाकर उसके अतिसुन्दर, काली नागिन के समान बालों को कटवा कर सिर मुंडवा दिया और बन्दीखाने में डाल दिया । खाने को कोदों के दाने देने लगी । ऐसी दुखी दशा को भी चन्दना जी पहले पाप कर्मों का फल जानकर बिना किसी खेद के प्रसन्न चित्त होकर सहन करती थी और विचार करती थी कि संसार में कुरूप स्त्रियां अपने आपको भाग्यहीन समझती हैं, परन्तु मैं तो यह अनुभव कर रही हूं कि यह रूप महादुखों की खान है । जिसके कारण मैं अपने माता पिता से जुदा हुई और यह कष्ट उठा रही हूँ ।

सारा देश महादुःख अनुभव कर रहा था कि छः मास हो गये श्री वर्द्धमान महावीर का आहार-जल नहीं हुआ, चन्दनाजी रह-रहकर विचारती थी कि यदि मैं स्वतन्त्र होती तो अवश्य उनके आहार का यत्न करती, मैं बड़ी अभागिनी हूँ कि मेरे इस नगर में होते हुए वीर स्वामी जैसे महामुनि छः महीने तक बिना आहार-जल के रहें ? चन्दना जी को वही कोदों के दाने भोजन के लिए मिले तो उन्होंने यह कहकर कि जब श्री वीर स्वामी ने आहार नहीं छुआ तो मैं क्यों करूं ? उनको रखने के लिए आंगन में आई तो वीर स्वामी की जय जयकार के शब्द सुने, दरवाजे की तरफ लपकी तो वीर स्वामी को सामने आते देखकर पडगाहने को खड़ी हो गई, भगवान को भरे नयन देख, भूल गई वह इस बात को कि मैं दासी हूँ और उसने भगवान को पडगाह ही लिया । पुण्य के प्रभाव से कोदों के दाने खीर हो गये, निरन्तराय आहार हुआ । स्वर्ग के देवों ने पंचाश्चर्य करके हर्ष मनाया । लोगों ने कहा, "धन्य है पतितपावन भगवान महावीर को जिन्होंने दलित कुमारी का उद्धार किया । धन्य है सेठ वृषभसेन को जिन्होंने बावजूद इस प्रधानता के कि किसी दूसरे घर में जबरदस्ती रही हुई स्त्री को आश्रय न दो, कुरीतियों से न दबकर उन्होंने चन्दना जी को शरण दी और वे लोकमूढता में नहीं बहे ।"

राजा तथा बड़े बड़े सेठ और सेठ वृषभसेन स्वयं महीनों से ललचाई आंखों से वीर स्वामी के आहार के निमित्त पडगाहने को खड़े रहे, परन्तु भगवान् तो लोककल्याण के लिये योगी हुए थे । उन्होंने अपने उदाहरण से लोक को यह पाठ पढ़ाया कि वह पतित से घृणा न करें,

सती चन्दना का उद्धार
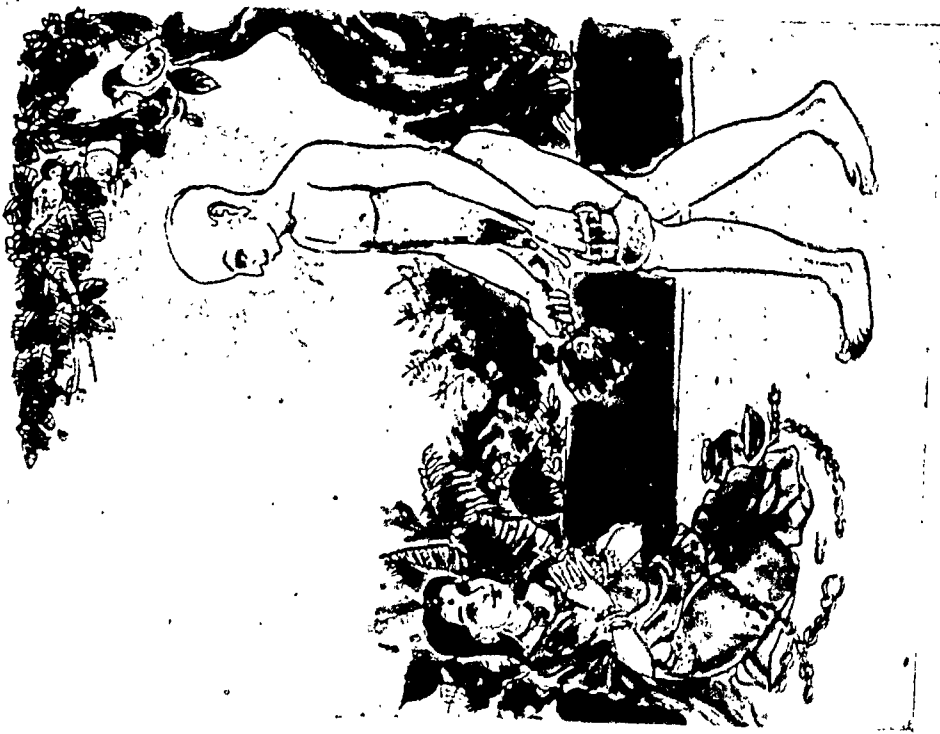
विशालपुर के राजा चेतक की सुपुत्री चन्दना कौशाम्बी के सेठ ऋषभ सैन के यहाँ कैद थी। श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी जब आहार को गये तो चन्दना की बेड़ियाँ स्वतः खुल गईं।

सती चन्दना वीर प्रभु को आहार देते हुए।

चनमें सो सुन्दरि एकली, पूरब करम भजै मन रली। मन में पंच परम गुरु आन, धरम ध्यान निहचै परवान ॥३५९॥
इह अवसर इक वनचर आय, अवलोकी सुंदरिको जाय। रूपवंत लक्षण संजुत्त, ले आयो सो ताहि तुरंत ॥३६०॥
कोशाम्वी पुर नगर महान, वृषभसेन तहं सेठ सुजान। तिहि को आनि दई नर ताहि, अति प्रमोद कर लीनी वाहि ॥३६१॥
ताके गेह सुभद्रा नार, देहि चन्दना मनहिं विचार। रूपवंत नवजीवन जान, मनमें सौत शंक अतिमान ॥३६२॥
रूप हनन को उद्यम कियौ, कष्ट चन्दना को तिहि दियौ। अधिक पुराने कोदौं वीज, स्वाद रहित मन में सो खीज ॥३६३॥
तक्र सहित मृत भाजन माहि, सो दीनौ दुरबुद्धिनि ताहि। खाय नहीं रोवै जव खरी, पापिन और उपाय जु करी ॥३६४॥
वन्धन वांधि आखननि धरी, वहुत भांति वहु संकट परी। भुगतै पूरव करम जु धीर, धर्म्मध्यान नहि तजै शरीर ॥३६५॥
तिहि अवसर वाही पुर पाय, चरजाहित आये जिनराय। देख चन्दना प्रभुको सवै, वन्धन टूट गये वपु सवै ॥३६६॥
तनके सकल शोक नश गये, परम हुलास चित्तमें भये। सन्मति प्रभु पद प्रनमैं आय, हस्त जोर भुवि शीस लगाय ॥३६७॥
पडगाहै विधिपूर्वक सोइ, भक्तिभाव अति उरमें ओइ। शील महत्त्व सवै यह जान, पाये प्रभुको कृपानिधान ॥३६८॥
सो वह तक्र कोदवन वोद, तंदुल खीर भयौ अनुमोद। माटी पात्र हेम मय सोय, धरम तनैं फल कहा न होय ॥३६९॥
वही अन्त प्रासुक विधि सार, दीनौ प्रभुको परम अहार। भक्तिभाव ताके उर भयौ, नवप्रकार विधि पुण्य जु लयौ ॥३७०॥
पंचाश्चर्य किये सुर छाय, रतनादिक वरषा अधिकाय। ले अहार प्रभु वनको गये, ध्यानारूढ़ आतमा नये ॥३७१॥
वृषभसेन प्रन मैं पद आय, तुम हो सती शिरोमणि माय। अरु वहु अस्तुति कीनी सवै, मो अपराध क्षमा कर अवै ॥३७२॥
होइ दानसों सुख अधिकाय, संकट विकट सवै मिट जाय। क्षणभंगुर जाने संसार, प्रभु पद लहौ महाव्रत धार ॥३७३॥

दोहा

लहो चन्दना दान फल, जगमें जस अधिकाय। शील सहित दीक्षा लई, भई अर्जिका जाय ॥३७४॥
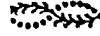
इसके वाद महावीर प्रभु छद्मस्थ अवस्थामें मौनी होकर विहार करने लगे वारह वर्ष वीत जाने पर वे जृम्भिका नामके गांवके वाहर ऋजुकूला नामकी नदीके किनारे वहुमूल्य रत्नोंकी शिलापर शाल-वृक्षके नीचे प्रतिमायोग को धारण करके षष्ठोपवासी हो गये और श्रेष्ठ ज्ञानकी सिद्धिके लिये ध्यानमें तत्पर हुए। उन्होंने शीलरूपी अठारह हजार कवचोंको धारण किया, चौरासी लाख गुणोंको अपना आभूषण वनाया महाव्रत अनुप्रेक्षा शुभ भावना रूपी वस्त्रोंसे वे सुसज्जित हुए, संवेगरूपी महा गजराज पर आरूढ़ हुए और रत्नत्रय रूपी महावाणोंको धारण कर चारित्र रूपी समरभूमिमें उतर पड़े। तप ही उनका धनुष था, ज्ञान दर्शन ही फणीच था। और गुप्ति आदि सेनाओंसे वे घिरे हुए थे। इस प्रकार महावीर प्रभु यथार्थमें ही महावीर महान् योद्धा होकर कर्मरूपी दुष्ट शत्रुओंको मारनेके लिये अनवरत उद्योगमें तत्पर हो गये। सर्व प्रथम उन्होंने मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषासे सकल कर्म नाशक एवं शरीर हीन सिद्ध पुरुषों के सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे युक्त ध्यान करने में लग गये। जो कि सिद्ध पुरुषों के श्रेष्ठ गुणों के अभिलाषी हैं वे क्षायिक-सम्यक्त्व अनन्त केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगु-

जो अपनी कमजोरी तथा जवरदस्ती करने से धर्मपद तक से गिर गये हों, उनको भी दोवारा धर्म पर लगाना जैन धर्म की मुख्यता है।

सत्य की विजय हुई। चन्दनाजी का शीलव्रत कव खाली जा सकता था? महारानी मृगावती ने सुना तो वह महाभाग्य चन्दनाजी को वधाई देने आई। वन्धन में पड़ी हुई दासी का यह सौभाग्य? यह तो लोक के लिये ईर्ष्या की वस्तु थी। क्योंकि लोक तो उसे दासी ही जानता था। भगवान महावीर ने मुंह से नहीं, वल्कि अपने चरित्र से चन्दना का उद्धार करके दास-दासी अथवा गुलामी का अन्त करने का आदर्श उपस्थित किया।—महारानी मृगावती ने उसे देखा तो उसे अपनी आँखों पर विश्वास न आया तो उसकी प्रसन्नता का पार न था वह चन्दना जी को अपने साथ राजमहल में ले गई। माता पिताके पास दूत भेजा वे सव वर्षों से विछड़ी हुई चन्दनाजी से मिलकर वहुत खुश हुए। चन्दना जी ने उद्धार पर संतोष की सांस ली जरूर, परन्तु उसने संसार की ओर देखा तो दुनिया में उस जैसी दुखिया वहुत दिखाई पड़ीं। आखिरकार जव भगवान् महावीर को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया तो चन्दना जी ने स्त्री जाति को संसारी दुःखों से निकाल कर मोक्ष मार्ग पर लगाने तथा अपने आत्मिक कल्याण के लिये जिन दीक्षा लेली।

छन्द चाल

प्रभु विहरैं वन वहु ग्रामा, उर ध्यान धरैं अभिरामा। मोनी छद्मस्थ महाना, रहै, द्वादश वर्ष प्रमाना ॥३७५॥
अव चंबक ग्राम सुथाना, वाहिर वन सुभग महाना। ऋजुकूला सरिता नीरा, तहं रतन शील गम्भीरा ॥३७६॥
ऊपर तरु साल बखानी, शाखा गम्भीर सुजानी। श्री सन्मति प्रभु तहं आई, प्रतिमा सम ध्यान धराई ॥३७७॥

रुलघु और अव्यावाध इन आठ श्रेष्ठ गुणों का सदैव ध्यान करते रहते हैं क्योंकि उन्हें ऐसा ही करना चाहिये। इसके वाद विवेक शील महावीर प्रभु पवित्र मनसे आज्ञा विचय इत्यादि चार प्रकार के धर्म ध्यानोंके चिंतवनमें लगे। पूर्वके चार कषाय मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियां और देवायु, नरकायु एवं तिर्यचायु ये सब कर्मरूपी दस शत्रु जब कि प्रभु चतुर्थसे सप्तम गुण स्थानमें आव-

---

*वीर-तप

तप से कर्म कटते है, पापों का नाश होता है। राज्य-सुख और इन्द्र-पद तो साधारण बात है. तप से तो संसारी आत्मा, परमात्मा तक हो जाती है। तप बिना मनुष्य-जन्म निष्फल है।

—लौकान्तिकदेव : वर्द्धमान पुराण, पृ० ६०।

कर्मों की निर्जरा के हेतु श्री वर्द्धमान महावीर छ: प्रकार का वाह्य तथा छ: प्रकार का अन्तरंग, १२ प्रकार का तप करते थे :—

१. **अनशन** - कषायों और इच्छाओं को घटाने के लिए भोजन का त्याग करके मर्यादा रूप धर्म ध्यान में लीन रहना।

२. **अवमौदर्य**—इन्द्रियों की लोलुपता, प्रमाद और निद्रा को कम करने के लिये भूख से कम आहार लेना।

३. **वृत्तिपरिसंख्यान**—भोजन के लिये जाते हुए कोई प्रतिज्ञा ले लेना और उसे किसी को न बताते हुए उसके अनुसार विधि मिलने पर भोजन करना, नहीं तो उपवास रखना।

४. **रसपरित्याग**—स्वाद को घटाने और रसों से मोह हटाने के लिए मीठा, घी, दूध, दही, तेल, नमक इन छ: रसों में से एक या अनेक का मर्यादा रूप त्याग करना।

५. **विविक्त शय्याशन**—स्वाध्याय, सामायिक तथा धर्म ध्यान के लिये पर्वत, गुफा, श्मशान आदि एकान्त में रहना।

६. **कायक्लेश** शरीर की मोह-ममता कम करने के लिए, शरीरी दुःखों का भय न करके महाघोर तप करना।

७. **प्रायश्चित** - प्रमाद व अज्ञानता से दोष होने पर दण्ड लेना।

८. **विनय**—सम्यग्दर्शी साधुओं, त्यागियों और निर्ग्रंथ मुनियों का आदर-सत्कार करना।

९. **वैय्यावृत्य**—बिना किसी स्वार्थ के आचार्यों, उपाध्यायों, तपस्वियों तथा साधुओं की सेवा करना।

१०. **स्वाध्याय**—आत्मा के गुणों को विश्वास पूर्वक जानने तथा धर्म की वृद्धि के लिये शास्त्रों का मनन करना।

११. **व्युतसर्ग**—२४ प्रकार की परिग्रहों से ममता त्यागना।

१२. **ध्यान**—चार प्रकार के होते हैं :—

(१) *आर्त*—स्त्री-पुत्रादि के वियोग पर शोक करना, अनिष्ट सम्बन्ध का खेद करना, रोग होने पर दुःखी होना, आगामी भोगों की इच्छा करना।

(२) *रौद्र*—हिंसा करने, कराने व सुनने में आनन्द मानना। असत्य बोलकर, बुलवाकर, बोला हुआ सुनकर खुशी होना। चोरी करके, कराकर, सुनकर हर्षित होना। परिग्रह बढ़ाकर, बढ़वा कर, बढ़ती हुई देखकर हर्ष मानना।

(३) *धर्म*—सात तत्वों को विचारना, अपने व दूसरों के अज्ञान को दूर करने का उपाय सोचना, पाप कर्मों के फल का स्वरूप विचारना, यह विचारना कि मैं कौन हूं? संसार क्या है? मेरा कर्त्तव्य क्या है? तथा वारह भावनाएँ मानना।

(४) *शुक्ल*—शुद्ध आत्मा के गुणों का वार-वार चिन्तवन करते हुए उसी के स्वरूप में लीन रहना।

आर्त्त और रौद्र तो पाप वंध का कारण हैं। धर्म व शुक्ल में जितनी अधिक वीतरागता होती है उतनी ही अधिक कर्मों की निर्जरा होती है और जितना शुभ राग होता है उतना अधिक पुण्य बन्ध का कारण है। श्री भगवान् महावीर आर्त्त और रौद्र ध्यान का त्याग करके मन वचन काय से धर्म-ध्यान तथा शुक्लध्यान में लीन रहते थे।

प्रभु जिहि वन धारै जोगा, षट ऋतुफल फूल मनोगा। गो सिंह रहैं इक थाना, सर्वहिं मैत्री भाव निदाना ।।३७८।।
शील सहस अठारह जानौ, ताको तन बखतर मानौ। ताके अब सुनियो भेदा, जातें सव नाशै खेदा ।।३७९।।

शील के अठारह हजार भेदों का वर्णन—

दोहा

देव मनुष तिरंचिनी, नारी तीन विनोद। त्यागौ मन वच काय, कृत कारित अनुमोद ।।३८०।।
पांचौं इंद्रिय सौ गुणै, संज्ञा चार बखान। दर्वित भावित दोय गुण, षोड कषाय प्रमान ।।३८१।।
सत्रह सहस जु दोयसै, ऊपर असी निदान। अब अजीव त्रिय भेद सुन, चित्र काठ पाषान ।।३८२।।
मन वच त्यागौ दोय गुण, कृत कारित अनुहर्ष। पांचौं इन्द्रिय संज्ञ चहु, दर्वित भावित पर्ष ।।३८३।।
सातसै वीस जु जोर कै, ए सब देव मिलात। शील अठारह सहस गनि, भेद कहे जिनराय ।।३८४।।

पद्धति छन्द

सम्यक्त्व महागज पर अरूढ़, वैराग तनी नर भूमि गूढ़। तप चाप लियौ करमें महान, पुनि दर्शन ज्ञान जु तीपणवान ।।३८५।।
अव पंच महाव्रत समिति पंच, अरु तीन गुप्ति सब सेन संच। इहि विधि आलंकृत सुभट वीर, है सबै एकतें एक धीर ।।३८६।।
उन कर्मशत्रु मन दमन साथ, आरत्य रौद्र किय जन्न हाथ। इन ही कौ जीतें सिद्धि होय, गुण अष्ट जीवतहि लहइ सोय ।।३८७।।
प्रभु निरमल चित अति अचल होय, मन धर्मध्यान उत्कृष्ट सोय। जिन चौथे गुणथानक अगार, क्षय करी प्रकृति सातों संवार ।।३८८।।
सो क्रोध मान माया ए लोभ, ए अनंतानुबन्धी अछोभ। मिथ्यात समय मिथ्यात जान, पुनिसमय प्रकृति मिथ्यात हान ।।३८९।।
जब सात प्रकृति इन धात होय, तब क्षायिक समकित शुद्ध होय। प्रभु तप बल सातम गुणस्थान, तहं तीन प्रकृति चूरी महान ।।३९०।।
तिरजंच आयु अर देव आयु, पुन नरक आयु ये तीन भाव। अब मोह भूप दल डगमगान, प्रभु जीत लये जोधा महान ।।३९१।।

स्थित थे तब स्वयं ही नष्ट हो गये। इन कर्मरूपी महाशत्रुओं को नष्ट करके विजयी महा योद्धा के समान महावीर प्रभु शुक्ल ध्यानरूपी विशाल आयुधको अपने हाथोंमें ग्रहण कर मोक्षरूपी राज प्रासादको प्राप्त करने के लिये क्षपकश्रेणी रूपी सीढ़ियों पर चढ़ने लगे और मार्गके अन्य कर्मरूपी शत्रुओंके नाश में प्रवृत्त हुए। स्त्यान गृद्धि नाम के दुष्टकर्म, निन्द्रा-अनिद्रा, प्रचला-प्रचला, नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्री-द्विइन्द्री-त्रिइन्द्री-चतुरिन्द्री रूपी चार जातियां, अशुभ नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, उद्योग, स्थावर, सूक्ष्म साधारण इत्यादि कर्मरूपी सोलह शत्रुओं को महावीर प्रभुने पराक्रमी वीरकी तरह नष्ट कर दिया। तदुपरान्त वे शुक्ल ध्यान रूपी तलवार को ग्रहण किये हुए और क्रमशः चारित्र के घातक आठ कषायोंको द्वितीय अंशमें, नपुन्सक वेदको तृतीय अंशमें, स्त्री वेद को चतुर्थ अंशमें, हास्यादि छः को पञ्चम अंशमें, पुरुष वेदको षष्ठ अंशमें, संज्वलन क्रोधको सप्तम अन्शमें, संज्वलन मानको अष्टम अंशमें, संज्वलन मायाको नवम अंशमें, अपने शुक्ल ध्यानरूपी आयुधसे इन सबों का नाश कर दिया। इस प्रकार कर्मरूपी शत्रुओं की अनेक सन्ततितोंको नष्ट कर महावीर प्रभु दशवें गुण स्थान पर आरूढ़ हुए और वहां चौथे ध्यानके प्रभावसे संज्वलन लोभको नष्ट कर क्षीण कषायी हो गये। वे सेना सहित मोह कर्म रूपी राजाको नष्ट कर शूर-शिरोमणिके समान शोभायमान हुए। बादमें ग्यारहवें गुण-स्थानको पारकर वे बारहवें गुणस्थानको प्राप्त हुए और वहां केवल ज्ञानके उत्तम राज्यका अधिकार स्वीकार हो जानेके लिये प्रयत्न शील हुए। महावीर प्रभुने बारहवें गुणस्थानके अंतिम दो समयों में से पूर्व समय में निन्द्रा एवं प्रचला इन दोनों कर्मों का नाश किया। इस कार्य में उन्हें शुक्ल ध्यान के दूसरे भाग ने सहायता मिली इसके बाद फिर जगद्गुरु महावीर स्वामी ने शुक्ल ध्यान के उसी दूसरे हिस्सेसे पाँच ज्ञानावरण कर्म, चार दर्शना वरण कर्म और पांच अन्तराय कर्मो का नाशकर दिया। ये ही चौदह घातिया कर्म है। जिस तरह कि तीक्ष्णबाणसे कपड़े के कई

चौपाई

सप्त अष्ट नवमे गुण थान, तीन करण कीने भगवान। प्रथम जघन मध्यम उत्कृष्ट, चारित करत यहाँ अय सृष्ट ॥३९२॥

पद्धडि छन्द

अब शुकल ध्यान आयुद्ध लीन, अष्टम गुणथानक पाय दीन। तहं क्षपक श्रेणि आरूढ़ होय, करम शत्रु क्षय करहिं सोय ॥३९३॥
नवमैं गुणथानक चढ़िव जोर, छतीस प्रकृति खिपि दई घोर। सो प्रथम भाग सोरह क्षिपाय, प्रचला प्रचला नहिं उर सुहाय ॥३९४॥
निद्रा निद्रा अस्त्यानगृद्धि, वादर सूक्ष्म उद्योत वृद्धि। साधारण अरु आताप भांति, एकेन्द्रिय द्वय त्रय चतुरजाति ॥३९५॥
गति नरक और तिरयंच होइ, इन सहित पूरवी कही दोय। तिहि दूजैं भाग सु खिपा आठ, प्रत्याख्यानअप्रत्याख्यान गांठ ॥३९६॥
जुत क्रोध मान माया रु लोभ, तीजैं जु नपुंसकवेद भोभ। चौथें खिपि अस्त्री वेद जोग, पांचमैं हास्य रति अरति जोग ॥३९७॥
भय सहित दुगंछा छहौं जोइ, षष्ठ में भाग पुंदेव सोइ। सप्तमैं संज्वलन क्रोध जान, अष्टमैं भाग संज्वलन थान ॥३९८॥
नवमैं जु भाग माया विनास, ए कहीं प्रकृति छत्तीस भास। दशमैं गुणथानक सूक्ष्म लोभ, इहि विधि अरि घाते हृदय क्षोभ ॥३९९॥
प्रभु पूरयौ दूजो शुकलध्यान, तव चढ़ैं वारहैं गुणस्थान। तव चूरी सोरह प्रकृति भाग, निद्रा प्रचला दुइ प्रथम भाग ॥४००॥
अव दुतिय भाग चौवीस नास, हनि ज्ञानावरणी पंच भास। मतिश्रुत जु अवधि ये तीन जान, मनपर्यय केवल ज्ञान चान ॥४०१॥
अव दरशन वरनी प्रकृति चार, चखु अचखु अवधि केवल विचार। खिपि अन्तराय वीरज सजोग, अरु दान लाभ भोगोपभोग ॥

अडिल्ल

ज्ञानावरनी पंच प्रकृति जुत सो हनी, दरशनकी नव घात अठाइस मोहनी।
अन्तराय है पंच सवै संताल ये, आयु करमके तीन नाम तेरह गये ॥४०३॥

दोहा

एक सव त्रेसठ प्रकृति हनि, प्रवल घातिया कर्म। रही अघातिनि चारकी, प्रकृति पचासी नर्म ॥४०४॥

एक तहोंको छेद दिया जाता है उसी तरह प्रभु ने इस कार्यको किया। वे वारहवें गुण-स्थानके अन्तमें तिरसठ प्रकृतियोंका नाश करके तेरहवें गुण-स्थान को प्राप्त हुए और उसी में उन्होंने उस अत्यन्त उत्तम केवल ज्ञान को प्राप्त किया जो अनन्त है, लोक अलोकके स्वरूपका प्रकाशक है, अपरिमेय महिमा शाली है और अक्षय मोक्ष राज्यको देनेवाला है।

जिनेन्द्र श्री महावीर प्रभुने वैशाख शुल्क दशमीके दिन सायंकाल के समय हस्त एवं उत्तरा नक्षत्र के मध्यमें शुभ चन्द्र योग होने पर मोक्ष प्रदाता क्षायिक सम्यक्त्व, यथा ख्यात संयम (चारित्र) अनन्त केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, एवं क्षायिक वीर्य इन श्रेष्ठ नौ क्षायिक लब्धिओं को स्वीकृत किया। इस प्रकार जब महावीर स्वामी ने घाति कर्मरूपी महाशत्रुओं को जीत लिया और केवल ज्ञानरूपी अलभ्य सम्पत्ति को पा लिया तब आकाश से देव लोग जय जयकार करने लगे एवं वहीं दुन्दुभि इत्यादि नाना प्रकार के मनोहर वाजे वजाने लग गये। अनेक देवों के विमान-समूह से सारा आकाश मण्डल ढंक सा गया। अजस्र पुष्प वर्षा होने लगी। इन्द्रके साथ सव देवोंने महावीर स्वामीको श्रद्धाभक्ति पूर्वक प्रणाम किया। आठों दिशाएं और आकाश एक दम निर्मल हो गया। शीतल, मन्द, सुगन्ध हवा वहने लगी, इन्द्रासन कंपित होने लगा। इसी समय यक्षराज कुवेर महावीर प्रभुके अनुपमेय गुणों से मुग्ध एवं भक्तिवश होकर उनके समवसरणके उपयुक्त महा संपदाकी रचना में प्रवृत्त हुआ। जिस महावीर प्रभुने घाति कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करके अनन्त एवं अनुपम क्षायिक गुणों को पा लिया है और सम्पूर्ण भव्य जीवोंको परम आनन्द प्रदान करते हुए केवल ज्ञानरूपी उत्तम राज्य को स्वीकृत किया है और जो भव्य

गीतिका

इति भाति उर संवेग धर, प्रभुराज सुख त्यागे घनै। पुन बाल दीक्षा आदरी जिन, विविध तप लाग्यौ भनै ॥
जीती परीषह सहिउ उपसृग, घातिकर्म विनाशियौ। यह जगत कर्म निवारिये, मुहि नवलशाह, प्रनामियौ ॥४०५॥

दोहा

वीर करम हनि वीर प्रभु, वीर नमौं वरवीर। वीर शकति परगट करी, तुम गुण साहस धीर ॥४०६॥

जीवोंके मुकुट मणिके समान शोभायमान हैं, उन त्रैलोक्य-तारण-समर्थ श्री महावीर प्रभुको मैं उनके उत्तम गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार एवं स्तुति करता हूं।

चैत्यवृक्ष भूमि :- ति.प.।४।८०५-८१०।
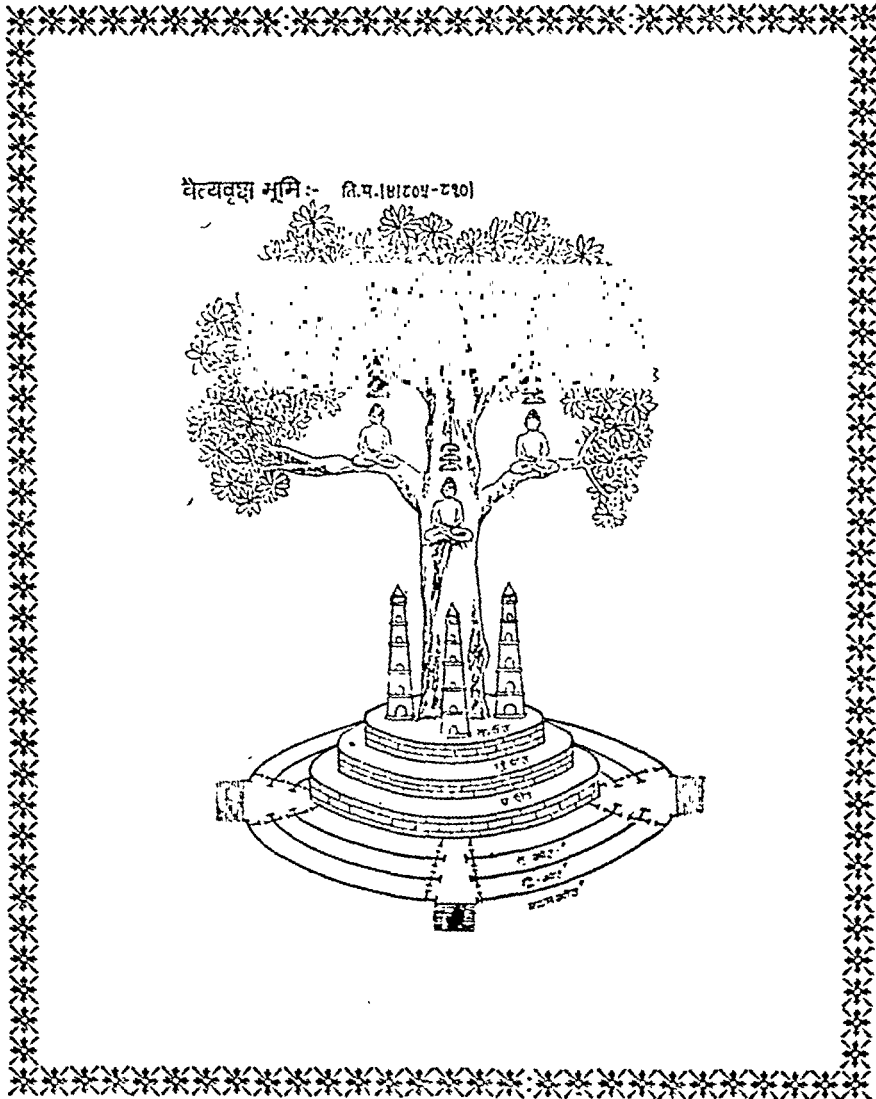
एकादश अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

श्री सन्मति प्रभु गुन गरुव, केवलज्ञान सुभान। मिथ्यातम हर जग हरश, वन्दौं शिरधर पान ॥१॥
तेरहमें गुण प्रभु चढ़े, उपजो पंचम ज्ञान। लोकालोक प्रकाशियो, वस्तु चराचर जान ॥२॥

चौपाई

उत्तम मास नाम वैशाख, शुकलपक्ष दशमी तिथि भाप। हस्त उत्तरा नखतहि बीच, चंद्र जोग शुभ लगन गनीच ॥३॥
प्रभु तब केवललब्धिसहाय,* तिनके नाम सुनो समुदाय। क्षायिक सम्यक दायक मोख, यथाख्यात चारित सुख पोख ॥४॥

केवल ज्ञान प्रकाशसे, दूर किये अज्ञान। विश्व-अर्थ-उपदेश रत, प्रभु हैं परम महान ॥

श्री वीरनाथ भगवान तीन जगतके स्वामी हैं, केवल ज्ञानरूपी सूर्यके समान अज्ञान रूपी अन्धकारका नाश करने वाले हैं, मैं उनको नमस्कार कता हूं।

---

*वीर सर्वज्ञता

Outside the town Jrmbhika-Grama, on the Northern bank of the river Rajupalika in the field of the house holder Samaga, under a Sala tree, in deep meditation, Lord Mahavira reached the complete and full, the unobstructed, unimpeded, infinite and supreme, best knowledge and ntuitation, called KEVALA.

Dr. Bool Chand : Lord Mahavira. (JCRS. 2) p. 44.

विहार प्रान्त के जृम्भकग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे शाल के वृक्ष के नीचे एक पत्थर की चट्टान पर पद्मासन से वर्द्धमान महावीर शुक्ल ध्यान में लीन थे। १२ वर्ष ५ महीने और १५ दिन के कठोर तप से उनके ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय चारों घातिया कर्म इस तरह से नष्ट हो गये, जिस तरह भट्टी में तपने से सोने का खोट नष्ट हो जाता है, जिससे हजरत ईसामसीह से ५५७ वर्ष पहले वैशाख सुदि दशमी के तीसरे प्रहर महावीर स्वामी केवल ज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ होकर आत्मा से परमात्मा हो गये। अब वे संपूर्ण ज्ञान के धारी थे। तीनों लोक और तीनों काल के समस्त पदार्थ तथा उनकी अवस्थाएं उनके ज्ञान में दर्पण के समान स्पष्ट झलकती थीं।

निस्संदेह 'केवलज्ञान' प्राप्त करना अथवा सर्वज्ञ होना मनुष्य जीवन में एक अनुपम और अद्वितीय घटना है। इस घटना के महत्व को साधारण बुद्धिवाले शायद न भी समझें, परन्तु ज्ञानी और तत्वदर्शी इसके मूल्य को ठीक परख सकते हैं। ज्ञानके कारण ही मनुष्य और पशु में इतना अन्तर है और जिसने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया, इससे अनोखी और उत्तम बात मनुष्य जीवन में क्या हो सकती है? यह अवश्य ही जैन धर्म की विशेषता है कि जिसने साधारण मनुष्य को परमात्मा पद प्राप्त करने की विधि बताई। मनुष्यत्व का ध्येय ही सर्वज्ञता है और यह गुण वीरस्वामी ने अपने मनुष्य जीवन में अपने पुरुषार्थ से स्वयं प्राप्त करके संसार को बता दिया कि वह भी सर्वज्ञता प्राप्त कर सकते हैं। महात्मा बुद्ध, महावीर भगवान् के समकालीन थे। बावजूद प्रतिद्वन्दी नेता (Rival Reformer) होने के, उन्होंने भी वीर स्वामी का सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होना स्वीकार किया है। मज्झिमनिकाय और न्यायविन्दु नाम के प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थों में भी श्री वर्द्धमान महावीर को सर्वज्ञ, स्पष्ट शब्दों में

दान लाभ भोगौ उपभोग, वीरज केवल दरशन जोग। केवलज्ञान अनन्त प्रकाश, ये ही नव लब्धी सम भास ॥५॥
लोकालोक चराचर भाव, वध परजय विधिवंत सुहाव। ते सब आन एक ही वार, झलकें केवल मुकुर मझार ॥६॥
अनंत चतुष्टय सजि संयुक्त, तिनके नाम लिखौ श्रुत उक्त। दरशन वरनी कीनी क्षीन, अनंत दरशन प्रापति लीन ॥७॥
ज्ञानावरणी कर्म निवार, ज्ञान अनन्त लह्यौ गुणधार। मोह करमको कीनौ नाश, सुख अनन्त तिष्ठै नभ वास ॥८॥
अन्तरायको क्षय कर धीर, वीर्य अनन्त भये वर वीर। दिव्य परम औदारिक देह, कोटि भानु द्युति जीती तेह ॥९॥
और अनेक संपदा सार, वरणत होय वहुत विस्तार। पंच हजार धनुष परवांन, अन्तरीक्ष प्रभु उपजत झान ॥१०॥
ज्यो शशि सोहै अम्बर थान, तैसे ही प्रभु वीर महान। निर्मल गगन भयौ जु अनूप, दिशि विदिशा सब अमल सरूप ॥११॥
पहुप अंजली क्षिपहिं जु देव, गन्धोदक वरषै बहु भेव। रत्न धूलि दश दिशि पूरन्त, मन्द मन्द अति वायु वहंत ॥१२॥
कल्प लोक अनहद रव भयौ, घंटा शब्द मनोहर ठयौ। होय मधुर ध्वनि अति गंभीर, मनौं सिन्धु यह गर्जत नीर ॥१३॥
सिंहासन हरि कंपित भयौ, सकल मान तनतै गल गयौ। नम्रीभूत मौलि निज जान, देखौ सो आश्चर्य महान ॥१४॥

जब महावीर भगवानको केवल ज्ञान उत्पन्न होनेके प्रभावसे देवताओंके यहां स्वर्गमें अपने आप घंटोंका मेघके सदृश गरजना आरम्भ हो गया, तब देवगण भी आनन्दसे नाचने लगे। कल्पवृक्ष पुष्पांजलिके समान फूलोंकी वृष्टि करते हुए तमाम दिशायें स्वच्छ हो गईं। आकाश भी बादलोंसे रहित पूर्ण निर्मल हो गया, इन्द्रोंका आसन एकाएक चलायमान हो उठा, मानों केवलज्ञानके आनन्दोत्सवमें वे इन्द्रोंका अभिमान सहन नहीं कर सकते हैं। इन्द्रोंके मुकुट स्वयं नम्रीभूत हो गये, इस तरह स्वर्गमें यह आश्चर्यकारी घटनायें जब घटने लगी तब इन्द्रको निश्चय हो गया कि, भगवानको केवल ज्ञानकी प्राप्ति हो गई है। इसके प्रभावसे वह आनन्दित हो उठा और अपनी आसनसे उठकर प्रभुकी भक्तिमें अपने मनको लगाने लगा।

स्वीकार किया है। जिनके बीच में महावीर स्वामी रह रहे थे, वे महात्मा बुद्ध से आकर कहते थे कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और एक अनुपम नेता है, वे अनुभवी मार्ग प्रदर्शक हैं, बहुप्रशस्त हैं, तत्ववेत्ता है, जनता द्वारा सम्मानित हैं और साथ ही महात्मा बुद्ध से पूछते थे कि आपको भी क्या सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जा सकता है? महात्मा बुद्ध ने कहा कि मुझे सर्वज्ञ कहना सत्य नहीं है। मैं तीन ज्ञान का धारी हूँ। मेरी सर्वज्ञता हर समय मेरे निकट नहीं रहती। भगवान महावीर की सर्वज्ञता अनन्त है, वे सोते, जागते, उठते, बैठते हर समय सर्वज्ञ हैं।

ब्राह्मणों के ग्रन्थों में भी महावीर स्वामी को सर्वज्ञ कहा है। आज कल के ऐतिहासिक विद्वान भी भगवान महावीर को सर्वज्ञ कहते हैं।

केवलज्ञान की प्राप्ति एक ऐसी बड़ी और मुख्य घटना थी कि जिसका जनता पर प्रभाव हुए बिना नहीं रह सकता था। कौन ऐसा है जो सर्वज्ञ भगवान् को साक्षात् अपने सन्मुख पाकर आनंद में मग्न न हो जाय। मनुष्य ही नहीं देवों के हृदय भी प्रसन्न हो गये। श्रद्धा और भक्ति के कारण उनके दर्शन करने के लिए वे स्वर्गलोक से जृम्भग्राम में दौड़े आये देवों और मनुष्यों ने उत्सव मनाया, ज्योतिषी देवों के इन्द्रने मानो त्यागधर्म का महत्व प्रकट करने के लिये ही महावीर स्वामी के समवशरण की ऐसी विशाल रचना की कि जिसको देखकर कहना पड़ता था कि यदि कोई स्वर्ग पृथ्वी पर है तो यही है, यही है, यही है।

तीर्थंकर भगवान् के समवशरण की यह विशेषता है कि उसका द्वार गरीब-अमीर, छोटा-बड़ा, पापी-धर्मात्मा, सबके लिये खुला होता है। पशु-पक्षी तक भी बिना रोक-टोक के समवशरण में धर्मोपदेश सुनने के लिये आते हैं। जात-पाँत, छूत-छात और ऊँच-नीच का यहाँ कोई भेद नहीं होता। राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या चाण्डाल सब मनुष्य एक ही जाति के हैं और वे सब एक ही कोठे में बैठकर आपस में ऐसे अधिक प्रेम के साथ धर्म सुनते हैं, मानों सब एक ही पिता की सन्तान हैं।

भगवान के दर्शनों से वैर भाव इस तरह नष्ट हो जाते हैं, जिस तरह सूर्य के दर्शनों से अन्धकार। तीर्थंकर भगवान की शान्त मुद्रा और वीतरागता का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं, किन्तु क्रूर स्वभाव वाले पशु-पक्षी तक अपने वैर भाव को सम्पूर्ण रूप से भूल जाते हैं। नेवला-सांप, बिल्ली-चूहा, शेर बकरी भी परं शान्तचित्त होकर आपस में प्रेम के साथ मिल-जुलकर धर्मोपदेश सुनते हैं और उनका जातीय विरोध तक नष्ट हो जाता है। यह सब भगवान महावीर के योगबल का माहात्म्य था। उनकी आत्मा में अहिंसा की पूरी प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसलिये उनके सन्मुख किसी का भी वैर स्थिर नहीं रह सकता था।

इन्द्र अवधि कर जान्यो जास, केवलज्ञान भयो जिन तास। सिंहासन तजि चलि पद सात, नमें जु चरण शीस धर हात ॥१५॥
तव इन्द्राणी पूंछे एव, कारण कौन कहो भो देव। वीर नाथ निज अतिशय सवै, सकल सभा प्रभु भाषी तवै ॥१६॥
ज्योतिषवासी देव जु इन्द्र, आसन कंप भये सव वृन्द। सुरगण सरव सु पूरव रीत, सिंहनाद रव अनहद प्रीत ॥१७॥
भवनपती आश्चर्य लहेइ, मुकुट नमित आसन कंपेय। शंखध्वनि अनहद भई तवै, जान्यो केवल अतिशय सवै ॥१८॥
व्यंतर सकल भयो कहराव, भेरी अनहद पूर रहाव। नम्रीभूत भये तन ठौर, अव वरणन आगे कछु और ॥१९॥
वहु प्रकार अतिशय जु लहेव, केवलज्ञान चिन्ह चहुं देव। वन्दन काज कल्प धिपराज, घंट वजाय चलै करिराज ॥२०॥
आज्ञा दई चलाहक देव, सकल विभूति रचौ वहु भेव। शीस नाय आदिश तिहि लयो, वहु परकार विक्रिया ठयो ॥२१॥
प्रथम विमान रचौ रमणीक, जोजन एक लाख को ठीक। मुक्तालय वत शोभत जास, दिव्य रत्न तिहि तेज प्रकास ॥२२॥
फिर ऐरावत गज मद भरौ, उज्वल मनों फटिक गिरि धरौ। जम्बूद्वीप प्रमाणहि अंग, मस्तक सोहै अती उत्तंग ॥२३॥
दीरघ शुंड रुरै भूमांहि, अति वलवंत जु वरनौं काहि। कामरूप छवि अंग रसाल व्यंजन लक्षण सहित विशाल ॥२४॥
दीरघ ओंठ वनें अति अरुन, सेत वरण सोहैं ता दशन। घंटा घनै ग्रीवमें माल, मानों नरगत उदय किय हाल ॥२५॥
दीरघ स्वांस लेत अति सोय, मनों दुन्दुभी शव्द जु होय। अति आनंद पंक्ति रमणीय, कर्ण चंवर सोहैं कमनीय ॥२६॥
मद निरझरत लिप्त अति अंग, परवत सम चालै मन रंग। किंकिणि शव्द होय अधिकाय, दीपति रही दशों दिश छाय ॥२७॥
ताके मुख वत्तीस वखान, मुख प्रति दशन अष्ट उनमान। दंत दंत सर एकहि भरयो, जलकर चहूं ओर लह रह्यो ॥२८॥
सर प्रति कमलिनिको है वास, मिति वत्तीस पृथककर जास। कमलिनि प्रति हैं कमल वतीस, दल वत्तीस कमल प्रति शीस ॥२९॥
दलदल प्रति अपछरा प्रचान, हैं वत्तिस वत्तिस परमान। दिव्यरूप मन हरें सु एव, नृत्यत सकल सुरेशहि सेव ॥३०॥
छवीस कोटि चौरासी लाख, अड़तिस सहस छसै तह भाख। छप्पन अधिक सवै कौजार, यह सौधर्म इन्द्र वर नार ॥३१॥
मुख विकसत इन्दीवर जास, ताल मृदंग गीत रस रास। इहि प्रकार शोभित गजराज तापर इन्द्र लियै सव साज ॥३२॥
शची सहित अति पुण्य उपाय, वहु आभरण अंग पहिराय। वर्धमान जिन केवलज्ञान, करन महोत्सव चलै महान ॥३३॥
अरु प्रतीन्द्र निज वाहन रूढ़, सव परिवार सहित मन गूढ़। सज सामानिक देव प्रमान, सहस चौरासी इन्द्र समान ॥३४॥
हैं तेतीस पुरोहित देव, तितने मंत्री इन्द्रहि देव। वारह सहस प्रथम मन लाई, इन्द्र नजीक परिधि सम थाई ॥३५॥

उसी समय ज्योतिषी जातिके देवोंके यहां सिंहनाद वाजेका शव्द हुआ। सिंहासन भी कंपायमान हो गया। इसी तरह भवनवासी देवोंके यहां भी शंखकी ध्वनि होने लगी। व्यंतर देवोंके महलोंमें भी भेरी अपने आप गड़गड़ाने लगी, अन्य आश्चर्य जनक और भी पूर्वकी तरह घटनायें हुई इस तरहकी महान आश्चर्यमई घटनओंको श्रवण कर सव इन्द्रोंने मस्तक नवाकर भगवानको परोक्षमें ही नमस्कार किया। और ज्ञान कल्याणक, उत्सव मनानेके लिये सौधर्म इन्द्र वाजोंको वजवाता हुआ तमाम देव समूहको साथ लेकर स्वर्गसे भारत वसुंधराकी भूमि पर उतरा।

वलाहक नामके देवोंने जो विमान वनाया था वह मोतियोंकी मालाओंसे इतना शोभायमान हो रहा था, रत्नमई दिव्य तेजसे चारों तरफ झलझलाहट हो रही थी। छोटी-छोटी घंटियोंके हिलनेसे जो शव्द निकलता था वह कानोंको वहुत ही प्रिय मालूम होता था। नागदत्त नामक अभियोग्य जातिके देवने ऐरावत हाथीकी रचना कर डाली, वह वहुत ऊँचा था, उसकी सूंड वहुत ही सुन्दर और सुहावनी मालूम होती थी। उसका मस्तक ऊँचा और चौड़ा था, वहुत वलवान था। शरीर वहुत स्थूल, अनेक सूंडोंसे सुशोभित था, इच्छित रूप वनाने वाला, श्वास उच्छाससे सुगंधि निकलती थी, दुंदभीं वाजोंकी तरह शव्द करता हुआ, कानरूपी चमरोंसे सुशोभित, दो वड़े-वड़े घंटे वंधे हुए वहुत ही मनोज्ञ मालूम होते थे। गलेको घुंघरूकी मालायें सुशोभित कर रही थीं, वर्ण सफेद था, सोनेका सिंहासन पीठ पर वहुत ही दिव्य मालूम होता था। उस हाथीके ३२ मुंह थे, हर एक दांतपर ३२ तालाव जलसे भर रहे थे। प्रत्येक तालावमें एक-एक कमलिनी तथा हर एक कमलिनीके आसपासमें ३२-३२ कमल थे, प्रत्येक कमलके ३२-३२ पत्ते थे उन प्रत्येक पत्तेपर नाचने वाली सुन्दर अप्सरायें नृत्य करती थीं। वे अप्सरायें

चौदा सहस देव मधि नमैं, दूजी परिधि जुक्तकर नमैं। निजर सहस जु षोडश लीन, तीजी परिधि इन्द्र कह दीन ॥३६॥
सुरपति निज रक्षक हैं सार, तीन लाख छत्तीस हजार। लोकपाल चारों सम चेत, धरैं शक्र आज्ञा निज हेत ॥३७॥
दुर्गपाल नभपाल विशाल, लोकपाल लौकांतिक पाल। दश दिक पाल दशौं दिश जोय, आज्ञा इन्द्र धरैं सुर सोय ॥३८॥
पुरजन भृत्य समान जु होय, किल्विष देव नीच तहं होय। दश प्रकार यह सभा प्रमान, शक्र संग सो कियो पयान ॥३९॥
दल सप्तांग संग सुरराज, सब उनचास अनीका साज। प्रथम वृषभ दल संख्या जान, सो वरनौं आगम परमान ॥४०॥
दिव्यरूप है बल अति सक्त, सात अनीजुत धर वृषयुक्त। प्रथमहिं चौरासी लख ठीक, तातैं दुगुण द्वुतिय रमणीक ॥४१॥
तातें दुगुण तृतिय देखना, ऐसे दुगुण दुगुण लेखना। सप्त अनीका यहै प्रमान, नानावरण वृषभ थान ॥४२॥
एक अरब छह कोड़ बखान, ऊपर अड़सट लाख प्रमान। वह सब सात वृषभ दल जोर, यह विधि लीजौ और बहोर ॥४३॥
अब तुरंग दल ऐसहि जान, सात अनीक तास वाखान। रथ मणिमय अति तेज प्रकास, सप्त अनीका कीनौ जास ॥४४॥
याही विधि गज मत्त बखान, सात अनीका है परवान। ऐसे ही पयदल जुगवत्त, सात अनीका है हिरवत्त ॥४५॥
दिव्य गीत गावें गन्धर्व, सात अनीका करकै सर्व। नर्तक सुर वादित्र बजाय, सात अनीका जानी भाय ॥४६॥

दोहा

वृषभ आदि सप्तांग दल, दुगुण दुगुण विस्तार। एक एक प्रति सात मन, सब उनचास प्रकार ॥४७॥
सात अरब पहिचानिये, और छियालिस कोड़। लाख छियत्तर अधिक सब, उनंचास दल जोड़ ॥४८॥
बहुविध सुर साजी विभव, को बुध बरननहार। हरषभाव सब ही चढ़े, जय जय करत अपार ॥४९॥

चौपाई

सो सौधर्म इन्द्र मन रंग, सकल विभूति लई निज संग। ईशाने सुरधिप धर धर्म, अश्वारूढ़ भयौ गुण पर्म ॥५०॥
है मृगेन्द्र वाहव सुरराज, सनत्कुमार सकल करि साज। वृषभ महेन्द्र कल्पके थान, चढ़ि चाल्यौ परिवार महान ॥५१॥
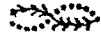
अपने हाव-भावसे दर्शकोंका मन मुग्ध करती हुई, सुरीले गाना गाती, शृंगारादिके गानों से सबको प्रसन्न करती थी। ऐसे ऐरावत पर इन्द्र अपनी इन्द्राणी सहित विराजमान होनेसे अत्यन्त शोभायमान होने लगा।

वह इन्द्र श्रीमहावीर स्वामीकी ज्ञान कल्याणकी पूजाके कारण आया था, उसके अंग परके आभूषणोंकी शोभाबहुत ही दैदीप्यमान थी, गहनोंके रत्नोंकी किरणोंसे वह तेजकी खानिके सदृश मालूम होते थे। प्रतीन्द्र भी अत्यन्त विभूतिके साथ अपनी सवारियों पर चढ़के परिवार सहित वह भी साथही साथ निकले। इसके अतिरिक्त अन्य इन्द्रके सदृश साज सामान वाले सामानिक जातिके ८४ हजार देव निकलते हुए पुरोहित मन्त्री, अमात्यके समान तेतीस त्रायस्त्रिंशत देव शुभ प्राप्तिके लिये इन्द्रके साथ-साथ होते भये। आभ्यंतर परिषद् १२००० देवोंकी थी। मध्यम सभा १४००० देवों की थी और बाह्य १६००० देवोंकी थी। इस प्रकार यह तीनों देव सभायें इन्द्रके चारों ओर घेरा डालकर बैठती हुई तीन लाख छत्तीस हजार देव शरीर रक्षकके रूपमें इन्द्रके पास आये। कोतवालके सदृश लोकको पालने वाले चार लोकपालदेव इन्द्रके सामने आये। सात वृषभोंकी सेनामेंसे पहिली सेनामें ८४ लाख उत्तम वृषभ (बैलरूप धारी देव) इन्द्रके आगे हुए दूसरीसे लेकर सातवीं सेना तकमें दूने-दूने वृषभ (देव) सेनामें थे। इस तरह सात वृषभ सेनायें इन्द्रके सामने उपस्थित हो गई।

उसी तरह ऊंचे घोड़ोंकी ७ सेना मणि मई रथ, ऊंचे पर्वतकी तरह हाथी, जल्दी चलने वाले पैदल भगवानके गुणोंको दिव्य कण्ठसे गाने वाले गन्धर्व जैनधर्म सम्बन्धी गीत, तथा वादित्रोंके लयके साथ नाचने वाली अप्सरायें उसी साथ कक्षा वाले क्रमसे इन्द्रके आगे चलने लगीं। पुरवासियोंकी तरह प्रकीर्णक जातिके असंख्यात देव दास कर्म करने वाले आभियोग्य जातिके देव, अछूतों जैसा काम करने वाले किल्विषिक जातिके देव सौधर्म इन्द्रके साथ उस महोत्सवमें सम्मिलित हुए।

ईशान इन्द्र घोड़े पर चढ़कर अपनी विभूति सहित भक्ति भावसे इन्द्रके साथ चलने लगा। सनत्कुमार सिंहकी सवारी

ब्रह्म स्वर्गपति सारस रूढ़, हंस चढ्यो लान्तवधिप गूढ़। शुक्रहि इन्द्र गरुड़ असवार, सामानिक संग सब परिवार ॥५२॥
स्वर्ग शतार ताहि आधीश, चढ़ि मयूर वाहन नभ शीश। आनत आदि इन्द्र चत्वार, पुष्प विमान भये असवार ॥५३॥
इहि प्रकार द्वादश सुरराज, सब विभूति लीन दल राज। अरु प्रतीन्द्र बारह राम उक्त, अपने अपने वाहन जुक्त ॥५४॥
पटह बजें अति शब्द गंभीर, दशदिशि ध्वनि पूरित वर वीर। छत्र ध्वजा छायो नभ भाग, स्वर्ग विभव जिमि आयो जाग ॥५५॥
गीत नृत्य वाद्यादिक करें, जिनवर ज्ञान महोत्सव धरें। मानों ऋतु बसंत शोभंत, कोकिल मधुर वचन घोषंत ॥५६॥
ज्योतिष पटल देव सब भार, चन्द्र सूर्य ग्रह नखत जु सार। अपने अपने वाहन साज, मंडित सकल विभूति विराज ॥५७॥
असंख्यात सब सहित जु देव, धर्मराग रस अंकित सेव। जिनवर कल्याणक वंदना, चले देव अरु देवांगना ॥५८॥
भवनासुर अति आतुर चले, दशहि दिशन दल राज जु मिले। असुरकुमार इन्द्र दो ठान, चामर और विरोचन जान ॥५९॥
नागकुमार दोय गुण धाम, धरणेन्द्र हि अरु आनन्द नाम। विद्युतकुंवर दोय वितपन्न, हरिसिंह हरिकान्ता जुवरत्न ॥६०॥
सुपर्नकुमार दोय स्वामीश, वेणुसिन्धु वेणुतालीस। अग्निकुमार इन्द्र है जुग्म, अग्निवाह पितृवाहन जुग्म ॥६१॥
वातकुमार इन्द्र दुइ होय, वालअंजन प्रभअंजन दोय। स्तनितकुमार भवनके राज, घोप महाघोप दुइ साज ॥६२॥
उदधिकुमार इन्द्र दो जान, जलकान्ता जलप्रभा वखान। द्वीपकुमार इन्द्र है सोय, पूरण प्रथम विशिष्ट जु दोय ॥६३॥
दिककुमार है इन्द्र महान, अमितगति अमितवाहन ठान। एक दश भवन इन्द्र गन वीस, अरु प्रतीन्द्र गन सब चालीस ६४॥
श्री जिन ज्ञान कल्याणक सेव, देवनि सहित साज सब देव। हर्ष सहित मन वच तन प्रीत, करे महोत्सव धर्म सुरीत ॥६५॥
व्यन्तर देव अष्ट परकार, तिनको भेद कहों कछु सार। किन्नर प्रथम इन्द्र हैं दोय, किन्नर प्रभ किन्नरमति जोय ॥६६॥
अरु किम्पुरुष इन्द्र दो जान, महापुरुष सतपुरुष प्रमान। महोरग इन्द्र जाति दो सही, अतिकाय महकाया यही ॥६७॥
गंधर्वहिं दो इन्द्र महान, गीत रसी जस गीत सुजान। यक्ष इन्द्र दो नाम प्रताप, पूर्णभद्र मणिभद्र मिलाप ॥६८॥
राक्षस इन्द्र कहे जु वखान, भीम प्रथम मह भीम प्रवान। भूतदेव हैं इन्द्र सु दोइ, अप्रतिरूप प्रतिरूप जु होइ ॥६९॥
पिशाच अष्ट में इन्द्र महान, काल प्रथम महकाल वखान। ए व्यन्तर है षोडश इन्द्र, अरु प्रतीन्द्र मिलि वत्तिस वृन्द ॥७०॥
अपनी सब सामग्री जोय, केवल ज्ञान जान प्रभु सोय। पूजाके उर भाव बढ़ाय, चलें भवनतें अति हरषाय ॥७१॥
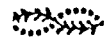
पर चढ़े थे, महेन्द्र स्वामी बैलोंपर चढ़े थे। ब्रह्म इन्द्र सारसकी-सवारी पर चढ़ा था। लांतवेन्द्र हंस पर, शुक्रेन्द्र गरुड़ पर, सामानिकादि देवों और देवियों सहित केवल ज्ञानकी पूजाके लिये निकले। अभियोग्य देवोंमेंसे शतार इन्द्र भी मोरकी सवारीपर निकला। शेप आनत आदि कल्पोंके मालिक चार इन्द्र पुष्पक विमान पर चढ़ कर पहुंचे। कल्प स्वर्गोके १२ इन्द्र १२ प्रतीन्द्रों सहित अपनी सवारी पर चढ़ कर वहां पहुंचे। हजारों ध्वजा पताकाओं छत्र चंवर आदि वादित्रोंको बजाते हुए वहां पहुंचे। जय हो ! जय हो !! के नारे लगाते हुए ज्योतिषी देवोंके पलटोंमें पहुंचे। चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तारेरूप ज्योतिषी देव अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़कर हर्ष सहित जय जयकार करते हुए पृथ्वीपर स्वर्गसे नीचे उतरे। २० असुर जातिके देव; १० भवनवासी देवोंके इन्द्र भी अपनी देवियों सहित सवारी पर चढ़कर रवाना हो गये।

पश्चात् प्रथम इन्द्र, किन्नर किंपुरुष, तत्पुरुष, अतिकाय, महाकाय गीतरति, रतिकीर्ति, मणिभद्र, भीम, महाभीम, सुरूप, प्रतिरूपक काल, महाकाल, ये किन्नरादि आठ तरहके व्यंतर देवोंके १६ इन्द्र और इतने ही प्रतीन्द देवों सहित ज्ञान कल्याणकमें सम्मलित होनेको पृथ्वीपर उतरे। ये चारनिकायके इन्द्र और देव इन्द्रानियों सहित सुशोभित थे। वे भगवान महावीरकी जय बोलते हुए दर्शनोंकी उत्कंठासे सभा-मंड के पास पहुंचे वह मंडप दूरसे चमक रहा था। तमाम ऋद्धियोंसे परिपूर्ण था। रत्नोंसे चारों दिशाओंको प्रकाशित कर रहा था। ऐसे मंडपको बनानेकी सामर्थ सिवाय कुवेरके और किसीमें भी नहीं हो सकती। उस मंडपकी रचनाका विस्तार सिवाय गणधर देवके और किसीमें भी सामर्थ नही जो बना सके। फिर भी भव्य जीवों को समझानेके लिए यथा साध्य हम समोशरणका वर्णन करना उचित समझते हैं। वह समोशरण १ योजनके विस्तारमें बनाया गया था। गोलाकार था, इन्द्र नील मणियोंकी चमकसे लगी हुई थी। पृथ्वीसे ढाई कोस ऊपर आकाशमें था। किनारेके चारों
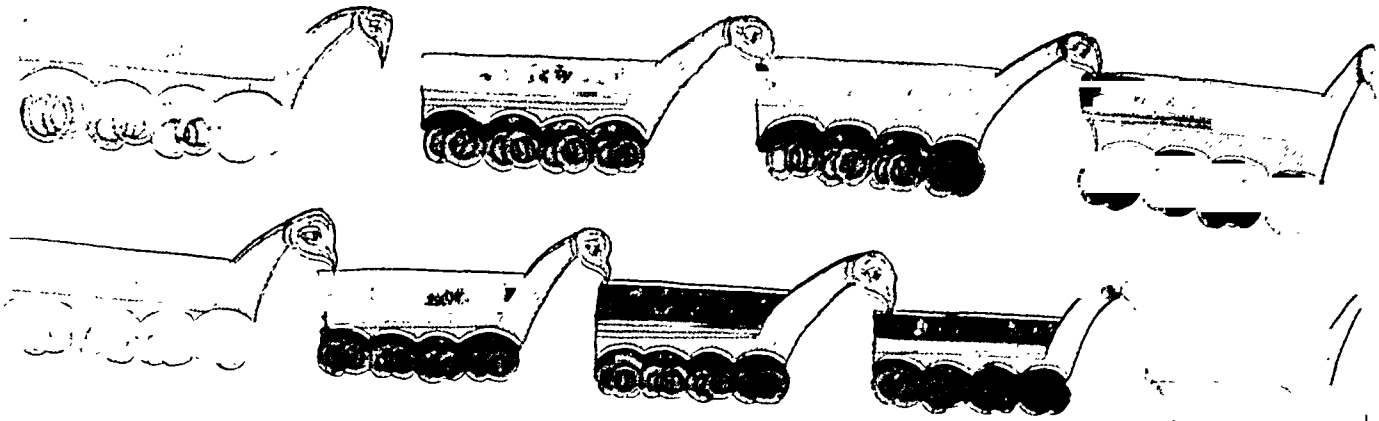
काल १, महाकाल २, मानवक ३, पिगंल ४, नैसर्प ५, पद्म ६, पाडु ७, संख ८, नानारत्न९, एवंणवणिधिनाम।
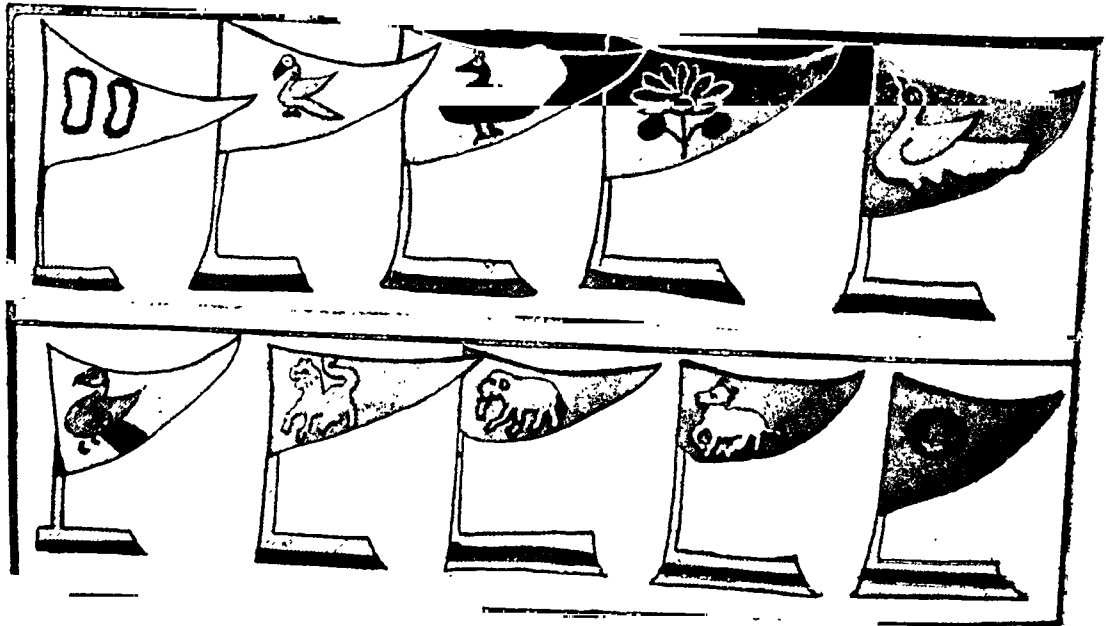
भगवान् की समवशरण की ध्वजायें।

दोहा

इहि प्रकार वहु देवपति, शची सहित आनन्द। जिनपूजा अस्तुति करन, वाढ़्यौ आनन्द कंद ॥७२॥
नर नारी जुत नरपति अरु मृगेन्द्र पशु एव। सव शतेन्द्र निज विभव लैं, आये जिनवर सेव ॥७३॥

अथ समवसरण रचना वर्णन

चौपाई

सुरपति लीनौ धनद वुलाय, केवल उत्सव सफल सुनाय। आरजखण्ड जाउ अव वेग, समोशरण विधि रचौ अनेग ॥७४॥
हर्षवंत हो नायौ माथ, आयौ जहां त्रिलोकी नाथ। प्रथमहिं नमस्कार प्रभु कियौ, समाधान कर अपनौ हियौ ॥७५॥
समोशरण रचियौ जु अपार, को वुधवंत लहै कहि पार। अवसर पाय धर्म मन ध्यान, किमपि लिखौं आनंद उर आन ॥७६॥
कोश अढ़ाई ऊर्ध्व अकास, पृथ्वीतैं जहं लौं प्रभुवास। इन्द्रनील मणिमय पीठिका, तीनलोक की उपमानिका ॥७७॥
जोजन एक ताहि विस्तार, आठों दिश सो गिरदाकार। जाकौ चहुंदिश मणिमय सार, लगी पैड़िका वीस हजार ॥७८॥
हाथ हाथ पै ऊंची लसै, भूमि भाग तैं प्रभु तहं वसै। वही पीठके ऊपर अन्त, धूलीसाल कोट शोभंत ॥७९॥
पंच रतनमय रज सरवंग, विविध वर्ण शोभै मन रंग। अति उतंग सो वलयाकार, फैल रही किरणावलि सार ॥८०॥
कहुं विद्रुमवत् दीसै सोय, कहुं कंचनमय आभा होय। कहुं अंजनमय शोभा जान, कहुं उज्वल कहुं हरित प्रमान ॥८१॥
समोशरण लक्ष्मीको घेर, मनोज्ञ एक कुंडलो फेर। चारौं दिश दरवाजे चार, धरैं कंगूरा रतन सुढार ॥८२॥
तहं तैं चारों दिशको गली, गमन हेतु भीतर को चली। ताके अन्तर कछू प्रमान, मानभूमि सौहत तिहि थान ॥८३॥
तिनकी प्रथम पीठिका जान, सौरह पैंडी संगुत मान। इक संवंधी तीन जु कोट, चार चार दरवाजे ओट ॥८४॥
भीतर पीठ त्रिमेखल जान, तापर मानस्थंभ परिमान। कंचनमय शोभैं उत्तंग, मध्य भाग महिमा निरभंग ॥८५॥

तरफ धूलशाल नामका परकोट रत्नोंकी धूलिसे वनाया गया था। कहीं मूंगेका रंग, कहीं सोनेका रंग, कहीं काला रंग कही हरा रंग, कहीं इन्द्र धनुप जैसा मिश्रित रंग सुशोभित हो रहा था उसकी चारों दिशाओंमें सोनेके खम्भे लगे हुए थे। वे सव रत्नोंकी लटकती हुई सुन्दर मालाओंसे सुशोभित थे। उसके भीतर कुछदूर जाकर चार वेदियां थीं, जिनमें पूजाकी सामग्री सुशोभित थी उनमें चार दरवाजे लग रहे थे। तीन परकोटोंसे युक्त और १६ सोनेकी सीढ़ियां लगी हुई थी। उसके वीचमें जिनेन्द्रकी प्रतिमा सहित सिंहासन थे। वे सव रत्नोंके तेजसे दैदीप्यमान थे। उनके वीचमें चार छोटे २ सिंहासन थे उन वेदियोंके वीचों वीच चार मानस्थंभ थे। उनके देखने मात्रसे मिथ्यादृष्टियोंका मान भंग हो जाता था। वे मानस्थंभ स्वर्णके वने हुए थे और ध्वजा घंटाओंसे सुशोभित थे उनके ऊपरी भागमें जिनेन्द्रकी प्रतिमायें थीं। उनके पासकी जमीन पर चार वावड़ियां कमलोंसे सुशोभित थीं। वावड़ियोंमें रतनोंकी सीढ़ियां लगी थी जिससे उनकी सुन्दरता और भी वढ़ गई थी। उन वावड़ियोंके नाम नन्दोत्तरा आदि थे। उन वावड़ियोंके किनारे पर जलसे भरे हुए कुंड़ थे जो कि यात्राको आये हुए जीवोंकी थकावट दूर करनेके लिये पैर धुलानेका काम करती थी। वहांसे आगे जाने पर जलकी भरी हुई खाई थी। उनमें कमल फूल रहे थे तथा उन कमलों पर भ्रमर सदैव गुंजार किया करते थे। हवाके धक्कोंसे उस खाईमें जो तरंगें उठती थीं और उस समय जो शब्द होता था उससे यही ज्ञान होता था कि वह तरंगें भी भगवानके ज्ञान कल्याणकका गुण-गानकर रही हैं उस खाईका पृथ्वी भाग छह ऋतुओंके फल फूलोंसे सुशोभित था। वहां पर देव और देवियोंके लिये सुन्दर क्रीड़ा स्थानोंके कुंज वने हुए थे। चन्द्रकांत मणिकी शीतल शिलायें जिस जगह रखी हुई थी वहां इन्द्र विश्राम करते थे, वहांका पर्वत फल फूलोंसे भरा हुआ अशोक आदि महान वृक्षों सहित, भौरों की गुंजारसे अत्यन्त शोभायमान हो रहा था। उसके थोड़े ही आगे सोनेका १ परकोट था वह वहुत ऊंचा था उसमें चारों तरफ मोतियोंका जड़ाव था। उनको देखकर यही ज्ञान होता था मानों तारे ही चमक रहे हों। उस परकोटको देखनेसे कहीं मूंगाकी तरह रंगकी कांति कहीं वादलकी रंगतकी तरह कहीं नीले रतनकी कांतिके समान और कहीं इन्द्र धनुपकी तरह नाना रंगोंसे वह शोभायमान हो रहा था। यह परकोट-हाथी व्याघ्र मोर और मनुष्योंके स्त्री पुरुपके जोड़ों सहित वैलोंके

ध्वजा छत्र ता ऊपर सोहि, जगत जीव मन लेतै मोहि। मानी करैं मान बहु कोय, देखै मान थंभ मद खोय ॥८६॥
मूलभाग जिन प्रतिमा धरी, छत्रचमर जुत राजैं खरी। इन्द्रादिक आनन्द बढ़ाय, पूजा तहां करहि मन लाय ॥८७॥
और अनंग शोभ तिस थान, रत्नद्वीप्ति लाजै सम भान। विधि समान थंभ ये चार, सकल विभूति एकसी वार ॥८८॥
थंभ एकदिश चारौं जान, सजल वापिका कमल निधान। नन्दादिक तिनको है नाम, चारौं दिश सोरह सुखधाम ॥८९॥
तिनके तट इक कुंड महान, चारहुं दिश चारों परवान। पग प्रक्षाल कें भविजन जहां, आगे गमन करैं चलि तहां ॥९०॥
तहं तैं वीथी चार जु चली, कछु अन्तर इक शोभा भली। खाई गिरदाकारहि खरी, अति गभीर जल निर्मल भरी ॥९१॥
कमल सहित भ्रमरा गुंजरैं, हंस कलापि शोर बहु करैं। मणिमय तट दोऊ राजंत, गंगावन शोभा परजंत ॥९२॥
आगे ताहि पहुपको बाग, महा सुगंध मधुर अनुराग। सघन छांह षट ऋतु फल फूल, विहरैं देव जोपिता कूल ॥९३॥
वनके मध्य शिला रमणीक, चन्द्रकान्त मणि आभा ठीक। तहं सुरपति कीनै विश्राम, शीतल छाया सुखको धाम ॥९४॥
तहं तैं कछु अन्तर द्युति धार, कंचन कोट जु वलयाकार। मानुषोत्र परवत यह मनौं, अति उतंग बहु कांतिक बनौं ॥९५॥
चारों दिश गोपुर हैं चार, रजतमई तिखनै आगार। रतनमयी कलशा जगमगैं, लाल वरण अति सुन्दर लगैं ॥९६॥
अरुण हाथ ऊंचे कर सोय, जगलक्ष्मी यह नाचै कोय। जहां रहैं नवनिधि कर वास, पिंगलादि तिन नाम विलास ॥९७॥
प्रभुके मन कछु चाह न आय, बेमंन चलि सेवैं जिनपाय। मंगल द्रव्य मनोहर ठाठ, गोपुर प्रतिहि एकसौ आठ ॥९८॥

चित्रों सहित भरा हुआ था। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था कि हंस रहा हो। उस कोटके चारों दिशाओंमें चार दरवाजे थे। वे तिमंजले थे। वे दरवाजे स्वयं प्रकाशित होकर अपना प्रभाव बना रहे थे। महामेरु पर्वतके समान अत्यन्त ऊंचे, पद्मरागादि मणियोंके द्वारा बनाये गये दरवाजोंके गगन चुम्बी शिखर शोभायमान हो रहे थे। उन विशाल दरवाजों पर बहुतसे गायक देव गन्धर्व तीर्थंकर श्रीमहावीर प्रभुके उत्तम गुणोंका सुमधुर स्वरमें गानकर रहे थे। इन गुण-गानको कुछ लोग तो सप्रेम सुन रहे थे, कुछ गुणोंकी श्रेष्ठताके सम्बन्धमें विचार रहे थे और कुछ देव-वृन्द उमङ्गमें आकर नाच रहे थे। प्रत्येक द्वार पर भृङ्गार कलश एवं दर्पण इत्यादि १०८ (एकसौ आठ) मांगलिक द्रव्य यथा रीति रखे हुए थे। उन प्रत्येक द्वारों पर नानाविध रत्नोंके बने हुए सौ सौ तोरण टंगे हुए थे और उनमेंसे विविध वर्णकी ज्योतियोंके मिलनेसे आकाश चित्रित सा जान पड़ता था। उन तोरणों में लगे हुए रत्न भूषणोंको देखकर जान पड़ता था कि रत्नोंने प्रभुके सुन्दर शरीर को स्वभावतः ही दैदीप्यमान देखकर वहां पर अपने रहनेकी आवश्यकता नहीं समझी और उनकी शारीरिक कान्तिसे पराजित होकर इन तोरणोंमें आकर वे रत्न समूह बंध गये। शंख इत्यादि नौ निधियोंको द्वार पर रखी हुई देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो अर्हंत प्रभुके द्वारा तिरस्कृत हो जानेपर ये दरवाजेके बाहर आ गयी हैं और यहीं पड़ी रहकर भगवानकी सेवा करनेके लिये अवसर की प्रतीक्षा कर रही हों।

उस दरवाजेके भीतर एक लम्बा-चौड़ा राज-पथ था और उसीके दोनों ओर दो नाट्यशालाएं बनी हुई थीं। इसी प्रकार चारों दिशाओंके चारों मुख्य द्वारोंके भीतर प्रत्येकमें दो दो नाट्यशालाएं बनी हुई थीं। वे तिमंजली बहुत ऊंची नाट्यशालाएं मानों अपने मस्तकको उठाये भव्य जीवोंसे कह रही हों कि सम्यक् दर्शन इत्यादि तीनों स्वरूप ही मोक्षके मार्ग हैं। नाट्यशालाओं की दीवारें स्फटिकमणीकी बनी हुई थीं और उनके खम्भे सोनेके बनाये गये थे। उन वैभव पूर्णशालाओंकी रंग भूमिमें अप्सराओंका नाच हो रहा था। वहां पर बहुतसे गन्धर्व देव अपने कोमल कंठसे प्रभुकी विजय गीति एवं केवल ज्ञानके समय होने वाले श्रेष्ठ गुण-गीतोंको गा रहे थे। पूर्वोक्त राजमार्गकी दोनों ओर धूपसे भरे हुए दो कलश (घड़े) रखे हुए थे और उनके धुओंकी सुगन्धिसे आकाश का वायुमण्डल सुगन्धित हो रहा था। इस मार्गसे कुछ दूर आगे जाने पर चार उद्यान-वाटिकाएं बनी हुई थीं। इनमें सम्पूर्ण ऋतुओंके फल पुष्प सदैव लगे रहते थे। इसलिये दूसरे चार नन्दन वन ही जान पड़ते थे। उन उपवनोंमें वीथियाँ (गलियां) बनी हुई थीं। उनमें अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक एवं आम्रवृक्षकी चार चार क्रमशः वन श्रेणियां थीं इनके वृक्ष समूह बहुत ऊंचे ऊंचे थे। उन उपवनोंके बीच बीच में त्रिकोण एवं चतुष्कोण वापियां (बावड़ियां) बनी हुई थी और बावड़ियों में सुन्दर सुन्दर कमल सुशोभित थे। इनके अतिरिक्त कहीं नयनाभिराम राज प्रासाद था, कहीं क्रीड़ा-गृह था कहीं कौतुक मण्डप था कहीं आकर्षक चित्र शालाएं थी कहीं कृत्रिम (बनावटी) पर्वत श्रेणियां और कहीं बाहरके विचित्र दृश्योंको देखनेके लिये

गावैं गीत सुरनकी तिया, जिनगुण लीन हरष कर हिया। व्यन्तर देव जु गावैं खड़े, विनयहीन को रोकत अड़े ॥९९॥
यह शोभा पहले गढ़ जान, और सुनों आगे परवान। गोपुरतैं वीथी दिश चार, चली फेर भीतर विस्तार ॥१००॥
वहं ओर नृतशाला तास, चारहुं दिशकी वीथी पास। कंचन थंम रतन कर खचे, ध्वजा छत्र ता ऊपर रचे ॥१०१॥
नाचैं देवकुमारी एम, मानों उदधि तरंगिन जेम। मंद मंद मुख विकसै जवै, जिनगुण गीत उच्चरैं सवै ॥१०२॥
बाजै मधुर वीन वांसुरी, ताल मृदंग मधुर ध्वनि जुरी। अव कछु वीथी अन्तर जान, धरैं धूप घट चहुं दिश मान ॥१०३॥

दोहा

धूप धुआं नभको चलौ, श्यामवरन अति जान। मानों पातक भग चलै, पुण्यतनौं डर मान ॥१०४॥

चौपाई

विदिशन और सुनो भवि सार, वाग चार नन्दनवन वार। प्रथम अशोक सप्त परनाहि, चम्पक आम्र मही रुह जाहि ॥१०५॥
सव ऋतुके फल फूल अपार, विरख वेल सौं मण्डित सार। चार चार वापी जु मनोग, सोहैं नंदादिक जल जोग ॥१०६॥
हैं त्रिकोण कोई चऊकौन, कोई गिरदाकारहि जौन। तहं आवें भविजन मन हर्ष, कारण धर्म मनोगहि पर्प ॥१०७॥
कोई करते क्रीड़ा आय, कोई अंग प्रछालन जाय। अशोक वाग के मध्यम भाग, पीठ त्रिमेखल है वड़भाग ॥१०८॥

गगन चुम्वी (वहुत ऊंची) अट्टालिकाएं वनी हुई थी। एक मंजिले और दो मंजिले मकानोंकी भी क्रमवद्ध पंक्तियां (कतार) वनी थी उन उपवनोंकी प्रथम अशोक-वन-वीछीमें सुवर्णकी वनी हुई तीन कटनीदार ऊंची एवं मनोहर वेदिका वनी हुई थी और उस सुन्दर वेदिका पर एक अशोक चैत्यवृक्ष था। वह तीन परकोटौंसे घिरा हुआ था और प्रत्येक परकोट में चार चार द्वार थे। उस अशोक चैत्यवृक्षके ऊपर वजने वाले घण्टेसे युक्त तीन सुन्दर छत्र टंगे हुए थे। वह वृक्ष देव पूजित जिन प्रतिमाओंसे तथा ध्वज चमर एवं मंगल द्रव्य इत्यादिसे सुशोभित ऊंचा होनेके कारण जम्बू-वृक्षके समान जान पड़ता था। चैत्यवृक्षकी जड़के पास चारों जिनेन्द्र देवकी पवित्र प्रतिमाएं। सुरेन्द्र अपनी पुण्य प्राप्तिकी इच्छासे मनोज्ञ द्रव्योंसे उन प्रतिमाओंकी सदैव पूजा किया करते थे। इसी प्रकार सप्तपर्ण चम्पक एवं आमवृक्ष के तीनों वनोंमें भी ऐसे ही सुन्दर चैत्यवृक्ष थे। अर्हतकी प्रतिमाओंसे विभूषित होने के कारण देवता लोग उन चैत्यवृक्षोंकी पूजा किया करते थे। वहां माला, वस्त्र, मोर, कमल हंस गरुड़ सिंह वैल हाथी एवं चक्र इत्यादि दस प्रकारकी अत्यन्त ऊंची ध्वजा पताकाएं सुशोभित हो रही थीं। वे ध्वजाएं ऐसी जान पड़ती थी मानो प्रभुने मोहनीय कर्मोको जीतकर सम्पूर्ण जगतके ऐश्वर्यको एकत्रित कर लिया है। प्रत्येक दिशामें पृथक् पृथक् प्रत्येक चिह्नवालो १०८ एकसौ आठ आठ ध्वजाएं थी। वे आकाशरूपी समुद्रकी तरंगोंके समान जान पड़ती थीं। जवकि इन ध्वजाओंमें वायुके वेगसे कम्प एवं ध्वनि आ जाती थी तव ऐसा जान पड़ता था सव भव्य जीवोंको भगवानकी पूजा करने वुला रही हों। माला चिन्ह वाली ध्वजाओं में सुन्दर सुरभित एवं कोमल पुष्पों की मनोहर मालाएं लटक रहीं थीं। वस्त्र चिन्हवाली ध्वजाओं में एकदम महीन (पतले) वस्त्र लटक रहे थे। मयूर (मोर) चिन्ह वाली तथा अन्यान्य चिन्ह वाली ध्वजाओं में भी चतुर देव शिल्पियोंके द्वारा वनायी हुई सुन्दर मूर्तियां लगी हुई थीं। पूर्वोक्त सम्पूर्ण चिन्ह वाली ध्वजाओं की सम्मिलित संख्या एक दिशा में १०८० एक हजार अस्सी और चारों दिशाओंकी सम्मिलित संख्या ४३२० चार हजार तीन सौ वीस थी। उस चैत्यवृक्ष से आगे वढ़ने पर भीतरी भाग में एक दूसरा चांदी का परकोटा वना हुआ था। इस चांदीके परकोटे का निर्माण,वनावट आकार प्रकार और सजावट सभी कुछ प्रथम परकोटेके ही समान थी दरवाजे भी थे। और उसी तरहके रत्नतोंरण नवनिधियां सम्पूर्ण मंगल द्रव्य एवं मार्गके दोनों ओर धूपसे भरे हुए दो घड़े रखे हुए थे जो स्वयं अपनी सुरभि वायु मण्डलको सुगन्धितसे वशमें कर रहा था। नाटयशालाओं की विभूतियां भी पूर्ववत् ही थी। नृत्य गान वाद्य रूपी एक जैसे थे। इसके वाद कुछ और आगे जाने पर उसी मार्गके पासमें कल्पवृक्ष थे। वे विविध रत्नोंकी जगमगाहठसे अत्यन्त शोभायमान दीख पड़ते थे। कल्पवृक्ष की अनेक उत्तम विपुल विभूतियां किसी महान् राजाकी विभूतियोंसे कम न थी। माला, वस्त्र, रत्न, आभूषण दिव्य फल पुष्प एवं शीतल छाया इत्यादि दुर्लभ विभूतियोंसे वह युक्त था। वे दस प्रकारके थे। इन दस विविध कल्प वृक्षोंको देखकर यह सहज ही में जाना जा सकता

जुदे जुदे तापर सु उत्तंग, तीन कोट हाटकमय रंग। चारों दिश गोपुर संबंध, चमर छत्र ध्वज मंडित रंध्र ॥१०६॥
मंगल द्रव्य धरी समुदाय, अरु तहं रहै देव बहु आय। चैत्य वृक्ष तिहि मध्य प्रवांन, जम्मूवृक्ष तलैं उनमान ॥११०॥
ताके मूल चहूं दिश चार, श्री जिनवर प्रतिमा भवतार। बाग मध्य चारों दिश जान, वन वेदी हैं चार महान ॥१११॥
कनकमयी मणिखचित प्रवास, दरवाजे उन्नत चौ पास। ता ऊपर जिन प्रतिमा राज, छत्र चमर आदी सब साज ॥११२॥
तहां इन्द्र पूजा विस्तरै, महापुण्य को परगट करै। ऐसे हो सब वन वन मांहि, सबै विभूति चैत्यद्रुम पाहि ॥११३॥
अब वन वेदीतैं कछु मही, रजत कोट लौं जानी सही। तहं तैं ध्वजा पांति फहराई, कंचन खम्भ लगी लहराई ॥११४॥
दश प्रकार है तिन आकार, ताके भेद सुनो निरधार। माला शुक मयूर अरविंद, हंस गरुड़ मृगपति जुगयंद ॥११५॥
वृषभ चक्रदश चिन्ह मनोग, ध्वजा दुकूलनकी संजोग। एक जाति की सौ अरु आठ, दशसैं असी सबै हैं ठाठ ॥११६॥
चारौं दिशकी सब परवांन, सत तेताल बीस अधिकान। ध्वजा पवन बश हालैं सबै, जिन पूजन भवि आये सबै ॥११७॥
पंथ खेद भवि जीव न धरैं, सुश्रूषा यौं तिनकी करैं। ध्वजा बखानी परिणति यही, नानारंग शोभा अति लही ॥११८॥
आगे रजत मयी है कोट, धवल मही अति उन्नत मोट। श्वेत सुजस प्रभु को वह पास, फेरी देकर रहिउ प्रकास ॥११९॥
पूरव वत दरवाजे चार, नानावर्ण रतन, छवि सार। नवनिधि मंगल दरव समेत, तोरन प्रमुख सफल शोभंत ॥१२०॥
हेम कोट वत वर्णन सबै, भवनपती दरवानी तबै। दरवाजन तैं वीथी चली, चारों तरफ एकसी भली ॥१२१॥
दो दो धूप तनें घट तहां पूरववत वर्णन सब जहां। इहि विधि चारौं दिश जे सही, नाट्यशाल पूरववत कही ॥१२२॥
नाट्यशाल दोई दिश जान, गीत नृत्य सुर करैं प्रमान। तहं तैं कछु अंतर वन लह्यौ, कल्पवृक्ष नामांकित कह्यौ ॥१२३॥
दश विधि तहां कल्पतरु ठीक, अति उतंग छाया रमणीक। फूले फले अधिक मनरंग, वस्त्राभूपण आदिक रंग ॥१२४॥
दश विध दान दैन संजोग, मनवांछित पुरवैं सब भोग। पूरव वत चउ वापी दीठ, वनके मध्य त्रिमेखल पीठ ॥१२५॥
तीन कोट हैं गिरदाकार, कोट कोट प्रति गोपुर चार। मुक्ता वन्दनवार अपार, घंटा तोरन शोभित सार ॥१२६॥
मध्यभाग सिद्धास्थ वृक्ष, ताकी शोभा सुनो प्रतक्ष। चारों दिशा वृक्ष के मूल, सिद्ध समान विम्ब जिन थूल ॥१२७॥
छत्र चमर ध्वज मंडित सोय, पूजा इन्द्र करैं तहं जोय। और सकल शोभाको जान, चैत्य वृक्ष पूरववत मान ॥१२८॥

था, कि-स्वयं देवकुरु, उत्तर कुरु भोगभूमि स्थान ही इन कल्प वृक्षोंको साथ लेकर जिनेन्द्र प्रभुकी सेवा करनेके लिये आ गये हों। कल्प वृक्षके फल आभूषणोंकी तरह दीख पड़ते थे, पत्ते वस्त्रके समान थे, और शाखाओं (डालों) से लटकती हुई सुन्दर मालाएं वटवृक्ष जटाओंके समान पड़ती थीं उनमेंसे ज्योतिराङ्ग कल्प वृक्षके नीचे कल्पवासी देव और मालाङ्ग कल्प वृक्षके नीचे भवन वासी इन्द्र स्वयं रहते थे। कल्प वृक्ष वनके बीचमें अतिरम्य सिद्धार्थ वृक्ष थे और उनके मूलमें छत्र चामरादिसे अलंकृत प्रभुकी प्रतिमाए थीं। पूर्व कथित चैत्य वृक्षके समान ही इनकी भी स्थितिकी भिन्नता केवल इतनी ही थी कि, वे कल्पवृक्ष अपनी इच्छानुसार अभीष्ट फलको देने वाले थे। इस कल्प वृक्षवनकी चारों ओरसे घेर कर बहुमूल्य रत्नोंसे जड़ी हुई स्वर्ण वेदिका बनी हुई थी और ज्योतियोंसे जगमगा रही थी।

उसमें चांदीके बने हुए चार दरवाजे थे। उनके अन्य शिखरों पर मोतियोंकी मालायें गूंथी हुई घण्टिकाएं लटक रही थीं, गान, वाद्य एवं नृत्य हो रहा था, पुष्पमाला इत्यादि मंगलकी आठ वस्तुएं धरी हुई थीं, प्रकाशमान रत्नोंके द्वारा बनाये गये तोरण लटक रहे थे। इन दरवाजोंके बाद राजपथ पर स्वर्ण-स्तम्भके आगे अनेक प्रकारकी ध्वजाएं लटक रही थीं और एक अद्भुत छटाको बिखेर रही थीं। रत्न जटित पीठासन पर खड़े किये गये उन स्तम्भोंको देख कर ऐसा जान पड़ता था, मानो वे खड़े होकर सम्पूर्ण भव्य जीवोंको 'प्रभुने कर्म शत्रुओंको अनायास ही जीत लिया है' इस बातको सुनानेको प्रयत्न कर रहे हों। उन खम्भोंकी मुटाई अट्ठासी उंगुलकी थी। पच्चीस धनुष (पचास गज) की दूरी थी। इस प्रकार गणधर देवने कहा। तीर्थंकर की उंचाईसे मानस्थम्भ, ध्वजा स्तम्भ, सिद्धार्थ, चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण सहित प्राकार एवं वन वेदिकाओंकी उंचाई बारह गुनी अधिक थी। बुद्धिमान पुरुषोंको इसीके अनुकूल लम्बाई चौड़ाई का अनुमान कर लेना चाहिये। पूर्वोक्त वन श्रेणी,

वन प्रति वन वेदी हैं चार, चामीकर मय वनी सुठार। तामैं रतन खचै चहुं फेर, मानौं नखत उवे शशि घेर ॥१२९॥
ता ऊपर प्रतिमा जिनराय, सुरपति पूजै उर हरषाय। इहि विधि चहुं विदिशा परमान, पूरववत सव वर्णन जान ॥१३०॥
फिर ध्वज थंभीयंत जु सार, पूरववत जानौ सविचार। सकल संपदाको है वास, को वुध कहइ लहै ना सांस ॥१३१॥
अव तिनके कछु आगे जान, फटिक कोट लौं कहै प्रमान। अति विचित्र है महल मनोग, रतन कूट ताप है जोग ॥१३२॥
चन्द्रकान्त मणि आभा कह्यौ, सुवरणमयी थंभ तहं लह्यौ। वीथी अन्तर सुभग सरूप, पद्मराग मणिमय व न रूप ॥१३३॥
ध्वजा छत्र घण्टा छविधार, निज मुद्रा सों मन अधिकार। वाजै साढ़े वारह कोट, वजैं मधुर ध्वनि दुंदुभि जोट ॥१३४॥

दोहा

मानथंभ ध्वज थंभ गड़, वेवी तो रन तूप। जिन तन तैं वारह गुनै, महल वृक्ष जुत रूप ॥१३५॥

चौपाई

आगे तृतीय कोट अवधार, फटक मई निर्मल नभवार। अति उतंग सो गिरदाकार, अरुन वरन मन निर्मल द्वार ॥१३६॥
चारौं दिश गोपुर वन रहे, चमर छत्र घण्टा जुत कहे। सव शोभा पुरववत जान ठाडे सुरग देव दरवान ॥१३७॥
देखत ताहि सफल द्रग जवै, उपमा रहित जु दीसैं सवै। अव सुन मध्य भूमिकी कथा, फटिक कोट के भीतर जथा ॥१३८॥
गढ़ तैं प्रथम पीठ सौं लगी, फटिक भींत सोलहि जगमगी। रतन थंभ तिहिपर छवि वान, तिनको दीपति तैं तम हान १३९॥
तिहि पर श्री मंडप सुर रचो, फटिक मई मानौं नभ खचौ। भींतन वोच जु कोठा जेह, वारह सभा तहां मुन लेह ॥१४०॥
चहुं दिश दरवाजे पथ रहै, वीच वीच त्रय त्रय तहं कहै। कोठा प्रथम मुनीश्वर सेव, दूजैं कल्पवासिनी देव ॥१४१॥
तीजैं अजिका श्रावक जान, चौथे ज्योतिष त्रिया वखान। पंचम व्यन्तरनी तिय कही, भवनवासिनी छठमें लही ॥१४२॥
सातम भवनपति सुर लेख, आठम व्यन्तर कहे विशेख। नवमें कोटा ज्योतिष देव, दशमैं कलपवासि सुर तेव ॥१४३॥
एकादशम मनुष परवांन, द्वादश में पशु सकल वखान। निरावाध तिहुं जग के जीव, भोर नहीं तहं होय अतीव ॥१४४॥
त्रिभुवन पति अतिशय यह जान, आगे और सुनों मतिवान। तिनतैं प्रथम पीठ गुनधार, वैडूरज मणिमय अविकार ॥१४५॥
नील वरण मणिमयी विशाल, सोलह पैंडि चहूंदिश साल। वारह सभा गली जे चार, तिनको ये सोलह पथ धार ॥१४६॥

राज प्रासाद एवं पर्वतोंकी उंचाईको भी इसीके अनुपातसे समझना होगा। इस प्रकार द्वादशांगके पढ़ने वाले गणधर देवने कहा पर्वत ऊंचाईसे अठगुने चोड़े और स्तूप उंचाईसे कुछ अधिक मोटे हैं। तत्त्ववेत्ता देवताओंके द्वारा पूजित गणधर देवने वेदिका इत्यादिकी चौड़ाई उंचाईकी अपेक्षा चौथाई कही। उन्हींके वीच-वीचमें कहीं पर जल-भरी वहती हुई नदियां, कहीं वावली कहीं रेतीली जमीन और विशाल सभा मण्डप वने हुए थे। वनके विशाल राजमार्ग पर ऊंची स्वर्ण वेदिका वनी हुई थी, उसमें सुन्दर सुन्दर चार दरवाजे वने हुए थे। इनमें भी रत्न-तोरण, आठ मंगल द्रव्य एवं आभूषण आदि वैभव तथा नृत्य, वाद्य एवं गान इत्यादि पूर्व-कथित द्वारोंके जैसे विद्यमान थे। इन सवके वाद एक अत्यन्त विशद् एक गली थी जिसे चतुर देव शिल्पियोंने वनाया था। इस गलीके दोनों वगल गृह-पंक्तियां वनी हुई थीं। इन भवनोंमें हीरक जटित स्वर्ण-स्तम्भ थे और चन्द्रकान्त मणि की दीवार वनी हुई थी। वीच-वीचमें अनेक वहुमूल्य महारत्न जड़े हुए थे इसलिये उनकी शोभा एकदम विचित्र थी। उनकी जग मगाहटको देखकर आंखें चौंधिया जाती थीं। उन दुमंजिले, एवं चौमंजिले दिव्य-प्रासादोंपर वाह्य-दृश्यों को देखनेके लिए अट्टालि-काएं (अटारियां) वनी हुई थीं। सम्पूर्ण सुख-सामग्रियोंका उन भव्य-भवनोंमें सन्निवेश था, अत: अनेकों देव गन्धर्वोंके साथ कल्पवासी व्यन्तर ज्योतिषी, विद्याधर भवनवासी एवं किन्नर वृन्द प्रति दिन उन महलोंमें से देव क्रीड़ा करते रहते थे। उन लोगों में से कोई तो जिनेन्द्र प्रभुके गुण गौरवको गाते, कोई उल्लास पूर्ण नृत्य करते और कोई विविध वाद्योंको वजाकर भगवान्‌की सेवा में तत्पर रहते थे। धार्मिक विषयोंकी चर्चा भी वहाँ अहर्निश होती ही रहती थी।

तहां धरी वसु मंगल दर्व, सेवक जक्ष देव हैं सर्व। धर्म चक्र निज माथै लियें, देखि भानु द्युति लाजै हियें ॥१४७॥
तहं तैं द्वितिय पीठिका दीस, हेममई शोभा जिहि सीस। मेरु शिखर मानों उत्तंग, जगमगाय सूरज सम रंग ॥१४८॥
आठ ध्वजा आठौं दिश जान, तिनकी शोभा अधिक बखान। तिनमें आठ चिह्न वरनये, चक्र गयंद वृषभ पुनि ठये ॥१४९॥
कमल वसन मृगपति जु सरूप, गरुड़ माल वसु चिह्न अनूप। सूक्षम पाटम्बर संजुक्त, मन्द पवन हालै अघ मुक्त ॥१५०॥
तृतीय पीठ अति शोभा लसै, तीन मेखला कर मन वसै। पंच वरण मणिमय झलकंत, किरण ज्योति दश दिशि फैलंत ॥१५१॥
ता पर गंधकुटी निरमई, सर्व रतनकी छवि बरनई। चहुं दिश चार दुवार अनूप, अरुण वरण मणिमय तिहि रूप ॥१५२॥
तीन पीठपर शोभा लसै, कै धौं तीन जगत शिर वसै। परम सुगंध वहै जहं वाय, शिखर मनोज्ञ ध्वजा फहराय ॥१५३॥
तहां हेम सिंहासन धरयौ, तिहि प्रकाश कर अन्ध तम हरयौ। बहु विधि रतन ज्योति झलकै, मानों जग लक्ष्मी मन रहै ॥१५४॥

दोहा

चतुरंगल तहं तैं रहैं, अन्तरीक्ष भगवान। त्रिभुवन पूजित वीर जिन, जग शिर सिद्ध समान ॥१५५॥
समोशरण महिमा अगम, रचना बहु विस्तार। तीव लोककी संपदा, को कहि पावै पार ॥१५६॥
मुनि विहंग उद्यम करैं, पै उड़ पार न लीन। श्री जिन नभ शोभा कथन, कौन कहे नर दीन ॥१५७॥

अथ अष्ट प्रातिहार्य वर्णन

पद्धड़ि छन्द

राजत अशोक तरुवर उतंग, सो मन्द पवन थररत अंग। प्रभु पांय निकट नाटक करंत, तहं पहुप गन्ध पटपद रमंत ॥१५८॥
प्रभु अंग देखिडरप्यौ सुकाम,जग ढूंढ्यौशरण न राख ताम। फिरि आयगिर्‌यौप्रभु शरण पाद,वरपै जु पहुप होकर अल्हाद ॥१५९॥
प्रभुकी तन हिमवन गिरि सरीस, मुख वचन गंग निकसीगरीस। श्रुतज्ञान उदधि में मिली जाय, सप्तांग भंग लहरन समाय॥
प्रभु ऊपर चौंसठ चमर सार, ढारंत यक्ष नायक अपार। जिम क्षरिसमुद जल कलश लेइ, शिरधार प्रवाहि घवियरेइ ॥१६१॥
चामीकर रतननि खचित जास, सिंहासन ऊन्नत अति प्रकास। तापर प्रभु राजत उदित मान, विकसावत भविजन कमल ज्ञान॥
प्रभु दिव्यौदारिक तन मनोग, तहं कोट भानु द्युति लहिय जोग। शशितैं अति शीतल शान्त रूप, भामंडल छवि कहिये अनूप॥
है मोह जगत जोधा अमान, प्रभु जीत्यौ शुक्ल कृपाण ठान। तस विजय वजैं पटहा निशान, तह सकल दुंदुभी मयुर गान॥
प्रभु छत्र तीन त्रिभुवन उदेत, सो धवल वर्ण मुक्ता समेत। सोहै शिर ऊपर अति अनूप, शशि नखत सहित मनु त्रिविध रूप॥

***

विशाल राज-पथके मध्यमें पद्मराग मणियोंके बनाये हुए नौ रत्न-स्तम्भ खड़े थे और उनमें अर्हंत एवं सिद्ध भगवान् की सुन्दर प्रतिमाएं विराजमान थीं। साथ ही उनमें विविध रत्नोंकी वंदनवार बंधी हुई थी और उनके विविध वर्णके प्रकाशसे आकाश अनेकों हरे, पीले, लाल एवं नीले रंगोंसे रंगा हुआ-सा दीख पड़ता था, जिसे देखकर लोगोंको इन्द्रधनुषकी भ्रान्ति हो जाती थी। वे रत्न-स्तम्भ पूजा-द्रव्योंसे और छत्र ध्वजादि मांगलिक वस्तुओंसे सुशोभित थे। इनका महत्त्व धर्ममूर्त्तिके समान था। वहां पर अनेक भव्य-जीव एकत्रित होते और उन प्रतिमाओंका प्रक्षालन, पूजा, प्रदक्षिणा एवं स्तुति किया करते थे। इस प्रकार सभी लोग उत्तम धर्मोपार्जनके कार्यमें प्रदत्त रहते थे। इसके बाद और भी कुछ भीतर जाने पर स्वच्छ स्फटिक मणि का बना हुआ परकोटा था जो अपनी शुभ्र ज्योत्स्नासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहा था। उस परकोटेके सब द्वार पद्मराग मणियोंसे बनाये हुए थे और भव्यजीवोंके एकत्रित अनुरागकी तरह आकर्षक थे। इन द्वारोंपर भी पहले ही की तरह तोरण आभूषण, नौ निधियां, तथा गान-वाद्य-नृत्य हो रहे थे और चमर, बीजना, दर्पण, ध्वजा, छत्र, झारी एवं कलश इत्यादि आठों मंगल द्रव्य प्रत्येक द्वार पर रखे हुए थे। उन परकोटोंके दरवाजोंपर गदा एवं कृपाण आदि आयुधोंसे सुसज्जित होकर क्रमशः व्यन्तर देव, भवनवासी एवं कल्पवासी देव पहरा दिया करते थे। उस स्फटिक मणिवाले परकोटेसे लेकर प्रथम पीठ पर्यंत लम्बी
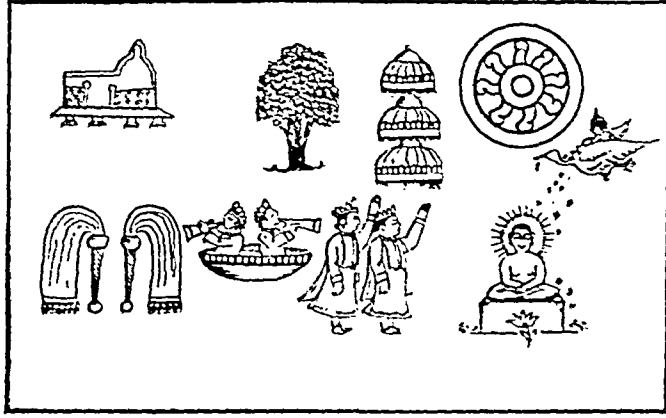
भगवान के जन्म के १० अतिशय
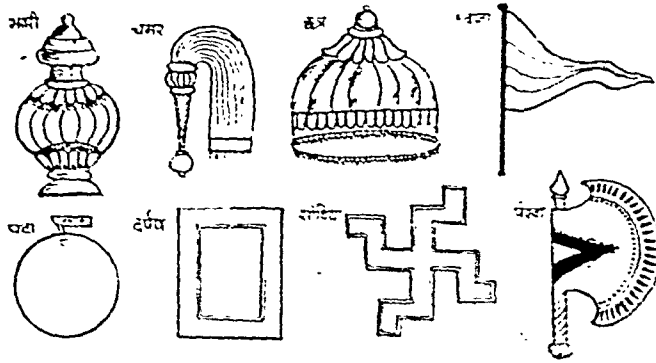
भगवान के केवल ज्ञान समय के अष्ट मंगल

समवशरण भूमी
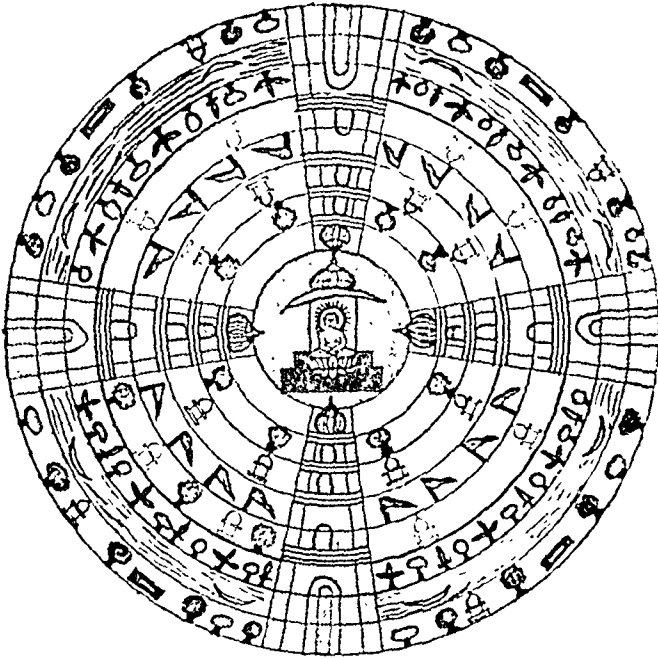
अरहंत भगवान का समवशरण

श्री १००८ देवाधि देव भगवान महावीर स्वामी के समव शरण में इन्द्र इन्द्रानी ने आकर भगवान की स्तुति की।

दोहा

इहि प्रकार रचना विविध, किय कुदेर मन लाय। लोकोत्तम लक्ष्मी सकल, समोसरण रहि छाय ॥१६६॥

चौपाई

अव सव देव आगमन भयौ, जय जय घोप हरष उर ठयौ। वरषा पहुपनकी वहु करैं, अति प्रसन्नता मनमें धरैं ॥१६७॥
तीन प्रदक्षिण दीनी सवै, धूलीसाल प्रवेशे तवै। समोशरण की रचना देख, चकृत भयौ इन्द्र मन पेख ॥१६८॥
मानथंभ चैत्य द्रुम तूप, जहां जिनेश्वर विम्व अनूप। पूजा तहां करी मन लाय, अप्ट द्रव्य जुत हर्ष वढ़ाय ॥१६९॥
फिर सुरेश सव देवहि साथ, आयौ जहां त्रिलोकी नाथ। वर्धमान जिन दृगभर देख, अपनी जनम सफल कर लेख ॥१७०॥
अति उत्तंग सिंहासन दीस, तुंग काय राजत जगदीश। चार वदन चहुंदिश परकाश, चतुरंगुल अम्वर नभ वास ॥१७१॥
फैल रह्यौ तन किरण प्रकास, कोट भानु द्युति लाजै जास। तीन प्रदक्षिण दे शिरनाई, भक्ति भाव नहि अंग समाई ॥१७२॥
शची आदि सव देवी संग, और अपछरा वहुविध रंग। अमर समूह सवै समुदाय, तन पंचांग भूमि शिरनाय ॥१७३॥

दोहा

रतन जड़ित सुरपति मुकट, जिनपति नख द्युति देत। नमितमौलि छवि लजित अति, ज्यों रविग्रह शशिहेत ॥१७४॥
तहं सुरेश जिन भक्तिवश, अस्तुति करत अलाप। ज्यों नभ धनके हेत कर, वोलै वचन कलाप ॥१७५॥

चौपाई

जय जय समोशरण आधीश, जय जय चतुरानन जगदीश। जय जय मुकति कामिनी कन्त, जय जय नत चतुष्टयवंत ॥१७६॥
जय जय तीर्थंकर भुवनेश, जय जय परम ध्वजा धरणेश। जय जय सुरग मुकति दातार, जय जय रत्नत्रय भंडार ॥१७७॥
जय जय गुण अनन्त परधान, जय जय निरविकार भगवान। जय जय कर्म कुलाचल चूर, जय जय शिव तरुवर अंकुर ॥१७८॥
जय जय जगन्नाथ तुम देव, जय जय सुर असुराधिप सेव। जय जय महागुरुन गुरुराज, पूज्य पुरुप पूजित जिनराज ॥१७९॥
तुम जोगिनमें जोगी जान, महाव्रतिन में व्रती महान। तुम ध्यानिनमें, ध्यानिमहा, तुम ज्ञानिनमें ज्ञाना कहा ॥१८०॥
जतिन विषैं तुम जतिवर सोय, स्वामी परम स्वामि अवलोय। तुमजिन उत्तम मुनिगण 'ईश' ध्यानवंत ध्यावहिं निशदीश ॥१८१॥
धर्मवंत में धर्म निधान, हितकारिन हो तुम हितवान। तुम त्राता भव भंजनहार, हंता स्वपर कर्म दृढ भार ॥१८२॥
तुम प्रभु असरण शरण अतीव, सारथवाही शिरपद सीव। तुम जग वांधव तुम जग तात, तुम करुणानिधि हो विख्यात ॥१८३॥

सोलह दीवारें वनी हुई थीं। उस स्फटिक मणि निर्मित परकोटेके ऊपर रत्न-स्तूपोंके सहारे स्फटिक मणियोंका ही श्रीमण्डप वना हुआ था। वह यथार्थतः ही श्री-सम्पत्तियोंका ही मण्डप है। वहांपर जगत्के लक्ष्मीपात्र सज्जन एकत्रित हुआ करते हैं। उनकी भीड़से वह सदैव ठसाठस भरा हुआ रहता था, जिस तरह कि अर्हत प्रभुको ध्वनिसे धर्मको उपलब्धि होती है। उसी तरह वहां पर आकर धर्म-चर्चाके निर्णयरूपी धर्म साधनाके अनुष्ठानसे सव लोग मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त कर लेते थे। उस श्री मण्डपके वीचमें वैडूर्यमणिके द्वारा वनायी प्रथम पीठिका थी, वह ऊंची थी और उसके प्रकाशमें दिशाएं आलोकित हो रही थीं। पीठिका पर सोलह स्थानों में अन्तर दे देकर सोलह सीढ़ियां वनी हुई थीं। वारह तो सभा प्रकोष्ठके प्रत्येक द्वार थे और चार पीठिका पर चारों दिशाओंमें विशाल एवं विशद रूपमें वनी हुई थीं। प्रथम पीठिका पर आठ प्रकारके मंगल द्रव्य रखे गये थे। उस प्रथम पीठिकाके ऊपर सुवर्ण निर्मित द्वितीय पीठ रखा हुआ था जो अपनी दीप्तिसे सूर्य एवं चन्द्रमण्डलके प्रकाशको भी तिरस्कृत कर, चुका था। उस द्वितीय स्वर्ण पीठके ऊपरी हिस्सेमें चक्र, हाथी, वैल कमल, वस्त्र सिंह गरुड़ एवं मालाके चिन्हवाली आठ ध्वजाएं

तुम लोभी प्रभु ह्वैं अधिकार, तीन लोकके राज्य हि धार। तुम रागी उर परम विवेक, मुक्ति वधूकी लागी टेक ॥१८४॥
जीत पात्र भए जीते कर्म, तीन जगत में जोधा पर्म। तीन जगत लक्ष्मीपति सेव, अरु अतिशय अलंकृत देव ॥१८५॥
कीरति वेलि बड़ी तुम तनी, छाई जग मंडप में घनी। और कुदेव जराहि को चाहि, तुम निरीक्ष सेवें सुर पाहि ॥१८६॥
कलपतरू वर चित्रावेल, कामधेनु चिंतामणि खेल। ए सव एक जनम सुखदाय, तुम सेवा सों भवदुख जाय ॥१८७॥
आज धन्य वासर यह भयो, जीवन सफल दरश जिन लयो। आज पाय हम भये पवित्त, प्रभु यात्रा कीनी इक चित्त ॥१८८॥
सफल हस्त हमरे अब भये, तुमरे चरण कमलको नये। नेत्र सफल माने हम आज, दरशे आप जवहि जिनराज ॥१८९॥
अरु पवित्र भयो मेरो गात, तुम चरणाम्बुज सेवत तात। वाणी सफल भई मुहि आज, तुम गुण भापे जलधि जहाज ॥१९०॥
मेरो मन सफलीकृत भयो, प्रभुकी भक्ति हृदय भर लयो। चार ज्ञान धारी तुम राय, तुम गुण पार न अन्त लहाय ॥१९१॥
हमरी शक्ति उनहितें लेश, तुमरी भक्ति करत उपदेश। जैसे आम्रकली परभाव, कोकिल शब्द करे कहराव ॥१९२॥

गीतिका छन्द

नमौं वीर जिनेश अन्तिम, सकल मंगल कारने। नमौं सन्मति करी शुभमति, वर्धमान प्रनामने ॥
नमौं तीन जगत्र नायक, परम स्वामि वखानिये। नमौं अतिशय दिव्य तनमय, पाप मेरे हानिये ॥१९३॥
नमौं तारन तरन जिनवर, नमौं गुन वारिधि सही। नमौं विश्व विभूति मण्डित, नमौं गुरु सेवत मही ॥
नमौं परमातम विराजत, नमौं लोकोत्तम सदा। नमौं केवलज्ञान लक्ष्मी, अंग भूपित है तदा ॥१९४॥

दोहा

यह विधि वहु अस्तुति करी, नमौं भक्ति उर लाय। तुम प्रसाद प्रभु पाइयो, धर्म सकल सुखदाय ॥१९५॥
काल लवधि नियडी नही, भवगत लह्यो न अंत। तौलौं प्रभु मोहि दीजिये, अपनी भगति अनन्त ॥१९६॥
शची रत्न पांचों वरण, निज कर चुटकी चूर। भक्ति सहित प्रभुके निकट, चौक विचित्रहि पूर ॥१९७॥
तहं सुरेश पूजा विविध, आरम्भी हरपाय। अष्ट द्रव्य संजुक्त कर, जिन चरनन चित लाय ॥१९८॥

पूजाष्टक

त्रिभंगी छन्द

कंचनमय झारी रतननि जारी, क्षीर समुद्र जल सुख भरियं। शीतल हिमकारं पूजित सारं, ढारत अनुपम धार त्रयं ॥
पूजत सुरराजं हर्ष समाजं, जिनवर चरणं कमल जुमं। जग दुःख निवारं सव सुख कारं, दायक सो शिवसुख परमं ॥१९९॥
जलम्।
केशर करपूरं अगरं तगरं, घसि मलयागिर सुरभि शुभं। सुरगन्ध मनोगं उपमा जोगं, तास विलेपन करत प्रभं ॥
पूजत सुरराजं० ॥२०॥ चन्दनम्।

थी जो सिद्ध पुरुषोंके आठ गुणके समान जान पड़ती थीं उसी पीठ पर भी एक तीसरा रत्न पीठ रखा हुआ था जो समग्र वहुमूल्य रत्नों के द्वारा वनाया गया था। इसी तृतीय रत्न पीठसे एक प्रकारकी विचित्र किरणें निकल रही थीं और सारा अन्धकार दूर हो गया था। वह प्रखर किरणों एवं अपनी मांगलिक सम्पत्तियोंसे स्वर्ग लोकके वैभव मय प्रकाशको तुच्छ समझकर मुसकुराता-सा जान पड़ता था। इसी तृतीय रत्न पीठके ऊपर उत्तमगन्ध कुटी वनी हुई थी और वह एक तेजोमयी मूर्ति जान पड़ती थी। वह अनेक प्रकारके दिव्य गन्ध, महाधूप, सुरभित पुष्पमाला एवं अनवरत पुष्प वृष्टिसे सम्पूर्ण दिशाओंके वायु मण्डलको सुगन्धित करते रहनेके कारण यथार्थमें ही गन्ध कुटी हो रही थी। उस गन्ध कुटीका निर्माण दिव्य आभूपण मोतियोंकी माला सुवर्णकी

अक्षत गुण मंडित धवल अखंडित, मुक्ताफल छवि अधिक धरं। तिहि पंच हि पूजं करत सजूत, मानंहु रत्न उदोत भरं॥
पूजत सुरराजं० ॥२०१॥ अक्षतम्

मालति अरविन्दं चंपक कुन्दं, वेल गुलाव सिंगार हरं। केवर करनारं केतकि भारं, पूजौं पांडरि जुही भरं॥
पूजत सुरराजं० ॥२०२॥ पुष्पम्।

नाना पकवानं घेवर सातं, मोदक लाडू सद्य वरं। रत्नमय थारी शोभित भारी, उपमाहारी अग्र धरं॥
पूजत सुरराजं० ॥२०३॥ नैवेद्यम्।

रतनन मय दीपं धरत समीपं, अति उद्योत न जाय कहं। सब जगत प्रकाशं अघतम नाशं, धूम रहित छवि ताहि लहं॥
पूजत सुरराजं० ॥२०४॥ दीपम्।

कृष्णागर पूरं तगर कपूरं केशर चूरं मलय गिरं। इहि आदि दशांगं धूप तरांगं, खेवत धूप अकाश भरं॥
पूजत सुरराजं० ॥२०५॥ धूपम्।

दाडिम नारंगी केला पुंगी, आम्र विजौरे निंबु वनं। नारीयर भारं एला सारं, इत्यादि फल शुद्धयनं॥
पूजत सुरराजं० ॥२०६॥ फलम्।

जल गंध सुसारं अक्षत भारं, पुष्प सहित नैवेद्य भरं। दीपादि अपारं धूप संवारं, फल कल्पद्रुम शुद्ध वरं॥
कंचनमय थारी स्वस्तिक धारी, ले सुरनायक नृत्य करं। पहुपांजलि छीपही कर्मन खिपही, जिनपद आगे अर्घ धरं॥२०७॥
अर्घ्यम्।

दोहा

इमि पूजा स्तुति वहु करी, प्रनम्यौ वारंवार। अमर सहित अमरेश जहं, धर्म उपायौ भार॥२०८॥
वर्धमान भगवानके सन्मुख दृष्टि लगाय। इन्द्र आदि द्वादश सभा, वैठी निज निज थाय॥२०९॥

गीतिका छन्द

श्रीवीर नाथ जिनेश अन्तिम, चरन वंदित मुनि गनी। परम पावन बुध नमित प्रभु, जजहु जग चूडामनी॥
सुर असुर जिनकी भक्ति आगे, गुण अनंत सुजानिये। सो समोशरण विभूति निरुपम, अधिक कहा वखानिये॥२१०॥

जातियां एवं निविड़ अन्धकारको दूर कर देनेवाले प्रकाशमान महारत्नोंके द्वारा कुवेर देवने किया था। इसका वास्तविक वर्णन श्री गणधर देवके अतिरिक्त कोई अन्य बुद्धिशाली नहीं समर्थ हो सकता। इसी गन्ध कुटीके मध्य भागमें इन्होंने बहुमूल्य एवं ज्योति पूर्ण महारत्नोंके द्वारा एक अलौकिक स्वर्ण सिंहासनको तैयार किया। प्रचण्ड मार्तण्डकी प्रखर किरणें उस स्वर्ण सिंहासनके प्रकाशके सामने फीकी सी जान पड़ती थीं। सिंहासन पर कोटि सूर्यके समान प्रभावाले जिनेन्द्र देव श्रीमहावीर प्रभुने तीनों लोकके भव्योंसे घिरे हुए उस सिंहासनको सुशोभित किया। परन्तु उनकी महिमा अपार है। वे अपनी आश्चर्यजनक महिमाके ही कारण स्वर्ण सिंहासनके धरातलसे चार अंगुल ऊपर निराधार अन्तरीक्षमें अवस्थित रहे। वे सम्पूर्ण भव्योंके उद्धार करनेमें समर्थ थे। देव निर्मित वाह्य विभूतियोंसे युक्त जगदादरणीय श्री महावीर प्रभुको सब भव्य जीवोंने श्रद्धाभक्ति पूर्वक प्रणाम किया। वे प्रभु संसारके मुकुट मणि हैं, अनुपम, असंख्य एवं उत्तम गुणोंसे युक्त हैं, और केवल ज्ञानरूपी महा सम्पत्तिसे विभूषित हैं। उन जिनेन्द्र महावीर प्रभुके चरणारविन्दोंको मैं आदर पूर्वक नमस्कार करता हूं। प्रभु तीनों लोक जीवोंको उद्धार करनेमें परम समर्थ हैं, अत्यन्त प्रतिभाशाली हैं, कर्मरूपी महाशत्रुओंके यशस्वी नाशकर्ता हैं, वारह सभाओंमें वैठे हुए धर्मोपदेशमें प्रयत्नशील रहते हैं, अकारण वन्धु हैं, अनन्त चतुष्टयसे युक्त हैं। उनकी अतुलनीय गुण-सम्पत्तियोंको पानेके लिये उन प्रभुको मैं नमस्कार करता हूं। वे अत्यन्त विशिष्ट गुणोंकी खान हैं, केवल ज्ञानरूपी दिव्य नेत्रोंसे दिव्यदृष्टि वाले हैं, त्रिलोकके स्वामी इन्द्र धरणेन्द्र एवं

जो त्रिजग भवि जीवन सु तारक, कर्म अरिनाशन कही। द्वादश सभातैं अग्र थिर हो, धर्म उपदेशक सही ॥
विश्व जनकी हरी बाधा, ज्ञान अमृत चाखियो। प्रनमो अनन्त चतुष्ट नायक, भक्ति मुहि निज दीजियो ॥२११॥
असम गुनन निधान हो प्रभु, ज्ञान केवल दृग मही। तीन भुवपति करत सेवा, विश्व. लक्ष्मी पद गही ॥
सकल दोष विध्वंस कीनो, धर्म तीरथ भीजिये। 'नवलशाह' विचार विनवै, मोहि शिवपद दीजिये ॥२१२॥

चक्रवर्त्तियोंके द्वारा परम सेव्य हैं, सबके कल्याण करने वाले अद्वितीय बन्धु हैं, सम्पूर्ण दोषोंसे हीन हैं, धर्म तीर्थक प्रवर्तक हैं। उपर्युक्त महागुणोंसे युक्त श्रीमहावीर प्रभुकी मोक्ष गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं शक्ति पूर्वक स्तुति करता हूं।

पीठ पर स्थित मूल वृक्ष

नोट.-शाल्मली वृक्ष मे जिनभवन दक्षिण शाखा पर है और जम्बू वृक्ष में उत्तर शाखा पर

पीठ रजत मयी है
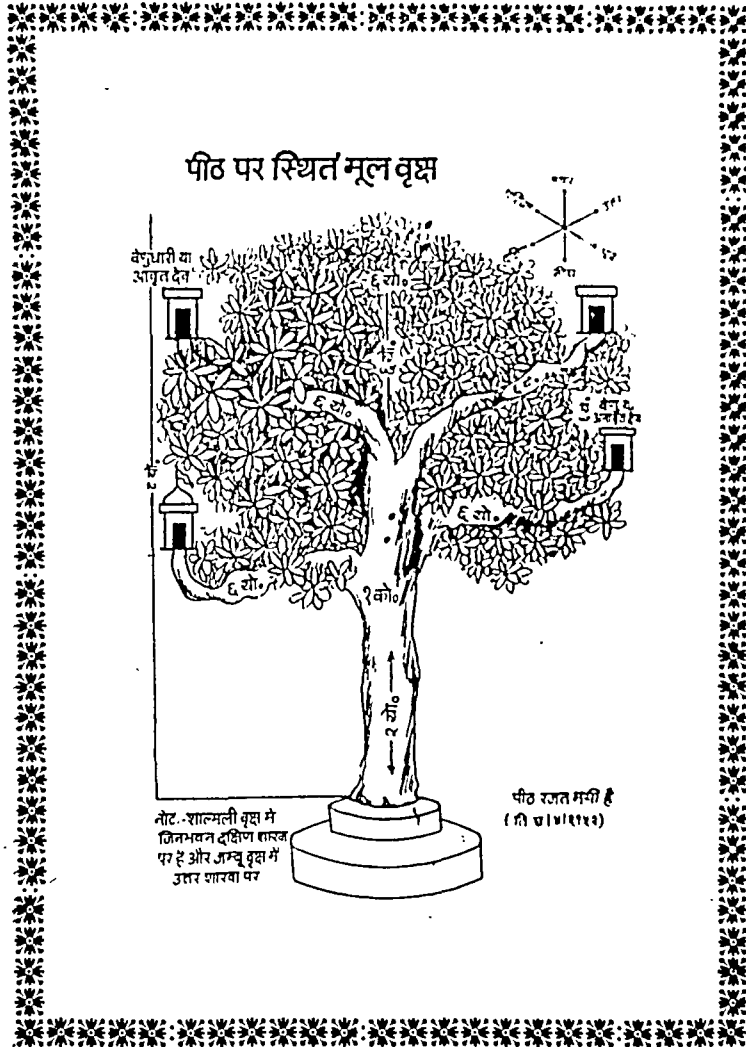
द्वादश अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

प्रणमौं श्री अरहंत जिन, केवल ज्ञानधिराज। भव्यन प्रति उपदेशियो, धर्म तीर्थ हित काज ॥१॥

गौतम गणधरका समवसरणमें आगमन

चौपाई

अव श्री जिनवर मुख उच्चार, वाणी खिरै विविध परकार। अविरल शब्द अनक्षर सोय, गणधर तहां न तिष्ठै कोय ॥२॥
तव सौधर्म सुरेश विचार, अवधिज्ञान कर चित अवधार। वैठे निज कोठा मुनिवृन्द, तिनमें कोई नहीं गणीन्द्र ॥३॥
अर्हंतमुख वाणी वहू होइ, गणधर विना न समरथ कोई। यह चिंतत जानी वल ज्ञान, गौतम* विप्र वुद्धि वलवान ॥४॥

"श्रीमते केवलज्ञान साम्राज्य पद शालिने। नमोवृताय भव्योघैर्धर्म तीर्थ प्रवर्त्तिने ॥१॥"

अर्थात् जो केवल ज्ञानरूपी साम्राज्यको पाकर शोभायमान हैं और भव्य जीवोंके समूहसे घिरे हुए हैं, उन धर्मतीर्थ प्रवर्तक एवं श्री सम्पन्न महावीर अर्हंतको नमस्कार है।

---

*इन्द्रभूति पर वीर-प्रभाव

जव लोग एक पैसे की मिट्टी की हंडिया को भी ठोक वजाकर खरीदते हैं, तो अपने जीवन के सुधार और विगाड़ वाले मसले को विना परीक्षा किये क्यों आंख मीचकर ग्रहण करना चाहिये। इन्द्रभूति गौतम आदि अनेक महापंडितों ने तर्क और न्याय की कसौटी पर भगवान महावीर के उपदिष्ट ज्ञान को कसा और जव उसे सौ टंच सोना समान निश्चित सत्य पाया तो वे उनकी शरण में आये।

श्री कामताप्रसाद : भगवान महावीर पृ १३८।

श्री वर्द्धमान महावीर के सर्वज्ञ हो जाने पर उनकी दिव्य ध्वनि न खिरी तो सौधर्म नाम के प्रथम स्वर्ग के इन्द्र अपने ज्ञान से गण-घर की आवश्यकता समझकर उसकी खोज में चल दिया। उस समय ब्राह्मणों का वड़ा जोर था। चारों वेदों के महाज्ञाता और माने हुए विद्वान् इन्द्रभूति थे। इन्द्र ब्राह्मण का वेष धारण कर उनके पास गया और उनसे कहा, "कि मेरे गुरु ने इस समय मौन धारण कर रखा है, इसलिये आप ही उसका मतलव वताने का कष्ट उठावें।" इंद्रभूति गौतम वहुत विद्वान् थे, उन्होंने कहा—"मतलव तो मैं वताऊँगा मगर तुमको मेरा शिष्य वनना पड़ेगा"। इन्द्र ने कहा, "मुझे यह शर्त मंजूर है परन्तु आप उसका मतलव न वता सके तो आपको मेरे गुरु का शिष्य होना पड़ेगा"। इंद्र-भूति को तो अपने ज्ञान पर पूरा विश्वास था, उसने कहा, "तुम अपने श्लोक वताओ, हमें तुम्हारी शर्त मंजूर है।" इस पर इंद्र ने श्लोक कहा :—

"त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नव पदसहितं जीवषट्कायलेश्या: ।
पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदा: ॥
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितै: प्रोक्तमर्हद्भिरीशै: ।
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान्य: स वै शुद्धदृष्टि:" ॥

श्लोक को सुनकर इन्द्रभूति गौतम हैरान हो गये और दिल ही दिल में विचार करने लगे कि मैंने तो समस्त वेद और पुराण पढ़ लिए

द्वादशांग वाणी द्विज जोय, गणधर प्रथम होयगो सोय। किहि उपाय वह आवै यहां, यह चिता कीनी उर तहां ॥५॥
मिथ्यामति धारै अघ दैन, रचै शास्त्र बहु परमत ऐन। कोई न जीतै तिहिसों वाद, जग जिय वादहिं लहैं विषाद ॥६॥
विद्या गर्व धरै वह घनो, प्रेक्षा वार कछु मद तिहि हनो। रच्यो काव्य इक अरथ गम्भीर, तब विकल्प ह्वै है द्विजवीर ॥७॥
शब्द अर्थ शंका जब होइ, मेरे संग आय है सोइ। यही विचार विक्रिया ठान, कीनो वृद्ध विप्रको भेष ॥८॥
हाथ जष्टिका टेकत जाय, पहुंचे तुरत विप्र ढिग आय। भो गौतम! तू विद्यावीर, आयो नाम सुनें तुम तीर ॥९॥
मो गुरु वर्धमान जिनराय, तिनकौ काव्य जु मोहि पढ़ाय। वे तो मौन भये अब सही, काव्य अर्थ किहि पूछौं यही ॥१०॥
सो मुहि दीजे आप वताय, तिहि कारण आयो तुम पाय। काव्य अर्थ नाहि धारों मांहि, तो मेरो जीवो नहि होहि ॥११॥
तुम तो भव्य परम गुणलीन, पर उपकार करन परवीन। तुम हो देव ब्यास जगतात, तुमरो गुण पूरण विख्यात ॥१२॥

जिस प्रकार मेघ जल वृष्टि किया करते हैं, उसी प्रकार उस समय देव समूह जिनेन्द्रके चारों ओर पुष्पवृष्टि कर रहे थे। आकाशसे गिरते हुए फूलों की मनोमोहक सुगन्ध पर भौंरे आकृष्ट होकर गुन्जार रहे थे। मानो जगत्स्वामी जिनेन्द्र प्रभुके यशोंको मधुर स्वरमें गा रहे हों। भगवान्‌के पास ही यथार्थ नामा शोकोंको दूर करने वाला एक सुन्दर एवं अत्यन्त ऊंचा अशोक वृक्ष था। उस अशोक वृक्षके फूलरत्नोंके जैसे विचित्र वर्णके और अत्यन्त मनोहर थे। वायुवेगसे प्रकाशित एवं चंचल शाखाओंमें हिलते हुए मरकत मणियोंके हरे पत्ते बहुत रमणीय मालूम हो रहे थे। उनके हिलनेसे ऐसा ज्ञान पड़ता था मानो भव्य जीवोंको वे भगवान्‌के पास बुला रहे हों। महावीर स्वामीके मस्तकपर तीन श्वेत छत्र तने हुए थे। मानो प्रभुने तीनों लोकोंके आधिपत्यको पा लिया है, इस बातकी सूचना दे रहे हों। उन छत्रोंके चारों ओर चमकीले मोती लटक रहे थे। उनसे

किन्तु वहां तो छ: द्रव्य, नौ पदार्थ और तीन काल का कोई कथन नहीं है। इस श्लोक का उत्तर तो वही दे सकता है जो सर्वज्ञ हो और जिसे समस्त पदार्थों का पूरा ज्ञान हो। इंद्रभूति ने अपनी कमजोरी को छिपाते हुए कहा कि तुम्हें क्या, चलो। तुम्हारे गुरु को ही इसका अर्थ बताता हूँ। उनके दोनों भाई और पाँचसौ शिष्य उनके साथ चल दिये। जब उन्होंने समवशरण के निकट, मानस्तम्भ देखा तो उनका मान खुदबखुद इस तरह नष्ट हो गया जिस तरह सूर्य को देखकर अंधकार नष्ट हो जाता है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ते थे त्यों-त्यों अधिक शान्ति और वीतरागता अनुभव करते थे। समवशरण की महिमा को देखकर वह चकित रह गये। महावीर भगवान् की वीतरागता से प्रभावित होकर बड़ी विनय के साथ उनको नमस्कार किया। इसके दोनों भाई और पांचसौ चेलों ने जो इंद्रभूति से भी अधिक प्रभावित हो चुके थे अपने गुरु को नमस्कार करते देखकर उन सभी ने भगवान महावीर को नमस्कार किया। इन्द्रभूति गौतम ने बड़ी विनय के साथ भगवान् महावीर से पूछा कि इस विशाल मण्डप की रचना मनुष्य के तो वश का कार्य नहीं है, फिर इसको किसने रचा? उत्तर में उन्होंने सुना कि ज्योतिष देवों के इंद्र चन्द्रमा ने अपने अवधिज्ञान से भ० महावीर का केवल ज्ञान जानकर अपने सब देवताओं की सहायता से यह समवशरण रचा है। गौतम स्वामी ने पूछा, चन्द्रमा कौन था? और किस पुण्य के कारण वह चन्द्रमा नाम के नगर में अंकित नाम का एक साहूकार रहता था। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान् के उपदेश से प्रभावित होकर वह जैन मुनि हो गया और उसने घोर तप किया, जिसके फल से यह आज स्वर्ग में चन्द्रमा नाम का देव हुआ। वहां से वह विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेगा। भगवान् के इतने जबरदस्त ज्ञान को देखकर कट्टर ब्राह्मण इन्द्रभूति पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसका तथा उसके भाईयों का मिथ्यात्व रूपी अंधेरा नष्ट हो गया। वह बार-बार उस बूढ़े ब्राह्मण को धन्यवाद देते थे कि जिन की बदौलत आज उनको सच्चे धर्म और सच्चे ज्ञान का वह अनुपम मार्ग मिला कि जिसको ढूंढने के लिये उन्होंने वर्षों से घर बार छोड़ रखा था। भगवान महावीर के तेज और अनुपम ज्ञान से प्रभावित होकर इन्द्रभूति गौतम अपने दोनों भाईयों और पांच सौ चेलों सहित जैन साधु हो गए।

इन्द्रभूति गौतम बुद्धिमान् तो थे ही, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने से वे इतने ऊंचे उठे कि बहुत जल्दी भगवान् महावीर के सबसे बड़े गणधर (Chief Pontiff) बन गये। उसके भाई और चेले भी उस समय के माने हुए विद्वान् थे। चुनांचे इन्द्रभूति, उसके दोनों भाई अग्निभूति और वायुभूति तथा पांच सौ चेलों में से सुधर्म, मौर्य, मौण्ड, पुत्र, मैत्रेय, अकंपन, अधवेल तथा प्रभास ये ११ भी भगवान् महावीर के गणधर बन गये।

भगवान् महावीर को केवल ज्ञान तो ईस्वीय सन् से ५५७ वर्ष पहले वैशाख सुदी दशमी को प्राप्त हो गया, परन्तु उनकी दिव्यध्वनि ६६ दिन बाद खिरने के कारण उनका पहला धर्म उपदेश श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को हुआ था। जिसकी वीर शासन जयन्ती आज तक मनाई जाती है।

ऋग पुनि यजुर साम भणि तीन, और अथर्वन गयो प्रवीन। चार वेद ये थापै नए, जग जन पूज्य व्यास तुम भए ॥१३॥
अरु अष्टादश कथे पुरान, तिनहिं नाम संक्षेप बखान। मत्स्य पुराण प्रथम अवधार, चौदा सहस श्लोक विस्तार ॥१४॥
कूर्म द्वितीय पुराण कहेव, सत्रह सहस श्लोक गनेव। पुनः वराह तृतियको नाम, नव हजार सो है अभिराम ॥१५॥
फिर नरसिंह चतुर्थम भनौ, सत्रह सहस श्लोकहि गनौ। वलि वामन पंचमहि पुरान, दश हजार ताको उनमान ॥१६॥
पदमपुराण छठम कहि वीर, पचपन सहस श्लोक गम्भीर। विष्णु सातमौ कहौ पुरान, पन्द्रह सहस तास परवान ॥१७॥
पुन ब्रह्मांड अष्टमौ सोय, वारह सहस कहौ अवलोय। ब्रह्म विवर्त नवम गुणधार, दश हजार श्लोक निरधार ॥१८॥
ब्रह्म नारदी दशमो तेव, तेइस सहस श्लोक कहेव। गरुड़पुराण ग्यारहमौं जोय, सहस उनीस श्लोक कहो सोय ॥१९॥
शिवलिंगी द्वादशमो लसै, एकादश सहस्र तिहि वसै। भविषोत्तर तेरम जु बखान, पन्द्रह सहस श्लोक परवान ॥२०॥
मारकांडै चौदमो होय, नव सहस्र श्लोक गिन सोय। अगनिपुराण पंद्रमौ नाम, तीन सहश शोभै अभिराम ॥२१॥
सोरहमो कहिए असकन्ध, सहस अठारह तास प्रवन्ध। तिनके तीन काण्ड कर भेव, तिनके नाम सुनो भो देव ॥२२॥
रेवो प्रथम जानिये वीर, उत्तर दूजो अति गम्भीर। काशी कांड तीसरो जान, अब सत्रह भरता हो पुरान ॥२३॥
सवालाख श्लोक प्रमान, तिनके पर्व अठारह धार। आदिपर्व पुन सभा द्वितीय, अरु आरण्य कहो जु तृतीय ॥२४॥
विराट पर्व चौथो जानिये, उद्वेगम पंचम मानिये। भीषम छठम सप्तम द्रोन, अष्टम कर्ण नवम सल्योन ॥२५॥
जुद्ध दशम अस्त्री गैरमौ, सूतिक पर्व कहौ वारमौ। शांति तेरमो कहौ बखान, अश्वमेघ पुन चौदम जान ॥२६॥
अनुशासन पन्द्रमो जु लीन, व्यासाश्रम षोडश परवीन। मुसल सत्रमो कहिये सोय, दिवाधि रोह अष्टदश होय ॥२७॥
अब भागवत कहो अनन्द, हैं तिनके वारह अस्कन्ध। अठारम है शास्त्र प्रधान, सहस अठारह श्लोक प्रमान ॥२८॥
इतनी काव्य करी तुम देख, एक काव्य हम अर्थ विशेख। तुम हो शांतरूप गुणवान, बड़े पुरुष जगमें बलवान ॥२९॥
यह वच सुन बोलौ द्विज तवै, अपनो काव्य पढ़ो तुम अबै। जो मैं ठीक अरथ कर देव, तो तुम कहा करो हम सेव ॥३०॥
तव सुरपति बोल्यौ यह सोय, जो तुम काव्य अरथ शुभ होय। तो तुमरो मैं शिष्य प्रमान, तुम हो मेरे गुरु परधान ॥३१॥
गौतम तनैं पंचशत शिष्य, सौ बोले इमि कहैं भविष्य। भो गुरु ! यह वादी है कोय, मेरे वचन मन दृढ़ सोय ॥३२॥

उज्ज्वल प्रकाश छिटक रहा था। और छत्र दण्डमें भी अनेक वहुमूल्य रत्न जड़ हुए थे। रत्नोंसे युक्त छत्रकी शोभा इतनी विशेष थी कि उसके सामने चन्द्रमाकी भी किरणं कुछ फीकी सी जान पड़ती थी। क्षीर समुद्रके उज्ज्वल जलके एकदम श्वेत चौंसठ चमरोंको हाथमें लेकर यक्ष लोग ढुला रहे थे। वे वाह्य एवं आभ्यन्तर शोभासे मुक्ति रूपिणी स्त्रीके अनन्य तम वर जान पड़ते थे। इसी समय मेघके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाले साढ़े बारह करोड़ वाजोंको देवोंने जोर जोरसे बजाना आरम्भ किया। उन वाद्योंका तुमुलरव ऐसा जान पड़ता था मानो कर्मरूपी महा शत्रुओंको ललकारते हुए अपने नाना प्रकारके शब्दोंसे भव्योंके सामने जिनोत्सवको प्रकट कर रहे हों। अत्यन्त उज्ज्वल और दिव्य औदारिक शरीरसे निकलता हुआ देदीप्यमान प्रभा-पुञ्ज करोड़ों सूर्यकी रश्मिराशिसे भी अधिक प्रखर था। वह प्रकाश मण्डल सब पापियोंके नेत्रोंको प्रिय था और उज्ज्वल यशका एक समष्टि भूत रूप था। वह सम्पूर्ण वाधाओंको दूर करने वाला और तेजका अक्षयकोश था। जिनेन्द्र श्री महावीर स्वामीके मुखसे नित्यशः जो दिव्य ध्वनि निकला करती थी वह सबका कल्याण एवं हित करने वाली होती थी। वह अलौकिक वाणी तत्त्व स्वरूप एवं धर्म स्वरूपको विशद प्रकारसे बताने वाली थी। जिस प्रकार मेघोंका बरसाया हुआ जल पहले एक ही रहता है और फिर पात्रभेदसे नाना नाम एवं रूप कार्यमें बदल जाता है उसी तरह प्रभुकी दिव्य ध्वनि भी प्रथम अनक्षरी एक रूप ही निकलती है और बादमें अनेक देशोंमें उत्पन्न मनुष्य, देव एवं पशुओंको अक्षरमयी अनेक भाषामें संदेहोंको दूर कर देने वाले धर्मका उपदेश करने वाली हो जाती है।

रत्न त्रि-पीठके ऊपर सिंहासनारूढ़ श्रीमहावीर प्रभु धर्मराजके समान जान पड़ते थे। वे महान एवं अलौकिक आठ प्रतिहार्य्योंसे अलंकृत होकर सभा मण्डपमें विराजमान थे और उनकी अतुलनीय शोभा अवर्णनीय थी। महावीर प्रभुकी पूर्व

एक काव्य हम कहैं प्रतक्ष, तिनको अरथ करै ये दक्ष । तो ये ही हमरे गुरु होय, हम इनके सेवक पद जोय ॥३३॥
तवहि इन्द्र वोल्यो इम वैन, शांतरूप हो धर मन चैन । जो एती वुधि हमरी होइ, तो गौतम के पद किम जोइ ॥३४॥
तुम पुर बालक हो मद भरे, विनय न जानो मन अति खरे । तव गौतम शिष्यनि वरजियो, हरको समाधान कर हियो ॥३५॥
वृद्ध विप्र तुम हम वच सुनौ, अपनो काव्य जथा प्रति भनौं । तव सुरपति मन मनहि विचार, त्रैकाल्यादिक पढ़ि गुणवार ॥३६॥

उक्तं च काव्यम्

त्रैकाल्यं द्रव्यषटकं नवपद सहितं, जीव षट्काय लेश्याः । पंचान्ये चास्ति काया, व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः ॥
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः, प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः । प्रत्येति श्रद्धधाति स्पृशति च मतिमान् यः सवै शुद्धदृष्टिः ॥

चौपाई

काव्य रूप गौतम जव देख, अति अचम्भ मनहीमें पेख । मान भंग मेरो अव भयो, काव्य अर्थ कर विकलप लयो ॥३७॥
दुर्धर काव्य कहो यह देव, इत्य अरथ धारै नहि भेव । त्रैकाल्यं यह अर्थ अपार, तीन काल दिन मांहि विचार ॥३८॥
तीन काल इक वर्ष मझार, भूत भविष्यत वर्तनहार । षटद्रव्यहि किं कहिये भाख, कौन ग्रन्थकी दीजै साख ॥३९॥
कहा सकल गति कहिये भेद, अरु तिनके लक्षण कर खेद । पादारथ श्रुत पूर्वक घनै, ताको भेद कहत नहि वनै ॥४०॥
विश्व कौन कहिये अवभास, तीन लोक अरु पूर्ण प्रकास । पंचास्तिकाय कहिये किम भास, कौन पंचव्रत को समझास ॥४१॥
पंच समिति पुन कहिसौ कहीं, पंच ज्ञान सो क्यों सरदहीं । सप्त तत्व कहिये क्यों भेद, धर्म कौन विधि है वहु खेद ॥४२॥
सिद्धि निरूप वरणको सके, मारग विधि अनेक कहि थकै । कौन सरूप कहनकी नाहि, किहिकी भेद अनेक लखाहि ॥४३॥
तास जनित फल कहिये कौन, षट्कायी जीवन वहु जौन । षटलेश्याकी अधिकी रीत, श्रुतज्ञानको है मो भीत ॥४४॥
इहि प्रकार लख नहि जव जान, मनमें गौतम भय तव मान । जो कहूं अर्थ संभवै नाहि, तो मुहि मान जाय छिन माहि ॥४५॥
वीरनाथ सर्वज्ञ सुजान, विश्व तत्वके वेदक वान । तिनकर कथित काव्य गंभीर, तास अर्थको समरथ धीर ॥४६॥
यह द्विज सौं जो कीजे वाद, हारें जीतें होय विषाद । वुध सामान्य याहिको जान, मानभंग ही लहौ निदान ॥४७॥
अवहि चलो वनै उन पास, वादविवाद करै नहि हास । वे त्रिलोक स्वामी जिनराज, तिन समीप आवै नहि लाज ॥४८॥

दिशासे लेकर सभामण्डपके प्रथम कोष्ठ पर्यंत अनेक गणधर एवं मुनीश्वर क्रमवद्ध होकर वैठे हुये थे । दूसरे परकोष्ठमें अर्जिकाएं कल्पवासिनी इन्द्राणी इत्यादि देवियां वैठी हुई थीं. तीसरे परकोष्ठमें श्राविकाएं थी .चौथेमें ज्योतिषी देवोंकी देवियां वैठी हुई थी, पांचवेमें व्यन्तरोंकी देवियां, छठेमें प्रसाद निवासियोंकी पद्मावती इत्यादि देवियां, सातवेंमें भवन निवासी धरणेन्द्र इत्यादि देव, आठवेंमें इन्द्रोंसे युक्त व्यन्तर देव, नवमें इन्द्रोंसे युक्त चन्द्र-सूर्य इत्यादि ज्योतिषी देव दशवेंमें कल्प निवासी देव, ग्यारहवेंमें विद्याधर एवम् मनुष्य इत्यादि और वारहवें परकोष्ठमें सिंह-हरिण इत्यादि तिर्यंच वैठे हुए थे । इस प्रकार वारहों सभा मण्डपके प्रकोष्ठोंमें जीव समूह श्रेणिवद्ध होकर पृथक् पृथक् त्रिलोकिके गुरु महावीर प्रभुके सामने हाथ जोड़े हुए विनम्र भावसे प्रभुके उपदेश रूपी अमृतको पीकर पापाग्निके सन्तापको शान्त करने की इच्छासे वैठे हुए थे । सभा मण्डपमें उन सम्पूर्ण जीव समूहोंसे घिरे हुए जगत्पति श्रीमहावीर प्रभु धर्मात्माओंके वीचमें साक्षात् धर्म-मूर्तिके समान विराजमान थे और उनके अलौकिक आकर्षणसे सभी लोग प्रभावित थे ।

इसके वाद देवोंसे युक्त इन्द्र धर्मरूपी उत्तम रस प्राप्तिकी इच्छासे अत्यन्त विनम्र रूपसे जय जयकार करने लगे और प्रभुके सभा-मण्डपकी तीन वार प्रदक्षिणा करके श्रद्धाभवित पूर्वक उन जगद्गुरु भगवानके दर्शनकी इच्छासे सभा-मण्डपमें प्रविष्ट हुए । वह समवशरण भूमि भव्य जीवोंके लिए शरणस्वरूप थी । वहां पर पहुंच जानेके वाद इन्द्रादि देवोंने मानस्तम्भ महान् चैत्य वृक्ष एवं अन्य स्तूपोंमें प्रतिविम्वित जिनेन्द्र और अनेक श्रेष्ठ सिद्ध पुरुषोंकी मूर्तियोंका पवित्र प्रासुक जल इत्यादि पूजा
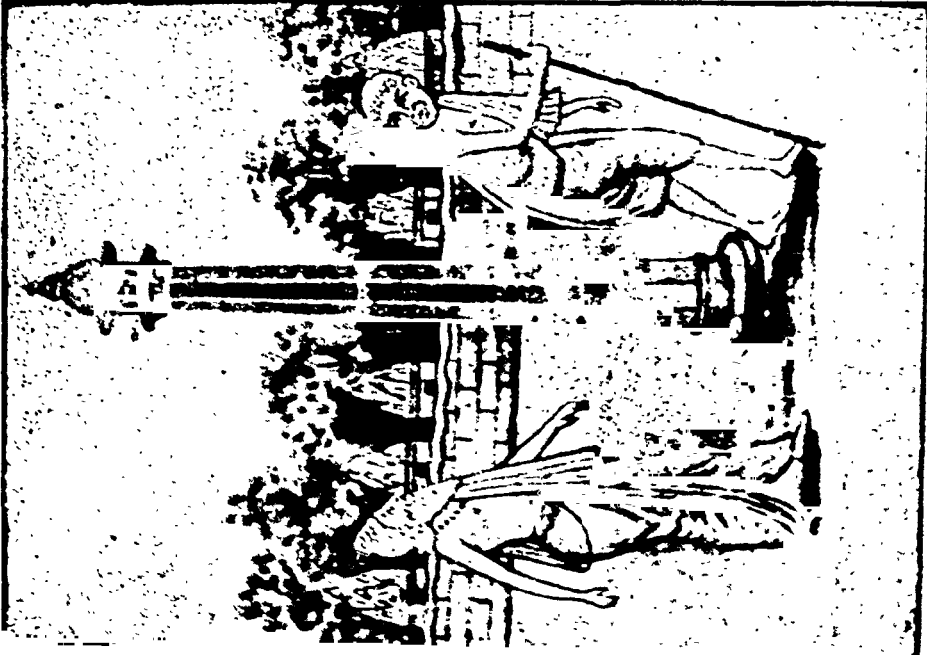
समवशरण में इन्द्र भूति ब्राह्मण पहुंचते ही मानस्तम्भ को देख कर मानगलित हो नीचे झुक कर नमस्कार करता है।
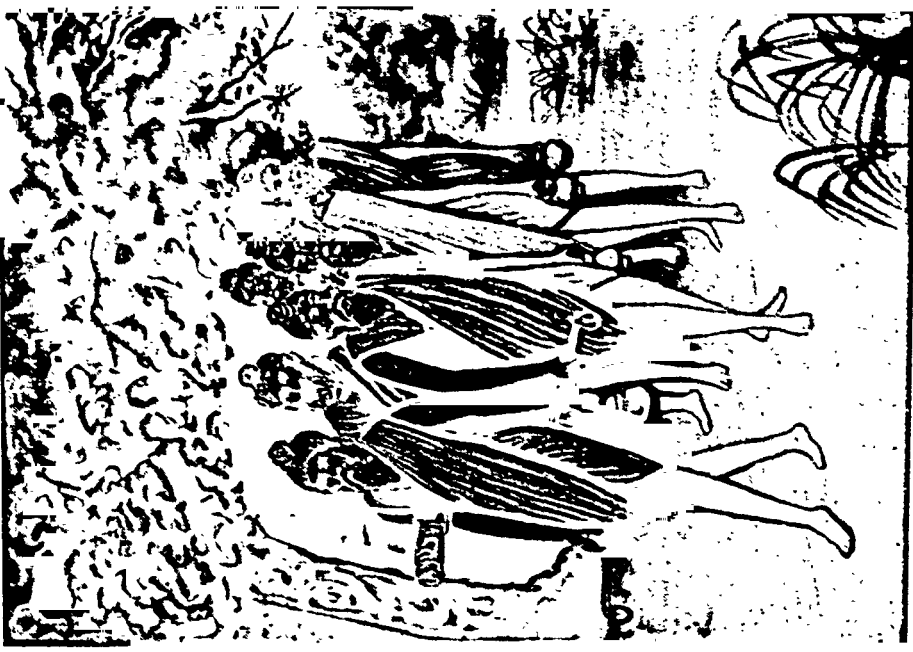
इन्द्र भूति ब्राह्मण अपने शिष्यों के साथ समवशरण में जा रहे हैं।

सप्तभंगी का वर्णन

गौतम का आगमन और प्रश्न का पूछना ।

वे पुरुषोत्तम ज्ञान भंडार, सब जग जानै तिन गुण सार। हार जीत शोभा दुहु ओर, मान भंग नहि हु है मोर ॥४९॥
इह प्रकारमन-मांहि विचार, विप्रहि प्रति वच ये उच्चार। तुम सौ काव्य अर्थ नहि कहौं, तुमरे गुरु प्रति उत्तर लहौं ॥ ५०॥
या कहि अपनी सभा मझार, शिष्य पंचसै सहित सिधार। चारों भ्रांत संग मद मोर, चाले सन्मति प्रभु की ओर ॥५१॥
गौमतके भ्राता द्वै और, वायुभूति अग्निभूति जु ठौर। पंच पंचसै शिष्यहि थाय, तीनों द्विज कोविद अधिकाय ॥५२॥
क्रम क्रम पथ चालें गुणवंत, तह मनमें विकलप जु करंत। द्विज आगे हम अर्थ न लहै, सो गुरु निकट सु किम हम कहैं ॥५३॥
यह चिंता कर कंप्यौ गात, समाधान फिर कीनौ भ्रात। वर्धमान गुरुके पद जोय, हानि वृद्धि हमको नहि होय ॥५४॥
तौलौं समोशरण बहु रंग, दीठयौ मानथंम उत्तंग। गलित भई चिन्ता जु अपार, मान पहार भयौ सुर छार ॥५५॥
भये भाव शुभ सुखको धाम, अति कोमल मार्दव परनाम। कीनों तहां प्रवेश जु आय, दिव्य विभूति देख द्विजराय ॥५६॥

दोहा

श्री जिनवरके दरशतैं, कहा न प्रापति होय। गौतम मिथ्या मत वम्यौ, पियो सुधारस सोय ॥५७॥
द्विज गौतम प्रभु गुण गरुव, सिंहासन पर देखि। चार ज्ञान झलकै तुरत, ज्यों दर्पण मुख देखि ॥५८॥
तीन प्रदक्षिण दे प्रभुहि, निज कर मस्तक धार। चरण कमलको प्रणमि कर, अष्ट अंग भुवि भार ॥५९॥
भक्ति सहित अस्तुति करी, तुम जग गुरुगण पाठ। सार्थ नाम भूषित सदा, सहस एक अरु आठ ॥६०॥

चौपाई

धर्मराज तुम चक्री धर्म, धर्मी महाधर्म किय धर्म। धर्म तीर्थ अरु कर्ता धर्म, धर्म वेद उपदेशक धर्म ॥६१॥
धर्म करावन धर्म सहित, स्वामी धर्म 'धर्म वित नित। धर्म अराधित धर्म सु ईश, धर्म मेंड बंधन धर्मीश ॥६२॥

द्रव्योंसे भक्ति पूर्वक पूजन किया। देवोंके द्वारा अत्यन्त उत्तमता पूर्वक रची गई समवशरण रचनाको देखकर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और देवोंके परकोष्ठमें प्रविष्ट हुए। उस ऐश्वर्यशाली सभा-मण्डपमें उत्तम स्थान पर रखे हुए श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान कोटि कोटि गुणोंसे युक्त एवं परम तेजस्वी चतुर्मुख श्रीमहावीर प्रभुको इन्द्रने निर्मिमेष नेत्रोंसे देखा। तदन्तर देवगणोंके साथ इन्द्रने श्रद्धा पूर्वक घुटनों को टेककर कर्म विनाशके लिये प्रभुको नमस्कार किया। साथ ही अनेक अप्सराओं के सहित इन्द्राणी आदि देवियोंने भी प्रसन्नता पूर्वक त्रिलोकिपति महावीर प्रभुको नमस्कार किया। जब देवोंके साथ इन्द्रादिने प्रभुको प्रणाम किया तब उनके मुकुटकी मणियों की प्रभा प्रभुके चरण कमलों पर पड़ी और इस विचित्र आभाके स्पर्शसे उनके चरण अत्यन्त शोभायमान हुए। प्रभुके गुणों पर अनुरक्त होकर इन्द्रादि देव अनेक उत्तम एवं अलौकिक पूजा द्रव्योंसे पूजा करनेके लिए प्रस्तुत हुए। एक देदीप्यमान स्वर्ण कलशकी टोंटीसे निर्मल जल धाराको प्रभुके पवित्र चरणों पर गिराने लगे और इस तरह अपने पापों की शुद्धि करनेमें प्रवृत हुए। पाद प्रक्षालन कर चुकनेके बाद इन्द्रने उत्कट भक्तिके वशीभूत होकर स्वर्गीय सुगन्ध युक्त घिसे हुए चन्दनसे भगवानके दिव्य सिंहासन अग्रभाग का भोग एवं मोक्ष प्राप्तिके निमित्त पूजन किया। आकाश मण्डलको अपनी किरणों से श्वेत कर देने वाले दिव्य मोतियोंके अक्षत पुंजको अक्षय सुखकी प्राप्तिकी कामनासे प्रभुके आगे चढ़ाया और कल्पवृक्षसे उत्पन्न स्वर्गीय पुष्पों को चढ़ाकर इन्द्रने सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली पूजा की। रत्ननिर्मित थालोंमें अमृत पिण्डसे बनाये गये नैवेद्य पदार्थोंको इन्द्रने प्रभुके सन्मुख उपस्थित किया और अपने सुख एवं कल्याण की कामना की। उन्होंने अन्धकारको दूर कर देने वाले रत्नमय दीपकोंको भी ज्ञान प्राप्तिकी इच्छासे प्रभुके आगे रखा। कृष्ण अगर आदि अनेक उत्तम सुगन्धित द्रव्योंसे बनायी हुई धूपवर्त्तिसे इन्द्रने धर्म प्राप्तिके लिये प्रभुके चरण कमलोंकी पूजा की। धूपके धुएंसे दसों दिशाएं सुर-भिमय हो उठीं। इसके बाद कल्पवृक्ष आदि सुर तरुओंमें उत्पन्न एवं नयनाभिराम उत्तम फलोंके द्वारा इन्द्रने फल प्राप्तिकी अभिलाषासे प्रभुकी पूजाकी और पूजाके अन्तमें असंख्यात पुष्पों की पुष्पांजलिसे प्रभुके चारों ओर पुष्प-वृष्टिकी। इसी समय इंद्राणीने प्रभुके सम्मुख पंचरत्नोंके चूर्ण द्वारा अपने हाथों से उत्तम सांथिया बनाया।

धर्म ज्येष्ठ धर्मातम नीत, धर्म भ्रात अरु धर्म सुगीत। धर्म भाग्य धर्मज्ञ सुजान, धर्माधिप श्री धर्म बखान ॥६३॥
महा धर्म तुम महा सुदेव, महानन्द मह ईश्वर भेव। महा तेज अरु मानी महा, महापवित्र महातप लहा ॥६४॥
महा आतमा दानी महा, जोगी महा महाव्रत लहा। महाज्ञान महाध्यानी सोय, महाकरुण मह कोविद जोय ॥६५॥
महाधीर महावीर सुजान, आर्य महा मह ईश बखान। महा दातृ महा रक्षक कह्यो, महाशर्म्म माहीश्वर लह्यो ॥६६॥
जगन्नाथ जगकरता देव, जगभर्ता जगपति गुण सेव। जगत जेष्ट जगमान्य जु सर्व, जगतसेव्य जग नम्रत तर्व ॥६७॥
जगत पूज्य जग स्वामी धार, जगवासी जग गुरु अविकार। जग बांधव जगजीत अपार, जगनेता जग प्रभु अवधार ॥६८॥
तीरथ कृत तीरथ भूतमा, तीरथ नाथ तीर्थ वित पमा। तीर्थंकर तीरथ आतम, तीर्थ ईश तीरथ कर नमा ॥६६॥
तीरथ नेत सु तीरथ ज्ञान, तीर्थ हृदय तीरथ पति जान। तीर्थराज तीर्थांकित सार, बांधव, तीर्थ, तीर्थ करतार ॥७०॥
तुम विश्वज्ञ विश्व तत्वज्ञ, व्यापि विश्व विश्ववित यज्ञ। विश्व अराध्य विश्व के ईश, विश्वलोक सु पितामह धीश ॥७१॥
विश्वाग्रणी विश्व आतमा, विश्व अर्च्य विश्वहि पति नमा। विश्वनाथ विश्वाढ्य बखान, विश्वभ्रत विश्वकृत जान ॥७२॥
हो सर्वज्ञ सर्व लोकज्ञ, दरशी सर्व, सर्व व्युत्पज्ञ। सर्व आतमा सब धर वेश, सर्वहि सर्व बुद्ध उपदेश ॥७३॥
सर्व देव धिप सब लोकीश, सर्व कर्महत है जगदीश। सब विद्याके ईश्वर पर्म, सर्व धर्मकृत सर्व सुशर्म ॥७४॥

पूजाकर चुकनेके बाद इंद्रने हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर स्वरमें प्रभुके गुणोंकी स्तुति करना आरम्भ किया। देव, तुम सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी हो। तुम्हीं गुरुओंके भी श्रेष्ठ गुरु हो, पूजनीयोंके भी परम पूज्य हो, एवं वन्दनीयोंके वन्द्य हो! योगियोंमें सर्वश्रेष्ठ योगी हो, गुणियोंमें उत्तम गुणवान् हो, और सभी धर्मात्माओंमें परमादरणीय धर्मात्मा हो। ध्यानियोंमें महा ध्यानी, यतियोंमें बुद्धिमान् यति, ज्ञानियोंमें महान् ज्ञानी, और स्वामियोंके भी स्वामी तुम्हीं हो। तुम जितेन्द्रिय हो। जिनोंमें जिनोत्तम होनेके कारण ध्येय एवं स्तुत्य तुम्हीं हो। दाताओंमें उत्तम दानी तुम्हीं हो और हितेच्छुकोंमें परम हितैषी तुम्हीं हो। संसारके भयसे त्रस्त पुरुषोंके रक्षक, शरण-हीन जीवोंके शरण दाता और सम्पूर्ण कर्मजालके नाशक आप ही हैं। मोक्षके पथ प्रदर्शक, जगतके कल्याण कर्त्ता और बान्धव विहीन जीवोंके अनन्यतम बन्धु आप ही हैं।

तीन लोकके उत्तम राज्यकी इच्छाके कारण महान् लोभी एवं मुक्ति रूपिणी स्त्रीकी अभिलाषा करनेके कारण अत्यन्त रागी आप हैं। सम्यक् दर्शनादिक रत्नोंका संग्रह आपने किया है, इसलिये आप महा परिग्रही हैं, कर्म रूपी शत्रुओंको नष्ट कर डालनेके कारण महाहिंसक हैं तथा कषाय एवं इन्द्रियोंको जीत लेनेके कारण आप महान् विजयी हैं। आप शरीरादिके विषयमें इच्छाहीन होकर भी लोकाग्र शिखरको चाहने वाले हैं, देवियोंके मध्यमें रहकर भी परम ब्रह्मचारी हैं और आप एक मुख होकर भी अतिशयके कारण चार मुख वाले दिखलायी पड़ते हैं। इस लोकमें श्रेष्ठ लक्ष्मीसे युक्त होने पर भी आप निर्ग्रंथराज हैं, और जगद्‌गुरु होनेके कारण अनुपमेय गुणोंके प्रधान आप ही हैं। हे देव, आज हमारा जीवन सफल हुआ और हम धन्य हुए। आपके दर्शनोंके लिये हमें जो यात्रा करनी पड़ी इससे हमारे दोनों पैर कृतकृत्य हो गये। तुम्हारी पूजा करनेसे हाथ और चरण कमलोंके दर्शन करनेसे हमारे नेत्र आज सफल हो गये।

प्रणाम करनेके कारण हमारा मस्तक, सेवा करनेके कारण हमारा शरीर एवं आपके गुणोंके वर्णन करनेके कारण हमारी वाणी सफल एवं पवित्र हो गयी। हे नाथ, आपके अनुपमेय गुणों के विचार करनेकी वजहसे हमारा मन भी निर्मल एवं पवित्र हो गया। हे प्रभो, जब आपके असंख्य गुणोंकी प्रशंसा गौतम आदि गणधर भी अच्छी तरह नहीं कर सकते तब हमारे जैसा मूढ़मति भला, आपकी स्तुति क्या कर सकता है? इसलिये मैं आपकी स्तुति क्या करूं? प्रभो, आप अनन्त गुणवाले हैं, सर्व-प्रधान है, जगद्‌गुरु हैं आपको कोटिशः प्रणाम है। आप परमात्म स्वरूप हैं, लोकों में उत्तम हैं, केवल ज्ञानरूपी महा राज्यसे अलंकृत हैं, अनन्त दर्शन स्वरूप हैं अतः आपको बार बार नमस्कार है। आप अनन्त सुख रूप हैं, अनन्त वीर्य रूप हैं और तीनों जगत्‌के भव्य जीवोंके मित्र हैं, अतः आपको पुनः पुनः नमस्कार है। आप लक्ष्मीसे बढ़े हुए हैं, सबका मंगल करने वाले हैं, अत्यन्त बुद्धिमान् हैं, श्रेष्ठ योद्धा हैं, तीनों जगत्‌के स्वामी हैं, और स्वामियोंके भी परम श्रद्धेय स्वामी हैं। आप लोकातिशय सम्पत्तिसे युक्त हैं, चमत्कार पूर्ण हैं, दिव्य देह एवं धर्मरूप हैं आपको कोटि कोटि नमस्कार है। आप धर्म-मूर्त्ति हैं, धर्मोपदेशक हैं, धर्मचक्र

दोहा

इत्यादिक तुम नाम शुभ, कहे मनोज्ञ वखान। सो वांछा नामावली, दीजै मुहि गुण खान ॥७५॥

चौपाई

भो प्रभु। तुम प्रतिविम्ब सु थान, कृत्रिम और अकृत्रिम जान। हेम रतनमय त्रय जग माहि, नमौं चरण अघ मूल नशाहि ॥७६॥
तुम प्रतिमा भो जिनवर देव, जे पूजैं थुतिकार नित सेव। भक्ति सहित प्रनमैं शिरनाय, ते त्रिलोक अधिपति पद पाय ॥७७॥
तुम प्रतच्छ पाय भो देव, पूजा थुति नुति कर नित सेव। निश दिन जो प्रनमैं तुम पाय, लहि असंख्य फल कही न जाय ॥७८॥
तुम तन निरुपम राजत सार, तीन जगत जन प्रिय करतार। कोटि भानुतैं द्युति अति होय, व्यापित भई दशों दिश सोय ॥७९॥
हे प्रभु! दीपति समित सरूप, विक्रिय रहित चतुर्मुख रूप। अन्त रहित गुण निरमल शोध, वाणी खिरै सभा संवोध ॥८०॥
तुमरै चरण परें जिहि थान, सोई सफल भूमि परवान। जगमें तीरथ उत्तम सोय, वंदनरेक मुनि सुर नर होय ॥८१॥
गर्भजन्म दीक्षा कल्यान, जहां होय प्रभू निर्मल थान। पूजनीक सो क्षेत्र पवित्र, तीरथ जगत परममें मित्र ॥८२॥
केवल ज्ञान अनंत प्रकाश, विश्व द्वीप उद्योतहि जास। लोकालोक जु व्यापित लही, अरु भव्यनि प्रति मुक्तें कही ॥८३॥
तुम प्रभु तीन जगत के स्वामि, सर्व तत्व वेदित शिवगामि। विश्व व्याप्त जगनायक देव, प्रनमैं पद सुर असुर जु सेव ॥८४॥

के प्रवर्तक हैं, अतएव हम आपको पुनः पुनः नमस्कार करते हैं। हे नाथ, इस प्रकार श्रद्धा भक्ति पूर्वक की गयी आपकी स्तुति और नमस्कार से आप हम पर प्रसन्न हों और आपकी समस्त गुण-राशि हमें प्राप्त हों और कर्म शत्रुओंका नाश करें साथ ही समाधिमरण रूपी श्रेष्ठ मृत्युको भी प्रदान करें।

इस प्रकार देवोंके सहित इन्द्र श्रीमहावीर प्रभुकी स्तुति, नमस्कार एवं भक्ति पूर्वक इष्ट प्रार्थना करके धर्मोपदेश सुनने के लिए अपने-अपने प्रकोष्ठ में बैठ गये तथा अन्य भव्य एवं देवियाँ भी कल्याण कामनासे हित प्राप्ति के लिये जिनेन्द्र प्रभु के सामने बैठ गयीं।

जब इन्द्र ने देखा कि बारह प्रकार के जीव समूह उत्तम धर्म सुननेकी इच्छासे अपने-अपने प्रकोष्ठ में बैठे हुए हैं और तीन प्रहरका समय व्यतीत हो जाने पर भी अर्हंतकी ध्वनि नहीं निकल रही है तब उसने विचार किया कि किस कारण ऐसा हो रहा है? ध्वनिमें कौन सी बाधा उपस्थित हो गयी है? जान पड़ता है अवधि ज्ञानके प्रभावसे कोई भी मुनीश्वर गणधर पद के उपयुक्त नहीं है। ऐसा सोचकर इन्द्र पुनः सोचने लगा कि कैसी आश्चर्यकी बात है कि इन बहुसंख्यक मुनीशोंमें कोई ऐसा सुयोग्य मुनीन्द्र नहीं है, जो प्रभुके मुखसे वहिर्भूत रहस्य पदार्थोंको सुनकर गणधर हो जाय और सम्पूर्ण द्वादशांग शास्त्र की रचनामें कृतकार्य हो सके।

इसके बाद इन्द्र को ज्ञात हुआ कि इसी नगरमें गौतम-कुल-भूषण गौतम नामका श्रेष्ठ ब्राह्मण है और वह गणधर होने के योग्य है। ऐसा विदित हो जाने पर वह सौधर्मेन्द्र परम प्रसन्न हुआ और उस द्विज श्रेष्ठ गौतमको सभा-मण्डपमें लाने के लिये कोई उत्तम उपाय सोचने लगा। अन्तमें इन्द्रने निश्चित किया कि वह गौतम विद्याभिमानी है यदि उसके पास ब्रह्म-पुरमें जाकर गूढ़ अर्थ वाले कुछ काव्य पूछे जांय तो जब उन गूढ़ श्लोकों का अर्थ नहीं मालूम होगा तब शास्त्रार्थ की इच्छासे वह स्वयं ही यहां आ जायगा। ऐसा सोचकर बुद्धिमान इन्द्र वृद्ध ब्राह्मण बन गया और हाथ में लाठी टेकता हुआ गौतम ब्राह्मण के पास जा पहुंचा और गौतमसे कहा कि ब्राह्मण, तुम तो बहुत विद्वान् जान पड़ते हो, तुम्हारे सदृश दूसरा कोई विद्वान् यहां नहीं दिखायी पड़ता। मेरे गुरु श्री महावीर इस समय मौन धारण किये हुए हैं, इसलिए एक काव्यके अर्थको पूछनेके लिए मैं तुम्हारे पास विद्वान् जानकर आया हूं, विचार कर कहो। इस काव्यके वास्तविक अर्थको समझ लेने में मेरा जीविकाका निर्वाह होगा, कितने ही भव्य-पुरुषोंका उपकार होगा और आप भी यश के भाजन होंगे। छद्मवेषी इन्द्र के वचन को सुनकर विद्वान् ब्राह्मण गौतमने कहा कि ऐ वृद्ध, यदि मैं तेरे काव्यका उचित अर्थ शीघ्र ही कर दूं, तो तू इसकी प्रतिक्रियामें क्या करेगा? इस बातके उत्तरमें इन्द्र ने कहा यदि मेरे काव्यकी समुचित व्याख्या तुम कर दोगे तो मैं विधि पूर्वक तुम्हारा शिष्यत्व (चेलापन)

केवल दर्शन व्यापित भयौ, अन्तातीत जगन्नुत जयौ। लोकालोक देख निज नैन, भावै सकल प्रजापति वैन ॥८५॥
तुम अनंत वीरज भगवान, अन्त रहित को लहै प्रवान। सकल दोष कर रहित जु ठाए, उपमातीत विराजत भए ॥८६॥
सुख अनंत प्रभु प्रापत भयौ, निरावाध तन निर्मल ठयौ। नर सुर असुर प्रगट नहि होय, सो समर्थ अक्षय तुम जोय ॥८७॥
जे दुख विषय हते जगमांहि, सो तुमको अतिशय भय नाहि। अग प्रतिहार्य जु अष्ट सहीत, सो है प्रभु तने परम प्रवीत ॥८८॥
इत्यादिक तुम गुण अधिकार, बुधजन वरन न पावै पार। तुम अस्तुति जु कथा मैं कही, हौ अगवय उपमा नहि लही ॥८९॥
भो प्रभु! नमौं जोर जुग पान, नमौं दिव्य मूरति गुन भान। जिन सर्वज्ञ नमौं शिर नाय, नमौं अनंत गुननके राय ॥९०॥
नमौं दोष हरता जिनदेव, नमौं जगत बांधव कर सेव। मंगलभूत नमौं पद दोय, लोकोत्तम प्रनमौं पुन सोय ॥९१॥
नमौं विश्व शरणादिक ईश, नमौं विश्वमूरति जगदीश। प्रनमौं वर्धमान जिनराय, प्रनमौं वीर स्वामि गुन गाय ॥९२॥

स्वीकार कर लूंगा। परन्तु यदि तुम यथार्थ भाव नहीं वतला सके तो? इन्द्रकी बात सुनकर उस गौतम ब्राह्मणने उत्तर दिया ऐ वृद्ध पुरुष, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि तुम्हारे काव्यका यदि मैं उचित व्याख्यान नहीं कर पाऊं तो इस पांच सौ की शिष्य मण्डली एवं अपने दोनों भाइयोंके साथ मैं भी अपने जगतप्रसिद्ध एवं वेद प्रतिपादित सनातन मतको छोड़कर तुम्हारे गुरुका शिष्य वन जाऊंगा। मेरी प्रतिज्ञा कभी असत्य नहीं हो सकती। फिर मेरे वचनके दो साक्षी भी तो हैं। यह इस नगरके स्वामी हैं और यह कश्यप नामका ब्राह्मण है। गौतमकी बात सुनकर उन दोनोंने कहा कि: ठीक है, कदाचित् मेरु पर्वत भी चलायमान हो सकता है परन्तु इस विद्वान् ब्राह्मणके सत्य वचन तुम्हारे श्री महावीर प्रभुकी हीं तरह अटल हैं। जब दोनों ही परस्पर वचन बद्ध हो चुके और अन्य प्रकार की भी कितनी ही बातें हो गयीं तब इन्द्रने गम्भीर स्वर में निम्नलिखित काव्य कहा—

"त्रैकाल्यं द्रव्यषटकं सकल गतिगणा सत्पदार्था नवैव,
विश्वं पंचास्ति काया व्रत सिमिति चिद: सप्ततत्वानि धर्मा:।
सिद्धेर्मार्ग: स्वरूपं विधि जनित फलं जीवषट्काय लेश्या,
एतान् य: श्रद्धधाति जिन वचन रतो मुक्तिगांभीरु भव्य: ॥१॥

इस इन्द्रके कहे हुए काव्यको सुनकर विद्वान् गौतम आश्चर्य-चकित हो गया। श्लोकका कुछ भी अर्थ उसकी समझमें नहीं आया। प्रतिष्ठा भंग के खयालसे वह मनमें ही तर्क वितर्क करने लगा यह काव्य तो बहुत ही कठिन है कुछ समझमें ही नहीं आता। श्लोकमें 'त्रैकाल्यम् शब्द है तो तीन काल कौन-कौनसे हो सकते हैं? इस त्रिकालमें उत्पन्न सभी वस्तुओं को जाने वही सर्वज्ञ है और वही इस काव्यका अर्थज्ञाता भी है। मैं भला, क्या जानूं? 'द्रव्यषटकं' में छ: द्रव्य कौन-कौन हैं? 'सकल गति गणा:' ये सम्पूर्ण गतियां कौन-कौनसी हैं? उनका स्वरूप क्या है? 'सत्पदार्था नव' में उत्तम नव पदार्थ कौन-कौनसे हैं। इसके पूर्व तो मैंने नव पदार्थोंके विषयमें कुछभी नहीं सुना। 'विश्व क्या है? यह सब विश्व ही तो है? या तीनों लोक विश्व हैं। कुछ निश्चय नहीं है। 'पंचास्ति काया:' में पांच अस्तिकाय क्या हैं? 'व्रत समिति चिद:' में व्रत क्या है! समिति किसे कहते हैं? ज्ञानका क्या स्वरूप है? इन सबका फल क्या है। और 'सप्त तत्वानि' में सात तत्व कौन-कौनसे हैं? 'धर्मा:' में धर्म क्या है? 'सिद्धेर्मार्ग:' में सिद्ध अथवा कार्य निष्पत्ति क्या है? उसका मार्ग क्या है? एक अथवा अनेक मार्ग हैं? 'स्वरूपं' में स्वरूप क्या है? 'विधि जनित फलं' में विधि क्या है? उससे उत्पन्न फल क्या है? 'जीव षट्काय लेश्या' में छ: प्रकारके जीव निकाय कौन-कौनसे हैं? छ: लेश्या क्या हैं? इन सब बातों को तो मैंने कभी नहीं सुना। फिर इन सबका लक्षण एवं स्वरूप मैं क्या जानूं? ये बातें तो हमारे वेद एवं स्मृति ग्रन्थों में कहीं नहीं हैं। उफ्! इस छोटेसे काव्यमें तो सब सिद्धान्त ही भरे पड़े हैं। यह बुड्ढा तो सिद्धान्त-समुद्रका सारा रहस्य ही हमसे काव्यके बहाने पूछ रहा है। अब मैं स्वीकार करता हूं कि, इस छोटेसे काव्यका गूढ़ार्थ उस सर्वज्ञ एवं उसके सुयोग्य शिष्यके सिवा दूसरा कोई कदापि नहीं कह सकता है। यदि मैं इस बुढ़ेको अर्थ नहीं बताता तो प्रतिष्ठा घटती है। इसलिए इसके गुरुसे ही शास्त्रार्थ करना चाहिए। ऐसा सोचकर गौतम ब्राह्मणने इन्द्रसे कहा— मैं इस विषयमें तुमसे विवाद न कर तुम्हारे गुरुसे ही शस्त्रार्थ करूंगा। ऐसा कहकर काललब्धि (उत्तम भवितव्यता) के वशीभूत होकर गौतम विप्र अपने पांच सौ शिष्यों एवं दोनों भाइयोंके साथ श्रीमहावीर प्रभुसे सभा मण्डपमें जाकर वाद करनेके लिए घर से निकल पड़ा।

प्रनमौं सन्मति मति दातार, नमौं विश्व हित करता सार। नमौं त्रिजग गुरु चरण महेश, नमौं नंत गुण वारिधि तेश ॥९३॥
यहि विधि तुव अस्तवन बखान, कीनौं भक्ति राग उर आन। तुम सुखदायक श्रीपति सेव, जाचैं तीन लोक भवि जीव ॥९४॥
एक जनम सुख कैतिक कह्यौ, सदा शासतौ पद तुम लह्यौ। सुख अनन्त प्रापत भए आय, तीन जगत जिय प्रण मैंपाय ॥९५॥

गीतिका छन्द

त्रिदशपति तुम चरण पूजत, धर्म तीरथ उद्धरै। कर्म अरि जब नाश कीनौं, सुभट पद तब सुद्धरै॥
तुम प्रवीण त्रिलोक करता, गुणन निधि कर लेखिये। संसारसागर रुलत जे जिय, तुम जहाज विशेखिये ॥९६॥
ज्ञान दर्शन रतन पायौ, विवुध पति सेवा करैं। कुमति शत्रु निवारकैं, प्रभु धर्म मारगको धरैं॥
कह्यौ गौतम स्तवन जिनवर चरण कमलनिकौ नयौ। 'नवल' इमि कर जोर विनवै, भक्ति तव भव भव लयौ ॥९७॥

वह बुद्धिमान् गौतम ब्राह्मण मार्गमें जाते हुए सोचता जाता था कि जब यह वृद्ध ब्राह्मण ही दुर्जेय है तब इसका गुरु तो और भी महा असाध्य होगा। अस्तु चलना ही चाहिये। उस महापुरुष के संसर्ग से अच्छा ही होगा, हानि क्या होगी? ऐसा विचारता हुआ वह पुण्योदयसे संसारको आश्चर्य चकित कर देनेवाले अत्यन्त उन्नत मानस्तम्भको देखा। उस मानस्तम्भके दर्शनसे गौतमकी मान-लिप्सा इस तरह नष्ट हो गयी जिस तरह वज्रपातसे पर्वत श्रेणियां शतधा विभक्त होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। शुभमृदु परिणाम प्रादुर्भूत हुआ। इसके बाद उस गौतम ब्राह्मण ने अति विशुद्ध परिणामोंसे युक्त होकर सभामण्डपकी विपुल विभूतियोंको देखा और आश्चर्य चकित होकर वह उस अलौकिक सभा मण्डपमें प्रविष्ट हुआ। जब सभा-मण्डपमें प्रविष्ट होकर उस उत्तम विप्रने प्रभुको अनेक ऋद्धियों एवं जीव समूहोंसे घिरे हुए रत्न सिंहासन पर बैठे हुए देखा तब वह अनुरक्तिसे अभिभूत हो गया और भक्ति पूर्वक जगत्गुरु महावीर प्रभुकी तीन प्रदक्षिणा देकर बादमें प्रणाम किया। फिर अंजलिवद्ध होकर अपनी सिद्धिके लिये प्रभुके सार्थक नामोंसे स्तुति करने लगा—हे भगवन्, तुम जगत्के स्वामी हो, एक हजार आठ नामोंसे अलंकृत होने पर भी नाम-रूपी कर्मके नाशक हो। सम्पूर्ण अर्थोका ज्ञाता बुद्धिमान् पुरुष यदि आपके एक ही नामसे विशुद्ध अन्तःकरण होकर आपकी स्तुति करता है तो वह भी आपके ही समान गुणोंसे युक्त होकर शीघ्र ही आपके सम्पूर्ण नामोंको और उनके फलोंको पा सकता है। इसलिये हे प्रभो, मैं आपके एक सौ आठ सुन्दर नामोंसे श्रद्धाभक्ति पूर्वक आपकी स्तुति करता हूं।

हे भगवन्, आप धर्मराजा, धर्मचक्री, धर्मा, धर्माग्रणी; धर्मतीर्थ-प्रवर्तक, धर्मनेता, और धर्मेश्वर हैं। तथा धर्मकर्ता, सुधर्माढ्य, धर्मस्वामी, सुधर्मवित, धर्माराध्य, धर्मीश, धर्मेड्य, धर्मबान्धव, धर्मि—ज्येष्ठ, अतिधर्मात्मा, धर्मभर्ता सुधर्मभाक, धर्मभागी, सुधर्मज्ञ, धर्मराज, अतिधर्मधीर; महाधर्मी, महादेव, महानाद, महेश्वर, महातेजा, महामान्य, महापूत, महातपा, महात्मा, महादान्त, महायोगी, महाव्रती और महाध्यानी हैं एवं महाज्ञानी महाकारुणिक, महान्, महाधीर, महावीर, महर्द्धिक, महेशिता, महादाता, महात्रांता, महाकर्मा, महीधर, जगन्नाथ, जगद्धर्ता, जगत्कर्ता, जगत्पति, जगज्ज्येष्ठ, जगन्मान्य, जगत्सेव्य, जगन्नुत, जगत्पूज्य, जगत्स्वामी, जगदीश, जगद्गुरु, जगद्बन्धु, जगज्जेता, जगन्नेता, जगत्प्रभु, तीर्थकृत, तीर्थकृतात्मा, तीर्थनाथ, सुतीर्थवित् तीर्थङ्कर, सुतीर्थात्मा, तीर्थेश, तीर्थकारक, तीर्थनेता, सुतीर्थज्ञ, तीर्थार्ह्य, तीर्थनायक, तीर्थराज, सुतीर्थाधिप, तीर्थभृत, तीर्थकारण, विश्वज्ञ, विश्वतत्वज्ञ, विश्वव्यापी, विश्वविद्, विश्वाराध्य, विश्वेश, विश्वलोकपितामह, विश्वाग्रणी विश्वात्मा, विश्वार्च्य, विश्वनायक, विश्वनाथ, विश्वेड्य, विश्वधृत, विश्वधर्मकृत्, सर्वज्ञ, सर्वलोकज्ञ, सर्वदर्शी, सर्ववित्, सर्वात्मा: सर्वधर्मज्ञ, सार्व, सर्वबुधाग्रणी, सर्वदेवाधिप, सर्वलोकेश, सर्वकर्महृत् सर्वविघ्नेश्वर, सर्वधर्मकृत सर्वशर्मभाक् आप ही हैं।

हे त्रिजगत्पति, इन पूर्वोक्त अष्टोत्तरशत (१०८) नामों से मैंने आपकी स्तुति की। आप हमारे ऊपर दया करें और अपने समान बनावें। हे देव, तीनों लोकमें स्वर्ण एवं रत्नोंकी जितनी भी कृत्रिम अकृत्रिम आपकी प्रतिमाएं हैं। उन सबकी सदैव मैं स्तुति, पूजा एवं स्मरण किया करता हूं। हे प्रभो, जो प्राणी भक्ति पूर्वक आपकी पूजा, स्तुति एवं नमस्कार किया करते हैं वे त्रिलोकी के स्वामी हो जाते हैं। जो कि साक्षात् परिमूर्ति आपकी ही स्तुति पूजा एवं नमस्कार किया करते और अहर्निश सेवा किया करते हैं उन भव्य श्रेष्ठोंको कितना अधिक फल मिलता होगा इसकी गणना मैं नहीं बतला सकता। हे नाथ, इस लोकमें जितने भी श्रेष्ठ एवं स्निग्ध परमाणु पुंज हैं उनको सर्वात्मा एकत्र करके ही आपके अलौकिक सुन्दर शरीरका निर्माण

दोहा

इत्यादिक प्रभु अस्तवन, पूजा वसुविध धार। निज कोठा में थिर भये, सन्मुख जिनहि निहार ॥९८॥

चौपाई

अब श्री गौतम प्रश्न करेव, प्रभुको फेर नमो कर सेव। भो स्वामी तुम जगत महेश, कहिये सभा धर्म उपदेश ॥९९॥

जीव तत्व कहिये प्रभु आदि, ताके लक्षण कहा अनादि। कहा अवस्था कहिये सोय, गुण अरु भेद बताओ दोय ॥१००॥

हुआ है। आपका यह उत्तम शरीर सम्पूर्ण जगत्को अत्यन्त प्रिय है और कोटि सूर्यके बराबर तेज पुंजके प्रकाशसे सकल दिशाओं को आलोकित किया करता है। यह आप का देदीप्यमान मुख मण्डल निर्विकार एवं साम्य सूचक होकर मनकी अत्यन्त आन्तरिक विशुद्धिको बतला रहा है। हे जगद्गुरो इस पृथ्वीके जिस जिस स्थान पर आपने अपना चरणारविन्द रखा है, वे सब संसारके पवित्र तीर्थ स्थान हो गये हैं और सदैव उस स्थानको मुनि-देव लोग वन्दना किया करते हैं। इसी तरह हे नाथ, जिन क्षेत्रोंमें आपके जन्म कल्याणोत्सव मनाये गये हैं वे सब अति पवित्र एवं श्रद्धास्पद तीर्थ स्थान हो गये हैं। देश काल धन्य है

---

१. वीर-उपदेश

"I request you to understand the teachings of Lord Mahavira, think over them and translate them into action".

—Father of the Nation, Shri Mahatma Gandhi.

"जिस प्रकार वृक्षों के समूह को वन, सिपाहियों के समूह को फौज और स्त्री-पुरुषों के समूह को भीड़ कहते हैं, उसी प्रकार जीव और अजीव के समूह को संसार अथवा जगत (universe) कहते हैं। अजीव के पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश पांच भेद हैं। इसलिये जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश इन छः द्रव्यों (Substances) के समूह से 'जगत्' कोई भिन्न पदार्थ नहीं है।

मृत्यु से आत्मा की पर्याय (शरीर) का परिवर्तन होता है, आत्मा नष्ट नहीं होती। कर्मानुसार दूसरा चोला बदल लेती है। जैसे सोने का कड़ा तुड़वाकर हार बनवाया, हार तुड़वाकर डली बनवाई, कड़ा और हार की अवस्था तो बदल गई परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से सोने का नाश नहीं हुआ। तीनों अवस्थाओं में सोना मौजूद रहा, वैसे ही द्रव्य की अवस्था चाहे बदल जाये, परन्तु किसी द्रव्य का नाश नहीं होता और जब द्रव्य नित्य और अनादि है तो द्रव्यों का समूह यह जगत भी अनादि और अकृत्रिम है।

संसार में यह जीव कर्मानुसार भ्रमण कर रहा है। अनन्तानंत वर्षों तक यह निगोद में रहा जहां एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण के महा दुःख सहे। जिस प्रकार एक भड़भूजे की भट्टी से कोई दाना किसी प्रकार तिड़ककर बाहर निकल पड़ता है उसी प्रकार बड़ी कठिनाईयों से यह जीव निगोद से निकला तो एकइन्द्रीय स्थावर, जीव हुआ। जैसे चिन्तामणी रत्न बड़ी कठिनाई से मिलता है उसी प्रकार त्रस जीवों का शरीर पाना बड़ा दुर्लभ है। इस जीव ने कीड़ी, भौंरा, भिरड़, आदि शरीरों को बार बार धारण करके महा दुःख सहा। कभी यह बिना मन का पशु हुआ। कभी मन सहित शक्तिशाली सिंह, भौंरा आदि पांच इन्द्रिय पशु हुआ। तब भी उसने कमजोर पशुओं को मार मारकर खाया और हिंसा के पाप-फल को भोगता रहा और जब यह जीव स्वयं निर्बल हुआ तो अपने से प्रबल जीवों द्वारा बांधे जाने, छेदा जाने, भेदा जाने, मारा पीटा जाने, अति बोझ उठाने तथा भूख-प्यास आदि के ऐसे महादुःख पशु पर्याय में सहन करने पड़े, जो करोड़ों जबानों से भी वर्णन न किये जा सकें और जब खेद से मरा तो नरक में जा पड़ा, जहां कि भूमि को छूने से ही इतना दुःख होता है जो हजारों सर्पों और बिच्छुओं के काटने पर भी नहीं होता। नरक में नारकीय एक दूसरे को मोटे डन्डों से मारते हैं, बरछियों से छेदते हैं और तलवारों से शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। नारकीयों का शरीर पारे का होता है, फिर जुड़ जाता है, इसलिये फिर वही मार काट। इस प्रकार हजारों साल तक नरक के महा दुःख भोगे।

यदि किसी शुभ कर्म से मनुष्य पर्याय भी मिल गई तो यहां माता के पेट में बिना किसी हलन-चलन के सिकुड़े हुए नौ महीनों तक उल्टा लटकना पड़ा। दरिद्रता में पैसा न होने और अमीरता में तृष्णा का दुःख। कभी स्त्री तथा संतान न होने का खेद। यदि यह दोनों वस्तु प्राप्त भी हो गई तो नारी के कलहारी और संतान के आज्ञाकारी न होने का दुःख। कभी रोगी शरीर होने की परिपय, तो कभी इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग के दुःख। बड़े से बड़ा सम्राट, प्रधान मन्त्री आदि जिसको हम प्रत्यक्ष में सुखी समझते हैं, शत्रु के भय तथा रोग-शोक आदि महा महा दुःखों से पीड़ित है।

तिनकी कहा कही परजाय, थिति संसार मोक्ष को पाय। अजीव तत्व है कै प्रकार, सबके गुण कहिये विस्तार ॥१०१॥
आस्रव आदि तत्व के और, कै सुख करता कैं दुख ठोर। कौन तत्वफल लक्षण कौन, करता कौन कहो प्रभु तौन ॥१०२॥
कौन तत्व को साधै मोख, कौन करम नारक दुख पोख। कौन करम तिर्यंच जु होय, कौन क्रिया कर स्वर्ग संजोय ॥१०३॥
कि शुभ कर्म मनुपगति लहै, कौन दानतैं भोग भोग है। अस्त्रीलिंग क्षीण किम होइ, सो आचरण बताओ मोइ ॥१०४॥

जिनमें आपका गर्भादि कल्याण एवं केवल ज्ञानका प्रादुर्भाव हुआ। आपका वह केवल ज्ञान सम्पूर्ण संसारके लिये अज्ञेय एवं अव्यापक है। इसलिये आकाश मात्र ही में व्याप्त होकर वह स्थित है। इसलिये संसारके भव्योंके द्वारा आप सर्वज्ञ एवं संसारके सम्पूर्ण रहस्योंको जानने वाले तथा इस अनन्त विश्वके स्वामी माने गये हैं। हे स्वामिन् आपका केवलज्ञान अनन्त है और जगवन्द्य हैं। यह भी लोक अलोकको देखकर केवल ज्ञानकी ही तरह है। हे प्रभो, आपका अनन्त वीर्य सकल दोषोंसे वर्जित है। सारे पदार्थोंके दर्शन होने पर भी यह अनुपम बना हुआ है। देव आपका अक्षय एवं परमोत्तम सुख निर्बाध है। वह इन्द्रियातीत एवं अनुपमेय होनेके कारण संसारिक जीवोंके लिये अनुभव गम्य नहीं हो सका। हे महावीर प्रभु, आपके ये चारों अनन्त गुण

स्वर्ग को तो सुखों की खान बताया जाता है। यह जीव स्वर्ग में भी अनेक बार गया, परन्तु जितनी इंद्रियों की पूर्ति होती गई उतनी ही अधिक इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण वहां भी यह व्याकुल रहा, दूसरे देवों की अपने से अधिक शक्ति और ऋद्धि को देखकर ईर्षा भाव से कुढ़ता रहा। इस प्रकार यह संसारी जीव अपनी आत्मा के स्वरूप को भूलकर देव, मनुष्य, पशु, नरक, चारों गतियों की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुये कषायों को अपनी आत्मा का स्वभाव जानकर उनमें आनन्द मानता रहा। स्वर्ग में गया तो अपने को देव, पशु गति में अपने को नारकीय समझता रहा। मनुष्य गति में भी राजा, सेठ, वकील, डाक्टर, जज, इंजीनीयर जो भी पदवी पाता रहा उसको अपना स्वरूप मानता रहा। क्षण भर भी यह विचार नहीं किया कि मैं कौन हूं? मेरा असली स्वरूप क्या है? मेरा कर्तव्य क्या है? यह संसार क्या है? मैं इसमें क्यों भ्रमण कर रहा हूं? इस आवागमन के चक्कर से मुक्त होने का उपाय क्या हो सकता है?

देव हो या नारकीय, मनुष्य हो या पशु, राजा हो या रंग हाथी हो या कीड़ी, आत्मा हर जीव में एक समान है। शरीर आत्मा से भिन्न है। जब यह शरीर ही अपना नहीं और जीव निकल जाने पर यहीं पड़ा रह जाता है, तो स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि जो प्रत्यक्ष में अपनी आत्मा से भिन्न हैं, अपनी कैसे हो सकती हैं? संसारी पदार्थों की अधिक मोह-ममता के कारण ही अज्ञानी जीव निज-पर का भेद न जानकर अपने से भिन्न पदार्थों को अपनी मान बैठता है।

इस विश्वास का कि पर-द्रव्य मेरे हैं, मैं उनका बुरा या भला कर सकता हूं, यह अर्थ है कि जगत में जो अनन्त पर-द्रव्य हैं, उनको पराधीन माना। पर द्रव्य मेरा कुछ कर सकता है, इसका मतलब यह है कि अपने स्वभाव को पराधीन माना। इस मान्यता से जगत के अनन्त स्वभावों की स्वाधीनता की हत्या हुई। इसलिये इसमें अनन्त हिंसा का पाप है।

जगत के पदार्थों को स्वाधीन की जगह पराधीन मानना तथा जो अपना स्वरूप नहीं, उसको अपना स्वरूप मानना अनन्त झूठ है।

जिसने अनंत पर-पदार्थ को अपना माना उसने अनन्त चोरी का पाप किया। 'एक द्रव्य दूसरे का कुछ कर सकता है' ऐसा मानने वाले ने अनन्त द्रव्यों के साथ एकता रूप व्यभिचार करके अनन्त मैथुन सेवन का महापाप किया है। जो अपना न होने पर भी जगत के पर पदार्थों को अपना मानता है, वह अनन्त परिग्रहों का महापाप करता है। इसलिये पर पदार्थों को अपना जानना और यह विश्वास करना कि मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूं या वह मेरा भला-बुरा कर सकते हैं, जगत का सबसे बड़ा महापाप और मिथ्यात्व है।

तीन लोक के नाथ श्री तीर्थंकर भगवान कहते हैं "मेरा और तेरा आत्मा एक ही जाति का है। मेरे स्वभाव और गुण वैसे ही हैं जैसे तेरे स्वभाव और गुण। अर्हन्त अथवा केवल ज्ञान दशा प्रकट हुई वह कहीं बाहर से नहीं आ गई। जिस प्रकार मोर के छोटे से अण्डे में सारे तीन हाथ का मोर होने का स्वभाव भरा है उसी प्रकार तेरी आत्मा में परमात्म पद प्रकट करने की शक्ति है। जिस तरह अण्डे में बड़े-बड़े जहरीले सर्प निगल जाने की शक्ति है उसी तरह तेरी आत्मा में मिथ्यात्व रूपी विष को दूर करके अर्हन्त पद अथवा केवल ज्ञान प्रकट करने की शक्ति है। परन्तु जैसे यह शंका करके कि छोटे से अण्डे में इतना लम्बा मोर कैसे हो सकता है उसे हिलाने-डुलाने से उसका रस सूख जाता है और उससे मोर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही आत्मा के स्वभाव पर विश्वास न करने तथा यह शंका करने से कि मेरा यह संसारी आत्मा सर्वज्ञ भगवान के समान कैसे हो सकता है, तो ऐसी मिथ्यात्व रूपी शंका करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

सम्यग्दर्शन अनुपम सुखों का भण्डार है, सर्व कल्याण का बीज है, पाप रूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी के तथा संसार रूपी सागर

पुरुषवेदतैं नारी होइ, दुराचार भाषो प्रभु साय। पंगु अन्ध बहिरो पूनि कोइ, विकल मूर्ति मूका जिम होइ ॥१०५॥
रोगी कोई निरोगी जीव, रूपवंत विन रूप अतीव। दुर्भग सुभग कौन विधि जान, सुधी कुधी मूरख किन मान ॥१०६॥
अशुभ चित्त शुभ चित्ती केम, क्यों भोगी अनभोगी जेम। धर्मवंत अरु पापी कहो, धनी निर्धनी किहि विधि लह्यो ॥१०७॥
कौन कर्म जिय लहै वियोग, कौन धर्मतें सुजन संयोग। किं दाता किं कृपण जु होय, किं गुणवन्त विना गुण कोय ॥१०८॥

अनन्य एवं असाधारण हैं केवल मात्र आपमें ही ये गुण हैं। यद्यपि आप कामना शून्य है तथापि संसारके सम्पूर्ण पदार्थों से श्रेष्ठ प्रतिहार्यादि आठ सम्पदाएं आपके पास अतिशय शोभा सम्पन्न होकर विराज रहे हैं। इनके अतिरिक्त और भी अन्य आपके असङ्ख्य गुण तीनों लोकमें अद्वितीय हैं फिर हमारे जैसे मूढ़मति एवं स्वल्प ज्ञानी आपके उन अनुपम गुणोंकी प्रसंशा किस प्रकार सफलता पूर्वक कर सकते हैं। हे प्रभो ! जैसे कि मेघोंकी जलधारा, आकाशके तारा मण्डल समुद्रकी तरङ्गोंकी एवं सांसारिक जीवोंकी गणना कदापि नहीं की जा सकती है वैसे ही आपके गुण भी असंख्य एवं अनन्त हैं इसलिये आपकी स्तुति में किस प्रकार

से पार उतरने के लिये जहाज के समान है, मिथ्यात्व रूपी अन्धेरे को दूर करने के लिये सूर्य और कर्म रूपी ईन्धन को भस्म करने के लिए अग्नि है। जो क्रोध, मान, लोभ, इच्छा, राग-द्वेष आदि कषायों से पीड़ित तथा इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग से मूर्छित हैं, उनके लिए सम्यग्दर्शन से अधिक कल्याणकारी और कोई औषधि नहीं। जो ज्ञान और चारित्र के पालने में प्रसिद्ध हुए हैं, वे भी सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सके ? सम्यग्दर्शन के भाव से पशु भी मानव है और उसके अभाव से मानव भी पशु है। जितने समय सम्यग्दर्शन रहता है उतने समय कर्मों का बंध नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन रूपी भूमि में सुख का बीज तो बिना बोये ही उग जाता है, परन्तु जैसे बंजर भूमि में बीज गिरने पर भी फल की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी भूमि पर दुख का बीज गिर जाने पर भी कदाचित् फल नहीं दे सकता। यदि एक क्षण मात्र भी सम्यग्दर्शन प्रकट कर लिया जाय तो मुक्ति हुए बिना नहीं रह सकती। सम्यग्दर्शन वाले जीव का ज्ञान सम्यग्ज्ञान, चारित्र सम्यग्चारित्र स्वयं हो जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र तीनों का समूह रत्नत्रय है और रत्नत्रय मोक्ष मार्ग है। इसलिये सम्यग्दर्शन एक बार भी धारण हो जाये तो इच्छा न होने पर भी यदि हो सका, तो उसी भव में; अन्यथा अधिक से अधिक १५ भव में मोक्ष अवश्य प्राप्त कर लेता है।

पदार्थ के समस्त अंगों को सम्पूर्णरूप से जानने के लिये जीव का अनेकान्तवादी अथवा स्याद्वादी और आत्मा के स्वाभाविकगुणों को ढकनेवाले कर्मरूपी परदे को हटाने के लिये अहिंसावादी होना जरूरी है, अहिंसा को पूर्णरूप से संसारी पदार्थों और उसकी मोह-ममता के त्यागी निर्ग्रंथ नग्न साधु ही भली भांति पाल सकते हैं। इसलिये जो अपनी आत्मा के गुणों को प्रकट करने तथा अविनाशी सुख-शान्ति की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें अवश्य निज और पर का भेद-विज्ञान विश्वासपूर्वक जानकर मुनि-धर्म का पालन करना उचित है, परन्तु जो जीव संसारी पदार्थों की मोह-ममता अनादि अनादि काल से करते रहने की आदत के कारण एकदम निर्ग्रंथ साधु होने की शक्ति नहीं रखते, वे गृहस्थ में रहते हुए ही संसारी पदार्थों की मोह-ममता कम करने का अभ्यास करने के लिए सप्तव्यसन का त्याग करके आठ मूल गुण श्रावक के बारह व्रत अवश्य धारण करें। जैसे जल बिना बावड़ी, कमल बिना तालाब और दांत बिना हाथी शोभित नहीं वैसे ही तप-त्याग शील संयम आदि के बिना मनुष्य जन्म शोभा नहीं देता। जितनी अधिक श्रद्धा और रुचि इनमें बढ़ेगी, उतनी ही अधिक शान्ति, संतोष और वीतरागता उत्पन्न होगी। इस प्रकार धीरे-धीरे ११ प्रतिमाएँ पालते हुए जिन-दीक्षा लेकर निर्ग्रन्थ मुनि-धर्म पालने का यत्न करना चाहिये।

संसारी पदार्थों में सुख मानने वाला लोभी जीव स्वर्ग प्राप्ति की अभिलाषा करता है, परन्तु स्वर्गों में सच्चा सुख कहां ? जिस प्रकार क्षीर सागर का मीठा और निर्मल जल पीने वाले को खारी बावड़ी का जल स्वादिष्ट नहीं लगता, उसी प्रकार मोक्ष के अविनाशी तथा सच्चे सुखों का स्वाद चखने वालों को संसारी तथा स्वर्ग के सुख आनन्ददायक नहीं होते। इसलिये सम्यग्दष्टि देव तथा देवों के भी देव इन्द्र तक मनुष्य जन्म पाने की अभिलाषा करते हैं कि कब स्वर्ग की आयु समाप्त होकर हमें मनुष्य जीवन मिले और हम तप करके कर्मों को काटकर मोक्ष रूपी अविनाशी सुख प्राप्त कर सकें। कर्म बांधने के लिये तो चौरासीलाख योनियां हैं, परन्तु कर्म काटने के लिये केवल एक मनुष्य-पर्याय ही है। मनुष्य जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है। निगोद से निकलते के बाद अरबों-खरबों वर्षो में अधिक से अधिक सोलह बार मनुष्य जन्म मिलता है और यदि इनमें मोक्ष की प्राप्ति न हुई तो नियमानुसार यह जीव फिर निगोद में अवश्य चला जाता है, जहां से फिर निकलकर आना इतना दुर्लभ है जितना चिन्तामणि रत्न को अपार सागर में फेंककर फिर उसको पाने की इच्छा करना। जिस प्रकार मूर्ख पारस पथरी की कीमत न जानकर उसे फ़ेंक देता है, उसी प्रकार धर्म पालने पर नौकरी नहीं लगी, मुकदमा नहीं जीता गया, सन्तान नहीं हुई, बीमारी नहीं गई, धन नहीं मिला तो धर्म छोड़ना पारस पथरी फेंकने के समान है। धर्म अवश्य अपना सुन्दर फल देगा, यह तो पहले पाप-कर्मों की तीव्रता है जो धर्म पालने पर भी तुरन्त संसारी सुख नहीं मिलते। इसमें धर्म का दोष नहीं। श्रावक-धर्म पालने से धन-सम्पत्ति, सुन्दर स्त्रियां, आज्ञाकारी पुत्र, निरोग शरीर तथा राज-

पर चाकर नर किहि विधि होय अरु स्वामित्व लहै किम कोय। कौन पापतिहिं पुत्र न जिये, अरु वन्ध्या नारीका किये ॥१०६॥
कैसे पुत्र होय चिरजीव, किम कातर किम धीर अतीव। कौन करम तैं निन्द्य अपार, किम आचरण लहै जस भार ॥११०॥
शीलवंत नर कैसे होइ, अरु कुशील किम पावै सोइ। क्यों कर सत संगतिको पाय, लहै कुसंगति किहि विधि आय ॥१११॥
होय विवेकी किहि परकार, मूढ़ होय नर किहि संसार। लहैं श्रेष्ठ कुल किहि कर जीव, कौन पाप कुल निंद्य अतीव ॥११२॥

कर सकता हूं ? आपके गुणोंकी यथा स्थितिको तो गणधर भी नहीं जान पाते फिर दूसरोंको भी वे क्या बतला पायेंगे ? यथार्थ स्तुति तो हमसे होगी नहीं फिर व्यर्थ प्रयासके क्या लाभ ? हे देव, आपको नमस्कार है। प्रभो आप, दिव्य मूर्ति हैं, सर्वज्ञ हैं और अनन्त गुण स्वरूप हैं आपको बरबार नमस्कार हैं। आप दोषहीन, परम-बन्धु, मङ्गल स्वरूप, लोकोत्तम, जगत् शरण एवं मन्त्रमूर्ति हैं आपको कोटिशः प्रणाम है। आप वर्द्धमान स्वरूप हैं आपको नमस्कार है। आप महावीर हैं, सन्मति हैं, विश्वके हित स्वरूप हैं, तीनों जगत्के गुरु हैं, अनन्त सुखके समुद्र हैं इसलिये आपको अनन्त बार नमस्कार है। इस प्रकार परम भक्ति पूर्वक मैं आपकी स्तुति एवं पुनः पुनः कोटिशः प्रणाम करके आपसे त्रैलोक्यकी सम्पत्तिको नहीं मांगता हे नाथ, मैं तो

सुख, चक्रवर्ती पद और स्वर्ग की विभूतियां विना मांगे आप से आप ही मिल जाती है और मुनि-धर्म पालने से समस्त संसारी दुःखों से मुक्त होकर यही संसारी जीवात्मा सच्चा आनन्द, अविनाशी सुख और आत्मिक शांति का धारी सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा तथा सर्वशक्तिमान परमात्मा तथा मोक्ष की प्राप्ति की सिद्धि अवश्य हो जाती है।

वीर-शासन

जिन-शासन सकल पापों का वर्जनहारा और तिहूं लोक में अति निर्मल तथा उपमारहित है।

—महाराजा दशरथ : पद्मपुराण, पर्व ३१, पृ० २६६।

अहिंसावाद

"True world peace could be won only through the application of spiritual and moral values—not by the most terrifying instruments of destruction"

—President Eisenhower, Washington

पिछले दो महा भयानक युद्धों के अनुभव ने संसार को बता दिया कि हिंसा से चाहे थोड़ी देर के लिए शत्रु दब जावे, परन्तु शत्रुता का नाश नहीं होता, इसलिए युद्ध और हिंसा में विश्वास रखने वाले देश भी तलवार से अधिक अहिंसा की शक्ति को स्वीकार करने लगे हैं और भारत से विश्वशान्ति की आशा करते हैं।

यह विचार करना कि आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले श्री वर्द्धमान महावीर या महात्मा बुद्ध ने अहिंसा की स्थापना की, ठीक नहीं है। अहिंसा एक अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है, जिसकी महिमा का प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में भी बड़ा सुन्दर कथन है। 'मनुस्मृति' में महर्षि मनु जी ने बताया कि हजारों साल तक अश्वमेध यज्ञ करने से भी वह लाभ नहीं, जो अहिंसा धर्म के पालने से होता है। भागवत् पुराण में हर प्रकार के यज्ञ और तप करने से भी अधिक अहिंसा का फल बताया है। 'रामायण' में अहिंसा को धर्म का मूल स्वीकार किया है। शिवपुराण, वाराहपुराण, स्कन्धपुराण, रुद्रपुराण में भी अहिंसा की महिमा का कथन है। महाभारत में ब्राह्मणों को हजारों गऊओं के दान से भी अधिक उत्तम अहिंसा को बताया है। श्रीकृष्ण जी ने तो यहां तक स्पष्ट कर दिया है कि वहीं धर्म है जहां अहिंसा है और कहा है : —

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः। अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो यज्ञ स्तथाऽहिंसा पर फलम्। अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥ —महाभारत अनुशासन पर्व

श्री व्यास जी के शब्दों में—हिन्दू धर्म के तो समस्त १८ पुराण अहिंसा की ही महिमा से भरपूर हैं। वैदिक, बौद्ध, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई पारसी आदि धर्मों में भी अहिंसा को बड़ा उत्तम स्थान प्राप्त है।

डा० कालीदास नाग ने अहिंसा सिद्धान्त की खोज और प्राप्ति को संसार की समस्त खोजों और प्राप्तियों से महान् सिद्ध करते हुए न्यूटन के Law of Gravitation से भी अधिक बताया है। डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने अहिंसा जैनियों की विशेष सम्पत्ति कहा है। सरदार पटेल के शब्दों में अहिंसा वीर पुरुषों का धर्म है। भारत जैनियों की अहिंसा के कारण पराधीन नहीं हुआ बल्कि स्वतन्त्र हो अहिंसा की बदौलत

मिथ्या मारगमें अनुराग, जिनवर धरम रहित गुण त्याग। दुष्ट काय आराधित कहेव, कौन करम यह कहिये देव ॥११३॥
मोक्षमार्ग को फल प्रभु कहो, कौन वास कह लक्षण लहो। जती धर्म कहिये उत्कृष्ट, श्रावक तनें भाषिये इष्ट ॥११४॥
सर्पिणी उत्सर्पिणी षट काल, ताको भेद कह्यो सब हाल। तीनलोक विवरण अवभारा, और शलाका पुरुष प्रकाश ॥११५॥
भूत भविष्यत वर्त जु मान, तीन काल कहिये भगवान। बहुत उक्तिको कहि बढ़ाय, द्वादशांग सब भेद कहाय ॥११६॥
सो सब कृपा नाथ उच्चार, दिव्यध्वनि वाणी सुखकार। भव्यनिको उपकारक सोय, स्वर्ग मुकति पद प्रापत होय ॥११७॥

केवल यही चाहता हूं कि आप अपने ही समान हमें भी सारी सम्पदाओंसे युक्त कर दें। आपकी अलौकिक सम्पदाएं कर्मनाशसे उत्पन्न हुई हैं, अक्षय सुखको देनेवाली हैं, अनाशवान् हैं और संसारसे नमस्कृत हैं।

आप इस धरणी तलपर अत्यन्त उदार परम-दाता हैं और मैं अत्यन्त लोभी हूं; आप प्रसन्न होकर मेरी प्रार्थनाको स्वीकार करें जिसमें मेरी अभिलाषा सफल हो। आपके ही चरण कमलोंकी इन्द्र पूजा किया करते हैं, आपही धर्म तीर्थके उद्धारक हैं, आप कर्मरूपी महाशत्रुओंके नाशक हैं आप ही महा योद्धा हैं और सम्पूर्ण संसारको स्वच्छ प्रकाश देनेवाले रत्नमय दीपक हैं। त्रिलोकीके तारनेमें आपही समर्थ एवं चतुर हैं एवं आपही उत्तमोत्तम गुणोंके आगार (खजाना) हैं। इसलिये हे प्रभो मैं संसार सागरमें निरवलम्ब होकर डूब रहा हूं। दया करके आप हमें बचा लें।

हुआ है।

श्री महात्मा गांधी जी अहिंसा के महान् पुजारी थे, उन्होंने यह भाव भी जैन धर्म ही से प्राप्त किये थे। महात्मा गांधी जी जैसे महापुरुष स्वयं महावीर स्वामी को अहिंसा का अवतार मानते हैं। चीन के विद्वान् प्र० तान युनशां ने अहिंसा का सबसे पहला स्थापक जैन तीर्थंकरों को स्वीकार किया है।

जैन धर्म के अनुसार राग द्वेषादि भावों का न होना अहिंसा है और उनका होना हिंसा है। अहिंसा को विधिपूर्वक तो मुनि और साधु ही पाल सकते हैं, जिनमें उत्तम क्षमा है, जो वैरागी है, जिनको कष्ट दिये जाने पर भी शोक नहीं होता। 'गृहस्थी को इस आदर्श पर पहुंचना चाहिये' ऐसा ध्यान में रखकर गृहस्थी यथाशक्ति हिंसा का त्याग करते हैं। हिंसा के चार भेद हैं:—

(१) संकल्पी—जान बूझकर इरादे से हिंसा करना—मांसाहार के लिये. धर्म के नाम पर हिंसक यज्ञ तथा शौक व फ़ैशन के वश की जाने वाली हिंसा।

(२) उद्यमी—असि (राज्य व देश-रक्षा), मसि (लिखना), कृषि (वाणिज्य व विद्या कर्म) में होनेवाली हिंसा।

(३) आरम्भी—मकान आदि के बनवाने, खान-पानादि कार्यों में होने वाली हिंसा।

(४) विरोधी— समझाये जाने पर भी न मानने वाले शत्रु के साथ युद्ध करने में होने वाली हिंसा।

गृहस्थी को अपने घरेलू कार्यो, देश-सेवा, अपनी तथा दूसरों की जान और सम्पत्ति की रक्षा के लिये उद्यमी, आरम्भी और विरोधी हिंसा तो करनी ही पड़ती है, इसलिए श्रावक के लिये यह ध्यान में रखते हुए कि हर प्रकार की हिंसा जहां तक हो सके कम से कम हो, केवल जान बूझकर की जाने वाली संकल्पी हिंसा का त्याग ही अहिंसा है। ज्यों-ज्यों इसके परिणामों में शुद्धता आती जायगी त्यों त्यों अहिंसा में व्रत में दृढ़ता होते हुए एक दिन ऐसा आ जाता है कि संसारी पदार्थों की मोह-ममता छूटकर वे मुनि होकर सम्पूर्ण रूप से अहिंसा को पालते हुए वे शत्रु और मित्र का भेद भूलकर शेर-भेड़िये, सांप और विच्छू जैसे महा भयानक शत्रु तक से भी प्रेम करने लगता है, जिसके उत्तर में वे भयानक पशु भी न केवल उन महापुरुषों से बल्कि उनके सच्चे अहिंसामयी प्रभाव से अपने शत्रुओं तक से भी वैर भाव भूल जाते हैं। यही कारण है कि तीर्थंकरों के समवशरण में एक दूसरे के विरोधी पशु पक्षी भी आपस में प्रेम के साथ एक ही स्थान पर मिल-जुलकर धर्म उपदेश सुनते हैं। पिछले जमाने की बात जाने दीजिये, आज के पंचम काल की बीसवीं सदी में जैनाचार्य श्री शान्तिसागर जी के शरीर पर पांच बार सर्प चढ़ा और अनेक बार तो दो दो घण्टे तक उनके शरीर पर अनेक प्रकार की लीला करता रहा। परन्तु वे ध्यान में लीन रहे और सर्प अपनी भक्ति और प्रेम की श्रद्धांजलि भेंट करके बिना किसी प्रकार की बाधा पहुंचाये चला गया।

जयपुर के दीवान श्री अमरचन्द व्रती श्रावक थे। उन्होंने मांस खाने और खिलाने का त्याग कर रखा था। चिड़ियाघर के शेर को मांस खिलाने के लिए खर्च की मंजूरी के कागजात उनके सामने आये तो उन्होंने मांस खिलाने की आज्ञा देने से इन्कार कर दिया। चिड़ियाघर के कर्मचारियों ने कहा कि शेर का भोजन तो मांस ही है, यदि नहीं दिया जायेगा तो वह भूखा मर जायेगा। दीवान साहब ने कहा कि भूख मिटाने के लिए उसे मिठाई खिलाओ। उन्होंने कहा कि शेर मिठाई नहीं खाता। दीवान अमरचन्द जैन ने कहा कि हम खिलावेंगे। वह मिठाई का थाल

गीतिका छन्द

यह भांति गौतम प्रश्न कर, बहु तत्व आदि अनेक ही। सभा द्वादश हर्ष उपज्यौ, रंक मानों निधि लही ॥
कहत भवि धन धन्य व्यासहि, तुमहि उत्तम जस लयौ। विश्व हित उपकार करता, वचन अमृत पर ठयौ ॥११८॥

इस प्रकार श्रद्धाभक्ति पूर्वक गौतम ब्राह्मणने जिनपति महावीर प्रभुकी स्तुति करके उनके चरण कमलोंको प्रणाम किया और अपनेको कृत कृत्य समझा। इसके अनन्तर वह गौतम ब्राह्मण इन्द्रोंका पूज्य होकर सम्यग्दर्शन ज्ञानरूपी रत्नको पा कर श्रेष्ठ धर्मके उत्तम मार्गका चतुर ज्ञाता हो गया तथा जघन्य तमोरूपी शत्रुओंका नाशक हुआ।

लेकर कई दिन के भूखे शेर के पिंजरे में भयरहित घुस गये और शेर से कहा कि यदि भूख शान्त करनी है तो यह मिठाई भी तेरे लिये उपयोगी है, और यदि मांस ही खाना है तो मैं खड़ा हूँ मेरा मांस खालो। शेर भी तो आखिर जीव ही था। दीवान साहब की निर्भयता और अहिंसामयी प्रेमवाणी का उस पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसने सबको चकित करते हुए शान्त भाव से मिठाई खाली।

श्री विवेकानन्द के मासिक पत्र "प्रबुद्ध भारत" का कथन है कि एण्डरसन नाम का एक अंग्रेज जयदेवपुर के जंगल में शिकार खेलने गया, वहां एक शेर को देखकर उनका हाथी डरा, उसने साहब को नीचे गिरा दिया। एण्डरसन ने शेर पर दो तीन गोलियां चलाईं किन्तु निशाना चूक गया। अपने प्राणों की रक्षा के हेतु शेर ने साहब पर हमला कर दिया। साहब प्राण बचाने को भागकर पास की एक झोंपड़ी में घुस गये। वहां एक दिगम्बर साधु को देख वह शान्त हो गया। शिकारी को कुछ न कह, वह थोड़ी देर वहां चुपचाप बैठकर वापस चला आया तो एण्डरसन ने जैन साधु से इस आश्चर्य का कारण पूछा तब नग्न मुनी ने कहा— "जिसके चित्त में हिंसा के विचार नहीं उसे शेर या सांप आदि कोई भी हानि नहीं पहुंचाता, जंगली जानवरों से तुम्हारे हिंसक भाव हैं इसलिये वे तुम्हारे ऊपर हमला करते हैं"। मुनिराज की इस अहिंसामई वाणी का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसी रोज से उस अंगरेज ने हमेशा के लिए शिकार खेलने का त्याग कर दिया और सदा के लिए शाकाहारी बन गया। चटगांव में एण्डरसन के इस परिवर्तन को लोगों ने प्रत्यक्ष देखा है।

"एक अंग्रेज विद्वान् मिस्टर पाल्वृन्टन का कथन है कि महर्षि रमण तप में लीन थे। रात्रि में उन्होंने एक शेर देखा जो भक्ति पूर्वक रमण के पांव चूम रहा था व बिना कोई हानि पहुंचाये सुबह होने से पहले वहां से चला गया। एक दिन उन्होंने रमण महाराज के आश्रम में एक काला सांप फुंकारें मारता हुआ देखा जिसे देखते ही उन्होंने चीख मारी, जिसे सुनकर रमण का एक शिष्य वहां आ गया, और उस जहरीले काले सांप को हाथों में लेकर उसके फण से प्यार करने लगा। अंग्रेज ने आश्चर्य से पूछा कि क्या तुम्हें इससे भय नहीं लगता? उसने कहा, जब इसको हमसे भय नहीं तो हमें इससे भय कैसा? जहां अहिंसा और प्रेम होता है वहां भयानक पशु तक भी योग-शक्ति से प्रभावित होकर अपनी शत्रुता को भूलकर विरोधियों तक से प्रेमव्यवहार करने लगते हैं"।

वास्तव में अहिंसा धर्म परम धर्म है और यदि जैन धर्म को विश्व धर्म होने का अवसर मिले तो अहिंसा धर्म को अपना कर यह दुखी संसार अवश्य स्वर्ग के समान सुखी हो जाये।

भगवान महावीरको केवलज्ञान वैशाख सुदी १० को हुआ। उस समय ऋजुकूला नदी के तट पर देवादिक इन्द्रों ने केवलज्ञान की पूजा की। किन्तु ६६ दिन तक उनकी दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। वे मौनपूर्वक विहार करते रहे। तब प्रश्न हुआ कि वाणी क्यों नहीं खिरी, उत्तर दिया गणधर का अभाव होने से दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। सौधर्म इन्द्रने गणधरको तत्काल उपस्थित क्यों नहीं किया? काल लब्धि के बिना वह कैसे कर सकता था? उस समय उसमें ऐसी शक्ति का अभाव था। जिसने अपने पाद मूलमें महाव्रत धारण किया हो उसके लिए दिव्य ध्वनि खिर सकती है। उसका ऐसा स्वभाव है।

त्रयोदश अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

श्री सन्मति केवल उदय, नास्यो तम अज्ञान। विश्वनाथ प्रणमो सदा, विश्व प्रकाशक भान ॥१॥
अब प्रभु दिव्य ध्वनि भई, स्वर्ग मुकति सुखदाय। चतुर वदन आरम्भ किय, सप्तभंग[1] समुदाय ॥२॥
तालु ओंठ सपरस विना, अक्षर रहित गम्भीर। सर्व भाषमय मधुर ध्वनि, सिंह गरज सम धीर ॥३॥

चौपाई

प्रथमहि स्यात् अस्ति जानिये, दूजे स्यात् नास्ति मानिये। तीजे स्यात् अस्ति अरु नास्ति, चौथे स्यात् अव्यक्त प्रशस्ति॥४॥
पंचम् स्यात् अस्ति अव्यक्त, छठम स्यात् नास्ति अव्यक्त। स्यात् जु अस्ति नास्ति जुत जान, अवक्तव्य सातम परवान॥५॥

केवल ज्ञानी सूर्य सम जगत प्रकाशक वीर। अन्धकार अज्ञानको दूर करें मुनिधीर ॥१॥

इसके बाद उन गौतम स्वामीने श्रीतीर्थ नायक महावीर स्वामीको नत मस्तक होकर प्रणाम किया। भव्य जीवोंकी और अपनी कल्याण कामनासे अज्ञानके नाश एवं ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन्होंने सर्वज्ञ जितेन्द्र प्रभुसे प्रश्न मालाको पूछा—

---

१. अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद

"The Anekantvada or the Syadvada stands unique in the world's thought If followed in practice, it will spell the end of all the warring beliefs and bring harmony and peace to mankind."

Dr. M. B. Niyogi, Chief justice Nagpur: Jain Shasan Int.

हर एक वस्तु में बहुत से गुण और स्वभाव होते हैं। ज्ञान में तो उन सबको एक साथ जानने की शक्ति है परन्तु वचनों में उन सबका कथन एक साथ करने की शक्ति नहीं। क्योंकि एक समय एक ही स्वभाव कहा जा सकता है। किसी पदार्थ के समस्त गुणों को एक ही स्वभाव कहा जा सकता है। किसी पदार्थ के समस्त गुणों को एक साथ प्रकट करने के विज्ञान को जैन धर्म अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के नाम से पुकारता है। *यदि कोई पूछे कि कि संखिया ज़हर है या अमृत ? तो स्याद्वादी यही उत्तर देगा कि जहर भी है अमृत भी तथा जहर और अमृत दोनों भी है।* अज्ञानी इस सत्य की हंसी उड़ाते हैं कि एक ही वस्तु में दो विरुद्ध बातें कैसे ? किन्तु विचारपूर्वक देखा जाये तो संखिया से मर जाने वाले के लिए वह जहर है, दवाई के तौर पर खाकर अच्छा होने वाले रोगी के लिए अमृत है। इसलिये संखिये को केवल जहर या अमृत कह देना पूरा सत्य कैसे कोई पूछे, श्री लक्ष्मण जी महाराजा दशरथ के बड़े बेटे थे या छोटे ? श्री रामचन्द्र जी से छोटे व शत्रुघ्न से बड़े अतः वे छोटे भी, बड़े भी !

कुछ अन्धों ने यह जानने के लिए कि हाथी कैसा होता है, उसे टटोलना शुरू कर दिया। एक ने पांव टटोलकर कहा कि हाथी कैसा खम्बे जैसा ही है, दूसरे ने कान टटोलकर कहा कि नहीं, छाज जैसा ही है, तीसरे ने सूंड टटोलकर कहा कि तुम दोनों नहीं समझे वह तो लाठी के समान है, चौथे ने कमर टटोलकर कहा कि तुम सब झूठ कहते हो हाथी तो तख्त के समान ही है। अपनी अपनी अपेक्षा में चारों को लड़ते देख कर आंखवाले ने समझाया कि इसमें झगड़ने की बात क्या है? एक ही वस्तु के संबंध एक दूसरे के विरुद्ध कहते हुए भी अपनी अपनी अपेक्षा से तुम

अब इनको कछ निर्णय कहौं, जथा शक्ति आगम बुध लहौ। स्यात् कथंचित् कहिये सोय, आप चतुष्टयको अवलोय ॥६॥
द्रव्यक्षेत्र अरु काल जु भाव, तिनके भेद सुनो ठहराव। जो कछु वस्तु द्रव्य सो जान, द्रव्यवगाहन क्षेत्र प्रमान ॥७॥
द्रव्य परजाय काल मरजाद, द्रव्य रूप भाव उनमाद। सौ यह आप चतुष्टय धार, घट दृष्टांत अस्ति है सार ॥८॥
जौ पर चतुक अपेक्षा जान, स्यात नास्ति ताको परमान। जैसे घट पर घटको धार, घटकी नास्ति होइ तिहि बार ॥९॥
जो घटरूप घटहि में देखि, घट पट एक हि व्यक्त जु लेखि। पर अर अपर चतुष्टय साथ, अस्ति नास्ति तीजो धुन गाथ ॥१०॥
अस्ति नास्ति यौ वचन क्रमंत, कह्यौ न जान द्रव्य परजंत। अवक्तव्य है चौथो भेद, ऐसे ही अय और निवेद ॥११॥
अस्ति अवक्तव्य पंचम जान, नास्ति अवक्तव छटम प्रमान। अस्ति नास्ति अवक्तव्य सातमा, स्यात सबहि थानक प्रवर्नमा ॥१२॥
यह संक्षेप कहे गुण जास, अब कछु भेद धरो यह पास। है शब्दहि प्रथमहि जानिये, नाही द्वितीय भेद ठानिये ॥१३॥
है नाही तीजौ सुन भेव, है नहि अवक्तव्य चौथेव। है कर है है नाहीं कर है, अवक्तव्य पंचम गुणधर है ॥१४॥
नाही करना ही है नाही, करना ही अव्यक्त छटा ही। है कर है नाही, है नाही है नाही है अवक्तव्या हि ॥१५॥

हे देव जीव तत्वका क्या लक्षण है ? उसकी अवस्था कैसी है इसके भेद एवं गुण कितने है ? पर्याय कौन है ? और कितने पर्याय संसारिक पुरुषोंके लिये गम्य हैं ? इनके अतिरिक्त अजीव तत्वके भेद स्वरूप एवं गुण कौन-कौन है ? तथा अन्य आस्रवादि तत्वोंमें कितने गुण कारण एवं कितने दोष कारक हैं ? तत्व क्या वस्तु है ? उसका कर्ता कौन है। तथा उसका कथन (स्वरुप) और फल क्या है ? संसारमें किस तत्वके द्वारा क्या सिद्ध किया जाता है। और किन दुराचारोंसे पापी जीव नरकगामी होता है। किन जघन्य कर्मोके कारण जीव दुःख दायक तिर्यञ्चादि गतियोंमें चले जाते हैं ? किन-किन श्रेष्ठ आचरणोंके द्वारा जीव स्वर्गगामी होता है। किस दानके फलसे शुभ.परिणाम वाले जीव भोगभूमिको प्राप्त होते हैं। किन आचरणोंके द्वारा जीवको स्त्रीलिङ्गत्वकी प्राप्ति होती है। क्या करनेसे स्त्रियोंको पुरुष पर्यायकी प्राप्ति होती है। क्या कारण है कि कुछ जीव नपुंसक हो जाते हैं। किन-किन पापाचरणोंके कारण जीव पगले अन्धे गूंगे बहरे लूले लंगड़े इत्यादि विविध प्रकारके अंगहीन होकर अनेक दुःखोंको भोगते रहते हैं। किन-किन कर्मोंके करनेसे जीव रोगी एवं निरोग बलवान एवं सुन्दर

सब सच्चे हो, पांव की अपेक्षा से वह खम्बे के समान भी है, कानों की अपेक्षा से छाज के समान भी है और कमर की अपेक्षा से [illegible] के समान भी है। स्याद्वाद सिद्धान्त ने ही उनके झगड़े को समाप्त किया।

अंगूठे और अंगुलियों में तकरार हो गया। हर एक अपने अपने को ही बड़ा कहता था। अंगूठा कहता था मैं ही बड़ा हूं, [illegible] पर मेरी वजह से ही रुपया मिलता है, गवाही के समय भी मेरी ही पूछ है। अंगूठे के बराबर वाली उंगली ने कहा कि हुकूमत तो मेरी है, मैं सब को रास्ता बताती हूं, इशारा मेरे से ही होता है मैं ही बड़ी हूं। तीसरी बीच वाली अंगुली बोली कि प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ? तीनों बराबर खड़ी हो जाओ और देख लो, कि मैं ही बड़ी हूं। चौथी ने कहा कि बड़ी तो मैं ही हूं जो संसार के तमाम मंगलकारी काम करती हूं। विवाह में तिलक मैं ही करती हूं, अंगूठी मुझे पहनाई जाती है, राजतिलक मैं ही करती हूं। पांचवी छन्नो अंगुली बोली कि तुम चारों मेरे आगे [illegible] हो, खाना, कपड़े पहनना, लिखना आदि कोई काम करो मेरे आगे झुके बगैर काम नहीं चलता। तुम्हें कोई मारे तो मैं बचाती हूं। किसी के मुक्का मारना हो तो सबसे पहले मुझे याद किया जाता है। मैं ही बड़ी हूं। पांचों का विरोध बढ़ गया तो स्याद्वादी ने ही उन्हें निपटाया कि अपनी अपनी अपेक्षा से तुम बड़ी भी हो, छोटी भी हो बड़ी तथा छोटी दोनों भी हो।

ऋग्वेद, विष्णुपुराण महाभारत में भी स्याद्वाद का कथन है। महर्षि पातंजलि ने भी स्याद्वाद की मान्यता की है। परन्तु "जैनधर्म के अहिंसा तत्व जितना रहस्य है उससे कहीं अधिक सुन्दर स्याद्वाद-सिद्धान्त है" "स्याद्वाद के बिना कोई वैज्ञानिक तथा दार्शनिक खोज सफल नहीं हो सकती"। "यह तो जैनधर्म की महत्वपूर्ण घोषणा का फल है"। "इससे सर्व सत्य का द्वार खुल जाता है" "स्याद्वादरूपी से जैनधर्म का स्थान बहुत ऊंचा है"। "स्याद्वाद तो बड़ा ही गम्भीर है" "यह जैन धर्म का अभेद्य किला है, जिसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले प्रवेश नहीं कर सकते। "सत्य के अनेक पहलुओंको एक साथ प्रकट करने की सुन्दर विधि है"। "विरोधियों में भी प्रेम उत्पन्न करने का साधन है"। "भिन्न-भिन्न धर्मों के भेद भावों को नष्ट करता है"। "विस्तार से जानने के लिये आप्तमीमांसा अष्टसहस्री, स्याद्वाद मंजरी आदि जैन ग्रन्थों के स्वाध्याय करने का कष्ट करें।

दोहा

इहि विधि सातौं भंग यह, एक एक भ्रम हर्न । स्याद्वाद कलशा किरन, जगतम नाशन किर्न ॥१६॥

चौपाई

सुन गौतम अब मन वच काय, प्रश्न तनौं उत्तर सुखदाय । सप्त तत्त्व सब वरनौं भेद, जातैं तुम मन नाशै खेद ॥१७॥
जीव अजीव आस्रव अरु बंध, संवर निर्जर मोक्ष प्रबन्ध । एही सप्त तत्व पहिचान, पाप पुण्य मिलि नौ पद जान ॥१८॥

जीव तत्व निरूपण*

अब सुन जीव तत्व विस्तार, ताके हैं नव भेद अपार । जीव अपर उपजोग प्रमान, मूरत बिन करता पुन जान ॥१९॥
भुगता देह प्रमानी सबै, थिति संसार माहि है जबै । ऊरधगामी सिद्ध सरूप, सुन तिनको वर्णन गुण रूप ॥२०॥

जीव भेद निरूपण

दोहा

चार प्राण व्योहार नय, निहचै चेतन एक । इन सौं जो जीवन रहै, सो ही जीव विवेक ॥२१॥

सौभाग्यशाली एवं अभागा हुआ करते हैं । किस कारणसे मनुष्य मूर्ख और पण्डित कुबुद्धि और बुद्धिमान शुभ परिणामी और अशुभ अन्तःकरण वाले हुआ करते हैं । तथा पापात्मा और धर्मात्मा भोगशाली और भोगहीन धनवान् और निर्धन इत्यादि विषम परिस्थिति वाले लोग कैसे हो जाया करते हैं ? क्यों कभी अपने कुटुम्बियों एवं इष्ट जनोंका वियोग हो जाता है ? और फिर कभी संयोग क्यों हो जाता है ? किस कारणसे पिताके रहते पुत्र मर जाता है ? किसीको पुत्र ही नहीं होता ? कोई स्त्री वन्ध्या हो जाती है इसका कारण क्या है ? किस कर्मके करनेसे ऐसा होता है ? किसीके पुत्र चिरजीवी होते हैं, कोई कायर होता है इसकी क्या वजह है ? किन कर्मोंके प्रभावसे निन्दा और विमल कीर्ति प्राप्त होती है ? सुशीलता और दुःशीलता कैसे प्राप्त हो जाती है ? भव्यजीवोंको किस कारणसे सुसंगति एवं दुःसंगति प्राप्त होती है ? विवेकशीलता एवं जड़ता कैसे प्राप्त हो जाती है ? उच्च कुल एवं नीच कुल क्यों मिल जाता है ? किस कर्मके द्वारा मिथ्या मार्गमें प्रवृति होती है ? जिन-

---

*साम्यवाद

Trees give fruits, plants flowers, rivers water to anyone whether a man, beast or bird. They do not enjoy themselves, but for the benifit of others. Man is the highest creature, his servicees to others must be with heart love, without any regard of revenge, gain or reputation in the same spirit as mother's to her children.

—Jainism A Key to True Happiness, P. 116.

जैनधर्म का तो एक-एक अंग साम्यवाद से भरपूर है । हर प्रकार की शंका तथा भय को नष्ट करके दूसरों की सेवा करना 'निश्शंकित' नाम का पहला अंग है । संसारी भोगों की इच्छा न रखते हुए केवल मनुष्यों से ही नहीं वल्कि पशु पक्षी तक को अपने समान जानकर जग के सारे प्राणियों से वांछारहित प्रेम करना 'निःकांक्षित' नाम का दूसरा अंग है । अधिक से अधिक धन, शक्ति और ज्ञान होने पर भी दुखी दरिद्री गरीब तक से भी घृणा न करना, 'निर्विचित्सा' नाम का तीसरा अंग है । किसी के भय या लालसा से भी लोकमूढ़ता में न बहकर अपने कर्त्तव्य से न डिगना 'अमूढ़दृष्टि' नाम का चौथा अंग है । अपने गुणों और दूसरों के दोषों को छिपाना 'उपगूहन' नाम का पांचवा अङ्ग है । ज्ञान, श्रद्धान तथा चरित्र से डिगने वालों को भी छाती से लगाकर फिर धर्म में स्थिर करना 'स्थितिकरण' नाम का छटा अङ्ग है । महापुरुषों और धर्मात्माओं से ऐसा गाढ़ा अनुराग रखना जैसा गाय अपने बछड़े से करती है और विनयपूर्वक उनकी सेवा भक्ति करना 'वात्सल्य' नाम का सातवां अंग है । तन, मन, धन से धर्म प्रभावना में उत्साहपूर्वक भाग लेना 'प्रभावना' नाम का आठवां अंग है । जो मन, वचन और काय से इन आठों अंगों का पालन करते हैं, वही सम्यग्दृष्टि जैनी और स्याद्वादी हैं ।

चौपाई

इन्द्रिय प्रथम प्राण अवधार, वल दूजौ जानो निरधार। आयु तीसरौ कहिए प्रान, सांस उसास तुर्य पहिचान ॥२२॥
मूल प्राण ये चारों जान, एकेन्द्रियके कहे समान। जिह्वा भाष दोय जुत सोय, दो इन्द्रिय पट प्रान जु होय ॥२३॥
नासा मिले सात ये प्रान, ते इन्द्रिय को लहौ सुजान। चक्षु सहित आठौं गन लेव, चौ इन्द्रिय को प्राण कहेव ॥२४॥
कानन जुत नव प्राण विशेख, पंचेन्द्रीय असैनी लेख। मन जु सहित हैं सब दश मान, सैनी पंचेन्द्रिय परवान ॥२५॥

दोहा

पांच प्राण इन्द्रिय जनित, मन वच वल ये तीन। आयु श्वास उच्छ्वास गन, ये दश सुनहु प्रवीन ॥२६॥

सोरठा

यह विधि जीवै जीव, तीन काल जग में प्रगट। जब शिव लहै सदीव, सुख शक्त्याचित वोधमय ॥२७॥

अथ उपयोग भेद निरूपण*

पद्धड़ि छन्द

उपजोग भेद दो विध वखान, है दरशन चारौं आठ ज्ञान। चक्षु अचक्षु अर अवधि धार, केवल जुत दरशन इहि प्रकार ॥२८॥
मति श्रुत अवधी पुन त्रय अज्ञान, मनपरजय केवल अष्टज्ञान। मति श्रुत ये दोय परोक्ष भेस, अवधो मनपर्जय प्रतछ देस ॥२९॥
अव केवलज्ञान प्रतक्ष सर्व, सो लोकालोक विलोक दर्व। जहं नंत द्रव्य परजाय होय, झलकं सब एकहि वार सोय ॥३०॥

धर्ममें महान् प्रेम किस कर्मके कारण जागृत होता है? किसीको निर्वल एवं किसीको अति वलवान् शरीर क्यों मिल जाता है? मोक्षका मार्ग कौनसा है? उसका लक्षण एवं फल क्या है? मुनियोंका श्रेष्ठ धर्म कौन है? गृहस्थोंका क्या धर्म है? दोनों धर्मोंकि अनुष्ठानका उत्तम फल क्या मिलता है? धर्मके कारण एवं भेद कौन-कौनसे हैं? और शुभ आचरण क्या है?

वारह कालोंका स्वरूप क्या है? तीनों लोककी स्थिति कैसी है? इस धरिणी तल पर शलाका यानी पदवी धारक

---

*कर्मवाद

The theory of Karma as minutely discussed and analysed is quite peculiar to Jainism. It is tts unique feature.

—Prof. Dr. B. H. Kapadia: VOA. vol II P. 228.

कोई अधिक मेहनत करने पर भी बड़ी मुश्किल से पेट भरता है और कोई विना कुछ किये भी आनन्द लूटता है, कोई रोगी है कोई निरोगी। कुछ इस भेद का कारण भाग्य तथा कर्मों को वताते हैं तो कुछ इस सारे भार को ईश्वर के ही सर पर थोप देते हैं कि हम वेवश हैं, ईश्वर की मर्जी ऐसी ही थी। दयालु ईश्वर को हमसे ऐसी क्या दुश्मनी कि उसकी भक्ति करने पर भी वह हमें दुःख दे और जो उसका नाम तक भी नहीं लेते, हिंसा तथा अन्याय करते हैं उनको सुख दे?

जैन धर्म ईश्वर की हस्ती से इन्कार नहीं करता, वह कहता है कि यदि उसको संसारी झंझटों में पड़कर कर्म तथा भाग्य का वनाने या उसका फल देने वाला स्वीकार कर लिया जावे तो उसके अनेक गुणों में दोष आ जाता है और यह संसारी जीव केवल भाग्य के भरोसे बैठकर प्रमादी हो जाये। कर्म भी अपने आप आत्मा से चिपटते नहीं फिरते। हम खुद अपने प्रमाद से कर्म-वन्ध करते और उनका फल भोगते हैं। अपने ही पुरुषार्थ से धर्म-वन्ध से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु हम तो स्त्री, पुत्र, तथा धन के मोह में इतने अधिक फंसे हुए हैं कि क्षणभर भी यह विचार नहीं करते कि कर्म क्या हैं? क्यों आते हैं? और कैसे इनसे मुक्ति होकर अविनाशी सुख प्राप्त हो सकता है?

बड़ी खोज और खुद तजरवा करने के वाद जैन तीर्थंकरों ने यह सिद्ध कर दिया कि राग-द्वेष के कारण हम जिस प्रकार का संकल-

दोहा

दर्शन चहु वसु ज्ञान सव, ये व्योहार सरूप। निहचै चेतन शुद्ध नय, दर्शन ज्ञान अनूप ॥३१॥

अथ अमूर्तिक भेद निरूपण

चौपाई

वरण पंचरस पंच दुगन्ध, आठ फास गुण वीस प्रवंध। पुद्गलीक गुण सवै अतीव, इनमें मूरतिवंत जु जीव ॥३२॥
यह व्यवहार रूप मानिये, निहचै और भेद जानिये। जब इनहीको त्याग जु करै, अमूर्तीक पद तव जिय धरै ॥३३॥

कर्तृत्व भेद निरूपण

पुद्गल सम्वन्धी जव जीव, कर्म कर्मको करै सदीव। यह अशुद्ध नयको व्यवहार, रागद्वेष उपजावनहार ॥३४॥

पुरुष कौन हैं ? इसके सम्वन्धमें आप नातिविस्तार रूपेण उपदेश करें और साथ ही यह भी वतायें कि भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालके विषयमें द्वादशांगुलसे उत्पन्न सम्पूर्ण ज्ञानको आप कृपापूर्वक भव्यजीवोंके उपकारके लिये एवं स्वर्ग मोक्षकी प्राप्तिके लिये अपनी अनुपम गम्भीर ध्वनिसे उपदेश करें। गौतम ब्राह्मणकी इस प्रश्नावलीको सुनकर भव्यजीवोंकी भलाईके लिये सतत प्रयत्नशील तीर्थराज महावीर प्रभुने मोक्ष-पथको दिखलाकर उसमें प्रवृत्त करानेकी इच्छासे तत्वादि प्रश्नोंका सम्यक् उत्तर गम्भीर ध्वनिमें देना आरम्भ किया।

विकल्प करते हैं, उसी जाति के अच्छे या बुरे कार्माणवर्गणाएं (Karmic Molecules) योग शक्ति से आत्मा में खिचकर आ जाती हैं। श्रीकृष्ण जी ने भी गीता में यही वात कही है कि जव जैसा संकल्प किया जावे वैसा ही उसका सूक्ष्म व स्थूल शरीर वन जाता है और जैसा स्थूल, सूक्ष्म शरीर होता है उसी प्रकार उसके आसपास का वायु मण्डल होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह वात सिद्ध है कि आत्मा जैसा संकल्प करता है वैसा ही उस संकल्प का वायु मण्डल में चित्र उतर जाता हैं। अमरीका के वैज्ञानिकों ने इन चित्रों के फोटू भी लिये हैं, इन चित्रों को जैन दर्शन की परिभाषा में कार्माणवर्गणाएं कहते हैं। जो पांच प्रकार के मिथ्यात्व वारह प्रकार के अव्रत, २५ प्रकार के कषाय, १५ प्रकार के योग, ५७ कारणों से आत्मा की ओर इस तरह खिचकर आ जाते हैं जिस तरह लोहा चुम्वक की योग शक्ति से आपसे आप खिच आता है और जिस तरह चिकनी चीज पर गरद आसानी से चिपक जाती है। कर्मों के इस तरह खिच कर आने को जैन धर्म में "आस्त्रव" और चिपटने को वन्ध कहते हैं। केवल किसी कार्य के करने से ही कर्मो का आस्त्रव या वन्ध नहीं होता वल्कि पाप या पुण्य के जैसे विचार होते हैं उनसे उसी प्रकार का अच्छा या वुरा आश्रव व वन्ध होता है। इसलिये जैन धर्म में कर्म के भावकर्म व द्रव्य कर्म नाम के दो भेद हैं। वैसे तो अनेक प्रकार के कर्म करने के कारण द्रव्य कर्म के ८४ लाख भेद हैं जिनके कारण यह जीव ८४ लाख योनियों में भटकता फिरता है (जिनका विस्तार 'महावन्ध' व 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' आदि हिन्दी व अंग्रेजी में छपे हुए अनेक जैन ग्रन्थों में देखिये) परन्तु कर्मों के आठ मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

१. ज्ञानावरणी—जो दूसरे के ज्ञान में वाधा डालते हैं, पुस्तकों या गुरुओं का अपमान करते हैं, अपनी विद्या का मान करते हैं, सच्चे शास्त्रों को दोष लगाते है और विद्वान् होने पर भी विद्या-दान नहीं देते, उन्हें ज्ञानावरणी कर्मो की उत्पत्ति होती है जिससे ज्ञान ढक जाते हैं और वे अगले जन्म में मूर्ख होते हैं। जो ज्ञान-दान देते हैं, विद्वानों का सत्कार करते हैं, सर्वज्ञ भगवान् के वचनों को पढ़ते पढ़ाते, सुनते-सुनाते हैं, उनका ज्ञानावरणी कर्म ढीला पड़कर ज्ञान वढ़ता है।

२. दर्शनावरणी—जो किसीके देखने में रुकावट या आंखों में वाधा डालते हैं, अन्धों का मखौल उड़ाते हैं उनके दर्शनावरणी कर्म की उत्पत्ति होकर आंखों का रोगी होना पड़ता है। जो दूसरे के देखने की शक्ति वढ़ाने में सहायता देते हैं, उनका दर्शनावरणी कर्म कमजोर पड़ जाता है।

३. वेदनीयकर्म—जो दूसरों को दुःख देते हैं, अपने दुःखों को शान्त परिणामों से सहन नहीं करते, दूसरों के लाभ और अपनी हानि पर खेद करते हैं, वह असाता वेदनीय कर्म का वन्ध करके महादुःख भोगते हैं और जो दूसरों के दुःखों को यथाशक्ति दूर करते हैं, अपने दुःखों को सरल स्वभाव से सहन करते हैं, सवका भला चाहते हैं, उन्हें साता वेदनीय कर्म का वन्ध होने के कारण अवश्य सुखों की प्राप्ति होती है।

दोहा

निश्चय करके जीव यह, धरै शुद्ध जब भाव। चेतन पद प्रगटै जबै, मुक्त होय शिव ठाव ॥३५॥

अथ भोक्तृत्व भेद निरूपण

चौपाई

प्राणी सुख दुख या जग मांहि, भुगतै आप कर्म फल पांहि। सो व्यौहार कह्यौ परवान, निश्चय सुख भुगतै शिव थान ॥३६॥

देहप्रमाण-निरूपण

दोहा

देहमात्र व्यौहारनय, कह्यौ वीर जिनराय। निश्चयनयकी दृष्टि सौं, लोकप्रदेशी थाय ॥३७॥

हे बुद्धिमान् गौतम, तू अपनी अभीष्ट पूर्ति कर देने वाले प्रश्नोत्तरोंको स्थिर-चित्त होकर और अन्यान्य उपस्थित जीवोंके साथ सुन। इस उपदेशसे सभीका कल्याण होगा। प्रभुनें जब अपने मुखारविन्दसे दिव्य उपदेशकी मधुर ध्वनि निकाली

---

४. मोहनीय—मोह के कारण ही राग-द्वेष होता है जिससे क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों की उत्पत्ति होती है, जिनके वश हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह और कुशीलता पांच महापाप होते हैं; इसलिये मोहनीय कर्म सब कर्मों का राजा और महादुःखदायक है। अधिक मोह वाला मरकर मक्खी होता है, संसारी पदार्थों से जितना मोह कम किया जाये उतना ही मोहनीय कर्म ढीले पड़ता है और उतना ही अधिक सन्तोष, सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है।

५. आयुकर्म—जिसके कारण जीव देव, मनुष्य, पशु नरक चारों गतियों में से किसी एक के शरीर में किसी खास समय तक रुका रहता है। जो सच्चे धर्मात्मा, परोपकारी और महासन्तोषी होते हैं, वह देव आयु प्राप्त करते हैं। जो किसी को हानि नहीं पहुंचाते, मन्द कषाय होते हैं, हिंसा नहीं करते वह मनुष्य होते हैं। जो विश्वासघाती और धोखेबाज होते हैं पशुओं को अधिक बोझ लादते हैं, उनको पेट भर और समय पर खाना पीना नहीं देते, दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा करते हैं वह पशु होते हैं। जो महाक्रोधी, महालोभी, कुशील, होते हैं झूठ बोलते और बुलवाते हैं, चोरी और हिंसा में आनन्द मानते हैं, हर समय अपना भला और दूसरों का बुरा चाहते हैं, वह नरक आयु का बन्ध करते हैं।

६. नामकर्म—जिसके कारण अच्छा या बुरा शरीर प्राप्त होता है। जो निर्ग्रंथ मुनियों और त्यागियों को विनयपूर्वक शुद्ध आहार कराते हैं, विद्या, औषधि तथा अभयदान देते हैं, मुनि-धर्म का पालन करते हैं, उनको शुभ नाम कर्म का बन्ध होकर चक्रवर्ती, कामदेव, इन्द्र आदि का महा सुन्दर और मजबूत शरीर प्राप्त होता है। जो श्रावक-धर्म पालते हैं वे निरोग और प्रबल शरीर के धारी होते हैं। जो निर्ग्रंथ मुनियों और त्यागियों की निन्दा करते हैं, वे कोढ़ी होते हैं, जो दूसरों की विभूति देखकर जलते हैं कषायों और हिंसा में आनन्द मानते हैं वे बदसूरत, अंगहीन, कमजोर और रोगी शरीर वाले होते हैं।

७. गोत्रकर्म—जो अपने रूप, धन, ज्ञान, बल, तप, जाति, कुल या अधिकार का मान करते हैं, धर्मात्माओं का मखौल उड़ाते हैं, वे नीच गोत्र पाते हैं और जो सन्तोषी शीलवान् होते हैं अर्हंतदेव, निर्ग्रन्थ मुनि तथा त्यागियों और उनके वचनों का आदर करते हैं वे देव तथा क्षत्री, ब्राह्मण, वैश्य आदि उच्च गोत्र में जन्मते हैं।

८. अन्तराय—जो दूसरों के लाभ को देखकर जलते हैं, दान देने में रुकावट डालते हैं, उनको अन्तराय कर्म की उत्पत्ति होती है। जिस के कारण वह महा दरिद्री और भाग्यहीन होते हैं। जो दूसरों को लाभ पहुंचाते हैं, दान करते कराते हैं, उनका अन्तरायकर्म ढीला पड़कर उनको मन-वांछित सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति बिना इच्छा के आपसे आप हो जाती है।

पांच समिति, पाँच महाव्रत, दस लक्षण धर्म, तीन गुप्ति, बारह भावना और २२ परीषह के पालने से कर्मों के आस्रव का संवर होता है और बारह प्रकार के तप तपने से पहले किये हुए चारों घातिया कर्मों का अपने पुरुषार्थ से, निर्जरा (नाश) करने में आत्मा के कर्मों द्वारा छुपे हुए स्वाभाविक गुण प्रकट होकर यही संसारी जीव-आत्मा अनन्तानन्त ज्ञान, दर्शन, बल और सुख-शान्ति का धारी परमात्मा हो जाता और बाकी चारों अघातिया कर्मों से भी मुक्त होने पर मोक्ष (SALVATION) प्राप्त करके अविनाशी सुख-शान्ति के पालने वाला सिद्ध भगवान् हो जाता है।

चौपाई

धरै थूल जब यही शरीर, तब विस्तार करै गुणधीर । सूक्षम देह पाय कर जीव, संकोच न तिहि होय सदीव ॥३८॥
जैसे दीप अधिक छवि धरै, भाजन मान उदोत न सरै। समुद्घात विन यह परवान, ताको भेद सुनो गुण खान॥३९॥

समुद्घात वर्णन

दोहा

कार्माण तैजस दुविध, वाहर निकस प्रदेश। आवें वे ही मूलतन, समुद्धात इहि वेष ॥४०॥
सात भेद ताके कहे, प्रथम वेदना नाम। दुतिय कषाय विकुर्व त्रय, मरणान्त अभिराम ॥४१॥
पंचम तैजस छटम पुनि, आहारक गुण धाम। केवलि जुन सातों कहै, समुद्धातके नाम ॥४२॥

वेदना समुद्घात

अडिल्ल

दुसह वेदना पीर होय, कहूं आयकें। कढ़हि जीव परदेश मनहिं अकुलायकें ॥
औपध ततछिन परम फेर तन आवही। समुद्घात यह प्रथम वेदना नाम ही ॥४३॥

कषाय समुद्धात

काहू रिपुको करै विध्वंसन जायके। वाहिर निकसे अंश, जीव के आयकें ॥
अति कशाय वल होइ, अशुभभावन वहै। समुद्घात यह दुतिय, कुगतिको पद गहै ॥४४॥

वैक्रियिक समुद्धात

धरै विक्रिया रूप विविध परकार सौं। निकसैं ब्रह्म प्रदेश, सचेतन भाव सौं ॥
देव नारकी मनुष्य लहैं, पशु नाहि हैं। समुद्धात यह तृतिय भेद, पहिचान है॥४५॥

मारणान्तिक समुद्धात

काहू जीवकै मरण समय उपजै सही। वाहिर निकसै आय, जीव परदेश ही ॥

तब उनके ओष्ठ इत्यादिका एकदम ही परिचालन नहीं हुआ। वह पर्वत गुफाओंसे निकली प्रतिध्वनिके समान ही अत्यन्त कर्णप्रिय और नाना सन्देहोंको नष्ट करने वाली थी। धन्य है, तीर्थराजोंकी उस योगजन्य अद्‌भुत शक्तिको; जिसके द्वारा सांसारिक भव्य अतिशययुक्त महान् उपकार होता है। हे गौतम; बुद्धिमान् लोग जिसको यथार्थ सत्य कहते हैं वह सर्वज्ञ-प्रतिपादित-पदार्थोंका स्वरूप ही है। इस बातको तुम सर्वथा निभ्रान्ति समझो। जीव दो प्रकारके होते हैं। एक मुक्त सिद्ध पुरुष और दूसरे संसारी। प्रथम मुक्त जीवोंमें तो कोई भेद नहीं परन्तु संसारियोंमें कई एक प्रकारके भेद हैं। जो कि आठ कर्मोंसे रहित हैं और आठ गुणोंसे शोभित हैं, सर्वदा एक स्वरूप, समान सुख वाले एवं सम्पूर्ण दुःखोंसे हीन हैं, उन्हींको सिद्ध अथवा मुक्त कहा जाता है। ऐसे सिद्ध महापुरुष संसारके उच्चतम शिखर पर विराजमान होकर निर्वाध एवं अनन्त ज्ञान युक्त होते हैं और उनका शरीर भी अलौकिक होता है। संसारी जीवोंकी विभिन्न श्रेणियां और भेद हैं। वे स्थावर और त्रसके भेदसे दो प्रकार के हैं; एकेन्द्री, विकलेन्द्री एवं पंचेंद्रीके भेदसे तीन प्रकार के हैं, और नरकादिक भेदसे चार प्रकारके हैं। दयालु श्रीजिनेन्द्र भगवान् ने इन्द्रियोंकी अपेक्षा एकेन्द्री, दो इन्द्री, ते इन्द्री, चौ इन्द्री एवं पंचेन्द्रीके भेदसे पांच तरहका कहा है। त्रस एवं स्थावरजीव छः प्रकार के होते हैं इन छ काय जीवोंकी रक्षाके लियेही जिनेन्द्र प्रभुकी आज्ञा हैं। पृथ्वी इत्यादि पांच स्थावरके साथ विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय मिलाकर जीवोंको सात भेद हो जाते है। पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय संज्ञी एवं असंज्ञी ये जीवों की आठ जातियां हैं। पांच

बाँधी गति को परस आय, निज थान ही। समुद्धात यह कहौ, तुरिय तस जान हो ॥४६॥

तैजस समुद्धात

काहू मुनिको आइ, क्रोध उपजौ घनौं। प्रगटै वायें कन्ध पुतर तैजस तनो॥
ज्वाल ताहि विकराल, सिंदूर प्रकार है। बारह जोजन दीर्घ, नवजु विस्तार है ॥४७॥
द्वारावति सम प्रलय, भसम मुनि जुत करै। तैजस अशुभ प्रवांन, कपायन विस्तरै॥
शुभ तैजस सुन भेद दया मुनिवर वढ़ै। दुर्भिक्षादिक भेंट, शुभहि आकृति चढ़ै ॥४८॥
कंध दाहिने निकस, पूर्व जव पोतरा। रोग शोक दुख सकल, निवार सुखोत्तरा॥
फिर निज थानक आय, अंग मुनि सुख करै। समुद्धात दुय भेद, पंचमौ अनुसरै ॥४९॥

आहारक समुद्धात

करत साधु श्रुत अर्थ, विचार न आवही। तहं संशय अति होय, चित चित लावही॥
निकट भूमि के मांहि, केवली है नहीं। कीजै कौन उपाय, भर्म नाशै कहीं ॥५०॥
तव मुनि मस्तक प्रगट अहारक तनु धरौ। एक हाथ उनमान, जिनेश्वर उच्चरौ॥
फटिक वरन मन हरन, जाय जहं केवली। सब संदेश मिटाय, थान आवे वली ॥५१॥

केवलि समुद्घात

तेरम गुनके अन्त, केवलि नाहकौ। रह्यौ पूर्व संसार भ्रमण, कछु ताहिकौ॥
वाहिर निकस प्रदेश अलख सो जानिये। दंड कपाट समान त्रिलोक प्रमानिये ॥५२॥

दोहा

प्रथम समय में दंड कर दूजै करै कपाट। तीजै प्रतर चतुर्थ भर-पूर लोक संपाट ॥५३॥
पंचम समय विवर्त कर, षष्टमं थान वतेह। कपाट सप्तमै अष्टमै, दंड प्रथम तन जेह ॥५४॥

समुद्घात में दिशाओं का नियम।

मारणांत आहार पुन, एक दिशा गमनेह। समुद्घात पांचौ अवर, दसहू दिश गत तेह ॥५५॥

चौवीस स्थान भ्रमण वर्णन

भ्रमत जीव संसार में, चौविस थानक मांहि। तैं वरनौं संक्षेप कर, श्री जिन आगम पाहि ॥५६॥
गति इन्द्रिय अरु काय पुनि, जोगहि वेद कपाय। ज्ञान सु संजम, दरशनौ, लेश्या भवि दुविधाय ॥५७॥

स्थावर, दो इन्द्री, ते इन्द्री, चौ इन्द्री, पंचेन्द्री इस प्रकार जिनागममें जीवोंके नौ भेदोंको कहा गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति दो इन्द्री, तेइन्द्रिय, चौइन्द्री, पञ्चेन्द्री इस प्रकार जीवोंके दस भेद कहे गये हैं। स्थावरके सूक्ष्म, वादर इत्यादि दस भेदोंमें ग्यारहवाँ त्रस मिला देने पर जीवोंके ग्यारह भेद हो जाते हैं ऐसा ही बुद्धिमानोंको जानना चाहिये। दस स्थावरमें विकलेन्द्री एवं पंचेन्द्री मिला देनेसे जीवोंके बारह भेद हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पांच स्थावर एवं वादरके भेदसे दस प्रकारके होते हैं। विकलेन्द्री, असंज्ञी पचेन्द्री पंचेन्द्री संज्ञी और पंचेन्द्रिके साथ जीवोंके तेरह भेद हो जाते हैं। सूक्ष्म वादर भेद दो प्रकारके इन्द्री, दो इन्द्री, ते इन्द्री, चौ इन्द्री और समनस्क (मन सहित) एवं अनमस्क (मन रहित) भेदसे दो प्रकारका पंचेन्द्री इस तरह सात भेद होते हैं। ये सातों अपर्याप्त एवं पर्याप्तके भेदसे चौदह प्रकारके हो जाते हैं। अर्थात् जीव समान यानी जीवोंका भेद चौदह प्रकार का हुआ।

समकित सैनि अहार ए, मारगणा दश चार। गुणस्थान चौदा अबर, जिय समाज पुनि वार ॥५८॥
परजापति प्राणन सहित, संज्ञा अरु उपजोग। ध्यान जु प्रत्यय जाति, कुल सब चौबीस नियोग ॥५९॥

गतिवर्णन

चौपाई

चारों गति में भटकै जीव, पापकर्म नारक दुख लीव। पुनि तिरंजंच सु है तृष भूख, मानुषको बहु सुख दुख ऊख ॥६०॥
शुभ भावन तें सुरगति पाय, इहि विधि भ्रमें जगतमें जाय। अब नारक गतिको गुन भेद, जिम भविजन नार्शे भ्रम खेद ॥६१॥

नरकगति वर्णन

अधोलोक में नरक जुसात, तहां नारकी जिय उनपात। प्रथमहि काल नरक तन लहै, पौन आठ धनु अंगुल छहै ॥६२॥
सागर एक आयु उतकिष्ट, दश हजार लौं कही कनिष्ट। उष्ण स्वभाव रहै तिहि थान, सहैं वेदना बे परमान ॥६३॥
महाकाल दूजो तव धार, साढ पन्द्र धन अंगुल वार। सागर तीन आयु गन लेइ, उष्ण स्वभाव सदा दुख देइ ॥६४॥
रौरव तृतीय नरक दुख एह, सवा अधिक त्रिशत धनु देह। सागर सात आयु परवान, उष्ण महा है दुख की खान ॥६५॥
तुरिय महारौरव दुख सहै, साढ़े वासट धनु तव लहै। महाउष्णता कही न जाय, सागर दश थिति है अधिकाय ॥६६॥
शालमीक पंचम दुख घनी, धनुष सवासै तनु तहं बनी। सत्रह सागर की थिति लहै, उष्ण शीत दोऊ विध सहै ॥६७॥
असिक पत्र छटम दुख देइ, धनुष अढाइसै तनु लेइ। वाइस सागर आयु लहाय, शीत तहां व्यापै अधिकाय ॥६८॥
कुम्भीपाक सप्तमी भनौ, धनुप पांचसै तनु तहं बनौ। तेतिस सागर की तिथि जहां, शीत महा तन पीड़हि तहां ॥६९॥
सप्तम नरक नरकिया जीव, तिनकी संख्यासंख्य गनीव। तिनतें छट्टम नरक गनेह, संख्य गुनै सब जानहु तेह ॥७०॥
तिनतें पंचम भूमि प्रमान, संख्य गुनै लीजो पहिचान। चौथे दुतिय तृतीय पहलेह, ऐसे ही सब जिय गन नेह ॥७१॥
प्रथम नरक में जो दुख लहै, तिहितें दुगुन दुगुन है कहै। सकल भेद पूरव वरनयौ, पुनर उक्ति तैं नाही भयौ ॥७२॥

दोहा

सात नरकके जानिये, पटल सकल उनचास। तिनमें उपजें नारकी, बिले लाख चौरास ॥७३॥

तिर्यचंगति वर्णन।

चौपाई

अब सब पशुगति को सुन भेव, जो भाष्यौ है श्री जिनदेव। दोऊ समुद कर्म भूमाहि, क्षेत्र एकसै सत्तर मांहि ॥७४॥
आधे चरम द्वीपके अन्त, संभू रमण उदधि परजंत। सैनी पंचेन्द्रिय तिरयंच, और असैनी-मन नहिं रंच ॥७५॥
जलचर थलचर नभचर होइ, अरु विकलत्रय उपजें सोइ। पृथिवी पानी तेज सु वाय, वनस्पती दुइ भेद लहाय ॥७६॥

इसी प्रकार अनेक जीव जातियोंके अठ्ठानवे भेदादिको श्रीमहावीर प्रभुने गौतमादि गणधरोंसे कहा। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु काय एवं नित्य-निगोद और इतर निगोदके भेदसे दो प्रकारके साधारण वनस्तति ये छहों प्रत्येक पृथक्-पृथक् सात-सात लाख, दस लाख प्रत्येक वनस्पति, छः लाख विकलेन्द्री पंचेन्द्री तिर्यञ्च और नारकी देव बारह लाख, तथा चौदह लाख मनुष्योंकीं जातियां हैं। सब मिलाकर चौरासी लाख योनियां हुई। इन जीवोंके करोड़ों कुल हैं। इस बातको भी श्रीमहावीर प्रभुने गणधरों तथा उपस्थित जीव समूहोंसे कहा। चार गति, पांच इन्द्रिय मार्गणा और छः काय मिलकर पंद्रह योग हुए। स्त्री वेद आदि तीन वेद हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध आदि पचीस कषायें हैं। पांच सुज्ञान एवं तीन कुज्ञान मिला देनेसे आठ प्रकारके

प्रत्येकहि साधारण सोय, प्रत्येकहि वृक्षादिक होइ। सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जान, सुप्रतिष्ठित उपजैं तिहियान ॥७७॥
तिनमें राशि निगोद जु होय, सुप्रतिष्ठित जानो तरु सोय। साधारण निगोद दो जान, इन सूक्षम वादर सब थान ॥७८॥
नित्य निगोद गोलकन पंच, जीवराशि जानो सब संच। अब सुन भोगभूमि पशु कहो, और कुभोग भूमि में लहो ॥७९॥
पुष्करार्ध तैं बाहिर जान, दीप असंख्य सबै परवांन। सैनी पंचेन्द्रिय तिरजंच, थलचर नभचर दोय सदंच ॥८०॥
जलचर इन थानक नहि कही, विकलत्रय नहि उपजैं सही। वनस्पती अप्रतिष्ठत होय, विन निगोद तरु कल्प संजोय ॥८१॥
सूक्षम पंच थान वरजेइ, तीन लोक सब थानक तेइ। सबकी थिति उत्कृष्ट बखान, तीन पल्य पंचेन्द्रिय जान ॥८२॥
चौ इन्द्रिय छह मास जु कही, ते इन्द्रिय दिन उनचास ही। वारह वरष द्विइन्द्रिय लहै, अब एकेन्द्रिय थिति को कहैं ॥८३॥
वाइस सहस वर्ष पृथिवीय, सात हजार जलहिको लीय। तीन दिना है अगिन जु आव, तीन हजार वायु को थाव ॥८४॥
वनस्पती प्रत्येक बखान, दश हजार वरपैं थिति जान। यह उत्कृष्ट आयु परमान, अब जघन्य सबको उनमान ॥८५॥
अन्तमुहूरत लौं थिति रंच, पृथिवी चउ साधारण पंच। वादर सूक्ष्म दशहि परवांन, प्रत्येक हि गेरम पहिचान ॥८६॥
छह हजार वारह घर शीस, छयासट सहस इकसै वत्तीस। विकलत्रय जु असैनी दीस, असी साठ चालिस चौबीस ॥८७॥

शरीर की अवगाहना का वर्णन

छयास सहसट त्रयसै छत्तीस, जन्ममरण भाष्यौ जगदीश। काय भेदु अब सुनहु सुजान, मच्छ सहस जोजन परवांन ॥८८॥
जोजन एक भ्रमर तन कूर, तीन कोशको कानखजूर। वारह जोजन शंखहि धार, अर एकेन्द्रिय काय विचार ॥८९॥
पृथिवी जल प्रत्येक जु दोय, असंख्यात जोजन अब लोय। अग्नि पवनको देह जु कही, किंचित ऊन लोक भर लही ॥९०॥
यह उत्कृष्ट काय परमान, अब जघन्यको करौं बखान। शालिसिक्थ मच्छहि लघुरूप, मक्षिकादि चौइन्द्रिय नूप ॥९१॥
कुन्थु आदि ते इन्द्रिय जान, अनुंधरिया दो इन्द्रियवान। अंगुल एक असंख्य जु भाग, पृथिवी चौक वनस्पति साग ॥९२॥
पृथिवी जीव मसूर अकार, जल को रूप बूंद सम धार। सुईवत तेजहि की है काय, ध्वज आकार शरीर जु वाय ॥९३॥
तरु प्रत्येक हि भेद अनेक, साधारण सूक्षम वपु सेक। अब सब जीवनि संख्या जान, जैसो जिनशासन पहिचान ॥९४॥
असंख्यात पचेन्द्रिय पशू, तिनमें संख्य असैनी [लसू। तिन ही तैं चौइन्द्री जीव, संख्य गुनैं ताकरि कर लीव ॥९५॥
जिनतैं संख्य गुनैं ते अक्ष, तिनतैं संख्य गुणे वे अक्ष। एकेन्द्रिय कौ पृथिवी चौक, संख्य संख्य गुन क्रम कौ थोक ॥९६॥
वनस्पती प्रत्येक बखान, सब देवन सम संख्या जान। तिनतैं नंत गुनैं पहिचान, साधारण ईनर जिय जान ॥९७॥
सिद्धा सर्व अनंतानंत, सोहैं तीन लोक के अन्त। तिनहि अनन्तानन्त गुनेह, नित्य निगोद एक वपु तेह ॥९८॥
इक वपुतैं सब गोलक जीव, नन्तानंत तहां जु सदीव। तिनके भाग अनन्तानन्त, थिर संसार अभव्य वसन्त ॥९९॥
तिनहिं अनंत भाग में जान, भव्यजीव शिव लहैं निदान। सिद्ध नंतता वढ़े नहि कदा, राशि निगोद घटै नहि सदा ॥१००॥

मनुष्यगति वर्णन

ज्ञान हैं। शुभ एवं अशुभ रूप छः प्रकारकी लेश्याएं हैं। भव्य एवं अभव्यके भेदसे दो प्रकारके जीव हैं छः प्रकारके सम्यक्त्व हैं। संज्ञी एवं असंज्ञी भेदसे दो तरहके और आहारक एवं अनाहारक भेदसे भी दो प्रकारके जीव हैं। इस प्रकारसे चौदह प्रकारके मार्गणा (अन्वेषण-पथ) कहे गये हैं। संसारिक जीवोंको इन्हीं चौदह मार्गणाओंमें दर्शन विशुद्धिके लिये ज्ञानियोंको खोजते रहना चाहिये। जिनेन्द्र महावीर प्रभुने मिथ्यात, सासादन, मिश्र, अविरत, देश संयत, अप्रमत्त, अधःकरण, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्म सांपराय उपशांत कषाय क्षीण कषाय सयोगि जिन इन चौदह गुण स्थानोंको विस्तार पूर्वक वर्णन किया। इन्हीं चौदहों गुण स्थानोंके द्वारा भूतकालमें भव्य जीवोंने निर्वाण पदको प्राप्त किया है वर्तमान कालमें प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य कालमें भी प्राप्त करेंगे। मोक्ष प्राप्तिका और कोई अन्य मार्ग नहीं है। ग्यारह अंगोंके अर्थोंको जान जाने पर एवं अभव्यके सदैव दीक्षित हो जाने पर भी पहले मिथ्यात्व गुण स्थान ही आता है, अन्य नहीं। जिस प्रकार कि मिश्री मिले हुए

नरगति भेद कहौं कछु तेह, द्वीप अढाई में उपजेह। भोगभूमि उत्कृष्ट बखान, उपजें जुगल सदा तिहि थान ॥१०१॥
तीन कोश की काय धरेह, तीन पल्यकी आयु धरेह। तीन दिवस में लेय अहार, बदरी फलवत नहीं निहार ॥१०२॥
मध्यम भोगभूमि नर वसें, दोय कोशको वपु धर लसें। दोय पल्य जीवें तस आव, दोय दिना गत भोजन भाव ॥१०३॥
जघन्य भोगभूमि सब नरा, एक कोश को तन जहं धरा। एक पल्यकी थिति है तेह, नितप्रति भोज कल्प वृक्षेह ॥१०४॥
और कुभोगभूमि नर कहे, पशुवत मुख सबके सरदहे। भोग भूमिवत आव रु काय, मृतिका भोजन लहैं सवाय ॥१०५॥
स्वाद शर्करावत तस जान, अविवेकी हिरदे नहि ज्ञान। विदेह सर्वे कर्म भू थान, काय पंचशत धनुष प्रमान ॥१०६॥
सदा शाश्वते मन्दिर वसें, धन कन पूरन सब सुख लसें। दिन प्रति भोजन षटरस वहैं, आयु कोटि पूरवकी लहैं ॥१०७॥

दोहा

सत्तरलाख छप्पन सहस, इतने कोड़ाकोड़ि। एक कोड़ पूरव वहीं, अंक इकीसह जोड़ि ॥१०८॥

चौपाई

आरजखण्ड काल षट वहैं, सुखदुख कर पूरन निर्वहै। तीन कोश उत्कृष्ट सु देह, एक हाथको जघन भनेह ॥१०९॥
तीन पल्य आयु उतकृष्ट, षोडश वर्ष हि कही कनिष्ठ। सकल म्लेच्छनमें नर होइ, धर्म बिना नहि सुखदुख जोइ ॥११०॥
आयु कायको यह परवांन, भरतैरावत आर्य समान। म्लेच्छ विदेहनमें जे लेख, काय आयु उनही सम पेख ॥१११॥

दोहा

भोगभूमि त्रय काल त्रय, चतुरथ काल विदेह। पंचम काल म्लेच्छ सब, छट्ठम नारक तेह ॥११२॥
आरज दश सब मांहिमें, वरतैं छैंहू काल। घट बढ़ बढ़ घट देहि थिति, लहै बहुत जंजाल ॥११३॥

चौपाई

संख्या सब नर जीवन सुनो, गर्भज संमूर्च्छन दुर भनो। गर्भज नर सबको परमान, कल्पभाग सो तिहि उनमान ॥११४॥
ताके अंक उंतीस हि जोड, तामें नारी भाग जु दोय। एक भाग है पुरुष निदान, तेही में जु नपुंसक जान ॥११५॥

उक्तं च गाथा

सत्तादि णवदि दो दो, अट्ठेकं छक्क दोण्णि पंचेक्कं। चदु दुग छक्कं चदुरो, तिय तिय सत्तं तहा पणगं ॥
णव तिण्णि पंच चदुरो, तिण्णि तहा णव य पंच सुण्णं च। तिय तिय छक्कं च तहा, मणस्सरासीपमाणं तु ॥
(७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६)

सन्मूर्च्छन नरको उन्मान, कहै जिनागम संख्य प्रमान। यह संक्षेप मनुषगति जान, अब देवनका करौं बखान ॥११६॥

देवगति वर्णन

भवनावासी दश विधि थान, असुर कुमार प्रथम पहिचान। काय धनुष पच्चीस उत्तंग, तुर्य नरकलौं विक्रिय अंग ॥११७॥
अब नव भवन तनों सुन भेव, काय धनुष तन उन्नत लेव। तीन पल्य सब उतकिठ आव, और जघन्य सहस दश ठाव ॥११८॥

मीठे दूधको पीकर भी महा विषैला काला सांप अपने स्वाभाविक विषको नहीं छोड़ सकता उसी तरह अभव्य भी आगम रूपी अमृतको पान करके मिथ्यात्वको नहीं छोड़ता। अतः शेष तेरह गुणस्थान पार्श्ववर्ती भव्योंके ही हो पाते हैं। अभव्य एवं दूरवर्ती भव्योंको कदापि नहीं होते। इस प्रकार श्रीमहावीर प्रभुने जीवतत्वकी व्याख्या पहले तो आगम (पारमार्थिक) भाषामें की। पुनः उसी तत्व उपदेशका व्याख्यान अध्यात्म व्यवहारिक भाषामें उन्होंने किया। वहिरात्मा, अन्तरात्मा और आत्मा ये तीन प्रकारके जीव, गुण और दोषकी अपेक्षाके लिये कहे गये हैं। वहिरात्मा वही है जो जीव तत्व अतत्व,
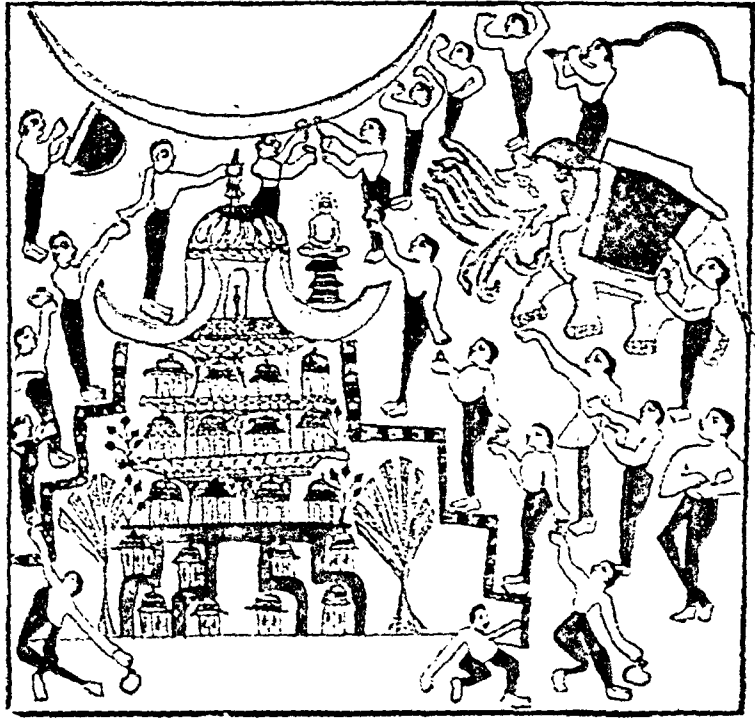
श्री जिन बालक भगवान् महावीर का देवों के द्वारा मेरु पर्वत पर अभिषेक।
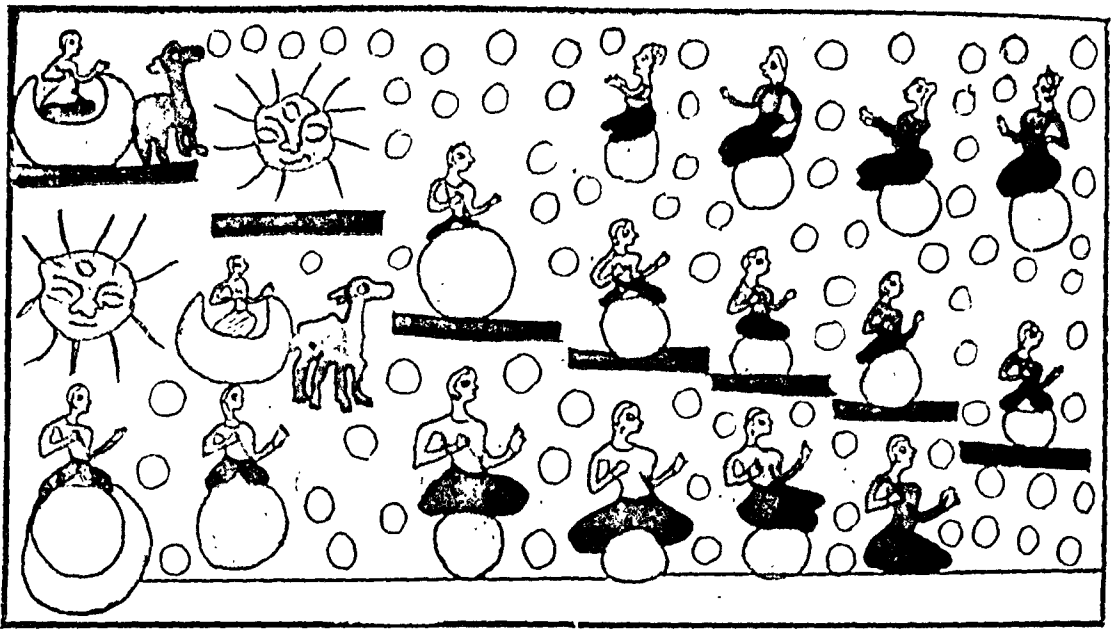
राहु, केतु, चंद्रमा, बुद्ध, मंगल, तारा आदि ज्योतिष्यों की संख्या।
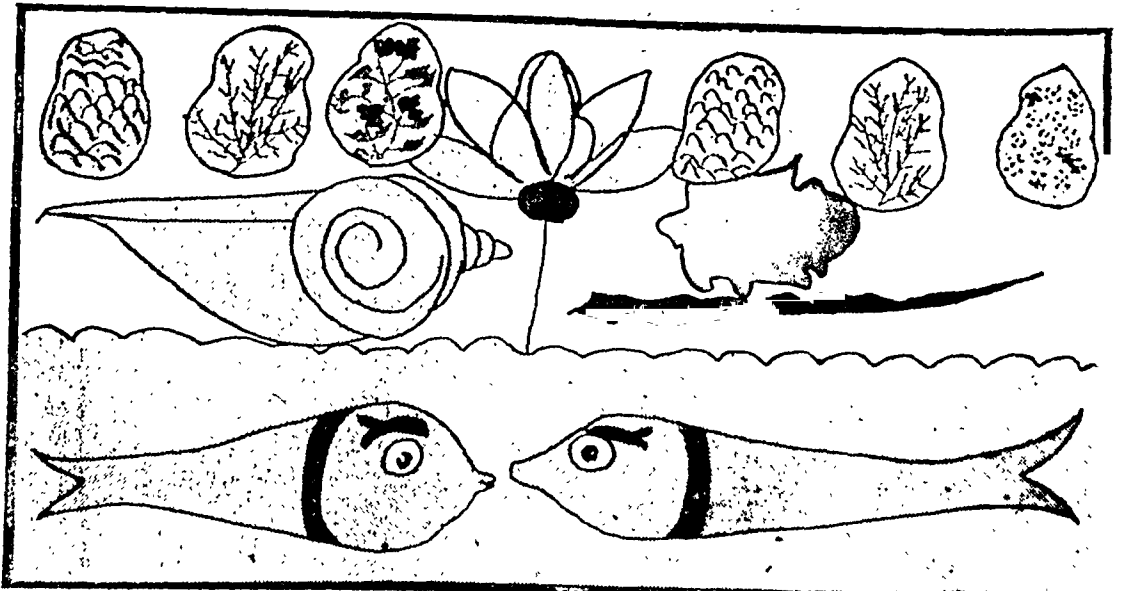
श्री १००८ भगवान् के कुछ चिन्ह।

साढ़े वारह दिन जव जांहि, मनसाहार लैहिं सुख चाहि। नेत्र विषय जोजन इक कोड़, देखैं मेरु चूलिका छोड़ ॥११९॥
तिन देवन जिय राशि वखान, असंख्यात गुण को परवांन। अव व्यन्तर हैं अष्ट प्रकार, (वि)मान असंख्याते निरधार ॥१२०॥
प्रथम हि शुभ परिणाम हि जान, साढ़े चार जाति परवांन। किंनर अरु किंपुरुष जु दोय, महोरंग गंधर्व हि सोय ॥१२१॥
आधे यक्ष सवै शुभ कहे, अशुभ प्रमाणी आधे लहे। राक्षस भूत पिशाच य सर्व, यहै अष्टविध व्यन्तर गर्व ॥१२२॥
एक पल्य उत्कृष्टी आव, दश साहस्र जघन्य लखाव। सव दश धनुषहि व्यन्तर काय, विक्रिय धरें भवन दश चाव ॥१२३॥
नेत्र विषय जोजन पच्चीस, साढ़े वसु दिन भोजन कीस। असंख्यात जियराशि प्रमान, अव जोतिष देवन पहिचान ॥१२४॥
सूर्य चन्द्र ग्रह नखत जु तार, सप्त धनुष की काय विचार। आयु पल्य दो हैं उतकिष्ट, वरष सहस दश कहो कनिष्ट ॥१२५॥
साढ़े सात दिवस गत जवै, मनसा हार लेई जो सवै। नेत्र विषय जोजन संख्यात, अध ऊरध सव देखैं गात ॥१२६॥
ज्योतिष देव जीवकी राशि, असंख्यात गुण जिनवर भासि। देविन सहित भोगवें भोग, भवनत्रिकको यह संजोग ॥१२७॥

कल्पवासी देव वर्णन

सौधर्मा ईशान जु दोय, काय प्रमान सप्त कर होय। आयु दोय सागर उतकृष्ट, सागर एक कहो जु कनिष्ट ॥१२८॥
काया सौं सुख भुगतैं जास, दोय पक्ष गत लेय उसास। दोय सहस वरषें जव जांहि, मानसीक आहार करांहि ॥१२९॥
प्रथम नरक लौ विक्रिय लहैं, तहां प्रमाण अवधि सरदहै। सनत्कुमार महेन्द्र वखान, छै कर उन्नत तन उन्मान ॥१३०॥
सागर सात जु आयु लहेव, असपरशत सुख काम भनेव। सात पक्ष वीते उच्छ्वास, सात हजार वर्ष गत जास ॥१३१॥
मानसीक तव लेइ अहार, तीजे नरक विक्रिया धार। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर देव, दश सागरकी थिति लै तेव ॥१३२॥
साढे पांच हाथ की देह, रूप देख मानैं सुख नेह। पांच मास पर लेह उसास, वर्ष सहस दश भोजन आस ॥१३३॥
चौथे नरक विक्रिया गहैं, उनहीलौं जु अवधिको लहैं। लान्तव अरु कापिष्टहि अंत, चौदह सागर आयु धरंत ॥१३४॥
पांच हाथको धरैं शरीर, रूप देख सुख मानैं वीर। सात मास गत लैंहि उसास, चौदह वरष सहस छह जास ॥१३५॥
पंचम भूमि अवधि कर शेष, धरै विक्रिया ताहि विशेष। शुक्र महाशुक्र सुर ईश, सोरह सागर आयु सरीस ॥१३६॥
साढ़े चार हाथ तनु धार, शब्द शब्द कर सुख अनुसार। सोरा पक्ष उसासहि धार, सोरा सहस वर्ष आहार ॥१३७॥
पंचम नरक तनें विक्रिया, तितही लौं जु अवधि धर लिया। सतार सहस्रार द्वै जान, अष्टादश सागर थिति मान ॥१३८॥
शब्द सुख्यकौ सदा लहेव, चार हाथ तनु धरैं जु देव। नमैं मास उच्छ्वासहि धार, सहस अठारा वर्ष अहार ॥१३९॥
अष्टम नरक विक्रिया कही, अवधि सहित देखैं सव सही। आनत प्राणत सुर दो सार, सागर वीस आयु तह धार ॥१४०॥
साढ़े तीन हाथ वपु लेह, मनकी उमग सुख्यको नेह। वीस पक्षगत स्वासा वहै, वीस सहस, अव भोजन लहै ॥१४१॥
षष्ठहि नारक विक्रिया लहै, तहां प्रमान अवधिको गहै। आरण अच्युत कल्पहि जान, वाइस सागर आयु प्रमान ॥१४२॥
तीन हाथ वपु सोहै तेह, मनमें सुख्य धरैं अति नेह। वाइस पक्ष गहैं उच्छ्वास, वाइस सहस वर्ष जव नास ॥१४३॥
मनसा भोजन लेइ जु सोइ, षष्ठहि नरक विक्रिया जोइ। उतही लौं जु अवधिको जान, अव देविन थिति सुनो प्रमान ॥१४४॥
सौंधर्म हि देविनकी आव, पंच पल्य उतकृष्ट हि ठाव। ईशानहिकी सातौं पल्य, सनत्कुमार माहि नौ पल्य ॥१४५॥

गुण, अगुण, सुगुरु कुगुरु, पाप-धर्म, शुभ अशुभ, जिनशुभ-कुशास्त्र, देव-कुदेव, एवं हेय उपादेयकी विश्लेषण किया करके परीक्षामें असमर्थ एवं विचार हीन है। जो कि विना विचारके ही अपनी इच्छाके अनुसार सव वस्तुओंको ग्रहण कर लेता है वही मूर्ख पहला वहिरात्मा है। ग्रहण किया गया पदार्थ असत्य हो अथवा सत्य। जो जड़मति महाविषके समान नाशकारी विषय जन्य सुखको ग्राह्य समझकर सेवन करता है वही वहिरात्मा है। जो बुद्धिहीन जड़ शरीर एवं चैतन्य रूप जीवको परस्पर सम्बद्ध हो जानेसे एक ही मान लेता है वह ज्ञानसे वहुत दूर है—निरानुख है और कुछ भी नहीं जानता। वहिरात्मा जीव अपनी

इहि विधि दो दो बढ़तो लेख, सहस्रार लौं लहै विशेख। आनत तैं बढ़ सात गनेव, षोडश लौं लीजो सब येव ॥१४६॥
पचवन पल्य तहां ठहराव, अब ऊरधको सुनिये भाव। ग्रैवेयक अध देव अहिंद, काय अढ़ाई हाथ प्रबन्ध ॥१४७॥
सागर तेइस आयु जघन्य, पच्चीसहि उत्कृष्ट गनिन्य। देविनि वर्जित सोहै सोय, सुख्य असंख्य गुनें अवलोय ॥१४८॥
मध्यम ग्रैवक दो कर देह, अट्ठाइस सागर थिति लेह। ऊरध ग्रैवक तन कर डेढ़, इकतिस सागर आयु प्रवेद ॥१४९॥
नव नवांतर देव जु काय, सवा हाथ सो है सुखदाय। बत्तिस सागर आयु प्रमान, अब पंचोत्तर सुनी बखान ॥१५०॥
एक हाथ उन्नत तन दीस, सागर आयु लहैं तेतीस। सप्तम भूमि नरककी देख, अवधि विक्रिया तहं लौं पेख ॥१५१॥
तेतिस पक्ष लहैं उस्वास, तेतिस सहस वर्ष गत जास। मानसीक सो लेहि अहार, है एका अवतारी सार ॥१५२॥
अहमिन्द्रहके सुख्य जु भनौं, भाग असंख्य कल्प सुर गनो। पंचोत्तरके देव विशेख, तिनतैं सख्य संख्य गुण लेख ॥१५३॥
सो सौधर्म स्वर्ग परजंत, याही विधि गन लीजो संत। अब चौदेवन संख्या जोड़, साढ़े बारह कोड़ाकोड़ ॥१५४॥
जितने अद्धा पल्य बखान, तिनके नाम गुनो बुधिवान। तितनें है सब देव निशंक, अट्ठानव एकसैं अंक ॥१५५॥
इहि विधि चारौं गति की सीख, दुःख सुक्ख लह भटकैं जीव। अब गति बंध तनौं सुन भेद, जिमि नासैं भव भव मन खेद ॥१५६॥
जितनी आयु जीवकी परैं, पैंसटसैं इक सब दल करैं। आठ भाग कर गतिको लहै, ताके भेद सुनौ अब यहै ॥१५७॥

दोहा

दोय सहस अरु एकसैं, और सतासी लीय। प्रथम भाग ए दल रहै, तब गति बांधहि जीव ॥१५८॥
दुतिय भाग में सात सै, अर ऊपर उनतीस। दोसैं तेतालिस तृतिय, तुरिय इक्यासी दीस ॥१५९॥
रहे पंचमें भागमें, दल सत्ताइस आव। षष्ठम नव सत्तम तृतिय, अष्टम एकहि ठाव ॥१६०॥
शुभ भावन शुभ गति बंधै, अशुभहि दुर्गति जाय। सो भावी छूटै नहीं, कीजै कोट उपाय ॥१६१॥

अथ इन्द्रियमार्गणा

चौपाई

अब पंचेन्द्रियको सुन भेव, जुदे जुदे विषयनकी सेव। चाप चारसैं इंद्रिय फरस, चौंसठ जीभ नाकसौं सरस ॥१६२॥
इन तीनों तैं गुनियौ संत, दुगुनै दुगुन असैनी अन्त। चतुरन्द्रियको चक्षु प्रमान, उनतिससैं चौवन अधिकान ॥१६३॥
तिनतैं दुगुण असैनी चक्षु, आठ सहस धनु श्रवण प्रतच्छु। अब सैनी को विषय निरभनौ, जिहि विध जिन आगम में सुनौ ॥१६४॥
सपरस प्रथम विषय परवांन, नव जोजन लघु लहै निदान। नव रसना नव घ्राण जु होय, नैंन विषय आगे अवलोय ॥१६५॥
सैंतालीस सहस शत दोय, जोजन त्रेसठ अधिक जु सोय। बारह जोजन श्रवणन सुनैं, यह मिति क्षेत्र विषयकी गुनैं ॥१६६॥

कायमार्गणा

दोहा

पांचों थावर एक त्रस, ए षट्काय गनेव। भेदाभेद अनेक विध, ग्रन्थमांहि लहि भेव ॥१६७॥

दुर्बुद्धिके कारण उलटा समझता है। वह पापोंको पुण्य समझ कर उनका आचरण करता है और अनेक प्रकारके कष्टोंको पाकर दुखित होता है। ऐसे लोग इस संसार रूपी महा घोर वनमें सदैव भटका ही करते हैं। जो कि तप, श्रुत एवं व्रतोंसे युक्त होने पर भी आत्म-स्वरूप एवं परस्वरूपका अच्छी तरह विचार नहीं कर पाता वह आत्म-ज्ञानसे वंचित है। इसलिये बुद्धिमानोंको उचित है कि इन बहिरात्माओंके संसर्गसे सदैव बचा रहे बहिरात्मा जघन्य पथके पथिक होते हैं, स्वप्नमें भी इनका

योगमार्गणा

चौपाई

अब सुन पंद्रह जोग जु सोय, मन वच काय त्रिविध संजोय। मन के चार जोग पहिचान, सत्य असत्य दोय परवान ॥१६८॥
उभय जोग तीसरौ कह्यौ, अनुभय मन चौथौ निरवह्यौ। वचन जोग चारौं उनमान, सत्य असत्य भेद दो जान ॥१६९॥
उभय वचन अनुभय वच होइ, तिनके भेद सुनो अवलोइ। सत्य कहावै साची वात, तहां असत्य झूठ विख्यात ॥१७०॥
कछू झूठ कछु सांची कहै, उभय जोगको इहि विधि लहै। जहां न सांच झूठ परसंग, अनुभय जोग कहावै अंग ॥१७१॥
प्रथमहि औदारिक है काय, औदारिक मिश्रित दो थाय। विक्रिय काय जोग त्रय जान, विक्रिय मिश्र काय जोगान ॥१७२॥
अहरक काय जोग पंचमा, अहरकमिश्र काय छट्टमा। कार्मण काय जोग ये सात, सब पन्द्रह जानौ उतपात ॥१७३॥
जोलों जौग गमन लह जीव, कर न सकै सरदहन सुकीव। जब त्यागौ सत्ता इन तनी, होय अयोगी केवल धनी ॥१७४॥

वेदमार्गणा

अस्त्री पुरुष नपुंसक जान, एही तीन वेद पहिचान। इन्हें धरै जिय नर्तत फिरै, अपनी सुध नहि कबहूं करै ॥१७५॥

कषायमार्गणा

चार चौकड़ी सोरह जेह, हास्या दिककी नव गन लेह। ये सब मिलि पच्चीस कषाय, इनको धर जिय जग भटकाव ॥१७६॥

ज्ञानमार्गणा

ज्ञान आठ-मति श्रुत दो जान, (अ)वधि मन परजय केवलज्ञान। तीन कुज्ञान मिलें सब आठ, ज्ञानमार्गणा इहि विधि ठाठ ॥१७७॥

संयममार्गणा

संयम और असंयम जान, छेदोपस्थापन परवान। यथाख्यात सामायिक और, सूक्षम सांपराय गुण ठौर ॥१७८॥
अरु कहिये परिहार विशुद्ध, ये ही सातों संयम शुद्ध। अब इनको कछु सुनिये भेव, भाष्यौ है श्री जिनवर देव ॥१७९॥
पंच महाव्रत समिति लहाय, पंचेन्द्रिय जीतै जु दवाय। मन वच काय दण्ड कर त्याग, ताको भेद सुनो बड़भाग ॥१८०॥
प्रथम दण्ड मन को जानिये, त्रिविध रूप ताके मानिये। रागद्वेष मोह ये तीन, तिनके भेद सुनो परवीन ॥१८१॥
प्रथम हास्यरस माया लोभ, रागतनैं ये जानो क्षोभ। क्रोध मान भय आरति तेह, शोक ग्लानि द्वेष हैं येह ॥१८२॥
तीन मिथ्यात वेद पुन तीन, मोह तनी रचना परवीन। इन जीतै उपजै वैराग, तह मन दंड तनों है त्याग ॥१८३॥
वचन दंड के सात हि भेद, अनृत अरु उपघात निवेद। पिशुन परोप गनौ अभिसन्न, पर वार्तिक अर होइ हसन्न ॥१८४॥
झूठ कथन तहं अनृत विख्यात, मारण कहै वहै उपघात। कपट प्रपंच पिशुनता जान, वचन कठोर परोप बखान ॥१८५॥
जहं अपनी प्रभुता कहवावै, सो अभिसन्न नाम ठहरावै। वात कहत सबको दुख होय, सो परवान कहै मुनि लोय ॥१८६॥
दया रहित जो कहिये बात, यह हसन्नता को उतपात। इनतैं रहित गहै तप जबै, वचन दंड त्यागो मुनि तबै ॥१८७॥
काय दण्ड अब सात प्रकार, प्रान वद्ध चोरजति असार। मैथुन परिग्रह आरम्भेव, ताड़न उग्र विषय दुख देव ॥१८८॥

संसर्ग अकल्याणकर होता है।

अन्तरात्मा वे हैं जो कि बहिरात्माके विपरीत हैं। इनकी बुद्धि विवेकशील होती है। ये जिन सिद्धान्तके धर्म-सूत्रोंको जानते हैं और तत्व-अतत्व, शुभ-अशुभ, देव-कुदेव, सत्य-असत्य मत, धर्म-अधर्म तथा मिथ्यामार्ग एवं मोक्ष मार्गके यथार्थ भेदोंको अच्छी तरह जानते हैं। जिनमें ऐसी भेद ज्ञानात्मक शक्ति है उसीको जिनेन्द्र महावीर प्रभूने अन्तरात्मा कहा है। जो कि अपने

प्रान वद्ध है जीव संहार, चोर जती चोरे निरहार। शील रहित है मैथुन नाम, परिग्रह वहुत जोरवीदाम ॥१८६॥
वहु उद्यमको जहं विस्तार, सो आरंभ तनौं अधिकार। यष्टि मुष्टि कर मारण लहै, ताड़न अंग कहावै वहै ॥१६०॥
जो काहू डर पावै सही, तासी कहि उपग्र विप यही। इन विन जो तप साधै घनी, कायदण्डका त्यागी भनी ॥१६१॥
दुतिय असंयम सुनहु प्रवान, त्रस रक्षा तैं रहित वखान। सो ही तीन जोग करि रंभ, संरंभ सभारम्भ आरम्भ ॥१६२॥
जीववृद्धिको कारण जहां, सो संरम्भ कहावैं तहां। जीव वद्धको आयुध आन, समारंभ भासी पहिचान ॥१६३॥
प्राणी जहां डारिये मार, सो आरम्भ भेद निरवार। जव मन वरतै ऐसे भाव, तहीं असंमयको ठहराव ॥१६४॥
संजम धारी समतावंत, आरति रौद्र निकन्दन सन्त। श्रावक कर्म जु पहिलै धरै, सो प्रायश्चित्त वल कर हरै ॥१६५॥
छहौं काल साधै थिर ध्यान, सो सामायिक वंत वखान। द्वै विध संजमको प्रतिपाल, दयावंत इन्द्रिय नहि चाल ॥१६६॥
जहं त्रस थावर को संहार, भयो प्रमादतनौं अधिकार। अथवा भयो होय व्रत भंग, करै विलाप धरै दुखअंग ॥१६७॥
ता निमित्त संजम प्रतिपाल, अपने व्रतकी करै संभाल। वहुरि न जीव विराधै सोय, यह छेदोपस्थापन होय ॥१६८॥
तीस वरपको मुनिवर राय, सेवे तीर्थंकर के पाय। नवमौ पूरव प्रत्याख्यान, रहित प्रमाद पढ़ै बुधवान ॥१६९॥
निरविद उतपति काल प्रवांन, जनम जान अरु देश वखान। द्रव्य स्वभाव जीव गुण जितै, सो मुनि भेद वतावै तितै ॥२००॥
कर्म निर्जरा वहु विध करै, घोर वीर तपको आदरै। त्रय संध्या के अन्तर चलै, दे गाऊ मारग दल मलै ॥२०१॥
पंच समिति को पालनहार, तीन गुप्तमें करै विहार। हिंसा रहित तजैं दुरवुद्ध, यह कहिये परिहार विशुद्ध ॥२०२॥
सूक्षम थूल जीव प्रतिपाल, तप अखंड धारी गुनमाल। दरशन ज्ञान समीर चलाय, प्रजुलित करी अग्नि शुभ जाय ॥२०३॥
कर्म रूप सव ईधन जितौ, दयौ जराय मुनीश्वर तितहौ। ध्यान कुठारहि करमें ल्याय, तरु कपाय को दियौ ढहाय ॥२०४॥
सूक्षम रहौ मोहको जोर, ता क्षय कारन उद्यम ओर। जहं तप कर छीजै मुनि देह, सूक्ष्म सांपराय गुण एह ॥२०५॥
तप कर नाशै सकल कपाय, अंशमात्र कोऊ न दिखाय। वीतराग चारित रस पियें, आतम अनुभव वरतें हिये ॥२०६॥
जथाख्यात ताही को नाम, सातों संजम ये गुणधाम। जीव धरै ये सातों रूप, तप संजमधारी जु अनुप ॥२०७॥

दर्शनमार्गणा

चक्षु अचक्षु अवधि जुत तीन, केवल दर्शन चौथीलीन। ये ही चारों दर्शन जान, दरशै वस्तु लोक अस्थान ॥२०८॥

लेश्यामार्गणा

प्रथम कृष्ण धर नरक लहंत, दूजै नील हि थावर जंत। तीजै कापोत हि तिरंजंच, चौथे पीत मनुप पद संच ॥२०९॥
पंचम पद्म स्वर्गगति लहै, पष्ठम शुकल भाव शिव गहै। ये छह लेश्या भेद विचार, सुनहु भव्य मिथ्या निरवार ॥२१०॥
आरत रौद्र न त्यागै कदा, धर्म विवर्जित क्रोधी सदा। दया रहित परपंची होय, लेश्या कृष्णा जास अग जोय ॥२११॥
मंदवुद्धि परमादी गुनौ, निडर वचन बोले वहु घनौ। है परपंथी कामी घोर, लेश्या नील तास की ओर ॥२१२॥

आपको निष्फल एवं सिद्धोंके समान समझ कर योगियोंकी तरह ध्यान मग्न रहता है अर्थात् चिन्तवन किया करता है और आत्म-द्रव्य एवं परदेह इत्यादि वस्तुओंमें वास्तविक भेदोंको समझता है उस महाज्ञानीको अन्तरात्मा कहते हैं। थोड़े शब्दों में ऐसे कहा जा सकता है कि जिसका पवित्र एवं श्रेष्ठ मन उत्तम अधर्मके विचार कर लेनेमें कसौटीके समान होकर निर्णय कर डालता है वही अन्तरात्मा या परम ज्ञानी है। ऐसा जानकर आत्माकी तरफ से सम्पूर्ण जड़ताको हटा ले और परमात्म पद पानेकी इच्छासे उसके पहले अन्तरात्म पदको प्राप्त करे।

परमात्मा सकल विकलके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। जो दिव्य शरीरमें अवस्थित रहता है वह सकल परमात्मा

शोक करै अरु दुष्ट स्वभाव, परनिन्द्य निज कहै बढ़ाव । इच्छा युद्ध कुगुरुकी, सेव, यह कापोत धनीको भेव ॥२१३।
विद्यावंत दया परिणाम, कार्य अकार्य विचारत जाम । लाभ अलाभ समक्ष आचरै, लेश्या पीत जहां उर धरै ॥२१४।
क्षमावंत दाता वुधवान, करै देव पूजा द्युति ध्यान । सब जीवन सों समताभाव, यही पद्मलेश्या ठहराव ॥२१५।
राग द्वेष निज डारे खोय, निद्रा शोक न दीसै कोय । उत्तम भाव धरै जब जीव, ता, सौ लेश्या शुक्ल कहीव ॥२१६।
सुन इनको दृष्टान्त विचार, गये पुरुष पट वनहि मंझार । तहाँ आम्रतरु फलजुत देख, बैठे निर्मल छाया पेख ॥२१७।
फल भक्षण की इच्छा धार, वोलै निज निज भाव सम्हार । कृष्ण धनी कहि जर काटिये, पीछै याके फल वांटिये ॥२१८।
तव वोल्यौ जाके अंग नील, पेड़ो काटत करो न ढीलि । अव कापोत धनी इम कहो, याकी डारें काटो सही ॥२१९।
कहै पीत पति ऐसौ भेव, कोंचा कोंचा तोर जु लेव । वोल्यौ पद्म धनी यह वात, पके पके फल टोरौ भ्रात ॥२२०।
कहै शुक्लचारी यह गाथ, गिरे लेउ, मत लोवौ हाथ । घट पटलेश्या संग अनूप, नाचत फिरै जीव चिद्रूप ॥२२१।

भव्यमार्गणा

भव्य अभव्य राशि द्वै जान, इनके अव सुन भेद वखान । गुरु श्रुत देव तनी जु प्रतीति, जाके उर श्रद्धाकी रीति ॥२२२
आर्जव परिणामी वधवान, अरु गनतीमें आपौ जान । जो कर्मनि वश जाय निगोद, फिर निकसै निज वचन विनोद ॥२२३।
काललब्धितें शिवपुर जाय, भव्य राशि को यही स्वभाव । जहां न गुरुके वचन प्रतीत, गहिल रूप नहि इंद्रिय जीत ॥२२४।
तप वल जो ग्रीवक लौं जाय, फिर वहतें निगोद ठहराय । सदा काल जग भ्रमतो रहै, अभवि राशि याही सौं कहै ॥२२५।

सम्यक्त्वमार्गणा

प्रथम मिथ्यात दुतिय सासान, तीजौ सम्यक मिच्छ वखान । उपशम वेदक क्षायिक एह, तिनको कथन सुनो धर नेह ॥२२६।

सम्यकत्व के ९ भेद

दोहा

क्षय उपशम वरतै त्रिविध, वेदक चार प्रकार । क्षायिक उपशम जुगल जुत, नवविध समकित धार ॥२२७॥
(१) चार खिपइ त्रय उपशमइ, (२) पन खय उपशम दोय । (३) क्षय पट उपशम एक जो, क्षय उपशम त्रिक होय ॥२२८॥
(४) जहाँ चार प्रकृतिन खिपय, दो उपशम इक वेद । क्षय उपशम वेदक दशा, तास प्रथम यह भेद ॥२२९॥
(५) पंच खिपइ इक उपशमइ, एक वेदै जिहि ठौर । सो क्षय इक उरवेदकी, दशा दुतिय यह और ॥२३०॥
(६) क्षय पट वेदै एक जो, क्षायिक वेदक जोय । (७)पट उपशम इक प्रकृति विदि, उपशम क्षायिक सोय ॥२३१॥
(८) पट उपशम या खिपइ जो, उपशम क्षायिक सोय । सातम प्रकृति उदोत सौं, वेदक समकित होय ॥२३२॥
रवय उपशम, वेदक खइय, उपशम, समकित चार । तीन, चार, इक, एक मिले, सव नव भेद विचार ॥२३३॥

सोरठा

अव निश्चै व्योहार, अरु सामान्य विशेपता । कह्यौ चार परकार, महिमा समकित रतनकी ॥२३४॥

यानी अर्हंत प्रभु है । जोकि शरीर रहित है ऐसे सिद्ध-महा-पुरुप निष्फल परमात्मा कहे जाते हैं । जो कि घातिया कर्मों का एकदम नाशकर उनसे रहित हो गये हैं, नव केवल लब्धि वाले मोक्षके अभिलापी हैं, तीनों जगत् मनुष्य एवं देवोंके द्वारा सदैव ध्यान करनेके योग्य हैं और संसार सागरमें डूवते हुए भव्य-प्राणियोंको अपने धर्मोपदेश रूपी कोमल करोंसे उवारनेके लिये संतत प्रयत्नशील रहते हैं तथा अत्यन्त बुद्धिमान् महा-पुरुपोंके गुरु हैं, धर्म-तीर्थ प्रवर्तक हैं, साक्षात् तीर्थंकर स्वरूप हैं, सामान्य

उक्तं च इकतीसा

मिथ्यामति गांठ भेद, जागी निर्मल सुजोति। जोगसी अतीत सो ती निश्चय प्रमानिये ॥
वहै दुइ दशा सी कहावै, जोग मुद्रा धरै। मति श्रुत ज्ञान भेद व्यवहार मानिये ॥
चेतना चिन्ह पहिचान आपा पर वेदै। पौरुष अलप तातैं सामान्य वखानिये ॥
करै भेदाभेदको विचार विसतार रूप। ज्ञेय ज्ञेय उपादेय सो विशेष जानिये ॥

संज्ञीमार्गणा

चौपाई

सैनी मनकर सहित वखान, दुनिया असैनी अमना जान। इहि विधि धरै आतमा रूप, करै जगत में नृत्य अनूप ॥२३५॥

आहारमार्गणा

आहारक जहं भोजन धार, अनहारक जहं प्रकृत अहार। जो लों यातैं छूटत नाहि, तौली भ्रमण जगत के मांहि ॥२३६॥

गुणस्थान निरूपण

प्रथम मिथ्यात ससादन जोय, मिश्र वहुर अव्रत पुनि होय। देशवृत्त पंचम गुणथान, षष्ठ प्रमत्तनाम तिहि जान ॥२३७॥
अप्रमत्त सातम जानिये, अठम अपूर्वकरण मानिये। अनिवृत्तिकरण नवम् पुनि सोय, सूक्षम सांपराय दश जोय॥२३८
गैरम है उपशांत कपाय, क्षीण मोह द्वादश गुण थाय। तेरम कह्यौ सजोग केवली, पुनि अजोगचौदहसों वली ॥२३९॥

दोहा

वरनै सव गुण थानकै, नाम चतुर्दश सार। अव वरनौं मिथ्यातके, भेद पंच परकार ॥२४०॥
एकान्त हि विपरीत पुन' तीजी विनय विख्यात। सँशय अरु अज्ञान जुत, एक पांचौं मिथ्यात ॥२४१॥

चौपाई

कर एकान्त पक्ष मन सोय, नय अनेकको भेद न कोय। मृपावंत जे दक्ष कहाय, प्रथम मिथ्यात हि यही सुभाय॥२४२॥
श्री जिन आगम वाणी सही, गणधर देव प्रगट जग कही। तिहि उथापि नूतन रचि कहै, ते विपरीति जग दुख लहै ॥२४३॥
जे नर मन विकलपको गहैं, तत्व अरथ नहिं श्रद्धा लहै। मनमें संशय राखैं घनौ, ते संशय मिथ्याती मनौ ॥२४४॥
निज सुख दुख कारण जे जीव, परको पीड़ा करत अतीव। अपने स्वारथ औरहि हनैं, ते अज्ञान मिथ्याती मनै ॥२४५॥

सादि मिथ्या-दृष्टि

दोहा

जो मिथ्यातम उपशमै, जिन मारग रत होय। फिर आवै मिथ्यात में, सादि मिथ्याती जोय ॥२४६॥

केवली स्वरूप हैं, सर्ववन्द्य हैं, अलौकिक औदारिक शरीरमें शोभायमान् हैं और सम्पूर्ण लोकातिशय सम्पत्तियोंसे युक्त होकर संसारमें सबको स्वर्ग एवं मोक्षरूपी उत्तम फल पा जानेकी इच्छासे अनवरत धर्मोपदेश रूपी अमृतकी वर्षा किया करते हैं उन्हींको सकल परमात्मा कहते हैं। वे ही जगत्के स्वामी हैं और जिनेन्द्र पदके अभिलाषी हैं उन्हें उचित हैं कि किसी अन्यकी शरणमें न जाकर इन्हीं सकल परमात्मा प्रभुकी सेवा करें। ऐसा ही नियम है। पूर्वके लोग ऐसा ही करते आये हैं। जो सम्पूर्ण कर्मोंसे

अनादि मिथ्यादृष्टि

दोहा

उपशम भाव नहीं भये, भ्रम्यौ काल अनन्त। सो अनादि मिथ्यातमें, ममता मगन रहंत ॥२४७॥

सासादन गुणस्थान

चौपाई

चढ़ै छठै लौं प्रानी जाय, उपशम वल फिर उदय कराय। एक समय छह आवलि रहै, तहं तैं गिर मिथ्यात हि गहै ॥२४८॥

मिश्र गुणस्थान

दरशन मोह प्रकृति त्रय सार, अनंतानुबंधीकी चार। जब ए उपशम कर समभाव, तबहि मिगुनथान लखाव ॥२४९॥

अव्रत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

समकित तनों जहां उद्योत, सात प्रकृति को नाश जु होत। व्रत सों रहित भाव उर शुद्ध, सो अव्रत गुणथानक बुद्ध ॥२५०॥

देशव्रत गुणस्थान

त्रेपन विधि व्रत श्रावक तनें, अरु अखाद्य त्यागी तिहि भनें। है गृहस्थ पर मुनिह समान, देशव्रती कहिये गुणथान ॥२५१॥

प्रमत्तसंयत गुणस्थान

दोहा

पंच प्रमाद दशा धरै, गुण अट्ठाइस धाम। थवरकल्प जिनकल्प जुत, पुलाकादि मुन नाम ॥२५२॥

धर्मराग विकथा उच्चरै, निद्रा विषय कषायन धरैं। ए कहिये पांचों परमाद, इन जुत मुनिवर नहित विषाद ॥२५३॥

पंच महाव्रत पालनहार, पंच समिति गुण साधन धार। तपकर पांचों इंद्रिय जीत, जाने षट आवश्यक रीत ॥२५४॥

प्रासुक भूमि करै अस्थान, लुंचै केश न करै सनान। वसन रहित दांतौन न करै, ठाडे ग्रास अहार जु धरै ॥२५५॥

एक वेर लघु भोजन करै, ए अठवीस मूलगुण धरै। मुनिके संग शिष्य जो रहैं, थवरकल्प याही सों कहैं ॥२५६॥

एकाकी मुनि परम प्रधान, तपोधनी जिनकल्पी जान। पुलाक वकुश कुशील निरग्रंथ, अस्नानक जुत मुन पंथ ॥२५७॥

जथा धानके फूला जान, सो पुलाक कहिये परवांन। धान तुषारिक सब तामांहि वकुश परिग्रह छूटो नांहि ॥२५८॥

ग्रही शिष्य राखै निज पास, वगर समान कुशील प्रकाश। जो निरग्रंथ तपस्वी घोर, ज्यों चावर छर निर्मल जोर ॥२५९॥

जहं तुष मात्र परिग्रह नहीं, एकाकी नव विहरत मही। सो अस्नातक मुनिवर संत, सांधे तंदुल सम जु कनन ॥२६०॥

सह परीषह समतावान, है प्रमत्त नामा गुणथान। जतिकी क्रिया सकल या मांहि, मुनिपद सहित प्रमादन जिमांहि ॥२६१॥

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

जहां अहार निहार न होय, पंच प्रमाद न दीसै कोय। धर्म ध्यान थिरता अधिकाय, अप्रमत्त गुणथान कहाय ॥२६२॥

रहित, शरीरादि मूर्तियोंसे हीन परम ज्ञानमय, अतिशयमहान् तीनों लोकमें श्रेष्ठतम, आठ गुणोंसे अलंकृत तीनों लोकके बड़े बड़े स्वामियोंके द्वारा सेवित, मोक्षाभिलाषी सिद्धोंके द्वारा वन्दनीय तथा संसारके मुकुटमणिके समान विराजमान हैं वे ही निष्कल परमात्मा कहे गये हैं। यही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध परमेष्ठी अति निश्चल मनसे मुमुक्षुओंके द्वारा सदैव ध्यान करनेके योग्य है। जिसका ध्यान करनेसे कान्ति हीन योगीकी तरह परमात्मा रूप मोक्षको सब लोग सहज ही में पाजाते हैं। प्रथम गुणस्थानमें उत्कृष्ट वहिरात्मा, दूसरे गुणस्थानमें मध्यम और तीसरेमें जघन्य शठके रूपमें कहा गया है। इसी तरह जघन्य अन्तरात्मा चौथे गुणस्थानमें और उत्कृष्ट अन्तरात्मा बारहवें गुणस्थानमें कहा गया है। इसमें अनन्त केवल ज्ञानकी प्राप्ती होती है। योगोंके

अपूर्वकरण गुणस्थान

कछू मोह उपशम जहं करै, अथवा किंचित क्षय कर धरै। हौंहि भये कबहूं न प्रनाम, अपूर्वकरण जानीं गुणधाम ॥२६३॥

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान

भावतनी थिरता अति होय, चंचलता नहिं दीसै कोय। जहां न उलटै अधिको भाव, सो अनिवृत्तिकरण गुण थाव ॥२६४॥

सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान

सूक्षम लोभ दशा जहं होय, शिव अभिलाषा छोड़ी सोय। ऐसे जहां होंहिं परिणाम, सूक्षम सांपरायके धाम ॥२६५॥

उपशांतमोह गुणस्थान

जथाख्यात चारित्र उदोत, मोह वहां लौं उपशम होत। तहं तैं गिरै करै गुण हान, यह उपशांतमोह गुणथान ॥२६६॥

क्षीणमोह गुणस्थान

जथाख्यात चारितके जोर, ताकर मोह क्षीण घनघोर। केवल ऋद्धि निकट जब आवै, क्षीणमोह गुणथान कहावै ॥२६७॥

सयोगकेवली गुणस्थान

जहां घातियनकी भई हान, दोष अठारह रहित बखान। अनंत चतुष्टय प्रगटै सही, संजोगी गुणथानक कही ॥२६८॥

अयोगकेवली गुणस्थान

पूरन जथाख्यात जहं होय, कर्म अघाती दीनैं खोय। पंच लघुक्षर तनैं प्रमाण, प्रगट अजोगी यह गुणथाण ॥२६९॥

जीवके भेद

दोहा

बहिरातम प्रथमहि कह्यो, अन्तर आतम दुतीय। परमातम तीजौ सुनो, त्रिविध भेद सब जीव ॥२७०॥

बहिरात्माका लक्षण

चौपाई

तत्व अतत्व जान सब एक, गुण निर्गुण को नाहि विवेक। सुगुरू कुगुरुको भेद न करैं, धर्म पाप मन इक सम धरै ॥२७१॥

शुभ अरु अशुभ बराबर लेख, शास्त्र अशास्त्र एक ही पेख। देव अदेव विचारै नाहि, हेयाहेय न तन मन मांहि ॥२७२॥

हालाहल पीवत सुख वहैं, महा मूढ़ मिथ्यातम गहै। जड़ चेतन जानै सम रूप, सो बहिरातम दुर्गति कूप ॥२७३॥

अन्तरात्माका लक्षण

जो जिन सूत्र विवेकी होय, सकल विचार वेदता सोय। तत्व अतत्व शुभाशुभ जानै, देव अदेव भेद कर मानै ॥२७४॥

सत्यासत्य पुण्य अरु पाप, इनको भिन्न लखै परताप। मुकति कुगति मारग दो पक्ष, जानै सो अंतरातम दक्ष ॥२७५॥

बीचमें जो शेष सात शुभ गुण स्थान हैं उनमें मोक्षमार्ग पर अवस्थित मध्यम अन्तरात्मा है। अन्तिम तेरह एवं चौदहवें गुणस्थानमें तीनों जगतके जीवोंके द्वारा परम सेव्य परमात्मा अयोगी एवं सयोगी रूपसे वर्तमान हैं।

जो कि भूत भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालमें द्रव्यभाव प्राणोंसे जीवन धारणा करनेकी शक्ति रखता है वही यथार्थ 'जीव है। पांच इन्द्रिय; वचन काय; आयु एवं उच्छ्वास निःश्वास ये संज्ञी जीवोंके दस प्राण हैं। असंगी जीवोंके मनको छोड़ कर शेष नौ प्राण होते हैं। ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है। चौ इन्द्रिय जीवोंके आठ ही प्राण कहे गये हैं, उनमें एक और कर्णेन्द्रिय
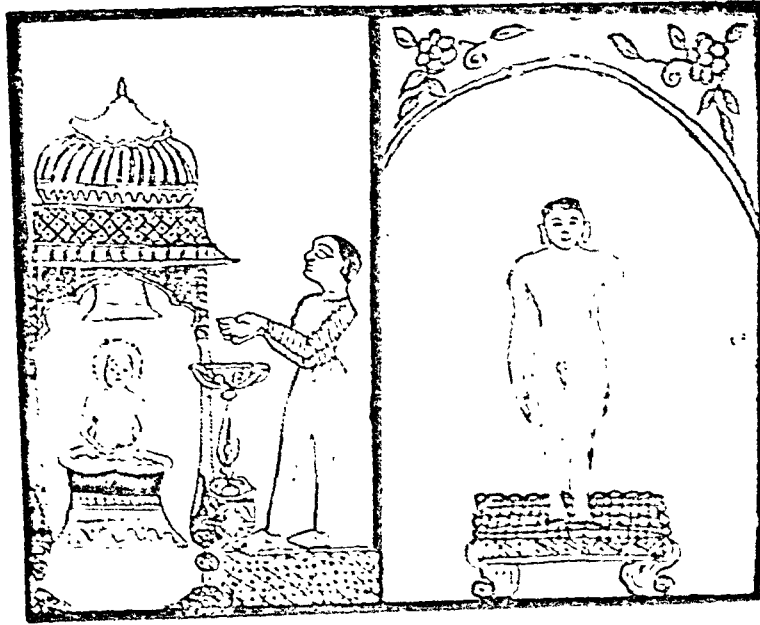
बहिरात्मा-अंतरात्मा का वर्णन

श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी ने घातिया कर्मों का नाश कर दिया.
मनुष्य और देवता सब उनकी पूजा करते हुवे।

अनरथ सकल जगतमें जेह, हालाहल विष जानै तेह। इनको जब जिय बोध बहावै, अन्तरातम तब प्रगट कहावै ॥२७६।
कर्म हतनको उद्यम करै, रागद्वेष इन्द्रिय परिहरै। सिद्ध समान ध्यान तन धार, आभ्यंतर निर्मल कर सार ॥२७७।
आतम द्रव्य देह कर भिन्न, जानै इहि विध भेद रवन्न। जथा कसौटी सोनै कसै, तैसे अन्तरातमा लसै ॥२७८
सुख सरवारथसिद्धि प्रजंत, फिर पावै पद श्री अरहंत। अन्तरातमा दृढ़ जब होय, तब परमातम को अवलोय ॥२७९।

परमात्माका लक्षण

परमातमा है दो विध जेह, प्रथम सकल पुनि निष्कल तेह। दिव्य देह सो सकल वखान, निष्कल देह विवर्जित जान ॥२८०।

सकल परमात्माका लक्षण

घाति कर्म जिन कीनै चूर, नव केवललब्धी भरपूर। नर सुर सब सेवैं तिन पांय, अरु ध्यावैं गुण चित्त लगाय ॥२८१।
सब हित कहैं धर्म उपदेश, भव्यनिको तारत परमेश। दिव्यौदारिक तन थिर थाय, अरु अतिशय मंडित है आय ॥२८२।
धर्मामृत वरषावत सोय, भव्यनको सुख करता होय। ताकर स्वर्ग मुक्ति फल लहैं, प्रथम सकल परमातम कहैं ॥२८३।

निष्कल परमात्मा का लक्षण

अष्टकर्म निरमुक्त प्रधान, मूरतिहीन ज्ञान गुण खान। तीन जगत शिर निवसै सदा, महा अष्टगुण भूषित तदा ॥२८४।
तीन लोकपति प्रनमैं पाय, मुक्तितनों कारण उर लाय। जग चूडामणि निर्मल नाम, निष्कल परमातम गुणधाम ॥२८५।

बहिरात्मा आदि का गुणस्थानों में विभाग

अब बहिरातम उतकिठ जान, गुणस्थान प्रनमौ तिहि थान। मध्यम लहै द्वितिय गुणथान, अरु जघन्य तीजो परमान ॥२८६।
जो जघन्य अन्तर आतमा, गुणस्थान चोथौ विहरमा। मध्यमको सातम लौं वास, द्वादश लौं उत्कृष्टो भास ॥२८७।
परमातम गुणथानक दोय, तेरम चौदम जानो सोय। गुणस्थान तन शिवपद रसै, परम सिद्ध तिनके पद लसै ॥२८८।

गुणस्थानों का समय निरूपण

दोहा

अष्टमतैं द्वादशम लौं, अरु तीजै परवांन। अन्तमुहूरत थिति सबै, इन आठों गुणथान ॥२८९॥
चतुरथ सागर तीस त्रय, पंचम तेरम सृष्ट। कोटिपूर्व वसु वर्ष-घट, प्रथम अनादि अनिष्ट ॥२९०॥
सासादन गुणथानकी, षट आवलि परवांन। पंच लघु क्षर जानिये, थिति चौदम गुणस्थान ॥२९१॥

अब जीवसमास निरूपण

दोहा

सबै जीव संसार में, चौदह भेद प्रमान। ताकौं कछु विवरण लिखौं, भाख्यौ श्री भगवान् ॥२९२॥

की भी कमी हो जाती है। इसी प्रकार ते इन्द्रिय जीवोंके सात प्राण (नेत्र को भी छोड़ देनेसे) होते है। दो इन्द्रिय जीवोंके नासा (नाक) हीन छः प्राण और एकेन्द्रिय जीवोंके तो वचन एवं जिह्वा दो इन्द्रियोंके हीन हो जानेसे चार ही प्राण रहे गये हैं। अपर्याप्त जीवोंके अनेक प्राण हैं। इस बात को आगम से जान लेना चाहिये। इस जीवको बुद्धिमानोंने निश्चय नयके द्वारा उपयोगमयी, चेतना स्वरूप, कर्म, नो कर्म, बन्ध मोक्षका अकर्ता, असंख्यात प्रदेशी, अमूर्त, सिद्ध समान और पुद्गलसे रहित कहा है। अशुद्ध निश्चय नयके द्वारा यही जीव रागादि भाव कर्मोंका कर्ता और आत्म ज्ञानसे हीन होकर कर्म फलोंका भोक्ता है। व्यवहार नयके द्वारा यह जीव आत्म ध्यानसे रहित हो कर कर्म एवं शरीरादि नो कर्मों का कर्ता है। यही सम्यग्दृष्टि जीव

चौपाई

जगमें जिये जीव एक लौ, प्रथम भेद यह जानो भलो। थावर अरु त्रस कहै वखान, द्वितिय भेद यह जान प्रवान ॥२९३॥
थावर अरु विकलत्रय होय, पंचेन्द्रीय तृतीय वह जोय। चारों गति में रुलै सदीव, चौथो भेद जानिये जीव ॥२९४॥
एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय जान, तेइन्द्रिय चतुरिन्द्रिय मान। पंचेन्द्रिय हैं जग विख्यात, पंचम भेद सुनो यह भ्रात ॥२९५॥
थावर पंच एक त्रस जान, षटकायी यह भेद वखान। थावर पंच विकल इक सोय, पंचेन्द्रिय जुत सातों होय ॥२९६॥
थावर पंच विकल इक ठाठ, सैनी और असैनी आठ। पांचों थावर विकल सु तीन, पंचेन्द्रिय जुत नवगन लीन ॥२९७॥
पृथ्वी चौक वनस्पति दोय, प्रत्येकहि साधारण सोय। तीन विकल पंचेन्द्रिय एक, एक दश भेद कहे जग टेक ॥२९८॥
थावर पंच सूक्ष्म अरु थूल, त्रस जुत एक एकादश मूल। सो दश थावर विकल जु एक, पंचेन्द्रिय मिल द्वादश भेक ॥२९९॥
वे ही विधि थावर दश जान, अरु विकलत्रय एक वखान। संज्ञि असंज्ञि पंचन्द्रिय सोय, तेरह भेद प्रगट ये होय ॥३००॥
एकेन्द्रिय सूक्षम अरु थूल, तीन विकल पंचेन्द्रिय मूल। संज्ञी असंज्ञी जुत सब सात, परजापत अप्रजापत गात ॥३०१॥
यह विधि चौदह भेद प्रमान, सव संक्षेप कहै गुणथान। और भेद अव सुनिये मित्त, जिम नाशैं संशय भवि चित्त ॥३०२॥

दोहा

पाँचों थावर विकलत्रय, अरु निगोद द्वय जान। नर सुर नारक पशु सहित, चौदह भूत जु ठान ॥३०३॥

चौपाई

अव उनवीस जु सुनहु समास, पृथिवी चौक निगोदद्दु भास। ये छह भेद सूक्ष्म अरु थूल, ताके वारह विध गुण मूल ॥३०४॥
वनस्पती द्वै भेद प्रमान, सुप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जान। विकलत्रय भापहि विध तीन, पंचेन्द्रिय संमनो मनहीन ॥३०५॥
ए उनीस परजापत जान, फिर अपराजापत जु वखान। कहै अलब्धि प्रजापत सोय, सव समास संतावन जोय ॥३०६॥

दोहा

अव समास अंठानवै, कहौं जथा प्रति देख। वियालीस थावर सवै, सुर दो नारक लेख ॥३०७॥
विकलत्रय नव भेद गन, नव मानुप परजंत। तिरजंचहि चौंतीस भन, लिख्यौ तिनहि विरतंत ॥३०८॥

चौपाई

पृथवी चौक निगोद जु दोय, सूक्षम वादर वारह होय। वनस्पति द्वै भेद वखान, सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जान ॥३०९॥
चौदा परजापत ये लहै, अप्रजापत चौदा ही कहै। चौदा अलधि प्रजापति एह, थावर कहै वियालिस तेह ॥३१०॥
स्वर्ग नारकी दोय प्रकार, प्रजापते अप्रजापत सार। द्वै इन्द्रिय तेइन्द्रिय जान, चतुरिन्द्रिय विकलत्रय मान ॥३११॥
प्रजापते अप्रजापत सोय, जलधि प्रजापत ए नव होय। अव तिरजंच सुनो चौंतीस, पंचेन्द्रिय जे कहै जिनीश ॥३१२॥
आरजखण्डी गर्भज तीन, जल थल नभचर ए सुन लीन। सैनी और असैनी तेह, परजापत अप्रजापत एह ॥३१३॥

अपने इन्द्रियों द्वारा ठगे जाने पर अद्भूत एवं उपचरित व्यवहार नयसे घट-वस्त्र प्रभृति वस्तुओंका निर्माता है। यह आत्मा समुद्घातके विना संकोच एवं विस्तार शक्तिसे प्राप्त शरीरके वरावर हैं। दीपकसे इसकी तुलना की जा सकती है। वेदना, कषाय, वैक्रयिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक केवलि समुद्घात ये सात प्रकारके समुद्घात कहे गये हैं। इनमेंसे तीन तैजस, आहारक एवं केवलि समुद्घात योगियोंके होते हैं और शेष चार समुद्घात सम्पूर्ण सांसारिक जीवोंके हो सकते हैं। इस

सन्मूर्च्छन थल जल नभ जान, सैनी और असैनी ठान। परजापते अपरजापते, अरु अलब्धि हैं ते परमिते ॥३१
दोय थोक ये तीस वखान, गर्भज सन्मूर्च्छनके जान। भोगभूमिया दोय प्रकार, थलचर नभचर गर्भज धार ॥३१
परजापत अप्रजापत कहै, चार मिलै सब चौंतिस लहै। अब समास नव मानुष गनो, भोगभूमिया प्रथमहि भनो ॥३१
दुतिय कुभोगभूमि नर जोय, म्लेच्छ खंडके तीजा होय। परजापत तीनहि पहिचान, अप्रजापनि कौ कही प्रमान ॥३१
आरजखंड मनुष परमिते, अलधि सहित त्रय परजापते। ए ही नव विधि मानुष जान, सब मिलि अंठानवहि बखान ॥३१

दोहा

अब समास सुन अवर विधि, भाषे गोमटसार। तिनहि भेद सब वरनहू, षट उत्तर त्रय चार ॥३१९॥

सोरठा

पशु इकसै तेईस, नरकमांहि अंठानवै। नर तेईस विधि दीस, गनक बहत्तर देवगति ॥३२०॥

पशुगतिके १२३ भेदों का वर्णन

चौपाई

पृथ्वीकाय दुभेद वखान, कोमल माटी कठिन परवान। पानी पावक पवन जु होय, वनस्पति साधारन दोय ॥३२१
नित्य निगोद इतर सो सान, सबै भए सातौं परवान। सूक्षम थूल चतुर्दश एह, अब प्रत्येक वनस्पति गेह ॥३२२
सुप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित दोय, ताके भेद सुनो बुध लोय। दूब वेल अरु छोटो वृक्ष, तरुवर और कंद परतक्ष ॥३२३
पंच भेद सु प्रतिष्ठ वखान, यही रीत अप्रतिष्ठित सु जान। यहै प्रत्येक वनस्पति थान, सबै भये दश भेद समान ॥३२४

दोहा

जब इन मांहि निगोद है, तब सुप्रतिष्ठित जान। जाहि निगोद न पाइये, सो अप्रतिष्ठ कहान ॥३२५॥
जाति दशौं परतेककी, वे चौदह चौवीस। परज अपर्ज अलब्धिके, सबै समान बहीस ॥३२६॥

चौपाई

पर्ज अपर्ज अलब्ध समान, चौदा अरु चौवीस वखान। ए नव भेद सबै परतए, बहत्तर मिलि इक्यासी भए ॥३२७
करमभूमि तिरजंच विख्यात, गर्भज संमूर्च्छन दो जात। गर्भज परज अपर्ज प्रवीन, अलवध दो सन्मूर्च्छन तीन ॥३२८
सैंनी पंच असैनी पंच, दशौं भेद जलचर तिरजंच। दशौं भेद थलचर पशुकाय, दशौ व्योमचर उडे सुभाय ॥३२९
ए सब तीस कर्म भू ठौर, भोगभूमि चवके अब और। थलचर नभचर सौ छह ठये, परज अपर्ज दुवादश भये ॥३३०
सवहि बियालिस कहै विचार, वे इक्यासी प्रथमहि धार। इकसै ऊपर तेइस जान, पशुगति में सब कहै प्रमान ॥३३१॥

जीवके स्वभाव गुण केवल ज्ञानादि हैं और विभाव-गुणननि ज्ञानादि हैं। तथा इस जीवके नर, नारक एवं देवादि पर्याय विभाव पर्याय और शरण हीन शुद्ध प्रदेश स्वभाव पर्याय हैं। पूर्व शरीरके विनाश एवं अन्य शरीरकी उत्पत्ति-कालमें एक ही आत्मा है अतएव उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य तीन भेद कहा गया है। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव महावीर प्रभुने अनेक नये भेदोंके द्वारा ... गौतमकी दर्शन विशुद्धिके लिये जीव तत्त्वका उपदेश किया। इसके बाद जिनेन्द्र प्रभुने पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल, पांच भेद युक्त अजीव तत्त्वका व्याख्यान आरम्भ किया। रूप, रस, गन्ध स्पर्शवाले पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल ...

दोहा

नरक सातके जानिये, पटल सकल उनचास। परज अपर्ज अंठानवे, जीव समास प्रकाश ।।३३२।।

चौपाई

भोगभूमिया तीन विधान, उत्तम मध्यम जघन वखान। चौथे कुभोग भूमि नर थान, पांचौं म्लेच्छ खंड पहिचान ।।३३३।।
परज अपर्ज दसौं ठहराय, आरज खंड सुनौ अब भाय। परज अपर्ज अलब्धि जु तीन, ए तेरह नरगति में लीन ।।३३४।।

दोहा

गर्भज पर्ज अपर्ज दुइ, सन्मूर्छन नहि लव्ध। तिन उतपति भविजन सुनौ, यह संसार भवाव्ध ।।३३५।।

अडिल्ल

नार जोनि कुच नाभि कांख में पाइये। नर नारी के मूत्र मांहि ठहराइये।
मुरदा में सन्मूर्च्छन सैनी जीयरा। अलवधि परजापते दयाधर जीयरा ।।३३६।।

दोहा

त्रेशठ पटल जु स्वर्ग के, भवनपति दश जान। व्यन्तर आठ प्रकारके, ज्योतिप पंच प्रमान ।।३३७।।
भये छियासी थोक सव, पर्ज अपर्ज गनेह। शतक वहत्तर सुर असुर, जीवसमास भनेह ।।३३८।।
इकसै छयासी पर्ज नित, तितनै अपरज सोय। अलवध जिय चौतीस है, चउसय पट सव होय ।।३३९।।
नियत एक चेतनमई, भेद सरव व्यवहार। निश्चय अरु व्यवहारको, जाननहारा सार ।।३४०।।

पर्याप्ति प्ररूपण

चौपाई

परजापति षटके कहि नाम, आहार प्रथम छायौ अभिराम। पुनि शरीर धारैं जग जीव, दूजी परजापति धरि लीव ।।३४१।।
फिर इन्द्रियको भेद जु लहै, तीजी परजापति संग्रहै। स्वास उस्वास धरैं पुन तहां, चौथी परजापति सो गहा ।।३४२।।
मन पावै जव जीव सुजान, परजापति पंचम परवान। भापा लहि भरपूर जु सोय, छट्ठम परजापति तव होय ।।३४३।।
ए परजापति कही मुनीश, इन विन अपरज जीव गनीश। जो परजापति पाय विनाश, सो अलब्ध परजापत भास ।।३४४।।

प्राण प्ररूपण

इन्द्रिय पाँच रू मन वच काय, स्वास उस्वास जु वल पुन आय। इन ही सौ कहिये दश प्राण, जानौ जीव तनौं संस्थाण।।३४५।।

संज्ञा प्ररूपण

अव सुन संज्ञा चार प्रकार, भय मैथुन परिग्रह आहार। इनमें जीव रह्यौ है भूल, आतम शक्ति विना जग तूल ।।३४६।।

स्वभाव होनेके कारण उनका नाम सार्थक है। साधारणतः पुद्गलके अणु और स्कन्धरूप दो भेद हैं। इन दोनोंमें जो कि अविभागी है वह अणु कहा जाता है और स्कन्धके तो अनेक भेद हैं। अथवा वही पुदल सूक्ष्म-सूक्ष्म भेदसे छः प्रकारके हो जाते हैं। उनमेंसे परमाणु रूप एक तो सूक्ष्म-सूक्ष्म है जो नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता। आठ द्रव्य कर्मरूप पुन्दल स्कन्ध सूक्ष्म पुद्गल हैं। शव्द, स्पर्श, रस और गंध सूक्ष्म स्थूल पुद्गल हैं। छाया, चांदनी, धूप इत्यादि स्थूल सूक्ष्म हैं। जल अग्नि इत्यादि वहुतसे स्थूल पुद्गल हैं। पृथ्वी, विमान, पर्वत गृह इत्यादि स्थूल-स्थूल पुद्गल हैं। ये पुद्गलके छः भेद हुए। स्पर्शादि वीस निर्मल गुण परमाणु

उपयोग प्ररूपण

आठ ज्ञान अरु दर्शन चार, ए बारह उपयोग विचार । सो पूरव वरन्यौ सब भेद, यह उपयोग थान बिन खेद ॥३४७॥

अथ ध्यान निरूपण

आर्तध्यान

आरत रौद्र धर्म अरु शुक्ल, चार ध्यान ये नाम मुल्क । तिनहीके सब सोरह डार, अब सुन आर्तध्यान विधि चार ॥३४८॥
भली वस्तु को होय वियोग, इष्टवियोगी प्रथम नियोग । सदा विकलतामें मन रहै, दुतिय अनिष्ट संयोगी यहै ॥३४९॥
पीड़ा चिंतन तीजौ जान, दुःख विलाप करै दुर ध्यान । अगली सोचन सोचत मरै, निदान बंध चौथौ संचरै ॥३५०॥

रौद्रध्यान

रुद्रध्यान अब सुनहु जु मित्त, चार अंग ताके सुन चित्त । हिंसा करत धरै आनन्द, हिंसानन्दी प्रथम कुबन्ध ॥३५१॥
मृषानन्द दूजौ अवलोय, बोलत झूठ सुखी वहु होय । चोरी साधन मनधर प्रीति, चौर्यानंद तृतीय अनीत ॥३५२॥
सेवत विषय हुलासी सोय, वंभ नंद चोथौ यह होय । अब सुन धर्मध्यान के चार, एक एकनै सुख अधिकार ॥३५३॥

धर्मध्यान

केवल उक्त जीव सरदहै, आज्ञाविचय स्वर्ग सुख लहै । (अ) पाय विचय दूजौ गुणथान, कर्मनाश उद्यम अभिधान ॥३५४॥
पहलै कर्म उदय पहिचान (अ) पाक विचय तीजौ गुणथान । तीन लोक नर आकृति मान, संस्थानक चौथौ यह ध्यान ॥३५५॥

शुक्ल ध्यान

शुक्लध्यान चारों पद कहै, तहां मोहकी प्रीति न रहै । जोगारूढ़ पढ़ै सिद्धान्त, आतम गुण निरधारै संत ॥३५६॥
उपशम इक श्रेणी बिसराम, प्रथम वितर्क आदि पद नाम । उपशम छोड़ क्षपक चढ़ि जाय, लोकालोक प्रकाश कराय ॥३५७॥
प्रकृति तिरेशठ नाशै नहीं, बांकी रहीं ? पचासी तहीं । प्रगट्यौ केवल गुण उज्जरौ, अग वितर्क नाम दूसरौ ॥३५८॥
जबहि बहत्तर प्रकृति नशाय, जिनवर आयु निकट रह जाय । है मन वच सूक्षम तिहि ठाम, सूक्षम क्रिया तृतीय पद नाम ॥३५९॥
अनंत चतुष्टयको परकाश, तेरह प्रकृति करी तब नाश । पंच लघुक्षर परिमित सर्व, अष्ट कर्म टारै बसि गर्व ॥३६०॥
तन तज भये मुक्तिके राय, व्युपरत क्रिया निवर्ति कहाय । चार ध्यानके सोरह पाय, सो बरनै संक्षेपहि न्याय ॥३६१॥

ध्यानका विशेष निरूपण

अब इनके सुन भेदाभेद, मन निरोध आतम नहि खेद । प्रथम ध्यान पिण्डस्थ अनूप, सो बरनौं धर पांच सरूप ॥३६२॥
पृथिवी जल अरु अग्नि जु वायु, नभ ये पंच तत्व थिर लायु । जो मुनि ध्यान आराधन धरै, पद्मासन निश्चल तिन करै ॥३६३॥

पृथवीतत्व निरूपण

मध्यलोक जो गिरदाकार, क्षीर समुद्र तहं करै विचार । शब्द तरंग रहित थिर रूप, तामें तिसै रतन अनूप ॥३६४॥
हेम वरण दल कर हजार, केशर अवर पराग जु सार । जम्बूद्वीप सम कमल सु लसै, तिस ऊपर सो उच्च लसै ॥३६५॥

में हैं । ये स्वभाव गुण कहे जाते हैं । स्कन्धमें विभाव गुण कहा गया है । शब्द, अनेक तरहका बन्ध, अनेकसे स्थूल-सूक्ष्म [illegible] प्रकारके संस्थान, अन्धकार, छाया आतप, उद्योत इत्यादि पुद्गलोंके विभाव पर्याय हैं । परमाणुओंमें स्वभाव पर्याय ही रहते हैं इसी प्रकार शरीर, मन, श्वासोच्छ्वास और इन्द्रियां भी पुद्गलके पर्याय स्वरूप हैं । ये सभी पुद्गल-पर्याय जीवन मरण और सुख दुःख आदि रूपसे जीवोंका अनेक उपकार किया करते हैं । स्कन्धोंमें अर्थात् पुद्गलित परमाणु पुञ्जमें [illegible] [illegible] अपेक्षा है तथा परमाणुमें उपचारसे कारण होनेकी अपेक्षा [illegible] कहते हैं ।

कमल कर्णिका चिंतै इती, मेरु ऊंचाईके परिमितो । तापर इक सिंहासन थया, चन्द्रकान्ति मन सम किरणया ॥३६६॥
निज सरूप तापर बैठारि, शान्तरूप आकुलता टारि । रागादिक परिणामहि त्याग, करन क्षपण हितअनुभव राग ॥३६७॥
पृथ्वी तत्व तनी यह रीति, साधैं मुनिवर परम पवीत । यह पिण्डस्थ प्रथम है अंग, मन समुद्र जल रहित तरंग ॥३६८॥

जलत्व निरूपण

कर मन अभ्रपटलको ध्यान, जिनसों जलवर कहे प्रवान । बरसावन अति भय रहि छाय, अरु प्रचण्ड दामिन पहिराय ॥३६६॥
धार नभहिं भू परिमित छयौ, इन्द्र धनुष जुत पावस जयौ । पवनाकुल वरपत जलविंद, मुक्ताफल वत उज्वल चन्द ॥३७०॥
जलधारा कवहूं अति घोर, कवहूं थूल महा वर जोर । इहि विधि वरप रहै जल सदा, शुचि अमृत जल स्नावै तदा ॥३७१॥
ता जल कर्म धूलि बहि जाय, अमृत शीतल इह विधि आय । वरुण तत्व याही सौं कहै, कर्म ताप इमि शीतल लहै ॥३७२॥

अग्नितत्व निरूपण

चिंतै इक कमल दल सोल, नाभिस्थल दल करै कलोल । दल दल प्रति स्वरमाला थपै, अ इ उ ऋ लृ प्रमान जहांदियै ॥३७३॥
सकल दलन पर फेरत जाय, अंतर रहित महा मुनिराय । फिर या कमल तनी कर्णिका, अर्हं मंत्र करै गुण थका ॥३७४॥
रेफवंत कर दीपत सोइ, हम् आवंत परम अवलोई । ध्यान करत वा रेफ मझार, निकसै शिखा धूम निरधार ॥३७५॥
फिर फुलिंग छूटै चामांहि, वहुरि अग्नि ज्वाला अधिकाय । हृदयकमल को दहै सु आगि, अधो वदन सौ वसुदल लागि ॥३७६॥
वसुदल अष्टकर्म सो जान, जरि वरि भस्म होइ तिहि थान । फिर वह अगनि वाहरी होइ, ताको रूप कौन अवलोइ ॥३७७॥
स्वस्तिकवत रकार चौ फेंर, कंचन सम प्रज्वलित घनेर । मंत्र अनाहत तें प्रगटाय, धगधगात सो अगनि जलाय ॥३७८॥
अमल अष्टदल भसम कराय, फिर स्वयमेव शांत हो जाय । यह पिंडस्थ तृतिय गुण भार, अग्नि तत्व कहि कर उपचार ॥३७६॥

पवन तत्व निरूपण

जहां रचै तन अमर विमान, तामें बैठ करै मुनि ध्यान । चलै पवन तहं अति गम्भीर, तिरछी वहै हलावै धीर ॥३८०॥
धन वहु गरजैं अति भयभीत, आवे जहां करन रज शीत । सकल वारि जो देइ उड़ाय, फिर सो वारि शांत हो जाय ॥३८१॥

आकाश तत्व निरूपण

धातु रहित निर्मल जु शरीर, कर्म कलंक तनी नहि पीर । अविकारी अनरूपी सोय, सिद्ध समान आतमा होय ॥३८२॥
चित्त धरै ऐसी निज काय, सिंहासन वैठारे ल्याय । अतिशय अरु प्रतिहारज जहां, पुण्य प्रकृति फल सगरे तहां ॥३८३॥
इन्द्र सकल सेवत कर जोर, जय जयकार होत चहुं ओर । यह पिण्डस्थ पंचमी रीति, सो साधै तैं मनकी जीति ॥३८४॥
मन चंचलता जव मिट गई, पंचम गतिकीप्रापति भई । जो न होइ मनकी गति टौर, वृथा सकल ध्यानहि की दौर ॥३८५॥

दोहा

मन निरोध जहं पंचविध, कह्यौ ध्यान पिण्डस्थ । जातैं शिव-मारग सुगम, आगे सुनो पदस्थ ॥३८६॥

जो कि जीव पुद्गलकी गमन क्रियामें सहायक हैं वही धर्म द्रव्य है । धर्मद्रव्य, मूर्तिहीन, क्रियाहीन और नित्य है । जिस प्रकार जल मछलियोंकी सहायता ही करता है प्रेरणा नहीं,वही अवस्था इसकी भी है । जो कि जीव पुद्गलकी संस्थितिमें पथिकों की छायाके समान सहायक होता है, वह अधर्म द्रव्य है । यह अधर्म द्रव्य भी मूर्तिहीन, क्रियाहीन और नित्य हैं । आकाश द्रव्य लोक और अलोकके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है । यह सम्पूर्ण द्रव्योंको स्थान देने वाला है और यह भी ऐसा ही मूर्तिहीन है । जितने स्थान में धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव रहते हैं उतनेको लोकाकाश कहते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंसे

पदस्थ ध्यान निरूपण

अब सुन सकल पदस्थ विचारा, साधै शिवपद करै विहारा। मात्रा वंचन अक्षर तनी, आदि सिद्ध सब सोभा गुनी ॥३८७॥
तिनको ध्यान वृत्त मुनिराय, जथाजुगत ज्यों वेद कहाय। षोडश दलको कमल अनूप, चितै नाभिमध्यना रूप ॥३८८॥
दल दल प्रति तहं रचै विचित्र, स्वर हैं सोरह परम पवित्र। अ आ इ ई उ हि ऊ शुभ गनौ, और जुक्त ऋ ॠ ऌ ॡ भनौ ॥३८९॥
ए ऐ ओ औ अं अः जान, ए सोरह स्वर जे परवान। फिर चितवै कमल इक और, जाको है हिरदै में ठौर ॥३९०॥
ताके दल गन बीस रु चार, मध्य कर्णिका रूप अपार। कु चु टु तु पु हैं वरण पचीस, तापर रचै ध्यानको ईस ॥३९१॥
वदन कमल वसु दल पर रचै, य र ल व आदि वर्ण वसु खचै। अनुक्रम कमल प्रदक्षिण करै, दल दल प्रति अक्षर अनुसरै ॥३९२॥
मंत्रराज अवलंबै जीव, ह्लींकार धर हृदै सदीव। यह विधि वर्णमाल उद्धरै, द्वादशांग वानी वश करै ॥३९३॥
श्रुत समुद्र तर लागै तीर, ज्ञानतनो तहं दीसै भीर। ए सब पत्र रु उदर समेत जो ध्यावै जोगी चित चेत ॥३९४॥
जपत जासु सुख रुचि आनंद, प्रगटै तीव्र अगनि ज्यों मन्द। कुष्ट न रहै न उदर विकार, कास स्वासकी आवै हार ॥३९५॥
या भव पूजनीक जिय करै, आगे को शिव-सुख विस्तरै। सकल पदनको राजा जान, सब तत्वनको ईस बखान ॥३९६॥
ऐसौ मंत्र अनाहत रूप, सुनौ तासको परम सरूप। आदि ऊर्ध्व रेफा जा सीस, मध्य बिन्दु रेखा रजनीस ॥३९७॥
जे नव वर्ण पूर्व कहि तनै, इनि मिलि मंत्र अनाहत भनै। मंत्रराज याही को नाम, चन्द्रकलासम है अभिराम ॥३९८॥
सो वह कमल कर्णिका मांहि, धरिकै जपै न कर्म रहाय। जिन सरूपनै चितन दैन, निरमल भासित महिमा ऐन ॥३९९॥
याही मंत्र तनों कर ध्यान, भय सर्वत्र सर्वगत जान। ज्ञान बीज जगत्रय वन्दनीक, सिव महेश्वर सब सुख कंद ॥४००॥
जन्म अग्नि की जहं उतपात, जलधर सम करता मुनि धात। जिन लीनों सुजनै उपकार, लयौ पथ सिव पायौ सार ॥४०१॥
जन्म मरीरुहको विस्तार, तिन सु मूलतै दियौ उखार। मंत्रराजको साधन रूप, वरण सुनाऊं विमल सरूप ॥४०२॥
मध्य रूप तीता थल जान, तासे रूपको कर तहं ध्यान। लावै सुख पंकज फिर नाहि, तालु रंध्र पुन विकसत जाहि ॥४०३॥
अमृतबिंदु तहां पय परसाय, नैत्र पत्र फिर दरसै आय। अलख बाट ब्रह्माण्ड विदार, ज्योतिष मण्डल करै विहार ॥४०४॥
शशि ताकी सरवर नहिं होय, कछुक तहां रह उछलै सोय। कर्म कलंक तनों तम जान, भवको भ्रमतापत निर्वान ॥४०५॥
फिर आवे वह परम स्थान, जुग भ्रुवलता जु भाषो जान। पूरक रेचक कुंभक तीन, पवनध्यान त्रैविध परवीन ॥४०६॥
पूरक जहां पवन खैंचाय, कुंभक रहै अचल तन लाय। रेचक जब ही जिय निरधार, ध्यान अन मात्र निरधार ॥४०७॥

(अर्हं मंत्र)

वा मंत्रहि कुंभक कर चित, अर्हं शब्द सुनो विरतंत। सकल त्याग इहि विधि यह जपै, सपने हू न दुष्टिनै धपै ॥४०८॥
जाकी आदि अकार सरूप, मध्य बिन्दु जुत रेफ अनूप। अंत हकार दिपै गुणवान, परम तत्व याको यह जान ॥४०९॥
पहिलै चितै सब कर जुक्त, करै ध्यान फिर उनतै मुक्त। फिर चितै जिमि चन्दा रेख, ताकी दुति सूरज सम देख ॥४१०॥
मंत्रराज चितन गुण सार, जन्म मरण भवसागर पार। बाल अग्र सम फिर चितवै, निरुपै ह्वै इक चित समवै ॥४११॥
अणिमा आदि अष्ट जो सिद्धि, होइ प्रगट वहु लक्ष्मी वृद्धि। सकल सुरासुर चरनन नवै, सिवपद रहि पावै सुख सबै ॥४१२॥

रहित केवल मात्र आकाश है उसको अलोकाकाश कहते हैं। यह अलोकाकाश अनन्त, अमूर्त, क्रियाहीन और नित्य है। ...
सर्वज्ञोंने देखा है जो कि द्रव्योंकी नवीन और प्राचीन अवस्थाके रूप बदल देने वाला है वह समयादि स्वरूप व्यवहार काल है।
लोकाकाशके विभिन्न प्रदेशों पर रत्न-राशिके समान जो एक-एक अणु पृथक्-पृथक् क्रियाहीन होकर स्थित अवस्थित हैं;
उन असंख्य कालाणुओंको जिनेन्द्र प्रभुने निश्चय काल कहा है। धर्म, अधर्म जीव और लोकाकाशके असंख्य प्रदेश हैं। ...

कमल कर्णिका चिंतै इती, मेरु ऊंचाईके परिमितो । तापर इक सिंहासन थया, चन्द्रकान्तिमन सम किरणया ॥३६६॥
निज सरूप तापर बैठारि, शान्तरूप आकुलता टारि । रागादिक परिणामहि त्याग, करन क्षपण हित अनुभव राग ॥३६७॥
पृथ्वी तत्व तनो यह रीति, साधैं मुनिवर परम पवीत । यह पिण्डस्थ प्रथम है अंग, मन समुद्र जल रहित तरंग ॥३६८॥

जलत्व निरूपण

कर मन अभ्रपटलको ध्यान, जिनसौं जलधर कहे प्रवांन । बरसावन अति भय रहि छाय, अरु प्रचण्ड दामिन पहिराय ॥३६९॥
धार नभहिं भू परिमित छयौ, इन्द्र धनुष जुत पावस जयौ । पवनाकुल वरषत जलविंद, मुक्ताफल वत उज्वल चन्द ॥३७०॥
जलधारा कबहूं अति घोर, कबहूं थूल महा वर जोर । इहि विधि वरष रहै जल सदा, शुचि अमृत जल स्नावै तदा ॥३७१॥
ता जल कर्म धूलि वहि जाय, अमृत शीतल इह विधि आय । वरुण तत्व याही सौं कहै, कर्म ताप इमि शीतल लहै ॥३७२॥

अग्नितत्व निरूपण

चिंतै इक कमल दल सोल, नाभिस्थल दल करै कलोल । दल दल प्रति स्वरमाला थपै, अ इ उ ऋ लृ प्रमान जहांदियै ॥३७३॥
सकल दलन पर फेरत जाय, अंतर रहित महा मुनिराय । फिर या कमल तनी कर्णिका, अर्हं मंत्र करै गुण थका ॥३७४॥
रेफवंत कर दीपत सोइ, हम् आवंत परम अवलोई । ध्यान करत वा रेफ मझार, निकसै शिखा धूम निरधार ॥३७५॥
फिर फुलिंग छूटै चामांहि, बहुरि अग्नि ज्वाला अधिकाय । हृदयकमल को दहै सु आगि, अधो वदन सौ वसुदल लागि ॥३७६॥
वसुदल अष्टकर्म सो जान, जरि वरि भस्म होइ तिहि थान । फिर वह अगनि बाहरी होइ, ताको रूप कौन अवलोइ ॥३७७॥
स्वस्तिकवत रकार चौ फेर, कंचन सम प्रज्वलित घनेर । मंत्र अनाहत तैं प्रगटाय, धगधगात सो अगनि जलाय ॥३७८॥
अमल अष्टदल भसम कराय, फिर स्वयमेव शांत हो जाय । यह पिंडस्थ तृतिय गुण झार, अग्नि तत्व कहि कर उपचार ॥३७९॥

पवन तत्व निरूपण

जहां रचै तन अमर विमान, तामें बैठ करै मुनि ध्यान । चलै पवन तहं अति गम्भीर, तिरछी बहै हलावै धीर ॥३८०॥
धन बहु गरजैं अति भयभीत, आवे जहां करन रज शीत । सकल वारि जो देइ उड़ाय, फिर सो वारि शांत हो जाय ॥३८१॥

आकाश तत्व निरूपण

धातु रहित निर्मल जु शरीर, कर्म कलंक तनी नहि पीर । अविकारी अनरूपी सोय, सिद्ध समान आतमा होय ॥३८२॥
चित्त धरै ऐसी निज काय, सिंहासन बैठारे ल्याय । अतिशय अरु प्रतिहारज जहां, पुण्य प्रकृति फल सगरे तहां ॥३८३॥
इन्द्र सकल सेवत कर जोर, जय जयकार होत चहुं ओर । यह पिण्डस्थ पंचमी रीति, सो साधै तैं मनकी जीति ॥३८४॥
मन चंचलता जब मिट गई, पंचम गतिकीप्रापति भई । जो न होइ मनकी गति टौर, वृथा सकल ध्यानहि की दौर ॥३८५॥

दोहा

मन निरोध जहं पंचविध, कह्यौ ध्यान पिण्डस्थ । जातैं शिव-मारग सुगम, आगे सुनो पदस्थ ॥३८६॥

जो कि जीव पुद्गलकी गमन क्रियामें सहायक हैं वही धर्म द्रव्य है । धर्मद्रव्य, मूर्तिहीन, क्रियाहीन और नित्य है । जिस प्रकार जल मछलियोंकी सहायता ही करता है प्रेरणा नहीं,वही अवस्था इसकी भी है । जो कि जीव पुद्गलकी संस्थितिमें पथिकोंकी छायाके समान सहायक होता है, वह अधर्म द्रव्य है । यह अधर्म द्रव्य भी मूर्तिहीन, क्रियाहीन और नित्य हैं । आकाश द्रव्य लोक और अलोकके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है । यह सम्पूर्ण द्रव्योंको स्थान देने वाला है और यह भी ऐसा ही मूर्तिहीन है । जितने स्थान में धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव रहते हैं उतनेको लोकाकाश कहते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंसे

पदस्थ ध्यान निरूपण

अब सुन सकल पदस्थ विचारा, साधै शिवपद करै विहारा। मात्रा वंचन अक्षर तनी, आदि सिद्ध सब शोभा गुनी ॥३८७॥
तिनको ध्यान वृत्त मुनिराय, जथाजुगत ज्यों वेद कहाय। षोडश दलको कमल अनूप, चितै नाभिमध्यता रूप ॥३८८॥
दल दल प्रति तहं रचै विचित्र, स्वर हैं सोरह परम पवित्र। अ आ इ ई उ हि ऊ शुभ गनौ, और जुक्त ऋ ॠ ऌ ॡ भनौ ॥३८९॥
ए ऐ ओ औ अं अः जान, ए सोरह स्वर जे परवान। फिर चितवै कमल इक और, जाकौ है हिरदै में ठौर ॥३९०॥
ताके दल गन वीस रु चार, मध्य कर्णिका रूप अपार। कु चु टु तु पु हैं वरण पचीस, तापर रचै ध्यानको ईश ॥३९१॥
वदन कमल वसु दल पर रचै, य र ल व आदि वर्ण वसु खचै। अनुक्रम कमल प्रदक्षिण करै, दल दल प्रति अक्षर अनुसरै ॥३९२॥
मंत्रराज अवलंबै जीव, ह्रींकार धर ह्रदै सदीव। यह विधि वर्णमाल उद्धरै, द्वादशांग वाणी वल करै ॥३९३॥
श्रुत समुद्र तर लागै तीर, ज्ञानतनो तहं दीसै भीर। ए सब पत्र रु उदर समेय जो ध्यावै जोगी चित चेत ॥३९४॥
जपत जासु सुख रुचि आनंद, प्रगटै तीव्र अगनि ज्यों मन्द। कुष्ट न रहै न उदर विकार, कास श्यामकी आनै हार ॥३९५॥
या भव पूजनीक जिय करै, आगे को शिव-सुख बिस्तरै। सकल पदनको राजा जान, सब तत्वनको ईश बखान ॥३९६॥
ऐसौ मंत्र अनाहत रूप, सुनौ तासको परम सरूप। आदि ऊर्ध्व रेफा जा शीस, मध्य बिन्दु रेखा रजनीश ॥३९७॥
जे नव वर्ण पूर्व कहि तनै, इनि मिलि मंत्र अनाहत भनै। मंत्रराज याही को नाम, चन्द्रकलासम है अभिराम ॥३९८॥
सो वह कमल कर्णिका मांहि, धरिकै जपै न कर्म रहाय। जिन सरूपतै चितत ऐन, निरमल भाजिन महिमा वैन ॥३९९॥
याही मंत्र तनों कर ध्यान, भय सर्वत्र सर्वगत जान। ज्ञान वीज जगत्रय करवंद, मित्र महेश्वर सब सुख कंद ॥४००॥
जन्म अग्नि की जहं उतपात, जलधर सम करता सुनि धात। जिन लीनौं मुखतै इकवार, लयौ पंथ शिव पावौ सार ॥४०१॥
जन्म मरीरुहको विस्तार, तिन सु मूलतै दियौ उखार। मंत्रराजको साधन रूप, वरण सुनाऊं विमल अनूप ॥४०२॥
मध्य रूप तीता थल ज्ञान, तासे रूपकौ कर तहं ध्यान। लावै मुख पंकज फिर ताहि, तालु रंध्र पुन विकसन आहि ॥४०३॥
अमृतबिंदु तहां पय परपाय, नैत्र पत्र फिर दरसै आय। अलख वाट ब्रह्माण्ड विदार, ज्योतिष मण्डल करै विहार ॥४०४॥
शशि ताकी सरवर नहिं होय, कछुक तहां रह उछलै सोय। कर्म कलंक तनों तम जान, भवको भ्रमनाशक निर्वान ॥४०५॥
फिर आवे वह परम स्थान, जुग भ्रुवलता जु भापी जान। पूरक रेचक कुंभक तीन, पवनभ्यास त्रैविध परवीन ॥४०६॥
पूरक जहां पवन खैंचाय, कुंभक रहै अचल तन लाय। रेचक जब ही जिय निरकार, ध्यान अंत मारुत निरधार ॥४०७॥

(अर्ह मंत्र)

वा मंत्रहि कुंभक कर चित, अर्हं शब्द सुनौ विरतंत। सकल त्याग इहि विधि यह जपै, सपने हू न दृष्टितै क्षपै ॥४०८॥
जाकी आदि अकार सरूप, मध्य बिन्दु जुत रेफ अनूप। अंत हकार दिये गुणवान, परम तत्व याको यह जान ॥४०९॥
पहिलै चितै सब कर जुक्त, करै ध्यान फिर उनतैं मुक्त। फिर चितै जिमि चन्दा रेख, ताकी द्युति सूरज सम पेख ॥४१०॥
मत्रराज चितन गुण सार, जन्म मरण भवसागर पार। वाल अग्र सम फिर चितवै, निहचै ह्वै इक चित संभवै ॥४११॥
अणिमा आदि अष्ट जो सिद्धि, होइ प्रगट वहु लक्ष्मी वृद्धि। सकल सुरासुर चरनन नवै, शिवपद लहि चारौं गुण वर्मै ॥४१२॥

रहित केवल मात्र आकाश है उसको अलोकाकाश कहते हैं। यह अलोकाकाश अनन्त, अमूर्त, क्रियाहीन और नित्य है। इसे सर्वज्ञोंने देखा है जो कि द्रव्योंकी नवीन और प्राचीन अवस्थाके रूप बदल देने वाला है वह समयादि स्वरूप व्यवहार काल है। लोकाकाशके विभिन्न प्रदेशों पर रत्न-राशिके समान जो एक-एक अणु पृथक्-पृथक् क्रियाहीन होकर स्थिर रूपेण अवस्थित हैं उन असंख्य कालाणुओंको जिनेन्द्र प्रभुने निश्चय काल कहा है। धर्म, अधर्म जीव और लोकाकाशके असंख्य प्रदेश हैं। कालके

(अनाहत मंत्र)

कमल कर्णिका चहुंदिश चंग, षोडश रवि हाटकवत रंग। मध्य कर्णिकाके अस्थान, मंत्र अनाहत राखै आन ॥४१३॥
ह्लीं ता मस्तक सो है वृन्द, जैसे निर्मल पूरण चन्द्र। ता मुखतें अमृत वरषई, ध्यानी मुनि ताको निरखई ॥४१४॥
फिर वह कमल जु ध्यानी लेय, अंवुजदल परदक्षिन देय। वहुरि उछारै गगन मझार, चित्तभूमिको मिटि अधिकार ॥४१५॥
तव वहं वर्षा अमृत होय, वहुरि कमल मुख राखै सोय। तालु रन्ध्र तै फिर निकसाय, जुग भ्रुवलता विराजै आय ॥४१६॥
अधिक ज्योति ताकी प्रगटाय, वुद्धि न सकै ताहि वरनाय। सकल सुरासुर नावैं शीस, विश्व तत्त्वको दीप गनीस ॥४१७॥
विद्या जल निज तारन काज, है यह मंत्र प्रतच्छ जहाज। अरु विष सर्प चालको हनै, नागदमन समयोचित भनै ॥४१८॥
जो ध्यानी ध्यावै इहि रीति, ध्यान करत छह मास वितीत। धूम शिखा मुखतें निकसाय, देखै प्रगट ध्यान को राय। ॥४१९॥
जव वासर वीतें इहि भांत, तव दीसै ज्वाला की क्रांत। ता पीछे प्रगटै अवदात, तव देखै जिन मुख साख्यात ॥४२०॥
सव आनन्दमयी सो होय, पंचकल्याणक दरशी सोय। प्रभा पुंजको सूरजवान, भव्य कमल जातें सुख खान ॥४२१॥
प्रगट स्वयंभू जान विलास, निद्रा मोह तनौं किय नाश। भवसागरके पार पहुंच्च, वैठे मुक्ति शिलापर कंच ॥४२२॥

(इति अनाहत मंत्र)

(ॐ मंत्र)

प्रनमि मंत्र सुमरौ फिर चित्त, ॐकार जो परम पवित्त। दुख दावानलको जो मेह, ज्ञान दीप पहुंचनको गेह ॥४२३॥
परमेष्ठी सम इहिको जान, वीचक वीच तनें उनमान। हृदय सुकंज कर्णिका रहै, स्वर व्यंजन वेष्ठित लह लहै ॥४२४॥
सकल सुरासुर पूजित पाय, चन्द्र समान दियै सुखदाय। महातत्व मह वीरज नाम, कुम्भक ध्यान करो अभिराम ॥४२५॥
ज्यौं चितें वा शुक्ल सरूप, कर्म निर्जरा वमै अनूप। जो सिंदूर वरन मन धरै, सर्व जगत चित क्षोभित करै ॥४२६॥
जम्वु वरण जव जो ध्यावही, स्तवन सु ऋद्धि विमल पावही। जो कोइ चितै कज्जल रंग, द्वेष तजै विद्यावल अंग ॥४२७॥
अरुण वरणतें सव सुख जान, ॐकार गुण कहे वखान। या समान दूजौ नहि इष्ट, जुग फलदाता इष्ट अनिष्ट ॥४२८॥

(ॐकार इति प्रवचन मंत्र)

सुमिरै विद्या त्रिभुवन सार, ऋद्धि सिद्धिको है दातार। है प्रसन्न गंभीर वखान, हिमकर वत अमृतकी खान ॥४२९॥
अविचल चित्त ललाट स्थान, जो ध्यावे ताको कल्यान। सकल कामना पूरै सोय, पोहन मोहन यामें होय ॥४३०॥

(ह्लीं इति सिद्धि मन्त्र)

सुधासिंधु तें निकसी आय, चन्द्र रेख तम तास प्रताय। रहै सहै मालके ठौर, जो ध्यावे ध्यानी शिरमौर ॥४३१॥
अमृत वरसावै चहुं ओर, मैंटे जन्म तनों ज्वर जोर। कर्म ताप नाशन धन माल, परम लालवत सुखी रसाल ॥४३२॥

प्रदेश नहीं हैं; क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशी है। इसीलिए कालको छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्ति-काय कहे गये हैं। इन पांचोंमें छठें कालको मिला देने से जिन मतके छ: द्रव्य पूर्ण हो जाते हैं। द्रव्योंकी इतनी ही संख्या निश्चित की गयी है। जितने आकाश क्षेत्रको एक पुद्गल परमाणु व्याप्त कर ले उतने ही स्थानको एक प्रदेश कहते हैं। संसारी जीवों कर्म जिस रागादि रूप मलिन परिणामसे आते हैं उसको परिणाम भावास्रव कहा जाता है। वुरे परिणाम वाले जीवके जो कारणों द्वारा पुद्गलोंका कर्मरूपमें आना है वह द्रव्यास्रव है। आस्रवके मिथ्यात्व आदि कारण विस्तार पूर्वक पहलेके अनुपेक्षा प्रकरणमें हम कह आये हैं। इनके भेद और तत्वको वहीं समझ लेना चाहिए। जिस राग द्वेष रूप आत्माके परिणामसे कर्मजाल वाला है वह परिणाम भाव वन्ध है। भाववन्ध ही के कारण जीव और कर्मका परस्पर वंध जाना द्रव्यवन्ध है। वह द्रव्य वन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश
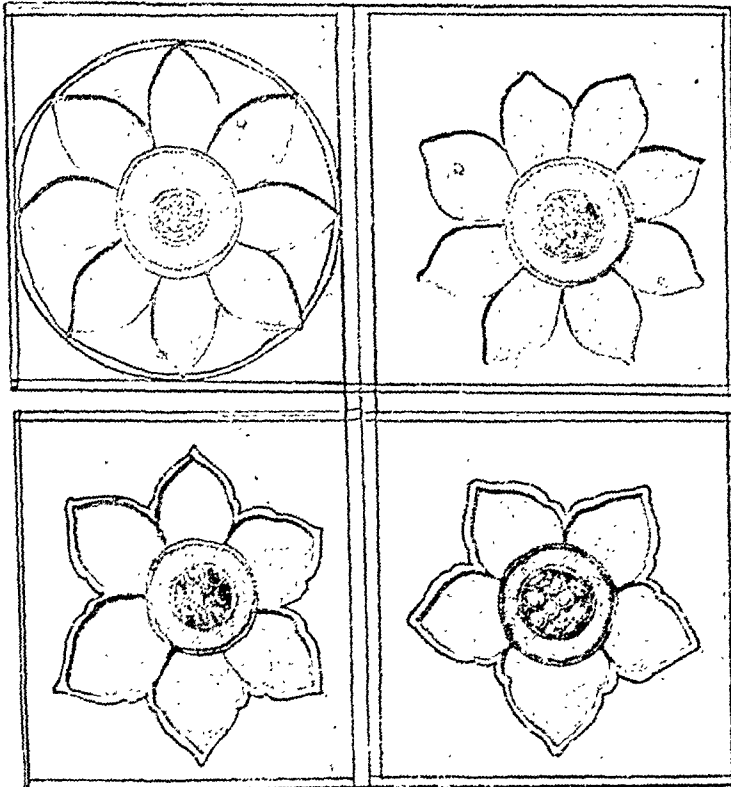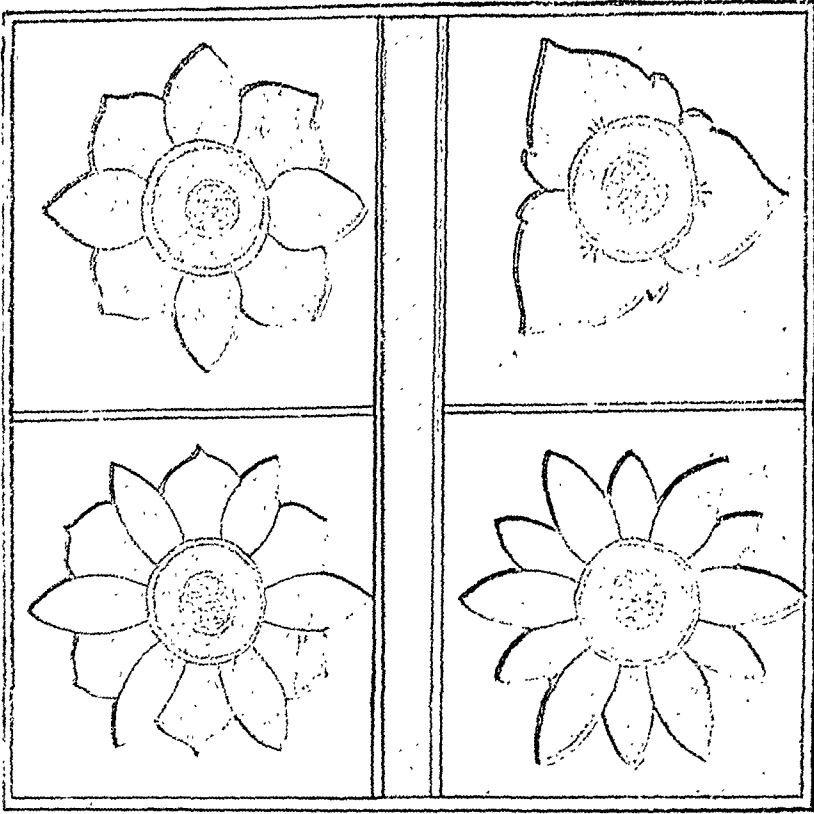
(चन्द्ररेखा इति साँतमंत्र)

फिर गुरु पंचहि कर चितनौ, नमस्कार लांछन जा भनौ । जाहीं सुमिर सुमिर सब जीव, होंहि पवित्र जु अंग सदीव ॥४३३॥

चितै श्वेत कमल दल आठ, तास कर्ण वसु अक्षर पाठ । णमो अरहंताणं जिन नाम, अरु चतुष्ट दिगदल के धाम ॥४३४॥

सिद्धाचार्य उपाध्या साध, चार विदिग दल रच्यो अगाध । दरशन ज्ञान चरन तप जास, चितै अपराजित मंत्रास ॥४३५॥

जाके ध्यान मुक्तिपद वास, भये केवली धर विश्वास । जा गुण कह न सकै जोगेश, और कहै ते बाउल भेष ॥४३६॥

पाप पंक जे प्राणी परै, या सुमरिन तै सव उद्धरै । या सम उत्तम और न जान, भवसागरमें कृपा निधान ॥४३७॥

जिन नर कीनौ पाप हजार, जीवतनी हिंसा जु अपार । या मंत्र हि आराधै सोइ, जो तिरजंच नरक नहि होइ ॥४३८॥

इक शत आठवार जे जपै, प्रभुता कर सब जगमें दियैं । एक उपास तनों फल होइ, कर्म कालिमा डारी खोय ॥४३९॥

(णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्भाणं, णमो लोए सव्व साहूणं इति अपराजित मंत्र:)

जातैं सकल विघन मिटि जांय, कर्म नाशि शिवपद हि लहाइ । ताके वरण सफल है सात, ध्यावत ही उपजै अवदात ॥४४०॥

(णमो अरहंताणं इति अनादि मंत्र ।)

पूरववत हिय कंज मभार, चितै षोडश अक्षर सार । षोडशाक्षरि विद्या नाम, ले पहुंचावै शिवके धाम ॥४४१॥

पंच गुरुनके नाम प्रधान, द्वै शतवार जपै बुधवान । फिर एकाग्र चित्त कर प्रीत, होय उपास एक फल मीत ॥४४२॥

(अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः—इति षोडशाक्षर मंत्र:)

पुन षडक्षरी विद्या सुनौ, हृदैं कमल धर ताकौ सुनो । जो यह जपै तीनसै वार, होय उपास तनों फल सार ॥४४३॥

पुण्यशालिनी कर्म विनाश, लै पहुंचावै अविचल वास । सखा सिद्धि साधन के एह, जाके गुणको कहौ न छेह ॥४४४॥

(अरहंत—सिद्ध—इति षडक्षर मंत्र)

सुमरौ सकल मंत्र को ईश, शिव मारगको दीप सरीश । अवरण नाभिकमल धर ध्यान, मस्तक पद हिसि वरन वखान ॥४४५॥

कण्ठ कंज आकार धराय, पंकंज हृद ॐकार लखाय । वदन जलज साकार धरंत, यह असियाउसाय विरतंत ॥४४६॥

(असि आ उसा—पंचाक्षर मंत्र)

चतुर वरन ध्यावै जोगेन्द्र, चार पदारथ लहैं सुरेन्द्र । जपै चारसै चार जु ताहि, फल इक अनशनको गन ताहि ॥४४७॥

कर्म निर्जरा धर्म बढ़ाय, मिलै सकल सिद्धनको जाय । प्रगटै समोशरणकी ऋद्धि, और अनेक सिद्धिकी वृद्धि ॥४४८॥

(अरहंत—इति चतुर्वर्ण मंत्र)

बीज सकल मंगलको जान, सुमिरै जोगी हियमें आन । शिवपद देन हरन संताप, दिन दिन बाढ़ै अधिक प्रताप ॥४४९॥

(सवसिद्धेभ्यो नमः इति श्रेय मंत्र:)

जो आकार स्वरको ध्यावहीं, सो शिवपद निश्चै पावही । जपै सुमंत्र पंच शतवार, करै सुवृतको फल निरधार ॥४५०॥

(ॐकार इति ॐकारमंत्र)

जिन मुख उद्भव ये सव कहे, जिनके साधत रुचि गुण लहे । अब सुन बीजाक्षर गुण माल, पंच वरन अरु तत्व रसाल ॥४५१॥

श्री गनधर श्रुत सागर शोघ, जगत जीव कारण किय बोध । इनको ध्यान करै जब कोय, हृदयकमल मन थिर कर सोय ॥४५२॥

वशीकरण नहि इन पर ओर, कर्म नाश मिलि सिद्धि न दौर । थंभन वशीकरण को हेत, सकल सिद्धि उपजन को सेत ॥४५३॥

नामके द्वारा चार भागोंमें विभक्त है । इस इत्यको अशुभ और अनर्थोत्पादक कहा गया है । बन्धयोगोंमें प्रकृति और प्रदेश तथा स्थिति और अनुभाग बन्ध ये दो दुष्ट बन्ध कषायोंके द्वारा होते हैं । इस निर्णयको स्वयं मुनीश्वरोंने ही कहा है ।

जीवोंके मति ज्ञानादि उत्तम गुणोंको ज्ञानावरण कर्म ढंक देते हैं । जिस तरह कि किसी देव प्रतिमाको वस्त्रादि आव-

(ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असियाउसा नमः इति ।)

मंगल शरण लोकोत्तम जान, चार भांत मुनि कियो वखान । ध्यावैं जपै चित्त कर ठौर, ताको मुक्ति रमणि वर दौर ॥४५४॥

मुक्ति सदन उत्तुंग स्थान, तहं चढ़िवेको ए सोपान । जा सुमिरत यह अंगीरूप, वाह्याभ्यंतर परम सरूप ॥४५५॥

(ॐ चत्तारि पद मंगलं—(आदि) इति चत्वारि मंगल मंत्र ।)

वरण चतुरदश विद्या पेय, तास जपन तपसी चित देय । शंका रहित अडोल शरीर, अष्टसिद्धि नवनिधिकी भीर ॥४५६॥

मुक्ति—वधूकी दूती जान, जो मिलिवैं सिद्धनसों आन । वरणन और कहां लौं करौं, रसना एक चित्त उच्चरैं ॥४५७॥

(ॐ अर्हंत्सिद्ध सयोग केवली स्वाहा इति त्रयोदशाक्षर मंत्र)

ज्ञान राज को दाता जान, तीन भुवनको नाथ वखान । रत्न चूड़मणिकी सर जोय, साक्षात सरवज्ञ जु होय ॥४५८॥

ताकी महिमा कही न जाय, तासु ध्यान जिय मुक्ति लहाय । जिन प्राणी याको किय ध्यान, पहुंचे, जाय मुक्ति स्थान ॥४५९॥

(ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः-इति षडक्षर मंत्र)

जो सुमरैं पंचाक्षर मंत्र, कर्म तिमिर नाशन रवि मंत्र । पुण्य वढ़ावन ऋधि दातार, गुण वरणतको पावैं पार ॥४६०॥

नमो सिद्धाणं—इति पंचाक्षर मंत्र)

सर्व तत्व में परम स्थान, सकल वरनकी माला जान । क्लेश हरन है मंत्र पुनीत, सुमरैं शिवपद जाय अतीव ॥४६१॥

(ॐ नमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्तशुद्धिपरिणाम विस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निर्दग्धकर्मवीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टाय सौम्याय शांताय मंगलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा ।)

(इति वर्णमाला मंत्र)

वसु दल तनों कमल मन रचै, तापर चरण आठ ले खचै । दल दल प्रति इक न्यारी जान, तेजवंत जिमि दीसै मान ॥४६२॥

प्रणव आदि परदक्षिण देय, इकशत अधिक सहस्र गनेय । इहि विधि अष्ट रात लौं जपै, एकचित्त ह्वै जोगी तपै ॥४६३॥

कर्म कलंक ताहि तजि जाय, हिंसक जीव न नजर पराय । प्रणव सहित जो कीजै ध्यान, श्रद्धि सिद्धिको दाता जान ॥४६४॥

प्रणव तहां तजि ध्यावैं कोय, कर्म नशाय जु शिवपद होय । प्रभुता कहंलों कही वखान, सकल सिद्धिको जानों खान ॥४६५॥

फिर चितै इक शशि आकार, अष्ट कमल दल उदर मंझार । दल दल प्रति इक वरन धराव, तिनकै नाम कहौ समझाय ॥४६६॥

ॐ णमो अरहंताण—इति अष्टवर्ण मंत्र)

आदि प्रणव अरु शून्य मंझार, अन्त अनाहत मंत्र विचार । तीन भुवनको तिलक कहाय, नासा अग्र ध्यान ठहराय ॥४६७॥

प्रगटै ज्ञान अष्ट गुण संग, जव चिन्तै इकचित्त अभंग । शुक्ल वरण तिहिको ध्यावेय, मुक्ति वधू निहचै पावेय ॥४६८॥

(ॐ ह्रीं-इति द्विवर्ण मंत्र)

द्वी द्वी प्रणव धरै दो ठौर, दुहु ढिग ह्रींकार द्वै और । तिनके वीच हंसपद ध्याय, सवके मध्य स्त्री है आय ॥४६९॥

महा वीर्य है याको नाम, ध्यावैं एक-चित्त अभिराम । मन चीतै पावैं फल सोय, डारै सकल कर्म मल धोय ॥४७०॥

('ॐ ॐ ह्रीं हंस स्त्री ह्रीं ॐ ॐ इति महावीर्य मंत्र)

जपै मन्त्र जो कर्मन हनै, राग द्वेष आदिक जे भनै । संसारी सव दुख विसराय, अनुचितो फल आतम पाय ॥४७१॥

रणसे ढंक दिया जाता है । जिस प्रकार अपने कार्यके निमित्त राज दरवारमें जाने पर द्वारपाल रोक देता है उसी प्रकार नेत्रादि के दर्शन कर्मको दर्शनावरण कर्म रोक देते हैं । मनुष्यों के वेदनीय कर्म मधुसे चुपड़ी हुई तलवारके समान हैं इसके द्वारा अत्यल्प सरसोंके वरावर तो सुख मिलता है और वादमें मेरु पर्वतके समान भयंकर एवं महान् दुःख आघेरता है । जिस प्रकार की मदिरा को पीकर जीव मदोन्मत्त होकर किसीको कुछ भी नहीं समझता उसी तरह अज्ञानी जीवोंको मोहनीय कर्म सम्पूर्ण दर्शन, ज्ञान
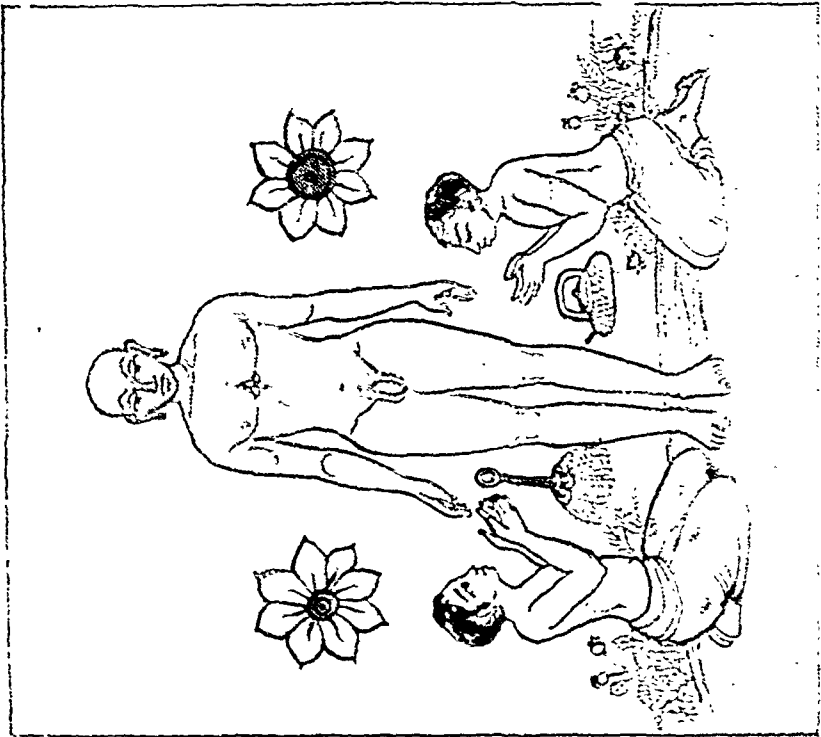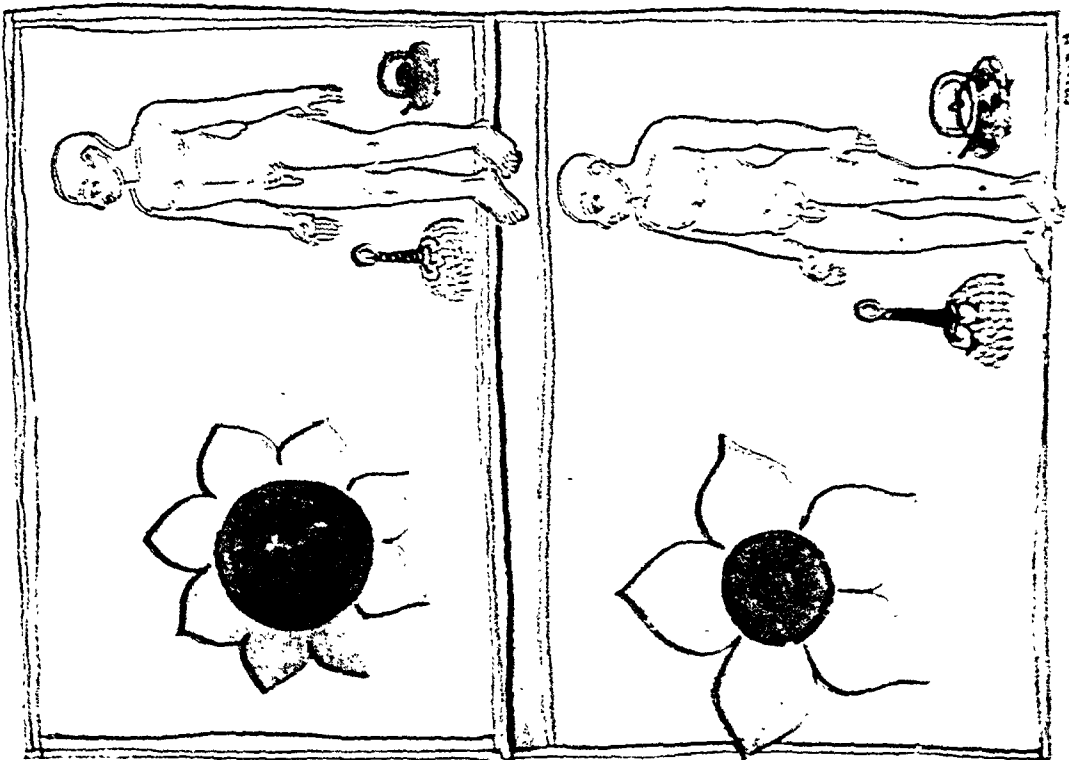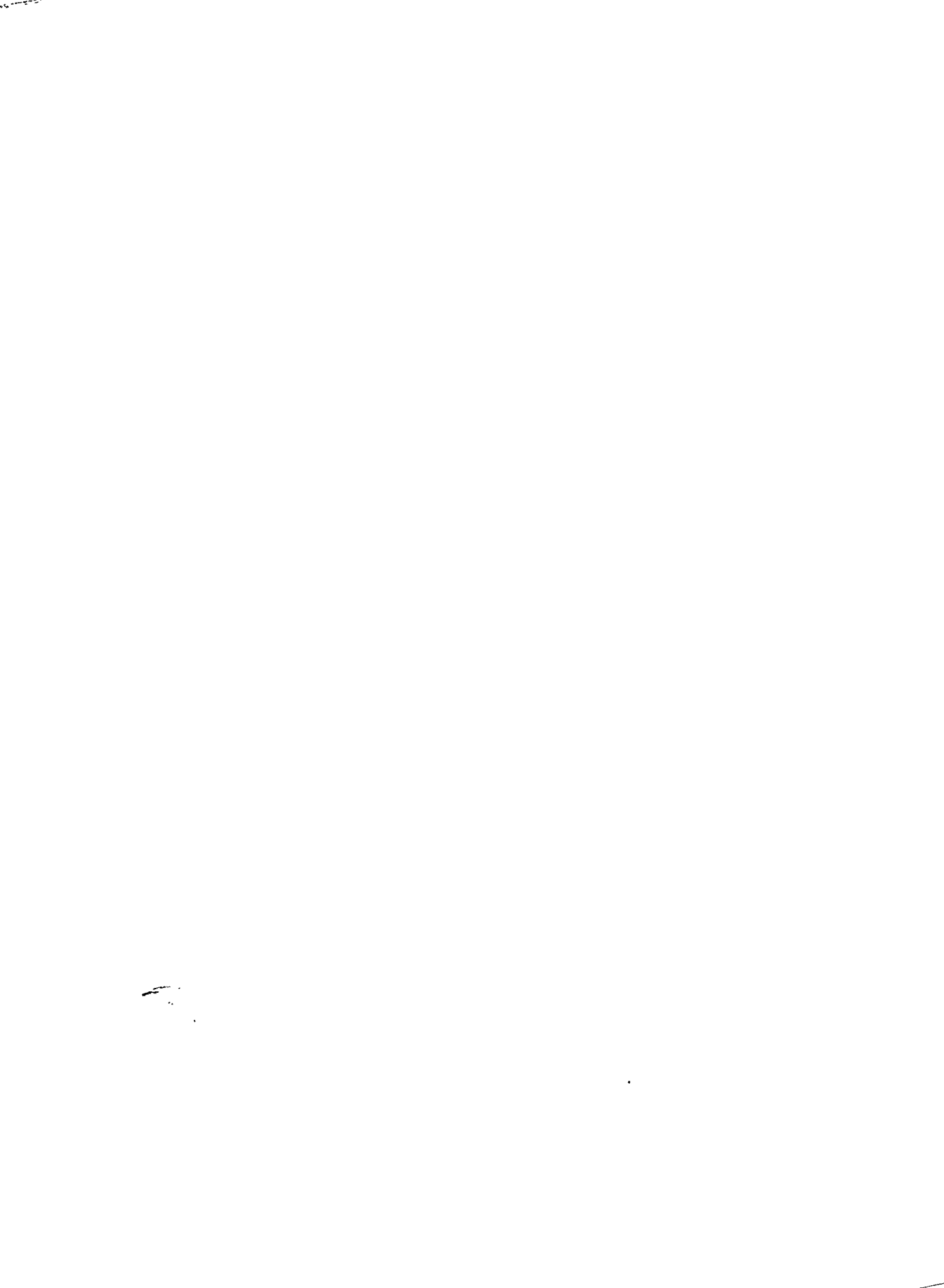
(श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः)

फिर चित्यौ मन मुनि गंभीर, विद्यावाद उधारन धीर। मुक्ति मुक्ति को है अभिराम, सिद्धिचक्र कहिये तानाम ॥४७२॥

('सिद्धिचक्रं' इति सिद्धि चक्र मन्त्र।)

महावीर सुख उद्भव जान, विद्या कल्पवृक्षको मान। वरन न सकैं तास फल कोय, जद्यपि श्रुतको पाठी होय ॥४७३॥

विद्या जपै निरन्तर सदा, यामें अन्तर होय न कदा। अणिमा आदि अष्ट सिधि धनी, श्रुतसागर पारगवहु गनी ॥४७४॥

तीन कालको दरसी जान, सकल तत्वको पूरन ज्ञान। सिंह आदि जे प्राणी क्रूर, शांत रूप ह्वै रहैं हजूर ॥४७५॥

(ॐ जोग्गेमग्गे तच्चेभूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिण पारिस्से स्वाम्हा।) ॐ ह्री स्वर्ह नमो नमोऽर्हताणं ह्रीं नमः।)

(इति तीसाक्षर विद्यामंत्र।)

करि श्रुतसागर को मंथान, प्रगटै मंत्राक्षर गुण खान। इनकौ ध्यान करैं मुनिराय, सो सराग ध्यानी कहि ताय ॥४७६॥

ध्यान करत पावै निज वस्थ, यातैं कहिये ध्यान पदस्थ। जंत्रादिक को पूजन जोय, ध्यान पदस्थ नहीं पुन होय ॥४७७॥

दोहा

अष्टसिद्धि नवनिधि सदन, मन निरोधके गेह। वरनौं ध्यान पदस्थ यह, सो तिथिवार गनेह ॥४७८॥

प्रणव मंत्र परिमाको ध्यान (ॐ) दोइज दोय वरण मंत्रान। (ॐ ह्रीं)

मंत्रअनाहत तीजहि जान (ह्रींकार) चौथ सु चतुर वरन पठि ज्ञान (सिद्धिचक्रं) ॥४७९॥

पंचाक्षर पाचें को सोय... (णमो सिद्धाणं)

छटको पडक्षरीं अवलोय... (ॐ सिद्धेभ्यो नमः)

सातेंको सप्ताक्षर रचै ॥४८०॥ (णमो अरहंताणं)

आठेंको अष्टाक्षर सचै ॥४७९॥ (ॐ णमो अरहंताण)

नवमी मंत्र नवाक्षरध्याय... (ॐ ह्रीं अर्ह नमो जिनानाम्)

दशमी दश अक्षर लौं लाय। (चत्तारि मंगलपद नमः)

महावीर्ज एकादश थाय... (ॐ ॐ ह्री हंस स्त्री हंस ह्रीं ॐ ॐ)

द्वादश वीजाक्षर मन लाय ॥४८१॥ ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं ह्रः

अ सि आ उ सा नमः)

तेरह त्रोदश अक्षर मंत्र (ॐ अर्हत्सिद्ध सयोग केवली स्वाहा)

चौदशि चतुर्दशाक्षर तंत्र (श्रीमद्वृषभादिवर्धमानान्तेभ्यो नमः)

पूरणमासी षोडश वर्ण (ॐ ह्रीं नभमण्डलवते भाले चन्द्ररेखा नमः)

विचार एवं चारित्रादि धर्म कार्योंसे एक दम उपेक्षित और पथ-भ्रष्ट बना देता है। वे नितान्त उन्मत्त हो उठते हैं। जिस प्रकार कारागारसे हाथ पांवोंमें बंधी हुई लौह शृंखला (बेड़ी) कैदीको बाहर जा सकनेमें बाधा उपस्थित कर देती है उसी प्रकार आयु कर्म कामरूपी कारागारमें बन्द जीव रूपी कैदीको कायके बाहर निकलनेसे सदैव रोके रहता है। वह कायमें ही जीवोंको दुःख शोकादि नाना प्रकारकी आपदाएं भोगनेके लिये बाध्य करता है। नाम कर्म चित्रकारके समानजीवोंके अनेक रूप बनाया करता है। कभी बिलाव, कभी सिंह, कभी हाथी, कभी मनुष्य और कभी देव। अनेक प्रकारकी आकृति प्रदान करना नाम कर्मका ही कार्य है। गोत्रकर्म कुम्हारकी तरह कभी सर्व श्रेष्ठ गोत्र (कुल) और कभी अति निन्दनीय गोत्र प्रदान कर देता है। इसी तरह

मावास्य तीसाक्षर धर्ण ॥४८२॥ (ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भू दे भव्वे भविस्सेअक्खे पक्खे जिण पारिस्से स्वाहा···ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हताणं ह्री नमः ।)

अथ वार मन्त्रों का विवरण

अपराजित जप आदिवार, (णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लाऐसव्ववाहूणं ।)

सोमवार षौडक्षार धार । (अर्हंतसिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः)
मंगलवार षडक्षर जान (अरहंत सिद्ध)
बुद्धवार पंचाक्षर ध्यान ॥४८३॥ असिआउसा)
चतुरवरण गुरुवार जपेय (अरहंत)
शुक्रवार दुइ अक्षर ध्येय । (सिद्ध)
शनि को एकाक्षर परमान (ॐ)
यह पदस्थ वरणौं शुभ ध्यान ॥४८५॥

दोहा

मूंगा मोती हेम मणि, रूपा फल गुथि सूत । अरू कपूर वसु भेद मिलि, अष्टोत्तर शत जूत ॥४८॥
मध्यम तरजनि नामिका, तप अंगुरन जत्र श्वास । अंगुठासौं जपमाल रुचि, गुन इक इक वहु तास ॥४८६॥

अथ रूपस्थ ध्यान वर्णन

चौपाई

अव रूपस्थ ध्यान तुम सुनी, जा प्रसाद जिनदेवहि गुनी । और देवसों नाही काज, हैं देवाधिदेव जिनराज ॥४८७॥
दोष अठारह रहित जिनेश, गुण छयालीस संयुक्त महेश । अतिशय महा तीस अरु चार, सौ है प्रातिहार्य वसु सार ॥४८८॥
(अ) नंत चतुष्टयको नहि छेव, करें शतेन्द्र तास पद सेव । श्री ऋषभादि चुवीस महंत, गुण वरणत आवे नहि अन्त ॥४८९॥
समोशरण की ऋद्धि समेत, जो इनिकी चितै धर हेत । ध्यान करन उनहीसौ जाय, यामें कछु नहिं संशय थाय ॥४९०॥

दोहा

जव न टरै चिततैं वह रूप, तव शिवपद है शरण अनूप । जो जगमें नर करतौ काम, पावै ताही के सम नाम ॥४९१॥
यह रूपस्थ अनूप गुण, जिन सम आतम ध्यान । कर याकी अभ्यास मुनि, पावै पद निर्वान ॥४९२॥

अन्तराय कर्म भी कोष रक्षक (खजान्ची) के समान दान लाभादि पांच कर्मोंमें सदैव विघ्न उपस्थित किया करता है । इनके अतरिक्त और भी अन्य कर्मो को जान लेना चाहिये । वे स्वभाव जीवोंके आनेके कारण हैं । दर्शना वरण, ज्ञानावरण, वेदनीय एवं अन्तराय इन चार कर्मोकी उच्चत्तम स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है । मोहनीय कर्मकी उच्चतम स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरकी है । इसी प्रकार नाम कर्म एवं गोत्र कर्मकी स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है । आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है— जिनेन्द्र देवने इसी प्रकार आठ कर्मोकी अत्यन्त उत्कृष्ट स्थितिको वतलाया है । वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति वाहर मुहूर्तकी है । नाम एवं गोत्र कर्मकी आठ मुहूर्त तथा अन्य शेष पांच कर्मो की अन्त मुहूर्त जघन्य स्थिति है । सब

अथ रुपातीत ध्यान वर्णन

चौपाई

धर्म रहित प्राणी संसार, जपै अनेक मंत्र निरधार। सिद्ध साध्य हैं और सुसाध्य, आरिय सहित चतुर आराध्य ॥४९३॥
थंमन वशीकरण अवदात, चेटक नाटक वहु उपपात। तातैं वर्ण सिद्धि मुनि जोय, काटे विमल मंत्र अवलोय ॥४९४॥
सकल सिद्धि इनहीके ध्यान, अष्ट सिद्धि नव निद्धि वखान। ए संसार वढ़ावन सर्व, इनिहीतैं शिव मारग दर्व ॥४९५॥
मनकी चंचलताको रोध, उपजाये दुर ध्यान विरोध। तातैं किमपि मंत्र वरणए, मनसा रोकनको परिणये ॥४९६॥
आतम हितकारी जो ध्यान, अव सुन ताको करौं वखान। सिद्ध रुप को चिंतवन करौ, तातैं सकल कर्म निरजरौ ॥४९७॥
है अधिकार चरम रस छाम, काय विनाश सहज विसराम। सदा अनाकुल परम रमेय, अनरूपी अरु अजपा ध्येय ॥४९८॥
तीन भुवनमें रहै समाय, ज्ञान दृष्टि विन लख्यौ न जाय। विन शरीर है पुरुपकार, किंचित ऊन चरम तन धार ॥४९९॥
जो कोई जियमें करै विचार, अनरूपी को पुरुषाकार। ता संवोधन गुरु कहि कथा, सिद्धि द्वारमें वरनी जथा ॥५००॥
सो सिद्धन सम आतम रूप, ध्यावै दुविधा डार अनूप। रूपातीत ध्यान यह नाम, जो लेजाय मुक्तिके धाम ॥५०१॥

दोहा

राग रहित इन्द्रिय दमन, सकल विभंग उड़ाय। जीव तनों विश्राम यह, रुपातीत कहाय ॥५०२॥

इति ध्यान निरूपणम्।

'प्रत्यय वर्णन'

पंच मिथ्यात प्रथम एकांत, विनय दुतिय विपरीत त्रिसंत। चौथौ है संशय मिथ्यात, अज्ञान पंचमौ सुनहो भ्रात ॥५०३॥
वारह अव्रत हैं दुखदाय, ताके नाम सुनौ समुदाय। पांचों थावर त्रसहि विरोध, इन्द्रिय पांचों मन नहि रोध ॥५०४॥
पंद्रह जोग पचीस कषाय, सव संतावन प्रत्यय थाय। जवलौ इनमें रहै जु जीव, पावै नहीं मुक्ति पथ सीव ॥५०५॥

अथ जाति स्थान*

लख चौरासी जौनी सर्व, ताको भेद कहौं कछु अर्व। पृथवी वायु अगनि जल चार, इतर निगोद नित्य अवधार ॥५०६॥
ए पट थोक वयालिस लक्ष, सात सात जानौं परतक्ष। वनस्पती प्रत्येक दशान, विकलत्रय पट लक्ष वखान ॥५०७॥
देव नारकी अरु तिरजंच, चार चार मिलि वारह संच। मनुप जोनि है चौदह लाख, सव चौरासी मिति यह भाख ॥५०८॥

कर्मोकी मध्यम स्थिति कई एक प्रकार की है और प्रमाण भी उनका मध्यम ही है। अशुभ कर्मोका अनुराग निम्ब, काञ्जी, विप और हलाहल ये चार प्रकारका है। शुभ कर्मोका अनुभाग गुड़, खांड़, मिश्री और अमृत ये चार प्रकारका है। प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण कर्मोका अनुभाग अनेक प्रकारका है और सांसारिक जीवोंको क्षण-क्षण सुख दुःख प्रदान करता रहता है। सांसारिक जीवोंके सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशोंमें अनंतानन्त सूक्ष्म कर्म परमाणु सव जहां परस्पर मिलकर एक हो जांय उन कर्म परमाणुओंके वन्धको प्रदेश वन्ध कहते हैं। इस प्रदेश वन्धमें दुःख ही दुःख भरे पड़े हैं। वह दुःखोंका समुद्र ही है। इन चार प्रकारके वन्धोंको अपना वैरी समझ कर वुद्धिमानोंको उचित है कि-दर्शनज्ञान, चारित्र एवं तपरूपी वाणोंसे नष्ट कर डालें। इन्हें सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कारण समझना चाहिये। राग द्वेपहीन होकर जो कि चैतन्य परिणाम कर्मोके आस्रवको रोकने वाला है वह परिणाम भाव

* णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिदिएसु छच्चेव। सुरणिरयतिरिय चउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥८९॥—जीवकाण्ड।

'नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवी, जल, तेज और वायुकायिकमें प्रत्येक की सात सात लाख, वनस्पतिकायिककी दश लाख, द्वीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियमें प्रत्येककी दो दो लाख, देव नारकी और तिर्यंचोंमें प्रत्येककी चार चार लाख तथा मनुष्योंकी १४ लाख योनियां होती हैं। सव मिलाकर ८४ लाख योनियां होती हैं।

दोहा

चौरासी लख जाति में, मात पक्ष जिय जंत। पंच परावर्तन धरे, भटकै काल अनन्त ॥५०९॥

योग वर्णन

चौपाई

करन तीन मद आठ प्रकार, पाचों इन्द्रिय विकथा चार। सात व्यसन अरु चार कषाय, पंच मिथ्यात जहां सरसाय ॥५१०॥
यह छत्तीस जोग समुदाय, इनि मिलि प्राणी कर्म बंधाय। आवे जाय तहां सब जीव, इतर निगोदादिक जु सदीव ॥५११॥

कुल कोटि वर्णन[1]

पृथिवी कायिक बाइस जान, जलकायिक पुन सात बखान। तेजकाय तह तीन सु भनी, वायु सात लख कोड़हि गनी ॥५१२॥
वनसपती अट्ठाइस होय, एकेन्द्रि सब सड़सट जोय। द्वे इन्द्रिय पुनि सात गनेह, ते इन्द्रिय तह आठ भनेह ॥५१३॥
चौइन्द्रिय नव कोड़ि प्रतक्ष, सब चोवीस विकलत्रय रक्ष। अब पंच इन्द्रियको सुन हाल, है तिरजंच साढ़ तेताल ॥५१४॥
जलचर साढ़ेबारा लाख, पुनिनभचर सब बारह भाख। थलचर की दो भेद बखान, चतुपद आदि दशहि परवना ॥५१५॥
सरी सर्प नव कोड़ि जु कहैं, इमि तिरजंच सबै सरदहै। देवन कुल छब्बीस जु होय, नारकगति पच्चीस हि सोय ॥५१६॥
चौदह मनुष्य तनै अवलोय, सकल जीव इकठे अब होय। इकसय लख गनिये कुल कोढ़ि, साढ़निन्यानव ऊपर जोड़ि ॥५१७॥

(१९९५०० ०००००००००)*

दोहा

पिता पक्ष कुल कोड़ि यह, चतुर्विंश थानेव। अब जिय गत्यागत सुनी, दंडक चौवीसेव ॥५१८॥

अथ चौवीस दण्डक प्ररूपण

संवर है। योगी जन जिन महाव्रतादि उत्तम ध्यानोंसे सम्पूर्ण कर्मास्रावोंका निरोध करते हैं उनको सुखदायक द्रव्य संवर कहते हैं।
संवरके कारण महाव्रतोंके द्वारा परिपहोंके जीतनेके विषयमें पहले कहा जा चुका है इससे पुनः पिष्टपेषण करना ठीक नहीं। जिज्ञासुओंको वहींसे जान लेना चाहिए। सविपाक और अविपाकके भेदसे जीवोंकी निर्जरा दो प्रकार की होती है। इन दोनोंमेंसे मुनीश्वरोंकी अविपाक और अन्य सब सांसारिक जीवोंकी सविपाक निर्जरा होती है। इसके पूर्व भी निर्जराका वर्णन

---

१. शरीरके भेदको कारणभूत नो कर्मवर्गणाके भेदको कुल कहते हैं।
बावीस सत्त तिण्णि य सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं। णेया पुढ़विदगागणि वाउक्कायाण परिसंखा ॥११३॥
कोडिसय सय सहस्साइं सत्तट्ठणव य अट्ठवीसाइं। बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय हरिद कायाणं ॥११४॥
अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं। जलचरपक्खि चउप्पय उरपरिसप्पेसु णव होंति ॥११५॥
छप्पं चाधियवीसं बारसकुलकोडिसदसहस्साइं। सुरणेरइयणराणं जहाकमं होंति णेयाणि ॥११६॥
एया य कोडिकोडी सत्ताणउदीय सदसहस्साइं। पण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाणं य ॥११७॥—जीवकाण्ड

* कुल कोटियोंकी संख्याके विषयमें अन्य शास्त्रोंमें दो प्रकारका उल्लेख मिलता है। गोम्मटसार जीवकांडमें १९७५०००००००००० संख्या बतलाई है। गोम्मटसारके गाथा ऊपर उद्धृत किये जा चुके है। परन्तु कविवर द्यानतरायजीने अपने चरचा शतक ग्रंथमें कुल कोटियोंका प्रमाण १९९०००००००००० बतलाया है। यहां ग्रंथकर्ताने भी उसी आधार पर उक्त संख्याका निरूपण किया है। द्यानतरायजीका कवित्त यह है पृथ्वीकाय बीस दोय जल सात तेज तीनि, वायु सात तरुबीस आठ परमानिये। वे ते चउ इन्द्री सात आठ नव खग बारै, जलचर साढ़ेबारै चौपै दस जानिये॥ सरीसृप नव नारकी पचीस नर चौदै, देवता छबीस लाख कुल कोरि मानिये। दोय कोराकोरी मांहि आध लाख कोरि नाहिं, सबको निहारिकै दयाल भाव आनिये ॥३२॥—चरचाशतक।
गोम्मटसारमे मनुष्योंकी १२ लाख और यहां १४ लाख बतलाई हैं, इसलिये दो लाखका अन्तर दोनों निरूपणोंमें पड़ता है।

दोहा

नारकगति है प्रथम ही, भवनपति दश जान। जोतिक व्यन्तर, तेरमौ चौदहि स्वर्गहि थान ॥५१९॥
थावर पांचों, विकलत्रय, पंचइन्द्रिय तिरजंच। चौवीसौ मानुष गती, कहौं भेद अब रंच ॥५२०॥

चौपाई

नारककी गति आगति दोय, नर तिरजंच पचेन्द्रिय होय। जाय असैनी पहिला लगै, मन विन हिंसा कर मन पगै ॥५२१॥
सरीसर्प दूजौ लौं जाय, तीजैं लौं नभचर पहुंचाय। सर्प जाय चौथी लौं सही, नाहरकी पंचम जिन कही ॥५२२॥
नारी छटमें लौं सो जाय, नर अर मच्छ सातलौं थाय। यह तो नारककी गति कहै, अब सुन आगति जिहि विधि लहै ॥५२३॥
सातम नरक निकस कै कोय, पशु गतिमें आवे दुख जोय। अवर नरक सबके कढ़ि जीव, नर अर पशुगति लहै सदीव ॥५२४॥
छट्टम नरक निकसि कोइ जीव, समकित लहै निपाप अतीव। पंचम तै निकस्यौ मुनि होय, चौथे को केवल धर सोय ॥५२५॥
तीजैको निकस्यौ भवि कोय, तीर्थंकर पद धारै सोय। ऐसी विधि आगति पहिचान, सात नरक की कहि भगवान ॥५२६॥
तेरह दंडक देव निकाय, तिनके भेद सुनौ मन लाय। नर तिरजच पंचेन्द्रिय विना, और न काहू सुरपद गिना ॥५२७॥
देव मरै गति पंच लहाहि,भू जल तरु नर तिरवर मांहि। दूजै स्वर्ग सु ऊपर देव, थावर होय न कहिये एव ॥५२८॥
सहस्रारतैं ऊंचौ सुरा, मरकें होय सु निहचैं नरा। भोगभूमिके तिरु अरु नरा, दूजैं देवलोक तैं परा ॥५२९॥
जायं नहीं यह निहचैं कही, देवन भोगभूमि नहि लही। करमभूमिया तिरजग जती, श्रावक व्रत धर बारम गती ॥५३०॥
सहस्रारतै पर तिरजंच, जाय नहीं तजहू परपंच। अव्रत सम्यग्दृष्टी नरा, बारम तैं ऊपर नहि धरा ॥५३१॥
अन्य तपी पंचागनि साध, भवनत्रिक तैं जाय न बाध। परिव्राजक दंडी हैं तेह, पंचम परैं नहीं उपजेह ॥५३२॥
परमहंस नाना परमती, सहस्रार ऊपर नहि गती। मोक्ष न पावहि परमती मांहि, जैन बिना नहि कर्म अगांहि ॥५३३॥
श्रावक अरजा अणुव्रत धार, वहुर श्राविका गनौ विचार। सोलह स्वर्ग परैं नहि जाय, ऐसी भेद कहौं जिनराय ॥५३४॥
द्रव्य लिंगधारी ते जती, नवग्रैवक ऊपर नहि गती। नव अनुदिश अरु पंचोत्तरा, महामुनी विन और न धरा ॥५३५॥
कैई वार देव जिय भयौ, तिनमें कैई पद नहि लयो। इन्द्र भयौ न शची हू भयौ, लोकपाल पुन कबहुं न धर्यो ॥५३६॥
अर लौकान्तिक भयौ न सोय, नहीं अनुत्तर पहुंचौ लोय। ए पद लह बहु भव रहि धरे, अलपकाल में मुक्ति सु वरै ॥५३७॥
गत्यागत्य देव गति येह, अब नरगतिके भेद सुनेह। चौवीसौं दंडकके मांहि, मानुष जाय जु संशय नाहि ॥५३८॥
मुनि पद धरै होय शिव ईश, मानुष विना न मुनिपद दीस। गति पच्चीस कही नर ईश, मनुष तनी भाषी जोगीश ॥५३९॥
आगत मुनि बाईस जु सोय, तेजकाय अरु वायु जु काय। इन विन और सबै नर थाई, गति पच्चीस आगती बाई ॥५४०॥
यह सामान्य मनुष्यकी कही, अब सुन पदवीधर की सही। तीर्थंकर की दो आ गती, सुर नारक तैं आवें सती ॥५४१॥
फेर न गति धारैं जगदीश, जाय विराजैं जगके शीस। चक्री अधचक्री अरु हली, स्वर्ग लोकतैं आवें बली ॥५४२॥
इनकी आगत एक ही जान, गतिकी रीति जु कहौं वखान। चक्रीकी गति तीन जु होइ, स्वर्ग नरक अरु शिवपद जोइ ॥५४३॥

विस्तारशः कर दिया गया। पुनरुक्ति दोषके भयसे पुनः यहां उल्लेख नहीं किया जाता। जो परिणाम मोक्षाभिलाषी जीवोंके सम्पूर्ण कर्मोके नाशक हों वही अतिशुद्ध परिणाम है। उसीको जिनेश्वर महावीर प्रभुने भावमोक्ष कहा है। अन्तिम शुक्ल ध्यान के प्रभाव ज्ञानमय आत्माका सम्पूर्ण कर्मजालसे पृथक होजाना ही द्रव्यमोक्ष है। जिस प्रकार कि आपाद मस्तक अनेक बन्धनोंसे बंधे हुए पुरुष को सब बन्धन खुल जानेसे अत्यन्त हर्ष और सुख प्राप्त होता है उसी प्रकार असंख्येय कर्म बन्धनोंसे जकड़े हुए जीवको मोक्ष मिल जानेसे वह जीव निराकुल होकर अनन्त और अक्षय सुखको प्राप्त करता है। कर्मोंसे छूट जानेके बाद यह मूर्ति हीन ज्ञानवान् अति निर्मल आत्मा स्वभावतः ऊर्द्धगति होनेके कारण ऊपर सिद्धालयमें जा पहुंचता है। वहां जाकर निर्बाध

तप धारैं तो सुर शिव दोय, मरैं राज्यगें नरक हि होय। आखिर पहुंचै पद निर्वान, पदवी धर ये बड़े प्रधान ॥५४४॥
अधचक्री के दोऊ भेद, हरि प्रतिहरि नारक गति खेद। राज्यमांहि ये निहचै मरैं, तद भव मुक्ति पंथ नहि धरैं ॥५४५॥
आखिर पावैं जिनवर लोक, पुरुषशलाका शिवके थोक। बलभद्रनकी दोयहि गती, स्वर्ग जांय ह्वै कै शिवपती ॥५४६॥
तप धारैं ये निश्चय पाय, मुक्ति पात्र ये श्रुत में ठाय। कुलकर नारद रुद्र रु काम, जिनवर तात मात पद नाम ॥५४७॥
इनकी आगत श्रुत तैं जान, गतके भेद जु कहीं बखान। कुलकर देव लोक ही लहैं, आरद रुद्र अधोपुर गहैं ॥५४८॥
मदन मदन हत स्वर्ग जु कोय, कोई तद्भव शिवपुर होय। तीर्थंकरके पिता प्रसिद्ध, स्वर्ग जाय कै हूं हैं सिद्ध ॥५४९॥
माता स्वर्ग लोक ही जाय, आखिर शिवपुर वेग लहाय। ये सब रीति मनुप की कही, अब सुन तिरजग गति की सही ॥५५०॥
पचेन्द्रिय पशु मरण कराय, चौवीसों दंडकमें जाय। चौवीसों दण्डक तैं मरै, पशु य होइती नाहि न करै ॥५५१॥
गति आगती कही चौवीस, पंचेन्द्रिय पशुकी जो ईस। ता पंचम सुरको पथ गहीं, चौवीसौं दंडक नहि लही ॥५५२॥
विकलत्रयकीं दश ही गति, दश आगति कहि श्री जगपती। पांचो थावर विकलत्र तीन, नर तिरजग पचेन्द्रिय लीन ॥५५३॥
इन ही दशमें उपजै जाय, इन ही तैं विकलत्रय आय। पृथवी पानी तरुवर काय, इन ही दशमें जनम कराय ॥५५४॥
नारक विन सव दण्डक जोय, पृथवी पानी तरुवर होय। तेज वायु भर इनमें जाय, मानुप होइ न सूत्र कहाय ॥५५५॥
थावर पंच विकलत्रय ठोर, ए नव गत भाषी मद मोर। दश तैं आय तेज अरु वाय, होय सही भाषी जिनराय ॥५५६॥
ये चौवीसों दण्डक कहे, इनको त्याग परम पद लहे। इनमें रुलै सु गति को जीव, इनतैं रहित होय जग पीव ॥५५७॥

अथ ऊर्ध्वगमन वर्णन

प्रकृति वंध थिति वंध जु एव, अरु अनुभाग प्रदेश लहेव। वंधन चार जीवको येह, चारौं गति भटकावैं तेह ॥५५८॥
वंध विवर्जित जव जिय होय, ऊरध गमन करै तव सोय। जैसे तूंवी मृतिका लेप, जलमें बूड़ रहे वल क्षेप ॥५५९॥
क्रमसों लेय जाय खिरि जवै, ऊरध गमन करै जिय तवै। जो लौं चहुंगति वंध्यौ जीव, विदिश वर्जि गति करै सदीव ॥

सिद्ध जीव वर्णन

सोरठा

वसैं सिद्ध सव खेत, ज्यों दर्पण में छांह है। ज्ञान नैन लखि लेत, चरम नैन सौं प्रगट नहि ॥५६१॥

पद्धडि छन्द

तहं अष्ट कर्म मल मुक्त होय, अर अष्ट गुणातम रूप जोय। व्यय उतपति ध्रौव्य संजुक्त तीन, जहं चरम देहतैं कछुक हीन ॥
जो अथिर द्रव्य परजाय कोई, तस हानि वृद्धिमय रूप जोय। तेई नव सिद्धनको प्रवान, है व्यय उतपति अरु ध्रौव्य जान ॥
जव भव परिणति कीनी विनाश, तव भई सिद्ध परजाय जास। निह चल पद पायो शुद्ध वास, येहि व्यय उतपति ध्रौव्य जास ॥

होकर अनुपम, आत्मजन्य, विपयातीत, आकुलता हीन, सिद्धिहानि रहित, नित्य अनन्त और सर्वोत्तम सुखोंका वह ज्ञान शरीरी सिद्ध परमात्मा भोग करता है। अहमिंद्र इत्यादि देव, चक्रवर्ती, विद्याधर, भोग भूमि या इत्यादि, मनुष्य, व्यन्तरादि जघन्य देव, सिंहादि पशु ये सभी जिन विपय सुखोंको भोगते हैं अथवा भविष्यकालमें भोगेंगे उन सवके सम्मिलित विपय-सुखोंको यदि एकत्रित किया जाय तो उस इकट्ठे हुए विपय-सुखोंके समूहसे अनन्त गुणा अधिक सुख कर्म हीन हुए सिद्ध भगवान् एक समयमें भोगते हैं। उनका सुख अनन्त और निर्विपय है। ऐसा समझ कर ऐ मतिमान पुरुषों, तुम लोग प्रमाद और आलस्यको छोड़कर विपय जन्य सुखसे अनन्त गुणा अधिक सुख प्राप्तिकी इच्छासे तप और रत्नत्रय इत्यादिके द्वारा मोक्षको प्राप्त करो। इस प्रकार इन्द्र, विद्याधर और मनुष्योंके द्वारा पूजित जिनेन्द्र श्रीमहावीर प्रभुने सव भव्यजीव समूहोंको तथा गणधरोंको अपनी दिव्य मधुर

जिन मुख्य ज्ञान मरजाद नाहि, थिर रूप पिंड है जाति मांहि। तिनको अकार इक देश होइ, सो कहौ एक दृष्टान्त सोइ ॥
इक मोममयी पुतरा बनाय, नख शिख सु चतुर संस्थान पाय। तन निराभरण पुरषाअकार, सबही विधि सुन्दर रचि अपार ॥
पुन माटीसौं इमि लेप सोय, जैसे तन ऊपर त्वचा होय। वह अंग न खाली रहइ सार, उपचार कल्पना यह प्रकार ॥
सो आग मांहि लीजै तपाय, गल जाय मोम सांचौ रहाय। अब ता भीतर कीजै विचार, कह रह्यौ तहां बुध जजन हार ॥
है मूस पोलको सुन प्रकाश, नभ रह्यौ जु पुरुषाकार लास। सो जानौ यह अम्बर उन्हार, तहं ब्रह्मरूप परगट विचार ॥५६६॥
पर यह अकाश जड़ शून्यरूप, वह पूरण है चेतन चिद्रूप। यह वहमें इतनों फेर जान, आकृति में कछु अन्तर न मान ॥५७०॥
इहि विधि सिद्धातम को सरूप, सो निराकार साकार रूप। दृष्टान्त गहै निज हिये धार, भविजन मनको संशय निवार ॥५७१॥

गीतिका छन्द

श्री वीरनाथ जिनेश भाषौ, प्रगट गौतम ने कह्यौ। जीव तत्व बखान बहुविधि, भव्य जन मन सरदह्यौ ॥
वीर्य दरशन ज्ञानकौ, यह फेर क्रम शिव-पथ गहै। साधु सु चरण कर्म खय कर, शाश्वते पदको लहै ॥५७२॥

दोहा

सुर नर पद वंदन सदा, ध्यान धरत जोगेश। तीन लोक प्रभुता लिये, प्रनमो वीर जिनेश ॥५७३॥

वाणीसे सात तत्वोंका उपदेश सुनाया। ये ही पूर्वोक्त सात तत्व मोक्ष ज्ञानके कारण हैं, दर्शन ज्ञानके बीज रूप हैं और भव्यजीवों के परम उपादेय हैं।
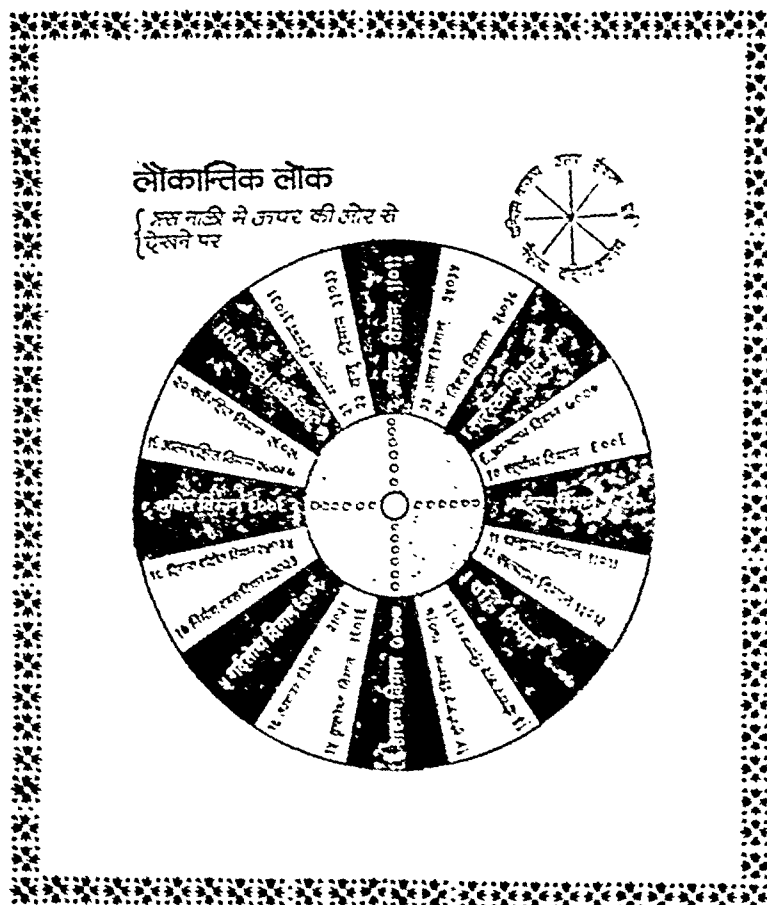
चतुर्दश अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

तत्वारथ परगट करण, केवल ज्ञान सुभान । तीन जगत नायक नमों, श्री सन्मति भगवान ॥१॥

चौपाई

फिर गौतम बोले शिरनाथ, तुम स्वामी त्रिभुवन सुखदाय । अव अजीव तत्वहि कहि भेद, भविजन मनको नाशै खेद ॥२॥
तव प्रभु मुख वाणी उच्चरी, सकल अर्थ गर्भित गुणभरी । जीव तत्व गुण पूरव रहै, अव सव तत्व पदारथ लहै ॥३॥

अजीव तत्वका वर्णन ।

दोहा

पुद्गल धर्म अधर्म नभ, काल सहित ये पंच । सो अजीव जड़रूप हैं, वरणौ तिनहि प्रपंच ॥४॥

पुद्गलका स्वरूप ।

चौपाई

पुद्गल भेद दोय परकार, खंध रूप अणु रूप विचार । तातैं पुद्गल रूपी दरव, चारौ और अरूपी सरव ॥५॥
वरन पंच रस पंच हि पाऊ, दोय गंध सपरस गुन ठाउ । पुद्गल गुण ये वीस वखान, इनतैंखंध रूप परवान ॥६॥
अव अणुरूपी सुनिये लोय, छेद भेद जाके नहि होय । अगन जलादिक नाश न हूत, शव्द रहित पै कारण भूत ॥७॥
सूक्ष्म थल पट भेद प्रमान, श्रद्धाकर सुनिये वुधवान । सूक्षम सूक्षम प्रथम वखान, सूक्षम द्वितीय कहै भगवान ॥८॥
सूक्ष्म थूल तृतीय जानिये, थूल सूक्षम चौथौ मानिये । थूल पंचमौ कहिये नाम, थूलथूल, छट्ठो अभिराम ॥९॥
कर्म वर्गणा दृष्टि न आय, सो सूक्षम सूक्षम हि कहाय । अष्ट कर्म मय खंध जु होय, सो सूक्षम पुद्गल अवलोय ॥१०॥
शव्द सपर्स गंध रस जान, सूक्षम स्थूल करयौ परवान । धूप चांदनी आदि समस्त, सूक्ष्म सो कहिये वस्त ॥११॥
जल घृत तेल आदि दै सर्व, वूथ थूल रूप जानौ सव दर्व । भूमि विमान धाम गिरि जान, थूल थूल ताकौ पहिचान ॥१२॥

तीन जगतके नाथ जो, केवल ज्ञान निकेत । विश्ववन्धु वीरेश वे, विश्व तत्व कहि देत ॥

इसके वाद सम्यक्त्व एवं ज्ञानके कारण नौ पदार्थो को कहा जाता है । सात तत्वोंमें पाप और पुण्यको मिला देनेसे नौ पदार्थ हो जाते हैं । तीर्थेश श्रीमहावीर प्रभुने भव्य जीवोंके संवेग (संसार-भय) उत्पन्न करनेके लिये पाप पुण्यके कारण एवं उनके फलोंको कहना प्रारम्भ किया । एकान्त आदि पांच मिथ्मात्व, दुष्ट, कपाय, असंयम, निन्दनीय प्रमाद, कुटिल योग, आर्त्त-रौद्ररूप वुरे ध्यान, कृष्णादि तीन वुरी लेश्याएं, तीन शल्य मिथ्या गुरु देव इनका सेवन, धर्मावरोध एवं पापोपदेश करनेसे तथा अन्यान्य घृणित आचरणोंके द्वारा उत्कृष्ट पाप होता है । जिनका मन दूसरोंकी स्त्री धन, एवं वस्त्रकी अभिलापामें लगा है, रोगसे दूषित

दोहा

शवद बंध सूक्षम गरुव, छाया तम संठान । भेद उदोत अताप जुत, वपु प्रजाय दश जान ॥१३॥

धर्मद्रव्य वर्णन

रौद्रध्यान ।

जिय पुद्गल जुत गमन कराय, धर्मद्रव्य तब होत सहाय । जैसे मीन चलै जल जोइ, पै अपनी इच्छा कर सोइ ॥१४॥

अधर्म द्रव्य वर्णन

जड़ चेतन जब ही थिर होय, तब अधर्म सहकारी होय । ज्यों पंछी बैठो तरु छांहि, जब उठ चलै गहै तब नांहि ॥१५॥

आकाश द्रव्य वर्णन

लोकालोक दुविध आकाश, पूर्ति विवर्जित सदा प्रकाश । धर्म अधर्म काल त्रय दर्व, पुद्गल जीव पंच ए सर्व ॥१६॥

इनको देय सदा अवकाश, असंख्यात परदेश निवास । लोकाकाश कहावै सोय, परैं अलोकाकाश जु होय ॥१७॥

द्रव्य विवर्जित तिष्ठै सदा, मूरति हीन क्रिया नहि कदा । सोहै अनंतानंत अकाश, गोचर केवल दृष्टि प्रकाश ॥१८॥

काल द्रव्य वर्णन

नूतन द्रव्य जु जीरन करै, यह प्रवर्त समयादिक धरै । घड़ी पहर दिन वर्ष जु जाय, सो व्यवहार काल परजाय ॥१९॥

लोज प्रजंत असंख्य जु होय, एक एक कालाणू जोय । रत्नराशि वत शोभै जहां, भिन्न भिन्न परदेशी तहां ॥२०॥

काल जीव पुद्गल पुन धर्म, और अकाश अधर्म जु धर्म । ए ही छह दर्व समुदाय, काल विना पंचास्ति जु काय ॥२१॥

जीव धर्म अधरम त्रय दर्व, ते असंख्य परदेशी सर्व । नभ अनन्त परदेशी संत, पुद्गल संख्य असंख्य अनन्त ॥२२॥

काल एक परदेशी जान, ताते काल काय विन मान । वर्तमान लक्षण है जास, सदा शास्वतो द्रव्य प्रकाश ॥२३॥

प्रश्न

भो गुरु एक प्रदेशी होय, काल काय विन भाख्यौ सोय । त्यों पुद्गल परमाणू वर्त्ते, सो सकाय कर कैसे नर्म ॥२४॥

उत्तर

कालाणू हैं अलख असंख्य, भिन्न भिन्न तिष्ठैं सुन शिष्य । आपस मांहि मिलै नहि सदा, ताते कायवंत नहि कदा ॥२५॥

रुख चीकनादिक गुण जाहि, ते परमाणू हैं जग मांहि । ततछिन खंध रूप ह्वै जाय, याही तें पुद्गल है काय ॥२६॥

है, क्रोधमोहादि रूप अग्निसे सन्तप्त है, विवेक हीन, दयाहीन, मिथ्यात्व व्याप्त, पाप-शास्त्र प्रवृत्त एवं नाना प्रकारके विषयोंमें व्याकुल है महा उग्र पापके करनेवाले होते हैं। परनिन्दक, आत्म-प्रशंसक और जो असत्य-युक्त पाप कर्मों को कहते फिरते हैं मिथ्या-शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहते हैं धर्ममें दोष लगाया करते हैं तथा जो वचन जिन-सिद्धान्त सूत्रके विरुद्ध हैं वे पाप संग्रह में प्रवृत्त कराने वाले होते हैं। जिन लोगोंका शरीर जघन्य कर्मों का करने वाला है, दुष्ट रूप है मारने बांधनेके कर्ममें लगा रहता है, बेकार रूप है, दान पूजादिसे हीन है, स्वेच्छाचारी है तप एवं व्रतसे रहित है, ऐसे लोग नरकके कारण महान् पापोंकी ओर बढ़ते हैं। जिनेन्द्र देव, जिन सिद्धांत निर्ग्रन्थ गुरु जिन-धर्मी (जैनी) इनकी निन्दा करनेसे बड़ा भारी पाप लगता है। इस प्रकार जिनेन्द्र देव भव्य जीवों को संसार से विरक्त होने के हेतु पूर्वोक्त प्रकार से महापापों को उत्पन्न करने वाले निन्दनीय कर्मों का उपदेश किया।

दुःशीला स्त्री लोकग्राहक एवं शत्रु के समान भाई, दुर्व्यसनी पुत्र, प्राणनाशक परिवार, रोग कष्ट, दारिद्र्य, वध बन्धन इत्यादि दुःख पापोदय होने के कारण पापियों को होते रहते हैं। पाप ही के फल से लोग अन्धे गूंगे बहरे पगले कुबड़े अंगहीन

आकाश प्रदेश वर्णन

अडिल्ल

परमाणू अविभाग एकसौ जानिये। एकौ जितौ आकाश प्रदेश वखानिये ।।
कालाणू इक जहां धर्म अधर्म है। पुद्गल जीव प्रदेश सवै लहि शर्म है ।।२७।।

शिष्य प्रश्न

धर्म अधर्म अरु काल जीव जुत चार ये। नभ दिक दश हि सवै कहौ किह वांटये ।।
हैं इक हेत अरूपी चारौं धरि लये। पुद्गल मूरति वंत अनंते किम भये ।।२८।।

उत्तर

दोहा

जथा एक मन्दिर विषैं, वहुतक दीप प्रकाश। वाधा कछु व्यापैं नहीं, लहै सुजस अवकाश ।।२९।।
तैसे ही परदेश नभ, पुद्गल खंध वसाय। ज्यों अनन्त त्यों एक है, वाधा लहै न काय ।।३०।।

आस्रव तत्व वर्णन

दोहा

जो कर्मनको आस्रवै, आस्रव कहिये ताहि। भाव दरव दो भेद हैं, कहे जिनागम मांहि ।।३१।।

चौपाई

मिथ्या अव्रत जोग कषाय, ए सत्तावन आस्रव आय। ऐसे भाव जीव जव करै, सो भावास्रव कर्मनि धरै ।।३२।।
तिनही भावनि करै उपाय, पुद्गल जीव कर्म परिणाय। वंध्यौ तहां आतमा राम, सो है भाव वंध जग ताम ।।३३।।
जो चेतन परदेश जु कहै, तिनपर कर्म पुराने लहै। नूतन कर्म वंध वहु होय, द्रव्यवंध यह जानो सोय ।।३४।।
प्रकृतिवंध थितिवंध जु धार, अरु अनुभाग प्रदेश विचार। प्रकृति प्रदेश जोग उतपत्त, थिति अनुभाग कषायनि जुत्त ।।३५।।

बन्ध तत्व का वर्णन—प्रकृति बंध निरूपण

प्रथमहि ज्ञानावरणी कर्म, मति आदिकपन ज्ञान जु पर्म। आछादै चेतन गुण सदा, जैसे वस्त्र ढांकिये कदा ।।३६।।
दरशन वरण दूसरौ जान, नव प्रकृतिनि सो है थिति थान। तितकै रोकै कारज सवै, जैसे द्वारपाल नृप तवै ।।३७।।
कर्म वेदनी तृतीय वखान, खडग धार मधु लिप्त सु जान। सरसों वत सो मुख्य हि करै, मेरू प्रमाण दुःख अनुसरै ।।३८।।
मोहन कर्म चतुर्थम लसै, आठवीस प्रकृतिनि कर वसै। मदिरा वत ताको निरधार, दरशन चरण न हू हे सार ।।३९।।

और सुख हीन होते हैं। इसी तरह दूसरों के दास (नौकर) दीन दुर्बुद्धि, निन्दनीय पाप कर्मों में तत्पर एवं शास्त्रों के अभ्यास करनेवाले भी पूर्व पापोदय के ही कारण होते हैं। यह सब पाप का ही फल है। ऐसे पापी परलोक में अत्यन्त उग्रक्लेशों को भोगते हैं। ये ही भयंकर दुःखों से व्याप्त सातों नरकों में जन्म ग्रहण करते हैं, जहां सुखका लेश मात्र भी नहीं ऐसी दुःखोंकी खान तिर्यञ्च योनिमें उत्पन्न होते हैं। चण्डाल कुल एवं म्लेच्छ जाति आदिको भी ऐसे ही पापी लोग पाया करते हैं। अधोलोक मध्यलोक एवं ऊर्द्ध लोकमें जो कुछ उत्कृष्ट दुःख है क्लेश है दुर्गति है वे सब पापके उदय होनेसे पापियोंको ही मिलते हैं। इसीलिये सुखको चाहने वाले पापोंके वुरे फलों को जानकर प्राण निकल जाने पर भी पापकी ओर नहीं प्रवृत्त होते। इस प्रकार अरहन्त प्रभु भव्य जीवोंके पापको महा भयानक फलोंको सुना कर पुण्यके कारणोंको कहनेमें प्रवृत्त हुए।

आयु करम पंचम विख्यात, चारों गति सौ आयु ददात। दुःख सुख्य संपूरण धार, शृंखलवत तिहि भाव विचार ॥४०॥
नाम करम छट्टम जानिये, प्रकृति तिरानव तिहि मानिये। चित्रकार वत है गुण सोय, नर सुर नारक पशु जो होय ॥४१॥
गोत्र करम कहिये सातमा, ऊंच नीच कुल धरै आतमा। उत्तम निच्च लहै जन ताहि, कुंभकार वत कहिये जाहि ॥४२॥
अंतराय है अप्टम कर्म, भंडारी गुण तिहि चर्म। दान लाभ भोगो उपभोग, वीर्ज सहित पंचोनहि जोग ॥४३॥

दोहा

इत्यादि वस्तु कर्मको, है स्वभाव वहु वेष। प्रकृति बंध जिनवर कह्यौ, बंधे जीव प्रदेश ॥४४॥

स्थितिबन्ध निरूपण

चौपाई

ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनि अंतराय थितिकरण। कोड़ाकोड़ी सागर तीस, सो उत्कृष्ट कही जगदीश ॥४५॥
मोहिनी कर्म तनी थिति लिख, कोड़ाकोड़ी सत्तर सिख। आयु कर्म उत्कृष्ट बखान, तैतिस सागर को परवांन ॥४६॥
कोड़ाकोड़ी सागर बीस, नाम गोत्र उत्कृष्ट थितीस। अब जघन्य थितिको परवांन, जुदी जुदी सुनिये बुधवान ॥४७॥
करमवेदनी द्वादश जान, कही मुहूरत इन उनमान। अष्ट मुहूरत नामहि गोत्त, यह जघन्य थिति तिनको होत ॥४८॥
पंच करम जे शेष जघन्य, अन्त मुहूरत थिति पर मन्य। मध्यम के तिन भेद अनेक, सर्व करम भुगतै जिय एक ॥४९॥

अथ त्रिपल्य प्रमाण वर्णन

दोहा

अब त्रय पल्य प्रमाण मिति, कह्यौ अर्थ अवधार। श्रद्धा कर भवि जन सुनो, मन सन्देश निवार ॥५०॥

चौपाई

उत्तम भोगभूमिके भेड़, सात दिवसके बालक मेड़। तिनको रोम आठ परवान, मध्यम भोगभूमि इक जान ॥५१॥
मध्यम भोगभूमि वसु धार, भूमि जघन्य भेड़ इकवार। जघन्य भोगभूमि वसु होइ, कर्मभूमि इक कहिये सोई ॥५२॥
आठ रोमकी लीक प्रमान, लीख अष्ट इक राई ठान। राई आठ एक तिल देह, वसु तिल इक जव उदर गनेह ॥५३॥
वसु जव उदरै उदर मिलाय, अंगुल एक लहै समुदाय। द्वादश अंगुलको पर मान, एक विलाली कहै बखान ॥५४॥
दोय विलाली हाथ विशेख, चार हाथ इक दंड हि लेख। दण्ड सहस द्वै कोश जु गनो, चार कोश लघु जोजन भनो ॥५५॥
सो इक जोजन कूप खनाय, वालयाकृति विस्तार बनाय। कितनों ही गहरो उनमान, अब सुनिये वह करै सुजान ॥५६॥
उत्तम भोगभूमि जो भेड़, ताके रोम लेइ सब खेड़। तेही रोम कड वह करै, यही कल्पना मनमें धरै ॥५७॥

उपर्युक्त सम्पूर्ण पाप कारणोंके विपरीत शुभ आचरणोंका अनुष्ठान करनेसे सम्यक् दर्शन ज्ञान एवं चरित्रसे अणुव्रत महाव्रतोंसे कषाय इन्द्रिय योगोंको रोकनेसे नियम आदिसे श्रेष्ठदानसे अरहन्तके पूजनसे गुरु-भक्ति एवं सेवा करनेसे सद्भावना पूर्वक ध्यान एवं अध्ययनादि शुभ कार्यो से धर्मोपदेशसे बुद्धिमान पुरुषोंको उत्कृष्ट धर्मकी प्राप्ति हुआ करती है। जिनका मन वैराग्य युक्त है धर्ममें अनुरक्त है पापसे दूर रहता है पर-चिन्तासे रहित होकर आत्म चिन्तामें लीन है देव गुरु एवं शास्त्रोंकी परीक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ है एवं कृपासे परिपूर्ण है वे उत्कृष्ट पुण्योंका उपार्जन करते हैं। जिनके वचन पांच परमेष्ठियोंके स्तोत्र एवं गुणोंको कहने वाले हैं आत्म-निन्दासे युक्त एवं परनिन्दासे हीन होते हैं कोमल स्वरमें धर्मोपदेशको करने वाले हैं तथा इष्ट सत्य मर्यादा रूप शुभकर्मों के दाता हैं ऐसे लोग शुभ वचनोंके प्रभावसे परम पुण्यको प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार जिन लोगों का शरीर कायोत्सर्ग (खड़ा रहना) आसन (बैठना) रूप हैं जिनेन्द्र भगवानकी पूजामें सदैव तत्पर रहते हैं गुरुकी सेवामें प्रयत्न शील रहते हैं पात्रको दान देने वाले विकार हीन होकर शुभ कार्यों को करनेवाले हैं एवं समानताको प्राप्त है ऐसे बुद्धिमानोंकी शारीरिक पुण्य-कार्योंके प्रभावसे सम्पूर्ण आश्चर्य जनक सुखोंको देनेवाले महा पुण्योंको प्राप्त करते हैं। जो वस्तु अपनेको अनभि-प्रेत है अनिष्ट है ऐसी वस्तुओंको दूसरोंके लिये भी अनिष्ट ही समझना उचित है। जो कि ऐसा समझता है वह निश्चय करेग

दोहा

अंगुल एक जु रोमके, वीस लाख खण्डान। सहस संतावन एक पुनि बावन अधिक प्रमान ॥५८॥
ऐसे सूक्षम सो करै, फेर खण्ड नहि होय। तिन रोमन कूपहि भरै, कूट दाबि दृढ़ सोय ॥५९॥
तिन रोमन संख्या कही, अंक हि पैंतालीस। अब तिनकौ विवरण सुनौ, भाष्यौ वीर जिनेश ॥६०॥

उक्तं च गाथा

"चदु मेगं तय चदुरो पण दोण्हं च छक्क तय सुन्नं। तय सुन्नं वसु दोण्हं सुन्नं तप तुरिय सत्त सत्तं च॥
सत्तं चदु णव पणगं मेगं दोण्हं च मेग णव दोण्हं। अग्गो ट्ठारस सुन्नं अंकं पणताल रोम लघुपल्लं॥"

अब इन अंकनकौ लिख अर्थ, जिहि विधि जिन शासन लहि ग्रन्थ। चार इक त्रय तुरिय जु पंच, दो छः तीन धरि शून्य त्रि पंच ॥
शून्य आठ दो शून्य जु तीन, चार सात पुनि सातहि लीन। सात चार नव पंचह एक, दोय एक नव दोय विशेक ॥६२॥
सात वीस ए अंकहि धरौ, ता पर शून्य अठारह करौ। यही अंक पैंतालीस, कूप रोम की संख्या दीस ॥६३॥

(४१३४५२६३०३०८२०३४७७४९५१२१९२०००००००००००००००००००)

सौ सौ वरस बीत जब जाहि, एक एक काढ़ी बुध ताहि। कूप उदर जब खाली होय, सो व्यवहार पल्य अवलोय ॥६४॥
भोगभूमिया नर तिरि एव, ज्योतिप व्यन्तर भावन देव। कल्पवासिनी देवी सोय, वही पल्य जीवत क्रम जोय ॥६५॥
आयु पल्य ऐसी विधि कही, अब सुन सागर पल्य जु सही। लघु जोजन शत पंच प्रमान, जोजन महा एक उनमान ॥६६॥
ताकौ कूप जु वे ही भांत, लहि विस्तार गभीर विख्यात। पूरव रोम एक खंडान, ताके अंश शतक परवान ॥६७॥
तिहि रोमन सौं कूप भराय, सौ वरपैंगत एक कढ़ाय। जब हि कूप वह खाली होय, तव उद्धारपल्य अवलोय ॥६८॥
ताके अंक तिरानव होय, इतनी वरप असंख्य जु सोय। सो दश कोड़ाकोड़ी जाय, सागर आयु कह्यौ जिनराय ॥६९॥
देव नारकी अरु पट काल, कर्मनकी थितिको गन हाल। अर कोड़ाकोड़ी पच्चीस, पल्यउधार रोम जे दीस ॥७०॥
द्वीपोदधिकी संख्या जान, नामावलि सबकी पहचान। ताके अंक गुनौ बुधवान, अष्टोत्तर शत सब परवान ॥७१॥
सागर पल्य जानिये यही, राजू पल्य सुनो अब सही। जोजेन महा लाख इक जान, पूरव रीति कूप उनमान ॥७२॥
रोम अंश वह सौ गुन करै, इहि विधि महा कूपको भरै। सौ सौ जब ही वर्प गतंश, एक एक तव काटै अंश ॥७३॥
जवकि कूप वह खाली होय, अद्धा पल्य जानिये सोय। ताके अंकनको परमान, इक सय पच्चासी धर ज्ञान ॥७४॥

दोहा

प्रथम पल्य संख्यात गन, दुतिय, असंख्य बखान। असंख्यात गन तीसरौ, यह जिन वचन प्रमान ॥७५॥
आव पल्य लघु प्रथम ही, मध्यम सागर पल्य। उत्तम राजू पल्य त्रय, अब तिन गिनती शल्य ॥७६॥

पुण्यशाली है। इस प्रकार तीर्थराज श्री महावीर प्रभुने उपस्थित जीव समूहों एवं गणधरोंके सामने संवेग होनेके लिये पुण्यके अनेक प्रकारके कारणोंको कहकर पुण्य फलोंको कहना आरम्भ किया।

सुशीला एवं सुन्दरी स्त्री, कामदेवके समान रूपवान् पुत्र, मित्रके समान भाई, सुख देनेवाले परिवार पर्वतके समान हाथी इत्यादि वैभव, कवियोंके द्वारा भी अवर्णनीय सुख, अतुलनीय भोगोपभोग सौम्य शरीर मधुर वचन दयापूर्ण मन रूप लावण्य तथा अन्यान्य दुष्प्राप्य सुख सम्प्रदाएं पुण्योदयके प्रभावसे ही प्राप्त हुआ करती हैं। तीनों लोकमें दुर्लभ अनेक पुण्य कर्मों को करने वाली लक्ष्मी स्वयं ही गृहदासीके समान पुण्योदयके प्रभावसे धर्मात्माओंके अधीन हो जाती है। त्रैलोक्यपतिके द्वारा पूजनीय एवं भव्य जीवों की मुक्तिका कारण उत्कृष्ट सर्वज्ञका वैभव भी पुण्योदयसे ही उत्पन्न होता है। उस इन्द्र पदको भी बुद्धिमान पुरुप पुण्योदयसे ही प्राप्त करते हैं जो सम्पूर्ण देवोंके द्वारा पूज्य है, सकल प्रकारके भोगोंका श्रेष्ठ स्थान है एवं अनेक उत्तम-उत्तम सम्पदाओंसे सुशोभित हैं। निधि एवं बहुमूल्य रत्नराशियोंसे परिपूर्ण होकर अनेक प्रकारके सुखोंको देनेवाली छः खंडोकी लक्ष्मी भी ऐसे ही पुण्यात्माओंको पुण्य योगसे मिल जाती है। इस संसारमें अथवा तीनों जगतमें जो कुछ भी

चौपाई

एक अंक को एक ही नाम, शून्य धरैं दश कहि अभिराम । तृतिय अंक जुत सय गनि लेउ, चार अंकको सहस भनेउ ॥७७॥
पट् अंकन को लक्ष जु सोय, आठ अंकको कोड जु होय । कोड़ाकोड़ी पोडश अंश, ताकी प्रमिति पदम निरसंश ॥७८॥
कोड़ाकोड़ि दह पदम जु जहां, अंक इकतीसति गनियैं तहां । ताको नाम कल्प परवान, इतनी संख्या कहि जिनवान ॥७९॥
कल्प करौ सय कोड़ाकोड़ि, तिहि सैंताल अंक लिखि जोड़ि । जो व्यवहार पल्य वा सान, सो संख्यात प्रमिति यह ठान ॥८०॥
आध पल्य याही सौं कहै, अब उद्धार पल्य संग्रहै । संख्य संख्यगुन कीजैं जोर, होय असंख्य प्रमाण वहोर ॥८१॥
ते तिरानवे अंकहि गनौ, सागर आव पल्य सो भनौ । असंख्य असंख्य गुण अंकहि धरौ इक सय पच्चासी ऊपरौ ॥८२॥
अद्धा पल्य नाम है सोय, सो दश कोड़ा कोड़ि होय । अद्धा सागर ताहि बखान दो सव अंक गनौ बुधवान ॥८३॥
ते दश कोड़ाकोड़ि समुद्र, सूची एक गनौ धर रुद्र । पन्द्रह उत्तर दो सय अंक, सुइ दश कोड़ाकोड़ि बंक ॥८४॥
तासौं कहै जगत घन ऐह, अंक दोयसैं तीस परेह । दश कोड़ाकोड़ि घन ऐह, सो जानौ इक पद कहि ऐह ॥८५॥
अंक दोयसे ठानि पैंताल, सो दश कोड़ाकौड़ी साल । जो कहिये जग श्रेणि प्रधान, अंक दोयसैं आठ बखान ॥८६॥
ताके भाग सात कर देव, एक भाग राजू गनि लेव । अब सव अंकनको परमान, लिखौं ताहि क्रम नागन जान ॥८७॥
अब मुहूर्त को सुनिये, भेव, जिहि विधि रह्यायौ वीर जिनदेव । समय असंख्य आवली एक, आवलि बारह खासहि टेक ॥८८॥
सात श्वास को स्तोक भनेइ, सात स्तोकको लव कर लेइ । आठ आठ तिस लव परवांन, एक घड़ी को यह उनमान ॥८९॥
दोय घड़ी जव बीतैं सोइ, एक मुहूरत काल सु होइ । ताके श्वास सहस त्रय ठान, सात सया य तिहत्तर जान ॥९०॥
तामें कमी करो बुध धार, श्वास सतासी आवलि वार । अंत मुहूरत ताकौ नाम, आगे और सुनौ अभिराम ॥९१॥
तीस मुहूरत निश दिन जोय, पन्द्रह दिवस पक्ष इक होय । दोय पक्ष गत मासहि एक, द्वादश मास वर्ष इक टेक ॥९२॥

दोहा

इहि विधि करमन थिति वंध्यौ, सागर मिति उतकिप्ट । और जघन्य मुहूर्त गनि, त्यागत भव्य अनिष्ट ॥९३॥
मध्यमके है भेद वहु, तारतम्य कर लेख । जुदी जुदी सव प्रकृति थिति, कर्मकाण्ड में देख ॥९४॥

अनुभाग वन्ध निरूपण

चौपाई

अव अनुभाग वन्ध दुइ भेद, शुभ अर अशुभ सुख्य दुख खेद । शुभको उदय चार विधि वुधा, गुड़ खाडहि मिश्री जुत सुधा ॥९५॥
अशुभ भेद पुनि चार प्रकार, कांजी विम्ब विप त्रय धार । हालाहल जुत चारो येह, इनसौं दुख ल्यावै अधिरेह ॥९६॥
छिनमें सुख छिनमें दुख होइ, यह अनुभाग वंध अवलोइ । इहि विधि वंध्यौ जीव संसार, कर्मनसौं पावै नहि पार ॥९७॥

सारभूत परमोत्तम वस्तु है और वह अत्यन्त दुर्लभ ही क्यों न हो पुण्योदयके प्रभावसे तत्क्षण ही प्राप्त हो जाती है । इस लिये ऐ प्राणियो ! यदि तुम लोग भी सुख प्राप्तिकी अभिलापा रखते हो तो पूर्वोक्त पुण्योंके अनिर्वचनीय अनेक उत्तमोत्तम फलोंको समझ कर प्रयत्न पूर्वक उच्चतम पुण्य कर्मोंमें प्रवृत हो जाओ ! इस प्रकार पाप पुण्य सहित सात तत्वोंका स्पष्ट व्याख्यान कर चुकनेके वाद जिनेश्वर महावीर प्रभुने सम्पूर्ण संसारिक जीवोंके हेय त्याज एवं उपादेय (ग्राह्य) वस्तुओंका उपदेश करना आरम्भ किया ।

सम्पूर्ण भव्य जीवोंके हितेच्छु अर्हन्त आदि पांच परमेष्टी हैं इसलिये जीव समूहके द्वारा उपादेय हैं । निर्विकल्प पद पर पहुंचे हुए मुनियोंके लिये तो गुण सागर एवं सिद्ध पुरुषोंके समान ज्ञानवान् अपना आत्मा ही उपादेय है । व्यवहार दृष्टि पृथक् हुए बुद्धिमान पुरुषोंके लिये शुद्ध निश्चयनयके द्वारा सभी जीव उपादेय हैं। व्यवहार दृष्टिसे सम्पूर्ण मिथ्यादृष्टि अभव्य तथा विषय सुखोंमें लीन पापी एवं धूर्त जीव हेय (त्याज्य) कहे गये हैं । रागयुक्त जीवोंके लिये धर्म ध्यानके निमित्त अजीव पदार्थ कहीं तो आदेय कहे गये हैं परन्तु विकल्प हीन योगियोंके लिये तो सकल अजीव तत्त्व हेय ही हैं । इसी तरह पुण्य वर्गणा

दोहा

अंगुल एक जु रोमके, वीस लाख खण्डान । सहस संतावन एक पुनि वावन अधिक प्रमान ॥५८॥
ऐसे सूक्षम सो करै, फेर खण्ड नहि होय । तिन रोमन कूपहि भरै, कूट दावि दृढ़ सोय ॥५९॥
तिन रोमन संख्या कही, अंक हि पैंतालीस । अव तिनको विवरण सुनो, भाष्यी वीर जिनेश ॥६०॥

उक्तं च गाथा

"चदु मेगं तय चदुरो पण दोण्हं च छक्क तय सुन्नं । तय सुन्नं वसु दोण्हं सुन्नं तप तुरिय सत्त सत्तं च ॥
सत्तं चदु णव पणगं मेगं दोण्हं च मेग णव दोण्हं । अग्गो ट्ठारस सुन्नं अंकं पणताल रोम लघुपल्लं ॥"

अव इन अंकनकौ लिख अर्थ, जिहि विधि जिन शासन लहि ग्रन्थ । चार इक त्रय तुरिय जु पंच, दो छः तीन धरि शून्य त्रि पंच ॥
शून्य आठ दो शून्य जु तीन, चार सात पुनि सातहि लीन । सात चार नव पंचह एक, दोय एक नव दोय विशेक ॥६२॥
सात वीस ए अंकहि धरौ, ता पर शून्य अठारह करौ । यही अंक पैंतालीस, कूप रोम की संख्या दीस ॥६३॥

(४१३४५२६३०३०८२०३४७७४९५१२१९२००००००००००००००००००)

सौ सौ वरस वीत जव जाहि, एक एक काढ़ौ वुध ताहि । कूप उदर जव खाली होय, सो व्यवहार पल्य अवलोय ॥६४॥
भोगभूमिया नर तिरि एव, ज्योतिप व्यन्तर भावन देव । कल्पवासिनी दैवी सोय, वही पल्य जीवत क्रम जोय ॥६५॥
आयु पल्य ऐसी विधि कही, अव सुन सागर पल्य जु सही । लघु जोजन शत पंच प्रमान, जोजन महा एक उनमान ॥६६॥
ताकौ कूप जु वे ही भांत, लहि विस्तार गभीर विख्यात । पूरव रोम एक खंडान, ताके अंश शतक परवान ॥६७॥
तिहि रोमन सौं कूप भराय, सौ वरपैंगत एक कढ़ाय । जव हि कूप वह खाली होय, तव उद्धारपल्य अवलोय ॥६८॥
ताके अंक तिरानव होय, इतनी वरप असंख्य जु सोय । सो दश कोड़ाकोड़ी जाय, सागर आयु कह्यौ जिनराय ॥६९॥
देव नारकी अरु पट काल, कर्मनकी थितिको गन हाल । अर कोड़ाकोड़ी पच्चीस, पल्यउधार रोम जे दीस ॥७०॥
द्वीपोदधिकी संख्या जान, नामावलि सवकी पहचान । ताके अंक गुनौ वुधवान, अष्टोत्तर शत सव परवांन ॥७१॥
सागर पल्य जानिये यही, राजू पल्य सुनो अव सही । जोजेन महा लाख इक जान, पूरव रीति कूप उनमान ॥७२॥
रोम अंश वह सौ गुन करै, इहि विधि महा कूपको भरै । सौ सौ जव ही वर्प गतंश, एक एक तव काटै अंश ॥७३॥
जवकि कूप वह खाली होय, अद्धा पल्य जानिये सोय । ताके अंकनको परमान, इक सय पच्चासी धर ज्ञान ॥७४॥

दोहा

प्रथम पल्य संख्यात गन, दुतिय, असख्य वखान । असंख्यात गन तीसरौ, यह जिन वचन प्रमान ॥७५॥
आव पल्य लघु प्रथम ही, मध्यम सागर पल्य । उत्तम राजू पल्य त्रय, अव तिन गिनती शल्य ॥७६॥

पुण्यशाली है । इस प्रकार तीर्थराज श्री महावीर प्रभुने उपस्थित जीव समूहों एवं गणधरोंके सामने संवेग होनेके लिये पुण्यके अनेक प्रकारके कारणोंको कहकर पुण्य फलोंको कहना आरम्भ किया ।

सुशीला एवं सुन्दरी स्त्री, कामदेवके समान रूपवान् पुत्र, मित्रके समान भाई, सुख देनेवाले परिवार पर्वतके समान हाथी इत्यादि वैभव, कवियोंके द्वारा भी अवर्णनीय सुख, अतुलनीय भोगोपभोग सौम्य शरीर मधुर वचन दयापूर्ण मन रूप लावण्य तथा अन्यान्य दुष्प्राप्य सुख सम्प्रदाएं पुण्योदयके प्रभावसे ही प्राप्त हुआ करती हैं । तीनों लोकमें दुर्लभ अनेक पुण्य कर्मों को करने वाली लक्ष्मी स्वयं ही गृहदासीके समान पुण्योदयके प्रभावसे धर्मात्माओंके अधीन हो जाती है । त्रैलोक्यपतिके द्वारा पूजनीय एवं भव्य जीवों की मुक्तिका कारण उत्कृष्ट सर्वज्ञका वैभव भी पुण्योदयसे ही उत्पन्न होता है । उस इन्द्र पदको भी वुद्धिमान पुरुप पुण्योदयसे ही प्राप्त करते हैं जो सम्पूर्ण देवोंके द्वारा पूज्य है, सकल प्रकारके भोगोंका श्रेष्ठ स्थान है एवं अनेक उत्तम-उत्तम सम्पदाओंसे सुशोभित हैं । निधि एवं वहुमूल्य रत्नराशियोंसे परिपूर्ण होकर अनेक प्रकारके सुखोंको देनेवाली छः खंडोंकी लक्ष्मी भी ऐसे ही पुण्यात्माओंको पुण्य योगसे मिल जाती है । इस संसारमें अथवा तीनों जगतमें जो कुछ भी

चौपाई

एक अंक को एक ही नाम, शून्य धरैं दश कहि अभिराम । तृतिय अंक जुत सय गनि लेउ, चार अंकको सहस भनेउ ॥७७॥
षट् अंकन को लक्ष जु सोय, आठ अंकको कोड जु होय । कोड़ाकोड़ी षोडश अंश, ताकी प्रमिति पदम निरसंश ॥७८॥
कोड़ाकोड़ि दह पदम जु जहां, अंक इकतीससति गनियै तहां । ताको नाम कल्प परवान, इतनी संख्या कहि जिनवान ॥७९॥
कल्प करौ सय कोड़ाकोड़ि, तिहि सैंताल अंक लिखि जोड़ि । जो व्यवहार पल्य वा सात, शो संख्यात प्रमिति यह ठान ॥८०॥
आध पल्य याही सौ कहै, अव उद्धार पल्य संग्रहै । संख्य संख्यगुन कीजै जोर, होय असंख्य प्रमाण वहोर ॥८१॥
ते तिरानवे अंकहि गनौ, सागर आव पल्य सो भनौ । असंख्य असंख्य गुण अंकहि धरौ इक सय पच्चासी ऊपरौ ॥८२॥
अद्धा पल्य नाम है सोय, सो दश कोड़ा कोड़ि होय । अद्धा सागर ताहि वखान दो सव अंक गनौ बुधवान ॥८३॥
ते दश कोड़ाकोड़ि समुद्र, सूची एक गनौ धर रुद्र । पन्द्रह उत्तर दो सय अंक, सुइ दश कोड़ाकोड़ि वंक ॥८४॥
तासौ कहै जगत घन ऐह, अंक दोयसै तीस परेह । दश कोड़ाकोड़ि घन ऐह, सो जानौ इक पद कहि ऐह ॥८५॥
अंक दोयसे ठानि पैंताल, सो दश कोड़ाकौड़ी साल । जो कहिये जग श्रेणि प्रधान, अंक दोयसै आठ वखान ॥८६॥
ताके भाग सात कर देव, एक भाग राजू गनि लेव । अव सव अंकनको परमान, लिखौं ताहि भ्रम नाशन जान ॥८७॥
अव मुहूर्त को सुनिये, भेव, जिहि विधि रह्यायौ वीर जिनदेव । समय असंख्य आवली एक, आवलि वारह स्वासहि टेक ॥८८॥
सात श्वास को स्तोक भनेइ, सात स्तोकको लव कर लेइ । आठ आठ तिस लव परवांन, एक घड़ी को यह उनमान ॥८९॥
दोय घड़ी जव वीतै सोइ, एक मुहूरत काल सु होइ । ताके श्वास सहस त्रय ठान, सात सया य तिहत्तर जान ॥९०॥
तामें कमी करो बुध धार, श्वास सतासी आवलि वार । अंत मुहूरत ताकौ नाम, आगे और सुनो अभिराम ॥९१॥
तीस मुहूरत निश दिन जोय, पन्द्रह दिवस पक्ष इक होय । दोय पक्ष गत मासहि एक, द्वादश मास वर्ष इक टेक ॥९२॥

दोहा

इहि विधि करमन थिति वंध्यौ, सागर मिति उतकिष्ट । और जघन्य मुहूर्त गनि, त्यागत भव्य अनिष्ट ॥९३॥
मध्यमके है भेद वहु, तारतम्य कर लेख । जुदी जुदी सव प्रकृति थिति, कर्मकाण्ड में देख ॥९४॥

अनुभाग वन्ध निरूपण

चौपाई

अव अनुभाग वन्ध दुइ भेद, शुभ अर अशुभ सुख्य दुख खेद । शुभको उदय चार विधि बुधा, गुड़ खांडहि मिश्री जुत सुधा ॥९५॥
अशुभ भेद पुनि चार प्रकार, कांजी विम्व विष त्रय धार । हालाहल जुत चारो येह, इनसौं दुख व्यापै अधिकेह ॥९६॥
छिनमें सुख छिनमें दुख होइ, यह अनुभाग वंध अवलोइ । इहि विधि वंध्यौ जीव संसार, कर्मनसौं पावै नहि पार ॥९७॥

सारभूत परमोत्तम वस्तु है और वह अत्यन्त दुर्लभ ही क्यों न हो पुण्योदयके प्रभावसे तत्क्षण ही प्राप्त हो जाती है । इस लिये ऐ प्राणियो ! यदि तुम लोग भी सुख प्राप्तिकी अभिलाषा रखते हो तो पूर्वोक्त पुण्योंके अनिर्वचनीय अनेक उत्तमोत्तम फलोंको समझ कर प्रयत्न पूर्वक उच्चतम पुण्य कर्मोमें प्रवृत हो जाओ ! इस प्रकार पाप पुण्य सहित सात तत्वोंका स्पष्ट व्याख्यान कर चुकनेके वाद जिनेश्वर महावीर प्रभुने सम्पूर्ण संसारिक जीवोंके हेय त्याज एवं उपादेय (ग्राह्य) वस्तुओंका उपदेश करना आरम्भ किया ।

सम्पूर्ण भव्य जीवोंके हितेच्छु अर्हन्त आदि पांच परमेष्ठी हैं इसलिये जीव समूहके द्वारा उपादेय हैं। निर्विकल्प पद पर पहुंचे हुए मुनियोंके लिये तो गुण सागर एवं सिद्ध पुरुषोंके समान ज्ञानवान् अपना आत्मा ही उपादेय है । व्यवहार दृष्टि पृथक् हुए बुद्धिमान पुरुषोंके लिये शुद्ध निश्चयनयके द्वारा सभी जीव उपादेय हैं। व्यवहार दृष्टिसे सम्पूर्ण मिथ्यादृष्टि अभव्य तथा विषय सुखोंमें लीन पापी एवं धूर्त जीव हेय (त्याज्य) कहे गये हैं। रागयुक्त जीवोंके लिये धर्म ध्यानके निमित्त अजीव पदार्थ कहीं तो आदेय कहे गये हैं परन्तु विकल्प हीन योगियोंके लिये तो सकल अजीव तत्त्व हेय ही हैं। इसी तरह पुण्य कर्मका

प्रदेश वंध निरूपण

जीव प्रदेश असंख्य प्रमान, पुद्गल नंतानंत वखान । तिन परदेशन चेतन वंध्यौ, दरशन ज्ञान चरन नहि सध्यौ ॥९८॥

दोहा

इहि विधि चारों बंध सौं, दुख सुख वंध्यौ जीव । आराधन रूपी खडग, वंध काट शिव पीव ॥९९॥

संवर तत्व का वर्णन

चौपाई

रागादिक परिणामन जीव, त्यागै तिन्हें सर्वथा सीव । आस्रव तनें निरोधन हेत, सो सु भाव संवर कहि देत ॥१००॥

द्रव्यास्रवको करो निरोध, सो ही संवर द्रव्य परोध । पंच महाव्रत समिति जु पंच, तीन गुप्ति दश धर्म हि संच ॥१०१॥

द्वादश अनुपेक्षा चिंतौन, जय वाईस परीषह मौन । ए संतानव डाटैं धरै, ऐसी क्रिया द्रव्य संवरै ॥१०२॥

दोहा

जैसे नौकाछिद्र जुत, जल आवे चहु ओर । सो कर्मास्रव रोकिये, संवर डाटै जोर ॥१०३॥

निर्जरा तत्वका वर्णन

चौपाई

कह्यौ निर्जरा दो परकार, सविपाकी अविपाकी सार । सविपाकी सव जीवन होइ, अविपाकी मुनिवरको जोय ॥१०४॥

तपकर वल कर्मन भोगवै, सोइ भाव निर्जरा तवै । वधै कर्म छूटैं जिहि वार, दर्व निर्जरा कहिये सार ॥१०५॥

मोक्ष तत्त्व का वर्णन

सकल करम खय कारण भाव, तासों भाव मोक्ष ठहराव । संपूरण कर्मन खय करै, द्रव्य मोक्ष अविनाशी धरै ॥१०६

वंध्यौ कर्म बंधन वहु जीव, ताकौ तोड़ भयौ जग पीव । लोकशिखर पर कीनौ वास, सुख अनंत उपमा नहि जास ॥१०७॥

अह मिन्द्रादिय देवधिराज, चक्री खग आदिक नर साज । भोगभूमिया पशु परजाय, व्यंतर और सवै समुदाय ॥१०८॥

इनके सव सुख पिंडी करै, एक समय सिद्धनको धरै । तौ जिहि समसर पुरवै नाहि, सदा सुख्यकी उपमा काहि ॥१०९॥

सप्त तत्त्व संक्षेपहि कहै, पाप पुण्य जुत नव पद लहै । ताको भेद सुनौ थिर होइ, गर्भित प्रश्न शुभाशुभ सोइ ॥११०॥

आस्रव एवं वन्ध रागयुक्त जीवोंके लिये पाप कर्मकी अपेक्षा उपादेय कहे गये हैं और मुमुक्षुओं (मोक्ष चाहने वालों) के लिये आस्रव एवं वन्ध दोनों ही हेय हैं। पापके जो आस्रव एवं वन्ध हैं वे तो सर्वथा हेय है क्योंकि इनसे विविध प्रकारके दुःखोंकी उत्पति होती है और स्वयं भी ये अपने आपही उत्पन्न हो जाते हैं। सम्वर एवं निर्जरा सब अवस्थामें सर्वथैव उपादेय होते हैं। इनके अतिरिक्त मोक्ष तत्व तो अनन्त एवं अक्षय सुखोंका समुद्र है इसीलिये यह सर्वतो भावेन उपादेय है। इस प्रकार हेय एवं उपादेय वस्तुओंको अच्छी तरह जानकार वुद्धिमान पुरुषोंको उचित है कि यत्न पूर्वक हेय वस्तुओंसे सदैव दूर रहें और सम्पूर्ण उत्कृष्ट उपादेय वस्तुओंका ग्रहण करें। प्रधानतया पुण्यवन्धका करने वाला सम्यक्दृष्टि गृहस्थव्रती एवं सराग संयमी होता है। कभी कभी मिथ्यादृष्टि गृहस्थ भी कर्मोंके मन्न उदय होनेके कारण काय क्लेश पूर्वक भोग प्राप्तिकी अभिलापासे पुण्यभूत आस्रव वन्धको करने लग जाता है। मिथ्यादृष्टि जीव दुराचारी होनेके कारण कोटि कोटि जघन्य कार्यों का आचरण करके मुख्यतया पापास्रव एवं पाप वन्धका करने वाला होता है। इस धरातल पर केवल मात्र योगी ही संवर आदि तीन तत्वोंके करनेवाले जितेन्द्रिय एवं बुद्धिमान होकर रत्नत्रयसे सुशोभित हो पाते हैं। भव्य जीवोंको संवर आदि कीसिद्धि प्राप्तिके लिये अपना विकल्परहित आत्मा एवं परमेष्ठी कारण होते हैं। पापस्रव एवं पापवन्धके और अपने तथा अन्यान्य अज्ञानियोंका कारण मिथ्यादृष्टि ही है। सम्पूर्ण बुद्धिमान् भव्य जीवोंके सम्यक् दर्शन एवं ज्ञानका कारण पांच प्रकारका अजीव तत्व है। पुण्यास्रव एवं पुण्यवन्ध सम्यक्दृष्टि वालोंके लिए तीर्थकरकी विमल विभूतियोको देते हैं तथा मिथ्यादृष्टि वालोंके लिये ये दोनों संसारके कारण हो जाते हैं। पापास्रव और पापवन्ध अज्ञानियों को होते हैं। ये दोनों संसारके कारण और सम्पूर्ण दुःखोंके कर्त्ता है।

संवर एवं निर्जरा मोक्षके कारण हैं और मोक्ष अनन्त सुख रूपी समुद्रका कारण है। इस प्रकार जिनेन्द्र प्रभु सव पदार्थोंके कारण एवं फलादिको कहकर प्रश्नोंका उत्तर देने लगे। जो जीव सात प्रकारके दुर्व्यसनोंमें आसक्त हैं परस्त्री एवं

पाप प्रगट जगमें दुखखान, निश्चय दुर्गतिदायक जान। गहै पंच मिथ्यात्व निकूर, चार कषाय असंजम पूर ॥१११॥
सकल प्रमाद जोग थिर थाय, सप्त व्यसन धारै अधिकाय। आठौं मद गर्वित द्रग अंध, शंकादिक वसु मल अघ बंध ॥११२॥
निशदिन रौद्र ध्यान संचरै, दुरलेश्या दुर्बुधि विस्तरै। कुगुरु कुदेव सेव अति करै, यह विधि पाप अनुग्रह धरै ॥११३॥
कुटिल कृपण पर धन हर लेइ, राग द्वेष लंपट अधिकेइ। भूल्यौ क्रोध मोहवश पाय, निर्विचार निर्दय दुखदाय ॥११४॥
पर निन्दा निज करै प्रशंस, वचन असत्य कहै तजि संश। करै कुग्रन्थ तनौं अभ्यास, निज श्रुतको दूषै कर हास ॥११५॥
करै अक्रिया दुरधर दीन, पूजा दान क्रिया कर हीन। कूर करम बांधे शठ एम, जानै नहीं आतमा नेम ॥११६॥
शील आचरण तप व्रत विना, भवसागर दुख जाय न गिना। करै पापसौं अशुभ उपाय, इहि विधि धरै नरक पर जाय ॥११७॥
प्रथम आदि सप्तम परजंत, लहै दुःखतैं दुःख अनन्त। छिनक एक तहं सुखको नाश, दुख वैसांदर घृत परकाश ॥११८॥
मायावी अति कुटिल सु भ्रम्यौ, निशि भक्षै परनारं सुरम्यौ। मूरख महा कुमति श्रुत धरै, पशु अरु वृक्षहि सेवा करै ॥११९॥
नित्य करै असनान प्रभात, भाव अशुद्ध प्रगट अवदात। जात कुतीरथ को अगवान, जिनवर धर्म वहिर्मुख ज्ञान ॥१२०॥
महा कुशीली अव्रत जोत, लेश्या जिनकौ सदा कपोत। इत्यादिक सब पाप संजोग, मानत मूढ़ कर्म रस जोग ॥१२१॥
आरत ध्यान मरण जब करैं, गति तिरजंच जाय अवतरै। सहै दुःख वहु काल प्रजंत, को कवि वरन लहै नहि अंत ॥१२२॥
तीर्थंकर सतगुरु गुनवंत, ज्ञानी धर्म व्रती मुनि संत। महातपोधन चारित धनी, सेवा भक्ति करैं तिन तनी ॥१२३॥
शुद्धाशय जिन गुण अधिकाय, श्रीजिन गुरु सेवा उरल्याय। इत्यादिक शुभ पुण्य उपाय, आरजखण्ड मनुप पद पाय ॥१२४॥
उत्तम पद पाव सो तहां, राज्य विभूति सुख्य अति जहां। तहं तै तप करकै शिव सधै, अरु पुन तीर्थंकर पद बंधै ॥१२५॥

परधनकी कामना करने वाले हैं वहुत अधिक कार्योंको आरम्भ करने में जिनका उत्साह रहता है, अतुल सम्पत्ति एकत्रित करनेके प्रयत्नमें लगे रहते हैं, निन्दनीय कार्योंको किया करते हैं, अवांच्छनीय स्वभावके हैं, दुष्ट प्रकृति एवं क्रूर हृदय होते हैं जिनके चित्तमें दया नहीं होती है सदैव वीभत्स एवं रौद्र वस्तुके ध्यानमें लीन रहकर विषय रूपी मांसके लिये लोलुप है, जैनमतके निन्दक हैं जिनदेव, जिनधर्मी (जैनी) एवं जैन साधुओंके प्रतिकूल रहते हैं मिथ्याशास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर रहते हैं, मिथ्यामतके घमण्डमें उद्दण्ड हो गये हैं। कुदेव या कुगुरुके भक्त हैं कुकार्य तथा पापोंकी प्रेरणा करनेमें तत्पर रहते हैं दुर्जन हैं अत्यन्त मोहसे युक्त हैं पाप कर्ममें पण्डित यानी धूर्त है धर्मद्वेषी, दुःशील, दुराचारी सब व्रतों से परांमुख कृष्ण लेश्या रूप परिणामोंसे युक्त; पांच महापापोंके करने वाले तथा इसी तरहके और भी अन्यान्य वहुतसे पाप कर्मोंको करनेवाले हैं वे ही पापी कहे जाते हैं और पाप कर्मोंसे उत्पन्न पापोदयके कारण रौद्र ध्यानसे मरकरपापियोंके गृह रूप नरकमें जाते हैं। पापकर्मोंके भीषण फलोंको देनेवाले सात नरक हैं। वे सम्पूर्ण दुःखोंके खजाना हैं वहां अर्धनिमेष (आधी सेकण्ड) मात्र भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता। जो भव्य जीव मायावी अत्यन्त कुटिल करोड़ों कर्मोंके करने वाले, परधनापहारी अष्टयाम भोजी (आठो पहर खानेवाले) महामूर्ख, मिथ्याशास्त्रोंके ज्ञाता, पशु-वृक्षोंके सेवक प्रतिदिन अधिकवार स्नान करने वाले शुद्ध होनेकी अभिलापासे कुतीर्थो की यात्रा करने वाले जिन-धर्मको नहीं मानने वाले व्रत एवं शील इत्यादिसे हीन अत्यन्त निन्दनीय कपोल लेश्यावाले सदैव अर्त्त-ध्यान करनेवाले तथा अन्यान्य नीच कर्मोंमें प्रीति रखने वाले अज्ञानी जीव अन्तमें दुःखको प्राप्त होकर आर्त्तध्यानसे मरते हैं और तिर्यञ्चगति (पशुगति) को प्राप्त करते हैं। पशुगति अति उग्र सम्पूर्ण दुःखोंकी खान है आयु कर्म होनेके कारण जल्दी-जल्दी जन्म-मरण होता रहता है और एकदम पराधीन है वहाँ सुखका लेश भी नहीं है। जो जीव नास्तिक हैं दुराचारी हैं परलोक धर्म तप चारित्र एवं जिनेन्द्र शास्त्र आदिको नहीं मानते दुर्बुद्धि अत्यन्त विषय-वासनाओंमें आसक्त एव उग्र मिथ्यात्वसे युक्त अज्ञानी हैं वे अनन्त दुखोंके अपार सागर निगोद में जाकर उत्पन्न होते हैं और वे वहां पर अपने दुष्ट पापोंके उदय होनेसे वचनके द्वारा जन्म-मरण रूपी अनिर्वचनीय भीषण दुःखोंको चिरकाल तक भोगते हैं।

जो जीव तीर्थंकरकी, श्रेष्ठ गुरुओंकी; ज्ञानियोंकी एवं धर्मात्मा महात्माओंकी श्रद्धाभक्ति पूर्वक सेवा एवं पूजा सदैव करते हैं, महाव्रतोंका, अर्हत देव एवं निग्रन्थगुरुकी आज्ञाओंका तथा सम्पूर्ण अणुव्रतोंका पालन किया करते हैं, अपनी शक्तिके अनुसार वारह तपोंको करते हैं, कपाय एवं इन्द्रिय रूपी अपराधी चोरोंको समुचित दण्ड व्यवस्थामें तत्पर एव जितेन्द्रिय होकर आर्त रौद्र ध्यानोंका परित्याग कर देते हैं तथा धर्मरूपी शुक्ल ध्यानोंके चिंतनमें प्रयत्नशील रहते हैं, शुभ लेश्या परिणाम

पंच महाव्रत अणुव्रत तेह, मुनि श्रावक पालें धर नेह। जे कषाय इन्द्रिय दृढ़ चोर, तिनको नाश करै तप जोर ॥१२६॥
धर्म शुकल ध्यावै शुभ ध्यान, अरति रौद्र निकंदन जान। मन वच क्रम दृढ़ धरै विराग, भवदुख भोग अंगपर त्याग ॥१२७॥
क्षमा आदि दशलक्षण धर्म, इत्यादिक आचरण सुशर्म। मरण समाधि साध शुभ ध्यान, पावै अमरलोक अस्थान ॥१२८॥
सागर वृद्ध तहां सुख लहै, सपने मांहि दुःख नहि गहै। मार्दव भावसहित निज हियै, अरुआर्जव परिणामहि कियै ॥१२९॥
अति संतोषी सद अचार, मन्द कषाय चित्त अविकार। उत्तम पात्र सु दानहि देइ, भक्तिभाव मनमें अधिकेइ ॥१३०॥
ता फल भोगभूमि पद लहै, महा भोग अनुपम सुख गहै। पुण्यतनों फल इहि विधि सार, पावै श्रावकमुनि निरधार ॥१३१॥
कायकलेश विविध आचरै, तप अज्ञान मूढ़ जे करै। ते मर नीच देवगति लहैं, व्यन्तर आदि अशुभता वहै ॥१३२॥
वहु मायाधारी जगमाँहि, कामी काम तृपत नहि काहि। पर दारसौं दोप विचार, अशुभ अंग मद सहित विचार ॥१३३॥
मिथ्यामती राग कर अन्ध, मूढ़ कुशीली पाप प्रवन्ध। ते नर मर त्रिय वेद लहाय, होय करुप दुरगंधा पाय ॥१३४॥
शुद्धाचरण शील परधान, माया कौटिलता किय हान। हिये विचार चतुर अति दक्ष, पूजा दान करत परतक्ष ॥१३५॥
इन्द्रिय अलप सुख्य सन्तोष, दर्शन ज्ञान अभूपण पोप। पुरुपवेद ते लहैं महान, भव भवमांहि करैं अपहान ॥१३६॥
काम अन्ध लम्पट परत्रिया, शील हीन व्रत वर्जित हिया। नीच धर्मरत है दुरधिया, मारग नीच प्रवर्तन क्रिया ॥१३७॥
सो नरदेव नपुंसक लहै, महादुःखको कारण यहै। काय कुफल इहि वहु परकार, देख्यौ प्रगट होत दुख भार ॥१३८॥
जे पशु लादैं भार अनन्त, जात कुतीरथ निर्दय वंत। ते मरि होंय पंगुगति निंद, तहां लहैं दुख दारुण वृन्द ॥१३९॥
जिन सिद्धांत दोष अति धरैं, कुमत ग्रन्थकी वंदन करैं। परनिंदा सुन हरपैं अंग, विकथा वचन कहैं मन रंग ॥१४०॥

वाले हैं वे धर्म करते हैं। इनके अतिरिक्त जो कि अपने हृदयमें सम्यक् दर्शनको हारकी तरह मानकर धारण किये रहते हैं, कानों में ज्ञानको कुण्डल मान कर ग्रहण किये हुए हैं मस्तकमें चारित्रको मुकुट (शिरो भूपण) मानकर वांधे हुए हैं, संसार, शरीर एवं भोगके विपयमें संवेगका सेवन किया करते हैं, सदैव विशुद्ध आचरणके लिए सद्भावनाओंका चिन्तन करते रहते हैं, अहर्निश (दिनरात) क्षमा आदि दश प्रकारके लक्षण वाले धर्मका पालन किया करते हैं, तथोक्त धर्मकी वृद्धि के लिये दूसरोंको भी धर्मका उपदेश किया करते हैं वे इन सव कार्योंसे तथा अन्यान्य शुभ आचरणों के द्वारा महान् धर्मका उपार्जन करते हैं। पूर्वोक्त कर्मोंके करने वाले मुनि हों अथवा श्रावक सभी भव्यजीव शुभ ध्यानके द्वारा मर कर स्वर्गको प्राप्त हो जाते हैं। स्वर्ग सम्पूर्ण इन्द्रिय-सुखोंका समुद्र है। वहां दुःखका लेश भी नहीं हैं। पुण्यात्मा ही वहां रह सकते हैं। जो कि सम्यक्-दर्शनसे अलंकृत हैं वे वुद्धिमान् पुरुप नियमानुसार परम कल्प नामक स्वर्गों को प्राप्त करते हैं किन्तु व्यन्तरादि भवनत्रिक देवोंमें वे कदापि नहीं उत्पन्न होते जो अज्ञानी पुरुप अज्ञान तपस्याके द्वारा काय-क्लेश करते हैं वे व्यंतरादिक देवगतिको प्राप्त हो जाते हैं। जोकि स्वभावतः कोमल स्वभावी हैं, सन्तोषी हैं, सदाचारी परिणामी हैं, सदैव मन्द कपायी हैं, सरल चित्त हैं, तथा जिनेन्द्र देव, गुरु, धर्म एवं धर्मात्माओंकी प्रार्थना करने वाले होते हैं, तथा और अन्यान्य शुभ आचरणौंसे अलंकृत रहते हैं वे उत्तम जीव पुण्योदयके कारण आर्यावर्त्तके किसी उच्च कुलमें राज्य लक्ष्मी इत्यादिके सुखौंसे युक्त मनुष्यगतिको प्राप्त करते हैं वे अपरिमित भोगौंको प्राप्त करनेके लिये सुख सामग्रियोंसे परिपूर्ण भोग भूमिमें जन्म ग्रहण करते हैं।

जो कि माया पूर्ण काम-सेवनसे अतृप्त हैं विकारोत्पादक स्त्री-वेपके ग्रहण करने वाले हैं, मिथ्या दृष्टि हैं, रागान्ध हैं, शीलतासे हीन हैं एवं अज्ञानी हैं वे मरने पर स्त्री वेदके उदयहोनेसे स्त्री पर्यायको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो स्त्रियां विशुद्धा-चरण वाली होती हैं, मायाचारी कुटिलतासे हीन होती हैं, विवेकशील, दान-पूजा आदि शुभ कर्मों में तत्पर अल्प विपय सुखसे ही संतुष्ट हो जाने वाली एवं दर्शनज्ञानसे युक्त होती हैं, वे ही स्त्रियां मर जानेके वाद पुंवेद कर्मके उदय होनेसे पुरुप पर्याय प्राप्त करती हैं। जो अत्यन्त विशेष रूपसे कामोपभोगमें ही लगे रहते हैं, परस्त्रियोंके पीछे पागल हुए फिरते हैं और सर्वदा (दिन-रात) काम क्रीड़ामें ही तल्लीन रहते हैं वे नपुंसकोंके चिन्हसे युक्त होते हैं। जिन्होंने पशुओंके ऊपर अत्यन्त अधिक वोझ लाद दिया है, मार्गमें चलते हुए अनेक जीवोंको विना देखे ही अपने पैरोंसे मार डाला है, कुतीर्थोंमें पाप कर्म करनेके निमित्त भटकता हुआ अनेक पापोंको कमाया है वे दया हीन शठ पुरुष मरनेके वाद आंगोपांग कर्मके उदय होनेसे पंग (लूले) होते हैं। संसारमें ऐसे

धर्म वचनको करै अभाव, ते वहिरा उपजै तज चाव। ज्ञानावरणी कर्म उदोत, पाप तनैं कारण सब होत ॥१४१॥
जिन श्रुत देख नमन नहिं करै, पर विभूतिको लख पर जरै। करै कुदेव कुतीरथ जात, पर सुत देखैं मन न सुहात ॥१४२॥
ते नर मरकै उपजै अन्ध, दर्शनावरणी को यह वंध। महादुःख कर पीड़ित तेह, भवसागर तट लहत न जेह ॥१४३॥
विकथा वचन कहै शठ सदा, दोष अदोष न समझै कदा। निंदत जिन श्रुत सागर धर्म, पढ़ै कुशास्त्र हर्ष के पर्म ॥१४४॥
जिनवर पूजा भक्ति न करै, सप्त तत्व श्रद्धा नहि धरै। अति अज्ञान मांहि लवलीन ते मुका उपजै श्रुतहीन ॥१४५॥
जो मन इच्छै सो ही करै, हिंसा पाप गरव विधि धरै। ज्यौं गयंद मदमत्त अज्ञान, तैसे ही वह नर विन ज्ञान ॥१४६॥
श्री जिनदेव सुगुरु सिद्धान्त, इनहि भक्ति सुपने न लहात। ते नर विकल होंहि अधिकार, मन ज्ञानावरणीं अनुसार ॥१४७॥
सप्त व्यसन सेवत जे कुधी, विष आमिष लंपट मन मुधी। और पुरुष जे व्यसन धरै, तिनसों मित्रभाव चित करै ॥१४८॥
जे मुनि तप व्रत आदिक पूर, तिन साधुनितैं तिष्ठत दूर। निज वपु पोष करै अधिकार, भुगतैं भोग वृषभ उनहार ॥१४९॥
निशि भक्षौं अरु खाय अखाद, निर्दय वृथा करै विपवाद। ते नर रोग शोक को गहैं, विह्वल तीव्र वेदना सहैं ॥१५०॥
जे शरीर ममता परिहरैं, तप व्रव धर्म ध्यान आचरैं। सब जिय जानै आप समान, दयाभाव उर करहि प्रमान ॥१५१॥
दुःख शोक व्यापै नहि कदा, ते नर सुखिया उपजै सदा। रोग रहित सब निर्मल गात, पुण्य तनों यह फल अवदात ॥१५२॥

लोगोंका तिरस्कार होता है और निन्दा होती है। जिन लोगोंने मूर्खतावश दूसरेके दोषोंको विना सुने ही स्वीकार कर लेनेका अपना स्वभाव बना लिया है, ईर्ष्यावश पर-निन्दा सुननेका एक कार्य क्रम बना रखा है, हेय शास्त्रोंकी कुत्सित कथाओंको सुनने का अभ्यास सा बना रखा है तथा केवली, शास्त्र-संघ एवं धर्मात्माओंको दोष लगा देनेका काम ठान लिया है वे ज्ञानावरण कर्म के उदय होनेके फलसे बहरे होते हैं। जो कि विना देखे ही दूसरेके दोषोंको 'आंखों देखा' बतलाते हैं, कटाक्षके लिये नेत्रों के विकार उत्पन्न करते रहते हैं, परस्त्रीके स्तन-भगादि गुप्तांगोंको टकटकी बांध कर देखते हुए भी नहीं अघाते, कुतीर्थ, कुदेव एवं कुलिंगियोंका आदर करते हैं वे दुष्ट नेत्र वाले पुरुष दर्शनावरण कर्मके उदय होनेके फलसे अन्धे हो कर अत्यन्त दुःखोंको भोगते हैं। जो लोग व्यर्थमें ही स्त्रीचर्चा आदि विकथाओंको प्रतिदिन कहा करते हैं, दोष हीन अर्हत देव, शास्त्र, सच्चेगुरु धर्मात्माओंमें दोष लगाते फिरते हैं, पापशास्त्रोंको पढ़ते-पढ़ाते हैं, अपने इच्छानुकूल यश एवं प्रतिष्ठा प्राप्तिके लिये अस्थिर चित्त पुरुष श्रद्धा एवं विनयसे रहित होकर जैन शास्त्रोंको स्वयं बांचता है, धर्म-सिद्धान्तके परमोत्तम तत्त्वार्थोको कुतर्कोके द्वारा दूसरोंको समझानेको दुश्चेष्टामें तत्पर रहते हैं, वे ज्ञान रहित मूर्ख ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेके फलसे बोलने में असमर्थ मूक गूंगे होते हैं। जो स्वेच्छावश हिंसादि पाँच पाप कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं, श्रीजिनेन्द्र देवके द्वारा कहे गये सम्पूर्ण पदार्थोकी मदोन्मत्तसे ग्रहण करनेके लिये उतावले हो जाते हैं, देव, शास्त्र, गुरु एवं धर्मके विषयमें सत्यासत्यका भेद न मानकर सम भावसे श्रद्धाशील होकर पूजते रहते हैं, वे मति ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेके फलसे विकलेन्द्रिय हो जाते हैं। जो व्यक्ति व्यसनी मिथ्यादृष्टि वाले पुरुषोंसे मित्रता करते हैं, साधु महात्मा पुरुषोंसे सदैव दूर रहते से वे पाप-परायण नरकादि गतियोंमें पर्यटन करते हुए पुनः दुर्व्यसनोंमें लीन होकर महा उग्र पापोंका उपार्जन करते हैं। जो अति विषय-सुखों में आसक्त हो कर धर्म-हीन हो जाते हैं और तप, यम, व्रतादिसे रहित होकर विविध भोगोंके द्वारा अपने शरीरको पुष्ट किया करते हैं, रात्रि कालमें भी अन्नादिका आहार ग्रहण करते हैं, अखाद्य न खाने योग्य वस्तुओं को भी खा लेते हैं, अकारण ही अन्य-जीवोंको क्लेश दिया करता हैं, वे निर्दया पापा असाता वेदनीय कर्मके उदय होनेके कारण रोगी होकर अनेक रोगोंकी उग्र वेदनासे व्याकुल होते हैं।

जो अपने शरीरकी मोह ममता छोड़कर तपरूपी धर्माचरणमें लीन रहते हैं वे अन्य सब जीवोंको भी अपने ही समान 'कर कदापि किसीको भी नहीं मार सकते। वे 'यह अपना है, यह पराया है' ऐसा नहीं चिल्लाते फिरते और शुभ कर्मके उदयसे दुःख, शोक एव रोग रहित होकर सुखशान्तिको प्राप्त करते हैं। जो अपने शरीरको अलंकार इत्यादिसे सजानेकी आवश्यकता नही समझते और तप, नियम एवं योग इत्यादिसे कायक्लेश रूपीव्रत किया करते हैं, तथा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक जिनेन्द्र देव तथा महात्मायोगियोंके चरणारविन्दकी सदैव सेवा करते हैं वे शुभ कर्मोदयके प्रभावसे अलौकिक रूप, गुण एवं लावण्यसे सुशोभित होते हैं। जो पशुओंके समान अज्ञानी हैं वे शरीरको अपना समझकर सदैव स्वच्छ एवं सुन्दर बनानेकी चेष्टामें लगे रहते हैं, अनेक प्रकारके आभूषणोंसे उसको सजाते हैं और शुभ प्राप्ति की अभिलाषासे कुगुरु, कुदेव एव कुधर्मकी चाटुकारितामें व्यस्त रहते हैं वे

तनको संस्कार नहि करै, जम अरु नैम जोग तप धरै। इहि विधि कायकलेश अपार, करत पुरुष जे वहु परकार ॥१५३॥
जिनवर चरणकमल जुग नमैं, परमभक्ति जुत पापनि वमैं। पुण्य प्रकृति शुभ पाय संजोग, ते नर लहैं दिव्य तन भोग ॥१५४॥
कुगुरु कुदेव कुधर्महि भजैं, सुगुरुदेव श्रुत श्रद्धा तजैं। होइ कुरूपी ते दुख पूर, अशुभ उदय अर पाप अंकूर ॥१५५॥
जिनवर परम भक्ति उर धरै, अर मुनिवर की सेवा करैं। तप व्रतधर्म आदि आचार, जम अर नियम दोय परकार ॥१५६॥
तन ममत्व नहि राखैं लेश, जीतैं इंन्द्रिय तस्कर वेष। ते नर सुभग होहि जगमांहि, सव जगको प्रिय करता ताहि ॥१५७॥
मन मलीन मल लिप्तहु अंग, महा घिनावन शठ सर्वंग। रूह आदि मद धारै गर्व, परतिय द्वेप विचारै सर्व ॥१५८॥
दुर्जन पाय प्रीति वहु करै, सुरजन देश वैंर मन धरै। ते नर दुर्भग होंहि अपार, निंदत विश्व दुःखको भार ॥१५९॥
देयं कुमत दीक्षा जग जेह, पन वंचक उद्यत अति तेह। पूजे कुधिय कुदेव कुग्रन्थ, व्यभिचारी जाने नहि पंथ ॥१६०॥
सत्य असत्य न जानें भेद, मतिज्ञानावरणी यह खेद। निंदक महापापको मूर, अशुभ उदय दुर्गति अंकूर ॥१६१॥
तत्व अतत्व विवेकी जेह, मृपा वचन वोलें नहि तेह। सवको देहि सुवुधि उपदेश, तप अरु धर्म आदि वहु वेप ॥१६२॥
सार वस्तुको ग्राह जु करैं, और कुमति विधि सव परिहरैं। मंद करैं मतिज्ञानावरण, मतिज्ञान जगमें उद्धरण ॥१६३॥
श्रीजिन पाठ पठन नहि करै, मद अज्ञान गर्व उर धरैं। दुराचार पालै क्षुध होइ, कुश्रुत पाठ विस्तरहिं सोइ ॥१६४॥

अशुभ कर्मके उदयसे भयानक कुरूप होते हैं जो कि जिनेन्द्रदेव, जैन शास्त्र एवं निर्ग्रन्थ योगियों की अहर्निश भक्तिमें तत्पर रहते हैं; तप, धर्म, व्रत एवं नियमादिके पालनमें दत्त चित्त रहते हैं, देहकी ममताका परित्याग कर सम्पूर्ण इन्द्रिय रूपी महा वलवान् चोरोंको जीत लेते हैं वे सौम्य कर्मके उदयसे सवके नयनाभिराम होते हैं एवं भाग्यशाली कहे जाते हैं। मलयुक्त शरीरको देख कर जो अपने रूपलावण्य आदिके अभिमानसे मुनियों से घृणा करते हैं, परस्त्री की अभिलापामें रत रहते हैं अपने पारिवारिक वन्धुओंसे असत्य वोलकर द्वेष मान वैठते हैं, वे दुर्भग नाम कर्मके उदयसे सर्व निन्दनीय दुर्भग दरिद्र होते हैं। जो दूसरों को धोखा देकर ठगा करते हैं -इस कार्यके लिये किसीको सलाह देते हैं, देव, गुरु एवं शास्त्रके विपयमें विना तथ्यका निर्णय किये ही अपना धर्म समझ कर पूजा भक्तिमें तत्पर रहते हैं वे मति ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेसे निन्दनीय, कुवुद्धि और मूर्ख होते हैं। जो कि तप आदि धर्मकार्योंमें अन्य लोगोंको अपनी सलाह दिया करते हैं, अतत्त्व एवं तत्त्व वस्तुओंका नियम पूर्वक विचार किया करते हैं तथा इसके वाद साररूप धर्मादि वस्तुओंको ग्रहण किया करते हैं, संसारकी वस्तुओंका परित्याग कर देते हैं वे सुयोग्य एवं चतुर-पुरुष श्रेष्ठ मति ज्ञानावरणके क्षयोपशकके कारण महा विद्वान् हो जाते हैं। जो दुष्ट प्रकृति पुरुप ज्ञानाभिमानवश पढ़ाने योग्य व्यक्तियोंको भी नहीं पढ़ाते हैं जानते हुए भी जघन्य कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं, कल्याण कारक जिनागमको छोड़कर अन्य कुशास्त्रोंकी विद्याको पढ़ते हैं, तथा शास्त्र निन्दित कटु एवं परपीड़क एवं धर्म हीन असत्यपूर्ण वचनोंको वोला करते वे श्रुत ज्ञानावरण कर्मके फलसे अत्यन्त निन्दनीय और महामूर्ख होते हैं। जो लोग सदैव स्वयं तो श्री जिनागमको पढ़तेही हैं साथ ही दूसरोंको भी पढ़ाते हैं तथा काल इत्यादि आठ प्रकारकी विधियोंसे जैन शास्त्रोंका व्याख्यान किया करते है, धार्मिक उपदेशके द्वारा अनेक भव्यजीवों को ज्ञान प्रदान करते हैं एवं स्वयं भी निश दिन धर्मकार्यमें तत्पर रहते हैं, कल्याणकारी सत्य वचनोंको कहते हैं, असत्य वचनका प्रयोग कदापि नहीं करते वे श्रुतावरण कर्मके मन्द हो जानेसे जगदादरणीय विद्वान् हो जाते हैं। जो लोग इस संसार, शरीर एवं सम्पूर्ण भोगोंसे विरक्त होकर जिनेन्द्र देव तथा गुरु श्रेष्ठ वचनोंके प्रभावसे उत्तमोत्तम गुणोंका एवं परम धर्मका अपने मनमें निरन्तर चिन्तवन किया करते हैं, आर्जव धर्मके अतिरिक्त कुटिलता इत्यादिको अपने हृदयमें कदापि स्थान नहीं देते वे शुभ-कार्योंके करनेके कारण शुभ परिणामी कहे जाते हैं।

जो कुटिल परिणामी पर स्त्री-हरण आदिके विपयमें हमेशा विचार किया करते हैं, पुण्यत्माओंका अकल्याण चाहा करते हैं, मूर्खोंके जघन्य आचरणों को देखकर मन ही मन प्रसन्न हुआ करते हैं, वे अशुभ कर्मोदयसे पापोपार्जन के लिये अशुभ परिणामी होते हैं। जो तप, व्रत एवं क्षमा प्रभृतिसे, श्रेष्ठ पात्र-दान एवं पूजा इत्यादिसे तथा दर्शन, ज्ञान एवं चरित्रसे सर्वदा धर्मतत्पर रहते हैं, वे सम्यक् दृष्टि स्वर्गादिकै उत्तम सुख भोगोंको भोग चुकनेके वाद पुण्योदयसे उच्चपदकी प्राप्तिकी अभिलापा वश होकर धर्म-कार्योंको करने वाले धर्मात्मा होते हैं। जो लोग हिंसा और असत्य सम्भाषणादिके द्वारा पाप-कर्म किया करते हैं

पर पीड़ा कर वांधै कर्म, बोलैं वचन असत्य अधर्म। मूरख महानिंद्य जगमांहि, श्रुतज्ञानावरणी लहि ताहिं ॥१६५॥
जिन गुण पाठ पठन जे करै, काल अकाल भेद उद्धरै। भव्यनि देय धर्म उपदेश, शुभ मारग वरतावत शेष ॥१६६॥
कहै सत्य वच सब सुखदाय, मृषाभाव नहि मन वच काय। श्रुतज्ञानावरणी तव तजै, श्रुतज्ञान पद परगट भजैं ॥१६७॥
विरकत है भवभोग शरीर, जिन सद्गुरु सेवत मन धीर। धर्म अधर्म विवेकी तेह, तत्व आदि मन चिंतत जेह ॥१६८॥
दुराचारतैं रहित पुनीत, कौटिलतादि विवर्जित मीत। शुभ आशयते ही नर कहै, पुण्य उदय सव शुभपद लहै ॥१६९॥
पर तिय हरण निपुण जे सखा, कुटिल चित्त है जड़ सरवदा। जंत्र मंत्र उच्चाटन आदि, चेटक नाटक करैं अनादि ॥१७०॥
दुराचार पालैं अति घनौ, दुरववुद्धी उर है नहि तनौ। अशुभाशय तेही नर जान, पाप तनैं कारण यह मान ॥१७१॥
जे वहुविध जिन पूजा करैं, धरमभाव निशिदिन आचरैं। हैंय सुपात्रहि उत्तमदान, परम भक्ति अति उरमैं आन ॥१७२॥
तप व्रत उर आचरण कराहिं, लोभ रहित मन विकलप नाहिं। सार संपदा पावैं तेह, अनवांछै आवै गृह तेह ॥१७३॥
पात्रदान जे समरथ नाहिं, जिन पूजैं नहिं धर्म लहाहिं। पर उपकार न किंचित करैं, तृष्णा अति लक्ष्मीकी धरैं ॥१७४॥
लोभवंत है किरपण महा, किरिया व्रत नहि जानै कहा। सो नर दुखित दरिद्री होई, भव भव सदा निरधनी सोई ॥१७५॥

अपनी दुर्बुद्धिके कारण विषय-सुखोंमें लीन होकर मिथ्याती देवादिकोंकी भक्तिमें श्रद्धा करते हैं वे नरकादि स्थानोंमें चिरकाल पर्यन्त रह कर अनेक यन्त्रणाओंको भोगते हैं। इसके बाद भी पापोदयसे पुनः नरक निवास पानेके लिये पापकर्ममें प्रवृत्त रहकर पापी ही रहते हैं। इसके विपरीत जो लोग परम-भक्ति पूर्वक प्रत्येक दिन उत्तम पात्रोंको आहारादिका दान करते हैं, श्री जिनेन्द्रदेव, गुरु एवं जैन शास्त्रोंकी श्रद्धापूर्वक पूजा स्तुति किया करते हैं वे धर्मकार्यों के प्रभावसे उत्तमोत्तम भोग सामग्रियोंको प्राप्त करते हैं। धर्म सिद्धिके निमित्त जो लोग भाग्य प्राप्त धन सम्पत्तिको ठुकरा देते हैं स्थिर चित्त होकर धर्म साधनामें प्रवृत्त रहते हैं वे भी अन्तमें परमोत्तम भोग्य सम्पदाओंको प्राप्त करते हैं। जो अपने अन्याय पूर्ण कार्योंके द्वारा सुख भोगों की अभिलाषा करते हैं, भोगोपभोगके वाद भी असंतुष्ट रह जाते हैं स्वप्न में भी जिनेन्द्रदेवकी पूजा और उत्तम पात्रदान नहीं करते तथा लोभ वश लक्ष्मीको पा लेना चाहते हैं, वे धर्मव्रतसे हीन होनेके कारण पापके भयंकर फलोंसे दुःखित होते हैं और अनेक जन्म पर्यन्त धनहीन दरिद्र होते हैं। जो लोग पशु, पक्षी और मनुष्योंके वाल-वच्चों एवं वन्धु वान्धवोंसे वियोग उत्पन्न करा देते हैं तथा दूसरोंकी स्त्री, धन और अन्यान्य वस्तुओंको जवरदस्ती या चूरा कर ले लेते हैं दुःखशील पापात्मा अशुभ कर्मके उदयसे निश्चय रूपेण पुत्र, स्त्री, भाई और अन्य इष्ट जनोंसे भी समय-समय पर वियोग हो जानेके कारण दुःख भोगते हैं। इसके प्रतिकूल जो लोग पशु आदि जीवोंकी ताड़ना इत्यादि नहीं करते और उनके परस्पर वियोगके कारण नहीं बनते वे कदापि दुःखोंको नहीं प्राप्त कर सकते। जो कि सदैव सन्नद्ध होकर सर्वदा जैन मतानुकूल ही जैनियोंका अभिलषित सम्पत्तिके द्वारा पालन करते हैं, दान और पूजा आदि विधि पूर्वक धर्मानुष्ठान करते हैं, तथा इस पुण्यके फलस्वरूप मोक्षके अतिरिक्त अन्य और किसी प्रकारसे स्त्री पुत्र धनादिकी किंचित्मात्र भी इच्छा नहीं करते उन पुण्यात्माओंके पुण्योदयसे अभीष्ट स्त्री, पुत्र एवं स्वजनादिका संयोग अपने आप ही अप्रत्याशित रूपसे हो जाता है तथा धन इत्यादि सुख सम्पदाएं भी स्वयं ही प्राप्त हुआ करती है।

जो धर्म प्रिय पात्रोंको दान किया करते हैं, जिन प्रतिमा, जिन मन्दिर, जैन विद्यालय आदिकी संस्थापनामें धर्मसिद्धिकी इच्छासे श्रद्धापूर्वक धन व्यय किया करते हैं उनकी दानशीलता प्रसिद्ध हो जाती है। इस लोकमें तो वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते ही हैं, परलोकमें भी उनका कल्याण होता है। जो कृपणतावश परलोकों में दान नहीं देते, जिन पूजा इत्यादिमें भी मुक्त होकर धन व्यय नहीं करते और जगतकी परमोत्तम सुख सम्पत्तिको भोगना चाहते हैं वे महा लोभी और अज्ञानी हैं। पाप कार्यके प्रभावसे चिरकाल पर्यन्त वे निम्नगतिमें भटक चुकनेके वाद समीपिगतिमें जानेके लिये कृपण (कंजूस) होकर उत्पन्न होते हैं। इन पाप कार्यके प्रतिकूल जो लोग अर्हत, गणधर आदि मुनि एवं अन्यान्य धर्मात्माओंके अत्यन्त उत्तम गुणोंकी प्राप्तिके लिये सदैव उनका चिन्तन किया करते हैं वे सम्पूर्ण दोषोंसे दूर रहते हुए श्रेष्ठ गुणवान् हो जाते हैं और विद्वन्मण्डलीमें उनका आदर सम्मान होता है। जो लोग स्वभाव वश मूढ़ होनेके कारण गुणी पुरुषोंके श्रेष्ठ गुणोंको ग्रहण न करके दोषोंका ही ग्रहण करते हैं, गुण रहित कुदेव इत्यादिके फल-हीन गुणोंका स्मरण करते रहते हैं और मिथ्यामार्गी आडम्बरयुक्त पाखण्डियोंके दोषोंको कुछ भी नहीं जानते वे इस संसारमें निर्गन्ध फूलके समान गुणहीन हैं। जो धर्म जिज्ञासु होकर धर्म प्राप्तिके लिये, मिथ्या दृष्टि देवोंकी एवं

पशु अर नरको करैं विजोग, बंधादिक उपजावैं सोग। पर अस्त्री पर धन जे हरैं, शील रहित शट पापहि करैं ॥१७६॥
जनम जनम ते लहैं विजोग, सुतकामिनि बांधव को सोग। इप्ट वस्तुको विकलप पाय, पीड़ै हृदय दुःख अधिकाय ॥१७७॥
सकल देव रक्षा उर धरै, वंधु विजोग न कवहूं करैं। जिन शासन पोपित परवीन, व्रत अरु धर्मध्यान लीलीन ॥१७८॥
तैं नर पावें सव संजोग, सुख अभीष्ट सुत संपत भोग। वांधव सुजन गेह वर नार, पुण्य सफल कारण सविचार ॥१७९॥
उत्तम पात्र दान जे देई भक्ति भावना मन वच लेई। जिन प्रतिमा चैत्यालय करैं, धर्मध्यान अति उरमें धरैं ॥१८०॥
पूरव संसकारतै लहैं, श्रेष्ठ सुपद उत्तम कुल गहैं। अरु परिजन वहु सेवैं पाय, सव सुख होय पुण्य सीं आय ॥१८१॥
दान देन को कृपण अतीव, जिन पूजाकी गहत न सीव। ते मर दुर्गति भव भव भ्रमैं, सव परजाय आदि वहु गमैं ॥१८२॥
जे सेवैं अरहंत गणेश, ध्यावैं तिन गुण जगत महेश। शील सहित काया दृढ़ राख, ते गुणवान कहै वुध भाख ॥१८३॥
दोप तनों बहुग्राह जु करैं, महामूढ़अवगुण विस्तरैं। करैं कुदेव सेव सुख मान, धरैं डिंभ आरम्भ अजान ॥१८४॥
सीख कुलिंगीकी उर धरैं, अरु मिथ्या मारग विस्तरैं। ते निर्गुण उपजैं जगवास, विन सुगंध ज्यों फूल कपास ॥१८५॥
तीन जगत स्वामी अरहंत, गुण गणेश आगम कथयंत। तिनकी मन वच सेवा करैं, अरु रतनत्रय तप उर धरैं ॥१८६॥
धर्मध्यान आराधैं सोइ, मिथ्यामत त्यागैं भ्रम खोई। पुण्यवंत उपजैं नर सोइ, विश्व संपदा पावहि जोइ ॥१८७॥
दया रहित जे व्रत कर हीन, पर वालकको हनत मलीन। करैं वहुत मिथ्यामत साज, निज सन्तान सिद्धिके काज ॥१८८॥
चंडिक क्षेत्रपालकी सेव, इत्यादिक पूजैं वहु देव। अलप आयु तिनके सुत लहैं, पवंत दारुण दुख सहैं ॥१८९॥
अहिंसा आदिक व्रत संजुक्त, श्रद्धा कर मानैं जिन सुत्त। मिथ्या मारगको परिहरैं, इप्ट वस्तुको साधन करैं ॥१९०॥
तिनके रूपवंत सुत होइ, पूरण आयु लहै पुन सोइ। परम प्रतापी सुखको मूर, सकल पुण्य कारण भरपूर ॥१९१॥

केवल वेष धारी अज्ञानी साधुओंकी सेवा भक्तिमें तत्पर रहते हैं तथा श्री जिनेन्द्र श्रेष्ठ योगी एवं धर्मात्मा पुरुपोंकी सेवा कदापि नहीं करते वे अपने पापके फलसे पसुओंके समान एकदम पराधीन होकर इधर उधर दूसरोंकी नौकरी करते-फिरते हैं। इसके विपरीत जो सम्पूर्ण मिथ्यामतोंको छोड़ कर मानसिक, वाचनिक एवं कायिक शुद्धि-पूर्वक अर्हत एवं गणधर आदि मुनियोंकी पूजा-स्तुति-नमस्कार किया करते हैं वे पुण्योदयसे इस संसारमें सम्पूर्ण अतुलित भोग संपदाओंके स्वामी होते हैं। जो दयाहीन व्रत इत्यादि न करके अपने पुत्र पौत्रादि वंशवृद्धिके लिये अन्यजीवोंके पुत्रोंका वध कर डालते हैं तथा इसी प्रकारके और भी मिथ्यात क्रियाओंको कर डालते हैं उनको मिथ्यात्व कर्मके प्रभावसे अल्पायु पुत्र उत्पन्न होते हैं और उन मिथ्याती पापियों के पुत्रोंका विनाश वहुत शीघ्र हो जाया करता है। जो चण्डी, क्षेत्रपाल, गौरी, भवानी, इत्यादि मिथ्याती देवों की सेवा-अर्चा पुत्र प्राप्तिकी इच्छासे करते हैं और सम्पूर्ण मनो कामनाओंको पूर्ण करने वाले अर्हत प्रभुकी सेवा करते वे मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जन्म जन्ममें सन्तान हीन वन्ध्या स्त्रियोंको प्राप्त करते हैं। जो दूसरे पुरुपोंके पुत्रोंको ही अपना पुत्र समझ कर कदापि नहीं मारते वल्कि प्यार करते हैं, मिथ्यात्वको शत्रुके समान जान कर छोड़ दिये हैं एवं अहिंसा आदि व्रतोंका सेवन करते हैं, अभीष्ट प्राप्तिके लिये जिनेन्द्र, सिद्धान्त एवं योगियोंकी पूजा करते हैं उनके शुभ कर्मके उदयसे अलौकिक रुप लावण्य वाले एवं दीर्घायु पुत्र उत्पन्न होते हैं। जो प्राणी तप, नियम, उत्तम, ध्यान, काय क्लेश आदि धर्मकार्योंको कठिन समझ कर दीक्षा लेनेमें अपनेको असमर्थ समझकर डरते हैं वे इस लोकमें पापोदयके कारण सम्पूर्ण कार्योंमें असमर्थ कायर होकर उत्पन्न होते हैं। तथा जो लोग साहस पूर्वक तप, ध्यान अध्ययन, योग एवं कायोत्सर्ग इत्यादि महा कठिन धर्म कार्योंके अनुष्ठानमें धीरचित्त होकर तत्पर रहते हैं, तथा अपनी शक्तिके अनुसार कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर डालनेके लिये अनेक कष्टों एवं परीपहोंको सह्य समझते हैं वे धैर्य धर पुरुप पुण्योदयके प्रभावसे सकल कार्योंको कर डालनेकी क्षमता रखते हैं।

जो जड़मति जीव जिनेन्द्रदेव, गणधर, जैन शास्त्र, निर्ग्रन्थ मुनि, श्रावक एवं धर्मात्माओंकी निन्दा करनेमें दत्त चित्त रहते हैं तथा पापी, मिथ्यादेव मिथ्या शास्त्र एवं मिथ्या साधुओंकी प्रशंसा किया करते हैं वे अनेक दोपोंसे युक्त होते हैं और अपयश कर्मके उदयसे त्रैलोक्यमें निन्दनीय होते हैं, जो लोग दिगम्वर, गुरु, ज्ञानी, गुणी सज्जन एवं सुशील पुरुपोंकी अन्तः करण की शुद्धिके द्वारा सदैव सेवा, भक्ति एवं पूजा किया करते है तथा सम्पूर्ण व्रतोंका आचरण करते हुए अपने मन, वचन, कायकी शीलकी रक्षामें तत्पर रहते हैं वे धर्म-फलसे स्वर्ग एवं मोक्षको प्राप्त करके शीलवान होकर उत्पन्न होते हैं। जो लोग दुःखशील,

दीक्षा दान धर्म तप ध्यान, कायोत्सर्ग नियम व्रत जान। जे मुनीश इनतें चल जाहीं, ते कहिए कातर जग मांहि ॥१९२॥
जे निज धीरज परगट करैं, महादुसह तपको संचरैं। ध्यानाध्ययन जोग थिर थाय, तीन गुपति पालैं अधिकाय ॥१९३॥
सहैं विषम उपसर्ग अपार क्षमाभाव धीरज उर धार। इहि विधि करै कर्म अरिघात, ते मुनि धीरवीर अवदात ॥१९४॥
जिन शासन निंदत जे क्रूर, मुनि श्रुति श्रावक आदि अक्रूर। करैं प्रशंसा मिथ्या देव, कुस्रुत कुतपसीकी वहु सेव ॥१९५॥
क्रोध मान माया जुत होइ, अजस वर्ग वांधै शठ सोय। ते नर सिंह जु तीनौं लोक, अति अपजस पावैं दुख थोक ॥१९६॥
करैं दिगम्बर गुरुकी सेव, ज्ञानवंत गुण अलख अभेव। व्रत आचार करै समुदाय, पालैं शील त्रिविध दृढ़ काय ॥१९७॥
तप जप धर्मध्यान उर लाइ, सवको हितमित वचनसुनाइ। भव भव शीलवंत पुन होइ, स्वर्ग मुक्तिफल पावै सोय ॥१९८॥
सेवैं कुगुरू कुदेव कुपंथ, शील विना गहि गहैं सुपंथ। सुख वंक्षै उर लेश्या नील, लहैं कुगति तज भव भव शील ॥१९९॥
जिन गणधर गुरु मुनि गुणसिंध, सम्यग्दृष्टि ज्ञान प्रवन्ध। चरणकमल पूजैं कर सेव, तिनगुण प्रापति कारण एव ॥२००॥
ये ही उत्तम पुरुष प्रधान, इनको तज सेवैं अघवान। इहि भव परभव दुर्गति गहै, ते दुर्जन मूरख पद लहैं ॥२०१॥
तत्वातत्व कुगुरु गुरु पर्म, देव अदेव जु धर्माधर्म। करि विवेक पूजैं भवि जीव, तप अरु ध्यान विचार सदीव ॥२०२॥
जो इहि भव सूक्षमवुधि होय तो परभव पावै वहु सोय। ज्यों सुरेश पावै त्रय ज्ञान, ततछिन प्रगट लहैं इक थान ॥२०३॥
देव धर्म गुरु निन्दा करैं जिनमत देख दोष उर धरैं। अपर देव पूजैं मन गूढ़, ते उपजहिं दुरवुद्धी मूढ़ ॥२०४॥
तीर्थंकर गुरु संघ हि पाय, चरणकमल वन्दै शिरनाय। नितप्रति भक्ति करैं मन लाय, जस कीरति गुण कहैं वढ़ाय ॥२०५॥
निज गुण निन्दा जे भवि करैं, अपर दोष उपगूहन धरैं। ते परभव पावै शुभ गोत तीन जगत जन सेवक होत ॥२०६॥
निजगुण प्रकट करैं जन जेह, परको दोष कहै अधिकेह। नीच देव पूजैं अज्ञान, कुगुरु कुदेव सेव उर आन ॥२०७॥
ते नर होंय नीच पद ताय, नीच गोत्र पावैं दुखदाय। भागहीन दालिद्री महा, पाप तनौं कारण शठ लहा ॥२०८॥
जे मिथ्या मारग अनुराग, कुगुरु कुपथ सेवैं दुरभाग। पूरव संसकारके जोग, पावैं अशुभ जन्म अति शोग ॥२०९॥
जिन सिद्धान्त सुगुरु अर धर्म, ज्ञान चक्षु है जिनके पर्म। भक्ति सहित सेवैं जुग पाय, ते परभव तिन समगुण थाय ॥२१०॥
अन्य देवकौ शरणजुलहै, सपने मात्र कुपथ पुन गहै। श्री जिनधर्म न श्रद्धा गहैं, मरि कैं अधोगमनतै लहैं ॥२११॥

दुष्ट, कुदेव, कुशास्त्र' कुगुरु एवं पाप परायण पुरुषोंकी सेवा, पूजा एव नमस्कार किया करते हैं व्रत विधिसे हीन हैं, सदैव विषय सुखोंकी ही कामना किया करते हैं, वे अशुभ कर्मके उदयसे पाप परायण एवं दुःखशील होते हैं। इसके विपरीत जो लोग उत्तम गुणोंकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होकर गुणाकर एवं ज्ञानवान् गुरु, जैनयति तथा सम्यक्दृष्टि पुरुषोंके सत्सङ्गमें सदैव तत्पर रहते हैं जन्म-जन्ममें स्वर्ग एवं मोक्षको प्राप्त करादेने वाले पूर्वोक्त गुणी महात्माओंका उन्हें सत्संग मिला करता है। और जो लोग श्रेष्ठ सज्जनोंका अनादर एवं उपेक्षा क्रूर दुर्गुणोंके आकार मिथ्यातियोंके दुःसंगमें फँसे रहते हैं वे नीच गतिको प्राप्त होते हैं तथा दुर्जन संसर्गके कारण वारवार अधोगती कुसंगतिमें पड़े रहते हैं। जो लोग तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म वुद्धिके द्वारा सदैव तत्व-अतत्व शास्त्र-कुशास्त्र, देव-गुरु-तपस्वी, धर्म-अधर्म, दान-कुदानका विश्लेषण एवं विचार किया करते हैं उनके हृदयमें सूक्ष्म विचारकी एक श्रेष्ठ शक्ति विद्यमान रहती है। वे परलोकमें भी देवोंकी परीक्षा करनेमें प्रवृत्त होकर सफलता पा लेते हैं। जो जीव ऐसा विश्लेषण नहीं करते और संसारके नानाविध सभी देव-गुरुओंको आदरणीय, श्रद्धास्पद, अनिन्द्य, वचनीय एवं धर्म-मोक्षदायक समझ कर दुर्वुद्धिके कारण सभी धर्मो एवं देवोंका आश्रय लेकर सभीका अनुसरण करनेके प्रयासमें तत्पर रहते हैं वे अत्यन्त निन्दनीय हैं और जन्म जन्ममें मूढ़ होते हैं जो आर्यकर्माजीव नित्यप्रति तीर्थंकर, गुरु, संघ, उच्च पदवी प्राप्त जीवोंकी भक्ति-पूर्वक सेवा करते हैं स्तुति करते हैं और नमस्कार करते हैं तथा अपनी प्रशंसा न करके गुणियोंके दोषोंको छिपा कर श्रेष्ठताको ही प्रकट किया करते हैं वे उच्च गोत्र कर्मके उदयसे परलोकमें सर्वोत्तम गोत्रको प्राप्त करते है। तथा जो लोग इसके प्रतिकूल आत्म-प्रशंसा एवं गुणी पुरुषोंकी निन्दामें लगे रहते हैं और कुत्सित गुरु, कुधर्म एवं नीच देवकी सेवा धर्म प्राप्तिकी अभिलापासे किया करते हैं वे नीच कर्मके उदयसे नीच गोत्रको प्राप्त करते हैं। जिन दुर्वुद्धियोंका झुकाव मिथ्या मार्गमें है और एकान्तरूप

कठिन जोग धारैं उत्सर्ग, मौन सहित धारैं तप वर्ग। आप शक्ति को परगट करैं, ते नर स्वर्ग मुक्ति पद धरैं ॥२१२॥
निज वीरज आछादै नाहि, तप व्रत धर्म धरै उरमांहि। करैं ध्यान उत्सर्ग प्रसिद्ध, तप प्रसिद्ध शुभ कारण ऋद्ध ॥२१३॥
खोदंन गृह व्यापार जु करै जोरै पाप कर्म वहु धरै। अरु परघात वात वहु कहै, तप असमर्थ निन्द्य वपु लहैं ॥२१४॥

दोहा

इहि विधि यह संसार दुख, सुख नहि जीव लहंत। भविजन सुन मन चेतकर, धरो धरम जग तंत ॥२१५॥
शिवपद वीरज धर्म है, देखौ निज उर ढोहि। क्षमा सलिल सौ सींचिये, अलपकाल फल होहि ॥२१६॥
पाप पुण्य अधिकार यह, प्रश्न शुभाशुभ सार। वीरनाथ जिन प्रकट कहि, सव जीवन हितकार ॥२१७॥
सुन हरषीं द्वादश सभा, वाढ्यौ आनन्द कन्द। ज्यों सूरजके उदयतें, विकसै वारिज वृन्द ॥२१८॥

गीतिका छन्द

इहि भांति कर्म विपाक जग जिय, पाप पुण्यहि जोगवै। अशुभ शुभ जिन करहि करणी, दुख सुख तसु भोगवै॥
लोह कंचन पगन वेरी, दोइ विधि छूटै जवै। तवहिं शिवपुर पंथ पावै, नवलशाह सु वीनवै ॥२१९॥

निन्द्य मार्गमें स्थित हो कर कुगुरु, कुदेव एवं कुधर्मकी सेवामें जुटे रहते हैं उन्हें पूर्वजन्मके कुसंस्कारसे ही परलोकके कल्याणको नष्ट कर देनेवाले मिथ्यामतकी ओर प्रीति उत्पन्न हो जाती है। जो जीव जिनेन्द्र शास्त्र, गुरु एवं धर्मकी दिव्यदृष्टिसे सूक्ष्म परीक्षाकर चुकनेके वाद उनके अपूर्व गुणोंपर मुग्ध होकर श्रद्धाभक्ति पूर्वक सेवामें तत्पर रहते हैं और हेय मार्गपर चलने वाले अन्य पुपोंकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं करते वे वास्तविक जिनधर्मके अनुरागी हैं और वे परलोकमें भी मोक्ष-पथ पर ही अग्रसर होते जाते हैं। जो स्वर्ग एवं मोक्षकी अनन्य अभिलापासे परिग्रह हीन होकर व्युत्सर्ग तथा मौनव्रतरूप योग गुप्तिका यथाशक्ति अनुसरण किया करते हैं तथा तप इत्यादि श्रेष्ठ धर्मकार्योंमें अपनी शक्तिकी वास्तविक स्थितिका सदुपयोग करते हैं वे कठिन तपस्याके उग्र कष्टोंके सहन करनेमें पूर्ण समर्थ दृढ़ एवं सुन्दर शरीर को प्राप्त करते हैं। जो कि तपस्याके समक्ष एवं शक्तिशाली होकर भी केवल काय-सुखमें आसक्त रहते हुए उसका दुरुपयोग करते हैं और अपने वल एवं शक्तिको धर्म तथा व्युत्सर्ग तपमें नहीं लगाते वे कोटि-कोटि गृह-व्यापारोंसे पाप ही कमाया करते हैं और तप कर्ममें असमर्थ उनका शरीर नितान्त निन्दनीय होता है। इस प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव महावीर प्रभुने सम्पूर्ण उपस्थित विविध जीव समूहोंके सामने दिव्य गम्भीर एवं मधुर वाणीसे गणधर देव गौतम स्वामीके प्रश्नोंका युक्तियुक्त, वास्तविक एवं सार्थक उत्तर प्रदान किया। उन अर्हन्त देव श्री महावीर प्रभुकी मैं श्रद्धाभक्ति पूर्वक स्तुति करता हूं।

पंचदश अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

दोष अठारह रहित प्रभु, गुणहि छयालिस पूर। प्रनमौ वीर जिनेशपद, दहौ कर्म अघ चूर ॥१॥

सम्यग्दर्शन तथा चारित्रका वर्णन

चौपाई

अव सुन गौतम धर्म निधान, कहो मुक्तिमारग सुखखान। समकित प्रथम धरै जव जीव, श्रावक जतिवर धर्म अतीव ॥२॥
धर्ममूल है समकित सार, जव जिनवाणी निहचै धार। गुरु निरग्रंथ सत्य मन नमैं, दया धर्म पालें अघ वमैं ॥३॥
अनंतानुवंधी है चार, दर्शन मोह तीन अवधार। सात प्रकृति ये उपशम करै, जव जिय उपशम समकित धरै ॥४॥
तब ये सात प्रकृति खय होइ, क्षायिक समकित जानों सोइ। कछु उपशम कछु नाश जु लहै, वेदक समकित तासौ कहैं ॥५॥

दोहा

सो समकित नव भेद जुत, कहयो मार्गणा मांहि। अव उपजत दश भूमिका, वरणौ आगम पाहि ॥६॥

चौपाई

आज्ञा मारग अरु उपदेश, सूत्र वीज सम्यक्त्व महेश। संक्षेपहि विस्तार जु अर्थ......गाढ़ परम अवगाढ़ दशार्थ ॥७॥

आज्ञा सम्यक्त्वका लक्षण

जो सर्वज्ञ वचन नय कहयौ, षट द्रव्यादिक रुचि सरदहयौ। करै गरु व श्रद्धा नरनार, सो आज्ञा सम्यक्त्व हि धार ॥८॥

मार्ग सम्यक्त्वका लक्षण

जो निःसंग रहे थिर चित, पानपात्र लक्षण जु पवित्त। मोख मार्ग सुन श्रद्धा करै, सो मारग सम्यक्त्व हि धरै ॥९॥

उपदेश सम्यक्त्वका लक्षण

त्रेशठ पुरुषादिक जु महान, तिन पुराण सुन श्रद्धावान। निश्चय नय जो करहि प्रतीत, सो सम्यक उपदेश पुनीत ॥१०॥

मुक्ति प्रदायक ज्ञानमय समोशरण आसीन। करें धर्म-उपदेश को कर्म-वन्ध से हीन ॥

पूर्व-अधिकारमें गणधर देव गौतम स्वामीके कई प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देकर श्रीमहावीर प्रभुने कहा कि गौतम, तुम वहुत बुद्धिमान् मालूम पड़ते हो, इसलिए अव मैं मुक्ति-मार्गको कहता हूं, अन्यान्य जीव-समूहोंके साथ तुम सावधानी पूर्वक सुनो। मेरे वनाये रास्ते पर चलनेसे मनुष्योंको निश्चय रूपेण मोक्ष प्राप्त हो जाता है। जो शङ्का इत्यादि दोषोंसे हीन है

सूत्र सम्यक्त्व

तप आचार क्रिया अस्तवन, इन पै रुचि राखै वुध वदन। सूत्र सम्यक्त्व कहावै सोइ, भविजनको हित करता होइ ॥११॥

वीज सम्यक्त्व

सकल पदारथ वीजसु पाय, सूक्षम अर्थ सुनौ चित लाय। भविजन तस श्रद्धा उर आन, सो वीरज सम्यक्त्व प्रमान ॥१२॥

संक्षेप सम्यक्त्व

जो संक्षेप कहै वुद्धिवान, सुनै पदारथ श्रद्धावान। जो सम्यक्त्व जान संक्षेप, भवि जन को सुख करन समेप ॥१३॥

विस्तार सम्यक्त्व

नय विस्तार पदारथ कहै, भेदाभेद सवै सरदहै। निश्चय मन इमि करहि विचार, सो समकित कहिये विस्तार ॥१४॥

अर्थ सम्यक्त्व

अंग सिन्धु अवगाहन करै, वहु विस्तार वचन परिहरै। अर्थ मात्र रुचि धारै जवै, अर्थ सम्यक्त्व कहावै तवै ॥१५॥

अवगाढ़ सम्यक्त्व

अंग भावना उरमें धरै, मन प्रतीति रुचि श्रद्धा करै। क्षीण कपाय गहै जुत भार, सो अवगाढ़ सम्यक्त्व जु धार ॥१६॥

परमावगाढ़ सम्यक्त्व

केवलज्ञानी वचन प्रमान, करै अर्थ श्रद्धा रुचि ठान। यह सम्यक्त्व परम अवगाढ़, भविजन मन सुख करता वाढ़ ॥१७॥

दोहा

उतपति समकित चिह्न गुण, भूपण दूपण नाश। अतीचार संयुक्त वसु, वरनौ ताहि प्रकाश ॥१८॥

चौपाई

कै जिय उपजै सहज सुभाय, कै सतगुरु उपदेश वताय। गति चारों में समकित लहै, यह उत्पत्ति भेद जिन कहै ॥१९॥
सत्य प्रतीति अवस्था ठान, समता सव सौ दिन दिन मान। यही लाभ छिन छिन जव होइ, समकित नाम कहावै सोइ ॥२०॥
चेतन परको न्यारो जान, तामें कछु विकलप नहि आन। रहित प्रपंच सहज हित धार, समकित चिह्न यही सुखकार ॥२१॥
करुणा वातसल्य जुत होइ, स्वाजनता स्वयं निंदा होय। समता भक्ति विराग वखान, धरम राग गुण आठ प्रमान ॥२२॥
चित प्रभावना भाव सहीत, हेय उपादे कहिये मीत। धीरज हरप सहित परवीन, ये ही पांचों भूपण लीन ॥२३॥

दोहा

अष्ट महामद अष्ट मल, पट अनयातन दीस। तीन मूढ़ संयुक्त सव, ये दूपण पच्चीस ॥२४॥

चौपाई

जाति रूप कुल ईश्वर जुता, तप वल विद्या लाभ जु इता। इन अष्टों को मद जो करै, लहै दुःख नरकहि संचरै ॥२५॥
आशंका अस्थिरता वांछ, ममता दुष्ट दशा दुर गंछ। वातसल रहित दोप पर भाप, तजि प्रभावना वसु मल शाख ॥२६॥
कुगुरु कुश्रुत कुधर्महि धरै, अरु सराहना इनकी करै। पट अनायतन जानौ यही, महा दुःखको कारण सही ॥२७॥

और निःशंकादि गुणोंसे युक्त होकर तत्वार्थोंका श्रद्धान है वह व्यवहार सम्यक् दर्शन है और मोक्षका एक अंग है।

इस संसारमें अर्हन्तसे वढ़कर कोई उत्कृष्ट देव नहीं, निर्ग्रन्थसे वढ़ कर महत्वशील गुरु नहीं, अहिंसा आदि पञ्चव्रतोंसे उत्तम अन्य कोई व्रत नहीं, जिनमतसे श्रेष्ठ कोई मत नहीं, सवके हृदयको प्रकाशित करनेवाला ग्यारह अङ्ग चौदह पूर्वसे वढ़कर दूसरा कोई शास्त्र ज्ञान नहीं, सम्यक्दर्शन इत्यादि रत्नत्रयसे वढ़ कर दूसरा कोई परमोत्कृष्ट मोक्षका मार्ग

देव कुदेव बराबर मान, सुगुरु कुगुरु इक सम पहिचान। पृथक पृथक नहि अंतर दीस, तीन मूढ ऐ दोष पचीस ॥२८॥
ज्ञान गरव कर अरु मतिमन्द, निठुर वचन भाषै दुखकन्द। रुद्रभाव पुनि आलस धार, ये ही नाश पंच परकार ॥२९॥
लोकहास भवभोग सुहाइ, मिथ्यामारग भगति, लहाइ। मिथ्या दरशनि, अग्र जु सोच अतीचार ये पांचों मोच ॥३०॥

मिथ्यात्व निरूपण

जे मिथ्यात करैं दुखदाय, समकित हेतु न तिनैं सुहाय। पूजै हाथी घोड़े गाय, ते मरि पावहि दुख परजाय ॥३१॥
वड़ पीपल ऊमर आंवरी, तुलसी देव निगोद जु भरी। इनकी सेवा जो नर करैं, निश्चय ते ही गतिको धरैं ॥३२॥
व्यन्तर आदि सती शीतला, सूरज लखे चन्द्रकी कला। यक्ष नाग गृह-देवी जान, नदी होम जे आयुध मान ॥३३॥
गोवरकी पूजा जे करैं, ववै, भुंजरिया मूढ़ सुजाय। पितर सराध करे सुख पाय, गंगा जमना वद जाय ॥३४॥
ये सव मिथ्या मारग साज, तजिये सव समकितके काज। अव समकितकी महिमा जान, कहौं कछू सक्षेप वखान ॥३५॥

सम्यक्त्व महिमा

थावर विकलत्रय नहि होइ, और निगोद असैनी सोइ। जाइ कुभोगभूमि नहिं कदा, मलेच्छ खण्ड उपजै नहि तदा ॥३६॥
प्रथम नरक आगे नहिं जाय, भवनत्रिक वह नहीं लहाय। तीन वेद में दोइ न धरै, मनुप्य नीच कुल नहि विस्तरै ॥३७॥
जव क्षायिक समकित दृढ़ होइ, तव ये पदवी धरहि न सोय। नर गतिमें नर ईश्वर जान, देवनमें सो देव प्रधान ॥३८॥

दोहा

नभ में जैसे भान हैं, चिन्तामणि मणि ताहि। कल्पवृक्ष वृक्षन विषैं, मेरु सकल नग मांहि ॥३९॥
सव देवनमें देव ज्यों, त्यों समकित अविकार। सव धर्मनको मूल है, महिमा तास अपार ॥४०॥
व्रत तप संजम वहु धरै, समकित विन जगमांहि। जैसे कृषि सेवा करै, मेघ विना फल मांहि ॥४१॥
धर्म मूल सम्यक्त्व कहि, शाखा दोय प्रकार। स्वर्ग मुकतिदायक सही, श्रावक जतिवर सार ॥४२॥

अथ श्रावक धर्म वर्णन

चौपाई

त्रेपन किरियाको अधिकार, सो श्रावक उत्तम व्रत धार। प्रथम मूलगुण अप्ट प्रकार, वारह व्रत द्वादश तप सार ॥४३॥
सामायिक किरया इक सोय, एकादश प्रतिमा अवलोय। चार दान जल गालन एक, इक अखंड रतनत्रय टेक ॥४४॥

मूलगुण वर्णन

दोहा

पंच उदम्वर जानिये, तीन मकार समेत। इनकौ त्यागी पुरुप जो, अप्ट मूलगुण लेत ॥४५॥

पंच उदम्वर फलौं के नाम

वर पीपर ऊमर सहित, कठवर पाकर एह। पंच उदंवर फल तजै, जीव राशि दुख लेह ॥४६॥

नहीं और पांच परमेष्ठियोंसे वढ़कर भव्यजीवोंके लिये कोई दूसरा कल्याण एवं हितकारी नहीं हो सकता। इसी तरह उत्तम पात्र दानसे श्रेष्ठ कोई अन्य प्रकारका दान मोक्ष का कारण नहीं है। केवल ज्ञानको देनेवाले आत्म-ध्यानसे वढ़कर कोई भी दूसरा उत्कृष्ट ध्यान नहीं है। धर्म एवं सुखको प्रदान करनेवाली साधु महात्मा एवं ज्ञानी धर्मात्माओंकी ही प्रीति है, अन्य किसीकी प्रीतिसे सुख-धर्म नहीं प्राप्त हो सकता। कर्मोका नाश करने वाला वारह प्रकारके तपोंका ही फल है, अन्य किसी तपसे

चोपाई

चेर मकोरा जामू चार, वेल करौंदा तूत मुरार। कुमड़े विंव गड़ेली भटा, फुट कचवेंड़ा कलिंदे गटा ॥४७॥
सूरन मूरा आदी हरी, मारु कन्द मूल गाजरी। इत्यादिक जे और अपार, इनमें जीव राशि अविकार ॥४८॥

तीन मकार दूपण

दोहा

सव घर इन मक्षी रहैं, करै वमन इक ठौर। उपजें तहं अंडज अधिक, बूड़ मरै वहु दौर ॥४६॥
जीव मरें वहु होय मधु, जे भक्षैं सुख पाय। ते शठ पावें कुगति पथ, पाप लेहि शिर धाय ॥५०॥

चौपाई

नैनू काचौ दूध पऊंसी, अप्रासुक जल थानै वसी। इन्हें आदि दे और अनेक, मधुके अतीचार तज सेक ॥५१॥
महुआ आदि वस्तु वहु और, तिनिकौ सार रचै मद गैर। त्रस थावर जहं जीव अनंत, उपजै मरै लहै नहि अन्त ॥५२॥
जो यह मद्य पियें जग जीव, माता त्रिया न जानै सीव। दूहि भव निंद्य होय अधिकार, परभव पावै दुरगति भार ॥५३॥

अतीचर वर्णन

स्वाद चलित जो वस्तु ग्रहेइ, अन्य जाति को भाजन लेइ। दिना दोयको तक्रहि धरै, द्विदल वस्तु ले इकट्ठी करै ॥५४॥
फूल सूंघकै मुखमें देइ, अरु अनजाने को जल लेइ। ए सव मद्य दोप दुखदाइ, इनकौ त्यागै शिवसुखदाइ ॥५५॥

मांस दूपण

जीव घात विन होय न मांस, पाप करम जानौं यह भास। सूक्षम जीव परैं ता मांहि, दृप्टिहिकी लखि आवैं नांहि ॥५६॥
जौलौं जिस विनशै ग्रह देह, तौलौं निरमल है अधिकेह। जीव गये तन मुरदा होय, महा अपावन छुवै न कोय ॥५७॥
पर जिय मार मांस जे खाय, ते धिक दुरगति दुःख लहाय। मास त्याग व्रत पालें जेह, स्वर्गनके सुख भगतै तेह ॥५८॥

अतीचार

घीउ तेल जल हींग अतीव, होय चरम संगति वहु जीव। हाट चून फल हरित जु शाग, पंच फूल वहु वीजक भाग ॥५६॥
अनजाने फल भक्षण करैं, मासहि अतीचार ते धरैं। जो नर इनको त्यागन करै, सकल दोप निश्चै परिहरै ॥६०॥

दोहा

इनि अप्टों में पाप अति, दोप सहित जव त्याग। तव श्रावक व्रत संभवै, धरी मूलगुण भाग ॥६१॥

ऐसा नहीं होता। स्वर्ग एवं मोक्षको देनेवाला पंच नमस्कार महामन्त्र है, इसके अतिरिक्त ऐसा प्रभावशाली कोई अन्य मन्त्र नहीं हैं। कर्म एवं इन्द्रियोंके समान इस लोक और परलोकमें भीपण दुःख देनेवाला और कोई दूसरा नहीं है। ऐ गौतम, तु इन सवको सम्यक् दर्शनका मूल कारण जान ले। यह ज्ञान दर्शन एवं चारित्र दर्शनका प्रधान कारण है, मोक्ष रूपी महलकी सोपान (सिढ़ी) है और व्रत इत्यादिका मूल स्थान है। इस सम्यक् दर्शनके विना सव ज्ञान अज्ञान, चारित्र कुचारित्र एवं सम्पूर्ण तप निप्फल होजाते हैं। इस वातको दृढ़ता से समझ कर निःशङ्कादि गुणोंके द्वारा शङ्का, मूढ़ता इत्यादि आवरणोंको एकदम दूरकर चन्द्रमाके समान अति स्वच्छ सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा पालनेपर अविचल भावसे दृढ़ रहना उचित है। वैपरीत्यसे हीन यथार्थ तथा तत्वार्थो अर्थात् पदार्थो का ज्ञान सज्जन पुरुपोंको प्राप्त करना चाहिये। इसीको व्यवहार सम्यक् ज्ञान कहते हैं इस उत्तम ज्ञानके ही द्वारा धर्म-रूप हित-अहित एवं वन्ध मोक्षका यथार्थ वोध होता

वाईस अभक्ष्य

उक्तं च

ओला घोर वरा निशिभोजन, बहुबीजक वैंगन संधान। वड़ पीपल ऊमर कठऊमर, पाकर फल जे कहे अजान ॥
कंदमूल माटी विष आमिष, मधु माखन अरु मदिरापान। फल अति तुच्छ तुषार चलितरस, जिनमत ये वाईस अखान ॥६२॥

वारह व्रत

दोहा

पंच अणुव्रत को धरै, और गुणव्रत तीन। चौ शिक्षाव्रत निग्रहै, द्वादश व्रत लवलीन ॥६३॥

पांच अणुव्रतों का वर्णन

चौपाई

त्रस जीवनकी रक्षा करै, दया भाव हिरदै में धरै। हिंसा वनिज आदि में गहै, प्रथम अहिंसा अणुव्रत लहै ॥६४॥

दोहा

हिंसा कर अरविंद नृप, सहे नरक दुख घोर। मातंगादि दया धरी, सुर वंदै कर जोर ॥६५॥

चौपाई

सबसौं हित मित वचन सुनाय, वोले सत्य धर्म उर ल्याय। निंद्य असत्य तजै जव सही, सत्य अणुव्रत दूजौ यही ॥६६॥

दोहा

वसु नृप सिंहासन सहित, अवनि धंस्यौ कह झूठ। राय युधिष्ठिर सत्यतैं, रह्यौ मोक्षपद तूट ॥६७॥

चौपाई

वस्तु पराई जे ठग लेइ, अपनो घटि औरहिको देइ। डरी वस्तुको ग्राह जु करै, थाती आनि पराई वरै ॥६८॥
चोरी करत धर्म सब नशै, दुरगति दुख सु नरक में वसै। दंड सहित वध बंधन आदि, मानुष जनम जाय यह वादि ॥६९॥
चोरीकी नहि लीजै वस्त, अरु उपदेश न देइ प्रशस्त। इहि विधि चोरी त्यागै वहै, तृतीय अचौर्य अणुव्रत गहै ॥७०॥

दोहा

चोरीतैं तापस सहै, वध वन्धन अति शोक। चोरी अंजन चोर तज, भयौ सिद्धि शिव लोक ॥७१॥

है और देव, धर्म एवं गुरुकी भी गुण-परीक्षा इसी ज्ञानके द्वारा होती है। जो ज्ञानसे हीन हैं वे अन्धेके समान हैं और वे प्राणी हेय-उपादेय, गुण-दोष, कृत्य-अकृत्य, तत्व-अतत्व इत्यादिकी यथार्थ विवेचनामें एकदम असमर्थ होते हैं। इसलिये स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्तिकी अभिलाषा रखने वालोंको चाहिये कि यत्न पूर्वक प्रतिदिन जैन शास्त्रोंका अभ्यास किया करे हिंसादि पांच प्रकारके पापोंका सर्वदा एवं सर्वतोभावेन त्याग तथा, तीन गुप्ति एवं पांच समितिके पालनेको ही व्यवहार चारित्र कहते हैं। यय भोग एवं मोक्षका देनेवाला है इसको सपूर्ण कर्मास्रवोंका अवरोधक (रोकने वाला) प्रत्येक फलोंका देनेवाला एवं सर्वोत्कृष्ट समझा गया है। कर्मोंके संवरके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। इस उत्तम चारित्रके विना कोटि-कोटि कायक्लेशोंके द्वारा किया गया तप भी व्यर्थ ही है। इसके विना कर्मोंका संवर नहीं हो सकता, संवरके विना मुक्ति नहीं हो सकती और उस

चौपाई

माइ वहिन पुत्री समचित्त, परदारा इम जानों मित्त। अथवा सांपिनसी मन धरी, दुखकी खान दूर परिहरी ॥७२॥
शील विना नर लागै इसी, विन पानी की मोती जिसी। मन निर्मल जिमि जल सुरसुरी, ब्रह्मचर्य अणुव्रत है तुरी ॥७३॥

दोहा

रावण नृप नरकहि गयौ, पर नारी के काज। सेठ सुदरशन शील तें, पायौ शिवपुर राज ॥७४॥

चौपाई

प्रानीकी तृष्णा अति घनी, पूरण होय नहीं तिहि तनी। तीन लोककी लक्ष्मी पावै, तो भी वह संतोष न आवै ॥७५॥
यातें बुधजन करत प्रमान, क्षेत्र वास्तु सेवक धन धान। अशन वस्त्र शृंगार भंडार, चौपद जुत दश परिग्रह भार ॥७६॥
यह परिग्रह जानो दुखदाय, पाप मूल भाषो जिनराय। यातें जे भवि रहित उदास, सो परिग्रह परिमाण हि भास ॥७७॥

दोहा

सत्यघोष अति लोभतें, सहे दुःख अधिकार। शालिभद्र संतोष तें, लह्यौ सिद्ध पद सार ॥७८॥

तीन गुणव्रतों का वर्णन

दिश विदिशा की संख्या करै, तहतें उलंघ नहीं पग धरै। प्रथम गुणव्रत जानो येह, श्रावक की निर्मल गुण तेह ॥७९॥
खोदन काटन जल वहु डार, वायु अगति परजालै भार। झूठ वचन, चोरी,परतिया, विकथा कहै तजै सव क्रिया ॥८०॥
विना प्रयोजन जाय न कही, पापारम्भ होय पथ मही। अनरथ दंड कवहुं नहि करै, द्वितिय गुणव्रत उत्तम धरै ॥८१॥
व्रत आचार जहां नहि होय, ताहि देश जैयै नहि लोय। करै प्रमाण भोग उपभोग, तृतिय गुणव्रत उत्तम जोग ॥८२॥

चार शिक्षाव्रतों का वर्णन

देशावकाशिक शिक्षाव्रत

जिन मन्दिर जिन प्रतिमा करै, तहां धर्म वहुविधि विस्तरै। गमन तनी संख्या नित धरै, देशवकाशी व्रत अनुसरै ॥८३॥

मोक्षके विना भला, अक्षय परम सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है। दूसरों की तो वात ही कौन चलाये, स्वयं त्रैलोक्य पूज्य एवं देव वन्द्य तीर्थङ्कर प्रभुभी चारित्रके विना मुक्ति रूपिणी स्त्रीके मुखार विन्दका दर्शन नहीं कर सकते। जिस तरह दन्तके विना उतने वड़े हाथीकी शोभा नष्ट होजाती है उसी तरह चारित्रके विना मुनि भी शोभा नहीं पा सकते ? क्या हुआ, जो वहुत दिनों से दीक्षा कारज करने वाले हैं सवमें श्रेष्ठ हैं, और अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। चारित्रके विना वे नगण्य ही हैं। इसलिये वुद्धिमान् पुरुषोंको चन्द्रमाके समान अति स्वक्छ चरित्रको धारण करना चाहिये तथा स्वप्नमें भी उपसर्ग एवं परीपहों से दुःखी होकर शरीरका परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये रत्नत्रय स्वतः तीर्थकरादि शुभ कर्मके कारण हैं, निश्चय रत्नत्रय के साधक है, भव्य जीवों के लिए सर्वार्थ-सिद्धितक महान् सुखोंके देने वाले हैं, श्रेष्ठ हैं, अनुपमेय हैं लोकवन्द्य हैं और भव्यजीवों के परम हितैषी हैं।

जो असंख्येय गुणों का समुद्र है, आत्माके स्वरूप का श्रद्धान है और कल्पना हीन है,—वह निश्चय सम्यक्त्व है। परमात्माके अन्तरंग (भीतर) में जो ज्ञान है और जो संवेदन (अपने ही आप) ज्ञानसे जानने के योग्य है वह निश्चय ज्ञान है। वाह्य (वाहरके) और आभ्यन्तर (भीतरके) सम्पूर्ण विकल्पों को छोड़कर अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूपमें स्मरण करना है उसीको निश्चय चरित्र कहा जाता है। ये निश्चय रूपी तीनों रत्न सम्पूर्ण वाह्य चिन्ताओं से हीन हैं, विकल्प रहित हैं, और ऐसा होनेके ही कारण भव्य-जीवोंको निःसन्देह रूपेण मोक्ष देने वाला है। व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय

सामायिक शिक्षाव्रत

आरत रौद्र ध्यान परिहरै, अरु निज तनको निरमल करै। सब जियसौं समता उर लाय, धरम ध्यान इक चित लौं लाय ॥८४॥
सहैं परीषह दृढ़ कर काय, श्री जिनपद को जपन कराय। तीन काल सामायिक साध, यह सामायिक व्रत आराध ॥८५॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत

सातैं तेरस शुद्ध अहार, एकाभगत करै विधि सार। फिर पोसह पावहि निरभंग, सब आरम्भ परिहरै प्रसंग ॥८६॥
आठैं चौदशि प्रोषध धरै, खाद्य स्वाद्य पय लेह न करै। पून्यौं मावस नोमी आन, तब आहार लेह शुभ जान ॥८७॥
सोरा पहर हि उत्तम कह्यौ, चौदह को पुनि मध्यम लह्यौ। बारह पहर जघन्य गनेह, पोषह व्रत कहि विधि ठानेह ॥८८॥

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत

जब छह घरी चढ़ै दिन आइ, द्वारापेखन कीजै भाइ। मुनिकौ पाय देइ शुभ दान, विधिपूर्वक निर्मल उर आन ॥८९॥
तिहि पाछै निज भोजन करै, परम पुण्यकारण गुण धरै। मुनिवर दान जोग नहि होइ, रसत्यागी तब कीज्यौ लोइ ॥९०॥
चार प्रकार दान जो देइ, अतिथि संविभाग व्रत लेइ। ये चारों शिक्षाव्रत जान, लहै सुरग संपति सुख खान ॥९१॥

अथ तप वर्णन

दोहा

बारह तप व्यौहार कर, पालहि श्रावक सोइ। तिन हि भेद पूरब लिख्यौ, फिर बरनन नहि होइ ॥९२॥

सामायिक वर्णन

सामायिक विधिसौ करै, श्रावक परम पुनीत। सो शिक्षा व्रत में कह्यौ, जान लीजियौ मीत ॥९३॥

ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन

विषयन सौं जु उदास अति, संजम भाव सौ ठाम। उदय प्रतिज्ञा को करै, प्रतिमा जाको नाम ॥९४॥

चौपाई

आठ मूल गुण पालै जबै, सात व्यसन तज दीनै सबै। मल पच्चीस विवर्जित सोई, दर्शन प्रतिमा श्रावक होइ ॥९५॥
पंच अणुव्रत लहिकैं सोय, तीन गुणव्रत धारै जोय। शिक्षाव्रत चारौं परवान, व्रत प्रतिमा दूजौ पहिचान ॥९६॥

मिलकर दो प्रकारके विशाल मोक्ष मार्ग हैं और मोक्ष रूपी महा सम्पत्ति को देने वाले हैं। मोक्षाभिलापी भव्य जीवों को चाहिये कि मोह रूपी फन्द (फांसी) को तोड़कर सदैव इन दोनों रत्नत्रय को स्थिर भाव से अनुष्ठान करते रहें। इस संसार के जितने भी भव्य जीव मोक्षको प्राप्त करनेकी चेष्टा में क्रियाशील हैं वे इन दोनों रत्नत्रयोंको बिना पालन किये सफलतानहीं प्राप्त कर सकते। भूत भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालमें इन्हीं दोनों रत्नत्रयों के द्वारा मोक्ष मिला है, मिलेगा और मिल रहा है। इसके अतिरिक्त कोई और अन्य उपाय हो नहीं सकता। वह दो प्रकारका है श्रावक धर्म और मुनि धर्म। श्रावक धर्म तो कोई कठिन नहीं—सुगम है किन्तु योगियों का मुनि धर्म अत्यन्त कठोर है। श्रावक धर्मकी ग्यारह प्रतिमाएं (श्रेणियां) होती हैं। जो द्यूत (जुआ) आदि सात प्रकारके व्यसनोंसे हीन है, आठ मूल गुणोंसे युक्त हैं और अति स्वच्छ सम्यक् दर्शनसे परिपूर्ण है उसको दर्शन प्रतिमा कहते हैं और यही पहली है। इसके बाद दूसरी व्रत प्रतिमा है। पांच अणुव्रत, तीन प्रकारके गुण व्रत एवं चार शिक्षा-व्रत इस तरह बारह व्रत हैं। जिसमें मन; वचन एवं कायके द्वारा कृत कारितानुमोदन और प्रयत्न पूर्वक त्रस जीवोंकी रक्षाकी जाय वह अहिंसा नामका पहला अणुव्रत है। यह अहिंसा अणुव्रत सम्पूर्ण जीवोंकी रक्षा और सम्पूर्ण व्रतों

तीन काल सामायिक करै, पापारम्भ सबै परिहरै। निर्जन थान ध्यान को होइ, सामायिक प्रतिमा सो लोइ ॥९७॥
आठैं चौदशि प्रोषध सजै, चार प्रकार अहारहि तजै। पोसह प्रतिमा जानी सोइ, चौथी सो श्रावक अवलोइ ॥९८॥
हरित वस्तु को कीनी त्याग, जीव दया पालै वड़भाग। पंचम प्रतिमा यहै वखान, सचित त्याग व्रत श्रावक जान ॥९९॥
निशि अहार त्यागे बुधवंत, सूक्षम थूल भरै जिय जंत। मूढ़ न जानै हिंसा सोय, रजनी नीर रुधिर सम होय ॥१००॥
भूत पिशाच गमन निश करैं, जेवत अन्न अपावन करैं। अशुचि वस्तु डारैं तहं आय, नीच स्वभाव न उनकी जाय ॥१०१॥
दिवस अन्धकार जहं रहै, रात समान जानिये वहै। निशि जु रसोई करैं दिन खाइ, रजनीवत दूपण दुखदाई ॥१०२॥
दिवस हि पुन छोड़े निज नार, निश त्यागो प्रतिमा अवधार। यह पष्ठी लौं जानो भाइ, है जघन्य श्रावक ठहराय ॥१०३॥
निज पर नारि त्याग गुणवंत, नवधा शील धरै वहु भंत। तजै सचिकवण मिष्ट अहार, ब्रह्मचर्य प्रतिमा यह सार ॥१०४॥
हिंसा आदि सकल आरम्भ, तजै विवाह वनिज सव दंभ। काटन खनन अगिन नहि करै, वस्तर धोइ न कवहूं धरै ॥१०५॥
पशु राखै नहि मंदिर रचै, मित्य नहान कवहूं नहि सचै। वाहन चढ़ै न साथ लहेइ, पत्र फूल फल नहीं गहेइ ॥१०६॥
जंत्र मंत्र औपधि नहि साधै, वैद्यक ज्योतिप धातु न राधै। ऐसी त्रिया भव्य चित रमी, यह आरंभ त्याग अष्टमी ॥१०७॥
कट कोपीन वस्त्र इक लेइ, दशविध संघ त्याग करि देइ। इंद्रिय दण्डै मन वच काय, पाप करम किंचित नहि थाय ॥१०८॥
नवमी प्रतिमा जानो येह, परिग्रह त्याग कहावे तेइ। मध्यम श्रावक धारै यही, स्वर्ग पन्थ को कारण सही ॥१०९॥
वनिज विवाह आप आहार, इनकी अनुमति दे इन सार। भोजन को जु वुलाये जाय, दशमी अनुमति त्याग कहाय ॥११०॥
उदिष्ट त्याग प्रतिमा गैरमी, उत्तम श्रावक धर शिर नमी। ताके भेद दोय परमान, क्षुल्लक ऐलक कहौ वखान ॥१११॥
जो गुरु निकट लेइ व्रत जाइ, वसै गुफा मठ मंडप पाइ। कटि कोपीन कमंडलु लहैं, एक वसन तन पीछी गहैं ॥११२॥
राखैं भिक्षा भाजन पास, चारो परव करैं उपवास। लैं अनुदिष्ट शुद्ध आहार, लाभ अलाभ रोप नहि धार ॥११३॥
माथैके कतरावै वार, डांडी मूछ न राखै भार। तप विधान धारैं गुरु पास, कहैं मुक्ति आगम आभास ॥११४॥

दोहा

यह क्षुल्लक श्रावक क्रिया, कही किमपि अवधार। अव दूजो ऐलक सुनो, है पुनीत अधिकार ॥११५॥
कटि कौपीन जु संग्रहै, पिछी कमंडल हाथ। पान पात्र आहार विधि, केश लुचावै माथ ॥११६॥
शीत घाम सव तन सहै, ऐलक सदा विराग। एकादश प्रतिमा धरै, सो श्रावक वड़भाग ॥११७॥

का मूल है, श्रेष्ठ गुणों का आकार है, एवं धर्मका आदि कारण— मूल बीज है। स्वयं जिनेन्द्र प्रभु ने इस वातको कही है। जिसमें असत्य एवं निन्दनीय वचनों का धृणा पूर्वक परित्याग कर, हितकारक, साररूपी धर्मके आकार सत्य वचनों को कहा जाता है उसको सत्य अणुव्रत कहते हैं और यह दूसरा है। सत्य वचन वोलने से संसार में स्वच्छ कीर्तिका विस्तार होता है। सरस्वती, कला, विवेक एवं चातुर्यकी अभिवृद्धि होती। यदि कदाचित दूसरेका धन विना जाने ही कहीं गिर गया है, भूलसे छूट गया है, ग्रामके किसी गुप्त स्थान में रखा है तो ऐसे धनको नहीं ग्रहण करना अचौर्य नामका अणुव्रत है और यही तीसरा है। जो लोग दूसरेके धनोंको चुरा लिया करते हैं उन्हे पाप-कर्म के उदयसे इसी लोकमें वध वन्धादि दुःखों को प्राप्त करते हैं और दूसरे जन्मों में भी नरक आदिकी यन्त्रणाओंको भोगते हैं। जिसमें जो अपनी स्त्रीके अतिरिक्त सम्पूर्ण स्त्रियोंको सर्पिणी-की तरह समझ कर उनसे अलग रहते हुए और अपनी यथा प्राप्त स्त्रीसे ही सन्तुष्ट रह जाता है इसे ब्रह्मचर्य नामका अणुव्रत कहते हैं और यह चौथा है। खेत, गृह, धन, धान्य, दासी, दास, पशु, आसन, शय्या वस्त्र और पात्र ये दस वाह्य परिग्रह हैं इन परिग्रहोंकी संख्या तथा लोभ और तृष्णाके लिए जिस व्रतका विधान है उसको परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत कहते हैं और यह पाचवां है। इस परिग्रह प्रमाणके करनेसे आशा और लोभका नाश होता है, सन्तोप धर्म और सुख सम्पदाएं प्राप्त होती है। दसों दिशाओं में आने जानेके लिये जो योजनादि मार्ग परिमाण या मर्यादा स्थिरकी जाती है वह दिग्व्रत नामका

चार दान का वर्णन

चौपाई

प्रथम दान आहार जु देय, भोगभूमि सुर सुख्य लहेय। दूजौ शास्त्र दान को गहै, यातैं धर्म ज्ञान गुण लहै ॥११८॥
औषधि दान देइ मन शुद्ध, तव निरोग द्युति धारै वृद्ध। अभय दान सव जीवन करैं, इन्द्र चक्रवर्ति पद सौं धरै ॥११९॥

दोहा

आभूषण पांचौ लहै, दूपण पांचौ त्याग। गुण सातौ जव उर धरै, नवधा पुण्य सुहाग ॥१२०॥

दातारके ५ आभूषण

चौपाई

आनंद आदर प्रिय वच कहै, निर्मल भाव जु उर में लहै। सफल जन्म करि अपना लेख, आभूपण पांचौं इम पेख ॥१२१॥

दातार के ५ दूपण

विमुख विलम्ब वचन आपेह, आदर चित्त करैं नहि तेह। देकर पश्चाताप जु करै, यह पांचों दूपण सो धरै ॥१२२॥

दाता के ७ गुण

श्रद्धा ज्ञान अलोभता जान, दया क्षमा निज शक्ति प्रमान। भक्ति सहित ये जानो सात, सो दाता जग गुण विख्यात ॥१२३॥

नवधा भक्ति का वर्णन

पड़गाहन पात्रहिको करै, उच्चासन वैठक पुन धरै। चरण धोय वन्दै कर जोर, विधि सौं पूजा करै वहोर ॥१२४॥
मन वच काय हर्ष मन आन, शुद्ध अहार देइ सुखखान। नव विधि पुण्य लहै यह सोइ, चौदह मल वर्जित अघ धोइ ॥१२५॥

चौदह मलों के नाम

जीव वद्ध जहं रोम जु चाम, मांस रुधिर अर हाड़ हि नाम। इन संगत की वस्तु न लेइ, दुरगंधा थानक तज देइ ॥१२६॥
कंद मूल फल रहित जु देइ, पान फूल वहु वर्जित जेइ। स्वाद रहित अरु वहु दिन वस्त, ये चौदह मल त्याग प्रशस्त ॥१२७॥

दोहा

पात्र अपात्र कुपात्र के, भेद वहुत परकार। उत्तम मध्यम जघनता, कहौं जथारथ धार ॥१२८॥

प्रथम गुणव्रत होता है तथापि अनेक कार्यो के आरम्भ करनेको अकारण ही वन्द कर देना अनर्थ दण्ड विरति नामका गुणव्रत कहा गया है। इस अनर्थ व्रतके पांच भेद हैं। पापोपदेश, हिंसा-दान, अप-ध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्य्या। जो इन्द्रिय रूपी पांच शत्रुओंको जीतनेके लिये भोग्योपभोग्य वस्तुओं का परिणाम निश्चित किया जाता है। वह भोगोपभोग परिणाम नामका गुणव्रत कहा जाता है। पाप नाश पूर्वक व्रत परि-पालनके लिये पापभीरु व्रतियोंके लिए सूक्ष्म जीव-वाले अदरख इत्यादि कन्द-त्याज्य हैं। इसी तरह कीड़ा के खाये फलोंको फूलों को और सम्पूर्ण अभक्ष्य वस्तुओंको विप और मलादि वस्तुओंसे व्याप्त समझकर छोड़ देना चाहिये।

घर टोला पड़ोस खेत मुहल्ला और वाजार इत्यादि स्थानोंमें आने जानेका नित्यशः प्रमाण निश्चित कर लेना है। उसको देशावकाशिक शिक्षाव्रत कहते हैं। वुरे ध्यान वुरी लेश्याओंका परित्याग करके जो प्रतिदिन तीनों समयमें सामायिक जाप किया जाता है उसे सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं। जो कि अष्टमी और चतुर्दशी (चौदस) के दिन अन्य सव कार्योको

चौपाई

उत्तम पात्र भेद त्रय सार, उत्तम मध्यम जघन विचार। तीर्थंकर छद्मस्थ प्रमान, आवें भोजन हित पुर थान ॥१२९॥
उत्तम में उत्कृष्ट हि पात्र, दान दिये तद्भव शिव जात्र। गणधर चार ज्ञान के धनी, अड़तालीस ऋद्धि जुत मुनी ॥१३०॥
उत्तम पात्रहि में ते जान, मध्यम पात्र कहे परवान। अष्टवीस गुण धारी हियें, षष्ठम गुणथानक तिथि कियें ॥१३१॥
उत्तम पात्र विषै मुनि तेह, पात्रजघन्य कहावें एह। मध्यम पात्रभेद त्रय सुनों, उत्तम मध्यम जघनहि गुनो ॥१३२॥
श्रावक ग्यारह प्रतिमा धार, ऐलक क्षुल्लक दोय प्रकार। मध्यम पात्र विषें उत्कृष्ट, देशव्रती ध्यावें परमेष्ट ॥१३३॥
दशमीतें सातमि लों जान, ब्रह्मचर्य पालें अघ हान। धरें चार प्रतिमा भवि जेह, मध्यम पात्रहि मध्यम तेह ॥१३४॥
षष्ठमितें पहिली लग जोई, धारै प्रतिमा श्रावक सोइ। विकथा व्यसन त्याग गुन मन्य, तेमध्यम पात्रहिं जु जघन्य ॥१३५॥
पात्र जघन्य सुनो त्रय भेद, उत्तम मध्यम जघन सभेद। क्षायिक सम्यग्दृष्टी होय, पात्र जघन्य हि उत्तम सोय ॥१३६॥
वेदक सम्यग्दृष्टि जान, सो जघन्य में मध्यम समान। उपशम सम्यग्दृष्टी जीव, पात्र जघन्य जघन्य कहीव ॥१३७॥
सवै द्रव्यलिंगी जे जती, गुण अट्ठाइस वाहिज रती। सम्यग्दृष्टि विना जग मांहि, ते कुपात्र उत्कृष्ट कहांहि ॥१३८॥
ब्रह्मचारि किरिया अनुसरै, द्रव्य लोभ अति उरमें धरै। सम्यग्भाव रंच नहिं लहै, ते कुपात्र मध्यम जग कहै ॥१३९॥
ब्रह्मचर्य वाहिज जे चहैं, द्रव्य तनों वहु संग्रह लहैं। समकित भाव न कवहूं भये, जघन कुपात्र ताहि वर नये ॥१४०॥
जो कुलिंग मिथ्या अनुसरें, रक्तपीत सित वस्त्रहि धरें। व्रत सम्यकत्व न जाने रंच, सो अपात्र उत्कृष्ट प्रपंच ॥१४१॥
नाना वेष धरें जगमांहि, समकित व्रत कछु जाने नाहि। मिथ्या मारग को आदरै ते अपात्र मध्यम अनुसरैं ॥१४२॥
व्रत सम्यक्त्व न जानैं मूल, उपजावें मिथ्यामत कूल। हिंसा करम करै अविकार, सोइ अपात्र जघन्य निहार ॥१४३॥
उत्तम मध्यम और जघन्य, ये ही तीन पात्र अभिमन्य। और कुपात्र अपात्रहि दोय, पाँच भेद ये जानो सोय ॥१४४॥
एक एक प्रति त्रय त्रय जान, ते सब पन्द्रह भेद प्रमान। जुदे जुदे फल तिनके सुनी, भविजन निश्चय के मन गुनी ॥१४५॥
उत्तम पात्र दान जो देई, उत्तम भोगभूमि फल लेइ। मध्यम को जो देय सुदान, मध्यम भोगभूमि परवान ॥१४६॥
पात्र जघन्य दान फल यहै, भोगभूमि तें अन्तिम लहै। यह सुपात्र फल जानो भेद, अव कुपात्र सुनिये तज खेद ॥१४७॥
दान कुपात्र तनें परभाव, लहैं कुभोग भूमिकी आव। अरु अपात्र को दीजै दान, तो पशुगति पावै दुखखान ॥१४८॥

दोहा

अहिमुख, कदली सीप जहं, स्वाति वून्द जलजोग। विष कपूर मोती मयो, सो विवदान निजोग ॥१४९॥
अंधकूप धन डारिये, सोइ भलो कर जान। दान कुपात्रहि देउ नहि, सज्जन करौ सयान १५०॥

छोड़कर नियम पूर्वक उपवास किया जाताहै उसको प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहते हैं। नित्य प्रति भक्ति पूर्वक जो मुनियोंको चार प्रकारकी विधिके साथ आहारादि तप किया जाता है उसको अतिथि संविभाग नामका शिक्षाव्रत करते हैं।

इस प्रकार मन वचन और कायकी शुद्धि हो जानेपर अतीचार यानी दोनों से रहित हो जाते हैं और जब इन पूर्वोक्त पांच महाव्रतोंके पालनेमें तत्पर रहते हैं उनके लिये द्वितीय व्रत प्रतिमा होती है। जो लोग अणुव्रतको धारण किया करते हैं उनको मृत्यु-समयमें आहार और कषायादिको छोड़कर उन्नत पद पानेकी इच्छासे मुनि चारित्र धारण कर लेना चाहिये श्रद्धा और विश्वास पूर्वक सल्लेखनाव्रत का पालन करना चाहिये। इसके वाद तीसरी प्रतिमाका नाम सामयिक प्रतिमा है और चतुर्थ प्रतिमा का नाम प्रोषधोपवास है। फल, वीज, पत्ते जल इत्यादि प्रायः सभी वस्तुयें जीव से युक्त है। तथा धर्म पालन करनेके लिये इसका परित्याग करना सचित्त त्याग प्रतिमा नामकी पांचवीं प्रतिमा है। मुक्ति के लिये रात्रि समयमें चारों प्रकार के आहारों का परित्याग किया जाता है और दिनके समय मैथुनका परित्याग है उसको षष्ठम प्रतिमा कहते हैं। जो इन पूर्वोक्त छः प्रतिमाओंका पालन करते हैं और मन,

अथ जलगालन क्रिया

सात लाख जल जानि जिय, अरु त्रस राशि अनेक। यातैं बुध जल गालिये, दयाभाव कर टेक ॥१५१॥

चौपाई

दीरघ छत्तिस अंगुल जान, अर चौरौ चौवीस प्रमान। गाढ़ौ वस्त्र दुगुन कर गाल, इहि विधि जीवदया प्रतिपाल ॥१५२॥
घरी दोय जल गालिउ रहै, फिर असंख्य त्रस जिय तहं लहैं। सो जल गालि गालि व्यौपरै, बिलछानी लै घट में धरै ॥१५३॥
सो निवान जल में ले करै, विधिसौं जाय बीच नहि गिरै। एक बूंद जो धरती परै, जीव असंख्य राशि तहं मरै ॥१५४॥
ताके भ्रमर होंय उड़ि गमैं, जम्बूद्वीप मांहि नहि समैं। यातैं शुद्ध गालिये नीर, अनगालें अघ हैं बहु वीर ॥१५५॥
प्रहर दोय प्रासुक जल रहै, आठ प्रहर तातौ निर वहै। फिर राखैं सन्मूर्च्छित जोइ, अरु गाले तैं हिंसा होई ॥१५६॥
दिन गालै जल न्हा नहि करै, होइ पाप धर्मंहि परिहरै। उत्तम विधि जल गालै सोइ, सो श्रावक किरिया अवलोइ ॥१५७॥

अन्थउ (व्यालू) क्रिया वर्णन

दोय घरी रवि उदय प्रमान, दोय घरी अंतिम दिन जान। इतने में भोजन जल लेइ, मैथुन दिवस हि त्याग करेइ ॥१५८६
इहि विधि किरिया जे जन करैं, सो स्रावक अंथउ व्रत धरै। अब रतनत्रय कहौं प्रमान, जथा जोग जिनशासन जान ॥१५९॥

अथ अष्टांग सहित सम्यग्दर्शन का वर्णन

दोहा

निःशंकादिक जानिये, दर्शन आठौ अंग। ते वनौं संक्षेप कर, जानौ बुध सरवंग ॥१६०॥

चौपाई

तत्व पदारथ सदा विचार, जिनमुद धर्म कहै भवतार। शंका रहित गुननको गहै, निःशंकादि कहावै वहै ॥१६१॥
तपसा मांहि रहै लौं लाय, श्रीमुख वानी चित्त लगाय। सुरग नरककी वांछा नांहि, निःकांक्षांग गुनो मन मांहि ॥१६२॥
कर्म महावन दिये जराय, प्रगटी मति उत्तम सुखदाय। विचिकित्सा तनव्यापै नांहि, निरविचिकित्सा अंग सुपाहि ॥१६३॥
देव गुरू धर्मंहि चित गिनै, ज्ञान चक्षुसौं निरखै तिनै। त्रिविध मूढ़कर रहित प्रवीन, यह अमूढ़ गुन नायक लीन ॥१६४॥

वचन और कायकी शुद्धि कर लेते हैं ऐसे जीवोंको मुनीश्वरोंने जघन्य-श्रावक कहा है और ये श्रावक स्वर्गमें जाते हैं। जो कि स्त्री जाति मात्रको अपनी माता समझ कर अहर्निश ब्रह्म स्वरुप आत्मामें लीन हो रहते हैं वह सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। पापभीरु पुरुषोंके द्वारा अत्यन्त निन्दनीय और अशुभ व्यापार गृहण आदिका परित्याग कर देते हैं वह अत्यन्त उत्तम आरम्भ परित्याग नामकी अष्टम प्रतिमा कही गयी है। जो वस्त्रोंको छोड़कर अन्य सम्पूर्ण पाप कर्मको आरम्भ करनेवाले परित्यागको त्याग मानसिक वाचनिक और कायिक शुद्धि-पूर्वक किया जाता है उसको परिग्रह परित्याग नामक नवमी प्रतिमा कही गयी है। जो विरक्त जीव इन नवों प्रतिमाओंका पालन किया करता है वह देव पूज्य श्रावक कहलाता है। जो कि गृहकार्य इत्यादि में अपने आहारमें धनोपार्जनकी मन्त्रणा गुप्ति से अपना मत नहीं प्रकट करते उसकी दसवीं अनुमति त्याग नामकी प्रतिमा है। जो दोष युक्त अन्नाहार को अभक्ष्य वस्तुओंकी तरह त्याग देते हैं और भिक्षाभोजन ही स्वीकार करलेते हैं वह एकादश उद्दिष्ट त्याग नाम की प्रतिमा कही गयी है। इन उपर्युक्त ग्यारह प्रतिमाओंको विविध उपायों द्वारा प्रतिदिन जो सेवन करते हैं वे त्रिलोकीके पूज्य और उत्कृष्ट श्रावक कहे गये हैं और श्रावक के प्रतिमा रूप वाले धर्मों का सदैव ध्यान रखते हैं वे स्वर्गके उत्तम सोलह सुखोंको प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार महावीर प्रभु अनुरागी जीवोंके हृदयमें श्रावक धर्मके उपदेशके द्वारा महान् हर्ष उत्पन्न करके [illegible] मुनियोंकी प्रसन्नताके लिए मुनि धर्मका उपदेश करनेमें प्रवृत्त हुए।

जिन शासन को सदा विचार, मिथ्यावत जाने न लगार। अपर ग्रन्थ को लोप हि करै, उपगूहन अंग्र हि विस्तरै ॥१६५॥
दर्शन व्रत तपसौं चल गये, तपसी रूप कुधर्मी भये। तिनको संवोधै थिर लावै, स्थितीकरण यह अंग कहावै ॥१६६॥
शठजन मुनिकै सन्मुख आवै, ज्यौं प्रसूत पशु मारन धावैं। धर्म जष्टि सौं ता मन हनै, सो वात्सल्य अंग चित गनै ॥१६७॥
कुमत कुग्रन्थ लोप सब करै, ज्ञान ध्यान तप नित विस्तरै। जैन शास्त्र परकाशै सदा, सो प्रभावना अंग हि जदा ॥१६८॥
दरशन गुन ये अष्ट अनूप, महा सवल नाशक अरिरूप। स्वर्ग मुक्ति को कारन यही, वेर वेर भव धारै नहीं ॥१६९॥

सम्यग्ज्ञान निरूपण

अब सुन आठ ज्ञानके अंग, व्यंजनोर्जित प्रथम उत्तंग। दूजी अर्थ समग्र वखान, तीजौ शव्दार्थक पहिचान ॥१७०॥
चौथो कालाध्ययन जानिये, उपध्यान पंचम मानिये। विनय सहित षष्ठम गुन रमौ, गुरु अनिह्नव भनौ सातमौ ॥१७१॥
वहु मान युत आठम जान, ज्ञान अंग ये आठ प्रमान। इनके भेद वहुत परकार, आगममैं वरनौं निरधार ॥१७२॥

सम्यक् चारित्र निरूपण

अव चारित्र त्रयोदश जद्य, जो पालहिं अलपहिं सावद्य। सो कहिये यह देश चरित्त, कह्यौ गृहीपद को प्रति नित्त ॥१७३॥
मुनि को पूरण चारित धार, वरनौं तप कल्याण मझार। यह रत्नत्रय नय व्यवहार, पालै जो श्रावक गुणधार ॥१७४॥

दोहा

ये त्रेपन किरिया विविध, पालै श्रावक होइ। षोडश स्वर्ग प्रजंत लौं, कहै इन्द्र पद सोइ ॥१७५॥

अथ यति धर्म का वर्णन

चौपाई

तीर्थंकर निरग्रन्थ पद धर्यौ, मोख पन्थ साधन को कर्यौ। तेहि भांति दियौ उपदेश, पुनर उक्ति भय कह्यौ न शेष ॥१७६॥
दह विध वाहिज ग्रन्थ जो कही, चौदह आभ्यंतर हैं सही। इनमें तिल तुप राखै कोई, तो भी मुनिपद सिद्धि न होइ ॥१७७॥
मुनि विन लहै नहीं निर्वान, अचल सासुतै सुख्य निधान। भावलिंग ऐसी विधि ठान, द्रव्यलिंग है अपर वखान ॥१७८॥
परिग्रहवंत मुनीपद कहैं, [अर तिनके वहु जनपद गहैं। सो कवहूं न लहैं शिव-सीव, भ्रमैं जगत दुख सहैं अतीव ॥१७९॥
पश्चिम भान उदय नहीं जोय, अगिन न सींरी कवहूं होय। तैसे मुनि जिनलिंग हि विना, मोख न पावैं भव भटकना ॥१८०॥
धन्य धन्य जे साधु महान, भोग तजें आतम थिति ज्ञान। धन्य धन्य जग को दई पीठ, धन्य धन्य शिव सम्मुख दीठ ॥१८१॥
तजी आश वनवास वसन्त, ऐसे मुनिमह वन्दन वन्त। यातैं साधै मुक्तिपद खेत, जती धर्म है वहु सुख हेत ॥१८२॥

अहिंसा आदि पांच महाव्रत, ईर्यादि पांच समितियां पंचेन्द्रिय-विजय अर्थात् विषयोंकी ओर अपनी इन्द्रियोंको न जाने देना, केशलोंच, सामायिक इत्यादि षट आवश्यक कर्म, नग्न स्नान-परित्याग, भूमिशयन, दन्त धावन परिवर्जन, एक समय भोजन एवं राग हीन खड़े ही खड़े भोजन करना इत्यादि अट्ठाईस मूलगुणका नाम मुनि धर्म है। इन सम्पूर्ण मूल गुणोंका सदैव पालन करते रहने चाहिये। प्राण विसर्जनका भी यदि समय उपस्थित हो जाय तो भी इनका परित्याग कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि इनके द्वारा तीनों लोककी सुख सम्पदाएं प्राप्त हो जाती हैं। मुनियोंके उत्तम गुणोंमें परिषहोंका जीतना, आतापन, आदि अनेक तप, वहुत उपवास, मौन धारण, इत्यादिकी गणना की गयी है। योगियोंको उचित है कि प्रथम उत्तमता पूर्वक निर्दोष होकर मूलगुणोंकी पालना करें और वाद में उत्तर गुणोंकी। योगियोंके धर्मके लक्षण दश हैं— उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप त्याग, आकिंचन, और ब्रह्मचर्य। ये धर्मोंके उत्पत्तिस्थान हैं। भव्यजीवोंके लिये उत्तर गुणों एवं पूर्वोक्त दश लक्षण धर्मोके द्वारा मूल गुणसे वर्त्तमान भव में ही मोक्षको प्रदान करने वाला परमोत्तम धर्म है। इसीके द्वारा सभी मुनीश्वर सर्वार्थ सिद्धि एवं तीर्थंकरकी सुख सम्पत्तिको चिरकाल तक भोगकर अन्तमें मोक्ष पदवीको प्राप्त करते हैं। धर्मके समान इस
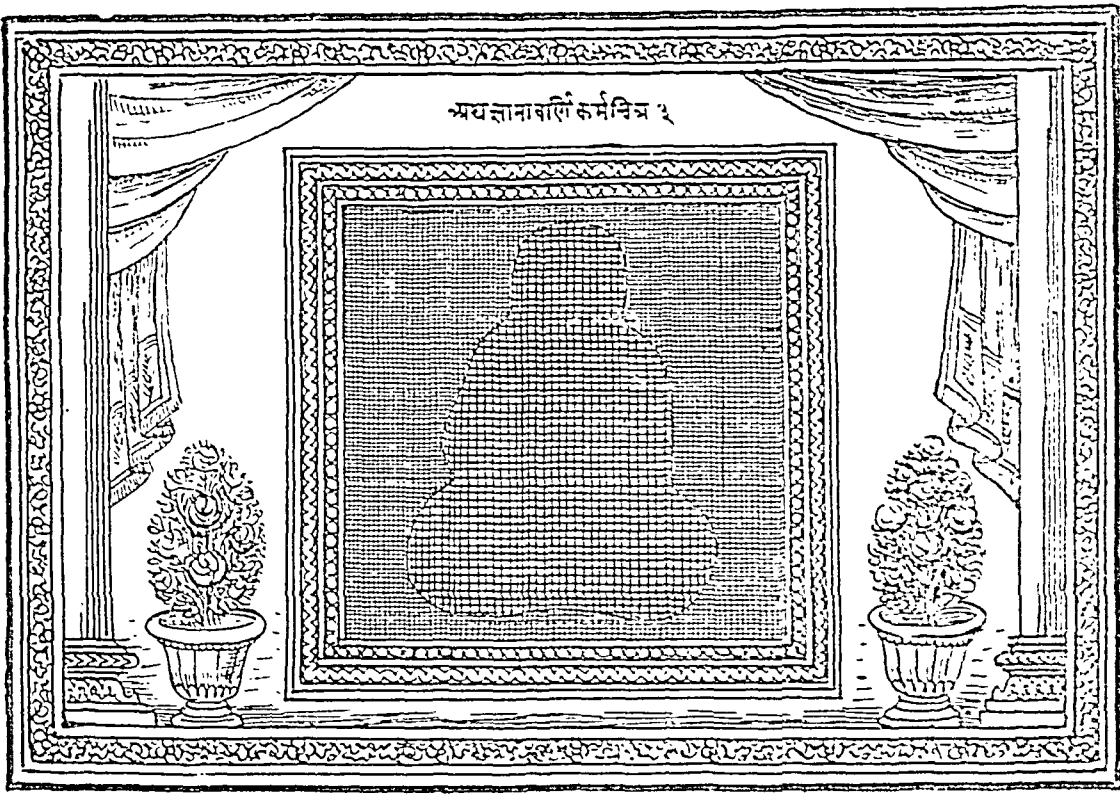
अथ ज्ञानावर्णी कर्मचित्र १

ज्ञानावर्णी कर्म का चित्र

दर्शनावर्णी कर्म का चित्र
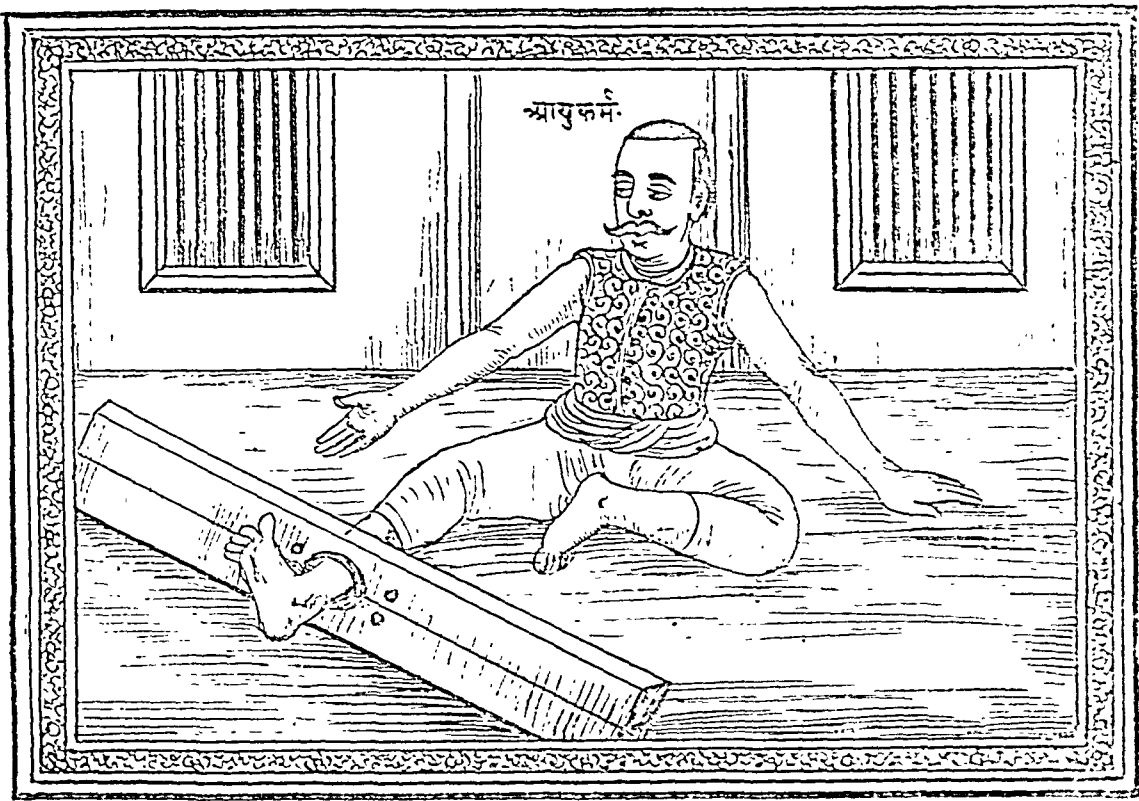
आयुकर्म

आयु कर्म का चित्र

नाम कर्म चित्र

गोत्रकर्म

गोत्र कर्म का चित्र
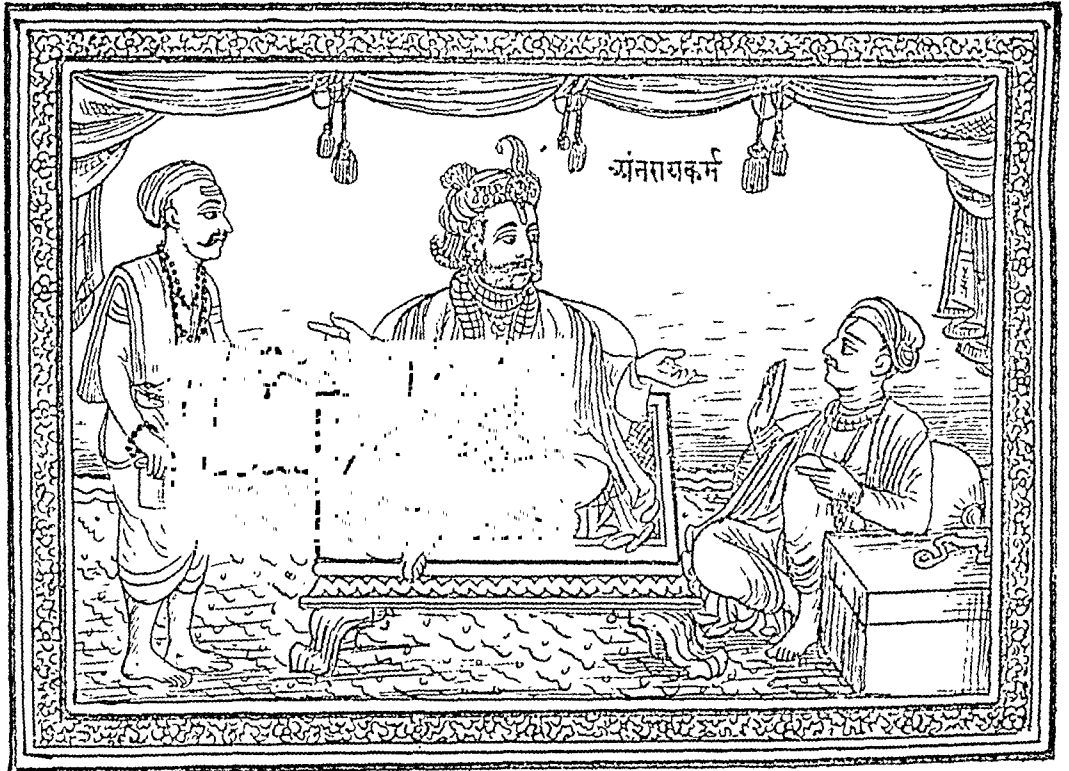
अंतरायकर्म

अंतराय कर्म का चित्र

दोहा

जती धर्म संक्षेपतैं, भाप्यौ इहि अस्थान। पूरण भाप्यौ जो कथन, तातैं वढ़त पुरान ॥१८३॥

अथ पट्काल वर्णन

अव रचना षटकाल की, सुनो सयाने लोय। जो भाप्यौ प्रभु व्यासतैं, प्रगट सुनाऊँ सोय ॥१८४॥

चौपाई

भरतखंड ऐरावत मांहि, छहौं काल वरतैं जु सदाहि। उत्सर्पिणि अवसर्पिणी पाय, रहंट घड़ी वत आवे जाय ॥१८५॥
भूतकाल उत्सर्पिणी जान, कोड़ाकोड़ि दशाब्धि प्रमान। छठवें तैं पहले लग जाय, वढ़ें रूप तन वल सुख आय ॥१८६॥
वर्तमान अवसर्पिणी काल, ताकौ भेद सुनौ कछु हाल। सो सागर दश कोड़ाकोड़ि, छहों काल कर मंडित जोड़ि ॥१८७॥
सुखमा सुखमा प्रथम विचार, कोड़ाकोड़ी सागर चार। ताकी आदि पल्य त्रय आव, तीन कोश तन तुंग लखाय ॥१८८॥
उदय अरुण रवि तन द्युति धार, वदरीफलवर्त दिव्य अहार। सो भी लेय तीसरैं दिना, मल निहार वर्जित तनु गिना ॥१८९॥
मद्य सूर्य आभूपन जान, वाहन ज्योति दीप ग्रह मान। भोजन भाजन वस्त्र प्रमान, ये दश कल्पवृक्ष परधान ॥१९०॥
करैं कल्पना मन में जिसी, भोग संपदा पुरवैं तिसी। ते सव सुख्य वरण को कहै, ग्रन्थ वढ़ै अरु पार न लहै ॥१९१॥
उत्तम पात्र दान जो देइ, उत्तम भोगभूमि पद लेइ। विकलत्रय नहि उपजै तहीं, पचेन्द्रीय असैंनी नहीं ॥१९२॥
मानुप अरु तिरंजच जु सोय, आर्जव भाव सदा अवलोय। तहं तैं मर सुर लोकहिं जाय, और न दूजी गतिहि लहाय ॥१९३॥
मध्यम सुखमा दुतिय प्रवीन, सागर कोड़ाकोड़ी तीन। आदि पल्य द्वय जीवन जाय, देह तुंग दो कोश सुभाय ॥१९४॥
पूणचन्द्र किरण जुत जिसौ, तन सो है अति निर्मल तिसौ। धात्री फलवत दिव्य अहार, तृप्ति हेतु दूजेदिन धार ॥१९५॥
मध्यम पात्र दान जे गहैं, मध्य भोगभूमि सो लहैं। पूरव कथित सुख्य तहं पाय, फिर सो स्वर्ग लोक को जाय १९६॥
तृतीय काल लघु सुख्यासुख्य, कोड़ाकोड़ि सिंधु द्वय तुल्य। आदि पल्य इक आयु प्रवान, देह कोश इक उन्नत जान ॥१९७॥
इक दिन वीतैं लेय अहार, तृप्ति जु हेत आम उनहार। तन सुवर्ण सम दीस सोइ, भोगभूमि यह अन्तिम जोइ ॥१९८॥
दश विधि कल्पवृक्ष सुखदाय, पूरववत सव शोभा थाय। पात्र जघन्यहि देहि जु दान, लहैं जघन्य भोग भू थान ॥१९९॥

संसारमें कोई दूसरा भव्यजीवोंके लिये न भाई हैं न स्वामी, न हितैपी है न पाप नाशक, सर्वतोभावेन सभीका कल्याण करने वाला यह धर्म ही है। इसके वाद प्रभुने कहा कि इस आर्यावर्त भरत क्षेत्र (भारत वर्प) में उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी नामक दो प्रकारके काल कहे गये हैं। ऐरावत क्षेत्रमें भी ऐसी ही व्यवस्था है। उत्सर्पिणी नामके कालमें रूप, वल; आयु, देह एवं सुखकी सदैव वृद्धि हुआ करती है शव्दके वास्तविक अर्थसे भी तो यही प्रकट होता है। यह उत्सर्पक काल वढ़ाने वाला है और यह दस कड़ाकोड़ी सागरका होता है। तथा अवसर्पिणी कालमें रूप, वल एवं आयु इत्यादिका नाश होता है इसलिये सम्भवतः इसका पर्याय नाम अवसर्पिणी रखा गया है। इनके पृक् पृथक् छः भेद हैं। अवसर्पिणीका पहला काल सुपमा है, और वह चार कोड़ा-कोड़ी सागरका है। इस कालकी आरम्भावस्थामें ही आर्य पुरुषोंका उदय हुआ। वे सूर्यके समान परम तेजस्वी एव स्वर्णके समान वर्ण वाले होते हैं। इनकी आयु तीन पल्यकी एवं शरीरकी ऊंचाई तीन कोसकी होती है। जब तीन दिन वीत जाते हैं तब उनका अलौकिक आहार वदलीफल (वेर)के वरावर हो जाता है। उन्हें नीहार यानी मलमूत्रकी वाधा एकदम नहीं होती। इस समय इनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति दस प्रकारके कल्पवृक्षोंके द्वारा हुआ करती है। मद्यांग, तूर्यांग, विभूषांग, माल्यांग, ज्योतिंग, दीपांग, गृहांग, भोजनांग, वस्त्रांग एवं भांजानांग ये कल्प वृक्षकी दस जातियां होती हैं। ये सब वृक्ष उत्तम पात्र दानके प्रभाव एवं फलसे पुण्य-परायण पुरुषोंकी आन्तरिक तथा वाह्य अभिलाषाओंको सदैव पूर्ण करनेके लिए कटिवद्ध रहते हैं और सुख-संपदाओं को प्रदान कर आनन्दित रखते हैं। श्रेष्ठ जीवन पुरुप एवं स्त्रीके रूपमें युगल (जोड़ा) उत्पन्नहोकर चिरकाल पर्यन्त सुख भोगों को भोगकर उत्तम परिणामके प्रभावसे सभी स्वर्गमें जन्म ग्रहण करते हैं। इसी कालकी भूमिका नामकी भोग भूमि जो सम्पूर्ण

दोहा

तृतीय काल के अन्त में, रह्यौ पल्य वसु भाग। चौदह कुल कर ऊपजै कह्यौ नाम वड़भाग ॥२००॥
प्रथमहि कुलतें अन्तरौ, दश दश भागहि हीन। पल्य भाग इमि गत भये, अनुक्रम सौं गन लीन ॥२०१॥

चौपाई

प्रतिश्रुत कुलकर प्रथमहि जान, रानी स्वयं प्रभा गुन खान। ज्योति रंग द्रुम मंद मह लयौ, चन्द्र सूर्य तव परगट भयौ ॥२०२॥
सन्मति मनुज जसस्वी नार, ज्योति रंग तव नाशहि धार। दिन निश नखत तार जुत देख, प्रजा वोध कीनी तिनि पेख ॥२०३
क्षेमंकर हि सुनंदा त्रिया, देखहु सिंह मृगहि वध किया। क्षेमंकर विमला वर लियौ, जष्टि ग्रहन उपदेश जु दियौ ॥२०४॥
सीमंकर मनोहरी दार, मन्द कल्पतरु करहि निवार। नाम सीमंधर धारन तपी, ग्रह उत्पति उपदेश्यौ ग्रती ॥२०५॥
विमलवाह त्रिय सुमति विचार, अंकुश आयुध गज असधार। चक्षु मान त्रिय धारणि ऐन, तव निज निज सुत देखै नैन ॥२०६॥
मनुज यशस्वी अमरा प्रिया, तव प्रसूत जात कम किया। मनु अभिचन्द्र श्रीमती कंत, पिता पुत्र क्रीडा करंत ॥२०७॥
चन्द्राभ हि प्रभावती जन्म पुत्र विवाह करन उत्पन्न। पुन मरुदेव अनूपम जान, नदी नाव किय गिरि सोपान ॥२०८॥
नृप प्रसेन अनुजज्ञा जासु, अभ्र पटल अरु जरा प्रकाश। नाभिराय मरुदेवी जही, नाभि जरायू उपजी सही ॥२०९॥
मेघवृष्टि घन गरजै घोर, चमकै विजली अति चहुं ओर। विकलत्रय उतपति तहं भई, सकल धान्य उपजन भुवि ठई ॥२१०॥

अडिल्ल

पल्यहि दशमैं भाग, प्रथम कुलकर थिती। दश लख कोड़ाकोड़ी, पूरव तिहि मिती॥
दश दश भागहि हीन, अवर क्रम क्रम लही। चोदश नाभि नरेन्द्र, पूर्व इक कोड़ ही ॥२११॥

दोहा

मन शत पच्चीसहि धनुप, नाभिराय जो काय। पच्चीसहि सौं वृद्धि क्रम, तीजै लौ गन भाय ॥२१२॥
दूजै कुलकर काय तहं, चाप तेरसै जान। प्रतिश्रुत प्रथम उतंग तन, धनु अठारसै ठान ॥२१३॥

सुखोंको देने वाली कही गयी है। वहां पर क्रूर स्वभाव वाले पंचेंद्री तथा दो इन्द्रियादि विकलत्रय नहीं होते। इसके सुखमा नाम के दूसरे काल का आरम्भ होता है। उसकी आयु तीन कोड़ाकोड़ी सागर की है। इस समयमें मध्यम भोग भूमिकी रचना होती है। और मनुष्योंकी आयु दो पल्यकी होती है। उनका शरीर दो कोस ऊंचा होता है एवं आकृति तथा वर्ण पूर्णचन्द्रके समान आकर्पक होता है। ये लोग दो दिनके अन्तरसे वहेड़ेके फलके वरावर आत्म तृप्तिके लिये अनुपम आहार ग्रहण करते हैं इनकी सुख सामग्री भी भोग-भूमि वालोंके ही समान रहती है।

इन दोनोंके वाद तीसरे सुखमा नामके समयका आरम्भ होता है। इसका प्रमाण दो कोड़ाकोड़ी सागरका है। इसमें जघन्य भोग भूमिकी रचना होती है। मनुष्यका आयुष्य-काल एक पल्य, शरीरकी ऊंचाई एककोस एवं आभा प्रियंगु वृक्षके समान होती है। इन लोगोंका अहारकाल एक दिनके वाद है और आंवलेके वरावर आहार मात्राका परिमाण है। इन्हें भी कल्प वृक्षोंसे ही विविध सुख-सामग्रियां प्राप्त हुआ करती हैं। इसके अनन्तर दुःखम सुखमा काल प्रवृत्त होता है और कर्म भूमि आरम्भ होती है। इसमें शलाका अर्थात् पदवी धारण करने वाले पुरुषोंकी उत्पत्ति होती है। इसका प्रमाण व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका है। मनुष्योंका आयु प्रमाण एक करोड़ वर्प पूर्व है। शरीरकी ऊंचाई पांच सौ धनुपकी है। तथा देहवर्ण पांच प्रकारका होता है। ये दिनमें एक वार श्रेष्ठ भोजनको ग्रहण करते हैं तिरेसठ शलाका पुरुप ऐसे ही समयमें उत्पन्न होते हैं।

त्रैलोक्याधिपति एवं इन्द्र इत्यादि जिन चौवीस तीर्थकरोंका नत मस्तक होकर नमस्कार किया करते हैं उनके नाम

चौपाई

चतुरथ काल सुनो अब भेव, दुखमा सुखमा नाम कहेव। सागर कोड़ाकोड़ी एक, सहस वियालिस घटत सु लेक ॥२१४॥
आदि पूर्व इक कोड़ि जु आय, धनुष पंचसैं उत्तम काय। पंच वरण नर तन द्युति गहै, नित्य अहार वार इक लहै ॥२१५॥
करमभूमि प्रगटी इहि थान, त्रिशटशलाका पुरुष महान। उपजैं क्रमसौं आरज थान, आदि अन्तलों काल प्रमान ॥२१६॥
चतुरवीस श्री जिनवर नाम, चक्रवर्ति द्वादश अभिराम। नव बल नव हरि नव प्रतिहरी, इनको भेद सौं कछु धरी ॥२१७॥
चौदम कुलकर नाभि नरेन्द्र, मरुदेव त्रिय आनन्द कन्द। तिनके ऋषभदेव जिन ठये, जुगलधर्म निरवारत भये ॥२१८॥

अडिल्ल

चौरासी लख पूर्व ऋषभ जिन आव है। ताकौ गिनती लिखौं वरष ठहराव है॥
उनसठ लख सतवीस सहस चालीस है। इतने कोड़ाकोड़ी अंक इकईस है ॥२१९॥

चौपाई

कलप वृक्ष सब गये पलाई, जग आचम्भ भयौ दुखदाई। क्षुधा तृषा कर पीड़ी प्रजा, आये प्रभु समीप कर रजा ॥२२०॥
कर्मभूमि को भेद बताय, सबको संबोधे जिनराय। असि मसि कृषि विद्या बहु वेष, वानिज पशुपालन उपदेश ॥२२१॥
जोलों कृषि उपजै अब मही, इक्षु अहार लेउ सब सही। तब सो जाय इक्षुरस लयौ, क्षुधा दुःख तिनकौ मिट गयौ ॥२२२॥
जय जय शब्द कियौ तिन आय, प्रभु इक्ष्वाक वंश सुखदाय। तहं पुन तीन वरन को थाप, शूद्र वैश्य क्षत्रिय प्रभु आप ॥२२३॥
क्षत्रिय वंश चार थपि साथ, निज इक्ष्वाकु सोम हरिनाथ। कुल विवाहकी सीख जु दई, धर्म क्रिया सब ही विधि ठई ॥२२४॥
प्रभु पांचौ कल्याणक साध, गये मोख त्रय जग आराध। जिनके तनुज भरत चक्रेश छहों खण्ड के अधिप महेश ॥२२५॥

दोहा

हूंठ मासकर हीन हैं, रही वरष तब चार। आदिनाथ जिन शिव गये, तीजै काल मंझार ॥२२६॥

निम्न लिखित हैं—ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान्स, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्वनाथ एवं श्री वर्द्धमान महावीर। ये धर्मके प्रवर्तक हैं और संसारके स्वामी हैं। बारह चक्रवर्ती हैं जिनके नाम निम्न लिखित हैं—भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थु-नाथ, अरनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेन, जयकुमार एवं ब्रह्मदत्त। नौ बलभद्र हैं जिनके नाम ये हैं - विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नान्दी, नन्दिमित्र, पद्म (रामचन्द्र) (राम) और बलदेव। नो नारायण हैं जिनके नाम ये हैं—त्रिपृष्ट, द्विपृष्ट, स्वयम्भू पुरुषोत्तम, पुरुष सिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण एवं श्रीकृष्ण। ये सबके सब तीनों खण्डोंके स्वामी, धीरवीर एवं स्वभावतः रौद्र परिणामी होते हैं। इन उपर्युक्त नौ नारायणोंके अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशुम्भ, कैटिभारि, मधुसूदन, बलिहन्ता, रावन और जरासन्ध ये नौ प्रति नारायण हैं। ये भी सब नारायणके ही समान सम्पत्तिशाली एवं अर्धचक्री होकर नारायणके शत्रु होते हैं। इन्हींको तिरसठ शलाका पुरुष कहा गया है। इन पूजनीय महात्माओंको मनुष्य, देव एवं विद्याधर प्रभृति सभी वन्दना किया करते हैं। श्री जिनेश महावीर प्रभुने इनके जन्म वृत्तान्तोंसे परिपूर्ण पृथक् पृथक् पुराण में सबको मोक्ष प्राप्तिके निमित्त विस्तार पूर्वक कहा। उन पुराणोंमें इनकी सम्पत्ति, आयु, बल, वैभव एवं सुखका विस्तृत वर्णन है। गणधर देव तथा अन्यान्य उपस्थित भव्य जीव समूहके सामने श्रीमहावीर प्रभुने इन सब बातोंको कहा।

इसके बाद पांचवें दुःखमकालका वर्णन उन्होंने आरम्भ किया दुःखमकाल नानाविध दुःखोंसे ओत-प्रोत है। इसका प्रमाण इक्कीस हजार वर्षका है। इस कालके आरम्भमें एक सौ बीस वर्षकी आयु वाले तथा ७ हाथ लम्बाईमें ऊंचे शरीरको धारण करने वाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इनकी बुद्धि मन्द होती है, शरीर रूखा होता है, सुखसे हीन होते हैं, बहुत बार भोजन करने

चौपाई

जो कोई यह विकलप कहै, तीजै काल मोख किम लहै। हुंडासर्पिणी दोप अतीव, त्रेशठ पद अंठावन जीव ॥२२७॥
प्रथम आदि जिन तीजै काल, पहुंचे मोख पंथ यह हाल। शांति कुन्थु अर नाथ भनेह, तीर्थंकर चक्रीपद येह ॥२२८॥
प्रथम त्रिपृष्ट नरायन भये, वर्धमान अन्तिम जिन ठये। भरतचक्र थापो द्विज वरण, ते अनेक पाप हि उद्धरण ॥२२९॥
अरु पांचों मिथ्यात्व जु भये, मानभंग पुन चक्री लये। तीर्थंकर उपज्यो उपसर्ग, भयो मूर्ति मिथ्याति हि वर्ग ॥२३०॥
गुरु प्रति कहै शिष्य फिर तबै, हुंडासर्पिणि उपजै कबै। सर्पिणी औ उत्सर्पिणी काल, जाय जबै सो अर अड़ताल ॥२३१॥
हुण्डा सर्पिणि जब ही होइ, ऐसे दोप प्रगट कहि सोइ। तितनें हुंड वीत जब जाय, विरह काल तब उपजै आय ॥२३२॥

दोहा

षट महिना परजंत लो, मोख पन्थ नहिं लाय। आठ समय वाकी रहैं, जिनमें ते शिव जाय ॥२३३॥
अब जिन जननी तातके, लिखौं नाम समुदाय। जनम पुरी को वरनऊं, त्रय कल्यानक थाय ॥२३४॥

तीर्थंकरों के माता पिता तथा जन्मनगरी के नाम

चौपाई

नाभिराय प्रथमहि जिन तात, मरुदेवी माता विख्यात। नगर अजुध्या धनदहि रची, नव बारह जोजन कर खची ॥२३५॥
जितशत्रुहि दूजै जिन पिता, विजयादेवी माता जुता। अवधिपुरी अति बनी सभोग, रची कुवेर जन्म संयोग ॥२३६॥
नृप जितारि तीजै प्रभु तात, सेनादेवी कहिये मात। सावित्री नगरी अति भली, त्रय कल्याणक शोभा रली ॥२३७॥
संवर नाम राय गुनधाम, चतुरथ जिनके पिता विराम। सिद्धारथ देवी है माय, नगर अजुध्या जन्म लहाय ॥२३८॥
मेघप्रभ जिन पंचम तात, सती मंगलादेवी मात। नगरी जनम अवधि पुर सोइ, देवन रची महामद खोइ ॥२३९॥
धारन नाम पिता को जान, देवि सुसीमा मात वखान। कौशांवी पुर नगरी सोइ, छट्टम जिनवर जन्म सु होइ ॥२४०॥
सुप्रतिष्ठ नामा नृप तात, पृथिवी देवी जानो मात। नगर वनारस जन्म जु भयो, सातम जिनपद सुरपति नयो ॥२४१॥
महासेन आठम जिन पिता, नाम सुलक्ष्मीदेवी जुता। सो प्रभु की इमि जानौ मात, चंद्रपुरी में जन्म विख्यात ॥२४२॥

वाले होते हैं और कुटिल परिणाम वाले होते हैं। इनका शरीर, आयु बुद्धि एवं वल इत्यादि दिनों दिन न्यून होता चला जाता है। तव दुःखमा २ नामका काल आरम्भ होता है इसका प्रमाण भी इक्कीस हजार वर्षका ही है। यह धर्म इत्यादिसे हीन अत्यन्त घोर दुःखोंको देने वाला है। उस समय मनुष्य केवल दो हाथ ऊंचे और वीस वर्षकी अवस्था वाले होते हैं। उनका वर्ण धूंएके समान काला एवं देखनेमें महाकुरूप होता है। प्रायः नग्नावस्थामें ही ये रहते हैं और इच्छानुसार भोजन किया करते हैं जव इस दुःखमा-दुःखमा का अन्तिम काल आ जाता है तव इन मनुष्योंकी ऊंचाई एक हाथकी रह जाती है और पशुओंके समान वृत्ति वाले होकर इधर-उधर फिरा करते हैं। इनकी आयु अधिक से अधिक १६ वर्षकी होती है। ये सव अत्यन्त निंदनीय होते हैं और बुरी जातिको प्राप्त करते है। जिस तरह कि अवसर्पिणी काल क्रमशः धीरे धीरे हीन होता जाता है, उसी तरह दूसरा उत्सर्पिणी काल उत्तरोत्तर वढ़ने वाला है। इतना कह चुकनेके वाद श्रीजिनेन्द्र महावीर प्रभुने लोकका वर्णन करना प्रारम्भ किया।

इस लोकका अधस्तल (निचला भाग) वेंतके आसन मोढ़ेके समान हैं वीचमें झालरसा लगा हुआ है, और ऊपरी भागमें मृदङ्गके आकारका वना हुआ है। इसोमें जीव इत्यादि छः द्रव्य भरे पड़े हुए हैं। इसके साथ ही प्रभु ने द्वीप इत्यादिका विशेप आकार तथा स्वर्ग और नरकका भी वर्णन कर चुकने के वाद कहा कि तीनों लोकमें जो भी कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें होने वाले शुभ अशुभ पदार्थ हैं। तथा इनसे पृथक् जो आलोका-काश है वे सभी केवल ज्ञानके ही द्वारा वास्तविक रूपमें जाने जा सकते हैं। जिनेन्द्र महावीर प्रभुने भव्य जीवोंकी भलाईके लिये तथा धर्म और तीर्थकी प्रवृति के लिये द्वादशांग

नृप सुग्रीव नवम जिन तात, रामादेवी तिनकी मात। काकंदी नगरी अवलोइ, धनद रची प्रभु आगम जोइ ॥२४३॥
दृढ़रथ राज पिता अभिराम, मात सुनन्दा देवी नाम। भागलपुरी दशम अवतार, नव बारह जोजन विस्तार ॥२४४॥
विष्णुकुमार जु कहिये तात, विमलादेवीजिनकी मात। सिंहपुरी एकादश थान, रची कुबेर हर्ष उर आन ॥२४५॥
नृप वसुदेव जु पिता बखान, मात जयावति देवी जान। बारम जिन चंपापुर ठये, तिनके पंचकल्याणक भये ॥२४६॥
कृतिधर्म नृप तात बखान, श्यामा माता ताकौ जान। तह कंपिला नगरी अवदात, तेरम जिनवर जन्म विख्यात ॥२४७॥
सिंहसेन राजा प्रभु तात, सूर्यादेवी कहिये मात। चौदम जिनपति सुरपति नयौ, नगर अजुध्या जन्म जु भयौ ॥२४८॥
भानु नाम राजा जिन तात, सुव्रतादेवी तिनकी मात। रत्नपुरी है जन्मस्थान, पन्द्रम जिनवर को पहिचान ॥२४९॥
विश्वसेन नृप पिता महान, ऐरादेवी जननी जान। हस्ति-नागपुर जन्म धरेव, षोडश जिनवर इन्द्रहि सेव ॥२५०॥
सूर्य नाम नृप पिता जु कहे, सिरीमती माता गुन लहै। हस्तिनागपुर जन्म सु लयौ, सत्रम जिन सुरनर मुनि नयौ ॥२५१॥
राज सुदर्शन तात प्रमान, देवी सुमित्रा माता जान। हस्तिनागपुर कहिये सोय, आठारम जिनवर अवलोय ॥२५२॥
पिता कुंभनृप जगविख्यात, प्रभावती है तिनकी मात। मिथिलापुरी जनम भगवान, एकवीस में जिनवर जान ॥२५३॥
समुद्र विजय नृप कहिये तात, शिवदेवी माता विख्यात। द्वारावती धनद ही रची, द्वाविंशति जिन जन्मन सची ॥२५४॥
अश्वसेन नृप तात बखान, वामादेवी माता जान। पुरी बनारस है अवदात, तेवीसम जिनवर विख्यात ॥२५५॥
सिद्धारथ नृप पिता जु भये, त्रिशलादेवी के उर ठये। कुण्डलपुर नगरी अवतार, चोवीसम अन्तिम जिन सार ॥२५६॥

चौवीस तीर्थकरों के चिन्ह, आयु, शरीर की ऊंचाई, वर्ण, मोक्षस्थान तथा अंतरकाल का वर्णन

दोहा

अब चौवीस जिनेशके, कहौं किमपि गुण गाय। लक्षण आयु उत्तंग द्युति, जिन अंतर समुदाय ॥२५७॥

पद्धड़ि छन्द

वृष लक्षण वृषभ जिनेश भाय, पूरव चौरासी लाख आव। सत पंच धनुष तन तुग पोख, द्युति हेमवरन कैलाश मोख ॥२५८॥
अन्तर लख कोड़ पचास सिंध, जिन अजित भये लक्षण गयंद। लख पूर्व बहत्तर आयु धर्ण, शत ढौंच धनुप तन हेम वर्ण ॥२५९॥
गत तीस लक्ष सायर हि कोड़, संभव जिन लक्षण तुरिय जोड़। थिति साठ लाख पूरव गनेह, सत चार धनुप द्युति हेम देह ॥२६०॥

रूप वाणीके द्वारा सबका वर्णन किया। जिस प्रकारकी चन्द्रमाको सुधास्रावी कहते हैं और उससे बराबर अमृतचुआ करता है उसी प्रकार जिनेन्द्र महावीर प्रभुके मुख चन्द्रसे निकलने वाले ज्ञानोपदेश रूपी अमृतको कानोंके द्वारा पीकर (सुनकर) श्री गौतम स्वामीने मिथ्यात रूपी भयानक विषको उगल दिया और काल लब्धि (उत्तम भवितव्यता)वश सम्यक्दर्शनसे युक्त होकर संसार शरीर और भोग इत्यादिसे विरक्त हो गये और अपने मनमें उन्होंने इस प्रकार विचार करना आरम्भ किया। उन्होंने कहा मैंने मूर्खतावश चिरकाल पर्यन्त सम्पूर्ण पाप कार्योंको उत्पन्न करने वाले अत्यन्त निन्दनीय और अशुभ मिथ्या-मार्गका व्यर्थ ही सेवन किया। जिस प्रकार भ्रममें पड़कर कोई मनुष्य विषधारी सर्पको माला समझकर गले में धारण करनेके लिये उठा लेता है उसी प्रकार मैं भी भ्रममें ही पड़ गया धर्मके धोखेमें मिथ्यात्वरूपी महा पापोंको ग्रहण कर लिया। धूर्तोंके द्वारा बनाये गये अज्ञान मिथ्यात्व मार्गमें फँसकर महामूर्ख लोग महाभयंकर और घोर नरकमें दुःसह यन्त्रणाओंको भोगनेके लिये जोरोंसे गिराये जाते हैं और वहां पर इनको भीषण दुर्गति होती है। मदिराको पीकर जो एकदम मन्दोन्मत्त हो गया है वहां मल मूत्रादिका किस प्रकार ध्यान रख सकता है? जो सम्यक् दर्शनसे हीन हैं वे मतवालोंकी तरह ही अशुभ मार्गमें जा गिरते हैं। अन्धा पुरुष यदि मार्ग चलता है तो वह कुएं में गिरनेसे कैसे बच सकता है? मिथ्यात्वसे जिनकी आंखें अन्धी हो गयी हैं वे नरक रूपी कुएं में अवश्य ही गिर पड़ते हैं यह मिथ्यात्व मार्ग अत्यन्त हेय है। यह दुष्टोंको नरकमें पहुंचा देनेका साथी है और इनका आदर भी जड़मति

दश लक्ष कोड़ि सायर गतीस, जिन अभिनन्दन लक्षण कपीस। पच्चास लाख पूरव सु आव, धनुशत साढ़ेत्रय हेम भाव ॥२६१॥
नव लाख कोड़ि सायर वितीत, जिन सुमति चिन्ह चकवा पुनीत। जीवत पूरव चालीस लाख, सत तीन धनुप तन हेम भाख ॥२६२
नव्वै हजार सायर हि कोड़ि, जिन पद्म पद्मदल चिन्ह जोड़ि। तिनि तीस लाख पूरव सु आव, अढ़ाई शत धनु तन अरुन भाव ।२६३
नव सहस कोड़ि सायर गनेह, स्वस्तिक सुपरस लक्षण भनेह। लख बीस पूर्व जीवित प्रमान, शत धनुप दोय तन हरित जान ।२६४
नव शय जु कोड़ि सायर गमाय, चन्द्रप्रभ लक्षण चन्द्र पाय। दश लाख पूर्व सब आयु तास, शत डेढ़ धनुप वपु श्वेत भास ।२६५
गय नवै कोड़ि सागर प्रजंत, सो मगर चिन्ह जिन पहुप दंत। प्रभु आयु लाख द्वय पूर्व जान, सो धनुप तुंग तन श्वेत मान ॥२६६॥
नवकोड़ि सिंधु कालहि गमाय, शीतल श्री तरुवर चिह्नपाय। तिनि एक लाख पूरव जु आयु, अरु नवै धनुप तन हेम ठायु ।२६७
तह एक कोड़ि सायर गतेह, सौ सायर तामें हीन लेह। घट छयासठ लाख जु वरप और छब्बीस सहस पुन करहु ठौर॥
तव उपजे श्री श्रेयांसनाथ, लक्षण गेंडा द्युति हेम साथ। जीवत चौरासी लाख वर्ष, धनु असी तुंग काया जु पर्ष ॥२६९॥
गत चौवन सागर जवहि जिन्ह, श्रीवासुपूज्य महिपा जु चिन्ह। जिन सत्तर लाख जु आयु होय, सत्तर धनु वपु द्युति अरुण जोय॥
सायर हि तीस गत जवहि होइ, जिन विमल वराह जु चिन्ह सोइ। है साठ लाख जीवित सु आय, धनु साठ हेम द्युति वरिय काय॥
नव सागर का युग माइ जिह्न, उपजे अनन्त सेही जु चिह्न। है तीस लाख को आयु तंह, पंचास धनुप द्युति है सदेह ॥२७२॥
सागर जो चौ गत वर्ष होंय, जिन धर्म वज्र लक्षण हि सोय। दश लाख आयु द्युति हैम रंग, पैंतालिस धनु काया उतंग ॥२७३॥
त्रय सागर हीन हि पल्य पौंन, जिन शांतिनाथ मृगचिह्न हीन। है एक लाख तनु आयु जान, चालीस धनुप तन हेमवान ॥२७४॥
गत आध पल्य जव वरष जांय, जिन कुन्थु, चिह्न छेरी वताय। पंचानव सहसहि तिथि गनेह, पैंतीस धनुप जुति हैमदेह ॥
है पाव पल्य गत वरप जोड़ि, तामें घट एक सहस्र कोड़ि। अर मीन चिह्न धनु तीस काय, द्युति हेम सहस चौरासि आय ॥२७६॥
इक सहस कोड़ि गत वरप सोइ, जिन मल्लि कलश लांछन सु होय। पचमन सहस्र तिस आयु ठान, पच्चीस धनुप वपु हेमवान॥
जव चौवन लाख जु वरप जांय, मुनिसुव्रत कच्छप चिह्न पाय। तह तीस सहस थिति लही जास, धनु बीस काय द्युतिश्याम भास॥
छह लाख वरप जव काल जाइ, नमिनाथ कमल लक्षण सुधार। दश सहस आयु जिनकी वखान, धनु पंद्रह काय जु हेमावन॥
तहं पांच लाख वरपें वितीत, जिन नेमि शंख लक्षण पुनीत। थिनि एक सहस को लही तेह, दश धनुपकाय द्युति श्याम लेह॥
गत सहस तिरासी साढ़ सात जिन पारस-चिह्न फनेन्द्र जात। इकशत वरपैं जीवित सुथान, नव हाथ काय द्युति हरित जान॥
ढाई सय जह जव वरप जाय, जिनवीर सुलक्षण सिंह थाय। थिति-वरप वहत्तर हेमवर्ण, वपु सात हाथ जग दुरित हर्ण॥

दोहा

भये चतुर्दश इक्षु कुल, यदु कुल वंश मझार। पुनि हरिवंशी चार जिन, है दोइ उग्र अवधार ॥२८३॥
वासुपूज्य चम्पानगर, नेमि मोक्ष गिरि शीस। पावापुर श्री वीर जिन, शिखर समेद हि वीस ॥२८४॥

जीव किया करते हैं। इस मिथ्यात्वको सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र इत्यादि धार्मिक राजाओंका उग्र शत्रु समझना चाहिये। इसे जीव भक्षक महाविपधारी और विशाल अजगर सांपसे कदापि कम नहीं समझना चाहिये। यह सम्पूर्ण पापोंका उत्पत्ति स्थान खानि है। जिस प्रकार कि गौओंके सींगसे दूधका मिलना, पानीके मथनेसे घीका निकलना दुर्व्यसनोंसे प्रशंसा प्राप्त करना, कृपणतासे प्रसिद्ध होना और नीच कर्म से धनोपार्जन करना असम्भव है उसी प्रकार मिथ्यात्वके द्वारा अज्ञानी पुरुषोंकी शुभ वस्तु, श्रेष्ठ सुख और उत्तम गति कदापि नहीं मिल सकती। धर्महीन मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व आचरणके कारण भयंकर दुःख और दुर्गति रूप नरकमें ही पड़ते हैं। इसलिये हे प्राणियो, स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धि प्राप्त करनेके लिये चतुर बुद्धिमानोंको उचित है कि, अपने मिथ्यात्व रूपी महा-शत्रुओंको सम्यक् दर्शन रूपी तीक्ष्ण तलवारसे काटकर शीघ्र ही नष्ट कर डाले।

आज मेरा जन्म सफल हो गया और अब मैं धन्य हूं! अत्यन्त अधिक पुण्योंके उदयसे ही हमें जगद्गुरु श्री जिनेन्द्र देव के समान महाज्ञानी गुरु प्राप्त हुआ। इनके अनुपम उपदेशमें जो कहा गया है वही सत्य, सरल और श्रेष्ठ मोक्षका मार्ग है।

बलभद्र का रनिवास   विजय बलभद्र, त्रिपृष्ठ नारायण   नारायण का रनिवास
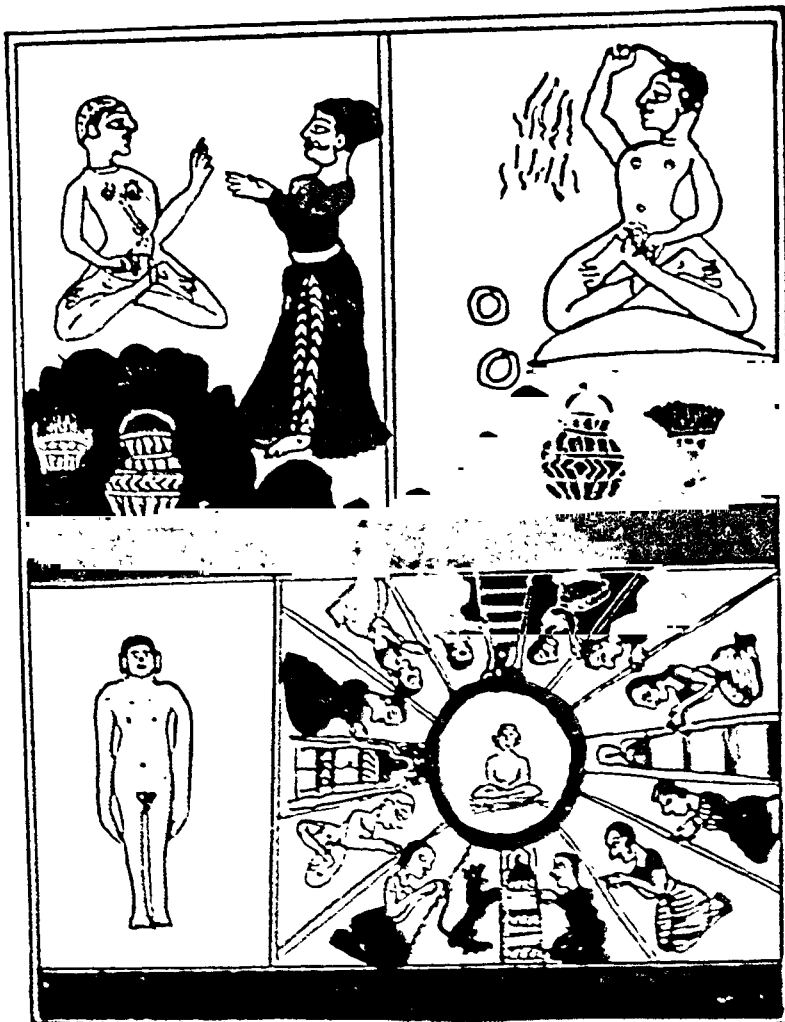
ऊपर – श्री बलभद्र का वैराग्य तथा केशलोंच।
नीचे – ध्यानारूढ़ की वर्धमान स्थिति। गंधकुटी की रचना।

चक्रवर्तियों का परिचय

प्रथम भरत-चक्री को नाम, प्रथमहि जिन वारै अभिराम। दूजै सगर चक्रवति जान, वर्तमान दूजै भगवान ॥२८५॥
मघवा तृतिय चक्रवति हुए, धर्मनाथ जिन शिव जव गये। सनत्कुमार चतुर्थम कहे, तिनि पीछे कछु क्रमसों लहे ॥२८६॥
शांतिनाथ जिन चक्री आय, सो पंचम पद भविजन जाय। षष्ठम कुन्थुनाथ चक्रेश, अरहनाथ सप्तम अवनेश ॥२८७॥
तिनहीतैं कछु काल गमाइ, अष्टम चक्रि सुभौम कहाइ। मल्लिनाथ शिव गय बहुकाल, महापद्म नमचक्र विशाल ॥२८८॥
मुनिसुव्रत कछु काल व्यतीत, दशम चक्रि हरिषेण पुनीत। जिन नमिनाथहि वारै भए, एकादशम विजय नृप ठये ॥२८९॥
पास जिनेश्वर के व्रत मान, ब्रह्मदत्त द्वादशम वखान। अब वल हरि प्रतिहरिकै नाम, नारद जुत वरणों अभिराम ।२९०।

अथ वलभद्र-नारायण और प्रतिनारायणों और नारदों का परिचय

श्री श्रेयांसनाथ व्रतमान, प्रथम विजय वलदेव वखान। हरि त्रिपृष्ठ तिन भ्रात जु जोड़, अश्वग्रीव प्रतिहरि तहं होइ ॥
तिन सम्बन्धी नारद भीम, मुनिव्रत गहै तजै व्रत सीम। वासुपूज्य जिनवर के समैं, हलधर अचल दुतिय जगनमैं ॥२९२॥
हरि द्विपृष्ठ तारक प्रतिहरि, महाभीम नारद पद धरी। विमल जिनेश्वर वारैं जोड़, धर्मवली तीजो पद सोड़ ॥२९३॥
हरि जु स्वयंभू गुणहि समुद्र, मेरक प्रतिहरि नारद रुद्र। पुन अनंत जिन वारै भये, सुप्रभ वलि चौथे वरनये ॥२९४॥
पुरुषोत्तम हरि तिनके भ्रात, मधु-कैटभ प्रतिहरि अवदात। महारुद्र है नारद ठौर, धर्मनाथ वारै सुन और ॥२९५॥
नाम सुदर्शन पंचम वली, पुरुष सिंह नारायण मिली। अरु निशुम्भ प्रतिहरी सुजान, काल नाम नारद पहिचान ॥२९६॥
अरहनाथ बहु कालहि गये, अरु सुभौम चक्रीके भये। षष्ठम आनंद वल उपजेह, पुण्डरीक नारायण तेह ॥२९७॥
पुन प्रतिहरि प्रह्लाद जु भये, महाकाल नारद तहं ठये। मल्लिनाथ जिन किंचित काल, नन्दमित्र सप्तम वलि हाल ॥२९८॥
अरु श्रीदत्त हरी विख्यात, वलि प्रतिहरि को कीनों घात। दुर्मुख नारद नाम कहाय, अधिक प्रपंची कुपिरद धाय ॥२९९॥
मुनिसुव्रत जिन शिवपद गये, पुनि हरिषेण चक्रवति भये। तिनहीतैं कछु काल गमाइ, अष्टम रामचन्द्र वल भाइ ॥३००॥
लक्ष्मण नारायण पद जान, प्रतिहरि रावण प्रगट वखान। नरमुख नारद नाम कहाय, विद्यावल बहु करै उपाय ॥३०१॥
नेमीनाथ जिन वारै भये, हलधर पद्म नवम वरनये। कृष्ण नरायण जग परधान, जरासंध प्रतिहरि पहिचान ॥३०२॥
उन्नत मुख नारद तिहि थान, अब एकादश रुद्र वखान। भीम प्रथम शंकर जानिए, प्रथमहिं जिन वारै मानिये ॥३०३॥

११ रुद्रों का परिचय

वल दूजै रुद्रहि को नाम, अजितनाथ वारै वलिराम। जित शत्रु हि तीजे पशुपती, पुष्पदंत वारै उतपती ॥३०४॥
विश्वानल चौथो शिव जान, शीतल जिन समयै पहिचान। श्रेय समैं सुप्रतिष्ठ जु रुद्र, पंचमसों है पाप समुद्र ॥३०५॥
वासुपूज्य जिन वारै ठये, अचलरुद्र षष्ठम वर नये। विमलनाथ के समयै कहै, पुण्डरीक शिव सप्तम लहै ॥३०६॥
पुन अनंत जिन वारै मांहि, रुद्र अजित धर अष्टम ताहि। धर्म जिनेशहि के व्रतमान, जितनाभि हि शंकर पहिचान ॥३०७॥
शान्तिनाथ जिन समै सुजान, पिंगोत्तम शिवदशम वखान। पुनः सात्यकि स्यान सु नाम, एकादशम वीर जिन ठाम ॥३०८॥

इसीसे सम्पूर्ण सुखोंकी प्राप्ति हो सकती है। मेरे हृदयमें जो दर्शनमोह यानी मिथ्यात्व रूपी निविड़तम अन्धकार व्याप्त था वह प्रभुके उपदेशरूपी तेजस्वी किरणोंसे शीघ्र ही नष्ट हो गया और अब वहाँ एकदम प्रकाश सा जान पड़ रहा है। ऐसा सोचकर वह विद्वद्वर विप्र गौतम धर्म एवं धर्मके उत्तमोत्तम फलोंको सोचने लगा। वह आनन्दके कारण उछलने लगा। उसने विरक्त होकर निश्चय किया कि मोह इत्यादि शत्रु सैन्यके साथ मिथ्यात्व रूपी महाशत्रु की सन्ततिका मूलोच्छेद करनेके लिए हमें जिनदीक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिये। इसीसे मोक्षकी प्राप्ति होगी और अक्षय सुख मिलेगा। इसके बाद बाहरके दस और भीतर के चौदह परिग्रहोंका परित्याग कर उन्होंने मन वचन और काय शुद्धिकी और अपने अन्य दोनों भाइयोंके साथ श्रद्धा-भक्ति पूर्वक

अब चौवीस मदन द्युति धाम, आगम उक्त कहों जिन नाम। वाहूवल प्रथमहि जिन पुत्त, दूजे अमिततेज गुन जुत्त ॥३०९॥
श्रीधर उपजे तीजे काम, अरु दशभद्र चतुर्थम ठाम। प्रसेनचन्द्र पंचम गुन मूल, चन्द्रवरण छट्ठे सम सूल ॥३१०॥
अग्निमुक्त सातम गुणधार, आठम कहिये सनत्कुमार। वत्सराज नवमें वरनये, कनकप्रभ दशमें जग भये ॥३११॥
मेघवर्ण एकादश मेश, द्वादश में श्री शान्ति जिनेश। कुन्थुनाथ तेरम पद जान, अर जिन चौदह में परवान ॥३१२॥
विजयराज पन्द्रम अवतार, श्रीचन्द्र षोडश में धार। नलराजा सत्रम गुणखान, अट्ठारम हनुमंत सुजान ॥३१३॥
वलराजा उनवीसम ठये, वसूदेव वीसम स्मर भये। इकवीस में पदम सु होइ, नागकुमार वाइसम सोइ ॥३१४॥
तेवीसम श्रीपालकुमार, जम्बूस्वामि अंतपद धार। एक सव कामदेव वरनये, देव भये केई शिव गये ॥३१५॥

दोहा

ये सव पदवीधर पुरुष, चतुरथ काल मनेइ। नरपति खगपति सुर असुर, चरन नमित अरचेइ ॥३१६॥
पृथक पृथक तिन गुननके, भावं सकल पुरान। श्री जिन गौतम प्रति कहा, भूत भविष्यत मान ॥३१७॥

चौपाई

अव कवहूं दुखमा पंचम काल, दुख पूरित नर देखौ हाल। इकसहजार वरष परवान, जिनवर धर्म जहां लग जान ॥३१८॥
ताके आदि मनुषकी आव, विंशोत्तर इकसय वरषाव। सात हाथ उत्तंग जु देह, रूखी अतिसुख वर्जित तेह ॥३१९॥
मन्दमती कुटिलाशय सोइ, दिन प्रति वहु दुख भोजन होइ। कलकी अरु उपकलकी लहैं, पंचसैं वरष वीच नृप दहै ॥३२०॥
होंहि कुलिंगी वेष अनेक, अरु पाखंड प्रगट कर टेक। गहै सूत मिथ्यात्व अपार, सोई कुगति पंथ पग धार ॥३२१॥
विरलै भवि श्रावक व्रत धार, आर्जव परिणामी सुविचार। जाय विदेह केवली होय, कै सुरलोक लहैं सुख सोय ॥३२२॥
दुषमा दुषमा छट्ठम काल, सो इकवीस सहस दुख जाल। धर्म विवर्जित द्वै कर देह, धूम्रवरण द्युति है विन गेह ॥३२३॥
जीवन वीस वरसको आदि नगन सदा वस्तर वे वादि। स्वेच्छ अहार पत्र फल खाइ, गिरि कंदर पशुवत जुरहाइ ॥३२४॥
काल अन्त इक हाथ शरीर, षोडश वरष आव तस वीर। मरकै दुर्गति सवै लहाहि, मत जिन क्रिया न जानैं काहि ॥३२५॥
ठाकुर दास न कोई होइ, अगिन प्रजालन भेद न सोइ। माता त्रिया वहिन सव खेद, ज्ञान विना जानें नहि भेद ॥३२६॥
काल अंत सुरपति मन जान, प्रलय होय अव आरज थान। आज्ञा दई नियोगी देव, कछु जीवन की रक्षा लेव ॥३२७॥
सोह तहं आये न कीनी वेर, इक इक जाति जीव सव ठेर। जुगल वहत्तर लै लै जोइ, राखें निकट विज्यारथ सोइ ॥३२८॥
पृथिवी अगिन पवन जल जोर, इत्यादिक वरषै घनघोर। लवणसमुद्र मजाद हि छोर, प्रगटौ वहु जल आरज ओर ॥३२९॥
दिन उनचास भयौ उतपात, आरज खंड सकल जिय घात। सो जल निघट्यौ उदधि समाय, चित्राभूमि रही ठहराय ॥३३०॥
फेर शरकरा स्वाद समान, वरष मृतिका तिहि अस्थान। इहि विधि सर्पिणि काल प्रमान, सो संक्षेपहि कहौ वखान ॥३३१॥

जिनेन्द्रकी दिगम्वर (नग्न) मुद्रा धारण कर ली। वादमें पांचसौ शिष्योंको उन्होंने तत्व स्वरूपका उपदेश दिया। जिसे सुनकर वहुतोंके हृदयका अन्धकार दूर हो गया और पूर्वोक्त दोनों प्रकारके परिग्रहों का परित्याग कर मुनि चरित्रको ग्रहण कर लिया। साथ ही वहां पर उपस्थित राज कन्याएं और अन्य सुशील स्त्रियां भी उपदेशको सुनकर प्रभावित हुई और अभीष्ट सिद्धिके लिये प्रसन्नता पूर्वक उसी समय अर्जिकाएं हो गयी। कितने ही शुभ परिणामी नर-नारियोंने श्री जिनेन्द्रदेवके उपदेशके अनुसार श्रावक के व्रतोंको ग्रहण कर लिया। सिंह, सांप इत्यादि हिंसक पशुओंने भी उस अमृत उपदेश के प्रभावसे अपने अपने हिंसक स्वभावको छोड़कर श्रावकोंके व्रतोंको स्वीकार कर लिया। चारों जातिके देव और देवियां, तथा मनुष्य एवं पशुओंने प्रभुके वचनामृतको
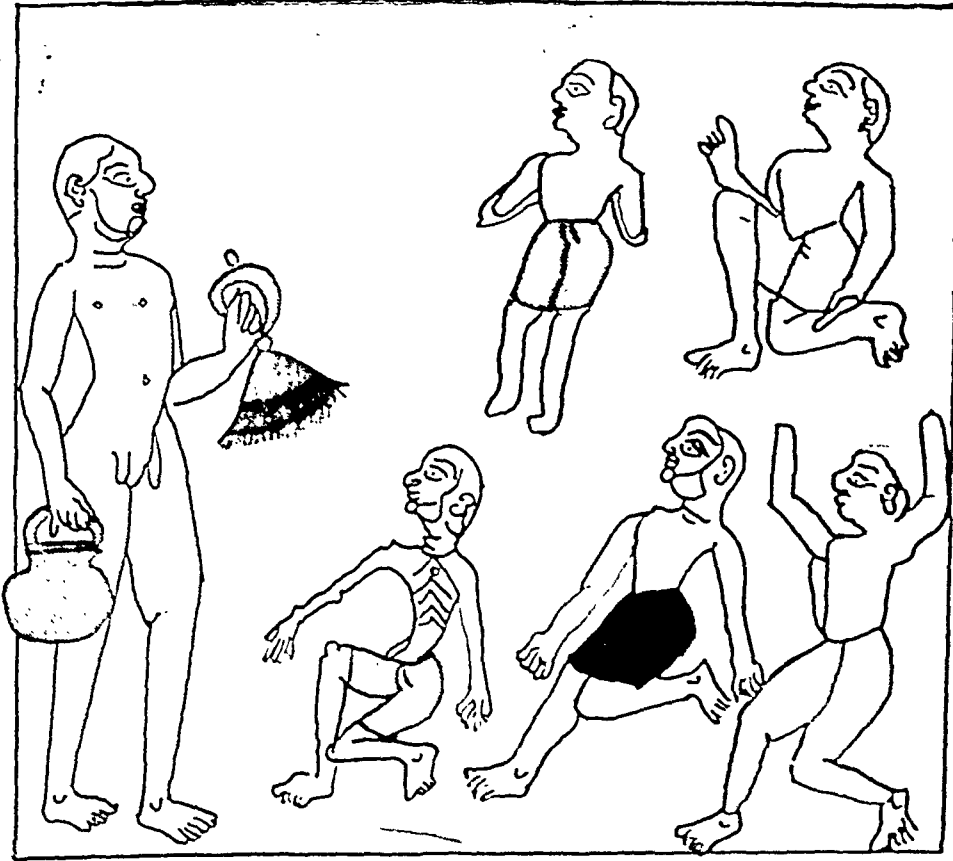
ऋद्धिधारी मुनियों के अतिशय से या उनके हवा लगने से
लंगड़े, कुष्ठ रोगियों का रोग दूर हो गया इस भांति से
आनंदित होकर नाच रहे हैं ।

ऋद्धिधारी मुनि का अतिशय कुष्ठ रोगी दर्शन करने से ठीक हो गए और आनन्द से नृत्य करते हैं ।
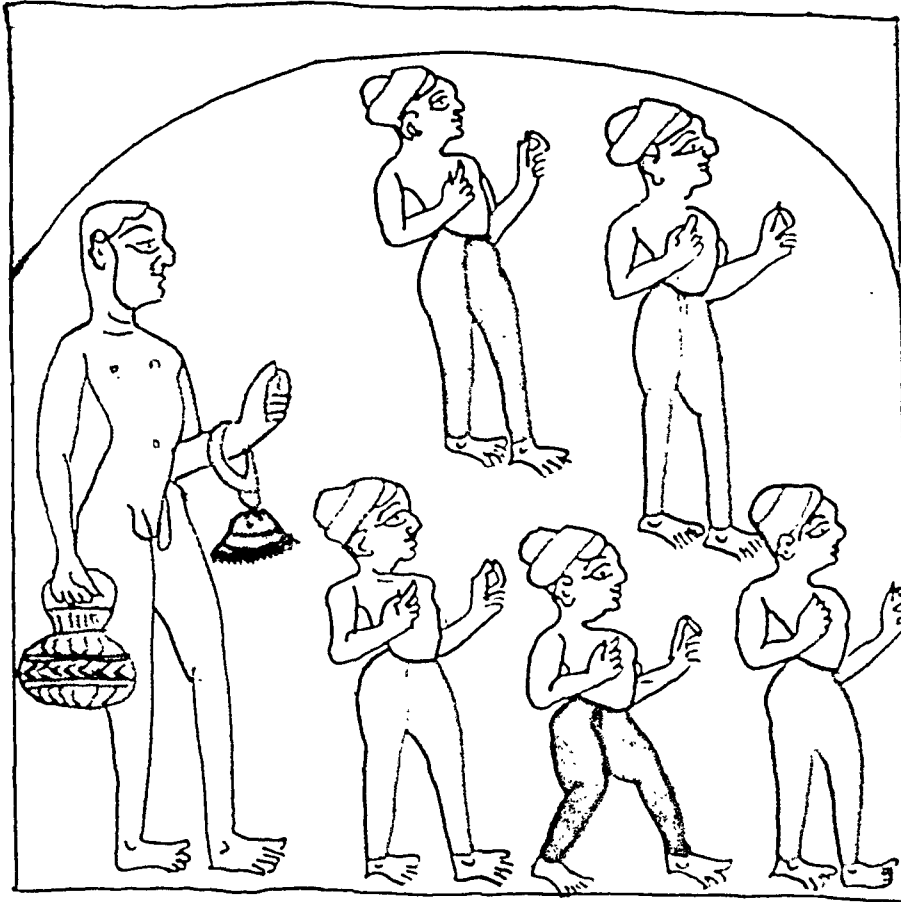
फेर अजुध्या नगर वनाय, सो सुर उन जीवन तहं ल्याय। मृतिका हार करैं तन पोष, रहैं जु सुक्ख सौं धर संतोष ॥३३२॥
उत्सर्पिणि फिर उपजै आय, वृद्धि रूप क्रम क्रम चढ़ि जाय। जिहि प्रकार पट कालहि जान, तिहि समान बढ़नी उन्मान ॥३३३॥

दोहा

इहि विधि जिन मुख कमल वच, ज्ञान पियूष हि पीय। वम्यौ मोह मिथ्यात विष, गौतम विप्र सुधीय ॥३३४॥
काललब्धि को निकट लहि, भाव संवेग बढ़ाय। विश्व भोग तज लक्ष्मी, भयौ विरक्त सुभाय ॥३३५॥

चौपाई

यह मिथ्या मारग दुखदाय, अशुभ पाप उपजावै आय। मैं सेयौ मुवृथा चिरकाल, मूढ़ चित्त निंदत जग जाल ॥३३६॥
जथा अन्ध नर कूप हि परैं, तहां विकल नाना दुख धरैं। त्यौं मिथ्यात अन्ध जग जीव, नरक कूप में गिरैं अतीव ॥३३७॥
समकित व्रत चित धर्म हि गहै, तौ शिवपंथ सुगम कर लहै। जो अहि खाइ तो इक भव जाय, पै मिथ्या भव भव दुखदाय ॥३३८
गो सिंग हि में दूध जु कढ़ै, जल विलोइ तो नैंनू बढ़ै। मिथ्या कर तो भी सुख नांहि, धर्मलाभ क्यों ह्वै है नाहि ॥३३९॥
मेरौ सफल जन्म है आज, पुण्य धन्य पाये जिनराज। कह्यौ धर्म मारग सुख भास, मिथ्यातम वच किरण प्रकास ॥३४०॥
इत्यादिक चिंता अधिकाइ, परमानंद बढ्यौ वहु भाइ। धर्म अधर्म फलाफल जान, भयौ गाढ़ वैराग्य प्रवान ॥३४१॥
मिथ्या आरत ममता देह, इनकौ नाश कियौ तज नेह। परम दिगम्बर दीक्षा धरी, मन वच काय शुद्धि आदरी ॥३४२॥
तीनौ भ्रात दिगम्बर भये, शिष्य पंचसै जुत मुनि ठये। तज्यौ संग चौवीस प्रकार, जिनमुद्राधारी अविकार ॥३४३॥
और भव्य वहु संजम लयौ, मोह संग छिनमें तज दयौ। सुन नारी मन विरकित होइ, गृह तज भई अर्जिका सोइ ॥३४४॥
काहूने श्रावक व्रत लिए, सत्य दया निज उरमे ठए। सुनि श्री जिनमुख अमृतवानि, नरनारी निज निज व्रत ठानि ॥३४५
चतुर निकायी देवनि गनै, मानुष पशु मिथ्यात हि भनै। ते जिनवानी सुनकैं डरैं, दयाभाव सबही प्रति करैं ॥३४६॥
व्रत आचार भक्ति उर लाइ, पूजा दान भाव अधिकाइ। कोई तप जप नेह अपार, कठिन कर्मनाशक निरधार ॥३४७॥
अब गौतम गणराज प्रधान, प्रथम इन्द्र नमि शिर धर पान। द्रव्य द्रव्य जुत पूजा करी, भक्ति सहित अस्तुति विस्तरी ॥३४८॥
ततछिन श्री गौतम गणराइ, सप्त ऋद्धि उपजी तहं आइ। पूरब पुण्य प्रगट जहं भयौ, शुद्ध प्रमाणी शुभ पद लयौ ॥३४९॥

दोहा

देखो वे जग में शुद्ध मन, इष्ट संपदा होत। उपजै आधे छिक्षनक में, केवल ज्ञान उद्योत ॥३५०॥

चौपाई

जथा अमरगण में सुरराय, त्यौं गणधरमें गौतम थाय। मन विचार सौधर्म सुरेश, इन्द्रभूति कहि नाम नरेश ॥३५१॥
श्रावन दुतिया पहली पक्ष, शुद्ध जोगशुभ लगन प्रतक्ष। पूर्वाह्निक वेरा तहं आय, तज परिग्रह गनधर पद पाय ॥३५२॥

पीकर अपने मिथ्यात्व रूपी हलाहलको दूर कर दिया और मोक्ष प्राप्तिके लिये सौभाग्यवश प्राप्त सम्यग्दर्शन रूपी बहुमूल्य रत्नहारको अपने हृदयमें सौख्य पूर्वक धारण किया। जो कोई व्रतादिके पालन में असमर्थ थे, वे श्रावक धर्माचरणकी भावनासे दान पूजा और प्रतिष्ठा इत्यादि का आचरण करने लगे। जिन लोगोंने भक्तिवश तप और व्रत इत्यादिको ग्रहण कर लिया और अन्तमें आतपनादि कठिन कार्योंको नहीं कर सके वे मन वचन और कायकी शुद्धिसे प्रवृत्त होकर कर्मनाशी सत्कर्मोंके नाश कार्यमें प्रवृत्त हो गये। इसके बाद सौधर्मेन्द्रने भक्ति पूर्वक गणधरदेव गौतमको अलौकिक पुनीत द्रव्योंसे पूजित कर उनके सुन्दर चरणारविन्दको नमस्कार किया और स्तुतिमें उनके गुण गौरवका गान करते हुए सम्पूर्ण उपस्थित सज्जन पुरुषोंके सामने ही आपका नाम इन्द्रभूति स्वामी ऐसा घोषित हुआ और तभीसे यह दूसरा नाम भी प्रचलित हुआ।

---

१. श्री गौतमचरित्र भाषे पद्दिय

सो प्रभु तत्व पदारथ कहै, सो जथार्थ गनधर सरदहै। द्वादशांग तव रचना धार, ग्यारा अंग पूर्व दश चार ॥३५३॥
तिनके नाम कहौं स्रुत उक्त, पद अश्लोक वरण संजुक्त। आचारांग प्रथम जानिये, सूत्रकृतांग दुती मानिये ॥३५४॥
तीजो स्थानक कहिये अंग, चौथो है समवाय अभंग। पंचम व्याख्याप्रज्ञप्ति विशाल, छठमों ज्ञातकथा गुनमाल ॥३५५॥
सातम अंग उपासकध्ययन, आठम अन्त:कृतगुन रयन। नवम अनुत्तर कहिये सोइ, दशम प्रश्न व्याकरण जु होइ ॥३५६॥
विपाक सूत्र एकादश जान, वारम दृष्टिवाद सुख-खान। ताके पूर्व चतुर्दश कहै, तिनके नाम किमपि अब लहै ॥३५७॥
प्रथम पूर्व उतपाद वखान, अग्रायणी दुतिय पहिचान। धीरजवाद तृतिय अवलोइ, अस्तिनास्ति पुन चौथो होइ ॥३५८॥
ज्ञान प्रवाद पंचमौ जान, कर्म प्रवाद षष्टमों मान। सत्यप्रवाद सप्तमो गनो, आत्मप्रवाद अष्टमो भनो ॥३५९॥
प्रत्याख्यान नवम गुण सार, दशमो पूरव विद्या धार। कल्याणवाद गेरम सरदहै, प्राणवाद बारम मन गहै ॥३६०॥
क्रियाविशाल त्रयोदश कहौ, लोकबिन्दु चौदम सरधहो। नामावलि जानो यह सार, सकल भेद आगम विस्तार ॥३६१॥
द्वादशांग पद सव परमान, इक सय वारह कोड़ि वखान। लाख तिरासो अंठानवो, सहस पंचदश अधिक भनो ॥३६२॥

अथ सर्वपद श्लोक

पंचहजार जु कोड़ा कोड़ि, ऊपर, और साततें जोड़ि। त्रेशठ कोड़ा कोड़ी जान, पैंसठ लाख कोड़ि परवान ॥३६३॥
सहस संतावन कोड़ि सहीत, तातैं अधिक और सुन भीत। बाइस कोड़ि पचासी लाख, सौ अरु साढ़े सात जु भाख ॥३६४॥
द्वादशांग पद सकल विचार, यह अश्लोकनि संख्या व धार। तामें एक पदहि विस्तार, कहि अश्लोक वरण अवसार। ३६५॥
कोड़ि इक्यानव आठ जु लाख, छह सौ साढ़े इकसठ भाख। इक अश्लोकहि संख्या सोइ, द्वात्रिंशत अक्षर तस होइ ॥३६६॥
अब इक पद के अक्षर जितै, भाषों जिनशासन परिमितै। एक सहस छह सौ चौंतीस, इतने कोड़ि कहे जगदीश ॥३६७॥
लाख तिरासी सात हजार, अठसया य अट्ठासी धार। अब सुन चार वेद परकास, द्वादशांग गर्भित गुन जास ॥३६८॥

चार वेद-अनुयोगों का वर्णन

पद्धड़ि छन्द

प्रथमानुयोग है प्रथम वेद, जामें त्रेशठ पद कथन भेद। है दुतिय वेद करणानुयोग, लोकाअलोक प्रगट्यो मनोग ॥३६९॥
चरणानुयोग त्रय वेद जान, जहं मोक्ष पन्थ कारण वखान। द्रव्यानुयोग चहु. वेद भास, षट द्रव्यन भेदा-भेद जास ॥३७०॥

दोहा

द्वादशांग रचना रची, इन्द्रभूति गणनाय। सो विधि कवि संक्षेप कर, वरन्यौ आगम पाय ॥३७१॥

श्री गौतम गणधरको आश्चर्य जनक परिणाम शुद्धिके द्वारा उसी समय सातों ऋद्धियाँ प्रकट हुई उनकी मानसिक शुद्धिके ही कारण शीघ्र ऐसा हो सका। हे प्राणियो, इस संसारमें अपने मनको परम पवित्र रखनेसे ही सज्जनों की अभीष्ट सिद्धि हो सकती है। यदि सर्वतोभावेन मनकी शुद्धि होजाय तो क्षण मात्रमें ही केवल ज्ञानरूपी अत्यन्त दुर्लभ महा-ऐश्वर्य प्राप्त हो सकता है। श्रावण शुक्ला तृतीयाके दिन प्रातःकाल श्रीमहावीर प्रभुके तत्वोपदेशके द्वारा मनकी शुद्धि हो जानेके कारण इन इन्द्रभूति गणधरके हृदयमें सब अंगपूर्वकके पद अर्थ रूपमें वदल गये। ज्ञाना-वरणके कुछ नष्ट प्राय हो जाने पर दिनके अन्तिम प्रहारके समय वुद्धिमें सब अंग पूर्व प्रकट होनेसे मति आदि चार ज्ञानोंको पाकर अपनी अत्यन्त तीक्ष्ण वुद्धिके द्वारा इन्द्रभूतिने सब भव्य जीवोंकी कल्याण कामनासे सम्पूर्ण शास्त्रकी रचनाकी और उसके वाद रात्रिके अन्तिम प्रहरके समय भविष्यमें धार्मिक प्रवृत्तिके प्रचारकी इच्छासे पद वाक्य रूप द्रव्योंका निर्माण किया।

गीतिका छन्द

वहु भांति धर्म विपाक करकै, भये गौतम गणपती। सकल मुनिगण मुख्य सोभत, चरन अरचैं सुरपती ॥
श्रुतज्ञान अखिल विधान पूरण, प्रगट भव्यनि हित कर्यौ। यह जान बुधजन धर्म उर धर, सिद्ध सब कारज सर्यौ ॥३७२॥
धर्म जग में सुख्य करता, धर्म नेह बढ़ावही। धर्म अघ भट विजय कीनों, धर्म शिवपद पावही ॥
जो धर्म प्रभु उपदेश वानी, सभा द्वादश प्रति भनी। कहि 'नवलशाह' प्रनामि जिनपद, धर्म मुहि दीजै घनी ॥३७३॥

धर्मके प्रभाव एवं फलसे श्रीगौतम गणधर स्वामी द्वादशांग शास्त्रोंकी रचना करनेके बाद सब मुनियोंमें श्रेष्ठ, श्रद्धेय और पूज्यनीय हुए इसलिए संसारके बुद्धिमान पुरुषोंको उचित है कि वे अपनी अभीष्ट प्राप्तिके लिए मनको पवित्र करके उत्तम धर्मका आश्रय ग्रहण करें।
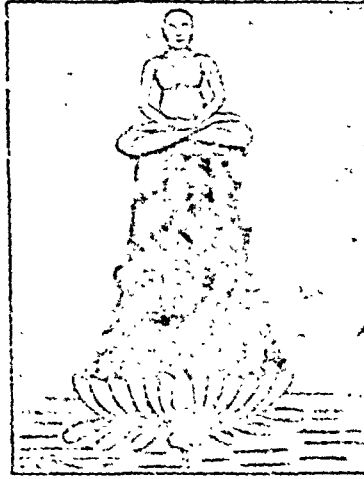
षोडश अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

मोहि नींद नाशन उदय, ज्ञान सूर्य जिनराय। विश्व तत्व दीपक नमीं, भव्य कमल विकसार ॥१॥

विहार के लिये इन्द्र की भगवान से प्रार्थना करना।

चौपाई

अव सौधर्म इन्द्र बुधवान, हरपवंत प्रनम्यो भगवान। भक्ति सहित अस्तुति आरम्भ, निजहित कियो परम गुन दंभ ॥२॥
तुम तीर्थकर जगत महेश, पर उपकार करन परमेश। कीजै आरज खंड विहार, भव्य पुरुप सम्वोधन सार ॥३॥
तुम प्रभु तीन जगत परवीन, निर्मल गुणसागर सम लीन। केवल ज्ञान चराचर साथ, वचन सुधाकर करहु सनाथ ॥४॥
प्रभु अव कीजै परम विहार, आरजखंड सम्बोधन धार। विश्व तत्व जिमि होय प्रकाश, भविजन के संशय अघ नाश ॥५॥
तुम उपदेश भव्य जिय लहैं, भवथिति हनै खडग तप गहै। होय मोक्षपद निहचै तेह, सुखसागर जु अनन्त लहेह ॥६॥
कोई पावे पद अहमिन्द्र, भोगै सागर थिति सुख वृन्द। तुम उपदेश धर्म सुन कोइ, वमैं पाप मिथ्यातम सोइ ॥७॥
तातैं प्रभु अव करहु विहार, धर्म अनुग्रह होइ अपार। भव्य मोक्षमारग जिमि लहैं, अर मिथ्याती समकित गहैं ॥८॥
वहुविध शक्र करी थुति घनी, कीजै गमन भाग जग तनी। वार वार परशंसा कीन निज कृति कर्म करै इमि हीन ॥९॥

भगवान के विहार का वर्णन

तव प्रभु तीन जगत गुरु राय, कियो विहार जगत हित ल्याय। मिथ्यामद इमि चल्यौ पलाय, ज्यों रवि उदै तिमिर नशि जाय ॥
गमन समय औरहि विधि भई, समोशरण रचना खिर गई। जहं थिर होइ किमपि फिर जाइ, छिनमें तहां रचै धरनाइ ॥११॥
द्वादश सभा संग मिलि चलैं, जय जय घोप करत जहं भले। नभ में गमन करै सव सोइ, वारह कोटि पटह ध्वनि होइ ॥१२॥
छत्र चमर सुर धरहिं सम्हार, ध्वजा पंक्ति कर लिये अपार। विहरैं भव्यन हित भगवान, अन इच्छापूर्वक उर आन ॥१३॥
समोशरण प्रभु जहं थिर होइ, ईति भीति व्यापै नहि कोइ। सौ जोजन के गिरदाकार, तहं सुरभिक्ष लहै अधिकार ॥१४॥
वीरज आदिक अति कृपि होय, सकल नाज उपजै क्षिति सोय। सूखे पर जे जलकर पूर, फूलै अंबुज अति तहं भूर ॥१५॥

ज्ञान-ज्योतिसे मोहको दूर करें जो नाथ। भव्य कमल विकशित करें करके मुझे सनाथ ॥

इसके वाद जवकि उपदेशके वाद दिव्यवाणीको विश्राम मिल गया और जीवोंका कोलाहल शान्त सा हो गया तव गुणवान और बुद्धिमान सौधर्म इन्द्र श्रद्धा-भक्ति पूर्वक अपनी अभीष्ट प्राप्तिकी इच्छासे महावीर प्रभुको स्तुति करने लगा। वे महावीर स्वामी तीनों भव्य जीवोंके मध्यमें विराजमान थे और सम्पूर्ण प्राणियों को सावधान करनेमें प्रवृत्त थे। इन्द्रने रानियों की उपकार साधनाकी इच्छासे और अन्यत्र भी धर्मोपदेश करनेकी प्रेरणा करते हुए जगद्वन्द्य महावीर प्रभुकी स्तुति करना आरम्भ किया। हे देव, मैं अपने मानसिक वाचनिक और कायिक शुद्धिके लिये स्तुति कर रहा हूं। आप अनन्त गुणोंके सागर

नाना देश ग्राम पुरथान, गगन गमन विहरे भगवान। विश्व भव्य उपहार सु करैं, जग जीवन को दुविधा हरैं ॥१६॥
केहरि मृग इक थान, वहोर, गाय वाघ निवसैं अहि मोर। इत्यादिक जे क्रूर जु होय, प्रानी वद्ध लहैं नहि कोय ॥१७॥
घाति कर्म जव हते जिनेश, अन अहार नहि भुगतैं लेश। पुष्टकरैं नोकर्म अहार, सुख अनन्त वीरज अविकार ॥१८॥
द्वादश गण वेष्टित सरवंग, शक्रादिक पद नमहि अभंग। नर सुर असुर और तिरजंच, करैं नहीं उपसर्ग प्रपंच ॥१९॥
चतुरानन चारहुं दिश थाय, तीन जगत जीवन सुखदाय। निज निज कोठा थिर समुदाय, सवहीं प्रभु सन्मुख सो लाय ॥२०॥
केवल ज्ञान चराचर जान, विद्या विभव स्वामिता वान। दिव्य देह छाया विन ऐन, पलसों पल नहिं लागें नैन ॥२१॥
नख अरु केश वृद्धि नहि होइ, जितने थे तितने रहि सोइ। चार घातिया खय जव करैं, ये दश अतिशय उत्तम धरैं ॥२२॥
सव हित होइ मागधी भाष, सर्व अंगधर सुन अभिलाष। खिरैं निरक्षर वानी सोइ, सकलाक्षर गर्भित पुन होइ ॥२३॥
सव जनको आनन्द करतार, उर संदेह निवारन हार। सव भाषामय परिणति करैं, मधुर मनों अमृत घन झरैं ॥२४॥
दुविध धर्म प्रगटन सु विशाल, तत्व अर्थ सूचक गुणमाल। अहि नौलादिक वैर भुलाय, मैत्रीभाव करैं सो आय ॥२५॥
सव ऋतु के फलफूल हि जास, प्रभुहि देखि तरु होहि हुलास। जहं आगमन करें भगवान, दिपैं भूमि दर्पणसी जान ॥२६॥
तीन जगत प्रभु निकटहि सेव, मद सुगध पवनकर देव। परमानन्द लहै सव जीव, तन मन शोक न उपजै सदीव ॥२७॥
मरुतकुमार पवन अति लहै, इक जोजन तृण कोट न रहै। स्तनित कुमार भक्ति उर धार, गन्धोदक वरसाव सार ॥२८॥
हेम कमल दल केशर जोग, गमन समय सुर रचें मनोग। पंद्रह पंद्रह पंक्ति प्रमान, मध्यादीमें नव उनमान ॥२९॥
अन्तरीक्ष प्रभु डग नहि धरें, अधोभाग लों तहं विस्तरैं। सव जिय सुख सन्तोष वढाय, देश अवनि दमि लहै सुभाय ॥३०॥
समोशरण जिहि थानक होइ, दश ही दिश तहं निर्मल सोइ। चतुरनिकाय देव समुदाय, हरि हलधर मिलि सेवें पाय ॥३१॥
रत्नमयी दीपति अधिकार, एक सहस्र अति तीक्षण आर। मिथ्यारूपी तमको दलै, धर्मचक्र प्रभ आगे चलै ॥३२॥
दर्पणादि वसु मंगल दर्व, सोहैं अति मंगलवत सर्व। इहि विधि देव रचित अवधार, वरणें अतिशय दश अरु चार ॥३३॥

दोहा

दश अतिशय प्रभु जनमके, दश केवल परकास। देव रचित चौदा कहे, सव चौंतीस सुभास ॥३४॥
प्रातिहार्य वसु संग जुत, नंत चतुष्टय वंत। छयालीस गुण ये कहे, मंडित श्री अरहन्त ॥३५॥

है और तीनों लोकके स्वामियोंके द्वारा परम पूज्यनीय माने गये हैं। वे आपकी सेवा और स्तुति करनेमें अपना सौभाग्य समझते हैं। आपकी स्तुति करनेसे भव्य जीवोंके उत्कृष्ट पाप-मल दूर हो जाते हैं और मनके विशुद्ध हो जानेपर सहजमें सम्पूर्ण सुख सम्दाएं प्राप्त हो जाती हैं फिर कौन ऐसा है जो अभ्युत्थान चाहता हुआ भी आपकी सेवा स्तुति न करे? जो कि विशिष्ट पद पानेकी इच्छा करते हैं वे सभी आपकी स्तुति करनेके लिए सदैव तत्पर रहते हैं। स्तुतिके चार अंग हैं १ स्तुति २ स्तोता (स्तुति करनेवाला) जिसकी स्तुतिकी जाय, ३ स्तुत्य ४ फल। जिस वाणीके द्वारा गुण-सागर श्री अर्हन्त देवके वास्तविक गुणों की प्रशंसाकी जाय उसे विचारवान पुरुषोंने स्तुति कहा है। जो अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान इत्यादि विविध उत्तमोत्तम गुणों से युक्त हैं, वीतराग और त्रैलोक्यके नाथ हैं वे श्री जिनेन्द्रदेव ही सभी सज्जन महापुरुषोंके द्वारा परम स्तुत्य माने गये हैं। प्रभुकी स्तुति करनेका साक्षात् फल तो परम पुण्यकी प्राप्ति है परन्तु अन्तमें जब सम्पूर्ण गुणोंकी प्राप्ति हो जाती है तो प्रभुमें लिय-मान है। मैं सम्पूर्ण सामग्रियोंको पाकर आपकी स्तुति में प्रवृत्त हूं। आप अपनी कल्याणमयी अमन्दवृष्टिसे हमें पवित्र करनेकी कृपा करें। हे प्रभु, आज आपने अपने वचनरूपी किरणोंसे भव्योंके आन्तरिक मिथ्यात्व रूपी उस महा अन्धकारको भी दूर कर दिया जिसे कि सूर्यकी किरणें भी नहीं छू पातीं। हे नाथ, जब आपने वचनरूपी तेज तलवारसे मोह रूपी महा मल्लको मारा तब अपनी सेनाके साथ वह भाग खड़ा हुआ और जड़ मन एवं इन्द्रियोंके आश्रयमें जा छिपा। हे देव, जब आपका तपरूपी वज्र कामदेव पर गिरा तब अन्याय इन्द्रिय रूपी चोरोंके साथ वह मरणासन्न अवस्थामें पड़ा हुआ है। हे देव, जब आपके केवल ज्ञान

चौपाई

क्षुधा तृषा पुन राग जु दोष, जन्म जरा अरु मरणहि तोष। रोग सोग भय विस्मय जान, निद्रा खेद स्वेद महवान ॥३६॥
मोह अरति चिंता अधिकेह, द्वेष अठारह जानों येह। इनतें रहित निरंजन देव, नर सुर असुर करें सब सेव ॥३७॥
विहरै देश ग्राम पुर खेट, करै धर्म उपदेश हि हेट। मिथ्याज्ञान कुरमारग अंध, वचन किरण लख जगत प्रबन्ध ॥३८॥
रतनत्रय तप धारैं सोय, शिवमारग पावैं भ्रम खोय। जिनवच सुधा पिये जो लोय, फेर न जग में आवन होय ॥३९॥

राजगृही के विपुलाचल पर समवशरण का आगमन

मगधदेश* राजग्रह सार, विपुलाचल पुर निकट पहार। चार संघ सुर चतुर निकाय, आये सभा सहित जिनराय ॥४०॥
षट ऋतुके भल फूल सु भये, वनपालक लख अचरज ठये। भई भेंट आयौ नृप पास, श्रेणिक भूप सभा परगास ॥४१॥
धर फलफूल प्रणाम कराय, अर विरंतत कह्यौ समझाय। विपुलाचल पर बहु सुर भीर, समोशरण आयो जिन वीर ॥४२॥

रूपी पूर्ण चन्द्रमाका उदय हुआ तब उल्लासके कारण धर्मरूपी समुद्र बढ़ गया। इस धर्म-सागरमें सम्यग्दर्शनादि महारत्न भरे हुए हैं और यत्नशील वद्धिमान पुरुषोंको प्राप्त होते हैं। हे भगवान्, आज आपके धर्मोपदेश रूपी अस्त्रसे सम्पूर्ण जीवोंको सन्ताप देकर दुःखी करनेवाला भव्योंका पापरूपी महाशत्रु नष्ट हो गया। कितने ही भव्य आपसे दर्शन एवं चारित्र इत्यादि परमोत्तम सम्पत्तियोंको पाकर अक्षय सुखकी प्राप्तिके लिए उत्तम-मार्ग पर अग्रसर हो रहें हैं, कितने ही आपसे रत्नत्रय एवं तप रूपी वाणों को पाकर चिर कालानुवन्धी कर्मशत्रुको मारने के लिए सन्नद्ध हैं और मोक्ष प्राप्ति की अत्यन्त उत्कट कामनासे उग्र प्रयत्न

---

*वीर-विहार और धर्म-प्रचार

"भ० महावीर का यह विहार काल ही उनका तीर्थ प्रवचन काल है जिसके कारण वह तीर्थङ्कर कहलाये"।

—श्री स्वामी सन्मतभद्राचार्य : स्वयंभूस्तोत्र

मगधदेश की राजधानी राजग्रह में भगवान् महावीर का समवशरण कई बार आया, जहां के महाराजा श्रेणिक बिम्बसार ने बड़े उत्साह से भक्तिपूर्वक उनका स्वागत किया। महाशतक और विजय आदि अनेकों ने श्रावक व्रत लिये, अभयकुमार और इसके मित्र आर्दिक (Idrik) ने जो ईरान के राजकुमार थे, भगवान् महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर जैन मुनि हो गये थे। लगभग ५०० यवन भी वीर प्रेमी हो गये थे। फणिक (Phoenecia) देश के वाणिक नाम के सेठ ने तो जैन मुनि होकर उसी जन्म से मोक्ष प्राप्त किया।

विदेहदेश राजग्रह से भ० महावीर का समवशरण वैशाली आया, जहां के महाराजा चेतक उनके उपदेश से प्रभावित होकर सारा राज-पाट त्यागकर जैन साधु हो गये थे और इनके सेनापति सिंहभद्र ने श्रावक व्रत ग्रहण किये थे।

वाणिज्यग्राम में जो वैशाली के निकट था भ० महावीर का समवशरण आया तो वहां के सेठ आनन्द और इनकी स्त्री शिवानन्दा आदि ने उनसे श्रावक के व्रत लिये थे।

अंगदेश की राजधानी चम्पापुरी (भागलपुर) में भ० महावीर का समवशरण आया तो वहां के राजा कुणिक ने बड़ा उत्साह मनाया। वहां के कामदेव नाम के नगरसेठ ने उनसे श्रावक के १२ व्रत लिये। सेठ सुदर्शन भी जैनी थे, रानी के शील का झूठा दोष लगाने पर राजा ने उनको शूली का हुक्म दे दिया तो सेठ सुदर्शन के ब्रह्मचर्य व्रत के फल से शूली सिंहासन बन गई, जिससे प्रभावित होकर राजा जैन मुनि हो गये।

पोलासपुर में वीर-समवशरण आया तो वहाँ के राजा विजयसेन ने भ० महावीर का बड़ा स्वागत किया। राजकुमार ऐवन्त तो उनके उपदेश से प्रभावित होकर जैन साधु हो गए थे. और शब्दालपुत्र नाम के कुम्हार ने श्रावक के व्रत लिये।

कौशलदेश की राजधानी श्रावस्ती (जिले गोंडे का सहट-महट) में वीर समवशरण पहुँचा तो वहां के राजा प्रसेनजित (अग्निदत्त) ने भक्तिपूर्वक भगवान् का अभिनन्दन किया। लोग भाग्य भरोसे रहने के कारण साहस को खो बैठे थे, भ० महावीर के दिव्योपदेश से उनका अज्ञान रूपी अन्धकार जाता रहा और वे धर्म पुरुषार्थी बन गये।

सात पैंठ आगे दे राइ, प्रभु हि प्रणाम कियौ हरषाइ। बहुत दान वनपाल हि दियौ, राजा उर आनंदित भयौ ॥४३॥
आनंद भेरी नगर दिवाइ, हय गय रथ पय दलहि सजाइ। सुत त्रिय बांधव पुरजन साथ, चल्यौ चतुर श्रेणिक नरनाथ ॥४४॥
आयौ शीघ्र न लाई वार, समोसरण दीठ्यौ अविकार। भक्तिभाव सब ही उर धरै, जय जयकार शब्द उच्चरै ॥४५॥
तीन प्रदक्षिण दे शिरनाइ, धूलीसाल प्रवेश्यौ आइ। मानस्तंभ विलोक्यौ जबै, गयौ मान गलि ततनै तबै ॥४६॥
क्रमकर तहं पहुंचे पुन जाइ, दरसै वीरनाथ जिनराइ। भक्तिभाव जुत प्रनमै पाय, वेर वेर भुवि सीस लगाय ॥४७॥
चरणकमल प्रभु पूजै राइ, अष्टद्रव्य जल आदिक लाइ। फिरकै नृप जिनवर पद नयौ, भक्ति सहित अस्तवन जु ठयौ ॥४८॥

करनेमें प्रवृत्त हैं। हे नाथ, आप नित्यप्रति त्रैलोक्यके भव्योंको सम्यक् दर्शन ज्ञान, एवं चारित्र धर्मरूपी बहुमूल्य एवं अनन्त उत्तम रत्नको प्रदान करने वाले हैं। इन रत्नोंके द्वारा सभी सुख-सम्पत्तियाँ एवं सर्वश्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त कर लिया जाता है। इसलिए हे देव, आपके समान कोई भी इस संसारमें न तो धनवान् है और न कोई ऐसा महादानी ही है। यह समस्त संसार

वत्सदेव की राजधानी कौशाम्बी (इलाहाबाद) में वीर समवशरण आया तो वहां के राजा शतानीक वीर उपदेश से प्रभावित होकर जैन मुनि हो गये।

कलिंगदेश (उड़ीसा) में समवशरण आया तो वहां के राजा जितशत्रु ने बड़ा आनन्द मनाया और सारा राज-पाट त्यागकर जैन साधु हो गये थे। इस ओर के पुण्ड, बंग, ताम्रलिप्ति आदि देशों में भी वीर-विहार हुआ था, जिससे वहां के लोग अहिंसा के उपासक बन गये थे।

हेमांगदेश (मैसूर) में वीर-समवशरण पहुंचा तो वहां के राजा जीवन्धर भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो, संसार त्यागकर जैन साधु हो गये थे।

अश्मकदेश की राजधानी पोदनपुर में वीर समवशरण आया तो वहां का राजा विद्रदाज उनका भक्त हो गया।

राजपूताने में वीर समवशरण के प्रभाव से वहां के राजा व राणा अहिंसा प्रेमी बन गये। यह भ० महावीर के प्रचार का ही फल है कि अपनी जान जोखिम में डालकर देश की रक्षा करने वाले आशाशाह और भामाशाह जैसे जैन शूरवीर योद्धा वहां हुए।

मालवादेश की राजधानी उज्जैन में वीर समवशरण पहुंचा तो वहां के सम्राट चन्द्रप्रद्योत ने बड़ा उत्साह मनाया था।

सिन्धु सौवीर प्रदेश की राजधानी रोरुकनगर में वीर-समवशरण पहुंचा तो वहां के राजा उदयन भ० महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर राज छोड़कर जैन मुनि हो गये थे।

दशार्णदेश में भ० महावीर का विहार हुआ तो वहां के राजा दशरथ ने उनका स्वागत किया।

पांचालदेश की राजधानी कम्पिला में भ० महावीर पधारे तो वहां का राजा "जय" उनसे प्रभावित होकर संसार त्यागकर जैन साधु हो गया था।

सौर देश की राजधानी मथुरा में भ० महावीर का शुभागमन हुआ तो वहां के राजा उदितोदय ने उनका स्वागत किया और उनका राजसेठ जैनधर्म का दृढ़ उपासक था, उसने भगवान् के निकट श्रावक के व्रत धारण किये थे।

गांधारदेश की राजधानी तक्षशिला तथा काश्मीर में भी भ० महावीर का विहार हुआ था।

तिब्बत में भी जैन धर्म प्रचार हुआ था।

विदेशों में भी भ० महावीर का विहार हुआ था। श्रवण बेलगोल के मान्य पण्डिताचार्य श्री चारुकीर्ति जी तथा पण्डित [illegible] जी जैसे विद्वानों का कथन है कि दक्षिण भारत में लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले बहुत से जैनी अरब से आकर आबाद हुए थे। यदि भगवान् महावीर का प्रचार वहां न हुआ होता तो वहां इतनी बड़ी संख्या जैनियों की कैसे हो सकती थी? श्री जिनसेनाचार्य ने (हरिवंशपुराण पृ० १८) में जिन देशों में भ० महावीर का विहार होना लिखा है उनमें यवनश्रुति, क्वाथतोय, सुरभीरु, तार्ण, कार्ण, आदि देश भारत से बाहर हैं। यूनानी विद्वान् भ० महावीर के समय बैक्ट्रिया में जैन मुनियों का होना सिद्ध करते हैं। अबीसीनिया, इथियोपिया, अरब [illegible], अफगानिस्तान, ईरान में भी जैन धर्म का प्रचार अवश्य हुआ था।

विलफर्ड साहब ने 'संकर प्रादुर्भव' नाम के वैदिक ग्रंथ के आधार से जैनियों का उल्लेख किया है। जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी दोनों तीर्थंकरों का कथन 'जिन' 'अर्हन्' 'महिमन' (महामान्य) रूप से करते हुए लिखा है कि 'अर्हन्' ने काफी दूर तक विहार किया था और उनके चरणों के चिन्ह दूर दूर मिलते हैं। लंका, स्याम आदि देशों में महावीर के चरणों की पूजा भी होती है। [illegible], [illegible] और एशिया मध्य में 'महिमन' (महामान्य=महावीर) के स्मारक मिलते हैं। मिश्र (Egypt) में 'मेम्नन' (Memnon) की प्रसिद्ध मूर्ति

चौपाई

क्षुधा तृषा पुन राग जु दोष, जन्म जरा अरु मरणहि तोष। रोग सोग भय विस्मय जान, निद्रा खेद स्वेद महवान ॥३६॥
मोह अरति चिंता अधिकेह, द्वेष अठारह जानों येह। इनतें रहित निरंजन देव, नर सुर असुर करें सब सेव ॥३७॥
विहरै देश ग्राम पुर खेट, करै धर्म उपदेश हि हेट। मिथ्याज्ञान कुरमारग अंध, वचन किरण लख जगत प्रवन्ध ॥३८॥
रतनत्रय तप धारें सोय, शिवमारग पावें भ्रम खोय। जिनवच सुधा पिये जो लोय, फेर न जग में आउन होय ॥३९॥

राजगृही के विपुलाचल पर समवशरण का आगमन

मगधदेश* राजग्रह सार, विपुलाचल पुर निकट पहार। चार संघ सुर चतुर निकाय, आये सभा सहित जिनराय ॥४०॥
षट ऋतुके भल फूल सु भये, वनपालक लख अचरज ठये। भई भेंट आयौ नृप पास, श्रेणिक भूप सभा परगास ॥४१॥
धर फलफूल प्रणाम कराय, अर विरंतत कह्यौ समझाय। विपुलाचल पर वहु सुर भीर, समोशरण आयो जिन वीर ॥४२॥

रूपी पूर्ण चन्द्रमाका उदय हुआ तब उल्लासके कारण धर्मरूपी समुद्र बढ़ गया। इस धर्म-सागरमें सम्यग्दर्शनादि महारत्न भरे हुए हैं और यत्नशील वद्धिमान पुरुषोंको प्राप्त होते हैं। हे भगवान्, आज आपके धर्मोपदेश रूपी अस्त्रसे सम्पूर्ण जीवोंको सन्ताप देकर दुःखी करनेवाला भव्योंका पापरूपी महाशत्रु नष्ट हो गया। कितने ही भव्य आपसे दर्शन एवं चारित्र इत्यादि परमोत्तम सम्पत्तियोंको पाकर अक्षय सुखकी प्राप्तिके लिए उत्तम-मार्ग पर अग्रसर हो रहें हैं, कितने ही आपसे रत्नत्रय एवं तप रूपी वाणों को पाकर चिर कालानुवन्धी कर्मशत्रुको मारने के लिए सन्नद्ध हैं और मोक्ष प्राप्ति की अत्यन्त उत्कट कामनासे उग्र प्रयत्न

---

*वीर-विहार और धर्म-प्रचार

"भ० महावीर का यह विहार काल ही उनका तीर्थ प्रवचन काल है जिसके कारण वह तीर्थङ्कर कहलाये"।

—श्री स्वामी सन्मतभद्राचार्य : स्वयंभूस्तोत्र

मगधदेश की राजधानी राजग्रह में भगवान् महावीर का समवशरण कई वार आया, जहां के महाराजा श्रेणिक विम्वसार ने वड़े उत्साह से भक्तिपूर्वक उनका स्वागत किया। महाशतक और विजय आदि अनेकों ने श्रावक व्रत लिये, अभयकुमार और इसके मित्र आदिक (Idrik) ने जो ईरान के राजकुमार थे, भगवान् महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर जैन मुनि हो गये थे। लगभग ५०० यवन भी वीर प्रेमी हो गये थे। फणिक (Phoenecia) देश के वाणिक नाम के सेठ ने तो जैन मुनि होकर उसी जन्म से मोक्ष प्राप्त किया।

विदेहदेश राजगृह से भ० महावीर का समवशरण वैशाली आया, जहां के महाराजा चेतक उनके उपदेश से प्रभावित होकर सारा राज-पाट त्यागकर जैन साधु हो गये थे और इनके सेनापति सिंहभद्र ने श्रावक व्रत ग्रहण किये थे।

वाणिज्यग्राम में जो वैशाली के निकट था भ० महावीर का समवशरण आया तो वहां के सेठ आनन्द और इनकी स्त्री शिवानन्दा आदि ने उनसे श्रावक के व्रत लिये थे।

अंगदेश की राजधानी चम्पापुरी (भागलपुर) में भ० महावीर का समवशरण आया तो वहां के राजा कुणिक ने वड़ा उत्साह मनाया। वहां के कामदेव नाम के नगरसेठ ने उनसे श्रावक के १२ व्रत लिये। सेठ सुदर्शन भी जैनी थे, रानी के शील का झूठा दोष लगाने पर राजा ने उनको शूली का हुक्म दे दिया तो सेठ सुदर्शन के ब्रह्मचर्य व्रत के फल से शूली सिंहासन वन गई, जिससे प्रभावित होकर राजा जैन मुनि हो गये।

पोलासपुर में वीर-समवशरण आया तो वहाँ के राजा विजयसेन ने भ० महावीर का वड़ा स्वागत किया। राजकुमार ऐवन्त तो उनके उपदेश से प्रभावित होकर जैन साधु हो गए थे. और शब्दालपुत्र नाम के कुम्हार ने श्रावक के व्रत लिये।

कौशलदेश की राजधानी श्रावस्ती (जिले गोंडे का सहट-महट) में वीर समवशरण पहुँचा तो वहां के राजा प्रसेनजित (अग्निदत्त) ने भक्तिपूर्वक भगवान् का अभिनन्दन किया। लोग भाग्य भरोसे रहने के कारण साहस को खो वैठे थे, भ० महावीर के दिव्योपदेश से उनका अज्ञान रूपी अन्धकार जाता रहा और वे धर्म पुरुषार्थी वन गये।

सात पैंड आगे दे राइ, प्रभु हि प्रणाम कियौ हरषाइ। बहुत दान वनपाल हि दियौ, राजा उर आनंदित भयौ ॥४३॥
आनंद भेरी नगर दिवाइ, हय गय रथ पय दलहि सजाइ। सुत त्रिय बांधव पुरजन साथ, चल्यौ चतुर श्रेणिक नरनाथ ॥४४॥
आयौ शीघ्र न लाई बार, समोसरण दीठ्यौ अविकार। भक्तिभाव सब ही उर धरै, जय जयकार शब्द उच्चरै ॥४५॥
तीन प्रदक्षिण दे शिरनाइ, धूलीसाल प्रवेस्यौ आइ। मानस्तंभ विलोक्यौ जबै, गयौ मान गलि तनतैं सबै ॥४६॥
क्रमकर तहं पहुंचै पुन जाइ, दरसै वीरनाथ जिनराइ। भक्तिभाव जुत प्रनमै पाय, बेर बेर भुवि शीस लगाय ॥४७॥
चरणकमल प्रभु पूजै राइ, अष्टद्रव्य जल आदिक लाइ। फिरकै नृप जिनवर पद नयौ, भक्ति सहित अस्तवन जु ठयौ ॥४८॥

करनेमें प्रवृत्त हैं। हे नाथ, आप नित्यप्रति त्रैलोक्यके भव्योंको सम्यक् दर्शन ज्ञान, एवं चारित्र धर्मरूपी बहुमूल्य एवं अत्यन्त उत्तम रत्नको प्रदान करने वाले हैं। इन रत्नोंके द्वारा सभी सुख-सम्पत्तियां एवं सर्वश्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त कर लिया जाता है। इसलिए हे देव, आपके समान कोई भी इस संसारमें न तो धनवान् है और न कोई ऐसा महादानी ही है। यह समस्त संसार

वत्सदेव की राजधानी कौशाम्बी (इलाहाबाद) में वीर समवशरण आया तो वहाँ के राजा शतानीक वीर उपदेश से प्रभावित होकर जैन मुनि हो गये।

कलिंगदेश (उड़ीसा) में समवशरण आया तो वहां के राजा जितशत्रु ने बड़ा आनन्द मनाया और सारा राज-पाट त्यागकर जैन साधु हो गये थे। इस ओर के पुण्ड, बंग, ताम्रलिप्ति आदि देशों में भी वीर-विहार हुआ था, जिससे वहां के लोग अहिंसा के उपासक बन गये थे।

हेमांगदेश (मैसूर) में वीर-समवशरण पहुंचा तो वहां के राजा जीवन्धर भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो, संसार त्यागकर जैन साधु हो गये थे।

अश्मकदेश की राजधानी पोदनपुर में वीर समवशरण आया तो वहां का राजा विद्रदाज उनका भक्त हो गया।

राजपूताने में वीर समवशरण के प्रभाव से वहां के राजा व राणा अहिंसा प्रेमी बन गये। यह भ० महावीर के प्रचार का ही फल है कि अपनी जान जोखिम में डालकर देश की रक्षा करने वाले आशाशाह और भामाशाह जैसे जैन सूरवीर योद्धा वहां हुए।

मालवादेश की राजधानी उज्जैन में वीर समवशरण पहुंचा तो वहां के सम्राट चन्द्रप्रद्योत ने बड़ा उत्साह मानाया था।

सिन्धु सौवीर प्रदेश की राजधानी रोरूकनगर में वीर-समवशरण पहुंचा तो वहाँ के राजा उदयन भ० महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर राज छोड़कर जैन मुनि हो गये थे।

दशार्णदेश में भ० महावीर का विहार हुआ तो वहाँ के राजा दशरथ ने उनका स्वागत किया।

पांचालदेश की राजधानी कम्पिला में भ० महावीर पधारे तो वहां का राजा "जय" उनसे प्रभावित होकर संसार त्यागकर जैन साधु हो गया था।

सौर देश की राजधानी मथुरा में भ० महावीर का शुभागमन हुआ तो वहां के राजा उदितोदय ने उनका स्वागत किया और उसका राजसेठ जैनधर्म का दृढ़ उपासक था, उसने भगवान् के निकट श्रावक के व्रत धारण किये थे।

गांधारदेश की राजधानी तक्षशिला तथा काश्मीर में भी भ० महावीर का विहार हुआ था।

तिब्बत में भी जैन धर्म प्रचार हुआ था।

विदेशों में भी भ० महावीर का विहार हुआ था। श्रवण वेलगोल के मान्य पण्डिताचार्य श्री चारुकीर्ति जी तथा पंडित गोपालदास जी जैसे विद्वानों का कथन है कि दक्षिण भारत में लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले बहुत से जैनी अरब से आकर आबाद हुए थे। यदि भगवान् महावीर का प्रचार वहां न हुआ होता तो वहां इतनी बड़ी संख्या जैनियों की कैसे हो सकती थी? श्री जिनसेनाचार्य ने (हरिवंशपुराण पृ० १८) में जिन देशों में भ० महावीर का विहार होना लिखा है उनमें यवनश्रुति, क्वाथतोयं, सुरभीरु, तार्ण, कार्ण, आदि देश अवश्य ही भारत से बाहर हैं। यूनानी विद्वान् भ० महावीर के समय बैक्ट्रिया में जैन मुनियों का होना सिद्ध करते हैं। अबीसिनिया, ऐथुप्या, अरब परस्या, अफगानिस्तान, यूनान में भी जैन धर्म का प्रचार अवश्य हुआ था।

विलफर्ड साहब ने 'शंकर प्रादुर्भव' नाम के वैदिक ग्रंथ के आधार से जैनियों का उल्लेख किया है। जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी दोनों तीर्थंकरों का कथन 'जिन' 'अर्हन्' 'महिमन' (महामान्य) रूप में करते हुए लिखा है कि 'अर्हन्' ने चारों तरफ विहार किया था और उनके चरणों के चिन्ह दूर दूर मिलते हैं। लंका, स्याम आदि देशों में महावीर के चरणों की पूजा भी होती है। परस्या, सिरिया और एशिया मध्य में 'महिमन' (महामान्य=महावीर) के स्मारक मिलते हैं। मिश्र (Egypt) में 'मेमनन' (Memnon) की प्रसिद्ध मूर्ति

भाषा चच्चरीकी

धन्य आज जन्म मोहि दरसै जिनराज तोहि। तीन लोकनाथ देव सर्व ज्ञानके धनी॥
प्रणम्यौं जिन ब्रह्मचारि मानुप पद निहार। दयासिन्धु मोहादिक कर्मशत्रु को हनी॥
नमौं शान्तरूप देव पाप ताप नाशनी। विम्ब वीर मुक्ति नार वल्लभ मन रंजनी॥
जै जै जिन जगत वंद काटत भ्रम जाल फंद। आपदा निवार सर्व दोप दुःख दाहनी॥४६॥
तुमरी सर्वज्ञ देव सुर नर मुनि करत सेव। नाशक अव जाल जन्म मरण सिन्धु उद्धरी॥
तुम गुण जो नाम लेत, चिंतको ढहाय देत। अंतरमति शुद्ध होत रोग शोक को हरी॥
तुमरी थुति करें जेह ज्ञान को प्रकाश तेह। वचन को विलास पाय तत्व अर्थ सोहनी॥
जै जै जिन जगत वंद काटत भवजाल फन्द। आपदा निवार सर्व दोप दुःख दाहिनी॥५०॥

मोह निद्रामें एकदम बेसुध होकर पड़ा हुआ था, परन्तु आज आपके वचनरूपी बाजेके गम्भीर नादसे जागृत यानी सजग हो गया। आपके अनुग्रहवश कितने ही भव्यजीव सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग एवं मोक्षको प्राप्त होंगे। आपके इस अमृत उपदेशको सुनकर देव, मनुष्य एवं पशु-सभी कर्म समूहको एकदम नष्ट कर देनेके लिए तुल गए है और आपके विहारके कारण आर्य खण्ड निवासी ज्ञानवान् भव्यजीव भी संपूर्ण तान्त्रिक रहस्योंको जानकर पाप कार्योंके नाशमें प्रवृत्त होगें।

'महिमन' (महामान्य) की पवित्र यादगार है। इस प्रकार भगवान महावीर का विहार और धर्म-प्रचार न केवल भारत में बलिक समस्त संसार में हुआ।

महाराजा श्रेणिक पर वीर-प्रभाव

Mahavira visited Rajgrih, where He was most cordially welcomed. King Srenak Bimbisara himself came and paid the highest respect to Him and everafter remained a great patron of Jainism.

—Mr U. S. Tank : VOA. Vol. II. P. 68.

विपुलाचल पर्वत को एकदम दुलहन के समान सजा, सूखे वृक्षों को हरा-भरा तथा जलहीन बावड़ियों को ठण्डे और मीठे जल से भरा ऋतु न होने पर भी छहों ऋतु के हर प्रकार के फल फूलों से समस्त वृक्षों को लदा हुआ देखकर वहां का वनमाली दंग रह गया कि क्या मैं स्वप्न देख रहा हूं या कोई जादू हो गया ? वह थोड़ी दूर आगे बढ़ा तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही। हर प्रकार के वैर भाव को छोड़कर बिल्ली चूहे के साथ और नेवला सर्प के साथ आपस में प्रेम-व्यवहार कर रहे हैं। हिरण का बच्चा सिंहनी के थनों को माता के समान चूस रहा है, शेर और बकरा प्रेम-भाव से एक घाट पर पानी पी रहे हैं। रंगबिरंगे फूल खिले हुए हैं, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा रहा है। वनमाली जरा आगे बढ़ा तो भगवान महावीर के जय जयकार के शब्दों से पर्वत गुञ्जता सुनाई पड़ा। एक ऊँचे महासुन्दर रत्नमयी सोने के सिंहासन पर भगवान महावीर विराजमान हैं। स्वर्ग के इन्द्र चंवर ढोल रहे हैं, हीरे जवाहरातों से सुशोभित तीन रत्नमयी सोने के छत्र मस्तक पर झूम रहे हैं। आकाश से कल्प-वृक्षों के पुष्पों की वर्षा हो रही है, देवी-देवता बड़े उत्साह और भक्ति से भगवान की वन्दना और स्तुति कर रहे हैं। अब वनमाली समझ गया कि यह सब भगवान महावीर के शुभागमन का प्रताप है, जिनको नमस्कार करने के लिए समस्त वृक्ष फल-फूलों से झुक रहे हैं। वनमाली ने स्वयं भगवान महावीर को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और यह शुभ समाचार महाराज श्रेणिक को सुनाने के लिए, हर प्रकार के फल-फूलों की डाली सजाकर वह उनके दरबार की ओर चल दिया।

महाराजा श्रेणिक बिम्बसार सोने के ऊँचे सिंहासन पर विराजमान थे कि द्वारपाल ने खबर दी कि वनमाली आपसे मिलने की आज्ञा चाहता है। महाराजा की स्वीकृति पर वनमाली ने नमस्कार करते हुए उनको डाली भेंट की तो बिन ऋतु के फल-फूल देखकर राजा ने आश्चर्य से पूछा कि यह तुम कहां से लाए ? तो वनमाली बोला—"राजन् ! आज विपुलाचल पर्वत् पर भ० महावीर पधारे हैं"। यह समाचार सुनकर महाराजा श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए और तुरन्त राजसिंहासन छोड़, जिस दिशा में भगवान महावीर का समवशरण था उसी ओर सात कदम आगे बढ़कर उन्होंने सात बार भगवान महावीर को नमस्कार किया, अपने सारे वस्त्र और आभूषण जो उस समय पहिने हुए थे, वनमाली को इनाम में दे दिये

पूजत जिनराज पाय अष्ट द्रव्य शुद्ध लाय। पातक निर नाश मोख पंथ परम पावनी ।।
भवदधि संसार पार तुम ही उद्धरनहार। भव्यनि सुख करनहार धर्म बीज भावनो ।।
तुम ही गुरु तीन लोक कर्मनको करत रोक। जप तप व्रत सीख देत घोर वेदना हनी ।।
जै जै जिन जगत फंद काटत भ्रमजाल फंद। आपदा निवार सर्व दोष दुःखदाहिनी ।।५१।।

नेत्र आज सुफल होइ चरनकमल प्रभु हि जोइ। मस्तक है सफल जास नमौं नखन अग्रनी ।।
हस्त सफल भये आज चरन जुग पद समाज। सफल भयौ मुक्ख मोहि अस्तुति कर पावनी ।।
गात्र सफल कियौ सर्व गन्धोदक पर्श धर्म। बूड़त संसार सिन्धु भक्ति तास तारनी ।।
जै जै जिन जगत फंद काटतभ्रम जाल फंद। आपदा निवार सर्व दोष दुःख दाहिनी ।।५२।।

हे प्रभु, आपके पुनीत विहार (धार्मिक-भ्रमण) के कारण अनेकों भव्यजीव तप रूपी तलवारके द्वारा सांसारिक स्थितिको छिन्न-भिन्न करके सुख समुद्र मोक्षको प्राप्त होंगे। अनेकों योगी आपके उत्तम धर्मोपदेशसे चरित्र पालनमें तत्पर होकर अहमिन्द्र पदको प्राप्तकर लेनेमें और अनेकों सोलह स्वर्गमें जायेंगे। हे भगवान्, संसारके कितने ही मोह एवं पाप परायण जीव आपके उपदेशसे उत्तम पथ पर आरूढ़ हो जायेंगे और फिर मोहरूपी शत्रु का नाश करने में प्रवृत्त होंगे। भव्यजीवोंको

और तत्काल ही सारे नगर में आनन्द-भेरी बजाने की आज्ञा दी और इतना दान किया कि उनके राज्य में कोई भी निर्धन नहीं रहा। भेरी के शब्द सुनकर प्रजा वीर-दर्शनों के लिये विपुलाचल पर्वत पर जाने के वास्ते राजमहल में इकट्ठी हो गई। चतुरंगिणी सेना, सजे हुए घोड़े, लम्बे दांतों वाले हाथी, सोने के रथ, भांति-भांति के बाजे, असंख्य योद्धा-प्यादे, और शाही ठाट-बाट के साथ अपने राज परिवार सहित महाराज श्रेणिक बिम्बसार वीर भगवान की वन्दना को चले।

जब समवशरण के निकट आये तो श्रेणिक ने राज-चिन्ह छोड़कर बड़ी विनय के साथ पैदल ही समवशरण में पहुँचकर भगवान् महावीर को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और उनकी स्तुति करके अत्यन्त विनय के साथ पूछा— कि "राजसुख और भोग-उपयोग के समस्त पदार्थ पूर्ण रूप से प्राप्त होने पर भी हे वीर प्रभु! आप ऐसी भरी जवानी में क्यों जैन-साधु हुए"? उत्तर में सुना, "राजन्! लोक की यही तो भूल है कि जिस प्रकार कुत्ता हड्डी में सुख मानता है उसी प्रकार संसारी जीव क्षण भर के इंद्रिय सुखों में आनन्द मानता है। यदि भोगों में सुख हो तो रोगी भी भोगों में आनन्द माने। वास्तव में सच्चा सुख भोग मे नहीं बल्कि त्याग में है। इच्छाओं के त्यागने के लिये भी शक्ति की आवश्यकता है। शक्ति जवानी में ही अधिक होती है इसलिये विषय भोगों, इन्द्रियों और इच्छाओं को वश में करने के लिये जवानी में ही जिनदीक्षा लेनी उचित है"।

महाराजा श्रेणिक ने पूछा— कि रावण को मांसाहारी, हनुमान जी को वानर और श्री रामचन्द्र जी जैसे धर्मात्मा को हिरण का शिकार करने वाला कहा जाता है, यह कहां तक सत्य है? उत्तर में सुना—"रावण राक्षस व मांसाहारी न था बल्कि जिसने हिंसामयी यज्ञ करने का विचार भी किया तो युद्ध करके उसका मान भंग कर दिया। हनुमान और सुग्रीव वास्तव में वानर न थे, वानर तो उनके वंश का नाम था। रामचन्द्र जी ने कभी हिरण का शिकार नहीं किया, वे तो अहिंसाधर्मी महापुरुष थे"।

श्रेणिक ने फिर पूछा, कि सीता जी को किस पाप के कारण रामचन्द्र जी ने घर से निकाला, और किस पुण्य के कारण स्वर्ग के देवों ने उनकी सहायता की? उत्तर में सुना, "सीता जी ने अपने पिछले जन्म में सुदर्शन नाम के एक जैन-मुनि की झूठी निन्दा की थी। जिसके कारण उसकी भी झूठी निन्दा हुई। बाद में अपनी भूल जानकर उन्होंने उनसे क्षमा मांग ली थी जिसके पुण्य-फल से देवों ने सीता जी का अपवाद दूर करके अग्नि कुण्ड जलमय बना दिया था।

श्रेणिक ने फिर प्रश्न किया कि युधिष्ठिर भीम और अर्जुन ऐसे योद्धा और वीर किस पुण्य के प्रताप से हुए और द्रोपदी पर पांच पुरुषों की स्त्री होने का कलंक किस पाप के कारण लगा? उत्तर में सुना—"चम्पापुर नगरी में सोमदेव नाम का एक बहुत गुणवान् ब्राह्मण था उसकी स्त्री का नाम सोमिला था उसके तीन पुत्र सोमदत्त, समिण और सोमभूति थे। सोमिला के भाई अग्निभूति के धनश्री, मित्रश्री और नागश्री नाम की तीन पुत्रियां थीं। सोमदेव के तीनों लड़कों का विवाह इन तीनों लड़कियों से हुआ। सोमदेव संसार को असार जानकर जैन मुनि हो गया था, तीनों लड़के और सोमिला श्रावक धर्म पालने लगी। धनश्री और मित्रश्री भी जैन धर्म में श्रद्धान रखती थीं, परन्तु नागश्री को यह बात अच्छी न लगी। एक दिन धर्मरुचि नाम के योगी आहार के निमित्त सोमदत्त के घर आये, तो नागश्री ने मुनिराज को आहार में जहर दे दिया, जिसके

महावीर वीर धीर घातिकर्म नाश वीर। वन्दौं शिर नाइ नाइ सकल सिद्धि लोचनी॥
प्रनमौं जिन वर्धमान मानी दल मलत मान। ज्ञानको प्रकाश महा मोह नींद नाशनी॥
सन्मति प्रभु सुमति दाय भव भव अज्ञान जाय। तिनके जुग चरन कमल पाप ताप मोचनी॥
जै जै जिन जगत वंद काटत भ्रम जाल फंद। आपदा निवार सर्व दोष दुःख दाहिनी॥५३॥

दोहा

यह विधि बहु अस्तुति करी, फिर प्रनम्यो भूपाल। नर कोठा आरूढ़ ह्वै, सुनी सुधर्म विशाल॥५४॥

मोक्षके परम रमणीक दीपमें ले जाने वाले चतुर व्यवसायी आप ही हैं। इन्द्रिय कषाय रूपी चोरोंको पकड़कर अत्यन्त कठोर दण्ड देनेवाले महाबलवान योद्धा भी आप ही हैं। हे प्रभो, आप भव्यजीवों पर दया करके मोक्ष मार्गमें प्रवृत्ति-प्रचारके लिये धर्म साधक विहार-कार्यका आरम्भ करें जो कि भव्यजीवरूपी धान्य मिथ्यातरूपी दुष्काल (अकाल) के कारण एकदम सूखसे गये हैं। उन्हें धर्मरूपी अमृत जलके सिंचनसे आप पुनः हराभरा कर दीजिये। संपूर्ण जगतको दुःखदेने वाले एवं दुर्जय मोहरूपी

पाप से नागश्री को कुष्ट रोग हो गया इस लोक के महादुःख भोगकर परलोक में भी पांचवें नरक के महा भयानक दुःख सहन करने पड़े। वहां से आकर सर्प हुई। विष भरे जीवन से छुटकारा मिला तो फिर नरक में गई वहां से आकर चम्पापुरी नगरी में एक चण्डाल के घर पैदा हुई। एक रोज वह जंगल में जा रही थी कि समाजिगुप्त नाम के मुनीश्वर उसको मिल गए। वह चांडाल-पुत्री महादुःखी थी उनकी शान्त मुद्रा को देखकर उनसे धर्म का उपदेश सुना, हमेशा के लिये मांस, शराब, शहद और पांच उदुम्बर का त्याग किया। मरकर धनी नाम के एक वैश्य सेठ के यहां दुर्गन्धा नाम की पुत्री हुई उसके शरीर से इतनी दुर्गन्ध आती थी कि कोई उसको अपने पास बिठाता तक न था, एक दिन तीन अर्यिकाएँ आहार के निमित्त आईं तो उसने भक्ति भाव से उनको परगाह लिया। आहार करने के बाद उन्होंने उसको धर्म का स्वरूप बताया, जिसको सुनकर उसे वैराग्य आ गया और उनसे दीक्षा ले, अर्यिका होकर तप करने लगी। एक दिन वसन्तसेना नाम की वैश्या अपने पांच लम्पट पुरुषों के साथ क्रीड़ा करती हुई उसी वन में आ निकली कि जहाँ दुर्गधा तप कर रही थी। दुर्गधा के हृदय में उसको पांच पुरुषों के साथ क्रीड़ा करते देखकर एक क्षण के लिए वैसे ही भोग-विलास की भावना उत्पन्न हो गई। परन्तु दूसरे ही क्षण में इस बुरी भावना पर पश्चात्ताप करने लगी। अपने हृदय को दुत्कारा और शान्त मन करके समाधिमरण किया। अपने शुद्ध परिणामों तथा संयम, तप और त्याग के कारण वह सोलहवें स्वर्ग में सोमभूति नाम के देव की महासुखों को भोगने वाली पत्नी हुई। सोमदत्त का जीव युधिष्ठिर है इसका सोमिल नाम का भाई भीम है। सोमभूति का जीव अर्जुन है, धनश्री का जीव नकुल है, मित्रश्री का जीव सहदेव है, दुर्गधा का जीव, जो पहले नागश्री था द्रोपदी हैं। संयम, तप, त्याग और आहार दान के कारण युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि इतने बलवान् और योद्धा-वीर हुए हैं। तप के कारण द्रोपदी इतनी सुन्दर और भाग्यशाली है। चूंकि उसने वसन्त सेना के पांच पुरुषों के साथ भोग-विलास की अभिलाषा एक क्षणमात्र के लिए की थी, इसके कारण इस पर पांच पति होने का दोष लगा।

श्रेणिक बिम्बसार ने सम्मेदशिखर जी की यात्रा का फल पूछा तो उन्होंने वीर वाणी में सुना कि कोटाकोटी मुनियों के तप करने और वहां से निर्वाण (Salvation) प्राप्त कर लेने के कारण सम्मेदशिखर जी इतनी पवित्र भूमि है कि जो जीव एक बार भी श्रद्धा और भक्ति से वहाँ की यात्रा कर लेता है तो वह तिरयञ्च, नरक या पशु गति में नहीं जा सकता। उसके भाव इतने निर्मल हो जाते हैं कि अधिक से अधिक ४९ जन्म धारकर ५० वें जन्म तक अवश्य मोक्ष (Salvation) प्राप्त कर लेता है। श्रेणिक ने वहां की इतनी उत्तम महिमा जानकर बड़ी खोज के बाद चौबीसों तीर्थंकरों के पक्के टोंक स्थापित कराये।

महाराजा श्रेणिक ने पूछा कि पश्चम काल में मनुष्य कैसे होंगे? उत्तर में सुना "दुखमा नाम का पंचम काल २१ हजार वर्ष का है। इस काल के आरम्भ में मनुष्य की आयु १२० वर्ष और शरीर सात हाथ का होगा, परन्तु घटते-घटते पंचम काल के अन्त में आयु २० साल की और शरीर २ हाथ का रह जायेगा। इस काल में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण आदि नहीं होंगे और न अतिशय के धारी मुनि होंगे, न पृथ्वी पर स्वर्गो के देवों का आगमन होगा और न केवल ज्ञान की उत्पत्ति होगी। पंचमकाल के अन्त होने में तीन वर्ष साढ़े आठ महीने रह जायेंगे, तब तक मुनि, अर्यिकाएँ, श्रावकाएँ पाई जायेंगी। ये चारों भव्य जीव पांचवें या छठे गुणस्थान के भावलिंगी हैं तो भी प्रथम स्वर्ग में ही जायेंगे। ऐसे मनुष्य भी अवश्य होंगे जो श्रावक व्रत को धारण करेंगे, जिसके फल से विदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे"।

चौपाई

उत्तम गणपति को शिर नाय, बहुत प्रश्न कीनी नर राय। तब श्रीमुख दिव्य वानी भई, सो नृप प्रति गणधर वरनई ॥५५॥
प्रथम तत्व सत्ताइस कहे, श्रावक जती धर्म द्वय लहै। चतुरवीस जिनवर हि पुरान, जुदे जुदे भाषै गुणवान ॥५६॥
चक्रवर्ती जे द्वादश भये, तिनके सकल चरित वरनये। नव हरि नव प्रतिहरि बल जान, तिनको कथन कहौ भगवान ॥५७॥
तीर्थ कर के तात रु मात, कामदेव चौबीस विख्यात। नौ नारद अरु ग्यारा रुद्र, चौरा कुलकर जान समुद्र ॥५८॥
और पुरुष जे मुक्ति हि वरा, कोई सुरग नरक पुन गये। तिनही कौ कछु कारण पाय, कह्यौ भेद गणधर समझाय ॥५९॥

व्रतों का वर्णन

पृथक पृथक व्रत भाषै सबै, तिनके भेद कहौं कछु अबै। षोडष कारण उत्तम साख, भादौं माघ चैत्र त्रय भाख ॥६०॥
दिन बत्तीस इकांतर करै, षौडश अंग भावना धरै। षोडश वरष वरत प्रजंत हि गहै, नीचै तीर्थंकर पद लहै ॥६१॥

शत्रु को मारनेके लिए स्वर्ग-मोक्ष दायक आपका धर्मोपदेश रूपी बाण प्राप्त होगा और इस प्रकार पुण्यात्मा जीवोंको निश्चय रूपेण सफलता मिलेगी। मिथ्या ज्ञान रूपी महा अन्धकारको नष्ट कर देने वाला यह उत्तम धर्मचक्र भी सज गया है। इस धर्म-को जीवोंने चारों ओरसे घेर रखा है। यह आपकी गौरव पूर्ण विजयको बताने वाला है। मिथ्या मार्गको हटाकर सत्यमार्गके प्रतिपादनके लिये काल भी आपके सम्मुख उपस्थित है। मैं अब और अधिक क्या कहूं ? बस, इतना ही कहना आप पर्याप्त समझ लें कि शीघ्र ही अब आप विहार करके आर्य खण्ड निवासी भव्यजीवोंका कल्याण करें और उन्हें पवित्र बनाये। मिथ्या

एक प्रभावशाली, बलवान् और अत्यन्त सुन्दर नवयुवक को समवशरण में बैठा देखकर श्रेणिक ने पूछा कि यह महा तेजस्वी कौन है तो उन्होंने उत्तर में सुना 'यह विजयनगर के सम्राट मन्नूकुम्भ का राजकुमार आदिविजय है। पिछले जन्म में यह महा दरिद्री, रोगी और दुःखी था, जिससे तंग आकर इसने चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ जी को शान्ति प्राप्त करने की विधि पूछी तो उन्होंने इसको 'अनन्त चौदस' के व्रती देकर कहा कि भादों सुदि चौदश को हरसाल १४ साल तक उपवास रखकर चौदहवें तीर्थंकर का शुद्ध जल के चौदह कलशों से प्रक्षाल करके पूजन करो और चंवर, छत्र आदि १४ वस्तु, हर साल श्री जिनेन्द्र भगवान् की भेंट करो। इसने चौदह साल तक ऐसा ही किया, जिसके पुण्य फल से यह इतना बुद्धिमान्, धनवान्, रूपवान और बलवान हुआ है।

श्रेणिक ने श्री वीर भगवान् से पूछा कि रक्षाबन्धन का त्योंहार क्यों मनाया जाता है ? तो भगवान् की दिव्य ध्वनि से जाना कि बली, प्रह्लाद, नेमुचि और भरतपति नाम के चार मंत्रियों ने हस्तिनागपुर में नरदज्ञ के बहाने आचार्य श्री अकम्पन और इनके संग के सात सौ जैन मुनियों को भस्म करने के लिये अग्नि जला दी तो श्रावण सुदि पूर्णमासी के दिन उनकी रक्षा विष्णु जी नाम के मुनि द्वारा हुई थी इसलिए उनकी रक्षा की यादगार मनाने के लिये उस दिन से हर साल रक्षाबन्धन का त्योंहार मनाया जाता है।

महाराजा श्रेणिक ने फिर पूछा कि यज्ञ में जीव घात कब से और क्यों होने लगा ? उत्तर में उन्होंने सुना "अयोध्या नगरी में क्षीर-कदम्ब नाम के उपाध्याय के पास पर्वत और नारद नाम के दो विद्यार्थी भी पढ़ते थे। एक दिन शास्त्र-चर्चा में पूजा का कथन आया। नारद ने कहा कि पूजा का नाम यज्ञ है "अजैर्यष्टव्यम्" जिसमें अज यानी बोने से न उगने वाले शालि धान यव (जौ) से होम करना बताया है। पर्वत ने कहा, जिसमें अज यानी छेला (बकरा) अलंभन हो उसका नाम यज्ञ है। पर्वत न माना उसने कहा कि हमारा न्याय यहां का राजा वसु करेगा और जो झूठा होगा उसकी जीभ छेदन कर दी जायेगी। यह तय करके पर्वत अपनी माता स्वस्तिमती के पास आया और नारद की बात कही, माता ने कहा कि नारद सच कहता है। जो बोई जाने पर न उगे ऐसी पुरानी शाली तथा पुराना यव (जौ) का नाम अज है छेले का नाम नहीं, तुमने गलत अर्थ बताया। यह सुनकर उसने कहा कि कुछ उपाय करो वरन् मामला राजा के पास जायेगा और जिसको वह झूठा कह देगा उसकी जीभ काट दी जावेगी, तुम मेरी माता हो संकट के समय अवश्य मेरी सहायता करो। माता बेटे के मोह में राजा वसु के पास गई और उसने कहा कि तुमने जो मुझे वचन दे रखे हैं, उन्हें आज पूरा कर दो। राजा ने कहा मांगो क्या मांगती हो मैं अवश्य अपने वचन पूरे करूँगा। उसने कहा मेरे बेटे पर्वत पर बड़ा संकट आन पड़ा, कृपा करके उसको दूर कर दो। राजा ने कहा कि बताओ उसको किसने सताया है ? मैं अवश्य उसकी सहायता करूँगा।

उसने कहा—"पर्वत ने मांस भक्षण के लोभ से अज का मतलब छैला (बकरा) बताकर बड़ा पाप किया। नारद ने उसे समझाया कि

दशलक्षण पुन तीन हु वार, शुकलपक्ष पंचमितें धार। दश दिन करें भाव सन्तोष, दशहु अंग पालें निर्दोष ॥६२॥
पहुपांजलि पुन तीन हु मास, पंचमतें पंचो दिन भास। अरु रतनत्रय तीन हु पक्ष, तेरससें त्रय दिनकर दक्ष ॥६३॥
मुठी विधान मास त्रय येह, मुठी चढ़ाय आहार हि लेह। अष्टानक व्रत कर उर गाढ़, कातिक फागुन मास असाढ़ ॥६४॥
शुक्ल पक्ष अष्टम दिन आठ, नन्दीश्वर जिन पूजा ठाठ। प्रोषधकैं कांजिक इक वार, अष्ट वरष उद्यापन धार ॥६५॥
अरु सकट व्रत तोनी साख, तेरस से दिन तीन जु भाख। करें जेष्ट जिनवर इकमास, जेठ वदी परमासें जान ॥६६॥
आदितवार करें नव वार, सुदि असाढ़ भादोंभर धार। षटरस षट महिना परजंत, एक एक रस छोड़ें संत ॥६७॥
नित रस सात वार परवान, इक इक रस त्यागें दिनमान। त्रेपन क्रिया व्रत हि अवभास, तिनके है त्रेपन उपवास ॥६८॥
अष्ट मूल गुण अष्टम आठ, बारह व्रत द्वादशका ठाठ। बारह तप बारह द्वादशी, प्रतिमा ग्यारह एकादशी ॥६९॥

मार्ग रूपी महा अन्धकारको दूर करके स्वर्ग एवं मोक्षका अति प्रशस्त पथ दिखलानेवाला कदाचित् कोई दूसरा नहीं है। भव्यों का उपकार करने वाले एक मात्र आप ही तो हैं। इसलिये हे स्वामिन्, आपको पुनः पुनः नमस्कार है। आप गुणोंके रत्नाकर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, एवं अनन्त सुखशाली आप हैं। आप अनन्त, बल स्वरूप हैं, दिव्यमूर्ति हैं, महालक्ष्मीसे विभूषित हैं। आपको बार बार नमस्कार है। आप यद्यपि असंख्य देवियोंसे घिरे हुए हैं तथापि पूर्ण ब्रह्मचारी हैं। उदय प्राप्त ज्ञानशाली आप हैं, मोहशत्रु-नाशक हैं, इसलिए आपको नमस्कार है। शान्तरूपसे ही कर्म-शत्रुको परास्त करनेवाले,

---

इसका मतलब न उगने वाले जौ से है परन्तु पर्वत अपनी बात पर यहां तक अड़ा कि उसने कहा कि राजा वसु से न्याय कराऊँगा। वह जिसको झूठा कहेंगे उसकी जीभ काट ली जावेगी। हे राजन्! यह सच है कि नारद सच्चा है, परन्तु मेरी सहायता करो, ऐसा न हो कि पर्वत की जीभ काट ली जाये। राजा यह सुनकर चिन्ता में पड़ गया कि भरी सभा में झूठ कैसे कहा जावेगा? राजा को चुप देख, स्वस्तिमती ने कहा कि क्या अपने वचनों का भी भय नहीं? राजा ने मजबूर होकर कहा कि अच्छा! वचनों की पूर्ति होगी।

दूसरे दिन नारद और पर्वत राजा के दरबार में गये। नारद ने अज का अर्थ शक्ति रहित शाली तथा जौ और पर्वत ने छैला (बकरा) बतलाया। इस राजा ने कहा जैसे पर्वत कहे वैसे ही ठीक है। तब से यज्ञों में पशु होम होने की रीति प्रचलित हुई।

महाराजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से अपने पिछले जन्म के हाल पूछे तो भगवान् की वाणी खिरी जिसमें उसने सुना—"ऐ श्रेणिक! अब से तीसरे भव में तुम एक बहुत पापी और मांसाहारी भील थे। मुनि महाराज ने तुम्हें मांस के त्याग का उपदेश दिया परन्तु तुम सहमत न हुए तो उन्होंने कहा कि तुम ऐसे मांस के त्याग की प्रतिज्ञा करलो कि जिसको तुमने न कभी खाया है और न आइन्दा खाने की इच्छा हो इसमें कोई हर्ज न जानकर आपने कौवे के मांस-भक्षण का त्याग जीवन भरके लिए कर दिया। अचानक आप बीमार हो गए, हकीमों ने कौवे का मांस दवा के रूप में बताया, परन्तु आपने इंकार कर दिया कि मैंने एक जैन साधु से जीवन भर के लिये कौवे के मांस के त्याग का संकल्प लिया हुआ है। मर जाना मंजूर है मगर प्रतिज्ञा भंग नहीं करूंगा। सबने समझाया कि बीमारी में प्राणों की रक्षा के कारण दवा के तौर पर थोड़ा सा खा लेने में कुछ हर्ज नहीं, परन्तु आपने प्रतिज्ञा को भंग करने से स्पष्ट इंकार कर दिया। जिसके पुण्य-फल से मरकर स्वर्ग में देव हुए और वहां के सुख भोगकर भारत के इतने प्रतापी सम्राट हुए।"

महाराजा श्रेणिक ने एक देव के मुकुट में मेंढक का चिन्ह देखकर आश्चर्य से पूछा कि इसके मुकुट में मेंढक का चिन्ह क्यों है? उत्तर में सुना "हे राजन्! यह नियम है कि जो मायाचारी करता है वह अवश्य पशुगति के दुःख भोगता है। तुम्हारे नगर राजगृह में नागदत्त नाम के एक सेठ थे, चंचल लक्ष्मी के लोभ में वे छल-कपट अधिक किया करते थे जिसके कारण मरकर अपने ही घर की बावड़ी में मेंढक हो गये। उसी बावड़ी में से एक कमल का फूल मुख में दबाकर वह यहां समवशरण में आ रहा था कि रास्ते में तुम्हारे हाथी के पांव के नीचे आकर उसकी मृत्यु हो गई। उसके भाव जिनेन्द्र भक्ति के थे जिसके पुण्य फल से वह मेंढक स्वर्ग में देव हुआ, स्वर्ग के देव जन्म से ही अवधिज्ञानी होते हैं, अवधि ज्ञान से पिछले हाल को जानकर वह अपने संकल्प को पूरा करने के लिए यहां आया है। मेंढक के जन्म से उसका उत्थान हुआ है इसलिये उसने अपने मुकुट में मेंढक का चिन्ह बना रखा है"।

श्रेणिक ने वीर वाणी में जिनेन्द्र भक्ति का महात्म सुना तो उसे जिन्नेद्र भक्ति में दृढ़ विश्वास हो गया और उसने अन्य जैन मन्दिर बनवाए। राजगृह के पुराने खंडरों में उस समय की मूर्तियां आदि मिली हैं। सम्मेदशिखर पर्वत पर जिन निषधिकायें बनवाई। उसने अपनी शंकाओं को दूर करने के लिये भगवान् महावीर से ६० हजार प्रश्न पूछे जिनका विस्तार आदिपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डवपुराण आदि

चार दान की चौथ जु चार, जलगालन परिमा इक धार। सामायिक ग्रंथो द्वै दोज, रत्नत्रय त्रय तीन समेत ।।७०।।
एक त्रेपन विधि प्रोषध करै, एक वार अन्तर नहि परै। अष्ट करम चूरन व्रत जान, चौंसठ दिनको कह्यो प्रमान ।।७१।।
अष्टमि वसु केवल उपवास, अष्टमि आठ कंजकी जास। अष्टमि वसु इक तंदुल खाव, अष्टमि आठ ग्राम इक पाव ।।७२।।
अठ अष्टम कुरछी भोजन्न, अष्ट अष्टमी रस इक अन्न। एकल ठानो अष्टमि आठ, वसु अष्टमि रुक्षान्न सु ठाठ ।।७३।।
णमोकार व्रत अब सुन राज, सत्तर दिन एकांतर साज। तीर्थंकर चौवीस और, अड़तालीस इकांतर ठौर ।।७४।।
पुन समकित चौवीस हि भनौ, अड़तालिस एकांतर गनौ। भावन पच्चीसी व्रत जान, एकांतर पंचास प्रमान ।।७५।।
पल्य विधान सु चौंतिस दिना, पच्चिस प्रोषध नव पारना। एकहितैं पंचहि लौं चढ़ै, फेर उतरि पहलै लौं रढ़ै ।।७६।।

सम्पूर्ण जगतके स्वामी एवं मुक्ति रूपिणी सुन्दरी स्त्रीके प्रियतमपति आप हैं। आपको पुनः पुनः नमस्कार है। हे देव सन्मति महावीर, मैं अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिए आपको नत मस्तक होकर कोटिशः प्रणाम करता हूं। हे स्वामिन, हमें और किसी अन्य वस्तुकी अभिलाषा नहीं है बस, जन्म-जन्ममें आपकी श्रेष्ठ भक्तिकी कामना है, वही आप हमें स्तुति, भक्ति, सेवा एवं नमस्कारके फल स्वरूप प्रदान करनेका अनुग्रह करें! तीनों लोकमें अत्यन्त उत्तम सुख एवं मनोकामनाको पूर्ण करने वाले सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्रकी प्राप्ति हो-यही आपके चरणारविन्दकी भक्ति करके मैं पाना चाहता हूं।

अनेक जैन ग्रंथों से खोजा जा सकता है इस प्रकार जैन धर्म को खूब अच्छी तरह से परखकर उनका मिथ्यात्व नष्ट होकर महाराजा श्रेणिक बिम्बसार ऐसे पक्के सम्यग्दृष्टि जैनी हो गये, कि स्वर्ग के देव भी उनके सम्यग्दर्शन की परीक्षा करने के लिये राजगृह आये और उसे पूरा पाकर उनकी बड़ी प्रशंसा की। यह भ० महावीर की भक्ति और श्रद्धा का ही फल है कि आने वाले उत्सर्पिणी युग में महाराजा श्रेणिक 'पद्मनाभ' नाम के प्रथम तीर्थंकर होंगे।

राजकुमार मेघकुमार पर वीर प्रभाव

Megakumar, a son of Shrenaka was ordained a member of the order of Mahavira.
—Mr. VS. Tank ; VOA. II. P. 68.

वीर वाणी के मीठे रस को पीकर महाराजा श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार भगवान् महावीर के निकट जैन साधु हो गये, परन्तु राजसुखों के आनन्द भोगने वालों का चंचल हृदय एकदम कठोर तपस्या में कैसे लगे? पिछले भोगविलास की याद आने से वह घर जाने की आज्ञा मांगने के लिए भ० महावीर के निकट आया? इससे पहले कि वह कुछ कहे, भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी जिसमें उसने सुना "मेघकुमार तुम्हें याद नहीं कि अबसे तीसरे भव में तुम एक हाथी थे एक दिन तुम पानी पीने के लिए तालाब पर गये तो दलदल में फंस गये। तुम्हारे शत्रुओं ने उचित अवसर जानकर इतनी मार-पीट की कि तुम्हारी मृत्यु हो गई। क्या तपस्या की वेदना उससे भी अधिक है? दूसरे जन्म में फिर हाथी हुए। देवानल से जान बचाने के लिये उचित स्थान पर पहुंचे तो वहां पहले ही बहुत पशु मौजूद थे, बड़ी कठिनाई से सुकड़ कर खड़े हो गये। शरीर खुजलाने के लिये तुमने अपना पांव उठाया तो उस जगह एक खरगोश अपनी जान बचाने को आ गया, जिसे देखकर केवल इसलिए कि खरगोश मर न जाय अपने उस पैर को ऊपर उठाये रखा। जब दावानल शान्त हुआ और तुम वहां से निकले तो निरन्तर तीन दिन तक तीन टांगों से खड़ा रहने से तुम्हारा सारा शरीर जकड़ गया था, आप धड़ाम से नीचे गिर पड़े, जिससे इतनी अधिक चोट आई कि तुम्हारी मृत्यु हो गई। जब पशुगति में तुम इतने धीर, वीर और सहन-शक्ति के स्वामी रहे हो तो क्या अब मनुष्य जन्म में श्रमण अवस्था से घबरा गये हो? अनेक शूरमा शत्रुओं को युद्ध में पिछाड़ देने वाले शूरवीर होकर साधना की पराक्रम भूमि में आकर कर्मरूपी शत्रुओं से युद्ध करने में भय मान रहे हो।

वीर-उपदेशरूपी जल से मेघकुमार की मोहरूपी अग्नि शान्त हो गई। विश्वासपूर्वक संयम धारकर आत्मिक सुखों का आनन्द लूटते के वह आत्मिक ध्यान में दृढ़ता से लीन रहने लगे।

अभयकुमार पर वीर प्रभाव

Prince Abhaya Kumar sdopted the life of a Jain-Monk Some Historical Jain Kings & Heroes, P. 9.

महाराजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार ने भ० महावीर से अपने पूर्व-जन्म पूछे, तो वीर दिव्य-ध्वनि में उसने सुना "अबसे तीसरे भव

व्रत नक्षत्र भाल उर धरै सो चौंवन एकांतर करै । लब्धि विधान करी व्रत येह, हैं बत्तीस एकान्तर तेह ॥७७॥
सप्तकुम्भ व्रत बासठ दिना, पैंतालिस सत्रह पारना । बड़ी सिंहक्रीडन व्रत मुनी, इकसै अकसठ दिनको गुनी ॥७८॥
इकसै सैंतीस हि उपवास, करै पारनें इकतिस जास । त्रिगुणसार व्रत इकतालीस, ग्यारा जेवा प्रोपध तीस ॥७९॥
भई वन सिंह क्रिडनी जान, दो राय दिन ताको परवान । इकराय पचहत्तर उपवास, करै पारनें पच्चिस जास ॥८०॥
चारितशुद्धि व्रत गुणधाम, बारहसै चौतीरा नाम । तेरह अंग नवति उपवास, करै निरन्तर पूरन जास ॥८१॥
व्रत जु सर्वतोभद्र विचार, सौं दिनकी मर्यादा धार । प्रोपध पचहत्तर परवान, अरु पच्चीस पारनें जान ॥८२॥
महा सर्वतोभद्र हि जास, दोसै चौंवन दिन परकास । इक सय पचावन उपवास, और पारनें कर उनचास ॥८३॥
व्रत दुखहरण एकसै वीस, तितने ही एकांतर दीस । व्रत जु पुरन्दर हरि हरिमास, शुकलाश्रम लों एकामात्र ॥८४॥

यद्यपि जगत गुरु श्री महावीर तीर्थङ्कर संसारके समुद्बोधनमें रत थे तथापि पूर्वोक्त प्रकारसे इन्द्रके द्वारा स्तुति की जानेपर उन्होंने सब भव्योंको मिथ्या मार्गसे दूर हटाकर निर्भ्रान्ति मोक्ष मार्गपर लाने के लिये बिहार करने का निश्चय किया । जब प्रभु विहार करनेके लिए उद्यत हुए तब बारह प्रकारके जीव समूहोंने उन्हें घेर रखा था । देववृन्द चमर हिलाकर सेवा कर रहे थे, तीन परमोत्तम छत्र शोभायमान हो रहे थे और उनके पास महा सम्पदायें एकत्रित थीं । करोड़ों वाद्य-

---

में अभयकुमार तुम एक बड़े विद्वान् ब्राह्मण थे परन्तु जात-पांत और छूत-छात के भेदों में इतने फंसे हुए थे कि शूद्र की छाया पड़ने से भी तुम अपने आपको अपवित्र समझ बैठते थे । एक दिन आपकी भेंट एक श्रावक से हो गई । उसने आपको समझाया कि धर्म का सम्बन्ध जाति या शरीर से नहीं बल्कि आत्मा से है । आत्मा शरीर से भिन्न है, ऊंच हो या नीच, मनुष्य हो या पशु, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, आत्मिक उन्नति करने की शक्ति सबमें एक समान है । जिससे प्रभावित होकर जाति-पांति विरोध त्यागकर आप श्रावक हो गए और विश्वासपूर्वक जैनधर्म पालने के कारण मरकर स्वर्ग में देव हुए और वहां से आकर श्रेणिक जैसे महाप्रतापी सम्राट् के भाग्यशाली राजकुमार हुए हो" ।

भगवान महावीर के उत्तर से अभयकुमार के हृदय के कपाट खुल गये । यह विचार करते-करते "जब श्रावक धर्म के पालने से इस लोक में राज्य सुख और परलोक में स्वर्गों के भोग बिना मांगे आपसे आप मिल जाते हैं तो मुनिधर्म के पालने से मोक्ष के अविनाशी सुखों की प्राप्ति में क्या संदेह हो सकता है ? प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ? भ० महावीर स्वयं हमारे जैसे पृथ्वी पर चलने-फिरने वाले मनुष्य ही तो थे, जो मुनिधर्म धारण करके हमारे देखते ही देखते लगभग १२ वर्ष की तपस्या से अनन्तानन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य के धारी परमात्मा हो गये । मनुष्यजन्म बड़ा दुर्लभ है फिर मिले न मिले" वह भ० महावीर के निकट जैन साधु हो गये ।

वारिषेण पर वीर प्रभाव

Amongst the sons of Shrenika Bimbisara, Varisena is famous for his piety and endurance of austerities. He was ordained as a naked saint by Mahavira and attained Liberation.

—Some Historical Jain Kings & Heroes P. 14.

सम्राट् श्रेणिक के पुत्र वारिषेण इतने पक्के व्रती श्रावक थे कि तप का अभ्यास करने के लिये वह रात्रि के समय श्मशान भूमि में नि:शंक होकर आत्म-ध्यान लगाया करते थे ।

विद्युत नाम के चोर ने राजमहल से महारानी चेलना का रत्नमयी हार चुरा लिया । कोतवाल ने भांप लिया, चोर जान बचाने को श्मशान की तरफ भागा, कोतवाल ने पीछा किया तो हार को फेंककर वह एक वृक्ष की ओट में छुप गया । जिस जगह हार गिरा था उसके पास वारिषेण आत्म-ध्यान में लीन थे । इनको ही चोर समझकर कोतवाल ने हार समेत इनको राजा श्रेणिक के दरबार में पेश किया । राजा को विश्वास न था कि वारिषेण जैसा धर्मात्मा अपनी माता का हार चुराये, परन्तु चोरी का माल और चोर दोनों की मौजूदगी तथा कोतवाल की शहादत । यदि छोड़ा तो जनता कह देगी कि पुत्र के मोह में आकर इन्साफ का खून कर दिया, इसलिये उसने उसको प्राण दण्ड की सजा दे दी ।

चाण्डाल हैरान था कि यह क्या ? वह वारिषेण को कत्ल करने के लिये बारबार तलवार उठाये परन्तु उसका हाथ न चले । धर्मफल के प्रभाव से वनदेव ने चाण्डाल का हाथ कील दिया था । सारे राजगृह में शोर मच गया । राजा श्रेणिक भी आ गये और उसको राजमहल में चलने

धरम चक्र पालक व्रत जास, षट जेवा पोडश उपवास। वृहद धर्मचक्र हि व्रत धरै, दशसै दस दिन मौकल करै ।।८५।।
जिनगुणसंपति छयासह दीप, प्रोषध छत्तिस पारन तीस। लघु जिनगुण-संपति त्रेसट्ठ, कर एकांतर पूज प्रमठ ।।८७।।
सुख संपति दिन इकइस वीस, पूनौ मावस प्रोषध दीस। वरष पांच लौं पूरन होइ, सुन अव सुखसंपति व्रतजोइ ।।८६।।
दिन विशोत्तर वृक्ष दश करै, पून्यौ चाहैं मावस धरै। रुद्र वसंत जु चालिस दिना, पैंतिस प्रोषध पन पारना ।।८८।।
शील कल्यान एकसै असी, करैं पोषलौं प्रोषध जसी। इकसय वीस पंचकल्याण, प्रोषध जिन कल्यानक ठान ।।८६।।
इन्द्रकल्यान दिवस पच्चीस, पंचपंच दिन व्यौरो दीस। प्रोषध कांजिक एकल ठान, रुक्षजु अनागार पहिचान ।।६०।।
श्रुतकल्याण वही विधि धार, श्रुत हि पठन कर लेइअहार। लघुकल्याण व्रतहि दिन पंच, एक-एक दिन वहुविध संच ।।६१।।
मध्यकल्याण जु तेरह दिना, आदि अंत है प्रोषध गिना। एकलि चार कंजिका तीन रूक्षरू अनाहार द्वय दीन ।।६२।।
श्रुतस्कन्ध व्रत जव आदरै. तीस दिवस एकांतर करै। पंचहि श्रुत जान हि व्रत सार, कर उपवास निरंतर धार ।।६३।।

ध्वनिके साथ प्रभुने विहार करना प्रारम्भ किया। अनेकों ध्वजा-पताका एवं छत्र इत्यादिसे सारा आकाश-मंडल ढंक सा गया। देववृन्द चारों ओरसे जय ध्वनि करने लगा हे ईश, आप सम्पूर्ण भव्य जीवोंके महाशत्रु मोहको जीतें और जयवन्त कहलायें। प्रभो, आपकी वृद्धि हो और आनन्द को प्राप्त करें! इसके वाद प्रभु विहार करने लगे और सव सुर असुर इत्यादिके साथ मध्यमें तेजस्वी सूर्य्यके समान शोभायमान हुए। प्रभुके स्थानसे लेकर सौयोजन पर्य्यन्त सम्पूर्ण दिशाओंमें अत्यन्त सुकाल था। सातों प्रकारसे भयोंका कहीं छायामात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। अर्हन्त प्रभु अनेकों देश, पर्वत, नगर एवं नदी

के लिये वहुत जोर दिया परन्तु उनकी दृष्टि में तो संसार भयानक और दुखदायी दिखाई पड़ता था उन्होने कहा कि क्षणिक संसारी सुखों की ममता में अविनाशी सुखों के अवसर को क्यों खोऊँ। वह भ० महावीर के समवशरण में जाकर जैन साधु हो गये।

शालिभद्र पर वीर प्रभाव

राजगृह के सवसे वड़े व्यापारी शालिभद्र ने आनन्दभेरी सुनी तो भगवान् महावीर के आगमन को जानकर उसका हृदय आनन्द से गदगद करने लगा और तुरन्त भ० वीर के दर्शन के लिये उनके समवशरण में पहुँचा और उनसे पिछले जन्म का हाल पूछा तो भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी जिसमें सुनाई दिया कि तुम पिछले जन्म में वहुत दरिद्री थे, पड़ौसी के घर खीर वनते हुए देखकर तुमने भी अपनी माता से खीर वनाने के लिये कहा मगर अधिक गरीव होने के कारण वह दूध आदि का प्रवन्ध न कर सकी। गांव के लोगों ने तुम्हारी जिद को देखकर खीर वनाने की सारी सामग्री जुटा दी। माता तुमको परोसनेवाली ही थी कि इतने में एक जैन साधु, आहार निमित्त उधर आ गये। तुम भूल गये इस वात को कि वड़ी कठिनाईयों से अपने लिए खीर तैयार कराई थी। तुमने मुनिराज को परगाह लिया और उस सारी खीर का आहार उनको करा दिया और स्वयं भूखे रहे। मुनि-आहार के फल से इस जन्म में तुम इतने निरोगी और भाग्यशाली हुए हो कि करोड़ों की सम्पत्ति तुम्हारी ठोकरों में फिरती है। शालिभद्र यह विचार करके कि थोड़े से त्याग से इतना अधिक संसारी सुख सम्पत्ति मिली तो इन संसारी क्षणिक सुखों के त्याग से मोक्ष का सच्चा सुख प्राप्त होने में क्या संदेह हो सकता है? आप जैन मुनि हो गये।

महाराजा श्रेणिक ने अपने राज्य के सवसे वड़े सौदागर को मुनि अवस्था में देखा तो उनसे पूछा कि आपने करोड़ों की सम्पत्ति एक क्षण में कैसे त्याग दी? मुनि शालिभद्र ने उत्तर दिया "अव तक मैंने जो सौदे किये उसका केवल इस एक ही जन्म में सुख प्राप्त हुआ, परन्तु जो सौदा आज किया है उसका सुख सदा के लिए प्राप्त होगा।

अर्जुनमाली पर वीर प्रभाव

राजगृह के नगरसेठ सुदर्शन वीरवन्दना को जाने लगे तो उनके पिता ने कहा, "अर्जुनमाली महादुष्ट है। छः पुरुष और एक स्त्री तो नियम से वह प्रत्येक दिन मार ही डालता है। तुम यहां से ही भ० वीर को नमस्कार कर लो, वह तो सर्वज्ञ हैं, यहां से की हुई वन्दना को भी वह अपने ज्ञान से जान लेंगे"। सुदर्शन ने कहा मरना तो एक दिन है ही, फिर इसका भय क्या?

सुदर्शन राजगृह से थोड़ी दूर ही वाहर निकला था कि अर्जुनमाली भूखे शेर के समान झपटा और अपना मोटा मुद्गर मारने को उठाया, परन्तु वीर भगवान की भक्ति फलसे वनदेवने उसके हाथ कील दिए। अर्जुन वड़ा शक्तिशाली था उसने वहुत यत्न किए, परन्तु कुछ वश

व्रत नक्षत्र भाल उर धरै सो चौवन एकांतर करै। लब्धि विधान करी व्रत येह, हैं बत्तीस एकान्तर तेह ॥७७॥
सप्तकुम्भ व्रत बाराठ दिना, पैंतालिस सत्रह पारना। बड़ी सिंहक्रीडन व्रत मुनी, इकसै अकसठ दिनको गुनी ॥७८॥
इकसै सेंतीस हि उपवास, करै पारनै इकतिस जास। त्रिगुणसार व्रत इकतालीस, ग्यारा जेवा प्रोषध तीस ॥७९॥
भई वन सिंह क्रिडनी जान, दो राय दिन ताकी परवान। इकसय पचहत्तर उपवास, करै पारने पच्चिस जास ॥८०॥
चारितशुद्धि व्रत गुणधाम, बारहसै चौतीसा नाम। तेरह अंग नवति उपवास, करै निरन्तर पूरन जास ॥८१॥
व्रत जु सर्वतोभद्र विचार, सौ दिनकी मर्यादा धार। प्रोषध पचहत्तर परवान, अरु पच्चीस पारनै जान ॥८२॥
महा सर्वतोभद्र हि जास, दौसै चौंवन दिन परकास। इक सय पचावन उपवास, और पारनै कर उनचास ॥८३॥
व्रत दुखहरण एकसै वीस, तितने ही एकांतर दीस। व्रत जु पुरन्दर हरि हरिमास, शुकलाश्रम लों एकामात्र ॥८४॥

यद्यपि जगत गुरु श्री महावीर तीर्थङ्कर संसारके समुद्बोधनमें रत थे तथापि पूर्वोक्त प्रकारसे इन्द्रके द्वारा स्तुति की जानेपर उन्होंने सब भव्योंको मिथ्या मार्गसे दूर हटाकर निर्भ्रान्त मोक्ष मार्गपर लाने के लिये विहार करने का निश्चय किया। जब प्रभु विहार करनेके लिए उद्यत हुए तब बारह प्रकारके जीव समूहोंने उन्हें घेर रखा था। देववृन्द चमर हिलाकर सेवा कर रहे थे, तीन परमोत्तम छत्र शोभायमान हो रहे थे और उनके पास महा सम्पदायें एकत्रित थीं। करोड़ों वाद्य-

---

में अभयकुमार तुम एक बड़े विद्वान् ब्राह्मण थे परन्तु जात-पांत और छूत-छात के भेदों में इतने फंसे हुए थे कि शूद्र की छाया पड़ने से भी तुम अपने आपको अपवित्र समझ बैठते थे। एक दिन आपकी भेंट एक श्रावक से हो गई। उसने आपको समझाया कि धर्म का सम्बन्ध जाति या शरीर से नहीं बल्कि आत्मा से है। आत्मा शरीर से भिन्न है, ऊंच हो या नीच, मनुष्य हो या पशु, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, आत्मिक उन्नति करने की शक्ति सबमें एक समान है। जिससे प्रभावित होकर जाति-पांति विरोध त्यागकर आप श्रावक हो गए और विश्वासपूर्वक जैनधर्म पालने के कारण मरकर स्वर्ग में देव हुए और वहां से आकर श्रेणिक जैसे महाप्रतापी सम्राट् के भाग्यशाली राजकुमार हुए हो"।

भगवान महावीर के उत्तर से अभयकुमार के हृदय के कपाट खुल गये। यह विचार करते-करते "जब श्रावक धर्म के पालने से इस लोक में राज्य सुख और परलोक में स्वर्गों के भोग बिना मांगे आपसे आप मिल जाते हैं तो मुनिधर्म के पालने से मोक्ष के अविनाशी सुखों की प्राप्ति में क्या संदेह हो सकता है? प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या? भ० महावीर स्वयं हमारे जैसे पृथ्वी पर चलने-फिरने वाले मनुष्य ही तो थे, जो मुनिधर्म धारण करके हमारे देखते ही देखते लगभग १२ वर्ष की तपस्या से अनन्तानन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य के धारी परमात्मा हो गये। मनुष्यजन्म बड़ा दुर्लभ है फिर मिले न मिले" वह भ० महावीर के निकट जैन साधु हो गये।

वारिषेण पर वीर प्रभाव

Amongst the sons of Shrenika Bimbisara, Varisena is famous for his piety and endurance of austerities. He was ordained as a naked saint by Mahavira and attained Liberation.

—Some Historical Jain Kings & Heroes P. 14.

सम्राट् श्रेणिक के पुत्र वारिषेण इतने पक्के व्रती श्रावक थे कि तप का अभ्यास करने के लिये वह रात्रि के समय श्मशान भूमि में निःशंक होकर आत्म-ध्यान लगाया करते थे।

विद्युत नाम के चोर ने राजमहल से महारानी चेलना का रत्नमयी हार चुरा लिया। कोतवाल ने भांप लिया, चोर जान बचाने को श्मशान की तरफ भागा, कोतवाल ने पीछा किया तो हार को फ़ेंककर वह एक वृक्ष की ओट में छुप गया। जिस जगह हार गिरा था उसके पास वारिषेण आत्म-ध्यान में लीन थे। इनको ही चोर समझकर कोतवाल ने हार समेत इनको राजा श्रेणिक के दरबार में पेश किया। राजा को विश्वास न था कि वारिषेण जैसा धर्मात्मा अपनी माता का हार चुराये, परन्तु चोरी का माल और चोर दोनों की मौजूदगी तथा कोतवाल की शहादत। यदि छोड़ा तो जनता कह देगी कि पुत्र के मोह में आकर इन्साफ का खून कर दिया, इसलिये उसने उसको प्राण दण्ड की सजा दे दी।

चाण्डाल हैरान था कि यह क्या? वह वारिषेण को क़त्ल करने के लिये बारबार तलवार उठाये परन्तु उसका हाथ न चले। धर्मफल के प्रभाव से वनदेव ने चाण्डाल का हाथ कील दिया था। सारे राजगृह में शोर मच गया। राजा श्रेणिक भी आ गये और उसको राजमहल में चलने

धरम चक्र पालक व्रत जास, षट जेवा षोडश उपवास। वृहद धर्मचक्र हि व्रत धरै, दशसै दस दिन मौकल करै ॥८५॥
जिनगुणसंपति छयासह दीप, प्रोषध छत्तिस पारन तीस। लघु जिनगुण-संपति त्रेसट्ठ, कर एकांतर पूज प्रमठ ॥८७॥
सुख संपति दिन इकइस बीस, पूनौ मावस प्रोषध दीस। वरष पांच लौं पूरन होइ, सुन अब सुखसंपति व्रतजोइ ॥८६॥
दिन विंशोत्तर वृक्ष दश करै, पून्यौ चाहैं मावस धरै। रुद्र वसंत जु चालिस दिना, पैंतिस प्रोषध पन पारना ॥८८॥
शील कल्यान एकसै असी, करैं पोषलौं प्रोषध जसी। इकसय वीस पंचकल्याण, प्रोषध जिन कल्यानक ठान ॥८९॥
इन्द्रकल्यान दिवस पच्चीस, पंचपंच दिन व्यौरो दीस। प्रोषध कांजिक एकल ठान, रुक्षजु अनागार पहिचान ॥९०॥
श्रुतकल्याण वही विधि धार, श्रुत हि पठन कर लेइअहार। लघुकल्याण व्रतहि दिन पंच, एक-एक दिन वहुविघ संच ॥९१॥
मध्यकल्याण जु तेरह दिना, आदि अंत है प्रोषध गिना। एकलि चार कंजिका तीन रूक्षरू अनाहार द्वय दीन ॥९२॥
श्रुतस्कन्ध व्रत जव आदरै. तीस दिवस एकांतर करै। पंचहि श्रुत जान हि व्रत सार, कर उपवास निरंतर धार ॥९३॥

ध्वनिके साथ प्रभुने विहार करना प्रारम्भ किया। अनेकों ध्वजा-पताका एवं छत्र इत्यादिसे सारा आकाश-मंडल ढंक सा गया। देववृन्द चारों ओरसे जय ध्वनि करने लगा हे ईश, आप सम्पूर्ण भव्य जीवोंके महाशत्रु मोहको जीतें और जयवन्त कहलायें। प्रभो, आपकी वृद्धि हो और आनन्द को प्राप्त करें! इसके वाद प्रभु विहार करने लगे और सब सुर असुर इत्यादिके साथ मध्यमें तेजस्वी सूर्य्यके समान शोभायमान हुए। प्रभुके स्थानसे लेकर सौयोजन पर्य्यन्त सम्पूर्ण दिशाओंमें अत्यन्त सुकाल था। सातों प्रकारसे भयोंका कहीं छायामात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। अर्हन्त प्रभु अनेकों देश, पर्वत, नगर एवं नदी

के लिये बहुत जोर दिया परन्तु उनकी दृष्टि में तो संसार भयानक और दुखदायी दिखाई पड़ता था उन्होंने कहा कि क्षणिक संसारी सुखों की ममता में अविनाशी सुखों के अवसर को क्यों खोऊँ। वह भ० महावीर के समवशरण में जाकर जैन साधु हो गये।

शालिभद्र पर वीर प्रभाव

राजगृह के सबसे बड़े व्यापारी शालिभद्र ने आनन्दभेरी सुनी तो भगवान् महावीर के आगमन को जानकर उसका हृदय आनन्द से गदगद करने लगा और तुरन्त भ० वीर के दर्शन के लिये उनके समवशरण में पहुँचा और उनसे पिछले जन्म का हाल पूछा तो भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी जिसमें सुनाई दिया कि तुम पिछले जन्म में बहुत दरिद्री थे, पड़ौसी के घर खीर बनते हुए देखकर तुमने भी अपनी माता से खीर बनाने के लिये कहा मगर अधिक गरीब होने के कारण वह दूध आदि का प्रबन्ध न कर सकी। गांव के लोगों ने तुम्हारी जिद को देखकर खीर बनाने की सारी सामग्री जुटा दी। माता तुमको परोसनेवाली ही थी कि इतने में एक जैन साधु, आहार निमित्त उधर आ गये। तुम भूल गये इस बात को कि बड़ी कठिनाईयों से अपने लिए खीर तैयार कराई थी। तुमने मुनिराज को परगाह लिया और उस सारी खीर का आहार उनको करा दिया और स्वयं भूखे रहे। मुनि-आहार के फल से इस जन्म में तुम इतने निरोगी और भाग्यशाली हुए हो कि करोड़ों की सम्पत्ति तुम्हारी ठोकरों में फिरती है। शालिभद्र यह विचार करके कि थोड़े से त्याग से इतना अधिक संसारी सुख सम्पत्ति मिली तो इन संसारी क्षणिक सुखों के त्याग से मोक्ष का सच्चा सुख प्राप्त होने में क्या संदेह हो सकता है? आप जैन मुनि हो गये।

महाराजा श्रेणिक ने अपने राज्य के सबसे बड़े सौदागर को मुनि अवस्था में देखा तो उनसे पूछा कि आपने करोड़ों की सम्पत्ति एक क्षण में कैसे त्याग दी? मुनि शालिभद्र ने उत्तर दिया "अब तक मैंने जो सौदे किये उसका केवल इस एक ही जन्म में सुख प्राप्त हुआ, परन्तु जो सौदा आज किया है उसका सुख सदा के लिए प्राप्त होगा।

अर्जुनमाली पर वीर प्रभाव

राजगृह के नगरसेठ सुदर्शन वीरवन्दना को जाने लगे तो उनके पिता ने कहा, "अर्जुनमाली महादुष्ट है। छः पुरुष और एक स्त्री तो नियम से वह प्रत्येक दिन मार ही डालता है। तुम यहां से ही भ० वीर को नमस्कार कर लो, वह तो सर्वज्ञ हैं, यहां से की हुई वन्दना को भी वह अपने ज्ञान से जान लेंगे"। सुदर्शन ने कहा मरना तो एक दिन है ही, फिर इसका भय क्या?

सुदर्शन राजगृह से थोड़ी दूर ही बाहर निकला था कि अर्जुनमाली भूखे शेर के समान झपटा और अपना मोटा मुद्गर मारने को उठाया, परन्तु वीर भगवान की भक्ति फलसे वनदेवने उसके हाथ कील दिए। अर्जुन बड़ा शक्तिशाली था उसने बहुत यत्न किए, परन्तु कुछ वश

इक सथ अड़सट दिन पर मान, जब चाहै आरम्भै थान । लघु रत्नावली इकतालीस, ग्यारा जेवा प्रोपध तीस ॥६४॥
मध्यम रत्नावलि व्रत और, प्रोपध सवै बहत्तर ठौर । शुकलपंचमी छट इकदशी,कृष्ण दोज अर छट द्वादशी ॥६५॥
वद्धि रत्नावलि व्रतहि बखान, त्रय सय छासट दिनपरवान । प्रोपध सवै तीनसै धरै, छयासट तहाँ पारनै करै ॥६६॥
मुक्तावलि प्रोषध उनचास, करै पारनै तेरह जास । लघु मुक्तावलि नव उपवास, ताकी व्योरी चार जु मास ॥६७॥
भादों सुदि सप्तम इकदशी, क्वांर वदी पष्ठी त्रोदशी । अर सुदिकी एकादश जान, कातिक वदि बारस पहिचान ॥६८॥
सुदि की छह अरु एकादशी, अगहन वदि अष्टमि मन वसी । यही मास सुदि तीज प्रकाश, सो व्रत पालो नव उपवास ॥६९॥
अव दुयकावलि व्रत अवनीश,प्रोपध सव इकसय छव्वीस । मास मास में वेला तास, शुक्ल पक्ष महि चार सु हास ॥१००॥

इत्यादिकोंको पार करते हुए आकाश मार्गसे ही आगे बढ़ने लगे । प्रभुके शान्त परिणामके प्रभावके कारण हरिण, मृग इत्यादि वन्य जीवों को दुष्ट सिंहादि हिंसक पशुओंसे कुछ भी भय न था । प्रभु, नोकर्म वर्गणाके आहार से ही पुष्ट थे, सुखी एवं विरक्त थे । यदि कर्मोके नाश हो जानेके कारण कवला हार (ग्रास भोजन) प्रायः वन्द हो चुका था । अनन्त चतुष्टय के साथ इन्द्रादि प्रभु को घेरे हुए थे । प्रभुका आसाता कर्म उदय अत्यन्त मन्द था इसीलिए मनुष्यों के द्वारा किये गये उपसर्ग

चलता न देखकर वह सुदर्शन के चरणों में गिर पड़ा । सुदर्शन ने कहा, "यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो मेरे साथ वीर वन्दना के लिए चलो" । अर्जुन वोला, "वहां तो श्रेणिक जैसे सम्राट्, आनन्द जैसे सेठ और तुम्हारे जैसे भक्त जाते हैं, मुझ जैसे पापी और नीच जाति को कौन घुसने देगा" ? सुदर्शन ने कहा, "यही तो भ० महावीर की विशेषता है कि उनके समवशरण के दरवाजे पापी से भी पापी और नीच से भी नीच चाण्डाल तक के लिए खुले हैं तुम्हारे लिए वहां वही स्थान है जो महाराजा श्रेणिक के लिए" । यह सुनकर अर्जुन भी सुदर्शन के साथ चल दिया। समवशरण के अहिंसामयी वातावरण और विरोधी पशुओं तक को आपस में प्रेम करते देखकर अर्जुन भूल गया कि मैं पापी हूं । उसने विनयपूर्वक भ० महावीर को नमस्कार किया और उनके उपदेश से प्रभावित होकर जैन साधू हो गया । श्रेणिक आश्चर्य में पड़ गया कि जिस दुष्ट अर्जुन को लूटमार व कत्लगिरि के हजारों वाकात से सारा देश परेशान था, जिसके कारण उसको गिरफ्तार करने के लिये उसने हजारों रुपये का इनाम निकाल रक्खा था फिर भी किसी में इतना हौसला न था कि उसे पकड़ सकें, वे वीर-शिक्षा से इतना प्रभावित हुआ कि सारे दोषों को छोड़कर एकदम जैनमुनि हो गया ।

महाराजा चेटक पर वीर प्रभाव

वैशाली के राजा चेटक इक्ष्वाकु वंश के क्षत्रिय-रत्न थे । वह थे बड़े पराक्रमी और वीर योद्धा । सुभद्रा देवी इनकी रानी थी । वे दोनों इतने पक्के जैनी थे कि इन्होंने संकल्प कर रखा था कि अपनी पुत्रियों का विवाह अजैन से नहीं करेंगे । जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति तो वह रणभूमि तक में नहीं भूलते थे । उनके धन, दत्तभद्र, उपेन्द्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास नाम के दश पुत्र और त्रिशलाप्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा और चन्दना नाम की सात पुत्रियां थीं । त्रिशला-प्रियकारिणी कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ से व्याही थी और श्री वर्द्धमान महावीर जी की माता ही थी । मृगावती कौशाम्वी के राजा शतानीक की रानी थी सुप्रभा दशार्ण देश के राजा दशरथ से व्याही थी । प्रभावती सिंधुसौवीर अथवा कच्छ देश के महाराजा उदयन की महारानी थीं । चेलना जी मगध के सम्राट श्रेणिक विम्बसार की पटरानी थी कि जिनके प्रभाव से महाराजा श्रेणिक बौद्धधर्म छोड़कर जैनी हो गया था । सति चन्दना देवी और ज्येष्ठा आजन्म ब्रह्मचारिणी रही थी । यह सारा परिवार जैनधर्मी था, ज्येष्ठा, चन्दना और चेलना तो भ० महावीर के संघ में जैन साधु हो गई थी ।

जब भ० महावीर का समवशरण वैशाली आया तो चेटक ने पूछा, मनुष्य बलवान अच्छा है या कमजोर ? वीरवाणी में उन्होंने सुना, "दयावान और न्यायवान का बलवान होना उचित है ताकि वह अपनी शक्ति से दूसरों की सहायता और रक्षा कर सके, परन्तु पापियों, अत्याचारियों और हिंसकों का कमजोर होना ही ठीक है ताकि वह दूसरों पर अत्याचार न कर सकें ।" महाराजा चेटक पर भ० महावीर का इतना प्रभाव पड़ा कि वे समस्त राजसुखों को लातमार कर वह जैन साधु हो गये ।

सेनापति सिंहभद्र पर वीर प्रभाव

सिंहनामक लिच्छवि सेनापति निगंठ नाठपुत्त (महावीर) के शिष्य थे ।

—बौद्धग्रंथ महावग्ग (S. B. E.) XVII. 116.

सिंहभद्र वैशाली के विशाल राजा चेतक के महायोद्धा सेनापति थे । जब भ० महावीर का समवशरण वैशाली में आया तो यह भी

परिमा दोज चौथ ए चून, आठैं नवैं चतुर्दशि पून। कृष्ण पक्ष छट आठै नमैं, तेरस चौदश ए त्रय समैं ॥१०१॥
लघु दुयकावलि इकसय वीस, वेला प्रोषध कर चौवीस। इक अहार अड़तालिस और, सवै पारनै चोविस जोर ॥१०२॥
अव कनकावलि कर इक वर्ष, महिमा प्रतिछह् प्रोषध पर्व। शुक्ल प्रतिपदा पंचमि दसैं, कृष्णा दोज छह् द्वादश वसैं ॥१०३॥
वड़ी कनक बलि व्रतहि वखान, दिन जु पंच सय वाइस मान। प्रोषध कर चहुसै चौंतीस, जेवा सवैं अठासी दीस ॥१०४॥
इकावलि इक वर्ष समात, मासहि प्रति प्रोषध कर सात। कृष्ण चौथ चोदश अष्टमी, अरु आठैं परिमा पंचमी ॥१०५॥
वज्रमध्य व्रत दिन अड़तीस, जेवा नव प्रोषध उनतीस। मृदंग मध्य व्रत कर दिन तीस, सत जेवा प्रोषध तेवीस ॥१०६॥
मुरज मध्य दिन तेतिस जान, छव्विस प्रोषध जेवा सात। मेरु पंक्ति दो सय दिन वसी, सय विस प्रोषध जेवा असी ॥१०७॥
नन्दीश्वर पंकति व्रत होइ, अष्टोत्तर सय दिन अवलोइ। प्रोषध तिहि अंठावन धरै, सव पंचास पारने करै ॥१०८॥

का एकदम अभाव था। त्रिजगद्गुरु महावीर प्रभू के अतिशय के कारण चारों दिशाओंमें चार मुख थे। वे सभीको अपने सम्मुख ही पाते थे। सभी जीव अत्यन्त निकट थे और उन्हें किसी प्रकारका कोई भय नहीं था। घातिया कर्मों के नाश हो जानेके वाद प्रभुने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया। वे सम्पूर्ण विद्याओंके स्वामी थे और उनके नेत्र भी तेजस्वी ही थे। प्रभु के दिव्य शरीरकी न कहीं छाया (परछाई) पड़ी, न आँखोंके पलक वन्द हुए और न कभी नख एवं केशोंकी ही वृद्धि हुई। घातिया कर्म रूपी शत्रुओंके नाश हो जानेपर उस विभुके दस दिव्य अतिशय स्वतः प्रकट हो गये। सव अंगोंसे अर्थ स्वरूप अर्ध मागधी भाषा निकली। यही प्रभुजी दिव्य भाषा थी। यह सभी लोगोंके आनन्द को देने वाली, समग्र सन्देहको मिटाने वाली, दो प्रकार के धर्मको एवं सम्पूर्ण पदार्थों की कहने वाली हुई। इस सद्गुरुके परम आश्चर्योत्पादक प्रभावसे स्वभावतः जाति विरोधी सर्प एवं नेवले इत्यादि जीव परस्पर के वैर भाव को मिटाकर परम मित्र की तरह एक ही स्थानपर रहने लगे। और सव वृक्षोंमें एक साथ सम्पूर्ण ऋतुओंके फल फूल एक ही साथ फल गये। वे इस विचित्र

उनकी वन्दना को गये और भक्तिपूर्वक नमस्कार करके भ० महावीर से पूछा, कि क्या शासन चलाने वाले मेरे जैसे क्षत्रिय के लिये राष्ट्र रक्षा के लिये तलवार उठाना और अपराधियों को दण्ड देना अहिंसा धर्म के विरुद्ध है? भ० महावीर की वाणी खिरी, जिसमें उन्होंने सुना कि "देशरक्षा के लिए सैनिक धर्म तो श्रावक का प्रथम धर्म है। सैनिक धर्म के विना अत्याचारों का अन्त नहीं होता और विना अत्याचारों का अन्त किए देश में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती और विना शांति के गृहस्थ धर्म का पालन नहीं हो सकता और विना गृहस्थों के मुनिधर्म सम्पूर्णरूप से पालन नहीं हो सकता। इसलिए देश में शांति रखने तथा अत्याचारों को नष्ट करने के हेतु विरोधी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना और अपराधियों को न्यायपूर्वक दण्ड देना गृहस्थियों के लिए अहिंसा धर्म है।" सेनापति सिंहभद्र ने अहिंसा धर्म की इतनी विशालता वीरवाणी में सुनकर तुरन्त ही श्रावक धर्म के व्रत ले लिये।

आनन्द श्रावक पर वीर प्रभाव

सेठ आनन्द वाणिज्यग्राम के वड़े प्रसिद्ध साहूकार थे, चार करोड़ अशर्फियां उनके पास नकद थी। चार करोड़ अशर्फियां व्याज पर और चार करोड़ अशर्फियां कारोवार में लगी हुई थीं। करोड़ों अशर्फियों की जमीन-जायदाद थी। चालीस हजार गाय, भैंस, घोड़े, बैल आदि पशुधन था। जव भ० महावीर का समवरण उनकी नगरी में आया तो आनन्द और उनकी पत्नी शिवनन्दा ने भ० वीर से श्रावक के व्रत लिए और यह प्रतिज्ञा कर ली कि जो हमारे पास है उससे अधिक अपने पास न रखेंगे। व्याज पर चढ़े हुए चार करोड़ अशर्फियों का सूद ग्रहण करें तो सम्पत्ति वढ़ जावे, कारोवार में लाभ हो तो सम्पत्ति वढ़े। हर साल एक वच्चा हो तो चालीस हजार पशुधन से सालभर में चालीस हजार वच्चे वढ़ जावें, उनको वेचें तो नकदी वढ़ जावे इसलिए लोभ और मोह नष्ट हो जाने से वह महासन्तोषी और इच्छारहित होकर श्रावक व्रत धारने के कारण वह इस दुखी संसार में भी महासुखी थे।

महाराजा एवन्त पर वीर प्रभाव

पोलसपुर के सम्राट् विक्रम के पुत्र एवन्तकुमार ने भ० महावीर के निकट दीक्षा ली।—श्रीचौथमल जी: भ० महावीर का आदर्श जीवन, पृ० ४१६।

पोलासपुर में वीर-समवशरण आया तो वहां के राजा विक्रम ने उनका स्वागत किया। शब्दालपुत्र नाम के कुम्हार ने जिसकी पाँचसौ

लक्षण पंक्ति चारसै आठ, कर एकांतर पोषध ठाठ। विमान पंक्ति दिन त्रेसठ गहै, प्रथम हि बेला एक जु लहै॥१०९॥
फिर एकांतर वार जु करै, याही भांत निरन्तर धरै। वाहर तप व्रत वाहर भांत, वारह बारह इक रस सात॥११०॥
रसहि त्याग चौरासी एह, पुन कंजक बारह गन लेह। अर उदण्ड बारह आहार, मन चिंतै बारह निरधार॥१११॥
एकल बारह बारह रुक्ष, इकसय चवालीस दिन स्वच्छ। अठ सय गंध त्रय सव वन्न, दुसय अठासी प्रोषध मन्न॥११२॥
करै पारनै चोसठ जास, अब चन्द्रायन व्रत हर मास। शुकल ग्रास इक दिन दिन बढ़ै, कृष्ण पक्ष इकइक घट रहै॥
जिन मुख अवलोकन व्रत एव, वर्ष दिना दरशन कर जेव। जिनरात्री व्रत एक उपास, फागुन सुदि चौदश को भास॥११४॥
पूजा कर जागरण कराय, पहर पहर प्रति जिन दरशाय। वार विजौरा व्रत हर मास, दोउ द्वादशी कर उपवास॥११५॥
एक सौनव व्रत दिन चारसै, ऊपर तहां पचासी लसै। जेवा असि चउसय पचयास, इकतै नवलौं चढ़ि चढ़ि जास॥११६॥
ऐसोदस व्रत छसै पचास, सी जेवा सव पांचसै पचास। दशलौं चढ़ै अनुक्रम सोइ, जो लौं यह व्रत पूरन होइ॥११७॥

परिवर्तन से प्रभुके परमोत्तम दिव्य तपके ही प्रभावको व्यक्त कर रहे थे। धर्मके सम्राट प्रभुका जहां सभा मण्डप होता था वहां पृथिवी चारों ओर से आदर्शके समान पारदर्श एवं प्रभा पूर्ण दीख पड़ती थी। जब प्रभु जगतके जीवोंको उद्बोधित करनेके लिए चलते थे तब सब को सुख पहुंचाकर सेवा करनेकी इच्छा से वायु शीतल, मन्द एवं सुगन्ध युक्त होकर चलने लगती थी अतुल आनन्दको देने वाली प्रभुके जय जयकार की ध्वनिसे मुखरित था और शोक सन्तप्त जीवोंको उसे सुनकर अपार आनन्द प्राप्त होता था। प्रभुके सभामण्डप के आगे चार कोश तक की पृथ्वीको वायुकुमार देव झाड़ वहार कर स्वच्छ एवं तृण-कपट आदि से हीन कर दिया करते थे। इसी प्रकार स्तनितकुमार देव बिजलीकी चमकसे युक्त अत्यन्त सुगन्धित जलकी वर्षासे चारों ओर छिड़काव कर देते थे और देववृन्द प्रभुके पैर रखनेके स्थानमें रत्न जड़े हुए प्रकाशमान सुवर्ण के बनाये हुए पीले पंखुरियों वाले सात सात कमल बना दिया करते थे और प्रभुके पाद-पद्म उसी स्वर्ण-कमलपर ही पड़ते थे। शालि इत्यादि सबको तृप्ति देने वाले अन्न वनस्पति धान्य अधिक एवं पुष्ट अन्न कणोंसे परिपूर्ण हो कर एकदम झुक जाते थे तथा अन्याय वृक्ष भी सम्पूर्ण ऋतुओं के फलसे युक्त होकर विनयावनत पुरुषके समान नीचेकी ओर लटक जाते थे और उनकी शोभा बढ़ जाया करती थी।

दुकानें मिट्टी के वर्तनों की चलती थीं और तीन करोड़ अशर्फियों का स्वामी था, वीर प्रभु से श्रावक के व्रत लिये। वहां के राजकुमार एवन्त ने जैन साधु होने की ठान ली। माता-पिता से आज्ञा मांगी तो उन्होंने कहा कि अभी तुम बालक हो विधि अनुसार धर्म कैसे पाल सकोगे? राजकुमार ने कहा कि धर्म पालने की विशेषता आयु पर निर्भर नहीं, बल्कि श्रद्धा और विश्वास पर है। वैसे भी आयु का क्या भरोसा? मृत्यु के लिये बच्चा और बूढ़ा एक समान है। यदि जीवित भी रहा तो यह कैसे विश्वास कि सदा निरोगी रहूँगा, रोगी से धर्म पालन नहीं हो सकता। बुढ़ापे में तो धर्म साधन की शक्ति ही नहीं रहती। यह मनुष्य जन्म बार २ नहीं मिलता। वीरप्रभु के उपदेश से मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि जिन विषय भोगों और इन्द्रियों की पूर्तियों को हम सुख समझते हैं वह वर्षों तक नरकों के महादुख सहने का कारण हैं। मात-पिता! आप तो हमेशा मेरा हित चाहते रहे हो तो अविनाशी हित से क्यों रोकते हो? राजा और रानी अपने बालक के प्रभावशाली वचन सुनकर सन्तुष्ट हो गये और उसे जिनदीक्षा लेने की आज्ञा दे दी। जिस प्रकार कैदी को बन्दीखाने से छूटने पर आनन्द आता है उसी प्रकार राजकुमार एवन्त आनन्द मानता हुआ सीधा भ० वीर के समवशरण में गया और उनके निकट जैन साधु हो गया।

महाराजा उदयन पर वीर प्रभाव

Udayana the great king of Sindhu-Sauvira became the disciple of Lord Mahavira.

—Some Historical Jain Kings & Heroes P. 9.

प्राकृत कथा संग्रह में 'सिन्धु-सौवीर के सम्राट् उदयन को एक बहुत ही बड़ा महाराजा बताया है, कि जिनकी कई सौ मुकुट बन्द राज सेवा किया करते थे।' रोरूकनगर उनकी राजधानी थी। उनके राज्य में नर-नारी ही क्या पशु तक भी निर्भय थे इसलिए उनका राजनगर वीत-भय के नाम से प्रसिद्ध था, प्रभावती उनकी पटरानी थी, जो महाराजा चेटक की पुत्री और भ० महावीर की मौसी थी। महारानी प्रभावती पक्की जैनधर्मी थी, उनकी धर्मनिष्ठा ने ही राजा उदयन को जैनधर्मी बनाया था। वह दोनों इतने वीर भक्त थे कि अपनी नगरी में एक सुन्दर जैन

कंजिक व्रत जल भात अहार, चौसठ दिन पालै निरधार। जथाशक्ति कछु और व्रतंत, तितनै मास रुवर्ष प्रजंत ॥११८॥
व्रत रौहिणि कर प्रोषध गाढ़, एक वरष थवि प्रथम अषाढ़। कर्म निर्जरा व्रत इक वास, महिमा प्रति चौदह उपवास ॥११९॥
श्रुति पंचमि पढ़ि शास्त्र विशाल, जेठ सुदी पंचमि उपपाल। उज्वल पंचमि पैंसट मास, शुक्ल पंचमीको उपवास ॥१२०॥
कृष्ण पंचमी तैं ही वर्ष, कृष्ण पक्ष पंचमि को पर्ष। (अ)काश पंचमी नजर अकास, भादौं सुदि पंचमि उपवास ॥१२१॥
पंच पौरिया वा दिन जान, घर पचीस वाटै पकवान। चन्दन षष्ठी भादों शुक्ल, चंदन चर्चि सु भोजन मुक्त ॥१२२॥
(निर) दोष सप्त भादों सुदी धर्न फूलन मंडप पूजा कर्न। कुवांर सप्तमी वाही दिना, खजुरी मण्डप पूजै जिना ॥१२३॥
(नि)शल्य अष्टमी भादौं सुदी, प्रोषध कर शयनासन जुदी। मन चिंती आठै वह थान, मन चित्ते भोजन परवान ॥१२४॥
अव सुगन्धदशमी व्रत जान, भादौं सुदि दशमीकौ मान। गन्ध चर्च दश भेद य हरै, पीछै भोजन आपुन धरै ॥१२५॥
पुनि सौभाग्य दशमि व्रत ठान, दश सुहागनों भोजन दान। दशमिनि मानी घृत अवधार, आदर जुत परघर आहार ॥१२६॥
चमक दशमि औरै चमकाइ, जो भोजन महि हो अंतराइ। छहर दशमि व्रत इहि परकार, छह सुपात्र को देह अहार ॥१२७॥
तम्वोल दशमि व्रत को यह ओर, दश सुपात्र को देइ तमोर। पान दशमि वीरा दश पान, दश श्रावक दे भोजन ठान ॥१२८॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण पापोंके दूर हो जानेसे हृदय निर्मल हो जाता है उसी प्रकार जहां प्रभुका सभा मण्डप था वहां सम्पूर्ण दिशाएं आकाशके समान एकदम स्वच्छ हो जाया करती थीं मानों उनके भी पाप पुंज धुल गये हों। इन्द्रकी आज्ञासे चारों जातिके देव प्रभुकी यात्रा करनेमें सम्मिलित होनेके लिये परस्पर एक दूसरेको देखकर वुलाया करते थे। उन महा महिमशाली प्रभुके आगे आगे प्रभापूर्ण रत्नोंसे सुशोभित सहस्रों अरों वाला धर्मचक्र चल रहा था। वह अपनी प्रखर ज्योतिसे महा अन्धकारके उदयको विदीर्ण करता हुआ वढ़ रहा था और देव मण्डली उसे घेरे हुए थी दर्पण आदि आठ मंगल द्रव्यों को देव अपने साथ लिये हुए थे यह सव महान् चौदह अतिशय भक्ति के द्वारा देवोंने किया। दिव्य चौतीस अतिशय, आठ प्रातिहार्य, चार अनन्त चतुष्ठय तथा अन्य अपरिमेय उत्तमोत्तम गुणोंसे संयुक्त प्रभु अनेकानेक देश वन, पर्वत नगर और ग्रामों में विहार करते हुए राज्यगृही नामकी नगरीके वाहर विपुलाचल पर्वत पर पहुंचे। वे अर्हंत महावीर प्रभु धर्मोपदेश रूपी अमृतसे अनेकानेक भव्य-जीवोको सन्तुष्ट करने वाले थे, उन्हें वस्तु स्वरूपका वास्तविक रहस्य वताकर मोक्षके परिष्कृत पथ पर ले जाने वाले थे, मिथ्याज्ञानरूपी अत्यन्त घने अन्धकार से आच्छन्न अत: भयोत्पादक मार्गको नष्टकर अपने वचन रूपी तीक्ष्ण प्रकारसे आलोकमय रत्नमय स्वरूप मोक्षके मार्गको प्रकट करनेवाले और कल्पवृक्षकी तरह सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, तप और दीक्षा रूपी आकाङ्क्षित चिन्तामणि रत्नोंके दाता तथा सम्पूर्ण संघ और देव वृन्दसे परिवेष्ठि थे।

इसके वाद जव राजगृही नगरीके अधिपति महाराज श्रेणिकने वनके माली के मुखसे प्रभुके शुभागमनका समाचार सुना तव वह शीघ्र ही भक्तिवश होकर स्त्री, पुत्र वन्धु-वान्धव और महा सम्पदा को अपने साथ लेकर प्रसन्नता पूर्वक उस विपुलाचल पर्वत पर पहुंचा जहां कि प्रभु आये हुए थे। वहां जाकर उसने प्रभुकी तीन परिक्रमा दी और मन, वचन, एवं कायये पवित्र होकर श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम किया और जल इत्यादि अष्ट द्रव्योंसे जिनेन्द्र प्रभुके चरणारविन्दकी पूजाकी और भक्ति विह्वल होकर

मन्दिर वनवाकर उसमें भ० महावीर की स्वर्ण-प्रतिमा विराजमान की थी। वे जैनधर्म को भलीभांति पालने वाले आदर्श श्रावक थे। जैन मुनियों की सेवा के लिये तो इतने प्रसिद्ध थे कि इस लोक में तो क्या परलोक तक में उनकी घूम थी। स्वर्ग के देवताओं तक ने परीक्षा करके उनकी वड़ी प्रशंसा की है।

भ० महावीर का समवशरण उनकी नगरी में आया तो उन्होंने वड़े शाही ठाट-वाट से भगवान का स्वागत किया और परिवार सहित उनकी वन्दना को गये। वीर-उपदेश से प्रभावित होकर जैन साधु होने के लिये अपने पुत्र के राजतिलक करने लगे तो उसने यह कहकर इन्कार कर दिया कि राजसुख तो क्षणिक है, मुझे भी अविनाशी सुखों के जुटाने की आज्ञा देदो। मजवूर होकर राज्य अपने भांजे केसीकुमार को दिया और वे दोनों भ० महावीर के निकट जैन साधु हो गये। महारानी प्रभावती भी चन्दना जी से दीक्षा लेकर जैन साधुका हो, वीर संघ में शामिल हो गई।

फूल दशमि फूलन दश भार, दश सुपात्र पहिराइ अठार। फल दशमी दश फल कर लेइ, दश श्रावक के घर-घर देइ ॥१२९॥
दीप संमद संदीप बनाय, जिनहिं चढ़ाय आहार कराय। धूपदशमि व्रत धूप दशंग, खेवैं जिन ढिग भाव अभंग ॥१३०॥
झवादशमि व्रत दश दश पुरी, दश श्रावक दे भोजन करी। वारादशमि सुहारी लेइ, वारा वारा दश घर देइ ॥१३१॥
न्यौम दशमि दश दशमि कराइ, नये नये दश पात्र जिमाइ। दशमि उदंड उदंड अहार, पंच धरनि जी मिलि अविकार ॥१३२॥
भंडार दशमि व्रत शक्ति जु पाय, दश जिनभवन भंडार चढ़ाय। अखय दसैं सुन सावन मास, तिहिं व्रत कर केवलि उपवास
अब छह दशमी बांकी और, देखो कथाकोश के ठौर। दूध रस व्रत सुदि भादों धरै, बारस को पय भोजन करै ॥१३४॥
श्रवण द्वादशी ताही दिना, अनशन करै शुद्ध मन तना। अनंत चतुर्दशि चौदह वर्ष, भादों सुदी चौदशि को पर्व ॥१३५॥
जितनी शाख जौन व्रत धरै, तितनी वर्ष उजेनो करे। जथाशक्ति पूजा अर दान, नहिंनी व्रत दूनो परवान ॥१३६॥
और सवै व्रत करियौ जेह, अरु तिहि कर्‌यौ लह्यो फल तेह। कथाकोश में लीजी जान, इहां धरैं बहु बढ़े पुरान ॥१३७॥
सो गणराय भूप प्रति कह्यो, भविजन सुन सब ही व्रत लह्यो। इत्यादिक बहु प्रश्नहिं धार, आदि अन्त सब साठ हजार ॥१३८॥

दोहा

जो पूछी नृप वारता, गौतम उत्तर साज। वार सभा जय जय कियो, कथा नाथ गणराज ॥१३९॥
फिर गणधर पद प्रणमिकैं, पूछें श्रेणिक राय। कहो भवांतर पूर्व मुहि, मन विकलप जिमि जाय ॥१४०॥
इन्द्रभूति गणराज कहि, सुन बुधिवंत नरेश। एकचित्त तुम सरदहो, कहों भवान्तर शेष ॥१४१॥

राजा श्रेणिकका भवान्तर वर्णन

चौपाई

ये ही आरजखंड मझार, विंध्याचल उत्तंग पहार। दक्षिण दिश बरकूट विशाल, जहां सघन वन अधिक रसाल ॥१४२॥
खदिरसार तहं वसै किरात, मांस अहारी जियकर घात। एक दिना शुभ पुण्य उपाय, दरश समाधिगुप्त मुनिराय ॥१४३॥

स्तुति करने लगा-हे नाथ' आज हम धन्य हुए हमारा जीवन सफल हुआ और मनुष्य जन्म चरितार्थ हुआ। भला जगद्गुरुको पालेना कितने सौभाग्यकी बात है? आपको कोमल चरणारविन्दके शुभ दर्शनसे हमारे नेत्र और प्रणाम करनेसे हमारा मस्तक कृतार्थ हो गया। आपकी पूजा करनेसे हाथ, यात्रा करनेसे पैर, स्तुति करनेसे वाणी पवित्र और सफल हो गया। आपके अनुपम अद्भुत और अलौकिक गुणोंका चिन्तवन करनेसे मन पवित्र हो गया तथा सेवा करने से यह शरीर कृतकृत्य हो गया। हमारे पापरूपी महाशत्रुको नष्ट करनेके लिये ही सम्भवतः आपका यहां शुभागमन हुआ है! हे प्रभो, आपके जैसा विशाल जलयान (जहाज) के सामने तो यह क्षुद्र संसार रूपी सागर एक साधारण गड्ढेके समान जान पड़ता है अब मैं एकदम निर्भय हो गया इस प्रकार त्रैलोक्य स्वामी श्री जिनेन्द्र प्रभुकी स्तुति और गद्गद् चित्तसे पुनः पुनः नमस्कार कर वह अत्यन्य हर्षित हुआ और सत्यधर्मका उपदेशसुननेके लिए मनुष्योंके परकोष्ठमें जाकर जिज्ञासुभावसे बैठ गया। बैठ चुकनेके बाद श्रद्धा पूर्वक श्रेणिक महाराजने जगद्गुरुकी गम्भीर ध्वनिसे कहे हुए यतिधर्म गृहस्थ धर्म, सम्पूर्ण तत्व, तीर्थकरोंके पुराण, पाप पुण्यका प्रथक् पृथक् फल, श्रेष्ठ धर्मके क्षमा इत्यादि लक्षण और व्रतोंके विषयमें अत्यन्त महत्वपूर्ण उपदेश सुना। इसके बाद उसने श्री गौतम स्वामी गणधरको नमस्कार करके पूछा कि—देव, दया पूर्वक मेरे पिछले जन्मके वृतान्तको आप कहें। इस प्रकार महाराज श्रेणिकके प्रश्नको सुनकर परोपकार व्रती श्री गौतम गणधरने राजासे कहा-हे बुद्धिमान, तू अपने तीन जन्मके पूर्व वृतान्तको सावधान होकर सुनः—

विशाल जम्बूद्वीपके विख्यात विन्ध्य पर्वत पर कुटव नामके एक ग्राममें खदिरसार नामका एक भद्र परिणामी भील रहा करता था। वह बहुत बुद्धिमान था एक दिन पुण्यके उदयसे सब जीवोंके कल्याण कार्यमें तत्पर समाधि गुप्त नामके मुनिको

शिर नवाइ तिन प्रनमै पाय, धमवृद्धि दोनो जतिराय। सुन किरात फिर जोरे हाथ, भो मुनि कृपासिंधु जगनाथ ॥१४४॥
कहा, धर्म कहिये समझाय, कौन भांति तिरि पावत ताय। भील वचन सुन मुनिवर कहै, सुरापान मधुमास न लहै ॥१४५॥
जीव तनौं वध करै न लेश, यही धर्म जगमांहि महेश। ता कर परम पुण्य कौ लहै, निहचैं सुरग सुख्यको गहै ॥१४६॥
तब मुनि वच सुन कहै किरात, मधु अर मास न त्यागौ जात। याही को हमरौ आहार, या विन छिन नहीं जीवनधार ॥१४७॥
भील वचन सुन कहै मुनेश, काक मांस तुम त्यागो शेष। यह सुन कहै किरात जु सोय, यों व्रत नेम राख हौं जोय ॥१४८॥
प्रान जाय पै व्रत नहि तजौ, तुमरे चरणकमल उर भजौं। भील वचन सुन मुनिव्रत दयौ, अति संतुष्ट होइ तिहि लयौ ॥१४९॥
इहि विधि काक मांस तज तेह, नेम गाढ़ धारौ अधिकेश। फिर मुनिवर के प्रनमैं पाय, गयौ आपने गृह सुख पाय ॥१५०॥
एक समय तिहि अशुभ उपाय, उपजो रोग देह अति जाय। यह सुन भील कहै तव वैन, काक मांस में छोड्यौ ऐन ॥१५१॥
प्रान जांय पर व्रत नहि जाय, व्रत विन है जीवन दुखदाय। व्रत युत जीव स्वर्ग पद लहै, व्रत विहीन नर नरकहि गहै ॥१५२॥
यह विधि भद्रनेभि जव सुनौ, भगिनीपति आयौ तिहि तनौ। सूरवीर तस नाम विशेख, पंथ निकट वट तरु इक देख ॥१५३॥
कांची देवी रोवत जोइ, वाही तरुवर आयौ सोइ। देवी प्रति सौ पूछत भयौ, कौन विछोह रुदन इत ठयौ ॥१५४॥
को तुम कहां तुम्हारौ ठाम, सव विरतंत कहौ अभिराम। भील वचन सुन देवी कही, मेरे वचन सुनौ तुम सही ॥१५५॥
मैं हौं वनदेवी सुन भास, याही वनमें मेरोवास। मित्र हेत अति पीड़त देह, काम अगिन वाढ़ी अधिकेह ॥१५६॥
खदिरसार है भर्तृ किरात, आयु निकट आई अवदात। काक मांस व्रत पुन्यहि जोइ, होनहार मेरो पति सोइ ॥१५७॥
काक-मांस तुम देहौ जात, वह नारक गति जैहै खात। या कारण हौं रोवत खरी, और न दूजौ विकलप धरी ॥१५८॥

उसने देखा और नतमस्तक होकर प्रणाम किया। मुनि महाराजने भी धर्म लाभके लिए शुभ आशीर्वाद दिया। धर्म लाभका आशीर्वाद सुनकर भीलने पूछा, महाराज धर्म क्या है ? उसका कार्य और कारण क्या है ? और उससे लाभ क्या होता है ? उन सव बातों को आप ध्यानपूर्वक हमें समझा दीजिये। उसके प्रश्नको सुनकर उन मुनीश्वरने कहा कि हे भव्य, मधु, माँस और मदिरा प्रभृत्तिका परित्याग करना ही अहिंसा रूप धर्म है। धर्म करनेसे उत्तम पुण्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे महान् स्वर्ग मोक्षादि सुखोंकी प्राप्ति होती है। यही धर्म करनेसे उत्तम फल है। मुनीश्वरके उत्तरको सुनकर भीलने कहा महाराज, मैं तो अभी पूर्ण रूपसे मांस मदिरा इत्यादिके त्याग देनेमें एकदम असमर्थ हूं। उसकी वातको सुनकर मुनीश्वरने पूछा अच्छा, तू पहले यह तो वता कि कभी कौएका मांस खाया है। या नहीं ? भीलने कहा-मैंने तो कौएका मांस नहीं खाया है। यह सुनकर मुनीश्वरने कहा यदि अब तक तूने कौएका मांस नहीं खाया तो अवसे कौएका मांस न खानेका तुम एक नियम-सा करले। नियमके विना किसी कार्यमें सफलता नहीं मिलती, पुण्य-प्राप्तिकी वातको तो सोचना ही व्यर्थ है। मुनीश्वरको वातको सुनकर भील प्रसन्न हुआ। और यतीश्वरसे व्रत लेकर उन्हें प्रणाम किया। वादमें आज्ञा लेकर अपने घरको चला गया कभी अशुभ पापोदयसे उसको कोई असाध्य रोग हो गया और वैद्यने उस रोगको दूर करनेके लिए औषधि स्वरूप कौएका मांस खानेको कहा। भीलको तबतक मांस भक्षणसे अरुचि और घृणा उत्पन्न हो गयी थी। वैद्योंकी वतायी चिकित्साको सुनकर भीलने अपने परिवार वालोंसे कहा कि जो करोड़ों जन्मोंके दुर्लभ व्रत को छोड़ कर अपने प्राणोंकी रक्षा करता है वह मूर्ख है और उससे धर्मात्मा पुरुषोंका कोई लाभ नहीं होता। प्राण तो प्रत्येक जन्ममें मिल जाता है। परन्तु शुभव्रताचरणका अवसर तो किसी पुण्यशालीको ही कभी प्राप्त हो जाता है। व्रत भंगकर देनेकी अपेक्षा प्राणों का परित्याग कर देना ही उत्तम है। इस प्रकार शुभ परिणामोंसे प्राण परित्याग कर देनेसे घोर नरकमें जानेके लिये वाध्य होना पड़ता है। भीलके इस नियमको जब सारसपुरके रहने वाले शूर-वीर भीलने सुना—जो कि उस भीलका एक मित्र था तब वह खदिर नामके बीमार भीलसे मिलनेके लिये उसके नगरकी तरफ चला। मार्ग में एक घोर वन पड़ता था। उस वनमें जाने पर भीलने देखा कि एक देवी वड़के वृक्षके नीचे रो रही है। यह देखकर भीलने पूछा कि तू कौन है ! और तुम्हारे इस तरह रोनेका क्या कारण है ? इस प्रश्नको सुनकर देवीने भीलसे कहा—महाशय मैं इस वनकी यक्षिणी हूं और मानसिक व्यथाके कारण यहीं रहती हूं। खदिर नामका एक भील जो कि तुम्हारा मित्र है और जिससे मिलनेके लिए तुम जा रहे हो इस समय मरणासन्न है वह शुभोदयसे काक-मांसका परित्याग कर चुका है, इसी कारणसे पुण्यो-

यह प्रकार जक्षिणि वच सुनै, समाधान ता निज मन गुनै। नैम भंग मैं करती जात, वनदेवी जिहि राखी वात ॥१५९॥
या कहि आतुर आयो तहां, भद्र भील दुख पीड़ित जहां। तिहि परिणाम परीक्षा काज, कपट वचन सी भाषै जास ॥१६०॥
अहो भद्र दुख पीड़ित गात, वैद्य कथित औषधि किन खात। वृथा मरण काहे तुम लहो, जो जीवत तो फिरव्रत गहो ॥१६१॥
तिनके वच सुन बोल्यो वाहि, तुमैं जोग यह कहिवो नाहि। अनुचित कर्म जगत में निंद, श्वभ्र तनों कारण दुखवृन्द ॥१६२॥
मरण अवस्था पहुंची मोहि, सांप्रति जम नित दर्शन होहि। तातें किंचित धर्म-सनेह, सो परभव सुखदाय कहेह ॥१६३॥
शूरवीर निश्चय दृढ़ जान, तव हि जक्षिनी कथा वखान। व्रत फल कह्यो सकल समझाय, देवी प्रीति वचन अधिकाय ॥१६४॥
तिन वच सुन तव भद्र किरात, उर संवेग वढ्यो अवदात। सकल मांस को कीनो त्याग, पंचअणुव्रत में अनुराग ॥१६५॥
काल निकट उर धार समाध, तने प्रान परमेष्ठि अराध। प्रथम स्वर्ग सोधर्म सुथान, भयो महर्द्धिक देव महान ॥१६६॥
शूरवीर फिर निज पुर जाय, तरुतल देवी देखी जाय। जब जक्षिन प्रति पूछी तेह, अव किहि कारण रोवत येह ॥१६७॥
तव फिर जक्षिन भाषै एम, शूरवीर सुर कारण जेम। मो विरतांत कह्यो तुम जाइ, भील मांस सव त्याग कराइ ॥१६८॥
ता फल प्रथम स्वर्ग सो गयो, उत्तमदेव महर्द्धिक भयो। व्यंतर पदको कीनो नाश, मेरो पति न भयो गई आश ॥१६९॥
भुगतै कल्प लोक सुख जाय, वहु देवी सेवैं तिन पाय। सकल लक्ष्मी तहं अधिकाय, सो सव भेद कहो समझाय ॥१७०॥
देवी वचन सकल सुन सोइ, उरमें इमि चिंत्यो भ्रम खोइ। व्रत फल प्रगट प्रवर सुखकार, परमारथ पथ सावनहार ॥१७१॥
व्रत सौं स्वर्ग संपदा लहै, व्रत विन नरक घोर दुख सहै। यह चिंतत वह गयो वतीप, समाधिगुप्त मुनिराज समीप ॥१७२॥
शिर नवाइकै प्रनमों पाय, श्रावक व्रत लीनो सुखदाय। चरणकमल नमिकैं गृह गयो, जथाजोग्य व्रत पालन भयो ॥१७३॥
ये ही आरज खण्डहि ठयो, सो मरि सुन्दर सुर द्विज भयो। मिथ्यामत तिहिके अधिकार, अर्हदास संवोध्यो सार ॥१७४॥
काललब्धिको नियरी पाय, मिथ्यामति छोड़यो दुखदाय। जिनमुद्रा धर तप वहु कियो, पूरव कर्म जलांजलि दियो ॥१७५॥
आयु निकट मर तप फल लयो, प्रथम स्वर्ग में सोसुर भयो। वहु देवी जुत क्रीड़ा करै, धर्म नेह निशदिन उर धरै ॥१७६॥

दय वश वह मर जानेके वाद मेरा पति होगा। तूं उसे मांस खाने के लिए आग्रह करने व्यर्थ ही जा रहा है। मांस खिलाकर तुम अपने मित्रको असह्य दुःख भोगनेके लिये घोर नरकमें भेजना चाहते हो? तुम्हारे इसी कार्य से हमें हार्दिक परिताप है और इसी कारणसे मैं रो रही हूँ। उस देवीकी वातको सुनकर खादिर भीलके मित्रने कहा देवी, तू शोक करना छोड़ दे, अव मैं उसके नियमको तोड़नेका प्रयत्न कदापि नहीं करूंगा। उसकी वात सुनकर देवी सन्तुष्ट हो गयी और वह आगे वढ़ा। जव वह अपने मित्रके पास पहुंच कर उसे रुग्न-शय्या पर पड़ा देखा तव उसके परिणामोंकी परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उसनेकहा-मित्र जव कौएके मांसको खा लेनेसे तुम्हारा रोग दूर हो जाता है तव तुम्हे खा लेना चाहिये, क्योंकि यदि जीवन रहेगा तो वहुतसे पुण्य कार्यों को कर लोगे। मित्रकी इस वातको सुनकर भीलने उत्तरमें कहा मित्र, तुम इस समय अत्यन्त निन्दनीय नरकमें भेजने वाली वातको कहोगे—ऐसी आशा नहीं थी। तुम्हारी वात तो धर्मका नाश करनेवाली है। मेरी इस अन्तिम अवस्थाके समय तुम कुछ धार्मिक शब्दोंका उच्चारण करो—जिससे कि परलोकमें मेरे आत्माको सुख प्राप्त हो सके। भीलके इस दृढ़-निश्चयको देखकर वह प्रसन्न हुआ और वनकी यक्षिणी वाली वातको कहा। इस कथा को कहनेका अभिप्राय यह था कि वह अपने काक मांस त्याग रूपी व्रतका फल जान जाय। इस वातको सुन लेनेके वाद भीलके हृदयमें विशेष रूपसे धर्म और धर्मके फलमें श्रद्धा उत्पन्न हुई। उसने संवेगको प्राप्त होकर मांस इत्यादिका एकदम परित्याग कर दिया और अणुव्रतमें तत्पर हो गया। आयु के अन्त कालमें समाधि पूर्वक अपने प्राणोंका परित्याग करके वह खदिर नाम वाला भील व्रतके प्रभाव और मूल स्वरूप अत्यन्त ऋद्धिवाले सौधर्म स्वर्गमें जाकर उत्तम सुखोंका भोगने वाला देव हुआ। उधर भीलका मित्र शूरवीर जव अपने ग्रामको लौट रहा था तव वीच मार्गमें पुनः उस देवीसे भेंट हो गयी। देवीसे उसने पूछा कि क्या मेरा मित्र अभी तक तुम्हारा पति होकर नहीं आया। देवीने उत्तर दिया मेरा पति तो नहीं हुआ किन्तु सम्पूर्ण व्रतोंसे उत्पन्न पुण्यके उदयसे वह अत्यन्त ऋद्धिशाली और गुणवान् देव होकर सौधर्म स्वर्ग में ही हमारी व्यन्तर जतिसे पृथक् कल्पवासी देव हो गया है। वहीं

दोहा

खदिरसार सुर सुख भुगत, सागर दोइ प्रजंत। आयु निकट तहं तै चयौ, पुण्य पाक कर संत ॥१७७॥
उपश्रेणिक भूपाल गृह, सती श्रीमती नार। उपजै श्रेणिक नाम तुम, भवि श्रेणिक सुखकार ॥१७८॥
शूरवीर जिय देव वह, तुम सुत उपज्यौ सोइ। अभयकुमार प्रधान जग, तदभव शिवपद होइ ॥१७९॥
कांची देवी क्रमहि सौं, चेटक नृपकी धीय। सती चेलना नार तुम, जिन आगम लवलीय ॥१८०॥

चौपाई

सुने भवान्तर निज समुदाय, सप्त तत्व श्रद्धा अधिकाय। श्री जिन चरणकमल प्रनमाय, गणधर नमि फिर पूछै राय ॥१८१॥
अब आगम भव कहिये मोहि, जातें उर विकलप क्षय होहि। इन्द्रभूति बोल्यौ गणराय, श्रेणिक नृप सुन चित्त लगाय ॥१८२॥
तुम कीनौं प्रथम हि मिथ्यात, पंच पाप हिंसादिक जान। विषयनमें तुम चित बहु धर्यौ, बौद्ध भक्त अधरम आदर्यौ ॥१८३॥
नारक गति अवगाढ़ बंधाय, थिति कीनी सप्तम भू जाय। तातैं दुविध धर्म जे करें, निहचै सुरग मुकति अनुसरै ॥१८४॥
अरु समकित विन सुधरै नाहि, शिवतरु मूल जु समकित आहि। ताको दशविध भूमि महान, मोखमार्ग प्रथम हि सोपान ॥१८५॥

पर वह स्वर्गकी अतुल सम्पत्तिको पाकर जिनेन्द्र देवको पूजामें तत्पर है और अनेकानेक सुन्दरी देवियोंके साथ स्वर्ग सुखको भोग रहा है। देवीके मुखसे अपने मित्रके सम्बन्धमें इन बातों को सुनकर वह सोचने लगा कि व्रतका इतना उत्तम फल शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जिस व्रतके प्रभावसे परलोकमें परमोत्तम सम्पदाएं प्राप्त होती हैं उस व्रतके विना किसीको एक क्षण भी व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिए। इस प्रकार विचार करके वह शूरवीर भी तत्क्षण हो समाधि गुप्त मुनिके पास गया और उन्हें प्रणाम करके प्रसन्नता पूर्वक ग्रहस्थ के पालने योग्य व्रतोंको ग्रहण कर लिया।

उस खदिरसार नामक भीलका जीव देव होकर स्वर्गमें दो सागर आयु पर्य्यन्त वहांसे अलौकिक सुखोंको भोग और अन्त में स्वर्गसे चयकर पुण्य-फल से भव्योंकी श्रेणीमें आप मोक्ष मार्गका ज्ञाता होकर तुम राजा कुणिक एवं श्रीमती रानीसे श्रेणिकके रूपमें उत्पन्न हुए हो।

इस आत्म-वृतान्तको सुनकर श्रेणिक राजाका मन श्री जिनेन्द्र प्रभु, देव एवं गुरु इत्यादिमें अत्याधिक श्रद्धालु हो गया। उसने मुनिको पुनः पुनः प्रणाम करके फिर दुबारा प्रश्न किया देव मेरी श्रद्धा धार्मिक कार्यों में बहुत विशेष है किन्तु अल्पमात्रामें भी कोई व्रत हमें क्यों नहीं प्राप्त हुआ? मुनिने उत्तर दिया कि हे बुद्धिमान, प्रथम तुमने अत्यन्त मिथ्यात्व परि-णामों, से हिंसादि पांच महापाप, अधिक आरम्भ एवं परिग्रह, अति विषयोपभोग तथा धर्म हीन बौद्ध-गुरु की भक्तिसे इस जन्म में नरकायु का बंध कर लिया है, यही कारण है कि तुम्हारे अल्पमात्रमें भी कोई व्रत ग्रहण न करनेका। जिनके पास देवायु है वे भव्य जीव दो प्रकारके व्रतको ग्रहण कर लेते है। मोक्ष रूपी राजप्रसाद का प्रथम सोपान (सीढ़ी) सम्यकत्व है और वह दस प्रकारका है। आज्ञा, मार्ग, उपदेश, रुचि, बीच, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ एवं परमावगाढ़ ये दसों सम्यकत्वके नाम है। सर्वज्ञकी जिस आज्ञाके प्रभावसे छः द्रव्योंमें अभिरुचि उत्पन्न होती हैं वही आज्ञा नामका उत्तम सम्यक्त्व है। परिग्रहोंसे हीन, वस्त्रों से रहित एवं हाथोंसे ही पात्रका काम निकालने वाला मुनिका स्वरूप हो जाता है और यह मुनि स्वरूप मोक्षका मार्ग है। इस मोक्ष मार्गमें जिस सम्यक्त्वसे श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे मार्ग दर्शन कहते हैं। जो तिरसठ शलाका (पदवी धारक) महापुरुषोंके पुराणोंको सुनकर शीघ्र ही धर्मविनिश्चय किया जाता है उसे उपदेश दर्शन कहते हैं। आचाराङ्ग नामक प्रथम अङ्गमें कहे गये क्रियाओंको सुनकर ज्ञानी पुरुषोंकी जो उस ओर रुचि उत्पन्न हो जाती है उसे रुचि सम्यक्त्व कहा जाता है। बीज रूप पदके ग्रहण करने एवं उसके अर्थके सुननेसे जो रुचि उत्पन्न होती है उसे बीज दर्शन कहा जाता है। संक्षेप रूपमें ही पदार्थोंके स्वरूप-कथन ही से जो श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वही संक्षेप दर्शन है। प्रमाणनयके विस्तारसे पदार्थोंके स्वरूपको विस्तार पूर्वक कहे जाने पर जो कुछ निश्चय किया है उसे विस्तार सम्यक्त्व कहा जाता है। द्वादशाङ्ग रूपी समुद्रमें प्रविष्ट होकर वचन विस्तार पर विशेष ध्यान नहीं देते हुए सारभूत केवल उनके अर्थमात्र ग्रहण करनेकी रुचि या स्वभाव होता है वह

दोहा

आज्ञा मग उपदेश, सूत्र वीज सम्यक्त्व भव। संक्षेप हि वहु देश, अर्थगाढ़ परगाढ़ दश ॥१८६॥
पूरव वरनी सोइ, ये समकित दश भूमिका। देख लेउ भवि लोइ, सब नृप प्रतिगणधर भनी ॥१८७॥

चौपाई

सो अव तुम नृप रुचि उपजाइ, सकल तत्व सुन श्रद्धा लाइ। परमगाढ़ निश्चै मन दयौ, क्षायिक समकित दृढकर भयौ ॥१८८॥
अरु तुम षोडश भावन भाइ, केवल निकट प्रीति अधिकाइ। इमि बांध्यौ तीर्थंकर गोत, जग अचरज करता यह होत ॥१८९॥
थिति छूटी सप्तम भू तनी, गतिकौ बंध जाइ नहि हनी। प्रथम नरक पहली पाथरी, कर्मपाक फल भुंजन करी ॥१९०॥
वरष सहस चौरासी आव, तहं तैं निकस पुण्य परभाव। इत ही फिर उत्सर्पिणी काल, क्षेमंकर चौदह कुल वाल ॥१९१॥
पद्मनाभ तीर्थंकर देव, प्रथम हि तुम हूही सुन भेव। धर्मतीर्थ वर्तक गुन गेह, यामें मत मानौ सन्देह ॥१९२॥
इहि विधि सुन श्रेणिक नृप तवै, अति आनन्द वढ़्यौ उर तवै। मानों सफल जनम अव गृह, जानौं तीर्थंकर पद नेह ॥१९३॥
वारह सभा सुनी यह कथा, भविजन मन सव हरषे जथा। कै इक तव लीन्यौ वैराग, कै इक समकित धारौ मांग ॥१९४॥
कै इक श्रावक व्रत आदर्‌यौ, मोह तिमिर उरतें परिहर्‌यौ। पुन नृप जिन चरणाम्वुज नाम, अरु गणधरके प्रणमें पाय ॥१९५॥
प्रभुमुख धर्मसुधा इमि पियौ, फिर निजपुर को आवन कियौ। अव जे समोशरन थित जीव, तिनकी संख्या सुनहु अतीव ॥१९६॥

अर्थ सम्यक्त्व है। अङ्ग एवं अङ्गवाह्य श्रुतका चिन्तन करनेसे जो विशिष्ट रुचि होती है वह अवगाढ़ दर्शन है और यह दर्शन वारहवें गुण स्थानमें प्राप्त योगी पुरुषों को होता है। तथा केवल ज्ञानके द्वारा ज्ञान हुए सम्पूर्ण पदार्थोंका जो श्रद्धान है वही सर्व श्रेष्ठ परमावगाढ सम्यक्त्व है। जिनेन्द्र देवके द्वारा कहा हुआ ये ही दस सम्यक्त्व यथार्थतः सम्यक्त्व है। इन दसोंके भी उनके भेदोपभेद हैं। हे राजा, तू दर्शन विशुद्धि इत्यादि पृथक् पृथक् या सम्पूर्ण एकत्रित सोलह कारणोंसे जगद्‌गुरुके पास जाकर जगत्‌को आश्चर्यचकित कर देने वाला तीर्थङ्करके नाम एवं धर्मका वंध करेगा, परन्तु पूर्व कर्मके प्रभाव एवं फलसे परलोकमें रत्नप्रभा नामकी पहली नरक-भूमिमें जायगा—यह निश्चय है। वहांपर कर्मोंका फल भोगकर आयुके नाश हो जाने पर वहांसे निकलेगा आगामी उत्सर्पिणी कालके चतुर्थ कालारम्भमें तू महापद्म नामका तीर्थंकर होगा। यह निश्चय है कि तूं ही सज्जनोंका कल्याणकारक एवं धर्मतीर्थ प्रवर्त्तक प्रथम तीर्थन्कर होगा। हे भव्य, तू निकटतम भव्य है अव तुझे संसार से डरनेका कोई विशेष महत्वपूर्ण कारण नहीं है। जितने संसारमें पुनः पुनः भटकने वाले जीव हैं वे सभी अनेकों वार घोर एवं घोरतम नरकों में आये गये हैं।

अपनेको रत्नप्रभा नामके नरकमें जानेकी वातको सुनकर महाराजश्रेणिकके हृदयमें परिताप एवं ग्लानि हुई। वादमें नमस्कार करके उन्होंने फिर गणधर देवसे प्रश्न किया :—हे प्रभो, मेरे नगरको सव लोग उत्तम पुण्य स्थान कहा करते हैं तो वतलाइये कि केवल मात्र मैं ही नरक में जाऊंगा या वहांके रहने वाले और लोग भी नरक गामी होंगे? इस प्रश्नके वाद श्री गौतम गणधर स्वामीने राजाके ऊपर अनुग्रह करके कहा कि, राजन्, तू अपने शोकको दूर करने वाले सत्य वचन को सुन—

इसी (तुम्हारी नगरी राजगृहीमें) स्थित एवं नीचकर्मके द्वारा मनुष्य आयु वांधकर नीच कुलमें उत्पन्न काल शौकरिक नामका एक भंगी रहता था। उसको इस समय अपने पूर्व सात भवोंका स्मरण हो आया है। इसी कारण वह अव इस तरहका विचार करने लग गया है कि यदि जीवका सम्वन्ध पाप पुण्यसे होता तो विना पुण्यके हमें मनुष्य-जन्म कैसे प्राप्त होता। इस लिये पाप-पुण्यको कोई स्थानका महत्व नहीं है। जो कुछ है इस संसारमें केवल विषय सुख ही है और उसीसे कल्याण हो सकता है। ऐसा सोचकर वह पापात्मा निःशंक हो गया है और हिंसा इत्यादि को करते हुए मांसादि आहारमें आशक्त रहता है। इसके फल स्वरूप वहुत आरम्भ एवं परिग्रहके कारण नरकायु संचित हो गई है और अपनी आयुके अन्तमें वह पापोदयसे

दोहा

इन्द्रभूमि गणधर प्रथम, वायुभूति पुन दोय। अग्निभूति जिन तृतिय भन, तुरिय सुधर्म जु होय ॥१९७॥
मौर्य पंचम मौढ्य षट, पुण्यमित्र गुणभार। नाम अकंपन अन्धवल, प्रभा सोम अविकार ॥१९८॥

चौपाई

समोशरण श्री सन्मति नाथ, एकादश गणधरके साथ। चार ज्ञानके धरता सोइ, प्रभु वानी प्रगटत भ्रम खोइ ॥१९९॥
अंग पूर्व धारी जे जती, सवै तीनसै उत्तम मती। नव सहस्र नवसौ मुनिराय, प्रभुके चरन नमौ चित लाय ॥२००॥
अवधिज्ञान भूषित निरभंग, ते मुनिवर तेरहसै संग। केवलज्ञानी जिन सम जोई, सकल सातसै वरनै जोइ ॥२०१॥
ऋद्धि विक्रया जुत जु महेश, नवसै उत्तम सवै मुनेश। चार ज्ञानके धारक और, पूज्य पंचसै ते शिरमौर ॥२०२॥
उत्तरवादी मुनि सुख खान, सो मुनि प्रगट चारसै जान। सव मुनि जो पिंडीकृत करौ, सहस चतुर्दश उत्तम धरौ ॥२०३॥
जे मुनि वर्धमान जिन संग, पहिरै तीन रतन निरभंग। चंदनादि छत्तीस हजार, नमैं अर्जिका प्रभुपद सार ॥२०४॥
दर्शन ज्ञान चरन तप व्रती, एक लक्ष श्रावक जिन व्रती। तीन लक्ष श्रावकनी साथ, प्रभुपद नमैं शीस धर हाथ ॥२०५॥
देविन सहित देव बुधवान, असंख्यात कहिये परवान। प्रभुपद कमल नमैं कर सेव, पूजा स्तवन धरैं बहु भेव ॥२०६॥
सिंह सर्प आदिक तिरजंच, वैर विरोध न उपजै रंच। असंख्यात सव समता लियैं, जिनवर भक्ति धरैं निज हियैं ॥२०७॥
ए सव द्वादश सभा मझार, निवसैं भक्ति भाव उरधार। शनैः शनैः प्रभु करै विहार, नाना देश ग्राम पुरभार ॥२०८॥
सवको करैं धर्म उपदेश, मुक्तिपंथ भवि गहत महेश। जिन सूरज जव किरण प्रकाश, मत अज्ञान भयौ जगनाश ॥२०९॥
आरज खण्ड कियौ संवोध, तीस वरष विहरै अवरौध। क्रमकर पावापुरि उद्यान, शुभ तडाग जहं वारि निधान ॥२१०॥

निश्चित रूपेण सातवें नरकमें जायगा। इसी तरहकी एक दूसरी ब्राह्मणकी लड़की है जिसे लोग 'शुभ' नामसे पुकारते हैं। वह एक दम गारन्ध है, वेदकर्मके फलसे शील एवं श्रेष्ठ गुणोंको देख सुनकर भी दुश्शीलता एवं विवेक भ्रष्टा है। उद्धत इन्द्रियोंके वशमें होकर वह लम्पट हो गई है और उसकी भी नरकायु संचित हो गई है। वह कोपकारिणी है इसलिये रौद्रध्यानसे मरेगी और पापोदयसे नाना दुःख-पूर्ण निन्द्य छठे नरककी तमःप्रभा नामकी पृथ्वीमें जन्म धारण करेगी। जब गणधर स्वामीने राजा श्रेणिकको यह सव वृत्तान्त सुना दिया तव राजाने पुनः विनयावनत होकर पुत्र अभयकुमारके पूर्व-जन्म-वृतान्त को पूछा— इसपर गणधर स्वामीने अनुग्रह पूर्वक अभयकुमारके भी पूर्व जन्म वृत्तान्तको कहना आरम्भ किया :—

इसी भरत-क्षेत्र (भारतवर्ष) में सुन्दर नामका एक ब्राह्मण-कुमार था। वह लोक मूढ़ताओं के साथ मिथ्या-दृष्टि वेदके अध्ययन एवं आभासमें तत्पर रहा करता था। इसी निमित्तसे वह एक दिन अर्हद्दास जैनीके साथ मार्गमें कहीं जा रहा था—वीचमें एक पीपल के वृक्षके नीचे वहुतसे इकट्ठे पत्थरोंको देखकर उनको उसने अपना देव समझ लिया और प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया। उस मिथ्यातीकी इस दुश्चेष्टाको देखकर 'अर्हद्दास' को हंसी आ गयी, फिर उन्होंने ब्राह्मण-कुमार को ज्ञान प्रदान करनेकी शुभ इच्छासे पीपलके ऊपर पाद प्रहार किया और वह पीपल टूट गया। वहीं पर पड़ी हुई कपि-रोस नामकी एक लता थी जिसे देखकर अर्हद्दासने कहा—कि यह मेरा देव है। और प्रणाम किया। वह ब्राह्मण कुमार अर्हद्दासके कपट-व्यवहारको नहीं समझ सका और पूर्व ईर्ष्याके कारण उस लताको हाथोंसे उखाड़ डाला। लताके छूते ही ब्राह्मण-कुमारके सर्वाङ्गमें जोरों से खुजली चलने लगी और वह डर गया उसने अर्हद्दाससे कहा—मित्र, "वास्तवमें यह तुम्हारा देव है।' उसकी इस वात को सुनकर श्रावक अर्हद्दासने उस मिथ्यातको सत्य वात समझा देनेके अभिप्रायसे कहा कि—भले आदमी, ये सव वृक्ष हैं किसी का कुछ वना-विगाड़ नहीं सकते। पाप कर्मके उदयसे इन्हें एकेन्द्री जन्म धारण करना पड़ा है इन्हें देव समझना भूल है। तीर्थङ्करके अतिरिक्त और कोई देव नहीं हो सकता। वे ही श्री अर्हंत प्रभु सम्पूर्ण भव्यजीवोंको भोग एवं मोक्षके प्रदाता हैं। तीनों लोक उन्हींको प्रणाम करता है और वे ही त्रैलोक्य वन्द्य हैं भी। इनको छोड़

तहां आइ प्रभुदीनों ध्यान, तृतिय शुकल मंड्यो तिहि थान। दिव्यध्वनि भाषा नहि होइ, समोशरण सव विहरी सोइ ॥२११॥
प्रतिमा जोग दियो भगवान, प्रकृति वहत्तर कीनी हान। प्रथम देवगति पंच शरीर, अरु संघात पंच वर वीर ॥२१२॥
बंधन पंच जु अंग उपंग, षट संस्थान संहनन संग। पंच वरण रस पंच द्विगन्ध, अरु असपरस अष्ट हि निरंध ॥२१३॥
देवगत्यानुपूरवी जात, गुरु लघु परघात नु अपघात। शस्त अशस्त विहायोगती, अरु उश्वास अपरजापती ॥२१४॥
पुन प्रतेक थिर अथिर विनाश, शुभ अरु अशुभ जु दुर्भग त्रास। अनादेय सुस्वर दुस्वरा, अयश असाती कर्म निहरा ॥२१५॥
नीच गोत्र की कोनी हान, गये उलंघि तेरम गुणथान। शुकल ध्यान पुन चोपद धार, चढ़ि अयोगि गुणथान सम्हार।२१६।
जाके अन्तसमय द्वय मांहि, तेरहि प्रकृति खिपाई ताहि। प्रथमहि सातावेदनि हनि, मनुष आयु मानुषगति भनी ॥२१७॥
मानुषगत्यानुपूर्वी जान, पंचम इन्द्रिय कीनो हान। सुभग तहां आदेश विनाश, जस अरु उच्च गोत्र पुन भास ॥२१८॥
परजापति त्रस वादर कर्म, खिप तीर्थकर गोत्र सुधर्म। यह विध अष्ट कर्मकी जार, ऊर्ध्वगमन कर शिवपुर धार ॥२१९॥
कार्तिक कृष्णा अमावस रात, स्वाति नक्षत्र समय परभात। लोकशिखर राजत जिन वीर, किंचित ऊन जु चरम शरीर ॥२२०॥
कर्म काप हनि मुक्ति* हि गये, सिद्ध अष्टगुण मंडित भये। मोह कर्म अरि कीनो नाश, क्षायिक समकित गुण परकाश ॥२२१॥

कर दूसरा कोई मिथ्याती देव नहीं हो सकता। उस जैनीके इन वचनोंको सुनकर उस विप्र कुमारकी देव मूढ़ता दूर हो गयी। इसके भी वे आगे वढ़े जा रहे थे और दोनों गङ्गा नदीके किनारे जा पहुंचे। गंगाको देखकर उस मिथ्याती विप्र कुमारने कहा—इसका जल परम पवित्र है और दूसरोंको पवित्र करनेकी इसमें असीम शक्ति है। ऐसा कहकर उसने गंगाजलमें श्रद्धापूर्वक स्नान किया और निकलनेके वाद पुनः नमस्कार किया। उसको ऐसा करते देखकर अर्हद्दासने अपना उच्छिष्ट (जूठा) अन्न एवं गंगाजल उस ब्राह्मण-कुमारको खाने-पीनेके लिए दिया। उसने कहा—क्या मैं तुम्हारा उच्छिष्ट खाऊं? उसके उत्तरको सुनकर अर्हद्दासने तर्क की, कि—विप्र, तुम्हें मेरा उच्छिष्ट अन्न जल तो अग्राह्य जान पड़ता है फिर जिसमें गधे इत्यादि नाना प्रकारके निन्द्य जीव पानी पिया करते हैं उस गंगाजलको तुम परम पवित्र कैसे कह रहे हो? वह किस प्रकार स्वयं पवित्र है और दूसरोंको भी शुद्धकर सकता है? जलको तीर्थ समझना भ्रम है—स्नान करनेसे मनुष्योंकी शुद्धि नहीं हो सकती, हां जीवोंको हिंसाका पाप ही होता है। यह शरीर स्वभावतः सदैव

---

*वीर निर्वाण और दीपावली

That night, in which Lord Mahavira attained Nirvan, was lighted up by descending and ascending Gods and 18 confederate kings instiuted an illumination to celebrate Moksha of the Lord. Since then the people make illumination and this in fact is the 'ORIGIN OF DIPAWALI'.

—Prof Prithvi Raj: VoA, Vol. I. Part. VI. P. 9.

सन् ईस्वी से ५२७ साल, विक्रमी स० से ४७० वर्ष, राजा शक से ३०५ साल ५ महीने पहिले कार्तिक वदी चौदश, सोमवार और अमावस्या, मङ्गलवार के वीच में प्रातःकाल जव चौथे काल के समाप्त होने में तीन वर्ष साढ़े आठ महीने वाकी रह गये थे, केवल ज्ञान के प्राप्त होने के २९ साल ५ महीने २० दिन वाद, ७१ वर्ष ३ महीने २५ दिन की आयु में भगवान महावीर ने मल्लों की पावापुर नगरी में निर्वाण प्राप्त किया। स्वर्ग के देवताओं ने उस अन्धेरी रात्रि में रत्न वरसा कर रोशनी की। जनता ने दीपक जला कर उत्साह मनाया। राजाओं ने वीर निर्वाण की यादगार में कार्तिक वदी चौदश और अमावस दोनों रात्रियों को हरसाल दीपावली पर्व की स्थापना की उस समय भ० महावीर की मान्यता ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण वाले करते थे, इसलिये दीपावली के त्योहारों को आज तक चारों वर्णों वाले वड़े उत्साह के साथ मनाते हैं।

आर्यसमाजी महर्षि स्वामी दयानन्द जी, सिक्ख छठे गुरु श्री हरिगोविन्द जी, हिन्दु श्री रामचन्द्र जी, जैनी वीरनिर्वाण और कुछ महाराजा अशोक की दिग्विजय को दीपावली का कारण वताते हैं। कुछ का विश्वास है कि राजा वलि की दानवीरता से प्रसन्न होकर विष्णु जी ने धनतेरस से तीनदिन का उत्सव मनाने के लिये दीपावली का त्योहार आरम्भ किया था और कुछ का कथन है कि यमराज ने वर मांगा था कि कार्तिक वदी तेरस से दोयज तक ५ दिन जो उत्सव मनायेंगे उनकी अकाल मृत्यु नहीं होगी। इसलिये दीपावली मनाई जाती है, परन्तु दीपावली

ज्ञानावरणी कर्म हि चूर, ज्ञान अनन्तानन्त जु पूर। दर्शनवरणी कर्म निवार, तव अनंत दरशन गुण धार ॥२२२॥
अन्तराय प्रकृतिनको जार, वल अनंत की करी सम्हार। नाम कर्मको जव खय कोन, सूक्षम गुण को प्रापति लीन ॥२२३॥
आयु कर्म जिन नाश्यौ जवै, अवगाहन गुण पायौ तवै। प्रवल वेदनी कर्म निवार, तव ही गुरु लघु गुण अवधार ॥२२४॥
गोत्र करम जव कीनौ नाश, अव्यावाध गुण हि परकाश। यह विधि भुगतैं सुख्य उतंग, निरुपम निरावाध निरभंग ॥२२५॥
नरसुर असुर खचरपति जोई, तीन जगत जिय सुख अवलोई। ते सव जो पिंडी कृत करैं, सिद्धन एक समय नहि जुरै ॥२२६॥
अव इहि चतुर निकायी देव, प्रभु निर्वाण जान सव भेव। अपने अपने वाहन साज, परिजन जुत आये सुरराज ॥२२७॥
सव विभूति पूरव व्रत जान, गति नृत्य उत्सव उर आन। अन्तिम कल्याणक जिनराय, पावापुर पूजा करवाय ॥२२८॥
प्रभु तन खिर कपूरवत जाय, नख अरु केश रहे समुदाय। ते लै सुरपति जिन तन रच्यौ, मणिमय शिविकामें पुन सच्यौ ॥
भक्ति सहित तहं पूजा करी, अष्ट द्रव्य जल आदिक धरी। चन्दन अगर कपूर मंगाय, सर उतंग कीनौ अधिकाय ॥२३०॥

अपवित्र है और इसके विपरीत जीव सदा-सर्वदा स्वच्छ एवं परम निर्मल है। इसलिये स्नान करना व्यर्थ है और स्नान करनेसे पाप होता है। यदि सव मिथ्यातसे मैले प्राणी, स्नान करनेसे शुद्ध हो जाए तो सदैव स्नान करते रहने वाले मत्स्य (मछली) आदि जल-जीवोंको नमस्कार करना चाहिये, उन पर करुणा दृष्टि क्यों रखी जाती है? इसलिए तुम्हें जानना चाहिए कि केवल अर्हन्त ही तीर्थ है। उन्हींके वचनामृतसे सवके आन्तरिक पाप रूपी मल दूर हो सकते हैं और वे ही शुद्धि प्रदान करनेमें समर्थ हैं। इस प्रकार उस अर्हद्दास ने विप्र कुमारको तीर्थ मूढ़ता को भी दूर कर दिया। फिर आगे जाने पर पञ्चाग्निमें वैठे हुए एक पुरुषको देखकर विप्र कुमारने कहा कि इस प्रकारके तपस्वी हमारे धर्ममें वहुत होते हैं। उसकी गर्वोक्तिको सुनकर अर्हद्दासने अनेक लौकिक शास्त्र-वचनोंसे प्रथम तो उस तपस्वीको ही मद-रहित किया, फिर स्पष्टतया उस व्राह्मण कुमारसे कहा कि ये खोटे तपस्वी क्या तप करेंगे? इस धरातल पर तो महान् देव अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, निर्ग्रन्थ ही गुरु हैं, और दयालुता पूर्ण धर्म ही परमोत्तम है। जिनेन्द्र प्रभुके द्वारा कहा गया दीपकके समान प्रकाशमान जैन-शास्त्र सत्य है। जैनमत वन्दनीय है और पाप हीन तप सवकी शरण हैं। इन्हींकी उत्तमताको स्वीकार करना चाहिए। इसलिये मेरे मित्र, तुम भी मिथ्या दर्शन मिथ्या धर्म रूपी कुपृथा को शत्रु के समान दूर ही से छोड़ दो और आत्म कल्याणके लिए सम्यग्दर्शनको ग्रहण करो। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए दोनों मित्र जव और

एक प्राचीन त्योहार है। महर्षि स्वामी दयानन्द जी और छठे गुरु श्री हरगोविन्द जी से वहुत पहले से मनाया जाता है। श्री रामचन्द्र जी केअयोध्या में लौटने की खुशी में दीवाली के आरम्भ होने का उल्लेख रामायण या किसी और प्राचीन हिन्दू ग्रन्थ में नहीं मिलता। विष्णु जी तथा अशोक की दिग्विजय के कारण दीपावली का होना किसी ऐतिहासिक प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। प्राचीन जैन ग्रन्थों में कथन अवश्य है कि :—

"जिनेन्द्रवीरोऽपि विवोध्य संततं समंततो भव्यसनूहसंततिम्। प्रवद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने यदीपके ॥१५॥
चतुर्थकालेऽर्थचतुर्थमासकैर्विहीनताविश्चतुरव्दशेपके। सकीर्तिके स्वातिपु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः ॥१६॥
अघ तिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीं घनवद्विवंधनम्। विवन्धनस्थानमवाप शंकरो निरन्तरायोरुसुखानुवन्धनम् ॥१७॥
ज्वलंत्प्रदीपालिकया प्रवुद्धया सुरासुरैर्दीपितया प्रदीप्तया। तदास्म पावानगरीं समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥१८॥
ततस्तु लोकः प्रतिकर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते। समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूति भक्तिभाक् ॥२०॥

—श्री जिनसेनाचार्य. हरिवंशपुराण, सर्ग ६६

भावार्थ—"जव चौथे काल के समाप्त होने में तीन वर्ष साढ़े आठ महीने रह गये थे तो कातिक की अमावस्या के प्रातःकाल पावापुर नगरी में भ० महावीर ने मोक्ष प्राप्त किया, जिसके उपलक्ष में चारों प्रकार के देवताओं ने वड़ा उत्सव मनाया और जहां तहां दीपक जलाये। जिनकी रोशनी से सारा आकाश जगमगा उठा था। उसी दिन से आज तक श्री जिनेन्द्र महावीर के निर्वाण-कल्याण की भक्ति से प्रेरित होकर लोग हर साल भरत क्षेत्र में दिवाली का उत्साह मनाते हैं।

कातिक वदी चौदश और अमावस्या की रात्रि में भ० महावीर समस्त कर्मरूपी मल को दूर करके सिद्ध हुए, कर्म-मल से शुद्धि के स्थान पर हम उस रात्रि को कूड़ा निकाल कर घरों की शुद्धि करते हैं। उसी दिन भ० महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम जी ने केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी प्राप्त की थी, जिसकी पूजा देवों तक ने की थी, उसके स्थान पर चञ्चल लक्ष्मी तथा गणेश जी की पूजा होती है। गणेश नाम गणधर का

तहं जिन तनु मायामय धरयो, अग्निकुमार प्रणाम जु करयो। उठी मुकुट ज्वाला मणि तनी, अति विकराल अगिन की घनी॥
भस्मीकृत सर भयो अभंग, दश ही दिश फैल्यो जु सुगंध। सब सुर जय जयकार जु करें, उर आनन्द भक्ति अति धरें॥
प्रथम इन्द्र कर भाल लगाय भस्म वन्दना किय अधिकाय। अरु सब चतुर निकायी देव, निज निज शीश नवन भुव एव॥
अवनि पवित्र जान अधिकाय, फिर पूजा कीनी सुरराय। नाटक रंग कियो समुदाय, देवन सहित परम उत्साय ॥२३४॥
यहि अन्तर गौतम गणराय, शुक्ल ध्यान बल कर्म खिपाय। केवल ज्ञान भयो अवदात, इन्द्र आदि सुर कीनी जात ॥२३५॥
गंधकुटी तहं रची कुवेर, नाना भांति न लाई देर। भविजन हित सम्बोधन काज, विहरैं सभा सहित गणराज ॥२३६॥

दोहा

अहुठ मासकर हीन है, रही वरष जब चार। श्री सन्मति जिन शिव गये, चौथे काल मझार ॥२३७॥

आगे बढ़ गये तब पापोदयसे भयङ्कर वनमें जा पहुंचे और मार्ग दिशाको भूल गये। उस जन हीन वनमें उनके जीवन धारण करनेका कोई आधार नहीं था, निदान, वे दोनों शरीर एवं आहारसे ममता छोड़कर मोक्ष-प्राप्ति के लिए सन्यासी हो गए। उन दोनोंने धैर्य पूर्वक भूख, प्यास इत्यादि परिषहों को सहा और समाधि रूप शुभ ध्यान से शरीर को छोड़ दिया। इसके बाद अन्तिम आचरणके प्रभावसे उत्पन्न पुण्य के फलसे दोनों ही सौधर्म स्वर्गमें गये और वहां महान् ऋद्धिधारी और देव वन्द्य देव हुए। चिरकाल पर्यन्त दोनोंने स्वर्ग सुखोंको भोगा और अन्तमें पुण्योदयके प्रभावसे उसी सुन्दर नामके ब्राह्मण-कुमारका जीव तुम्हारा पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है। यह तपके प्रभावसे कर्मों का नाश करके शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार उन दोनोंकी पूर्व कथाको सुनकर कितने ही लोगोंने विरक्त होकर संयम (यति-धर्म) को स्वीकार कर लिया और कितने ही गृहस्थ श्रावक-धर्म एवं सम्यक्त्वमें तत्पर हो गये। महाराजा श्रेणिक भी अपने पुत्रके साथ धर्मशास्त्र रूपी अमृत को पी चुकने के बाद श्रीमहावीर जिनेन्द्र प्रभु और अन्य गणधरोंको नमस्कार करके अपने नगरको वापस लौट आये।

इसके बाद जिनेन्द्र प्रभुके समावशरण में बहुतसे महा-पुरुष रहते हैं, उनका विवरण भी समझ लेना चाहिए। इन्द्रभूति (गौतम) वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौंड, पुत्र, मैत्रेय, अकंपन, धवल और प्रभास ये ग्यारह गणधर देव वन्द्य हैं और चार ज्ञानके धारक हैं। प्रभुके चतुर्दश चौदह पूर्वों को स्मरण रखने वाले तीनसौ मुनि होते हैं। चारित्र

है। वीर-समवशरण में मुनीश्वरों, कल्पवासी इन्द्राणियों, आर्यिकाओं व श्राविकाओं, ज्योतिषी देवांगनाओं, व्यन्तर देवियों, प्रसाद निवासियों की पद्मावती इत्यादि देवियों, भवनवासी देवों, व्यन्तर देवों, चन्द्र-सूर्य इत्यादि ज्योतिषी देवों, कल्प निवासी देवों, विद्याधरों व मनुष्यों, सिंह-हिरण इत्यादि पशु-पक्षियों व तिर्यंचों के बैठकर धर्म उपदेश सुनने के लिये १२ सभाएं होती हैं, उसके स्थान पर लीप-पोतकर लकीरें खींचकर कोठे बनाना और वहां मनुष्य और पशुओं आदि के खिलौने रखना, वीर-समवशरण का चित्र खींचने की चेष्टा करना है। भ० महावीर वहां गन्धकुटी पर विराजमान होते हैं, उसके स्थान पर हम घरूण्डी (हटड़ी) रखते हैं। वीर निर्वाण के उत्सव में देवों ने रत्न बरसाये थे, उसके स्थान पर हम खील पताशे बांटते हैं। उस समय के राजाओं-महाराजाओं ने वीर निर्वाणके उपलक्षमें दीपक जलाकर उत्सव मनाया था, उसके स्थान पर हम दीपावली मनाते हैं। यह हो सकता है कि अमावस्या की शुभ रात्रि में महर्षि स्वामी दयानन्द जी स्वर्ग पधारे, श्रीरामचंद्र जी अयोध्या लौटे या औरों के विश्वास के अनुसार और भी शुभ कार्य हुए हों, परन्तु इस पवित्र त्योहार पर होने वाली क्रियाओं और विचार पूर्वक खोज करने से यही सिद्ध होता है कि दीपावली वीर-निर्वाण से ही उनकी यादगार में आरम्भ होने वाला पर्व है, जैसे कि लोकमान्य पं० बालगङ्गाधर तिलक, डा० रवीन्द्रनाथ टैगौर आदि अनेक ऐतिहासिक विद्वान् स्वीकार करते हैं।

केवल दीपावली का त्योहार ही नहीं, बल्कि भ० महावीर की स्मृति में सिक्के ढाले गये। वर्द्धमान नाम पर वर्द्धमान और वीर नाम पर वीर-भूमि नाम के नगर आज तक बंगाल में प्रसिद्ध हैं। विदेह देश में भ० महावीर का अधिक विहार होने के कारण उस प्रान्त का नाम ही विहार प्रान्त पड़ गया। भारत के ऐतिहासिक युग में सबसे पहला सम्वत् जो वीर-निर्वाण से अगले दिन ही कार्तिक सुदी १ से चालू होता है, जिस दिन हम अपनी पुरानी बहियां बन्द करके नई चालू करते हैं, अवश्य भ० महावीर के सम्मुख भारत निवासियों की श्रद्धा और भक्ति प्रकट करने वाला वीर सम्वत् है। इस प्रकार न केवल जैनों पर ही किन्तु अजैनों पर भी श्री वर्द्धमान महावीर का गहरा प्रभाव पड़ा।

श्री वर्धमान जिनेन्द्र के पूर्वभवों का समुच्चय वर्णन

पद्धड़ि छन्द

भव प्रथम पुरूरव भील ईश, सम्वौधै वनमें श्री मुनीश। दूजी भव उपजौ भिल्लदेव, सौधर्म स्वर्ग वहु सुख्य लेव ॥२३८॥
तीजी भव भरत चक्रेश पुत्र, मारीच कुंवर मत थाप उत्र। चौथे भव ब्रह्म जु स्वर्गवास, पंचम भव ब्राह्मण जटिल जास॥
सौ धरम स्वर्ग छट्ठे जु पाय, पुन पहुप मित्र दुज सप्तमाय। अष्टमं सौधरम सु स्वर्ग देव, द्विज अग्निसिंघ नवमैं गनेव ॥२४०॥
दशमें सुर सनत्कुमार होइ, द्विज अगिन मित्र गेरम हि सोइ। माहेन्द्र स्वर्ग द्वाददशम वास, तेरम द्विज भारद्वाज जास ॥२४१॥
मिथ्यामत सेयौ वहु प्रकार, परिव्राजक दीक्षा धरि असार। चौदम भव स्वर्ग महेन्द्र होई, तहं गिर वहु परजाय सोइ ॥२४२॥

दोहा

इतर निगोद हिं सो गयौ, सागर एक प्रजन्त। कबहूं असुर कुमार हो, नरकन माहिं फिरन्त ॥२४३॥

पद्धड़ि छन्द

तव साठ सहस तरु आक होइ, वहु पायौ दुःख न गनहि कोइ। तहं असिय सहस भव सीप जान, फिर नीम वृक्ष भयो दुःखखान॥
सो वीस सहस तन धर उतेह, तहं करम विपाक जु वश परेह। पुनि केलवृक्ष सौ भयौ आन. भव नवै सहस ताको प्रमान॥
तह चंदन वृक्ष जु सहस तीस, लहि दुःख सहे जानैं जिनीश। पुन कनयड़ कोड़ी पंच सोइ, वह तीस कोड़ जलमच्छ सोइ॥
फिर निकसि भयौ गनिका जु आन, भव नवै सहसतन धरिय जान। पुन पंचकोड़ि सो चिड़िमार, तह वीसकोड़ भव गज दुःखभार॥

धारण करनेमें तत्पर और शिक्षक मुनि नौ हजार नौसौ हैं। तथा अवधिज्ञानी तेरहसौ होते हैं। साथ ही सामान्य केवली सातसौ और विक्रिया ऋद्धिके धारी नौसौ मुनि और होते हैं तथा रत्नत्रयसे अलंकृत रहते हैं इन सबकी सम्मिलित संख्या चौदह हजार की है। ये सभी जिनेन्द्र प्रभुके समवशरणमें वर्तमान रहा करते हैं। चंदना इत्यादि छत्तीस हजार अर्जिकाएं भी उस समवशरण सभामें उपस्थित रहती हैं और तप एवं मूल गुणोंसे युक्त होकर प्रभु के चरणारविन्दको अहर्निश नमस्कार करनेमें तत्पर रहती हैं। इसके अतिरिक्त दर्शन ज्ञान और उत्तम व्रतोंसे युक्त एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएं प्रभुकी पादारविन्दकी पूजामें तत्पर रहती हैं। असंख्य देव-देवी समूह प्रभुकी अलौकिक स्तुति और पूजा इत्यादि अनेक महोत्सवोंकी रचना किया करते हैं। सिंह सर्प इत्यादि तिर्यञ्च जीव भी संसारसे डरकर तथा श्रद्धा-भक्ति पूर्वक शान्त चित्त होकर श्रीमहावीर प्रभुकी शरणमें आ रहे हैं। इस प्रकारके समवशरणमें विशेष भक्त हुए बारह प्रकारके जीव समूहोंसे एकदम घिरे हुए हैं त्रैलोक्याधिपति एवं जगद्गुरु श्रीमहावीर प्रभु शनैः शनैः विहार करते हुए अनेक देशों और नगरोंमें रहने वाले भक्त एवं श्रद्धासे भव्य जीवोंको धर्मोपदेशके द्वारा ज्ञान दिया। तथा मोक्ष मार्गके निविड़तम अज्ञानान्धकारको अपने वचनरूपी किरणोंसे अत्यन्त आलोकमय कर दिया। इसी प्रकार छः दिन तथा तीस वर्ष पर्यन्त विहार करके अनेक सुन्दर फल पुष्पोंसे सुशोभित चम्पा नगरीके उपवनमें पहुंचे। उस उद्यानमें आकर मन, वचन, काय योग एवं दिव्यवाणीको रोककर वे क्रिया हीन हो गये और मोक्ष प्राप्ति के लिये अघातिया कर्मोको नष्ट कर देने वाले प्रतिमा योग धारण किया इसके वाद प्रभुने देवगति, पाँच शरीर, पांच संघात, पांच वन्धन, तीन आङ्गोपांग, छः संस्थान, छः संहनन, पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्व, अगुरु लघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दोनों विहायोगतियां, अपर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग दुःस्वर, सुस्वर, आदेय, अयशस्कीर्ति, असाता वेदनीय, नीचगोत्र और निर्माण इन मुक्तिरोधक वहत्तर कर्म प्रकृतियोंको अपनी अतुलनीय शक्तिसे आयोगी नामके चौदहवें गुणस्थानमें प्राप्त होकर चौथे शुक्ल ध्यानरूपी तलवारसे महायोद्धाकी तरह चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम दो समयके प्रथम कालमें शत्रु समझ कर मार डाला। इसके वाद आदेय, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, पांच इन्द्रियजाति, मनुष्यायु पर्याप्ति, त्रस, वादर, सुभग यशकीर्ति,

तहं तैं फिर खर भयो साठ कोड़ि, पुन तीस कोड़ भव खान जोड़ि। तव भयी नपुंसक साठ लाख, पुन वीसकोड़ तिय वेद भाख ॥
तह रजक भयी नर नवै लाख, सो साठ कोड़ पुन तुरिय साख। भवसागर में रुलियी निदान, मनजार भयी तह दुःख खान ॥
तह धरी देह सो वीस कोड़ि, भ्रमियो चिरकाल प्रजाय छोड़ि। अब साठ लाख भयी जैन राय, तहं कर्म न छोड़े कर उपाय ॥
फिर भोगभूमि धर असी लक्ष, तहं पायो सुख्य जु विविधि दक्ष। पुन सुरग लोक सुर भयी सोइ, तहं असी लक्ष तन धर्यो जोइ ॥
क्रम सौं गिर नारी गरभ जान, है साठ लक्ष याको प्रमान। पुन पुन भ्रमि भ्रमि संसार घोर, वहु वहु प्रजाय धारियो जोर ॥
इह कर्म शृंखलन पर्यो सोइ, त्रस थावर में तन धरै जोइ। तहं सर्व दुःख नाना प्रकार, मिथ्यात सु फलियौ यह अपार ॥
भव भटकि भयौ द्विज थावरा॰॰ पूरववत दिशा धरिय साख्य। फिर भयी महेन्द्र जु स्वर्ग देव, देविन कर भुगतै सुख धनेव ॥
तीजै भव श्री नृप विश्वनन्द, कर॰॰ पा धार निदान वन्द। फिर महाशुक्र सुर भए सोइ, सुख कीनै वहु वर्णन न होइ ॥२५५॥
तहं तैं चय पोदनपुर अधीश, केशवपद प्रथम त्रिपुष्ट ईस। पुनि पर्यो सप्तमी नरक जाय, दुख सहे तहां धर दुष्ट काय ॥२५६॥
फिर निकस धरी सिंह हि प्रजाय, अति रौद्र ध्यान सौं मरण पाय। तव प्रथम नरक तहं गयी सोई, तहं जाय सहे वहु क्लेश जोइ ॥
पुन भये सिंह हिमगिरि गिरीश, तहं संबोधे चारण मुनीश। सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेत, सुर लहे सुख्य देविन समेत ॥२५८॥
कनकोज्वल विद्याधर जु राय, तिन धरी तपस्या जैन पाय। फिर लांतव सर भव द्वादशेव, जहं नाम लह्यो जु महर्धदेव ॥२५९॥
हरिषेण नृपति तेरम गनेव, तजि राजऋद्धि वनमें वसेव। पुन महाशुक्र सुर लहिउ वास, सुख भुगते नाना विधहि जास ॥
प्रियमित्र चक्रवति गुण गरीश पूरव विदेश छह खण्ड ईश। सहस्रार स्वर्ग पुन सुख्य जास, अट्ठारह सागर आयु तास ॥२६१॥
सत्रमभवमें नृपनन्द नाम, पोडश कारण भाई सुठाम। अच्युत सुरेश पद लहिउ फेर, सुख कीनी वाइस जलधि घेर ॥
तहं तैं चय त्रिशला उर वसेय, श्री वीर जनम जग प्रगट धेय। तप केवलज्ञान जु साध एव, निर्वाण गये वन्दों सु देव ॥२६३॥

दोहा

आदि भवांतर चौदहा, अन्तहि उन विशेव। मध्यम भव भटके वहुत, थावर त्रस नर देव ॥२६४॥

सातावेदनीय, उच्चगोत्र और तीर्थकर नाम इन तेरह कर्म प्रकृतियोंको चौदहवें गुण-स्थानके अन्तिम समयमें शुक्ल ध्यानके प्रभावसे महावीर प्रभु ने नाश कर दिया। इस प्रकार प्रभुने सम्पूर्ण कर्मरूपी शत्रुओंका और औदारिक आदि तीन प्रकार शरीरोंका नाश कर स्वभावत: उर्द्धगति होने के कारण एकदम निर्मल होकर मोक्ष स्थानको प्राप्त हो गये। कार्तिक कृष्णा अमावस्या तिथि स्वाति नक्षत्र एवं प्रात: कालके समय में प्रभुको मोक्ष प्राप्त हुआ था।

महावीर प्रभुने जव मूर्तिहीन होकर एवं आठ गुणोंसे युक्त होकर सिद्ध पदको पाया तव वे निर्वाध थे, कर्महीन थे, अनन्त थे, उत्कृत इन्द्रियादि सुखों से परे थे, पर द्रव्यसे हीन थे तथा नित्य दुःखोसे नितान्त ही रहित थे। उन्हें अनुपम आत्मसुख प्राप्त हुआ मनुष्य एवं संसारके अन्य सम्पूर्ण जीव निश्चिन्त होकर जितने प्रकारके सुखको वर्तमानमें भोग रहे भूत कालमें भोगा है या भविष्यमें भोगेगें इन त्रैकालिक सुखोंको यदि एक स्थान पर एकत्रित किया जाय तो जितना सम्पूर्ण सुख होगा उससे भी अनन्त गुणा अधिक एवं सर्वोत्कृष्ट सुखको प्रभुने भोगा। और भविष्यमें अनन्त काल पर्यन्त भोगते रहेंगे। इस सिद्ध महापुरुषको मैं सतत नमस्कार करता हूं। उनके मोक्ष प्रान्त हो जानेसे देव एवं इन्द्राणियोंके चार जातिके देव, प्रभुकी निर्वाण प्राप्तिको जानकर, अपने पृथक् पृथक् चिन्होंसे युक्त होकर आये तथा नृत्य, गीत एवं ऐश्वर्य पूर्ण महोत्सव मनाकर प्रभुकी पूजा की। जिस उपवनमें प्रभुको निर्वाण प्राप्त हुआ था वहां पर आकर उत्सवमें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनेसे सभी का कल्याण हुआ। इसके वाद इन्द्रने निर्वाण साधक प्रभुके शरीर को अत्यन्त रत्नोज्जवल एवं स्वर्ण निर्मित पालकीमें रखा। वाद अनेक सुगन्धित द्रव्यों को लगाया, पूजा किया और माथा टेक कर भक्ति पूर्वक पुनः पुनः प्रणाम किया। फिर अग्निकुमार देवके मुकुटसे अग्निकण उत्पन्न हुआ और उसी दिव्याग्नि से प्रभुका शरीर जलाया गया। प्रभुके शरीरकी सुगन्धी सम्पूर्ण दिशाओंमें फैल गयी। अन्तमें इन्द्रके साथ सभी देवोंने प्रभूकी चिता भस्मको अपने अपने हाथोंमें लेकर अपनी अपनी शीघ्र मोक्ष प्राप्तिकी कामनाएं की। उस चिता भस्मको क्रमशः मस्तक, बांह, नेत्र एवं सम्पूर्ण शरीरमें

गीतिका छन्द

चार गति सुख दुःख भुंजिय, तीर्थपद शुभ पाइयौ। साधै सु चारित जोग उत्तम, सकल कर्म खिपाइयौ ॥
सुर असुर नर खगपति मुनि सब, सदा सम्पति पद नये। तहं साधि शिवपुर सिद्ध पद लहि, अष्टगुण मंडित भये ॥२६५॥
वीर जिन जन चरन पूजत, वीर जिन आश्रय रहै। वीर नेह विचार शिव-सुख, वीर धीरजको गहै ॥
वीर इन्द्रिय अघ घनेरे, वीर विजयी हौं सही। वीर प्रभु मुझ वसहु चित नित, वीर कर्म नशावही ॥२६६॥

दोहा

श्री सन्मति प्रभु चरित गुण वरण्यौं आगम देख। अब कविता कुल कहँऊ कछु, उतपति तिनहि विशेख ॥२६७॥

कवि परिचय

चौपाई

चार वरण में वैश्य जु संत, तिनमें कवि कुल को अवतंत। सवहि नैंत चौरासी कही, जुदी जुदी भाषौं यह मही ॥२६८॥
गोलापूरव प्रथम वखान गौलालारे दूजै जान। गोलसिंघारे तीजै धार, चौथे साख-वन्ध परवार ॥२६९॥
पंचम जैसवाल को जान, छठम हुमडे को वखान। कठनेरे सातम है सोइ, खण्डेलवाल आठम गुण जोइ ॥२७०॥
नैंत वरहिया नवमैं कहे, सिरीमाल दशमें पुन लहे। एकादशम लमेचू जान, ओसवाल द्वादश परवान ॥२७१॥
त्रयदश अग्गरवारे गोत, तिनमें जे जैनी शुभ होत। इतनी साढ़ेवारह न्यात, धर्मसनेह पांत इक भांत ॥२७२॥
जिनचेरे चउदम वर भये, वघेलवार पन्द्रम वरनये। षोडश पद्मावति पुरवार, ठस्सर सत्रहमें गुन धार ॥२७३॥
गृहपतिआठारम तिहि शाख, उनवंशितिमें नेमा भाख। वीसम नैंत असैटी लहे, पल्लिवार इकवीसम कहे ॥२७४॥
पोरवार वाइसमौं धार, ढढतवाल तेईस निहार। चौवीसम माहेश्वर वार, इतने लों कछु जैन लगार ॥२७५॥
मण्डित वाल डौडिया जान, सहेलवार हस्सौरा मान। गोरवार पुन नारायना, सीहोरा भटनागर गना ॥२७६॥
चीतोरा जु भटेरा होइ, हरिआ और धाकरा सोइ। वाचनगरिया जानो दोइ, मोर वाइडाको पुन सोइ ॥२७७॥
नागर और जलाहर कहे, नरसिंगपुरी कपोला लहे। डोसीवाल नगेन्द्रा लेव, गौड़ फेर श्रीगौड़ जु भेव ॥२७८॥
गागड़ डाख डायली जान, वघनौरा जुद सौरा वान। घन्नेरा कंथेरा हाल, कोरवाल अर सूरीवाल ॥२७९॥
रैकवाल पुन सिंघैवाल, नैंत सिरैयां लाड़ विशाल। लड़ेलवार अरु जोरा प्रवल, जंवूसरा सेटिया अपर ॥२८०॥
चतुरथ पंचम दोमूं कूर्व, अच्चिरवाल अजुध्यापूर्व। नानावाल मडाहर कहे, कोरटवाल करहिया लहे ॥२८१॥
अनदौरह हनदौरह सोइ, जेहरवार जेहरी दोइ। माघ करार नासिया एव, कोलपुरी यम चौरा हेव ॥२८२॥
अंकन तह भैसन पुरवार, पवड़ावेस औमडे सार। ए जानौ चौरासी नेत, वैश्य वरण सव ही शिर जेत ॥२८३॥

सब लोगोंने लगाया और प्रभुकी मोक्षप्राप्तिके लिए पर्याप्त प्रशंसा की। इन्द्र इत्यादिने उस पवित्र तम भूमिकर धर्मकी प्रवृत्ति को धारण किया तथा मोक्ष भूमिकी कल्पना की।

इसके वाद श्री गौतम गणधरका भी शुक्ल ध्यानके द्वारा घातिया कर्मरूपी महाशत्रुओंका नाश हो गया और केवल ज्ञान उन्हें भी प्राप्त हो गया। अन्य गणधरोंसे युक्त होकर इन्द्रादि देवोंने उनकी पूजा प्रतिष्ठा की। इन्द्रभूति (गौतम) स्वामी परम विभूतियोंसे युक्त थे अतः परम पूजनीय थे। उत्तम चारित्रके प्रतापसे मनुष्य देवगति इत्यादि अनुपम सांसारिक सुखोंको भोग कर वादमें मनुष्य विद्याधर एवं देव—स्वामियोंके द्वारा पूजनीय होता है। तीर्थंकर पदवीको प्राप्त होता है और कर्मो का

दोहा

तिनमें गोलापूर्वकी, उतपति कहों बखान। संबोधे श्री आदि जिन, इक्ष्वाक वंश परवान ॥२८४॥

चौपाई

गोयलगढ़के वासी तेस, आए श्री जिन आदि जिनेश। चरणकमल प्रनमैं धर शीस, अरु अस्तुति कीनी जगदीश ॥२८५॥
तव प्रभु कृपावंत अति भये, श्रावक व्रत तिनहू को दये। क्रिया चरण की दीनी सीक, आदर सहित गही निजठीक ॥२८६॥
पूर्वहि थापी नैत जु, एह, अरु गोयलगढ़ थान कहेह। तातें गोलापूरव नाम, भाष्यौ श्री जिनवर अभिराम ॥२८७॥

दोहा

गोलापूरव भेद त्रय, प्रथम बिसविसे जान। और दश विसे पंचविसे, कहौं वेंक गुन खान ॥२८८॥

सवैया इकतीसा।

खाग फुसवेले श्री चन्देरिया मरैया पिप। रहिया वनोनिहा सुटेटवार जानिये।
भर्तपुरिया छोरकटे कोटिया दुगेले श्री। तिगेले हुंडफार वरघरिया वखानिये॥
इन्द्रव महाजन खुरदेले मिलसैया रीते। ले जतहरिया निरमोलक प्रमानिये॥
धौनी पैथवार हरदेले कपासिया रस। गोदर गगौरिया धवलिया जु ठानिये ॥२८९॥
कारयौड़ सरखड़े साधारन टीका केरावत। वदरोहिया सौनी सौमरा जु लीजिये॥
पतरि घुघौलिया पचलौरे मडोले सन। कुटा हीरापुरिया वेरिया सुन लीजिये॥
कननपुरिया कनसेनहा पटोरियां वो। दरे रांधेले सांधेले प्रमानिये॥
पंचरत्न पचरसे चोंसरा कनकपुरी। धमोनिया श्री दर्गेया गरिहा वखानिये ॥२९०॥

दोहा

सिरसपुरी अरु कौनिया, अंठावन वेंक। 'नवल' कहे संक्षेप सौं, निज कुल वरनौं नेक ॥२९१॥

चौपाई

वेंक चंदेरिया खेरे चार, प्रथमहि वड़ दूजे परधार। खाम तृतिय खेरी पहिचान, चौथे गेरू चोरा जान ॥२९२॥
वड चंदेरिया प्रथम वखान, गोत्र प्रजापति तिनहि वखान। चतुरथ काल आदि ही मान, गोल्हन शाहु चंदेरी थान ॥२९३॥
तितने जौ सव वरनन करौ, वाढ़ै ग्रंथ पार नहिं धरौ। पंचम काल भेलसी ग्राम, भीपम शाहु वसैं तिहि ठाम ॥२९४॥
चार पुत्र तिनके वड़भाग, कुलदीपक धर्महि अनुराग। प्रथम वहोरन गुनकी खान, दुतिय सहोदर कृपा निधान ॥२९५॥
अहमन तीजै सुख अति धर्म, चौथे रतनशाह धर धर्म। एक दिना शुभ या कहि पाय, मंत्र उपाय कियौ वहुभाय ॥२९६॥

नाशकर उत्तम मोक्ष प्रसादको प्राप्त कर लेता है इसी प्रकार श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर स्वामीने भी सहज ही मोक्ष महलको प्राप्त कर लिया अब मैं श्री जिनेन्द्र प्रभु महावीर स्वामीकी पुनः पुनः स्तुति एवं नमस्कार करता हूं।

श्री जिनेन्द्र महावीर प्रभु गुणोंके रत्नाकर हैं, वीर पुरुषोंके द्वारा पूजित हैं, वीर पुरुषोंके महावीर ही एक मात्र आश्रय एवं आधार है, इन्हींके द्वारा मोक्षरूपी परम सुख प्राप्त हो सकता है। पापोंको सर्वतोभावेन पराजित करने एवं जीतनेके लिये महावीर प्रभु ही शूराग्रणी महायोद्धा हैं, उनका वल अपरिमेय है। अर्हन्त महावीर प्रभुको नित्यशः एवं कोटिशः प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूं कि मेरा चंचल चित्त उन्हींके चरणारविन्दोंमें लगा रहे। हे महावीर प्रभु, दया पूर्वक आप हमें भी

पिता सहित मन कियौ विचार, कीजे कछू धर्म-विस्तार। राज मान अरु धन मन सवै, ताको फल कछु लीजैअवै ॥२९७॥
तवहि प्रतिष्ठाकी विधि करी, रच्यौ दिवाली उत्तम घरी। जिन प्रतिमा पधराई जहां, तोरन ध्वजा छत्र अतितहां ॥२९८॥
श्रावक देश देश के आइ, तिनकौ आदर अधिक कराइ। अरु पूजा की विधि सव कीन, जथाजोग भावाश्रुत लीन ॥२९९॥
चार संघ को दीनो दान, अरु कीनौ सवको सन्मान। पुन रथ को फेरौ चल आप, ऊपर श्री जिनप्रतिमा थाप ॥३००॥
नगर चौधरी लोधी जान, तिन कीनी अधिकी सनमान। चार संघ मिलि टीका कियौ, 'सिंगई पद सव जुरकेदियौ ॥३०१॥

दोहा

सोरहसौ इक्यावनै, अगहन शुभ तिथि वार। नृप जुझार बुन्देल कुल, तिनके राज मंझार ॥३०२॥
यह संक्षेप वखान कर, कह्यौ प्रतिष्ठा धर्म। परिजन जुत वाड़ी विभव, तिन उत्पति वहु धर्म ॥३०३॥

चौपाई

सिंगही रतनशह गुन जुत्त, तिनके भये जदोले पुत्त। तिनके तनुज अनंदीराम, तिनके सुतहि जगत मनिराम ॥३०४॥

दोहा

क्षेत्रविपाकी प्रकृति वश, तज्यौ भेलशी ग्राम। देश खटोला निज नगर, आय कियौ विश्राम ॥३०५॥
तिनकै उपजै चार सुत, प्रथम हि केशव राय। हरज खाडेराय पुन, परमानन्द जु भाय ॥३०६॥
तिनमें खाडेराय कै, तीन पुत्र परवान। प्रथम हि देवाराय मद, भोज इन्द्र मनमान ॥३०७॥
सिंघई देवाराय घर, प्रानमती उर धार। चार पुत्र तिनके भये, कहौ नाम अनुसार ॥३०८॥

चौपाई

प्रथमहि नवलशह जानियौ, दूजै तुलाराम मानियो। तीजै घासीराम वखान, चौथे वांधव सिंह खुमान ॥३०९॥
प्रथमहि नवलशाह तिहि नाम, ग्रन्थारम्भ कियौ अभिराम। अव तिंहि देश राजके धनी, वंश वुन्देला सव शिरमनी ॥३१०॥

दोहा

क्षत्रशाल पत्ती प्रवल, नाती श्री हिरदेश। सभा सिंघ सुत हिन्दुपति, करहि राज इहि देश ॥३११॥
ईति भीति व्यापै नहीं, परजा अति आनन्द। भाषा पढ़ैं पढ़ावहीं, खटपुर श्रावक वृन्द ॥३१२॥

अपने ही तुल्य वीर वनावें ? इस प्रकार और भी प्रार्थना कर चुकनेके वाद ग्रन्थकार कवि कहते हैं कि-मैंने चारित्र रचनाके व्याजसे नत मस्तक होकर महावीर प्रभुके चरण कमलोंको प्रणाम किया है, भक्तिपूर्वक अपनी वाणीसे महावीर प्रभुके उत्तमोत्तम गुणोंकी प्रशंसा एवं स्तुति की है। अपने पवित्र भावोंके द्वारा श्रद्धावश होकर अनेकश: प्रभुकी पूजा की है। वे श्री महावीर प्रभु मोक्षके हेतुभूत सम्यक्दर्शनादि तीन रत्न एवं उनसे उत्पन्न और भी अन्यान्य सम्पूर्ण शुभ साधन मुझ लोभीको सम्यक्-दर्शनादि रत्नत्रय से समुत्पन्न संयमको, मोक्ष प्राप्तिकी अभिलाषासे धारण कर लिया था वे महावीर प्रभु हमें भी इस लोक एवं परलोकमें मुक्तिके सम्पूर्ण कारणोंको प्रदान कर अनुग्रहीत करें ! जिन्होंने अपने परमोत्तम ध्यानरूपी अति तीक्ष्ण दृष्टिसे कर्म-रूपी महाशत्रुओंका संहार कर सहजमें ही मोक्ष पदवीको पा लिया वे अर्हन्त जिनेन्द्र प्रभु हमें भी इन्द्रिय रूपी चोरोंसे वचायें तथा कर्मरूपी महाशत्रुओंका शीघ्र नाश कर दें। जिसमें कि मैं भी मोक्षका अधिकारी हो जाऊं महावीर प्रभुने त्रैलोक्य प्रशंसित, अनन्त एवं निर्मल केवल-ज्ञानादि उत्तम गुणोंको पा लिया वे ही हमें भी प्रदान करें। प्रभुने विधि पूर्वक मुक्तिरूपी कुमारीको स्वीकृत कर लिया हमें भी सुख शान्ति पानेके लिये निर्मल एवं अनन्त मुक्ति प्रदान करें। ग्रन्थकार कवि पुन: आत्म निवेदन.

चौपाई

ताहि समय कर मनहि हुलास, कीजै कछु श्रीजिनवर रास। भक्ति प्रभाव बढ़्यो उर श्रान, तब प्रभु वर्द्धमान गुणखान ॥३१३॥
कह्यो अस्तवन भाषा जोर, नवल सहित मद तन मन मोर। सकल कीर्ति उपदेश प्रवान, पिता पुत्र मिलि रचे पुरान ॥३१४॥
सन्मति जिन गुण कोटि निवद्ध, यह पुनीत अति चरित संवद्ध। जो सेवै निज हिरदैं ल्याय, ताके उर सब पातक जाय ॥३१५॥
जो यह ग्रन्थ पढ़ें उर धार, औरनको जु पढ़ावें सार। ते परश्रवहू हैं गुणवान, और प्रगट अति उत्तम ज्ञान ॥३१६॥
लिखै ग्रन्थ यह परम पवित्त, औरे देइ लिखाय सुचित्त। मति श्रुत ज्ञान लहैं ते जीव, तप कर केवल पति जग पीव ॥३१७॥
राग द्वेष नाशन गुणखान, कटै कर्म अरि वेल निदान। या तन अंतकाल लग सार, वंदौं आरजखण्ड मंझार ॥३१८॥

दोहा

अद्भुत पोडश स्वपन फल, जन्मवीर जिनराज। तिन गुण पोडश पर करण, रच्यौ ग्रन्थ भवि काज ॥३१९॥
पोडश कारण भावना, भाई पूरब ठाव। तीर्थंकर पद लहि चरित, पोड़श तिनही प्रभाव ॥३२०॥
ऊर्ध्वलोक पोडश स्वरग, पुण्य लहै अवतार। तिन यह पोडश सरगकर, लीनी ग्रन्थहि पार ॥३२१॥
पोडसकल जु चन्द्रमा, पूरणमासी जान। जिन पोडश अध्याय कर, पूरन भयौ पुरान ॥३२२॥
ज्यों भामिनि उपमा बवै, लहि पोडश श्रृंगार। यह पुरान अनुपम लसै, कहि पोडश अधिकार ॥३२३॥
सप्त प्रकृति उपशम खिपक, नोकपाय खय काज। ता हित नव सत साध कर, रच्यौ ग्रन्थ जिनराज ॥३२४॥
अष्ट कर्म नाशे सवै, अष्टम पृथिवी वास। तिन वसु दून दुवार कर, अस्तुत कियौ अभ्यास ॥३२५॥
सात महीना आदि लिख, कुछ अंतर नव अंत। थिरता अलपहि ग्रंथ रचि, पोडश मास प्रजंत ॥३२६॥

पुराण संख्या वर्णन

छप्पय

उनतिस सय छयाछटै, चौपही कही प्रवानै। दोहा चउसय आठ, सोरठा द्वादश ठाने ॥
त्रेशठ गीता छन्द जोगिया, पंचाही धर। वसु इकतीसा जान, चाल सैताल ठीक करि ॥
अधिक सतासी एक सय, छन्द पद्धरी लेखिये। पट तेइसा गाथा सु चउ, छप्पय आठ विशेपिये ॥३२७॥

दोहा

करखा इक उनतीस, अरिल पंच चच्चरी ठान। छन्द त्रिभंगी, एक दश, काव्य एक परवान ॥३२८॥

करते हुए कहते हैं कि इस पवित्र ग्रन्थको मैंने कीर्ति पूजा-प्रतिष्ठा इत्यादिके लालचमें पड़कर नहीं बनाया, और अभिमानवश कवित्व-चातुरी दिखानेके लिये भी नहीं बनाया, प्रत्युत यह तो केवल धर्म बुद्धिसे बनाया गया है जिसमें भव्य जीवोंका उपकार हो और मेरे कर्मोंका भी नाश हो जाय। प्रभुकी अनेकानेक उत्तम गुणोंकी मालामें गूंथकर इस परम पवित्र चरित्र को सकल-कीर्ति गणीने रचा है। प्रभुकी गुण कथाका ज्ञान होनेके कारण यह दोष रहित है। फिर भी यदि प्रमाद एवं अज्ञानसे यदि कहीं अशुद्धि रह गई हो अथवा मैंने कहीं असम्बन्ध कह दिया हो तो पाठक उदारता पूर्वक क्षमा करेंगे तथा शुद्ध करके पढ़ेंगे। मुझ अल्पज्ञानीकी असम्बन्धता, अक्षर सन्धि एवं मात्रादि दोपोंको क्षमा करें। इस परम पवित्र ग्रन्थको जो पढ़े-पढ़ायेंगे तथा सम्पूर्ण भारतवर्षमें प्रचार करनेके अभिप्रायसे जो स्वयं लिखकर या लिखाकर प्रकाशित करेंगे वे पुण्यात्मा कहलायेंगे और ज्ञान दानके प्रभावसे संसारके सर्वोत्तम सुखोंको भोग कर अन्तमें केवल ज्ञानको पायेंगे।

जो महावीर प्रभु गुणोंके रत्नाकर हैं, धर्मरूपी रत्नके उत्पत्ति हैं स्थान, भव्य जीवोंके एकमात्र शरण हैं, इन्द्र इत्यादि

सोरठा

अब इनको करजोर, अठतिसशय अरु छय अधिक। अरु श्लोकन जोर, पट सहस्त्र परवांन मिति ॥३२९॥

दोहा

ऊर्जयन्त विक्रय, नृपति, सम्वत सरगत तेह। सत अठार पच्चिस अधिक, समय विकारी ऐह ॥३३०॥
द्वादश मैं सूरज गनौ, द्वादश अंश हिऊन। द्वादशमौ मासहि मनौ, सुकल पक्ष तिथि पूर्न ॥३३१॥
द्वादश नखत वखानिये, वुद्धवार वृघ जोग। द्वादश लगन प्रभात मैं, श्री जिन लेख मनोग ॥३३२॥
ऋतु वसंत उर फूल अति, फाग समय शुभ होय। वर्द्धमान भगवान, गुण ग्रन्थ सभापति कोय ॥३३३॥

अथ कवि लघुता वर्णन

दोहा

द्रव्य नवल क्षेत्रहि नवल, काल नवल है और। भाव नवल भव नवल अति, वुद्धि नवल इहि ठौर ॥३३४॥
काय नवल अरु मन नवल, वचन नवल विसराम। नव प्रकार जुत नवल यह नवलशाह कवि नाम ॥३३५॥

छप्पय

सारस्वत नहि पढ्यौ, काव्य पिंगल नहि सिख्यौ। तरक छन्द व्याकरण, अमरकोष हि नहि दिख्यौ ॥
अल्पवुद्धि थिर नांहि, भक्तिवश भाव वढ़ायौ द्रव। जिन मतके अनुसार, ग्रन्थको पार लगायौ ॥
वुद्धिवन्त सज्जन विनय, हास्यभाव मत कोई करो। तुकहीन छन्द जो अमिल जौ, तो विचार अक्षरों धरौं।

गीतिका

कीर्ति जस नहि चाह मेरे, लाभ लालच उर नहीं। कवित्व छन्द न मान मनमें, तुच्छ वुधि मुझ है सही ॥
ग्रन्थ परमारथ प्रकाशक, स्वपर कारज हित कियौ। करम हानि निमित निहचै, आतमापत थिर लियौ ॥३३७॥
वीर जिनवर चरित उत्तम भाव जुत जो सीखही। सुने जे नर त्याग चिन्ता, शुद्ध थिर मन राखही ॥
होइ आठौं सिद्धि नवनिधि, मन प्रतीति धरै सही। ज्ञान दरशन चरण आदिक, मुक्ति सामग्री यही ॥३३८॥
सकल तीर्थकर जु नायक गुण छयालिस जासुतै। सिद्धि जगत निवार अनुपम, अष्ट गुणमय सासुतै ॥
सूरि पंचाचार मंडित, परम पाठक उर धरै। साधु जोग अभंग साधन, सदा मो मंगल करै ॥३३९॥

दोहा

पंच परम गुरु जुग चरण भविजन वुध जुत धाम। कृपावंत दीजै भगत, दास 'नवल' परणाम ॥३४०॥

देवोंके द्वारा पूजित हैं तथा स्वर्ग एवं मोक्षके मूल कारण हैं उन प्रभुका यह उत्तम एवं पवित्र चरित्र, जब तक कि इस धरातल परसे कालका अन्त न हो जाय तब तक आर्यखण्डके सभी स्थानोंमें इसका प्रचार हो, प्रसिद्धि हो, और संस्थिति रहे। यही मेरी मनोकामना है। प्रभुने स्वर्ग एवं मोक्ष देनेवाले निर्दोष अहिंसामय उत्तम धर्मका उपदेश मुनि श्रावक भेदसे किया है वह परम सुखदायक धर्म जब तक पृथ्वीपर है तब तक निश्चय रूपेण रहेगा। पवित्र धर्मके उपदेष्टा एवं व्याख्याता शीघ्र अन्त कर दें। बहुत विशेष न कहकर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मेरे द्वारा श्रद्धाभक्ति-पूर्वक संस्तुत श्रीमहावीर प्रभु लोभीको भी अपने ही समान अद्भुत अनुपम एवं सर्वोत्तम गुणोंको सुख एवं मुक्ति प्राप्तिके लिये प्रदान करें। इस चरित्रमें ग्रन्थ संख्याके अनुसार कुल तीन हजार पैंतीस श्लोक हैं। शुभमस्तु।

लोक-दृष्टि में श्री भगवान् महावीर
और
उनकी शिक्षा

ऋग्वेद में श्री वर्धमान-भक्ति

देव वर्हिर्वर्धमानं सुवीरं स्तीर्ण राये सुभरं वेद्यस्याम्।
घृतेनावक्तम् वसवः सीदतेदं विश्वेदेवा आदित्याय ज्ञियासः ॥४॥

—ऋग्वेद २—३—४

अर्थात्—हे देवों के देव, वर्धमान। आप सुवीर (महावीर) हैं, व्यापक हैं। हम सम्पदाओं की प्राप्ति के लिये इस वेदी पर घृत से आपका आह्वाहन करते हैं। इसलिये सर्व देवता इस यज्ञ में आवें और प्रसन्न होवें।

भगवान महावीर परिचय और निर्वाण काल

पं० जुगलकिशोर मुखत्यार

जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर विदेह (विहार) देशस्थ कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे और माता प्रियकारिणी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, जिसका दूसरा नाम त्रिशला भी था और जो वैशाली के राजा चेटक की सुपुत्री थीं। आपके शुभ जन्म से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की तिथि पवित्र हुई और उसे महान् उत्सवों के लिए पर्वका-सा गौरव प्राप्त हुआ। इस तिथि को जन्म समय उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र था जिसे कहीं तस्तोतरा (हस्त नक्षत्र है उत्तर में अनन्तर जिसके) इस नाम से भी उल्लिखित किया गया है, और सौम्य ग्रह अपने उच्चस्थान पर स्थित थे, जैसा कि श्री पूज्यपादाचार्य के निम्न वाक्य से प्रकट है :—

चैत्र सितपक्ष फाल्गुनिशशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम्।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥५॥

—निर्वाणभक्ति

तेज: पुंज भगवान के गर्भ में आते ही सिद्धार्थ राजा तथा अन्य कुटुम्बीयों की श्रीवृद्धि हुई—उनका यश, तेज, पराक्रम और वैभव बढ़ा—माता की प्रतिभा चमक उठी, वह सहज ही में अनेक गूढ़ प्रश्नों का उत्तर देने लगी, और प्रजाजन भी उत्तरोत्तर सुख शान्ति का अधिक अनुभव करने लगे। इससे जन्मकाल में आपका सार्थक नाम "वर्द्धमान" रक्खा गया। साथ ही, वीर महावीर और सन्मति जैसे नामों की भी क्रमश: सृष्टि हुई, जो सब आपके उस समय प्रस्फुटित तथा उच्छलित होने वाले गुणों पर ही एक आधार रखते हैं।

महावीर के पिता "णात्" वंश के क्षत्रिय थे। "णात्" यह प्राकृत भाषा का शब्द है और "नात्" ऐसा दन्त्य नकार से भी लिखा जाता है। संस्कृत में इसका पर्याय रूप होता है। ज्ञान इसी से चारित्रभक्ति में श्री पूज्यपादाचार्य ने श्री मज्ज्ञात-कुलेन्दुना पद के द्वारा महावीर भगवान को ज्ञात वंश का चन्द्रमा लिखा है और इसी से महावीर भगवान णातपुत अथवा ज्ञातपुत्र भी कहलाते थे, जिसका बौद्धादि ग्रन्थों में भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार वंश के ऊपर नामों का उस समय चलन था—बुद्धदेव भी अपने वंश पर से शाक्यपुत्र कहे जाते थे। अस्तु इस नात का ही विगड़ कर अथवा लेखकों या पाठकों की नासमझी की वजह से वाद को नाथ रूप हुआ जान पड़ता है। और इसी से कुछ ग्रन्थों में महावीर को नाथवंशी लिखा हुआ मिलता है, जो ठीक नहीं है।

महावीर के बाल्यकाल की घटनाओं में से दो घटनाएं खास तौर से उल्लेख योग्य हैं—एक यह कि, संजय और विजय नाम के दो चारण मुनियों को तत्वार्थ विषयक कोई भारी सन्देह उत्पन्न हो गया था, जन्म के कुछ दिन बाद ही जब उन्होंने आपको देखा तो आपके दर्शन मात्र से उनका वह सब सन्देह तत्काल दूर हो गया और इस लिए उन्होंने बड़ी भक्ति से आपका नाम "सन्मति" रक्खा। दूसरी यह कि, एक दिन आप बहुत से राजकुमारों के साथ वन में वृक्षक्रीड़ा कर रहे थे, इतने में वहां पर एक महाभयंकर और विशालकाय सर्प आ निकला और उस वृक्ष को ही मूल से लेकर स्कंध पर्यन्त वेढ़कर स्थित हो गया जिस पर आप चढ़े हुए थे। उसके विकराल रूप को देखकर दूसरे राजकुमार भय विह्वल हो गये और उसी दशा में वृक्षों पर से गिरकर अथवा कूद कर अपने-अपने घर को भाग गये। परन्तु आपके हृदय में जरा भी भय का संचार नहीं हुआ—आप बिल्कुल निर्भयचित होकर उस काले नाग से ही क्रीड़ा करने लगे और आपने उस पर सवार होकर अपने बल तथा पराक्रम से

उसे खूब ही घुमाया, फिराया तथा निर्मद कर दिया। उसी समय से आप लोक में महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए। इन दोनों घटनाओं से यह स्पष्ट जाना जाता है कि महावीर में बाल्यकाल से ही बुद्धि और शक्ति का असाधारण विकास हो रहा था और इस प्रकार की घटनाएं उनके भावी असाधारण व्यक्तित्व को सूचित करती थीं। सो ठीक ही है—

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।"

प्राय: तीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर महावीर संसार देह भोगों से पूर्णतया विरक्त हो गये, उन्हें अपने आत्मोत्कर्ष को साधने और अपना अन्तिम ध्येय प्राप्त करने की ही नहीं किन्तु संसार के जीवों को सन्मार्ग में लगाने अथवा उनकी सच्ची सेवा बनाने की एक विशेष लगन लगी—दीन दुखियों की पुकार उनके हृदय में घर कर गई—और इसलिए उन्होंने, अब और अधिक समय तक गृहवास को उचित न समझकर, जंगल का रास्ता लिया, सम्पूर्ण राज्य-वैभव को ठुकरा दिया और इन्द्रिय सुखों से मुख मोड़कर मंगसिर वदि १० मी को ज्ञातखण्ड नामक वन में जिनदीक्षा धारण कर ली। दीक्षा के समय आपने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके आकिंचन्य (अपरिग्रह) व्रत ग्रहण किया, अपने शरीर पर से वस्त्राभूषणों को उतार कर फेंक दिया और केशों को क्लेश समान समझते हुए उनका भी लोंच कर डाला। अब आप देह से भी निर्ममत्व होकर नग्न रहते थे, सिंह की तरह निर्भय होकर जंगल पहाड़ों में विचरते थे और दिन-रात तपश्चरण ही तपश्चरण किया करते थे।

विशेष सिद्धि और विशेष लोक सेवा के लिए विशेष ही तपश्चरण की जरूरत होती है—तपश्चरण ही रोम-रोम में रमे हुए आन्तरिक मल को छांट कर आत्मा को शुद्ध, साफ, समर्थ और कार्यक्षम बनाता है। इसीलिए महावीर को बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करना पड़ा—खूब कड़ा योग साधना पड़ा—तब कहीं जाकर आपकी शक्तियों का पूर्ण विकास हुआ। इस दुर्द्धर तपश्चरण की कुछ घटनाओं को मालूम करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। परन्तु साथ ही आपके असाधारण धैर्य, अटल निश्चल, सुदृढ़ आत्मविश्वास, अनुपम साहस और लोकोपर क्षमाशीलता को देखकर हृदय भक्ति से भर जाता है और खुद बखुद (स्वयमेव) स्तुति करने में प्रवृत्त हो जाता है। अस्तु मन: पर्ययज्ञान की प्राप्ति तो आपको दीक्षा लेने के बाद ही हो गई थी परन्तु केवल ज्ञान ज्योति का उदय बारह वर्ष के उग्र तपश्चरण के बाद वैशाख सुदि १०मी को तीसरे पहर के समय उस वक्त हुआ जब कि आप जृम्भका ग्राम के निकट ऋजुकूला नदी के किनारे, शाल वृक्ष के नीचे एक शिला पर, षष्ठोपर वास से युक्त हुए, क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ थे—आपने शुक्ल ध्यान लगा रक्खा था—और चन्द्रमा हस्तोत्तर नक्षत्र के मध्य में स्थित था। जैसा कि श्री पूज्यपादाचार्य के निम्न वाक्यों में प्रकट हैं:

> ग्राम पुर खेट कर्वट मटम्ब घोषाकरान् प्रविजहार।
> उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्य: ॥१०॥
> ऋजकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे ।
> अपराह्ने षष्टेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥११॥
> वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ।
> क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥१२॥
>
> —निर्वाणभक्ति

इस तरह घोर तपश्चरण तथा ध्यानाग्नि द्वारा, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय नाम के घातिकर्म मल को दग्ध करके,महावीर भगवान् ने जब अपने आत्मा में ज्ञान, दर्शन सुख और वीर्य नाम के स्वाभाविक गुणों का पूरा विकास अथवा उनका पूर्ण रूप से आविर्भाव कर लिया और आप अनुपम शुद्धि, शक्ति तथा शान्ति की पराकाष्ठा को पहुँच गये, अथवा यों कहिये कि आपको स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि की प्राप्ति हो गई, तब आपने सब प्रकार से समर्थ होकर ब्रह्मपथ का नेतृत्व ग्रहण किया और संसारी जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देने के लिए—उन्हें उनकी भूल सुझाने बन्धनमुक्त करने, ऊपर उठाने और उनके दु:ख मिटाने के लिए—अपना विहार प्रारम्भ किया। दूसरे शब्दों में कहना चाहिए कि लोक हित साधना का जो असाधारण विचार आपका वर्षों से चल रहा था और जिसका गहरा संस्कार जन्मजन्मान्तरों से आपके आत्मा में पड़ा हुआ था वह अब सम्पूर्ण रुकावटों के दूर हो जाने पर स्वत: कार्य में परिणत हो गया।

विहार करते हुए आप जिस स्थान पर पहुँचते थे और वहाँ आपके उपदेश के लिए जो महती सभा जुड़ती थी और जिसे जैन साहित्य में समवसरण नाम से उल्लिखित किया गया है उसकी एक खास विशेषता यह होती थी कि उसका द्वार सबके लिए मुक्त रहता था, कोई किसी के प्रवेश में बाधक नहीं होता था—पशुपक्षी तक भी आकृष्ट होकर वहां पहुँच जाते थे; जाति-पांति छुआछूत और ऊँचनीच का उसमें कोई भी भेद नहीं था, सब मनुष्य एक ही मनुष्य जाति में परिगणित होते थे,

और उक्त प्रकार के भेदभाव को भुलाकर आपस में प्रेम के साथ रल-मिल कर वठते और धम श्रवण करते थे—मानों सव एक ही पिता के संतान हो। इस आदर्श से समवसरण में भगवान् महावीर को समता और उदारता मूर्तिमती नजर आती थी और वे लोग तो उसमें प्रवेश पाकर वेहद संतुष्ट होते थे जो समाज के अत्याचारों से पीड़ित थे, जिन्हें कभी धर्मश्रवण का, शास्त्रों के अध्ययन का, अपने विकास का और उच्च संस्कृति को प्राप्त करने का अवसर ही नहीं मिलता था अथवा जो उसके अधिकारी ही नहीं समझे जाते थे। इसके सिवाय, समवसरण को भूमि में प्रवेश करते ही भगवान् महावीर के सामीप्य से जोवों का वैर-भाव दूर हो जाता था, क्रूर जन्तु भी सौम्य वन जाते थे और उनका जाति-विरोध तक मिट जाता था। इसो से सर्प को नकुल या मयूर के पास वैठनें में कोई भय नहीं होता था, चूहा विना किसी संकोच के विल्लो का आलिंगन करता था, गौ और सिंह मिलकर एक ही नाद में जल पीती थीं और मृग शावक खुशी से सिंह शावक के साथ खेलता था। यह सव महावीर के योगवल का महात्म्य था। उनके आत्मा में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसलिए उनके सन्निकट अथवा उनकी उपस्थिति में किसी का वैर स्थिर नहीं रह सकता था। पतंजलि ऋषि ने भी, अपने योगवर्धन में योग के इस माहात्म्य को स्वीकार किया है, जैसा कि उसके निम्न सूत्र से प्रकट है :—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

जैनशास्त्रों में महावीर के विहार समयादिक की कितनी ही विभूतियों का—अतिशयों का—वर्णन किया गया है। परन्तु उन्हें यहाँ पर छोड़ा जाता है। क्योंकि स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है :—

देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतिय:।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

—आप्तमीमांसा

अर्थात्—देवों का आगमन, आकाश में गमन और चामरादिक (दिव्य चमर, छत्र, सिंहासन, भामंडलादिक) विभूतियों का अस्तित्व तो मायावियों में—इन्द्र जालियों में भी पाया जाता है, इनके कारण हम आपको महान् नहीं मानते और न इनकी वजह से आपकी कोई खास महत्ता या वड़ाई ही है।

भगवान महावीर की महत्ता और वड़ाई तो उनके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक कर्मों का नाश करके परम शान्ति को लिए हुए शुद्धि तथा शक्ति की पराकाष्ठा को पहुँचने और ब्रह्मपथ का—अहिंसात्मक मोक्ष मार्ग का—नेतृत्व ग्रहण करने में है—अथवा यों कहिये कि आत्मोद्धार के साथ-साथ लोक की सच्ची सेवा वजाने में है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्य से भी प्रकट है :—

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन शान्तिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

—युक्त्यनुशासन

महावीर भगवान ने प्रायः तीस वर्ष तक लगातार अनेक देश देशान्तरों में विहार करके सन्मार्ग का उपदेश दिया, असंख्य प्राणियों के अज्ञानान्धकार को दूर करके उन्हें यथार्थ वस्तु-स्थिति का वोध कराया, तत्वार्थ को समझाया, भूलें दूर की, भ्रम मिटाए, कमजोरियाँ हटाई, भय भगाया, आत्मविश्वास वढ़ाया, कदाग्रह दूर किया, पाखण्डवल घटाया, मिथ्यात्व छुड़ाया, पतितों को उठाया, अन्याय अत्याचार को रोका, हिंसा का विरोध किया, साम्यवाद को फैलाया और लोगों को स्वावलम्बन तथा संयम की शिक्षा देकर उन्हें आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर लगाया। इस तरह आपने लोक का अनन्त उपकार किया है और आपका यह विहार वड़ा ही उदार, प्रतापी एवं यशस्वी हुआ है। इसी से स्वामी समन्तभद्र के स्वयंभू—स्तोत्र में "गिरिभित्यवदानवतः" इत्यादि पद के द्वारा जिन विहार का यत्किंचित् उल्लेख करते हुए, उसे "ऊर्जितं गतं" लिखा है।

भगवान का यह विहार काल ही प्रायः उनका तीर्थ प्रवर्तन काल है, और इस तीर्थ प्रवर्तन की वजह से ही वे 'तीर्थंकर कहलाते हैं। आपके विहार का पहला स्टेशन राजगृही के निकट विपुलाचल तथा वैभार पर्वतादि पंच पहाड़ियों का प्रदेश जान पड़ता है। जिसे धवल और जयधवल नाम के सिद्धान्त ग्रन्थों में क्षेत्ररुप से महावीर का अर्थकर्तृत्व प्ररूपण करते हुए, पंचशैलपुर नाम से उल्लिखित किया है। यहीं पर आपका प्रथम उपदेश हुआ है केवल ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् आपकी दिव्य वाणी खिरी है और उस उपदेश के समय से ही आपके तीर्थ की उत्पत्ति हुई है। राजगृही में उस वक्त राजा श्रेणिक राज्य करता था, जिसे

बिम्बसार भी कहते हैं। उसने भगवान की परिषदों में समवसरण सभाओं में—प्रधान भाग लिया है और उसके प्रश्नों पर बहुत से रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। श्रेणिक की रानी चेलना भी राजा चेटक की पुत्री थी और इसलिए वह रिश्ते में महावीर की मातृस्वसा (मावसी) होती थी। इस तरह महावीर का अनेक राज्यों के साथ में शारीरिक सम्बन्ध भी था। उनमें आपके धर्म का बहुत प्रचार हुआ और उसे अच्छा राजाश्रय मिला है।

विहार के समय महावीर के साथ कितने ही मुनि आर्यिकाओं तथा श्रावक श्राविकाओं का संघ रहता था। आपने चतुर्विध संघ की अच्छी योजना और बड़ी ही सुन्दर व्यवस्था की थी। इस संघ के गणधरों की संख्या ग्यारह तक पहुंच गई थी और उनमें सब से प्रधान गौतम स्वामी थे, जो 'इन्द्रभूति' नाम से भी प्रसिद्ध थे और समवसरण में मुख्य गणधर का कार्य करते थे। ये गौतम गोत्री और सकल वेद वेदांग के पारगामी एक बहुत बड़े ब्राह्मण विद्वान थे, जो महावीर को केवलज्ञान की संप्राप्ति होने के पश्चात् उनके पास अपने जीवाजीव विषयक सन्देह के निवारणार्थ गये थे, सन्देह की निवृत्ति पर उनके शिष्य बन गये थे और जिन्होंने अपने बहुत से शिष्यों के साथ भगवान से जिनदीक्षा लेली थी।

तीस वर्ष के लम्बे विहार को समाप्त करते और कृतकृत्य होते हुए, भगवान महावीर जब पावापुर के एक सुन्दर उद्यान में पहुंचे, जो अनेक पद्म सरोवरों तथा नाना प्रकार के वृक्ष समूहों से मंडित था, तब आप वहां कायोत्सर्ग से स्थित हो गये और अपने परम शुक्लध्यान के द्वारा योग निरोध करके दुग्धरज्जु—समान अवशिष्ट रहे कर्म रज को अघातिचतुष्टय को भी अ।ने आत्मा से पृथक कर डाला और इस तरह कार्तिक वदि अमावस्या के दिन स्वाति नक्षत्र के समय, निर्वाण पद को प्राप्त करके आप सदा के लिए अजर, अमर तथा अक्षय सौख्य को प्राप्त हो गये। इसी का नाम विदेहमुक्ति, आत्यन्तिक स्वाय-न्तिक स्वात्मस्थिति, परिपूर्ण सिद्धावस्था अथवा निष्कल परमात्म पद की प्राप्ति है। भगवान महावीर प्रायः ७२ वर्ष की अवस्था में अपने इस अन्तिम ध्येय को प्राप्त करके लोकाग्रवासी हुए। और आज उन्हीं का तीर्थ प्रवर्त रहा है।

इस प्रकार भगवान महावीर का यह संक्षेप में सामान्य परिचय है, जिसमें प्रातः किसी को भी कोई खास विवाद नहीं है। भगवज्जीवनी की उभय सम्प्रदाय सम्बन्धी कुछ विवादग्रस्त अथवा मतभेदवाली बातों को मैंने पहले से ही छोड़ दिया है। उनके लिए इस छोटे से निबन्ध में स्थान भी कहां हो सकता है? वे तो गहरे अनुसंधान को लिए हुए एक विस्तृत आलोचना-त्मक निबन्ध में अच्छे ऊहापोह अथवा विवेचन के साथ ही दिखलाई जाने के योग्य है।

देश काल की परिस्थिति

देश काल की जिस परिस्थिति ने महावीर भगवान को उत्पन्न किया उसके सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना यहां पर उचित जान पड़ता है। महावीर भगवान के अवतार से पहले देश का वातावरण बहुत ही क्षुब्ध पीड़ित तथा संत्रस्त हो रहा था, दीन दुर्बल खूब सताए जाते थे, ऊंच-नीच की भावनाएं जोरों पर थीं, शूद्रों से पशुओं जैसा व्यवहार होता था, उन्हें कोई सम्मान या अधिकार प्राप्त नहीं था, वे शिक्षा दीक्षा और उच्च संस्कृति के अधिकारी ही नहीं माने जाते थे और उनके विषय में बहुत ही निर्दय तथा घातक नियम प्रचलित थे, स्त्रियां भी काफी तौर पर सताई जाती थीं, उच्च शिक्षा से वंचित रक्खी जाती थीं, उनके विषय में 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (स्त्री स्वतन्त्रता की अधिकारिणी नहीं) जैसी कठोर आज्ञाएं जारी थीं और उन्हें यथेष्ठ मानवी अधिकार प्राप्त नहीं थे—बहुतों की दृष्टि में तो वे केवल भोग की वस्तु, विलास की चीज, पुरुष की सम्पत्ति अथवा बच्चा जनने की मशीन मात्र रह गई थीं, ब्राह्मणों ने धर्मानुष्ठान आदि के सब ऊंचे अधिकार अपने लिए रिजर्व रख छोड़े थे—दूसरे लोगों को वे उनका पात्र ही नही समझते थे—सर्वत्र उन्हीं की तूती बोलती थी, शासन विभाग में भी बड़े से बड़ा अपराध कर लेने पर भी उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था, जब कि दूसरों को एक साधारण से अपराध पर भी सूली फांसी पर चढ़ा दिया जाता था, ब्राह्मणों के बिगड़े तथा सड़े हुए जाति भेद की दुर्गन्ध से देश का प्राण घुट रहा था और उसका विकास रुक रहा था, खुद उनके अभिमान तथा जाति मद ने उन्हें पतित कर दिया था और उनमें लोभ लालच दंभ, अज्ञानता अकर्मण्यता, क्रूरता तथा धूर्ततादि दुर्गुणों का निवास हो रहा था, वे रिश्वतें अथवा दक्षिणाएं लेकर परलोक के लिए सर्टिफिकेट और पर्वाने तक देने लगे थे धर्म की असली भावनाएं प्रायः लुप्त हो गई थीं और उनका स्थान अर्थ हीन क्रियाकाण्डों तथा थोथे विधि विधानों से ले लिया था, बहुत से देवी देवताओं की कल्पना प्रबल हो रही थी, उनके सन्तुष्ट करने में ही सारा समय चला जाता था और उन्हें पशुओं की बलियां तक चढ़ाई जाती थी, धर्म के नाम पर सर्वत्र यज्ञ यागादि कर्म होते थे और उनमें असंख्य पशुओं को होमा जाता था—जीवित प्राणी धधकती हुई आग में डाल दिये जाते थे—और उनका स्वर्ग जाना बतलाकर अथवा 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' कहकर लोगों को भुलावे में डाला जाता था और उन्हें ऐसे क्रूर कर्मों के लिए उत्तेजित

किया जाता था। साथ ही, वलि तथा यज्ञ के वहाने लोग मांस खाते थे। इस तरह देश में चहुं ओर अन्याय अत्याचार का साम्राज्य था—वड़ा ही वीभत्स तथा करुण दृश्य उपस्थित था-सत्य कुचला जाता था, धर्म अपमानित हो रहा था, पीड़ितों की आहों के धूएं से आकाश व्याप्त था और सर्वत्र असन्तोष ही असन्तोष फैला हुआ था।

यह सव देखकर सज्जनों का हृदय तिलमला उठा था, धार्मिकों को रात दिन चैन नही पड़ता था और पीड़ितव्यक्ति अत्याचारों से ऊवकर त्राहि त्राहि कर रहे थे। सवों को हृदय तन्त्रियों से कोई अवतार नया हो की एक ही ध्वनि निकल रही थी और सवों की दृष्टि एक ऐसे असाधारण महात्मा की ओर लगी हुई थी जो उन्हें हस्तावलम्व देकर इस घोर विपतिसे निकाले। ठीक इसी समय—आज से कोई ढ़ाई हजार वर्ष से भी पहले-प्राची दिशा में भगवान महावीर भास्कर का उदय हुआ, दिशाएं प्रसन्न हो उठी, स्वास्थ्य कर मन्द सुगन्ध पवन वहने लगा, सज्जन धर्मात्माओं तथा पीड़ितों के मुखमंडल पर आशा की रेखाएं दीख पड़ीं, उनके हृदय कमल खिल गये और उनकी नस नाड़ियों में ऋतुराज (वसंत) के आगमनकाल-जैसा नवरस का संचार होने लगा।

महावीर का उद्धारकार्य

महावीर ने लोक स्थिति का अनुभव किया, लोगों की अज्ञानता, स्वार्थपरता, उनके वहम, उनका अन्धविश्वास और उनके कुत्सित विचार एवं दुर्व्यवहार को देखकर उन्हें भारी दुःख तथा खेद हुआ। साथ ही, पीड़ितों की करुण पुकार को सुनकर उनके हृदय से दया का खण्ड स्रोत वह निकला। उन्होंने लोकोद्धार का संकल्प किया, लोकोद्धार का सम्पूर्ण भार उठाने के लिए अपनी सामर्थ्य को तोला और उसमें जो त्रुटि थी उसे वारह वर्ष के उस घोर तपश्चरण के द्वारा पूरा किया जिसका अभी उल्लेख किया जा चुका है।

इसके वाद सव प्रकार से शक्ति सम्पन्न होकर महावीर ने लोकोद्धार का सिंहनाद किया-लोक प्रचलित सभी अन्याय अत्याचारों, कुविचारों तथा दुराचारों के विरुद्ध आवाज उठाई-और अपना प्रभाव सव से पहले ब्राह्मण विद्वानों पर डाला, जो उस वक्त देश के सर्वे सर्वा: वने हुए थे औरजिनके इस पटु सिंहनाद को सुनकर, जो एकान्त का निरसन करने वाले स्याद्वाद की विचार पद्धति को लिए हुए था, लोगों का तत्वज्ञान विषयक भ्रम दूर हुआ, उन्हें अपनी भूलें मालूम हुईं, धर्म-अधर्म के यथार्थ स्वरूप का परिचय मिला, आत्मा अनात्मा का भेद स्पष्ट हुआ और वन्ध मोक्ष का सारा रहस्य जान पड़ा। साथ ही, झूठे देवी देवताओं तथा हिंसक यज्ञादिकों पर से उनकी श्रद्धा हटी और उन्हें यह वात साफ जंच गई कि हमारा उत्थान और पतन हमारे ही हाथ में है, उसके लिए किसी गुप्त शक्ति की कल्पना करके उसी के भरोसे वैठे रहना अथवा उसको दोष देना अनुचित और मिथ्या है। इसके सिवाय, जाति भेद की कट्टरता मिटी, उदारता प्रगटी, लोगों के हृदय में साम्यवाद की भावनाएं दृढ़ हुई और उन्हें अपने आत्मोत्कर्ष का मार्ग सूझ पड़ा। साथ ही, ब्राह्मण गुरुओं का आसन डोल गया, उनमें से इन्द्रभूति गौतम जैसे कितने ही दिग्गज विद्वानों ने भगवान के प्रभाव से प्रभावित होकर उनकी समीचीन धर्म देशना को स्वीकार किया और वे सव प्रकार से उनके पूरे अनुयायी वन गये। भगवान ने उन्हें गणधर के पद पर नियुक्ति किया और अपने संघ का भार सौंपा। उनके साथ उनका वहुत वड़ा शिष्य समुदाय तथा दूसरे ब्राह्मण और अन्य धर्मानुयायी भी जैन धर्म में दीक्षित हो गये। इस भारी विजय से क्षत्रिय गुरुओं और जैन धर्म की प्रभाव वृद्धि के साथ-साथ तत्कालीन (क्रियाकाण्डी) ब्राह्मण धर्म की प्रभा क्षीण हुई, ब्राह्मणों की शक्ति घटी, उनके अत्याचारों में रोक हुई, यज्ञ यागादिक कर्म मन्द पड़ गये उनमें पशुओं के प्रतिनिधियों की भी कल्पना होने लगी-और ब्राह्मणों के लौकिक स्वार्थ तथा जाति पांति के भेद को वहुत वड़ा धक्का पहुंचा। परन्तु निरं-कुशता के कारण उनका पतन जिस तेजी के साथ हो रहा था वह रुक गया और उन्हें सोचने विचारने का अथवा अपने धर्म तथा परिणति में फेरफार करने का अवसर मिला।

महावीर की इस धर्म देशना और विजय के सम्वन्ध में कवि सम्राट डा० रवीन्द्र नाथ टैगौर ने जो शब्द कहे हैं वे इस प्रकार है :—

Mahavira proclaimed in India the message of salvation that religion is a reality and not a more social convention, that salvation comes from taking refuge in that true religion and not from observing the external ceremonies of the community, that religion can not regard any barrier between man and man as an eternal verity. Wondrous to relate, this teaching rapidly over-

topped the barriers of the race's abiding instinct and conquered the whole country. For a lon period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power.

अर्थात्—महावीर ने डंके की चोट भारत में मुक्ति का ऐसा सन्देश घोषित किया कि, धर्म कोई महज सामाजिक रू नहीं बल्कि वास्तविक सत्य है—वस्तुस्वभाव है,—और मुक्ति उस धर्म में आश्रय लेने से ही मिल सकती है, न कि समाज वाह्य आचारों—विधिविधानों अथवा क्रियाकाण्डों का—पालन करने से, और यह कि धर्म की दृष्टि में मनुष्य-मनुष्य के बी कोई भेद स्थायी नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य होता है कि इस शिक्षण ने बद्धमूल हुई जाति की हद बन्दियों को शीघ्र तोड़ डाला और सम्पूर्ण देश पर विजय प्राप्त किया। इस वक्त क्षत्रिय गुरुओं के प्रभाव से बहुत समय के लिए ब्राह्मणों की सत ने पूरी तोर से दवा दिया था।

इसी तरह लोकमान्य तिलक आदि देश के दूसरे भी कितने ही प्रसिद्ध हिन्दू विद्वानों ने, अहिंसादिक के विषय में, महावीर भगवान अथवा उनके धर्म की ब्राह्मण धर्म पर गहरी छाप का होना स्वीकार किया था, जिनके वाक्यों को यहां पर उद्धृत करने की जरूरत नहीं है—अनेक पत्रों तथा पुस्तकों में वे छप चुके हैं। महात्मा गांधी तो जीवन भर भगवान महावीर के मुक्तकण्ठ से प्रशंसक बने रहे। विदेशी विद्वानों के भी बहुत से वाक्य महावीर की योग्यता, उनके प्रभाव और उनके शासन की महिमा-सम्बन्ध में उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु उन्हें भी यहां छोड़ा जाता है।

वीर-शासन की विशेषता

भगवान महावीर ने संसार में सुख शान्ति स्थिर रखने और जनता का विकास सिद्ध करने के लिए चार महासिद्धान्तों की—१ अहिंसा वाद, २ साम्यवाद, ३ अनेकान्तवाद (स्याद्वाद), और ४ कर्मवाद नामक महासत्यों की घोषणा की है और इनके द्वारा जनता को निम्न बातों की शिक्षा दी है :—

१—निर्भय-निर्वैर रह कर शान्ति के साथ जीना तथा दूसरों को जीने देना।

२—राग—द्वेष अहंकार तथा अन्याय पर विजय प्राप्त करना और अनुचित भेद भाव को त्यागना।

३—सर्वतोमुखी विशालदृष्टि प्राप्त करके अथवा नये प्रमाण का सहारा लेकर सत्य का निर्णय तथा विरोध का परिहार करना।

४—अपना उत्थान और पतन अपने हाथ में है ऐसा समझते हुए, स्वावलम्बी बनकर अपना हित और उत्कर्ष साधन तथा दूसरों के हितसाधन में मदद करना।

साथ ही, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र तीनों के समुच्चय को मोक्ष की प्राप्ति का एक उपाय अथवा मार्ग बतलाया है। ये सब सिद्धान्त इतने गहन, विशाल तथा महान् हैं और इनकी विस्तृत व्याख्याओं तथा गम्भीर विवेचनाओं से इतने जैन ग्रन्थ भरे हुए हैं कि इनके स्वरूपादि विषय में यहाँ कोई चलती सी बात कहना इनके गौरव को घटाने अथवा इनके प्रति कुछ अन्याय करने जैसा होगा। और इसलिए इस छोटे से निबन्ध में इनके स्वरूपादि का न लिखा जाना क्षमा किये जाने के योग्य है। इन पर तो अलग ही विस्तृत निबन्धों के लिखे जाने की जरूरत है। हां, स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्यानुसार इतना जरूर बतलाना होगा कि महावीर भगवान का शासन नय प्रमाण के द्वारा वस्तु तत्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला और सम्पूर्ण प्रवादियों के द्वारा बाध्य होने के साथ साथ दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रहत्यजन) और समाधि (प्रशस्त ध्यान) इन चारों की तत्परता को लिए हुए हैं, और यही सब उसकी विशेषता है अथवा इसीलिए वह अद्वितीय है।

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृतांजसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥६॥
—युक्त्यनुशासन

इस वाक्य में दया को सब से पहला स्थान दिया गया है और वह ठीक ही है। जब तक दया अथवा अहिंसा की भावना नहीं तब तक संयम में प्रवृत्ति नहीं होती, जब तक संयम में प्रवृत्ति नहीं तब तक त्याग नहीं बनता और जब तक त्याग नहीं तब तक समाधि नहीं बनती। पूर्व पूर्व धर्म उत्तरोत्तर धर्म का निमित कारण है। इसलिए धर्म में दया को पहला स्थान प्राप्त है और इसी से धर्मस्य मूलं दया आदि वाक्यों के द्वारा दया को धर्म का मूल कहा गया है। अहिंसा को परम धर्म कहने की भी यही

वजह है और उसे परम धर्म ही नहीं किन्तु परम ब्रह्म भी कहा गया है जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्य से प्रकट है—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं ।

स्वयम्भूस्तोत्र

और इसलिए जो परमब्रह्म की आराधना करना चाहता है उसे अहिंसा की उपासना करनी चाहिए-रागद्वेष की निवृति, दया, परोपकार अथवा लोक सेवा के कर्मों में लगना चाहिए । मनुष्यों में जबतक हिंसकवृत्ति बनी रहती हैत बतक आत्मा गुणों का घात होने के साथ साथ 'पापाः सर्वत्र शंकिताः' की नीति के अनुसार उसमें भय का या प्रतिहिंसा की आशंका सद्भाव बना रहता है । जहां भय का सद्भाव वहां वीरत्व नहीं—सम्यक्त्व नहीं और जहां वीरत्व नहीं और वहां-सम्यक्त्व नहीं वहां आत्मोद्धार का नाम नहीं अथवा यों कहिये कि भय में संकोच होता है और संकोच विकास को रोकने वाला है । इस लिए आत्मोद्धार अथवा आत्म विकास के लिए अहिंसा की बहुत बड़ी जरूरत है और वह वीरता का चिन्ह है—कायरता का नहीं । कायरता का आधार प्रायः भय होता है, इसलिए कायर मनुष्य अहिंसा धर्म का पात्र नहीं—उसमें अहिंसा ठहर नहीं सकती । वह वीरों के ही योग्य है और इसीलिए महावीर के धर्म में उसको प्रधान स्थान प्राप्त है । जो लोग अहिंसा पर कायरता का कलंक लगाते हैं उन्होंने वास्तव में अहिंसा के रहस्य को समझा ही नहीं । वे अपनी निर्बलता और आत्म विस्मृति के कारण कषायों से अभिभूत हुए कायरता को वीरता और आत्मा के क्रोधादिक रूप पतन को ही उसका उत्थान समझ बैठे हैं । ऐसे लोगों की स्थिति, निःसन्देह बड़ी ही करुणाजनक है ।

सर्वोदय तीर्थ

स्वामी समन्तभद्र ने भगवान महावीर और उनके शासन के सम्बन्ध में और भी कितने ही बहुमूल्य वाक्य कहे हैं जिनमें से एक सुन्दर वाक्य मैं यहां पर और उद्धृत कर देना चाहता हूं और वह इस प्रकार है :—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं चमिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ।।६१।।

युक्त्यनुशासन

इससे भगवान महावीर के शासन अथवा उनके परमागमलक्षण रूप वाक्य का स्वरूप बतलाते हुए जो उसे ही सम्पूर्ण आपदाओं का अन्त करने वाला और सबों के अभ्युदय का कारण तथा पूर्ण अभ्युदय का—विकास का—हेतु ऐसा सर्वोदय तीर्थ बतलाया है वह बिलकुल ठीक है । महावीर भगवान का शासन अनेकान्त के प्रभाव से सकल दुर्नयों तथा मिथ्या दर्शनों का अन्त (निरसन) करने वाला है और ये दुर्नय तथा मिथ्यादर्शन ही संसार में अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःख रूप आपदाओं के कारण होते हैं । इसलिए जो लोग भगवान महावीर के शासन का—उनके धर्म का—आश्रय लेते हैं— उसे पूर्णतया अपनाते हैं– उनके मिथ्यादर्शनादिक दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं । और वे इस धर्म के प्रसाद से अपना पूर्ण अभ्युदय सिद्ध कर सकते हैं । महावीर की ओर से इस धर्म का द्वार सब के लिए खुला हुआ है । जैसा कि जैन ग्रन्थों के निम्न वाक्यों से ध्वनित है :—

(१) दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ।।
उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनां ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ।।

यशस्तिलके, सोमदेवः

(२) आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि
देवद्विजाततपस्विपरिकर्मसु योग्यान् ।—नीतिवाक्यामृते, सोमदेवः ?

(३) शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ।।२—२२।।

—सागारधर्मामृते, आशाधरः ।

इन सब वाक्यों का आशय क्रमशः इस प्रकार है—

(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण (आम तौर पर) मुनि दीक्षा के योग्य हैं और चौथा शूद्र वर्ण विधि के द्वारा दीक्षा के योग्य है (वास्तव में) मन वचन काय से किये जाने वाले धर्म का अनुष्ठान करने के लिए सभी अधिकारी होते हैं।

जिनेन्द्र का यह धर्म प्रायः ऊंच और नीच दोनों ही प्रकार के मनुष्यों के आश्रित है, एक स्तम्भ के आधार पर जैसे मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊंच नीच में से किसी एक ही प्रकार के मनुष्य समूह के आधार पर धर्म ठहरा हुआ नहीं है।

—यशस्तिलक

(२) मद्य मांसादिक के त्याग रूप आचार की निर्दोषता, गृह-पात्रादिक की पवित्रता और नित्य स्नानादि के द्वारा शरीर शुद्धि ये तीनों प्रवृत्तियां (विविधयां) शूद्रों को भी देव, द्विजाति और तपस्वियों के परिकर्मों के योग्य बना देती हैं।

—नीतिवाक्यामृत

(३) आसन और बर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्य—मांसादि के त्याग से जिसका आचारण पवित्र हो और नित्य स्नानादि के द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णों के सदृश धर्म का पालन करने के योग्य हैं, क्योंकि जाति से हीन आत्मा भी कालादिक लब्धि को पाकर जैन धर्म का अधिकारी होता है।

—सागारधर्मामृत

नीच से नीच कहा जाने वाला मनुष्य भी इस धर्म को धारण करके इसी लोक में अति उच्च बन सकता है। इसकी दृष्टि में कोई जाति गर्हित नहीं—तिरस्कार किये जाने के योग्य नहीं—सर्वत्र गुणों की पूज्यता है, वे ही कल्याण कारी है, और इसी से इस धर्म में एक चाण्डाल को भी व्रत से युक्त होने पर ब्राह्मण तथा सम्यग्दर्शन से युक्त होने पर देव, माना गया है। यह धर्म इन ब्राह्मणादिक जाति भेदों को तथा दूसरे चाण्डालादि विशेषों को वास्तविक ही नहीं मानता किन्तु वृद्धि अथवा आधार पर कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है और यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणों की उत्पत्ति पर जाति उत्पन्न होती है और उसके नाश पर नष्ट हो जाती है। इन जातियों आकृति आदि के भेद को लिए हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियों की तरह मनुष्य शरीर में नहीं पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादि के योग से ब्राह्मणी आदि में गर्भाधान की प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जाति भेद के विरुद्ध है। इसी तरह जारज का भी कोई चिह्न शरीर में दिखाई नहीं देता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय, और न महज व्यभिचार जात होने की वजह से ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचता का कारण इस धर्म में 'अनार्य आचरण' अथवा 'म्लेच्छाचार' माना गया है। वस्तुतः सब मनुष्यों की एक ही मनुष्य जाति इस धर्म को अभीष्ट है, जो मनुष्य जाति नामक नाम कर्म के उदय से होती है, और इस दृष्टि से सब मनुष्य समान है—आपस में भाई भाई हैं—और उन्हें इस धर्म के द्वारा अपने विकास का पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है। इसके सिवाय, किसी के कुल में कभी कोई दोष लगा गया तो उसकी शुद्धि की, और म्लेच्छों तक की कुलशुद्धि करके उन्हें अपने में मिला लेने तथा मुनि दीक्षा आदि के द्वारा ऊपर उठाने की स्पष्ट आज्ञाएं भी इस शासन में पाई जाती हैं और इसलिए यह शासन सचमुच ही "सर्वोदय तीर्थ" के पद को प्राप्त है—इस पद के योग्य इसमें सारी ही योग्यतायें मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसार समुद्र से पार उतर सकता है।

परन्तु यह समाज का और देश का दुर्भाग्य है जो आज हमने—जिनके हाथों देवयोग से यह तीर्थ पड़ा है—इस महान् तीर्थ की महिमा तथा उपयोगिता को भुला दिया है, इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदय तीर्थ का सा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊंची ऊंची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटक में ताला डाल दिया है। हम लोग खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरों को लाभ उठाने देते हैं—महज अपने थोड़े से विनोद अथवा क्रीड़ा के स्थल रूप में ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसी का यह परिणाम है कि जिस रूप में ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसी का यह परिणाम है कि जिस सर्वोदय तीर्थ पर दिन रात उपासकों की भीड़ और यात्रियों का मेला सा लगा रहना चाहिए था वहां आज सन्नाटा सा छाया हुआ है, जैनियों की संख्या भी अंगुलियों पर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं। उनमें भी जैनत्व का प्रायः कोई स्पष्ट लक्षण दिखलायी नहीं पड़ता—कहीं भी दया, दम, त्याग और समाधि की तत्परता नजर नहीं आती—लोगों को महावीर के सन्देश की ही खबर नहीं, और इसी संसार में से सर्वत्र दुःख ही दुख फैला हुआ है।

ऐसी हालत में अब खास जरूरत है कि इस तीर्थ का उद्धार किया जाय, इसकी सब रुकावटों को दूर कर दिया

जाय, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवा की व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबों के लिए हर वक्त खुला रहे, सबों के लिए इस तीर्थ तक पहुंचने का मार्ग सुगम किया जाए, इसके तटों तथा घाटों की मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहार में न आने के कारण तीर्थ जल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमें कहीं कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकाल कर दूर किया जाय और सर्वसाधारण को इस तीर्थ के महात्म्य का पूरा पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होने पर अथवा इस रूप में इस तीर्थ का उद्धार किये जाने पर आप देखेंगे कि देश देशान्तर के कितने बेशुमार यात्रियों की इस पर भीड़ रहती है, कितने विद्वान् इस पर मुग्ध होते हैं, कितने असंख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दु:ख संतापों से छुटकारा पाते हैं और संसार में कैसी सुख शान्ति की लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्र ने अपने समय में, जिसे आज १७०० वर्ष से भी ऊपर हो गये हैं, ऐसा ही किया है, और इसी से कनडी भाषा के एक प्राचीन शिलालेख में यह उल्लेख किया है कि स्वामी समन्तभद्र भगवान महावीर के तीर्थ की हजार गुनी वृद्धि करते हुए उदय को प्राप्त हुए—अर्थात्, उन्होंने उसके प्रभाव को सारे देश देशान्तरों में व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिए। यही भगवान् महावीर की सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

महावीर के इस अनेकान्त शासन रूप तीर्थ में यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे मतभेद अथवा यथेष्ट द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति चक्षु से (मात्सर्य के त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधान की दृष्टि से) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान श्रृंग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्त रूप मिथ्या-मत का आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओर से भद्र रूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यों कहिये कि 'भगवान महावीर के शासन तीर्थ का उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बात को स्वामी समन्तभद्र ने अपने निम्न वाक्य द्वारा व्यक्त किया है—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानश्रृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥

—युक्त्यनुशासन

अतः इस तीर्थ के प्रचार विषय में जरा भी संकोच की जरूरत नहीं है, पूर्ण उदारता के साथ इसका उपर्युक्त रीति से योग्य प्रचारकों के द्वारा खुला प्रचार होना चाहिए और सबों को इस तीर्थ की परीक्षा का तथा इसके गुणों को मालूम करके इससे यथेष्ठ लाभ उठाने का पूरा अवसर दिया जाना चाहिए। योग्य प्रचारकों का यह काम है कि वे जैसे तैसे जनता में मध्यस्थभाव को जाग्रत करें, ईर्षा द्वेषादि रूप मत्सर भाव को हटायें, हृदयों को यूक्तियों से संस्कारित कर उदार बनायें, उनमें सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न करें और उस सत्य का दर्शन प्राप्ति के लिए लोगों की समाधान दृष्टि को खोलें।

महावीर—सन्देश

हमारा इस वक्त यह खास कर्त्तव्य है कि हम भगवान् महावीर के संदेश को—उनके शिक्षा समूह को—मालूम करें, उस पर खुद अमल करें और दूसरों से अमल कराने के लिए उसका घर घर में प्रचार करें। बहुत से जैन शास्त्रों का अध्ययन, मनन, और मन्थन करने पर मुझे भगवान महावीर का जो सन्देश मालूम हुआ है उसे मैंने एक छोटी सी कविता में निबद्ध कर दिया है। यहां पर उसका दे दिया जाना भी कुछ अनुचित न होगा। उससे थोड़े में ही—सूत्ररूप से—महावीर भगवान् की बहुत सी शिक्षाओं का अनुभव हो सकेगा और उन पर चल कर—उन्हें अपने जीवन में उतार कर—हम अपना तथा दूसरों का बहुत कुछ हित में साधन कर सकेंगे। वह सन्देश इस प्रकार है :—

यही है महावीर—सन्देश

विपुलाचल पर दिया गया जो प्रमुख धर्म उपदेश।
सब जीवों को तुम अपनाओ, हर उनके दुख-क्लेश॥ यही०॥
असद्भाव रक्खो न किसी से, हो अरि क्यों न विशेष॥१॥
वैरी का उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि-विशेष।
वैर छुटे, उपजे मति जिससे, वही यत्न यत्नेश॥२॥

घृणा पाप से हो, पापी से नहीं कभी लव-लेश।
भूल सुझा कर प्रेम मार्ग से, करो उसे पुण्येश ॥३॥
तज एकान्त कदाग्रह दुर्गुण—बनो उदार विशेष।
रह प्रसन्नचित सदा, करो तुम मनन तत्व उपदेश ॥४॥
जीतो राग द्वेष भय इन्द्रिय मोह कषाय अशेष।
धरो धैर्य, समचित रहो, और सुख दुख में सविशेष ॥५॥
अहंकार ममकार तजो, जो अवनतिकार विशेष।
तप संयम में रत हो, त्यागो तृष्णा भाव अशेष ॥६॥
वीर उपासक बनो सत्यके, तज मिथ्या मिनिवेश।
विपदाओं से मत घबराओ, धरो न कोपावेश ॥७॥
संज्ञानी संदृष्टि बनो, औ तजो भाव संक्लेश।
सदाचार पालो दृढ़ होकर, रहे प्रमाद न लेश ॥८॥
सादा रहन सहन भोजन हो, सादा भूषा वेष।
विश्व प्रेम जाग्रत कर उर में, करो कर्म निःशेष ॥९॥
हो सबका कल्याण, भावना ऐसी रहे हमेश।
दया लोक सेवा रत चित्त हो, और न कुछ आदेश ॥१०॥
इस पर चलने से होगा, विकसित स्वात्म प्रदेश।।
आत्म ज्योति जगेगी ऐसे, जैसे उदित दिनेश ॥११॥
यही है महावीर सन्देश, विपुला०

महावीर का समय

अब देखना यह है कि भगवान महावीर को अवतार लिए ठीक कितने वर्ष हुए हैं। महावीर की आयु कुछ कम ७२ वर्ष की—७१ वर्ष ७ मास, १८ दिन की—थी। यदि महावीर का निर्वाण समय ठीक मालूम हो तो उनके अवतार समय को अथवा जयंतीके अवसरों पर उनकी वर्षगांठ संख्या को सूचित करने में कुछ भी देर न लगे। परन्तु निर्वाण समय अर्से से विवादग्रस्त चल रहा है—प्रचलित वीर निर्वाण संवत् पर आपत्ति की जाती है—कितने ही देशी विदेशी विद्वानों का उसके विषय में मतभेद हैं, और उसका कारण साहित्य की कुछ पुरानी गड़बड़, अर्थ समझने की गलती अथवा काल गणना की भूल जान पड़ती है। यदि इस गड़बड़, गलती अथवा भूल का ठीक पता चल जाय तो समय का निर्णय सहज में ही हो सकता है और उससे बहुत काम निकल सकता है, क्योंकि महावीर के समय का प्रश्न जैन इतिहास के लिए ही नहीं किन्तु भारत के इतिहास के लिए भी एक बड़े ही महत्व का प्रश्न है। इसी से अनेक विद्वानों ने उसको हल करने के लिए बहुत परिश्रम किया है और उससे कितनी ही नई नई बातें प्रकाश में आई हैं। परन्तु फिर भी, इस विषय में, उन्हें जैसी चाहिए वैसी सफलता नहीं मिली—बल्कि कुछ नई उलझनें भी पैदा हो गई हैं—और इसलिए यह प्रश्न अभी तक बराबर विचार के लिए चला ही जाता है। मेरी इच्छा थी कि मैं इस विषय में कुछ गहरा उतर कर पूरी तफसील के साथ एक विस्तृत लेख लिखूं परन्तु समय की कमी आदि के कारण वैसा न करके, संक्षेप में ही, अपनी खोज का एक सार भाग पाठकों के सामने रखता हूं। आशा है कि सहृदय पाठक इस पर से ही, उस गड़बड़, गलती अथवा भूल को मालूम करके, समय का ठीक निर्णय करने में समर्थ हो सकेंगे।

आजकल जो वीर निर्वाण संवत् प्रचलित है और कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है वह २४६० है। इस संवत् का एक आधार "त्रिलोकसार" की निम्न गाथा है, जो श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का बनाया हुआ है:—

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं ॥८५०॥

इसमें बतलाया गया है कि महावीर के निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा हुआ और शक राजा से ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्की राजा हुआ। शक राजा के इस समय का समर्थन हरिवंशपुराण नाम के एक दूसरे प्राचीन ग्रन्थ से भी होता है जो त्रिलोकसार से प्रायः दो सौ वर्ष पहले का बना हुआ है और जिसे श्री जिन सेनाचार्य ने शक सं० ७०५ में बनाकर समाप्त किया है। यथा :—

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥६०—५४९॥

इतना ही नहीं, बल्कि और भी प्राचीन ग्रन्थों में इस समय का उल्लेख पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण "तिलोयपण्णत्ती" (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) का निम्न वाक्य है—

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजदो सगणिओ अहवा ॥

शक का यह समय ही शक संवत् की प्रवृद्धि का काल है, और इसका समर्थन एक पुरातन श्लोक से भी होता है, जिसे श्वेताम्बराचार्य श्रीमेरुतुंग ने अपनी विचार श्रेणि में निम्न प्रकार से उद्धृत किया है :—

श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरते ऽभवत्।

इसमें, स्थूल रूप से वर्षों की ही गणना करते हुए, साफ लिखा है कि महावीर के निर्वाण से ८०५ वर्ष बाद इस भारतवर्ष में शकसंवत्सर की प्रवृत्ति हुई।

श्री वीरसेनाचार्य प्रणीत भवल नाम के सिद्धान्त भाष्य से—जिसे इस सम्बन्ध में धवल सिद्धान्त नाम से भी उल्लिखित किया गया है—इस विषय का और भी ज्यादा समर्थन होता है, क्योंकि इस ग्रन्थ में महावीर के निर्वाण के बाद केवलियों तथा श्रुतधर आचार्यों की परम्परा का उल्लेख करते हुए और उसका काल परिणाम ६८३ वर्ष बतलाते हुए यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है कि इस ६८३ वर्ष के काल में से ७७ वर्ष ७ महीने घटा देने पर जो ६०४ वर्ष ५ महीने का काल अवशिष्ट रहता है वही महावीर के निर्वाण दिवस से शककाल की आदि शक संवत् की प्रवृत्ति तक का मध्यवर्ती काल है, अर्थात् महावीर के निर्वाण दिवस से ६०५ वर्ष ५ महीने के बाद शकसंवत् का प्रारम्भ हुआ है। साथ ही इस मान्यता के लिए कारण निर्देश करते हुए, एक प्राचीन गाथा के आधार पर यह भी प्रतिपादन किया है कि इस ६०५ वर्ष ५ महीने के काल में शक काल को—शक संवत् की वर्षादि संख्याको जोड़ देने से महावीर का निर्वाणकाल—निर्वाण संवत् का ठीक परिणाम आ जाता है। और इस तरह वीर निर्वाण संवत् मालूम करने की स्पष्ट विधि भी सूचित की है। धवल के वाक्य इस प्रकार है :—

> सव्वकालसमासो तेयासीदिअहियछस्सदमेत्तो (६३८) पुणो एत्थ सत्तमासाहियसत्तहत्तरिवासेसु (७७-७) अवणीदेसु पंचमासाहिय पंचुत्तर छस्सदवासाणि (६०५-५) हवंति, एसोवीरजिणिंदणिव्वाणगदविवसादो जाव सगकालस्य आदी होदि तावदिय कालो (कुदो एदम्मि काले सगणरिंदकालस्य पक्खित्ते वड्ढमाणजिणणिव्वुदकालागमणादो। वुतंचपंच य मासा पंच य वासा छच्चे व होंति वाससया। सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी ॥"

—देखो, आरा जैन सिद्धान्तभवन की प्रति, पत्र ५३७।

इन सब प्रमाणों से इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता कि शक संवत् के प्रारम्भ होने से ६०५ वर्ष ५ महीने पहले महावीर का निर्वाण हुआ है।

शक संवत् के इस पूर्ववर्ती समय को वर्तमान शक सम्वत् १८५५ में जोड़ देने से २४६० की उपलब्धि होती है, और यही इस वक्त प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् की वर्ष संख्या है। शक सम्वत् और विक्रम सम्वत् में १३५ वर्ष का प्रसिद्ध अन्तर

है। यह १३५ वर्ष का अन्तर यदि उक्त ६०५ वर्ष से घटा दिया जाय तो अवशिष्ट ४७० वर्ष का काल रहता है, और यही स्थूल रूप से वीर निर्वाण के बाद विक्रम सम्वत् की प्रवृत्ति का काल है, जिसका शुद्ध अथवा पूर्ण रूप ४७० वर्ष ५ महीने है और जो ईस्वी सन् से प्राय: ५२८ वर्ष पहले वीर निर्वाण का होना बतलाता है। और जिसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय मानते हैं।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि त्रिलोकसार की उक्त गाथा में शकराजा के समय का—वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने पहले का जो उल्लेख है उसमें उसका राज्यकाल भी शामिल है, क्योंकि एक तो यहाँ सगराजो पद के बाद तो शब्द का प्रयोग किया गया है जो ततः (तत्पश्चात्) का वाचक है और उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शकराजा की सत्ता न रहने पर अथवा उसकी मृत्यु से ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्की राजा हुआ। दूसरे, इस गाथा में कल्की का जो समय वीरनिर्वाण से एक हजार वर्ष तक (६०५ वर्ष ५ मास+३९४ वर्ष ७ मास) बतलाया गया है उसमें नियमानुसार कल्की का राज्य काल भी आ जाता है, जो एक हजार वर्ष के भीतर सीमित रहता है और तभी हर हजार वर्ष पीछे एक कल्की के होने का वह नियम बन सकता है जो त्रिलोकसारादि ग्रन्थों के निम्न वाक्यों में पाया जाता है :—

इदि पडिसहस्सवस्सं वीसे कक्कीणदिक्कमे चरिमो।
जलमंथणो भविस्सदि कक्की सम्मग्गमत्थणग्रो ।।८५७।।त्रिलोकसार।।
मुक्ति गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्त्रकम्।
एकैको जायते कल्की जिनधर्म-विरोधकः।। —हरिवंशपुराण
एवं वस्ससहस्से पुह कक्की हवेइ इक्केक्को। —त्रिलोकप्रज्ञप्ति

इसके सिवाय, हरिवंशपुराण तथा त्रिलोकप्रज्ञप्ति में महावीर के पश्चात् एक हजार वर्ष के भीतर होने वाले राज्यों के समय की जो गणना की गई है उसमें साफ तौर पर कल्कि राज्य के ४२ वर्ष शामिल किये गये हैं ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि त्रिलोकसार की उक्त गाथा में शक और कल्की का जो समय दिया है वह अलग-अलग उनके राज्य काल की समाप्ति का सूचक है। और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि शक राजा का राज्य काल वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रारम्भ हुआ और उसकी—उसके कतिपय वर्णात्मक स्थितिकाल की—समाप्ति के बाद ३९४ वर्ष ७ महीने और बीतने पर कल्कि का राज्यारम्भ हुआ। ऐसा कहने पर कल्कि का अस्तित्व समय वीर निर्वाण से एक हजार वर्ष के भीतर न रहकर ११०० वर्ष के करीब हो जाता है और उससे एक हजार की नियत संख्या में तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थों के कथन में भी बाधा आती है और एक प्रकार से सारी ही काल गणना बिगड़ जाती है। इसी तरह यह भी स्पष्ट है कि हरिवंशपुराण और त्रिलोक-प्रज्ञप्ति से उक्त शक काल सूचक पद्यों में जो क्रमशः अभवत् और संजादो (संजातः) पदों का प्रयोग किया जाता है उनका—शकराजा हुआ—अर्थ शकराजा के अस्तित्व काल की समाप्ति का सूचक है, आरम्भसूचक अथवा शकराजा की शरीरोत्पत्ति या उसके जन्म का सूचक नहीं और त्रिलोकसार की गाथा में इन्हीं जैसा कोई क्रियापद अध्याहृत है।

यहां पर एक उदाहरण द्वारा मैं इस विषय को और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। कहा जाता है और आम तौर पर लिखने में भी आता है कि भगवान् पार्श्वनाथ से भगवान् महावीर ढाई सौ (२५०) वर्ष के बाद हुए। परन्तु इस ढाई सौ वर्ष बाद होने का क्या अर्थ ? क्या पार्श्वनाथ के जन्म से महावीर का जन्म ढाई सौ वर्ष बाद हुआ ? या पार्श्वनाथ के निर्वाण से महावीर का जन्म ढाई सौ वर्ष बाद उत्पन्न हुआ ? तीनों में से एक भी बात सत्य नहीं है। तब सत्य क्या है ? इसका उत्तर श्री गुणभद्राचार्य के निम्न वाक्य में मिलता है :—

पार्श्वेश-तीर्थ-सन्ताने पंचाशद्द्विशताब्द के।
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान् ।।२७९।।
—महापुराण, ७४वां पर्व

इसमें बतलाया गया है कि श्रीपार्श्वनाथ तीर्थंकर से ढाई सौ वर्ष के बाद, इसी समय के भीतर अपनी आयु को लिए हुए, महावीर भगवान हुए, अर्थात् पार्श्वनाथ के निर्वाण से महावीर का निर्वाण ढाई सौ वर्ष के बाद हुआ। इस वाक्य में तद्भ्यन्तरवर्त्यायुः (इसी समय के भीतर अपनी आयु को लिए हुए) यह पद महावीर का विशेषण है। इस विशेषण पद के

निकाल देने से इस वाक्य की जैसी स्थिति रहती है और जिस स्थिति में आम तौर पर महावीर के समय का उल्लेख किया जाता है ठीक वही स्थिति त्रिलोकसार की उक्त गाथा तथा हरिवंशपुराणादिक के उन शककालसूचक पद्यों की है। उनमें शक राजा के विशेषण रूप से तदभ्यन्तरवर्त्यायु इस आशय का पद अध्याहृत है, जिसे अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए ऊपर से लगाना चाहिए। बहुत सी काल गणना का यह विशेषण पद अध्याहृत रूप में ही प्राण जान पड़ता है। और इसलिए जहाँ कोई बात स्पष्टतया अथवा प्रकरण से इसके विरुद्ध न हो वहाँ ऐसे अवसरों पर इस पद का आशय जरूर लिया जानाचाहिए।

जब यह स्पष्ट हो जाता है कि वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने पर शक राजा के राज्य काल की समाप्ति हुई और यह काल ही शक सम्वत् की प्रवृत्ति का काल है—जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है—तब यह स्वतः मानना पड़ता है कि विक्रम राजा का राज्यकाल भी वीर निर्वाण से ४७० वर्ष ५ महीने के अनन्तर समाप्त हो गया था और यही विक्रम सम्वत् की प्रवृत्ति का काल है—तभी दोनों सम्वतों में १३५ वर्ष का प्रसिद्ध अन्तर बनता है और इसलिए विक्रम सम्वत् को भी विक्रम के जन्म या राज्यारोहण का सम्वत् न कहकर, वीर निर्वाण या बुद्ध निर्वाण संवतादिक की तरह, उसकी स्मृति या यादगार में कायम किया हुआ मृत्यु संवत् कहना चाहिए। विक्रम सम्वत् विक्रम की मृत्यु का संवत् है, यह बात कुछ दूसरे प्राचीन प्रमाणों से भी जानी जाती है, जिसका एक नमूना श्री अमितगति आचार्य का यह वाक्य है—

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे।
सहस्त्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्तं पंचभ्यामवति धरिणीं मुन्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्।

इसमें सुभाषितरत्नसंदोह नामक ग्रन्थ को समाप्त करते हुए, स्पष्ट लिखा है कि विक्रम राजा के स्वर्गारोहण के बाद जब १०५० वां वर्ष संवत् बीत रहा था और राजा मंजु पृथ्वी का पालन कर रहा था उस समय पौष शुक्ला पंचमी के दिन यह पवित्र तथा हितकारी शास्त्र समाप्त किया गया है। इन्हीं अमितगति आचार्य ने अपने दूसरे ग्रन्थ धर्मपरीक्षा की समाप्ति का समय इस प्रकार दिया है :—

संवत्सराणां विगते सहस्त्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जैनेन्द्रधर्मामृतयुक्तिशास्त्रम्॥

इस पद्य में, यद्यपि, विक्रम संवत् १०७० के विगत होने पर ग्रन्थ की समाप्ति का उल्लेख है और उसे स्वर्गारोहण अथवा मृत्यु का संवत् ऐसा कुछ नहीं दिया, फिर भी इस पद्य को पहले पद्य की रोशनी में पढ़ने से इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता कि अमितगति आचार्य ने प्रचलित विक्रम संवत् का ही अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है और वह उस वक्त विक्रम की मृत्यु का संवत् माना जाता था। संवत् के साथ में विक्रम की मृत्यु का उल्लेख किया जाना अथवा न किया जाना एक ही बात थी—उससे कोई भेद नहीं पड़ता था—इसीलिए इस पद्य में उसका उल्लेख नहीं किया गया। पहले पद्य में मुंज के राज्य काल का उल्लेख इस विषय का और भी खास तौर से समर्थक है, क्योंकि इतिहास से प्रचलित वि० संवत् १०५० के समय जन्म संवत् ११३० अथवा राज्यसंवत् १११८ का प्रचलित होना ठहरता है और उस उक्त मुंज के उत्तराधिकारी राजा भोज का भी वि० सं० १११२ से पूर्व ही देहावसान होना पाया जाता है।

अमितगति आचार्य के समय में, जिसे आज साढ़े नौ सौ वर्ष के करीब हो गये हैं, विक्रम संवत् विक्रम की मृत्यु का संवत् माना जाता था यह बात उनसे कुछ समय के पहले के बने हुए देवसेनाचार्य के ग्रन्थों से भी प्रमाणित होती है। देवसेनाचार्य ने अपना दर्शनसार ग्रन्थ विक्रमसंवत् ९९० से बनाकर समाप्त किया है। इसमें कितने ही स्थानों पर विक्रम-संवत् का उल्लेख करते हुए उसे विक्रम की मृत्यु का संवत् सूचित किया है, जैसा कि इसकी निम्न गाथाओं से प्रकट है :—

छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥११॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो॥२८॥

सत्तराए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥३८॥

विक्रम संवत् के उल्लेख को लिए हुए जितने ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं उनमें, जहां तक मुझे मालूम है, सबसे प्राचीन ग्रन्थ यही है। इससे पहले धनपाल की पाइअलच्छी नाममाला (वि० सं १०१९) और उससे भी पहले अमितगति का सुभाषितरत्नसंदोह ग्रन्थ पुरातत्वज्ञों द्वारा प्राचीन माना जाता था। हां, शिलालेखों में एक शिलालेख इससे भी पहले विक्रम संवत् के उल्लेख को लिए हुए है और वह चाहमान चण्ड महासेन का शिलालेख है, जो धौलपुर से मिला है और जिसमें उसके लिए जाने का संवत् ८९८ दिया है, जैसा कि उसके निम्न अंश से प्रकट है :—

वसु नव अष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य ।

यह अंश विक्रम संवत् को विक्रम की मृत्यु का संवत् बतलाने में कोई बाधक नहीं है और न पाइअलच्छी नाम माला का विकम् कालस्स गए अउणत्ती (णणवी) नुत्तरे सहस्सम्मि अंश ही इसमें कोई बाधक प्रतीत होता है बल्कि ये दोनों ही अंश एक प्रकार से साधक जान पड़ते हैं, क्योंकि इनमें जिस विक्रम काल के बीतने की बात कही गई है और उसके बाद के बीते हुए वर्षो की गणना की गई है वह विक्रम का अस्तित्वकाल—उसकी मृत्यु पर्यन्त का समय—ही जान पड़ता है। उसी का मृत्यु के बाद बीतना प्रारम्भ हुआ है। इसके सिवाय, दर्शनसार में एक यह भी उल्लेख मिलता है कि उसकी गाथायें पूर्वाचार्यो की रची हुई है और उन्हें एकत्र संचय करके ही यह ग्रन्थ बनाया गया है। यथा :—

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए ।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५॥

इससे उक्त गाथाओं के और भी अधिक प्राचीन होने की संभावना है और उनकी प्राचीनता से विक्रम संवत् को विक्रम की मृत्यु का संवत् मानने की बात और भी ज्यादा प्राचीन हो जाती है। विक्रम संवत् की यह मान्यता अमितगति के बाद भी अर्से तक चली गई मालूम होती है। इसी से १५वीं १६वीं शताब्द तथा उसके करीब के बने हुए ग्रन्थों में भी उसका उल्लेख पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं :—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपंचशतेऽब्दानामती ते शृणुतापरम् ॥१५७॥
लुकांमतमभूदेकं......................॥१५८॥

—रत्ननन्दिकृतभद्रबाहुचरित्र

सपट्विंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥१८८॥

—वामदेवकृत, भावसंग्रह

इस सम्पूर्ण विवेचन पर से यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि प्रचलित विक्रम संवत् विक्रम की मृत्यु का संवत् है, जो वीर निर्वाण से ४७० वर्ष ५ महीने के बाद प्रारम्भ होता है और इसलिए वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम राजा का जन्म होने की जो बात कही जाती है। और उसके आधार पर यह बात ही ठीक बैठती है कि इस विक्रमसे १८ वर्ष की अवस्था में राज्य प्राप्त करके उसी वक्त से अपना संवत् प्रचलित किया है। ऐसा मानने के लिए इतिहास में कोई भी समर्थ कारण नहीं है। हो सकता है कि यह एक विक्रम की बात को दूसरे विक्रम के साथ जोड़ देने का ही नतीजा हो।

इसके सिवाय, नन्दिसंघ की एक पट्टावली में—विक्रम प्रबन्ध में भी—जो यह वाक्य दिया है कि—

सत्तरिचदुसदजुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।

अर्थात् जिन काल से (महावीर के निर्वाण से) विक्रम जन्म ४७० वर्ष के अन्तर को लिए हुए हैं। और दूसरी पट्टावली

में जो आचार्यों के समय की गणना विक्रम के राज्यारोहण काल से—उक्त जन्म काल में १८ वर्ष की वृद्धि करके—की गई है वह सब उक्त शककाल को और उसके आधार पर बने हुए विक्रम काल को ठीक न समझने का परिणाम है, अथवा यों कहिये कि पार्श्वनाथ के निर्वाण से ढाई सौ वर्ष बाद महावीर का जन्म या केवल ज्ञान को प्राप्त होना मान लेने जैसी गलती है।

ऐसी हालत में कुछ जैन, अजैन तथा पश्चिमीय और पूर्वीय विद्वानों ने पट्टवलियों को लेकर जो प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् पर यह आपत्ति की है, कि उसकी वर्ष संख्या में १८ वर्ष की कमी है जिसे पूरा किया जाना चाहिए, वह समीचीन मालूम नहीं होती, और इसलिए मान्य किये जाने के योग्य नहीं। उसके अनुसार वीर निर्वाण से ४८८ वर्ष बाद विक्रम सम्वत् का प्रचलित होना मानने से विक्रम और शक सम्वतों के बीच जो १३५ वर्ष का प्रसिद्ध अन्तर है वह भी बिगड़ जाता है—सदोष ठहरता है—अथवा शक काल पर भी आपत्ति लाजिमी आती है जो हमारा इस काल गणना का मूलाधार है, जिस पर कोई आपत्ति नहीं की गई और न यह सिद्ध किया गया कि शकराजा ने भी वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने के बाद जन्म लेकर १८ वर्ष की अवस्था में राज्याभिषेक के समय अपना सम्वत् प्रचलित किया है। प्रत्युत इसके, यह बात ऊपर के प्रमाणों से भी भले प्रकार सिद्ध है कि यह समय शक सम्वत् की प्रवृत्ति का समय है—चाहे वह संवत् शकराजा के राज्य काल की समाप्ति पर प्रवृत्त हुआ हो या राज्यारम्भ के समय—शक के शरीरजन्म का समय नहीं है। साथ ही श्वेताम्बर भाइयों ने जो वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम का राज्याभिषेक माना है और जिसकी वजह से प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् में १८ वर्ष के बढ़ाने की भी कोई जरूरत नही रहती उसे क्यों ठीक न मान लिया जाय, इसका कोई समाधान नहीं होता। इसके सिवाय जार्लचार्पेंटियर की यह आपत्ति बराबर बनी ही रहती है कि वीर निर्वाण ४७० वर्ष के बाद जिस विक्रमराजा का होना बतलाया जाता है उसका इतिहास में कहीं भी कोई अस्तित्व नहीं है परन्तु विक्रम संवत् को विक्रम की मृत्यु का सम्वत् मान लेने पर यह आपत्ति कायम नहीं रहती, क्योंकि जार्लचार्पेंटियर ने वीर निर्वाण से ४१० वर्ष के बाद विक्रमराजा का राज्यारंभ होना इतिहास से सिद्ध माना है। और यही समय उसके राज्यारम्भ का मृत्यु सम्वत् मानने से आता है, क्योंकि उसका राज्यकाल ६० वर्ष तक रहा है। मालूम होता है जार्लचार्पेंटियर के सामने विक्रम सम्वत् के विषय में विक्रम की मृत्यु का सम्वत् होने की कल्पना ही विक्रम सम्वत् का प्रचलित होना मान लिया है और इस भूल तथा गलती के आधार पर ही प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् पर यह आपत्ति कर डाली है कि उसमें ६० वर्ष बढे हुए हैं। इसलिए उसे ६० वर्ष पीछे हटाना चाहिए—अर्थात् इस समय जो २४६० सम्वत् प्रचलित है उसमें ६० वर्ष घटाकर उसे २४०० बनाना चाहिए। अतः आपकी यह आपत्ति भी निःसार है और वह किसी तरह भी मान्य किये जाने के योग्य नहीं।

अब मैं यह बतला देना चाहता हूं कि जार्ल चार्पेंटियर ने, विक्रम सम्वत् को विक्रम की मृत्यु का सम्वत् न समझते हुए और यह जानते हुए भी कि श्वेताम्बर भाइयों ने वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम का राज्यारम्भ माना है, वीर निर्वाण से ४१० वर्ष बाद जो विक्रम का राज्यारम्भ होना बतलाया है वह केवल उनकी निजी कल्पना अथवा खोज है या कोई शास्त्राधार भी उन्हें इसके लिए प्राप्त हुआ है। शास्त्राधार जरूर मिला है और उससे उन श्वेताम्बर विद्वानों की गलती का भी पता चल सकता है जिन्होंने जिन काल और विक्रम काल के ४७० वर्ष के अन्तर की गणना विक्रम के राज्याभिषेक से की है और इस तरह विक्रम सम्वत् को विक्रम के राज्यारोहण की सम्वत् बतला दिया है। इस विषय का खुलासा इस प्रकार है:—

श्वेताम्बराचार्य श्री मेरुतुंग ने, अपनी विचारश्रेणि में—जिसे स्थविरावली भी कहते हैं, जं रयणि कालगओ आदि कुछ प्राकृत गाथाओं के आधार पर यह प्रतिपादन किया है कि—जिस रात्रि को भगवान महावीर पावापुर में निर्वाण को प्राप्त हुए उसी रात्रि को उज्जयिनी में चन्डप्रद्योत का पुत्र पालक राजा राज्याभिषिक्त हुआ, इसका राज्य ६० वर्ष तक रहा, इसके बाद क्रमशः नन्दी का राज्य १५५ वर्ष, मौर्यो का १०८, पुष्यमित्र का ३०, बलमित्र भानुमित्र का ६०, नर्वाहन (नरवाहन) का ४०, गर्दभिल्ल का १३ और शक का ४ वर्ष राज्य रहा। इस तरह यह काल ४७० वर्ष का हुआ। इसके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य का राज्य ६० वर्ष, धर्मादित्य का ४०, भाइल्ल का ११, नाइल्ल का १४ और नाहडका १० वर्ष मिलकर १३५ वर्ष का दूसरा काल हुआ। और दोनों मिलकर ६०५ वर्ष का समय महावीर के निर्वाण बाद हुआ। इसके बाद शकों का राज्य और शक् सम्वत् की प्रवृत्ति हुई, ऐसा बतलाया है। यही वह परम्परा और काल गणना है जो श्वेताम्बरों में प्रायः करके मानी जाती है।

परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बहुमान्य प्रसिद्ध विद्वान श्री हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्ट पर्व से यह मालूम होता है कि उज्जयिनी के राजा पालक का जो समय (६० वर्ष) ऊपर दिया है उसी समय मगध के सिंहासन पर श्रेणिक के पुत्र

कूणिक (अजातशत्रु) और कूणिक के पुत्र उदायी का क्रमशः राज्य रहा है। उदायी के निःसन्तान मारे जाने पर उसका राज्य नन्द को मिला। इसी से परिशिष्ट पर्व में श्री वर्द्धमान महावीर निर्वाण से ६० वर्ष के बाद प्रथम नन्दराजा का राज्याभिषिक्त होना लिखा है। यथा :—

अनन्तरं वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
गतायां षष्ठिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः॥६-२४३॥

इसके बाद नन्दों का वर्णन देकर, मौर्यवंश के प्रथम राजा सम्राट चन्द्रगुप्त के राज्यारम्भ का समय बतलाते हुए, श्री हेमचन्द्राचार्य ने जो महत्त्व का श्लोक दिया है वह इस प्रकार है—

एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते।
पंच पंचाशदधिके चन्द्रगुप्तो भवन्नृपः॥८-३३९॥

इस श्लोक पर जार्ल चार्पेंटियर ने अपने निर्णय का खास आधार रक्खा है और डा० हर्मन जेकोबी के कथानुसार इसे महावीर निर्वाण के सम्बन्ध में अधिक संगत परम्परा सूचक बतलाया है। साथ ही, इसकी रचना पर से यह अनुमान किया है कि या तो यह श्लोक किसी अधिक प्राचीन ग्रन्थ पर से ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है अथवा किसी प्राचीन गाथा पर से अनुवादित किया गया है। इस श्लोक में बतलाया है कि महावीर के निर्वाण से १५५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त राज्यारूढ़ हुआ। और यह समय इतिहास के बहुत ही अनुकूल जान पड़ता है। विचारश्रेणिकी उक्त काल गणना में १५५ वर्ष का समय सिर्फ नन्दों का और उससे पहले ६० वर्ष का समय पालक का दिया है। उसके अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण काल वीर निर्वाण से २१५ वर्ष बाद होता था परन्तु यहां १५५ वर्ष बाद बतलाया है, जिससे ६० वर्ष की कमी पड़ती है। मेरुतुंगाचार्य ने भी इस कमी को महसूस किया है। परन्तु वे हेमचन्द्राचार्य के इस कथन को गलत साबित नहीं कर सकते थे और दूसरे ग्रन्थों के साथ उन्हें साफ विरोध नजर आता था, इसलिए उन्होंने तच्चिन्त्यम् कह कर ही इस विषय को छोड़ दिया है। परन्तु मामला बहुत कुछ स्पष्ट जान पड़ता है। हेमचन्द्र ने ६० वर्ष की यह कमी नन्दों के राज्यकाल में की है—उनका राज्यकाल ९५ वर्ष का बतलाया है—क्योंकि नन्दों से पहले उनके और वीर निर्वाण के बीच में ६० वर्ष का समय कूणिक आदि राजाओं का उन्होंने माना ही है। ऐसा मालूम होता है कि पहले से वीर निर्वाण के बाद १५५ वर्ष के भीतर नन्दों का होना माना जाता था परन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं था कि वीर निर्वाण के ठीक बाद नन्दों का राज्य प्रारम्भ हुआ बल्कि उनसे पहले उदायी तथा कूणिक का राज्य भी उसमें शामिल था। परन्तु इन राज्यों की अलग अलग वर्ष गणना साथ में न रहने आदि के कारण बाद को गलती से १५५ वर्ष की संख्या अकेले नन्दराज्य के लिए रूढ़ हो गई और उधर पालक राजा के उसी निर्वाण रात्रि को अभिषिक्त होने की जो महज एक दूसरे राज्य की विशिष्ट घटना थी उसके साथ में राज्य काल के ६० वर्ष जुड़कर वह गलती इधर मगध की काल गणना में शामिल हो गई। इस तरह दो भूलों के कारण काल गणना में ६० वर्ष की वृद्धि हुई और उसके फलस्वरूप वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम का राज्याभिषेक माना जाने लगा। हेमचन्द्राचार्य ने इन भूलों को मालूम किया और उनका उक्त प्रकार से दो श्लोकों में ही सुधार कर दिया है। बैरिष्टर काशी प्रसाद (के० पी०) जी जायसवाल ने, जार्ल चार्पेंटियर के लेख का विरोध करते हुए हेमचन्द्राचार्य पर जो यह आपत्ति की है कि उन्होंने महावीर के निर्वाण के बाद तुरन्त ही नन्दवंश का राज्य बतला दिया है, और इस कल्पित आधार पर उनके कथन को भूलभरा तथा अप्रामाणिक तक कह डाला है उसे देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। हमें तो बैरिष्टर साहब की साफ भूल नजर आती है। मालूम होता है कि उन्होंने न तो हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व को ही देखा है और न उसके छठे पर्व के उक्त श्लोक नं० २४३ के अर्थ पर ही ध्यान दिया है, जिसमें साफ तौर पर वीर निर्वाण से ६० वर्ष के बाद नन्द राजा का होना लिखा है। अस्तु: चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण समय की १५५ वर्ष संख्या में आगे के २५५ वर्ष जोड़ने से ४१० हो जाते हैं, और यही वीर निर्वाण से विक्रम का राज्यारोहण काल है। परन्तु महावीर काल और विक्रम काल में ४७० वर्ष का प्रसिद्ध अन्तर माना है और वह तभी बन सकता है जब कि इस राज्यारोहण काल ४१० में राज्य काल के ६० वर्ष भी शामिल किये जावें। ऐसा किया जाने पर विक्रम सम्वत् विक्रम की मृत्यु का सम्वत् हो जाता है और फिर सारा ही झगड़ा मिट जाता है। वास्तव में, विक्रम सम्वत् को विक्रम के राज्याभिषेक का सम्वत् मान लेने की गलती से यह सारी गड़बड़ी फैली है। यदि वह मृत्यु का सम्वत् माना जाता तो पालक के ६० वर्षों को भी इधर शामिल होने का अवसर न मिलता और यदि कोई शामिल भी कर लेता तो उसकी भूल शीघ्र

ही पकड़ ली जाती। परन्तु राज्याभिषेक के सम्वत् की मान्यता ने उस भूल को चिरकाल तक बना रहने दिया। उसी का यह नतीजा है जो बहुत से ग्रन्थों में राज्याभिषेक संवत् के रूप में ही विक्रम सम्वत् का उल्लेख पाया जाता है और काल गणना में इतनी ही गड़बड़ उपस्थित हो गई है, जिसे अब अच्छे परिश्रम तथा प्रयत्न के साथ दूर करने की जरूरत है।

इसी गलती तथा गड़बड़ी को लेकर और शककालविषयक त्रिलोकसारादिक के वाक्यों का परिचय न पाकर श्रीयुत एस वी वैंकटेश्वर ने, अपने महावीर समय सम्बन्धी—The date of Vardhamana नामक—लेख में यह कल्पना की है कि महावीर निर्वाण के ४७० वर्ष बाद जिस विक्रम काल का उल्लेख जैन ग्रन्थों में पाया जाता है वह प्रचलित सम्वत् विक्रम संवत न होकर अनन्द विक्रम संवत् होना चाहिए, जिसका उपयोग १२वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि चन्दवरदाई ने अपने काव्य में किया है और जिसका प्रारम्भ ईसवी सन् ३३ के लगभग अथवा यों कहिए कि पहले (प्रचलित) विक्रम संवत् के ९० या ९१ वर्ष बाद हुआ है और इस तरह यहां पर सुझाया है कि प्रचलित वीर निर्माण संवत् में से ९० वर्ष कम होने चाहिएं—अर्थात् महावीर का निर्वाण ईसवी सन् से ५२७ वर्ष पहले न मानकर ४३७ वर्ष पहले मानना चाहिए, जो किसी तरह भी मान्य किये जाने के योग्य नहीं। आपने यह तो स्वीकार किया है कि प्रचलित विक्रम संवत् की गणनानुसार वीर निर्माण ई० सन् से ५२७ वर्ष पहले ही यह बैठता है परन्तु महज इस बुनियाद पर असम्भावित करार दे दिया है कि इसने महावीर का निर्वाण बुद्ध निर्वाण से पहले ठहरता है, जो आपको इष्ट नहीं। परन्तु इस तरह से उसे असंभवित करार नहीं दिया जा सकता, क्योंकि बुद्ध निर्वाण ई० से सन् ५४४ वर्ष पहले भी माना जाता है, जिसका आपने कोई निराकरण नहीं किया और इसलिए बुद्ध का निर्वाण महावीर के निर्वाण से पहले होने पर भी आपके इस कथन का मुख्य आधार आपकी यह मान्यता ही रह जाती है कि बुद्ध निर्वाण ई० सन् से पूर्व ४८५ और ४५३ के मध्यवर्ती किसी समय में हुआ है, जिसके समर्थन में आपने कोई भी सबल प्रमाण उपस्थित नहीं किया और इसलिए वह मान्य किये जाने के योग्य नहीं। इसके सिवाय, अनन्द विक्रम संवत् की जिस कल्पना को आपने अपनाया है वह कल्पना ही निर्मूल है—अनन्दविक्रम नाम का कोई संवत् कभी प्रचलित नहीं हुआ और न चन्दवरदाई के नाम से प्रसिद्ध होने वाले "पृथ्वीराजरासो में ही उसका उल्लेख है—और इस बात को जानने के लिए रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा का अनन्द विक्रम संवत् की कल्पना नाम का वह लेख पर्याप्त है जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रथम भाग में, पृ० ३७७ से ४५४ तक मुद्रित हुआ है।

अब मैं एक बात यहां पर और भी बतला देना चाहता हूं और वह यह कि बुद्धदेव भगवान महावीर के समकालीन थे। कुछ विद्वानों ने बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के उपालियुक्त और सामगामसुत्त की संयुक्त घटना को लेकर, जो बहुत कुछ अप्राकृतिक द्वेषमूलक एवं कल्पित जान पड़ती है और महावीर भगवान के साथ जिसका सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता, यह प्रतिपादन किया है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण से पहले हुआ है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी मालूम नहीं होती। खुद बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु (कूणिक) के राजाभिषेक के आठवें वर्ष में बतलाया है, और दीघनिकाय में, तत्कालीन तीर्थंकरों की मुलाकात के अवसर पर, अजातशत्रु के मंत्री के मुख से निगंठ नातपुत्त (महावीर) का जो परिचय दिलाया है उसमें महावीर का एक विशेषण (अद्धगतो वयो (अर्धगतवयाः) भी दिया है, जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अजातशत्रु को दिये जाने वाले इस परिचय के समय महावीर अधेड़ उम्र के थे अर्थात् उनकी अवस्था ५० वर्ष के लगभग थी। यह परिचय यदि अजातशत्रु के राज्य के प्रथम वर्ष में ही दिया गया हो, जिसकी अधिक सम्भावना है, तो कहना होगा कि महावीर अजातशत्रु के राज्य के २२वें वर्ष तक जीवित रहे हैं, क्योंकि उनकी आयु प्रायः ७२ वर्ष की थी। और इसलिए महावीर का निर्वाण बुद्ध निर्वाण से लगभग १४ वर्ष के बाद हुआ है। भगवती सूत्र आदि श्वेताम्बरग्रन्थों से भी ऐसा मालूम होता है कि महावीर निर्वाण से १६ वर्ष पहले गोशालक (मक्खलिपुत्त गोशाल) का स्वर्गवास हुआ, गोशालक के स्वर्गवास से कुछ वर्ष पूर्व (प्रायः ७ वर्ष पहले) अजातशत्रु का राज्यारोहण हुआ, उसके राज्य के आठवें वर्ष में बुद्ध का निर्वाण हुआ और बुद्ध के निर्वाण से कोई १४-१५ वर्ष बाद अथवा अजातशत्रु के राज्य के २२वें वर्ष में महावीर का निर्वाण हुआ। इस तरह बुद्ध का निर्वाण पहले और महावीर का निर्वाण उसके बाद पाया जाता है। इसके सिवाय, हेमचन्द्राचार्य ने चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण समय वीर निर्वाण से १५५ वर्ष बाद बतलाया है और 'दीपवंश' 'महावंश' नाम के बौद्ध ग्रन्थों में वही समय बुद्ध निर्वाण से १६२ वर्ष बाद बतलाया है। इससे भी प्रकृत विषय का कितना ही समर्थन होता है और यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीर निर्वाण से बुद्ध निर्वाण अधिक नहीं तो ७-६ वर्ष के करीब पहले जरूर हुआ है।

बहुत संभव है कि बौद्धों के सामगामसुत्त में वर्णित निगंठ नातपुत्त (महावीर) की मृत्यु तथा संघभेद समाचार वाली घटना मक्खलिपुत्त गोशाल की मृत्यु से सम्बन्ध रखती हो और पिटक ग्रन्थों को लिपिबद्ध करते समय किसी भूल आदि के वश

इस सूत्र में मक्खलिपुत्त की जगह नातपुत्त का नाम प्रविष्ट हो गया हो, क्योंकि मक्खलिपुत्त की मृत्यु—जो कि बुद्ध के छह प्रतिस्पर्धी तीर्थकरों में से एक था—बुद्ध निर्वाण से प्रायः एक वर्ष पहले ही हुई है और बुद्ध का निर्वाण भी उस मृत्यु समाचार से प्रायः एक वर्ष बाद माना जाता है। दूसरे, जिस पावा में इस मृत्यु का होना लिखा है वह पावा भी महावीर के निर्वाण क्षेत्र वाली पावा नहीं है, बल्कि दूसरी ही पावा है जो बौद्ध पिटकानुसार गोरखपुर के जिले में स्थित कुशीनारा के पास का कोई ग्राम है। और तीसरे, कोई संघभेद भी महावीर के निर्वाण के अनन्तर नहीं हुआ, बल्कि गोशालक की मृत्यु जिस दशा में हुई है उससे उसके संघ का विभाजित होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इससे भी उक्त मृत्यु समाचार वाली घटना का महावीर के साथ कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता, जिसके आधार पर महावीर निर्वाण को बुद्ध निर्वाण से पहले बतलाया जाता है।

बुद्ध निर्वाण समय के सम्बन्ध में भी विद्वानों का मत भेद और वह महावीर निर्वाण के समय से भी अधिक विवाद ग्रस्त चल रहा है, परन्तु लंका में जो बुद्ध निर्वाण सम्वत् प्रचलित है वह सबसे अधिक मान्य माना गया है—ब्रह्मा, स्याम और आसाम में भी वह माना जाता है। उसके अनुसार बुद्ध निर्वाण ई० सन् से ५४४ वर्ष पहले हुआ है। इससे भी महावीर निर्वाण बुद्ध निर्वाण के बाद बैठता है, क्योंकि वीर निर्वाण का समय शक संवत् से ६०५ वर्ष (विक्रम सम्वत् से ४७० वर्ष) ५ महीने पहले होने का कारण ईसवी सन् से प्रायः ५२८ वर्ष पूर्व पाया जाता है। इस ५२८ वर्ष पूर्व के समय में यदि १८ वर्ष की वृद्धि कर दी जाय तो वह ५४६ वर्ष पूर्व हो जाता है—अर्थात् बुद्ध निर्वाण के उक्त लंका मान्य समय से दो वर्ष पहले। अतः जिन विद्वानों ने महावीर के निर्वाण को बुद्ध निर्वाण से पहले मान लेने की वजह से प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् में १८ वर्ष की वृद्धि का विधान किया है वह भी इस हिसाब से ठीक नहीं है।

काल निर्णय

डा० जैकोबी

दीपावली उत्सव—भगवान के निर्वाण के उपलक्ष में देव, देवेन्द्रों ने दीपावली उत्सव मनाया था। हरिवंशपुराण में लिखा है, कल्याण के कर्ता भगवान महावीर ने अनेक स्थानों पर विहार कर अनेक भव्यों को संबोधा था। अन्त में वे पावा नगरी आए और उसके मनोहर उद्यान में विराजमान हो गए।

जब चतुर्थ काल का तीन वर्ष साढ़े आठ मास समय बाकी रहा उस समय स्वाति नक्षत्र में कार्तिक वदी अमावस के दिन प्रभात काल में योगों का निरोधकर घातिया कर्म के समान अघातिया कर्मों का सर्वथा नाश कर वे मोक्ष पधारे और वहां के अन्तराय रहित सुख का अनुभव करने लगे।

पांचों कल्याणों के अधिपति सिद्ध शासक भगवान महावीर के निर्वाण कल्याणक के समय देवों ने उनके शरीर की विधिपूर्वक पूजा की। उस समय भगवान महावीर के निर्वाण कल्याणक के उत्सव के समय सुर असुरों ने अत्यन्त देदीप्यमान दीपक जलाए, जिससे पावा नगरी अति सुहावनी जान पड़ने लगी तथा दीपकों के प्रकाश से समस्त आकाश जगमगा उठा। महाराज श्रेणिक आदि ने अपनी प्रजा के साथ तथा देव और देवेन्द्रों ने निर्वाण कल्याणक की पूजा की तथा ज्ञान लाभ की प्रार्थना कर वे अपने अपने स्थान चले गए।

भगवान महावीर के निर्वाण दिन से लेकर आज तक भी जिनेन्द्र महावीर के निर्वाण कल्याण की भक्ति से प्रेरित हो लोग प्रतिवर्ष भरत क्षेत्र में दिवाली के दिन दीपों की पंक्ति से उनकी पूजा करते हैं।

पावापुरी की अवस्थिति—भगवान का निर्वाण पावापुरी में हुआ था। कहते हैं प्राचीन भारत में तीन पावा नाम की नगरियां थी। गोरखपुर जिले के पपउर ग्राम को कोई इत्तिवृत्त विशारद पावापुर रूप निर्वाणभूमि कहते हैं। कोई कुशीनगर से वैशाली की ओर जाती हुई सड़क पर नौ मील की दूरी पर पूर्व पश्चिम दिशा में सठियांव नामक गांव के भग्नावशेष को पावापुर कहते हैं। यह भग्नावशेष लगभग डेढ मील विस्तार युक्त है। इस स्थान को फाजिलनगर भी कहते हैं। इस प्रकार पुरातत्त्वज्ञों की भिन्न भिन्न धारणायें हैं।

जैन समाज द्वारा पावापुरी के नाम से पूजा जाने वाला निर्वाण स्थल विहार शरीफ स्थान से लगभग १० मील दूरी पर स्थित है। यहां सरोवर के मध्य में संगमरमर का अत्यन्त भव्य तथा सुरम्य मन्दिर है। लगभग ६०० फुट लम्बे लाल पत्थर के पुल पर चलकर यह जल-मंदिर प्राप्त होता है। इस जल के भीतर भगवान महावीर के श्याम वर्ण के पाषाण के छोटे चरण विद्यमान हैं। इस मन्दिर में प्रवेश करते ही भगवान महावीर की पावन स्मृति जग जाने से भक्त के हृदय में आनन्द की धारा बहने लगती है। अद्भुत तथा वाणी के अगोचर शांतिप्रद वह पुण्य स्थल है। योग विद्या के अभ्यासी उसे महान साधना का स्थल मानते हैं। डा० जैकोबी इसे ही निर्वाण स्थल मानते हैं।

निर्वाण काल—भगवान महावीर का निर्वाण सामान्यतया ईसवी सन से ५२७ वर्ष पूर्व माना जाता है। इस प्रकार सन् १९६८ में भगवान को मोक्ष गए २४९५ हो गए यह स्वीकार करना होगा। डा० जैकोबी का कथन है, कि भगवान का निर्वाण विक्रम राजा से ४७० पूर्व हुआ, यह श्वेताम्बरों की मान्यता है, किन्तु दिगम्बरों के शास्त्रानुसार वह काल ६०५ वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। यह दिगम्बर मान्यता श्वेताम्बरों की मान्यता में १३५ वर्ष पूर्व निर्वाण को बताती है। ईसवी सन से ५७ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् माना जाता है। इस अपेक्षा महावीर निर्वाण संवत् ईसवी सन् से (६०५+५७=६६२ वर्ष) ६६२ वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। इस प्रकार सन् १९६८ में वीर निर्वाण संवत् १९६८+६६२=२६३० पूर्व मानना चाहिए। प्रचार में जो वीर निर्वाण २४९४ माना जाता है, वह श्वेताम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। डा० जैकोबी ने कहा है—"the traditional date of Mahabira's nirvana is 470 years before Vikrama according to the Swetamberas and 605 according to the Digambares."

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था तथा दिगम्बर परम्परा के अनुसार उनका निर्वाण विक्रम से ६०५ वर्ष पूर्व हुआ था।

अपने ग्रन्थ शिलालेख संग्रह में राईस (Rice) नाम के विद्वान् विक्रम का समय महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद मानते हैं।

अतः दिगम्बर जैन आगम के अनुसार प्रचलित वीर निर्वाण का २४९५ में १३५ जोड़ने पर २६३० वीर निर्वाण मानना सुसंगत होगा।

विहार शासन द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में लिखा है कि महावीर भगवान के निर्वाण का काल अभी विवादास्पद है और यह अभी तक निर्णीत नहीं हो पाया है। स्वयं जैन परम्परा इस विषय में एक मत नहीं है। The date of the death of Mahavira is matter of controversy and is not yet definitely fixed. Even Jain tradition itself is not unanimous about : " (p. 178)

भगवान के निर्वाण काल निर्णय से या निर्वाण क्षेत्र के विवाद से उनकी मुक्ति में स्थिति को कोई बाधा नहीं पहुंचती है। उन पुरुषार्थी महान आत्मा ने कर्मों का क्षय करके जो सिद्धि प्राप्त की है, वह विनाश रहित है। सादि होते हुए भी अनन्त है। उन पूज्य आत्मा ने अनादि बद्ध कर्मों का अन्त करके अनन्त शान्ति तथा अविनाशी आनन्द को प्राप्त किया है। उनका पुण्य स्मरण भी पतित आत्मा का उद्धार करता है तथा उसे संकटों से विमुक्त बनाता है।

तिलोयपण्णत्ती। पेज न० ३८०

वीससहस्सं तिसदा सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थं।

धम्मपयट्टणहेदू वोच्छिस्सदि कालदोसेणं ॥१४९३॥ २०३१७॥

अर्थ :—जो श्रुततीर्थ धर्मप्रवर्तन का कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सत्तरह वर्षों में काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जाएगा ॥१४९३॥२०३१७॥

वीरजिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठिवपरिमाणे।

कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सकराओ ॥१४९६॥४६१॥

अर्थ :— वीर जिनेन्द्र के मुक्तिप्राप्त होने के पश्चात् चार सौ इकसठ वर्ष प्रमाण काल के व्यतीत होने पर यहां एक राजा उत्पन्न हुआ। १४९६॥

चोद्दससहस्सरागसय तेण उदीवारा कालविच्छेदे ।

वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिश्रो अहवा ॥१४७६८॥

अर्थ :—अथवा, वीर भगवान की मुक्ति के पश्चात् चौदह हजार सात सौ तेरानवें वर्षों के व्यतीत होने पर एक नृप उत्पन्न हुआ ॥१४९८॥१४७९३॥

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु ।

पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिश्रो अहवा ॥१४९९॥६०५॥

अथवा, वीर भगवान् के निर्वाण के पश्चात् छह सौ पांच वर्ष और पांच महिनों के चले जाने पर एक नृप उत्पन्न हुआ ॥१४९९॥ वर्ष ६०५ मास ५॥

वीसुत्तरवाससदे विसवो वासाणि सोहिऊण तदो ।

इगिवीससहस्सेहिं भजिदे आऊण खयवड्ढी ॥१५००॥

एक सौ बीस वर्षों में से बीस वर्षों को घटाकर जो शेष रहे, उसमें इक्कीस हजार का भाग देने पर आयु के क्षय-वृद्धि का प्रमाण आता है ॥१५००

१२०—२० ÷ २१००=१/२१० ।

श्वेताम्बर विद्वानों के मत से श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी का काल निर्णय

श्री भगवान महावीर स्वामी के काल के सम्बन्ध में तेरापंथी मुनि नगराजजी द्वारा लिखित आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि—

जैन परम्परा में मेरुतुंग की विचार श्रेणि, तित्थोगाली, पइन्नम तथा तित्थो द्वार प्रकीर्ण आदि प्राचीन ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण उन्होंने अवन्ती का माना है । यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलिपुत्र (मगध) राज्यारोहण के १० वर्ष पश्चात् अवन्ती में अपना राज्य स्थापित किया था । इस प्रकार जैन-काल गणना और सामान्य ऐतिहासिक धारणा परस्पर संगत हो जाती है और महावीर का निर्वाण ई० पू० ३१२+२१५=ई० पू० ५२७ में होता है ।

उक्त निर्वाण समय का समर्थन विक्रम, शक, गुप्त आदि ऐतिहासिक संवत्सरों से भी होता है । विक्रम-संवत् के विषय

---

१ (क) जं रयणिं कालगओ, अरिहा तित्थंकरो महावीरो ।
तं रयणिं अवणिवई, अहिसित्तो पालओ राया ॥१॥

पट्ठी पालयरण्णो ६०, पणवण्णसयं तु होई नंदाणं १५५ ।
अट्ठसयं मुरियाणं १०८, तीस च्चिय पूसमित्तस्स ३० ॥२॥
वलमित्त-भाणुमित्त सट्ठी ६०, वरिसाणि चत्त नहवाणे ।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस १३, वरिस-सगस्स चउ (वरिसा) ॥३॥

श्री विक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्री वीरसप्तति— चतुष्टये ४७० संजातम् ।

धर्मसागर उपाध्याय, तपागच्छ-पट्टावली (सटीक सानुवाद पन्यास कल्याण विजयजी), पृ० ५०-५२

१(ख) विक्कमरज्जारंभा परओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया ।
सुन्नमुणिवेयजुत्तो विक्कमकालउ जिणकालो ।
—विक्रमकालाज्जिनस्य वीरस्य कालो जिन कालः शून्य (०)

में जैन परम्परा की प्राचीन पट्टावलियों व ग्रन्थों में बताया गया है[1]—भगवान महावीर के निर्वाण काल से ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत् का प्रचलन हुआ। इतिहास की सर्वसम्मत धारणा के अनुसार विक्रम संवत् ई० पू० ५७ से प्रारम्भ होता है।[2] इससे भी महावीर-निर्वाण का काल ५७+४७०=ई० पू० ५२७ ही आता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही जैन-परमपराओं की प्राचीन मान्यताओं के अनुसार शक संवत् महावीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ महीने बाद आरम्भ होता है।[3] ऐतिहासिक धारणा से शक संवत् का प्रारम्भ ई० पू० ७८ से होता

मुनि (७) वेद (४) युक्तः। चत्वारिंशतानि सप्तत्यधिकवर्षाणि श्री महावीरविक्रमादित्ययोरन्तर मित्यर्थः। नन्वयं कालः वीरविक्रमयोः कथं गण्यते, इत्याह—विक्रमराज्यारम्भात् परतः पश्चात् श्री वीरनिर्वृ त्तिरत्र भणिता। को भावः श्रीवीर-निर्वाण-दिनादनु ४७० वर्षे विक्रमादित्यस्य राज्यारम्भदिनमिति। —विचार-श्रेणी, ३-४

(ग) पुनर्मन्निर्वाणात् सप्तत्यधिकचतुः शतवर्षे (४७०) उज्जयिन्यां श्री विक्रमादित्यो राजा भविष्यति···स्वनाम्ना च संवत्सर—प्रवृत्ति करिष्यति।
—श्री सौभाग्य पंचम्यादि पर्वकथा संग्रह, दीपमालिका व्याख्यान, पृ० ९६-९७

(घ) महामुक्ख गमणाओ पालय-नंद चंद्रगुप्ताइराईनु वोलीणेनु चउसय सत्तरेहि विक्कमाइच्चो राया होहि। तत्थ सट्ठी वरिसाणं पालगस्स रज्जं, पणपण्णंसयं नंदाणं, अट्ठोत्तर सयं मोरिय वंसाणं, तीसं पूसमित्तस्स, सट्ठी बलमित्त-भाणु-मित्ताण चालीसं नरवाहणस्स, तेरह गद्दभिल्लस्स, चत्तारि सगस्स। तओ विक्कमाइच्चो—विविधतीर्थकल्प (अपापावृहत्कल्प), पृ० ३८-३९

(ङ) चउसय सत्तरि वरिसे (४७०) वीराओ विक्कमोइच्चो जाओ।—पंचवस्तुक।

१ गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड पृ० १८३

२. (क) जं रयणिं सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवन्तीए, अभिसित्तो पालओ राया॥६२०
पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणं।
मुरियाणं सट्ठसयं पणतीसा पूसमित्ताणं (त्तस्स)॥६२१॥
वलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठी चत्ताय होन्ति नहसेणे।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया॥६२२॥
पंच य मासा पंच य, वापा छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो, तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगो राया॥६२३॥ —तित्थोगाली पइन्नय।

(ख) श्री वीरनिर्वृतेवर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत्॥
—मेरुतुंगाचार्य-रचित, विचार श्रेणी
(जैन साहित्य संशोधक, खण्ड २ अंक ३-४ पृ० ४)।

(ग) छहिं वासाण सएहिं पंचहिं वासेहिं पन्चमासेहिं।
मम निव्वाण गयस्स उ उपाज्जिस्सइ सगो राया॥
—नेमिचन्द्र रचित, महावीर चरियं, श्लो० २१६९ पत्र ९४-१)

(घ) पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवत्तियमहियसममासं॥
—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती रचित, त्रिलोकसार, ८५०

(ङ) वर्षाणांषट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततो भवत्॥ —जिनसेनाचार्य रचित, हरिवंशपुराण, ६०-५४९

(च) णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास सदेनु पंचवरिसेनु।
पणमासेनु गदेनु संजादो सगणिओ अहवा॥ —तिलोयपण्णत्ति, भाग १ पृ० ३४१

(छ) पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥ —धवला, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, पत्र ५३७।

है।[1] उस निष्कर्षण से भी महावीर-निर्वाण का काल ६०५+७८=ई० पू० ५२७ ही होता है।

डा० वासुदेव उपाध्याय, अपनेग्रन्थ गुप्त साम्राज्य का इतिहास[2] में गुप्त संवत्सर की छानबीन करते हुए लिखते हैं:

अलबेरुनी से पूर्व शताब्दियों में कुछ जैन ग्रन्थकारों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त तथा शक-काल में २४१ वर्ष का अन्तर है प्रथम लेखक जिनसेन, जो ८वीं शताब्दी में वर्तमान थे, उन्होंने वर्णन किया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह के पश्चात् शक राजा का जन्म हुआ तथा शक के अनुसार गुप्त के २३१ वर्ष शासन के बाद कल्किराज का जन्म हुआ।[3] द्वितीय ग्रन्थकार गुणभद्र ने उत्तरपुराण में (८८९ ई०) लिखा है कि महावीर-निर्वाण के १००० वर्ष बाद कल्किराज का जन्म हुआ।[4] जिनसेन का तथा गुणभद्र के कथन का समर्थन तीसरे लेखक नेमिचन्द्र करते हैं।

नेमिचन्द्र त्रिलोकसार में लिखते हैं: शकराज महावीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह के बाद तथा शक-काल के ३९४ वर्ष ७ माह के पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ।[5] इनके योग से—६०५ वर्ष ५ माह+३९४ वर्ष ७ माह=१००० वर्ष होते हैं। इन तीनों जैन ग्रन्थकारों के कथनानुसार शकराज तथा कल्किराज का जन्म निश्चित हो जाता है।

इस प्रकार शक संवत् का निश्चय उक्त जैन धारणाओं पर करके विद्वान् लेखक ने महाराज हस्तिन् के शिला-लेख आदि के प्रमाण से गुप्त संवत् और शक् संवत् का सम्बन्ध निकाला है। निष्कर्ष रूप में वे लिखते हैं: इस समता से यह ज्ञात होता है कि गुप्त संवत् की तिथि में २४१ जोड़ने से शक—काल में परिवर्तन हो जाता है। इस विस्तृत विवेचन के कारण अलबेरुनी के कथन की सार्थकता ज्ञात हो जाती है। यह निश्चित हो गया है कि शक-काल के २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त संवत् का आरम्भ हुआ।[6] फलितार्थ यह होता है कि इस सारी काल-गणना का मूल भगवान महावीर का निर्वाण-काल बना है। वहां से उतर कर वह काल-गणना गुप्त संवत् तक आई हैं। यहां से मुड़कर यदि हम वापस चलते हैं, तो निम्नोक्त प्रकार से ई० पू० ५२७ के महावीर-निर्वाण काल पर पहुंच जाते हैं:

गुप्त संवत् का प्रारम्भ	ई० ३१९
महावीर-निर्वाण	गुप्त संवत् पूर्व ८४६
अतः महावीर का निर्वाण-काल	ई० पू० ५२७

तेरापंथ के मनीषी आचार्यो ने जिस काल-गणना को माना है, उससे महावीर-निर्वाण का समय ई० पू० ५२७ आता है। भगवान महावीर की जन्म राशि पर उनके निर्वाण के समय भस्म-ग्रह लगा। उसका काल शास्त्रकारों ने २००० वर्ष का माना है। श्री मज्जयाचार्य के निर्णयानुसार २००० वर्ष का यह भस्म-ग्रह विक्रम संवत् १५३१ में उस राशि से उतरता है। तथा शास्त्राकारों के अनुसार महावीर-निर्वाण के १९९० वर्ष पश्चात् ३३३ वर्ष की स्थिति वाले धूमकेतु ग्रह के लगने का विधान है। श्री मज्जायाचार्य के अनुसार वह समय वि० सं० १८५३ होता है। उक्त दोनों अवधियां सहज ही निम्न प्रकार से महावीर-निर्वाण के ई० पू० ५२७ के साल पर इस प्रकार पहुंच जाती हैं।

---

१. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड १८२-१८३

२. भाग १ पृ० ३८२

३. ....गुप्तानां च शतद्वयम्।
एकत्रिंशच्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम्॥४९०॥
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता।
ततो जितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः॥४९१॥
वर्षाणि षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजा ततोऽभवत् ५५१॥
—जिनसेन कृत हरिवंशपुराण, अ० ६०।

४. इण्डियन एंटीक्वेरी, वाल्यूम १५, पेज—१४३

५. पण छस्सयं वस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिवुइदो।
सगराजो सो कल्कि चदुणवतियमहिय सगमासं॥ —त्रिलोकसार, पृ० ३२।

६. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १८१

पावापुरी

भगवान महावीर के २५०० वे निर्वाण महोत्सव में केवल तीन महीने शेष हैं। हम लोग भगवान महावीर के धर्म-तीर्थ और धर्म-शासन में निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा का पालन कर रहे हैं। भगवान महावीर ने जिन विश्व-कल्याणकारी सिद्धान्तों का अपने जीवन में सफल प्रयोग करके उनका उपदेश दिया, वे सिद्धान्त किसी देश, वर्ग जाति, और काल के लिए नहीं थे, वे तो प्राणी मात्र के कल्याणकारी थे, वे सार्वजनित, सार्वत्रिक और सार्वकालिक थे। वे तो सत्य सनातन सिद्धान्त थे, जिनका उपदेश उनसे पूर्ववर्ती तेईस तीर्थंकरों ने भी दिया था। यही कारण है कि भगवान महावीर किसी एक वर्ग या जाति के ही आराध्य महापुरुष नहीं थे, वे तो राष्ट्रीय, राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व की महानता ने सभी देशों के मनीषियों और सभी धर्मो के महापुरुषों को प्रभावित किया है।

उनके २५०० वें निर्वाण महोत्सव को मनाने की तैयारियाँ जोर शोर से हो रही हैं। भारत सरकार ने इस महोत्सव को राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाने के लिए बहुसूत्री योजनायें बनाई हैं। जैन समाज के चारों सम्प्रदाय संयुक्त रूप से और अपने-अपने सम्प्रदायों की ओर से व्यापक तैयारियों में जुटे हुए हैं। इस महोत्सव के निमित्ति से अनेक साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियां चालू हो गई हैं तथा जैन धर्म, जैन संस्कृति और जैन समाज के उत्थान की अनेक विध परियोजनायें क्रियान्वित की जा रही हैं। इस अवसर पर जैन मात्र का कर्तव्य है कि वह इस महोत्सव को सफल बनाने के लिये अपने दायित्व को समझे और उसका पूर्णतः निर्वाह करे।

यों तो यह महोत्सव देश के प्रायः सभी नगरों में और विदेशों में मनाया जायगा, किन्तु भगवान महावीर से विशेष सम्बधित वैशाली, राजगृह और पावापुरी में विशेष आयोजनों के साथ समारोह पूर्वक मनाया जायगा। वैशाली का कुण्ड ग्राम भगवान की जन्म नगरी है, राजगृह के विपुलाचल पर भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया था अर्थात् उनका प्रथम उपदेश यहीं पर हुआ था, और पावापुरी में भगवान का निर्वाण हुआ था, यह महोत्सव भगवान के निर्वाण को २५०० वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में मनाया जा रहा है, इसलिए भगवान के निर्वाण-स्थान को विशेष महत्व स्वतः ही प्राप्य हो जाता है। अतः उनकी निर्वाण-भूमि पावापुरी में भगवान का यह निर्वाण महोत्सव अत्यन्त उत्साह, समारोह और विविध आयोजनो के साथ मनाया जाना स्वाभाविक है।

किन्तु यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि ऐसे समय में, जबकि समग्र जैन समाज की चेतना इस महोत्सव को सफल बनाने के लिए एक जुट होकर कार्यरत है, कुछ लोगों ने पावा के सम्बन्ध में अशोभनीय विवाद खड़ा करके भ्रामक वातावरण बना दिया है। कुछ जैनेतर इतिहासकारों, पुरातत्व वेत्ताओं और विद्वानों ने मल्लों की उस पावा की खोज करने का प्रयत्न किया है जहां महात्मा बुद्ध को सूकरमद्दव खाने से रक्तातिसार हो गया था। किन्तु ये विद्वान् इस विषय में एक मत नहीं हो सके।

इन्हीं विद्वानों के द्वारा दिये हुए बौद्ध साहित्य के सन्दर्भों को लेकर जैन समाज के कुछ श्रावकों ने सठियांव (देवरिया जिला, उत्तर प्रदेश) को महावीर-निर्वाणवाली पावा कहना शुरु कर दिया है। लगभग २५-२६ वर्ष पहले बाबा राघवदास आदि ने सठियांव में 'पावानगर महावीर इण्टर कालेज की स्थापना की थी। लगता है, इन श्रावकों को इससे प्रेरणा मिली है और इन्होंने सठियांव को भगवान महावीर की निर्वाण-भूमि घोषित कर दिया है हमें आश्चर्य है। कि इतना बड़ा निर्णय इन्होंने स्वयं कैसे ले लिया। इन्हें चाहिए था कि ये आचार्यो और मुनियों से परामर्श करते; जैन विद्वानों का सम्मेलन बुलाकर उसमें अपने तर्क रखते और विद्वानों से निर्णय लेते। किन्तु इन श्रावकों ने ऐसा कुछ नहीं किया। जैन मय जैनधर्म और जैनतीर्थ क्षेत्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार अनधिकृत निर्णय करने की परम्परा उचित नहीं कही जा सकती।

सठियांव में कोई प्राचीन जैन सामग्री-मूर्ति, मन्दिर या अभिलेख-मिली हो. ऐसा इन श्रावकों के लेखों से नहीं लगता। इन लोगों की धारणा है कि बौद्ध ग्रन्थों में जिस पावा का उल्लेख मिलता है, उस काल में केवल वही एक पावा थी। किन्तु विचारणीय यह है कि जैन शास्त्रों में भगवान महावीर की निर्वाण-भूमि का नाम मज्झिमा पावा मिलता है और बौद्ध शास्त्रों में महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित पावा का नाम मल्ल पावा मिलता है। पावा के साथ दोनों स्थानों पर भिन्न-भिन्न विशेषण लगाने का आशय क्या है? श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के शास्त्रों के एक भी स्थान पर महावीर का निर्वाण मल्लों की

पावा में होना नहीं बताया है। बौद्ध शास्त्रों में भी निग्गंठ नाथ पुत्त (भगवान महावीर) को मल्लों की पावा में कालकवलित होने की बात नहीं मिलती। वहां केवल पावा का ही नाम निर्देश किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पावा नामक कई नगर थे। एक मल्लों की पावा थी, दूसरी ओर कोई पावा रही होगी। इन दोनों के मध्य में स्थित होने के कारण जिसको 'मज्झिमा पावा' कहा जाता था, वहीं पर महावीर भगवान की निर्वाण-भूमि के सम्बन्ध में गलतफहमी हुई है, उसका कारण यही भ्रान्त धारणा रही है कि उस काल में पावा नाम का एक ही नगर था। हमें लगता है, इस भ्रान्त धारणा का यह कारण है—बौद्ध शास्त्रों में कहीं 'मज्झिमा पावा' का उल्लेख नहीं मिलता और जैन शास्त्रों में कहीं मल्लों की पावा का उल्लेख नहीं मिलता। लेकिन ऐसा होना अकारण नहीं है। हो सकता है, बुद्ध का प्रभाव मल्लों की पावा में अधिक रहा हो और महावीर का विहार उस ओर न होकर नालन्दा की निकटवर्ती पावा की ओर अधिक रहा हो।

एक बात स्पष्ट है। बौद्ध शास्त्रों में निग्गंठ नाथ पुत्त (महावीर) के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसमें सत्यांश कम है। इसलिए महावीर के सम्बन्ध में यदि किसी बात का निर्णय करना हो तो बौद्ध शास्त्रों के उन सन्दर्भों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। उसके लिए तो जैन शास्त्रों का ही आधार ढूंढना होगा। महावीर की निर्वाण-भूमि का भी निर्णय करनेके लिए जैन शास्त्रों को ही प्रमाण माना जा सकता है। महावीर के निर्वाण के प्रसंग में बौद्ध शास्त्रों में जो कुछ भी लिखा गया है, जैन परम्परा उसे कभी स्वीकार नहीं कर सकती। जैसे बौद्ध शास्त्रों में वर्णन है कि गृहपति उपालि ने जब तथागत बुद्ध की प्रशंसा की तो निग्गंठ नाथ पुत्त को वह सहन नहीं हुई और उसने मुख से रक्त वमन किया। उसी में वह कालकवलित हो गया। इसी प्रकार लिखा है कि निग्गंठ नाथ पुत्त की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों में दो भेद हो गये—निग्गंठ और श्वेत पट। वे परस्पर में कलह करने लगे और अपशब्द कहने लगे आदि। ये सब बातें इतिहास और समाज की मान्य परम्परा के विरुद्ध हैं। इसलिए हम उन्हें प्रमाण नहीं मान सकते।

जैन शास्त्रों और परम्परागत मान्यता के अनुसार विहार की वर्तमान पावापुरी ही भगवान महावीर की निर्वाण-भूमि है। यहाँ पर तथा पावा नामक ग्राम में बहुत प्राचीन मन्दिरों के अवशेष और मूर्तियां उपलब्ध होती हैं। मूर्तियों के देखने से वे हजार-डेढ़ हजार वर्ष से भी प्राचीन मालूम होती हैं। इन्हें देखने से यह निश्चय हो जाता है कि इस पावापुरी को १३-१४वीं शताब्दियों में तीर्थ नहीं बनाया गया है, बल्कि यह तो उससे शताब्दियों पूर्व से तीर्थ माना जाता रहा है, इसलिए हमारी दृढ़ मान्यता है कि वर्तमान पावापुरी में ही भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था और भगवान का २५००वां निर्वाण महोत्सव वहीं पर मनाना है।

अन्त में समस्त जैन समाज से हमारा कहना है कि वर्तमान पावापुरी को ही भगवान महावीर की पवित्र निर्वाण-भूमि मानकर उसके विकास की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और भगवान महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने के लिए पावापुरी में महावीर विश्व विद्यालय और महावीर प्रचार केन्द्र जैसी योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए।

जो पावापुरी के सम्बन्ध में निराधार प्रचार कर रहे हैं, उन्हें हम आशीर्वाद देते हैं और चाहते हैं कि वे समझें कि इस अवसर पर भ्रामक प्रचार करने से कितनी क्षति पहुंच सकती है। इस समय तो संघबद्ध होकर निर्वाण महोत्सव को सफल बनाने का अवसर है, विवादों में शक्ति का अपव्यय करने का अवसर नहीं है। समय अल्प है, कार्य महान् है। यह कार्य दृढ़ संकल्प, निष्ठा और संगठित प्रयत्नों द्वारा जैन समाज को सफल मनाना है।

THE HARBINGER OF WORLD PEACE—LORD MAHAVIR

From Page 241

SHRI VARDHMAN MAHAVIR AND HIS INFLUENCE

THE LAND OF THE BRAVE

(I humbly bow to Lord Vardhman who attained glory and dispelled the darkness of human misdeeds)

In the Videh [1] region of India, there was a city named Vaisali,[2] so named because of its vastness.[3] The Chinese traveller, Huen Tsang has described Vaisali as a beautiful city spread over many miles.[4] In fact Vaisali has the pride of place in Jain history ; it was the capital of the great Jain king Chetak.[5] Near Vaisali was the beautiful town of Kundpur, which was really a suburb of Vaisali.[6] Kundpur[7] is also known as Kundagram [8] or Kundalpur. [9] It had huge markets[10] and seven-storied mansions.[11] Here reigned King Siddhartha[12] who was a Kshatriya of the 'Nat' dynasty.[13] This is a Prakrit word and is also spelt as ज्ञात.[14] In Sanskrit, its equivalent is ज्ञात [15] That is why the Venerable Padacharya has described Lord Vardhman Mahavir, in his work Charitrabhakti, as श्रीमज्ज्ञातकुलेंदुरा that is the moon of the ज्ञात dynasty.[16] King Siddhartha was a very pious, forgiving, wise and strong king. It was because of these admirable qualities of King Siddhartha that the King of Vaisali, Chetak gave away his daughter Trishala Devi Priyakarani in marriage to King Siddhartha. She was extremely beautiful, chaste, imbued with high qualities and was[17] righteous in conduct, being a strict believer in the tenets of *dharma*.

---

1. The river Ganges divides the present State of Bihar into two parts, southern and northern. The northern part, comprising the districts of Muzaffarpur, Motihari and Darbhanga was known as Videh in those days :—The Secretary, the Vaisali (Kundalpur) Pilgrim Centre Managing Committee, Chhapra, Bihar.
2. Ancient Geography of India, PP. 507, 717.
3. Ancient India, PP. 42, 54.
4. Huen Tsang Ka Bharat Bhraman, PP. 362-365.
5. Vaisali is famous in Indian history as the capital of Lichhvi Rajas and the headquarters of a powerful confederacy:—Dr. B.C. Law "Jain Antiquity", Vol. X, P. 17.
6. Shravan Belgol Inscription No. 1.
7. (i) The place known as Kundalpur is a shining city, the abode of happiness.—Harivansh Puran, Vol. Canto. II.
   (ii) Kundalpur is situated in Videh in India; it was ruled by King Siddhartha.—The Venerable Acharya in his work Dashbhakti, P. 116.
8. The birthplace of Mahavira is Kundegram, a suburb of Vaisali, a village in Muzaffarpur District, Bihar.— Dr. Herbert V. Guenther : V.O.A., Vol. II, P. 232.
9. The Jain Sankshipt Itihas, pub. The Jain Pustakalaya, Surat, Part II, Vol. II, PP. 48-50.
10. ibid.
11. ibid.

12-16. Anekant Varsh, 11, p. 95.

17. Some works by Swetambaras describe Priyakarni as the Sister of Chetak, at p. 5, of Swetambar Sage, Shri Chauthmal's "Bhagwan Mahavir Ka Adarsh Jiwan", sage T.L. Vaswani asserts that she was the daughter of the king,

In 599 B.C.[1] on the sixth night of the bright fortnight of Asadha, in the small hours of the morning, when Mother Trishala was lost in sweet slumber, she saw sixteen dreams.[2] Like Indrani, the wife of the lord of the gods, Trishala Devi went to the court of her husband in the morning accompanied by her friends. King Siddhartha welcomed her gladly and made her sit with him on the throne. The queen described the 16 dreams she had and asked the King to interpret them. The wise king, learned as he was in dream lore, interpreted her dreams as such :" (1) Seeing an elephant in a dream indicates that you are going to give birth to a fortunate son ; (2) seeing an ox indicates that he would be charioteer of dharma or righteousness; (3) seeing a lion indicates that he would be very powerful ; (4) seeing Laxmi, the goddess of wealth indicates that he would achieve the wealth of Nirvana ; (5) seeing a garland of sweet-smelling flowers indicates that his fame would spread throughout the world ; (6) seeing a full moon indicates that he would dispel the darkness of worldly attachment ; (7) seeing the sun indicates that he would spread the light of knowledge ; (8) seeing a pair of fishes indicates that he would be very fortunate or lucky; (9) seeing a vessel full of water indicates that he would quench the thirst of those who are in search of happiness and peace ; (10) seeing a lake indicates that he would be the possessor of 1008 best qualities ; (11) seeing the heaving oceans indicates that he would be a great thinker, deep like the sea; (12) seeing a throne indicates that he would be the king of the three worlds ; (13) seeing the celestial airship indicates that he has descended from the heavens to your womb ; (14) seeing the mansion of the snake king indicates that from the very birth he would be the possessor of three categories of knowledge (15) seeing the heap of jewels indicates that he would be the possessor of the best qualities that any body could possess ; and (16) seeing fire indicates that he would, with the fire of his *tapasya* burn the fuel of human deeds." Having listened to this interpretation by her Lord and Master, the queen was happy and returned to her palace.

The Lord of Gods, Indra, because of his transcendental knowledge knew that the Tirthankar Mahavir had descended from the heavens into the womb of Mother Trishala and he sent 56 beautiful and wise celestial [3] virgins to serve and look after her. Some of them made her bed and some decked her in beautiful clothes and ornaments. One asked Mother : 'how does a human being fall' and the Mother replied : 'he who breaks his plighted word.' One of them asked : 'why does a person become dumb ?" The Mother replied : 'A person who in his last birth indulged in defaming others and praised himself, he becomes dumb in the present life.' Another asked : 'what action of a human being leads to his being deaf ?' and was told that he who could help others but did not heed the cry of the distressed becomes deaf in this incarnation. One of them asked as to what sin leads to a person becoming lame ; the Mother replied : 'he who overburdened the beasts and when they were unable to walk with those burdens, he beat them.' One asked : "why does a person lose an arm ?" and the mother said : 'he who does not give alms even though he has the capacity to do so.' In this manner the 56 virgins amused the Mother and served her. The Mother answered all their questions and removed their doubts about things.

Horoscope of Lord Mahavir, the Brave

Happy days pass quickly. After nine months and 8 days[4] after she became pregnant, Mother Trishala gave birth to Lord Mahavir in Kundpur. The year was 599 B.C.[5] Prophet Mohammed was to be born 1180 years[6] later and the Vikram era was to start 542 years later.[7] Lord Mahavir was born on a

1. Sadhu T.L. Vasvani : Bhagwan Mahavir ka Adarsh Jiwan, p. 5
2. Shri Mahavir Puran, Jinvani Pracharak Karyalaya, Calcutta, p. 55-56.
3. The names of these virgins are given in Panyashrava Kathakosha pp. 207-208.
4. Pt. Kailash Chand : 'Jain Dharma', p. 22.

5-6. Pt. Vishwa Nath : 'Golden Itihas of Bharat Varsha'., p. 36.

7. Pt. Jugal Kishore : 'Bhagwan Mahavir aur Unka Samaya', p. 42.

Monday[1], which happened to be the 13th day[2] of the bright fortnight of Chaitra month in the Uttaraphalguni conjunction[3]. The Dukhma-Sukhma epock was to end 75 years and three months later[4] and the 23rd Tirthankar had attained *Nirvan* two and a half centuries earlier. The event caused great jubiliation ; who would not be happy when the Lord of all the three worlds comes down on earth ?

Not to speak of those on this Earth, even in the nether world, Hell, peace and happiness prevailed.[5] The Great King Siddhartha celebrated the happy occasion by distribution alms,[6] releasing prisoners[7] and by many other charitable and good works.[8] The celebration of this happy event went on for ten days.[9] The royal astrologer drew up the horoscope[10] of the prince in an auspcious conjunction and said that the child will attain great glory.[11] Right from the time when he was in his mother's womb, the glory of his father, King Siddhartha, went into ascendence adding to his fame and peace and happiness of his subjects. That was why he was named by his father as 'Vardhman[12]' (he who increases glory etc). That is the name given to him on his birth[13].

Bravery of the Brave

(English p. n. 247)

> "Today we wonder why the Devas do not come down on the Earth. But why should they come down today ? Who is superior to them in knowledge, power or greatness on the Earth ? Should they come to smell the stench of slaughter houses, the meat shops, stinking kitchens and reeking restaurants ? The Devas do come down when there is an adequate cause, e.g. to do reverence to a world teacher."
>
> —Barrister C.R. Jain : Rishabhadeva, the Founder of Jainism, pp. 80-81.

It was the righteousness and piety of Lord Tirthankar that the birth of Vardhman created a stir not only in this world but also in the other. Because of their transcendental knowledge the gods and godesses of

---

1-2. On the 13th day of the waxing moon in Chaitra month, in the lunar constellation of Phalguna, when all the stars were in their proper houses and the lords of the houses were in full potency and the conjunction was most auspicious :—The Venerable Padacharya : 'Nirvan Bhakti'.

3. The celebrated son of King Siddhartha was born at an auspicious moment towards the close of the night. It was Monday and the 13th day of the moon in the month of Chaitra. Prof. H.S. Bhattacharya : Lord Mahavira, (J.M. Mandal), p. 7.

4. Shri Kamta Prasad : 'Bhagwan Mahavira, p. 67.

5. P.Ajudhya Prasad Goyaliya : Hamara Utthan Aur Patan', p. 33.

6-9. Pt. Kamta Prasad : 'Bhagwan Mahavira', p. 67

10. The horoscope given above is that of Lord Mahavira :—
    (i) Maharshi Shiv-vrat Lal Varman : Gospel of Vardhman, p. 27.
    (ii) Shri Chauth Mal : 'Bhagwan Mahavir Ka Adarsh Jiwan', p. 161.
    (iii) Shri Falten : Shri Mahavir Smriti Granth, p. 87.

11. For astrological interpretation of the horoscope, consult :
    (i) Maharshi Shiv-vrat Lal Varman : Gospel of Vardhman, pp. 28-29.
    (ii) Shri Mahavir Smriti Granth : (Agra) ; pp. 87-88.

12. It was Siddhartha and Trishala Priyakarni who gave him the name Vardhman because his birth had resulted in an increase in the wealth, prosperity and fame of the city, Kundegram. -Kalpasutra pp. 32-80.

13. Jain Bharati, Part 11, p. 336.

heaven knew him to be the Lord and that is why they celebrated his incarnation with great jubiliation. The gods of the earth beat their kettle drums, those in the heavens their drums, the gods of the stars and those in paradize tolled their bells in joy. The heavens were rent with their cries of jubiliation. The Lord of the Gods, the Most Righteous One, Indra came down to Earth alongwith his cohorts to Kundelpur[1] to see with his own eyes the child Vardhman and to rejoice. He made his obiesance to Vardhman with great veneration and congratulated his parents. His joy at seeing Lord Vardhman was so immense that he forgot all the celestial wealth that the heaven abounds in. Vardhman's body was so beautiful that the Lord of the gods by his celestial magic multiplied his eyes into a thousand[2] to drink in that beauty; even so, he was not satiated by that vision. He put Vardhaman on his celestial elephant, Eravat and with his heavenly pomp and show took him to Mount Sumeru. There Lord Vardhman sat on a beautiful, bejewelled stone slab of yellow colour and the Righteous Indra bathed and anointed him with one thousand and eight golden vessels full of the sacred water brought by the gods of the ocean of milk[3]. Can an ordinary mortal stand this anointing by the gods? The lord of the gods under the influence of the Supreme Being bowed in reverence to the child Vardhman and performed *aarati*[4]. He named him 'The Brave'[5] and observed the birth of the Lord with great jubiliation.

Effect of seeing the Vir

When the teaching of 'Sangya' given in Sutta is duly considered it makes bold enough to believe that Sangya of the Buddhist books is no other than the Jain Muni referred to in Mahavir Puran. Since he had his doubts about the next world and also whether a man continues or not after death, he got removed with the mere Darshan of Lord Mahavira.

—Shri Kamta Prasad J.H.M. (Feb. 1925), p. 32.

Two saint-bards, Sanjay and Vijaya, had serious doubts[6] whether the living beings enter another state after death ?[7] When they saw Lord Vardhaman a few days after his birth[8], the transcendental knowledge of the Tirthankar dispelled the darkness of their doubts just as the Sun dispells the darkness of this world. The bards, therefore, named him *Sanmati*[9] (Good Sense).

---

1. If the angels of the Bible, the Farishtas of the Quran and the Devas of the Hindus are not a mere myth and idle imagination, then how the Indras of Jains are unbelievable ?—Justice Jugmander Lal : V.O.A. Vol. I and II, p. 30.
   (ii) There is an ancient stone plaque in the Lucknow Museum which shows the Kalyanak gods rejoicing on the birth of Lord Mahavira-Mahavira Smriti Granth (Agra) Part I, p-27.
2. Shri Lohacharya : 'Shri Sammed Mahatma', sloka 79.
3-4. Having respectfully saluted and going three times round Vardhman, the King of the Gods said : "Salutation to the bearer of a gem in the womb, the illuminator of the Universe, I am lord of the Gods and have come from the first deva loka to celebrate the birth festival of the Last Supreme Lord." He performed 'abheseka' ceremony with 1,008 pots of gold and precious stones full of pure water of the ocean of milk and worshipped Lord Vardhaman and had his Arti alongwith the waving of an auspicious lamp. —Sramana Bhagwan Mahavira, Vol. II, Part I, pp. 188-195.
5. (English - p. 249)
   Indra, the celestial Lord was pleased to see the child Vardhman in whom he saw a true heroism and he called him by the name of 'VIR'. - Uttara Purana, 74, 276.
6. Bhagwan Mahavira Aur Unka Samaya (Vir Seva Mandir), p. 2.
7. (English) Jain Hostel Magazine, Allahabad, (Feb., 1925), p. 32.
8. Same as footnote No. 6.
9. The two sage-bards, Sanjay and Vijaya doubted whether there was any incarnation or not after death. But when they saw Lord Mahavira, all their doubts were dispelled and their minds were set at rest. They named him Sanmati (Good Sense), therefore.

Great Heroism of the Brave

Having been subdued by the great strength of Vardhaman, Sangama, the celestial being paid homage to the conqueror and called him by the name MAHAVIRA—the Great Hero.

—Uttar Purana, 74; 205.

Shri Vardhaman Mahavir was growing like the waxing moon. When he was a mere eight-year old, he started observing all the five *anuvratas*, namely, Non-violence, Truth, Non-stealing, Non-attachment to worldly goods, Abstemiousness (*Parimanam*) and Celibacy (*Brahmacharya*) with proper ceremony. His bravery, unparalleled beauty and stone-hard body spread his fame not only on this earth but in the abode of the gods also[1].

One day he was being praised[2] for his bravery in paradise and a celestial being or god, Sangama thought that he could not be stronger than the gods who were celestial beings whereas Vardhaman belonged to the earth and a mere mortal[3]. He decided to test him.

Shri Vardhaman was playing with his playmates in a jungle, when a huge, terrible snake came out and enveloped the tree with his coils, where the children were playing. The other princes were terrified when they saw the dreadful reptile but Prince Vardhaman was not afraid a little bit. Without any fear he put his foot on the hood of the huge snake and stood there[4]. He started handling the snake playfully[5]. The god who had assumed the shape of the serpent in order to test the Bravest of the Brave, wondered at his fearlessness. Immediately he assumed his true shape and made his obiesance to Shri Vardhaman and said: 'Verily, you are not only brave ; you are the Bravest of the Brave[6]."

Fearlessness of the Brave

(In English from p. 252)

One day Mahavira saw an elephant, which was mad with fury rushing. All shocked and frightened on the sight of the impending danger. Without losing a moment, Mahavira faced the danger squarely, went towards the elephant, caught hold of his trunk with his strong hands, mountd his back at once.

—Amar Chand : Mahavira (J.M. Banglore),
Page—4

---

1. Kamta Prasad : 'Bhagwan Mahavira', p. 75.

2.-3. The Lord of the gods, Indra, the Righteous One, said : "O gods ! Vardhaman's valour and fortitude are unparalleled. No god, demi-god or even Indra, howsoever strong he may be, is able to frighten him away or to defeat him." One of the gods wondered how it was possible for gods possessing immeasurable strength not to be able to defeat a mortal man. He immediately went to test Lord Vardhamana's fortitude and with the object of frightening him. He assumed the shape of a huge venomous snake, black like collyrium, his body thick like a thicket of the forest. He had a well-developed hood and produced a terrible noise. He advanced rapidly with a wrathful gait towards Vardhaman, but he threw him off like a withered piece of string. Having ascertained the truth, the god repented for his sinful action. He bowed down before Vardhamana and said : "O Lord of the three worlds ! you are able to shake Mount Meru and with it the entire earth with the touch of the toe of your foot. O Supreme Being ! I am a god only in name but not in action, please forgive me for my impudent behaviour." - Sramana Bhagwan Mahavira, Vol. II Part II pp. 214-217.

4. Mahavir put his feet on the expanded hood of the snake and fearlessly holding it in his hands began to handle it quite playfully. - Prof. Dr. H.S. Bhattacharya : 'Lord Mahavira' (J. Mitra Mandal) P. II

5.-6. Uttar Puran 74, 205.

Shri Vardhaman Mahavira was very kind and benevolent. Once he heard that a *rogue elephant* had spread terror among the populace, that many fighters and mahaouts had vainly tried to control him and that he had crushed hundreds under his feet. Immediately, Vardhaman thought of giving protection to the populace. People tried to dissuade him as the elephant was very dangerous but he went to the elephant without any sense of fear. *The elephant raised its trunk and attacked Mahavir but he caught hold of the* trunk and mounted him. In the twinkling of an eye he had controlled the beast[1]. Such was the heroism of this brave child.

Education of the Brave

(English, beginning of p. 253)

Owing to his acquisitions in his previous births, Mati (sensuous knowledge,) Sruti (scriptural knowledge) and Avadhi (clairvoyant knowledge) were innate in Mahavira. What then, remained for Him to learn and where was the teacher to teach him.

—Dr. H.S. Bhattacharya : Lord Mahavira, p. 11

From his previous birth, prince Vardhaman had acquired the fruits of his virtuous deeds. From his very birth he was endowed with all the three types of knowledge, namely, scriptural, sensuous and clairvoyant. Since he was independent of any teacher he was the self-taught and was the possessor of all types of knowledge. He had the highest qualities and was the best of the human beings. How could two ordinary persons endowed with two types of knowledge dare teach one who has the three types of knowledge described above ? In fact, there cannot be any teacher of the Tirthankars ; they are themselves Brahamas.[2] (Swayambhu, one who creates himself).

His qualities matched his name.

English, p. 253.

Shri Vardhaman was not only known as 'brave', 'very brave' 'the Bravest of the Brave' and Sanmati (*the Wise one) but since his qualities matched his names, he had 1,008 names as he had as many* qualities.[3] His father was a Kshatriya of the Natri[4] (Nathu[5], Nath[6]) dynasty. The Sanskrit equivalent of Nat is Gyatri[7]. That is why he is also known as "Natputra',[8] Gyatriputra[9] and Nathvanshi.[10] The poets have called him the 'jewel of the Nath Dynasty.[11] Since he was born in Videh, he is also known as 'Videh'[13] and Videh-dinn'.[12] Being the son of a lady who belonged to Vaisali, he is also known as "*Vaisalik*".[14] Since he could undertake any labour (sram), he is also known as 'shraman'.[15] The Buddhists have referred to Yogi Mahavir as Niganth,[16] Natputta,[17] Nirgrantha,[18] and Gyatputra.[19] Because of his omniscience he is called

---

1. (i) Sankshipt Jain Itihas, (Surat), Part II, Vol. I, p. 52.
   (ii) Kamta Prasad : Bhagwan Mahavira, p. 75.
2. English/p. 253.
3. Kamta Prasad: Bhagwan Parshvanath,' p. 16-18.

4-10. Jugal Kishore: Bhagwan Mahavira Aur Unka Samaya, p. 2.

11. Kamta Prasad: Bhagwan Mahavira, p. 71.

12-13. Aacharang Sutra 24; 17.

14. His mother was known as Vaisali as she came from a noble family with a noble lineage. And whatever he spoke came from the depth of his large heart. His broadmindedness and the profoundity of his speech caused him to be known as Vaisali.
15. English, p. 254.

16-19. Deeghnikaya

'Tirthankar',[1] 'Bhagwan Mahavira.'[2] In the Swetamber scriptures he is referred to as Mahamahan'[3] and Nyayamuni.[4] In the Hindu shastras he is called Arhan[5] Mahamantaya[6] and Mahana.[7] In his lifetime he had come to be called Arhan, Sarvagya (the all-knowing one) and Tirthankar.

(English-p. 255)

Originally, yagna meant sacrificing one's own interests[8] and giving up or sacrificing one's life for the good of others.[9] It also meant giving up ones' property and life for the country and society.[10] But self-seekers and avaricious persons had started sacrificing poor beasts in the name of yagna instead of giving up their own interests for the sake of others.[11] In the place of the Vedic principles, 'Vedic Violence is no violence at all' came to be adopted as the guiding principle. One is at a loss to understand who coined this so called principle.[12] Sacrificial killing of animals became a major ritual of religion.[13] So-called religious authorities[14] were quoted in support of violent yagnas by, selfish and avaricious persons. They claimed that yagnas were the gateway to heaven and various types of yagnas, e.g., Aswamedha, Gomedha, and even Naramedha, were prescribed.[15] King, Rantideva performed a yagna in which so many animals were slaughtered that the river ran red.[16] In the words of Lokamanya Balgangadhar Tilak the credit goes to Jainism for having put an end to such violent yagnas.[17]

It was due to the influence of Lord Mahavira that sacrificial fires used to be lit with ghee, incense, rice etc. and yagnas with sacrifices of animals stopped.[18] It came to be recognised that violence in the yagnas would lead to horrible tortures in the nether worlds (Hell);[19] and that such yagnas would not lead to a person attaining heaven.[20] If the recitation of hymns (mantras) leads to the burning of animals in the sacrificial fires and they attain heaven thereby why do people not burn their old parents in the sacrificial fires and help them attain heaven so cheaply ?[21] If yagnas involving sacrifices of animals could lead to attainment of heaven why do the sages give up their families and friends and go to the jungles to engage in *tapasya* ?[22] Killing animals in the name of religion is really bad.[23] It goes to the credit of Lord Mahavira's teachings that yagnas in the name of religion came to an end ;[24] instead of the sacrifices of animals, people started giving up their evil deeds and intentions.[25]

---

1 & 2. Dhananjaya Nam-mala.

3. & 4. Upasak Shastra, p. 6.

5. to 7. Asiatic Researches, Part III, pp. 113-114.

8. Jaibhagwan Swarup: Itihas men Bhagwan Mahavira Ka Sthan'—p. 10.

9-11. Shri Ranvir: Daily Urdu Milap, Diwali Edition, 1950, p. 5

12. Pt. Naval Kishore, Editor, 'Sansar': Gyanodaya, Part II, p. 273.

13. & 14. Whatever has been prescribed in the Vedas is not violence, even it does not involve killing. On the other hand it is non-violence. If a living being is killed with weapons, it results in torture and it is, therefore, violence and a sin. But if a living being is killed without weapons and with the help of Veda mantras is dharma or righteousness. —71, Skandha Purana.

15. Gyanodaya, Part II p. 655.

16.&17. In English, p. 256.

18. In English, p. 257

19. One has to suffer all the tortures of the damned, if one commits any violence in a yagna. This is the golden principle laid down by our scriptures. —Mahabharat, Anushasana Parva

20. In English, p. 257

21. If you believe that the animal killed in the yagna attains heaven then why does the person performing the yagna, kill his own father. —28 Vishnu Purana.

22. If bringing death to living beings by violence is righteousness (*dharma*), and leads to attainment of heaven, then how can the sages who leave the world attain heaven?—Matsya Purana, Mansahar Vichar, Part II, p. 28.

23. In English, p. 258

24. & 25. In English,

Untouchability among the Sudras

In English, p. 258

In those days, the Sudras were treated like animals.[1] They were deprived of the right to education and culture.[2] They were not even considered fit to receive the *prasada* of the yagnas[3]. Taking a sacred vow according to religious rites was something too big for the Sudras; even if the word *'dharma'* was accidentally heard by them boiling lead and lac was poured into their ears.[4] If a Sudra recited a Vedic hymn, his tongue was cut off[5] and if he committed to memory any religious *sloka*, his body was cut into pieces.[6] Untouchability was prevalent to such an extent that if one happened to touch a Sudra he was declared to be the lowest Sudra in his life time and was considered to be reborn as a dog after death.[7] This was the pitiable state of affairs in our country when Lord Mahavira was born.[8] It was Lord Mahavira who put an end to the feeling of the high and the low by effectively countering it and opened the gates of heaven for the Sudras.[9]

Discrimination based on caste

In English, P. 259

The Brahmins were absolved of the greatest sins because they were born in Brahmin families and were considered to be the gods of gods.[10] The priests (*purohits*) were always ready to conduct yagnas in which sacrifices were made. It was so because this happened to be their means of livelihood,[11] Even the Brahmin on whose head lay the most obnoxious sins was respected and revered like a man of God. Considerations of the high-born and the low-born were prevalent in their most virulent form.[12] In such dangerous times, Lord Mahavira told the world that the same spirit pervades all living beings[13]; that all human beings are alike and that the four castes are merely functional. In other words, a person becomes a Brahmin, Kshatriya, Vaisya or Sudra according to the trade he follows. All the four castes can become followers of Jainism[14]. There is no special bodily feature of the Brahmin which can distinguish him from others[15]. Lord Mahavira has said very clearly that a person does not become low or high merely because he has born in a low[16] or a high caste, A person is low because he lets sensual passions grip his soul and when he gives them up and behaves righteously he becomes noble or high. If a person born in a Brahmin family does not have compas-

---

1. & 2. Anekant, Part I, p. 7.

3. & 4. Don't impart any wisdom to a Sudra. Don't give him the *prasad* of a yagna nor preach *dharma* or religious vows to him. Vashishta Dharmasutra 14.

5-6. If a Sudra happens to hear the recitation from the Vedas, pour molten lead and lac into his ears, if he recites a hymn, cut off his tongue and if he commits a hymn to memory, then tear his heart out. —VedicVangmaya.

7. If one touches the food of a Sudra or talks to him, he becomes a Sudra in this life and is reborn as a dog. —Smriti Granth.

8. Pt. Jugal Kishore : Bhagwan Mahavira Aur Unka Samaya.

9. Jain Dharma Aur Sudra, Vol. III

10. From his very birth, the Brahmin is the god of the gods. —Manusmriti; 11; 84.

11. Pt. Ayodhya Prasad Goyalia : Hamara Uthan Aur Patan; p—63

12. (a) Gyanodaya, Part 11, p—673.
    (b) Azad Hindustan (16-4-1951), p. 34.

13. Jain Dharma and Pashu-pakshi, Vol. III

14. All the four castes, namely, Brahmin, Kshatriya, Vaisya, and Sudra are so called because of their functions. People belonging to all these castes can follow the tenets of Jainism and while doing so, they are like brothers. —Shri Soma Sen : Traivarnikachar ; 1 : 142.

15. Shri Gunabhadracharya : Uttar Purana, Canto 74.

16. Jain Dharma Aur Sudra, Vol. III

sion, he is a *chandala*[1], and if a Sudra has clean living, wears clean clothes and behaves in a clean manner, then he is a Brahmin[2]. A chandala who has taken a religious vow is like a Brahmin[3]. Jain religion is not the property of any country, community or caste. A person born in a *chandala* family can become a Jain ascetic and can do penance (tapasya).[4] If a person born in a Sudra family believes in Jainism and treats all at an equal footing then he can worship even Lord Jinendra[5]. There are many instances when many *chandalas* came under the influence of Lord Mahavira and not only adopted the Shravak religion but became ascetics.[6]

Decline of religion

English

People had strayed from the path of righteousness; in other words *dharma* had declined and the whole religious picture was confused.[7] There were as many as 363 types of religion.[8] Rivers and streams, mountains and the sun and the moon were being worshipped as deities.[9] The darkness of moral ignorance had the country in its grip.[10] The whole world was in a turmoil, not knowing where to turn for guidance.[11] Violence was being seen as non-violence; sin was being considered as the good deed and irreligion was seen as religion.[12] The people had forgotten the true religion.[13] Life had become a burden for the living beings of the whole world. Under these circumstances only he who established non-violence as the true human value could claim to be called the Brave of the Braves.[14] It was in these dangerous circumstances that Lord Mahavira was born.[15]

Social degeneration

English

At the time when Lord Mahavira was born, the social situation in India was also very deplorable.[16] Little value was attached to human life.[17] Violence, needless acquisitiveness or avarice, wrongdoing and immorality were rife throughout the country.[18] Selfishness and greed had so completely gripped the minds of the people, that a brother would easily have stabbed his brother for the sake of selfish ends[19]. There was no respect for womenfolk.[20] Such edicts as 'no woman deserves independence' were prevalent. A woman was considered as part of one's chattel, only to be enjoyed and to bear progeny of the male.[21] Women were not given the right to receive religious instruction.[22] Even the best of the customs had been given the go-bye by people merely to meet their own selfish ends, Who could raise his voice in protest against those who had the monopoly of religion ? It was only Lord Mahavira who in such a deplorable state of affairs put an end to all the bad customs and brought peace and happiness to the troubled land[23].

The Eternal Celibate

In English

Because of the handsomeness, qualities and sturdy youth of Prince Vardhman, many kings wanted to have him as their son-in-law. Mother Trishala Devi was on the lookout for such an opportunity when her dear son should marry. She decided that the princess of Kalinga, the daughter of King Jitasatru, Yashoda's hand should be accepted in marriage by Vardhaman, as she was very beautiful, accomplished and otherwise

---

1. Suttanipata (Basalsutta) referred to in Mansahar Vichar, Part II, p 5
2. He who sits in a clean place, has clean utensils and whose conduct is pure because he has given up eating of flesh and drinking of wine and who keeps his body clean by daily ablutions even if he is a Sudra can follow the Shravak dharma like Brahmins and other castes.

—Shri Sagar Dharmamrita, Ch. 2, Sloka 22.

3. O gods ! no caste is bad because it is the basic quality of a person which avails him. Even the *chandala* who has taken a religious vow should be treated as a Brahmin.

4-6. Jain Dharma and Sudra Dharma, Vol. III
7-8. Kamta Prasad : Bhagwan Mahavira, p. 40
9-11. Pt. Ayodhya Prasad Goyaliya :Hamara Uthan Aur Patan, p. 33.
12. Anekant, Pt. I, p. 7
13. Daily Urdumilap, Diwali edition, 1950, p. 5
14. English
15. Pt. Jugal Kishore : Bhagwan Mahavira Aur Unka Samaya
16. Gyanodaya, Part I, p. 655.
17-18. *ibid*. p. 673.
19-20. Hamara Uthan Aur Patan, p. 33.
21. Anekant, year 11. p. 100.
22. English
23. Anekant, year 11, p. 100.

suited him.[1] King Siddhartha also agreed with this proposal. Because of the deteriorating moral condition of the world, Vardhaman was disillusioned with it and had no worldly attachments, how could he then be entangled in the net of desires ? When Mother Trishala asked his opinion about the proposed union, he smiled and said : "Mother ! you are making this proposal because of your great love for me. But look at the state the world is in ! How unhappy the people are ! Mother Trishala said : "You may be right in this son but you are young and should marry and set up your own home. Marry Yashoda and start a family, thereby presenting an ideal for orhers to follow. Marrying at this age is your duty. Only after this you can think of regeneration of religion." Prince Vardhaman retorted : "But, don't you see, Mother, how desires are making people blind to wherein lies their good ? There does not appear to be any place for good to others. They have forgotten spiritualism. The women are not being given the respect they deserve. The Sudras are thought unfit to even hear about religion. Yagnas are being performed merely because people love to eat the flesh of animals slain in sacrifice. The world has become a slave of the senses. Why should I also follow the same false path ?[2] The mother's love melted before the firmness and the hard logic that Prince Vardhaman offerred.[3]

According to the Digamber School of Jainism, Shri Vardhaman remained a celibate throughout his life but the Swetambara school believes that he married Yashoda Devi. But whether he remained a celibate or not, it does not detract from his high qualities. Many Tirthankaras married. This has to be mentioned because one must be historically exact and it is better, in the interest of truth, to mention the Swetambara school view also.

Padmapurana,[4] Harivanshapurana[5] and Tiloyapannati,[6] the Digambar scriptures mention that out of 24 Tirthankaras, Shri Basupujya, Mallinath, Arishtinemi, Parshvanath and Mahavir—these were the five celibates among them who gave up the world. Swetambaras also agree, as evidenced by the works of Paumachariua[7] and Aawashayakniryukti[8] the Lord Mahavira renounced the world and remained celibate. He is known as 'kumara'. What does it mean? Kumar means one who has remainad celibate or is a brahmacharin.[9] According to fable 221-222 of Asvashyakaniryakti, if 'kumar 'had meant a, child then' in fable 226 of the same work[1] there would have been no mention of Lord Mahavira being initiated by his gurus in his *pathambay* or childhood.[10] It is clear beyond any reasonable doubt that in the fables 221 and 222 'kumar' mean a celibate or brahmacharin.[11] As has been accepted by

---

1. Mahavira's marriage was fixed with Yashoda, a chaste virgin, the daughter of Yashodaya. Many daughters of noble lineage wanted this great honour, i.e. of being married to Lord Mahavira. (8) This doe-eyed beauty had a ready smile and there was a glow of happiness on her shining face. She chose to be the consort of Lord Mahavira since she did not want luxuries of life but wanted to be associated with the hard penances which Lord Mahavira undertook. (9) —Jinsenacharya : Harivanshapurana.
2. Ahimsa Vani, Year II, p. 5.
3. *ibid.*
4. Shri Vasupujya, Mallinatha, Arishtinema, Parshavanath and Mahavira were the best of men and having renounced the pleasures of the world attained *sidhi.*— Padma purana 20-67
5. The five Jinas enumerated above were the ones who renounced the world at a very young age and did not marry, since they preferred to remain celibate.— Harivansha purana 60-214
6. It has been said in the scriptures that all the five named above were representatives of the various characters of Mahavira and were dust beneath his feet, since he was the highest of the Jinas.— Tiloyapannati 4, 60, 72.
7. Mallinatha, Arishthnemi, Parshvanath, Mahavira and Vasupujya are the five young ascetics who remained celibate. All of them have sprung from the same source as Jina but, verily, Jina Mahavira attained the highest place in this order.

   —Paumachariu
8. The five ascetics referred to above were born in noble families and were given to a life of abstention and asceticism. They were hungry for truth. Of them, Kumara had attained the stage of Nirvana, having renounced everything. 221, 222 Aawashayakniryukti.
9. (i) Payee Sadda Mahranvo Kosh, p. 316
   (ii) Jainagam Shabda Sangraha, p. 260
10. The five ascetics, namely, Mahavira, Arithnemi, Parshvanath, Malli and Vasupujya were initiated when they were young and celibate and they remained so.

    —226, Avashyakniryukti
11. Even in Swetambar works like the ancient 'Kalpasutra' and 'Acharangasutra' there is no mention of Lord Mahavira marrying. In Aavashyakniryukti, another Swetambar work, it is written clearly that Lord Mahavira's initiation took place when he did not marry and never was crowned. At the time the source books of the Swetambaras were revised and edited by Devaradiganit Kshamashraman the mention of his marriage appears to have been added to the account of the ancient sages and the

the Swetambar sage Shri Kalyanvijaya, the contention of the Digambara that Lord Mahavira remained celibate is not without foundation.[1]

The celebrated Swetambara sage Shri Chauthmal has, in his work "Bhagwan Mahavira Ka Adarsh Jiwan,"[2] p. 161, given the horoscope[3] of Lord Mahavira, which in the opinion of Shri A.L. Foulten, indicates astrologically, that Lord Mahavira never married and he remained celibate throughout his life.[4]

When the Digambara school of Jainism has accepted that other Tirathankaras were married, if Prince Vardhaman had married, there was no reason Shri Jinsenacharya, who has mentioned[5] the proposal for the marriage of Mahavira, could not mention that he married Yashoda Devi. In fact, Lord Mahavira never married and remained a celibate throughout his life.[6] Impartial scholars have also agreed that he remained celibate.[7]

The Previous Life

Those who read about the great souls, their previous life, talk about it, have faith and take interest in the doings of the great souls, the effect of their sins is washed away and gain virtue. Shri Krishna and king Shrenik heard about the great doings of the twenty-second Tirathankar Shri Neminath and the twenty-fourth Tirathankar, Lord Mahavira respectively. By doing so with faith they have acquired so much virtue that in the coming age they would themselves be Tirathankaras.

—Shri Gautam Gandhar : Padma Puran, Parva I

---

commentaries on their lives. I suspect this is what has really happened. At that time the number of Buddhists in Gujarat was considerable. The Swetambara Jain gurus were spreading their faith under the aegis of the Vallami kings. It appears that they edited their source books on the basis of the Buddhist scriptures in order to attract the Buddhists to their faith. The Buddhist traveller, Huen Tsang, has written clearly in his account of his travels (p. 142) that the Swetambaras borrowed many things from the Buddhist scriptures and wrote their own scriptures. The western scholars also agree that Swetambaras wrote the life-story of Lord Mahavira on the basis of the biography of Lord Gautam Buddha. (Bulher: *Indian Sect of the Jains*, p. 45.) The life of Buddha as depicted in the Buddhist works like the 'Lalit Vistara' and Nidankatha' has many points of similarity with the life of Lord Mahavira as depicted by Swetambaras. (The Cambridge History of India, p. 156). Under these circumstances it appears that the version of the Digambara Jains is in tune with reality. It is a fact that Lord Mahavira was celibate.

—Kamta Prasad; Bhagwan, Mahavira pp. 79-81.

1. The Digambara school of Jainism considers that Lord Mahavira remained celibate. The basis of this belief is probably the 'Aawashaykaniryukti' which the Swetambara school has faith· In that work five Tirthankaras have been discribed as celibate; one of them is Lord Mahavira. It is said about them that they renounced the world and remained celibate; the words used are 'kumar pravrajit.' Earlier commentators have taken these words to mean 'he who has not ascended the throne' but Avashyakaniryukti means otherwise.

   The Swetambara writers are of the the view that Lord Mahavira was married and the basis of their belief appears to be 'Kalpasutra.' But in that work I have not come across any reference to his living in a married state or his wife Yashoda.

   Whatever that might be, it is established that the view of the Digambaras that Lord Mahavira remained celibate is not without basis.

   —The Swetambara sage Shri Kalyanvijaya: Shraman Bhagwan Mahavira (Shri Kalyanvijaya Shastra Sangraha Samiti, Jalore, Marwar), p. 12

2. This well-known work by Shri Chauthmal has been published by the famous institution of Swetambara sect, the "Jainodaya Pustak Prakashak Samiti, Ratlam:' in Vikrami year 1989.
3. For this horoscope see, Vol. II of Vira Janma'
4. In English

   p. 268

   p. 269

   When Rahu happens to be in the house of the wife and is afflicted by a blemish, in that case there cannot be a wife.

   Even if he is married i.e. even if this conjunction of stars results in his marrying someone, she would die soon.
5. Harivansha Puran, Parva, 66, Sloka 8,9. For translation see footnote 1. at page 264.
6. (i) Khandelwal Jain-Hitechhu 6.11.1964), pp. 6 and 43

   (ii) Pt. Nathu Ram Premi: Jain Sahitya Aur Itihas, p.572

   (iii) Anekant Varsh, 4, p. 580

   (iv) Jain Sankshipta Itihas, Part II, Vol. I, p. 54.
7. Dr. Vasudevasharan Aggrawal: Bhagwan Mahavira (Kamtaprasad), Foreward, p-2.

The flesh-eater Bhil

One day Lord Mahavira was going alone and was thinking about the world, in his solitude. He was asking himself : who am I ? What has happened ? What am I now ? Right from the beginning of Creation how many times was I born ? By his transcendental knowledge he came to the conclusion that at one time he was the chief of a jungle tribe, the Bhils, in the Videh area of Jambudwip, in the Pushkalavati region. The tribe lived in a forest area known as Madhuk near the town of Pundarikini. His wife's name was Kalika and he lived on the flesh of hunted beasts. One day, the sage Sagarsen lost his way and met him in the jungle. When he saw him from afar and his shining eyes he took him to be a beast and pointed his bow and arrow towards him. Before the arrow was released his wife Kalika said : This is not a beast but appears to be a forest god. Both of them went to the sage.

The sage told him that it was extremely rare for a soul to be born as a human-being. It is not proper, therefore, that a human being whose body must return to the dust from which it has sprung should remain the slave of that perishable body. The Bhil said : "Your holiness ! I am nobody's slave ; I am the chief of the Bhil tribe".[1] At this the sage exclaimed : "Fool that you are, you think you are a chief ! Your tongue has made you your slave, because in order to satisfy your taste-buds you are wantonly killing other living beings." The Bhil kept quiet but his wife interposed : "If we don't eat flesh, we might die of starvation". The sage answered, "Nobody should die of hunger but one must be careful to see that for the satisfaction of his own hunger he does not give pain to others. A man can live on grains, fruits and water. There is greater violence in the slaughter of animals. Flesh, wine and honey is a part of the body of animals. It is great sin to consume these things and you must abjure them immediately."[2] The Bhil and his wife took the vow of non-violence and stuck to it. The virtue that they gained thereby resulted in the Bhil being born as a foremost deity, Saudharma, in his next incarnation. He gave happiness to others ; that is why he got the pleasures of heaven.

Son of an Emperor

When Rishabh Deva[3] camedown to earth after having enjoyed the happiness of heaven, His son in Ayodhya, the first emperor, Bharat got a son who was named Marichi. When he realised that the world was the source of all miseries, Rishabhdeva got initiation into Jainism. About four thousand kings, including Kacha and Mahakach also accompanied him in this initiation and became Jain mendicants. Marichi was also one of them.

One day when it was very hot and the earth appeared to be like a ball of fire and scorching winds were blowing, drenching human bodies in sweat, Marichi could not stand the terrible thirst and having given up the station of a Digambara (the one who does not wear anything on his body) he clothed himself in the bark of trees and wore his hair long. He subsisted on fruits and edible roots of trees and like Rishabhdeva who had thousands of disciples, made Kapil and others as his disciples and started the Sankhya school of thought. He preached the Sankhya philosophy.[4] Since he gave up the world and all wordly attachments he ascended to the fifth heaven, the Brahma, and became a deity.

Son of a Brahmin

When he descended from heaven, he was born to the wife of Kapil, a Brahmin in Ayodhya. His mother was named Kali and he was christened as Jatil. When he grew up he became an itenerant Sankhya mendicant. Such is the beautiful fruit of giving up the world and its temptations that after he died he entered heaven and became a deity in Saudharma heaven.

After having enjoyed the pleasures of heaven again, he was born again in Sthunagar city in India, to the wife of a Bhardwaj Brahman, Pushapadanta and wes named Pushpamitra. Again he became a mendicant and spread the Sankhya philosophy[5]. Since he had given up the world he again ascended to heavens.[6]

When he again descended to the earth he was born in the city of swetik to the wife of a Brahmin (Agnibhuti), Gautami and was named Agnisaha[7]. Again he became a Parivrajak mendicant and propagated the philosophy of nature and the 25 elements[8].

Since he had given up the pleasures of the world, he ascended to the third heaven, Sanatkumar on his death and gained the status of a deity[9].

Again he was born in the city of Mandir to the wife of a Brahmin, Gautam. His mother's name was Kausambhi and he was named Agnibhuta.[10] In this incarnation also he preached the Sankhya[11] philosophy. On his demise he went to the fourth heaven, Mahendra.

1&2. Abjuration of flesh, wine and honey ; see Vol. II for these eight basic virtues.
3. Jain Dharma Ke Sansthapak, Shri Rishabhdeva, vol. III.
4. A Bengali barrister has written in his book 'The Practical Path' that the grandson of Rishabhadeva Marichi was a lover of nature. Since his knowledge of the Vedas was very profound it was he who spread the knowledge of Rigaved and other scriptures. That is why the stotras of Marichi are found in the Vedas, Puranas and other scriptures and at many places the mention of Jain Tirathankaras is made there.—Swami Nirupaksha Wodayar, Dharmabhushan, Pandit, Vedatiratha, vidyanidhi M.A. Prof. Sanskrit College, Indore : Jain Dharma Meemansa.
5-11. Shri Mahavirapurana (Jinvani-Pracharak Karayalaya, Calcutta, pp. 14-15.

In his next incarnation he was born in the name of another Brahmin Sankalayan, in the same city. His mother's name was Mandira and he was named Bhardwaj. Because of the sanskaras of his previous life he was initiated into ascetism and became a *tridandi* mendicant. His tapasya carried him to the fifth heaven, Brahma[2] and he became a deity. What a rich reward one gets when one gives up the world. If one does not get insight into one's soul even then, not to speak of worldly pleasures, one gets the happiness of heaven. And when one gets an insight into one soul, is there any doubt that he would get the supreme of *nirvana* ?

The mobile and immobile forms of life and also beings living in dead bodies

It is better to jump into a burning fire, eat poison or to drown oneself in the sea but one should not live with a false philosophy of life.[3] A snake will give you pain in your life but a false philosophy would give you pain in one life after another.[4] Because of the false philosophy a living being will not suffer or experience the agonies of hell but because of jealousy of the gods who have obtained *ridhis*, because of parting from the godly virgins and because of declining six months before one's death, a person with the wrong philosophy cannot experience even the pleasures of heaven. Six months before I was also afflicted with decline but only because of the fear of the unknown life that I might have after my death. I wondered whether I would get the happiness of heaven. I wailed and cried with the result that immediately I ended my days in heaven I entered the life of a nigoda[5] (a being living in dead bodies). For countless years I suffered in that existence and then I was born in the body of a vegetable. Many times I entered a foetus and was aborted. In this way, I was born 60 lakh times and died and suffered the mortal agonies. Then i was born as Sthavara, the son of Parasiri, the wife of Sandili Brahmin in the city of Rajagiri.[6] Because I did not have any desire for the things of this world and had a sickly body, I became a deity and entered the fourth heaven. Mahindra.[7]

Shravaka and Jain Sage

Just as even a piece of iron will float on water if it is accompanied by a piece of wood, even a sinner finds salvation if he keeps company with the pious ones. This time, I was thrown in the company of the pious ones and did not indulge myself in the senses. I had a lean or weak body. I knew that I had ascended heaven because of good works and hell and the life of a microb living on the dead bodies was the result of my sins. When my time came and life started ebbing out of me, I did not grieve. When my life in heaven ended I was born in the capital of Magadha, Rajagrihi, to the wife of the King Viswabhuti Jaini. I was named Visvanandi and was a powerful prince. The King had a younger brother, Vishakhabhuti who had a wife, Lakshamana and a son Vishakhananda, The whole family was Jaini. Vishvanandi was a powerful and righteous prince and observed the Shravakas vows with great faith.

Vishvabhuti knew the world to be without any substance, and, therefore, decided to renounce it for the good of his soul Vishwanandi, his son, was the only person who could inherit his kingdom but Vishvabhuti named his younger brother as regent and made his son Vishvanandi the heir to his kingdom and having renounced the world sought initiation into Jainism from a Jain sage, Shridhar.[9]

Vishakhanandi occupied the garden of Vishvanandi; when pursuation did not work and he prepared to fight, Vishvanandi attacked Vishakhanandi. Vishakhanandi climbed a tree to save himself but Vishvanandi uprooted tree with one effort. Vishakhanandi climbed a stone pillar but with one blow Vishvanandi broke that pillar into many pieces. Now Vishakhanandi ran away to save himself. Seeing his foe in such abject terror, Vishvanandi's heart was suddenly afflicted with the desire to renounce the world and he was initiated into Jainism at his request by the Sage Sambhuta. This incident filled Vishakhabhuti with contrition and remorse and he gave the garden of Vishvanandi to Vishvanandi ; in fact the whole kingdom belonged to the latter. "When Vishvanandi has renounced the world in his youth," he thought, why should an old man like me aspire to rule ?" He also became a Jain ascetic.

One day Vishakhanandi was sitting on the roof of his house when he saw Vishvanandi, emaciated due to the hard penance he had undertaken, coming into the city for the purpose of assuaging his hunger. Due to a miserable circumstance (ashta karman) a cow came running and struck against Vishvanandi. When he fell down due to the impact of the beasts body Vishakhanandi laughed and said: "Where is your strength which uprooted a tree with a flick or your wrist and broke a stone pillar into fragments ? " Seeing that food was denied to him due to antrai (destructive karman) the sage went back to the jungle without food to his meditation but Vishakhanandi went to the seventh hell because of traducing the great sage. The denziens of hell, the ferocious ones, fried him in burning oil, crushed him like a stalk of sugarcane, sawed his body into pieces and beat him mercilessly with mallets and clubs. For many years he had to endure the tortures of hell and the great sage

---

1-2. Shri Mahavirapurana (Jinvani-Pracharak Karayalaya, Calcutta, pp. 14-15.
3. to 4. Chaubisi Purana (Jinwani Karyalaya, Calcutta), p. 243.
5. & 6. For details see the preachings of Lord Mahavira in Vol. II.
7. Shri Sakalkirti : Vardhaman Puran (Mss.)
8. Shri Mahavir Purana, Calcutta, p. 16.
9. Mahavir Puran (Caulcutta) p. 17

Vishvanandi having ended his peaceful (*Shantaparinama*) life went to the tenth heaven Mahashukra because of his pious deeds and penance. He also became a deity. Vishakhabhuti also had attained the heaven because of the great *tapasya* (penance) and attained the stage of a deity. Both of them remained in heaven and enjoyed its bliss.

Godhood (Narayana pada)

After having enjoyed the bliss of heaven, the soul of Vishakhabhuti was reborn in India as Vijaya, the son of Jayavati, queen of King Prajapati who ruled Podenpur city in the Suramya region. He was the first Balbhadra and Vishvanandi was born as the first Narayana as the son of Mrigavati, a queen of the same King. He was named Triprishtha. Both of us were very mighty. Because of the relations we had in our previous life, we loved each other. Vishakhanandi was, due to his evil deeds, reborn many times and had to undergo many tortures. He was reborn as anti-god (**Pratinarayana**) to Neelanjana, the wife of Mayuragriva the King of Alkapuri in the north of the Vijayardha mountain. He was named Ashvagriva and was very wicked; that was why his subjects were always unhappy.

In the north of Vijayardha, there was a city named Chakravak in Rathanpur which was ruled by Jwalajan. His queen was Vasuvega who had a daughter named Swayamprabha. She was a great beauty and Ashwagriva wanted to marry her. But Jwalanjati gave away his daughter in marriage to Prince Triprishtha. When Ashwagriva heard of this, he invaded Jwalanjati's kingdom, drunk as he was with his armed strength. When they heard of it, Triprishtha and his brother Vijaya came to the aid of Jwalanjati. They sent emissaries in the beginning so that they could prevail upon Ashwagriva to take to peaceful ways but when he did not pay any heed to counsels of peace they had to engage his forces as they wanted to defend their country. Furious battles raged between the two adversaries. Ashwagriva was a renowned warrior and had huge forces. On the other hand Jwalanjati was not so strong. It was an unequal fight like that of one between a lion and a goat. Jwalanjati's forces had to retreat many times but Triprishtha fought with a sword in each hand so bravely that Ashwagriva started losing. In sheer exasperation he used his **chakra** on Triprishtha which struck him at his right arm but could not pierce it. He threw the chakra back killing Ashwagriva. His forces fled from the field of battle and Triprishtha became the lord of all the three worlds, the Narayana.

Everybody knows that opium, **bhang** (cannibus indica) and liquor intoxicate a person but nothing intoxicates a man so madly as the intoxicant of power. When he became the master of the three kingdoms, Triprishtha was besides himself with vanity. He liked music and instructed his chamberlain that so long he did not sleep, there should be a continuous sound of music and that it should stop only when he went to sleep. The chamberlain also started enjoying music. One day he became so lost in music that even when Prince Triprishtha had gone to sleep he did not stop the music. When Triprishtha woke up he heard music and was mad with fury because the chamberlain had disregarded his instructions. He had boiling lead poured into the ears of the chamberlain. Since he was so much given to earthly pleasures he went to the seventh hell, Mahatmaprabha, on his death and had to undergo so many tortures that they would frighten a man out of his wits.[1]

Life of a beast

After suffering the tortures of hell for many years I was reborn again in India in the Venisingh hills on the banks of the river Ganges as a lion. As a lion I killed many beasts and was condemned to the first hell, Ratnaprabha. Having undergone the tortures there I was again born as a lion in the Himagiri hills in the east of Singhkut. One day I was chasing a deer when I was accosted by two bard sages, Ajinanjaya and Amitateja. I was told that I was a lion in the previous incarnation also and that I had to undergo the torture of hell because I had killed many beasts. The sages said: "If you want that you should come to a good end you should abjure killing of living beings and eating of flesh." The lion said that flesh was his staple diet and that he could not live without it. The sage Amitateja said; "By giving up the Digambara life, you had gone against the wishes of Shri Rishabhadeva. Because of that wrong philosophy of life you had to die and to be born again; suffering in this process the tortures of hell. How can you justify the killing of living beings to support your own life? You have been born as a beast because of the sins you had committed in your last incarnations. If you do not give up the wrong belief and do not realise your own true self and come to the right path. you will not be able to escape the net of life and birth. "On hearing the sage the lion realised the error of his ways; the soul after all listens to the call of the soul The lion had the discerning and knowing sould but because of his actions which obscure real knowledge, he had become ignorant of the right conduct. The sage Ajitanjaya removed the misconceptions which obscured his faculties of knowing the reality. He was suddenly reminded of his previous incarnations and that grieved him so much that his eyes became full of tears. He developed an abhorrence for preying upon other beasts. He immediately took a vow to abjure killing and eating of flesh. His faith in the true belief was re-established because of what the sage had told and true realisation came to him. There is nothing more beneficial than true realisation because not only the joys of the world and the happiness of heaven come to a being when he realises himself but he can also get *moksha* (freedom from birth and death) even without asking for it. Because of his abjuration of violence and self-realisation, he went to the first heaven, Saudharma, on his death and became Singhketu, the foremost among the great sages. There in the heavenly sanctuary he used to worship the **arhanta** deity with the best of

1. Preachings of Lord Mahavira, Vol. II.

things as homage to him. He also offered his prayers at Nandishwara island before the idols of Lord Jinendra and also gave the highest respect to the sages.

Status of a king

Because of the devotion that I showed in the heaven to the *arhantas*, I was born in a princely house. I became the son of Kanakmala, the queen of the king of the Vidyadharas, Pankh in the Kanakprabha to the north of Vijayardha mountains in India. My name was Kanakojwala who was a strong and pious prince. Because of the preachings of the sage Nigartha, I sought initiation into Jainism when I was very young and having engaged in hard penances (tapa) I entered the seventh heaven, Lantav. I became a deity with many *ridhis* and in heaven also I was busy in self-realization, thought good thoughts and worshiped the Jinas. This piety resulted in my being born as son of Shilavati, the queen of King Vajrasen of Ayodhya. My name was Harishen, a wise prince. I was well-versed in political science or polity but had also deep knowledge of Jain principles. I followed the Sravakadharma fully. One day I was contemplating life and asking myself who I was, what was earthly body was, and whether my wife and children really mine and whether they could were be of use to me in my afterlife and how my desire (*trishana*) could be quenched. I realised the fearsomeness of the world and a feeling of non-attachment with the world came to me. I sought initiation into Jainism with the sage Shrutasagara who accepted my pleas for initiation. I followed all the *aradhanas* of darshan (philosophy), gnana (knowledge), charitra (character) and tapas (penance) and my soul left my body while I was meditating. Because of this I entered the tenth heaven Mahasukra and became the god of the deities with many *ridhis*.

The status of an emperor

The world today recognised that the Jains, in general, have more of worldly goods and are more hospitable. The reason is their renunciation, following of the path of non-violence and the devotion to *arhantas*. A little devotion to the arhantas, giving up of violence and following the shravaka dharma can lead to one's getting limitless wealth, obedient progeny, beautiful wife, great renown and glory, a healthy body even without desiring these blessings. Under these circumstances, if a person renounces the world while still young, when he has the whole kingdom and all the joys of the world under his thumb, so to speak, and engages in hard penances, who can doubt that he enjoys the joys of a king in this world and in the next enjoys heavenly pleasures ? Having subdued my paasions and having lived the life of a sage resulted in my being born, after my life in the heaven, as a prince. I was the son of Subrata, queen of Sumitra the king of Sundrikini in Pushakalavati region in Videh. My name was Priyamitrakumar and I became an emperor. I had 96,000 consorts 84 lakh elehants, 18 crore horses. and 84 thousand foot soldiers. I held sway over 96 crore villages. Thirty-two thousand kings and 18,000 Mlechha kings paid tribute to me. I was the master ot 14 jewels[1] which fulfill every desire that a mortal might have ; I also had nine *nidhis* which are guarded by the gods.

I practised *samayika* (attainment of equanimous state of mind) in order to dispell the effects of evil deeds and traduced myself as to why I committed sins. Thus I followed the true tenets of religion and tried to bring others to the path of religion.

One day I visited Tirathankar Shri Kshamashankar alongwith my family to pay my respects to him. Having heard the terrifying state of the world which Lord Tirathankara described, the desire for renouncing the world gripped my mind. I gave up my six kingdoms and all the glory and luxuries which an emperor has and got initiated as a Jain ascetis[2]. Because of my renunciation and penances that I performed, I entered the twelveth heaven, Sahasranama and became the deity Suryaprabha the holder of many glories.[3]

Godhood (the status of Indra, the Lord of Gods)

Because of the *tapas* which I had performed during my life as a mortal I was supremely happy in heaven. In my desire to advance the cause of my soul I paid homage to the be jewelled idols of *Jinas*, and worshipped them with precious jewels. I also worshipped at the natural shrines in the Nandishwara island. I derived great pleasure from the worship of the Tirathankaras and the great sages[4]. I drank with ecstasy the nectre that fell from their lips. I observed the five *Kalyanakas* of the Tirathankaras with great zest which resulted in my being born as a prince after the life in heaven ended. I was born as Nand, son of Viravati, the queen of King Nandivardhana in the Chhatrakar-city of India. I had a mind which was greatly attracted to religion and I followed the 12 *vratas* of the Shravakas with great fidelity[5]. When I heard the sage Proshtil preaching, my mind was overwhelmed with the desire to renounce the world. Giving up my kingdom I sought initiation from him and became a Jain ascetic. Being near Kewali Bhagwan and fighting with all my might the 16 passions which lead a soul astray, I completely controlled them and attained the highest degree of temperament, namely, that of a Tirathankara. At the end of my earthly life I went to the 16th heaven in a plane made of flowers and became the Lord of gods, Indra.

---

1. For details see 'Bhagwan Mahavira Ka Adarsh Jiwan', p. 109-110
2. & 3. Mahavira Puran (Calcutta), pp. 40-41
4. Mahavira Purana (Calcutta), p. 40-41.
5. For details see 'Jainvardhaparkash', p. 101.

The status of Tirathankara

Punya or right conduct is so beneficial that even without wanting one can get all the joys of heaven and a person can rise even higher because of *punya*. Because of discourses held with the deities who had attained self-realization, acting according to tbe instructions of the Tirathankaras, simpleness of mind, suppression of passions and abjuration of violence I reached an unassailable level (*achyut viman*) and I have now become Vardhamana, the son of Mother Trishala[1].

Disillusionment with the world and its renunciation by Lord Mahavira

Because of his transcendental[2] knowledge, the incidents of his previous births unfolded before the eyes of Lord Mahavira like a motion picture and that gave rise to a feeling of disillusionment with the world. He thought of the varied roles he had played as an actor on the stage of the world. Because of evil deeds he became a hunter (Bhil) ; because of his vow of non-violence he was reborn as the son of an emperor. His father in that life, Bharat, did not find real pleasures in the glories of his kingly empire. He gave up the world and became a Digambara and attained *moksha* (release from the cycles of births and deaths). The elder brother of his father Bahubali embraced Jainism, became an ascetic and attained *nirvana*. His grandfather Rishabhadeva gave up the comforts and luxuries of his kingdom and became a Jain ascetic and attained *moksha* in that very life. But, mused Lord Mahavira, 'I am an unfortunate person who fell from the status of a Digambara and still entangled in the cycle of births and deaths and am still of this world.

The Twelve States

1. The state of Impermanence

(Whether a person is king, emperor, chieftain or the rider of an elephant, every body must die in his own turn.) 1

Wives, sons, chattel and all other things of this world must perish. When the gods and goddesses, the very lord of gods, Indra and emperors have not become immortal how can I attain immortality ? Only the soul is permanent and indestructible. All other objects in the world are impermanent ; they are separate from the soul and the soul must, one day, leave them. Because of good deeds wordly things are attained without any efforts and evil deeds would result in a person losing them. Why then should a person be attached to them and foul his soul ?

2. The state of insecurity

(the cohorts, the gods and goddesses, parents and the family[2] leave the mortal as he dies and nobody can save him).

There is nobody in this world who can give complete security of life to anybody. When one is confronted with the result of evil deeds, even one's clothing becomes one's enemy. When the first Tirathankar, Rishabhadeva had gone without food for six months, where were the gods who showered 35 million gems for 15 months to celebrate his birth ? When the gods who turned the fire-pot in which Sita was thrown into a water bowl, why did not they help when she was being abducted by the demon Ravana ? Rama, who killed thousands of warriors to free Sita from the bondage of Ravana and asked even trees to help him trace her, forgot all his love for her when he turned her out to fend for herself in the forests when she was carrying his seed. Why ? Gods, goddesses, mantras, parents, friends and sons, nobody has any security or refuge in this world. If good deeds are with you, your *punya* would convert your enemies into friends and without *punya* your own kith and kin and friends refuse to help you. If there is any refuge or security in this world, it is the *Arhant* ; because materially speaking we have the same soul which is the soul of *Arhant*. It is a part of that supreme soul and has the same qualities. Before he attained the level of Arhant, his soul was also befouled by worldly deeds as we engage in. If we could cleanse from our soul the mortal sins our soul will be in its real shape and thus cleansed it would attain the omniscience of Lord Arhant. We have, therefore, to know and understand the soul of Arhant, in its true shape and also to know its qualities[3]. He knows his soul and its qualities and he who has that knowledge also knows the difference of mine and thine[4]. And he who knows this difference will escape the illusion and attachment of worldly things. He who loses his avarice, attachment and hatred, and the veil of untrue philosophy is torn from his eyes and true faith or self-realization is achieved[1]. The knowledge that comes from true faith leads to a balanced knowledge and a balanced

1. The Swetambara Jains believe that the first Mahavira was born to Devananda, the wife of the Brahmin, Rlshabhdutta but on the orders to the lord of Gods, Indra Naigmeshdeva transported him to the womb of Trishla because Tirathankaras are always born to Kshatriyas. The words of the Swetambara scholar, Shri Chandra Raj Bhandari about this Swetambara belief deserve consideration : "There is no doubt that this proof is the most important one among all others. But this merely shows that the transportation of the soul from one womb to the other is merely the flight of fancy of some poet"-Bhagwan Mahavira, p. 95.

—Shri Kamta Prasad : Bhagwan Mahavira, p. 68.

2. English
3. to[5]. Samyagadarshan (Sonegarh), pp. 6-8.

character. Coming together of these three qualities is the path to true *moksha* which the source of perpetual bliss and true peace. So, the only true course of eternal bliss is to seek security in Arhanta.

3. The state of the world

(The poor are unhappy because they lack wealth ; the wealthy[1] are unhappy because they want more. I have seen the whole world but have not found any body happy.)

The world is a source of all misery. Worldly pleasure are like poision coated with sugar, like honey sticking to the edge of the sworn. To think that the world is the source of real pleasure is to expect nectre from a poisonous snake. Just as the musk deer, little realizing that the source of the sweet smell is hidden in his navel, runs about seeking it, in the same manner human beings are going from pillar to postin the world in search of peace and happiness not knowing that perpetual bliss is inherent in his soul. If there was happiness in this world why should the Lord, who had 96,000 consorts, 32,000 tribute-paying princes and the master of limitless wealth, comprsing nine treasures (nidhis) and 14 categories of jeweles, and the whole world, and who was protected by the gods themselves. having given up the world ? When real happiness does not lie in the worldy pleasures, why should one want them or get entangled with them ?

4. The state of loneliness

(A being comes into this world alone and goes without any[2] companion. There is no mortal who can claim to have any companion.)

My soul is alone in this world; it acts alone and reaps the fruits of those actions alone. Wives, sons, friends may grieve at our calamities but they cannot reduce an iota of the grief we are afflicted with. Misery can be redused only when the effect of evil actions is reduced. The immortal soul alone bears the brunt of the mortally (evil) deeds and if it can do away with the evil deeds and attains oneness with the Supreme soul, it can enjoy the eternal bliss. When the soul is alone and does not have any companion then what is the use of having a feeling of attachment with the world and worldly pleasures, passions and acquisitiveness, thereby fouling our soul and strengthening the bonds that bind you to this world ?

5. The state of being a stranger

(Where even one's body is not one's own, he cannot call anybody[3] his own. House, property and people-all are strangers to you)

Just as a sword in the scabbared is differnt from it, so is soul different from and a stranger to the body. The soul is conscious, it represents knowledge whereas the body is material and insensate and without knoweldge. The soul is immaterial and the body is material. The soul is full of life and the body is without life. The soul is free whereas the body is a slave of the senses. The soul is your own whereas the body is a stranger to you. The soul is free from attachment, hatred, pride, anger, fear of grief whereas the body afflicted with heat and cold, hunger and thirst and other earthly miseries. I had this very soul before this life and after this life and heaven or hell or even the attainment of the state to *Arhanta* of even *moksha* this would remain my soul. The soul is indestructible immortal and perpetual whereas the body dies and remains on earth when the soul leaves it. When the body which appears to be our own is not our own, how can wives, sons chattel be called one's own ? If they cannot remain with you for ever why then so much of attachment to them? Just as a tenant has no attachment with the house he has rented, in the same way one should not be attac hed to and be the a slave of one's body. The best way is to cleanse your soul with meditation, prayers and *tapa* and live a clean life.

6. The state of uncleanliness

(Our body is a bag of bones encased in flesh; is there more[4] unclean thing in this world than the human body)

The soul is clean; it is entirely pure and free from all manner of dirt. Anger, pride, illusion, avarice, love and hate and anxiety, fear etc. are the 14 inner *parigrahas* and wife, son, chattels and property are the outer *parigrahas* from which the soul is entirely free. The body is unclean; that is its inherent defect. Its nine orfices are the sources of unclean things like urine, fasces, blood and pus. From times immemorial man has been trying to cleanse his body but without any avail. Can coal become white if it is washed repeatedly ? If I had cleansed my soul of the befouling elements like the passions and *parigrahas* I would have absolved myself permanently from the dirt of *Karmanas*. Those who have cleansed their soul and released it from the wordly attachments, they have become immortal, gained moksha and have got release from the cycle of death and birth. If I give up avarice or the desire for what belongs to others and engage in the eight actions according to the true faith, I can attain *moksha* and the perpetual bliss.

1 & 2. In English
3 & 4. In English, p. 286.

7. *Asrava* (inflow of karmic matter which causes misery) State

(Becausc of the sleep of infatuation with worldly things[1] (*moha*) the world is in a perpetual tangle. *Karmas* are like thieves hovering round those who are infatuated and rob them of what they can attain)

No body in the world can do good to me or harm me; the same is true of me. I cannot harm or benefit anybody else in this world. The other fellow would come to harm when he thinks evil thoughts; merely my wishing him ill will not cause any injury. But when I wish anybody ill, the inflow of misery or *asrava* makes my soul unclean and that is why I come to harm. In the same way when my evil deads catch up with me, I will come to harm regradless of whether the other fellow is thinking evil of me or not. When good dones are done, even injury by others would bring only good to me. When nobody can harm my soul, who is my enemy ? And when nobody can do any good to my soul, who is my friend ? Because of five types of wrong beliefs (*mithytvas*) twelve kinds of non-fulfilment of vows, (*avratas*), twenty-five types of passions and fifteen types of effort (*yogas*) allow inflow of *Karmans* those causing misery) which mar the inherent qualities of my soul and become an impediments in the way of eternal peace and bliss and that is how I become my own enemy.

8. The state of restraint

(There are five absolute vows of conduct, five types of counsels[2] five types of abstinence which result in shedding of the bed effect of *Karmans.*)

Five cousels, five great and absolue vows, 10 *dharmas* (codes of conduct, 12 states, three guptles (freedom from thoughts of passion), avoidance of talk about women and renunciation of violent actions like piercing), victory over hardships (*parisahajaya*) etc. are the 57 doors from which the inflow of *karmnnas* takes place and by restraint, I can check them. Thus I can save my soul from being polluted. There is nobody else who has the capacity to harm my soul, and none whom I can call a friend or foe.

9. The state of shedding (nirjara)

(In English)[3]

Just as a expert navigator pluggs the holes through which water comes in and endangers his ship and then starts bailing out to save the boat to enable it to cross the seas, in the same way the knowledgable ones first plug the *asrava* loopoles by plugging them with restraint (*Sanvara*) and then proceeds to dry up the water of *karmanas* by the fire of penance (*tapas*) and destroys it, so that the ship of the soul can cross the sea of life without any danger.

10. The state of the Universe

(In English)[4]

The Universe (*sansara*) is a conglomeration of self (*jiva*). none-self (*ajiva*), medium of motion (dharma) medium of stay (*adharma*), time (*kala*), space (*akasa*)-the six substances (*dravyas*).[5] All these substances are real and permanent and that is why the world is also permanent,[6] perpetual and real.[7] The beings are born as gods human beings, beasts and go to hell. According to their good or bad acts they pass through these four stages and have been involved in the cycle of life and birth from the very beginning of time and have been going through misery. Just as the hull is separated from the grain of rice deperiving it of the power of germination, in the same way when the being (*jiva*) is divested of the *karmanas*, the soul become pure like the grain of rice. It cannot be reborn and when there is no birth, where is death or the cycle of briths and deaths ! Living beings are sent in this world so that they can bear the fruits of their actions. When they succeed in shedding the evil as well as the non-evil actions how would they have to undergo their effect ? So, in order to avoid the perpetual cycle of birth and death *nirjara* (shedding of the effect of ones actions) is the best way; as a matter of fact, there is no alternative.

11. The state of (hard to get) knowledge

(It is easy to get all the gold and other forms of wealth,[8] you can even get an empire but the most difficult thing in this world is to get real knowledge).

I had a wife, sons, wealth and power numberless times since the dawn of life; I also got the pleasures of a kingdom and became an emperor many times and tasted the bliss of heaven because I could not get the right knowledge I have been emmeshed in the cycle of birth and death. I have come to have knowledge of external things, but I have not understood my soul. I have not known who I am, nor why I am born again and again in this world, I have known the whay to achive real bliss and be free from the cycle of life and births. When in the desire for material things, I have not even thought about how to rid myself

---

1. In English pp. 289 and 290
2. In English, p. 292.
3. & 4. In English, p. 292
5. to 7. The preachings of Lord Mahavira, 'Vol. 11
8. In English

of them, how can I get liberation (*mukti*)? It is very necessary to know the difference between self and none-self; only then can a person free himself from worldly miseries and get real happiness and peace.

12. The state of dharma (rules of conduct)

In English

The inherent qnality of soul is its *dharma*. The quality of soul is to see all the materials of the world as onein all the three worlds in all the three divisions of time (past, present and the furture) and to experience limitless power and limitless bliss. This *dharma* consists in self-realization (samyagadarshan),[1] the right knowledge (*samyagajnana*),[2] the right conduct (*samyakacharitra*)[3]-the three jewels.[4] It consists in abjuration of violence[5] and has ten qualities.[6] If a person can attain this, he can dispel the effect of the eight actions (*karmanas*), he can attain *moksha* and can get real bliss and peace of the soul.

His understanding of the 12 state enumerated obove dispelled whatever little attachments he had with the worldly things. He saw the world as the source of all miseries and a great hoax. He told his parents that unless he was able to burn the *karmanas* like fuel with the fire of his *tapa*, he can never get the elixir of peace of soul. He sougt their permission to be initiated into Jainism. His father quoted the *sutra* meaning that 'the *dharma* of a *kshatriya* is to rule his people'. Mahavira replied: "Where is Bharat, the emperor who ruled the whole earth?" And, he continued, "where is the celebrated warrior Bahubali who defeated the Emperor Bharat?" Where is Ravana who defeated Indra,[6] who shook the kailash[7] and who was the chief of the *mlecchhas* and the *rakshasaa*? And where is Rama[8] who defeated the great warrior Ravana? I was the lord of the finest possessions in life and was the emperor holding sway over the whole earth but I could not get out of the cycle of life and bitth. The pleasres of a king are ephemeral like the dew on the grass.', His father said: "You mother loves you so much-" Lord Mahavira replied: "From the beginning of time, I took birth many times, I had parents in each life, where are they? There is no living being in the world who has not had some replationship or the other with others.' Mother Trishala said that the bears, lions, snakes and other dangerous beasts infests where you wish to go. It would be very difficult for you with your delicate body to undergo the rigours of hunger, thirst, heat and the cold." Mahavira answered humbly: "mother you know all. You know that the soul is mine and not the body. When the soul leaves it, it would remain here on this earth. So why should I be attached to it? Just as the ocean is never satiated with the rivers that feed it and the fire is never satisfied with the fuel that it burns, in the same manner one who is hungry for the pleaures of the world is never satiated. Real happinsss lies in *moksha*. One can never attain it unless one gives up the world and becomes an ascetic. Even the gods of heaven aspire for earthly life so that they can become *munis* (ascetic). I remember having taken a vow when I was in heaven that when I get life on earth I would become an ascetic. Please permit me to fulfil my vow."

Because of his transcendental knowledge the, great soul, came to know of Lord Mahavira's vow of renunciation and celibate Lord Lokantideva came down from the abode of the gods (*brahmcloka* to Kundalgram[9] to offer him his homage and to praise his vow, saying:

"Tapa purifies even the foulest of bodies. It is the essence of man's life. Great are thou that thou hast renounced the world as worthless. Verily, lucky will be the day when we the god of heaven would be born as mortals and would renounce the world just as you are going to do."

Lokantideva paid homage to the parents of Mahavira also and said: "Your son is the wisest of all living beings; he is the wise captain under whose command the ship will safely cross the sea of life full of misery and would show the path of true *dharma* to the world. There could not be a more auspicious day for you than this. Blessed are you whose son has made up his mind to dispel the darkness of evil deeds."

The exhortation by the lord of gods resulted in the parents of Mahavira to relent and they gladly permitted him to seek initiation as a *Jaina*.

Renunciation by Mahavira

(English of Hindi poetry at p. 54)

In a country where a great scholar like Ravana destroys his huge kingdom because he coveted a woman, where a warrior like Bhismapitamah could not curb his passion and married the daughter of low born fisherman, where the father of Emperor Shrenik, Upshrenik under the strong influence of carnal desire marries the daughter of Yamadanda, Tilakamati and where a sage like Vishvamitra fell from his high pedestal of a *tapaswi* to the beauty of an ordinary woman, the bravery of Lord Mahavira in curbing the fires of passion is realy commendable.

---

1. In English
2. to 4. The preachings of Lord Mahavira, Vol. II.
5. to 8. Padama Purana

8. It is but natural that one is able to reach the thing that one loves best. The Lokantika devas aredetached from the world and they have realised themselves- That is why he came to Kundalpur to rejoice in the renunciation of the world by Lord Mahavira., Bhagwan Mahavira, p. 87.

'Kingdom to gain which for her son, Bharat, Kaikeyi had an able and promising prince like Rama to be sent to the wilderness, to gain which Duryodhan started a terrible war like the Mahabharata against his own brothers, which killed all the celebrated warriors of India, for which Banvir tried many times to have the Raja Udai Singh murdered. for which Mohammed Gauri attacked India seventeen times, for which the great Alexander killed thousands of werriors and millions of Greeks, for which Aurangzeb imprisoned his own father, Emperor Shahjehan, the same empire to which Lord Mahavira had full rights he renounced in spite of the wishes of his parents to the contrary without any qualms.

Before being initiated as a *Jina* Vardnaman ordered the functionaries of his exchequer to give away every thing that there was. 8,80,80,00000 rupees worth of wealth including foodgrains were given away by him as alms. The recepients would not need any thing else for seven generations.[1]

Renouncing his lands, houses, gold and silver, chattels, food grains, servants, cloths, utensils, the ten outer evils and anger, vanity illusion, avarice, humour, passion, grief, fear, hatred, and *striveda*, *purushveda*, *napunsakveda*, and *mithyatva*, and all the 24 parigrahas Lord Mahavira set out for the wilderness. He was 29 years, 3 months and 20 days old.[2] Christ was yet to be born 569 years later. It is the tenth[3] day of Margashirsha when in the evening he sat in his palanquin named *Chandrama*[4] gave up his clothes and ornaments and entered *Gyatakhanda*[5] forest. Without his clothes he became a Digambara[6] and embraced Jainism.[7] He also pulled out his hair. He also adopted the 28 basic virtues (*mulagunas*)[8] and wrote on a stone slab "I bow to those who have accomplised (got sidhi),[9] turned towards the north[10] and was lost in meditation. Because of their transcendental knowledge, the gods in heaven knew about the *tapa* of Lord Mahavira and celebrated the occasion with zest. In this forest Gyataknanda he was performing his penance he got the fourth variety of knowledge (*manahparyaya*)

The first food of Mahavira

Just as a small seed of a *banyan* tree grows into a large and imposing tree, in the same way if alms are given to the deserving, they bring the desired fruit. Because of the effects of alm, those afflicted with a wrong philosophy get the pleasures of this earth but he who has realized himself and found the true path he enjoys heavenly bliss and is freed from the cycle of births and deaths..........I.........

—Sravaka Dharama, p. 171.

Lord Mahvira took his first food after a fast of 72 hours[11] with the Emperor Kula[12] of Kulagrama in Magada.

---

1. Master Rakha Ram Mudgil, Atmananda A. V. School, Ludhiana
2. Dhawal and Jaidhawal Tatha Bhagwan Mahavira Aur Unka Samaya, p. 13.
3. Anekant, Year 11, pp. 96-99.

4-5. pt. Khubchand Shastri : Mahavir Charitra (Surat), p. 257.

6. English, p. 299.
   (ii) For details and his naked state see "Bayees Parishajaya", footnote under sixth parishaya, Vol. 11
   (iii) In Swetambara 'Kalpasutra' il is mentioned that even though Lord Mahavira was a Digambara, i. e. he did not wear anything he wore the garment *devadushya* given to him by the lord of gods, Indra. In the second year of his initiation he gave that up also and remained without clothes. Pt. Nathu Ram Premi writes; *Aajeewakas*, the ascetics of a denomination which was contemparary of Lord Mahavira were also without any clothes. Later on, when it became difficult for the Digambara ascetics to go without any clothes and a dress was prescribed for them, he was invested with an imaginery garment, *devadushya*. The Lord never wore any clothes but appeared clothed to people. This exaggeration By the Swetambaras could only be interpreted as meaning that the Lord never wore any clothes." (Jain Hitesti), Bombay), Vol. 13)- Bhagwan Mahavira (Kamta Prasad), p. 86.
7. In English
8. Shravaka Dharma Sangraha (Vir Seva Mandir, Sarsava), p. 25.

9-10. In English

11. Utter Purana P. 311.
    Pt. Surajdhan Vakil : Mahavira Bhagwan, p. 4.

गौतम चरित्र

अर्हन्तं नौम्यहं नित्यं मुक्तिलक्ष्मीप्रदायकम् ।
विवुधनरनागेन्द्रसेव्यमानम्पदाम्वुजम् ॥

जो अरहन्त भगवान मोक्षरूपी सम्पदा प्रदान करने वाले हैं, जिनके पाद-पद्मों की सेवा नर-नागेन्द्रादि सभी किया करते हैं, उन्हें मैं सर्वदा नमस्कार करता हूं। जो सिद्ध भगवान कर्मरूपी शत्रुओं के संहारक हैं, सम्यक्त्व आदि अष्टगुणों से सुशोभित हैं तथा जो लोक शिखर पर स्थित हो सदा मुक्त अवस्था में रहते हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी भगवान हमारे समस्त कार्यों की सिद्धि करें। जिनेन्द्रदेव महावीर स्वामी, महाधीर वीर और मोक्षदाता हैं एवं महावीर वर्द्धमान वीर सन्मति जिनके शुभ नाम हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूं। जो इच्छित फल प्रदान करने वाले हैं, जो मोहरूपी महाशत्रुओं के संहारक हैं और मुक्ति रूपी सुन्दरी के पति हैं, ऐसे महावीर स्वामी हमें सद्‌बुद्धि प्रदान करें। भगवान जिनेन्द्र देव से प्रकट होने वाली सरस्वती, जो भव्यरूपी कमलों को विकसित करती है, वह सूर्य की ज्योति की भांति जगत के अज्ञानान्धकार को दूर करे। श्री सर्वज्ञ देव के मुख से प्रकट हुई वह सरस्वती देवी सरल कामधेनु के समान अपने सेवकों का हित करने वाली होती है, अतः वह देवी हमारी इच्छा के अनुसार कार्यों की सिद्धि करे। जो भव्योत्तम मुनिराज सद्धर्मरूपी सुधा से तृप्त रहते हैं, और परोपकार जिनका जीवन व्रत है, वे मुझ पर सदा प्रसन्न रहें। जो कामदेव सरीखे मतंग को परास्त करने वाले हैं, जो काम क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं के विनाशक हैं, जो संसार महासागर से भयभीत रहते हैं, ऐसे मुनिराज के चरण कमलों को मैं बार-बार नमस्कार करता हूं। जो भव्यजन दुष्ट-जनों के वचनरूपी विराल सर्पों से कभी विकृत नहीं होते एवं सदा दूसरे के हित में रत रहते हैं, उन्हें भी नमस्कार करता हूं। साथ ही जो दूसरों के सदा विघ्न उत्पादन करने वाले हैं तथा जिनका हृदय कुटिल है और जो विषैले सर्प के समान निन्दनीय हैं, उन दुष्टजनों को भय से मैं नमस्कार करता हूं। अपने पूर्व महाऋषियों से श्रवण कर और भव्यजनों से पूछकर मैं श्री गौतम स्वामी का पवित्र चरित्र लिखने के लिए प्रस्तुत होता हूं, जो अत्यन्त सुख प्रदान करने वाला। किन्तु मैं न्याय, सिद्धान्त, काव्य, छन्द, अलंकार, उपमा, व्याकरण, पुराण आदि शास्त्रों से सर्वथा अनभिज्ञ हूं। मैं जिस शास्त्र की रचना कर रहा हूं, वह सन्धि-वर्ण शब्दादि से रहित है अतएव विद्वान पुरुष मेरा अपराध क्षमा करते रहें। जिस प्रकार यद्यपि कमल का उत्पादक जल होता है, पर उसकी सुगन्धि को वायु ही चारों ओर फैलाती है, उसी प्रकार यद्यपि काव्य के प्रणेता कवि होते हैं, पर उसे विस्तृत करने वाले भव्यजन ही हुआ करते हैं। यह परम्परा है। जिस प्रकार वसन्त कोयल को बोलने के लिए बाध्य करता है, उसी प्रकार श्री गौतम स्वामी की भक्ति ही मुझे उनके पवित्र जीवन चरित्र को लिखने के लिए उत्साह प्रदान करती है। मैं यह समझता हूं कि, जैसे किसी ऊंचे पर्वत पर आरोहण की इच्छा करने वाले लंगड़े की सब लोग हंसी उड़ाते हैं ? वैसे ही कवियों की दृष्टि में मैं भी हंसी का पात्र बनूंगा: क्योंकि मेरी बुद्धि स्वल्प है।

कथा आरम्भ

मध्यलोक के बीच एक लाख योजन विस्तृत जम्बू द्वीप विद्यमान है। वह जम्बू-वृक्ष से सुशोभित और लवण सागर से घिरा हुआ है। उस द्वीप के मध्य में सुमेरु नाम का अत्यन्त रमणीय पर्वत है, जहां देवता लोग निवास करते हैं, उसी द्वीप में स्वर्ण रौप्य की छः पर्वत मालाएं हैं। इस मेरु पर्वत के पूर्व-पश्चिम की ओर बत्तीस विदेह क्षेत्र हैं, जहां से भव्यजीव मोक्ष प्राप्त किया करते हैं। पर्वत के उत्तर-दक्षिण की ओर भोगभूमियां हैं, जहां के लोग मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। उन भोग

भूमियों के उत्तर-दक्षिण भाग में भरत और ऐरावत नाम के दो क्षेत्र हैं, जिनके बीच में रूपाभ विजयार्द्ध पर्वत खड़ा है एवं उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के छः काल जिनमें चक्कर लगाया करते हैं। उन क्षेत्रों में भरत क्षेत्र की चौड़ाई पांच सौ छब्बीस योजन छः कला है। विजयार्द्ध पर्वत और गंगा, सिन्धु नाम के महानदियों के छः भाग हो गए हैं, जिन्हें छः देश कहते हैं। उन्हीं देशों में मगध नाम का एक महादेश है। वह समस्त भू-मण्डल पर तिलक के समान सुशोभित है। वहां अनेक उत्सव सम्पन्न होते रहते हैं। वह धर्मात्मा सज्जनों का निवास स्थान है। इसके अतिरिक्त मटम्ब, कर्वट, गांव, खेट, पत्तन, नगर; वाहन, द्रोण आदि सभी बातों से मगध सुशोभित है। वहां के वृक्ष ऊंचे, घनी छाया तथा फल से युक्त होते हैं। उन्हें देखकर कल्पवृक्ष का भान होता है। वहां के खेत धान्यादि उत्पन्न कर समग्र प्राणियों की रक्षा करते हैं। मनुष्यों का जीवन प्रदान करने वाली औष-धियां भी प्रचुर मात्रा में, उत्पन्न होती हैं। वहां के सरोवरों का तो कहना ही क्या वे कवियों की मनोहर वाणी की भांति सुशोभित हो रहे हैं। कवियों के वचन निर्मल और गम्भीर होते हैं, उसी प्रकार वे तालाब भी निर्मल और गम्भीर (गहरे) हैं। कवियों की वाणी में सरलता होती है अर्थात् नव रसों से युक्त होती है उसी प्रकार वे सरोवर भी सरस अर्थात् जल से पूरे हैं। कवियों के वचन पद्यबद्ध होते हैं, वे सरोवर भी पद्मबंध कमलों से सुशोभित हो रहे हैं। वहां की पर्वतीय कंदराओं में किन्नर जाति के देव लोग अपनी देवांगनाओं के साथ विहार करते हुए सदा गाया करते हैं। वहां के वन इतने रमणीय इतने सुन्दर होते हैं कि उन्हें देखकर स्वर्ग के देवता भी काम के वश में हो जाते हैं और वे अपनी देवांगनाओं के साथ क्रीड़ाएं करने लग जाते हैं। मगध में स्थान स्थान पर ग्वालों की स्त्रियां गायें चरातीं हुई दिखलाई देती थीं। वे ऐसी सुन्दरी थीं कि उन्हें देखकर पथिक लोग अपना मार्ग भूल जाते थे। वहां की साधारण जनता धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थों में रत रहती थी। इसके साथ ही जिन धर्म के पालन में अपूर्व उत्साह दिखलाती थी शीलव्रत उनका श्रृंगार था। वहां जिनेन्द्र देव के गर्भ कल्याणक के समय जो रत्नों की वर्षा होती थी, उसे धारण कर वह भूमि वस्तुतः रत्नगर्भा हो गयी थी।

उसी मगध में स्वर्ग लोक के समान रमणीक राजगृह नाम का एक नगर है। वहां मनुष्य और देवता सभी निवास करते हैं। नगर के चारों ओर एक विस्तृत कोट बना हुआ था। वह कोट पक्षियों और विद्याधरों के मार्ग का अवरोधक था एवं शत्रुओं के लिए भय उत्पन्न करता था। उस कोट के निम्न भाग में निर्मल जल से भरी हुई खाई थी। उसमें खिले हुए कमल अपनी मनोरम सुगन्धि से भ्रमरों को एकत्रित कर लिया करते थे। नगर में चन्दा के वर्ण जैसे श्वेत अनेक जिनालय सुशोभित हो रहे थे, जिनके शिखर की पताकायें आकाश को छूने का प्रयत्न कर रही थीं। वहां के मानव वृन्द जल-चन्दन आदि आठों द्रव्यों से भगवान श्री जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा कर उनके दर्शनों से अत्यन्त प्रसन्न होते थे। राजगृह के धर्मात्मा पुरुष मांगने वालों की इच्छा से भी अधिक धन प्रदान करते थे तथा इस प्रकार चिरकाल तक धन का अपूर्व संग्रह कर कुबेर को भी लज्जित करने में कुण्ठित नहीं होते थे। वहां के नवयुवक अपनी स्त्रियों को अपूर्व सुख पहुंचा रहे थे। इसलिए वहां की सुन्दरियों को देखकर देवांगनाएं भी लज्जित होती थीं। वे अपने हाव-भाव विलास आदि के द्वारा अपने पति को स्वर्गीय सुखों का उपभोग कराती थीं। नगर के महलों की पंक्तियां अत्यन्त ऊंची थीं। उसमें सुन्दरता और सफेदी इतनी अधिक थी कि उनके समक्ष चन्द्रमा को भी थोड़ी देर के लिए लज्जित होना पड़ता था। साथ ही बाजार की कतारें भी इतनी सुन्दरता के साथ निर्माण कराई गई थीं कि, जिन्हें देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता था। उनकी दीवारें मणियों से सुशोभित थीं। वहां स्वर्ण रौप्य अन्न आदि का हर समय लेन-देन होता रहता था। उस समय नगर का शासन भार महाराज श्रेणिक के हाथ में था। वे सम्यग्यदर्शन धारण करने वाले थे। समस्त सामन्तों के मुकुटों से उनके चरण-कमल सूर्य से देदीप्यमान हो रहे थे। उनके वैभवशाली राज्य में प्रजा सुखी थी, धर्मात्मा थी। प्रजा धर्म साधन में सर्वदा तल्लीन रहती थी। अतएव उन्हें भय, मानसिक वेदना, शारीरिक संताप, दरिद्रता आदि का कभी शिकार नहीं बनना पड़ता था।

महाराज श्रेणिक अत्यन्त रूपवान थे। वे अपनी सुन्दरता से कामदेव को भी लज्जित कर देते थे। उनका तेज इतना प्रबल था जो सूर्य को भी जीत लेता था तथा वे याचकों को इतना धन देते थे कि जिसे देखकर कुबेर को भी लज्जित होना पड़ता था। शायद विधि ने समुद्र से गम्भीरता छीनकर, चन्द्रमा से सुन्दरता लेकर, पर्वत से अचलता, इन्द्रगुरु बृहस्पति से बुद्धि छीनकर श्रेणिक का निर्माण किया था। महाराज श्रेणिक में तीनों प्रकार की शक्तियां थीं। वे सन्धि-विग्रह आदि छः गुणों को धारण करने वाले थे। वे अर्थ, धर्म, काम सबको सिद्ध करते हुए भी अपनी कर्मेन्द्रियों को वश में रखते थे। उनकी विमल कीर्ति चन्द्रमा के निर्मल प्रकाश की भांति चारों ओर व्याप्त थी। यदि ऐसा न होता तो देवांगनाओं द्वारा उनके गुणों के ज्ञान की आशा नहीं की जा सकती थी। उनके शासन का अभूतपूर्व प्रभाव चारों ओर फैल रहा था। महाराज के शत्रुगण ऐसे व्याकुल हो रहे थे, मानों उनका क्षण भर में ही विनाश होने वाला है। उनकी प्रभा द्वितीया के चन्द्रमा की क्षीण कला की भांति क्षीण

हो गई थी। महाराज श्रेणिक की प्रतिभा के सब लोग कायल थे। उनकी प्रखर बुद्धि स्वभाव से ही प्रताप युक्त थी। अतएव वह चारों प्रकार की राजविद्याओं को प्रकाशित कर रही थी। श्रेणिक की पत्नी का नाम चेलना था। वह कामदेव की पत्नी रति और इन्द्र की इन्द्राणी की भांति कांति और गुणों से सुशोभित थी। उसके नेत्र मृग के से थे। उसका मुख चन्द्रमा जैसा कांतिपूर्ण था। केश श्यामवर्ण के थे। कटि क्षीण, कुच गठित और बड़े आकार के थे। उसकी सुन्दरता देखने लायक थी। विस्तीर्ण ललाट, भौंहें टेढ़ी और नाक तोते की तरह थी। उसके वचन और गमन मदोन्मत्त हाथी की तरह थे। उसकी नाभी सुन्दर और उसके अंग-प्रत्यंग सभी सुन्दर थे। वह सदा सन्तुष्ट रहती थीं। उसकी आत्मा पवित्र और बुद्धि तीक्ष्ण थी। शुद्ध वंश में उत्पन्न होने के कारण वह हाव भाव विलास आदि सभी गुणों से सुशोभित थीं। वह स्त्रियों में प्रधान और पतिव्रता थी। याचकों के लिए हित करने वाला उत्तम दान देने वाली थी। वह शील और व्रतों को धारण करने वाली थीं। उसका हृदय सम्यग्दर्शन से विभूषित था। वह सदा जिन धर्म के पालन में तत्पर रहा करती थी। अनेक देशों के अधिपति, विभिन्न प्रकार की सेनाओं से सुशोभित अत्यन्त समृद्धिशाली महाराज श्रेणिक, अपनी पत्नी चेलना के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए जीवन यापन कर रहे थे।

श्रेणिक के प्रश्न का वर्णन

एक बार अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी समवशरण के साथ अनेक देशों में विहार करते हुए विपुलाचल के मस्तक पर आकर विराजमान हुए। भगवान तीन छत्रों से सुशोभित थे। वे अपने उपदेशामृत से भव्य जीवों के ताप हर लेते थे। उनके साथ गौतम गणधर आदि अनेक मुनियों का विस्तृत समुदाय था। साथ ही सुरेन्द्र नागेन्द्र खगेन्द्र आदि उनकी पाद-वन्दना कर रहे थे। भगवान के पुण्य के माहात्म्य से हिंसक जीव भी अपना अपना वैर भाव छोड़कर परस्पर प्रेम करने लग गये थे। भगवान के आगमन से पर्वत की छटा निराली हो गयी। वृक्ष फल फूलों से सुशोभित हो गए। उन वृक्षों से एक प्रकार की मीठी सुगन्धि फैलने लगी। वे सब कल्पवृक्ष जैसे सुन्दर दीखने लगे। भगवान महावीर स्वामी को देखकर माली चकित हो गया। उसने बड़ी भक्ति के साथ भगवान को नमस्कार किया। इसके पश्चात् वह सब ऋतुओं के फल पुष्प लेकर महाराज श्रेणिक के राजद्वार पर जा पहुंचा। वहां पहुंचकर माली ने द्वारपाल से निवेदन किया कि तू महाराज को सूचना दे आ कि उद्यान का माली आपकी सेवा में उपस्थित होना चाहता है। द्वारपाल ने जाकर महाराज से निवेदन किया कि आपके उद्यान का माली आपसे मिलने की आज्ञा मांग रहा है। महाराज ने माली को लाने के लिए तत्काल आज्ञा दी। यथा समय माली महाराज के सन्मुख पहुंचा। महाराज सिंहासन पर बैठे हुए थे। माली ने हाथ जोड़े और फल-पुष्प समर्पित कर सिर झुकाया। असमय में फल-फूलों को देख कर महाराज की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल ही माली से पूछा—ये पुष्प तुम्हें कहां प्राप्त हुए हैं। उत्तर देते हुए माली ने बड़े विनम्र शब्दों में कहा—महाराज। विपुलाचल पर इन्द्रादि द्वारा पूज्य श्री महावीर स्वामी का आगमन हुआ। उनके प्रभाव का ही यह फल है कि वृक्ष असमय में ही फल-फूलों से लद गये हैं। अभी माली की बात समाप्त भी नहीं हो पायी थी कि महाराज सिंहासन से उठकर खड़े हो गये, और विपुलाचल पर्वत की दिशा की ओर सात पग चल कर भगवान महावीर स्वामी को उन्होंने प्रणाम किया। इसके बाद पुनः सिंहासन पर विराजमान हो गये। महाराज ने प्रसन्नता के साथ वस्त्राभूषणों से माली का सत्कार किया। यह ठीक ही है, ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो भगवान के पधारने पर सन्तुष्ट न हो।

महाराज ने श्री महावीर स्वामी के दर्शनार्थ चलने के लिए नगर में भेरी बजवा दी। नगर के सभी भव्य-लोग चलने के लिए प्रस्तुत हुए। श्रेणिक अपनी प्रिया चेलना के साथ हाथी पर सवार हो प्रसन्नता पूर्वक भगवान के दर्शन के लिए चले। सब लोग महावीर स्वामी के शुभ समवशरण में जा पहुंचे। महाराज श्रेणिक ने मोक्षरूपी अनन्त सुख प्रदान करने वाली भगवान की स्तुति आरम्भ की—हे भगवान। आप परम पवित्र हैं, अतएव आपकी जय हो। आप संसार-सागर से पार करने वाले हैं, अतः आपकी जय हो। आप सबके हितैषी हैं, अतएव आपकी जय हो। आप सुख के समुद्र हैं, अतः आपकी जय हो। हे परमेष्ठिन। आप समस्त संसारी जीवों के परम मित्र हैं, आप संसार रूपी महासागर से पार उतारने के लिए जहाज के तुल्य हैं, अतएव मोक्ष प्रदान कराने वाले भगवान, आपको बारम्बार नमस्कार है। आप गुणों के भंडार हैं,

और संसार की माया से भयभीत हैं। आप कर्मरूपी शत्रुओं के संहारक हैं और विषयी विष को दूर करने वाले हैं, अतएव आपको नमस्कार है। हे गुणों के आगार ! हे भगवन। हे मुनियों में श्रेष्ठ जिनराज। आप कवियों की वाणी से भी परे हैं, आपके सद्गुणों का वर्णन करना सरस्वती की शक्ति के बाहर की बात है। इस प्रकार भगवान की स्तुति कर महाराज श्रेणिक गौतम गणधर आदि अन्यान्य मुनियों को नमस्कार कर मनुष्यों के कोठे में बैठ गये। थोड़ी देर बाद भगवान महावीर स्वामी ने भव्य जीवों को प्रबुद्ध करने के लिए मनोहर धर्मोपदेश देना आरम्भ किया—

मुनि और श्रावकों के धर्म में दो भेद हैं। मुनिधर्म मोक्ष का साधन होता है और श्रावक धर्म से स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के भेद से मोक्षमार्ग तीन प्रकार का होता है। अर्थात् तीनों का समुदाय ही मोक्ष मार्ग है। उनमें सम्यग्दर्शन उसे कहते हैं, जिसमें जीव अजीव आदि सातों तत्वों का यथार्थ श्रद्धान किया जाता हो। वह भी दो प्रकार का होता है—एक निसर्गज-विना उपदेशादि के, और दूसरा अधिगमज अर्थात उपदेशादि द्वारा इन दोनों के भी औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भेद से तीन भेद और कहे गये हैं। अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन सप्त प्रकृतियों के उपशम होने से औपशमिक सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और सातों प्रकृतियों के क्षय होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और पूर्व की छः प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय होने तथा उन्हीं सत्तावस्थित प्रकृतियों के उपशम होने से एवं सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। पदार्थों के सत्य ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहते हैं। वह सम्यक्ज्ञान मति, श्रुत, अवधि मनः पर्यय और केवल ज्ञान के भेद से पांच प्रकार का होता है। जैन शास्त्रों के सिद्धान्त के अनुसार पाप रूप क्रियाओं के त्याग को सम्यग्चारित्र कहते हैं। वह पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति भेद से तेरह प्रकार का होता है। अठारह दोषों से रहित सर्वज्ञदेव में श्रद्धान करना, अहिंसारूप धर्म में श्रद्धान करना एवं परिग्रह रहित गुरु में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, शम, भक्ति, वात्सल्य और कृपा ये आठ सम्यग्दर्शन के गुण हैं। भूख, प्यास, बुढ़ापा, द्वेष, निद्रा, भय, क्रोध, राग, आश्चर्य, मद, विषाद, पसीना, जन्म, मरण, खेद, मोह, चिन्ता, रति ये अठारह दोष हैं। सर्वज्ञ देव इन दोषों से सर्वथा रहित होते हैं। आठ मद, तीन मूढ़ता, छः अनायतन और शंका कांक्षा आदि आठ दोष मिलकर सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं। द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, परस्त्री, चोरी और शिकार ये सप्त व्यसन हैं। बुद्धिमानों को इनका भी त्याग कर देना चाहिए। मद्य, मांस, मधु के त्याग और पंच उदम्बरों के त्याग से आठ मूलगुण हैं। प्रत्येक गृहस्थ के लिए इन मूल गुणों का पालन करना बहुत ही आवश्यक है। मद्य का त्याग करने वाले को छाछ मिले हुए दूध, वासी दही, आदि का भी त्याग कर देना चाहिए। इसी प्रकार मांस का त्याग करने वाले के लिए चमड़े में रखा हुआ घी, तेल, पुष्प, शाक मक्खन, कंद मूल और घुना हुआ अन्न कदापि नहीं खाना चाहिए। धर्मात्मा लोगों के लिए बैंगन, सूरन, हींग, अदरक और विना छना हुआ जल भी त्याज्य है। अज्ञात फलों को तो सर्वथा त्याग कर देना ही चाहिए। ऐसे ही बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे मधु का परित्याग कर दें। कारण शहद निकालते समय अनेक जीवों का घात होता है। उसमें मक्खियों का रुधिर और मैला मिला हुआ होता है। इसलिए वह लोक में निन्दनीय हैं। इसके अतिरिक्त श्रावकों को दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग इन ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना चाहिए। अहिंसा अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत, ब्रह्मचर्य अणुव्रत, परिग्रह परिमाण अणुव्रत कहलाते हैं। श्रावकों को उचित है कि इनका भी पालन करें।

दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्ड व्रत ये तीन गुणव्रत हैं। श्रावकाचार को जानने वाले श्रावक इनका उत्तम रीति से पालन करें। छः प्रकार के जीवों पर कृपा करना, पंचेन्द्रियों को वश में करना एवं रौद्र ध्यान तथा आर्द ध्यान के त्याग कर देने को सामायिक कहते हैं। सामायिक का पालन नियमित रूप से श्रावकों के लिए अनिवार्य होता है। अष्टमी, चौदश के दिन प्रोषधोपवास अत्यन्त आवश्यक है। प्रोषधोपवास के भी तीन भेद माने गये हैं—उत्तम मध्यम और जघन्य। केसर चन्दन आदि पदार्थों के लेपन को भोग कहते हैं और वस्त्राभूषणादि को उपयोग। इन दोनों की संख्या नियत कर लेनी चाहिए। इसको भोगोपभोगपरिमाण व्रत कहते हैं। श्रावकों के लिए यह भी आवश्यक है। शास्त्रदान, औषधिदान, अभयदान और आहारदान ये चार प्रकार के दान हैं। प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि वे अपनी शक्ति के अनुसार इन दोनों को गृह त्यागी मुनियों को दे। वाह्य और आभ्यन्तर के भेद से शुद्ध तपश्चरण दो प्रकार के होते हैं। इन्हें तत्व ज्ञानियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिए उपयोग में लाना चाहिए।

इस प्रकार के धर्मोपदेश को सुनकर महाराज श्रेणिक को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। सत्य ही है—अमृत के घड़े की प्राप्ति से कौन संतुष्ट नहीं होता। अर्थात् सभी सन्तुष्ट होते हैं। पश्चात् महाराज श्रेणिक गणधरों के प्रभु स्वामी सर्वज्ञ देव को नमस्कार कर खड़े हो गये और भगवान गौतम गणधर के पूर्व वृत्तान्त पूछने लगे—भगवन ! ये गौतम स्वामी कौन हैं ? किस पर्याय से यहां आकर इन्होंने जन्म धारण किया है। इन्हें किस कर्म से ये लब्धियां प्राप्त हुई हैं। ये सब क्रमानुसार मुझे बतलाइये। आपके निर्मल वचनों से मेरा सारा सन्देह दूर हो जायगा। आपके वचन रूपी सूर्य के समक्ष मेरे संदेहरूपी अन्धकार का नाश हो जाना निश्चित है।

धर्म के प्रभाव से उच्चकुल की प्राप्ति और मिष्ट वचनों की प्राप्ति होती है। उस पर सबका प्रेम होता है। वह सौभाग्यशाली होता है और उत्तम पद को प्राप्त होता है। उसे सर्वांग सुन्दर स्त्रियां प्राप्त होती हैं और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उसे उत्तम बुद्धि, यश, लक्ष्मी और मोक्ष तक प्राप्त होते हैं। अतः श्रेणिक ने जैन धर्म में निष्ठा कर अपनी सद्बुद्धि का परिचय दिया।

द्वितीय अधिकार

भगवान जिनेन्द्र देव ने अपने शुभ वचनों के द्वारा संसार के दूषित मल का प्रक्षालन करते हुए कहा – श्रेणिक ! तू निश्चिन्तता पूर्वक श्रवण कर। मैं पाप और पुण्य दोनों से प्रकट होने वाले श्री गौतम गणधर स्वामी के पूर्व भवों का वर्णन करता हूँ। भरत क्षेत्र में अनेक देशों से सुशोभित, अत्यन्त रमणीय अवंती नाम का एक देश है। उस देश में मुनिराजों द्वारा एकत्रित किये हुए यश के समूह की तरह विशाल तथा ऊँचे श्वेतवर्ण के जिनालय शोभित थे। वहां पथिकों को इच्छित फूल, फल प्रदान करने वाली वृक्ष पंक्तियां सुशोभित हो रही थीं। वहां समय पर मेघों, द्वारा सींचे हुए खेत, सब प्रकार की सम्पत्ति, फल फूल से लदे हुए थे। उस देश में पुष्पपुर नाम का एक नगर था। वह नगर ऊँचे कोट से घिरा हुआ, सुन्दर उद्यानों से सुशोभित नन्दन वन को भी लज्जित कर रहा था। वहां के देव-मन्दिर जिनालय और ऊँचे-ऊँचे राजमहल अपनी शुभ्र छटा से हंसते हुए जान पड़ते थे। वहाँ के अधिवासी जैन धर्म के अनुयायी थे। वे धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाले थे। वे दानी और बड़े यशस्वी थे। वहाँ की ललनाएं सुन्दर शीलवती, पुत्रवती, चतुर और सौभाग्यवती थीं। इसलिये वे कल्पलताओं की तरह सुशोभित होती थीं। नगर का राजा महीचन्द्र था जो दूसरा चन्द्रमा ही था। उसकी सुन्दरता अपूर्व थी। अनेक राजा तथा जन समुदाय बड़ी भक्ति के साथ उसकी सेवा कर रहे थे। इतना सब कुछ होते हुए भी उसके हृदय में अर्हत देव के प्रति बड़ी भक्ति थी। वह धन का भोग करने वाला, दाता, शुभ कर्मों को सम्पन्न करने वाला, नीतिज्ञ और गुणी था। अतः वह महाराज भरत के समान जान पड़ता था। दुष्टों के लिये वह काल के समान और सज्जनों का प्रतिपालक था। राजा महीचन्द्र राजविद्या और बुद्धि विद्या दोनों में निपुण था। राजा की सुन्दरी नाम की रानी थी। वह अत्यन्त गुणवती, रूपवती, पतिव्रता और अनेक गुणों से सुशोभित थी। वह राजा सुन्दरी के साथ राज्य सामग्री का उपयोग करते हुए पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार आदि करते हुए सुख पूर्वक समय व्यतीत कर रहा था।

उस नगर के बाहर एक दिन अंगभूषण नाम के मुनिराज का आगमन हुआ। वे आम के पेड़ के नीचे एक शिला पर आसन लगा कर बैठ गए। उनके साथ चारों प्रकार का संघ था। वे अवधिज्ञानधारी सम्यग्दर्शन से विभूषित थे। कामरूपी शत्रुओं को मर्दन करने वाले थे और सम्यक् चारित्र के आचरण करने में सदा तत्पर थे। तपश्चरण से उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था। क्रोध, कषाय, मान रूपी महापर्वत को चूर करने के लिए वे वज्र के समान तीक्ष्ण थे। मोहरूपी हाथी के लिए सिंह के समान तथा इन्द्रिय रूपी मल्लों को परास्त करने वाले थे। इसके अतिरिक्त परिषहों को जीतने वाले सर्वोत्तम और छः आवश्यकों से सुशोभित थे। वे मूलगुणों और उत्तर गुणों को धारण करने वाले थे। राजा महीचन्द्र को जब यह बात मालूम हुई कि नगर के बाहर मुनिराज का आगमन हुआ है, तब वह अपनी रानी और नगर निवासियों को लेकर उनके दर्शन के लिये चला। वहां पहुँचने पर राजा ने जल चन्दन आदि आठ द्रव्यों से मुनिराज के चरण कमलों की पूजा की। इसके बाद

वड़ी विनम्रता के साथ उनकी स्तुति कर नमस्कार किया। पुन: उनसे धर्मवृद्धि का आशीर्वाद प्राप्त कर उनके समीप ही वैठ गया। उस वन में लोगों का वड़ा समुदाय देख अत्यन्त कुरूपा तीन शूद्र की कन्यायें—जो कहीं जा रही थीं, आकर वैठ गयीं। इसके वाद मुनिराज ने राजा महीचन्द्र और जन समुदाय के लिये भगवान जिनेन्द्र की वाणी से प्रकट हुआ लोक कल्याण कारक धर्मोपदेश देना आरम्भ किया। वे कहने लगे—देव, शास्त्र और गुरु की सेवा करने से धर्म की उत्पत्ति होती है। एकेन्द्रिय और द्वय इन्द्रिय आदि समस्त प्राणियों की रक्षा करने से धर्म उत्पन्न होता है। जीवों के उपकार से धर्म उत्पन्न होता है और धर्म के मार्गों को प्रदर्शित करने से सर्वोत्तम धर्म प्रकट होता है। मन, वचन, कायकी शुद्धता द्वारा सम्यग्दर्शन के पालन करने, व्रतों के धारण करने तथा मद्य मांस मधु के त्याग करने से धर्म की अभिवृद्धि होती है। पांचों इन्द्रियों को वश में करने तथा अपनी शक्ति के अनुसार दान करने से धर्म की अभिवृद्धि होती है। ऐसे अन्य भी वहुत से उपाय हैं, जिनसे जैन धर्म की वृद्धि होती है और लोक तथा परलोक में सांसारिक जीवों को उत्तम सुख प्राप्त होता है। फल यह होता है कि धर्म के प्रभाव से मानव जाति को शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। रत्नत्रय के प्राप्त होने के वाद मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। यह धर्मरूपी कल्पवृक्ष इच्छा के अनुसार फल देने वाला, हर्ष उत्पन्न करने वाला एवं सौभाग्यशाली वनाने वाला है। इससे कान्ति, यश सभी प्राप्त होते हैं। अपने पुण्य के प्रभाव से भरत क्षेत्र के छ: खण्डों की भूमि, नवनिधि, चौदह रत्न और अनेक राजाओं से सुशोभित चक्रवर्ती की विभूति प्राप्त होती है। उसी पुण्य की महिमा से मनुष्य देवांगनाओं के समान रूपवती और अनेक गुणों से सुशोभित ऐसी अनेक स्त्रियों का उपभोग करते हैं। यही नहीं विद्वान्, वीर और शोभाग्यशाली पुत्र भी पुण्य के प्रभाव से ही प्राप्त होते हैं। वड़े-वड़े राजा महाराजा तथा धनवान लोग—जो सोने के पात्र में भोजन करते हैं, वह भी पुण्य के प्रभाव के विना नहीं प्राप्त होता। राजन्! शरीर का स्वस्थ रहना, उत्तम कुल में जन्म ग्रहण करना, वड़ी आयु को प्राप्त करना तथा सुन्दर रूप का मिलना ये सव पुण्य के प्रभाव हैं। इसे धर्म का ही फल समझना चाहिए। यह भी स्मरण रहे कि देव, शास्त्र और गुरु की निन्दा से पाप उत्पन्न होता है तथा सम्यग्दर्शन व्रत आदि नियमों को भंग करने से महान पाप का भागी वनना पड़ता है। सातों व्यसनों के सेवन से भी भारी पाप लगता है। पंचेन्द्रियों के विषयों के सेवन से भी पाप लगता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों के संयोग से अन्य जीवों को पीड़ा पहुँचाने से और निन्द्य आचरणों के व्यवहार से पाप उत्पन्न होता है। पर स्त्री सेवन से, दूसरे के धन अपहरण से, किसी की धरोहर को लेने से कठिन पाप होता है, अर्थात् महापाप लगता है। जीवों की हिंसा करने, झूठ वोलने, अधिक परिग्रह की इच्छा रखने और किसी के कर्म में विघ्न उपस्थित करने से भी पाप का भागी होना पड़ता है। मद्य, मांस, मधु भक्षण और हरे कन्द-मूल आदि पदार्थों के भक्षण से भी पाप लगता है। विना छाने हुए जल के सेवन से भी वड़ा पाप लगता है। कुत्ता, विल्ली आदि दुष्ट जीवों के पालन-पोषण से भी पाप का भागी वनना पड़ता है। इस प्रकार के पाप कर्म के उदय से ये जीव कुरूप, लंगड़े, काने, टौटे, वौने, अन्धे, कम आयु वाले, अगोंपांग रहित तथा मूर्ख उत्पन्न होते हैं। पाप कर्म के उदय से ही दरिद्री नीच अनेक शारीरिक व्याधियों से पीड़ित और दु:खी उत्पन्न होते हैं। जीवों के अपयश वढ़ाने वाले लम्पट दुराचारी तथा नित्य कलह करने वाले पुत्र का उत्पन्न होना भी पाप का ही कारण है। अक्सर पाप कर्म से ही स्त्रियाँ काली, कलूटी तथा दुर्वचन कहने वाली मिलती हैं। साथ ही पाप कर्म से ही लोगों को भीख मांगने के लिए विवश होना पड़ता है। यहाँ तक कि उन्हें स्वादहीन मिट्टी के वर्तन में रखा हुआ भोजन करना पड़ता है। अतएव राजन्! इस संसार की जितनी दु:ख प्रदान करने वाली वस्तुएं हैं, वे सव की सव पाप कर्मों के उदय से ही प्राप्त होती हैं। संसार में जो कुछ भी वुरा है, उसे पाप का ही फल समझना चाहिए। मुनिराज ने इस प्रकार पुण्य और पाप के फल कह सुनाए। महिचन्द्र को अपूर्व संतोष हुआ। इधर राजा ने तीनों कुरूपा कन्याओं को देखा। वे दीन स्वभाव की, दुखी और माता-पिता भाई आदि से रहित थीं। उन्हें देखकर राजा का हृदय दयापूर्ण हो गया। उनके नेत्र खिल उठे तथा मन प्रसन्न हो गया। इस प्रकार का परिवर्तन देख कर राजा को वड़ा आश्चर्य हुआ। वे सद्भाव के साथ उन्हें देखने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने मुनिराज की स्तुति कर पूछा— भगवन! इन कुरूपा कन्याओं को देख मेरे हृदय में प्रेम के भाव क्यों अंकुरित हो रहे हैं। उत्तर में मुनिराज कहने लगे— राजन! इस स्थल पर प्रेम उत्पन्न होने का कारण पूर्व-भव का सम्वन्ध है। मैं वतलाता हूँ। ध्यान देकर श्रवण करो।

भरत क्षेत्र में ही काशी नाम का एक सुविस्तृत देश है। वह तीर्थकरों के पंच-कल्याणकों से सुशोभित है। वहां के नगर ग्राम और पत्तन की शोभा अपूर्व है। वह रत्नों की खान के नाम से प्रसिद्ध है। उसी देश में वनारस नाम का एक अत्यन्त मनोहर नगर है। वह इतना सुन्दर है कि मानों विधि ने अलका नगरी को जीतने के लिए ही उसका निर्माण किया हो। आकाश को स्पर्श करने वाले उसके चारों ओर सुविशाल कोट हैं। कोट की ऊंचाई इतनी ऊंची है, जिससे प्रतीत होता है कि क्रोध करने पर वह सूर्य के तेज और वादलों के समूह को भी रोक सकती हैं। कोट के चारों ओर खाई थी, जिसे देखकर शत्रुओं के छक्के

छूट जाते थे। वह खाई निर्मल और गम्भीर जल से परिपूर्ण थी। इसलिए वह एक सुपटु कवि की कविता के समान सुशोभित थी। वहां के जिनालय अपनी फहराती हुई शुभ्र ध्वजा से भव्य जीवों को पवित्र करने के उद्देश्य से बुला रहे थे। वहां के मकानों की पंक्तियां ऊंची और भव्य थीं। उन पर तरह तरह के चित्र बने हुए थे। वे बर्फ और चन्द्रमा को तरह शुभ्र थीं। इसीलिए दर्शनीय थीं। उन्हें देखकर यही प्रतीत होता था कि मुक्ता की सुन्दर मूर्तियां प्रस्तुत की गयी हों। वहां के मनुष्य स्वभाव से ही दान करने वाले थे। वे भगवान जिनेन्द्र देव की सेवा में संलग्न रहने वाले थे। परोपकार, धर्मकार्य में उनके आचरण अनुकरणीय थे। वहां की स्त्रियों का तो कहना ही क्या ? वे देवांगनाओं को भी रूप में परास्त करती थीं। वे सौभाग्यवती गुणवती पति प्रेम में सदा तत्पर रहने वाली थीं। वहां के बाजार भी अपनी अपूर्व विशेषता रखते थे। दुकानों की पंक्तियां इतनी सुन्दरता के साथ निर्मित की गयी थीं कि, उन्हें देखते रहने की इच्छा होती थी। वह नगर सोने चांदी रत्न और अन्नादि से सर्वथा भरपूर था। संध्या के बाद से वहां की स्त्रियां ऐसे मधुर स्वर में गाने लगती थीं कि आकाश मार्ग से जाते हुए चन्द्रमा को भी उनके लालित्य पर मुग्ध होकर कुछ देर के लिए रुक जाना पड़ता था। इस प्रकार वे चन्द्रमा को भी रोक लेने में समर्थ थीं। रात्रि काल में अपने इच्छित स्थान को गमन करने वाली वेश्याएं भी चंचल नदी की भांति लहराती हुई देख पड़ती थीं। बावड़ियों से जल भरने वाली पनिहारियां भी क्रीड़ा करती हुई नजर आती थीं। कमलों की सुगन्धि से भ्रमण करते हुए भौंरे उन्हें दुखी कर रहे थे। उनकी जलक्रीड़ा से उनके शरीर से जो केसर धुलकर निकल रही थी, उससे भौरों के शरीर पीले पड़ रहे थे। और उन्हीं सरोवरों में कामी पुरुष अपनी रमणियों के साथ जल क्रीड़ा कर रहे थे। नगर की दूसरी ओर खलिहानों में अनाज की राशियां शोभित हो रही थीं। वे राशियां किसानों को आनन्द देने वाली थीं वहां के खेतों की विशेषता थी कि वे हर प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करते रहते थे। सड़क के दोनों किनारों पर सघन पेड़ों की सुन्दर पंक्तियां लगी हुई थीं, जिनकी सुशीतल छाया में श्रान्त पथिक लोग विश्राम किया करते थे। उन वृक्षों की डालियां फलों के भार से नत हो रही थीं। नगर के चारों ओर सुन्दर और विशाल उद्यान थे, जहां की लताएं पुष्प और फलों से सुशोभित थीं। वे लताएं मनोहर सरस एवं विलासिनी स्त्रियों के समान शोभित थीं।

उस नगर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि, वहां कोई रोगी नहीं था। यदि सरोग था तो राजहंस ही। वहां ताड़न का तो नाम नहीं था। हां कपास का ताड़न होता था और उससे रुई निकाली जाती थी। वहां किसी के पतन की भी संभावना नहीं थी। यदि पतन था तो वृक्षों के पत्तों का, क्योंकि वही ऊपर से नीचे गिरते थे। बन्धन भी कशपाशों का ही होता था। वे ही बड़ी सतर्कता से बांधे जाते थे। वहां दण्ड, ध्वजाओं में ही था और किसी को दण्ड नहीं दिया जाता था। भंग भी कवियों के रचे हुए छन्दों तक ही सीमित था और किसी का भंग नहीं होता था। हरण स्त्रियों के हृदय में ही था और किसी का हरण नहीं किया जाता था। स्त्रियां ही पुरुषों के हृदय का हरण कर लेती थीं। वहां भय भी नवोढ़ा स्त्रियों को ही होता और कोई कभी भयभीत नहीं होता था। इस नगर के राजा का नाम विश्वलोचन था। वह शत्रु समुदाय के लिए सिंह के समान था और उसकी कांति सूर्य को भी परास्त करने वाली थी। वह याचकों को इच्छा के अनुसार दान दिया करता था। अतएव वह मनकी उत्कट भावनाओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्षों को भी सदा जीतता रहता था। संभवतः विधाता ने इन्द्र से प्रभुत्व लेकर कुबेर से धन और चन्द्रमा से शीलता और सुन्दरता लेकर उसका निर्माण किया था। उसके अंग प्रत्यंग ऐसे बने थे, मानों सांचे में ढाले गए हों। जिस प्रकार हरिण सिंह के भय से जंगल का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार विश्वजीत के महाप्रताप को देखकर उसके शत्रु अपनी प्राण-रक्षा के लिए देश का त्याग कर देते थे। उसका विस्तृत ललाट ऐसा मनोरम प्रतीत होता था, मानो विधि ने अपने लिखने के लिए ही उसे बनाया हो। उसके भुजा रूपी दण्ड सुन्दर और जांघ तक लम्बे थे। वे ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे शत्रुओं को बांधने के लिए नागपाश हों। उसका सुविस्तृत वक्षस्थल देवांगनाओं को भी मोहित कर लेता था और लक्ष्मी का क्रीड़ास्थल जान पड़ता था। समुद्रों को धारण करने वाली गंभीर पृथ्वी की तरह उसकी विमल बुद्धि चारों प्रकार की विद्याओं को धारण करने वाली थी। उसकी अत्यन्त उज्ज्वल और निर्मल कीर्ति सुदूर देशों तक फैली हुई थी। विश्वजीत राजा के यहां प्रधान मंत्री सुन्दर देश किले, खजाने, और सेनाएं आदि सब कुछ थे। प्रभाव उत्साह आदि तीनों शक्तियां विद्यमान थीं। इसके अतिरिक्त संधि विग्रह, यान आसनद्वेधा आश्रय आदि छः गुण थे इसीलिए वह राजा शत्रुओं के लिए अजेय हो रहा था। वह विश्व के सभी राजाओं में श्रेष्ठ गिना जाता था। नीति निपुण रूपवान मिष्टभाषी और प्रजा हितैषी था। उसके सिंहासना-रोहण के बाद से ही राज्य की सारी प्रजा सुखी धर्मात्मा और दानी हो गयी थी।

राजा की विशालाक्षी नाम की पत्नी थी, जो अत्यन्त रूपवती और प्रेम की प्रतिमूर्ति थी। वह इन्द्राणी, रति, नाग-स्त्री और देवांगनाओं जैसी रूपवती जान पड़ती थी। रानी की गति मदोन्मत्त हाथियों की तरह थी। इसकी अंगुलियों के बीसों

नख द्वितीया के चन्द्रमा के समान बड़े ही मनोहर और भव्य जान पड़ते थे। उसकी जांघ केले के स्तंभ की तरह सुकोमल और कामोद्दीपक थी। वह रानी अपने मनोरम कटिप्रदेश की सुन्दरता से सिंह के कटि प्रदेश की शोभा को हरण कर लेती थी। यदि ऐसा न होता तो सिंह को गुफाओं की शरण नहीं लेनी पड़ती। उसकी नाभी गोल, मनोहर एवं गम्भीर थी। वह काम रस (जल) से भरी हुई नायिका की भांति प्रतीति होती थीं। उसके कुच विल्व फल के समान कठोर थे। वह कामीजनों के हृदय को जीतने वाली थी। उन कुचों के मध्य रोम राशि ऐसी प्रतीत होती थी मानों दोनों के विरोध को दूर करने के लिए सीमा निर्धारित कर रही हों। रानी के हाथों की दोनों हथेलियां लाल कोमल और सुन्दर थीं। उन पर मछली ध्वजा आदि के आकर्षक चिन्ह वने हुए थे। वह अपनी मुखाकृति से आकाश के चन्द्रमा को भी लज्जित करती थी। इसीलिए चन्द्रमा महादेव की सेवा करनें में लग गया था। रानी की नाक इतनी सुन्दर थी कि तोते की चोचों की सारी सुन्दरता जाती रही। तोते विचारे लज्जा से अवनत हो वन में जा पहुंचे थे। वह अपनी सुमधुर वाणी से पिक की वाणी भी जीत चुकी थी। संभवतः यही कारण है कि कोयलों ने श्यामवर्ण धारण कर लिया है। उसके विशाल नेत्र हिरणी के नेत्रों को भी मात करते थे। यही कारण है कि हिरणियों ने अपना वसेरा वन में कर लिया है। रानी के दोनों कान मनोहर और कर्ण-भूषणों से शोभित हो रहे थे। उसकी भौंहें कमान जैसी टेढ़ी और चंचल थीं, मानों वे कामरूपी योद्धाओं को परास्त करने के लिए धनुषवाण ही हों। रानी की सुगन्धित पुष्पों से गठी हुई केशराशि ऐसी सुन्दर जान पड़ती थी कि उसकी सुगन्धि के लोभ से सर्प ही आ गये हों। वह अपने कटाक्ष और हाव भाव से सुशोभित थी। अर्थात समस्त गुणों से भरपूर थी। उसके गुणों का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। वह बड़ी रूपवती और पति को स्ववश में करने के लिए औषधि के तुल्य थी। ऐसी परम सुन्दरी के साथ सुख उपभोग करता हुआ राजा जीवनयापन कर रहा था। जिस प्रकार कामदेव रति के वश में रहता है, ठीक उसी प्रकार उस रानी ने अपने पति को प्रेमपाश में वांध लिया था। राजा विश्वलोचन को उस विशालाक्षी के स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और शब्द से जो ऐहिक सुख उपलब्ध थे, उसे वही अनुभव कर सकता है, जिसे ऐसी सुन्दरी पत्नी मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो।

कुछ समय व्यतीत होने पर ऋतुराज वसंत का आगमन हुआ। स्वभाव से ही वसन्त ऋतु में तरुणों में कामोपभोग की लालसा प्रवल हो उठती है। समस्त वृक्ष फल-फूलों से लद गए। उन पर पक्षियों का निवास हो गया। उस समय तरुण पुरुष भी अपनी कान्ता के साथ परस्पर संभोग के लिए उत्सुक हो गए। प्रेम पूर्ण कामनियां उनके हृदयों में निवास करने लग गयीं। वसन्त की उन्मत्तता शील संयमादि धारण करने वाले मुनियों को भी विचलित करने से नहीं चूकती। कामरूपी योधा वसन्त, क्षीण शरीर वाले मुनियों तक के हृदयों में भी क्षोभ उत्पन्न कर रहा था। उसी समय राजा विश्वलोचन अपनी विशाल सेना और नगर निवासियों को साथ लेकर क्रीड़ा के लिए उस वनस्थली में पहुंचा, जहां के वृक्ष लताओं से भरपूर हो रहे थे। वन में पहुंचकर राजा को हार्दिक प्रसन्नता हुई। वन की मनोहर सुन्दरता, वायु से चंचल लताओं के समूह एवं चहकते हुए पक्षियों की सुमधुर ध्वनि से ऐसा प्रतीत होता था, मानो राजा विश्वलोचन के समक्ष वायुरूपी अप्सरा नृत्य कर रही हो। वह लतारूपी अप्सरा पुष्पों से सजी हुई थी। वृक्षों की पत्तियां उसके रमणीय केश से प्रतीत होती थी। फल स्तन थे। हंसादि पक्षियों की सुमधुर ध्वनि संगीत का भान करा रहे थे। वह वनस्थली सारी छटाको धारण किए हुए थी। मानव चित्त को चुराने वाली लतायें पुष्पहार जैसी सुशोभित थीं। वसंत के उन्मत्त भ्रमरों की झंकार उसके गीत थे, कोयलों की वाणी मृदंग और शुक की ध्वनि वीणा। छिद्रयुक्त वासों की आवाज सम और ताल का काम दे रही थीं। इस प्रकार सारी वनस्थली लहलहा उठी थी, मानों अपने अतिथि महाराज का स्वागत कर रही हो।

प्रथम ही राजा ने आम के वृक्ष पर वैठे हुए दो स्त्री-पुरुष पिकों को देखा। वे परस्पर प्रेम-चुम्बन कर रहे थे। जिस स्त्री का सम्भोग सुख प्रदान करनेवाला पति विदेश चला गया हो, वह भला वसंत के इस मधुमय समय में पिक की वाणी कैसे सहन कर सकती है। राजा वन के चारों ओर घूम-घूम कर पक्षियों के मनोहर कलरव सुनने लगे। कहीं मालती के सुगन्धित पुष्प देखे, कहीं पुष्प वृक्षों पर भ्रमरों का समूह क्रीड़ा करते हुए दिखायी दिया। इसी प्रकार किन्हीं स्थानों पर मूक मयूर नृत्य करते थे। स्थान-स्थान पर वन्दरों की विशाल क्रीड़ा हरिणों की लीला और पक्षियों के समुदाय देखे। राजा ने आम के वृक्ष, अनार के वन ओर कहीं विजौर के फल देखे। स्त्री पुरुषों कीक्रीड़ा भी देखने लायक थी। कहीं कोई अपनी प्रिया को मना रहा है। कहीं स्त्री मान द्वारा पति को चिढ़ा रही है। कोई प्रेम में मत्त थी और कोई स्तन दिखाकर प्रेम प्रकट कर रही थी। किन्हीं स्थलों पर हरी घास थी, कहीं पृथिवी जल से भर रही थी और कहीं पर आम के वृक्ष फलों से झुक रहे थे। इन सारी शोभा को राजा ने वड़े चाव से देखा। पश्चात् वह अंगूर की लताओं के मंडप में पहुंचे और वहीं पंचेन्द्रियों की तृप्ति करने वाले सरस कामोपभोग एवं लीला पूर्वक ऐहिक स्पर्श से रानी को प्रसन्न करने लगे। इस प्रकार राजा कामोपभोग से प्रसन्न होकर रानी के

साथ जल क्रीड़ा के लिए गये। जल क्रीड़ा करते समय सरोवर की छटा देखने लायक थी। शरीर की केसर घुल-घुल कर सरोवर के जल को पीला करने लगी और पुष्पों की सुगन्ध से वह सरोवर सुगन्धित हो गया। जब उनकी जल क्रीड़ा समाप्त हो गयी तो वे बड़े गाजे बाजे और स्त्रियों के मनोहर गीत के साथ अपने राज महल को लौटे।

संध्या हो चली। जिन कामी जनों के हृदय को रमणियों ने अपना लिया था, मानों उन पर दया करके ही सूर्य अस्त होने लगा। समस्त आकाश में लाली दौड़ गयी। चारों ओर से पक्षियों के कोलाहल सुनाई देने लगे। आकाश में पूर्ण चन्द्रमा का उदय हुआ। कुमुदिनी प्रफुल्लित हुई और संभोग करने वाली स्त्रियां अत्यन्त प्रसन्न हो गयीं। राजा भी महल में आकर पुनः अपनी रानी के साथ आसक्त हो गये। सत्य ही है, स्त्रियां स्वभाव से ही मोहक होती हैं। साथ ही यदि रूपवती हों तो फिर पूछना ही क्या ? ऐसे ही सुख से समय व्यतीत करते हुए कितने दिन व्यतीत हो गये, राजा को तनिक भी खबर नहीं थी। वस्तुतः सुख का समय एक दिवस की तरह बीत जाता है और दुःख का एक दिवस मास की तरह प्रतीत होता है।

एक दिन की बात है। रानी प्रसन्नचित्त होकर चामरी और रंगिका नाम की दो दासियों के साथ अपने महल के झरोखे पर खड़ी हुई बाहरी दृश्य देख रही थी। एक नाटक देखकर उसके हृदय में चंचलता उत्पन्न हो गयी। वह नाटक आनन्द वर्द्धक मनोहर और रसपूर्ण था। उसमें अनेक, पात्र अपना अभिनय संपन्न कर रहे थे। भेरी, मृदंग ताल, वीणा, वंशी, डमरू झांझ आदि अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। वहां पुरुषों की भीड़ लगी हुई थी। वह नाटक ताल और लयों से सुन्दर था। उसमें स्त्री वेशधारी पुरुषों के नृत्य हो रहे थे। खेल तथा दृश्य के साथ पुरुषों के अंग विक्षेप और स्त्रियों के गान हो रहे थे। अर्थात् वह नाटक सब के मन को प्रफुल्लित कर रहा था। ऐसे मनोमुग्धकारी अभिनय को देखकर रानी चंचल हो उठी। ठीक ही है, अपूर्व नाटक को देखकर कौन ऐसा हृदय होगा, जिसमें विकार न उत्पन्न होता हो। रानी सोचने लगी-इस राज्योपभोग से मुझे क्या लाभ होता है। मैं एक अपराधी की भांति बन्दीखाने में पड़ी हुई हूं। वे स्त्रियां ही संसार में सुखी हैं जो स्वतन्त्रता पूर्वक जहां कहीं भी विचरण कर सकती हैं। अवश्य यह पूर्व भव के पाप कर्मों के उदय का ही फल है कि मुझे उस अपूर्व सुख से वंचित होना पड़ा है। अतएव अब से मैं भी उन्हीं की तरह स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करने का प्रयत्न करूंगी और वह भी सदा के लिए। इस सम्बन्ध में लज्जा करना ठीक नहीं।

रानी की चिन्ता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। किन्तु अपने मनोरथों को पूर्ण करने के लिए उसे कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ा। पर एक उपाय उसे सूझ पड़ा। उसने अपनी चतुर दासियों से कहा, दासियों ! स्वतन्त्रता पूर्वक विचरण करना मानव जन्म को सार्थक करता है एवं कामजन्य भोगादि को प्राप्त करानेवाला होता है। अतएव आओ हम लोग स्वतन्त्रता पूर्वक घूमने फिरने के उद्देश्य से बाहर निकल चलें। दासियों ने रानी के प्रस्ताव का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि······आपके विचार बहुत ही उत्तम हैं। वस्तुतः मानव जन्म सार्थक करने के लिए इससे बढ़ कर और दूसरा मार्ग नहीं है। इसके पश्चात् काम-बाण से दग्ध अत्यन्त विह्वल, विलास की कामना करने वाली, वह रानी पूर्वार्जित पापों के उदय से दासियों को लेकर घर से बाहर निकलने का प्रयत्न करने लगी। वस्तुतः असत्य भाषण करना, दुर्बुद्धि होना कुटिल होना, और कपटाचार करना ये स्त्रियों के स्वाभाविक दोष होते हैं। इन्हीं कारणों से उसने रूई भर कर एक स्त्री का पुतला बनाया और उसे वस्त्राभूषणों से खूब सजाया। रानी ने उस पुतले की कमर में करधनी, पैरों में नूपुर, सर में तिलक लगाये तथा उसे चन्दन से लिप्त कर फूलों से खूब सजाया। उसके स्तनों पर कंचुकी, मुख पर पत्तन तथा मोतियों की नथ पहना दी। रानी एक बार उस बने हुए पुतले को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। वह ठीक रानी की आकृति का ही बन गया था। पश्चात् रानी ने उस पुतले को चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से लिप्त और मोती आदि अनेक रत्नों से सुशोभित कर पलंग पर सुला दिया। उसने द्वारपाल आदि सब सेवकों को धन देकर अपने वश में कर लिया था। उसके पूर्वभव के पापों के उदय से ही उसकी ऐसी विचित्र बुद्धि होगयी। वह किसी देवी की पूजा के बहाने अपनी दो दासियों को साथ लेकर घर से बाहर निकली। उन तीनों ने अपने वस्त्राभूषण आदि राज्य चिन्हों का सर्वथा परित्याग कर दिया एवं गेरुआ वस्त्र पहन कर योगिनी वेश में हो गयीं। वे राजमहल से चलकर सीधे वन में पहुंची। उनका राजभवन में मिलने वाला सुन्दर भोजन तो छूट ही गया था, वे अपनी भूख की ज्वाला मिटाने के लिए वृक्षों के फल खाने लगीं। यहां विचारणीय है कि कहां तो रानी का पद और कहां आज योगिनी का वेष। केवल पाप कर्मों के उदय से ही मनुष्य को अशुभ कर्मो की प्राप्ति होती है।

दूसरे दिन काम से पीड़ित राजा मणियों से सजाये हुए रानी के सुन्दर महल में जाने लगा उसने अन्यान्य परिजन वर्ग को महल के बाहर ही छोड़ दिया और स्वयं सुगन्धित पदार्थों से विलेपित महल के अन्दर जा पहुंचा। उस दिन रानी के

उस सुन्दर पलंग को देख कर राजा को अपूर्व प्रसन्नता हुई। उसके रोम रोम पुलकित हो उठे और नेत्र तथा मुंह प्रफुल्लित हो रहे थे। उसने मन ही मन विचार किया कि, मैं इन्द्र हूं और मेरी रानी साक्षात् शक्ति है अर्थात् इन्द्राणी है। आज यह राज भवन इन्द्र भवन सा शोभायमान हो रहा है। यह सुन्दर पलंग शक्ति की सज्जा है।' इस प्रकार राजा का कोमल कामीहृदय आनन्द सागर में गोते लगाने लगा। फिर भी उसने विचार किया कि आज रानी मेरा सत्कार क्यों नहीं करती है। इसका कारण राजा को समझ में नहीं आ रहा था। उसने सोचा—संभवतः उसे कोई रोग अथवा मानसिक कष्ट तो नहीं हो गया है, अथवा मुझ से नाराज तो नहीं। ऐसी ही विकट चिन्ता से व्याकुल होकर राजा कहनेलगा—रानी आज न उठने का कारण शीघ्रता से बतला। इतना कहकर वह पलंग पर बैठ गया और अपने कोमल करों से उसने रानी का स्पर्श किया। किन्तु उस कृत्रिम अचेतन विशालाक्षी के कुछ भी उत्तर न देने पर राजा समझ गया कि यह कृत्रिम रानी है, वस्तुतः महल में रानी नहीं है। रति के समान सुन्दरी विशालाक्षी का किसी अपार पापी ने हरण कर लिया। राजा की आतुरता और बढ़ गयी। वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। तत्काल ही सेवकों ने शीतोपचार किया, जिससे राजाकी मूर्छा दूर हुई। राजा का हृदय प्रिय रानी के वियोग में व्याकुल हो रहा था। वह बच्चों की तरह विलाप करने लगा। वह कहने लगा—हंस जैसी चाल चलने वाली, मृगनैनी तू शीघ्रता पूर्वक बतला कहां है। हे गुणों का गौरव बढ़ाने वाली, मेरे हृदय रूपी धन को अपहरण करने वाली, हे विलासिनी तू कहां चली गई।

हे चन्द्र-वदनी सुन्दरी! तेरी सेवा करने वाली दासियां कहां गयीं। साथ ही मेरे प्रति तेरा प्रेम कहां चला गया। संसार के माया मोह मुझे सुन्दर नहीं जान पड़ते। मेरी समझ में नहीं आता कि, जब इस महल में कोई नहीं आ सकता तो किस प्रकार तू अपहरित की गयी अथवा तू अपने आप ही कहीं चली गयी। क्या तू उस प्रकार से तो नष्ट नहीं हुई, जिस प्रकार बुरी संगति में पड़कर सज्जन पुरुष भी नष्ट हो जाते हैं। स्त्रियां अन्य पुरुषों को अपने यहां बुलाती हैं और किसी अन्य से प्रेम करती हैं एवं नियत समय किसी अन्य को बतला कर अन्य के साथ क्रीड़ा करती हैं। ये सब काम एक साथ ही सम्पन्न होते हैं। जैसा उनका बाहरी स्वरूप होता है वैसा भीतरी नहीं होता। इसलिए स्त्रियों के चरित्रका भला कौन वर्णन कर सकता है। शोक से सन्तप्त राजा का हृदय व्याकुल होकर विचार करने लगा। किसी अभिप्राय, वक्रदृष्टि, बुरी संगति तथा एकांत की बात चीत से स्त्रियां नष्ट हो जाती हैं। राजा ने सोचा—मैंने तो किसी समय भी रानी को अप्रसन्न नहीं किया। उसे पटरानी के पद पर बिठाया तथा समस्त रनवास में वह पूज्य समझी जाती थी। फिर उसके नष्ट होने का कोई कारण नहीं दीखता। जिस स्त्री के सद्गुणी और प्रजापालन में तत्पर १० वर्ष का पुत्र हो, वह सुन्दरी उसे त्याग कर कैसे चली गयी, यह समझ में नहीं आता। अवश्य ही वह अपनी नीच दासियों की संगति में पड़कर भ्रष्ट हुई है। जब खेत का मेड़ ही उस खेत को खाने लगे तब भला उस खेत की रक्षा ही कैसे की जा सकती है। यह निश्चित है कि कुसंगति में पड़कर सज्जन भी नष्ट हुए बिना नहीं रह सकते। इस भाँति अनेक मानसिक चिन्ताओं से दुखी होकर राजा ने राज्य-कार्य का सारा प्रबन्ध त्याग दिया। उसे राज्य-शासन से एक प्रकार की विरक्ति सी हो गयी। राजा की इस चिन्ता से अन्य सामन्त राजा और प्रजा भी दुखी थी। अनेक राजाओं ने समझाया भी पर क्षण भर के लिए भी राजा का शोक कम नहीं हुआ। बात यह थी कि रानी उसके मनको हर ले गयी थी। राजा का वियोग दुःख इतना बढ़ गया कि अन्त में उसने उसका प्राण लेकर ही छोड़ा। यह ठीक ही है, क्योंकि कौन ऐसा पुरुष है जिसे स्त्री के वियोग में मरना नहीं पड़ता हो।

राजा के मृत्यु हो जाने के पश्चात् उस ऐश्वर्यशाली राज्य शासन का भार उसके पुत्र को सौंपा गया। समस्त मंत्रियों और सामन्त राजाओं ने मिल कर राज्य तिलक की विधि सम्पन्न करायी।

उस राजा के मृत् जीव को अनेक बार संसार का चक्कर काटना पड़ा। इसी जन्म-मृत्यु के चक्कर में वह एक बार विशाल हाथी हुआ। वह हाथी अत्यन्त तेजस्वी और बड़ा ही मदोन्मत्त था। उसकी विकराल आंखें लाल रंग की थीं। वह इतना उद्दण्ड था कि वन में स्त्री-पुरुषों की हत्या कर डालता था। उस हाथी ने इस भव में महापाप का उपार्जन किया। कारण यह कि प्राणियों का घात करना जन्म-जन्म में दुःखदायी हुआ करता है। किन्तु उस हाथी के पुण्य-कर्म के उदय से उस वन में किसी मुनिराज का आगमन हो गया। वे मुनि महाराज अवधिज्ञानी और सत्पुरुषों के लिए उत्तम धर्मोपदेशक थे। उनके द्वारा हाथी को धर्मोपदेश मिला। उसने बड़ी प्रसन्नता से श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिए। इसके बाद उस हाथी ने फल फूलादि किसी भी सचित्त पदार्थों का ग्रहण नहीं किया। अन्त में उसने चारों प्रकार के आहार त्याग कर समाधिमरण धारण कर लिया। मृत्यु के समय उसने भगवान अर्हंतदेव का ध्यान किया, जिससे वह मर कर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ।

दे राजन ! वहां से चलकर तुम्हें राजा का उत्तम शरीर प्राप्त हुआ है। आगे तुझे भी मुक्ति की प्राप्ति होगी। अब उन तीनों स्त्रियों की कथा कहता हूं। ध्यान देकर सुन—

वे तीनों बड़ी प्रसन्नता से स्वतन्त्रतापूर्वक वन में विचरण करने लगीं। इस प्रकार भ्रमण करते हुए वे अवन्ती देश में जा पहुंची। उनके साथ कंधा, खडाम, दण्ड और अन्य बहुत सी योगिनियाँ थीं। उन्हें भिक्षा मांग मांग कर अपना पेट पालना पड़ता था। यह भी सत्य ही है कि 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' भूखे मनुष्य कौन सा पाप नहीं कर डालते अर्थात् भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए सब कुछ करना पड़ता है। वे सदा प्रमाद करने वाली वस्तुओं का सेवन करती थी। मद्य, मांस आदि उनके दैनिक आहार थे। इसके अतिरिक्त वे मधु एवं अनेक जीवों से भरे हुए उदुम्बरों तक का भक्षण करती थीं। उनकी कामवासना इतनी प्रबल हो उठी थी कि ऊंच-नीच का कुछ भी विचार न कर जो जहां मिलती, उसी के साथ संभोग करती थीं। यही नहीं वे सबके सामने ही ऐसी रागनियाँ गाया करती थीं, जिससे योगियों को भी काम उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता था। वे यह भी कहा करती थीं, कि हमें योग धारण किये १०० वर्ष से भी अधिक हो गये हैं।

सौभाग्यवश नगर में एक दिन धर्माचार्य नाम के मुनि का आगमन हुआ। वे केवल आहार के लिए आये थे। मुनि महाराज मौन धारण किये हुए, पर्वत के समान अचल और इन्द्रियों को दमन करने वाले थे। उन्होंने अपने मन को वश में कर लिया था और शरीर से भी ममत्व का नाश हो गया था। कठिन तपश्चर्या से उनके शरीर की क्षीणता बढ़ चली थी। वे शील संयम को धारण करने और चारित्र-पालन में अत्यन्त तत्पर रहा करते थे। उन्होंने समस्त कषायों का सर्वनाश कर दिया था। वे अपने धर्मोपदेश द्वारा अमृत की वारि बहाया करते थे। वे क्षमा के अवतार और संसारी जीवों पर दया की दृष्टि रखने वाले थे। मुनिराज कठिन दोपहरी में भी योग धारण किया करते थे। वे चोर और लम्पटों के पाप रूपी वृक्ष को काट डालने के लिए कुठारके समान तीक्ष्ण थे। उन्होंने समस्त परिग्रहों का सर्वथा परित्याग कर दिया था। उस समय वे ईर्या पथ की बुद्धि से गमन कर रहे थे। उन्हें देखकर वे तीनों स्त्रियां क्रोध से लाल हो गयीं। उन्होंने मुनि को संबोधित करते हुए कहा—अरे नंगे फिरने वाले। तू मानमोहादि शुभकर्मों से सर्वथा रहित है। न जाने हमारे किस पाप कर्म के उदय होने से तेरा साक्षात् हुआ। इस समय हम उज्जैनी के महाराजा के यहां धन मांगने के उद्देश्य से जा रही थीं। वह राजा अत्यन्त धर्मात्मा और शत्रुओं को परास्त करने वाला है। तूने अपना नग्न रूप दिखलाकर अपशकुन कर दिया। तू सर्वथा बुरा है अर्थात् पापी है। इसलिए हमारे कार्यों की सिद्धि होना संभव नहीं। इस समय तो अभी दिन बाकी है और सभी वस्तुएं अच्छी तरह से दिखलाई पड़ती है किन्तु रात्रि होने पर हम लोग मार्ग में अपशकुन करने का फल तुझे चखावेंगी। फिर भी उन स्त्रियों के कठोर वचनों से मुनिराज को जरा भी क्रोध नहीं हुआ, कारण वे दयालु स्वभाव के थे। मुनिराज ने इस घटना पर दृष्टिपात न कर वन में जाकर योग धारण कर लिया। वस्तुतः जल में अग्नि का वश नहीं चल सकता, ठीक उसी प्रकार योगियों के पवित्र हृदय को क्रोध रूपी अग्नि नहीं जला सकती। रात्रि होने पर वे तीनों नीच स्त्रियां मुनि के समीप पहुंची और क्रोधित हो भांति-भांति के उपद्रव करने लगीं। एक ने रोना प्रारम्भ किया और दूसरी उनसे लिपट गयी। इसके अतिरिक्त तीसरी घूम्रांकर मुनिराज को अनेक कष्ट देने लगी। सत्य है काम से पीड़ित व्यक्ति जितना अनर्थ करे वह थोड़ा है।

किन्तु इतने उपद्रव के होते हुए भी मुनिका स्थिर मन चलायमान नहीं हुआ। क्या प्रलय वायु के चलने पर महान मेरु पर्वत कभी चलायमान होता है? इसके बाद वे दुष्ट स्त्रियां नंगी होकर मुनि के समक्ष नृत्य करने लगीं। वे काम से संतप्त स्त्रियां मुनि से कहने लगीं—स्वतंत्र विचरण करने वालों के लिए परलोक में भी स्वतंत्रता प्राप्त होती है और इहलोक में भोग में लिप्त रहने से भोगों की सदैव प्राप्ति होती रहती है। किन्तु नग्न रहने से उसे नंगापन ही उपलब्ध होता है। अतएव तुम्हें चाहिए कि, हमारी इच्छाओं की पूर्ति करो। इस भोग की लालसा चक्रवर्ती, देवेन्द्र और नागेन्द्रों तकने की है। संसार का सारा सुख स्त्रियों की प्राप्ति में होता है। कारण वे इन्द्रिय जन्य सुख प्रदान करने वाली होती हैं। इसलिये जो व्यक्ति स्त्री-सुख से वंचित है, उनका जन्म व्यर्थ है। सत्य मानों, यदि तूने हमारी इच्छा की पूर्ति नहीं की तो तेरा यह शरीर चण्डी के समक्ष रख दिया जायगा। इस प्रकार कुवाक्य कहती हुई उन स्त्रियों ने विकार रहित मुनिवर के शरीर को उठाकर चण्डी के समक्ष रख दिया। इसके पश्चात् उन सबों ने मुनिराज पर घोर उपसर्ग किये। पत्थर, लकड़ी, मुक्का, लात, जूते आदि से उनकी ताड़ना की और अन्त में बांध दिया। उस समय मुनिराज ने बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन किया। अनुप्रेक्षाही प्राणी को भवसागर से पार उतारने वाली है। वे विचार करने लगे कि, मानव शरीर क्षण भंगुर हैं, यह जीवन जल का बुदबुदा है और लक्ष्मी विद्युत की भांति चंचल है। जब भरत आदि चक्रवर्ती तक का जीवन नष्ट हो गया तो उस जीवन की क्या गिनती है? बिना अरहंत देवकी शरण गहे इस जीव का निस्तार नहीं। इसलिए हे जीव, तू सदा अरहंत देव का स्मरण किया कर। तुम्हारी यात्रा द्रव्य,

क्षेत्र, काल, भव, भाव, ये पांचों संसार में हो चुके हैं और अब भी तू त्रस-स्थावर योनियों में भ्रमण कर रहा है। पर तुम्हारी यह असावधानी ठीक नहीं है। अब तुझे रत्नत्रय की प्राप्ति में अपना चित्त लगाना चाहिए; क्योंकि संसार का विनाश उसी रत्नत्रय की प्राप्ति से ही होता है। आत्मन्! तू अकेला ही कर्मों का कर्त्ता और सुख-दुख का भोक्ता है। तेरे सब भाई-बन्धु तुझ से भिन्न हैं। तुझे अकेला जन्म ग्रहण करना पड़ता है और मरना पड़ता है। अतएव कर्म-कलंक से रहित सिद्ध परमेष्ठी के चरणों का निरंतर ध्यान कर। इस जीव की कर्म-क्रियाओं और इन्द्रियजन्य विषयों में भी विभिन्नता है, फिर कुटुम्बी और भाई बन्धु तो सर्वथा अलग हैं ही। आत्मन् तू लौकिक वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है। संसार के सभी लौकिक ऐश्वर्य जड़वत है, किन्तु तू ज्ञान दर्शन और कर्मरहित शुद्ध जीव है। इसलिए आत्मा का ध्यान करना चाहिए। यह देह रक्त, मांस, रुधिर हड्डी, विष्ठा, मूत्र, चर्म, वीर्य आदि महा अप पदार्थों से निर्मित है, किन्तु भगवान पंच परमेष्ठी इन दोषों से सर्वथा अलग हैं। अतः तू उन्हीं की आराधना कर। जैसे नाव में छिद्र हो जाने पर उसमें पानी भर जाता है, ठीक वैसे ही मिथ्यात्व अविरत कषाय और योगों से कर्मो का आस्रव होता रहता है और नाव की तरह यह भी संसार-सागर में डूब जाता है। अतएव कर्मों के आस्रव से सर्वथा मुक्त सिद्ध परमेष्ठी का स्मरण किया कर। मिथ्यात्व, अविरत, आदि का त्याग कर देने से एवं ध्यान चरित्र आदि धारण कर लेने से आने वाले समस्त कर्म रुक जाते हैं। उसे संवर कहा जाता है। उसी संवर के होने पर जीव मोक्ष का अधिकारी होता है। अतः हे जीव! तुझे अपने शरीर का मोह त्याग कर शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का स्मरण करना चाहिए। इस शरीर पर मोहित होना व्यर्थ है। तप और ध्यान से जिन पूर्व-कर्मों का विनाश करना हैं, उसे निर्जरा कहते है। वह दो प्रकार की होती हैं—एक भाव निर्जरा और दूसरी द्रव्य निर्जरा। ये दोनों निर्जरायें सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार की होती है। अतएव मोक्ष प्राप्ति के लिए जीव को सदा कर्मों की निर्जरा करते रहना चाहिए। यह लोक अकृत्रिम है। इसका निर्माण कर्ता कोई नहीं है। यह चौदह रज्जू ऊंचा और तीन सौ तेंतालिस रज्जू घनाकार है। अतः इस लोक में जीव का भ्रमण करते रहना सर्वथा व्यर्थ है। कारण इस संसार में भव्य होना महान कठिन होता है, फिर मनुष्य, आर्य क्षेत्र में जन्म, योग्य काल में उत्पत्ति, योग्य, कुल, अच्छी आयु आदि की प्राप्ति सर्वथा दुर्लभ है और इनकी प्राप्ति होने पर भी रत्नत्रय की प्राप्ति और भी कठिन है। इसलिए हे जीव! तू इच्छा पूरक चिन्तामणि के समान सुख प्रदान करने वाले रत्नत्रय को पाकर क्यों समय को नष्ट कर रहा है। अपना कल्याण साधन कर। अहिंसा रूप यह धर्म एक प्रकार का है। मुनि श्रावक भेद से दो प्रकार, क्षमा मार्दव आदि से दश प्रकार, पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति भेद से तेरह प्रकार एवं और व्रतों के भेद से अनेक प्रकार का है। धर्म की कृपा से ही आत्मा के परिणाम पवित्र होते हैं और उसी पवित्रता से आत्मा प्रवुद्ध होता है एवं प्रबुद्ध होने पर वह रत्नत्रय में स्थिर होने में समर्थ होता है। स्त्रियों द्वारा सताये हुए वे मुनिराज इस प्रकार की बारह अनुप्रेक्षाओं पर विचार करने लगे। उन्हें स्त्रियों के उपद्रवका कुछ भी ज्ञान नहीं था। प्रातः काल होते ही, वे स्त्रियां आने-जाने वाले लोगों के डर से भाग गयीं। किन्तु कर्मों को विनष्ट करने वालें वे मुनिराज उसी प्रकार निश्चल रहे। उनके आत्मध्यान में किसी प्रकार का विक्षेप नहीं हुआ। इसके बाद वहां अनेक श्रावक एकत्रित हो गये। उन्होंने मन वचन काय से शुद्धतापूर्वक चन्दनादि अष्ट द्रव्यों से मुनिराज की पूजा की। उनका शरीर तो क्षीण था ही, उस पर रात के उपद्रव से उनके सर्वांग में घाव हो रहे थे। उन्होंने मौन धारण कर लिया था। इन सब कारणों को देख कर उन सत्पुरुषों ने रात्रि का काण्ड समझ लिया। स्त्रियों के कटाक्ष भी सत्पुरुषों को चलायमान नहीं कर सकते। क्या प्रलय की वायु मेरु को उड़ा सकती है, संभव नहीं। यद्यपि इस संसार में शेर को मारने वाले और हाथियों को बांधने वाले बहुत मिलेंगे, पर ऐसे बहुत कम मिलेंगे जिनका चित्त स्त्रियों में न रमा हो। उन दुष्ट स्त्रियों ने मुनिराज पर घोर उपसर्ग किये थे, इसलिए उन्हें महापाप का बन्ध हुआ। वे पाप कर्म के उदय से कुष्ट रोग से प्रसिद्ध हुई। उन तीनों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी थीं। वे सदा पाप कर्म में रत रहती थीं और लोग सदा उनकी निन्दा किया करते थे। वे तीनों महादुखी रहती थीं। आयु की समाप्ति होने पर रौद्र ध्यान से उनकी मृत्यु हुई इन सब पाप कर्मों के उदय से वे पांचवें नरक में गयी। उन्हें पांचों प्रकार के दुःख सहन करने पड़े। उनकी कृष्ण लेश्या थी। उन्हें बन्धन छेदन, कदर्थन, पीड़न, तापन, ताड़न आदि के दुःख सहन करने पड़ते थे। उष्ण वायु तथा सर्द वायु सदा उनको उत्पीड़ित किया करती थी। उन नारकीयों का अवधिज्ञान दो कोस तक का था, शरीर की ऊंचाई एक सौ पच्चीस हाथ और आयु सत्रह सागर की थी। वे सब की सब नपुंसक थी। उनका शरीर भयानक और वे स्वभाव से भी भयानक थी। उनमें धर्म का तो नाम ही नहीं था। वे सबसे ईर्ष्या करती और सदा मार-मार की रट लगाया करती थी। आयु की समाप्ति पर वे नारकी स्त्रियां वहां से बाहर हुई और परस्पर विरोधी शरीरों में उत्पन्न हुई। सबों ने एक साथ ही कर्मों का बन्ध किया था, अतः वे बिल्ली सूकरी कुतिया और मुर्गी की योनियों में आयीं। वे हर प्रकार का कष्ट सहतीं और जीवों की हिंसा किया करती थीं। परस्पर लड़ना और उच्छिष्ट भोजन के द्वारा उनका जीवन निर्वाह होता था। उसके अतिरिक्त जहां भी जाती, वहां से दुत्कार दी जाती थीं। सत्य है रौद्र ध्यान से जीव नर्क में जाते हैं,

आर्तध्यान से तिर्यच गति होती है और धर्मध्यान के द्वारा मनुष्य की गति एवं देवगति होती है तथा शुक्ल ध्यान से केवल ज्ञान के द्वारा उत्कृष्ट भोग प्राप्त होता है। जो लोग शान्ति प्रिय मुनिराज पर क्रोध करते है, उन्हें अवश्य नरक मिलता है। और जो उन पर उपसर्ग करते हैं, उनकी तो बात ही क्या। अतएव विद्वान् लोगों को चाहिये कि, शास्त्र एवं निर्ग्रन्थ गुरु की स्वप्न में भी निन्दा न करें। कारण इनकी निन्दा करने वालों को नर्क की प्राप्ति होती है और स्तुति करने वालों को स्वर्ग की। अतः हे राजन् ! वे तीनों पशु जीवधारी स्त्रियां अत्यन्त कष्ट से मरीं। ठीक ही है, पाप कर्मों के उदय से जीव को प्रत्येक भव में दुःख झेलने पड़ते हैं। मृत्यु के पश्चात् उनका जन्म प्रधान धर्म स्थान अवन्ती देश के समीप अत्यन्त नीच लोगों से बसे हुए एक कुटुम्बी के घर कन्याओं के रूप में हुआ। उस कुटुम्बी के लोग मुर्गियां पालन करते थे। इन कन्याओं के गर्भ में आते ही उनके धन-जन का नाश हो गया। घर के सब लोग मर गये। केवल एक पिता बचा था। उन कन्याओं में एक कानी दूसरी लंगड़ी और तीसरी अत्यन्त कुरूपा काले रंग की थी! मुनि को घोर उपसर्ग के पाप से उनका जीवन अशान्त था। देह सूखी हुई, उनकी आंखें पीले रंग की, नाक टेढ़ी और पेट बड़ा हुआ था। दांतों की पंक्तियां दूर-दूर पैर मोटे और शरीर भी आवश्यकता से अधिक मोटा था। उनके स्तन विषम, हाथ छोटे और होठ लम्बे थे। उनके बाल पीले रंग के, आवाज काक जैसी और उनका हृदय प्रेम से शून्य था। उनकी भौहें मिली हुई थीं और वे सदा असत्य भाषण करती थीं। क्रोध से उनका शरीर जलता रहता था। वे विचार हीन और अनेक रोगों से पीड़ित थे। वे नगर के जिस कोने से जातीं, वहां दुर्गन्ध फैल जाती थी। सत्य ही है, पाप कर्मों के उदय से संसार में क्या नहीं होता। उच्छिष्ट भोजनों से उनका जीवन निर्वाह होता था, चिथड़ों से शरीर ढकती थीं और दुःख से सदा पीड़ित रहती थीं। क्रम से वे तीनों कुरूप कन्याएं जवान हुई। उनके पूर्व कर्मों के उदय से उन्हीं दिनों देश में दुर्भिक्ष पड़ा। वे तीनों पेट की ज्वाला से अशान्त होकर व्यभिचार कराने के उद्देश्य से विदेश को चलीं। मार्ग में भी उनकी लड़ाई जारी थी। उनके साथ न खाने का सामान था और न उनमें लज्जा हया थी। यह पाप कर्म का ही प्रभाव है। जब वह फल देने लगता है तो धन-धान्य रूप, बुद्धि सबके सब नष्ट हो जाते हैं। वे कन्याएं अनेक नगरों में भ्रमण करती हुई घटना वशात इस पुष्पपुर में आ गयी हैं। इस वन में अनेक मुनियों को देखकर धन की इच्छा से यहां उपस्थित हुई हैं, फिर भी बड़ी प्रसन्नता के साथ इन सबों ने मुनियों को नमस्कार किया है। राजन ! यह संसार अनादि और अनन्त है। जीव का कर्म है, जन्म और मृत्यु प्राप्त करना। इसमें भ्रमण करते हुए कर्मों के उदय से उच्च और निकृष्ट भव प्राप्त होते रहते हैं। कुछ दुःख भोगते हैं और कुछ सुख। यहां तक कि पुण्योदय से स्वर्ग और मोक्ष तक के सुख उपलब्ध होते रहते हैं। वे तीनों कुरूपा कन्याएं अपने पूर्वभव की बातें सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई, जिस प्रकार बादलों की गर्जना सुनकर मोर प्रसन्न होते हैं।

मुनिराज ने पुनः कहना आरम्भ किया—राजन यह श्रेष्ठ धर्म कल्पवृक्ष के तुल्य है। सम्यग्दर्शन इसकी मोटी जड़ और भगवान जिनेन्द्रदेव इसकी मोटी रीढ़ हैं। श्रेष्ठ दान इस धर्म की शाखायें हैं, अहिंसादि व्रत पत्ते और क्षमादिक गुण इसके कोमल और नवीन पत्ते हैं। इन्द्रादि और चक्रवर्ती की विभूतियां इसके पुष्प हैं। यह वृक्ष श्रद्धारूपी बादलों की बारिससे सिंचित किया जाता है। और मुनि समुदाय रूपी पक्षीगण इसकी सेवा में संलग्न रहते हैं। अतएव यह धर्म रूपी कल्पवृक्ष तुम्हें मोक्ष सुख प्रदान करें।

तीनों कन्या संसार से भयभीत

ये तीनों कन्यायें संसार से भयभीत हो उठीं। उन सबों ने बड़ी श्रद्धा और आदरभाव से मुनिराज को नमस्कार किया और उनकी प्रार्थना करने लगीं :—

मुनिराज। मुनि के उपसर्ग से ही हमें मातृ-पितृ विहीन होना पड़ा है और हमने भव-भव में अनेक कष्ट भोगे हैं। स्वामिन ! आप भव संसार में डूबने उतराने वालों के लिए जहाज के तुल्य हैं। हे संसारी जीवों के परम सहायक। पूर्व भव में हमने जो पाप किये हैं, उनके नाश होने का मार्ग बताइये। जिस व्रतरूपी औषधि से यह पाप रूपी विष नष्ट होता है, उसे आज ही बताइये। उनकी करुणवाणी सुनकर मुनिराज का कोमल हृदय दयार्थ हो गयावे कहने लगे—पुत्रियो। तुम्हें विध-विधान व्रत धारण करना चाहिए। यह व्रत कर्म रूपी शत्रुओं का विनाशक और संसार सागर से पार उतारने वाला है। इसके पालन

करने से समस्त भवों में उत्पन्न हुए पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। इसके द्वारा इन्द्र चक्रवर्ती की विभूतियां तो क्या मोक्ष तक के अपूर्व सुख प्राप्त होते हैं। मुनिराज की बातें सुनकर वे कन्यायें कहने लगीं-मुनिराज! इस व्रत के पालन के लिए कौन-कौन से नियम हैं और प्रारम्भ में किसने इस व्रत का पालन किया जिसे सुनिश्चित फल की प्राप्ति हुई। प्रत्युत्तर में मुनिराज ने कहा—पुत्रियों, इस व्रत का नियम सुनो। सुनने मात्र से ही मनुष्य को उत्तम सुख प्राप्त होता है। मोक्ष सुख प्राप्त होता है। मोक्ष सुख प्राप्त करने वाले भव्य लोगों को यह व्रत भाद्रपद और चैत के महीनों में शुक्ल पक्ष के अन्तिम दिनों में करना चाहिए। उस दिन शुद्ध जल से स्नान कर घुले हुए शुद्ध वस्त्र पहनना चाहिए और मुनिराज के समीप जाकर तीन दिन के लिए शीलव्रत (ब्रह्मचर्य) धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक अष्टोपवास करना चाहिए। क्योंकि प्रोषध पूर्वक उपवास ही मोक्षफल को देने वाला है। इससे समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। यदि इस प्रकार उपवास करने की शक्ति न हो तो एकान्तर अर्थात् एक दिन बीच का छोड़ कर उपवास करना चाहिये। इस व्रत को जैन विद्वानों ने बड़ी महत्ता देकर स्वर्ग फल देने वाला बतलाया है। यदि ऐसी भी शक्ति न हो तो शक्ति अनुसार ही करें। इन तीनों दिन जैन मन्दिर में ही शयन करें। साथ ही वर्द्धमान स्वामि का प्रतिविम्ब स्थापित कर इक्षुरस, दूध, दही, घी और जल से पूर्ण कुम्भों से अभिषेक करना चाहिए। इसके बाद मन वचन और काय को स्थिर कर चन्दनादि अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा करें। पुन: सर्वज्ञदेव के मुंह से उत्पन्न सरस्वती देवी की पूजा तथा मुनिराज के चरणों की सेवा करे। कारण गुरु-पूजा ही पाप रूपी वृक्षों को काटने के लिए कुठार स्वरूप है। वह संसार समुद्र में पड़े हुए जीवों को पार कर देने के लिए नौका के तुल्य है। उस समय मन को एकाग्रकर भक्ति के साथ तीनों समय सामायिक करना चाहिए। ये सामायिक आने वाले कर्मों को रोकने में समर्थ होते हैं। शुद्ध लवंग पुष्पों के द्वारा एक सौ आठ बार अपराजित मंत्र का जाप और श्री वर्द्धमान स्वामी की सेवा करनी चाहिए। जैनशास्त्रों में श्री वर्द्धमान स्वामी के पांच नाम बतलाये गये हैं—महावीर, महाधीर सन्मति, वर्द्धमान और वीर समस्त नामों का स्मरण करते हुए तीन प्रदक्षिणा देकर विद्वानों को अर्घ देना चाहिए। व्रत पालन करने वालों को उन दिनों उनकी कथायें सुननी चाहिये, जिन्होंने उक्त व्रत का पालन कर स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति की है। चित्त को स्थिर कर श्री अरहंतदेव का ध्यान करना अत्युत्तम है, कारण उनके ध्यान से त्रेसठ शलाकाओं के पद प्राप्त होते हैं। रात्रि को पृथ्वी पर शयन तथा तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों की स्तुति करनी चाहिए। जिनधर्म की प्रभावना इन्द्रियों को वश में करने वाली हैं। इसके द्वारा भव्यजीव भवसागर से पार उतरते रहते हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है कि वह प्रभावना करे। लब्धिविधान व्रत तीन दिनों तक बराबर करते रहना चाहिये। वह कर्म नाशक एवं इच्छित फल देने वाला है। यह व्रत तीन वर्ष तक रहना चाहिए। इसके बाद-उद्यापन क्रिया करे। उद्यापन के लिए एक सुभव्य जिनालयका निर्माण कराये, जो हर प्रकार से शोभायुक्त हो। वह पापनाशक और पुण्यराशि का कारण होता है। उक्त जिनालय में श्रीवर्द्धमान स्वामी की सुन्दर प्रतिमा विराजमान करनी चाहिए जो आपत्ति रूपी लताओं को नष्ट करने वाली है। इस प्रकार मन, वचन, काय से शुद्ध होकर शान्ति विधान करना चाहिए। इसके लिए चावलों के एक सौ आठ कमल निर्मित करे और उस पर सुन्दर दीप रखे। श्री वर्द्धमान स्वामी के जिनालय में सुगन्धित जल से पूर्ण सुवर्ण के पाँच कलश देने चाहिये। सोने के पात्रों में रखे हुए पांच तरह के नैवेद्य से उन कमलों की पूजा करें। साथ ही भ्रमरों को विमोहित करने वाला सुगन्धित द्रव्य-चन्दन केसरादि जिनालय में समर्पित करे। भगवान की प्रतिमा के लिये सुवर्ण का सिंहासन प्रदान करे, जिससे वह अरहंत देव के चरण कमलों की कांति से सदैव प्रकाशित होता रहे। एक भामंडल भी प्रदान करे। वह सोने का बना हुआ हो और जिसमें रत्न जड़े हों। जिसकी कांति सूर्य मंडल के प्रकाश को भी क्षीण कर देती हो। भगवान के कथनानुसार शास्त्र लिखा कर समर्पित करे, जिसे श्रवण कर लोग कुबुद्धि से अन्धे और बधिर न रह जाय। सम्यग्दर्शन, समयक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से उत्तम पात्रों को दान देना चाहिए, जिन्हें शत्रु मित्र सब समान दीखते हों। जो देश व्रत धारक हैं, वे मध्यम पात्र कहलाते हैं और जो असंयत सम्यग्-दृष्टि है, वे जघन्य है। उन्हें भोजन कराना चाहिए और भोग संपत्ति लाभ की आकांक्षा से दान देना चाहिए। पात्रदान अमृत के तुल्य होता है। मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को धारण करने वाले, फिर भी हिंसा का जिन्होंने त्याग कर दिया है। वे कुपात्र हैं एवं जिन्होंने न तो चारित्र धारण किया और न कोई व्रत किया, वे हिंसक मिथ्यादृष्टि जीव अपात्र कहे जाते हैं। अयोग्य क्षेत्र में बोए हुए बीज की तरह इन्हें दिया हुआ दान नष्ट हो जाता है अर्थात् कुभोग भूमिकी उपलब्धि होती है। जिस प्रकार नीम के वृक्ष में छोड़ा हुआ जल कड़वा ही होता है। तथा सर्प को पिलाया हुआ दूध विष ही होता है, उसी प्रकार अपात्र को दिये हुए दान से विपरीत फल की प्राप्ति होती है। अर्थात् वह दान व्यर्थ चला जाता है। साथ ही आर्यिकाओं के लिये भक्ति के साथ शुद्ध सिद्धान्त की पुस्तकें देनी चाहिए। उन्हें पहनने के लिए वस्त्र तथा पीछी, कमंडलु देनें चाहिए। श्रावक-श्राविकाओं को आभरण, कीमती वस्त्र और अनेक नारियल समर्पित करें। जो स्त्री-पुरुष दीन और दुर्बल हैं—दीन हैं

हीन हैं अथवा किसी दुःख से दुखी हैं, उन्हें दयापूर्वक भोजन समर्पित करे। जीवों को अभयदान दे, जिससे सिंह व्याघ्रादि किसी भी हिंसक जीव का भय न रहे। जो लोग कुष्ट से पीड़ित हैं, वात, पित्त, कफादि रोग से दुखी हैं, उन्हें यथायोग्य औषधि प्रदान करे। किन्तु जिनके पास उद्यापन के लिए इतनी सामग्री मौजूद न हो, उन्हें भक्ति करनी चाहिए। और अपनी असमर्थता नहीं समझनी चाहिए। कारण शुद्ध भाव ही पुण्य सम्पादन में सहयोग प्रदान करता है। उन्हें उतना ही फल प्राप्त करने के लिए तीन वर्ष तक और व्रत करना उचित है। आरम्भ में इस व्रत का पालन श्री ऋषभदेव के पुत्र अनन्त वीर ने किया जिसकी कथा आदि पुराण में विस्तार से वर्णित है। मुनिराज की अमृत वाणी सुनकर वहां उपस्थित राजा ने अनेक श्रावक श्राविकाओं के साथ एवं उन तीनों कन्याओं ने भी लब्धि विधान नामक व्रत धारण किये। सत्य है जो भव्य हैं तथा जिनकी कामना मोक्ष-प्राप्ति की है, वे शुभ कार्य में देर नहीं करते। भवितव्यता के साथ संसारी जीवों को बुद्धि भी तदनुरूप हो जाती है। मुनिराज के उपदेश से उन तीनों कन्याओं के उद्यापन के साथ लब्धिविधान व्रत किया और श्रावकों के व्रत धारण किये। उन्होंने उत्तम क्षमा आदि दश धर्म तथा शीलव्रत धारण किये। कालान्तर में उन तीनों कन्याओं ने जिन-मन्दिर में पहुंच कर मन वचन कर्म से शुद्धतापूर्वक भगवान की विधिवत पूजा की। इसके पश्चात् आयुपूर्ण होने पर उन तीनों कन्याओं ने समाधिमरण धारण किया, अरहन्त देव के बीजाक्षर मंत्रों का स्मरण किया तथा भक्तिपूर्वक उनके चरणों में वे नत हुयीं। मृत्यु के पश्चात् उनका स्त्रीलिंग परिवर्तित हो गया और वे प्रभावशाली देव हो गये। उनके शरीर यौवन से सुशोभित हुए। उन्हें अवधिज्ञान से ज्ञात हो गया कि वे लब्धिविधान व्रत के फल स्वरूप स्वर्ग में देव हुए हैं। वे सदा देवांगनाओं के साथ सुख भोगते थे। उनका शरीर पांच हाथ ऊंचा, उनकी आयु दश सागर की तथा वे विक्रिया ऋद्धि से सम्पन्न थे। उनकी मध्यम पटलेश्या थी और तीसरे नरक तक का उन्हें अवधिज्ञान था। वे भगवान सर्वज्ञ देव के चरणों की इस प्रकार सेवा किया करते थे, जिस प्रकार एक भ्रमर सुगन्धित कमल पुष्पों पर लिपटा रहता है। साथ ही अनेक देव देवियां भी उनके चरणों की सेवा किया करती थीं।

इस ओर राजा महीचन्द्र ने भी संसार की अनित्यता समझ कर अंगभूषण मुनिराज से जिन-दीक्षा ग्रहण की। वे इन्द्रियों का सर्वदा दमनकर महा तपश्चरण करने लगे तथा परिषहों को जीत कर उन्होंने मूलगुण और उत्तरगुणों को धारण किया।

भगवान महावीर स्वामी के समवशरण में कहा जाता है—गौतम स्वामी किस स्थान पर उत्पन्न हुए। उन्होंने किस प्रकार लब्धि प्राप्त की। वे किस प्रकार गणधर हुए और उन्हें मोक्ष कैसे प्राप्त हुआ। इसे ध्यान देकर श्रवण करे।

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत एक प्रसिद्ध भरतक्षेत्र है। उसमें धर्मातमा लोगों के निवास करने योग्य मगध नाम का एक देश है। उसी देश में ब्राह्मण नाम का अत्यन्त रमणीक एक नगर है। वहां बड़े-बड़े वेदज्ञ निवास करते हैं कि तथा वह नगर वेद ध्वनि से सदा गूंजता रहता है। वह नगर धन धान्य से परिपूर्ण है वहां के बाजारों की पंक्तियां अत्यन्त मनोहर हैं। अनेक चैत्यालयों से सुशोभित ब्राह्मण नगर बहुपदार्थों से परिपूर्ण हुआ था वहां अनेक प्रकार के जलाशय थे—वृक्ष थे। उनमें सब प्रकार के धान्य उत्पन्न होते थे। वहां के मकानों की ऊंची पंक्तियां अपनी अपूर्व विशेषता प्रकट करती थीं। वहां के निवासी मनुष्य भी सदाचारी और सौभाग्यशाली थे। तरुण-तरुणियां क्रीड़ा-रत रहते थे। वहां की सुन्दरियां अपनी सुन्दरता में रम्भा को भी मात करती थीं। उसी नगर में शांडिल्य नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह विद्याओं में निपुण और सदाचारी था। दानी तथा तेजस्वी। उसकी पत्नी का नाम स्थंडिला था। वह सौभाग्यवती, पतिव्रता और रति के समान रूपवती थी। केवल यही नहीं, उसका हृदय नम्र और दयालु था। वह मधुर भाषण करने वाली एवं याचकों को दान देने वाली थी। किन्तु उस ब्राह्मण की केसरी नाम की एक दूसरी ब्राह्मणी थी। वह भी सर्वगुणों से सम्पन्न तथा अपने पति को सदा प्रसन्न रखती थीं। एक दिन की घटना है। स्थंडिला अपनी कोमल सय्या पर सोयी हुई थी। उसने रात में पुत्र उत्पन्न होने वाले शुभ स्वप्न देखे। उसी दिन एक बड़ा देव स्वर्ग से चलकर स्थंडिला के गर्भ में आया। गर्भावस्था के बाद स्थंडिला का रूप निखर उठा। वह मोतियों से भरी हुई सीप जैसी सुन्दर दीखने लगी। उस ब्राह्मणी का मुख कुछ श्वेत हो गया था, मानो पुत्ररूपी चन्द्रमा समस्त संसार में प्रकाश फैलाने की सूचना दे रहा है। शरीर में किंचित कृशता आ गयी थी। स्तनों के अग्र भाग श्याम हो गये थे। मानों वे पुत्र के आगमन की सूचना दे रहे हों। उस समय स्थंडिला जिनदेव की पूजा में तत्पर रहने लगी, जैसे इन्द्राणी सदा भगवान की पूजा में चित्त लगाती है। स्थंडिला शुद्ध चारित्र धारण करने वाले सम्यक्ज्ञानी मुनियों को अनेक पापनाशक शुद्ध आहार देती थी। सूर्योदय के समय जिस समय शुभग्रह शुभ रूप से केन्द्र में थे; उस समय; श्री ऋषभदेव की रानी यशस्वती की तरह, स्थंडिला ने मनोहर अंगों के धारक पुत्र को उत्पन्न किया।

उस काल सारी दिशायें प्रकाशित हो गयीं और चारों ओर सुगन्धित वायु संचरित होने लगी तथा आकाश में जयघोष होने लगे। घर के समस्त स्त्री-पुरुषों में आनन्द छा गया। चारों ओर मनोहर बाजे बजने लगे। जिस तरह जयंत से इन्द्र और इन्द्राणी को प्रसन्नता होती है एवं स्वामी कार्तिकेय से महादेव—पार्वती को, उसी प्रकार ब्राह्मण और ब्राह्मणी को अपूर्व प्रसन्नता हुई। साण्डिल्य ने मणि, सोने चाँदी, वस्तु आदि मुंह मांगे दान दिये। स्त्रियां मंगलगान गा रही थीं। जैसे किसी दरिद्र को खजाना देखकर प्रसन्नता होती है, जैसे पूर्ण चन्द्रमा को देखकर समुद्र उमड़ता है, उसी प्रकार ब्राह्मण अपने पुत्र का मुंह देखकर प्रसन्नता से विव्हल हो रहा था। ठीक उसी समय एक निमित्त ज्ञानी ने ज्योतिष के आधार पर बतलाया कि, यह पुत्र गौतम स्वामी के नाम से प्रख्यात होगा। ब्राह्मण का वह पुत्र अपने पूर्वपुण्य के उदय से सूर्य सा तेजस्वी और कामदेव सा कान्तियुक्त था। एक दूसरा देव भी स्वर्ग से चल कर उसी स्थंडिला के गर्भ में आया। वह ब्राह्मण का गार्ग्य नामक पुत्र हुआ। यह भी समस्त कलाओं से युक्त था। इसी प्रकार एक तीसरा देव स्वर्ग से चलकर केसरी के उदय में आया, जो भार्गव नामक पुत्र हुआ। ये तीनों ब्राह्मण पुत्र, कुन्ती के पुत्र पाण्डवों की भांति प्रेम से रहते थे। आयुवृद्धि के साथ उनकी कांति गुण और पराक्रम भी बढ़ते जाते थे। उन्होंने व्याकरण, छंद, पुराण, आगम और सामुद्रिक विद्यायें पढ़ डाली। ब्राह्मण का सबसे बड़ा पुत्र गौतम ज्योतिष शास्त्र, अलंकार, न्याय आदि सब में निपुण हुआ। देवों के गुरु बृहस्पति की तरह गौतम ब्राह्मण भी किसी शुभ ब्राह्मणशाला में पाँच सौ शिष्यों का अध्यापक हुआ। उसे अपने चोदह महाविद्याओं में पारंगत होने का बड़ा ही अभिमान था। वह विद्वता के मद में चूर रहता था।

राजा श्रेणिक। जो व्यक्ति परोक्ष में तीर्थकर परमदेव की वन्दना करता है, वह तीनों लोकों में वन्दनीय होता है। और जो प्रत्यक्ष में वन्दना करता है ; वह इन्द्रादिकों द्वारा पूजनीय होता है। राजन्। इस व्रत रूपी वृक्ष की जड़ सम्यग्दर्शन ही है। अत्यन्त शान्त परिणामों का होना स्कंध है, करुणा शाखायें हैं। इसके पत्ते पवित्र शील हैं तथा कीर्ति फूल हैं। अतएव यह व्रत रूपी वृक्ष तुम्हें मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति कराये। उत्तम धर्म के प्रभाव से ही राज्यलक्ष्मी एवं योग्य लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। धर्म के ही अद्भुत प्रभाव से इन्द्रपद प्राप्त होता है, जिनके चरणों की सेवा देव करते हैं। चक्रवर्ती की ऐसी विभूति प्रदान कराने वाला धर्म ही है। यही नहीं, तीर्थकर जैसा सर्वोत्तम पूज्यपद भी धर्म के प्रभाव से ही प्राप्त होता है। अतएव तू सर्वदा धर्म में लीन रहे।

कुंडपुर का वर्णन

भारत क्षेत्र के अन्तर्गत ही अत्यन्त रमणीय एवं विभिन्न नगरों से सुशोभित विदेह नाम का एक देश है। उस देश में कुण्डपुर नामक एक नगर अपनी भव्यता के लिए प्रख्यात है। वह नगर बड़े ऊंचे कोटों से घिरा हुआ है एवं वहां धर्मात्मा लोग निवास करते हैं। वहां के मणि, कांचन आदि देखकर यही होता है कि, वह दूसरा स्वर्ग है। उस नगर में सिद्धार्थ नामक के राजा राज्य करते थे। उनकी धार्मिकता प्रसिद्ध थी। वे अर्थ धर्म, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थो को सिद्ध करने वाले थे। उन्हें विभिन्न राजाओं की सेवाएं प्राप्त थीं। इतना ही नहीं सुन्दरता में कामदेव को परास्त करने वाले, शत्रुजीत, दाता और भोक्ता थे। नीति में भी निपुण थे—अर्थात् समस्त गुणों के आगार थे। उनकी रानी का नाम त्रिशला देवी था। रानी की सुन्दरता का क्या कहना—चन्द्रमा के समान मुख मण्डल, मृग की सी आंखें, कोमल हाथ और लाल अधर अपनी मनोहर छटा दिखला रहे थे। उसकी जाँघे कदली के स्तम्भों सी थीं। नाभि नम्र थी, उदर कृश था, स्तन उन्नत और कठोर थे, धनुष के समान भौंहें एवं तोते के समान नाक थी। ऐसी रूपवती महारानी के साथ राजा सिद्धार्थ सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे।

इन्द्र की आज्ञा थी—भगवान महावीर स्वामी के जन्म कल्याणक के १५ मास पूर्व से ही सिद्धार्थ के घर रत्नों की वर्षा करने की। देव लोग इन्द्र की आज्ञा का अक्षरशः पालन करते थे। अष्टादश कन्यायें एवं और भी मनोहर देवियां राजमाता की सेवा में तत्पर रहती थीं। एक दिन महारानी त्रिशला देवी कोमल सज्जा पर सोयी हुई थीं। उन्होंने पुत्रोत्पति की सूचना देने वाले सोलह स्वप्न देखे।—ऐरावत हाथी, श्वेत बैल, गरजता हुआ सिंह, शुभ लक्ष्मी, भ्रमरों के कलरव से सुशोभित दो पुष्प मालायें, पूर्ण चन्द्रमा, उदय होता हुआ सूर्य, सरोवर में क्रीड़ारत दो मछलियां, सुवर्ण के दो कलश, निर्मल सरोवर, तरंगयुक्त

समुद्र, मनोहर सिंहासन, आकाश में देवों का विमान, सुन्दर नाग-भवन, कांतिपूर्ण रत्नों की राशि और विना धूम्र की अग्नि। प्रातःकाल बाजों के शब्द सुनकर महारानी उठीं। वे पूर्ण शृङ्गार कर महाराज के सिंहासन पर जा बैठीं। उन्होंने प्रसन्न चित्त होकर महाराज से रात के स्वप्न कह सुनाये। उत्तर में महाराज सिद्धार्थ क्रम से स्वप्नों के फल कहने लगे—ऐरावत हाथी देखने का फल—वह पुत्र तीनों लोकों का स्वामी होगा। बैल देखने का फल—धर्म प्रचारक और सिंह देखने का फल अद्भुत पराक्रमी होगा। लक्ष्मी का फल यह होगा कि, देव लोग मेरु दण्ड पर्वत पर उसका अभिषेक करेंगे। मालाओं के देखने का फल, उसे अत्यन्त यशस्वी होना चाहिए तथा चन्द्रमा का फल यह होगा कि वह मोहनीय कर्मों का नाशक होगा। सूर्य के देखने से सत्पुरुषों को धर्मोपदेश देने वाला होगा। दो मछलियों के देखने का फल सुखी होगा और कलश देखने से उसका शरीर समस्त शुभ लक्षणों से परिपूर्ण होगा। सरोवर देखने से लोगों की तृष्णा दूर करेगा तथा समुद्र देखने से केवलज्ञानी होगा। सिंहासन देखने से वह स्वर्ग से आकर अवतार ग्रहण करेगा, नाग भवन देखने से वह अनेक तीर्थों का करने वाला होगा एवं रत्नराशि देखने से वह उत्तम गुणों का धारक होगा तथा अग्नि देखने से कर्मों का विनाशक होगा। इस प्रकार पति द्वारा स्वप्नों का हाल सुनकर महारानी की प्रसन्नता बहुत बढ़ गयी। वे जिनेन्द्र भगवान के अवतार की सूचना पाकर अपने जीवन को सार्थक मानने लगीं।

स्वप्न के आठवें दिन अर्थात् आषाढ़ शुक्ल षष्टी के दिन प्राणत स्वर्ग के पुष्पक विमान के द्वारा आकर इन्द्र के जीवने महारानी त्रिशला के मुख में प्रवेश किया। उस समय इन्द्रादि देवों के सिंहासन कंपित हो गये। देवों को अवधिज्ञान के द्वारा ज्ञात हो गया। वे सब वस्त्राभरण लेकर आये और माता की पूजा कर अपने स्थान को लौट गये। त्रिशला देवी ने चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन शुभग्रह और शुभलग्न में भगवान महावीर स्वामी को जन्म दिया। उस समय दिशाएं निर्मल हो गयीं और वायु सुगन्धित बहने लगी आकाश से देवों ने पुष्पों की वर्षा की और दुन्दुभी बजाई। जन्म के समय भी भगवान के महापुण्य के उदय होने से इन्द्रों के सिंहासन कांप उठे। उन्होंने अवधिज्ञान से जान लिया कि, भगवान महावीर स्वामी ने जन्म ग्रहण किया। समस्त इन्द्र और चारों प्रकार के देव गाजे-बाजे के साथ कुण्डपुर में पधारे। राजमहल में पहुंच कर देवों ने माता के समक्ष विराजमान भगवान को देखा और भक्तिपूर्वक उन्हें नमस्कार किया। उस समय इन्द्राणी ने एक मायावी बालक बनाकर माता के सामने रख दिया और उस बालक को ऐरावत हाथी पर विराजमान किया और आकाश मार्ग द्वारा चैत्यालयों से सुशोभित मेरु पर्वत पर ले गयी देवों ने मंगल ध्वनि की, बाजे, बजने लगे, किन्नर-जाति के देव गाने लगे और देवांगनाओं ने शृंगार दर्पण ताल आदि मंगल द्रव्य धारण किये। सब लोग मेरु-पर्वत की पांडुक शिला पर पहुंचे। वह शिला सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी और आठ योजन ऊंची थी। उस पर एक अत्यन्त मनोहर सिंहासन था। देवों ने उसी सिंहासन पर भगवान को आसीन किया और वे नम्रता और भक्तिपूर्वक उनका अभिषेकोत्सव करने लगे। इन्द्रादिक देवों ने मणि और सुवर्ण निर्मित एक हजार आठ कलशों द्वारा क्षीरोदधि समुद्र का जल लाकर भगवान का अभिषेक किया। इस अभिषेक से मेरु पर्वत तक कांप उठा, पर बालक भगवान निश्चलरूप से बैठे रहे। उस समय देवों ने भगवान के स्वाभाविक बल का अनुमान लगा लिया। इसके पश्चात् देवों ने जन्म-मरणादि दुखों की निवृति करने के लिए चन्दनादि आठ शुभद्रव्यों से भगवानकी पूजा की। भगवान जिनेन्द्र की पूजा सूर्य की प्रभा के समान धर्म प्रकाश करने वाली और पापांधकार का नाश करने वाली होती है। वह भव्य जीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करती है। देवों ने उस बालक का शुभ नाम वीर रखा। अप्सरायें तथा अनेक देव उस समय नृत्य कर रहे थे। मति, श्रुत और अवधिज्ञानों से परिपूर्ण भगवान को बालक के योग्य वस्त्राभूषणों से सुशोभित किया गया तथा पुनः देवों ने अपनी इष्ट सिद्धि के लिए स्तुति आरम्भ की—जिस प्रकार सूर्य की प्रभा के बिना कमलों की प्रफुल्लता संभव नहीं, उसी प्रकार हे वीर। आपके अभाव में प्राणियों को तत्वज्ञान प्राप्त होना कदापि संभव नहीं। इस प्रकार स्तुति समाप्त होने पर इन्द्रादिक देवों ने भगवान को पुनः ऐरावत पर विराजमान किया और आकाश मार्ग द्वारा कुण्डपुर आये। उन्होंने भगवान के माता-पिता को यह वचन कहतेहुए बालक को समर्पित कर दिया कि आपके पुत्र को मेरु-पर्वत पर अभिषेक कराकर लाये हैं।' उन देवों ने दिव्य आभरण और वस्त्रों से माता-पिता की पूजा की। उनका नाम बल निरुपण किया और नृत्य करते हुए अपने स्थान को चल दिये। उसके पश्चात बालक भगवान, इन्द्र की आज्ञा से आये हुए तथा भगवान की अवस्था धारण किये हुए देवों के साथ क्रीड़ा करने लगे। पश्चात वे बाल्यावस्था को पार कर यौवनावस्था को प्राप्त हुए। उनकी कांति सुवर्ण के समान तथा शरीर की ऊंचाई सात हाथ की थी। उनका शरीर निःस्वेदता आदि दश अतिशयों से सुशोभित था। इस प्रकार भगवान ने कुमारकाल के तीस वर्ष व्यतीत किये। इस अवस्था में भगवान बिना किसी कारण कर्मों को शान्त करने के उद्देश्य से विरक्त हो गये। उन्हें अपने आप आत्मज्ञान हो गया। तत्काल ही लौकांतिक देवों का आगमन हुआ। उन्होंने नमस्कार कर कहा भगवान तपश्चरण के द्वारा

कर्मों को विनष्ट कर शीघ्र ही केवल ज्ञान प्राप्त कीजिये । वे ऐसा निवेदन कर वापस चले गये । भगवान ने समस्त परिजनों से पूछा । पुनः मनोहर पालकी में सवार हुए । इन्द्र ने पालकी उठाई और आकाश द्वारा भगवान को नामखण्ड नामक वन में पहुंचाया । वहां पहुंचकर इन्द्र ने पालकी उतारदी और भगवान एक स्फटिक शिला पर उत्तर दिशा की ओर मुंहकर विराजमान होगये । अत्यन्त बुद्धिमान ने, मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी के दिन सायंकाल के समय दीक्षा ग्रहण की और सर्व प्रथम उन्होंने षष्ठोपवास करने का नियम धारण किया । भगवान के पंचमुष्ठि लोंच वाले केशों को इन्द्र ने मणियों के पात्र में रखा और उन्होंने क्षीर सागर में पधराया । अन्य देवगण चतुःज्ञान विभूपित भगवान को नमस्कार कर अपने अपने स्थान को चले गये । पारणा के दिन भगवान कुलय नामक नगर के राजा कूल के घर गये । राजा ने नवधा भक्ति के साथ भगवान को आहार दिया । आहार के बाद वे भगवान अक्षयदान देकर वन को चले गये । उस आहार दान का फल यह हुआ कि, देवों ने राजा के घर पंचाश्चर्यों की वर्षा की । सत्य है, पात्रदान से धर्मात्मा लोगों को लक्ष्मी प्राप्त होती है ।

एक दिन की घटना है । भगवान अतिमुक्त नामक श्मशान में प्रतिमायोग धारण कर विराजमान थे । उस समय भवनाम के रुद्र (महादेव) ने उन पर अनेक उपसर्ग किए, पर उन्हें जीतने में समर्थ न हो सका । अन्त में उसने आकर भगवान को नमस्कार किया और उनका नाम महावीर रखा । इस प्रकार तप करते हुए भगवान को जब बारह वर्ष व्यतीत होगये, तब एक ऋजुकुल नामकी नदी के समीपवर्ती जृंभक ग्राम में वे पृष्टोवास (तेला) धारण कर किसी शिला पर आसीन हुए । उस दिन वैशाख शुक्ल दशमी थी । उसी दिन उन्होंने ध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान की प्राप्ति की । केवल-ज्ञान हो जाने पर शरीर की छाया न पड़ना आदि दशों अतिशय प्रकट हो गये । उस समय इन्द्रादिकों ने आकर भगवान को भक्ति के साथ नमस्कार किया । इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने चार कोस लंबा-चौड़ा समवशरण निर्मित किया । वह मानस्तंभ ध्वजा दण्ड घंटा, तोरण, जल से परिपूर्ण खाई, सरोवर, पुष्प वाटिका, उच्च धूलि प्राकार नृत्य शालाओं, उपवनों से सुशोभित था तथा वेदिका, अन्तर्ध्वजा सुवर्णशाला, कल्पवृक्ष आदि से विभूषित था । उसमें अनेक महलों की पक्तियां थीं । वे मकान सुवर्ण और मणियों से बनाये गये थे । वहां ऐसी मणियों की शालायें थी, जो गीत और बाजों से सुशोभित हो रही थीं । समवशरण के चारों ओर चार बड़े-बड़े फाटक थे । वे सुवर्ण के निर्मित भवनों से भी अधिक मनोहर दीखते थे । उसमें बारह सभायें थीं, जिसमें मुनि, अर्जिका कल्पवासी देव, ज्यतिषी, देव, व्यंतरदेव, भगवनवासी देव, कल्पवासी देवांगनायें ज्योतिपी देवों की देवांगनायें, भवनवासी देवों की देवांगनायें, मनुष्य तथा पशु उपस्थित थे । अशोक वृक्ष, दुंदभी, छत्र, भामण्डल, सिंहासन, चमर पुष्पवृष्टि और दिव्यध्वनि उक्त आठों प्रातिहार्यों से श्रीवीर भगवान सुशोभित हो रहे थे । इसके अतिरिक्त अठारह दोषों से रहित और चौंतीस अतिशयों से सुशोभित थे । अर्थात् विश्व की समग्र विभूतियां उनके साथ विराजमान थीं । इस प्रकार भगवान को आसीन हुए तीन घंटे से अधिक होगये, पर उनकी दिव्यवाणी मौन रही । भगवान को मौनावस्था में देखकर सौधर्म के इन्द्र ने अवधिज्ञान से विचार किया, कि यदि गौतम का आगमन हो जाय तो भगवान की दिव्यवाणी उच्चरित हो । गौतम को लाने के विचार से इन्द्र ने एक वृद्ध का रूप बना लिया, जिसके अंग २ कांप रहे थे । वह वृद्ध ब्राह्मण नगर की गौतमशाला में जा पहुंचा । वृद्ध के काँपते हुए हाथों में एक लड़की थी । उसके मुंह में एक भी दांत नहीं थे, जिससे पूरे अक्षर भी नही निकल पाते थे । उस वृद्ध ने शालामें पहुंच कर आवाज लगाई—ब्राह्मणों । इस शाला में कौन सा व्यक्ति है, जो शास्त्रों का ज्ञाता हो और मेरे समस्त प्रश्नों का उत्तर दे सकता हो । इस संसार में ऐसे कम मनुष्य हैं जो मेरे काव्यों को विचार कर ठीक ठीक उत्तर दे सकें । यदि इस श्लोक का ठीक अर्थ निकल आयगा तो मेरा काम बन जायगा, आप धर्मात्मा हैं, अतः मेरे श्लोक का अर्थ बतला देना आपका कर्त्तव्य है । इस तरह तो अपना पेट पालने वालों की संख्या संसार में कम नहीं है, पर परोपकारी जीवों की संख्या थोड़ी है । मेरे गुरु इस समय ध्यान में लगे हैं और मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कर रहे हैं, अन्यथा वे बतला देते । यही कारण है कि आपको कष्ट देने के लिए उपस्थित हुआ हूं । आपका कर्त्तव्य होता है कि, उसका समाधन कर दें । उस वृद्ध की बातें सुनकर अपने पांच सौ शिष्यों द्वारा प्रेरित गौतम शुभ वचन कहने लगा हे वृद्ध ! क्या तुझे नहीं मालूम, इस विषय में अनेक शास्त्रों में पारंगत और पांस सौ शिष्यों का प्रतिपालक मैं प्रसिद्ध हूं । तुम्हें अपने काव्य का बड़ा अभिमान हो रहा है । कहो तो सही, उसका अर्थ मैं अभी बतला दूं । पर यह तो बताओ कि मुझे क्या दोगे ? उस वृद्ध ने कहा—ब्राह्मण । यदि आप मेरे काव्य का समुचित अर्थ बतला देगें तो मैं आपका शिष्य बन जाऊंगा । किन्तु यह भी याद रखिये कि यदि आपने यथावत उत्तर नहीं दिया तो आपको भी अपनी शिष्यमण्डली के साथ मेरे गुरू का शिष्य हो जाना पड़ेगा । गौतम ने भी स्वीकृति दे दी । इस प्रकार इन्द्र और गौतम दोनों ही प्रतिज्ञा में बंध गये । सत्य है ऐसा कौन अभिमानी है जो न करने योग्यकाम नहीं कर डालता । इसके पश्चात् सौधर्म के इन्द्र ने गौतम के अभिमान को चूर करने के उद्देश्य से आगम के अर्थ को सूचित करने वाला तथा गंभीर अर्थ से भरा हुआ एक काव्य पढ़ा । वह काव्य यह था—

'धर्मद्वयं त्रिविधकाल समग्रकर्म,
षड द्रव्यकाय सहिताः समयैश्च लेश्या :
तत्वानि संयमगतीसहिता पदार्थ—
रंगप्रवेदमनिशवद्वचास्ति कायम ।"

धर्म के दो भेद कौन कौन से हैं। वे तीन प्रकार के काल कौन हैं, उनमें काय सहित द्रव्य कौन हैं, काल किसे कहते हैं, लेश्या कौन कौन सी और कितनी हैं। तत्व कितने और कौन-कौन हैं, संयम कितने हैं, गति कितनी और कौन हैं तथा पदार्थ कितने और कौन हैं, श्रुतज्ञान, अनुयोग और सास्ति काय कौन और कितने हैं, यह आप वतलाइये। बूढ़े के मुंह से श्लोक सुनकर गौतम को वड़ी ग्लानि हुई। उसने मन में ही विचार किया कि, मैं इस श्लोक का अर्थ क्या वतलाऊं। इस वृद्ध के साथ वाद-विवाद करने से कौन सी लाभ-की-प्राप्ति होगी। इससे तो अच्छा हो कि इसके गुरु से शास्त्रार्थ किया जाय। गौतम ने वड़े अभिमान से कहा—चलरे ब्राह्मण। अपने गुरु के निकट चल। वहीं पर इस विषय की मीमाँसा होगी। वे दोनों विद्वान सवको साथ लेकर वहां से रवाना हुए। मार्ग में, गौतम ने विचार किया जव इस वृद्ध के प्रश्न का उत्तर मुझ से नहीं दिया गया, तो इसके गुरु का उत्तर कैसे दिया जायगा। वह तो अपूर्व विद्वान होगा। इस प्रकार से विचार करता हुआ गौतम समवशरण में पहुंचा। इन्द्र को अपनी कार्य सिद्धि पर वड़ी प्रसन्नता हुई। सत्य है, सिद्धि हो जाने पर किसे प्रसन्नता नहीं होती। अर्थात् सवको होती है। वहां मानस्तम्भ अपनी अद्भुत शोभा से तीनों लोकों को आश्चर्य में डाल रहा था। उसके दर्शन मात्र से ही गौतम का दर्प चूर्ण विचूर्ण होगया। उसने विचार किया कि जिस गुरु के सन्निकट इतनी विभूति विद्यमान हो, वह क्या पराजित किया जा सकता है, असंभव है। इसके वाद वीरनाथ भगवान का दर्शन कर वह गौतम उनकी स्तुति करने लगा— प्रभो! आप कामरूपी योधाओं को परास्त करने में निपुण। सत्पुरुषों को उपदेश देने वाले हैं। अनेक मुनिराजों का समुदाय आपकी पूजा करता है। आप तीनों लोकों के तारक और उद्धारक हैं आप कर्म-शत्रुओं को नाश करने वाले हैं तथा त्रैलोक्य के इन्द्र आपकी सेवा में लगे रहते हैं। ऐसी विनम्र स्तुतिकर गौतम, भगवान के चरणों में नत हुआ। इसके पश्चात् वह ऐहिक विषयों से विरक्त हो गया। कालान्तर में उसने पांच सौ शिष्य मंडली तथा अन्य दो भ्राताओं के साथ जिन-दीक्षा लेली। सत्य है, जिन्हें संसार का भय है, जो मोक्ष रूपी लक्ष्मी के उपासक हैं, वे जरा भी देर नहीं करते। श्री वीरनाथ भगवान के समवशरण में चारों ज्ञानों से विभूषित, इन्द्रभूति, वायुभूति, अग्निभूत आदि ग्यारह गणधर हुए थे। उन्होंने पूर्वभवमें लब्धिविधान नामक व्रत किया था, जिसके फल स्वरूप वे गणधर पद पर आसीन हुए थे। दूसरे लोग भी, जो इस व्रत का पालन करते हैं, उन्हें ऐसी ही विभूतियां प्राप्त होती हैं। इसके वाद भगवान की दिव्यवाणी उच्चरित होने लगी। मोहांधकार को नाश करने वाली वह दिव्यध्वनि भव्यरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने लगी। भगवान ने जीव, अजीव, आदि सप्ततत्व, छः द्रव्य पचास्तिकाय, जीवों के भेद आदि लोकाकाश के पदार्थो के भेद और उनके स्वरूप वतलाये। समस्त परिग्रहों को परित्याग करने वाले गौतम ने पूर्वपुण्य के उदय से भगवान के समस्त उपदेशों को ग्रहण कर लिया। जैन धर्म के प्रभाव से भव्यों की संगति प्राप्त होती है, उपयुक्त, कल्याण कारक मधुर वचन, अच्छी बुद्धि आदि सर्वोत्तम विभूतियां सहज में ही प्राप्त होती हैं। इस धर्म के प्रभाव से उत्तम संतान की प्राप्ति और चन्द्रमा तथा वर्फ के समान शुभकीर्ति होती हैं। धर्म के प्रभाव से ही वड़ी विभूतियां और अनेक सुन्दरी स्त्रियां प्राप्त होती हैं और सुरेन्द्र, नगेन्द्र और नागेन्द्र के पद भी सुलभ हो जाते हैं।

इसके पश्चात् मुनिदेव मनुष्य आदि समस्त भव्य जीवों को प्रसन्न करते हुए महाराज श्रेणिक ने भगवान से प्रार्थना की कि, हे भगवान! हे वीर प्रभो! उस धर्म को सुनने की हमारी प्रवल इच्छा है कि जिससे स्वर्ग और मोक्ष के सुख सहजसाध्य हैं। आप विस्तार पूर्वक कहिये। उत्तर में भगवान ने दिव्यध्वनि के द्वारा कहा—राजन! अव मैं मुनि और गृही दोनों के धारण करने योग्य धर्म का स्वरूप वतलाता हूँ। तुझे ध्यान देकर सुनना चाहिए। संसार रूपी भव समुद्र में डूवते हुए जीवों को निकाल कर जो उत्तम पद में धारण करादे, उसे धर्म कहते हैं। धर्म का यही स्वरूप अनादि काल से जिनेन्द्रदेव कहते चले आये हैं। सवसे उत्तम धर्म अहिंसा है। इसी धर्म के प्रभाव से जीवों को चक्रवर्ती के सुख उपलब्ध होते हैं। अतएव समस्त संसारी जीवों पर दया का भाव रखना चाहिए। दया अपार सुख प्रदान करने वाली एवं दुख रूपी वृक्षों को काटने के लिए कुठार के तुल्य होती है। सप्त व्यसनों की अग्नि को वुझाने के लिए यह दया ही मेघ स्वरूप है। यह स्वर्ग में पहुंचाने के लिए सोपान है और मोक्ष रूपी संपत्ति प्रदान करने वाली है। जो लोग धर्म की साधना के लिए यज्ञादि में प्राणियों की हिंसा करते हैं, वे विषैले सर्प के मुंह से अमृत झरने की आशा रखते हैं। यह संभव है कि जल में पत्थर तैरने लगे, अग्नि ठंडी हो जाय, किन्तु हिंसा द्वारा धर्म की प्राप्ति त्रिकाल में भी संभव नहीं हो सकती। जो भील लोग धर्म की कल्पना कर जंगल में आग लगा

देते हैं, वे विष खाकर प्राण की रक्षा चाहते हैं। अथवा जो लोलुपी मनुष्य जीवों की हत्याकर उनका मांस खाते हैं, वे महादुःख देने वाली नरकगति में उत्पन्न होते हैं। जीवों की हिंसा करने वाले को मेरु पर्वत के समान नर्क के दुख भोगने पड़ते हैं। न तो छाछ से घी निकाला जा सकता है न विना सूर्य के दिन हो सकता है, न लेप मात्र से मनुष्य की क्षुधा मिट सकती है, उसी प्रकार हिंसा के द्वारा सुख प्राप्ति की आशा करना दुराशा मात्र है। प्राणियों पर दया करने वाले मनुष्य युद्ध में, वन में नदी एवं पर्वतों पर भी निर्भय रहते हैं। परहिंसकों की आयु अति अल्प होती है। या तो वे उत्पन्न होते ही मर जाते हैं, या बाद में किसी समुद्र नदी आदि में डूबकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार असत्य भाषण से भी महान् पाप लगता है, जिसके पापोदय से नरकादि के दुख प्राप्त होते हैं। यद्यपि यश बड़ा आनन्द दायक होता है, पर असत्य भाषण से वह भी नष्ट हो जाता है। असत्य विनाश का घर है, इससे अनेक विपत्तियां आती हैं। यह महापुरुषों द्वारा एक दम निन्दनीय है एवं मोक्ष मार्ग का अवरोधक है। अतएव आत्मज्ञान से विभूषित विद्वान पुरुषों को चाहिए कि वे कभी असत्य का आश्रय न लें। देवों की आराधना करने वाले सदा सत्य बोला करते हैं। सत्य के प्रसाद से विष भी अमृत के तुल्य हो जाता है। शत्रु भी मित्र हो जाते हैं एवं सर्प भी माला बन जाता है। जो लोग असत्य भाषण के द्वारा सद्धर्म प्राप्ति की आकांछा करते हैं, वे बिना अंकुर रोपे ही धान्य होने की कल्पना करते हैं। बुद्धिमान लोगों को चाहिए कि वे हिंसा और असत्य के समान चोरी का भी सर्वथा परित्याग कर दें। चोरी पुण्य-लता को नष्ट करने वाली तथा आपत्ति की वृद्धि करने वाली होती है। चोर को नरक की प्राप्ति होती है, वहां छेदन-ताड़न आदि विभिन्न प्रकार के दुख भोगने पड़ते हैं। चोर को सब जगह सजा मिलती है, राजा भी प्राण दण्ड की आज्ञा देता है तथा अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। पर जो पुरुष चोरी नहीं करता, उसे जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त करने वाली मोक्ष रूपी स्त्री स्वयं स्वीकार कर लेती है। चोरी का परित्याग कर देने से संसार की सारी विभूतियां, सुन्दरी स्त्रियां एवं उत्तम गति की प्राप्ति होती है। जो लोग चोरी करते हुए सुख की आकांक्षा करते हैं, वे अग्नि के द्वारा कमल उत्पन्न करना चाहते हैं। यदि भोजन कर लेने से अजीर्ण का दूर होना विना सूर्य के दिन निकलना और बालू पेरने से तेलका निकलना संभव भी हो तो चोरी से धर्म की प्राप्ति कभी संभव नहीं हो सकती। शीलव्रत के पालन से चारित्र की सदा वृद्धि होती रहती है, नरक आदि के समस्त मार्ग बन्द हो जाते और व्रतों की रक्षा होती रहती है, यह व्रत मोक्ष रूपी सुख प्रदान करने वाला है। जो लोग शीलव्रत का पालन नहीं करते, वे संसार में अपना यश नष्ट करते हैं।

ब्रह्मचर्य के पालन के अभाव में सारी संपदायें नष्ट हो जाती हैं और अनेक प्रकार की हिंसायें होती हैं। जो शील व्रत का यथेष्ट पालन करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं। शील व्रत का इतना प्रभाव होता है कि अग्नि में शीलता आ जाती है, शत्रु मित्र बन जाते हैं तथा सिंह भी मृग बन जाता है। जिस प्रकार लवण के बिना व्यंजन का कोई मूल्य नहीं, उसी प्रकार शीलव्रत के अभाव में समस्त व्रत व्यर्थ हो जाते हैं। इसी शीलव्रत का पालन करने वाले सेठ सुदर्शन की पूजा अनेक देवों ने मिलकर की थी। परिग्रह पापों का मूल है। उससे परिणाम कलुषित हो जाते हैं और वह नीति दया को नष्ट करने वाला है। संसार के समस्त अनर्थ इसी परिग्रह द्वारा सम्पन्न हुआ करते हैं। यह धर्मरूपी वृक्ष को उखाड़ देता है और लोभरूपी समुद्र को बढ़ा देता है। मनरूपी हंसों को धमकाता है और मर्यादा रूपी तट को तोड़ देता है। क्रोध, मान, माया आदि कषाओं को उत्पन्न करने वाला परिग्रह ही है। वह मार्दव (कोमलता) रूपी वायु को उड़ा देने के लिए वायु सरीखा है और कमलों को नष्ट करने के लिए तुषार के समान है। यह समस्त व्यसनों का घर; पापों की खानि और शुभध्यान का काल है, इसे कोई भी बुद्धिमान ग्रहण नहीं कर सकता। जैसे आग, लकड़ी से तृप्त नहीं होती, देव भोगों से तृप्त नहीं होते और उनकी आकांक्षा बढ़ती ही जाती है; उसी प्रकार अपार धन राशि से तृप्त जो लोग परिग्रह रहित हैं, वे ही वस्तुतः सर्वोत्तम हैं। वे पुण्य संचय के साथ धर्मरूपी वृक्ष उत्पन्न करते हैं और वैसे ही वे धर्मात्मा जैनधर्म का प्रसार करते हैं। इस प्रकार मुनिराज लोग अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह इन पांचों व्रतों का पूर्ण रीति से पालन करते हैं और गृही अणु रूप से पालन करते हैं। जो मुनिराज हिंसा आदि पापों से सदा विरक्त रहते हैं, तथा शरीर का मोह नहीं करते, उन्हें शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। जिन्होंने इन्द्रिय विषयक ज्ञान को त्याग दिया है तथा मन वचन काय को वश में कर लेने की जिनमें शक्ति है, वे ही महापुरुष मुनि कहलाने के अधिकारी होते हैं। जिन्होंने सर्व परिग्रहों का सर्वथा परित्याग कर दिया है, उन्हें ही मोक्ष रूपी स्त्री स्वीकार करती है। शुभ ध्यान में निरत मुनिराज ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेषण और उत्सर्ग इन पांचों समितियों का पालन करते हैं तथा उन्हीं के अनुसार चलने का नियम बना लेते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार का सर्वथा विनाश हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चरण के द्वारा अंतरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार के कर्मों का समुदाय विनष्ट हो जाता है। पर बिना तपश्चरण किये कर्म के समूह नष्ट नहीं होते। वर्षा के अभाव में जिस प्रकार खेती नहीं होती, उसी प्रकार बिना उत्तम

तपश्चरण के कर्मो का विनाश होना संभव नहीं है। तपश्चरण ही कर्मरूपी धधकती हुई प्रबल अग्नि को शांत कर देने के लिए जल के समान हैं और अशुभ कर्मरूपी विशाल पर्वत श्रेणी को ध्वस्त करने के लिए इन्द्र के वज्र के समान है। यह विषय रूपी सर्पो को वश में करने के लिए मंत्र के समान है, विघन रूपी हरिणों को रोकने के लिए जाल के समान और अंधकार को विनष्ट करने के लिए सूर्य जैसी शक्ति रखता है। तपश्चरण के प्रभाव से केवल मनुष्य ही नहीं, देव भवनवासी देव, आदि सभी सेवक बन जाते हैं। सर्प, सिंह, अग्नि शत्रु आदि के भय सर्वथा दूर हो जाते हैं। जिस प्रकार धान्य के बिना खेत, शृंगार के बिना सुन्दरी, कमलों के बिना सरोवर शोभा नहीं देता। इसी तपश्चरण के द्वारा मुनिराज दो तीन भव में ही कर्म समुदाय को नष्ट कर मोक्ष-सुख प्राप्त कर लेते हैं। इसका प्रभाव इतना प्रबल है कि अरहंत देव, सबको धर्मोपदेश देने वाले तथा देव, इन्द्र, नागेन्द्र आदि के पूज्य होते हैं। वे भगवान, उनके नाम को स्मरण करने वाले तथा जैन धर्म के अनुसार पुण्य संचय करने वाले सत्पुरुषों को संसार महासागर से शीघ्र पार कर देते हैं। जो क्षुधा, पिपासा, आदि अठारह दोषों से रहित हो, जो राग द्वेष से रहित हो; समवशरण का स्वामी तथा संसार सागर से पार करने के लिए जहाज के तुल्य हो, उसे देव कहते हैं। बुद्धिमान लोग ऐसे अरहंत देव के चरणों की निरंतर उपासना किया करते हैं और उनके पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा रोग, पाप से मुक्त और स्वर्ग मोक्ष प्रदान करने वाली है। जो लोग ऐसे भगवान की पूजा करते हैं, उनके घर नृत्य करने के लिए इन्द्र भी बाध्य है। भगवान के चरण कमलों की सेवा से सुन्दर सन्तान, हाव भाव सम्पन्न सुन्दर स्त्रियां तथा समग्र भूमण्डल का राज्य प्राप्त होता है। भगवान की पूजा शत्रु विनाशक और शत्रु संहारक है। यह कामधेनु के सदृश इच्छाओं की पूर्ति करती हैं।

जो भव्य पुरुष भगवान की पूजा करते हैं, उनकी सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों और इन्द्रों द्वारा पूजा होती है। जो 'अर्हिद्भयोनमः' इस प्रकार ऊंचे स्वर में उच्चारण करते हैं, वे उत्तम तथा यशस्वी होते हैं। परमात्मा की स्तुति से पुण्य समुदाय की कितनी वृद्धि होती है, इसका वर्णन करना सर्वथा कठिन है। जो लोग भगवान की निन्दा करते हैं, वे क्रूर भावों से भरे हुए इस संसार रूपी वन में दुःखी होकर भ्रमण किया करते हैं। वे नीच सदा लोभ के वशीभूत होकर यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेतादिकी उपासना करते रहते हैं। मिथ्याचारी मनुष्य धन आदि की इच्छा से पीपल कुआं तथा कुल देवियों की पूजा करते हैं। जो मुनिराज सम्यक् चारित्र से सुशोभित हैं और आत्मा एवं समस्त जीवों को तारने के लिए तत्पर रहते हैं, वे विद्वानों द्वारा गुरु माने जाते हैं। जिनसे मिथ्या ज्ञान का विनाश हो एवं अधर्म का नाश और धर्म को अभिवृद्धि होती हो, वे ही गुरु भव्यजीवों की सेवा के अधिकारी हैं। माता, पिता, भाई, बंधु, किसी में भी सामर्थ्य नहीं कि इस भवरूपी संसार में पड़े हुए जीवों का उद्धार कर सके। मिथ्याज्ञान से भरपूर पाखण्डी त्रिकाल में भी गुरु नहीं माने जा सकते। भला जो स्वयं मिथ्या शास्त्रों में आसक्त है, वह दूसरों का क्या उपकार कर सकता है। जो भगवान जिनेन्द्रदेव की दिव्य-वाणी का श्रवण नहीं करते, वे देव अदेव धर्म, अधर्म, गुरु, कुगुरू हित, अहित का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते हैं जो लोग जैन धर्म को भी अन्य धर्मो की भांति समझते हैं, वे वस्तुतः लोहे को मणि और अन्धकार को प्रकाश समझते हैं। जिसने भगवान की दिव्य-वाणी नहीं सुनी, उसका जन्म ही व्यर्थ है। जिसने जिनवाणी का उच्चारण नहीं किया, उसकी जीभ व्यर्थ ही बनाई गई। जिसमें तीनों लोकों की स्थिति, सप्ततत्वों, नव पदार्थों, पांच महाव्रतों का वर्णन हो तथा धर्म, अधर्म का स्वरूप बतलाया गया हो, वही विद्वानों द्वारा कही गयी जिनवाणी है। सूर्य के अभाव में जिस प्रकार संसार के पदार्थ दिखाई नहीं देते, ठीक उसी प्रकार जिनवाणी के बिना ज्ञान होना संभव नहीं है। देव, शास्त्र और गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग का पाथेय और नरकादि मार्गों का अवरोधक है। अतः बुद्धिमान लोग सम्यग्दर्शन का ही ग्रहण करते हैं। यह अज्ञान-तमका विनाशक और मिथ्याचार का क्षेय करने वाला है। इसके बिना व्रत शोभायमान नहीं होते। जिस प्रकार देवों में इन्द्र, मनुष्योंमें चक्रवर्ती और समुद्रों में क्षीरसागर श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में सम्यग्दर्शन ही श्रेष्ठ है। दरिद्र और भूखा सम्यग्दर्शी को धनी ही समझना चाहिए और उसके विपरीत सम्यग्दर्शन हीन धनी को निर्धन। इसी के प्रभाव से मनुष्यों को सांसारिक संपदायें प्राप्त होती हैं और रोग-शोकादि सब कष्ट दूर होते हैं। सम्यग्दर्शी को भोगोपभोग की सामग्रियां मिलती है तथा सूर्य के समान उनकी कीर्ति प्रकाशित होती है। वे अपने रूप से कामदेव को भी परास्त करते हैं और उन्हें इन्द्र, चक्रवर्ती आदि अनेक पद प्राप्त होते हैं। उन्हें देवांगनाओं जैसी सुन्दरियां प्राप्त होती हैं और चारों प्रकार के देव उनकी सेवा करते हैं। सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव है कि मनुष्य कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर तीनों भवों को पार कर जाता है। जिस स्थान पर देव-शास्त्र और गुरु की निन्दा होती हो, उसे मिथ्यादर्शन के प्रभुत्व से मनुष्य को नरकगामी होना पड़ता है। मिथ्या-दर्शन से जीव टेढ़े, कुबड़े, नकटे गूंगे तथा बहरे होते हैं। उन्हें दरीद्री, होना पड़ता है और उन्हें स्त्री भी कुरूपा मिलती है। वे दूसरों के सेवक होते हैं और उनकी अपकीर्ति संसार भर में फैलती है। उन्हें भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस आदि नीच व्यंतर भवों में

जाना पड़ता है अथवा वे कौआ बिल्ली सूअर आदि नीच और क्रूर होते हैं तथा एकेन्द्रिय व निगोद में उत्पन्न होते हैं। किन्तु जो जिनालय का निर्माण कराता है वह संसार में पूज्य और उत्तम होता है, उसकी कीर्ति संसार में फैलती है। कृपि कुएं से अधिक जल निकालना, रथ गाड़ी बनाना, घर बनाना, कुआं बनाना आदि हिंसा प्रधान कार्य नीच मनुष्य ही करते हैं। पर जो प्राणियों की हिंसा के दोप से जिनालय बनाने तथा भगवान की पूजा आदि में निपेध करते हैं वे मूर्ख हैं और मृत्यु के पश्चात् निगोद में निवास करते हैं। जिस प्रकार विप की छोटी बूंद से महासागर दूपित नहीं हो पाता, उसी प्रकार पुण्य कार्य में दोष नहीं लगता। पर खेती आदि हिंसा के कार्य में दोप अवश्य लगता है, जैसे घड़े भर दूध को थोड़ी सी कांजी नष्ट कर देती है। उस मनुष्य के समग्र पाप नष्ट हो जाते हैं, जो मन वचन की शुद्धतासे पात्रों को दान देता है। उसके परिणाम शान्त हो जाते हैं और आगमन तथा चारित्र की वृद्धि होती है। वह कल्याण, पुण्य और ज्ञान विनय की प्राप्ति करता है। पात्रों को दान देने से रत्नत्रयादि गुणों में प्रेम और लक्ष्मी की सिद्धि होती है। यहां तक कि आत्म-कल्याण और अनुक्रम से मोक्ष तक की प्राति होती है। दान देने से—ज्ञान कीर्ति, सौभाग्य, वल आयु कांति आदि समस्त गुणों की अभिवृद्धि होती है तथा उत्तम संतान और सुन्दरी स्त्रियां प्राप्त होती हैं। जैसे गाय आदि दूध देने वाले पशुओं को घास खिलाने से दूध उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सुपात्रों के दान से चक्रवर्ती, इन्द्र, नागेन्द्र आदि के सुख उपलब्ध होती हैं। जो दान दयापूर्वक दीन और दुखियों को दिया जाता है, उसे भी जिनेन्द्र भगवान ने प्रशंसनीय कहा है। उसे मनुष्य पर्याय प्राप्त होता है। पर मित्र राजा, भाट, दास ज्योतिषी वैद्य आदि को उनके कार्य के बदले जो दान दिया जाता है, उससे पुण्य नहीं होता। पर रोगियों को सदा औपधि दान देना चाहिए। औषधि के दान से सुवर्ण जैसे सुन्दर शरीर की प्राप्ति होती है। वे काम देव से सुन्दर और सदा निरोग रहते हैं। इसी तरह जो मनुष्य एकेन्द्रिय आदि जीवों को अभय दान देता है, उसकी सेवा में उत्तम स्त्रियां रत रहती हैं। इस अभय-दान के प्रभाव से गहन वन में, पर्वतों पर किसी भी हिंसक जानवर का भय नहीं रहता। जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया हो, धर्म की शिक्षा देता हो तथा जिसमें अहिंसा आदि का वर्णन हो, वह आर्हत मत में शास्त्र कहलाता है। जो लोग शास्त्रों को लिखा लिखाकर दान देते हैं, वे शास्त्र पारंगत होते हैं। पर अनेक प्रकार के अनर्थ में रत मनुष्य शस्त्र, लोहा, सोना, चांदी, गौ, हाथी, घोड़ा आदि का दान करते हैं। वे नरकगामी होते हैं। शास्त्रदान से जीव इन्द्र होता है। वे परम देव के कल्याणकों में लीन रहते हैं, अनेक देवियों उनकी सेवा में तत्पर रहती है और उनकी आयु होती है सागरों की। वहां से वे मनुष्य भव में आकर स्त्रियों के भोग भोगते हैं, बड़े धनी और यशस्वी बनते हैं। वे सदा जिन भगवान की सेवा में लीन रहते हैं मधुर भाषी होते हैं और दया आदि अनेक व्रतों को धारण करते हैं। अन्त में संसार के विषयों से विरक्त होकर जिन-दीक्षा ग्रहण कर शास्त्राभ्यास में लीन होते हैं। उनकी प्रवृत्ति सदा परोपकार में रहती है। पुनः वे घोर तपश्चरण के द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त कर भव्य जीवों को धर्मोपदेश करते हैं एवं चौदहवें गुणस्थान में पहुंच कर मोक्ष प्राप्त करते हैं। उपरोक्त व्रतों के तुल्य व्रत के पालन करने वाले श्रावकों को चहिए कि वे रात्रि-भोजन का सर्वथा त्याग करदें। रात्रि भोजन हिंसा का एक अंग है, पाप की वृद्धि करने वाला तथा उत्तम गतियों को प्राप्त करने में प्रधान बाधक है। रात्रि में जीवों की अधिक वृद्धि हो जाती है। भोजन में इतने छोटे-छोटे कीड़े मिल जाते है, जो दिखाई नहीं देते। इसलिए कौन ऐसा धार्मिक पुरुप होगा जो रात्रि के समय भोजन करेगा। रात्रि के समय भोजन करने से पाप स्वरूप जीव को सिंह, उल्लू बिल्ली, काक, कुत्ते, गृद्ध और मांसभक्षी आदि नीच योनियों में जाना पड़ता है। जो शास्त्रपारदर्शी व्यक्ति रात्रि भोजन का परित्याग कर देते है, वे १५ दिन उपवास करने का फल प्राप्त करते है। ऐसे ही मुनि और श्रावकों के भेद से कहे गये उपरोक्त धर्मों का जो निरंतर पालन करते है, वे ऐहिक, पारलौकिक और अंत में मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी अवश्य होते है। भगवान महावीर स्वामी के सदुपदेश सुनकर श्रेणिक आदि अनेक राजाओं और मनुष्यों ने व्रत धारण किये और दीक्षा ग्रहण की।

पश्चात् भगवान के आदेश के अनुसार संसार सागर से पार उतारने वाले गौतम गणधर भव्यजीवों को उपदेश देने लगे। मुनिराज गौतम-स्वामी ने अष्ट कर्मरूपी शत्रुओं के विनाश के हेतु कल्याण दायक, कामाग्नि को जलके समान शान्त करके तपश्चरण में तल्लीन हुए। एक दिन गौतम मुनिराज एकांत प्रासुक स्थान में उपस्थित थे। वे निश्चल और ध्यान में मग्न कर्म-नाश का उद्योग कर रहे थे। आरम्भ में ही उन्होंने अधःकारण अपूर्वकरण, अनिवृति करण के द्वारा मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व एवं सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय प्रकृतियां अनन्तानुबन्धी क्रोध मान, माया लोभ ये चार कषाय, इस तरह सम्यग्दर्शन में बाधा प्रदान करने वाली इन सातों प्रकृतियों को नष्ट कर क्षपक श्रेणी में आरुढ़ हुए। उन्होंने ध्यान के वल से तिर्यंच आयु नरकायु और देवायु को नष्ट कर शेप कर्मों का नाश करने के लिए नवें गुण स्थान को प्राप्त किया। स्थावर नाम कर्म, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, तेरन्द्रिय जाति चौइन्द्रिय जाति तिर्यञ्च जाति, तिर्यञ्गत्यानुपूर्वी, नरक गति नरक गत्यानुपूर्वी, साधारण आतप उद्योत, निद्रा-निद्रा प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, और सूक्ष्म नाम कर्म उक्त सोलह प्रकृतियों को उन्होंने नौवें

गुण स्थान के पूर्व में नष्ट किया। पुनः अप्रत्याख्यनावरण, क्रोध मान, माया लोभ अष्ट कषायों को दूसरे अंश में नष्ट किया और नपुन्सकलिंग, स्त्रीलिंग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा पुलिंग संज्वलन क्रोध मान-माया समस्त प्रकृतियां नष्ट कीं। संज्वलन लोभ प्रकृति सूक्ष्म सांपराय दशवें गुण स्थान के उपांत्य में निद्रा प्रचला विनष्ट हुई और इसी गुण स्थान के अंत में पाचों ज्ञानावरण, चारों दर्शनावरण और पांचों अंतराय कर्म नष्ट किये। उक्त तिरसठ प्रकृतियों को नष्ट कर गौतम मुनिराज केवल ज्ञान प्राप्त कर तेरहवें गुण स्थान में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्राप्त किये। उनके लिए देवों ने गन्ध कुटी की रचना की। जिसमें केवली भगवान विराजमान हुए। उन्हें इन्द्रादि देव भक्ति पूर्वक नमस्कार करने लगे। समस्त गणधर मुनिराज और राजाओं ने गौतम स्वामी की भक्तिपूर्वक पूजा की और नमस्कार कर अपने अपने स्थान पर बैठे। जिन्होंने अलोक सहित तीनों लोकों को देखा है, जिनका विषय समुदाय नष्ट हो चुका है, जो लीला पूर्वक कामदेव को नष्ट कर ब्राह्मण वंश को सुशोभित करने के लिए मणि के तुल्य हैं, वे केवल-ज्ञानी भगवान गौतम स्वामी मोक्ष प्रदान करने वाला भव्य ज्ञान देते रहें।

पंचम अधिकार

इसके पश्चात् भगवान गौतम स्वामी भव्य जीवों को आत्म-ज्ञान प्रदान करने वाली सरस्वती को प्रकट करने लगे। उनकी दिव्य ध्वनि में प्रकट हुआ कि, भगवान जिनेन्द्र देव ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सप्ततत्व निरूपित किये हैं। जो अन्तरंग और बहिरंग प्राणों से पूर्वभव में जीवित रहेगा, वह जीव है। यह अनादिकाल से स्वयं सिद्ध है। यह जीव भव्य और अभव्य अर्थात् संसार और सिद्ध भेद से अथवा सेनी-असेनी भेद से दो प्रकार का होना है। त्रस और स्थावर भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें पृथ्वीकादिक, जलकादिक, अग्निकादिक, वायुकादिक, वनस्पतिकादिक, ये पंच स्थावरों के भेद हैं तथा दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय ये चार त्रसों के भेद हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण ये पंचेन्द्रियां हैं एवं स्पर्श, रस, गंध वर्ण और शब्द उक्त इन्द्रियों के विषय हैं। शंखावर्त पद्मपत्र और वंशपत्र ये तीन प्रकार की योनियां होती हैं। शंखावर्त योनि में गर्भधारण की शक्ति नहीं होती। पद्मपत्र योनि से तीर्थंकर चक्रवर्ती नारायण प्रति नारायण बलभद्र आदि महापुरुष और साधारण पुरुष उत्पन्न होते हैं, किन्तु वंशपत्र से साधारण मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं। जीवों के जन्म तीन प्रकार से होते हैं—संमूर्च्छन गर्भ और : उपपाद एवं सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण शीतोष्ण संवृत, निवृत, संवृत-निवृत ये नव प्रकार की योनियां हैं। उत्पन्न होते ही जिन पर जरा आती है वे जरायुज और जिन पर जरा नहीं आती वे अंडज और पोत ये गर्भ से उत्पन्न होते हैं। इतर सब जीव संमूर्छन उत्पन्न होते हैं। योनियों के ये नव भेद जिनागम में संक्षेप से बतलाये गये हैं, अन्यथा यदि विस्तारपूर्वक कहे जांय तो चौरासी लाख होते हैं। नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथ्वीकादिक, जलकादिक, अग्निकादिक वायुकादिक इनकी सात सात लाख योनियां हैं। इन योनियों में जीव सदा परिभ्रमण किया करता है। वनस्पति जीवों की दश लाख योनियां हैं। दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय। इनकी दो-दो लाख योनियां हैं। जिनमें ये जीव जन्म मृत्यु के दुःख भोगा करते हैं। चार लाख योनियां हैं, जिनमें ये जीव जन्म मृत्यु के दुःख भोगा करती हैं। चार लाख योनियां नारकीयों की हैं जो शीतोष्ण के दुःख भोगती हैं। वे शारीरिक मानसिक और असुर कुमार तथा देवों के दिये हुए पांच प्रकार के दुख भोगती हैं। चार लाख योनियां तिर्यंचों की हैं। वे मारन छेदन आदि के कष्ट भोगती हैं। चौदह लाख योनियां मनुष्यों की हैं, वे इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के कष्ट झेलती हैं। इनके अतिरिक्त देवों की हैं, वे इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग के कष्ट झेलती हैं। इनके अतिरिक्त देवों की चार लाख योनियां हैं वे भी मानसिक दुःख भोगने के लिए बाध्य हैं। अर्थात् हे राजन्। संसार में कहीं भी सुख नहीं है। गर्भ से उत्पन्न होने वाले स्त्री पुरुष, स्त्रीलिंग पुलिंग और नपुन्सक लिंग के धारण करने वाले होते हैं। पर देव दो लिंगों को अर्थात् स्त्रीलिंग और पुलिंग को ही धारण करने वाले होते हैं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, चौइन्द्रिय सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय तथा नारकी ये सब नपुन्सक ही होते हैं। एकेन्द्रिय आदि के अनेक संस्थान होते हैं, पर नारकीयों का हुंडक संस्थान ही होता है। देव और भोग भूमियों का समचतुरस्त्र संस्थान होता है, पर मनुष्य और तिर्यंचों के छहों संस्थान होते हैं। देव और नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति (सबसे अधिक आयु) तीस

सागर की होती है, व्यतंर ज्योतिपियों की एक पल्य तथा भवनवासियों को एक सागर की। वनस्पतियों की स्थिति दश हजार वर्ष और सूक्ष्म वनस्पतियों की अन्तर्मूहूर्त है। पृथ्वीकादिक जीवों की बाइस हजार वर्ष, जलकादिक जीवों की सात हजार वर्ष और अग्निकादिक जीवों को तीन दिन की उत्कृष्ट स्थितिहै। जिनागम में द्विन्द्रिय जीवों को उत्कृष्ट स्थिति बारह वर्ष और तेइन्द्रिय की उन्चास दिन की बताई गयी है चतुरेन्द्रिय की छः मास की और पंचेन्द्रिय जीवों की स्थिति है तीन पल्य की एवं इन्हीं की जघन्य स्थिति अन्तर मुहूर्त की होती है। जिनागम में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्‌गल, जीव और काल ये छः द्रव्य वतलाये गये हैं। इनमें से धर्म अधर्म आकाश और पुद्‌गल द्रव्य अजीव भी हैं और काय भी हैं पुद्‌गल द्रव्य रूपी है और वाकी सबके सब अरूपी हैं और द्रव्य नित्य और पुद्‌गल क्रियाशील हैं और चारद्रव्य क्रिया रहित है। धर्म अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्‌गलों में संख्यात, असंख्यात और अनन्त तीनों प्रकार के प्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं और कालका एक-एक प्रदेश है। दीपक के प्रकाश की भांति जीव की भी संकोच होने और विस्तृत होने की शक्ति है। अतएव वह छोटे-बड़े शरीर में पहुंच कर शरीर का आकार धारण कर लेता है। शरीर मन वचन और श्वासोच्छास के द्वारा पुद्‌गल जीवों का उपहार करता है। जिस प्रकार मत्स्य के तैरने के लिए जल सहायक होता है, तथा पथिक को रोकने के लिए छाया सहायक होता है, उसी प्रकार जीव के चलने में धर्मद्रव्य सहायक होता है और अधर्म ठहरने में सहायक होता है। द्रव्य परिवर्तन के कारण को काल कहते हैं। वह क्रिया परिणमन, परत्वापरत्व से जाना जाता है। आकाश द्रव्य सब द्रव्यों को अवकाश देता है। द्रव्य का लक्षण सत् है। जो प्रति क्षण उत्पन्न होता हो, ज्यों का त्यों वना रहता हो, वह सत् है। सर्वज्ञदेव ने ऐसा वतलाया है कि जिसमें गुण पर्याय हों अथवा-उत्पाद, व्यय ध्रौव्य हों, उसे द्रव्य कहते हैं। वचन और शरीर को क्रिया योग है। वह अशुभ दो प्रकार का होता है। मन वचन काय की शुभ क्रिया पुण्य है और अशुभ क्रिया पाप है। मिथ्यात्व, अविरत योग और कषाओं से आने वाले कर्म को आस्रव कहते हैं। इनमें मिथ्यात्व पांच, अविरत बारह, योग पन्द्रह प्रकार के और कषाय के पच्चीस भेद होते हैं। मिथ्यात्व के पांच भेद एकान्त, विपरीत विनय, संशय और अज्ञान हैं। छः प्रकार के जीवों की रक्षा न करना, पंचेन्द्रिय तथा मन को वश में न करना आदि बारह भेद श्री सर्वज्ञदेव ने वतलाये हैं। सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभव मनोयोग ये चार मनोयोग के भेद हैं। काम योग के सात भेद-क्रम से औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक-मिश्र, आहारक मिश्र और कार्याणं है। कपाय वेदनीय और नौ-कपाय वेदनीय ये कषाय के दो भेद है। इनमें अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया, लोभ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और संज्वलन क्रोध मान माया लोभ ये सोलह प्रकार के भेद कपाय वेदनीय के हैं। और हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा पुलिंग, स्त्रीलिंग नपुन्सकलिंग ये नौ भेद नौ कपाय वेदनीय के हैं। इस प्रकार कपाय के कुल पच्चीस भेद होते हैं। जिस प्रकार समुद्र में पड़ी हुई नौका में छिद्र हो जाने से उसमें पानी भर जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व अविरत आदि के द्वारा जीवों के कर्मो का आस्रव होता रहता है। यह सम्वन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। कर्मों के उदय से ही जीवों में राग द्वेष रूप के भाव उत्पन्न होते हैं। रागद्वेप रूप परिमाणों से अनन्त पुद्‌गल आकर इस जीव के साथ सम्मिलित हो जाते हैं। पुनः नये कर्मो का वन्ध आरम्भ होता है। इस प्रकार कर्म और आत्मा का सम्वन्ध अनादिकाल से हैं। जिनागम में प्रकृति, स्थिति अनुमान और प्रदेश ये वंध के चार भेद वतलाये गये हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये प्रकृति के आठ भेद हैं। प्रतिमा के ऊपर पड़ी हुई धूल जिस प्रकार प्रतिमा को ढंग लेती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढंक लेते हैं। मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण, और केवल ज्ञानावरण ये पांच भेद ज्ञानावरण के होते हैं। आत्मा के दर्शन गुण को रोकने वाले को दर्शनावरण कहते हैं। वह नव प्रकार का होता है— चक्षुर्दर्श—नावरण अक्षुर्दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला प्रचला, स्त्यान गृद्धि। दुःख और सुख को अनुभव कराने वाले कर्म को वेदनीय कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है— साता वेदनीय और असाता वेदनीय। मोहनीय कर्म का स्वरूप मद्यत्वा धतूरा की तरह होता है। वह आत्मा को मोहित कर लेता है। इसके अठाईस भेद होते हैं—अनन्तानुवन्धी, क्रोध मान माया, लोभ अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान माया, लोभ संज्वलन क्रोध मान माया लोभं हास्य रति अरति, शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुलिंग नपुन्सक लिंग मिथ्यात्व सम्यक्‌मिथ्यात्व सम्यवप्रकृति मिथ्यात्व। जिस प्रकार सांकल में वंधा हुआ मनुष्य एक स्थान पर स्थिर रहता है, उसी प्रकार इस जीव को मनुष्य निर्यच आदि के शरीर में रोक कर रखे उसे आयु कर्म कहते हैं। आयु कर्म के उदय से ही मनुष्यादि भव धारण करना पड़ता है। यह कर्म चार प्रकार का होता है—मनुष्यायु तिर्यचायु, देवायु और नरकायु। जो अनेक प्रकार के शरीर की रचना करें, उसे नाम कर्म कहते हैं। उसके तिरानवे भेद हैं—

देव, मनुष्य, तिर्यच, नरक ये चार गतियां एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये पांच जातियां। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण, पांचवंधन, पंचसंघात, समचतुरस्त्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वातिक, कुब्जक, वामन, हुंडक, ये छः संहनन, स्पर्श आठ, रस पांच, गंध दो, वर्ण पांच नरक, तिर्यंच मनुष्य देवगत्यानुपूर्वी अगुरु लघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत उच्छवास विहायोगति दो, प्रत्येक साधारण त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, दुस्वर, सुस्वर, शुभ, अशुभ, सूक्ष्म, स्थूल, पर्याप्त अपर्याप्त स्थिर, अस्थिर आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति अशय कीर्ति, तीर्थकर। जिस प्रकार कुम्हार छोटे बड़े हर प्रकार के वर्तन तैयार करता है, उसी प्रकार ऊंच नीच गोत्रों में जो उत्पन्न करे, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। उसके ऊंच गोत्र और नीच गोत्र दो भेद होते हैं। दान आदि लब्धियों में जो विघ्न उत्पन्न करता है, वह अन्तराय है। उसके पांच भेद वतलाये गये हैं—दानांतराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय वीर्यान्तराय। विद्वानों ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा कोड़ी सागर की वतलाई है और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतिस सागर की। किन्तु इनकी जघन्य स्थिति वेदनीय की वारह मुहुर्त नाम और गोत्र की आठ और शेष कर्मों की अन्तर्मुहूर्त है। यह जीव शुभ परिणामों से पुण्य और अशुभ परिणामों से पाप संचय करता है। शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र और सातावेदनीय पुण्य हैं और अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र, असाता वेदनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय पाप हैं। पाप प्रकृतियों का परिपाक विप के तुल्य होता है और पुण्य प्रकृतियों का अमृत के समान। ज्ञान के विरुद्ध कर्म करने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का वन्ध होता है। जीवों पर दया करने, दान देने, राग पूर्वक संयम पालन करने नम्रता और क्षमा धारण करने से साता वेदनीय कर्म का वंध होता है। दुःख, शोक, वध, रोना आदि ये कर्म स्वयं करने या दूसरों से कराने से असाता-वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। भगवान की निन्दा, शास्त्र की निन्दा, तपश्चरण की निन्दा, गुरु की निन्दा, धर्म की निन्दा आदि से दर्शन मोहनीय कर्म का वन्ध होता है। कपायों के उदय से तीव्र परिणाम होते हैं और उनके सकल विकल दोनों प्रकार के चरित्र मोहनीय का वन्ध होता है। रौद्रभव धारण करने वाला, पापी, लोभी, शीलव्रत से रहित मिथ्या दृष्टि नरकायुका वन्ध करता है। और शील रहित जिन मार्ग का विरोधी पापाचारी जीव तिर्यंच आयुका वंध करता है। परन्तु जो मध्यम गुण धारण करने वाला, दानी, और मन्दकषायी है, वह मनुष्य आयु का वन्ध कर लेता है। देशव्रती महाव्रती अकाम निर्जरा करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव देवायुका वन्ध करता है। कुटिल मायाचारी जीव अशुभ नाम कर्म का वन्ध करता है और इसके विपरीत मन, वचन काय से शुद्ध जीव शुभ नामकर्म का वन्ध करता है। दुर्भाग्य को प्रकट करने से दूसरों की निन्दा करने से नीच गोत्र का वंध और अपनी निन्दा और दूसरे की प्रशंसा करने से उच्च गोत्र का वंध होता है। जो भगवान अर्हन्तदेव की पूजा में विमुख हिंसा आदि में रत रहता है, वह अंतराय कर्म का वंध करता है, उसे इष्ट पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती। गुप्ति, समिति धर्म, अनुप्रेक्षा, परीपह, जप, और चारित्र से आश्रव सुनकर महासंवर होता है। यह आत्मा सवर होने से अपने लक्ष्य (मोक्ष) पर पहुँच जाता है। वारह प्रकार के तपश्चरण, धर्म रूपी उत्तम वल, और रत्न त्रयरूपी अग्नि से यह जीवकर्मों की निर्जरा करता है। निर्जरा के दो भेद हैं—सविपाक अविपाक। तप और ध्वनि के द्वारा विना फल दिये ही जो कर्म नष्ट हो जाते हैं, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं और अविपाक निर्जरा वह है जो कर्मों के झड़ जाने से होती है। समस्त कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तब मोक्ष मिलता है। मुक्त होने पर यह जीव ऊपर को गमन करता है। यह धर्मास्तिकाय अर्थात् लोकाकाश के अन्त तक जाता है और आगे धर्मास्तिकाय न होने से वहीं रुक जाता है।

इस प्रकार भगवान गौतम स्वामी की दिव्य वाणी के द्वारा सप्त तत्वों का स्वरूप सुनकर महाराज श्रेणिक प्रार्थना करने लगे। वे कहने लगे—प्रभो आप संदेह रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य के तुल्य हैं। मैं आपके श्रीमुख से काल निर्णय, भोगभूमि का स्वरूप, कुलकरों की स्थिति, तीर्थंकरों की उत्पत्ति, उनके उत्पन्न होने के मध्य का समय, शरीर की ऊंचाई चिन्ह, जन्म नगर, उनके माता-पिताओं के नाम, चक्रवर्ती नारायण, प्रतिनारायण, रुद्र, नारद, कामदेव, आदि महापुरुषों के नाम नरक स्वर्गों में नारकी और देवों की स्थिति और उनकी ऊंचाई लेश्या आदि वातें सुनने की आशा रखता हूं। कृपा कर इन सब वातों को वतलाइए। प्रत्युत्तर में भगवान श्री गौतम स्वामी कहने लगे—तुम मन को स्थिर कर सुनो। ये विषय संसार को सुख प्रदान करने वाले हैं।

वीस कोड़ा कोड़ी सागर का एक कल्प काल होता है, उसमें दश, दश कोड़ा कोडी सागर के अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल होते हैं। इन दोनों कालों में प्रत्येक के छः भाग होते हैं—प्रथम सुषमा-सुषमा द्वितीय सुषमा, तृतीय सुषमा दुषमा चतुर्थ दुषमा सुषमा पंचम दुःषमा और षष्टम दुःषमा, दुषमा होते हैं। उत्सर्पिणी के काल ठीक इसके विपरीत हैं। इनमें प्रथम काल कोड़ा कोड़ी सागर का है। द्वितीय तीन कोड़ा कोड़ी-तृतीय दो कोड़ाकोड़ी, और चतुर्थ व्यालिस हजार वर्ष कम एक

कोड़ा-कोड़ी सागर का है। पंचम इक्कीसहजार वर्ष का और षष्टम भी एक्कीस हजार वर्ष का होता है, ऐसा जिनागम जाननेवाले आचार्य कहते हैं। उपरोक्त पूर्व के तीन कालों में भोगोपभोग सामग्रियां कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं, अतः उक्त तीनों कालों को भोग-भूमि कहते हैं। प्रथम काल में जीवों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य, दूसरे में दो पल्य और तीसरे में एक पल्य की होती है। इसे भी उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि के अनुरूप ही समझना चाहिए। पूर्व काल के आरंभ में वहां के मनुष्य ६ हजार धनुष, दूसरे काल के आरंभ में चार हजार धनुष, और तीसरे के आरम्भ में दो हजार धनुष, ऊंचे होते हैं। भोगभूमि में उत्पन्न स्त्री-पुरुषों के शरीर का रंग पूर्व काल में सूर्य की प्रभा के समान, दूसरे काल में चन्द्रमा के और तीसरे काल में नीलवर्ण का होता है। वहां के स्त्री-पुरुष प्रथम काल में वेर के समान, द्वितीय काल में वहेरे के समान और तृतीय काल में आंवलों के वरावर भोजन करते हैं। वहां तीनों कालों में वस्त्रांग, दीपांग गृहांग, ज्योतिरांग, मालांग, भूषणांग, भोजनांग, भाजनांग, वाद्यांग और मावांग जाति के कल्पवृक्ष होते हैं। तीनों कालों के स्त्री-पुरुष सुलक्षणों से युक्त और क्रीड़ा रत रहते हैं। उनकी तृप्ति कल्पवृक्ष सदा किया करते हैं। वहां के तिर्यंच भी तदनुरूप ही होते हैं। जो लोग उत्तम पात्रों को शुभ दान देते हैं, वे भोगभूमि में उत्पन्न होकर इन्द्र के समान सुख भोगने के अधिकारी होते हैं। जिस समय अवसर्पिणी का अन्त हो रहा था, पल्यका आठवां भाग वाकी था और कल्पवृक्ष नष्ट हो रहे थे, उस समय कुलकर उत्पन्न हुए थे। उनके नाम क्रम से १४ हैं प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंवर, विमलवाहन चक्षुष्मान, यशस्वान, अभिचन्द्र, चन्द्राभ; मरुदेव; प्रसेनजित और नाभिराय थे। इनमें से सुख प्रदान करने वाले नाभिराज की आयु एक करोड़ वर्ष थी और उन्होंने उत्पन्न होने के समय ही नाभि-काटने की विधि वताई थी। इस प्रकार सभी कुलकर अपने २ नाम के अनुसार गुण धारण करने वाले थे। वे एक-एक पुत्र उत्पन्न कर तथा लोगों को सद्बुद्धि दे स्वर्ग सिधार गये। पर तीसरे काल में जव तीन वर्ष साढ़े आठ महीने अधिक चौरासी लाख वर्ष वाकी थे, उस समय युग्मधर्म को दूर करने वाले मति, श्रुत, अवधिज्ञान से सुशोभित त्रिलोक के स्वामी तीनों लोकों के इन्द्रों द्वारा पूज्य श्री ऋषभदेव तीर्थंकर उत्पन्न हुए थे।

श्री ऋषभदेव अजित नाथ, शंभव नाथ, अभिनन्दन; सुमतिनाथ, पद्मप्रभ सुपार्श्वनाथ; चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल नाथ, श्रेयांस नाथ, वासुपूज्य, विमल नाथ, अनन्त नाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत नाथ, नमीनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, और वर्द्धमान ये चौवीस तीर्थंकर कामदेव को परास्त करने वाले और भव्यजीवों को संसार सागर से पार उतारने वाले थे। जव तीसरे काल में तीन वर्ष साढ़े अठारह महीने वाकी रहे, तव श्री महावीर स्वामी मोक्ष गये थे। श्री ऋषभदेव की आयु चौरासी लाख पूर्व, श्री अजितनाथ की वहत्तर लाख पूर्व, श्री शंभवनाथ की साठ लाख पूर्व, श्री अभिनन्दननाथ की पचास लाख पूर्व, श्री सुमतिनाथ की चालीस लाख पूर्व श्री पद्मप्रभु की तीस लाख पूर्व, श्री सुपार्श्वनाथ की वीस लाख पूर्व, श्री चन्द्रप्रभ की दश लाख पूर्व, श्री पुष्प दन्त की दो लाख पूर्व, श्री शीतलनाथ की एक लाख पूर्व, श्री श्रेयांस नाथ की चौरासी लाख पूर्व, श्री वासु पूज्य की वहत्तरलाख वर्ष, श्री विमल नाथ की साठ लाख वर्ष, श्री अनन्त नाथ की तीस लाख वर्ष, श्री धर्मनाथ की दश लाख वर्ष, श्री शान्ति नाथ की एक लाख वर्ष, श्री कुन्थुनाथ की पंचानवे हजार वर्ष, श्री अरहनाथ की चौरासी हजार वर्ष, श्री मल्लिनाथ की पचपन हजार वर्ष श्री मुनिसुव्रत नाथ की दस हजार वर्ष, श्री नमिनाथ की दश हजार वर्ष, श्री नेमिनाथ की एक हजार वर्ष, श्री पार्श्वनाथ की सौ वर्ष और श्री वर्द्धमान की ७२ वर्ष की आयु थी। श्री ऋषभदेव के मोक्ष जाने के पश्चात पचास लाख करोड़ सागर व्यतीत होने पर श्री अजित नाथ उत्पन्न हुए थे। उनके मोक्ष के पश्चात् तीस लाख करोड़ सागर वीत जाने पर श्री शंभव नाथ उत्पन्न हुए थे। इनके मोक्ष के वाद दश लाख करोड़ सागर वीतने पर अभिनन्दन नाथ हुए। इनके मोक्ष जाने के पश्चात नव लाख करोड़ सागर व्यतीत होने पर श्री सुमति नाथ उत्पन्न हुए थे। इनकी सिद्धि के नव्वे हजार करोड़ सागर व्यतीत होने वाद पद्मप्रभ उत्पन्न हुये थे। इनके मोक्ष के नौ हजार करोड़ सागर वीतने पर श्री चन्द्रप्रभ हुए पुनः नव्वे करोड़ सागर व्यतीत होने पर श्री पुष्पदन्त हुए थे। इसी प्रकार नौ करोड़ सागर वीत जाने पर श्री शीतल नाथ उत्पन्न हुये थे। इनके मोक्ष से वाद सौ सागर छयासठ लाख छव्वीस हजार वर्ष कम एक करोड़ सागर वीत जाने पर श्री श्रेयांस नाथ की उत्पत्ति हुई इनके वाद चौसठ सागर वीत जाने पर श्री विमल नाथ हुए थे। इनके वाद नौ सागर व्यतीत होने पर श्री अनन्त नाथ हुए थे। श्री अनन्त नाथ के मोक्ष जाने के वाद चार सागर वीत जाने के वाद श्री धर्मनाथ जी हुए थे। इनके पश्चात पौन पल्य कम तीन सागर व्यतीत होने पर श्री शान्तिनाथ हुए थे। इनके पश्चात् आधा पल्य वीतने पर श्री कुंथनाथ हुए थे। इनके पश्चात एक हजार करोड़ वर्ष कम चौथाई पल्य व्यतीत होने पर श्री अरहनाथ हुए थे। एक लाख करोड़ दो हजार वर्ष वीतने पर श्री मल्लिनाथ और उनके मोक्ष के चौवन लाख वर्ष वीत जाने पर श्री मुनिसुव्रत हुए थे। ऐसे ही श्री मुनिसुव्रत के मोक्ष के पश्चात् ६ लाख वर्ष वीत जाने पर श्री नमिनाथ हुए थे। इनके वाद पांच लाख वर्ष व्यतीत होने पर श्री नेमिनाथ उत्पन्न हुए। इनके तिरासी हजार सात सौ वर्ष व्यतीत होने पर श्री

पार्श्वनाथ अवतरित हुए थे। और इनके ढ़ाईसौ वर्ष वीत जाने पर श्री वर्द्धमान स्वामी का अविर्भाव हुआ था। क्रम से तीर्थंकरों के शरीर की ऊंचाई पांच सौ धनुष, चार सौ पचास धनुष, चार सौ धनुष, तीन सौ पचास धनुष, तीन सौ धनुष, दो सौ पचास धनुष, दो सौ धनुष, एक सौ पचास धनुष, सौ धनुष, नव्वे धनुष, अस्सी धनुष, साठ धनुष, पचास धनुष, चालीस धनुष, पैंतीस धनुष, तीस धनुष, पच्चीस धनुष, बीस धनुष, पंद्रह धनुष, दश धनुष, नव हाथ और सात हाथ की थी। चौबीस तीर्थंकरों में श्री पद्मप्रभ और वासुपूज्य का वर्ण लाल था, श्री नेमिनाथ और मुनिसुव्रत श्यामवर्ण के थे, सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ हरित वर्ण के तथा अन्य सोलह तीर्थंकरों का वर्ण तपाये हुए स्वर्ण के समान था। क्रम से-बैल, हाथी, घोड़ा, बंदर, चकवा, कमल, स्वस्तिक, चन्द्रमा, मगर, वृक्ष, गैंडा, भैंसा, शूकर, सेही, वज्र, हरिण, बकरा, मछली, कलश, कछवा, नील कमल शंख, सर्प, और सिंह ये इनके चिन्ह है।

अयोध्या कोशाम्बी काशी, चन्दपुर, काकंदीभद्रपुर, सिंहपुर, चंपापुर कंपिला, अयोध्या, रत्नपुर, हस्तिनापुर, मिथिला राजगृह मिथिला, सौरीपुर, वाराणसी कुंडपुर ये क्रम से चौवीस तीर्थंकरों की जन्मभूमियां हैं। श्री वासुपूज्य मल्लिनाथ पार्श्वनाथ और वर्द्धमान ये पांच तीर्थंकर कुमार अवस्था में ही दीक्षित हुए थे, अर्थात् बाल ब्राह्मचारी थे अन्यान्य तीर्थंकर राज्य करके दीक्षित हुए थे। तीन तीर्थंकर—श्री ऋषभदेव वासुपूज्य और नेमिनाथ पद्मासन से मोक्ष गये हैं बाकी तीर्थंकर खड़गासन से। श्री ऋषभदेव चौदह दिनों तक योग निरोध कर, श्री वर्द्धमान स्वामी दो दिनों तक योग निरोध कर तथा अन्य बाइस तीर्थंकर एक-एक मास तक योग निरोध कर मोक्ष पधारे थे। ऋषभदेव कैलाश से, श्री वासुपूज्य, चम्पापुर से श्री नेमिनाथ गिरनार पर्वत से, श्री वर्द्धमान स्वामी पावापुर से तथा बाकी बीस तीर्थंकर सम्मेद शिखर जी से मोक्ष पधारे थे। क्रम से चौवीस तीर्थंकरों के पिताओंके नाम ये हैं—श्री नाभिराय, जितामित्र, जितारि, संवर राय, मेघप्रभ, धरण स्वामी सुप्रतिष्ठ महासेन, सुग्रीव, दृढ़रथ विष्णुराय, वसुपूज्य, कृत वर्मा, सिंहसेन मोनुराय विश्व सेन, सूर्यप्रभ सुदर्शन कुंभराय सुमित्रनाथ विजय रथ समुद्र विजय अश्वसेन, और सिद्धार्थ तथा माताओं के—श्री मरुदेवी, विजयादेवी, सुसेना देवी, सिद्धार्था देवी, सुलक्ष्मणा देवी, रामादेवी, सुनन्दा देवी, विमाला देवी, विजया देवी, श्यामा देवी, सुकीर्ति देवी, (सर्वयशा देवी) सुव्रता देवी, ऐरा देवी रमा देवी, सुमित्रा देवी, ब्राह्मणी देवी, पद्मावतीदेवी, विनयादेवी, शिवा देवी, वामा देवी, त्रिशला देवी नाम है। ये भी क्रम से मोक्ष प्राप्त करेंगी। ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है।

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेण जय और ब्रह्मदत्त ये द्वादश चक्रवर्तियों के नाम हैं। ये भरत क्षेत्र के छः खण्डों के नौ निधि और चौदह रत्नों के स्वामी होते हैं। अनेक देव और राजा इनके चरण कमलों की सेवा में सलग्न रहते हैं। चक्रवर्तियों के पास रहने वाली नौ निधियों के ये नाम हैं—पांडुक, माणव, काल, नःसर्प, शंख, पिंगल, सर्वरत्न, महाकाल और पद्म तथा चक्र, तलवार काकिणी, दण्ड, छत्र, चर्म पुरोहित गृहपति, स्थपति, स्त्री हाथी मणि, सेनापति घोड़ा ये चौदह रत्न हैं। उक्त बारह चक्रवर्तियों में सुभूम और ब्रह्मदत्त को नरक की प्राप्ति हुई थी, मघवा और सनतकुमार स्वर्ग गये और अन्य आठ चक्रवर्तियों को मोक्ष की प्राप्ति हुई। इनके होने का समय इस प्रकार है—

प्रथम चक्रवर्ती श्री ऋषभदेव के समय में दूसरा अजितनाथ के समय में तीसरे और चौथे ये दो श्री धर्मनाथ और शान्तिनाथ के मध्यकाल में हुए थे। पाँचवें शान्तिनाथ थे और छवें कुंथुनाथ थे और सातवें अरहनाथ थे। आठवां चक्रवर्ती अर-नाथ और श्री मल्लिनाथ के मध्य में हुआ था नौवां मल्लिनाथ और सुव्रत के मध्य में दशवां सुव्रतनाथ और नेमिनाथ के मध्य-काल में ग्यारहवां नमिनाथ और नेमिनाथ के मध्य काल में तथा बारहवां चक्रवर्ती नेमिनाथ और श्री पार्श्वनाथ के मध्यकाल में हुआ।

अश्वग्रीव, तारक, मेरु निशुंभ मधुकैटभ, बलि प्रहरण (प्रहलाद) रावण, जरासंध ये नव नारायणों के नाम तथा त्रिपृष्ठ द्विपृष्ठ स्वयं पुरुषोत्तम प्रतापी नरसिंह पुंडरीक, दत्त लक्ष्मण, कृष्ण ये नव प्रति नारायणों के नाम हैं। नारायण दोनों ही अर्घ चक्रवर्ती होते हैं। ये निदान से उत्पन्न होते हैं। अतएव नरक गामी होते हैं। विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, स्वयंप्रभ आनन्दी, नन्द मित्र रामचन्द्र और बलदेव ये नव बलभद्र हैं। इनकी उत्पत्ति निदान रहित होती है अतः ये जिन दीक्षा धारण करते हैं। ये काम जीत और उर्ध्व गामी होकर स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करते हैं। भीमबली, जितशत्रु रुद्र (महादेव) विश्वानल सुप्रतिष्ठ, अचल, पुण्डरीक, अजीत धर, जितनाभि, पीठ सात्यक ये ग्यारह रुद्र हैं। ये ग्यारहवें गुणस्थान में गिरकर नर्क में ही गये हैं।

भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र काल, महाकाल, उर्मख नरमुख, उन्मुख, ये नौ नाम नारकियों के हैं। इनकी आयु भी नारायणों की भांति कही गयी है।

वाहुवली, अमित तेज, श्रीधर, शान्तभद्र प्रसेनजित, चन्द्रवर्ण, अग्निमुक्त, सनतकुमार, वत्सराज, कनक प्रभ, मेघवर्ण शान्तिवली, सुदर्शन (वसुदेव) प्रद्युम्न, नागकुमार श्रीपाल, जंबू स्वामी ये चौवीस कामदेवोंके नाम हैं। चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रति नारायण नौ बलभद्र तिरसठ शलाका पुरुष तथा चौवीस कामदेव नौ नारद, चौवीस तीर्थंकरों की माताएं चौदह कुलकर ग्यारह रुद्र ये एक सौ उनत्तर महापुरुष कहलाते हैं। इनमें ये कितने ही धर्म के प्रभाव से मोक्षगामी हुए और आगे होंगे। राजन ! यह बात सर्वथा सत्य है। श्रेणिक ! यह तो दुषम-सुषम कालका स्वरूप बतलाया, अब दुषम कालका स्वरूप कहता हूं, सुन। जब वर्द्धमान स्वामी मोक्ष पधारेंगे उस समय, सुरेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्र सब उनका कल्याणोत्सव सम्पन्न करेंगे। उस काल में धर्म की प्रवृति होती रहेगी। किन्तु जब केवली भगवान का धर्मोपदेश बन्द हो जायगा, तब उस समय के मनुष्य दुष्ट और अधर्मरत होंगे। वे क्रूर तथा प्रजा को कष्ट देने वाले होंगे। उनका हृदय सम्यग्दर्शन से शून्य होगा, हिंसा रत होंगे झूठ बोलेंगे एवं ब्रह्मचर्य से सर्वथा रहित होंगे। वे क्रोधी, मायाचारी, परस्त्री लोलुपी, परोपकार से रहित और जैन धर्म के कट्टर विरोधी होंगे। मांस, मद्य, मधु का सेवन करने वाले विवादी इष्ट वियोगी अनिष्ट संयोगी और कुबुद्धि धारण करने वाले होंगे। उस समय उनके पाप कर्मो के उदय से सदा युद्ध होते रहेंगे। धान्य कम होगा और यज्ञों में गोवध करने वाले पतित दूसरों को भी पतित करते रहेंगे। पंचमकाल के आरंभ की ऊंचाई सात हाथ की होगी, पर घटते-२ वह दो हाथ की रह जायगी। आरम्भ के मनुष्यों की आयु एक सौ चौवीस वर्ष की होगी पर वह भी अन्त में बीस वर्ष की हो जायगी। सुषम-दुषम काल में शरीर की ऊंचाई एक हाथ की होगी और आयु केवल बारह वर्ष की रह जायेगी, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। उस काल के लोग सर्पवृत्ति धारण कर अनेक कुकर्म करेंगे। वे सर्वथा धनहीन और स्थानहीन होंगे। उनमें आचरण की प्रवृत्ति नहीं रहेगी और पशुओं की तरह गुफाओं में रह कर जीवन व्यतीत करेंगे। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्रवृत्ति उनमें नहीं रहेगी। वे वनस्पति आदि खाकर जीवन-निर्वाह करेंगे। इसके अतिरिक्त वे विवाह संस्कार से भी रहित होंगे। अंग से कुरूप होंगे। जिस तरह से कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा का प्रकाश कमता जाता है और शुक्ल पक्ष में उसकी अभिवृद्धि होती है, उसी प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल में मनुष्यों की आयु शरीर प्रभाव ऐश्वर्य आदि में घटी-बढ़ी होती रहेगी।

राजन ! मुनि और श्रावकों के भेद से दो प्रकार का धर्म बतलाया गया है; इनमें मुनियों का धर्म मोक्ष प्राप्त करने वाला है और श्रावकों के धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। दोनों का स्वरूप बतला चुके हैं। अब नरक स्वर्ग का हाल बतलाते हैं। जीव को पापकर्म के उदय से नरक में जाना पड़ता है। वहां यह जीव नाना तरह के दुःख भोगता है। अधोलोक में सात नरक है। उनके नाम ये हैं—धर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी, माघवी इनमें चौरासीलाख बिलें क्रम से हैं। पहली पृथ्वी में तीस लाख दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पंद्रह लाख, चौथी में दश लाख पांचवीं में तीन लाख, छठी में पांच कम एक लाख और सातवें में पांच। पहली में नारकी जीवों के जघन्य कापोतलेश्या दूसरी में मध्यम कापोतलेश्या और तीसरी पृथ्वी के ऊपरी भाग में उत्कृष्ट कापोतलेश्या है और उसी तीसरी के आधे भाग में जघन्य नीललेश्या चौथी के माध्यम नील लेश्या है। पांचवी पृथ्वी के ऊर्द्ध भाग में उत्कृष्ट और उसी पांचवीं के निम्न भाग में जघन्य कृष्ण लेश्या है छठीं पृथ्वीं के ऊर्ध्व में नारकी जीवों की मध्यम कृष्ण लेश्या और निम्न भाग में परम कृष्ण है और सातवीं पृथ्वीं के नारकीयों की उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है। इन नारकीयों की आयु आठ प्रकार होती है—

प्रथम नरक में एक सागर की दूसरे में तीन सागर की, तीसरे में सात सागर की, चौथे में दश सागर की, पांचवें में सत्रह सागर की छठवे में बाइस सागर की और सातवें नरक में तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। पहले में दश हजार वर्ष की जघन्य आयु, दूसरे में एक सागर, तीसरे में तीन सागर, चौथे में सात सागर पाचवें में दश सागर, छठवें में सत्रह सागर और सातवें में बाईस सागर की जघन्य आयु होती है। उनके शरीर की ऊंचाई सातवें नरक में पांच सौ धनुष की होती है और क्रम से अन्य नरकों में आधी होती गयी है। प्रथम नरक में रहने वाले नारकियों का अवधिज्ञान एक योजन तक रहता है, पर क्रम से आधा घटता जाता है। अब इसके आगे देवों का वर्णन करते हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी चार प्रकार के देव होते हैं। भवनवासियों के दश भेद व्यन्तरों के आठ भेद, ज्योतिष्कों के पांच भेद तथा कल्पवासियों के बारह भेद होते हैं। कल्पातीत देवों में किसी प्रकार का भेद नहीं है। असुर कुमार, नागकुमार सुपर्णकुमार, द्वीप कुमार, अग्निकुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, दिक्कुमार विद्युत्कुमार और वातकुमार ये भगवनवासियों

के भेद हैं। किन्नर, किंपुरुष महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच ये अष्ट व्यंतरों के भेद कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ज्योतिषियों के पांच भेद हैं। ये देव मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए सदा भ्रमण करते रहते हैं। सौधर्म, ऐशान, सानतकुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर लांतव, कापिष्ट, शुक्र महाशुक्र, सतार सहस्रार, आनत, प्राणत आरण अच्युत ये सोलह स्वर्ग हैं। इनके उर्द्ध भाग में नव ग्रैवेयक है, नव अनुदिश हैं और उनके ऊपरविजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थ सिद्धि नाम के पांच पंचोत्तर है। इस प्रकार ऊपर के कहे गये देवों में आयु सुख, प्रभाव, कांति और अवधि ज्ञान अधिक है। ग्रैवेयक से पूर्व के देव अर्थात् सोलहवें स्वर्ग तक के कल्पवासी कहलाते हैं और आगे के कल्पातीत वैमानिक देवों के विमानों की संख्या चौरासी लाख सतानवे हजार तेईस है। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों की कृष्ण नील कापोत और जघन्य पीतलेश्या है। उनकी द्रव्यलेश्या और भाव भी यही है। असुर कुमार देवों की उत्कृष्ट आयु एक सागर, नागकुमार देवों की तीन पल्य, सुवर्ण-कुमारों की ढाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य और बाकी भवनवासियों की डेढ़-डेढ़ पल्य, भी होती है। पर इन्हींदेवों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है। भवनवासी देवों के शरीर की ऊंचाई पच्चीस धनुष, व्यंतरों की दश धनुष तथा ज्योतिषियों की सत्रह धनुष की होती है। प्रथम, दूसरे स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर, तीसरे-चौथे में सात सागर सातवें-आठवें में चौदह सागर नवें-दशव में सोलह सागर ग्यारहवें-बारहवें में अठारह सागर तेरहवें-चौदहवें में बीस सागर और पन्द्रहवें सोलहवें में बाईस सागर की होती है। फिर आगे एक सागर आयु की वृद्धि होती गयी है। प्रथम और दूसरे स्वर्ग के देवों का अवधि ज्ञान पहले नरक तक है। तीसरे चौथे स्वर्ग के देवों का दूसरे नरक तक, पांचवें-छठें, सातवें आठवें स्वर्ग के देवों का तीसरे नरक तक है। इसी प्रकार नवे दशवें ग्यारहवें बारहवें स्वर्ग के देवों का अवधि-ज्ञान चौथे नरक तक तेरहवें चौदहवें पंद्रहवें सोलहवें स्वर्ग के देवों का अवधि ज्ञान पांचवें नरक तक है। नव ग्रैवेयक देवों का छठें नरक तक और नौ अनुदिश के देवों का सातवें नरक तक अवधिज्ञान हैं। पर अनुत्तर वैमानिक देवों का अवधिज्ञान ऊपर विमान के शिखर तक होता है।

पहले दो स्वर्गो के देव, भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी, मनुष्यों की भांति ही शरीर से भोग-भोगते हैं। किन्तु तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव, देवियों के स्पर्श मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। नवें से लेकर बारहवें तक के देव केवल देवियों के शब्द से तृप्ति लाभ करते हैं और तेरहवें से सोलहवें तक के देव संकल्प मात्र से तृप्ति का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर विमानवासी देवों में काम की वासना नहीं होती। वे ब्रह्मचारी होते हैं। अतः वे सबसे सुखी रहते है। देवियों के उत्पन्न होने के उपपाद स्थान सौधर्म और ईशान स्वर्ग में है। देवियों के विमानों की संख्या पहले में छः लाख और दूसरे में चार लाख अर्थात् दश लाख है। प्रथम स्वर्ग की देवियां दक्षिण में आरण स्वर्ग तक और ईशान में उत्पन्न हुई उत्तर दिशा की ओर अच्युत् स्वर्ग तक जाती है। सौधर्म स्वर्ग में निवास करने वाली देवियों की उत्कृष्ट आयु पांच पल्य है, पर बारहवें स्वर्ग तक दो दो पल्य बढ़ती गयी है। इसके आगे सात पल्य की वृद्धि होती गयी है। अर्थात् सोलहवें स्वर्ग की देवियों की आयु पचपन पल्य की होती है। इसके आगे देवियां नहीं होतीं। राजन ! संसार में जो इन्द्र चक्रवर्ती के सुख उपलब्ध होते हैं, उसे पुण्य का प्रभाव समझना चाहिए। इसके विपरीत तिर्यंचों के दुःखों को पाप का फल। पर राजन ! पाप और पुण्य दोनों ही दुख दायक और बंध के कारण है। जो इन दोनों से रहित हो जाता है, वही वस्तुतः मोक्ष प्राप्त करता है। अनेक देवों द्वारा नमस्कार किये जाने वाले गौतम स्वामी इस प्रकार धर्मोपदेश देकर चुप हो गये। उनके पश्चात् महाराज श्रेणिक उन्हें नमस्कार कर अपनी राजधानी को लौट आये।

महामुनि गौतम गणधर स्वामी ने अनेक देशों का विहार करते हुए स्थान-स्थान पर धर्म की अभिवृद्धि की। वे आयु के अन्त में ध्यान के द्वारा चौदहवें गुणस्थान में पहुंचे। उस समय वे कर्मों का नाश करने लगे। उन्होंने उपान्त्य समय में ही अपने शुक्लध्यानरूपी खड्ग से बहत्तर प्रकृतियों को नष्ट किया। इन्द्र द्वारा नमस्कार किये जाने वाले गौतम स्वामी ने अन्त समय में साता वेदनीय, आदेय, पर्याप्त, त्रस बादर, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्य गति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, उच्च गोत्र सुभग यशकीर्ति ये बारह प्रकृतियों को विनष्ट किया। तीर्थंकर प्रकृति तो उन में थी ही नहीं। जिन्हें त्रैलोक्य के जीव नमस्कार करते हैं, जो अनन्त चतुष्ठय से भूषित हैं, उन गौतम स्वामी ने समस्त प्रकृतियों को विनष्ट कर मोक्षरूपी स्त्री की प्राप्ति की। मुक्त होने के बाद वे सिद्ध अवस्था में जा पहुंचे। उनकी विशुद्ध आत्मा शरीर से कुछ कम आकार की, अष्टकर्मों से रहित तथा सम्यग्दर्शन आदि अष्ट गुणों से सुशोभित है। वे लोक शिखर पर विराजमान चिदानन्द मय और सनातन ज्ञान स्वरूप हैं। सदा वे नित्य और उत्पाद व्यय सहित है।

गौतम स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् इन्द्रादिक देवों का आगमन हुआ। उन्होंने मायामयी शरीर धारण कर

कर्पूरचंदनादि ईंधन के द्वारा उनके शरीर को भस्म किया, मोक्ष-कल्याणक का उत्सव सम्पन्न किया और माथे पर भस्मका लेपन किया। इस प्रकार वे बार बार नमस्कार कर अपने २ स्थान को चले गये।

इस ओर गौतम स्वामी के अग्निभूत और वायुभूति दोनों भाई पांच सौ ब्राह्मणों के साथ तपश्चरण करने लगे। दोनों भ्राताओं ने घातिया कर्मों का नाश कर अनेक भव्य जीवों को धर्मोपदेश दिया और अन्त में समस्त कर्मों को विनष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया। उन पांच सौ ब्राह्मणों में से अनेक सर्वार्थ सिद्धि में और अनेक स्वर्ग में उत्पन्न हुए सत्य है, तपश्चरण के द्वारा सब कुछ संभव है।

गौतम गणधर स्वामी के गुणों का वर्णन करना जब वृहस्पति के लिए भी संभव नहीं तब भला मैं अल्पज्ञानी उनके गुणों का वर्णन कैसे कर सकता हूं। जिनके धर्मोपदेश को श्रवण कर अनेक भव्य जीव मोक्षगामी हुए और आगे भी होते रहेंगे, उन्हें मैं बार बार नमस्कार करता हूं। गौतम स्वामी की स्तुति कर्मों को नष्ट करने तथा अनन्त सुख प्रदान करने वाली है। वह मोक्ष प्राप्ति में सहायक हो।

गौतम स्वामी का जीव प्रथम विशालाक्षी नाम्नी रानी के पर्याय में था, पुनः नरकगामी हुआ। वहां से निकल कर विलाव, शूकर, कुत्ता, मुर्गा और पुनः शूद्र कन्या के रूप में हुआ। उसने व्रत के प्रभाव से ग्रह स्वर्ग में देवत्व की प्राप्ति की। वहां से आकर ब्राह्मण का पुत्र गौतम हुआ और उनके पांच सौ शिष्य हुए। सत्य है, धर्म के प्रभाव से क्या नहीं होता है। भगवान महावीर स्वामी के समोशरण में मनस्तंभ को देख कर गौतम का सारा अभिमान चूर हो गया। उसने भगवान के समीप जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। अन्त में वे समस्त परिग्रहों को त्याग कर महावीर स्वामी के प्रथम गणधर हुए। उन्होंने संताप नाशक भव्यजीवों को सुख प्रदान करने वाली धर्म की वृष्टि की अर्थात् धर्मोपदेश दिया। जिन्हें इन्द्र, नरेन्द्र नमस्कार करते हैं, उन्हें मैं हृदय से नमस्कार करता हूं। जिन्होंने कर्मरूपी शत्रुओं को विनष्ट कर केवल ज्ञान प्राप्त किया। अपनी दिव्य वाणी के द्वारा जिन्होंने राजाओं और मनुष्यों को धर्मोपदेश दिया, जो चैतन्य अवस्था धारण कर मोक्षगामी हुए, वे श्री गौतम स्वामी जीवों के अनुकूल स्थायी मोक्ष-सुख प्रदान करें। जिनेन्द्र देव की वाणी से प्रकट हुआ जैन धर्म, सर्वोत्तम पद प्रदान करने वाला है, रूप, तेज, बुद्धि देने वाला है तथा सर्वोत्तम विभूतियां—भोगोपभोग की सामग्रियां तथा स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति करने वाला है, अतएव भव्य जीवों को चाहिए कि वे जैनधर्म को धारण करें।

समस्त पापों को नाश करने वाले श्री नेमिचन्द मेरे इस गच्छ के स्वामी हुए। ये यशकीर्ति अत्यन्त ख्यातनामा हुए। अनेक भव्यजन और राजा उनकी सेवा करते थे। उनके पट्ट पर श्री भानुकीर्ति विराजित हुए। वे सिद्धान्त शास्त्र के पारंगत, काम-विजयी प्रवल प्रतापी और शांत थे। उन्होंने क्रोध मान माया लोभ आदि कपायों पर विजय प्राप्त की थी। उनके पट्ट पर, न्यायाध्यात्म, पुराण, कोष छन्द अलंकार आदि अनेक शास्त्रों के ज्ञाता श्रीभूपण मुनिराज विराजमान हुए। वे आचार्यों के सम्प्रदाय में प्रधान थे। उनके पट्ट पर श्री धर्मचन्द्र मुनिराज विराजे। वे भारती गच्छ के देदीप्यमान सूर्य थे। महाराज रघुनाथ के राज्य में महाराष्ट्र नाम का एक छोटा सा नगर था। वहां ऋपभ देव का एक जिनालय है, जो पूजा पाठ आदि महोत्सव से सदा सुशोभित रहता है। उसी जिनालय में बैठ कर विक्रम सम्वत १७२६ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया के दिन—शुक्र के शुभ स्थान में रहते हुए, अनेक आचार्यों के अधिपति श्रीधर्मचन्द्र मुनिराज ने भक्ति के वश हो गौतम स्वामी के शुभ चरित्र की रचना की। हमारी यही भावना है कि इस चरित्र के द्वारा भव्य प्राणियों का सदा कल्याण होता रहे।

गौतम स्वामी मोक्ष कहां से गये? ऐसा प्रश्न उठता है।
इसके बारे में श्री गुणभद्राचार्य अपने उत्तर पुराण में लिखते हैं कि—
गौतम स्वामी उपदेश देते हुए कहते हैं कि—

भविष्याम्यहमप्यश्च केवलज्ञान लोचनः। भव्यानां धर्मदेशेन विहृत्य विपयांस्ततः ।।५१६।।
गत्वा विपुलादिगिरौ प्राप्स्यामि निवृंतिं। मन्निवृत्तिदिने लव्ध्वा सुधर्मा क्षुतपारगः ।।५१७।।

—महापुराण पेज नं० ७४५-४६

जिस दिन भगवान महावीर मोक्ष पधारेंगे उसी दिन मुझे भी घातिया कर्मों के नाश होने से केवल ज्ञानरूपी नेत्र प्रगट होगा। भव्य जीवों को धर्मोपदेश देता हुआ अनेक देशों में विहार करूंगा और फिर विपुलाचल पर्वत पर जाकर मुक्त होऊंगा। जिस दिन मैं मुक्त होऊंगा उसी दिन सकल श्रुतज्ञान के पारगामी सुधर्माचार्य को लोक अलोक सबको एक साथ देखने वाला अंतिम केवल ज्ञान प्रगट होगा सुधर्माचार्य के निर्वाण होने के समय ही जम्बूकुमार को केवल ज्ञान प्रगट होगा। इस आगम से यह बात सिद्ध हुई कि गौतम स्वामी राजग्रह अर्थात् विपुलाचल पर्वत से मुक्त हुए हैं और कोई अन्य स्थान से नहीं हैं।

दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि

(१)

दिगम्बरत्व

(मनुष्य की आदर्श स्थिति)

"मनुष्य मात्र की आदर्श स्थिति दिगम्बर ही है। आदर्श मनुष्य सर्वथा निर्दोष है—विकारशून्य होता है।"

—म० गांधी।

"प्रकृति की पुकार पर जो लोग ध्यान नहीं देते, उन्हें तरह तरह के रोग और दुःख घेर लेते हैं, परन्तु पवित्र प्राकृतिक जीवन बिताने वाले जंगल के प्राणी रोगमुक्त रहते हैं और मनुष्य के दुर्गुणों और पापाचारों से बचे रहते हैं।"

—रिटर्न टु नेचर।

दिगम्बरत्व प्रकृतिका रूप है। वह प्रकृतिका दिया हुआ मनुष्य का वेष है। आदम और हव्वा इसी रूप में रहे थे। दिशायें ही उनके अम्बर थे—वस्त्रविन्यास उनका वही प्रकृतिदत्त नग्नत्व था। वह प्रकृति के अन्चल में सुखकी नींद सोते और आनन्दरेलियां करते थे। इसलिये कहते हैं कि मनुष्यकी आदर्श स्थिति दिगम्बर है। नग्न रहना ही उसके लिये श्रेष्ठ है। इसमें उसके लिये अशिष्टता और असभ्यताकी कोई बात नहीं है, क्योंकि दिगम्बरत्व अथवा नग्नत्व स्वयं अशिष्ट अथवा असभ्य वस्तु नहीं है। वह तो मनुष्य का प्राकृत रूप है। ईसाई मतानुसार आदम और हव्वा नङ्गे रहते हुये कभी न लजाये और न वे विकार के चंगुल में फंसकर अपने सदाचार से हाथ धो बैठे। किन्तु जब उन्होंने बुराई-भलाई, पाप पुण्यका वर्जित फल खालिया, वे अपनी प्राकृत दशा को खो बैठे-सरलता उनकी जाती रही। वे संसारके साधारण प्राणी हो गये। बच्चेको लीजिये, उसे कभी भी अपने नग्नत्वके कारण लज्जा का अनुभव नहीं होता और न उसके माता-पिता अथवा अन्य लोग ही उसकी नग्नता पर नाक भी सिकोड़ते हैं। अशक्त रोगीकी परिचर्या स्त्री धाय करती है—वह रोगी अपने कपड़ों की सारसंभाल स्वंय नहीं कर पाता, किन्तु स्त्री धाय रोगी की सब सेवा करते हुए ज़रा भी अशिष्टता अथवा लज्जा का अनुभव नहीं करती। यह कुछ उदाहरण हैं जो इस बात को स्पष्ट करते हैं कि नग्नत्व वस्तुतः कोई बुरी चीज़ नहीं है। प्रकृति भला कभी किसी ज़माने में बुरी भी हुई है? तो फिर मनुष्य नंगेपन से क्यों झिझकता है? क्यों आज लोग नंगा रहना समाज मर्यादाके लिये अशिष्ट और घातक समझते हैं? इन प्रश्नों का एक सीधा सा उत्तर है—"मनुष्य का नैतिक पतन चरम सीमा को आज पहुंच चुका है—वह पाप में इतना सना हुआ है कि उसे मनुष्य की आदर्श-स्थिति दिगम्बरत्व पर घृणा आती है। अपनेपन को गंवाकर पापके पर्दे में कपड़ों की आड़ लेना ही उसने श्रेष्ठ समझा है।" किन्तु वह भूलता है, पर्दा पाप की जड़ है—वह गंदगीका ढेर है। बस, जो ज़राभी समझ—विवेक—से काम लेना जानता है, वह गंदगी को अपना नहीं सकता और नहीं ही अपनी आदर्श स्थिति दिगम्बरत्व से चिढ़ सकता है।

वस्त्रों का परिधान मनुष्य के लिये लाभदायक नहीं है और न वह आवश्यक ही है। प्रकृति ने प्राणीमात्र के शरीर की रचना इस प्रकार की है कि यदि वह प्राकृत वेष में रहे तो उसका स्वास्थ्य निरोग और श्रेष्ठ हो तथा उसका सदाचार भी उत्कृष्ट रहे। जिन विद्वानों ने उन भील आदिकों को अध्ययन की दृष्टि से देखा है, जो नंगे रहते हैं, वे इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि

उन प्राकृत वेष में रहने वाले 'जंगली' लोगों का स्वास्थ्य शहरों में बसने वाले सभ्यताभिमानी 'सज्जनों' से लाख दर्जा अच्छा होता है और आचार विचार में भी वे शहर वालों से बढ़े चढ़े होते हैं। इस कारण वे एक वस्त्र परिधान की प्रधानता-युक्त सभ्यता को उच्च कोटि पर पहुंचते स्वीकार नहीं करते। उनका यह कथन है भी ठीक, क्योंकि प्रकृति की होड़ कृत्रिमता नहीं कर सकती। म० गांधी के निम्न शब्द भी इस विषय में दृष्टव्य हैं:—

"वास्तव में देखा जाये तो कुदरत ने चर्म के रूप में मनुष्य को योग्य पोशाक पहनाई है। नग्न शरीर कुरूप देख पड़ता है, ऐसा मानना हमारा भ्रम मात्र है। उत्तम २ सौन्दर्य के चित्र तो नग्न दशा में ही देख पड़ते हैं। पोशाक से साधारण अगों को ढककर हम मानो कुदरत के दोषों को दिखला रहे हैं। जैसे जैसे हमारे पास ज्यादा पैसे होते जाते हैं वैसे ही वैसे हम सजावट बढ़ाते जाते हैं। कोई किसो भांति और कोई किसी भांति रूपवान बनना चाहते हैं और बनठन कर कांच में मुंह देख प्रसन्न होते हैं कि 'वाह मैं कैसा खूबसूरत हूँ ?' बहुत दिनों के ऐसे ही अभ्यास से अगर हमारी दृष्टि खराब न हो गई हो तो हम तुरन्त देख सकेंगे कि मनुष्य का उत्तम से उत्तम रूप उसको नग्नावस्था में ही है और उसी में उस का आरोग्य है।"*

इस प्रकार सौन्दर्य और स्वास्थ्य के लिये दिगम्बरत्व अथवा नग्नत्व एक मूल्यमई वस्तु है; किन्तु उस का वास्तविक मूल्य तो मानव समाज में सदाचार की सृष्टि करने में है। नग्नता और सदाचार का अविनाभावी सम्बन्ध है। सदाचार के बिना नग्नता कोड़ी मोल की नहीं है। नंगा मन और नंगा तन ही मनुष्य की आदर्श स्थिति है। इसके विपरीत गन्दा मन और नंगा तन तो निरी पशुता है। उसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा ?

लोगों का खयाल है कि कपड़े-लत्ते पहनने से मनुष्य शिष्ट और सदाचारी रहता है। किन्तु बात वास्तव में इसके बर-अक्स है। कपड़े लत्ते के सहारे तो मनुष्य अपने पाप और विकार को छुपा लेता है। दुर्गुणों और दुराचार का आगार बना रह कर भी वह कपड़े की ओट में पाखण्डरुप बना सकता है, किन्तु दिगम्बर वेष में यह असम्भव है। श्री शुक्राचार्य जी के कथानक से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि—शुक्राचार्य युवा थे, पर दिगम्बर वेष में रहते थे। एक रोज वह वहां से जा निकले जहां तालाब में कई देव कन्यायें नगी होकर जल क्रीड़ा कर रहीं थी। उनके नङ्गे तन ने देव रमणियों में कुछ भी क्षोभ उत्पन्न न किया ? वे जैसी की तैसी नहाती रहीं और शुक्राचार्य अपने निकले चले गये। इस घटना के थोड़ी देर बाद शुक्राचार्य के पिता वहां आ निकले। उनको देखते ही देवकन्यायें नहाना-धोना भूल गई। झटपट वे जल के बाहर निकलीं और अपने वस्त्र उन्होंने पहन लिये। एक नङ्गे युवा को देख कर तो उन्हें ग्लानि और लज्जा न आई किन्तु एक वृद्ध शिष्ट—से—दिखते 'सज्जन' को देख कर वे लजा गई; भला इस का क्या कारण ? यही न कि नंगा युवा अपने मन में भी नंगा था—उसे विकार ने नहीं आघेरा था। इसके विपरीत उसका वृद्ध और शिष्ट पिता विकार से रहित न था। वह अपने शिष्ट वेष (?) में इस विकार को छिपाये रखने में सफल था; किन्तु दिगम्बर युवा के लिए वैसा करना असंभव था। इसी कारण वह निर्विकारी और सदाचारी था। अत: कहना होगा कि सदाचार की मात्रा नंगे रहने में अधिक है। नंगेपन—दिगम्बरत्व का वह भूषण है। विकारभाव को जीते बिना ही कोई नंगा रहकर प्रशंसा नहीं पा सकता। विकारी होना दिगम्बरत्व के लिये कलंक है। न वह सुखी हो सकता है और न उसे विवेक-नेत्र मिल सकता है। इसीलिए भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

'णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसार सागरे भमई।
णग्गो न लहई बोहिं, जिण भावणज्जिओ सुदूरं ॥ २ ॥

भावार्थ—'नंगा दुःख पाता है, वह संसार सागर में भ्रमण करता है, उसे बोधि-विज्ञानदृष्टि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि नंगा होते हुए भी वह जिन भावना से दूर है। इसका मतलब यही है कि जिन भावना से युक्त नग्नता ही पूज्य है—उपयोगी है। और जिन भावना से मतलब रागद्वेषादि विकार भावों को जीत लेना है—प्रकृतिका होकर प्राकृत वेष में रह रहा है।

Having given same study to the subject. I may say that Rev. J. F. Wilkinson's remarke upon the superior morality of the races that do not wear clothes is fully borne out by the testimony of the travellers······ It is the that wearing ef clothes goes with a higher state of the arts and to that extent with civilisation, But it is on the other hand attended by a lower sate of health and morality so thatno clothed civilisation can expect to attain to a high rank."

— "Daily News, London" of 18 th April. 1913

२. भाव प्राहुड ६८ गाथा।

संसार के पाप-पुण्य बुराई-भलाई का जिसे मान तक नहीं है, वही दिगम्बरत्व धारण करने का अधिकारी है। और चूंकि सर्वसाधारण गृहस्थों के लिये इस परमोच्च स्थिति को प्राप्त कर लेना सुगम नहीं है, इसलिये भारतीय ऋषियों ने इसका विधान गृहत्यागी अरण्यवासी साधुओं के लिये किया है। दिगम्बर मुनि ही दिगम्बरत्व को धारण करने के अधिकारी हैं; यद्यपि यह बात जरूर है कि दिगम्बरत्व को मनुष्य का आदर्श स्थिति होने के कारण मानव-समाज के पथ-प्रदर्शक श्री भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थों के लिये भी महीने के पर्वदिनों में नंगे रहने की आवश्यता का निर्देश किया था[1] और भारतीय गृहस्थ उनके इस उपदेश का पालन एक बड़े ज़माने तक करते रहे थे।

इस प्रकार उक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि दिगम्बरत्व मनुष्य की आदर्श स्थिति है—आरोग्य और सदाचार का वही पोषक ही नहीं जनक है। किन्तु आजका संसार इतना पाप-ताप से झुलस गया है कि उस पर एक दम दिगम्बर-वारि डाला नहीं जा सकता। जिन्हें विज्ञान-दृष्टि नसीब हो जाती है, वहीं अभ्यास करके एक दिन निर्विकारी दिगम्बर मुनि के वेष में विचरते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनको देखकर लोगों के मस्तक स्वंय झुक जाते हैं। वे प्रज्ञा-पुन्ज और तपो धन लोक कल्याण में निरत रहते हैं। स्त्री-पुरुष, वालक-वृद्ध, ऊंच-नीच, पशु पक्षी-सब ही प्राणी उनके दिव्यरुप में सुख-शांति का अनुभव करते हैं। भलाप्रकृति प्यारी क्यों न हो ? दिगम्बर साधु प्रकृति के अनुरूप है। उनका किसी से द्वेष नहीं—वे तो सब के हैं और सब उनके हैं—वे सर्वप्रिय और सदाचार की मूर्ति होते हैं। यदि कोई दिगम्बर होकर भी इस प्रकार जिनभावना से युक्त नहीं है तो जैनाचार्य कहते हैं कि उसका नग्नवेष धारण करना निरर्थक है—परमोद्देश्य से वह भटका हुआ है—इह लोक और परलोक दोनों ही उस के नष्ट हैं।[2] बस, दिगम्बरत्व वहीं शोभनीय है जहां परमोद्देश्य दृष्टि से ओझल नहीं किया गया है। तब ही तो वही मनुष्य की आदर्श स्थिति है।

(२)
धर्म और दिगम्बरत्व

"णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठ परमजिणवीरदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

अर्थात्—अचेलक—नग्नरूप और हाथों को भोजनपात्र बनाने का उपदेश जिनेन्द्र ने दिया है। यही एक मोक्ष-धर्म-मार्ग है। इसके अतिरिक्त शेष सब अमार्ग हैं।

"धम्मो वत्थु सहावो'—धर्म वस्तु का स्वभाव है और दिगम्बरत्व मनुष्य का निज रूप है; उनका प्रकृत स्वभाव है। इस दृष्टि से मनुष्य के लिए दिगम्बरत्व में वहां कुछ भेद ही नहीं रहता। सचमुच सदाचार के आधार पर टिका हुआ दिगम्बरत्व धर्म के सिवा और कुछ हो भी क्या सकता है ?

जीवात्मा अपने धर्म को गंवाये हुए है। लौकिक दृष्टि से देखिए, चाहे आध्यात्मिक से जीवात्मा भवभ्रमण के चक्कर में पड़कर अपने निज स्वभाव से हाथ धोये बैठा है। लोक में वह नंगा आया है। फिर समाज-मर्यादा के कृत्रिम भय के कारण वह अपने निजरूप—नग्नत्व—को खुशी २ छोड बैठता है। इसी तरह जीवात्मा स्वभाव में सच्चिदानन्द रूप होते हुए भी संसार की माया-ममता में पड़ कर उस स्वानुभवानन्द से वन्चित है। इसका मुख्य कारण जीवात्मा को राग-द्वेष जनित

---

१. सागार० अ० ७ श्लोक ७ व भमबु० पृ० २०५-२०७

२. "निरट्ठिया नग्गरूई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेई।
इमे विसे नत्थि परे विलोए, दुहओ विसे भिज्जई तत्थ लोए ४९।"
उत्तराध्ययन सूत्र अ० २०

"In vain he adopts nakedness, who errs. about matters of paramount interest, neither this world nor the next will be his. He is a Loser in both respect in the world."

—Js. II. P. 106.

उन प्राकृत वेष में रहने वाले 'जंगली' लोगों का स्वास्थ्य शहरों में बसने वाले सभ्यताभिमानी 'सज्जनों' से लाख दर्जा अच्छा होता है और आचार विचार में भी वे शहर वालों से बढ़े चढ़े होते हैं। इस कारण वे एक वस्त्र परिधान की प्रधानता-युक्त सभ्यता को उच्च कोटि पर पहुंचते स्वीकार नहीं करते। उनका यह कथन है भी ठीक, क्योंकि प्रकृति की होड़ कृत्रिमता नहीं कर सकती। म० गांधी के निम्न शब्द भी इस विषय में दृष्टव्य हैं:—

"वास्तव में देखा जाये तो कुदरत ने चर्म के रूप में मनुष्य को योग्य पोशाक पहनाई है। नग्न शरीर कुरूप देख पड़ता है, ऐसा मानना हमारा भ्रम मात्र है। उत्तम २ सौन्दर्य के चित्र तो नग्न दशा में ही देख पड़ते हैं। पोशाक से साधारण अगों को ढककर हम मानो कुदरत के दोषों को दिखला रहे हैं। जैसे जैसे हमारे पास ज्यादा पैसे होते जाते हैं वैसे ही वैसे हम सजावट बढ़ाते जाते हैं। कोई किसी भांति और कोई किसी भांति रूपवान बनना चाहते हैं और बनठन कर कांच में मुंह देख प्रसन्न होते हैं कि 'वाह मैं कैसा खूबसूरत हूँ ?' बहुत दिनों के ऐसे ही अभ्यास से अगर हमारी दृष्टि खराब न हो गई हो तो हम तुरन्त देख सकेंगे कि मनुष्य का उत्तम से उत्तम रूप उसको नग्नावस्था में ही है और उसी में उस का आरोग्य है।"*

इस प्रकार सौन्दर्य और स्वास्थ्य के लिये दिगम्बरत्व अथवा नग्नत्व एक मूल्यमई वस्तु है; किन्तु उस का वास्तविक मूल्य तो मानव समाज में सदाचार की सृष्टि करने में है। नग्नता और सदाचार का अविनाभावी सम्बन्ध है। सदाचार के बिना नग्नता कोड़ी मोल की नहीं है। नंगा मन और नंगा तन ही मनुष्य की आदर्श स्थिति है। इसके विपरीत गन्दा मन और नंगा तन तो निरी पशुता है। उसे कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा ?

लोगों का खयाल है कि कपड़े-लत्ते पहनने से मनुष्य शिष्ट और सदाचारी रहता है। किन्तु बात वास्तव में इसके बर-अक्स है। कपड़े लत्ते के सहारे तो मनुष्य अपने पाप और विकार को छुपा लेता है। दुर्गुणों और दुराचार का आगार बना रह कर भी वह कपड़े की ओट में पाखण्डरुप बना सकता है, किन्तु दिगम्बर वेष में यह असम्भव है। श्री शुक्राचार्य जी के कथानक से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि—शुक्राचार्य युवा थे, पर दिगम्बर वेष में रहते थे। एक रोज वह वहां से जा निकले जहां तालाब में कई देव कन्यायें नगी होकर जल क्रीड़ा कर रहीं थी। उनके नङ्गे तन ने देव रमणियों में कुछ भी क्षोभ उत्पन्न न किया ? वे जैसी की तैसी नहाती रहीं और शुक्राचार्य अपने निकले चले गये। इस घटना के थोड़ी देर बाद शुक्राचार्य के पिता वहां आ निकले। उनको देखते ही देवकन्यायें नहाना-धोना भूल गई। झटपट वे जल के बाहर निकलीं और अपने वस्त्र उन्होंने पहन लिये। एक नङ्गे युवा को देख कर तो उन्हें ग्लानि और लज्जा न आई किन्तु एक वृद्ध शिष्ट—से—दिखते 'सज्जन' को देख कर वे लजा गई; भला इस का क्या कारण ? यही न कि नंगा युवा अपने मन में भी नंगा था—उसे विकार ने नहीं आघेरा था। इसके विपरीत उसका वृद्ध और शिष्ट पिता विकार से रहित न था। वह अपने शिष्ट वेष (?) में इस विकार को छिपाये रखने में सफल था; किन्तु दिगम्बर युवा के लिए वैसा करना असंभव था। इसी कारण वह निर्विकारी और सदाचारी था। अतः कहना होगा कि सदाचार की मात्रा नंगे रहने में अधिक है। नंगेपन—दिगम्बरत्व का वह भूषण है। विकारभाव को जीते बिना ही कोई नंगा रहकर प्रशंसा नहीं पा सकता। विकारी होना दिगम्बरत्व के लिये कलंक है। न वह सुखी हो सकता है और न उसे विवेक-नेत्र मिल सकता है। इसीलिए भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

'णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसार सागरे भमई।
णग्गो न लहई बोहिं, जिण भावणज्जिओ सुइरं ॥ २ ॥

भावार्थ—'नंगा दुःख पाता है, वह संसार सागर में भ्रमण करता है, उसे बोधि-विज्ञानदृष्टि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि नंगा होते हुए भी वह जिन भावना से दूर है। इसका मतलब यही है कि जिन भावना से युक्त नग्नता ही पूज्य है—उपयोगी है। और जिन भावना से मतलब रागद्वेपादि विकार भावों को जीत लेना है—प्रकृतिका होकर प्राकृत वेष में रह रहा है।

Having given same study to the subject. I may say that Rev. J. F. Wilkinson's remarke upon the superior morality of the races that do not wear clothes is fully borne out by the testimony of the travellers...... It is the that wearing ef clothes goes with a higher state of the arts and to that extent with civilisation, But it is on the other hand attended by a lower sate of health and morality so thatno clothed civilisation can expect to attain to a high rank."

— "Daily News, London" of 18 th April. 1913

२. भाव पाहुड ६८ गाथा।

संसार के पाप-पुण्य बुराई-भलाई का जिसे मान तक नहीं है, वही दिगम्बरत्व धारण करने का अधिकारी है। और चूंकि सर्वसाधारण गृहस्थों के लिये इस परमोच्च स्थिति को प्राप्त कर लेना सुगम नहीं है, इसलिये भारतीय ऋषियों ने इसका विधान गृहत्यागी अरण्यवासी साधुओं के लिये किया है। दिगम्बर मुनि ही दिगम्बरत्व को धारण करने के अधिकारी हैं; यद्यपि यह बात ज़रूर है कि दिगम्बरत्व को मनुष्य को आदर्श स्थिति होने के कारण मानव-समाज के पथ-प्रदर्शक श्री भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थों के लिये भी महीने के पर्वदिनों में नंगे रहने की आवश्यता का निर्देश किया था[1] और भारतीय गृहस्थ उनके इस उपदेश का पालन एक बड़े ज़माने तक करते रहे थे।

इस प्रकार उक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि दिगम्बरत्व मनुष्य की आदर्श स्थिति है—आरोग्य और सदाचार का वही पोषक ही नहीं जनक है। किन्तु आजका संसार इतना पाप-ताप से झुलस गया है कि उस पर एक दम दिगम्बर-वारि डाला नहीं जा सकता। जिन्हें विज्ञान-दृष्टि नसीब हो जाती है, वहीं अभ्यास करके एक दिन निर्विकारी दिगम्बर मुनि के वेष में विचरते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनको देखकर लोगों के मस्तक स्वंय झुक जाते हैं। वे प्रज्ञा-पुन्ज और तपो धन लोक कल्याण में निरत रहते हैं। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, ऊंच-नीच, पशु पक्षी-सब ही प्राणी उनके दिव्यरुप में सुख-शांति का अनुभव करते हैं। भलाप्रकृति प्यारी क्यों न हो ? दिगम्बर साधु प्रकृति के अनुरूप है। उनका किसी से द्वेप नहीं—वे तो सब के हैं और सब उनके हैं—वे सर्वप्रिय और सदाचार की मूर्ति होते हैं। यदि कोई दिगम्बर होकर भी इस प्रकार जिनभावना से युक्त नहीं है तो जैनाचार्य कहते हैं कि उसका नग्नवेष धारण करना निरर्थक है—परमोद्देश्य से वह भटका हुआ है—इह लोक और परलोक दोनों ही उस के नष्ट हैं।[2] बस, दिगम्बरत्व वहीं शोभनीय है जहां परमोद्देश्य दृष्टि से ओझल नहीं किया गया है। तब ही तो वही मनुष्य की आदर्श स्थिति है।

(२)

धर्म और दिगम्बरत्व

"णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवीरदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे॥१०॥

अर्थात्—अचेलक—नग्नरूप और हाथों को भोजनपात्र बनाने का उपदेश जिनेन्द्र ने दिया है। वही एक मोक्ष-धर्म-मार्ग है। इसके अतिरिक्त शेप सब अमार्ग हैं।

''धम्मो वत्थु सहावो'—धर्म वस्तु का स्वभाव है और दिगम्बरत्व मनुष्य का निज रूप है; उसका प्रकृत स्वभाव है। इस दृष्टि से मनुष्य के लिए दिगम्बरत्व में वहां कुछ भेद ही नहीं रहता। सचमुच सदाचार के आधार पर टिका हुआ दिगम्बरत्व धर्म के सिवा और कुछ हो भी क्या सकता है ?

जीवात्मा अपने धर्म को गंवाये हुए है। लौकिक दृष्टि से देखिए, चाहे आध्यात्मिक से जीवात्मा भवभ्रमण के चक्कर में पड़कर अपने निज स्वभाव से हाथ धोये बैठा है। लोक में वह नंगा आया है। फिर समाज-मर्यादा के कृत्रिम भय के कारण वह अपने निजरूप—नग्नत्व—को खुशी २ छोड बैठता है। इसी तरह जीवात्मा स्वभाव में सच्चिदानन्द रूप होते हुए भी संसार की माया-ममता में पड़ कर उस स्वानुभवानन्द से वन्चित है। इसका मुख्य कारण जीवात्मा को राग-द्वेप जनित

---

१. सागार० अ० ७ श्लोक ७ व भमबु० पृ० २०५-२०७

२. "निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेई।
इमे विसे नत्थि परे विलोए, दुहओ विसे झिज्जई तत्थ लोए १४९।"
उत्तराध्ययन सूत्र व्या० २०

"In vain he adopts nakedness, who errs. about matters of paramount interest, neither this world nor the next will be his. He is a Loser in both respect in the world."
—Js. II. P. 106.

परिणति है। रागद्वेषमई भावों से प्रेरित होकर वह अपने मन-वचन और काय की क्रिया तद्वत् करता है इसका परिणाम यह होता है कि उस जीवात्मा में लोक में भी हुई पौद्गलिक कर्म-वर्गणायें आकर चिपट जाती हैं और उनका आवरण जीवात्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुणों को प्रकट नहीं होने देता। जितने अंशों में ये आवरण कम या ज्यादा होते हैं उतने ही अंशों में आत्मा के स्वाभाविक गुणों का कम या ज्यादा प्रकाश प्रकट होता है। यदि जीवात्मा अपने निजस्वभाव को पाना चाहता है तो उसे इन सब हीं कर्म सम्बन्धी आवरणों को नष्ट कर देना होगा, जिनका नष्ट कर देना संभव है।

इस प्रकार जीवात्मा के धर्म-स्वभाव-से घातक उसके पौद्गलिक सम्बन्ध हैं। जीवात्मा को आत्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए इस पर-सम्बन्ध को बिलकुल छोड़ देना होगा। पार्थिव संसर्ग से उसे अछूत हो जाना होगा। लोक और आत्मा—दोनों ही क्षेत्रों में वह एक मात्र अपनी उद्देश्य प्राप्ति के लिए सतत उद्योगी रहेगा। बाहरी और भीतरी सब ही प्रपंचों से उसका कोई सरोकार न होगा। परिग्रह नाम मात्र को वह न रख सकेगा। यथा जातरूप में रह कर वह अपने विभावमई रागादि कषाय शत्रुओं को नष्ट करने पर तुल पड़ेगा। ज्ञान और ध्यान शास्त्र लेकर वह कर्म-सम्बन्धों को बिलकुल नष्ट कर देगा। और तब वह अपने स्वरूप को पा लेगा। किन्तु यदि वह सत्य मार्ग से जरा भी विचलित हुआ और बाल बराबर परिग्रह के मोह में जा पड़ा तो उसका कहीं ठिकाना नहीं। इसीलिये कहा गया है कि—

बालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणां।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कट्ठाणीम्म।। ।।१७।।

भावार्थ :—बाल के अग्रभाग—नोक के बराबर भी परिग्रह का ग्रहण साधु को नहीं होता है। वह आहार के लिये भी कोई बरतन नहीं रखता – हाथ ही उसके भोजनपात्र हैं और भोजन भी वह दूसरे का दिया हुआ एक स्थान पर और एक दफे ही ऐसा ग्रहण करता है जो प्रासुक है—स्वयं उसके लिए न बनाया गया हो।

अब भला कहिये, जब भोजन से भी कोई ममता न रक्खी गई—दूसरे शब्दों में जब शरीर से ही ममत्व हटा लिया गया तब अन्य परिग्रह दिगम्बर साधु कैसे रक्खेगा ? उसे रखना भी नहीं चाहिए, क्योंकि उसे तो प्रकृत रूप आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त करना हे, जो संसार के पार्थिव पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। इस अवस्था में वह वस्त्रों का परिधान भी कैसे रख सकेगा ? वस्त्र तो उसके मुक्ति-मार्ग में अर्गला बन जायेंगे। फिर वह कभी भी कर्म-बन्धन से मुक्त न हो पायेगा। इसीलिये तत्ववेत्ताओं ने साधुओं के लिये कहा है कि :—

जह जाय रुवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम् ।।१८।।

अर्थात् - मुनि यथाजातरूप है—जैसा जन्मता बालक नग्नरूप होता है वैसा नग्नरूप दिगम्बर मुद्रा का धारक है—वह अपने हाथ में तिलके तुष मात्र भी कुछ ग्रहण नहीं करता। यदि वह कुछ भी ग्रहण करले तो वह निगोद में जाता है।

परिग्रहधारी के लिए आत्मोन्नति की पराकाष्ठा पा लेना असंभव है। एक लंगोटीवत् के परिग्रह के मोह से साधु किस प्रकार पतित हो सकता है, यह धर्मात्मा सज्जनों की जानी सुनी बात है। प्रकृति जो कृत्रिमता की सर्वाहुति चाहती है—तब ही वह प्रसन्न होकर अपने पूरे सौन्दर्य को विकसित करती है। चाहे पैगम्बर या तीर्थङ्कर ही क्यों न हो, यदि वह गृहस्थाश्रम में रह रहा है—समाज मर्यादा के आत्मविमुख बन्धन में पड़ा हुआ है—तो वह भी अपने आत्मा के प्रकृत रूप को नहीं पा सकता। इसका एक कारण है। वह यह कि धर्म एक विज्ञान है। उसके नियम प्रकृति के अनुरूप अटल और निश्चल हैं। उनमें कहीं किसी जमाने में भी किसी कारण से रंचमात्र अन्तर नहीं पड़ सकता है। धर्म विज्ञान कहता है कि आत्मा स्वाधीन और सुखी तब ही हो सकता है जब वह पर-सम्बन्ध, पुद्गल के संसर्ग से मुक्त हो जाये। अब इस नियम के होते हुए भी पार्थिव वस्त्र-परिधान को रख कर कोई यह चाहे कि मुझे आत्मस्वातन्त्र्य मिल जाय तो उसकी यह चाह आकाश-कुसुम को पाने की आशा से बढ़ कर न कही जायेगी। इसी कारण जैनाचार्य पहले हीं सावधान करते हैं कि—

ण वि सिज्झई वत्थधरो जिणसासण जइणि होंइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ।।२३।।

भावार्थ—जिन शासन में कहा गया है कि वस्त्रधारी मनुष्य मुक्ति नहीं पा सकता है, जो तीर्थकर होवे तो वह भी गृहस्थदशा में मुक्ति को नहीं पाते हैं—मुनि दीक्षा लेकर जब दिगम्बर वेष धारण करते हैं तब ही मोक्ष पाते हैं। अतः नग्नत्व ही मोक्षमार्ग है—बाकी सब लिंग उन्मार्ग हैं।

धर्म के इस वज्ञानिक नियम से कायल ससार के प्रायः सब ही प्रमुख प्रवर्तक रहे हैं, जैसे कि आगे के पृष्ठों में व्यक्त किया गया है और उनका इस नियम—दिगम्बरत्व—को मान्यता देना ठीक भी है ; क्योंकि दिगम्बरत्व के बिना धर्म का मूल्य कुछ भी शेष नहीं रहता – वह धर्म स्वभाव रह ही नहीं पाता है। इस प्रकार धर्म और दिगम्बरत्व का सम्बन्ध स्पष्ट है।

(३)

दिगम्बरत्व के आदि प्रचारक ऋषभदेव

भुवनाम्भोज मार्तण्डं धर्मामृत पयोधरम् ।
योगि कल्पतरुं नौमि देवदेवंवृपध्वजम् ।—ज्ञानार्णव

दिगम्बरत्व प्रकृति का एक रूप है। इस कारण उसका आदि और अन्त कहा ही नहीं जा सकता। वह तो एक सनातन नियम है, किन्तु उस पर भी इस परिच्छेद के शीर्षक में श्री ऋषभदेव जी को दिगम्बरत्व का आदि प्रचारक लिखा है। इसका एक कारण है। विवेकी सज्जन के निकट दिगम्बरत्व केवल नग्नता मात्र का द्योतक नहीं है ; पूर्व परिच्छेदों को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो गई है। वह रागादि विभाव भाव को जीतने वाला यथा जात रूप है और नग्नता के इस रूप का संस्कार कभी न कभी किसी महापुरुष द्वारा जरूर हुआ होगा। जैनशास्त्र कहते हैं कि इस कल्पकाल में धर्म के आदि प्रचारक श्रीऋषभ-देव जी ने ही दिगम्बरत्व का सबसे पहले उपदेश दिया था।

यह ऋषभदेव अन्तिम मनु नाभिराय के सुपुत्र थे और वह एक अत्यन्त प्राचीन काल में हुये थे, जिसका पता लगा लेना सुगम नहीं है। हिन्दू शास्त्रों में जैनों के इन पहले तीर्थङ्कर को ही विष्णु का आठवां अवतार माना है और वहां भी इन्हें दिगम्बरत्व का आदि प्रचारक बताया है। जैनाचार्य उन्हें 'योगिकल्पतरु' कह कर स्मरण करते हैं।

हिन्दुओं के श्रीमद्भागवत में इन्हीं ऋषभदेव का वर्णन है और उसमें उन्हें परमहंस—दिगम्बर—धर्म का प्रतिपादक लिखा है ; यथा—

'एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद् भगवानृषभोदेव उपशमशीलानामुपरतकर्मणाम् महामुनीनां भक्तिज्ञान वैराग्यलक्षणम् पारमहंस्यधर्ममुपशिक्ष्यमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभावतं भगवज्जन-परायणं भरतं धरणीपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितं शरीरमात्र परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णककेश आत्मन्यारो पिता हवनीयो ब्रह्मावर्त्तात प्रवव्राज ॥२८॥ भागवतस्कंध ५ अ० ५।

अर्थात् —"इस भांति महायशस्वी और सबके सुहृद ऋषभ भगवान् ने, यद्यपि उसके पुत्र सब भांति से चतुर थे, परन्तु मनुष्यों को उपदेश देने के हेतु, प्रशान्त और कर्मबन्धन से रहित महामुनियों को भक्तिज्ञान और वैराग्य के दिखाने वाले परमहंस आश्रम को शिक्षा देने के हेतु, अपने सौ पुत्रों में ज्येष्ठ परम भागवत, हरि भक्तों के सेवक भरत को पृथ्वी पालन के हेतु, राज्याभिषेक कर तत्काल ही संसार को छोड़ दिया और आत्मा में होमाग्नि का आरोप कर केश खोल उन्मत्त को भांति नग्न हो, केवल शरीर को संग ले, ब्रह्मावर्त से सन्यास धारण कर चल निकले।"

इस उद्धरण के मोटे टाइप के अक्षरों से ऋषभदेव का परमहंस—दिगम्बर धर्म—शिक्षक—होना स्पष्ट है।

तथा इसी ग्रन्थ के स्कंध २ अध्याय ७ पृ० ७६ में इन्हें "दिगम्बर और जैनमत का चलाने वाला" उसके टीकाकार ने लिखा है[1]। मूल श्लोक में उनके दिगम्बरत्व को ऋषियों द्वारा वंदनीय बताया है—

नाभेरसा वृषभ आसनु देव सूनु—
र्योवैव चार समदृग् जड योगचर्याम्।
यत् परमहंस्यमृषयः पदमामंनति
स्वस्थः प्रशांतकरणः परिमुक्त संगः ॥१०॥

उधर हिन्दुओं के प्रसिद्ध योगशास्त्र 'हठयोगप्रदीपिका' में सबसे पहले मंगलाचरण के तौर पर आदिनाथ ऋषभदेव की स्तुति की गई है और वह इस प्रकार है :—

---

१. जिनेन्द्रमत दर्पण प्रथम भाग पृ० १०.

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै,
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।
विभ्राजते प्रोन्नतराज योग—
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥१॥

अर्थात्—"श्री आदिनाथ को नमस्कार हो, जिन्होंने उस हठयोग विद्या का सर्वप्रथम उपदेश दिया जो कि बहुत ऊंचे राजयोग पर आरोहण करने के लिए नसैनी के समान है।"

हठयोग का श्रेष्ठतम रूप दिगम्बर है। परमहंस मार्ग हो तो उत्कृष्ट योगमार्ग है। इसी से 'नारद परिव्राजकोपनिषद् में 'योगी परमहंसाख्यः साक्षान्मोक्षकसाधनम्' इस वाक्य द्वारा परमहंस योगी को साक्षात् मोक्ष का एक मात्र साधन बतलाया है। सचमुच "अजैन शास्त्रों में जहां कहीं श्री ऋषभदेव—आदिनाथ—का वर्णन आया है, उनको परमहंसमार्ग का प्रवर्तक बतलाया है।"[1]

किन्तु मध्यकालीन साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण अजैन विद्वानों को जैनधर्म से ऐसी चिढ़ हो गयी कि उन्होंने अपने धर्मशास्त्रों में जैनों के महत्त्वसूचक वाक्यों का या तो लोप कर दिया अथवा उनका अर्थ ही बदल दिया। उदाहरण के रूप में उपरोक्त 'हठयोग प्रदीपिका' के श्लोक में वर्णित आदिनाथ को उसके टीकाकार 'शिव' (महादेवजी) बताते हैं; किन्तु वास्तव में इसका अर्थ ऋषभदेव ही होना चाहिये, क्योंकि प्राचीन 'अमरकोषादि' किसी भी कोष ग्रन्थ में महादेव का नाम 'आदिनाथ' नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि श्री ऋषभदेव के ही सम्बन्ध में यह वर्णन जैन और अजैन शास्त्रों में मिलता है—किसी अन्य प्राचीन मत प्रवर्तक के सम्बन्ध में नहीं—कि वह स्वयं दिगम्बर रहे थे और उन्होंने दिगम्बर धर्म का उपदेश दिया था। उस पर 'परमहंसोपनिषद्' के निम्न वाक्य इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि परमहंस धर्म के जैनाचार्य थे:—

"तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वम सुविसृज्याथ जातरूपधरश्चरे दात्मान मन्विच्छेद् यथाजातरूपधरो निर्द्वंद्वो निष्परिग्रहस्तत्वब्रह्ममार्गे सम्यक् संपन्नः शुद्ध मानसः प्राणसंधारणार्थ यथोक्तकाले पंच गृहेषु करपात्रेणायाचिताहार माहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः परमहंसः पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्मोऽहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनस्मरन् भ्रमर कोटकन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषद्।"

अर्थात् ऐसा जानकर ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) पात्र, कमण्डलु, कटिसूत्र और लंगोटी इन सब चीजों को पानी में विसर्जन कर जन्म समय के वेष को धारण कर—अर्थात् बिल्कुल नग्न होकर—विचरण करे और आत्मान्वेषण करे। जो यथाजातरूप-धारी (नग्न दिगम्बर), निर्द्वंद्व, निष्परिग्रह, तत्वब्रह्ममार्ग में भली प्रकार सम्पन्न, शुद्ध हृदय, प्राणधारण के निमित्त यथोक्त समय पर अधिक से अधिक पात्र घरों में विहार कर कर-पात्र में अयाचित भोजन लेने वाला तथा लाभालाभ में समचित होकर निर्ममत्व रहने वाला, शुक्लध्यान परायण, अध्यात्मनिष्ठ, शुभाशुभ कर्मों के निर्मूलन करने में तत्पर परमहंस योगी पूर्णानन्द का अद्वितीय अनुभव करने वाला वह ब्रह्म मैं हूं, ऐसे ब्रह्म प्रणव का स्मरण करता हुआ भ्रमरकोटक न्याय से (कीड़ा भ्रमरी का ध्यान करता हुआ स्वयं भ्रमर बन जाता है, इस नीति से) तीनों शरीरों को छोड़कर देह त्याग करता है, वह कृतकृत्य होता है, ऐसा उपनिषदों में कहा है।

इस अवतरण का प्रायः सारा ही वर्णन दिगम्बर जैन मुनियों की चर्या के अनुसार है; किन्तु इसमें विशेष ध्यान देने योग्य विशेषण 'शुक्लध्यानपरायणः' है, जो जैनधर्म की एक खास चीज है। "जैन के सिवाय और किसी भी योग ग्रन्थ में 'शुक्लध्यान' का प्रतिपादन नहीं मिलता। पतंजलि ऋषि ने भी ध्यान के शुक्लध्यान आदि भेद नहीं बतलाये। इसलिए योग ग्रन्थों में आदि-योगाचार्य के स्थान में जिन आदिनाथ का उल्लेख मिलता है वे जैनियों के आदि तीर्थंकर श्री आदिनाथ से भिन्न और कोई नहीं जान पड़ते।"

'अथर्ववेद के जाबालोपनिषद' (सूत्र ६) में परमहंस संन्यासी का एक विशेषण 'निर्ग्रन्थ' भी दिया है[1] और यह हर कोई

---

१. अनेकान्तवर्ष १.

१. "यथा जात रूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः" इत्यादि—दिमु० पृ० ८।

जानता है कि इस नाम से जैनी ही एक प्राचीन काल से प्रसिद्ध हैं। बौद्धों के प्राचीन शास्त्र इस बात का खुला समर्थन करते हैं[1]। जैन धर्म के ही मान्य शब्द को उपनिषद्कार ने ग्रहण और प्रयुक्त करके यह अच्छी तरह दर्शा दिया है कि दिगम्बर साधु मार्ग का मूल श्रोत जैन धर्म है। और उधर हिन्दू पुराण इस बात को स्पष्ट करते ही हैं कि ऋषभदेव, जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ने ही परमहंस दिगम्बर धर्म का उपदेश दिया था। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि श्री ऋषभदेव वेद-उपनिषद ग्रन्थों के रचे जाने के बहुत पहले हो चुके थे। वेदों में स्वयं उनका और १६वें अवतार वामन का उल्लेख मिलता है[2]। अतः निस्सन्देह भ० ऋषभदेव ही वह महापुरुष हैं जिन्होंने इस युग के आदि में स्वयं दिगम्बर वेष धारण करके[3] सर्वज्ञता प्राप्त की थी[4] और सर्वज्ञ होकर दिगम्बर धर्म का उपदेश दिया था। वही दिगम्बरत्व के आदि प्रचारक हैं।

(४)

हिन्दू धर्म और दिगम्बरत्व

"सन्यासः षट्विधो भवतिः कुटिचक्र-वहूदक-हंस-परमहंस-तुरिया-तीत-अवधूतश्चेति।"

—सन्यासोपनिपद् १३

भगवान् ऋषभदेव जब दिगम्बर होकर वन में जा रमे, तो उनकी देखा देखी और भी बहुत से लोग नंगे होकर इधर-उधर घूमने लगे। दिगम्बरत्व के मूल तत्व को वे समझ न सके और अपने मनमाने ढंग से उदर पूर्ति करते हुए वे साधु होनेका दावा करने लगे। जैन शास्त्र कहते हैं कि इन्हीं सन्यासियों द्वारा सांख्य आदि जैनेतर सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई थी[5]। और तीसरे परिच्छेद में स्वयं हिन्दूशास्त्रों के आधार से यह प्रकट किया जा चुका है कि श्री ऋषभदेव द्वारा ही सर्वप्रथम दिगम्बर धर्मका प्रतिपादन हुआ था। इस अवस्था में हिन्दू ग्रन्थों में भी दिगम्बरत्व का सम्माननीय वर्णन मिलना आवश्यक है।

यह बात जरूर है कि हिन्दू धर्म के वेद और प्राचीन तथा वृहत् उपनिषदों में साधु के दिगम्बरत्व का वर्णन प्रायः नहीं मिलता। किन्तु उनके छोटे-मोटे उपनिषदों एवं अन्य ग्रन्थों में उसका खास ढंग पर प्रतिपादन किया गया मिलता है। 'भिक्षुकउपनिषद्'[6]—'सात्यायनीय उपनिषद'[7]—'याज्ञवल्क्य उपनिषद्'—'परमहंस-परिव्राजक-उपनिषद्' आदि में यद्यपि सन्यासियों के चार भेद—(१) कुटिचक, (२) बहुदक, (३) हंस, (४) परमहंस—बताये गये हैं, परन्तु 'सन्यासोपनिषद्' में उनको छः प्रकार का बताया गया है अर्थात् उपरोक्त चार प्रकार के सन्यासियों के अतिरिक्त (१) तुरियातीत और (२) अवधूत प्रकार के सन्यासी और गिनाये हैं[8]। इन छहों में पहले तीन प्रकार के सन्यासी त्रिदण्ड धारण करने के कारण 'त्रिदण्डी' कहलाते हैं और शिखा या जटा तथा वस्त्र कौपीन आदि धारण करते हैं[9]। परमहंस परिव्राजक शिखा और यज्ञोपवीत जैसे द्विज चिन्ह धारण नहीं करता और वह एक दण्ड ग्रहण करता तथा एक वस्त्र धारण करता है अथवा अपनी देही में भस्म रमा लेता है[10] हां, तुरियातीत परिव्राजक बिल्कुल दिगम्बर होता है और वह सन्यास नियमोंका पालन करता है।[11] अन्तिम अवधूत पूर्ण

१. जैकोबी प्रभृत विद्वानों ने इस बात को सिद्ध कर दिया है। (Js. Pt. II. Intro.)

२. भपाः की प्रस्तावना तथा 'सजै' देखो।

३. "विष्णुपुराण" में भी श्री ऋषभदेव को दिगम्बर लिखा है।
["Rishabha Deva.........naked, went the way of the great road." (महाप्रस्थानम्)
—Wilson's Vishu Purana, Vol. II (Book II Ch. I) P.P. 103-104].

४. श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को 'स्वयं भगवान् और कैवल्यपति' बताया है। (विको० भा० ३ पृ० ४४४)।

५. आदिपुराण पर्व १८ श्लोक ६२ व (Rishabh p. 112)

६. "अथभिक्षूणाम् मोक्षार्थीनाम् कुटीचक—बहुदक—हंस—परमहंसाश्चेति चत्वारः।"

७. "कुटिचको—बहूदको—हंसः—परमहंस—इत्येति परिव्राजकाः चतुर्विधा भवन्ति।"

८. "स सन्यासः षड्विधो भवति कुटीचक बहूदक हंस परमहंसतुरीयातीतावधूताश्चेति।"

९. "कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमात्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः। बहूदकः शिखादि कन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी। हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी।

१०. परमहंसः शिखायज्ञोपवीत रहितः पञ्चगृहेषु करपात्री एक कौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो व भस्मोद्धूलन परः।

११. सर्वत्यागी तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीर वृत्तिकः।

दिगम्बर और निर्द्वन्द है—वह सन्यास नियमों की भी परवाह नहीं करता ।[१] तूरियातीत अवस्था में पहुंचकर परमहंस परिव्राजक को दिगम्बर ही रहना पड़ता है किन्तु उसे दिगम्बर जैन मुनि की तरह केशलुंच नहीं करना होता—वह अपना सिर मुड़ाता (मुण्ड) है। और अवधूत पद तो तूरियातीत की मरण अवस्था है ।[२] इस कारण इन दोनों भेदों का समावेश परमहंस भेद में ही गर्भित किन्हीं उपनिषदों में मान लिया गया है। इस प्रकार उपनिषदों के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि एक समय हिन्दू धर्म में भी दिगम्बरत्व को विशेष आदर मिला था और वह साक्षात् मोक्ष का कारण माना गया था। उस पर कापालिक संप्रदाय में तो वह खूब ही प्रचलित रहा; किन्तु वहां वह अपनी धार्मिक पवित्रता खो बैठा; क्योंकि वहां वह भोग की वस्तु रहा। अस्तु;

यहां पर उपनिषदादि वैदिक साहित्य में जो भी उल्लेख दिगम्बर साधु के सम्बन्ध में मिलते हैं, उनको उपस्थित कर देना उचित है। देखिये "जावालोपनिषत्" में लिखा है:—

'तत्र परमहंसानामसंवर्त कारुणिश्वेतकेतुदुर्वास ऋभुनिदाघजडभरत दत्यात्रेयरैवतक प्रभृतयोऽव्यक्तलिंगा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं च इत्येतसर्व भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्या-त्मान मन्विछेत्। यथाजात रूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तद्ब्रह्ममार्गे सम्यकसंपन्न—इत्यादि।"[३]

इसमें संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु आदि को यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ लिखा है अर्थात् इन्होंने दिगम्बर जैन मुनियों के समान आचरण किया था ।

'परमहंसोपनिषत् में निम्न प्रकार उल्लेख है :—

"इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंस आकाशाम्वरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न निन्दा न स्तुतियादृच्छिको भवेत्स भिक्षुः।[४]

सचमुच दिगम्बर (परमहंस) भिक्षु को अपनी प्रशंसा निन्दा अथवा आदर-अनादर से सरोकार ही क्या? आगे 'नारदपरिव्राजकोपनिषत्' में भी देखिये:—

'यथाविधिश्चेज्जात रूपधरो भूत्वा ······ जातरूप धरश्चरेदात्मानमन्विच्छेद्यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक् सपन्नः। ८६—तृतीयोपदेशः।"[५]

"तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः। एकरात्रं वसेन्दग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम् ॥४॥ वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत।···मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानअपरः।३२।···ज्ञातरूपधरो भूत्वा···दिगम्वरः।"—चतुर्थो पदेशः।[६]

इन उल्लेखों में भी परिव्राजक, का नग्न होने का तथा वर्षाऋतु में एक स्थान में रहने का विधान है। "मुनिः कौपीन वासा" आदि वाक्य में छहों प्रकार के सारे ही परिव्राजकों का 'मुनि' शब्द से ग्रहण कर लिया गया है। इसलिये उनके सम्बन्ध में वर्णन कर दिया कि चाहे जिस प्रकार का मुनि अर्थात् प्रथम अवस्था का अथवा आगे की अवस्थाओं का। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मुनि वस्त्र भी पहिन सकता है और नग्न रह सकता है; जिससे कि नग्नता पर आपत्ति की जा सके। यह पहले ही परिव्राजकों के षड्भेदों में दिखाया जा चुका है कि उत्कृष्ट प्रकार के परिव्राजक नग्न ही रहते हैं और वह श्रेष्ठतम फल को भी पाते हैं जैसे कि कहा है :—

"आतुरो जीवति चेत्क्रम संन्यासः कर्त्तव्यः।·········आतुर कुटीचकयोर्भूलोक भुवर्लोकौ। वहूदकस्य स्वर्गलोकः। हंसस्य तपोलोकः। परम हंसस्य सत्यलोक : तुरीयातीतावधूतयोः स्वस्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमर कीटन्यायवत्।"[७]

अर्थात्—"आतुर यानी संसारी मनुष्य का अन्तिम परिणाम (निष्ठा; भूलोक है; कुटीचक संन्यासी का भुवर्लोक; स्वर्गलोक हंस संन्यासी का अन्तिम परिणाम है; परम हंस के लिये वही सत्यलोक है और कैवल्य तूरियातीत और अवधूत का परिणाम है।"

अब यदि इन सन्यासियों में वस्त्र परिधान और दिगम्बरत्व का तात्विक भेद न होता तो उनके परिणाम में इतना गहन अन्तर नहीं हो सकता। दिगम्बर मुनि ही वास्तविक योगी है और वही कैवल्य-पद का अधिकारी है। इसीलिये उसे 'साक्षात नारायण' कहा गया है। 'नारद परिव्राजकोपनिषद्' में आगे और भी उल्लेख निम्न प्रकार हैं :

"ब्रह्मचर्येण संन्तस्थ संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्य संन्यासी।"[८]

---

१. अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्व वर्णेष्वजगरवृत्याहार परः स्वरूपानुसंधानपरः।·········

२. सर्व विस्मृत्य तुरीया तीतावधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठा परः प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोतियः सोऽवधूतः।

३. ईशाद्य०, पृष्ठ १३१। ४. ईशाद्य०, पृ० १५०। ५. ईशाद्य०, पृ० २६७-२६८।

६. ईशाद्य०, पृ० २६८-२६९। ७. ईशाद्य०, पृष्ठ ४१५—सन्यासोपनिषत् ५९। ८. ईशाद्य०, पृष्ठ २७१।

"तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी। अन्नाहारी चेद्गृह त्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः। अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः।.........परमहंसादित्रयाणाम् कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रम् न कमण्डलुर्न दण्डः सार्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधि......। सर्वं परित्यज्य तत्प्रसक्तम् मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजेद्भिक्षुः॥.........अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः। न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥१६॥ आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा सर्वदामनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपन्चावाङ्मुखः स्वरुपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीत्युपनिषत॥ पञ्चमोपदेशः॥"

"दिगम्बरम् परमहंसस्य एक कौपीनं वा तुरीयातीतावधूतयोर्जातरूपधरत्वं हंस परमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम्। सप्तमोपदेशः।"[1]

वैराग्य सन्यासी भेद एक अन्य प्रकार से किया गया है। इस प्रकार से परिव्राजक सन्यासियों के चार भेद यूँ किये गए हैं—(१) वैराग्य सन्यासी, (२) ज्ञान सन्यासी, (३) ज्ञान वैराग्य सन्यासी और (४) कर्म सन्यासी। इनमें से ज्ञान वैराग्य सन्यासी को भी नग्न होना पड़ता है।[2]

"भिक्षुकोपनिषद्" में भी लिखा है :—

"अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्मनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्ष मूलकुलाल शालाग्निहोत्रशालानदी पुलिनगिरिकन्दर कुहर कोटर निर्झरस्थण्डिले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन सन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषत्।"[3]

"तुरीयातीतोपनिषत्" में उल्लेख इस प्रकार है :—

"संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा विवर्णजीर्णवल्कलाजिनपरिग्रहमपि संत्यज्य तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन्क्षौराभ्यगस्नानोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विहाय लौकिक वैदिक मप्युपसंहृत्य सर्वत्र पुण्यापुण्यवर्जितो ज्ञानाज्ञानमपि विहाय शीतोष्ण सुख दुःख मानावमानं निर्जित्य वासनात्रयपूर्वकं निन्दानिन्दागर्वमत्सर दम्भ दर्प द्वेष काम क्रोध लोभ मोह हर्षामर्षासूयात्म संरक्षणादिकं दग्ध्वा......इत्यादि।"[4]

'सन्यासोपनिषत्' में और भी उल्लेख इस प्रकार है :—

"वैराग्य संन्यासी ज्ञान संन्यासी ज्ञान वैराग्य संन्यासी कर्मसंन्यासीति चतुर्विध्यमुपागतः। तद्ययेति दृष्टानुश्रविकविषय वैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मविशेषात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी.........क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरुपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जात रूपधरो भवति स ज्ञान वैराग्य संन्यासी।"[5]

'परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्' में भी दिगम्बर मुनियों का उल्लेख है:—

"शिखामुत्कृष्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा वस्त्रमपि भूमौ वाप्सु वा विसृज्य ॐ भूः स्वाहा ॐ भुवः स्वाहा ॐ सुवः स्वाहेत्या तेन जातरूपधरो भूत्वा स्वं रूपं ध्यायन्पुनः पृथक प्रणवव्याहृति पूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया.........।"

"यदालंबुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्रमन्त्रपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्।"[6]

'याज्ञवल्क्योपनिषत्' में दिगम्बर साधु का उल्लेख करके उसे परमेश्वर होता बताया है, जैसेकि जैनों की मान्यता है:—

"यथाजातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहास्तत्वब्रह्ममार्गे सम्यक् संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्तुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा कर पात्रेण वा कमण्डलूदकयो भैक्षमाचरन्तुदरमात्र संग्रहः।......आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्यनिर्वर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति।"[7]

---

१. ईशाद्य० पृष्ठ २७२।

२. "क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्य-संन्यासी॥"

नारदपरिव्राजकोपनिषद् १। ५। तथा सन्यासोपनिषद्।

३. ईशाद्य०, पृष्ठ ३६८ ४. ईशाद्य०, पृष्ठ ४१० ५. ईशाद्य०, पृष्ठ ४१२

६. ईशाद्य० पृ० ४१८-४१९, ७. ईशाद्य० पृ० ५२४,

'दत्तात्रेयोपनिषत्' में भी है:—

"दत्तात्रेय हरे कृष्ण उन्मत्तानन्द दायक। दिगम्बर मुने बालपिशाच ज्ञानसागर[1]।"

'भिक्षुकोपनिषद्' आदि में संवर्तक, आरुणी, श्वेतकेतु, जड़भरत, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतिकी आदि को दिगम्बर साधु बताया है। "याज्ञवल्क्योपनिषद्" में इनके अतिरिक्त दुर्वासा, ऋभु, निदाघ को भी तूरियातीत परमहंस बताया है[2] इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार दिगम्बर साधुओं का होना सिद्ध है।

किन्तु यह बात नहीं है कि मात्र उपनिषदों में ही दिगम्बरत्व का विधान हो, बल्कि वेदों में भी साधु की नग्नता का साधारण सा उल्लेख मिलता है। देखिये 'यजुर्वेद' अ० १९ मंत्र १४ में है[3] :—

"आतिथ्यरूपं मासरम् महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदामेतस्त्रिस्त्रो रात्री सुरासुता ॥"

अर्थ—(आतिथ्यरूपं) अतिथि के भाव (मासरं) महीनों तक रहने वाले (महावीरस्य) पराक्रमशील व्यक्ति के (नग्नहुः) नग्नरूप की उपासना करो जिससे (एतत) ये (तिस्त्री) तीनों (णत्रीः) मिथ्या ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी (सुर) मद्य (असुरता) नष्ट होती है।

इस मन्त्र का देवता अतिथि है। इसलिये यह मन्त्र अतिथियों के सम्बन्ध में ही लग सकता है, क्योंकि वैदिक देवता का मतलब वाच्य है; जैसाकि निरुक्तकार का भाव है—

"याते नोच्यते सा देवताः।" इसके अतिरिक्त 'अथर्ववेद' के पन्द्रहवें अध्याय में जिन व्रात्य और महाव्रात्य का उल्लेख है; उनमें महाव्रात्य दिगम्बर साधु का अनुरूप है। किन्तु यह व्रात्य एक वेदबाह्य संप्रदाय था जो बहुत कुछ निर्ग्रन्थ संप्रदाय से मिलता-जुलता था। बल्कि यूं कहना चाहिये कि वह जैन-मुनि और जैन तीर्थङ्कर ही का द्योतक है[4]। इस अवस्था में यह मान्यता और भी पुष्ट होती है कि जैन तीर्थकर ऋषभदेव द्वारा दिगम्बरत्व का प्रतिपादन सर्वप्रथम हुआ था और जब उसका प्राबल्य बढ़ गया और लोगों को समझ पड़ गया कि परमोच्चपद पाने के लिए दिगम्बरत्व आवश्यक है तो उन्होंने उसे अपने शास्त्रों में भी स्थान दे दिया। यही कारण है कि वेद में भी इसका उल्लेख सामान्य रूप में मिल जाता है।

अब हिन्दू पुराणादि ग्रंथों में जो दिगम्बर साधुओं का वर्णन मिलता है, वह भी देख लेना उचित है। श्री भागवत पुराण में ऋषभ अवतार के सम्बन्ध में कहा है :—

"बर्हिषी तस्मिन्नेव विष्णु भगवान् परमर्षिभिः प्रसादतो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयतु कामो वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणामूर्धा मन्थिना शुक्लया तनु वावततार।"

अर्थ—"हे राजन्! परीक्षित वा यज्ञ में परम ऋषियों करके प्रसन्न हो नाभि के प्रिय करने की इच्छा से वाके अन्तःपुर में मरुदेवी में धर्म दिखायवे की कामना करके दिगम्बर रहिवेवारे तपस्वी ज्ञानी नैष्टिक ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता ऋषियों का उपदेश देने को शुक्लवर्ण की देह धार श्री ऋषभदेव नाम का (विष्णु ने) अवतार लिया[5]।"

"लिङ्ग पुराण" (अ० ४७ पृ० ६८) में भी नग्न साधु का उल्लेख है[6] :—

"सर्वात्मनात्म निस्थाप्य परमात्मा नमीश्वरं।
नग्नोजटो निराहारो चीरीध्वांत गतोहिसः ॥२२॥"

"स्कंधपुराण-प्रभासखंड" में (अ० १६ पृ० २२१) शिव को दिगम्बर लिखा है[7] :—

"वामनोपि ततश्चक्रे तत्र तीर्थावगाहनम्।
यादृग्रूपः शिवोदृष्टः सूर्यबिम्बे दिगम्बरः ॥९४॥"

---

१. ईशाद्य० पृ० ५४२ २. IHO III 259-260

३. मालूम होता है कि इस मंत्र द्वारा वेदकार ने जैन तीर्थङ्कर महावीर के आदर्श को ग्रहण किया है। दूसरे धर्मों के आदर्श की इस तरह ग्रहण करने के उल्लेख मिलते हैं।……IHQ III 472-485

४. देखो भपा० प्रस्तावना पृ० ३२-४९।

५. वेजै० पृ० ३

६. वेजै० पृ० ६,

७. वेजै० पृ० ३४,

श्री भर्तृहरि जी 'वैराग्यशतक' में कहते हैं[1] :—

'एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाशम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥५८॥'

अर्थ—"हे शम्भो ! मैं अकेला, इच्छा रहित, शान्त, पाणिपात्र और दिगम्बर होकर कर्मों का नाश कब कर सकूंगा।" वह और भी कहते हैं[2] :—

अशीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥९०॥

अर्थ—"अब हम भिक्षा ही करके भोजन करेंगे; दिशा ही के वस्त्र धारण करेंगे अर्थात् नग्न रहेंगे और भूमि पर ही शयन करेंगे। फिर भला धनवानों से हमें क्या मतलब ?"

सातवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री हुए नसाँग बनारस पहुंचा तो उसने वहां हिन्दुओं के बहुत से नंगे साधु देखे। वह लिखता है कि "महेश्वर भक्त साधु बालों को बांध कर जटा बनाते हैं तथा वस्त्र परित्याग करके दिगंबर रहते हैं और शरीर में भस्म का लेप करते हैं[3]। ये बड़े तपस्वी हैं।" इन्हीं को परमहंस परिव्राजक कहना ठीक है। किन्तु हुए नसांग से बहुत पहले ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी में जब सिकन्दर महान् ने भारत पर आक्रमण किया था, तब भी नंगे हिन्दू साधु यहां मौजूद थे।

अरस्तू का भतीजा स्यिडो कल्लिस्थेनस (Pseudo Kallisthenes) सिकन्दर महान् के साथ यहां आया था और वह बताता है कि "ब्राह्मणों का श्रमणों की तरह कोई संघ नहीं।......उनके साधु प्रकृति की अवस्था में (State of nature)—नग्न नदी किनारे रहते हैं और नंगे ही घूमते हैं (Go about naked) उनके पास न चौपाये हैं, न हल हैं, न लोहा-लंगड है, न घर है, न आग है, न नोठी है, न सुरा है—ग़र्ज़ यह कि उनके पास श्रम और आनन्द का कोई सामान नहीं हैं। इन साधुओं की स्त्रियां गंगा के दूसरी ओर रहती हैं; जिनके पास जुलाई और अगस्त में वे जाते हैं। वन-जंगल में रहकर वे वनफल खाते हैं।[4]

सन् ८५१ में अरब देश से सुलेमान सौदागर भारत आया था। उसने यहां एक ऐसे नंगे हिन्दू योगी को देखा था जो सोलह वर्ष तक एक आसन से स्थित था[5]।

बादशाह औरंगजेब के ज़माने में फ्रांस से आये हुए डा० बर्नियर ने भी हिन्दुओं के परमहंस (नंगे) सन्यासियों को देखा था। वह इन्हें 'जोगी' कहता है और इनके विषय में लिखता है[6] :—

"I allude particularly to the people called 'Jaugis' a name which signifies 'united to God'. Numbers are seen, day and night, seated or lying on ashes, entirely naked, frequently under the large trees near talabs or tanks of water, or in the galleries round the Deuras or idol temples. Some have hair hanging down to the calf of the leg, twisted and entangled into knots, like the coat of our shaggy dogs. I have seen several who hold one and some who hold both arms, perpetually lifted up above the head; the nails of their hands being twisted, and longer than half my little finger, with which I measured them. Their arms are as small and thin as the arms of persons who die in a decline, because in so forced and unnatural a position they receive not sufficient nourishment, nor can they be lowered so as to supply the mouth with food, the muscles having become contracted and the articulations dry and stiff. Novices wait upon these

---

१. वेजै० पृ० ४६।
२. वेजै०, पृ० ४७।
३. हुभा०, पृ० ३२०
४. AI., P.181
५. Elliot., 1, P-4
६. Bernier., P. 316.

fanatics and pay them the utmost respect, as persons endowed with extraordinary sanctity. No fury in the internal regions can be conceived more horrible than the Jaugise with their naked and black skin, long hair, spindle arms, long twisted nails and fixed in the posture which I have mentioned."

भाव यही है कि बहुत से ऐसे जोगी थे जो तालाब अथवा मंदिरों में नंगे रात-दिन रहते थे। उनके बाल लम्बे-लम्बे थे। उनमें से कोई अपनी बाहें ऊपर को उठाये रहते थे। नाखून उनके मुड़कर दूभर हो गये थे जो मेरी छोटी अंगुली के आधे के बराबर थे। सूखकर वे लकड़ी हो गये थे। उन्हें खिलाना भी मुश्किल था; क्योंकि उनकी नसें तन गई थीं। भक्तजन इन नागों की सेवा करते हैं और इनकी बड़ी विनय करते हैं। वे इन जोगियों से पवित्र किसी दूसरे को नहीं समझते और इनके क्रोध से बेढव डरते हैं। इन जोगियों की नंगी और काली चमड़ी है, लम्बे बाल हैं, सूखी बाहें, लम्बे मुड़े हुए नाखून हैं और वे एक जगह पर ही उस आसन में जमे रहते हैं जिसका मैंने उल्लेख किया है। यह हठयोग की पराकाष्ठा है। परमहंस होकर वह यह न करते तो करते भी क्या ?

सन् १६२३ई० में पिटर डेल्ला वॉल्ला नामक एक यात्री आया था। उसने अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे और शिवालों में अनेक नागा साधु देखे थे; जिनकी लोग बड़ी विनय करते थे[१]।

आज भी प्रयाग में कुम्भ के मेले के अवसर पर हज़ारों नागा सन्यासी वहां देखने को मिलते हैं—वे क़तार बांध कर शरह-आम नंगे निकलते हैं।|

इस प्रकार हिन्दू शास्त्रों और यात्रियों की साक्षियों से हिन्दू धर्म में दिगम्बरत्व का महत्व स्पष्ट हो जाता है। दिगम्बर साधु हिन्दुओं के लिये भी पूज्य-पुरुष हैं।

(५)
इस्लाम और दिगम्बरत्व

"I am no apostle of new doctrines", said Muhammad, "neither know I what will be done with me or you."

—Koran XLVI

पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने ख़ुद फरमाया है कि "मैं किन्हीं नये सिद्धान्तों का उपदेशक नहीं हूं और मुझे यह नहीं मालूम कि मेरे या तुम्हारे साथ क्या होगा ?" सत्य का उपासक और कह ही क्या सकता है ? उसे तो सत्य को गुमराह भाइयों तक पहुंचाना है और उससे जैसे बनता है वैसे इस कार्य को करना पड़ता है। मुहम्मद सा० को अरब के असभ्य से लोगों में सत्य का प्रकाश फैलाना था। वह लोग ऐसे पात्र न थे कि एकदम ऊंचे दर्जे का सिद्धान्त उन को सिखाया जाता। उस पर भी हजरत मुहम्मद ने उनको स्पष्ट शिक्षा दी कि—

"The love of the world is the root of all evil."

"The world is as a prison and as a famine to Muslims; and when they leave it you may say they leave famine and a prison".—(Sayings of Mohammad)[२]

अर्थात्—"संसार का प्रेम ही सारे पाप की जड़ है। संसार मुसलमान के लिए एक कैदख़ाना और क़हत के समान है और जब वे इसको छोड़ देते हैं तब तुम कह सकते हो कि उन्होंने क़हत और क़ैदखाने को छोड़ दिया।" त्याग और वैराग्य का इससे बढ़िया उपदेश और हो भी क्या सकता है ? हज़रत मुहम्मद ने स्वयं उसके अनुसार अपना जीवन बनाने का यथासंभव प्रयत्न किया था। उस पर भी उनके कम से कम वस्त्रों का परिधान और हाथ की अंगूठी उनकी नमाज़ में बाधक हुई थी।[3]

१. पुरातत्त्व, वर्ष २ अंक ४ पृ० ४४०

२. KK., P. 738

३. Religious Attitude and life in Islam, P. 298 and KK. 739

किन्तु यह उनके लिये इस्लाम के उस जन्म काल में संभव नहीं था कि वह खुद नग्न होकर त्याग और वैराग्य—तर्क दुनियां—का श्रेष्ठतम उदाहरण उपस्थित करते! यह कार्य उनके बाद हुए इस्लाम के सूफ़ी तत्ववेत्ताओं के भाग में आया। उन्होंने 'तर्क' अथवा त्यागधर्म का उपदेश स्पष्ट शब्दों में यूं दिया :—

"To abandon the world, its comforts and dress,—all things now and to come,—Conformably with the Hadees of the Prophet."[1]

अर्थात्—"दुनियाँ का सम्बन्ध त्याग देना—तर्क कर देना—उसकी आशाइशों और पोशाक—सब ही चीजों को अब की और आगे की—पैगम्बर सा० की हदीस के मुताबिक़।"

इस उपदेश के अनुसार इस्लाम में त्याग और वैराग्य को विशेष स्थान मिला। उसमें ऐसे दरवेश हुये जो दिगम्बरत्व के हिमायती थे और तुर्किस्तान में 'अब्दल' (Abdals) नामक दरवेश मादरजात नंगे रहकर अपनी साधना में लीन रहते बताये गये हैं[2]। इस्लाम के महान सूफ़ी तत्ववेता और सुप्रसिद्ध 'मस्नवी' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री जलालुद्दीन रूमी दिगम्बरत्व का खुला उपदेश निम्न प्रकार देते हैं :—

१—"गुफ्त मस्त ऐ महतब वगुज़ार रव—अज़ विरहना के तवां बुरदन गरव। (जिल्द २ सफ़ा २६२)"
२—"जामा पोशांरा नज़र परगाज़ रास्त—जामै अरियां रा तजल्ली जेवर अस्त।"
(जिल्द २ सफ़ा ३८२)
३—"याज़ अरियानान वयकसू बाज़ रव—या चूं ईशां फ़ारिग़ व वेजामा शव!"
४—"वरनमी तानी कि कुल अरियां शवी—जामा कम कुन ता रह औसत रवी!!"
—(जिल्द २ सफ़ा ३८३)[3]

इनका उर्दू में अनुवाद 'इल्हामे मन्ज़ूम' नामक पुस्तक में इस प्रकार दिया हुआ है—

१—मस्त बोला, महतव, कर काम जा—होगा क्या नङ्गे से तू अहदे वर आ!
२—है नज़र धोबी पै जामै-पोश की—है तजल्ली जेवर अरियां तनी!!
३—या विरहनों से हो यकसू वाक़ई—या हो उन की तरह वेजामै अखी!
४—मुतलकन अरियां जो हो सकता नहीं—कपड़े कम यह है कि औसत के क़रीं!!

भाव स्पष्ट है। कोई तार्किक मस्त नङ्गे दरवेश से आ उलझा। उसने सीधे से कह दिया कि जा अपना काम कर—तू नङ्गे के सामने टिक नहीं सकता। वस्त्र धारी को हमेशा धोबी की फिकर लगी रहती है; किन्तु नंगे तन की शोभा दैवी प्रकाश है। बस, या तो तू नङ्गे दरवेशों से कोई सरोकार न रख अथवा उन की तरह आजाद और नङ्गा हो जा! और अगर तू एक दम सारे कपड़े नहीं उतार सकता तो कम से कम कपड़े पहन और मध्यमार्ग को ग्रहण कर! क्या अच्छा उपदेश है। एक दिगम्बर जैन साधु भी तो यही उपदेश देता है। इससे दिगम्बरत्व का इस्लाम से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

और इस्लाम के इस उपदेश के अनुरूप सैकड़ों मुसलमान फकीरों ने दिगम्बरवेष को गतकाल में धारण किया था। उनमें अबुलकासिम गिलानी[4] और सरमद शहीद उल्लेखनीय हैं।

सरमद वादशाह औरङ्गजेव के समय में दिल्ली में हो गुजरा है और उसके हजारों नङ्गे शिष्य भारत भर में बिखरे पड़े थे। वह मूल में कजहान (अरमेनिया) का रहने वाला एक ईसाई व्यापारी था। विज्ञान और विद्या का भी वह विद्वान था। अरबी अच्छी खासी जानता था। व्यापार के निमित्त भारत में आया था। ठट्टा (सिंध) में एक हिन्दू लड़के के इश्क में पड़ कर मजनूं बन गया।[5] उपरान्त इस्लाम के सूफी दरवेशों की संगति में पड़ कर मुसलमान हो गया। मस्त नङ्गा वह शहरों और

१. The Dervishes—KK. P. 738.

२. "The higher Saints of Islam, called 'Abdals' generally went about perfectly naked; as described by Miss Lucy M. Garnet in her excellent account of the Muslim Dervishes, entitled "Mysticism and Magic in Turkey." —NJ., P. 10

३. जिल्द और पृष्ठ के नम्बर "मस्नवी" के उर्दू अनुवाद "इल्हामे मन्ज़ूम" के हैं।

४. KR., P. 739 and NJ. PP. 8–9

५. JG., XX PP. 158-159.

गलियों में फिरता था। अध्यात्मवाद का प्रचारक था। घूमता-घामता वह दिल्ली जा डटा। शाहजहां का वह अन्त समय था। दारा शिकोह, शाहजहां वादशाह का वड़ा लड़का उस का भक्त हो गया। सरमद आनन्द से अपने मत का प्रचार दिल्ली में करता रहा। उस समय फ्रान्स से आये हुए डा० वरनियर ने खुद अपनी आंखों से उसे नंगा दिल्ली की गलियों में घूमते देखा था[1]। किन्तु जव शाहजहां और दारा को मार कर औरंगजेव वादशाह हुआ तो सरमद की आजादी में भी अड़ंगा पड़ गया। एक मुल्ला ने उसकी नग्नता के अपराध में उसे फांसी पर चढ़ाने की सलाह औरङ्गजेव को दी; किन्तु औरङ्गजेव ने नग्नता को इस दण्ड की वस्तु न समझा[2] और सरमद से कपड़े पहनने की दरख्वास्त की। इसके उत्तर में सरमद ने कहा—

"आँकस कि तुरा कुलाह सुल्तानी दाद,
मारा हम ओ अस्वाव परेशानी दाद;
पोशानीद लवास हरकरा ऐवे दीद,
वे ऐवा रा लवास अर्यानी दाद !"

यानी "जिस ने तुम को वादशाही ताज दिया, उसी ने हम को परेशानी का सामान दिया। जिस किसी में कोई ऐव पाया, उस को लिवास पहनाया और जिन में ऐव न पाये उन को नङ्गेपन का लिवास दिया[3]।"

वादशाह इस रुवाई को सुनकर चुप हो गया, लेकिन सरमद उसके क्रोध से वच न पाया। अव के सरमद फिर अपराधी वनाकर लाया गया। अपराध सिर्फ यह था कि वह 'कलमा' आधा पढ़ता है जिस के माने होते हैं कि 'कोई खुदा नहीं है।' इस अपराध का दण्ड उसे फांसी मिली और वह वेदान्त की वातें करता हुआ शहीद हो गया। उसको फांसी दिये जाने में एक कारण यह भी था कि वह दारा का दोस्त था[4]।

सरमद की तरह न जाने कितने नङ्गे मुसलमान दरवेश हो गुजरे हैं। वादशाह ने उसे मात्र नंगे रहने के कारण सजा न दी, यह इस वात का द्योतक है कि वह नग्नता को बुरी चीज नहीं समझता था। और सचमुच उस समय भारत में हजारों नंगे फ़कीर थे। ये दरवेश अपने नंगे तन में भारी २ जंजीरें लपेट कर वड़े लम्वे २ तीर्थाटन किया करते थे।[5]

सारांशतः इस्लाम मजहव में दिगम्वरत्व साधुपद का चिन्ह रहा है और उसको अमली शक्ल भी हजारों मुसलमानों ने दी है। और चूँकि हजरत मुहम्मद किसी नये सिद्धान्त के प्रचार का दावा नहीं करते, इसलिए कहना होगा कि ऋषभाचल से प्रगट हुई दिगम्वरत्व-गंगा की एक धारा को इस्लाम के सूफ़ी दरवेशों ने भी अपना लिया था।

---

१. Bernier remarks : "I was for a long time disgusted with a celebrated Fakire named Sarmet, who paraded the streets of Delhi as naked as when he came into the world etc."—(Berniers Travels in the Mogul Empire, P 317)

२. Emperor told the Ulema that "Mere nudity cannot be a reason of execution."
...JGXX., P. 158.

३. जैम० पृ० ४

४. JG., Vol. XX, P. 159. "There is no God" said Sarmad omitting "but, Allah and Muhammad is His apostle."

५. "Among the vast number and endless Variety of Faires of Dervishes...Some carried a club like to Hercules, others had a dry and rough tiger...Skin thrown over their shoulders... Several of these fakires take long pilgrimages, such as are put about the legs of elephants."
—Bernier P. 317.

(६)

ईसाई मजहब और दिगम्बर साधु

"And he stripped his clothes also, and prophesied before Samuel in like manner and lay down naked all that day and all that night wherefore they said, is Saul also among the Prophets ?"

—(Samuel XIX—24)

"At the same time spake the Lord, by Isaiah the son of Amoz, saying, 'Go and loose the sack-cloth from off thy loins, and put off thy shoe from thy foot. And he did so, walking naked and bare foot."

—(Isaiah XX,2)

ईसाई मजहब में भी दिगम्बरत्व का महत्व भुलाया नहीं गया है; बल्कि बड़े मार्के के शब्दों में उसका वहा प्रतिपादन हुआ मिलता है। इसका एक कारण है। 'जिस महानुभाव द्वारा ईसाई धर्म का प्रतिपादन हुआ था वह जैन श्रमणों के निकट शिक्षा पा चुका था।'[1] उसने जैनधर्म की शिक्षा को ही अलंकृत—भाषा में पाश्चात्य-देशों में प्रचलित कर दिया। इस अवस्था में ईसाई मजहब दिगम्बरत्व के सिद्धान्त से खाली नहीं रह सकता। और सचमुच बाइबिल में स्पष्ट कहा गया है कि :—

"और उसने अपने वस्त्र उतार डाले और सैमुयल के समक्ष ऐसी ही घोषणा की और उस सारे दिन तथा सारी रात वह नंगा रहा। इस पर उन्होंने कहा, "क्या साल भी पैगम्बरों में से है ?"—(सैमुयल १९।२४)

"उसी समय प्रभु ने अमोज के पुत्र ईसाइया से कहा, जा और अपने वस्त्र उतार डाल और अपने पैरों से जूते निकाल डाल। और उसने यही किया, नंगा और नंगे पैरों वह विचरने लगा।"—(ईसाय्या २०।२)

इन उद्धरणों से यह सिद्ध है कि बाइबिल भी मुमुक्षु को दिगम्बर मुनि हो जाने का उपदेश देती है। और कितने ही ईसाई साधु दिगम्बर वेष में रह भी चुके हैं। ईसाइयों के नंगे इन साधुओं में एक सेन्ट मेरी (St Mary of Egypt.) नामक साध्वी भी थी। यह मिश्र देश की सुन्दर स्त्री थी; किन्तु इसने भी कपड़े छोड़ कर नग्न-वेष में ही सर्वत्र विहार किया था।[2]

यहूदी (Jews) लोगों की प्रसिद्ध पुस्तक "The Ascension of Isaiah" (p. 32) में लिखा है—

"(Those) who believe in the ascension into heaven withdrew and settled on the mountain......They were all prophets (Saints) and they had nothing with them and were naked."[3]

अर्थात्—वह जो मुक्ति की प्राप्ति में श्रद्धा रखते थे एकान्त में पर्वत पर जा जमे......वे सब सन्त थे और उनके पास कुछ नहीं था और वे नंगे थे।

अपॉसल पीटर ने नंगे रहने की आवश्यकता और विशेषता को निम्न शब्दों में बड़े अच्छे ढंग पर "Clementine Homilies" में दर्शा दिया है :—

"For we, who have chosen the future things, in so far as we possess more goods than these, whether they be clothings, or......any other thing, possess sins, because we ought not to have anything......To all of us possessions are sins......The deprivation of these, in whatever way it may take place is the removal of sins."[4]

अर्थात्—क्योंकि हम जिन्होंने भविष्य की चीजों को चुन लिया है, यहां तक कि हम उनसे ज्यादा समान रखते हैं, चाहे वे फिर कपड़े लत्ते हों या दूसरी कोई चीज, पाप को रक्खे हुये हैं, क्योंकि हमें कुछ भी अपने पास नहीं रखना चाहिये। हम

---

१. विको०, भा० ३ पृष्ठ १२८

२. The History of Europan Morals: ch. 4 and NJ., P. 6

३. N.J., p. 6.

४. Ante Nicene Christian Library, XVII. 240 & NJ. P. 7

सब के लिये परिग्रह पाप है। जैसे भी हो वैसे इन का त्याग करना पापों को हटाना है।

दिगम्बरत्व की आवश्यकता पाप से मुक्ति पाने के लिये आवश्यक ही है। ईसाई ग्रंथकार ने इसके महत्व को खूब दर्शा दिया है। यही वजह है कि ईसाई मज़हब के मानने वाले भी सैंकड़ों दिगम्बर साधु हो गुजरे हैं।

(७)

दिगम्बर जैन मुनि

"जधजादरुवजादं उप्पडिद केसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं ह्वदि लिंगं ॥५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोग जोग सुद्धीहिं।
लिंगं ण परवेक्खं अपुणब्भव कारणं जो एहं ॥६॥ —प्रवचन सार

दिगम्बर जैन मुनि के लिये जैन शास्त्रों में लिखा गया है कि उनका लिंग अथवा वेश यथाजातरूप नग्न है—सिर और दाढ़ी के केश उन्हें नहीं रखने होते—वे इन स्थानों के बालों को हाथ से उखाड़ कर फेंक देते हैं—यह उनकी केशलुन्चन क्रिया है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर जैन मुनि का वेष शुद्ध, हिंसादि रहित, शृंगार रहित, ममता-आरम्भ रहित, उपयोग और योग की शुद्धि सहित, पर द्रव्य को अपेक्षा रहित, मोक्ष का कारण होता है। सारांश रूप में दिगम्बर जैन मुनि का वेष यह है; किन्तु यह इतना दुर्द्धर और गहन है कि संसार-प्रपंच में फंसे हुए मनुष्य के लिए यह संभव नहीं है कि वह एकदम इस वेष को धारण कर ले। तो फिर क्या यह वेष अव्यवहार्य है ! जैनशास्त्र कहते हैं, 'कदापि नहीं।' और यह है भी ठीक क्योंकि उनमें दिगम्बरत्व को धारण करने के लिए मनुष्य को पहले से ही एक वैज्ञानिक ढंग पर तैयार करके योग्य बना लिया जाता है और दिगम्बर पद में भी उसे अपने मूल उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक वैज्ञानिक ढंग पर ही जीवन व्यतीत करना होता है। जैनेतर शास्त्रों में यद्यपि दिगम्बर वेष का प्रतिपादन हुआ मिलता है; किन्तु उनमें जैनधर्म जैसे वैज्ञानिक नियम-प्रवाह की कमी है। और यही कारण है कि परमहंस वानप्रस्थ भी उनमें सपत्नीक मिल जाते हैं।[1] जैनधर्म के दिगम्बर साधुओं के लिए ऐसी बातें बिलकुल असंभव हैं।

अच्छा तो, दिगम्बर वेष धारण करने के पहले जैनधर्म मुमुक्षु के लिए किन नियमों का पालन करना आवश्यक बतलाता है ? जैनशास्त्रों में सचमुच इस बात का पूरा ध्यान रक्खा गया है कि एक गृहस्थ एक दम छलाँग मार कर दिगम्बरत्व के उन्नत शैल पर नहीं पहुंच सकता। उसको वहाँ तक पहुंचने के लिये कदम-ब-कदम आगे बढ़ना होगा। इसी क्रम के अनुरूप जैनशास्त्रों में एक गृहस्थ के लिये ग्यारह दर्जे नियत किये हैं। पहले दर्जे में पहुंचने पर कहीं गृहस्थ एक श्रावक कहलाने के योग्य होता है। यह दर्जे गृहस्थ की आत्मोन्नति के सूचक हैं और इनमें पहले दर्जे से दूसरे में आत्मोन्नति की विशेषता रहती है। इनका विशद वर्णन जैन ग्रन्थों में जैसे 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' में खूब मिलता है। यहां इतना बता देना ही काफी है कि इन दर्जों से गुजर जाने पर ही एक श्रावक दिगम्बर मुनि होने के योग्य होता है। दिगम्बर मुनि होने के लिये यह उसकी 'ट्रेनिंग' है और सचमुच प्रोषधोपवासव्रत प्रतिमा से उसे नंगे रहने का अभ्यास करना प्रारम्भ कर देना होता है। मात्र पर्व—अष्टमी और चतुर्दशी—के दिनों में वह अनारम्भी हो—घर बाहर का काम-काज-छोड़कर—व्रत-उपवास करता तथा दिगम्बर होकर ध्यान में लीन होता है।[2] ग्यारहवीं प्रतिमा में पहुंच कर वह मात्र लंगोटी का परिग्रह अपने पास रहने देता है और गृह त्यागी वह इसके पहले हो जाता है। ग्यारहवीं प्रतिमा की धारी वह 'ऐलक या क्षुल्लक' आदरपूर्वक विधिसहित यदि प्रासुक भोजन गृहस्थ के यहां मिलता है तो ग्रहण कर लेता है। भोजनपात्र का रखना भी उसकी खुशी पर अवलम्बित है। बस, यह श्रावक-पद की चरम-सीमा है। 'मुण्डकोपनिषद्' के 'मुण्डक श्रावक' इसके समतुल्य होते हैं; किन्तु वहां वह साधु का श्रेष्ठ रूप है।[3] इसके विपरीत जैनधर्म में उसके आगे मुनिपद और है। मुनिपद

१. यूनानी लेखकों ने उनका उल्लेख किया है। देखो। AI P. 181.
२. भमबु० पृ० २०५ तथा बौद्धों के 'अंगत्तर निकाय' में भी इसका उल्लेख है।
३. वीर वर्ष ८ पृ० २५१-२५५

में पहुंचने के लिये एलक श्रावक को लाजमी तौर पर दिगम्बर-वेष धारण करना होता है। मुनियों के मूल गुण जैन शास्त्रों में इस प्रकार वताए गए हैं :—

'पंचय महव्वमाहं समिदीओ पंच जिणवरोद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो ॥२॥
अच्चेल कमण्हाणं खिदिसयणमदंत घस्सणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूल गुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥ मूलाचार॥

अर्थात्—"पांच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह), जिनवर कर उपदेशी हुई पांच समितियां (ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति, मूत्रविष्ठादिक का शुद्ध भूमि में क्षेपण अर्थात् प्रतिष्ठापना समिति), पाँच इन्द्रियों का निरोध (चक्षु, कान, नाक, जीभ, स्पर्शन—इन पांच इन्द्रियों के विषयों का निरोध करना), छह आवश्यक (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग), लोच, आचेलक्य, अस्नान, पृथिवीशयन, अदंतघर्षण, स्थितिभोजन, एक भक्त—ये जैन साधुओं के अट्ठाइस मूल गुण हैं।"

संक्षेप में दिगवम्र मुनि के इन अट्ठाइस मूल गुणों का विवेचनात्मक वर्णन यह है :—

(१) अहिंसा महाव्रत—पूर्णतः मन-वचन-काय पूर्वक अहिंसा धर्म का पालन करना ;

(२) सत्य महाव्रत—पूर्णतः सत्य धर्म का पालन करना;

(३) अस्तेय महाव्रत—पूर्णतः अस्तेय धर्म का पालन करना;

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—पूर्णतः ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करना;

(५) अपरिग्रह महाव्रत—पूर्णतः अपरिग्रह धर्म का पालन करना;

(६) ईर्या समिति—प्रयोजनवश निर्जीव मार्ग से चार हाथ ज़मीन देखकर चलना;

(७) भाषा समिति—पैशून्य, व्यर्थ हास्य, कठोर वचन, परनिंदा, स्वप्रशंसा, स्त्री कथा, भोजन कथा, राजकथा, चोर कथा इत्यादि वार्ता छोड़कर मात्र स्वपरकल्याणक वचन बोलना;

(८) एषणासमिति—उद्गमादि छयालीस दोषों से रहित, कृतकारित नौ विकल्पों से रहित, भोजन में रागद्वेष रहित—समभाव से—विना निमंत्रण स्वीकार करे, भिक्षा-वेला पर दातार द्वारा पड़गाहने पर इत्यादि रूप भोजन करना;

(९) आदाननिक्षेपण समिति—ज्ञानोपकरणादि—पुस्तकादि का—यत्नपूर्वक देख भाल कर उठाना-धरना;

(१०) प्रतिष्ठापना समिति—एकान्त, हरित व त्रसकाय रहित, गुप्त, दूर, विल रहित, चौड़े, लोकनिन्दा व विरोध-रहित स्थान में मल-मूत्र क्षेपण करना;

(११) चक्षुनिरोध व्रत—सुन्दर व असुन्दर दर्शनीय वस्तुओं में राग-द्वेषादि तथा आसक्ति का त्याग;

(१२) कर्णेन्द्रिय निरोध व्रत—सात स्वर रूप जीव शब्द (गान) और वीणा आदि से उत्पन्न अजीवशब्द रागादि के निमित्त कारण हैं, अतः इनका न सुनना;

(१३) घ्राणेन्द्रिय निरोध व्रत—सुगन्धि और दुर्गन्धि में राग-द्वेष नहीं करना;

(१४) रसनेन्द्रिय निरोध व्रत—जिह्वालम्यटता के त्याग सहित और आकांक्षा रहित परिणाम पूर्वक दातार के यहां मिले भोजन को ग्रहण करना;

(१५) स्पर्शनेन्द्रिय निरोध व्रत—कठोर, नरम आदि आठ प्रकार का दुःख अथवा सुख रूप जो स्पर्श उस में हर्ष विषाद न रखना।

(१६) सामायिक—जीवन-मरण, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुख, भूख-प्यास आदि बाधाओं में रागद्वेष रहित समभाव रखना।

(१७) चतुर्विशति—स्तव—ऋषभादि चौवीस तीर्थङ्करों की मन-वचन-काय की शुद्धता-पूर्वक स्तुति करना;

(१८) वन्दना—अरहंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिन शास्त्र को मन-वचन-काय की शुद्धि सहित विना मस्तक नमाये नमस्कार करना;

(१९) प्रतिक्रमण—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप किये गये दोष को शोधना और अपने आप प्रगट करना;

(२०) प्रत्याख्यान—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—इन छहों में शुभ मन, वचन, काय से आगामी काल के लिए अयोग्य का त्याग करना;

(२१) कायोत्सर्ग—निश्चित क्रिया रूप एक नियत काल के लिये जिन गुणों की भावना सहित देह में ममत्व को छोड़कर स्थित होना;

(२२) केशलौंच—दो, तीन या चार महीने बाद प्रतिक्रमण व उपवास सहित दिन में अपने हाथ से मस्तक, दाढ़ी, मूंछ के बालों का उखाड़ना;

(२३) अचेलक—वस्त्र, चर्म, टाट, तृण आदि से शरीर को नहीं ढकना, और आभूषणों से भूषित न होना;

(२४) अस्नान—स्नान-उबटन-अन्जन-लेपन आदि का त्याग;

(२५) क्षितिशयन—जीव बाधा रहित गुप्त प्रदेश में दण्डे अथवा धनुष के समान एक करवट से सोना;

(२६) अदन्तधावन—अंगुली, नख, दाँतौन, तृण आदि से दन्त मल को शुद्ध नहीं करना;

(२७) स्थितिभोजन—अपने हाथों को भोजन पात्र बनाकर भीत आदि के आश्रय रहित चार अंगुल के अन्तर से समपाद खड़े रहकर तीन भूमियों की शुद्धता से आहार ग्रहण करना; और

(२८) एक भक्त—सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घड़ी समय छोड़कर एक बार भोजन करना।

इस प्रकार एक मुमुक्षु दिगम्बर मुनि के श्रेष्ठ पद को तब ही प्राप्त कर सकता है जब वह उपरोक्त अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करने लगे। इनके अतिरिक्त जैन मुनिके लिये और भी उत्तर गुणों का पालन करना आवश्यक है; किन्तु ये अट्ठाईस मूल गुण ही ऐसे व्यवस्थित नियम हैं कि मुमुक्षु को निर्विकारी और योगी बना दें। और यही कारण है कि आज तक दिगम्बर जैन मुनि अपने पुरातन वेष में देखने को नसीब हो रहे हैं। यदि यह वैज्ञानिक नियम प्रवाह जैन धर्म में न होता तो अन्य मतान्तरों के नग्न साधुओं के सदृश आज दिगम्बर जैन साधुओं के भी दर्शन होना दुर्लभ हो जाते। दिगम्बर साधु-नंगे जैन साधु के लिये 'दिगम्बर साधु' पद का प्रयोग करना ही हम उचित समझते हैं—के उपरोक्त प्रारम्भिक गुणों को देखते हुये—जिनके बिना वह मुनि ही नहीं हो सकता—दिगम्बर मुनि के जीवन के कठिन श्रम, इन्द्रिय निग्रह, संयम, धर्मभाव, परोपकार-वृत्ति, निशंकरूप इत्यादि का सहज ही पता लग जाता है। इस दशा में यदि वे जगद्वंद्य हो तो आश्चर्य क्या ?

दिगम्बर मुनियों के सम्बन्ध में यह जान लेना भी जरूरी है कि उनके (१) आचार्य (२) उपाध्याय और (३) साधुरूप तीन भेदों के अनुसार कर्त्तव्य में भी भेद हैं। आचार्य साधु के गुणों के अतिरिक्त सर्वकाल सम्बन्धी आचार को जानकर स्वयं तद्वत् आचरण करे तथा दूसरों से करावे; जैन धर्म का उपदेश देकर मुमुक्षुओं का संग्रह करे और उनकी सार सम्भाल रखे। उपाध्याय का कार्य साधु कर्म के साथ-साथ जैन शास्त्रों का पठन पाठन करना है। और जो मात्र उपरोक्त गुणो का पालता हुआ ज्ञान-ध्यान में लीन रहता है, वह साधु है। इस प्रकार दिगम्बर मुनियों को अपने कर्त्तव्य के अनुसार जीवन-यापन करना पड़ता है। आचार्य महाराज का जीवन संघ के उद्योत में ही लगा रहता है; इस कारण कोई-कोई आचार्य विशेष ज्ञान-ध्यान करने की नियत से अपने स्थान पर किसी योग्य शिष्य को नियुक्त करके स्वयं साधुपद में आ जाते हैं। मुनि-दशा ही साक्षात् मोक्ष का कारण है।

(८)

दिगम्बर-मुनि के पर्यायवाची नाम

दिगम्बर मुनि के लिये जैन शास्त्रों में अनेक शब्द व्यवहृत हुये मिलते हैं। तथापि जैनेतर साहित्य में भी वह एक से अधिक नामों से उल्लिखित हुये हैं। संक्षेप में उनका साधारण सा उल्लेख कर देना उचित है; जिससे किसी प्रकार की शंका को स्थान न रहे। साधारणत: दिगम्बर मुनि के लिये व्यवहृत शब्द निम्न प्रकार देखने को मिलते हैं :—

अकच्छ, अकिन्चन, अचेलक (अचेलव्रती), अतिथि, अनगारी, अपरिग्रही, अह्लोक, आर्य, ऋषि, गणी, गुरु, जिनलिंगी, तपस्वी, दिगम्बर, दिग्वास, नग्न, निश्चेल, निर्ग्रन्थ, निरागार, पाणिपात्र, भिक्षुक, महाव्रती, माहण, मुनि, यति, योगी, वातवसन, विवसन, संयमी (संयत), स्थविर, साधु, सन्यस्थ, श्रमण, क्षपणक।

संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है :—

१. अकच्छ[1] —लंगोटी रहित जैन मुनि;

२. अकिन्चन[2] —जिसके पास किंचित् मात्र (जरा भी) परिग्रह न हो वह जैन मुनि;

३. अचेलक या अचेलव्रती—चेल अर्थात् वस्त्र रहित साधु। इस शब्द का व्यवहार जैन और जैनेतर साहित्य में हुआ मिलता है। 'मूलाचार'[3] में कहा है :—

"अच्चेलकं लोचो" वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदिणादव्वो ॥"९०८॥

अर्थ—'आचेलक्य अर्थात् कपड़े आदि सब परिग्रह का त्याग, केश लोंच, शरीर संस्कार का अभाव, मोर पीछी—यह चार प्रकार लिंगभेद जानना।'

श्वेताम्बर जैन ग्रंथ "आचारांगसूत्र" में भी अचेलक शब्द प्रयुक्त हुआ मिलता है :—

"जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्सणो एवभवद।"[4]
"अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे।"[5]

उनके 'ढाणांगसूत्र' में है : "पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे अचेलए सचेलयाहि निग्गंथीहिं सद्धिं सेवसयाणे नाइक्कमइ।" अर्थात् "और भी पांच कारण से वस्त्र रहित साधु वस्त्र सहित साध्वी साथ रहकर जिनाज्ञा का उल्लंघन करते हैं।"[6]

वौद्ध शास्त्रों में भी जैन मुनियों का उल्लेख 'अचेलक' रूप में हुआ मिलता है। जैसे "पाटिकपुत्त अचेलो"—अचेलक पाटिक पुत्र, यह जैन साधु थे।[7] चीनी त्रिपिटक में भी जैन साधु "अचेलक" नाम से उल्लिखित हुये हैं।[8] वौद्ध टीकाकार वुद्धघोष 'अचेलक' से भाव नग्न के लेते हैं।[9]

४. अतिथि—ज्ञानादि सिद्धयर्थं तनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम् यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः।

—सागार धर्मामृत अ० ५ श्लो० ४२।

जिनके उपवास, व्रत आदि करने की गृहस्थ श्रावक के समान अष्टमी आदि कोई खास तिथि (तारीख) नियत न हो; जब चाहे करें।

५. अनगार[10]—आगार रहित, गृहत्यागी दिगम्वर मुनि। इस शब्द का प्रयोग—अणयारमहरिसीणं...मूलाचार, अनगारभावनाधिकार श्लो० २ में अनगार महर्षिणा इसीही श्लोक की संस्कृत छाया और "न विद्यतेऽगारं गृहं स्त्र्यादिकं पां तेऽनगारा" इसही श्लोक की संस्कृत टीका में मिलता है।

श्वेताम्वरीय "आचारांगा सूत्र में है : "तं वोसज्ज वत्थमणगारे।"[11]

६. अपरिग्रही—तिलतुषमात्र परिग्रह रहित दिग० मुनि।

७. अह्लीक—लज्जाहीन, नंगेमुनि। इस शब्द का प्रयोग अजैन ग्रन्थकारों ने दिगम्वर मुनियों के लिये घृणा प्रकट करते हुये किया है; जैसे वौद्धों के 'दाठावंश' में है।[12]

"इमे अहिरिका सव्वे सद्धादिगुणवज्जिता।
थद्धा सठाच दुप्पञ्चा सग्गमोक्ख विवन्धका ॥"८८॥

---

१. वृजैश० पृ ४ २. (Ibid) ३. पृष्ठ ३२६
४. आचा० पृ० १५१
५. अध्याय ६ उद्देस १ सूत्र ४
६. ढाणा० पृ० ५६१
७. भमवु० पृ०२ २५
८. "वीर" वर्ष ४ पृ० ३५३
९. अचेलकोऽतिनिच्चेलो नग्गो।'...IHO III 245
१०. वृजैश०, पृ० ४
११. आचा० पृ० २१०
१२. दाठा० पृ० १४

बौद्ध नैयायिक कमलशील ने भी जैनों का 'अह्लीक' नाम से उल्लेख किया है (अह्लीकादयश्चोदयन्ति; स्याद्वाद परीक्षा प्र० 'तत्वसंग्रह' (पृ० ४८६) वाचस्पति अभिधानकोष में भी 'अह्लीक' को दिगम्बर मुनि कहा है : "अह्लीक क्षपणके तस्य दिगम्बरत्वेन लज्जाहीनत्वात् तथात्वम् ।" 'हेतुबिन्दु तर्क टीका' में भी जैन मुनि के धर्म का उल्लेख 'क्षपणक' और 'अह्लीक' नाम से हुआ है । तथा श्वेताम्बराचार्य श्री वादिदेवसूरि ने भी अपने 'स्याद्वाद-रत्नाकर' ग्रंथ में दिगम्बर जैनों का उल्लेख अह्लीक नाम से किया है । (स्याद्वाद-रत्नाकर पृ० २३०) ।[१]

८. आर्य—दिगम्बर मुनि । दिगम्बराचार्य शिवार्य अपने दिगम्बर गुरुओं का उल्लेख इसी नाम से करते हैं ।[२]

"अज्ज जिणणंदिगणि, सव्वगुत्तगणि अज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ।।
पुव्वायरिय णिवद्धा उपजीविता इमा ससत्तीए ।
आराधण सिवज्जेण पाणिदलभोजिणा रइदा ।।"

यह सब आर्य (साधु) पाणिपात्रभोजी दिगम्बर थे ।

९. ऋषी—दिगम्बर साधु का एक भेद है (यह शब्द विशेषतया ऋद्धिधारी साधु के लिये व्यवहृत होता है) । श्री कुन्दकुन्दाचार्य इसका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट करते हैं ।[३]

'णय, राय, दोस, मोहो, कोहो, लोहो य जस्स आयत्ता ।
पंच महव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ।।६।।

अर्थात्—मद, राग, दोष, मोह, क्रोध, लोभ, माया आदि से रहित जो पंचमहाव्रतधारी है, वह महा ऋषि है ।

१०. गणी—मुनियों के गण में रहने के कारण दिगम्बर मुनि इस नाम से प्रसिद्ध होते हैं । 'मूलाचार' में इसका उल्लेख निम्न प्रकार हुआ है :—

"विस्समिदो तद्दिवसं मोमंसित्ता णिवेदयदि गणिणो ।"[४]

११. गुरु—शिष्यगण-मुनि श्रावकादि के लिये धर्मगुरु होने के कारण दिगम्बर मुनि इस नाम से भी अभिहित हैं । उल्लेख यूं मिलता है :—

"एवं आपुच्छित्ता सगवर गुरूणा विसज्जिओ संतो ।"[५]

१२. जिनलिंगी[६]—जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट नग्न भेष का पालन करने के कारण दिगम्बर मुनि इस नाम से भी प्रसिद्ध हैं ।

१३. तपस्वी—विशेषतर तप में लीन होने के कारण दिगम्बर मुनि तपस्वी कहलाते हैं । 'रत्नकरन्डक श्रावकाचार' में इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की गई है :—

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान ध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।१०।।[७]

१४. दिगम्बर—दिशायें उनके वस्त्र हैं इसलिये जैन मुनि दिगम्बर हैं । मुनि कनकामर अपने को जैन मुनि हुआ 'दिगम्बर' शब्द से ही प्रकट करते हैं :—

---

१. पुरातत्व, वर्ष ५ अंक ४ पृ० २६६-२६७
२. जैहि० भा० १२ पृ० ३६०
३. अष्ट० पृ० ११४
४. मूला०, पृ० ७५
५. मूला० पृ० ६७
६. वृजैश० पृ० ४
७. रश्रा०, पृ० ८

"वइरायहं हुवइं दियंवरेण ।
सुपसिद्ध णाम कणयामरेण ।।"[1]

हिन्दू पुराणादि ग्रन्थों में भी जैन मुनि इस नाम से उल्लिखित हुए हैं ।[2]

१५. दिग्वास—यह भी नम्बर १४ के भाव में प्रयुक्त हुआ जैनेतर साहित्य में मिलता है। 'विष्णु पुराण' में (५।१०) में है—दिग्वासस्सामयं धर्मः ।

१६. नग्न—यथाजातरूप जैन मुनि होते हैं, इसलिये वह नग्न कहे गये हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी ने इस शब्द का उल्लेख यों किया है :—

"भावेण होइ णग्गो, वाहिर्रालगेण किं च णग्गेणं ।"[3]
वराहमिहिर कहते हैं—"नग्नान् जिनानां विदुः।"[4]

१७. निश्चेल—वस्त्ररहित होने के कारण यह नाम है। उल्लेख इस प्रकार है :—

"णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठ परम जिणवरिदेहिं ।"[5]

१८. निर्ग्रन्थ—ग्रन्थ अर्थात् अन्दर-वाहर सर्वथा परिग्रह रहित होने के कारण दिगम्बर मुनि इस नाम से वहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध हैं। 'धर्मपरीक्षा' में निर्ग्रन्थ साधु को वाह्याभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) रहित नग्न ही लिखा है :—

'त्यक्तवाह्यान्तरग्रन्थो निःकषायो जितेन्द्रियः ।
परीषहसहः साधुर्जातरूपधरो मतः ।।१८।।७६।।'

"मूलाचार" में भी अचेलक मूल गुण की व्याख्या करते हुए साधु को निर्ग्रन्थ भी कहा है :—

"वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्तादिणा असवरणं ।[6]
णिव्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ।।३०।।"[7]

'भद्रवाहु चरित्र' के निम्न श्लोक भी निर्ग्रथ शब्द का भाव दिगम्बर प्रकट करते हैं :—

'निर्ग्रथ मार्गमुत्सृज्य सग्रन्थत्वेन ये जडाः ।
व्याचक्षन्ते शिवं नृणां तद्वचो न घटामटेत् ।।६५।।'

अर्थ—"जो मूर्ख लोग निर्ग्रन्थ मार्ग के विना परिग्रह के सद्भाव में भी मनुष्यों को मोक्ष का प्राप्त होना वताते हैं उनका कहना प्रमाणभूत नहीं हो सकता ।"

"अहो निर्ग्रन्थता शून्यं किमिदं नौतनं मतम् ।
न मेऽत्र युज्यते गन्तुं पात्रदण्डादिमण्डितम् ।।१४५।।"

अर्थ—"अहो। निर्ग्रन्थता रहित यह दण्ड पात्रादि सहित नवीन मत कौन है ? इनके पास मेरा जाना योग्य नहीं है।"

'भमवन्मदाग्नहादग्न्या गृह्णीतामर पूजिताम् ।
निर्ग्रन्थपदवीं पूतां हित्वा सङ्गं मुदाऽखिलम् ।।१४६।।'

अर्थ—"भगवन्! मेरे आग्रह से आप सव परिग्रह छोड़ कर पहले ग्रहण की हुई देवताओं से पूजनीय तथा पवित्र निर्ग्रन्थ अवस्था ग्रहण कीजिये।" 'सङ्ग' शब्द का अर्थ अगले श्लोक में 'संग' वसनादिकमन्जसा।' किया है। अतः यह स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ अवथा वस्त्रादि रहित दिगम्बर है। किन्तु दुर्भाग्य से जैन समाज में कुछ ऐसे लोग हो गए हैं जिन्होंने शिथिलाचार

---

१. वीर, वर्ष ४ पृ० २०१

२. विष्णु पुराण में है: 'दिगम्बरो मुण्डो वहपत्रधरः '(५-२)' पद्मपुराण (भूमिखण्ड, अध्याय ६६) प्रबोधचन्द्रोदयनाटक अंक ३ (दिगम्बर सिद्धान्तः), पंचतन्त्रः "एकाकी गृहसंत्यक्त पाणिपात्रो दिगम्बरः ।" —पंचमतन्त्र।

३. अष्ट० पृ० २००

४. वराह मिहिर १६।६१

५. अष्ट, पृष्ठ ६३।

६. मूला०, पृष्ठ १३।

७. भद्र०, पृ० ७८ व ८६।

के पोषण के लिए वस्त्रादि परिग्रहयुक्त अवस्था को भी निर्ग्रन्थ मार्ग घोषित कर दिया है। आज उनका सम्प्रदाय 'श्वेताम्बर जैन' नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि उनके पुरातन ग्रन्थ दिगम्बर वेष को प्राचीन और श्रेष्ठ मानते हैं; किन्तु अपने को प्राचीन सम्प्रदाय प्रगट करने के लिये वह वस्त्रादि युक्त भी निर्ग्रन्थ मार्ग प्रतिपादित करते हैं। यह मान्यता पुष्ट नहीं है। इसलिये संक्षेप में इस पर यहाँ विचार कर लेना समुचित है।

श्वेताम्बर ग्रन्थ इस बात को प्रकट करते हैं कि दिगम्बर (नग्न) धर्म को भगवान् ऋषभदेव ने पालन किया था—वह स्वयं दिगम्बर रहे थे[1] और दिगम्बर वेष इतर-वेषों से श्रेष्ठ हैं[2]। तथापि भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ श्रमण के लिये दिगम्बरत्व का प्रतिपादन किया था और आगामी तीर्थकर भी उसका प्रतिपादन करेंगे, यह भी श्वेताम्बर शास्त्र प्रकट करते हैं[3]। अतः स्वयं उनके अनुसार भी वस्त्रादि युक्त वेष श्रेष्ठ और मूल निर्ग्रन्थ धर्म नहीं हो सकता।

"श्वेताम्बराचार्य श्री आत्माराम जी ने भी अपने "तत्वनिर्णयप्रासाद" में 'निर्ग्रन्थ' शब्द की व्याख्या दिगम्बर भाव-पोषक रूप में दी है; यथा—

'कंथा कौपीनोत्तरा संगादीनाम् त्यागिनो यथा जातरूप धरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः।'

जैनेतर साहित्य और शिलालेखीय साक्षी भी उक्त व्याख्या की पुष्टि करती है। वैदिक साहित्य में 'निर्ग्रन्थ शब्द का व्यवहार 'दिगम्बर' साधु के रूप में ही हुआ मिलता है। टीकाकार उत्पल कहते हैं[3] —

"निर्ग्रन्थो नग्नः क्षपणकः।"

इसी तरह सायणाचार्य भी निर्ग्रन्थ शब्द को दिगम्बर मुनि का द्योतक प्रकट करते हैं[4] :—

"कथा कौपीनोत्तरा संगादिनाम् त्यागिनो, यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्थानिष्परिग्रहः।
इति संवर्तश्रुतिः।"

'हिन्दू पद्मपुराण' में दिगम्बर जैन मुनि के मुख से कहलाया गया है :—

"अर्हन्तो देवता यत्र, निर्ग्रन्थो गुरुरुच्यते।"

अब यदि निर्ग्रन्थ के भाव वस्त्रधारी साधु के होते तो दिगम्बर मुनि उसे अपने धर्म का गुरु न बताते। इससे स्पष्ट

---

१. कल्पसूत्र'— Js. Pt. IP. २८५।

आचाराङ्ग सूत्र में कहा है :—

"Those are called naked, who in this world, never returning (to a worldly state) (follow) my religion according to the commandment. This highest doctrine has here been declared for men." ...Js. I. P. 56

"आउरण वज्जियाणं विसुद्धजिणकप्पियाणन्तु।"

अर्थ—"वस्त्रादि आवरणयुक्त साधु से आवरण रहित जिनकल्पि साधु विशुद्ध है। (सवत् १९३४ में मुद्रित प्रवचनसारोद्धार भाग ३ पृष्ठ १३)।

२. "सेजहानामए अज्जोमए समणाणं निग्गंथाणं नग्गाभावे मुण्ड भावे अण्हाणए अदन्तवणे अच्छतए अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे लद्धावलद्ध वित्तीओजाव पण्णत्ताओ एवामेव महा पउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं नग्गभावे जाव लद्धावलद्ध वित्तोओ जाव पन्नवेहिंत्ति।"

अर्थात्—भगवान महावीर कहते हैं कि श्रमण निर्ग्रन्थ को नग्न भाव मुण्ड भाव, अस्नान, छत्र नहीं करना, पगरखी नहीं पहनना, भूमि शैया, केशलोंच, ब्रह्मचर्य पालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना, आहार की वृत्ति जैसे मैंने कही वैसे महापद्म अरहंत भी कहेंगे।

ठाणा०, पृष्ठ ८१३

'नगिणापिंडोलगाहमा। मुण्डाकण्डू विणट्ठणा ॥७२॥ —सयडांग

'अहाइ भगवं एवं-से दंते दविए वोसट्ठकाएत्तिवच्चे, माहणेत्ति व समणेत्ति वा भिक्खूत्ति वा, णिग्गंथेत्ति वा पडिभाह भेते।'

—सूयडांग २५८

३. IHQ. III., 245

४. तत्वनिर्णय प्रसाद पृष्ठ ५२३—व दि० जै० १०-१-४८।

कि यहाँ भी निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बर मुनि के रूप में व्यवहृत हुआ है।

"ब्रह्माण्डपुराण" के उपोद्घात ३ अ० १४ पृ० १०४ में है :—

"नग्नादयो न पश्येषु श्राद्धकर्म व्यवस्थितम् ॥३४॥"

अर्थात्—"जब श्राद्धकर्म में लगे तब नग्नादिकों को न देखे।" और आगे इसी पृष्ठ पर ३९ वें श्लोक में लिखा है कि नग्नादिक कौन हैं ?

"वृद्ध श्रावक निर्ग्रन्थाः इत्यादि"[1]

वृद्ध श्रावक शब्द क्षुल्लक-ऐलक का द्योतक है तथा निर्ग्रन्थ शब्द दिगम्बर मुनि का द्योतक है अर्थात् जैनधर्म के किसी भी गृहत्यागी साधु को श्राद्धकर्म के समय नहीं देखना चाहिए, क्योंकि सम्भव है कि यह उपदेश देकर उसकी निस्सारता प्रकट कर दें। अतः वैदिक साहित्य के उल्लेखों से भी निर्ग्रन्थ शब्द नग्न साधु के लिये प्रयुक्त हुआ सिद्ध होता है।

बौद्ध साहित्य भी इसही बात का पोषण करता है। इसमें 'निर्ग्रन्थ' शब्द साधु रूप में सर्वत्र नग्न मुनि के भाव में[2] प्रयुक्त हुआ मिलता है। भगवान महावीर को बौद्ध साहित्य में उनके कुल अपेक्षा निर्ग्रन्थ नातपुत्त कहा है[3] और श्वेताम्बर जैन साहित्य से भी यह प्रकट है कि निर्ग्रन्थ महावीर दिगम्बर रहे थे। बौद्ध शास्त्र भी उन्हें निर्ग्रन्थ और अचेलक[4] प्रकट करते हैं। इससे स्पष्ट है कि बौद्धों ने 'निर्ग्रन्थ' और 'अचेलक' शब्दों को एक ही भाव (Sense) में प्रयुक्त किया है अर्थात् नग्न साधु के रूप में। तथापि बौद्ध साहित्य के निम्न उद्धरण भी इस ही बात के द्योतक हैं :—

दीघनिकाय ग्रन्थ १। २७८-७९ में लिखा है कि :—[5]

"Pasendi, King of Kosal saluted Niganthas."

अर्थात्—कौशल का राजा पसेनदी (प्रसेनजित) निर्ग्रन्थों (नग्न जैन मुनियों) को नमस्कार करता था।

बौद्धों के "महावग्ग" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "एक बड़ी संख्या में निर्ग्रन्थगण वैशाली में, सड़क २ और चौराहे चौराहे पर शोर मचाते दौड़ रहे थे।" इस उल्लेख से दिगम्बर मुनियों का उस समय निर्वाध रूप में राज मार्गों से चलने का समर्थन होता है। वे अष्टमी और चतुर्दशी को इकट्ठे होकर धर्मोपदेश भी दिया करते थे[5]।

'विशाखावत्थु' में भी निर्ग्रन्थ साधु को नग्न प्रगट किया है[6]। 'दीर्घ निकाय' के 'पासादिक सुत्तन्त' में है कि "जब निगन्ठ नातपुत्त का निर्वाण हो गया तो निर्ग्रन्थ मुनि आपस में झगड़ने लगे। उनके इस झगड़ने को देख कर श्वेतवस्त्रधारी गृहीश्रावक बड़े दुःखी हुये[7]। अब यदि निर्ग्रन्थ साधु भी श्वेत वस्त्र पहनते होते तो श्रावकों के लिये वह एक विशेषण रूप में न लिखे जाते। अतः इससे भी 'निर्ग्रन्थ साधु' का नग्न होना प्रगट है।

'दाठावंसो' में 'अहिरिका' शब्द के साथ साथ निगण्ठ शब्द का प्रयोग जैन साधु के लिए हुआ मिलता है[8]। और 'अह्रीक' या 'अहिरिक' शब्द नग्नता का द्योतक है। इसलिये बौद्ध साहित्यानुसार भी निर्ग्रन्थ साधु को नग्न मानना ठीक है।

शिलालेखीय साक्षी भी इसी बात को पुष्ट करती है। कदम्बवंशी महाराज श्री विजयशिवमृगेश वर्मा ने अपने एक दानपत्र में अर्हन्त् भगवान और श्वेताम्बर महाश्रमण संघ तथा निर्ग्रन्थ अर्थात् दिगम्बर महाश्रमण संघ के उपभोग के लिये कालवंग

---

१. वेजै०, पृष्ठ १४।

२. मज्झिमनिकाय १। ९२; अंगुत्तरनिकाय १। २२०।

३. जातक भा० २ पृ० १८२—भग० बु० २४५।

४. Indian Historical Quarterly, Vol. I. P. 153.

५. महावग्ग २।१।१ और भ० महावीर और म० बुद्ध पृ० २८०।

६. भमबु० पृ० २५२।

७. "तस्स कालकिरियाय भिन्ना निगण्ठ द्वेधिक जाता, भण्डन जाता, कलह जाता······वधो एवं खोनंजैनिगन्ठेसु नायपुत्तियेसु वत्तति ये पि निगन्ठस्स नायपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना······दु रत्तजाते इत्यादि।" —भमबु, पृ० २१४

८. 'इमे अहिरिका सब्बे सद्धादिगुण वज्जिता। थद्धा सठा च दुप्पञ्ञा सग्गमोक्ख विबन्धका ॥८८॥ इति सो चिन्तयित्वान गुहसीवो नराधिपो। पब्बाजेसि सकारट्ठा निगण्ठे ते असेसके ॥८९॥' —दाठावंसो पृ० १४।

नामक ग्राम को भेंट में देने का उल्लेख किया है[1]। यह ताम्रपत्र ई० पाँचवीं शताब्दी का है। इससे स्पष्ट है कि तब के 'श्वेताम्बर भी अपने को निर्ग्रन्थ न कहकर दिगम्बर संघ को ही निर्ग्रन्थ संघ मानते थे। यदि यह बात न होती तो वह अपने को 'श्वेतपट' और दिगम्बर को 'निर्ग्रन्थ' न लिखाने देते।

कदम्ब ताम्रपत्र के अतिरिक्त विक्रम सं० ११६१ का ग्वालियर से मिला एक शिलालेख भी इसी बात का समर्थन करता है। उसमें दिगम्बर जैन यशोदेव को 'निर्ग्रन्थनाथ' अर्थात् दिगम्बर मुनियों के नाथ श्री जिनेन्द्र का अनुयायी लिखा है। अतः इससे भी स्पष्ट है कि 'निर्ग्रन्थ' शब्द दिगम्बर मुनि का द्योतक है।[2]

चीनी यात्री ह्वेंगसांग के वर्णन से भी यही प्रगट होता है कि 'निर्ग्रन्थ' का भाव नग्न अर्थात् दिगम्बर मुनि है :—

"The Li-hi (Nirgranthas) distinguish themselves by leaving their bodies naked and pulling out their hair" (St. Julien, Vienna P. 224)

अतः इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि 'निर्ग्रन्थ' शब्द का ठीक भाव दिगम्बर (नग्न) मुनि का है।

१९. निरागार—आगार घर आदि परिग्रह रहित दिगम्बर मुनि। 'परिग्रहरहिओ निरायारो।'[3]

२०. पाणिपात्र—करपात्र ही जिनका भोजन पात्र है, वह दिगम्बर मुनि।

'णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परम जिणवरि देहिं।'

२१. भिक्षुक—भिक्षावृत्ति का धारक होने के कारण दिगम्बर मुनि इस नाम से प्रसिद्ध होता है। इसका उल्लेख "मूलाचार" में मिलता है:—

'मणवचकायपउत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसंजुत्ता।
खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवादि एसो ॥३३१॥'

२२. महाव्रती[4]—पंच महाव्रतों को पालन करने के कारण दिगम्बर मुनि इस नाम से प्रकट है।

२३. माहण—ममत्व त्यागी होने के कारण माहण नाम से दिगम्बर मुनि अभिहित होता है।

२४. मुनि—दिगम्बर साधु। श्री कुन्दकुन्दाचार्य इसका उल्लेख यूं करते हैं[5] :—

पंचमहव्वय जुत्ता पंचिंदिय संजमा णिरावेक्खा।
सज्झायझयण जुत्ता मुणिवर वसहा णिइच्छंति ॥

२५. यति—दिगम्बर मुनि। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं :—

"सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे।[6]

२६. योगी—योगनिरत होने के कारण दिगम्बर साधु का यह नाम है। यथा[7] :—

"जं जाणियूण जोई जो अत्थो जोई ऊण अणवरयं।
अव्वावाहमणंतं अणोवयं लहइ णिव्वाणं ॥"

२७. वातवसन—वायु रूपी वस्त्रधारी अर्थात् दिगम्बर मुनि।

"श्रमण दिगम्बराः श्रमण वातवसनाः"—इतिनिघण्टुः

---

१. ·········'कदम्बानां श्रीविजयशिवमृगेशवर्म्मा कालवंग ग्रामं त्रिधा विभज्य दत्तवान् अत्रपूर्व्वमर्हच्छाला परमपुष्कलस्थान निवासिभ्यः भगवदर्हन्महाजिनेन्द्र-देवताभ्य एकोभागः द्वितीयोर्हत्प्रोक्तसद्धर्म्मकरण परस्य श्वेतपट महाश्रमणसंघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगायेति···।" —जैहि० भा० १४ पृ० ३२९।

२. The Gwalior inscrips: of Vik. S. 1161 (1104 A.D.)

"It was composed by a Jaina Yasodeva, who was an adherent of the Digambara or nude sect (Nigranthanatha)."—Catalogue of Archaeological Exhibits in the U.P.P. Museum Lucknow. Pts. (1915) P. 44

३. अष्ट० पृ० ७०
४. वृजैश, पृ० ४
५. अष्ट० पृ० १४२
६. अष्ट० पृ० ९९
७. अष्ट०, पृ० २९०

२८. विवसन—वस्त्र रहित मुनि । वेदान्तसूत्र की टीका में दिगम्बर जैन मुनि 'विवसन' और "विसिच्" कहे गए हैं ।[१]

२९. संयमी (संयत्)—यम नियमों का पालक सो दिगम्बर मुनि । उल्लेख यूं है—

"पंचमहव्वय जुत्तो तिहि गुत्तिहिं जो स संजदो होई ।"[२]

३०. स्थविर—दीर्घ तपस्वी रूप दिगम्बर मुनि । "मूलाचार" में उल्लेख इस प्रकार है[३] :—

"तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा ।
आइरियउवज्झाया पवत्त थेरा गणधरा य ।।"

३१. साधु—आत्म साधना में लीन दिगम्बर मुनि । इनको भी कुछ परिग्रह न रखने का विधान है ?[४]—

"वालग्ग कोडिमत्तं परिग्रह गहणं ण होई साहूणां ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णाणं इक्क ठाणम्मि ।।१७।।"

३२. सन्यस्त[५]—सन्यास ग्रहण किये हुए होने के कारण दिगम्बर मुनि इस नाम से भी प्रख्यात हैं ।

३३. श्रमण—अर्थात् समरसीभाव सहित दिगम्बर साधु । उल्लेख यूं हैं :—

वन्दे तव सावण्णा (वन्दे तपः श्रमणान्)[६]
समणोमेत्ति य पढमं विदिभं सव्वत्थ संजदो मेत्ति ।[७]

३४. क्षपणक—नग्न साधु । दिगम्बराचार्य योगीन्द्र देव ने यह शब्द दिगम्बर साधु के लिये प्रयुक्त किया है :[८]—

तरुणउ बूढउ रूपडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढ़उ मण्णइ सव्व ।।८३।।

श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में भी दिगम्बर मुनियों के लिए यह शब्द व्यवहृत हुआ है[९] :—

खोमाणराजकुलजोऽपिसमुद्र सूरि—
र्गच्छं शशास किल दमवण प्रमाण (?) ।
जित्वा तदां क्षपणकान्स्ववशं वितेने ।
नागेंद्रदे (?) भुजगनाथनमस्य तीर्थे ।।

श्री मुनिसुन्दर सूरि ने अपनी गुर्वावली में इस श्लोक के भाव में "क्षपणकान्" की जगह "दिग्वसनान्" पद का प्रयोग करके इस दिगम्बर मुनि के लिए प्रयुक्त हुआ स्पष्ट कर दिया है ।[१०] श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने अपने कोप में "नग्न" का पर्यायवाची शब्द "क्षपणक" भी दिया है ।[११] यही बात श्रीधरसेन के कोष से भी प्रकट है ।[११] अजैन शास्त्रों में भी "क्षपणक" शब्द दिगम्बर जैन साधुओं के लिए व्यवहृत हुआ मिलता है । उत्पल कहता है[१२] :—

"निर्ग्रन्थो नग्नः क्षपणकः ।"

"अद्वैतब्रह्मसिद्धि" (पृष्ठ १६९) से भी यही प्रकट है[१३] :—

"क्षपणका जैनमार्गसिद्धान्तप्रवर्तका इतिकेचिन ।"

"प्रबोधचंद्रोदय नाटक" (अंक ३) में भी यही निर्दिष्ट किया गया है ।[१४]

क्षपणकवेशो दिगम्बर सिद्धान्तः ।

पंचतंत्र" अपरीक्षितकारकतंत्र[१५] "दशकुमार चरित्र"[१६] तथा "मुद्राराक्षस नाटक"[१७] में भी "क्षपणक" शब्द दिगम्बर

---

१. वेदान्तसूत्र २-२-३३ शंकरभाष्य—वीर वर्ष २ पृ० ३१७
२. अष्ट पृ० ७१ ३. मूला० पृ० ७१ ४. अष्ट, पृ० ६७
५. वृजैश०, पृ० ४ ६. अष्ट०, पृ० ३७ ७. मूला०, पृष्ठ ४५
८. 'परमात्म प्रकाश'—रश्रा० पृ० १४० ९. रश्रा०, पृ० १३९ १०. रश्रा०, पृ० १४०
११. 'नग्नो विवाससि मागधे च क्षपणके ।' १२. 'नग्नाटिदद् दिवस्त्रे स्यात्तु नि क्षपणदन्दिनोः ।'
१३. IHQ III. 245 १४. J.G. IXV 48
१५. (क्षपणक विहार गत्वा)—'एकाकीगृहसंत्यक्तः पणिपात्रो दिगम्बरः ।'
१६. द्वितीय उच्छ्वास वीर वर्ष २ पृ० ३१७
१७. मुद्राराक्षस अंक ४—वीर, वर्ष ५ पृ० ४३०

मुनि के लिए व्यवहृत हुआ मिलता है। मोनियर विलियम्स के संस्कृत कोष में भी इसका अर्थ यही लिखा है।[1]

इस प्रकार उपरोक्त नामों से दिगम्बर जैन मुनि प्रसिद्ध हुए मिलते हैं। अतएव इनमें से किसी भी शब्द का प्रयोग दिगम्बर मुनि का द्योतक ही समझना चाहिए।

६

इतिहासातीत काल में दिगम्बर मुनि

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः।
रूपमुपसदा मेतत्तिस्त्रो रात्रीः सुरासुता॥

—यजुर्वेद अ० मंत्र १४

भारतवर्ष का ठीक ठीक इतिहास ईस्वी पूर्व आठवीं शताब्दी तक जाना जाता है। इसके पहले की कोई भी बात विश्वासनीय नहीं मानी जाती, यद्यपि भारतीय विद्वान अपनी धार्मिक वार्ता इस काल से भी बहुत प्राचीन मानते और उसे विश्वासनीय स्वीकार करते हैं। उनकी यह वार्ता "इतिहासातीत काल" की वार्ता समझनी चाहिए। दिगम्बर मुनियों के विषय में भी यही बात है। भगवान ऋषभदेव द्वारा एक अज्ञात अतीत में दिगम्बर मुद्रा का प्रचार हुआ और तब से वह इस्वी पूर्व आठवीं शताब्दी तक ही नहीं बल्कि आजतक निर्बाध प्रचलित है। दिगम्बर मुद्रा के इस इतिहास की एक सामान्य रूपरेखा यहां प्रस्तुत करना अभीष्ट है।

इतिहासातीत काल में प्राचीन जैन शास्त्र अनेक जैन सम्राट और जैन तीर्थंकरों का होना प्रगट करते हैं और उनके द्वारा दिगम्बर मुद्रा का प्रचार भारत में ही नहीं बल्कि दूर दूर देशों तक हो गया था। दिगम्बर जैन अम्नाय के प्रथमानुयोग सम्बन्धी शास्त्र इस कथा—वार्ता से भरे हुए हैं, उनको हम यहाँ दुहराना नहीं चाहते, प्रत्युत जैन शास्त्रों के प्रमाणों को उपस्थित करके हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि दिगम्बर मुनि प्राचीन काल से होते आये हैं और उनका विहार सर्वत्र निर्बाध रूप में होता रहा है।

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीन ग्रन्थ माने गये है। अतः सबसे पहले उन्हीं के आधार से उक्त व्याख्या को पुष्ट करना श्रेष्ठ है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि वेदों के ठीक ठीक अर्थ आज नहीं मिलते और भारतीय धर्मों के पारस्परिक विरोध के कारण बहुत से ऐसे उल्लेख उनमें से निकाल दिये गये अथवा अर्थ बदलकर रक्खे गये है जिनसे वेद-बाह्य सम्प्रदायों का समर्थन होता था। इसी के साथ यह बात भी है कि वेदों के वास्तविक अर्थ आज ही नहीं मुद्दतों पहले लुप्त हो चुके थे[2] और यही कारण है कि एक ही वेद के अनेक विभिन्न भाष्य मिलते है। अतः वेदों के मूल वाक्यों के अनुसार उक्त व्याख्या की पुष्टि करना यहां अभीष्ट है।

यजुर्वेद अ० १६ मंत्र १४ में, जो इस परिच्छेद के आरम्भ में दिया हुआ है, अन्तिम तीर्थंकर महावीर का स्मरण नग्न विशेषण के साथ किया गया है। महावीर और "नग्न" शब्द जो उक्त मंत्र में प्रयुक्त हुए हैं उनके अर्थ कोष ग्रन्थों में अन्तिम जैन तीर्थंकर और दिगम्बर ही मिलते है।[3] इसलिए इस मंत्र का सम्बन्ध भगवान महावीर से मानना ठीक है। वैसे बौद्ध साहित्यादि से स्पष्ट है कि महावीर स्वामी नग्न साधु थे। इस अवस्था में उक्त मंत्र में "महावीर" शब्द "नग्न" विशेषण सहित प्रयुक्त हुआ इस बात का द्योतक है कि उसके रचयिता को तीर्थंकर महावीर का उल्लेख करना इष्ट है। इस मंत्र में जो शेष

---

१. "Ksapnaka is a religious mendicant, specially a Jain mendicant who wears no garment."– Monier William's Sanskrit Dictionary p. 326.

२. ई० पूर्व ७ वीं शताब्दिका वैदिक विद्वान् कौत्स्य वेदों को अनर्थक बतलाता है। (अनर्थका हि मन्त्राः।, यास्क, निरुक्त १५-१) यास्क इसका समर्थन करता है। (निरुक्त १६।२) देखो 'Asure India' p. IV

३. वेजै०, पृ० ५५-६०

विशेषण है वह भी जैन तीर्थंकर के सर्वथा योग्य है और इस मंत्र का फल भी जैन शास्त्रानुकूल है। अतः यह मंत्र भगवान महावीर को दिगम्बर मुनि प्रगट करता है।

किन्तु भगवान महावीर तो ऐतिहासिक महापुरुष मान लिए गये हैं, इसलिए उनसे पहले के वैदिक उल्लेख प्रस्तुत करना उचित है। सौभाग्य से हमें ऋग्संहिता (१०।१३६-२) में ऐसा उल्लेख निम्न शब्दों में मिल जाता है:—

"मुनयो वातवसनाः।"

भला वह वातवसन—दिगम्बर मुनि कौन थे ? हिन्दू पुराण ग्रन्थ वताते है कि वे दिगम्बरत्व जैन मुनि थे, जैसे कि हम पहले देख चुके है। और भी देखिए, श्रीमद्भागवत् में जैन तीर्थंकर ऋषभ देव ने जिन ऋषियों को दिगम्बर का उपदेश दिया था, वे वातरशनानां श्रमण कहे गये है।[1] प्रो० अल्ब्रेट वेवर भी उक्त वाक्य को दिगम्बर जैन मुनियों के लिए प्रत्युक्त हुआ व्यक्त करते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद (अ० १५) में जिन "व्रात्य" पुरुषों का उल्लेख है, वे दिगम्बर जैन ही है, क्योंकि व्रात्य वैदिक संस्कार हीन वताये गये है[3] और उनकी क्रियायें दिगम्बर जैनोंके समान है। वे वेद विरोधी थे। झल्ल, मल्ल, लिच्छविप्र ज्ञातृ, करण खस और द्राविड़ एक व्रात्य क्षत्री की सन्तान वताये गये है [4]और ये सव प्रायः जैनधर्मभुक्त थे। ज्ञातृ वंश में तो स्वयं भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। तथापि मध्य काल में भी जैनी व्रती (Verteis,नाम से प्रसिद्ध रह चुके है, जो व्रात्य से मिलता जुलता शब्द है।[5] अच्छा तो इन जैन धर्म भुक्त व्रात्यों में दिगम्बर जैन मुनि का होना लाजमी है।[6] 'अथर्ववेद' भी इस बात को प्रगट करता हैं। उसमें व्रात्य के दो भेद "हीन व्रात्य" और "ज्येष्ठ व्रात्य" किये है। इनमें ज्येष्ठव्रात्य दिगम्बर मुनि का द्योतक है, क्योंकि उसे "समनिचमेन्द्र" कहा गया है, जिसका भाव होता है "अपेतप्रजननाः"[7] यह शब्द अह्लीक शब्द के अनुरूप है और इससे ज्येष्ठव्रात्य का दिगम्बरत्व स्पष्ट है।

इस प्रकार वेदों से भी दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व सिद्ध है।[8] अव देखिये उपनिषद् भी वेदों का समर्थन करते हैं। 'जावालोपनिषद्' निर्ग्रन्थ शब्द का उल्लेख करके दिगम्बर साधु का अस्तित्व उपनिषद् काल में सिद्ध करता है:—

"यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः·········

शुक्लध्यानपरायणः·····················।" (सूत्र ६)

निर्ग्रन्थ साधु यथाजात रूप धारी तथा शुक्लध्यान परायण होता है। सिवाय निर्ग्रन्थ (जैन) मार्ग के अन्यत्र कहीं भी शुक्ल ध्यान का वर्णन नहीं मिलता। यह पहले भी लिखा जा चुका है। "मैत्रेयोपनिषद्" में दिगम्बर शब्द का प्रयोग भी इसी वात का द्योतक है।[9] मुण्डकोपनिषद् की रचना भृगु अंगरिस नामक एक भृष्ट दिगम्बर जैन मुनि द्वारा हुई थी और उसमें

---

१. वेजै०, पृ० ३

२. IA., Vol. XXX, p. 280

३. अमरकोप २।८ व मनु० १०।२०, सायणाचार्य भी यही कहते हैं—"व्रात्यो नाम उपनयनादि संस्कारहीनः पुरुष। सोऽर्थाद् यज्ञादिवेद-विहिताः क्रियाः कर्तुं नाधिकारी। इत्यादि।"—अथर्ववेद संहित पृ० २९३

४. मनु०, १०।२२

५. सूस०, पृ० ३९८ व ३९९

६. "व्रात्य" जैनी हैं, इसके लिए "भ० पार्श्वनाथ" की प्रस्तावना देखिए।

७. भपा०, प्रस्तावना पृ० ४४-४५

८. जैन ग्रन्थकार प्रातः स्मरणीय स्व० पं० टोडरमल्ल जी ने आज से लगभग दो-ढाई सौ वर्ष पहले (!) निम्न वेद मंत्रों का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'मोक्षमार्गप्रकाश' में किया है और ये भी दिगम्बर मुनियों के द्योतक हैं:—

१. ऋग्वेद में आया है—"ओ३म् त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थंकान् ऋषभाद्या वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये। ओ३म् पवित्रं नग्नमुपविप्रसामहे ऐषां नग्ना जातिर्येषां वीरा इत्यादि।

२. यजुर्वेद में है—ओ३म् नमो अर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभपवित्रं पुरुहूत-मध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमंमाह संस्तुतं वरं शत्रुं जयंतं पशुरिंद्र माहूतिरिति स्वाहा।"—"ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हं तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात स्वाहा।" (पृ० २०२)

९. 'देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बर सुखोस्म्यहम्।"— दिमु, १०

अनेक जैन मान्यतायें तथा पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। निर्ग्रन्थ शब्द, जो खास जैनों का पारिभाषिक शब्द है, इसमें व्यवहृत हुआ है और उसका विशेषण केश लौंच (शिरोव्रतं विवधद्यस्तु चीर्ण) दिया है[1] तथा अरिष्ट नेमि का स्मरण भी किया है, जो जैनियों के बाईसवें तीर्थंकर हैं।[2] इससे भी उस काल में दिगम्बर मुनियों का होन प्रमाणित है।

अब रामायणकाल में भी दिगम्बर मुनियों के अस्तित्व को देखिये। रामायण के बालकाण्ड (सर्ग १४ श्लोक २२) में राजा दशरथ श्रमणों को आहार देते बताये गये हैं ("तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा भुञ्जते तथा।") और 'श्रमण' शब्द का 'अर्थ भूषण टीका' में दिगम्बर मुनि किया गया है[3] जो ठीक है, क्योंकि दिगम्बर मुनि का एक नाम श्रमण भी है। तथापि जैन शास्त्र राजा दशरथ और रामचन्द्र जी आदि को जैन भक्त प्रगट करते हैं।[4] योगवाशिष्ट में रामचन्द्र जी जिन 'भगवान' के समान होने की इच्छा प्रगट करके अपनी जैन भक्ति प्रगट करते हैं।[5] अतः रामायण के उक्त उल्लेख से उस काल में दिगम्बर मुनियों का होना स्पष्ट है।

'महाभारत' में भी 'नग्न क्षपणक' के रूप में दिगम्बर मुनियों का उल्लेख मिलता है,[6] जिससे प्रमाणित है कि "महाभारत काल" में भी दिगम्बर जैन मुनि मौजूद थे। जैनशास्त्रानुसार उस समय स्वयं तीर्थंकर अरिष्टनेमि विद्यमान थे।

हिन्दू पुराण ग्रन्थ भी इस विषय में वेदादिग्रन्थों का समर्थन करते हैं। प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभ देव जी को श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण दिगम्बर मुनि प्रगट करते हैं, यह हम देख चुके। अब विष्णुपुराण में भी उल्लेख है वह देखिये[7] वहां मैत्रेय पाराशरऋषि से पूछते हैं कि "नग्न किसको कहते है ? उत्तर में पाराशर कहते हैं कि "जो वेद को न माने वह नग्न है।" अर्थात् वेद विरोधी नंगे साधु "नंग्न" है। इस सम्बन्ध में देव और असुर संग्राम की कथा कहकर किस प्रकार विष्णु के द्वारा जैन धर्म की उत्पत्ति हुई, यह वह कहते हैं। इसमें भी जैन मुनि का स्वरूप दिगम्बर लिखा है :—

"ततो दिगम्बरो मंडो र्वाहपत्र धरो द्विज।"

देवासुर युद्ध की घटना इतिहासातीत काल की है।

अतः इस उल्लेख से भी उस प्राचीन काल में दिगम्बर मुनि का अस्तित्व प्रमाणित होता है तथा वह निर्बाध विहार करते थे, यह भी इस से स्पष्ट है, क्योंकि इसमें कहा गया है कि वह दिगम्बर मुनि नर्मदा तट पर स्थित असुरों के पास पहुंचा और उन्हें निज धर्म में दीक्षित कर लिया।[8]

पद्मपुराण प्रथम सृष्टि खण्ड १३ (पृ० ३३) पर जैन धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक ऐसी ही कथा है, जिसमें विष्णु द्वारा मायामोह रूप दिगम्बर मुनि द्वारा जैन धर्म का निकास हुआ बताया गया है :—

बृहस्पति साहाय्यार्थ विष्णुना मायामोह समुत्पादवम्—
दिगम्बरेण मायामोहेन दैत्यान् प्रति जैनधर्मोपदेशः दानवानां
मायामोह मोहितानां गुरुणा दिगंवर जैनधर्म दीक्षा दानम्।

मायामोह को इसमें योगी दिगम्बरो मुण्डो र्वाहपत्रधरो ह्य' लिखा है।[9] इससे भी उक्त दोनों बातों की पुष्टि होती है।

इसी पद्मपुराण में (भूमिखण्ड अ० ६६)[10] में राजा वेण की कथा है। इसमें लिखा है कि एक दिगम्बर मुनि ने उस राजा को जैन धर्म में दीक्षित किया था। मुनि का स्वरूप यूं लिखा है :—

"नग्नरूपो महाकायः सितमुण्डो महाप्रभः।
मार्ज्जनीं शिखिपत्राणां कक्षायां सहिधारयन्॥
गृहीत्वा पानपात्रश्च नारिकेल भयंकरे।
पठमानो मरच्छास्त्रं वेदशास्त्र विदूषकम्॥

---

१. वीर, वर्ष ८ पृ० २५३
२. 'स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः।'—ईशाद्य, पृ० १४
३. "श्रमणा दिगम्बराः श्रमणा वातवसनाः।"
४. पद्मपुराण देखो
५. योगवासिष्ठ अ० १५ श्लो० ८
६. आदिपर्व, अ० ३ श्लो० २६-२७
७. विष्णुपुराण तृतीयांश अ० १७ व १८—वेजै०, पृ० २५ व पुरातत्व ४।१८०
८. पुरातत्व ५।१७९
९. वेजै०, पृ० १५
१०. R. C. Dutt, Hindu Shastras, pt. VIII pp 213-22 व JG XIV 89

यत्रवेणो महाराजस्तत्रोपापात्वरान्वितः ।
सभायां तस्य वेणस्य प्रविवेश सपापवान् ॥"

वह नग्न साधु महाराज वेण की राजसभा में पहुंच गया और धर्मोपदेश देने लगा।[1] इससे प्रगट है कि दिगम्बर मुनि राजसभा में भी वे रोक टोक पहुंचते थे। वेण ब्रह्मा से छठी पीढ़ी में थे। इसलिए वह एक अतीव प्राचीन काल में हुए प्रमाणित होते हैं।

'वायुपुराण' में भी निर्ग्रन्थ श्रमणों का उल्लेख है कि श्राद्ध में इनको न देखना चाहिए।[2]

'स्कंधपुराण' (प्रभासखण्ड के वस्त्रापथ क्षेत्र माहात्म्य अ० १६ पृष्ठ २२१) में जैन तीर्थंकर नेमिनाथ को दिगम्बर शिव के अनुरूप मानकर जाप करने का विधान है :—[3]

वामनोपि ततश्चक्रे तत्र तीर्थाविगाहनम् ।
शादृग्रूपः शिवोदृष्टः सूर्यविम्वे दिगम्बर ॥६४॥
पद्मासन स्थितः सौम्य स्तथातं तत्र संस्मरन् ।
प्रतिष्ठाप्य महामूर्ति पूजयामासवासरम् ॥६५॥
मनोभीष्ठार्थ सिद्धपर्थं ततः सिद्धमवाप्तवान् ।
नेमिनाथ शिवेत्येवं नामचक्रे शवामनः ॥०६॥

इस प्रकार हिन्दू पुराण ग्रन्थ भी इतिहासातीत काल में दिगम्बर जैन मुनियों का होना प्रमाणित करते हैं।

बौद्ध शास्त्रों में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं जो भगवान् महावीर के पहले दिगम्बर मुनियों का होना सिद्ध करते हैं। बौद्ध साहित्य में अंतिम तीर्थंकर निर्ग्रन्थ महावीर के अतिरिक्त श्री सुपार्श्व[5] अनन्तजिन[6] और श्री पुष्पदन्त[7] के भी नामोल्लेख मिलते हैं। यद्यपि उनके सम्बन्ध में यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि वे जैन तीर्थंकर और नग्न थे, किन्तु जब जैन साहित्य में उस नाम के दिगम्बर वेषधारी तीर्थंकर महामुनीश मिलते हैं, तब उन्हें जैन और नग्न मानना अनुचित नहीं है। वैसे बौद्ध साहित्य भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थवर्ती मुनियों को नग्न प्रगट करता है।[8] अतः इस श्रोत से भी प्राचीन काल में दिगम्बर मुनियों का होना सिद्ध है।

इस अवस्था में जैन शास्त्रों का यह कथन विश्वसनीय ठहरता है कि भगवान ऋषभदेव के समय से बराबर दिगम्बर जैन मुनि होते आ रहे हैं और उनके द्वारा जनता का महत कल्याण हुआ है। जैन तीर्थंकर सब ही राजपुत्र थे और बड़े २ राज्यों

---

१. उसने बताया कि मेरे मत में—
"अर्हन्तो देवता यत्र निर्ग्रन्थों गुरुरुच्यते ।
दया वै परमो धर्मस्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते ।"
यह सुनकर वेण जैनी हो गया। (एवं वेणस्य वै राज्ञः सृष्टिरेस्व महात्मनः। धर्माचार परित्यज्य कथं पापे मतिर्भवेत् ॥) जैन सम्राट् खारवेल के शिलालेख से भी राजा वेण का जैनी होना प्रमाणित है। (जर्नल आव दी विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भा० १३ पृ० २२४)

२. JG. XIV 162 ३. पुरातत्व, पृ० ४ पृ० १=१

४. वेजै०, पृ० ३४।

५. 'महावग्ग' (१।२२-२३ S.B.E. p. 144) में लिखा है कि बुद्ध राजग्रह में जब पहले पहले धर्म प्रचार को आए तो लाठी वन में "सुप्पतित्थ्य" के मन्दिर में ठहरे। इसके वाद इस मन्दिर में ठहरने का उल्लेख नहीं मिलता। इसका यही कारण है कि उस जैन मन्दिर के प्रबन्धकों ने जब यह जान लिया कि म० बुद्ध अब जैनमुनि नहीं रहे तो उनका आदर करना रोक दिया। विशेष के लिए देखो भमबु पृ० ५०-५१

६. उपक आजीवक अनन्त जिनको अपना गुरु बताता है। आजीविकों ने जैन धर्म से बहुत कुछ लिया था। अतः यह अनन्तजिन तीर्थङ्कर ही होना चाहिए। आरिय-परियेषण-सुत्त IHQ III 247

७. 'महावस्तु में पुष्पदन्त को एक बुद्ध और ३२ लक्षणयुक्त महापुरुष बताया है। ASM. p 30.

८. 'महावग्ग' [१-७०-३] में है कि बौद्ध भिक्षुओं ने नंगे और भोजन पात्रहीन मनुष्यों को दीक्षित कर लिया, जिस पर लोग कहने लगे कि बौद्ध भी "तित्थियों" की तरह करने लगे। तित्थिय म० बुद्ध और म० महावीर से प्राचीन साधु और नग्नकर दि० जैन साधु थे। इस लिए इन्हें भ० पार्श्वनाथ के तीर्थ का मुनि मानना ठीक है। भमबु०, पृ० २३६-२३७, व जैशिसं०, ११२-२१३४ २६ IA., August 1930.

को त्याग कर दिगम्बर मुनि हुए थे। भारत के प्रथम सम्राट भरत, जिनके नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाता है, दिगम्बर मुनि हुए थे। उनके भाई श्रीबाहुबलिजी अपनी तपस्या के लिए प्रसिद्ध हैं। तपस्वी रूप में उनकी महान् मूर्ति आज भी श्रवण वेलगोल में दर्शनीय वस्तु है। उनकी उस महाकाय नग्नमूर्ति के दर्शन करके स्त्री पुरुष, बालक वृद्ध भारतीय तथा विदेशी अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं। रामचन्द्रजी, सुग्रीव, युधिष्ठिर आदि अनेक दिगम्बर मुनि इस काल में हुए हैं, जिनके भव्य चरित्रों से जैन शास्त्र भरे हुए हैं। सारांशत: गतकाल में भारत में दिगम्बरत्व अपनी अपूर्व छटा दर्शा चुका है।

(१०)

भगवान महावीर और उनके समकालीन दिगम्बर मुनि

'निगण्ठो, आवुसो नाथपुत्तो सव्वञ्ञु, सव्वदस्सावी अपरिसेसं ञाण दस्सनं परिजानाति:।

—मज्झिमनिकाय।

निगण्ठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचार्यो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधु सम्मतो वहुजनस्य रत्तस्सू चिर पव्वजितो अद्धगतो वयो अनुप्पत्ता।

—दीघनिकाय।

भगवान् महावीर वर्द्धमान् ज्ञातृवंश क्षत्रियों के प्रमुख राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी त्रिशला के सुपुत्र थे। रानी त्रिशला वज्जियन राष्ट्रसंघ के प्रमुख लिच्छवि अग्रणी राजा चेटक की सुपुत्री थीं। लिच्छवि क्षत्रियों का आवास समृद्धिशाली नगरी वैशाली में था। ज्ञातृक क्षत्रियों की वसती भी उसी के निकट थी। कुण्डग्राम और कोल्लगसन्निवेश उनके प्रसिद्ध नगर थे। भगवान् महावीर वर्द्धमान् का जन्म कुण्डग्राम में हुआ था और वह अपने ज्ञातृवंत्र के कारण "ज्ञातृपुव" के नाम से भी प्रसिद्ध थे। वौद्ध ग्रन्थों में उनका उल्लेख इसी नाम से हुआ मिलता है और वहां उन्हें भगवान गौतम बुद्ध के समकालीन वताया गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो भगवान् महावीर आज से लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पहले इस धरातल को पवित्र करते थे और वह क्षत्री राजपुत्र थे[१]।

भरी जवानी में ही महावीर जी ने राजपाट का मोह त्याग कर दिगम्बर मुनि का वेप धारण किया था और तीस वर्ष तक कठिन तपस्या करके वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी तीर्थकर हो गये थे। मज्झिमनिकाय नामक वौद्ध ग्रन्थ में उन्हें सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अशेष ज्ञान तथा दर्शन का ज्ञाता लिखा है।[२] तीर्थकर महावीर ने सर्वज्ञ होकर देश-विदेश में भ्रमण किया था और उनके धर्म प्रचार लोगों का आत्मकल्याण हुआ था। उनका विहार संघसहित होता था और उनकी विनय हर कोई करता था। वौद्ध ग्रन्थ दीर्घनिकाय में लिखा है कि निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (महावीर) संघ के नेता हैं, गणाचार्य हैं, दर्शन विशेष के प्रणीता हैं, विशेष विख्यात हैं, तीर्थंकर हैं, वहु मनुष्यों द्वारा पूज्य हैं, अनुभवशील हैं, वहुत काल से साधु अवस्था का पालन करते हैं और अधिक वय प्राप्त हैं।"[३]

जैन शास्त्र हरिवंश पुराण में लिखा है कि "भगवान महावीर ने मध्य के (काशी, कौशल, कौशलय, कुसंध्य, अश्वष्ट, त्रिगर्तपंचाल, भद्रकार, पाटच्चार, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन एवं वृकार्थक), समुद्र तट के (कलिंक, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कांवोज,, वाल्हीक, यवनश्रुति, सिंधु, गांधार, सौवीर, सूर, भींरु, दशेरुक, वाडवान, भारद्वाज और काथतोय) और उत्तर दिशा के (तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल आदि) देशों में विहार कर उन्हें धर्म की ओर ऋजु किया था।"[४]

भगवान् महावीर का धर्म अहिंसा प्रधान तो था ही, किन्तु उन्होंने साधुओं के लिए दिगम्बरत्व का भी उपदेश दिया

१. विशेष के लिये हमारा "भगवान महावीर और म० बुद्ध" नामक ग्रन्थ देखो।

२. मज्झिम निकाय (P.T.S) भा० १ पृ० ९२-९३

३. दीर्घनिकाय (P.T.S) भा० १ पृ० ४८-4९.

४. हरिवंशपुराण (कलकत्ता) पृ० १८

था।[1] उन्होंने स्पष्ट घोषित किया था कि जैन धर्म में दिगम्बर साधु ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बिना दिगम्बर वेष धारण किये निर्वाण प्राप्त कर लेना असम्भव है। और उनके इस वैज्ञानिक उपदेश का आदर आबाल-वृद्ध-वनिता ने किया था।

विदेह में जिस समय भगवान् महावीर पहुंचे तो उनका वहां लोगों ने विशेष आदर किया। वैशाली में उनके शिष्यों की संख्या अधिक थी। स्वयं राजा चेटक उनका शिष्य था। अंगदेश में जब भगवान पहुंचे तो वहां के राजा कुणिक अजात शत्रु के साथ सारी प्रजा भगवान् की पूजा करने के लिए उमड़ पड़ी। राजा कुणिका कौशाम्बी तक महावीर स्वामी को पहुंचाने गए। कौशाम्बी नरेश ऐसे प्रतिबुद्ध हुए कि वह दिगम्बर मुनि हो गए। मगध देश में भी भगवान् महावीर का खूब विहार हुआ था और उनका अधिक समय राजगृह में व्यतीत हुआ था। सम्राट श्रेणिक बिम्बसार भगवान् के अनन्य भक्त थे और उन्होंने धर्म प्रभावना के अनेक कार्य किये थे। श्रेणिक के अभयकुमार, वारिषेण आदि कई पुत्र दिगम्बर मुनि हो गये थे। दक्षिण भारत में जब भगवान का विहार हुआ तो हेमांग देश के राजा जीवंधर दिगम्बर मुनि हो गये थे। इस प्रकार भगवान् का जहां-जहां विहार हुआ वहां-वहां दिगम्बर धर्म का प्रचार हो गया। शतानीक, उदयन, आदि राजा, अभय, नंदिषेण आदि राजकुमार, शालिभद्र, धन्यकुमार, प्रीतंकर आदि धनकुबेर, इन्द्रभूति, गौतम आदि ब्राह्मण विद्वान, विद्युच्चर आदि सदृश पतितात्मायें—अरे न जाने कौन-कौन भगवान् महावीर की शरण में आकर मुनि हो गये।[2]

सचमुच अनेक धर्म-पिपासु भगवान् के निकट आकर धर्मामृत पान करते थे। यहां तक कि स्वयं म० गौतमबुद्ध और उनके संघ पर भगवान के उपदेश का प्रभाव पड़ा था। बौद्ध भिक्षुओं ने भी नग्नता धारण करने का आग्रह म० बुद्ध से किया था।[3] इस पर यद्यपि म० बुद्ध ने नग्न वेष को बुरा नहीं बतलाया, किन्तु उससे कुछ ज्यादा शिष्य पाने का लाभ न देखकर उसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया।[4] पर तो भी एक समय नेपाल के तांत्रिक बौद्धों में नग्न साधुओं का अस्तित्व हो गया था।[5] सच बात तो यह है कि नग्नवेष को साधु पद के भूषण रूप में सब ही को स्वीकार करना पड़ता है। उसका विरोध करना प्रकृति को कोसना है। उस पर भगवान बुद्ध के जमाने में तो उसका विशेष प्रचार था। अभी भगवान महावीर ने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ नहीं किया था कि प्राचीन जैन और आजीविक आदि साधु नंगे घूमकर उसका प्रचार कर रहे थे।[6] देखिये बौद्ध ग्रन्थों के आधार

---

१. भमबु० ५४-८० व ठाणा, पृ० ८१३ २. भमबु०, पृ० ६५-६६ ३. भमबु०, पृ० १०२-११०

४. 'महावग्ग' (८-२८-१) में है कि "एक बौद्ध भिक्षु ने म० बुद्ध के पास नंगे हो आकर कहा कि भगवन् ने संयमी पुरुष की बहुत प्रशंसा की है जिसने पापों को धो डाला है और कषायों को जीत लिया है तथा जो दयालु, विनयी और साहसी है। हे भगवन्! यह नग्नता कई प्रकार से संयम और संतोष को उत्पन्न करने में कारणभूत है—इससे पाप मिटता, कषाय दबते, दयाभाव बढ़ता तथा विनय और उत्साह आता है। प्रभो! यह अच्छा हो यदि आप भी नग्न रहने की आज्ञा दें।" बुद्ध ने उत्तर में कहा कि "भिक्षुओं के लिए यह उचित न होगी—एक श्रमण लिए यह अयोग्य है। इसलिए इसका पालन नहीं करना चाहिए। हे मूर्ख! तिरिथयों की तरह तू भी नग्न कैसे होगा? हे मूर्ख, इनसे नये लोग भी दीक्षित न होंगे।"

५. नेपाल में गूढ़ और तान्त्रिक नाम की एक बौद्ध धर्म की शाखा है। मि० हाग्सन ने लिखा है कि, इस शाखा में नग्न यति रहा करते है।'—जैसिभा०, १।२-३। पृ०२५।

६. जेम्स एल्वी, प्रो० जैकोबी तथा डा० बुल्हर इस ही बात का समर्थन करते हैं कि दिगम्बरत्व म० बुद्ध के पहले से प्रचलित था और आजीविक आदि तीर्थकों पर जैन धर्म का प्रभाव पड़ा था; यथा—

"In James d' Alwis' paper (Ind. Anti. VIII) on the Six. Tirthakas the "Digambaras" appear to have been regarded as an old order of ascetics and all of these heretical teachers betray the influence of Jainism in their doctrines."—JA., IX. 161.

Prof. Jacobi remarks: "The preceding four Tirthakas (Makkhali Goshal etc.) appear all to have adopted some or other doctrines or practices, which makes part of the Jaina system, probably from the Jains themselves ..It appears from the preceding remarks that Jaina ideas and practices must have been current at the time of Mahavira and independently of him. This combined with other arguments, leads us to the opinion that the Nirgranthas were really in existence long before Mahavira.

—(JA. IX, 162)

Prof. T. W. Rhys Davids notes in the "Vinaya Texts" that "the sect now called Jains are divided into classes, Digambara, Swetambara; the latter of which eat naked. They are known to be the successors of the school called Niganthas in the Pali Pitakas." ...SBE.XIII, 41

Dr. Buhler writes, "From Buddhist accounts in their canonical works as well as in other

से इस विषय में डा० स्टीवेन्सन लिखते हैं[1] :—

"(एक तीर्थक नग्न हो गया) लोग उसके लिए बहुत से वस्त्र लाये, किन्तु उनको उसने स्वीकार नहीं किया। उसने यही सोचा कि, यदि मैं वस्त्र स्वीकार करता हूं तो संसार में मेरी अधिक प्रतिष्ठा नहीं होगी। वह कहने लगा कि लज्जा रक्षण के लिए ही वस्त्र धारण किया जाता है और लज्जा ही पाप का कारण है, हम अर्हत् हैं, इसलिए विषय वासना से अलिप्त होने के कारण हमें लज्जा की कुछ भी परवाह नहीं।" इसका यह कथन सुनकर बड़ी प्रसन्नता से वहां इसके पांच सौ शिष्य बन गए, बल्कि जम्बू द्वीप में इसी को लोग सच्चा बुद्ध कहने लगे।"

यह उल्लेख सम्भवत: मक्खलि गोशाल अथवा पूर्ण काश्यप के सम्बन्ध में है। ये दोनों साधु भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के मुनि थे।[2] मक्खलि गोशाल भगवान महावीर से रुष्ट होकर अलग धर्म प्रचार करने लगा था और वह "आजीविक" संप्रदाय का नेता बन गया था। इस सम्प्रदाय का विकास प्राचीन जैन धर्म से हुआ था[3] और इसके साधु भी नग्न रहते थे।[4] पूरण-काश्यप गोशाल का साथी और वह भी दिगम्बर रहा था। सचमुच दिगम्बर जैन धर्म पहले से ही चला आ रहा था, जिसका प्रभाव इन लोगों पर पड़ा था।

उस पर, भगवान महावीर के अवतीर्ण होते ही दिगम्बरत्व का महत्व और भी बढ़ गया। यहां तक कि दूसरी सम्प्रदायों के लोग भी नग्न वेष धारण करने को लालायित हो गये, जैसे कि ऊपर प्रकट किया गया है।

बौद्ध शास्त्रों में निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) महामुनि महावीर के विहार का उल्लेख भी मिलता है। "मज्झिम निकाय" के "अभय राजकुमार सुत्त" से प्रकट है कि वे राजगृह में एक समय रहे थे।[5] "उपालीसुत्त" से भगवान महावीर का नालन्द में विहार करना स्पष्ट है। उस समय उनके साथ एक बड़ी संख्या में निर्ग्रन्थ साधु थे।[6] सामगामसुत्त से यह प्रगट है कि भगवान ने पावा से मोक्ष प्राप्त की थी।[7] दीघनिकाय का पासादिक सुत्त भी इसी बात का समर्थन करता है।[8] संयुत्तनिकाय से भगवान महावीर का संघ सहित "मच्छिका खण्ड" में विहार करना स्पष्ट है।[9] 'ब्रह्मजालसुत्त' में राजगृह के राजा अजातशत्रु को भगवान महावीर के दर्शन के लिए गया लिखा है।[10] 'विनयपिटक' के 'महावग्ग' ग्रन्थ से महावीर स्वामी का वैशाली में धर्म प्रचार करना प्रमाणित है।[11] एक 'जातक' में भगवान महावीर को 'अचेलक नातपुत्त' कहा गया है।[12] महावस्तु से प्रगट है कि अवन्ती के राजपुरोहित का पुत्र नालक बनारस आया था। वहां उसने निर्ग्रंथनाथ पुत्त (महावीर) को धर्म प्रचार करते पाया।[13] दीर्घनिकाय से यह स्पष्ट है कि कौशल के राजा पसेनदी ने निर्ग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) को नमस्कार किया

---

books, it may be seen that this rival (Mahavira) was a dangerous and influential one and that even in Buddha's time his teaching had spread considerably...Also they say in their description of other rivals of Buddha that these, in order to gain esteem, copied the nirgranthas and went unclothed, or that they were looked upon by the people as Nirgrantha holy ones, because they happened to lost their clothes."—AISJ. P. 36

१ जैसिभा, १।२·३।२४ "The people bought clothes in abundance for him, but he (Kassapa) refused them as he thought that if he put them on, he would not be treated with the same respect. Kassapa said, "Clothes are for the covering of shame and the shame is the effect of sin. I am an Arahat. As I am free from evil desires, I know no shame." etc. —BS. PP. 74-75

२. भमबु०, पृ० १७-२१ ३. वीर, वर्ष ३ पृ० ३१२ व भसबु० पृ० १७-२१

४. 'आजीविको ति नग्ग-समण को।'—'पपञ्च-सूदनी १।२०६,—IHQ., III, 248.

५. मज्झिम० (P.T.S.) भा० १ पृ० ३६२—भमबु० पृ० १६१

६. मज्झिम० १।३७१ व "The M.N. tells us that once Nigantha Nathaputta was at Nalanda with a big retinue of the Niganthas."—AIT. p. 147

७. मज्झिम० १।६३—भमबु० २०२ ८. दीघ०, III 117-118,—भमबु० पृ० २१४

९. संयुत्त० ४।२८७—भमबु० पृ० २१६ १०. भमबु०, पृ० २२२

११. महावग्ग ६।३१।११—भमबु० पृ० २३ए-२३६ १२. जातक २।१८२ १३. ASM., p. 159

था।[1] उसकी रानी मल्लिका ने निर्ग्रन्थों के उपयोग के लिए भवन बनवाया था।[2] सारांशतः बौद्ध शास्त्र भी भगवान् महावीर के दिगन्तव्यापी और सफल विहार की साक्षी देते हैं।

भगवान् के विहार और धर्म प्रचार से जैन धर्म का विशेष उद्योत हुआ था। जैन शास्त्र कहते हैं कि उनके संघ में चौदह हजार दिगम्बर मुनि थे, जिनमें ६६०० साधारण मुनि, ३०० अंगपूर्वधारी मुनि, १३०० अवधिज्ञानधारी मुनि, ६०० ऋद्धिविक्रिया युक्त, ५०० चार ज्ञान के धारी, ७०० केवलज्ञानी और ६०० अनुत्तरवादी थे। महावीर संघ के ये दिगम्बर मुनि दस गणों में विभक्त थे और ग्यारह गणधर उनकी देख रेख रखते थे।[3] इन गणधरों का वर्णन निम्न प्रकार है :—

(१) इन्द्रभूति गौतम, (२) वायुभूति, (३) अग्निभूति, ये तीनों गणधर मगध देश के गोर्वर ग्राम निवासी वसुभूति, (शांडिल्य) ब्राह्मण की स्त्री पृथ्वी (स्थिण्डिला) और केसरी के गर्भ से जन्मे थे। गृहस्थाश्रम त्यागने के बाद ये क्रम से गौतम गार्ग्य और भार्गव नाम से भी प्रसिद्ध हुए थे। जैन होने के पहले ये तीनों वेद धर्म परायण ब्राह्मण विद्वान थे। भ० महावीर के निकट इन तीनों ने अपने कई सौ शिष्यों सहित जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की और ये दिगम्बर मुनि होकर मुनियों के नेता हुए थे। देश-देशान्तर में विहार करके इन्होंने खूब धर्म प्रभावना की थी।[4]

चौथे गणधर व्यक्त कोल्लग सन्निवेश निवासी धन मित्र ब्राह्मण की वारुणी[5] नामक पत्नी की कोख से जन्मे थे। दिगम्बर मुनि होकर यह भी गणनायक हुए थे।

पांचवें सुधर्म नामक गणधर भी कोल्लग सन्निवेश के निवासी धम्मिल ब्राह्मण के सुपुत्र थे। इनकी माता का नाम भद्दिला था। भ० महावीर के उपरान्त इनके द्वारा जैन धर्म का विशेष प्रचार हुआ था।[6]

छठे मण्डिक नामक गणधर मौर्य्याख्य देश निवासी धनदेव ब्राह्मण की विजया देवी स्त्री के गर्भ से जन्मे थे। दिगम्बर मुनि होकर यह वीर संघ में सम्मिलित हो गये थे और देश-विदेश में धर्म प्रचार किया था।

सातवें गणधर मौर्य पुत्र भी मौर्याख्य देश के निवासी 'मौर्यक' ब्राह्मण के पुत्र थे। इन्होंने भी भ० महावीर के निकट दिगम्बरीय दीक्षा ग्रहण करके सर्वत्र धर्म प्रचार किया था।

आठवें गणधर अकम्पन थे, जो मिथिलापुरी निवासी देव नामक ब्राह्मण की जयन्ती नामक स्त्री के उदर से जन्मे थे। इन्होंने भी खूब धर्म प्रचार किया था।

नवें धवल नामक गणधर कोशलापुरी के वसु विप्र के सुपुत्र थे। इनकी मां का नाम नन्दा था। इन्होंने भी दिगम्बर मुनि हो सर्वत्र विहार किया था।

दसवें गणधर मैत्रेय थे। वह वत्सदेशस्थ तुंगिकाख्य नगरी के निवासी दत्त ब्राह्मण की स्त्री करुणा के गर्भ से जन्मे थे। इन्होंने भी अपने गण के साधुओं सहित धर्म प्रचार किया था।

ग्यारहवें गणधर प्रभास राजगृह निवासी बल नामक ब्राह्मण की पत्नी भद्रा की कुक्षि से जन्मे थे। और दिगम्बर मुनि तथा गणनायक होकर सर्वत्र धर्म का उद्योत करते हुए विचरे थे।[7]

इन गणधरों की अध्यक्षता में रहे उपरोक्त चौदह हजार दिगम्बर मुनियों ने तत्कालीन भारत का महान् उपकार किया था। विद्या, धर्म, ज्ञान और सदाचार उनके सद्उद्योग से भारत में खूब फैले थे। जैन और बौद्ध शास्त्र यही प्रकट करते हैं :—

"The Buddhist and Jaina texts tell us that the itinerant teachers of the time wandered about in the country, engaging themselves whereever they stopped in serious discussion on matters relating to religion, philosophy, ethics, morals and policy."[8]

---

१. दीघ० १।७८-७६—IHQ., I, 153.
२. LWB. p. 109.
३. भम०, ११७।
४. वृजैश०, पृ० ६०-६१
५. वृजैश०, पृ० ८।
६. वृजैश०, पृ० ८।
७. वृजैश०, पृ० ८।
८. LWB. p. 52.

भावार्थ—बौद्ध और जैन शास्त्रों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन धर्म-गुरु देश में सर्वत्र विचरते थे और जहाँ वे ठहरते थे वहां धर्म, सिद्धांत, आचार, नीति और राष्ट्रवार्ता विषयक गम्भीर चर्चा करते थे। सचमुच उनके द्वारा जनता का महान् हित हुआ था।

बौद्ध शास्त्रों में भी महावीर के संघ के किन्हीं दिगम्बर मुनियों का वर्णन मिलता है, यद्यपि जैन शास्त्रों में उनका पता लगा लेना सुगम नहीं है। जो हो, उनसे यह स्पष्ट है कि भ० महावीर और उनके दिगम्बर शिष्य देश में निर्वाध विचरते और लोक कल्याण करते थे।

सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र राजकुमार अभय दिगम्बर मुनि हो गये थे, यह बात बौद्ध शास्त्र भी प्रकट करते हैं।[1] उन राजकुमार ने ईरान देश के वासियों में भी धर्म प्रचार कर दिया था। फलतः उस देश का एक राजकुमार आर्द्रक निर्ग्रन्थ साधु हो गया था।[2]

बौद्ध शास्त्र वैशाली के दिगम्बर मुनियों में सुणक्खत्त, कलारमत्थुक और पाटिकपुत्र का नामोल्लेख करते हैं। सुणक्खत्त एक लिच्छवि राजपुत्र था और वह बौद्ध धर्म छोड़कर निर्ग्रन्थ मत का अनुयायी हुआ था।[3]

वैशाली के सन्निकट एक कन्डरमसुक नामक दिगम्बर मुनि के आवास का भी उल्लेख बौद्ध शास्त्रों में मिलता है। उन्होंने यावत् जीवन नग्न रहने और नियमित परिधि में विहार करने की प्रतिज्ञा ली थी।[4]

श्रावस्ती के कुल पुत्र (Councillor's son) अर्जुन भी दिगम्बर मुनि होकर सर्वत्र विचरे थे।[5]

यह दिगम्बर मुनि और उनके साथ जैन साध्वीयां भी सर्वत्र धर्मोपदेश देकर मुमुक्षुओं को जैन धर्म में दीक्षित करते थे।[6] इसी उद्देश्य को लेकर वे नगरों के चौराहों पर जाकर धर्मोपदेश देते और वाद भेरी बजाते थे। बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि उस समय तीर्थक साधु—प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णमासी को एकत्र होते थे और धर्मोपदेश करते थे। लोग उसे सुनकर प्रसन्न होते और उनके अनुयायी बन जाते थे।[7]

इन साधुओं को जहां भी अवसर मिलता था वहां ये अपने धर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करके अवशेष धर्मों को गौण प्रकट करते थे।

भगवान महावीर और भ० गौतम बुद्ध दोनों ने ही अहिंसा धर्म का उपदेश दिया था; किन्तु भ० महावीर की अहिंसा मन, वचन, काय पूर्वक जीवहत्या से विलग रहने का विधान था—भोजन या मौज शौक के लिए भी उसमें जीवों का प्राण व्यपरोपण नहीं किया जा सकता था। इसके विपरीत म० बुद्ध की अहिंसा में बौद्ध भिक्षुओं को मांस और मत्स्य भोजन ग्रहण करनेकी खुली आज्ञा थी। एक बार नहीं अनेक बार स्वयं म० बुद्ध ने मांस भोजन किया था।[8] ऐसे ही अवसरों पर दिगम्बर मुनि बौद्ध भिक्षुओं को आड़े हाथों लेते थे। एक मरतबा जब भगवान महावीर ने बुद्ध के इस हिंसक कर्म का निषेध किया, तो बुद्ध ने कहा, भिक्षुओं, यह पहला मौका नहीं है बल्कि नातपुत्र (महावीर) इससे पहले भी कई मरतबा खास मेरे लिए पके हुए मांस को मेरे भक्षण करने पर आक्षेप कर चुके हैं।[9] एक दूसरी बार जब वैशाली में म० बुद्ध ने सेनापति सिंह के घर पर मांसाहार किया तो, बौद्ध शास्त्र कहता है कि निर्ग्रन्थ एक बड़ी संख्या में वैशाली में सड़क सड़क और चौराहे चौराहे पर यह शोर मचाते कहते फिरे कि आज सेनापति सिंह ने एक बैल का वध किया है और उसका आहार श्रमण गौतम के लिए बनाया है। श्रमण गौतम जान-बूझ कर कि यह बैल मेरे आहार के निमित्त मारा गया है, पशु का मांस खाता है, इसलिए वही उस पशु के

---

१. PB. p. 30 व भमबु पृ० २६६।

२. ADJB., I. p. 92

३. भमबु, पृ० २५५।

४. "अचेलो कन्डरमसु को वेसालियम् पटवसति लाभग्ग-प्पतोच एवं पसग्ग, प्पतोच वज्जिगा में। तस्स सत्तवत्त-पदानि समत्तानि समादिन्नानि होन्ति—'यावजीवम् अचेलको अस्सम्, वत्थम् परिदहेय्यम् : यावजीवम् ब्रह्मचारी अस्सम् न मेथनुम् पटिसेवैय्यम्......इत्यादि।"—दीघनिकाय (P.T.S.) भा० ३ पृ० ९-१० व भमबु०, पृ० २१३।

५. PB. p. 83 व भमबु०, पृ० २६७।

६. बौद्धों के थेर-थेरी गाथाओं से यह प्रगट है। भमबु०, पृ० २५६—२६८।

७. महावग्ग २।१।१ व भमबु०, पृ० २४०।

८ भमबु० पृ० १७०।

९, Cowell, Jatakas II, 182—भमबु० पृ० २४६।

मारने के लिए वधक है।[१] इन उल्लेखों से उस समय दिगम्बर मुनियों का निर्बाध रूप में जनता के मध्य विचरने और धर्मोपदेश देने का स्पष्टीकरण होता है।

बौद्ध गृहस्थों ने कई मरतबा दिगम्बर मुनियों को अपने घर के अन्त:पुर में बुलाकर परीक्षा की थी।[२] सारांशतः दि० मुनि उस समय हाट-बाजार, घर-महल, रंक—राव—सब ठौर सब ही को धर्मोपदेश देते हुए विहार करते थे। अब आगे के पृष्ठों में भगवान महावीर के उपरान्त दिगम्बर मुनियों के अस्तित्व और विहार का विवेचन कर देना उचित है।

(११)
नन्द-साम्राज्यमें दिगम्बर-मुनि

"King Nanda had taken away 'image' known as 'The Jina of Kalinga'...carrying away idols of worship as a mark of trophy and also showing respect to particular idol is known in later history. The datum (1) proves that Nanda was Jaina and (2) that Jainism was introduced in Orissa very early .."
—K. P. Jayaswal.[३]

शिशुनागवंशमें कुणिक अजात शत्रु के उपरान्त कोई पराक्रमी राजा नहीं हुआ और मगध साम्राज्य की बागडोर नन्दवंश के राजाओं के हाथ में आ गई। इस वंश में 'वर्द्धन' (Increaser) उपाधि-धारी राजा नन्द विशेष प्रधान और प्रतापी था। उसने दक्षिण पूर्व और पश्चिमीय समुद्रतटवर्त्ती देश जीत लिये थे तथा उत्तर में हिमालय प्रदेश और काश्मीर एवं अवन्ती और कलिंग देश को भी उसने अपने आधीन कर लिया था।[४] कलिंग-विजय में वह वहाँ से 'कलिंग-जिन' नामक एक प्राचीन मूर्ति ले आया था और उसे विनय के साथ उसने अपनी राजधानी पाटलीपुत्र में स्थापित किया था। उसके इस कार्य से नन्द वर्द्धन का जैनधर्मावलम्बी होना स्पष्ट है। 'मुद्राराक्षस नाटक' और जैन साहित्य से इस वंश के राजाओं का जैनी होना सिद्ध है और उनके मन्त्री भी जैन थे। अन्तिम नन्द का मन्त्री राक्षस नामक नीतिनिपुण पुरुष था। 'मुद्राराक्षस' नाटक में उसे जीवसिद्धि नामक क्षपणक अर्थात् दिगम्बर जैन मुनि के प्रति विनय प्रगट करते दर्शाया गया है तथा यह जीवसिद्धी सारे देश में—हाट बाजार और अन्त:पुर—सब ही ठौर बेरोक टोक विहार करता था, यह बात भी उक्त नाटक से स्पष्ट है[५]। ऐसा होना है भी स्वाभाविक, क्योंकि जब नन्द वंश के राजा जैनी थे तो उनके साम्राज्य में दिगम्बर जैन मुनि की प्रतिष्ठा होना लाजमी थी। जनश्रुति से यह भी प्रगट है कि अन्तिम नन्द राजा ने 'पञ्चपहाड़ी' नामक पाँच स्तूप

---

१. "At that time a great number of the Niganthas (running) through Vaisali, from road to road, cross-way to cross-way, with outstretched arms cried, 'Today Siha, the General has killed a great ox and has made a meal for the Samana Gotama, the Samana Gotama knowingly eats this meat of an animal killed for this very purpose, and has thus become virtually the author of that deed."—Vinaya Texts, S.B.E., Vol. XVII, p. 116 and HG., p. 85.

२ HG., pp. 88—95 व भमबु०, पृष्ठ २४९—२५६।

३. JBORS., Vol. XIII p. 245.

४. Ibid., Vol. I. pp. 78-79

५. Chanakya says :—
"There is a fellow of my studies, deep
The Brahman Indusarman, him I sent,
When just I vowed the death of Nanda, hither;
And here repairing as a Buddh ? (क्षपणक) mendicant."[१]
[१]Having the marks of a Ksapanaka...the individual is a Jaina...Raksasa repose in him implicit confidence.—HDW., p. 10.)

पटना में बनवाये थे[1]। 'पञ्चपहाड़ी' (राजगृह) जैनों का प्रसिद्ध तीर्थ है। तीर्थ है। नन्द ने उसी के अनुरूप पांच स्तूप पटना में बनवाये प्रतीत होते हैं। यह कार्य्य भी उनकी मुनि-भक्ति का परिचायक है।

जैन कथा ग्रन्थों से विदित है कि एक नन्द राजा स्वयं दिगम्बर जैन मुनि हो गये थे तथा उनके मन्त्री शकटाल भी जैनी थे[2]। शकटाल के पुत्र स्थूलभद्र भी दिगम्बर मुनि हो गये थे।[3] सारांश यह कि नन्द-साम्राज्य के प्रसिद्ध पुरुषों ने स्वयं दिगम्बर मुनि होकर तत्कालीन भारत का कल्याण किया था और नन्द राजा जैनों के संरक्षक थे[4]।

शिशुनागवंश के अन्त और नन्द राज्य के आरम्भ काल में जम्बू स्वामी अन्तिम केवलीसर्वज्ञ ने नग्न वेष में सारे भारत का भ्रमण किया था। कहते हैं कि बंगाल के कोटिकपुर नामक स्थान पर उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की थी।[5] उनका विहार बंगाल के प्रसिद्ध नगर पुंड्रवर्द्धन, ताम्रलिप्त आदि में हुआ था। एक दफा वह मथुरा भी पहुंचे थे। अन्त में जब वह राजगृह विपुलाचल से मुक्त हो गये, तो मथुरा में उनकी स्मृति में एक स्तूप बनाया गया था[6]।

मथुरा जैनों का प्राचीन केन्द्र था। वहां भ० पार्श्वनाथ जी के समय का एक स्तूप मौजूद था[7]। इसके अतिरिक्त नन्द काल में वहां पांच सौ एक स्तूप और बनाये गये थे; क्योंकि वहां से इतने ही दिगम्बर मुनियों ने समाधिमरण किया था। ये सब मुनि श्री जम्बू स्वामी के शिष्य थे। जिस समय जम्बूस्वामी दिगम्बर मुनि हुये तो उस समय विद्युच्चर नामक एक नामी डाकू भी अपने पांच सौ साथियों सहित दिगम्बर मुनि हो गया था। एक दफ़ा यह मुनिसंघ देश-विदेश में विहार करता हुआ शाम को मथुरा पहुंचा। वहां महाउद्यान में वह ठहर गया। उपरान्त रात को उन मुनियों पर वहाँ महा उपसर्ग हुआ और उसके परिणामरूप मुनियों ने साम्यभाव से प्राण त्याग किये। इस महत्वशाली घटना की स्मृति में ही वहां पांच सौ एक स्तूप बना दिये गये।[8]

---

१. "Sir G. Grierson informs me that the Nandas were reputed to be bitter enemies of the Brahmans.......the Nandas were Jainas and therefore hateful to the Brahmans .....The supposition that the last Nanda was either a Jaina or Buddhist is strengthened by the fact that one form of the local tradition attributed to him the erection of the Panch Pahari at Patna, a group of ancient stupas, which be either Jaina or Buddhist."—EHJ., p. 44.

उनका जैन होना ठीक है, क्योंकि नन्दवर्द्धन के जैन होने में सन्देह नहीं है और "मुद्राराक्षस" नन्द मन्त्री आदि को प्रगट करता है।

२. हरिषेण कथाकोष तथा आराधनाकथाकोष देखो।

३. सातवीं गुजराती साहित्य परिषद् रिपोर्ट, पृष्ठ ४१ तथा "भद्रबाहु चरित्र" (पृष्ठ ४१) में स्थूलभद्रादि को दिगम्बर मुनि लिखा है। (रामल्यस्थूल भद्राख्य स्थूलाचार्यादियोगिनः)।

४. "Nanda were Jains.—CHI., Vol. I. p. 164.

"The nine kings of the Nanda dynasty of Magadha were patrons of the Order (Sangha of Mahavira)."—HARI., p. 59.

५. "In Kotikapur Jambu attained emancipation ? (Omniscience)" —वीर, वर्ष ३ पृष्ठ ३७।

६. अनेकान्त, वर्ष १ पृष्ठ १४१ :—

"मगधादिमहादेश मथुरादिपुरीस्तथा। कुर्वन् धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः ॥११८॥१२॥ वर्षाण्ष्टादशपर्यन्तं स्थितस्तत्र जिनाधिपः, ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात् ॥११९॥—जम्बूस्वामी चरित

७. JOAM., p. 13

८. अनेकान्त वर्ष १ पृ० १३९-१४१—

"अथ विद्युच्चरो नाम्ना पर्यटन्निह सन्मुनिः ॥'

एकादशांगविद्यायामधीती विदधत्तपः।

अथान्येद्युः सनिः संगो मुनि पंचशतैर्वृतः ॥

मथुरायां महोद्यान प्रदेशेष्वगमन्मुदा।
तदागच्छत्स वैलक्षयं भानुरस्ताचलं श्रितः ॥इत्यादि॥"

इस प्रकार न जाने कितने मुनि-पुंगव उस समय भारत में विहार करके लोगों का हितसाधन करते थे! उनका पता लगा लेना कठिन है! नन्द-साम्राज्य में उनको पूरा पूरा संरक्षण प्राप्त था।

(१२)

मौर्य्य-सम्राट और दिगम्बर-मुनि

"भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।
अस्यैवयोगिनं पार्श्वे दधौ जैनेश्वरं तपः ॥३८॥
चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम्।
सर्व संघाधिपो जातो विशाखाचार्य संज्ञकः ॥३९॥
अनेनसह संघोपि समस्तो गुरुवाक्यतः।
दक्षिणा पथदेशस्थ पुन्नाट विषयं ययौ ॥४०॥

—हरिषेण कथाकोष[1]

'मउउधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरदि चन्दगुत्तो य।'

...त्रिलोक प्रज्ञप्ति[2]

नन्द राजाओं के पश्चात् मगध का राजछत्र चन्द्रगुप्त नाम के एक क्षत्रिय राजपुत्र के हाथ लगा था। उसने अपने भुजविक्रम से प्रायः सारे भारत पर अधिकार कर लिया था और 'मौर्य्य' नामक राजवंश की स्थापना की थी। जैनशास्त्र इस राजा को दिगम्बर मुनि श्रमणपति श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य प्रगट करते हैं[3] यूनानी राजदूत मेगास्थनीज् भी चन्द्रगुप्त को श्रमण-भक्त प्रगट करता है[4] सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपने वृहत् साम्राज्य में दिगम्बर मुनियों के विहार और धर्म-प्रचार करने की सुविधा की थी। श्रमणपति भद्रबाहु के संघ की वह राजा बहुत विनय करता था। भद्रबाहु जी बंगाल देश के कोटिकपुर नामक नगर के निवासी थे[5]। एक दफा वहां श्रुत केवली गोवर्द्धन स्वामी अन्य दिगम्बर मुनियों सहित आनि-निकले; भद्रबाहु उन्हीं के निकट दीक्षित होकर दिगम्बर मुनि हो गये। गोवर्द्धन स्वामी ने संघसहित गिरनार जी की यात्रा का उद्योग किया था।[6] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उनके समय में दिगम्बर मुनियों को विहार करने की सुविधा प्राप्त थी। भद्रबाहु जी ने भी संघ सहित देश-देशान्तर में विहार किया था और वह उज्जैनी पहुंचे थे। वहीं से उन्होंने दक्षिण देश की ओर संघ सहित विहार किया था; क्योंकि उन्हें मालूम हो गया था कि उत्तरापथ में एक द्वादशवर्षीय विकराल दुष्काल पड़ने को

---

१. जैहि०, भा० १४ पृ० २१७। २. जैहि०, भा० १३ पृ० ५३१.

३. "चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृणाम्। चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्रा ऽचकच्चारगुणोदयः ॥७॥२॥
ज्ञानविज्ञानपारीणो जिनपूजापुरंदरः। चतुर्द्धा दान दक्षो यः प्रतापजित भास्करः ॥८॥"—भद्र०
"समासाद्य स सूरीशं (भद्रबाहु) परीत्य प्रश्रयान्वितः। समभ्यर्च्य गुरोः पादावनुगं पसदकादिभिः ॥२९॥"—भद्र०

४. "That Chandragupta was a member of the Jaina community is taken by their writers as a matter of course, and treated as a known fact, which needed nither argument nor demonstration. The documentory evidence to this effect is of comparatively early date, and apparently absolved from all suspicion .....The testimony of Megasthenes would likewise seem to imply that Chandragupta submitted to the devotional teaching of the Sramanas, as opposed to the doctrines of the Brahmanas. (Strabo, XV. i 60)."—JRAS., Vol. IX pp. 175-176.

५. "तमालपत्रवत्तस्य देशोऽभूतपौण्ड्वर्द्धनः।"—"तत्रकोट्टपुरं रम्यं द्योतते नाकसद्दन्।"
"भद्रबाहुरिति ख्याति प्राप्तवान्बन्धुवर्गतः।" इत्यादि"—भद्र०, पृ० १०—१३।

६. "चिकीर्षुर्नेमितीर्थेशयात्रां रैवतकाचले।"—भद्र० पृ० १३।

है जिसमें मुनिचर्या का पालन दुष्कर होगा।[1] सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भी इसी समय अपने पुत्र को राज्य देकर भद्रबाहु स्वामी के निकट जिनदीक्षा धारण की थी और वह अन्य दिगम्बर मुनियों के साथ दक्षिण भारत को चले गये थे।[2] श्रवणबेलगोल का कटवप्र नामक पर्वत उन्हीं के कारण "चन्द्रगिरि" नाम से प्रसिद्ध हो गया है, क्योंकि उस पर्वत पर चन्द्रगुप्त ने तपश्चरण किया था और वहीं उनका समाधिमरण हुआ था।[3]

विन्दुसार ने जैनियों के लिये क्या किया? यह ज्ञात नहीं है; किन्तु जब उसका पिता जैन था, तो उस पर जैन प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है।[4] उस पर उसका पुत्र अशोक अपने प्रारम्भिक जीवन में जैन धर्मपरायण रहा था; बल्कि अन्त समय तक उसने जैन सिद्धान्तों का प्रचार किया, यह अन्यत्र सिद्ध किया जा चुका है।[5] इस दशा में विन्दुसार का जैनधर्म प्रेमी होना उचित है। अशोक ने अपने एक स्थम्भलेख में स्पष्ट: निर्ग्रन्थ साधुओं की रक्षा का आदेश निकाला था।[6]

सम्राट् सम्प्रति पूर्णत: जैनधर्म परायण थे। उन्होंने जैन मुनियों के विहार और धर्म-प्रचार की व्यवस्था न केवल भारत में ही की बल्कि विदेशों में भी उनका विहार कराकर जैन धर्म का प्रचार करा दिया।[7]

उस समय में दश पूर्व के धारक विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय आदि दिगम्बर जैनाचार्यों के संरक्षण में रहा जैनसंघ खूब फला फूला था। जिस साम्राज्य के अधिष्टाता ही स्वयं जब दिगम्बर मुनि होकर धर्म प्रचार करने के लिए तुल गये तो भला कहिए जैनधर्म की विशेष उन्नति और दिगम्बर मुनियों की बाहुल्यता उस राज्य में क्यों न होती! मौर्यों का नाम जैनसाहित्य मेंइसी लिए स्वर्णाक्षरों में अंकित है!

---

१. भद्र० पृ० २७—५१

२. Jaina tradition avers that Chandragupta Maurya was a Jaina, and that, when a great twelve years' famine occurred, he abdicated. accompanied Bhadrabahu, the last of the saints *called Srutakevalins, to the, South, lived as an ascetic at Sravanabelgola in Mysore and* ultimately committed Suicide by Starvation at that place, where his name is still held in remembrance. In the second edition of this book I rejected that tradition and dismissed the tale as 'imaginary history'. But on reconsideration of the whole evidence and the objections urged against the credibility of the story. I am now disposed to believe that the tradition probably is true in its main outline and that chandragupta really abdicated and became n Jaina ascetic."

—Sir Vincient Smith, EHI, p. 154

३. Narasimhachar's Sravanabelagola, p. 25—40, विको०, भाग ७ पृ० १५६-१५७ तथा जैशिसं० भूमिका पृ० ५४—७० !

४. "We may conclude...that Vindusara followed the faith (Jainism) of his father (Chadragupta) and that, in the same belief, whatever it may prove to have been, his childhood's lessons were first learnt by Asoka."

—E. Thomas, JRAS. IX. 181.

५. हमारा "सम्राट् अशोक और जैन धर्म" नामक ट्रैक्ट देखो।

६. स्तम्भलेख नं० ७।

"The founder of the Mauryan dynasty, Chandragupta, as well as his Brahmin minister, Chanakya, were also inclined towards Mahavira's doctriaes and even Ashoka is said to have been laid towards Buddhism *by a previous study of Jain teaching."*

—E. B. Havell, HARI., p. 59.

७. कुणालसूनुस्त्रिखंडभरताधिप: परमार्हतो अनार्य्यदेशेष्वीप प्रवर्तित श्रमणविहार: सम्प्रति महाराजाऽसोऽभवत्"

—पाटलीपुत्रकल्पग्रन्थ EHI. pp. २०२-२०३

सिकन्दर महान् एवं दिगम्वर मुनि

"Onesikritos says that he himself was sent to converse with these sages. For A'exander heard that these men (Sramans) went about naked, inused themselves to hardships and were held in highest honour, that when invited they did not go to other persons."

—Mc Crindle, Ancient India P. 70

जिस समय अन्तिम नन्दराजा भारत में राज्य कर रहे थे और चन्द्रगुप्त मौर्य अपने साम्राज्य की नींव डालने में लगे हुए थे, उस समय भारत के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त पर यूनान का प्रतापी वीर सिकन्दर अपना सिक्का जमा रहा था। जब वह तक्षशिला पहुंचा तो वहां उसने दिगम्वर मुनियों की वहुत प्रशंसा सुनी। उसने चाहा कि वे साधुगण उसके सम्मुख लाये जावें, किन्तु ऐसा होना असम्भव था, क्योंकि दिगम्वर मुनि किसी का शासन नहीं मानते और न किसी का निमन्त्रण स्वीकार करते हैं। उस पर सिकन्दर ने अपने एक दूत को, जिसका नाम अन्शक्रतस (Oneskritos) था, उनके पास भेजा। उसने देखा, तक्षशिला के पास उद्यान में वहुत से नंगे मुनि तपस्या कर रहे हैं। उनमें से एक कल्याण नामक मुनि से उसकी वातचीत होती रही थी। मुनि कल्याण ने अंशक्रतस से कहा था कि यदि तुम हमारे तप का रहस्य समझना चाहते हो तो हमारी तरह दिगम्वर मुनि हो जाओ।[1] अंशक्रतस के लिए ऐसा करना असम्भव था। आखिर उसने सिकन्दर से जाकर इन मुनियों के ज्ञान और चर्या की प्रशंसनीय वातें कहीं। सिकन्दर उनसे वहुत प्रभावित हुआ और उसने चाहा कि इन ज्ञान ध्यान—तपोरत्न का प्रकाश मेरे देशमें भी पहुंचे। उसकी इस शुभ कामना को मुनि कल्याण ने पूरा किया था। जब सिकन्दर ससैन्य यूनान को लौटा तो मुनि कल्याण उसके साथ हो लिये थे; किन्तु ईरान में ही उनका देहावसान हो गया था। अपना अन्त समय जानकर उन्होंने जैनव्रत सल्लेखना का पालन किया था। नंगे रहना, भूमिशोध कर चलना, हरितकाय का विराधन न करना, किसी का निमन्त्रण स्वीकार न करना, इत्यादि जिन नियमों का पालन मुनि कल्याण और उनके साथी मुनिगण करते थे उनसे उनका दिगम्वर जैन मुनि होना सिद्ध है।[2] आधुनिक विद्वान् भी यही प्रगट करते हैं।[3]

मुनि कल्याण ज्योतिष शास्त्र में निष्णात थे। उन्होंने वहुत सी भविष्यवाणियां की थीं[4] और सिकन्दर की मृत्यु को भी उन्होंने पहिले से ही घोषित कर दिया था। इन भारतीय सन्तों की शिक्षा का प्रभाव यूनानियों पर विशेष पड़ा था। यहां तक कि तत्कालीन डायजिनेस (Diogenes) नामक यूनानी तत्ववेत्ता ने दिगम्वर वेष धारण किया था।[5] और यूनानियों ने नंगी मूर्तियां भी वनवाई थीं।[6]

यूनानी लेखकों ने इन दिगम्वर मुनियों के विषय में खूब लिखा है। वे वताते हैं कि यह साधु नंगे रहते थे। सर्दी-गर्मी को परीषह सहन करते थे। जनता में इनको विशेष मान्यता थी। हाट-वाजार में जाकर यह धर्मोपदेश देते थे। बड़े-बड़े शिष्ट घरों के अंतःपुरों में भी ये जाते थे। राजागण इनकी विनय करते और सम्मति लेते थे। ज्योतिष के अनुसार वे लोगों

---

१. Al. P. 69 "(Alexander) despatched Onesikritos to them (gymnosophists), who relates that he found at the distance of 20 stadia from the city (of Taxilla) 15 men standing in different postures, sitting or lying down naked, who did not move from these positions till the evening, when they return to the city. The most difficult thing to endure was the heat of the sun. etc."

"Calanus bidding him (Onesi:) to strip himself, if he desired to hear any of his doctrine." —Plutarch. Al. p 71

२. वीर वर्ष ७ पृ० १७६ व ३४१।

३ Encyclopaedia Britannica (11th. ed) Vol. XV p. 128. ". the term Digambara . is referred to in the well known Greek phrase, gymnosophists, used already by Megasthenes, which applies very aptly to the Niganthas (Digambara Jainas)."

४ A calendar fragment discovered at Milet and belonging to the 2nd century B.C. gives several weather forecasts on the authority of Indian Calanus." —QJMS., XVIII. 297

५ NJ., Intro. p. 2

६ Pliny, XXXIV. 9...JRAS. Vol. IX, p. 232

को भविष्य का फलाफल भी बताते थे। भोजन का निमन्त्रण ये स्वीकार नहीं करते थे। विधिपूर्वक नगर में कोई सभ्य उन्हें भोजन दान देता तो उसे ये ग्रहण कर लेते थे।[1] यूनानी लेखकों के इस वर्णन से उस समय के दिगम्बर जैन मुनियों का महत्व स्पष्ट हो जाता है। उनके द्वारा भारत का नाम विदेशों में भी चमका था! भला उन जैसे मुनीश्वरों को पाकर कौन न अपने को धन्य मानेगा?

[१४]

सुंग और आन्ध्र राज्यों में दिगम्बर मुनि

"The Andhra or Satvahana rule is characterised by almost the same social features as the farther south; but in point of religion they seem to have been great patrons of the Jainas & Buddhists."—S. K. Aiyangar's Ancient India, p. 34.

अन्तिम मौर्य्य सम्राट् वृहद्रथ का उनके सेनापति पुष्पमित्र सुङ्ग ने वध कर दिया था। इस प्रकार मौर्य्य साम्राज्य का अन्त करके पुष्पमित्रने 'सुङ्ग राजवंश' की स्थापना की थी। नन्द और मौर्य्य साम्राज्य में जहां जैन और बौद्धधर्म उन्नति को प्राप्त हुये थे, वहां सुङ्गवंश के राजत्वकाल में ब्राह्मण धर्म उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्राह्मणेत्तर जैन आदि धर्मों पर इस समय कोई संकट आया हो। हम देखते हैं कि स्वयं पुष्पमित्र के राजप्रासाद के सन्निकट नन्दराज द्वारा लाई गई 'कलिङ्ग जिनकी मूर्ति' सुरक्षित रही थी। इस अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय दिगम्बर जैनधर्म को विकट बाधा सहनी पड़ी थी।

उस पर सुङ्ग राजागण अधिक समय तक शासनाधिकारी भी न रहे। भारत के पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और पञ्जाब की ओर तो यवन राजाओं ने अधिकार जमाना प्रारंभ करदिया और मगध तथा मध्यभारत पर जैनसम्राट् खारवेल तथा आन्ध्र राजाओं के आक्रमण होने लगे। खारवेल की मगध विजय में आन्ध्रवंशी राजाओं ने उनका साथ दिया था[2]। मगध पर आन्ध्र

---

१ Aristoboulos...says "Their (Gymnosophists) spare time is spent in the market-place in respect their being public councillors, they receive great homage etc."

Cicero (Tusc. Disput. V. 27)..."What foreign land is more vast and wild than India? Yet in that nation first those who are reckoned sages spend their lifetime naked and endure the snows of caucasus and the rage of winter without grieving and when they have committed their body to the flames, not a groan escapes them when they are burning."

Clemens Alexendrinus—"Those Indians, who are called Semnoi (श्रवण) go naked their lives These practise truth, make predictions about futurity and worship a kind of pyramid, beneath which they think the bones of some divinity lie buried (stupas)." —Al. P. 183.

"St Jerome,—'Indian Gymnosophists.' The king on coming to them worship them and the peace of his dominions depends according to his judgement on their prayers." ...Al. P. 184.

"Every wealthy house is open to them to the apartments of the women. On entering they share the repast.'—AI. p. 71.

"When they repair to the city they disperse themselves to the market place. If they happen to meet any who carries figs or bunches of grapes they take what he bestows without giving anything in return.

२ "In the decadance that followed the death of Asoka, the Andhras seem to have had their own share and they may possibly have helped Khaivela of Kalinga, when he invaded Magadha in the middle of the 2nd century B. C. When the Kanvar were overthrown the Andhras extend their power northwards & occupy Magadha." —SAI., pp. 15-16

राजाओं का अधिकार हो गया ! इन राजाओं के उद्योग से जैन धर्म फिर एक बार चमक उठा।

आन्ध्रवंशी राजाओं में हाल, पुलुमायि आदि जैनधर्म प्रेमी कहे गये हैं[1]। इन्होंने दिगम्बर जैन मुनियों को विहार और धर्म प्रचार करने की सुविधा प्रदान की प्रतीत होती है। उज्जैनी के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य भी इसी वंश से सम्बन्धित बताये जाते हैं। वह शैव थे; परन्तु उपरान्त एक दिगम्बर जैनाचार्य के उपदेश से जैन हो गये थे[2]।

ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि में एक भारतीय राजा का सम्बन्ध रोम के बादशाह ऑगस्टस से था। उन्होंने उन बादशाह के लिये भेंट भेजी थी। जो लोग उस भेंट को ले गये थे, उनके साथ भृगुकच्छ (भड़ौंच) से एक श्रमणाचार्य (दिगंबर जैनाचार्य) भी साथ हो लिये थे। वह यूनान पहुंचे थे और वहां उनका सम्मान हुआ था। आखिर सल्लेखना व्रत को धारण करके उन्होंने अथेन्स (Athens) में प्राणविसर्जन किये थे। वहां उनकी एक निषधिका बना दी गई थी[3]। अब भला कहिये, जब उस समय दिगम्बर मुनि विदेशों तक में जाकर धर्मप्रचार करने में समर्थ थे, तो वे भारत में क्यों न विहार और धर्म प्रचार करने में सफल होते। जैन साहित्य बताता है कि गंगदेव, सुधर्म, नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन आदि दिगम्बर जैनाचार्यों के नेतृत्व में तत्कालीन जैनधर्म सजीव हो रहा था।

ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि में भारत में अपोलो और दमस नामक दो यूनानी तत्ववेत्ता आये थे। उनका तत्कालीन दिगंबर मुनियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था[4]। सारांशत: उस समय भी दिगंबर मुनि इतने महत्वशाली थे कि वे विदेशियों का भी ध्यान आकृष्ट करने को समर्थ थे।

[१५]
यवन-छत्रप आदि राजागण तथा दिगम्बर मुनि !

"About the second century B. C. when the Greeks had occupied a fair portion of western India, Jainism appears to have made its way amongst them and the founder of the sect appears also to have been held in high esteem by the Indo-Greeks, as is apparent from an account given in the Milinda Panho." —HG., P. 78.

मौर्यों के उपरान्त भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, पन्जाब, मालवा आदि प्रदेशों पर यूनानी आदि विदेशियों का

---

1. JBORS. I, 76-118. and CHE., I p. 532

2. Allahabad university Studies, pt. II. 113-147

3. In the same year (25 B. C.) went an Indian embassy with gifts to Augustus. from a King called Purus by some and Pandian by others.........They were accompanied by the man who burnt himself at Athens. He with a smile leapt upon the pyre naked...... On his tomb was this inscription, 'Zermanochegas, to the custom of his country. lies here'. Zermanochegas seems to be the Greek rendering of Sramanacharya or Jaina Guru and the self-immolation, a variety of Sallekhna." —IHQ. vol. II. 293

4. Apollonius of Tyana travelled with Damus. Born about 4 B.C., he came to explore the wonders of India.........He was a Pythogorian philosopher and met Iarchas at Taxilla and disputed with Indian Gymnosophists. (Niganthas)"

—QJMS., XVIII, pp. 305-306

अधिकार हो गया था। इन विदेशी लोगों में भी जैन मुनियों ने अपने धर्म का प्रचार कर दिया था और उनमें से कई बादशाह जैन धर्म में दीक्षित हो गये थे।

भारतीय यवनों (Greek) में मनेन्द्र (Menander) नामक राजा प्रसिद्ध था। उसकी राजधानी पंजाब प्रान्त का प्रसिद्ध नगर साकल(स्यालकोट) था। बौद्धग्रंथ 'मिलिन्दपण्ह' से विदित है कि उस नगर में प्रत्येक धर्म के गुरु पहुंचकर धर्मोपदेश देते थे[1]। मालूम होता है कि दिगम्बर जैन मुनियों को वहां विशेष आदर प्राप्त था; क्योंकि 'मिलिन्दपण्ह' में कहा गया है कि पांच सौ यूनानियों ने राजा मनेन्द्र से भ० महावीर के 'निर्ग्रन्थ' धर्म द्वारा मनस्तुष्टि करने का आग्रह किया था और मनेन्द्र ने उनका यह आग्रह स्वीकार किया था[२]। अतः वह जैन धर्म में दीक्षित हो गया था और उसके राज्य में अहिंसा धर्म की प्रधानता हो गई थी।[३]

यवनों (Indo Greek) को हराकर शकों ने फिर उत्तर-पश्चिम भारत पर अधिकार जमाया था। उन्होंने 'छत्रप'— प्रान्तीय शासक नियुक्त करके शासन किया था। इनमें राजा अजेस (Azes I) के समय में तक्षशिला में जैन धर्म उन्नति पर था। उस समय के बने हुये जैन ऋषियों के स्मार्क रूप स्तूप आज भी तक्षशिला में भग्नावशेष हैं।[४]

शक राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के राजकाल में भी जैन धर्म उन्नत दशा में रहा था। मथुरा उस समय प्रधान जैन केन्द्र था। अनेक निर्ग्रन्थ साधु वहाँ विचरते थे। उन नग्न साधुओं की पूजा राजपुत्र और राजकन्यायें तथा साधारण जनसमुदाय किया करते थे।[५]

छत्रप नहपान भी जैन धर्म प्रेमी प्रतीत होता है। उसका राज्य गुजरात से मालवा तक विस्तृत था। जैन साहित्य में, उनका उल्लेख नरवाहन और नहवाण रूप में हुआ मिलता है। नहपान ही संभवतः भूतबलि नामक दिगम्बर जैनाचार्य हुये थे जिन्होंने "पट्खण्डागम शास्त्र" की रचना की थी।[६]

छत्रप नहपान के अतिरिक्त छत्रप रुद्र दमन का पुत्र रुद्र सिंह का भी जैनधर्म भुक्त होना संभव है। जूनागढ़ की 'अपर-कोट' की गुफाओं में इसका एक लेख है, जिसका सम्बन्ध जैन-धर्म से होना अनुमान किया जाता है। ये गुफायें जैन मुनियों के उपयोग में आती थीं।[७]

इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि उपरोक्त विदेशी लोगों में धर्म प्रचार करने के लिए दिगम्बर मुनि पहुंचे थे और उन्होंने उन लोगों के निकट सम्मान पाया था।

---

1. "They resund with cries of welcome to the teachers of every creed and the city is the resort of the leading men of each of the differing sects." —Q KM. P. 3.

२. QKM.p. 8

३. वीर, वर्ष २ पृ० ४४६—४४६.

४. AGT., P.P. 76—80

५. "Another locality in which the Jainas seem to have been formly established from the middle of the 2nd Century B. C. onwards was Mathura in the old kingdom of Curasena." —CHI, I, p. 167 and see JOAM.

६. सरस्वती, भा० २६ खण्ड २ पृ० ७४८—७४६

७. IA, XX, 163 ff.

सम्राट् ऐलखारवेल आदि कलिंग नृप और दिगम्बर मुनियों का उत्कर्ष ।

"नन्दराज-नीतानि कालिंग-जिनम्-संनिवेसं·········गहरतनान पडिहारेहि अङ्गमागध वसव् नेयाति ।"

(१२ वीं पंक्ति)

"सुकति-समण-सुविहितानु च सतदिसानु ञानितम् तपसि-इसिनं संघियनं अरहत निसीदिया समीपे पभरे वरकार— सुमुथपतिहि अनेकयोजनाहिताहि प सि ओ सिलाहि सिहपथ-रानि सिधुडाय निसयानि·········घंटा (अ) क (तो) चतरे च वेडूरियगभे थंभे पतिठापयति ।" (१५-१६ वीं पंक्ति) —हाथीगुफा शिलालेख ।

कलिङ्गदेश में पहले तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव के एक पुत्र ने पहले-पहल राज्य किया था । जब सर्वज्ञ होकर तीर्थङ्कर ऋषभ ने आर्य खण्ड में विहार किया तो वह कलिङ्ग भी पहुंचे थे । उनके धर्मोपदेश से प्रभावित होकर तत्कालीन कलिंग राज अपने पुत्रको राज्य देकर दिगंबर मुनि हो गये थे[1] । बस, कलिंग में दिगम्बर-मुनियों का सद्भाव उस प्राचीन काल से है ।

राजा दशरथ अथवा यशधर के पुत्र पांच सौ साथियों सहित दिगम्बर मुनि होकर कलिङ्गदेश से ही मुक्त हुये थे । तथा वह पवित्र कोटिशिला भी उसी कलिङ्गदेश में है, जिसको श्रीराम-लक्ष्मण ने उठाकर अपना बाहुबल प्रगट किया था और जिस पर से एक करोड़ दिगम्बर-मुनि निर्वाण को प्राप्त हुये थे[2] । सारांशतः एक अतीव प्राचीन काल से कलिङ्ग देश दिगम्बर-मुनियों के पवित्र चरण-कमलों से अलंकृत हो चुका है !

इक्ष्वाकुवंश के कौशल देशीय क्षत्रिय राजाओं के उपरान्त कलिङ्ग में हरिवंशी क्षत्रियों ने राज्य किया था । भगवान् महावीर ने सर्वज्ञ होकर जब कलिङ्ग में आकर धर्मोपदेश दिया तो उस समय कलिंग के जितशत्रु नामक राजा दिगम्बर मुनि हो गये और उनके साथ और भी अनेक दिगम्बर मुनि हुये थे[3] ।

उपरान्त दक्षिण कौशलवर्ती चेदिराज के वंश के एक महापुरुष ने कलिङ्ग पर अधिकार जमा लिया था[1] । ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दि में इस वंश का ऐल खारवेल नामक राजा अपने भुजविक्रम, प्रताप और धर्म कार्य के लिये प्रसिद्ध था । वह जैन धर्म का दृढ़ उपासक था । उसने सारे भारत की दिग्विजय की थी । वह मगध के शुङ्गवंशी राजा को हराकर 'कलिङ्ग जिन' नामक अर्हत्-मूर्ति को वापस कलिङ्ग ले आया था । दिगम्बर मुनियों की वह भक्ति और विनय करता था । उन्होंने उन के लिये बहुत से कार्य किये थे । कुमारी पर्वत पर अर्हत् भगवान् की निषद्या के निकट उन्होंने एक उन्नत जिन प्रासाद बनवाया था तथा पचहत्तर लाख मुद्राओं को व्यय करके उस पर वैडूर्यरत्न जड़ित स्तम्भ खड़े करवाये थे । उनकी रानी ने भी जैनमन्दिर तथा मुनियों के लिये गुफायें बनवाई थीं; जो अब तक मौजूद हैं[4] । और भी न जाने उन्होंने दिगम्बर मुनियों के लिये क्या न नहीं किया था !

उस समय मथुरा, उज्जैनी और गिरिनगर जैन ऋषियों के केन्द्रस्थान थे ।[5] खारवेल ने जैन ऋषियों का एक महासम्मेलन एकत्र किया था । मथुरा, उज्जैनी, गिरिनगर, काञ्चीपुर आदि स्थानों से दिगंबर मुनि उस सम्मेलन में भाग लेने के लिये कुमारी पर्वत पर पहुंचे थे । बड़ा भारी धर्म महोत्सव किया गया था ।[7] बुद्धिलिङ्ग, देव, धर्मसेन, नक्षत्र आदि दिगम्बर जैनाचार्य

---

१. हरिवंश पुराण अ० २ श्लो० ३-७ व अ० ११ श्लो० १४-७१

२. "जसघर राइस्स सुवा । पंचसयाभूव कलिंग देसम्मि ॥
कोटिसिल कोडि मुणि णिव्वाण गया णमो तेसिम्मि ॥१८॥" —णिव्वाण-कण्ड गाहा

३. हरिवंशपुराण (कलकत्ता संस्करण) पृ० ६२३

४. JBORS. Vol III pp. 434-484.

५. वंवि ओ जैस्मा० पृ० ६१

६. IHQ, Vol IV p. 522.

७. "सतदिसानं भनितम् तपसि-इसिनं संघियनं अरहत निसीदिया समीपे·····कोडिय छंपन्नसि सुविदं उपादयति ।"

—JBORS, XII 236-237.

उस महासम्मेलन में सम्मिलित हुये थे।[1] इन ऋषि पुङ्गवों ने मिलकर जिनवाणी का उद्धार किया था तथा सम्राट् खारवेल के सहयोग से वे जैनधर्म प्रचार करने में सफलमनोरथ हुये थे। यही कारण है कि उस समय प्रायः सारे भारत में जैनधर्म फैला था। यहां तक कि विदेशियों में भी उसका प्रचार हो गया था, जैसे कि पूर्व परिच्छेद में लिखा जा चुका है। अतएव यह स्पष्ट है कि ऐल खारवेल के राजकालों में दिगंबर मुनियों का महती उत्कर्ष हुआ था।

ऐल खारवेल के बाद उनके पुत्र कुदेपश्री खर महामेघ वाहन कलिङ्ग के राजा हुए थे। वह भी जैनधर्मानुयायी थे।[2] उनके बाद भी एक दीर्घ समय तक कलिङ्ग में जैनधर्म राष्ट्रधर्म रहा था। बौद्धग्रन्थ 'दाठावंसो' से ज्ञात है कि कलिङ्ग के राजाओं में भ० बुद्ध के समय से जैनधर्म का प्रचार था। गौतमबुद्ध के स्वर्गवासी होने के बाद बौद्धभिक्षु खेम ने कलि के राजा ब्रह्मदत्त को बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। ब्रह्मदत्त का पुत्र काशीराज और पौत्र सुनन्द भी बौद्ध रहे थे![3] किन्तु उपरान्त फिर जैनधर्म का प्रचार कलिग में हो गया। यह समय संभवतः खारवेल आदिका होगा। कालान्तर में कलिग का गुहशिव नामक प्रतापी राजा निर्ग्रन्थ साधुओं का भक्त कहा गया है। उसके बौद्ध मंत्री ने उसे जैनधर्म विमुख बना लिया था। निर्ग्रन्थ साधु उसकी राजधानी छोड़कर पाटलिपुत्र चले गये थे। सम्राट् पाण्डु वहां पर शासनाधिकारी था। निर्ग्रन्थ साधुओं ने उससे गुहशिव की धृष्टता की बात कही थी।[4] यह घटना लगभग ईसवी तीसरी या चौथी शताब्दि की कही जा सकती है। और इससे प्रगट है कि उस समय तक दिगम्बर मुनियों की प्रधानता कलिग—अंग—वंग और मगध में विद्यमान् थी। दिगम्बर मुनियों को राजाश्रय मिला हुआ था।

कुमारीपर्वत परके शिलालेखों से यह भी प्रगट है कि कलिगमें जैनधर्म दसवीं शताब्दि तक उन्नतावस्था पर था। उस समय वहां पर दिगम्बर जैनमुनियोंके विविध संघ विद्यमान् थे, जिनमें आचार्य यशनन्दि, आचार्य कुलचन्द्र तथा आचार्य शुभचन्द्र मुख्य साधु थे।[5]

---

१. अनेकान्त, वर्ष १ पृष्ट २२८

२. JBORS, III p. 505.

३. दन्त धातुं ततो खेमो अत्तना गहितं अदा। दन्तपूरे कलिगस्स ब्रह्मदत्तस्स राजिनो ॥५७॥२॥
देसयित्वान सो धम्मं भेत्वा सब्ब कुदिट्ठियो। राजानं तं पसादेसि अग्गम्हिरतनत्तये ॥५८॥

× × ×

अनुजातो ततो तस्स कासिराज व्हयो सुतो। रज्जं लद्धा अमच्चानं सोकसल्लमपानुदि ॥६६॥

× × ×

सुनन्दो नाम राजिन्दो आनन्दजननो संत। तस्स अजो ततो आसि बुद्धसासननामको ॥६९॥—दाठा० पृष्ट ११-१२

४. गुहसीव व्हेयाराजा दुरतिक्कमसासनो। ततो रज्जसिरिं पत्वा अनुगण्हि महाजनं ॥७२॥२॥
सपरत्थानभिञ्जेसो लाभासक्कारलोलुपे। मायाविनो अविज्जन्धे निगन्थे समुपट्ठहि ॥७३॥

× × ×

तस्सा मच्चस्स सोराजा सुत्वाधम्मसुभासितं। दुल्लद्धिमलमुज्झित्वा पसीदिरतनत्तये ॥८६॥

× × ×

इति सो चिन्तयित्वान गुहसीवो नराधिपो। पव्वाजेसि सकारट्ठा निगण्डे ते असेसके ॥८८॥
ततो निगण्ठा सब्बेपि घतसित्तानला यथा। कोधग्गिजलिता गच्छं पुरं पाटलिपुत्तकं ॥९०॥

× × ×

तत्थ राजा महातेजो जम्बुदीपस्स इस्सरो। पण्डु नामोतदा आसि अनन्त बलवाहनो ॥९१॥
कोधन्धोऽय निगण्ठा ते सब्बे पेमुञ्जकारका। उपसंकम्मराजाने इदं वचनमब्रवुं ॥९२॥ इत्यादि' —दाठा० पृष्ठ १३-१४

५. वंबिओ जैस्मा. पृष्ठ ९४-९६

इस प्रकार कलिंग में दिगम्बर जैनधर्म का बाहुल्य एक अतीव प्राचीनकाल से रहा है और वहां पर आजभी सराक लोग एक बड़ी संख्या में हैं, जो प्राचीन श्रावक हैं।[1] उनका अस्तित्व इस बात का प्रमाण है कि कलिंग में जैनत्व की प्रधानता आधुनिक समय तक विद्यमान् रही थी।

(१७)

गुप्त-साम्राज्यमें दिगम्बर-मुनि !

"The capital of the Gupta emperors became the centre of Brahmanical culture; but the masses followed the religious traditions of their forefathers, and Buddhist and Jain monasteries continued to be public schools and universities for the greater part of India."

—E. B. Havell., HARI., p. 156.

यद्यपि गुप्तवंश के राज्यकाल में ब्राह्मण धर्म की उन्नति हुई थी, किन्तु जन-साधारण में अब भी जैन और बौद्ध धर्म का ही प्रचार था। दिगम्बर जैन मुनिगण ग्राम-ग्राम विचार कर जनता का कल्याण कर रहे थे और दिगम्बर उपाध्याय जैन विद्यापीठों के द्वारा ज्ञान दान करते थे। गुप्त काल में मथुरा, उज्जैन, राजगृह आदि स्थान जैन धर्म के केन्द्र थे। इन स्थानों पर दिगंबर जैन साधुओंके सङ्घ विद्यमान् थे। गुप्त-सम्राट अब्राह्मण साधुओं से द्वेष नहीं रखते थे।[2] तथापि उनका वाद ब्राह्मण विद्वानोंके साथ कराकर सुनना उन्हें पसन्द था।

श्री सिद्धसेनदिवाकर के उद्‌गारों से पता चलता है कि "उस समय सरलवाद पद्धति और आकर्षक नाग्निवृत्ति का लोगों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। निर्ग्रन्थ अकेले दुकेले ही ऐसे स्थलों पर जा पहुंचते थे और ब्राह्मणादि प्रतिवादी विस्तृत शिष्य समूह और जनसमुदाय सहित राजसी ठाठ-बाठ के साथ पेश आते थे, तो भी जो यश निर्ग्रन्थों को मिलता था वह उन प्रतिवादियों को अप्राप्य था।"[3]

बंगाल में पहाड़पुर नामक स्थान दिगंबर जैन संघ का केन्द्र था। वहां के दिगम्बर मुनि प्रसिद्ध थे।[4]

गुप्तवंश में चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रतापी राजा था। उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। विद्वानों का कथन है कि उसी की राज-सभा में निम्नलिखित विद्वान थे :[5]—

"धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकुर्वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥"

इन विद्वानों में 'क्षपणक' नामक विद्वान् एक दिगंबर मुनि था। आधुनिक विद्वान् उन्हें सिद्धसेन नामक दिगम्बर जैनाचार्य प्रकट करते हैं।[6] जैनशास्त्र भी उनका समर्थन करते हैं। उनसे प्रकट है कि श्री सिद्धसेन ने 'महाकाली' के मन्दिर में चमत्कार दिखाकर चन्द्रगुप्त को जैनधर्म में दीक्षित कर लिया था।[7]

उपरोक्त विद्वानों में से अमरसिंह[8], वराहमिहिर[9] आदि ने अपनी रचनाओं में जैनों का उल्लेख किया है, उससे भी

---

१. बंबिप्रो जैस्मा. १०१-१०४

२. भाइ., पृष्ठ ६१।

३. जैहि. भा. १४ पृष्ठ १५६

४. IHQ VII 441

५. रक्षा. १३३।

६. रक्षा. चरित्र पृष्ठ १३३-१४१।

७. वीर, वर्ष १ पृष्ठ ४७१

८. अमरकोष देखो

९. 'नग्नान् जिनानां विदुः।'—वराहमिहिर संहिता

उस महासम्मेलन में सम्मिलित हुये थे।[1] इन ऋषि पुङ्गवों ने मिलकर जिनवाणी का उद्धार किया था तथा सम्राट् खारवेल के सहयोग से वे जैन धर्म प्रचार करने में सफलमनोरथ हुये थे। यही कारण है कि उस समय प्राय: सारे भारत में जैनधर्म फैला था। यहां तक कि विदेशियों में भी उसका प्रचार हो गया था, जैसे कि पूर्व परिच्छेद में लिखा जा चुका है। अतएव यह स्पष्ट है कि ऐल खारवेल के राजकालों में दिगंबर मुनियों का महती उत्कर्ष हुआ था।

ऐल खारवेल के वाद उनके पुत्र कुदेपश्री खर महामेघ वाहन कलिङ्ग के राजा हुए थे। वह भी जैनधर्मानुयायी थे।[2] उनके वाद भी एक दीर्घ समय तक कलिङ्ग में जैनधर्म राष्ट्रधर्म रहा था। बौद्धग्रन्थ 'दाठावंसो' से ज्ञात है कि कलिङ्ग के राजाओं में भ० बुद्ध के समय से जैनधर्म का प्रचार था। गौतमबुद्ध के स्वर्गवासी होने के वाद बौद्धभिक्षु खेम ने कलि के राजा ब्रह्मदत्त को बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। ब्रह्मदत्त का पुत्र काशीराज और पौत्र सुनन्द भी बौद्ध रहे थे![3] किन्तु उपरान्त फिर जैनधर्म का प्रचार कलिंग में हो गया। यह समय संभवत: खारवेल आदिका होगा। कालान्तर में कलिंग का गुहशिव नामक प्रतापी राजा निर्ग्रन्थ साधुओं का भक्त कहा गया है। उसके बौद्ध मंत्री ने उसे जैनधर्म विमुख बना लिया था। निर्ग्रन्थ साधु उसकी राजधानी छोड़कर पाटलिपुत्र चले गये थे। सम्राट् पाण्डु वहां पर शासनाधिकारी था। निर्ग्रन्थ साधुओं ने उससे गुहशिव की धृष्टता की वात कही थी।[4] यह घटना लगभग ईसवी तीसरी या चौथी शताब्दि की कही जा सकती है। और इससे प्रगट है कि उस समय तक दिगम्बर मुनियों की प्रधानता कलिंग—अंग—वंग और मगध में विद्यमान् थी। दिगम्बर मुनियों को राजाश्रय मिला हुआ था।

कुमारीपर्वत परके शिलालेखों से यह भी प्रगट है कि कलिंगमें जैनधर्म दसवीं शताब्दि तक उन्नतावस्था पर था। उस समय वहां पर दिगम्बर जैनमुनियोंके विविध संघ विद्यमान् थे, जिनमें आचार्य यशनन्दि, आचार्य कुलचन्द्र तथा आचार्य शुभचन्द्र मुख्य साधु थे।[5]

---

१. अनेकान्त, वर्ष १ पृष्ट २२८

२. JBORS, III p. 505.

३. दन्त धातुं ततो खेमो अत्तना गहितं अदा। दन्तपूरे कलिंगस्स ब्रह्मदत्तस्स राजिनो ॥५७॥२॥
देसयित्वान सो धम्मं भेत्वा सब्ब कुदिट्ठियो। राजानं तं पसादेसि अग्गम्हिरतनत्तये ॥५८॥

× × ×

अनुजातो ततो तस्स कासिराज व्हयो सुतो। रज्जं लद्धा अमच्चानं सोकसल्लमपानुदि ॥६६॥

× × ×

सुनन्दो नाम राजिन्दो आनन्दजननो संत। तस्स अजो ततो आसि बुद्धसासननामको ॥६९॥—दाठा० पृष्ट ११-१२

४. गुहसीव व्हेयाराजा दुरतिक्कमसासनो। ततो रज्जसिरिं पत्वा अनुगण्हि महाजनं ॥७२॥२॥
सपरत्थानभिञ्जेसो लाभासक्कारलोलुपे। मायाविनो अविज्जन्वे निगन्थे समुपट्ठहि ॥७३॥

× × ×

तस्सा मच्चस्स सोराजा सुत्वावम्मसुभासितं। दुल्लद्धिमलमुज्झित्वा पसीदिरतनत्तये ॥८६॥

× × ×

इति सो चिन्तयित्वान गुहसीवो नराधिपो। पब्बाजेसि सकारट्ठ निगण्डे ते असेसके ॥८९॥
ततो निगण्ठा सब्बेपि घतसित्तानला यथा। कोधग्गिजलिता गच्छुं पुरं पाटलिपुत्तकं ॥९०॥

× × ×

तत्थ राजा महातेजो जम्बुदीपस्स इस्सरो। पण्डु नामोतदा आसि अनन्त बलवाहनो ॥९१॥
कोधन्धोऽथ निगण्ठा ते सब्बे पेसुञ्जकारका। उपसंकम्मराजानं इदं वचनमब्रवुं ॥९२॥ इत्यादि' —दाठा० पृष्ठ १३-१४

५. वंबिओ जैस्मा. पृष्ठ ९४-९६

इस प्रकार कलिंग में दिगम्बर जैनधर्म का वाहुल्य एक अतीव प्राचीनकाल से रहा है और वहां पर आजभी सराक लोग एक वड़ी संख्या में हैं, जो प्राचीन श्रावक हैं।[1] उनका अस्तित्व इस वात का प्रमाण है कि कलिंग में जैनत्व की प्रधानता आधुनिक समय तक विद्यमान् रही थी।

(१७)

गुप्त-साम्राज्यमें दिगम्बर-मुनि !

"The capital of the Gupta emperors became the centre of Brahmanical culture; but the masses followed the religious traditions of their forefathers, and Buddhist and Jain monasteries continued to be public schools and universities for the greater part of India."

—E. B. Havell., HARI., p. 156.

यद्यपि गुप्तवंश के राज्यकाल में ब्राह्मण धर्म की उन्नति हुई थी, किन्तु जन-साधारण में अब भी जैन और वौद्ध धर्म का ही प्रचार था। दिगम्बर जैन मुनिगण ग्राम-ग्राम विचार कर जनता का कल्याण कर रहे थे और दिगम्बर उपाध्याय जैन विद्यापीठों के द्वारा ज्ञान दान करते थे। गुप्त काल में मथुरा, उज्जैन, राजगृह आदि स्थान जैन धर्म के केन्द्र थे। इन स्थानों पर दिगंवर जैन साधुओंके सङ्घ विद्यमान् थे। गुप्त-सम्राट अब्राह्मण साधुओं से द्वेष नहीं रखते थे।[2] तथापि उनका वाद ब्राह्मण विद्वानोंके साथ कराकर सुनना उन्हें पसन्द था।

श्री सिद्धसेनदिवाकर के उद्‌गारों से पता चलता है कि "उस समय सरलवाद पद्धति और आकर्षक शान्तिवृत्ति का लोगों पर वहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। निर्ग्रन्थ अकेले दुकेले ही ऐसे स्थलों पर जा पहुंचते थे और ब्राह्मणादि प्रतिवादी विस्तृत शिष्य समूह और जनसमुदाय सहित राजसी ठाठ-वाठ के साथ पेश आते थे, तो भी जो यश निर्ग्रंथों को मिलता था वह उन प्रतिवादियों को अप्राप्य था।"[3]

वंगाल में पहाड़पुर नामक स्थान दिगंवर जैन संघ का केन्द्र था। वहां के दिगम्बर मुनि प्रसिद्ध थे।[4]

गुप्तवंश में चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रतापी राजा था। उसनें 'विक्रमादित्य' को उपाधि धारण की थी। विद्वानों का कथन है कि उसी की राज-सभा में निम्नलिखित विद्वान थे :[5]—

"धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकुर्वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥"

इन विद्वानों में 'क्षपणक' नामक विद्वान् एक दिगंवर मुनि था। आधुनिक विद्वान् उन्हें सिद्धसेन नामक दिगम्बर जैनाचार्य प्रकट करते हैं।[6] जैनशास्त्र भी उनका समर्थन करते हैं। उनसे प्रकट है कि श्री सिद्धसेन ने 'महाकाली' के मन्दिर में चमत्कार दिखाकर चन्द्रगुप्त को जैनधर्म में दीक्षित कर लिया था।[7]

उपरोक्त विद्वानों में से अमरसिंह[8], वराहमिहिर[9] आदि ने अपनी रचनाओं में जैनों का उल्लेख किया है, उससे भी

१. वंविओ जैस्मा. १०१-१०४

२. भाइ., पृष्ठ ६१।

३. जैहि. भा. १४ पृष्ठ १५६

४. IHQ VII 441

५. रश्रा. १३३।

६. रश्रा. चरित्र पृष्ठ १३३-१४१।

७. वीर, वर्ष १ पृष्ठ ४७१

८. अमरकोप देखो

९. 'नग्नान् जिनानां विदुः।'—वराहमिहिर संहिता

प्रकटहै कि उस समय जैनधर्म काफी उन्नत रूप में था। वराहमिहिर ने जैनों के उपास्यदेवता की मूर्ति नग्न बनती लिखी है, से यह स्पष्ट है कि उस समय उज्जैनी में दिगम्बर धर्म महत्वशाली था। जैनसाहित्य से प्रकट है कि उज्जैनी के निकट भद्दलपुर (वीसनगर) में उस समय दिगंबर मुनियों का संघ मौजूद था, जिसके आचार्यों की कालानुसार नामावली निम्नप्रकार है:—

१. श्री मुनि वज्रनन्दी	...	सन् ३०७ में आचार्य हुये
२. ,, ,, कुमारनन्दी	...	३२६ ,, ,,
३. ,, ,, लोकचन्द्रप्रथम	...	३६० ,, ,,
४. ,, ,, प्रभाचन्द्र ,,	...	३६६ ,, ,,
५. ,, ,, नेमिचन्द्र ,,	...	४२१ ,, ,,
६. ,, ,, भानुनन्दि	...	४३० ,, ,,
७. ,, ,, जयनन्दि	...	४५१ ,, ,,
८. ,, ,, वसुनन्दि	...	४६८ ,, ,,
९. ,, ,, वीरनन्दि	...	४७४ ,, ,,
१०. ,, ,, रत्ननन्दी	...	सन् ५०४ में आचार्य हुये।
११. ,, ,, माणिक्यनन्दी	...	५२८ ,, ,,
१२. ,, ,, मेघचन्द्र	...	५४४ ,, ,,
१३. ,, ,, शान्तिकीर्ति प्रथम	...	५६० ,, ,,
१४. ,, ,, मेरुकीर्ति	...	५८५ ,, [1]

इनके बाद जो दिगम्बर जैनाचार्य हुये, उन्होंने भद्दल पुर (मालवा) से हटाकर जैनसंघ का केन्द्र उज्जैन में बना दिया।[2] इससे भी स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के निकट जैनधर्म को आश्रय मिला था। उसी समय चीनी-यात्री फाह्यान भारत में आया था। उसने मथुरा के उपरान्त मध्यदेश में ९६ पाखण्डों का प्रचार लिखा है। वह कहता है कि "वे सब लोक और परलोक मानते हैं। उनके साधु-संघ हैं। वे भिक्षा करते हैं, केवल भिक्षापात्र नहीं रखते। सब नानारूप से धर्मानुष्ठान करते हैं।"[3] दिगम्बर मुनियों के पास भिक्षा पात्र नहीं होता—वे पाणिपात्र भोजी और उनके संघ होते हैं। तथा वे अहिंसा धर्म का उपदेश मुख्यता से देते हैं। फाह्यान भी कहता है कि "सारे देशमें सिवाय चाण्डाल के कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन खाता है।...न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें हैं।"[4] उसके इस कथन से भी जैनमान्यता का समर्थन होता है। भद्दलपुर, उज्जैनी आदि मध्यदेशवर्ती नगरों में दिगम्बर जैन मुनियों के संघ मौजूद थे और उनके द्वारा अहिंसा धर्म की उन्नति होती थी।

फाह्यान संकाश्य, श्रावस्ती, राजगृह आदि नगरों में भी निर्ग्रन्थ-साधुओं का अस्तित्व प्रगट करता है। संकाश्य उस समय जैन-तीर्थ माना जाता था। संभवतः वह भगवान विमल नाथ तीर्थंकर का केवलज्ञान स्थान है। दो-तीन वर्ष हुये वहीं निकट से एक नग्न जैनमूर्ति निकली थी और वह गुप्तकाल की अनुमान की गई है।[5] इस तीर्थ के सम्बन्ध में निर्ग्रन्थों और बौद्ध भिक्षुओं में वाद हुआ वह लिखता है।[6] श्रावस्ती में भी बौद्धों ने निर्ग्रन्थों से विवाद किया वह बताता है।[7] श्रावस्ती में उस समय सुहृद्ध्वज वंश के जैन राजा राज्य करते थे।[8] कुहाऊं (गोरखपुर) से जो स्कन्दगुप्त के राजकाल का जैनलेख मिला है।[9] उससे स्पष्ट है कि इस ओर अवश्य ही दिगम्बर जैनधर्म उन्नतावस्था पर था।

---

१. पट्टावली जैहि. भाग ६ अंक ७-८ पृष्ठ २९-३० व IA XX 351-352
२. IA, XX, 352.
३. फाह्यान पृष्ठ ४६।
४. फाह्यान, पृष्ठ ३१
५ IHQ. Vol. V p. 142
६. फाह्यान, पृष्ठ ३५-३६
७. फाह्यान, पृष्ठ ४०-४५
८. संप्राजैस्मा० पृष्ठ ६५
९. भाप्रारा० भा० २ पृष्ठ २८९

सांची से एक जैन लेख विक्रम सं० ४६८ भाद्रपद चतुर्थी का मिला है। उसमें लिखा है कि उन्दानके पुत्र आमरकार देव ने ईश्वरवासक गांव और २५ दीनारों का दान किया। यह दान काकनावोट के जैन विहार में पाँच जैनभिक्षुओं के भोजन के लिये और रत्नगृहमें दीपक जलाने के लिये दिया गया था। उक्त आमरकारदेव चन्द्रगुप्त के यहां किसी सैनिकपद पर नियुक्त था।[1] यह भी जैनोत्कर्ष का द्योतक है।

राजगृह पर भी फाह्यान निर्ग्रन्थों का उल्लेख करता है।[2] वहां की सुभद्रगुफा में तीसरी या चौथी शताब्दि का एक लेख मिला है जिससे प्रगट है कि मुनिसंघ ने मुनि वैरदेवको आचार्य पद पर नियुक्त किया था।[3] राजगृहमें गुप्तकालकी अनेक दिगम्बर मूर्तियां भी हैं।[4]

सारांशतः गुप्तकाल में दिगम्बर मुनियों का बाहुल्य था और वे सारे देश में घूम २ कर धर्मोद्योत कर रहे थे।

(१८)

हर्षवर्द्धन तथा हुएनसांग के समय में दिगम्बर-मुनि !

"बौद्धों और जैनियों की भी......संख्या बहुत अधिक थी।......बहुत से प्रान्तीय राजा भी इनके अनुयायी थे। इनके धार्मिक-सिद्धान्त और रीति-रिवाज भी तत्कालीन समाज पर पर्याप्त प्रभाव डाले हुए थे। इनके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में साधुओं, तपस्वियों, भिक्षुओं और यतियों का एक बड़ा भारी समुदाय था, जो उस समय के समाज में विशेष महत्व रखता था।......(हिन्दुओं में) बहुत से साधु अपने निश्चित स्थानों पर बैठे हुए ध्यान-समाधि करते थे, जिनके पास भक्त लोग उपदेश आदि सुनने आया करते थे। बहुत से साधु शहरों व गांवों में घूम घूम कर लोगों को उपदेश एवं शिक्षा दिया करते थे। यही हाल बौद्ध भिक्षुओं और जैन साधुओं का भी था।............साधारणतः लोगों के जीवन को नैतिक एवं धार्मिक बनाने में इन साधुओं, यतियों और भिक्षुओं का बड़ा भारी भाग था।"

—कृष्णचन्द्र विद्यालंकार[5]

गुप्त साम्राज्य के नष्ट होने पर उत्तर-भारत का शासन योग्य हाथों में न रहा। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही हूण जाति के लोगों ने भारत पर आक्रमण करके उस पर अधिकार जमा लिया। उनका राज्य सभी धर्मों के लिए थोड़ा बहुत हानिकर हुआ; किन्तु यशोधर्मन् राजा ने संगठन करके उन्हें परास्त कर दिया। इसके बाद हर्षवर्द्धन् नामक सम्राट् एक ऐसे राजा मिलते हैं जिन्होंने सारे उत्तर भारत में प्रायः अपना अधिकार जमा लिया था और दक्षिण-भारत को हथियाने की भी जिन्होंने कोशिश की थी। इनके राजकाल में प्रजा ने संतोष की सांस ली थी और वह धर्म-कर्म की बातों की ओर ध्यान देने लगी थी।

गुप्तकाल से ही ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान होने लगा था और इस समय भी उसकी बाहुल्यता थी, किन्तु जैन और बौद्ध धर्म भी प्रतिभाशाली थे। धार्मिक जागृति का वह उन्नत काल था। गुप्तकाल से जैन, बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों में वाद और शास्त्रार्थ होना प्रारम्भ हो गये थे। हर्षकाल में उनको वह उन्नतरूप मिला कि समाज में विद्वान ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष

---

१. भाप्रारा. भा. २ पृष्ठ २६३

२. "Here also the Nigantha made a pit with fire in it and poisoned the food of which he invited Buddha to partake. (The Niganthas were ascetics who went naked)—Fa-Hian, Beal., PP. 110 113। यह उल्लेख साम्प्रदायिक द्वेष का द्योतक है।

३. बंबिओ जैस्मा. पृष्ठ १६

४. "Report on the Ancient Jain Remains on the hills of Rajgir" submitted to the Patna Court by R. B. Ramprad Chanda. B. A. Ch. IV. p. 30. (Jain Images of the Gupta and Pala period at Rajgir)

५. हर्षकालीन भारत—"त्याग भूमि" वर्ष २ खण्ड १ पृ० ३०१

गिना जाने लगा[1]। इन विद्वानों में दिगम्बर मुनियों का भी सद्भाव था। सम्राट् हर्ष के राज कवि वाण ने अपने ग्रन्थों में उनका उल्लेख किया है। वह लिखता है कि "राजा जब गहन जंगल में जा पहुंचा तो वहां उसने अनेक तरह के तपस्वी देखे। उनमें नग्न (दिगम्बर) आर्हत (जैन) साधु भी थे[2]।" हर्ष ने अपने महासम्मेलन में उन्हें शास्त्रार्थ के लिए बुलाया था और वह एक बड़ी संख्या में उपस्थित हुए थे।[3] इससे प्रकट है कि उस समय हर्ष की राजधानी के आस-पास भी जैन धर्म का प्रावल्य था, वैसे तो वह सारे भारत में फैला हुआ था। उज्जैन का दिगम्बर जैन संघ अब भी प्रसिद्ध था और उसमें तत्कालीन निम्न दिगम्बर जैनाचार्य मौजूद थे[4] :—

१. श्री दिगं० जैनाचार्य महाकीर्ति,			सन् ६२९ को आचार्य हुये;		
२.	,,	,, विष्णुनन्दि,	,, ६४७	,,	,,
३.	,,	,, श्रीभूषण,	,, ६६९	,,	,,
४.	,,	,, श्रीचन्द्र,	,, ६७८	,,	,,
५.	,,	,, श्रीनन्दि	,, ६९२	,,	,,
६.	,,	,, देशभूषण	,, ७०८	,,	,,

इत्यादि।

सम्राट् हर्ष के समय में (७ वीं श०) चीन देश से हुएनसांग नामक यात्री भारत आया था। उसने भारत और भारत के वाहर दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व वतलाया है।[5] वह उन्हें निर्ग्रन्थ और नंगे साधु लिखता है तथा उनकी केशलुञ्चनक्रिया का भी उल्लेख करता है।[6] वह पेशावर की ओर से भारत में घुसा था। और वहीं सिंहपुर में उसने नंगे जैन मुनियों को पाया था।[7] इसके उपरान्त पंजाब के और मथुरा, स्थानेश्वर, ब्रह्मपुर, अहिक्षेत्र, कपिथ, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, कोशाम्वी, वनारस, श्रावस्ती, इत्यादि मध्य देशवर्ती नगरों में यद्यपि उसनें दिगम्बर मुनियों का पृथक उल्लेख नहीं किया है; परन्तु एक साथ सब प्रकार के साधुओं का उल्लेख करके उसने उनके अस्तित्व को इन नगरों में प्रकट कर दिया है। मथुरा के सम्बन्ध में वह लिखता है कि 'पांच देव मन्दिर भी हैं, जिनमें सब प्रकार के साधु उपासना करते हैं।"[8] स्थानेश्वर के विषय में उसनें लिखा है कि "पांच देवमन्दिर बने हैं, जिसमें नाना जाति के अगणित भिन्न धर्मावलम्वी उपासना करते हैं।"[9] ऐसे ही उल्लेख अन्य नगरों के सम्वन्ध में उसने किये हैं।

राजगृह के वर्णन में हुएनसांग ने लिखा है कि "विपुल पहाड़ी की चोटी पर एक स्तूप उस स्थान में है, जहां प्राचीन-काल में तथागत भगवान् ने धर्म की पुनरावृति की थी। आजकल वहुत से निर्ग्रन्थ लोग (जो नंगे रहते हैं) इस स्थान पर आते हैं और रातदिन अविराम तपस्या किया करते हैं तथा सवेरे से सांझ तक इस (स्तूप) की प्रदक्षिणा करके वड़ी भक्ति से पूजा करते हैं।"[10]

पुण्ड्रवर्द्धन (वंगाल) में वह लिखता है कि "कई सौ देवमन्दिर भी हैं, जिनमें अनेक सम्प्रदाय के विरुद्ध धर्मावलम्वी

---

१. भाइ०, पृ० १०३—१०४।

२. दिमु०, पृ० २१।

३. HARI., p. 270.

४. जैहि०, भा० ६ अंक ७-८ पृ० ३० व IA., XX. 352.

५. "Hieun Tsang found them (Jains) spread through the whole of India and even beyond its boundaries."—AISJ., p. 45. विशेष के लिये व्हांनसांग का भारत भ्रमण (इण्डियन प्रेस लि०) देखो।

६. "The Li-Hi (Nirgranthas) distinguish themselves by leaving their bodies naked & pulling out their hair. Their skin is all cracked, their feet are hard and chapped like cotting trees."
—(St. Julien, Vienna. p. 224)

७. हुआ०, पृ० १४३

८. हुआ०, पृ० १८१

९. हुआ०, पृ० १८६

१०. हुआ०, पृष्ठ ४७४-४७५

उपासना करते हैं। अधिक संख्या निर्ग्रन्थ लोगों (दिगम्बर मुनियों) की है।'[1]

समतट (पूर्वी बंगाल) में भी उसने अनेक दिगंबर साधु पाये थे। वह लिखता है, "दिगंबर साधु, जिनको निर्ग्रन्थ कहते हैं, बड़ी संख्या में पाये जाते हैं।"[2]

ताम्रलिपि में वह विरोधी और बौद्ध दोनों का निवास बतलाता है। कर्णसुवर्ण के सम्बन्ध में भी यही बात कहता है।[3]

कलिंग में इस समय दिगंबर जैन धर्म प्रधान पद ग्रहण किये हुए था। हुएनसांग कहता है कि वहां 'सबसे अधिक संख्या निर्ग्रन्थ लोगों की है।'[4] इस समय कलिंग में सेनवंश के राजा राज्य कर रह थे, जिनका जैनधर्म से सम्बन्ध होना बहुत कुछ संभव है।[5]

दक्षिण कौशल में वह विधर्मी और बौद्ध दोनों को बताता है। आन्ध्र में भी विरोधियों का अस्तित्व वह प्रगट करता है।[6]

चोल देश में वह बहुत से निर्ग्रन्थ लोग बताता है।[7] द्रविड़ के सम्बन्ध में वह कहता है कि "कोई अस्सी देव मन्दिर और असंख्य विरोधी हैं, जिनको निर्ग्रन्थ कहते हैं।"[8]

मालकूट (मलयदेश) में वह बताता है कि "कई सौ देव-मन्दिर और असंख्य विरोधी हैं, जिनमें अधिकतर निर्ग्रन्थ लोग हैं।"[9]

इस प्रकार हुएनसांग के भ्रमण-वृत्तान्त से उस समय प्रायः सारे भारतवर्ष में दिगंबर जैन मुनि निर्बाध विहार और धर्मप्रचार करते हुये मिलते हैं।

(१६)
मध्यकालीन हिन्दू राज्य में दिगम्बर मुनि

"श्री धाराधिप भोजराज मुकुट प्रोताश्मरश्मिच्छटा—
च्छाया कुङ्कुम-पङ्क-लिप्त-चरणाम्भोजात—लक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणि—
स्थेयात्पण्डित-पुण्डरीक-तरणि श्रीमान्प्रभाचंद्रमाः॥"

—चन्द्रगिरि शिलालेख।

राजपूत और दिगम्बर मुनि

हर्ष के उपरांत उत्तर भारत में कोई एक सम्राट् न रहा; बल्कि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में वह देश विभक्त हो गया। इन राज्यों में अधिकांश राजपूतों के अधिकार में थे और इनमें दिगम्बर मुनि निर्बाध विचर कर जनकल्याण करते थे। राजपूतों में अधिकांश जैसे चौहान, पड़िहार आदि एक समय जैन धर्म-भुक्त थे और उनके कुल देवता, चक्रेश्वरी, अम्बा आदि

१. हुभ्रा० ५२६
२. हुभ्रा० पृ० ५३३
३. हुभ्रा पृ० ५३५-५३७
४. हुभ्रा०, पृ० ५४५
५. वीर वर्ष ४ पृ० ३२८-३३२
६. हुभ्रा०, पृ० ५४६-५५७
७. हुभ्रा० पृ० ५७०
८. हुभ्रा० पृ० ५७२
९. हुभ्रा० पृ० ५७४

शासन देवियां थीं[1]।

उत्तर भारत में कन्नौज को राजपूत-काल में भी प्रधानता प्राप्त रही है। वहां का राजा भोज परिहार (८४०-९० ई०) सारे उत्तर भारत का शासनाधिकारी था। जैनाचार्य वप्पभूरि ने उसके दरबार में आदर प्राप्त किया था[2]।

श्रावस्ती, मथुरा, अराईखेड़ा, देवगढ़, बारानगर, उज्जैन आदि स्थान उस समय भी जैन केन्द्र बने हुए थे। ग्यारहवीं शताब्दि तक श्रावस्ती में जैनधर्म राष्ट्रधर्म रहा था। वहां का अन्तिम राजा सुहृद्ध्वज था[3]। उसके संरक्षण में दिगम्बर मुनियों का लोक-कल्याण में निरत रहना स्वाभाविक है।

बनारस के राजा भीमसेन जैन धर्मानुयायी थे और वह अन्त में पिहिताश्रव नामक जैन मुनि हुये थे[4]।

मथुरा में रणकेतु नामक राजा जैन धर्म का भक्त था। वह अपने भाई गुणवर्मा सहित नित्य जिनपूजा किया करता था। आखिर गुणवर्मा को राज्य देकर वह जैन मुनि हो गया था[5]।

सूरीपुर (जिला आगरा) का राजा जितशत्रु भी जैनी था। वह बड़े-बड़े विद्वानों का आदर करता था। अन्त में वह जैन मुनि हो गया था और शान्तिकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुआ था[6]।

मालवा के परमार राजा और दिगम्बर मुनि

मालवा के परमारवंशी राजाओं में मुञ्ज और भोज अपनी विद्यारसिकता के लिये प्रसिद्ध हैं। उनकी राजधानी धारानगरी विद्या की केन्द्र थी। मुञ्ज के दरबार में धनपाल, पद्मगुप्त, धनञ्जय, हलायुद्ध आदि अनेक विद्वान् थे[7]। मुञ्ज नरेश से दिगम्बर जैनाचार्य महासेन ने विशेष सम्मान पाया था[8]। मुञ्ज के उत्तराधिकारी सिंधुराज के एक सामन्त के अनुरोध से उन्होंने 'प्रद्युम्न चरित' काव्य की रचना की थी। कवि धनपाल का छोटा भाई जैनाचार्य के उपदेश से जैन हो गया था, किन्तु धनपाल को जैनों से चिढ़ थी। आखिर उनके दिल पर भी सत्य जैन धर्म का सिक्का जम गया और वह भी जैनी हो गये थे[9]।

दिगम्बर जैनाचार्य श्री शुभचन्द्र भी राजा मुञ्ज के समकालीन थे। उन्होंने राज का मोह त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की थी।[10]

राजा मुञ्ज के समय में ही प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य श्री अमितगति जी हुये थे। वह माथुर संघ के आचार्य माधवसेन के शिष्य थे। 'आचार्यवर्य अमितगति बड़े भारी विद्वान् और कवि थे। इनकी असाधारण विद्वता का परिचय पाने को इनके ग्रन्थों का मनन करना चाहिए। रचना सरल और सुखसाध्य होने पर भी बड़ी गम्भीर और मधुर है। संस्कृत भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था।'[11]

'नीतिवाक्यामृत' आदि ग्रन्थों के रचयिता दिगम्बराचार्य श्री सोमदेव सूरि श्री अमितगति आचार्य के समकालीन थे। उस समय इन दिगम्बराचार्यों द्वारा दिगम्बर धर्म को खूब प्रभावना हो रही थी[12]।

---

१. "वीर", वर्ष ३ पृ० ४७२ एक प्राचीन जैन गुटका में यह बात लिखी हुई है।
२. भाइ०, पृ० १०८ व दिजै०, वर्ष २३ पृ० ८४।
३. संप्राजैस्मा०, पृ० ६५।
४. जैप्र० पृ० २४२।
५. पूर्व०।
६. पूर्व०, पृ० २४१।
७. भाप्रारा०, भा० १ पृ० १००।
८. मप्राजैस्मा०, भूमिका, पृ० २०।
९. भाप्रारा० भा० १ पृ० १०३-१०४।
१०. मजैइ० पृ० ५४-५५
११. विको०, भा० २ पृ० ६४।
१२. विर०, पृ० ११५।

राजा भोज और दिगम्बर मुनि

मुञ्ज के समान राजा भोज के दरबार में भी जैनों को विशेष सम्मान प्राप्त था। भोज स्वयं शैव था, परन्तु 'वह जैनों और हिन्दुओं के शास्त्रार्थ का बड़ा अनुरागी था।' श्री प्रभाचन्द्राचार्य का उसने बड़ा आदर किया था। दिगम्बर जैनाचार्य श्री शान्तिसेन ने भोज की सभा में सैकड़ों विद्वानों से वाद करके उन्हें परास्त किया था[1]।

एक कवि कालिदास राजा भोज के दरबार में भी थे। कहते हैं कि उनकी स्पर्द्धा दिगम्बराचार्य श्री मानतुंग जी से थी। उन्हीं के उकसाने पर राजा भोज ने मानतुंगाचार्य को अड़तालीस कोठों के भीतर बन्द कर दिया था, किन्तु श्री 'भक्तामर स्तोत्र' की रचना करते हुये वह आचार्य अपने योगबल से बन्धनमुक्त हो गए थे। इस घटना से प्रभावित होकर कहते हैं, राजा भोज जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे[2]; किन्तु इस घटना का समर्थन किसी अन्य श्रोत से नहीं होता!

श्री ब्रह्मदेव के अनुसार 'द्रव्यसंग्रह' के कर्त्ता श्री नेमिचन्द्राचार्य भी राजा भोजदेव के दरबार में थे[3]। श्री नयनन्दि नामक दिगम्बर जैनाचार्य ने अपना "सुदर्शन चरित" राजा भोज के राजकाल में समाप्त किया था।[4]

उज्जैनी का दिगम्बर संघ

भोज ने अपनी राजधानी उज्जैनी में स्थापित की थी। उस समय भी उज्जैनी अपने "दि० जैन संघ" के लिए प्रसिद्ध थी। उस समय तक उस संघ में निम्न आचार्य हुए थे[5] :—

अनन्तकीर्ति	...	...	सन् ७०८ ई०
धर्मनन्दि	...	...	,, ७२८ ,,
विद्यानन्दि	...	...	,, ७५१ ,,
रामचन्द्र	...	...	,, ७८३ ,,
रामकीर्ति	...	...	,, ७९० ,,
अभयचन्द्र	...	...	,, ८२१ ,,
नरचन्द्र	...	...	,, ८४० ,,
नागचन्द्र[6]	...	...	,, ८५९ ,,
हरिनन्दि	...	...	,, ८८२ ,,
हरिचन्द्र	...	...	,, ८९१ ,,
महीचन्द्र	...	...	,, ९१७ ,,
माघचन्द्र	...	...	,, ९३३ ,,
लक्ष्मीचन्द्र	...	...	,, ९६६ ,,
गुणकीर्ति	...	...	,, ९७० ,,
गुणचन्द्र	...	...	,, ९९१ ,,
लोकचन्द्र	...	...	,, १००९,,
श्रुतकीर्त्ति	...	...	,, १०२२,,
भावचन्द्र	...	...	,, १०३७,,
महीचन्द्र	...	...	,, १०५८,,

१. भाप्रारा०, भाग १ पृ० ११८-१२१।

२. भक्तामरकथा—जैप्र०, पृ० २३९।

३. द्रसं०, पृष्ठ १ वृत्ति०

४. मप्राजैस्मा० भूमिका पृ० २०

५. जैहि०, भा० ६ अंक ७-८ पृ० ३०-३१

६. ईडर से प्राप्त पट्टावली में लिखा है कि "इन्होंने दश वर्ष विहार किया था और वह स्थिर व्रती थे।"—दिजै० वर्ष १४ अंक १० पृ० १७-२४

आपके संघ में दिग० मुनियों की संख्या अधिक थी और आपके धर्मोपदेश के द्वारा धर्म प्रभावना विशेष हुई थी![1]

इनकी उपस्थितियां 'त्रिविधविधेश्व रवैयाकरणभास्कर-महा-मंडलाचार्यतर्कवागीश्वर' थी। इनके विहार द्वारा खूब प्रभावना हुई[2]।

उपरान्त परमार राजाओं के समय में दिगम्बर मुनि

मालवा के परमार राजाओं में विन्ध्यवर्मा का नाम भी उल्लेखनीय है। इस राजा के राजकाल में प्रसिद्ध जैन कवि आशाधर ने ग्रन्थ रचना की थी और उस समय कई दिगम्बर मुनि भी राजसम्मान पाये हुए थे। इनमें मुनि उदयसेन और मुनि मदनकीर्ति उल्लेखनीय हैं। मुनि मदनकीर्त्ति ही विन्ध्यवर्मा के पुत्र अर्जुनदेव के राज गुरु मदनोपाध्याय अनुमान किये गये हैं। इन्हें और मुनि विशालकीर्त्ति, मुनि विनयचन्द्र आदि को कविवर आशाधर ने जैन सिद्धान्त और साहित्य ज्ञान में निपुण बनाया था। नालछा उस समय जैन धर्म का केन्द्र था।[3]

श्वेताम्बर ग्रन्थ "चतुर्विंशति प्रवन्ध" में लिखा है कि उज्जैनी में विशाल कीर्त्ति नामक दिगम्बराचार्य के शिष्य मदन कीर्त्ति नामक दिगम्बर साधु थे। उन्होंने वादियों को पराजित करके 'महाप्रामाणिक' पदवी पाई थी और कर्णाटक देश में जा कर विजयपुर नरेश कुन्ति भोज के दरबार में आदर पाया था और अनेक विद्वानों को पराजित किया था; किन्तु अन्त में वह मुनि पद से भ्रष्ट हो गए थे।[4]

गुजरात के शासक और दिगम्बर मुनि

मालवा के अनुरूप गुजरात भी दिगम्बर जैन मुनियों का केन्द्र था। अंकलेश्वर में भूतवलि और पुष्पदन्ताचार्य ने दिगम्बर आगम ग्रन्थों की रचना की थी। गिरि नगर के निकट की गुफाओं में दिगम्बर मुनियों का संघ प्राचीन काल से रहता था। भृगुकच्छ भी दिगम्बर जैनों का केन्द्र था।

गुजरात में चालुक्य राष्ट्रकूट आदि राजाओं के समय में दिगम्बर जैन धर्म उन्नतशील था। सोलंकियों की राजधानी अणहिलपुरपट्टन में अनेक दिगम्बर मुनि थे। श्रीचन्द्र मुनि ने वहीं ग्रन्थ रचना की थी[5]। योगचन्द्र मुनि[6] और मुनि कनकामर भी शायद गुजरात में हुए थे। ईडर के दिगम्बर साधु प्रसिद्ध थे।

सोलंकी सिद्धराज ने एक वाद सभा कराई थी; जिसमें भाग लेने के लिए कर्णाटक देश से कुमुदचन्द्र नामक एक दिगम्बर जैनाचार्य आये थे। दिगम्बराचार्य नग्न ही पाटन पहुँचे थे। सिद्धराज ने उनका बड़ा आदर किया था। देवसूरि नामक श्वेताम्बराचार्य से उनका वाद हुआ था[7]। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उस समय भी दिगम्बर जैनों का गुजरात में इतना महत्व था कि शासक राजकुल का भी ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ था।

दिगम्बराचार्य ज्ञानभूषण

गुर्जर, सौराष्ट्र आदि देशों में जिन धर्म का प्रचार श्री दिगम्बर भट्टारक ज्ञानभूषण जी द्वारा हुआ था। अहीर देश में उन्होंने ऐलक पद धारण किया था और वाग्वर देशों में महाव्रतों को उन्होंने अंगीकार किया था। विहार करते हुये वह कर्णाटक, तौलव, तिलंग, द्राविड़, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, रायदेश, भेदपाट, मालव, मेवात, कुरुजांगल, तुरुव, विराटदेश, नमियाड़ देश, टग, राट, नाग, चोल आदि देशों में विचरे थे। तौलव देश के महावादीश्वर विद्वज्जनों और चक्रवर्तियों के मध्य उन्होंने प्रतिष्ठा पाई थी। तुरव देश में पट्दर्शन के ज्ञाताओं का गर्व उन्होंने नष्ट किया था। नमियाड़ देश में जिन धर्म प्रचार के लिए नौ हजार उपदेशकों को उन्होंने नियुक्त किया था। दिल्ली पट्ट के वह सिंहासनाधीश थे। श्रीदेवराय राज, मुदिपालराय, रामनाथ राय, बोमरस-राय, कलपराय, पाण्डुराय आदि राजाओं ने उनके चरणों की वन्दना की थी।[8]

---

१. दिजै०, वर्ष १४ अंक १० पृ० १७-२४।
२. पूर्व०
३. भाप्राारा० भाग १ पृ० १५७ व सागार०, भूमिका पृ० ६
४. जैहि०, भा० ११ पृ० ४८५
५. वीर वर्ष १ पृ० ६३७
६. वीर, वर्ष १ पृ० ६३८
७. विको०, भा० ५ पृ० १०५
८. जैसिभा०, भाग १ किरण ४ पृष्ठ ४८-४९

दिगम्बर जैनाचार्य श्री शुभचन्द्र

श्री ज्ञानभूषण जी के प्रशिष्य श्री शुभचन्द्राचार्य भी दिगम्बर मुनि थे। उनका पट्ट भी दिल्ली में रहा था। उन्होंने भी विहार करते हुए गुजरात के वादियों का मद नष्ट किया था। वह एक अद्वितीय विद्वान और वादी थे। अनेक ग्रन्थों की उन्होंने रचना की थी। पट्टावली में उनके लिए लिखा है कि "वह छन्द-अलंकारादि शास्त्र—समुद्र के पारगामी, शुद्धात्मा के स्वरूपचिन्तन करने ही से निद्रा को विनिष्ट करने वाले, सब देशों में विहार करने से अनेक कल्याणों को पाने वाले, विवेक, विचार, चतुरता, गम्भीरता, धीरता, वीरता और गुणगण के समुद्र, अकृष्ट पात्र वाले, अनेक छात्रों का पालन करने वाले, सभी विद्वत्मण्डली में सुशोभित शरीर वाले, गौड़वादियों के अन्धकार के लिए सूर्य के से, कलिंगवादिरूपी मेघ के लिए वायु के से, कर्णाटवादियों के प्रथम वचन खण्डन करने में परम समर्थ, पूर्ववादीरूपी मातंग के लिए सिंह के से, तौलवादियों की विडम्बना के लिए वीर, गुर्जर वादिरूपी समुद्र के लिए अगस्त्य के से, मालववादियों के लिए मस्तकशूल, अनेक अभिमानियों के गर्व का नाश करने वाले, स्वसमय तथा परसमय के शास्त्रार्थ को जानने वाले और महाव्रत अंगीकार करने वाले थे।"[1]

वारा नगर का दिगम्बर संघ

उज्जैन के उपरान्त दिगम्बर मुनियों का केन्द्र विन्ध्याचल पर्वत के निकट स्थित वारा नगर नामक स्थान हो गया था[2]। वारा एक प्राचीन काल से ही जैनधर्म का गढ़ था। आठवीं या नवीं शताब्दि में वहाँ श्री पद्मनन्दि मुनि ने 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' की रचना की थी। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है कि "वारा नगर में शान्ति नामक राजा का राज्य था। वह नगर धनधान्य से परिपूर्ण था। सम्यग्दृष्टि जनों से, मुनियों के समूह से और जैन मन्दिरों से विभूषित था। राजा शान्तिजिनशासन-वत्सल, वीर और नरपति संपूजित था। श्री पद्मनन्दिजी ने अपने गुरु व अन्यरूप इन दिगम्बर मुनियों का उल्लेख किया है। वीरनन्दि[3], वलनन्दि, ऋषिविजयगुरु, माघनन्दि, सकलचन्द्र और श्रीनन्दि। इन्हीं ऋषियों की शिष्य परम्परा में उपरान्त वारा नगर में निम्नलिखित दिगम्बराचार्यों का अस्तित्व रहा था[4] :—

माघचन्द्र	......	......	सन् १०८३
ब्रह्मनन्दि	......	......	,, १०८७

---

१. जैसिभा०, भा० १ कि० ४ पृ० ४९-५०:—

"छन्दोलंकारादि शास्त्ररित्पत्तिपार प्राप्तानां, शुद्धचिद्रूपचिन्तन विनाशिनिद्राणां, सर्वदेशविहारावाप्तानेकभद्राणां, विवेकविचार चातुर्य्य गाम्भीर्य्यधैर्य्यवीर्य्यगुणगणसमुद्राणां, उत्कृष्टपात्राणां, पालितानेक शच्छात्राणां, विहितानेकोत्तमपात्राणाम् सकलविद्वज्जनसभाशोभितगात्राणां, गौड़वादितमः सूर्य्य, कलिंगवादिजलदसदागति, कर्णाटवादिप्रथमवचन खण्डनसमर्थ, पूर्ववादि मत्तमातंगमृगेन्द्र, तौलवादिविडम्बनवीर, गुर्जर वादिसिन्धुकुम्भोद्भव, मालववादिमस्तकशूल, जिताने का खर्वगर्वत्राटन वज्राधराणां, ज्ञानसकलस्वसमयपरसमय शास्त्रार्थानां, अंगीकृतमहाव्रतानाम्।"

२. IA.. XX. 353—354.

३. "सिरिनिलओ गुणसहिओ रिसिविजय गुरुत्ति विक्खाओ।"

"तव संजमसंपण्णो विक्खाओ माघनन्दिगुरु।"

'णवणियमसीलकलिदो गुणउत्तो सयलचन्द गुरु।"

"तस्सेव य वरसिस्सो णिम्मलवरणाणचरण संजुत्तो।

सम्मद्दंसणसुद्धो सिरिणंदिगुरुत्ति विक्खाओ ॥१५६॥"

"पंचाचार समग्गो छज्जीवदयावरो विगद मोहो।

हरिस-विसाय-विहूणा णामेण य वीरणंदित्ति ॥१५९॥"

"सम्मत्त अभिगदमणो णाणेण तह दंसण चरित्ते य।

परतंतिणियत्तमणो वलणंदि गुरुत्ति विक्खाओ ॥१६१॥"

तवणियमजोगजुत्तो उज्जुत्तो णाणदसण चरित्ते।

आरम्भकरण रहियो णामणे य पउ मणंदीत्ति ॥१६३॥"

"सिरि गुरुविजय सयासे सोऊणं आगमं सुपरिसुद्धं।"

"जिणसासणवच्छलो वीरो—णरवइ संपूजिओ—वाराणयरस्स पहु णरोत्तमो सन्ति भूपालो सम्मादिट्ठिजणोघे मुणिगणणिवहेहि मंडियं रम्मे।" इत्यादि।—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति; जैसा सं०, भाग १ अंक ४ पृ० १५०

४. जैहि०, भा० १ अंक ७-८ पृ० ३१ व IA. XX. 354

शिवनन्दि ……	……	,, १०६१
विश्वचन्द्र ……	……	,, १०६८
हरिनन्दि (सिंहनन्दि)…	……	,, १०६६
भावनन्दि ……	……	सन् ११०३
देवनन्दि ……	……	,, १११०
विद्याचन्द्र ……	……	,, १११३
सूरचन्द्र ……	……	,, १११६
माघनन्दि ……	……	,, ११२७
ज्ञाननन्दि ……	……	,, ११३१
गंगकीर्त्ति ……	……	,, ११४२

इन दिगम्बराचार्यों द्वारा उस समय मध्यदेश में जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ था।

वि० सं० १०२५ में अल्ल नामक राजा की सभा में दिगम्बराचार्य का वाद एक श्वेताम्बर आचार्य से हुआ था।[1]

चन्देल राज्य में दिगम्बर मुनि

चन्देल राजा मदनवर्मदेव के समय (११३०—११६५ ई०) में दिगम्बर धर्म उन्नतरूप रहा था[2]। खजुराहो में घंटाई के मन्दिर वाले शिलालेख से उस समय दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र का पता चलता है[3]।

तेरहवीं शताब्दि में अनन्त वीर्य नामक दिगम्बराचार्य प्रसिद्ध नैयायिक थे। उन्होंने वादियों को गतमद किया था।[4]

इसी समय के लगभग एक गुणकीर्त्ति नामक महामुनि विशद धर्म-प्रचारक थे। उन्ही के उपदेश से पद्मनाभ नामक कायस्थ कवि ने 'यशोधर चरित्र' की रचना की थी।[5]

राजपूताना, मध्यप्रान्त बंगाल आदि देशों के शासक और दिगम्बर मुनि

अजमेर के चौहान राजाओं में भी दिगंवर जैनधर्म का आदर था। बीजोलिया के श्री पार्श्वनाथजी के मन्दिर को दिगम्बर मुनि पद्मनन्दि और शुभचन्द्र के उपदेश से पृथ्वीराज ने मोराकुरी गांव और सोमेश्वर राजा ने रेवाणनामक गाँव भेंट किये थे।[6]

चित्तौर का जैन कीर्ति स्तम्भ वहां पर दिगम्बर जैन धर्म की प्रधानता का द्योतक है। सम्राट कुमारपाल के समय वहां पहाड़ी पर बहुत से दिगम्बर जैन (मुनि) थे।[7]

दिगम्बर जैनाचार्य श्री धर्मचन्द्र जी का सम्मान और विनय महाराणा हम्मीर किया करते थे।[8]

झाँसी ज़िले का देवगढ़ नामक स्थान भी मध्यकाल में दिगम्बर मुनियों का केन्द्र था। वहां पांचवीं शताब्दि से तेरहवीं शताब्दि तक का शिल्प कार्य दिगम्बर धर्म की प्रधानता का द्योतक है।

ग्वालियर में कच्छपघाट (कछवाहे) और पड़िहार राजाओं के समय में दिगम्बर जैनधर्म उन्नत रहा था। ग्वालियर किले की नग्न जैनमूर्तियां इस व्याख्या की साक्षी हैं। वारानगर के बाद दिगंवर मुनियों का केन्द्रस्थान ग्वालियर हुआ था। और

---

१. ADJB, p. 45.

२. विको० भा० ७ पृ० १६२।

३. विको०, भा० ५ पृ० ६८०।

४. ADJB., p. 86

५. उपदेशेन ग्रन्थोऽयं गुणकीर्ति महामुनेः।
कायस्थ पद्मनाभेन रचितः पूर्व्व सूत्रतः॥ —यशोधर चरित्र।

६. राइ०, भा० १ पृ० ३६३

७. "It (जैन कीर्तिस्तम्भ) belongs to the Digambar Jains; many of whom seem to have been upon the Hill in Kumarpal's time." —मप्राजैस्मा०, पृ० १३५

८. "श्रीधर्मचन्द्रोऽजनितस्यपट्टे हमीर भूपाल समर्चनीयः।" जैहि—भा० ६ अंक ७-८ पृ० २६।

वहां के दिगम्बर मुनियों में सं० १२९६ के आचार्य रत्नकीर्ति प्रसिद्ध थे। वह स्याद्वादविद्या के समुद्र, बाल ब्रह्मचारी, तपसी और दयालु थे। उनके शिष्य नाना देशों में फैले हुए थे।[1]

मध्य प्रान्त के प्रसिद्ध हिन्दू शासक कलचूरी भी दिगंबर जैनधर्म के आश्रयदाता थे।

बंगाल में भी दिगम्बर धर्म इस समय मौजूद था, यह बात जैन कथाओं से स्पष्ट है। 'भक्तामर कथा' में चम्पापुर का राजा कर्ण जैनी लिखा है। भ० महावीर की जन्म नगरी विशाला का राजा लोकपाल जैनी था। पटना का राजा धात्रीवाहन श्री शिवभूषण नामक मुनि के उपदेश से जैनी हुआ था। गौड़देश का राजा प्रजापति बौद्धधर्मी था; परन्तु जैनसाधु मतिसागर की वादशक्ति पर मुग्ध होकर प्रजासहित जैनी हुआ था[2]। इस समय का जो जैन शिल्प बंगाल आदि प्रांतों में मिलता है, उससे उक्त जैन कथाओं का समर्थन होता है। आज तक बंगाल में प्राचीन श्रावक 'सराक' लोगों का बड़ी संख्या में मिलना वहां पर एक समय दिगम्बर जैनधर्म की प्रधानता का द्योतक है।

इस प्रकार मध्यकाल के हिन्दू राज्यों में प्रायः समग्र उत्तर भारत में दि० मुनियों का विहार और धर्म प्रचार होता था। आठवीं शताब्दि के उपरान्त जब दक्षिण भारत में दिगम्बर जैनों के साथ अत्याचार होने लगा, तो उन्होंने अपना केन्द्रस्थान उत्तर भारत की ओर बढ़ाना शुरू कर दिया था। उज्जैन, बारानगर, ग्वालियर आदि स्थानों का जैन केन्द्र होना, इस ही बात का द्योतक है। ईस्वी ९-१० शताब्दि में जब अरब का सुलेमान नामक यात्री भारत में आया तो उसने भी यहां नंगे साधुओं को एक बड़ी संख्या में देखा था।[3] सारांशतः मध्यकालीन हिन्दू काल में दिगम्बर मुनियों का भारत में बाहुल्य था।

[२०]

भारतीय संस्कृत-साहित्य में दिगम्बर मुनि

"पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं।
विस्तीर्ण वस्त्रमाशा सुदश कममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी॥
येषां निःसंग तांगी करणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिनास्ते।
धन्याः सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्मनिर्मूलयन्ति॥

—वैराग्यशतक।

भारतीय संस्कृत साहित्य में भी दिगम्बर मुनियों के उल्लेख मिलते हैं। इस साहित्य से हमारा मतलब उस सर्वसाधारणोपयोगी संस्कृत साहित्य से है, जो किसी खास सम्प्रदाय का नहीं कहा जा सकता। उदाहरणतः कविवर भर्तृहरि के शतकत्रय को लीजिये। उनके 'वैराग्यशतक' में उपरोक्त श्लोक द्वारा दिगम्बर मुनि की प्रशंसा इन शब्दों में की गई है कि "जिनका हाथ ही पवित्र बर्तन है, मांग कर लाई हुई भीख ही जिनका भोजन है, दशों दिशायें ही जिनके वस्त्र हैं, सम्पूर्ण पृथ्वी ही जिनकी शय्या है, एकान्त में निःसंग रहना ही जो पसन्द करते हैं, दीनता को जिन्होंने छोड़ दिया है तथा कर्मों को जिन्होंने निर्मूल कर दिया है और जो अपने में ही संतुष्ट रहते हैं, उन पुरुषों को धन्य है[4]।" आगे इसी 'शतक' में कविवर दिगम्बर मुनिवत् चर्या करने की भावना करते हैं:—

---

१. जैहि०, भा० ६ अंक ७-८ पृ० २६;

२. जैप्रा०, पृ० २४०—२४३

३. "In India there are persons, who, in accordance with their profession, wander in the woods and mountains and rarely communicate with the rest of mankind......Some of them go about naked."

—Sulaiman of Arab, Elliot., I. p. 6-

४. वैजै०, पृ ४६

अशीमहिवय भिक्षामाशा वासोवसीमहि ।
शयी महि मही पृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ।।६०।।

अर्थात्—"अब हम भिक्षा ही करके भोजन करेंगे, दिशा ही के वस्त्र धारण करेंगे अर्थात् नग्न रहेंगे और भूमि पर ही शयन करेंगे। फिर भला हमें धनवानों से क्या मतलब ?"[1]

इस प्रकार के दिगम्बर मुनि को कवि क्षमादि गुणलीन अभय प्रकट करते हैं :—

धैर्य यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरंगेहिनी ।
सत्यं मित्र मिदं दया च भगिनी भ्रातामनः संयमः ।।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनं ।
ह्येते यस्यकुटम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः ।।६८।।

अर्थात्—"धैर्य जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है, शान्ति जिसकी स्त्री है, सत्य जिसका मित्र है, दया जिसकी वहिन है, संयम किया हुआ मन जिसका भाई है, भूमि जिसकी शय्या है, दशों दिशायें ही जिसके वस्त्र हैं और ज्ञानामृत ही जिसका भोजन है—यह सब जिसके कुटुंबी हों भला उस योगी पुरुष को किसका भय हो सकता है ?"[2]

'वैराग्यशतक' के उपरोक्त श्लोक स्पष्टतया दिगम्बर मुनियों को लक्ष्य करके लिखे गये हैं। इनमें वर्णित सब ही लक्षण जैन मुनियों में मिलते हैं।

'मुद्राराक्षस' नाटक में क्षपणक जीवसिद्धि का पार्ट दिगम्बर मुनि का द्योतक है[3]। वहां जीवसिद्धि के मुख से कहलाया गया है कि—

"सासणमलिहंताणं पडिवज्जह मोहवाहि वेज्जाणं ।
जेमुत्तमात्तकडुअं पच्छापत्थं मुपदिसन्ति ।।१८।।४।।"

अर्थात्—"मोहरूपी रोग के इलाज करने वाले अर्हतों के शासन को स्वीकार करो, जो मुहूर्त मात्र के लिए कड़ुवे हैं, किंतु पीछे से पथ्य का उपदेश देते हैं।"

इस नाटक के पाँचवें अंक में जीवसिद्धि कहता है कि—

"अलहंताणं पणमामि जेदेगंभीलदाए बुद्धीए ।
लोउत लेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहि गच्छन्दि ।।२।।"

भावार्थ—"संसार में जो बुद्धि की गंभीरता से लोकातीत (अलौकिक) मार्गसे मुक्ति को प्राप्त होते हैं, उन अर्हन्तों को मैं प्रणाम करता हूँ।"[4]

'मुद्राराक्षस' के इस उल्लेख से नन्दकाल में क्षपणक—दिगम्बर मुनियों के निर्वाध विहार और धर्म प्रचार का समर्थन होता है; जैसे कि पहले लिखा जा चुका है।

'वराहमिहिर संहिता' में भी दिगम्बर मुनियों का उल्लेख है। उन्हें वहाँ जिन भगवान का उपासक बताया है[5]। वराहमिहिर के इस उल्लेख से उनके समय में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। अर्हत् भगवान की मूर्ति को भी वह नग्न ही बताते हैं।[6]

---

१. वेजै०, पृ० ४७
२. वेजै०, पृ ४७
३. HDW., p. १०.
४. वेजै०, पृ० ४०–४१
५. "शाक्यान् सर्वहितस्य शान्ति मनसो नग्नान् जिनानां विदुः" ।।१६।६१।।
६. "आजानु लम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च ।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ।।४५।।५८।।
—वराहमिहिर संहिता।

कवि दण्डिन् (आठवीं श०) अपने "दशकुमारचरित्" दिगंबर मुनि का उल्लेख 'क्षपणक' नाम से करते हैं; जिससे उनके समय में नग्नमुनियों का होना प्रमाणित है[1]।

"पञ्चतन्त्र' (तन्त्र ४) का निम्न श्लोक उस काल में दिगंबर मुनियों के अस्तित्व का द्योतक है[2] :—

"स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थ सम्पत् करीं।
ये मूढाः प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्या फलांवेषिणः ॥
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नोकृता मुण्डिताः।
केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥"

"पञ्चतन्त्र" के "अपरीक्षितकारक पञ्चमतन्त्र" की कथा दिगंबर मुनियों से सम्बन्ध रखती है। उससे पाटलिपुत्र (पटना) में दिगम्वर धर्म के अस्तित्व का बोध होता है। कथा में एक नाई को क्षपणक विहार में जाकर जिनेन्द्रभगवान् की वन्दना और प्रदक्षिणा देते लिखा है। उसने दिगम्वर मुनियों को अपने यहां निमन्त्रित किया, इस पर उन्होंने आपत्ति की कि श्रावक होकर यह क्या कहते हो ? व्राह्मणों की तरह यहां आमन्त्रण कैसा ? दि० मुनि तो आहार वेला पर घूमते हुये भक्त श्रावक के यहां शुद्ध भोजन मिलने पर विधि पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं[3]। इस उल्लेख से दिगम्वर मुनियों के निमन्त्रण स्वीकार न करने और आहार के लिये भ्रमण करने के नियम का समर्थन होता है। इस तन्त्र में भी दिगम्वर मुनि को एकाकी, गृहत्यागी, पाणिपात्र भोजी और दिगम्वर कहा है।[4]

"प्रवोधचंद्रोदयनाटक" के अङ्क ३ में निम्नलिखित वाक्य दिगंवर जैन मुनि की तत्कालीन वाहुल्यता के वोधक हैं :—

"सहि पेक्ख पेक्ख एसो गलण्तमल पङ्क पिच्छिलवी-हच्छदेहच्छवीउल्लुञ्चि अचिउरो मुक्कवसणवेसदुद्दसणो सिहिसिहदपिच्छआहत्थो इदोज्जेव पडिवहदि।"

भावार्थ—"हे सखि देख, देख, वह इस ओर आ रहा है। उसका शरीर भयङ्कर और मलाच्छन्न है। शिर के वाल लुञ्चित किये हुये हैं और वह नङ्गा है। उसके हाथ में मोरपिच्छिका है और वह देखने में अमनोज्ञ है।"

इस पर उस सखी ने कहा कि—

"आं ज्ञातं मया, महामोहप्रवर्त्तितोऽयं दिगंवर सिद्धांतः।"
(ततः प्रविशत्ति यथानिर्दिष्टः क्षपणकवेशो दिगम्वर सिद्धांतः)

भावार्थ—"मैं जान गई ! यह मायामोह द्वारा प्रवर्तित दिगंवर (जैन) सिद्धान्त है।" (क्षपणकवेष में दिगम्वर मुनि ने वहां प्रवेश किया।[5]

नाटक के उक्त उल्लेख से इस वात का भी समर्थन होता है कि दिगम्वर मुनि स्त्रियों के सम्मुख घरों में भी धर्मोपदेश के लिये पहुंच जाते थे।

"गोलाध्याय" नामक ज्योतिष ग्रन्थ में दिगम्वर मुनियों की दो सूर्य्य और दो चन्द्रादि विषयक मान्यता का उल्लेख करके उसका निर्सन किया गया है। इस उल्लेख से 'गोलाध्याय' के कर्त्ता के समय में दिगम्वर मुनियों का वाहुल्य प्रमाणित होता है। 'गोलाध्याय' के टीकाकार लक्ष्मीदास दिगंवर सम्प्रदाय से भाव "जैनों" का प्रकट करते हैं और कहते हैं कि "जैनों में

१. वीर, वर्ष २ पृ० ३१७

२. पंत० निर्णयसागर प्रेस सं० १६०२ पृ० १६४—JG. XIV. 124.

३. "क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय......।"भोः श्रावक, धर्मज्ञोऽपि किमेवं वदसि। किं वयं व्राह्मणसमानाः यत्र आमन्त्रण करोषि। वयं सदैव तत्काल परिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाजं श्रावकमवलोक्य तस्य गृहे गच्छामः।' ···पंत., पृ० २-६ व JG: XIV. 126—130

४. 'एकाकीगृहसंत्यक्तः पाणिपात्रे दिगम्वरः।'

५. प्रवोध चन्द्रोदय नाटक अंक ३—JG., XIV. pp. 46-50.

दिगम्बर प्रधान थे।"[1]

संस्कृत साहित्य के उपरोक्त उल्लेखों से दिगंबर मुनियों के अस्तित्व और उनके निर्बाध विहार और धर्म प्रचार करने का समर्थन होता है।

[२१]

दक्षिण भारत में दिगम्बर जैन मुनि।

"सरसा पयसा रिक्तेनाति तुच्छजलेन च।
जिनजन्मादिकल्याणक्षेत्रे तीर्थत्वमाश्रिते ॥३०
नाशमेष्यति सद्धर्मो मारवीर मदच्छिदः।
स्थास्यतीह क्वचित्प्राते विषये दक्षिणादि के ॥४१॥"

—श्री भद्रबाहुचरित्र।

दिगम्बर जैन धर्म दक्षिण भारत में रहना निश्चित है।

दिगंबर जैनाचार्य, राजा चन्द्रगुप्त ने जो स्वप्न देखा उसका फल बताते हुये कह गये हैं कि "जलरहित तथा कहीं थोड़े जल से भरे हुये सरोवर के देखने से यह सच जानो कि जहां तीर्थङ्कर भगवान के कल्याणादि हुये हैं ऐसे तीर्थ स्थानों में कामदेव के मद का छेदन करने वाला उत्तम जिन धर्म नाश को प्राप्त होगा तथा कहीं दक्षिणादि देश में कुछ रहेगा भी[2]!" और दिगम्बराचार्य की यह भविष्यवाणी करीब करीब ठीक ही उतरी है। जबकि उत्तर भारत में कभी २ दिगम्बर मुनियों का अभाव भी हुआ, तब दक्षिण भारत में आज तक बराबर दिगम्बर मुनि होते आये हैं। और दिगंबर जैनों के श्री कुन्दकुन्दादि बड़े २ आचार्य दक्षिण भारत में ही हुये हैं। अतः दक्षिण भारत को दिगंबर मुनियों का गढ़ कहना बेजा नहीं है।

ऋषभदेव और दक्षिण भारत

अच्छा तो यह देखिये कि दक्षिण भारत में दिगंबर मुनियों का सद्भाव किस जमाने से हुआ है? जैन शास्त्र बतलाते हैं कि इस कल्प काल में कर्मभूमि की आदि में श्री ऋषभदेव जी ने सर्वप्रथम धर्म का निरूपण किया था और उनके पुत्र बाहुबलि दक्षिण भारत के शासनाधिकारी थे। पोदनपुर उनकी राजधानी थी। भगवान् ऋषभदेव ही सर्वप्रथम वहां धर्मोपदेश देते हुये पहुंचे थे[3]। वह दिगम्बर मुनि थे, यह पहले ही लिखा जा चुका है। उनके समय में ही बाहुबलि भी राजपाट छोड़कर दिगंबर मुनि हो गये थे। इन दिगम्बर मुनि की विशालकाय नग्नमूर्तियां दक्षिण भारत में अनेक स्थानों पर आज भी मौजूद हैं। श्रवण बेल गोल में स्थिति मूर्ति ५७ फीट ऊंची अति मनोज्ञ है; जिसके दर्शन करने देश-विदेश के यात्री आते हैं। कारकल—वे नूर आदि स्थानों में भी ऐसी ही मूर्तियां हैं। दक्षिण भारत में बाहुबलि मुनिराज की विशेष मान्यता है।[4]

---

१. (Goladhyaya 3, Verses 8—10)—The naked sectarians and the rest affirm that two suns two moons and two sets of stars appear alternately; against them I allege this reasoning. How absurd is the notion which you have formed of duplicate suns, moons, and stars, when you see the revolution of the polar fish (Ursa Minor).' The commentator Lakshamidas agree that the Jainas are here meant……& remarks that they are described as 'naked sectarians' etc. because the class of Digambaras is a principal one among these people."

—AR., Vol. IX. p. 317.

२. भद्र, पृ० ३३
३. आदिपुराण
४. जैशिसं०, भूमिका पृ० १७-३२

अन्य तीर्थङ्करों का दक्षिण भारत से सम्बन्ध

ऋषभदेव के उपरान्त अन्य तीर्थङ्करों के समय में भी दिगंबर धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में रहा था। तेईसवें तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथजी के तीर्थ में हुये राजा करकण्डु ने आकर दक्षिण भारत के जैन तीर्थों की वन्दना की थी। मलय पर्वत पर रावण के वंशजों द्वारा स्थापित तीर्थङ्करों की विशाल मूर्तियों की भी उन्होंने वन्दना की थी[1]। वहीं वाहुवलि की और श्रीपार्श्वनाथजी की मूर्तियां थीं जिनको रामचन्द्रजी ने लङ्का से लाकर यहाँ स्थापित किया था[2]। अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर ने भी अपने पुनीत चरणों से दक्षिण भारत को पवित्र किया था। मलयपर्वतवर्ती हेमांगदेश में जव वीर प्रभु पहुंचे थे तो वहाँ का जीवन्धर नामक राजा उनके निकट दिगम्वर मुनि हो गया था[3]। इस प्रकार एक अत्यन्त प्राचीनकाल से दिगम्वर मुनियों का सद्भाव दक्षिण भारत में है।

दक्षिण भारत के इतिहास के काल

किन्तु आधुनिक इतिहास-वेत्ता दक्षिण भारत का इतिहास ईसवी पूर्व छठी या चौथी शताब्दि से आरम्भ करते हैं और उसे निम्न प्रकार छै भागों में विभक्त करते हैं[४]:—

(१) प्रारम्भिक काल—ईस्वी ५ वीं शताब्दि तक;
(२) पल्लवकाल—ई० ५ वीं से ९ वीं शताब्दि तक;
(३) चोल अभ्युदय काल—ई० ९ वीं से १४ वीं शताब्दि तक;
(४) विजयनगर साम्राज्य का उत्कर्ष—१४ वीं से १६ वीं श०
(५) मुसलमान और मरहट्टा काल - १६ वीं से १८ वीं श०
(६) व्रिटिश काल—१८ वीं से १९ वीं श० ई०

दक्षिण भारत के उत्तर सीमावर्ती प्रदेश के इतिहास के छै भाग इस प्रकार हैं—

(१) आन्ध्र काल—ई० ५ वीं श० तक
(२) प्रारम्भिक चालुक्य काल—ई० ५ वीं से ७ वीं श० और राष्ट्रकूट ७ वीं से १० वीं श०
(३) अन्तिम चालुक्य काल—ई० १० वीं से १४ वीं श०
(४) विजयनगर साम्राज्य
(५) मुसलमान—मरहट्टा
(६) व्रिटिश काल।

प्रारम्भिक काल में दिगम्वर मुनि।

अच्छा तो उपरोक्त ऐतिहासिक कालों में दिगम्वर जैन मुनियों के अस्तित्व को दक्षिण भारत में देख लेना चाहिये। दक्षिण भारत के "प्रारम्भिक काल" में चेर, चोल, पाण्ड्म—यह तीन राजवंश प्रधान थे[५]। सम्राट् अशोक के शिलालेख में भी दक्षिण भारत के इन राजवंशों का उल्लेख मिलता है[६]। चेर, चोल और पाण्ड्य—तीनों यह ही राजवंश प्रारम्भ से जैन धर्मानुयायी थे[७]। जिस समय करकण्डु राजा सिंहल द्वीप से लौट कर दक्षिण भारत—द्राविड़ देश में पहुंचे तो इन राजाओं से उनकी मुठभेड़ हुई थी। किन्तु रणक्षेत्र में जव उन्होंने इन राजाओं के मुकुटों में जिनेन्द्र भगवान् की मूर्त्तियां देखीं तो इनसे सन्धि

१. करकण्डु चरित् संधि ५
२. जैशिसं०, भूमिका पृ० २६
३. भमवु०, पृष्ठ ९६
४. SAI., p. 31
५. SAI., P. 33
६. त्रयोदश शिलालेख
७. "Pandya Kingdom can boast of respectable antiquity. The prevailing religion in early times in their Kingdom was Jain creed." —मजैस्मा पृ०, १०५

कर ली[1]। कलिङ्गचक्रवर्ती ऐलखारवेल जैन थे। उनकी सेवा में इन राजाओं में से पाण्ड्यराज ने स्वतः राज-भेंट भेजी थी[2]। इससे भी इन राजाओं का जैन होना प्रमाणित है, क्योंकि एक श्रावक का श्रावक के प्रति अनुराग होना स्वाभाविक है। और जब ये राजा जैन थे तब इनका दिगम्बर जैन मुनियों को आश्रय देना प्राकृत आवश्यक है।

पाण्ड्यराज उग्रपेरूवलूटी (१२८-१४० ई०) के राजदरबार में दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द विरचित तामिलग्रन्थ "कुर्रल" प्रगट किया गया था[3]। जैन कथाग्रन्थों से उस समय दक्षिण भारत में अनेक दिगम्बर मुनियों का होना प्रगट है। 'करकण्डु चरित्' में कलिंग, तेर, द्रविड़ आदि दक्षिणवर्ती देशों में दिगम्बर मुनियों का वर्णन् मिलता है। भ० महावीर ने संघ-सहित इन देशों में विहार किया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। तथा मौर्य चन्द्रगुप्त के समय श्रुतकेवली भद्रबाहु का संघ सहित दक्षिण भारत को जाना इस बात का प्रमाण है कि दक्षिण भारत में उनसे पहले दिगम्बर जैनधर्म विद्यमान था। जैनग्रन्थ "राजावली कथा" में वहां दिगम्बर जैन मन्दिरों और दिगम्बर मुनियों के होने का वर्णन मिलता है। बौद्धग्रन्थ 'मणिमेखलै' में भी दक्षिण भारत में ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दियों में दिगम्बर धर्म और मुनियों के होने का उल्लेख मिलता है[4]।

'श्रुतावतार कथा' से स्पष्ट है कि ईस्वी की पहली शताब्दि में पश्चिम और दक्षिण भारत दिगम्बर जैनधर्म के केन्द्र थे। श्रीधर सेनाचार्य जी का संघ गिरनार पर्वत पर उस समय विद्यमान था। उनके पास आगम ग्रन्थों को अवधारण करने के लिए दो तीक्ष्ण-बुद्धि शिष्य दक्षिण मथुरा से उनके पास आये थे और उपरान्त उन्होंने दक्षिण मथुरा में चतुर्मास व्यतीत किया था। इस उल्लेख से उस समय दक्षिण मदुरा का दिगम्बर मुनियों का केन्द्र होना सिद्ध है[5]।

"नाल दियार" और दिगम्बर मुनि।

तामिल जैन काव्य "नालदियार", जो ईस्वी पांचवीं शताब्दि की रचना है, इस बात का प्रमाण है कि पाण्ड्यराज का देश प्राचीन काल में दिगम्बर मुनियों का आश्रय-स्थान था। स्वयं पाण्ड्यराज दिगम्बर मुनियों के भक्त थे। "नालदियार" की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक दफा उत्तर भारत में दुर्भिक्ष पड़ा। उससे बचने के लिये आठ हजार दिगम्बर मुनियों का संघ पाण्ड्यदेश में जा रहा। पाण्ड्यराज उन मुनियों की विद्वत्ता और तपस्या को देखकर उनका भक्त बन गया। जब अच्छे दिन आये तो इस संघ ने उत्तर भारत की ओर लौट जाना चाहा; किन्तु पाण्ड्यराज उनकी सत्संगति छोड़ने के लिये तैयार न थे। आखिर उस मुनिसंघ का प्रत्येक साधु एक एक श्लोक अपने अपने आसन पर लिखा छोड़ कर विहार, कर गये। जब ये श्लोक एकत्र किये गये तो वह संग्रह एक अच्छा खासा काव्यग्रन्थ बन गया। यही "नालदियार" था[6]। इससे स्पष्ट है कि पाण्ड्य देश उस समय दिग० जैनधर्म का केन्द्र था और पाण्ड्य राज कलभ्रवंश के सम्राट् थे। यह कलभ्रवंश उत्तर भारत से दक्षिण में पहुंचा था और इस वंश के राजा दिगम्बर मुनियों के भक्त और रक्षक थे[7]।

---

१. "तहि अत्थि विकितिय दिणसराउ-संचल्लिउ त/करकण्डु राउ।
ता दिविडदेसुमहि अलु भमन्तु—संपत्तऊ तहि मच्छरुवहन्तु॥
तहिं चोडे चोर पंडिय णिवाइं—केणा विखणद्धेते मिलीयाहि।"
"करकण्डएं घरियाते सिरसो सिरमउड मत्तिय वरणेहिं तहो।
मउड़ मंहि देखिवि जिणपणिव करकण्डवोजायउ बहुलु दुहु॥१०॥
—करकण्डुचरित् संधि ८

२. JBORS., III p. 446.

३. मजैस्मा०, पृ० १०५

४. SSIJ., pp. ३२-३३

५. श्रुता० पृ० १६-२०

६. SSI.J., p. 91

७. मजैस्मा०, भूमिका पृ० ८-६

गङ्गवंश के राजा और दिगम्बर मुनिगण

ईस्वी दूसरी शताब्दि में मैसूर में गंगवंशी क्षत्री राजा माधव कोंगुणिवर्मा राज्य कर रहे थे।[1] उनके गुरु दि० जैनाचार्य सिंहनन्दि थे। गंगवंश की स्थापना में उक्त आचार्य का गहरा हाथ था। शिला लेखों से प्रकट है कि इक्ष्वाक् (सूर्य वंश) के राजा धनञ्जय की सन्तति में एक गंगदत्त नामका राजा प्रसिद्ध हुआ और उसी के नाम से इस वंश का नाम 'गंग' वंश पड़ा था। इस गंग वंश में एक पद्मनाभ नामक राजा हुआ; जिसका झगड़ा उज्जैन के राजा महीपाल से होने के कारण वह दक्षिण भारत की ओर चला गया था। उसके दो पुत्र ददिग और माधव भी उसके साथ गये थे। दक्षिण में पेरूर नामक स्थान पर उन दोनों भाइयों की भेंट कणूवगण के आचार्य सिंहनन्दि से हुई; जिन्होंने उन्हें निम्न प्रकार उपदेश दिया था—

"यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा भंग करोगे, यदि तुम जिन शासन से हटोगे, यदि तुम पर-स्त्री का ग्रहण करोगे, यदि तुम मद्य व मांस खाओगे, यदि तुम अधर्मो का संसर्ग करोगे, यदि तुम आवश्यकता रखने वालों को दान न दोगे और यदि तुम युद्ध में भाग जाओगे तो तुम्हारा वंश नष्ट हो जायगा।[2]

दिगम्बराचार्य के इस साहस बढ़ाने वाले उपदेश को ददिग और माधव ने शिरोधार्य किया और उन आचार्य के सहयोग से वह दक्षिण भारत में अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे। उपरान्त इस वंश के सभी राजाओं ने जैनधर्म का प्रभाव बढ़ाने का उद्योग किया था। दिगम्बर जैनाचार्य की कृपा से राज्य पा लेने की याददाश्त में इन्होंने अपनी ध्वजा में "मोरपिच्छिका" का चिह्न रक्खा था, जो दिगम्बर मुनियों के उपकरणों में से एक है।

गंगवंशी अविनीत कोंगुणी (सन् ४२५-४७८) ने पुन्नाट १०००० में जैन मुनियों को भूमिदान दिया था। गंगवंशी दुर्वनीति के गुरु 'शब्दावतार' के कर्त्ता दिगम्बराचार्य श्री पूज्यपाद थे।[3]

कादम्ब राजागण दिग० मुनियों के रक्षक थे

महाराष्ट्र और कोन्कन देशों की ओर उस समय कादम्ब वंश के राजा लोग उन्नत हो रहे थे। यह वंश (१) गोआ और (२) बनवासी, ऐसे दो शाखाओं में बंटा हुआ था और इसमें जैनधर्म की मान्यता विशेष थी। दिगम्बर गुरुओं की विनय कादम्ब राजा खूब करते थे। एक विद्वान् लिखते हैं कि—

"Kadamba kings of the middle period Mrigesa to Harivarma were unable to resist the onset of Jainism; as they had to bow to the "Supreme Arhats" and endow lavishly the Jain ascetic groups. Numerous sects of Jaina priests, such as the Yapiniyas, ths Nirgranthas and the Kurchakas are found living at Palasika. (IA. VII. 36—37). Again Svetpatas and Aharashti are also mentioned. (Ibid. VI. 31) Banavase and Palasika were thus crowded centres of powerful Jain monks. Four Jaina Mss. named Jayadhavala, Vijaya Dhavala, Atidhavala and Mahadhavala written by Jaina Gurus Virasena and Jinasena living at Banavase during the rule of the early Kadambas were recently discovered." —QJMS. XXII. p. 61-62

अर्थात्—"मध्यकाल के मृगेश से हरिवर्मा तक कदम्ब वंशी राजागण जैनधर्म के प्रभाव से अपने को बचा न सके। 'महान् अर्हतदेव' को नमस्कार करते और जैन साधु-संघों को खूब दान देते थे। जैन साधुओं के अनेक संघ जैसे यापनीय[4] निर्ग्रन्थ[5] और कूर्चक[6] कादम्बों की राजधानी पालाशिक में रह रहे थे। श्वेतपट[7] और अहराष्टि[8] संघों के वहां होने का उल्लेख भी मिलता है। इस तरह पालाशिक और बनवासी सबल जैन साधुओं से वेष्टित मुख्य जैनकेन्द्र थे। दिगम्बर जैन

१. रश्रा०, परिचय, पृ० १६५
२. मजैस्मा, पृ० १४६-१४७
३. मजैस्मा०, पृ० १४६
४. यापनीय संघके मुनिगण दिगम्बर भेष में रहते थे, यद्यपि वे स्त्री मुक्ति आदि मानते थे। देखो दर्शनसार
५. 'निर्ग्रन्थ=दिगम्बर मुनि
६. 'कूर्चक' किन जैनसाधुओं का द्योतक है यह प्रकट नहीं है।
७. श्वेतपट=श्वेताम्बर
८. अहराष्टि संभवतः दिगम्बर मुनियों का द्योतक है। शायद 'अह्रीक' शब्द से इसका निकास हो।

गुरु वीरसेन और जिनसेन ने जिन जयधवल, विजयधवल, अतिधवल और महाधवल नामक ग्रन्थों की रचना बनवासी में रहकर प्रारम्भिक कदम्ब राजाओं के समय में की थी, उन चारों ग्रन्थों की प्रतियां हाल ही में उपलब्ध हुई हैं।"

प्रो० शेषागिरि राउ इन प्रारम्भिक कदम्बों को भी जैनधर्म का भक्त प्रकट करते हैं। उनके राज्य में दिगम्बर जैन मुनियों को धर्म प्रचार करने की सुविधायें प्राप्त थीं[१]। इस प्रकार कदम्ब वंशी राजाओं द्वारा दिगम्बर मुनियों का समुचित सम्मान किया गया था।

पल्लवकाल में दिगम्बर मुनि।

एक समय पल्लव वंश के राजा भी जैनधर्म के रक्षक थे। सातवीं शताब्दि में जब ह्वानसांग इस देश में पहुंचा तो उसने देखा कि यहां दिगम्बर जैन साधुओं (निर्ग्रन्थों) की संख्या अधिक है। पल्लव वंश के शिवस्कंदवर्मा नामक राज्य के गुरु[२] दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द थे। उपरान्त इस वंश का प्रसिद्ध राजा महेन्द्रवर्म्मन् पहले जैन था और दिगम्बर साधुओं की विनय करता था[३]।

चोलदेश में दिगम्बर मुनि।

चोलदेश में भी उस चीनी यात्री ने दिगंबरधर्म प्रचलित पाया था[४]। मलकूट (पाण्ड्यदेश) में भी उसने नंगे जैनियों को बहुसंख्या में पाया था[५]। सातवीं शताब्दि के मध्यभाग में पाण्ड्यदेश का राजा कुण या सुन्दर पाण्ड्य दिगम्बर मुनियों का भक्त था। उसके गुरु दिगम्बराचार्य श्री अमलकीर्ति थे[६] और उसका विवाह एक चोल राजकुमारी के साथ हुआ था, जो शैव थी। उसी के संसर्ग से सुन्दर पाण्ड्य भी शैव हो गया था[७]।

दशवीं श० तक प्रायः सब राजा दिग० जैनधर्म के आश्रयदाता थे

सच बात तो यह है कि दक्षिण भारत में दिगम्बर जैनधर्म की मान्यता ईस्वी दसवीं शताब्दि तक खूब रही थी। दिगम्बर मुनिगण सर्वत्र विहार करके धर्म का उद्योत करते थे। उसी का परिणाम है कि दक्षिण भारत में आज भी दिगम्बर मुनियों का सद्भाव है। मि० राइस इस विषय में लिखते हैं कि—

"For more than a thousand years after the begining of the Christian era, Jainism was the religion professed by most of the rulers of the Kanarese people. The Ganga Kings of Talkad, the Rashtra Kuta Kalachurya Kings of Manyakhet and the early Hoysalas were all Jains. The Brahmanical Kadamba and early Chalukya Kings were tolerant of Jainism. The Pandya Kings of Madura were Jainas and Jainism was dominant in Gujerat and Kathiawar."[८]

भावार्थ—"ईस्वी सन् के प्रारंभ होने से एक हजार से ज्यादा वर्षों तक कन्नड़ देश के अधिकांश राजाओं का मत जैनधर्म था। तलकांड के गंग राजागण, मान्यखेट के राष्ट्रकूट और कलाचूर्य शासक और प्रारंभिक होयसल नृप सब ही जैनी थे। ब्राह्मणमत को मानने वाले जो कादंब राजा थे उन्होंने और प्रारम्भ के चालुक्यों ने जैन धर्म के प्रति उदारता का परिचय दिया था। मदुरा के पाड्यराजा जैन ही थे और गुजरात तथा काठियावाड़ में भी जैन धर्म प्रधान था।

---

१. SSIJ., pt. II p. 69-72
२. P. S. Hist. Intro., p. XV
३. EHI. p. 495
४. हुआ०, पृ० ५७०
५. हुआ पृ० ५७४—"The nude Jainas were present in multitudes."—EHI p. 473
६. ADJB p. 46
७. EHI p. 475
८. HKL., p. 16

आन्ध्र और चालुक्य काल में दिगम्बर मुनि

आन्ध्रवंशी राजाओं ने जैन धर्म को आश्रय दिया था, यह पहले लिखा जा चुका है। चोल और चालुक्य अभ्युदय काल में दिगम्बर धर्म प्रचलित रहा था। चालुक्य राजाओं में पुलकेशी द्वितीय, विनयादित्य, विक्रमादित्य आदि ने दिगम्बर विद्वानों का सम्मान किया था। विक्रमादित्य के समय में विजय पंडित नामक दिगम्बर जैन विद्वान एक प्रतिभाशाली वादी थे। इस राजा ने एक जैन मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था।[1] चालुक्यराज गोविन्द तृतीय ने दिगम्बर मुनि अर्ककीर्ति का सम्मान किया और दान दिया था। वह मुनि ज्योतिष विद्या में निपुण थे।[2] वेंगिराज चौलुक्य विजयादित्य ६म के गुरु दिगम्बराचार्य अर्हन्नन्दि थे। इन आचार्य की शिष्या चामेकाम्बा के कहने पर राजा ने दान दिया था।[3] सारांश यह कि चालुक्य राज्य में दिगम्बर मुनियों और विद्वानों ने निरापद हो धर्मोद्योत किया था।

राष्ट्रकूट काल में दिगम्बर मुनि

राष्ट्रकूट अथवा राठौर राजवंश जैन धर्म का महान् आश्रयदाता था। इस वंश के कई राजाओं ने अणुव्रतों और महाव्रतों को धारण किया था, जिसके कारण जैन धर्म की विशेष प्रभावना हुई थी। राष्ट्रकूट राज्य में अनेकानेक दिग्गज विद्वान् दिगम्बर मुनि विहार और धर्मप्रचार करते थे। उनके रचे हुए अनूठे ग्रन्थ रत्न आज उपलब्ध हैं। श्री जिनसेनाचार्य का "हरिवंशपुराण", श्री गुणभद्राचार्य का "उत्तर पुराण", श्री महावीराचार्य का "गणितसार संग्रह" आदि ग्रन्थ राष्ट्रकूट राजाओं के समय की रचनायें हैं[4]। इन राजाओं में अमोघवर्ष प्रथम एक प्रसिद्ध राजा था। उसकी प्रशंसा अरब के लेखकों ने की है और उसे संसार के श्रेष्ठ राजाओं में गिना है[5]। वह दिगम्बर जैनाचार्यों का परम भक्त था।

सम्राट् अमोघ वर्ष दिगम्बर मुनि थे

उसने स्वयं राज-पाट त्याग कर दिगम्बर मुनि का व्रत स्वीकार किया था[6]। उसका रचा हुआ 'रत्नमालिका' एक प्रसिद्ध सुभाषित ग्रन्थ है। उसके गुरु दिगम्बराचार्य श्री जिनसेन थे, जैसे कि "उत्तर पुराण" के निम्न श्लोक में कहा गया है कि वे श्री जिनसेन के चरणों में नतमस्तक होते थे :—

"यस्य प्रांशु नखांशुजाल विसरद्धारान्तराविर्भव—
त्पादाम्भोजरजः पिशंगमुकुट प्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमाज्जिनसेनपूज्यभगवत्पातो जगन्मंगलम्॥"

अर्थात्—"जिन श्री जिनसेन के देदीप्यमान नखों के किरण समूह से फैलती हुई धारा वहती थी और उसके भीतर जो उनके चरणकमल की शोभा को धारण करते थे उनकी रज से जब राजा अमोघवर्ष के मुकुट के ऊपर लगे हुए रत्नों की कांति पीली पड़ जाती थी तब वह राजा अमोघवर्ष आपको पवित्र मानता था और अपनी उसी अवस्था का सदा स्मरण किया करता था, ऐसे श्रीमान् पूज्यपाद भगवान् श्री जिनसेनाचार्य सदा संसार का मंगल करें।"

अमोघवर्ष के राज्य काल में एकान्तपक्ष का नाश होकर स्याद्वाद मत की विशेष उन्नति हुई थी। इसलिये दिगम्बराचार्य श्री महावीर "गणितसार संग्रह" में उनके राज्य की वृद्धि की भावना करते हैं[7]। किन्तु इन राजा के बाद राष्ट्रकूट राज्य

---

१. SSIJ., pt. I p. 111
२. ADJB, p, 97 व विको०, भा० ५ पृ० ७६
३. ADJB. p. 68
४. SSIJ., pp. 11-112
५. Elliot., Vol. I pp. 3-24—"The greatest king of India is the Balahara, whose name imports 'king of Kings'."—Ibu Khurdabh, व भाप्रारा०, भाग ३ पृ० १३-१५
६. 'रत्नमालिका' में अमोघवर्ष ने इस बात को इन शब्दों में स्वीकार किया है :—
"विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचिताऽमोघवर्षेण सुधियां सदलङ्कृतिः॥"
७. "विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुंगस्य वर्द्धतां तस्य शासनं॥६॥"

की शक्ति छिन्न-भिन्न होने लगी थी। यह बात गंगावाडी के जैनधर्मानुयायी गंगराजा नरसिंह को सहन नहीं हुई। उन्होंने तत्कालीन राठौर राजा की सहायता की थी और राठौर राजा इन्द्र चतुर्थ को पुनः राज्यसिंहासन पर बैठाया था। राजा इन्द्र दिगम्बर जैनधर्म का अनुयायी था और उसने सल्लेखना व्रत धारण किया था[1]।

गंगराजा और सेनापति चामुण्डराय

इस समय गंगवाडी के गंगराजाओं ने जैनोत्कर्ष के लिये खासा प्रयत्न किया था। रायमल्ल सत्यवाक्य और उनके पूर्वज मारसिंह के मन्त्री और सेनापति दिगम्बर जैन धर्मानुयायी वीरमार्तण्ड राजा चामुण्डराय थे। इस राजवंश की राजकुमारी पनिबव्वेने आर्यिका के व्रत धारण किये थे[2]। श्री अजितसेनाचार्य और नेमिचन्द्राचार्य इन राजाओं के गुरु थे। चामुण्डराय जी के कारण इन राजाओं द्वारा जैन धर्म की विशेष उन्नति हुई थी। दिगम्बर मुनियों का सर्वत्र आनन्दमई विहार होता था।[3]

कलचूरि वंश के राजा दिगम्बर मुनियों के बड़े संरक्षक थे

किन्तु गंगों का साहाय्य पाकर भी राष्ट्रकूट वंश अधिक टिक न सका। और पश्चिमीय चालुक्य प्रधानता पा गये। किन्तु यह भी अधिक समय तक राज्य न कर सके—उनको कलचूरियों ने हरा दिया। कलचूरी वंश के राजा जैनधर्म के परम भक्त थे। इनमें विज्जलराजा प्रसिद्ध और जैन धर्मानुयायी था। इसी राजा के समय में वासव ने "लिंगायत" मत स्थापित किया था। किन्तु विज्जल राजा की दिगम्बर जैन धम के प्रति अटूट भक्ति के कारण वासव अपने मत का बहुप्रचार करने में सफल न हो सका था। आखिर जब विज्जलराज कोल्हापुर के शिलाहार राजा के विरुद्ध युद्ध करने गये थे, तब इस वासव ने धोखे से उन्हें विष देकर मार डाला था[4]। और तब कहीं लिंगायत मत का प्रचार हो सका था। इस घटना से स्पष्ट है कि विज्जल दिगम्बर मुनियों के लिये कैसा आश्रय था!

होयशाल वंशी राजा और दिगम्बर मुनि

मैसोर के होयसाल वंश के राजागण भी दिगम्बर मुनियों के आश्रयदाता थे। इस वंश की स्थापना के विषय में कहा जाता है कि साल नाम का एक व्यक्ति एक मन्दिर में एक जैन यति के पास विद्याध्ययन कर रहा था, उस समय एक शेर ने उन साधु पर आक्रमण किया। साल ने शेर को मार कर उनकी रक्षा की और वह 'होयसाल' नाम से प्रसिद्ध हुआ था।[5] उपरान्त उन्हीं जैन साधु का आशीर्वाद पाकर उसने अपने राज्य की नींव जमाई थी; जो खूब फला फूला था। इस वंश के सबही राजाओं ने दिगम्बर मुनियों का आदर किया था, क्योंकि वे सब जैन थे[6]। होयसाल राजा विनयदित्य के गुरु दिगम्बर साधु श्री शान्तिदेव मुनि थे[7]। इन राजाओं में विहिदेव अथवा विष्णुवर्द्धन राजा प्रसिद्ध था। वह भी जैन धर्म का दृढ़ श्रद्धानी था। उसकी रानी शान्तलदेवी प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य श्री प्रभाचन्द्र की शिष्या थी।[8], किन्तु उसकी एक दूसरी रानी वैष्णवधर्म की अनुयायी थी। एक रोज राजा इस रानी के साथ राजमहल के झरोखे में बैठा हुआ था कि सड़क पर एक दिगम्बर मुनि दिखाई दिये। रानी ने राजा को बहकाने के लिये यह अवसर अच्छा समझा। उसने राजा से कहा कि "यदि दिगम्बर साधु तुम्हारे गुरु हैं तो भला उन्हें बुला कर अपने हाथ से भोजन करा दो"। राजा दिगम्बर मुनियों के धार्मिक नियम को भूल कर कहने लगे कि "यह कौन बड़ी बात है"। अपने हीन अंग का उसे ख्याल न रहा। दिगम्बर मुनि अंगहीन, रोगी आदि के हाथ से भोजन ग्रहण न करेंगे, इसका उसने ध्यान भी न दिया और मुनिराज को पड़गाह लिया। मुनिराज अंतराय हुआ जानकर वापस चले गये। राजा इस पर चिढ़ गया और वह वैष्णव धर्म में दीक्षित हो गया[9]। किन्तु उसके वैष्णव हो जाने पर भी दिगम्बर मुनियों का बाहुल्य उसके राज्य में बना रहा। उसकी अग्रमहषी शान्तल देवी अब भी दिगम्बर मुनियों की भक्त थी और उसके सेनापति तथा प्रधान मन्त्री गंगराज भी दिगम्बर मुनियों के परम सेवक थे। उनके संसर्ग से विष्णुवर्द्धन ने अन्तिम समय में भी दिगम्बर मुनियों का सम्मान किया और जैन मन्दिरों को दान दिया था[10]। उनके उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम द्वारा भी दिगम्बर मुनियों का सम्मान हुआ था। नरसिंह का प्रधान मन्त्री हुल्ल दिगम्बर मुनियों का परम भक्त था। उस समय दक्षिण भारत

---

१. SSIJ. pt. Ip. 112
२. मजैस्मा० पृ० १५०
३. वीर, वर्ष ७ अङ्क १-२ देखो।
४. मजैस्मा०, पृ० १५५-५६
५. SSIJ, pt. Ip. 115
६. मजैस्मा० पृ० १५६-१५७
७. SSIJ. pt. Ip. 115
८. Ibid. p. 116
९. AR, VoL. IXp. 266
१०. मजैस्मा० प्रस्तावना पृ० १३

में चामुण्डराय, गंगराज और हुल्ल दिगम्बर धर्म के महान् प्रभावक और स्तम्भ समझे जाते थे।[1] वल्लालराय होयसाल के गुरु श्री वासपूज्यव्रती थे[2]। राजा पुनिस होयसाल के गुरू अजीत मुनि थे।[3]

विजयनगर साम्राज्य में दिगम्बर मुनि

विजयनगर साम्राज्य की स्थापना आर्य-सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिये हुई थी। वह हिन्दू संगठन का एक आदर्श था। शैव वैष्णव-जैन—सब ही कंधे से कंधा जुटा कर धर्म और देश रक्षा के कार्य में पगे हुए थे। स्वयं विजयनगर सम्राटों में हरिहर द्वितीय और राजकुमार उग दिगम्बर जैन धर्म में दीक्षित होकर दिगम्बर मुनियों के महान् आश्रयदाता हुए थे।[4] दिगम्बर मुनि श्री धर्मभूषणजी राजा देवराय के गुरु थे तथा आचार्य विद्यानन्दि ने देवराज और कृष्णराय नामक राजाओं के दरबार में वाद किया था तथा विलंगी और कार-कल में दिगम्बर धर्म की रक्षा की थी।[5]

मुस्लिमकाल में दिगम्बर मुनि

मुस्लिमकाल में देश त्रसित और दुखित हो रहा था। आर्यधर्म संकटाकुल थे। किन्तु उस पर भी हम देखते हैं कि प्रसिद्ध मुसलमान शासक हैदरअली ने श्रवणबेलगोल की नग्नदेवमूर्ति श्री गोमट्टदेव के लिये कई गाँवों की जागीर भेंट की थी।[6] उस समय श्रवण बेलगोल के जैन मठ में जैन साधु विद्याध्ययन कराते थे। दिगम्बराचार्य विशालकीर्ति ने सिकन्दर और वीरु पक्षराय के सामने वाद किया था।[7]

मैसौर के राजा और दिगम्बर मुनि

मैसोर के ओडयरवंशी राजाओं ने दिगम्बर जैनधर्म को विशेष आश्रय दिया था और वर्तमान शासक भी जैन धर्म पर सदय हैं। सत्रहवीं शताब्दि में भट्टाकलंक देव नामक दिगम्बराचार्य हडुवल्ली जैन मठ के गुरु के शिष्य और महावादी थे। उन्होंने सर्वसाधारण में वाद करके जैन धर्म की रक्षा की थी। वह संस्कृत और कन्नड़ के विद्वान् तथा छैं भाषाओं के ज्ञाता थे।[8] जैनरानी भैरवदेवी ने मणिपुर का नाम वदल कर इनकी स्मृति में 'भट्टाकलंकपुर' रक्खा था—वही आजकल का भटकल है।[9] श्री कृष्णराय और अच्युतराय राजा के सम्मुख श्री दिगम्बर मुनि नेमिचन्द्र ने वाद किया था।[10]

पण्डाईवेडू राजा और दिगम्बर मुनि

पुण्डी (उत्तर अर्काट) के तीसरे ऋषभदेव मंदिर के विषय में कहा जाता है कि पण्डाईवेडू राजा की लड़की को भूत-बाधा सताती थी। उसी समय कुछ शिकारियों के पास एक दिगम्बर मुनिने श्री ऋषभदेव की मूर्ति देखी। मुनिजी ने वह मूर्त्ति उनसे लेली। इन्हीं शिकारियों ने राजा से मुनिजी की प्रशंसा की। उसपर राजाने मुनिजी की वन्दना की और उनसे भूतबाधा दूर करने का अनुरोध किया। मुनिजी ने लड़की की भूतबाधा दूर कर दी। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उक्त मंदिर बनवाया।[11]

दो सौ वर्ष पहले दिगम्बर मुनि

दक्षिण भारत में दो सौ वर्ष पहले कई एक दिगम्बर मुनियों का सद्भाव था। उनमें मन्नरगुडी के पर्णकुटिवासी ऋषि प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कई मूर्तियों और मंदिरों की प्रतिष्ठा कराई थी।[12] उनके अतिरिक्त संधि महामुनि और पण्डित महामुनि भी प्रसिद्ध हैं। उन्होने चिताम्बूर नामक ग्राम में वहां के ब्राह्मणों के साथ वाद किया था और जैन धर्म का डण्का बजाया था। तब से वहां पर एक जैन विद्यापीठ स्थापित है।[13] सचमुच दक्षिण भारत में एक अत्यन्त प्राचीनकाल से सिलसिलेवार दिगम्बर मुनियों का सद्भाव रहा है। प्रो० ए० एन० उपाध्याय इस विषय में लिखते हैं कि दक्षिण भारत में नियमितरूप में दिगम्बर मुनि

---

१. Ibid
२. मजैस्मा० पृ० १६२
३. ADJB. p. 31
४. SSIJ., pt. I.p. 118
५. मजैस्मा०, पृ० १६३
६. AR., Vol. IX. 267 & SSIJ., pt, I p. 117.
७. मजैस्म० पृ० १६३
८. HKL p. 83
९. वृजैना०, भा० १ पृ० १०
१०. मजैस्मा०, पृ० १६३
११. दिजैंडा०, पृ० ८५७
१२. Ibid,p. 864
१३. दिजैंडा०, पृ० ८५६

होते आये हैं। पिछले सौ वर्षों में सिद्धय्य आदि अनेक दिगम्बर मुनि इस ओर हो गुजरे हैं; किन्तु खेद है, उनकी जीवन सम्बन्धी वार्ता उपलब्ध नहीं है।

महाराष्ट्र देश के दिगम्बर जैन मुनि

दक्षिण भारत की तरह ही महाराष्ट्र देश भी जैन धर्म का केन्द्र था।[१] वहाँ अब तक दिगम्बर जैनों की बाहुल्यता है। कोल्हापुर, वेलगाम आदि स्थान जैनों की मुख्य बस्तियां थीं। कहते हैं एक मरतबा कोल्हापुर में दिगंबर मुनियोंका एक वृहत् सङ्घ आकर ठहरा था। राजा और रानी ने भक्तिपूर्वक उसकी वन्दना की थी। दैवयोग से सङ्घ जहाँ पर ठहरा था वहाँ आग लग गई। मुनिगण उसमें भस्म हो गये। राजा को बड़ा परिताप हुआ। उसने उनके स्मारक में १०८दि० मन्दिर बनवाये। संघ में१०८ही दिगम्बर मुनि थे[२]। इस घटना से महाराष्ट्रमें दिगम्बर मुनियों की बाहुल्यता का पता चलता है। सचमुच महाराष्ट्र के रट्ट, चालुक्य, शिलाहार आदि वंश के राजा दिगम्बर जैन धर्म के पोषक थे और यही कारण है कि वहाँ दिगम्बर मुनियों का बड़ी सख्या में विहार हुआ था अठारहवीं शताब्दि में हुये दो दिगंबर मुनियों का पता चलता है। मराठी एक कवि जिनदास के गुरु विद्वान् दिगम्बराचार्य श्री उज्जंतकीर्ति थे। दूसरे महतिसागर जो थे। उन्होंने स्वतः क्षुल्लकवत् दीक्षा ली थी। उपरान्त देवेन्द्र कीर्ति भट्टारक से विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की थी। वन्हाड़देश में उन्होंने खूब धर्मप्रभावना की थी। गूजरों को उन्होंने जैनी बनवाया था। दही गांव उनका समाधिस्थान है, जहां सदा मेला लगता है। उनके रचे हुए ग्रन्थ भी मिलते हैं। (मजइ० पृ० ६५-७२)।

शाके ११२७ में कोल्हापुर के अजरिका स्थान में त्रिभुवनतिलक चैत्यालय में श्रीविशालकीर्ति आचार्य के श्री सोमदेवाचार्य ने ग्रंथ रचना की थी।

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध दि० जैनाचार्य

दिगम्बर जैनियों के प्रायः सब ही दिग्गज विद्वान् और आचार्य दक्षिण भारत में ही हुये हैं। उन सबका संक्षिप्त वर्णन उपस्थित करना यहां संभव नहीं है, किन्तु उसमें से प्रख्यात दिगम्बराचार्यों का वर्णन यहाँ पर दे देना इष्ट है। अङ्ग-ज्ञान के ज्ञाता दिगम्बराचार्यों के उपरान्त जैनसङ्घ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम प्रसिद्ध है। दिगंबर जैनों में उनकी मान्यता विशेष है। वह महातपस्वी और बड़े ज्ञानी थे। दक्षिण भारत के अधिवासी होने पर भी उन्होंने गिरिनार पर्वत पर जाकर श्वेताम्बरों से वाद किया था[३]। तामिल साहित्य का नीतिग्रन्थ कुर्रल उन्हीं की रचना थी।[४] उन और उन्हीं के समानअन्य दिगंबराचार्यों के विषय में प्रो० रामास्वामी ऐयंगर लिखते हैं:—

"First comes Yatindra Kunda, a great Jain Guru, 'who in order to show that both within and without he could not be assisted by Rajas, moved about leaving a space of four inches between himself and the earth under his feet'. Uma Svami, the compiler of Tattvartha Sutra, Griddhrapinchha, and his disciple Balakapinchha follow. Then comes Samantabhadra, 'ever fortunate', 'whose discourse lights up the palace of the three worlds filled with the all meaning Syadvada'. This Samantabhadra was the first of a series of celebrated Digambara writers who acquired considerable predominance, in the early Rashtrakuta period. Jain tradition assigns him Saka 60 or 138 A.D.........He was a great Jaina missionary who tried to spread far and wide Jaina doctrines and morals and that he met with no opposition from other sects wherever he went. Samantabhadra's appearance in South India marks an epoch not only in the annals of Digambara tradition, but also in the history of Sanskrit literature.........After Samantabhadra a large number of Jain Munis took up the work of proselytism. The more important of them have contributed much for the uplift of the Jain world in literature and secular affairs. There was, for example, Simhanandi, the Jain sage, who, according to tradition, founded the state of

---

१. Jainism Was specially popular in the Southern Maratha country." EHI., p. 444

२. वंप्राजैस्मा०, पृ० ७६

३. दिजैडा०, पृ० ७६५

४. SSIJ., I. pp. 40—44& 89

Gangavadi. Other names are those of Pujyapada, the author of the incomparable grammar, Jinendra Vyakarana and of Akalanka who, in 788 A.D, is believed to have confuted the Buddhists at the court of Himasitala in Kanchi, and thereby procured the expulsion of the Buddhists from South India,"—SSIJ., pt. I pp. 29-31

भावार्थ—"पहले ही महान् जैनगुरु यतीन्द्र कुन्द का नाम मिलता है जो राजाओं के प्रति निस्पृहता दिखाते हुये अधर चलते थे। 'तत्वार्थ सूत्र' के कर्त्ता उमास्वामी गृद्धपिच्छ और उनके शिष्य वलाकपिच्छ उनके वाद आते हैं। तव समन्तभद्र का नाम दृष्टि पड़ता है जो सदा भाग्यवान् रहे और जिनकी स्याद्वाद्वाणी तीन लोक को प्रकाशमान् करती थी। यह समन्तभद्र प्रारम्भिक राष्ट्रकूट काल के अनेक प्रसिद्ध दिगम्वर मुनियों में सर्व प्रथम थे। उनका समय जैनमतानुसार सन् १३८ ई० है। यह महान् जैन प्रचारक थे, जिन्होंने चहुँओर जैन सिद्धान्त और शिक्षा का प्रचार किया और उन्हें कहीं भी किसी विधर्मी सम्प्रदाय के विरोध को सहन न करना पड़ा। उनका प्रादुर्भाव दक्षिण भारत के दिगम्वर जैन इतिहास के लिये ही युगप्रवर्तक नहीं है, वल्कि उससे संस्कृत साहित्य में एक महान् परिवर्तन हुआ था। समन्तभद्र के वाद वहुसंख्यक जैन साधुओं ने अजैनों को जैनी वनाने का कार्य किया था। उनमें से प्रसद्धि साधुओं ने जैन संसार को साहित्य और राष्ट्रीय अपेक्षा उन्नत वनाया था। उदाहरणत: जैनाचार्य सिंहनन्दि ने गंगवाड़ी का राज्य स्थापित कराया था। अन्य आचार्यों में पूज्यपाद, जिनकी रचना अद्वितीय "जिनेन्द्र व्याकरण" है और अकलङ्क देव हैं जिन्होंने कांची के हिमशीतल राजा के दरवार में वौद्धों को वाद में परास्त करके उन्हें दक्षिण भारत से निकलवा दिया था।"

श्री उमास्वामी—श्री कुन्दकुन्दाचार्य के उपरान्त श्री उमास्वामी प्रसिद्ध आचार्य थे, प्रो० सा० का यह प्रकट करना निस्सन्देह ठीक है। उनका समय वि० सं० ७६ है। गुजरात प्रान्त के गिरिनगर में जव यह मुनिराज विहार कर रहे थे और एक द्वैपायक नामक श्रावक के घर पर उसकी अनुपस्थिति में आहार लेने गये थे, तव वहां पर एक अशुद्ध सूत्र देखकर उसे शुद्ध कर आये थे। द्वैपायक ने जव घर आकर यह देखा तो उसने उमास्वामी से "तत्वार्थसूत्र" रचने की प्रार्थना की थी। तदनुसार यह ग्रन्थ रचा गया था। उमास्वामी दक्षिण भारत के निवासी और आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे, ऐसा उनके 'गृद्धपिच्छ' विशेषण से वोध होता है।[1]

श्री समन्तभद्राचार्य—श्री समन्तभद्राचार्य दिगम्वर जैनों में वड़े प्रतिभाशाली नैयायिक और वादी थे। मुनिदशा में उनको भस्मक रोग हो गया था, जिसके निवारण के लिए वह कांचीपुर के शिवालय में शैव-संन्यासी के भेप में जा रहे थे। वहीं 'स्वयंभू स्तोत्र' रचकर शिवकोटि राजा को आश्चर्यचकित कर दिया था। परिमाणत: वह दिगम्वर मुनि हो गया था। समन्तभद्राचार्य ने सारे भारत में विहार करके दिगम्वर जैन धर्म का डंका वजाया था। उन्होने प्रायश्चित लेकर पुन: मुनिवेप और फिर आचार्य पद धारण किया था। उनकी ग्रन्थ रचनाएं जैन धर्म के लिए वड़े महत्व की हैं।[2]

श्री पूज्यपादाचार्य—कर्नाटक देश के कोलंगाल नामक गांव में एक व्राह्मण माधवभट्ट विक्रम की चौथी शताव्दी में रहता था। उन्हीं के भाग्यवान पुत्र श्री पूज्यपादाचार्य थे। उनका दीक्षा नाम श्री देवनन्दि था। नाना देशों में विहार करके उन्होंने धर्मोपदेश दिया था, जिसके प्रभाव से सैकड़ों प्रसिद्ध पुरुप उनके शिष्य हुए थे। गंगवंशी दुर्विनीत राजा उनका मुख्य शिष्य था। "जैनेन्द्रव्याकरण", "शव्दावतार" आदि उनकी श्रेष्ठ रचनायें हैं।[3]

श्री वादीभसिंह—यतिवर श्री वादीभसिंह श्री पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे। उनका ग्रहस्थ दशा का नाम 'ओड्यदेव' था, जिससे उनका दक्षिण देशवासी होना स्पष्ट है। उन्होंने सातवीं श० में "क्षत्रचूड़ामणि", गद्यचिन्तामणि" आदि ग्रन्थों की रचना की थी।[4]

श्री नेमिचन्द्राचार्य—श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती नन्दिसंघ के स्वामी अभयनन्दी के शिष्य थे। वि० सं० ७३५ में द्रविड़ देश के मथुरा नगर में वह रहते थे। उन्होंने जैन धर्म का विशेप प्रचार किया था और उनके शिष्य गंगवंश के राजा श्री राचमल्ल और सेनापति चामुण्डराय आदि थे। उनकी रचनाओं में "गोमट्टसार" ग्रन्थ प्रधान है।[5]

श्री अकलंकाचार्य - श्री अकलंकाचार्य देवसंघ के साधु थे। वौद्ध मठ में रह कर उन्होंने विद्याध्ययन किया था। उपरांत

१. मजैइ०, पृ० ४४।
२. Ibid. पृ० ४५।
३. Idid पृ० ४६
४. Idid पृ० ४७
५. Ibid पृ० ४७-४८

बौद्धों से वाद करके उनका पराभव और जैन धर्म का उत्कर्ष प्रकट किया था। कांची का हिमशीतल राजा उनका मुख्य शिष्य था। उनके रचे हुए ग्रन्थ में राजवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चयालंकार आदि मुख्य हैं।[1]

श्री जिनसेनाचार्य—राजाओं से पूजित श्री वीरसेन स्वामी के शिष्य श्री जिनसेनाचार्य सम्राट् अमोघवर्ष के गुरु थे। उस समय उनके द्वारा जैन धर्म का उत्कर्ष विशेष हुआ था। वह अद्वितीय कवि थे। उनका "पार्श्वाभ्युदयकाव्य" कालिदास के मेघदूत काव्य की समस्यापूर्ति रूप में रचा गया था। उसकी दूसरी रचना 'महापुराण' भी काव्यदृष्टि से एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने इस पुराण के शेषांश की पूर्ति की थी।[2]

श्री विद्यानन्दिआचार्य—श्री विद्यानन्दि आचार्य कर्णाटक देशवासी और गृहस्थ दशा में एक वेदानुयायी ब्राह्मण थे। 'देवागम' स्तोत्र को सुनकर वह जैन धर्म में दीक्षित हो गये थे। दिगम्बर मुनि होकर उन्होंने राजदरबारों में पहुंच कर ब्राह्मणों और बौद्धों से वाद किये थे, जिनमें उन्हें विजय श्री प्राप्त हुई थी। अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थ उनकी दिव्य रचनायें हैं।[3]

श्री वादिराज—श्री वादिराज सूरि नन्दि संघ के आचार्य थे। उनकी 'षटतर्कषण्मुख', स्याद्वादविद्यापति' और 'जगदेकमल्लवादी' उपाधियां उनके गौरव और प्रतिभा की सूचक हैं। उनको एक बार कुष्ट रोग हो गया था, किन्तु अपने योगबल से 'एकीभावस्तोत्र' रचते हुए उस रोग से वह मुक्त हुए थे। यशोधर चरित्र, पार्श्वनाथ चरित्र आदि ग्रन्थ भी उन्होंने रचे थे।[4]

आप चालुक्य वंशीय नरेश जयसिंह की सभा के प्रख्यात वादी थे। वे स्वयं सिंहपुर के राजा थे। राज्य त्याग कर दिगम्बर मुनि हुए थे। उनके दादा-गुरु श्रीपाल भी सिंहपुराधीश थे। (जैमि०, वर्ष ३३ अंक ५ पृ० ७२)

इसी प्रकार श्री मल्लिषेणाचार्य, श्री सोमदेव सूरि आदि अनेक लब्धप्रतिष्ठ दिगम्बर जैनाचार्य दक्षिण भारत में हो गुजरे हैं, जिनका वर्णन अन्य ग्रन्थों से देखना चाहिए।

इन दिगम्बराचार्यो के विषय में उक्त विद्वान् आगे लिखते हैं कि "समग्र दक्षिण भारत विद्वान् जैन साधुओं के छोटे-छोटे समूहों से अलंकृत था, जो धीरे-धीरे जैन धर्म का प्रचार जनता की विविध भाषाओं में ग्रन्थ रचकर कर रहे थे। किन्तु यह समझना गलत है कि यह साधुगण लौकिक कार्यों से विमुख थे। किसी हद तक यह सच है कि वे जनता से ज्यादा मिलते-जुलते नहीं थे। किन्तु ई० पू० चौथी शताब्दि में मेगास्थनीजके कथन से प्रगट है कि जैन श्रमण, जो जंगलों में रहते थे, उनके पास अपने राजदूतों को भेजकर राजा लोग वस्तुओं के कारण के विषय में उनका अभिप्राय जानते थे। जैन गुरुओं ने ऐसे कई राज्यों की स्थापना की थी, जिन्होंने कई शताब्दियों तक जैन धर्म को आश्रय दिया था।[5]"

प्रो० डा० वी० शेषागिरिराव ने दक्षिण भारत के दिगम्बर मुनियों के सम्बन्ध में लिखा है कि "जैन मुनिगण विद्या और विज्ञान के ज्ञाता थे; आयुर्वेद और मन्त्रशास्त्र के भी वे महा विद्वान् थे; ज्योतिष ज्ञान उनका अच्छा खासा था; न्याय-शास्त्र सिद्धान्त और साहित्य को उन्होंने रचा था। जैन मान्यता में ऐसे सफल एक प्राचीन आचार्य कुन्दकुन्द कहे गए हैं; जिन्होंने बेलारी जिले के कोनकुण्डल प्रदेश में ध्यान और तपस्या की थी"[6]।

---

१. Ibid पृ० ४६। २. Ibid पृ० ५०-५१। ३. Ibid पृ० ५१-५२।

४. Ibid पृ० ५३।

५. "The whole of South India strewn with small groups of learned Jain ascetics, who were slowly but surely spreading their morals through the medium of their sacred literature composed in the various vernaculars of the country. But it is a mistake to suppose that these ascetics were indifferent towards secular affairs in general. To a certain extent it is true that they did not mingle with the word. But we know from the account of Megasthenes that, so late as the 4th century B. C., "The Sarmanes or the Jain Sarmanes who lived in the woods were frequently consulted by the kings through their messengers regarding the cause of things'. Jaina Gurus have been founders of States that for centuries together were tolernat towards the Jain faith." —SSIJ., I. 106.

६. SSIJ., pt. II pp. 9—10

इस प्रकार दक्षिण भारत में दिगम्बर मुनियों के अस्तित्व का चमत्कारिक वर्णन है और वह इस बात का प्रमाण है कि दक्षिण भारत एक अत्यन्त प्राचीन काल से दिगम्बर मुनियों का आश्रय स्थान रहा है तथा वह आगे भी रहेगा, इसमें संशय नहीं।

(२२)

तामिल-साहित्य में दिगम्बर मुनि

"Among the systems controverted in the Manimekhalai, the Jain system also figures as one and the words Samanas and Amana are of frequent occurance; as also refrences to their Viharas, so that from the earliest times reachable with our present means, Jainism apparently flourished in the Tamil Country."[१]

तामिल साहित्य के मुख्य और प्राचीन लेखक दिगम्बर जैन विद्वान रहे हैं। और उसका सर्व प्राचीन व्याकरण-ग्रंथ "तोल्काप्पियम्" (Tolkappiyam) एक जैनाचार्य की ही रचना है[२]। किन्तु हम यहां पर तामिल-साहित्य के जैनों द्वारा रचे हुये अंग को नहीं छुयेंगे। हमें तो जैनेत्तर तामिल साहित्य में दिगम्बर मुनियों के वर्णन को प्रकट करना इष्ट है।

अच्छा तो, तामिल-साहित्य का सर्वप्राचीन समय "संगम-काल" अर्थात् ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी से ईस्वी पांचवी शताब्दि तक का समय है। इस काल की रचनाओं में बौद्ध विद्वान द्वारा रचित काव्य "मणिमेखलै" प्रसिद्ध है। "मणिमेखलै" में दिगम्बर मुनियों और उनके सिद्धान्तों तथा मठों का अच्छा खासा वर्णन है। जैन दर्शन को इस काव्य में दो भागों में विभक्त किया है—(१) आजीविक और (२) निर्ग्रन्थ।[३] आजीविक भ० महावीर के समय में एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय था, किन्तु उपरान्तकाल में वह दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में समाविष्ट हो गया था। निर्ग्रन्थ सम्प्रदायको 'अरुहन' (अर्हंत) का अनुयायी लिखा है, जो जैनों का द्योतक है। इस काव्य के पात्रों में सेठ कोवलन् की पत्नी कण्णकि के पिता मानाइकन् के विषय में लिखा है कि 'जब उसने अपने दामाद के मारे जाने के समाचार सुने तो उसे अत्यन्त दुख और खेद हुआ। और वह जैन संघ में नंगा मुनि हो गया।'[४] इस काव्य से यह भी प्रगट है कि चोल और पाण्ड्य राजाओं ने जैन धर्म को अपनाया था।[५]

"मणिमेखलै" के वर्णन से प्रकट है कि "निर्ग्रन्थगण ग्रामों के बाहर शीतल मठों में रहते थे। इन मठों की दिवालें बहुत ऊंची और लाल रंग से रंगी हुई होती थीं। प्रत्येक मठ के साथ एक छोटा सा बगीचा भी होता था। उनके मंदिर तिराहों और चौराहों पर अवस्थित थे। जैनों ने अपने प्लेटफार्म भी बना रक्खे थे, जिन पर से निर्ग्रन्थाचार्य अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। जैन साधुओं के मठों के साथ २ जैन साध्वीयों के आराम भी होते थे। जैन साध्वीयों का प्रभाव तामिल महिला समाज पर विशेष था। कावेरीप्पूमपट्टिनम् जो चोल राजाओं की राजधानी थी, वहां और कावेरी तट पर स्थित उदैपुर में जैनों के मठ थे। मदुरा जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था। सेठ कोवलन् और उनकी पत्नी कण्णकि जब मदुरा को जा रहे थे तो रास्ते में एक जैन आर्यिका ने उन्हें किसी जीव को पीड़ा न पहुंचाने के लिये सावधान किया था, क्योंकि मदुरा में निर्ग्रन्थों द्वारा यह एक महान् पाप करार दिया गया था। यह निर्ग्रन्थगण तीन छत्रयुक्त और अशोक वृक्ष के तले बैठाये गये। अर्हंत् भगवान् की दैदीप्यमान मूर्ति की विनय करते थे। यह सब जैन दिगम्बर थे, यह उक्त काव्य के वर्णन से स्पष्ट है। पुहर में जब इन्द्रोत्सव मनाया गया तब वहां के राजा ने सब धर्मों के आचार्यों को वाद और धर्मोपदेश करने के लिये बुलाया था। दिगम्बर मुनि इस अवसर पर

१. Sc. p. 32 भावार्थ—तामिल काव्य 'मणि मेखलै' में जैन-संप्रदाय और शब्द "समण"—"अमण" तथा इनके विहारों का उल्लेख विशेष है, जिससे तामिल देश में अतीव प्राचीनकाल से जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध है।"

२. SSIJ., pt. I. p. 89

३. BS., p. 15

४. Ibid., p., 681

५. SSIJ., pt. I. p. 47

बड़ी संख्या में पहुंचे थे और उनके धर्मोपदेश से अनेकानेक तामिल स्त्री-पुरुष जैन धर्म में दीक्षित हुये थे।"[1]

"मणिमेखलै" काव्य में उसकी मुख्य पात्री मणिमेखला एक निर्ग्रन्थ साधु से जैन धर्म के सिद्धान्तों के विषय में जिज्ञासा करती भी बताई गई है।[2] इस तथा इस काव्य के अन्य वर्णन से स्पष्ट है कि ईस्वी की प्रारम्भिक शताब्दियों में तामिल देश में दिगम्बर मुनियों की एक बड़ी संख्या मौजूद थी और तामिल देश में विशेष मान्य तथा प्रभावशाली थे।

शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के तामिल साहित्य में भी दिगम्बर मुनियों का वर्णन मिलता है। शैवों के 'पेरियपुराणम्' नामक ग्रन्थ में मूर्ति नायनार के वर्णन में लिखा है कि कलभ्र वंश के क्षत्री जैसे ही दक्षिण भारत में पहुंचे वैसे ही उन्होंने दिगम्बर जैन धर्म को अपना लिया। उस समय दिगम्बर जैनों की संख्या वहां अत्यधिक थी और उनके आचार्यों का प्रभाव कलभ्रों पर विशेष था।[3] इस कारण शैव धर्म उन्नत नहीं हो पाया था। किन्तु कलभ्रों के बाद शैव धर्म को उन्नति करने का अवसर मिला था। उस समय बौद्ध प्राय: निष्प्रभ हो गये थे, किन्तु जैन अब भी प्रधानता लिये हुये थे।[4] शैवाचार्यों का वादशाला में मुकाबला लेने के लिये दिगम्बराचार्य—जैन श्रमण ही अवशेष थे। शैवों में सम्बन्दर और अप्पर नामक आचार्य जैन धर्म के कट्टर विरोधी थे। इनके प्रचार से साम्प्रदायिक विद्वेष की आग तामिल देश में भड़क उठी थी।[5] जिसके परिणाम स्वरूप उपरान्त के शैव ग्रंथों में ऐसा उपदेश दिया हुआ मिलता है कि बौद्धों और समणों (दिगम्बर मुनियों) के न तो दर्शन करो और न उनके धर्मोपदेश सुनो। बल्कि शिव से यह प्रार्थना की गई है कि वह शक्ति प्रदान करें जिससे बौद्धों और समणों (दि० मुनियों) के सिर फोड़ डाले जायं; जिनके धर्मोपदेश को सुनते २ उन लोगों के कान भर गये हैं।[6] इस विद्वेष का भी कोई ठिकाना है! किन्तु इससे स्पष्ट है कि उस समय भी दि० मुनियों का प्रभाव दक्षिण भारत में काफी था।

वैष्णव तामिल साहित्य में भी दिगम्बर मुनियों का विवरण मिलता है। उनके 'तेवारम' (Tevaram) नामक ग्रंथ से ई० सातवीं आठवीं शताब्दि के जैनों का हाल मालूम होता है। उक्त ग्रंथ से प्रगट है कि "इस समय भी जैनों का मुख्य केन्द्र मदुरा में था। मदुरा के चहुं ओर स्थित अनैमलै, पसुमलै आदि आठ पर्वतों पर दिगम्बर मुनिगण रहते थे और वे ही जैन संघ का संचालन करते थे। वे प्राय: जनता से अलग रहते थे—उससे अत्यधिक सम्पर्क नहीं रखते थे। स्त्रियों से तो वे बिल्कुल दूर २ रहते थे। नासिका स्वर से वे प्राकृत व अन्य मन्त्र बोलते थे। ब्राह्मणों और उनके वेदों का वे हमेशा खुला विरोध करते थे। कड़ी धूप में वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर वेदों के विरुद्ध प्रचार करते हुए विचरते थे। उनके हाथ में पीछी, चटाई और एक छत्री होती थी। इन दिगम्बर मुनियों को सम्बन्दर द्वेषवश बन्दरों की उपमा देता है; किन्तु वे सैद्धान्तिक वाद करने के लिये बड़े लालायित थे और उन्हें विपक्षी को परास्त करने में आनन्द आता था। केशलोंच ये मुनिगण करते थे और स्त्रियों के सम्मुख नग्न उपस्थित होने में उन्हें लज्जा नहीं आती थी। भोजन लेने के पहले ये अपने शरीर की शुद्धि नहीं करते थे (अर्थात् स्नान नहीं करते थे)। मन्त्र शास्त्र को वे खूब जानते थे और उसकी खूब तारीफ़ करते थे।"[7]

त्रिज्ञानसम्बन्दर और अप्परने जो उपरोक्त प्रमाण दिगम्बर मुनियों का वर्णन दिया है, यद्यपि वह द्वेषको लिये हुये है, परन्तु तो भी उससे उस काल में दिगम्बर मुनियों के बाहुल्य रूप में सर्वत्र विहार करने, विकट तपस्वी और उत्कट वादी होने का समर्थन होता है।

---

१. Ibid. pp. 47—48. "That these Jains were the Digambaras is clearly seen from their description .....The Jains took every advantage of the opportunity and large was the number of those that embraced this faith".

२. "Manimekalai asked the Nigantha to state who was his God and what he was tanght in his sacred books. etc." —SSIJ., pt. I. p. 50

३. Ibid, p. 55

४. "It would appear from a general study of the literature of the period that Buddhism had declined as an active religion but Jainism had still its strhughold. The chief opponents of these saints weae the Samanas or the Jainas." —BS., p. 689

५. SSIJ., pt. I. pp. 60—66

६. तिरुमलै—BS,, p. 692

७. SSIJ, pt. I pp. 68—70

दक्षिण भारतकी 'नन्दयाल कैफियत' (Nandyala kaiphiyat) में लिखा है[१] कि 'जैनमुनि अपने सिरों पर बाल नहीं रखते थे कि शायद कहीं जूं न पड़ जाय और वे हिंसाके भागी हों। जब वे चलते थे तो मोरपिच्छी से रास्ता को साफ कर लेते थे कि कहीं सूक्ष्म जीवोंकी विराधना न हो जाय। वे दिगम्बर वेषधारण किये थे, क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं उनके कपड़े और शरीरके संसर्गसे सूक्ष्म जीवों को पीड़ा न पहुंचे। वे सूर्यास्त के उपरान्त भोजन नहीं करते थे, क्योंकि पवनके साथ उड़ते हुए जीवजन्तु कहीं उनके भोजनमें गिरा कर मर न जांय।" इस वर्णन से भी दक्षिण भारतमें दिगम्बर मुनियोंका बाहुल्य और निर्बाध धर्मप्रचार करना प्रमाणित है।

"सिद्धवत्तम् कैफियत" (Siddhavattam Kaiphiyat) से प्रगट है[२] कि "वरंगल के जैनराजा उदार प्रकृति थे। वे दिगम्बरों के साथ २ अन्य धर्मों को भी आश्रय देते थे।" "वरंगल कैफियत" से प्रकट है[३] कि वहां वृषभाचार्य नामक दिगम्बर मुनि विशेष प्रभावशाली थे।

दक्षिणभारत के ग्राम्य-कथा-साहित्य में एक कहानी है। उससे प्रकट है कि "वरंगल के काकतीयवंशी एक राजाके पास ऐसी खडाऊं थीं, जिसको पहन कर वह उड़ सकता था और रोज बनारस में जाकर गङ्गा स्नान कर आता था। किसी को भी इसका पता न चलता था। एक रोज उसकी रानी ने देखा कि राजा नहीं है। वह जैन धर्म परायण थी। उसने अपने गुरुओं से राजा के संबंध में पूछा। जैनगुरु ज्योतिष के विशेष विद्वान् थे; उन्होंने राजा का सब पता बतादिया। राजा जब लौटा तो रानी ने उसको बताया कि वह कहां गया था और प्रार्थना की कि वह उसे भी बनारस ले जाया करे। राजाने स्वीकार कर लिया। वह रानी भी बनारस जाने लगी। एक रोज मार्ग में वह मासिकधर्म से होगई। फलतः खड़ाऊकी वह विशेषता नष्ट होगई। राजाको उस पर बड़ा दुःख हुआ और उसने जैनों को कष्ट देना प्रारंभ कर दिया।[४]" इस कहानी से विधर्मी राजाओं के राज्यमें भी दिगम्बर मुनियों का प्रतिभाशाली होना प्रकट है।

अरुलनन्दि शैवाचार्य कृत "शिवज्ञानसिद्धियार" में परपक्ष संप्रदायों में दिगम्बर जैनों का "श्रमणरूप" उल्लेख है[५]। तथा "हालास्यमाहात्म्य" में मदुरा के शैवों और दिगम्बर मुनियों के वादका वर्णन मिलता है।[६]

इस प्रकार तामिलसाहित्य के उपरोक्त वर्णनसे भी दक्षिणभारत में दिगम्बर मुनियों का प्रतिभाशाली होना प्रमाणित है। वे वहां एक अत्यन्त प्राचीनकाल से धर्मप्रचार कर रहे थे।

[२३]

भारतीय पुरातत्व और दिगम्बर मुनि

"Chalcolithic civilisation of the Indus Valley was something quite different from the Vediccivilisation". "On the eve of the Aryan immigration the Indus Valley was in possession of a civilized and warlike people".

—B. B. Ramprasad Chanda.[७]

मोहन-जो-दारो का पुरातत्व और दिगम्बरत्व

भारतीय पुरातत्व में सिंधुदेश के मोहन जोडरो और पंजाब के हरप्पा नामक ग्रामों से प्राप्त पुरातत्व अतिप्राचीन है। वह ईस्वी सन् से तीन-चार हजार वर्ष पहले का अनुमान किया गया है। जिन विद्वानों ने उसका अध्ययन किया है, वह इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि सिन्धुदेश में उस समय एक अतीव सभ्य और क्षत्रिय प्रकृति के मनुष्य रहते थे, जिनका धर्म और

---

१. Ibid., pt. II pp. 10—11
२. Ibid, p. 17
३. Ibid, p. 18
४. SSIJ., pt. pp. 27—28
५. SC, p. 243
६. IHQ., Vol. IV. p. 564
SPCIV., 1 pp. 25

सभ्यता वैदिक-धर्म और सभ्यता से नितान्त भिन्न थी। एक विद्वान् ने उन्हें "व्रात्य" सिद्ध किया है[1] और मनुके अनुसार "व्रात्य" वह वेद-विरोधी संप्रदाय था "जिसके लोग द्विजों द्वारा उनकी सजातीय पत्नियों से उत्पन्न हुए थे; किन्तु जो (वैदिक) धार्मिक नियमों का पालन न कर सकने के कारण सावित्री से प्रथक कर दिये गये थे ।" (मनु १०।२०) वह मुख्यत:क्षत्री थे। मनु एक व्रात्य क्षत्रीसे ही झल्ल, मल्ल, लिच्छवि, नात, करण, खस और द्राविड़ वंशों की उत्पत्ति बतलाते हैं। (मनु १०।२२) यह पहले भी लिखा जा चुका है। सिन्धुदेश के उपरोक्त मनुष्य इसी प्रकार के क्षत्री थे और वे ध्यान तथा योगका स्वयं अभ्यास करते थे और योगियों की मूर्तियों की पूजा करते थे। मोहन-जो-दरो से जो कतिपय मूर्तियां मिली हैं उनकी दृष्टि जैनमूर्तियों के सदृश 'नासाग्रदृष्टि' है। किन्तु ऐसी जैनमूर्तियां प्राय: ईस्वी पहली शताब्दि तक की ही मिलती विद्वान् प्रकट करते हैं[2]; यद्यपि जैनों की मान्यता के अनुसार उनके मंदिरों में बहुप्राचीनकाल की मूर्तियां मौजूद हैं। उस पर, हाथीगुफा के शिलालेख से कुमारी पर्वतपर नन्दकाल की मूर्तियोंका होना प्रमाणित है[3] तथा मथुरा के 'देवों द्वारा निर्मित जैनस्तूप' से भगवान् पार्श्वनाथ के समय में भी ध्यानदृष्टिमय मूर्तियों का होना सिद्ध है[4]। इसके अतिरिक्त प्राचीन जैन साहित्य तथा बौद्धों के उल्लेख से भ० पार्श्वनाथ और भ० महावीरके पहले के जैनोंमें भी ध्यान और योगाभ्यास के नियमोंका होना प्रमाणित है। 'संयुत्तनिकाय' में जैनोंके अवितर्क और अविचार श्रेणीके ध्यानों का उल्लेख है[5] और "दीघनिकाय" के ब्रह्मजालसुत्त' से प्रकट है कि गौतम बुद्धसे पहले ऐसे साधु थे जो ध्यान और विचार द्वारा मनुष्यके पूर्वभवोंको बतलाया करते थे[6]। जैनशास्त्रों में ऋषभादि प्रत्येक तीर्थङ्कर के शिष्यसमुदाय में ठीक ऐसे साधुओंका वर्णन मिलता है। तथापि उपनिषदों में जैनोंके 'शुक्लध्यान' का उल्लेख मिलता है, यह पहले ही लिखा जा चुका है। अत: यह स्पष्ट है जैनसाधु एक अतीव प्राचीनकाल से ध्यान और योग का अभ्यास करते आये हैं। तथा झल्ल, मल्ल, लिच्छवि, ज्ञातृ आदि व्रात्य क्षत्रिय प्राय: जैन थे। अन्यत्र यह सिद्ध किया जा चुका है कि "व्रात्य" क्षत्रिय बहुतकर के जैन थे और उनमें के ज्येष्ठ व्रात्य सिवाय 'दिगंबरमुनिके' और कोई न थे[7]। इस अवस्थामें सिन्धुदेश के उपरोक्त कालवर्ती मनुष्यों का प्राचीन जैन ऋषियों का भक्त होना बहुत कुछ संभव है। किन्तु मोहन जोदरो से जो मूर्तियां मिली हैं वह वस्त्रसंयुक्त हैं और उन्हें विद्वान् लोग 'पुजारी' (Priest) व्रात्यों की मूर्तियां अनुमान करते हैं। हमारे विचारसे वे हीन-व्रात्य(अणुव्रती श्रावकों) की मूर्तियां हैं। व्रात्य-साधुको मूर्ति वह हो नहीं सकती; क्योंकि उसे शास्त्रों में नग्न प्रगट किया गया है। वहां 'ज्येष्ठव्रात्य' का एक विशेषण 'समनिचमेद्र' अर्थात् 'पुरुषलिंग से रहित' दिया हुआ है जो नग्नता का द्योतक है। हीनव्रात्यों की पोशाक के वर्णन में कहा में कहा गया है कि वे एक पगड़ी(निर्यन्नद्ध),एक लाल कपड़ा और एक चांदी का आभूषण 'निश्क' नामक पहनते थे। उक्त मूर्तिकी पोशाकभी इसी ढंग की है। माथे पर एक पट्ट रूप पगड़ी जिसके बीचमें एक आभूषण जड़ा है, वह पहने हुये प्रगट है और बगल से निकला हुआ एक छीटदार कपड़ा वह ओढ़े हुये है[8]। इस अवस्था में इन मूर्तियों को हीनव्रात्यों की मूर्तियां मानना ही ठीक है और इस तरह पर यह सिद्ध है कि व्रात्य-क्षत्रिय एक अतीव प्राचीनकाल में अवश्य ही एक वेद-विरोधी संप्रदाय था; जिसमें ज्येष्ठव्रात्य दिगम्बर मुनि के अनुरूप थे। अत: प्रकारान्तरसे भारत का सिंधुदेशवर्ती सर्वप्राचीन पुरातत्व भी दिगम्बर मुनि और उनकी योगमुद्राका पोषक है[9]।

अशोक के शासन लेख में निर्ग्रन्थ

सिंधु देश के पुरातत्व के उपरांत सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित पुरातत्व ही सर्व प्राचीन है। वह पुरातत्व भी दिगम्बर मुनियों के अस्तित्वका द्योतक है। साम्राट् अशोक ने अपने एक शासन लेखमें आजीविक साधुओं के साथ निर्ग्रन्थ साधुओं का भी उल्लेख किया है।[10]

---

१. Ibid. pp. 25—34

२. Ibid. pp. 25—26

३. JBORS.

४. वीर वर्ष ४ पृ० २६६

५. PTS. IV, 287

६. भमबु०, पृ० २१—२२०

७. भपा०, प्रस्तावना पृष्ठ ४४-४५

८. SPCIV., Plate 1, Fig. 'b'

९. SPCIV., pp. 25—33 में मोहन जोडरो की मूर्तियों को जिन मूर्तियों के समान और उनका पूर्ववर्ती टायपप्रकट किया गया है।

१०. स्थम्भलेख नं० ७

खंडगिरि-उदयगिरि के पुरातत्व में दि० मुनि

अशोक के पश्चात् खण्डगिरि-उदयगिरि का पुरातत्व दिगम्बर धर्म का पोषक है। जैन सम्राट् खारवेल के हाथी गुफा वाले शिलालेख में दिगम्बर मुनियों का "तापस" (तपस्वी) रूप उल्लेख है [1]। और उन्होंने सारे भारत के दिगम्बर मुनियों का सम्मेलन किया था, यह पहले लिखा जाचुका है। खारवेल की पटरानी ने भी दिगम्बर मुनियों—कलिंग श्रमणों के लिए गुफा निर्मित कराकर उनका उल्लेख अपने शिलालेख में निम्न-प्रकार किया है—

"अरहन्तपसादायम् कलिंगानम् समनानं लेनं कारितम् राज्ञो लालकसहथीसाहसपपोतस् धुतुनाकलिंगचक्रवर्तिनो श्री खारवेलस अगमहिसिना कारितम्।"

भावार्थ—"अर्हन्त के प्रासाद या मन्दिर रूप यह गुफा कलिंग देश के श्रमणों (दिगम्बर मुनियों) के लिये कलिंग चक्रवर्ती राजा खारवेल को मुख्य पटरानी ने निर्मित कराई, जो हथीसहस के पौत्र लालकस की पुत्री थी।" [2]।

खंडगिरि की 'तत्व गुफा' पर जो लेख है वह वालमुनि का लिखा हुआ है [3]। 'अनन्त गुफा' में लेख है कि "दोहद के दिग० मुनियों श्रमणों की गुफा" (दोहद समनानम् लेनम्)[4]। इस प्रकार खण्डगिरि-उदयगिरि के शिलालेखों से ईस्वीपूर्व दूसरी शताब्दि में दिगम्बर मुनियों के कल्याणकारी अस्तित्व का पता चलता है।

खण्डगिरि-उदयगिरि पर जो मूर्तियां हैं, वे प्राचीन और नग्न हैं और उनसे दिगम्बरत्व तथा दिगम्बर मुनियों के अस्तित्व का पोषण होता है। वह अब भी दिगम्बर मुनियों का मान्य तीर्थ है।

मथुरा का पुरातत्त्व और दिगम्बर मुनि

मथुरा का पुरातत्त्व ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दि तक का है और उससे भी दिगम्बर मुनियों का जनता में बहुमान्य और कल्याणकारी होना प्रगट है। वहां की प्रायः सब ही प्राचीन मूर्त्तियां नग्न-दिगम्बर हैं। एक स्तूपके चित्र में जैन मुनि नग्न पीछी व कमण्डल लिये दिखाये गये हैं [5]। उन पर के लेख दिगम्बर मुनियों के द्योतक हैं, यथा—

"नमो अर्हतो वर्धमानस आरायें गणिकाये लोण शोभिकाये धितु समण साविकाये नादाये गणिकाये वसु (ये) अर्हतो देवि कुल आयाग-सभा प्रयाशिल (।) पटो पतिस्ठापितो निगन्थानम् अर्हता यतनेसहामातरे भगिनिये धितरे पुत्रेण सर्वेन च परिजनेन अर्हत् पुजाये।"

अर्थात्—"अर्हत् वर्द्धमान् को नमस्कार। श्रमणों की श्राविका आरायगणिका लोणशोभिका की पुत्री नादाय गणिका वसु ने अपनी माता, पुत्री, पुत्र और अपने सर्व कुटुम्ब सहित अर्हत् का एक मन्दिर, एक आयाग. सभा, ताल और एक शिला निर्ग्रंथ अर्हतों के पवित्र स्थान पर बनवाये [6]।"

इसमें दानशीला श्राविका को श्रमण-दिगम्बर मुनियों का भक्त तथा निर्ग्रंथ-दिगम्बर मुनियों के लिये एक शिला बनाया जाना प्रगट किया गया है। एक आयागपट पर के लेख में भी श्रमण-दिगम्बर मुनियों का उल्लेख है [7]। प्लेट नं० २८ पर के लेख में भी ऐसा ही उल्लेख है। तथा एक दिगम्बर मूर्ति पर निम्न प्रकार लेख है—

".........सं० १५ ग्रि ३ दि १ अस्या पूर्व्वाय.........हिका तो आर्य जयभूतिस्य शिषीनिनं अर्य्य संनामिके शिषीन अर्य्य वसुलये (निर्व्वर्त्त) नं.........लस्य धीतु ....३.........धु वेणि श्रेष्ठिस्य धर्मपत्निये भट्टसेनस्य ....(मातु) कुमरमितयो दनं भगवतो (प्र) मा सव्व तो भद्रिका।"

अर्थात्—"(सिद्धं!) सं० १५ ग्रीष्म के तीसरे महीने में पहले दिन को, भगवत की एक चतुर्मुखी प्रतिमा कुमरमिता

---

१. 'सवदिसानं' तापसानं......पंक्ति १५. JBORS.

२. वांविप्रो जैस्मा०, पृष्ठ ६१

३. Ibid. p. 94

४. Ibid. p. 97

५. जैसिभा०, वर्ष १ किरण ४ पृ० १२३

६. होली दरवाजा से मिला आयागपट—वीर, वर्ष ४ पृ० ३०३

७. आर्यवती आयागपट-वीर वर्ष ४ पृ० ३०४

८. JOAM. Plate No. 28.

के दानरूप, जो.........ल की पुत्री,........ की वहू, श्रेष्टि वेणि की प्रथम पत्नी, भट्टिसेन की माता थी, मेहिक कुल के आर्य जयभूति की शिष्या ग्रर्य संगमिका की प्रति शिष्या वसुला की इच्छानुसार (अर्पित हुई थी)[1]

इसमें दिगम्बर मुनि जयभूति का उल्लेख 'आर्य' विशेषण से हुआ है। ऐसे ही अन्य उल्लेखों से वहां का पुरातत्व तत्कालीन दिगम्बर मुनियों के सम्माननीय व्यक्तित्व का परिचायक है।

अहिच्छत्र (वरेली) के पुरातत्व में दिगम्बर मुनि

अहिच्छत्र (वरेली) पर एक समय नागवंशी राजाओं का राज्य था और वे दिगम्बर जैन धर्मानुयायी थे। वहां के कटारी खेड़ा की खुदाई में डा० फुहरर सा० ने एक समूचा सभा मन्दिर खुदवा निकलवाया था। यह मन्दिर ई० पूर्व प्रथम शताब्दि का अनुमान किया गया है और यह श्रीपार्श्वनाथ जी का मन्दिर था। इसमें से मिली हुई मूर्तियां सन् ९६ से १५२ तक की हैं, जो नग्न हैं। यहाँ एक ईंटों का बना हुआ प्राचीन स्तूप भी मिला था, जिसके एक स्तम्भ पर निम्न प्रकार लेख था—

"महाचार्य इन्द्रनन्दि शिष्य पार्श्वयतिस्स कोट्टारी।"

आचार्य इन्द्रनन्दि उस समय के प्रख्यात् दिगम्बर मुनि थे[2]।

कौशाम्बी के पुरातत्व में दिगम्बर-संघ

कौशाम्बी का पुरातत्व भी दिगम्बर मुनियों के अस्तित्व का पोषक है। वहां से कुशानकाल का मथुरा जसा आयागपट्ट मिला है, जिसे राजा शिवमित्र के राज्य में आर्य शिवनन्दि की शिष्या बड़ी स्थविरा बलदासा के कहने से शिवपालितने अर्हत् की पूजा के लिये स्थापित किया था[3]। इस उल्लेख से उस समय कौशाम्बी में एक वृहत् दिगम्बर जैन संघ के रहने का पता चलता है।

कुहाऊंका गुप्तकालीन लेख दि० मुनियों का द्योतक है

कुहाऊं (गोरखपुर) से प्राप्त पुरातत्व गुप्तकाल में दिगम्बर धर्म की प्रधानता का द्योतक है। वहां के पाषाण-स्तम्भ में नीचे की ओर जैन तीर्थङ्कर और साधुओं की नग्न मूर्तियां और उस पर निम्नलिखित शिलालेख है[4]—

"यस्योपस्थानभूमिर्नृपति—शत-शिरः पात—वातावधूता। गुप्तानां वंशजस्य प्रविसृतयशसस्तस्य सर्वोत्तमर्द्धेः॥ राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिप-शत-पतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्तेः। वर्षे त्रिंशद्दशैकोत्तरक—शत तमे ज्येष्ठ मासे प्रपन्ने—ख्यातेऽस्मिन् ग्राम-रत्ने ककुभ इति जनैस्साधु—संसर्गपूते पुत्रो यस्सोमिलस्य प्रचुर-गुण निधेर्भट्टिसोमो महार्थः तत्सूनू रुद्रसोमः पृथुलमतियशा व्याघ्ररत्यन्य संज्ञो मद्रस्तस्यात्मजो—भूद्द्विज—गुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः॥ इत्यादि"

भाव यही है कि संवत् १४१ में प्रसिद्ध तथा साधुओं के संसर्ग से पवित्र ककुभ ग्राम में ब्राह्मण-गुरु और यतियों को प्रिय मद्र नामक विप्र रहते थे, जिन्होंने पांच अर्हत्-विम्ब निर्मित कराये थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय ककुभ ग्राम में दिगम्बर मुनियों का एक वृहत् संघ रहता था।

राजगृह (विहार) के पुरातत्व में दि० मुनियों की साक्षी

राजगृह (विहार) का पुरातत्व भी गुप्तकाल में वहां दिगम्बर मुनियों के वाहुल्य का परिचायक है। वहां पर गुप्तकाल की निर्मित अनेक दिगम्बर जैनमूर्तियां मिलती हैं[5] और निम्न शिलालेख वहां पर दिगम्बर जैन संघ का अस्तित्व प्रमाणित करता है—

"निर्वाणलाभाय तपस्वि योग्ये शुभेगुहेऽर्हत्प्रतिमाप्रतिष्ठे।
आचार्यरत्नम् मुनि वैरदेवः विमुक्तये कारय दीर्घतेजः।"

---

१. वीर, वर्ष ४ पृ० ३१०

२. संप्रजैस्मा० पृष्ठ ८१-८२ '(General Cunningham) found a number of fragmentary naked Jain statues, some inscribed with dates ranging from 96 to 152 A. d.'

३. संप्राजैस्मा०, पृ० २७

४. पूर्व०, पृ० ३-४

५. SPCIV., plate II (b)

अर्थात्—"निर्वाण की प्राप्ति के लिए तपस्वियों के योग्य और श्री अर्हन्त की प्रतिमा से प्रतिष्ठित शुभगुफा में मुनि वैरदेव को मुक्ति के लिये परम तेजस्वी आचार्य पद रूपी रत्न प्राप्त हुआ यानि मुनि वैरदेव को मुनि संघ ने आचार्य स्थापित किया।" इस शिलालेख के निकट ही एक नग्न जैन मूर्ति का निम्न भाग उकेरा हुआ है, जिससे इसका सम्बन्ध दिगम्वर मुनियों से स्पष्ट है।[1]

वङ्गाल के पुरातत्व में दिगम्वर मुनि

गुप्तकाल और उसके वाद कई शताव्दियों तक वंगाल, आसाम और उड़ीसा प्रान्तों में दिगम्वर जैनधर्म वहु प्रचलित था। नग्न जैन मूर्तियाँ वहां के कई ज़िलों में विखरी हुई मिलती हैं। पहाड़पुर (राजशाही) गुप्तकाल में एक जैन केन्द्र था[2]। वहां से प्राप्त एक ताम्र लेख दिगम्वर मुनियों के संघ का द्योतक है। उसमें अङ्कित है कि "गुप्तसं० १५९ (सन् ४७९ ई०) में एक ब्राह्मण दम्पति ने निर्ग्रन्थ विहार की पूजा के लिये वटगोहली ग्राम में भूमिदान दी। निर्ग्रन्थ संघ आचार्य गुहनन्दि और उन के शिष्यों द्वारा शासित था!"[3]

कादम्व-राजाओं के ताम्रपत्रों मे दिगम्वर मुनि

देवगिरि (धाड़वाड़) से प्राप्त कादम्ववंशी राजाओं के ताम्रपत्र ईस्वी पांचवीं शताव्दि में दिगम्वर मुनियों के वैभव को प्रकट करते हैं। एक लेख में है कि महाराजा कादम्व श्री कृष्णवर्मा के राजकुमार पुत्र देववर्मा ने जैन मन्दिर के लिए यापनीय संघ के दिगम्वर मुनियों को एक खेत दान दिया था। दूसरे लेख में प्रगट है कि "काकुष्ठवंशी श्री शान्तिवर्मा के पुत्र का दम्व-महाराज मृगेश्वरवर्मा ने अपने राज्य के तीसरे वर्ष में परलूरा के आचार्यो को दान दिया था"। तीसरे लेख में कहा गया है कि "इसी मृगेश्वरवर्मा ने जैन मन्दिरों और निर्ग्रन्थ (दिगम्वर) तथा श्वेतपट (श्वेतांवर) संघों के साधुओं के व्यवहार के लिये एक कालवंग नामक ग्राम अर्पण किया था[4]।"

उदयगिरि (भिलसा) में पांचवीं शताव्दी की वनी हुई गुफायें हैं, जिनमें जैनसाधु ध्यान किया करते थे। उनमें लेख भी हैं[5]।

अजन्ता की गुफाओं में दि० मुनियों का अस्तित्व

अजन्टा (खानदेश) की प्रसिद्धगुफाओं के पुरातत्व से ईस्वी सातवीं शताव्दि में दिगम्वर जैन मुनियों का अस्तित्व प्रमाणित है। वहां की गुफा नं० १३ में दिगम्वर मुनियों का संघ चित्रित है। नं० ३३ की गुफा में भी दिगम्वर मूर्तियां है।[6]

वादामी की गुफा

वादामी (वीजापुर) में सन् ६५० ई० की जैनगुफा उस ज़माने में दिगम्वर मुनियों के अस्तित्व की द्योतक है। उसमें मुनियों के ध्यान करने योग्य स्थान हैं और नग्न मूर्तियां अङ्कित हैं।[7]

चालुक्य-राजा विक्रमादित्य के लेख में दिगम्वर मुनि

लक्ष्मेश्वर (धाड़वाड़) की संखवस्ती के शिला लेख से प्रगट है कि संखतीर्थ का उद्धार पश्चिमीय चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य द्वितीय (शाका ६५६) ने कराया था और जिन पूजा के लिए श्री देवेन्द्र भट्टारक के शिष्य मुनि एकदेव के शिष्य जयदेव पंडित को भूमिदान दी थी! इससे विक्रमादित्य का दिगम्वर मुनियों का भक्त होना प्रगट है। वहीं के एक अन्य लेख से मूलसंघ के श्री रामचन्द्राचार्य और श्रीविजयदेव पंडिताचार्य का पता चलता है[8]। सारांशतः वहां उस समय एक उन्नत दिगम्वर जैनसंघ विद्यमान् था।

---

१. वंविओजैस्मा०, पृ १६
२. IHQ., Vol. VII p. 441
३. Modern Review, August 1931, p. 150
४. IA. VII 33-34 व वंप्राजैस्मा०, पृ० १२६
५. मप्राजैस्मा०, पृ० ७०
६. वंप्राजैस्मा०. पृ० ५५-५६
७. Ibid. p. 103
८. Ibid- pp. 124-125

एलोरा की गुफाओं में दिगम्बर मुनि

ईस्वी आठवीं शताब्दि की निर्मित एलोरा की जैन गुफायें भी उस समय दिगम्बर मुनियों के विहार और धर्म प्रचार को प्रगट करती हैं। वहां की इन्द्र सभा नामक गुफा में जैन मुनियों के ध्यान करने और उपदेश करने योग्य कई स्थान हैं और उनमें अनेक नग्न मूर्तियां अंकित हैं। श्रीबाहुबलि गोमट्टस्वामी की भी खंगासन मूर्ति है। "जगन्नाथसभा"—"छोटा कैलास" आदि गुफायें भी इसी ढंग की हैं और उनसे तत्कालीन दिगम्बरत्व की प्रधानता का परिचय मिलता है[1]।

राट्टराजा आदि के शिलालेखों में दिगम्बर मुनि

सौंदत्ति (बेलगाम) के पुरातत्व में दिगम्बर मुनियों की मूर्तियां और उनका वर्णन मिलता है[2]। वहां एक आठवीं शताब्दि का शिलालेख है, जिससे प्रकट है कि "मैलेयतीर्थ की कारेयशाखा में आचार्य श्री मूल भट्टारक थे, जिनके शिष्य विद्वान् गणकीर्ति थे और उनके शिष्य इच्छा को जीतने वाले श्री मुनि इन्द्रकीर्ति स्वामी थे; उनका शिष्य मेरड़ का बड़ा पुत्र राजा पृथ्वीवर्मा था, जिसने एक जैनमंदिर बनवाया था और उसके लिये भूमि का दान दिया था"। एक दूसरे सन् ९८१ के लेख से विदित है कि कुन्दुर जैन शाखा के गुरु अति प्रसिद्ध थे; उनको चौथे राट्टराजा शांत ने १५० मत्तर भूमि उस जैनमन्दिर के लिये दी जो उन्होंने सौंदत्ति में बनवाया था और उतनी ही भूमि उसी मन्दिर को उनकी स्त्री निजिकव्वे ने दी थी। उन दिगम्बराचार्य का नाम श्री बाहुबलि जी था और वे व्याकरणाचार्य थे। उस समय श्री रविचन्द्र स्वामी, अर्हनन्दी, शुभचन्द्र, भट्टारकदेव, मौनीदेव, प्रभाचन्द्रदेव, मुनिगण विद्यमान थे। राजाकत्तम की स्त्री पद्मलादेवी जैनधर्म के ज्ञान व श्रद्धान में इन्द्राणी के समान थी। वह दिगम्बर मुनियों की भक्ति में दृढ़ थी।

चालुक्य राजा विक्रम के लेख में दि० मुनियों का उल्लेख

एक अन्य लेख वहीं पर चालुक्य राजा विक्रम के १२वें राज्य-वर्ष का लिखा हुआ है, जिसमें निम्नलिखित दिगम्बराचार्यों के नाम दिये हुये हैं :—

"बलात्कारगण मुनि गुणचन्द, शिष्य नयनंदि, शिष्य श्रीधराचार्य, शिष्य चन्द्रकीर्ति, शिष्य श्रीधरदेव, शिष्य नेमिचन्द्र और वासुपूज्य त्रैविधदेव, वासुपूज्य के लघुभ्राता मुनि विद्वान् मलपाल थे। वासुपूज्य के शिष्य सर्वोत्तम साधु पद्मप्रभ थे। सेरिंगकावंशका अधिकारी गुरु वासुपूज्य का सेवक था।"

इस प्रकार उपरोक्त लेखों से सौंदत्ति और उसके आस पास में दिगम्बर मुनियों का बाहुल्य और उनका प्रभावशाली तथा राज्यमान्य होना प्रकट है।

राठौर राजाओं द्वारा मान्य दि० मुनियों के शिलालेख

गोविन्दराय तृतीय राठौर मान्यखेट के सन् ८१३ के ताम्रपत्र से प्रगट है कि गंगवंशी चाकिराज की प्रार्थना पर उन्होंने विजयकीर्ति कुलाचार्य के शिष्य मुनि अर्ककीर्ति को दान दिया था। अमोघवर्ष प्रथम ने सन् ८६० में मान्यखेट में देवेन्द्र-मुनि को भूमिदान किया था[3]। इनसे दिगम्बर मुनियों का राठौर राजाओं द्वारा मान्य होना प्रमाणित हैं।

मूलगुंड के पुरातत्व में दि० संघ

मूलगुंड (धारवाड़) का ९वीं—१०शताब्दि का पुरातत्व भी वहां पर दिगम्बर मुनियों के प्रभुत्व का द्योतक है। वहां के एक शिलालेख में वर्णन है कि "चीकारि, जिसने जैन मन्दिर बनवाया था, उस के पुत्र नागार्य के छोटे भ्राता आसार्य ने दान किया। यह आसार्य्य नीति और धर्मशास्त्र में बड़ा विद्वान था। इसने नगर के व्यापारियों की सम्मति से १००० पान के वृक्षों के खेत को सेनवंश के आचार्य कनकसेन की सेवा में जैनमन्दिर के लिये अर्पण किया था। कनकसेनाचार्य के गुरु श्री वीर सेन-स्वामी थे, जो पूज्यपाद कुमार सेनाचार्य के दिगम्बर मुनियों के संघ के गुरु थे, चन्द्रनाथ मन्दिर के शिलालेख से मूलगुंड के

---

१. Ibid., pp. 163-171

२. बंप्रा जैस्मा०, पृ० ८३—८६

३. भाप्रारा०, भा० ३ पृ० ३८—४१

राजा मदरसाकी स्त्री भामत्ती की मृत्यु का वर्णन प्रकट है[1]। ग़र्ज़ यह कि मूलगुण्डमें दिगम्बर मुनियों को एक समय प्रधानपद मिला हुआ था—वहां का शासक भी उनका भक्त था।

सुन्दी के शिलालेखों में राजमान्य दिगम्बर मुनि

सुन्दी (धारवाड़) के जैन मन्दिर विषयक शिलालेख (१०वीं श०) में पश्चिमीय गङ्गवंशीय राजकुमार बुट्टुग का वर्णन है; जिसने उस जैनमन्दिर के लिये दिगम्बर गुरु को दान दिया था जिसको उसकी स्त्री दिवलम्बा ने सुन्दी में स्थापित किया था। राजा बुट्टुग गङ्गमण्डल पर राज्य करता था और श्री नागदेव का शिष्य था। रानी दिवलम्बा दिगम्बर मुनियों और आर्यिकाओं की परम भक्त थी। उसने छै आर्यिकाओं को समाधिमरण कराया था[2]। इससे सुन्दी में दिगम्बर मुनियों का राजमान्य होना प्रकट है।

कुम्भोज वाहुवलि पहाड़ (कोल्हापुर) श्री दिगम्बर मुनि वाहुवलि के कारण प्रसिद्ध है, जो वहां हो गये हैं और जिनकी चरण पादुका वहां मौजूद हैं[3]।

कोल्हापुर के पुरातत्त्व में दिग० मुनि और शिलाहार राजा

कोल्हापुर का पुरातत्व दिगम्बर मुनियों के उत्कर्षका द्योतक है। वहां के इरविन म्यूजियम में एक शिलालेख शाका दसवीं शताब्दिका है जिससे प्रगट है कि दण्डनायक दासीमरसने राजा जगदेक मल्ल के दूसरे वर्ष के राज्य में एक ग्राम धर्मार्थ दिया था। उस समय यापनीयसंघ पुन्नागवृक्षमूलगण राद्धान्तादि के ज्ञाता परम विद्वान् मुनि कुमार कीर्तिदेव विराजित थे[4]। उपरान्त कोल्हापुर के शिलाहार वंशी राजा भी दिगम्बर मुनियों के परम भक्त थे। वहां के एक शिलालेख से प्रकट है कि "शिलाहार वंशीय महामण्डलेश्वर विजयादित्य ने माघ सुदी १५ शाका १०६५ को एक खेत और एक मकान श्री पार्श्वनाथ जी के मन्दिर में अष्टद्रव्य पूजा के लिये दिया। इस मन्दिर को मूल संघ देशीयगण पुस्तक गच्छ के अधिपति श्री माघनन्दि सिद्धान्तदेव (दिगम्बराचार्य) के शिष्य सामन्त कामदेव के आधीनस्थ वासुदेव ने बनवाया था। दान के समय राजा ने श्री माघनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य माणिक्यनन्दि पं० के चरण धोये थे।" बमनी ग्राम से प्राप्त शाका १०७३ के लेख से प्रगट है कि "शिलाहार राजा विजयादित्य ने जैन मन्दिर के लिये श्रीकुन्दकुन्दान्वयी श्री कुलचन्द्र मुनि के शिष्य श्री माघनंदि सिद्धान्तदेव के शिष्य श्री अर्हनन्दि सिद्धान्तदेव के चरण धोकर भूमिदान किया था[5]।" इनसे उस समय दिगम्बर मुनियों का प्रभुत्व स्पष्ट है।

आरटाल शिला-लेख में चालुक्य राज पूजित दिगम्बर मुनि

आरटाल (धाड़वाड़) से एक शिलालेख शाका १०१५ का चालुक्यराज भुवनैकमल्ल के राज्य कालका मिला है उसमें एक जैनमन्दिर बनने का उल्लेख है तथा दिगम्बर मुनि श्री कनकचन्द्र जी के विषय में निम्न प्रकार वर्णन है[6] :—

स्वस्ति यम—नियम—स्वाध्याय—ध्यान—मौनानुष्ठान—समाधिशील—गुण-संपन्नरप्प कनकचन्द्र सिद्धान्त देवः।"

इससे उस समय के दिगम्बर मुनियों की चारित्रनिष्ठा का पता चलता है।

ग्वालियर और दूबकुण्ड के पुरातत्व में दिगम्बर मुनि

ग्वालियर का पुरातत्व ईस्वी ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दि तक वहां पर दिगम्बर मुनियों के अभ्युदय को प्रगट करता है ग्वालियर किले में इस काल की बनी हुई अनेक दिगम्बर मूर्तियां हैं, जो बाबर के विध्वंसक हाथ से बच गई हैं। उनपर कई लेख भी हैं, जिनमें दिगम्बर गुरुओं का वर्णन मिलता है[7]। ग्वालियर के दूबकुण्ड नामक स्थान से मिला हुआ एक शिलालेख

---

१. बंप्राजैस्मा०, पृ १२०—१२१
२. बंप्राजैस्मा०, पृ० १२७
३. बंप्राजैस्मा, पृ० १५३
४. जैनमित्र वर्ष ३३ अंक ५ पृ० ७१
५. बंप्राजैस्मा०, पृ० १५३-१५४
६. दिजैडा०, पृ० ७४१
७. मप्राजैस्मा ८, पृ० ६५-६६

सन् १०८८ में दिगम्बर मुनियों के संघ का परिचायक है। यह लेख महाराज विक्रमसिंह कच्छवाहा का लिखाया हुआ है, जिसने श्रावक ऋषि को श्रेष्टीपद प्रदान किया था और जो अपने भुजविक्रम के लिये प्रसिद्ध था। इस राजा ने दूबकुण्ड के जैनमन्दिर के लिये दान दिया था और दिगम्बर मुनियों का सम्मान किया था। ये दिगम्बर मुनिगण श्रीलाटवागटगण के थे और इनके नाम क्रमशः (१) देवसेन (२) कुलभूषण (३) श्रीदुर्लभसेन (४) शांतिसेन और (५) विजयकीर्ति थे। इनमें श्री देवसेनाचार्य ग्रंथ-रचना के लिये प्रसिद्ध थे और श्रीशांतिसेन अपनी वादकला से विपक्षियों का मद चूर्ण करते थे[१]।

खजराहा के लेखों में दि० मुनि

खजराहा के जैन मन्दिर में एक लेख संवत् १०११ का है। उससे दिगम्बर मुनि श्री वासवचन्द्र (महाराज गुरु श्री वासवचन्द्रः) का पता चलता है। वह धांगराजा द्वारा मान्य सरदार पाहिल के गुरु थे।[२]

झालरापाटन में दि० मुनियों की निषिधिकायें

झालरापाटन शहर के निकट एक पहाड़ी पर दिगम्बर मुनियों के कई समाधिस्थान हैं। उन पर के लेखों से प्रगट हैं कि सं० १०६६ में श्री नेमिदेवाचार्य और श्री बलदेवाचार्य ने समाधिमरण किया था।[३]

अलवर राज्य के लेखों में दि० मुनि

अलवर राज्य के नौगमा ग्राम में स्थित दि० जैन मन्दिर में श्री अनन्तनाथ जी की एक कायोत्सर्ग मूर्त्ति है जिसके आसन पर लिखा है कि सं० ११७५ में आचार्य विजयकीर्त्ति के शिष्य नरेन्द्रकीर्त्ति ने उसकी प्रतिष्ठा की थी[४]।

देवगढ़ (झांसी) के पुरातत्व में दि० मुनि

देवगढ़ (झांसी) का पुरातत्व वहां तेरहवीं शताब्दि तक दिगम्बर मुनियों के उत्कर्षका द्योतक है। नग्न मूर्तियों से सारा पहाड़ ओत प्रोत है। उन पर के लेखों से प्रगट है कि ११वीं शताब्दि में वहां एक शुभदेवनाथ नामक प्रसिद्ध मुनि थे। सं० १२०९ के लेख में दिगम्बर गुरुओं की भक्त आर्यिका धर्मश्री का उल्लेख है सं० १२२४ का शिलालेख पण्डित मुनि का वर्णन करता है। सं० १२०७ में वहां आचार्य जयकीर्ति प्रसिद्ध थे। उनके शिष्यों में भावनन्दि मुनि तथा कई आर्यिकायें थीं। धर्मनन्दि, कमलदेवाचार्य, नागसेनाचार्य व्याख्याता माधनन्दि, लोकनन्दि और गुणनन्दि नामक दिगम्बर मुनियों का भी उल्लेख मिलता है। नं० २२२ की मूर्ति मुनि—आर्यिका—श्रावक—श्रविका, इस प्रकार चतुर्विधसंघ के लिये बनी थी[५]। गर्ज यह कि देवगढ़ में लगातार कई शताब्दियों तक दिगम्बर मुनियों का दौरदौरा रहा था।

बिजोलिया (मेवाड़) में दिग० साधुओं की मूर्त्तियां

बिजोलिया (पार्श्वनाथ—मेवाड़) का पुरातत्व भी वहां पर दिगम्बर मुनियों के उत्कर्ष को प्रगट करता है। वहां पर कई एक दिगम्बर मुनियों की नग्न प्रतिमायें बनी हुई हैं। एक मानस्थम्भ पर तीर्थकरों की मूर्तियों के साथ दिगम्बर मुनिगण के प्रति बिम्ब व चरण चिन्ह अंकित हैं। दो मुनिराज शास्त्रस्वाध्याय करते प्रगट किये हैं। उनके पास कमंडल पीछी रखे हुये हैं। वे अजमेर के चौहान राजाओं द्वारा मान्य थे[६]। शिलालेखों से प्रगट है कि वहां पर श्री मूलसंघ के दिगम्बराचार्य श्री वसन्तकीर्त्तिदेव, विशालकीर्त्तिदेव, मदनकीर्त्ति देव, धर्मचन्द्रदेव, रत्नकीर्त्तिदेव, प्रभाचन्द्रदेव, पद्मनन्दिदेव और शुभचन्द्रदेव विद्यमान् थे[७]। इनको चौहानराजा पृथ्वीराज और सोमेश्वर ने जैनमन्दिर के लिये ग्राम भेट किये थे[८]। सारांशतः बीजोल्या में एक समय दिगम्बर मुनि प्रभावशाली हो गये थे।

अञ्जनेरी की गुफाओं में दि० मुनि

अंजनेरी और अंकई (नासिक जिला) की जैन गुफायें वहां पर १२वीं—१३वीं शताब्दियों में दिगम्बर मुनियों के अस्तित्व को प्रकट करती हैं। पांडुलेनागुफाओं का पुरातत्त्व भी इसी बात का समर्थक है[९]।

बेलगाम के पुरातत्व में राजमान्य दि० मुनि

बेलगाम का पुरातत्व वहां पर १२वीं—१३ वीं शताब्दियों में दिगम्बर मुनियों के महत्व को प्रगट करते हैं, जो राज-मान्य थे। यहां के नाटराजाओं ने जैनमुनियों का सम्मान किया था, यह उनके लेखों से प्रगट है।

---

१. मप्राजैस्मा०, पृ० ७३-८४—"श्रीलाटवागटगणोन्नतरोहणाद्रि माणिक्यभूतचरितोगुरु देवसेन। सिद्धान्तोद्विविधोप्यवाधितधिया येन प्रमाण ध्वनि। ग्रंथेपु प्रभवः श्रियामवगतो हरतस्थ मुक्तोपमः...अस्थानानविपतो बुधाटविगुणे श्रीभोजदेवे नृपे सभ्येष्वंवरसेन पण्डित शिरोरत्नादिपूद्यन्मदान्। योनेकान्शतसो अजेष्ट पटुताभीष्टोद्यसो वादिनः शास्त्रांभोनिधिपारगो भवदन्तः श्री शान्तिसेनोगुरुः।"

२. मप्राजैस्मा०, पृ० ११७ ३. Ibid. p·191 ४. Ibid. p 195 ५. देजै०, पृ० १३—२५
६. दिजैडा०, पृ० ५०१ ७. मप्रा जैस्मा०, पृ० १३३ ८. राई०' पृ०३६३ ९. बंप्राजैस्मा'०पृ० ५9—५८

सन् १२०५ के लेख में वर्णन है कि वेलगाम में जब राट्टराजा कीर्त्तिवर्मा और मल्लिकार्जुन राज्य कर रहे थे तब श्री शुभचन्द्र भटारक की सेवा में राजा वीचा के बनाए गए राट्टों के जैनमन्दिर के लिये भूमिदान किया गया था। एक दूसरा लेख भी इन्हीं राजाओं द्वारा शुभचन्द्र जी को अन्य भूमि अर्पण किये जाने का उल्लेख करता है इसमें कार्तवीर्य की रानी का नाम पदमावती लिखा है[1]। सचमुच उस समय वहां पर दिगम्बर मुनियों का काफी प्रभुत्व था।

वेलगामान्तर्गत कोन्नूर स्थान से भी राट्टराजा का एक शिला लेख शाका १००९ का मिला है जिसका भाव है कि "चालुक्यराजा जयकर्ण के आधीन राट्टराज मण्डलेश्वर सेन कोन्नूर आदि प्रदेशों पर राज्य करता था, तब बलात्कारगण के वंशधरो को इन नगरों का अधिपति उसने बना दिया था। यहां के जैनमन्दिरों को चालुक्य राजा कौन्न व जयकर्ण द्वारा दान दिये जाने का उल्लेख मिलता है[2]। इनसे दिगम्बर मुनियों का महत्व स्पष्ट है।

वेलगाम जिले के कलहोले ग्राम में एक प्राचीन जैनमन्दिर है, जिसमें एक शिलालेख राट्टरजा कार्तवीर्य चतुर्थ और मल्लिकार्जुन का लिखाया हुआ मौजूद है। उसमें श्रीशांतिनाथ जी के मन्दिर को भूमिदान देने का उल्लेख है। मंदिर के गुरु श्री मूलसंघ कुन्दकुन्दाचार्य की शाखा हणसांगी वंशक थे। इस वंश के तीन गुरु मलधारी थे, जिनके एक शिष्य सैद्धांतिक नेमिचन्द्र थे। श्री नेमिचन्द्र के शिष्य शुभचन्द्र थे। जिन्होंने दिगम्बर धर्म की बहुत उन्नति की थी। उनके शिष्य श्री ललितकीर्ति थे।

वेलगाम जिले में स्थित रायवाग ग्राम में भी एक जैनशिलालेख राट्टराजा कार्तवीर्य का है। उससे विदित है कि कार्तवीर्य ने भ० शुभचन्द्र को शाका ११२४ में राट्टों के उन जैनमंदिरों के लिए दान दिया था जिन्हें उसकी माता चन्द्रिकादेवी ने स्थापित किया था[3]। इससे चन्द्रिका देवी का दि० मुनियों और तीर्थकरों का भक्त होना प्रगट है।

बीजापुर किले की मूर्तियां दि० मुनियों की द्योतक

बीजापुर के किले की दिगम्बर मूर्तियाँ सं० १००१ में श्री विजयसूरि द्वारा प्रतिष्ठित हैं।[4] उनसे प्रकट है कि बीजापुर में उस समय दिगम्बर मुनियों की प्रधानता थी।

तेवरी की दिगम्बर मूर्ति

तेवरी (जबलपुर) के तालाब में स्थित दि० जैनमंदिर की मूर्ति पर बारहवीं शताब्दि का लेख है कि " मानादित्य की स्त्री रोज नमन करती है,[5]। इससे वहाँ पर जैनमुनियों का राजमान्य होना प्रगट है।

दिल्ली के मूर्ति लेखों में दि० मुनि

दिल्ली नयामंदिर कटघर की मूर्तियों पर के लेख १५वीं शताब्दी में दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व प्रगट करते हैं। श्री आदिनाथ की मूर्ति पर लेख है कि "सं० १४२८ ज्येष्ठ सुदि १२ सोमवासरे काष्ठासंघे माथुरान्वये भ० श्रीदेवसेन देवासततत्पट्टे त्रयोदशविधचारित्रेनालंकृत: सकल विमल मुनिमंडली शिष्य: शिखामणय: प्रतिष्ठाचार्यवर्य श्री विमलसेनदेवास्तेपामुपदेशेन जाइसवालान्वये सा० पुरइपति। इत्यादि।" इन्हीं मुनि विमलसेन की शिष्या अर्जिका गुणश्री विमलश्री थी, यह बात उसी मंदिर की एक अन्य मूर्ति पर के लेख से प्रकट है।

लखनऊ के मूर्ति-लेख में निर्ग्रन्थाचार्य

लखनऊ चौक के जैनमंदिर में विराजमान श्री आदिनाथ की मूर्ति पर के लेख से विदित है कि सं० १५०३ में श्री भ० सकलकीर्ति के शिष्य श्री निर्ग्रन्थाचार्य विमलकीर्ति थे, जिनका उपदेश और विहार चहुँओर होता था।

चावलपट्टी (बंगाल) के जैनमन्दिर में विराजमान दशधर्म यन्त्र लेख से प्रकट है कि सं० १५८६ में आचार्य श्री रत्नकीर्ति के शिष्य मुनि ललितकीर्ति विद्यमान थे, जिनकी भक्ति अमरीबाई करती थी।[6]

---

१. बंप्राजैस्मा० पृष्ट ७४—७५
२. ibid pp 80-81
३. ibid pp 82—83
४. ibid p 108
५. दिजैडा० पृष्ट २८७
६. जैप्रलेसं० पृष्ठ २५

यहीं के एक अन्य सम्यक्ज्ञान यन्त्र के लेख से विदित होता है कि सं० १६३४ में विहार में भ० धर्मचन्द्र जी के शिष्य मुनि श्री वाहुनन्दी का विहार और धर्म प्रचार होता था।[1]

एटा, इटावा और मैनपुरी के पुरातत्व में दिगम्बर मुनि

कुरावली (मैनपुरी) के जैनमन्दिर में विराजमानसम्यक्दर्शनयंत्र पर के लेख से प्रगट है कि सं० १५७८ में मुनि विशालकीर्ति विद्यमान् थे। उनका विहार संयुक्त प्रान्त में होता था।[2] अलीगंज (एटा) के लेखों से मुनिमाघनंदि और मुनि धर्मचन्द्र जी का पता चलता है।[3] इटावा नशियांजी पर कतिपय जैनस्तूप हैं और उनपर के लेख से यहां अठारहवीं शताब्दि में मुनि विनयसागर जी का होना प्रमाणित है।[4] उधर पटना के श्री हरकचंद वाले जैनमन्दिर में सं० १६६४ की बनी हुई एक दिगम्बर मुनि की काष्टमूर्ति विद्यमान है।[5]

सारांशत: उत्तर भारत और महाराष्ट्र में प्राचीन काल से वरावर दिगम्बर मुनि होते आये हैं, यह बात उक्त पुरातत्व विषयक साक्षी से प्रमाणित है। अब यह आवश्यक नहीं है कि और भी अनगिनते शिलालेखादि का उल्लेख करके इस व्याख्या को पुष्ट किया जाय। यदि सबही जैनशिलालेख यहां लिखे जायं तो इस ग्रन्थ का आकार प्रकार तिगुना-चौगुना बढ़ जाय, जो पाठकों के लिए अरुचिकर होगा!

दक्षिण भारत का पुरातत्व और दि० मुनि

अच्छा तो अब दक्षिण भारत के शिलालेखादि पुरातत्व पर एक नजर डाल लीजिए। दक्षिण भारत की पाण्डवमलय आदि गुफाओं का पुरातत्व एक अति प्राचीन काल में वहां पर दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व प्रमाणित करता है। अनुमनामले (ट्रावनकोर) की गुफाओं में दिगम्बर मुनियों का एक प्राचीन आश्रम था। वहां पर दीर्घकाय दिगम्बर मूर्तियां अंकित हैं। दक्षिण देश के शिलालेखों में मदुरा और रामानन्द जिलों मे प्राप्त प्रसिद्ध ब्राह्मी लिपि के शिलालेख अति प्राचीन हैं। यह अशोक की लिपि में लिखे हुए हैं। इसलिए इनको ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दि का समझना चाहिए। यह जैन मंदिरों के पास बिखरे हुए मिले हैं और इनके निकट ही तीर्थङ्करों की नग्न मूर्तियां भी थीं। अत: इनका सम्वन्ध जैन धर्म से होना बहुत कुछ सम्भव है। इससे स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व तीसरी शताव्दी से ही जैन मुनि दक्षिण भारत में प्रचार करने लगे थे।[6] इन शिलालेखों के अतिरिक्त दक्षिण भारत में दिगम्बर मुनियों से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों शिलालेख हैं। उन सबको यहां उपस्थित करना असम्भव है। हाँ, उनमें से कुछ एक का परिचय हम यहां पर अंकित करना उचित समझते हैं। अकेले श्रवण वेलगोल में ही इतने अधिक शिलालेख हैं कि उनका सम्पादन एक वड़ी पुस्तक में किया गया है। अस्तु;

श्रवण वेलगोल के शिलालेखों में प्रसिद्ध दिगम्बर साधुगण

पहले श्रवण वेलगोलके शिलालेखों से ही दिगम्बर मुनियों का महत्व प्रमाणित करना श्रेष्ठ है। शक सं० ५२२ के शिलालेख से वहां पर श्रुतकेवली भद्रवाहु और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का परिचय मिलता है। उन दोनों महानुभावों ने दिगम्बर वेश में श्रवणवेलगोल को पवित्र किया था।[7] शक सं० ६२२ के लेख में मौनि गुरु की शिष्या नागमति को तीन मास का व्रत धारण करके समाधिमरण करते लिखा है। इसी समय के एक अन्य लेख में चरित श्री नामक मुनि का उल्लेख है।[8] धर्मसेन, वलदेव, पट्टिनिगुरु, उग्रसेन गुरु, गुणसेन, पेरुभालु, उल्लिकल, तीर्थद, कुलापक आदि दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व भी इसी समय प्रमाणित है।[9] शक सं० ८९६ के लेख से प्रगट है कि गंगराजा मारसिंह ने अनेक लड़ाइयाँ लड़ कर अपना भुज विक्रम प्रगट किया था और अन्त में अजितसेनाचार्य के निकट वंकापुर में समाधिमरण किया था।[10]

---

१. जैप्रयलेसं०, पृ० २६

२. प्राजैलेसं, पृ० ४६ ३. Ibid p. 70 ४. Ibid pp. 90—91

५. Mr. Ajitaprasada, Advocate, Lucknow reports. "Patna Jain temple renovated in 1964 V. S. by daughter-in-law of Harakchand. On the entrance door is the life-size image in wood of a muni with a Kamandal in the right hand & the broken end of what must have been a plchi in the left."

६. SSIJ., pt. 1 pp.—33—35

७. जैशिसं०, पृ० १—२ ८. Ibid. p. 3

९. Ibid. pp. 4—18 १०. Ibid. p. 20

तार्किकचक्रवर्ती श्री देवकीर्ति

शक संवत् १०८५ के लेख से तार्किक चक्रवर्ती श्री देवकीर्ति मुनि का तथा उनके शिष्य लक्खनन्दि, माघवेन्दु और त्रिभुवन मल्लका पता चलता है। उनके विषय में कहा :—

"कुर्व्वेनमः कपिल-वादि-वनोग्र-वन्हये
चार्व्वाक-वादि-मकराकर-वाडवाग्नये।
बौद्धोप्रवादितिमिरप्रविभेदभानवे
श्रीदेवकीर्त्तिमुनये कविवादिवाग्मिने ॥
... ...
"चतुर्म्मुख चतुर्व्वक्तूनिर्ग्गमागमदुस्सहा।
देवकीर्तिमुखाम्भोजे नृत्यतीति सरस्वती ॥"

सचमुच मुनि देवकीर्तिजी अपने समय के अद्वितीय कवि, तार्किक और वक्ता थे। वे महामण्डलाचार्य और विद्वान् थे और उनके समक्ष सांख्यिक, चार्वाक, नैयायिक, वेदान्ती, बौद्ध आदि सभी दार्शनिक हार मानते थे।[१]

महाकवि मुनि श्री श्रुतकीर्ति

उक्त समय के एक अन्य शिलालेख में मुनि देवकीर्ति की गुरु परम्परा दी है। जिससे प्रकट है कि मुनि कनकनन्दि और देवचन्द्र के भ्राता श्रुतकीर्ति त्रैविद्य मुनि ने देवेन्द्र सदृश विपक्षवादियों को पराजित किया था और एक चमत्कारी काव्य राघव-पाण्डवीय की रचना की थी, जो आदि से अन्त को व अन्त से आदि को, दोनों ओर पढ़ा जा सके। इससे प्रकट है कि उपरोक्त मुनि देवकीर्ति के शिष्य यादव-नरेश नारसिंह प्रथम के प्रसिद्ध सेनापति और मंत्री हुल्लप थे।[२]

श्री शुभचन्द्र और रानी जवक्कणव्वे

शक सं० १०९९ के लेख में मंत्री नागदेव के गुरु श्री नयकीर्ति योगीन्द्र व उनकी गुरुपरम्परा का उल्लेख है।[३] शक सं० १०४५ के लेख से प्रगट है कि होयसाल महाराज गंग नरेश विष्णुवर्द्धन ने अपने गुरु शुभचन्द्र देव की निषद्या निर्माण कराई थी। इनको भावज जवक्कणव्वे की जैन धर्म में दृढ़ श्रद्धा थी और वह दिगम्बर मुनियों को दानादि देकर सत्कार किया करती थी।[४] उनके विषय में निम्न प्रकार उल्लेख है :—

"दोरेये जक्कणिकव्वेगी भुवनदोल् चारित्रदोल् शीलदोल्
परमश्रीजिनपूजेयोल् सकलदानाश्चर्य्यदोल् सत्यदोल्।
गुरुपादाम्वुजभक्तियोल् विनयदोल् भव्यक्कलंकन्ददा—
दरिदं मन्निसुतिर्प्प पेम्पिनेडेयोल् मत्तन्यकान्ताजनम् ॥"

श्रीगोल्लाचार्य प्रभृत अन्य दिगम्वराचार्य

शक सं० १०३७ के लेख में है कि मुनि त्रैकाल्ययोगी के तप के प्रभाव से एक ब्रह्म-राक्षस उनका शिष्य हो गया था। उनके स्मरणमात्र से बड़े-बड़े भूत भागते थे, उनके प्रताप से करञ्ज का तेल घृत में परिवर्तित हो गया था। गोल्लाचार्य मुनि होने के पहले गोल्लदेश के नरेश थे। नूत्न चन्दिल नरेश के वंश चूड़ामणि थे। सकलचन्द्र मुनि के शिष्य मेघचन्द्र त्रैविद्य थे, जो सिद्धान्त में वीरसेन, तर्क में अकलंक और व्याकरण में पूज्यपाद के समान विद्वान् थे।[५] शक सं० १०४४ के लेख में दण्डनायक गंगराज की धर्मपत्नी लक्ष्मीमति के गुण, शील और दान की प्रशंसा है वह दिगम्वराचार्य श्री शुभचन्द्रजी की शिष्या थीं। इन्हीं आचार्य की एक अन्य धर्मात्मा शिष्या राजसम्मानित चमुण्डकी स्त्री देवमति थी[६]। शक सं० १०६८ के लेख में अन्य दिगम्बर मुनियों के साथ श्री शुभकीर्ति आचार्य का उल्लेख है, जिनके सम्मुख वाद में बौद्ध, मीमांसकादि कोई भी नहीं ठहर सकता था। इसीमें श्री प्रभाचन्द्रजी की शिष्या विष्णुवर्द्धन नरेशकी पटरानी शान्तलदेवी की धर्मपरायणता का भी उल्लेख है[७]।

१. जैशिसं० पृ० २३—२४
२. Ibid pp. 24—30
३. Ibid. pp 33-42
४. Ibid, pp. 43-49
५. Ibid. pp. 56-66
६. Ibid, pp. 67-70
७. Ibid. pp. 80-81

वादीन्द्र अभयदेव

शक सं० १३२० (नं० १०५) के शिलालेख में भी अनेक दिगम्बराचार्यों की कीर्त्ति गाथा का बखान है। वादीन्द्र अभयदेवसूरि ने बौद्धादि परवादियों को प्रतिभाहीन बना दिया था। यही बात आचार्य चारुकीर्ति के विषय में कही गई है। [१]

होयसाल वंशके राज गुरु दि० मुनि

शक सं० १२०५ (नं० १२९) में होयशाल वंश के राजगुरु महा मण्डलाचार्य माघनंदि का उल्लेख है; जिनके शिष्य वेलगोल के जौहरी थे [२]।

योगी दिवाकरनन्दि

नं० १३९ के शिलालेख में योगी दिवाकरनन्दि तथा उनके शिष्यों का वर्णन है। एक गन्ती नामक भद्रमहिलाने उनसे दीक्षा लेकर समाधिमरण किया था [३]।

एक सौ आठ वर्ष तपकरने वाले दि० मुनि

नं० १५९ शिलालेख प्रगट करता है कि कालन्तूर के एक मुनिराज ने कटवप्र पर्वत पर एक सौ आठ वर्ष तक तप करके समाधिमरण किया था [४]।

गर्ज यह है कि श्रवण वेलगोल के प्रायः सब ही शिला लेख दिगम्बर मुनियों की कीर्त्ति और यशको प्रगट करते हैं। राजा और रंक सब ही का उन्होंने उपकार किया था। रणक्षेत्र में पहुंच कर उन्होंने वीरों को सन्मार्ग सुझाया था। राजा-रानी, स्त्री-पुरुष, सब ही उनके भक्त थे।

दक्षिण भारत के अन्य शिला लेखों में दिग० मुनि

श्रवण वेलगोल के अतिरिक्त दक्षिण भारत के अन्य स्थानों से भी अनेक शिला लेख मिले हैं, जिनसे दिगम्बर मुनियों का गौरव प्रकट होता है। उनमें से कुछ का संग्रह प्रो० शेषगिरिराव ने प्रकट किया है; जिससे विदित होता है कि दिगम्बर मुनि इन शिला लेखों में यम-नियम-स्वाध्याय-ध्यानधारण-मौनानुष्टान-जप-समाधि—शीलगुण—सम्पन्न लिखे गये हैं [५]। उनका यह विशेषण उन्हें एक सिद्ध-योगी प्रगट करता है। प्रो० सा० उनके विषय में लिखते हैं कि—

"From these epigraphs we learn some details about the great ascetics and acharayas who spread the gospel of Jainism in the Andhra-Karnata desa. They were not only the leaders of lay and ascetic disciples, but of royal dynasties of warrior clans that held the destinies of the peoples of these lands in their hands."[६]

भावार्थ—"उक्त शिलालेख-संग्रह से उन महान दिगम्बर मुनियों और आचार्यों का परिचय मिलता है, जिन्होंने आन्ध्र-कर्णाटक देश में जैन धर्म का संदेश विस्तृत किया था। वे मात्र श्रावक और साधु शिष्यों के ही नेता नहीं नहीं थे, बल्कि उन क्षत्रिय कुलों के राजवंशों के नेता थे कि जिनके हाथों में उन देशों की प्रजा के भाग्य की बागडोर थी।"

दिगम्बरचार्यो का महत्व पूर्ण कार्य

सचमुच दिगम्बर मुनियों ने बड़े २ राज्यों की स्थापना और उनके संचालन में गहरा भाग लिया था। पुलल (मद्रास) के पुरातत्त्व से प्रगट है कि एक दिगम्बराचार्य ने असभ्य कुटुम्बों को जैन धर्म में दीक्षित करके सभ्य शासक बना दिया था वे जैन धर्म के महान् रक्षक थे और उन्होंने धर्म लगन से प्रेरित होकर बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ी थी[७]। उनने ही क्या, बल्कि दिगम्बराचार्यों के अनेक राजवंशी शिष्यों ने धर्म संग्राम में अपना भुज-विक्रम प्रगट किया था। जैन शिलालेख उनकी रण-

१. जैशिसं०, पृ० १९८-२०७
२. Ibid., p. 253
३. Ibid., p. 289
४. Ibid., p. 308
५. SSIJ., pt. II p. 6
६. Ibid., p. 68
७. OII., p. 236

गाथाओं से ओतप्रोत हैं। उदाहरणत: गङ्गसेनापति क्षत्रचूड़ामणि श्री चामुण्डराय को ही ले लीजिए, वह जैनधर्म के दृढ़ श्रद्धानी ही नहीं; बल्कि उसके तत्व के ज्ञाता थे। उन्होंने जैनधर्म पर कई श्रेष्ट ग्रन्थ लिखे हैं और वह श्रावक के धर्माचार का भी पालन करते थे; किन्तु उस पर भी उन्होंने एक नहीं अनेक सफल संग्रामों में अपनी तलवार का जौहर जाहिर किया था।[1] सचमुच जैनधर्म मनुष्य को पूर्ण स्वाधीनता का सन्देश सुनाता है। जैनाचार्य निःशङ्क और स्वाधीन होकर वही धर्मोपदेश जनता को देते हैं जो जनकल्याणकारी हो। इसीलिए वह 'वसुधैवकुटम्बकम्' कहे गये हैं। भीरुता और अन्याय तो जैन मुनियों के निकट फटकभी नहीं सकता है।

प्रो० सा० के उक्त संग्रह में विशेष उल्लेखनीय दिगम्बराचार्य श्री भावसेनत्रैवैद्य चक्रवर्ती, जो वादियों के लिये महा-भयानक (Terror to disputant) थे, वह और बवराज के गुरु (Preceptor of Bava king) श्री भावनन्दि मुनि हैं।[2] अन्य श्रोत से प्रगट है कि—

उपरान्त के शिलालेखों में दि० मुनि

सन् १४७८ ई० में जिञ्जी प्रदेश में दिगवराचार्य श्री वीरसेन वहु प्रसिद्ध हुये थे। उन्होंने लिंगायत-प्रचारकों के समक्ष वाद में विजय पाकर धर्मोद्योत किया था और लोगों को पुनः जैन धर्म में दीक्षित किया था।[3] कारकाल में राजा वीर पाण्डेय ने दिगम्बराचार्यों को आश्रय दिया था और उनके द्वारा सन् १४३२ में श्री गोम्मट-मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी, जिसे उन्होंने स्थापित कराया था। एक ऐसी ही दिगम्बर मूर्तिकी स्थापना वेणूर में सन् १६०४ में श्री तिम्मराज द्वारा की गई थी। उस समय भी दिगम्बराचार्यों ने धर्मोद्योत किया था। सन् १५३० के एक शिलालेख से प्रगट है कि श्री रंगनगर का शासक विधर्मी हो गया था, उसे जैन साधु विद्यानन्दि ने पुनः जैन धर्म में दीक्षित किया था।[4]

दि० मुनि श्री विद्यानन्दि

इसी शिलालेख से यह भी प्रगट है कि "इन मुनिराज ने नारायण पट्टन के राजा नंददेव की सभा में नंदनमल्ल भट्ट को जीता, सातवेन्द्र राजा केशरी वर्मा की सभा में वाद में विजय पाकर 'वादी' पद पाया, सालुवदेव राजा की सभा में महान विजय पाई, विलिगे के राजा नरसिंह की सभा में जैन धर्म का माहात्म्य प्रगट किया, कारकल नगर के शासक भैरव राजा की सभा में जैन धर्म का प्रभाव विस्तारा राजा कृष्णराय की राजसभा में विजयी हुए, कोपन व अन्य तीर्थों पर महान उत्सव कराये, श्रवण वेलगोल के श्री गोम्मट स्वामी के चरणों के निकट आपने अमृत की वर्षा के समान योगाभ्यास का सिद्धान्त मुनियों को प्रगट किया, जिरसप्पा में प्रसिद्ध हुये, उनकी आज्ञानुसार श्रीवरदेव राजा ने कल्याण पूजा कराई और वह संगी राजा और पद्मपुत्र कृष्णदेव से पूज्य थे।[5]" यह एक प्रतिभाशाली साधु थे और जिनके अनेक शिष्य दिगम्बर मुनिगण थे।

सारांशत: दक्षिण भारत के पुरातत्व से वहां दिगम्बर मुनियों का प्रभावशाली अस्तित्व एक प्राचीन काल से बराबर सिद्ध होता है। इस प्रकार भारत भर का पुरातत्व दिगम्बर जैन मुनियों के महती उत्कर्ष का द्योतक है।

[२४]

विदेशों में दिगम्बर मुनियों का विहार

India had pre-eminently been the cradle of culture and it was from this country that other nations had understood even the rudiments of culture. For example, they were told, the

1. वीर वर्ष ७ पृ० २—११
२. SSIJ., pt. VI pp. 61—62
३. वीर, वर्ष ५ पृ० २४६
४. जैध०, पृ० ७० व DG.
५. मजैस्मा०, पृ० ३२०—३२१

Buddhistic missionaries and Jaina monks went forth to Greece and Rome and to places as far as Norway and had spread their culture.'[1]

—Prof. M.S. Ramaswamy Iyengar.

जैन पुराणों के कथन से स्पष्ट है कि तीर्थंकरों और श्रमणों का विहार समस्त आर्य खंड में हुआ था। वर्तमान की जानी हुई दुनियां का समावेश आर्यखंड में हो जाता है।[२] इसलिये यह मानना ठीक है कि अमरीका, यूरोप, ऐशिया आदि देशों में एक समय दिगम्बर धर्म प्रचलित था और वहां दिगम्बर-मुनियों का विहार होता था। आधुनिक विद्वान् भी इस बात को प्रकट करते हैं कि बौद्ध और जैनभिक्षुगण यूनान, रोम और नारवे तक धर्म प्रचार करते हुये पहुंचे थे !

किन्तु जैनपुराणों के वर्णन पर विशेष ध्यान न देकर यदि ऐतिहासिक प्रमाणों पर ध्यान दिया जाय, तो भी यह प्रगट होता है कि दिगम्बर मुनि विदेशों में अपने धर्म का प्रचार करने को पहुंचे थे। भ० महावीर के विहार विषय में कहा गया है कि वे आकनीय, वृकार्थप, वाल्हीक, यवनश्रुति, गांधार क्वाथतोय, तार्ण और कार्ण देशों में भी धर्म-प्रचार करते हुये पहुंचे थे।[३] ये देश भारतवर्ष के बाहरही प्रगट होते हैं। आकनीय संभवतः आकसीनिया (Oxiana) है। यवनश्रुति यूनान अथवा पारस्य का द्योतक है। वाल्हीक बल्ख (Balkh) है। गांधार कंधार है। क्वाथतोय रेड-सी (Red Sea) के निकट के देश हो सकते हैं। तार्ण-कार्णा तूरान आदि प्रतीत होते हैं।[४] इस दशा में कंधार, यूनान, मिश्र आदि देशों में भगवान का विहार हुआ मानना ठीक है।[५]

सिकन्दर महान के साथ दिगम्बर मुनि कल्याण यूनान के लिए यहां से प्रस्थानित हो गये थे और एक अन्य दिगम्बराचार्य यूनान धर्म प्रचारार्थ गये थे, यह पहले लिखा जा चुका है। यूनानी लेखकों के कथन से बैक्ट्रिया (Bactria)[६] और इथ्यूपिया (Ethiopia)[७] नामक देशों में श्रमणों के विहार का पता चलता है। ये श्रमणगण दि० जैनही थे, क्योंकि बौद्ध श्रमण तो सम्राट् अशोक के उपरान्त विदेशों में पहुंचे थे।

अफ्रीका के मिश्र और अबीसिनिया देशों में भी एक समय दिगम्बर मुनियों का विहार हुआ प्रगट होता है; क्योंकि वहां की प्राचीन मान्यता में दिगम्बरत्व को विशेष आदर मिला प्रमाणित है। मिश्र में नग्न मूर्तियां भी बनी थीं और वहां की कुमारी सेंटमेरी (St. Mary) दिगम्बर साधु के भेष में रही थी। मालूम होता है कि रावण की लंका अफ्रीका के निकट ही थी और जैन-पुराणों से यह प्रगट ही है कि वहां अनेक जैन मन्दिर और दिगम्बर मुनि थे।[८]

यूनान में दिगम्बर मुनियों के प्रचार का प्रभाव काफी हुआ प्रगट होता है। वहां के लोगों में जैन मान्यताओं का आदर हो गया था। यहां तक कि डायजिनेस (Diogenes) और सम्भवतः पैर्हो (Pyrroh of Elis) नामक यूनानी तत्ववेत्ता दिगम्बर वेष में रहे थे[९]। पैर्होने दिगम्बर मुनियों के निकट शिक्षा ग्रहण की थी। यूनानियों ने नग्न मूर्तियां भी बनायीं थी; जैसे कि लिखा जा चुका है।

जब यूनान और नारवे जैसे दूर के देशों में दिगम्बर मुनिगण पहुंचे थे, तो भला मध्य-ऐशिया के अरब ईरान और अफगानिस्तान आदि देशों में वे क्यों न पहुंचते ? सचमुच दिगम्बर मुनियों का विहार इन देशों में एक समय में हुआ था। मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने इन देशों में जैन श्रमणों का विहार कराया था, यह पहले ही लिखा जा चुका है। मालूम होता है कि

---

१. The "Hindu" of 25th July 1919 & JG. XV 27
२. भपा०, १५६—१५७
३. हरिवंशपुराण, सर्ग ३ श्लो० ३—७
४. वीर, वर्ष ६ अंक ७
५. संजैइ०, भा २ पृ० १०२—१०३
६. AI. p. 104
७. AR., III. p 6. व जैन होस्टल मैगजीन भाग ११ पृ० ६
८. भपा०, पृ० १६०—२६२
९. NJ., Intro. p. 2 and "Diogenes Laertius (IX. 61 and 63) refers to the Gymnosophists and asserts that Pyrrho of Elis, the founder of pure Scepticism came under their influence and on his return the Elis imitated their habits of life." E.B. XII 753:

दिगम्बर मुनि अपने इस प्रयास में सफल हुये थे, क्योंकि यह पता चलता है कि इस्लाम मजहब की स्थापना के समय अधिकांश जैनी अरब छोड़कर दक्षिण-भारत में आ बसे थे[१]। तथा हुएन सांग के कथन से स्पष्ट है कि ईस्वी सातवीं शताब्दि तक दिगम्बर मुनिगण अफगानिस्तान में अपने धर्म का प्रचार करते रहे थे।[२]

दिगम्बर मुनियों के धर्मोपदेश का प्रभाव इस्लाम मजहब पर बहुत कुछ प्रतीत होता है। दिगम्बरत्व के सिद्धान्त का इस्लाम-मजहब में मान्य होना, इस बात का सबूत है। अरबी कवि और तत्ववेत्ता अबु-ल्-अला (Abu-l-Ala; ई० ९७३—१०५८) की रचनाओं में जैनत्व की काफी झलक मिलती है। अबु-ल्-अला शाकभोजी तो थे ही; परन्तु वह म० गान्धी की तरह यह भी मानते थे कि एक अहिंसक को दूध नहीं पीना चाहिए। मधु का भी उन्होंने जैनों की तरह निषेध किया था। अहिंसा धर्म को पालने के लिए अबुल-अला ने चमड़े के जूतों का पहनना भी बुरा समझा था और नग्न रहना वह बहुत अच्छा समझते थे। भारतीय साधुओं का अन्त समय अग्निचिता पर बैठ कर शरीर को भस्म करते देखकर, वह बड़े आश्चर्य में पड़ गये थे। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि अबु--अला पर दिगम्बर जैन धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था और उसने दिगम्बर मुनियों को सल्लेखनाव्रत का पालन करते हुये देखा था।[३] वह अवश्य ही दिगम्बर मुनियों के संसर्ग में आये प्रतीत होते हैं। उनका अधिक समय बगदाद में व्यतीत हुआ था।

लंका (Ceylon) में जैन धर्म की गति प्राचीन काल से है। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दि में सिंहलनरेश पाण्डुकाभय ने वहाँ के राजनगर अनुरुद्धपुर में एक जैन मन्दिर और जैन मठ बनवाया था। निर्ग्रन्थ साधु वहां पर निर्बाध धर्मप्रचार करते थे। इक्कीस राजाओं के राज्य तक वह जैन विहार और मठ वहां मौजूद रहे थे, किन्तु ई० पू० ३८ में राजा वट्टगामिनी ने उनको नष्ट करा कर उनके स्थान पर बौद्ध विहार बनवाया था।[४] उस पर भी दिगम्बर मुनियों ने जैन धर्म के प्राचीन केन्द्र लंका या सिंहलद्वीप को बिल्कुल ही नहीं छोड़ दिया था। मध्यकाल में मुनि यश-कीर्ति इतने प्रभावशाली हुये थे कि तत्कालीन सिंहल नरेश ने उनके पाद-पद्मों की अर्चा की थी।[५]

सारांशतः यह प्रकट है कि दिगम्बर मुनियों का विहार विदेशों में भी हुआ था। भारतेतर जनता का भी उन्होंने कल्याण किया था।

(२५)

मुसलमानी बादशाहत में दिगम्बर मुनि

"O son, the kingdom of India is full of different religions......It is incumbent on thee to wipe all religious prejudices off the tablet of the heart; administer justice according to the ways of every religion."[६].

—Babar

मुसलमान और हिन्दुओं का पारस्परिक सम्बन्ध

ई० ८वीं—१०वीं शताब्दि से अरब के मुसलमानों ने भारतवर्ष पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था; किन्तु कई शताब्दियों तक उनके पैर यहाँ पर नहीं जमे थे। वह लूट-मार करके जो मिला उसे लेकर अपने देश को लौट जाते थे। इन प्रारंभिक आक्रमणों में भारत के स्त्री-पुरुषों की एक बड़ी संख्या में हत्या हुई थी और उनके धर्म मन्दिर और मूर्तियां भी सब तोड़ी गई थीं। तिमूरलंग ने जिस रोज दिल्ली फतह की उस रोज उसने एक लाख भारतीय कैदियों को तोप-दम करवा दिया।[७]

---

१. Ar., IX. 884
२. हुना०, पृ०
३. जैध०, पृ० ४१६
४. महावंश AISJ p. 37
५. जैशि सं० पृ० ११२
६. QJMS., Vol. XVIII p. 116
७. Elliot. III. p. 436 : "100000 in fidels, impious idolators were on that day slain."
—Malfuzat-i-Timuri.

कि उन्होंने खिलजी बादशाह अलाउद्दीन से सम्मान पाया था[१]। इतिहास से प्रगट है कि अलाउद्दीन धर्म की परवाह कुछ नहीं करता था। उस पर राघो और चेतन नामक ब्राह्मणों ने उसको और भी बरगला रक्खा था। एकदा उन्हीं दोनों ने बादशाह को दिगम्बर मुनियों के विरुद्ध कहा सुना और उनकी बात मान कर बादशाह ने जैनियों से अपने गुरु को राजदरबार में उपस्थित करने के लिये कहा। जैनियों ने नियत काल में आचार्य माहवसेन को दिल्ली में उपस्थित पाया। उनका विहार दक्षिण की ओर से वहां हुआ था।

सुल्तान अलाउद्दीन और दिगम्बराचार्य

आचार्य माहवसेन दिल्ली के बाहर श्मशान में ध्यानारूढ़ तिष्ठे थे कि वहां एक सर्प-दंश से अचेत सेठ-पुत्र दाह-कर्म के लिये लाया गया। आचार्य महाराज ने उपकार भाव से उसका विष-प्रभाव अपने योग-बल से दूर कर दिया। इस पर उनकी प्रसिद्धि सारे शहर में हो गई। बादशाह अलाउद्दीन ने भी यह सुना और उसने उन दिगम्बराचार्य के दर्शन किये। बादशाह के राजदरबार में उनका शास्त्रार्थ भी षट्दर्शन वादियों से हुआ; जिसमें उनकी विजय रही। उस दिन महासेन स्वामी ने पुनः एक बार स्याद्वाद की अखण्ड ध्वजा भारत वर्ष की राजधानी दिल्ली में आरोपित कर दी थी।[२]

इन्हीं दिगम्बराचार्य की शिष्य परम्परा में विजयसेन, नयसेन, श्रेयांससेन, अनन्तकीर्त्ति, क्षेमकीर्त्ति, श्रीहेमकीर्त्ति, कुमारसेन, हेमचन्द्र, पद्मनन्दि, यशःकीर्त्ति, त्रिभुवनकीर्ति, सहस्रकीर्ति, महीचन्द्र आदि दिगम्बर मुनि हुये थे। इनमें श्रीकमलकीर्ति जी विशेष प्रख्यात थे।[३]

सुल्तान अलाउद्दीन का अपरनाम मुहम्मदशाह था[४]। सन् १५३० ई० के एक शिलालेख में मुनि विद्यानन्दि के गुरु-परम्परीण श्री आचार्य सिंहनन्दिका उल्लेख है। वह बड़े नैयायिक थे और उन्होंने दिल्ली के बादशाह महमूद सुरित्राण की सभा में बौद्ध व अन्यों को वाद में हराया था। यह बात उक्त शिलालेख में है। यह उल्लेख बादशाह अलाउद्दीन के सम्बन्ध में हुआ प्रतिभाषित होता है।[५]

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि बादशाह अलाउद्दीन के निकट दिगम्बर मुनियों को विशेष सम्मान प्राप्त हुआ था दिल्ली के श्री पूर्णचन्द्र दिगम्बर जैन श्रावक की भी इज्जत अलाउद्दीन करता था[६] और उसने श्वेताम्बराचार्य श्री रामचन्द्र सूरि को कई भेंटें अर्पण की थीं[७]। सच बात तो यह है कि अलाउद्दीन के निकट धर्म का महत्व कुछ न था। उसे अपने राज्य का ही एक मात्र ध्यान था—उसके सामने वह 'शरीअत' को भी कुछ न समझता था। एक दफा उसने नव-मुस्लिमों को तोपदम करा दिया था[८]। हिन्दुओं के प्रति वह ज्यादा उदार नहीं था और जैन लेखकों ने उसे 'खूनी' लिखा है। किन्तु अलाउद्दीन में 'मनुष्यत्व' था। उसी के बल पर वह अपनी प्रजा को प्रसन्न रख सका था और विद्वानों का सम्मान करने में सफल हुआ था।[९]

---

१. "(The Jain) Acharyas……by their character attainments and scholarship……commanded the respect of even Muhammadan Sovereigns like Allauddin and Auranga Padusha (Aurangazeb)." —SSJ., pt. II p. 132

२. जैसिभा०, भा० १ कि० ४ पृ० १०६

३. Ibid. ४. Oxford. p. 130

५. मजैस्मा०, पृ० ३२२, 'सुल्तान' शब्द को जैनाचार्यों ने सुरित्राण लिखकर बादशाहों को मुनिरक्षक प्रकट किया है।

६. जैहि०, भा० १५ पृ० १३२

७. जैध०, पृ० १६८

८. "He (Allauddnin) was by nature cruel and implacable, and his only care was the welfare of his kingdom. No consideration for religion (Islam) ever troubled him. He disregarded the provisions of the Law ……He now gave commands that the race of "New-Muslims" should be destroyed."—Tarikh-i-Firozshahi." —Elliot. III. p. 205

९. सुल्तान अलाउद्दीन ने शराब की बिक्री रुकवा दी थी। नाज, कपड़ा आदि बेहद सस्ते थे। उसके राज में सदर्मवित की बाहुल्यता थी। विद्वान् काफी हुए थे। (Without the partronage of the Sultan many learned and great men flourished)

—Elliot., III 206

तत्कालीन अन्य दिगम्बर मुनि गण

सं० १४६२ में ग्वालियर में महामुनि श्री गुणकीर्तिजी प्रसिद्ध थे[1]। मेदपाद देश में सं० १५३६ में श्री मुनि रामसेनजी के प्रशिष्य मुनि सोमकीर्ति जी विद्यमान थे और उन्होंने 'यशोधर चरित्' की रचना की थी[2]। श्री 'भद्रबाहु चरित्' के कर्त्ता मुनि रत्ननन्दिजी इसी समय हुए थे। वस्तुतः उस समय अनेक मुनिजन अपने दिगम्बर वेष में इस देश में विचर रहे थे।

लोदी सिकन्दर निजामखाँ और दिगम्बराचार्य विशालकीर्ति

लोदी खानदान मे सिकन्दर (निजामखां) बादशाह सन् १४८६ में राजसिंहासन पर बैठा था[3]। हूमसमठ के गुरु श्री विशालकीर्ति भी लगभग इसी समय हुये थे। उनके विषय में एक शिलालेख से पाया जाता है कि उन्होंने सिकन्दर बादशाह के समक्ष वाद किया था[4]। यह वाद लोदी सिकन्दर के दरबार में हुआ प्रतीत होता है। अतः यह स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनि तब भी इतने प्रभावशाली थे कि वे बादशाहों के दरबार के भी पहुँच जाते थे।

तत्कालीन विदेशी यात्रियों ने दिगम्बर साधुओं को देखा था

जैन साहित्य के उपरोक्त उल्लेखों की पुष्टि अजैन श्रोत से भी होती है। विदेशी यात्रियों के कथन से यह स्पष्ट है कि गुलाम से लोदी राज्यकाल तक दिगम्बर जैनमुनि इस देश में विहार और धर्मप्रचार करते रहे थे। देखिये तेरहवीं शताब्दि में यूरोपीय यात्री मार्को पोलो (Morco Polo) जब भारत में आया तो उसे ये दिगम्बर साधु मिले। उनके विषय में वह लिखता है कि[5] :—

"कतिपय योगी मादरजात नंगे घूमते थे, क्योंकि, जैसे उन्होंने कहा, वे इस दुनिया में नंगे आये हैं और उन्हें इस दुनियां की कोई चीज चाहिये नहीं। खासकर उन्होंने यह कहा कि हमें शरीर सम्बन्धी किसी भी पाप का भान नहीं है और इसलिये हमें अपनी नंगी दशा पर शरम नहीं आती है, उसी तरह जिस तरह तुम अपना मुंह और हाथ नंगे रखने में नहीं शरमाते हो। तुम जिन्हें शरीर के पापों का भान है, यह अच्छा करते हो कि शरम के मारे अपनी नग्नता ढक लेते हो।"

इस प्रकारकी मान्यता दिगम्बर मुनियोंकी है। मार्कोपोलोका समागम उन्हींसे हुआ प्रतीत होता है। वह उनके संसर्ग में आये हुए लोगों में अहिंसा धर्मकी बाहुल्यता प्रकट करता है। यहां तक कि वह साग-सब्जी तक ग्रहण नहीं करते थे। सूखे पत्तों पर रखकर भोजन करते थे। वे इन सब में जीव-तत्व का होना मानते थे। हैवेल सा० गुजरात के जैनों में इन मान्यताओं का होना प्रकट करते हैं[6]। किन्तु वस्तुतः गुजरात ही क्या प्रत्येक देश का जैनी इन मान्यताओं का अनुयायी मिलेगा। अतः इसमें सन्देह नहीं कि मार्को पोलो को जो नंगे-साधु मिले थे, वह जैन साधु ही थे।

अलबेरुनी के आधार पर रशीदुद्दीन नामक मुसलमान लेखक ने लिखा है कि "मलाबार के निवासी सब ही श्रमण हैं और मूर्तियों कीं पूजा करते हैं। समुद्र किनारे के सिन्दबूर, फकनूर, मञ्जरूर, हिलि, सदर्स, जंगलि और कुलम नामक नगरों

---

१. जैहि०, भा० १५ पृ० २२५

२. "नदीतटाख्यगच्छे वंशे श्रीरामसेन देवस्य जातोगुणार्णवैकं श्रीमांश्च भीमसेनेति। निर्मितं तस्य शिष्येण श्री यशोधर संज्ञिकं श्री सोमकीर्ति मुनिनानियोदयाधीपतांबुवावर्पेपट् विपशंख्येतिथिपरिगणनायुक्तं संवत्सरेति पंचम्यां पौषकृष्णदिनकर दिवसे चोत्तरास्पट्ट चंद्रे ॥ इत्यादि ॥"

३. Oxford., p. 130   ४. मजैस्मा०. पृ० १६३ व ३२२

५. "Some Yogis went stark naked, because, as they said, they had come naked into the world and desired nothing that was of this world. 'Moreover, they declared, "we have no sin of the flesh to be conscious of, and, therefore, we are not ashamed of our nakedness, any more than you are to show your hand or face. You, who are conscious of the sins of the flesh, do well to have shame and to cover your nakedness."

—Yule's Morco Polo, II, 366 and HARI, p. 364

६. 'Mroco Polo also noticed the customs, which the orthodox Jaina community of Gujerat maintains to the present day. 'They do not kill an animal on any account, not even a fly or a flea, or a louse, or anything in fact that has life; for they say, these have all souls and it would be sin to do so ' (Yule's Morco polo., II 366)   —HARI., p. 365

और देशों के निवासी भी 'श्रमण' हैं[1]।" यह लिखा ही जा चुका है कि दिगम्बर मुनि 'श्रवण' नाम से भी विख्यात् हैं। अतः कहना होगा कि रशीदुद्दीन के अनुसार मलावार आदि देशों के निवासी दिगम्बर जैन ही थे, और तब उनमें दिगम्बर मुनियों का होना स्वाभाविक है।

मुगल साम्राज्य में दिगम्बर मुनि

उपरान्त सन् १५२६ से १७६१ ई० तक भारत पर मुगल और सूरवंशों के राजाओं ने राज्य किया था[2]। उनके समय में भी दिगम्बर मुनियों का वाहुल्य था। पाटोदी (जयपुर) के वि० सं० १५७५ की प्रशस्ति से प्रगट है कि उस समय श्रीचन्द नामक मुनि विद्यमान् थे[3]। लखनऊ चौक के जैन मन्दिर में विराजमान एक प्राचीन गुटका के पत्र १६३ पर दी हुई प्रशस्ति से निर्ग्रन्थाचार्य श्री माणिक्यचन्द्रदेव का अस्तित्व सं० १६११ में प्रमाणित है[4]। 'भावत्रिभंगी' की प्रशस्ति से सं० १६०५ मुनि क्षेमकीर्ति का होना सिद्ध है[5]। सचमुच वादशाह वावर हुमायूँ और शेरशाह के समय में दिगम्बर मुनियों का विहार सारे देश में होता था। मालूम होता है कि उन्हींका प्रभाव मुसलमान दरवेशों पर पड़ा था; जिसके फलस्वरूप वे नग्न रहने लगे थे। मुगल वादशाह शाहजहाँ के समय में वे एक वड़ी संख्या में मौजूद थे[6]। शेरशाह के समय में दिगम्बर मुनियों का निर्वाध विहार होता था; यह वात शेरशाह के अफसर मलिक मुहम्मद जायसी के प्रसिद्ध हिन्दीकाव्य 'पद्मावत' (२।६०) के निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट है :—

"कोई ब्रह्मचारज पन्थ लागे। कोई सुदिगंवर आछा लागे॥"

अकवर और दिगम्बर मुनि

वादशाह अकवर जलालुद्दीन स्वयं जैनोंका परम भक्त था और यदि हम उस समयके ईसाई लेखकोंके कथनको मान्यता दें तो कह सकते हैं कि वह जैनधर्म में दीक्षित हो गया था। निस्सन्देह श्वेताम्वराचार्य श्रीहीरविजयसूरि आदिका प्रभाव उस पर विशेष पड़ा था[7]। इस दशामें अकवर दिगम्बर साधुओंका विरोधी नहीं हो सकता। वल्कि अवुलफ़ज़लने 'आईने-इ-अकवरी' भाग ३ पृष्ठ ८७ में उनका उल्लेख स्पष्ट शब्दोंमें किया है और लिखा है कि वे नंगे रहते हैं।

वैराट का दिगम्बर संघ

वैराटनगरमें उस समय दिगम्बर मुनियोंका संघ विद्यमान था। वहाँ पर साक्षात् मोक्ष मार्ग की प्रवृत्तिके लिये यथाजात निजलिङ्ग शोभा पा रहाथा। यह नगर वड़ा समृद्धशाली था और उसपर अकवर शासन करता था। कवि राजमल्लने 'लाटीसंहिता' की रचना यहींके जैनमन्दिरमें कीथी[8]। उन्होंने अपने 'जम्बूस्वामी चरित्' में लिखा है कि भटानियाकोलके निवासी साहु टोडर

---

१. Rashi-uddin from Al-Biruni writes: "The whole country (of Malibar produces the pan······The people are all Samanis and worship idols. Of the cities of the shore the first is Sindabur, the Faknur, then the country of Manjarur, then the country of Hili, then the country of Sadarsa, then Jangli then Kulam. The men of all these countries are Samanis."

—Elliot. Vol. I p. 68.

इलियट सा० ने इन श्रमणों को वौद्ध लिखा है, किन्तु इस समय दक्षिण भारत में वौद्धों का होना असम्भव है। श्रमण शब्द वौद्धभिक्षु के अतिरिक्त दिगम्बर साधुओं के लिये भी व्यवहृत होता है।

२. Oxford p. 151.

३. "श्री संघाचार्यसत्कवि शिष्येण श्रीचन्द्रमुनि।"—जैमि०, वर्ष २८ अंक ४६ पृष्ठ ६६८

४. "सं० १६११ चैत्र सु० २······मूलसंघे······भ० श्री विद्यानन्दि तत्पट्टे श्री मल्लिभूषण तत्पट्टे निर्ग्रन्थाचार्य···लक्ष्मीचन्द्रस्याम्नाये धी माणिकचन्द्रदेवाः······।"

—जैमि०, वर्ष २८ अंक ४८ पृ० ६४०

५. "सं० १६०५ वर्षे···तच्छिष्य सर्वगुणविराजमान मंडलाचार्य मुनि श्री क्षेमकीर्तिदेवा।"

६. Bernier pp. 315—318

७. पादरी पिन्हेरो (Pinheiro) ने लिखा है कि अकवर जैन धर्मानुयायी है [He (Akbar) follows the sect of the Jainas]

—सूम०, पृ० १३६-३६८

८. "वीर" वर्ष ३ पृ० व "लाटी०" पृ० ११ :—

"श्रीमद्दिण्डीरपिण्डोपमितमितनभः पाण्डुराखण्डकीर्त्या,
कृष्टं ब्रह्माण्डकाण्डं निजभुजयशसा मण्डनाडम्बरोऽस्मिन्।

जब तीर्थयात्रा करते हुये मथुरा पहुँचे तो उन्होंने वहाँ पर ५१४ दिगम्बर मुनियोंके समाधि सूचक प्राचीन स्तूपोंको जीर्णशीर्ण दशा में देखा। उन्होंने उनका उद्धार करा दिया और उनकी प्रतिष्ठा शुभतिथि-वार को चतुर्विधिसंघ—(१) मुनि (२) आर्यिका (३) श्रावक (४) श्राविका—एकत्र करके कराई थी[1]। इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि बादशाह अकबर के राज्यमें अनेक दिगम्बर मुनि विद्यमान् थे और उनका निर्बाध विहार सारे देश में होता था।

बादशाह औरंगजेब ने दिगम्बर मुनिका सम्मान किया था

अकबर के बाद मुग़ल खानदान में जितनेभी शासक हुये उन सबकेही शासनकाल में दिगम्बर मुनियोंका अस्तित्व मिलता है। औरङ्गज़ेब सदृश कट्टर बादशाह को भी दिगम्बर मुनियों ने प्रभावित कर लिया था; यहां तक कि औरङ्गज़ेब ने उनका सम्मान किया था[2]। उस समय के किन्हीं मुनि महाराजों का उल्लेख इस प्रकार है।

तत्कालीन दिगम्बर मुनि

दिगम्बर मुनि श्रीसकलचन्द्रजी सं० १६६७ में विद्यमानथे। उनके एकशिष्य ने 'भक्तामर कथा' की रचना की थी[3]। सं० १६८० का लिखा हुआ एक गुटका दि० जैन पंचायती बड़ा मन्दिर मैनपुरी के शास्त्रभण्डार में विराजमान है। उसमें श्री दिगम्बर मुनि महेन्द्रसागर का उल्लेख उस समय में मिलता है[4]। संवत् १७१९ में अकबराबाद में मुनि श्री वैराग्यसेन ने "आठ कर्म की १४८ प्रकृतियों का विचार" चर्चा ग्रन्थ लिखा था[5]। सं० १७८३ में गुरु देवेन्द्र कीर्ति का अस्तित्व ढूंढारिदेश में मिलता है। वहां पर दिगम्बर मुनियों का प्राचीन आवास था[6]। सं० १७५७ में कुण्डलपुर में मुनि श्री गुणसागर और यशःकीति थे। उनके शिष्य ने महाराजा छत्रसाल की विशेष सहायता की थी[7]। कवि लालमणि ने औरङ्गज़ेब के राज्य में 'अजितपुराण' की रचना की थी। उससे काष्टासङ्घ में श्री धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, जिनचन्द्र, श्रुतकीर्ति आदि दिगम्बर

येनासौ पातिसाहिः प्रदपदकबर प्रख्यविख्यातकीर्ति-
र्जीयाद्भोक्ताय नाथः प्रभुरिति नगरस्यास्य वैराटनाम्नः ॥६२॥
जैनो धर्मोनवद्यो जगति विजयतेऽद्यापि सन्तानवर्ती
साक्षाद्दिगम्बरास्ते यतय इह यथाजातरूपाङ्कलक्षः।
तस्मैतेभ्यो नमोस्तु त्रिसमयनियतं प्रोल्लसद्यत्प्रसादा-
दर्वागावर्द्धमानं प्रतिघविरहितो वर्तते मोक्षमार्गः ॥६३॥"

१. अनेकान्त, भा० १ पृ० १३९-१४१ "चतुर्विधमहासंघं समाहूयात्रधीमता।"

२. SSIJ., pt. II p. 132. जैन कवियोंने औरङ्गज़ेबकी प्रशंसा ही की है:—
"औरङ्गसाह बली को राज पायो कविजन परम समाज।
चक्रवर्तिसम जगमें भयो, फेरत आनि उदधि लों गयो॥
जाके राज परम सुख पाय, करी कथा हम जिन गुन गाय॥" —कवि विनोदीलाल।

३. जैप्र०, पृ० १४३

४. "गुरु मुनि माहिंदसेनि नमिजी, भनत भगवतीदासु।" —वीर जिनेन्द्र गीत०
"मुनि माहेन्द्रसेनि गुरु तिंह जुग चरन पसाइ।" —ढमालु राजमती-नेमिसुर
"मुणि माहेंद्रसेन इहं निसि प्रणामा तासो।
थानि कपस्थलि नीकइ भनत भगोती दासो॥" —ग्यानी ढाल

५. "संवत १७१९ वर्षे फाल्गुण सुदि १३ सोमे लिखितं मुनि श्री वैराग्य सागरेण।"

६. 'देसढूंढाहड़ जाणूं सार···मूलसंघ भविजान सुगं सिवकार वषान्यूम् आगें भये रिषीस गुणाकर तिनि इह ठान्यूम्॥
कुन्दकुन्द मुनिराइ जिहाजधर्म जामांहि; कर्तकिलकाल वितीत भए मुनिवर अधिकाहीं। देवेन्द्रकीर्ति अबै चितधारि ताही विषै। लक्ष्मीसुदास पण्डित तहां विनूं सुगुरु अति सैरषै॥
सतरासे तियासिये पोस सुकुल तिथिजानि।···" —पद्मपुराण भाषा

७. "तस्यान्वये संजातो ज्ञानवान गुणसागरः। भवस्वी संघ संपूज्यो यशःकीर्तिर्महामुनिः"॥ —दिजैंडा० पृ० २५६

मुनियों का पता चलता है[1]। सं० १७९९ में कवि खुशालदासजी ने एक मुनि महेन्द्रकीर्तिजी का उल्लेख किया है।[2] मुनि धर्मचन्द्र मुनि विश्वसेन, मुनि श्रीभूषण का भी इसी समय पता चलता है।[3] सारांशतः यदि जैन साहित्य और मूर्ति लेखोंका और भी परिशीलन और अध्ययन किया जाय तो अन्य अनेक मुनिगणका परिचय उस समय में मिलेगा।

आगरे में तब दिगम्बर मुनि

कविवर बनारसीदास जी बादशाह शाहजहां के कृपापात्रों में से थे। उन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार जब कविवर आगरे में थे तब वहाँ पर दो नग्न मुनियों का आगमन हुआ। सब ही लोग उनके दर्शन-वन्दना के लिए आते जाते थे। कविवर परीक्षा प्रधानी थे। उन्होंने उन मुनियों की परीक्षा की था[4]। इस उल्लेख से उस समय आगरे में दिगम्बर मुनियों का निर्वाध विहार हुआ प्रकट है।

फ्रेंच-यात्री डा० बर्नियर और दिगम्बर साधु

विदेशी विद्वानों की साक्षीभी उक्त वक्तव्य की पोषक है। बादशाह शाहजहाँ और औरङ्गजेब के शासनकाल में फ्रांस से एक यात्री डा० बर्नियर (Dr. Bernier) नामक आया था। वह सारे भारत में घूमा था और उसका समागम दिगम्बर मुनियों से भी हुआ था। उनके विषय में वह लिखता है कि[5] :—

"मुझे अक्सर साधारणतः किसी राजा के राज्य में, इन नंगे फ़कीरोंके समूह मिले थे, जो देखने में भयानक थे। उसी दशा में मैंने उन्हें मादरज़ात नङ्गा बड़े बड़े शहरों में चलते फिरते देखा था। मद, औरत और लड़कियां उनकी ओर वैसे ही देखते थे जैसे कि कोई साधु जब हमारे देश की गलियों में होकर निकलता है तब हम लोग देखते हैं। औरतें अक्सर उनके लिय बड़ी विनय से भिक्षा लाती थीं। उनका विश्वास था कि वे पवित्र पुरुष हैं और साधारण मनुष्यों से अधिक शीलवान और धर्मात्मा हैं।"

ट्रावरनियर आदि अन्य विदेशियों ने भी उन दिगम्बर मुनियों को इसी रूप में देखा था। इस प्रकार इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मुसलमान बादशाहों ने भारत की इस प्राचीन प्रथा, कि साधु नंगे रहें और नंगे ही सर्वत्र विहार करें, को सम्मान-नीय दृष्टि से देखा था। यहां तक कि कतिपय दिगम्बर जैनाचार्यो का उन्होंने खूब आदर सत्कार किया था। तत्कालीन हिन्दू कवि सुन्दरदासजी भी अपने 'सर्वांगयोग' नामक ग्रन्थ में इन मुनियों का उल्लेख निम्न शब्दों में करते हैं[6] :—

"केचित कर्म स्थापहि जैना, केश लुचाइ करहिं अति फैना।"

केशलुंचन क्रिया दिगम्बर मुनियों का एक खास मूलगुण है, यह लिखाही जा चुका है। इससे तथा नं० १८७० में हुये कवि लालजीतजी के निम्न उल्लेख से तत्कालीन दिगम्बर मुनियों का अपने मूलगुणों को पालन करने में पूर्णतः दत्तचित्त रहना प्रगट है :—

"धारैं दिगम्बर रूप भूप सब पद को परसैं;
हिये परम वैराग्य मोक्षमारग को दरसैं।

---

१. जैहि०, १२-१९४ "श्रीमच्छीकाष्ठासंघेमुणिगणगणनातदिगवस्त्रयुक्ते॥"

२. "भट्टारक पद सोभैं जास—मुनि महेन्द्रकीर्त्ति पट तास।" —उत्तरपुराण भाषा०

३. श्री मूलसंघेयभारतीये गच्छे बलात्कार गणेतिरम्ये। आसीन्मुदेवेन्द्रयशोमुनीन्द्रः सधर्मधारी मुनि धर्मचन्द्रः।" —श्रीजिनसहस्रनाम०

श्री काष्ठासंघे जिनराजसेन तदन्वये श्री मुनि विश्वसेन।
विद्याविभूषैः मुनिराट् बभूव श्रीभूषणो वादि गजेन्द्रसिंहः॥" —पंचकल्याणक पाठ०

४. बवि०, चरित्र, पृ० ९७-१०२

५. "I have often met, generally in the territory of some Raja, bands of these naked fakirs, hideous to behold......In this trim I have seen them, shamelessly walk stark naked, through a large town, men, women and girls looking at them without any more emotion tha may be created when a hermit passes through our streets. Females would often bring them alms with much devotion, doubtless believing that they were holy personages, more chaste and discreet than other men." —Bernier. p. 317

६. फाह्यान, भूमिका

में होकर वह संघ मध्यप्रान्त होता हुआ श्री शिखिरजी फरवरी सन् १९२७ में पहुंचा था। वहां पर बड़ा भारी जैन सम्मेलन हुआ था। शिखिर जी से वह संघ कटनी, जबलपुर, लखनऊ, कानपुर, झांसी, आगरा, धौलपुर, मथुरा, फ़ीरोजाबाद, एटा, हाथरस, अलीगढ़, हस्तनापुर, मुजफ्फ़रनगर आदि शहरों में होता हुआ दिल्ली पहुँचा था। दिल्ली में वर्षा-योग पूरा करके वह संघ अलवर की ओर विहार कर गया था और उसमें ये साधुगण मौजूद थे :—

(१) श्री शान्तिसागरजी आचार्य (२) मुनि चन्द्रसागर (३) मुनि श्रुतसागर (४) मुनि वीरसागर (५) मुनि नमिसागर (६) मुनि ज्ञानसागर। इनके समय में ही आचार्य वीरसागर जी का संघ भी था।

(२) दूसरा संघ श्री सूर्यसागर जी महाराज का था, जो अपनी सादगी और धार्मिकता के लिए प्रसिद्ध था। खुरई में इस संघका चातुर्मास व्यतीत हुआ था। उस समय इस संघमें मुनि सूर्यसागरजी के अतिरिक्त मुनि अजितसागर जी, मुनि धर्मसागर जी और ब्रह्मचारी भगवानदास जी थे। खुरई से इस सङ्घ का विहार उसी ओर हो गया था। मुनि सूर्यसागरजी गृहस्थ दशा में श्री हजारीलाल के नाम से प्रसिद्ध थे। वह पोरवाड़ जाति के झालरापाटन निवासी श्रावक थे। मुनि शान्तिसागरजी छाणी के उपदेश से निर्ग्रन्थ साधु हुए थे।

(३) तीसरा संघ मुनि शान्तिसागर जी छाणी का था, जिसका एक चातुर्मास ईडर में हुआ था। तब इस सङ्घ में मुनि मल्लिसागर जी, ब्र० फतहसागर जी और ब्र० लक्ष्मीचन्द जी थे। मुनि शान्तिसागरजी एकान्त में ध्यान करने के कारण प्रसिद्ध थे। वह छाणी (उदैपुर) निवासी दशा-हूमड़ जातिके रत्न थे। भादव शुक्ल १४ सं० १९७९ को उन्होंने दिगम्बर-वेष धारण किया था। उन्होंने भुखिया (बांसवाड़ा) के ठाकुर कूरसिंह जी साहब को जैनधर्म में दीक्षित करके एक आदर्श-कार्य किया था।

(४) मुनि आदिसागर जी के चौथे सङ्घ ने उदगांव में वर्षा पूर्ण की थी। उस समय इनके साथ मुनि मल्लिसागर जी व क्षुल्लक सूरीसिंह जी थे।

(५) श्री मुनीन्द्रसागर जी का पांचवां सङ्घ मांडवी (सूरत) में मौजूद रहा था। उनके साथ श्री देवेन्द्रसागर जी तथा विजयसागरजी थे। मुनीन्द्रसागर जी ललितपुर निवासी और परवार जाति के थे। उनकी आयु अधिक नहीं थी। वह श्री शिखिरजी आदि तीर्थों की वन्दना कर चुके थे।

(६) छठा सङ्घ श्री मुनि पायसागरजी का था, जो दक्षिण-भारत की ओर धर्म चार कर रहा था।

इनके अतिरिक्त मुनि ज्ञानसागर जी (खैराबाद), मुनि आनन्दसागर जी आदि दिगम्बर-साधुगण एकान्त में ज्ञान-ध्यान का अभ्यास करते थे। दक्षिण-भारत में उनकी संख्या अधिक थी। ये सबही दिगम्बर मुनि अपने प्राकृत-वेष में सारे देश में विहार करके धर्म-प्रचार करते रहे हैं! ब्रिटिश भारत और रियासतों में ये बेरोकटोक घूमते थे; किन्तु एक वर्ष काठियावाड़ के कमिश्नर ने अज्ञानता से मुनीन्द्रसागरजी के सङ्घ पर कुछ आदमियों के घेरे में चलने की पाबन्दी लगा दी थी; जिसका विरोध अखिलभारतीय जैन समाज ने किया था और जिसको रद्द कराने के लिये एक कमेटी भी बनी थी।

सातवां संघ आचार्य जयकीर्ति जी का हुआ, आप दक्षिण भारत के निवासी थे, तप ध्यान तथा चरित्र के परम साधक थे, आप की शिष्य परम्परा में कुछेक मुनि राज बहुत ही धर्म प्रचार का तथा शिक्षा का प्रकार कर रहे हैं। जीवन के अन्त में आपने समाधि मरण धारण कर लिया था और धर्म ध्यानपूर्वक शरीर त्याग किया, आपके प्रधान शिष्य आचार्य रत्न देश भूषण जी मुनिराज हैं।

श्री आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

आपका जन्म मंगसिर सुदी २ वि० सं० १९६० को ग्राम कोथलपुर, बेलगांव, मैसूर प्रान्त में एक जमींदार परिवार में हुआ था। आपकी पूज्य माता जी का नाम श्री अक्कावती और पिता जी का नाम श्री सत्य गौड़ जी था, जन्म के समय ज्योतिषी ने भविष्य वाणी की थी कि बालक महान् पुरुष होगा, आपका नाम बालगौड़ा रखा गया। तीन माह की अल्पायु में ही माता के वात्सल्य से वंचित हो गये, आपका लालन पालन आपकी नानी ने किया, किन्तु अभी १२ साल की ही आयु हुई थी कि आपके सिर से पिता का साया भी उठ गया, कुछ दिन आप अपनी बुआ जी के पास और कुछ काकाजी के पास रहे। बचपन से ही आप सच्चरित्र एवं मेधावी रहे। एक बार कोथलपुर में आचार्य पाय सागर जी महाराज पधारे और उनके सदुपदेश से आपका मन त्याग की ओर अग्रसर हो गया।

गलतगा ग्राम में आपने आचार्य महाराज पायसागर जी से सप्त व्यसन का त्याग और अष्टमूल गुणों का नियम ग्रहण

किया जिसका आपने बड़ी दृढ़ता और लगन से पालन किया, आपकी इच्छा त्याग की तरफ ज्यादा रहने लगी, कुछ दिन बाद आचार्य पायसागर जी के शिष्य मुनिराज जयकीर्ति जी महाराज स्तवनिधि पधारे, जिनके प्रवचन से विरागवृत्ति बलवती हो गई और आपने महाराज श्री के चरणों में दीक्षा की प्रार्थना की संसार की असारता से आपका मन व्याकुल हो उठा, महाराज श्री जयकीर्ति जी से सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। महाराज जयकीर्ति जी ने कुछ समय पश्चात् रामटेक जिला नागपुर में ऐलक दीक्षा दी और बालगौड़ा से देशभूषण नाम रखा गया।

अपरिग्रह से प्रभावित हो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि पद की दीक्षा देने की प्रार्थना आपने गुरुवर्य से की पूज्य महाराज जी ने सिद्ध क्षेत्र कुन्थलगिरि जी पर मुनि दीक्षा प्रदान की। मुनि देश भूषण जी संघ सहित सूरत पधारे, समाज की प्रार्थना पर वहीं पर चतुर्मास किया। महाराज की विद्वता, व्यवहार कुशलता संघ के अनुशासन आदि को देखकर समस्त समाज ने निर्णय किया कि मुनि देशभूषण जी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाय जिससे समाज को सबल नेतृत्व मिल सके। समाज ने चतुर्विध संघ का नेतृत्व और आचार्य पद ग्रहण करने की प्रार्थना की, किन्तु आपने कहा कि पूज्यपाद आचार्य पायसागर जी महाराज विराजमान हैं बगैर उनकी आज्ञा से यह कैसे सम्भव है, महाराज पायसागर जी ने यह सुनते ही सूरत वालों से कहा कि देशभूषण इस पद के सर्वथा उपयुक्त हैं आपको सूरत में भव्य आयोजन के मध्य आचार्य पद से विभूषित किया गया। इसके पश्चात् दिल्ली की धर्म परायण जनता ने आचार्य देश भूषण जी को आचार्य रत्न की उपाधि से अलंकृत किया और गोम्मटेश्वर मस्ताभिषेक के अवसर पर एकत्रित जैन समाज के चतुर्विध संघ ने उन्हें मुख्य आचार्य घोषित किया।

महाराज श्री ने असंख्य लोगों को धर्म का लाभ दिया मद्य मांस का त्याग कराया, आपके प्रवचन से जनजीवन में धर्म प्रेम उमड़ने लगता है आपका उपदेश किसी वर्ग, सम्प्रदाय और मान्यताओं तक सीमित नहीं रहता है। धर्म सबका है आप सब के हैं।

आपने अनेक स्थानों पर मंदिरों का निर्माण कराया। तथा अनेक मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया। प्रतिष्ठायें कराई हैं। कोल्हापुर में शिक्षा कालेज, श्री अयोध्या जी में भगवान ऋषभदेव जी का भव्य मंदिर एवं गुरुकुल, कोथलपुर का श्रीजिन मंदिर और गुरुकुल हाई स्कूल आपकी मुंह बोलती तस्वीरें हैं। सम्प्रति भगवान महावीर स्वामी के २५००वें निर्माण महोत्सव दिल्ली में महावीर स्वामी की भव्य उत्तुंग खडगासन प्रतिमा के विराजमान कार्य को पूरा कराने में प्रयत्नशील हैं।

अनेक विदेशी जिज्ञासु बन्धु महाराज श्री के चरणों में धर्म लाभ लेने आते रहते हैं, व्रत नियम ग्रहण करते हैं। आचार्य श्री ने अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना की है अनुवाद किया है जिनकी संख्या लगभग पचास से भी अधिक है। प्राचीन अप्राप्य अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन करा कर श्री जिनवाणी के प्रचार में दत्तचित्त रहते हैं प्रस्तुत ग्रन्थ आपके परिश्रम का ही फल है। वस्तुत: आचार्य श्री स्वयं में एक जीवित संस्था हैं नवचेतना के सूत्रधार हैं, जागरण के अग्रदूत हैं। अहिंसा अपरिग्रह के समर्थ सन्देशवाहक हैं।

७० वर्ष की आयु में भी आप हमेशा ध्यान, तप और साहित्य सृजन के कार्य में लीन रहते हैं। इस समय आप दिल्ली जैन समाज की प्रार्थना पर देहली में ससंघ विराजमान हैं और भगवान महावीर स्वामी के २५००वें निर्वाण महोत्सव की सफलता के लिए पूर्ण प्रयत्नशील हैं, उसी श्रृंखला में श्री 'भगवान महावीर स्वामी' से सम्बन्धित कई ग्रन्थों की रचना तथा सम्पादन के कार्य में संलग्न है।

आपके सरल स्वभाव से मानव के चित्त को बड़ी शान्ति मिलती है।

सच बात तो यह है कि ब्रिटिश-राज की नीति के अनुसार किसी भी सरकारी कर्मचारी को किसी के धार्मिक मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था और भारतीय कानून के अनुसार भी प्रत्येक सम्प्रदाय के मनुष्यों को यह अधिकार है कि वे किसी अन्य संप्रदाय या राज्य के हस्तक्षेप बिना अपने धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन निर्विघ्न-रूप से करें। दिगम्बर जैन मुनियों का नग्नवेश कोई नई बात नहीं है। प्राचीनकाल से जैन धर्म में उसकी मान्यता चली आई है और भारत के समस्त [illegible] तथा राज्यों ने उसका सम्मान किया है, यह बात पूर्व-पृष्ठों के अवलोकन से स्पष्ट है। इस अवस्था में दुनिया की कोई सरकार या व्यवस्था इस प्राचीन धार्मिक रिवाज को रोक नहीं सकती। जैन साधुओं का यह अधिकार है कि वह सारे [illegible] का त्याग करें और गृहस्थों का यह हक है कि वे इस नियम को अपने साधुओं द्वारा निर्विघ्न पाले जाने के लिये व्यवस्था [illegible] जिसके बिना मोक्ष सुख मिलना दुर्लभ है।

में होकर वह संघ मध्यप्रान्त होता हुआ श्री शिखिरजी फरवरी सन् १९२७ में पहुंचा था। वहां पर बड़ा भारी जैन सम्मेलन हुआ था। शिखिर जी से वह संघ कटनी, जवलपुर, लखनऊ, कानपुर, झांसी, आगरा, धौलपुर, मथुरा, फ़ीरोजावाद, एटा, हाथरस, अलीगढ़, हस्तनापुर, मुज़फ़्फ़रनगर आदि शहरों में होता हुआ दिल्ली पहुँचा था। दिल्ली में वर्षा-योग पूरा करके यह संघ अलवर की ओर विहार कर गया था और उसमें ये साधुगण मौजूद थे :—

(१) श्री शान्तिसागरजी आचार्य (२) मुनि चन्द्रसागर (३) मुनि श्रुतसागर (४) मुनि वीरसागर (५) मुनि नमिसागर (६) मुनि ज्ञानसागर। इनके समय में ही आचार्य वीरसागर जी का संघ भी था।

(२) दूसरा संघ श्री सूर्यसागर जी महाराज का था, जो अपनी सादगी और धार्मिकता के लिए प्रसिद्ध था। खुरई में इस संघका चातुर्मास व्यतीत हुआ था। उस समय इस संघमें मुनि सूर्यसागरजी के अतिरिक्त मुनि अजितसागर जी, मुनि धर्मसागर जी और ब्रह्मचारी भगवानदास जी थे। खुरई से इस सङ्घ का विहार उसी ओर हो गया था। मुनि सूर्यसागरजी गृहस्थ दशा में श्री हजारीलाल के नाम से प्रसिद्ध थे। वह पोरवाड़ जाति के झालरापाटन निवासी श्रावक थे। मुनि शान्तिसागरजी छाणी के उपदेश से निर्ग्रन्थ साधु हुए थे।

(३) तीसरा संघ मुनि शान्तिसागर जी छाणी का था, जिसका एक चातुर्मास ईडर में हुआ था। तब इस सङ्घ में मुनि मल्लिसागर जी, ब्र० फतहसागर जी और ब्र० लक्ष्मीचन्द जी थे। मुनि शान्तिसागरजी एकान्त में ध्यान करने के कारण प्रसिद्ध थे। वह छाणी (उदैपुर) निवासी दशा-हूमड़ जातिके रत्न थे। भादव शुक्ल १४ सं० १९७९ को उन्होंने दिगम्बर-वेष धारण किया था। उन्होंने भुखिया (वांसवाड़ा) के ठाकुर कूरसिंह जी साहब को जैनधर्म में दीक्षित करके एक आदर्श-कार्य किया था।

(४) मुनि आदिसागर जी के चौथे सङ्घ ने उदगांव में वर्षा पूर्ण की थी। उस समय इनके साथ मुनि मल्लिसागर जी व क्षुल्लक सूरीसिंह जी थे।

(५) श्री मुनीन्द्रसागर जी का पांचवां सङ्घ मांडवी (सूरत) में मौजूद रहा था। उनके साथ श्री देवेन्द्रसागर जी तथा विजयसागरजी थे। मुनीन्द्रसागर जी ललितपुर निवासी और परवार जाति के थे। उनकी आयु अधिक नहीं थी। वह श्री शिखिरजी आदि तीर्थों की वन्दना कर चुके थे।

(६) छटा सङ्घ श्री मुनि पायसागरजी का था, जो दक्षिण-भारत की ओर धर्म चार कर रहा था।

इनके अतिरिक्त मुनि ज्ञानसागर जी (खैरावाद), मुनि आनन्दसागर जी आदि दिगम्बर-साधुगण एकान्त में ज्ञान-ध्यान का अभ्यास करते थे। दक्षिण-भारत में उनकी संख्या अधिक थी। ये सबही दिगम्बर मुनि अपने प्राकृत-वेष में सारे देश में विहार करके धर्म-प्रचार करते रहे हैं! ब्रिटिश भारत और रियासतों में ये वेरोकटोक घूमते थे; किन्तु एक वर्ष काठियावाड़ के कमिश्नर ने अज्ञानता से मुनीन्द्रसागरजी के सङ्घ पर कुछ आदमियों के घेरे में चलने की पाबन्दी लगा दी थी; जिसका विरोध अखिलभारतीय जैन समाज ने किया था और जिसको रद्द कराने के लिये एक कमेटी भी बनी थी।

सातवां संघ आचार्य जयकीर्ति जी का हुआ, आप दक्षिण भारत के निवासी थे, तप ध्यान तथा चरित्र के परम साधक थे, आप की शिष्य परम्परा में कुछेक मुनि राज बहुत ही धर्म प्रचार का तथा शिक्षा का प्रकार कर रहे हैं। जीवन के अन्त में आपने समाधि मरण धारण कर लिया था और धर्म ध्यानपूर्वक शरीर त्याग किया, आपके प्रधान शिष्य आचार्य रत्न देश भूषण जी मुनिराज हैं।

श्री आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

आपका जन्म मंगसिर सुदी २ वि० सं० १९६० को ग्राम कोथलपुर, वेलगांव, मैसूर प्रान्त में एक जमींदार परिवार में हुआ था। आपकी पूज्य माता जी का नाम श्री अक्कावती और पिता जी का नाम श्री सत्य गौड़ जी था, जन्म के समय ज्योतिषी ने भविष्य वाणी की थी कि बालक महान् पुरुष होगा, आपका नाम बालगौड़ा रखा गया। तीन माह की अल्पायु में ही माता के वात्सल्य से वंचित हो गये, आपका लालन पालन आपकी नानी ने किया, किन्तु अभी १२ साल की ही आयु हुई थी कि आपके सिर से पिता का साया भी उठ गया, कुछ दिन आप अपनी बुआ जी के पास और कुछ काकाजी के पास रहे। बचपन से ही आप सच्चरित्र एवं मेधावी रहे। एक बार कोथलपुर में आचार्य पाय सागर जी महाराज पधारे और उनके सदुपदेश से आपका मन त्याग की ओर अग्रसर हो गया।

गलतगा ग्राम में आपने आचार्य महाराज पायसागर जी से सप्त व्यसन का त्याग और अष्टमूल गुणों का नियम ग्रहण

किया जिसका आपने बड़ी दृढ़ता और लगन से पालन किया, आपकी इच्छा त्याग की तरफ ज्यादा रहने लगी, कुछ दिन बाद आचार्य पायसागर जी के शिष्य मुनिराज जयकीर्ति जी महाराज स्तवनिधि पधारे, जिनके प्रवचन से विरागवृत्ति बलवती हो गई और आपने महाराज श्री के चरणों में दीक्षा की प्रार्थना की संसार की असारता से आपका मन व्याकुल हो उठा, महाराज श्री जयकीर्ति जी से सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये । महाराज जयकीर्ति जी ने कुछ समय पश्चात् रामटेक जिला नागपुर में ऐलक दीक्षा दी और बालगौड़ा से देशभूषण नाम रखा गया ।

अपरिग्रह से प्रभावित हो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि पद की दीक्षा देने की प्रार्थना आपने गुरुवर्य से की पूज्य महाराज जी ने सिद्ध क्षेत्र कुन्थलगिरि जी पर मुनि दीक्षा प्रदान की । मुनि देश भूषण जी संघ सहित सूरत पधारे, समाज की प्रार्थना पर वहीं पर चतुर्मास किया । महाराज की विद्वता, व्यवहार कुशलता संघ के अनुशासन आदि को देखकर समस्त समाज ने निर्णय किया कि मुनि देशभूषण जी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाय जिससे समाज को सबल नेतृत्व मिल सके। समाज ने चतुर्विध संघ का नेतृत्व और आचार्य पद ग्रहण करने की प्रार्थना की, किन्तु आपने कहा कि पूज्यपाद आचार्य पायसागर जी महाराज विराजमान हैं बगैर उनकी आज्ञा से यह कैसे सम्भव है, महाराज पायसागर जी ने यह सुनते ही सूरत वालों से कहा कि देशभूषण इस पद के सर्वथा उपयुक्त हैं आपको सूरत में भव्य आयोजन के मध्य आचार्य पद से विभूषित किया गया । इसके पश्चात् दिल्ली की धर्म परायण जनता नें आचार्य देश भूषण जी को आचार्य रत्न की उपाधि से अलंकृत किया और गोम्मटेश्वर मस्ताभिषेक के अवसर पर एकत्रित जैन समाज के चतुर्विध संघ ने उन्हें मुख्य आचार्य घोषित किया ।

महाराज श्री ने असंख्य लोगों को धर्म का लाभ दिया मद्य मांस का त्याग कराया, आपके प्रवचन से जनजीवन में धर्म प्रेम उमड़ने लगता है आपका उपदेश किसी वर्ग, सम्प्रदाय और मान्यताओं तक सीमित नहीं रहता है । धर्म सबका है आप सब के हैं ।

आपने अनेक स्थानों पर मंदिरों का निर्माण कराया । तथा अनेक मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया । प्रतिष्ठायें कराई हैं। कोल्हापुर में शिक्षा कालेज, श्री अयोध्या जी में भगवान ऋषभदेव जी का भव्य मंदिर एवं गुरुकुल, कोथलपुर का श्रीजिन मंदिर और गुरुकुल हाई स्कूल आपकी मुंह बोलती तस्वीरें हैं । सम्प्रति भगवान महावीर स्वामी के २५००वें निर्माण महोत्सव दिल्ली में महावीर स्वामी की भव्य उत्तुंग खडगासन प्रतिमा के विराजमान कार्य को पूरा कराने में प्रयत्नशील हैं ।

अनेक विदेशी जिज्ञासु बन्धु महाराज श्री के चरणों में धर्म लाभ लेने आते रहते हैं. व्रत नियम ग्रहण करते हैं । आचार्य श्री ने अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना की है अनुवाद किया है जिनकी संख्या लगभग पचास से भी अधिक है । प्राचीन अप्राप्य अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन करा कर श्री जिनवाणी के प्रचार में दत्तचित्त रहते हैं प्रस्तुत ग्रन्थ आपके परिश्रम का ही फल है । वस्तुतः आचार्य श्री स्वयं में एक जीवित संस्था हैं नवचेतना के सूत्रधार हैं, जागरण के अग्रदूत हैं । अहिंसा अपरिग्रह के समर्थ सन्देशवाहक हैं ।

७० वर्ष की आयु में भी आप हमेशा ध्यान, तप और साहित्य सृजन के कार्य में लीन रहते हैं । इस समय आप दिल्ली जैन समाज की प्रार्थना पर देहली में ससंघ विराजमान हैं और भगवान महावीर स्वामी के २५००वें निर्वाण महोत्सव की सफलता के लिए पूर्ण प्रयत्नशील हैं, उसी श्रृंखला में श्री 'भगवान महावीर स्वामी' से सम्बन्धित कई ग्रन्थों की रचना तथा सम्पादन के कार्य में संलग्न है।

आपके सरल स्वभाव से मानव के चित्त को बड़ी शान्ति मिलती है ।

सच बात तो यह है कि ब्रिटिश-राज की नीति के अनुसार किसी भी सरकारी कर्मचारी को किसी के धार्मिक मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था और भारतीय कानून के अनुसार भी प्रत्येक सम्प्रदाय के मनुष्यों को यह अधिकार है कि वह किसी अन्य संप्रदाय या राज्य के हस्तक्षेप बिना अपने धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन निर्विघ्न-रूप से करे । दिगम्बर जैन मुनियों का नग्नवेश कोई नई बात नहीं है । प्राचीनकाल से जैन धर्म में उसकी मान्यता चली आई है और भारत के अन्य धर्मों तथा राज्यों ने उसका सम्मान किया है, यह बात पूर्व-पृष्ठों के अवलोकन से स्पष्ट है । इस अवस्था में दुनिया की कोई भी सरकार या व्यवस्था इस प्राचीन धार्मिक रिवाज को रोक नहीं सकती । जैन साधुओं का यह अधिकार है कि वह सारे वस्त्रों का त्याग करें और गृहस्थों का यह हक है कि वे इस नियम को अपने साधुओं द्वारा निर्विघ्न पाले जाने के लिये व्यवस्था करें, जिसके बिना मोक्ष सुख मिलना दुर्लभ है ।

इस विषय में यदि कानूनी नज़ीरों पर विचार किया जाय तो प्रगट होता है कि प्रिवी-कौंसिल (Privy Council) ने सब-ही सम्प्रदायों के मनुष्यों के लिये अपने धर्म-सम्बन्धी जुलूसों को आम सड़कों पर निकालना जायज़ करार दिया है। निम्न उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं। प्रिवी कौन्सिल ने मन्जूर हुसन बनाम मुहम्मद जमन के मुकद्दमे में तय किया है कि :—

"Persons of all sects are entitled to conduct religious processions through public streets, so that thay do not interfere with the ordinary use of such streets by the public and supject to such directions the Magistrate may lawfully give to prevent obstructions of the through fare or breaches of the public peace, and the worshippers in a mosque or temple, which abutted on a highroad could not compel processionists to intermit their worship while passing the mosque or temple on the ground that there was a continuous worship there." (Manzur Hasan Vs. Mohammad Zaman, 23 All, Law Journal, 179).

भावार्थ—'प्रत्येक सम्प्रदाय के मनुष्य अपने धार्मिक जुलूसों को आम रास्तों से ले जाने के अधिकारी हैं, बशर्ते कि उस से साधारण जनता को रास्ते के व्यवहार करने में दिक्कत न हो और मजिस्ट्रेट की उन सूचनाओं की पाबन्दी भी हो गई हो जो उसने रास्ते की रुकावट और अशान्ति न होने के लिये उपस्थित की हों। और किसी मस्जिद या मन्दिर में, जो रास्ते पर स्थित हो, पूजा करने वाले लोग जुलूस निकालने वालों को जब कि वह मन्दिर या मस्जिद के पास से निकलें, मात्र इस कारण कि उस समय वहां पूजा हो रही है उनकी जुलूसी पूजा को बन्द करने पर मजबूर नहीं कर सकते।'

इस सम्बन्ध में "पारथसार्दी आयंगर बनाम चिन्नकृष्ण आयंगार" की नज़ीर भी दृष्टव्य है।(Indian Law Report, Madras, Vol. V p. 309) शूद्रम् चेट्टी बनाम महाराणी के मुकद्दमे में यही उसूल साफ़ शब्दों में इससे पहले भी स्वीकार किया जा चुका है (ILR. VI p. 203) इस मुकदमे के फैसले में पृष्ठ २०६ पर कहा गया है कि जुलूसों के सम्बन्ध में यह देखना चाहिये कि अगर वह धार्मिक हैं और धार्मिक अंशों का ख्याल किया जाना जरूरी है, तो एक सम्प्रदाय के जुलूस को दूसरे सम्प्रदाय के पूज्य-स्थान के पास से न निकलने देना उसी तरह की सख्ती है जैसे कि जुलूस के निकलने के वक्त उपासना-मन्दिर में पूजा बन्द कर देना।

मुकद्दमा सदागोपाचार्य बनाम रामाराव (ILR. VI p. 376) में भी यही राय जाहिर की गई है। इलाहाबाद ला जर्नल (भा० २३ पृ० १८०) पर प्रिवी कौन्सिल के जज महोदयों ने लिखा है कि 'भारतवर्ष में ऐसे जुलूसों के जिनमें मज़हबी रसूल अदा की जाती हैं सरेराह निकालने के अधिकारों के सम्बन्ध में एक 'नज़ीर' कायम करने की जरूरत मालूम होती है, क्योंकि भारतवर्ष में आला-अदालतों के फैसले इस विषय में एक दूसरे के खिलाफ़ हैं। सवाल यह है कि किसी धार्मिक जुलूस को मुनासिब व जरूरी विनय के साथ शाह-राह-आम से निकलने का अधिकार है ? मान्य जज महोदय इसका फैसला स्वीकृति में देते हैं अर्थात् लोगों को धार्मिक जुलूस आम-रास्तों से ले जाने का अधिकार है।'

मुकद्दमा शंकरसिंह बनाम सरकार कैसरे हिन्द (Al. Law Journal Report. 1929 pp. 180—182) ज़ेर-दफ़ा ३० पुलिस-ऐक्ट नं० ५ सन् १८६१ में यह तजवीज़ हुआ कि 'तरतीब'—व्यवस्था देने का मतलब 'मनाई' नहीं है। मजिस्ट्रेट जिला की राय थी कि गाने-बजाने की मनाई सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस ने उस अधिकार से की थी जो उसे दफ़ा ३० पुलिस-ऐक्ट की रू से मिला था कि किसी त्यौहार या रस्म के मौके पर जो गाने-बजाने आम-रास्तों पर किये जावें उनको किसी हद तक सीमित कर दे। मैं (जज हाई कोर्ट) मजिस्ट्रेट-जिला की राय से सहमत नहीं हूँ कि शब्द 'व्यवस्था' का भाव हर प्रकार के बाजे की मनाई है। व्यवस्था देने का अधिकार उसी मामले में दिया जाता है जिसका कोई अस्तित्व हो। किसी ऐसे कार्य के लिये जिसका अस्तित्व ही नहीं है, व्यवस्था देने की सूचना बिलकुल व्यर्थ है। उदाहरणत: आने-जाने की व्यवस्था के सम्बन्ध में सूचना से आने जाने के अधिकार का अस्तित्व स्वत: अनुमान किया जायगा। उसका अर्थ यह नहीं है कि पुलिस-अफ़सरान किसी व्यक्ति को उसके घर में बन्द रखने या उसका आना-जाना रोक देने के अधिकारी हैं।

दफ़ा ३१ पुलिस ऐक्ट की रू से पुलिस को आम रास्तों, सड़कों, गलियों, घाटों आदि पर आने-जाने के सब ही स्थानों में शान्ति स्थिर रखने का अधिकार है। बनारस में इस अधिकार के अनुसार एक हुक्म जारी किया गया था कि खास सम्प्रदाय के लोग यात्रावालों (पंडों) को, जो इस पवित्र नगर की यात्रा के लिये लोगों का पथ प्रदर्शन करते हैं, रेलवे स्टेशन पर जाने की

मनाई है। इस मुकद्दमे में हाईकोर्ट इलाहाबाद के योग्य जज महोदय ने तजवीज़ किया कि किसी स्थान पर शान्ति स्थिर रखने के अधिकारों के बल पर किसी खास सम्प्रदाय के लोगों को किसी खास जगह पर जाने की आम मुमानियत करने का सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस को अधिकार न था। इस तजवीज के कारण वही थे जो मुकद्दमा सरकार बनाम किशनलाल में दिये गये गये हैं। ILR. Allahabad Vol. 39 p. 131) शान्ति स्थिर रखने का भाव आदमियों को घरों में बन्द करने का नहीं है[1]।

यही विज्ञप्तियां दिगम्बर जैन साधुओं से भी सम्बन्ध रखती हैं। वह चाहे अकेले निकलें और चाहे जुलूस की शक्ल में, सरकारी अफ़सरों का कर्त्तव्य है कि उनके इस हक को न रोकें। दिगम्बर जैन साधुगण सारे ब्रिटिश, भारत और देशी रियासतों में स्वतन्त्रता से बराबर घूमते रहे हैं, कहीं कोई रोक-टोक नहीं हुई और न इस सम्बन्ध में किसी को कोई शिकायत हुई। अतएव सरकारी अफसरों का तो यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वे दिगम्बर मुनियों को अपना धर्म पालन करने में सहायता पहुँचायें। गतकाल में जितने भी शासक यहां हुये उन्होंने यही किया; इसलिये अब इसके विरुद्ध ब्रिटिश-शासक कोई भी वर्ताव करने के अधिकारी नहीं हैं। उनको तो जैनों का अपना धर्म निर्बाध पालने देना ही उचित है।

(२७)

दिगम्बरत्व और आधुनिक विद्वान

"मनुष्य मात्र को आदर्श-स्थिति दिगम्बर ही है। मुझे स्वयं नग्नावस्था प्रिय है।"

—महात्मा गांधी

संसार के सर्व-श्रेष्ठ पुरुष दिगम्बरत्व को मनुष्य के लिये प्राकृत सुसंगत और आवश्यक समझते हैं। भारत में दिगम्बरत्व का महत्व प्राचीनकाल से माना जाता रहा है। किन्तु अब आधुनिक सभ्यता की लीलास्थली यूरोप में भी उसको महत्व दिया जा रहा है। प्राचीन यूनान वासियों की तरह जर्मनी, फ्रान्स और इंगलैण्ड आदि देशों के मनुष्य नंगे रहने में स्वास्थ्य और सदाचार की वृद्धि हुई मानते हैं। वस्तुतः बात भी यही है। दिगम्बरत्व यदि स्वास्थ्य और सदाचार का पोषक न हो तो सर्वज्ञ जैसे धर्म प्रवर्तक मोक्ष मार्ग के साधन रूप उसका उपदेश ही क्यों देते? मोक्ष को पाने के लिये अन्य आवश्यकताओं के साथ नंगा तन और नंगा मन होना भी एक मुख्य आवश्यकता है। श्रेष्ठ शरीर ही धर्म साधन का मूल है और सदाचार धर्म की जान है। तथा यह स्पष्ट है कि दिगम्बरत्व श्रेष्ठ स्वस्थ्य शरीर और उत्कृष्ट सदाचार का उत्पादक है। अब भला कहिये वह परम धर्म की आराधना के लिये क्यों न आवश्यक माना जाय? आधुनिक सभ्य संसार आज इस सत्य को जान गया है और वह उसका मनसावाचाकर्मणा कायल है!

यूरोप में आज सैकड़ों सभायें दिगम्बरत्व के प्रचार के लिये खुली हुई हैं; जिनके हजारों सदस्य दिगम्बर-वेष में रहने का अभ्यास करते हैं! वेडलम स्कूल, पीटर्स फील्ड (हैम्पशायर) में बैरिस्टर, डाक्टर, इन्जीनीयर, शिक्षक आदि उच्च शिक्षा प्राप्त महानुभाव दिगम्बर वेष में रहना अपने लिये हितकर समझते हैं। इस स्कूल के मन्त्री श्री बर्फोर्ड (Mr. N. F. Barford) कहते हैं कि :—

Next year, as I say, we shall be even more advanced, and in time people will get quite used to the idea of wearing no clothes at all in the open and will realise its enormous value to health. (Amrita Bazar Patrika, 8-8 31)

भाव यही है कि एक साल के अन्दर नंगे रहने की प्रथा विशेष उन्नत हो जायगी और समयानुसार लोगों को खुले-आम कपड़े पहनने की आवश्यकता नहीं रहेगी। उन्हें नगे रहने से स्वास्थ्य के लिये जो अमित लाभ होगा वह तब ज्ञात होगा।

१. NJ. pp. 19-23

यद्यपि मैं पक्का ईसाई हूँ पर तो भी मैं कहूँगा कि इन साधुओं का सम्मान हर सम्प्रदाय के मनुष्यों को करना चाहिये। उन्होंने संसार के सभी सम्बन्धों को त्याग दिया है और एकमात्र मोक्ष की साधना में लीन हैं।"[१]

सचमुच इन विद्वानों का उक्त कथन दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनियों की महिमा का स्वत: द्योतक है। यदि विचार-शील पाठक तनिक इस विषय पर गम्भीर विचार करेंगे तो वह भी नग्नता के महत्व और नग्न साधुओं के स्वरूप को मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक जान जायेंगे। कविवर वृन्दावन जी के शब्द स्वत: उनके हृदय से निकल पड़ेंगे :—

"चतुर नगन मुनि दरसत,
भगत उमग उर सरसत।
नुति थुति करि मन हरसत,
तरल नयन जल बरसत॥"

१. JG. XXIII p. 139
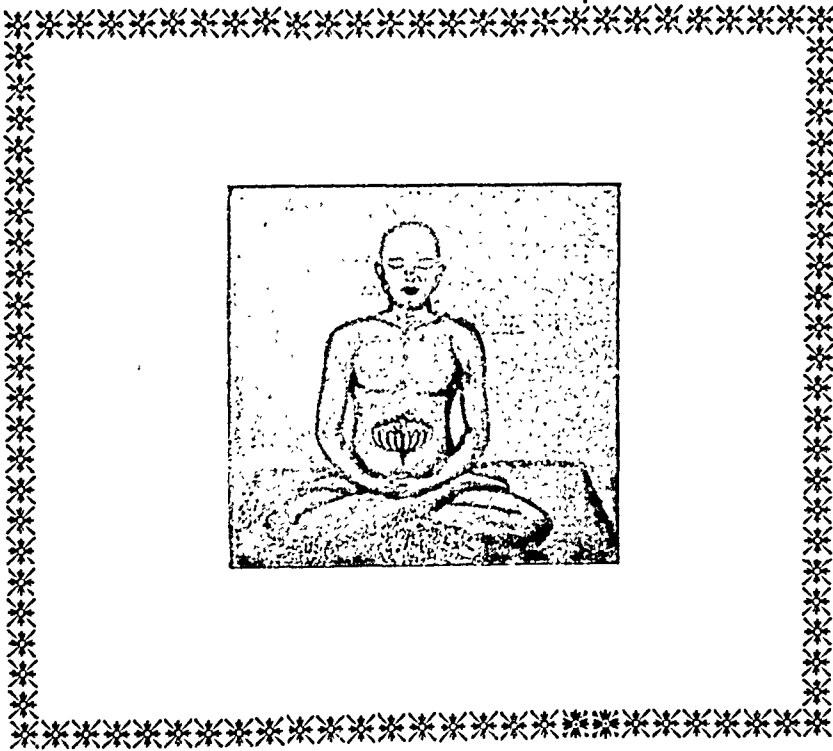
महावीर शासन की विशेषताएं

—श्री अगरचन्द नाहटा

भगवान महावीर का पावन शासन, अन्य सभी दर्शनों से महती विशेषता रखता है। महावीर प्रभु ने अपनी अखंड एवं अनुपम साधना द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त कर विश्व के सामने जो नवीन आदर्श रखे, उनकी उपयोगिता विश्व-शान्ति के लिए त्रिकालवाधित है। उन्होंने विश्व-कल्याण के लिए जो मार्ग निर्धारित किये, वे इतने निभ्रान्ति एवं अटल सत्य हैं कि उनके बिना सम्पूर्ण आत्म-विकास असम्भव सा है।

वीर प्रभु ने तत्कालीन परिस्थिति का, जिस निर्भीकता से सामना करके काया पलट कर दिया वह उनके जीवन की एक असाधारण विशेषता है। सर्व-जनमान्य एवं सर्वत्र प्रचलित भ्राम सिद्धान्तों एवं क्रिया काण्डों का विरोध करना साधारण मनुष्य का कार्य नहीं, इसके लिए बहुत बड़े साहस एवं आत्मबल की आवश्यकता होती है और वह आत्मबल भी बड़ी कठिन साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। भगवान महावीर का साधक जीवन उसका विशिष्ट प्रतीक है। जिस प्रकार उनका जीवन एक विशिष्ठ साधक जीवन था, उसी प्रकार उनका शासन भी महती विशेषता रखता है। इसवषय पर इस लघु लेख से विचार किया जाता है।

वीर शासन द्वारा विश्व-कल्याण का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। तत्कालीन परिस्थिति में इस शासन ने क्या काम कर दिखाया? यह भली-भाँति तभी विदित होगा जब हम उस समय के वातावरण से, सम्यक् प्रकार से परिचित हो जायें। अत: सर्व प्रथम तत्कालीन परिस्थिति का दिग्दर्शन करना आवश्यक हो जाता है?

जैन एवं बौद्ध प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय धर्म के एकमात्र ठेकेदार ब्राह्मण लोग थे, गुरुपद पर वे ही 'सर्वे-सर्वा' थे। उनकी अपनी आज्ञा राजाज्ञा से भी अधिक मूल्यवान समझी जाती थी राजगुरु भी वे ही थे, अतः उनका प्रभाव बहुत व्यापक था। सभी सामाजिक रीति-रस्में एवं धार्मिक क्रिया-काण्ड उन्हीं के तत्वाधान में होते थे, और इसलिए उनका जातीय अहंकार बहुत बढ़ गया था। वे अपने को सबसे उच्च मानते थे। शूद्रादि जातियों के धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार प्राय: सभी छीन लिए गए थे, इतना ही नहीं, वे उन पर मनमाना अत्याचार भी करने लगे थे। उनकी दशा मूक पशुओं की थी। उन्हें यज्ञयागादि में ऐसे मारा जाता था मानों उनमें प्राण ही नहीं हो। इतना ही नहीं, इसे महान धर्म भी समझा जाता था, वेदविहित हिंसा हिंसा नहीं मानी जाती थी।

इधर स्त्री जाति के अधिकार भी छीन लिए गये थे। पुरुष लोग उन पर जो मनमाना अत्याचार करते थे, वे उन्हें निर्जीव की भाँति सहन कर लेने पड़ते थे। उनकी कोई सुनाई नहीं थी। धार्मिक कार्यों में उनको उचित स्थान नहीं था अर्थात् स्त्री जाति बहुत कुछ पद-दलित सी थी।

यह तो हुई उच्च-नीच जातिवाद की बात, इसी प्रकार वर्णाश्रमवाद भी प्रधान माना जाता था। साधना का मार्ग वर्णाश्रम के अनुसार ही होना आवश्यक समझा जाता था। इसके कारण सच्चे वैराग्यवान व्यक्तियों का भी तृतीयाश्रम के पूर्व सन्यास-ग्रहण उचित नहीं समझा जाता था।

इसी प्रकार शुष्क क्रिया-काण्डों का उस समय बहुत प्राबल्य था। यज्ञयागादि स्वर्ग के मुख्य साधन माने जाते थे। बाह्य शुद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। आन्तरिक शुद्धि की ओर से लोगों का लक्ष्य दिनों दिन हटता जा रहा था। स्थान-स्थान पर तापस लोग तापसिक बाह्य कष्टमय क्रिया-काण्ड किया करते थे और जन-साधारण को उन पर काफी विश्वास था।

वेद ईश्वर-कथित शास्त्र हैं, इस विश्वास के कारण वेदाज्ञा सबसे प्रधान मानी जाती थी। अन्य महर्षियों के मत

गौण थे। वैदिक क्रिया-काण्डों पर लोगों का बहुत अधिक विश्वास था। शास्त्र संस्कृत भाषा में होने से साधारण जनता उनसे विशेष लाभ नहीं उठा सकती थी। वेदादि पढ़ने के एक मात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माने जाते थे।

ईश्वर एक विशिष्ट शक्ति है। संसार के सारे कार्य उसी के द्वारा परिचालित हैं। सुख दुख कर्मफल दाता ईश्वर ही हैं। विश्व की रचना भी ईश्वर ने ही की है। इत्यादि-बातें विशेष रूप से सर्वजनमान्य थी। इसके कारण लोग स्वावलम्बी न होकर, केवल ईश्वर के भरोसे बैठे रह कर आत्मोन्नति के सच्चे मार्ग में प्रयत्नशील नहीं थे। मुक्ति-लाभ ईश्वर की कृपा पर ही माना जाता है। कल्याण-पथ में विशेष मनोयोग न देकर लोग ईश्वर की लम्बी-लम्बी प्रार्थनायें करने में ही निमग्न थे और प्राय: इसी में अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझते थे।

इस विकट परिस्थिति के कारण लोग बहुत अशान्ति भोग रहे थे। शूद्रादि तो अत्याचारों से ऊब गये थे। उनकी आत्मा शान्ति-प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठी थी। वे शान्ति की शोध में आतुर हो गये थे। भगवान महावीर ने अशान्ति के कारणों पर बहुत मनन कर, शान्ति के वास्तविक पथ का गम्भीर अनुशीलन किया। उन्होंने पूर्व परिस्थिति का काया-पलट किये बिना शान्ति लाभ को असम्भव समझ अपने अनुभूत सिद्धान्तों द्वारा क्रान्ति मचा दी।

उन्होंने जगत् के वातावरण की कोई चिन्ता न करके साहस के साथ अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। उनके द्वारा विश्व को एक नया प्रकाश मिला। महावीर के प्रति जनता का आकर्षण क्रमश: बढ़ता चला गया। फलत: लाखों व्यक्ति वीर-शासन की पवित्र छत्र-छाया में शान्ति-लाभ करने लगे।

वीर शासन की विशेषतायें

वीर शासन की सबसे बड़ी विशेषता "विश्व प्रेम" है। इस भावना द्वारा अहिंसा को धर्म में प्रधान स्थान मिला। सब प्राणियों को धार्मिक अधिकार एक समान दिये गये। पापी से पापी और शूद्र एवं स्त्री जाति को मुक्ति तक का अधिकार घोषित किया गया और कहा गया कि मोक्ष का द्वार सबके लिए खुला है। धर्म पवित्र वस्तु है। उसका जो पालन करेगा, वह जाति अथवा कर्म से चाहे कितना ही नीच क्यों न हो।, अवश्य पवित्र हो जाएगा। साथ ही जातिवाद का जोरों से खण्डन किया गया और उच्चता और नीचता के सम्बन्ध में जाति के बदले गुणों को प्रधान स्थान दिया गया। सच्चा ब्राह्मण कौन है इसकी विशद व्याख्या की गई, जिसकी कुछ रूप रेखा जैनों के "उत्तराध्ययन सूत्र" एवं बौद्धों के "धम्मपद" में पाई जाती है। लोगों को यह सिद्धान्त बहुत संगत और सत्य प्रतीत हुआ। फलत: लोक-सपूह महावीर के उपदेशों को श्रवण करने के लिए उमड़ पड़ा। उन्होंने अपना वास्तविक व्यक्तित्व प्राप्त किया, वीर शासन के दिव्य आलोक से चिर-कालीन अज्ञानमय भ्रान्त धारणा विलीन हो गई। विश्व ने एक नई शिक्षा प्राप्त की, जिसके कारण हजारों शूद्रों एवं लाखों स्त्रियों ने आत्मोद्धार किया। एक सदाचारी शूद्र निगुर्ण ब्राह्मण से लाख गुणा उच्च है अर्थात् उच्च नीच का माप जाति से न होकर गुण सापेक्ष है। कहा भी है :

"गुणा: पूजास्थानं गुणिपु न च लिंगं न च वय:"

धार्मिक अधिकारों में जिस प्रकार सब प्राणी समान अधिकारी हैं, उसी प्रकार प्राणि-मात्र सुखाकांक्षी है। सब जीने के इच्छुक हैं, मरण से सबको भय एवं कष्ट है, अतएव प्राणिमात्र पर दया रखना वीर शासन का मुख्य सिद्धान्त है। इसके द्वारा यज्ञयागादि में असंख्य मूक पशुओं का जो आये दिन संहार हुआ करता था, वह सर्वथा रुक गया। लोगों ने इस सिद्धान्त की सच्चाई का अनुभव किया कि जिस प्रकार हमें कोई मारने को कहता है तो हमें उस कथन-मात्र से कष्ट होता है उसी प्रकार हम किसी को सतायेंगे तो उसे अवश्य कष्ट होगा। पर-पीड़न में कभी धर्म हो ही नहीं सकता। मूक पशु चाहे मुख से अपना दु:ख व्यक्त न कर सकें पर उनकी चेष्टाओं द्वारा यह भली-भांति ज्ञात होता है कि मारने पर उन्हें भी हमारी भांति कष्ट अवश्य होता है। इस निर्मल दयामय उपदेश का जन-साधारण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और ब्राह्मणों के लाख विरोध करने पर भी यज्ञयागादि की हिंसा प्राय: समाप्त हो गई। इस सिद्धान्त से अन्तत जीवों का रक्षण हुआ और असंख्य व्यक्तियों का पाप से बचाव हुआ। असंख्य मूक एवं निरपराध प्राणियों को अभयदान मिला।

अहिंसा की व्याख्या वीर शासन में जिस विशद रूप से पाई जाती है, किसी भी दर्शन में वैसी उपलब्ध नहीं। विश्व-शान्ति के लिए इसकी कितनी आवश्यकता है, यह भगवान महावीर ने भली-भांतिकर दिखाया। कठोर से कठोर हृदय भी कोमल हो गये और विश्व-प्रेम की अखंड धारा चारों ओर प्रवाहित ही चली।

वीर शासन में वर्णाश्रमवाद को अनुपयुक्त घोषित किया गया। मनुष्य को जीवन का कोई भरोसा नहीं। हजारों प्राणी बाल्यकाल एवं यौवनावस्था में मरण को प्राप्त हो जाते हैं, अतः आश्रामानुसार धर्म पालन उचित नहीं कहा जा सकता। व्यक्तियों का विकास भी एक समान नहीं होता। किसी आत्मा को अपने पूर्व संस्कारों एवं साधना के द्वारा बाल्यकाल में ही सहज वैराग्य हो जाता है, धर्म की ओर उसका विशेष सुझाव होता है। तब किसी को वृद्ध होने पर भी वैराग्य नहीं हो। इस परिस्थिति में वैराग्यवान बालक हो गृहस्थाश्रम पालन के लिए विवश करना अहितकर है और वैराग्यहीन वृद्ध का सन्यास-ग्रहण भी बेकार है। अतः आश्रम व्यवस्था के बदले धर्म-पालन, योग्यता पर निर्भर करना चाहिए। हां, योग्यता की परीक्षा में असावधानी करना उचित नहीं है। स्त्रियों को भी धर्म पालन का पूरा अधिकार मिलना आवश्यक है।

इसी प्रकार ईश्वरवाद के बदले वीर शासन में कर्मवाद पर बल दिया है। जीव स्वयं कर्म का कर्त्ता है और वह स्वभावानुसार स्वयं ही उसका फल भोगता है। ईश्वर शुद्ध-बुद्ध है, उसे सांसारिक झंझटों से कोई मतलब नहीं। वह किसी को तारने में समर्थ नहीं। यदि लम्बी प्रार्थना से ही मुक्ति मिल जाती तो संसार में आज अनन्त जीव शायद ही मिलते। जीव अपने भले-बुरे कर्म करने में स्वयं स्वतन्त्र है। पौरुष के बिना मुक्ति लाभ सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक प्राणी को अपना निज स्वरूप पहिचान कर अपने पैरों पर खड़े होने का अर्थात् स्वावलम्बी बनकर आत्मोद्धार करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। ईश्वर तो सृष्टि-रचयिता है और न कर्म फलदाता वह पूर्ण शुद्ध परम आत्मा है।

शुष्क क्रिया-काण्डों और बाह्य शुद्धि के स्थान पर वीर शासन में अन्तः शुद्धि पर बल दिया गया है। अन्तः शुद्धि साध्य है, बाह्य शुद्धि उसका साधन मात्र है। अतः साध्य के लक्ष्य बिना क्रिया फलवती नहीं होती। (केवल "जटा" बढ़ाने से राख लगाने से, नित्य स्नान कर लेने से एवं पंचाग्नि तप आदि से सिद्धी नहीं मिल सकती।) अतः क्रिया के साथ चित्त-शुद्धि सात्विक भावों का होना नितान्त आवश्यक है।

वीर प्रभुने अपना उपदेश जन-साधारण की भाषा में ही दिया क्योंकि धर्म केवल पाण्डो की सम्पत्ति नहीं, उस पर प्राणिमात्र का अधिकार है। यह भी वीर-शासन की एक महान विशेषता है। इसका एक मात्र लक्ष्य विश्व-कल्याण था। "सूत्र-कृतांग" से स्पष्ट है कि भगवान महावीर के समय में श्री वर्धमान् की भाँति अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित थे। इस कारण जनता बड़े भ्रम में पड़ी थी कि किसका कहना सत्य एवं मानने योग्य है और किसका असत्य है? मत-प्रवर्तकों में सर्वदा मुठ-भेड़ हुआ करती थी। एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी शास्त्रार्थ चला करते थे। अपने अपने सिद्धान्तों पर प्रायः सब अड़े हुए थे। सत्य की जिज्ञासा मन्द पड़ गई थी। तब भगवान महावीर ने उन सबका समन्वय कर वास्तविक सत्य प्राप्ति के लिए "अनेकांत" को अपने शासन में विशिष्ट स्थान दिया, जिसके द्वारा सब मतों के विचारों को समभाव से तोला जा सके, सत्य को प्राप्त किया जा सके। इस सिद्धान्त द्वारा लोगों का बड़ा कल्याण हुआ। विचार उदार एवं विशाल हो गये। सत्य की जिज्ञासा पुनः प्रतिष्ठित हुई। सब वित्तंडावाद एवं कलह उपशान्त हो गये। इस वीर और शासन का सर्वत्र जय जयकार होने लगा।

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के समय का भारत

भारतवर्ष वही है जो पहले था। इसके नाम में, इसके रूप में, इसके वेप में, इसके शरीर में—हाँ किसी तरफ से भी विरुद्धता नजर नहीं आती। वही पृथ्वी है, वही नीलाकाश है, वही कलकल कलरवकारिणी सरितायें हैं, वही निश्चल निस्तब्ध गम्भीर पर्वत हैं, सचमुच सब कुछ वही दृष्टि आता है। जो जैसा था वैसा दृष्टिगत हो रहा है—कहीं भी अन्तर दिखाई नहीं पड़ता है। मनुष्य वही आर्य हैं—आर्यखण्ड के अधिवासी प्रतीत होते हैं। यद्यपि इनके विपयमें यह अवश्य संशयात्मक है कि वस्तुतः क्या इनमें सर्व ही आर्य वंशज हैं? परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि मूल में भारतवासी आर्य हैं और जब यह आर्य हैं तब इनके रीति रिवाज भी प्राचीन आर्यो जैसे होना ही चाहिए। किन्तु यदि यही बात सच है कि जो दशा पहले—मुद्दतों—युगों पहले थी वही आज है तो फिर संसार में परिवर्तनशीलता का अस्तित्व कहां रहा? क्या युगों पहले के भारतवर्ष में और आज के भारवर्प में कुछ भी अन्तर नहीं है? भारतवर्ष का ज्ञात इतिहास इस बात का स्पष्ट दिग्दर्शन करा देता है कि नहीं, भारतवर्ष जैसा १५वीं १६वीं शताब्दि में था वैसा आज नहीं है और जैसा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में था वैसा उपरोक्त मध्यकालीन शताब्दियों में नहीं था, तो फिर उसका सनातन रूप कहाँ रहा? वह जैसा पहले था वैसा आज है यह कैसे माना जाय? बात बिल्कुल ठीक है, भारत का रूप, भारत की दशा और भारत की प्रकृति समयानुसार रंग बदलती रही है, परन्तु क्या कभी उस क्षेत्र का अभाव हुआ जो भारतवर्ष कहलाता है अथवा वहां के अधिवासियों का अन्त हुआ जो, भारतवासी कहलाते हैं? नहीं, यह सब बातें ज्यों की त्यों रही हैं, ऐसी अवस्था में समान्यतः यहां पर एक गोरखधन्धासा नेत्रों के अगाड़ी उपस्थित हो जाता है, किन्तु यदि उसका निर्णय यथार्थ सत्य प्रकाश में—वस्तु—स्थिति के धवल उज्ज्वल आलोक में करें तो हम स्थिति को सहज समझ जाते हैं।

संसार में जितनी भी वस्तुयें हैं वह सत्रूप हैं। उनका भी नाश नहीं होता, किन्तु उनमें परिवर्तन अवश्य होता रहा है। एक अवस्था का जन्म होता है तो उसका अस्तित्व हो जाता है, परन्तु उसके नाश के साथ ही दूसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। यह क्रम यों ही चालू रहा है और अगाड़ी रहेगा। यही संसार है। हम सहज समझ सकते हैं कि भारतवर्ष मूल में तो वही है जो युगों पहले था, परन्तु उसकी हर अवस्था में अनेकों रूपान्तर समयानुसार अवश्य हुए हैं। यही उसका वास्तविक रूप है। अस्तु;

भारतवर्ष मूल में तो वही है जो भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के समय में था, परन्तु तब की दशा और अब की दशा इस प्राचीन भारत की अवश्य ही जमीन आसमान जैसा अन्तर रखती है। इतना महत् अन्तर और फिर एकता। यही यथार्थ सत्य की विचित्रता है। आज कर्णफूलों और गलेबन्द से कामिनी की शोभा बढ़ रही थी—कल तबियत बदली—कर्णफूल और गलेबन्द नष्ट कर दिये गये—चन्दनहार और कंधन उसके वक्षस्थल एवं करो को अलंकृत करने लगे। यहाँ तो पूरा कायापलट हो गया, परन्तु सोना तो वहीं का वहीं रहा, मूल उसका जब था सो अब है।

अस्तु, भारतवर्ष वही है जो भगवान महावीर और भगवान बुद्ध के समय में था, परन्तु उसमें हर तरफ से उल्ट फेर के चिह्न नजर आते हैं आज यहाँ के मनुष्य ही न उतने प्रतिभा और शक्ति सम्पन्न है और न उतने दीर्घजीवी हैं। आज के भारत की नैतिक और धार्मिक प्रवृत्ति न उस समय जैसी है और न उसकी प्रधानता का सिक्का किसी के हृदय पर जमा हुआ है। आज यहाँ के निवासी बिल्कुल दीन हीन रंक बने हुए हैं। बुद्धि, बल, ऐश्वर्य सब का दिवाला निकाले बैठे हैं। तब के भारत का अनुकरण अन्य देश करते थे और उसको अपना गुरु मानकर यूनान सदृश उन्नतशील देश के विद्वान जैसे पैरेहो यहां विद्याध्ययन करने आते थे, परन्तु आज उल्टी गंगा बह रही है। स्वयं भारतीय इन विदेशों में जाकर ज्ञानोपार्जन की मिसाल कायम कर रहे हैं और उन देशों की नकल आंख मींचकर किये चले जा रहे हैं इस भौतिक-सभ्यता की उपासना का कितना कटु परिणाम भारत को शीघ्र ही भुगतना पड़ेगा, यह अभी इस देश के अधिवासियों की समझ में नहीं आया है, परन्तु जमाना उनकी

आंखें खोलेगा अवश्य। और तब वे प्राचीन भारत की ओर आशाभरे नेत्रों से देखेंगे। इसलिए यहां पर प्राचीन और अर्वाचीन भारत की तुलना न करके हम उसकी ईसा से पूर्व छठी शताब्दि में जो दशा थी उसका ही किंचित् दिग्दर्शन करके उस समय के उन दो चमकते हुए रत्नों का परिचय प्राप्त करेंगे, जिनके प्रति आज पश्चिमीय सभ्यता के विद्वान् भौंरे बने हुए हैं।

किसी भी देश की किसी समय की हालत जानने के लिए उस देश को राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति को जानना आवश्यक है। जब तक उस देश की इन सब दशाओं का चित्र हमारे नेत्रों के अगाड़ी नहीं खींचा जायगा तब तक उस देश का सच्चा और यथार्थ परिचय पाना कठिन है। आज भारतीयों के पतन का यह भी एक मुख्य कारण है कि वे अपने प्राचीन पुरुषों के इतिहास से प्राय: अनभिज्ञ हैं। प्रत्येक जाति का उत्थान उसके प्राचीन आदर्शों को उसके प्रत्येक सदस्य के हृदय में बिठा देने पर बहुत कुछ अवलम्बित है, अतएव यहाँ पर हम उस समय के भारत की इन दशाओं का किंचत वृत्त निम्न में अंकित करते हैं।

ईसा की छठी शताब्दि भारत के लिए ही नहीं बल्कि सारे संसार के लिए एक अपूर्व शताब्दि थी। कोई भी देश ऐसा न बचा था जो इसके क्रान्तिकारी प्रभाव से अछूता रहा हो। भारत में इसका रोमांचकारी प्रभाव खूब ही रंग लाया था। राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सब ही अवस्थाओं में इसने रूपान्तर लाकर खड़े कर दिए थे। मनुष्य हर तरह से सच्ची स्वाधीनता के उपासक बन गये थे, परन्तु इसमें उस समय के दो चमकते हुए रत्नों—भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध—का अस्तित्व मूल कारणा था।

उस समय यहां की राजनैतिक परिस्थिति अजब रंग ला रही थी। साम्राज्यवाद का प्राय: सर्व ठौर एक छत्र राज्य नहीं था, प्रत्युत प्रजातंत्र के ढंग के गणराज्य भी मौजूद थे। एक ओर स्वाधीन राजाओं की बांकी आन में भारतीय प्रजा सुख की नींद सो रही थी, तो दूसरी ओर गणराज्यों के उत्तरदायित्वपूर्ण प्रबन्ध में सब लोग स्वतंत्रता पूर्वक स्वराज्य का उपभोग कर रहे थे। दोनों ओर रामराज्य छा रहा था। इन गणराज्यों का प्रबन्ध ठीक आजकल के ढंग के प्रजातंत्रात्मक राज्यों की तरह किया जाता था। नियमितरूप से प्रतिनिधियों का चुनाव होता था, जो राज्यकीय मण्डल अथवा "सांथागार" में जाकर जनता के सच्चे हित की कामना से व्यवस्था की योजना करते थे। न्यायालयों का प्रबन्ध भी प्राय: आजकल के ढंग का था, परन्तु उस समय वकील—बैरिष्टरों की आवश्यकता नहीं थी। न्यायाधीश स्वयं वादी—प्रतिवादी के कथन की जांच करते थे और यही नहीं कि प्रारम्भिक न्यायलय जो जांच कर दे वही बहाल रहे, प्रत्युत ऊपर के न्यायालय भी स्वयं स्थिति की पड़ताल करते थे। प्रचलित कानूनों की किताब भी मौजूद थी और फुलबेन्च की तरह अट्ठकूलक न्यायालय सदृश न्यायालय भी थे। इस प्रजातंत्रात्मक गणराज्य का आदर्श हमें उस समय के लिच्छवि क्षत्रियों के विवरण में मिलता है। जैन और बौद्ध ग्रन्थ इनके विषय में प्रकाश उपस्थित करते हैं। इन ग्रन्थों के अध्ययन से मालूम होता है कि उस समत प्रख्यात गणराज्य इस-प्रकार थे—

(१) लिच्छवि—गणराज्य—इसमें इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रियों का आधिक्य था और इसकी राजधानी विशाला अथवा वैशाली विशेष समृद्धिशाली नगरी थी। इस गणराज्य के प्रधान राजा चेटक थे। बौद्ध ग्रन्थ इस राज्य में आठ कुलों के क्षत्रियों का प्रतिनिधित्व बतलाते हैं, परन्तु जैनों के ग्रन्थ में उनकी संख्या नौ है। इस गणराज्य की राजधानी वैशाली के निकट अवस्थित कुण्डपुर अथवा कुण्डनगर के क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ थे, जो भगवान महावीर के पिता थे। वे संभवत: इसी गणराज्य में सम्मिलित थे और इसी कारण भगवान महावीर का उल्लेख कभी-कभी "वैशालिय" के रूप में हुआ है। वह गणराज्य विशेष समृद्धिशाली था और यहां जैन धर्म की मान्यता अधिक थी। काशी और कौशल के गणराज्य, जिनके प्रतिनिधि (जो राजा कहलाते थे) श्वे० जैन शास्त्र कल्पसूत्र में अठारह बतलाये गये हैं, संभवत: इनसे सम्बन्धित थे। इन सब गणराज्यों की व्यवस्थापक सभा वज्जियन राजसंघ कहलाती थी। उस समय इन लोगों को शक्ति विशेष प्रबल थी। यहां तक कि मगधा-धिपति भी सहसा इन पर आक्रमण नहीं करसके थे, बल्कि पहले तो स्वयं चेटक ने एक दफे जाकर राजगृह का घेरा डाल दिया था और अन्तत. राजा श्रेणिक और चेटक में समझौता हो गया था।

(२) शाक्य गणराज्य—इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी और यहाँ के प्रधान राजा शुद्धोदन थे। यही म० बुद्ध के पिता थे। बुद्ध की जन्मनगरी यही थी। इनकी भी सत्ता उस समय अच्छी थी।

(३) मल्ल गणराज्य में मल्लवंशीय क्षत्रियों की प्रधानता थी। बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि यह दो भागों में विभाजित था। कुसीनारा जिस भाग की राजधानी थी उससे म० बुद्ध का सम्बन्ध विशेष रहा था और दूसरे भाग की राज-

धानी पावा थी, जहाँ से भगवान महावीर ने निर्वाण लाभ किया था। श्वेताम्बरियों के 'कल्पसूत्र' में यहां के प्रधान राजा हस्तिपाल और नौ प्रतिनिधि राजा बतलाये गये हैं।

(४) कोलिय गणराज्य था। इसकी राजधानी रामगाँम थी और इसमें कोलिय जाति के क्षत्रियों का प्रावल्य था।

शेष में सुन्समार पर्वत का भग्ग गणराज्य, अल्लकप्प के बुलिगण, पिप्पलिवन के मोरीयगण आदि अन्य कई छोटे मोटे गणराज्य भी थे, जिनका विशेष वर्णन कुछ ज्ञात नहीं है। इनके अतिरिक्त दूसरी प्रकार की राज्यव्यवस्था स्वाधीन राजाओं की थी। इनमें विशेष प्रख्यात प्रजाधीश निम्न प्रकार थे :—

(१) मगध—के सम्राट् श्रेणिक विम्बसार। इनकी राजधानी राजगृह थी। यह पहले बौद्ध थे, परन्तु उपरांत रानी चेलनी के प्रयत्न से जैनधर्मानुयायी हुए थे।

(२) उत्तरीय कौशल—का राज्य मगध से उत्तर पश्चिम की ओर था, जिसकी राजधानी श्रीवस्ती थी। यहां के राजा पहले अग्निदत्त (पसेनदी) थे। उपरान्त उनके पुत्र विदुदाम राज्याधिकारी हुए थे।

(३) कौशल से दक्षिण की ओर वत्स राज्य था और उसकी राजधानी कौशाम्बी यमुना किनारे थी। यहां के राजा उदेन (उदायन) थे, जिनके पिता का नाम परंतप, बौद्ध शास्त्रों में बतलाया गया है। जैन शास्त्रों में जो राजा उदायन अपने सम्यक्त्व के लिए प्रसिद्ध है, वह इनसे भिन्न है। श्वे० शास्त्रों में इनके पिता का नाम शतानीक बतलाया है। तथापि यही नाम दि० सम्प्रदाय के उत्तरपुराण में भी बतलाया गया है।

(४) इससे दक्षिण की ओर जयन्ती का राज्य स्थित था, जिसकी राजधानी उज्जयनी थी, और यहां के राजा चन्द्रप्रद्योत विशेष प्रख्यात थे। जैन शास्त्रों में इनके विषय में भी प्रचुर विवरण मिलता है।

(५) कलिंक के राजा जितशत्रु थे और यह भगवान महावीर के फूफा थे।

(६) अंग पहले दधिवाहन राजा के आधीन स्वतन्त्र राज्य था, परन्तु उपरांत मगधाधिप के आधीन हो गया था और यहाँ के राजा कुणिक अजातशत्रु हुए थे, जो सम्राट् श्रेणिक के पुत्र थे।

इनके अतिरिक्त और भी छोटे-२ राज्य थे, जिनका विशेष परिचय यहां पर कराना दुष्कर है। इतना स्पष्ट है कि उस समय जो प्रख्यात राज्य थे, फिर चाहे वह गणराज्य थे अथवा स्वाधीन साम्राज्य, उनकी संख्या कुल सोलह थी। मि० हीस डेविड्स उनकी गणना इस प्रकार करते हैं :—

(१) अंग—राजधानी चम्पा, (२) मगध—राजधानी राजगृह, (३) काशी—राजधानी बनारस, (४) कौशल—(आधुनिक नेपाल)—राजधानी श्रावस्ती, (५) वज्जियन—राजधानी वैशाली, (६) मल्ल—राजधानी पावा और कुसीनारा, (७) चेतीयगण—उत्तरीय पर्वतों में अवस्थित था, (८) वन्स या—वत्स—राजधानी कौशाम्बी, (९) कुरु—राजधानी इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली)। इसके पूर्व में पाँचाल और दक्षिण में मत्स्य था। रत्थपाल कुरुवंशीय सरदार थे, (१०) पांचाल, यह कुरु के पूर्व में पर्वतों और गंगा के मध्य अवस्थित था और दो विभागों में विभाजित था, राजधानी कंपिल्ल और कन्नौज थी, (११) मत्स्य—कुरु के दक्षिण में और जमना के पश्चिम में था, (१२) सूरसेने—जमना के पश्चिम में और मत्स्य के दक्षिण-पश्चिम में था,—राजधानी मथुरा (१३) अस्सक—अवन्ती के उत्तर-पश्चिम में गोदावरी के निकट अवस्थित था—राजधानी पोतन या पोतलि, (१४) अवन्ती—राजधानी उज्जयनी, ईशा की दूसरी शताब्दि तक यह अवन्ती कहलाई, परन्तु ७वीं या ८वीं शताब्दि के उपरान्त यह मालव कहलाने लगी, (१५) गान्धार—आजकल का कन्धार है—राजधानी तक्षशिला, राजा पुक्कु साति और (१६) कम्बोज—उत्तर पश्चिम के ठेठ छोर पर थी, राजधानी द्वारिका थी।

इन राज्यों मे परस्पर मित्रता थी और बहुधा वे एक दूसरे से सम्बन्धित भी थे, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनमें कभी परस्पर रणभेरी न बजती हो। यदा कदा संग्राम होने का उल्लेख भी हमें शास्त्रों से मिलता है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि इन राज्यों की प्रथा विशेष शान्ति और सुख का उपभोग करती थी। उसे ऐसा भय नहीं था जो वह अपनी उभय उन्नति सानन्द न कर सकती। साम्राज्य के आधीन भी वह सुखी थी और गणराज्यों की छत्रछाया में उसे किसी बात की तकलीफ नहीं थी। इस प्रकार उस समय की राजनैतिक परिस्थिति का वातावरण था। यह सर्वथा प्राचीन आर्यों के उपयुक्त था। सचमुच आज की दुनिया के लिए वह अनुकरणीय आदर्श है।

उस समय की सामाजिक परिस्थिति भी अजीब हालत में थी। उस समय के पहले एक दीर्घकाल से ब्राह्मणों की

प्रधानता का सिक्का समाज में जम रहा था। ब्राह्मणों ने सामाजिक व्यवस्था को एक तरह से अपनी आजीविका का कारण बना लिया था। उसी अपेक्षा उन्होंने धर्मशास्त्रों के पठन-पाठन का अधिकार इतरवर्णों—अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों को नहीं दे रक्खा था, प्रत्युत उनके आत्म कल्याण के लिए अपने आपको पुजवाना ही इष्ट रक्खा था। जनता को बतलाया था कि तुम अमुक प्रकार यज्ञ आदि क्रियाओं को कराकर हमारी सन्तुष्टि करो तो तुम को स्वर्गसुख की प्राप्ति होगी और इस स्वर्गसुख के लालच में लोग उस समय भी यज्ञवेदी को निरापराध मूक पशुओं के रक्त से रंगते नहीं हिचकते थे। यहां भी शूद्रादि मनुष्यों को बहुत ही नीची दृष्टि से देखा जाता था। परिणामतः राजकीय स्वतन्त्रता के उस युग में लोगों को ब्राह्मणों की यह भेद व्यवस्था और एकाधिपत्य अखर उठा। प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के बन्धनों का उल्लंघन किया जाने लगा। सचमुच वर्तमान सामाजिक क्रान्ति कुछ अस्पष्ट रूप में दिखाई पड़ रही है, ठीक वैसी ही में जा क्रांति उस समय के समाज में अपना रंग ला रही थी। ब्राह्मणों ने जहाँ स्वार्थ भरे कठोर नियम रक्खे थे वहाँ बिल्कुल ढिलाई से काम लिया जाने लगा। सामाजिक नियमों में सबसे मुख्य विवाह नियम है सो उस समय इसका क्षेत्र विशेष विस्तृत था और इसकी वह दुर्दशा नहीं थी जो आजकल हो रही है। युवावस्था में वर—कन्याओं के सराहनीय विवाह सम्बन्ध होते थे। उनमें गुणों का ही लिहाज किया जाता है। जैन और बौद्ध शास्त्रों में इस व्याख्या की पुष्टि में अनेकों उदाहरण मिलते हैं। ऐसा मालूम होता है कि उस जमाने में व्यक्तिगत विवाह सम्बन्ध की स्वाधीनता इतना उग्ररूप धारण किए था कि किन्हीं २ राज्यों में विवाह सम्बन्ध के खास नियम भी बना लिये गये थे। इस व्याख्या के अनुरूप अभी तक केवल एक वैशाली के लिच्छवियों के विषय में विदित है। उनके यहां यह नियम था कि वैशाली की कन्यायें वैशाली के बाहर न दी जावें। तथापि जिस तरह वैशाली तीन खण्डों—(१) क्षत्रिय खण्ड, (२) ब्राह्मण खण्ड और (३) वैश्य खण्ड में विभाजित थी उसी तरह इनके निवासियों में अपने और अपने से इतर खण्ड की कन्या से विवाह करने का नियम नियत था। शायद इस ही कारण से 'सम्राट्' श्रेणिक के साथ राजा चेटक अपनी कन्या का विवाह नहीं करेंगे, यह सम्भावना जैन शास्त्रों में की गई है। यद्यपि वहाँ इसका कारण राजा चेटक का जैनत्व और सम्राट् श्रेणिक का बौद्धत्व बतलाया गया है। इसमें भी संशय नहीं है कि राजा चेटक जैन धर्मानुयायी थे, परन्तु इससे वैशाली में उक्त प्रकार नियम होने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। वस्तुतः वैशाली, जहां जैन धर्म का प्रचार प्रारम्भ से अधिक था, यदि अपनी सामाजिक परिस्थिति को नये सुधार के प्रचलित रिवाजों से कुछ विलक्षण रखने में गर्व करे तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि यह हमको ज्ञात नहीं है कि लिच्छविगण बड़े स्वात्माभिमानी थे और वह अपने उच्चवंशी जन्म के कारण नारी समाज में अपना सिर ऊँचा रखते थे। किन्तु इससे भी उस समय की सामाजिक क्रान्ति के अस्तित्व का समर्थन होता है, जिसके विषय में प्राच्य विद्या महार्णव स्व० मि० हास डेविड्स भी लिखते हैं कि उस समय :—

"ऊपर के तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य) तो वास्तव मूल में एक ही थे, क्योंकि राजा, सरदार और विप्रादि तीसरे वर्ण वैश्य के ही सदस्य थे, जिन्होंने अपने को उच्च सामाजिक पद पर स्थापित कर लिया था। वस्तुतः ऐसे परिवर्तन होना जरा कठिन थे परन्तु ऐसे परिवर्तनों का होना सम्भव था। गरीब मनुष्य राजा-सरदार बन सकते थे और फिर दोनों ही ब्राह्मण हो सकते थे। ऐसे परिवर्तनों के अनेकों उदाहरण ग्रन्थों में मिलते हैं।.........

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के क्रियाकांड के एवं सर्व प्रकार की सामाजिक परिस्थिति के पुरुष स्त्रियों के परस्पर सम्बन्ध के भी उदाहरण मिलते हैं और यह उदाहरण केवल उच्च परिस्थिति के ही पुरुष और नीच कन्याओं के सम्बन्ध के नहीं है, बल्कि नीच पुरुष और उच्च स्त्रियों के भी हैं।"

अतएव वस्तुतः उस समय ऐसी सामाजिक परिस्थिति होना कुछ अचरज भरी बात नहीं है। स्वयं म० बुद्ध और भगवान महावीर के उपदेश से सामाजिक परिस्थिति की उलझी गुत्थी प्रायः सुलझ गई थी। म० बुद्ध ने स्पष्ट रीति से कहा था कि कोई भी मनुष्य जन्म से ही नीच नहीं होता है बल्कि वह द्विजगण जो हिंसा करते नहीं हिचकते हैं और हृदय में दया नहीं रखते हैं, वही नीच है। वासेट्ठसुत्त में जब ब्राह्मणों से वाद हुआ तब बुद्ध ने कहा कि जन्म से ब्राह्मण नहीं होता है, न अब्राह्मण होता है किन्तु कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से ही अब्राह्मण होता है। भगवान महावीर ने अपने अनेकांत तत्व के रूप में इस परिस्थिति को बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कहा कि जन्म से भी ब्राह्मण आदि होता है और कर्म से भी। आचरण पर ही उसका महत्व अवलंबित बतलाया। स्पष्ट कहा है कि :—

संताणकमेणागय जीवयणस्स्स गोदमिदि सन्णा।
उच्चं नीचं चरणं उच्चं नीचं हवे गोदं॥
—गोमट्टसार

अर्थात् संताप क्रम से चले आये हुए जीव के आचरण की गोत्र संज्ञा है। जिसका ऊंचा आचरण हो उसका उच्च गोत्र और जिसका नीच आचरण हो उसका नीच गोत्र है। यह नहीं है कि यदि कोई व्यक्ति नीच वर्ण में उत्पन्न हुआ है और वह सत्संगति को पाकर अपने आचरण को सुधार कर उन्नत बना ले तो भी वह नीच बना रहे, प्रत्युत उसके उच्चाचरणी होने पर उसका गोत्र भी यथा समय उच्च हो जावेगा। भगवान महावीर के इस यथार्थ संदेश से जनता को वास्तविक परिस्थिति का पता चल गया और वह आपस के अमानुपी व्यवहार को तिलान्जलि देकर प्रेमपूर्ण व्यवहार करने पर उतारु हो गई। आधुनिक विद्वान् भी इस अपूर्व घटना पर आश्चर्य प्रगट करते हैं, किन्तु सत्य के साम्राज्य में ऐसी घटनाओं का घटित होना स्वाभाविक है।

इस तरह उस समय की सामाजिक परिस्थिति भी इस समय से विशेप उदार थी और थोथी ढकोसलेवाजी को उसमें स्थान शेप नहीं रहा था भगवान पर्श्वनाथ के दिव्योपदेश से सामाजिक व्यवस्था में हलचल खड़ी हो गई थी, क्योंकि भगवान नेमिनाथ के दीर्घ अन्तराल काल में ब्राह्मण संप्रदाय का प्रावल्य अधिक वढ़ गया था और विप्रगण अपने स्वार्थमय उद्देश्यों की पूर्ति में मनुष्य समाज के प्रारंभिक स्वत्वों को अपहरण कर चुके थे। इस दशा में जव भगवान पार्श्वनाथ ने जनता को वस्तुस्थिति वतलाई तो उसके कान खड़े हो गये, और उसमें से प्रभावशाली व्यक्ति अगाड़ी आकर ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित सामायिक व्यवस्था के विरुद्ध लोगों को उपदेश देने लगे। फलत: एक सामाजिक क्रान्ति की उपस्थित हुई। जिसका शमन म० बुद्ध और फिर पूर्णत: भवान महावीर के अपूर्व उपदेश से हुआ। जिन सुधारों की आवश्यकता थी, वह सुगमता से पूर्ण हुए और मनुष्यों में जो आपसी भेद अधिक वढ़ रहे थे उनका अन्त हुआ। तत्कालीन जैन और वौद्ध विरणी को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यही परिस्थिति प्रति भापित होती है। संचमुच इस समय की आर्यत्व की रक्षा के लिए भगवान महावीर के दिव्य संदेश को दिगन्तव्यापी वनाने की आवश्यकता है। मनुप्य समाज उससे विशेप लाभ उठा सकता है।

जिस तरह हम सामाजिक परिस्थिति के सम्वन्ध में देखते हैं कि उस समय एक क्रान्ति सी उपस्थित थी, ठीक यही दशा धार्मिक वातावरण में हो रही थी। सर्वत्र अशान्ति का साम्राज्य था। ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दि में भगवान पार्श्वनाथ ने जो उपदेश दिया उसका जो प्रभावकारी फल हुआ उसका दिगदर्शन हम ऊपर कर चुके हैं। सचमुच लोगों को राज्यनैतिक और सामाजिक स्वतंत्रता के उस समृद्धशाली जमाने में अपने असली स्वाधीनता—आत्मस्वतांत्र्य को प्राप्त करने की धुन सवार हो गई थी और वह प्रचलित थोथे क्रियाकाण्डों को हेय दृष्टि से देखने लगे थे। इस दशा में उस समय धार्मिक वातावरण में दो विभाग स्पष्टत: नजर आते थे। एक तो प्राचीन क्रियाओं और यज्ञ रीतियों का कायल ब्राह्मण वर्ग था और दूसरा नवीन सुधार को समक्ष लाने वाला "समण" (श्रमण) दल था। वह द्वितीय दल अनेक प्रतिशाखाओं में विस्तृत मिलता था। जैन शास्त्र इनकी संख्या तीन सौ त्रेसठ वतलाते हैं, परन्तु वौद्ध सिर्फ त्रेसठ ही, इस मतमेद का निष्कर्प यही प्रतीत होता है कि उस समय अनेक विविध पंथ प्रचलित थे। सामाजिक क्रांति के दौरदौरे में जो कोई भी ब्राह्मण के विरुद्ध कितने भी लचर सिद्धान्तों को लेकर खड़ा हो जाता था, उसी को लोग अपनाने लगते थे। विशेप कर क्षत्रिय वर्ण ऐसे विरोधकों का सहायक वन रहा था और वह उनके लिए मंदिर, आश्रम आदि भी वनवा देता था।

प्रथम ब्राह्मण वर्ग विशेषकर यत्र क्रियाओं और पशु वलिदान को मुख्यता देता था और उनमें जो विशेष उन्नति किए हुए परिव्राजक लोग थे, जिनकी उपनिपद् आदि रचनायें प्रसिद्ध हैं, वह ज्ञान और ध्यान को ही आत्मस्वातंत्र्य के लिए आवश्यक समझते थे। ऋपिगण भगवान पार्श्वनाथ के पहिले से ही वलिदान पोपक विप्रों के साथ २ चले आ रहे थे। अन्तत: भगवान पार्श्वनाथ के उपदेश को सुनकर इनमें से भी ऋपिगण अलग होकर अपनी स्वतंत्र आम्नाय "आजीवक" नामक वना चुके थे इनकी गणना दूसरे दल में की जाती थी। यह दूसरा दल ज्ञान और ध्यान के साथ चारित्र को विशेष आदर देता था। इनकी मान्यता थी कि विना चारित्र के मनुष्य आत्मोन्नति कर ही नहीं सकता है। इस दल के प्रख्यात प्रर्वतकों की संख्या म० वुद्ध ने अपने सिवाय छह वतलाई है। इनको वह 'तितिथय" कहते है। इनके नाम इस तरह वताये गये हैं (१) पूर्णकाश्यप (२) मस्करि गोशालिपुत्र (मक्खलि गोशाल) (३) संजयवैरत्थी पुत्र (४) अजितकेशकम्वलि (५) पकुढकात्यायन और (६) निगन्थनातपुत्त (महावीर)। और यह प्रत्येक अपने अर्पने संघ के नेता, गणाचार्य तीर्थकर, तत्ववेत्तारूप में विशेष प्रख्यात, मनुष्यों द्वारा पूज्य अनुभवशील और दीर्घ आयु के समन (श्रमण) वतलाये गए हैं। इनमें म० बुद्ध और भगवान महावीर विशेष प्रख्यात हैं। अतएव इसके विषय में खासी तौर पर परिचय पाने का प्रयत्नन्मि के पृष्ठों में किया जायगा, परन्तु शेप के पांच मत प्रवर्तकों के विपय में भी यहां हर किंचित ज्ञान प्राप्त कर लेना बुरा नहीं है।

पहले पूर्णकाश्यप के विषय में वतलाया गया है कि वह नग्न श्रमण था। नग्न श्रमण वह कैसा हुआ इसके लिए एक अटपटी कथा मिलती है, जिस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। वस्तुत: उस काल में नग्नत्व साधुपने का एक चिह्न माना जाने लगा था, जैसे हम अगाड़ी देखेंगे, परन्तु यहां पर इससे यह स्पष्ट है कि इस समय जो नग्न श्रमण जैसे पूर्णकाश्यप, मक्खलि गौशाल आदि मिलते थे वह नग्नभेष इसी जनमान्यता के अनुसार ग्रहण किए हुए थे। वौद्ध ग्रन्थ में पूरण के विजय में यही कहा गया है कि पूरण ने वस्त्र ग्रहण करने से इसीलिए इन्कार कर दिया था कि नग्न दशा में उसकी मान्यता विशेष होगी। अस्तु: पूर्णकाश्यप एवं अन्य चारों मत प्रवर्तक भगवान महावीर और म० वुद्ध से आयु में वड़े थे। और यह अपने को तीर्थकर कहते थे, उसका कारण शायद यह था कि भगवान पार्श्वनाथ के उपरान्त एक तीर्थकर का जन्म लेना और अवशेष था इसलिए यह लोग अपने को ही तीर्थकर प्रकट करने लगे थे। इन नामधारी तीर्थकरों में केवल निर्ग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) को छोड़कर शेप सव का तीव्र खण्डन वौद्ध ग्रन्थों में किया है। वहां पूर्णकाश्यप की मान्यताओं का उल्लेख हमें यह मिलता है कि मनुष्य जो कार्य स्वयं करता है अथवा दूसरे से करवाता है, वह उसकी आतमा नहीं करती और न करवाती है। (एवम् अकार्य् अप्पा)। इस अपेक्षा जैन और वौद्ध दोनों ने इसके मत की गणना अक्रियावाद में की है। यद्यपि दिगम्वर शास्त्र "दर्शनसार" में मस्करि गोशालि पुत्र (मक्खलिगोशाल) और पूर्णकाश्यप को एक व्यक्ति मानकर इनके मत की गणना अज्ञानवाद में की है। इस मतभेद का कारण अन्यत्र देखना चाहिये। पूर्णकाश्यप की इस प्रकार आतमा के निष्क्रयपने को मान्यता का आधार व्राह्मण ऋषि भारद्वाज और नचिकेतों के सिद्धान्त में ख्याल किया जाता है, यद्यपि श्वे० टीकाकर शीलांक काश्यप के सिद्धान्तों की सादृश्यता सांख्यमत से वतलाता है (देखो० प्री० वुद्धिस्टक इंडियन फिलासफी पृष्ठ २७९) परन्तु यदि हम भगवान पार्श्वनाथ के उपदेश पर दृष्टि डालें तो हम जान जाते हैं कि काश्यप ने भगवान पार्श्वनाथ को निश्चयनय का महत्व भुलाकर केवल एक पक्ष केवल अपने मत की पुष्टि की थी। निश्चय नय की अपेक्षा मूलमें आतमा सव सांसारिक क्रियाओं से विलग है, यही भगवान पार्श्वनाथ का उपदेश था। अतएव काश्यप पर उन्हीं के उपदेश का प्रभाव पड़ता है।

इसके वाद दूसरे मतप्रवर्तक मक्खलिगोशाल थे। यह भी नग्न रहते थे यह पहले भगवान पार्श्वनाथ की शिष्यपरम्परा के एक मुनि थे, परन्तु जिस समय भगवान महावीर के समवशरण में इनकी नियुक्ति गणधरपद पर नहीं हुई तो यह रुष्ट होकर श्रावस्ती में आकर आजीवकों के सम्प्रदायके नेता वन गये और अपने को तीर्थकर वतलाकर यह उपदेश देने लगे कि ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, अज्ञान से ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। इसलिये स्वेच्छापूर्वक शून्य का ध्यान करना चाहिये। भावसंग्रह नामक प्राचीन दि० जैन ग्रन्थ में इसके विषय में यही कहा गया है, परन्तु यहां पर किसी कारणवश मस्करि और पुराण का उल्लेख एक साथ किया है, यथा:

"मसयरि—पूरणारिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीर समवशरणे अगहियभुणिणा नियत्तेण ॥ १७६ ॥
वहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसांगधारिस्स।
णिग्गइ भुणी ण, अरुहो णिग्गय विस्सास सीसस्स ॥ १७७ ॥
ण मुणइ जिणकहिय सुयं संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयव्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥ १७८ ॥
अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु।
देवो अणत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए ॥ १७९ ॥

इसके अतिरिक्त "दर्शनसार" और गोम्मटसार जीवकाण्ड" में भी मक्खलिगोशाल की अज्ञानमत में गणना की है। वौद्धों के समन्त फलसुत्त में भी गोशाल की इस मान्यता का उल्लेख इस प्रकार मिलता है कि "अज्ञानी और ज्ञानवान संसार में भ्रमण करते हुए समान रीति से दुःख का अन्त करते हैं (सन्धावित्वा संसरित्वा दुःखस्सान्तम् करिस्सन्ति)। पातान्जलि ने भी अपने पाणनिसूत्र के भाष्य में गोशाल के सम्वन्ध में कुछ ऐसा ही सिद्धान्त निर्दिष्ट किया है। वहां लिखा है कि वह मस्करि केवल वांस की छड़ी हाथ में लेने के कारण नहीं कहलाता था, प्रत्युत इसलिए कि वह कहता है—"कर्म मत करो, कर्म मत करो, केवल शान्ति ही वांछनीय है (मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि इत्यादि)। इस तरह मक्खलिगोशाल की मान्यता थी, परन्तु अन्त में भगवान महावीर के दिव्य उपदेश के धवल प्रकाश में मक्खलिगोशाल का महत्व जाता रहा और वह एक पागल की भांति मृत्यु को प्राप्त हुआ। श्वेताम्वर शास्त्रों में इसे भगवान महावीर का शिष्य वतलाया है, परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि भगवान

महावीर तो छद्मस्थ अवस्था में उपदेश देते अथवा बोलते नही थे, यह स्वयं श्वेताम्बर शास्त्र प्रकट करते हैं। ऐसी दशा में उस अवस्था में गोशाल का भगवान का शिष्य होना असंगत है।

श्वे० के इस मिथ्या कथा के आधार से लोगों का ख्याल है कि महावीर जी ने गोशाल से बहुत कुछ सीखा था और वह नग्न इसी के देखा देखी हुए थे, परन्तु ऐसी व्याख्यायें निरी निर्मूल हैं, यह हम अन्यत्र बता चुके हैं (वीर वर्ष ३ अंक १२-१३) स्वयं श्वे० ग्रन्थ भगवती सूत्र में कहा गया है कि जब गोशाल महावीर से मिला था तब वह वस्त्र पहने हुए था और जब महावीर जी ने उसे शिष्य बनाया तब उसने वस्त्रादि उतार कर फेंक दिये थे। (देखो उपाशकदशासूत्र का परिशिष्ट), इस दशा में महावीरजी पर गोशाल का प्रभाव पड़ा ख्याल करना कोरा ख्याल ही है।

तीसरे संजयवैरत्थीपुत्र को बौद्धशास्त्रों में मोग्गलान (मौद्गलायन) और सारीपुत्त का गुरु बतलाया गया है। उपरान्त संजय के यह दोनों शिष्य बौद्ध धर्म में दीक्षित होगये थे। मौद्गलायन के विषय में हमें श्री अमितगति आचार्य के निम्न श्लोक से विदित होता है कि वह पहिले जैन मुनि था—

रुष्ट: श्री वीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः।
शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम् ॥ ६ ॥
शुद्धोदनसुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत।"

अर्थात् पार्श्वनाथ की शिष्य परंपरा में मौडिलायन नामका तपस्वी था। उसने महावीर भगवान से रुष्ट होकर बुद्ध दर्शन को चलाया और शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध को परमात्मा कहा। श्लोक के इस कथन पर शायद कतिपय पाठक एतराज करें, क्योंकि बौद्ध दर्शन के संस्थापक तो स्वयं म० बुद्ध थे, परन्तु बौद्ध शास्त्रों में मौडिलायन (मौद्गलायन) और सारीपुत्त विशेष प्रख्यात थे और वे बौद्ध धर्म के उत्कट प्रचारक थे, ऐसा लेख है। इस अपेक्षा यदि मौद्गलायन को ही बौद्ध दर्शन का प्रवर्तक बतलाया गया है, तो कुछ अत्युक्ति नहीं है। स्वयं बौद्ध ग्रन्थों में भी भगवान महावीर के सम्बन्ध में ऐसी ही गलती की गई है। उनमें एक स्थान पर उनका उल्लेख "अग्गिवेसन" (अग्निवैश्यायन) के नाम से किया है, परन्तु हम जानते हैं कि भगवान महावीर का गोत्र काश्यप था और उनके गणधर सुधर्मास्वामी का अग्निवैश्यायन गोत्र था। इस तरह महावीरजी के शिष्य की गोत्र अपेक्षा उनका उल्लेख करके बौद्धाचार्य ने भी जैनाचार्य की भांति गलती की है। अतएव इसमें संशय नहीं कि मौद्गलायन भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा का एक जैन मुनि था। जैन ग्रंथों में इनके गुरु का नाम संजय अथवा संजयवैरत्थीपुत्र बतलाते हैं। जैन शास्त्रों में भी हमें इस नाम के एक जैन मुनि का अस्तित्व उस समय मिलता है। यह चारणऋद्धिधारी मुनि थे और उनको कतिपय शंकायें थीं जो भगवान महावीर के दर्शन करते ही दूर हो गई थीं। श्वेताम्बरों के उत्तराध्ययन सूत्र में भी एक संजय नामक जैन मुनि का उल्लेख है। ऐसी अवस्था में जैन मुनि मौद्गलायन के गुरु संजय का जैन मुनि होना बिल्कुल संभव है और यह संभवतः चारणऋद्धिधारी मुनि संजय ही थे। इसकी पुष्टि दो तरह से होती है। पहिले तो संजय की शिक्षायें जो बौद्ध शास्त्रों में अंकित है वह जैनियों के स्याद्वाद सिद्धान्त की विकृत रूपान्तर ही हैं। इससे इस बात का समर्थन होता है कि स्याद्वाद सिद्धान्त भगवान महावीर से पहिले का है, जैसे कि जैनियों की मान्यता है, और उसको सजय ने पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के किसी मुनि से सीखा था, परन्तु वह उसको ठीक तौर से न समझ सका और विकृत रूप में ही उसकी घोषणा करता रहा। जैनशास्त्र भी अव्यक्त रूप में इसी बात का उल्लेख करते हैं। अर्थात् वह कहते हैं कि संजय को शंकायें थीं जो भगवान महावीर के दर्शन करने से दूर हो गई। यदि वह बात इस तरह नहीं थी तो फिर भगवान महावीर और म० बुद्ध के समय में इतने प्रख्यात मतप्रवर्तक का क्या हुआ, यह क्यों नहीं विदित होता? इसलिये हम जैन मान्यता को विश्वसनीय पाते हैं और देखते हैं कि संजय वैरत्थी पुत्र जो मोग्गलान (मौद्गलायन) के गुरु थे वह जैन मुनि संजय ही थे। दूसरी ओर इस व्याख्या की पुष्टि इस तरह भी होती है कि इन संजय की शिक्षा की सादृश्यता यूनानी तत्ववेत्ता पैर्रहो की शिक्षाओं से बतलाई गई है। एक तरह से दोनों में समानता है और इस पैर्रहो ने जैम्नोसूफिट्स सूफियों से, जो ईसा से पूर्व की चौथी शताब्दि में यूनानी लोगों को भारत के उत्तर पश्चिमीय भाग में मिलते थे, यह शिक्षा ग्रहण की थी। यह जैम्नोसूफिट्स तत्ववेत्ता निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं के अतिरिक्त और कोई नहीं थे। यूनानियों ने इन जैन साधुओं का नाम "जैम्नसूफिट्स" रक्खा था, अतएव जैन साधुओं से शिक्षा पाये हुए यूनानी तत्ववेत्ता पैर्रहो की शिक्षाओं से उक्त संजय की शिक्षाओं का सामंजस्य बैठ जाना, हमारी उक्त व्याख्या की पुष्टि में एक और स्पष्ट प्रमाण है। इस तरह यह तीसरे प्रख्यात् मतप्रवर्तक जैन मुनि थे इसमें संशय नहीं है, अतएव इनकी गणना अज्ञानमत में नहीं

हो सकती और न यह कहा जा सकता है कि इनकी शिक्षाओं का संस्कृत रूप भगवान महावीर का स्याद्वाद सिद्धान्त है, जैसे कि कतिपय विद्वान् ख्याल करते हैं।

चौथे मत प्रवर्तक अजित केशकम्बलि थे। यह वैदिक क्रियाकाण्ड के कट्टर विरोधी थे और पुनर्जन्म सिद्धान्त को अस्वीकार करते थे। इनका मत था कि लोक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का समुदाय है और आत्मा पुद्गल के कोमयाई ढंग का परिणाम है। इन चारों चीजों के विघटते ही वह भी विघट जाता है। इसलिए वह कहता था कि जीव और शरीर एक हैं (तम् जीवो तम् सरीरम्) और प्राणियों की हिंसा करना दुष्कर्म नहीं है। इसकी इस शिक्षा में भी जैन सिद्धान्त के व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा और पुद्गल संमिश्रण का विकृत रूप नजर आता है। भगवान पार्श्वनाथ ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था ही, उस ही के आधार पर अजित ने अपने इस सिद्धान्त का निरूपण किया, जिसके अनुसार हिंसा करना भी बुरा नहीं था। विद्वान लोग अजित को ही भारत में केवल पुद्गलवाद का आदि प्रचारक ख्याल करते हैं। चार्वाक मत की सृष्टि अजित के सिद्धान्तों के बल पर हुई हो तो आश्चर्य नहीं।

पांचवे मतप्रवर्तक पकुडकात्यायन थे। प्रश्नोपनिषद में इनको ब्राह्मण ऋषि पिप्पलाद का समकालीन बतलाया गया है और यह ब्राह्मण थे। इनकी मान्यता थी कि 'असत्ता में से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और जो है उसका नाश नहीं होता (सतो नच्चि विनसो, असतो नच्चि सम्भवो। सूत्रकृतांग २—१२२) इस अनुरूप में इन में सात सनातन तत्व बतलाये, यथाः (१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) सुख (६) दुःख और (७) आत्मा, इन्हीं सात के सम्मिलन और विच्छेद से जीवन व्यवहार है। सम्मिलन सुखतत्व से होता है और विच्छेद दुखतत्व से। इस कारण इनका परस्पर एक दूसरे पर कुछ प्रभाव है नहीं, जिससे किसी व्यक्ति को खास नुकसान पहुँचना भी मुश्किल है। पकुड की प्रथम मान्यता सांख्य, वैशेषिक, वेदांत, उपनिषध, जैन और बौद्धों के अनुरूप है। यद्यपि अंतिम कुछ अटपटे ही ढंग का विवेचन है। यह शीत जल में जीव होना भी मानते थे।

इन मत प्रवर्तको में हम इस बात का खास उद्देश्य देखते हैं कि वह पुण्य पाप को मेटकर हिंसावादी की पुष्टि करते हैं। म० बुद्ध ने भी मृत पशुओं के मांस खाने का निषेध नहीं किया, जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे। अस्तु, इससे जैन धर्म का इनसे पहले अस्तित्व प्रमाणित होता है, अर्थात् भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के ऋषिगण भी इस समय मौजूद थे और उन्होंने जो अहिंसामई स्याद्वाद का संयुक्त धर्म प्रतिपादन किया था उससे लोग भड़क गये थे, परन्तु वे सहसा अपनी मांसलिप्सा का मोह नहीं त्याग सके थे। इसी कारण उन्होंने भगवान पार्श्वनाथ के उपदेश को विकृत रूप देखकर अपनी जिह्वालम्पटता के उद्देश्य की सिद्धि की थी। यहां तक कि ऐसे तापस भी मौजूद थे जो वर्ष भर के लिए एक हाथी को मारकर रख छोड़ते थे और उसी द्वारा उदरपूर्ति करते हुए साधु होने की हामी भरते थे।

सारांशतः यह प्रकट है कि उस समय धार्मिक प्रवृत्ति भी बड़ी ही नाजुक अवस्था में हो रही थी। भगवान महावीर और म० बुद्ध के समय में उपरोक्त मत प्रवर्तकों द्वारा इसका सुधार नहीं हो पाया था। परिणामतः इस सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति के अवसर पर म० बुद्ध ने परिस्थिति को बहुत कुछ सुधारा और फिर भगवान महावीर के दिव्योपदेश से जनता यथार्थता को पा गई और अपनी सुख समृद्धशाली दशा में सामाजिक उदारता और आत्मिक स्वाधीनता के सुख-स्वप्न में लीन हो गई। अतएव निम्न के पृष्ठों में हम तुलनात्मक रीति से म० बुद्ध और भगवान महावीर के जीवनों और उनके सिद्धान्तों पर एक दृष्टि डालेंगे।

(२)

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध का प्रारम्भिक जीवन

ईसा से पूर्व की छठी शताब्दि के भारत में जो क्रान्ति उपस्थित थी उसके शमन करने के लिये ही मानो भगवान महावीर और म० बुद्ध का शुभागमन हुआ था। वह दोनों ही महानुभाव इक्ष्वाकु वंशीय क्षत्रियों के गृह में अवतीर्ण हुए थे। यद्यपि दोनों ही युग प्रधान पुरुष हम आप जैसे मनुष्य थे, परन्तु अपने पूर्व भवों में विशेष पुण्य उपार्जन करने के कारण उनके जीवन साधारण मनुष्यों से कुछ अधिकता लिए हुए थे। यही बात बौद्ध और जैन ग्रन्थ प्रकट करते हैं। बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि जिस समय म० बुद्ध का जन्म हुआ उस समय कतिपय अलौकिक घटनायें घटित हुई थीं और जब वे अपनी माता के गर्भ में आये थे तब उनकी माता ने शुभ स्वप्न देखे थे। भगवान महावीर के विषय में भी कहा गया है कि जब वे अपनी माता के गर्भ में आये थे तब उनकी माता ने सोलह शुभ स्वप्न देखे थे जिनके सांकेतिक अर्थ से एवं उस समय स्वर्गलोक के देवगणों द्वारा उत्सव मनाने से यह ज्ञात हो गया था कि अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म शीघ्र ही होगा। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के रात जब उनका जन्म हुआ तो दिशायें निर्मल हो गई थीं, समुद्र स्तब्ध हो गया था, पृथ्वी किंचित् हिल गई थी और सब जीवों को क्षण भर के लिए परम शान्ति का अनुभव मिल गया था। इस समय भी एवं अन्य दीक्षा धारण केवल ज्ञान प्राप्ति और मोक्ष लाभ के अवसरों पर भी देवगणों ने आकर उत्सव मनाये थे।

म० बुद्ध का पूर्ण नाम गौतम बुद्ध था और वह सिद्धार्थ के नाम से भी ज्ञात थे, किन्तु उनकी प्रख्याति आजकल केवल म० बुद्ध के नाम से हो रही है, यद्यपि वस्तुतः यह उनका एक विशेषण ही है, जैसे भगवान महावीर को तीर्थंकर बतलाना। बौद्ध धर्म में बुद्ध शब्द का प्रयोग इसी तरह हुआ है जिस तरह तीर्थंकर शब्द का व्यवहार जैन धर्म में होता है। तथापि जिस तरह जैन शास्त्रों में भगवान महावीर के पूर्व भवों का दिग्दर्शन कराया गया है। उसी तरह म० गौतम बुद्ध के भी पूर्व भव की कथायें बौद्ध साहित्य में "जातक कथाओं के नाम से विख्यात हैं। म० बुद्ध ने भी तिर्यच, मनुष्य, देव आदि कितनी ही योनियों में जीवन व्यतीत करके अन्ततः देव योनि से चलकर राजा शुद्धोदन के यहां जन्म धारण किया था। कहा जाता है कि इस घटना से बीस "असंख्य-कप-लक्ष" अर्थात् बुद्ध होने के "मनोपरिनिदान" से अपने जन्म तक बुद्ध ने तीस "परिमिताओं" का पूर्ण पालन किया था, तब ही वह बुद्ध हुए थे। यह "पारिमितायें" मूल में दस हैं, परन्तु साधारण उप और परमार्थ के भेद से वे ही तीस प्रकार की हैं। बुद्ध पद को प्राप्त होने के लिए उनका पालन कर लेना आवश्यक है। वे यह हैं (१) दानपारिमिता—बौद्धों के तीन प्रकार का दान देना, (२) शीलपारिमिता—बौद्ध व्रतों का पालन करना, (३) नैसकर्मपारिमिता—संसार से विरक्त होकर त्यागावस्था का अभ्यास करना, (४) प्रज्ञापारिमिता—बुद्ध से प्राप्त गुणों को प्रकट करना, (५) वीर्यपारिमिता—दृढ़ वीरत्व को प्रगट करने वाला साहस, (६) शान्ति पारिमिता—उत्कृष्ट प्रकार की सहनशीलता, (७) सत्तपारिमिता—सत्य भाषण (८) अदिष्टान पारिमिता—दृढ़ प्रतिज्ञा की पूर्णता, (९) मैत्री पारिमिता—प्रेम और दया का व्यवहार करना, (१०) और उपेक्षा पारिमिता—शत्रु मित्र पर समान भाव रखना। म० बुद्ध ने अपने पूर्व भवों में इनके अभ्यास में कमाल हासिल कर लिया था, यह बात बौद्ध शास्त्रों में कही गई है। यह भी कहा गया है कि बुद्ध देवलोक में अधिक नहीं ठहरते थे—वह अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए मनुष्य भव को ही बारबार प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे क्योंकि देवलोक में रहकर वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकते थे। जैन धर्म में भी परमार्थ साधन और सर्वज्ञ पद पाने के लिए मनुष्य भव लाजमी बतलाया गया है। परन्तु वहाँ तीर्थंकर पद पाने के लिए निदान बाँधना आवश्यक नहीं है, जैसा कि गौतम बुद्ध ने बुद्ध पद पाने के लिए अपने एक पूर्व भव में किया था निदान बांधना जैन धर्म में एक निःकृष्ट क्रिया है, जबकि बौद्ध धर्म में वह ऐसी नहीं मानी गई है। पारिमिताओं के साथ २ बुद्ध पद को पाने के लिए निम्न आठ गुण भी उस व्यक्ति में होना आवश्यक हैं—(१) वह मनुष्य होना चाहिये न कि देव। इसी लिए बौधिसत् (बुद्ध पद पाने का इच्छुक दस शील—व्रतों को पालन करते हैं कि उसके फलस्वरूप वह मनुष्य का जन्म धारण करें, (२) वह पुरुष होना चाहिए, न कि स्त्री (३) उनका पुण्य इतना प्रबल होना चाहिए, जिससे वे अर्हत् हो सकें, (४) यह अवसर भी उसको मिल चुका हो जिसमें उसने एक परमोत्कृष्ट बुद्ध की उपासना की हो और उनमें पूर्ण श्रद्धा रक्खी हो (५) विरक्त—गृह त्याग अवस्था में रहना आवश्यक है, (६) ध्यान आदि क्रियाओं के साधन से प्राप्त

फल का वह अधिकारी होना चाहिए, (७) उसे विश्वास होना चाहिए कि जिस बुद्ध से वह बातचीत करता है वह शोक से परे है और वह स्वयं उस दशा को प्राप्त होगा, (८) और उसे बुद्ध पद प्राप्ति के निमित्त दृढ़ निश्चय करना चाहिए। इन आठ गुणों को भी गौतमबुद्ध ने प्राप्त किया था। इसी कारण वह बुद्ध पद के अधिकारी हुए थे। अपने वेस्सन्तरभव से वह देव लोक के तुसित विमान में सन्तुतुसित नामक देव हुए थे। वहां वह बड़ी विभूति सहित ५७ कोटि ६० लाख वर्ष तक रहे थे, यह बौद्ध शास्त्र प्रगट करते हैं। इस अन्तराल के अन्त में जब देवों ने जाना कि एक बुद्ध का जन्म होगा और वे सन्तुतुसित हैं तो वे सब इनके पास जाकर बुद्ध पद को धारण करने के लिये कहने लगे। इस पर बुद्ध ने वहां "पंच महाविलोकन" किए अर्थात् इन पांच बातों को जाना कि (१) उस समय मनुष्य की आयु १०० वर्ष की थी, जो बुद्ध पद के लिए उपयुक्तकाल था, (२) बुद्ध जम्बूद्वीप में जन्म लेते हैं, (३) मध्य मण्डल अथवा मगध का प्रदेश उत्तम क्षेत्र है, (४) उस समय क्षत्रिय वर्ण प्रधान था, इसलिए उसमें जन्म लेना उचित है, (५) और राजा शुद्धोदन को रानी महामाया के मृत्यु दिवस से ३०७ दिन पहले उनके गर्भ में उनको पहुंच जाना चाहिए। इस तरह इन पाँच बातों को जानकर उसने नियत समय में राजा शुद्धोदन की रानी महामाया के गर्भ में पदार्पण किया और फिर उनका जन्म हुआ, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

भगवान महावीर ने तीर्थकर पद प्राप्त करने के लिये वैसा कोई निदान नहीं बांधा था जैसा कि म० बुद्ध को करना पड़ा था। हां, यह अवश्य है कि जैन धर्म में भी खास भावनायें और विशेष गुण तीर्थकर पद प्राप्त करने के लिए आवश्यक बतलाये गये हैं। इन खास भावनाओं और गुणों के आराधन से उस पुरुष के "तीर्थकर नाम कर्म" नामक कर्म का बंध होता है, जिससे वह स्वभावतः उस परम पद को प्राप्त करता है। श्री तत्वार्थसूत्र जी में इस सम्बन्ध में यही कहा गया है, यथा—

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभी—
क्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिर्विर्वयावृत्यक—
रणमर्हदाचार्यवहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गे प्रभाव—
नाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४-६॥

अर्थात्—तीर्थकर कर्म का आश्रव निम्न १६ भावनाओं द्वारा होता है—

(१) दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शन की विशुद्धता,—(२) विनय सम्पन्नता—मुक्ति प्राप्ति के साधनों अर्थात् रत्नत्रय मार्ग के प्रति विनय और उनके प्रति भी जो उनका अभ्यास कर रहे हैं, (३) शीलव्रतेष्वनतिचार—अतीचार रहित पांच व्रतों का पालन और कषायों का पूर्ण दमन, (४) अभीक्ष्ण—ज्ञानोपयोग—सम्यग्ज्ञान की संलग्नता में—स्वाध्याय में अविरत प्रयास, (५) संवेग—संसार से विरक्तता और धर्म से प्रेम, (६) शक्तितस्त्याग—अपनी शक्ति अनुसार त्याग भाव का अभ्यास, (७) शक्ति तस्तप:—अपनी शक्ति परिमाण तप का पालन करना, (८) साधु समाधि—साधुओं की सेवा सुश्रुषा और रक्षा करना, (९) वैयावृत्यकरण—सर्व प्राणियों की खासकर धर्मात्मा पुरुषों की वैयावृत्य करना, (१०) अर्हद्भक्ति अर्हन्त भगवान की भक्ति करना, (११) आचार्यभक्ति—आचार्य परमेष्ठी की उपासना करना, (१२) बहुश्रुतभक्ति—उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना, (१३) प्रवचनभक्ति—शास्त्रों की विनय करना, (१४) आवश्यकता परिहाणि अपने षडावश्यकों के पालन में शिथिल न होना, (१५) मार्गप्रभावना—मोक्ष मार्ग अर्थात् जैन धर्म का प्रकाश करना और (१६) प्रवचनवत्सलत्व—मोक्ष मार्गरत साधर्मी भाइयों के प्रति वात्सल्यभाव रखना, इनका पूर्ण ध्यान ही तीर्थकर पद प्राप्त करने में मूल कारण है। तथापि उनका पुरुष होना, क्षत्रिय कुल में जन्म करना, जन्म से ही तीन ज्ञान और मलमूत्रादि रहित शरीर धारण किए हुए होना माना पिता अथवा किसी अन्य व्यक्ति को नमस्कार न करना, आदि विशेषण भी होते हैं। भगवान महावीर ने अपने पूर्व भवों में उक्त भावनाओं का पालन समुचित रीति से किया था, जिसके फलस्वरूप वे राजा सिद्धार्थ के गृह में तीर्थकर पद पर आरूढ़ होने के लिए जन्मे थे। अपने सिंह के भव से वे देव लोक के पुष्पोत्तर विमान में अपूर्व सम्पत्ति के धारक देव हुए थे। वहां के भोग भोग-कर वे राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला की कोख में आए थे और फिर उनका सुखकारी जन्म हुआ था। तीनों लोक इस कल्याणकारी जन्मावतार से मुदित हो गये।

म० बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन था और वह उस समय शाक्य गणराज के प्रमुख राजा थे। इनकी राजधानी कपिलवस्तु थी। म० बुद्ध का जन्म यहीं वैशाख शुक्ला २ को हुआ था, किन्तु अभाग्यवश इनके जन्मते ही इनकी माता के प्राणपखेरू इस नश्वर शरीर को छोड़कर चल बसे थे। इनका लालन-पालन इनकी विमाता ने किया था। इनके जन्म होने पर एक अजित नामक ऋषि ने आकर राजा शुद्धोदन को बतलाया था कि उनका पुत्र गौतम राज्य सामग्री का उपभोग नहीं

करेगा, प्रत्युत वह युवावस्था में ही गृह त्याग के एक नवीन धर्म का नींवारोपण करेगा। पितृगण इस समाचार को सुनकर जरा खेदितचित्त हुए थे, परन्तु वे खूब लाड़चाव से पुत्र का पालन पोषण करने लगे। अपने पुत्र के निकट कोई भी ऐसा कारण उपस्थित नहीं होने देते थे जिससे उसके कोमल चित्त पर संसार की नश्वरता का चित्र खिच जावे। म० बुद्ध भी दिनों दिन हाथोंहाथ बढ़ने लगे।

दूसरी ओर भगवान महावीर के पिता का नाम नृप सिद्धार्थ था और भगवान की माता त्रिसला प्रियकारिणी वैशाली के वज्जियन राजसंघ के प्रमुख राजा चेटक की पुत्री थीं। नृप सिद्धार्थ के विषय में यह कहा जाता है कि वे नाथ (ज्ञात्रि) वंशीय क्षत्रियों की ओर से वज्जियन राजसंघ में सम्मिलित थे। इन ज्ञात्रवंशी क्षत्रियों की मुख्य राजधानी कुण्डनगर थी, जो वैशाली के निकट अवस्थित थी। नृप सिद्धार्थ स्वयं नाथवंशीय (ज्ञात्रिवंशीय) काश्यपगोत्री क्षत्री थे। भगवान महावीर अपने इस क्षत्रियवंश-ज्ञात्रि अथवा नातवंश के कारण ही बौद्ध ग्रन्थों में निगन्थ नातपुत्त के नाम से उल्लिखित हुए हैं। भगवान का सुखकारी जन्म इन्हीं प्रख्यात् दम्पति के यहां कुण्डनगर में हुआ था। इनके जन्म से पितृगण को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ था और उनके राज्य में विशेष रीति से हर बात में वृद्धि होते नजर आई थी, इसलिए उन्होंने भगवान का नाम वर्द्धमान रक्खा था। उपरान्त जब सौधर्मेन्द्र ने भगवान के जन्मोत्सव पर उनकी संस्तुति की तो उनका नाम महावीर रक्खा। इसी समय भगवान के जन्म सम्बन्धी शुभ समाचार सुनकर संजय नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, एक अन्य विजय नामक मुनि के साथ भगवान के दर्शन करने आये थे, और उनके दिव्य रूप के दर्शन से उनकी शंकाओं का समाधान हो गया था इसलिए उन्होंने भगवान का नाम "सन्मति" रक्खा था। भगवान का इस प्रकार जन्म हो गया और वह देव देवियो की संरक्षता में दिनोंदिन वृद्धि को प्राप्त होने लगे।

म० बुद्ध के पिता राजा शुद्धोदन किस धर्म के उपासक थे, यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं है। किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में इन्हें पूर्व के बुद्धों का उपासक बतलाया है। यह पूर्व बुद्ध कौन थे, यह अभी तक पूर्णतः प्रमाणित नहीं हुआ है, क्योंकि म० बुद्ध के पहिले बौद्ध धर्म का अस्तित्व किसी तरह भी सिद्ध नहीं होता। बौद्ध शास्त्रों में इन बुद्धों की संख्या २४ बताई है। जैनधर्म में भी "बुद्ध" विशेषण तीर्थंकर भगवान के लिए व्यवहृत हुआ मिलता है, ऐसी दशा में संभव है कि २४ बुद्ध जैन धर्म में स्वीकृत जैन तीर्थंकर हों और राजा शुद्धोधन उन्हीं के उपासक हों। डा० स्टीवेन्सन साहब इस ही मत को पुष्टि अपने कल्पसूत्र और नवतत्व" की भूमिका में करते हैं। इसके साथ ही राजा शुद्धोदन के गृह में जैन धर्म की मान्यता थी इसकी पुष्टि बौद्ध ग्रन्थ "ललितविस्तर के इस कथन से भी होती है कि "बाल्यावस्था में बुद्ध श्रीवत्स, स्वस्तिका, नन्द्यावर्त और वर्द्धमान यह चिन्ह अपने शीश पर धारण करता था। इनमें पहिले तीन चिन्ह तो क्रमशः शीतलनाथ, सुपार्श्वनाथ और अर्हनाथ नामक जैन तीर्थंकरों के चिन्ह हैं और अन्तिम वर्द्धमान स्वयं भगवान महावीर का नाम है। अतएव यह कहा जा सकता है कि राजा शुद्धोदन भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ के जैन श्रमणों के भक्त थे। इन्हीं जैन श्रमणों की उपासना भगवान महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ किया करते थे। इस प्रकार दोनों समकालीन युग प्रधान पुरुषों के पितृकुल का विवरण है।

इस तरह स्वाधीन गणराज्यों में प्रधान प्रमुख राजाओं के समृद्धशाली क्षत्रिय कुलों में जन्म लेकर दोनों ही युगप्रधान पुरुष दिनोंदिन चन्द्रमा की भाँति बढ़ रहे थे। शीघ्र ही ये कौमार अवस्था को प्राप्त हुए और कौमारकाल की निश्चिन्त रंगरेलियों में व्यस्त हो गये, किन्तु आजकल के युवकों की भांति विलासिता की आधीनता इनके निकट छू भी नहीं गई थी। यह हो भी कैसे सकता था? वे स्वाधीन वातावरण में जन्म लिए युगप्रधान पुरुष थे, और आजकल के युवक परतंत्रता के अधीन अल्प भाग्यवान् व्यक्ति हैं। इसलिए इनके शरीर और मन सर्वथा गुलामी की बू से भरे हुए हैं। वस्तुतः इन विलासिता के गुलाम युवकों के लिए इन दोनों युगप्रधान पुरुषों के बालपन के चरित्र अनुकरणीय आदर्श हैं।

कौमारावस्था में म० बुद्ध अपने कुल के अन्य राजपुत्रों के साथ आनन्द से क्रीड़ायें किया करते थे। स्वाधीन अहिंसा-प्रिय कुल में जन्म लेकर उनका हृदय पितृसंस्कृति के अनुरूप अति कोमल और दयार्द्र था। एक दिवस वह अपने चचेरे भाई देवदत्त के साथ धनुर्कौशल का अभ्यास कौतूहलवश कर रहे थे। यकायक देवदत्त ने एक बाण उड़ते हुए पक्षी के मार दिया। वह बेचारा निरपराध पक्षी धड़ाम से इन दोनों के अगाड़ी आ गिरा! बुद्ध के लिए वह करुणाजनक दृश्य अश्रुत और असह्य था। वह झट से उस घायल पक्षी की ओर लपके और देवदत्त के इस दुष्कृत्य पर घृणा प्रकट करते हुए उस घायल पक्षी के शरीर से बाण खींच लिया और उसकी उचित सुश्रूषा की। दया का क्या अच्छा नमूना है। आज के नवयुवकों को भी निरपराध पशुओं के प्राण लेने का शौक चर्राया हुआ है उन्हें म० बुद्ध के इस चरित्र से शिक्षा लेना आवश्यक है।

भगवान महावीर के विषय में भी हमें ज्ञात है कि वे अपनी कौमारावस्था में राजकुमारों, मन्त्री पुत्रों और देवसहचरों के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करते थे। स्वाधीन क्षत्रिय कुल में परमोच्च पदवी को प्राप्त करने के लिए जन्म लेकर उन्होंने अपने बाल्य जीवन से ही अहिंसा त्याग और शौर्यत्व का आदर्श लोगों के समक्ष रक्खा था। आठ वर्ष की नन्हीं सी अवस्था में ही उन्होंने जानबूझकर किसी के प्राणों को पीड़ा न पहुंचाने का संकल्प कर लिया था। दृढ़ निश्चय कर लिया था कि किसी दशा में भी जान बूझकर प्राणि हिंसा नहीं करूंगा और सदैव सत्य का ही अभ्यास करूंगा। पराई वस्तु ग्रहण करके वे किसी को मानसिक दुःख नहीं पहुँचाते थे। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, वे विलासिता रूप में आवश्यक सामग्री को रखते थे। शौक के लिए आवश्यक वस्तुओं के ढेर एकत्रित नहीं करते थे। ऐसा संयममय जीवन व्यतीत करते हुए, वे वीर-भेष में कुमारकालीन क्रीड़ायें करते विचरते थे। एक दिवस राज्योद्यान में वे अपने अन्य सहचरों सहित क्रीड़ा कर रहे थे कि एक ओर से विकराल सर्प उन पर आ धमका। बिचारे अन्य सखा भयभीत होकर इधर-उधर भाग निकले, परन्तु भगवान महावीर जरा भी भयभीत नहीं हुए। उन्होंने बात की बात में उस विषधर को वश में कर लिया और उस पर दया करके उसे वैसा ही छोड़ दिया। वास्तव में यह स्वर्गलोक का एक देव था, जो भगवान के दयालु चित्त और अपूर्व बलशाली शरीर की प्रसिद्धि सुनकर इनकी परीक्षा लेने आया था। इस तरह भगवान की परीक्षा करके वह विशेष हर्षित हुआ और भगवान की वंदना करके अपने स्थान को चला गया। भगवान का यह बाल्यावस्था का चरित्र हमारे लिए एक अत्युत्तम अनुकरणीय आदर्श है।

कुमार काल में दोनों ही युग प्रधान पुरुषों ने किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण की यह ज्ञात नहीं है। भगवान महावीर के विषय में जैन शास्त्रों में कहा गया है कि वह जन्म से ही मति, श्रुति और अवधि ज्ञान से संयुक्त थे। इस अपेक्षा उनका ज्ञान बाल्यावस्था से ही विशिष्ट था। इसमें संशय नहीं कि उस समय जो शिक्षायें और कलायें प्रचलित थीं, उनमें ये दोनों युग प्रधान पुरुष पारंगत थे। साथ ही इन दोनों का शारीरिक बल और सौन्दर्य भी अपनी सानी का निराला था। म० बुद्ध के विषय में कहा गया है वे जन्म से ही महापुरुष के बत्तीस लक्षणों से संयुक्त सुन्दर शरीर के धारी थे। भगवान महावीर के विषय में भी हमें विदित है कि वे एक हजार आठ लक्षणों कर चिह्नित थे और उनके शरीर की आकृति और शोभा अपूर्व थी। उन्होंने अपने पूर्व जन्मों में इतना विशेषपुन्य उपार्जन किया था कि उनका शरीर बिलकुल विशुद्ध, मलमूत्र आदि की बाधाओं से रहित था। प्रत्युत उनके शरीर से हर समय एक अच्छी सुगन्ध निकलती रहती थी। उनके शरीर का रुधिर दुग्धवत था। उनका पराक्रम अतुल था और शरीर में क्षति पहुँचाना असंभव था। म० बुद्ध और म० महावीर सदैव मिष्ट भाषण करते थे, यह भी दोनों सम्प्रदायों के शास्त्रों से ज्ञात है।

इस प्रकार जब ये सुन्दर शुभग शरीर के धारी राजकुमार युवावस्था को प्राप्त हुये तो उनके माता-पिता को उनके पाणिग्रहण कराने की सुध आई। राजा शुद्धोदन अपने पुत्र का विवाह करा देने में बड़े व्यग्र थे, क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं वैराग्य उनके पुत्र के कोमल हृदय पर अपना प्रभाव न जमा ले। तदनुसार म० बुद्ध का शुभ विवाह यशोदा नाम की एक राज-कन्या से हो गया और वह दाम्पत्य सुख का उपभोग करने लगे। इन्हीं यशोदा के गर्भ और म० बुद्ध के औरस से राहुल नाम के पुत्र का जन्म हुआ था भगवान महावीर के माता-पिता को भी उनकी युवावस्था निहार कर विवाह करा देने की योजना करनी पड़ी थी। देशदेशांतरों के राजागण अपनी कन्याओं को भगवान के साथ परणवाना चाहते थे। इनमें प्रख्यात राजा जितशत्रु अपनी कन्या यशोदा को विशेष रीति और आग्रह से भगवान को समर्पण करना चाहते थे, परन्तु विशिष्ट ज्ञानी, त्याग का प्रत्यक्ष मूर्ति भगवान महावीर को यह रमणीरत्न भी न मोह सका? उन्होंने संसार के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व का त्याग करना ही परमावश्यक समझा। माता-पिता ने बहुत समझाया परन्तु वैराग्य का गाढ़ा रंग जिसके हृदय पर चढ़ गया हो, फिर वह उतारे नहीं उतरता। भगवान महावीर ने विवाह करना अस्वीकार किया। उन्होंने उस समय के राजोन्मत्त युवा राजकुमारों और आजीविकों तथा ब्राह्मण ऋषियों जैसे साधुओं को मानो पूर्ण ब्रह्मचर्य का महत्व हृदयंगम कराया। जहां ऋषिगण भी इन्द्रिय निग्रह और संयम से विमुख हों वहां ऐसे आदर्श की परमावश्यकता थी। भगवान महावीर के दिव्य चरित्र में जनता को इस आदर्श के दर्शन हो गये। आज के असमंजसमय वीभत्स वातावरण में प्रत्येक देश के समक्ष ऐसा आदर्श उपस्थित करना परम आवश्यक है। जिस पवित्र भारतवर्ष में भगवान महावीर के दिव्य अखण्ड ब्रह्मचर्य का अनुपम आदर्श उपस्थित रहा था, वहीं आज ब्रह्मचर्य का प्रायः सर्वथा अभाव देखकर हृदय थर्रा जाता है। भारतवर्ष के लिए भगवान महावीर का आदर्श परम शिक्षापूर्ण और हितकर है।

इस प्रकार दोनों युग प्रधान पुरुष अपने गृहस्थ जीवन में सानन्दकाल यापन कर रहे थे भगवान महावीर ने अपने गृहस्थ जीवन से ही संयम और त्याग का अभ्यास करना प्रारम्भ कर दिया था और म० बुद्ध नियमित ढंग से दाम्पत्य सुख का उपभोग कर रहे थे।

गृह-त्याग और साधु जीवन

मनुष्य अपनी जान में अपने को बड़ा कुशल और चतुर समझता है। वास्तव में जीवित संसार में उससे बढ़कर और कोई बुद्धिमान प्राणी है भी नहीं, किन्तु उसकी बुद्धिमत्ता, कुशलता, और चतुरता के भी खट्टे दांत कर देने वाली एक शक्ति भी इस संसार में विद्यमान है। यह शक्ति यद्यपि जीति जागती शक्ति नहीं है, परन्तु इसका प्रभाव स्वयं मनुष्य की जीती जागती क्रिया पर ही जमा हुआ है। मनुष्य अपनी आंखों से देखता रहता है और यह शक्ति अपना कार्य करती चली जाती है। उसके जीवन की दशाओं का अन्त यही लाती है। इसी को लोग काल कहते हैं। सचमुच काल की शक्ति अति विचित्र है। कालचक्र सांसारिक परिर्तवन में एक प्रमुख कारण है। इस ही कालचक्र की कृपा से प्रत्येक क्षण में संसार का कुछ भी हो जाता है। ऐसे प्रवल कालचक्र का प्रभाव बड़े-बड़े आचार्यो और चक्रवर्तियों का भी लिहाज नहीं करता है।

भगवान महावीर और म० बुद्ध भी इसी कालचक्र की इच्छानुसार अपने बाल्य और कुमार अवस्था को त्याग कर पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो गये थे। म० बुद्ध रानी यशोदा के साथ सांसारिक सुख का उपभोग कर रहे थे कि एक दिन वे नगर में होते हुए वन विहार के लिए निकले। उन्होंने रास्ते में एक रोगी को देखकर अपने सार्थी से उसका हाल पूछा। रोगों के आताप और बुढ़ापे के दुःख सुनकर उनका हृदय व्यथा से व्याकुल हो गया। इस आकुल व्याकुल हृदय को लिए वे अगाड़ी बढ़े कि मृत पुरुष को लिए विलाप करते स्मशान भूमि को जाते अनेक मनुष्य दिखाई दिये। सार्थी से फिर और हकीकत को जानकर उनका आकुल हृदय एक दम थर्रा गया। उन्होंने कहा जब यह शरीर नश्वर है, युवावस्था हमेशा रहने की नहीं, बुढ़ापे के दुःख दर्द सबको सहने पड़ते हैं, तो इससे उत्तम यही है कि उस मार्ग का अनुसरण किया जाय जिससे इन जन्मजरा के दुःखों को न भुगतना पड़े। इसके साथ ही हृदय पर इन विचारों का इतना प्रभाव पड़ा कि म० बुद्ध फिर लौटकर राजमहल में अधिक दिन नहीं ठहरे। एक दिन रात्रि के समय छन्न नामक सार्थी के सुपुर्द सब वस्त्राभूपण किये और आप साधारण वस्त्रों को धारण करके एकाकी वन की एक ओर को चल दिये। इस फिकर में घर से निकल पड़े कि कोई सच्चे सुख के मार्ग का जानकार काबिल फुरुप मिले तो मैं उसके चरणों की सेवा करके आर्यो के उत्तम ज्ञान का अधिकारी बनूं। इस ही विचार में निमग्न म० बुद्ध जा रहे थे कि पीछे से इनके पिता के भेजे हुए मनुष्य मिले। उन्होंने म० बुद्ध को घर लौट चलने के लिए बहुत समझाया। परन्तु पिता के अनुरोध और पत्नी की करुण कातर प्रार्थनायें निरर्थक गई। म० बुद्ध अपने निश्चय में दृढ़ रहे। वे लोग हताश होकर कपिल-वस्तु को लौट गये।

अगाड़ी चल कर म० बुद्ध परिव्राजक ब्रह्मचारियों के आश्रम में पहुंचे और वहां साधु आरादकालम की प्रशंसा सुनकर वह उनके पास चले गए। इन साधु का मत सांख्यदर्शन से बहुत कुछ मिलता जुलता था। म० बुद्ध इस मत का अध्ययन कुछ दिवस करते रहे। किन्तु अन्त में उन्हें विश्वास हो गया कि जो कुछ आराद ने बतलाया है उससे मेरे हृदय की संतुष्टि नहीं हो सकती है। इसलिए वे वहां से भी प्रस्थान कर गये और ऋषि उद्रराम के पास पहुंचे। यहां भी कुछ दिन रहे। उपरांत वहां से भी निराश होकर किसी उत्तम मार्ग को पाने की खोज में अगाड़ी चल दिए। आखिरकार वे पर्वत "गया—ची (गया-तापसवन) में पहुंचे। यहां एक परीषह जय वन नामक ग्राम था। यहां पहले से पांच भिक्षु मौजूद थे। म० बुद्ध ने देखा कि ये पाँचों भिक्षु अपनी इन्द्रियों को पूर्णत: वश में किये हुए हैं और उत्तम चारित्र के नियमों का पालन कर रहे हैं तथापि तपश्चरण के भी अभ्यासी हैं। यह देखकर म० बुद्ध विचारमग्न हो गये। उपरान्त उन भिक्षुओं का अभिवादन और नियमित क्रियाओं—सेवाओं से निर्वृत्त होकर उनने नैरञ्जरा नदी के निकट एक स्थान पर आसन जमा लिया और अपने उद्देश्य सिद्धि के लिए वे तपश्चरण करने लगे। शारीरिक विपयकपाय का निरोध करने लगे और शरीर पुष्टि का ध्यान बिल्कुल छोड़ बैठे। हृदय की विशुद्धता पूर्वक वे उन उपवासों का पालन करने लगे, जिनको कोई गृहस्थ सहन नहीं कर सकता। मौन और शान्त हुए वे ध्यानमग्न थे। इस रीति से उन्होंने छः वर्ष निकाल दिये।

म० बुद्ध ने जो इस प्रकार छः वर्ष तक साधु जीवन व्यतीत किया था वह जैन साधु की उपवास और ध्यानमय, मौन

और कायोत्सर्ग शान्त अवस्था के बिल्कुल समान है। अतएव इस अवस्था में यह जैन शास्त्रों की इस मान्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि म० बुद्ध अपने साधु जीवन में किसी समय जैन मुनि भी रहे थे। जैन शास्त्रकार कहते हैं कि श्री पार्श्वनाथ भगवान के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर में पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो महाश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था। परन्तु मछलियों के आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की। फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान मांस में भी जीव नहीं है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने में कोई पाप नहीं है। जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या बहने वाला पदार्थ है उसी प्रकार शराब है, वह त्याज्य नहीं है। इस प्रकार की घोषणा करके उसने संसार में सम्पूर्ण पाप कर्म की परिपाटी चलाई। एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता है, इस तरह के सिद्धान्त की कल्पना करके और उससे लोगों को वश में करके या अपने अनुयायी बनाकर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। जैन शास्त्रकार के इस कथन को सहसा हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। अन्तिम वाक्यों से यह स्पष्ट है कि शास्त्रकार बौद्ध धर्म और म० बुद्ध का उल्लेख कर रहा है, क्योंकि 'क्षणिक वाद' बौद्ध धर्म का मुख्य लक्षण है जिसका ही प्रतिपादन इन वाक्यों में किया है। इतने पर भी जो जैन शास्त्रों ने बौद्धों के प्रति मद्यपान करने का लांछन लगाया है, वह ठीक नहीं है। इसमें किसी प्रकार की भूल नजर आती है, किन्तु इसके कारण हम उक्त वाक्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते। बेशक यह उस जमाने की ईसा की नवीं शताब्दि की रचना है, जब भारतीय मतों में पारस्परिक स्पर्धा बहुत स्पष्ट और अधिकता पर हो गई थी, अतएव जैनाचार्य का तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार म० बुद्ध का उक्त प्रकार उल्लेख करना कुछ अनोखी क्रिया नहीं है, परन्तु इस पर जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसमें केवल मद्यपान की बात को छोड़ कर शेष सब यथार्थता को लिये हुए हैं। जिस स्थान पर पहिले पहल म० बुद्ध ने जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण की थी। उसका नाम ठीक से बतलाया गया है। जैन और बौद्ध दोनों ही उस स्थान को बनग्राम (बौद्ध और जैन पलाशग्राम—पलाश बनग्राम) बतलाते हैं और कहते हैं कि नदी उसके पास में थी, जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं। तथापि बौद्ध शास्त्रकार म० बुद्ध की दीक्षा ग्रहण करने की क्रिया का भी उल्लेख (अभिवादन और नियमित क्रियाओं और सेवाओं से निर्वृत्त होने में) रूप में करता है, और अंतिम वाक्यों द्वारा जो जैनाचार्य ने बौद्ध मान्यताओं का उल्लेख किया है, सो भी बिल्कुल ठीक थे। बौद्ध धर्म का क्षणिकवाद विख्यात् ही है, तथापि बौद्ध धर्म में प्रारम्भ से ही मृत मांस को भोजन में ग्रहण करना बुरा नहीं बतलाया गया है। जो जैनों के अनुसार एक असद्क्रिया है। इस दशा में हम जैन शास्त्रकार के कथन को मान्यता देने के लिए बाध्य हैं। इसके साथ ही हमको ज्ञात है कि जब म० बुद्ध सर्वप्रथम अपने धर्म प्रचार के लिए राजगृह में गये थ तो वहाँ के 'सुप्पतित्थ' नामक मन्दिर में ठहरे थे। इसके उपरांत फिर कभी भी उसका उल्लेख हमें इस या ऐसे मंदिर में ठहरने का नहीं मिलता है। इस मंदिर का नाम जो 'सुप्पतित्थ' है, सो उसका सम्बन्ध किसी 'तित्थिय' मतप्रवर्तक से होना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं कि उस समयके प्रख्यात छः मतप्रवर्तकों में इस तरह का कोई नाम नहीं मिलता। हां, जैन तीर्थंकरों में एक सुपार्श्वनाथ जी अवश्य हुए हैं और उनके संक्षिप्त नाम की अपेक्षा उनके मूल नायकत्व का मन्दिर अवश्य ही 'सुप्पतित्थ' का मदिर कहला सकता है। जैन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख ऐसे संक्षिप्त रूप में होता था, यह हमें जैन शास्त्रों के उल्लेखों से मिलता है। 'दर्शनसार' ग्रंथ में 'विपरीत मत' की उत्पत्ति बतलाते हुए आचार्य लिखते हैं :—

सुव्वयतित्थे उज्झो खीरकदंवुत्ति सुद्धसम्मत्तो।

इसमें बीईसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ जी का नामोल्लेख केवल 'सुव्वय' के रूप में किया गया है। इसी तरह लोक व्यवहारतः संक्षेप में सुपार्श्वनाथ जी का नामोल्लेख 'सुप्प' के रूप में किया जा सकता है। इस रीति से जिस 'सुप्पतित्थ' के मन्दिर में म० बुद्ध पहिले पहिल ठहरे थे, वह जैन मन्दिर ही था। और उसमें उसके बाद फिर उनके ठहरने का उल्लेख नहीं मिलता है, उसका यही कारण प्रतीत होता है कि जैनियों ने जान लिया कि बुद्ध अब जिन प्रणीत धर्म के विरुद्ध हो गये हैं, इस-लिए उन्होंने भ्रष्ट जैन मुनि को पुनः आश्रय देना उचित नहीं समझा। इस तरह भी जैनों की इस मान्यता का समर्थन होता है। कि म० बुद्ध एक समय जैन मुनि भी रहे थे।

अन्ततः म० बुद्ध स्वयं अपने मुख से जैनियों की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि मैंने सिर और दाढ़ी के बाल नोचने की भी परिषह सहन की है। यह मुनियों की केशलोंच क्रिया है। अतएव इसका अभ्यास बुद्ध ने तब ही किया होगा जब वह जैन मुनि रहे होंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि म० बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करने के पहिले जैन मुनि थे और हम देखते हैं कि उन्होंने किसी एक सम्प्रदाय की मुनि-क्रियाओं का पालन नहीं किया था। एक समय वे वानप्रस्थ संन्यासी थे तो दूसरे समय जैन मुनि थे।

भगवान महावीर के विषय में जब हम विचार करते हैं तो देखते हैं कि उनका साधु जीवन म० बुद्ध के विपरीत एक निश्चित और सुव्यवस्थित जीवन था। जैन शास्त्रों के अध्ययन से हमको ज्ञात होता है कि भगवान महावीर बाल्यावस्था से ही श्रावक के व्रतों का अभ्यास करते हुए अपने पिता के राज्यकार्य में सहायक बन रहे थे। वे इस गृहस्थावस्था से ही संयम का विशेष रीति से अभ्यास करते रहे थे। एक दिवस ऐसे ही विचारमग्न थे कि सहसा उनको अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया। और आत्मज्ञान प्रगट हुआ। उन्होंने विचारा कि स्वर्गों के अपूर्व विषय सुखों से मेरी कुछ तृप्ति नहीं हुई तो यह सांसारिक क्षणिक इन्द्रियविषयसुख किस तरह मुझे सुखी बना सकते हैं? हां! वृथा ही मैंने यह अपने तीस वर्ष गवां दिये। मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है, उसको वृथा गंवा देना उचित नहीं। यही बात उत्तरपुराण में इस प्रकार कही गई है :—

त्रिशंच्छरद्भिस्तस्यैव कौमारमगमद्वयः।
ततोन्येद्युर्मतिज्ञानक्षयोपशमभेदतः ॥२६६॥
समुत्पन्न महाबोधिः स्मृतपूर्वभवांतरः।
लोकांतिकामरैः प्राप्य प्रस्तुतस्तुतिभिः स्तुतः ॥२६७॥
सकलामरसंदोहकृतानिःक्रमणक्रियः।
स्ववाक्प्रीणितसद्बंधुसंभावितविसर्जनः ॥२६८॥

अर्थात्– इस प्रकार भगवान के कुमार काल के तीस वर्ष व्यतीत हुए। उसके दूसरे ही दिन मतिज्ञान के विशेष क्षयोपशम से उन्हें आत्मज्ञान प्रगट हुआ और पहिले भव का जातिस्मरण हुआ। उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर समयानुसार उनकी स्तुति की और इन्द्रादि सब देवों ने आकर उनके दीक्षा कल्याण का उत्सव मनाया। भगवान ने मीठी वाणी से सब भाई-बन्धुओं को प्रसन्न किया और सबसे विदा ली।

इस तरह सबको सन्तुष्ट करके वे भगवान अपनी चन्द्रप्रभा पालकी पर आरूढ़ होकर वनषंड नामक वन में पहुंचे। वहां पर आपने अपने सब वस्त्राभूषण आदि उतार कर वितरण कर दिये और सिद्धों को नमस्कार करके उत्तराभिमुख हो पंचमुष्टि लोंचकर परम उपासनीय निर्ग्रन्थ मुनि हो गये। यह अगहन वदी दशमी का शुभ दिवस था, वास्तव में संसार का कल्याण जिसके निमित्त से होना अनिवार्य था और जिसके भवितव्य में त्रिलोकवन्दनीय होना अंकित था, उसको प्रत्येक जीवन क्रिया इतनी स्पष्ट और प्रभावशाली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। भगवान महावीर ऐसे ही एक परमोत्कृष्ट महापुरुष थे। वे अपने इस जीवन में ही अनुपम जीवित परमात्मा हुए थे यही हम अगाड़ी देखेंगे।

भगवान महावीर ने निर्ग्रन्थ मुनि की दिगम्बरीय (नग्न) दीक्षा ग्रहण की थी, यह दिगम्बर शास्त्र प्रगट करते हैं, परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शास्त्र इससे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि भगवान ने दीक्षा समय से एक वर्ष और कुछ महीने उपरान्त तक देवदूष्य वस्त्र धारण किये थे, पश्चात् वे नग्न हो गये थे। देवदूष्य वस्त्र की व्याख्या में कुछ भी स्पष्ट रीति से नहीं बतलाया गया है कि इसका यथार्थभाव क्या है? इतना स्पष्ट किया है कि इस वस्त्र को पहिने हुए भी भगवान नग्न प्रतीत होते हैं। श्वेताम्बरियों के कथन से एक इस निष्पक्ष व्यक्ति सहसा उनके कथन पर विश्वास नहीं कर सकता। देवदूष्य वस्त्र पहिने हुए भी वे नग्न दिखते थे, इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि वे नग्न थे।

यदि हम श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों पर इस सम्बन्ध में एक गम्भीर दृष्टि डालें तो उनमें भी हमें नग्नावस्था की विशिष्टता मिल जाती है। अचेलक-नग्न अवस्था को उनके आचारांगसूत्र में सर्वोत्कृष्ट बतलाया है। उसमें लिखा है कि उपवास करते हुए नग्न मुनि को जो पुद्गल का सामना करता है, लोग गाली भी देंगे, मारेंगे और उपसर्ग करेंगे और उसकी संसार अवस्था की क्रियाओं को कहकर चिढ़ायेंगे और असत्य आक्षेप करेंगे, इन सब उपसर्गों के कार्यों को चाहे वे प्रियकर हों या अप्रियकर हों, पूर्व कर्मों का फल जानकर, उसे शांति से सन्तोष पूर्वक विचारना चाहिए। सर्व सांसारिकता को त्याग कर सम्यक्दृष्टि रखते हुए सब अप्रिय भावनायें सहन करना चाहिए। वही नग्न हैं और सांसारिक अवस्था को धारण नहीं करते, प्रत्युत धर्म पर चलते हैं। यही सर्वोत्कृष्ट क्रिया है। इसके उपरान्त इसी सूत्र में इसकी प्रशंसा करके कहा है कि तीर्थकरों ने भी इस नग्न वेष को धारण किया था। ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि न केवल भगवान महावीर और ऋषभदेव ने ही इस नग्नावस्था को धारण किया था, प्रत्युत प्रत्येक तीर्थकर ने अपने मुनि जीवन में इस परीषह को सहन किया था।

वास्तव में श्वे० ग्रन्थों में भी जैन मुनियों का प्रायः वैसा ही मार्ग निर्दिष्ट किया गया है जैसा दि० शास्त्रों में बतलाया गया है। यदि उसमें अन्तर है तो वह उपरान्त टीकाकारों के प्रयत्नों का फल है उनके इसी आचारांग सूत्र में सर्वोत्कृष्ट नग्न—

अचेलक अवस्था का निरूपण करके अगाड़ी क्रमशः तीन वस्त्रधारी, दो वस्त्रधारी और एक वस्त्रधारी या नग्न साधु का ७
और उसका कर्तव्य प्रतिपादित किया गया है। एक वस्त्रधारी और नग्न मुनि को उसने एक ही कोटि में रखकर प्राकृत अभिन
मितता प्रगट की है। इनके उपदेश क्रम से यह स्पष्ट है कि वे वस्त्र को त्याग करना आवश्यक समझते थे और यह है भी ठी-
क्योंकि यदि वस्त्रधारी अवस्था से मुक्ति लाभ हो सकती तो कठिन नग्न दशा का प्रतिपादन करना वृथा ठहरता है। इसीलि
श्वेताम्बर शास्त्रों में वस्त्रधारी साधुओं को ऐसे साधु बतलाये हैं जो सांसारिक बन्धनों से छूटने के लिए प्रोत्साहित हो रहे हैं
और एक वस्त्रधारी साधु को नग्नभेष धारण करने का भी परामर्श दिया गया है। दिगम्बर आम्नाय में वस्त्रधारी साधु उदा
सीन श्रावक माने गये हैं और उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक ऐलक कहलाते है। श्वे० के उत्तराध्ययन सूत्र में भी क्षुल्लक को ल-
कर एक व्याख्यान लिखा गया है। अतएव यह शब्द वहाँ भी उदासीन उत्कृष्ट श्रावक के लिए व्यवहृत हुआ प्रतीत होता है
ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि श्वे० आचार्य भी मुनि के लिए नग्न अवस्था आवश्यक समझते हैं और वही सर्वोत्कृष्ट क्रिया है
तथापि तीर्थंकर भगवान का जीवन सर्वोत्कृष्ट होता है। इसलिये उनके द्वारा सर्वोत्कृष्ट क्रिया का पालन और प्रचार होन
परम युक्तियुक्त और आवश्यक है। इसीलिए अन्ततः श्वे० आचार्य को भी भगवान् महावीर के विषय में कहना पड़ा है। -
उन (भगवान्) के तीन नाम इस प्रकार ज्ञात हैं अर्थात् उनके माता-पिता ने उनका नाम वर्द्धमान रक्खा था, क्योंकि वे राग-द्वे
से रहित थे, वे श्रमण इसलिए कहे जाते थे कि उन्होंने भयानक उपसर्ग और कष्ट सहन किये थे, उत्तम नग्न अवस्था का अभ्य-
किया था, और सांसारिक दुःखों को सहन किया, और पुज्यनीय श्रमण महावीर, वे देवों द्वारा कहे गये थे।

इसी प्रकार श्वेताम्बर टीकाकारों के कथन का अभिप्राय है। उन्होंने उक्त वर्णन का भाव जिनकल्पी और स्थवि-
कल्पी प्रभेद में जो लिया है, वह भी हमारे उक्त कथन को पुष्टि करता है। जिनकल्पी के भाव यही हो सकते हैं कि जिनक-
के और स्थिविरकल्पी के इसी तरह स्थिविरकल्प के समझना चाहिए, और यह भाव श्वे० मान्यता के अनुकूल है, क्यों-
तीर्थंकरों के समय में तो वे नग्न जिनकल्पी साधुओं का होना मानते ही हैं। स्वयं तीर्थंकर भगवान ने नग्न भेषको धारण
किया था। अतएव जिनकल्प के तीर्थंकर भगवान के समय के साधुओं को जिनकल्पी बतलाना ठीक ही है और उपरान्त स्थिवि
रकल्पी पंचमकाल में वस्त्रधारी मुनियों को स्थिविरकल्पी संज्ञा अपनी मान्यता के अनुसार देना युक्तियुक्त है। अतएव इ
प्रभेद से भी नग्न अवस्था का महत्व और प्राचीनत्व प्रमाणित है।

वास्तव में सांसारिक बन्धनों से मुक्ति उस ही अवस्था में मिल सकती है जब मनुष्य बाह्य पदार्थों से रंच मात्र भ
सम्बन्ध या संसर्ग नहीं रखता है। इसीलिए एक जैन मुनि अपनी इच्छाओं और सांसारिक आकांक्षाओं पर सर्वथा विजयी होत
है। इस विजय में उसे सर्वोपरि लज्जा को परास्त करना पड़ता है। यह एक प्राकृतिक और परमावश्यक क्रिया है। उस व्य-
की निस्पृहता और इंद्रिय निग्रहता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस अवस्था में सांसारिक संसर्ग छूट ही जाता है। एक आयरलैण्ड
वासी लेखक के शब्दों में कपड़ों की झंझट से छूटने पर मनुष्य अन्य अनेक झंझटों से छूट जाता है, एक जैन के निकट
विशेष आवश्यक जो जल है, सो इस अवस्था में उनको धोने के लिए उसकी जरूरत ही नहीं पड़ती। वस्तुतः हमारी बुराई
भलाई की जानकारी ही हमारे मुक्त होने में बाधक है। मुक्ति लाभ करने के लिए हमें यह भूल जाना चाहिए कि हम नग्न
हैं। जैन निर्ग्रन्थ इस बात को भूल गये हैं, इसीलिए उनको कपड़ों की आवश्यकता नहीं है। यह परमोत्कृष्ट और उपादेय अवस्था
हैं। दि० और श्वे० शास्त्र ही केवल इस अवस्था की प्रसंसा नहीं करते, प्रत्युत अन्य धर्मों में भी इसको साधुपने का एक चिह्न
माना गया है। हिन्दुओं के यहाँ भी नग्नावस्था को कुछ कम गौरव प्राप्त नहीं हुआ है। शुकाचार्य दिगम्बर ही थे, जिनके राजा
परीक्षित की सभा में जाने पर हजारों ऋषि और स्वयं उनके पिता एवं परपिता उठ खड़े हुए थे। हिन्दुओं के देवता शिव और
दत्तात्रय नग्न ही हैं। यूनानवासियों के यहाँ भी नग्न देवताओं की उपासना होती थी। ईसाईयों की बायबिल में भी नग्नता
साधुता का चिह्न स्वीकार की गई है, यथा—

और उसने अपने वस्त्र उतार डाले और सैमुयल के समक्ष ऐसी ही घोषणा की और उस सम्पूर्ण दिवस और रात्रि को
वह नग्न रहा। इस पर उन्होंने कहा, क्या आत्मा भी पैगम्बरों में से है?

(सैमुयल, १६-२४))

"उसी समय प्रभू ने अमोज के पुत्र ईसाय्या से कहा, जा और अपने वस्त्र उतार डाल और अपने पैरों से जूते निकाल
डाल। और उसने यही किया नग्न और नंगे पैरों विचरने लगे।"

(ईसाय्या २०-२)

मुसलमानों के बारे में भी कहा गया है कि "अरबों के यहां भी नग्न अवस्था संसार त्याग का एक चिह्न माना जाता था। मि० वाशिंगटन अरविन्ना अपनी लाइफ आफ मुहम्मद में कहते हैं कि तौफ अर्थात् काबा का परिक्रमा देना मुहम्मद से पहिले की एक प्राचीन क्रिया थी और स्त्री पुरुष दोनों ही नग्न होकर इस क्रिया को करते थे। मुहम्मद ने इस क्रिया को बन्द किया और इहराम अर्थात् यात्री के वस्त्र की व्यवस्था की थी।—ईसा मसीह का बिना सिया हुआ कोट अलंकृत भाषा में नग्नता का द्योतक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक समय संसार में सर्वत्र नग्नता साधुपने का आवश्यक चिह्न समझी जाती थी। भगवान महावीर के समय में आजीवक आदि भी नग्न रहते थे, यह हम देख चुके हैं। आज भी हिन्दुओं में नंगे साधु मिलते हैं। उसी तरह जैन निर्ग्रन्थ साधु भी प्राचीन दिगम्बर भेषमें विचरते दृष्टि पड़ते हैं।

इस परिस्थिति में यह सहसा जी को नहीं लगता कि उस प्राचीनकाल में जैन निर्ग्रंथ मुनि वस्त्रधारी होते हों। जैन शास्त्रों के अतिरिक्त बौद्ध शास्त्रों में जैन मुनियों का उल्लेख नग्न रूप में किया गया है। साथ ही उनमें एक वस्त्रधारी और श्वेत वस्त्रधारी निर्ग्रंथ सावकों (श्रावकों०) का भी उल्लेख मिलता है। और यह दिगम्बर जैन शास्त्रों के सर्वथा अनुकूल है। व्रती श्रावकों को श्वेतवस्त्र धारण करने का विधान उनमें मिलता है और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक एक वस्त्रधारी कहा गया है। इसके अतिरिक्त बौद्ध शास्त्र में जैन मुनियों की कतिपय प्रख्यात् दैनिक क्रियाओं का भी इस प्रकार वर्णन मिलता है—

"डायोलाग्स आफ बुद्ध नामक पुस्तक के कस्सप-सिहनान-सुत्त में विविध साधुओं की क्रियाओं का वर्णन दिया हुआ है। उनमें एक प्रकार के साधुओं की क्रियायें निम्न प्रकार दी हैं और यह जैन साधुओं की क्रियायों से बिल्कुल मिल जातीं हैं। इसलिए हम दोनों को यहाँ पर देते हैं—

बौद्धशास्त्र—

१—वह नग्न विचरता है।

जैन शास्त्र—

१—यह जैन मुनि के २८ मूलगुणों में से एक है और यों है—

वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥३०॥—मूलाचार

२—वह ढीली आदतों का है। शारीरिक कर्म और भोजन वह खड़े-खड़े करता है, (भले मानसों की भाँति झुक कर या बैठ कर नहीं करता।)

२—इसमें २४वें (अस्थान) २६वें (अदन्तघर्षण) और २७वें (स्थितभोजन) मूलगुणों का उल्लेख है।

३—वह अपने हाथ चाटकर साफ कर लेता है। जैन मुनि हाथों की अंजुलि में जो भोजन रक्खा जावेगा उसे वैसा ही खा लेते हैं, ग्रास बनाकर नहीं खाते। यहाँ पर बौद्धाचार्य इसी क्रिया को विकृत आक्षेप रूप से बतला रहे हैं।

४—(जब वह अपने अहार के लिये जाता है, यदि सभ्यतापूर्वक नजदीक आने को या ठहरने को कहा जाय कि जिससे भोजन उसके पात्र में रख दिया जाय तो) वह तेजी से चला जाता है।

४—यह मूलाचार की ऐषणा समिति की टीका में स्पष्ट कर दिया गया है, यथा—

भिक्षावेलायाँ ज्ञात्वा प्रशान्ते धूममुशलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन्मुनिः।
तत्र गच्छन्नातिद्रुतं, न मन्दं, न विलम्बितं गच्छेत्॥ १२१॥

५—वह (उस) भोजन को नहीं लेता है। (जो उसके निकट आहार के लिए निकलने के पहिले लाया गया हो)।

५—ऐषणा समिति में मुनिको ४६ दोष रहित, मन, वचन, कायकृत, कारित अनुमोदना के ९ प्रकार के दोषों से रहित भोजन ग्रहण आवश्यक बतलाया है, अतएव लाया हुआ भोजन खास उनके निमित्त से बना जानकर वे ग्रहण नहीं करते।

६—वह (उस भोजन को भी) नहीं लेता है (यदि बता दिया जाय कि वह खासकर उसके लिए बनाया है)।

६—इसमें भी कारित अनुमोदना दोष प्रकट है।

७—वह कोई निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता...

७—यहाँ भी उक्त दोष है, जैन मुनि निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते।

८—वह नहीं लेगा (भोजन जो उस वर्तन में से निकाला गया होगा) जिसमें वह रांधा गया हो······

८—यह स्थापित या न्यस्त" दोष है।

९—(वह भोजन) नहीं (लेगा) आंगन में से (कि शायद वह वहां खासकर उसके लिए ही रक्खा हो)।

१०—(वह भोजन) नहीं (लेगा) जो लड़कियों के दरमियान रक्खा गया हो।

९-१०—प्रादुष्कर दोष हैं।

११—(वह भोजन नहीं लेगा) जो सिलवट्टे के दरमियान रक्खा हो।

११—यहाँ "उन्मिश्र अशन दोष" का भाव है।

१२—जब दो व्यक्ति साथ-साथ भोजन करते हैं तो वह नहीं लेगा······केवल एक ही देगा।

१२—यह अनीश्वर व्यक्ता-व्यक्त अनीशार्थ दोष का रूपान्तर है।

१३—वह दूध पिलाती हुई स्त्री से भोजन नहीं लेगा······।

१४—वह पुरुष के संग रमण करती हुई स्त्री से भोजन नहीं लेगा।

१३-१४—यह दायक अशन दोष के भेद हैं।

१५—वह भोजन नहीं लेगा (जो अकाल के समय···) एकत्रित किया गया हो।

१५—यह अभिघट उगद्म दोष दीखता है।

१६—वह वहाँ भोजन स्वीकार नहीं करेगा जहां पास में कुत्ता खड़ा हो।

१६—प्रथम पादांतर जीव सम्पात या दंशक अन्तराय दोष है। श्वे० के यहाँ भी यह स्वीकृत है।

१७—वह वहाँ भोजन नहीं लेगा जहाँ मक्खियों का ढेर लगा हो।

१७—यहाँ पाणिजंतुवध अन्तराय का अभिप्राय है।

१८—वह (भोजन में) मच्छी, मास, मद्य, आसव, सोरवा ग्रहण नहीं करेगा।

१८—यह स्पष्ट है, यथा—

खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चणं।
तित्तकटुकसायंविलमधुररसाणं च जं चयणं॥ १५५॥

चत्तारि महावियडी य होंति णवणीद मज्जमांसमधू।
कंखापसंगदप्पा संजमकारीओ एदाओ॥ १५६॥—मूलाचार

१९—वह एक घर जाने वाला होता है······एक ग्रास भोजन करने वाला होता है या वह दो घर जाने वाला हो। है······दो ग्रास भोजन करने वाला है, या वह सात घर जाने वाला है—सात ग्रास तक करने वाला है। वह एक आह निमित्त दो निमित्त या ऐसे ही सात तक जाने का नियमी होता है।

१९—यह वृत्तिपरिसंख्यान क्रिया है।

२०—वह भोजन दिन में एक बार करता है, अथवा दो दिन में एक बार अथवा ऐसे ही सात दिन में एक बार करता। इस प्रकार वह नियमानुसार नियमित अन्तराल में—अर्ध मास तक में—भोजन ग्रहण करता रहता है।

२१—यह सांकाक्षानशन नामक व्रत है।

इस क्रियायों के विशद विवेचन के लिए वीर वर्ष २ अंक २३ में जैन मुनियों का प्राचीन शीर्षक लेख देखना चाहि। इसके साथ ही ब्राह्मणों के शास्त्रों में भी जैन मुनियों का भेष नग्न बतलाया गया है। इन सब प्रमाणों को देखने यही उचित मालूम होता है कि जैन तीर्थकरों के निर्ग्रन्थ मुनि का भेष नग्न ही बतलाया था। और जब उन्होंने इस तरह ... प्रतिपादन किया था तो वह स्वयं भी नग्न भेष में अवश्य रहे थे यह प्रत्यक्ष है।

अतएव भगवान् महावीर ने परम उपादेय दिग्म्बरीय दीक्षा धारण करके ढाई दिन का उपवास (बेला) किया। उसके उपरांत जब वह सर्व प्रथम मुनि अवस्था में आहारनिमित्त निकले तो कूलनगर के कूलनृप ने उनको पड़गाह कर भा पूर्वक आहार दान दिया था। यही बात श्री गुणभद्राचार्य जी निम्न श्लोकों द्वारा प्रकट करते हैं :—

अथ भट्टारकोप्यस्माद्गत्वाकायस्थिति प्रति।
कुलग्रामपुरीं श्रीमत् व्योमगामिपुरोपमं॥३१८॥

कूलनामा महीपालो दृष्ट्वा तं भक्तिभावितः ।
प्रियंगुकुसुमांगाभः त्रिः परीत्य प्रदक्षिणं ।।३१६।।

प्रणम्य पादयोर्मूर्ध्ना निधिं वा गृहमागतं ।
प्रतीक्ष्यार्घादिभिः पूज्यस्थाने सुस्थाप्य सुव्रतं ।।३२०।।

गंधादिभिर्विभूष्यैतत्पादोपांतमहीतलं ।
परमान्नं विशुद्धध्यास्मै सोदितेष्टार्थसाधनं ।।३२१।।

उत्तरपुराण

अर्थात् अथानंतर पारणा के दिन वे भट्टारक महावीर स्वामी आहार के लिए निकले तथा स्वर्ग की नगरी के समान कुलग्राम नाम की नगरी में पहुँचे। प्रियंगु के फूल के समान (कुछ लालवर्णी) कांति को धारण करने वाले उन भगवान् को उस राजा ने पूज्य स्थान पर विराजमान कर अर्घादिक से उनकी पूजा की। उनके चरण कमल के समीपवर्ती पृथिवी का भाग गंधादिक से विभूपित किया और बड़ी विशुद्धि के साथ उन्हें अर्थ को सिद्ध करने वाला परमान्न समर्पण किया।

भगवान् पारणा करके पुनः वन में आकर ध्यानलीन और तपश्चरण रत हो गये। वहाँ पर निशंकरीति से रहकर उन्होंने अनेक योगों की प्रवृत्ति की और एकांत स्थान में विराजमान होकर बार-बार दश तरह के धर्मध्यान का चिंतवन किया। उपरांत विचरते हुए वे उज्जयनी के निकट अवस्थित अतिमुक्तक नामक श्मशान में पहुँचे और वहाँ प्रतिमायोग धारण करके तिष्ट गये। उसी समय एक रुद्र ने आकर उन पर घोर उपसर्ग किया, किन्तु भगवान् जरा भी अपने ध्यान से चलविचल नहीं हुए। हठात् रुद्र को लज्जित होना पड़ा और उसने भगवान की उचित रूप में संस्तुति की। सचमुच जो धीर वीर होते हैं वे इस प्रकार उपसर्ग आने पर उद्देश्य-पथ से विचलित नहीं होते हैं। कितनी ही बाधाएं आयें, कितने ही संकट उपस्थित हों, और कितने ही कण्टक मार्ग में बिछे हों, परन्तु धीर वीर मनीपी उनको सहर्ष सहन करके अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जाते हैं। उन्हें कोई भी इष्ट पथ से विचलित नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर परम धीर-वीर गंभीर महापुरुष थे। वास्तव में वे अनुपमेय थे। उन्होंने नियमित ढंग से बाल्यपने के नन्हें जीवन से संयम का अभ्यास किया था। क्रमानुसार उसमें उन्नति करते हुए वे उसका पूर्ण पालन करने के लिए परम दिगम्बर मुनि वेश में सुशोभित हुए थे और इस अवस्था में उन्होंने लगातार बारह वर्ष का ज्ञान ध्यानमय तपश्चरण किया था। इस तरह महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर के साधु जीवन व्यतीत हुए थे। म० बुद्ध ने किसी नियमित साधु सम्प्रदाय का व्यवस्थित अभ्यास नहीं किया था और भगवान महावीर ने प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमणों की क्रियाओं का पालन अपने गृह त्याग के प्रथम दिन से ही किया था। अतएव इन दोनों युग प्रधान पुरुषों के साधु जीवन भी बिल्कुल विभिन्न थे।

(४)

ज्ञान प्राप्ति और धर्म प्रचार

मनुष्य में पूर्णपने की संपूर्ण शक्ति विद्यमान है यह विश्वास आत्मवाद के सुरम्य जमाने में प्रत्येक व्यक्ति को हृदयंगम था। किन्तु इस आधुनिक पुद्गलवाद के दौरदौरे में यह विश्वास बहुत कुछ लुप्त हो रहा है। लोग इस प्राकृतिक श्रद्धान-आत्म-विश्वास की ओर से विमुख हो रहे हैं। आत्मवाद की रहस्यमय घटनाओं को उपहास की दृष्टि से देख रहे हैं। मनुष्य की अपरिमित आत्मशक्ति में आज प्रायः लोगों को अविश्वास ही है, किन्तु सत्य कभी ओझल हो नहीं सकता। धूल की कोटि राशि उस पर डाली जाय, परन्तु उसका प्रखर प्रकाश ज्यों का त्यों रहेगा। आत्मवाद एक प्राकृतिक सिद्धान्त है उसका प्रभाव कभी मिट नहीं सकता। परिणामतः आज इस भौतिक सभ्यता में लालित पालित और शिक्षित दीक्षित हुए विद्वान् ही इसके अनादि निधन सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा स्वीकार करने को वाध्य हुए हैं। सर ओलीवर लाज महोदय इन विद्वानों में अग्रगण्य हैं। इन्होंने अपने स्वतन्त्र प्रयत्नों और आविष्कारों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति है। स्वयं परमात्मा की प्रतिमूर्ति उसके भीतर मौजूद है। इस शरीर के नाश के साथ, उसका अन्त नहीं हो जाता। वह जीवित रहता और परमोच्च जीवन को प्राप्त करता है।

ये उद्गार यथार्थ सत्य हैं। भारत में इनकी मान्यता और उपासना युगों पहिले से होती आई है। और आज भी इस पवित्र भूमि में इस मान्यता को ही आदर प्राप्त है, किन्तु नूतन सभ्यता के मदमाते नवयुवक आज इस प्राचीन सत्य को सहसा गले उतारने में हिचकते दृष्टि पड़ते हैं। अतएव आत्मवाद के लिए भौतिक संसार के प्रख्यात् विद्वान के उक्त उद्गार हर्षोत्पादक शुभ चिन्ह हैं। इनमें आशा की वह रेखा विद्यमान है जो निकट भविष्य में संसार को आत्मवाद के सुख मार्ग पर चलते दिखायेगी! उस समय सारा संसार यदि जैनाचार्य के साथ यह घोषणा करते दिखाई दें तो कोई आश्चर्य नहीं कि :—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तया।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

भावार्थ—जो परमात्मा है वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ सो ही परमात्मा है। इसलिए मैं ही मेरे द्वारा भक्ति किये जाने के योग्य हूँ और कोई नहीं, ऐसी वस्तु की स्थिति है। वस्तुतः इस यथार्थ वस्तुस्थिति के अनुरूप में यदि मनुष्य निरालम्ब हो पौद्गलिक प्रभाव से मुख मोड़ ले तो वह इस सत्य के दर्शन सुगम कर ले। फिर इसी धुन में उसे शांति और सुख का अनुभव प्राप्त हो और वह इसी सत्य की उच्च तान लगावे और कहे :—

निज घट में परमात्मा, चिन्मूरति भइया।
ताहि विलोक सुदृष्टिधर, पंडित परखैय्या ॥

यह प्राचीन सत्य है। भारत के पुरुषों ने इसकी ही सर्वथा घोषणा की थी। घोषणा ही नहीं, प्रत्युत तद्रूप आचरण करके उन्होंने यथार्थता के वस्तुस्थिति के प्रत्यक्ष दर्शन लोगों को करा दिये थे। भगवान महावीर और म० बुद्ध भी उन्हीं भारतीय पुरातन पुरुषों की गणना में से बाहर नहीं हैं, यद्यपि म० बुद्ध के विषय में इतना अवश्य है कि उन्होंने सामयिक परिस्थिति को सुधारने के लिए प्रकट रूप में आत्मा के अस्तित्व से इन्कार किया था, परन्तु अन्ततः अस्पष्ट रूप में उनको उसका अस्तित्व और महत्व स्वीकार करना पड़ा था, यह हम अगाड़ी देखेंगे, अतएव यहां पर हमको देखना है कि इन दोनों युग-प्रधान पुरुषों ने किस रीति से इस यथार्थ आर्य सत्य के दर्शन किये थे ?

म० बुद्ध के विषय में हम देख आये हैं कि वे परिव्राजक आदि साधुओं के मतों का अभ्यास करके, जैन साधु की ज्ञान-ध्यानमय अवस्था को प्राप्त हुए थे। उस अवस्था में उन्होंने छः वर्ष का कठिन तपश्चरण धारण किया था। इस तपश्चरण से उनका शरीर बिल्कुल सूख गया था। वे बिल्कुल शिथिल हो गये थे परन्तु उनने यह सब तपश्चरण निदान बांधकर बुद्ध होने की तीव्र आकांक्षा से किया था, इसीलिए वह इच्छित फल को न दे सका। बस, म० बुद्ध ने जब देखा कि इस कठिन तपश्चरण द्वारा भी उनको उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती, तो उन्होंने कहा :—

"न इन कठिनाइयों के सहन करने वाले नागवार मार्ग से मैं उस अनोखे और उत्कृष्टपूर्ण आर्यों के ज्ञान को, जो मनुष्य की बुद्धि के बाहर है, प्राप्त कर पाऊँगा। क्या सम्भव नहीं है कि उसके प्राप्तकरने का कोई अन्य मार्ग हो ?"

इसके साथ ही उन्होंने शरीर का पोषण करना पुनः प्रारम्भ कर दिया, परन्तु इस दशा में भी उनका श्रद्धान आर्यों के उत्कृष्ट एवं विशिष्ट ज्ञान में तनिक भी कम न हुआ। उनको उस उत्कृष्ट ज्ञान के पाने की लालसा अब भी रही और वह उसको अन्य सुगम उपायों द्वारा प्राप्त करने के प्रयत्न में संलग्न हो गये, किन्तु इतना दृढ़ श्रद्धान म० बुद्ध को जो आत्मा के उत्कृष्ट ज्ञान की शक्ति में हुआ, सो कुछ कम आश्चर्यपूर्ण नहीं है। अवश्य ही इतना दृढ़ श्रद्धान इस उत्कृष्ट ज्ञान में उसी अवस्था में हो सकता है जब उसके साक्षात् दर्शन उस श्रद्धानी को हो गये हों अतएव इसमें संशय नहीं कि म० बुद्ध ने अवश्य ही भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ के किसी केवल ज्ञानी ऋषिराज के दर्शन किये होंगे। इसी कारण उनका इतना दृढ़ श्रद्धान था।

म० बुद्ध अपने इस दृढ़ श्रद्धान के अनुरूप में अन्य सुगम रीति से इस उत्कृष्ट आर्य ज्ञान को प्राप्त करने में संलग्न थे। इतनी कठिन तपश्चर्या जो उन्होंने की थी वह वृथा ही जाने वाली न थी। परिणामतः उनको बोधि वृक्ष के निकट उस मार्ग के दर्शन हो गये, जिसकी वे खोज में थे। बौद्ध शास्त्रों का कथन है कि इस अवसर पर उनको पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई थी और वे तथागत हो गये थे। बौद्धों के इस कथन में कितना तथ्य है यह हम उन्हीं के शास्त्रों से देखेंगे।

म० बुद्ध तथागत हो गये, परन्तु इस अवस्था में भी वे उन सब प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे, जो सैद्धान्तिक विवेचन में सर्व प्रथम अगाड़ी आते हैं और सामान्य लोगों को एक गोरखधंधा-सा समझ पड़ते हैं। अतएव इन बातों को ध्यान में रखते हुए हम सहसा बौद्धों की उक्त मान्यता को स्वीकार नहीं कर सकते। म० बुद्ध को बोधिवृक्ष के नीचे किसी प्रकार के उच्चज्ञान के दर्शन अवश्य हुए थे, परन्तु क्या वह पूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) था, यह विचारणीय है। इसके लिए हम स्वयं कुछ न कहकर केवल बौद्धों के मान्य और प्राचीन ग्रन्थ मिलिन्द पन्ह के शब्द ही उपस्थित करेंगे। यहाँ म० बुद्ध के पूर्णज्ञान (केवल ज्ञान या सर्वज्ञता) के विषय में पूछे जाने पर बौद्धाचार्य कहते हैं—

"वह ज्ञान की दृष्टि उनके निकट हर समय नहीं रहती थी। भगवत् की सर्वज्ञता विचार करने पर अवलम्बित थी, और जब वह विचार करते थे तो वह उस बात को जान लेते थे, जिसको वह जानना चाहते थे।"

इस पर प्रश्नकर्ता राजा मिलिन्द उनसे कहते हैं कि—

"इस देश में जब कि विचार करने से बुद्ध किसी बात को जानते थे तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकते।"

बौद्धाचार्य राजा के इस कथन को किन्हीं अंशों में स्वीकार करते हुए कहते हैं—

"यदि ऐसे ही है, सम्राट्। तो हमारे बुद्ध का ज्ञान अन्य बुद्धों के ज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्मता में कम होगा और इसका निश्चय लगाना कठिन है।"

बौद्ध शास्त्र के इस कथन से यह स्पष्ट प्रकट है कि पूर्णज्ञान सर्वव्यापक और उसके अधिकारी में सर्वथा सदा रहना चाहिए। जैन शास्त्रों में सर्वज्ञता की यही व्याख्या की गई है। इस दशा में यह सहसा नहीं कहा जा सकता है कि म० बुद्ध को बोधि वृक्ष के निकट "सर्वज्ञता" की प्राप्ति हुई थी। जिस प्रकार सर्वज्ञता की व्याख्या उक्त बौद्ध ग्रन्थ में की गई है उस प्रकार म० बुद्ध का ज्ञान प्रकट नहीं होता। इसी हेतु से हम इतना कहने का साहस कर रहे हैं, वरन् वृथा ही किसी की मान्यता को अस्वीकार करने की धृष्टता नहीं की जाती। तिस पर यह व्याख्या केवल उक्त बौद्ध ग्रन्थ पर ही अवलम्बित नहीं है प्रत्युत म० बुद्ध ने स्वयं इस बात को स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया है। जब उनसे सर्वज्ञता के विषय में प्रश्न हुआ तो उन्होंने टालने की ही कोशिश की थी। एक बार राजा पसेनदी ने उनसे पूछा कि—

"अर्हतों (सर्वज्ञों) में कौन सर्व प्रथम है ?"

बुद्ध ने कहा कि "तुम गृहस्थ हो, तुम्हें इन्द्रिय सुख में ही आनन्द आता है। तुम्हारे लिए संभव नहीं है कि तुम इस प्रश्न को समझ सको।"

इस तरह यह प्रत्यक्ष प्रकट है कि बोधिवृक्ष के निकट जिस दिव्य ज्ञान के दर्शन म० बुद्ध को हुए थे वह पूर्णज्ञान अथवा सर्वज्ञता नहीं थी, प्रत्युत उससे कुछ हेय प्रकार का वह ज्ञान था। जैन दृष्टि से उसे हम अवधिज्ञान (विभंगावधि) कह सकते हैं। थेरीगाथा की भूमिका में बौद्धाचार्य म० बुद्ध की इस ज्ञान प्राप्ति के विषय में कहते हैं कि इस समय रात के

प्रथम प्रहर में उन्होंने अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्तो को जान लिया, मध्यरात में उनकी दिव्य दृष्टि पवित्र हो गई, और अन्तिम प्रहर में कार्य कारण के सिद्धान्त की तली तक पैठ कर उन्होंने उसको जान लिया। इस कथन से हमारे उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। अवधिज्ञान द्वारा विचार कर किसी खास विषय की परिस्थिति वतलाई जा सकती है। और अवधिज्ञानी अपने व किसी के भी पूर्वभव जान सकता है। इस प्रकार इसमें संशय नहीं कि म० वुद्ध को वोधिवृक्ष के निकट अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

इस तरह जव म० वुद्ध को साधारण ज्ञान से कुछ अधिक की प्राप्ति हुई, जो कि उनके जीवन की एक अलौकिक और प्रख्यात घटना है, तो उनके भक्तों ने उनकी तथागत या वुद्ध कहकर ख्याति प्रकट की। भगवान महावीर का भी उल्लेख इस नामों से हुआ मिलता है, परन्तु उनकी जो तीर्थंकर उपाधि थी, वह म० वुद्ध से विलकुल विलक्षण और सार्थक है। म० वुद्ध के निकट उसका भाव विधर्मी मत प्रवर्तक का था।

जव म० वुद्ध को सम्वोधी की प्राप्ति हो चुकी तो उन्होंने उस समय से धर्म प्रचार करना प्रारम्भ नहीं किया था, उनको संशय था कि शायद ही जनता उनके संदेश को समझ सके इसलिए यह कुछ समय तक एकान्त में रहकर शान्ति का उपभोग करने लगे। परन्तु अन्ततः वह अपनी इस कमजोरी को दूर करके धर्म प्रचार के लिए उद्यत हुए। वौद्ध कहते हैं कि इस समय स्वयं ब्रह्मा ने आकर उनको उत्साहित किया था। अतएव अपने धर्म का प्रचार करने का दृढ़ निश्चय जव उन्होंने कर लिया, तो उनको इस वात की फिकर हुई कि किस व्यक्ति को उपदेश देना चाहिए। इस पर उन्होंने अपने पूर्वगुरु आराद-कालाम को इस योग्य पाया, किन्तु इसी समय किसी देवता ने उनसे कहा कि आरादकालाम की मृत्यु हो चुकी है। इसके साथ ही उन्होंने अपनी ज्ञान दृष्टि से काम लिया तो यही वात प्रमाणित हुई। फिर दूसरे गुरु उद्दकरामपुत्त के विषय में भी यही घटना उपस्थित हुई। अन्ततः उन्होंने उन पांच ऋषियों को उपदेश देना उचित समझा जिनके साथ उन्होंने छः वर्ष तक घोर तपश्चरण किया था। उस समय उन पांचो को ऋषिपट्टन—वनारस में स्थित जानकर म० वुद्ध उस ही ओर प्रस्थान कर गये। सम्वोधी के पश्चात् म० वुद्ध ने अपने आप आहार करना नियम विरुद्ध समझा था। इसलिए उनका प्रथम आहार तपुस्य और भल्लिक वणिकों के यहां मार्ग में हुआ था।

उक्त प्रकार जव म० वुद्ध वनारस को अपने धर्म प्रचार के लिए जा रहा रहे थे, तो मार्ग में उनको एक 'उपाक' नामक आजीवक भिक्षु मिला था। इसके पूछने पर उन्होंने अपने को 'सम्बुद्ध' प्रकट किया था, परन्तु उस भिक्षुक को इस कथन पर संतोष नहीं हुआ। उसने कहा, जो आप कहते हैं शायद वही ठीक हो। आखिर यह वनारस पहुंच गये। वहां ऋषि-पट्टन में उन्होंने अपने पूर्व परिचय के पांच ऋषियों को पाया। पहले पहल उन्होंने म० वुद्ध के कथन पर विश्वास नहीं किया और उसका उल्लेख सामान्य रीति से मित्र के रूप में किया। इस पर म० वुद्ध ने विशेष रीति से उनको समझाया और आश्वासन दिया एवं अपने को तथागत कहने का आदेश किया। तव उन्होंने म० वुद्ध के कथन को स्वीकार किया और उन्हें अपना गुरु माना। इनमें मुख्य कोन्डिन्य कुल पुत्र को सर्व प्रथम म० वुद्ध के मध्यमार्ग में श्रद्धान हुआ इसलिए वे ही म० वुद्ध के पहिले अनुयायी थे। उपरान्त यहीं यश नामक वणिक पुत्र को भी वुद्ध ने चमत्कार दिखला कर अपने मत में दीक्षित कर भिक्षु वनाया था। इस समय म० वुद्ध के अनुयायी सात थे और इनको वे 'अर्हत्' कहते थे। भगवान महावीर को भी मनुष्येतर दिव्य शक्ति की प्राप्ति थी, परन्तु उन्होंने न कभी किसी को अपना शिष्य वनाने की इच्छा की और न उस शक्ति का उपयोग इस ओर किया। इस प्रकार जव म० वुद्ध के अनुयायी ६१ (अर्हत) हो गये तव उनने भिक्षुओं से कहा कि 'हे भिक्षुओं! मैं मानवी दैवी सव वन्धनों से मुक्त हुआ हूं। हे भिक्षुओं! तुम भी मानवी और दैवीय सव वन्धनों से मुक्त हुए हो। अव तुम, हे भिक्षुओं! अनेकों शिष्यों के लाभ के लिए, अनेकों की भलाई के लिए, संसार पर दया लाकर, मनुष्यों और देवों के लाभ और भलाई के लिये जाओ।' इस समय 'मार' नामक देवता ने आकर पुनः म० वुद्ध को अपने धर्म प्रचार करने से रोका, परन्तु उन्होंने उपेक्षा की और अपने भिक्षुओं को स्वयं ही अन्य शिष्य दीक्षित करने—"उपसम्पदा" देने का अधिकार देकर चहुं ओर भेज दिया।

अतएव यह स्पष्ट है कि म० वुद्ध ने तत्कालीन अवस्था को सुधारने के भाव से अपने धर्म का नीवारोपण किया था। उन्होंने प्रचलित रीति रिवाजों को लक्ष्य करके विना किसी भेदभाव के मनुष्यों को अपने धर्म में दीक्षित करने का द्वार खोल दिया था। इससे सामाजिक वातावरण में भी सुधार हुआ था। तथापि उनका पूर्ण लक्ष्य अपने धर्म को स्थापित करने में प्रच-लित साधु धर्म का सुधार करने का था। उस समय साधुगण आपसी शास्त्रार्थों और वादों में ही समय को नष्ट कर देते थे। वर्ष भर में वे तीन चार महीनों के सिवाय शेष सर्व दिनों में सर्वथा इधर उधर विचर कर सैद्धान्तिक वाद-विवादों में ही

प्राय: व्यस्त रहते थे। इसी कारण म० बुद्ध ने इन साधुओं को इस रोग से छुड़ाकर आत्म स्थिति को प्राप्त कराने के लिए सैद्धान्तिक विवेचन का सर्वथा विरोध किया। विरोध ही नहीं प्रत्युत उसको आत्मोन्नति के मार्ग में अर्गला स्वरूप घोषित किया। यह बतलाया कि वाद-विवाद में आत्म शुद्धि नहीं है। स्पष्ट कहा :—

'या उन्नतीसास्स विघातभूमि, मानातिमानम् वदते पनयेसो।
एतमपि दिसवा न विवादयेथ, नहि तेन सुद्धिम् कुसलवदंति ।।८३०।।

सुत्तनिपात

भावार्थ—जो वाद एक समय वादी के हर्ष का कारण है, वही उसके परास्त होने का स्थल होगा, इस पर भी वह मान और घमण्ड के आवेश में वाद करता है। इसको देखते हुए, किसी को भी वाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि कुशल पुरुष कहते हैं कि इसके द्वारा शुद्धि नहीं होती। इस प्रकार मुख्यत: उस समय की परिस्थिति को लक्ष्य करके उन्होंने सैद्धान्तिक वाद विवाद को अनावश्यक बतलाया, परन्तु उस समय के शास्त्रीय वातावरण को वह एकदम पलट न सके। आखिर स्वयं उनको भी सैद्धान्तिक बातों का प्रतिपादन गौण रूप में करना ही पड़ा, यह हम अगाड़ी देखेंगे, किन्तु यह स्पष्ट है कि म० बुद्ध का उद्देश्य सामयिक परिस्थिति को सुधार कर लोगों को जाहिरा शान्तिमय जीवन व्यतीत करने का मार्ग सुझाना था। उनका सांसारिक जीवन सुविधामय साधु जीवन हो, यही उनको इष्ट था। सांसारिक बन्धनों में पड़े हुए लोगों को गृहस्थी में से निकाल कर इस मार्ग पर लगाना ही उनका ध्येय था। वह येनकेन प्रकारेण मनुष्यों के वर्तमान जीवन को सुविधापूर्ण सुखमय देखना चाहते थे। थेरगाथा की भूमिका में यही कहा गया है कि 'ये बौद्ध भिक्षु सामयिक सुधार के लिए कटिबद्ध थे। वे जनता को धर्म, प्रेम, सादा जीवन व्यतीत करने, यज्ञ सम्बन्धी हिंसा से दूर रहने और जाति पांति के बन्धनों की उपेक्षा करने के उपदेश देते थे। इस तरह म० बुद्ध ने जिस धर्म की नींव डाली थी, वह वस्तुत: प्रारम्भ में एक सामयिक सुधार की लहर ही थी।

वास्तव में म० बुद्ध का 'मध्य मार्ग' जिसका प्रतिपादन उन्होंने सर्व प्रथम बनारस में किया था। एक तरह से हिन्दुओं की जाति व्यवस्था और जैनियों की कठिन तपश्चर्या के विरोध के सिवा और कुछ न था। कम से कम प्रारम्भ में तो वह एक सैद्धान्तिक धर्म नहीं था। इसकी घोषणा निम्न रूप में म० बुद्ध ने स्वयं की थी :—

'हे भिक्षुओ, दो ऐसी अति हैं जिनसे गृहत्यागियों को बचना चाहिए। यह दो अति क्या हैं? एक आमोद-प्रमोदमय जीवन, वह जीवन जो केवल इन्द्रियजनित सुख और वासना के लिए हो, वह नीच बनाने वाला है। इन्द्रियजनित, उपेक्षा के योग्य और लाभ रहित है और अन्य तपश्चरण जीवनमय है, यह पीड़ामय उपेक्षा के योग्य और लाभ रहित है। इन दोनों अति से बचने पर हे भिक्षुओ, तथागत को 'मध्यमार्ग' का ज्ञान प्राप्त हुआ है, जो वुद्धि, ज्ञान, शान्ति, सम्बोधि और निर्वाण का कारण है।'

इस कथन से स्पष्ट है कि म० बुद्ध ने उस समय प्रचलित मतमतान्तरों में स्वयं माध्यमिक बन कर एक मझोला माध्यम का मतस्थापित किया था। इसमें उनका पूर्ण लक्ष्य अपने लिए एवं उन सबके लिए, जो उनके मत को मानने के लिये तैयार थे, किसी रीति से भी पीड़ा का अन्त कर देना था। इसलिए यथार्थ में 'मध्यमार्ग' एक ओर तो कर्मयोग के रूप में प्रचलित अनियमित सांसारिक साधु जीवन के, जिसमें सब ही सांसारिक कार्य विना फल प्राप्ति की इच्छा के लिए किये जाते थे, और दूसरी ओर तपश्चरण के मध्य एक 'राजीनामा' था।

यह भावित होता है कि म० बुद्ध ने अपने मत के सिद्धान्तों की आर्षता और वैज्ञानिकता की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उन्होंने सैद्धान्तिकविवेचन में पड़ने को एक झंझट समझा। बस उनका ध्येय एक मात्र वर्तमान जीवन की पीड़ा के दारुण क्रन्दन से लोगों को हटाने का था। इसीलिए उन्होंने तपश्चरण को भी एक पीडोत्पादक अति समझा, और कहा कि :—दु:ख बुरा है और उससे बचना चाहिए। अति दु:ख है। तप एक प्रकार की अति है, और दु:खपूर्वक है। उसके सहन करने में भी कोई लाभ नहीं है। वह फलहीन है।

किन्तु म० बुद्ध ने तपश्चरण किस अनियमित ढंग से किया था, वह हम देख चुके हैं। वह श्रावक की आवश्यक क्रियाओं का अभ्यास किये बिना ही साधु जीवन में कमाल हासिल करना चाहते थे। आर्यों के उत्कृष्ट ज्ञान की तीव्र आकांक्षा रखकर—उसको पाने का निदान बांधकर वह तपश्चरण पूर्ण कार्यकारी नहीं हो सकता था। पर्वत की शिखर पर पहुँचने के लिये सीढ़ियों की आवश्यकता है और फिर जब संतोषपूर्वक उन सीढ़ियों का सहारा लिया जायेगा तब ही मनुष्य शिखर पर पहुँच

सकता है। मालूम पड़ता है कि म० बुद्ध ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इस ही कारण वह उसके द्वारा पूर्णता को प्राप्त न कर सके। परन्तु तो भी उनका यह प्रयास बिल्कुल विफल नहीं गया था, हम यह देख चुके हैं। यदि म० बुद्ध ने इस ओर ध्यान दिया होता तो वस्तुतः हम उनसे और कुछ अधिक ही उत्तम वस्तु पाते। भगवान महावीर ने एक नियमित रीति से साधु जीवन का अभ्यास किया था और व्यवस्थित ढंग से तपश्चरण का पालन किया था। इसीलिए वह पूर्ण कार्य-कारी हुआ, यह हम आगे देखेंगे। वैसे भगवान महावीर ने भी ऐसे थोथे तपश्चरण को बुरा बतलाया है। उनके निकट वह केवल कायक्लेश और बालकों का तप है। परन्तु वह जानते थे कि ज्ञानमय अवस्था के साथ साथ परमपद प्राप्ति के लिए तपश्चरण भी परमावश्यक है। उनके निकट तपश्चर्या वह कीमियाई क्रिया थी जो आत्मा में से कर्म मल को दूर करके उसे बिल्कुल शुद्ध बना देती है। यह तपश्चर्या संसारी मनुष्य को पहले पहले तो अवश्य ही जरा कठिन और नागवार मालूम पड़ती है, परन्तु जहां मनुष्य को सम्यक् श्रद्धान हुआ वह तत्काल ही इसकी आवश्यकता नजर पड़ जाती है और फिर इसके पालन में एक अपूर्व आनन्द का स्वाद मिलता है। वस्तुतः मेहनत का फल भी मीठा होता है। तपश्चरण एक परमोत्कृष्ट प्रकार की मेहनत है, जिसका फल भी परमोत्कृष्ट है। अतएव पवित्र साधु जीवन का यह एक भूषण है। प्रत्येक मत प्रवर्तक को इस भूषण को किसी न किसी रूप में धारण अवश्य करना पड़ता है। म० बुद्ध ने अवश्य इसका विरोध किया परन्तु अन्ततः उनको भी इसे किंचित न्यून रूप में स्वीकार करना ही पड़ा।

इस तरह म० बुद्ध की ज्ञान प्राप्ति के तो दर्शन कर लिए, अब पाठकगण आइये, भगवान महावीर के ज्ञान प्राप्ति के दिव्य अवसर का भी दिग्दर्शन कर लें। भगवान महावीर ने व्यवस्थित रीत्या श्रावक अवस्था से ही संयम का अभ्यास करके मुनि पद को धारण किया था। मुनि अवस्था में भी पहले उन्होंने ढाई दिन (वेला) का उपवास किया था और फिर एक वर्ष के तपश्चरण की परीषह को उन्होंने सहन किया था। इस प्रकार क्रमवार आत्म उन्नति करते हुए वे इस १२ वर्ष के तपश्चरण को पूर्ण करके विचर रहे थे, कि वैशाख सुदी दशमी के दिन वे जृम्भक ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के वामतट पर एक साल वृक्ष के नीचे विराजमान हुए तिष्ठते थे। ज्ञान-ध्यान में लीन थे। समय मध्यान्ह का हो गया था। सूर्य अपने प्रखर प्रकाश से तनिक स्खलित हो चले थे। उसी समय इन भगवान महावीर को दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। मानो इस परम प्रखर आत्म प्रकाश का दिव्य उदय जानकर ही उस समय दिनकर महाराज का भौतिक प्रकाश फीका पड़ चला था।

भगवान महावीर उस सुवर्ण अवसर पर केवलज्ञानी हो गये, साक्षात् तीर्थंकर बन गये। तीनों लोक की चराचर वस्तुयें उनके ज्ञान नेत्र में झलकने लगीं। वे सर्वज्ञ हो गये। त्रिलोकवंदनीय बन गये। ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का उनके अभाव हो गया, इसलिये वे संसार में ही साक्षात् परमात्मा हो गये—सयोग केवली बन गये। उस समय से एक क्षण के लिये भी उसका ज्ञान मन्द न पड़ा। वह ज्यों का त्यों प्रकाशमान रहा और यूं ही हमेशा रहेगा। यही दिव्य जीवन है। परमोत्कृष्ट प्रकाश है। साक्षात् ज्ञान, शांति और सुख है।

जिस समय भगवान महावीर सर्वज्ञ हुए, उस समय संसार में अलौकिक घटनायें घटित होने लगीं, जिनसे भगवान को सर्वज्ञता का लाभ हुआ जानकर देवलोक के इन्द्र और देवतागण वहां उनके निकट आनन्दोत्सव मनाने आये थे। भगवान की वन्दना उन्होंने अनेक प्रकार की थी। हम भी उस दिव्य अवसर का स्मरण करके मन, वचन, काय की विशुद्धता से भगवान के पवित्र ज्ञानवर्द्धक चरणों में नत मस्तक होते हैं।

उसी समय इन्द्र ने भगवान का सभाभवन—समवशरण रच दिया जिसकी विभूति का वर्णन जैन ग्रन्थों में खूब मिलता है।' समवशरण की गंधकुटी में अन्तरिक्ष विराजमान होकर भगवान महावीर सर्व जीवों को समान रीति से कल्याणकारी उपदेश देते थे। इस समवशरण में १२ कोठे थे, जिनमें ऋषिगण के उपरान्त स्त्रियों को आसन मिलता था। इसी प्रकार पशु और तिर्यंचों के लिए स्थान नियत था। इस रीति से भगवान का उपदेश तिर्यंचों तक को होता था। वस्तुतः भगवान के दिव्य उपदेश से पशुओं को अपने प्राणों का भय चला गया था। वे सुरक्षित और अभय हो गये थे। इस ही दिव्य [illegible] सहित भगवान सर्वत्र विहार करते थे। इस विहार में उनके साथ चतुर्विधसंघ संघ और मुख्य गणधर भी रहते थे। भगवान के मुख्य प्रथम शिष्य और मुख्य गणधर वेदपारंगत प्रख्यात ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम थे। भगवान महावीर ने [illegible] उपदेश सर्व प्रथम इन्हीं को दिया था। इनको मनःपर्यय ज्ञान की प्राप्ति हुई थी और इन्होंने ही मुख्य गणधर के पद पर [illegible] होकर भगवान की द्वादशांग वाणी की रचना की थी।

भगवान महावीर का उपदेश सनातन यथार्थ सत्य के सिवा और कुछ न था। उन्होंने [illegible]

वस्तुओं का यथार्थ रूप विवेचित किया था इसलिए वस्तुस्थिति के अनुरूप में ही उनका उपदेश था। उन्होंने किसी नवीन मत की स्थापना नहीं की थी, बल्कि प्राचीन जैन धर्म को पुनः जीवित किया था। जैन धर्म का अस्तित्व उनसे भी पहिले विद्यमान था, परन्तु भगवान महावीर के समय में उसको विशेष प्रधानता प्राप्त नहीं थी, इसलिए भगवान महावीर के द्वारा समयानुसार उसका पुनः निरूपण हुआ था। यह सनातन धर्म अव्यावाध सर्व सुखकारी और अमर जीवन को प्रदान करने वाला था। जिस तरह वस्तु की मर्यादा थी उसी तरह उसमें बताई गई थी। यही धर्म आज जैन धर्म के नाम से विख्यात है।

इस तरह भगवान महावीर सर्वज्ञ थे और उनका धर्म यथार्थ सत्य था। यह मान्यता केवल जैनों की ही नहीं है, प्रत्युत बौद्ध और ब्राह्मण शास्त्र भी इस ही बात की पुष्टि करते हैं। एक बार म० बुद्ध ने स्वयं कहा था—

भाइयो! कुछ ऐसे सन्यासी हैं, (अचेलक, आजीविक निगंध आदि) जो ऐसा श्रद्धान रखते और उपदेश करते हैं कि प्राणी जो कुछ सुख दुःख व समभाव का अनुभव करता है वह सब पूर्व कर्म के निमित्त से होता है। और तपश्चरण से पूर्व कर्म के नाश से, और नये कर्मों के न करने से, आश्रव के रोकने से कर्म का क्षय होता है और इस प्रकार पाप का क्षय और सर्व दुःख का विनाश है। भाइयो, यह निर्ग्रन्थ (जैन) कहते हैं......मैंने उनसे पूछा क्या यह सच है कि तुम्हारा ऐसा श्रद्धान है और तुम इसका प्रचार करते हो ....उन्होंने उत्तर दिया......हमारे गुरु नातपुत्त सर्वज्ञ हैं......उन्होंने अपने गहन ज्ञान से इस का उपदेश दिया है कि तुमने पूर्वमें पाप किया है, इसको तुम उग्र और दुस्सह आचार से दूर करो और जो आचार मन, वचन, काय से किया जाता है उससे आगामी जन्म में बुरे कर्म कट जाते हैं...इस प्रकार सब कर्म अन्त में क्षय हो जायेंगे और सारे दुःख का विनाश होगा। इस सर्व से हम सहमत हैं।

(मज्झिम २।२१४)

इस उद्धरण में स्पष्ट रीति से भगवान महावीर की सर्वज्ञता और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है। वास्तव में भगवान महावीर ने इन्हीं बातों का उपदेश दिया था, जिनका उल्लेख उक्त उद्धरण में हैं। इसलिए यह भी प्रत्यक्ष है कि आज जो जैन धर्म प्राप्त है वह मूल में वही है जिसका प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया था। हां, उसके बाह्यभेप में अन्तर पड़ा हो तो कोई विस्मय नहीं।

भगवान महावीर की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में आजकल के विद्वान् भी हमारे उपरोक्त कथन का समर्थन करते हैं। डा० विमलचरण लाल एम० ए० पी० एच० डी० आदि बौद्ध ग्रन्थों के सहारे से लिखते हैं कि वे भगवान सर्वज्ञ सर्वदर्शी, अनन्त केवलज्ञान के धारी चलते-बैठते सोते जागते सब समयों में सर्वज्ञ थे। वे जानते थे कि किसने किस प्रकार का पाप किया है और किसने पाप नहीं किया है। वे प्रख्यात ज्ञात्रिक महावीर अपने शिष्यों के पूर्वभव भी बता सकते थे। आप ही बौद्धों के 'संयुक्त निकाय' में लिखा बतलाते हैं कि 'ज्ञात्रि क्षत्रिय' महावीर बहुत ही होशियार और परम विद्वान् एक दातार पुरुष चतुर्प्रकार से इन्द्रिय निग्रह में दत्तचित्त और स्वयं देखी सुनी वस्तुओं को बतलाने वाले थे। जनता उनको बहुत ही पूज्य दृष्टि से देखती थी। एक अन्य विद्वान्, बौद्धों के सिंहल मान्यता के आधार से, भगवान महावीर के अनन्तज्ञान के सम्बन्ध में कहते हैं कि वे महावीर अपने को पाप से रहित बतलाते थे और वह घोषणा करते थे कि जिस किसी को कोई शंका हो अथवा किसी विषय का समाधान करना हो, वह हमारे पास आवे, हम उसको अच्छी तरह समझा देंगे। इसका भाव यही है कि भगवान प्राकृत रूप में अपने धवल केवल ज्ञान से लोगों का पूर्ण समाधान कर देते थे, वे पूर्ण सर्वज्ञ थे—उन्हें सशंक होने को कोई कारण शेष नहीं था।

इस प्रकार भगवान महावीर और म० बुद्ध के धर्म प्रवर्तक रूप में भी एक समान दर्शन नहीं होते। भगवान महावीर ने सर्वज्ञ होने पर किसी नवीन मत की स्थापना नहीं की थी। म० बुद्ध ने 'मध्य मार्ग' को बोधिवृक्ष के निकट जान लेने पर एक नवीन मत की स्थापना की थी। जिस प्रकार प्रारम्भ से ही इन दोनों युगप्रधान पुरुषों के जीवन में कोई विशेष साम्यता नहीं थी, इसी प्रकार अवस्था में भी हमको कोई समानता देखने को नहीं मिलती। म० बुद्ध ने अपनी ३५ वर्ष की अवस्था से ही अपने धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था और भगवान महावीर ने तब तक कोई उपदेश नहीं दिया जब तक कि उन्होंने करीब ४३ वर्ष की अवस्था में उक्त प्रकार सर्वज्ञता प्राप्त न कर ली। फिर धर्म प्रचार के लिए जो उन्होंने सर्वत्र विहार किया था, वह भी एक दूसरे से बिलकुल विभिन्न था। म० बुद्ध ने बोधिवृक्ष से चलकर सर्वप्रथम बनारस में उपदेश दिया था। और फिर वे क्रमशः उरुवेला, गयासीस, राजगृह, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, राजगृह, कोदनावत्थु, राजगृह श्रावस्ती, राजगृह बनारस, भद्दिय, श्रावस्ती, राजगृह श्रावस्ती, राजगृह, बनारस, अन्धकविन्दु, राजगृह, पाटलिगाम, कोटिगाम, नातिका आपन, कुसीनारा आतूम, श्रावस्ती, राजगृह, दक्षिणागिरि, वैशाली, बनारस, श्रावस्ती, चम्पा, कोशाम्बी, परिलेय्यक, श्रावस्ती, बालकोलोन्कर-

ग्राम, वेलुव, कुसीनारा में विचरते रहे थे। बनारस में ही उन्होंने शिष्यों को 'उपसम्पदा' देने—शिष्य बनाने की आज्ञा दे दी थी। गयासीस में जब मौजूद थे तब उनके शिष्यों की संख्या एक हजार थी। पहिले ही राजगृह में जब पहुंचे तब संजय के शिष्य सारीपुत और मौद्गलायन उनके मत में दीक्षित हुए। इनके विषय में हम पहिले ही लिख चुके हैं। इसके बाद ही उन्होंने 'उपाध्याय' और आचार्य पद नियुक्त किये परन्तु इन दोनों के कर्तव्य एक थे। यह एवं अन्य क्रियायें म० बुद्ध ने अन्य मतों में प्रचलित रीतियों के प्रभावानुसार स्वीकृत की थीं। इसी समय उन्होंने शाक्यवंशी व्यक्तियों के लिए खास रियायत करने का भी आदेश दिया था। फिर द्वितीय बार जब श्रावस्ती से वे राजगृह आये तो राजा श्रेणिक बिम्बसार के आग्रह से 'तित्थियों' की भाँति अष्टमी, चतुदर्शी और पूर्णमासी के दिनों पर एकत्रित होकर उपदेश देने का आदेश भिक्षुओं को दिया। इसके बाद फिर जब वह राजगृह आये तब लोगों के बातें करने पर उन्होंने वर्षा ऋतु मनाने के लिए भिक्षुओं को एक स्थान पर ठहरने का नियम बनाया। यह नियम भिक्षुओं द्वारा पहिले ही स्वीकृत था। उपरान्त अन्धकविन्द में जब म० बुद्ध थे तब उनके साथ १२५० भिक्षु थे। फिर जब आपनसे कुसीनारा को वे गये थे तो उनके साथ केवल २५० भिक्षु रह गये थ। यहां से जब आतूम होते हुए व श्रावस्ती पहुँचे, तब भिक्षुओं में परस्पर मतभेद और विवाद खड़ा हो गया था और जिस समय वे कौशाम्बी में मौजूद थे, उस समय उनके झगड़े ने विकट रूप धारण कर लिया था। यहाँ तक कि म० बुद्ध के समझाने पर भी वे न माने और उनसे कह दिया कि आप शान्ति से अपने प्राप्त सुख का उपभोग कीजिये। हम लोग अपने आप निबट लेंगे। म० बुद्ध इनको भला बुरा कहकर बालकलोकारंगाम को चले गये। यहां पर एक बागवान ने बगीचे में जाने से उनको टोका था। फिर म० बुद्ध पारिलेय्यक और श्रावस्ती को गये थे। अन्तिम वस्सा उन्होंने वैशाली के निकट अवस्थित वेलुब में बिताई थी और अन्ततः कुसीनारा में वह प्राप्त हुए थे। वेलुव में कोई कठिन रोग से वे पीड़ित हुए थे। उस रोग को उन्होने अपने योगबल से शमन किया था। इस रोग से मुक्त होकर जब वे कुसीनारा को जा रहे थे, तो मार्ग में चंड लुहार के यहाँ उन्होंने अन्तिम भोजन किया। अंततः कुसीनारा में उन्होंने शिष्यों को उपदेश दिया था और आनंद से कहा था कि :—

'अतएव हे आनंद! तुम अपने आप अपने तई प्रकाश रूप बनो। अपने आपको ही अपनी शरण समझो। किसी बाह्य शरण का आसरा न ताको। सत्य को प्रकाश रूप जानकर उसको ही अच्छी तरह ग्रहण करो। उसी सत्य को ज्ञानदाता जानो। अपने आपके सिवा किसी अन्य में शरण की लालशा मत रक्खो।"

इसी अवसर पर आनंद ने किसी प्रख्यात नगर चम्पा आदि में अपने अंतिम दिवस व्यतीत करने का आग्रह म० बुद्ध से किया था। इस पर म० बुद्ध ने कुसीनारा की पूर्व विभूति का स्मरण कराकर आनंद को शांत किया था। वस्तुतः यहाँ पर उन्होंने आनंद के तीव्र मोह को अपने में से हटाने के लिए यह सब उपदेश दिये थे। आखिर उन्होंने अपने अन्तिम जीवन का समय निर्दिष्ट करते हुए आनंद से कहा था :—

'आनंद! अब तुम कुसीनारा में जाकर कुसीनारा के मल्ल राजाओं से कहो, आज के दिन, हे वासेट्ठगण, रात्रि के अन्तिम पहर में तथागत का सर्व अन्तिम मरण होगा। हे वासेट्ठगण, कृपालु हो और यहाँ कृपालु हो ओ। इसके बाद अपने आपको यह कहने का अवसर न दो, हमारे ही गाँव में तथागत की मृत्यु हुई और हमने तथागत के अतिम समय में दर्शन न कर पाये।'

इस ही के अनुरूप में म० बुद्ध का जीव उस रात्रि को इस नश्वर शरीर को त्याग गया। उनके अनुयायियों ने उनके शरीर को अन्त्येष्ठ क्रिया की। उपरान्त बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि लिच्छवि, मल्ल, कोल्यि, शाक्य आदि क्षत्रिय राजाओं ने उनके शरीर की भस्म को मंगवाकर, उसकी स्मृति में स्तूप बनवाये थे। इस तरह म० बुद्ध का धर्म प्रचार और अन्तिम समय पूर्ण हुआ था।

भगवान महावीर ने भी अपने समवशरण की विभूति सहित सर्वत्र विहार किया था। दिगम्बर और श्वेताम्बर शास्त्रों में इसमें भी अन्तर अवश्य है, परन्तु वह कुछ विशेष महत्व नहीं रखता। श्वेताम्बर शास्त्र उसका उल्लेख वर्षा ऋतु व्यतीत करने के रूप में करते हैं। दिगम्बर कहते हैं कि तीर्थंकरावस्था में वर्षा ऋतु व्यतीत करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि तीर्थंकर भगवान का शरीर इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसके द्वारा किसी प्रकार की हिंसा होना बिल्कुल असम्भव है। अतः श्वे० के अनुसार भगवान महावीर ने प्रथम चतुर्मास अस्थितक ग्राम में, फिर तीन चतुर्मास चम्पा और प्टष्टिचम्पा में, बारह वैशाली और वाणिज्यग्राम में, चौदह राजगृह और नालन्द में, छै मिथिला में, दो भद्रिका में, एक आलमिका में, एक पनितभूमि में, एक श्रावस्ती में, एक पावा में राजा हस्तिपाल की कचहरी में व्यतीत किये थे। और दिगम्बरी शास्त्र इस प्रकार बतलाते हैं कि जिस प्रकार भव्यवत्सल भगवान ऋषभदेव ने पहिले अनेक देशों में विहार कर उन्हें धर्मात्मा बनाया था उसी प्रकार भगवान महावीर ने भी

मध्य के (काशी, कौशल, कौशल्य, कुरान्ध्य, अश्वष्ट, त्रिगर्तपंचाल, भद्रकार, पाटच्चार, मोक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन, एवं वृकार्थक) समुद्र तट के (कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कांबोज, वाल्हीक, यवनश्रुति, सिंधु, गांधार, सौवीर, सूर, भीरु, दशेरुक, वाडवान, भारद्वाज और ववाथतोय) और उत्तर दिशा के (तार्ण, कार्ण, प्रच्छल आदि) देशों में विहार कर उन्हें धर्म की ओर ऋजु किया था। महावीर पुराण के अनुसार विदेह में (वज्जियन राजसंघ के) राजा चेटक ने भगवान के चरणों का आश्रय लिया था। अंगदेश के शासक कुणिक ने भी भगवान की विनय की थी और वह कौशाम्बी तक भगवान के साथ-साथ गया था। कौशाम्बी में वहाँ के नृपति शतानीक ने भी भगवान की उपासना की थी और वह अन्त में भगवान के अनन्य भक्त थे और इन्हीं की राजधानी राजगृह में भगवान ने अधिक समय व्यतीत किया था। राजपुर के सुरमलय उद्यान में जिस समय भगवान विराजमान थे, उस समय वहाँ के राजा जीवंधर ने दीक्षा ग्रहण की थी। तथापि जिस समय भगवान सर्वप्रथम राजगृह में आये थे, उस समय वेदपारंगत विद्वान इन्द्रभूति गौतम उनके साथ थे। इनके अतिरिक्त और बहुत से ब्राह्मण और क्षत्री राजपुत्र तथा वणिक सेठ आदि भगवान के विहार और धर्म प्रचार से प्रबुद्ध हुए थे। राजकुमार, अभय शतवाहन आदि मुनि धर्म में लीन हुए थे। ज्येष्ठा, चन्दना सदृश राजकुमारियाँ भी आर्यिकाऐं हुई थीं। राजगृह के सेठ शालिभद्र, धन्यकुमार प्रीतंकर आदि महानुभाव वणिकों में से परम पुरुषार्थ के अभ्यासी हुए थे। अन्त में धर्म प्रचार करते हुए भगवान पावापुर पहुंचे थे और वहीं से उन्होंने मोक्ष लाभ किया था।

नोट—कुछ लोगों का ख्याल है कि भगवान महावीर का धर्म भारत में सीमित रहा था, परन्तु यह उनका कोरा ख्याल ही है। अन्वेषकों ने बतला दिया है कि जैन मुनि यूनान, रूस और नार्वे जैसे सुदूर देशों में धर्म प्रचार के लिए गए थे। (देखो भगवान महावीर पृष्ठ ७) अफ्रीका के अबेसिनिया प्रदेश में यूनानियों को जैन मुनि मिले थे। एशियाटिक रिसर्चेज भाग ३ यूनान में आजतक एक जैन मुनि का समाधिस्थान वहां की राजधानी अथेन्स में मौजूद है। यह जैन मुनि श्रमणाचार्य नामक थे और भृगुकच्छ से गये थे। मध्य एशिया में भी जैन धर्म फैला हुआ था, यह भी प्रकट है। इण्डोचाइना में भी जैन धर्म के अस्तित्व के चिन्ह मिलते हैं। वहाँ के सन् ९१८ के एक शिलालेख में राजा भद्रवर्मन तृतीय को जिनेन्द्र के सागर का एक मीन लिखा है तथा जैनाचार्यकृत काशिकावृत्ति व्याकरण का उसे परागामी बताया है। तथापि जावा से एक ऐसी मूर्ति के दर्शन वि० वा० चम्पतराय जी ने बरलिन के अजायब घर में किए हैं, जो जैन मूर्तियों के समान है। अतएव इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैन धर्म भारत में ही सीमित नहीं रहा था। बौद्ध धर्म की तरह वह भी एक समय विदेशों में फैला था।

इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही इस बात को प्रगट करते हैं कि भगवान महावीर की मोक्ष प्राप्ति का स्थान पावा है। यह नगरी धनसम्पदा में भरपूर मल्ल राजाओं की राजधानी थी। यहाँ के लोग और राजा हस्तिपाल भगवान महावीर के शुभागमन की बाट जोह रहे थे। इसलिए म० बुद्ध ने अन्तिम समय के बरअक्स भगवान महावीर को कोई खबर कहीं को नहीं भेजनी पड़ी थी। वस्तुतः भगवान कृतकृत्य हो चुके थे, इच्छा और बाँछा से परे पहुंच चुके थे इसलिये उनके विषय में ऐसी बातें बिलकुल सम्भव नहीं थी। श्रीगुणभद्राचार्य जी भगवान के अन्तिम दिव्य जीवन काल का वर्णन निम्न प्रकार करते हैं :—

क्रमा पावापुरं प्राप्य मनोहरवनातरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले ॥५०९॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः।
कृष्णक तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥५१०॥
स्वातियोगे तृतीयेद्धशुक्लध्यानपरायणः।
कृतत्रियोगसंरोधसमुच्छिन्नक्रियं श्रितः ॥५११॥
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः।
गता मुनिसहस्त्रेण निर्वाणं सर्ववाछितं ॥५२२॥

भावार्थ—विहार करते करते अन्त में वे (भगवान) पावापुर नगर में पहुंचे और वहाँ के मनोहर नाम के वन में अनेक सरोवरों के मध्य महामणियों की शिला पर विराजमान हुए। विहार छोड़कर (योगनिरोधकर) निर्जरा को बढ़ाते हुए वे दो दिन तक वहां विराजमान रहे और फिर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम समय में स्वाति नक्षत्र में तीसरे शुक्लध्यान

में तत्पर हुए। तदनन्तर तीनों योगों को निरोधकर समुच्छिन्न क्रिया नाम के चौथे शुक्लध्यान का आश्रय उन्होंने लिया और चारों अघातिया कर्मों को नाशकर शरीर रहित केवल गुण रूप होकर एक हजार मुनियों के साथ सबके द्वारा वांछनीय ऐसा मोक्ष पद प्राप्त किया।

इस प्रकार मोक्ष पद को प्राप्त कर पुरुषार्थ के अन्तिम अनन्त सुख का उपभोग वे उसी क्षण से करने लगे। भगवान के इस अन्तिम दिव्य अवसर के समय भी स्वर्गलोक के इन्द्र और देवतागण आये थे और उन्होंने मोह को नाश करने वाले भगवान के शरीर की पूजा वन्दना की थी। इस समय भी अलौकिक घटनायें घटित हुई थीं और अंधेरी रात्री में एक अपूर्व प्रकाश चहुं-ओर फैल गया था। अन्ततः उन देवों ने उस पवित्र शरीर को अग्निकुमार देवों के इन्द्र के मुकुट से प्रगट हुई अग्नि की शिखा स्थापन किया था। इसी अवसर पर आस पास के प्रसिद्ध राजा लोग भी पावापुर में पहुंचे थे और वहां पर दीपोत्सव ...। था। कल्पसूत्र में इनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

'उस पवित्र दिवस जब पूज्यनीय श्रमण महावीर सर्व सांसारिक दुःखों से मुक्त हो गये तो काशी और कौशल के १८ राजाओं ने, ६ मल्ल राजाओं ने और ६ लिच्छवि राजाओं ने दीपोत्सव मनाया था। यह प्रोषध का दिन था और उन्होंने कहा 'ज्ञानमय प्रकाश तो लुप्त हो चुका है, आओ भौतिक प्रकाश से जगत को दैदीप्यमान बनायें।'

मानों उस समय आजकल के भौतिकवाद के प्रकाश की ही भविष्यवाणी उन राजाओं ने की थी। इस प्रकार उस दिव्य अवसर के अनुरूप आज तक यह दीपोत्सव का त्यौहार चला आ रहा है।

भगवान महावीर के परमश्रेष्ठ लाभ की पुण्य स्मृति और पवित्रता इस त्योहार में गर्भित है। इस तरह महावीर और म० बुद्ध के अन्तिम जीवन का वर्णन है। भगवान महावीर के दर्शन साक्षात् परमात्म रूप में होते हैं। वस्तुतः उनका यह जी अनुपम था। उनके जीवन से म० बुद्ध के जीवन की तुलना करना एक निष्फल क्रिया है, परन्तु जब संसार दोनों व्यक्तियों को समानता देता है तो तुलनात्मक अध्ययन करना आवश्वक ही था।

(५)

पारस्परिक काल निर्णय

भगवान महावीर और म० बुद्ध के पारस्परिक जीवन का हम तुलनात्मक रीति से अध्ययन कर चुके हैं और हमने कहीं भी साम्यता नहीं पाई है प्रत्युत जीवन घटनाओं की विभिन्नता ही सर्वथा दृष्टि पड़ती रही है। ऐसी अवस्था में यह है कि भगवान महावीर और म० बुद्ध एक ही व्यक्ति न होकर दो समकालीन युगप्रधान पुरुष थे। समकालीन अवस्था में नके जीवनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, यह जानना भी आवश्यक है, परन्तु भारतीय इतिहास जितना अस्पष्ट और रमय है उसको देखते हुए आज से करीव ढाई हजार वर्ष पहले हुए युग प्रधान पुरुषों के पारस्परिक जीवन सम्बन्धों का लगा लेना विल्कुल असम्भव बात है। तो भी जो साहित्य सामग्री उपलब्ध है। उसका आश्रय लेकर हम इस विषय निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

यह हमको मालूम है कि भगवान महावीर को निर्वाण लाभ उस समय प्राप्त हुआ था जब वे करीव बहत्तर वर्ष के र म० बुद्ध का परिनिव्वान जैसा कि बौद्ध कहते हैं, उनकी अस्सी वर्ष की अवस्था में हुआ था। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट म० बुद्ध की उमर भगवान महावीर से अधिक थी। अब इन दोनों युग प्रधान पुरुषों के जन्म समय में कितना अन्तर जानना शेष है। उनका पारस्परिक जन्म अन्तर प्राप्त होने के साथ ही हमको उसकी अन्य जीवन घटनाओं का व स्पष्टतः ज्ञात हो जायगा।

इस विषय में डा० हार्नले साहब ने विशेष अध्ययन के उपरांत यह निर्णय प्रगट किया है कि भगवान महावीर के ण लाभ के पश्चात् पांच वर्ष तक म० बुद्ध और जीवित रहे थे। इस मान्यता को मान देते हुए हमें म० बुद्ध का जन्म भगवान ीर के जन्म से तीन वर्ष पहले हुआ प्रमाणित मिलता है। दूसरे शब्दों में डा० हार्नले साहब की गणना के अनुसार म० बुद्ध महावीर के जन्म के समय तीन वर्ष के थे, उनके गृह त्याग के अवसर पर वे तैंतीस वर्ष के थे और जब भगवान महावीर ो करीव बियालीस वर्ष की अवस्था में सर्वज्ञता प्राप्त कर चुकने पर उपदेश देना प्रारम्भ किया तब वे प्रायः पैंतालीस वर्ष। इसी तरह जब म० बुद्ध ने अपनी पैंतीस वर्ष की उमर में "मध्यमार्ग" का उपदेश देना प्रारम्भ किया था, तब भगवान ीर करीव तैंतीस वर्ष के थे। इस प्रकार डा० हार्नले की मान्यता के अनुसार इन दोनों युगप्रधान पुरुषों के पारस्परिक न्ध ज्ञात होते हैं, किन्तु इनको विशेष प्रमाणिक जानने के लिए डा० हार्नले साहब की गणना के औचित्य पर भी एक दृष्टि लेना आवश्यक है।

डा० हार्नले साहब जो इस गणना पर पहुँचे हैं वह विशेष प्रमाणों को लिए हुए हैं। तथापि उनकी इस गणना का र्थन ऐतिहासिक साक्षी से भी होता है। प्रो० कर्न सा० के मतानुसार सम्राट श्रेणिक बिम्बसार की मृत्यु उस समय हुई थी म० बुद्ध बहत्तर वर्ष के थे और देवदत्त द्वारा जो बौद्ध संघ में विच्छेद खड़ा हुआ था वह इस घटना से कुछ ही काल रान्त उपस्थित हुआ था। साथ ही मज्झिमनिकाय के अभय राजकुमार सुत्त से यह स्पष्ट है कि भगवीन महावीर को बौद्ध के विच्छेद का ज्ञान था। दि० जैन शास्त्रों से भी इस व्याख्या की पुष्टि इस तरह होती है—उनमें लिखा है कि सम्राट णिक बिम्बसार की मृत्यु के साथ ही कुणिक अजात शत्रु विधर्मी—मिथ्यात्वी हो गया और रानी चेलनी ने भगवान महावीर शरण में जाकर आर्या चन्दना के निकट दीक्षा ग्रहण की। इससे यह साफ प्रगट है कि भगवान महावीर इस समय मान् थे और बौद्धों के सामयगामसुत्त और पाटिकसुत्त से यह प्रमाणित ही है कि भगवान महावीर के निर्वाणलाभ के उप- कुछ काल तक म० बुद्ध जीवित रहे थे। इसलिए वह अधिक से अधिक पांच वर्ष ही जीवित रहे होंगे। क्योंकि बौद्ध और दोनों के मत से सम्राट श्रेणिक बिम्बसार की मृत्यु के समय भगवान महावीर मौजूद थे। और जब म० बुद्ध इस समय ७२ के थे तो भगवान महावीर अवश्य ही करीव ६९ वर्ष के थे। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर के निर्वाणलाभ करने वाद म० बुद्ध पांच वर्ष से अधिक जीवित नहीं रहे थे।

इसके अतिरिक्त हम म० बुद्ध के वाल्यपन के विवरण में देख चुके हैं कि म० बुद्ध जो उस सुकुमार अवस्था में चार प्रकार के लक्षण धारण करते थे, उनमें तीन तो जैन तीर्थकरों के चिह्न थे, परन्तु चौथा स्वयं भगवान महावीर वर्द्धमान का नाम था। इससे यह झलकता है कि उस समय भगवान का जन्म नहीं हुआ था। यदि जन्म हुआ होता तो उनका उल्लेख भी चिह्न रूप में होता, क्योंकि जन्म से ही तीर्थंकर भगवान के पग में यह चिह्न होता है। अतएव इससे भी म० बुद्ध का जन्म भगवान महावीर से पहले हुआ प्रमाणित होता है।

डा० हार्नले साहव की गणना का समर्थन उस कारण को जानने से भी होता है, जिसकी वजह से म० बुद्ध के ५० से ७० वर्ष के मध्य जीवन की घटनाओं का उल्लेख नहीं के वरावर ही मिलता है। रेवरेन्ड विशप विगन्डेट साहव का कथन है कि यह अन्तराल प्रायः घटनाओं के उल्लेख से कोरा है। अतएव इस अभाव का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अब यदि वहां भी हम डा० हार्नले साहव की उक्त गणना को मानता देवें तो यह कारण भी ज्ञात हो जाता है, क्योंकि जब भगवान महावीर ने अपना धर्म प्रचार प्रारम्भ किया था उस समय म० बुद्ध अपने धर्म की घोषणा कर चुके थे और अनुमानतः ४५ वर्ष के थे जैसे कि हम देख चुके हैं। अतएव पांच वर्ष के भीतर-भीतर भगवान महावीर के वस्तुस्थिति रूप उपदेश का दिगन्तव्यापी हो जाना विलकुल प्राकृत है। इस दशा में यदि इन पांच वर्षों में म० बुद्ध का प्रभाव प्रायः उठसा जावे और उनकी ५० वर्ष की उमर से ७० वर्ष तक कोई पूर्ण घटनाक्रम न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं है। यही समय भगवान महावीर के धर्म प्रचार का था। इसलिए म० बुद्ध के जीवन के उक्त अन्तराल काल की घटनाओं के अभाव का कारण भगवान महावीर का सर्वज्ञावस्था में प्रचार करना ही प्रतिभाषित होता है। इस अवस्था में हमको डा० हार्नले साहव की उक्त गणना इस तरह भी प्रमाणित मिलती है और यह प्रायः ठीक ही है कि भगवान महावीर के निर्वाणोपरान्त म० बुद्ध अधिक अधिक पांच वर्ष और जिये थे।

किन्तु उक्त प्रकार म० बुद्ध की जीवन घटनाओं के अभाव का कारण निर्दिष्ट करते हुए बौद्ध शास्त्रकार के इस कथन का भी समाधान कर लेना आवश्यक है कि म० बुद्ध के दिव्य धर्मोपदेश के समक्ष निग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) का प्रभाव क्षीण हो गया, जो पहिले विशेष प्रभाव को लिए हुए था। बौद्ध शास्त्रकार के इस कथन के समान ही जैनाचार्य नेभी यही वात भगवान महावीर के विषय में कही है कि उनमें धर्मोपदेश के उदय होते ही एकान्तमत अंधकार में विलीन हो गये। इस दशा में यह दोनों कथन एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं परन्तु उक्त प्रकार म० बुद्ध की जीवन घटनाओं के अभाव का कारण भगवान महावीर का धवल धर्म प्रभाव मानते हुए, हमें जैनाचार्य का कथन यथार्थता को लिए हुये मिलता है, परन्तु ऐतिहासिकता के नाते हम बौद्ध शास्त्रकार के कथन को भी एक दम नहीं भुला सकते हैं। वात वास्तव में यों मालूम देती है कि जिस समय भगवान महावीर का धर्म प्रचार होता रहा, उस समय अवश्य ही उनके प्रभाव के समक्ष शेष धर्म अपनी महत्ता को खो बैठे जैसा कि जैनाचार्य कहते हैं और जो म० बुद्ध के सम्बन्ध में ऊपर एव निम्न की भांति प्रमाणित होता है, परन्तु जब भगवान महावीर का निर्वाण होने को था तब हमको मालूम है कि राजा कुणिक अजातशत्रु जैन धर्म के विमुख हो गया था। इसके जैन धर्म विमुख होने का कारण सम्राट श्रेणिक की अकाल मृत्यु और वज्जियन राज्य पर आक्रमण करना कहे जा सकते हैं, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वी सम्राट श्रेणिक के मरण का कारण वनकर एवं भगवान महावीर के पितृ और मातृ कुलों पर आक्रमण करके सम्राट कुणिक अजातशत्रु अवश्य ही जैनियों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा होगा। ऐसे अवसर पर बौद्ध भिक्षु देवदत्त, जिसका सम्वन्ध इनसे पहले का ही था, यदि अजातशत्रु को बौद्धानुयायी वना ले तो कोई अद्भुत वात नहीं है, अतएव सम्राट कुणिक अजातशत्रु के बौद्ध हो जाने से मगध और अंग का राजधर्म, जो पहिले जैनधर्म था, अवश्य ही बौद्ध धर्म हो गया और यह भगवान महावीर के शासन की प्रभावना में एक खासा धक्का था। फिर लगभग इस समय के कुछ वाद ही भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था यह हमारे ऊपर के कथन से प्रगट है। इसके साथ ही कुछ समय के उपरान्त आजीवकों के संरक्षक राजा पद्म द्वारा जैनियों का सताया जाना, अवश्य ही ऐसे कारण हैं, जो हमें इस वात को मानने के लिए वाध्य करते हैं कि वीर शासन का प्रभाव भगवान महावीर के उपरान्त अवश्य ही किंचित फीका पड़ गया था और इस तरह पर बौद्धाचार्य का कथन भी ठीक वैठ जाता है। अतएव जैन और बौद्धाचार्यों के उपरोल्लिखित मत हमारी इस मान्यता में बाधक नहीं है कि भगवान महावीर के दिव्योपदेश के कारण म० बुद्ध का प्रभाव वहुत कुछ कम हो गया था कि जिससे उनके जीवन के उस अन्तराल-काल का प्रायः पूरा पता नहीं चलता। उधर भगवान महावीर के दिव्य प्रभाव को बौद्धाचार्य स्वीकार करते ही हैं।

भगवान महावीर के धर्मोपदेश का विशेष प्रभाव म० बुद्ध के जीवन में आड़ा आया था, इसका समर्थन स्वयं बौद्ध ग्रन्थों से भी होता है। देवदत्त द्वारा जो विच्छेद बौद्ध संघ में भगवान महावीर के निर्वाण काल के दो तीन वर्ष पहले ही खड़ा

(५)

पारस्परिक काल निर्णय

भगवान महावीर और म० बुद्ध के पारस्परिक जीवन का हम तुलनात्मक रीति से अध्ययन कर चुके हैं और हमने उसमें कहीं भी साम्यता नहीं पाई है प्रत्युत जीवन घटनाओं की विभिन्नता ही सर्वथा दृष्टि पड़ती रही है। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर और म० बुद्ध एक ही व्यक्ति न होकर दो समकालीन युगप्रधान पुरुष थे। समकालीन अवस्था में भी इनके जीवनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, यह जानना भी आवश्यक है, परन्तु भारतीय इतिहास जितना अस्पष्ट और अंधकारमय है उसको देखते हुए आज से करीब ढाई हजार वर्ष पहले हुए युग प्रधान पुरुषों के पारस्परिक जीवन सम्बन्धों का ठीक पता लगा लेना बिल्कुल असम्भव बात है। तो भी जो साहित्य सामग्री उपलब्ध है। उसका आश्रय लेकर हम इस विषय में एक निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

यह हमको मालूम है कि भगवान महावीर को निर्वाण लाभ उस समय प्राप्त हुआ था जब वे करीब बहत्तर वर्ष के थे और म० बुद्ध का परिनिव्वान जैसा कि बौद्ध कहते हैं, उनकी अस्सी वर्ष की अवस्था में हुआ था। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि म० बुद्ध की उमर भगवान महावीर से अधिक थी। अब इन दोनों युग प्रधान पुरुषों के जन्म समय में कितना अन्तर था, यह जानना शेष है। उनका पारस्परिक जन्म अन्तर प्राप्त होने के साथ ही हमको उसकी अन्य जीवन घटनाओं का सम्बन्ध स्पष्टतः ज्ञात हो जायगा।

इस विषय में डा० हार्नले साहब ने विशेष अध्ययन के उपरांत यह निर्णय प्रगट किया है कि भगवान महावीर के निर्वाण लाभ के पश्चात् पांच वर्ष तक म० बुद्ध और जीवित रहे थे। इस मान्यता को मान देते हुए हमें म० बुद्ध का जन्म भगवान महावीर के जन्म से तीन वर्ष पहले हुआ प्रमाणित मिलता है। दूसरे शब्दों में डा० हार्नले साहब की गणना के अनुसार म० बुद्ध भगवान महावीर के जन्म के समय तीन वर्ष के थे, उनके गृह त्याग के अवसर पर वे तैंतीस वर्ष के थे और जब भगवान महावीर ने अपनी करीब बियालीस वर्ष की अवस्था में सर्वज्ञता प्राप्त कर चुकने पर उपदेश देना प्रारम्भ किया तब वे प्रायः पैंतालीस वर्ष के थे। इसी तरह जब म० बुद्ध ने अपनी पैंतीस वर्ष की उमर में "मध्यमार्ग" का उपदेश देना प्रारम्भ किया था, तब भगवान महावीर करीब तैंतीस वर्ष के थे। इस प्रकार डा० हार्नले की मान्यता के अनुसार इन दोनों युगप्रधान पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात होते हैं, किन्तु इनको विशेष प्रमाणिक जानने के लिए डा० हार्नले साहब की गणना के औचित्य पर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

डा० हार्नले साहब जो इस गणना पर पहुँचे हैं वह विशेष प्रमाणों को लिए हुए हैं। तथापि उनकी इस गणना का समर्थन ऐतिहासिक साक्षी से भी होता है। प्रो० कर्न सा० के मतानुसार सम्राट श्रेणिक बिम्बसार की मृत्यु उस समय हुई थी जब म० बुद्ध बहत्तर वर्ष के थे और देवदत्त द्वारा जो बौद्ध संघ में विच्छेद खड़ा हुआ था वह इस घटना से कुछ ही काल उपरान्त उपस्थित हुआ था। साथ ही मज्झिमनिकाय के अभय राजकुमार सुत्त से यह स्पष्ट है कि भगवीन महावीर को बौद्ध संघ के विच्छेद का ज्ञान था। दि० जैन शास्त्रों से भी इस व्याख्या की पुष्टि इस तरह होती है—उनमें लिखा है कि सम्राट श्रेणिक बिम्बसार की मृत्यु के साथ ही कुणिक अजात शत्रु विधर्मी—मिथ्यात्वी हो गया और रानी चेलनी ने भगवान महावीर के समवशरण में जाकर आर्या चन्दना के निकट दीक्षा ग्रहण की। इससे यह साफ प्रगट है कि भगवान महावीर इस समय विद्यमान् थे और बौद्धों के सामयगामसुत्त और पाटिकसुत्त से यह प्रमाणित ही है कि भगवान महावीर के निर्वाणलाभ के उपरान्त कुछ काल तक म० बुद्ध जीवित रहे थे। इसलिए वह अधिक से अधिक पांच वर्ष ही जीवित रहे होंगे। क्योंकि बौद्ध और जैन दोनों के मत से सम्राट श्रेणिक बिम्बसार की मृत्यु के समय भगवान महावीर मौजूद थे। और जब म० बुद्ध इस समय ७२ वर्ष के थे तो भगवान महावीर अवश्य ही करीब ६९ वर्ष के थे। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर के निर्वाणलाभ करने के बाद म० बुद्ध पांच वर्ष से अधिक जीवित नहीं रहे थे।

इसके अतिरिक्त हम म० बुद्ध के बाल्यपन के विवरण में देख चुके हैं कि म० बुद्ध जो उस सुकुमार अवस्था में चार प्रकार के लक्षण धारण करते थे, उनमें तीन तो जैन तीर्थंकरों के चिह्न थे, परन्तु चौथा स्वयं भगवान महावीर वर्द्धमान का नाम था। इससे यह झलकता है कि उस समय भगवान का जन्म नहीं हुआ था। यदि जन्म हुआ होता तो उनका उल्लेख भी चिह्न रूप में होता, क्योंकि जन्म से ही तीर्थंकर भगवान के पग में यह चिह्न होता है। अतएव इससे भी म० बुद्ध का जन्म भगवान महावीर से पहले हुआ प्रमाणित होता है।

डा० हार्नले साहब की गणना का समर्थन उस कारण को जानने से भी होता है, जिनकी वजह से म० बुद्ध के ५० से ७० वर्ष के मध्य जीवन की घटनाओं का उल्लेख नहीं के बराबर ही मिलता है। रेवरेन्ड बिशप बिगन्डेट साहब का कथन है कि यह अन्तराल प्रायः घटनाओं के उल्लेख से कोरा है। अतएव इस अभाव का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अब यदि वहां भी हम डा० हार्नले साहब की उक्त गणना को मानता देवें तो यह कारण भी ज्ञात हो जाता है, क्योंकि जब भगवान महावीर ने अपना धर्म प्रचार प्रारम्भ किया था उस समय म० बुद्ध अपने धर्म की घोषणा कर चुके थे और अनुमानतः ४५ वर्ष के थे जैसे कि हम देख चुके हैं। अतएव पांच वर्ष के भीतर-भीतर भगवान महावीर के वस्तुस्थिति रूप उपदेश का [illegible] हो जाना बिलकुल प्राकृत है। इस दशा में यदि इन पांच वर्षों में म० बुद्ध का प्रभाव प्रायः उठना जावे और उनकी ५० वर्ष की उमर से ७० वर्ष तक कोई पूर्ण घटनाक्रम न मिले तो कोई आश्चर्य नहीं है। यही समय भगवान महावीर के धर्म प्रचार का था। इसलिए म० बुद्ध के जीवन के उक्त अन्तराल काल की घटनाओं के अभाव का कारण भगवान महावीर का [illegible] में प्रचार करना ही प्रतिभाषित होता है। इस अवस्था में हमको डा० हार्नले साहब की उक्त गणना इस तरह भी प्रमाणित मिलती है और यह प्रायः ठीक ही है कि भगवान महावीर के निर्वाणोपरान्त म० बुद्ध अधिक अधिक पांच वर्ष और जिये थे।

किन्तु उक्त प्रकार म० बुद्ध की जीवन घटनाओं के अभाव का कारण निर्दिष्ट करते हुए बौद्ध शास्त्रकार के इस कथन का भी समाधान कर लेना आवश्यक है कि म० बुद्ध के दिव्य धर्मोपदेश के समक्ष निग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) का प्रभाव क्षीण हो गया, जो पहिले विशेष प्रभाव को लिए हुए था। बौद्ध शास्त्रकार के इस कथन के समान ही जैनाचार्य ऐसी यही बात भगवान महावीर के विषय में कही है कि उनमें धर्मोपदेश के उदय होते ही एकान्तमत अंधकार से विलीन हो गये। इस दशा में यह दोनों कथन एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं परन्तु उक्त प्रकार म० बुद्ध की जीवन घटनाओं के अभाव का कारण भगवान महावीर का धवल धर्म प्रभाव मानते हुए, हमें जैनाचार्य का कथन यथार्थता को लिए हुये मिलता है, परन्तु [illegible] के नाते हम बौद्ध शास्त्रकार के कथन को भी एक दम नहीं भुला सकते हैं। बात वास्तव में यों मालूम देती है कि जिस समय भगवान महावीर का धर्म प्रचार होता रहा, उस समय अवश्य ही उनके प्रभाव के समक्ष [illegible] जैसा कि जैनाचार्य कहते हैं और जो म० बुद्ध के सम्बन्ध में ऊपर एव निम्न की भांति प्रमाणित होता है, परन्तु जब भगवान महावीर का निर्वाण होने को था तब हमको मालूम है कि राजा कुणिक अजातशत्रु जैन धर्म से विमुख हो गया था। इसके जैन धर्म विमुख होने का कारण सम्राट श्रेणिक की अकाल मृत्यु और वज्जियन राज्य पर आक्रमण करना [illegible], क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वी सम्राट श्रेणिक के मरण का कारण बनकर एवं भगवान महावीर के [illegible] मण करके सम्राट कुणिक अजातशत्रु अवश्य ही जैनियों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा होगा। ऐसे [illegible] बौद्ध भिक्षु देवदत्त, जिसका सम्बन्ध इनसे पहले का ही था, यदि अजातशत्रु को बौद्धानुयायी बना ले तो कोई [illegible], अतएव सम्राट कुणिक अजातशत्रु के बौद्ध हो जाने से मगध और अंग का राजधर्म जो पहिले जैनधर्म था, [illegible] धर्म हो गया और यह भगवान महावीर के शासन की प्रभावना में एक खासा धक्का था। फिर [illegible] भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था यह हमारे ऊपर के कथन से प्रगट है। इसके साथ ही कुछ समय से [illegible] के संरक्षक राजा पद्म द्वारा जैनियों का सताया जाना, अवश्य ही ऐसे कारण हैं, जो हमें इस बात को मानने के लिए [illegible] हैं कि वीर शासन का प्रभाव भगवान महावीर के उपरान्त अवश्य ही किंचित् फीका पड़ गया था और इस दशा पर बौद्धाचार्यों का कथन भी ठीक बैठ जाता है। अतएव जैन और बौद्धाचार्यों के उपरोल्लिखित मत [illegible] कि भगवान महावीर के दिव्योपदेश के कारण म० बुद्ध का प्रभाव बहुत कुछ कम हो गया था कि जिससे उनके जीवन के उस अन्तराल-काल का प्रायः पूरा पता नहीं चलता। उधर भगवान महावीर के दिव्य प्रभाव को बौद्धाचार्य स्वीकार करते ही हैं।

भगवान महावीर के धर्मोपदेश का विशेष प्रभाव म० बुद्ध के जीवन में [illegible] था, इसका समर्थन स्वयं बौद्ध ग्रन्थों से भी होता है। देवदत्त द्वारा जो विच्छेद बौद्ध संघ में भगवान महावीर के निर्वाण [illegible]

हुआ था, वह भी हमारी व्याख्या की पुष्टि करता है देवदत्त ने म० बुद्ध से भिक्षुओं को दैनिक क्रियाओं को अधिक संयममय बनाने को, एवं मांस भोजन की मनाई करने को कहा था। इस ही पर बौद्ध संघ में विच्छेद खड़ा हुआ था अब यह स्पष्ट ही है कि उस समय सिवाय भगवान महावीर के कोई प्रख्यात मतप्रवर्तक ऐसा नहीं था जिसने अहिंसा धर्म के महत्त्व को पूर्ण प्रगट किया हो और मांस खाने को पाप क्रिया बताई हो। बौद्धों के मांस भक्षण और साधु अवस्था में भी शिथिलता रखने के लिए जैन शास्त्रों में उन पर कटाक्ष किये गये हैं। तथापि बौद्ध संघ के इस विच्छेद के कितने ही वर्षों पहले से भगवान अहिंसा और तपस्या का उपदेश दे ही रहे थे। इस अवस्था में यह स्पष्ट है कि बौद्ध संघ में यह विच्छेद भगवान महावीर के दिव्योपदेश के कारणही खड़ा हुआ था। इसके साथ ही बौद्धों के महावग्ग से विदित होता कि इसी समय म० बुद्ध के पास एक बौद्ध भिक्षु नग्न होकर आया था और नग्नावस्था की विशेष प्रशंसा करके बौद्ध साधुओं को उसे धारण करने की आज्ञा देने की उनसे प्रार्थना करने लगा था। यह भी हमारी व्याख्या का समर्थन करता है, क्योंकि उस समय म० महावीर के दिव्योपदेश से दिगम्बरता (नग्नत्व) का प्रभाव विशेष बढ़ा था। और यही कारण म० बुद्ध के साथ भिक्षुओं की संख्या घटने का मालूम पड़ता है। हम पूर्व परिच्छेद में देख चुके हैं कि जब म० बुद्ध अन्ध कविन्द में थे। तब उनके साथ १२५० भिक्षु थे, परन्तु बौद्ध संघ विच्छेद अवसर के लगभग ही जब वे आपन से कुसीनारा को गये थे तब उनके साथ सिर्फ २५० भिक्षु रह गये थे। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय भगवान महावीर के धर्म की मान्यता जनता में विशेष हो गई थी, जिसका प्रभाव म० बुद्ध और उनके संघ पर भी पड़ा था।

वास्तव में जैन तीर्थंकर के जीवन में केवलज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त करके धर्मोपदेश देने का ही एक अवसर ऐसा है जो अनुपम और अद्भुत प्रभावशाली है। इस बात की पुष्टि प्राचीन से प्राचीन उपलब्ध जैन साहित्य से होती है। अतएव उक्त जो हम भगवान महावीर के इस दिव्य अवसर का दिव्य प्रभाव म० बुद्ध और उनके संघ पर पड़ा देखते हैं सो उसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। तीर्थंकर भगवान का विहार समवसरण सहित और उनका उपदेश वैज्ञानिक ढंग पर होता है, क्योंकि वे सर्वज्ञ होते हैं, जैसे कि हम भगवान महावीर के विषय में देख चुके हैं। तथापि सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान की पुण्य प्रकृति के प्रभाव से ४०० कोस तक चहुँ ओर दुर्भिक्ष आदि दूर हो जाते हैं और उनके समवशरण में मानस्तम्भ के दर्शन करते ही लोगों का मिथ्या ज्ञान और मान काफूर हो जाता है। इस दशा में अवश्य ही भगवान महावीर का दिव्य प्रभाव सर्वत्र अपना कार्य कर गया होगा, जैसा कि बौद्ध ग्रन्थों से झलकता है, अतएव म० बुद्ध के जीवन पर भगवान महावीर का प्रभाव पड़ा व्यक्त करना बिल्कुल युक्तियुक्त मालूम होता है। यही कारण प्रतीत होता है कि म० बुद्ध ७२ वर्ष की अवस्था में सामान्य रूप से राजगृह में आकर छुपकर एक कुम्हार के यहां रात्रि बिताते हैं।

इसके साथ ही भगवान महावीर के निर्वाण लाभ के समाचार बौद्ध संघ के लिए एक हर्ष प्रद समाचार थे, यह बौद्ध ग्रन्थ के निम्न उद्धरण से प्रमाणित है। वहाँ लिखा है कि—

"पावा के चन्द नामक व्यक्ति ने मल्लदेश के सामगाम में स्थित आनन्द को महान तीर्थंकर महावीर के शरीरान्त होने की खबर दी थी। आनन्द ने इस घटना के महत्त्व को झट अनुभव कर लिया और कहा 'मित्र चन्द' यह समाचार तथा गत के समक्ष लाने के योग्य है। अस्तु, हमें उनके पास चल कर यह खबर देना चाहिए। वे बुद्ध के पास दौड़े गये, जिन्होंने एक दीर्घ उपदेश दिया।

इस वर्णन के शब्दों में स्पष्टतः एक हर्ष भाव झलक रहा है और हर्ष तब ही होता है जब कोई बाधक वस्तु उद्देश्य मार्ग से दूर हुई हो। इसलिए इससे भी साफ प्रकट है कि भगवान महावीर के धर्म प्रचार के कारण बुद्ध देव को अवश्य ही अपने मध्य मार्ग के प्रचार में शिथिलता सहन करनी पड़ी थी और वह शिथिलता भगवान महावीर के निर्वाणासीन होते ही दूर हो गई, जैसे कि हम पहले देख चुके हैं। इस विषय में एक प्राच्यविद्याविशारद का भी वही कथन है कि भगवान महावीर के निर्वाण लाभ से महात्मा बुद्ध और उनके मुख्य शिष्य सारीपुत्त ने अपने धर्म का प्रचार करने का विशेष लाभ उठाया था।

अतएव यह स्पष्ट है कि म० बुद्ध के ५० से ७० वर्ष के जीवन अन्तराल के घटनाक्रम का प्रायः न मिलना भगवान महावीर के दिव्योपदेश के कारण था और इस दशा में डा० हार्नले साहब की उपरोल्लिखित गणना विशेष प्रमाणिक प्रतिभाषित होती है, जिसके कारण म० बुद्ध और भगवान महावीर के पारस्परिक जीवन सम्बन्ध वैसे ही सिद्ध होते हैं जैसे कि हम ऊपर देख चुके हैं, किन्तु बौद्ध शास्त्रों में एक स्थान पर महात्मा बुद्ध को उस समय के प्रख्यात मत प्रवर्तकों में सर्व लघु लिखा है, परन्तु उन्हीं के एक अन्य शास्त्र में म० बुद्ध इस बात का कोई स्पष्ट उत्तर देते नहीं मिलते हैं। वह वहाँ प्रश्न को टालने

का ही प्रयत्न करते हैं। इससे यही विशेष उपयुक्त प्रतीत होता है कि आयु में भगवान महावीर से तो कम से कम बुद्ध अवश्य ही बड़े थे, परन्तु एक मत प्रवर्तक की भांति वे जरूर ही सर्व लघु थे, क्योंकि अन्य सर्व मत म० बुद्ध से पहिले के थे। इस तरह भगवान महावीर और म० बुद्ध के पारस्परिक जीवन सम्बन्ध वह ही ठीक जंचते हैं जो हम पूर्व में बतला चुके हैं।

भगवान महावीर और बुद्ध के पारस्परिक जीवन सम्बन्ध तो हमने जान लिए, परन्तु भगवान महावीर को मोक्ष लाभ और म० बुद्ध का परिनिर्वाण, जैसा कि बौद्ध कहते हैं, कब हुआ यह जान लेना भी आवश्यक है। भगवान महावीर के निर्वाण काल के विषय में तीन मत पाये जाते हैं। एक के अनुसार यह घटना ईसवी सन् से ५२७ वर्ष पहले घटित हुई बतलायी जाती है। दूसरे के मुताबिक यह ४६८ वर्ष पहले मानी जाती है और तीसरा इसको विक्रमाब्द से ५५० वर्ष पहले घटित हुआ बतलाता है। इनमें पहले मत को मानना अधिक है और जैन समाज में वही प्रचलित है। दूसरा डा० जार्ल चारपेन्टियर का है जिसका समुचित प्रतिवाद मि० काशीप्रसाद जायसवाल ने प्रकट कर दिया है और वस्तुतः बौद्ध शास्त्रों के स्पष्ट उल्लेखों को देखते हुए यह जी को नहीं लगता कि भगवान महावीर का निर्वाण म० बुद्ध के उपरान्त हुआ हो। यह हमारे पूर्व जीवन सम्बन्धी विवरण से भी बाधित है। और तीसरा मत श्रीयुत पं० नाथूराम जी प्रेमी का है। उनके आधार देवसेनाचार्य और अमितगत्याचार्य के उल्लेख हैं, जिनमें समय को निर्दिष्ट करते हुए विक्रम नृप की मृत्यु से ऐसा उल्लेख किया गया है। इसके विषय में जैन विद्वान पं० जुगलकिशोर जी लिखते हैं कि यद्यपि, विक्रम की मृत्यु के बाद प्रजा के द्वारा उसका मृत्यु संवत प्रचलित किये जाने की बात जी को कुछ कम लगती है, और यह हो सकता है कि अमितगति आदि को उसे मृत्यु संवत समझने में कुछ गलती हुई हो, फिर भी उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि प्रेमी जी का यह मत नया नहीं है—आज से हजार वर्ष पहले भी इस मत को मानने वाले मौजूद थे और उनमें देवसेन तथा अमितगति जैसे आचार्य भी शामिल थे। इतना होते हुए भी हमें उपरोक्त जीवन सम्बन्ध विवरण को देखते हुए मुख्तार साहब से सहमत होना पड़ता है। इसके साथ ही यह दृष्टव्य है कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति में जहां अन्य मत वीर निर्वाण संवत् में बतलाये गये हैं, वहाँ इसका उल्लेख नहीं है। इस अवस्था में देवसेनाचार्य और अमितगति आचार्य ने भूल से ऐसा उल्लेख किया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। जिस प्रकार हमने म० बुद्ध और भगवान महावीर का सम्बन्ध स्थापित किया है, उसको देखते हुए यही ठीक प्रतीत होता है।

अब रहा केवल प्रथम मत जो प्रायः सर्वमान्य और प्रचलित है। इस मत की पुष्टि में निम्न प्रमाण बतलाये जाते हैं—

(१) सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।
अटवरस बाललीला सोडसवासेहि भम्मिए देसे ॥१८॥

यह नन्दि संघ की दूसरी पट्टावली की एक गाथा है, और विक्रम प्रबन्ध में भी पायी जाती है (जैन सिद्धान्तभाष्कर किरण ४ पृ० ७५)

(२) णिव्वाणे वीरजिणे छव्वासनदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥८१॥

यह गाथा आज से करीब १५०० वर्ष पहले की रची हुई 'तिलोयपण्णत्ति' की गाथा है और इसमें वीर निर्वाण प्राप्ति से ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा हुआ ऐसा उल्लेख है।

(३) पण छस्सयवस्सं पणमास जुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुनवतियमहिग सगमासं ॥८५०॥

यह त्रिलोकसार की गाथा है और इसमें 'तिलोयपण्णत्ति' की उपरोक्त गाथा की भाँति वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा का और ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्कि का होना बतलाया है।

(४) आर्य विद्यासुधाकर में भी लिखा है—

ततः कलिनात्र खंडे भारते विक्रमात्पुरा।
स्वमुन्यं बोधि विमते वर्षे विराह्वयो नरः ॥१॥
प्राचारज्जैन धर्मं बौद्धधर्मसमप्रभम्।

(५) सरस्वती गच्छ की भूमिका में भी स्पष्ट रूप से वीर निर्वाण ४७० वर्ष बाद विक्रम का जन्म होना लिखा है, यथा—बहुरि श्री वीर स्वामी को मुक्ति गये पीछे च्यारसैसत्तर ४७० वर्ष गये पीछे श्री सन्महाराज विक्रम राजा का जन्म भया।

(६) नेमिचन्द्राचार्य के महावीर चरिय (देखो, भारत के प्राचीन राजवंश भा० २१—४२) में भी महावीर स्वामी से ६०५ वर्ष ५ मास उपरान्त शक राजा का होना लिखा है।

यहां नं० १ और नं० ५ के प्रमाणों में विल्कुल स्पष्ट रीति से वीर निर्वाण के ४७० वर्ष उपरान्त विक्रम का जन्म होना लिखा है। और यह ज्ञात ही है कि वीर निर्वाण ५२७ वर्ष पहले जो ईसा से माना जाता है वह वीर निर्वाण से ४७० वर्ष वाद नृप विक्रम का संवत् राज्यारोहण मानने से उपलब्ध हुआ है क्योंकि यह प्रमाणित है कि नृप विक्रम का उनके १८ वर्ष की अवस्था में राज्यारोहण से प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में स्वीकृत निर्वाणकाल में १८ वर्ष जोड़ना आवश्यक ठहरता है, क्यों कि उक्त गाथाओं में स्पष्ट रीति से वीर निर्वाण से ४७० वर्ष वाद विक्रम का जन्म हुआ लिखा है। इस तरह पर प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत् शुद्ध रूप में ईसा से पूर्व ५४५ वर्ष (५२७—१८) मानना चाहिये। इस ही मत को श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल और पं० विहारीलाल जी बुलन्दशहरी प्रमाणित वतलाते हैं। जैन दर्शन दिवाकर डा० जैकोबी भी इस मत को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, जैसा उनके उस पत्र से प्रकट है जो उन्होंने हम को लिखा था और जो वीर वर्ष २ पृष्ठ ७८-७९ में प्रकाशित हुआ है। इसके साथ ही अन्य प्रमाणों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि शक राजा का जन्म भी ६०५ वर्ष ५ महीने वाद वीर निर्वाण से माना जाये तो कुछ असंगतता नजर नहीं आती। इस दशा में वीर निर्वाण ईसा से पूर्व ५२७ वर्ष पहले मानने का शुद्ध रूप ५४५ वर्ष पहले मानना उचित प्रतीत होता है। यह निर्वाण काल हमारे उक्त पारस्परिक जीवन सम्वन्ध से भी ठीक वैठ जाता है, क्योंकि सिंहलवौद्धों की मानता के अनुसार म० वुद्ध का परिनिव्वान ईसा से पूर्व ५४३ वर्ष में घटित हुआ था। वौद्धों की इस मानता को लेकर विशेष गवेषणा के साथ आधुनिक विद्वानों ने इसका शुद्ध रूप ईसा से पूर्व ४८० वाँ वर्ष वतलाया है, किन्तु खण्डगिरि की हाथी गुफा से जो सम्राट् खारवेल का शिलालेख मिला है उससे वौद्धों की उक्त मानता का पूरा समर्थन होता है। इस दशा में भगवान महावीर का निर्वाण काल ईसा से पूर्व ५४५ वर्ष पूर्व मानने से और म० वुद्ध का परिनिव्वान ईसा से पहले ५४३ वें वर्ष में हुआ स्वीकार करने से, हमारे उक्त जीवन सम्वन्ध निर्णय से प्राय: सामन्जस्य ही वैठ जाता है। क्योंकि स्वयं वौद्धों के कथन से प्रमाणित है कि म० वुद्ध भगवान महावीर के पहले ही अपने को स्वयं वुद्ध मानकर उपदेश देने लगे थे। संयुक्त निकाय में (भाग ११-६८) में स्पष्ट कहा है कि वुद्ध अपने को सम्भासंवुद्ध कैसे कहने लगे जव निर्ग्रन्थ नाथपुत्त अपने को वैसे ही नहीं कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारी पूर्वोक्त मान्यता के अनुसार म० वुद्ध भगवान महावीर के धर्मोपदेश देने के पहले ही उपदेश देने लगे थे और इस तरह पूर्वोल्लिखित पारस्परिक सम्वन्ध ठीक ही है। हाँ, एक दो वर्ष का अन्तर गणना की अशुद्धि के कारण रहा कहा जा सकता है। अतएव आजकल भगवान महावीर का निर्वाण संवत् २४६६ वर्षमानना विशेष युक्ति संगत है।

हिन्दी विश्वकोष के निम्न कथन से भी यही प्रमाणित है। वहां (भाग २ पृष्ठ ३५०) पर लिखा है कि 'तीत्थुगलियपयन्न' और 'तीर्थोद्धार प्रकीर्ण' नामक प्राचीन जैन शास्त्र के मत से जिस रात को तीर्थंकर महावीर स्वामी ने सिद्धि पायी, उसी रात को पालक राजा अवन्ती के सिंहासन पर वैठे थे। पालकवंश ६०, उसके वाद नंदवंश १५५, मौर्यवंश १०८, पुष्प मित्र ३० वलमित्र एवं भानुमित्र ६०, नरसेन नरवाहन ४०, गर्दभिल्ल १३ और शवराज ने ४ वर्ष राजत्व किया। महावीर स्वामी के परिनिर्वाण से शक राज के अभ्युदयकाल पर्यन्त ४७० वर्ष वीते थे। इधर सरस्वती गच्छ की पट्टावली से देखते, कि विक्रम ने उक्त शकराज को हराया सही, किन्तु सोलह वर्ष तक राज्याभिषिक्त न हुए। उक्त सरस्वती गच्छ की गाथा में स्पष्ट लिखा है—वीरात् ४९२, विक्रमजन्मान्त वर्ष २२, राज्यान्त वर्ष ४ अर्थात् शकराज के ४७० और विक्रमाभिषेकाव्द के ४८८ अर्थात् सन् ई० से ५४५-४ वर्ष पहले महावीर स्वामी को मोक्ष मिला था। अतएव यही समय निर्वाणकाल का ठीक जँचता है।

इस प्रकार म० वुद्ध और भगवान महावीर की जीवन घटनाओं का तुलनात्मक रीति से अध्ययन करने पर हमने उनकी पारस्परिक विभिन्नता को विल्कुल स्पष्ट कर दिया है और जव हम सुगमता से उनके भिन्न व्यक्तित्व एवं समकालीन सम्वन्धों के विषय में एक निश्चित मत स्थिर कर सकते हैं। इस विवेचन के पाठ से पाठकों को उस मिथ्या मान्यता का असारता भी ज्ञात हो जायेगी जो इस उन्नतशील जमाने में भी कहीं कहीं घर किये हुए हैं कि जैन धर्म की उत्पत्ति वौद्ध धर्म से हुई थी अथवा म० वुद्ध और भगवान महावीर एक व्यक्ति थे।

यद्यपि जहाँ तक के विवेचन से हम म० वुद्ध और भगवान महावीर के पारस्परिक जीवन सम्वन्धों का दिग्दर्शन

कर चुके हैं, परन्तु इनमें दोनों युग प्रधान पुरुषों ने जो शिक्षा जन साधारण को दी थी, उसका पूरा पता नहीं चलता है, इस-लिये अगाड़ी के पृष्ठों में हम जैन धर्म और बौद्ध धर्म का भी सामान्य दिग्दर्शन करेंगे।

(६)

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध का धर्म

म० बुद्ध ने किस धर्म का निरूपण किया था, जब हम यह जानने की कोशिश करते हैं तो उनके जीवनक्रम पर ध्यान देने से हम उत्तर को पा जाते हैं। वस्तुतः म० बुद्ध का उद्देश्य आवश्यक सुधार को सिरजने का था। इसलिए प्रारम्भ में उनका कोई निर्धारित धर्म नहीं था और न उन्होंने किसी व्यवस्थित धर्म का प्रतिपादन किया था, किन्तु अपने सुधारक्रम में उन्होंने आवश्यकतानुसार जिन सिद्धान्तों को स्वीकार किया था, उनका किंचित् दिग्दर्शन हम यहाँ करेंगे।

सर्व प्रथम उनके धर्म के विषय में पूछते ही हमें बतलाया जाता है कि वह प्रकृति के नियमों को बतलाता है, मनुष्य का शरीर नाश के नियम के फन्दे पड़ता है, यही बुद्ध का अनित्यवाद है। जो कुछ अस्तित्व में आता है उसका नाश होना अवश्यम्भावी है। भगवान महावीर ने भी धर्म का वास्तविक रूप वस्तुओं का प्राकृतिक स्वरूप ही बतलाया था। कहा था, "वस्तु स्वभाव ही धर्म है।" और इस तरह जाहिरा यहां पर दोनों मान्यताओं में साम्यता नजर पड़ती है, परन्तु यथार्थ में उनका भाव एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत है। म० बुद्ध के हाथों में इस सिद्धान्त को वह न्याय नहीं मिला जो उसे भगवान महावीर के निकट प्राप्त था। इसी कारण बौद्धदर्शन का अध्ययन करके सत्य के नाते विद्वानों को यही कहना पड़ा है कि बुद्ध के सैद्धान्तिक विवेचन में स्पष्टता और पूर्णता दोनों की कमी है। बुद्ध के निकट सैद्धान्तिक विवेचन संसार दुःख का कारण था। ऐसी दशा में इन प्रश्नों का सैद्धान्तिक उत्तर म० बुद्ध से पाना नितान्त असम्भव है। इन प्रश्नों को उन्होंने अनिश्चित बातें ठहराया था। जब उनसे पूछा गया कि :—

क्या लोक नित्य है?

क्या यही सत्य है और सब मत मिथ्या हैं? उन्होंने स्पष्ट रीति से उत्तर दिया कि "हे पोत्थपाद, यह वह विषय है जिस पर मैंने अपना मत प्रकट नहीं किया है।" तब फिर इसी तरह पोत्थपाद ने उनसे यह प्रश्न किये। (२) क्या लोक नित्य नहीं है। (३) क्या लोक निर्यमित है? (४) क्या लोक अनन्त है? (५) क्या आत्मा वही है जो शरीर है? (६) क्या शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है? (७) क्या वह जिसने सत्य को जान लिया है मरणोपरान्त जीवित रहता है? (८) अथवा वह जीवित नहीं रहता है। (९) अथवा वह जीवित भी रहता है और नहीं भी रहता है? (१०) अथवा वह न जीवित रहता है और न वह नहीं जीवित रहता है? और इन सबका उत्तर म० बुद्ध ने वही दिया जो उन्होंने प्रथम प्रश्न के उत्तर में दिया था। इस परिस्थिति में यह स्पष्ट अनुभवगम्य है कि म० बुद्ध ने सैद्धान्तिक विवेचन की प्रारम्भिक बातों का स्थापन प्रकृति के नियमों के रूप में पूर्ण रीति से नहीं किया था जैसा कि बतलाया जाता है। भगवान महावीर के विषय में हम अगाड़ी देखेंगे।

अतएव जब कभी म० बुद्ध के निकट ऐसी अवस्था उपस्थित हुई तो उनने उसका समाधान कुछ भी नहीं किया। बौद्ध दर्शन के विद्वान् डा० कीथ बुद्ध की इस परिस्थिति को बिल्कुल उचित बतलाते हैं। वह कहते हैं कि बुद्ध ने पहले ही कह दिया था कि वह अपने शिष्यों को इन विषयों में शिक्षा नहीं देंगे। म० बुद्ध एक ऐसे हकीम हैं जो ऐसी शिक्षा देते हैं जिससे शिष्य का वर्तमान जीवन सुखमय बने, किन्तु वास्तव में इन बातों को अस्पष्ट छोड़ देने से बुद्ध ने लोगों को अपने मनोकूल निर्णय को मानने की स्वतन्त्रता दी है और यह क्रिया एक 'माध्यमिक' के सर्वथा योग्य थी।

ऐसा प्रतिभाषित होता है कि बुद्ध ने वस्तुओं के स्वभाव पर केवल उनकी सांसारिक अवस्था के अनुसार दृष्टिपात किया था। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि लोक में कोई भी नित्य पदार्थ नहीं हैं और न ऐसे ही पदार्थ हैं जिनका सर्वथा नाश हो जाता है, प्रत्युत समस्त लोक एक घटनाक्रम है, कोई भी वस्तु किसी समय में यथार्थ नहीं हो सकती। इसलिए ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो आत्मा हो। शरीर (रूप) आत्मा से उसी तरह रहित है जिस तरह गंगा नदी में उतराता हुआ फेन का बबूला है। (संयुक्त निकाय ३-१४०) परन्तु विस्मय है कि बुद्ध ने एकान्तवाद-अनित्यता का भी निरूपण पूरी तरह नहीं किया है। तो भी

यह बतलाया गया है कि चार पदार्थ हैं (१)पृथ्वी, (२) अग्नि, (३) वायु और (४) जल। आकाश भी कभी२ गिन लिया जाता है। किन्तु म० बुद्ध ने उनको किस ढंग से स्वीकार किया था यह ज्ञात नहीं है। केवल यह प्रकट है कि प्रत्येक पौद्‌गलिक पदार्थ एक मिश्रण है, जो शरीर की तरह किसी समय तक बना रहेगा, परन्तु अन्त में नष्ट हो जावेगा। पदार्थ अनित्य हैं। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में वे क्षणिक स्वीकृत नहीं हैं। यह उपरान्त का सुधार है।

विशेषकर बुद्ध के निकट लोक केवल अनुभव का एक पदार्थ था। उन्होंने इसकी नित्यता और अनन्तता के सम्बन्ध में कुछ कहने से साफ इन्कार कर दिया था, किन्तु इतने पर भी यह स्पष्ट है कि म० बुद्ध ने जो उक्त चार पदार्थों को स्वीकार किया था सो उसमें उन्होंने यथार्थ वाद को अन्ततः गौण रूप में स्वीकार ही किया था। इससे उनके विवेचन की अनियमितता भी प्रकट है। उक्त चार पदार्थों के अतिरिक्त बुद्ध ने उनके साथ निर्वाण और विज्ञान की गणना करके अपना सैद्धान्तिक मत छः तत्वों पर प्रारम्भ किया था। विज्ञान में दुःख और सुख को अनुभव करने का भाव गर्भित था। यह सब पदार्थ नित्य ही थे और इन ही के पारस्परिक सम्बन्ध से संसार का अस्तित्व बतलाया था।

इस सिद्धान्त विवेचन में बुद्ध ने प्राचीन मतों का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इनमें मुख्यतः ब्राह्मण और जैन धर्म का प्रभाव दृष्टव्य है। जो चार पदार्थ म० बुद्ध ने स्वीकार किये हैं वह ब्राह्मण धर्म ने पहले से ही स्वीकृत थे इसलिए वह उन्होंने वहां से लिए थे। परन्तु उन्होंने उनको जिस ढंग से प्रतिपादित किया है वह जैन धर्म की लोकमान्यता से मिलता जुलता है। जैनियोंके अनुसार भी छह द्रव्योंकर युक्त यह लोक है परन्तु वह छह द्रव्य महात्मा बुद्ध द्वारा स्वीकृत ६ तत्वों से बिल्कुल भिन्न हैं जैसे हम अगाड़ी देखेंगे। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने जो धर्म की व्याख्या की थी वह भी सामान्यतया जैन व्याख्या से मिलती जुलती थी, जैसे कि हम देख चुके हैं। फिर बुद्ध ने जो उसके दो भेद आभ्यन्तिरिक (अज्झत्तिक) और बाह्य (बाहर) किये थे, वह भी सामान्यतः जैन सिद्धान्त के निश्चय और व्यवहार धर्म के समान हैं। किन्तु फर्क यहां भी विशेष मौजूद है, क्योंकि बौद्धों के निकट इनका सम्बन्ध सिर्फ बाह्य जगत और मानसिक सम्बन्धों से है, और जैन सिद्धान्त में इनके अलावा पदार्थ के वास्तविक स्वरूप से भी यह सम्बन्धित है। इससे यह साफ प्रगट है कि म० बुद्ध ने केवल जैनियों के व्यवहार धर्म का किंचित् आश्रय लेकर अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया था इसलिए जैन शास्त्रों में म० बुद्ध धर्म की गणना एकान्तवाद में की गई है। श्री गोम्मटसारजी का निम्न श्लोक यही प्रगट करता है :—

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ।
इंदो वि य संसइओ मक्कडिओ चेव अण्णाणी॥

इसमें बौद्ध को एकान्तवादी, ब्रह्म या ब्राह्मणों को विपरीत मत, तापसों को वैनयिक, इंद्र को सांशयिक और मंखलि या मस्करी को अज्ञानी बतलाया है। किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थों में बौद्ध धर्म को अक्रियावादी लिखा है, जो स्वयं बौद्धों के शास्त्रों के उल्लेखों से प्रमाणित है। यहां पर श्वेताम्बराचार्य बौद्धों के अनात्मवाद को लक्ष्य करके ऐसा लिखते हैं, जबकि दिगम्बराचार्य उनके सैद्धान्तिक विवेचन को पूर्णतः लक्ष्य करके उसे एकान्तवादी ठहराते हैं। अक्रियावाद एकान्त मत का एक भेद है। स्वयं दिगम्बर जैनों की तत्वार्थ राजवार्तिक (८।१।१०) में बौद्ध धर्म के मुख्य प्रणेता मौदंगलायन का उल्लेख अक्रियावादियों में किया गया है।

आइए, अब जरा भगवान महावीर के धर्म पर भी एक दृष्टि डाल लें। उन्होंने जिस प्रकार धर्म की व्याख्या की थी, उसी के अनुसार समस्त सत्तावान पदार्थों के विषय में सनातन सत्य का निरूपण किया। उन्होंने कहा कि यह लोक प्रारम्भ और अन्त रहित अनादि निधन है। यह द्रव्यों का लीलाक्षेत्र है, जो द्रव्य अनादि से सत्ता में विद्यमान हैं और जो अनंतकाल तक वैसे ही रहेंगे। इस तरह इस लोक में न किसी नवीन पदार्थ की सृष्टि होती है और न किसी का सर्वथा नाश होता है। केवल द्रव्यों की पर्यायों में उलट फेर होती रहती है, जिससे लोक की एक खास अवस्था का जन्म अस्तित्व और नाश होता रहता है। इस कार्य कारण सिद्धान्त में इस प्रकार किसी एक सर्व शक्तिवान कर्ता-हर्ता की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः एक प्रधान व्यक्ति के ऊपर संसार का सर्व भार डालकर स्वयं निश्चिन्त हो जाना कुछ सैद्धान्तिकता प्रकट नहीं करता। संसार का रक्षक होकर संसारी जीव पर वृथा ही दुःखों के पहाड़ उलटना कोई भी बुद्धिमानी स्वीकार नहीं करेगा। सचमुच सांसारिक कार्यों को अपने जुम्मे लेकर वह ईश्वर स्वयं राग और द्वेष का पिटारा बन जाएगा और इस दशा में वह सांसारिक मनुष्य से भी अधिक बन्धनों में बंध जाएगा। इस अवस्था में ईश्वर को अनादि निधन मानने के स्थान पर स्वयं लोक को ही अनादि निधन मान लेने से यह झंझटें कुछ भी सामने नहीं आती हैं। वस्तुतः भारतीय षट्‌दर्शनों का सूक्ष्म अध्ययन करने से उनमें भी एक कर्त्ताहर्त्ता ईश्वर की मान्यता के

कहीं दर्शन नहीं होते । ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपरान्त के भीरू और आलसी मनुष्यों की रचना ही है जो परावलम्बी रहने में ही आनन्द मानते हैं ।

इस प्रकार लोक को अनादि निधन प्रकट करके भगवान महावीर ने इस लोक में मुख्य दो द्रव्य (१) जीव और (२) अजीव बतलाये हैं । जीव वह पदार्थ बतलाया जो उपयोग और चेतनामय हो और अजीव वह सब पदार्थ हैं जो इन लक्षणों से रहित हों । यह द्रव्य पांच प्रकार का है (१) पुद्गल, (२) आकाश, (३) काल, (४) धर्म और (५) अधर्म । अतएव भगवान महावीर के अनुसार इस लोक में कुल छः द्रव्य हैं । इन छहों के विशद विवरण से जैन शास्त्र भरे हुए हैं, किन्तु यहाँ पर संक्षेप में विचार करने से हम उनका स्वरूप इस तरह पाते हैं । इनमें (१) आत्मा या जीव एक उपयोग मई अपौद्गलिक, अरूपी और अनन्त पदार्थ है (२) पुद्गल एक पौद्गलिक रूपी पदार्थ है, जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण कर संयुक्त हैं, इसके परमाणु और स्कन्ध भी अनन्त और विभिन्न हैं, किन्तु ये संख्यात और असंख्यात रूप में भी मिलते हैं (३) आकाश एक समूचा अनन्त, अमूर्तीक और अविभाजनीय पदार्थ है । यह सर्व पदार्थों को अवकाश देता है और दो भागों में विभाजित है अर्थात लोकाकाश और अलोकाकाश, यह इसके दो भेद हैं और यह धर्म अधर्म द्रव्यों के कारण है । जहाँ तक ये द्रव्य हैं वहीं तक लोकाकाश है, इसी के भीतर जीव अजीव पदार्थ मिलते हैं (४) काल अमूर्तिक और स्थिर द्रव्य है, यह द्रव्यों और उनकी पर्यायों में रूपान्तर उपस्थित करने में एक परोक्ष कारण है । यह कालाणु असंख्यात हैं और समस्त लोक इनसे भरा पड़ा है (५) धर्म वह अमूर्तीक द्रव्य है जो लोक के समान व्यापक है और जीव. अजीव के गमन में उसी तरह सहायक है जिस तरह मछली को जल चलने में सहायक है और (६) अन्तिम अधर्म द्रव्य भी अमूर्तीक और सर्वलोकव्यापक है । इसका कार्य द्रव्यों को विश्राम देना है ।

इनमें नियम जीव और पुद्गल ही मुख्य हैं, शेष द्रव्य उनके अनुगामी हैं । इनके मुख्य चार कर्तव्य हैं, अर्थात् वे आकाश में स्थान ग्रहण करते हैं, परावर्त्त होते हैं और चलते अथवा स्थिर रहते हैं । प्रत्येक कार्य में दो कारण होते हैं, एक मुख्य उपादान कारण और दूसरा सामान्य निमित्त कारण । सोने की अगूठी में मुख्य उपादान कारण सोना है, परन्तु उसके सामान्य निमित कारण अग्नि, सुनार, औजार आदि करते हैं । इसलिए जीव और अजीव के उन चार कर्तव्यों का मुख्य कारण स्वयं जीव और अजीव है, और सामान्य कारण उपरलिखित शेष चार द्रव्य हैं । इस प्रकार यह लोक अकृत्रिम और यथार्थ हैं द्रव्यों कर पूर्ण है और इसमें जो कुछ पर्यायें और दशायें उपस्थित होती हैं यह इन जीव एवं अजीव की पर्यायों के कारण होती हैं, जो शेष चार द्रव्यों के साथ हर समय क्रियाशील रहती हैं ।

इतना जान लेने पर हम भगवान महावीर और म० बुद्ध की प्रारम्भिक शिक्षाओं का विशद अन्तर देखने में समर्थ हैं । यद्यपि म० बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों को जिस ढंग और क्रम से स्थापित किया है वह जाहिरा भ० महावीर के धर्म निरूपण ढंग से सादृश्यता रखता है, किन्तु इतने पर भी वह भ० महावीर के ढंग के समान नहीं है । । वह अनात्मवाद पर अवलंबित है और स्वयं अपरिपूर्ण है, परन्तु भगवान महावीर ने उसी सनातन धर्म का प्रतिपान किया था, जिसको उनके पूर्वगामी तीर्थंकरों ने वस्तुस्थिति के अनुरूप में बतलाया था, और जिसमें आत्मा, की मान्यता सर्वाभिमुख थी । सर्वज्ञ तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित हुआ धर्म किसी दृष्टि में भी अपरिपूर्ण नहीं होता । यही दशा भगवान महावीर के धर्म के विषय में है ।

म० बुद्ध ने अपने सैद्धान्तिक विवेचन में "सांखार" मुख्य बतलाये थे, किन्तु इनका भी एक स्पष्ट रूप नहीं मिलता है । तो भी इतना स्पष्ट है कि जैन सिद्धान्त में यह कहीं नहीं मिलते हैं। अतएव यह वस्तुतः सांख्य दर्शन के संस्कार सिद्धान्त के रूपान्तर ही हैं और प्रायः वहीं से लिए गए प्रतीत होते हैं । इन सांखारों को उत्पत्ति म० बुद्ध ने चार बातों की अज्ञानता पर अवलम्बित बनाई है, अर्थात् दुःख, उनके मूल, उसके नाश और उसके *मार्ग को अजानकारी ही संखारों की जन्मदात्री है* । यह संखार मुख्यतः मन, वचन, काय रूप में विभाजित हैं । यदि एक भिक्षु यह निदान बांधें कि मैं मृत्यु उपरान्त अमुक कुल में उत्पन्न होऊं तो वह अपने इस तरह के बांधे हुए संखार के कारण अवश्य ही उस कुल में जन्म लेगा । किन्तु डा० कीथसाहब इस मत से सहमत नहीं हैं । वे कहते हैं कि दूसरा जन्म केवल मानसिक निदान के बल नहीं हो सकता । यह सिद्धान्त स्वयं बौद्ध शास्त्रों के कथन से विलग पड़ता है । बौद्ध शास्त्रों से यह ज्ञात है कि जब शरीर विद्यमान होता है तब ही शारीरिक या कायिक संखार बांधा जा सकता है । इसलिए आगामी के लिए संखार बाधना मुश्किल है । तिस पर यह बात भी ध्यान में रखने की है कि बुद्ध ने जिन पांच खण्डों या स्कंधों का समुदाय व्यक्ति बतलाया है उनमें एक खण्ड संखार भी है । इस अवस्था में संखार का भाव अलग निदान बांधने का नहीं हो सकता । इसीलिए डा० कीथसाहब भावों को ही संखार बतलाते हैं, जो सांख्य दर्शन के संस्कार के समान ही है, जिनका व्यवहार वहां पर पहले विचारों और कार्यों द्वारा छोड़े गये संस्कारों के प्रभावफल के रूप में

हुआ है। म० बद्ध के बताये हुए जाहिरा कार्य—कारण लड़ी में इन संस्कारों की मुख्यता इसी रूप में मौजूद है। इन्हीं संस्कारों की प्रधानता का लक्ष्य करते हुए म० बुद्ध ने अपनी कार्य—कारण लड़ी का निरूपण इस तरह किया है—

"अज्ञान से संस्कार की उत्पत्ति होती है, इससे विज्ञान की, जिससे नाम और भौतिक देह उत्पन्न होती फिर नाम और भौतिक देह में षट्—क्षेत्र की सृष्टि होती है, जो इन्द्रियों और विषयों को जन्म देती है। इन इन्द्रियों और उनके विषयों के आपसी स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है वेदना से तृष्णा होती है, जिससे उपादान पैदा होता है, जो भव का कारण है। भव से जन्म होता है। जन्म से बुढ़ापा, मरण, दुःख, अनुसोचन, यातना, उद्वेग और नैराश्य उत्पन्न होते हैं। इस तरह दुःख का साम्राज्य बढ़ता है।"

इस विवरण से हमें म० बुद्ध का संसार प्रवाह जाहिरा कार्य कारण के सिद्धान्त पर अवलम्बित नजर आता है। इसी कारण उसके अनुसार भी संसार में सनातन और अविच्छिन्न प्रवाह मिलते हैं। इस अवस्था में यह जैन सिद्धान्त में स्वीकृत जन्म-मरण सिद्धान्त का रूपान्तर ही है। इनमें जो भेद है वह यहीं है कि बौद्धों के अनुसार प्रारम्भ में सब कुछ अज्ञान ही था। जैन सिद्धान्त में संसार परिभ्रमण सिद्धान्त का प्रारम्भ माना ही नहीं गया है। वह वहां अनादि निधन है। इस तरह बुद्ध का संसार प्रवाह मूल से ही जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है।

म० बुद्ध के उक्त विवरण में यदि हम यह जानने की कोशिश करें कि जन्म किसका होता है, तो हमें निराशा ही हाथ आएगी, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व म० बुद्ध ने स्वीकार ही नहीं किया था। यद्यपि इस विषय में लोगों को अपनी मर्जी के मुताबिक श्रद्धान रखने की भी छुट्टी म० बुद्ध ने दे दी थी, जिससे बौद्ध शास्त्रों में भी आत्मवाद की झलक कहीं-कहीं दिखाई पड़ जाती है, परन्तु उन्होंने स्वयं अनात्मवाद को ही प्रधानता दी थी। अभिधर्म का निरूपण करते हुए बुद्ध ने यही कहा था कि "न कोई आत्मा है, न पुद्गल है, न सत्व है और न जीव है।" यहां केवल ब्राह्मण सिद्धान्त में माने हुए आत्मा का ही खण्डन नहीं है, बल्कि उस सिद्धान्त का भी जो शरीर से भिन्न एक जीवित पदार्थ मानकर संसार परिभ्रमण की घोषणा करता है। उनके अनुसार मनुष्य पांच स्कन्धों का समुदाय है, अर्थात् रूप संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान। मनुष्य का वर्णन उसके इन भागों के वर्णन में किया गया है जिनसे वह बना है और उसकी समानता एक रथ से की है जो विविध अवयवों का बना हुआ है और स्वयं उसका व्यक्तित्व कुछ नहीं है। यह मान्यता बुद्ध के उपरान्त उनकी हीनयान सम्प्रदाय को अब भी मान्य है, किन्तु महायान सम्प्रदाय इससे अगाड़ी बढ़कर पदार्थों के अस्तित्व से ही इन्कार करता है। उसके निकट सब शून्य है, यह उपरान्त का सुधार है। म० बुद्ध के निकट तो अनित्यवाद ही मान्य था। इस अवस्था में इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर पाना कठिन है कि जन्म किस का होता है?

म० बुद्ध ने प्रायः इस प्रश्न को अधूरा ही छोड़ दिया है। परन्तु जो कुछ उनने कहा है उसका भाव यही है कि एक व्यक्ति जन्म लेता है और यह व्यक्ति केवल पांच वस्तुओं का समुदाय है जिनको हम देख चुके। इससे यह व्यक्ति कोई सनातन नित्य पदार्थ नहीं माना जा सकता। सत्ता तो वह है ही नहीं। जिस प्रकार सब अवयवों के पहले से मौजूद रहने के कारण शब्द 'रथ' कहा जाता है वैसे ही जब उपरोल्लिखित पांच वस्तुयें एकत्रित हुईं तब बुद्ध ने "व्यक्ति" शब्द का उच्चारण किया। यह बौद्धों की मान्यता है और इससे हमारा प्रश्न हल नहीं होता, क्योंकि जिन पांच स्कन्धों का समुदाय व्यक्ति बताया गया है वह उस व्यक्ति के साथ ही खत्म हो जाते हैं।

अगाड़ी इसी कार्य कारण लड़ी के अनुसार कहा गया है कि पर्यायावस्था चालू रहती है और वस्तुतः यहाँ सिवाय पर्यायान्तरित होने के कोई व्यक्ति है ही नहीं। इस पर्यायावस्था में पुरानी और नवीन पर्याय का सम्बन्ध चालू रखने के लिए, महानिदान, सूत्र में, माता के गर्भ में विज्ञान का उतरना बतलाया है। डा० कीथ इस मत को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि इस वक्तव्य-विशेषण से कि विज्ञान का उतराव होता है विज्ञान का पुरानी पर्याय से नवीन में जाना बिलकुल स्पष्ट है और यह सम्भव है कि यह विज्ञान किसी प्रकार के शरीर सहित होता हो। म० बुद्ध विज्ञान के चालू रहने से बिलकुल सहमत हैं। इस प्रकार यद्यपि म० बुद्ध ने एक नित्य सत्तात्मक व्यक्ति का अस्तित्व स्वीकार किये बिना ही अपना सिद्धान्त निरूपित करना चाहा और संज्ञा की उत्पत्ति अपने आप पांच स्कन्धों में होती स्वीकार की, जिस तरह सांख्यदर्शन ने बतलाया है, परन्तु अंततः उनको पर्याय-प्रवाह में संज्ञा विज्ञान का चालू रहना मानना ही पड़ा। इस तरह इस निरूपण की कोताई साफ जाहिर है। भला बिना किसी सत्तात्मक नित्य नींव के सांसारिक पर्यायों का किला कैसे बांधा जा सकता है? किन्तु इस निरूपण में भी जैन सिद्धान्त की झिलमिली झलक नजर पड़ रही है। जैनियों के अनुसार इच्छा ही कर्म बंध को कारण है, जिसका मूल श्रोत कर्म जनित मोहावस्था में है। इसलिए सत्तात्मक व्यक्ति (जीव)-जिसका लक्षण उपयोग संज्ञा है, इस अवस्था में सांसारिक दुःख और

पीड़ा को भुगतता संसार में रहता है। इस संसार परिभ्रमण में जब वह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है तो उसके साथ सूक्ष्म कार्माण शरीर भी जाता है, जिसके कारण दूसरे शरीर में उसका जन्म होता है। म० बुद्ध के उक्त विवरण में हमें इस सिद्धान्त के विकृत रूप में किंचित् दर्शन होते हैं।

अब जरा और बढ़कर बौद्ध दर्शन में यह तो देखिये कि वह कौन-सी शक्ति है जो विज्ञान को उसका नवीन जन्म देती है? म० बुद्ध ने वह शक्ति कर्म बतलाई है। कर्म में भी उपादान इसके लिए मुख्य कारण है। इस कर्म संवन्ध में भी डा० कीथ साहब हमें विश्वास दिलाते हैं कि इस बात पर बौद्ध शास्त्र प्रायः स्पष्ट है। कर्म का जो किसी रीति से भी टाला नहीं जा सकता। बहाने बाजी वहां काम नहीं देती। कर्म का दण्ड अवश्य ही सहन करना पड़ेगा। हां, उस दशा में यह निरर्थक हो जाता है जब संसार-प्रवाह की नाड़ी को नष्ट करने का साधन मिल गया हो। यहां पर भविष्य के लिए तो कर्म लागू नहीं हो सकता, किन्तु गत कर्मों का कार्य में ले आना आवश्यक है जिससे उनका महत्व ही जाता रहे। अनेक हत्यायों के अपराधी की छुट्टी इस अवस्था में थोड़े से मुक्कों के खाने में ही हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि गत संस्कारों और विज्ञान का दूसरे भव में चला आना अवश्यं-भावी है।

इस तरह जितने भी अज्ञानी व्यक्ति तृष्णा के आधीन हुए उसको तृप्त करने की कोशिश करते रहते हैं, उनके विषय में बुद्ध कहते हैं, कि वे संसार में फंसे रहते हैं, और अपने कृतकर्मों के फल अनुरूप नवीन व्यक्तित्व को जन्म देते हैं। यह कर्मशक्ति किस तरह अपना कार्य करती है, अभाग्यवश यह हमको नहीं वताया गया है। यह भी बुद्ध की "अनिश्चित वातों में से एक है। म० बुद्ध कर्म को कार्य शक्ति तो मानते हैं, परन्तु वह यह नहीं वतलाते कि वह किस तरह कार्य करती है। यही कारण है कि स्वयं बौद्ध ग्रन्थों में इस विषय पर पूर्वापर विरोधित मत मिलते हैं। जरा "मिलिन्द पन्ह" को ले लीजिए। एक स्थान पर इसमें केवल कर्म को ही दुःख व पीड़ा का कारण नहीं वतलाया है वल्कि पित्त श्लेष्म आदि के आधिक्यरूप आठ कारण और वतलाये हैं वे झूठे हैं। किन्तु इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कर्म के प्रभाव को सर्वोपरि स्वीकार किया है। कहा है कि यह कर्म ही है जो शेष सव कालों पर अधिकार जमाये हुये है। उसी की तूती सर्वथा वोलती है। इस तरह वौद्ध धर्म में कर्म सिद्धान्त का निरूपण भी पूर्ण रूप में नहीं मिलता है। इस कमताई का दोष म० बुद्ध पर आरोपित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन्होंने पहले ही सैद्धान्तिक वातावरण में आने से इन्कार कर दिया था। वे थे तत्कालीन परिस्थिति के सुधारक और सुधारक भी माध्यमिक कोटि के। इसलिए उनका सैद्धान्तिक विवेचन पूर्णता को लिए हुए न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। वौद्ध धर्म का सैद्धान्तिक विकास वहुत करके म० बुद्ध के उपरान्त का कार्य है।

किन्तु इतने पर भी यह स्पष्ट है कि म० बुद्ध के अनुसार भी संसार एक सनातन प्रवाह है, जिसका प्रारम्भ और अन्त अनन्त के गर्त में है, तथापि वह असत्तात्मक और कर्म के आश्रित हैं। कर्म स्वयं किसी मनुष्य का नैतिक कार्य नहीं वतलाया-गया है, परन्तु वह एक सार्वभौमिक सिद्धान्त माना गया है। उसे किसी वाह्य हस्तक्षेप को जरूरत नहीं है जो उसका फल प्रदान करे। कर्म स्वयं स्वाधीन है, इसलिए बुद्ध के निकट भी एक जगत नियन्त्रक ईश्वर की मानता को आदर प्राप्त नहीं है।

इस प्रकार सामान्यतः भगवान महावीर और म० बुद्ध का कर्म सिद्धान्त विवरण भी किंचित वाह्य सादृश्यता रखता है। कर्म का स्वभाव और प्रभाव दोनों ओर एक सा ही माना गया है किन्तु यह एकता केवल शब्दों में ही है। मूलमें दोनों में आकाशपाताल का अन्तर है। म० महावीर के अनुसार कर्म एक सूक्ष्म सत्तामय पौद्गलिक पदार्थ है, जो संसारी जीव के वन्धन का कारण है। म० बुद्ध के निकट वह असत्तात्मक नियम है। विद्वानों नेपरिणामतः खोज करकेयह प्रकट किया है कि म० बुद्धने कर्मसिद्धान्त की बहुत सी वातों को जैन धर्म से ग्रहण किया था। आश्रव, संवर शब्द, जो वौद्ध धर्म में शब्दार्थ में व्यहृत नहीं होते, मूल में जैन धर्म के हैं।

दूसरी ओर म० बुद्धके उपदेश के विपरीत भगवान महावीर का सिद्धान्त विवेचन आत्मवाद पर आश्रित था। आत्मा उसमें मुख्य मानी गई थी, जैसे हम देख चुके हैं। भगवान ने कहा था कि अनन्त काल से आत्मा का पुद्गल से सम्वन्ध है। यद्यपि यह आत्मा अपने स्वभाव में अनन्तदर्शन, अनंत ज्ञान, अनतवीर्य और अनंत सुख पूर्ण स्वाधीन है, किन्तु इसके उक्त सम्वन्ध ने इसके असली रूप को मलिन कर दिया है। इसी मलिनता के कारण वह संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रही है। इस तरह जो आत्मायें संसार परिभ्रमण में फ़ंसी हुई हैं, वे घोर यातनायें और पीड़ायें सहन करती हैं। उनका यह पौदगलिक सम्यन्ध उनमें इन्द्रियजनित इच्छाओं और वांछनाओं की ऐसा जवरदस्त तृष्णा उत्पन्न करता है कि वह दिन रात उसी में जला करती हैं। उनके साथ इस परिभ्रमण में एक कार्माण शरीर लगा रहता है, जो पुण्यमई और पाप मई कर्मवर्गणाओं का वना हुआ है। इस कर्माण शरीर में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्येक क्षण नवीन कर्म-वर्गणायें आती रहती हैं और

साप ही पुरानी भड़ती रहती है। ये कर्म वर्गणायें जो आत्मा में आश्रवित होती है वे किसी नियम काल के लिए ही आत्मा से सम्बन्धित होती हैं। ज्यों ही आत्मा को वस्तुस्थिति का भान होता है और उसे भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है, त्यों ही वह सांसारिक कार्यों और झूठे मोह से ममत्व त्याग देती है। इस दशा में वह आत्म ध्यान और तप उपवास का आश्रय लेती है, जिसके सहारे क्रमशः आत्मोन्नति करते हुए वह एक रोज कर्म बन्धनों से पूर्णतः मुक्त हो जाती है। भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य यही बतलाते हैं :—

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहण पडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिन्ति भुंजन्ति ॥ ६७ ॥

भावार्थ—आत्मा और कर्म पुद्गल दोनों एक दूसरे से बारबार सम्बन्धित होते हैं, किन्तु उचित काल में वे अलग२ हो जाते हैं। यही दुःख और सुख को उत्पन्न करते हैं जिनका अनुभव आत्मा को करना पड़ता है।

इस प्रकार मुख्यतः कर्म ही सर्व सांसारिक कार्यों का मूल कारण है। जो कुछ एक संसारी आत्मा बोता है, वही वह भोगता है। और जब कि यह कर्मबद्ध आत्मा ही शेष पांच द्रव्यों के साथ कार्य कर रहा है, तब संसार की सब क्रियायें इसी कर्म पर अवलम्बित हैं। इस कर्म का प्रभाव सारे लोक में व्याप्त है और संसार प्रवाह भी इस ही के बल पर चालू है। इसका फल अटल है। कभी जाहिराह में भले ही उसका फल कार्य करता नजर न आता हो, परन्तु तो भी सामान्यता कर्म निष्फल नहीं जा सकता। संसार में हम एक पापी को फूलता फलता अवश्य देखते हैं और एक पुण्यात्मा को दुःख उठाते, किन्तु इससे भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि पाप कर्मों का फल पापी को और पुण्य कर्मों का फल पुण्यात्मा को नहीं मिलेगा। जैनाचार्य कहते हैं :-

या हिंसावतोऽपि समृद्धिः अर्हत् पूजावतोऽपि दारिद्याप्तिः
साऽक्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुबन्धिनः पुण्यस्य पुण्यानुबन्धिनः
पापस्य च फलम्। तत् क्रियोपात्तं तु कर्मजन्मान्तरे फलिष्यतीति
नात्र नियतकार्यकारेण व्यभिचारः ॥

भावार्थ—पापी मनुष्य की अभिवृद्धि और अर्हत पूजारत पुण्यात्मा की दयाजनक स्थिति उन दोनों के पूर्व संचित कर्मों का फल समझना चाहिए। उनके इस जन्म के पाप और पुण्य दूसरे भव में अपना फल दिखावेंगे, इसलिए कर्म नियम किसी तरह बाधित नहीं है।

सचमुच भगवान महावीर सर्वज्ञ थे - साक्षात् परमात्मा थे - इसलिए उनका उपदेश वैज्ञानिक और व्यवस्थित होना ही चाहिए। इस ही के अनुरूप में जैन शास्त्रों जैसे - गोम्मटसार, पंचास्तिकायसार, आदि में कर्म सिद्धान्त का पूर्ण और वैज्ञानिक विवेचन ओतप्रोत भरा हुआ है। उसका सामान्य दिग्दर्शन कराना भी यहां मुश्किल है। तो भी यह स्पष्ट है कि कर्मसिद्धान्त के अस्तित्व और उसकी क्रिया से इन्कार नहीं किया जा सकता। कार्य कारण सिद्धान्त का प्राकृतिक नियम है, इस विषय में इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि आत्मा स्वयं अपने स्वभाव में ही क्रिया करता है और वह अपने आप अपने भाव का कारण है। वह कर्म की विविध अवस्थाओं का मूल कारण नहीं है, इसी तरह कर्म भी स्वयं अपनी पर्यायों का कारण है। वह स्वयं अपने आप में क्रियाशील है। श्री नेमिचन्द्राचार्य जी उनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट प्रकट कर देते हैं :-

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणम् ॥ ८ ॥ —द्रव्य संग्रह।

भावार्थ—व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा कर्म की पर्यायों का कारण है, अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा स्वयं अपने उपयोगमयी भावों का कारण है और शुद्धनिश्चय नये से वह पवित्र स्वाभाविक दशा का कारण है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संसारअवस्था में भटकती हुई आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था के गुणों का उपभोग करने में असमर्थ है इसकी अशुद्ध अवस्था में राग, द्वेष आदि जैसे विभाव उत्पन्न होते रहते हैं, जो इसके सांसारिक बंधन को और भी बढ़ाते हैं। भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य यही बतलाते हैं :—

भावनिमित्तो बन्धो भावोरदि रागद्वेषमोहजुदो।

अर्थात्—बन्ध भाव के आधीन है जो रति, राग द्वेष और मोह कर संयुक्त है। अतएव इस लोक में भरी हुई कर्मवर्गणाओं को आत्मा की ओर आकर्षित करते हैं वह भाव है, अर्थात् मिथ्यादर्शन, अवरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय रूप योग। यही भाव कर्मबद्ध आत्मा को शुभ और अशुभ क्रियाओं के अनुसार पाप और पुण्यमय कर्माश्रव के कारण हैं। इस तरह पर कर्म मुख्यता दो प्रकार का है :—(१) भावकर्म (२) और द्रव्यकर्म। आत्मा में उदय होने वाले भाव भावकर्म हैं और जो कर्मवर्गणायें उसमें आश्रवित होती है वह द्रव्य कर्म हैं। यह कर्मों का आगम "आश्रव" कहलाता है। यह जैन सिद्धान्त में स्वीकृत सात तत्वों में तीसरा तत्व है। जीव और अजीव प्रथम दो तत्व है।

इस सैद्धान्तिक विवेचन में जिस प्रकार उक्त तीन तत्व प्राकृत आवश्यक हैं, उसी तरह शेष के तत्व हैं। इनमें चौथा तत्व बंध हैं। यह आश्रवित कर्म को आत्मा से एक काल के लिए सम्बन्धित कराने के लिए आवश्यक ही है। इसका कार्य यही है, परन्तु इस बंध की अवधि उस समय के कषायों की तीव्रता पर अवलम्बित है, जिस समय कर्माश्रव हो रहा हो। इस अवधि में संचित कर्म अपना शुभाशुभ फल देता है और पूर्ण फल को देने पर आत्मा से अलग हो जाता है।

यहां तक तो कर्मों के संचय और उनके प्रभाव का दिग्दर्शन किया गया है, किन्तु पांचवें तत्व से इस कर्म से छुटकारा पाने का भाव शुरु होता है। वह तत्व संवर हैं। कर्मों से छुटकारा पाने के लिए उस नली का मुख बन्द करना आवश्यक है जिसमें से कर्माश्रव होता है। यह प्रतिरोध ही संवर हैं। मन वचन, काय के योग और उनके आधीन इन्द्रियजनित विषय वासनाओं पर विजय प्राप्त करना मानों आगामी कर्मों के आगमन का द्वार बन्द करना है। फिर इस अवस्था में केवल यही शेष रह जाता है कि जो कर्म सत्ता में हों उनको निकाल दिया जावे। यह निकालना छट्ठा तत्व निर्जरा है। और इसके द्वारा कर्मों को नियत समय से पहले ही झाड़ देना है। यह समय और तपश्चरण के अभ्यास से होता है। अन्ततः कर्मों से पूर्ण छुटकारा पाना सातवां तत्व मोक्ष हैं। मुक्त हुई आत्मा लोक की शिखिर पर स्थित सिद्ध शिला में पहुँच कर हमेशा के लिए अपने स्वभाव का भोक्ता बन जाती हैं। उस दशा में वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख का उपयोग करती है। इस प्रकार यह प्राकृतिक सिद्ध सात तत्व हैं और इनमें किसी प्रकार की कमावेशी करने की गुंजाइश नहीं है। इसलिए आज भी हमको यह उसी रूप में मिलते हैं जिस रूप में भगवान महावीर ने ढ़ाई हजार वर्ष पहले पुनः बतलाये थे। इन्हीं तत्वों में पुण्य और पाप मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं।

अब जरा पाठकगण, इन कर्म के भेदों पर भी एक दृष्टि डाल लीजिए, जो संसार प्रवाह में इतना मुख्य स्थान ग्रहण किये हुए है। भगवान महावीर ने सामान्यतः यह आठ प्रकार का बतलाया था, यथा—

(१) **ज्ञानावर्णीय**—ज्ञान को आवरण (ढकने) करने वाला कर्म।

(२) **दर्शनावर्णीय**—देखने की शक्ति में बाधा डालने वाला कर्म।

(३) **मोहनीय**—वह कर्म जो आत्मा के सम्यक् श्रद्धान् और आचरण में बाधक है।

(४) **अन्तराय**—वह कर्म जो आत्मा की स्वतन्त्रता में बाधक है।

(५) **वेदनीय**—वह कर्म जो आत्मा के सुख दुःख का अनुभव कराता है।

(६) **नाम**—वह कर्म जो आत्मा के संसार की विविध गतियों में ले जाने का कारण है, जैसे देव, मनुष्यादि।

(७) **गोत्र**—वह कर्म जो आत्मा के उच्च नीच कुल में जन्म लेने का कारण है।

(८) **आयु**—वह कर्म जो आत्मा के एक नियत काल तक एक गति में रखता है।

यह आठ प्रकार के कर्म पुनः अन्तर्भेदों में विभाजित है, जो कुल १४८ कर्म प्रकृतियां कहलाती हैं। जिस प्रकृति का जिस समय उदय होगा उस समय आत्मा की अवस्था वैसी ही हो जावेगी। इसकी सूक्ष्मता यहां तक व्याप्त है कि जीवित प्राणी के शरीर की हड्डियों को रचने वाला एक अस्थि नाम कर्म है। कोई दशा और कोई अवस्था कर्म प्रभाव के अतिरिक्त कुछ नहीं है और जब यह कर्म स्वयं प्राणी के मन, वचन, काय की क्रियाओं के अनुसार सत्ता में आता है, तब यह इस प्राणी के आधीन है वह चाहे जिस प्रकार के कर्मको अपने में संचय करे अथवा उसको बिल्कुल ही आश्रवित न होने देने का उपाय करे। मतलब यह कि मनुष्य का भविष्य स्वयं उसकी मुट्ठी में है। भगवान महावीर के बताये हुए कर्मवाद का पारगामी बिल्कुल स्वावलम्बी और स्वाधीन होता ही नजर आएगा। परावलम्बिता और पराश्रिता को यहां स्थान प्राप्त नहीं है। इस कर्मवाद का पूर्ण दिग्दर्शन गोम्मटसारादि जैन ग्रन्थों से करना आवश्यक है।

अब यह तो जान लिया कि इस अनादि निधन लोक में कर्मजनित परस्थिति में अनन्त आत्माएँ अपने स्वभाव को गंवायें भटक रहीं हैं, परन्तु इस भटकन का भी कोई क्रम है या नहीं ? भगवान महावीर ने इसका भी एक क्रम हमको बतलाया है। यह क्रम जीवन के विविध रूप नियत करता है। जैन धर्म में इनका उल्लेख 'गति' के नाम से किया गया है और ये चार प्रकार हैं (१) देवगति, (२) मनुष्य गति, (३) तिर्यंचगति, (४) नरक गति। देवगति में आत्मा स्वर्गों में जन्म लेता है, जहां विशेष ऐश्वर्य और सुख का उपभोग वह करता है, किन्तु यहां भी वह दुःख और पीड़ा से बिलकुल मुक्त नहीं है। दूसरी गति मनुष्य भव है और इसके भाग्य में सुख और दुःख दोनों ही बदे हैं, तिस पर उसमें दुःख की मात्रा ही अधिक है। तीसरी तिर्यंच गति में पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, वृक्ष, लता, अग्नि, जल, वायु आजीवन—गवर्गभित हैं। इस गति में आत्मा को और अधिक दुःख और पीड़ा भुगतनी पड़ती है। अंतिम नरक गति नर्क का वास है। यहां घोर दुःख और असह्य पीड़ायें सहन करनी पड़ती हैं। इन चार की भी अन्तर्दशायें हैं, परन्तु इन सब का लक्षण जीना और मरना ही है। इन गतियों में से आत्मा किसी भी गति में जावे उसके शुभाशुभ कर्म अपने आप उसके साथ जावेंगे। इसलिए किसी भव में भी उपार्जन किया हुआ पुण्य अकारथ नहीं जाता है। इनमें से स्वर्ग और नर्क की वासी आत्मायें अपने आयु के पूरे दिनों का उपभोग करतीं हैं—इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती, परन्तु शेष दो गतियों के जीव अपनी आयु के पूर्ण होने के पहले भी मरण कर जाते हैं। नरक गति में शरीर के टुकड़े २ कर दिये जावें, परन्तु वह नष्ट नहीं होता। पारे की तरह वह अलग होकर भी जुड़ जाता है। तिर्यंचगति में दो प्रकार के जीव हैं—(१) समनस्क अर्थात् मनवाले और (२) अमनस्क अर्थात् बिना मन वाले जीव। यह फिर स्थावर—जो चल फिर न सकें और त्रस—जो चल फिर सकें के रूप से दो प्रकार हैं। जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, वनस्पति आदि के रूप की आत्मायें स्थावर हैं। वे एक इन्द्री रखते हैं और भय लगने पर भी भाग नहीं सकते हैं। और त्रस, पशु, पक्षी आदि हैं। मनुष्य मुख्यतः आर्य और म्लेच्छ दो भागों में विभाजित हैं।

प्रत्येक संसारी आत्मा के उसकी गति के अनुसार एक प्रकार के प्राण भी हैं। यह प्राण संसारी आत्मा के शरीर द्वारा प्रगट हुए उपयोग का एक रूप है। ये कुल दस हैं (१) पांच इन्द्रिया (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र) (६) मन शक्ति, (७) वचन शक्ति, (८) कायशक्ति, (९) आयु और (१०) श्वासोश्वास। इन प्राणों के अनुसार ही आत्मा कर्म संचय कर सकती है और कषायों को रख सकती है इसीलिए आत्माओं की छः लेश्यायें बताई है। इनसे आत्मा के कषायों की तीव्रता ज्ञात होती हैं। यह मक्खलि गोशाल के छः अभिजाति सिद्धान्त के समान नहीं है। उसके अनुसार तो मनुष्य आत्मायें ही छः प्रकार की ठहरती हैं, परन्तु जैन सिद्धान्त में सब आत्मायें अपने असली रूप में एक समान बताई गई हैं।

म० बुद्ध ने भी व्यक्ति के छः प्रकार के जीवन बताये हैं, और यह संभवतः स्वर्ग, नर्क, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्रेत और असुर रूप हैं। जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी में बुद्ध ने जीव स्वीकार नहीं किया है यद्यपि वनस्पति में जोव स्वीकार किया गया प्रतीत होना है। परन्तु इनमें से किसी का भी पूर्ण मार्मिक विवरण हमें बौद्ध धर्म में सामान्यतः नहीं मिलता है। इतना ज्ञात है कि पुण्य पाप में कर्म जो अज्ञानता के कारण किये जाते हैं उनसे इन जीवों में व्यक्ति का सद्भाव होता है।

यह जानने का प्रयत्न करने पर कि यह जीवन क्रम लोक में किस तरह पर अवस्थित है, म० बुद्ध बतलाते है कि इस लोक में अगणित संसार क्षेत्र हैं, जिनके अपने २ स्वर्ग और नर्क हैं।

जहां तक एक सूर्य अथवा चन्द्रमा का प्रकाश पहुँचता है, वहां तक का प्रदेश एक सक्वल कहलाता है। प्रत्येक सक्वल में पृथ्वी, खण्ड, प्रान्त, द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि होते हैं और उसके मध्य में "महामेरु" पर्वत होता है। प्रत्येक सक्वल का आधार "अजताकाश" है, जिसके ऊपर "वापोलोव" अर्थात् वायुपटल ९६० योजन मोटा है। वापोलोव के बाद जनपोलोव है जो ४८०,००० योजन मोटाई का है। ठीक इसके ऊपर महापोलोव अर्थात् पृथ्वी है जो २४०,००० योजन मोटी है। इस तरह प्रत्येक सक्वल अर्थात् क्षेत्र को म० बुद्ध ने तीन प्रकार के पटलों से वेष्ठित बतलाया था। यहां भी जैन सिद्धान्त की सादृश्यता दृष्टव्य है। अगाड़ी पाठक देखेंगे कि जैन सिद्धान्त में भी लोक को तीन वलयों से वेष्टित किस तरह बतलाया गया है। महामेरु जैन धर्म का सुमेरु पर्वत प्रतीत होता है। बौद्ध इसे १६८००० योजन ऊँचा और इसके शिखर पर "तवुतिश" नामक देवलोक बतलाते हैं। जैनियों का सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊंचा है और उसकी शिखिर के किंचित अन्तर से स्वर्ग लोक के विमान प्रारम्भ होते बताये गये हैं। इससे एक बाल बराबर अन्तर पर सौधर्म स्वर्ग का विमान है। यहां भी सादृश्यता दृष्टव्य है। उपरान्त प्रत्येक सक्वल या पृथ्वी में चार द्वीप की गणना बौद्ध शास्त्रों में की गई है अर्थात् (१) उत्तर कुरुदिवयिन जो महामेरु की उत्तर और चौकोंने ८००० योजन के विस्तार का है, (२) पूर्व विदेश—जो महामेरु की पूर्व की ओर अर्धचन्द्राकार ७००० योजन विस्तार का है, (३) अपरगोदान, जो महामेरु की पश्चिम ओर गोल दर्पण के आकार का ७००० योजन के विस्तार

का है, (४) और जम्बूद्वीप जो महामेरु की दक्षिण ओर त्रिकोन आकार का १०००० योजन के विस्तार का है। जैन विवरण इससे नहीं मिलता है। वहां मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि अनेक द्वीप समुद्र वताये हैं। इन द्वीप समुद्रों के ठीक वीचों वीच में जम्बूद्वीप वतलाया है जो गोल आकार का है और जिसके मध्य में मनुष्य शरीर में नाभि की भांति मेरु पर्वत है। जम्बू द्वीप एक लाख योजन के विस्तार का है। उत्तर कुरु और पूर्व विदेह उसमें वे क्षेत्र हैं जहाँ भोग भूमि है, परन्तु बौद्धों के अपरगोदान द्वीप का पता कहीं नहीं लगता है। बौद्धों ने अपने उत्तर कुरुदिवयिन द्वीप का जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि वे भी वहां एक तरह की भोगभूमि मानते हैं। उनके अनुसार वहां के निवासी चौकोल मुख के हैं, जो न कभी वीमार होते हैं और न कोई आकस्मिक घटना उन पर घटित होती है। स्त्री पुरुष दोनों ही सदा षोड़शवर्षीय सुन्दर अवस्था को धारण किये रहते हैं। वे कोई काम धन्धा नहीं करते हैं, क्योंकि जो कुछ वे चाहते हैं वह उनको कल्पवृक्षों से मिल जाता है। यह वृक्ष १०० योजन ऊंचे हैं। वहां माता, पिता, भाई आदि का कोई रिश्ता नहीं है। स्त्रियां देवों से भी सुन्दर हैं। वहां वर्षा नहीं होती जिससे घरों की भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यों की आयु यहां एक हजार वर्ष है। यह विवरण जैनियों की भोगभूमि से वहुत मिलता जुलता है। यद्यपि वहां भोग भूमियों की आयु वहुत ज्यादा वतलाई है। इस भेद का कारण यही है कि जैन धर्म में संख्या परिमाण बौद्धों से बहुत अधिक है। बौद्धों की उत्कृष्ट संख्या असंख्यात है, जबकि जैनों की संख्या इससे बढ़ कर अनन्त रूप है। बुद्ध यह मानते हैं कि यह लोकप्रवाह सनातन है, परन्तु वह इस बात को भी जैनियों के साथ साथ स्वीकार करते हैं कि उन देशों का नाश और उत्पाद भी होता है, जिनमें मनुष्य रहते हैं। नाश के तरीके वे तीन प्रकार वतलाते हैं अर्थात् सक्वलें सातवार तो अग्नि से नष्ट होते हैं, आठवीं वार पानी से और हर ६४वीं दफे हवा से। उनमें इस नाशकर्म का व्यवहार कल्पों पर नियत रक्खा है। कहा गया है कि जिस अन्तराल काल में मनुष्य की आयु १० वर्ष से बढ़ते बढ़ते एक असंख्य की हो जाती है वह बौद्धों का एक अन्तःकल्प होता है। इन २० अन्तःकल्पों का एक असंख्य कल्प होता है और चार असंख्य कल्प का एक महाकल्प होता है। जैन धर्म में भी कल्पकाल माने गये हैं, परन्तु उनका परिणाम इनसे कहीं अधिक है। जैनियों ने दस कोड़ाकोड़ी व्यवहार सागरोपमकाल का एक अवसर्पिणीकाल माना है और बीस कोड़ाकोड़ी व्यवहार सागरोपमकाल—एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी दोनों का एक कल्पकाल माना है। तथापि असंख्यात उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी का एक महाकल्प-काल माना है इनके विशद विवरण के लिए त्रिलोक-सार वृहद जैन शब्दार्णव आदि ग्रन्थ देखना चाहिए। यहां तो मात्र सामान्य दिग्दर्शन कराना ही संभव है। सारांशतः कल्पकाल का भेद जैन और बौद्ध मानता में स्पष्ट है। अगाड़ी बौद्धशास्त्र एक अन्तः कल्प में आठ युग वतलाते हैं, जिनमें चार उत्सर्पिणी और चार अप्पर्णी कहलाते हैं। उनके उत्सर्पिणी में हर बात की वृद्धि होती है—इसलिए वह उर्द्धमुख भी कहाती है और अप्पर्णी में घटती, इस हेतु वह अधोमुख कही जाती। यहां भी जैन धर्म का प्रभाव दृष्टव्य है। भगवान महावीर ने भी कल्पकाल के दो भेद उत्सर्पिणी और अविसर्पिणी वतलाये हैं। इनका प्रभाव भी वही वतलाया गया है जो बौद्धों के उत्सर्पिणी और अर्प्पिणी युगो का वतलाया गया है। सचमुच नाम और भाव की सादृश्यता इस बात की प्रकट साक्षी है कि म० बुद्ध ने अपने कालनिर्णय में भी अपने प्रारम्भिक श्रद्धान के धर्म जैनधर्म से वहुत कुछ लिया था। हां, यहां यह अन्तर वेशक है कि जब म० बुद्ध ने उत्सर्पिणी और अर्प्पिणी दोनों में प्रत्येक के चार-चार युग बतलाते हैं, तब जैन शास्त्रों में उत्सर्प्पिणी और अवसर्प्पिणी अर्ध कल्पों में प्रत्येक में छै काल होते लिखे हैं, अर्थात् (१) सुखमा-सुखमा, (२) सुखमा, (३) सुखमा-दुःखमा, (४) दुःखमा-सुखमा, (५) दुःखमा, और (६) दुःखमा-दुःखमा। यह क्रम अविसर्प्पिणी अर्धकल्प का है। उत्सर्प्पिणी अर्धकल्प में प्रत्येक पदार्थ की उन्नति होती है, इसलिये उसका पहला काल दुःखमा दुःखमा है और फिर इसी क्रम से अन्यकाल समझना चाहिए। बौद्धों ने अपने उत्सार्प्पिणी के चार युग (१) कलि, (२) द्वापुर, (३) त्रेता, और (४) कृत वतलायें हैं। एवं उनके अर्प्पिणी के युगों का क्रम इनसे वरअक्स है अर्थात् उसमें प्रथम युग कृत है और शेष भी इसी तरह क्रमवार है। इन युगों के नाम ब्राह्मण धर्म के समान हैं। इस तरह यह अनुमान किया जा सकता है कि यहां भी बुद्ध ने अपने से प्राचीन धर्म जैन और ब्राह्मण धर्म से से उचित सहायता ग्रहण की थी।

अब पाठकगण, जरा आइए म० बुद्ध के वताये हुए लोक प्रलय का भी किंचित् दिग्दर्शन कर लें। कहा गया है कि एक कल्प के प्रारम्भ में वर्षा होती है—इसे 'सम्पत्ति कर-महा-मेघ' कहते हैं। यह उन सर्व व्यक्तियों के समूहरूप पुण्य के बल से उत्पन्न होता है, जो ब्रह्मलोकों और वाहरी सक्वलों में रहते हैं। पहले बूंदें ओस की तरह छोटी-छोटी होती हैं, परन्तु वे धीरे-धीरे बढ़ते हुए खजूर के पेड़ इतनी बड़ी हो जाती है। वह सब स्थान जहाँ पहले के केललक्ष लोक अग्नि से नष्ट हो चुके हैं, अब ताजे पानी से भर जाते है। यह ध्यान रहे कि बौद्ध जन पहले सातवार अग्नि द्वारा मनुष्य लोक का नाश होना मानते हैं। इसी तरह इस कल्पना के प्रारम्भ में यहां अग्नि द्वारा नाश हुआ था। नष्ट हुए स्थान जहां जल से भरे कि यह वर्षा बन्द हुई। वर्षा

अब यह तो जान लिया कि इस अनादि निधन लोक में कर्मजनित परस्थिति में अनन्त आत्माएँ अपने स्वभाव को गंवायें भटक रहीं हैं, परन्तु इस भटकन का भी कोई क्रम है या नहीं ? भगवान महावीर ने इसका भी एक क्रम हमको बतलाया है। यह क्रम जीवन के विविध रूप नियत करता है। जैन धर्म में इनका उल्लेख 'गति' के नाम से किया गया है और ये चार प्रकार हैं (१) देवगति, (२) मनुष्य गति, (३) तिर्यचगति, (४) नरक गति। देवगति में आत्मा स्वर्गों में जन्म लेता है, जहां विशेष ऐश्वर्य और सुख का उपभोग वह करता है, किन्तु यहां भी वह दुःख और पीड़ा से बिलकुल मुक्त नहीं है। दूसरी गति मनुष्य भव है और इसके भाग्य में सुख और दुःख दोनों ही बदे हैं, तिस पर उसमें दुःख की मात्रा ही अधिक है। तीसरी तिर्यंच गति में पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, वृक्ष, लता, अग्नि, जल, वायु आजीवन—भवगर्भित हैं। इस गति में आत्मा को और अधिक दुःख और पीड़ा भुगतनी पड़ती है। अंतिम नरक गति नर्क का वास है। यहां घोर दुःख और असह्य पीड़ायें सहन करनी पड़ती हैं। इन चार की भी अन्तर्दशायें हैं, परन्तु इन सब का लक्षण जीना और मरना ही है। इन गतियों में से आत्मा किसी भी गति में जावे उसके शुभाशुभ कर्म अपने आप उसके साथ जावेंगे। इसलिए किसी भव में भी उपार्जन किया हुआ पुण्य अकारथ नहीं जाता है। इनमें से स्वर्ग और नर्क की वासी आत्मायें अपने आयु के पूरे दिनों का उपभोग करतीं हैं—इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती, परन्तु शेष दो गतियों के जीव अपनी आयु के पूर्ण होने के पहले भी मरण कर जाते हैं। नरक गति में शरीर के टुकड़े २ कर दिये जायं, परन्तु वह नष्ट नहीं होता। पारे की तरह वह अलग होकर भी जुड़ जाता है। तिर्यचगति में दो प्रकार के जीव हैं—(१) समनस्क अर्थात् मनवाले और (२) अमनस्क अर्थात् बिना मन वाले जीव। यह फिर स्थावर—जो चल फिर न सकें और त्रस—जो चल फिर सकें के रूप से दो प्रकार हैं। जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, वनस्पति आदि के रूप की आत्मायें स्थावर हैं। वे एक इन्द्री रखते हैं और भय लगने पर भी भाग नहीं सकते हैं। और त्रस, पशु, पक्षी आदि हैं। मनुष्य मुख्यतः आर्य और म्लेच्छ दो भागों में विभाजित हैं।

प्रत्येक संसारी आत्मा के उसकी गति के अनुसार एक प्रकार के प्राण भी हैं। यह प्राण संसारी आत्मा के शरीर द्वारा प्रगट हुए उपयोग का एक रूप है। ये कुल दस हैं (१) पांच इन्द्रिया (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र) (६) मन शक्ति, (७) वचन शक्ति, (८) कायशक्ति, (९) आयु और (१०) श्वासोश्वास। इन प्राणों के अनुसार ही आत्मा कर्म संचय कर सकती है और कषायों को रख सकती हैं इसीलिए आत्माओं की छः लेश्यायें बताई है। इनसे आत्मा के कषायों की तीव्रता ज्ञात होती हैं। यह मक्खलि गोशाल के छः अभिजाति सिद्धान्त के समान नहीं है। उसके अनुसार तो मनुष्य आत्मायें ही छः प्रकार की ठहरती हैं, परन्तु जैन सिद्धान्त में सब आत्मायें अपने असली रूप में एक समान बताई गई हैं।

म० बुद्ध ने भी व्यक्ति के छः प्रकार के जीवन बताये हैं, और यह संभवतः स्वर्ग, नर्क, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्रेत और असुर रूप हैं। जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी में बुद्ध ने जीव स्वीकार नहीं किया है यद्यपि वनस्पति में जोव स्वीकार किया गया प्रतीत होता है। परन्तु इनमें से किसी का भी पूर्ण मार्मिक विवरण हमें बौद्ध धर्म में सामान्यतः नहीं मिलता है। इतना ज्ञात है कि पुण्य पाप में कर्म जो अज्ञानता के कारण किये जाते हैं उनसे इन जीवों में व्यक्ति का सद्भाव होता है।

यह जानने का प्रयत्न करने पर कि यह जीवन क्रम लोक में किस तरह पर अवस्थित है, म० बुद्ध बतलाते है कि इस लोक में अगणित संसार क्षेत्र हैं, जिनके अपने २ स्वर्ग और नर्क हैं।

जहां तक एक सूर्य अथवा चन्द्रमा का प्रकाश पहुँचता है, वहां तक का प्रदेश एक सक्वल कहलाता है। प्रत्येक सक्वल में पृथ्वी, खण्ड, प्रान्त, द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि होते हैं और उसके मध्य में "महामेरु" पर्वत होता है। प्रत्येक सक्वल का आधार "अजताकाश" है, जिसके ऊपर "वापोलोव" अर्थात् वायुपटल ९६० योजन मोटा है। वापोलोव के बाद जनपोलोव है जो ४८०,००० योजन मोटाई का है। ठीक इसके ऊपर महापोलोव अर्थात् पृथ्वी है जो २४०,००० योजन मोटी है। इस तरह प्रत्येक सक्वल अर्थात् क्षेत्र को म० बुद्ध ने तीन प्रकार के पटलों से वेष्ठित बतलाया था। यहां भी जैन सिद्धान्त की सादृश्यता दृष्टव्य है। अगाड़ी पाठक देखेंगे कि जैन सिद्धान्त में भी लोक को तीन वलयों से वेष्टित किस तरह बतलाया गया है। महामेरु जैन धर्म का सुमेरु पर्वत प्रतीत होता है। बौद्ध इसे १६८००० योजन ऊँचा और इसके शिखर पर "तवुतिश" नामक देवलोक बतलाते हैं। जैनियों का सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊंचा है और उसकी शिखिर के किंचित अन्तर से स्वर्ग लोक के विमान प्रारम्भ होते बताये गये हैं। इससे एक बाल बराबर अन्तर पर सौधर्म स्वर्ग का विमान है। यहां भी सादृश्यता दृष्टव्य है। उपरान्त प्रत्येक सक्वल या पृथ्वी में चार द्वीप की गणना बौद्ध शास्त्रों में की गई है अर्थात् (१) उत्तर कुरुदिवयिन जो महामेरु की उत्तर और चौकोंने ८००० योजन के विस्तार का है, (२) पूर्व विदेश—जो महामेरु की पूर्व की ओर अर्धचन्द्राकार ७००० योजन विस्तार का है, (३) अपरगोदान, जो महामेरु की पश्चिम ओर गोल दर्पण के आकार का ७००० योजन के विस्तार

का है, (४) और जम्बूद्वीप जो महामेरु की दक्षिण और त्रिकोन आकार का १०००० योजन के विस्तार का है। जैन विवरण इससे नहीं मिलता है। वहां मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि अनेक द्वीप समुद्र वताये हैं। इन द्वीप समुद्रों के ठीक बीचों बीच में जम्बूद्वीप वतलाया है जो गोल आकार का है और जिसके मध्य में मनुष्य शरीर में नाभि की भांति मेरु पर्वत है। जम्बू द्वीप एक लाख योजन के विस्तार का है। उत्तर कुरु और पूर्व विदेह उसमें वे क्षेत्र हैं जहाँ भोग भूमि है, परन्तु वौद्धों के अपरगोदान द्वीप का पता कहीं नहीं लगता है। वौद्धों ने अपने उत्तर कुरुदिवयिन द्वीप का जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि वे भी वहां एक तरह की भोगभूमि मानते हैं। उनके अनुसार वहां के निवासी चौकोल मुख के हैं, जो न कभी वीमार होते हैं और न कोई आकस्मिक घटना उन पर घटित होती है। स्त्री पुरुष दोनों ही सदा षोड़शवर्षीय सुन्दर अवस्था को धारण किये रहते हैं। वे कोई काम धन्धा नहीं करते हैं, क्योंकि जो कुछ वे चाहते हैं वह उनको कल्पवृक्षों से मिल जाता है। यह वृक्ष १०० योजन ऊंचे हैं। वहां माता, पिता, भाई आदि का कोई रिश्ता नहीं है। स्त्रियां देवों से भी सुन्दर हैं। वहां वर्षा नहीं होती जिससे घरों की भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यों की आयु यहां एक हजार वर्ष है। यह विवरण जैनियों की भोगभूमि से वहुत मिलता जुलता है। यद्यपि वहां भोग भूमियों की आयु वहुत ज्यादा वतलाई है। इस भेद का कारण यही है कि जैन धर्म में संख्या परिमाण वौद्धों से वहुत अधिक है। वौद्धों की उत्कृष्ट संख्या असंख्यात है, जवकि जैनों की संख्या इससे वढ़ कर अनन्त रूप है। वुद्ध यह मानते हैं कि यह लोकप्रवाह सनातन है, परन्तु वह इस वात को भी जैनियों के साथ साथ स्वीकार करते हैं कि उन देशों का नाश और उत्पाद भी होता है, जिनमें मनुष्य रहते हैं। नाश के तरीके वे तीन प्रकार वतलाते हैं अर्थात् सक्वलें सातवार तो अग्नि से नष्ट होते हैं, आठवीं वार पानी से और हर ६४वीं दफे हवा से। उनमें इस नाशकर्म का व्यवहार कल्पों पर नियत रक्खा है। कहा गया है कि जिस अन्तराल काल में मनुष्य की आयु १० वर्ष से वढ़ते वढ़ते एक असंख्य की हो जाती है वह वौद्धों का एक अन्तःकल्प होता है। इन २० अन्तःकल्पों का एक असंख्य कल्प होता है और चार असंख्य कल्प का एक महाकल्प होता है। जैन धर्म में भी कल्पकाल माने गये हैं, परन्तु उनका परिणाम इनसे कहीं अधिक है। जैनियों ने दस कोड़ाकोड़ी व्यवहार सागरोपमकाल का एक अवसर्पिणीकाल माना है और वीस कोड़ाकोड़ी व्यवहार सागरोपमकाल—एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी दोनों का एक कल्पकाल माना है। तथापि असंख्यात उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी का एक महाकल्प-काल माना है इनके विशद विवरण के लिए त्रिलोक-सार वृहद जैन शब्दार्णव आदि ग्रन्थ देखना चाहिए। यहां तो मात्र सामान्य दिग्दर्शन कराना ही संभव है। सारांशतः कल्पकाल का भेद जैन और वौद्ध मानता में स्पष्ट है। अगाड़ी वौद्धशास्त्र एक अन्तः कल्प में आठ युग वतलाते हैं, जिनमें चार उत्सर्पिणी और चार अप्पर्णी कहलाते हैं। उनके उत्सर्पिणी में हर वात की वृद्धि होती है—इसलिए वह उर्द्धमुख भी कहाती है और अप्पर्णी में घटती, इस हेतु वह अधोमुख कही जाती। यहां भी जैन धर्म का प्रभाव दृष्टव्य है। भगवान महावीर ने भी कल्पकाल के दो भेद उत्सर्पिणी और अविसर्पिणी वतलाये हैं। इनका प्रभाव भी वही वतलाया गया है जो वौद्धों के उत्सर्पिणी और अप्पिणी युगों का वतलाया गया है। सचमुच नाम और भाव की सादृश्यता इस वात की प्रकट साक्षी है कि म० वुद्ध ने अपने कालनिर्णय में भी अपने प्रारम्भिक श्रद्धान के धर्म जैनधर्म से वहुत कुछ लिया था। हां, यहां यह अन्तर वेशक है कि जव म० वुद्ध ने उत्सर्पिणी और अप्पिणी दोनों में प्रत्येक के चार-चार युग वतलाते हैं, तव जैन शास्त्रों में उत्सर्प्पिणी और अवसर्प्पिणी अर्ध कल्पों में प्रत्येक में छै काल होते लिखे हैं, अर्थात् (१) सुखमा-सुखमा, (२) सुखमा, (३) सुखमा-दुःखमा, (४) दुःखमा-सुखमा, (५) दुःखमा, और (६) दुःखमा-दुःखमा। यह क्रम अविसर्प्पिणी अर्धकल्प का है। उत्सर्प्पिणी अर्धकल्प में प्रत्येक पदार्थ की उन्नति होती है, इसलिये उसका पहला काल दुःखमा दुःखमा है और फिर इसी क्रम से अन्यकाल समझना चाहिए। वौद्धों ने अपने उत्सर्प्पिणी के चार युग (१) कलि, (२) द्वापुर, (३) त्रेता, और (४) कृत वतलायें हैं। एवं उनके अप्पिणी के युगों का क्रम इनसे वरअक्स है अर्थात् उसमें प्रथम युग कृत है और शेष भी इसी तरह क्रमवार है। इन युगों के नाम ब्राह्मण धर्म के समान हैं। इस तरह यह अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ भी वुद्ध ने अपने से प्राचीन धर्म जैन और ब्राह्मण धर्म से से उचित सहायता ग्रहण की थी।

अव पाठकगण, जरा आइए म० वुद्ध के वताये हुए लोक प्रलय का भी किंचित् दिग्दर्शन कर लें। कहा गया है कि एक कल्प के प्रारम्भ में वर्षा होती है—इसे 'सम्पत्ति कर-महा-मेघ' कहते हैं। यह उन सर्व व्यक्तियों के समूहरूप पुण्य के वल से उत्पन्न होता है, जो ब्रह्मलोकों और वाहरी सक्वलों में रहते हैं। पहले वूंदें ओस की तरह छोटी-छोटी होती हैं, परन्तु वे धीरे-धीरे वढ़ते हुए खजूर के पेड़ इतनी वड़ी हो जाती है। वह सव स्थान जहाँ पहले के केललक्ष लोक अग्नि से नष्ट हो चुके हैं, अव ताजे पानी से भर जाते है। यह ध्यान रहे कि वौद्ध जन पहले सातवार अग्नि द्वारा मनुष्य लोक का नाश होना मानते हैं। इसी तरह इस कल्पना के प्रारम्भ में यहां अग्नि द्वारा नाश हुआ था। नष्ट हुए स्थान जहां जल से भरे कि यह वर्षा वन्द हुई। वर्षा

हे बन्द होने पर एक हवा चलती है, जिससे भरा हुआ पानी प्रायः सूख जाता है, केवल समुद्रों के लायक ही पानी रह जाता है। :सके दीर्घकाल उपरान्त यहां शेखर (इन्द्र) का महल प्रकट होता है, जो सर्व प्रथम रचना होती है। महल के बाद नीचे के ब्रह्म-लोक और देव लोक की सृष्टि हो जाती है। इन्द्र इसी समय आकर कमलपुष्पों को देखते हैं। यदि कमलपुष्प हुए तो जान लिया जाता है कि इस कल्प में बुद्ध होंगे। बुद्धों के वस्त्र, कमण्डल आदि भी यहीं उत्पन्न हो जाते हैं। इन्द्र पृथ्वी का अंधकार मेटकर "न वस्त्रादि को उठा ले जाता है। पहले लोक के नाश होते समय यहां के पुण्यात्मा जीव अभस्सर ब्रह्मलोक में जन्म ले लेते हैं। वही यहां फिर बसते हैं। उनका जन्म छायारूप होता है। इसलिए उनके शरीर में देवलोक के कतिपय लक्षण यहां भी शेष रह जाते हैं। उन्हें भोजन की आवश्यकता प्रायः नहीं पड़ती, वे आकाश में उड़ सकते हैं। उनके शरीर की प्रभा इतनी विशद होती है कि उस समय सूर्य और चन्द्रमा की आवश्यकता नहीं होती है। इस हेतु वहां ऋतुयें भी नहीं होती हैं। और न दिन-रात का भेद होता है। तथापि उन लोगों में लिंगभेद भी नहीं बतलाया गया है। कई युगों तक यह ब्रह्मलोक के वासी आनन्द से इसी तरह यहां रहते हैं। उपरान्त पृथ्वी पर एक ऐसा पदार्थ उगता दिखाई पड़ता है जैसे दूध पर मलाई पड़ती है। एक ब्रह्म उसे उठाकर चाट लेता है। इसके स्वाद को चाट सबको पड़ जाता है और यह अधिक-अधिक खाया जाता है। बस इस ही के बदौलत यह ब्रह्मलोग अपनी विशुद्धता गंवा देते हैं, जिससे इनके शरीर की प्रभा मन्द पड़ जाती है। इस पर सूर्य-चन्द्र आदि प्रकाश देने वाले पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है। इनकी उत्पत्ति भी वे मिलकर अपने पुण्यबल के प्रभाव से कर लेते हैं। बौद्ध धर्म में नाश और उत्पत्ति व्यक्तियों के पाप और पुण्य बल के कारण होते बतलाये गये हैं। इस तरह सूर्य—चन्द्र द्वारा किये गये दिन रात के भेद में रहते हुए और पृथ्वी का पदार्थ खाते हुए इन लोगों के शरीरों की त्वचा कड़ी पड़ जाती है, जिससे किसी का रंग काला और किसी का जरा स्वच्छ रहता है। इस पर यह आपस में मान-घमण्ड करके लड़ते हैं। परिणामतः वह पदार्थ लुप्त हो जाता है और एक तरह का मक्खन-मिश्री-मिश्रित पदार्थ सिरज जाता है। इस पर भी लड़ाई होती है। आखिर लतादि उत्पन्न होते-होते चावल उत्पन्न होते हैं, जिनको खाने से इन लोगों के शरीर आजकल के मनुष्यों जैसे होते हैं, जिससे कषाय और विषय वासनायें आकर सताने लगतीं हैं। इस पर वह ब्रह्मलोग जो पवित्रता से रहते हैं अपने उन साथियों को निकाल बाहर कर देते हैं जो विषयवासना के वशीभूत होकर पवित्रता से हाथ धो बैठते हैं। यह बहिष्कृत ब्रह्मलोक अलग जाकर एकान्त में मकान बनाकर रहने लगते हैं। यहाँ रहकर वे आलस्य से प्रेरित कई दिन के लिए इकट्ठे चावल ले आने लगते हैं। इस पर चावल धान रूप में पलट जाते हैं और जहां से एक दफे वे काटे गये वहां फिर वे नहीं उगने लगते हैं। इस दुर्भाग्य से उन्हीं को आपस में खेतों को बांट लेना पड़ता है, किन्तु कतिपय ब्रह्म अपने भाग से संतुष्ट नहीं होते हैं। सो वे दूसरों के भाग में से धान चुराने लगते हैं। इस पर एक नियत्रण की आवश्यकता उत्पन्न होती है जिसके अनुसार सब ब्रह्म एकत्रित होकर अपने में से एक को अपना सरदार चुन लेते हैं। यह सम्मत कहलाता है। वह खेतों पर अधिकारी होने के कारण ही 'खत्तियो' या क्षत्रिय नाम से प्रसिद्ध होता है। उसकी सन्तान भी इसी नाम से विख्यात हुई। और इस तरह राज्यवंश अथवा क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति हो जाती है। उन ब्रह्मों में कतिपय ऐसे भी होते हैं जो बदमाशों की बदमाशी देखकर अपने को संयम में रखने का अभ्यास करने लगते हैं। इस अभ्यास के कारण वे ब्राह्मण कहलाते हैं और इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि हो जाती है। उनमें ऐसे भी ब्रह्म होते हैं जो शिल्पादि कलाओं में निपुण होते हैं और इस निपुणता से वे सम्पत्ति एकत्रित करते हैं। यही लोग वैश्य नाम से प्रगट होते हैं। अन्ततः ऐसे भी नीच प्रकृति के ब्रह्म हैं जो आखेट खेलते हैं। इसलिए वे लुद्द या सुद्द कहलाने लगते हैं। इस प्रकार प्राकृत चार वर्ण उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि मूल में वह एक ही जाति ब्रह्मरूप होते हैं। इन्हीं में से जो गृह त्यागकर जंगल का वास ग्रहण करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। इस तरह संसार प्रवाह चल जाता है। उपरान्त नियत संयम में पुनः अग्नि द्वारा पृथ्वी का नाश होता है और इसी ढंग से सृष्टि होती है। इसी तरह नियत समय में अग्नि, जल और वायु से नाश नियमानुसार होता रहता है, जिसका विशद विवरण बौद्ध ग्रन्थों अथवा Manual of Buddhism से जानना चाहिए।

इस प्रकार म० बुद्ध ने इस पृथ्वी का नाश और उत्पादक्रम बतलाया था। इसमें भी जैन सदृशता बहुत कुछ दृष्टि पड़ रही है। जैन शास्त्रों में कहा गया है कि प्रत्येक अवसर्पिणी अन्तिम काल के अन्त समय में (भरत और ऐरावत क्षेत्रों में ही) पानी सब सूख जाता है—शरीर की भांति नष्ट हो जाता है। इस समय सब प्राणियों का प्रलय हो जाता है। केवल थोड़े से जीव गंगा, सिंधु और विजयार्ध पर्वत की वेदिका पर विश्राम पाते हैं। यह लोग मछली, मेंढ़क आदि खाकर रहते हैं। तथापि अन्य दुराचारी जीव छोटे-छोटे बिलों में घुस जाते हैं। साथ ही यह ध्यान रहे कि जैनधर्म और अग्नि का लोप पांचवें ही काल में हो चुकता है। तदनंतर सात दिन तक अग्नि की वर्षा, सात दिन तक शीत जल की, सात दिन तक खारे पानी की, सात दिन तक विष की, सात दिन तक दुस्सह अग्नि की, सात दिन तक धूलि की और फिर सात दिन तक धूप की वर्षा होती है। इसके बाद पृथ्वी का विषमपना सब नष्ट हो जाता है और चित्रा पृथ्वी निकल आती है। यही अवसर्पिणी के अन्तिमकाल का अन्त है।

जाता है। और उत्सर्पिणी का प्रथम अति दुःखमा काल चलता है, जिसमें प्रजा की वृद्धि होती है। इसके प्रारम्भ में क्षीर जाति के मेघ सात दिन तक रात दिन बराबर जल और दूध की वर्षा करते हैं जिससे पृथ्वी का रूखापन नष्ट हो जाता है। इसी से यह पृथ्वी अनुक्रम से वर्णादि गुणों को प्राप्त होती है। इसके बाद अमृत जाति के मेघ सात दिन तक अमृत की वर्षा करते हैं जिससे औषधियां, वृक्ष, पौधे और घास आदि पहले अविसर्प्पिणी के समान निरंतर होने लगते हैं। तदनंतर रसादि जाति के बादल रस की वर्षा करते हैं जिससे सब चीजों में रस उत्पन्न होता है। उत्सर्प्पिणी काल में सबसे पहले जो मनुष्य बिलों में घुस जाते हैं वे निकलकर उस रस के संयोग से जीवित रहने लगते हैं। ज्यों-ज्यों काल बीतता जाता है त्यों-त्यों शरीर की ऊंचाई, आयु आदि जिन-जिन चीजों की पहले अविसर्प्पिणी में कमी होती जाती थी उन सब को वृद्धि होती है। उपरान्त दूसरे काल में सोलह कुलकर होते हैं। इनके द्वारा क्रमकर धान्यादि और लज्जा, मैत्री आदि गुणों की वृद्धि होती है। लोग अग्नि में पकाकर भोजन करते हैं। दूसरे के बाद तीसरे काल में भी लोगों के शरीर आदि वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस समय २४ तीर्थंकर आदि महापुरुष जन्म लेते हैं। और प्रथम तीर्थंकर द्वारा कर्म क्षेत्र की सृष्टि होती है। फिर चौथे काल में शरीर, आयु आदि में और वृद्धि होती है और उसके थोड़े ही वर्ष बाद वहां जघन्य भोगभूमि की स्थिति हो जाती है। इसी तरह पांचवें काल में भी मध्यम भोगभूमि की सृष्टि होती है और छट्ठे काल में उत्तम भोगभूमि की स्थिति रहती है। इसके साथ ही उत्सर्पिणी काल का अन्त और अवसर्प्पिणी काल प्रारम्भ हो जाता है। जिसके प्रारम्भ के साथ ही अवनति क्रम चालू होता है। हम जिस काल में रह रहें हैं यह अवसर्प्पिणी का पांचवां काल है। इसके प्रारम्भ के तीन कालों में यहां भोगभूमि थी। भोगभूमि में युगल दम्पत्ति जन्म लेकर आनन्द से जीवन व्यतीत करते थे। कल्पवृक्षों से उनको भोगोपभोग की सब सामग्री प्राप्त होती थी। सूर्य चन्द्र नहीं थे। माता-पिता आदि रिश्ते प्रचलित नहीं थे। यहां से मरकर जीव नियम से देवगति को प्राप्त होते थे। अन्ततः तीसरे काल में अन्त होने के कुछ पहले १६ कुलकर उत्पन्न हुए थे, जिनके समय में जिस-जिस बात की तकलीफ लोगों को हुई उसकी उन्होंने व्यवस्था की, क्योंकि क्रमकर कल्प वृक्ष तो ह्रास को प्राप्त होते जा रहे थे। इनका विशद विवरण हमारे 'सक्षिप्त जैन इतिहास' अथवा अन्य जैनग्रन्थों में देखना चाहिए। आखिर चौथे काल के प्रारम्भ से किंचित् पहले ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जी का जन्म हो गया था। इन्हीं द्वारा कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ। जनता को असि, मसि, कृषि आदि क्रम इन्होंने ही बतलाये। इसी समय चार वर्णों की स्थापना हो गई। जिन्होंने जनता की रक्षा का भार लिया वे क्षत्री हुए और जो व्यवसाय व शिल्प में व्यस्त हुए वे वैश्य कहलाये और दस्युकर्म करने वाले शूद्र वर्ण के हुए। ब्राह्मण वर्ण की स्थापना उपरान्त सम्राट् भरत द्वारा व्रती श्रावकों में से हुई। इस तरह कर्म भूमि का श्रीगणेश हुआ। उपरान्त समयानुसार हर बात की अवनति चालू रही और समयानुसार तीर्थंकर भगवान एवं अन्य महापुरुष होते रहे। फिर भगवान महावीर के निर्वाण काल से कुछ महीने बाद से ही यह पंचमकाल प्रारम्भ हो गया था। इसमें ह्रासक्रम चालू है। इसके अन्त में ही जैन धर्म और अग्नि का लोप हो जायगा और फिर जो होगा वह उत्सर्प्पिणी काल के वर्णन में बतलाया जा चुका है। इस तरह यह कल्पकाल है। यही विधि सर्वथा चालू रहेगी। म० बुद्ध के काल क्रम और इसमें किंचित् सदृशता है। बाह्य रेखायें एक समान हैं, यद्यपि मूल में अन्तर विशेष है।

यह भेद तो जान लिया, परन्तु भगवान महावीर के मतानुसार लोक का स्वरूप तो अभी तक नहीं जान पाया। अतएव आइए, अब यहां पर यह देख लें कि भगवान महावीर ने लोक के विषय में क्या कहा था ?

भगवान महावीर ने भी असंख्यात द्वीप समुद्र बतलाये थे, परन्तु उस सबके लिए स्वर्ग नर्क आदि उन्होंने एक ही बतलाए थे उनके अनुसार वह लोक तीन भागों में विभाजित है और उसे तीन प्रकार की वायु से वेष्टित बतलाया गया है। यह तीन भाग ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक कहे गये हैं।

अधोलोक के सर्व अन्तिम भाग में निगोद है। यह वह स्थान है जिसमें निगोद जीव रहते हैं। यह निगोद जीव एकेन्द्रो जीव से भी हीन अवस्था में हैं और अनन्त हैं। यहां स्पर्शन इन्द्री भी पूर्ण व्यक्त नहीं है। जीव समुदाय रूप में इकट्ठे एक शरीर में रहते हैं। इनकी आयु भी अत्यल्प है। वे एक श्वास में १८ बार जन्मते मरते हैं। इस निगोद में से हमेशा नियमानुसार जीव निकलते रहते हैं और वे उस कमी को पूरी कर देते हैं जो जीवों के मुक्त हो जाने से होती है। इस तरह वह जीवराशि कभी निवटती नहीं। यूं ही अनादि निधन है। जीव त्रस नाड़ी में भ्रमण करते हैं।

जैनों के तीन लोक के नक्शे में बताये हुए 'मध्यलोक' में ही वे सब संसार क्षेत्र हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। और इसके 'ऊर्ध्व' और 'अधो' लोक में क्रमशः स्वर्ग और नर्क अवस्थित हैं। बुद्ध ने भी लोक को तीन अवचारों (regions) में अथवा धातुओं में विभक्त बतलाया है, (१) काम धातु, (२) रूप धातु और (३) अरूप धातु। यहां भी जैनसिद्धान्त की सादृश्यता दृष्टि पड़ती है। इसके अतिरिक्त बौद्ध शास्त्रों में नर्क गति के और नर्को के जो वर्णन, पीड़ायें, वैतरनी नदी, इसे

दुग्गति बतलाना, प्रेतों-असुरों का स्थान, इत्यादि जैन धर्म के अनुसार बताये हैं। किन्तु इतने पर भी बुद्ध देव ने नर्क उतने ही बतलाये हैं जितने जैन धर्म में स्वीकृत हैं।

भगवान महावीर ने नर्क सात बतायें हैं और उनकी पृथ्वीयों के नाम यों कहे हैं :—

(१) रत्नप्रभा—आलोक इसका रत्न कैसा है और यह गर्म है।

(२) शर्कराप्रभा „ „ „ शक्कर „

(३) वालुका प्रभा „ „ „ रेत „

(४) पंक प्रभा „ „ „ पंक „

(५) धूम प्रभा घुएँ „ केवल ३ लाख पटलों में शेष ठंडा है।

(६) तमप्रभा—आलोक इसका अन्धकार कैसा है और सर्द है।

(७) महातमप्रभा—आलोक इसका घोर अन्धकार कैसा है और सर्द है।

इन सब में भिन्न २ सख्या में ८४ लाख बड़े बिले हैं जिनमें नारकी जन्म लेते हैं।

म० बुद्ध ने सामान्यतया ८ नर्क बतलाये थे, यद्यपि इनके अतिरिक्त वह और बहुत से छोटे नर्क बतलाते थे। शायद वह इन्हीं आठ के अन्तर्भाग हों। ये आठ इस प्रकार बताए गए हैं :—

१. सज्जीव, २. कालसूत्र, ३. सघात, ४. रौरव, ५. महारौरव, ६. तापन, ७. प्रतापन और ८. अवीची। उत्तरीय बौद्धों की प्राचीन मानता में इतने ही ठण्डे नर्क भी थे।

इस तरह बौद्धों के नर्क सम्बन्धी विवरण में बहुत सी बातें जैन धर्म से मिलती जुलती हैं। वास्तव में जैन धर्म से बौद्ध धर्म की जो सादृश्यता विशेष मिलती है वह म० बुद्ध के प्रारम्भिक जैन विश्वास के कारण ही समझना चाहिये। म० बुद्ध ने एक माध्यमिक के तरीके उस समय प्रचलित प्रख्यात मतों में से कुछ न कुछ अवश्य ही ग्रहण किया था। ब्राह्मणों के स्वर्ग—नर्क सिद्धान्तों से भी किंचित् सदृशता बौद्ध मान्यता की बैठती है। यही कारण है कि सर्व प्रकार के विश्वासों वाले विविध पन्थ अनुयायियों को अपने धर्म में लाने के लिए म० बुद्ध ने इस प्रकार क्रिया की थी, जिसके समक्ष उन्होंने अपने सिद्धान्तों की वैज्ञानिकता और औचित्य पर भी ध्यान नहीं दिया। किन्तु इस ओर उनके धर्म को विशेष सदृशता जैन धर्म से बैठती है, जो ठीक भी है, क्योंकि हम देख चुके हैं कि इस जैन धर्म का प्रभाव उनके जीवन पर किस अधिकता से पड़ा था। दोनों मतों में व्यवहृत शब्द भी जैसे आचार्य, उपाध्याय, आश्रव, संवर, गंधकुटी, शासन आदि प्रायः एक से हैं, यद्यपि यह बौद्ध धर्म में बहुत करके अपने शाब्दिक भाव को खो बैठे हैं।

नर्कों के विवरण की तरह स्वर्गलोक के विवरण का भी किंचित् सामंजस्य जैन मान्यता से बैठ जाता है। भगवान महावीर ने चार प्रकार के देव बतलाये थे (१) भवनवासी, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिष्क, (४) वैमानिक। इन प्रत्येक के दस दर्जे हैं, इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषक। बौद्धों के यहाँ भी प्रथम प्रकार के देव 'भुम्मदेव' के नाम से ज्ञात हैं। दूसरे प्रकार के प्रेत, असुर आदि हैं। तीसरे प्रकार के सूर्य चन्द्र, आदि बतलाये थे और अन्तिम प्रकार के देव यह समझना चाहिए जो कामेश्वर लोक आदि के विमानों में मिलते हैं। इनमें अन्तिम प्रकार के देव स्वर्ग लोक में विमानों में रहते हैं। जैन सिद्धान्त में बतलाया गया है कि यह विमान मेरुपर्वत के तनिक अन्तर से ही तराजू के पलड़ों की तरह दो २ ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं। यह कुल १६ हैं। इनके ऊपर ग्रैवेयक, अनु-दिश, अनुत्तर और सर्वार्थ सिद्धि विमान हैं। इन ग्रैवेयकादि के निवासी देव सब पुरुष लिंग ही हैं और काम वासना से रहित हैं। यह अहमिन्द्र कहलाते हैं। बुद्ध ने जो रूप लोक के स्वर्ग बताये थे, वह भी इस ही प्रकार के हैं। जैन सिद्धान्त के लौकान्तिक देव जो ५ वें स्वर्ग के सर्वोपरि भाग में अवस्थित ब्रह्मलोक में रहते हैं और जो आत्मोन्नति विशेष कर चुके हैं कि दूसरे भव से ही मोक्ष लाभ करेंगे, वह भी बौद्धों के ब्रह्मलोक के देवों के समान हैं। बौद्ध कहते हैं कि यह देव ब्रह्मलोक में विशेष ध्यान करने के उपरान्त पहुँचते हैं। किन्तु इतनी

सदृशता होने पर भी बौद्धों ने जितने स्वर्ग बताये हैं उतने जैन सिद्धान्त में स्वीकृत नहीं हैं, यद्यपि एक स्थान पर उनके यहाँ भी १६ ही बताये गये हैं। सचमुच बौद्ध शास्त्रों में इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। वे सात, आठ, सोलह और सत्तरह भी बताये गये हैं। किन्तु इतने पर भी यह स्पष्ट है कि बौद्धों के स्वर्ग विवरण में भी जैन धर्म की छाप लगी दृष्टिगत होती है। यहाँ पर उनका तुलनात्मक पूर्ण विवरण करना कठिन है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि अन्ततः बौद्ध और जैन दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि स्वर्ग लोक में वही जीव जन्मते हैं जो विशेष पुण्य उपार्जन करते हैं। आत्मवाद परोक्ष रूप में म० बुद्ध को भी अस्पष्ट रूप से स्वीकार करना पड़ा था, यह हम देख चुके हैं। जैन सिद्धान्त में स्वर्ग लोक से मोक्ष लाभ करना असम्भव बतलाया है, बौद्ध देवों द्वारा निर्वाण लाभ मानते हैं। किन्तु यह बात दोनों ही मानते हैं कि देवों में विक्रिया शक्ति है और हेय से हेय अवस्था का जीव स्वर्ग सुख का अधिकारी हो सकता है। जैन शास्त्रों में कथा प्रचलित है कि जब राजा श्रेणिक भगवान महावीर की वन्दना को विपुलाचल पर्वत को जा रहे थे, तब एक मेंढक के भी भाव भक्ति से भर गये थे और वह भी भगवान के समवशरण की ओर पूज्य भावों का भरा हुआ जा रहा था कि मार्ग में राजा के हाथी के पैर से दब कर मर गया और इस पुण्य भाव से वह देव हुआ। बौद्धों के यहाँ भी एक ऐसी ही कथा 'विशुद्धि मग्ग' नामक ग्रन्थ में कही गयी है। फिर दोनों ही मत यह मानते हैं कि देवगति में भी देवगण अपने शुभाशुभ परिणामों के अनुसार सुख-दुख का अनुभव करते हैं, किन्तु दोनों में ऐसे भी देव माने गये हैं जो मोह के अभाव में दुःख का अनुभव करते ही नहीं हैं तथापि दोनों ही धर्मों के देवों के मरण समय का वर्णन भी प्रायः एक सा है। बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि स्वर्ग से चय होने के कुछ ही पहले उस देव के (१) वस्त्र अपनी स्वच्छता खो बैठते हैं, (२) मालायें और उसके अन्य अलंकार मुरझाने लगते हैं, (३) शरीर से ओस की तरह पसीना निकलने लगता है, (४) और महल जिसमें उसका निवास होता है वह अपनी सुन्दरता गंवा देता है।

जैन शास्त्रों में भी मरण के छः महीने पहले से माला मुरझाने का उल्लेख मिलता है। साथ ही जैन सिद्धान्त में देवों के अवधिज्ञान का होना माना गया है, परन्तु बौद्धों के यह स्वीकृत नहीं है।

इस प्रकार इन उक्त गतियों में परिभ्रमण करती हुई संसारी आत्मायें दुःख और पीड़ा को भुगततीं हैं। किन्तु भगवान कहते हैं कि जो सत्य की उपासना करते हैं और स्वध्यान में लवलीन रहते हैं वे भेद विज्ञान को पा जाते हैं। और भेद-विज्ञान जहाँ एक बार प्राप्त हुआ कि वहाँ फिर सम्यक्मार्ग में दिवस प्रति दिवस उन्नति करते जाना अवश्यम्भावी है। जैनाचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी कहते हैं:—

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्ते स्वपरांतरं।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥३३॥

भावार्थ—जिसने आत्मा और पुद्गल के स्वरूप को जान कर भेद-विज्ञान प्राप्त कर लिया है—चाहे वह गुरु की कृपा से प्राप्त किया हो अथवा वस्तुओं के स्वभाव पर वारम्बार ध्यान करने से या आभ्यन्तरिक आत्मदर्शन से पाया हो—वह आत्मा मोक्ष सुख का उपभोग सदैव करता है।

भगवान महावीर ने संसार जाल से छूट कर मोक्ष लाभ करने का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्र कर संयुक्त बतलाया था। व्यवहार दृष्टि से सम्यग्दर्शन, पूर्वोल्लिखत जैन तत्त्वों में श्रद्धान करना है। इन्हीं तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और जैन शास्त्र में बताये हुए आचार नियमों का पालन करना सम्यग्चारित्र है। किन्तु निश्चय दृष्टि से यह तीनों क्रमशः आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और स्वरूप की प्राप्ति है। सचमुच निश्चय सम्यक्चारित्र सिवाय आत्म समाधि के और कुछ नहीं है। व्यवहार दृष्टि निश्चय का निमित्त कारण समझना चाहिए।

व्यवहार सम्यग्चारित्र दो प्रकार का है : (१) एक देश गृहस्थों के लिए (२) पूर्ण जो साक्षात् मोक्ष का कारण है साधुओं के लिये। गृहस्थ, सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञान को धारण करता हुआ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से सम्यग्चारित्र का अभ्यास प्रारम्भ करता है। यद्यपि इससे नीचे दर्जे का गृहस्थ मात्र श्रद्धानी, मद्य, मांस, मधु और सबसे नीचे दर्जे का व्यक्ति कोरा श्रद्धानी होता है। परन्तु उक्त पंच अणुव्रतों के पालन से वह व्रती गृहस्थ अथवा श्रावक सम्यग्चारित्र के मार्ग में क्रमशः उन्नति करना प्रारम्भ करता है। इस उन्नतिक्रम का विधान, भगवान ने ११ प्रतिमाओं में किया है। इन ११ प्रतिमाओं का अभ्यास करके वह साधु के व्रतों को पालन करने का अधिकारी होता है। इन प्रतिमाओं से भाव, व्यक्ति विशेष की आत्मा ने पूर्व प्रतिमा से जो उन्नति की है उसको व्यक्त करना है। इनमें

विविध प्रकार के व्रत जैसे गुणव्रत, शिक्षाव्रत, सामायिक, प्रोषध इत्यादि गर्भित हैं। इन प्रतिमाओं को पूर्ण करके वह साधुओं के महाव्रतों का अभ्यासी होता है। इस अवस्था में वह उक्त व्रतों को पूर्ण रूप में पालता है।

आत्म—समाधि की प्राप्ति के लिए गृहस्थों और साधुओं के लिए नित्य के छः आवश्यक कर्त्तव्य बतलाये गए हैं। साधुओं के लिए वह इस प्रकार है।

समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।

पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥२२॥

अर्थात् समता सर्व के प्रति–सब में समता भाव रखना, (२)स्तव–तीर्थंकर भगवान का स्तवन करना, (३) वन्दना—देवशास्त्र गुरु की वंदना करना, (४) प्रतिक्रमण—कृत पापों की आलोचना करना, (५) प्रत्याख्यान अमुक २ पदार्थों के त्याग करने का नियम करना और (६) व्युत्सर्ग—अपनी देह से ममता हटाकर उसे तपश्चर्या में लगाना। इस प्रकार साधु के लिए यह नित्य प्रति के षडावश्यक बताये गए हैं। श्रावक के लिए भी छः बातों का रोजाना करना लाज़मी बतलाया गया है। जैसे कि आचार्य कहते हैं :—

देवपूजागुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।

दानन्चेति गृहस्थाणां षट्कर्माणि दिनेदिने ॥

पद्मनंदिपंचविंशतिका

अर्थात्—(१) जिन भगवान की पूजा करना, उनके गुणों को स्मरण करके। जिन प्रतिमायें ध्यानाकार होती हैं जिससे वे पुजारी के हृदय पर आत्म भाव को अंकित करने में सहायक हैं (२) गुरुजन-निर्ग्रन्थ मुनि और साधु जन की उपासना करना और उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करना (३) संयम का अभ्यास करना जिससे मन और इंद्रियों पर अधिकार रहे, जैसे नियम करना कि में आज नाटक देखने नहीं जाऊँगा, केवल दो बार ही भोजन करूंगा, इतर फुलेल नहीं लगाऊँगा इत्यादि। यह साधारण नियम है, परन्तु आत्मोन्नति में सहायक हैं (४) स्वाध्याय—शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन और मनन करना। (५) सामायिक—अर्थात् एकान्त स्थान में प्रातः और सायंकाल बैठकर अथवा केवल प्रातः को बैठ कर एक नियत समय तक तीर्थंकर भगवान के परम स्वरूप का अथवा आत्म गुणों का चिन्तवन और ध्यान करना इससे आत्मशक्ति बढ़ती है और समता भाव की प्राप्ति होती है (६) दान-आहार, औषधि शास्त्र और अभय रूपी दान सब ही पात्रों को देना चाहिए। इन छः आवश्यक बातों को करने से उस आत्मदशा की प्राप्ति होती है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र साक्षात् रूप विराजमान हैं। यही वह मार्ग है जिसमें कर्मोंका क्षय होता है और आत्मा शुद्ध और स्वतन्त्र होती जाती है।

आत्म स्थिति में अथवा आत्म ध्यान में उन्नति करना गुणस्थान क्रम में बतलाया गया है। यह गुण स्थान कुल १४ हैं। इनका पूर्ण विवरण जैन शास्त्रों में देखना चाहिए, किन्तु यह जान लीजिए कि १३वें गुण स्थान में पहुँच कर मुनि चार घातिया कर्मों का अर्थात् ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, मोहनीय और अन्तराय कर्मों को जो आत्मा के स्वभाव के घातक हैं, उनका नाश कर देता है और इस अवस्था में केवलज्ञान—सर्वज्ञता को प्राप्त करके अर्हत सयोग-केवल अथवा सकल सशरीरी परमात्मा हो जाता है। यह जीवित परमात्मा दो प्रकार के होते हैं : (१) सामान्य केवली और (२) तीर्थंकर। सामान्य केवली स्वयं निर्वाण लाभ करते हैं एवं अन्यों को भी मोक्ष मार्ग दर्शाते हैं, परन्तु उनके समवसरण आदि की विभूति नहीं होती है। तीर्थंकरों के समवशरण होता है और वे वहाँ से 'तीर्थ' के भव्यों को मोक्ष मार्ग का सनातन उपदेश देते हैं। यह तीर्थ संघ चार प्रकार का होता है। (१) मुनि, (२) आर्यिका, (३) श्रावक, (४) श्राविका। इसी चतुर्निकाय संघ को तीर्थंकर भगवान अपनी गंधकुटी से प्राकृतिक रूप में उपदेश देते हैं जिसको सब कोई अपनी अपनी भाषा में समझ लेता है।

श्री नेमिचन्द्राचार्य जी अर्हत भगवान का स्वरूप यों बतलाते हैं :—

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरिय मइओ।

सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

अर्थात्—अर्हत वह हैं जिन्होंने चार प्रकार के घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है और जो अनन्तचतुष्टय, अनन्त-

दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्तसुखकर पूर्ण हैं, जिनका शरीर अपूर्व प्रभामय और विशुद्ध है। वास्तव में अर्हंत भगवान के मोहनीयादि कर्मो के अभाव से भूख, प्यास, भय, ईर्ष्या, द्वेष, मोह, जरा, रोग, मृत्यु, पीड़ा आदि कुछ भी साधारण मानुषिक कमजोरियां शेष नहीं रहती हैं। इस अवस्था में वे साक्षात् जीवित परमात्मा होते हैं, उनके शरीर की प्रभा भी इस उच्चपद के सर्वथा उपयुक्त होती है। यही मालूम होता है मानो एक हजार सूर्य एक दम प्रकट हो गए हैं। यह इच्छाओं से सर्वथा रहित और बिल्कुल विशुद्ध होते हैं। यह पंचपरमेष्ठियों में सर्व प्रथम हैं, जिनकी उपासना आदर्शवत् जैनी करते हैं।

अतएव जब यह सशरीरी परमात्मा चौदहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है, तब वह अयोग केवली—कम्परहित पूर्ण शुद्ध आत्मा हो जाता है। यह अवस्था उन भगवान को मोक्ष प्राप्ति से इतने अल्प समय पहले प्राप्त होती है। कि अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पांच अक्षरों का उच्चारण किया जा सके। यह बहुत ही सूक्ष्म समय है। इसके बाद शरीर को त्यागकर आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप में सदा के लिए तिष्ठ जाती है और सिद्ध कहाती हैं। सिद्ध भगवान फिर कभी लौटकर इस संसारावस्था में नहीं आते हैं। वह सिद्धशिला में तिष्ठे अपने स्वाभाविक आनन्द का उपभोग सदा करते रहते हैं।

सिद्ध भगवान एक पूज्यनीय परमात्मा हैं, जिनका यद्यपि संसार से सम्बन्ध कुछ भी नहीं है, तो भी उनका चिंतवन शुभ भावों और आत्म ध्यान के लिए एक साधन हैं। आचार्य कहते हैं:—

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो ज्झाएह लोयसिहरत्थो ॥५१॥

भावार्थ—नष्ट कर दिये हैं अष्ठ कर्म देह से जिसने लोकालोक का जानने वाला देह रहित पुरुष के आकार लोक के अग्रभाग में स्थित ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है सो नित्य ही ध्याया जावे अर्थात् स्मरण करने योग्य है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने संसार सागर में रुलती हुई आत्माओं को उससे निकलकर सच्चा स्वाधीन सुख पाने का मार्ग सुझाया था, जो पूर्ण स्वावलम्बन कर संयुक्त है। सारांशतः उन्होंने बताया था कि अनादि काल से कर्म के कुचक्र में पड़ी हुई आत्मा अपनी ही मोहजनित मूर्खता के कारण संसार में भटकती हुई दुःख और पीड़ा का अनुभव कर रही है, अतएव जब वह अपने निजी स्वभाव को और पर द्रव्यों के स्वरूप को स्वयं अपने अनुभव द्वारा अथवा गुरु के उपदेश से हृदयंगम कर लेती है तब यह रत्नत्रय रूपी मोक्ष मार्ग का अनुसरण करना प्रारम्भ कर देती है। तथापि दृढ़तापूर्वक उसका अभ्यास किये जाने से एक दिन वह कर्म रूपी परतन्त्रता की बेड़ियां काट डालती हैं और स्वयं स्वाधीन होकर परमात्मावस्था के परमोत्कृष्ट स्वराज्य का उपभोग करती है। सच्चा स्वराज्य यही है, इसी को पाने का उपदेश भगवान महावीर ने दिया था। इस हिंसक जमाने में सच्चे भारतवासियों को इस स्वराज्य प्राप्ति के मार्ग में दृढ़ता से कर्तव्यपारायण हो जाना परम उपादेय है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और अपरिग्रह का अभ्यास प्रारम्भ करना स्वयं उनको आत्मा एवं भारत के हित का कारण है। अहिंसा में गम्भीरता है, शौर्यता है। सत्यता में दृढ़ता है। जहां शौर्यता और दृढ़ता प्राप्त हुई वहां लोभ कषाय को तिलांजलि देते हुए आकांक्षा और वांक्षा को नियमित किया जाता है और स्वावलम्बी बनने की तीव्र अभिलाषा अपना जोर मारने लगती है जिसकी प्रेरणा से वह आत्माभिमुख हुआ वीर संयम का अभ्यासी हो जाता है और क्रमशः आत्मोन्नति करता हुआ पूर्ण स्वाधीनता को पा लेता है। यही सच्चा सुख है। भारतीयता के लिए भगवान महावीर का उपदेश अतीव कल्याणकारी है। लोक के कल्याण भावना का जन्म उसको आदर देने से होता है।

अब जरा म० बुद्ध के विषय में भी किंचित और विचार कर लें। दुःख और पीड़ा कहां है, कैसे है और किसको हैं, यह हम उनके बताये मुताबिक पहले देख चुके हैं। उपरान्त उन्होंने इस दुःख और पीड़ा से छूटने का उपाय यों बतलाया था।

"हे राजन्! सब ही अज्ञानी व्यक्ति इंद्रिय सुख में आनन्द मानते हैं, उन्हीं को वासनापूर्ति में सुखी होते हैं, उन्हीं के पीछे लगे रहते हैं। इसलिये वे मानुषिक कषायों की बाढ़ में बहे चले जाते हैं। वे जन्म, जरा, मरण, दुःख, शोक, आशा, निराशा से मुक्त नहीं हैं। मैं कहता हूं वे पीड़ा से मुक्त नहीं होते हैं, किन्तु राजन्! जो ज्ञानवान हैं? तथागतों के अनुयायी हैं, वे न इन्द्रिय वासनाओ में आनन्द मानते हैं, न उनसे सुखी होते हैं और न उनके पीछे लगे रहते हैं, और जब वे उनके पीछे नहीं लगते हैं तो उनमें तृष्णा का अभाव हो जाता है। तृष्णा के अभाव से ग्रहण करना (Grasping) बन्द हो जाता है। इसके बन्द होने से भव धारण करने का (Becoming) अन्त हो जाता है और जब भव का ही नाश हो गया तब फिर जन्म, जरा, रोग, शोक,

मृत्यु पीड़ा आदि सब बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार इस अभाव क्रम से पीड़ा के समुदाय का (Aggregation of pain) का अन्त हो जाता है, बस यही अभाव निर्वाण है।

यह पीड़ा के अन्त करने का मार्ग है और प्रायः ठीक ही है, परन्तु इसका क्रियात्मक रूप इसका भेद प्रकट कर देगा। इस मत को प्रकट करते हुए भी म० बुद्ध के चारित्र नियम निर्माण में इसको पूर्ण आदर नहीं दिया गया है। हम अगाड़ी यही देखेंगे। भगवान महावीर ने भी इन्द्रिय जनित विषय वासनाओं से दूर रहने का उपदेश दिया था, परन्तु म० बुद्ध की तरह उनका उद्देश्य "पूर्ण अभाव" नहीं था। उनका उद्देश्य एक वास्तविक पदार्थ था जिसको पाकर आत्मा स्वाधीन परमात्मा हो जाता है। भगवान महावीर और म० बुद्ध के मतों में यही विशेष दृष्टव्य अन्तर है। एक रंक से राव बनाने का मार्ग है, दूसरा रक से अगाड़ी उठाकर उसका कुछ भी नहीं रखता है।

इस तरह म० बुद्ध का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य पूर्ण अभाव (Complete passing away) था और इसी उद्देश्य के लिए उनका चारित्र नियम निर्मित था। इस चारित्र नियम में आठ बातें गर्भित थीं, अर्थात् (१) सत्य दृष्टि (Right views), (२) सत्य उद्देश्य (Right Aspirations), (३) सत्यवार्ता (Right speech) (४) सत्य आचरण (Right Conduct, (५) सत्य जीवन (Right Livelihood), (६) सत्य एकाग्रता (Right Mindfulness), (७) सत्य प्रयास Right Effect), (८) और सत्य ध्यान अवस्था अर्थात् मानसिक शांति (Right Rapture)। इस अष्टांग मार्ग द्वारा ही संसार प्रवाह से व्यक्ति को छुटकारा पाकर अपने उद्देश्य की प्राप्त होते मानी गई है। किन्तु यह अष्टांग मार्ग केवल भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए हैं। गृहस्थ अनुयायियों की गणना बौद्ध संघ में नहीं की गई है। इसका यही कारण है कि बुद्ध ने गृहस्थों के लिये कोई खास आत्मोन्नति क्रम नियत नहीं किया था, जैसा कि जैन धर्म में (११ प्रतिमायें) हैं। सचमुच बौद्ध भिक्षुओं का जीवन भगवान महावीर के संघ के इन व्रती श्रावकों से भी सरल था। बुद्ध की मान्यता थी कि सुविधामय सुखी सांसारिक जीवन व्यतीत करने पर भी संसार से मुक्ति मिल सकती है, परन्तु जैन धर्म में यह स्वीकृत नहीं है। वस्तुतः जब तक संसार से बिल्कुल ही सम्बन्ध नहीं त्याग दिया जाएगा तब तक कर्मों से छुटकारा मिलना असंभव है। बौद्ध साधुओं के सुविधामय जीवन की अपेक्षा ही बौद्ध संघ में व्रती श्रावकों को कोई भी स्थान प्राप्त नहीं था। हां, सामान्य गृहस्थ अनुयायी बुद्ध देव के थे, जैसे कि जैन संघ में सम्मिलित व्रती श्रावकों के अतिरिक्त भगवान महावीर के साधारण श्रद्धानी श्रावक भी थे।

बुद्ध देव के उक्त अष्टांग मार्ग में "सावयपुत्तीयसमणों" के लिये जो चारित्र नियम नियत थे, वह सब गर्भित हैं। बौद्ध आचारनियमों में जो "शील" मुख्य माने गये हैं, वह भी इसी में सम्मिलित हैं। बौद्धों के यह "शील" जैनों के १२ शीलव्रतों (५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत) से सामान्यतः मिलते जुलते प्रतीत होते हैं। बौद्ध शास्त्रों में यह शील आठ बतलाए गए हैं और बौद्ध साधुओं के लिये इनका पालन करना आवश्यक है। यह आठ इस प्रकार हैं:—(१) अहिंसा, (२) अचौर्य, (३) पाप और कामसेवन का त्याग, (४) सत्य, (५) मादक वस्तुओं का त्याग, (६) अनियमित समयों और रात्रि भोजन करने का त्याग, (७) नाचने, गाने, इतर-फुलैल के व्यवहार आदि का त्याग, (८) और जमीन पर चटाई बिछाकर सोना। इनमें से पहले के चार तो जैनियों के अणुव्रतों के समान ही दिखते हैं, किन्तु जैनियों का पांचवां अणुव्रत बौद्धों के पांचवें शील से नितान्त विभिन्न और विशुद्ध हैं। उपरोक्त में शेष तीन जो रहे वे जैनियों के शिक्षा व्रत के ही संक्षिप्त और विकृत रूपान्तर है। यह सामंजस्य जाहिरा इतना स्पष्ट है कि हमें यह कहने में यह संकोच है कि इन नियमों को बुद्ध ने जैन धर्म से ग्रहण किया था किन्तु बुद्ध के निकट इन नियमों का वास्तविक महत्व प्रायः बहुत हल्का हो गया है। बौद्ध शास्त्रों में इनके लिए जो शब्द व्यवहृत हुए हैं वह भी इसी बात के द्योतक हैं। "दीघनिकाय" में हिंसा के लिए "पाणातिपात" चोरी के लिए "अदिन्नादान" कुशील के लिए "अब्रह्मचर्य" और "असत्य" के लिए "मुसावाद" शब्द व्यवहृत हुए हैं। जैन शास्त्रों में भी ऐसे ही शब्द मिलते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि यहां भी जैन प्रभाव बाकी नहीं है। फिर महावग्ग और चुल्लग्ग में जो बौद्ध नियमों का निर्माण क्रम वर्णित है वह हमारी उक्त व्याख्या की और भी पुष्टि करता है। इससे ज्ञात है कि बौद्ध नियम एकदम एक साथ निर्मित नहीं हुए थे। जैसे-जैसे जिस बात की आवश्यकता पड़ती गई वैसे-वैसे वह स्वीकार की गई। साधुओं को आचार्य, उपाध्याय आदि में विभाजित करना जैन धर्म से ही मिलता है तथापि "वस्सा" (चातुर्मास) नियम खास जैनियों का है। इसी तरह गंधकुटी, शासन, आश्रव, संवर आदि शब्द मूल में जैनियों के ही हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार नियमों को नियत करने में भी म० बुद्ध ने जैन आचार नियमों से सहायता ली थी।

किन्तु इस विषय में यह भूल जाना ठीक नहीं है कि यद्यपि जैन आचार नियमों से बौद्ध नियमों की इतनी सदृशता है,

परन्तु बौद्ध नियम जन नियमों के समान ही विशद और गम्भीर नहीं है। एक व्रती श्रावक के पालन करने योग्य अणुव्रतों जितना भी महत्व उनका नहीं है। इस व्याख्या की यर्थाथता दोनों धर्मों के नियमों का तुलनात्मक विवेचन करने से स्वयं प्रमाणित हो जावेगी, किन्तु विस्तारमय के कारण हम यहाँ पर केवल दोनों धर्मों के अहिंसा नियम को लेते हैं। जाहिरा उसका भाव दोनों धर्मों में एक हैं, परन्तु एक बौद्ध श्रमण इस का पालन करते हुए भी मांस और मच्छी को भोजन में ग्रहण करने से आगा पीछा नहीं करेगा। इसके विपरीत एक जैन गृहस्थ उनका नाम सुनना भी पसन्द नहीं करेगा। यद्यपि यह जैन मुनियों की अपेक्षा बहुत नीचे दरजे की अहिंसा का पालन करता है। बौद्ध भिक्षु स्वयं तो किसी जीव का वध नहीं करेगा, परन्तु यदि कहीं मृत मांस मिल जावे तो उसको ग्रहण करने में संकोच नहीं करेगा। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कई बार मांस भोज किया था। वैशाली में सेनापति सिंह के यहाँ जब मास भोजन बुद्ध एवं बौद्ध साधुओं को कराया गया तो जैनियों ने उसी समय इसका प्रकट विरोध किया, किन्तु यह समझ में नहीं आया कि जब बौद्ध गृहस्थों के लिए भी अहिंसाव्रत लागू है तब वे किस तरह बौद्ध भिक्षुओं के लिए मांस भोजन तैयार कर सकते हैं? परन्तु बौद्ध शास्त्रों में अनेक स्थलों पर मास भोजन तैयार किये जाने का उल्लेख मिलता है और एक स्थल पर जब मांस बाजार में नहीं मिला तो बौद्ध गृहस्थिन ने स्वयं अपनी जांघ काटकर मांस तैयार करके बौद्ध संघ को खिलाया था। यह उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि म० बुद्ध की अहिंसा जैन अहिंसा से कितनी हेय प्रकार की थी। जैन अपेक्षा वह हिंसा ही है। म० बुद्ध ने केवल प्रकट रीति से प्राणा वध करने को जैसे यज्ञ में होम कर पशुओं को नष्ट करने का विरोध किया था। सूक्ष्म हिंसा की ओर उन्होंने दृष्टिपात ही नहीं किया। यह ख्याल ही नहीं किया कि मृत मांस में भी कोटिराशि सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है, जैसे कि आजकल विज्ञान (Science) से भी प्रमाणित है। इस अवस्था में भी मांस को खाना स्पष्टतः हिंसा करना है। इस तरह जैन अहिंसा का मत प्रकट है। स्वयं आधुनिक बौद्ध विद्वान् श्री धर्मानंद कौसाम्बी का निम्न कथन जैन अहिंसा की विशेषता को प्रगट करता है। वह लिखते हैं कि म० बुद्ध पर यह आरोप था कि लोगों के घर आमंत्रण स्वीकार करके वह मांस भोजन करते थे और गृहस्थ लोग उनके लिए प्राणियों का वध करके वह मांस भोजन तैयार करते थे। जैन श्रमण दूसरे के घर का आमन्त्रण स्वीकार नहीं करते। यदि खास उनके लिए कोई अन्न तैयार किया गया हो (उद्दिसकटं) तो वे उसको निषिद्ध समझते थे और अब भी समझते हैं, क्योंकि उसके तैयार करने में अग्नि के कारण थोड़ी बहुत हिंसा होती ही हैं और स्वीकार करने से श्रमण उस हिंसा का मानों अनुमोदन ही करता है। अहिंसा की यह व्यापक व्याख्या वृद्ध भगवान को पसन्द नहीं थी। जान-बूझकर किसी भी प्राणी को क्रूरता पूर्वक न मारना चाहिए, सिर्फ यही उनका कहना था, अतएव म० बुद्ध के चारित्र-नियम जैन धर्म के अणुव्रतों से भी समानता नहीं कर सकते यह प्रकट है। वास्तव में जिस प्रकार सिद्धान्त विवेचन में म० बुद्ध ने वैज्ञानिकता और पूर्णता का ध्यान नहीं रक्खा वैसे ही चरित्र नियमों के विषय में देखने को मिलता है एक आधुनिक विद्वान् इस विषय में लिखते हैं वह दृष्टव्य है।

> 'परीक्षा करने पर यह प्रकट हो जाता है कि बौद्ध धर्म का सुन्दर आचार वर्णन एक कम्पित नींव पर स्थिर हैं। हमें वेदों की प्रमाणिकता का निषेध करना है, अच्छी बात है। हमें अहिंसा और त्याग का पालन करना है, अच्छी बात है। हमें अहिंसा और त्याग का पालन करना है, अच्छी बात है। हमें कर्मों के बन्धन तोड़ने हैं, अच्छी बात है, परन्तु सारे संसार के लिए यह तो बताइये हम हैं क्या? हमारा ध्येय क्या है, सामाजिक उद्देश्य क्या है? इन समस्त प्रश्नों का उत्तर बौद्ध धर्म में अनूठा पर भयावह है, अर्थात् हम नहीं हैं। तो क्या हम छाया में श्रम परिश्रम कर रहे हैं? और क्या अन्धकार ही ध्येय है? क्यों हमें कठिन त्याग करना है और हमें क्यों जीवन के साधारण इन्द्रिय सुखों का निरोध करना चाहिए। केवल इसलिए कि शोकादि नष्टता और नित्य मौन निकटतर प्राप्त हो जाएं। यह जीवन एक भ्रान्तवाद का मत है और दूसरे शब्दों में उत्तम नहीं है। अवश्य ही ऐसी आत्मा के अस्तित्व को न मानने वाला विनश्वरता का मत सर्व साधारण के मस्तिष्क को संतोषित नहीं कर सकता। बौद्ध मत की आश्चर्यजनक उन्नति उसके सैद्धान्तिक नश्वरवाद (Nihilisn) पर निर्भर नहीं थी, बल्कि उसके नामधारी 'मध्यमार्ग' की तपस्या की कठिनाई के कम होने पर ही थी।'

बौद्ध धर्म में अगाड़ी कहा गया है कि वह व्यक्ति जो बुद्ध धर्म और संघ में खास कर बुद्ध में—श्रद्धा प्राप्त कर लेता है और मोहजनित अज्ञानता (Delusion) को छोड़ देता है वह आभ्यन्तरिक दृष्टि को (Inter sight) पाकर अन्ततः अर्हत् हो जाता है। बुद्ध ने जिस समय सर्व प्रथम कोन्डन्स को अपने मत में दीक्षित किया तो उन्होंने कहा कि 'अन्नासि वत भी कान्डण्णो!' अर्थात् सचमुच कोन्डन्यने जान लिया है। क्या जान लिया है? वही मार्ग जिसको बुद्ध ने देखा था (अन्नात Has that which is perceived) इसके साथ वह अर्हत् कहलाने लगा। वास्तव में बुद्ध के प्रारम्भिक शिष्य अपनी उपसम्पदा ग्रहण करने के साथ ही 'अर्हत्' कहलाने लगे थे, जैसे कि हम देख चुके हैं। इस अवस्था में बौद्धों के निकट अर्हत् शब्द कितने हल्के

अर्थ में व्यवहृत होता था, यह स्पष्ट है। स्व० मि० ह्रीसडेविड्स हमको यही विश्वास दिलाते हैं कि व्यक्तित्व की अज्ञानता के नाश से जो विजय प्राप्त होती है, वह गौतम बुद्ध की दृष्टि से, इसी जीवन में और केवल इसी जीवन में प्राप्त करके भोगी जा सकती है। यही भाव बौद्धों की अर्हतावस्था से है। अर्हत् वह है जिसका जीवन आंतरिक दृष्टि से पूर्ण बन गया है, जो उत्तम अष्टांग मार्ग का बहुत कुछ अभ्यास कर चुका है और जिसने बन्धनों को तोड़ दिया है एवं जिसने बौद्ध धर्म के चरित्र नियम और संयम का पूर्णतः अभ्यास कर लिया है यह बौद्धों के अर्हत् का स्वरूप है। जिस समय व्यक्ति अष्टांगमार्ग का पूरा अभ्यास कर लेता है और ध्यान आदि में भी उन्नति कर चुकता है, बुद्ध कहते हैं, उसे आर्य ज्ञान का प्रकाश दृष्टि पड़ता है। यह म० बुद्ध का निर्वाण है और व्यक्ति के मरण के पहले ही यह प्राप्त होता है। अँतिम मरण परिनिव्वान है। निव्वान अवस्था में आनन्द की प्राप्ति होती है, परन्तु इसके उपरांत व्यक्ति की क्या दशा होती है इस पर बुद्ध चुप है। यदि कहीं यह मौन भंग किया गया है तो वहाँ स्पष्टता का अभाव है। कभी पूर्ण नाश का प्रतिपादन है तो कभी किसी यथार्थ दशा का। किन्तु पूर्ण अभाव को ही प्रधानता प्राप्त है। परिनिव्वान में व्यक्ति का पूर्ण क्षय (खय) हो जाता है। यही म० बुद्ध का परम उद्देश्य है।

प्रकट रीति से हम म० बुद्ध के बताये हुए अर्हत् और निर्वाण पदों की तुलना जैन सिद्धान्त के क्षायिक सम्यक्त्व और अर्हत पद से क्रमशः कर सकते हैं, किन्तु यह तुलना केवल बाह्य रूप में ही है। मूल में बौद्धों के अर्हत् पद की समानता जैनों के अर्हत पद से नहीं की जा सकती। प्रत्युत बाह्य रूप में जैन अर्हतावस्था के समान म० बुद्ध का निव्वान पद भी है, जिसका विवरण जाहिरा जैन विवरण से सदृश्यता रखता है, यद्यपि मूल में वहाँ भी पूर्ण भेद विद्यमान है।

इस प्रकार म० बुद्ध और भगवान महावीर का उपदेश वर्णन है और यहाँ भी दोनों में पूरा पूरा अन्तर मौजूद है। भगवान महावीर का दिव्योपदेश एक सर्वज्ञ परमात्मा के तरीके बिलकुल स्पष्ट, पूर्ण और व्यवस्थित, वैज्ञानिक ढंग का प्रमाणित होता है। म० बुद्ध का उपदेश तत्कालीन परस्थिति को सुधारने की दृष्टि से हुआ प्रतीत होता है और उसमें प्रायः स्पष्टता का अभाव देखने को मिलता है। वास्तव में न म० बुद्ध को ही अपने उपदेश की सौद्धाँतिकता की ओर ध्यान था और न उनके अनुयायियों को। उनके उपदेश की मान्यता जो इतनी विशद हुई थी उसमें उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व कारण था। उनके निकट पहुंच कर व्यक्ति मोहन मंत्र की तरह मुग्ध हो जाता था और उसे उनके धर्म के औचित्व को जानने की खबर ही नहीं रहती थी। इसी बात को लक्ष्य करके उनका उपदेश भी विविध मान्यताओं को लिए हुआ था। प्रत्येक मत के अनुयायी को अपना भक्त बनाने के लिए म० बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों को प्रायः सर्व मतों से मिलता जुलता रक्खा था, परन्तु इस दशा में भी वह सफल मनोरथ नहीं हुए। लोगों को अनैक्यता में ऐक्यता के दर्शन नहीं हुए और न उन्हें वह सुख मार्ग मिला जिससे उनके जीवन पूर्ण सुख के भोक्ता बनते, परन्तु इतने पर भी हम म० बुद्ध के सांसारिक पीड़ाओं और दुःखों के वर्णन की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। उन्होंने इसके प्रकट दर्शन किये और उसको बड़ी खूबी से शब्दों में चित्रित किया था।

भगवान महावीर ने वस्तुस्थिति को प्रतिपादित किया था और संसार की प्रत्येक अवस्था के प्राणी के लिए एक सच्चे सुख का मार्ग निर्दिष्ट किया था तथापि इस प्रतिपादन शैली में उनका स्याद्वाद सिद्धान्त विशेष महत्व का था। उसके अनुसार वस्तु की प्रत्येक दशा का सच्चा ज्ञान प्राप्त होता था। परिमित बुद्धि और दृष्टि को रखते हुए संसारी आत्मा पदार्थ के पूर्ण रूप को एक साथ शब्दों द्वारा व्यय नहीं कर सकता। वह पदार्थ के एक देश को ही ग्रहण कर सकता है। इसलिए पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को जानने के लिए स्याद्वाद सिद्धान्त परमावश्यक है। आप्तमीमांसा, स्याद्वाद मंजरी, सप्तभंगितरंगणी आदि ग्रन्थों में इसका पूर्ण विवेचन दिया हुआ है। यहाँ पर इसका सामान्य दिग्दर्शन कराना भी कठिन है। इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि इसकी सहायता के बिना हमारा किसी पदार्थ का विवरण अधूरा रहेगा। मान लीजिए यदि हमें मोहन के गृहस्थी अपेक्षा व्यक्तित्व को प्रकट करना है, तो हम केवल उसको उसके पुत्र की अपेक्षा' पिता' कहकर पूर्णतः प्रकट नहीं कर सकते, क्योंकि वह अपने पिता की अपेक्षा पुत्र' भानजे की अपेक्षा' मामा' भतीजे की अपेक्षा' चाचा' आदि हैं। स्याद्वाद सिद्धान्त इन्हीं सब सम्बन्धों को अपनी अपेक्षा' दृष्टि पूर्ण व्यक्त कर देता है, जिसको सामान्य व्यक्ति अन्यथा कहने को समर्थ नहीं है। यह एक सर्वज्ञ परमात्मा के ही संभव हैं कि वह एक वस्तु का एक सा पूर्ण वर्णन प्रकट कर सके। जिस तरह सामान्य बातें स्याद्वाद सिद्धान्त से पूर्ण प्रकट होती हैं उसी तरह सैद्धान्तिक विवेचन भी इसी की सहायता से पूर्णता को प्राप्त होता है। बौद्ध दर्शन के न्याय में स्याद्वाद सदृश कोई नियम हमको नहीं मिलता है। यही कारण है कि म० बुद्ध का वक्तव्य एकान्त मत को लिए हुए है। उन्होंने कहा :—

आकिंचन्नम पेक्खमानो उपसीवाति भगवान अत्थीति निस्साय तरस्सु ओघम् ।
कामे पहाय विरतो कथा हितन्हवखयम् रत्तमहामि पस्य ॥ १०६६ ॥

सुत्तनिपात्

अर्थात्—हे उपसिव ! दृष्टि में शून्य को रखते हुए, विचारवान बनते हुए और किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हुए ध्यान करना चाहिए । इन्द्रियवासनाओं आदि के त्याग से ही संसार समुद्र के पार उतर कर इच्छा के अभाव का अनुभव किया जायगा । इसी तरह धम्मपद में कहा गया है कि :—

दुनिया को पानी का बबूला समझो, वह मृगतृष्णा का नजारा है । जो इस प्रकार दुनिया को देखता है, उसे यमराज का भय नहीं रहता (१३।१७०) सर्व ही पदार्थ नाशवान हैं, जो इसको जानता और देखता है उसके दुःख का अन्त हो जाता है। यही पवित्रता का मार्ग है (२०।२७७) भगवान महावीर के स्याद्वाद सिद्धान्त में इनका उपदेश एकांत दृष्टि से नहीं दिया गया है । उसका श्रद्धानी स्पष्ट प्रकट करता है कि :—

एकः सदा शाश्वति को ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
वर्हिभवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥ २६

सामायिक पाठ

अर्थात्—मेरा आत्मा अपने स्वभाव में सदैव एक है, नित्य है, विशुद्ध है और सर्वज्ञ है । शेष जो हैं वे सब मेरे से बाहिर हैं, अनित्य हैं और कर्म के ही परिणाम रूप हैं । इसलिए :—

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥ २८

अर्थात्—शरीर के संयोग में पड़ा हुआ यह आत्मा विविध प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है । इसलिए जिन्हें अपनी आत्मा की मुक्ति वांछनीय है उन्हें इस शारीरिक सम्बन्ध को मन, वचन, काय की अपेक्षा त्यागना चाहिए ।

इस तरह स्याद्वाद की अपेक्षा वस्तु का यथार्थ रूप प्रकट हो जाता है । म० बुद्ध की तरह भगवान महावीर ने भी संसार को अनित्य और नाशवान प्रकट किया है, किन्तु यह केवल व्यवहार नय की अपेक्षा है, जिसके अनुसार संसार में पर्यायें उपस्थित होती रहती हैं । मूल में संसार के सामान्य अपेक्षा ससार नित्य हैं, क्योंकि संसार-प्रवाह का कभी अन्त नहीं होता है । इसीलिए जैन दर्शन में द्रव्य की व्याख्या" सद् द्रव्यलक्षणम् ॥२६ ॥ उत्पादव्यध्रौव्य-युक्तं सत्" ॥३० ॥५॥ की है अर्थात् द्रव्य सत्तावान नित्य है और यह वही है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य कर संयुक्त है । इस तरह वस्तुओं के यथार्थ और व्यवहारिक दोनों रूपों का विवरण वास्तविक रीत्या जैन धर्म में दिया हुआ है । बौद्ध धर्म के समान एकांत वाद को यहां आदर प्राप्त नहीं है । इसलिए उचित रीति में ही आचार्य मल्लिसेन भगवान महावीर भगवान का यशोगान करते हैं :—

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषा नपिशेषमिच्छन् न पक्षपातो समयस्तथा ते ॥

भावार्थ—भगवान् आप की वह पक्षपातमय एकान्त स्थिति नहीं है, जो कि उन लोगों की है जो एक दूसरे के विरोधी और आप के मत से विपरीत हैं, क्योंकि आप उसी वस्तु को अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित करते हैं।

इस तरह जैन सिद्धान्त-स्याद्वाद का महत्व प्रकट है । सचमुच यदि इसका उपयोग हम अपने दैनिक जीवन में करें तो हमारी धार्मिक असहिष्णुता का अन्त हो जावे । सब प्रकार के सिद्धान्तों की मानता की असलियत इसके निकट प्रकट हो जाती है । यही कारण है कि भगवान महावीर के दिव्योपदेश के उपरांत उस समय में प्रचलित बहुत से मत मतांतर लुप्त हो गये थे और मनुष्य सत्य को जानकर आपसी प्रेम से गले मिले थे । इस प्रकार भगवान महावीर और म० बुद्ध के धर्मों का दिग्दर्शन करके हम अपने उद्देशित स्थान को प्रायः पहुँच जाते हैं, अर्थात् भगवान महावीर और म० बुद्ध की विभिन्न जीवन घटनाओं का पूर्ण दिग्दर्शन कर चुकते हैं ।

सिद्धि भूमियाँ

श्री सम्मेद शिखर

इस स्थान का दूसरा नाम पार्श्वनाथ पर्वत है, यह जिला हजारी वाग के अन्तर्गत है। गिरीडीह स्टेशन से १८ मील और पारसनाथ (ईसरी) स्टेशन से लगभग १५ मील की दूरी पर है। इस शैलराज की उत्तुंग शिखाएं प्राकृतिक और सांस्कृतिक गरिमा का गान आज भी गा रही है। यह समुद्र गर्भ से ४४८८ फुट ऊँचा है। देखने में वड़ा ही सुन्दर है। घनी वनस्थली से घिरे ढालू संकीर्ण पथ से पहाड़ी पर चढ़ाई आरम्भ होती है। जैसे ही प्रयाण करते हैं, पर्वतराज की विस्मयजनक शोभा उद्भासित होने लगती है और वीच-वीच में नाना रमणीय दृश्य दिखलाई देते हैं। लगभग एक सहस्र फुट ऊँचा जाने पर आठ चोटियों के वीच पार्श्वनाथ चोटी वादलों के वीच गुम्मज सी प्रतीत होती है। अनेक अंग्रेज यात्रियों ने मुक्तकंठ से इस रमणीय स्थल का वर्णन किया है। सन् १८१९ में कोलोनेस फ्रेंकलिन ने इसकी यात्रा की थी।

इस पर्वत की सबसे ऊँची चोटी सम्मेद शिखर कहलाती है। यह शब्द सम्मद-शिखर का रूपान्तर प्रतीत होता है। इसकी निष्पत्ति सम् मद अर्थ में क अथवा अच् प्रत्यय करने पर हर्ष या हर्षयुक्त होगा। तात्पर्य यह है कि इसकी ऊँची चोटी को मंगलशिखर कहा जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि जैन श्रमण इस पर्वत पर तपस्यायें किया करते थे इसलिए इस पर्वत की ऊँची चोटी का नाम समणशिखर से सम्मेदशिखर हो गया है। इस शैलराज से चौवीस तीर्थंकरों में से अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, विमलनाथ, अनन्त नाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, और पार्श्वनाथ इन वीस तीर्थंकरों ने कर्म-कालिका को नष्ट कर जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त की है।

वर्द्धमान कवि ने अपने दशभक्त्यादि महाशास्त्र में पार्श्वनाथ पर्वत की पवित्रता का वर्णन करते हुए श्री रामचन्द्र जी का निर्वाण स्थान इसे वतलाया है। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार इस क्षेत्र की अर्चना करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। कवि ने इस शैलराज को अनन्त केवलियों की निवार्ण भूमि वतलाया है।

श्री पं० आशाधर जी ने अपने त्रिपष्टिस्मृतिशास्त्र में राम और हनुमान का मुक्तस्थान सी सम्मेदाचल को माना है। रविषेणाचार्य ने अपने पद्मपुराण में हनुमान का निर्वाणस्थान भी इसी पर्वत को वतलाया है। श्री गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में सुग्रीव, हनुमान और रामचन्द्र आदि को इस शेलराज से मुक्त हुए कहा है।

श्री सम्मेदशिखर माहात्म्य में चौवीस तीर्थंकरों के तीर्थकाल में इस पवित्र तीर्थ की यात्रा करने वाले उन व्यक्तियों के आख्यान दिये गये हैं, जिन्होंने इस तीर्थ की वंदना से अनेक लौकिक फलों को प्राप्त किया तथा दीक्षा लेकर तपस्या की और इसी शैलराज से निर्वाण पद पाया।

दिगम्वर आगमों के समान श्वेताम्वर आगमों में भी इस क्षेत्र की महत्ता स्वीकार की गयी है। विविध तीर्थकल्प में पवित्र तीर्थो की नामावली वतलाते हुए कहा गया है।

अयोध्या-मिथिला-चम्पा-श्रावती हस्तिनापुरे।
कौशाम्बी-काशि-काकन्दी-काम्पिल्य भद्रलामिवे।
चंद्रानना सिंहपुरे तथा राजगृहपुरे।
रत्नवाहे शौर्यपुरे कुण्डग्रामे प्यपपादया॥
श्रीरेवतक - सम्मेत - वैभारा ष्टापदाद्रिपु।
यात्रायास्मिस्तेपु यात्राफलाच्छतगुणं फलम्॥

इस प्रकार इस तीर्थ की पवित्रता स्वतः सिद्ध है। यह एक प्राचीन तीर्थ है, परन्तु वर्तमान में इस क्षेत्र में एक भी प्राचीन चिन्ह उपलब्ध नहीं है। यहाँ के सभी जिनालय आधुनिक हैं, तीन-चार सौ वर्ष से पहले का कोई भी मन्दिर नहीं है। प्रतिमायें भी इधर सौ वर्षों के वीच की हैं। केवल दो-तीन दिगम्वर मूर्तियां जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित है, परन्तु इसकी

प्रतिष्ठा भी मधुवन में या इस क्षेत्र से सम्बद्ध किसी स्थान में नहीं हुई है। अतएव यह स्पष्ट है कि बीच में कुछ वर्षों तक इस क्षेत्र में लोगों का आवागमन नहीं होता था। इसका प्रधान कारण मुसलमानी सल्तनत से आन्तरिक उपद्रवों का होना तथा यातायात की असुविधाओं का रहना भी है। औरंगजेब के शासन के उपरान्त ही यह पुनः प्रकाश में आया है। तब से अब तक प्रतिवर्ष सहस्रों यात्री इसकी अर्चना, वंदना कर पुण्यार्जन करते हैं। १८वीं शती में जो अंग्रेज यात्रियों ने भी इस क्षेत्र की यात्रा कर यहां का प्राकृतिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है तथा तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट चित्रण किया है। पर्वत की चढ़ाई, उतराई और वन्दना का क्षेत्र कुल १८ मील तथा परिक्रमा का क्षेत्र २८ मील है। मधुवन से दो मील चढ़ाई पर मार्ग में गन्धर्व नाला और इससे एक मील आगे सीता नाला पड़ता है।

आज इस क्षेत्र में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनधर्मशालाएं मन्दिर एवं अन्य सांस्कृतिक स्थल हैं। पहाड़ के ऊपर २५ गुम्मजें है, जिनमें निर्वाण प्राप्त २० तीर्थंकर, गौतम गणधर एवं अवशेष चार तीर्थंकरों की चरण पादुकाएं स्थापित हैं। पहाड़ के नीचे मधुवन में भी विशाल जिनमंदिर हैं जिनमें भव्य एवं चित्ताकर्षक मूर्तियां स्थापित की गयी हैं। भाव सहित इस क्षेत्र के दर्शन, पूजन करने से ४९ भव में निश्चयतः निर्वाण प्राप्त होता है तथा नरक और तिर्यक् गति का बंध नहीं होता।

पावापुरी—

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाण भूमि पावापुरी, जिसे शास्त्रकारों ने पावा के नाम से स्मरण किया है अत्यन्त पवित्र है। इस पवित्र नगरी के पद्म सरोवर से ई० पू० ५२७ में ७२ वर्ष की आयु में भगवान महावीर ने कार्त्तिक वदी अमावस्या के दिन उषाकाल में निर्वाण पद प्राप्त किया है। प्रचलित यह पावापुरी, जिसे पुरी भी कहा जाता है, विहार शरीफ स्टेशन से ९ मील दूरी पर है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय वाले इस तीर्थ को समान रूप से भगवान महावीर की निर्वाण भूमि मानते हैं। परन्तु ऐतिहासिकों में इस स्थान के सम्बन्ध में मतभेद है। महापण्डित श्री राहुल सांस्कृत्यायन गोरखपुर जिले के पपउर ग्राम को ही पावापुर बताते हैं, यह पडरोना के पास है और कसया से १२ मील उत्तर पूर्व को है। मल्ल लोगों के गणतन्त्र का सभा भवन इसी नगर में था।

मुनिश्री कल्याणविजय गणी विहारशरीफ के निकट वाली पावा को ही भगवान की निर्वाण नगरी मानते हैं। आपका कहना है कि प्राचीन भारत में पावा नाम की तीन नगरियां थीं। जैन सूत्रों के अनुसार एक पावा भंगिदेश की राजधानी थी। यह प्रदेश पार्श्वनाथ पर्वत के आस-पास के भूमि भाग में फैला हुआ था, जिसमें हजारीवाग और मानभूमि जिलों के भाग शामिल हैं। बौद्ध साहित्य के मर्मज्ञ कुछ विद्वान् इस पावा को मलय देश की राजधानी बताते हैं। किन्तु जैन सूत्र ग्रन्थों के अनुसार यह भंगिदेश की राजधानी ही सिद्ध होती है।

दूसरी पावा कोशल से उत्तर पूर्व कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी, जिसे राहुलजी ने स्वीकार किया है।

तीसरी पावा मगध जनपद में थी, जो आजकल तीर्थक्षेत्र के रूप में मानी जा रही है। इन तीनों पावाओं में से पहले पावा आग्नेय दिशा में और दूसरी पावा वायव्य कोण में स्थित थी। अतः उल्लिखित तीसरी पावा मध्यमा के नाम से प्रसिद्ध थी। भगवान् महावीर का अन्तिम चातुर्मास्य तथा निर्वाण इसी पावा में हुआ है।

श्री डा० राजवली पाण्डेय का 'भगवान महावीर की निर्वाण भूमि' शीर्षक एक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। आपने इसमें कुशीनगर से वैशाली की ओर जाती हुई सड़क पर कुशीनगर से ९ मील की दूरी पर पूर्व दक्षिण दिशा में सठियाव के भग्नावशेष (फाजिलनगर) को निश्चित किया है। यह भग्नावशेष लगभग डेढ़ मील विस्तृत है और भोगनगर तथा कुशीनगर के बीच में स्थित है। यहां पर जैन मूर्तियों के ध्वंसावशेष अभी तक पाये जाते हैं। बौद्ध साहित्य में जो पावा की स्थिति बतलायी गयी है, वह भी इसी स्थान पर घटित होती है।

इन तीनों पावाओं की स्थिति पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि भगवान् महावीर की निर्वाण भूमि पावा डा० राजवली पाण्डेय द्वारा निरूपित ही है। इसी स्थान पर काशी कोशल के नौ-लिच्छवी तथा नौ मल्ल एवं अठारह गणराजों ने दीपक जलाकर भगवान का निर्वाणोत्सव मनाया था। नन्दिवर्द्धन के द्वारा भगवान् के निर्वाण स्थान की पुण्यस्मृति में जिस मंदिर का निर्माण किया गया था, आज वही मंदिर फाजिल नगर का ध्वंसावशेष है। इस मन्दिर को भी एक मील के घेरे का बताया गया है तथा यह ध्वंसावशेष भी लगभग एक-डेढ़ मील का है। ऐसा मालूम होता है कि मुसलमानी सल्तनत की ज्याद—

तियों के कारण इस प्राचीन तीर्थ को छोड़कर मध्यम पावा को ही तीर्थ मान लिया गया है। यहां पर क्षेत्र की प्राचीनता का द्योतक कोई भी चिन्ह नहीं है। अधिक से अधिक तीन सौ वर्षों से इस क्षेत्र को तीर्थ स्वीकार किया गया है। यहां पर समवशरण मन्दिर की चरणपादुका ही इतनी प्राचीन है, जिससे इसे सात आठ सौ वर्ष प्राचीन कह सकते हैं। मेरा तो अनुमान है कि इस चरणपादुका को कहीं बाहर से लाया गया होगा। यह अनुमानतः १०वीं शती की मालूम होती है, इस पादुका पर किसी भी प्रकार का कोई लेख उत्कीर्ण नहीं है। इस चरणपादुका की प्राचीनता के आधार पर ही कुछ लोग इसी पावापुरी को भगवान् की निर्वाणभूमि बतलाते हैं। जलमन्दिर में जो भगवान् महावीर स्वामी की चरणापादुका है, वह भी कम से कम छः सौ वर्ष प्राचीन है। ये चरणचिन्ह भी पुरातन होने के कारण गलने लगे हैं। यद्यपि इन चरणों पर भी कोई लेख नहीं है। भगवान महावीर स्वामी के चरणों के अगल बगल में सुधर्म स्वामी और गौतम स्वामी के भी चरणचिन्ह हैं।

पावापुरी में जल मन्दिर संगमरमर का बनाया गया है। यह मंदिर एक तालाब के मध्य में स्थित है। मन्दिर तक जाने के लिए लगभग ६०० फुट लम्बा लाल पत्थर का पुल है। मन्दिर की भव्यता और शिल्पकारी दर्शनीय है। धर्मशाला में एक विशाल मन्दिर नीचे है, जिसमें कई वेदियां हैं। नीचे सामने वाली वेदी में श्वेतवर्ण पाषाण की महावीर स्वामी की मूलनायक प्रतिमा है। इस वेदी में कुल १४ प्रतिमाएं विराजमान हैं। सामने वाली वेदी के बायें हाथ की ओर तीन प्राचीन प्रतिमाएं हैं। इन प्रतिमाओं में धर्मचक्र के नीचे एक ओर हाथी और दूसरी ओर बैल के चिन्ह अंकित किये गये हैं। यद्यपि इन मूर्तियों पर कोई शिला लेखादि नहीं है, फिर भी कला की दृष्टि से ये निश्चयतः ८-९ सौ वर्ष प्राचीन हैं। मन्दिर में प्रवेश करने पर दाहिनी ओर प्राचीन पार्श्वनाथ की प्रतिमा है। इस प्रतिमा में धर्मचक्र के दोनों ओर दो सिंह अंकित किये गये हैं।

ऊपर चार मन्दिर हैं—(१) शोलापुर वालों का (२) श्री जगमग बीबी का मन्दिर (३) श्री बा० हरप्रसाद दासजी आरा वालों का मन्दिर और (४) जम्बूप्रसाद जी सहारनपुर वालों का मन्दिर। ये सभी मन्दिर आधुनिक हैं, प्रतिमाएं भी आधुनिक हैं।

चम्पापुरी—

चम्पापुरी क्षेत्र से बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया है। तिलोयपण्णत्ति में बताया गया है कि फाल्गुन कृष्णा पंचमी के दिन अपराह्णकाल में अश्विनी नक्षत्र के रहते छः सौ एक मुनियों से युक्त वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया। यद्यपि उत्तरपुराण में वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण स्थान मन्दारगिरि बताया गया है। कुछ ऐतिहासज्ञों का यह कहना है कि प्राचीनकाल में चम्पानगर का अधिक विस्तार था, अतः यह मन्दारगिरि उस समय इसी महान् नगर की सीमा में स्थित था। भगवान् वासुपूज्य इस चम्पानगर में एक हजार वर्ष तक रहे थे। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में बताया गया है कि भगवान महावीर ने यहां तीन चातुर्मास व्यतीत किये थे। चम्पा के पास पूर्णभद्र चैत्य नामक प्रसिद्ध उद्यान था, जहां महावीर ठहरते थे। श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु ने इसे मगध की राजधानी बनाया था। वासुपूज्य स्वामी के चम्पा में ही अन्य चार कल्याणक भी हुए।

चम्पापुर भागलपुर से ४ मील और नाथनगर रेलवे स्टेशन से मिला हुआ है। जिस स्थान पर वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण हुआ माना जाता है, उसी स्थान पर एक विशाल मन्दिर और धर्मशाला है। मन्दिर में पांच वेदियां हैं—चार वेदियां चारों कोनों में और एक मध्य में। मध्य वेदी में प्रतिमाओं के आगे वासुपूज्य स्वामी के चरण काले पत्थर पर अंकित किये गये हैं। इन चरणों के नीचे निम्न लेख अंकित हैं।

> स्वस्ति श्री जय श्रीमंगल संवत् १६९३ शकः १५५९ मनुनामसम्वत्सरे (संवत्सरे) मार्गशिर (मार्गशीर्ष) शुक्ला २ शना शुभमुहूर्त श्री मूलसंघ सरस्वतीगच्छबलात्कारगणे कुन्दकुन्दान्वये भट्टारक श्री कुमुदचन्द्र-स्तत्पट्ठे भ० श्री धर्मचन्द्रोपदेशात् जयपुर शुभस्थानेबघेरवाल ज्ञाति से० श्रीपासा भा० से० श्रीसुनोई तथा पुप्रसश्री ५ नामा० श्री सजाईमतं चम्पावासुपूज्यस्य शिखवद्ध शिखरवद्ध प्रासाद कारण्य प्रविष्ठा व......विद्याभूषणैः प्रतिष्ठितं वद्धितां श्री जिनधर्म्यं।

मेरा अनुमान है कि जिस स्थान पर आजकल यह मन्दिर बना है, उस स्थान पर वासुपूज्य स्वामी के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चार कल्याणक हुए हैं। निर्वाण स्थान तो मन्दारगिरि ही है।

चम्पापुर के दो जिनालयों में से बड़े जिनालय के उत्तर-पश्चिम के कोने की वेदी में श्वेत वर्ण पाषाण की वासुपूज्य

स्वामी की प्रतिमा है। यह प्रतिमा माघ शुक्ला दशमी को संवत् १९३२ में प्रतिष्ठित की गई है। इसी वेदी में ५-६ अन्य प्रतिमाएं हैं।

पूर्वोत्तर के कोने की वेदी में भी मूलनायक वासुपूज्य स्वामी की ही प्रतिमा है, इसको प्रतिष्ठा भी संवत् १९३२ में ही हुई है। इस वेदी में दो प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ स्वामी की पाषाणमयी हैं। एक पर संवत् १५८५ और दूसरी पर संवत् १७४५ का लेख अंकित हैं।

पूर्व-दक्षिण कोने की वेदी में मूलनायक प्रतिमा पूर्वोक्त समय की वासुपूज्य स्वामी की है। इस वेदी में भगवान् ऋषभदेव की एक खड्गासन प्राचीन प्रतिमा है, जिसमें मध्य में धर्म चक्र और इसके दोनों ओर दो हाथी अंकित हैं।

दक्षिण-पश्चिम कोने की वेदी में भी मूलनायक वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा संवत् १९३२ की प्रतिष्ठित है। इस वेदी में एक पार्श्वनाथ स्वामी की पाषाणमयी प्रतिमा व जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित संवत् १५५४ की है। बीसवीं शताब्दी की कई प्रतिमाएं भी इस वेदी में है।

मध्य की मुख्य वेदी में चांदी के भव्य सिंहासन पर ४ फुट ऊंची पीतवर्ण की पाषाणमयी वासुपूज्य स्वामी की प्रतिमा है। मूलनायक के दोनों ओर अनेक धातु प्रतिमाएं विराजमान हैं। बड़े मन्दिर के आगे मुगलकालीन स्थापत्य कला के ज्वलन्त प्रमाण स्वरूप दो मानस्तम्भ हैं, जिनकी ऊंचाई क्रमशः ५५ और ३५ फीट है।

मन्दिर के मूल फाटक पर नक्कासीदार किवाड़ हैं। मूल मन्दिर की दीवालों पर सुकोशल मुनि के उपसर्ग, सीता की अग्नि परीक्षा, द्रौपदी का चीर हरण आदि कई भव्य चित्र अंकित किये गये हैं। द्रौपदी के चीरहरण और सीता की अग्नि परीक्षा में दरबार का दृश्य भी दिखलाया गया है। यद्यपि इन चित्रों का निर्माण हाल ही में हुआ है, पर जैन कला की अपनी विशेषता नहीं आ पायी है।

इस मंदिर से आध मील गंगा नदी के नाले के तट पर, जिसको चम्पानाला कहते हैं, एक जैन मंदिर और धर्मशाला है। इसका प्रबन्ध श्वेताम्बरी भाइयों के आधीन हैं। इस मंदिर में नीचे श्वेताम्बरी प्रतिमाएँ और ऊपर दिगम्बर आदिनाथ की प्रतिमा विराजमान है। इन प्रतिमाओं में से कई प्रतिमाएं, जो चम्पानाला से निकली हैं, बहुत प्राचीन हैं, अन्य प्रतिमाओं में एक श्वेत पाषाण की १५१५ की प्रतिष्ठित तथा एक मूंगिया रंग के पाषाण की पद्मासन सं० १८८१ में भट्टारक जगत्कीर्त्ति द्वारा प्रतिष्ठित है। प्रतिष्ठा कराने वाले चम्पापुर के सन्तलाल हैं। यहां अन्य कई छोटी प्रतिमाओं के अतिरिक्त एक चरणपादुका भी है। श्वेताम्बर आगम में इसी स्थान को भगवान् वासुपूज्य स्वामी के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पंचकल्याणकों का स्थान माना गया है।

श्री डब्लू० डब्लू० हन्टर ने भागलपुर का स्टेटिकल एकाउन्ट देते हुए लिखा है कि जहां आजकल चम्पानगर में जैन मंदिर है, उस स्थान को ख्वाजा अहमद ने सन् १६२२-२३ में आबाद किया था। इस स्थान के आस-पास का मोहल्ला अकबरपुर कहलाता है। यह स्थान बहुत प्राचीन है, यहां पर अरण्य हैं।

मन्दारगिरि—

भागलपुर से ३१ मील दक्षिण एक छोटा सा पहाड़ अनुमानतः ७०० फुट ऊंचा एक ही शिला का है। यह प्राचीन क्षेत्र है। यहां से भगवान् वासुपूज्य ने निर्वाण लाभ किया है। उत्तर पुराण में बताया गया है :—

स तैः सह विहृत्याखिलार्यक्षेत्राणि तर्पयन्।
धर्मवृष्ट्या क्रमात्प्राप्य चम्पामब्दसहस्रकम् ॥
स्थित्वात्र निष्क्रियो मासं नद्या राजतमौलिका—
संज्ञायाश्चित्तहारिण्या : पर्यन्तावनिवर्त्तिनि ॥
अग्रमन्दरशैलस्य सानुस्थानविभूषणे।
वने मनोहररोद्याने पल्यंकासनमाश्रितः ॥
मासे भाद्रपदे ज्योत्स्ने चतुर्दश्यापरान्ह के।
विशाखायां ययौ मुक्ति चतुर्नवतिसंयतैः ॥

—उत्तरपुराण पर्व ५८ श्लो० ५०-५३

इससे स्पष्ट है कि वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण स्थान यही है, जहां आजकल चम्पापुर का मन्दिर स्थित है, वहां से भगवान् का निर्वाण नहीं हुआ है। इन श्लोकों में बताया गया है कि रजतमौलि नामक नदी के किनारे की भूमि पर स्थित मन्दागिरि के शिखर पर स्थित मनोहर नामक उद्यान से भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन सन्ध्या समय विशाखा नक्षत्र में ६४ मुनिराजों के साथ वासुपूज्य स्वामी ने निर्वाण पद प्राप्त किया। भौगोलिक दृष्टि से पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि प्राचीन रजतमोपल नदी आज कल भी रजत नाम से प्रसिद्ध है। भाषा विज्ञान की अपेक्षा से रजतमोलि का रजत नाम सहज संभव है। अतएव वासुपूज्य स्वामी का यही मन्दारगिरि निर्वाण स्थान है।

पहाड़ के ऊपर दो बहुत प्राचीन जिनालय हैं, इनकी स्थापत्य कला ही इस बात की साक्षी है कि ये मन्दिर आज से कम से कम १० हजार वर्ष प्राचीन है। बड़े मन्दिर की दीवाल की चौड़ाई ७ फीट है, जो बौद्ध काल की स्थापत्य कला सूचक है। पहाड़ के बड़े मन्दिर में वासुपूज्य स्वामी के श्यामवर्ण के चरण चिन्ह हैं। ये चरण भी बहुत प्राचीन हैं, पाषाण एवं शिल्प की दृष्टि से ई० सन् की ८-९वीं शती के अवश्य हैं। पहाड़ पर के छोटे मन्दिर में तीन चरणपादुकाएं हैं। ये पादुकाएं भी प्राचीन हैं तथा निर्वाण प्राप्त मुनिराजाओं की हैं। बड़े मन्दिर के भीतरी दरवाजे के ऊपर एक प्राचीन मूर्ति उत्कीर्णित है। पास की एक गुफा में मुनिराजों के चरण चिन्ह अंकित हैं।

मन्दारगिरि से लगभग दो मील की दूरी पर बौंसी गाँव में दि० जैन धर्मशाला एवं विशाल भव्य मन्दिर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध यहीं पर है। धर्मशाला के मन्दिर में वी० सं० २४६९ की गेहुआँ वर्ण की वासुपुज्य स्वामी की पद्मासन मूर्ति और भी कई मूर्तियाँ एवं चरण पादुकाएँ हैं। मन्दिर के बाहिरी दरवाजे के ऊपर दोनों ओर दो पाषाण के हाथी अपने सुण्डादण्ड को ऊपर की ओर उठाये खड़े हुए हैं, बीच संगमरमर पर दि० जैन मन्दिर लिखा गया है। बड़े शिखर के नीचे माजिक में कटी हुई फूल पत्तियों का शिखर बहुत ही भव्य और चित्ताकर्षक है। मंदिर के सामने बना हुआ छोटा संगमरमर का चबूतरा दूर से देखने पर बहुत ही सुहावना मालूम पड़ता है।

यहाँ एक अन्य अधूरा मंदिर पड़ा हुआ है, इस मंदिर को पत्थर से बनवाने की व्यवस्था श्री सेठ तिलकचन्द कस्तूर चन्द बारामती (पूना) वालों ने की थी, पर कालचक्र के प्रभाव से यह मंदिर अभी अपूर्ण ही पड़ा है।

जैनेतरों के लिए भी यह क्षेत्र पवित्र और मान्य है। यहाँ सीताकुण्ड और शेखकुण्ड नामक दो शीतल जल के कुण्ड हैं। पर्वत की तलहटी में पापहरणी पुष्करणी नामक तालाब हैं। कहा जाता है कि समुद्र मन्थन के समय मथानी का कार्य इसी पर्वत से लिया गया था।

बीच में कई शताब्दियों तक जैनों की शिथिलता के कारण यह तीर्थ अन्धकाराछन्न हो गया था। २० अक्तूबर सन् १९११ में सबलपुर के जमींदारों से इसकी रजिस्ट्री करायी गयी है। इस तीर्थ को पुनः प्रकाश में लाने का श्रेय स्व० बा० देवकुमार जी आरा, स्व० राय बहादुर केसरे हिंद सखीचन्द्र जी कलकत्ता एवं श्री बाबू हरिनारायण जी भागलपुर को है। अब यह तीर्थ दिनों दिन उन्नति करता जा रहा है।

राजगृह

यह स्थान पटना जिले में है। ई० आर० रेलवे के बख्तियारपुर जंक्शन से बिहार लाइट रेलवे का अन्तिम स्टेशन है। यहाँ पंचपहाड़ी की तलहटी में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन धर्मशालाएँ एवं जिनमंदिर हैं। पाँचों पहाड़ों पर भी दिगम्बर और श्वेताम्बर मन्दिर हैं।

राजगृह का पूर्व इतिहास अत्यन्त गौरव पूर्ण है। इस नगर को कुशात्मज वसु ने गंगा और सोन नदी के संगम पर बसाया था। महाराज श्रेणिक ने पंचपहाड़ी के मध्य में नवीन राजगृह नगर को बसाया, जो अपनी विभूति और रमणीयता में अद्वितीय था। महाराजवसु से लेकर श्रेणिक तक यह उत्तर भारत का शासन केन्द्र रहा है। जब श्रेणिक के पुत्र अजात-शत्रु ने मगध की राजधानी चम्पा को बनाया, उस समय किसी कारणवश आग लग जाने से यह नगर नष्ट हो गया।

राजगृह का भगवान् महावीर के पहले भी जैन धर्म का सम्बन्ध रहा है। रामायण काल में भगवान मुनिसुव्रत नाथ के गर्भ, जन्म, तप, और ज्ञान ये चार कल्याणक यहीं हुए थे। पश्चात् इसी वंश में अर्द्धचक्री प्रतिनारायण जरासिन्धु हुआ। यह महापराक्रमी और रणशूर था, इसके भय के यादवों ने मथुरा छोड़कर द्वारिका का आश्रय ग्रहण किया था। राज-गृह के साथ जैन धर्म का इतिहास जुड़ा हुआ है। यहाँ भगवान आदिनाथ और वासूपूज्य के अतिरिक्त अवशेष २२ तीर्थंकरों

के समवसरण आये थे। भगवान महावीर ने यहाँ वर्षाकाल व्यतीत किया था तथा इनके प्रमुख भक्त इसी नगर निवासी थे।

राजगृह के पंचपहाड़ों का वर्णन तिलोयपण्णति, धवलाटीका, जयधवलाटीका, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, अणुतत्तरोववाई दशाँगसूत्र, भगवतीसूत्र, जम्बू स्वामी चरित्र, मुनिसुतव्रतकाव्य, णायकुमार चरिउ, उत्तरपुराण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

तिलोयपण्णत्ति में इसे पंचशैलपुर नगर कहा गया है। बताया गया है कि राजगृह नगर के पूर्व में चतुष्कोण ऋशिशैल, दक्षिण में त्रिकोण वेभार, नैऋत्य में त्रिकोण विपुलाचल, पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में धनुषाकार छिन्न एवं ईशान दिशा में पाण्डु नाम का पर्वत है।

पट्खंडागम की धवला टीका में वीरसेन स्वामी ने पंच पहाड़ियों का उल्लेख करते हुये दो प्रचीन श्लोक उद्धृत किए हैं, जिनमें पंच पहाड़ियों के नाम क्रमशः ऋषिगिरि, वैभारगिरि, विपुल, चन्द्र और पाण्डु आये हैं।

हरिवंश पुराण में बताया गया है कि पहला पर्वत ऋषिगिरि है, यह पूर्व दिशा की ओर चौकोर है, इसके चारों ओर झरने निकलते हैं। यह इन्द्र के दिग्गज्जों के समान सभी दिशाओं को सुशोभित करता है। दूसरा दक्षिण दिशा की ओर वैभार गिरि है, यह पर्वत त्रिकोणाकार है। तीसरा दक्षिण पश्चिम के मध्य त्रिकोणाकार विपुलाचल है, चौथा बलाहक नामक पर्वत धनुष के आकार का तीनों दिशाओं को घेरे शोभित है, पाँचवां पाण्डुक नामक पर्वत गोलाकार पूर्वोत्तर मध्य में है। ये पाँचों पर्वत फल पुष्पों के सपूह से युक्त हैं। इन पर्वतों के वनों में वासुपूज्य स्वामी को छोड़ शेष समस्त तीर्थंकरों के समवशरण आये हैं। ये वन सिद्धक्षेत्र हैं, इनकी यात्रा को भव्य जीव आते हैं।

राजगृह सिद्ध भूमि है, यहाँ भगवान महावीर का विपुलाचल पर प्रथम समवशरण लगा था। अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के अन्तिम भाग में ३३ वर्ष ८ माह और १५ दिन अवशेष रहने पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई थी। इस स्थान से अनेक ऋषि मुनियों ने निर्वाण पद प्राप्त किया है। श्रद्धेय श्री नाथूराम प्रेमी ने अपने अनेक प्रमाणों द्वारा नंग अनंग आदि साढ़े पाँच करोड़ मुनिराजों का निर्वाण स्थान यहाँ के ऋष्यद्रि को बतलाया है। आजकल यह ऋष्यद्रि चतुर्थ पहाड़ स्वर्णगिरि या सेनागिरि कहलाता है। श्री प्रेमी जी ने निर्वाण भक्ति के ९ वें पद्म को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत कर अंग अनग कुमार का मुक्ति स्थान राजगृह की पंच पहाड़ियों में श्रमणगिरि— सोनागिरि को ही सिद्ध किया है। पूर्वापर सम्बन्ध विचार करने पर यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

राजगृह के विपुलाचल पर्वत से श्री गौतम स्वामी ने निर्वाण लाभ किया है। उत्तर पुराण में बतलाया गया है—

गत्वा विपुलशब्दादिगिरौ प्राप्स्यामि निर्वृतम्।
मन्निर्वृतिदिने लब्धाँ सुधर्मा श्रुतपारगः॥
उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लोक ५१

अंतिम केवली श्री सुधर्मस्वामी और जम्बू स्वामी ने भी विपुलाचल पर्वत से ही निर्वाण प्राप्त किया है। केवली धनदत्त, सुभन्दर और मेघरथ ने भी राजगृह से ही निर्वाण प्राप्त किया है। सेठ प्रीतंकर ने भगवान महावीर से मुनि दीक्षा लेकर यहीं आत्म कल्याण किया था। धीवरी पूत गन्धा ने यहीं की नील गुफा में सल्लेखना व्रत ग्रहण कर शरीर त्याग किया था।

पहला पहाड़ विपुलाचल है। इस पर्वत पर चार दिगम्बर जैन मंदिर हैं। नीचे छोटे मंदिर में श्यामवर्ण कमल के ऊपर भगवान महावीर स्वामी की चरण पादुका हैं। थोड़ा ऊपर जाने पर तीन मंदिर हैं। पहले मंदिर में चन्द्रप्रभु की चरणपादुका प्राचीन है। मंदिर भी प्राचीन हैं। मध्यवाले मंदिर में चन्द्रप्रभु स्वामी की श्वेतवर्ण की मूर्ति वेदी में विराजमान हैं। वेदी के नीचे दोनों ओर हाथी खुदे हुए हैं, बीच में एक वृक्ष है। बगल में एक ओर सं० १५४८ की श्वेतवर्ण की चन्द्र प्रभुस्वामी की मूर्ति है। यह मूर्ति ई० सन् ८ वीं शती की प्रतीत होती है। अंतिम मंदिर की वेदिका में श्वेतवर्ण की महावीर की स्वामी की मूर्ति विराजमान हैं। बगल में एक ओर श्यामवर्ण मुनिसुव्रतनाथ की मूर्ति और दूसरी ओर उन्हीं के चरण हैं। मूर्ति प्राचीन और चरण नवीन हैं।

दूसरे रत्नगिरि पर दो मंदिर हैं—एक प्राचीन मंदिर है और दूसरा नवीन। नवीन मंदिर को श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाई जी ने बनवाया है इसमें मुनिसुव्रत स्वामी की श्यामवर्ण की भव्य और विशाल प्रतिमा विराजमान है। पुराने मंदिर में श्यामवर्ण महावीर स्वामी की चरणपादुका है।

तीसरे उदयगिरि पर एक मंदिर है। इसमें श्री शाँतिनाथ और पार्श्वनाथ स्वामी की प्राचीन प्रतिमायें एवं आदिनाथ स्वामा के चरणचिह्न हैं। एक महावीर स्वामी की भी खड्गागन श्यामवर्ण प्राचीन प्रतिमा है। यह नया मंदिर भी कलकत्ता निवासी श्रीमान सेठ रामवल्लभ रामेश्वर जी की ओर से बना है।

चौथे स्वर्णगिरि पर दो मंदिर है। एक मंदिर फिरोजपुर निवासी लाल तुलसीराम ने बनवाया है। इस नये मंदिर में शाँतिनाथ स्वामी की श्यामवर्ण की प्रतिमा तथा नेमिनाथ और आदिनाथ स्वामी के चरण चिन्ह हैं। यहाँ एक प्राचीन खड्गासन मूर्ति भी है। पुराने मंदिर में भी भगवान महावीर के नवीन चरण चिन्ह हैं। यह मंदिर छोटा-सा और पुराना है।

पाँचवें वैभारगिरि पर एक मंदिर है। यहाँ पर एक चौबीसी प्रतिमा महावीर स्वामी, नेमिनाथ स्वामी और मुनि-सुव्रत स्वामी की श्यामवर्ण की प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। नेमिनाथ स्वामी के चरण चिन्ह भी हैं।

पहाड़ी के नीचे दो मंदिर हैं। एक मंदिर धर्मशाला के भीतर है तथा दूसरा धर्मशाला के बाहर विशाल बगीचे में। बाहर वाले मंदिर को देहली निवासी लाला न्यादरमल धर्मदास जी ने एक लाख रुपये से ६ फरवरी सन् १६२५ में बनवाया है। इस मंदिर में पाँच वेदिकायें हैं। पहली वेदी के बीच में श्यामवर्ण नेमिनाथ स्वामी की प्रतिमा है, यह पद्मासन मूर्ति डेढ़ फुट ऊँची सम्वत् १६८० में प्रतिष्ठित की गई है। इसके दायीं ओर शाँतिनाथ स्वामी और बायीं ओर महावीर स्वामी की प्रतिमाएँ हैं। ये दोनों प्रतिमाएँ विक्रम की २० वीं शती की है। इस वेदिका में धातुमयी कई छोटी छोटी मूर्तियाँ हैं, जो सं० १७८६ की है। इस वेदी में दो चांदी की भी प्रतिमाएँ हैं।

दूसरी वेदी में चन्द्रप्रभु स्वामी की श्वेतावर्ण की ३ फीट ऊँचो प्रतिमा है। इसकी प्रतिष्ठा वी० सं० २४४६ में हुई है। चतुर्मुखी धातु प्रतिमा भी इस वेदी में है।

मध्य की वेदी सबसे बड़ी वेदी है, इस पर सुनहला कार्य कलापूर्ण हुआ है। वेदी के मध्य में मुनि सुव्रतनाथ की श्यामवर्ण की प्रतिमा, इसके दाहिनी ओर अजितनाथ की और बायीं ओर संभवनाथ की प्रतिमा है। ये प्रतिमाएँ भी वि० सं० १६८० की प्रतिष्ठित हैं। चौथी में विकम संवत् १६७६ की प्रतिष्ठित चन्द्र प्रभु और शाँतिनाथ की प्रतिमाएँ हैं। पाँचवीं वेदी के बीच में कमल पर महावीर स्वामी की बादामी रंग की वी० सं० २४६२ की प्रतिष्ठित प्रतिमा है। इसमें आदिनाथ शीतलनाथ की भी प्रतिमाएँ हैं।

धर्मशाला के भीतर का छोटा मदिर गिरिडीह निवासी सेठ हजारीमल किशोरीलाल जी ने बनवाया है। इस मंदिर की वेदी में मध्यवाली प्रतिमा भगवान महावीर स्वामी की है। इसका प्रतिष्ठा काल माघ सुदी १३ संवत् १८४१ लिखा है। इसके बगल में पार्श्वनाथ स्वामी की दो प्रतिमाएँ हैं, जिनका प्रतिष्ठा काल वैशाख सुदी ३ सं० १५४८ लिखा है। इस वेदी में और भी कई प्रतिमाएँ हैं।

गुणावा—

यह सिद्धक्षेत्र माना जाता है, यहां से गौतम स्वामी का निर्वाण हुआ मानते हैं, पर यह भ्रम है। गौतम स्वामी का निर्वाण स्थान विपुलाचल पर्वत है, गुणावा नहीं। हां, इतनी बात अवश्य है कि गौतम स्वामी नाना देशों में विहार करते हुए गुणावा पहुंचे थे और यहाँ तपस्या की थी।

यह स्थान नवादा स्टेशन से १—१।३ मील की दूरी पर है। यहाँ पर श्रीमान सेठ हुकमचन्द जी साहब ने जमीन खरीद कर धर्मशाला एवं भव्य मन्दिर का निर्माण कराया था धर्मशाला के मन्दिर में भगवान कुन्थुनाथ स्वामी की ४-१।३ फुट ऊँची श्वेतवर्ण की पद्मासन प्रतिमा है। इसकी प्रतिष्ठा चैत्र शुक्लाष्टमी सं० १६६५ में हुई है। वेदी में चार पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमायें हैं, जिनका प्रतिष्ठाकाल सं० १५४८ है। इस वेदी में एक वासूपूज्य स्वामी की प्रतिष्ठा सारंगपुर निवासी दाताप्रसाद भावसिंह भार्या अमरादिने करायी है। वेदी में कुन्थुनाथ स्वामी की प्रतिमा के पीछे एक सं० १२६८ की एक और प्रतिमा है। यहाँ गौतम स्वामी के चरण वीर सं० २४५३ के प्रतिष्ठित हैं। वेदी सुन्दर संगमरमर की है, इसका निर्माण कलकत्ता निवासी श्रीमान सेठ माणिकचन्द्र जी की धर्मपत्नी ने कराया है।

धर्मशाला के दिगम्बर मन्दिर से थोड़ी ही दूर पर जल मंदिर है। यह मन्दिर एक ६-७ फीट गहरे तालाब के मध्य में बनाया गया है। मंदिर तक जाने के लिए २०३ फीट लम्बा पुल है। आजकल इस जल मन्दिर पर दिगम्बर और श्वेताम्बर भाईयों का समान अधिकार है, यहाँ एक दिगम्बर पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा तथा गौतम स्वामी की चरणपादुका है। इस

चरणपादुका की प्रतिष्ठा सं० १६७७ में हुई है। दि० धर्मशाला का पुजारी प्रतिदिन इस जल मंदिर में अपनी प्रतिमा तथा चरणपादुका का अभिषेक पूजन करता है। इस जल मन्दिर में श्वेताम्बरीय आम्नाय के अनुसार वासुपूज्य स्वामी के चरण, चौवीसी, चरण, चौवीस स्थानों पर पृथक्-पृथक् चौवीस भगवानों के चरण एवं महावीर स्वामी के चरण कई स्थानों पर हैं। यहाँ मूलनायक प्रतिमा स्वामी महावीर भगवान की है। यह मंदिर प्राचीन और दर्शनीय है।

धर्मशाला के मन्दिर के सामने वीर सं० २४७४ में गया निवासी श्रीमान सेठ केसरीमल लल्लूलाल जी ने मानस्तम्भ वनवा कर इसकी प्रतिष्ठा करायी है।

कमलदह (गुलजारवाग)

यह सेठ सुदर्शन का निर्वाणस्थान माना गया है। सेठ सुदर्शन ने इस स्थान पर घोर तपश्चरण किया था। जव सुदर्शन मुनि श्मशान में ध्यानस्थ थे, आकाशमार्ग में रानी अभयमती का जीव, जो व्यन्तरी हुआ था, जा रहा था। मुनि के ऊपर ज्यों ही विमान आया कि वह मुनि के योगप्रभाव से आगे नहीं वढ़ पाया। उसने कुअवधिज्ञान से पूर्व शत्रुता को अवगत कर उन्हें भयानक उपसर्ग दिया, परन्तु धीरवीर सुदर्शन मुनिराज ध्यान में सुमेरु की तरह अटल रहे। देवों ने उनका उपसर्ग दूर किया।

सुदर्शन मुनि ने योग निरोध कर शुक्लध्यान द्वारा घातियाँ कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने गुलजारवाग—कमलदह क्षेत्र से पौष शुदि ५ के दिन अपराह्न में निर्वाण पद पाया।

गुलजारवाग स्टेशन से उत्तर की ओर एक धर्मशाला और मंदिर है। धर्मशाला से थोड़ी ही दूर पर मुनि सुदर्शन का निर्वाण स्थान है।

कुण्डलपुर—

यह भगवान महावीर का जन्म स्थान माना जाता है, पर अव अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर वैशाली का कुण्डलग्राम भगवान की जन्मभूमि सिद्ध हो चुका है। यह स्थान पटना जिले के अन्तर्गत है और नालन्दा स्टेशन से डेढ़-दो मील की दूरी पर है। यहाँ पर धर्मशाला के भीतर विशाल मंदिर है। वेदो में मूलनायक प्रतिमा महावीर स्वामी की है, इसकी प्रतिष्ठा माघ शुक्ला १३ सोमवार सं० १६८२ में हुई है। तीन प्रतिमाएं पार्श्वनाथ स्वामी की हैं, जिनकी प्रतिष्ठा वैशाख सुदी ३ सं० १५४८ में हुई है। इस वेदी में ७ प्रतिमाएं और एक सिद्ध परमेष्ठी की आकृति है। स्थान रमणीय और शान्तिप्रद है। आत्म कल्याण करने के लिए यह स्थान सर्वथा उपयोगी है। अव तो नालन्दा में पाली प्रतिष्ठान के खुल जाने से इस स्थान की महत्ता और भी वढ़ गयी है।

वैशाली—

भगवान महावीर का जन्मस्थान यही प्रदेश है। वैशाली संघ ने इस स्थान के अन्वेषण में अपूर्व श्रम किया है। यहाँ से खुदाई में भगवान् महावीर स्वामी की एक प्राचीन मनोज्ञ प्रतिमा प्राप्त हुई है। आजकल यहां पर भगवान् महावीर का विशाल मन्दिर वनाने की योजना चल रही है। मन्दिर वनाने के लिए लगभग १३ वीघे जमीन स्थानीय जमींदारों से प्राप्त हो चुकी है। यहाँ मन्दिर आदि की व्यवस्था के लिए "वैशाली तीर्थ कमेटी" का संगठन हुआ है। वैशाली संघ के तत्वाववान में विहार सरकार यहाँ "प्राकृत प्रतिष्ठान" खोलने जा रही है। यह स्थान मुजफ्फरपुर जिले में पड़ता है।

कुलुआ पहाड़—

यह पर्वत गया से ३८ मील हजारीवाग जिले में है। यह पहाड़ जंगल में है, इसकी चढ़ाई दो मील है। यहां सैकड़ों जैन मन्दिरों के भग्नावशेष पड़े हुए हैं। यहां १०वें तीर्थंकर श्री शीतलानाथ ने तप करके केवल ज्ञान प्राप्त किया था। यहां पार्श्वनाथ स्वामी की एक अखण्डित अत्यन्त प्राचीन पद्मासन् २ फुट ऊंची कृष्णवर्ण की प्रतिमा है। इस प्रतिमा को आजकल जैनेतर द्वारपाल के नाम से पूजते हैं। यहां एक छोटा दि० जैन मन्दिर पांच कलशों का शिखरवन्द वना हुआ है, यह मंदिर प्राचीन है। इसमें सन् १६०१ श्री सुपार्श्वनाथ भगवान की ९ इंच चौड़ी पद्मासन मूर्ति विराजमान थी, परन्तु अव केवल आसन ही रह गया है। मन्दिर के सामने पर्वत पर एक रमणीय ३००६० गज का सरोवर है। यहाँ पर अनेक खण्डित जैन मूर्तियों के अवशेष पड़े हुए हैं। एक मूर्ति एक हाथ की पद्मासन है, आसन पर संवत् १४४३ लिखा मालूम होता है। यहां की सव से

ऊंची चोटी का नाम "आकाशालोकन" है। यह नीचे से डेढ़ मील ऊंची होगी। इस शिखर पर एक चरणपादुका वहुत प्राचीन है। चरण चिह्न ८ "१।२" हैं। शिखर से नीचे उतरने पर महान शिला की एक ओर की दीवाल में १० दिगम्वर जैन प्रतिमाएं खण्डित अवस्था में हैं। इन प्रतिमाओं पर नागरीलिपि में लेख हैं, जो घिस जाने के कारण पढ़ने में नहीं आता है केवल निम्न अक्षर पढ़े जा सकते हैं।

श्रीमत् महाचन्द कलिद मुपुत्र संघ घर मई सह सिद्धम्

इस स्थान को पण्डों ने दशावतार गुफा प्रसिद्ध कर रखा है। वृहद्शिला की दूसरी ओर भी दोवाल में १० प्रतिमाएं हैं। इस स्थान से आकाशलोक शिखर तीन मील है। मार्च १६०१ की इंडियन एण्ठीक्वेटी में इस तीर्थ के सम्वन्ध में लिखा गया है—

"आकाशलोकन शिला की चरणपादुका को पुरोहित लोग कहते हैं कि विष्णु की है, परन्तु देखने से ऐसा निश्चय होता है कि यह जैन तीर्थंकर की चरणपादुका है और ऐसा ही मान कर इसकी असल में पूजा होती थी।"

"पूर्व काल में यह पहाड़ अवश्य जैनियों का एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा होगा, यह वात भले प्रकार स्पष्टतया प्रमाणित है। क्योंकि सिवाय दुर्गादेवी की नवीन मूर्ति के और वौद्ध मूर्ति के एक खण्ड के अन्य सर्व पाषाण की रचना के चिह्न चाहे अलग पड़े हुए, चाहे शिलाओं पर अंकित हो वे सव तीर्थंकरों को ही प्रकट करते हैं।"

आज इस पवित्र क्षेत्रके पुनरुद्धार और प्रचार की आवश्यकता है। भा० दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी को इस क्षेत्र की ओर ध्यान देना चाहिए।

श्रावक पहाड़—

गया के निकट रफीगंज से ३ मील पूर्व श्रावक नाम का पहाड़ है। यहां एक ही शिला का पर्वत है, २ फलांग ऊंचा होगा। यहां वृक्ष नहीं है, किनारे-किनारे शिलाएं हैं। पहाड़ के नीचे जो गाँव वसा है, उसका नाम भी श्रावकपुर है। पर्वत के ऊपर ८० गज जाने पर एक गुफा है, जो १०×६ गज है। इसमें एक जीर्ण दिगम्वर जैन मन्दिर है, जो इस समय ध्वस्त प्रायः है। यहां पर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मनोज्ञ मूर्ति है। इसका वायां पैर खण्डित है। गुफा में अन्य भी खण्डित मूर्तियां हैं, गुफा के भीतर के पाषाण पट में ६ पद्मासन मूर्तियां हैं, नीचे यक्षिणी की मूर्ति लेटी है। इस पट के नीचे एक लेख प्राचीन लिपि में हैं।

प्रचार पहाड़—

गया जिले में औरंगावाद की सीमा के पूर्व की ओर रफीगंज से दो मील की दूरी पर प्रचार या पछार पहाड़ है। यहां पर एक गुफा के वाहर वेदी में पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति विराजमान है। इसके आस-पास तीर्थंकरों की अन्य प्रतिमाएं हैं। इस पहाड़ की जैन मूर्तियों के ध्वंसावशेषों को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह प्रसिद्ध तीर्थ रहा है।

सामान्य तीर्थ—

आरा की प्रसिद्धि नन्दीश्वरदीप की रचना, श्री सम्मेदशिखर की रचना, श्री गोम्मटेश्वर की प्रतिमा, मानस्तम्भ, श्री जैन सिद्धान्त—भवन और श्री जैन वाला विश्राम के कारण है। गया अपने भव्य जैन मन्दिर के कारण, छपरा अपने शिखरवन्द मन्दिर के कारण, भागलपुर अपने भव्य मन्दिर तथा चम्पापुर के निकट होने के कारण, हजारीवाग श्री सम्मेदशिखर के निकट होने के कारण प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार ईसरी, गिरिडीह, कोडरमा, रफीगंज आदि स्थान भी साधारण तीर्थ माने जाते हैं। विहार शरीफ का छोटा सा पुराना मन्दिर भी प्राचीन है। इस प्रकार विहार के कोने कोने में जैन तीर्थ हैं। यहां का प्रत्येक वन, पर्वत और नदी तट तीर्थंकरों की चरणरज से पवित्र है।

यजुर्वेद में भगवान महावीर की उपासना

आतिथ्यं रूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः
रूपमुपसदामेतत्तिस्त्रो रात्रीः सुरासुता ।।१४।।

—यजुर्वेद अ० १६। मंत्र १४

अर्थात्—अतिथि स्वरूप पूज्य मासोंपवासी नग्न स्वरूप महावीर की उपासना करो जिससे संसय, विपर्यय, अनध्यवसाय रूप तीन अज्ञान और धन मद, शरीर मद, विद्या मद की उत्पत्ति नहीं होती।

श्रीमद्भागवत पुराण में जैन तीर्थंकर को नमस्कार

नाभेरसा वृषभ आससु देव सूनुर्योवैवचार समदृग् जड़ योगचर्याम्।
यत्पारमहंस्य मृषयः पदमामनंति स्वस्थः प्रशांतकरणः परिमुक्त संग ।।१०।।

—भागवत, स्कंध २, अ० ७

अर्थात्—ऋषभ अवतार कहे हैं कि ईश्वर अगनीन्ध्र के पुत्र नाभि से सुदेवी पुत्र ऋषभ देव जी हुए समान दृष्टा जड़ की तरह योगाभ्यास करते रहे, जिनके पारमहंस्य पद को ऋषियों ने नमस्कार किया, स्वस्थ शांत इन्द्रिय सब संग त्याग कर ऋषभदेव जी हुए जिनसे जैन धर्म प्रगट हुआ।

श्री ऋषभ देव से किसी और महापुरुष का भ्रम न हो सके इसीलिए ग्रन्थ के स्कन्ध ५ के अध्याय ५ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि श्री ऋषभ देव जी राजपाट को त्याग कर 'नग्नदिगम्बर" हो गये थे और वे अर्हन्त देव होकर परम अहिंसा धर्म का उपदेश देकर मोक्ष गये।

उपनिषद् में नग्न दिगम्बर त्यागियों के गुण

"यथाजात रूप धरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तद् ब्रह्मा मार्ग सम्यक् सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसधारणार्थ यथोक्त कौले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभयोः समो भूत्वा शून्यागार देवगृह तृणकूट वल्मीक वृक्षमूल कुलालशालाग्निहोत्र गृह नदी पुलिन गिरि कुहर कंदर कोटर निर्जन स्थडिलेषु तेष्वनिकेत वास्य प्रयत्नो निर्ममः शुक्ल ध्यान परायणो ध्यात्मनिष्ठो शुभकर्म निर्मलन परः संन्यासेन देह त्यागं करोति स परमहंसो नाम परमहंसो नामेति ।।"

—अष्टा त्रिशधोपनिषध (जाबालोपनिषध) पृष्ठ२६०-२६१

अर्थात् जो "नग्नरूप" धारण रखने वाले अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहों के त्यागी, शुद्ध मन वाले, विशुद्धात्मीय मार्ग में ठहरे हुए, लाभ और अलाभ में समान बुद्धि रखने वाले, हर प्राणी की रक्षा करने वाले, मन्दिर पर्वत की गुफा दरियाओं के किनारे और एकान्त स्थान पर शुक्ल ध्यान में तत्पर रहने वाले आत्मा में लीन होकर अशुभ कर्मों का नाश करके संन्यास सहित शरीर का त्याग करने वाले हैं वे परमहंस कहलाते हैं।

विष्णु पुराण में जैन धर्म की प्रशंसा

कुरुध्वं मम वाक्यानि यदि मुक्तिममीप्सथ।
अर्हध्वं धर्ममेतंच मुक्ति द्वारमसवृतम् ।।५।।
धर्मोविमुक्तो रर्होय नै तस्मादपरोवरः
अत्रैवावस्थिताः स्वर्ग विमुक्तिवागमिष्यय ।।६।।
अर्हध्वं धर्ममे तंचसर्व यूयं महावला।
एवं प्रकारैर्बहुभि र्युक्तिदर्शनचर्चितैः ।।७।।

—विष्णु पुराण, तृतीयांश, अध्याय १७

अर्थात्—यदि आप मोक्ष सुख के अभिलाषी हैं तो अर्हत मत (जैन धर्म) को धारण कीजिये, यही मुक्ति का खुला दरवाजा है। इस जैन धर्म से बढ़ कर स्वर्ग और मोक्ष का देने वाला और कोई दूसरा धर्म नहीं है।

स्कन्ध पुराण में श्री जिनेन्द्र-भक्ति

अरिहंतप्रसादेन सर्वत्र कुशलं मम ।
सा जिह्वा या जिनस्तौति तौ करौ यौ जिनार्चनौ ॥७॥
सादृष्टिर्या जिने लीना तन्मनो यज्जिनेरतम् ।
दया सर्वत्र कर्तव्या जीवात्मा पूज्यते सदा ॥८॥

—स्कन्ध पुराण, तीसरा खंड (धर्मखंड) अ० ३८

श्री अर्हन्त देव के प्रसाद से मेरे हर समय कुशल है । वह ही जवान है जिससे जिनेन्द्र देव का स्तोत्र पढ़ा जाय और वह ही हाथ है जिनसे जिनेन्द्र देव की पूजा की जाय, वह ही दृष्टि है जो जिनेन्द्र के दर्शनों में तल्लीन हो और वही मन है जो जिनेन्द्र में रत हो ।

मुद्राराक्षस नाटक में अर्हन्त-वन्दना

प्राकृत—सासण मलिहंताण पडिवज्जहमोहवाहि वेज्जाणं ।
जेमुत्तमात्तकडुअं पच्छापत्थं मुपदिसन्ति ॥१८॥

संस्कृत—शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्व मोहव्याधि वैद्यानां ।
ये मूहुर्तमात्रं कटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति ॥१८॥

अर्थात्—मोहरूपी रोग के इलाज करने वाले अर्हन्तों के शासन को स्वीकार करो जो मुहुर्त मात्र के लिए कड़ुवे हैं किन्तु पीछे से पथ्य का उपदेश देते हैं ।

प्राकृत—धम्म सिद्धि होदु सावगाणाम्
संस्कृत—धर्म सिद्धि र्भवतु श्रावकानाम् ।

—मुद्राराक्षस नाटक चतुर्थो अंक पृष्ठ २१३

अर्थात्—श्रावकों को धर्म की सिद्धि हो ।

प्राकृत—अलहंताणं पणमामि जेदे गभीलदाए बुद्धीए ।
लाउत्त लेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहि गच्छन्दि ॥२॥

संस्कृत—अर्हताना प्रणमामि येते गम्भीरतया बुद्धेः ।
लोकोत्तरैर्लोके सिद्धिं मार्गैर्गच्छन्ति ॥२॥

—मुद्राराक्षस नाटक पंचमो अंक पृष्ठ २२१

अर्थात्—संसार में बुद्धि की गम्भीरता से लोकातीत (अलौकिक) मार्ग से मुक्ति को प्राप्त हैं उन अर्हन्तों को मैं प्रणाम करता हूँ ।

बौद्ध ग्रन्थों में वीर-प्रशंसा

'मज्झिम निकाय'' में निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र भगवान महावीर को सर्वज्ञ, समदर्शी तथा सम्पूर्ण ज्ञान और दर्शन का ज्ञाता स्वीकार किया है ।

न्यायविन्दु में भगवान महावीर को श्री ऋषभदेव के समान सर्वज्ञ तथा उपदेश दाता बताया है ।

अंगुत्तर निकाय में कथन है कि निगंठ नातपुत्र भगवान महावीर सर्वदृष्टा थे, उनका ज्ञान अनन्त था और वे प्रत्येक क्षण, पूर्ण सजग, सर्वज्ञ रूप में ही स्थित रहते थे ।

संयुक्त निकाय में उल्लेख है कि सर्व प्रसिद्ध भगवान नातपुत्र महावीर यह बता सकते थे कि उनके शिष्य मृत्यु के उपरान्त कहाँ जन्म लेंगे ? विशेष मृत व्यक्तियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर उन्होंने बता दिया कि अमुक व्यक्ति ने अमुक स्थान में अथवा रूप में नव जन्म धारण किया है ।

''सामगाम सुत्त'' में पावापुरी से भगवान महावीर के निर्वाण प्राप्त करने तथा उनके श्रमण संघ के महात्माओं की जन साधारण की श्रद्धा और आदर के पात्र होने का वर्णन है ।

महाराजा दशरथ की जिन शासन-प्रशंसा

मैंने आज मुनि सर्वभूतहित स्वामी के मुख से जिन शासन का व्याख्यान सुना। कैसा है जिन शासन? सकल पापों का वर्जन हारा है। तीन लोक में जिसका चरित्र सूक्ष्म अति निर्मल तथा उपमा रहित है। सर्व वस्तुओं में सम्यक्त परम वस्तु है और सम्यक्त का मूल जिन शासन है।

शरीर, स्त्री, धन, माता-पिता, भाई सब को तज कर यह जीव अकेला ही परलोक को जाता है। चिरकाल देव लोक के सुख भोगे। जब उनसे तृप्ति नहीं हुई तो मनुष्य लोक के भोगों में तृप्ति कैसे हो सकती है? मैं संसार का त्याग करके निश्चित रूप संयम धारूंगा कि कैसा है संयम? संसार के दुःखों से निकाल कर सुख करणहारा है मैं तो निःसन्देह मुनिव्रत धारूंगा महाराजा दशरथ जिन दीक्षा लेकर जैन साधु हो गये।

गृहस्थ तथा राज्यकाल में श्री महाराजा दशरथ जैनी थे और जैन धर्म को पालते थे। इनके सुपुत्र श्री रामचन्द्र जी भी जैन धर्मी थे। जैन मुनि हो, तप करके वे मोक्ष गये और सीता जो पृथिवीमती नाम की आर्यिका से जिन दीक्षा ले जैन साधुका हो गई। महाराजा दशरथ के श्रमण अर्थात् जैन मुनियों को नित्य आहार कराने को महर्षि स्वामी वाल्मीकि जी ने भी स्वीकार किया है:—

तापसा भुंजते चापि श्रमणाचैरव भुंजते ।। १२ ।।

—वाल्मीकि रामायण वाल० स० १४ श्लोक १२

श्री रामचन्द्र जी की जिनेन्द्र भक्ति

दशागनगर (वर्तमान मन्दसौर) के राजा वर्जकर्ण ने प्रतिज्ञा ले रखी थी कि सिवाय जिनेन्द्र भगवान के किसी को मस्तक न झुकाऊंगा। यह बात उज्जैन के महाराजा सिहोदर को अनुचित लगी कि उसके आधीन होने पर भी वज्रकर्ण उसकी वन्दना नहीं करता। इसी कारण उसने वज्रकर्ण पर आक्रमण कर दिया। श्री रामचन्द्र जी को पता चला तो तुरन्त श्री लक्ष्मण जी से कहा, वज्रकर्ण अणुव्रतों का धारी श्रावक है, वह जिनेन्द्र देव, जैन मुनि और जिनसूत्र के सिवाय दूसरे को नमस्कार नहीं करता है। यदि जिनेन्द्र भगवान् के भक्त की सहायता न की गई तो सिहोदर बड़ा बलवान है वह वज्रकर्ण को हरा कर उसका राज्य छीन लेगा। इसलिए उसकी सहायता करो, श्री लक्ष्मण जी स्वयं तीर कमान लेकर रणभूमि में पहुंचे, सिहोदर से लड़कर वज्रकर्ण की विजय कराई जब श्री रामचन्द्र जी के हृदय में एक जिनेन्द्र भक्त के लिए इतनी श्रद्धा थी कि बिना उसके कहे अपने प्राणों से प्यारे श्री लक्ष्मण जी की जान जोखम में डालकर उसकी सहायता की तो पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि जिनेन्द्र भगवान के सम्बन्ध में उनकी कितनी अधिक भक्ति होगी?

जान की बाजी लड़ी जा रही हो, रावण श्री रामचन्द्र जी को परम प्यारी पत्नी को चुरा कर ले जाये और युद्ध में उनके प्यारे भ्राता को मूर्छित कर दे, वही रावण श्री रामचन्द्र जी के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए मंत्र विद्या की सिद्धि के हेतु सोलहवें जैन तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान के मन्दिर में जाता है और अपने राज्य मंत्रियों को आज्ञा देता है "जब तक मैं जिनेन्द्र भगवान की पूजा में मग्न रहूं मेरे राज्य में किसी प्रकार की जीव हत्या न हो। मेरे योद्धा लड़ाई तक बन्द रखें और मेरी प्रजा जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे। जासूसों द्वारा जब इस बात का पता विभीषण को लगा तो उसने श्री रामचन्द्र जी से कहा, "रावण इस समय जिनेन्द्र भगवान की पूजा में लीन है और उसने अपने योद्धाओं को शत्रुओं पर भी शस्त्र उठाने से बन्द कर रक्खा है। इसलिए रावण पर आक्रमण करने का यह बड़ा उचित अवसर है। श्री रामचन्द्र जी ने कहा, विभीषण यह सत्य है कि रावण हमारा शत्रु है, उसने हमारी सीता को चुराया और हमारे भ्राता लक्ष्मणको मूर्छित किया। उसका वध करना हमारा कर्तव्य है परन्तु इस समय वह जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में मग्न है, मैं कदापि उसके जिनेन्द्र भक्ति जैसे महान् उत्तम और पवित्र कार्य में बाधा न डालूंगा।

कुलभूषण और देशभूषण नाम के दो दिगम्बर मुनियों के तप में उनके पिछले जन्म के वैरी राक्षस बाधा डाल रहे थे, श्री रामचन्द्र जी को पता चला तो वे धनुष उठाकर श्री लक्ष्मण सहित स्वयं वहाँ गये और दोनों जैन साधुओं का उपसर्ग दूर किया, उपसर्ग दूर होते ही उनको केवल ज्ञान प्राप्त हो गया और वे जिनेन्द्र हो गये।

श्री रामचन्द्र जी की जिनेन्द्र भक्ति न केवल जैन ग्रन्थों में पाई जाती है बल्कि स्वयं हिन्दू ग्रन्थ भी स्वीकार करते हैं कि श्री रामचन्द्र जी की अभिलाषा जिन (जिनेन्द्र) के समान वीतराग होने की थी।

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः।
शांमासितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा ।।८।।

—योगवासिष्ठ वैराग्य प्रकरण सर्ग १५ पृष्ठ ३३

मैं न राम हूं और न मेरी वाञ्छा संसारी पदार्थों में है। मैं तो जिनेन्द्र भगवान के समान अपनी आत्मा में वीतरागता और शान्ति की प्राप्ति का अभिलाषी हूं।

श्री रामचन्द्र जी की यह उत्तम भावना उनके हृदय की सच्ची आवाज़ थी, राजपाट को लात मार कर चारण ऋद्धि के धारक स्वामी सुव्रत नाम के जैन मुनि से जिन दीक्षा धारण कर वे जैन साधु हो गये और केवल ज्ञान प्राप्त करके जिन (जिनेन्द्र) हुए और संसार को जैन धर्म का उपदेश देकर तुंगीगिरि पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया। इसी कारण जैन भगवान् महावीर के समान श्री रामचन्द्र जी की भी भक्ति और वन्दना करते हैं।

उनके पिता महाराजा दशरथ भी जब तक गृहस्थ में रहे, श्रमणों (जैन साधुओं) को आहार देते थे और जब जैन साधु हुए तो घोर तप करने लगे। और सती सीता जी भी जैन साधुका हो गई थीं।

यही कारण है कि भगवान महावीर की दृष्टि में श्री रामचन्द्र जी का जीवन चरित्र पाप रूपी अंधेरे को दूर करने के लिए कभी मन्द न पड़ने वाले सूर्य के समान बताया:—

श्री मद्रामचरित्रमुत्तममिदं नानाकथापूरितम्।
पापध्वान्तविनाशनैकतरणीं कारुण्यवल्लीवनम्।
भव्यश्रेणिमनः प्रमोदसदनं भक्त्यानद्यं कीर्तितम्।
नानासत्पुरुषलिवेष्ठितयुतं पुण्यं शुभं पावनम् ।।१८०।।
श्री वर्धमानेन जिनेश्वरेण त्रैलोक्यवन्द्येन यदुक्तमादौ
ततः परं गौतमसंज्ञकेन गणेश्वरेण प्रथितं जनानां ।।१८१।।

श्री जिनसेनाचार्यः रामचरित्र

अर्थात्-श्री गौतम गन्धर्व के शब्दों में तीन लोक के पूज्य श्री महावीर की दृष्टि में श्री रामचन्द्र जी का चरित्र परम सुन्दर, अति मनोहर, महा कल्याणकारी और पाप रूपी अन्धेरे को दूर करने के लिए कभी मन्द न पड़ने वाला चमकता हुआ सूर्य है। अहिंसा रूपी जहाज को चलाने के लिए वल्ली के समान है। इसमें सीता, सुग्रीव, हनुमान और बाली आदि अनेक महापुरुषों के कथन शामिल होने के कारण महापुण्य रूप है और सज्जन पुरुषों के हृदय को शुद्ध व पवित्र करने वाला है।

श्री हनुमान जी की जैन धर्म प्रभावना

श्री हनुमान जी आदिपुर के राजा पवनंजय के सुपुत्र थे। इनकी माता का नाम अन्जना सुन्दरी था, जो महेन्द्रपुर के राजा श्री महेन्द्रकुमार की राजकुमारी थी।

हनुमान जी के जन्मते ही उनको उनकी माता सहित उनके मामा श्री अतिसूर्य विमान में बैठाकर अपने हुणू देश में ले जा रहे थे कि वे खेलते हुए माता की गोद से उछल कर विमान से गिर पड़े। आकाश से एक जन्मते बालक का नीचे पृथ्वी पर गिरना उसकी माता के लिए कितना दुःखदाई हो सकता है? परन्तु अन्जना सुन्दरी को गर्भ के समय ही एक जैन मुनि ने बता दिया था कि तुम्हारे चर्म शरीरी महापुरुष उत्पन्न होगा जो इसी भव से मोक्ष जायेगा। इसलिए उसको विश्वास था कि दिगम्बर जैन साधु के वचन कदापि झूठे नहीं हो सकते। उसका पुत्र जीवित है, विमान से पृथ्वी पर उतरे तो उन्होंने देखा कि श्री हनुमान जी बड़े आनन्द के साथ अपने पाँव का अगूंठा चूस रहे हैं और जिस सुदृढ़ तथा विशाल पर्वत पर गिरे थे, वह खण्ड २ हो गया है। माता अंजना सुन्दरी ने प्रेम से हनुमान जी को छाती से लगाया और उनकी इतनी प्रभावशाली शक्ति को देख कर उनका नाम महावीर रक्खा, परन्तु जब हुणू देश की राजधानी में उनका पहला जन्मोत्सव मनाया गया तो हुणू देश के नाम पर इनका नाम श्री हनुमान जी प्रसिद्ध हो गया।

हनुमान जी वानरवंशी नरेश थे, वानर चिन्ह उनके झण्डे की पहिचान थी। कुछ लोग उनको सचमुच वानर जाति का समझते हैं, परन्तु वास्तव में वे महा सुन्दर कामदेव और मानव जाति के ही महापुरुष थे।

श्री हनुमान जी जैन धर्मी थे। जब तक वे गृहस्थ में रहे अहिंसा धर्म का पालन करते हुए रावण जैसे शक्तिशाली बहिरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त की और जब ७५० विद्याधर राजाओं के साथ श्री धर्म रत्न नाम के जैन मुनि से दीक्षा लेकर जैन साधु हुए तो कर्म रूपी अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर तुंगीगिरि से मोक्ष प्राप्त किया और उनकी रानी ने भी बंधुमती नाम की आर्यिका से साधुका के व्रत धारे।

श्रीकृष्ण जी की भावना

श्री कृष्ण जी के पिता श्री वासुदेव जी और बाईसवें जैन तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि जी के पिता श्री विजयभद्र आपस में सगे भाई थे। श्री अरिष्टनेमि ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं। वेदों और पुराणों तक में इनके गुणों का भक्ति पूर्वक वर्णन है। ये बालब्रह्मचारी और महाबलवान थे। जब तक गृहस्थ में रहे, जैन धर्म का पालन करते हुए भी जरासिन्ध जैसे अनेक महायोद्धाओं पर विजय प्राप्त करते रहे। और जब जिन दीक्षा लेकर जैन साधु हुए तो कर्म रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके केवलज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त किया। जब श्री कृष्ण जी ने इनके केवलज्ञान के समाचार सुने तो उसी समय चक्र की प्राप्ति और पुत्र के उत्पन्न होने की सूचना भी मिली। श्री कृष्ण जी तीनों सुखद समाचारों को एक साथ सुनकर विचार करने लगे कि किस का उत्सव प्रथम मनाया जाये, वे धर्मात्मा थे, वे धार्मिक कार्य को विशेषता देते हुए अपने परिवार, चतुरंगी सेना और प्रजा सहित सबसे प्रथम श्री अरिष्टनेमि के केवलज्ञान की वन्दना करने गये और उनकी तीन परिक्रमाएं देकर भक्ति पूर्वक नमस्कार कर इस प्रकार स्तुति करने लगे :—

> "हे नाथ! आप धर्म चक्र चलाने में चक्री के समान हो, केवलज्ञान रूपी सूर्य से लोकालोक को प्रकाशित कर रहे हो, समस्त संसार को रत्नत्रयरूपी मोक्ष मार्ग दिखाने वाले हो, आप देवों के देव और जगद्गुरु हो, आप देवतागण द्वारा पूज्य हो, भला हमारी क्या शक्ति जो आपकी भली प्रकार स्तुति कर सकें।"

द्वारका नगर में भगवान नेमिनाथ जी का उपदेश हो रहा था—कल्पवृक्ष माँगने पर और चिन्तामणि विचार करने पर ही इच्छित वस्तु प्रदान करते हैं परन्तु धर्म बिना माँगे और बिना इच्छा करे सुख प्रदान करता है। धर्म का साधन युवा अवस्था में ही हो सकता है। इसलिए सच्चे सुख के अभिलाषियों को भरी जवानी में जिन दीक्षा लेना उचित है। भगवान के उपदेश को सुनकर थावच्चाकुमार नाम के एक बालक को भी वैराग्य उत्पन्न हो गया उसने जैन साधु बननेका दृढ़ निश्चय कर लिया। उसके माता पिता ने बहुत मना किया, परन्तु जब वह न माना तो माता पिता ने श्री कृष्ण जी के दरबार में दुहाई मचाई। श्री कृष्ण जी बालक को खुद समझाने उसके मकान पर आये और उससे पूछा कि तुम्हें क्या दुःख है, जिस के कारण तुम दीक्षा ले रहे हो? मैं अवश्य तुम्हारे दुःख को मेटूंगा। बालक ने उत्तर दिया, मुझे कर्मरोग लगा हुआ है जिस के कारण आवागमन के चक्कर में फँस कर अनादि काल से जन्म मरण के दुःख भोग रहा हूं, मेरा यह दुःख मेट दो। ऐसा सुन्दर उत्तर पाकर श्री कृष्ण जी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने बालक को आशीर्वाद देकर उसके माता पिता को सराहा कि धन्य हो ऐसे माता पिता को जिनके बच्चे ऐसे शुभ विचारों और उत्तम भावनाओं वाले होते हैं। माता पिता ने कहा कि यही तो कमा कर हमारा पेट भरता था, अब हम बूढ़ों का गुजर कैसे होगा? श्री कृष्ण जी ने कहा—'उसकी चिन्ता मत करो, जब तक तुम लोग जीवित रहोगे, सरकारी खजाने से तुमको यथेष्ट सहायता मिलती रहेगी।' और श्री कृष्ण जी ने समस्त राज्य में मुनादी करा दी कि जो जिन दीक्षा धारेगा, उसके कुटुम्ब वालों को सारी उम्र तक राज्य की ओर से खर्च मिला करेगा और उस बालक को अपनी चतुरंग सेना, गाजे बाजों और ठाठ बाट के साथ स्वयं श्री नेमिनाथ जी के समवशरण में ले जाकर जिन दीक्षा दिलवाई।

श्री कृष्ण जी अगले युग में 'मम' नाम के बारहवें तीर्थंकर इसी भारतवर्ष में होंगे, इसीलिए भावी तीर्थंकर होने के कारण जैन धर्म वाले कृष्ण जी को परम पूज्य स्वीकार करते हैं।

लार्ड क्राइस्ट की अहिंसा

श्रमण (जैन साधु) बहुत बड़ी संख्या में फिलिस्तीन के अन्दर अपने मठों में रहते थे। हजरत ईसा ने जैन साधुओं में अध्यात्म विद्या का रहस्य पाया था और इनके ही आदर्श पर चलकर अपने जीवन की शुद्धि के लिए आत्म विश्वास (Self Reliance) विश्व प्रेम (Universal love) तथा जीव दया (Ahinsa) समता अपरिग्रह आदि धर्मों की साधना की थी।

यह निश्चय हो रहा है कि हजरत ईसा जब १३ वर्ष के हुए और उनके घर वालों ने उनके विवाह के लिए मजबूर किया तो वह घर छोड़ कर कुछ सौदागरों के साथ सिन्ध के रास्ते भारत में चले आये थे। वह जन्म से ही बड़े विचारक, सत्य के खोजी और सांसारिक भोग विलासों से उदासीन थे। भारत में आकर वह बहुत दिनों तक जैन साधुओं के साथ रहे, प्रभु ईसा ने अपने आचार विचार की मूल शिक्षा जैन साधुओं से प्राप्त की थी।

महात्मा ईसा ने जिस पैलस्टाइन में जाकर ४० दिन के उपवास द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त किया था, वह प्रसिद्ध यहूदी मि० जाजक्स के अनुसार जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थ पालिताना है। जहाँ हजरत ईसा मसीह ने तपस्या की थी और जैन शिक्षा ग्रहण की थी उसी पालिताना के नाम पर पैलिस्टाइन बस गया था। बहुत दिनों तक जैन साधुओं की संगति में रह कर वह फिर नैपाल और हिमालय होते हुए ईरान चले गये और वहाँ से अपने देश में आकर उन्होंने अहिंसा और विश्व प्रेम का प्रचार चालू कर दिया। उन्होंने जिन तीन विशेष सिद्धांतों (१) आत्मा और परमात्मा की एकता, (२) आत्मा का अमरत्व, (३) आत्मा के दिव्य स्वरूप का उपदेश दिया था, ये यहूदी संस्कृति से सम्बन्ध नहीं रखते, बल्कि जैन संस्कृति के मूलाधार हैं।

"जिसने दया नहीं की, कयामत के दिन उस पर भी दया नहीं होगी। जो दूसरों के गले पर छुरियाँ चलाते हैं, उनको अधिकार नहीं कि पाक अन्जील को अपने नापाक हाथों में ले। धिक्कार है उन पर जो खुदा के नाम पर कुर्बानी करते हैं। तू किसी का खून मत कर। यदि जीव की हत्या करने के कारण तुम्हारे हाथ खून से भरे हुए हैं तो मैं तुम्हारी तरफ से अपनी आँखें बन्द कर लूंगा और प्रार्थना करने पर भी ध्यान न दूंगा। ये शिक्षायें जैन धर्म के सिद्धान्तों से मिलती जुलती हैं।

महात्मा श्री जरदोस्त की अहिंसामयी शिक्षा

बेजबान पशुओं की हत्या करना पारसी धर्म में बहुत बड़ा गुनाह है। पूज्य गुरु श्री जरदोस्त माँस त्यागी थे। और उन्होंने दूसरों को भी माँस त्याग की शिक्षा दी। सेठ रुस्तम ने तो अण्डा तक खाना भी पाप बताया है, उनका विश्वास है कि मांस भक्षण से मनुष्य का स्वाभाविक गुण तथा प्रेम भावना नष्ट हो जाती है। जो दूसरों से अधिक बोझ उठवाते हैं वे ऊँट, घोड़ा, बैल आदि अधिक बोझ के कष्टों को सहन करने वाले पशु होते हैं। जो अपने स्वार्थ या दिल्लगी के कारण भी किसी को सताते हैं, दोज़ख की आग में बुरी तरह तड़फते हैं। ईरानी कवि 'फिरदोसी' के शब्दों में पशु हत्या न करना, शिकार न खेलना, माँस भक्षण न करना ही पारसी धर्म के गुण हैं। महात्मा जरदोस्त का तो फरमान है कि बच्चा जवान या बूढ़ा किसी भी प्रकार की जीव हिंसा उचित नहीं है।

हजरत मोहम्मद साहब का अहिंसा से प्रेम

अरब में जैनियों द्वारा अहिंसा का प्रचार अवश्य किया गया था। हजरत मोहम्मद अहिंसा धर्म के प्रभाव से अछूते नहीं थे। उनका अन्तिम जीवन महा अहिंसक था। वे केवल एक लबादा रखते थे। खुरमा रोटी और दूध का ही उनका भोजन था। उन्होंने अपने अनुयायियों को अहिंसामय व्यवहार का उपदेश दिया था। आज भी जो मुसलमान मक्का शरीफ की यात्रा को जाते हैं, जब तक वहां रहते हैं, वे मांस नहीं खाते, नंगे पांव ज़यारत करते हैं। जूँ भी कपड़ों में हो जाय तो उसे मारना तो बड़ी बात है कपड़ों तक से नीचे नहीं गिराते।

अपने कलाम हदीस में हजरत मोहम्मद साहब ने फरमाया कि यदि तुम जग के प्राणियों पर दया (अहिंसा) करोगे तो खुदा तुम पर दया करेगा। थोड़ी सी दया (अहिंसा) बहुत सी इबादत (भक्ति) से अच्छी है। कुर्बानी का मांस और खून खुदा को नहीं पहुँचता, बल्कि तुम्हारी परेज़गारी (पवित्रता) पहुँचती है।

एक शिकारी एक हिरणी को पकड़ कर ले जा रहा था। रास्ते में हजरत मोहम्मद साहब मिल गये। हिरणी ने उनसे कहा कि मेरे बच्चे भूखे हैं, थोड़ी देर के लिये मुझे छुड़वादो, बच्चों को दूध पिलाकर मैं तुरन्त वापिस आ जाऊँगी। हिरणी के दर्द भरे शब्दों से हज़रत मोहम्मद साहब का हृदय पसीज गया, हिरणी की बेबसी को देखकर उनकी आंखों में आंसू आ गये और उन्होंने शिकारी से कहा—

"हैवान है पर अन्देशाये वहशत जरा न कर।
आती है वह बच्चों को अभी दूध पिलाकर॥

शिकारी हँसा और कहने लगा कि पशुओं का क्या विश्वास ? इस पर हजरत साहब ने फरमाया कि अच्छा हम जामिन हैं। शिकारी ने कहा कि यदि यह वापिस न आई तो तुम्हें इसकी जगह शिकारे अजल बनना पड़ेगा। इस पर आप मुस्कराये और फरमाया—

इस वक्त यही शर्त सही, जिसको खुदा दे।
हम जर लगाते हैं, तू ईमान लगा दे ।।

शिकारी ने हज़रत मोहम्मद साहब की जमानत पर हिरणी को छोड़ दिया, वह भागती हुई अपने बच्चों के पास गई और उन्हें दूध पिलाकर कहा—"यह हमारी तुम्हारी आखिरी मुलाकात है, एक शिकारी ने मुझे पकड़ लिया था, एक महापुरुष ने अपने जीवन की जमानत पर छुड़वाया है।" हिरणी ने वापिस आकर हज़रत मोहम्मद साहब को धन्यवाद दिया और शिकारी से कहा कि अब मैं जिबे होने को तैयार हूँ। शिकारी पर उसके शब्दों का इतना प्रभाव पड़ा कि उसने सदा के लिये हिरणी को छोड़ दिया। वास्तव में हज़रत मोहम्मद साहब बड़े दयालु थे उन्हों ने अहिंसा धर्म का प्रचार किया।

यह तो उनके जीवन का केवल एक ही दृष्टान्त है। यदि उनके जीवन की खोज की जाये तो किसी को भी उनके अहिंसा प्रेमीहोने में सन्देह न रहे।

श्री गुरु नानकदेव का अहिंसा-प्रचार

जब कपड़ों पर खून की छींट लग जाने से वे नापाक हो जाते हैं तो जो मनुष्य खून से लिप्त मांस खाते हैं, उनका हृदय कैसे शुद्ध और पवित्र रह सकता है। ६८ तीर्थों की यात्रा से भी इतना फल प्राप्त नहीं होता जितना अहिंसा और दया से होता है। जिस के हृदय में दया नहीं वह महा विद्वान् होने पर भी मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। जब मरे हुए बकरे की खाल से लोहा भस्म हो जाता है, तो जो जीवित बकरे को मार कर खाते हैं उनकी दशा क्या होगी ? जहां मांस भक्षण होता है वहां दया धर्म नहीं रह सकता। यह झूठी कल्पना है कि थोड़े से पाप कर लेने में क्या हर्ज हैं, क्योंकि अधिकपुण्य करके उस थोड़े से पाप को धोया जा सकता है। पवित्र ग्रन्थ साहब में तो यहां तक उल्लेख है कि यदि जीवों की हत्या करना धर्म है तो अधर्म क्या है।

गुरु नानकदेव माँस भक्षण के विरोधी थे। वे एक दिन घूमते हुए एक जंगल में जा निकले। वहां के लोगों ने उनसे भोजन के लिये कहा तो गुरु जी ने फरमाया—

"यों नहीं तुमरो खायें कदापि, हो सब जीवन के सन्तापी।
प्रथम तजो आमिष का खाना, करो जास हित जीवन हाना ।।"

—नानक प्रकाश पूर्वार्ध अध्याय ५५

अर्थात्—हम तुम्हारे यहां कदापि भोजन नहीं कर सकते, क्योंकि तुम जीवहिंसा करते हो। जब तक तुम मांस भक्षण का त्याग न करोगे, तुम्हारे जीवन का कल्याण न हो सकेगा।

महर्षि दयानन्द जी का वीर सिद्धान्त से प्रेम

स्वामी दयानन्दजी ने मांस, मदिरा तथा मधु के त्याग की शिक्षा दी[१]। और वस्त्र से पानी छान कर पीने का उपदेश दिया[२]। वेदतीर्थ आचार्य श्री नरदेव जी शास्त्री के शब्दों में स्वामी दयानन्द जी यह स्वीकार करते थे कि श्री महावीर स्वामी ने अहिंसा आदि जिन उच्च कोटि के अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वे सब वेदों में विद्यमान हैं[३]। और बताया है कि भगवान महावीर की अहिंसा दुर्बल अहिंसा नहीं थी, किन्तु संसार के प्रबल से प्रबल महापुरुष की अहिंसा थी[४] वैदिक शब्दों में कहा जाये तो "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षा महे" है।

महाराजा भर्तृहरि की दिगम्बर होने की भावना

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरी,
नीरागेषु जिनो विमुक्तललना संगो न यस्मात्परः ।।

---

१. सत्यार्थप्रकाश समुल्लास—३-१०।
२. "बिन छने जल का त्याग" खण्ड २।
३-४ वेदतीर्थ आचार्य श्री नरदेव : जैन संदेश आगरा (२६ जून १९४५.) पृ० २४।

दुर्वारस्मरधस्मरोरगविषज्वालावलीढोजन:,
शेषोमोह विजृम्यितो हि विषयान भोक्तुं न मोक्तुं क्षम:[1] ।।७१।।

—श्रीमत भर्तृहरिकृत शतकत्रय।

अर्थात्—प्रेमियों में एक शिवजी मुख्य हैं, जो अपनी प्यारी पार्वती जी को सर्वदा अर्द्धांग में लिये रहते हैं और त्यागियों में जैनियों के देव जिन भगवान ही मुख्य हैं, स्त्रियों का संग छोड़ने वाला उनसे अधिक कोई दूसरा नहीं है और शेष मनुष्य तो मोह से ऐसे जड़ हो गये हैं कि न तो विषयों को भोग ही सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं।

महाराज भर्तृहरि जी की इच्छा थी कि मैं नग्न दिगम्बर होकर कब कर्मों का नाश करूंगा :—

एकांकी निस्पृह: शान्त पाणीपात्री दिगम्वर:।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्म निर्मूलनक्षम: ।।

—वैराग्य शतक, पृ० १०७

अर्थात्—हे शम्भो, मैं अकेला इच्छारहित, शांत, पाणिपात्र और दिगम्बर होकर कर्मों का नाश कब कर सकूंगा?

महाराजा श्रेणिक बिम्बसार की वीर-भक्ति

जै जै केवलज्ञान प्रकाश, लोकालोक करण प्रतिभास ।।४५।।
जय भव कुमुद विकासन चन्द, जय २ सेवत मुनिवर वृन्द ।।४६।।
आज ही शीश सुफल मो भयो, जब जिन तुम चरणन को नयो ।।४७।।
नेत्र युगल आनन्दे जबे, तुम पद कमल निहारु तबे ।।५०।।
कानन सुफ़ल सुणि धुन धरि, रसना सुफल आवै धुन भरी ।।५१।।
ध्यान धरत हिरदे अति भयो, कर जुग सुफल पूजते भयो ।।५२।।
जन्म धन्य अब ही मो भयो, पाप कलंक सकल भजि गयो ।।५३।।
मो करुणा जिनवर देव, भव भव मैं पाऊं तुम सेव ।।५४।।

—तरेपन क्रिया, अध्याय १, पृ० ४-५

हे भगवान महावीर। आपकी जय हो। आप केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी से शोभित है, जिसके कारण लोक-परलोक के समस्त पदार्थों को हाथ की रेखा के समान दर्शाने वाले हो। भव्य जीवों के हृदय रूपी कमल को खिलाने के लिये आप सूर्य के समान हैं। मुनीश्वर तक भी आपकी सेवा करते हैं। आपके चरणों में झुक जाने के कारण आज मेरा मस्तक भी सफल हो गया। आपके दर्शन करने से मेरी दोनों आंखें आनन्दमयी हो गईं। आपका उपदेश सुनने से मेरे दोनों कान शुद्ध हो गये और आपकी स्तुति करने से मेरी जबान पवित्र हो गई। आपका ध्यान करने से मेरा हृदय निर्मल हो गया, आपकी पूजा करने से मेरे दोनों हाथ सफल हो गये। आपके दर्शनों से मेरे पापों का नाश होकर आज धन्य है कि मेरा नर जन्म सफल हो गया। दया के सागर श्री जिनेन्द्र भगवान अब तो केवल मेरी यह अभिलाषा है कि हर भव और हर जन्म में आपको पाऊं और आपकी सेवा करूं।

श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य की वर्धमान वन्दना

एस सुरासुरमणु सिदव दिदं, धोईधाई कम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तिन्यं धम्मस्स कत्तारं ।।१।।

—श्रीमत कुन्दकुन्दाचार्य: प्रवचनसार पृ० १

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी चारों प्रकार के देवों के इन्द्र तथा चक्रवर्ती जिन को भक्ति पूर्वक वन्दना करते हैं और जो ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, मोहनीय और अन्तराय चारों घातिया कर्मों को काटकर अनन्तानन्त ज्ञान, अनन्तानन्त दर्शन, अनन्तानन्त सुख और अनन्तानन्त शक्ति को प्राप्त किये हुये हैं और धर्म तीर्थ के प्रवंतक तीर्थंकर भगवान श्री वर्धमान हैं, मैं उनको नमस्कार करता हूं।

---

१. लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबाद की सं० १९९२ की छपी हुई पं० गंगाप्रसाद कृत भाषा टीका के श्रृंगार शतक का ७१ वां श्लोक।

२. विशेषता के लिए देखिए महाराजा श्रेणिक और जैन धर्म तथा महाराजा अशोक पर वीर प्रभाव।

श्री समन्तभद्र आचार्य की वीर श्रद्धांजलि

देवागम नमोयान चामरादिविभूतयः।
माया विष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान ॥१॥

=आप्त मीमांसा

अर्थात्—देवों का आगमन, आकाश में गमन और चामरादिक (दिव्य, चमर, छत्र, सिंहासन, भामण्डलादिक विभूतियों का अस्तित्व तो मायावियों में—इन्द्रजालियों में भी पाया जाता है, इनके कारण हम आपको महान् नहीं मानते और न इस कारण से आपकी कोई खास महत्ता या बड़ाई ही है।

'भगवान महावीर' की महत्ता और बड़ाई तो उनके मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण अन्तराय नामक कर्मों का नाशकरके परम शान्ति को लिये हुये शुद्धि तथा शक्ति की पराकाष्ठा को पहुंचाने और ब्रह्म-पथ का–अहिंसात्मक मोक्ष मार्ग का नेतृत्व ग्रहण करने में हैं। अथवा यों कहिये कि आत्मोद्धार के साथ-साथ सच्ची सेवा बजाने में है।

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुला व्यतीतां जिनशांति रूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानीतियत् प्रतिवक्तुमीशाः।

—श्री समन्तभद्राचार्यः युक्त्यानुशासन।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं ब्रह्माण्डमीश्वरमनन्तमनंगकेतुं।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं, ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥२४॥

—मानतुंगाचार्यः भक्तामर स्तोत्र।

अर्थात—हे जिनेन्द्र भगवान! आप अक्षय, परम ऐश्वर्य संयुक्त, सर्वज्ञ, योगेश्वर, सर्वव्यापक, देवों के देव महादेव, अनन्तानन्त गुणों की खान, कर्मरूपी मल से पवित्र, शुद्धचित्त रूप, कामदेव का नाश करने वाले, अर्हन्त तथा तीनों लोक और तीनों काल के समस्त पदार्थो को एक साथ देखने और जानने वाले केवलज्ञानी हो। मैं आपको बार बार वन्दना करता हूं।

ब्राह्मण धर्म पर जैन धर्म की छाप

जैन धर्म अनादि है। गौतम बुद्ध महावीर स्वामी के शिष्य थे। चौबीस तीर्थंकरों में महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। यह जैन धर्म को पुनः प्रकाश में लाये, अहिंसा धर्म व्यापक हुआ। इनसे भी जैन धर्म की प्राचीनता मानी जाती है। पूर्वकाल में यज्ञ के लिये असंख्य पशु-हिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत काव्य[1] तथा और ग्रन्थों से मिलते हैं। रन्तिदेव नामक राजा ने यज्ञ किया था, उसमें इतना प्रचुर पशुवध हुआ था कि नदी का जल खून से रक्त वर्ण हो गया था। उसी समय से उस नदी का नाम चर्मवती प्रसिद्ध है। पशु वध से स्वर्ग मिलता है इस विषय में उक्त कथा साक्षी है, परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैन धर्म को है। इस रीति से ब्राह्मण धर्म अथवा हिन्दू धर्म को जैन धर्म[2] ने अहिंसा धर्म बनाया है। यज्ञ यागादि कर्म केवल ब्राह्मण ही करते थे क्षत्री और वैश्यों को यह अधिकार नहीं था और शूद्र बेचारे तो ऐसे बहुत विषयों में अभागे बनते थे। इस प्रकार मुक्ति प्राप्त करने की चारों वर्णों में एक सी छूट न थी। जैन धर्म ने इस त्रुटि को भी पूर्ण किया है।

मुसलमानों का शक, इसाईयों का शक, विक्रम शक, इसी प्रकार जैन धर्म में महावीर स्वामी का शक [सन्] चलता है। शक चलाने की कल्पना जैनी भाइयों ने ही उठाई थी।

आजकल यज्ञों में पशु हिंसा नहीं होती। ब्राह्मण और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरा पान बन्द हो गया सो यह भी जैनधर्म का ही प्रताप है। जैन धर्म की छाप ब्राह्मण धर्म पर पड़ी।

अहिंसा के अवतार भगवान महावीर

मेरा विश्वास है कि बिना धर्म का जीवन बिना सिद्धान्त का जीवन है और बिना सिद्धान्त का जीवन वैसा ही है जैसा कि बिना पतवार का जहाज।[3]

जहां धर्म नहीं वहां विद्या नहीं, लक्ष्मी नहीं, और नीरोगता भी नहीं। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और अहिंसा

---

१. महाकवि कालिदास कृत-मेघदूत श्लोक ४५,

२. जैनधर्म का महत्व (सूरत) भाग १ पृ० १-९२,

३. अनेकान्त वर्ष ४, पृष्ठ ११२

परमोधर्म से बढ़कर कोई आचार नहीं है। जिस धर्म में जितनी ही कम हिंसा है, समझना चाहिए कि उस धर्म में उतना ही अधिक सत्य है।

भगवान् महावीर अहिंसा के अवतार थे उनकी पवित्रता ने संसार को जीत लिया था। महावीर स्वामी का नाम इस समय यदि किसी भी सिद्धान्त के लिए पूजा जाता है तो वह अहिंसा है। प्रत्येक धर्म की उच्चता इसी बात में है कि उस धर्म में अहिंसा तत्व की प्रधानता हो। अहिंसा तत्व को यदि किसी ने अधिक से अधिक विकसित किया है तो वे महावीर स्वामी थे।[1]

जैन धर्म की विशेष सम्पत्ति

डा० श्री राजेन्द्र प्रसाद जी

मैं अपने को धन्य मानता हूँ कि मुझे महावीर स्वामी के प्रदेश में रहने का सौभाग्य मिला है। अहिंसा जैनों की विशेष सम्पत्ति है। जगत के अन्य किसी भी धर्म में अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन इतनी सफलता से नहीं मिलता।

अनेकान्त वर्ष ६, पृ० ३६

भ० महावीर का कल्याण-मार्ग

डा० श्री राधाकृष्णन् जी

यदि मानवता को विनाश से बचना है और कल्याण के मार्ग पर चलना है तो भगवान् महावीर के सन्देश को और उनके बताये हुए मार्ग को ग्रहण किये बिना और कोई रास्ता नहीं।

शान्तिदूत महावीर, पृ० ३०

भगवान महावीर का त्याग

श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू

आशा है कि भगवान् महावीर द्वारा प्रणीत सेवा और त्याग भावना का प्रचार करने से सफलता होगी।

वीर देहली [१५ जन०, ५१] पृ० ४

अहिंसा वीर पुरुषों का धर्म है

सरदार श्री वल्लभ भाई पटेल

जैन धर्म पीले कपड़े पहनने से नहीं आता। जो इन्द्रियों को जीत सकता है, वही सच्चा जैन हो सकता है। अहिंसा वीर पुरुषों का धर्म है। कायरों का नहीं। जैनों को अभिमान होना चाहिए कि कांग्रेस उनके मुख्य सिद्धान्त का अमल समस्त भारत वासियों को करा रही है। जैनों को निर्भय होकर त्याग का अभ्यास करना चाहिए।

अनेकान्त, वर्ष ६, पृ० ३६

संसार के पूज्य भगवान् महावीर

(श्री जी० वी० मावलंकर स्पीकर भारत पा०)

भगवान् महावीर एक महान् आत्मा हैं जो केवल जैनियों के लिए ही नहीं बल्कि समस्त संसार के लिये पूज्य हैं। आज कल के भयानक समय में भगवान महावीर की शिक्षाओं की बड़ी जरूरत है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनकी याद को ताजा रखने के लिये उनके बताये हुए मार्ग पर चलें।[2]

भगवान् महावीर का उपदेश शान्ति का सच्चा मार्ग है

श्री राजगोपालचार्य

महावीर भगवान् का संदेश किसी खास कौम या फिरके के लिये नहीं है बल्कि समस्त संसार के लिए है। अगर जनता महावीर स्वामी के उपदेश के अनुसार चले तो वह अपने जीवन को आदर्श बनाले। संसार में सच्चा सुख और शान्ति उसी सूरत में प्राप्त हो सकती है जब कि हम उनके बतलाये हुए मार्ग पर चलें।

जैन संसार देहली मार्च १६४७ पृ० ५

---

१. अनेकान्त वर्ष ४, पृ० ११२।

२. महावीर स्मृति ग्रन्थ (आगरा) भाग १ पृ० २। मोहनदास कर्मचन्द गांधी

तलवार से अधिक अहिंसा

देशभक्त डा० श्री सतपाल जी, स्पीकर पंजाब असेम्बली

प्रेम और अहिंसा का व्रत पालना ही आत्मा का सच्चा स्वरूप है। लोग कहते हैं कि तलवार में शक्ति है परन्तु महात्मा गांधी ने अपने जीवन से यह सिद्ध करके दिखा दिया कि अहिंसा की शक्ति तलवार से अधिक तेज है।

—देशभक्त मेरठ (जून सन् ३४) पृ० ५.

जैन-धर्म का प्रभाव

श्री प्रकाश जी मंत्री भारत सरकार

जैन धर्म और संस्कृति प्राचीन है। भारतवासी जैन धर्म के नेताओं तीर्थकरों को मुनासिब धन्यवाद नहीं दे सकते। जैन धर्म का हमारे किसी न किसी विभाग में राष्ट्रीय जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव है। जैन धर्म के साहित्यिक ग्रन्थों की स्वच्छ और सुन्दर भाषा है। साहित्य के साथ साथ विशेष रूप से जैन धर्म ने आकर्षण किया है जो मानव को अपनी ओर खींचता है। जैनधर्म कला की आर्ट के नमूने देखकर आश्चर्य होता है। जैनधर्म ने सिद्ध कर दिया है कि लोक और परलोक के सुख की प्राप्ति अहिंसा व्रत से हो सकती है।

—वीर देहली (१५-१-५१) पृष्ठ ५.

महान् तपस्वी भगवान् महावीर

राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन

भगवान् महावीर एक महान् तपस्वी थे। जिन्होंने सदा सत्य और अहिंसा का प्रचार किया। इनकी जयन्ती का उद्देश्य मैं यह समझता हूँ कि इनके आदर्श पर चलने और उसे मज़बूत बनाने का यत्न किया जावे।

—वर्द्धमान देहली, अप्रैल, १९५३ पृ० ८

विश्व शान्ति के संस्थापक

आचार्य श्री काका कालेलकर जी

मैं भगवान् महावीर को परम आस्तिक मानता हूँ। श्री भगवान् महावीर ने केवल मानव जाति के लिये ही नहीं पर समस्त प्राणियों के विकास के लिये अहिंसा का प्रचार किया। उनके हृदय में प्राणी मात्र के कल्याण की भावना सदैव ज्वलंत थी। इसीलिये वह विश्व-कल्याण का प्रशस्त मार्ग स्वीकार कर सके। मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि उनके अहिंसा सिद्धान्त से ही विश्व-कल्याण तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है।

—ज्ञानोदय वर्ष १, पृ० ६६.

महान् विजेता

आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी

महावीर स्वामी ने जन्म-मरण की परम्परा पर विजय प्राप्त की थी। उनकी शिक्षा विश्व मानव के कल्याण के लिये थी। अगर आपकी शिक्षा संकीर्ण रहती तो जैन धर्म अरब आदि देशों तक न पहुँच पाता।

—ज्ञानोदय वर्ष १, पृ० ८२३.

प्रेम के उत्पादक

आचार्य श्री विनोबा भावे जी

लोग कहते हैं कि अहिंसा देवी निःशस्त्र है मैं कहता हूँ यह गलत ख्याल है। अहिंसा देवी के हाथ में अत्यन्त शक्ति-शाली शस्त्र है। अहिंसा रूप शस्त्र प्रेम के उत्पादक होते हैं, संहारक नहीं।

—ज्ञानोदय भाग १, पृ० ५६३.

वीर उपदेश से भारत सुदृढ़

श्री के० एम० मुन्शी गवर्नर, उ० प्र०

कामना है कि भगवान महावीर का उपदेश भारत को सुदृढ़ करे।

—वीर देहली १५-१-५१ पृ० ३.

जैन समाज का राजनैतिक भाग

श्री एस० पी० मोदी भूतपूर्व गवर्नर, उ० प्र०

जैन समाज ने देश के राजनैतिक तथा आत्मिक जीवन में विशेष भाग लिया है।

वीर देहली १५-१-५१ प्र० ४

विश्व कल्याण के नेता

शेरे पंजाब लाला लाजपतराय

भगवान् महावीर समस्त प्राणियों का कल्याण करने वाले महापुरुष हुए हैं।

जैन संसार मार्च, सन् १९३७, पृ० ५.

महा उपकारी और त्यागी

श्री राजा महाराजसिंह गवर्नर बम्बई

आशा है भगवान् महावीर की सेवा और त्याग की भावना का प्रसार होगा।

—वीर देहली १५-१-५ पृ० ४३

वीर उपदेश की आवश्यकता

श्री जयरामदास दौलतराम जी गवर्नर आसाम

जिन सिद्धान्तों के लिये भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया उनकी आज के मानव समाज के लिये परम आवश्यकता है।

—वीर देहली १५-१-५१, पृ० ४

मानव जाति का सच्चा सुख

श्री मंगलदास जी गवर्नर उड़ीसा

इस समय सारे संसार को अहिंसा धर्म के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है जो राष्ट्रीय संहार के शास्त्रों से सुसज्जित है। यदि आज सत्य और अहिंसा को अपना ले, तो मानव जाति सच्चा सुख प्राप्त कर सकती है।

—भगवान् महावीर स्मृति ग्रन्थ, आगरा पृ०, २८१.

भगवान् महावीर का प्रभाव

श्री लालबहादुर शास्त्री, मंत्री भारत सरकार

रिश्वत, बेईमानी, अत्याचार अवश्य नष्ट हो जावें यदि हम भगवान् महावीर की सुन्दर और प्रभावशाली शिक्षाओं का पालन करें। बजाय इसके कि हम दूसरों को बुरा कहें और उनमें दोष निकालें। अगर भगवान् महावीर के समान हम सब अपने दोषों और कमजोरियों को दूर कर लें तो सारा संसार खुद-ब-खुद सुधर जाये।

—वर्द्धमान देहली, अप्रैल १९५३, पृ० ५९

मुक्ति का सबसे महान् ध्येय

हिज हाइनेस, महाराज साहब सिंधियां राज-प्रमुख मध्य भारत

जैन धर्म में जीवन की सार्थकता का सबसे महान् ध्येय निर्वाण तथा मुक्ति को ही मानते हैं। जिनके प्राप्त करने से सांसारिक बचनों, लौकिक भावनाओं तथा जीवन के आवागमन से मोष मिल जाता है।

—जैन गजट देहली ४-५२-५१

जैन धर्म व्यवहारिक, आस्तिक तथा स्वतंत्र है

श्रीयुत लक्षमण रघुनाथ भिंडे

अन्य धर्मों के विद्वानों ने अज्ञानता और ईर्ष्या होने के कारण टीकाओं द्वारा भारत वर्ष में जैन धर्म के अनुसार अज्ञानता फैला दी है हालाँकि जैन धर्म पूर्ण रूप से व्यवहारिक और आस्तिक तथा स्वतंत्र धर्म है।

—भ० महावीर का आदर्श जीवन, पृ० ३९.

संसार के कल्याण का मार्ग जैन धर्म

माननीय श्री गोविन्दवल्लभ पन्त

जैनियों ने लोक सेवा की भावना से भारत में अपना एक अच्छा स्थान बना लिया है। उनके द्वारा देश में कला और

उद्योग की काफी उन्नति हुई है। उनके धर्म और समाज सेवा के कार्य सार्वजनिक हित की भावना से ही होते रहे हैं और उनके कार्यों से जनता के सभी वर्गों ने लाभ उठाया है।

जैन धर्म देश का वहुत प्राचीन धर्म है। इसके सिद्धान्त महान् हैं, और उन सिद्धान्तों का मूल्य उद्धार, अहिंसा और सत्य है। गांधी 'जी ने अहिंसा और सत्य के जिन सिद्धान्तों को लेकर जीवन भर कार्य किया वही सिद्धान्त जैन धर्म की प्रमुख वस्तु है। जैन धर्म के प्रतिष्ठापकों ने तथा महावीर स्वामी ने अहिंसा के कारण ही सवको प्रेरणा दी थी।

जैनियों की ओर से कितनी ही संस्थायें खुली हुई हैं उनको विशेषता यह है कि सव ही विना किसी भेद भाव के उनसे लाभ उठाते हैं, यह उनकी सार्वजनिक सेवाओं का ही फल है।

जैन धर्म के आदर्श वहुत ऊंचे हैं। उनसे ही संसार का कल्याण हो सकता है। जैन धर्म तो करुणा-प्रधान धर्म है। इसलिये जैन चींटी तक की भी रक्षा करने में प्रयत्नशील हैं। दया के लिये हर प्रकार का कष्ट सहन करते हैं। उनमें मनुष्यों के प्रति असमानता के भाव नहीं हो सकते।

मैं आशा करता हूं कि देश और व्यापार में जैनियों का जो महत्वपूर्ण भाग है वह सदा रहेगा।

—जैन सन्देश आगरा १२-२-१९५१ पृ०२.

जैन विचारों की छाप

डा० सम्पूर्णानन्द जी मंत्री उ०प्र०

भारतीय संस्कृति के संवर्धन में उन लोगों ने उल्लेखनीय भाग लिया है जिनको जैन शास्त्रों से स्फूर्ति प्राप्त हुई थी। वास्तु कला, मूर्ति कला वाङ० मई सव पर ही जैन विचारों की गहरी छाप है। जैन विद्वानों और श्रावकों ने जिस प्राणपण से अपने शास्त्रों की रक्षा की थी वह हमारे इतिहास की अमर कहानी है। हमें जैन विचार धारा का परिचय करना ही चाहिये।

—जैन धर्म दि० जै० पृ० ११

जैन धर्म का रूप गांधीवाद

श्री पी०एस० कुमार स्वामी राजाप्रधानमन्त्री, मद्रास

जैन धर्म ने संसार को अहिंसा का संदेश दिया राष्ट्रपिता श्री महात्मा गांधी के हाथों में यह सद्गुण शक्ति शाली शस्त्र वन गया, जिसके द्वारा उन्होंने ऐसी आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त की जिन्हें आज तक विश्व ने देखा ही न था। क्या यह कहना उचित न होगा कि गांधीवाद जैन धर्म का ही दूसरा रूप है। जिस हद तक जैन धर्म में अहिंसा और सन्यास का पालन किया गया है वह त्याग की एक महान् शिक्षा है।

—वीर देहली

भगवान् महावीर की शिक्षाओं से विश्व कल्याण

भगवान् महावीर स्वामी ने अपने जीवन में पांच महाव्रतों पर ध्यान दिया था। ये पांच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं। जैन धर्म के साधुओं का इस समय में भी जो गौरव प्रकट होता रहता है उनके अपरिग्रह और कठिन तपस्या का प्रभाव है। श्री महावीर स्वामी ने शील अथवा अपरिग्रह पर विशेप जोर दिया हम इन पांचों व्रतों को अपने जीवन में उतार सकते हैं। मन, वचन कायसे किसी की हिंसा न करना आचार विचार और सत्य पर दृढ़ रहना इससे आपका स्वयं अपना ही नहीं वल्कि विश्व का कल्याण साधा जा सकता है।

जहरीले जानवरों को जीने का हक

भगवान् देव आत्मा जी महाराज

किसी जहरीले जानवर सांप, विच्छू वगैरह को देख कर फौरन उसको मारने के लिए तैयार हो जाना कभी ठीक नहीं है जव कोई जहरीला जानवर तुम पर हमला करे और जान की हिफाजत किसी और तरीके से न हो सकती हो तो जान की हिफाजत की खातिर उसे मारना मुनासिव हो सकता है वरना नहीं। यह जमीन केवल तुम्हारी नहीं है सांप, विच्छू आदि भी कभी कभी इस पर से गुजर सकते हैं। इसलिए उनको शान्ति से गुजर जाने दो या डरा कर अपनी जगह से भाग दो। याद रखो सांप आदि को भी तव तक जीने का हक हासिल है जव तक वह स्वयं खुद दूसरे की जान पर हमला न करे।

—भ० देवआत्मा की जीवन कथा भाग २ पृ० ९७

जैन इतिहास की आवश्यकता

प्रो० श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी

प्राचीन भारतीय इतिहास का जो पता आज-कल चल रहा है, उसमें जैन राजाओं राजमन्त्रियों और सेनापतियों आदि के जबरदस्त कारनामे मिलते जा रहे हैं अब ऐतिहासिक विद्वानों के लिये जैन इतिहास की जरूरत पहले से बहुत बढ़ गई है।

—अहिंसा और कायरता पृ० २८

महावीर की शिक्षा से शांति

हैदराबाद सत्याग्रह के प्रथम डिक्टेटर श्री महात्मा नारायण स्वामी

भगवान महावीर ने दुनिया को सच्चा सुख और शान्ति देने वाली अहिंसा धर्म की शिक्षा दी। पश्चिमी देश के लोग अहिंसा पर विश्वास नहीं रखते यही कारण है कि वहां लड़ाई के बादल उठते रहते हैं।

अहिंसा प्रचारक भ० महावीर

लाला दुनीचन्द प्रधान महर्षि स्वामी दयानन्द सालोषण मिशन होशियारपुर

भगवान् महावीर उन सबसे बड़े पूज्य महापुरुषों में से हैं जिन्होंने अहिंसा का जबरदस्त प्रचार किया। मेरा तो यह विश्वास है कि संसार में सच्चे सुख की प्राप्ति बगैर अहिंसा के असम्भव है।

वर्द्धमान महावीर के सम्बन्ध में जो भी लिखा जाय कम है

महात्मा भगवान दीन जी

भरी जवानी में भरे घर और भरपूर भण्डार को छोड़ चल देने वाले यथा नाम तथा गुण वर्द्धमान् के बारे में जो लिखा मिलता है वह सुनने में बढ़ाकर लिखा गया सा जान पड़ता है; परन्तु असल में उनके भीतर जलती ज्वाला के सामने वह बढ़कर लिखा हुआ भी कम रह जाता है।

—वीर देहली १७-४-१९४८ पृ० ७

जैन धर्म का अपरिग्रहवाद

त्यागमूर्ति श्री गणेशदत्त स्वामी प्रधान मंत्री सनातन धर्म सभा

इस सच्चाई से कौन इन्कार कर सकता है कि अपरिग्रह से जीवन की उन्नति होती है। ब्राह्मण और संन्यासी का दर्जा समाज की दृष्टि में इसीलिये सबसे ऊंचा है। जैन धर्म में इस अपरिग्रह को बहुत ऊंची पदवी मिल सकी है।

साईन्स के सबसे पहले जन्मदाता भ० महावीर

रिसर्च स्कालर पं० माधवाचार्य

जैन फलासफरों ने जैसा पदार्थ के सूक्ष्म तत्व का विचार किया है उसको देखकर आज-कल फलासफर बड़े आश्चर्य में पड़ जाते हैं, वे कहते हैं कि महावीर स्वामी आजकल की साईन्स के सबसे पहले जन्मदाता हैं।

—अनेकान्त संम्वत् १९८६ पृ० १७२।

अहिंसा के महान् प्रचारक भगवान महावीर

बौद्धभिक्षु प्रो० श्री धर्मानन्द जी कौशंबी

भगवान महावीर ने पूरे बारह वर्ष के तप और त्याग के बाद अहिंसा का सन्देश दिया। उस समय हिंसा का अधिक जोर था। हर घर में यज्ञ होता था। यदि उन्होंने अहिंसा का सन्देश न दिया होता तो आज भारत में अहिंसा का नाम न लिया जाता।

—भ० म० का आदर्श जीवन पृ० १२

मांस और लहू खुदा को नहीं पहुंचता

हिज हाइनेस राइट आनरेबल सर आगा खां

जानवरों का मांस या लहू खुदा को नहीं पहुंचता तो उसके नाम पर बेगुनाह जीवों की हत्या क्यों की जावे?

—मांसाहार भाग २ पृ० ६२

केवल अहिंसा से शान्ति

डा० खां साहब

मुझे दृढ़ विश्वास है कि केवल अहिंसा से ही मनुष्य को सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है।

—वीर भारत १७-७-४१ पृ० ८

अहिंसा से सुख और शान्ति

सरहदी गांधी श्री अब्दुल गफ्फार खां

यदि जनता सच्चे हृदय से अहिंसा का व्यवहार करने लग जाय तो संसार को अवश्य सुख और शान्ति प्राप्त हो जाय।

—जैन संसार, मार्च १९५७ पृ ०६

जैन समाज का सहयोग

श्रीमान भाई परमानन्द जी

कौमी राष्ट्रीय मजबूत और संगठित बनाने में जैन समाज को मदद करके अपने आपको मजबूत और संगठित समझना चाहिए।

—वीर १२-५-४४ पृ० ५

जैन धर्म की आवश्यकता

सरदार जोगेन्द्र सिंह भूतपूर्व शिक्षामंत्री भारत सरकार

जैन धर्म प्रेम, अहिंसा और संगठन सिखाता है। जिसकी आज के संसार को बड़ी आवश्यकता है।

—वीर देहली २०-५-४३ पृ० १५८

जैन धर्म प्रशंसा योग्य है

ख्वाजा हसन नजामी

जैन धर्म प्राचीन धर्म है। मेरी अन्तर आत्मा कहती है कि जैन धर्म के नियम प्रशंसा तथा स्वीकार करने योग्य हैं।

—मांसाहार भाग २, पृ० ९२

कर्मों को जीतने वाले भगवान महावीर

डा० ताराचन्द जी शिक्षामंत्री भारत सरकार

महावीर स्वामी ३० वर्ष की भरी जवानी में घर बार त्याग कर साधु बन गये थे। उन्होंने आत्मध्यान से इन्द्रियों को वश करके घोर तपस्या की और ४२ वर्ष की आयु में राग द्वेष के बन्धनों से मुक्त होकर मार्फत इलाही (केवलज्ञान) प्राप्त किया और कर्म रूपी शत्रुओं को जीतकर अर्हन्त तथा जिनेन्द्र की उत्तम पदवी प्राप्त की।

—अहले हिन्द की मुख्तसर तारीख

पापों को दूर करने का उपाय

डा० अमरनाथ झा प्रधान यू० पी० सर्विस कमीशन

अहिंसा धर्म का पालना दुनिया के पापों को दूर करके सबको बड़ा पुण्य प्राप्त करना है।

—जैन संसार, देहली, मार्च सन् ४७ पृ० ६

वीर का तप त्याग और अहिंसा

श्रीयुत महात्मा आनन्द सरस्वती

मुझे भगवान महावीर के जीवन में तीन बातें बहुत सुन्दर नजर आती हैं—

त्याग तप अहिंसा

भगवान महावीर के बाद लोग इतने प्रमादवश हो गये कि त्याग-तप-अहिंसा उनको कायरता नजर आने लगी। मैंने जैन ग्रन्थों का स्वाध्याय किया है। श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में मुझे तीन श्लोक नजर पड़े जिन में गृहस्थी के लिये स्पष्ट तौर पर केवल एक प्रकार की संकल्पी हिंसा का त्याग बताया गया है जो राग द्वेष के भावों से जान बूझकर की जावे। उद्यम हिंसा जो व्यापार में होती है, आरम्भी हिंसा घरेलू कार्यों पर होती है तथा विरोधी हिंसा जो अपने या दूसरे के बचाव माल, धन

इज्जत की रक्षा या देश सेवा में होती है। उन तीनों प्रकार की हिंसा का गृहस्थ को त्याग नहीं बताया। वेद भगवान का उपदेश भी यही है कि किसी के साथ राग द्वेष से बात न करो। महर्षि दयानन्द के जीवन में यही तीन बातें रोशन हैं। त्याग, तप और परोपकार।

भ० महावीर के जीवन के भी यही तीन गुण बहुत प्यारे लगते हैं। आज के संसार को इनकी बहुत जरूरत है, लेकिन दुनिया के सामने इस वक्त ये तीन चीजें हैं—

भोग तन आसानी खुदगर्जी

यह ठीक त्याग अहिंसा के या परोपकार के उलटे हैं। जब दुनिया उलटी जा रही हो तो इसका दुःखी होना कुदरती बात है। सुख तभी प्राप्त होगा जब संसार फिर उसी त्याग, तप अहिंसा का पालन करे।

देश की रक्षा करने वाले जैनवीर

महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीरा चन्द ओझा

जैन धर्म में दया प्रधान होते हुए भी यह लोग वीरता में दूसरी जातियों से पीछे नहीं रहे। राजस्थान में मंत्री आदि अनेक ऊंची पदवियों पर सैकड़ों वर्षों तक अधिक जैनी ही रहे हैं, और उन्होंने अहिंसा धर्म को निभाते हुये वीरता के ऐसे अनेक कार्य किये हैं जिससे इस देश की प्राचीन उदार कला की उत्तमता की रक्षा हुई। उन्होंने देश की आपत्ति के समय महान् सेवायें कीं और उसका गौरव बढ़ाया।

—भूमिका राजपूताने के जैनवीर पृ० १४

राष्ट्रीय,सार्वभौमिक तथा लोकप्रिय जैनधर्म

डा० श्री कालिदास नाग वाइस चांसलर कलकत्ता यूनिवर्सिटी

जैन धर्म किसी खास जाति या सम्प्रदाय का धर्म नहीं है बल्कि यह अन्तर्राष्ट्रीय, सार्वभौमिक तथा लोकप्रिय धर्म है।

जैन तीर्थंकरों की महान् आत्माओं से संसार के राज्यों के जीतने की चिन्ता नहीं की थी, राज्यों को जीतना कुछ ज्यादा कठिन नहीं है, जैन तीर्थंकरों का ध्येय राज्य जीतने का नहीं है बल्कि स्वयं पर विजय प्राप्त करने का है। यही एक महान ध्येय है, और मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है। लड़ाईयों से कुछ देर के लिए शत्रु दब जाता है, दुश्मनी का नाश नहीं होता। हिंसक युद्धों से संसार का कल्याण नहीं होता। यदि आज किसी ने महान परिवर्तन करके दिखाया है तो वह अहिंसा सिद्धान्त की खोज और प्राप्ति संसार के समस्त खोजों और प्राप्तियों से महान् है।

यह मनुष्य का स्वभाव है नीचे की ओर जाना। परन्तु जैन तीर्थंकरों ने सर्वप्रथम यह बताया कि अहिंसा का सिद्धान्त मनुष्य को ऊपर उठाना है।

आज के संसार में सबका यही मत है कि अहिंसा सिद्धान्त का महात्मा बुद्ध ने आज से २५०० वर्षों पहले प्रचार किया। किसी इतिहास के जानने वाले को इस बात का बिल्कुल ज्ञान नहीं है कि महात्मा बुद्ध से करोड़ों वर्ष पहले एक नहीं बल्कि अनेक जैन तीर्थंकरों ने इस अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार किया है। जैन धर्म बुद्ध धर्म से करोड़ों वर्ष पहिले का है। मैंने प्राचीन जैन क्षेत्रों और शिला लेखों के सलाइड्ज तैयार करके इस बात को प्रमाणित करने का यत्न किया है कि जैनधर्म प्राचीन धर्म है जिसने भारत संस्कृति को बहुत कुछ दिया परन्तु अभी तक संसार की दृष्टि में जैन धर्म को महत्व नहीं दिया गया। उनके विचारों में यह केवल बीस लाख आदमियों का एक छोटा-सा धर्म है। हालांकि जैन धर्म एक विशाल धर्म है और अहिंसा पर तो जैनियों को पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

—अनेकान्त वर्ष १० पृ० २२४

जैन धर्म की आवश्यकता

डा० राईस डेविड एम० ए०, डी० लिट्

यह बात अब निश्चित है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से निःसन्देह बहुत पुराना है और बुद्ध के समकालीन महावीर द्वारा उसका पुनः संजीवन हुआ है और यह बात भी भली प्रकार निश्चित है जैन मत के मन्तव्य बहुत ही जरूरी और बौद्ध मत के मन्तव्यों से बिल्कुल विरुद्ध हैं।

—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका० व्हाल्यम २९

जैन धर्म की विशेषता

महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य श्री स्वामी राममित्र जी शास्त्री, प्रोफ़ेसर संस्कृत कालेज बनारस

जैनमत तब से प्रचलित हुआ है जब से संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ। जैन दर्शन वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है। जैन धर्म का स्याद्वादी किला है जिसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले नहीं प्रवेश कर सकते। बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने जो जैन मत का खण्डन किया है वह ऐसा है जिसे देख, सुनकर हँसी आती है।

सम्पूर्ण लेख जैनधर्म महत्व भाग १, पृ० १५३-१६५

महामहोपाध्याय डा० श्री सतीशचन्द्र भूषण प्रिन्सिपल गवर्नमेंट संस्कृत कालेज कलकत्ता

भगवान वर्द्धमान महावीर ने भारतवर्ष में आत्मसंयम के सिद्धान्त का प्रचार किया। प्राकृत भाषा अपने सम्पूर्ण मधुमय सौन्दर्य को लिये हुये जैनियों की रचना में ही प्रगट हुई है।

जैन साधु एक प्रशसनीय जीवन व्यतीत करते हुये पूर्ण रीति से व्रत, नियम और इंद्रिय संयम का पालन करता हुआ जगत के सन्मुख आत्म संयम का एक बड़ा ही उत्तम आदर्श प्रस्तुत करता है।

जैनधर्म पर लोक० तिलक और प्रसिद्ध विद्वानों का अभिमत पृ० १२

वैदिक काल में जैन धर्म

श्री स्वामी विरुपाक्ष वडियर धर्मभूषण, पंडित वेदतीर्थ, विद्यानिधि एम० ए० प्रो० संस्कृत कालिज इन्दौर

ईर्षा, द्वेष के कारण धर्म प्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुये जैन शासन कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी ही होता रहा है। इस प्रकार जिसका वर्णन है वह 'अर्हन्त देव' साक्षात् परमेश्वर (विष्णु) स्वरूप हैं। इसके प्रमाण भी आर्यग्रन्थों में पाये जाते हैं। उपरोक्त अर्हन्त परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है। हिन्दुओं के पूज्य वेद और पुराण आदि ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है, तो कोई कारण नहीं कि हम वैदिक काल में जैन धर्म का अस्तित्व न मानें।

पीछे से जब ब्राह्मण लोगों ने यज्ञादि में बलिदान कर 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' वाले वेद-वाक्य पर हरताल फेर दी उस समय जैनियों ने हिंसामय यज्ञ, यागादि का उच्छेद करना आरम्भ किया था बस, तभी से ब्राह्मणों के चित्त में जैनों के प्रति द्वेष बढ़ने लगा, परन्तु फिर भी भागवतादि महापुराणों में ऋषभदेव के विषय में गौरव युक्त उल्लेख मिल रहा है।

जैन धर्म पर लो० तिलक और प्रसिद्ध विद्वानों का अभिमत पृ० १७

परमहंस श्री वर्द्धमान महावीर

महात्मा श्री शिवव्रतलाल जी वर्मन, एम० ए०

हिन्दुओ! जैनी हम से जुदा नहीं है हमारे ही गोश्त पोस्त हैं। उन नादानों की बातों को न सुनो जो गलती से नावाकफियत से, या तास्सुब से कहते हैं 'हाथी के पांव तले दब जाओ मगर जैन मन्दिर के अन्दर अपनी हिफाजत न करो' इस तास्सुब और तंगदिली का कोई ठिकाना है? हिन्दू धर्म तास्सुब का हामी नहीं है तो फिर इनसे ईर्ष्या भाव क्यों? अगर इनके किसी ख्याल से तुम्हें माफकत नहीं हैं तो सही, कौन सब बातों में किसी से मिलता है? तुम उनके गुणों को देखो, किसी के कहे सुने पर न जाओ। जैन धर्म तो एक अपार समुद्र है जिस में इन्सानी हमदर्दी की लहरें जोर शोर से उठती हैं। वेदों की श्रुति 'अहिंसा परमो धर्मः' यहाँ ही असली सूरत अख्तयार करती हुई नजर आती है।

श्री महावीर स्वामी दुनिया के जबरदस्त रिफार्मर और ऊँचे दर्जे के प्रचारक हुये हैं। यह हमारी कौमी तारीख के कीमती रत्न हैं। तुम कहाँ? और किन में धर्मात्मा प्राणियों की तलाश करते हो? इनको देखो इनसे बेहतर साहिबे कमाल तुम को कहाँ मिलेगा? इनमें त्याग था, वैराग था, धर्म का कमाल था। यह इंसानी कमजोरियों से बहुत ऊँचे थे। इनका स्थान 'जिन' है जिन्होंने मोह माया, मन और काया को जीत लिया था। ये तीर्थंकर हैं। परमहंस हैं। इनमें बनावट नहीं थी, कमजोरियों और ऐबों को छुपाने के लिए इनको किसी पोशाक की जरूरत नहीं हुई। इन्होंने तप, जप और योग का साधन

करके अपने आपको मुकम्मल बना लिया था। तुम कहते हो ये नंगे रहते थे, इसमें ऐब क्या[1] ? परमअन्तर्निष्ठ, परमज्ञानी और कुदरत के सच्चे पुत्र को पोशाक की जरूरत कब थी ? 'सरमद' नाम का एक मुसलमान फकीर देहली की गलियों में घूम रहा था औरंगजेब बादशाह ने देखा तो उसको पहनने के लिये कपड़े भेजे। फकीर वली था कहकहा मार कर हंसा और बादशाह की भेजी हुई पोशाक को वापिस कर दिया और कहला भेजा : —

आँकस कि तुरा कुलाह सुल्तानी दाद।
मारा हम ओ अस्बाब परेशानी दाद॥
पोशनीद लबास हरकरा देवे दीद।
बे ऐबा रा लबबास अयानी दाद।[2]

यह लाख रुपये का कलाम है, फकीरों की नग्नता को देख कर तुम क्यों नाक भौं सुकोड़ते हो ? इनके भाव को नहीं देखते। इसमें ऐब की क्या बात है ? तुम्हारे लिये ऐब हो इनके लिये तो तारीफ की बात है।[3]

जार्ज बर्नाडशा की जैनी होने की इच्छा

विश्व के अप्रतिम विद्वान जार्ज बर्नाडशा

जैन धर्म के सिद्धान्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरी आकांक्षा है कि मृत्यु के पश्चात् में जैन परिवार में जन्म धारण करूं।[4]

जैन धर्म से विरोध उचित नहीं

मुख्योपाध्याय श्री वरदाकान्त एम० ए०

हमारे देश में जैन धर्म के सम्बन्ध में बहुत से भ्रम फैले हुए हैं। साधारण लोग जैन धर्म को सामान्य जानते हैं कुछ इसको नास्तिक समझते हैं, अनेकों की धारणा में जैन धर्म अत्यन्त अशुचि तथा नग्न परमात्मा पूजक है। कुछ शंकराचार्य के समय जैन धर्म का आरम्भ होना स्वीकार करते हैं, कुछ महावीर स्वामी अथवा पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रवर्तक बताते हैं, कुछ जैन धर्म की अहिंसा पर कायरता का इलजाम लगाते हैं, कुछ इसको हिन्दू अथवा बौद्ध धर्म का प्रवर्तक बताते हैं, कुछ इसको हिन्दू अथवा बौद्ध धर्म का शाखा समझते हैं कुछ कहते हैं, कि यदि मस्त हाथी भी तुम पर आक्रमण करे तो भी प्राण रक्षा के लिए जैन मन्दिरों में प्रवेश मत करो।[5] कुछ वेदों और पुराणों को स्वीकार न करने तथा ईश्वर को कर्ता-धर्ता और कर्मों का फल देने वाला न मानने के कारण जैनियों से विरोध करते रहते हैं।

Prof. Weber ने History of Indian Literature. में स्वीकार किया है 'जैन धर्म सम्बन्धी जो कुछ हमारा ज्ञान है वह सब ब्राह्मण शास्त्रों से ज्ञात हुआ है।' सब पश्चिमी विद्वान सरल स्वभाव से अपनी अज्ञानता प्रकाशित करते रहे हैं। इस लिए उनके मत की परीक्षा की कुछ आवश्यकता नहीं है।

शंकराचार्य के समय जैन धर्म का चालू होना इसलिए सत्य नहीं. क्योंकि यह स्वयं जैन धर्म को अति प्राचीन काल से

---

१. नग्नता की शिक्षा केवल जैन धर्म में ही नहीं बल्कि हिन्दुओं, सिक्खों, मुसलमानों, आदि के साधुओं, दरवेशों में भी है। तफसील २२ परीषह जय खंड २ में देखिये।

२. जिसने तुमको बादशाही ताज दिया, उसी ने हमको परेशानी का सामान दिया। जिस किसी में कोई ऐब पाया, उसको लिबास पहिनाया और जिनमें ऐब न पाये उनको नंगेपन का लिबास दिया।

३. लेखक के पूरे लेख को जानने के लिए जैन धर्म का महत्व (सूरत) भाग १ पृ० १-१४

४. जैन शासन पृ० ४३०

५. न पठेद्यावनी भाषां प्राणैः कण्ठ गतैरपि।
हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जिनमंदिरम्॥
अर्थात्—प्राण भी जाते हों तो भी म्लेच्छों की भाषा न पढ़ो और हाथी से पीड़ित होने पर भी जैन मन्दिर में न जाओ।

प्रचलित होना स्वीकार करते हैं।[1]

ऐतिहासिक विद्वान् Lethbridge and Mounstrust Elphinstine का कथन कि जैन धर्म छठी शताब्दी से प्रचलित है, इसलिए सत्य नहीं कि छठी शताब्दी में होने वाले भगवान् महावीर जैन धर्म के प्रथम प्रचारक[2] नहीं थे, चौवीसवें तीर्थंकर थे। जैन-धर्म उनसे बहुत पहले दिगम्बर ऋषि ऋषभदेव ने स्थापित किया था।[3]

अंग्रेजी में Wilson lesson, Barth and Weber आदि विद्वानों का कहना कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की शाखा है, इस लिए सत्य नहीं कि कोई भी हिन्दू ग्रन्थ ऐसा नहीं कहता। हनुमान नाटक में तो जैन धर्म बौद्ध धर्म को भिन्न भिन्न सम्प्रदाय बताये हैं।[4] श्री मद्भागवत में बुद्ध को बौद्ध धर्म का तथा ऋषभदेव को जैन धर्म का प्रथम प्रचारक कहा है। महर्षि व्यास जी ने महाभारत[5] में जैन और बौद्ध धर्म को दो स्वतन्त्र समुदाय बताया है। जब महात्मा बुद्ध स्वयं महावीर स्वामी को जैन धर्म का चौबीसवाँ तीर्थंकर स्वीकार करते हैं, तो जैन धर्म बौद्ध धर्म से अवश्य ही बहुत प्राचीन है और बौद्ध धर्म की शाखा का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।[6]

जैन धर्म हिन्दू धर्म से बिलकुल स्वतन्त्र है, उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है,[7] नास्तिक नहीं है[8] नग्नता तो वीरता का चिन्ह है,[9] अहिंसा वीरों का धर्म है।[10] जैन धर्म के पालने वाले बड़े-बड़े सम्राट और योद्धा हुये हैं।[11]

हम कौन है ? कहाँ से आये ? कहाँ जायेंगे ? जगत क्या है ? इन प्रश्नों के उत्तर में जैन धर्म कहता है कि आत्मा कर्म और जगत अनन्त है।[12] इनका कोई बनाने वाला नहीं।[13] आत्मा अपने कर्मफल का भोग करता है, हमारी उन्नति, हमारे कार्यों पर ही निर्भर है। इसलिए जैन धर्म ईश्वर को कर्मानुयायी. पुरस्कार और शान्तिदाता स्वीकार नहीं करता।[14]

जैन धर्म इतिहास का खजाना

डा० जे० जी० बुल्हर, सी० आई०, एल० एल० डी०

जैन धर्म के प्राचीन स्मारकों से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की बहुत जरूरी और उत्तम सामग्री प्राप्त होती है। जैन धर्म प्राचीन सामग्री का भरपूर खजाना है।

—भारतवर्ष के प्राचीन जमाने के हालात, पृ० ३०७।

---

१. वेदान्त सूत्र ३३।

२. जैन धर्म की प्राचीनता खण्ड नं० ३।

३. जैन धर्म के संस्थापक श्री ऋषभदेव खण्ड ३।

४. यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं वो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥३॥
—हनुमान नाटक लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस अं० १

५. महाभारत, अश्वमेधपर्व, अनुगीति ४६. अध्याय २, १२ श्लोक।

६. महात्मा बुद्ध पर वीर प्रभाव, खंड २।

७. जैन धर्म और हिन्दू धर्म, खण्ड ३।

८. जैन धर्म नास्तिक नहीं, खण्ड १।

९. वाइस परिपयजय, खण्ड २।

१०. जैन धर्म वीरों का धर्म है, खण्ड ३।

११. जैन सम्राट, खण्ड ३।

१२-१३. भ० महावीर का धर्मोपदेश खण्ड २।

१४. 'जैन धर्म महात्मय" (सूरत) भाग १ पृ० १११ से १२५।

रखी थी कि अपनी पुत्रियों का विवाह जैन धर्मावलम्बियों से ही करूंगा। विदेह की दूसरी राजधानी का नाम वरणीतिलका था। जिसके नरेश सम्राट जीवन्धर के नाना गोविन्दराज थे[1]।

उधर कौशल अर्थात् अवध के राजा प्रसेनजित थे। जिनकी राजधानी श्रावस्ती थी। जिन्होंने बौद्ध धर्म को छोड़कर जैन धर्म अंगीकार कर लिया था[2]।

प्रयाग के आसपास की भूमि वत्सदेश कहलाती थी। इसका राजा शतानीक[3] था, इसकी राजधानी कौशुम्बी थी। यह राजा महावीर स्वामी से भी पहले ही जैनी था। इसकी रानी मृगावती विशाली के जैन सम्राट महाराजा चेटक की पुत्री थी। इसलिये महाराजा शतनीक भगवान महावीर के मावसा थे और उनके धर्मोपदेश के प्रभाव से यह राजपाट त्याग कर जैन साधु हो गये थे।[4]

कुण्डग्राम के स्वामी राजा सिद्धार्थ थे, जो भगवान महावीर के पिता थे। ये भी वीर, महाप्रतापी और जैनी थे। इसीलिये महाराजा चेटक ने अपनी राजकुमारी त्रिशला देवी का विवाह इनके साथ किया था।

अवन्ति देश अर्थात् मालवा राज्य की राजधानी उज्जैन थी। इसका राजा प्रद्योत था, जो जैनी था। इसकी वीरता का कालिदास ने भी अपने मेघदूत में उल्लेख किया है:—[5]

'प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सधजोऽत्र जन्है'

दशार्ण देश अर्थात् पूर्वी मालवा का राजा दशरथ था। इसका वंश सूर्य और धर्म जैन था,[6] इसकी राजधानी हेरकच्छ थी, जैनधर्मी होने के कारण महाराजा चेटक ने अपनी तीसरी राजकुमारी सुप्रभा का विवाह उनके साथ किया था।

कच्छ अर्थात् पश्चिमी काठियावाड़ का राजा उद्‌यन[7] था। इसकी राजधानी रौरुकनगर थी। राजा चेटक की चौथी पुत्री प्रभावती इनके साथ व्याही थी। महाराजा उद्‌यन भी जैनी था।[8]

गांधार अर्थात् कन्धार का राजा सात्यक था। यह भी जैनधर्मानुयायी था। महाराजा चेटक की पांचवी राजकन्या ज्येष्ठा की सगाई इनके साथ हुई थी, परन्तु विवाह न हो सका, क्योंकि सात्यक राजपाट को त्याग कर जैन साधु हो गया था[9]।

दक्षिणी केरल का राजा उस समय मृगाँक था और हंस द्वीप का राजा रत्नचूल था। कालेग देश (उड़ीसा) का राज धर्मघोष था। ये तीनों सम्राट जैनधर्मी थे।[10] धर्मघोष पर तो जैनधर्म का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि राजपाट त्याग कर वह जैनमुनि हो गया था।[11]

अंगदेश अर्थात् भागलपुर का राजा अजातशत्रु तथा पश्चिमी भारत सिन्ध का राजा मिलिन्द व मध्य भारत का राजा दृढ़मित्र था जो जैन सम्राट श्री जीवन्धर का ससुर था।[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् महावीर के अनुशासन के प्रभाव से उस समय जैन धर्म अतिशय उन्नत रूप में था।[13]

१-२. वीर, देहली, १ अप्रैल १९४८ पृ०।

३. महाराजा शतानीक और उद्‌यन चंद्रवंशी थे। इनके अस्तित्व का समर्थन वैष्णव धर्म का भागवत् भी करता है। जिसके अनुसार इनकी वंशावली वीर देहली (१७-४-४८) के पृष्ठ ८ पर देखिए।

४. आधार का फुटनोट नं० १-२.

५-६. वीर, देहली, १७ अप्रैल, १९४८, पृ० ८।

७-८. फुटनोट नं० ३, पृ० ११४.

९. 'महाराजा उदयन पर वीर प्रभाव' खंड २।

१०. वीर, देहली, १७-४-४८, पृ० ८।

११-१३. वीर, देहली, १७-४-४८।

जनधर्म नास्तिक नहीं है

रा० रा० श्री वासुदेव गोविन्द आपटे बी० ए०

शंकराचार्य[1] ने जैनधर्म को नास्तिक कहा है कुछ और लेखक भी इसे नास्तिक समझते हैं लेकिन यह आत्मा, कर्म और सृष्टि को नित्य मानता है।[2] ईश्वर की मौजूदगी को स्वीकार करता है और कहता है कि ईश्वर तो सर्वज्ञ नित्य और मंगलस्वरूप है। आत्माकर्म या सृष्टि के उत्पन्न करने या नाश करने वाला नहीं।[3] और न हीं हमारी पूजा, भक्ति और स्तुति से प्रसन्न होकर हम पर विशेष कृपा करेगा।[4] हमें कर्म अनुसार स्वयं फल मिलता है।[5] ईश्वर को कर्ता, या कर्मों का फल देने वाला न मानने के कारण यदि हम जैनियों को नास्तिक कहेंगे तो—

'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म फलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।
नादत्ते कस्यचित्पापं न कस्य सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।[6]

—श्रीकृष्ण जी : श्रीमद्भागवदगीता।

ऐसा कहने वाले श्रीकृष्णजी को भी नास्तिकों में गिनना पड़ेगा। आस्तिक और नास्तिक यह शब्द ईश्वर के अस्तित्व सम्वन्ध में व कर्तृत्व सम्बन्ध में न जोड़कर पाणिनीय ऋषि के सूत्रानुसार—

परलोकोऽस्तुति मतिर्यस्यास्तीति आस्तिकः परलोको नास्तितो मतिर्यस्यास्तीति नास्तिकः।[7]

श्रद्धा करे तो भी जैनी नास्तिक नहीं हैं। जैनी परलोक स्वर्ग, नर्क और मृत्यु को मानते हैं इसलिये भी जैनियों को नास्तिक कहना उचित नहीं है।[8] यदि वेदों को प्रमाण न मानने के कारण जैनियों को नास्तिक कहो तो क्रिश्चन, मुसलमान, वुद्ध आदि भी 'नास्तिक' की कोटि में आ जायेंगे। चाहे आस्तिक व नास्तिक का कैसा भी अर्थ[9] ग्रहण करें, जैनियों को नास्तिक

---

१. क—जवसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है तवसे मुझे विश्वास हुआ कि जैन सिद्धान्त में बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्यो ने नहीं समझा। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि वे जैनधर्म को उसके असली ग्रंथो से जानने का कष्ट उठाते तो उन्हे जैन धर्म से विरोध करने की कोई वात न मिलती।

—डा० गगानाथ झा : जैनदर्शन तिथि १६ दिसम्वर १९३५ पृ० १८१

ख—वड़े वड़े नामी आचार्यो ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत खडन किया है, वह ऐसा किया है जिसे सुन, देखकर हसी आती है। महा-महोपाध्याय स्वामी राममित्र, जैनवर्म महत्व सूरत भा० १, पृ० १५३।

२-३. भ० महावीर का धर्मोपदेश, खंड २।

४. अर्हन्त भक्ति खंड २।

५. 'कर्मवाद' खंड २।

६. परमेश्वर जगत का कर्ता या कर्मो का उत्पन्न करने वाला नहीं है। कर्मो के फल की योजना भी नहीं करता। स्वभाव से सब होते हैं। परमेश्वर किसी का पाप या पुण्य भी नहीं लेता। अज्ञान के द्वारा ज्ञान पर पर्दा पड़ जाने से प्राणी मात्र मोह में पड़ जाता है।

७. परलोक है ऐसी जिसकी मान्यता है वह आस्तिक है। परलोक नहीं है ऐसी जिसकी मति है वह नास्तिक है।

८. देष्टिकास्तिक नास्तिकः—शाकटायनः वैयाकरण ३-२-६१

क—अस्ति परलोकादि मतिरस्य आस्तिक : तद्विपरीतो नास्तिकः

—अभयचन्द्र सूरि

ख—अस्ति नास्तिदिष्ट मति :—पाणिनीय व्याकरण ४-४-६०

९. निम्नलिखित प्रसिद्ध ग्रन्थों से सिद्ध है कि नास्तिक व आस्तिक का चाहे जो अर्थ लें जैनी नास्तिक नहीं हैं :—

क—शाक्टायन व्याकरण, ३-२-६१

ख—आचार्य पाणिनीयः व्याकरण, ४-४-६०

ग—हेमचन्द्राचार्य शब्दानुशासन, ६-४-६६

सिद्ध नहीं किया जा सकता।[१]

जैन धर्म और विज्ञान

गृ० पृ० संख्या ११६

Thirthankaras were professors of the spiritual Science, which enables men to become God.

What is Jainism ? p. 48.

आजकल दुनिया में विज्ञान (Science) का नाम बहुत सुना जाता है इसने ही धर्म के नाम पर प्रचलित बहुत से ढोंगों की कलई खोली है, इसी कारण अनेक धर्म यह घोषणा करते हैं कि धर्म और विज्ञान में जबरदस्त विरोध है। जैन धर्म तो सर्वज्ञ वीतराग, हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान् का बताया हुआ वस्तुस्वभाव रूप है। इसलिये यह वैज्ञानिकों की खोजों का स्वागत करता है।०

भारत के बहुत से दार्शनिक शब्द (sound) को आकाश का गुण बताते थे और उसे अमूर्तिक बताकर अनेक युक्तियों का जाल फैलाया करते थे, किन्तु जैनधर्माचार्यों ने शब्द को जड़ तथा मूर्तिमान बताया था, आज विज्ञान ने ग्रामोफोन (Gramophon) रेडियो (Radio) आदि ध्वनि सम्बन्धी यन्त्रों के आधार पर शब्द को जैनधर्म के समान प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया।

न्याय और वैशेषिक सिद्धान्तकार पृथ्वी, जल, वायु आदि को स्वतन्त्र मानते हैं किन्तु जैनाचार्यों ने एक पुद्गल तत्व बताकर इनको उसकी अवस्था विशेष बतलाया है। विज्ञान ने हाइड्रोजिन आक्सीजन (Hydrogen Oxygen) नामक वायुओं का उचित मात्रा में मेल कर जल बनाया और जल का पृथक्करण करके उपर्युक्त हवाओं को स्पष्ट कर दिया। इसी प्रकार पृथ्वी अवस्थाधारी अनेक पदार्थों को जल और वायु रूप अवस्था में पहुंचाकर यह बताया है कि वास्तव में यह स्वतन्त्र तत्व नहीं है किन्तु पुद्गल (Matter) की विशेष अवस्थाएं हैं।

आज हजारों मील दूरी से शब्दों को हमारे पास तक पहुंचाने में माध्यम (Medium) रूप से 'ईथर' नाम के अदृश्य तत्वों की वैज्ञानिकों को कल्पना करनी पड़ी; किन्तु जैनाचार्यों ने हजारों वर्ष पहले ही लोकव्यापी 'महास्कन्ध' नामक एक पदार्थ के अस्तित्व को बताया है। इसकी सहायता से भगवान् जिनेन्द्र के जन्मादि की वार्ता क्षण भर में समस्त जगत में फैल

घ शब्दस्तोममहानिधि कोष पृ० १८५

ङ अभिधान चिन्तामणि, कांड ३, श्लोक ५२६।

च प्रोफेसर हीरालाल कौशल : जैन प्रचारक, वर्ष २२ अंक ६, पृ० ३-४

जैन धर्म महत्व (सूरत) भा० १ पृ० ५८-६१

2. Jainism is accused of being a theitic, but this is not so because jainism believe in Godhead and innumerable Gods.

(ii) "Those who believe in a creater sometimes look upon jainism as an a theistic religion, but jainism can not be so called as it does not deny the existance of God,"—Mr. Herburt warren—Digamber jain (Surat) vol. ix p. 48 58.

(iii) For further detail see :—

(a) Jainism is not a theism priced -/4/- published by Digamber Jain Parished, Dariba kalan, Delhi.

(b) जैन धर्म महत्व सूरत भा० १, पृ० ५८-६१.

(c) Jain parchark (Jain orphanage, Daryaganj, Delhi) vol. XXXII part I, IX p. 3-4.

३. 'भ० महावीर का धर्म उपदेश', खण्ड २।

४. The Jaina account of sound is a physical concept. All other Indian systems of thoughts spoke of sound as a quality of space, but Jainism explains sound in relation with material particles as a result of concussion of atmospheric molecules. To prove this scientific thesis the Jain thinkers employed arguments which are now generally found in the text book of physics. —Prof. A Chakravarti : Jaina Antiquary. Vol. IX P. 5-15.

१. भ० महावीर का धर्म उपदेश खण्ड २ के फुटनोट

जाती थी। प्रतीत तो ऐसा भी होता है कि नेत्रकम्प, वाहुस्पन्दन आदि के द्वारा इष्ट अनिष्ट घटनाओं के सन्देश स्वतः पहुंचाने में यही महास्कन्ध सहायता प्रदान करता है। यह व्यापक होते हुए भी सूक्ष्म बताया गया है।

जैन धर्म में पानी छानकर पीने की आज्ञा है, क्योंकि इससे जल के जीवों की प्राण विराधना (हिंसा) नहीं होने पाती। आज के अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) ने यह प्रत्यक्ष दिखा दिया कि जल में चलते-फिरते छोटे-छोटे बहुत से जीव पाये जाते हैं। कितनी विचित्र बात है कि जिन जीवों का पता हम अनेक यन्त्रों की सहायता से कठिनता पूर्वक प्राप्त करते हैं, उनको हमारे आचार्य अपने अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा विना अवलम्बन के जानते थे।[१]

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए जैन धर्म में रात्रि भोजन त्याग की शिक्षा दी गई है। वर्तमान विज्ञान भी यह बताता है कि सूर्यास्त होने के बाद बहुत से सूक्ष्म जीव उत्पन्न होकर विचरण करने लगते हैं, अतः दिन का भोजन करना उचित है। इस विषय का समर्थन वैद्यक ग्रन्थ भी करते हैं।[२]

जैन धर्म में बताया गया है कि वनस्पति में प्राण है। इसके विषय में जैनाचार्यों ने बहुत बारीकी के साथ विवेचन किया है। स्व० विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु महाशय ने अपने यन्त्रों द्वारा यह प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया कि हमारे समान वृक्षों में चेतना है और वे सुख-दुःख का अनुभव करते हैं[३]।

जैन धर्म ने बताया कि वस्तु का विनाश नहीं होता[४] उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन अवश्य हुआ करता है। आज विज्ञान भी इस बात को प्रमाणित करता है कि मूल रूप से किसी वस्तु का विनाश नहीं होता, किन्तु उसके पर्यायों में फेरफार होता रहता है[५]।

जैनाचार्यों ने कहा है कि प्रत्येक पदार्थ में अनन्त शक्तियाँ मौजूद हैं, क्या आज वैज्ञानिक एक जड़ तत्व को लेकर ही अनेक चमत्कारपूर्ण चीज़ें नहीं दिखाते? लोगों को वे अवश्य आश्चर्य में डालने वाली होती हैं, किन्तु जैनाचार्य तो यही कहेंगे कि—अभी क्या होता है, इस प्रकार की शक्तियों का समुद्र छिपा पड़ा है।[६]

---

१. (a) It is interesting to note that the existence of microscopic organisms were also known to Jain Thinkers, who technically call them 'Sukshma Ekendriya Jivas' or minute organisms with the sense of touch alon—Prof. A. Chakravarti.

—Jaina Antiquary Vol. IX. P. 5-15.

'विन छाने जल का त्याग', खंड २।

२. रात्रि भोजन का त्याग, खंड २'

३. Turning to Biology, the Jain Thinkers were well acquainted with many important truths that the plant—world is also a living kingdom, which was denied by the scientists prior to the researches of Dr. J. C. Bose. Prof.—A Chakarvarti : Jaina Antiquary Vol. IX P. 5-15.

४. (i) उप्पत्तीवविणासो दव्वस्स यं णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पादधुवत्त केरंति तस्सेव पज्जाया॥१॥

—श्री कुन्दकुन्दाचार्यः प्रवचनसार।

अर्थ—द्रव्य की न तो उत्पत्ति होती है और न उसका नाश होता है। यह तो सत्य स्वरूप है। लेकिन उसकी पर्यायें उसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को करती हैं।

(ii) Nothing is created & nothing is destroyed.

५. 'भगवान् महावीर का धर्म उपदेश खण्ड २ के फुटनोट।

६. The Jain works have dealt with matter, its qualities and functions on an elaborate scale. A student of Science, if reads the Jaina treatment of matter, will surprised to find many corresponding ideas. The indestructibility of matter, the conception of atoms and molecules and the view the heat, lighs and shade sound etc. are modifications of matter, are some of the notions that are common to the Jainisum and Science.

—C. S. Mallinathan : Sarvartha Sidbhi (Intro) P. XVII.

जैन दार्शनिकों ने बताया है कि सत्य एक रूप न होकर विविध धर्मों का पुंज रूप है। इसी जैन धर्म की महान विभूति को ही अनेकान्तवाद के नाम से स्मरण करते हैं। बड़े २ इतरधर्मीय इसके वैभव और सौन्दर्य को समझने में असमर्थ रहे, किन्तु आज के विख्यात वैज्ञानिक आस्टाइन के अपेक्षावाद के सिद्धान्त (Theory of Reletivity) ने जैन सिद्धान्त को महा विज्ञजनों के अन्तस्तल पर अंकित कर दी[१]।

जैन आचार शास्त्रज्ञों ने भोज्य पदार्थों में शुद्धता एवं अशुद्धता का विस्तृत विवेचन किया है। यदि वर्तमान विज्ञान द्वारा इस विषय की बारीकी के साथ जांच की जाये तो अनेक अपूर्व बातें प्रकाश में आवेंगी। और जैनाचार्यों के गम्भीर ज्ञान का पता यथार्थ रूप में चलेगा[२]।

जैन धर्म ने बताया है कि मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा होकर आत्म विकास कर सकता है[३]। संसार में प्राकृतिक शक्तियां ही संयोग-वियोग के द्वारा विचित्र जगत का प्रदर्शन करती हैं[४]। यह जगत किसी व्यक्ति विशेष की न तो रचना है और न इसके निरीक्षण एवं व्यवस्थापन में किसी सर्वज्ञ आनन्दमय एवं वीतराग आत्मा का कोई हाथ है। आधुनिक विज्ञान ने यह बताया है कि जगत पदार्थों के मेल या बिछुड़ने का काम है। इसमें अन्य शक्ति का हस्तक्षेप मानने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती[५]।

जैन धर्म का विज्ञान से इतना अधिक सम्बन्ध है कि जैन कथा ग्रन्थों में अवैज्ञानिक बात नहीं मिलती[६]।

वर्तमान विज्ञान अभी प्रगतिशील अवस्था में है। यूरोपियन विद्वानों ने बहुत ठीक कहा है कि आधुनिक विज्ञान जैसे-जैसे आगे बढ़ता जायेगा, वैसे वैसे जैन तत्वों की समीचीनता प्रकाश में आती जायेगी[७]।

---

१. 'Syadavada or Anekantvaa', Vol. II.

२. We can ward off diseases by a judicious choice of food. Sun light is another effective weapon. Like vitamins, light helps metabolism. Carbohydrates are not burnt without the action of ligt. In a tropical country like ours the quality of food taken by an average individual is poor, but the abundance of sunlight undoubtly compensate for this dietary dificiency.

—Dr. N. R. Dhar, D. Sc. I. E. S. J. H. M. (Nov. 1928) P. 31.

३. The method of approach to truth in Jainism is fairly scientific in the serse that it treats with the problem of life and soul with the well known system of classification, analysis and right and accurate understanding.

—Dr. M. Hafiz Syed. V. O. A Vol. III. P. 8.

४. The theory of the infinite numbers. as it is dealt with the Lok Prakasa (लोकप्रकाश) and which correspdnds with the most modern mathematical theories and the theory of identity of of time and space, is one of the problems which are now most discussed by the scientists owing to Einstein's theory, and which are already solved or prepared solution in Jaina metaphysics."

—Dr. O. Pertold, Sramana Bhagvan Mahavira. Vol, I Part 1 Page 81-88.

५. (i) The entire universe consists of six substances: Soul, Matter, Dharma, Adharma, Space and time: Those are all permanent, uncreated and eternal, but their mode (Paryaya) is changeable: So the universe which is comosed of these six. Dravyas is also permanent, uncreated and eternal, under going only modifications. —C. S. Mallinathan : Sarvartha Siddhi (intro) P. XV-XVI.

(ii) 'भ० महावीर का धर्म उपदेश' खण्ड २।

६. The Jains have always exhibited the highest sense of respect for nature and almost a sort of mystic rapture. The doctrine of karma is common in all the religions in India, but a distinct stamp of scientific and analytical classification is to be found in the Jain interpretation:

—T. K. Tukal: Lord Mahavira Commemoration Vol. I P-218.

७. सरल जैन धर्म' (वीर सेवा-मन्दिर सरहवां) पृ० ११७-१२१।

حیاتِ ویر

(از دلیپ توہم شمریان بھولا ناتھ صاحب درخشاں میونسپل کمشنر دلند شہر)

ذی حشم ویر تھا سلیماں نے لئے جس کے قدم
سرنگوں حاتم تھا جس کا دیکھکر جود و کرم
تھا در فیض ایسا فلک بھی ہوگیا سجدہ میں خم
وہ بہادر جس کے تھا زیر قدم شیرِ اجم
تھا مسیحائے زماں و مرشد معجز مقال
موسیٰ طور طریقت ویر تھا بے قیل و قال
ظلمت عصیاں مٹانے کو تھا وہ اک آفتاب
روح تھی اس کی مقدس اور دلِ عصمت مآب
تھا کہ پاس ویر کے تھے رستم وافراسیاب
خضر بھی سمجھتے تھے اس کو ہادیٔ راہِ صواب
ساقی کوثر تھا آب دیں کے پیاسوں کیلئے
تھی نجسم نے شہ تھا حق شناسوں کے لئے
کیا کہیں آپ دیش ہم کو ویر نے کیا کیا دیا
فلسفۂ اعمال خوب و زشت کا سمجھا دیا
تیرہ روزی کو مٹایا نورِ دیں پھیلا دیا
اس نے روشن کر دیا راہِ حقیقت کا دیا
قبلۂ ایمان رحمت، کعبۂ اعمال نیک
کاشف رازِ حقیقت ہر دو عالم میں تھا ایک
وہ ہیں معراج نجات انداز طاعت ویر کے
چومتے ہیں پاؤں اب تک اہل خلقت ویر کے
لوحِ دل پر اس قدر ہیں نقش رحمت ویر کے
ہم رہیں گے تا ابد مرہون منت ویر کے
اس کے احسانات سن سن کر طبیعت شاد ہے
نام اس کا ہے زبان پر دل میں اس کی یاد ہے
یاد جب آتے ہیں ہم کو اس کے اوصاف نکو
یا نظر کرتے ہیں اس کی پرامن تصویر کو
لب پہ آتا ہے یہی مصرعہ بحالِ گو مگو
"شکر را منتہا ئے نو چند آنکہ راہنما ئے تو"
کیا درخشاں سے بیاں ہوں ویر کے کشف و کمال
"چھوٹا منہ باتیں بڑی" یہ صادق آتی ہے مثال

ویر جیسا کون تیاگی دوسرا پیدا ہوا؟

(از ممتاز الشعرا جناب منشی پیارے لال صاحب رونق دھلوی)

کیا کہوں میں ویر کو دنیا میں کیا پیدا ہوا
دھرم کی تصویر۔ پتلا تیاگ کا پیدا ہوا
ویر جیسا کون تیاگی دوسرا پیدا ہوا
یہ جہاں میں آپ اپنے نام کا پیدا ہوا
بزم امکاں میں دکھائی مشعل راہ نجات
ویر ہی دنیا میں سچا رہنما پیدا ہوا
نام سے ہوتا ہے اس کے قلب مضطر کو سکوں
دل کے دردِ لا دوا کی اک دوا پیدا ہوا
ہوگئے سیراب جس سے تشنۂ جام آرزو
ویر وہ سرچشمۂ فیض و عطا پیدا ہوا
پاک باطن ذی شعور۔ ہوشمند و صاف دل
نیک طینت۔ نیک خصلت۔ پارسا پیدا ہوا
کر دیا ثابت یہ رونق ہستی موہوم نے
جو یہاں پیدا ہوا۔ گویا وہ ناپیدا ہوا

(از افتخار الشعرا جناب منشی مہاراج بہادر صاحب برق
بی اے دھلوی)

دردمند بیکساں۔ درد آشنا پیدا ہوا
خستہ حالوں کا ضعیفوں کا عصا پیدا ہوا
غمزدوں کا گمرہوں کا آسرا پیدا ہوا
غم شریک و غمگسار و غم ربا پیدا ہوا
امن کا پیغام لایا تھا زمانے کے لئے
کشتیٔ عمر رواں کا ناخدا پیدا ہوا
درد سے اس نے ستمگاروں کے دل کو بھر دیا
خضر منزل۔ مظہر صدق و صفا پیدا ہوا
دھرم کی مورت برق وہ دیوتا پیدا ہوا
ویر ہی دنیا میں سچا رہنما پیدا ہوا

ویرہی دُنیا میں سچا رہنما پیدا ہُوا

(از شاعرِ شیریں بیان جناب مستی بی ایل صاحب گنجو دہلوی)

پر کیا پیدا ہوا دھرما تما پیدا ہوا
مذہبی دنیا کا کامل پیشوا پیدا ہُوا
دور کرنے کے لئے اگیانیوں کا اندھکار
گیان کی مشعل لئے اِک دیوتا پیدا ہُوا
تھے یہ اُن کے پُن پھلے جن کے اب پرتاپ سے
ترشلا ماتا کو بیٹا ہیرے سا پیدا ہُوا
پھر بھی جب رہنمائی کے لئے عاجز ہوئے
راستہ سیدھا دکھانے رہنما پیدا ہُوا
منزلِ مقصود کی سیدھی بتا دی سب کو راہ
آج تک جس میں نہ کوئی خوشنما پیدا ہُوا
موکش کے تالے کی کنجی اِک انہیں سا ہی تو ہے
ویر اے کنجی ہی کہتا ہوا پیدا ہُوا

(از جادو رقم جناب لالہ بلدیو سنگھ صاحب نگم دہلوی)

آسماں پر دھرم کے نورِ خدا پیدا ہُوا
ساری دنیا کے لئے سورج نیا پیدا ہُوا
سینکڑوں برسوں کے مردے جس نے زندہ کر دیئے
ہند میں وہ چشمۂ آبِ بقا پیدا ہُوا
جب ہوئی جلوہ نمائی کی فرشتوں کو خبر
سب پکار اُٹھے کہ اب مشکل کشا پیدا ہُوا
جس نے دنیا کو دکھائی صاف اِک راہِ نجات
ویرہی دُنیا میں سچا رہنما پیدا ہُوا
دیدیا اس نے جہاں کو جیو رکھشا کا سبق
بے زبانوں کے لئے اِک دیوتا پیدا ہُوا
کر دیا روشن جہاں میں اِک چراغِ معرفت
خانۂ تاریکِ عالم میں دیا پیدا ہُوا
ہر بشر کو ویر نے انسان بنایا اے نگم
نام کا انسان تھا وہ دیوتا پیدا ہُوا

ویرہی دُنیا میں یکتا پیشوا پیدا ہُوا

(از استادِ زماں جناب پنڈت شگن چند صاحب روشن
بی اے . ایل . ایل . بی . ایڈووکیٹ میونسپل کمشنر پانی پت)

ہو مبارک اے عزیزو ویر کیا پیدا ہُوا
دیوتا بھگتی کا سچا رہنما پیدا ہُوا
جان و دل دونوں نہ ہوں اسیر تھیا ور کس طرح
حُسن ہے جس پر فدا وہ دلربا پیدا ہُوا
دین دُکھیوں کی مصیبت اُس نے سر سے ٹال دی
انا تھوں کے لئے مشکل کشا پیدا ہُوا
چار آنکھیں ہوگئیں، دل میں تراوت آگئی
پھول باغِ دہر میں کیا خوشنما پیدا ہُوا
کاٹ کر رکھدیں علیحدہ قفس کی سب بیڑیاں
شورِ آزادی جہاں میں جا بجا پیدا ہُوا
دشمنِ ظلمت ہیں دونوں نیر گھنشکر اور قمر
چاند یہ گویا زمیں پر دوسرا پیدا ہُوا
کیوں نہ اے روشن اتاریں ہم خوشی سے آرتی
ویرہی دُنیا میں سچا رہنما پیدا ہُوا

(از عندلیبِ گلستانِ سخن جناب لالہ جیتر بہاری لال صاحب فنا عاجز دہلوی)

ویرہی دُنیا میں یکتا پیشوا پیدا ہُوا
جیو رکھشا کے لئے دھرما تما پیدا ہُوا
کر دیا پرکاش گھر گھر دھرم کا دیپک دکھا
نورِ یزدانی مجسم پُر ضیا پیدا ہُوا
دھنیہ ماتا ترشلا کو جس کے بطنِ پاک سے
نور پھیلانے کو پورا چندرما پیدا ہُوا
سینہ کی تصویر بن کر شانتی کے روپ میں
دھیرتا اور ویرتا کی پرتما پیدا ہُوا
پھیل گئی اُپدیش سے جس کے نسیمِ جانفزا
گلشنِ بھارت میں ایسا خوش ادا پیدا ہُوا
کارنامے سُن کے عاجز کو یہی وشواس ہے
ویرہی دُنیا میں سچا رہنما پیدا ہُوا

ضیائے ویر سے معمور ہے ہر دل کا کاشانہ

(از جادو رقم جناب بابو بلدیو سنگھ صاحب نگمؔ دہلوی)

بابا دیر نے جب ترپنس اپنا فقرانہ
تجا اور ہو گیا قدموں پہ اس کے تاج شاہانہ
پیا خود ویر نے جب اس مئے وحدت کا پیمانہ
کیا اہل جہاں کو بادۂ عرفاں سے مستانہ
بہار آئی، ہوا جنگل میں منگل ان کے قدموں سے
چراغ معرفت پر ہو رہی تھی خلق پروانہ
زمانے کو ہوا نور الٰہی عرش سے بخشش
ضیائے ویر سے معمور ہے ہر دل کا کاشانہ
محبت کی جہاں کو از سر نو زندگی بخشی
مٹایا صفحۂ ہستی سے اس نے لفظ بیگانہ
فرشتوں کے سر تسلیم خم تھے اس کی چوبرکٹ
ہوا جب ترشلا دیوی کے یہ فرزند فرزانہ
ہزاروں سال گذرے آج تک دنیا میں روشن ہے
جہاں میں اے نگمؔ اس ویر کا پرنور افسانہ

(از شاعر شیریں زبان جناب مسٹر بی۔ ایل صاحب گنجو دہلوی)

مسرت خیز ہے یہ جشن کیسا آج شاہانہ
نظر آتا ہے ہر پیر و جواں دل شاد و مستانہ
خوشی میں مست کنڈل پور بھی کچھ اپنا نازاں ہے
کہ فردوس بریں بھی آج ہے اس سے کھسیانہ
کھینچی تصویر ہے ہر دل میں اسی کے روئے دنیا کی
ضیائے ویر سے معمور ہے ہر دل کا کاشانہ
اگرچہ آپ کو سب نعمتیں دنیا کی حاصل تھیں
گذاری زندگی لیکن شہنشاہ نے فقیرانہ
حقیقت ہو گئی روشن اسی سے تاریک دنیا میں
پیا جس نے تیرے اپدیش کا سواد شٹ پیمانہ

رہ گم گشتگاں کا ویر تھا اک ناخدا گنجوؔ
اسی نے ڈوبتا بیڑا بچایا تھا دلیرانہ

تھے ملائک جس کے تابع وہ تھا وہ ویر کا

(از ناظم بے مثال جناب حکیم مدن لال صاحب مدنؔ منیجر سودیشی دواخانہ دہلی)

نور آنکھوں میں سمایا ہے حقیقی ویر کا
دل پہ نقشہ کھنچ رہا ہے آپ کی تصویر کا
آپ کے اپدیش سے دنیا کے پھندے کٹ گئے
آپ کی طرز بیاں میں کاٹ ہے شمشیر کا
جیو کے ادھار کی تصویر ایسی کھینچ دی
گویا جنت سے سوا ہر لفظ تھا تقریر کا
رات دن رہتا ہے آپ کا اک نام ہی ورد زباں
آپ کا گھر بن گیا دل ہر جوان و پیر کا
نور آنکھوں میں تو دل میں عاشقوں کا ہے ظہور
آپ کی خاک قدم نسخہ بنا اکسیر کا
آپ کی توصیف کا ہر لفظ پر انوار ہے
کیا مسرت خیز ہے جشن ولادت ویر کا
ہر طرف ہے اے مدنؔ گلزار جنت کا سماں
تھے ملائک جس کے تابع دور تھا وہ ویر کا

(از طوطئ زماں جناب مولانا ذیشان احمد صاحب شاکرؔ سہارنپوری)

ہو رہا ہے پریم چرچا آج گھر گھر ویر کا
کر رہا ہے پریم ورشا پریم ساگر ویر کا
جیتا ہے سنسار کو اس نے بلا شمشیر کے
ہے زمانے سے نرالا پریم خنجر ویر کا
آن کا تھا سارا زمانہ وہ زمانے بھر کے تھے
کیا وسیع اخلاق تھا اللہ اکبر ویر کا
کشٹ میں جب پریم پالا اپنے پیارے ویر کی ؟
پا لیا نروان جس نے جالیا ور ویر کا
سحر تھا اک معجزہ تھا کیا کہوں کیا کیا تھا
پریم میں ڈوبا ہوا ایک ایک اکشر ویر کا
پاپ ناشک کرم گھاتک تھے ہرن منگل کرن
کیسا ہے کلیان کاری نام شاکرؔ ویر کا

از نازؔ دہلوی

لیکے سنیاس ویر محلوں سے باہر نکلا
تیاگ کی جسم پر اوڑھے ہوئے چادر نکلا
مچ گئی دھوم اہنسا کا پیامبر نکلا
روشنی پھیل گئی ماہ منور نکلا
ظلمتیں ہو گئیں کافور سیہ خانوں کی
روح جاگ اٹھی گلستاں میں گلستانوں کی

مرتبہ کس کو ہے دنیا میں میسر ویر کا؟

(از مایۂ ناز جناب لالہ شمبھو دیال صاحب سرشار سہارن پوری)

ہو گیا ہے نام جب سے نقش دل پر ویر کا
پڑھتا رہتا ہوں وظیفہ میں برابر ویر کا
دیر سے ہو دیر تا خوف و خطر کا کام کیا
میں پلٹ دیتا ہوں دنیا نام لیکر ویر کا
بادۂ الفت کی لذت کو وہ سمجھے کس طرح
جس نے چکھا ہی نہیں ہے پریم ساگر ویر کا
پریم کے اوتار ہیں اور شانتی کے دیوتا
مرتبہ کس کو ہے دنیا میں میسر ویر کا
ہے بہت ادنیٰ سا خادم ایک ادنیٰ سا غلام
اے عزیزان وطن سرشار رہبر ویر کا

(از سحر گفتار جناب پنڈت جگدیش چند صاحب جوش پانی پتی)

بول بالا ہے زمانے میں جو ہر شو ویر کا
ہے نتیجہ آپ کی تعلیم عالمگیر کا
ہے تری تعلیم گرِ لوں کو اٹھانے کے لئے
بے زبانوں کی زباں ہے حوصلہ دلگیر کا
کیوں نہ بندوں کو ترے مال و خزانہ ہیچ ہو
کام کرتا ہے ترا ہر لفظ جب اکسیر کا
کشت و خوں بالکل مٹایا پریم کی تلوار سے
آپ کی آمد تھی گویا جاگنا تقدیر کا
تیری ہستی نے کیا ہندوستان کو سرفراز
آسماں تک جا لگا گنبد تری تعمیر کا
نام دنیا میں رہے گا اس عجب تسخیر کا
جو اہنسا نے تری پھیرا ہے منہ شمشیر کا
مانتا ہے جوش آج ہر کوئی ان کے اصول
جم گیا ہے ہر دل پہ سکہ ویر کی تقریر کا

(از گلشن رائے گلشن سرسہ)

ویر کا نام مقدس ہو سدا ورد زباں
منزل مقصود ہونے کدورت بے گماں
واسطے دنیا کے تھا اپدیش ان کا آب حیات
پر اثر سیدھا سادھا چارۂ درد نہاں

پھر وہی بھارت ہوا اپنا پھر زمانہ ویر کا

(از ہزار داستانِ جناب کوی کلودیپ پنڈت شیو نرائن صاحب مذاق دہلوی)

آنکھ کی پتلی میں جلوہ ہے تری تنویر کا
عکس آتا ہے نظر تصویر میں تصویر کا
نام لیتا ہوں زباں سے جب میں تجھ سے ویر کا
پھوٹ نکلے نطق گویا منہ سے لب تقریر کا
جھک گئے دشمن کے سر تیرے اہنسا دھرم سے
پھر گیا منہ سینکڑوں کے ہتھیار سے شمشیر کا
نام بھارت ورش کا دنیا میں روشن کر دیا
تو نے چمکایا ستارہ دیش کی تقدیر کا
تو نے دنیا کو سکھایا ہے اہنسا کا سبق
تیری خاک پا میں ہے ویرا اثر اکسیر کا
تجھ کو کاتک کے مہینے میں ملا نروان پد
دیپ مالا اک کرشمہ ہے تری تنویر کا
کیا مذاق خستہ حال سے ہو ثنا گوئی تری
تنگ ہے مدحت کو تیری دائرہ تقریر کا

(از فخر قوم جناب لالہ جھنولال صاحب پیکاں جوہری دہلوی)

دھرم سے گر پریم ہو مل کر جوان و پیر کا
پھر وہی بھارت ہو اپنا۔ پھر زمانہ ویر کا
دھیان کرتے ہیں جو سچے دل سے بھی ویر کا
بن نہیں سکتے نشانہ کرم روپی تیر کا
جنم لیتے ہی وہ مایا بر سی کنڈل پور میں
ایک بھی مفلس نہ تھا مارا ہوا تقدیر کا
پھول برسائے تجھے دیوی دیوتا آکاش سے
آسماں تک تھا اثر جشن ولادت ویر کا
ایسا جلوہ تھا ہزار آنکھوں سے دیکھا بار بار
رہ گیا مشتاق پھر بھی چاند سی تصویر کا

اہل عالم سے یہی پیکاں کی ہے التجا
ہر گھڑی ہر وقت ہر دم دھیان کر لو ویر کا

منبعِ رحم و عنایت ہے نشیمن ویر کا

(از ستارۂ برجِ فصاحت شمس العلماء جناب ڈاکٹر ایم ایچ جعفری صاحب ناز ایم اے بی ٹی ڈی ایچ)

منبعِ رحم و عنایت ہے نشیمن ویر کا
اور جہانِ عدل کہلاتا ہے گلشن ویر کا
تختِ اندر ہل گیا جس دم لیا اس نے جنم
کیا قیامت خیز تھا دشمن کو بچپن ویر کا
اس کی نظروں میں سکندر کا نصیبا ہیچ ہے
ہو گیا سینے میں جس کے درشن ویر کا
"جیو کا پاپی یہ من بھی پریم کا مندر بنے"
کس قدر سچا ہے یہ اپدیش روشن ویر کا
چترِ شاہی پر ہے لطفِ ظلِ ہما کیا چیز ہے؟
سایہ افگن چاہیئے بس سر پہ دامن ویر کا
پاپ کی تاریکیوں میں ہے تلاشِ راہبر
یا الٰہی ہاتھ میں آ جائے دامن ویر کا
پریم سے آئے نار آئے کام جو دکھ درد میں
ہے اسی دھرمی کے دل میں سچا مسکن ویر کا

(از بلبلِ گلشنِ سخن جناب لالہ چرنجی لال صاحب کالہ گورنمنٹ ہائی سکول ...)

ہر رتبہ سے عیاں ہے رتبۂ روشن ویر کا
ہے تر و تازہ جہاں میں آج گلشن ویر کا
قلزمِ ظلم و ستم میں غرق ہو سکتا نہیں
ہاتھ سے جس نے پکڑ رکھا ہے دامن ویر کا
مثلِ موسیٰ دیکھنے میں نورِ حق کی روشنی
تا ابد قائم رہے گا پاک گلشن ویر کا
پارۂ آہن کو یوں کندن بنا دیتا ہے یہ
سنگِ پارس ہے ہر اک سنگِ فلاخن ویر کا
کیوں نہ پائے حسن سے روشن نہ ہو اپنی ضمیر
نور ہے ہر آنکھ میں ہر دل میں مسکن ویر کا
کوندتے ہی مٹ گئی چمکی نہ پھر برقِ ستم
باعثِ رحمت تھا اہنسا کا خرمن ویر کا
ہر گلِ داغِ جگر پر کیوں نہ ہو رونق سوا
دل نہیں پہلو میں لالہ ہے گلشن ویر کا

آئینہ حق و صداقت کا دکھایا ویر نے

(از بلبلِ گلستانِ سخن جناب پنڈت امر ناتھ صاحب شرما ادیب پروفیسر جین کالج ...)

جہل کی تاریکیاں اور اگیان کا پردہ ہٹا
پاٹھ ایسا علم و دانش کا پڑھایا ویر نے
جڑ اہنسا کی ان شاخیں نیکی جس کی پتیاں
برکھش ایسا دھرم پالن کا لگایا ویر نے
چھلکا شدھی بیج بدھی اور گودا پرانند
پان مریادا کا ایسا پھل چکھایا ویر نے
کس طرح ان کی دیا کے گائیں گیت اے ادیب
ہم نہ کچھ بھی تھے ہمیں سب کچھ بنایا ویر نے

(از مخزنِ حلاوت جناب منشی محمد صدیق حسین صاحب صدیق دہلوی)

نقشِ فسادِ دہر کا نقشہ مٹایا ویر نے
امن کا پیغام عالم کو سنایا ویر نے
رہ گئیں موجیں تڑپ کر بحرِ طوفان خیز کی
ڈوبتی کشتی کو ساحل پر لگایا ویر نے
تا قیامت کیف کم ہو گا نہ ہستی کا مری
بادۂ عرفاں کا وہ ساغر پلایا ویر نے
دیکھیے صدیق کو بھی ہو گیا مدحت سرا
آئینہ حق و صداقت کا دکھایا ویر نے

(از منبعِ علم سخن جناب منشی محمد مشتاق صاحب مشتاق انبالوی)

چاندنی کر جس گھڑی جلوہ دکھایا ویر نے
خاک کنڈل پور کو نوری بنایا ویر نے
ڈال دی جس پر نظر تائب گناہوں سے ہوا
بے نشاں رہ کر جہاں میں نام پایا ویر نے
گر رہا تھا جانبِ پستی جب ہندوستان
نور کی دیکر جلا اس کو اٹھایا ویر نے
اپنے ست تپ اور تیاگ کے پرچار سے
ملک کو مشتاق اہنسا کا بنایا ویر کا

درد کو ہمدرد بن جانا سکھایا ویر نے

(از مرکز علم و فن جناب سید اکمل اقبال احمد صاحب ادیب جرنلسٹ جنرل سیکرٹری بزم ادب انبالہ شہر)

بے زبانوں کا زبان والوں کو گرویدہ کیا
یہ کرشمہ اپنی عظمت کا دکھایا ویر نے
زخم دل کو مرہم کا فور کی حاجت ہے کیا
درد کو ہمدرد بن جانا سکھایا ویر نے
دیکے عالم کو "اہنسا پرمو دھرما" کا سبق
ہند کو جنت نشان آکر بنایا ویر نے
کچے دھاگے سے بندھی آتی ہے دنیا دیکھ لو
معرفت کا جام کچھ ایسا پلایا ویر نے

(از منبع فلسفہ جناب مولوی محمد احمد صاحب اختر دیو بندی)

کر کے تپ بارہ برس حاصل کیا کیول گیا ؟
پھر گمر ہوں کو راستہ سیدھا دکھایا ویر نے
کیا امب سار ؟ کیا چندر گپت ؟ کیا مہا راجہ اشوک ؟
سب کو اپنا خادم بے زر بنایا ویر نے
دکھا رہا چیلوں میں سر ہاتھی نے عظمت دیکھ کر
اپنا گرویدہ زمانے کو بنایا ویر نے
شمع عرفاں کی جھلک اختر دکھا کر دہر میں
اپنا پروانہ ہر ایک دل کو بنایا ویر نے

(از خوبیہ سخن جناب سید علی احمد صاحب تاباں سنجبو پوری)

جگمگا اٹھا ضیا پاشی سے جس کی بحر و بر
وہ چراغ مہر بھارت میں جلایا ویر نے
دیکے پیغام اہنسا اور نوید رحم و داد
خواب غفلت سے زمانے کو جگایا ویر نے
پھول برساتے تھے دیوی دیوتا آکاش سے
شکم مادر میں جنم جس وقت لیا ویر نے
دے سکے کار نیک کی تعلیم تاباں دہر کو
راستہ مکتی کے پانے کا بتایا ویر نے

امن کا پیغام عالم کو سنایا ویر نے

(از منبع علم و فن جناب ڈاکٹر محمد علی صاحب شاکر انبالوی)

دل نہ اس دنیائے فانی سے لگایا ویر نے
چندر وزہ ولیست پر دھوکا نہ کھایا ویر نے
چھوڑ کر تخت و حکومت ساکن صحرا ہے
تیاگ جس کا نام ہے وہ کر دکھایا ویر نے
جو چلا اس راہ سے آواگن سے چھوٹ گیا
جین مت کا راستہ ایسا بتایا ویر نے
اک گوالا ٹھونک کر کانوں میں کیلے چل دیا
درد سے لیکن نہیں لب تک ہلایا ویر نے
جا پہنچنے کو دیوتاؤں نے بھی اپنا آپ سر گڑے
صبر و استقلال ہی لیکن دکھایا ویر نے
اندر بھوتی کی طرح آئے کئی پنڈت بھی اور
سب کو علمی بحث میں نیچا دکھایا ویر نے
جب کوئی رستہ نہ پایا پھر تو قدموں پہ گرے
عالموں کو اس طرح پیرو بنایا ویر نے
جین مت گویا ہے کشتی بحر ہستی کے لئے
جو چڑھا اس کو ہی پار اک دم لگایا ویر نے
جین مت کو چشمۂ عرفاں کہیں تو ہے بجا
جام وحدت جس سے بھر بھر کر پلایا ویر نے
صلح کل کا صبر کے میدان میں جھنڈا گاڑ کر
امن کا پیغام عالم کو سنایا ویر نے
جین مت کے باغ میں شاکر نہ آئیگی خزاں
تا ابد پھل لائے گا جو بیج بویا ویر نے

(از پیکر صدق و صفا جناب شیخ محمد یامین صاحب سرو انبالوی)

ظلم کا نام و نشان آکر مٹایا ویر نے
درس الفت ذرہ ذرہ کو پڑھایا ویر نے
خواب غفلت میں پڑا سوتا تھا ہر فرد و بشر
راگ گا کا کرونا کے جگایا ویر نے
خوش نصیبی یہ ہماری کہ خاک ہندوستان سے
امن کا پیغام عالم کو سنایا ویر نے
بزم اعداد ہو کہ ہو اپنوں کی محفل اے سرور
لے خط پیغام حق سب کو سنایا ویر نے

ہند کو جنت النشاں کر بنایا ویر نے

(از گنجینۂ حقائق جناب لالہ بولچند صاحب ناداں جرنلسٹ انبالوی)

کشتی ہندوستان تھی عین جب منجدھار میں
ناخدا بن کر اسے ساحل پہ لایا ویر نے
گرم تھا بازار معصوموں کے کشت و خون کا
ظلم کا نام و نشان بالکل مٹایا ویر نے
دور دورہ تھا و بالوں کا ہمارے دیش میں
ہند کو جنت النشاں آ کر بنایا ویر نے
چار سو چھائی ہوئی تھی ظلمت جس سے کوئی نہ تھا
امن کا پیغام عالم کو سنایا ویر نے
مال و زر دولت کو چھوڑا جان کی پرواہ نہ کی
رنج و غم جور و جفا سب کچھ اٹھایا ویر نے
ستیہ اہنسا تپ سنجم تیاگ کا پالن کرو
موکش پانے کا یہ سیدھا راستہ دکھایا ویر نے
فیض پایا ہے ابشر نے ان کے چشمہ فیض سے
روح کی تعلیم کا دریا بہایا ویر نے
سجدہ آ آ کر فرشتوں نے شوامی کو کیا؟
معرفت سے درجۂ نروان پایا ویر نے
تو بھی سے ناداں شرن ہو جائے گی مکتی تیری
پار بھو ساگر سے لاکھوں کو لگایا ویر نے

(از مخزنِ ادب جناب حضرت ممتاز صاحب انبالوی)

امن کا پیغام دنیا کو سنایا ویر نے
حرفِ نفرت صفحۂ دل سے مٹایا ویر نے
واقفِ میخانۂ ہستی ہوا ہے بادہ خوار
معرفت کا جام کچھ ایسا پلایا ویر نے
زمزمۂ عرفاں ہے کارساز ہستی چھیڑ کر
عالم لاہوت کا نغمہ سنایا ویر نے

وہ گوالوں کا ستم و ظلم سنگم دیو کا
دائمی سکھ کیلئے ہر دکھ اٹھایا ویر نے

ٹوٹی کشتی کا میری بس ویر ہی ساحل ہوا

(از عندلیب چمنستانِ سخن جناب سید عارف حسین صاحب عارف رئیس سہارنپوری)

ہو گیا دل کا غنی۔ دولت ملی حشمت ملی
ایک دانہ ویر کے خرمن سے گر حاصل ہوا
روح تازہ پھونک کر زندہ دوبارہ کر دیا
کس کے دم سے جین مت کو یہ عروج حاصل ہوا
مٹ کے خود دنیا کو مٹنے سے بچائے کون ہے
نفس پر اپنا کسی کو کب اختیار حاصل ہوا

(از فطرت نگار پنجاب کے مشہور درامہ نویس لالہ کشن چند صاحب زیبا)

ہیں اصول ویر اہنسا تپ برت سنجم تیاگ
گر ہنس جس نے کر لئے پرانی وہی کامل ہوا
پریم و اہنسا کا سبق اس نے سکھایا دہر کو
ٹوٹی کشتی کا میری بس ویر ہی ساحل ہوا
گر ہن کر لی ویر کی شکشا کو جس نے ایکبار
کاٹ کر ٹکڑوں کرم وہ موکش میں داخل ہوا

(از جادو قلم جناب خواجہ صغیر حسین صاحب انصاری سہارنپوری)

ویر کے دربار سے الفت کا جو سائل ہوا
چین اسکو مل گئی اور اطمینان حاصل ہوا
مل گیا ملکِ قناعت، ہو گیا وہ بادشاہ
ویر کے دریا سے ایک قطرے کا جو سائل ہوا
کیوں نہ ہو بزم محبت میں چراغاں آج شب
آج کے دن ویر کو نروان پد حاصل ہوا

(از افتخار الشعراء جناب مہاراج بہادر صاحب برق بی اے دہلوی)

اگر نروان پد کا فی الحقیقت تو ہے دیوانہ
چڑھا دے دھرم کی بیدی پہ جان و دل کا نذرانہ
مرقع تیاگ کا ہے زندگی مہاویر شوامی کی
لیا ویراگ چھوڑا جس نے تاج و تخت شاہانہ
گلِ مضموں چنے ہیں برق میں نے فکر رنگیں سے
کہ یہ پیشِ تجلی ہے ویر کی محفل کا نذرانہ

جس نے کی تقلید تیری ویر کامل ہو گیا

(از ناظم بے مثال جناب حکیم مدن لال صاحب مدن دہلوی)

مل کے پارس سے طلا ہوتا ہے آہن جس طرح
جس نے کی تقلید تیری ویر کامل ہو گیا
ویر کے الطاف کا یہ معجزہ اے مدن
وعظ سنتے ہی ترا میں دل سے قائل ہو گیا

(از عبید القلم جناب لالہ چمن لال صاحب ناز فرید کوٹی)

آفتاب نور کو قربت تری منظور تھی
وہ ضیائے حسن بن کر تجھ میں داخل ہو گیا
ناخدائی پر و بہ تیری جس نے بھروسہ کر لیا
بحر دنیا کا اسے نزدیک ساحل ہو گیا

(از جادو طراز جناب پنڈت پورن چند صاحب رنگین انبالوی)

ویر تھا تو۔ ویر ہے تو اور رہے گا ویر تو
دیکھ کر تصویر تیری دل سے بے دل ہو گیا
درس عبرت ہے جہاں کیواسطے تیرا سخن
وحدت مہا ویر کا رنگین قائل ہو گیا

(از شمع قوم جناب لالہ ویپ چند ویپک بی اے منشی فاضل ادیب فاضل دہلوی)

جس نے کی تقلید تیری ویر کامل ہو گیا
مرنے جینے سے چھٹا۔ نروان حاصل ہو گیا
اس قدر چرچا تری بخشش کا عالم میں ہوا
ہر جوان و پیر تیرے در کا سائل ہو گیا

(از فدائے قوم جناب لالہ چمن لال پرشاد صاحب بہجی دیوبندی)

میں خودی میں چور تھا پر جب سنا تیرا کلام
میں خدا خود ہوں؟ خیال غیر باطل ہو گیا
کرم اور پی دشمنوں سے کس طرح پائی نجات؟
راز میں یہ جان کر کہنے کے قابل ہو گیا

(از مصور فطرت جناب منشی محمد علی خاں صاحب شوخ مجددی)

ویر شوامی کی محبت کے کرشمے کو تو دیکھ
جو پرانا دل تھا سینے میں نیا دل ہو گیا
جب زمانہ بھر ہے وارفتہ ترا تو کیا عجب
شوخ سا معجزہ بیاں گر تجھ پہ مائل ہو گیا

ویر بن کر خود خدا دل میں نازل ہو گیا

(از دلبر قوم جناب بابو بھولا ناتھ صاحب درخشاں میونسپل کمشنر بلند شہر)

راہ حق میں جو مسلماں سجدے کے قابل ہو گیا
ویر رہبر کب ہوا؟ جب نقش منزل ہو گیا
جلوہ گاہ ویر جب ہر کعبۂ دل ہو گیا
قصۂ دیر و حرم دنیا سے زائل ہو گیا
ویر کا ہر قول نقش صفحۂ دل ہو گیا
وہ سمندر تیر کر غرقاب ساحل ہو گیا
ویر کو دیکھا تو از خود رفتہ یوں گھائل ہو گیا
جیسے پروانہ نثار شمع محفل ہو گیا
اے درخشاں ویر کے در کا جو سائل ہو گیا
بندۂ عاصی وہی بخشش کے قابل ہو گیا

(از افتخار سخن جناب بابو سمپت رائے سکسینہ ہیڈ کلرک لوئی ایلاہ ادور)

ویر کے حلقہ بگوشوں میں جو داخل ہو گیا
اشرف المخلوق کہلانے کے قابل ہو گیا
اس کے دسترخوان پر جو آ کے شامل ہو گیا
خود ہی مجنوں خود ہی لیلیٰ خود ہی محمل ہو گیا
اس کی شان لطف بے پایاں نرالی ہے سحر
ویر بنکر خود خدا دل میں نازل ہو گیا
نام تیرا جب لیا اے ویر جس نے ایکبار
پاپ کے بندھن سے کٹنے کے قابل ہو گیا
آ تجھے زاہد بتائیں ہم طریقہ موکش کا
ویر کی تقلید سے وہ گیان حاصل ہو گیا
ہے عیاں شان خدائی اس میں وہ بھگوان ہیں
جان و دل سے میں تو مسکین اس کا قائل ہو گیا

(از شیریں گفتار جناب مسٹر بلدیو سنگھ صاحب نجم دہلوی)

ویر کو قدرت سے ایسا نور حاصل ہو گیا
پڑ گئی جس پر نظر وہ ماہ کامل ہو گیا
ویر کی تعلیم سے اتنا ہوا سب کو عروج
ذرۂ ریگ بیاباں عرش منزل ہو گیا
اب اہنسا دھرم کی پھیلی ہے دنیا میں شعاع
ویر کا ہر شیدا اک خورشید منزل ہو گیا
اے نجم سچ پوچھئے تو ویر کے ہی فیض سے
دوزخی انساں بھی جنت کے قابل ہو گیا

کہاں پھر غم رہے گر ویر سا غمخوار ہو جائے

(از مخزنِ لذت جناب مولوی محمد ایوب صاحب ایم ایڈوکیٹ سہارنپور)

سورگ سے بھی بہت دلکش یہ سنسار ہو جائے
اہنسا دھرم کا دنیا میں گر پرچار ہو جائے
زمین بھارت کی گلشن بے خار ہو جائے
کہاں پھر غم رہے گر ویر سا غمخوار ہو جائے

(از بلبل خورد داستان جناب خاں بہادر شیخ قربان احمد صاحب رئیس آنریری اسسٹنٹ کلکٹر سہارنپور)

جو اٹھے خلق پر کند وہ تلوار ہو جائے | گلے سے لگ کے اسکی دھار مردار ہو جائے
سبھی آسوں کی آگ اور السو گل نار ہو جائے | اہنسا دھرم کا دنیا میں اگر پرچار ہو جائے

(از مرکز علم و فن جناب سید حسن عباس صاحب رئیس و آنریری مجسٹریٹ سہارنپور)

چلائے پریم کی کشتی جو بلی سے اہنسا کی
تو اس کا بحرِ غم سے کیوں نہ بیڑا پار ہو جائے
نہ تھا خوف اسکو اور نہ دشمن کا کوئی خطرہ
اہنسا دھرم کا ہتھیار جس کا یار ہو جائے

(از استاد علم و ادب جناب مولوی الیاس صاحب برقی منشی عالم و منشی فاضل انبالوی)

دیوالی آئی عالم جگمگا اٹھا چراغاں سے
ذرا اب ویر کی تعلیم کا پرچار ہو جائے
دیے کو اپنے روشن کیجیے شمع الفت سے
اہنسا کے دیے سے ضو فشاں تہوار ہو جائے

(از عندلیب چمنستانِ سخن جناب سید عارف حسین صاحب رئیس سہارنپور)

چمن میں ایسی روح محبت ویر نے پھونکی
یہ کیا ممکن گل و بلبل میں بھی تکرار ہو جائے
صداقت کا عمل، امن کا دور دورہ ہو
اور پھر سنتوش سے جمہوریہ سنسار ہو جائے

(از دیوانہ قوم جناب لالہ شیو پرشاد صاحب شیر شہید گنج سہارنپور)

دیا تھا ویر نے جو درس اگر وہ یاد ہو جائے
محبت کا جہاں میں گرم پھر بازار ہو جائے
ہر اک ذرہ جہاں کا مطلع انوار ہو جائے
اور درندوں میں بھی نیکی کا پھر بیوپار ہو جائے

مشہور روزانہ اردو اخبارات کے ایڈیٹر صاحبان کی ویر شردھانجلی

(از بلبل چمن سخن جناب حضرت صحرائی ناظم ملاپ)

گونجی فضائے ہند اہنسا کے نام سے | چھلکی ہے حیات محبت کے جام سے
دل مسکرائے ویر کے دلکش کلام سے | سنسار جاگا شوق بداماں پیام سے
انسانیت کا درس سکھانے کو آ گئے | مہاویر راز زیست بتانے کو آ گئے

(از عندلیب گلشن سخن جناب لالہ نانک چند صاحب ناز ایڈیٹر پرتاپ)

ہند کی عظمت بڑھی ہے ویر کے پیغام سے
آسماں بھی کھا گیا خم اس کے اوج بام سے
بھر گیا آنکھوں میں نخل ہم دو عالم کا خمار
پی لیے دو گھونٹ جب اس کے چھلکتے جام
فلسفہ اس کا فرشتوں کی زباں پر نقش ہے
مٹ نہیں سکتا کبھی یہ گردش ایام سے

(از شہسوار میدانِ صحافت جناب منشی گوپی ناتھ صاحب امن اسسٹنٹ ایڈیٹر تیج)

موسیٰ و محمد تھے اس شان کے رہبر
کفار کو پیغام فنا ان کی تھی شمشیر
اس قسم کے تھے رہنما عیسیٰ و مریم
تھے الفت انسان کی وہ اک بولتی تصویر
محدود تھی ہمدردی مگر نوع بشر تک
ممتاز ہیں اس طبقہ میں بھگوان مہاویر

(از شگفتہ زبان جناب لالہ شیو رام صاحب زخمی ایڈیٹر ویر بھارت)

مسافر وادیٔ عشق وطن کا | مصیبت کو ہی راحت جانتا ہے
چل مہاویر کے نقش قدم پر | گر تجھکو ہی کو ذلت جانتا ہے
کہو کیا حالِ دلِ زخمی کہ سب کچھ | وہ آشوب قیامت جانتا ہے

(از استادِ علم و سخن علامہ وقار انبالوی ایڈیٹر احسان لاہور)

ستیہ کی جوت سے دور اس نے ہر اندھکار کیا
پاپ کی نگری میں اہنسا کا وہ پرچار کیا
پریم پرکاش سے پُر نور یہ سنسار کیا
کرودھ کا ناش کیا۔ دور اہنکار کیا
مہاویر سوامی نے ہر جیو کا اپکار کیا

سوتنتر آج بھارت کو کرایا ویر شوامی نے

(از زود قلم جناب ماسٹر ستیارام صاحب ماحر پانی پت)

اندھیرے کو بھارت سے مٹایا ویر شوامی نے
دیا نور حقیقت کا جلایا ویر شوامی نے
مسخر ہو گیا عالم ۔ کیا تسخیر ہر دل کو!
کلام حق ہمیں آ کر سنایا ویر شوامی نے
دیا جام محبت بھر کے اس نے پریم ساگر سے
ہمیں امرت اہنسا کا پلایا ویر شوامی نے
سراپا خود دیا بن کر اہنسا کے اصولوں سے
سوتنتر آج بھارت کو کرایا ویر شوامی نے
اہنسا کی یہ شکتی ہے کہ گاندھی جیسی ہستی کو
اہنسا کا سچا پجاری بنایا ویر شوامی نے
وہی تھا ویر جس نے نفس امارہ کو مارا تھا
مکمل اندریوں پر قابو پایا ویر شوامی نے
بہت جادو یہاں دیکھے بہت سے گلفشاں دیکھے
مگر امرت کی مدشا سے رچایا ویر شوامی نے
زمانہ جن سے کرتا تھا ہمیشہ دور سے نفرت
انہیں چھاتی سے آ کر خود لگایا ویر شوامی نے
کوئی مانے نہ مانے برملا کہتا ہوں اے ماہر
بلکہ وہ ساری دنیا کی ہی کایا ویر شوامی نے

(از جناب پنڈت آتما رام صاحب کوشک ادیب فاضل انبالوی ایڈیٹر گورو سمرتی)

جب یہاں پر ٹوٹتے تھے ظلم غربا پر بہت
ظلم کی تصویر جب بھارت سراپا ہو گیا
بزم دنیا میں جنم تب لے لیا مہا ویر نے
نور جس کا ایک عالم پر ہویدا ہو گیا
وہ دکھایا معجزہ کہ سخت سے بھی سخت دل
سوز الفت کا مجسم ہی سراپا ہو گیا
جین مذہب کی حقیقت کی بیان اسطور سے
نقش ہر دل پر اہنسا کا عقیدہ ہو گیا
وہ دکھائی شمع اس نے پریم کے اپدیش کی
تنگ اور تاریک دل میں بھی اجالا ہو گیا
اہل مغرب بن رہے ہیں کوشک دنیجی ترین
ویر کے اپدیش کا دنیا میں چرچا ہو گیا

مہاویر شوامی مہاویر شوامی

(از پیروائے قوم شیام مورتی شری چندن مسی جی مہاراج)

یہاں یگیہ بھومی میں کٹتی تھی گیا
تھیں بے زباں کا تھا کوئی رکھ رکھیا
پھنسی جب بھنور میں تھی بھارت کی نیا
کہو کون آیا تھا بن کر کھویّا؟
مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی

سنا کر امرت بھری جین بانی
مٹا ڈالی دنیا سے خوں کی روانی
گئے پار جس نے کروڑوں ہی پرانی
کہو کون تھا وہ مہا پرش گیانی؟
مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی

اہنسا کا سندیش جگ کو سنا کر
گیا کون نندرا سے بھارت جگا کر
کیا جس نے روشن جہاں بھر کو آ کر
کہو کون تھا وہ دھرم کا دیا کر؟
مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی

سدا ہند باسی جپیں جس کی مالا
پلایا تھا جس نے مدھر پریم پیالہ
بھٹکوں کو جس نے تھا رستہ پہ ڈالا
کہو کون ایسا تھا رہبر نرالا؟
مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی

سُرگ کے اندر بھی جن کو کرتے ہیں بندن
درشنوں سے جن کے کٹیں کرم بندھن
کہے سارا جگ جن کو تسلہ کے نندن
کہو کون تھے ویر وہ پیارے چندن؟
مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی

مہاویر شوامی مہاویر شوامی

(از نتیجہ افکار جناب پنڈت بنسی لال جی شرما مالیر کوٹلہ)

اہنسا کا جس دم نشان مٹ گیا تھا
زمانے میں اندھیر جب چھا رہا تھا
اودیا کا طوفان اُمنڈا ہوا تھا
دھرم کے بچانے کو کون آ گیا تھا

مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی ۔

تھی جب بے زبانوں پہ بیداد بھاری
غریبوں کی دنیا تھی برباد ساری
تھا سارے جگت پہ منتھیات طاری
تب شانتی وہر سے کس نے اپنا جاری؟

مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی

سُکھ مئی ہوا کس کے دم سے چلی ہے
محبت کی تعلیم نیا کس نے دی ہے
بھلائی بلا غرض سب کو کس نے کی ہے
کس کی بدولت سنسار میں شانتی ہے

مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی

کہو تھی یہ تاثیر کس کی زبان میں
آگئی تازگی ہر پیر و جوان میں
گیان کی مشعل نے تر ہندوستان میں
پھیلا دیا نور کس نے جہان

مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی ۔

جو اُپدیش گاندھی جی اب کر رہے ہیں
اہنسا کا میدان سر کر رہے ہیں
یہ کس کے قدم پر قدم دھر رہے ہیں
وہ ہے کون جس کا کہ دم بھر رہے ہیں

مہاویر شوامی ۔ مہاویر شوامی

(بزبان پنجابی)

بھگوان مہاویر دی یاد

(از دیوانہ وطن جناب لالہ ہری چند صاحب ناخن جینیوں دا اب

آج توں ڈھائی ہزار سال پہلاں
سجنوں اس جہان وچ اِک دیوا آیا
ترشلا دیوی سی ماتا دا نام یارو
اُس دی کُکھ وچ دھار شریر آیا

جیت شُدی ترودشی شبھ گھڑی اندر[illegible]

بن کے رب دی موہنی تصویر آیا

باراں برساں تپسیا کٹھن کیتی
بڑے دُکھ جھلے پھر من نوں مار لیتا
جے کر اُنہاں نے کسے نے ظلم ڈھایا
انہیں دل وچ بُرا دھار کیتا

آخیر پربھو نے کیول گیان پا کے

آ کے دنیا دا پھیر سدھار کیتا

ارجن مالی نے چند کو قیدی جیہے
لکھا جیواں نوں جگ توں تاریا سی
گوتم سوامی سی اُنہاں دا شیش وڈا
چندن بالا دا جیون سدھاریا سی

سجنوں دیوالی دے دن نروان پا کے[illegible]

پربھو موکش دے دل پدھاریا س[illegible]

جھنڈا سینہ اہنسا دا جگ اُچا
ساری دنیا وچ امن کرائی جاواں
باپو گاندھی نے جو جو سندیش دِتا
اونہاں گلاں نے پیر دکھائی جاواں

ناہر پریم دی جوت جگا سارے

ویر پربھو دی جے جے بلائی جاواں

(بزبان فارسی)

بیا بخانہ دل و بیا از رہ چشم

(از دہلی قوم جناب لالہ بھولا ناتھ صاحب درخشاں میونسپل کمشنر بلند شہر)

ضمیر انور تو ہست رشک ساغر جم
درین ہست عکس فگن شکل ہر شئے عالم
تو رہنمائے جہانی چو اختر اعظم
مراست دیدن تو باعث سرور اتم
پیر از ضیا، سر تاج شہان ملک جہاں
چو خم شدند بہ پائے تو تا ننداز ان
چنین پرستش پائے نوازئے الناس
مراست وجہ سرور و قرار و اطمینان
بدہر مرجع درویش و بادشاہ توئی
منیر صادق آفاق و خیر خواہ توئی
معین بیکس و محتاج را پناہ توئی
مراج ملت و دیں اہل عز و جاہ توئی
بیا بخانہ دل و بیا از رہ چشم
بیا ز کعبہ حق چو جلوہ گاہ صنم

(بزبان دہقانی)

کھول کر دیدوں کو دیکھو تو ٹرا پن ویر کا

(از فطرت نگار جناب پنڈت آسا رام صاحب چودھری مار د سہارنپوری)

بول جے مہاویر کی کرتا ہوں ورنن ویر کا
رانی ترشلا راجہ سدھارتھ کے نندن ویر کا
دھرتی، امبر، انگھے، ادنگھے جنگھے دیکھو جے ہی جے
آپوں ہی کرنے لگے دلو۔ دیکھ جیٹھ پن ویر کا
راجے، مہاب، بھنت، لیٹی ہو رہا کا کسر
جھکتے نہ تھے دیکھکر بار بار جوبن ویر کا
دلو تا تھا ارصندا کا بھلک ادتا یہ تھا
گورتے دیکھو بڑھاپے نے لڑکپن ویر کا
بار تار اکھر لوں کو کروڑوں کی مکتی کر گیا
کھول کر دیدوں کو دیکھو تو ٹرا پن ویر کا
تین برپانسی کے نکھتے سدا تا رکسی دلوان
مکھ پہ تھا لو کا منتر دل میں سیمرن ویر کا
جاؤ سب جے بولنے مہاویر جی کے دھام کو
چودھری مار و نے بھی دیکھا ہے چاندن ویر کا

ویر شوامی کے جنم سے رطھلا تروان کا

(از استاد زمان جناب بابو ننگن چند صاحب رتن، ایڈوکیٹ پانی پت)

ویر شوامی کے جنم سے در کھلا نروان کا
سورگ کا نظارہ کنڈل پور کے میدانوں میں ہے
کیوں نہ ہفت افلاک پر تخت اندر کا ہے
دیوتا ویراگ کا راجہ کے ایوانوں میں ہے
تیرتھنکر نے مٹا ہیں پاپ کی تاریکیاں
نور بن کر معرفت کا وہ صنم خانوں میں ہے
تھا گہ کر گھر بار جس گردش میں کی اس نے بسر
آج وہ گردش کہاں ساقی کے پیمانوں میں ہے
ہاں دکھائے ویر شوامی حسن کا جلوہ اسے
ایک مدت سے یہ روشن تیرے دیوانوں میں ہے

(از بلبل چمن سخن جناب بابو ہربنس چندر صاحب بیکس ایڈوکیٹ پانی پت)

شکل آنکھوں میں بسی آج مہاویر کی ہے
کیا ضرورت مجھے پھر اور کی تصویر کی ہے
جلوہ طور تو موسی نے ہی دیکھا ہو گا
دل میں تصویر ہر شخص کے مہاویر کی ہے
مدتوں بعد بھی یہ دل میں اتر جاتے ہیں
کاش اب بھی تیرے الفاظ میں تاثیر کی ہے
کوٹ کر تو نے اہنسا کی بھری رگ رگ میں
جو بھی ہے ہند میں طاقت اسی اکسیر کی ہے
بزم میں آج اے بیکس کہیں روشن ہے ضرور
تیرے ہر شعر میں جھلک اسی تنویر کی ہے

(از فخر قوم جناب بابو چندو لال صاحب اختر ایڈوکیٹ دہلی)

آج کیوں ہر ذرہ خاک زمیں پر نور ہے
چپہ چپہ کیوں زمیں کا جلوہ گاہ طور ہے
کیوں پتہ پتہ باغ عالم کا نشہ میں چور ہے
کیوں بچہ بچہ آج بھارت ورش کا مسرور ہے
وقت یہ اس ویر شوامی کی ولادت کا ہے جو
نامور دنیا میں ہے آفاق میں مشہور ہے
جس کا بد خواہوں سے بھی تھا مہر و شفقت کا سلوک
ڈنک کھا کر بھی بچا تا جو تیں زنبور ہے
مردہ روحوں میں بھی پیدا کر دیئے آثار زیست
کس قیامت کی صدا ہے یا کہ بانگ صور ہے
پھول برسانے نہ بام چرخ سے کیوں اندر بھی
شاہ جنتا کیلئے بھگتی کا یہ دستور ہے

توصیفِ مہاویر

(از امیر الشعرا جناب منشی لبھو رام صاحب جوش ملسیانی)

خوبیاں جو دھرم کی مٹی جاتی تھیں
ویر کے جلوے نے اُنہیں مطلعِ انوار کیا
تیرے احساس نے اعجاز مسیحا ہو کر
دردِ پنہاں سے علاجِ دلِ بیمار کیا
تیرے دعوے کی صداقت کے ہوئے سب قائل
جس نے انکار کیا تھا اس نے بھی اقرار کیا

(از فخرِ قوم جناب بیرسٹر چمپت رائے)

تیری ارہنت کے درشن جو ہم اک بار پا جاتے
نگاہِ سنسار سا گر سے وہیں ہم موکش سکھ پاتے
نمسکار ہے . دلو ہے . پرماتما ہے . ارہنت بھگوان ہے
تمام ہی یہ چیزیں نہیں ویر میں نظر آتے
کرم سہیت آتما . کرم رہیت پرماتما
بجز اس کے نہیں کچھ بھید ہم دلوں میں ہیں پاتے

(از حقائق نگار جناب منشی بشیشور پرشاد صاحب منور لکھنوی)

زخمیدہ دلوں کے لئے راحت کے بیانی
بیکس کے مددگار تھے مجبور کے حامی
کیوں زندۂ جاوید نہ ہو ذاتِ گرامی
تھے شہرۂ آفاق مہاویر سوامی
الفاظ حمد و ثنا کے لئے لاؤں کہاں سے
وصف آپ کے باہر ہیں مری حدِ زباں سے

(از ذی الفہیم جناب مولوی محمد حسن صاحب آنریری اسسٹنٹ سکریٹری الجمن احمدیہ دہلی)

کیا محبت ریز ہے اُپدیش پیارے ویر کا
رحم سے قبضہ چکا یا تیر کا شمشیر کا
رحم دل رحم آخر جین مت تو رحم ہے
فلسفہ تم کو بتایا رحم عالمگیر کا
ہے دعا آساں کی ہندو مسلماں ایک ہوں
سب کے دل پر نقش ہو سکہ تیری توقیر کا

عقیدت ویر

(از افتخار سخن جناب منشی جگیشور پرشاد صاحب [illegible]

ہو ورد زبان آج مہا ویر مہاویر
ہر دم ہو لبوں پہ دم تقریر مہاویر
عالم کی ضیا روح کی تنویر مہاویر [illegible]
ادراک کی ضو علم کی تصویر مہاویر [illegible]

(از امیر الشعرا جناب منشی چنڈی پرشاد صاحب شیدا دہلو[illegible]

ویراگ کا پیکر تھا وہ اک گیان کی تصویر
چوبیسواں اوتار تھے دنیا میں مہاویر
مذہب سے ہر اک کرم کے آزاد تھے [illegible]
عرفاں کی تجلی میں تھے نرمان کی تصو[illegible]

(از جادو رقم جناب شری بلدیو سنگھ صاحب نگم دہلو[illegible]

دوزخ دُنیا کو اس نے کر دیا خلدِ بریں
سچ تو یہ ہے اس جہاں میں ویر لاثانی ہوا
فیض کے دریا بہائے چشمۂ عرفان سے
خضر کا آبِ حیواں بھی شرم سے پانی [illegible]

(از ناظم کا جواب کوی راج پنڈت رگھونندن سنگھ صاحب طاہر دہلو[illegible]

بیکسوں کے خون کا دریا رواں تھا ملک میں
ویر آیا پریم کی گنگا بہانے کے لئے
جن غریبوں کا نہ تھا کوئی جہاں میں غمگسا[illegible]
تو انہیں آیا کلیجے سے لگانے کے لئے

(از سحر گفتار جناب پنڈت جگدیش چند صاحب جوش انبالوی)

ویر کے پر تو نے کل دنیا کو روشن کر دیا
تیاگ جیون ہے تیرا تاریک رستے پر دیا
کس ادا سے تو نے کھولا زندگی کے راز ک[illegible]
کس طرح قطرے کو تو نے اک سمندر کر د[illegible]

(از دھرم پریمی جناب لالہ نامہر سنگھ صاحب ایڈیٹر جین پرچارک سہارن[illegible]

ہو گئی ہے نقش دل پر کیا محبت ویر کی
کھنچ رہی ہے سامنے نظروں کے صورت ویر کی
مست ہو کر کیوں نہ ہوں جادۂ رنگیں میں [illegible]
بڑھ گئی ہو جبکہ اس درجہ عقیدت ویر کی

تجلیاتِ ویر

(از ممتاز الشعرا جناب علامہ پنڈت برجموہن صاحب کیفی دہلوی)

خبر دنیا میں کسی کو بھی نہیں انجام کی
پھر ضرورت ہے جہاں کو ویر کے پیغام کی

(از انیس الشعرا حضرت آغا شاعر قزلباش)

پڑا کی آگ میں گرنا بہت مشکل ہے داتا جی
مہاویر سوامی نے اک جا کر دکھائے شیر و بکری

(از حقائق نگار جناب منشی لشیشور پرشاد صاحب منور)

اک کشش رکھتا تھا بیگانے لگانے کے لئے
ویر کی تعلیم تھی سارے زمانے کے لئے

(از محرم علم و ہنر جناب علامہ شری الوپ چند صاحب آفتاب پانی پت)

آزاد ہو کے شاد کیا مادرِ وطن
کرتے ہیں یاد ویر کو بھارت کے مرد و زن

(از فطرت نگار جناب پنڈت ونشی پرشاد صاحب فدا بی اے)

بھلائی جگ کی کرنے کو ہند در دمیاں آئے
یہ اقلیم محبت کے تھے بن کر حکمراں آئے

(از منبع علم و فن جناب لالہ امر چند صاحب قیس جالندھری)

اس صداقت پر ہے سب اہل نظر کو اتفاق
ہند کی عظمت بڑھی ہے ویر کے پیغام سے

(از عندلیب سخن گیانی سادھو سنگھ صاحب سادھو فرید کوٹ)

صبائے معرفت سے پر دل کا جام کر دو
پھر ویر کی جہاں میں تعلیم عام کر دو

(از مصور فطرت جناب پنڈت امرناتھ صاحب ساحر ہیڈ دہلی)

اک مہاویر زماں وہ صاحب مقدور تھے
وصف میں جس کے قلم قاصر زباں معذور ہے

(از بلبل بوستان سخن جناب لالہ منشی سنگھ صاحب ناظر دہلوی)

نام جس کا زخمیوں کا مرہم کافور ہے
اس ویر کے نور سے معمور کنڈل پور ہے

(از اثر خامہ جناب بابو گمبھیر پرشاد صاحب وتیجہ سمتار نپوی)

شری مہاویر سوامی جی میری آنکھوں میں آ جاؤ
مجھے درشن ہمیشہ دو میرے دل میں سما جاؤ

— • —

جلوۂ ویر

(از ممتاز الشعرا جناب حضرت بسمل ملسیانی)

دنیا میں درد مہان کا جلوہ نظر آیا
بے زبان زمانے کا مسیحا نظر آیا
آزادئ عالم کا تماشا نظر آیا
ہر افضل و اعلیٰ سے بھی اعلیٰ نظر آیا

سرچشمۂ صد فیض ہوا رحمتِ عالم
ادتار اہنسا کا ہوا زینتِ عالم

تقدیر ہے کیا ناخنِ تدبیر کے آگے
کچھ چیز تصور نہیں تصویر کے آگے
کیا رات ہے خورشید کی تنویر کے آگے
اک کھیل ہے اعجاز مہاویر کے آگے

اندر کو ڈرایا کبھی میرو کو ہلایا
دنیا نے جواب تک نہیں سمجھا تھا دکھایا

ہر علم میں یکتا تھے ہر اک فن میں تھے کامل
مشہور زمانے میں ہوئے عالم عامل
بندوں کے لئے فیض رساں جوہر قابل
مقبول جہاں قوتِ تسخیر کے حامل

وہ آب کہ آئینہ اگر دیکھے تو شرمائے
وہ تاب کہ یاقوت بھی ہیرے کی کنی کھائے

پیغام سنایا کہ اہنسا میں ہے جینا
لگتا ہے اہنسا سے کنارے پہ سفینہ
ہاتھوں میں تھا اس بادۂ پرکیف کا مینا
دنیا کو سکھاتا تھا جو پینے کا قرینہ

وہ مے جو پی لے وہ جنت کا مکیں ہو
جنت کا مکیں ایک طرف روح امیں ہو

Lord Mahavira's Message of salvation

Dr. Ravindra Nath Tagore.

Mahavira proclaimed in India, the message of salvation that religion is a reality and not a mere social convention, that salvation comes from taking refuge in that true religion and not from observing the external ceremonies of the community, that religion cannot regard any barries between man and man as an eternal verity. Wondrous to relate, this teaching rapidly overtopped the barriers of the races' abiding instinct and conquered the whole country. For a long period now the infuence of Kashatriya teachers completely suppressed the Brahmin power."

—Jain Gazette, Delhi, (28th Oct. 1943) P. 16.

Salvation is Doctrine of Mahavira

Dr. K. N. Katju

In these days of hatred and distrust, which seem to encompass humanity in a fearful fashion, darkening the whole field of human endeavour and activity, the salvation of the human race lies in the doctrines preached by Shri Mahavira.

—Mahavir Sandesh, Jaipur (25th May 1947) P. 16.

Jainism in Germany

Hon'ble S. Dutt. Indian Ambessador in Germany.

"I am particularly glad to see how in this great country (Germany) so distant from the native place of Jainism, the scholars and others show a great interest for the dogmas and the philosophy of the Jain religion. The number of Jains amounts only 12 and a half millions, but inspite of it, the teachings of this great religion ought to be remembered and followed more than ever in past.

—Voice of Ahinsa, Aliganj, Vol II. P. 250.

Way of Peace and happiness

His Excellency General K. M. Cariappa C-IN-C.

The Commander-in-chief sends you his very best wishes and hopes that your work on Lord Mahavira's life will be a success with high dividends in obtaining peace and happiness and humanity in this world.

Letter No. 34-C-in-C. 5th Sep. 1950

Mahavira's Teachings,

Necessary for Good-Life.

Honble Rajkumari Amrit Kaur

Ahinsa is a basic necessity for a good life for individual, community, nation and world. Without it, there can be neither contentment nor prosperity, nor peace.

—VoA Vol. II P. 92

Useful for all Times

Mrs. Lila Wati Munshi

The sandesh of Bhagwan Mahavira is useful for all times, specially in these days, when the world is divided into warring camps.

—Mahavir Sandesh Jaipur (25th May,1947) P. 4

True Path of Liberty and Justice

Hon'ble Dr. M. B. Niyogi.

Chief Justice, Nagpur High Court.

The Jain thought is of high antiquity. The myth of its being an off-shoot of Hinduism or Buddhism has now been exploded by recent historical researches. The Ratan Traya of the Jain thinkers is the true path towards Liberty and Justice. The Anekanta-vada or the Syada-vada stands unique in the world's thought.

The teachings of Jainism will be found on analysis to be as modern as they are ancient. The Jain teachers were the first and foremost in the history of human thought to propound the principle of Ahinsa.

—*Jain Shasan (Bhartiya Gian Pith) Foreword P. 7—18*

Reign of peace

Hon'ble Justice N. C. Chatterji

Calcutta High-Court.

If the message of Lord Mahavira is followed by all, there would be a reign of peace and all causes of unrest in the world will be speedily removed.

—*Short Studies on China And India, P. 148.*

Jainism has given Gandhi

Honble P. N. Sapru, Allahabad.

The Jain community has given to this country the greatest leader and reformer Gandhi. In a materialistic world the spiritual teachings of Jainism has an immense value.

—*Vir, Delhi (29-5-1943) P. 58.*

Hon'ble Mrs. Roosvelt Struck Most,

Hon'ble Shri Misri Lall Gangwal

Chief Minister of Madhya Bharat.

The only panacea to heal up the wounded humanity is the principle of Ahinsa. It is the onerous duty of Jain Community to spread their sublime principle of Ahinsa far and wide. Hon'ble Mrs. Roosvelt visited India, What struck her most in our country is our cultural morality of Ahinsa, with which Indians fought out successfully battle of Independence.

V. O. A. Vol II. P. 79.

Lord Mahavira's Victory.

Hon'ble Shri Sitaram Jajoo

Law Minister of Madhya Bharat.

I am anxious to see the day when the principles of love and non-violence preached by Lord Mahavira would be practised by people all over the world, leading to peace and contentment in all corners of the globe. He was a very brave man as he had attained victory over his passion and desires.

V. O. A. Vol. II. P. 78.

Greatness of Jainism.

H. H. Shri Krishna Rajendra Waldyar Bahadur

G,C.S.I., G.B.E , Maharaja of Mysore

Jainism has cultivated certain aspects of that life which have broadened India's religious out-look. It is not merely that Jainism has aimed at carrying Ahinsa to its logical conclusion undeterred by the practicalities of the world, It is not only that Jainism has attempted to perfect the doctrine of the spiritual conquest of matter in its doctrine of the Jina—What is unique in Jainism among Indian Religions and philosophical systems is that it has sought Emancipation in an upward movement of the spirit towards the realm of Infinitude and Transcendence.

Vir. Vol, X.P.I.

Nationalistic out-look.

Hon'ble Raja Narendra Nath.

The Jains have always a Nationalistic out-look.

—*Vir. (20th May, 1943) P. 259.*

Non-Violence, Mercy And Forberance.

His Excellency Shri M.S. Aney Governor of Bihar.

The doctrine of non-violence, mercy and forberance reached in Mahavira's Teachings its highest expression. He carried the doctrine to its logical end and insisted upon man and his followers to observe a

code of conduct in which scrupulous attention has been paid to avoid physical or mental violence to anybody even the meanest creature crawling on the earth.

—Lord Mahavira Commemoration. Vol. I P 5—6.

Gandhi Owes Inspirations.

His Excellency Dr. B. Pattabhi Sitaramayya

Governor Madhya Pradesh,

The Father of Nation, Mahatma Gandhi owes his Inspiration for the teaching of non-violence to the founders of the Jain Culture. There cannot be greater compliment to the principles of Jainism then this undeniable fact. *—Voice of Ahinsa Vol II P. 143.*

Jainism is Eternal Truth.

Mahamahopadhyaya Dr. Ganga Natha Jha

M. A., D., Litt., L.L.D.

Jainism is based upon the eternal truth of philosophy, the study of which truth is not only desirable but also to a very great extent obligatory. *J.H.M. (Nov. 1924) P. 6,*

Jain Literature in Tamil.

Shri V.G. Nair, Asst. Secy Sino-India Cultural Society.

'Tirukural' and *Naladiyar,* which are considered most precious. have influenced Tamil people far greater than any other book in the entire Tamil Literature. In the view of Prof. M. S. Ramswami Ayungar the great author of 'Tirukural' was a Jain.

The next important Jain work in Tamil is *'Naladiyar,* which is one of the Vedas of the Tamil people. Its one English translation by Rev. G. V. Pope was published by Luzac & Co in 1900 and the other by W. P. Chetty and Co. The teachings inculcated is *'Naladiyar'* by the pious Jain ascetics, have greatly contributed in moulding the National Characteristics and the religious thoughts of Tamil speaking people.

—Vo, A. Vol. I, Part I P. 8 and Part V. P.5

Lord Mahavira's Life and Work.

Dr. Bool Chand M.A. Ph. D.

Mahavira left the world, realised the truth and came back to the world ro preach it. There was immediate response from the people and soon got disciples and followers. Eleven learned Brahmins were first to accept his discipleship and became ascetics.

Mahavira was never tired of answering questions and problems of various types *'Scientific, 'Ethical Metaphysical and Religious.* He had broad out—look and Scientific accuracy. He had firm conviction and resolute will. His tolerance was infinite. He was a cold realist and has immense faith in human nature. He was a thorough going rationalist who would base his action on his conviction, unmindful of the context of established customs or inherited traditions.

Mahavira's disparaged social inquity, economic rivalry and political enslavement. His Sangha was open to all irrespective of caste colour and sex. Merit and not birth was his determination. He popularised philosophy and religion and threw upon the portals of heaven even to the down and the weak, the humble and ths lowly. *—Lord Mahavira Commemoration Vol. I. P. 60—65.*

Lord Mahavira

Hon'ble Shri Narayan Sinha

Finance Minister, Bihar.

Lord Mahavira preached to the world the ideals of Ahinsa, Universal Religion and fellow feelings of which we are so much devoid to day. It is the realisation of Lord Mahavira's ideals where in lies the real peace and happiness of all living in this sub-continent of India.

Hon'ble Dr. Syed Mohamad

Development Minister Bihar.

To-day the world is weary of violence and is seeking a new order of life based on non-violence, love and harmony therefore the message of Ahinsa and universal brother—hood propogated by the great spiritual teacher Mahavira should once more be taught to the strifetorn world.

—*Mahavir Sandesh Jaipur, (25-5-47) P: 20.*

Jain Books Older Than Classical Literature.

Prof. Dr. Herman Jacobi.

Jainism has a metaphysical basis of its own, which secured it a distinct position apart from the rival systems both of the Brahmans and of the Buddhists. Now I have never been of opinion that Jainism is derived from Hinduism or Brahamanism.

The sacred Books of the Jains are old, avowedly older than the Sanskrit literature, which we are accustomed to call classical. We can find no reason why we should distrust the sacred books of the Jains as an authentic source of their history.

Let me assert my conviction that Jainism is an original system quite distinct and independent from all others and that it is of great importance for study of the philosophical thought and religious life in ancient India. —*Sramana Bhagwan Mahavira Vol. I. P. 55—80.*

Jain Logic & Harmony

Prof. Dr. W. Schubrig

He, who has knowledge of the structure of the world cannot but admire the logic and harmony of Jain Refined cosmographical ideas. —*Anekant, Vol. I.P. 310.*

Ahinsa is Love & Love God

Dr. M. Abbas Ali Khan Lomaa

Ahinsa is the fruit of love and love is God. Let every individual on earth eat and digest the fruits of this Holly Tree. —*VOA. Vol, I.P.I.*

Mahavira's Triumphal Song

Dr. Albert Poggi, Genova.

The teachings of Mahavira sound like the triumphal song of a victorious Soul that has at least found in this very world its own deliverance and freedom. —*VOA. Vol. II. P. 36.*

Greatest Ethical Value.

Dr. A. Guernot, France.

There is very great Ethical value in Jainism for man's improvement. The Jainism is a very original, independent and systematical doctrine. It is more simple, more rich and varied than Brahamanical system and not negative like Buddhism. —*Jain Dharama Prakash P.*

Spiritual Teachings.

Mr. Walt Whitman.

The bard of America, the universal poet and the prophet of the new world Mr. Walt whitman is an expounder of the teachings of Jainism, the religion and philosophy of the spiritual conquerors who have earned the title of 'JINA' and whose teachings are given to the world through the instrumentality of the Jains in India. —*Digamber Jain 'Surat' Vol. X.P. 39.*

Wonderful Effect Of Jainism

Dr. Hopkin

I found once that the practical religion of the Jains was one worthy of all commendation and I have since regretted that I stigmatized the Jain religion as insisting on denying God, Worshipping man and

noursing vermin as its chief tenents, without giving the regard to the wonderful effect, this religion has on the character and morality of the people. But as is often the case, a close acquaintance with a religion brings out its good side and creates a much more favourable opinion of it as a whole than can be obtained by a merely objective literary acquaintance. —*Vir, Delhi. Vol. VIII P. 26.*

Universal Treasures

Dr. Roymond Frank Piper.

Prof. University of New-York.

In the sacred writtings of the Jain Faith, there are many wonderful sayings which are universal treasures. —*The Voice of Ahinsa. Vol. I Pt. III. P. 4*

Distinguished Principles

Dr. Archie J. Bahm

Prop. University of New-Maxico

I look with considerable appreciation upon Jain logic as having long distinguished principles which only now are being re-discovered in the West. —*VOA Vol. I.P.II. P. 20*

Mahavira's Religion Uncriticisable

Dr. G. Tuccei M.A., Ph. D. Prof. University of Rome.

No scholar, I think will deny, that Jainism one is of the greatest and most important, creations of Indian mind, still surviving after centuries of gloring life. There is no branch of Indian civilization or literature or philosophy on which the deeper study of Jainism will not throw light. It is impossible to any sound scholar, interested in the history of Indian logic to ignore Jain logic, which deserve the largest attention and most deligent researches.

The literature of every belief can be discussad and scrutinized by scholars, but the living essence of Mahavira's doctrine shall remain un-touched by and criticism.

Great Saviour Lord Mahavira

Prof. Dr. U.S. Tank.

Lord Mahavira, the great soviour of the world had handsome and symmetrical body and magnetic personality with heroic courage and perserverance.

He had cast off the bonds of ignorance. Illumination had come upon Him and He became 'master' as *Theosophist* would say. —*VOA. Vol. II.P. 67—70.*

Developed System of the Metaphysics

Dr. Helmuth Von Glasenapp, Prof. Berlin University.

Jainism is uptil now very little known in Europe. The Jains have created a developed system of metaphysics, written up to the minute details, which looking to its terminology as also to its contents, could be looked upon as an independent and a peculiar product in the philosophical region of the wonderfully fruitable Indian spirit.

Mahavira Finest Kind of Superman

P. Joseph Mary ABS. Germany

Mahavira's ideal teachings is the strongest spiritual reactionary. He has proved through his life that soul is not the slave of body. He destroyed the world of this materialistic creed and ethic in a way that we may call Him a Superman of the finest kind. We claim for Him the verses of the German thinker Herder :—

"He's hero of the conqueror of Battle-fields,
He's hero the conqueror in Lion-hunting,
But he's hero of heroes, the conqueror of himself."

—*Bhagwan Mahavir Ka Adarsh Jiwan P. 17.*

Jainism is Solution of Man kind

Dr. Louis Renou Prof. Sorbonne University, Paris (France).

"What is the use of creating new religious movements, when Jainism could offer the solution required for the needs of suffering man-kind. It has the advantage of possessing an ancient and venerable tradition. It is the first amongst the world religions which proclaimed Ahinsa as the main creation of moral life."

—*World Problems and Jainism (Intro) P. I.*

Solution of Brutal Force

Prof. Albert Eintein

Brutal force cannot be met successfully for any length of time with similar brutal force, but only with non-co-operation towards those who have undertaken to use brutal force.

—*Mahavir Commemoration* Vol. I. P. 3.

Jain Valuable Literature

Sir Vincent A. Smith.

The Jain possess and sedulously guard extensive Libraries full of valuable material as yet very imperfected explored and their books are specially rich in historical and aemi-historical matters.

—*Jain Encyclopaedia. Vol. I. P. 27.*

Torch Bearers of Humanity

Prof. Dr. Herr Lothar Wendel, Germand

The day will come soon, when all Jain Tirthankaras will be recognised as the Tarchtbearers of Humanity.

—*Voice. of Ahinsa Vol. III P. 81,*

Gospel of Ahinsa

Prof Tan Yunshan of China

The Gospel of Ahinsa was first deeply and systematically expounded, properly and specially preached by the Jain Tirthankaras more prominently by the last 24th Tirthankara Mahavira Varddhamana. Then again by Lord Buddha and at last it was acted in thoughts, words and deeds & symbolized by Mahatma Gandhi.

—*Mahavira Commemoration* Vol. I.

Example for Everyone

Mr. Herbert Warren of England.

Mahavira lived a life of absolute truthfulness, a life of perfect honesty, a life of complete chastity and a life which gives protection to all living beings. He lived without possessing any property at all, not even clothing. He enjoyed Omniscience, was perfectly blissful, knew himself to be immortal and his life is an example for everyone who wishes to get away from pain.

—*Vir. (15-5-26) P. 2.*

Why I Accepted Jainism ?

Mr. Matthew McKay

Jains offer their message to all. In Jainism you will not be requested to accept any statement with behind faith. From my personal experience, I can say that all who will accept its teachings and put them into practice will enter a world of undreamed delight.

Jainism teaches that soul is immortal and in its pure nature is full of absolute knowledge and infinite bliss. It is only when soul is drawn low by the body and the senses that it is held in bondage with karmas. To meditate for only a few minutes daily on the pure nature of the soul is path to Liberatian and Salvation. These are the main reasons why I accepted wonderful Jainism. —*Why I became Jain ? (World Jain Mission.)*

Why I Became A Jain ?

Mr. Louis D. Sainter

I am a Jain because Jainism presents consistent solution of the problems of happy life.

The question who am I ? What am I ? For what reasons do I exist ? All are answered in the most irrefutable manner. It gives perfect health & peace of mind. There is a metaphysical and scientific explainations of all apparent injustices as known to the West, hence I have accepted the Jainism.

Vir (15-5-1926) P. 3.

Jain Yoga

Dr. Felix Valyi

Jainism has been neglected by the West. Only a handful of European scholars have devoted time to the study of the sources of Jainism aud even now very few Americans knew the essential fact about Jainism. Jacobi, W. Schubrig and H. V. Glasenapp, Guerinot F. W. Thomas have clarified the tradition and the teachings of Mahavira. Buddha who probably was himself a Jain, took the tremendous decision to start his own middle path.

The greatest Indologist of Germany, Heinrich Zimmer in his posthumous work, "The Philosophies of India'[5] published by the Panthon Books, in New York in 1951, has proved that Jain Yoga originated in Pre-Aryan Indian Jainism is the foundation head of Indian thoughts in its, Purest Yogic Tradition and Jain Yoga is pre-historic, seems certain.

The spiritual exercises of St. Ignace of Loyola are a sort of Christian Yoga, limited in its scope, is now recognised that the 'Imitation of Christ," by Thoms Kempis is also a kind of Medieval Yoga for the training of the Christian Mind, Sufism is equally based on yogic principle, but all these non-Indian manifestations of yoga thoughts and practice never reached the height which Jainism has achieved long before Patanjali, the codifier of yoga. There is ample evidence that Jainism represents the purest and strictest form of yoga as self discipline. Lord Mahavira appears to be mainly as a man of iron will. Jain yoga is pure yoga & Mahavira is the greatest example of such training the embodiment of the ideal man, perfect man.

—VOA Vol II. P. 98—103.

Is Death the End of Life ?

Shri B. Nateson, Editor the Indian Review, G. T. Madras.

"Is death the end of life ? Does individuality persist after death ? Are there other worlds to which the soul travels after stuffling off this mortal coil ? Do gifts and oblations and ceremonies affect the course of the spirit after leaving the body ? Is there any truth in re-birth ? These are questions which haunt every thinking man.

Stories of Nachiketas or Markandeya are bound to impress, but there are some striking instances of authentic facts, which must carry conviction in respect of the theory of re-birth :-

"Soldier castor, was transferred to Maymayo (Burma) and there he felt that he had seen the land, lived in it and he told Lance Carparal Carrigon that on the other side of the Irawady, there was a large temple with a huge cracks in the wall from top to bottom and near by a large bell—statement that he found true afterwards. !"

"Shanti an 8 year old girl of Jung Bahadur, a merchant of Delhi, used to say, ever since she could talk that in her former life, she was married to a man of Mathura, whose address she gave. She recognized her former husband at once and told him facts which were known only to him and his former wife. She also told him that she had buried Rs. 100/— at a certain place in her previous life, which she recovered."2

A 5 years old child of one Devi Prasad Bhatnagar, living in Prem Nagar, Kanpur says that in his previous birth his name was Shiva Dyal Muktar and that he was murdered during the Cawnpur riot in 1931. One day he insisted to go to his old house, where he said his former wife was lying ill. He was taken there and he at once recognised his wife his children and other articles. 3

A similar case is also reported from Jhansi[4] and there are several other authentic instances[5] to prove re-births and Sir Oliver Lodge, a Scientist was able to prove that the spirit after leaving the body continues to hover round its late abode.

1. 'Sunday Express' London of 1935.
2. Indian Review, Madras, Vol 51 (Sept. 1950) P. 581.
3. Amrita Bazar Patrika, dated Ist. May 1938.
4. 'Hindustan Times, New Delhi, dated 19th Sept. 1938.
5. a. 'Immortal Life,' by Voice of Prophency, Poona.
   b. 'What Becomes of Soul After Death' ? By Divine Life Society Rishikesh (Dehra Dun)
   c. 'Life Beyond Death,' by: A B. Patrika, Calcutta.

Ahinsa in Islam

Dr. M. Hafiz Syed M.A., Ph. D., D. Litt. Prof. Allahabad University

The fundamental principle underlying the ideal of Ahinsa is the recognition of one life in all mineral, vegetable, animal and human. "Not giving pain, at any time, to any being in thought, word or deed, has been called Ahinsa by the great sages."

How can a teacher of mankind, the prophet of Islam enjoy anything but Ahinsa on his people, when God sent him on this earth with the express command — " And we have not sent thee but as a mercy for the world. "

The lower animals were too not by any means excluded from the benefit of the prophet's all-embracing love. It is recorded of him that when being on a Journey, he did not say his prayers until he had unsaddled his camel, a piece of amiable conduct puts us strongly in mind of the famous last lines of Coleridge's Ancient Mariner :—

'He prayeth well who loveth well,
Both man and bird, and beast.
He prayeth best, who loveth best
All things both great and small,
For the dear God who loveth us,
He made and loveth all.

In the holy Koran animal life stands on the same footing as human life in the sight of God; 'There is no beast on earth nor bird, which flieth with its wings, but the same is a people life unto you mankind—upto the lord shall they return."

"All his creatures are Allah's family for their subsistance is from Him; therefore the most beloved unto Allah is the persson who does good to Allah's family. Whatever is kind to his creatures, Allah is kind on him."

Some of the mystics in Islam never encouraged the practice qf Slaughtering animals. What is called Ahinsa is completely observed during the period of Hajj, where the Muslims from all over the world congregate in the name of God. There were and there still are a number of Muslim Saints and commoners, who abstain from meat eating. Hazrat Ali seldom took meat and would say, "Don't make your stomach a tomb of slaughtered animals."

A man came before the prophet with a carpet and said, "O Prophet, I passed through a wood and heard the voices of the young ones of birds, took and put them into my carpet. Their mother came fluttering round my head and I uncovered the young. The mother fell down upon them. I wrapped them up in carpet and these are the young ones which I have." The prophet said. "Put them down," and when he did so, their mother joined them. The Prophet said, "Do you wonder at the affection of the mother towards her young? I swear by Him who sent me, verily God is more loving to his creatures. Return them to the place from which ye took them and let their mother be with them.[1]"

As a matter of fact any kind of flesh-eating is not obligatory on the Muslims.[2] The prophet often insisted upon the rights of dumb animals. Said He, "Do you love your Creator? Then love your fellow creatures first, verily there are reward for it[3]. He who keeps any one from eating flesh will be saved from the fire of hell[4]".

It is a great pity that on account of certain historical reasons Islam in India passes as a synonym for violence. Muslim Conquerors are described as having overrun countries with the Koran in the one hand and

1. Alkoran XXI 107.
1. Koran VI 38.
2.5. "Voice of Ahinsa" Aliganj (India), Vol. I. P. 20—23.
6. Asma, daughter of Yazid.

the sword in the other, whereas we read in Koran, "There is no compulsion in religion".[1] The Prophet did not believe that merely making the Muslims profession of faith once in a lifetime could make a 'mumin' (faithful) to entitle to Salvation. He said, "He is not a 'MUMIN' who Committeth adultery or who stealth or who drinketh liquor or who plundereth or who embezzleth; beware, beware Kindness (Ahinsa) is a mark of faith and who ever hath not Kindness (Ahinsa) hath no faith."

It is clear from these authentic and authoritative quotations that Islam like other faiths of the Aryan stock does believe in Ahinsa with all its underlying significance and has never preached violence, force coercion as some ill-informed enemies of Islam suppose it to do.

Jain Monks

Jain Monks not for Name

Dr. Herman Jacobi

Sole and whole object of Jain Monks is to lead a life dedicated to the betterment of soul and uplift of humanity. They do not become Sadhus for name and fame.

—Short Studies on China and India. P. 150.

Moral Tone of Jain Monks

Rev. Prof. Dr. Charles W. Gilkey

I have been greatly impressed by the high moral tone and ethical standard of Jain Sadhus & also by their teachings. *—Short Studies on China & India P. 151.*

Spirit of Peace

Miss Millicent Shephard, Chief Organiser Moral & Social Association

From one lamp a thousand can be lit from the glowing lamp of Jain Acharya's teaching and examples many holy lives are lit. May their spirit of peace and followship spread through out.

—Short Studies on China and India. P. 151,

Far Far Greater Influence than the Greatest Emperors.

Shri G. D. Dhariwall

Jain monks have been very learned scholars & not merely blind followers of Jain Law. They got high degree of sacrifices and selflessness and their influence on the public has been far far greater than that of the greatest Emperors. It is no wonder that Jainism has influenced the Indian civilization to a greater degree than Buddhism. *—J. H. M. (Feb. 19[illegible]4) P. 2[illegible].*

Literary Contributions of Jain Monks

Shri S.R. Sharma Prof. History, Willingdon College, Sangli.

"The Jain religious preceptors saints and scholars have rendered remarkable service to the nation as well as to the world by their lofty chararacter and ennobling literary compositions. As for the proper understanding and appreciation of English language one cannot afford to neglect the master pieces of Shakespeare or Milton in the same way the literary compositions of the Jain Acharyas can not be ignored due to the fact that their study is indispensable for the knowledge of Kananda and other Languages.

—S.C. Diwakar Nyayathirtha[4]

"No Indian Vernacular," wrote Mr. Lewis Rice, "contains a richer or more varied mine of indigenous literature than Jain works[5]" Jains wrote on all subjects[6] such as Religion, Ethics, Grammar, Prosody,

---

1. Holy Koran, Sura II, Ayat 257.
२. 'हजरत मोहम्मद साहब का अहिंसा में प्रेम' इसी ग्रन्थ का पृ० ६४।
३. 'इस्लाम में अहिंसा' इसी ग्रन्थ का लख है।
4. A Public Holiday on Lord Mahavira's Birthday P. 12
5. Rice, Mysore and Coorg. Vol I Para 398.
6. For namesof books and their authors consult 'Jainism and Karnata Culture by Karnataka

Medicine and even on Natural Science. Out of the 280 poets no less than 95 are Jain poets, the Vira-Saiva on Lingayat poets come to next being 90, whereas the Brahmanical writers are only 65 and the rest all included 50.[1]

The interest in Jain Literature evinced both by rulers as well as their ministers and generals is amply indicated by works such as the 'Prasanottara Ratanmalika' by Amoghavarsa of Rastrakuta, Nanartha-Ratan Mala by Irugapa Dandanayaka of Vijayanagara and the Chaundaraya Purana by Chaundaraya, Minister and General of Mara Singha and Racamalla Ganga but here we shall deal with the work contributed by Jain monks only :—

KUNDKUNDACHARYA is by far the earliest, the best known and most important of all Jain writers[2]. His influence is indicated by the fact that after Lord Mahavira and Gotama Gandhara, he is Kundkunda whose name is taken with great honour and respects[3]. An inscription at Sravana belogola says, "The Lord of ascetics, Kundkunda was born through the great fortune of the world. In order to show that he was not touched in the least, both within and without by dust (Passion) the Lord of ascetics left the earth the abode of dust and moved four inches above[4]. His most important works are (1) Samayasar (2) Pravachanasar (3) Niyamasar (4) Rayanasar (5) Pancastikaya (6) Astapahuda and (7) Bhavamokkha.[5]

UMASWAMI who is said to be disciple of Shri Kundkunda has composed (1) Tattvarthadhigama Sutra (2) Bhasya on the same (3) Puja-Prakarana (4) Jambudwipa Samasa (5) Prasamarati. Prof. Dr. Hira Lal calls Tattvarthadhigama Sutra to be the Jaina Bible[6]. It is the fountainhead of the Jaina philosophy and also of the use of Sanskrit by Jains. Its importance may be judged from the fact that top most scholars like Samantabhadr, Pujyapada, Akalanka, Vidyanandi, Prabha Chandra and Srutasagara are among the commentators.

SAMANTABHADRA in Sravanabelgola inscription is described as one whose saying are an adamantine goad to the elephant the disputant and by whose power this whole earth became barren (i.e. was rid) of even the talk of false speakers. He must have been a very great disputant is also indicated by the title 'Vadi-Mukhya' given to him in the "Anekanta-Jayapataka" by Haribhadra Suri a Svetambara writer. He powerfully maintained the Jaina doctrine of Syadvada,[7] interesting corroberation of which may be found in the instance of Vimla Chandra who is said to have put a notice at the gate of the place of Satrubhayankara, challenging the Saivas, Pasupatas, Buddhas, Kapalikas and Kapilas to engage him in disputation.[8] The

---

1. Historical Research Society DHARWAR. (S. India). Priced Rs. 5/-
   Catalogues of Jain Literature in various languages from :—
   (a) Digamber Jain Pustkalya, SURAT.
   (b) Bhartiya Gianpith, 4 Durga-Kund Road Banaras.
   (c) Digamber Jain Parishad, Dariba Kala, Delhi.
   (d) Jain Mitar Mandal, Dhrampura, Delhi.
   (e) World Jain Mission, Aliganj, Eta, U.P.
   (f) Manak Chand Jain Grantha Mala, Hirabagh, C.P. Tank, Bombay.
   1. For 28 famous Jain Monks add their work see, JAIN ACHARYA ; Rs. 1/10 by Digamber Jain Pustakalya, Surat.
2. Narsimhuachary; Karoataka Kavicaritre; Vol I Introd, P. XXI.
३. गौतमो मङ्गलं भगवान् वारो, मङ्गलं गौतमो गणी । मङ्गल कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥
4. Epigraphia Carnatics Vol II S.B. 254—351.
5. All may be had in Hindi, from Surat, while Samaysara in English from Bhartiya Gianpith, 4 Durgakund Road Banaras.
6. Prof. H. L. op. cit. pp. vi. vii.
7. Rice, (E.P.) op. cit. P. 26.
8. Cf. Ep. Car. II. Introd. P. 84.

advent and of this great writer is rightly considered to mark an epoch not only in Digambara & Svetambara history but also in the whole Sanskrit Literature.[1] His well known work is the Ratankarandka Sravakachar, which means Jewel Casket of laymen's Conduct. His words are admitted as pious and powerful as those of Lord Mahavira.[2] He also wrote several other books like (1) Aptamimansa (2) Jina Stuti-Sataka and (3) Svayambhu Sutra etc.

PUJYAPADA is also called Devanandi. He was a very eminent scholar of Philosophy, Logic, Medicine; and Literature. Pujyapada (one whose feet are adorable) appears to have been a mere title, which *he acquired because forest deities worshipped his feet. He is also called 'Jinendra Buddhi'* on account of his great learning. His most famous works 'Jinendra Vyakarna or Grammar of Jinendra-buddhi is well known. 'Pancavasutka,' the best commentary on Jinendra is also supposed to be the work of Pujyapada. Panini Sabdavatara is another Grammatical work traditionally considered to be a commentary on Panini grammar by Pujyapada. Vopadeva counts it among the 8 authorities on the Sanskrit grammar[3]. He also wrote Kalyanakaraka a treatise on medicine, long continued to be an authority on the subject. The treatment it prescribes is entirely, vegetarian and non-alcoholic[4]. Pujyapada was a triple doctor (Ph. D., D. Litt., M.D)[5] He was not only an highly learned thinker but was also a great saint,[6] whose sacred feet, celestial beings worshipped with great devotion[7]. His Sarvartha Siddhi is an elaborate commentary on the Tathvartha Sutra of Umaswami. His Upasakachara is an hand book of ethics for the Jain laity,[8].

AKALANKA is classed among the Nayyayikar or great logicians.[9] He said to have challenged the Buddhists at the court of kings Hastimaila (Himasitala) of Kanchi, saying that the defeated party should be ground in oil mills.[10] The Buddhists were driven to Ceylone owing to the victory of the Jain teacher[11] This victorious logic of Akalanka made his name proverbial as a Bhattakalanka in logic. His most famous work is the Tatvarthavartika Vyakhyalankara.

JINASENA who by his propagating increased the power of the Jain sect, was a celebrated Jain author.[12] He was the king of poets. He commenced Adipuran which according to Bhandarkar is an encyclopaedic work in which there are instances of all matters and figures.[13] He also wrote Mahapuran which is a very nice historical work. He has also written Parsvabhyudaya, which is one of the curiosities of Sanskrit literature. It is at once the product and mirror of the literary taste of the age. Universal judgement assigns the first place among Indian poets to KALIDASA, but Jinasena claims to be considered a higher genius than the author of the 'CLOUD MESSENGER'[14] The story relating to the origin of 'PARSVABHYUDAYA' is too interesting to be omitted. Kalidasa came to Bankapura priding over the production of his 'Megha Duta'. Being instigated by Vinayasena, Jinasena told Kalidasa that he had pirated the poem from some ancient writer. When challenged by Kalidasa to prove his statement Jinasena pretended that the book he referred to was at a great distance and could be got only after eight days. Then he came out with his own Parsvabhyudaya, the last line of each verse in which was taken from Kalidasa. The latter is said to have been confounded by this, but Jinasena finally confessed his whole trickery.[15]

---

1. Bombay Gazette I ii P. 406.
२. जीव सिद्धि-विघायीह कृत-युक्त्यनुशासनं । वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ —[illegible] ।
3-4. Rice (E.P.) op. Cit. P. 110. 27-37.
5-7. C.S. Mallinathan : Sarvartha Siddhi, Introd. P. IX.
8. Prof. Dr. Hira Lal, op. cit. P. XX.
9. Peterson, op. cit. P. 79.
10-11. An inscription at Sravanbelgola also alludes to this victory, which gained solid footing and patronage of Pallavas Kings.
—*Prof. Moti Lal : Digamber Jain (Surat) Vol. IX P. 71.*
12. Cf. Bhandarkar, The Bombay Gazetter I ii P. 405-407.
13. Bhandarkar, Report on San MSS. 1883-84. P. 120-121.
14. Journal of Royal Asiatic Society (Bombay Branch) 1894, p. 224
15. Of Nathram Premi, op. cit. P. 54-55.

Soma Deva was the most learned writer. "What make his works of every great importance", observes Dr. Hira Lal, "are the learning of the author which they display and the masterly style in which they are composed" The Prose of 'Yasastilaka' vies with that of Bana and poetry at places with that of Magha.[1] According to Peterson 'Somadeva's work Yasastilaka is in itself a true poetical merit, which nothing but the bitterness of theological hatred would have excluded so long from the list or the classics of India.[2] In the words of Peterson "it represents a lively picture of India and well high absorbed the intellectual energies of all thinking men.[3] The last part entitled 'Upasakadhyanam', divided into 46 chapters is a handbook of popular instructions on Jaina doctrine and devotion[4] His other work or considerable interest is 'Nitivakyamrta' which is almost verbally modelled on Kautilya's 'Artha-sastra.' Indeed it is a certificate to the University of this Jaina writer.

These writers were historic persons, who exercised tremendous influence in their own days is equally certain.

Miracle Place of Mahavira.

Justice R.B. Jugmander Lal M.A., M.R.A.S. Bar-at-Law.

There is a temple of Lord Mahavira in Chandanpur gram of Pargana and Tehsil Naurangabad in Jaipur State, at a distance of about nine miles from the Pataunda Mahavira Road Rly. Station, between Gangapur city and Hindaun Junction on the B.B. & C.I. Rly.

The calm image of Lord Mahavira, with round cheeks, arched eye-brows and almost dimpled chin gives a sort of innocent child-like or cherub-like look to the face. The mouth is an eternal blossoming of a smile of irresistible calm and never-failing compassion and sweet beneficence. The right foot resting on the left thigh showed a life-like firmness in the curve between the ankle and the toes. Similarly the hand, specially the left hand showed a life-like rendering of flesh in stone. So I gazed on and on at the figure of calm compassion and Serene Bliss.

About 500 years ago the Image was discovered by a cowherd, whose one cow on return home gave no milk. Suspecting that some one milked her in grazing, he watched her and found that she repaired to a spot, stood quietly there and milk flowed from her as if unseen hands were milking. This phenomenon occured from day to day. The cowherd felt that this was due to some God on the spot. He got together some men and started digging the spot. After the digging proceeded for some time, a voice came from below; "Slowly ! Slowly ! The spade therefore worked carefully and it was found that it had touched the Image, and but for the supernatural warning the Image would have been injured. The delighted cowherds carefully seperated the Image from its earthly prison, wondered at it and worshipped it.

When the news got abroad and Jainas found it to be an image of their Lord Mahavira they came and tried to shift the Image but about 900 chariots broke under it and when they got voluntary consent of the cowherd and he touched the reins only then they succeeded in moving it first to a modest temple.

His Highness the Maharaja of Bharatpur sentenced his treasurer to be shot dead with a gun. The treasurer was perhaps innocent and in his hopelessness, he invoked the assistance of the image vowing that he would dedicate Rs. 50,000 if he escaped death from the gun. The next morning when the man was to be shot, gun was fired at him, but it would not go. The man was saved. The matter being reported to the Maharaja, he ordered that the treasurer should be shot next day. The treasurer fearing to lose his life which he believed to have been saved by Lord Mahavira in this miraculous manner, again passed his whole time in weeping and supplicating to the Lord to save him again and he also vowed to increase his votive offering of the preceeding day from Rs. 50,000 to Rs. 75,000. The next day also the gun though fired, refused to go and kill the man. Annoyed by this the Maharaja ordered the man to be shot dead a third time. Fear overpowered the condemned man but Faith filled his heart; his soul ran for protection to the Lord once

1. Dr. Hira Lal, op. cit. P. xxxii.
2-4. Peterson, op. cit. IV. P. 33-46.

more, raising his offering also from Rs. 75,000 to one lac. 'The third day also the gun refused to kill the condemned. Now the Maharaja's anger turned into surprise. He ordered for the release of the treasurer and called him to himself and inquired : "Who is your Protector"? The man answered "Lord Mahavira". The Maharaja was satisfied and he himself also denoted hand-some money with which the present central temple of Lord Mahavira has been built. Thus the Image came to be installed for good in its present position.

His Holiness the Bhattaraka, priest of the temple was given almost Royal Honours even by the Mohammedan Emperors. One of its Bhattarakas was credited with having possessed a Magic Carpet like the one mentioned in the Arabian Nights, which could take a man to any place where he wished to go. Once a Mohammedan king from Delhi sent a deputation to invite the Bhattarka to his special Durbar at Delhi. The deputation took two months to reach the Bhattarke, but the Bhattarka sat on his huge Magic Carpet reached the Imperial Capital in three or four days' time. The king was surprised. He well received the Bhattarka but refused to allow a Royal Palanquin to him in the procession. But by a Miracle the Bhattarka managed to make his Palanquin and over the palace itself. The last Bhattarka Mahendra Kirti ji also dabbled in white or black magic. It is said that once he had a vision of a Devi or Goddess who came to be his as a result of his incantations[1].

The most ordinary miracles[2] known now are : The cowherds all round pray for cows etc. to become milking and for butter and ghee to be produced. The first milk and ghee to be offered to the Lord. Maunds and maunds of ghee and milk are thus offered at the Mela and Chaitra Shukla 15 and the chariot is taken out of Baisakh Badi 1. The Mainas and Gujars come in great number and Nizam himself moves the chariot of Lord Mahavira.

It is proved even now in many Jains and non Jain cases that any wish devoutly and faithfully wished here finds its fulfilment with-in one year.[3]

Lord Mahavira and Socialism

Pro. Dr. H. S. Bhattacharya, M. A., L. B., Ph. D.

The problem of problems to-day is how to stop the struggle between the rich and the needy. The people of wealthy section have plenty of food, clothing and bank balances yet they are struggling hard to augment and increase what they have had, struggling restlessly. On the other hand there is the starving mass, toiling and moiling for scanty meals. There is again a third class of men, the so called middle class people, who have got to put up the appearance of the wealthy section whereas in reality they are as poor, if not poorer than the labour class. and their condition is really miserable.

One view in this connection has been that the needy and hungry exploited mass should [illegible] up and snatch away the riches of the rich by force. The other is to vest all wealth in the state [illegible] away the excess wealth from the rich and distribute it in accordance with the needs of the [illegible]. The present day socialism suggests that every man certain stage of his life should stop to earn more.

The life of the great Jaina Teacher Shri Vira shows that from his very childhood he was [illegible], unaggressive and non-acquiring disposition. For one full year before his Renunciation of the world, he [illegible]

---

1. *Voice of Ahinsa, Aligang, Vol I. Part II P. 27—30.*
2. Atishaya Kshetras or Miracle places are not mere myth and idle imagination. There are [illegible] in India but also in Greece, Rome, France, Germany, Mexico, America and indeed in all the countries of the world. Countless vows and votive offerings made to Khwaja M[illegible] of Ajmer, annual pilgrimage to Lourdes in France, many votive offerings to the G[illegible] image of the Holi Virgin in her famous church at Marseilles and many Wishing Wells in England are a few instances.—*VoA. Vol. I Part II. P. 5[illegible].*
3. My various wishes are being fulfilled and if any one doubts, he may try himself having full faith and confidence in Lord Mahavira. He will wonder for immediate effect :—Author.

giving away all his wealth and at the time of asetı: life he distributed the very clothes and ornaments which he had on his body and when he attained the final self-realisation, he went on without any food.

He gave away all that he did not want, not because he was compelled to do so but because of his own free will and choice. The life of Shri Vira thus teaches us a lesson, which the modern Socialism would profit by always remembering that in order that a human being may voluntarily consent for an equal distribution of wealth, his character and not merely external atmosphere should be built up in a appropriate manner.

Shri Vira, keeping nothing for himself, reduced his necessaries to their barest minimum—In the words of Thomas Carlyle, made his "claim of wages a zero." It is true that the people of this materialistic age would not be able to practise renunciation to the extent and the manner done by Shri Vira, but unquestionably, He is the transcendent ideal to be followed as much faithfully and closely as possible. Some amount of renunciation or Aparigraha[1] as it is called in the Jaina Ethics should be the fundamental principle of all the socialist philosophy and the motto of the socialist should be Live and Let live like that of Shri Vira[2].

Christianity was taken from Jainism

Miss. Elizabeth Frazer.

Jainism is the only non-allegorical religion—the only creed that is a purely scientific system; which insists upon and display a thorough understanding of the problem of life and soul. It was founded by omnsiscient men. Na other religion can lay claim to this distinction.

Jainism is the only religious system that recognises clearly the truth that religion is a science.. It is the only man-made religion, the only one that reduces everything to the iron laws of nature and with modern science.[3] On a scientific basis it is worth-while to investigate the Jain claims that full of penetrating all elucidating light is to be found only in Jainism[4]. It is perfectly true when the Jains say that Religion is originated with man and that the first deified man of every cycle of time is the founder of Religion. Whenever a Tirthankara arises, He re-establishes the scientific truth concerning the nature of life and these truths are collectively termed Religion.' Since Jainism is the only religion that lays claim to having produced omniscient-men, It does seem plain that religion does originate from the Jains ; that Rishabha Deva the first perfect man of current cycle of time was the founder as even the Hindus admit. (Bhagwat Puran 27).

Christianity was taken from India in the 6th. Century B. C. Its doctrines agree in every particular with Jainism, and as Mr. C. R. Jain has shown in his Interpretation of St. John's Revelation, the twenty-four Elders of that book are the 24 Tirthankaras of Jainism. The countless number of Siddhas (perfect souls) in Jainism are also to be found in the Book of Revelation. The same conceptions of Karma, of the inflow and stoppage and riddance of matter in relation to karmic activity, are common to both the religions. The description of the condition of the soul in Nirvana is identically the same and the same is the case with the natural attributes of the soul substance. This is a 100% agreement'. There may be some agreement between Christianity and other religion on a few points, but never cent-percent. This is sufficient to show that Christianity was taken from Jainism. European scholarship has also shown that the seeds of Christianity were shown centuries before the supposed date of Jesus. Bearing all these facts in mind, there can be no

1. Jainism has provided 'Parigraha Parimana Varata'—the vow of setting a limit to the maximum wealth and property, which a Jain house-holder is to fix before-hand, according to reasonable estimate of his needs, to which he would never exceed. If and when he has reached that limit he will try to earn no more. If the earnings come inspite of it, he would devote the surplus to relief sufferers in order to be fair to the individual, society and country—Pro. Dr. Hira Lal : What Jainism Staud for P. 11.
2. Abridged from VoA. Vol. II. P. 64.
3. 'Jainism and Science,' This book's page 119—125.

doubt that Christianity originated in the time of Mahavira himself[1].

What is Jainism ?

Vidya Vardhi Shri C. R. Jain, Bar-at-Law.

Jainism is a science and not a code of arbitary rules and capricious commandments. It is a Practical Religion of Living Truth. It is a religion of men founded by men, for the benefit of man and all living beings. It goes to nature direct for the study of all kinds of problems subjecting everything to minute enquiry and critical examination. It is a source of everlasting infinite happiness and a true path of real truth. It is a source of independence, freedom, self-realisation, self-responsibility and a brave non-injurious conduct.

Jainism maintains that all men, women and living being in the Universe possess ability of fulness and perfection, which is marred by the operation of their own action & by their own efforts, they may check the further influx of karmic matter & destroy its past bonds. The life of Jain Tirthankaras, who attained omniscience by their own efforts in the very manhood is an experienced example for all worldly creatures that Jainism enables even one however lowly or vicious ; to enjoy ever-lasting infinite bliss, infinite knowledge and infinite energy.

Jainism Abroad.

Shri Kamta Prasad Jain, D. L., M.R.A.S. Hony. Directer
World Jain Mission, Aliganj Etah.

Jainism is a cosmopolitan religion; rather it is a science and way of life. The sacred discourses of the blessed Tirthankaras were addressed to Aryans and non-Aryas alike; even the beasts and birds heard[illegible] to them and tried to live according to the lofty ideals of truth and Ahinsa preached by the Holy Ones. Thus Jainism is a world religion : Jain Tradition asserts its world wide prevalence in ancient times, but it is deplorable that many mis-under-standings about Jainism are in vogue and our scholars are under the impression that Jainism was never carried abroad beyond the borders of India, because they think that Jainism has never been a proselitising religion and not a single monument of Jainism has been found in any foreign country. Sometime ago we heard Sir Patrick Fagon, K.C.I.E., C.S.I., remarking in the session of the Conference of the Religions of the Emplre (Wembly Exhibition, Londan) that "Jainism cannot cl[illegible] [illegible] missionary religion like Buddhism." But as a matter of fact, this view is not based on right observation of the [illegible] religious culture of the Jainas, How could a religion which enjoins upon its monastic [illegible] indeed, have ever been in great numbers side by side with its laymen and were [illegible] to remain engaged during the whole time of their life, in preaching the truth far and wide and [illegible] than three days at a place, except the rainy season.[4] be ascribed as wanting in the missionary [illegible] contrary, we find a very clear account of Jain monks, kings and merchants, who went out [illegible] carried the blessed Ahinsa message of the Tirthankaras to far off countries in the Jaina [illegible] India itself, many a tribe of non-Aryan stock e.g, Bhars and Kurumbas were converted to Jainism and were raised to the status of the ruling chiefs. Bhar and Kurumba ruling chiefs played an important [illegible] mediaeval history of Jainism. Even foreigners like Parthians[6] and Indo-Greeks[7], Su[illegible] [illegible]

---

1. Scientific interpretation of Christianity, reprinted in Sta[illegible] [illegible] Panjara Pole Ahmedabad)—Vol. Part I. P. 89—95.
2. For details see his 'What is Jainism ?' Priced Rs. 2 - Published by all India D[illegible] [illegible] Dariba Kalan, Delhi, fromwhere a price-list of other English Jain [illegible]
3. AIYANGAR, Studies in the South Indian Jainism, I—175
4. Jaina Penance, P. 79.
5. OPPERT, Original Inhabitants of India, pp. 238.
6. "......there were Parthians at Mathura who had immigrated during the Rule of the [illegible] although they were converted to Jaina—upheld the tradition of their native land......"
   —Prof. H. Lubers (D. R. Bhandarkar Volume, P. 2[illegible]).
7. LAW, Historical Gleanings, P. 78.

giving away all his wealth and at the time of asetՐ: life he distributed the very clothes and ornaments which he had on his body and when he attained the final self-realisation, he went on without any food.

He gave away all that he did not want, not because he was compelled to do so but because of his own free will and choice. The life of Shri Vira thus teaches us a lesson, which the modern Socialism would profit by always remembering that in order that a human being may voluntarily consent for an equal distribution of wealth, his character and not merely external atmosphere should be built up in a appropriate manner.

Shri Vira, keeping nothing for himself, reduced his necessaries to their barest minimum—In the words of Thomas Carlyle, made his "claim of wages a zero." It is true that the people of this materialistic age would not be able to practise renunciation to the extent and the manner done by Shri Vira, but unquestionably, He is the transcendent ideal to be followed as much faithfully and closely as possible. Some amount of renunciation or Aparigraha[1] as it is called in the Jaina Ethics should be the fundamental principle of all the socialist philosophy and the motto of the socialist should be Live and Let live like that of Shri Vira[2].

Christianity was taken from Jainism

Miss. Elizabeth Frazer.

Jainism is the only non-allegorical religion—the only creed that is a purely scientific system; which insists upon and display a thorough understanding of the problem of life and soul. It was founded by omnsiscient men. Na other religion can lay claim to this distinction.

Jainism is the only religious system that recognises clearly the truth that religion is a science. It is the only man-made religion, the only one that reduces everything to the iron laws of nature and with modern science.[3] On a scientific basis it is worth-while to investigate the Jain claims that full of penetrating all elucidating light is to be found only in Jainism[4]. It is perfectly true when the Jains say that Religion is originated with man and that the first deified man of every cycle of time is the founder of Religion. Whenever a Tirthankara arises, He re-establishes the scientific truth concerning the nature of life and these truths are collectively termed Religion.' Since Jainism is the only religion that lays claim to having produced omniscient-men, It does seem plain that religion does originate from the Jains ; that Rishabha Deva the first perfect man of current cycle of time was the founder as even the Hindus admit. (Bhagwat Puran 27).

Christianity was taken from India in the 6th. Century B. C. Its doctrines agree in every particular with Jainism, and as Mr. C. R. Jain has shown in his Interpretation of St. John's Revelation, the twenty-four Elders of that book are the 24 Tirthankaras of Jainism. The countless number of Siddhas (perfect souls) in Jainism are also to be found in the Book of Revelation. The same conceptions of Karma, of the inflow and stoppage and riddance of matter in relation to karmic activity, are common to both the religions. The description of the condition of the soul in Nirvana is identically the same and the same is the case with the natural attributes of the soul substance. This is a 100% agreement'. There may be some agreement between Christianity and other religion on a few points, but never cent-percent. This is sufficient to show that Christianity was taken from Jainism. European scholarship has also shown that the seeds of Christianity were shown centuries before the supposed date of Jesus. Bearing all these facts in mind, there can be no

---

1. Jainism has provided 'Parigraha Parimana Varata'—the vow of setting a limit to the maximum wealth and property, which a Jain house-holder is to fix before-hand, according to reasonable estimate of his needs, to which he would never exceed. If and when he has reached that limit he will try to earn no more. If the earnings come inspite of it, he would devote the surplus to relief sufferers in order to be fair to the individual, society and country—Pro. Dr. Hira Lal : What Jainism Staud for P. 11.
2. Abridged from VoA. Vol. II. P. 64.
3. 'Jainism and Science,' This book's page 119—125.

doubt that Christianity originated in the time of Mahavira himself[1].

What is Jainism ?

Vidya Vardhi Shri C. R. Jain, Bar-at-Law.

Jainism is a science and not a code of arbitary rules and capricious commandments. It is a Practical Religion of Living Truth. It is a religion of men founded by men, for the benefit of man and all living beings. It goes to nature direct for the study of all kinds of problems subjecting everything to minute enquiry and critical examination. It is a source of everlasting infinite happiness and a true path of real truth. It is a source of independence, freedom, self-realisation, self-responsibility and a brave non-injurious conduct.

Jainism maintains that all men, women and living being in the Universe possess ability of fulness and perfection, which is marred by the operation of their own action & by their own efforts, they may check the further influx of karmic matter & destroy its past bonds. The life of Jain Tirthankaras, who attained omniscience by their own efforts in the very manhood is an experienced example for all worldly creatures that Jainism enables even one however lowly or vicious ; to enjoy ever-lasting infinite bliss, infinite knowledge and infinite energy.

Jainism Abroad.

Shri Kamta Prasad Jain. D. L., M.R.A.S. Hony. Directer
World Jain Mission, Aliganj Etah.

Jainism is a cosmopolitan religion; rather it is a science and way of life. The sacred discourses of the blessed Tirthankaras were addressed to Aryans and non-Aryas alike; even the beasts and birds hearkened to them and tried to live according to the lofty ideals of truth and Ahinsa preached by the Holy Ones. Thus Jainism is a world religion : Jain Tradition asserts its world wide prevalence in ancient times, but it is deplorable that many mis-under-standings about Jainism are in vogue and our schoalrs are under the impression that Jainism was never carried abroad beyond the borders of India, because they think fhat Jainism has never been a proselitising religion and not a single monument of Jainism has been found in any foreign country. Sometime ago we heard Sir Patrick Fagon, K.C.I.E., C.S.I., remarking in the session of the Conference of the Religions of the Emplre (Wembly Exhibition, Londan) that "Jainism cannot claim to be a missionary religion like Buddhism." But as a matter of fact, this view is not based on right observation of the history and religious culture of the Jainas, How could a religion which enjoins upon its monastic followers—who, indeed, have ever been in great numbers side by side with its laymen and were scholar of high repute[3]—to remain engaged during the whole time of their life, in preaching the truth far and wide and to stay not more than three days at a place, except the rainy season,[4] be ascribed as wanting in the missionary spirit? On the contrary, we find a very clear account of Jain monks, kings and merchants, who went out said India and carried the blessed Ahinsa message of the Tirthankaras to far off countries in the Jeina canonical books. In India itself, many a tribe of non-Aryan stock e.g, Bhars and Kurumbas were converted to Jainism[5] and were raised to the status of the ruling chiefs. Bhar and Kurumba ruling chiefs played an important part in the mediaeval history of Jainism. Even foreigners like Parthians[6] and Indo-Greeks[7], Sudras and even Muslism were

1. Scientific interpretation of Christianity, reprinted in Sranana Mahavira. (Jain Sidhanta Society, Panjara Pole Ahmedabad)—Vol. Part I. P. 89—95.
2. For details see his 'What is Jainism ?' Priced Rs. 2/- Published by all India Digamber Jain' Parishad Dariba Kalan, Delhi, fromwhere a price-list of other English Jain books may also be had free.
3. AIYANGAR, Studies in the South Indian Jainism, 1—175
4. Jaina Penance, P. 79.
5. OPPERT, Original Inhabitants of India, pp. 238.
6. "......there were Parthians at Mathura who had immigrated during the Rule of the Ksatrapas and who although they were converted to Jaina—upheld the tradition of their native land......"
   —Prof. H. Lubers (D. R. Bhandarkar Valume, P. 288).
7. LAW, Historical Gleanings, P. 78.

taken into the fold of Jainism[1]. Jain images, which were caused to be consecrated by these people are available and worshipped by the Jainas. Jain lyrics and hymns composed by Muslim convets namely Jinabakhsha, Abdul Rahman and others are being sung even now by the Jain laity. "The right *Prabhavana* (glory) of Jainism," says saint Samantabhadra, is to dispel the gloom of ignorance by the sun of knowledge and every Jain votary is ever anxious to preserve in this sacrad cause in order to spread the right knowledge all over the world. Therefore it looks absurd to say tnat Jainism lacks missionary spirit.

Of course it is fact that no Jain relic has been found in any foreidn country. except Tibet, where Dr. Tucci found a Jaina image which he carried over to Rome. But we should remember also. in this respect that so far no scientific research or study has been made in any of the couutries by a Jainologist and it is possible that Jain relics might have been passed for as those of Buddhists, as has been the case in India in early days of Indian research. Moreover instances are not lacking when later Buddists erected their edifices or tetraced temples on older remains of the Jain Faith.[3]

In this article therefore, we propose to show that Jainism did not remain confined to India. In the light of archeological finds at Mohenjodro and Harappa the history of Indian culture and with it that of Jainism should be calculated since interior to Tirthankaras Parsva and Mahavira[4]. The nude images and signs on the Indus Seals prove the prevalence of Yoga cult of Ahinsa as preached by Lord Rishabha, the first Tirthankara[5] People of Indus valley thus belng the followers of the Risbabha-cult of Ahinsa were responsible to spread it beyond the borders of India. We have reasons to believe that original inhabitants of Su-rashtra in India of the "sub" tribe foliowed Jain religion and went to foreign countries on commercial and other purposes, They setled in the country round about Babylonia and were styled as Sumers.[6] Scholars like Dr. Kirfel have proved affinities and commercial connection berween the Indo-meditarranean peoples.[7] Dr. Pran Nath has discoversd a copper plate inscription from Prabhapattan of the Babylonian monarch Nebusch which records that this monaroh visited India and went to Girnar to pay his obeisance lo Tirthankara Nemi[8]. Shrenika Bimbasara was a devout Jaina.[9] He tried his best to propagate the religion of the Jainas far and wide and we are glad to note that his son, Prince Abhaya, was successfu. in converting to Jainism a prince of Persia.[10] Moreover Lord Mahavira was present at the time and His preaching tours, no doubt, were extended to the whole of Arya Khanda, which includes most of the present world. Thus the mission of the Jain religion to the foreign countries began even before the sixth century B.C. or with the beginning period of a reliable Indian history, which is now being done in an organised form by the "World Jain Mission of India". Herein below we give a narrative account of the missionary activities of the Jainas in foreign countries, which we hope, will interest the readers and will dispel the wrong notion about Jainism,

1—*Afghanistana* : We begin with the country lying just on the border of undivided India, which was once a part of the Mauryan Empire of our mother-land. It was called as "Northern India' and when-Hlan the Chinese Travsller came to India in the 4th. century A.D. he wrote that 'with the country of Wirchang commences North India[3]' Hienu-Tsang, who visited India in the 7th century found Indian Kings ruling in

1. BULHER, Indian Sect of the Jainas, P. 3.
२ अज्ञान तिमिर व्याप्ति भवाकृत्य यथायथम् । जिनशासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥ रत्नकण्डकः ।
3. Indian Historical Quarterly, Vol XXV. P.P. 205—207.
4. Dr. ZiMMER, Philosophes of India (New york) P.P. 317—281.
5. Jaina Antiquary, Vol. XIV p.p. 1—7 & The Voice of Ahinsa Vol. II. p.p. 4—6,
६. सक्षिप्त जैंग इतिहास, भा० ३ खण्ड १ पृ० ७०—७५ ।
7. The Voice of Ahinsa, Vol. I.P. 9.
8. Times of India, Tuesday, March 12,1953.
9. Smith, Oxford History of India. P. 45.
10. Tank, Dictionary of Jaina Bibliography P. 92.

Afghanistan and most of them followed the religion of Jinas. He met many Dighmbara Jainas there[2]. In ancint times the country of Afghanistan was known as Balhika or Jauna (Yavana) and it is evident from the Jaina canonical sources that Rishabhadeva, the first Tirthankara visited the countries of Ambada; Bahli. Illa, Jauna and Pahlva during his preaching tour[3]. Bharat, the son of Rishebha Deva and first Chakravarti monarch of India conquered this tract of land and it was included in the Indian Empire[4]. The modern province of Balkha in Afghanistan has been indentified with the ancient Bahli or Balbika. The country was teeming with Jaina temples, stupas and pillars Jainas were in great number and their naked ascetics called Nirgranthas were moving freely in the country teaching the people the blessed principle of Ahinsa and Anekanta The Mauryan Emperors like Chandragupta, Asoka & Samprati patronised the Jainas & followed the Jaina religion. They were responsible to send cultural mission of the Jaina Sadhus to the countries of Afghanistan Arabia Persia and middle Asia. When Greeks occupied Afghanistan and North Western portion of India, Jainism remained flourishing there. Alexander the Great had an encounter with naked Indian Saints, whom he called Gymnosophists and who were no other than the Digambara Jain ascetics[5] on the Eastern border of Afghanistan near about Taxilla. Among the indo-Greek kings who ruled over Afghanistan ane North-western India, Menander was attracted towards Jainism. He, with hundreds of Indo-Greeks tried to understand Jainism and to live upto its principles,[1]

King Samanides ruled over Afghanistan from 892 A.D. to 999 A.D., who had great leanings towards Indian wisdom and culture[2]. His name indicates, as it appears to be the corrupted from of the Sanskrit name Shramanadas (श्रमणदास), that he was either the follower of Jain religion or that of Buddhism, for the word Shramana was used for the recluse of both the religions. It seems that in latter times Buddhism displaced Jainism in Afgoanistan and became state religion. It thus could be the reason for the absence of any Jain relic in that country; though Buddhist ones are being pointed out at Bamian and elsewhere. Out of these cave temples and stupas, which are ascribed to Buddhism, it is possible that some of them might be belonging to Jains. As for instance the Pillar of Wheel called 'Meenar Chakri" which is situated near Kabul is quite indentical in ite shape and workmanship to the pillars of the Jain temples in South India. It is desirable that some Jain scholar should visit these countries in order to investigate the monuments of their ancient sites.

2 Abyssinia and Etheiopia—The Greek historian Herodotus mentioned the existence of the Gymnosophists in Abyssinia and Ethoiopia[3] and we know that the term 'Gymnosophist' denotes the Nirgrantha Jain recluses[4] Sir William Jones making no discrimination between Jainism and Buddhism, was doubtful that whether they followed the docrines of Buddha. But it is clear that Buddhism could not have reached so early to such a far off country, since its first foreign mission was sent by king Asoka.

3. Africa—The tract of land down the Egypt was called 'Rakastan' by the ancient Greeks, which proves that it was the abode of the people of Raksasa tribe of Vidyadharas, who were great patrons of Jainism Thus it is ebvious that Jainism was prevailling in this part of Africa in a very hoary antiquity. Even now a days

1. Madern Review, 1927, PP. 132 ff.
2. Hindi Encyclodaedia, Vol. I. pp. 670-680 and Travels of Hieun Tsang. The Chinese pilgrim wrote that "The li-hi (Nigrantha) distinguish themselves by leaving their bodies naked and pulling out their hair" St. Juliev Vienna. P. 224.
३. आवश्यक चूणि, १८०—Life in Ancient India. P. 270.
4. Asoka & Jainlsm : The Jaina Autiquary, Vol. VII P. 21.
5. Encyclopaedia Britannica, Vol. XXV (11th edition) and संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २, खण्ड १ पृ० १८०—१८६
6. Milinda Panha.
7. Hindi Vishwa-Kosh. Vol. I pp. 678-680, Modern Review, Feby 1927. p. 133.
8. Asiatic Researches, Vol. III. P. 6.
9. Encyclopaedia Britannica (11th. edition). Vol. XV., p. 120.

there are lacs of Jain immigrants from Gujrat and elsewhere, who have settled in Kenya and other part of East-Africa. They have their temples, schools and librarise there. In the city of Mombasa their number is so great that the locality in which they reside is called "Jain street." It is hoped that a Digambara Jain temple will also be built there through the influence of Swami Kanji Maharaj of Songarh.

4 Algeria—Recently a Jain image was presented to the indian-embassy of Algeria, which any how reached to that country. It has been sent to India.

5 America—The ancient cultural of Ahinsa was much influenced by Indjan Thought and Culture. Rather it is found that Indians settled in this country in a very remote period, whose descendants are existant even to day in Mexico. Shri Chaman Lal has studied these people and he wrote that some of their rites resemble those of Jainas.

In modern times it was late Shri Virachand Raghavji Gandhi, B.A.,M.R.A.S. who went to America (U.S.A.) in 1893 A.D. In order to participate in the Parliment of World Religions held at Chicago. His speeches attracted the attention of American people and many of them attanded his classes. Thus Jainism was introduced in the country of uncle Sam during the last century and its study was started in certain Universities of U.S.A. In 1934 A.D. when another session of the Parliament of Religions was held in the historic city of Chicago, our risen brother Champat Raj Jain attended it as a representative of Jainism. He gave a new vision of study regarding Christianity between Jainism and ancient Christianity. He had a good reception in America Mrs. Kleinschmidt became his disciple and studied Jainism and comparative religion. She started a 'School of Jain studies' which contiuned for soma time. The attention of the Christian intellectuals was directed towards the hidden meaning of Bible and a movement called "I an Movement" came into existence, whose members live a strict vegetarian life and believe in the divintry of soul like Jainism. Nowadays Mrs. Kleinschmidt and some other aspirants are distributing Jain Literature, which they receive from the World Jain Mission of India

6 Arabia—In fact Arabia and Central Asia were great stronghold of the Jainas at one time. The Mauryan Emperor Samprati, who was a devont Jain, sent Jaina missionaries to these countries', and they were successful in their sacred endeavours, for we are told that at the time of the advent of Islam in those countries and also when Arabia was attacked by the king of Persia, the Arab Jainas were persecuted, which forced them to migrate to settle in some Southern part of India[2]. Like Arabs, the Jainas of South are styled as 'Sonakas' in some places in the Tamil Literature. No doubt it is a fact that a free trade was carried on between India and Arabia in ancient times, and as such Jainas must have participated in it.

7 Burma—Which was known by the name of Suwarnadvipa to ancient Indians, has maintained cordial relations with India since pre-historical period. While Charudatta was out on a trade expedition, he went to Suwarnadvipa by crossing Airawati (Irrawady) river and Girikuta hill and then transcending the forest of Vetra, he reached the country of Tankanas : thence he was carried over by Bherundas through the air to the Island of Burma'. Charudatta found some Jaina temples there. Thus Jainism was prevalent in Burma. Even to-day there are many Jaina immigrants to Burma, who are bigtrade magnets at Rangoon and elsewhere.

8 Central Asia—Sir Aurel Stein, a former principal of the Oriental College : Lahore discovered that ancient India established colonies in Central Asia and ruled there for several centuries. They also introduced

1. Patishista Parva, Pt II. pp. 115-124.
2. "Pormerly they (Jains) were numerous in Arabia, but that about 2500 years ago, a terrible persecution took Place at Mecca by orders of a king named Parshwa Bhattaraka which forced great numbers to come to this country.

   —Asiatic Researches, Vol IX, P. 284.

   The name of the king Parshwa seems to be the corrupt from of Paraya, which means Persia.
   See--Jain Siddhant Bhaskar, Vol XVII, pp. 83—85.

3. Harivansa Purana, XXI 99.

there their own language—a kind of Prakrita[2]". We know that Prakrita is the canonical language of the Jains and they seem to have penetrated the country and preached their doctrines there. In this respect the following remarks of Rev. Abbe. J. A. Dubois are strikingly significant :—

"Jainism, probably at one time, was the religion of all Asia-from Siberia to Cape Camoiin, north to south, and from the Caspian-Sea to the Gulf of Kamaschatka, from west to east".[3]

Likewise Major Gederal J.G.R. Furlong after a thorough investigation, informs that "Oksina, Kaspia, Cities of Balkh and SamarKand were early Centers of this (Jaina) faith, and the important of this sect is also seen in their name being given to one of the gates of Jeru-Salem[4]".

Some paintings of the naked Jain saints were found in a cave in Chinese Turkistan. Viewing these facts we find the narrations given in the Jain Purnas about these countries wortn reliability and it is safe to presume that Jainism was once a prevalent religion of Central Asia.

9 Ceylon—Tne modern Ceylon represents the ancient Lanka of Ravana, although scholars do not agree to this. It is believed generally that the modern Ceylon can be either the island of Simbala or Ratnadvipa As it may be anyway, it is clear that the Jainas were aware of Tanka, Simbala and Ratnadvipa since a hoary antiquity[5]. It is said that Ravana, the king of Lanka was a staunch Jain. He obtained a jewelled image of Tirthankara Shantinatha from Indra, which was thrown into sea at the downfall of Lanka[3]. In the historical period one king Shanker of Karanataka country traced it out of the depth of sea installed it in his country During the period of Tirthankara Parshva, the Vidyadhara kings namely Mali and Sumali brought another image of Jaina from Lanka which was installed in a temple at Sirpur. King Karakandu of Champa also restored another image from Lanka at Terapura Caves in Deccan. He visited Lanka and married the princess of that country[4]. Many a Jain merchant went to Lanka, Simhala had Ratnadvipa[5], Thus Jainas had ancient contract with Ceylon.

During the historical period, we know that the Jaina Missionarise reached Ceylon as early as the sixth century B.C. and they were successful in getting Jaina Centres established there—so much so that a few kings of Ceylon were converted to the Jaina faith. "It is said that the king Pandukabhaya, who ruled in the beginning of the second century after Buddha, from 367—307 B.C., built a temple and a monastry for two Niganthas (Jainas). The monastry is again mentioned in the acccunt of the reign of a later king Vattagamini (38-10 B.C.) It is related that Vattagamini being offended by the inhabitants caused it to be destoryed after it had stood there for the reigns of 21 kings, and erected a Buddhist Sangharama in its place[6]". Thus Jainism lost its stronghold in that island, but it could not be wiped of altogether, for we come across later instance in which Jain Munis are metioned to have connections with the rulers of Lanka. In the mediaeval period Muni Yasha Kirti was honoured by the then king of Ceylon and probably be visited the Island and preached Jain doctrines there.

10 China—The cultural relationship between China and India is of great antiquity, which is beyond our comprehension. The Jainas were aware of it since the period of Rishabhadeva, and styled it as an non Aryan country[2], which fact is borne out by the history of China itself, for; it is said that the original inhabistants

---

1. Modern Review (March, 1948) P. 229
2. Description of... ..the People of India and of their Institution Introd. 1817).
3. Short Studies in the Science of Comparative Religians (1867) P. 33 and P. 67.
4. Dey, Geographical Diccionary of Ancient India, P. 113.
5. Jain Siddhanta Bhaskar Vol. pp. 91—98.
6, Paumacariu and PadmaPurana.
7. See Karakandu-carriu (Karanja Serles).
1. Herisena Kathakosha p. 192. Varangachari p. 66 etc.
8. Mahavansa, pp. 66-203 and the Indian-Sect of the Jaiuas. P. 37.
10. Jaina Shilalekha Sangraha (Bombay) P. 112.
११. प्रश्न व्याकरण सूत्र (हैदराबाद) पृ० १४ ।

of China were uncultured people and the Chinese people, who belong to the Mongolian stock, are said to have migrated to that country from somewhere neer the Caspian sea[3]. Weber found a great similarity between the astronomical theories of the Jainas and the Chinese and he conjectured that the Chinese might have borrowed it from the Jainas through the Buddhists[4]. The ancient religious teachings of the China were indentical to Jainism, so wrote Shri Champat Rai Jain[5]. A certain image of the Buddha is so very striking and similar to that of a Jaina that even a staunch Jain would not hesitate to accept it for that of a Jaina Tirthankara[6]. According to Dr. Guisspe Tucci Chinese literature abounds with references to Jainas who are called Nigranthas or Acelakas[7]. References to China in the Jaina literature are multifurious and the reader is requested to refer to our article entitled "Jainism and China" published in the "Sino-Indian journal"[8].

11. Egypt. The cultural relation between Egypt and India were also remarkable. "Sir Flinders Petrie of the British School of Egyptian Archaeology discovered at Memphis (the ancient capital of Egypt) some statues of Indian types. Such discoveries prove the existence of an Indian colony in ancient Egypt about 500 B. C. One of the statues represents an Indian Yogi, sitting cross legged in deep meditation. Ideas of asceticism which appeared in Egypt about this time must have been due to contact with the Indians.[1]" It is possible that this statue might be resembling to that of a Jain. Any how it is said about the Jaina antiquities at Mathura that "the dress and ornaments of the figures were strikingly Egyptian in style......Many of the symbols by which each Jaina Saint is identified were Egyptian,"[2]

The religious dogmas of the Egyptians were also mostly like those of the Jainas. They had no belief in a creator of universe, and further like the Jainas, they professed and preached a plurality of Gods; whom they describe as infrnitely perfect and happy.[3] They also accepted the existence of an immortal soul and extended it even to the lower animal world.[4] They were apt to observe the rules of abstinence, and never took fish, and vegetables like radish, garlic etc. in their diet[5]. The feeling of Ahinsa was so manifest in them that they did not even wear shoes other than those made from the plant Papyrus,[6] They made nude images of their God Horus; which bear great resemblance to those of the Jaina Tirthankaras[7] Therefore it is conceivable, that Jainism surely once had its way in Egypt and Ethiopia.

12. England. It was only in the last century that Jainism was introduced in England by late Shri Virchand Raghavji Gandhi & Justice Jagmandarlal Jaini. They visited England between 1899-1901 and succeeded in establishing a Jain. Order of English people known as "Mahavira Brother-hood." Many a English aspirants joined it. The Grand old living English Jain brother Mr. Herbert Warren embraced Jainism at that time & studied the Jain philosophy very deeply. In 1928 our risen Brother Champatrai visited Europe & England He established a library of Jainism in London and opened classes of Jain philosophy, which were attended by good many enquirers and stubents. He was the first Jaina who arranged the celebrations

---

3. Hindi Vishwakosha (Calcutta) Vol. VI, P. 417.
4. Indian Antiquary, Vol. XXI, P. 15.
5. "The theories of Lao-Tze ...are in the main an abridged version of the teachings of Jainism." Confluence of OPposites P. 252.
6. Cf. Image of SAHASRA BUDDHA is 2o miles off from Nanking (India Pictorial Weekly). 18th July 1948.
7. "Viran—Mahavira Jayanti No. Vol. IV. pp. 353—354.
8. Sino Indian Journal. Vol. I. Part II. p. 73—84.

1. Modern Review, March 1948, p. 229.
2. The "Oriental" (Oct. 1802), p. 23-24.
3. Mysteries of Freemasnory, p. 271.
4. The Story of Man, p. 187.
5. The Story of Man, p. 191-
6. Addenda to the Confluence of Opposites, p. 2.
7. The Story of Man, p. 187-191.

of the anniversary of Mahavira Jayanti in London for the first time in 1929. Earlier a Jain Literature Society for the publication of the Jain literature was started in London, which published such important work as 'Pravancana Sara' and the "Outlines of Jainism" etc. In 1950 Mr. Matthew Mckay and Dr. Henry William Talbot, the two disciples of Rev. C. R. Jain wrote to me (K. P. Jain) advising to revive the missionary activities for the propagation of Jainism. Accordingly a Society by name "The World Jaina Mission" has been founded in India and the work of spreading the teachings of the Jainas is being done by it. Mrs. A Cheyne, Mr. Frank Mansell and other brethren have taken keen interest in it and on the occasions of birthday and Nirvana Day anniversaries of Lord Mahavira public meetings were held in London.

13. **Erance.** It was through tha efforts of late Brother C. R. Jain that an interest about Jainism was created in France. One Mr. Francois became a disciple of Shri Jain. French Scholars studied Jainism. Prof. Guironot published two scholarly books on Jainism. Nowadys Prof. Dr. Louis Renou of the Paris University is taking interest in the study of Jainism.

14. **Germany.** Indo-German relations of Culture and wisdom are very important and Jainism found A great scholar and savant in late Prof. Dr. Hermann Jacobi, The credit of vindicating Jainism as an Independent and a religion older than Buddhism goes to him. Recently another German scholar Dr. Heinrich Zimmer has established the independent antiquity of Jainism assigning it to the pre-Aryan Dravid period. The interest of German scholars towards the Jain studies is increasing day by day. Besides such prominent scholars as Dr. Schubring and Dr. Krife, we find scholars like Dr. H. Von Glasenapp, Dr. Hammn, Dr. Kohl Dr. Roth. Dr, Fischer and others, who are carrying on Jain studies in a scientific way. They have translated and published a few of the Jain canonical books in German Language· Dr. Glasenapp's work entitled 'Der Jainismus" is a monumental book on Jainism in Germany. But there is also another aspect of Jaina studies in Germany which has attracted the attention of the common man. In 1932 a German youth namely Herr Lother Wendel came into the contact of late Rev C. R. Jain and studied Jainism near him. He became his disciple and tried to live a life of a true Jain. He translated the work of Rev C. R. Jain and Samayika-Patha into German language, which were published and roused a keen interest about Jainsim in the public mind. After his release from the Russian War captives Camp, Mr, Wendel came into the touch of the World Jaina Mission and agreed to work as its Hony, representative in Germany. On our advice he accepted the proposal of starting a Jain Library there under the auspicious of the World Jaina Mission and enough literature was sent to him. In 1951 he got the "C. R. Jaina India Library" opened and inangurated by Major General Shri Prem Kishan, the ambassador of India in Germany. This liberary has recieved good reception not only from the German people but also from the adjoining countries Recently the Government of France and India have presented a set of their respective publicaticn on Indian Culture to it. Now since Mr. Wendel is in India in order to study Jainism, it is being looked after by Herr G. Frahmake. Last year in 1952 before starting for India, Mr. Wendel convented the Universal forgiveness Day Conference' on the occasion of the Jaina festival "Ksamavani" which attended the attracted of prominent German scholars and statesmen. Thus, Jainism is attracting the attention of and appealing to the hearts of the German people.

15. **Greece.** The ancient Greeks owed not a little to Indian philosophy. The Macedonians or the Greeps were the followers of the Egyptians, who were influenced by the Jaina teachings, as we have seen above. The religious history of the Greeks, too, shows signs of the prevalence of Jaina doctrines in their country. Greek philosophers, like Pythagoras[1] (5th century B. C.), Pyrrho[2] and Plotinus were the chief exponents of Indian philsophy. They studied philosophy with the Gemnosophists (Jainas) So, rightly did Pythagoroas proclaim the immortality of tha soul and the doctrines of transmigration in the manner of Jainas[3]. He advocated and passed a simple life, punctuated with the rules of asceticism—the vow of silence being one of

1. The Confluence of Opposites, Addenda. p. 3.
2. Lord Mahavira & Some Other Teachers of his Time, p. 35.
3. "Vira", Vol. 11. p. 81.

them holding an important place in Jaina asceticism.[4] He condemned meat diet and use of beans, which has puzzled Enropean writers much. But the fact is that pythagores had learnt wisdom from the Gymnosophists (Jainas)[5] and the Jainas do not beans in *combination with milk and crud, on the ground that in* conjunction with the human saliva such a combination of beans becomes the breeding soil of an infinity of microscopic germs, which are destroyed in the process of degestion. It was to avoid the destruction of so many innocent live that the Jainas recommended abstaining from the use of beans in combination with milk and curd and the Pythagorians had probebly taken the doctrine from the Jains.

Likewise, Pyrrho also seems to have propagated Jaina doctrines in Greece. Diogenes Lacrtius (IX 16 and 63) refers to the Gymnosophists (Jains) and asserts that Pyrrho of Elis, the founder of pure scepticism came under their infuence and on his return to Elis imitated their habits of life.[1] Pyrrho's scepticism seem to be a corrupt from the Jaina doctrine 'Syadvada". And evan the ancient Dionysiam cult of Greece betrays signs of Jaina influence. It was the belief of the Dionysians that "the soul is in its nature divine, while the body is merely its prisonhouse." It makes its first appearence, in Greece as a result of the experiences of man in a state of ecstasy, notably in connection with the Dinoysian cult. It was in fact, the triumphant advance of the Dionysian religion, which first gave currency to the conviction that the soul acquires hither to unsuspected powers once it is free from the trammels of the body[2]. Similary in the *latter period plotinus asserted the divine nature and soul and said; "We say what He is not, we cannot say* what He is.[3]" This refers clearly to the immaterial nature of soul called Brahma.

The Greek mythology too, advocates the self-same teaching of soul's potential immortality and its transmigration as a result of its being in bondage with flesh.[3] The ancient Greeks worshipped nude images,[5] like the Jainas.

Besides it the important and the visible feature of the spread of Jainism in Greece is the shrine of the Shramancharya (the naked saint) at Athens[6], who hailed from Bayagaza, which shows clearly that there was once in prevalent an organised order (Sangha) of the Jainas. Of course, it gained a commanding infuence there so as to attract the attention of the Greeks in as much as it induced them to build a shrine of the adovenamed *Jaina Shramanancharya at Athens*[1]. *Hence rightly did Proof. M. S.* Rammaswamy Aiyangar, remark that buddhists & Jaina Sharmanas went so far as Greece, Roumania and Norway to preach their respective religions.[9]

16. Indonesia, Java etc. Indian philosophy and religion, architecture and literature, music, and medicine were the important contributions of the Indians to the cultural history of Indonesia, Java, & other *Islands of that group. The early Indian immigrants to these islands* were headed by a personage namely Kaundinya, which name plays a very important role in the Jainanarrative legends The Jain accounts of the the voyages of Jain merchants to Java dvipa, Maya dvipa a nd many other such islands is so lively and

---

4. Ibid.
5. Gymnosophists were Digambara Jains, See Encyclopaedia Britannica, XV., P. 128.
6. Addenda to the Confluence of Opposites, p. 3.
1. Encylopaedia Britannica, (11th ed.) *Vol. XII. p. 753.*
2. Ibid, Vol. II. p. 80.
3. Modern Review, March 1948. p. 229.
4. Supplement to the Confluence of Opposites, p. 9-12.
5. Journal of the Royal Asiatic Society, Vol. IX. p. 232.
6. Indian Historical Quarterly, Vol. II, p. 293.
1. Lord Mahavira and some other Teachers of His Tims, p. 19.
2. The "Hindu" of *25th July 1919.*
3. Jaina Siddhanata Bhaskara, XVII, p. 103.

accurate that scholars have traced in them the sense of historicity[1]. In the early medieaval period when Indian Settlers migerated to Indonesian islands from South India, Jainism was in its ascension in the South[5] and it is but natural that Jainism could have been taken over to the islands of Indonesia, Java, and Malaya. Dr. Sylvan Levi expressed his view in affirmative in this respect and recently Dr. Bjanraj Chattopadhyaya has produced a remarkable book on the subject from which Prof. J. P. Jain has deduced the following points, which require special study and research:-

1. The first royal family of Indian origin of Kamboj was connected with the Nagas and we have early and extensive mention of these people in the Jain literature.

2. **Kaudinya.** was the first ancestor of the Indian settlers in Kambodia, who visited India. Jain Rishi Ugraditya refers to a Kaundinya as one of those Arhata Vaidyas (physicians) who never prescribed alcoholic and flesh medicines and condemned meat diet.

3. In the islands of Kamboj, Java, Malaya etc. the Indian settlers were strictly vegetarians and never offered animal sacrifices.

4. The word 'Jina' was used as synonymous to Buddha.

5. The images of Buddha which has been found there, are different than those found else-where and bear resemblance to the image of Tirthankaras. They appear nude, having no sign of Yajnopavita thread. The numerical significance of some Chaityalas, as being 52, seems to bear a remarkable reference to Jain tradition in which 52 Chaityalas of Nandishwar-dvipa are worshipped thrice a year during the Ashtanhika festival.

6. An inscription belonging to about 9th century A.D. refers to Lord Parsvanatha the 23rd Tirthankara. It mentions also the Jaina work on medicine called 'Kalyana Karaka.'

7. Some opening verses of devotion in certain inscriptions betray the Jaina mode of obeisance.

8. The legends of Ramayana and Mahabharata sculptured there are more in agreement to the Jaina version of these epics.

Viewing above facts, it seems most probable fhat Jainism was the early religion of the Indian immigrantes who settled in Indonesia and othet islands.

17. Iran (Persia): To the Indians, the modern country of Persia or Iran was known by the name of Parasya. It is mentioned along with Arabia in the Jaina "Prashna Vyakarana-Sutra" (Hyderabad edition p 24) which proves that Jainas were in contact with Persia since a very remote period. The Jainas being great seafarers used to go to Persia and took their ships laden with all kinds of merchandise. Ayala was a great merchant of Ujjain, who went to Persia and thence to the port of Venyalala.[1] Jainacharya Kalaka also visited the country of Parsya. Pahalva was a province of Parsya, which country was visited by Rishabhadeva.[2] When Dwaraka was totally burnt in a great conflagration, then Kujjaraya who was the son of Baldeva, the Yadava King went to Pahlva. Now these Pahalvas are identified with the Parthians. It is evident from the Jain archaeology of Mathura that these Parthians came to India and professed Jain faith.[2] At the time of Lord Mahavira a close contact between India and Persia was in existence and many Persians come to worship Tirthankara Mahavira. We know Prince Ardraka of Persia became a Jain monk near the Lord. King Samptati sent Jaina missionaries to this country also. Major General J. G. R. Furlong remarked long ago that "Oxiana, Kaspia and cities of Balkha and Samarkand were early, eentres of their (Jainas) faith."[3] Abu-alla, a Darvesh of Basra seems to had come in contact with the Jainas and followed Ahinsa very minutely.[4]

4. Sec. the articles by Dr. V, S. Agarwala and Dr. Motichand.
5. Sec, Medieeval Jainism by Dr. R. A. Saletore.
1. Avashyaka-Churni. P. 448
1. Uttaradhayana-Sutara, II, 29
2. Bhandarkara Comm : Volume, P. 285-88
3. The Short Studies in Science of Comparative-Religion Intro :, P. 7
4. Der Jainismus,

18. Japan: The teachings of Zen Buddhism in Japan bears resemblance to Jainism and so it is possible that ancient Japanese were in cultural contact with Jainas. Recently Japanese scholars have started studying Jainism. Prof. Dr. Nakamura and his disciples are taking keen interest in it.

19. Netherland: Scholars of Netherland are taking interest in Jain studies, M. Buys is making special study of Jainism in comparison to Buddhism.

20. Tibet: The Himalayan region was the early home of Jainism, since Kailash was the sacred place where Lord Rishabha performed penances, gained Omniscience and set the wheel of Dharma roling. Images of the Tirthankara are found there in its adjoining country Tibet. Reference ro Jainism in the Tibetian manuscripts have been found by Dr. Tucci.

Thus we see that Jainism was not confined to India only: it was once a religion of world wide pursuance. What is needed now is that scholars should be provided with all facilities to make research and study of Jainism abroad.

Contributions of Jains

Shri Jinendra Das Jain B. Sc. (Ind. Chem.) B. Sc. (Engg.)

S.D.O., P.W.D. (I.B.) Punjab Government.

1. Origin: It is wrong to suppose that Jainism arose with Lord Mahavira. He is not the founder of Jainism,[1] but merely a reviver of the faith; which existed long before him.[2] The series of 24 Tirthankaras (Prophets) each with his distinctive emblem 'चिन्ह' was evidently & firmly believed in the beginning of the Christian era."[3] When Shri Ramchandro ji was contemporary of 20th Tirthankara Lord Mansumarata Nath, Lord Krishna of 22nd Tirthankara Lord Nemi Natha & Mahatma Buddha of 24th Tirathankara Lord Mahavira, how can Shri Mahavira of 23rd Tirthankara Lord Parasva Natha be the founder of Jainism? "Had it been so the Hindus would have never said that Jainism was founded by Rishbha, the son of Nabhi Raya & instead of confirming the Jaina tradition about the origicn of their religion, would have contradicted it as untrue."[4]

Dr. Niyogi, the Chief Justice of Nagpur High Court tells us, "The Jain thought is of high antiquity. The myth of its being an off-shoot of Hinduism has now been exploded by recent historical researches."[1] The Bombay High Court has decided, 'It is true, as later researches have shown, that Jainism prevailed in this country long before Brahaminism came into existence and it is wrong to think that Jains were originally Hindus and were subsequently converted into Jainism'[2] According to the ruling of Madras High Court, "Jainism has an origin and history long anterior to Surti and Sumurti.[3] According to Dr. H. Jacobi, 'The interest of Jainism to the students of Religion consists in the fact that it goes back to a Very early period and to Primitive currents of religious and metaphisical speculations, which gave rise also to the oldest philosophies Sankhya, Yoga and to Buddhism"[4] Jainism was in existence long before Mahabarata, Ramayana and even

---

1. (a) Sir Dr. William Wilson Hunter : The Indian Empire, P. 663.
   (b) Aiyangar; Studies in the South Indian Jainism Part I.
   (c) Encyclopaedia of Religion & Ethics Vol. VII Page 472.
   (d) Dr. H. S. Bhattacharya; Jain Antiquary, Vol. XV. P. 14.
   (e) S.S. Tikerkar; Illustrated Weekly, (22nd March 1953) P. 16.
   (f) This book's Pages, 99, 100, 101, 102, 106, and III.
2. Prof. A Chakaravarti; I.E.S: Jain Antiquary, Vol. IX P. 76.
3. Dr. V. A. Smith; Archeological Survey of India Vol. XX P. 6.
4. C.R. Jain, Bar-at-Law : J. H. M. Allahabad (Nov. 1940) P. 4.

1. Dr, M.B. Niyogi, C.J. Nagpur ; JainShasan, Introd. P. 16,
2. 1937, All India Law Reporter (Bombay) Page 518.
3. 50, Indian Law Reporter (Madras) page 228
4. Transaction of 3rd International Congress History of Religions II Page 59, Reprint in J. Ant. Vol. V.

Vedic period, Rigveda, Atherveda, Yagurveda, Samveda, Bhagwatpurana, Ramayana, Mahabharata, Mansumarati, Shivpurana, Vishnupurana, Markandapurana, Aganipurana, Vayupurana, Gararhanurana, Naradapurana, Sikandhapurana etc. etc., almost all the sacred books of Hindus Brahmins & Buddhists frequentlv mention the namss of Jinendras, Arhantas and Jain Tirthankars with great honour and respect.[1] Modern researches have proved beyond doubt that the religion of Dravids was Jain.[2] Prof. A. Chakravarti, a retired I.E.S. also informs, "First Tirthankara Lord Rishbha's religion evidently was prevalent in whole India before the Aryan's invasion as is evidenced by various references found in Rigveda."[3] Admittedly the Jain Sanskriti was in full progress prior to Aryans' invasion.[4] A recent exavation in Sindh of the pre-historic civilization of Mohenjodaro and Harappa shows unmistakable points regarding the existence of Jainism in that remote pre-vedic and Pre-Aryan age.[5] According to Miss. Frazer, "Only Jainism has produced omniscient men. It does seem plain that religion does originate from the Jains."[6] "The Jainas worked out their system from the most primitive nation ahout matter"[7] "The principles of Jains have according to the traditions, existed in India from the earliest times."[8] Even Shri Shankaracharya, the greatest rival of Jainism had to confess that Jainism is prevailing from a very old time.[9] So Major General J.G.R. Furlong has rightly remarked, "Jainism appears an earliest faith of India, it is impossible to find a beginning of Jainism & the nudity of Jain saints points to the remote autiquity of this creed, to a time when Adam and Eve were naked."[10]

According to Pt. B.G. Tilak, Jainism is Anadi.[11] Sentient being and non-sentient things have been in existence in that past, are present now and will exist in future," says Matthew McKay, "So Jainism, which is a religion of every sentient being was in existence in past, is present now & will exist in future." In the present cycle of time (Osarpani Yuga) Jainism was founded by the Ist Tirthankara Lord Rishbha Deva,[12] who according to His Exellency Shri M. S. Anney, is expressly regarded in the Bhagwatpurana as an Avatar of Vishnu,"[13] "and who in the words of K.B. Firoda, Speaker Bombay Legislative Assembly, "is the first law-giver to the humanity and who had sown the seeds of Culture & Civilization in this mudane world & gave the 1st lesson in all the Arts and Sciences to the world, which owes deep depth of gratitude to Him[14] therefore Revd. J.A. Duboi is perfectly right when he says :—

"yea I his (Jain's) religion is the only true one upon the earth the Primitive Faith of Mankind"[15]

2 Ahinsa : Although countless saints have also enlogised the doctrine of Ahinsa, but they all got the original inspiration from Jainism, which greatly influenced their customs and usages. Mahatma Gandhi is truly regarded the greatest apostle of Ahinsa, but in the words of Gandhiji himself, "Lord Mahavira is the 'Avatar' of Ahinsa. "Whoever desires paradise should sacrifice & slaughter animals," was the common preachings in ancient India. Jainism raised a revolt against this misno mer and established sacredness of all lives.[16]

---

1. This books Pages 41—70, 405—411.
2. Prof. Belvalker . Brahma Sutra, 109.
3. Voice of Ahinsa (World Jain Mission, Aliganj) Vol. II. P. 4.
4. Jain Sandesh, Agra (26th April, 1945) Page 17.
5. Shri Joti Persada . Jaina Antipuary, Vol. XVIII Page 58.
6. Scientific Interpretation of Christainity.
7. Encyclopeadia of Religion & Ethic; Vol. II Page 199.
8. Dr. Bimal Charan Law : Historical Gleanings.
9. 'वादरायण' व्यास वेदान्त सूत्र भाष्य भ्रध्याय २ पाद २ सूत्र ३३-३६
10. Short Studies in Science of Comparative Religions In P. 28.
11. Daily Kesri of 13th Dec. 1910.
12. Prof. A. Chakaravorti : Jain Antiquary. Vol. IX P. 76 (78).
13. Voice of Ahinsa, Vol. II P. ii
14. Voice of Ahinsa (World Jain Mission Aliganj) Vol. II P. iii.
15. Description of the Character of .....India......Civil. found by Major Welke, Acting Resident, Mysose in 1806 and Published by Fast India Company in 1817.
16. Shri T.K. Takol : Mahavira's Commemration (Agra) Vol. I. P. 217

Virta : Jainism is the religion professed by Jainas. Jaina means a follower of Jina, which word again etymologically signifies a conqueror, a victor, a Lord triumphant, who subdues his passions and frees his soul from all Karmas and attains Omniscience. The religion of such conquerors is ofcourse a Conquering religion. Its Ahinsa is no bar to heroism, because according to Jainism the presence of passion is hinsa and its absence is Ahinsa.[4] So one who is under the influence of passions is quilty of hinsa even if no one is actually injured; as under passion the spirit first Injures the seif. But one who is not moved by passion, even kills thousands, does not commit hinsa,[5] because his aim and intention is not to harm but to avoid them from harm. Just as a house holder owes responsibility to his household, he also owes duty to his city, his country and his nation, so a true Jain shall not hesitate to defend his hearth and home his relatives, his neighbours and his country. If needes even by means of sword, as in such cases his primary intention is not to commit any wrong, but to prevent the commission of wrong and to defend the victim, hence to fight the battles for protecting country, honour property & punishing criminals is no hinsa for a householder in Jainism. *It is the reason the Jainas* were not only conquerors in the realm of the spirit, but were also heroes of war and state. History tells us that Shrenika Bimbsara, Ajatshaturu, Nindivardhana, Chanderagupta, Asoka, Samprati, Kharavela, Amoghavarsha etc. etc. the greatest emperors and Chamundraya, Gangraj, Bijjala, Durgaraj, Bhamashah and Dyaldass etc. etc, the greatest *field-martials were Jains. It is wrong to suppose that Jain's Ahinsa is the cause of India's down-fall The fact is that our holy mother land re-gained freedom only with the weapon of Ahinsa.* Had Jains not been brave, the brave Rajputs would never appoint them as their Comander-in-Chiefs. Sardar V. B. Petal already observed "the term Jain stands for Ahinsa and Ahinsa teaches braveness" and Pt. Gourishankar Hirachand Ojha has truly said, "India has produced Chivalrous persons and Jains have never lagged behind in this respect inspite of the prominent place allotted to compassion in Jainism"

4 Practical Religion : Jainism is mainly divided into 'Muni-dharma' & House-holders' dharma,' which are again subdivided into various stages, so that even a layman with limited copacity of every caste and state may adopt it conveniently and consistently with due regard to temporal advancemen ; thus Jainism is pre-eminently a Practical Religion.

5 *Thelsm : Jainism believes the Universe immortal[1] eternal[2] and-created.*[3] Parlai (कयामत) is not total anuihilation but merely a sudden change[4] It requires no judge for punishment. Law of Karma is itself complete, un-eroring and self-acting. For this scientific belief; those, who believe in a creator some time look Jainism as an atheistic, but it can not be so called,[5] because Jainism does not deny the existence of God.

6 Anekanta is a scientific out-look to accommcdate different view-points in the domain of thoughts as well as in action by its constitution of Reality, therefore only Jainism is a toleratable religion to remove misunderstandings of diffetent aspects[6] and to understand controversy friendly.

7. Karmavada : Almost all religions admit that gain or loss and pleasure or pain is the result of Karmas but Jainism has scientifically indicated how and why Karmic matter is attractad and bounded with soul ! How Karmas can be stopped & destroyed ? So Jainism is most essential for those, who want to destroy the Karmic *enemies and to attain unabating all-bliss*[7].

---

4. 5 Authentic Jaina Test 'Purshartha Siddyupaya Sloka 42 to 47
1. 2. This books Pages 419, 42, 425
३. 'जैन अहिंसा और भारत का पतन' । Ibid. page 433.
4. Glory of Gommatesvara (Mercury Publishing House, Madras—10) Page 71.
५. राजपूताने के जैन वीरों का इतिहास, भूमिका ।
1. 4. *Foot notes of this book's* Pages 340—344.
५. "जैन धर्म नास्तिक नहीं" । This book's PP. 116-118.
६. "अनेकान्तावाद अथवा स्यादवाद" । This book's PP. 358-361.
७. "कर्मवाद" । This book's PP. 363-368.

8. All-equality : The real nature of all souts, whether of Brahamins, Chandals, men,[8] women animals or beasts is alike.[9] They are high & low merely on account of their own karmas, which all living beings are capable to destroy, Caste, creed or state is no bar to become the highest soul, hence Jainism rootsout all distinctions of caste or state, high or low; & as such recognises all living beings of the earth equal.

9. Independence : Betterment of soul does not depend upon others. By establishing that every individual is an architect of his own destiny and by its own efforts he is capable to attain ture happiness, Jainism enables every one to become Pursharti and "Independent."

10. Universal Brotherhood ; By observing Ahinsa, rooting-out caste-distinctions, maintaining Samavada[1] and extending love even to animal kingdom, Jainism establishes all-peace & a naclus of Universal Brotherhood.

11. Godhood : Omniscience and God-like everlasting true happiness is the natural attitude of every soul. which is hiden under karmic dust on account of passions and when it is removed 'Atma' (Soul) attains Sobhavic quality (Man Passions=God, while God+Passions=Man) of self-supreme blissing Parmatma—God,[2] as such in the words of Dr. M.H. Syed, Jainism raises man to Godhood"[3] and "No other religion is in position to furnish a list of men, who have attained Godhood by following its teachings, than Jainism".[4]

12. Man's own religion : In the words of Miss. Elizabeth Frazer, "Jainism is the only man-made religion"[5] and according to German Scholar Dr. Charlotta Krause, "Man is the greatest subject for man's study, hence French thinker Dr. A. Guernot has rightly remarked, "There is a very great ethical value in Jainism for man's improvement."[6]

13. Good health & peace of mind : The very fundamental virtues(आठ मूल गुण) abstaining from meat, wine; not taking food after sun-set (रात्रि भोजन) taking pure and simple food, drinking straining water (छना जल) etc. are such useful religious principles, which according to Shri Manilal H. Udani, "One who follows strictly the principles of Jainism will always keep best health, noble thoughts and peace of mind."[1]

14. Scientific-outlook : Jainism is a science to purify a mundane soul, to attain perfection and to obtain undying bliss. Even European thinkers have declared, "Jainism is the only religious system which rednces every thing to their on law of nature and with Modern Science.[2]

15. Socialism : There shall be no need of any control of food, cloth or other material and contentment will prevail alround, if Parigrah Pramana (Voluntarily limiting essential material according to reasonable need) vow of Jainism is practised by all.[3]

16. Morality : Ten-fold (दस लक्षण) Dharma of Jains, by teaching Forgiveness, Straightforwardness, Truthfulness, Purity of heart, Self-control, Self-motrification, Charity, Un-attachment and Brahamcharya, raises the moral tone.

17. Industry and Commerce ; Jains have been the master of industry & Commerce. History tells us that they went to foreign countries for trade even long before the pre-historical period. Inspite of being small in number even now they own a very large number of Industrial concerns, which are not only producing useful requirements for the country, but also providing good facilities for training to our technical hands & livelihood to countless Indians. Col. Todd has truly indicated in his Annals of Rajasthan, "Half of the mercantile wealth of India passes through the hands of Jain laity."

१."समयवाद" This Book's Page 392

2. 'The Way for man to become God.' This book's, P.P. 209-913,
3. 4. Footnotes. Nos. 1 & 2 of this book's Page 331.
4. 6. This book's Pages 207. 180.
5. Digamber Jain (Surat) Vol. IX Page 33.
6. This book's Pages 119-125. 206-207.
7. "Lord Mahavira and Socialism." This book's Page 204-206,

८-१० "जैन धर्म और शुद्र" व "जैन धर्म और पशुपक्षी" ख० ३

18 Influence : Jainism's influence, greatness and importance may be judged from the fact that almost all the authoritative sacred books of Hindus, Brahamins and Bhuddhists—all the three ancient sects and even Rigveda etc. all the four Vedas mention frequently the praise of Arhantas'. 'Jinendras' and various Tirthankaras Even India took its name Bharat Varsha' after the name of Jain Emperor, first Chakarvarti Bharata[2], the eldest son proof of first Tirthankara 'Rishabha[3]',

19. Monks :—According to Prof Dhariwal, "Jain Monks are not merely blind followers of Jain Law but they are very learned scholars with for greatar influenoe than that of the greatest Emperor". Their NUDITY is a conculsive Proof of their self-control and contentment[4].

20. Jain Worship. is not idol worship, but it is an ideal worship. The images of Tirthankaras in the Jain temples are only the statues of those great being, who had attained to the perfect state. The English people also gather every year in the Trefalgar Square in London to honour the stone statue of Admiral Nelson & they place before it flowers and garlands, but no one dare to accuse the English people of idolatry. They adore the spirit of Nelson through that statue of stone and this is idealatry Similar is the case with the Jain worship.[5]

21. Literature : V.A. Smith declares, "The Jains possess extensive literature full of valuable material as yet.[6]" So Dr. A.N. Upadhya has rightly said, "Jain Bhandars' are old, authentic and valuable literary treasures and deserves to be looked upon as a part of our *National Weatlh.* Mass. are such a stuff that they cannot be replaced if they are once lost."[7] Jainism contribute in :—

(a) Languages : According to the retired I. E. S. Prof. A Chakarvarti, "The contributions of Jain scholars to literature in different language is the *Pride of India.*"[8] Particularly in *Prakrit,*[1] *Sanskrit*[2] and *Tamil*[3] are *unrivilled* and served as model for latter non-Jain writers.[4] They also contributed richly in *Dravadin*[5], *Kannada,*[6] *Gujrati,*[7] *Hindi,*[8] *English,*[9] *Urdu*[10] and various other languages on all the important subjects of the day.

Arithmetic : American scholar Mr. James Biset points out, "The writers of Jain sacred books are very systematic thinkers and particularly strong in arithmetic. They know just how many different Kinds of different things there are in the Universe and they have them all tabulated and numbered, so that they shall

1. This book's Pages 41-45, 405-418.
2. Ibid, pp, 410—411.
3. Ibid, P. 194.
4. Ibid. Footnotes of Pages 305-308.
5. 'Arhant Bhgati' This book's Vol. III,
6. Hindi Jain Encyclopaedia Vol. I. P. 27.
7. Jainas Antiquary Vol. IX P. 20-29 & 47-60.
8. Prof. A. Chakaravarti : Jain Antiquary. Vol. IX P. 10.

1. (a) *Prakirt Studies by Dr. A.N, Upadhya :* Jain Antiquary Vol. III Page 69-86. & also Vol. XVII. P. 33.
   (b) Prof. Dr. Bansdeo Saran Agarwal : Varni, Abbinandan Granth. P. 24 & Jain Sidhant Bhaskar. Vol. XVI. P. 21.
2. Varni Abhinandan Grantha. pp. 24. & 310-318.

3-4. J. Ant. IV. 35, 69, 100 V.I, 35, 67, V.I. 42, VII 15-20, IX 10.
5-6. Dr. Tatia, Aryan Path (May 1953) P. 236.
7-9. Get free Cat. from Bhartya Gianpith Benaras, Dig. Jain Pustikalyas, Surat; World Jain Mission Aliganj (U.P.) India.
10. Get free Catalogue of books from Jain Mitar Mandal, Dharam Pura. Delhi, Shri Atmanand Jain Tract Society, Ambala City.

have a place for every thing & every thing at his right placed.[11] Prof. Dr. Bibhuti Bhusm Dutt finds, "*Ganita-sara-Sang-raha* is an important treatise on arithmetic by a Jain scholor Mahrvira is still available."[12]

(c) **Mensuration ;** "The formula concerning the mensuration of a segment of a circle has been stated by the celebrated Jain metaphysician Umasvami several centuries before Bhaskara 1". Jain Acharya Nemi Chandera has employed the law of indices, summation of series, mensuration, formula for circle and its segment, permutations and combinations."[12]

(d) **Mathemetic:** The Bulletin of Calcutta Mathmatical Society (Vol. XXI) mentions that Jajn scholar Mahavira's investigations in the solution of rational triangles and quadrilaterals deserve special consideration. "Indeed these have certain notable features, which we miss in the othars. Certain methods of finding solution of rational triangles, the credit for the discovery of which should rightly go to Mahavira, are attributed by modern historians by mistake to writers pesterior to him."

(e) **Grammar :** *Jinendra-Vayakarna* is a very famous Jain work on grammar *Panini-Sabdavatara* is another Jain grammatical work. Vopadeva counts it among fhe 8 original authorities on sanskrit grammar.

(f) **Science :** Jainism is purely a Scientific system,[3] and the Jain Thrithankaras were the greatest Scientists hence Jainism is the greatest subject for the study of modern science. Prof. Ghasiram has ably explained Jain principles in full compliance of science in his *Cosmology Old and New*.

(g) **Clasification :** According ro Dr. Brajindra Nath Seal, "Jainacharya Shri Umasvami's classification of animals is a good instance of classification by series, the number of senses possessed by the animal taken to determine its place in the series.

(h) **Atomic Theory:** The most remarkable contribution of the Jaina relates to their analysis of atomic linking or the mutual attraction of atoms in the formation of molecules.[5]

(i) **Medicine :** *Khagendra-Manidarpana* is a Jain work on Medicine[6]. *Kalyanakaraka* is another Jain treatise on medicine which long continued to be be an authority on the subject with entirely a vegetarian and non-alcoholic treatment.[7]

(j) **Astronomy :** German Thinker Dr. Schubrig observes, "History of Indian Astronomy is not conceivable without famous Jain work *Surya Pragyapti* (सूर्य प्रज्ञप्ति)

(k) **Magic :** According to Prof. C.S. Mallinathan. "Jainacharya Shri Pujyapada possessed miraculous power. Celestial beings worshiped nis sacred feet with great devotion[2]" There are abundant references of magic in Jain literature[3]

(l) **Metaphysics :** According to Dr. Jacobi, "Jainism has a metapyhsical basis of its own, which secured it a distinct position part from rival systems.

11. Mr. James Biset Pratt, India & Its Faith Page 258 Also Jain Antiquary Vol. XVI. 54-69.
12. Bulletin of Callcutta Methematical Society, Vol. XXIP. 119.
13. Shri K,P. Mody. Tattvar thadhigama Sutra. Jain Antiquary Vol. I.P. 25. and Vol. XVI. pp. 54 69
1. Bulletin of Calcutta Mathematical Society Vol. XXI, No. 2 of 1929.
2. Rice (F.P.) Op. Page 110.
3. जैन धर्म और विज्ञान This book's PP. 119-125.

4-5. The Positive Sciences of the Ancient Hindus (1915) P. 88-95.

6-7. Rice (E.P,) Op. Cit. PP. 45. 27,37. J. Ant. Vol.1. pp 45-83.

1. Cosmology old & new P.IX. जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष ५ पृ० ११०, वर्ष ६ पृ० ६३, वर्ष १६ पृ० ४2, वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ४१६ ।
2. Sarvartha Siddhi (Mahav'ra Atishya Com, Jaipur) Int. IX.
3. J. An. Vol. VII PP. 81-88. Vol. VIII. PP. 9-24. 57-68. An Ekant. Vol. I.P. 555.
4. This book's Page 179.

(m) History : Dr. B.C. Law, observes in his Hisrorical Gleanings, "Jainism has played an important part in the history of India" and according to Smith, "Jaina books are specially rich in historical and semi historical matters."[1]

(n) Politics : Pt. Panalal Wasant has groved. the Jainas to be pioneer in Politics.[2]

(o) Geography : As Jain monks tours on foot and village to village and ordinarily do not stay more than 3 days at one place except in rainy season, certainly their Geographical observations are vast and they wrote importants books on the subject[7].

(p) Stories : Jain Puranas & Katha-Koshas are full of useful stories with historical fact and the beauty is that not even one Jain-story can be regarded subnersive to the public morality.[3]

(q) Drama : containing attractive languages on all important subjects may be found in a very large number in Jainism.[4]

(r) Religious Books : According to Dr. Jacobi, "Sacred books of the Jains are old, avowedly older than the Sanskrit literature, which we are accustomed to call classical."[5]

(s) Poets : Kural a very important ethical poem was composed by Tiruvalluvar, who was defintely a sympathiser with Jainism and the author of *Naladiyar. Tolkappiyam, Valaiyapati, Silappadikaram, Jivaka Chintamani, Yashodhara Kavay, Ghudamani* and *Nitakesi* are Jains. Ponna was a great Jain poet upon whom Rastrakuta king Kannara conferred title of Ravi Chakravarti Pompa another Jain poet is regarded as the Father of Kannada Litrature. Jain Poet Ranna was the Court poet of the Karnataka emperor Tailpa II & his son Satyassaya[6]. Universal Judgement assigns first place to poet Kalidasa but Jain poet Jinsena claims to be cosidered a higher genius.[7]

(t) Iconogrphy : Images of 'Jina' was made centuries before the rule of Nanda. Images of 'Jain Tirthankaras' made during Mouryan rule are at Patna museum. In the history of Indian iconogrgphy, the Jain images have their earliest place.[8]

(u) Painting : Jain art of painting is one of pure draught-man-ship, the pictures are brilliant statements of the epic and drawing has perfect equilibrium of mathematical equation[9] :—

(v) Art & Architecture—According to Dr. Guirenot, "Indian art owes to Jains a number of remarkable monuments and in architecture their achievments are greafer still[2]. According to Mr. Walhouse, 'The whole capital and canopy of Jain pillars are a wonder of light, elegant lightly decorated stone work[3]. Udaigiri caves of Orissa and architectural finds of Kushan age of Mathura[4] are Jain objects of rare beauty, which have won world's praise[5] In the words of K. Narayana Iyengar, Ag. Director of Archaeology, "the Gomatesvara Colossus (56½ ft. high of 983 A.D.) is not only a National heritage but is also considered as one of the

---

5. Hindi Jain Encyclopaedia, Vol. I. P. 27.
6. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३६१ जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष १६ पृ० ६१।
7. जैन सिद्धान्त भास्कर, वर्ष १३ पृ० ६, अनेकान्त वर्ष १ पृ०३०८ वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३२३।
1. Dr. Jagdish Chandra Varni Abhinandan Granth, 358.
2. Ibid P. 450. Premi. Jain Sahitya & It has P. 260, 496.
3. This book's Page. 178.
4. Prof. Dr. Nathmal Tatia : Aryan Path (May 1953) P. 237.
5. Journal, Bombay branch, Royal Asiatic Society (1894) P. 224.
6. Leader, Allahabad (17-9-1950) P. 11. J. Ant. Vol. XVI P. 105.
1. Indian Collections, Museum, Fine Arts, Boston Vol. IV. P. 33.
2. Ch. La Religion Djaina by Guerinot. P. 279.
3. Walhouse : Indian Antiquary Vol. V. P. 39.
4. Jain Stupa & Antiquities of Mathura, U.P. Govt. Press.
5. World Problem and Jainism (World J. Mission) PP. 6—7.

Wonders of the World"[6]. Splendid Jain temples of Abu are marvellous.[7] One of thase namly Adinatha was built in 1031 by Vimlasha minister of Bhim deva and other of Neminatha by Tejpal minister in 1230 are super-fine architectural wonders. Palitana in Gujrat is known as; 'the city of temples' since it contains no less than 3000 Jain temples[8] Rishbhadeva's temple at Ajmer, which took 25 years for the Jaipur artists to depict is a specimen of the finest architecture. Pt. Jawahar Lal Nehru paid it visit in 19:5 and said, It is a museum of an unusal mind from which one can learn something Not only about Jain Philosphy and out look but also about Indian Art[9]."

(w) Logic-According to Shri Tukol, "Jainism reachad a very high sense of perfection in the field of Logic[1]." Prof. Ghasiram proves, "Jain lcgic of Sayadvada is Einstien's thecry of relativity.[2]" In the words of Dr. Schubrig, "He, who has a thorough knowledge of the structure of the world can not but admire the inward logic and harmoney of Jain idels.[3]" So Dr. Tucci has rightly said, "It is impossible to any scholar interested in the history of Indian logic to ignore Jain logic. which deserves the largest attention of most diligent researches[3]."

(X) **Philosophy**—Dr. M.H. Syed, a well known scholar of comperative religions wonders at the analytic philosophy of Jainism and says Jain's psychological insight into human nature stands unique for the distracted world of to-day.[5]" Jain philosophy is India's ancient heritage and in the words of Dr. Jacobi, "Jainism is of great importance for the studay of philosophical thoughts is an ancient India.[6]"

(y) **Culture**—In his lecture at the Indian Institute of Culture, Dr. Tatia has proved that the cultural heritage of India is closely woven fabric of colourful strand of the Jain contributions[7]. Accordingly Dr. Losch rightly remarks, "Jainism has played an atonishing important part in the Indian culture[8]",

(z) **Ethics**—According to Dr.A. Guirenot, "There is great ethical value in Jainism for man's improvement.[9]"

20. **Struggle of Existence**—Jainas have been successful in every branch of life and have never shown any unfitness for the struggle of existence.

---

6. Glory ofGommatesvara (Murcury Publishing House, Madras 10) P. XII.
7. "Dilawar Temples." (Govt. of India) Publication Division. Civil Lines, Delhi.
8. Digamber Jain (Surat) Vol, IX, P. 72 H.
9. Hindnstan Times, New Delhi (June 20, 1953) P 8.
1. Mahvira Cemmemoration (Mahavira Jain Society, Belaganj. Agra) Vol. I. P218.
2-3. Cosomology Old and New P. IX. and 195-201.
4. This books P. 182. Varn Abhinandan Grantha 46-78.
5. Voice of Ahinsa Vol. II. P. 187.
6. Jain Antiquary Vol. V. & this book's P. 179.
7. Dr. Nathmal Tatia; Aryan Path (May 1653) pp. 234-238
8. Prof. Dr. Losch, VoA. Vol. I. Pt. II. p. 26.
9. This book's Page, 180.

24. Salvation—Union of non-soul matter (Karmas) with soul is hindrance to true happiness and is the only case of our imperfection. In order to annihilate Karmas we must have a clear and steady *'True Belief'* (सम्यग्दर्शन) of soul and non-soul, as doubt is the parent of stagnation. We must also know the path of truth, which can only be, well indicated by omniscientists. In the history of the world, Jainism is the only religion, which has produced omniscient-men, which are called *'Arhantas'*, *'Jinendras'*, *'Tirthankaras'* on the surface of the earth, so to know their teachings rightly is *True Knowledge* सम्यग्ज्ञान In the words of Frederick Harrrison, "wemust learn" to live & not live to learn. "So we must follow सम्यग्चारित्र *Pure Conduct*, experienced all-knowing *Tirthankaras* with *'True Belief'* and *'True-Knowlege'*. The combby ination of these THREE JEWLES रत्नीत्रय is certainly the surest way सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणी मोक्षमार्गः to attain *Salvation'*.

25. Conclusion—Jainism is not only a real source of getting worldly enjoyments and heavenly pleasures, but is a science to purify the mundane soul to attain perfaction, omniscience and undying infinite true happiness. It is original, indipendent, scientific, rationlistic demorative, universal, systematic and primative faith not only of man kind but even of birds and beasts. It provides freedom, pure bliss, self-responsiblity, self realization, all equality, voluntary co-operation, reciprocel help, spiritual advancement, all-love, noble thoughts sweet temper, simple living, pure food, contentment, international peace, exampalary action and brave conduct. It is an intimate friend of all, even of the most sinful and lowly being but is an enemy of injustice, vice, ingnorance desires, passions and impurity. All sorts of distinctions of birth, caste, class and state and all diffrences of rulers and the ruled. masters and servants, high and low, rich and poor, traderand laboureis automatically dis-appear and in the words German Thinker Dr. Charlotta Krause, This miserable world may become paradised with all and all peace, ever lasting joy and true infinite bills. If. Jainism is practised by all the people of the world.[2]

---

1. The Way for a Man to become God, This boo'ks p. 209-213.
2. This book's 110.

ऐतिहासिक काल के कुछ जैन सेनापति

"The JAINS used to enlist themselves in Army and distinguished on the battle-fields."

—Dr. Altekar : Rastrakuta & Their Times.

	सेनापति	किस राजा के ?	जैनधर्मी होने का प्रमाण
१.	सिंहभद्र	वैशाली के चेटक	इसी ग्रंथ में वर्णन
२.	जम्बूकुमार	शिशुनाग वंशी बिम्बसार	जम्बू स्वामी का चरित्र
३.	कल्पक	नन्दवंशी नन्दीवर्द्धन	वीर, वर्ष ११, पृ० ६८
४.	चाणक्य	मौर्यवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त	Anekant Vol. II, p. 104 and Jain S: Bhaskar Vol. 17, P. 1.
५.	मृगेश	कदम्बावंशी राजे	वीर, वर्ष ११ पृ० ६८
६.	दुर्गराज	चालुक्य अम्प द्वि०	इसी ग्रन्थ में वर्णन
७.	नागवर्मा	" जगदेकमल्ल द्वि०	दि० जैन, वर्ष ६, पृ० ७२ वी
८.	चामुण्डराय	गंगावंशी राचमल	Rice, Ep. Car. Inscr. St. P. 85 & SHJK and Heroes PP. 96-100.
६.	महादेव	" एक्कल द्वि०	Guirenot J. B: No. 431. Vir XI P. 70.
१०.	विजय	राष्ट्रकूट इन्द्र तृ	Ep. Ind. X, PP: 949-10
११.	गंगराज	होयसलवंशीय विष्णुवर्द्धन	Ep. Car. II 118 PP. 43-49.
१२.	हुल्ल	" नरसिंह प्र०	Saletore Loc. Cit. 141-142
१३.	शान्त	" सोमेश्वर	जैन शिलालेख संग्रह, ६८
१४.	रविमध्य	" वल्लाल	" " "
१५.	वैचप्प	विजयनगर के हरिहर द्वि०	इसी ग्रन्थ में वर्णन
१६.	इरुगप्पा	" "	" "
१७.	कुलचन्द्र	परमार वंशी सम्राट भोज	Reu. Inc. Cit. Vol. I, P. 115-121. and Ball. loc. Cit. P. 207.
१८.	विमलशाह	सोलंकी भीमदेव द्वि०	माधुरी २ फरवरी १६३६
१६.	आभू	सोलंकी भीमदेव द्वि०	हमारा पतन पृ० १४०-१४२
२०.	वस्तुपाल	वघेलवंशी धवल	सं० जै० इ० भा० २ खं० २ पृ० १३७
२१.	तेजपाल	" "	" "
२२.	दयालदास	महाराणा राजसिंह	रा०पू०के० जैनवीरों का इ० पृ० ११३
२३.	आशा शाह	महाराणा उदयसिंह	" पृ० ६०
२४.	भामाशाह	महाराणा प्रतापसिंह	इसी ग्रन्थ में वर्णित
२५.	कोठारी जी	महाराणा संग्रामसिंह	" "
२६.	इन्द्राज	अजमेर के विजयसिंह	हमारा पतन, पृ० १३७

अजैन दृष्टि से जैन अष्टमूल गुण

शुभ विचार, प्रेम व्यवहार, शुद्ध आहार और निरोगता के उपयोगी मार्ग

१. **माँस का त्याग:** International Commission के अनुसार मनुष्य का भोजन माँस नहीं है[1] । जिन पशुओं का भोजन मांस हैं वे जन्म से ही अपने बच्चों को मांस से पालते हैं, यदि मनुष्य अपने बच्चों को जन्म से माँस खिलाये तो वे जिन्दा नहीं रह सकते ।[2] मनुष्य के दांत, आंख, पंजा, नाखून, नसें, हाज़मा और शरीर की बनावट, मांस खाने वाले पशुओं से बिल्कुल विपरीत है ।[3] मनुष्य का कुदरती भोजन निश्चित रूप से मांस नहीं है ।[4]

Royal Commission के अनुसार मांस के लिये मारे जाने वाले पशुओं में आधे तपेदिक के रोगी होते हैं इसलिये उनके मांस भक्षण से मनुष्य को तपेदिक का रोग लग जाता है ।[5] उनके अनुसार मांस को हज्म करने के लिए शाकाहारी भोजन से चार गुणा हाज्मे की शक्ति की आवश्यकता है[6] इसलिए संसार के प्रसिद्ध डाक्टरों के शब्दों में बदहज्मी, दर्दगुर्दा, अन्तड़ियों की बीमारी, जिगर की खराबी आदि अनेक भयानक रोग हो जाते हैं ।[7] Dr. Josiah Oldfield के अनुसार ९९ प्रतिशत मृत्यु मांस भक्षण से उत्पन्न होने वाली बीमारियों के कारण होती है,[8] इसलिए महात्मा गान्धी जी के शब्दों में मांस भक्षण अनेक भयानक बीमारियों की जड़ है ।[9]

मांस से शक्ति नहीं बढ़ती । घोड़ा इतना शक्तिशाली जानवर है संसार के इंजनों की शक्ति को इसकी शक्ति से अनुभव किया जाता है । वह भूखा मर जायेगा, परन्तु मांस भक्षण नहीं करेगा । वैज्ञानिक खोज से यह सिद्ध है—'सब्जी में मांस से पांचगुणा अधिक शक्ति है ।[10] Sir William Cooper C. I. E.) के कथनानुसार घी, गेहूं, चावल, फ़ल आदि मांस से अधिक शक्ति उत्पन्न करने वाले हैं । यह भी एक भ्रम ही है कि मांस-भक्षी वीरता से युद्ध लड़ सकता है । प्रो० राममूर्ति, महाराणा प्रताप, भीष्म-पितामह, अर्जुन आदि योद्धा क्या मांसभक्षी थे ।

मांस-भक्षण के लिये न मारा गया हो, स्वयं मर गया हो, ऐसे प्राणियों का मांस खाने में भी पाप है, क्योंकि मुर्दा मांस में उसी जाति के जीवों की हर समय उत्पत्ति होती रहती है जो दिखाई भी नहीं देते और वे जीव मांस भक्षण से मर जाते हैं । वनस्पति भी तो एक इन्द्रिय जीव है फिर अनेक प्रकार की सब्जियां खाकर अनेक जीवों की हिंसा करने की अपेक्षा

---

1. Inter-Allied Food Commission Report London, July 8, 1918.

2. Prof. Moodia : Bombay A. League Publication No. XVII P. 14.

3-4. *Meat Eating A study* (South I.H. League) Vol. I pp. 3-5.

5. Royal Commission on T. B. reports that it is a cognisable fact about 50% of the cattle killed for food are tuberculous and T. B. is infectious. - Bombay H. League Tract No. 17. p. 19.

6. Science tells us that 4 times as much energy has to be expended to assinilate meat than vegetable products. —*Ibid.* p. 15.

7. World-fame Medical Experts —Graham, O.S. Fyler. J.F. Newton, J. Smith etc. Corroborate the fact that meat eating causes various diseases such as Rheumatism, Paralysis, Cancer, Pulminary. Tuberculosis, Constipation. fever, Intestinal worms etc. —Meat Eating, A study. p. 15.

8. Flesh eating in one of the most serious causes of diseases, that carry 99% of the people that are born. —*Ibid.* p. 15.

9. Mahatma Gandhi : Arogya Sadhan.

10. Many people erroneously think that there is more food value in meat. Scientists after careful investiagation have found more food value in one pound of peanuts than in 5 pounds of flesh food.—Health & Longevity (Oriental Watchman, Poona) p. 35.

तो एक वड़े पशु का वध करना उचित है, ऐसा विचार करना भी ठीक नहीं है क्योंकि चल-फिर न सकने वाले एक इन्द्रीय स्थावर जीवों की अपेक्षा चलते-फिरते दो इन्द्रिय त्रस जीवों के वध में असंख्य गुणा पाप है बकरी, गाय, भैंस बैल आदि पंच इन्द्रिय जीवों का वध करना तो अनन्तानन्त असंख्य गुणा दोष है। अन्न-जल के विना तो जीवन का निर्वाह असम्भव है, परन्तु जीवन की स्थिरता के लिये मांस की विल्कुल आवश्यकता नहीं है।

विष्णुपुराण के अनुसार, 'जो मनुष्य मांस खाते हैं वे थोड़ी आयु वाले, दरिद्री होते हैं।[1] महाभारत के अनुसार, 'जो दूसरों के मांस से अपने शरीर को शक्तिशाली वनाना चाहते हैं, वे मर कर नीच कुल में जन्म लेते हैं और महादुखी होते हैं।[2] पार्वती जी शिव जी से कहती हैं—'जो हमारे नाम पर पशुओं को मार कर उनके मांस और खून से हमारी पूजा करते हैं, उनको करोड़ों कल्प नरक के महादुख सहन करने पड़ेंगे।[3] महर्षि व्यास जी के कथनानुसार—'जीव-हत्या के विना मांस की उत्पत्ति नहीं होती इसलिए मांसभक्षी जीव-हत्या का दोषी है।'[4] महर्षि मनु जी के शब्दों में, 'जो अपने हाथ से जीव-हत्या करता है, माँस खाता है, वेचता है, पकाता है, खरीदता है या ऐसा करने को राय देता है वह सब जीव हिंसा के महापापी हैं।[5] भीष्मपितामह के शब्दों में, 'मांस खाने वालों को नरक में गरम तेल के कढ़ाओं में वर्षों तक पकाया जाता है।[6] श्रीकृष्ण जी के शब्दों में, 'यह वड़े दुख की वात है कि फल, मिठाई आदि स्वादिष्ट भोजन छोड़ कर कुछ लोग मांस के पीछे पड़े हुए हैं।'[7] महर्षि दयानन्द जी ने भी मांस भक्षण में अत्यन्त दोष वताये हैं।[8] स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार, 'मांस भक्षण तहज़ीव के विरुद्ध है।[9] मौलाना रूमी के अनुसार, 'हजारों खज़ाने दान देने, खुदा की याद में हजारों रात जागने और हजार सजदे करने और एक-एक सजदे में हजार वार नमाज पढ़ने को भी स्वीकार नहीं करता, यदि तुमने किसी तिर्यंच का भी हृदय दुखाया।[10] शेखसादी के अनुसार, 'जव मुँह का एक दाँत निकालने से मनुष्य को अत्यन्त पीड़ा होती है तो विचार करो कि उस जीव को कितना कष्ट होता है जिसके शरीर से उसकी प्यारी जान निकाली जावे।[11] फिरदौसी के अनुसार, 'कीड़ी को भी अपनी जान इतनी ही प्यारी है, जितनी हमें, इसलिये छोटे से छोटे प्राणी को भी कष्ट देना उचित नहीं।'[12] हाफ़िज अलया-उलरहीम साहिव के अनुसार—'शराव पी, कुरानशरीफ को जला, कावा को आग लगा, वुतखाने में रह, लेकिन किसी भी जीव का दिल न दुखा।[13] हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई तथा फारसी आदि सव ही धर्म मांस-भक्षण का निषेध करते हैं,[14] इसलिए महाभारत के कथनानुसार सुख-शान्ति तथा supreme peace के अभिलाषियों को मांस का त्यागी होना उचित है,[15]

---

१. अल्पायुषो दरिद्राश्च परकर्मोपजीविनः।
दुष्कुलेषु प्रजायन्ते ये नरा मांसभक्षकाः
—विष्णुपुराण

२. स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयतुमिच्छति !
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् सनृशंसतरो नरः ॥
—अनु. पर्व, अध्याय ११६

३. मदर्थे शिव कुर्वन्ति तामसा जीवघातनम्।
आकल्पकोटि नरके तेषां वासो न संशय ॥
—पद्मपुराण शिवं प्रति दुर्गा

४. Meat is not produced from grass, wood or stone. Unless life is killed meat can not be obtained. Flesh eating therefore is a great evil. —Mahabharata. Anusasan Parva. 110-13

५. Manu ji : Manusmriti, 5-51.

६. Meat eaters take repeated births in various wombs and are put every time to unnatural death through forcible suffocation. After every death they go to 'Kumbhipaka Hell' where they are baked on fire like the Potter's vessel. —M.B. Anu 115-31

७. It is pity that wicked discarding sweetmeats and vegetable etc. pure food, hanker after meat like demons. —Ibid. 116-1-2

८. Urdu Daily Pratap, Arya Samaj Edition (Nov. 30. 1953) p. 6.

९. "Meat eating is uncivilized" —Meat Eating A Study p. 8.

२—शराब का त्याग: शराब अनेक जीवों की योनि है जिसके पीने से वह मर जाते हैं, इसलिए इसका पीना निश्चित रूप से हिंसा है। Dr. A. C. Selman के अनुसार यह गलत है कि शराब से थकावट दूर होती है या शक्ति बढ़ती है।[१] फ्रांस के Experts खोज के अनुसार, "शराब पीने से बीवी-बच्चों तक से प्रेम-भाव नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है, चोरी, डकैती आदि की आदत पड़ जाती है। देश का कानून भंग करने से भी नहीं डरता, यही नहीं बल्कि पेट, जिगर, तपेदिक आदि अनेक भयानक बीमारियां लग जाती है।[२] इंगलैण्ड के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री Gladstone के शब्दों में युद्ध, काल और प्लेग की तीनों इकट्ठी महा-आपत्तियां भी इतनी बाधा नहीं पहुंचा सकती जितनी अकेली शराब पहुंचाती है।[३]

३. मधु का त्याग—शहद मक्खियों का उगाल है। यह बिना मक्खियों के छत्ते को उजाड़े प्राप्त नहीं होता इसलिये महाभारत में कहा है, "सात गांवों को जलाने से जो पाप होता है, वह शहद की एक बूंद खाने में है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जो लोग सदा शहद खाते हैं, वे अवश्य नरक में जावेंगे।[४] मनुस्मृति में भी इसके सर्वथा त्याग का कथन है,[५] जिसके आधार पर महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने भी सत्यार्थ प्रकाश के समुल्लास ३ में शहद के त्याग की शिक्षा दी है। चाणक्य नीति में भी शहद को अपवित्र वस्तु कहा है[६] इसलिये मधु-सेवन उचित नहीं है।

४. अभक्षण का त्याग—जिस वृक्ष से दूध निकलता है उसे क्षीरवृक्ष या उदुम्बर कहते हैं। उदुम्बर फल त्रस जीवों की उत्पत्ति का स्थान है इसलिए अमरकोष में उदुम्बर का एक नाम 'जन्तु फल' भी कहा है और एक नाम 'हेमदुग्धक है, इसलिये पीपल, गूलर, पिलखन, बड़ और काक ५ उदुम्बर के फलों को खाना त्रस अर्थात् चलते-फिरते जन्तुओं की संकल्प हिंसा है। गाजर, मूली, शलजम आदि कन्द-मूल में भी त्रस जीव होते हैं, शिवपुराण के अनुसार, 'जिस घर में गाजर, मूली, शलजम आदि कन्द-मूल पकाये जाते हैं वह घर मरघट के समान है। पितर भी उस घर में नहीं आते और जो कन्दमूल के साथ अन्न खाता है उसकी शुद्धि और प्रायश्चित सौ चान्द्रायण व्रतों से भी नहीं होती। जिसने अभक्षण का भक्षण किया उसने ऐसे तेज़ ज़हर का सेवन किया जिसके छूने से ही मनुष्य मर जाता है। बैंगन आदि अनन्तानन्त बीजों के पिण्ड के खाने से रौरव नाम के महा

---

१. This book's PP. 60-69.

२. "He who desires to attain Supreme-Peace should on no account eat meat".

—Mahabharta. Anu. 115-55

३. "Every class and kind of wine, whisky brandy, gin. beer or today all contain alcohol which is not a food, but is a powerful poison. Thinking that it is a useful medicine, removes tiredness, helps to think or increases strength is absolutely wrong. It stupefies brain, destroys power. spoils health. shortens life and does not cure disease at all".

—Health and Longevity (Oriental Watchman P. H. Poona) P.97-101.

४. "Wine causes to lose natural effection, renders ineficient in work and leads to steal and rob and makes an habitual lawbreaker. It is a prime cause of many serious diseases—Paralysis, inflammation, insanity, kidneys, tuberculosis etc."

—I bid. P. 97.

५. "The combined harm of three great scourges—war, famine and pestilence is not as terrible as wine drinking."

—Ibid. P. 97

६. सप्ता ग्रामेषु दग्धेषु यत्पापं जायते नृणाम्।
तत्पाप जायते पुंसां मधु विन्द्वेक भक्षणात्॥—महाभारत

७. वर्जयेन्मधुमांसंच······प्राणिनां चैव सिंहनम्। मनु० २, श्लोक १७७

८. सुरां मत्स्यान् मधुमांसमासव कृसरोदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतत् नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥—चा० नीति अ० ४, श्लो० १९

दुःखदायी नरक में दुःख भोगने पड़ते हैं।[1] श्रीकृष्ण जी के शब्दों में अचार, मुरब्बा आदि अभक्ष्य, आलू-शकरकन्द आदि कन्द और गाजर, मूली, गंठा आदि मूल खाने वाले को नरक की वेदना सहन करनी पड़ती है।[2]

५. बिना छने जल का त्याग—जैन धर्म अनादि काल से कहता चला आया है कि वनस्पति, जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी एक इन्द्रिय स्थावर जीव हैं परन्तु संसार न मानता था। डा० जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति को वैज्ञानिक रूप से जीव सिद्ध कर दिया तो संसार को जैन धर्म की सच्चाई का पता चला। इसी प्रकार जल को जीव मानने से इन्कार किया जाता रहा तो कैप्टिन स्ववोर्सवी ने वैज्ञानिक खोज से पता लगाया कि पानी की एक छोटी सी बूंद में ३६४५० सूक्ष्म जन्तु होते हैं,[3] जिसके आधार पर महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने भी सत्यार्थ प्रकाश के दूसरे समुल्लास में जल को छान कर पीने के लिये कहा है।

३६ अंगुल चौड़े, ४८ अंगुल लम्बे. मजबूत, मल रहित, गाढ़े, दुहरे, शुद्ध खद्दर के वस्त्र से जो कहीं से फटा न हो, पानी छानना उचित है। यदि बरतन का मुंह अधिक चौड़ा है तो उस बरतन के मुंह से तीन गुणा दोहरा खद्दर का प्रयोग करना चाहिये। और छने हुए पानी से उस छनने को धोकर उस धोवन को उसी बावड़ी या कुएँ में गिरा देना चाहिये जहां से पानी लिया गया हो। यह कहना कि पम्प का पानी जालो से छन कर आता है, उचित नहीं। क्योंकि जालो के छेद मोटे होने के कारण छोटे सूक्ष्म जीव उन छेदों में से आसानी से पार हो जाते हैं। यह समझना भी ठीक नहीं है—"म्युनिसिपैलिटी फिल्टर से शुद्ध पानी भरती है इसलिये टंकी के पानी को छानने से क्या लाभ ?" एक बार के छने हुए पानी में ४८ मिनट के बाद फिर जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए जीव-हिंसा से बचने तथा अपने स्वास्थ्य के लिये छने हुए पानी को भी यदि वह ४८ मिनट से अधिक काल का है, ऊपर लिखी हुई विधि के साथ दोबारा छानना उचित है।

६. रात्रि भोजन का त्याग अन्धेरे में जीवों की अधिक उत्पत्ति होने के कारण रात्रि में भोजन करना या कराना घोर हिंसा है। यह कहना कि बिजली की तेज रोशनी से दिन के समान चांदना कर लेने पर रात्रि भोजन में क्या हर्ज है? उचित नहीं। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया कि (Oxygen) तन्दुरुस्ती को लाभ और (Carbonic) हानि पहुंचाने वाली है। वृक्ष दिन में कारबॉनिक चूसते हैं और आक्सीजन छोड़ते हैं जिसके कारण दिन में वायु-मण्डल शुद्ध रहता है और शुद्ध वायु-मण्डल में किया हुआ भोजन तन्दुरुस्ती बढ़ाता है। रात्रि के समय वृक्ष भी कारबॉनिक गैस छोड़ते हैं जिसके कारण वायुमण्डल

---

१. यस्मिन् गृहे सदा नित्यं मूलकं पच्यते जनैः।
श्मशान तुल्यं तद्वेश्म पितृभिः परिवर्जितम्॥
मूलकेन समं चान्नं यस्तु भुङ्क्ते नराधमः।
तस्य शुचिर्न विद्येत् चान्द्रायण शतैरपि॥
भुक्तं हलाहलं तेन कृतं चाभक्ष्यभक्षणम्।
वृंताकभक्षणं चापि नरो याति च रौरवम्॥—शिवपुराण

२. चत्वारो नरकद्वारं प्रथमं रात्रिभोजनम्।
परस्त्रीगमनं चैव संधानानन्तकाय ते॥
ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य मासमेकेन जायते॥
नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिरः।
तपस्विनो विशेषेण गृहिणां च विवेकिनाम्॥—महाभारत

अर्थात्—श्रीकृष्ण जी ने युधिष्ठिर जी को नरक के जो (१) रात्रि भोजन, (२) परस्त्री-सेवन, (३) अचार-मुरब्बा आदि का भक्षण, (४) आलू, शकरकन्दी आदि कन्द अथवा गाजर, मूली, गंठा आदि मूल का खाना, यह चार द्वार बताये और कहा कि रात्रि भोजन के त्याग से १ महीने १५ दिन के उपवास का फल स्वयं प्राप्त हो जाता है।

३. 'सिद्ध पदार्थ विज्ञा०' यू० पी० गवर्नमेन्ट प्रेस, सरल जैनधर्म. पृ० ६५-६६

४. 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्॥—मनुस्मृति ६। ६४

दूषित होता हैं। ऐसे वातावरण में भोजन करना शरीर को हानिकारक है। सूरज की रोशनी का स्वभाव सूक्ष्म जन्तुओं को नष्ट करने और नजर न आने वाले जीवों की उत्पत्ति का है। दीपक, हण्डे तथा बिजली की तेज रोशनी में भी यह शक्ति नहीं बल्कि इसके विरुद्ध बिजली आदि का स्वभाव मच्छर आदि जन्तुओं को अपनी तरफ खींचने का है, इसलिये तेज से तेज बनावटी रोशनी में भोजन करना वैज्ञानिक दृष्टि से भी अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण है।[1]

सूर्य की रोशनी में किया हुआ भोजन जल्दी हज्म हो जाता है इसलिये आयुर्वेदिक के अनुसार भी भोजन का समय रात्रि नहीं बल्कि सुबह और शाम है।

रात्रि को तो कबूतर और चिड़िया आदि तिर्यंच भी भोजन नहीं करते। महात्मा बुद्ध ने रात्रि भोजन की मनाही की है।[3] श्रीकृष्णजी ने युधिष्ठर जी को नरक जाने के जो चार कारण बताये हैं, रात्रि भोजन उन सब में प्रथम कारण है।[4] उन्होंने यह भी बताया कि रात्रि भोजन का त्याग करने से १ महीने में १५ दिन के उपवास का फल प्राप्त होता है।[5] महर्षि मार्कण्डेय के शब्दों में रात्रि भोजन करना, मांस खाने और पानी पीना लहू पीने के समान महापाप है।[6] महाभारत के अनुसार, 'रात्रि भोजन करने वाले का जप, तप, एकादशी व्रत, रात्रि जागरण, पुष्कर यात्रा तथा चान्द्रायण व्रतादि निष्फल है।[7] इसलिए वैज्ञानिक, आयुर्वेदिक, धार्मिक, सब ही दृष्टि से रात्रि भोजन करना और कराना उचित नहीं है।

७- हिंसा का त्याग—मांस, शराब, शहद, अभक्षण, बिन छाना जल तथा रात्रि भोजन के ग्रहण करने में तो साक्षात् हिंसा है ही परन्तु महर्षि पातंजलि के अनुसार, यदि हमारी वजह से हिंसा हो तो स्वयं हिंसा न करने पर भी हम हिंसा के दोषी हैं,[8] इसलिये ऐसी हिंसा का भी त्याग किया जावे, जिसको हम हिंसा नहीं समझते।

(क) फैशन के नाम पर हिंसा—सूत के मजबूत कपड़े, टीन के सुन्दर सूटकेस, प्लास्टिक की पेटी, घड़ी के तस्मे, बटवे आदि के स्थान पर रेशमी वस्त्र और चमड़े की वस्तुएं खरीदना।

(ख) उपकारिता के नाम पर हिंसा—बिच्छू, साँप, भिरड़ आदि को देखते ही डण्डा उठाना, चाहे व शान्ति से जा रहे हों या तुम्हारे भय से भाग रहे हों। महात्मा देवात्मा जी के शब्दों में, जहरीले जानवरों को भी कभी-कभी पृथ्वी पर चलने का अधिकार है इसलिये अपने जीवन की रक्षा करते हुए उनको शान्ति से जीने देना चाहिये।

---

१. We can ward off diseases by judicious choice of food light. From our own laboratories experience, we observe that carbohydrates oxidized by air, only in presence of light. In a tropical country like India, the quality of food taken by an average individual is poor, but the abundance of sunlight undoubtedly compensates for this dietory deficiency. —Prof. N.R. Dhar D. Sc: J.H.M. (Nov. 1928) P. 28-31.

२. सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः॥—ऋषि सुश्रुत

३. मज्झिमनिकाय, लकुटीकोपम सुत्त, जिसका हवाला डा० जगदीशचन्द के महावीर वर्धमान (भ० जै० महामण्डल, वर्धा) पृ० ३२ पर है।

४-५ इसी ग्रन्थ का फुटनोट नं० २।

६. अस्तंगते दिवानाथे, अपां रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेय महर्षिणा॥ मार्क. पु० अ० १३ श्लोक २

७. मद्यमांसशनं रात्री भोजनं कन्द भक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जयस्तपः॥
वृथा एकादशी प्रोक्ता वृथा जागरणं हरे।
तथा च पुष्करी यात्रा वृथा चांद्रायणं तपः॥महाभारत

८. Personally to kill creatures, to cause creatures to be killed by others and to support killing are three main forms of Hinsa.
—Patanjali the Yogdarshana 2/34

९. This book's.

(ग) व्यापार के नाम पर हिंसा—महाभारत के अनुसार मांस तथा चमड़े की वस्तुएं खरीदना, बेचना और ऐसा करने का मत देना।[1]

(घ) अहिंसा के नाम पर हिंसा—कुत्ता आदि पशु के गहरा जख्म हो रहा है, कीड़े पड़ गये, मवाद हो गया, दुख से चिल्लाता है तो उसका इलाज करने के स्थान पर, पीड़ा से छुटाने के बहाने से उसे जान से मार देना। यदि यही दया है तो अपने कुटुम्बियों को जो शारीरिक पीड़ा के कारण उनसे भी अधिक दुःखी हों क्यों नहीं जान से मार देते ?

(ङ) सुधार के नाम पर हिंसा—बड़ों का कहना है 'नीयत के साथ बरकत होती है।' जब से हमने अनाज की बचत के लिये चूहे, कुत्ते, बन्दर, टिड्डी आदि जीवों को मारना आरम्भ किया अनाज की अधिक पैदावार तथा अच्छी झड़त होना ही बन्द हो गई।

(च) धर्म के नाम पर हिंसा—देवी-देवताओं के नाम पर तथा यज्ञों में जीव बलि करना और उससे स्वर्ग की प्राप्ति समझना।

(छ) भोजन के नाम पर हिंसा—मांस का त्याग करने के स्थान पर मछलियों की काश्त करके मांस भक्षण का प्रचार करना और कराना।

(ज) विज्ञान के नाम पर हिंसा—शरीर की रचना और नसें-हड्डी आदि चित्रादि से समझाने की बजाय असंख्यात खरगोश तथा मेंढक आदि को चीर फेंकना।

(झ) दिल बहलाव के नाम पर हिंसा—दूसरों की निन्दा करके, गाली देकर, हँसी उड़ाकर, चूहे को पकड़कर बिल्ली के निकट छोड़कर, शिकार खेलकर, तीतर बटेर लड़वाकर और दूसरों को सताकर आनन्द मानना।

८- अर्हन्त भक्ति : श्री भर्तृहरि कृत, शतकत्रय के अनुसार 'अर्हन्त' समस्त त्यागियों में मुख्य हैं। स्कन्ध पुराण के अनुसार, वही जिह्वा है जिससे जिनेन्द्र की पूजा की जावे वही दृष्टि है जो जिनेन्द्र के दर्शनों में तल्लीन हो और वही मन है जो जिनेन्द्र में रत हो।[2] विष्णु पुराण के अनुसार, अर्हत मत (जैनधर्म) से बढ़कर स्वर्ग और मोक्ष का देने वाला कोई दूसरा धर्म नहीं है।[3] मुद्राराक्षस नाटक में अर्हन्तों के शासन को स्वीकार करने की शिक्षा है।[4] महाभारत में जिनेश्वर की प्रशंसा का कथन है।[5] मुहुर्त चिन्तामणि नाम के ज्योतिष ग्रन्थ में जिनदेव की स्थापना का उल्लेख है[6]। ऋग्वेद में लिखा है, हे अर्हन्त देव ! आप विधाता हैं, अपनी बुद्धि से बड़े भारी रथ की तरह संसार चक्र को चलाते हैं। आपकी बुद्धि हमारे कल्याण के लिये हो। हम आपका मित्र के समान सदा संसर्ग चाहते हैं। अर्हन्तदेव से ज्ञान का अंश प्राप्त करके देवता पवित्र होते हैं।[7] हे अग्निदेव ! इस वेदी पर सब मनुष्यों से पहले अर्हन्तदेव का मन से पूजन और फिर उनका आह्वान करो। पवनदेव, अच्युत देव, इन्द्रदेव और श्री देवताओं की भाँति अर्हन्त का पूजन करो[8] ये सर्वज्ञ हैं। जो मनुष्य अर्हन्तों की पूजा करता है, स्वर्ग के देव उस मनुष्य की पूजा करते हैं[9]।

---

१. He who purchases, sells, deals, cooks or eat flesh comits hinsa.
—Mahabharat (Anu) 115/24

२-४. इसी ग्रन्थ के फुटनोट।

५. 'काल नेमि महावीरः शौरि शूरि जिनेश्वरः' (अ० पर्व) अ० १४६।

६. शिवोन् युग्मेद्वितनौ च देव्यः क्षुद्रारचरे सर्वं इमेस्थिरर्क्षे।
पुष्येगृहाविघ्न पयक्ष सर्प भूतादयोत्ये श्रवणे जिनश्च ॥६३॥ नक्षत्र २

७. इमं स्तो ममर्हन्ते जातवेदसे रथमिव संमहेमा मनीषया।
भद्राहिनः प्रेमतिरस्य संद्यग्ने सख्ये मारिषगमावय तव ॥ ऋग्वेद मं० १, अ० १५, मु० ६४

८. ता वृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदमा।
अर्हन्ताचित्पुरो दधेऽशेव देवावर्वते ॥ —अ० मं० ५, अ० ६ मू० ८६

९. ईडितो अग्ने सननानो अर्हन्तदेवान्यक्षि मानुषत्पूर्वो अद्य।
स आवह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरोवर्हिषदं यजध्वन् ॥ —ऋग्वेद मण्डल २, अध्याय ११, सूक्त ३

१०. अर्हन्ताये सुदानवो नरो असामि शवसः।
प्रयज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चामरुद्भ्यः ॥—ऋ० मं० ५ अ० ४, मू०५२

यह तो स्पष्ट है कि अर्हन्त···अर्हन्···जिनेन्द्र ··जिनदेव ··जिनेश्वर अथवा तीर्थंकर की पूजा का कथन वेदों और पुराणों में भी है। अब केवल प्रश्न इतना रह जाता है कि यह जैनियों के पूज्यदेव हैं या कोई अन्य महापुरुष ? हिन्दी शब्दार्थ तथा शब्द कोषों के अनुसार इनका अर्थ जैनियों के 'पूज्यदेव' हैं। यही नहीं बल्कि इनके जो गुण और लक्षण जैनधर्म बताता है वही ऋग्वेद स्वीकार करता है, "अर्हन्देव ! आप धर्मरूपी बाणों, सदुपदेश (हितोपदेश) रूपी धनुष तथा अनन्तज्ञान आदि आभूषणों के धारी, केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) और काम, क्रोधादि कषायों से पवित्र (वीतरागी) हो। आप के समान कोई अन्य बलवान नहीं, आप अनंतानन्त शक्ति के धारी हो।[1] फिर भी कहीं किसी दूसरे महापुरुष का भ्रम न हो जाये, स्वयं ऋग्वेद ने ही स्पष्ट कर दिया, "अर्हन्तदेव आप नग्न स्वरूप हो, हम आपको सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए यज्ञ की वेदी पर बुलाते हैं।[2]

कहा जाता है—मूर्ति जड़ है इसके अनुराग से क्या लाभ ? सिनेमा जड़ है लेकिन इसकी बेजान मूर्त्तियों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, पुस्तक के अक्षर भी जड़ हैं, परन्तु ज्ञान की प्राप्ति करा देते हैं, चित्र भी जड़ हैं लेकिन बलवान योद्धा का चित्र देख कर क्या कमजोर भी एक बार मूँछों पर ताव नहीं देने लगते ? क्या वैश्या का चित्र हृदय में विकार उत्पन्न नहीं करता ? जिस प्रकार नक्शा सामने हो तो विद्यार्थी भूगोल को जल्दी समझ लेता है उसी प्रकार अर्हन्तदेव की मूर्ति को देख कर अर्हन्तों के गुण जल्दी समझ में आ जाते हैं। मूर्त्ति तो केवल निमित्त कारण (object of devotion) है।[3]

कुछ लोगों को शंका है कि जब अर्हन्तदेव इच्छा तथा रागद्वेष रहित हैं, पूजा से हर्ष और निन्दा से खेद नहीं करते, कर्मानुसार फल स्वयं मिलने के कारण अपने भक्तों की मनोकामना भी पूरी नहीं करते तो उनकी भक्ति और पूजा से क्या लाभ ? इस शंका का उत्तर स्वा० समन्त भद्राचार्य जी ने स्वयम्भूस्तोत्र में बताया :—

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे ने निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथाऽपि ते पुण्य-गुण स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताजंनेभ्यः ॥५७॥

अर्थात्— श्री अर्हन्तदेव। राग-द्वेष रहित होने के कारण पूजा-वन्दना से प्रसन्न और निन्दा से आप दुखी नहीं होते और न हमारी पूजा अथवा निन्दा से आपको कोई प्रयोजन है। फिर भी आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप-मल से पवित्र करता है। श्रीमानतुंगाचार्य ने भी भक्तामर स्तोत्र में इस शंका का समाधान करते हुए कहा :—

आस्तां तव स्तवनमस्त समस्त दोषं त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्त्र किरणः कुरुते प्रभैव पद्माकरेषु जलजानि विकासभांजि।

अर्थात्—भगवन् ! सम्पूर्ण दोषों से रहित आपकी स्तुति की तो बात दूर है, आपकी कथा भी प्राणियों के पापों का नाश करती है। सूर्य की तो बात जाने दो उसकी प्रभामात्र से सरोवरों के कमलों का विकास हो जाता है। आचार्य कुमुदचन्द्र ने भी बताया :—

हृद्वर्त्तिनि त्वयि विभो शिथिलिप भवन्ति, जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभागमभ्यागते वनशिखिण्डिनि चन्दनस्थ ॥

अर्थात्—हे जिनेन्द्र ! हमारे लोभी हृदय में आपके प्रवेश करते ही अत्यन्त जटिल कर्मों का बन्धन उसी प्रकार ढीला पड़ जाता है जिस प्रकार वन मयूर के आते ही सुगन्ध की लालसा में चन्दन के वृक्ष से लिपटे हुए लोभी सर्पों के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं।

---

१. इसी ग्रन्थ के फुटनोट नं० २, और फुटनोट नं० ३
अर्हन्विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दय से विश्वमभ्वं नवाओजीयोरुद्र त्वदस्ति ॥ऋ० २।४।३३

२. द्वेनप्चुर्देववतः शते गोर्द्धारथाव वधूमन्ता सुदासः।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्यदानं होतेव सद्मयेंमि रेमन् ॥ऋ० ७।२।१८

३. Great men are still admirable. The unbelieving French believe in their Voltaire and burst out round him into very curious hero-worship: Does not every true man feel that he is himself made higher by doing reverence to what really above him.
—English Thinker Thomas Carlyle

कुछ लोगों को भ्रम है कि जव माली की अव्रती कन्या अर्हन्त भगवान के मन्दिर की चौखट पर ही फूल चढ़ाने से सौ धर्म नाम के प्रथम स्वर्ग की महाविभूतियों वाली इन्द्राणी हो गई।[1] वनदत्त नाम के ग्वाले को अर्हन्तदेव के सम्मुख कमल का फूल चढ़ाने से राजा पद मिल गया। मेंढक पशु तक विन भक्ति करे, केवल अर्हन्त भक्ति की भावना करने से ही स्वर्ग में देव हो गया तो दो घण्टा अर्हन्त वन्दना करने पर भी हम दुःखी क्यों है। इस प्रश्न का उत्तर श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कल्याण मन्दिर स्तोत्र में इस प्रकार दिया है :—

आकर्थितोऽपि महितोऽपि निरीक्षतोऽपि नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनवान्धवा दुःखपात्रं यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।।

अर्थात् - हे भगवन्! मैंने आपकी स्तुतियों को भी सुना, आपकी पूजा भी की, आपके दर्शन भी किये किन्तु भक्तिपूर्वक हृदय में धारण नहीं किया। हे जनवान्धव! इस कारण ही हम दुःख का पात्र वन गये क्योंकि जिस प्रकार प्राण रहित प्रिय-से-प्रिय स्त्री-पुत्र आदि भी अच्छे नहीं लगते, उसी प्रकार विना भाव के दर्शन, पूजा आदि सच्ची अर्हन्त भक्ति नहीं वलिक निरी मूर्तिपूजा है जिसके लिए वैरिस्टर चम्पतराय के शब्दों में जैनधर्म में कोई स्थान नहीं।[2] भावपूर्वक अर्हन्त भक्ति के पुण्य फल से आज पंचमकाल में भी मनवांछित फल स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। मानतुंगाचार्य को श्री ऋषभदेव की स्तुति से जेल के ४८ लौह कपाट स्वयं खुल गये।[3] समन्तभद्राचार्य की तीर्थंकर वन्दना से चन्द्रप्रभु तीर्थंकर का प्रतिविम्व प्रकट हुआ। चालुक्य नरेश जयसिंह के समय वादीराज का कुष्ठ रोग जिनेन्द्र भक्ति से जाता रहा। जिनेन्द्र भगवान पर विश्वास करने से गगवंशी सम्राट् विनयादित्य ने अथाह जल से भरे दरिया को हाथों से तैर कर पार कर लिया। जैनधर्म को त्याग कर भी होयसल वंशी सम्राट् विष्णुवर्धन को श्री पार्श्वनाथ का मन्दिर वनाने में, पुत्र सोलंकी सम्राट् कुमारपाल को श्री अजितनाथ की भक्ति से युद्धों में विजय और भरतपुर के दीवान को वीरभक्ति से जीवन प्राप्त हुआ। कदम्बवंशी सम्राट् रविवर्मा ने सच कहा है, 'जनता को श्री जिनेन्द्र भगवान की निरन्तर पूजा करनी चाहिए, क्योंकि जहां सदैव जिनेन्द्र पूजा विश्वासपूर्वक की जाती है वहीं अभिवृद्धि होती है, देश आपत्तियों और वीमारियों के भय से मुक्त रहता है और वहां के शासन करने वालों का यश और शक्ति वढ़ती है।

जैन धर्म का प्रभाव १

हम वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। हमारे घर के सामने जैन मन्दिर जी था। वहां त्याग का कथन हो रहा था। मुझ पर भी प्रभाव पड़ा और मैंने सारी उम्र के लिए रात्रि भोजन का त्याग कर दिया। उस समय मेरी आयु दस साल की थी।

एक दिन मैं और पिता जी गांव जा रहे थे। रास्ते में घना जंगल पड़ा हम अभी वीच में ही थे कि एक शेर-शेरनी को अपनी ओर आते देखा। मैं डरा, परन्तु मेरे पिता ने धीरे-धीरे णमोकार मन्त्र का जाप आरम्भ कर दिया। शेर-शेरनी रास्ता काट कर चले गये। मैंने आश्चर्य से पूछा, "पिता जी। वैष्णव-धर्म के अनुयायी होते हुए जैनधर्म के मन्त्र पर इतना गहरा विश्वास" ? पिता जी वोले कि इस कल्याणकारी मन्त्र ने मुझे वड़ी-वड़ी आपत्तियों से वचाया है। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो जैन धर्म में दृढ़ श्रद्धा रखना। मुझे जैन धर्म की सचाई का विश्वास हो गया। इसकी सचाई से प्रभावित होकर समस्त घर वार और कुटुम्ब को छोड़ कर फाल्गुण सुदी सप्तमी वीर सं० २४७४ को आत्मिक कल्याण के हेतु मैंने जैन धर्म की क्षुल्लक पदवी ग्रहण कर ली।[4]

१, आदर्श कथा संग्रह (वीर सेवा मन्दिर सरसावा, सहारनपुर) पृ० ११२।

२. इसी ग्रन्थ का पृ० ३८२-३८३।

३. Jainism is not idolatrous and it has bitterly opposed to idolworship as the iconoclastic religion. The Tirthankars are models of perfection for our soul to copy. Their images are to constantly remind for the ideal. What is Jainism. p. 122

४. मेरी जीवन गाथा, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनी घाट, वनारस।

जैन धर्म का प्रभाव—२

स्वामी दर्शनानन्द बीमार थे मैं उनसे मिलने गया। उन्होंने कहा, "अब जीवन का भरोसा नहीं।" मैंने कहा, "एक संन्यासी को मृत्यु की क्या चिन्ता ?" उन्होंने कहा, "शरीर की नहीं, केवल यह चिन्ता है कि अब जैनियों से शास्त्रार्थ कौन करेगा ?" मैंने जैनियों के साथ शास्त्रार्थ करने का संकल्प कर लिया और प्रथम मोर्चा भिवानी के जैनियों से जमा। फिर देहली, केकड़ी आदि अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ हुए। पानीपत में तो ज़बानी और लिखित शास्त्रार्थ आठ दिन तक चलता रहा। मेरी लिखी पुस्तक 'दिगम्बर जैनों से १०० प्रश्न' का पं० पन्नालाल जी न्यायदिवाकर ने जो उत्तर भेजा, उससे मुझे विश्वास हो गया कि मैंने जैन धर्म को जो समझा था, जैन धर्म उससे भिन्न है। जैन धर्म प्रथमानुयोग में नहीं बल्कि द्रव्यानुयोग में है, जो जैन धर्म का प्रमाण है। धीरे-धीरे मेरी आत्मा पर जैन धर्म की सत्यता का प्रभाव पड़ता रहा, जिसका फल यह हुआ कि मुझे जैन धर्म में श्रद्धा हो गई। जैनधर्म का ज्ञान तो पहले से ही था लेकिन श्रद्धा न थी, अब श्रद्धा हो गई तो वही ज्ञान सम्यक् ज्ञान हो गया। मैं अपनी आत्मा का वह स्वरूप पहिचान गया और कर्मों में आनन्द मानने वाले कर्मानन्द से निज (आत्मा) में आनन्द मानने वाला निजानन्द हो गया।[1]

१. विस्तार के लिए जैन-सन्देश, आगरा (२२ फरवरी, १९५१) पृ० ३-४।

अहिंसा धर्म और धार्मिक निर्दयता

अब इस बात को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह गई है, कि प्रत्येक जीव की रक्षा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। मनुष्य आधुनिक विज्ञान के द्वारा उन्नति करता हुआ अपने जीवन को जितना ही अधिक से अधिक सुखी बनाता जाता है, उतना ही पशु पक्षियों का भार हल्का होता जाता है। वैज्ञानिक खेती ने बैलों और घोड़ों के हल चलाने के गुरुत्तर कार्य को बहुत हल्का कर दिया है। रेल, मोटरकार आदि वैज्ञानिक यानों में बोझ ढोने के कार्य से अनेक पशुओं को बचा लिया है। वैज्ञानिक लोगों के शोध का कार्य अभी तक बराबर जारी है। उनको अपनी शोध के विषय में बड़ी-बड़ी आशाएं हैं। उनको विश्वास है कि एक दिन वे विज्ञान को इतना ऊंचा पहुँचा देंगे कि संसार का प्रत्येक कार्य बिना हाथ लगाये केवल बिजली का एक बटन दबाने से ही हो जाया करेगा। भोजन के विषय में उनको आशा है कि वह किसी ऐसे भोजन का आविष्कार कर सकेंगे, जो अत्यन्त अल्प मात्रा में खाए जाने पर भी क्षुधा शान्ति के अतिरिक्त शरीर में पर्याप्त मात्रा में रक्त आदि धातुओं को भी उत्पन्न करेगा। तिस पर भी यह भोजन यन्त्रों द्वारा उत्पन्न बिल्कुल निरामिष होगा। इस प्रकार वैज्ञानिक लोग मनुष्य, पशु और पक्षी सभी के बोझ को कम करने के लिए बराबर यत्न कर रहे हैं।

यद्यपि हम भारतवासी यह दावा करते हैं कि संसार के सबसे बड़े धर्मो की जन्मभूमि भारतवर्ष है, किन्तु अत्यन्त दयावान जैन और बौद्ध धर्मो की जन्मभूमि होते हुए भी जीव रक्षा के लिये जो कुछ विदेशों में किया जा रहा है, भारत में अभी उसकी छाया भी देखने को नहीं मिलती। हम समझते हैं कि विदेशी लोग म्लेच्छ खण्ड के निवासी एवं मांसभक्षी होने के कारण
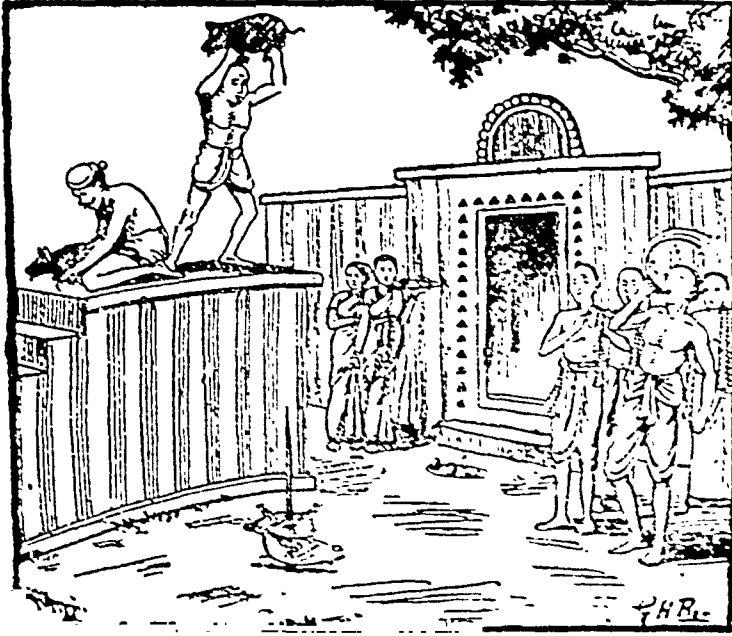
टिन्नेवेली जिले के कई स्थानों में पृथ्वी पर तेज नोक वाले भाले या बड़े कीले सीधे गाड़कर उनके ऊपर बड़ी भारी ऊंचाई से कई सूअर एक-एक करके इस प्रकार फेंके जाते हैं कि उसमें बिंधकर भाले के नीचे पहुंच जावें। इस प्रकार एक-एक भाले में एक के ऊपर कई एक सूअर जीवित ही बिंध जाते हैं। बाद में उन मूक प्राणियों की बलि दी जाती है।

हिंसाप्रिय होते हैं, किन्तु तथ्य इसके बिल्कुल विपरीत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यूरोप और अमेरिका के अधिकांश निवासी मांसभक्षी हैं, किन्तु वे पशुओं के प्रति इतने निर्दय नहीं हैं। आप उनकी इस मनोवृति पर आश्चर्य कर सकते हैं, क्योंकि आगयान

और दया का आपस में कोई मेल नहीं हो सकता। किन्तु पाश्चात्य देशों में आजकल निरामिष भोजन और प्राणियों के प्रति दया का बड़ा भारी आन्दोलन चल रहा है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय क्षत्रिय लोग ब्राह्मणों के सहयोग से हिंसामई यज्ञ याग करते-करते हिंसा से इतने ऊब गए थे कि उन्होंने भगवान् महावीर जैसे अहिंसा प्रचारकों को उत्पन्न किया उसी प्रकार आजकल पाश्चात्य देशवासी भी व्यर्थ की हिंसा और निर्दयता से ऊब गये हैं। वहां प्रत्येक देश में निरामिष भोजन का प्रचार करने वाली सभाएं हैं। आपको यूरोप तथा अमेरिका के प्रत्येक देश में शाकाहारी होटल तक मिलेंगे। अब वह जमाना टल गया जब पाश्चात्य देशों में जाने पर बिना मांस खाए काम नहीं चलता था।

निरामिष भोजन के प्रचार के अतिरिक्त वहां प्राणिणों के साथ निर्दयता का व्यवहार न करने का आन्दोलन भी प्रत्येक देश में किया जा रहा है। इस समय यूरोप के प्रत्येक देश तथा अमेरिका में जीव दया प्रचारिणी सभाएं (Humanitarian Leagues) काम कर रही हैं।

जीव दया प्रचारिणी सभाएं प्राणियों पर निर्दयता न करने का प्रचार केवल ट्रैक्टों, व्याख्यानों और मैजिक लालटेनों द्वारा ही नहीं करती, बल्कि वे अपने-अपने देशों में पशु निर्दयता निवारक कानून (Prevention of cruelty to Animal Act) भी बनवाती हैं। इसके अतिरिक्त वे जिस देश में प्राणियों के प्रति सामूहिक अन्याय किये जाने की बात सुनती हैं उसका खुला विरोध भी करती हैं। पिछले दिनों अमेरिका की जीव दया सभा ने भारत सरकार के बिना किसी प्रतिबन्ध के अमेरिका में बन्दर भेजने के कार्य का कठोर शब्दों में विरोध किया था। उन्होंने १ सितम्बर, १९३७ से ३१ मार्च, १९३८ तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के पास भी अनेक पत्र भेज कर उससे अनुरोध किया था कि वह भारत सरकार की इस प्रवृत्ति को बन्द करने में सहायता दें। अमरीका में अनेक वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में जीवित पशुओं को चीर फाड़ करके अथवा उनका आपरेशन कर के वैज्ञानिक प्रयोग किये जाते हैं। इन बंदरों को भारतवर्ष से उन्हीं प्रयोगशालाओं के लिए भेजा जाता था, वहाँ उनको अनेक

चिंगलेपट जिले के मादमववकम नामक स्थान में जीवित भेड़-बकरी के पेट को थोड़ा काटकर उसकी आंतें खींच ली जाती हैं और उन्हें सेल्लीयम्मन् देवी के सामने गले में हार की तरह पहिना जाता है।

प्रकार के काटने, फाड़ने, चीरने, छेदने आदि के कष्ट दिये जाते थे। इस कार्य का चिकित्सकों, पादरियों, जीवित प्राणियों के आपरेशन का विरोध करने वाली सभाओं तथा अन्य भी अनेक व्यक्तियों ने घोर विरोध किया।

एक अमेरिका निवासी का कहना है कि वहां प्रतिवर्ष साठ लाख प्राणियों का प्रयोगशालाओं में बलिदान किया जाता है। उनमें से केवल पांच प्रतिशत को ही बेहोश करके उनकी चीर-फाड़ की जाती है। शेष सब बिना बेहोश किये ही, चीरे-फाड़े जाते हैं। इन प्रयोगशालाओं पर किसी प्रकार का निरीक्षण नहीं है। इनमें निर्दयता पूर्ण सभी कार्य प्रयोग करने वालों की

पूर्ण सहमति से किये जाते हैं। उन प्रयोगों में पशुओं की रीढ़ की हड्डी के ऊपर खाल और मांस को हटाकर उनकी नाड़ियों को उत्तेजित करके उनको फासफोरस से जलाया जाता है। फिर उनको उबलते हुए पानी में डाल दिया जाता है यह सब कुछ उन मूक पशुओं को बेहोश किये बिना किया जाता है।

इन प्रयोगों के चिकित्सा में उपयोग के विषय में भी निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। इन बन्दरों के खून में से इस प्रकार निर्दयता पूर्वक निकाले हुए पानी (Serum) को शिशु पक्षाघात में दिया जाता है। इस औषधि के विषय में खूब बढ़ा-चढ़ाकर विज्ञापन निकाले जाते हैं। किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वास्थ्य विभाग का कहना है कि इस प्रकार निर्दयता पूर्वक निकाले हुए किसी भी सीरम ने शिशु पक्षाघात को अच्छा नहीं किया।

प्राणियों पर दया तथा अव्यर्थ महौषधि न होने के कारण बन्दरों के ऊपर इस निर्दय तथा व्यर्थ प्रयोग का विरोध बड़े प्रभावशाली शब्दों में किया गया। इस विषय में कैलिफोर्निया की पशुरक्षा समिति तथा जीवित प्राणी शल्य विरोधी समिति के प्रधान ने लिखा है—'भारत के तीर्थस्थान आध्यात्मिक सौन्दर्य और उन्नति के भण्डार हैं। वह मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं को भी प्रेमभाव से रहने की शिक्षा देते हैं, अतएव ऐसी शिक्षा देने वाला भारत पवित्र नियम का उल्लंघन कुत्सित और नीच विदेशी पैसे के लिए नहीं कर सकता। हम संसार के सभी धर्मों के नाम पर आपसे दया, सत्य और न्याय के लिए अपील करते हैं। उन सब लोगों की यह बड़ी भारी अभिलाषा है कि भारतवर्ष के बन्दरों का बाहर भेजा जाना एक दम बन्द हो जाये।
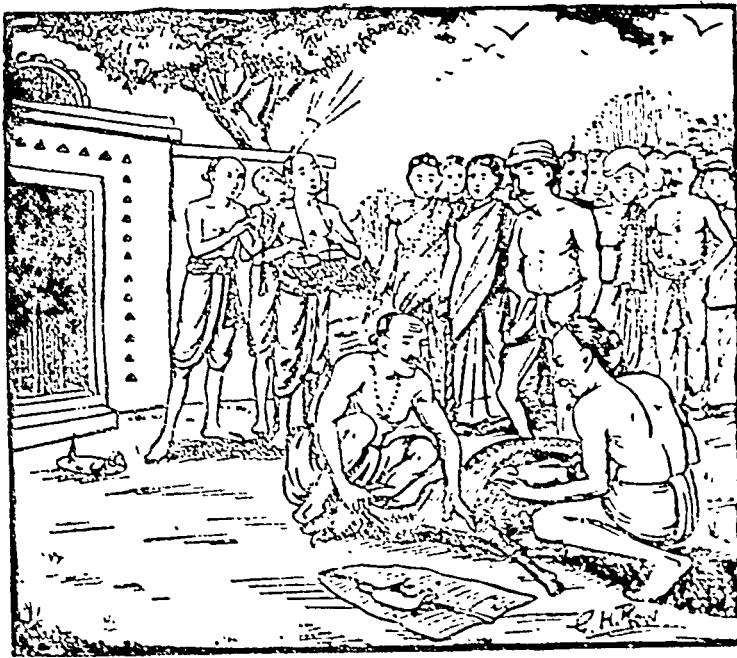
टिन्नेवली जिले में तो इतनी अमानुपिकता की जाती है, कि वहां एक गर्भवती भेड़ के गर्भाशय को फाड़कर उसमें से बच्चों को इसलिए निकाल लिया जाता है कि उन्हें देवकोट्टा में कोयेमम्मापर, मायावरम में मरियम्मापर और पाल्लमकोट्टा में अग्नि-धर्मेन पर बलि चढ़ाया जाता है।

यद्यपि स्पेन आन्तरिक युद्ध के कष्ट से जीवन और मृत्यु के सन्धि स्थल पर खड़ा था, किन्तु उन मूक प्राणियों के कष्ट से उसका हृदय भी पिघल गया था। उसकी जीव दया सभा के सितम्बर १९३७ के एक पत्र में स्पेन के उन पशुओं की रक्षा करने की अपील की गई है, जो अपने मालिकों के स्पेन के नगरों की सुनसान गलियों में खाना ढूंढते हुए घूम रहे हैं। खाना न मिलने के कारण उक्त पशुओं के पंजर निकल आए हैं। उन पशुओं में अनेक उच्च नस्ल के कुत्ते भी हैं, जो स्पेन की दस वर्षों में अनाज हो गए हैं।

माड्रिड में केवल एक समिति पशु रक्षा का कार्य करती है, किन्तु वह अत्यन्त यत्नशील होती हुई भी उनकी बढ़ी हुई संख्या के कारण उनकी आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ है। इसलिए उक्त समिति ने संसार भर के दयालु पुरुषों से अपील की है कि वह अपनी चंचल लक्ष्मी का कुछ भाग स्पेन भेजकर उन पशुओं की रक्षा के कार्य में सहायता दें।

कनाडा में भी पशुओं के प्रति निर्दयता पूर्ण व्यवहार के विरुद्ध और आन्दोलन किया जा रहा है। टोरंटो ह्यूमेन सोसाइटी के मैनेजिंग डाइरेक्टर मिस्टर जान मैकनल ने पशुओं के ऊपर वैज्ञानिक प्रयोग किये जाने का विरोध जोरदार शब्दों

में किया है। कनाडा की पशुरक्षा-समिति जीवित प्राणियों का आपरेशन करने के विरुद्ध और आन्दोलन कर रही है, कनाडा की पशु निर्दयता निवारक समिति (Society for the Prevention of Cruelty to Animals) की रिपोर्ट को देखने पर

दक्षिणी अरकाट जिलें के पूवानूर नामक स्थान में वकरे के गले को नेहानी वा छीनी से धीरे-धीरे काटकर उसको असीम वेदना पहुंचाई जाती है। वलिदान का यह कार्य संभवत: कसाई के हलाल करने से भी अधिक निरदयतापूर्ण है।
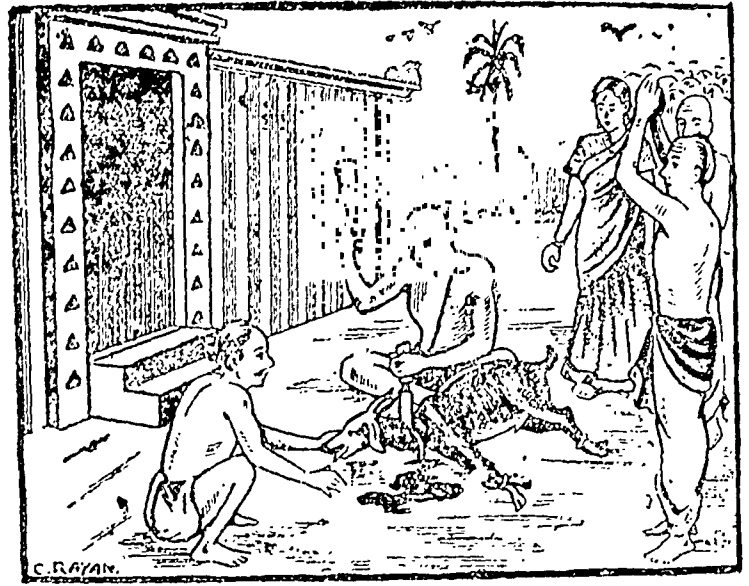
पता चलता है कि समिति के पास आर्थिक साधनों की कमी नहीं है। उसी वर्ष उसको अकेली ए० क्राप्ट जर्विस स्टेट से ही दस सहस्त्र डालर मिले थे, इसके पदाधिकारी नगर से वाहिर १४५ मौकों पर गए। उन्होंने १८०५ पशु निर्दयता की शिकायतें सुनी, जिनमें से उन्होंने १३९८ को चेतावनी देकर छोड़ दिया और ८२ मामलों में सजा कराई। उसने १४५, ५८० वाड़ों में पशुओं का निरीक्षण किया।

विजगापट्टम जिले के अनाकवल्ले नामक स्थान में एक ऐसा वलिदान क्रिया जाता है जिसमें भाले जैसी एक तेज नोकदार छुरी को सूअर के गुदास्थान में डालकर इतने जोर से दवाया जाता हैं कि वह अन्दर के भागों को फाड़ती हुई उसके मुंह में से निकल आती है।

पशुओं की अपेक्षा हमारा पक्षियों के प्रति भी कम उत्तरदायित्व नहीं है। जैन मंदिरों में प्राय: कबूतरों को चारा डाला जाता है। वास्तव में हमारा उनके प्रति एक विशेष कर्त्तव्य है। जिन पक्षियों को मनुष्य अपने प्रेमवश किसी स्थान विशेष में

लाता है, उनके प्रति तो उसका विशेष कर्त्तव्य होता जाता है। हम लोग अपने अनाजपात को साफ करके घड़ियों गेगल आदि कूड़ियों पर फेंक देते हैं, किन्तु यदि हम उसको किसी सार्वजनिक स्थान पर डलवा दिया करें तो, उससे अनेक पक्षियों को लाभ हो सकता है। अनेक लोगों की ऐसी बुरी आदत होती है कि वह उन प्रकृति के संगीत वाहकों को लोहे के पिंजरे मे बन्द कर देते हैं, अनेक व्यक्ति तोते, मैना, आदि अनेक प्रकार के पक्षियों को पिंजरे में बन्दरखते हैं, किन्तु वह यह नहीं समझते कि प्रत्येक पक्षी जितना सुन्दर खुली वायु में स्वतन्त्रतापूर्वक श्वास लेकर गाता है उतना पिंजरे के अन्दर बन्द रह कर कभी नहीं गा सकता वास्तव में हरे हरे खेतों से उड़कर नाले आकाश में गाते हुए जाने वाले पक्षियों को देखकर कितना आनन्द होता है? इस गीत को सुनकर कभी कभी मन नहीं भरता। किन्तु स्वार्थी मनुष्य उनको पिंजरे में बन्द करके ही संतुष्ट नहीं होता, वह उनको पकड़ता है उनका शिकार करता है और उनपर अनेक प्रकार के अत्याचार करता है। कई एक व्यक्ति तो इन, निर्बल प्राणियों को मारकाट कर बड़ी शान से कहा करते हैं, कि आज हमने इतने पक्षियों का शिकार किया। शिकारियों की अपेक्षा बहेलिये या चिड़िमार लोग इन पर अधिक अत्याचार करते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व कनाडा के वेल्वेक नामक नगर में एक बहेलिये ने एक छोटी लोमड़ी को जीवित ही जाल में पकड़लिया। उसने उसको अपने घर ले जाकर उस स्थान पर टांग दिया जहाँ अनेक खालें टंगी हुई थी। उस समय वहा एक फोटोग्राफर भी था। वह उन खालों का फोटो लेना चाहता था। किन्तु उसने लोमड़ी को छटपटाते देखकर बहेलिये के निर्दयतापूर्ण कार्य का विरोध किया और कहा कि लोमड़ी के इधर उधर हिलते समय फोटो किस प्रकार लिया जा सकता है। इस पर बहेलिये ने लोमड़ी को उतारने के स्थान में उसकी अगली टांगों को एक रस्सी में बाँधकर आगे को इसप्रकार खींच कर बांध दिया कि वह हिलडुल भी न सके। इसके बाद फोटोग्राफर ने फोटो ले लिया। वह इस फोटो को पशुनिर्दयता निवारक सभा में भेजने वाला था। सारांश यह है कि पशुनिर्दयता निवारक कानून के अनुसार अनेक व्यक्तियों को छोटे २ अपराधों में दण्ड दिया जाता है, किन्तु बहेलियों
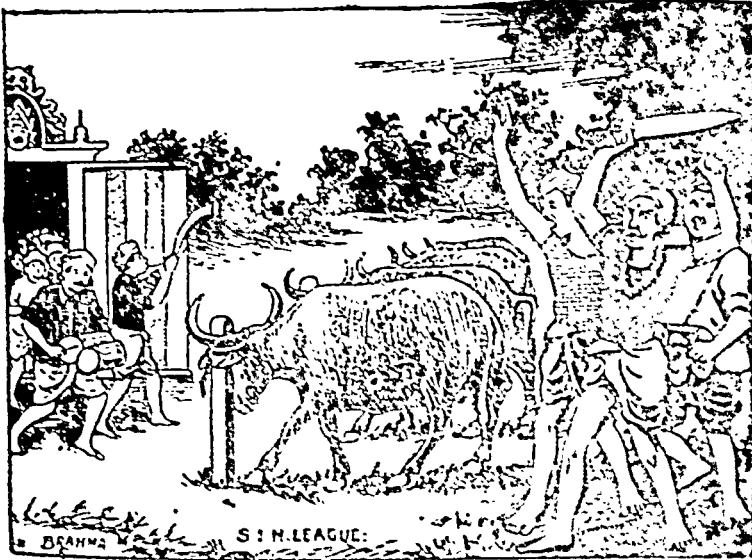
दक्षिणी अरकाट के विल्पुरम् तालुक के मदुवेत्तिमंगलम् मंदिर में एक साथ सात भैंसों को काटकर उनकी बलि दी जाती है। और यह पूजोत्सव का वहां एक साधारण रूप है।

और शिकारियों पर उक्त कानून लागू नहीं होता। किसी बच्चे के हाथ में तो जब कभी कोई कुत्ते या बिल्ली का बच्चा पड़ जाता है, उसकी आफत ही आ जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में बड़े-बड़े चिकित्सकों ने रोग और मृत्यु में कष्ट कम करने का बड़ा भारी उद्योग किया है। एडिनबरो के डाक्टर सिम्पसन को आपरेशन के समय रोगियों का तड़पना और चिल्लाना देखकर बड़ी दया आई। अन्ततः उसने बेहोश करने की औषधि को खोज निकाला।

अमेरिका में पशुओं के प्रति दयाभाव प्रदर्शित करने का प्रचार रेडियो, समाचार पत्र और व्याख्यानों द्वारा किया जाता है। वहां अनेक समितियाँ जीव दया का प्रचार कर रही है। इस विषय में वहां प्रतिवर्ष सैकड़ों ट्रैक्ट निकलते हैं। रेवरेंड डाक्टर हान पेनहालरोस ने तो जीव दया के विषय में एक सहस्र से भी अधिक कविताएं लिखी हैं।

रोरोटी की ह्यूमेन सोसाइटी तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाएं वहां इस विषय में अत्यन्त उपयोगी कार्य कर रहीं हैं। इस विषय में डाक्टर ऐलेन भी वड़ा भारी कार्य कर रहे हैं।

उपर्युक्त वर्णन से प्रगट है कि यद्यपि भारत वर्ष में शेष संसार की अपेक्षा मांसाहार का प्रचार कम है, तथापि वह जीव दया के कार्य में उससे वहुत पीछे है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, स्पेन और अमेरिका मांसाहारी देश होते हुए भी जीव दया के सम्वन्ध में भारत से वहुत आगे हैं। भारत वर्ष का दावा है कि वह कई ऐसे विश्व धर्मों की जन्मभूमि है, जिनका आधार

टिचनापली के पास पुतुर के कुलुमियायी मदिर में दो तीन माह के भेड़ के वच्चों की गर्दनें दांतों से काटकर अथवा छुरी से छेद करके देवी के सामने उनका रक्त चूसा जाता है इस घोर राक्षसी कृत्य ने तो खूंख्वार जंगली जानवरों को भी मात कर दिया है।

प्रेम और अहिंसा है, तो भी यह अत्यन्त खेद की वात है कि वह जीव दया और प्राणी रक्षा के विषय में संसार के अन्य देशों से वहुत पीछे है। संसार का एक वहुत पिछड़ा हुआ देश है।

भारतवर्ष में अभी तक परमात्मा और धर्म के नाम पर वड़े-वड़े अत्याचार करके प्राणियों को प्राणांतक कष्ट दिया जाता है। दक्षिण भारत इस विषय में शेष भारत से भी वाजी मार ले गया है। वहां मूक पशुओं पर धर्म के नाम पर वड़े-वड़े अमानुपिक अत्याचार किये जाते हैं। जिन्हें देख सुनकर रोंगटे खड़े होते हैं और दिमाग चकरम जाता है। लेख में दिये गयेकुछ चित्रों से इन अत्याचारों का आभास मिलता है। उनके वहाँ पुनः उल्लेख करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

इनके अतिरिक्त दक्षिण के अनेक जिलों में यज्ञ के लिए वकरों को मारने की प्रथा वहुत जोरों पर है वकरों के अण्डकोपों को किसी भारी वस्तु से दवाकर कुचलने आदि के अमानुषिक कर्म द्वारा उन मुक पशुओं को मरणान्तिक वेदना पहुंचाई जाती है।

इस प्रकार पशुओं को धर्म के नाम पर असह्य यंत्रणा पहुंचाने वाले कुकृत्यों के अथवा धार्मिक निर्दयता के ये कुछ उदाहरण है, जो प्रायः तिलकछाप धारी हिन्दूओं के द्वारा किये जाते हैं, और किये जाते हैं खूव गा वजाकर—हिंसानन्दी रौद्र ध्यान में मग्न होकर ! संसार के और भी भागों में इनके जैसे अन्य अनेक ऐसे कुकर्म किये जाते हैं, जिनको सुनकर हृदय काँप उठता है और समझ में नहीं आता कि ऐसे क्रूर कर्मों के करने वाले मनुष्य हैं या राक्षस अथवा जंगली जानवर।

पाश्चात्य देश यद्यपि मांसाहारी हैं किन्तु वहां प्रयोगशालाओं को छोड़कर अन्यत्र पशुओं को यंत्रणा पहुंचाकर नहीं मारा जाता। वहां पशुओं के ऊपर निर्दयता पूर्ण व्यवहार करने के विरुद्ध कानून वने हुए हैं, जिनका उल्लंघन करने पर जुर्माने

से लेकर जेल तक का दण्ड दिया जाता है। पशुओं को गाड़ी में जोत कर अधिक चलाना, उन पर अधिक बोझ लादना, उनको पेटसे कम चारा देना, निर्दयतापूर्वक पीटना और पैर बांधकर ले जाना आदि कार्य पाश्चात्य देशों में कानून विरुद्ध घोषित
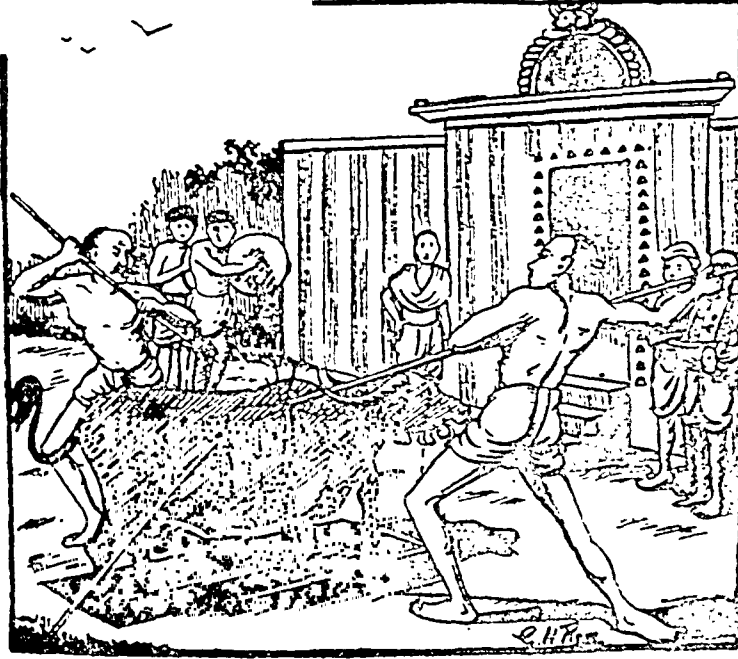
नेलोर जिले के मोपेडु नामक स्थान पर देवी के मंदिर के सामने एक चार फुट गहरा गढ़ा खोदकर उसमें एक भैंसे को उतार कर मजबूती से बांध दिया जाता है। उसके पश्चात कुछ लोग उसको भाले से छेद कर जान से मार डालते हैं। ये लोग पहले से उसको इस प्रकार मारने की शपथ लेते हैं।

कर दिये गये हैं। सन् १८६० में माननीय मिस्टर हचिनसन ने भारतीय कौंसिल में भी पशु निर्दयता निवारक बिल उपस्थित किया था। यद्यपि इस ऐक्ट के अनुसार पशुओं के साथ किये जाने वाले अनेक निर्दयता पूर्ण कार्यों को अवैध करार दे दिया

दक्षिणी अर्काट जिलेके विरुधचलम तालुक के मदुवेत्तिमंगलम् नाम के स्थान में सूअर के छोटे २ जीवित बच्चों को भाले से वींधकर और उसे विंधे रूप में ही भालों पर उठाए हुए ग्राम सड़कों पर जलूस बनाकर चलते हैं।

गया था, किन्तु धर्म के नाम पर की जाने वाली निर्दयता का इसमें भी अन्तर्भाव नहीं किया गया। इस बात को प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि मारने, पीटने अधिक बोझा लादने आदि में पशुओं को इतना दुःख नहीं होता, जितना बांध कर भालों

से छेदने, ऊपर से वर्छों भाले पर डालने, गुदा के मार्ग में लकड़ी डालकर मुंह में से निकालने. आन्तों को खींचने और अण्डकोषों को कुचलने आदि में होता है। परन्तु खेद है कि कानून निर्माताओं ने इन कार्यों को निर्दयतापूर्ण मानते हुए भी धर्म में हस्ताक्षेप करने के भय से नहीं रोका।

सितम्बर १६३८ में भारतीय व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly) ने अपने शिमला सेशन (Session) "पशु निर्दयता निवारक कानून" में कुछ और संशोधन किये हैं, किन्तु धर्म के नाम पर की जाने वाली निर्दयता को उसमें भी प्रबंध नहीं किया गया, यह खेद का विषय है।

हां इस विषय में ब्रिटिश भारत की अपेक्षा देशी राज्यों ने कुछ अधिक कार्य किया है निजाम हैदराबाद ने जून १६३८ से अपने राज्य में गऊ और ऊंट की कुरबानी करना कानून द्वारा बन्द कर दिया है। मैसूर, ट्रावनकोर तथा उत्तरी भारत के अनेक राज्यों ने भी अपने यहां वलि विरोधी कुछ कानून बनाए हैं।

पाठकों से यह छिपा नहीं है कि लोकमत के प्रबल विरोध के कारण ही भारत सरकार ने सती प्रथा को बन्द किया है, बाल विवाहों में कुछ रुकावट डाली है, लाहौर में बूचड़खाना बनाने के विचार का परित्याग किया है और बंगाल सरकार ने भी एक कानून बनाकर प्रान्त की फूका प्रथा को बन्द किया है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सरकार लोक मत प्रबलता को देखकर धर्म में भी हस्ताक्षेप करती है। अतः हमको भारत के कोने कोने में आन्दोलन करके धर्म के नाम पर पशुओं पर किये जाने वाले इन घोर अत्याचारों को एकदम बन्द करा देना चाहिए। इस समय महात्मा गांधी तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू तक पशुवलि को जंगली प्रथा बतला कर उसका विरोध

उयनपल्ली जैसे स्थानों में जीवित पशुओं की वलि देते समय उसकी गर्दन को थोड़ा-सा काट लिया जाता है फिर उस टपकते हुए रक्त को कटोरे से देवी के सामने पिया जाता है। बेचारा पशु महावेदना भोगता हुआ तड़प-तड़पकर प्राण दे देता है।

कर रहे थे और भी कुछ सज्जन प्राणों की बाजी लगाकर पशुवलिके विरोध में उठे हुए हैं। अतः यह अवसर आन्दोलन के लिए बहुत अनुकल है।

अण्डों से दिल की बीमारी, हाई ब्लैड प्रैशर आदि

(Eggs Cause Heart Diseases, High Blood Pressure etc.)

"Even if we had the best of eggs, we would be better of without them as they are too high in cholesterol, one important cause of arteries, heart, brain. kidney diseases and gall stones. Fruits at vegetables and vegetable oils have none or hardly any Cholesterol."

—Dr. Katherine Himmo, D. C. R. N. Oceano, California (U.S.A.)
(How Healthy Are Egg. p. 7)

अर्थात् यदि बढ़िया अण्डे भी मिले तो भी उनके बिना ही हम अधिक स्वस्थ रहेंगे क्योंकि उन अण्डों में कोलेस्टरोल की मात्रा इतनी अधिक होती है कि जिसके कारण अण्डों से दिल की बीमारी, हाई ब्लैड प्रैशर, गुर्दों की बीमारी, पित्त की थैली में पथरी आदि रोग पैदा होते हैं। फलों, सब्जियों और वनस्पति तेलों में कोलेस्टरोल बिल्कुल नहीं होता है।

—डा० कैथेराइन निम्मो, डी० सी० आर० एन ओसियनो, कैलीफोरनिया, (यू० एस० ए०)
(हाऊ हैल्दी आर एग्ज़ ? पृष्ठ ७)

अण्डों से धमनियों में जख्म

(Eggs Cause Corrosion of Blood Vessels.)

"Eggs are also harmful. You may say that the Egg and I get along well" but a Chemical Analysis proves differently. The yoke of the egg contains cholesterol a waxy alcohal. which deposits in the liver and blood vessels, producing corrosion and hardening of the arteries."

—Dr. J. Aman Wilkins (England)
(How Healthy Are Eggs. p. 6-7

अण्डे हानिकारक हैं। तुम्हारा यह कहना कि अण्डों से मेरा स्वास्थ्य बनता है गलत है क्योंकि रासायनिक परीक्षण का तुम्हारी धारणा के विरुद्ध फैसला है। अण्डे की जरदी में कोलेस्टरोल नामक भयानक तत्व पाया जाता है जो कि एक चिकना ऐल्कोहल (शराब) होता है। वह जिगर में जाकर जमा होता है और फिर रगों (धमनियों) में जख्म और कड़ापन पैदा करता है।

—डा० जे० अमन विल्किन्स
(हाऊ हैल्दी आर एग्ज़ पृष्ठ ? ६-७)

अंडो से पित्ताशय में पथरी

(Eggs Cause Gall—Stones)

"An egg contains about 4 grains of cholesterol. When eggs are eaten the cholesterol content of the blood rises and the tendency towards the development of gall stones and perhaps other diseases increases."

—Dr. Robert Gross and Prof. Irving Davidson (England)
(How Healthy Are Eggs. p. 3.)

एक अण्डे में लगभग ४ ग्रेन कोलेस्ट्रोल होता है। जब अण्डे खाये जाते हैं तो खून में कोलेस्टरोल की मात्रा बढ़ जाती है जिसके कारण पित्ताशय में पत्थरी और दूसरी बीमारियां पैदा हो जाती हैं।

—डा० राबर्ट ग्रास और प्रो० इरविंग डैविडसन (इंग्लैंड)
(हाऊ हैल्दी आर एग्ज़ ? पृष्ठ ३)

श्रंडों से ऐग्ज़ीमा श्रौर लकवा

(Eggs Cause Eczema and Paralysis)

"The egg white is the most harmful portion of the egg. Animafed on fresh egg-white developed a severe skin inflammation and paralysis.

—Dr. Robert Gross (England)
(How Healthy Are Eggs ? p. 3-4)

श्रण्डे की सफेदी श्रण्डे का सबसे ज्यादा खतरनाक भाग है। जिन जानवरों को श्रण्डे की सफेदी खिलाई गई उन्हें लकवा मार गया श्रौर चमड़ी सूज गई।

—डा० रावर्ट ग्रास (इंग्लैण्ड)
(हौ हैल्दी श्रार ऐग्ज ? पृष्ठ ३-४

"The factor in egg white that cause eczema is 'AVIDIN' "

—Dr. R.J. Williams (England)
(How Healthy Are Eggs ? p. 4)

श्रण्डे की सफेदी में एवीडिन नामक भयानक तत्व होता है जो ऐग्जिमा का कारण होता है।

—डा० श्रार० जे० विलियम्स इंग्लंड)
(हौ हैल्दी श्रार ऐग्ज ? पृष्ठ ४)

श्रंडों से पेट में सड़ान

(Eggs Cause Putrefaction)

"Eggs are deficient in Calcium and, do not contain Carbohydrates. So their tendency is to favour putrefactive decomposition in the intestines rather then to encourage fermentative organisms to develop."

—Dr. E.V.Mc. collum—A great medical Authority.
Newer knowledge of Notrition. p. 171.
(How Healthy Are Eggs ? p. 6.)

श्रण्डों में कैलशियम की कमी श्रौर कार्वोहाईड्रेट्स का विल्कुल श्रभाव होता है इस कारण ये वड़ी श्रांतों में जाकर सड़ान मारते हैं।

डा० इ० वी० मैक्कालम न्यू श्रार नौलेज श्राफ न्यूट्रिशन, पृष्ठ १७१
(हौ हैल्दी श्रार एग्ज ? पृष्ठ ६)

श्रण्डे श्रन्तड़ियों के कीटाणुश्रों को जहरीला बनाते हैं
श्रधिक श्रंडे पैदा करने की योजनायें-भयंकर हैं

(Intensive Egg-laying is Dangerous)

"Eggs in many people are a potent factor in rendening the mutation forms of bacillus coli communis pathogenic and this is doubtless due to the intensive egg. Laying to which hens are being subjected."

—Dr. J.E-R.Mc. Donagh, F.R.C.S. (England)
The Nature of Disease Journal Volume II p. 194
(How healthy Are Eggs ? p. 1.

अण्डे वहुत सारे मनुष्यों की अन्तड़ियों में पाये जाने वाले कामन व कोलाई कीटाणुओं को जहरीली बना देते हैं जिससे भयायक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यह अधिक अंडे प्राप्त करने की योजनाओं का फल है।

—डा० जे० इ० आर० मैक्डोनाग, एफ० आर० सी० एस० (इंग्लैंड) दि नेचर आफ डिजीज वालूयम ११ पृष्ठ आफ १६४) हौ हैल्दी आर एग्ज ? पृष्ठ १)

अण्डों से टी० बी० और पेचिश

(Eggs Cause T.B. and White Diarrhoea)

"Chicken diseases are very numerous. Eggs may carry tuberculosis from Chickens. If an infected chick survives, it will nature and lay infected eggs. Chicken leukaemia may be transmitted through the eggs. Hens infected with white diarrhoea will lay eggs containing the germs which usually co-exist with the colitis symptom complexes in human being."

—Dr. Robert Gross (England)
(How Healthy Are Eggs ? p. 1)

मुर्गी के बच्चों में वहुत सी बीमारियाँ होती हैं। अण्डे उन बीमारियों को विशेषतया टी० बी० पेचिश आदि के कीटाणुओं को अपने साथ लाते हैं और इनको खाने वालों में पैदा करते हैं।

—डा० राबर्ट ग्रास (इंग्लैंड)
(हौ हैल्दी आर एग्ज ? पृष्ठ १)

अण्डों में तेजाब (ऐसिड)

(Eggs contain Phosphoric Acid)

"Eggs are acid forming having an excess of Nitrogen, fat, and phosphoric acid and can not therefore form the Natural diet of man.

—Dr. Govind Rai
(How Healthy Are Eggs ? p. 8)

अंडों में नाइट्रोजन फास्फोरिक ऐसिड और चरबी की अधिक मात्रा होती है इस कारण शरीर में ये तेजाबी मादा पैदा करते हैं और मनुष्य को रोगी बनाते हैं।

—डा० गोविन्द राय
(हौ हैल्दी आर एग्ज ? पृष्ठ ८)

अण्डे मनुष्य के हाजमे के प्रतिकूल हैं

(Eggs do not suit Human Digestion)

"Both the bile and pancreatic juice are indifferent to egg white. Nearly 30 to 50 per-cent of the egg white passes through the digestive tract undigested."

— Prof. Okada (England)
(How Healthy Are Eggs. p. 3.

पित्त और लवलवा का रस अंडे की सफेदी के साथ नहीं मिलते हैं। अंडे की सफेदी का ३० से ५० प्रतिशत भाग भोजन प्रणाली से विना हजम हुये ही निकल जाता है।

—प्रो० ओकाडा (इंग्लैंड)
(हौ हैल्दी आर० एग्ज ? पृष्ठ ३)

अण्डे खाना डकैती है

(Egg eating involves Cruelty and Robbery)

"The egg is the unborn chick. egg eating is prenatal poultry robbery or Chicken foetus-cide."

—Dr. J. Amon Wilkins.
(How Healthy Are Eggs ? p. 6.)

अंडा अव्यक्त मुर्गी का बच्चा है। अंडा खाना एक प्रकार का गर्भ में डकैती डालने के समान है या यों कहिये मुर्गी के ही बच्चे की हत्या के बराबर है।

—डा० जे० एमन विल्किन्ज़
(हौ हैल्दी आर० एग्ज ? पृष्ठ ६)

अण्डे खाना बेहरमी (क्रूरतापूर्ण) है

(Egg Eating—An Evil Act)

"Natural Law cannot be changed from time to time. A good act bears good fruit and evil act bears bad fruit. To that destruction of life brings an evil effect on the doer. Hence do not eat meat and eggs which cause destruction of life."

—Dr. W. J. Jayasureya (Ceylon)
(How Healthy Are Eggs ? p. 5.

प्रकृति का नियम अटल है, जैसा बोओगे वैसा काटोगे। दूसरों को तबाह करके कोई सुखी होना चाहे बिल्कुल असम्भव है बल्कि उसकी तबाही भी यकीनी है। इस कारण अंडे व मांस मत खाओ ये दूसरों की जिन्दगियों को तबाह करके मिलते हैं।

—डा० डब्ल्यू जया सूरिया (लंका)
(हौ हैल्दी आर एग्ज ? पृष्ठ ५

अण्डे घृणित मादा से भरे हैं।

(Eggs are Full of Filthy Substance)

"The origin and growth of eggs is from filthy substance which man abhors even to touch. Their eating involves cruelty and robbery. They are more harmful to human healthy than anything else. Man can recoup his health and make his palate tasteful by various vegetables, fruits and nuts."

—Dr. Kamta Prashad, Aliganj (Etah) India.
(How Healthy Are Eggs 9. p. 8)

अंडों की उत्पत्ति और विकास उन पदार्थों के मेल से होता है जो कि बड़े गन्दे और नफरत से भरे हैं। इन पदार्थों को छूना ही मनुष्य के लिए बड़ी घृणा से भरा है, खाने की बात तो बहुत दूर रही। मनुष्य की सेहत को बिगाड़ने के लिए इनसे अधिक और क्या वस्तु हो सकती है ? मनुष्य अपना स्वास्थ्य विभिन्न फलों शाकों व सूखे मेवों से प्राप्त कर सकता है और इन्हीं से जीभ के स्वाद की पूर्ति भी अच्छी तरह से हो सकती है।

—डा० कामता प्रसाद, अलीगंज (एटा)
इंडिया (हौ हैल्दी आर० एग्ज ? पृष्ठ ८)

अभक्ष्य और घृणित अण्डों को त्यागकर बढ़िया प्रोटीन से युक्त दूध, फल, मेवे ग्रहण करिये

"Give up despicable eggs in favour of Nutritious Milk, Fruits of vegetables.

The food value of milk is high as excellent proteine are available in it. There is little that eggs can supply which milk can not. In the age of science practically all the minerals and the vitamins can be supplied artificially and these could supplement milk where necessary. I feel confident that a lacto vegetarian diet properly constructed is as nourishing as a diet containing meat or eggs. Dependence on meat and eggs for minerals and vitamins is no longer necessary."

—Dr. Anand Nimal Suria.
(How Healthy Are Eggs. 9. p. 5. 6.)

दूध के पौष्टिक तत्त्व बहुत ही ऊंचे दरजे के होते हैं क्योंकि इसमें बढ़िया किस्म के प्रोटीन्ज पाये जाते हैं। ऐसा कोई पौष्टिक तत्व नहीं है जो अंडे में मिल सकता है परन्तु दूध में न मिल सके। इस वैज्ञानिक जमाने में असली तौर पर विटामिन्ज और खनिज लवण बनावटी तौर पर मिल सकते हैं और वे जहाँ आवश्यक समझा जाय दूध के साथ सहायक रूप के लिए जा सकते हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि सन्तुलित शाकाहारी भोजन उतना ही पौषणकारी है जितना कि मांस और अंडे। अतः विटामिन और खनिज के लवणों के लिए अंडे और मांस पर निर्भर रहना व्यर्थ है।

— डा० आनन्द निमल सूरिया
(हो हैल्दी आर० एग्ज ? पृष्ठ ५-६)

पूज्य गुरुवर्य—

श्री १०८ आचार्य जयकीर्ति जी महाराज
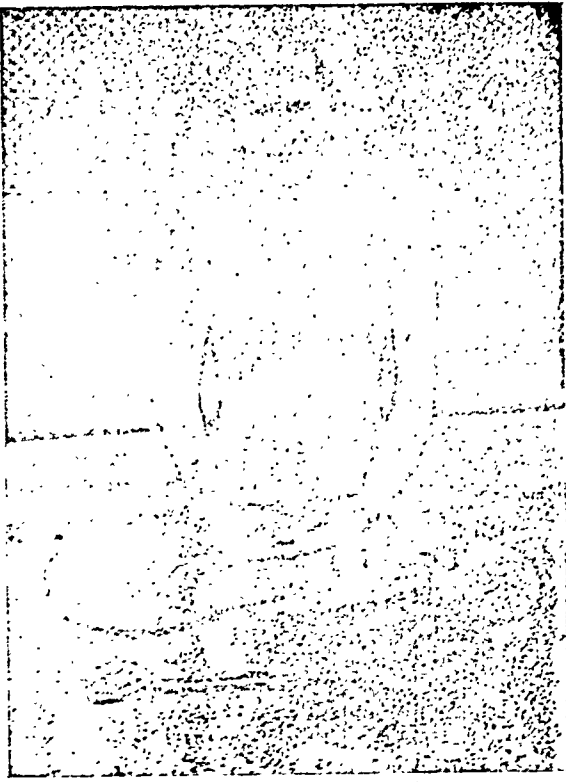
श्री आचार्य वीरसागर जी महाराज

श्री आचार्य कुन्थुसागर जी महाराज
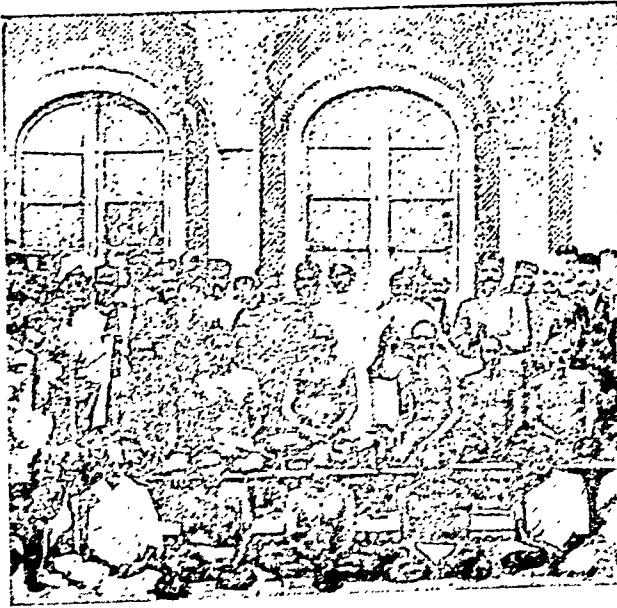
संघ श्री पूज्य आचार्य शान्तिसागर जी महाराज
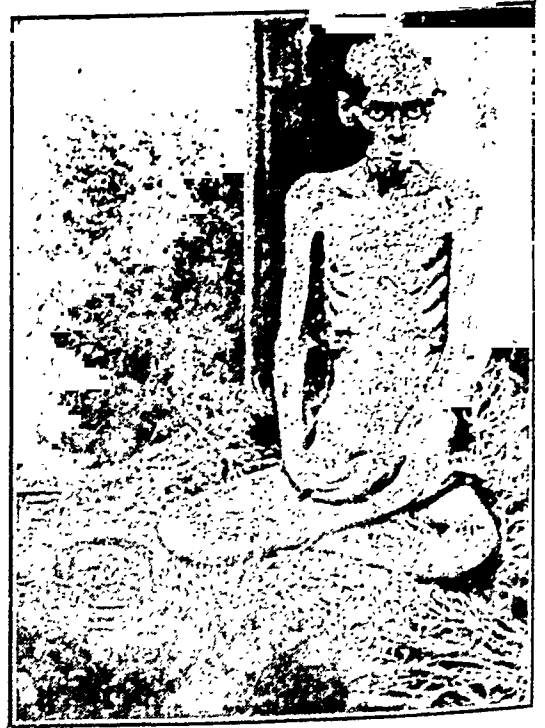
पूज्य गुरुवर्य—
समाधिसम्राट आचार्य जयकीर्ति जी महाराज (ईसरी विहार).
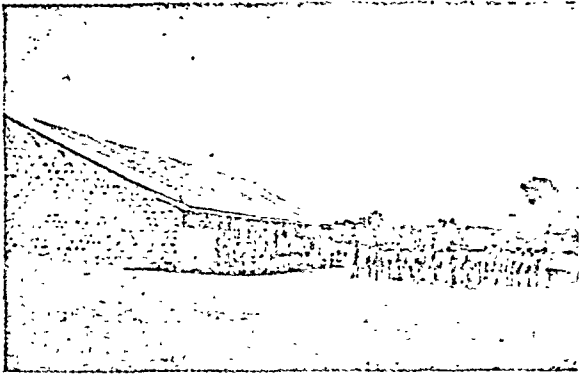
श्री १०८
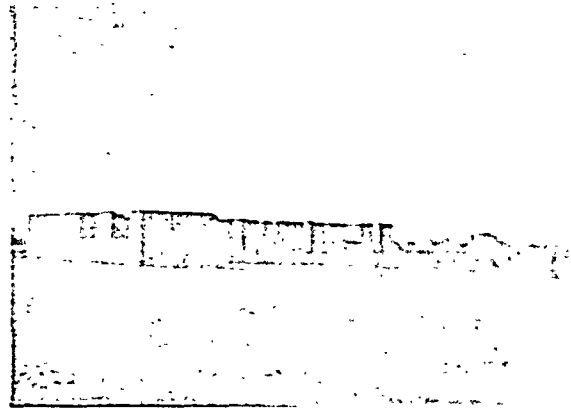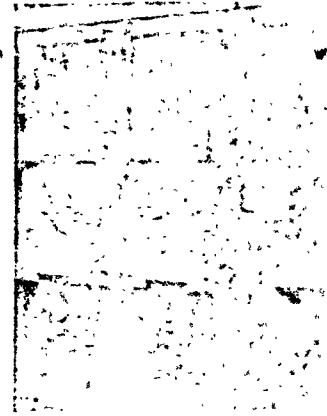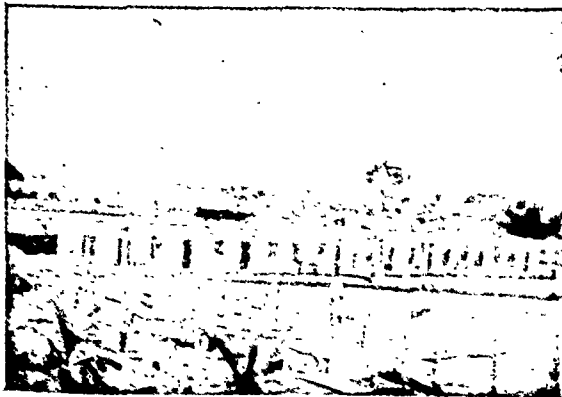
आचार्य देशभूषण जी

महाराज

*

*

श्री १०८

आचार्य देशभूषण जी

महाराज

ईसाईयों के महान संत सेन्ट फ्रांसिसी कहते हैं संसार के सभी प्राणि बराबर हैं।

स्वामी दयानंद जी ने कहा—"गो रक्षा ही राष्ट्र की रक्षा है।"

गौतम बुद्ध ने कहा—"जीवों को वचाने में धर्म है,
मारने में पाप है।"

प्रकृति से मनुष्य शाकाहारी प्राणी है—क्योंकि उसके दांत व नाखून
मांसाहारी शेर की तरह तीक्ष्ण नहीं हैं।

जो दूसरों का वध करता है, उसका भी वध होता है।

महर्षि दयानन्द ने घोडागाडी रोक कर ब्रह्मचर्य और शाकाहार की शक्ति का प्रदर्शन किया।

आज की भटकी हुई जनता और सरकार के लिये महान आदर्श ! महाराज हरिविजय जी के धर्मोपदेश से अकबर बादशाह ने मांस का त्याग किया।

जीव दया का उत्कृष्ट

अकबर - आप इतने उपवास कैसे कर सकीं ?
चम्पा - देवाधिदेव श्री अरिहन्त परमात्मा व गुरु श्री हीरविजय सूरीजी महाराज की कृपा से।

यह है त्याग की महिमा—आगरा में चम्पाश्राविका के छः मास के उपवास के तप का प्रभाव स्वयं बादशाह अकबर चम्पाश्राविका के दर्शन करने पधारे।

जैसा खाए अन्न—वैसा हो जाय मन

शराब के ही कारण द्वारकापुरी भस्म हो गई। शराब मत पियो।

शराब से हार्टफेल, कैंसर, टी. बी. व खून तक की उल्टी हो जाती है।

भगवान नेमिनाथ जी द्वारा बरात में सम्मलित मांसाहारी राजाओं के लिये एकत्रित पशुओं के वध को रोकने के लिये शादी का त्याग करना।
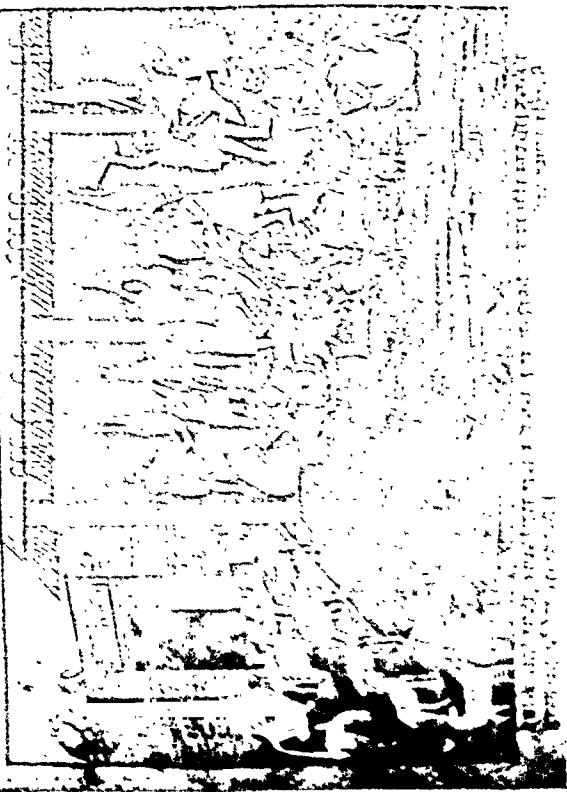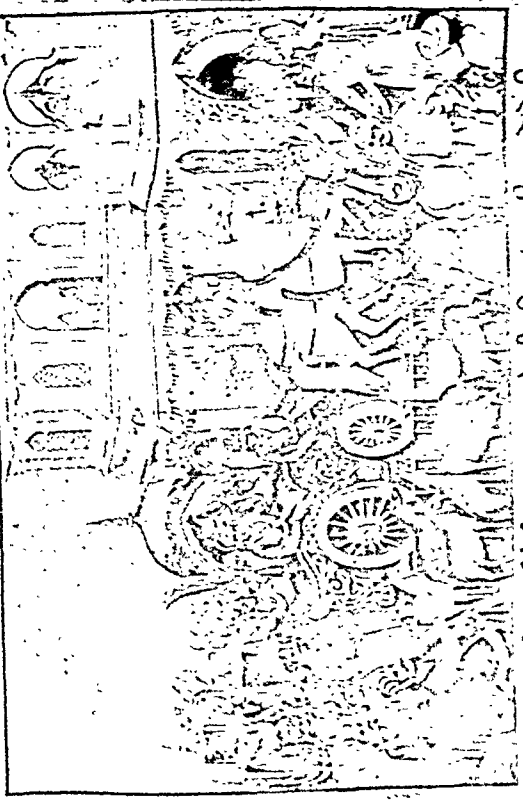
आचार्य रत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज
श्री साहू शान्तिप्रसाद जी दिल्ली से बातचीत करते हुए।
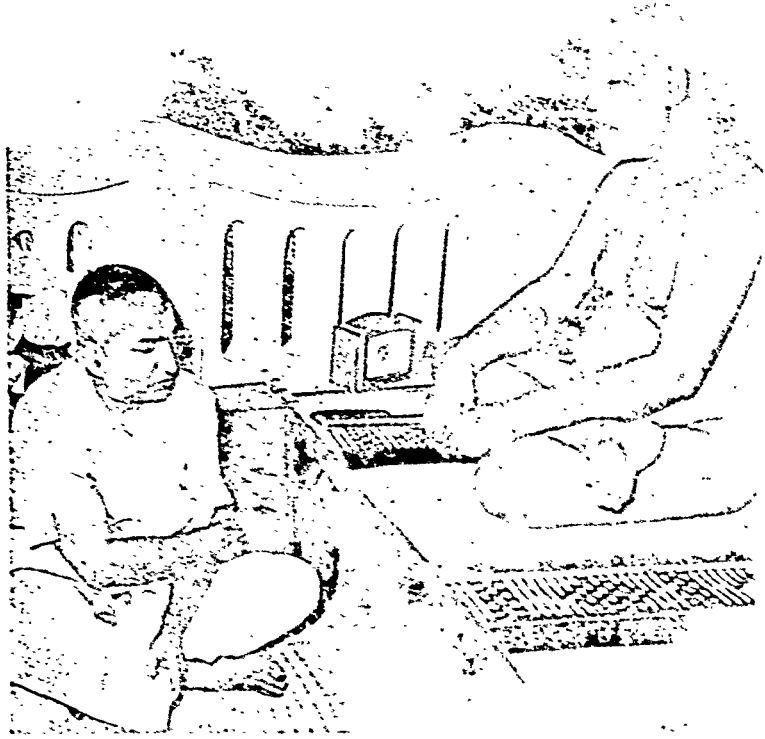
आचार्य रत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज
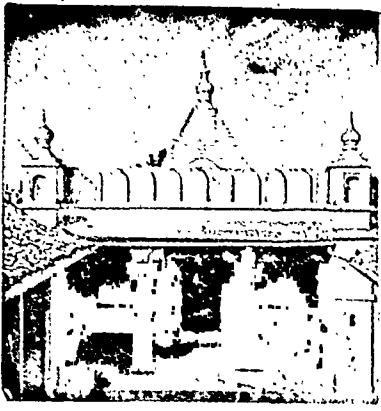
श्री १००८ पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर
केसाइपुर, कोल्हापुर
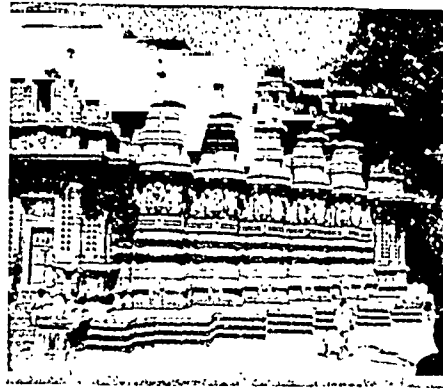
अम्बाबाई मन्दिर के एक भाग का दृश्य

श्री १००८ पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर
गंगावेश, कोल्हापुर
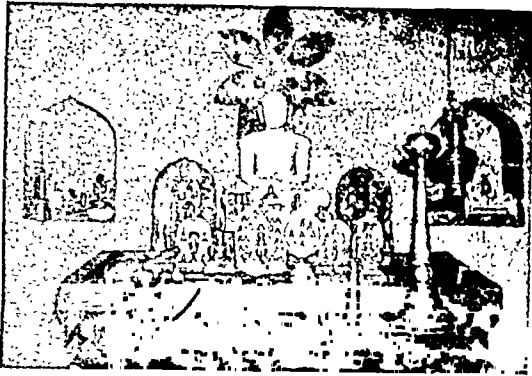
श्री १००८ चन्द्रप्रभू तीर्थंकर, रविवार गल्ली, कोल्हापुर
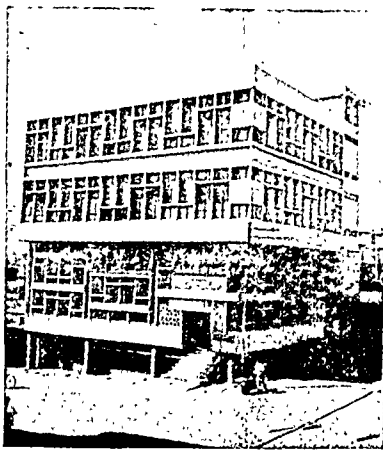
श्री महावीर को-आपरेटिव बैंक लि०,
शाहपुरी, कोल्हापुर

कोलहापुर शाहूपुरी मन्दिर, महाराष्ट्र

श्री चन्द्रप्रभु दि० जैन मन्दिर
कासार गल्ली, कोल्हापुर
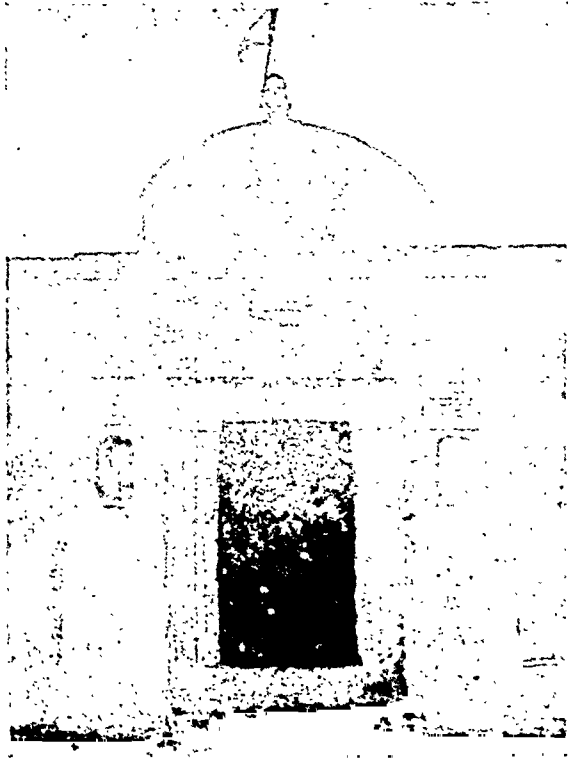
विपुलाचल पर भगवान चन्द्रप्रभ मन्दिर

विपुलाचल पर भगवान महावीर की ...

**

**

रत्नागिरि पर्वत पर भ० शान्तिनाथ के चरण

रत्नागिरि पर्वत — भगवान महावीर के चरण
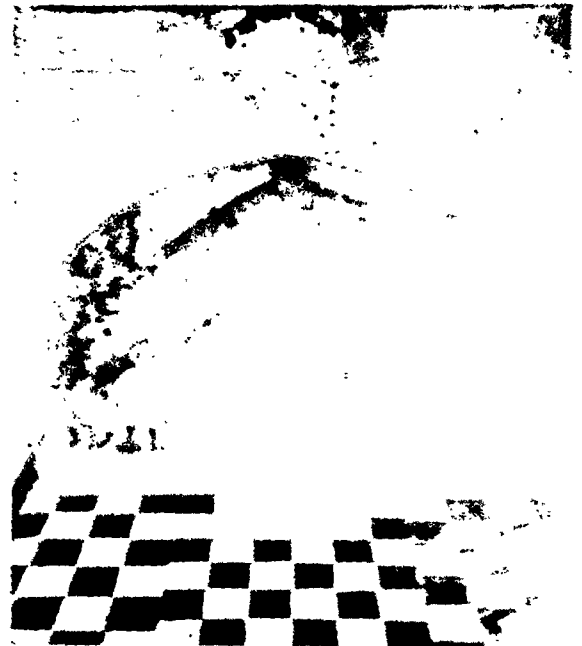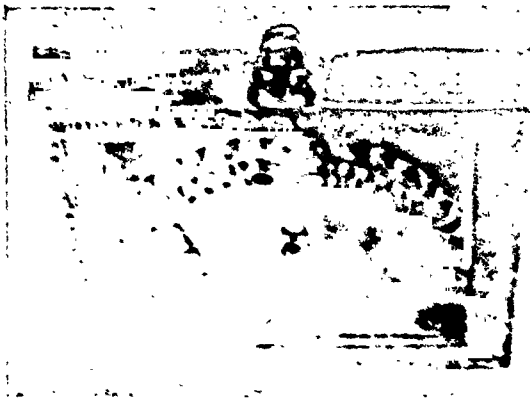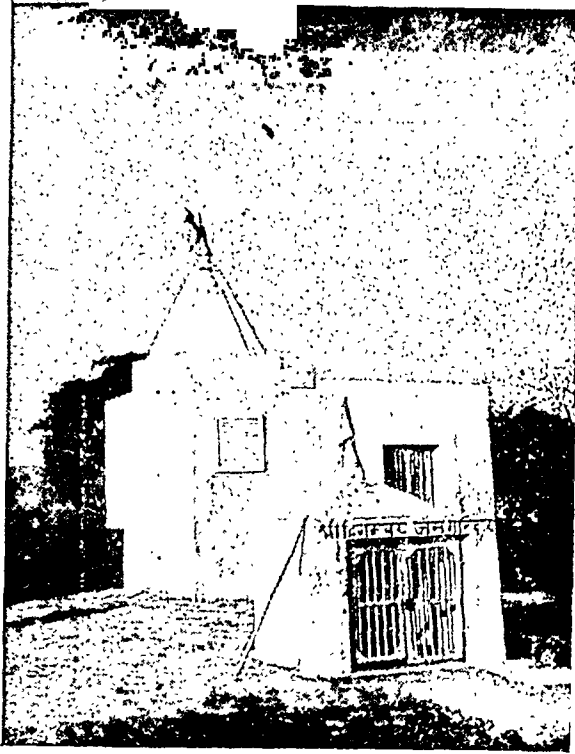
रत्नागिरि पर्वत पर धनदत्त आदि
केवलियों की टोंक
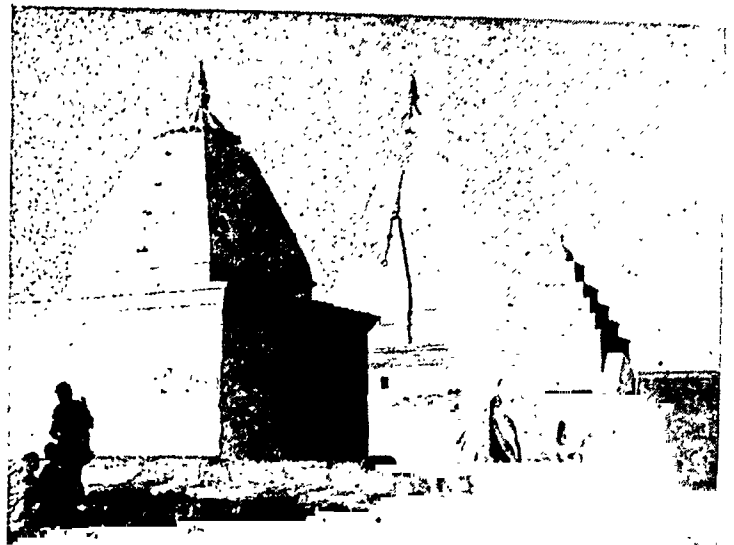
विपुलाचल पर श्वेताम्बर मन्दिर

विपुलाचल पर चन्द्रप्रभ मन्दिर

राजगृह के विपुलाचल पर भगवान
चन्द्रप्रभ की भव्य मूर्ति
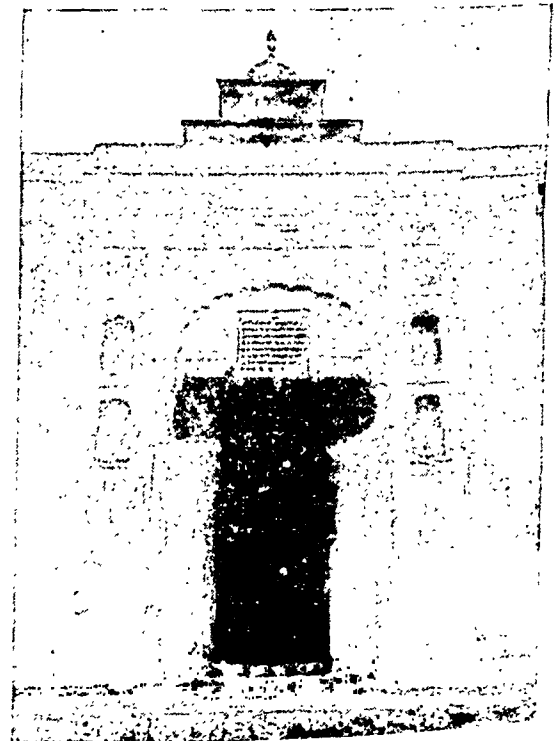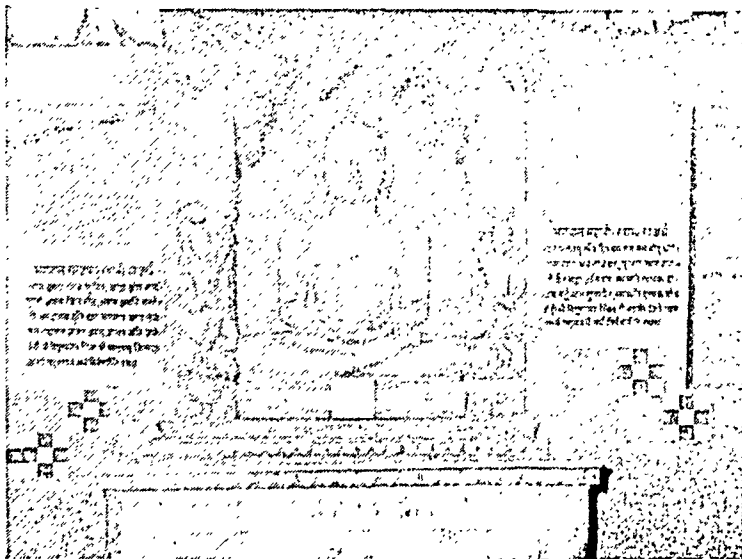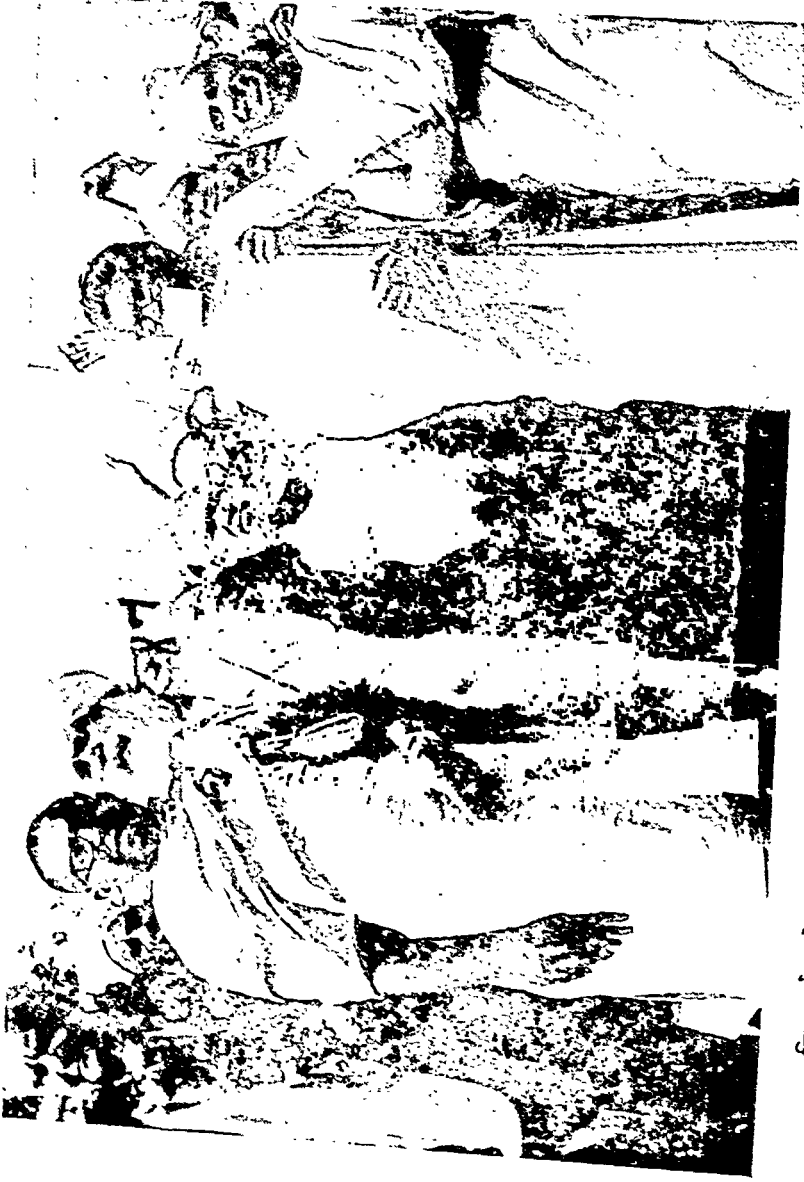
विश्वधर्म सम्मेलन के अवसर पर श्री आचार्य देशभूषण जी मुनि सुशीलकुमार जी महाराज एवं सन्त कृपालसिंह जी आदि।

हुमच पद्मावती मैसूर स्टेट
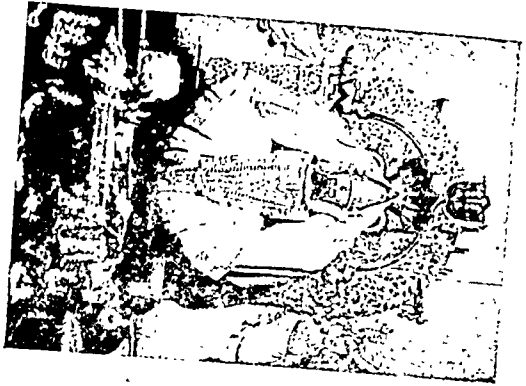
श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज जी के उपदेश से लक्ष्मीसेन भट्टारक ने कोल्हापुर के मठ में श्री १००८ भगवान वृषभदेव की अट्ठाईस फीट लम्बी विशालकाय प्रतिमा की स्थापना कराई।
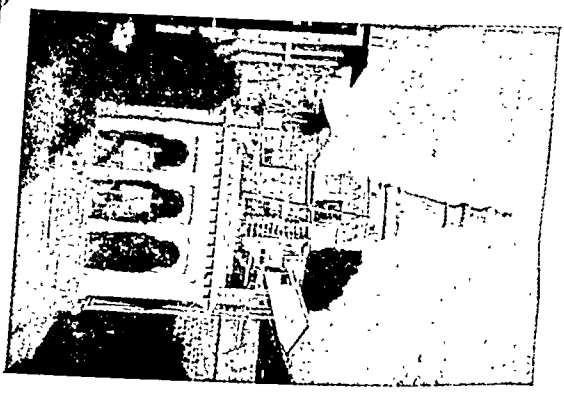
कोल्हापुर महाराष्ट्र में लक्ष्मीसेन भट्टारक के मठ के अन्दर का जैन मंदिर।
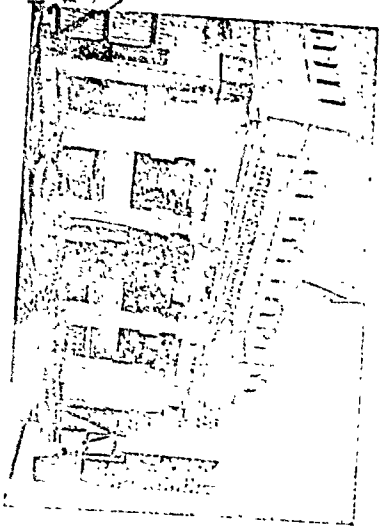
रामबाग (कर्णाटक मैसूर) का प्राचीन जैन मन्दिर
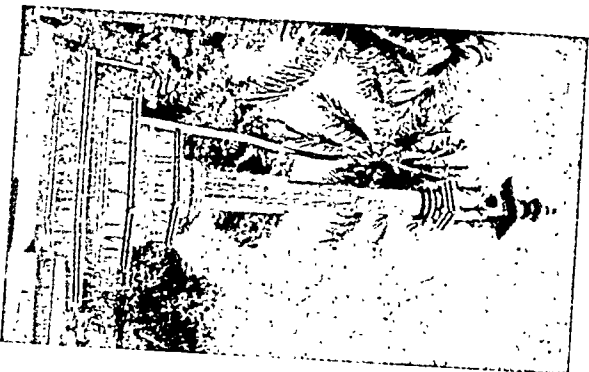
गंगवंशी राजा ने मंगलवार गल्ली को अम्बाबाई का मन्दिर बनवाया था। ये मन्दिर उन ७०० मन्दिर में से बहुत प्राचीन है।
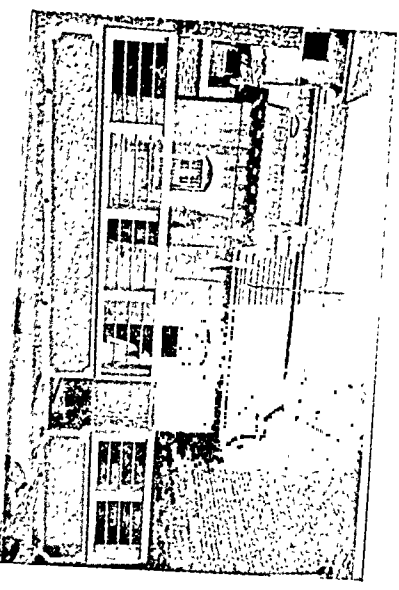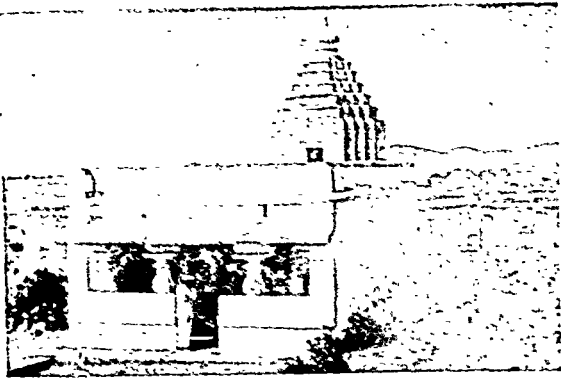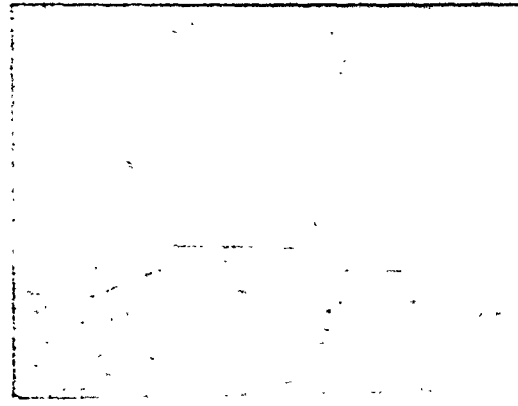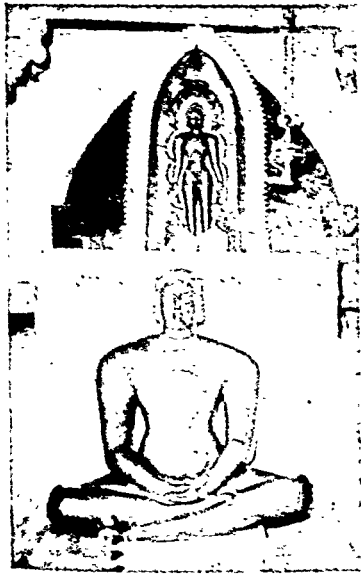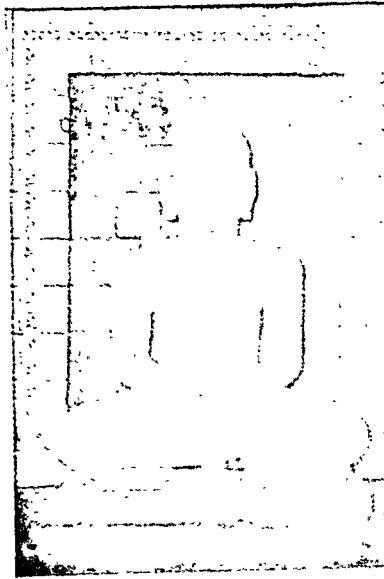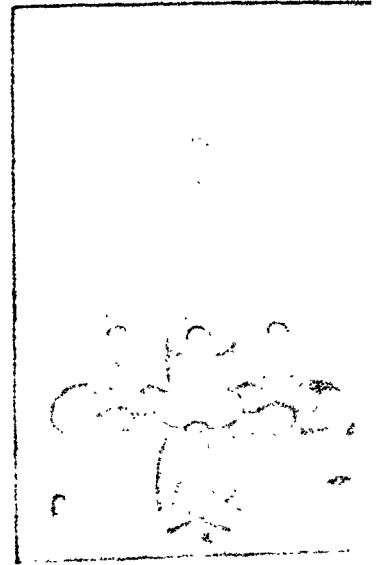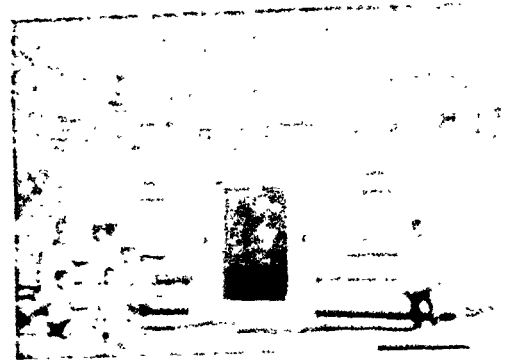
रविवार पेठ का जैन मन्दिर

सोरठा

पूरव कीनों पाप, सो निहचै वैरी भयौ। घातक जानों आप, और बहुत कहिये कहा ॥१४९॥
सुरग मुकत दातार, परम धरम जानों नहीं। पाल्यो व्रत न लगार, सो निहचै अब भोगउ ॥१५०॥
किञ्चित तप नहि कीन, दान सुपात्रै ना दियौ। जिन पूजा कर हीन, अशुभ कर्म पोतैं परै ॥१५१॥

दोहा

संपूरण ते पाप सब, भुगते सब इहि थान। तीव्र वेदना चित सबै, पूर्व पाक सो जान ॥१५२॥
कहँ जाऊँ कासौं कहूं, शरण न दीसै कोइ। काकौ पूछौं बात इह, को रक्षक मुझ होइ ॥१५३॥

चौपाई

इत्यादिक चिन्ता ऊपजी, पश्चाताप करै मन घनी। तावत दग्धमान तव भयौ, अति दुखसौं पीड़ित उर ठयौ ॥१५४॥
तावत ततछिन आये तहां, पापवन्त नारक जिय तहां। मुद्गर आदि करें बहु मार, नूतन नारकि नैन निहार ॥१५५॥
क्रोधवन्त कलही सब जान, नेत्र फुलिंग महा दुःख खान। बालैं कुन्त कृपाण कमान, देख खिरैं पारे परवांन ॥१५६॥
काटैं कर अरु छेदैं पाय, भेदैं चरम तीव्र दुखदाय। अन्त्र मालिका तोरैं कोइ, देह विदारैं इहि विधि सोय ॥१५७॥
पेलैं फिर कोलूमें घाल, ताते तैल तपावें हाल। पकर पांय पटकैं भू मांहि, कंटक लेश होइ अधिकाए ॥१५८॥
सूलीपर धर देहि उठाय, घसिटैं कंटक तरु सों जाय। तब पुकार कीनी बहु जोर, धावनसों पीड्यो तन घोर ॥१५९॥
सर्व अंग दग्धौ ता तनी, अगनि समान ज्वलित अति घनी। वैतरणी जल पैठो जाय, शान्त देह तहँ तसं दुख अधिकाय ॥१६०॥
तास वारि वारु दुर्गन्ध, भग्यौ वहां तैं हिरदै अन्ध। असिकपत्र वन पहुंचौ ताम, शोकवन्त लीनो विश्राम ॥१६१॥
वायु जोर तीक्षण असिपत्र, छोड़ैं तरुभय करता सत्र। छिन्न भिन्न खंडित तन पाइ, रकत चुचात भग्यौ अकुलाइ ॥१६२॥
पर्वत अन्तर गयौ तुरन्त, लै विश्राम हिये भयवन्त। धरैं नारकी तहां विक्रिया, बाघ सिंह आदिक दुर धिया ॥१६३॥
केई गिर तैं देह गिराय, केई भूमि मध्य सों आय। खण्ड खण्ड ततछिन तन होय, कायर चित्त शरण नहि कोय ॥१६४॥
केई जकर जँजीरन डार, सुध करायकै कैयक मार। लोह तनी ताती पूतली, लाय लगावैं तनसों खली ॥१६५॥
परभव कीनी प्रीति अपार, पर कामिनसों हठ हिय धार। कोई खेंचि खम्भसों बांध, बहु प्रकार आयुवको साध ॥१६६॥
लोचन दोषी ताकों जान, लोचन लेइ निकार अजान। मदिरापानी पूरव पियौ, ताते ताम्र ओंट मुख दियौ ॥१६७॥
परभव पल भक्षणके पाप, नोड़ तोड़ तन खाते आप। केई पूरव याद दिवाय, केइ वाय संग्राम कराय ॥१६८॥
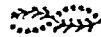
बड़े ही आश्चर्य की बात है कि, ऐसी घृणित यह भूमि कौनसी है ; जिसमें दुःख ही दुःख दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ये नारकी कौन हैं, कष्ट पहुंचाने में बड़े प्रवीण हैं। मैं कौन हूँ ? जो यहाँ अकेला आ गया हूँ। वह कोनसा बुरा कर्म है जिसके कुफल स्वरूप मुझे यहाँ तक आना पड़ा। इस प्रकार विचार करता हुआ त्रिपृष्ठ का नारकी जीव करुण क्रन्दन करने लगा। उसे विभंगा अवधि (खोटी अवधि) उत्पन्न हुई। उसने विचार किया—अहा, मैंने पूर्व जन्म में अनेक जीवों की हत्या की। दूसरों को कठोर तथा खोटे वचनों द्वारा निरादर किया है। अपने स्वार्थ के लिये पराये धन तथा पराई स्त्रियों तक का अपहरण किया है। इस प्रकार मैंने कितना धन एकत्रित किया। मैंने इन्द्रिय तृप्ति के लिये अखाद्य पदार्थ खाये, असेवनीय पदार्थों का सेवन किया, अपेय पदार्थों का पान किया, इसलिये वे ही सब कुकार्य मुझे नष्ट करने वाले हैं। दुःख है कि मैंने स्वर्ग मोक्ष प्रदान करने वाला परम धर्म को धारण नहीं किया तथा कल्याणकारक अहिंसादि व्रतों का भी पालन नहीं किया। साथ ही न कोई तप किया, न पात्रदान दिया और न जिनेन्द्र देव की पूजा ही की। अर्थात् एक भी शुभ-कार्य करने के लिये तत्पर नहीं हुआ।

इहि विध नरक चैन पल नाहि, तपैं दुख दावानल मांहि। मार मार निश दिन सौ करै, क्षेत्र महा दुरगन्धा धरै ॥१६९॥
सर्व समुद जलको जो पाय, पीवत नाहीं प्यास बुझाय। लहै न पानी बून्द समान, दहै निरन्तर तनदुख खान ॥१७०॥
सकल अन्न जो पावै सोय, तौभी भूख न उपशम होय। तिल समान आहार ना लहै, वह प्रकार के दुख को सहै ॥१७१॥
वात पित्त कफ आदिक रोग, आयु अन्त हिरदैमें शोग। कटु तूंमीसों कटुरस फांस, त्यों मृत जोग शरीर कुवास ॥१७२॥
लोह पिण्ड जोजन इकलाख, डारत होय क्षिनकमें खाख। जैसो है अति उष्ण सुभाय, तैसो शीत कहो जिनराय ॥१७३॥

दोहा

पंकप्रभा पर्यन्त लौं, कही उष्णता सोय। धूमप्रभा में जानिये, शीत उष्ण ए दोय ॥१७४॥
छठी सातमी भूमिमें, केवल शीत सुमाय। ताकी उपमा कौन है, महा विपति अधिकाय ॥१७५॥
महा दुःख इत्यादि सव, मन वच काय प्रचण्ड। क्षेत्रतनौं परभाव यह, देइ परस्पर दण्ड ॥१७६॥
रौद्रध्यान लेश्या किसन, आयु समुद तेतीस। धनुष पांचसै तुंग तनु, वरन्यौ श्री जिन ईश ॥१७७॥

चौपाई

अव वलभद्र मोहवश जास, हरि वपु लिये फिरौ छह मास। देव आन सम्वोधै जवै, निहचीकरण आइयो तवै ॥१७८॥
ता वियोग सो विजयकुमार, पुण्यवन्त बुधवन्त अपार। राज्यभार निज सुतको दियौ, गुरु पै आपु महाव्रत लियौ ॥१७९॥
दुविध प्रकार कियो तप घोर, शुकलध्यानरूपी असि जोर। घातिकर्म रिपु छेदौ ताम, भये अनन्त चतुष्टय नाम ॥१८०॥
देव संघ अर्चित सो भये, पीछै पंचम गति को गये। निरुपम निरावाध अविकार, तीन लोक वंदन जगतार ॥१८१॥
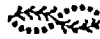
यही कारण है कि पूर्व के महान पापों के उदय से आज मेरे समक्ष सारी विपत्तियाँ आ खड़ी हुई हैं। मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। अब मैं किस की शरण में जाऊँ तथा इस स्थल पर कौन मेरी रक्षा करेगा।

इस प्रकार की चिन्ताओं से युक्त त्रिपृष्ट का जीव अभी करुण क्रन्दन ही कर रहा था, कि उसके सामने प्राचीन नारकियों का एक बड़ा दल आ गया। वे एक नवीन नारकी को देखकर इसको मुद्गर आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से मारने लगे। कोई दुष्ट उसके नेत्र निकालनें लगा, कोई अंग फोड़नें लगा, कोई आँते निकालने लगा। इस प्रकार वे निर्दयी उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर कढ़ाई में औटाने लगे। गर्म कढ़ाही में डाल देने के वाद उसका शरीर जल गया, जिससे उसे वड़ी दाह उत्पन्न हुई। उस दाह की शांति के लिये उसने वैतरणी नदी में डुवकी लगाया। वहाँ जल के खारेपन और उसकी दुर्गन्धि से वह और भी व्याकुल हुआ। पश्चात् वह विश्राम करने के लिये असिपत्र वन में गया। पर वहाँ कौनसा शान्तिमय स्थान था। वहाँ तलवार जैसे तीक्ष्ण वृक्षों के पत्तों से उसका शरीर छिन्न-भिन्न हो गया। इस स्थान की भयानक ज्वाला से दुःखी हो वह खण्डित शरीर वाला नारकी शान्ति प्राप्त करने के लिये पहाड़ की गुफाओं में घुसा। वहाँ भी क्रूर नारकियों ने विक्रिया के जोर से सिंह का शरीर धारण कर उसे खाना आरम्भ किया।

इस प्रकार कवियों की कल्पना से भी परे उपमा रहित दुःखों को वह भोगने लगा। यद्यपि उसे ऐसी प्यास लगी थी जो समुद्र से भी बुझने वाली नहीं थी, पर उसे एकवूंद भी जल नहीं मिलता था। संसार भर का अन्न खाकर भी तृप्त न होने वाली भूख से पीड़ित होने पर भी उसे एक दाना भी प्राप्त नहीं था। उस स्थान पर इतनी शीत थी कि यदि लाख योजन के प्रमाण का एक गोला वहाँ डाल दिया जाय तो शीत वर्फ से उसके सैकड़ों टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। इस प्रकार के दुःखों को भोगता हुआ वह नारकी उस क्षेत्र में उत्पन्न हुआ जो पांच प्रकार का है। उसे कृष्ण लेश्या परिणाम दुःख देने वाली तैंतीस सागर की आयु मिली।

गीतिका छन्द

यह भांति सुचरण जोग करके, भोग भूगतैं अतिघनैं। फिर जगत अर्चित भए निहचैं, मुक्तिपद पायौ तिनैं ॥
कुचरण विपाक जु आदयौं, हरि सप्तमैं थानक पयौं। सो जान भवि सम्यक्त्व दृढ़, मन सार सुचरण आचयौ ॥१८२॥
दुखनाशक मुक्ति दाइक, कर्म अरि विध्वंसकं। अन्त तैं जु अतीत गुणनिधि, भवहरण पददंसकं ॥
सुर मुक्ति सुखकर शरण सवको, जगतपति अर्चित हियै। निज धर्म करता तीर्थ अतिमन, "नवलशाह" प्रणामियौ ॥१८३॥

इधर त्रिपृष्ट नारायण के वियोग से दुःखी होकर अत्यन्त पुण्यवान वलभद्र नें समस्त परिग्रहों का परित्याग किया तथा सांसारिक सुखों से विरक्त होकर जिन-दीक्षा धारण कर ली। वे मुनिराज जिनेन्द्र भगवान के मुख की पवित्र जिनवाणी का अध्ययन करने लगे। उनकी धर्म-निष्ठा वड़ी प्रवल हुई। उन्होंने अनेक भव्य पुरुषों को जिनेन्द्र भगवान का धार्मिक सन्देश सुनाया और मोक्ष-सुख प्रदान करने वाला उपदेश दिया। वे मुनि संघ के साथ वन, पर्वतों और सुरम्य देशों में विहार करने लगे।

यह षट्अंधा हस्तीका येक येक अंग देषकरिके परस्पर वीवाद कर्ताहे येक कहताहे हाथी स्तभजेसो· दूजो अंग देषणे वालो कहताहे के नाही· हाथी सोठाजेसो तीजो कहताहे हानी छाएगा कापरवाटा नेसोः इत्यादि वीवाद कर्ताहे

चतुर्थ अधिकार

मंगलाचरण

दोहा

मुकति वधूपति वीर जिन, त्रिजग स्वामी सोय। गुण अनन्त सो हैं विमल, नमों कमल पद दोय॥१॥

चौपाई

दुखसौं नारक वहु दिन गये, आयु अन्तकर तहँतें चये। सिंह नाम गिरि वनमें आय, धरी तहां सिंह[1] पर्याय ॥२॥
हिंसा आदि कर्म जे क्रूर, कीनें वहुत धर्मधर दूर। तास उदयसौं तहं तें चयो, रत्नप्रभा पृथिवी फिर गयो॥३॥

ऐहिक और अनन्त सुख, करते सदा प्रदान।

करे सिद्ध शुभ कामना, वीरनाथ भगवान॥

जो ऐहिक और पारलौकिक सुख प्रदान करने वाले हैं, जिनके पादपद्मों की सेवा इन्द्रादि देवगण किया करते हैं, उन जिनेन्द्र भगवान की मैं भक्ति-भाव से वन्दना करता हूँ।

पश्चात् त्रिपृष्ट का जीव नरक की यातनायें भोग कर पुनः इसी भारत में पशु योनि में आया। गंगा तट पर एक विकट वन था। वन के चारों ओर वनसिंह, गिरि की विशाल पर्वत मालायें थी। वह नारकी जीव इसी गिरि पर सिंह के रूप में उत्पन्न

पशु-गति

१. नरकों के महादुःख वर्षों तक सहन करने के बाद मुझे इसी भारतवर्ष में गङ्गा नदी के किनारे वनसिंह के पहाड़ों में शेर की योनी प्राप्त हुई। यहाँ भी अनेकों जीवों की हत्या करने के कारण रत्नप्रभा नाम के पहले नरक में गया। वहाँ के दुःख भोगने के बाद सिंधुकूट के पूर्व हिमगिरि पर्वत पर फिर सिंह हुआ। एक दिन हिरण का शिकार करने के लिये उसके पीछे भाग रहा था कि उसी समय अजितंजय और अमिततेज नाम के दो चारण मुनि वहां आगये। उन्होंने शेर से कहा कि पिछले जन्म में तुम शेर ही थे जीव हत्या करने के कारण तुम्हें वर्षों तक नरक के महा दुःख भोगने पड़े। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो जीव-हत्या तथा मांस भक्षण का त्याग कर दो। शेर ने कहा कि मांस के सिवाय मेरे लिये और कोई भोजन नहीं है। अमिततेज नाम के मुनिराज ने कहा—"दिगम्बर पदवी को त्याग कर तुम ने श्री ऋषभदेव के वचनों आदि का अनादर किया था। इसी मिथ्यात्व के कारण जन्म-मरण, नरक आदि के अनेक दुःख सहने पड़े। अपने एक जीवन की रक्षा के लिये अनेक जीवों का घात कैसे उचित है? पिछले पापों के कारण तो तुम आज पशुगति के दुख भोग रहे हो, यदि अब भी मिथ्यात्व को दूर करके सम्यग्दर्शन प्राप्त न किया तो इस आवागमन के चक्कर से न निकल सकोगे।" मुनिराज के उपदेश से मृगराज की आँखें खुल गई। आत्मा की वाणी को आत्मा क्यों न समझे! सिंह की आत्मा में भी ज्ञान तो था, परन्तु ज्ञानावर्णी कर्म के कारण वह गुण ढका हुआ था। योगीराज अजितञ्जय ने उसका परदा हटा दिया, सिंह को पहले जन्मों की याद आगई जिससे उसका हृदय इतना दुखी हुआ कि उसकी आंखों से टप-टप आंसू पड़ने लगे। शिकार से उसे घृणा हो गई। उसने तुरन्त ही मांस-भक्षण तथा जीव-हिंसा के त्याग की प्रतिज्ञा करली। मुनिराज के वचनों में पूरा श्रद्धान करने से उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। सम्यग्दर्शन से अधिक कल्याणकारी वस्तु तो सारे संसार में कोई नहीं है, हर प्रकार के संसारी सुखों तथा स्वर्ग की विभूतियों का तो कहना ही क्या है, मोक्ष तक के सुख विना इच्छा के आप से आप ही प्राप्त हो जाते हैं।

महादुःख पायो तिहि ठौर, पीडै वहुत जाय कह दीर। दुष्ट कर्मको भोगति भये, कछू कालमें तहांसे चये ॥४॥
भरतक्षेत्र पूरन दिश जान, सिद्धकूट हिय वन गिरि जान। मृगपति भयो तहां तें आय, तीक्ष्ण दन्त दुष्ट दुखदाय ॥५॥
एक दिना मृग भक्षत ताहि, देखो कृपावन्त मुनि नाहि। चारण ऋद्धि तृप्त सुखधाम, गुणाक्षीण गुणसागर नाम ॥६॥
जिनवर भक्ति जानकर सही, उतर गगन से आये सही। शिला पीठ पर बैठे सोय, कृपावन्त चारण मुनि दोय ॥७॥
मृगाधीश धायो मुनि पास, वचनामृत सम्वोध्यो तास। भो भो भव्य पशुनके राज, मो वच सुनो आत्मा काज ॥८॥
भिल्लपती पूरवभव जान, भयौ धर्म लेशक तुम ज्ञान। फिर सौधर्म स्वर्ग तुम गये, शुभके उदय तहां तें चये ॥९॥
भरत चक्रपति सुत सौ जान, नाम मरीचिकुमार महान। वृषभनाथ स्वामी के साथ, दीक्षा ग्रहण कियौ सुख सार्थ ॥१०॥

पद्धरि छन्द

द्वावीस परीषह भय अपार, तज जिन मारग संसार सार। गहियौ पाखण्डी वेष क्रूर, दुर्गतिको करता अधम पूर ॥११॥
शुभ मारग दूषणको प्रवीन, दुरमारग वध विन मलीन। तव आदिनाथ सुनके मरीच, धारी कुदृष्ट ता बुद्धि नीच ॥१२॥
तन्मिथ्या उदधि विपाक पाय, जन्मादि मरण पीडौ जु आय। भवसागर भ्रमियो वहुकाल, सहियो कुकर्मसों दुःख जाल ॥१३॥
तहं इष्ट वस्तुसौं अति वियोग, संजोग दुष्ट आतम विरोग। संपूर्ण असाता पराधीन, लहि घोर चिरन्तन निन्द दीन ॥१४॥
कहुं पुण्य उदयको हेत पाय, राजग्रह विश्व सुनन्द राय। तहं संयम जोर निदान वांध भूपति त्रिपृष्ठ त्रय खण्ड साध ॥१५॥
तहं विविध भोग भुगते अपार, सुत नारी हय गय रथ भंडार। कछु दया धरम व्रत गह्यौ नाहि, अतिरुद्रध्यानसों मरण पाहि ॥१६॥

दोहा

महा पापके पाक तें, विषम अन्ध बुध हीन। गयौ सप्तमी अवनिसों, दुःख तहां वहुलीन ॥१७॥
तहं ले वैतरणी नदी, करत प्रवेश पुकार। तुम पूरव भवदुख सहै, पापतनें अधिकार ॥१८॥
असीपत्र तरु के तरैं, वैठत छोड़ै प्राण। तप्त लोहकी पूतरी, भेंटावें तव आन ॥१९॥
पर वनिता के दोषतैं, वांधे वन्धन जोर। करण ओष्ठ अर नासिका, छेदी वहु विधि घोर ॥२०॥
कीनी हिंसा जीव की, तातैं खण्डो देह। शूलोंपर पुनि रोपियो, दीन आतमा गेह ॥२१॥

हुआ। यहां इसकी आयु एक सागर पर्यंत हुई और पशु प्रवृत्ति के कारण हिंसा आदि कार्यों में रत हुआ। पर काल लब्धि प्राप्त होने पर उस हिंसक जीव सिंह का शरीरपात हो गया। उसने पुनः पशुयोनि धारण की। इस वार भी सिन्धु कूट के पूर्व हिमगिरि पर्वत पर सिंह उत्पन्न हुआ। पूर्व संस्कार के कारण सिंह वड़ा ही क्रूर स्वभाव का हुआ। उसके नख औरदांत वड़े ही तीक्ष्ण हुए।

एक दिन की घटना है। वह सिंह वन से एक मृग को मार कर लिये आ रहा था। वह वार वार मृग के मांस को नोचता था और उसे भक्षण करता जाता था। उसी समय ज्येष्ठ और अमिततेज नामक दो चारणमुनि आकाश-मार्ग से कहीं जा रहे थे। उन्होंने उस क्रूर स्वभावी को देखा। उन्हें तीर्थंकर भगवान के पूर्व वचनों का स्मरण हो आया। वे दोनों महामुनि पृथ्वी पर उतरे और एक सुरम्य शिला पर आकर वैठ गये।

उस समय उन मुनिराजों की शोभा देखते ही वनती थी। सिंह भी थोड़ी दूर पर खड़ा था। कुछ समय वाद खड़े होकर अमिततेज नाम के मुनिराज ने कहा—अरे मृगराज ! तू मेरे वचनों को ध्यान देकर श्रवण कर। जिस समय तू त्रिपृष्ट नरेश के रूप में था, उस समय समस्त राजा तेरे आश्रय में थे। तू ने राज्य-लाभ की आकांक्षा से हिंसादि कार्यों को किया था और धर्म-दान आदि कार्यों की उपेक्षा की थी। केवल यही नहीं तूने श्रेष्ठ मार्ग को दोष लगा कर मिथ्या मार्ग को वढ़ाने में सहायता पहुंचाई थी, ऋषभदेव के वचनों का भरपूर अनादर किया। उसी मिथ्यात्व से उत्पन्न पापोदय से जन्म मृत्यु से पीड़ित होकर तुझे अनेक दुःख भोगने पड़े। इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग से अनेक वेदनायें सहन करनी पड़ी हैं। पुःन उसी मिथ्यात्व रूपी महान पाप से तू विभिन्न स्थावर और त्रस योनियों में भटकता रहा।

श्री मुनिराज के बन में तप करते समय जंगल के सब प्राणी अपने वैर-भाव को छोड़ कर श्री मुनिराज के पास में संचार कर रहे है ।
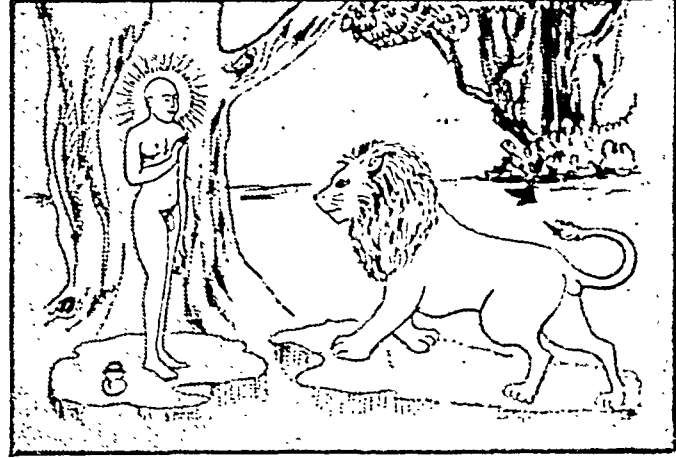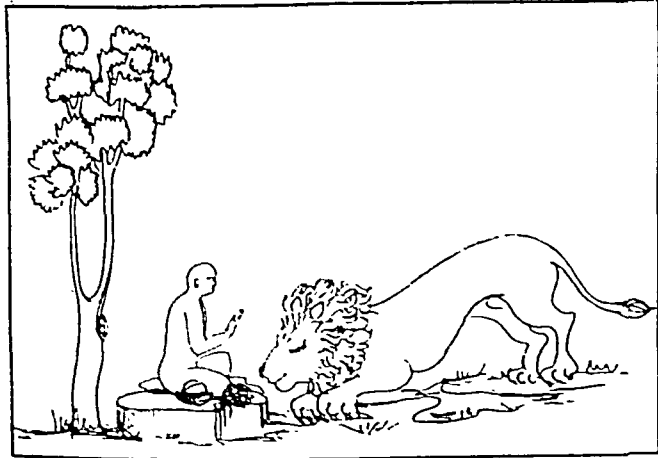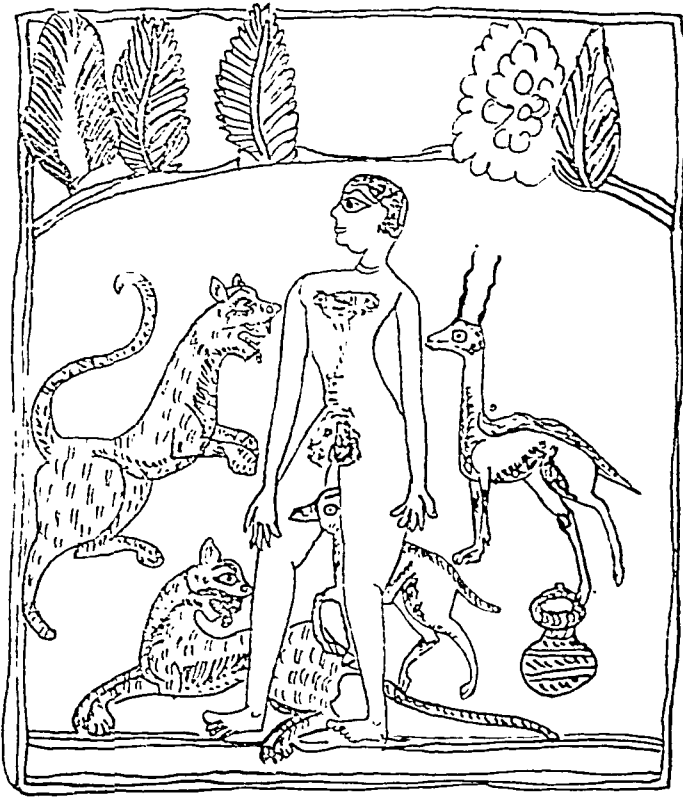
श्री मुनिराज के उपदेश को ग्रहण कर सिंह नम्रता पूर्वक व्रत ग्रहण कर रहा है ।

श्री मुनिराज सिंह को उपदेश दे रहे हैं।

मुनि के तप के प्रभाव से सिंह शांत भाव धारण कर मुनिराज को प्रदिक्षण दे रहे है।

धारक उनकी शोभा बढ़ा रहे थे, चार हजार पांच सौ मनः पर्ययज्ञानी उन्हें घेरे रहते थे, दो हजार आठ सौ वादियों के समूह उनकी वन्दना करते थे, इस तरह सब मिलाकर चौंसठ हजार मुनि उनके साथ रहते थे, सुव्रता आदि को लेकर बासठ हजार चार सौ आर्यिकाएँ उनकी पूजा करती थीं, वे दो लाख श्रावकों से सहित थे, चार लाख श्राविकाओं से आवृत थे, असंख्यात देव-देवियों और संख्यात तिर्यंचों से सेवित थे। इस प्रकार बारह सभाओं की सम्पत्ति से सहित तथा धर्म की ध्वजा से सुशोभित भगवान ने धर्म का उपदेश दिया।

अन्त में विहार बन्द कर वे पर्वतराज सम्मेद शिखर पर पहुंचे और एक माह का योग निरोध कर आठ सौ नौ मुनियों के साथ ध्यानारूढ़ हुए। तथा ज्येष्ठशुक्ला चतुर्थी के दिन रात्रि के अन्तिम भाग में सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरतक्रिया-निवर्ती नामक शुक्ल ध्यान को पूर्ण कर पुष्य नक्षत्र में मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त हुए। उसी समय सब ओर से देवों ने आकर निर्वाण कल्याणक का उत्सव किया तथा वन्दना की। जो पहले भव में शत्रुओं को जीतने वाले दशरथ राजा हुए, फिर अहमिन्द्रता को प्राप्त हुए तथा जिनके द्वारा कहे हुए दश धर्म पापों के साथ युद्ध करने में दश रथों के समान आचरण करते हैं वे धर्मनाथ भगवान तुम सबकी रक्षा करें। जिन्होंने समस्त घातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जिनका केवल ज्ञान अत्यन्त निश्चल है, जिन्होंने श्रेष्ठ धर्म का प्रतिपादन किया है, जो तीनों शरीरों के नष्ट हो जाने से अत्यन्त निर्मल है, जो स्वय अनन्त सुख से सम्पन्न है और जिन्होंने समस्त आत्माओं को शान्त कर दिया है ऐसे धर्मनाथ जिनेन्द्र तुम सबके लिए सुख प्रदान करें।

अथानन्तर इन्हीं धर्मनाथ भगवान के तीर्थ में श्रीमान सुदर्शन नाम का बलभद्र तथा सभा में सबसे बलवान पुरुषसिंह नाम का नारायण हुआ। अतः यहाँ उनका तीन भव का चरित कहता हूं। इसी राजगृह नगर में राजा सुमित्र राज्य करता था, वह बड़ा अभिमानी था, बड़ा मल्ल था, उसने बहुत मल्लों को जीत लिया था इसलिए परीक्षक लोग उनकी पूजा किया करते थे—उसे पूज्य मानते थे, वह सदा दूसरों को तृण के समान तुच्छ मानता था और दुष्ट हाथी के समान मदोन्मत था। किसी समय मद से उद्धत तथा मल्लयुद्ध का जानने वाला राजसिंह नाम का राजा उसका गर्व शान्त करने के लिए राजगृह नगरी में आया। उसने बहुत देर तक युद्ध करने के बाद रंगभूमि में स्थित राजा सुमित्र को हरा दिया जिससे वह दांत उखाड़े हुए हाथी के समान बहुत दुःखी हुआ। मान भंग होने से उसका हृदय एकदम टूट गया, वह राज्य का भार धारण करने में समर्थ नहीं रहा अतः उसने राज्य पर पुत्र को नियुक्त कर दिया सो ठीक ही है; क्योंकि मान ही मानियों के प्राण हैं।

निर्वेद भरा हुआ राजा सुमित्र कृष्णाचार्य के पास पहुंचा और उनके द्वारा कहे हुए धर्मोपदेश को सुनकर दीक्षित हो गया सो ठीक ही है क्योंकि मनस्वी मनुष्यों को यही योग्य है। यद्यपि उसने क्रम-क्रम से सिंहनिष्क्रीडित आदि कठिन तप किये तो भी उनके हृदय में अपने राज्य का संक्लेश बना रहा अतः अन्त में उसने ऐसा विचार किया कि यदि मेरी इस तपश्चर्या का फल अन्य जन्म में प्राप्त हो तो मुझे ऐसा महान् बल और पराक्रम प्राप्त होवे जिससे मैं शत्रुओं को जीत सकूं। ऐसा निदान कर वह संन्यास से मरा और माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की स्थिति वाला देव हुआ। वह वहाँ भोगों को भोगता हुआ चिरकाल तक सुख से स्थित रहा। तदनन्तर इसी जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व की ओर वीतशोकापुरी नाम की नगरी है उसमें ऐश्वर्यशाली नरवृषभ नाम का राजा राज्य करता था। उसने बाह्याभ्यन्तर प्रकृति के कोप से रहित राज्य भोगा, बहुत भारी सुख भोगे और अन्त में विरक्त होकर समस्त राज्य त्याग दिया और दमवर मुनिराज के पास दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।

अपनी विशाल आयु कठिन तप से बिताकर वह सहस्रार स्वर्ग में अठारह सागर की स्थिति वाला देव हुआ। प्राण प्रिय देवाँगनाओं को निरन्तर देखने से उसने अपने टिमकार रहित नेत्रों का फल प्राप्त किया और आयु के अन्त में शान्तचित्त होकर इसी जम्बूद्वीप के खगपुर नगर के इक्ष्वाकुवंशी राजा सिंहसेन की विजया रानी से सुदर्शन नाम का पुत्र हुआ। इसी राजा की अम्बिका नाम की दूसरी रानी के सुमित्र का जीव नारायण हुआ। वे दोनों भाई पैंतालीस धनुष ऊंचे थे और दश लाख वर्ष की आयु के धारक थे। एक दूसरे के अनुकूल बुद्धि, रूप और बल से सहित उन दोनों भाइयों ने समस्त

शत्रुओं पर आक्रमण कर आत्मीय लोगों को अपने गुणों से अनुरक्त बनाया था। यद्यपि उन दोनों की लक्ष्मी अविभक्त थी—परस्पर बांटी नहीं गई थीं तो भी उनके लिए कोई दोष उत्पन्न नहीं करती थी सो ठीक ही है क्यों कि जिनका चित्त शुद्ध है उनके लिए सभी वस्तुएं शुद्धता के लिए ही होती है।

अथानन्तर इसी भरतक्षेत्र के कुरुजांगल देश में एक हस्तिनापुर नाम का नगर है उसमें मधुक्रीड़ नाम का राजा राज्य करता था। वह सुमित्र को जीतने वाले राजसिंह का जीव था। उसने समस्त शत्रुओं के समूह को जीत लिया था, वह तेजी से बढ़ते हुए बलभद्र और नारायण को नहीं सह सका इसलिए उस बलवान् ने कर—स्वरूप अनेकों श्रेष्ठ रत्न मांगने के लिए दण्ड गर्भ नाम का प्रधान मंत्री भेजा। जिस प्रकार हाथी के कण्ठ का शब्द सुनकर सिंह क्रुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्य के समान तेज के धारक दोनों भाई प्रधान मंत्री के शब्द सुनकर क्रुद्ध हो उठे। और कहने लगे कि वह मूर्ख खेलने के लिए सांपों भरा हुआ कर मांगता है सो यदि वह पास आया तो उसके लिए वह कर अवश्य दिया जावेगा। इस प्रकार क्रोध से वे दोनों भाई कठोर शब्द कहने लगे और उस मंत्री ने शीघ्र ही जाकर राजा मधुक्रीड़ को इसकी खबर दी। राजा मधुक्रीड़ भी उनके दुर्वचन सुनकर क्रोध से लाल हो गया और उनके साथ युद्ध करने केलिए बहुत बड़ी सेना लेकर चला। युद्ध करने में चतुर नारायण भी उसके सामने आया, उसपर आक्रमण किया, चिरकाल तक उसके साथ युद्ध किया और अन्त में उसी के चलाये हुए चक्र से शीघ्र ही उसका शिर काट डाला। दोनों भाई तीन खण्ड के अधीश्वर बनकर राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते रहे। उनमें नारायण, आयु का अन्त होने पर सातवें नरक गया। उसके शोक से बलभद्र ने धर्मनाथ तीर्थंकर की शरण में जाकर दीक्षा ले ली और पापों के समूह को नष्ट कर परम पद प्राप्त किया।

देखो, दोनों ही भाई शत्रुसेना को नष्ट करने वाले थे, अभिमानी थे, शूर वीर थे, पुण्य के फल का उपभोग करने वाले थे, और तीन खण्ड के स्वामी थे फिर भी इस तरह दुष्ट कर्म के द्वारा अलग-अलग कर दिये गये। मोह के उदय से पाप का फल नारायण को प्राप्त हुआ इसलिए पापों की अधीनता को धिक्कार है। पुरुषसिंह नारायण, पहले प्रसिद्ध राजगृह नगर में सुमित्र नाम का राजा था, फिर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से च्युत होकर इस खगपुर नगर में पुरुषसिंह नाम का नारायण हुआ और उसके पश्चात भयकर सातवें नरक में नारकी हुआ। मधुक्रीड़ प्रति नारायण पहले मदोन्मत्त हाथियों को वश में करने वाला राजसिंह नाम का राजा था, फिर मार्ग-भ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसाररूपी वनमें भ्रमण करता रहा, तदनन्तर धर्म मार्ग का अवलम्बन कर हस्तिनापुर नगर में मधुक्रीड़ नाम का राजा हुआ और उसके पश्चात दुर्गति को प्राप्त हुआ। सुदर्शन बलभद्र, पहले प्रसिद्ध वीतशोक नगर में नरवृषभ नामक राजा था, फिर चिरकाल तक घोर तपश्चरण कर सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ, फिर वहां से चय कर खगपुर नगर में शत्रुओं का बल नष्ट करने वाला बलभद्र हुआ और फिर क्षमा का घर होता हुआ मरणरहित होकर क्षायिक सुख को प्राप्त हुआ।

इन्हीं धर्मनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में तीसरे मघवा चक्रवर्ती हुए इसलिए तीसरे भव से लेकर उनका पुराण कहता हूं। श्री वासुपूज्य तीर्थंकर के तीर्थ में नरपति नाम का एक बड़ा राजा था वह भाग्योदय से प्राप्त हुए भोगों को भोग कर विरक्त हुआ और उत्कृष्ट तपश्चरण कर मरा। अन्त में पुण्योदय से मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ। सत्ताईस सागर तक मनोहर दिव्य भोगों को भोगकर वह वहां से च्युत हुआ और धर्मनाथ तीर्थंकर के अन्तराल में कोशल नामक मनोहर देश की अयोध्यापुरी के स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा सुमित्र की भद्रारानी से मघवान् नाम का पुण्यात्मा पुत्र हुआ। यही आगे चलकर भरत क्षेत्र का स्वामी चक्रवर्ती होगा। उसने पांच लाख वर्ष की कल्याणकारी उत्कृष्ट आयु प्राप्त की थी। साढ़े चालीस धनुष ऊंचा उसका शरीर था, सुवर्ण के समान शरीर की कांति थी। वह प्रतापी छह खण्डों से सुशोभित पृथ्वी का पालन कर चौदह महारत्नों से विभूषित एवं नौ निधियों का नायक था। वह मनुष्य, विद्याधर और इन्द्रों को अपने चरणयुगल में झुकाता था। चक्रवर्तियों की विभूति के प्रमाण में कही हुई—छयानवे हजार देवियों के साथ इच्छानुसार दश प्रकार के भोगों को भोगता हुआ वह अपने मनोरथ पूर्ण करता था। किसी एक दिन मनोहर नामक उद्यान में अकस्मात् अभयघोष नामक केवली पधारे। उस बुद्धिमान् ने उनके दर्शन कर तीन

प्रदक्षिणाएं दीं, वन्दना की, धर्म का स्वरूप सुना, उनके समीप तत्वों के सद्भाव का ज्ञान प्राप्त किया, विषयों से अत्यन्त विरक्त होकर प्रियमित्र नामक पुत्र के लिए साम्राज्य पद की विभूति प्रदान की और वाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर संयम धारण कर लिया।

वह शुद्ध सम्यग्दर्शन तथा निर्दोष चरित्र का धारक था, शास्त्र ज्ञानरूपी सम्पत्ति से सहित था, उसने द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का घात कर दिया था। अब वे नौ केवल लब्धियों के स्वामी हो गये तथा धर्मनाथ तीर्थंकर के समान धर्म का उपदेश देकर अनेक भव्य जीवों को अतिशय श्रेष्ठ मोक्ष पदवी प्राप्त कराने लगे। अन्त में शुक्ल ध्यान के तृतीय और चतुर्थ भेद के द्वारा उन्होंने अघाति चतुष्क का क्षय कर दिया और पुण्य-पाप कर्मों से विनिमुक्त होकर अविनाशी मोक्ष प्राप्त किया। तीसरा चक्रवर्ती मघवा पहले वासुपूज्य स्वामी के तीर्थ में नरपति नाम का राजा था, फिर उत्तम शांति से युक्त श्रेष्ठ चारित्र के प्रभाव से बड़ी ऋद्धि का धारक अहमिंद्र हुआ, फिर समस्त पुण्य से युक्त मघवा नाम का तीसरा चक्रवर्ती हुआ और तत्पश्चात् मोक्ष के श्रेष्ठ सुख को प्राप्त हुआ। अथानन्तर—मघवा चक्रवर्ती के बाद ही अयोध्या नगरी के अधिपति, सूर्य वंश के शिरोमणि राजा अनन्तवीर्य की सहदेवी रानी के सोलहवें स्वर्ग से आकर सनतकुमार नाम का पुत्र हुआ। वह चक्रवर्ती की लक्ष्मी का प्रिय वल्लभ था। उसकी आयु तीन लाख वर्ष की थी, और शरीर की ऊंचाई पूर्व चक्रवर्ती के शरीर की ऊंचाई के समान साढ़े व्यालीस धनुष थी। सुवर्ण के समान कांति वाले उस चक्रवर्ती ने समस्त पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया था। दश प्रकार के भोगों के समागम से उसकी समस्त इन्द्रियाँ सन्तृप्त हुई थीं। वह याचकों के संकल्प को पूर्ण करने वाला मानो बड़ा भारी कल्पवृक्ष ही था। हिमवान् पर्वत से लेकर दक्षिण समुद्र तक की पृथ्वी के बीच जितने राजा थे उन सबके ऊपर आधिपत्य को विस्तृत करता हुआ वह बहुत भारी लक्ष्मी का उपभोग करता था।

इस प्रकार इधर इनका समय सुख से व्यतीत हो रहा था उधर सौधर्म इन्द्र की सभा में देवों ने सौधर्मेन्द्र से पूछा कि क्या कोई इस लोक में सनतकुमार इन्द्र के रूप को जीतने वाला है? सौधर्मेन्द्र ने उत्तर दिया कि हाँ, सनतकुमार चक्रवर्ती सर्वांग सुन्दर है। उसके समान रूप वाला पुरुष कभी किसी ने स्वप्न में भी नहीं देखा है। सौधर्मेन्द्र के वचन सुनकर दो देवों को कौतूहल हुआ और वे उसका रूप देखने की इच्छा से पृथ्वी पर आये। जब उन्होंने सनतकुमार चक्रवर्ती को देखा तब सौधर्मेन्द्र का कहना ठीक है ऐसा कहकर वे बहुत ही हर्षित हुए। उन देवों ने सनतकुमार चक्रवर्ती को अपने आने का कारण बतलाकर कहा कि हे बुद्धिमन्! चक्रवर्तिन्! चित्त को सावधान कर सुनिये—यदि इस संसार में आपके लिये रोग, बुढ़ापा, दुःख तथा मरण की सम्भावना न हो तो आप अपने सौन्दर्य से तीर्थंकर को भी जीत सकते हैं। ऐसा कहकर वे दोनों देव शीघ्र ही अपने स्थान पर चले गये। राजा सनतकुमार उन देवों के वचनों से ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ मानो काललब्धि ने ही आकर उसे प्रतिबुद्ध कर दिया हो। वह चिन्तवन करने लगा कि मनुष्य के रूप, यौवन, सौन्दर्य, सम्पत्ति और सुख आदि बिजली रूप लता के विस्तार से पहले ही नष्ट हो जाने वाले हैं। मैं इन नश्वर सम्पत्तियों को छोड़कर पापों का जीतने वाला बनूंगा और शीघ्र ही इस शरीर को छोड़कर अशरीर अवस्था को प्राप्त होऊंगा। ऐसा विचार कर उन्होंने देवकुमार नामक पुत्र के लिए राज्य देकर शिवगुप्त जिनेन्द्र के समीप अनेक राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। वे अहिंसा आदि पांच महाव्रतों से पूज्य थे, ईर्या आदि पांच समितियों का पालन करते थे, छह आवश्यकों से उन्होंने अपने आपको वश कर लिया था, इन्द्रियों की सन्तति को रोक लिया था, वस्त्र का त्याग कर रखा था, पृथ्वी पर शयन करते थे, कभी दातौन नहीं करते थे; खड़े-खड़े एक बार भोजन करते थे। इस प्रकार अट्ठाईस मूल गुणों से अत्यन्त शोभायमान थे।

तीन काल में योग धारण करना, वीरासन आदि आसन लगाना तथा एक करवट से सोना आदि शास्त्रों में कहे हुए उत्तरगुणों का निरन्तर यथायोग्य आचरण करते थे। वे पृथ्वी के समान क्षमा के धारक थे, पानी के समान आश्रित मनुष्यों के सन्ताप को दूर करते थे, पर्वत के समान अकम्प थे, परमाणु के समान निःसंग थे, आकाश के समान निर्लेप थे, समुद्र के समान गम्भीर थे, चन्द्रमा के समान सबको आह्लादित करते थे, सूर्य के समान देदीप्यमान थे, तपाये हुए सुवर्ण के समान

भीतर-बाहर शुद्ध थे, दर्पण के समान समदर्शी थे, कछुवे के समान संकोची थे, सांप के समान कहीं अपना स्थिर निवास नहीं बनाते थे, हाथी के समान चुपचाप गमन करते थे, शृङ्गाल के समान सामने देखते थे, उत्तम सिंह के समान शूरवीर थे और हरिण के समान सदा विनिद्र—जागरूक रहते थे। उन्होंने सब परिषह जीत लिये थे, सब उपसर्ग सह लिये थे और विक्रिया आदि अनेक ऋद्धियां प्राप्त कर ली थीं। उन्होंने क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर दो शुक्लध्यानों के द्वारा घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान उत्पन्न किया था। तदनन्तर अनेक देशों में विहार कर अनेक भव्य जीवों को समीचीन धर्म का उपदेश दिया और कुमार्ग में चलने वाले मनुष्यों के लिये दुर्गम मोक्ष का समीचीन मार्ग सबको बतलाया। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की रह गई तब तीनों योगों का निरोध कर उन्होंने समस्त कर्मों के क्षय से प्राप्त होने वाला अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त किया। जिन्होंने अपने जिनेन्द्र के समान शरीर से सनतकुमार इन्द्र को जीत लिया, जिन्होंने अपने पराक्रम के बल से दिशाओं के समूह पर आक्रमण किया और धर्मचक्र द्वारा पापों का समूह नष्ट किया वे श्री सनतकुमार भगवान् तुम सब के लिए शीघ्र ही लक्ष्मी प्रदान करें।

श्री भगवान् शान्तिनाथ जी

संसार को नष्ट करने वाले जिन शान्तिनाथ भगवान का ज्ञान, पर्याय सहित समस्त द्रव्यों को जानकर आगे जानने योग्य द्रव्य न रहने से विश्रान्त हो गया वे शान्तिनाथ भगवान तुम सबकी शान्ति के लिए हों। पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को देखने वाला विद्वान पहले वक्ता, श्रोता तथा कथा के भेदों का वर्णन कर पीछे गम्भीर अर्थ से भरी हुई धर्मकथा कहे। विद्वान होना, श्रेष्ठ चारित्र धारण करना, दयालु होना, बुद्धिमान होना, बोलने में चतुर होना, दूसरों के इशारे को समझ लेना, प्रश्नों के उपद्रव को सहन करना, मुख अच्छा होना, लोक-व्यवहार का ज्ञाता होना, प्रसिद्धि तथा पूजा से युक्त होना और थोड़ा बोलना, इत्यादि धर्मोपदेश देने वाले के गुण हैं। यदि वक्ता तत्वों का जानकार होकर भी चारित्रों से रहित होगा तो यह कहे अनुसार स्वयं आचरण क्यों नहीं करता ऐसा सोचकर साधारण मनुष्य उसकी बात को ग्रहण नहीं करेंगे। यदि वक्ता सम्यक चारित्र से युक्त होकर भी शास्त्र का ज्ञाता नहीं होगा तो वह थोड़े से शास्त्र ज्ञान से उद्धत हुए मनुष्यों के हास्ययुक्त वचनों से समीचीन मोक्ष मार्ग की हंसी करावेगा। जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन जीव का अबाधित स्वरूप है उसी प्रकार विद्वता और सच्चरित्रता वक्ता का मुख्य लक्षण है। 'यह योग्य है अथवा अयोग्य है?' इस प्रकार कही हुई बात का अच्छी तरह विचार कर सकता हो, अवसर पर अयोग्य बात के दोष कह सकता हो, उत्तम बात को भक्ति से ग्रहण करता हो, उपदेश श्रवण के पहले ग्रहण किये हुए असार उपदेश में जो विशेष आदर अथवा हठ नहीं करता हो, भूल हो जाने पर जो हंसी नहीं करता हो, गुरु भक्त हो, क्षमावान हो, संसार से डरने वाला हो, कहे हुए वचनों को धारण करने में तत्पर हो, तोता मिट्टी अथवा हंस के गुणों से सहित हो वह श्रोता कहलाता है। जिसमें जीव अजीव आदि पदार्थों का अच्छी तरह निरूपण किया हो, दान पूजा तप और शील की विशेषताए विशेषता के साथ बतलाई जाती हों, जीवों के लिए बन्ध, मोक्ष तथा उनके कारण और फलों का पृथक-पृथक वर्णन किया जाता हो, जिसमें सत् और असत की कल्पना युक्ति से की जाती हो, जहां माता के समान हित करने वाली दया का खूब वर्णन हो और जिनके सुनने से प्राणी सर्वपरिग्रह का त्याग कर मोक्ष प्राप्त करते हों वह तत्वधर्म कथा कहलाती है इसका दूसरा नाम धर्मकथा भी है। इस प्रकार वक्ता, श्रोता और धर्मकथा के लक्षण कहे। अब इसके आगे शान्तिनाथ भगवान का विस्तृत चरित्र कहता हूं।

अथान्तर—जो समस्त द्वीपों का स्वामी है और लवण समुद्र का नीला जल ही जिसके बड़े शोभायमान वस्त्र हैं ऐसे जम्बूद्वीप रूपी महाराज के मुख की शोभा को धारण करने वाला, छह खण्डों से सुशोभित, लवणसमुद्र तथा हिमवान् पर्वत के मध्य स्थित भरत नाम का एक अभीष्ट क्षेत्र है। वहां भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले भोगों को आदि लेकर चक्रवर्ती दश प्रकार के भोग, तीर्थंकरों का ऐश्वर्य और अघातिया कर्मों के भय से प्रकट होने वाली सिद्धि-मुक्ति भी प्राप्त होती है इसलिए विद्वान लोग उसे स्वर्गलोक से भी श्रेष्ठ कहते हैं। उस क्षेत्र में ऐरावत क्षेत्र के समान वृद्धि और ह्रास के द्वारा परिवर्तन होता रहता है। उसके ठीक बीच में भरतक्षेत्र का आधा विभाग करने वाला, पूर्व से पश्चिम तक लम्बा तथा